महाभारत

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद



संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

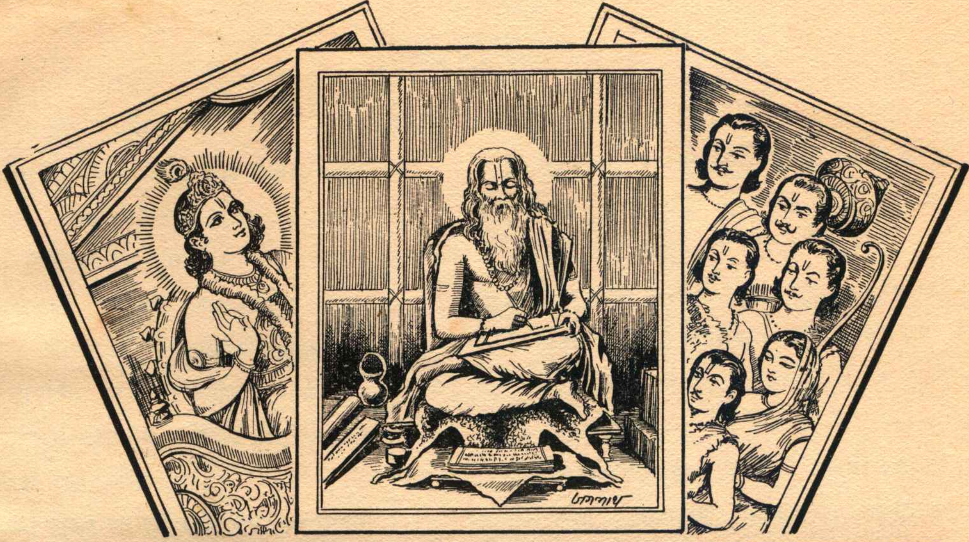
वर्ष १

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या ९

B.D.

ॐ श्रीपरमात्मने नमः



महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष १ | गोरखपुर, आषाढ़ २०१३, जुलाई १९५६ | संख्या ९ पूर्ण संख्या ९

श्रीकृष्णचन्द्रसे कृपादृष्टिके लिये अभ्यर्थना

कालिन्दीकूलकेलिः कलितकुमुदिनीकान्तकान्तिः कृपालुः
केशिक्रान्तासुकर्षी बककुलकलनः कालियाकालनोत्कः ।
काव्याङ्कक्रान्तकर्मा कुरुकुलकषणः कालकण्ठीकृताङ्गः
कृष्णः कारुण्यकर्मा भवतु मयि कृपादृष्टिरक्लिष्टकर्मा ॥

(श्रीकृष्णशार्दूलिनी)

यमुनातटपर क्रीडा करनेवाले, चन्द्रकान्तिसे युक्त, दयालु, केशिदैत्यके बल और प्राणोंका हरण करनेवाले, बककुलके नाशक, कालियको उत्साहपूर्वक दण्डित करनेवाले, काव्यों और नाटकोंमें वर्णित चरित्रवाले, कौरवोंके संहारक, हरिहरस्वरूप, करुणापूर्ण कर्म करनेवाले एवं अनायास ही सब कार्योंके कर्ता कृष्णचन्द्र मुझपर कृपादृष्टि करें ।

श्रीहरिः

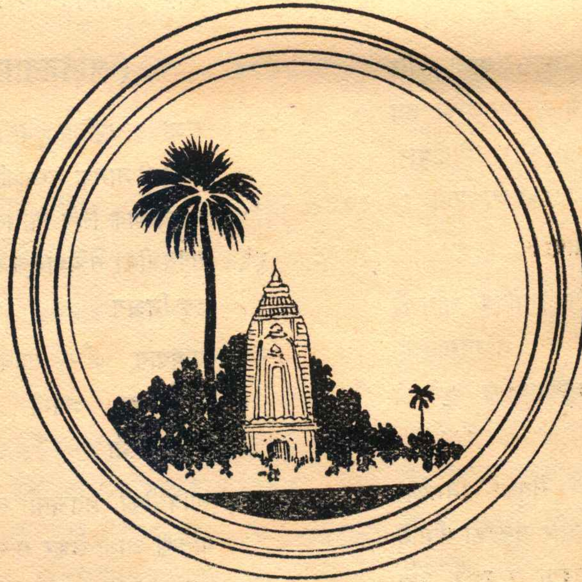
विषय-सूची

*

(पतिव्रतामाहात्म्यपर्व)



चित्र-सूची



सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार

टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



इन्द्रके द्वारा देवसेनाका स्कन्दको समर्पण

पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्वाहाका मुनिपत्नियोंके रूपोंमें अग्निके साथ समागम, स्कन्दकी उत्पत्ति तथा उनके द्वारा क्रौञ्च आदि पर्वतोंका विदारण

मार्कण्डेय उवाच

शिवा भार्या त्वङ्गिरसः शीलरूपगुणान्विता।
तस्याः सा प्रथमं रूपं कृत्वा देवी जनाधिप ॥ १ ॥
जगाम पावकाभ्याशं तं चोवाच वराङ्गना।
मामग्ने कामसंतप्तां त्वं कामयितुमर्हसि ॥ २ ॥
करिष्यसि न चेदेवं मृतां मामुपधारय।
अहमङ्गिरसो भार्या शिवा नाम हुताशन।
शिष्टाभिः प्रहिता प्राप्ता मन्त्रयित्वा विनिश्चयम् ॥ ३ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—नरेश्वर! अङ्गिराकी पत्नी शिवा शील, रूप और सद्गुणोंसे सम्पन्न थी। सुन्दरी स्वाहादेवी पहले उसीका रूप धारण करके अग्निदेवके निकट गयी और उनसे इस प्रकार बोली—'अग्ने! मैं कामवेदनासे संतप्त हूँ, तुम मुझे अपने हृदयमें स्थान दो। यदि ऐसा नहीं करोगे, तो यह निश्चय जान लो, मैं अपने प्राण त्याग दूँगी। हुताशन! मैं अङ्गिराकी पत्नी हूँ। मेरा नाम शिवा है। दूसरी ऋषि-पत्नियोंने सलाह करके एक निश्चयपर पहुँचकर मुझे यहाँ भेजा है' ॥ १–३ ॥

अग्निरुवाच

कथं मां त्वं विजानीषे कामार्तमितराः कथम्।
यास्त्वया कीर्तिताः सर्वाः सप्तर्षीणां प्रियाः स्त्रियः ॥

अग्निने पूछा—देवि! तुम तथा दूसरी सप्तर्षियोंकी सभी प्यारी स्त्रियाँ, जिनके विषयमें अभी तुमने चर्चा की है, कैसे जानती हैं कि मैं तुमलोगोंके प्रति कामभावसे पीड़ित हूँ॥

शिवोवाच

अस्माकं त्वं प्रियो नित्यं बिभीमस्तु वयं तव।
त्वच्चित्तमिङ्गितैर्ज्ञात्वा प्रेषितास्मि तवान्तिकम् ॥ ५ ॥
मैथुनायेह सम्प्राप्ता कामं प्राप्तं द्रुतं चर।
जामयो मां प्रतीक्षन्ते गमिष्यामि हुताशन ॥ ६ ॥

शिवा बोली—अग्निदेव! तुम हमें सदा ही प्रिय रहे हो; परंतु हमलोग तुमसे सदा डरती आ रही हैं। इन दिनों तुम्हारी चेष्टाओंसे मनकी बात जानकर मेरी सखियोंने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। मैं समागमकी इच्छासे यहाँ आयी हूँ। तुम स्वतः प्राप्त हुए काम-सुखका शीघ्र उपभोग करो। हुताशन! वे भगिनीस्वरूपा सखियाँ मेरी राह देख रही हैं, अतः मैं शीघ्र चली जाऊँगी ॥ ५-६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ततोऽग्निरुपयेमे तां शिवां प्रीतिमुदायुतः।
प्रीत्या देवी समायुक्ता शुक्रं जग्राह पाणिना ॥ ७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तब अग्निदेवने प्रेम और प्रसन्नताके साथ उस शिवाको हृदयसे लगाया। (शिवाके रूपमें) 'स्वाहा' देवीने प्रेमपूर्वक अग्निदेवसे समागम करके उनके वीर्यको हाथमें ले लिया ॥ ७ ॥

अचिन्तयन्ममेदं ये रूपं द्रक्ष्यन्ति कानने।
ते ब्राह्मणीनामनृतं दोषं वक्ष्यन्ति पावक ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् उसने कुछ सोचकर कहा—'अग्निकुलनन्दन! जो लोग वनमें मेरे इस रूपको देखेंगे, वे ब्राह्मण-पत्नियोंको झूठा दोष लगायेंगे ॥ ८ ॥

तस्मादेतद् रक्ष्यमाणा गरुडी सम्भवाम्यहम्।
वनान्निर्गमनं चैव सुखं मम भविष्यति ॥ ९ ॥

'अतः मैं इस रहस्यको गुप्त रखनेके लिये 'गरुडी' पक्षिणी-का रूप धारण कर लेती हूँ। इस प्रकार मेरा इस वनसे सुखपूर्वक निकलना सम्भव हो सकेगा' ॥ ९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सुपर्णी सा तदा भूत्वा निर्जगाम महावनात्।
अपश्यत् पर्वतं श्वेतं शरस्तम्बैः सुसंवृतम् ॥ १० ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर वह तत्काल गरुडीका रूप धारण करके उस महान् वनसे बाहर निकल गयी। आगे जानेपर उसने सरकंडोंके समूहसे आच्छादित श्वेतपर्वतके शिखरको देखा ॥ १० ॥

दृष्टीविषैः सप्तशीर्षैर्गुप्तं भोगिभिरद्भुतैः।
रक्षोभिश्च पिशाचैश्च रौद्रैर्भूतगणैस्तथा ॥ ११ ॥
राक्षसीभिश्च सम्पूर्णमनेकैश्च मृगद्विजैः।

सात सिरोंवाले अद्भुत नाग, जिनकी दृष्टिमें ही विष भरा था, उस पर्वतकी रक्षा करते थे। इनके सिवा राक्षस, पिशाच, भयानक भूतगण, राक्षसी-समुदाय तथा अनेक पशु-पक्षियोंसे भी वह पर्वत भरा हुआ था ॥ ११½ ॥

(नदीप्रस्रवणोपेतं नानातरुसमाचितम्।)
सा तत्र सहसा गत्वा शैलपृष्ठं सुदुर्गमम् ॥ १२ ॥
प्राक्षिपत् काञ्चने कुण्डे शुक्रं सा त्वरिता शुभा।

अनेकानेक नदी और झरने वहाँ बहते थे तथा नाना प्रकारके वृक्ष उस पर्वतकी शोभा बढ़ाते थे। शुभस्वरूपा स्वाहा देवीने सहसा उस दुर्गम शैलशिखरपर जाकर एक सुवर्णमय कुण्डमें शीघ्रतापूर्वक उस शुक्र (वीर्य) को डाल दिया ॥ १२½ ॥

सप्तानामपि सा देवी सप्तर्षीणां महात्मनाम् ॥ १३ ॥

पत्नीसरूपतां कृत्वा कामयामास पावकम्।
दिव्यरूपमरुन्धत्याः कर्तुं न शकितं तया ॥ १४ ॥
तस्यास्तपःप्रभावेण भर्तृशुश्रूषणेन च।
षट्कृत्वस्तत् तु निक्षिप्तमग्ने रेतः कुरूत्तम ॥ १५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! उस देवीने सातों महात्मा सप्तर्षियोंकी पत्नियोंके समान रूप धारण करके अग्निदेवके साथ समागमकी इच्छा की थी; किंतु अरुन्धतीकी तपस्या तथा पति-शुश्रूषाके प्रभावसे वह उनका दिव्य रूप धारण न कर सकी, इसलिये छः बार ही अग्निके वीर्यको वहाँ डालनेमें सफल हुई ॥ १३-१५ ॥

तस्मिन् कुण्डे प्रतिपदि कामिन्या स्वाहया तदा।
तत् स्कन्नं तेजसा तत्र संवृतं जनयत् सुतम् ॥ १६ ॥
ऋषिभिः पूजितं स्कन्नमनयत् स्कन्दतां ततः।
षट्शिरा द्विगुणश्रोत्रो द्वादशाक्षिभुजक्रमः ॥ १७ ॥

अग्निदेवकी कामना रखनेवाली स्वाहाने प्रतिपदाको उस कुण्डमें उनका वीर्य डाला था। स्कन्दित (स्खलित) हुए उस वीर्यने वहाँ एक तेजस्वी पुत्रको जन्म दिया। ऋषियोंने उसका बड़ा सम्मान किया। वह स्कन्दित होनेके कारण स्कन्द कहलाया। उसके छः सिर, बारह कान, बारह नेत्र और बारह भुजाएँ थीं ॥ १६-१७ ॥



एकग्रीवैकजठरः कुमारः समपद्यत।
द्वितीयायामभिव्यक्तस्तृतीयायां शिशुर्बभौ ॥ १८ ॥

परंतु उस कुमारका कण्ठ और पेट एक-एक ही था। वह द्वितीयाको अभिव्यक्त हुआ और तृतीयाको शिशुरूपमें सुशोभित होने लगा ॥ १८ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गसम्भूतश्चतुर्थ्यामभवद् गुहः।
लोहिताभ्रेण महता संवृतः सह विद्युता ॥ १९ ॥
लोहिताभ्रे सुमहति भाति सूर्य इवोदितः।

चतुर्थीको वे कुमार स्कन्द सभी अङ्ग-उपाङ्गोंसे सम्पन्न हो गये। उस समय कुमार लाल रंगके विशाल बिजलीयुक्त बादलसे आच्छादित थे। अतः अरुण रंगके मेघोंकी विशाल घटाके भीतर उदित हुए सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे ॥

गृहीतं तु धनुस्तेन विपुलं लोमहर्षणम् ॥ २० ॥
न्यस्तं यत् त्रिपुरघ्नेन सुरारिविनिकृन्तनम्।
तद् गृहीत्वा धनुः श्रेष्ठं ननाद बलवांस्तदा ॥ २१ ॥

त्रिपुरनाशक भगवान् शिवने देवशत्रुओंका विनाश करनेवाले जिस विशाल तथा रोमाञ्चकारी श्रेष्ठ धनुषको रख छोड़ा था, उसे बलवान् स्कन्दने उठा लिया और बड़े जोरसे गर्जना की ॥ २०-२१ ॥

सम्मोहयन्निवेमान् स त्रींल्लोकान् सचराचरान्।
तस्य तं निनदं श्रुत्वा महामेघौघनिःस्वनम् ॥ २२ ॥
उत्पेततुर्महानागौ चित्रश्चैरावतश्च ह।
तावापतन्तौ सम्प्रेक्ष्य स बालोऽर्कसमद्युतिः ॥ २३ ॥
द्वाभ्यां गृहीत्वा पाणिभ्यां शक्तिं चान्येन पाणिना।
अपरेणाग्निदायादस्ताम्रचूडं भुजेन सः ॥ २४ ॥
महाकायमुपश्लिष्टं कुक्कुटं बलिनां वरम्।
गृहीत्वा व्यनदद् भीमं चिक्रीड च महाभुजः ॥ २५ ॥

ये उस गर्जनाद्वारा चराचर प्राणियोंसहित इन तीनों लोकोंको मूर्छित-सा कर रहे थे। महान् मेघोंकी गम्भीर ध्वनिके समान उनकी उस गर्जनाको सुनकर चित्र और ऐरावत नामक दो महागज वहाँ दौड़े आये। कुमार स्कन्द सूर्यकी कान्तिके समान उद्भासित हो रहे थे। उन दोनों हाथियोंको आते देख उन अग्निकुमारने उन्हें दो हाथोंसे पकड़ लिया तथा एक हाथमें शक्ति और दूसरेमें अरुण शिखासे विभूषित और बलवानोंमें श्रेष्ठ एवं विशाल शरीरवाले एक समीपवर्ती कुक्कुट (मुर्ग) को पकड़कर उन महाबाहु कुमारने भयंकर गर्जना की और (उन हाथी-मुर्गे आदिको लिये हुए) क्रीडा करने लगे ॥ २२-२५ ॥

द्वाभ्यां भुजाभ्यां बलवान् गृहीत्वा शङ्खमुत्तमम्।
प्राध्मापयत भूतानां त्रासनं बलिनामपि ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् उन बलवान् वीरने दोनों हाथोंमें उत्तम शंख लेकर बजाया, जो बलवान् प्राणियोंको भी भयभीत कर देनेवाला था ॥ २६ ॥

द्वाभ्यां भुजाभ्यामाकाशं बहुशो निजघान ह।
क्रीडन् भाति महासेनस्त्रींल्लँोकान् वदनैः पिबन् ॥

फिर वे दो भुजाओंसे आकाशको बार-बार पीटने लगे।

इस प्रकार क्रीडा करते हुए कुमार महासेन ऐसे जान पड़ते थे, मानो वे अपने मुखोंसे तीनों लोकोंको पी जायँगे ॥२७॥

पर्वताग्रेऽप्रमेयात्मा रश्मिमानुदये यथा।
स तस्य पर्वतस्याग्रे निषण्णोऽद्भुतविक्रमः ॥२८॥
व्यलोकयदमेयात्मा मुखैर्नानाविधैर्दिशः।
स पश्यन् विविधान् भावांश्चकार निनदं पुनः ॥२९॥
तस्य तं निनदं श्रुत्वा न्यपतन् बहुधा जनाः।
भीताश्चोद्विग्नमनसस्तमेव शरणं ययुः ॥३०॥

अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न और अद्भुत पराक्रमी स्कन्द पर्वतके शिखरपर उदयकालमें अंशुमाली सूर्यकी भाँति शोभा पा रहे थे। फिर वे उस पर्वतकी चोटीपर बैठ गये और अपने अनेक मुखोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखने लगे। भाँति-भाँतिकी वस्तुओंको देखकर वे अमेयात्मा स्कन्द पुनः बालोचित कोलाहल करने लगे। उनकी इस गर्जनाको सुनकर बहुत-से प्राणी पृथ्वीपर गिर गये। फिर भयभीत और उद्विग्नचित्त होकर उन सबने उन्हींकी शरण ली॥ २८—३० ॥

ये तु तं संश्रिता देवं नानावर्णास्तदा जनाः।
तानप्याहुः पारिषदान् ब्राह्मणाः सुमहाबलान् ॥३१॥

उस समय जिन-जिन नाना वर्णवाले जीवोंने उन स्कन्द-देवकी शरण ली, उन सबको ब्राह्मणोंने उनका महाबलवान् पार्षद बताया है ॥ ३१ ॥

स तूत्थाय महाबाहुरुपसान्त्व्य च तान् जनान्।
धनुर्विकृष्य व्यसृजद् बाणान् श्वेते महागिरौ ॥३२॥

उन महाबाहुने उठकर उन सब प्राणियोंको सान्त्वना दी और महापर्वत श्वेतपर खड़े-खड़े धनुष खींचकर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३२ ॥

बिभेद स शरैः शैलं क्रौञ्चं हिमवतः सुतम्।
तेन हंसाश्च गृध्राश्च मेरुं गच्छन्ति पर्वतम् ॥३३॥

उन बाणोंद्वारा उन्होंने हिमालयके पुत्र क्रौञ्च पर्वतको विदीर्ण कर दिया। उसी छिद्रमें होकर हंस और गृध्र पक्षी मेरु पर्वतको जाते हैं ॥ ३३ ॥

स विशीर्णोऽपतच्छैलो भृशमार्तस्वरान् रुवन्।
तस्मिन् निपतिते त्वन्ये नेदुः शैला भृशं तदा ॥ ३४ ॥

स्कन्दके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो वह क्रौञ्च पर्वत अत्यन्त आर्तनाद करता हुआ गिर पड़ा। उस समय उसके गिरनेपर दूसरे पर्वत भी जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे ॥ ३४ ॥

स तं नादं भृशार्तानां श्रुत्वापि बलिनां वरः।
न प्राच्यवदमेयात्मा शक्तिमुद्यम्य चानदत् ॥ ३५ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ और अमित आत्मबलसे सम्पन्न कुमार उन अत्यन्त आर्त पर्वतोंके उस चीत्कारको सुनकर भी विचलित नहीं हुए, अपितु हाथसे शक्तिको उठाकर सिंहनाद करने लगे ॥ ३५॥

सा तदा विमला शक्तिः क्षिप्ता तेन महात्मना।
बिभेद शिखरं घोरं श्वेतस्य तरसा गिरेः ॥ ३६ ॥

उन महात्माने उस समय अपनी चमचमाती हुई शक्ति चलायी और उसके द्वारा श्वेत गिरिके भयानक शिखरको बड़े वेगसे विदीर्ण कर डाला ॥ ३६ ॥

स तेनाभिहतो दीर्णो गिरिः श्वेतोऽचलैः सह।
उत्पपात महीं त्यक्त्वा भीतस्तस्मान्महात्मनः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार कार्तिकेयद्वारा शक्तिके आघातसे विदीर्ण होकर श्वेत पर्वत उन महात्माके भयसे डर गया और (दूसरे) पर्वतोंके साथ इस पृथ्वीको छोड़कर आकाशमें उड़ गया ॥३७॥

ततः प्रव्यथिता भूमिर्व्यशीर्यत समन्ततः।
आर्ता स्कन्दं समासाद्य पुनर्बलवती बभौ ॥ ३८ ॥

इससे पृथ्वीको बड़ी पीड़ा हुई। वह सब ओरसे फट गयी और पीड़ित हो कार्तिकेयजीकी ही शरणमें जानेपर पुनः बलवती हो शोभा पाने लगी ॥ ३८ ॥

पर्वताश्च नमस्कृत्य तमेव पृथिवीं गताः।
अथैनमभजल्लोकः स्कन्दं शुक्लस्य पञ्चमीम् ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् पर्वतोंने भी उन्हींके चरणोंमें मस्तक झुकाया और वे फिर पृथ्वीपर आ गये। तभीसे लोग प्रत्येक मासके शुक्लपक्षकी पञ्चमीको स्कन्ददेवका पूजन करने लगे ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे कुमारोत्पत्तौ पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें कुमारोत्पत्तिविषयक दो सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

विश्वामित्रका स्कन्दके जातकर्मादि तेरह संस्कार करना और विश्वामित्रके समझानेपर भी ऋषियोंका अपनी पत्नियोंको स्वीकार न करना तथा अग्निदेव आदिके द्वारा बालक स्कन्दकी रक्षा करना

मार्कण्डेय उवाच

तस्मिञ्जाते महासत्त्वे महासेने महाबले।
समुत्तस्थुर्महोत्पाता घोररूपाः पृथग्विधाः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! उन महान् धैर्यशाली और महाबली महासेनके जन्म लेनेपर भाँति-भाँतिके बड़े भयंकर उत्पात प्रकट होने लगे ॥ १ ॥

स्त्रीपुंसोर्विपरीतं च तथा द्वन्द्वानि यानि च ।
ग्रहा दीप्ता दिशः खं च ररास च मही भृशम् ॥ २ ॥

स्त्री-पुरुषोंका स्वभाव विपरीत हो गया । सर्दी आदि द्वन्द्वोंमें भी (अद्भुत) परिवर्तन दिखायी देने लगा । ग्रह, दिशाएँ और आकाश ये सब मानो जलने लगे और पृथ्वी जोर-जोरसे गर्जना-सी करने लगी ॥ २ ॥

ऋषयश्च महाघोरान् दृष्ट्वोत्पातान् समन्ततः ।
अकुर्वञ्छान्तिमुद्विग्ना लोकानां लोकभावनाः ॥ ३ ॥

लोकहितकी भावना रखनेवाले महर्षि चारों ओर अत्यन्त भयंकर उत्पात देखकर उद्विग्न हो उठे और जगत्में शान्ति बनाये रखनेके लिये शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान करने लगे ॥ ३ ॥

निवसन्ति वने ये तु तस्मिंश्चैत्ररथे जनाः ।
तेऽब्रुवन्नेष नोऽनर्थः पावकेनाहितो महान् ॥ ४ ॥
संगम्य षड्भिः पत्नीभिः सप्तर्षीणामिति स्म ह ।

उस चैत्ररथ नामक वनमें जो लोग निवास करते थे, वे कहने लगे, 'अग्निने सप्तर्षियोंकी छः पत्नियोंके साथ समागम करके हमलोगोंपर यह बहुत बड़ा अनर्थ लाद दिया है' ।४½।

अपरे गरुडीमाहुस्त्वयानर्थोऽयमाहृतः ॥ ५ ॥
यैर्दृष्टा सा तदा देवी तस्या रूपेण गच्छती ।
न तु तत् स्वाहया कर्म कृतं जानाति वै जनः ॥ ६ ॥

दूसरे लोगोंने उस गरुडी पक्षिणीसे कहा—'तूने ही यह अनर्थ उपस्थित किया है ।' यह उन लोगोंका विचार था, जिन्होंने स्वाहादेवीको गरुडीके रूपमें जाते देखा था । लोग यह नहीं जानते थे कि यह सारा कार्य स्वाहाने किया है ॥

सुपर्णी तु वचः श्रुत्वा ममायं तनयस्त्विति ।
उपगम्य शनैः स्कन्दमाहाहं जननी तव ॥ ७ ॥

गरुडीने लोगोंकी बातें सुनकर कहा—'यह मेरा पुत्र है ।' फिर उसने धीरेसे स्कन्दके पास जाकर कहा—'बेटा ! मैं तुम्हें जन्म देनेवाली माता हूँ' ॥ ७ ॥

अथ सप्तर्षयः श्रुत्वा जातं पुत्रं महौजसम् ।
तत्यजुः षट् तदा पत्नीर्विना देवीमरुन्धतीम् ॥ ८ ॥

इधर सप्तर्षियोंने जब यह सुना कि हमारी छः पत्नियोंके सङ्गसे अग्निदेवके एक महातेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ है, तब उन्होंने अरुन्धती देवीके सिवा अन्य छः पत्नियोंको त्याग दिया ॥ ८ ॥

षड्भिरेव तदा जातमाहुस्तद्वनवासिनः ।
सप्तर्षीनाह च स्वाहा मम पुत्रोऽयमित्युत ॥ ९ ॥
अहं जाने नैतदेवमिति राजन् पुनः पुनः ।

क्योंकि उस वनके निवासियोंने उस समय छः पत्नियोंके गर्भसे ही उस बालककी उत्पत्ति बतायी थी । राजन् ! यद्यपि स्वाहाने सप्तर्षियोंसे बार-बार कहा कि 'यह मेरा पुत्र है । मैं इसके जन्मका रहस्य जानती हूँ; लोग जैसी बात उड़ा रहे हैं, वैसी नहीं है ।' (तो भी वे सहसा उसकी बातपर विश्वास न कर सके) ॥ ९½ ॥

विश्वामित्रस्तु कृत्वेष्टिं सप्तर्षीणां महामुनिः ॥ १० ॥
पावकं कामसंतप्तमदृष्टः पृष्ठतोऽन्वगात् ।
तत् तेन निखिलं सर्वमवबुद्धं यथातथम् ॥ ११ ॥

महामुनि विश्वामित्र जब सप्तर्षियोंकी इष्टि पूर्ण कर चुके, तब वे भी कामपीड़ित अग्निके पीछे-पीछे गुप्तरूपसे चल दिये थे, उस समय कोई उन्हें देख नहीं पाता था । अतः उन्होंने यह सारा वृत्तान्त यथार्थ रूपसे जान लिया ॥ १०-११ ॥

विश्वामित्रस्तु प्रथमं कुमारं शरणं गतः ।
स्तवं दिव्यं सम्प्रचक्रे महासेनस्य चापि सः ॥ १२ ॥

विश्वामित्रजी सबसे पहले कुमार कार्तिकेयकी शरणमें गये तथा उन्होंने महासेनकी दिव्य स्तोत्रोंद्वारा स्तुति भी की ॥

मङ्गलानि च सर्वाणि कौमाराणि त्रयोदश ।
जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाश्चक्रे महामुनिः ॥ १३ ॥

उन महामुनिने कुमारके सारे माङ्गलिक कृत्य सम्पन्न किये । जातकर्म आदि तेरह क्रियाओंका भी अनुष्ठान किया ॥ १३ ॥

षड्वक्त्रस्य तु माहात्म्यं कुक्कुटस्य तु साधनम् ।
शक्त्या देव्याः साधनं च तथा पारिषदामपि ॥ १४ ॥
विश्वामित्रश्चकारैतत् कर्म लोकहिताय वै ।
तस्मादृषिः कुमारस्य विश्वामित्रोऽभवत् प्रियः ॥ १५ ॥

स्कन्दकी महिमा, उनके द्वारा कुक्कुट पक्षीका धारण, देवीके समान प्रभावशालिनी शक्तिका ग्रहण तथा पार्षदोंका वरण आदि कुमारके सभी कार्योंको विश्वामित्रने लोकहितके लिये आवश्यक सिद्ध किया । अतः विश्वामित्र मुनि कुमारके अधिक प्रिय हो गये ॥ १४-१५ ॥

अन्वजानाच्च स्वाहाया रूपान्यत्वं महामुनिः ।
अब्रवीच्च मुनीन् सर्वान् नापराध्यन्ति वै स्त्रियः ॥ १६ ॥
श्रुत्वा तु तत्त्वतस्तस्मात् ते पत्नीः सर्वतोऽत्यजन् ।

महामुनि विश्वामित्रने यह जान लिया था कि स्वाहाने अन्य ऋषिपत्नियोंके रूप धारण करके अग्निदेवसे सम्बन्ध स्थापित किया था; इसलिये उन्होंने सब ऋषियोंसे कहा—'आपकी स्त्रियोंका कोई अपराध नहीं है' उनके मुखसे यथार्थ बात जानकर भी ऋषियोंने अपनी पत्नियोंको सर्वथा त्याग ही दिया ॥ १६½ ॥

मार्कण्डेय उवाच

स्कन्दं श्रुत्वा तदा देवा वासवं सहिताऽब्रुवन्॥ १७॥
अविषह्यबलं स्कन्दं जहि शक्राशु माचिरम्।
यदि वा न निहंस्येनं देवेन्द्रोऽयं भविष्यति॥ १८॥
त्रैलोक्यं संनिगृह्यास्मांस्त्वां च शक्र महाबल।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! उस समय स्कन्दके जन्म और बल-पराक्रमका समाचार सुनकर सब देवताओंने एकत्र हो इन्द्रसे कहा—'देवेश्वर! स्कन्दका बल असह्य है। शीघ्र उन्हें मार डालिये; विलम्ब न कीजिये। महाबली इन्द्र! यदि आप इन्हें अभी नहीं मारते हैं, तो ये त्रिलोकीको, हम सबको तथा आपको भी अपने वशमें करके 'देवेन्द्र' बन बैठेंगे'॥ १७-१८½॥

स तानुवाच व्यथितो बालोऽयं सुमहाबलः॥ १९॥
स्रष्टारमपि लोकानां युधि विक्रम्य नाशयेत्।
न बालमुत्सहे हन्तुमिति शक्रः प्रभाषते॥ २०॥

तब इन्द्रने व्यथित होकर उन देवताओंसे कहा—'देवताओ! यह बालक बड़ा बलवान् है। यह लोकस्रष्टा ब्रह्माको भी युद्धमें पराक्रम करके मार सकता है। अतः मुझमें इस बालकको मारनेका साहस नहीं है।' इन्द्र बार-बार यही बात दुहराने लगे॥ १९-२०॥

तेऽब्रुवन् नास्ति ते वीर्यं यत एवं प्रभाषसे।
सर्वास्त्वद्याभिगच्छन्तु स्कन्दं लोकस्य मातरः॥ २१॥
कामवीर्या घ्नन्तु चैनं तथेत्युक्त्वा च ता ययुः।

यह सुनकर देवता बोले—'आपमें अब बल और पराक्रम नहीं रह गया है, इसीलिये ऐसी बातें कहते हैं। हमारी राय है कि सम्पूर्ण लोकमातृकाएँ स्कन्दके पास जायँ। ये इच्छानुसार पराक्रम प्रकट कर सकती हैं; अतः स्कन्दको मार डालें।' तब 'बहुत अच्छा' कहकर वे मातृकाएँ वहाँसे चल दीं॥ २१½॥

तमप्रतिबलं दृष्ट्वा विषण्णवदनास्तु ताः॥ २२॥
अशक्योऽयं विचिन्त्यैवं तमेव शरणं ययुः।
ऊचुश्चैनं त्वमस्माकं पुत्रो भव महाबल॥ २३॥

परंतु स्कन्दका अप्रतिम बल देखकर उनके मुखपर उदासी छा गयी। वे सोचने लगीं—'इस वीरको पराजित करना असम्भव है।' ऐसा निश्चय होनेपर वे उन्हींकी शरणमें गयीं और बोलीं—'महाबली कुमार! तुम हमारे पुत्र हो जाओ, हमें माता मान लो॥ २२-२३॥

अभिनन्दस्व नः सर्वाः प्रस्नुताः स्नेहविक्लवाः।
तासां तद् वचनं श्रुत्वा पातुकामः स्तनान् प्रभुः॥ २४॥

'देखो, हम पुत्र-स्नेहसे विकल हो रही हैं, हमारे स्तनोंसे दूध झर रहा है, इसे पीकर हम सबको सम्मानित और आनन्दित करो।' मातृकाओंकी यह बात सुनकर समर्थ स्कन्दके मनमें उनके स्तनपानकी इच्छा जाग्रत् हो गयी॥

ताः सम्पूज्य महासेनः कामांश्चासां प्रदाय सः।
अपश्यदग्निमायान्तं पितरं बलिनां बली॥ २५॥

फिर महासेनने उन सबका समादर करके उनकी मनोवाञ्छा पूर्ण की। तदनन्तर बलवानोंमें बलिष्ठ वीर स्कन्दने अपने पिता अग्निदेवको आते देखा॥ २५॥

स तु सम्पूजितस्तेन सह मातृगणेन ह।
परिवार्य महासेनं रक्षमाणः स्थितः शिवः॥ २६॥

कुमार महासेनके द्वारा पूजित हो मङ्गलकारी अग्निदेव मातृकागणोंके साथ उन्हें घेरकर खड़े हो गये और उनकी रक्षा करने लगे॥ २६॥

सर्वासां या तु मातॄणां नारी क्रोधसमुद्भवा।
धात्री स्वपुत्रवत् स्कन्दं शूलहस्ताभ्यरक्षत॥ २७॥

उस समय सम्पूर्ण मातृकाओंके क्रोधसे जो एक नारी-मूर्ति प्रकट हुई थी, वह हाथमें त्रिशूल ले धायकी भाँति अपने पुत्रके समान प्रिय स्कन्दकी सब ओरसे रक्षा करने लगी॥ २७॥

लोहितस्योदधेः कन्या क्रूरा लोहितभोजना।
परिष्वज्य महासेनं पुत्रवत् पर्यरक्षत॥ २८॥

लाल सागरकी एक क्रूर स्वभाववाली कन्या थी, जिसका रक्त ही भोजन था। वह महासेनको पुत्रकी भाँति हृदयसे लगाकर सर्वतोभावेन उनकी रक्षा करने लगी॥ २८॥

अग्निर्भूत्वा नैगमेयश्छागवक्त्रो बहुप्रजः।
रमयामास शैलस्थं बालं क्रीडनकैरिव॥ २९॥

वेदप्रतिपादित अग्नि बकरेका-सा मुख बनाकर अनेक संतानोंके साथ उपस्थित हो पर्वतशिखरपर निवास करनेवाले बालक स्कन्दका इस प्रकार मन बहलाने लगे, मानो उन्हें खिलौनोंसे खेला रहे हों॥ २९॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे स्कन्दोत्पत्तौ षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २२६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसंगमें स्कन्दकी उत्पत्तिविषयक दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२६॥

सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराजित होकर शरणमें आये हुए इन्द्रसहित देवताओंको स्कन्दका अभयदान

मार्कण्डेय उवाच

ग्रहाः सोपग्रहाश्चैव ऋषयो मातरस्तथा।
हुताशनमुखाश्चैव दृप्ताः पारिषदां गणाः॥ १॥
एते चान्ये च बहवो घोरास्त्रिदिववासिनः।
परिवार्य महासेनं स्थिता मातृगणैः सह॥ २॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ग्रह, उपग्रह, ऋषि, मातृकागण और मुखसे आग उगलनेवाले दर्पयुक्त पार्षदगण—ये तथा दूसरे बहुत-से भयंकर स्वर्गवासी प्राणी मातृकागणोंके साथ रहकर महासेनको सब ओरसे घेरे हुए उनकी रक्षाके लिये खड़े थे॥ १-२॥

संदिग्धं विजयं दृष्ट्वा विजयेप्सुः सुरेश्वरः।
आरुह्यैरावतस्कन्धं प्रययौ दैवतैः सह॥ ३॥

देवेश्वर इन्द्रको अपनी विजयके विषयमें संदेह ही दिखायी देता था, तो भी वे विजयकी अभिलाषासे ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हो देवताओंके साथ आगे बढ़े॥ ३॥

आदाय वज्रं बलवान् सर्वैर्देवगणैर्वृतः।
विजिघांसुर्महासेनमिन्द्रस्तूर्णतरं ययौ॥ ४॥

सब देवताओंसे घिरे हुए बलवान् इन्द्र महासेनको मार डालनेकी इच्छासे हाथमें वज्र ले बड़े वेगसे अग्रसर हो रहे थे॥ ४॥

उग्रं तं च महानादं देवानीकं महाप्रभम्।
विचित्रध्वजसंनाहं नानावाहनकार्मुकम्॥ ५॥
प्रवराम्बरसंवीतं श्रिया जुष्टमलङ्कृतम्।
विजिघांसुं तमायान्तं कुमारः शक्रमन्वयात्॥ ६॥

देवताओंकी सेना बड़ी भयानक थी। उसमें जोर-जोरसे विकट गर्जना हो रही थी। उसकी प्रभाका विस्तार महान् था। उसके ध्वज और संनाह (कवच) विचित्र थे। सभी सैनिकोंके वाहन और धनुष नाना प्रकारके दिखायी देते थे। सबने श्रेष्ठ वस्त्रोंसे अपने शरीरको आच्छादित कर रक्खा था। सभी लोग श्रीसम्पन्न तथा विविध आभूषणोंसे विभूषित दिखायी देते थे। इन्द्रको अपने वधके लिये आते देख कुमारने भी उनपर धावा बोल दिया॥ ५-६॥

विनदन् पार्थ देवेशो द्रुतं याति महाबलः।
संहर्षयन् देवसेनां जिघांसुः पावकात्मजम्॥ ७॥

युधिष्ठिर! महाबली देवराज इन्द्र अग्निनन्दन स्कन्दको मार डालनेकी इच्छासे देवताओंकी सेनाका हर्ष बढ़ाते हुए तीव्र गतिसे विकट गर्जनाके साथ आगे बढ़ रहे थे॥ ७॥

सम्पूज्यमानस्त्रिदशैस्तथैव परमर्षिभिः।
समीपमथ सम्प्राप्तः कार्तिकेयस्य वासवः॥ ८॥
सिंहनादं ततश्चक्रे देवेशः सहितः सुरैः।
गुहोऽपि शब्दं तं श्रुत्वा व्यनदत् सागरो यथा॥ ९॥

उस समय सम्पूर्ण देवता और महर्षि उनका बड़ा सम्मान कर रहे थे। जब देवराज इन्द्र कुमार कार्तिकेयके निकट पहुँचे, तब उन्होंने देवताओंके साथ सिंहके समान गर्जना की। उनका वह सिंहनाद सुनकर कुमार कार्तिकेय भी समुद्रके समान भयंकर गर्जना करने लगे॥ ८-९॥

तस्य शब्देन महता समुद्धूतोदधिप्रभम्।
बभ्राम तत्र तत्रैव देवसैन्यमचेतनम्॥ १०॥

देवताओंकी सेना उमड़ते हुए समुद्रके समान जान पड़ती थी। परंतु स्कन्दकी भारी गर्जनासे अचेत-सी होकर वहीं चक्कर काटने लगी॥ १०॥

जिघांसूनुपसम्प्राप्तान् देवान् दृष्ट्वा स पावकिः।
विससर्ज मुखात् क्रुद्धः प्रवृद्धाः पावकार्चिषः॥ ११॥

अग्निकुमार स्कन्द यह देखकर कि देवतालोग मेरा वध करनेकी इच्छासे यहाँ एकत्र हुए हैं, कुपित हो उठे और अपने मुँहसे आगकी बढ़ती हुई लपटें छोड़ने लगे॥

अदहद् देवसैन्यानि वेपमानानि भूतले।
ते प्रदीप्तशिरोदेहाः प्रदीप्तायुधवाहनाः॥ १२॥

इस प्रकार उन्होंने देवताओंकी सेनाको जलाना प्रारम्भ किया। सारे सैनिक पृथ्वीपर गिरकर छटपटाने लगे। किसीका शरीर जल गया, किसीका सिर, किसीके आयुध जल गये और किसीके वाहन॥ १२॥

प्रच्युताः सहसा भान्ति व्यस्तास्तारागणा इव।
दह्यमानाः प्रपन्नास्ते शरणं पावकात्मजम्॥ १३॥
देवा वज्रधरं त्यक्त्वा ततः शान्तिमुपागताः।
त्यक्तो देवैस्ततः स्कन्दे वज्रं शक्रो न्यपातयत्॥ १४॥

वे सब-के-सब सहसा तितर-बितर हो आकाशमें बिखरे हुए तारोंके समान जान पड़ते थे। इस तरह जलते हुए देवता वज्रधारी इन्द्रका साथ छोड़कर अग्निनन्दन स्कन्दकी ही शरणमें आये, तब उन्हें शान्ति मिली। देवताओंके त्याग देनेपर इन्द्रने स्कन्दपर अपने वज्रका प्रहार किया॥ १३-१४॥

तद्विसृष्टं जघानाशु पार्श्वं स्कन्दस्य दक्षिणम्।
बिभेद च महाराज पार्श्वं तस्य महात्मनः॥ १५॥

महाराज ! इन्द्रके छोड़े हुए उस वज्रने शीघ्र ही कुमार कार्तिकेयकी दायीं पसलीपर गहरी चोट पहुँचायी और उन महामना स्कन्दके पार्श्वभागको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ १५ ॥

वज्रप्रहारात् स्कन्दस्य संजातः पुरुषोऽपरः।
युवा काञ्चनसंनाहः शक्तिधृग् दिव्यकुण्डलः॥ १६ ॥

वज्रका प्रहार होनेपर स्कन्दके (उस दक्षिण पार्श्वसे) एक दूसरा वीर पुरुष प्रकट हुआ, जिसकी युवावस्था थी। उसने सुवर्णमय कवच धारण कर रक्खा था। उसके एक हाथमें शक्ति चमक रही थी और कानोंमें दिव्य कुण्डल झलमला रहे थे ॥ १६ ॥

यद्वज्रविशनाज्जातो विशाखस्तेन सोऽभवत्।
संजातमपरं दृष्ट्वा कालानलसमद्युतिम्॥ १७ ॥
भयादिन्द्रस्तु तं स्कन्दं प्राञ्जलिः शरणं गतः।

वज्रके प्रविष्ट होनेसे उसकी उत्पत्ति हुई थी, इसलिये वह विशाख नामसे प्रसिद्ध हुआ। प्रलयकालकी अग्निके समान अत्यन्त तेजस्वी उस द्वितीय वीरको प्रकट हुआ देख इन्द्र भयसे थर्रा उठे और हाथ जोड़कर उन स्कन्ददेवकी शरणमें आये ॥ १७½ ॥

तस्याभयं ददौ स्कन्दः सह सैन्यस्य सत्तमः।
ततः प्रहृष्टास्त्रिदशा वादित्राण्यभ्यवादयन्॥ १८ ॥

तब सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ कुमार स्कन्दने सेनासहित इन्द्रको अभयदान दिया। इससे प्रसन्न होकर सब देवता (हर्षसूचक) बाजे बजाने लगे ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे इन्द्रस्कन्दसमागमे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें इन्द्र-स्कन्दसमागमविषयक दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्कन्दके पार्षदोंका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

स्कन्दपारिषदान् घोराञ्शृणुष्वाद्भुतदर्शनान्।
वज्रप्रहारात् स्कन्दस्य जज्ञुस्तत्र कुमारकाः॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! अब तुम स्कन्दके भयंकर पार्षदोंका वर्णन सुनो, जो देखनेमें बड़े अद्भुत हैं। वज्रका प्रहार होनेपर स्कन्दके शरीरसे वहाँ बहुत-से कुमार ग्रह उत्पन्न हुए ॥ १ ॥

ये हरन्ति शिशूञ्जातान् गर्भस्थांश्चैव दारुणाः।
वज्रप्रहारात् कन्याश्च जज्ञिरेऽस्य महाबलाः॥ २ ॥

वे क्रूर स्वभाववाले कुमारग्रह नवजात तथा गर्भस्थ शिशुओंको भी हर ले जाते हैं। इन्द्रके वज्र-प्रहारसे स्कन्दके शरीरसे वहाँ अत्यन्त बलशालिनी कन्याएँ भी उत्पन्न हुई थीं ॥ २ ॥

कुमारास्ते विशाखं च पितृत्वे समकल्पयन्।
स भूत्वा भगवान् संख्ये रक्षंश्छागमुखस्तदा॥ ३ ॥
वृतः कन्यागणैः सर्वैरात्मीयैः सह पुत्रकैः।
मातॄणां प्रेक्षमाणानां भद्रशाखश्च कौसलः॥ ४ ॥

पूर्वोक्त कुमार-ग्रहोंने विशाख (स्कन्द) को अपना पिता माना। भगवान् स्कन्द बकरेके समान मुख धारण करके समस्त कन्यागणों और अपने पुत्रोंसे घिरकर मातृकाओंके देखते-देखते युद्धमें अपने पक्षकी रक्षा करते हैं। वे ही 'भद्रशाख' तथा 'कौसल'नामसे प्रसिद्ध हुए हैं ॥ ३-४ ॥

ततः कुमारपितरं स्कन्दमाहुर्जना भुवि।
रुद्रमग्निमुमां स्वाहां प्रदेशेषु महाबलाम्॥ ५ ॥
यजन्ति पुत्रकामाश्च पुत्रिणश्च सदा जनाः।

इसीलिये भूतलके मनुष्य स्कन्दको कुमार-ग्रहोंका पिता कहते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानोंमें पुत्रवान् तथा पुत्रकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य अग्निस्वरूप रुद्र और स्वाहास्वरूपा महाबलवती उमाकी सदा आराधना करते हैं ॥ ५½ ॥

यास्तास्त्वजनयत् कन्यास्तपो नाम हुताशनः॥ ६ ॥
किं करोमीति ताः स्कन्दं सम्प्राप्ताः समभाषयन्।

तप नामक अग्निने जिन कन्याओंको जन्म दिया, वे सब स्कन्दके पास आयीं और पूछने लगीं—'हम क्या करें?' ॥ ६½ ॥

कुमार्य ऊचुः

भवेम सर्वलोकस्य मातरो वयमुत्तमाः॥ ७ ॥
प्रसादात् तव पूज्याश्च प्रियमेतत् कुरुष्व नः।

कुमारियाँ बोलीं—हम सब लोग सम्पूर्ण जगत्की श्रेष्ठ माताएँ हों और आपकी कृपासे हम सदा पूजनीय मानी जायँ, यही हमारा प्रिय मनोरथ है, आप इसे पूर्ण कीजिये ॥ ७½ ॥

सोऽब्रवीद् बाढमित्येवं भविष्यध्वं पृथग्विधाः॥ ८ ॥
शिवाश्चैवाशिवाश्चैव पुनः पुनरुदारधीः।
ततः संकल्प्य पुत्रत्वे स्कन्दं मातृगणोऽगमत्॥ ९ ॥

तब उदारबुद्धि स्कन्दने बार-बार कहा—'बहुत अच्छा,

तुम सब लोग पृथक्-पृथक् पूजनीया माता मानी जाओगी। तुम्हारे दो भेद होंगे—शिवा और अशिवा।' तदनन्तर स्कन्दको अपना पुत्र मानकर मातृकाएँ वहाँसे विदा हो गयीं ॥८-९॥

काकी च हलिमा चैव मालिनी बृंहता तथा।
आर्या पलाला वैमित्रा सप्तैताः शिशुमातरः ॥ १० ॥

काकी, हलिमा, मालिनी, बृंहता, आर्या, पलाला और वैमित्रा—ये सातों शिशुकी माताएँ हैं ॥ १० ॥

एतासां वीर्यसम्पन्नः शिशुर्नामातिदारुणः।
स्कन्दप्रसादजः पुत्रो लोहिताक्षो भयंकरः ॥ ११ ॥

भगवान् स्कन्दकी कृपासे इन्हें शिशु नामक एक अत्यन्त पराक्रमी पुत्र प्राप्त हुआ, जो अत्यन्त दारुण और भयंकर था। उसकी आँखें रक्तवर्णकी थीं ॥ ११ ॥

एष वीराष्टकः प्रोक्तः स्कन्दमातृगणोद्भवः।
छागवक्त्रेण सहितो नवकः परिकीर्त्यते ॥ १२ ॥

शिशु और मातृगणोंको लेकर जो आठ व्यक्ति होते हैं, उन्हें 'वीराष्टक' कहा गया है। बकरेके-से मुखसे युक्त स्कन्द-को सम्मिलित करनेसे यह समुदाय वीर-नवक कहा जाता है ॥ १२ ॥

षष्ठं छागमयं वक्त्रं स्कन्दस्यैवेति विद्धि तत्।
षट्शिरोऽभ्यन्तरं राजन् नित्यं मातृगणार्चितम् ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर ! स्कन्दका ही छठा मुख छागमय है, यह जान लो। राजन् ! वह छः सिरोंके बीचमें स्थित है और मातृकाएँ सदा उसकी पूजा करती हैं ॥ १३ ॥

षण्णां तु प्रवरं तस्य शीर्षाणामिह शब्दते।
शक्तिं येनासृजद् दिव्यां भद्रशाख इति स्म ह ॥ १४ ॥

स्कन्दके छहों मस्तकोंमें वही सर्वश्रेष्ठ बताया जाता है। उन्होंने दिव्यशक्तिका प्रयोग किया था; इसलिये उनका नाम भद्रशाख हुआ ॥ १४ ॥

इत्येतद् विविधाकारं वृत्तं शुक्लस्य पञ्चमीम्।
तत्र युद्धं महाघोरं वृत्तं षष्ठ्यां जनाधिप ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार शुक्लपक्षकी पञ्चमी तिथिको विविध आकारवाले पार्षदोंकी सृष्टि हुई और षष्ठीको वहाँ अत्यन्त भयंकर युद्ध हुआ ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे कुमारोत्पत्तौ अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसंगमें कुमारोत्पत्तिविषयक दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२८ ॥

एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्कन्दका इन्द्रके साथ वार्तालाप, देवसेनापतिके पदपर अभिषेक तथा देवसेनाके साथ उनका विवाह

मार्कण्डेय उवाच

उपविष्टं तु तं स्कन्दं हिरण्यकवचस्रजम्।
हिरण्यचूडमुकुटं हिरण्याक्षं महाप्रभम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! स्कन्द सोनेका कवच, सोनेकी माला और सोनेकी कलँगीसे सुशोभित मुकुट धारण किये (सुन्दर आसनपर) बैठे थे। उनके नेत्रोंसे सुवर्ण-की-सी ज्योति छिटक रही थी और उनके शरीरसे महान् तेजःपुञ्ज प्रकट हो रहा था ॥ १ ॥

लोहिताम्बरसंवीतं तीक्ष्णदंष्ट्रं मनोरमम्।
सर्वलक्षणसम्पन्नं त्रैलोक्यस्यापि सुप्रियम् ॥ २ ॥

उन्होंने लाल रंगके वस्त्रसे अपने अङ्गोंको आच्छादित कर रक्खा था। उनके दाँत बड़े तीखे थे और उनकी आकृति मनको लुभा लेनेवाली थी। वे समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न तथा तीनों लोकोंके लिये अत्यन्त प्रिय थे ॥ २ ॥

ततस्तं वरदं शूरं युवानं मृष्टकुण्डलम्।
अभजत् पद्मरूपा श्रीः स्वयमेव शरीरिणी ॥ ३ ॥

तदनन्तर वर देनेमें समर्थ, शौर्य-सम्पन्न, युवा अवस्थासे सुशोभित तथा सुन्दर कुण्डलोंसे अलंकृत कुमार कार्तिकेयका कमलके समान कान्तिवाली मूर्तिमती शोभाने स्वयं ही सेवन किया ॥ ३ ॥

श्रिया जुष्टः पृथुयशाः स कुमारवरस्तदा।
निषण्णो दृश्यते भूतैः पौर्णमास्यां यथा शशी ॥ ४ ॥

मूर्तिमती शोभासे सेवित हो वहाँ बैठे हुए महायशस्वी सुन्दरकुमारको उस समय सब प्राणी पूर्णमासीके चन्द्रमाकी भाँति देखते थे ॥ ४ ॥

अपूजयन् महात्मानो ब्राह्मणास्तं महाबलम्।
इदमाहुस्तदा चैव स्कन्दं तत्र महर्षयः ॥ ५ ॥

महामना ब्राह्मणोंने महाबली स्कन्दकी पूजा की और सब महर्षियोंने वहाँ आकर उनका इस प्रकार स्तवन किया ॥५॥

ऋषय ऊचुः

हिरण्यगर्भ भद्रं ते लोकानां शङ्करो भव।
त्वया षड्रात्रजातेन सर्वे लोका वशीकृताः ॥ ६ ॥

ऋषि बोले—हिरण्यगर्भ ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम समस्त जगत्‌के लिये कल्याणकारी बनो। तुम्हारे पैदा हुए अभी

छः रातें ही बीती होंगी। इतनेमें ही तुमने समस्त लोकोंको अपने वशमें कर लिया है ॥ ६ ॥

अभयं च पुनर्दत्तं त्वयैवैषां सुरोत्तम।
तस्मादिन्द्रो भवानस्तु त्रैलोक्यस्याभयंकरः ॥ ७ ॥

सुरश्रेष्ठ ! फिर तुम्हींने इन सब लोकोंको अभय दान दिया है। अतः आजसे तुम इन्द्र होकर रहो और तीनों लोकोंके भयका निवारण करो ॥ ७ ॥

स्कन्द उवाच

किमिन्द्रः सर्वलोकानां करोतीह तपोधनाः।
कथं देवगणांश्चैव पाति नित्यं सुरेश्वरः ॥ ८ ॥

स्कन्द बोले—तपोधनो ! इन्द्र इस पदपर रहकर सम्पूर्ण लोकोंके लिये क्या करते हैं तथा वे देवेश्वर सदा समस्त देवताओंकी किस प्रकार रक्षा करते हैं ? ॥ ८ ॥

ऋषय ऊचुः

इन्द्रो दधाति भूतानां बलं तेजः प्रजाः सुखम्।
तुष्टः प्रयच्छति तथा सर्वान् कामान् सुरेश्वरः ॥ ९ ॥

ऋषि बोले—देवराज इन्द्र संतुष्ट होनेपर सम्पूर्ण प्राणियोंको बल, तेज, संतान और सुखकी प्राप्ति कराते हैं तथा उनकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करते हैं ॥ ९ ॥

दुर्वृत्तानां संहरति व्रतस्थानां प्रयच्छति।
अनुशास्ति च भूतानि कार्येषु बलसूदनः ॥ १० ॥

वे दुष्टोंका संहार करते और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले सत्पुरुषोंको जीवन दान देते हैं। बल नामक दैत्यका विनाश करनेवाले इन्द्र सभी प्राणियोंको आवश्यक कार्योंमें लगनेका आदेश देते हैं ॥ १० ॥

असूर्ये च भवेत् सूर्यस्तथाचन्द्रे च चन्द्रमाः।
भवत्यग्निश्च वायुश्च पृथिव्यापश्च कारणैः ॥ ११ ॥

सूर्यके अभावमें वे स्वयं ही सूर्य होते हैं और चन्द्रमाके न रहनेपर स्वयं ही चन्द्रमा बनकर उनका कार्य सम्पादन करते हैं। आवश्यकता पड़नेपर वे ही अग्नि, वायु, पृथिवी और जलका स्वरूप धारण कर लेते हैं ॥ ११ ॥

एतदिन्द्रेण कर्तव्यमिन्द्रे हि विपुलं बलम्।
त्वं च वीर बली श्रेष्ठस्तस्मादिन्द्रो भवस्व नः ॥ १२ ॥

यह सब इन्द्रका कार्य है। इन्द्रमें अपरिमित बल होता है। वीर ! तुम भी श्रेष्ठ बलवान् हो। अतः तुम्हीं हमारे इन्द्र हो जाओ ॥ १२ ॥

शक्र उवाच

भवस्वेन्द्रो महाबाहो सर्वेषां नः सुखावहः।
अभिषिच्यस्व चैवाद्य प्राप्तरूपोऽसि सत्तम ॥ १३ ॥

इन्द्रने कहा—महाबाहो ! तुम्हीं इन्द्र बनो और हम सबको सुख पहुँचाओ। सज्जनशिरोमणे ! तुम इस पदके सर्वथा योग्य हो। अतः आज ही इस पद-पर अपना अभिषेक करा लो ॥ १३ ॥

स्कन्द उवाच

शाधि त्वमेव त्रैलोक्यमव्यग्रो विजये रतः।
अहं ते किङ्करः शक्र न ममेन्द्रत्वमीप्सितम् ॥ १४ ॥

स्कन्द बोले—इन्द्रदेव ! आप ही स्वस्थचित्त होकर तीनों लोकोंका शासन कीजिये और विजयप्राप्तिके कार्यमें संलग्न रहिये। मैं तो आपका सेवक हूँ। मुझे इन्द्र बननेकी इच्छा नहीं है ॥ १४ ॥

शक्र उवाच

बलं तवाद्भुतं वीर त्वं देवानामरीन् जहि।
अवज्ञास्यन्ति मां लोका वीर्येण तव विस्मिताः ॥ १५ ॥
इन्द्रत्वे तु स्थितं वीर बलहीनं पराजितम्।
आवयोश्च मिथो भेदे प्रयतिष्यन्त्यतन्द्रिताः ॥ १६ ॥

इन्द्रने कहा—वीर ! तुम्हारा बल अद्भुत है, अतः तुम्हीं देव-शत्रुओंका संहार करो। वीरवर ! मैं तुम्हारे सामने पराजित होकर बलहीन सिद्ध हो गया हूँ। अतः तुम्हारे पराक्रमसे चकित होकर लोग मेरी अवहेलना करेंगे। यदि मैं इन्द्र पदपर स्थित रहूँ, तो भी सब लोग मेरा उपहास करेंगे और आलस्य छोड़कर हम दोनोंमें परस्पर फूट डालनेका प्रयत्न करेंगे ॥ १५-१६ ॥

भेदिते च त्वयि विभो लोको द्वैधमुपेष्यति।
द्विधाभूतेषु लोकेषु निश्चितेष्वावयोस्तथा ॥ १७ ॥
विग्रहः सम्प्रवर्तेत भूतभेदान्महाबल।
तत्र त्वं मां रणे तात यथाश्रद्धं विजेष्यसि ॥ १८ ॥
तस्मादिन्द्रो भवानेव भविता मा विचारय।

प्रभो ! यदि तुम फूट जाओगे, तो जगत्के प्राणी दो भागोंमें बट जायँगे। महाबलवान् वीर ! सम्पूर्ण लोकोंके निश्चय ही दो दलोंमें बट जाने तथा लोगोंके द्वारा भेदबुद्धि उत्पन्न किये जानेपर हम लोगोंमें युद्ध प्रारम्भ हो सकता है। तात ! उस युद्धमें जैसा कि मेरा विश्वास है, तुम्हीं विजयी होओगे। अतः तुम्हीं इन्द्र हो जाओ। इस विषयमें कोई दूसरी बात मत सोचो ॥ १७-१८½ ॥

स्कन्द उवाच

त्वमेव राजा भद्रं ते त्रैलोक्यस्य ममैव च ॥ १९ ॥
करोमि किं च ते शक्र शासनं तद् ब्रवीहि मे।

स्कन्द बोले—देवेन्द्र ! आप ही देवराजके पदपर प्रतिष्ठित रहें। आपका कल्याण हो। आप ही तीनों लोकोंके तथा मेरे भी स्वामी हैं। आपकी किस आज्ञाका पालन करूँ ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १९½ ॥

इन्द्र उवाच

अहमिन्द्रो भविष्यामि तव वाक्यान्महाबल ॥ २० ॥
यदि सत्यमिदं वाक्यं निश्चयाद् भाषितं त्वया ।
यदि वा शासनं स्कन्द कर्तुमिच्छसि मे शृणु ॥ २१ ॥
अभिषिच्यस्व देवानां सैनापत्ये महाबल ।

इन्द्रने कहा—महाबलवान् स्कन्द ! मैं तुम्हारे कहनेसे इन्द्र-पदपर प्रतिष्ठित रहूँगा । यदि वास्तवमें तुम मेरी आज्ञाका पालन करना चाहते हो, यदि तुमने यह निश्चित बात कही है अथवा यदि तुम्हारा यह कथन सत्य है, तो मेरी यह बात सुनो—महावीर ! तुम देवताओंके सेनापतिके पदपर अपना अभिषेक करा लो ॥ २०-२१½ ॥

स्कन्द उवाच

दानवानां विनाशाय देवानामर्थसिद्धये ॥ २२ ॥
गोब्राह्मणहितार्थाय सैनापत्येऽभिषिञ्च माम् ।

स्कन्द बोले—देवराज ! दानवोंके विनाश, देवताओंके कार्यकी सिद्धि तथा गौओं और ब्राह्मणोंके हितके लिये आप सेनापतिके पदपर मेरा अभिषेक कीजिये ।२२½।

मार्कण्डेय उवाच

सोऽभिषिक्तो मघवता सर्वैर्देवगणैः सह ॥ २३ ॥
अतीव शुशुभे तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।
तत्र तत् काञ्चनं छत्रं ध्रियमाणं व्यरोचत ॥ २४ ॥
यथैव सुसमिद्धस्य पावकस्यात्ममण्डलम् ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर समस्त देवताओंसहित इन्द्रने कुमारका देवसेनापतिके पदपर अभिषेक कर दिया । उस समय वहाँ महर्षियोंद्वारा पूजित होकर स्कन्दकी बड़ी शोभा हुई । उनके ऊपर तना हुआ वह सुवर्णमय छत्र उद्भासित हो रहा था, मानो प्रज्वलित अग्निका अपना ही मण्डल प्रकाशित होता हो ।२३-२४½।

विश्वकर्मकृता चास्य दिव्या माला हिरण्मयी ॥ २५ ॥
आबद्धा त्रिपुरघ्नेन स्वयमेव यशस्विना ।
आगम्य मनुजव्याघ्र सह देव्या परंतप ॥ २६ ॥

नरश्रेष्ठ परंतप युधिष्ठिर ! साक्षात् त्रिपुरनाशक यशस्वी भगवान् शिव तथा देवी पार्वतीने वहाँ पधारकर स्कन्दके गलेमें विश्वकर्माकी बनायी हुई सोनेकी दिव्य माला पहनायी ॥ २५-२६ ॥

अर्चयामास सुप्रीतो भगवान् गोवृषध्वजः ।
रुद्रमग्निं द्विजाः प्राहू रुद्रसूनुस्ततस्तु सः ॥ २७ ॥

भगवान् वृषध्वज (शिव) ने अत्यन्त प्रसन्न होकर स्कन्दका समादर किया । ब्राह्मणलोग अग्निको रुद्रका स्वरूप बताते हैं, इसलिये स्कन्द भगवान् रुद्रके ही पुत्र हैं ॥ २७ ॥

रुद्रेण शुक्रमुत्सृष्टं तच्छ्वेतः पर्वतोऽभवत् ।
पावकस्येन्द्रियं श्वेते कृत्तिकाभिः कृतं नगे ॥ २८ ॥

रुद्रने जिस वीर्यका त्याग किया था, वही श्वेत पर्वतके रूपमें परिणत हो गया । फिर कृत्तिकाओंने अग्निके वीर्यको श्वेत पर्वतपर पहुँचाया था ॥ २८ ॥

पूज्यमानं तु रुद्रेण दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः ।
रुद्रसूनुं ततः प्राहुर्गुहं गुणवतां वरम् ॥ २९ ॥

भगवान् रुद्रके द्वारा गुणवानोंमें श्रेष्ठ कुमार कार्तिकेयका सम्मान होता देख सब देवता कहने लगे, 'ये रुद्रके ही पुत्र हैं ॥ २९ ॥

अनुप्रविश्य रुद्रेण वह्निं जातो ह्ययं शिशुः ।
तत्र जातस्ततः स्कन्दो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥ ३० ॥

'रुद्रने अग्निमें प्रवेश करके इस शिशुको जन्म दिया है । रुद्रस्वरूप अग्निसे उत्पन्न होनेके कारण स्कन्द रुद्रके ही पुत्र कहलाये' ॥ ३० ॥

रुद्रस्य वह्नेः स्वाहायाः षण्णां स्त्रीणां च भारत ।
जातः स्कन्दः सुरश्रेष्ठो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥ ३१ ॥

भारत ! सुरश्रेष्ठ स्कन्दका जन्म रुद्रस्वरूप अग्निसे, स्वाहासे तथा छः स्त्रियोंसे हुआ था । इसलिये वे भगवान् रुद्रके पुत्र हुए ॥ ३१ ॥

अरजे वाससी रक्ते वसानः पावकात्मजः ।
भाति दीप्तवपुः श्रीमान् रक्ताभ्राभ्यामिवांशुमान् ॥ ३२ ॥

अग्निनन्दन स्कन्द लाल रंगके दो स्वच्छ वस्त्र धारण किये कान्तिमान् एवं तेजस्वी शरीरसे ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो दो लाल बादलोंके साथ भगवान् अंशुमाली (सूर्य) सुशोभित हो रहे हों ॥ ३२ ॥

कुक्कुटश्चाग्निना दत्तस्तस्य केतुरलंकृतः ।
रथे समुच्छ्रितो भाति कालाग्निरिव लोहितः ॥ ३३ ॥

अग्निदेवने स्कन्दके लिये कुक्कुटके चिह्नसे अलंकृत ऊँचा ध्वज प्रदान किया था, जो रथपर अपनी अरुण प्रभासे प्रलयाग्निके समान उद्भासित होता था ॥ ३३ ॥

या चेष्टा सर्वभूतानां प्रभा शान्तिर्बलं तथा ।
अग्रतस्तस्य सा शक्तिर्देवानां जयवर्धिनी ॥ ३४ ॥

सम्पूर्ण भूतोंमें जो चेष्टा, प्रभा, शान्ति और बल है, वही कुमार कार्तिकेयके सम्मुख शक्ति रूपमें उपस्थित है । वह देवताओंकी विजयश्रीको बढ़ानेवाली है ॥ ३४ ॥

विवेश कवचं चास्य शरीरे सहजं तथा ।
युध्यमानस्य देवस्य प्रादुर्भवति तत् सदा ॥ ३५ ॥

तथा उन स्कन्ददेवके शरीरमें सहज (स्वाभाविक)

कवचका प्रवेश हो गया, जो सदा उनके युद्ध करते समय प्रकट होता था ॥ ३५ ॥

शक्तिर्धर्मो बलं तेजः कान्तत्वं सत्यमुन्नतिः ।
ब्रह्मण्यत्वमसम्मोहो भक्तानां परिरक्षणम् ॥ ३६ ॥
निकृन्तनं च शत्रूणां लोकानां चाभिरक्षणम् ।
स्कन्देन सह जातानि सर्वाण्येव जनाधिप ॥ ३७ ॥

राजन् ! शक्ति, धर्म, बल, तेज, कान्ति, सत्य, उन्नति, ब्राह्मणभक्ति, असम्मोह (विवेक), भक्तजनोंकी रक्षा, शत्रुओंका संहार और समस्त लोकोंका पालन—ये सारे गुण स्कन्दके साथ ही उत्पन्न हुए थे ॥ ३६-३७ ॥

एवं देवगणैः सर्वैः सोऽभिषिक्तः स्वलंकृतः ।
बभौ प्रतीतः सुमनाः परिपूर्णेन्दुमण्डलः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार समस्त देवताओंद्वारा सेनापतिके पदपर अभिषिक्त होकर विविध आभूषणोंसे विभूषित, विशुद्ध एवं प्रसन्न हृदयवाले स्कन्द पूर्ण चन्द्रमण्डलके समान सुशोभित हुए ॥ ३८ ॥

इष्टैः स्वाध्यायघोषैश्च देवतूर्यवरैरपि ।
देवगन्धर्वगीतैश्च सर्वैरप्सरसां गणैः ॥ ३९ ॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिस्तुष्टैर्हृष्टैः स्वलंकृतैः ।
सुसंवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा ॥ ४० ॥

उस समय अत्यन्त प्रिय लगनेवाले वेदमन्त्रोंकी ध्वनि सब ओर गूँज उठी, देवताओंके उत्तम वाद्य भी बजने लगे, देव और गन्धर्व गीत गाने लगे और समस्त अप्सराएँ नृत्य करने लगीं । ये तथा और भी बहुत-से देवगण एवं पिशाचसमूह विविध अलंकारोंसे अलंकृत, हर्षोत्फुल्ल और संतुष्ट हो स्कन्दको घेरकर खड़े थे ॥ ३९-४० ॥

क्रीडन् भाति तदा देवैरभिषिक्तश्च पावकिः ।
अभिषिक्तं महासेनमपश्यन्त दिवौकसः ॥ ४१ ॥
विनिहत्य तमः सूर्यं यथेहाभ्युदितं तथा ।

उस समय इन सबसे घिरे हुए अग्निनन्दन कार्तिकेय देवताओंद्वारा अभिषिक्त हो भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे । देवताओंने सेनापति पदपर अभिषिक्त हुए कुमार महासेनको इस प्रकार देखा, मानो सूर्यदेव अन्धकारका नाश करके उदित हुए हों ॥ ४१½ ॥

अथैनमभ्ययुः सर्वा देवसेनाः सहस्रशः ॥ ४२ ॥
अस्माकं त्वं पतिरिति ब्रुवाणाः सर्वतो दिशः ।

तदनन्तर सारी देवसेनाएँ सहस्रोंकी संख्यामें सब दिशाओंसे उनके पास आयीं और कहने लगीं—'आप ही हमारे पति हैं' ॥ ४२½ ॥

ताः समासाद्य भगवान् सर्वभूतगणैर्वृतः ॥ ४३ ॥
अर्चितस्तु स्तुतश्चैव सान्त्वयामास ता अपि ।

समस्त भूतगणोंसे घिरे हुए भगवान् स्कन्दने उन देवसेनाओंको अपने समीप पाकर उन्हें सान्त्वना दी और स्वयं भी उनके द्वारा पूजित तथा प्रशंसित हुए ॥ ४३½ ॥

शतक्रतुश्चाभिषिच्य स्कन्दं सेनापतिं तदा ॥ ४४ ॥
सस्मार तां देवसेनां या सा तेन विमोक्षिता ।

उस समय इन्द्रने स्कन्दको सेनापतिके पदपर अभिषिक्त करनेके पश्चात् उस कुमारी देवसेनाका स्मरण किया, जिसका उन्होंने केशीके हाथसे उद्धार किया था ॥ ४४½ ॥

अयं तस्याः पतिर्नूनं विहितो ब्रह्मणा स्वयम् ॥ ४५ ॥
विचिन्त्येत्यानयामास देवसेनां ह्यलंकृताम् ।

उन्होंने सोचा, स्वयं ब्रह्माजीने निश्चय ही कुमार कार्तिकेयको ही उसका पति नियत किया है । यह सोचकर वे देवसेनाको वस्त्राभूषणोंसे भूषित करके ले आये ॥ ४५½ ॥

स्कन्दं प्रोवाच बलभिदियं कन्या सुरोत्तम ॥ ४६ ॥
अजाते त्वयि निर्दिष्टा तव पत्नी स्वयम्भुवा ।
तस्मात् त्वमस्या विधिवत् पाणिं मन्त्रपुरस्कृतम् ॥
गृहाण दक्षिणं देव्याः पाणिना पद्मवर्चसा ।
एवमुक्तः स जग्राह तस्याः पाणिं यथाविधि ॥ ४८ ॥

फिर बलसंहारक इन्द्रने स्कन्दसे कहा—'सुरश्रेष्ठ ! तुम्हारे जन्म लेनेके पहलेसे ही ब्रह्माजीने इस कन्याको तुम्हारी पत्नी नियत की है, अतः तुम वेदमन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक इसका विधिवत् पाणिग्रहण करो । अपने कमलकी-सी कान्तिवाले हाथसे इस देवीका दायाँ हाथ पकड़ो ।' इन्द्रके ऐसा कहनेपर स्कन्दने विधिपूर्वक देवसेनाका पाणिग्रहण किया ॥



बृहस्पतिर्मन्त्रविद्धि जजाप च जुहाव च।
एवं स्कन्दस्य महिषीं देवसेनां विदुर्जनाः ॥ ४९ ॥

उस समय मन्त्रवेत्ता बृहस्पतिजीने वेदमन्त्रोंका जप और होम किया। इस प्रकार सब लोग यह जान गये कि देवसेना कुमार कार्तिकेयकी पटरानी है ॥ ४९ ॥

षष्ठीं यां ब्राह्मणाः प्राहुर्लक्ष्मीमाशां सुखप्रदाम्।
सिनीवालीं कुहूं चैव सद्वृत्तिमपराजिताम् ॥ ५० ॥

उसीको ब्राह्मणलोग षष्ठी, लक्ष्मी, आशा, सुखप्रदा, सिनीवाली, कुहू, सद्वृत्ति तथा अपराजिता कहते हैं ॥५०॥

यदा स्कन्दः पतिर्लब्धः शाश्वतो देवसेनया।
तदा तमाश्रयल्लक्ष्मीः स्वयं देवी शरीरिणी ॥ ५१ ॥

जब देवसेनाने स्कन्दको अपने सनातन पतिके रूपमें प्राप्त कर लिया, तब (शोभास्वरूपा) लक्ष्मीदेवीने स्वयं मूर्तिमती होकर उनका आश्रय लिया ॥ ५१ ॥

श्रीजुष्टः पञ्चमीं स्कन्दस्तस्माच्छ्रीपञ्चमी स्मृता।
षष्ठ्यां कृतार्थोऽभूद् यस्मात् तस्मात् षष्ठी महातिथिः ॥

पञ्चमी तिथिको स्कन्ददेव श्री अर्थात् शोभासे सेवित हुए, इसलिये उस तिथिको श्रीपञ्चमी कहते हैं और षष्ठीको कृतार्थ हुए थे, इसलिये षष्ठी महातिथि मानी गयी है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे स्कन्दोपाख्याने एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसंगमें स्कन्दोपाख्यानसम्बन्धी दो सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२९ ॥

त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कृत्तिकाओंको नक्षत्रमण्डलमें स्थानकी प्राप्ति तथा मनुष्योंको कष्ट देनेवाले विविध ग्रहोंका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

श्रिया जुष्टं महासेनं देवसेनापतिं कृतम्।
सप्तर्षिपत्न्यः षड् देव्यस्तत्सकाशमथागमन् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! कुमार महासेनको श्रीसम्पन्न और देवताओंका सेनापति हुआ देख सप्तर्षियोंमेंसे छःकी पत्नियाँ उनके पास आयीं ॥ १ ॥

ऋषिभिः सम्परित्यक्ता धर्मयुक्ता महाव्रताः।
द्रुतमागम्य चोचुस्ता देवसेनापतिं प्रभुम् ॥ २ ॥

वे धर्मपरायणा तथा महान् पातिव्रत्यका पालन करनेवाली थीं, तो भी ऋषियोंने उन्हें त्याग दिया था। अतः उन्होंने देवसेनाके स्वामी भगवान् स्कन्दके पास शीघ्रतापूर्वक आकर कहा—॥ २ ॥

वयं पुत्र परित्यक्ता भर्तृभिर्देवसम्मितैः।
अकारणाद् रुषा तैस्तु पुण्यस्थानात् परिच्युताः ॥ ३ ॥

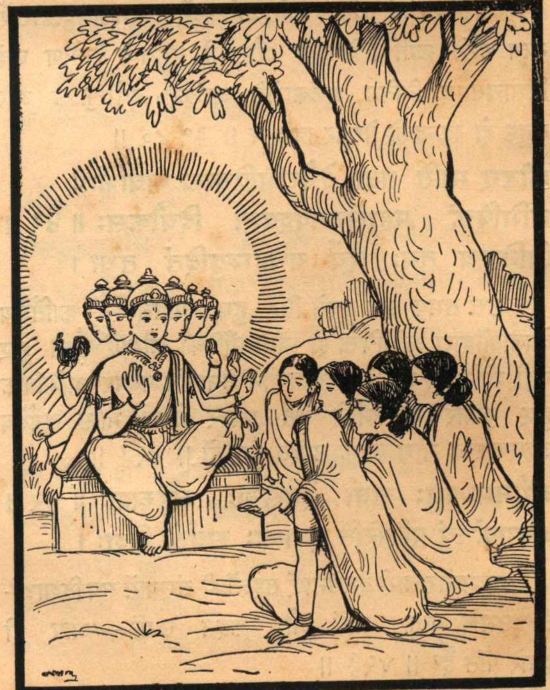
'बेटा! हमारे देवतुल्य पतियोंने अकारण रुष्ट होकर हमें त्याग दिया है, इसलिये (हम) पुण्यलोकसे च्युत हो गयी हैं ॥ ३॥

अस्माभिः किल जातस्त्वमिति केनाप्युदाहृतम्।
तत् सत्यमेतत् संश्रुत्य तस्मान्नस्त्रातुमर्हसि ॥ ४ ॥

'उन्हें किसीने यह बता दिया है कि तुम हमारे गर्भसे उत्पन्न हुए हो, (परंतु ऐसी बात नहीं है।) अतः हमारे सत्य कथनको सुनकर तुम इस संकटसे हमारी रक्षा करो ॥ ४ ॥

अक्षयश्च भवेत् स्वर्गस्त्वत्प्रसादाद्धि नः प्रभो।
त्वां पुत्रं चाप्यभीप्सामः कृत्वैतदनृणो भव ॥ ५ ॥

'प्रभो! तुम्हारी कृपासे हमें अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है। इसके सिवा हम तुम्हें अपना पुत्र भी बनाये रखना चाहती हैं। यह सब कार्य सम्पन्न करके तुम हमसे उऋण हो जाओ' ॥ ५ ॥



स्कन्द उवाच

मातरो हि भवत्यो मे सुतो वोऽहमनिन्दिताः।

यद्वापीच्छत तत् सर्वं सम्भविष्यति वस्तथा ॥ ६ ॥

स्कन्द बोले—वन्दनीय सतियो ! आपलोग मेरी माताएँ हैं और मैं आप सबका पुत्र हूँ। इसके सिवा यदि आप लोगोंकी और कोई इच्छा हो, तो वह भी पूर्ण हो जायगी ॥६॥

मार्कण्डेय उवाच

विवक्षन्तं ततः शक्रं किं कार्यमिति सोऽब्रवीत्।
उक्तः स्कन्देन ब्रूहीति सोऽब्रवीद् वासवस्ततः॥ ७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर इन्द्रको कुछ कहनेके लिये उत्सुक देख स्कन्दने पूछा—'क्या काम है, कहिये ।' स्कन्दके इस प्रकार आदेश देनेपर इन्द्र बोले— ॥ ७ ॥

अभिजित् स्पर्धमाना तु रोहिण्या अनुजा स्वसा।
इच्छन्ती ज्येष्ठतां देवी तपस्तप्तुं वनं गता ॥ ८ ॥

'रोहिणीकी छोटी बहिन अभिजित् देवी स्पर्धाके कारण ज्येष्ठता पानेकी इच्छासे तपस्या करनेके लिये वनमें चली गयी है ॥ ८ ॥

तत्र मूढोऽस्मि भद्रं ते नक्षत्रं गगनाच्च्युतम्।
कालं त्विमं परं स्कन्द ब्रह्मणा सह चिन्तय ॥ ९ ॥

'तुम्हारा कल्याण हो, आकाशसे यह एक नक्षत्र च्युत हो गया है; (इसकी पूर्ति कैसे हो ?) इस प्रश्नको लेकर मैं किंकर्तव्यविमूढ हो गया हूँ । स्कन्द ! तुम ब्रह्माजीके साथ मिलकर इस उत्तम काल (मुहूर्त या नक्षत्र) की पूर्तिके उपायका विचार करो ॥ ९ ॥

धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिकल्पितः।
रोहिणी ह्यभवत् पूर्वमेवं संख्या समाभवत्॥ १० ॥

'अभिजित्का पतन होनेसे ब्रह्माजीने धनिष्ठासे ही (सत्ययुग आदि) कालकी गणनाका क्रम निश्चित किया (क्योंकि वही उस समय युगादि नक्षत्र था) । इसके पूर्व रोहिणीको ही युगादि नक्षत्र माना जाता था (क्योंकि उसीके प्रारम्भ-कालमें चन्द्रमा, सूर्य तथा गुरुका योग होता था)—इस प्रकार नाक्षत्र मासकी दिन-संख्या उन दिनों सम थी' ॥ १० ॥

एवमुक्ते तु शक्रेण त्रिदिवं कृत्तिका गताः।
नक्षत्रं सप्तशीर्षाभं भाति तद् वह्निदैवतम्॥ ११ ॥

इन्द्रके उपर्युक्त प्रस्ताव करनेपर उनका आशय समझकर छहों कृत्तिकाएँ अभिजित्के स्थानकी पूर्ति करनेके लिये आकाशमें चली गयीं । वह अग्निदेवतासम्बन्धी कृत्तिका नक्षत्र सात सिरोंकी आकृतिमें प्रकाशित हो रहा है ॥ ११ ॥

विनता चाब्रवीत् स्कन्दं मम त्वं पिण्डदः सुतः।
इच्छामि नित्यमेवाहं त्वया पुत्र सहासितुम्॥ १२ ॥

गरुड़जातीय विनताने स्कन्दसे कहा—'बेटा ! तुम मेरे पिण्डदाता पुत्र हो । मैं सदा तुम्हारे साथ रहना चाहती हूँ' ॥ १२ ॥

स्कन्द उवाच

एवमस्तु नमस्तेऽस्तु पुत्रस्नेहात् प्रशाधि माम्।
स्नुषया पूज्यमाना वै देवि वत्स्यसि नित्यदा ॥ १३ ॥

स्कन्दने कहा—एवमस्तु (ऐसा ही हो), मा ! तुम्हें नमस्कार है । तुम मेरे ऊपर पुत्रोचित स्नेह रखकर कर्तव्यका आदेश देती रहो । देवि ! तुम यहाँ सदा अपनी पुत्रवधू देवसेनाद्वारा सम्मानित होकर रहोगी ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अथ मातृगणः सर्वः स्कन्दं वचनमब्रवीत्।
वयं सर्वस्य लोकस्य मातरः कविभिः स्तुताः।
इच्छामो मातरस्तुभ्यं भवितुं पूजयस्व नः ॥ १४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर समस्त मातृगणोंने आकर स्कन्दसे कहा—'बेटा ! विद्वानोंने हमें सम्पूर्ण लोकोंकी माताएँ कहकर हमारी स्तुति की है । अब हम तुम्हारी माता होना चाहती हैं । तुम मातृभावसे हमारा पूजन करो' ॥ १४ ॥

स्कन्द उवाच

मातरो हि भवत्यो मे भवतीनामहं सुतः।
उच्यतां यन्मया कार्यं भवतीनामथेप्सितम्॥ १५ ॥

स्कन्दने कहा—आप मेरी माताएँ हैं । मैं आप-लोगोंका पुत्र हूँ । मुझसे सिद्ध होने योग्य जो आपका अभीष्ट कार्य हो, उसे बताइये ॥ १५ ॥

मातर ऊचुः

यास्तु ता मातरः पूर्वं लोकस्यास्य प्रकल्पिताः।
अस्माकं तु भवेत् स्थानं तासां चैव न तद् भवेत्॥ १६ ॥

माताओंने कहा—(ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि) सुप्रसिद्ध लोकमाताएँ जो पहलेसे इस सम्पूर्ण जगत्की माताओंके स्थानपर प्रतिष्ठित हों, (वे अपना पद छोड़ दें ।) उनके उस स्थानपर अब हमारा अधिकार हो जाय । उनका उसपर कोई अधिकार न रहे ॥ १६ ॥

भवेम पूज्या लोकस्य न ताः पूज्याः सुरर्षभ।
प्रजाऽस्माकं हृतास्ताभिस्त्वत्कृते ताः प्रयच्छ नः॥१७॥

सुरश्रेष्ठ ! हम सम्पूर्ण जगत्की पूजनीया हों । जो पहले मातृकाएँ थीं, उनकी अब पूजा न हो । उन्होंने तुम्हारे लिये हमपर मिथ्या अपवाद लगाकर हमारे पतियोंको कुपित करके हमारे संतानसुखको छीन लिया है । अतः तुम हमें संतान प्रदान करो (हमारे पतियोंको अनुकूल करके हमें संतान-सुखकी प्राप्ति कराओ) ॥ १७ ॥

स्कन्द उवाच

वृत्ताः प्रजा न ताः शक्या भवतीभिर्निषेवितुम् ।
अन्यां वः कां प्रयच्छामि प्रजां यां मनसेच्छथ ॥ १८ ॥

स्कन्द बोले—माताओ ! जिन प्रजाओंकी उत्पत्तिका अवसर बीत गया, उन्हें आपलोग अब नहीं पा सकतीं। यदि दूसरी कोई प्रजा पानेकी आपके मनमें इच्छा हो, तो कहिये, मैं उसे प्रदान करूँगा ॥ १८ ॥

मातर ऊचुः

इच्छाम तासां मातॄणां प्रजा भोक्तुं प्रयच्छ नः।
त्वया सह पृथग्भूता ये च तासामथेश्वराः ॥ १९ ॥

माताओंने कहा—यदि ऐसी बात है, तो हमें इन लोकमाताओंकी संतानें सौंप दो। हम उन्हें खाना चाहती हैं। तुमसे पृथक् जो उन संतानोंके पिता आदि अभिभावक हैं, उन्हें भी हम खाना चाहती हैं ॥ १९ ॥

स्कन्द उवाच

प्रजा वो दद्मि कष्टं तु भवतीभिरुदाहृतम् ।
परिरक्षत भद्रं वः प्रजाः साधु नमस्कृताः ॥ २० ॥

स्कन्द बोले—देवियो ! आपलोगोंने यह दुःखकी बात कही है, तो भी मैं आपको पहलेकी मातृकाओंकी संतानोंको अर्पित कर देता हूँ; परंतु आपलोग उन सबकी रक्षा करें; इसीसे आपका भला होगा। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ ॥ २० ॥

मातर ऊचुः

परिरक्षाम भद्रं ते प्रजाः स्कन्द यथेच्छसि ।
त्वया नो रोचते स्कन्द सहवासश्चिरं प्रभो ॥ २१ ॥

माताओंने कहा—स्कन्द ! जैसी तुम्हारी इच्छा है, उसके अनुसार हम उन संतानोंकी रक्षा अवश्य करेंगी। शक्तिशाली कुमार ! हमें दीर्घकालतक तुम्हारे साथ रहनेकी इच्छा है ॥ २१ ॥

स्कन्द उवाच

यावत् षोडश वर्षाणि भवन्ति तरुणाः प्रजाः ।
प्रबाधत मनुष्याणां तावद्रूपैः पृथग्विधैः ॥ २२ ॥

स्कन्द बोले—संसारके मनुष्य जबतक सोलह वर्षके तरुण न हो जायँ, तबतक आप मानव-प्रजाको पृथक्-पृथक् उतने ही रूप धारण करके संताप दे सकती हैं ॥ २२ ॥

अहं च वः प्रदास्यामि रौद्रमात्मानमव्ययम् ।
परमं तेन सहिताः सुखं वत्स्यथ पूजिताः ॥ २३ ॥

मैं आपलोगोंको एक भयंकर एवं अविनाशी पुरुष प्रदान करूँगा, जो मेरा अभिन्न स्वरूप होगा। उसके साथ सम्मानपूर्वक रहकर आपलोग परम सुखकी भागिनी होंगी ॥ २३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ततः शरीरात् स्कन्दस्य पुरुषः पावकप्रभः ।
भोक्तुं प्रजाः स मर्त्यानां निष्पपात महाप्रभः ॥ २४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर स्कन्दके शरीरसे अग्निके समान तेजस्वी तथा परम कान्तिमान् एक पुरुष प्रकट हुआ, जो समस्त मानव-प्रजाको खा जानेकी इच्छा रखता था ॥ २४ ॥

अपतत् सहसा भूमौ विसंज्ञोऽथ क्षुधार्दितः ।
स्कन्देन सोऽभ्यनुज्ञातो रौद्ररूपोऽभवद् ग्रहः ॥ २५॥

वह पैदा होते ही भूखसे पीडित हो सहसा अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। फिर स्कन्दकी आज्ञासे वह भयंकर रूपधारी ग्रह हो गया ॥ २५ ॥

स्कन्दापस्मारमित्याहुर्ग्रहं तं द्विजसत्तमाः ।
विनता तु महारौद्रा कथ्यते शकुनिग्रहः ॥ २६ ॥

श्रेष्ठ द्विज ! इस ग्रहको 'स्कन्दापस्मार' कहते हैं। इसी प्रकार अत्यन्त रौद्र रूप धारण करनेवाली विनताको 'शकुनि-ग्रह' बताया जाता है ॥ २६ ॥

पूतनां राक्षसीं प्राहुस्तं विद्यात् पूतनाग्रहम् ।
कष्टा दारुणरूपेण घोररूपा निशाचरी ॥ २७ ॥

पूतनाको राक्षसी बताया गया है, उसे 'पूतनाग्रह' समझना चाहिये। वह भयंकर रूप धारण करनेवाली निशाचरी बड़ी क्रूरताके साथ बालकोंको कष्ट पहुँचाती है ॥ २७ ॥

पिशाची दारुणाकारा कथ्यते शीतपूतना ।
गर्भान् सा मानुषीणां तु हरते घोरदर्शना ॥ २८ ॥

इसके सिवा भयानक आकारवाली एक पिशाची है, जिसे 'शीतपूतना' कहते हैं, वह देखनेमें बड़ी डरावनी है। वह मानवी स्त्रियोंका गर्भ हर ले जाती है ॥ २८ ॥

अदितिं रेवतीं प्राहुर्ग्रहस्तस्यास्तु रैवतः ।
सोऽपि बालान् महाघोरो बाधते वै महाग्रहः ॥ २९ ॥

लोग अदिति देवीको रेवती कहते हैं। रेवतीके ग्रहका नाम रैवत है। वह महाभयंकर महान् ग्रह भी बालकोंको बड़ा कष्ट देता है ॥ २९ ॥

दैत्यानां या दितिर्माता तामाहुर्मुखमण्डिकाम् ।
अत्यर्थं शिशुमांसेन सम्प्रहृष्टा दुरासदा ॥ ३० ॥

दैत्योंकी माता जो दिति है, उसे 'मुखमण्डिका' कहते हैं। वह छोटे बच्चोंके मांससे अधिक प्रसन्न होती है। उसे पराजित करना अत्यन्त कठिन है ॥ ३० ॥

कुमाराश्च कुमार्यश्च ये प्रोक्ताः स्कन्दसम्भवाः ।
तेऽपि गर्भभुजः सर्वे कौरव्य सुमहाग्रहाः ॥ ३१ ॥

कुरुनन्दन ! स्कन्दके शरीरसे उत्पन्न हुए जिन कुमार एवं कुमारियोंका वर्णन किया गया है, वे सभी गर्भस्थ बालकोंका भक्षण करनेवाले महान् ग्रह हैं ॥ ३१ ॥

तासामेव तु पत्नीनां पतयस्ते प्रकीर्तिताः ।
आजायमानान् गृह्णन्ति बालकान् रौद्रकर्मिणः ॥ ३२ ॥

वे कुमार उन्हीं पत्नीस्वरूपा कुमारियोंके पति कहे गये हैं । उनके कर्म बड़े भयंकर हैं । वे जन्म लेनेके पहले ही बच्चोंको पकड़ ले जाते हैं ॥ ३२ ॥

गवां माता तु या प्राज्ञैः कथ्यते सुरभिर्नृप ।
शकुनिस्तामथारुह्य सह भुङ्क्ते शिशून् भुवि ॥ ३३ ॥

राजन् ! विद्वान् पुरुष जिसे गोमाता सुरभि कहते हैं, उसीपर आरूढ़ होकर शकुनिग्रह–विनता अन्य ग्रहोंके साथ भूमण्डलके बालकोंका भक्षण करती है ॥ ३३ ॥

सरमा नाम या माता शुनां देवी जनाधिप ।
सापि गर्भान् समादत्ते मानुषीणां सदैव हि ॥ ३४ ॥

नरेश्वर ! कुत्तोंकी माता जो देवजातीय सरमा है, वह भी सदैव मानवीय स्त्रियोंके गर्भस्थ बालकोंका अपहरण करती रहती है ॥ ३४ ॥

पादपानां च या माता करञ्जनिलया हि सा ।
वरदा सा हि सौम्या च नित्यं भूतानुकम्पिनी ॥ ३५ ॥

जो वृक्षोंकी माता है, वह करञ्ज वृक्षपर निवास किया करती है । वह वर देनेवाली तथा सौम्य है और सदा समस्त प्राणियोंपर कृपा करती है ॥ ३५ ॥

करञ्जे तां नमस्यन्ति तस्मात् पुत्रार्थिनो नराः ।
इमे त्वष्टादशान्ये वै ग्रहा मांसमधुप्रियाः ॥ ३६ ॥
द्विपञ्चरात्रं तिष्ठन्ति सततं सूतिकागृहे ।
कद्रूः सूक्ष्मवपुर्भूत्वा गर्भिणीं प्रविशत्यथ ॥ ३७ ॥
भुङ्क्ते सा तत्र तं गर्भं सा तु नागं प्रसूयते ।

इसीलिये पुत्रार्थी मनुष्य करञ्ज वृक्षपर रहनेवाली उस देवीको नमस्कार करते हैं । ये तथा दूसरे अठारह ग्रह मांस और मधुके प्रेमी हैं और दस राततक सूतिका-गृहमें निरन्तर टिके रहते हैं । कद्रू सूक्ष्म शरीर धारण करके गर्भिणी स्त्रीके शरीरके भीतर प्रवेश कर जाती है और वहाँ उस गर्भको खा जाती है । इससे वह गर्भिणी स्त्री सर्प पैदा करती है ।३६-३७½।

गन्धर्वाणां तु या माता सा गर्भं गृह्य गच्छति ॥ ३८ ॥
ततो विलीनगर्भा सा मानुषी भुवि दृश्यते ।

जो गन्धर्वोंकी माता है, वह गर्भिणी स्त्रीके गर्भको लेकर चल देती है, जिससे उस मानवी स्त्रीका गर्भ विलीन हुआ देखा जाता है ॥ ३८½ ॥

या जनित्री त्वप्सरसां गर्भमास्ते प्रगृह्य सा ॥ ३९ ॥
उपनष्टं ततो गर्भं कथयन्ति मनीषिणः ।

जो अप्सराओंकी माता है, वह भी गर्भको पकड़ लेती है, जिससे बुद्धिमान् मनुष्य कहते हैं कि अमुक स्त्रीका गर्भ नष्ट हो गया ॥ ३९½ ॥

लोहितस्योदधेः कन्या धात्री स्कन्दस्य सा स्मृता ॥ ४० ॥
लोहितायनिरित्येवं कदम्बे सा हि पूज्यते ।

लालसागरकी कन्याका नाम लोहितायनि है, जिसे स्कन्दकी धाय बताया गया है । उसकी कदम्ब वृक्षोंमें पूजा की जाती है ॥ ४०½ ॥

पुरुषेषु यथा रुद्रस्तथाऽऽर्या प्रमदास्वपि ॥ ४१ ॥
आर्या माता कुमारस्य पृथक् कामार्थमिज्यते ।
एवमेते कुमाराणां मया प्रोक्ता महाग्रहाः ॥ ४२ ॥
यावत् षोडश वर्षाणि शिशूनां ह्यशिवास्ततः ।

जैसे पुरुषोंमें भगवान् रुद्र श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार स्त्रियोंमें आर्या उत्तम मानी गयी हैं । आर्या कुमार कार्तिकेयकी जननी हैं । लोग अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिये उनका उपर्युक्त ग्रहोंसे पृथक् पूजन करते हैं । इस प्रकार मैंने ये कुमारसम्बन्धी महान् ग्रह बताये हैं । जबतक सोलह वर्षकी अवस्था न हो जाय, तबतक ये बालकोंका अमङ्गल करनेवाले होते हैं ॥ ४१-४२½ ॥

ये च मातृगणाः प्रोक्ताः पुरुषाश्चैव ये ग्रहाः ॥ ४३ ॥
सर्वे स्कन्दग्रहा नाम ज्ञेया नित्यं शरीरिभिः ।

जो मातृगण और पुरुषग्रह बताये गये हैं, इन सबको समस्त देहधारी मनुष्य सदा 'स्कन्दग्रह'के नामसे जाने*।४३½।

तेषां प्रशमनं कार्यं स्नानं धूपमथाञ्जनम् ।
बलिकर्मोपहाराश्च स्कन्दस्येज्याविशेषतः ॥ ४४ ॥

स्नान, धूप, अञ्जन, बलिकर्म, उपहार अर्पण तथा स्कन्ददेवकी विशेष पूजा करके इन स्कन्दग्रहोंकी शान्ति करनी चाहिये ॥ ४४ ॥

एवमभ्यर्चिताः सर्वे प्रयच्छन्ति शुभं नृणाम् ।
आयुर्वीर्यं च राजेन्द्र सम्यक्पूजानमस्कृताः ॥ ४५ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार पूजित तथा विधिवत् पूजनद्वारा अभिवन्दित होनेपर वे सभी ग्रह मनुष्योंका मङ्गल करते हैं और उन्हें आयु तथा बल देते हैं ॥ ४५ ॥

ऊर्ध्वं तु षोडशाद् वर्षाद् ये भवन्ति ग्रहा नृणाम् ।
तानहं सम्प्रवक्ष्यामि नमस्कृत्य महेश्वरम् ॥ ४६ ॥

* मनुष्योंको कष्ट देनेवाले ये तामस स्कन्दग्रह भगवान् रुद्रके भूतप्रेतादि गणोंकी भाँति कुमार स्कन्दके शरीरसे उत्पन्न तमोमय कुमारके साथी माने जाते हैं । इन ग्रहोंसे रक्षा पानेके लिये भगवान् महेश्वरकी भक्ति करनी चाहिये । भय दिखाकर भी भगवान्‌की भक्ति करानेमें हेतुभूत होनेके कारण इन ग्रहोंका वर्णन यहाँ किया गया है । भगवान्‌के भक्तोंको ये ग्रह छू भी नहीं सकते । तमोगुणी प्रजापर ही सब तामस ग्रहोंका बल काम करता है । और वही इनकी पूजा-अर्चना किया करते हैं ।

अब मैं भगवान् महेश्वरको नमस्कार करके उन ग्रहोंका परिचय दूँगा, जो सोलह वर्षकी अवस्थाके बाद मनुष्योंके लिये अनिष्टकारक होते हैं ॥ ४६ ॥

यः पश्यति नरो देवान् जाग्रद् वा शयितोऽपि वा।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं तं तु देवग्रहं विदुः ॥ ४७ ॥

जो मनुष्य जागते या सोतेमें देवताओंको देखता और तुरंत पागल हो जाता है, उस कष्ट देनेवाले ग्रहको 'देवग्रह' कहते हैं ॥ ४७ ॥

आसीनश्च शयानश्च यः पश्यति नरः पितॄन्।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयस्तु पितृग्रहः ॥ ४८ ॥

जो मनुष्य बैठे-बैठे या सोते समय पितरोंको देखता और शीघ्र पागल हो जाता है, उस बाधा देनेवाले ग्रहको 'पितृग्रह' जानना चाहिये ॥ ४८ ॥

अवमन्यति यः सिद्धान् क्रुद्धाश्चापि शपन्ति यम्।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ज्ञेयः सिद्धग्रहस्तु सः ॥ ४९ ॥

जो सिद्ध पुरुषोंका अनादर करता है और क्रोधमें आकर वे सिद्ध पुरुष जिसे शाप दे देते हैं, जिसके कारण वह तुरंत पागल हो जाता है, उसे 'सिद्धग्रह'की बाधा प्राप्त हुई है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ४९ ॥

उपाघ्राति च यो गन्धान् रसांश्चापि पृथग्विधान्।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयो राक्षसो ग्रहः ॥ ५० ॥

जो विभिन्न सुगन्धोंको सूँघता तथा रसोंका आस्वादन करता है एवं तत्काल ही उन्मत्त हो उठता है, उसपर प्रभाव डालनेवाले ग्रहको 'राक्षसग्रह' जानना चाहिये ॥ ५० ॥

गन्धर्वाश्चापि यं दिव्याः संविशन्ति नरं भुवि।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ग्रहो गान्धर्व एव सः ॥ ५१ ॥

भूतलपर जिस मनुष्यमें दिव्य गन्धर्वोंका आवेश होता है, वह भी शीघ्र ही उन्मादग्रस्त हो जाता है। इसे 'गान्धर्व-ग्रह'की ही बाधा समझनी चाहिये ॥ ५१ ॥

अधिरोहन्ति यं नित्यं पिशाचाः पुरुषं प्रति।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ग्रहः पैशाच एव सः ॥ ५२ ॥

जिस पुरुषपर सदा पिशाच चढ़े रहते हैं, वह भी शीघ्र पागल हो जाता है। अतः वह 'पिशाचग्रह'की ही बाधा है ॥

आविशन्ति च यं यक्षाः पुरुषं कालपर्यये।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं ज्ञेयो यक्षग्रहस्तु सः ॥ ५३ ॥

कालक्रमसे जिस पुरुषमें यक्षोंका आवेश होता है, उसे भी पागल होते देर नहीं लगती। इसे 'यक्षग्रह'की बाधा जाननी चाहिये ॥ ५३ ॥

यस्य दोषैः प्रकुपितं चित्तं मुह्यति देहिनः।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं साधनं तस्य शास्त्रतः ॥ ५४ ॥

जिस देहधारी मनुष्यका चित्त वात, पित्त और कफ नामक दोषोंके कुपित होनेसे अपनी संज्ञा खो बैठता है, वह शीघ्र ही विक्षिप्त हो जाता है। उसकी वैद्यक शास्त्रके अनुसार चिकित्सा करानी चाहिये ॥ ५४ ॥

वैक्लव्याच्च भयाच्चैव घोराणां चापि दर्शनात्।
उन्मादयति स तु क्षिप्रं सान्त्वं तस्य तु साधनम् ॥ ५५ ॥

जो घबराहट, भय तथा घोर वस्तुओंके दर्शनसे ही तत्काल पागल हो जाता है, उसके अच्छे होनेका उपाय केवल उसे सान्त्वना देना है ॥ ५५ ॥

कश्चित् क्रीडितुकामो वै भोक्तुकामस्तथापरः।
अभिकामस्तथैवान्य इत्येष त्रिविधो ग्रहः ॥ ५६ ॥

कोई ग्रह क्रीडा-विनोदकी, कोई भोजनकी और कोई कामोपभोगकी इच्छा रखता है, इस प्रकार ग्रहोंकी प्रकृति तीन प्रकारकी है ॥ ५६ ॥

यावत् सप्ततिवर्षाणि भवन्त्येते ग्रहा नृणाम्।
अतः परं देहिनां तु ग्रहतुल्यो भवेज्ज्वरः ॥ ५७ ॥

जबतक सत्तर वर्षकी अवस्था पूरी होती है, तबतक ये ग्रह मनुष्योंको सताते हैं। उसके बाद तो सभी देहधारियोंको ज्वर आदि रोग ही ग्रहोंके समान सताने लगते हैं ॥ ५७ ॥

अप्रकीर्णेन्द्रियं दान्तं शुचिं नित्यमतन्द्रितम्।
आस्तिकं श्रद्दधानं च वर्जयन्ति सदा ग्रहाः ॥ ५८ ॥

जिसने अपनी इन्द्रियोंको सब ओरसे समेट लिया है, जो जितेन्द्रिय, पवित्र, नित्य आलस्यरहित, आस्तिक तथा श्रद्धालु है, उस पुरुषको ग्रह कभी नहीं छेड़ते हैं—उसे दूरसे ही त्याग देते हैं ॥ ५८ ॥

इत्येष ते ग्रहोद्देशो मानुषाणां प्रकीर्तितः।
न स्पृशन्ति ग्रहा भक्तान् नरान् देवं महेश्वरम् ॥ ५९ ॥

राजन्! इस प्रकार मैंने मनुष्योंको जो ग्रहोंकी बाधा प्राप्त होती है, उसका संक्षेपसे वर्णन किया है। जो भगवान् महेश्वरके भक्त हैं, उन मनुष्योंको भी ये ग्रह नहीं छूते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे मनुष्यग्रहकथने त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें मनुष्योंको कष्ट देनेवाले ग्रहोंके वर्णनसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३० ॥

एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्कन्दद्वारा स्वाहादेवीका सत्कार, रुद्रदेवके साथ स्कन्द और देवताओंकी भद्रवट-यात्रा, देवासुर-संग्राम, महिषासुर-वध तथा स्कन्दकी प्रशंसा

मार्कण्डेय उवाच

यदा स्कन्देन मातॄणामेवमेतत् प्रियं कृतम्।
अथैनमब्रवीत् स्वाहा मम पुत्रस्त्वमौरसः। १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब स्कन्दने इस प्रकार मातृगणोंका यह प्रिय मनोरथ पूर्ण किया, तब स्वाहाने आकर उनसे कहा—'तुम मेरे औरस पुत्र हो ॥१॥

इच्छाम्यहं त्वया दत्तां प्रीतिं परमदुर्लभाम्।
तामब्रवीत् ततः स्कन्दः प्रीतिमिच्छसि कीदृशीम् ॥२॥

'अतः मैं चाहती हूँ कि तुम मुझे परम दुर्लभ प्रीति प्रदान करो।' तब स्कन्दने पूछा—'माँ तुम कैसी प्रीति पानेकी अभिलाषा रखती हो ?' ॥ २ ॥

स्वाहोवाच

दक्षस्याहं प्रिया कन्या स्वाहा नाम महाभुज।
बाल्यात्प्रभृति नित्यं च जातकामा हुताशने ॥ ३ ॥

स्वाहा बोली—महाबाहो ! मैं प्रजापति दक्षकी प्रिय पुत्री हूँ, मेरा नाम स्वाहा है। मैं बचपनसे ही सदा अग्निदेवके प्रति अनुराग रखती आयी हूँ ॥ ३ ॥

न स मां कामिनीं पुत्र सम्यक् जानाति पावकः।
इच्छामि शाश्वतं वासं वस्तुं पुत्र सहाग्निना ॥ ४ ॥

पुत्र ! परंतु अग्निदेवको इस बातका अच्छी तरह पता नहीं है कि मैं उन्हें चाहती हूँ। बेटा ! मेरी यह हार्दिक अभिलाषा है कि मैं नित्य निरन्तर अग्निदेवके ही साथ निवास करूँ ॥ ४ ॥

स्कन्द उवाच

हव्यं कव्यं च यत्किंचिद् द्विजानां मन्त्रसंस्तुतम्।
होष्यन्त्यग्नौ सदा देवि स्वाहेत्युक्त्वा समुद्धृतम् ॥ ५ ॥
अद्यप्रभृति दास्यन्ति सुवृत्ताः सत्पथे स्थिताः।
एवमग्निस्त्वया सार्धं सदा वत्स्यति शोभने ॥ ६ ॥

स्कन्द बोले—देवि ! आजसे सन्मार्गपर चलनेवाले सदाचारी धर्मात्मा मनुष्य देवताओं तथा पितरोंके लिये हव्य और कव्यके रूपमें उठाकर ब्राह्मणोंद्वारा उच्चारित वेदमन्त्रोंके साथ अग्निमें जो कुछ आहुति देंगे, वह सब स्वाहाका नाम लेकर ही अर्पण करेंगे। शोभने ! इस प्रकार तुम्हारे साथ निरन्तर अग्निदेवका निवास बना रहेगा ॥ ५-६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्ता ततः स्वाहा तुष्टा स्कन्देन पूजिता।
पावकेन समायुक्ता भर्त्रा स्कन्दमपूजयत् ॥ ७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! स्कन्दके इस प्रकार कहने और आदर देनेपर स्वाहा बहुत संतुष्ट हुई। अपने स्वामी अग्निदेवका संयोग पाकर उसने भी स्कन्दका पूजन किया ॥ ७ ॥

ततो ब्रह्मा महासेनं प्रजापतिरथाब्रवीत्।
अभिगच्छ महादेवं पितरं त्रिपुरार्दनम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर प्रजापति ब्रह्माजीने महासेनसे कहा—'वत्स ! अब तुम अपने पिता त्रिपुरविनाशक महादेवजीसे मिलो ॥८॥

रुद्रेणाग्निं समाविश्य स्वाहामाविश्य चोमया।
हितार्थं सर्वलोकानां जातस्त्वमपराजितः ॥ ९ ॥

'भगवान् रुद्रने अग्निमें और भगवती उमाने स्वाहामें प्रवेश करके समस्त लोकोंके हितके लिये तुम-जैसे अपराजित वीरको उत्पन्न किया है ॥ ९ ॥

उमायोन्यां च रुद्रेण शुक्रं सिक्तं महात्मना।
अस्मिन् गिरौ निपतितं मिञ्जिकामिञ्जिकं यतः ॥ १० ॥
सम्भूतं लोहितोदे तु शुक्रशेषमवापतत्।
सूर्यरश्मिषु चाप्यन्यदन्यच्चैवापतद् भुवि ॥ ११ ॥
आसक्तमन्यद् वृक्षेषु तदेवं पञ्चधापतत्।
तत्र ते विविधाकारा गणा ज्ञेया मनीषिभिः।
तव पारिषदा घोरा य एते पिशिताशिनः ॥ १२ ॥

'महात्मा रुद्रने उमाके गर्भमें जिस वीर्यकी स्थापना की थी, उसका कुछ भाग इसी पर्वतपर गिर पड़ा था, जिससे मिञ्जिका-मिञ्जिक नामक जोड़ेकी उत्पत्ति हुई। शेष शुक्रका कुछ अंश लोहित-सागरमें, कुछ सूर्यकी किरणोंमें, कुछ पृथ्वीपर और कुछ वृक्षोंपर गिर पड़ा। इस प्रकार वह पाँच भागोंमें विभक्त होकर गिरा था। उसीसे ये तुम्हारे विभिन्न आकृतिवाले, मांस-भक्षी एवं भयंकर पार्षद प्रकट हुए हैं; जिन्हें मनीषी पुरुष ही जान पाते हैं' ॥ १०–१२ ॥

एवमस्त्विति चाप्युक्त्वा महासेनो महेश्वरम्।
अपूजयदमेयात्मा पितरं पितृवत्सलः ॥ १३ ॥

तब अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न एवं पितृभक्त कुमार महासेनने 'एवमस्तु' कहकर अपने पिता भगवान् महेश्वरका पूजन किया ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अर्कपुष्पैस्तु ते पञ्च गणाः पूज्या धनार्थिभिः।
व्याधिप्रशमनार्थं च तेषां पूजां समाचरेत् ॥ १४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! धनार्थी पुरुषोंको आकके फूलोंसे उन पाँचों गणोंकी सेवा करनी चाहिये। रोगोंकी शान्तिके लिये भी उनका पूजन करना उचित है॥

मिञ्जिकामिञ्जिकं चैव मिथुनं रुद्रसम्भवम्।
नमस्कार्यं सदैवेह बालानां हितमिच्छता॥ १५॥

मिञ्जिका-मिञ्जकका जोड़ा भी भगवान् शंकरसे उत्पन्न हुआ है। अतः बालकोंके हितकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि वे सदा इस जोड़ेको नमस्कार करें॥ १५॥

स्त्रियो मानुषमांसादा वृद्धिका नाम नामतः।
वृक्षेषु जातास्ता देव्यो नमस्कार्याः प्रजार्थिभिः॥ १६॥

वृक्षोंपरसे गिरे हुए शुक्रसे 'वृद्धिका' नामवाली स्त्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, जो मनुष्यका मांस भक्षण करनेवाली हैं। संतानकी इच्छा रखनेवाले लोगोंको इन देवियोंके आगे मस्तक झुकाना चाहिये॥ १६॥

एवमेते पिशाचानामसंख्येया गणाः स्मृताः।
घण्टायाः सपताकायाः शृणु मे सम्भवं नृप॥ १७॥

इस प्रकार ये पिशाचोंके असंख्य गण बताये गये हैं। राजन्! अब तुम मुझसे स्कन्दके घण्टे और पताकाकी उत्पत्तिका वृत्तान्त सुनो॥ १७॥

ऐरावतस्य घण्टे द्वे वैजयन्त्याविति श्रुते।
गुहस्य ते स्वयं दत्ते क्रमेणानाय्य धीमता॥ १८॥

इन्द्रके ऐरावत हाथीके उपयोगमें आनेवाले जो दो 'वैजयन्ती' नामसे विख्यात घण्टे थे, उन्हें बुद्धिमान् इन्द्रने क्रमशः ले आकर स्वयं कुमार कार्तिकेयको अर्पण कर दिया॥

एका तत्र विशाखस्य घण्टा स्कन्दस्य चापरा।
पताका कार्तिकेयस्य विशाखस्य च लोहिता॥ १९॥

उनमेंसे एक घण्टा विशाखने ले लिया और दूसरा स्कन्दके पास रह गया। कार्तिकेय और विशाख दोनोंकी पताकाएँ लाल रंगकी हैं॥ १९॥

यानि क्रीडनकान्यस्य देवैर्दत्तानि वै तदा।
तैरेव रमते देवो महासेनो महाबलः॥ २०॥

उस समय देवताओंने जो खिलौने इन्हें दिये थे, उन्हींसे महाबली महासेन खेलते और मन बहलाते हैं॥ २०॥

स संवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा।
शुशुभे काञ्चने शैले दीप्यमानः श्रिया वृतः॥ २१॥

राजन्! अद्भुत शोभासे सम्पन्न और कान्तिमान् कुमार कार्तिकेय उस समय उस स्वर्णमय शिखरपर पिशाचों और देवताओंके समूहसे घिरकर बड़ी शोभा पा रहे थे॥ २१॥

तेन वीरेण शुशुभे स शैलः शुभकाननः।
आदित्येनेवांशुमता मन्दरश्चारुकन्दरः॥ २२॥

जैसे अंशुमाली सूर्यके उदयसे मनोहर कन्दरावाले मन्दराचलकी शोभा होती है, उसी प्रकार वीरवर स्कन्दके निवाससे सुन्दर वनवाले उस श्वेतगिरिकी शोभा बढ़ गयी थी॥ २२॥

संतानकवनैः फुल्लैः करवीरवनैरपि।
पारिजातवनैश्चैव जपाशोकवनैस्तथा॥ २३॥
कदम्बतरुषण्डैश्च दिव्यैर्मृगगणैरपि।
दिव्यैः पक्षिगणैश्चैव शुशुभे श्वेतपर्वतः॥ २४॥

वहाँ कहीं फूलोंसे भरे हुए कल्पवृक्षके वन और कहीं कनेरके कानन सुशोभित होते थे। कहीं पारिजातके वन थे, तो कहीं जपा और अशोकके उपवन शोभा पाते थे। कहीं कदम्ब नामक वृक्षोंके समूह लहलहा रहे थे, तो कहीं दिव्य मृगगण विचर रहे थे। सब ओर दिव्य पक्षियोंके समुदाय कलरव कर रहे थे। इन सबसे उस श्वेत पर्वतकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी॥ २३-२४॥

तत्र देवगणाः सर्वे सर्वे देवर्षयस्तथा।
मेघतूर्यरवाश्चैव क्षुब्धोदधिसमस्वनाः॥ २५॥

वहाँ सम्पूर्ण देवता तथा देवर्षिगण आकर विराजमान हो गये। क्षुब्ध महासागरकी गम्भीर गर्जनाके समान मेघों और दिव्य वाद्योंका तुमुल घोष सब ओर गूँजने लगा॥ २५॥

तत्र दिव्याश्च गन्धर्वा नृत्यन्तेऽप्सरसस्तथा।
हृष्टानां तत्र भूतानां श्रूयते निनदो महान्॥ २६॥

'वहाँ दिव्य गन्धर्व और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। हर्षमें भरे हुए प्राणियोंका महान् कोलाहल सुनायी देने लगा॥ २६॥

एवं सेन्द्रं जगत् सर्वं श्वेतपर्वतसंस्थितम्।
प्रहृष्टं प्रेक्षते स्कन्दं न च ग्लायति दर्शनात्॥ २७॥

इस प्रकार इन्द्रसहित सम्पूर्ण जगत् बड़ी प्रसन्नताके साथ श्वेत पर्वतपर विराजमान कुमार कार्तिकेयका दर्शन करने लगा। उनके दर्शनसे किसीका जी नहीं भरता था॥ २७॥

मार्कण्डेय उवाच

यदाभिषिक्तो भगवान् सैनापत्येन पावकिः।
तदा सम्प्रस्थितः श्रीमान् हृष्टो भद्रवटं हरः॥ २८॥
रथेनादित्यवर्णेन पार्वत्या सहितः प्रभुः।
(अनुयातः सुरैः सर्वैः सहस्राक्षपुरोगमैः)
सहस्रं तस्य सिंहानां तस्मिन् युक्तं रथोत्तमे॥ २९॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! जब अग्निनन्दन भगवान् स्कन्दका सेनापतिके पदपर अभिषेक हो गया, तब श्रीमान् भगवान् शिव देवी पार्वतीके साथ सूर्यके समान रथपर आरूढ हो प्रसन्नतापूर्वक भद्रवटकी ओर प्रस्थित हुए। उस समय इन्द्र आदि सब देवता उनके पीछे-पीछे चले।

पर्जन्यश्चाप्यनुययौ नमस्कृत्य पिनाकिनम्।
छत्रं च पाण्डुरं सोमस्तस्य मूर्धन्यधारयत्॥ ४६॥

पिनाकधारी भगवान् शंकरको नमस्कार करके पर्जन्यदेव भी उनके पीछे-पीछे चले। चन्द्रमाने उनके मस्तकपर श्वेत छत्र लगा रक्खा था॥ ४६॥

चामरे चापि वायुश्च गृहीत्वाग्निश्च धिष्ठितौ।
शक्रश्च पृष्ठतस्तस्य याति राजञ्छ्रिया वृतः॥ ४७॥
सह राजर्षिभिः सर्वैः स्तुवानो वृषकेतनम्।

राजन्! वायु और अग्नि चँवर लेकर दोनों ओर खड़े थे। तेजस्वी इन्द्र समस्त राजर्षियोंके साथ भगवान् वृषभध्वजकी स्तुति करते हुए उनके पीछे-पीछे जा रहे थे॥ ४७½॥

गौरी विद्याथ गान्धारी केशिनी मित्रसाह्वया॥ ४८॥
सावित्र्या सह सर्वास्ताः पार्वत्या यान्ति पृष्ठतः।
तत्र विद्यागणाः सर्वे ये केचित् कविभिः कृताः॥ ४९॥

गौरी, विद्या, गान्धारी, केशिनी, मित्रा और सावित्री—ये सब पार्वतीदेवीके पीछे-पीछे चल रही थीं। विद्वानोंद्वारा प्रकाशित सम्पूर्ण विद्याएँ भी उन्हींके साथ थीं॥ ४८-४९॥

तस्य कुर्वन्ति वचनं सेन्द्रा देवाश्चमूमुखे।
गृहीत्वा तु पताकां वै यात्यग्रे राक्षसो ग्रहः॥ ५०॥

इन्द्र आदि देवता सेनाके मुहानेपर उपस्थित हो भगवान् शिवके आदेशका पालन करते थे। एक राक्षस ग्रह सेनाका झंडा लेकर आगे-आगे चलता था॥ ५०॥

व्यापृतस्तु श्मशाने यो नित्यं रुद्रस्य वै सखा।
पिङ्गलो नाम यक्षेन्द्रो लोकस्यानन्ददायकः॥ ५१॥

भगवान् रुद्रका सखा यक्षराज पिङ्गलदेव जो सदा श्मशानमें ही (उसकी रक्षाके लिये) निवास करता और सम्पूर्ण जगत्‌को आनन्द देनेवाला था, उस यात्रामें भगवान् शिवके साथ था॥ ५१॥

एभिश्च सहितो देवस्तत्र याति यथासुखम्।
अग्रतः पृष्ठतश्चैव न हि तस्य गतिर्ध्रुवा॥ ५२॥

इन सबके साथ महादेवजी सुखपूर्वक भद्रवटकी यात्रा कर रहे थे। वे कभी सेनाके आगे रहते और कभी पीछे। उनकी कोई निश्चित गति नहीं थी॥ ५२॥

रुद्रं सत्कर्मभिर्मर्त्याः पूजयन्तीह दैवतम्।
शिवमित्येव यं प्राहुरीशं रुद्रं पितामहम्॥ ५३॥
भावैस्तु विविधाकारैः पूजयन्ति महेश्वरम्।

मरणधर्मा मनुष्य इस संसारमें सत्कर्मोंद्वारा रुद्रदेवकी ही पूजा करते हैं। इन्हींको शिव, ईश, रुद्र और पितामह कहते हैं। लोग नाना प्रकारके भावोंसे भगवान् महेश्वरकी पूजा करते हैं॥ ५३½॥

देवसेनापतिस्त्वेवं देवसेनाभिरावृतः।
अनुगच्छति देवेशं ब्रह्मण्यः कृत्तिकासुतः॥ ५४॥

इसी प्रकार ब्राह्मणहितैषी, देवसेनापति, कृत्तिकानन्दन स्कन्द भी देवताओंकी सेनासे घिरे हुए देवेश्वर भगवान् शिवके पीछे-पीछे जा रहे थे॥ ५४॥

अथाब्रवीन्महासेनं महादेवो बृहद् वचः।
सप्तमं मारुतस्कन्धं रक्ष नित्यमतन्द्रितः॥ ५५॥

तदनन्तर महादेवजीने कुमार महासेनसे यह उत्तम बात कही—'बेटा! तुम सदा सावधानीके साथ मारुतस्कन्ध नामक देवताओंके सातवें व्यूहकी रक्षा करना'॥ ५५॥

स्कन्द उवाच

सप्तमं मारुतस्कन्धं पालयिष्याम्यहं प्रभो।
यदन्यदपि मे कार्यं देव तद् वद माचिरम्॥ ५६॥

स्कन्द बोले—प्रभो! मैं सातवें व्यूह मारुतस्कन्धकी अवश्य रक्षा करूँगा। देव! इसके सिवा और भी मेरा जो कुछ कर्तव्य हो, उसके लिये आप शीघ्र आज्ञा दीजिये॥ ५६॥

रुद्र उवाच

कार्येष्वहं त्वया पुत्र संद्रष्टव्यः सदैव हि।
दर्शनान्मम भक्त्या च श्रेयः परमवाप्स्यसि॥ ५७॥

रुद्रने कहा—पुत्र! काम पड़नेपर तुम सदा मुझसे मिलते रहना। मेरे दर्शनसे तथा मुझमें भक्ति करनेसे तुम्हारा परम कल्याण होगा॥ ५७॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वा विससर्जैनं परिष्वज्य महेश्वरः।
विसर्जिते ततः स्कन्दे बभूवौत्पातिकं महत्॥ ५८॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर भगवान् महेश्वरने कार्तिकेयको हृदयसे लगाकर बिदा किया। स्कन्दके बिदा



होते ही बड़ा भारी उत्पात होने लगा ॥ ५८ ॥

सहसैव महाराज देवान् सर्वान् प्रमोहयत्।
जज्वाल खं सनक्षत्रं प्रमूढं भुवनं भृशम् ॥ ५९ ॥

महाराज ! सहसा समस्त देवताओंको मोहमें डालता हुआ नक्षत्रोंसहित आकाश प्रज्वलित हो उठा। समस्त संसार अत्यन्त मूढ़-सा हो गया ॥ ५९ ॥

चचाल व्यनदच्चोर्वी तमोभूतं जगद् बभौ।
ततस्तद् दारुणं दृष्ट्वा क्षुभितः शङ्करस्तदा ॥ ६० ॥
उमा चैव महाभागा देवाश्च समहर्षयः।

पृथ्वी हिलने लगी। उसमें गड़गड़ाहट पैदा हो गयी। सारा जगत् अन्धकारमें मग्न-सा जान पड़ता था। उस समय यह दारुण उत्पात देखकर भगवान् शंकर, महाभागा उमा, देवगण तथा महर्षिगण क्षुब्ध हो उठे ॥ ६०½ ॥

ततस्तेषु प्रमूढेषु पर्वताम्बुदसंनिभम् ॥ ६१ ॥
नानाप्रहरणं घोरमदृश्यत महद् बलम्।
तद् वै घोरमसंख्येयं गर्जच्च विविधा गिरः ॥ ६२ ॥

जिस समय वे सब लोग मोह-ग्रस्त हो रहे थे, उसी समय पर्वतों और मेघमालाओंके समान दैत्योंकी विशाल एवं भयंकर सेना दिखायी दी। वह नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित थी। उसके सैनिकोंकी संख्या गिनी नहीं जा सकती थी। वह भयंकर वाहिनी अनेक प्रकारकी बोली बोलती हुई भीषण गर्जना कर रही थी ॥ ६१-६२ ॥

अभ्यद्रवद् रणे देवान् भगवन्तं च शङ्करम्।
तैर्विसृष्टान्यनीकेषु बाणजालान्यनेकशः ॥ ६३ ॥

उसने रण-भूमिमें आकर देवताओं तथा भगवान् शंकर-पर धावा बोल दिया। दैत्योंने देवताओंके सैनिकोंपर कई बार बाण-वर्षा की ॥ ६३ ॥

पर्वताश्च शतघ्न्यश्च प्रासासिपरिघा गदाः।
निपतद्भिश्च तैर्घोरैर्देवानीकं महायुधैः ॥ ६४ ॥
क्षणेन व्यद्रवत् सर्वं विमुखं चाप्यदृश्यत।

शिलाखण्ड, शतघ्नी (तोप), प्रास, खड्ग, परिघ और गदाओंके लगातार प्रहार हो रहे थे। इन भयंकर महान् अस्त्रोंकी मारसे देवताओंकी सारी सेना क्षणभरमें (पीठ दिखाकर) भाग चली। सारे सैनिक युद्धसे विमुख दिखायी देते थे ॥ ६४½ ॥

निकृत्तयोधनागाश्वं कृत्तायुधमहारथम् ॥ ६५ ॥
दानवैरर्दितं सैन्यं देवानां विमुखं बभौ।

बहुत-से योद्धा, हाथी और घोड़े काट डाले गये। असंख्य आयुध और बड़े-बड़े रथ टूक-टूक कर दिये गये। इस प्रकार दानवोंद्वारा पीड़ित हुई देवताओंकी सेना युद्धसे विमुख हो गयी ॥ ६५½ ॥

असुरैर्वध्यमानं तत् पावकैरिव काननम् ॥ ६६ ॥
अपतद् दग्धभूयिष्ठं महाद्रुमवनं यथा।

जैसे आग समूचे वनको जला देती है, उसी प्रकार असुरोंने देवताओंकी सेनामें भारी मार-काट मचा दी। बड़े-बड़े वृक्षोंसे भरे हुए वनका अधिकांश भाग जल जानेपर उसकी जैसी दुरवस्था दिखायी देती है, उसी प्रकार दैत्योंकी अस्त्राग्निमें अधिकांश सैनिकोंके दग्ध हो जानेके कारण वह देव-सेना धराशायिनी हो रही थी ॥ ६६½ ॥

ते विभिन्नशिरोदेहाः प्राद्रवन्तो दिवौकसः ॥ ६७ ॥
न नाथमधिगच्छन्ति वध्यमाना महारणे।

उस महासमरमें असुरोंकी मार खाकर वे सब देवता भागते हुए कहीं कोई रक्षक नहीं पा रहे थे। किन्हींके सिर फट गये थे, तो किन्हींके सब अङ्गोंमें गहरे घाव हो गये थे ॥ ६७½ ॥

अथ तद् विद्रुतं सैन्यं दृष्ट्वा देवः पुरंदरः ॥ ६८ ॥
आश्वासयन्नुवाचेदं बलभिद् दानवार्दितम्।
भयं त्यजत भद्रं वः शूराः शस्त्राणि गृह्णत ॥ ६९ ॥
कुरुध्वं विक्रमे बुद्धिं मा वः काचिद् व्यथा भवेत्।
जयतैनान् सुदुर्वृत्तान् दानवान् घोरदर्शनान् ॥ ७० ॥
अभिद्रवत भद्रं वो मया सह महासुरान्।
शक्रस्य वचनं श्रुत्वा समाश्वस्ता दिवौकसः ॥ ७१ ॥

तदनन्तर बलासुरविनाशक देवराज इन्द्रने अपनी उस सेनाको दानवोंसे पीड़ित होकर भागती देख उसे आश्वासन देते हुए कहा—'शूरवीरो ! भय त्याग दो, इससे तुम्हारा मङ्गल होगा। हथियार उठाओ और पराक्रममें मन लगाओ। तुम्हें किसी प्रकार व्यथित नहीं होना चाहिये। इन भयंकर दिखायी देनेवाले दुराचारी दानवोंको जीतो। तुम्हारा कल्याण हो। तुम सब लोग मेरे साथ इन महाकाय दैत्योंपर टूट पड़ो।' इन्द्रकी यह बात सुनकर देवताओंको बड़ी सान्त्वना मिली ॥ ६८—७१ ॥

दानवान् प्रत्ययुध्यन्त शक्रं कृत्वा व्यपाश्रयम्।
ततस्ते त्रिदशाः सर्वे मरुतश्च महाबलाः ॥ ७२ ॥
प्रत्युद्ययुर्महाभागाः साध्याश्च वसुभिः सह।

उन्होंने इन्द्रको अपना आश्रय बनाकर दानवोंके साथ पुनः युद्ध प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् वे सभी देवता महाबली मरुद्गण तथा वसुओं एवं महाभाग साध्यगणसहित युद्धभूमिमें आगे बढ़ने लगे ॥ ७२½ ॥

तैर्विसृष्टान्यनीकेषु क्रुद्धैः शस्त्राणि संयुगे ॥ ७३ ॥
शराश्च दैत्यकायेषु पिबन्ति रुधिरं बहु।

उन्होंने संग्राममें कुपित होकर दैत्योंकी सेनाओंके ऊपर जो अस्त्र-शस्त्र और बाण चलाये, वे उनके शरीरोंमें घुसकर प्रचुर मात्रामें रक्त पीने लगे ॥ ७३½ ॥

तेषां देहान् विनिर्भिद्य शरास्ते निशितास्तदा ॥ ७४ ॥

निपतन्तोऽभ्यदृश्यन्त नगेभ्य इव पन्नगाः ।

वे तीखे बाण उस समय दैत्योंके शरीरोंको विदीर्णकर रण-भूमिमें इस प्रकार गिरते दिखायी देते थे, मानो वृक्षोंसे सर्प गिर रहे हों ॥ ७४½ ॥

तानि दैत्यशरीराणि निर्भिन्नानि स्म सायकैः ॥ ७५ ॥
अपतन् भूतले राजंश्छिन्नाभ्राणीव सर्वशः ।

राजन् ! देवताओंके बाणोंसे विदीर्ण हुए वे दैत्योंके शरीर सब प्रकारसे छिन्न-भिन्न हुए बादलोंके समान धरतीपर गिरने लगे ॥ ७५½ ॥

ततस्तद् दानवं सैन्यं सर्वैर्देवगणैर्युधि ॥ ७६ ॥
त्रासितं विविधैर्बाणैः कृतं चैव पराङ्मुखम् ।

तदनन्तर समस्त देवताओंने उस युद्धमें दानवसेनाको अपने विविध बाणोंके प्रहारसे भयभीत करके रणभूमिसे विमुख कर दिया ॥ ७६½ ॥

अथोत्क्रुष्टं तदा हृष्टैः सर्वैर्देवैरुदायुधैः ॥ ७७ ॥
संहतानि च तूर्याणि प्रावाद्यन्त ह्यनेकशः ।

फिर तो उस समय हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र उठाये सम्पूर्ण देवता हर्षमें भरकर कोलाहल करने लगे और अनेक प्रकारके विजय वाद्य एक साथ बज उठे ॥ ७७½ ॥

एवमन्योन्यसंयुक्तं युद्धमासीत् सुदारुणम् ॥ ७८ ॥
देवानां दानवानां च मांसशोणितकर्दमम् ।
अनयो देवलोकस्य सहसैवाभ्यदृश्यत ॥ ७९ ॥
तथा हि दानवा घोरा विनिघ्नन्ति दिवौकसः ।

इस प्रकार देवताओं और दानवोंमें परस्पर अत्यन्त भयंकर युद्ध हो रहा था । रक्त और मांससे वहाँकी भूमिपर कीचड़ जम गयी थी । फिर सहसा बाजी पलट गयी । देवलोककी पराजय दिखायी देने लगी । भयंकर दानव देवताओंको मारने लगे ॥ ७८-७९½ ॥

ततस्तूर्यप्रणादाश्च भेरीणां च महास्वनः ॥ ८० ॥
बभूवुर्दानवेन्द्राणां सिंहनादाश्च दारुणाः ।

उस समय दानवेन्द्रोंके भयंकर सिंहनाद सुनायी पड़ते थे । उनके रणवाद्यों तथा भेरियोंका गम्भीर घोष सब ओर गूँज उठा ॥ ८०½ ॥

अथ दैत्यबलाद् घोरान्निष्पपात महाबलः ॥ ८१ ॥
दानवो महिषो नाम प्रगृह्य विपुलं गिरिम् ।

इतनेहीमें दैत्योंकी भयंकर सेनासे महाबली दानव 'महिष' हाथोंमें एक विशाल पर्वत लिये निकला और देवताओंपर टूट पड़ा ॥ ८१½ ॥

ते तं घनैरिवादित्यं दृष्ट्वा सम्परिवारितम् ॥ ८२ ॥
तमुद्यतगिरिं राजन् व्यद्रवन्त दिवौकसः ।

राजन् ! बादलोंसे घिरे हुए सूर्यकी भाँति पर्वत उठाये हुए उस दानवको देखकर सब देवता भाग चले ॥ ८२½ ॥

अथाभिद्रुत्य महिषो देवांश्चिक्षेप तं गिरिम् ॥ ८३ ॥
पतता तेन गिरिणा देवसैन्यस्य पार्थिव ।
भीमरूपेण निहतमयुतं प्रापतद् भुवि ॥ ८४ ॥

परंतु महिषासुरने देवताओंका पीछा करके उनके ऊपर वह पहाड़ पटक दिया । युधिष्ठिर ! उस भयानक पर्वतके गिरनेसे देवसेनाके दस हजार योद्धा कुचलकर धरतीपर गिर पड़े ॥ ८३-८४ ॥

अथ तैर्दानवैः सार्धं महिषस्त्रासयन् सुरान् ।
अभ्यद्रवद् रणे तूर्णं सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ८५ ॥

तदनन्तर जैसे सिंह छोटे मृगोंको डराता हुआ उनपर टूट पड़ता है, उसी प्रकार महिषासुरने अपने दानव-सैनिकोंके साथ रणभूमिमें समस्त देवताओंको भयभीत करते हुए उनपर शीघ्र ही प्रबल आक्रमण किया ॥ ८५ ॥

तमापतन्तं महिषं दृष्ट्वा सेन्द्रा दिवौकसः ।
व्यद्रवन्त रणे भीता विकीर्णायुधकेतनाः ॥ ८६ ॥

उस महिषासुरको आते देख इन्द्र आदि सब देवता भयभीत हो अपने अस्त्र-शस्त्र और ध्वजा फेंककर युद्धभूमिसे भागने लगे ॥ ८६ ॥

ततः स महिषः क्रुद्धस्तूर्णं रुद्ररथं ययौ ।
अभिद्रुत्य च जग्राह रुद्रस्य रथकूबरम् ॥ ८७ ॥

तब क्रोधमें भरा हुआ महिषासुर तुरंत ही भगवान् रुद्रके रथकी ओर दौड़ा और पास जाकर उनके रथका कूबर[1] पकड़ लिया ॥ ८७ ॥

यदा रुद्ररथं क्रुद्धो महिषः सहसा गतः ।
रेसतू रोदसी गाढं मुमुहुश्च महर्षयः ॥ ८८ ॥

जब क्रोधमें भरे हुए महिषासुरने सहसा भगवान् रुद्रके रथपर आक्रमण किया, उस समय पृथ्वी और आकाशमें भारी कोलाहल मच गया और महर्षिगण भी घबरा गये ॥ ८८ ॥

अनदंश्च महाकाया दैत्या जलधरोपमाः ।
आसीच्च निश्चितं तेषां जितमस्माभिरित्युत ॥ ८९ ॥

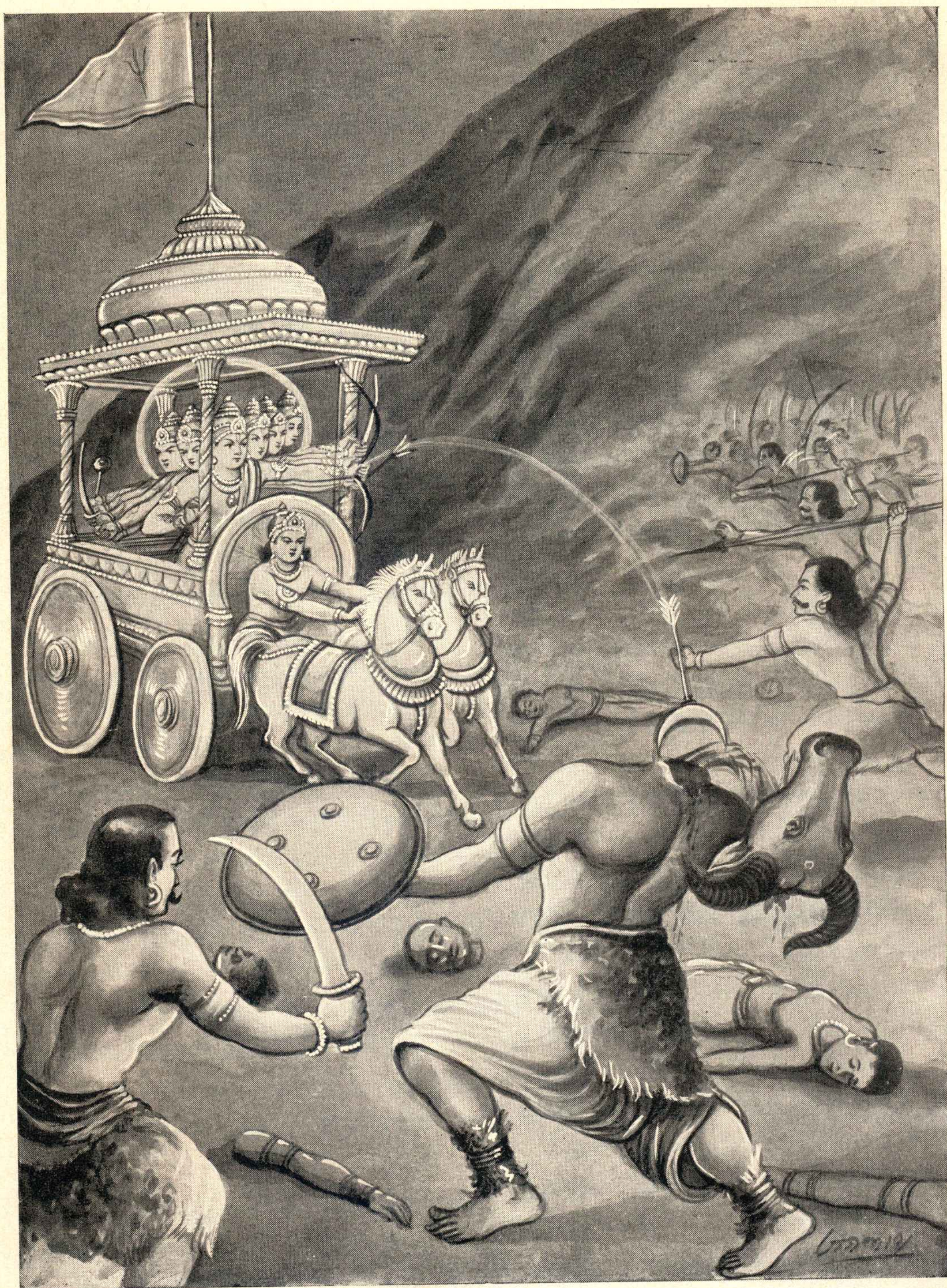
इधर विशालकाय दैत्य मेघोंके समान गम्भीर गर्जना करने लगे । उन्हें यह निश्चय हो गया कि 'हमारी जीत होगी' ॥ ८९ ॥

तथाभूते तु भगवान् नावधीन्महिषं रणे ।
सस्मार च तदा स्कन्दं मृत्युं तस्य दुरात्मनः ॥ ९० ॥

उस अवस्थामें भी भगवान् रुद्रने युद्धमें महिषासुरको

---

१. रथका वह अग्रभाग जहाँ जूआ बाँधा जाता है, कूबर कहलाता है । ग्राम्य भाषामें उसे 'नकेला' या 'सबुनी' कहते हैं ।



कार्तिकेयके द्वारा महिषासुरका वध

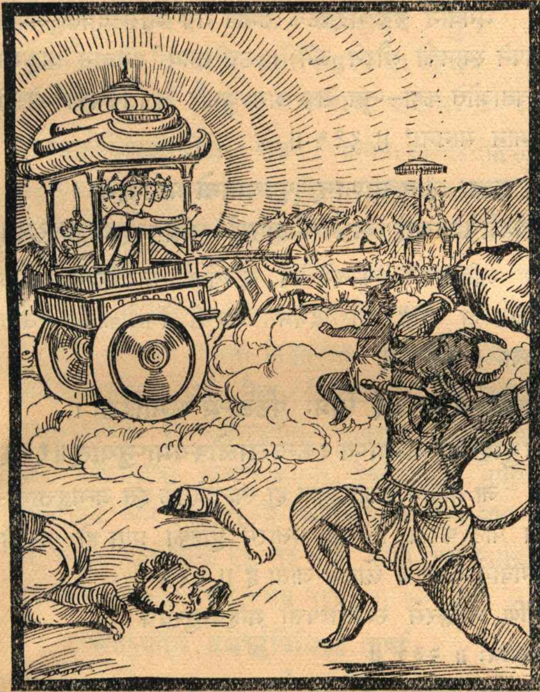
स्वयं नहीं मारा किंतु उस दुरात्मा दानवकी मृत्यु जिनके हाथोंसे होनेवाली थी, उन कुमार कार्तिकेयका स्मरण किया ॥ ९० ॥

महिषोऽपि रथं दृष्ट्वा रौद्रोरुद्रस्य चानदत्।
देवान् संत्रासयंश्चापि दैत्यांश्चापि प्रहर्षयन् ॥ ९१ ॥

भयानक महिषासुर रुद्रके रथको देखकर देवताओंको त्रास और दैत्योंको हर्ष प्रदान करता हुआ बार-बार सिंहनाद करने लगा ॥ ९१ ॥

ततस्तस्मिन् भये घोरे देवानां समुपस्थिते।
आजगाम महासेनः क्रोधात् सूर्य इव ज्वलन् ॥ ९२ ॥

देवताओंके लिये वह घोर भयका अवसर उपस्थित था। इसी समय जगमगाते हुए सूर्यकी भाँति कुमार महासेन क्रोधमें भरे हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ ९२ ॥



लोहिताम्बरसंवीतो लोहितस्रग्विभूषणः।
लोहिताश्वो महाबाहुर्हिरण्यकवचः प्रभुः ॥ ९३ ॥

उन्होंने अपने शरीरको लाल वस्त्रोंसे आच्छादित कर रक्खा था। उनके हार और आभूषण भी लाल रंगके ही थे। उनके घोड़ेका रंग भी लाल था। उन महाबाहु भगवान् स्कन्दने सुवर्णमय कवच धारण किया था ॥ ९३ ॥

रथमादित्यसंकाशमास्थितः कनकप्रभम्।
तं दृष्ट्वा दैत्यसेना सा व्यद्रवत् सहसा रणे ॥ ९४ ॥

वे सूर्यके समान तेजस्वी रथपर विराजमान थे। उनकी अङ्गकान्ति भी सुवर्णके समान ही उद्भासित हो रही थी। उन्हें सहसा संग्राममें उपस्थित देख दैत्योंकी सेना रणभूमिसे भाग चली ॥ ९४ ॥

स चापि तां प्रज्वलितां महिषस्य विदारिणीम्।
मुमोच शक्तिं राजेन्द्र महासेनो महाबलः ॥ ९५ ॥

राजेन्द्र ! महाबली महासेनने महिषासुरपर एक प्रज्वलित शक्ति चलायी, जो उसके शरीरको विदीर्ण करनेवाली थी ॥ ९५ ॥

सा मुक्ताभ्यहरत् तस्य महिषस्य शिरो महत्।
पपात भिन्ने शिरसि महिषस्त्यक्तजीवितः ॥ ९६ ॥

कुमारके हाथसे छूटते ही उस शक्तिने महिषासुरके महान् मस्तकको काट गिराया। सिर कट जानेपर महिषासुर प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ९६ ॥

पतता शिरसा तेन द्वारं षोडशयोजनम्।
पर्वताभेन पिहितं तदागम्यं ततोऽभवत् ॥ ९७ ॥

उसके पर्वत-सदृश विशाल मस्तकने गिरकर (उत्तर-पूर्व देशके) सोलह योजन लम्बे द्वारको बंद कर दिया। अतः वह देश सर्वसाधारणके लिये अगम्य हो गया ॥ ९७ ॥

उत्तराः कुरवस्तेन गच्छन्त्यद्य यथासुखम्।
क्षिप्ताक्षिप्ता तु सा शक्तिर्हत्वा शत्रून् सहस्रशः ॥ ९८ ॥
स्कन्दहस्तमनुप्राप्ता दृश्यते देवदानवैः।

उत्तर कुरुके निवासी अब उस मार्गसे सुखपूर्वक आते-जाते हैं। देवताओं और दानवोंने देखा, कुमार कार्तिकेय बार-बार शत्रुओंपर शक्तिका प्रहार करते हैं और वह सहस्रों योद्धाओंको मारकर पुनः उनके हाथमें लौट आती है ॥ ९८½ ॥

प्रायः शरैर्विनिहता महासेनेन धीमता ॥ ९९ ॥
शेषा दैत्यगणा घोरा भीतास्त्रस्ता दुरासदैः।
स्कन्दपारिषदैर्हत्वा भक्षिताश्च सहस्रशः ॥ १०० ॥

परम बुद्धिमान् महासेनने अपने बाणोंद्वारा अधिकांश दैत्योंको समाप्त कर दिया, बचे-खुचे भयंकर दैत्य भी भयभीत हो साहस खो चुके थे। स्कन्ददेवके दुर्धर्ष पार्षद उन सहस्रों दैत्योंको मारकर खा गये ॥ ९९-१०० ॥

दानवान् भक्षयन्तस्ते प्रपिबन्तश्च शोणितम्।
क्षणान्निर्दानवं सर्वमकार्षुर्भृशहर्षिताः ॥ १०१ ॥

उन सबने अत्यन्त हर्षमें भरकर दानवोंको खाते और उनके रक्त पीते हुए क्षणभरमें सारी रणभूमिको दानवोंसे खाली कर दिया ॥ १०१ ॥

तमांसीव यथा सूर्यो वृक्षानग्निर्घनान् खगः।
तथा स्कन्दोऽजयच्छत्रून् स्वेन वीर्येण कीर्तिमान् ॥ १०२ ॥

जैसे सूर्य अन्धकार मिटा देते हैं, आग वृक्षोंको जला डालती है और आकाशचारी वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, वैसे ही कीर्तिशाली कुमार कार्तिकेयने अपने पराक्रमद्वारा समस्त शत्रुओंको नष्ट करके उनपर विजय पायी ॥ १०२ ॥

सम्पूज्यमानस्त्रिदशैरभिवाद्य महेश्वरम्।
शुशुभे कृत्तिकापुत्रः प्रकीर्णांशुरिवांशुमान् ॥१०३॥

उस समय देवतालोग कृत्तिकानन्दन स्कन्ददेवकी स्तुति और पूजा करने लगे। कुमार स्कन्द अपने पिता महेश्वरको प्रणाम करके सब ओर किरणें बिखेरनेवाले अंशुमाली सूर्यकी भाँति शोभा पाने लगे ॥ १०३ ॥

नष्टशत्रुर्यदा स्कन्दः प्रयातस्तु महेश्वरम्।
तदाब्रवीन्महासेनं परिष्वज्य पुरंदरः ॥१०४॥

शत्रुओंका नाश करके जब कुमार कार्तिकेय भगवान् महेश्वरके पास पहुँचे, उस समय इन्द्रने उनको हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा—॥ १०४ ॥

ब्रह्मदत्तवरः स्कन्द त्वयायं महिषो हतः।
देवास्तृणसमा यस्य बभूवुर्जयतां वर ॥१०५॥
सोऽयं त्वया महाबाहो शमितो देवकण्टकः।
शतं महिषतुल्यानां दानवानां त्वया रणे ॥१०६॥
निहतं देवशत्रूणां यैर्वयं पूर्वतापिताः।
तावकैर्भक्षिताश्चान्ये दानवाः शतसङ्घशः ॥१०७॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ स्कन्द! इस महिषासुरको ब्रह्माजीने वरदान दिया था, जिसके कारण इसके सामने सब देवता तिनकोंके समान हो गये थे। आज तुमने इसे मार गिराया है। महाबाहो! यह देवताओंके लिये बड़ा भारी काँटा था, जिसे तुमने निकाल फेंका है। यही नहीं, आज रणभूमिमें इस महिषके समान पराक्रमी एक सौ देवद्रोही दानव और तुम्हारे हाथसे मारे गये हैं, जो पहले हमें बहुत कष्ट दे चुके हैं। तुम्हारे पार्षद भी सैकड़ों दानवोंको खा गये हैं।१०५-१०७।

अजेयस्त्वं रणेऽरीणामुमापतिरिव प्रभुः।
एतत् ते प्रथमं देव ख्यातं कर्म भविष्यति ॥१०८॥
त्रिषु लोकेषु कीर्तिश्च तवाक्षय्या भविष्यति।
वशगाश्च भविष्यन्ति सुरास्तव महाभुज ॥१०९॥

'देव! तुम भगवान् शंकरके समान ही युद्धमें शत्रुओंके लिये अजेय हो। यह तुम्हारा प्रथम पराक्रम सर्वत्र विख्यात होगा। तुम्हारी अक्षय कीर्ति तीनों लोकोंमें फैल जायगी। महाबाहो! सब देवता तुम्हारे वशमें रहेंगे' ॥ १०८-१०९ ॥

एवमुक्त्वा महासेनं निवृत्तः सह दैवतैः।
अनुज्ञातो भगवता त्र्यम्बकेण शचीपतिः ॥११०॥

महासेनसे ऐसा कहकर शचीपति इन्द्र भगवान् शंकरकी आज्ञा ले देवताओंके साथ स्वर्गलोकको लौट गये ॥११०॥

गतो भद्रवटं रुद्रो निवृत्ताश्च दिवौकसः।
उक्ताश्च देवा रुद्रेण स्कन्दं पश्यत मामिव ॥१११॥

भगवान् रुद्र भद्रवटके समीप गये और देवता अपने-अपने स्थानको लौटने लगे। उस समय भगवान् शङ्करने देवताओंसे कहा—'तुम सब लोग कुमार कार्तिकेयको मेरे ही समान मानना' ॥ १११ ॥

स हत्वा दानवगणान् पूज्यमानो महर्षिभिः।
एकाह्नैवाजयत् सर्वं त्रैलोक्यं वह्निनन्दनः ॥११२॥

अग्निनन्दन स्कन्दने सब दानवोंको मारकर महर्षियोंसे पूजित हो एक ही दिनमें समूची त्रिलोकीको जीत लिया ॥ ११२ ॥

स्कन्दस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समाहितः।
स पुष्टिमिह सम्प्राप्य स्कन्दसालोक्यमाप्नुयात् ॥११३॥

जो ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो स्कन्ददेवके इस जन्मवृत्तान्तका पाठ करता है, वह संसारमें पुष्टिको प्राप्त हो अन्तमें भगवान् स्कन्दके लोकमें जाता है ॥ ११३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे स्कन्दोत्पत्तौ महिषासुरवधे एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें स्कन्दकी उत्पत्ति तथा महिषासुरवधविषयक दो सौ एकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।२३१।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ११३½ श्लोक हैं)

द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कार्तिकेयके प्रसिद्ध नामोंका वर्णन तथा उनका स्तवन

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् श्रोतुमिच्छामि नामान्यस्य महात्मनः।
त्रिषु लोकेषु यान्यस्य विख्यातानि द्विजोत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन्! विप्रवर! तीनों लोकोंमें महामना कार्तिकेयके जो-जो नाम विख्यात हैं, मैं उन्हें सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः पाण्डवेयेन महात्मा ऋषिसंनिधौ।
उवाच भगवांस्तत्र मार्कण्डेयो महातपाः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके इस प्रकार कहनेपर महातपस्वी महात्मा भगवान् मार्कण्डेयने ऋषियोंके समीप इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

मार्कण्डेय उवाच

आग्नेयश्चैव स्कन्दश्च दीप्तकीर्तिरनामयः।
मयूरकेतुर्धर्मात्मा भूतेशो महिषार्दनः॥ ३॥
कामजित् कामदः कान्तः सत्यवाग् भुवनेश्वरः।
शिशुः शीघ्रः शुचिश्चण्डो दीप्तवर्णः शुभाननः॥ ४॥
अमोघस्त्वनघो रौद्रः प्रियश्चन्द्राननस्तथा।
दीप्तशक्तिः प्रशान्तात्मा भद्रकृत् कूटमोहनः॥ ५॥
षष्ठीप्रियश्च धर्मात्मा पवित्रो मातृवत्सलः।
कन्याभर्ता विभक्तश्च स्वाहेयो रेवतीसुतः॥ ६॥
प्रभुर्नेता विशाखश्च नैगमेयः सुदुश्चरः।
सुव्रतो ललितश्चैव बालक्रीडनकप्रियः॥ ७॥
खचारी ब्रह्मचारी च शूरः शरवणोद्भवः।
विश्वामित्रप्रियश्चैव देवसेनाप्रियस्तथा॥ ८॥
वासुदेवप्रियश्चैव प्रियः प्रियकृदेव तु।
नामान्येतानि दिव्यानि कार्तिकेयस्य यः पठेत्।
स्वर्गं कीर्तिं धनं चैव स लभेन्नात्र संशयः॥ ९॥

मार्कण्डेयजी बोले— राजन्! आग्नेय, स्कन्द, दीप्तकीर्ति, अनामय, मयूरकेतु धर्मात्मा, भूतेश, महिषमर्दन, कामजित्, कामद, कान्त, सत्यवाक्, भुवनेश्वर, शिशु, शीघ्र, शुचि, चण्ड, दीप्तवर्ण, शुभानन, अमोघ, अनघ, रौद्र, प्रिय, चन्द्रानन, दीप्तशक्ति, प्रशान्तात्मा, भद्रकृत्, कूटमोहन, षष्ठीप्रिय, धर्मात्मा, पवित्र, मातृवत्सल, कन्याभर्ता, विभक्त, स्वाहेय, रेवतीसुत, प्रभु, नेता, विशाख, नैगमेय, सुदुश्चर, सुव्रत, ललित, बालक्रीडनकप्रिय, आकाशचारी, ब्रह्मचारी, शूर, शरवणोद्भव, विश्वामित्रप्रिय, देवसेनाप्रिय, वासुदेव-प्रिय, प्रिय और प्रियकृत्—ये कार्तिकेयजीके दिव्य नाम हैं। जो इनका पाठ करता है, वह धन, कीर्ति तथा स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है; इसमें संशय नहीं है॥ ३–९॥

स्तोष्यामि देवैर्ऋषिभिश्च जुष्टं
शक्त्या गुहं नामभिरप्रमेयम्।
षडाननं शक्तिधरं सुवीरं
निबोध चैतानि कुरुप्रवीर॥ १०॥

कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिर! अब मैं देवताओं तथा ऋषियोंसे सेवित, असंख्य नामों तथा अनन्त शक्तिसे सम्पन्न, शक्ति नामक अस्त्र धारण करनेवाले वीरवर षडानन गुहकी स्तुति करता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो॥ १०॥

ब्रह्मण्यो वै ब्रह्मजो ब्रह्मविच्च
ब्रह्मेशयो ब्रह्मवतां वरिष्ठः।
ब्रह्मप्रियो ब्राह्मणसव्रती त्वं
ब्रह्मज्ञो वै ब्राह्मणानां च नेता॥ ११॥

स्कन्ददेव! आप ब्राह्मणहितैषी, ब्रह्मात्मज, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, ब्राह्मणप्रिय, ब्राह्मणोंके समान व्रतधारी, ब्रह्मज्ञ तथा ब्राह्मणोंके नेता हैं॥ ११॥

स्वाहा स्वधा त्वं परमं पवित्रं
मन्त्रस्तुतस्त्वं प्रथितः षडर्चिः।
संवत्सरस्त्वमृतवश्च षड् वै
मासार्धमासावयनं दिशश्च॥ १२॥

आप स्वाहा, स्वधा, परम पवित्र, मन्त्रोंद्वारा प्रशंसित और सुप्रसिद्ध षडर्चि (छः ज्वालाओंसे युक्त) अग्नि हैं। आप ही संवत्सर, छः ऋतुएँ, पक्ष, मास, अयन और दिशाएँ हैं॥ १२॥

त्वं पुष्कराक्षस्त्वरविन्दवक्त्रः
सहस्रवक्त्रोऽसि सहस्रबाहुः।
त्वं लोकपालः परमं हविश्च
त्वं भावनः सर्वसुरासुराणाम्॥ १३॥

आप कमलनयन, कमलमुख, सहस्रवदन और सहस्र-बाहु हैं। आप ही लोकपाल, सर्वोत्तम हविष्य तथा सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंके पालक हैं॥ १३॥

त्वमेव सेनाधिपतिः प्रचण्डः
प्रभुर्विभुश्चाप्यथ शत्रुजेता।
सहस्रभूस्त्वं धरणी त्वमेव
सहस्रतुष्टिश्च सहस्रभुक् च॥ १४॥

आप ही सेनापति, अत्यन्त कोपवान्, प्रभु, विभु और शत्रुविजयी हैं। आप ही सहस्रभू और पृथ्वी हैं। आप ही सहस्रों प्राणियोंको संतोष देनेवाले तथा सहस्रभोक्ता हैं॥

सहस्रशीर्षस्त्वमनन्तरूपः
सहस्रपात् त्वं गुह शक्तिधारी।
गङ्गासुतस्त्वं स्वमतेन देव
स्वाहामहीकृत्तिकानां तथैव॥ १५॥

आपके सहस्रों मस्तक हैं। आपके रूपका कहीं अन्त नहीं है। आपके सहस्रों चरण हैं। गुह! आप शक्ति धारण करते हैं। देव! आप अपने इच्छानुसार गङ्गा, स्वाहा, पृथ्वी तथा कृत्तिकाओंके पुत्ररूपसे प्रकट हुए हैं॥ १५॥

त्वं क्रीडसे षण्मुख कुक्कुटेन
यथेष्टनानाविधकामरूपी।
दीक्षासि सोमो मरुतः सदैव
धर्मोऽसि वायुरचलेन्द्र इन्द्रः॥ १६॥

षडानन! आप मुर्गेसे खेलते हैं तथा इच्छानुसार नाना प्रकारके कमनीय रूप धारण करते हैं। आप सदा ही दीक्षा, सोम, मरुद्गण, धर्म, वायु, गिरिराज तथा इन्द्र हैं॥१६॥

सनातनानामपि शाश्वतस्त्वं
प्रभुः प्रभूणामपि चोग्रधन्वा।
ऋतस्य कर्ता दितिजान्तकस्त्वं
जेता रिपूणां प्रवरः सुराणाम्॥ १७॥

आप सनातनोंमें भी सनातन हैं। प्रभुओंके भी प्रभु हैं। आपका धनुष भयंकर है। आप सत्यके प्रवर्तक, दैत्योंका संहार करनेवाले, शत्रुविजयी तथा देवताओंमें श्रेष्ठ हैं ॥१७॥

सूक्ष्मं तपस्तत् परमं त्वमेव
परावरज्ञोऽसि परावरस्त्वम्।
धर्मस्य कामस्य परस्य चैव
त्वत्तेजसा कृत्स्नमिदं महात्मन् ॥ १८ ॥

जो सर्वोत्कृष्ट सूक्ष्म तप है, वह आप ही हैं। आप ही कार्य-कारण-तत्त्वके ज्ञाता तथा कार्यकारणस्वरूप हैं। धर्म, काम तथा इन दोनोंसे परे जो मोक्षतत्त्व है, उसके भी आप ही ज्ञाता हैं। महात्मन्! यह सम्पूर्ण जगत् आपके तेजसे प्रकाशित होता है ॥ १८ ॥

व्याप्तं जगत् सर्वसुरप्रवीर
शक्त्या मया संस्तुत लोकनाथ।
नमोऽस्तु ते द्वादशनेत्रबाहो
अतः परं वेद्मि गतिं न तेऽहम् ॥ १९ ॥

समस्त देवताओंके प्रमुख वीर! आपकी शक्तिसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। लोकनाथ! मैंने यथाशक्ति आपका स्तवन किया है। बारह नेत्रों और भुजाओंसे सुशोभित देव! आपको नमस्कार है। इससे परे आपका जो स्वरूप है, उसे मैं नहीं जानता ॥ १९ ॥

स्कन्दस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समाहितः।
श्रावयेद् ब्राह्मणेभ्यो यः शृणुयाद् वा द्विजेरितम् ॥२०॥
धनमायुर्यशो दीप्तं पुत्राञ्छत्रुजयं तथा।
स पुष्टितुष्टी सम्प्राप्य स्कन्दसालोक्यमाप्नुयात् ॥२१॥

जो ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो स्कन्ददेवके इस जन्म-वृत्तान्तको पढ़ता है, ब्राह्मणोंको सुनाता है अथवा स्वयं ब्राह्मणके मुखसे सुनता है, वह धन, आयु, उज्ज्वल यश, पुत्र, शत्रुविजय तथा तुष्टि-पुष्टि पाकर अन्तमें स्कन्दके लोकमें जाता है ॥ २०-२१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे कार्तिकेयस्तवे द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसङ्गमें कार्तिकेयस्तुतिविषयक दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३२ ॥

(द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व)

त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका सत्यभामाको सती स्त्रीके कर्तव्यकी शिक्षा देना

वैशम्पायन उवाच

उपासीनेषु विप्रेषु पाण्डवेषु महात्मसु।
द्रौपदी सत्यभामा च विविशाते तदा समम् ॥ १ ॥
जाहस्यमाने सुप्रीते सुखं तत्र निषीदतुः।
चिरस्य दृष्ट्वा राजेन्द्र तेऽन्योन्यस्य प्रियंवदे ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब महात्मा पाण्डव तथा ब्राह्मणलोग आसपास बैठकर धर्मचर्चा कर रहे थे, उसी समय द्रौपदी और सत्यभामा भी एक ओर जाकर एक ही साथ सुखपूर्वक बैठीं और अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक परस्पर हास्य-विनोद करने लगीं। राजेन्द्र! दोनोंने एक दूसरीको बहुत दिनों बाद देखा था, इसलिये परस्पर प्रिय लगनेवाली बातें करती हुई वहाँ सुखपूर्वक बैठी रहीं ॥१-२॥

कथयामासतुश्चित्राः कथाः कुरुयदूत्थिताः।
अथाब्रवीत् सत्यभामा कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ ३ ॥
सात्राजिती याज्ञसेनीं रहसीदं सुमध्यमा।
केन द्रौपदि वृत्तेन पाण्डवानधितिष्ठसि ॥ ४ ॥
लोकपालोपमान् वीरान् पुनः परमसंहतान्।
कथं च वशगास्तुभ्यं न कुप्यन्ति च ते शुभे ॥ ५ ॥

कुरुकुल और यदुकुलसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक विचित्र बातें उनकी चर्चाकी विषय थीं। भगवान् श्रीकृष्ण-की प्यारी पटरानी सत्राजित्‌कुमारी सुन्दरी सत्यभामाने एकान्तमें द्रौपदीसे इस प्रकार पूछा—'शुभे! द्रुपदकुमारि! किस बर्तावसे तुम हृष्ट-पुष्ट अङ्गोंवाले तथा लोकपालोंके समान वीर पाण्डवोंके हृदयपर अधिकार रखती हो? किस प्रकार तुम्हारे वशमें रहते हुए वे कभी तुमपर कुपित नहीं होते? ॥ ३–५ ॥

तव वश्या हि सततं पाण्डवाः प्रियदर्शने।
मुखप्रेक्षाश्च ते सर्वे तत्त्वमेतद् ब्रवीहि मे ॥ ६ ॥

'प्रियदर्शने! क्या कारण है कि पाण्डव सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं और सबके सब तुम्हारे मुँहकी ओर देखते रहते हैं? इसका यथार्थ रहस्य मुझे बताओ ॥ ६ ॥

व्रतचर्या तपो वापि स्नानमन्त्रौषधानि वा।
विद्यावीर्यं मूलवीर्यं जपहोमागदास्तथा ॥ ७ ॥
ममाद्याचक्ष्व पाञ्चालि यशस्यं भगदैवतम्।
येन कृष्णे भवेन्नित्यं मम कृष्णो वशानुगः ॥ ८ ॥

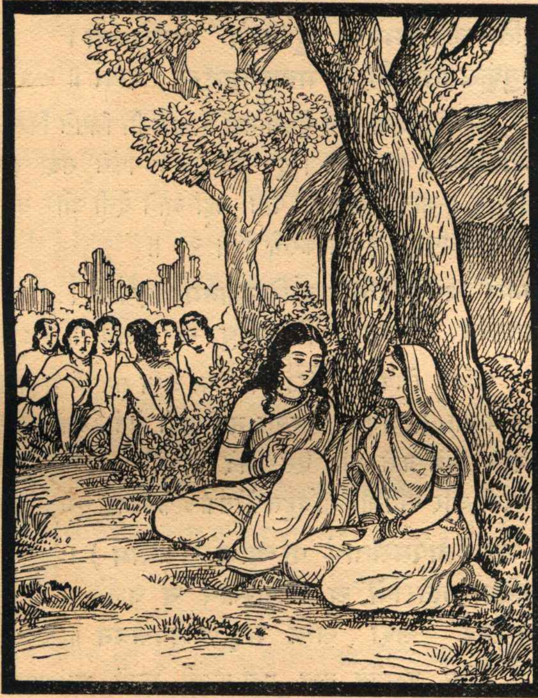


द्रौपदी-सत्यभामा-संवाद

'पाञ्चालकुमारी कृष्णे ! आज मुझे भी कोई ऐसा व्रत, तप, स्नान, मन्त्र, औषध, विद्या-शक्ति, मूल-शक्ति (जड़ी-बूटीका प्रभाव) जप, होम या दवा बताओ, जो यश और सौभाग्यकी वृद्धि करनेवाला हो तथा जिससे श्यामसुन्दर सदा मेरे अधीन रहें' ॥ ७-८ ॥

एवमुक्त्वा सत्यभामा विरराम यशस्विनी ।
पतिव्रता महाभागा द्रौपदी प्रत्युवाच ताम् ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर यशस्विनी सत्यभामा चुप हो गयी । तब पतिपरायणा महाभागा द्रौपदीने उसे इस प्रकार उत्तर दिया- ॥ ९ ॥



असत्स्त्रीणां समाचारं सत्ये मामनुपृच्छसि ।
असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनुकीर्तनम् ॥ १० ॥

'सत्ये ! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रही हो, वह साध्वी स्त्रियोंका नहीं, दुराचारिणी और कुलटा स्त्रियोंका आचरण है ! जिस मार्गका दुराचारिणी स्त्रियोंने अवलम्बन किया है, उसके विषयमें हमलोग कोई चर्चा कैसे कर सकती हैं ? ॥ १० ॥

अनुप्रश्नः संशयो वा नैतत् त्वय्युपपद्यते ।
तथा ह्युपेता बुद्ध्या त्वं कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ ११ ॥

'इस प्रकारका प्रश्न अथवा स्वामीके स्नेहमें संदेह करना तुम्हारे-जैसी साध्वी स्त्रीके लिये कदापि उचित नहीं है; चूँकि तुम बुद्धिमती होनेके साथ ही श्यामसुन्दरकी प्रियतमा पटरानी हो ॥ ११ ॥

यदैव भर्ता जानीयान्मन्त्रमूलपरां स्त्रियम् ।
उद्विजेत तदैवास्याः सर्पाद् वेश्मगतादिव ॥ १२ ॥

'जब पतिको यह मालूम हो जाय कि उसकी पत्नी उसे वशमें करनेके लिये किसी मन्त्र-तन्त्र अथवा जड़ी-बूटीका प्रयोग कर रही है, तो वह उससे उसी प्रकार उद्विग्न हो उठता है, जैसे अपने घरमें घुसे हुए सर्पसे लोग शङ्कित रहते हैं ॥ १२ ॥

उद्विग्नस्य कुतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।
न जातु वशगो भर्ता स्त्रियाः स्यान्मन्त्रकर्मणा ॥ १३ ॥

'उद्विग्नको शान्ति कैसी ? और अशान्तको सुख कहाँ ? अतः मन्त्र-तन्त्र करनेसे पति अपनी पत्नीके वशमें कदापि नहीं हो सकता ॥ १३ ॥

अमित्रप्रहितांश्चापि गदान् परमदारुणान् ।
मूलप्रचारैर्हि विषं प्रयच्छन्ति जिघांसवः ॥ १४ ॥

'इसके सिवा, ऐसे अवसरोंपर धोखेसे शत्रुओंद्वारा भेजी हुई ओषधियोंको खिलाकर कितनी ही स्त्रियाँ अपने पतियोंको अत्यन्त भयंकर रोगोंका शिकार बना देती हैं । किसीको मारनेकी इच्छावाले मनुष्य उसकी स्त्रीके हाथमें यह प्रचार करते हुए विष दे देते हैं कि 'यह पतिको वशमें करनेवाली जड़ी-बूटी है' ॥ १४ ॥

जिह्वया यानि पुरुषस्त्वचा वाप्युपसेवते ।
तत्र चूर्णानि दत्तानि हन्युः क्षिप्रमसंशयम् ॥ १५ ॥

'उनके दिये हुए चूर्ण ऐसे होते हैं कि उन्हें पति यदि जिह्वा अथवा त्वचासे भी स्पर्श कर ले, तो वे निःसंदेह उसी क्षण उसके प्राण ले लें ॥ १५ ॥

जलोदरसमायुक्ताः श्वित्रिणः पलितास्तथा ।
अपुमांसः कृताः स्त्रीभिर्जडान्धबधिरास्तथा ॥ १६ ॥

'कितनी ही स्त्रियोंने अपने पतियोंको (वशमें करनेकी आशासे हानिकारक दवाएँ खिलाकर उन्हें) जलोदर और कोढ़का रोगी, असमयमें ही वृद्ध, नपुंसक, अंधा, गूँगा और बहरा बना दिया है ॥ १६ ॥

पापानुगास्तु पापास्ताः पतीनुपसृजन्त्युत ।
न जातु विप्रियं भर्तुः स्त्रिया कार्यं कथंचन ॥ १७ ॥

'इस प्रकार पापियोंका अनुसरण करनेवाली वे पापिनी स्त्रियाँ अपने पतियोंको अनेक प्रकारकी विपत्तियोंमें डाल देती हैं । अतः साध्वी स्त्रीको चाहिये कि वह कभी किसी प्रकार भी पतिका अप्रिय न करे ॥ १७ ॥

वर्ताम्यहं तु यां वृत्तिं पाण्डवेषु महात्मसु ।
तां सर्वां शृणु मे सत्यां सत्यभामे यशस्विनि ॥ १८ ॥

'यशस्विनी सत्यभामे ! मैं स्वयं महात्मा पाण्डवोंके

साथ जैसा बर्ताव करती हूँ, वह सब सच-सच सुनाती हूँ; सुनो ॥ १८ ॥

अहंकारं विहायाहं कामक्रोधौ च सर्वदा।
सदारान् पाण्डवान् नित्यं प्रयतोपचराम्यहम् ॥ १९ ॥

'मैं अहंकार और काम-क्रोधको छोड़कर सदा पूरी सावधानीके साथ सब पाण्डवोंकी और उनकी अन्यान्य स्त्रियोंकी भी सेवा करती हूँ ॥ १९ ॥

प्रणयं प्रतिसंहृत्य निधायात्मानमात्मनि।
शुश्रूषुर्निरहंमाना पतीनां चित्तरक्षिणी ॥ २० ॥

अपनी इच्छाओंका दमन करके मनको अपने आपमें ही समेटे हुए केवल सेवाकी इच्छासे ही अपने पतियोंका मन रखती हूँ। अहंकार और अभिमानको अपने पास नहीं फटकने देती ॥

दुर्व्याहृताच्छङ्कमाना दुःस्थिताद् दुरवेक्षितात्।
दुरासिताद् दुर्व्रजितादिङ्गिताध्यासितादपि ॥ २१ ॥

'कभी मेरे मुखसे कोई बुरी बात न निकल जाय, इसकी आशङ्कासे सदा सावधान रहती हूँ। असभ्यकी भाँति कहीं खड़ी नहीं होती। निर्लज्जकी तरह सब ओर दृष्टि नहीं डालती। बुरी जगहपर नहीं बैठती। दुराचारसे बचती तथा चलने-फिरनेमें भी असभ्यता न हो जाय, इसके लिये सतत सावधान रहती हूँ। पतियोंके अभिप्रायपूर्ण संकेतका सदैव अनुसरण करती हूँ ॥ २१ ॥

सूर्यवैश्वानरसमान् सोमकल्पान् महारथान्।
सेवे चक्षुर्हणः पार्थानुग्रवीर्यप्रतापिनः ॥ २२ ॥

'कुन्तीदेवीके पाँचों पुत्र ही मेरे पति हैं। वे सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी, चन्द्रमाके समान आह्लाद प्रदान करनेवाले, महारथी, दृष्टिमात्रसे ही शत्रुओंको मारनेकी शक्ति रखनेवाले तथा भयंकर बल-पराक्रम एवं प्रतापसे युक्त हैं। मैं सदा उन्हींकी सेवामें लगी रहती हूँ ॥ २२ ॥

देवो मनुष्यो गन्धर्वो युवा चापि स्वलंकृतः।
द्रव्यवानभिरूपो वा न मेऽन्यः पुरुषो मतः ॥ २३ ॥

'देवता, मनुष्य, गन्धर्व, युवक, बड़ी सजधजवाला धनवान् अथवा परम सुन्दर कैसा ही पुरुष क्यों न हो, मेरा मन पाण्डवोंके सिवा और कहीं नहीं जाता ॥ २३ ॥

नाभुक्तवति नास्नाते नासंविष्टे च भर्तरि।
न संविशामि नाश्नामि सदा कर्मकरेष्वपि ॥ २४ ॥

'पतियों और उनके सेवकोंको भोजन कराये बिना मैं कभी भोजन नहीं करती, उन्हें नहलाये बिना कभी नहाती नहीं हूँ तथा पतिदेव जबतक शयन न करें, तबतक मैं सोती भी नहीं हूँ ॥ २४ ॥

क्षेत्राद् वनाद् वा ग्रामाद् वा भर्तारं गृहमागतम्।
अभ्युत्थायाभिनन्दामि आसनेनोदकेन च ॥ २५ ॥

'खेतसे, वनसे अथवा गाँवसे जब कभी मेरे पति घर पधारते हैं, उस समय मैं खड़ी होकर उनका अभिनन्दन करती हूँ तथा आसन और जल अर्पण करके उनके स्वागत-सत्कारमें लग जाती हूँ ॥ २५ ॥

प्रमृष्टभाण्डा मृष्टान्ना काले भोजनदायिनी।
संयता गुप्तधान्या च सुसम्मृष्टनिवेशना ॥ २६ ॥

'मैं घरके बर्तनोंको माँज-धोकर साफ रखती हूँ। शुद्ध एवं स्वादिष्ट रसोई तैयार करके सबको ठीक समयपर भोजन कराती हूँ। मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर घरमें गुप्त-रूपसे अनाजका संचय रखती हूँ और घरको झाड़-बुहार, लीप-पोतकर सदा स्वच्छ एवं पवित्र बनाये रखती हूँ ।२६।

अतिरस्कृतसम्भाषा दुःस्त्रियो नानुसेवती।
अनुकूलवती नित्यं भवाम्यनलसा सदा ॥ २७ ॥

'मैं कोई ऐसी बात मुँहसे नहीं निकालती, जिससे किसीका तिरस्कार होता हो। दुष्ट स्त्रियोंके सम्पर्कसे सदा दूर रहती हूँ। आलस्यको कभी पास नहीं आने देती और सदा पतियोंके अनुकूल बर्ताव करती हूँ ॥ २७ ॥

अनर्मे चापि हसितं द्वारि स्थानमभीक्ष्णशः।
अवस्करे चिरस्थानं निष्कुटेषु च वर्जये ॥ २८ ॥

'पतिके किये हुए परिहासके सिवा अन्य समयमें मैं नहीं हँसा करती, दरवाजेपर बारबार नहीं खड़ी होती, जहाँ कूड़े-करकट फेंके जाते हों, ऐसे गंदे स्थानोंमें देरतक नहीं ठहरती और बगीचोंमें भी बहुत देरतक अकेली नहीं घूमती हूँ ॥

(अन्त्यालापमसंतोषं परव्यापारसंकथाम्)।
अतिहासातिरोषौ च क्रोधस्थानं च वर्जये।
निरताहं सदा सत्ये भर्तॄणामुपसेवने ॥ २९ ॥

'नीच पुरुषोंसे बात नहीं करती, मनमें असंतोषको स्थान नहीं देती और परायी चर्चासे दूर रहती हूँ। न अधिक हँसती हूँ और न अधिक क्रोध करती हूँ। क्रोधका अवसर ही नहीं आने देती। सदा सत्य बोलती और पतियोंकी सेवामें लगी रहती हूँ ॥ २९ ॥

सर्वथा भर्तृरहितं न ममेष्टं कथंचन।
यदा प्रवसते भर्ता कुटुम्बार्थेन केनचित् ॥ ३० ॥
सुमनोवर्णकापेता भवामि व्रतचारिणी।

'पतिदेवके बिना किसी भी स्थानमें अकेली रहना मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है। मेरे स्वामी जब कभी कुटुम्बके कार्यसे कभी परदेश चले जाते हैं, उन दिनों मैं फूलोंका शृङ्गार नहीं धारण करती, अङ्गराग नहीं लगाती और निरन्तर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करती हूँ ॥ ३०½ ॥

यच्च भर्ता न पिबति यच्च भर्ता न सेवते ॥ ३१ ॥
यच्च नाश्नाति मे भर्ता सर्वं तद् वर्जयाम्यहम्।

'मेरे पतिदेव जिस चीजको नहीं खाते, नहीं पीते अथवा नहीं सेवन करते, वह सब मैं भी त्याग देती हूँ ॥ ३१½ ॥

यथोपदेशं नियता वर्तमाना वराङ्गने ॥ ३२ ॥
स्वलंकृता सुप्रयता भर्तुः प्रियहिते रता ।
ये च धर्माः कुटुम्बेषु श्वश्र्वा मे कथिताः पुरा ॥ ३३ ॥
(अनुतिष्ठामि तत् सर्वं नित्यकालमतन्द्रिता ॥)

'सुन्दरी ! शास्त्रोंमें स्त्रियोंके लिये जिन कर्तव्योंका उपदेश किया गया है, उन सबका मैं नियमपूर्वक पालन करती हूँ । अपने अङ्गोंको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित रखकर पूरी सावधानीके साथ मैं पतिके प्रिय एवं हित-साधनमें संलग्न रहती हूँ । मेरी सासने अपने परिवारके लोगोंके साथ बर्तावमें लाने योग्य जो धर्म पहले मुझे बताये थे, उन सबका मैं निरन्तर आलस्यरहित होकर पालन करती हूँ ॥ ३२-३३ ॥

भिक्षाबलिश्राद्धमिति स्थालीपाकाश्च पर्वसु ।
मान्यानां मानसत्कारा ये चान्ये विदिता मम ॥ ३४ ॥
तान् सर्वाननुवर्तेऽहं दिवारात्रमतन्द्रिता ।
विनयान् नियमांश्चैव सदा सर्वात्मना श्रिता ॥ ३५ ॥

'मैं दिन-रात आलस्य त्यागकर भिक्षा-दान, बलिवैश्वदेव, श्राद्ध, पर्वकालोचित स्थालीपाकयज्ञ, मान्य पुरुषोंका आदर-सत्कार, विनय, नियम तथा अन्य जो-जो धर्म मुझे ज्ञात हैं, उन सबका सब प्रकारसे उद्यत होकर पालन करती हूँ ॥ ३४-३५ ॥

मृदून् सतः सत्यशीलान् सत्यधर्मानुपालिनः ।
आशीविषानिव क्रुद्धान् पतीन् परिचराम्यहम् ॥ ३६ ॥

'मेरे पति बड़े ही सज्जन और मृदुल स्वभावके हैं। सत्यवादी तथा सत्यधर्मका निरन्तर पालन करनेवाले हैं; तथापि क्रोधमें भरे हुए विषैले सर्पोंसे जिस प्रकार लोग डरते हैं, उसी प्रकार मैं अपने पतियोंसे डरती हुई उनकी सेवा करती हूँ ॥ ३६ ॥

पत्याश्रयो हि मे धर्मो मतः स्त्रीणां सनातनः ।
स देवः सा गतिर्नान्या तस्य का विप्रियं चरेत् ॥ ३७ ॥

'मैं यह मानती हूँ कि पतिके आश्रयमें रहना ही स्त्रियोंका सनातन धर्म है । पति ही उनका देवता है और पति ही उनकी गति है । पतिके सिवा नारीका दूसरा कोई सहारा नहीं है, ऐसे पतिदेवताका भला कौन स्त्री अप्रिय करेगी ? ॥

अहं पतीन् नातिशये नात्यश्ने नातिभूषये ।
नापि श्वश्रूं परिवदे सर्वदा परियन्त्रिता ॥ ३८ ॥

'पतियोंके शयन करनेसे पहले मैं कभी शयन नहीं करती, उनसे पहले भोजन नहीं करती, उनकी इच्छाके विरुद्ध कोई आभूषण नहीं पहनती, अपनी सासकी कभी निन्दा नहीं करती और अपने-आपको सदा नियन्त्रणमें रखती हूँ ।३८।

अवधानेन सुभगे नित्योत्थिततयैव च ।
भर्तारो वशगा मह्यं गुरुशुश्रूषयैव च ॥ ३९ ॥

'सौभाग्यशालिनी सत्यभामे ! मैं सावधानीसे सर्वदा सबेरे उठकर समुचित सेवाके लिये सन्नद्ध रहती हूँ । गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषासे ही मेरे पति मेरे अनुकूल रहते हैं ॥ ३९ ॥

नित्यमार्यामहं कुन्तीं वीरसूं सत्यवादिनीम् ।
स्वयं परिचराम्येतां पानाच्छादनभोजनैः ॥ ४० ॥

'मैं वीरजननी सत्यवादिनी आर्या कुन्तीदेवीकी भोजन, वस्त्र और जल आदिसे सदा स्वयं सेवा करती रहती हूँ ॥४०॥

नैतामतिशये जातु वस्त्रभूषणभोजनैः ।
नापि परिवदे चाहं तां पृथां पृथिवीसमाम् ॥ ४१ ॥

'वस्त्र, आभूषण और भोजन आदिमें मैं कभी सासकी अपेक्षा अपने लिये कोई विशेषता नहीं रखती । मेरी सास कुन्तीदेवी पृथ्वीके समान क्षमाशील हैं । मैं कभी उनकी निन्दा नहीं करती ॥ ४१ ॥

अष्टावग्रे ब्राह्मणानां सहस्राणि स्म नित्यदा ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीषु युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४२ ॥

'पहले महाराज युधिष्ठिरके महलमें प्रतिदिन आठ हजार ब्राह्मण सोनेकी थालियोंमें भोजन किया करते थे ॥ ४२ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ ४३ ॥

'महाराज युधिष्ठिरके यहाँ अट्ठासी हजार ऐसे स्नातक गृहस्थ थे, जिनका वे भरण-पोषण करते थे । उनमेंसे प्रत्येककी सेवामें तीस-तीस दासियाँ रहती थीं ॥ ४३ ॥

दशान्यानि सहस्राणि येषामन्नं सुसंस्कृतम् ।
ह्रियते रुक्मपात्रीभिर्यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ४४ ॥

'इनके सिवा दूसरे दस हजार और ऊर्ध्वरेता यति उनके यहाँ रहते थे, जिनके लिये सुन्दर ढंगसे तैयार किया हुआ अन्न सोनेकी थालियोंमें परोसकर पहुँचाया जाता था ॥४४॥

तान् सर्वानग्रहारेण ब्राह्मणान् वेदवादिनः ।
यथार्हं पूजयामि स्म पानाच्छादनभोजनैः ॥ ४५ ॥

'मैं उन सब वेदवादी ब्राह्मणोंको अग्रहार (बलिवैश्वदेवके अन्तमें अतिथिको दिये जानेवाले प्रथम अन्न) का अर्पण करके भोजन, वस्त्र और जलके द्वारा उनकी यथायोग्य पूजा करती थी ॥ ४५ ॥

शतं दासीसहस्राणि कौन्तेयस्य महात्मनः ।
कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलङ्कृताः॥ ४६ ॥

'कुन्तीनन्दन महात्मा युधिष्ठिरके एक लाख दासियाँ थीं, जो हाथोंमें शंखकी चूड़ियाँ, भुजाओंमें बाजूबंद और कण्ठमें सुवर्णके हार पहनकर बड़ी सजधजके साथ रहती थीं ॥४६॥

महार्हमाल्याभरणाः सुवर्णाश्चन्दनोक्षिताः ।
मणीन् हेम च बिभ्रत्यो नृत्यगीतविशारदाः ॥ ४७ ॥

'उनकी मालाएँ तथा आभूषण बहुमूल्य थे, अङ्गकान्ति बड़ी सुन्दर थी। वे चन्दनमिश्रित जलसे स्नान करती और चन्दनका ही अङ्गराग लगाती थीं, मणि तथा सुवर्णके गहने पहना करती थीं। नृत्य और गीतकी कलामें उनका कौशल देखने ही योग्य था ॥ ४७ ॥

तासां नाम च रूपं च भोजनाच्छादनानि च ।
सर्वासामेव वेदाहं कर्म चैव कृताकृतम् ॥ ४८ ॥

'उन सबके नाम, रूप तथा भोजन-आच्छादन आदि सभी बातोंकी मुझे जानकारी रहती थी। किसने क्या काम किया और क्या नहीं किया ? यह बात भी मुझसे छिपी नहीं रहती थी ॥ ४८ ॥

शतं दासीसहस्राणि कुन्तीपुत्रस्य धीमतः ।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत ॥ ४९ ॥

'बुद्धिमान् कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी पूर्वोक्त एक लाख दासियाँ हाथोंमें (भोजनसे भरी हुई) थाली लिये दिन-रात अतिथियोंको भोजन कराती रहती थीं ॥ ४९ ॥

शतमश्वसहस्राणि दशनागायुतानि च ।
युधिष्ठिरस्यानुयात्रमिन्द्रप्रस्थनिवासिनः ॥ ५० ॥
एतदासीत् तदा राज्ञो यन्महीं पर्यपालयत् ।
येषां संख्याविधिं चैव प्रदिशामि शृणोमि च ॥ ५१ ॥

'जिन दिनों महाराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थमें रहकर इस पृथ्वीका पालन करते थे, उस समय प्रत्येक यात्रामें उनके साथ एक लाख घोड़े और एक लाख हाथी चलते थे। मैं ही उनकी गणना करती, आवश्यक वस्तुएँ देती और उनकी आवश्यकताएँ सुनती थी ॥ ५०-५१ ॥

अन्तःपुराणां सर्वेषां भृत्यानां चैव सर्वशः ।
आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥ ५२ ॥

'अन्तःपुरके, नौकरोंके तथा ग्वालों और गड़रियोंसे लेकर समस्त सेवकोंके सभी कार्योंकी देखभाल मैं ही करती थी और किसने क्या काम किया अथवा कौन काम अधूरा रह गया—इन सब बातोंकी जानकारी भी रखती थी ॥ ५२ ॥

सर्वं राज्ञः समुदयमायं च व्ययमेव च ।
एकाहं वेद्मि कल्याणि पाण्डवानां यशस्विनि ॥ ५३ ॥

'कल्याणी एवं यशस्विनी सत्यभामे ! महाराज तथा अन्य पाण्डवोंको जो कुछ आय, व्यय और बचत होती थी, उस सबका हिसाब मैं अकेली ही रखती और जानती थी ॥

मयि सर्वं समासज्य कुटुम्बं भरतर्षभाः ।
उपासनरताः सर्वे घटयन्ति वरानने ॥ ५४ ॥

'वरानने ! भरतश्रेष्ठ पाण्डव कुटुम्बका सारा भार मुझपर ही रखकर उपासनामें लगे रहते और तदनुरूप चेष्टा करते थे ॥ ५४ ॥

तमहं भारमासक्तमनाधृष्यं दुरात्मभिः ।
सुखं सर्वं परित्यज्य रात्र्यहानि घटामि वै ॥ ५५ ॥

'मुझपर जो भार रक्खा गया था, उसे दुष्ट स्वभावके स्त्री-पुरुष नहीं उठा सकते थे। परंतु मैं सब प्रकारका सुख-भोग छोड़कर रात-दिन उस दुर्वह भारको वहन करनेकी चेष्टा किया करती थी ॥ ५५ ॥

अधृष्यं वरुणस्येव निधिपूर्णमिवोदधिम् ।
एकाहं वेद्मि कोशं वै पतीनां धर्मचारिणाम् ॥ ५६ ॥

'मेरे धर्मात्मा पतियोंका भरा-पूरा खजाना वरुणके भण्डार और परिपूर्ण महासागरके समान अक्षय एवं अगम्य था। केवल मैं ही उसके विषयकी ठीक जानकारी रखती थी ॥ ५६ ॥

अनिशायां निशायां च सहा या क्षुत्पिपासयोः ।
आराधयन्त्याः कौरव्यांस्तुल्या रात्रिरहश्च मे ॥ ५७ ॥

'रात हो या दिन, मैं सदा भूख-प्यासके कष्ट सहन करके निरन्तर कुरुकुलरत्न पाण्डवोंकी आराधनामें लगी रहती थी। इससे मेरे लिये दिन और रात समान हो गये थे ॥ ५७ ॥

प्रथमं प्रतिबुध्यामि चरमं संविशामि च ।
नित्यकालमहं सत्ये एतत् संवननं मम ॥ ५८ ॥

'सत्ये ! मैं प्रतिदिन सबसे पहले उठती और सबसे पीछे सोती थी। यह पतिभक्ति और सेवा ही मेरा वशीकरण मन्त्र है ॥ ५८ ॥

एतज्जानाम्यहं कर्तुं भर्तृसंवननं महत् ।
असत्स्त्रीणां समाचारं नाहं कुर्यां न कामये ॥ ५९ ॥

'पतिको वशमें करनेका यही सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय मैं जानती हूँ। दुराचारिणी स्त्रियाँ जिन उपायोंका अवलम्बन करती हैं, उन्हें न तो मैं करती हूँ और न चाहती ही हूँ' ॥ ५९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा धर्मसहितं व्याहृतं कृष्णया तदा ।
उवाच सत्या सत्कृत्य पाञ्चालीं धर्मचारिणीम् ॥ ६० ॥
अभिपन्नास्मि पाञ्चालि याज्ञसेनि क्षमस्व मे ।
कामकारः सखीनां हि सोपहासं प्रभाषितम् ॥ ६१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! द्रौपदीकी ये धर्मयुक्त बातें सुनकर सत्यभामाने उस धर्मपरायणा पाञ्चालीका समादर करते हुए कहा—'पाञ्चालराजकुमारी ! याज्ञसेनी ! मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ; (मैंने जो अनुचित प्रश्न किया है), उसके लिये मुझे क्षमा कर दो। सखियोंमें परस्पर स्वेच्छा-पूर्वक ऐसी हास-परिहासकी बातें हो जाया करती हैं' ॥६०-६१॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीसत्यभामा-संवादपर्वमें दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६२ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पतिदेवको अनुकूल करनेका उपाय—पतिकी अनन्यभावसे सेवा

द्रौपद्युवाच

इमं तु ते मार्गमपेतमोहं
वक्ष्यामि चित्तग्रहणाय भर्तुः ।
अस्मिन् यथावत् सखि वर्तमाना
भर्तारमाच्छेत्स्यसि कामिनीभ्यः ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—सखी ! मैं स्वामीके मनका आकर्षण करनेके लिये तुम्हें एक ऐसा मार्ग बता रही हूँ, जिसमें भ्रम अथवा छल-कपटके लिये तनिक भी स्थान नहीं है। यदि तुम यथावत्‌रूपसे इसी पथपर चलती रहोगी, तो स्वामीके चित्तको अपनी सौतोंसे हटाकर अपनी ओर अवश्य खींच सकोगी ॥ १ ॥

नैतादृशं दैवतमस्ति सत्ये
सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु ।
यथा पतिस्तस्य तु सर्वकामा
लभ्याः प्रसादात् कुपितश्च हन्यात् ॥ २॥

सत्ये ! स्त्रियोंके लिये देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें पतिके समान दूसरा कोई देवता नहीं है। पतिके प्रसादसे नारीकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण हो सकती हैं और यदि पति ही कुपित हो जाय, तो वह नारीकी सभी आशाओंको नष्ट कर सकता है ॥ २ ॥

तस्मादपत्यं विविधाश्च भोगाः
शय्यासनान्युत्तमदर्शनानि ।
वस्त्राणि माल्यानि तथैव गन्धाः
स्वर्गश्च लोको विपुला च कीर्तिः ॥ ३ ॥

सेवाद्वारा प्रसन्न किये हुए पतिसे स्त्रियोंको (उत्तम) संतान, भाँति-भाँतिके भोग, शय्या, आसन, सुन्दर दिखायी देनेवाले वस्त्र, माला, सुगन्धित पदार्थ, स्वर्गलोक तथा महान् यशकी प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥

सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं
दुःखेन साध्वी लभते सुखानि ।
सा कृष्णमाराधय सौहृदेन
प्रेम्णा च नित्यं प्रतिकर्मणा च ॥ ४ ॥
तथाऽऽसनैश्चारुभिरग्र्यमाल्यै-
र्दाक्षिण्ययोगैर्विविधैश्च गन्धैः ।
अस्याः प्रियोऽस्मीति यथा विदित्वा
त्वामेव संश्लिष्यति तद् विधत्स्व ॥ ५ ॥

सखी ! इस जगत्‌में कभी सुखके द्वारा सुख नहीं मिलता। पतिव्रता स्त्री दुःख उठाकर ही सुख पाती है। तुम सौहार्द, प्रेम, सुन्दर वेश-भूषा-धारण, सुन्दर आसन-समर्पण, मनोहर पुष्पमाला, उदारता, सुगन्धित द्रव्य एवं व्यवहारकुशलतासे श्यामसुन्दरकी निरन्तर आराधना करती रहो। उनके साथ ऐसा बर्ताव करो, जिससे वे यह समझकर 'कि सत्यभामाको मैं ही अधिक प्रिय हूँ' तुम्हें ही हृदयसे लगाया करें ॥ ४-५ ॥

श्रुत्वा स्वरं द्वारगतस्य भर्तुः
प्रत्युत्थिता तिष्ठ गृहस्य मध्ये ।
दृष्ट्वा प्रविष्टं त्वरिताऽऽसनेन
पाद्येन चैनं प्रतिपूजयस्व ॥ ६ ॥

जब महलके द्वारपर पधारे हुए प्राणवल्लभका स्वर सुनायी पड़े, तब तुम उठकर घरके आँगनमें आ जाओ और उनकी प्रतीक्षामें खड़ी रहो। जब देखो कि वे भीतर आ गये, तब तुरंत आसन और पाद्यके द्वारा उनका यथावत् पूजन करो ॥ ६ ॥

सम्प्रेषितायामथ चैव दास्या-
मुत्थाय सर्वं स्वयमेव कार्यम् ।
जानातु कृष्णस्तव भावमेतं
सर्वात्मना मां भजतीति सत्ये ॥ ७ ॥

सत्ये ! यदि श्यामसुन्दर किसी कार्यके लिये दासीको भेजते हों, तो तुम्हें स्वयं उठकर वह सब काम कर लेना चाहिये; जिससे श्रीकृष्णको तुम्हारे इस सेवा-भावका अनुभव हो जाय कि सत्यभामा सम्पूर्ण हृदयसे मेरी सेवा करती है॥ ७ ॥

त्वत्संनिधौ यत् कथयेत् पतिस्ते
यद्यप्यगुह्यं परिरक्षितव्यम् ।
काचित् सपत्नी तव वासुदेवं
प्रत्यादिशेत् तेन भवेद् विरागः ॥ ८ ॥

तुम्हारे पति तुम्हारे निकट जो भी बात कहें, वह छिपाने योग्य न हो, तो भी तुम्हें उसे गुप्त ही रखना चाहिये। अन्यथा तुम्हारे मुखसे उस बातको सुनकर यदि कोई सौत उसे श्यामसुन्दरके सामने कह दे, तो इससे उनके मनमें तुम्हारी ओरसे विरक्ति हो सकती है ॥ ८ ॥

प्रियांश्च रक्तांश्च हितांश्च भर्तु-
स्तान् भोजयेथा विविधैरुपायैः ।
द्वेष्यैरुपेक्ष्यैरहितैश्च तस्य
भिद्यस्व नित्यं कुहकोद्यतैश्च ॥ ९ ॥

पतिदेवके जो प्रिय, अनुरक्त एवं हितैषी सुहृद् हों, उन्हें तरह-तरहके उपायोंसे खिलाओ-पिलाओ तथा जो

उनके शत्रु, उपेक्षणीय और अहितकारक हों अथवा जो उनसे छल-कपट करनेके लिये उद्यत रहते हों; उनसे सदा दूर रहो ॥ ९ ॥

मदं प्रमादं पुरुषेषु हित्वा
संयच्छ भावं प्रतिगृह्य मौनम् ।
प्रद्युम्नसाम्बावपि ते कुमारौ
नोपासितव्यौ रहिते कदाचित् ॥ १० ॥

दूसरे पुरुषोंके समीप घमंड और प्रमादका परित्याग करके मौन रहकर अपने मनोभावको प्रकट न होने दो। कुमार प्रद्युम्न और साम्ब यद्यपि तुम्हारे पुत्र हैं, तथापि तुम्हें एकान्तमें कभी उनके पास भी नहीं बैठना चाहिये ॥१०॥

महाकुलीनाभिरपापिकाभिः
स्त्रीभिः सतीभिस्तव सख्यमस्तु ।
चण्डाश्च शौण्डाश्च महाशनाश्च
चौराश्च दुष्टाश्चपलाश्च वर्ज्याः ॥११॥

अत्यन्त ऊँचे कुलमें उत्पन्न और पापाचारसे दूर रहनेवाली सती स्त्रियोंके साथ ही तुम्हें सखीभाव स्थापित करना चाहिये। जो अत्यन्त क्रोधी, नशेमें चूर रहनेवाली, अधिक खानेवाली, चोरीकी लत रखनेवाली, दुष्ट और चञ्चल स्वभावकी स्त्रियाँ हों, उन्हें दूरसे ही त्याग देना चाहिये ॥११॥

एतद् यशस्यं भगदैवतं च
स्वार्थ्यं तथा शत्रुनिबर्हणं च ।
महार्हमाल्याभरणाङ्गरागा
भर्तारमाराधय पुण्यगन्धा ॥ १२ ॥

तुम बहुमूल्य हार, आभूषण और अङ्गराग धारण करके पवित्र सुगन्धित वस्तुओंसे सुवासित हो अपने प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी आराधना करो। इससे तुम्हारे यश और सौभाग्यकी वृद्धि होगी। तुम्हारे मनोरथकी सिद्धि तथा शत्रुओंका नाश होगा ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि द्रौपदीकर्तव्यकथने चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वमें द्रौपदीद्वारा स्त्रीकर्तव्यकथनविषयक दो सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३४ ॥

पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सत्यभामाका द्रौपदीको आश्वासन देकर श्रीकृष्णके साथ द्वारिकाको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयादिभिर्विप्रैः पाण्डवैश्च महात्मभिः ।
कथाभिरनुकूलाभिः सह स्थित्वा जनार्दनः ॥ १ ॥

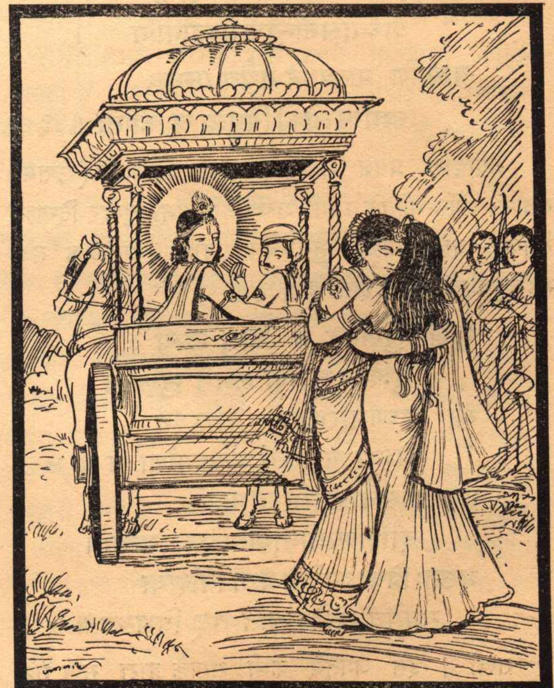
वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय भगवान् श्रीकृष्ण मार्कण्डेय आदि ब्रह्मर्षियों तथा महात्मा पाण्डवोंके साथ अनुकूल बातें करते हुए कुछ कालतक वहाँ रहकर (द्वारिका जानेको उद्यत हुए) ॥ १ ॥

ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः ।
आरुरुक्षू रथं सत्यामाह्वयामास केशवः ॥ २ ॥

मधुसूदन केशवने उन सबसे यथावत् वार्तालापके अनन्तर विदा लेकर रथपर चढ़नेकी इच्छासे सत्यभामाको बुलाया ॥ २ ॥

सत्यभामा ततस्तत्र स्वजित्वा द्रुपदात्मजाम् ।
उवाच वचनं हृद्यं यथाभावं समाहितम् ॥ ३ ॥

तब सत्यभामा वहाँ द्रुपदकुमारीसे गले मिलकर अपने हार्दिक भावके अनुसार एकाग्रतापूर्वक मधुर वचन बोली—॥३॥



कृष्णे मा भूत् तवोत्कण्ठा मा व्यथा मा प्रजागरः ।
भर्तृभिर्देवसंकाशैर्जितां प्राप्स्यसि मेदिनीम् ॥ ४ ॥

'सखी कृष्णे ! तुम्हें उत्कण्ठित (राज्यके लिये चिन्तित) और व्यथित नहीं होना चाहिये । तुम इस प्रकार रात-रातभर जागना छोड़ दो । तुम्हारे देवतुल्य पतियोंद्वारा जीती हुई इस पृथ्वीका राज्य तुम्हें अवश्य प्राप्त होगा ॥ ४ ॥

न ह्येवं शीलसम्पन्ना नैवं पूजितलक्षणाः ।
प्राप्नुवन्ति चिरं क्लेशं यथा त्वमसितेक्षणे ॥ ५ ॥

'श्यामलोचने ! तुम्हें जैसा क्लेश सहन करना पड़ा है, वैसा कष्ट तुम्हारे-जैसी सुशीला तथा श्रेष्ठ लक्षणोंवाली देवियाँ अधिक दिनोंतक नहीं भोगा करती हैं ॥ ५ ॥

अवश्यं च त्वया भूमिरियं निहतकण्टका ।
भर्तृभिः सह भोक्तव्या निर्द्वन्द्वेति श्रुतं मया ॥ ६ ॥

'मैंने (महात्माओंसे) सुना है कि तुम अपने पतियोंके साथ निश्चय ही इस पृथ्वीका निर्द्वन्द्व तथा निष्कण्टक राज्य भोगोगी ॥ ६ ॥

धार्तराष्ट्रवधं कृत्वा वैराणि प्रतियात्य च ।
युधिष्ठिरस्थां पृथिवीं द्रक्ष्यसि द्रुपदात्मजे ॥ ७ ॥

'द्रुपदकुमारी ! तुम शीघ्र ही देखोगी कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर और पहलेके वैरका भरपूर बदला चुकाकर तुम्हारे पतियोंने विजय पायी है और इस पृथ्वीपर महाराज युधिष्ठिरका अधिकार हो गया है ॥ ७ ॥

यास्ताः प्रव्रजमानां त्वां प्राहसन् दर्पमोहिताः ।
ताः क्षिप्रं हतसंकल्पा द्रक्ष्यसि त्वं कुरुस्त्रियः ॥ ८ ॥

'तुम्हारे वन जाते समय अभिमानसे मोहित हो कुरुकुलकी जिन स्त्रियोंने तुम्हारी हँसी उड़ायी थी, उनकी आशाओंपर पानी फिर जायगा और तुम उन्हें शीघ्र ही दुरवस्थामें पड़ी हुई देखोगी ॥ ८ ॥

तव दुःखोपपन्नाया यैराचरितमप्रियम् ।
विद्धि सम्प्रस्थितान् सर्वांस्तान् कृष्णे यमसादनम् ॥ ९ ॥

'कृष्णे ! तुम दुःखमें पड़ी हुई थी, उस दशामें जिन लोगोंने तुम्हारा अप्रिय किया है, उन सबको तुम यमलोकमें गया हुआ ही समझो ॥ ९ ॥

पुत्रस्ते प्रतिविन्ध्यश्च सुतसोमस्तथाविधः ।
श्रुतकर्मार्जुनिश्चैव शतानीकश्च नाकुलिः ॥ १० ॥
सहदेवाच्च यो जातः श्रुतसेनस्तवात्मजः ।
सर्वे कुशलिनो वीराः कृतास्त्राश्च सुतास्तव ॥ ११ ॥

'युधिष्ठिरकुमार प्रतिविन्ध्य, भीमसेननन्दन सुतसोम, अर्जुनकुमार श्रुतकर्मा, नकुलनन्दन शतानीक तथा सहदेवकुमार श्रुतसेन—तुम्हारे ये सभी वीर पुत्र शस्त्रविद्यामें निपुण हो गये हैं और कुशलपूर्वक द्वारिकापुरीमें रहते हैं ॥ १०-११ ॥

अभिमन्युरिव प्रीता द्वारवत्यां रता भृशम् ।
त्वमिवैषां सुभद्रा च प्रीत्या सर्वात्मना स्थिता ॥ १२ ॥

'वे सबके सब अभिमन्युकी भाँति बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ रहते हैं । द्वारिकामें उनका मन बहुत लगता है । सुभद्रादेवी तुम्हारी ही तरह उन सबके साथ सब प्रकारसे प्रेमपूर्ण बर्ताव करती हैं ॥ १२ ॥

प्रीयते तव निर्द्वन्द्वा तेभ्यश्च विगतज्वरा ।
दुःखिता तेन दुःखेन सुखेन सुखिता तथा ॥ १३ ॥

'वे किसीके प्रति भेदभाव न रखकर उन सबके प्रति निश्छल स्नेह रखती हैं । वे उन बालकोंके दुःखसे ही दुखी और उन्हींके सुखसे सुखी होती हैं ॥ १३ ॥

भजेत् सर्वात्मना चैव प्रद्युम्नजननी तथा ।
भानुप्रभृतिभिश्चैनान् विशिनष्टि च केशवः ॥ १४ ॥

'प्रद्युम्नकी माताजी भी उनकी सब प्रकारसे सेवा और देखभाल करती हैं । श्यामसुन्दर अपने भानु आदि पुत्रोंसे भी बढ़कर तुम्हारे पुत्रोंको मानते हैं ॥ १४ ॥

भोजनाच्छादने चैषां नित्यं मे श्वशुरः स्थितः ।
रामप्रभृतयः सर्वे भजन्त्यन्धकवृष्णयः ॥ १५ ॥

'मेरे श्वशुरजी प्रतिदिन इनके भोजन-वस्त्र आदिकी समुचित व्यवस्थापर दृष्टि रखते हैं । बलरामजी आदि सभी अन्धकवंशी तथा वृष्णिवंशी यादव उनकी सुख-सुविधाका ध्यान रखते हैं ॥ १५ ॥

तुल्यो हि प्रणयस्तेषां प्रद्युम्नस्य च भाविनि ।
एवमादि प्रियं सत्यं हृद्यमुक्त्वा मनोऽनुगम् ॥ १६ ॥
गमनाय मनश्चक्रे वासुदेवरथं प्रति ।
तां कृष्णां कृष्णमहिषी चकाराभिप्रदक्षिणम् ॥ १७ ॥

'भामिनि ! उन सबका और प्रद्युम्नका भी तुम्हारे पुत्रोंपर समान प्रेम है ।' इस प्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाले, सत्य एवं मनके अनुकूल वचन कहकर श्रीकृष्णमहिषी सत्यभामाने अपने स्वामीके रथकी ओर जानेका विचार किया और द्रौपदीकी परिक्रमा की ॥ १६-१७ ॥

आरुरोह रथं शौरेः सत्यभामाथ भाविनी ।
स्मयित्वा तु यदुश्रेष्ठो द्रौपदीं परिसान्त्व्य च ।
उपावर्त्य ततः शीघ्रैर्हयैः प्रायात् पुरं स्वकम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर भामिनी सत्यभामा श्रीकृष्णके रथपर आरूढ़ हो गयी। यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने मुसकराकर द्रौपदीको सान्त्वना दी और उसे लौटाकर शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा अपनी पुरी द्वारिकाको प्रस्थान किया ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि कृष्णगमने पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वमें श्रीकृष्णका द्वारिकाको प्रस्थानविषयक दो सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३५ ॥

(घोषयात्रापर्व)

षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका समाचार सुनकर धृतराष्ट्रका खेद और चिन्तापूर्ण उद्गार

जनमेजय उवाच

एवं वने वर्तमाना नराग्र्याः
शीतोष्णवातातपकर्शिताङ्गाः ।
सरस्तदासाद्य वनं च पुण्यं
ततः परं किमकुर्वन्त पार्थाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! इस प्रकार वनमें रहकर सर्दी, गर्मी, हवा और धूपका कष्ट सहनेके कारण जिनके शरीर अत्यन्त कृश हो गये थे, उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने पवित्र द्वैतवनमें पूर्वोक्त सरोवरके पास पहुँचकर फिर कौन-सा कार्य किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

सरस्तदासाद्य तु पाण्डुपुत्रा
जनं समुत्सृज्य विधाय वेशम् ।
वनानि रम्याण्यथ पर्वतांश्च
नदीप्रदेशांश्च तदा विचेरुः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! उस (रमणीय) सरोवरपर आकर पाण्डवोंने वहाँ आये हुए जनसमुदायको विदा कर दिया और अपने रहनेके लिये कुटी बनाकर वे आस-पासके रमणीय वनों, पर्वतों तथा नदीके तटप्रदेशोंमें विचरने लगे ॥ २ ॥

तथा वने तान् वसतः प्रवीरान्
स्वाध्यायवन्तश्च तपोधनाश्च ।
अभ्याययुर्वेदविदः पुराणा-
स्तान् पूजयामासुरथो नराग्र्याः ॥ ३ ॥

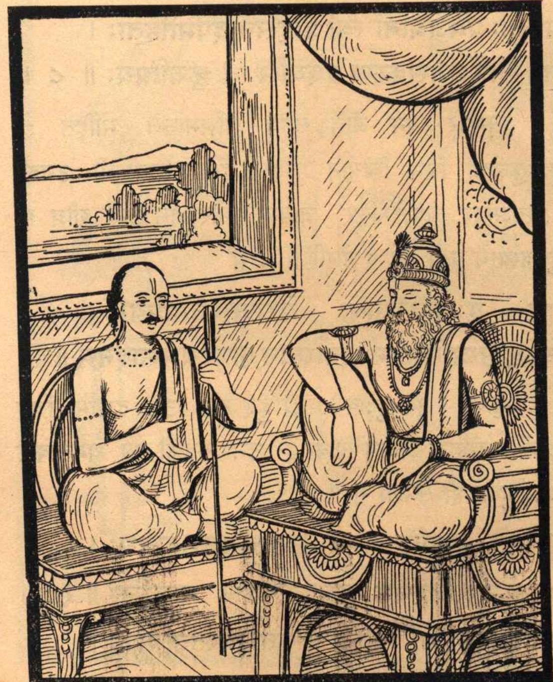
इस तरह वनमें रहते हुए उन वीरशिरोमणि पाण्डवोंके पास बहुत-से स्वाध्यायशील, वेदवेत्ता एवं पुरातन तपस्वी ब्राह्मण आते थे और वे नरश्रेष्ठ पाण्डव उनकी यथोचित सेवा-पूजा करते थे ॥ ३ ॥

ततः कदाचित् कुशलः कथासु
विप्रोऽभ्यगच्छद् भुवि कौरवेयान् ।
स तैः समेत्याथ यदृच्छयैव
वैचित्रवीर्यं नृपमभ्यगच्छत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर किसी समय कथावार्तामें कुशल एक ब्राह्मण उस वन्यभूमिमें पाण्डवोंके पास आया और उनसे मिलकर वह घूमता-घामता अकस्मात् राजा धृतराष्ट्रके दरबारमें जा पहुँचा ॥ ४ ॥

अथोपविष्टः प्रतिसत्कृतश्च
वृद्धेन राज्ञा कुरुसत्तमेन ।
प्रचोदितः संकथयाम्बभूव
धर्मानिलेन्द्रप्रभवान् यमौ च ॥ ५ ॥

कुरुकुलमें श्रेष्ठ एवं वयोवृद्ध राजा धृतराष्ट्रने उसका बहुत आदर-सत्कार किया। जब वह आसनपर बैठ गया, तब महाराजके पूछनेपर युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवके समाचार सुनाने लगा ॥ ५ ॥



कृशांश्च वातातपकर्शिताङ्गान्
दुःखस्य चोग्रस्य मुखे प्रपन्नान्।
तां चाप्यनाथामिव वीरनाथां
कृष्णां परिक्लेशगुणेन युक्ताम्॥ ६ ॥

उसने बताया—'इस समय पाण्डव हवा और गर्मी आदिका कष्ट सहन करनेके कारण अत्यन्त कृश हो गये हैं। भयंकर दुःखके मुँहमें पड़ गये हैं और वीरपत्नी द्रौपदी भी अनाथकी भाँति सब ओरसे क्लेश-ही-क्लेश भोग रही है'॥ ६ ॥

ततः कथास्तस्य निशम्य राजा
वैचित्रवीर्यः कृपयाभितप्तः।
वने तथा पार्थिवपुत्रपौत्रान्
श्रुत्वा तथा दुःखनदीं प्रपन्नान्॥ ७ ॥
प्रोवाच दैन्याभिहतान्तरात्मा
निःश्वासवातोपहतस्तदानीम्।
वाचं कथंचित् स्थिरतामुपेत्य
तत् सर्वमात्मप्रभवं विचिन्त्य॥ ८ ॥

ब्राह्मणकी ये बातें सुनकर विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्र दयासे द्रवित हो बहुत दुखी हो गये। जब उन्होंने सुना कि राजाके पुत्र और पौत्र होकर भी पाण्डव इस प्रकार दुःखकी नदीमें डूबे हुए हैं, तब उनका हृदय करुणासे भर आया और वे लंबी-लंबी साँसें खींचते हुए किसी प्रकार धैर्य धारण करके सब कुछ अपनी ही करतूतका परिणाम समझकर यों बोले—॥ ७-८ ॥

कथं नु सत्यः शुचिरार्यवृत्तो
ज्येष्ठः सुतानां मम धर्मराजः।
अजातशत्रुः पृथिवीतले स्म
शेते पुरा राङ्कवकूटशायी॥ ९ ॥

'अहो! जो मेरे सभी पुत्रोंमें बड़े तथा सत्यवादी, पवित्र और सदाचारी हैं तथा जो पहले रङ्कु मृगके (नरम) रोओंसे बने हुए बिछौनोंपर सोया करते थे, वे अजातशत्रु धर्मराज युधिष्ठिर आजकल भूमिपर कैसे शयन करते होंगे?॥ ९ ॥

प्रबोध्यते मागधसूतपूगै-
र्नित्यं स्तुवद्भिः स्वयमिन्द्रकल्पः।
पतत्त्रिसङ्घैः स जघन्यरात्रे
प्रबोध्यते नूनमिडातलस्थः॥ १० ॥

'जिन्हें कभी मागधों और सूतोंका समुदाय प्रतिदिन स्तुति-पाठ करके जगाता था, जो साक्षात् इन्द्रके समान तेजस्वी और पराक्रमी हैं, वे ही राजा युधिष्ठिर निश्चय ही अब भूमिपर सोते और पक्षियोंके कलरव सुनकर रातके पिछले पहरमें जागते होंगे॥ १० ॥

कथं नु वातातपकर्शिताङ्गो
वृकोदरः कोपपरिप्लुताङ्गः।
शेते पृथिव्यामतथोचिताङ्गः
कृष्णासमक्षं वसुधातलस्थः॥ ११ ॥

'भीमसेनका शरीर हवा और धूपका कष्ट सहन करनेसे अत्यन्त दुर्बल हो गया होगा। उनका अङ्ग-अङ्ग क्रोधसे काँपता और फड़कता होगा। वे द्रौपदीके सामने कैसे धरतीपर शयन करते होंगे? उनका शरीर ऐसा कष्ट भोगने योग्य नहीं है॥ ११ ॥

तथार्जुनः सुकुमारो मनस्वी
वशे स्थितो धर्मसुतस्य राज्ञः।
विदूयमानैरिव सर्वगात्रै-
र्ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात्॥ १२ ॥

'इसी प्रकार सुकुमार एवं मनस्वी अर्जुन, जो सदा धर्मराज युधिष्ठिरके अधीन रहते हैं, अमर्षके कारण उनके सारे अङ्गोंमें संताप हो रहा होगा और निश्चय ही उन्हें अपनी कुटियामें अच्छी तरह नींद नहीं आती होगी॥ १२॥

यमौ च कृष्णां च युधिष्ठिरं च
भीमं च दृष्ट्वा सुखविप्रयुक्तम्।
विनिःश्वसन् सर्प इवोग्रतेजा
ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात्॥ १३ ॥

'अर्जुनका तेज बड़ा ही भयंकर है। वे नकुल, सहदेव, द्रौपदी, युधिष्ठिर तथा भीमसेनको सुखसे वञ्चित देखकर सर्पके समान फुफकारते होंगे और अमर्षके कारण निश्चय ही उन्हें नींद नहीं आती होगी॥ १३ ॥

तथा यमौ चाप्यसुखौ सुखार्हौ
समृद्धरूपावमरौ दिवीव।
प्रजागरस्थौ ध्रुवमप्रशान्तौ
धर्मेण सत्येन च वार्यमाणौ॥ १४ ॥

'इसी प्रकार सुख भोगनेके योग्य नकुल और सहदेवका भी सुख छिन गया है। वे दोनों भाई स्वर्गके देवता अश्विनीकुमारोंकी भाँति रूपवान् हैं। वे भी निश्चय ही अशान्त भावसे सारी रात जागते हुए भूमिपर सोते होंगे। धर्म और सत्य ही उन्हें तत्काल आक्रमण करनेसे रोके हुए हैं॥ १४॥

समीरणेनाथ समो बलेन
समीरणस्यैव सुतो बलीयान्।
स धर्मपाशेन सितोऽग्रजेन
ध्रुवं विनिःश्वस्य सहत्यमर्षम्॥ १५ ॥

'जो बलमें वायुके समान हैं, वायुदेवताके ही अत्यन्त बलवान् पुत्र हैं, वे भीमसेन भी अपने बड़े भाईके द्वारा धर्मके बन्धनमें बाँध लिये गये हैं। निश्चय ही इसीलिये चुपचाप लम्बी साँसें खींचते हुए वे क्रोधको सहन करते हैं॥ १५ ॥

स चापि भूमौ परिवर्तमानो
वधं सुतानां मम काङ्क्षमाणः ।
सत्येन धर्मेण च वार्यमाणः
कालं प्रतीक्षत्यधिको रणेऽन्यैः ॥ १६ ॥

'रणभूमिमें भीमसेन दूसरोंकी अपेक्षा सदा अधिक पराक्रमी सिद्ध होते हैं। वे मेरे पुत्रोंके वधकी कामना करते हुए धरतीपर करवटें बदल रहे होंगे। सत्य और धर्मने ही उन्हें रोक रक्खा है; अतः वे भी अवसरकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ १६ ॥

अजातशत्रौ तु जिते निकृत्या
दुःशासनो यत् परुषाण्यवोचत्।
तानि प्रविष्टानि वृकोदराङ्गं
दहन्ति कक्षाग्निरिवेन्धनानि ॥ १७ ॥

'अजातशत्रु युधिष्ठिरको जूएमें छलपूर्वक हरा दिये जानेपर दुःशासनने जो कड़वी बातें कही थीं, वे भीमसेनके शरीरमें घुसकर जैसे आग तृण और काष्ठके समूहको जला डालती है, उसी प्रकार उन्हें दग्ध कर रही होंगी ॥ १७ ॥

न पापकं ध्यास्यति धर्मपुत्रो
धनंजयश्चाप्यनुवर्त्स्यते तम् ।
अरण्यवासेन विवर्धते तु
भीमस्य कोपोऽग्निरिवानिलेन ॥ १८ ॥

'धर्मपुत्र युधिष्ठिर मेरे अपराधपर ध्यान नहीं देंगे। अर्जुन भी उन्हींका अनुसरण करेंगे। परंतु इस वनवाससे भीमसेनका क्रोध तो उसी प्रकार बढ़ रहा होगा, जैसे हवा लगनेसे आग धधक उठती है ॥ १८ ॥

स तेन कोपेन विदह्यमानः
करं करेणाभिनिपीड्य वीरः ।
विनिःश्वसत्युष्णमतीव घोरं
दहन्निवेमान् मम पुत्रपौत्रान् ॥ १९ ॥

'उस क्रोधसे जलते हुए वीरवर भीमसेन हाथसे हाथ मलकर इस प्रकार अत्यन्त भयंकर गर्म-गर्म साँस खींच रहे होंगे, मानो मेरे इन पुत्रों और पौत्रोंको अभी भस्म कर डालेंगे ॥ १९ ॥

गाण्डीवधन्वा च वृकोदरश्च
संरम्भिणावन्तककालकल्पौ ।
न शेषयेतां युधि शत्रुसेनां
शरान् किरन्तावशनिप्रकाशान् ॥ २० ॥

'गाण्डीवधारी अर्जुन तथा भीमसेन जब क्रोधमें भर जायँगे, उस समय यमराज और कालके समान हो जायँगे। वे रणभूमिमें विद्युत्के समान चमकनेवाले बाणोंकी वर्षा करके शत्रुसेनामेंसे किसीको भी जीवित नहीं छोड़ेंगे ॥ २० ॥

दुर्योधनः शकुनिः सूतपुत्रो
दुःशासनश्चापि सुमन्दचेताः ।
मधु प्रपश्यन्ति न तु प्रपातं
यद् द्यूतमालम्ब्य हरन्ति राज्यम् ॥ २१ ॥

'दुर्योधन, शकुनि, सूतपुत्र कर्ण तथा दुःशासन—ये बड़े ही मूढ़बुद्धि हैं, क्योंकि जूएके सहारे दूसरेके राज्यका अपहरण कर रहे हैं। (ये अपने ऊपर आनेवाले संकटको नहीं देखते हैं) इन्हें वृक्षकी शाखासे टपकता हुआ केवल मधु ही दिखायी देता है, वहाँसे गिरनेका जो भारी भय है, उधर उनकी दृष्टि नहीं है ॥ २१ ॥

शुभाशुभं कर्म नरो हि कृत्वा
प्रतीक्षते तस्य फलं स्म कर्ता ।
स तेन मुह्यत्यवशः फलेन
मोक्षः कथं स्यात् पुरुषस्य तस्मात् ॥ २२ ॥

मनुष्य शुभ और अशुभ कर्म करके उसके स्वर्ग-नरक-रूप फलकी प्रतीक्षा करता है। वह उस फलसे विवश होकर मोहित होता है। ऐसी दशामें मूढ़ पुरुषका उस मोहसे कैसे छुटकारा हो सकता है ? ॥ २२ ॥

क्षेत्रे सुकृष्टे ह्युपिते च बीजे
देवे च वर्षत्यृतुकालयुक्तम् ।
न स्यात् फलं तस्य कुतः प्रसिद्धि-
रन्यत्र दैवादिति चिन्तयामि ॥ २३ ॥

'मैं सोचता हूँ कि अच्छी तरह जोते हुए खेतमें बीज बोया जाय तथा ऋतुके अनुसार ठीक समयपर वर्षा भी हो, फिर भी उसमें फल न लगे, तो इसमें प्रारब्धके अतिरिक्त अन्य किसी कारणकी सिद्धि कैसे की जा सकती है ? ॥ २३ ॥

कृतं मताक्षेण यथा न साधु
साधुप्रवृत्तेन च पाण्डवेन ।
मया च दुष्पुत्रवशानुगेन
तथा कुरूणामयमन्तकालः ॥ २४ ॥

'द्यूतप्रेमी शकुनिने जूआ खेलकर कदापि अच्छा नहीं किया। साधुतामें लगे हुए युधिष्ठिरने भी जो उसे तत्काल नहीं मार डाला, यह भी अच्छा नहीं किया। इसी प्रकार कुपुत्रके वशमें पड़कर मैंने भी कोई अच्छा काम नहीं किया है। इसीका फल है कि यह कौरवोंका अन्तकाल आ पहुँचा है ॥ २४ ॥

ध्रुवं प्रवास्यत्यसमीरितोऽपि
ध्रुवं प्रजास्यत्युत गर्भिणी या ।
ध्रुवं दिनादौ रजनीप्रणाश-
स्तथा क्षपादौ च दिनप्रणाशः ॥ २५ ॥

'निश्चय ही बिना किसी प्रेरणाके भी हवा चलेगी ही, जो गर्भिणी है, वह समयपर अवश्य ही बच्चा जनेगी। दिनके आदिमें रजनीका नाश अवश्यम्भावी है तथा रात्रिके प्रारम्भमें दिनका भी अन्त होना निश्चित है। (इसी प्रकार पापका फल भी किसीके टाले नहीं टल सकता) ॥ २५ ॥

क्रियेत कस्मादपरे च कुर्यु-
र्वित्तं न दद्युः पुरुषाः कथंचित्।
प्राप्यार्थकालं च भवेदनर्थः
कथं न तत् स्यादिति तत् कुतः स्यात् ॥ २६॥

'यदि यह विश्वास हो जाय, तो हम लोभके वश होकर न करने योग्य काम क्यों करें और दूसरे भी क्यों करें एवं बुद्धिमान् मनुष्य भी उपार्जित धनका दान क्यों न करें ? अर्थके उपयोगका समय प्राप्त होनेपर यदि उसका सदुपयोग न किया जाय तो वह अनर्थका हेतु हो जाता है। अतः विचार करना चाहिये कि वह धनका सदुपयोग क्यों नहीं होता और कैसे हो ? ॥ २६ ॥

कथं न भिद्येत न च स्रवेत
न च प्रसिच्येदिति रक्षितव्यम्।
अरक्ष्यमाणं शतधा प्रकीर्येद्
ध्रुवं न नाशोऽस्ति कृतस्य लोके ॥ २७ ॥

'यदि प्राप्त हुए धनका यथावत् वितरण न किया जायगा, तो वह कच्चे घड़ेमें रखे हुए जलकी भाँति चूकर व्यर्थ नष्ट क्यों न होगा ? यह सोचकर उसकी रक्षा करना ही कर्तव्य है। यदि यथायोग्य विभाजनके द्वारा धनकी रक्षा न की जायगी तो वह सैकड़ों प्रकारसे बिखर जायगा। जगत्‌में किये हुए कर्म-फलका नाश नहीं होता—यह निश्चित है। (इससे यही सिद्ध होता है कि उसका यथायोग्य वितरण कर देना ही उचित है) ॥ २७ ॥

गतो ह्यरण्यादपि शक्रलोकं
धनंजयः पश्यत वीर्यमस्य।
अस्त्राणि दिव्यानि चतुर्विधानि
ज्ञात्वा पुनर्लोकमिमं प्रपन्नः ॥ २८ ॥

'देखो, अर्जुनमें कितनी शक्ति है ! वे वनसे भी इन्द्र-लोकको चले गये और वहाँसे चारों प्रकारके दिव्यास्त्र सीखकर पुनः इस लोकमें लौट आये ॥ २८ ॥

स्वर्गं हि गत्वा सशरीर एव
को मानुषः पुनरागन्तुमिच्छेत्।
अन्यत्र कालोपहताननेकान्
समीक्षमाणस्तु कुरून् मुमूर्षून्॥ २९ ॥

'सदेह स्वर्गमें जाकर कौन मनुष्य इस संसारमें पुनः लौटना चाहेगा। अर्जुनके पुनः मर्त्यलोकमें लौटनेका कारण इसके सिवा दूसरा नहीं है कि ये बहुसंख्यक कौरव कालके वशीभूत हो मृत्युके निकट पहुँच गये हैं और अर्जुन इनकी इस अवस्थाको अच्छी तरह देख रहे हैं ॥ २९ ॥

धनुर्ग्राहश्चार्जुनः सव्यसाची
धनुश्च तद् गाण्डिवं भीमवेगम्।
अस्त्राणि दिव्यानि च तानि तस्य
त्रयस्य तेजः प्रसहेत कोऽत्र ॥ ३० ॥

'सव्यसाची अर्जुन अद्वितीय धनुर्धर हैं। उनके उस गाण्डीव धनुषका वेग भी बड़ा भयानक है और अब तो अर्जुनको वे दिव्यास्त्र भी प्राप्त हो गये हैं। इस समय इन तीनोंके सम्मिलित तेजको यहाँ कौन सह सकता है ?' ॥३०॥

निशम्य तद् वचनं पार्थिवस्य
दुर्योधनं रहिते सौबलोऽथ।
अबोधयत् कर्णमुपेत्य सर्वं
स चाप्यहृष्टोऽभवदल्पचेताः ॥ ३१ ॥

एकान्तमें कही हुई राजा धृतराष्ट्रकी उपर्युक्त सारी बातें सुनकर सुबलपुत्र शकुनिने दुर्योधन और कर्णके पास जाकर ज्योंकी त्यों कह सुनायी। इससे मन्दमति दुर्योधन उदास एवं चिन्तित हो गया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि धृतराष्ट्रखेदवाक्ये षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें धृतराष्ट्रके खेदयुक्त वचनसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शकुनि और कर्णका दुर्योधनकी प्रशंसा करते हुए उसे वनमें पाण्डवोंके पास चलनेके लिये उभाड़ना

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्य तद् वाक्यं निशम्य शकुनिस्तदा।
दुर्योधनमिदं काले कर्णेन सहितोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृतराष्ट्रके पूर्वोक्त वचन सुनकर उस समय कर्णसहित शकुनिने अवसर देखकर दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

प्रव्राज्य पाण्डवान् वीरान् स्वेन वीर्येण भारत।
भुङ्क्ष्वेमां पृथिवीमेको दिवि शम्बरहा यथा ॥ २ ॥

'भरतनन्दन ! तुमने अपने पराक्रमसे पाण्डववीरोंको देशनिकाला देकर वनवासी बना दिया है। अब तुम स्वर्गमें इन्द्रकी भाँति अकेले ही इस पृथ्वीका राज्य भोगो ॥ २ ॥

(तवाद्य पृथिवी राजन्नखिला सागराम्बरा।
सपर्वतवनारामा सह स्थावरजङ्गमा ॥)

'राजन् ! पर्वत, वन, उद्यान एवं स्थावर-जङ्गमोंसहित यह सारी समुद्रपर्यन्त पृथ्वी आज तुम्हारे अधिकारमें है ॥

प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च प्रतीच्योदीच्यवासिनः।
कृताः करप्रदाः सर्वे राजानस्ते नराधिप ॥ ३ ॥

'नरेश्वर ! पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाके सभी राजाओंको तुम्हारे लिये करदाता बना दिया गया है ॥ ३ ॥

या हि सा दीप्यमानेव पाण्डवानभजत् पुरा।
साद्य लक्ष्मीस्त्वया राजन्नवाप्ता भ्रातृभिः सह॥ ४ ॥

'राजन् ! जो दीप्तिमती श्री पहले पाण्डवोंकी सेवा करती थी, वही आज भाइयोंसहित तुम्हारे अधिकारमें आ गयी है ॥



इन्द्रप्रस्थगते यां तां दीप्यमानां युधिष्ठिरे।
अपश्याम श्रियं राजन् दृश्यते सा तवाद्य वै ॥ ५ ॥

'महाराज ! इन्द्रप्रस्थमें जानेपर युधिष्ठिरके यहाँ हम लोग जिस राजलक्ष्मीको प्रकाशित होते देखते थे, वही आज तुम्हारे यहाँ उद्भासित होती दिखायी देती है ॥ ५ ॥

शत्रवस्तव राजेन्द्र न चिरं शोककर्शिताः।
सा तु बुद्धिबलेनेयं राज्ञस्तस्माद् युधिष्ठिरात् ॥ ६ ॥
त्वयाऽऽक्षिप्ता महाबाहो दीप्यमानेव दृश्यते।

'राजेन्द्र ! तुम्हारे शत्रु शीघ्र ही शोकसे दीन-दुर्बल हो गये हैं। महाबाहो ! तुमने राजा युधिष्ठिरसे इस लक्ष्मीको अपने बुद्धिबलसे छीन लिया है। अतः अब तुम्हारे यहाँ यह प्रकाशित होती-सी दिखायी दे रही है ॥ ६½ ॥

तथैव तव राजेन्द्र राजानः परवीरहन् ॥ ७ ॥
शासनेऽधिष्ठिताः सर्वे किं कुर्म इति वादिनः।

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले महाराज ! इसी प्रकार सब राजा अपनेको किंकर बताते हुए आपकी आज्ञाके अधीन रहते हैं ॥ ७½ ॥

तवेयं पृथिवी राजन् निखिला सागराम्बरा ॥ ८ ॥
सपर्वतवना देवी सग्रामनगराकरा।
नानावनोद्देशवती पर्वतैरुपशोभिता ॥ ९ ॥

'राजन् ! इस समय यह सारी समुद्रवसना पृथ्वीदेवी पर्वत, वन, ग्राम, नगर तथा खानोंके साथ तुम्हारे अधिकारमें आ गयी है। यह नाना प्रकारके प्रदेशोंसे युक्त तथा पर्वतोंसे सुशोभित है ॥ ८-९ ॥

(नानाध्वजपताकाङ्का स्फीतराष्ट्रा महाबला)

'नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे चिह्नित इस भूतलपर कितने ही समृद्धिशाली राष्ट्र हैं और वहाँ बहुत-सी विशाल सेनाएँ संगठित हैं ॥

वन्द्यमानो द्विजै राजन् पूज्यमानश्च राजभिः।
पौरुषाद् दिवि देवेषु भ्राजसे रश्मिवानिव ॥ १० ॥

'राजन् ! तुम अपने पुरुषार्थसे द्विजोंद्वारा सम्मानित तथा राजाओंद्वारा पूजित होकर स्वर्ग एवं देवताओंमें अंशुमाली सूर्यकी भाँति इस भूतलपर प्रकाशित हो रहे हो ॥

रुद्रैरिव यमो राजा मरुद्भिरिव वासवः।
कुरुभिस्त्वं वृतो राजन् भासि नक्षत्रराडिव ॥ ११ ॥

'महाराज ! जिस प्रकार रुद्रोंसे यमराज, मरुद्गणोंसे इन्द्र तथा नक्षत्रोंसे उनके स्वामी चन्द्रमाकी शोभा होती है, उसी प्रकार कौरवोंसे घिरे हुए तुम शोभा पा रहे हो ॥ ११ ॥

यैः स्म ते नाद्रियेताज्ञा न च ये शासने स्थिताः।
पश्यामस्तान् श्रिया हीनान् पाण्डवान् वनवासिनः॥ १२॥

'जिन्होंने तुम्हारी आज्ञाका आदर नहीं किया था और जो तुम्हारे शासनमें नहीं थे, उन पाण्डवोंकी दशा हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। वे राजलक्ष्मीसे वञ्चित हो वनमें निवास करते हैं ॥१२॥

श्रूयते हि महाराज सरो द्वैतवनं प्रति।
वसन्तः पाण्डवाः सार्धं ब्राह्मणैर्वनवासिभिः ॥ १३ ॥

'महाराज ! सुननेमें आया है कि पाण्डवलोग द्वैतवनमें सरोवरके तटपर वनवासी ब्राह्मणोंके साथ रहते हैं ॥१३॥

स प्रयाहि महाराज श्रिया परमया युतः ।
तापयन् पाण्डुपुत्रांस्त्वं रश्मिवानिव तेजसा ॥ १४ ॥

'महाराज! तुम उत्कृष्ट राजलक्ष्मीसे सुशोभित होकर वहाँ चलो और जैसे सूर्य अपने तेजसे जगत्‌को संतप्त करते हैं, उसी प्रकार पाण्डुपुत्रोंको संताप दो ॥ १४ ॥

स्थितो राज्ये च्युतान् राज्याच्छ्रिया हीनाञ्छ्रिया वृतः।
असमृद्धान् समृद्धार्थः पश्य पाण्डुसुतान् नृप ॥ १५ ॥

'इस समय तुम राजाके पदपर प्रतिष्ठित हो और पाण्डव राज्यसे भ्रष्ट हो गये हैं। तुम श्रीसम्पन्न हो और वे श्रीहीन हैं। तुम समृद्धिशाली हो और वे निर्धन हो गये हैं। नरेश्वर! तुम इसी दशामें चलकर पाण्डवोंको देखो ॥ १५ ॥

महाभिजनसम्पन्नं भद्रे महति संस्थितम्।
पाण्डवास्त्वाभिवीक्षन्तां ययातिमिव नाहुषम् ॥१६॥

'पाण्डव तुम्हें नहुषनन्दन ययातिकी भाँति महान् वंशमें उत्पन्न तथा परम मङ्गलमयी स्थितिमें प्रतिष्ठित देखें ॥१६॥

यां श्रियं सुहृदश्चैव दुर्हृदश्च विशाम्पते ।
पश्यन्ति पुरुषे दीप्तां सा समर्था भवत्युत ॥ १७ ॥

'प्रजापालक नरेश! पुरुषमें प्रकाशित होनेवाली जिस लक्ष्मीको उसके सुहृद् और शत्रु दोनों देखते हैं, वही सबल होती है ॥ १७ ॥

समस्थो विषमस्थान् हि दुर्हृदो योऽभिवीक्षते ।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थः किमतः परमं सुखम् ॥ १८ ॥

'जैसे पर्वतकी चोटीपर खड़ा हुआ मनुष्य भूतलपर स्थित हुई सभी वस्तुओंको नीची और छोटी देखता है, उसी प्रकार जो पुरुष स्वयं सुखमें रहकर शत्रुओंको संकटमें पड़ा हुआ देखता है, उसके लिये इससे बढ़कर सुखकी बात और क्या होगी? ॥ १८ ॥

न पुत्रधनलाभेन न राज्येनापि विन्दति ।
प्रीतिं नृपतिशार्दूल याममित्राघदर्शनात् ॥ १९ ॥
किं नु तस्य सुखं न स्यादाश्रमे यो धनंजयम् ।
अभिवीक्षेत सिद्धार्थो वल्कलाजिनवाससम् ॥ २० ॥

'नृपश्रेष्ठ! मनुष्यको अपने शत्रुओंकी दुर्दशा देखनेसे जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, वह धन, पुत्र तथा राज्य मिलनेसे भी नहीं होती। हमलोगोंमेंसे जो भी स्वयं सिद्धमनोरथ होकर आश्रममें अर्जुनको वल्कल और मृगछाला पहने देखेगा, उसे कौन-सा सुख नहीं मिल जायगा? ॥ १९-२० ॥

सुवाससो हि ते भार्या वल्कलाजिनसंवृताम्।
पश्यन्तु दुःखितां कृष्णां सा च निर्विद्यतां पुनः ॥ २१ ॥

'तुम्हारी रानियाँ सुन्दर साड़ियाँ पहनकर चलें और वनमें वल्कल एवं मृगचर्म लपेटकर दुःखमें डूबी हुई द्रुपदकुमारी कृष्णाको देखें तथा द्रौपदी भी इन्हें देखकर बार-बार संताप करे ॥ २१ ॥

विनिन्दतां तथाऽऽत्मानं जीवितं च धनच्युतम्।
न तथा हि सभामध्ये तस्या भवितुमर्हति ।
वैमनस्यं यथा दृष्ट्वा तव भार्याः स्वलंकृताः ॥ २२ ॥

'वह धनसे वञ्चित हुए अपने आत्मा तथा जीवनकी निन्दा करे—उन्हें बार-बार धिक्कारे। सभामें उसके साथ जो बर्ताव किया गया था, उससे उसके हृदयमें इतना दुःख नहीं हुआ होगा, जितना कि तुम्हारी रानियोंको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित देखकर हो सकता है' ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु राजानं कर्णः शकुनिना सह ।
तूष्णीम्बभूवतुरुभौ वाक्यान्ते जनमेजय ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शकुनि और कर्ण दोनों राजा दुर्योधनसे ऐसा कहकर (अपनी बात पूरी होनेपर) चुप हो गये ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णशकुनिवाक्ये सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्ण और शकुनिके वचनविषयक दो सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके $1\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल $24\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा कर्ण और शकुनिकी मन्त्रणा स्वीकार करना तथा कर्ण आदिका घोषयात्राको निमित्त बनाकर द्वैतवनमें जानेके लिये धृतराष्ट्रसे आज्ञा लेने जाना

वैशम्पायन उवाच

कर्णस्य वचनं श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्ततः ।
हृष्टो भूत्वा पुनर्दीन इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णकी बात सुनकर राजा दुर्योधनको पहले तो बड़ी प्रसन्नता हुई; फिर वह दीन होकर इस प्रकार बोला— ॥ १ ॥

ब्रवीषि यदिदं कर्ण सर्वं मनसि मे स्थितम् ।
न त्वभ्यनुज्ञां लप्स्यामि गमने यत्र पाण्डवाः ॥ २ ॥

'कर्ण ! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह सब मेरे मनमें भी है। परंतु जहाँ पाण्डव रहते हैं, वहाँ जानेके लिये मैं पिताजीकी आज्ञा नहीं पा सकूँगा ॥ २ ॥

परिदेवति तान् वीरान् धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
मन्यतेऽभ्यधिकांश्चापि तपोयोगेन पाण्डवान्॥ ३ ॥

'महाराज धृतराष्ट्र उन वीर पाण्डवोंके लिये सदा विलाप करते रहते हैं। वे तपःशक्तिके संयोगसे पाण्डवोंको हमसे अधिक बलशाली भी मानते हैं ॥ ३ ॥

अथवाप्यनुबुध्येत नृपोऽस्माकं चिकीर्षितम् ।
एवमप्यायतिं रक्षन् नाभ्यनुज्ञातुमर्हति ॥ ४ ॥

'अथवा यदि उन्हें इस बातका पता लग जाय कि हमलोग वहाँ जाकर क्या करना चाहते हैं, तब वे भावी संकटसे हमारी रक्षाके लिये ही हमें वहाँ जानेकी अनुमति नहीं देंगे ॥ ४ ॥

न हि द्वैतवने किंचिद् विद्यतेऽन्यत् प्रयोजनम् ।
उत्सादनमृते तेषां वनस्थानां महाद्युते ॥ ५ ॥

'महातेजस्वी कर्ण ! (पिताजीको यह समझते देर नहीं लगेगी कि) वनमें रहनेवाले पाण्डवोंको उखाड़ फेंकनेके अतिरिक्त हमलोगोंके द्वैतवनमें जानेका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ५ ॥

जानासि हि यथा क्षत्ता द्यूतकाल उपस्थिते ।
अब्रवीद् यच्च मां त्वां च सौबलं वचनं तदा ॥ ६ ॥

'जूएका अवसर उपस्थित होनेपर विदुरजीने मुझसे, तुमसे तथा (मामा) शकुनिसे जैसी बातें कही थीं, उन्हें तो तुम जानते ही हो ॥ ६ ॥

तानि सर्वाणि वाक्यानि यच्चान्यत् परिदेवितम् ।
विचिन्त्य नाधिगच्छामि गमनायेतराय वा ॥ ७ ॥

'उन सब बातोंपर तथा और भी पाण्डवोंके लिये जो विलाप किया गया है, उसपर विचार करके मैं किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाता कि द्वैतवनमें चलूँ या न चलूँ ॥ ७ ॥

ममापि हि महान् हर्षो यदहं भीमफाल्गुनौ ।
क्लिष्टावरण्ये पश्येयं कृष्णया सहिताविति ॥ ८ ॥

'यदि मैं भीमसेन तथा अर्जुनको द्रौपदीके साथ वनमें क्लेश उठाते देख सकूँ, तो मुझे भी बड़ी प्रसन्नता होगी ॥८॥

न तथा ह्याप्नुयां प्रीतिमवाप्य वसुधामिमाम् ।
दृष्ट्वा यथा पाण्डुसुतान् वल्कलाजिनवाससः ॥ ९ ॥

'पाण्डवोंको वल्कल वस्त्र पहने और मृगचर्म ओढ़े देखकर मुझे जितनी खुशी होगी, उतनी इस समूची पृथ्वीका राज्य पाकर भी नहीं होगी ॥ ९ ॥

किं नु स्यादधिकं तस्माद् यदहं द्रुपदात्मजाम् ।
द्रौपदीं कर्ण पश्येयं काषायवसनां वने ॥ १० ॥

'कर्ण ! मैं द्रुपदकुमारी कृष्णाको वनमें गेरुए कपड़े पहने देखूँ, इससे बढ़कर प्रसन्नताकी बात मेरे लिये और क्या हो सकती है ? ॥ १० ॥

यदि मां धर्मराजश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ।
युक्तं परमया लक्ष्म्या पश्येतां जीवितं भवेत् ॥ ११ ॥

'यदि धर्मराज युधिष्ठिर तथा पाण्डुनन्दन भीमसेन मुझे परमोत्कृष्ट राजलक्ष्मीसे सम्पन्न देख लें, तो मेरा जीवन सफल हो जाय ॥ ११ ॥

उपायं न तु पश्यामि येन गच्छेम तद् वनम् ।
यथा चाभ्यनुजानीयाद् गच्छन्तं मां महीपतिः ॥ १२ ॥

'परंतु मुझे कोई ऐसा उपाय नहीं दिखायी देता, जिससे हमलोग द्वैतवनमें जा सकें अथवा महाराज मुझे वहाँ जानेकी आज्ञा दे दें ॥ १२ ॥

स सौबलेन सहितस्तथा दुःशासनेन च ।
उपायं पश्य निपुणं येन गच्छेम तद् वनम् ॥ १३ ॥

'अतः तुम मामा शकुनि तथा भाई दुःशासनके साथ सलाह करके कोई अच्छा-सा उपाय ढूँढ़ निकालो, जिससे हमलोग द्वैतवनमें चल सकें ॥ १३ ॥

अहमप्यद्य निश्चित्य गमनायेतराय च ।
कल्यमेव गमिष्यामि समीपं पार्थिवस्य ह ॥ १४ ॥

'मैं भी आज ही जाने या न जानेके विषयमें कोई निश्चय करके कल सबेरा होते ही महाराजके पास जाऊँगा ॥

मयि तत्रोपविष्टे तु भीष्मे च कुरुसत्तमे ।
उपायो यो भवेद् दृष्टस्तं ब्रूयाः सहसौबलः ॥ १५ ॥

'जब मैं वहाँ बैठ जाऊँ और कुरुश्रेष्ठ भीष्मजी भी उपस्थित रहें, उस समय जो उपाय दिखायी दे, उसे तुम और शकुनि—दोनों बतलाना ॥ १५ ॥

वचो भीष्मस्य राज्ञश्च निशम्य गमनं प्रति ।
व्यवसायं करिष्येऽहमनुनीय पितामहम् ॥ १६ ॥

'पितामह भीष्मजीकी तथा महाराजकी वहाँ जानेके विषयमें क्या सम्मति है; यह सुन लेनेपर पितामहको अनुनय-विनयसे राजी करके (उनकी आज्ञा लेकर ही) द्वैतवनमें चलनेका निश्चय करूँगा' ॥ १६ ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे जग्मुरावसथान् प्रति ।
व्युषितायां रजन्यां तु कर्णो राजानमभ्ययात् ॥ १७ ॥

'बहुत अच्छा, ऐसा ही हो' यह कहकर सब अपने-अपने विश्रामगृहमें चले गये। जब रात बीती और सबेरा हुआ, तब कर्ण राजा दुर्योधनके पास गया ॥ १७ ॥

ततो दुर्योधनं कर्णः प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
उपायः परिदृष्टोऽयं तं निबोध जनेश्वर ॥ १८ ॥

वहाँ कर्णने हँसकर दुर्योधनसे कहा—'जनेश्वर ! मुझे जो उपाय सूझा है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ १८ ॥

घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप ।
घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ॥ १९ ॥

'नरेश्वर ! गौओंके रहनेके सभी स्थान इस समय द्वैतवन-में ही हैं और वहाँ आपके पधारनेकी सदा प्रतीक्षा की जाती है, अतः घोषयात्रा (उन स्थानोंको देखने)के बहाने हम वहाँ निःसन्देह चल सकेंगे ॥ १९ ॥

उचितं हि सदा गन्तुं घोषयात्रां विशाम्पते ।
एवं च त्वां पिता राजन् समनुज्ञातुमर्हति ॥ २० ॥

'राजन् ! अपनी गौओंको देखनेके लिये यात्रा करना सदा उचित ही है; ऐसा बहाना लेनेपर पिताजी तुम्हें अवश्य वहाँ जानेकी आज्ञा दे सकते हैं' ॥ २० ॥

तथा कथयमानौ तौ घोषयात्राविनिश्चयम् ।
गान्धारराजः शकुनिः प्रत्युवाच हसन्निव ॥ २१ ॥

घोषयात्राका निश्चय करनेके लिये इस प्रकारकी बातें करते हुए उन दोनों सुहृदोंसे गान्धारराज शकुनिने हँसते हुए-से कहा—॥ २१ ॥

उपायोऽयं मया दृष्टो गमनाय निरामयः ।
अनुज्ञास्यति नो राजा बोधयिष्यति चाप्युत ॥ २२ ॥

'द्वैतवनमें जानेका यह उपाय मुझे सर्वथा निर्दोष दिखायी दिया है । इसके लिये राजा धृतराष्ट्र हमें अवश्य आज्ञा दे देंगे और वहाँ जाकर हमें क्या-क्या करना चाहिये—इसके विषयमें कुछ समझायेंगे भी ॥ २२ ॥

घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप ।
घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ॥ २३ ॥

'नरेश्वर ! गौओंके रहनेके सभी स्थान इस समय द्वैतवनमें ही हैं और वहाँ तुम्हारे पधारनेकी सदा प्रतीक्षा की जाती है; अतः घोषयात्राके बहाने हम वहाँ निःसंदेह चल सकेंगे' ॥ २३ ॥

ततः प्रहसिताः सर्वे तेऽन्योन्यस्य तलान् ददुः ।
तदेव च विनिश्चित्य ददृशुः कुरुसत्तमम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर वे सबके सब अपनी योजनाको सफल होती देख हँसने और एक-दूसरेके हाथपर प्रसन्नतासे ताली देने लगे । फिर यही निश्चय करके वे तीनों कुरुश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रसे मिले ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि घोषयात्रामन्त्रणे अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें घोषयात्राके सम्बन्धमें परामर्शविषयक दो सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्ण आदिके द्वारा द्वैतवनमें जानेका प्रस्ताव, राजा धृतराष्ट्रकी अस्वीकृति, शकुनिका समझाना, धृतराष्ट्रका अनुमति देना तथा दुर्योधनका प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रं ततः सर्वे ददृशुर्जनमेजय ।
पृष्ट्वा सुखमथो राज्ञः पृष्टा राज्ञा च भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन जनमेजय ! तदनन्तर वे सब लोग राजा धृतराष्ट्रसे मिले । उन्होंने राजाकी कुशल पूछी तथा राजाने उनकी ॥ १ ॥

ततस्तैर्विहितः पूर्वं समङ्गो नाम बल्लवः ।
समीपस्थास्तदा गावो धृतराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ २ ॥

उन लोगोंने समङ्ग नामक एक ग्वालेको पहलेसे ही सिखा-पढ़ाकर ठीक कर लिया था । उसने राजा धृतराष्ट्रकी सेवामें निवेदन किया कि 'महाराज ! आजकल आपकी गौएँ समीप ही आयी हुई हैं' ॥ २ ॥

अनन्तरं च राधेयः शकुनिश्च विशाम्पते ।
आहतुः पार्थिवश्रेष्ठं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥ ३ ॥

जनमेजय ! इसके बाद कर्ण और शकुनिने राजाओंमें श्रेष्ठ जननायक धृतराष्ट्रसे कहा—॥ ३ ॥



रमणीयेषु देशेषु घोषाः सम्प्रति कौरव ।
स्मारणे समयः प्राप्तो वत्सानामपि चाङ्कनम् ॥ ४ ॥

'कुरुराज ! इस समय हमारी गौओंके स्थान रमणीय प्रदेशोंमें हैं । यह समय गौओं और बछड़ोंकी गणना करने तथा उनकी आयु, रंग, जाति एवं नामका ब्यौरा लिखनेके लिये भी अत्यन्त उपयोगी है ॥ ४ ॥

मृगया चोचिता राजन्नस्मिन् काले सुतस्य ते ।
दुर्योधनस्य गमनं समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ५ ॥

'राजन् ! इस समय आपके पुत्र दुर्योधनके लिये हिंसक पशुओंके शिकार करनेका भी उपयुक्त अवसर है । अतः आप इन्हें द्वैतवनमें जानेकी आज्ञा दीजिये' ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

मृगया शोभना तात गवां हि समवेक्षणम् ।
विश्रम्भस्तु न गन्तव्यो वल्लवानामिति स्मरे ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—तात ! हिंसक पशुओंका शिकार खेलनेका प्रस्ताव सुन्दर है । गौओंकी देख-भालका काम भी अच्छा ही है; परंतु ग्वालोंकी बातोंपर विश्वास नहीं करना चाहिये, यह नीतिका वचन है, जिसका मुझे स्मरण हो आया है ॥ ६ ॥

ते तु तत्र नरव्याघ्राः समीप इति नः श्रुतम् ।
अतो नाभ्यनुजानामि गमनं तत्र वः स्वयम् ॥ ७ ॥

मैंने सुना है कि नरश्रेष्ठ पाण्डव भी इन दिनों वहीं कहीं आसपास ठहरे हुए हैं; अतः तुमलोगोंको मैं स्वयं वहाँ जानेकी आज्ञा नहीं दे सकता ॥ ७ ॥

छद्मना निर्जितास्ते तु कर्शिताश्च महावने ।
तपोनित्याश्च राधेय समर्थाश्च महारथाः ॥ ८ ॥

राधानन्दन ! पाण्डव छलपूर्वक हराये गये हैं । महान् वनमें रहकर उन्हें बड़ा कष्ट भोगना पड़ा है । वे निरन्तर तपस्या करते रहे हैं और अब विशेष शक्तिसम्पन्न हो गये हैं । महारथी तो वे हैं ही ॥ ८ ॥

धर्मराजो न संक्रुद्ध्येद् भीमसेनस्त्वमर्षणः ।
यज्ञसेनस्य दुहिता तेज एव तु केवलम् ॥ ९ ॥

माना कि धर्मराज युधिष्ठिर क्रोध नहीं करेंगे, परंतु भीमसेन तो सदा ही अमर्षमें भरे रहते हैं और राजा द्रुपदकी पुत्री कृष्णा भी साक्षात् अग्निकी ही मूर्ति है ॥ ९ ॥

यूयं चाप्यपराध्येयुर्दर्पमोहसमन्विताः ।
ततो विनिर्दहेयुस्ते तपसा हि समन्विताः ॥ १० ॥

तुमलोग तो अहंकार और मोहमें चूर रहते ही हो; अतः उनका अपराध अवश्य करोगे । उस दशामें वे तुम्हें भस्म किये बिना नहीं छोड़ेंगे । क्योंकि उनमें तपःशक्ति विद्यमान है ॥ १० ॥

अथवा सायुधा वीरा मन्युनाभिपरिप्लुताः ।
सहिता बद्धनिस्त्रिंशा दहेयुः शस्त्रतेजसा ॥ ११ ॥

अथवा, उन वीरोंके पास अस्त्र-शस्त्रोंकी भी कमी नहीं है । तुम्हारे प्रति उनका क्रोध सदा ही बना रहता है । वे तलवार बाँधे सदा एक साथ रहते हैं; अतः वे अपने शस्त्रोंके तेजसे भी तुम्हें दग्ध कर सकते हैं ॥ ११ ॥

अथ यूयं बहुत्वात् तानभियात कथंचन ।
अनार्यं परमं तत् स्यादशक्यं तच्च वै मतम् ॥ १२ ॥

यदि संख्यासे अधिक होनेके कारण तुमने ही किसी प्रकार उनपर चढ़ाई कर दी, तो यह भी तुम्हारी बड़ी भारी नीचता ही समझी जायगी । मेरी समझमें तो तुमलोगोंका पाण्डवोंपर विजय पाना असम्भव ही है ॥ १२ ॥

उषितो हि महाबाहुरिन्द्रलोके धनंजयः ।
दिव्यान्यस्त्राण्यवाप्याथ ततः प्रत्यागतो वनम् ॥ १३ ॥

महाबाहु धनंजय इन्द्रलोकमें रह चुके हैं और वहाँसे दिव्यास्त्रोंकी शिक्षा लेकर वनमें लौटे हैं ॥ १३ ॥

अकृतास्त्रेण पृथिवी जिता बीभत्सुना पुरा ।
किं पुनः स कृतास्त्रोऽद्य न हन्याद् वो महारथः॥ १४ ॥

पहले जब अर्जुनको दिव्यास्त्र नहीं प्राप्त हुए थे, तभी उन्होंने सारी पृथ्वीको जीत लिया था । अब तो महारथी अर्जुन दिव्यास्त्रोंके विद्वान् हैं, ऐसी दशामें वे तुम्हें मार डालें, यह कौन बड़ी बात है ? ॥ १४ ॥

अथवा मद्वचः श्रुत्वा तत्र यत्ता भविष्यथ ।
उद्विग्नवासो विश्रम्भाद् दुःखं तत्र भविष्यति ॥ १५ ॥

अथवा मेरी बात सुनकर तुमलोग वहाँ यदि अपनेको काबूमें रखते हुए सावधानीके साथ रह सको, तो भी यह विश्वास करके कि ये लोग सत्यवादी होनेके कारण हमें कष्ट नहीं देंगे, वनवाससे उद्विग्न हुए पाण्डवोंके बीचमें निवास करना तुम्हारे लिये दुःखदायी ही होगा ॥ १५ ॥

अथवा सैनिकाः केचिदपकुर्युर्युधिष्ठिरम् ।
तदबुद्धिकृतं कर्म दोषमुत्पादयेच्च वः ॥ १६ ॥

अथवा यह भी सम्भव है कि तुमलोगोंके कुछ सैनिक युधिष्ठिरका अपमान कर बैठें और तुम्हारे अनजानमें किया गया यह अपराध तुमलोगोंके लिये हानिकारक हो जाय ॥ १६ ॥

तस्माद् गच्छन्तु पुरुषाः स्मारणायाप्तकारिणः ।
न स्वयं तत्र गमनं रोचये तव भारत ॥ १७ ॥

अतः भरतनन्दन ! दूसरे विश्वसनीय पुरुष गौओंकी गणना करनेके लिये वहाँ चले जायँगे । स्वयं तुम्हारा वहाँ जाना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥ १७ ॥

शकुनिरुवाच

धर्मज्ञः पाण्डवो ज्येष्ठः प्रतिज्ञातं च संसदि ।
तेन द्वादश वर्षाणि वस्तव्यानीति भारत ॥ १८ ॥

शकुनि बोला—भारत ! ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं। उन्होंने भरी सभामें यह प्रतिज्ञा की है कि 'हमें बारह वर्षोंतक वनमें रहना है' ॥ १८ ॥

अनुवृत्ताश्च ते सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः।
युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो न नः कोपं करिष्यति ॥ १९ ॥

अन्य पाण्डव भी धर्मपर ही चलनेवाले हैं; अतः वे सबके सब युधिष्ठिरका ही अनुसरण करते हैं। कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर हमलोगोंपर कदापि क्रोध नहीं करेंगे ॥ १९ ॥

मृगयां चैव नो गन्तुमिच्छा संवर्तते भृशम्।
स्मारणं तु चिकीर्षामो न तु पाण्डवदर्शनम् ॥ २० ॥

हमारी विशेष इच्छा केवल हिंसक पशुओंका शिकार खेलनेकी है। हमलोग वहाँ स्मरणके लिये केवल गौओंकी गणना करना चाहते हैं। पाण्डवोंसे मिलनेकी हमारी इच्छा बिल्कुल नहीं है ॥ २० ॥

न चानार्यसमाचारः कश्चित् तत्र भविष्यति।
न च तत्र गमिष्यामो यत्र तेषां प्रतिश्रयः ॥ २१ ॥

हमारी ओरसे वहाँ कोई भी नीचतापूर्ण व्यवहार नहीं होगा। जहाँ पाण्डवोंका निवास होगा, उधर हमलोग जायँगे ही नहीं ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः शकुनिना धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
दुर्योधनं सहामात्यमनुजज्ञे न कामतः ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शकुनिके ऐसा कहनेपर राजा धृतराष्ट्रने इच्छा न होते हुए भी मन्त्रियोंसहित दुर्योधनको वहाँ जानेकी आज्ञा दे दी ॥ २२ ॥

अनुज्ञातस्तु गान्धारिः कर्णेन सहितस्तदा।
निर्ययौ भरतश्रेष्ठो बलेन महता वृतः ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्रकी आज्ञा पाकर गान्धारीपुत्र भरतश्रेष्ठ दुर्योधन कर्ण और विशाल सेनाके साथ नगरसे बाहर निकला ॥ २३ ॥

दुःशासनेन च तथा सौबलेन च धीमता।
संवृतो भ्रातृभिश्चान्यैः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ॥ २४ ॥

दुःशासन, बुद्धिमान् शकुनि, अन्यान्य भाइयों तथा सहस्रों स्त्रियोंसे घिरे हुए दुर्योधनने वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २४ ॥

तं निर्यान्तं महाबाहुं द्रष्टुं द्वैतवनं सरः।
पौराश्चानुययुः सर्वे सहदारा वनं च तत् ॥ २५ ॥

द्वैतवन नामक सरोवर तथा वनको देखनेके लिये यात्रा करनेवाले महाबाहु दुर्योधनके पीछे समस्त पुरवासी भी अपनी स्त्रियोंको साथ लेकर गये ॥ २५ ॥

अष्टौ रथसहस्राणि त्रीणि नागायुतानि च।
पत्तयो बहुसाहस्रा हयाश्च नवतिः शताः ॥ २६ ॥

दुर्योधनके साथ आठ हजार रथ, तीस हजार हाथी, कई हजार पैदल और नौ हजार घोड़े गये ॥ २६ ॥

शकटापणवेशाश्च वणिजो वन्दिनस्तथा।
नराश्च मृगयाशीलाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २७ ॥

बोझ ढोनेके लिये सैकड़ों छकड़े, दुकानें तथा वेष-भूषाकी सामग्रियाँ भी साथ चलीं। वणिक्, वंदीजन तथा आखेटप्रिय मनुष्य सैकड़ों-हजारोंकी संख्यामें साथ गये ॥ २७ ॥

ततः प्रयाणे नृपतेः सुमहानभवत् स्वनः।
प्रावृषीव महावायोरुद्धतस्य विशाम्पते ॥ २८ ॥

राजन् ! राजा दुर्योधनके प्रस्थानकालमें बड़े जोरका कोलाहल हुआ, मानो वर्षाकालमें प्रचण्ड वायुका भयंकर शब्द सुनायी दे रहा हो ॥ २८ ॥

गव्यूतिमात्रे न्यवसद् राजा दुर्योधनस्तदा।
प्रयातो वाहनैः सर्वैस्ततो द्वैतवनं सरः ॥ २९ ॥

नगरसे दो कोस दूर जाकर राजा दुर्योधनने पड़ाव डाल दिया। फिर वहाँसे समस्त वाहनोंके साथ द्वैतवन एवं सरोवरकी ओर प्रस्थान किया ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रस्थाने एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रस्थानविषयक दो सौ उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३९ ॥

चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका सेनासहित वनमें जाकर गौओंकी देखभाल करना और उसके सैनिकों एवं गन्धर्वोंमें परस्पर कटु संवाद

वैशम्पायन उवाच

अथ दुर्योधनो राजा तत्र तत्र वने वसन्।
जगाम घोषानभितस्तत्र चक्रे निवेशनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा दुर्योधन जहाँ-तहाँ वनमें पड़ाव डालता हुआ उन घोषों (गोशालाओं) के पास पहुँच गया और वहाँ उसने अपनी छावनी डाली ॥ १ ॥

रमणीये समाज्ञाते सोदके समहीरुहे।

देशे सर्वगुणोपेते चक्रुरावसथान् पराः ॥ २ ॥

उसके साथ गये हुए लोगोंने भी उस सर्वगुणसम्पन्न, रमणीय, सुपरिचित, सजल तथा सघन वृक्षावलियोंसे युक्त प्रदेशमें अपने डेरे डाल दिये ॥ २ ॥

तथैव तत्समीपस्थान् पृथगावसथान् बहून् ।
कर्णस्य शकुनेश्चैव भ्रातॄणां चैव सर्वशः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार दुर्योधनके डेरेके पास ही कर्ण, शकुनि तथा दुःशासन आदि सब भाइयोंके लिये पृथक्-पृथक् बहुत-से खेमे पड़ गये ॥ ३ ॥

ददर्श स तदा गावः शतशोऽथ सहस्रशः ।
अङ्कैर्लक्षैश्च ताः सर्वा लक्षयामास पार्थिवः ॥ ४ ॥

(रहनेकी व्यवस्था ठीक हो जानेपर) राजा दुर्योधनने अपनी सैकड़ों एवं हजारों गौओंका निरीक्षण करना आरम्भ किया । उन सबपर संख्या और निशानी डलवा दी ॥ ४ ॥

अङ्कयामास वत्सांश्च जज्ञे चोपसृतांस्त्वपि ।
बालवत्साश्च या गावः कालयामास ता अपि ॥ ५ ॥

फिर बछड़ोंपर भी संख्या और निशानी डलवायी और उनमेंसे जो नाथने योग्य थे, उन सबकी गणना कराकर उनपर पहचान डाल दी । जिन गौओंके बछड़े बहुत छोटे थे, उनकी भी अलग गणना करवायी ॥ ५ ॥

अथ स स्मारणं कृत्वा लक्षयित्वा त्रिहायनान् ।
वृतो गोपालकैः प्रीतो व्यहरत् कुरुनन्दनः ॥ ६ ॥

इस प्रकार जाँच-पड़तालका काम पूरा करके कुरुनन्दन दुर्योधनने तीन सालके बछड़ोंकी पृथक् गणना करवायी और स्मरणके लिये सब कुछ लिखकर वह बड़ी प्रसन्नताके साथ ग्वालोंसे घिरकर उस वनमें विहार करने लगा ॥ ६ ॥

स च पौरजनः सर्वः सैनिकाश्च सहस्रशः ।
यथोपजोषं चिक्रीडुर्वने तस्मिन् यथामराः ॥ ७ ॥

वे समस्त पुरवासी और सहस्रोंकी संख्यामें आये हुए सैनिक उस वनमें अपनी-अपनी रुचिके अनुसार देवताओंके समान क्रीड़ा करने लगे ॥ ७ ॥

ततो गोपाः प्रगातारः कुशला नृत्यवादने ।
धार्तराष्ट्रमुपातिष्ठन् कन्याश्चैव स्वलंकृताः ॥ ८ ॥

तदनन्तर नृत्य और वादनकी कलामें कुशल कुछ गवैये गोप तथा गहने-कपड़ोंसे सजी हुई उनकी कन्याएँ दुर्योधनके समीप आयीं ॥ ८ ॥

स स्त्रीगणावृतो राजा प्रहृष्टः प्रददौ वसु ।
तेभ्यो यथार्हमन्नानि पानानि विविधानि च ॥ ९ ॥

अपनी स्त्रियोंके साथ राजा दुर्योधन उनको देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उन्हें बहुत-सा धन दिया तथा यथायोग्य नाना प्रकारकी खाने-पीनेकी वस्तुएँ अर्पित कीं ॥ ९ ॥

ततस्ते सहिताः सर्वे तरक्षून् महिषान् मृगान् ।
गवयर्क्षवराहांश्च समन्तात् पर्यकालयन् ॥ १० ॥

तदनन्तर वे सब लोग तरक्षुओं (जरखों), जंगली भैंसों, गवयों, रीछों और शूकरों एवं अन्य जंगली हिंसक पशुओंका सब ओरसे शिकार करने लगे ॥ १० ॥

स ताञ्छरैर्विनिर्भिद्य गजांश्च सुबहून् वने ।
रमणीयेषु देशेषु ग्राहयामास वै मृगान् ॥ ११ ॥

उन्होंने वनके रमणीय प्रदेशोंमें बहुत-से हाथियोंको अपने बाणोंसे विदीर्ण करके अनेकानेक हिंस्र पशुओंको पकड़ लिया ॥ ११ ॥

गोरसानुपयुञ्जान उपभोगांश्च भारत ।
पश्यन् स रमणीयानि वनान्युपवनानि च ॥ १२ ॥
मत्तभ्रमरजुष्टानि बर्हिणाभिरुतानि च ।
अगच्छदानुपूर्व्येण पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! दुर्योधन अपने साथियोंसहित दूध आदि गोरसोंका उपयोग करता और भाँति-भाँतिके भोग भोगता हुआ वहाँके रमणीय वनों और उपवनोंकी शोभा देखने लगा । उनमें मतवाले भ्रमर गुंजार करते थे और मयूरोंकी मधुर वाणी सब ओर गूँज रही थी । इस प्रकार क्रमशः आगे बढ़ता हुआ वह परम पवित्र द्वैतवन-नामक सरोवरके समीप जा पहुँचा ॥ १२-१३ ॥

मत्तभ्रमरसंजुष्टं नीलकण्ठरवाकुलम् ।
सप्तच्छदसमाकीर्णं पुंनागबकुलैर्युतम् ॥ १४ ॥

वहाँ मधुमत्त भ्रमर कमलपुष्पोंका रस ले रहे थे । मयूरोंकी मधुर वाणीसे वह सारा प्रदेश व्याप्त हो रहा था । सप्तच्छद (छितवन) के वृक्षोंसे वह सरोवर आच्छादित-सा जान पड़ता था । उसके तटोंपर मौलसिरी [और नागकेसरके वृक्ष शोभा पा रहे थे ॥ १४ ॥

ऋद्ध्या परमया युक्तो महेन्द्र इव वज्रभृत् ।
यदृच्छया च तत्रस्थो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
ईजे राजर्षियज्ञेन साद्यस्केन विशाम्पते ।
दिव्येन विधिना चैव वन्येन कुरुसत्तम ॥ १६ ॥
(विद्वद्भिः सहितो धीमान् ब्राह्मणैर्वनवासिभिः।)
कृत्वा निवेशमभितः सरसस्तस्य कौरव ।
द्रौपद्या सहितो धीमान् धर्मपत्न्या नराधिपः ॥ १७ ॥

उसी सरोवरके तटपर वज्रधारी इन्द्रके समान उत्तम ऐश्वर्यसे सम्पन्न बुद्धिमान् धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर अपनी धर्मपत्नी महारानी द्रौपदीके साथ साद्यस्क (एक दिनमें

पूर्ण होनेवाले) राजर्षियज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे। कुरुश्रेष्ठ जनमेजय ! उस यज्ञमें उनके साथ बहुत-से वनवासी विद्वान् ब्राह्मण भी थे। राजा वनमें सुलभ होनेवाली सामग्री-द्वारा दिव्य विधिसे यज्ञ कर रहे थे। वे उसी सरोवरके आस-पास कुटी बनाकर रहते थे ॥ १५—१७ ॥

ततो दुर्योधनः प्रेष्यानादिदेश सहस्रशः।
आक्रीडावसथाः क्षिप्रं क्रियन्तामिति भारत ॥ १८ ॥

भारत ! तदनन्तर दुर्योधनने अपने सहस्रों सेवकोंको आज्ञा दी—'तुमलोग बहुतसे क्रीडामण्डप तैयार करो'॥१८॥

ते तथेत्येव कौरव्यमुक्त्वा वचनकारिणः।
चिकीर्षन्तस्तदाऽऽक्रीडाञ्जग्मुर्द्वैतवनं सरः ॥ १९ ॥

आज्ञाकारी सेवक दुर्योधनसे 'तथास्तु' कहकर क्रीडाभवन बनानेकी इच्छासे द्वैतवनके सरोवरके निकट गये ॥ १९ ॥

प्रविशन्तं वनद्वारि गन्धर्वाः समवारयन्।
सेनाग्र्यं धार्तराष्ट्रस्य प्राप्तं द्वैतवनं सरः ॥ २० ॥

दुर्योधनका सेनानायक द्वैतवन सरोवरके अत्यन्त निकटतक पहुँच गया था, उस वनके द्वारपर पैर रखते ही उसको गन्धर्वोंने रोक दिया ॥ २० ॥

तत्र गन्धर्वराजो वै पूर्वमेव विशाम्पते।
कुबेरभवनाद् राजन्नाजगाम गणावृतः ॥ २१ ॥

राजन् ! वहाँ गन्धर्वराज चित्रसेन पहलेसे ही अपने सेवकगणोंके साथ कुबेरभवनसे आये हुए थे ॥ २१ ॥

गणैरप्सरसां चैव त्रिदशानां तथाऽऽत्मजैः।
विहारशीलः क्रीडार्थं तेन तत् संवृतं सरः ॥ २२ ॥

वे उन दिनों अप्सराओं तथा देवकुमारोंके साथ विभिन्न स्थानोंमें भ्रमण करते थे। उन्होंने स्वयं ही क्रीड़ाविहारके लिये उस सरोवरको सब ओरसे घेर लिया था ॥ २२ ॥

तेन तत् संवृतं दृष्ट्वा ते राजपरिचारकाः।
प्रतिजग्मुस्ततो राजन् यत्र दुर्योधनो नृपः ॥ २३ ॥
स तु तेषां वचः श्रुत्वा सैनिकान् युद्धदुर्मदान्।
प्रेषयामास कौरव्य उत्सारयत तानिति ॥ २४ ॥

राजन् ! उस सरोवरको गन्धर्वराजने घेर रक्खा है, यह देखकर वे राजसेवक जहाँ राजा दुर्योधन था, वहाँ लौट गये। जनमेजय ! अपने सेवकोंका कथन सुनकर राजा दुर्योधनने युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले सैनिकोंको यह आदेश देकर भेजा कि 'गन्धर्वोंको वहाँसे मार भगाओ' ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राज्ञः सेनाग्रयायिनः।
सरो द्वैतवनं गत्वा गन्धर्वानिदमब्रुवन् ॥ २५ ॥

राजाका यह आदेश सुनकर उसकी सेनाके नायक द्वैतवन सरोवरके समीप जाकर गन्धर्वोंसे इस प्रकार बोले—॥ २५ ॥

राजा दुर्योधनो नाम धृतराष्ट्रसुतो बली।
विजिहीर्षुरिहायाति तदर्थमपसर्पत ॥ २६ ॥

'गन्धर्वो ! महाराज धृतराष्ट्रके बलवान् पुत्र राजा दुर्योधन यहाँ विहार करनेकी इच्छासे पधार रहे हैं। तुमलोग उनके लिये यह स्थान खाली करके दूर चले जाओ' ॥ २६ ॥

एवमुक्तास्तु गन्धर्वाः प्रहसन्तो विशाम्पते।
प्रत्यब्रुवंस्तान् पुरुषानिदं हि परुषं वचः ॥ २७ ॥

राजन् ! उनके ऐसा कहनेपर गन्धर्व जोर-जोरसे हँसने लगे और उन राजसेवकोंको उत्तर देते हुए उनसे इस प्रकार कठोर वाणीमें बोले—॥ २७ ॥

न चेतयति वो राजा मन्दबुद्धिः सुयोधनः।
योऽस्मानाज्ञापयत्येवं वैश्यानिव दिवौकसः ॥ २८ ॥

'तुम्हारा राजा दुर्योधन मूर्ख है। उसे तनिक भी चेत नहीं है; क्योंकि वह हम देवलोकवासी गन्धर्वको भी बनियों-के समान समझकर इस प्रकार आज्ञा दे रहा है ॥२८॥

यूयं मुमूर्षवश्चापि मन्दप्रज्ञा न संशयः।
ये तस्य वचनादेवमस्मान् ब्रूत विचेतसः ॥ २९ ॥

'तुमलोगोंकी भी बुद्धि मारी गयी है। इसमें संदेह नहीं कि तुम सबके सब मरना चाहते हो। तभी तो उस दुर्योधन-के कहनेसे तुम इस प्रकार हमसे विचारहीन होकर बातें कर रहे हो ॥ २९ ॥

गच्छध्वं त्वरिताः सर्वे यत्र राजा स कौरवः।
न चेदद्यैव गच्छध्वं धर्मराजनिवेशनम् ॥ ३० ॥

'या तो तुम सब लोग तुरंत वहीं लौट जाओ, जहाँ तुम्हारा राजा दुर्योधन रहता है। या यदि ऐसा नहीं करना है, तो अभी धर्मराजके नगर (यमलोक) की राह लो' ॥ ३० ॥

एवमुक्तास्तु गन्धर्वै राज्ञः सेनाग्रयायिनः।
सम्प्राद्रवन् यतो राजा धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ॥ ३१ ॥

गन्धर्वोंके ऐसा कहनेपर राजाके सेनानायक योद्धा वहीं भाग गये, जहाँ धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन स्वयं विराजमान था ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि गन्धर्वदुर्योधनसेनासंवादे चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें गन्धर्वदुर्योधनसेनासंवादविषयक दो सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३१½ श्लोक हैं)

एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौरवोंका गन्धर्वोंके साथ युद्ध और कर्णकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते सहिताः सर्वे दुर्योधनमुपागमन् ।
अब्रुवंश्च महाराज यदूचुः कौरवं प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर वे सब लोग एक साथ कुरुराज दुर्योधनके पास गये और गन्धर्वोंने राजासे कहनेके लिये जो-जो बातें कही थीं, उन्हें कह सुनाया ॥ १ ॥

गन्धर्वैर्वारिते सैन्ये धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
अमर्षपूर्णः सैन्यानि प्रत्यभाषत भारत ॥ २ ॥

भारत ! गन्धर्वोंद्वारा अपनी सेनाके रोक दिये जानेपर प्रतापी राजा दुर्योधनने अमर्षमें भरकर समस्त सैनिकोंसे कहा—॥ २ ॥

शासतैनानधर्मज्ञान् मम विप्रियकारिणः ।
यदि प्रक्रीडते सर्वैर्देवैः सह शतक्रतुः ॥ ३ ॥

'अरे ! यदि समस्त देवताओंके साथ इन्द्र भी यहाँ आकर क्रीडा करते हों, तो वे भी मेरा अप्रिय करनेवाले हैं। तुमलोग इन सब पापात्माओंको दण्ड दो' ॥ ३ ॥

दुर्योधनवचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रा महाबलाः ।
सर्व एवाभिसंनद्धा योधाश्चापि सहस्रशः ॥ ४ ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर महाबली कौरव और उनके सहस्रों योद्धा सबके सब युद्धके लिये कमर कसकर तैयार हो गये ॥ ४ ॥

ततः प्रमथ्य सर्वांस्तांस्तद् वनं विविशुर्बलात् ।
सिंहनादेन महता पूरयन्तो दिशो दश ॥ ५ ॥

तदनन्तर वे अपने महान् सिंहनादसे दसों दिशाओंको गुँजाते हुए उन समस्त गन्धर्वोंको रौंदकर बलपूर्वक द्वैतवनमें घुस गये ॥ ५ ॥

ततोऽपरैरवार्यन्त गन्धर्वैः कुरुसैनिकाः ।
ते वार्यमाणा गन्धर्वैः साम्नैव वसुधाधिप ॥ ६ ॥
ताननादृत्य गन्धर्वांस्तद् वनं विविशुर्महत् ।
यदा वाचा न तिष्ठन्ति धार्तराष्ट्राः सराजकाः ॥ ७ ॥
ततस्ते खेचराः सर्वे चित्रसेने न्यवेदयन् ।

राजन् ! उस समय दूसरे-दूसरे गन्धर्वोंने शान्तिपूर्ण वचनोंद्वारा ही कौरव सैनिकोंको रोका। रोकनेपर भी उन गन्धर्वोंकी अवहेलना करके वे समस्त सैनिक उस महान् वनके भीतर प्रविष्ट हो गये। जब राजा दुर्योधनसहित समस्त कौरव वाणीद्वारा मना करनेपर न रुके, तब आकाशमें विचरनेवाले उन सभी गन्धर्वोंने राजा चित्रसेनसे यह सारा समाचार निवेदन किया ॥ ६-७½ ॥

गन्धर्वराजस्तान् सर्वानब्रवीत् कौरवान् प्रति ॥ ८ ॥
अनार्याञ्छासतेत्येतांश्चित्रसेनोऽत्यमर्षणः ।

यह सुनकर गन्धर्वराज चित्रसेनको बड़ा अमर्ष हुआ। उन्होंने कौरवोंको लक्ष्य करके समस्त गन्धर्वोंको आज्ञा दी, 'अरे ! इन दुष्टोंका दमन करो' ॥ ८½ ॥

अनुज्ञाताश्च गन्धर्वाश्चित्रसेनेन भारत ॥ ९ ॥
प्रगृहीतायुधाः सर्वे धार्तराष्ट्रानभिद्रवन् ।

भारत ! चित्रसेनकी आज्ञा पाते ही सब गन्धर्व अस्त्र-शस्त्र लेकर कौरवोंकी ओर दौड़े ॥ ९½ ॥

तान् दृष्ट्वा पततः शीघ्रान् गन्धर्वानुद्यतायुधान् ॥ १० ॥
प्राद्रवंस्ते दिशः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ।

गन्धर्वोंको अस्त्र-शस्त्र लिये तीव्र वेगसे अपनी ओर आते देख वे सभी कौरव सैनिक दुर्योधनके देखते-देखते चारों ओर भागने लगे ॥ १०½ ॥

तान् दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान् धार्तराष्ट्रान् पराङ्मुखान् ॥ ११ ॥
राधेयस्तु तदा वीरो नासीत् तत्र पराङ्मुखः ।

धृतराष्ट्रके सब पुत्रोंको युद्धसे विमुख हो भागते देखकर भी राधानन्दन वीर कर्णने वहाँ पीठ नहीं दिखायी ॥ ११½ ॥

आपतन्तीं तु सम्प्रेक्ष्य गन्धर्वाणां महाचमूम् ॥ १२ ॥
महता शरवर्षेण राधेयः प्रत्यवारयत् ।

गन्धर्वोंकी उस विशाल सेनाको अपनी ओर आती देख कर्णने भारी बाणवर्षा करके उसे आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ १२½ ॥

क्षुरप्रैर्विशिखैर्भल्लैर्वत्सदन्तैस्तथाऽऽयसैः ॥ १३ ॥
गन्धर्वाञ्छतशोऽभ्यघ्नँल्लघुत्वात् सूतनन्दनः ।

सूतपुत्र कर्णने अपने हाथोंकी फुर्तीके कारण लोहेके क्षुरप्र, विशिख, भल्ल और वत्सदन्त नामक बाणोंकी वर्षा करके सैकड़ों गन्धर्वोंको घायल कर दिया ॥ १३½ ॥

पातयन्नुत्तमाङ्गानि गन्धर्वाणां महारथः ॥ १४ ॥
क्षणेन व्यधमत् सर्वां चित्रसेनस्य वाहिनीम् ।

गन्धर्वोंके मस्तक काटकर गिराते हुए महारथी कर्णने चित्रसेनकी सारी सेनाको क्षणभरमें छिन्न-भिन्न कर डाला ॥ १४½ ॥

ते वध्यमाना गन्धर्वाः सूतपुत्रेण धीमता ॥ १५ ॥
भूय एवाभ्यवर्तन्त शतशोऽथ सहस्रशः ।
गन्धर्वभूता पृथिवी क्षणेन समपद्यत ॥ १६ ॥

आपतद्भिर्महावेगैश्चित्रसेनस्य सैनिकैः ।

परम बुद्धिमान् सूतपुत्र कर्णके द्वारा ज्यों-ज्यों गन्धर्वोंपर मार पड़ने लगी, त्यों-ही-त्यों वे सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें वहाँ आ-आकर एकत्र होने लगे । इस प्रकार चित्रसेनके अत्यन्त वेगशाली सैनिकोंके आनेसे क्षणभरमें वहाँकी सारी पृथ्वी गन्धर्वमयी हो गयी ॥ १५—१६½ ॥

अथ दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ॥ १७ ॥
दुःशासनो विकर्णश्च ये चान्ये धृतराष्ट्रजाः ।
न्यहनंस्तत् तदा सैन्यं रथैर्गरुडनिःस्वनैः ॥ १८ ॥

तदनन्तर राजा दुर्योधन, सुबलपुत्र शकुनि, दुःशासन, विकर्ण तथा अन्य जो धृतराष्ट्रपुत्र वहाँ आये थे, उन सबने गरुड़के समान भयंकर शब्द करनेवाले रथोंपर आरूढ़ हो गन्धर्वोंकी उस सेनाका संहार आरम्भ किया ॥ १७-१८ ॥

भूयश्च योधयामासुः कृत्वा कर्णमथाग्रतः ।
महता रथसङ्घेन रथचारेण चाप्युत ॥ १९ ॥
वैकर्तनं परीप्सन्तो गन्धर्वान् समवाकिरन् ।

उन्होंने कर्णको आगे करके पुनः बड़े वेगसे गन्धर्वोंका सामना किया । उनके साथ रथोंका विशाल समूह था । वे रथोंको विचित्र गतियोंसे चलाते हुए कर्णकी रक्षा करने और गन्धर्वोंपर बाण बरसाने लगे ॥ १९½ ॥

ततः संन्यपतन् सर्वे गन्धर्वाः कौरवैः सह ॥ २० ॥
तदा सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
ततस्ते मृदवोऽभूवन् गन्धर्वाः शरपीडिताः ॥ २१ ॥
उच्चुक्रुशुश्च कौरव्या गन्धर्वान् प्रेक्ष्य पीडितान् ।

तत्पश्चात् सारे गन्धर्व संगठित हो कौरवोंके साथ भिड़ गये । उस समय उनमें घमासान युद्ध होने लगा, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था । तदनन्तर कौरवोंके बाणोंसे पीड़ित हो गन्धर्व कुछ ढीले पड़ने लगे और उन्हें कष्ट पाते देख कौरव-योद्धा जोर-जोरसे गरजने लगे ॥ २०-२१½ ॥

गन्धर्वांस्त्रासितान् दृष्ट्वा चित्रसेनो ह्यमर्षणः ॥ २२ ॥
उत्पपातासनात् क्रुद्धो वधे तेषां समाहितः ।

गन्धर्वोंको भयभीत देखकर गन्धर्वराज चित्रसेनको बड़ा क्रोध हुआ । वे शत्रुओंके वधका दृढ़ संकल्प लेकर अपने आसनसे उछल पड़े ॥ २२½ ॥

ततो मायास्त्रमास्थाय युयुधे चित्रमार्गवित् ।
तयामुह्यन्त कौरव्याश्चित्रसेनस्य मायया ॥ २३ ॥

वे युद्धकी विचित्र पद्धतियोंके ज्ञाता थे । उन्होंने मायामय अस्त्रका आश्रय लेकर युद्ध आरम्भ किया । चित्रसेनकी उस मायासे समस्त कौरवोंपर मोह छा गया ॥ २३ ॥

एकैको हि तदा योधो धार्तराष्ट्रस्य भारत ।
पर्यवर्तत गन्धर्वैर्दशभिर्दशभिः सह ॥ २४ ॥

भारत ! उस समय दुर्योधनका एक-एक सैनिक दस-दस गन्धर्वोंके साथ लोहा ले रहा था ॥ २४ ॥

ततः सम्पीड्यमानास्ते बलेन महता तदा ।
प्राद्रवन्त रणे भीता ये च राजञ्जिगीषवः ॥ २५ ॥

राजन् ! तदनन्तर गन्धर्वोंकी विशाल सेनासे पीड़ित हो वे सभी योद्धा, जो पहले जीतनेका हौसला रखते थे, भयभीत हो युद्धसे भाग चले ॥ २५ ॥

भज्यमानेष्वनीकेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वशः ।
कर्णो वैकर्तनो राजंस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ २६ ॥

जनमेजय ! जब कौरवोंके सभी सैनिक युद्ध छोड़कर भागने लगे, उस समय भी सूर्यपुत्र कर्ण पर्वतकी भाँति अविचलभावसे उस युद्धभूमिमें डटा रहा ॥ २६ ॥

दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः ।
गन्धर्वान् योधयामासुः समरे भृशविक्षताः ॥ २७ ॥

दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि—ये उस समराङ्गणमें यद्यपि बहुत घायल हो गये थे, तथापि गन्धर्वोंसे युद्ध करते रहे ॥ २७ ॥

सर्वे एव तु गन्धर्वाः शतशोऽथ सहस्रशः ।
जिघांसमानाः सहिताः कर्णमभ्यद्रवन् रणे ॥ २८ ॥

इसपर सभी गन्धर्व एक साथ संगठित हो कर्णको मार डालनेकी इच्छासे सौ-सौ तथा हजार-हजारका दल बाँधकर रणभूमिमें कर्णके ऊपर टूट पड़े ॥ २८ ॥

असिभिः पट्टिशैः शूलैर्गदाभिश्च महाबलाः ।
सूतपुत्रं जिघांसन्तः समन्तात् पर्यवाकिरन् ॥ २९ ॥

उन महाबली वीरोंने सूतपुत्र कर्णके वधकी इच्छा रखकर उसके ऊपर चारों ओरसे तलवार, पट्टिश, शूल और गदाओंद्वारा प्रहार आरम्भ किया ॥ २९ ॥

अन्येऽस्य युगमच्छिन्दन् ध्वजमन्ये न्यपातयन् ।
ईषामन्ये हयानन्ये सूतमन्ये न्यपातयन् ॥ ३० ॥

किन्हींने उसके रथका जुआ काट दिया, दूसरोंने ध्वजा काटकर गिरा दी । कुछ लोगोंने ईषादण्डके टुकड़े-टुकड़े कर दिये । कुछ गन्धर्वोंने कर्णके घोड़ोंको यमलोक पहुँचा दिया तथा दूसरोंने सारथिको मार गिराया ॥ ३० ॥

अन्ये छत्रं वरूथं च बन्धुरं च तथापरे ।
गन्धर्वा बहुसाहस्रास्तिलशो व्यधमन् रथम् ॥ ३१ ॥

किसी एकने छत्र, दूसरोंने वरूथ[1] और अन्य सैनिकोंने रथके बन्धन काट डाले । गन्धर्वोंकी संख्या कई हजार थी ।

---

१. लोहेकी चद्दर या सीकड़ोंका बना हुआ आवरण वरूथ कहलाता है । पहले यह शत्रुके आघातसे रथको रक्षित रखनेके लिये उसके ऊपर डाला जाता था ।

उन्होंने कर्णके रथको तिल-तिल करके काट दिया ॥ ३१ ॥

ततो रथादवप्लुत्य सूतपुत्रोऽसिचर्मभृत् ।
विकर्णरथमास्थाय मोक्षायाश्वानचोदयत् ॥ ३२ ॥

तब सूतपुत्र कर्ण हाथमें तलवार और ढाल लिये अपने रथसे कूद पड़ा और विकर्णके रथपर बैठकर अपने प्राण बचानेके लिये उसके घोड़ोंको जोर-जोरसे हाँकने लगा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णपराभवे एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णपराजयविषयक दो सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।२४१।

द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

गन्धर्वोंद्वारा दुर्योधन आदिकी पराजय और उनका अपहरण

वैशम्पायन उवाच

गन्धर्वैस्तु महाराज भग्ने कर्णे महारथे ।
सम्प्राद्रवच्चमूः सर्वा धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! गन्धर्वोंने जब महारथी कर्णको भगा दिया, तब दुर्योधनके देखते-देखते उसकी सारी सेना भी भाग चली ॥ १ ॥

तान् दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान् धार्तराष्ट्रान् पराङ्मुखान् ।
दुर्योधनो महाराजो नासीत् तत्र पराङ्मुखः ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको युद्धसे पीठ दिखाकर भागते देखकर भी राजा दुर्योधन स्वयं वहीं डटा रहा । उसने पीठ नहीं दिखायी ॥ २ ॥

तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य गन्धर्वाणां महाचमूम् ।
महता शरवर्षेण सोऽभ्यवर्षदरिंदमः ॥ ३ ॥

गन्धर्वोंकी उस विशाल सेनाको अपनी ओर आती देख शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर दुर्योधनने उसपर बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३ ॥

अचिन्त्य शरवर्षं तु गन्धर्वास्तस्य तं रथम् ।
दुर्योधनं जिघांसन्तः समन्तात् पर्यवारयन् ॥ ४ ॥

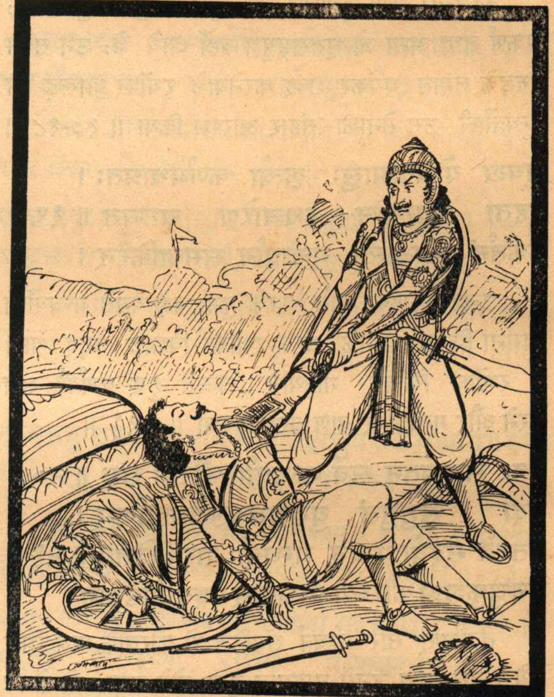
परंतु गन्धर्वोंने उस बाणवर्षाकी कुछ भी परवाह नहीं की । उन्होंने दुर्योधनको मार डालनेकी इच्छासे उसके रथको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४ ॥

युगमीषां वरूथं च तथैव ध्वजसारथी ।
अश्वांस्त्रिवेणुं तल्पं च तिलशो व्यधमञ्छरैः ॥ ५ ॥

और उसके युग, ईषादण्ड, वरूथ, ध्वजा, सारथि, घोड़ों, तीन वेणुदण्डवाले छत्र और तल्प (बैठनेके स्थान) को बाणोंद्वारा तिल-तिल करके काट डाला ॥ ५ ॥

दुर्योधनं चित्रसेनो विरथं पतितं भुवि ।
अभिद्रुत्य महाबाहुर्जीवग्राहमथाग्रहीत् ॥ ६ ॥

उस समय दुर्योधन रथहीन होकर धरतीपर गिर पड़ा । यह देख महाबाहु चित्रसेनने झटपट जाकर उसे जीते-जी ही बंदी बना लिया ॥ ६ ॥



तस्मिन् गृहीते राजेन्द्र स्थितं दुःशासनं रथे ।
पर्यगृह्णन्त गन्धर्वाः परिवार्य समन्ततः ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! दुर्योधनके कैद हो जानेपर गन्धर्वोंने रथपर बैठे हुए दुःशासनको भी सब ओरसे घेरकर पकड़ लिया ॥७॥

विविंशतिं चित्रसेनमादायान्ये विदुद्रुवुः ।
विन्दानुविन्दावपरे राजदारांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥

अन्य कितने ही गन्धर्व धृतराष्ट्रके पुत्र चित्रसेन और विविंशतिको बंदी बनाकर ले चले । कुछ अन्य गन्धर्वोंने विन्द और अनुविन्दको तथा राजकुलकी समस्त महिलाओंको भी अपने अधिकारमें ले लिया ॥ ८ ॥

सैन्यं तद् धार्तराष्ट्रस्य गन्धर्वैः समभिद्रुतम् ।
पूर्वं प्रभग्नाः सहिताः पाण्डवानभ्ययुस्तदा ॥ ९ ॥

गन्धर्वोंने दुर्योधनकी सारी सेनाको मार भगाया था । वह सेना तथा उसके वे सैनिक, जो पहलेसे ही मैदान

छोड़कर भाग गये थे, सब एक साथ पाण्डवोंकी शरणमें गये ॥ ९ ॥

शकटापणवेशाश्च यानयुग्यं च सर्वशः।
शरणं पाण्डवाञ्जग्मुर्ह्रियमाणे महीपतौ ॥ १० ॥

गन्धर्व जब राजा दुर्योधनको बंदी बनाकर ले जाने लगे, उस समय छकड़े, रसदकी दूकान, वेष-भूषा, सवारी ढोने तथा कंधोंपर जुआ रखकर चलनेमें समर्थ बैल आदि सब उपकरणोंको साथ ले कौरव सैनिक पाण्डवोंकी शरणमें गये ॥ १० ॥

सैनिका ऊचुः

प्रियदर्शी महाबाहुर्धार्तराष्ट्रो महाबलः।
गन्धर्वैर्ह्रियते राजा पार्थास्तमनुधावत ॥ ११ ॥
दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुर्जयस्तथा।
बद्ध्वा ह्रियन्ते गन्धर्वै राजदाराश्च सर्वशः ॥ १२ ॥

सैनिक बोले—कुन्तीकुमारो ! हमारे प्रियदर्शी महाबाहु महाबली धृतराष्ट्रकुमार राजा दुर्योधनको गन्धर्व (बाँधकर) लिये जाते हैं। आपलोग उनकी रक्षाके लिये दौड़िये। वे दुःशासन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुर्जय तथा कुरुकुलकी सब स्त्रियोंको भी कैद करके लिये जा रहे हैं ॥ ११-१२ ॥

इति दुर्योधनामात्याः क्रोशन्तो राजगृद्धिनः।
आर्ता दीनास्ततः सर्वे युधिष्ठिरमुपागमन् ॥ १३ ॥

राजाको हृदयसे चाहनेवाले दुर्योधनके सब मन्त्री आर्त एवं दीन होकर उपर्युक्त बातें जोर-जोरसे कहते हुए युधिष्ठिरके समीप गये ॥ १३ ॥

तांस्तथा व्यथितान् दीनान् भिक्षमाणान् युधिष्ठिरम्।
वृद्धान् दुर्योधनामात्यान् भीमसेनोऽभ्यभाषत ॥ १४ ॥

दुर्योधनके उन बूढ़े मन्त्रियोंको इस प्रकार दीन एवं दुखी होकर युधिष्ठिरसे सहायताकी भीख माँगते देख भीमसेनने कहा—॥ १४ ॥

महता हि प्रयत्नेन संनह्य गजवाजिभिः।
अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम् ॥ १५ ॥

'हमें हाथी-घोड़ों आदिके द्वारा बहुत प्रयत्न करके कमर कसकर जो काम करना चाहिये था, उसे गन्धर्वोंने ही पूरा कर दिया ॥ १५ ॥

अन्यथा वर्तमानानामर्थो जातोऽयमन्यथा।
दुर्मन्त्रितमिदं तावद् राज्ञो दुर्द्यूतदेविनः ॥ १६ ॥

'ये कौरव कुछ और ही करना चाहते थे; परंतु इन्हें उलटा परिणाम देखना पड़ा। कपटद्यूत खेलनेवाले राजा दुर्योधनका यह दुर्मन्त्रणापूर्ण षड्यन्त्र था, जो सफल न हो सका ॥ १६ ॥

द्वेष्टारमन्ये क्लीबस्य पातयन्तीति नः श्रुतम्।
इदं कृतं नः प्रत्यक्षं गन्धर्वैरतिमानुषम् ॥ १७ ॥

'हमने सुना है, जो लोग असमर्थ पुरुषोंसे द्वेष करते हैं, उन्हें दूसरे ही लोग नीचा दिखा देते हैं। गन्धर्वोंने आज अलौकिक पराक्रम करके हमारी इस सुनी हुई बातको प्रत्यक्ष कर दिखाया ॥ १७ ॥

दिष्ट्या लोके पुमानस्ति कश्चिदस्मत्प्रिये स्थितः।
येनास्माकं हृतो भार आसीनानां सुखावहः ॥ १८ ॥

'सौभाग्यकी बात है कि संसारमें कोई ऐसा भी पुरुष है, जो हमलोगोंके प्रिय एवं हितसाधनमें लगा हुआ है। उसने हमलोगोंका भार उतार दिया और हमें बैठे-ही-बैठे सुख पहुँचाया है ॥ १८ ॥

शीतवातातपसहांस्तपसा चैव कर्शितान्।
समस्थो विषमस्थान् हि द्रष्टुमिच्छति दुर्मतिः ॥ १९ ॥

'हम सर्दी, गर्मी और हवाका कष्ट सहते हैं, तपस्यासे दुर्बल हो गये हैं और विषम परिस्थितिमें पड़े हैं, तो भी वह दुर्बुद्धि दुर्योधन, जो इस समय राजगद्दीपर बैठकर मौज उड़ा रहा है, हमें इस दुर्दशामें देखनेकी इच्छा रखता है ।१९।

अधर्मचारिणस्तस्य कौरव्यस्य दुरात्मनः।
ये शीलमनुवर्तन्ते ते पश्यन्ति पराभवम् ॥ २० ॥

'उस पापाचारी दुरात्मा कौरवके स्वभावका जो लोग अनुसरण करते हैं, वे भी अपनी पराजय देखते हैं ॥ २० ॥

अधर्मो हि कृतस्तेन येनैतदुपशिक्षितम्।
अनृशंसास्तु कौन्तेयास्तत् प्रत्यक्षं ब्रवीमि वः ॥ २१ ॥

'जिसने दुर्योधनको यह सलाह दी है कि वह वनमें पाण्डवोंसे मिलकर उनकी हँसी उड़ावे, उसने बड़ा भारी पाप किया है। कुन्तीके पुत्र कभी क्रूरतापूर्ण बर्ताव नहीं करते, मैं यह बात आपलोगोंके सामने कह रहा हूँ' ॥२१॥

एवं ब्रुवाणं कौन्तेयं भीमसेनमपस्वरम्।
न कालः परुषस्यायमिति राजाभ्यभाषत ॥ २२ ॥

कुन्तीनन्दन भीमसेनको इस प्रकार विकृत स्वरमें बात करते देख राजा युधिष्ठिरने कहा—'भैया ! यह कड़वी बातें कहनेका समय नहीं है' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनादिहरणे द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधन आदिका अपहरणविषयक दो सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४२ ॥

त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनको गन्धर्वोंके हाथसे कौरवोंको छुड़ानेका आदेश और इसके लिये अर्जुनकी प्रतिज्ञा

युधिष्ठिर उवाच

अस्मानभिगतांस्तात भयार्तांञ्छरणैषिणः।
कौरवान् विषमप्राप्तान् कथं ब्रूयास्त्वमीदृशम्॥ १॥

युधिष्ठिर बोले—तात! ये लोग भयसे पीड़ित हो शरण लेनेकी इच्छासे हमारे पास आये हैं। इस समय कौरव भारी संकटमें पड़ गये हैं। फिर तुम ऐसी कड़वी बात कैसे बोल रहे हो?॥ १॥

भवन्ति भेदा ज्ञातीनां कलहाश्च वृकोदर।
प्रसक्तानि च वैराणि कुलधर्मो न नश्यति॥ २॥

भीमसेन! ज्ञाति अर्थात् भाई-बन्धुओंमें मतभेद और लड़ाई-झगड़े होते ही रहते हैं। कभी-कभी उनमें वैर भी बँध जाते हैं; परंतु इससे कुलका धर्म यानी अपनापन नष्ट नहीं होता॥ २॥

यदा तु कश्चिज्ज्ञातीनां बाह्यः पोथयते कुलम्।
न मर्षयन्ति तत् सन्तो बाह्येनाभिप्रधर्षणम्॥ ३॥

जब कोई बाहरका मनुष्य उनके कुलपर आक्रमण करता है, तब श्रेष्ठ पुरुष उस बाहरी मनुष्यके द्वारा होनेवाले अपने कुलके तिरस्कारको नहीं सहन करते हैं॥ ३॥

(परैः परिभवे प्राप्ते वयं पञ्चोत्तरं शतम्।
परस्परविरोधे तु वयं पञ्च शतं तु ते॥)
जानात्येष हि दुर्बुद्धिरस्मानिह चिरोषितान्।
स एवं परिभूयास्मानकार्षीदिदमप्रियम्॥ ४॥

दूसरोंके द्वारा पराभव प्राप्त होनेपर उसका सामना करनेके लिये हमलोग एक सौ पाँच भाई हैं। आपसमें विरोध होनेपर ही हम पाँच भाई अलग हैं और वे सौ भाई अलग हैं। यह खोटी बुद्धिवाला गन्धर्व जानता है कि हम (पाण्डव) दीर्घकालसे यहाँ रह रहे हैं, तो भी इस प्रकार हमारा तिरस्कार करके इस चित्रसेन गन्धर्वने यह अप्रिय कार्य किया है॥४॥

दुर्योधनस्य ग्रहणाद् गन्धर्वेण बलात् प्रभो।
स्त्रीणां बाह्याभिमर्शाच्च हतं भवति नः कुलम्॥ ५॥

शक्तिशाली भीम! गन्धर्वके द्वारा बलपूर्वक दुर्योधनके पकड़े जानेसे और एक बाहरी पुरुषके द्वारा कुरुकुलकी स्त्रियोंका अपहरण होनेसे हमारे कुलका जो तिरस्कार हुआ है, वह कुलके लिये मृत्युके तुल्य है॥ ५॥

शरणं च प्रपन्नानां त्राणार्थं च कुलस्य च।
उत्तिष्ठत नरव्याघ्राः सज्जीभवत मा चिरम्॥ ६॥

नरश्रेष्ठ वीरो! शरणागतोंकी रक्षा करने और कुलकी लाज बचानेके लिये तुमलोग शीघ्र उठो और युद्धके लिये तैयार हो जाओ, विलम्ब न करो॥ ६॥

अर्जुनश्च यमौ चैव त्वं च वीरापराजितः।
मोक्षयध्वं नरव्याघ्रा ह्रियमाणं सुयोधनम्॥ ७॥

वीर! अर्जुन, नकुल, सहदेव और तुम किसीसे परास्त होनेवाले नहीं हो। नरवीरो! गन्धर्वोंद्वारा अपहृत होनेवाले दुर्योधनको छुड़ा लाओ॥ ७॥

एते रथा नरव्याघ्राः सर्वशस्त्रसमन्विताः।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां विमलाः काञ्चनध्वजाः॥ ८॥
सस्वनानधिरोहध्वं नित्यसज्जानिमान् रथान्।
इन्द्रसेनादिभिः सूतैः कृतशस्त्रैरधिष्ठितान्॥ ९॥
एतानास्थाय वै यत्ता गन्धर्वान् योद्धुमाहवे।
सुयोधनस्य मोक्षाय प्रयतध्वमतन्द्रिताः॥ १०॥

नरसिंहो! कौरवोंके ये सुनहरी ध्वजावाले निर्मल रथ सामने खड़े हैं। इनमें सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र मौजूद हैं। इनके चलनेपर भारी आवाज होती है। ये रथ सदा सुसज्जित रहते हैं। शस्त्रविद्यामें निपुण इन्द्रसेन आदि सारथि इनपर बैठे हुए हैं। तुमलोग इन रथोंपर आरूढ़ हो गन्धर्वोंसे युद्ध करनेके लिये तैयार हो जाओ और सावधान होकर दुर्योधनको छुड़ानेका प्रयत्न करो॥ ८–१०॥

य एव कश्चिद् राजन्यः शरणार्थमिहागतम्।
परं शक्त्याभिरक्षेत किं पुनस्त्वं वृकोदर॥ ११॥

भीमसेन! जो कोई साधारण क्षत्रिय भी क्यों न हो, शरण लेनेके लिये आये हुए मनुष्यकी यथाशक्ति रक्षा करता है। फिर तुम-जैसे वीर पुरुष शरणागतकी रक्षा करें, इसके लिये तो कहना ही क्या है?॥ ११॥

(वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पुनर्वाक्यमभाषत।
कोपसंरक्तनयनः पूर्ववैरमनुस्मरन्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार भीमसेन पहलेके वैरका स्मरण करते हुए क्रोधसे आँखें लाल करके फिर इस प्रकार बोले॥

भीम उवाच

पुरा जतुगृहेऽनेन दग्धुमस्मान् युधिष्ठिर।
दुर्बुद्धिर्हि कृता वीर भृशं दैवेन रक्षिताः॥

भीमसेन बोले—वीरवर भैया युधिष्ठिर ! आपको याद होगा, पहले इसी दुर्योधनने लाक्षागृहमें हमलोगोंको जलाकर भस्म कर देनेका घृणित विचार किया था; परंतु दैवने हमारी रक्षा की ॥

कालकूटं विषं तीक्ष्णं भोजने मम भारत।
उप्त्वा गङ्गां लतापाशैर्बद्ध्वा च प्राक्षिपत् प्रभो ॥

भरतकुलभूषण प्रभो ! इसीने मेरे भोजनमें तीव्र कालकूट विष मिला दिया और मुझे लतापाशसे बाँधकर गङ्गाजीमें फेंक दिया था ॥

द्यूतकाले हि कौन्तेय वृजिनानि कृतानि वै।
द्रौपद्याश्च परामर्शः केशग्रहणमेव च ॥
वस्त्रापहरणं चैव सभामध्ये कृतानि वै।
पुरा कृतानां पापानां फलं भुङ्क्ते सुयोधनः ॥

कुन्तीनन्दन ! जूएके समय इसने बड़े-बड़े पाप किये हैं। द्रौपदीका स्पर्श, उसके केशोंको पकड़कर खींचना और भरी सभामें उसे नग्नी करनेके लिये उसके वस्त्रोंका अपहरण करना—ये सब दुर्योधनके कुकृत्य हैं। पहलेके किये हुए पापोंका फल आज दुर्योधन भोग रहा है ॥

अस्माभिरेव कर्तव्यो धार्तराष्ट्रस्य निग्रहः।
अन्येन तु कृतं तच्च मैत्र्यमस्माभिरिच्छता ॥
उपकारी तु गन्धर्वो मा राजन् विमना भव ॥

इस धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको पकड़कर दण्ड देनेका काम तो हमलोगोंको ही करना चाहिये था; परंतु किसी दूसरेने हमारे साथ मैत्रीकी इच्छा रखकर स्वयं ही वह कार्य पूरा कर दिया। राजन् ! आप उदास न हों; गन्धर्व हमलोगोंका उपकारी ही है ॥

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नन्तरे राजंश्चित्रसेनेन वै हृतः।
विललाप सुदुःखार्तो ह्रियमाणः सुयोधनः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय चित्रसेनद्वारा अपहृत होता हुआ दुर्योधन अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो जोर-जोरसे विलाप करने लगा ॥

दुर्योधन उवाच

पाण्डुपुत्र महाबाहो पौरवाणां यशस्कर।
सर्वधर्मभृतां श्रेष्ठ गन्धर्वेण हृतं बलात् ॥
रक्षस्व पुरुषव्याघ्र युधिष्ठिर महायशः ॥
भ्रातरं ते महाबाहो बद्ध्वा नयति मामयम्।
दुःशासनं दुर्विषहं दुर्मुखं दुर्जयं तथा ॥
बद्ध्वा हरन्ति गन्धर्वा अस्मद्दारांश्च सर्वशः।
अनुधावत मां क्षिप्रं रक्षध्वं पुरुषोत्तमाः ॥
वृकोदर महाबाहो धनंजय महायशः।
यमौ मामनुधावेतां रक्षार्थं मम सायुधौ ॥
कुरुवंशस्य तु महदयशः प्राप्तमीदृशम्।
व्यपोहयध्वं गन्धर्वाञ्जित्वा वीर्येण पाण्डवाः ॥

दुर्योधन बोला—पूरुवंशका यश बढ़ानेवाले समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महायशस्वी पुरुषसिंह महाबाहु पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! मुझे गन्धर्व बलपूर्वक हरकर लिये जा रहा है। मेरी रक्षा करो। महाबाहो ! यह शत्रु तुम्हारे भाई मुझ दुर्योधनको बाँधे लिये जाता है। साथ ही ये सारे गन्धर्व दुःशासन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुर्जय तथा हमारी रानियोंको भी बंदी बनाकर लिये जा रहे हैं। पुरुषोत्तम पाण्डवो ! शीघ्र इनका पीछा करो और मेरे प्राण बचाओ। महाबाहु वृकोदर और महायशस्वी धनंजय ! मेरी रक्षा करो। दोनों भाई नकुल और सहदेव भी अस्त्र-शस्त्र लिये मेरी रक्षाके लिये दौड़े आवें। पाण्डवो ! कुरुवंशके लिये यह बड़ा भारी अयश प्राप्त हो रहा है। तुम अपने पराक्रमसे इन गन्धर्वोंको जीतकर मार भगाओ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विलपमानस्य कौरवस्यार्तया गिरा।
श्रुत्वा विलापं सम्भ्रान्तो घृणयाभिपरिप्लुतः ॥
युधिष्ठिरः पुनर्वाक्यं भीमसेनमथाब्रवीत्।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार आर्त वाणीमें विलाप करते हुए दुर्योधनका करुण क्रन्दन सुनकर माननीय युधिष्ठिर दयासे द्रवित हो गये। उन्होंने पुनः भीमसेनसे कहा—॥

क इहार्यो भवेत् त्राणमभिधावेति नोदितः।
प्राञ्जलिं शरणापन्नं दृष्ट्वा शत्रुमपि ध्रुवम् ॥ १२ ॥

'इस जगत्‌में कौन ऐसा श्रेष्ठ पुरुष है, जो हाथ जोड़कर शरणमें आये हुए शत्रुको भी देखकर और उसके द्वारा की हुई 'दौड़ो-बचाओ' की पुकार सुनकर उसकी रक्षाके लिये दौड़ नहीं पड़ेगा ? ॥ १२ ॥

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च पाण्डवाः।
शत्रोश्च मोक्षणं क्लेशात् त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ १३ ॥

'पाण्डवो ! वरदान, राज्यप्रदान, पुत्रकी प्राप्ति कराना तथा शत्रुका संकटसे उद्धार करना—इन चार वस्तुओंमेंसे प्रारम्भके तीन और अन्तका एक समान हैं ॥ १३ ॥

किं चाप्यधिकमेतस्माद् यदापन्नः सुयोधनः।
त्वद्बाहुबलमाश्रित्य जीवितं परिमार्गते ॥ १४ ॥

'तुम्हारे लिये इससे बढ़कर आनन्दकी बात और क्या होगी कि दुर्योधन विपत्तिमें पड़कर तुम्हारे बाहुबलके भरोसे अपने जीवनकी रक्षा करना चाहता है ? ॥ १४ ॥

स्वयमेव प्रधावेयं यदि न स्याद् वृकोदर।
विततो मे क्रतुर्वीर न हि मेऽत्र विचारणा ॥ १५ ॥

'वीर भीमसेन ! यदि मेरा यह यज्ञ प्रारम्भ न हो गया होता, तो मैं स्वयं ही दुर्योधनको छुड़ानेके लिये दौड़ा जाता। इस विषयमें मेरे लिये कोई दूसरा विचार करना उचित नहीं है ॥ १५ ॥

साम्नैव तु यथा भीम मोक्षयेथाः सुयोधनम्।
तथा सर्वैरुपायैस्त्वं यतेथाः कुरुनन्दन ॥ १६ ॥

'कुरुनन्दन भीम ! शान्तिपूर्ण ढंगसे समझा-बुझाकर जिस तरह भी दुर्योधनको छुड़ा सको, सभी उपायोंसे वैसा ही प्रयत्न करना ॥ १६ ॥

न साम्ना प्रतिपद्येत यदि गन्धर्वराडसौ।
पराक्रमेण मृदुना मोक्षयेथाः सुयोधनम् ॥ १७ ॥

'यदि समझाने-बुझानेसे वह गन्धर्वराज चित्रसेन तुम्हारी बात न माने, तो कोमलतापूर्ण पराक्रमके द्वारा दुर्योधनको छुड़ानेकी चेष्टा करना ॥ १७ ॥

अथासौ मृदुयुद्धेन न मुञ्चेद् भीम कौरवान्।
सर्वोपायैर्विमोच्यास्ते निगृह्य परिपन्थिनः ॥ १८ ॥

'भीम ! यदि कोमलतापूर्ण युद्धसे भी वह कौरवोंको न छोड़े, तो तुम सभी उपायोंसे उन लुटेरे गन्धर्वोंको कैद करके कौरवोंको छुड़ाना ॥ १८ ॥

एतावद्धि मया शक्यं संदेष्टुं वै वृकोदर।
वैताने कर्मणि तते वर्तमाने च भारत ॥ १९ ॥

'भरतनन्दन वृकोदर ! इस समय मेरा यह यज्ञकर्म चालू है; अतः ऐसी स्थितिमें मैं तुम्हें इतना ही संदेश दे सकता हूँ' ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अजातशत्रोर्वचनं तच्छ्रुत्वा तु धनंजयः।
प्रतिजज्ञे गुरोर्वाक्यं कौरवाणां विमोक्षणम् ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अजातशत्रु युधिष्ठिरका उपर्युक्त वचन सुनकर अर्जुनने अपने बड़े भाईकी आज्ञाके अनुसार कौरवोंको छुड़ानेकी प्रतिज्ञा की ॥ २० ॥



अर्जुन उवाच

यदि साम्ना न मोक्ष्यन्ति गन्धर्वा धृतराष्ट्रजान्।
अद्य गन्धर्वराजस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले—यदि गन्धर्वलोग समझाने-बुझानेसे कौरवोंको नहीं छोड़ेंगे, तो यह पृथ्वी आज गन्धर्वराजका रक्त पीयेगी ॥ २१ ॥

अर्जुनस्य तु तां श्रुत्वा प्रतिज्ञां सत्यवादिनः।
कौरवाणां तदा राजन् पुनः प्रत्यागतं मनः ॥ २२ ॥

राजन् ! सत्यवादी अर्जुनकी वह प्रतिज्ञा सुनकर कौरवोंके जीमें जी आया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनमोचनानुज्ञायां त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनको छुड़ानेकी आज्ञाविषयक दो सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५½ श्लोक मिलाकर कुल ३७½ श्लोक हैं)

चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका गन्धर्वोंके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरवचः श्रुत्वा भीमसेनपुरोगमाः।
प्रहृष्टवदनाः सर्वे समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरकी बात सुनकर भीमसेन आदि सभी नरश्रेष्ठ पाण्डव युद्धके लिये उठ खड़े हुए। उन सबके मुखपर प्रसन्नता छा रही थी ॥१॥

अभेद्यानि ततः सर्वे समनह्यन्त भारत।
जाम्बूनदविचित्राणि कवचानि महारथाः ॥ २ ॥

भारत ! तदनन्तर उन समस्त महारथियोंने जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित एवं विचित्र शोभा धारण करनेवाले अभेद्य कवच धारण किये ॥ २ ॥

आयुधानि च दिव्यानि विविधानि समादधुः ।
ते दंशिता रथैः सर्वे ध्वजिनः सशरासनाः ॥ ३ ॥
पाण्डवाः प्रत्यदृश्यन्त ज्वलिता इव पावकाः ।

फिर नाना प्रकारके दिव्य आयुध हाथमें लिये, कवच धारण करके रथोंपर आरूढ़ हो ध्वज और धनुषसे सुशोभित वे समस्त पाण्डव प्रज्वलित अग्नियोंके समान दिखायी देने लगे ॥ ३½ ॥

तान् रथान् साधुसम्पन्नान् संयुक्ताञ्जवनैर्हयैः॥ ४ ॥
आस्थाय रथशार्दूलाः शीघ्रमेव ययुस्ततः ।

उन रथोंमें तेज चलनेवाले घोड़े जुते हुए थे । वे सभी रथ युद्धकी आवश्यक सामग्रियोंसे पूर्णतः सम्पन्न थे । रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डव उनपर आरूढ़ हो शीघ्र ही वहाँसे चल दिये ॥ ४½ ॥

ततः कौरवसैन्यानां प्रादुरासीन्महास्वनः ॥ ५ ॥
प्रयातान् सहितान् दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रान् महारथान्।
जितकाशिनश्च खचरास्त्वरिताश्च महारथाः ॥ ६ ॥
क्षणेनैव वने तस्मिन् समाजग्मुरभीतवत् ।
न्यवर्तन्त ततः सर्वे गन्धर्वा जितकाशिनः ॥ ७ ॥

फिर तो कौरव सैनिकोंकी बड़ी भयंकर गर्जना सुनायी देने लगी । महारथी पाण्डवोंको एक साथ धावा बोलते देख विजयश्रीसे सुशोभित होनेवाले आकाशचारी महारथी गन्धर्व बड़ी उतावलीके साथ क्षणभरमें उस वनके भीतर ऐसे एकत्र हो गये, मानो उन्हें किसीका भय न हो । तदनन्तर अपनी विजयसे उल्लसित होते हुए सारे गन्धर्व शत्रुओंका सामना करनेके लिये लौट पड़े ॥ ५–७ ॥

दृष्ट्वा रथागतान् वीरान् पाण्डवांश्चतुरो रणे ।
तांस्तु विभ्राजितान् दृष्ट्वा लोकपालानिवोद्यतान्॥ ८ ॥
व्यूढानीका व्यतिष्ठन्त गन्धमादनवासिनः ।

उन्होंने देखा, चारों वीर पाण्डव युद्धके लिये उद्यत हो रथपर बैठे हुए आ रहे हैं और अपनी कान्तिसे लोकपालोंके समान उद्भासित हो रहे हैं । यह देखकर गन्धमादननिवासी गन्धर्व अपनी सेनाकी व्यूहरचना करके खड़े हो गये ॥८½॥

राज्ञस्तु वचनं स्मृत्वा धर्मपुत्रस्य धीमतः ॥ ९ ॥
क्रमेण मृदुना युद्धमुपक्रान्तं च भारत ।

भारत ! परम बुद्धिमान् धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके पूर्वोक्त वचनोंको स्मरण करके पाण्डवोंने कोमलतापूर्वक ही युद्ध आरम्भ किया ॥ ९½ ॥

न तु गन्धर्वराजस्य सैनिका मन्दचेतसः ॥ १० ॥
शक्यन्ते मृदुना श्रेयः प्रतिपादयितुं तदा ।

परंतु गन्धर्वराज चित्रसेनके मूढ़ सैनिक ऐसे नहीं थे, जिन्हें कोमलतापूर्ण बर्तावके द्वारा कल्याणके पथपर लाया जा सके ॥ १०½ ॥

ततस्तान् युधि दुर्धर्षान् सव्यसाची परंतपः ॥ ११ ॥
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमुवाच खचरान् रणे ।
विसर्जयत राजानं भ्रातरं मे सुयोधनम् ॥ १२ ॥

तो भी उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने रणदुर्जय आकाशचारी गन्धर्वोंको समझाते हुए इस प्रकार कहा—'तुम सब लोग मेरे भाई राजा दुर्योधनको छोड़ दो' ॥ ११-१२ ॥

त एवमुक्ता गन्धर्वाः पाण्डवेन यशस्विना ।
उत्स्मयन्तस्तदा पार्थमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १३ ॥

यशस्वी पाण्डुनन्दन अर्जुनके ऐसा कहनेपर गन्धर्वोंने मुसकराकर उनसे इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

एकस्यैव वयं तात कुर्याम वचनं भुवि ।
यस्य शासनमाज्ञाय चरामो विगतज्वराः ॥ १४ ॥
तेनैकेन यथाऽऽदिष्टं तथा वर्ताम भारत ।
न शास्ता विद्यतेऽस्माकमन्यस्तस्मात् सुरेश्वरात्॥ १५॥

'तात ! हम भूमण्डलमें केवल एक व्यक्तिकी ही आज्ञाका पालन करते हैं । भारत ! जिनके शासनको शिरोधार्य करके हम निश्चिन्त हो सर्वत्र विचरते हैं, हमारे उन्हीं एकमात्र स्वामीने जैसी आज्ञा दी है, वैसा बर्ताव हम कर रहे हैं । अतः इन देवेश्वरके सिवा दूसरा कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो हमलोगोंपर शासन कर सके' ॥ १४-१५ ॥

एवमुक्तः स गन्धर्वैः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
गन्धर्वान् पुनरेवेदं वचनं प्रत्यभाषत ॥ १६ ॥

गन्धर्वोंके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन अर्जुनने पुनः उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १६ ॥

न तद् गन्धर्वराजस्य युक्तं कर्म जुगुप्सितम् ।
परदाराभिमर्शश्च मानुषैश्च समागमः ॥ १७ ॥

'गन्धर्वो ! परायी स्त्रियोंका अपहरण और मनुष्योंके साथ युद्ध—ये घृणित कर्म गन्धर्वराज चित्रसेनको शोभा नहीं देते हैं ॥ १७ ॥

उत्सृज्यध्वं महावीर्यान् धृतराष्ट्रसुतानिमान् ।
दारांश्चैषां विमुञ्चध्वं धर्मराजस्य शासनात् ॥ १८ ॥

'अतः तुमलोग धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे इन महापराक्रमी धृतराष्ट्रके पुत्रों तथा इनकी स्त्रियोंको छोड़ दो ॥ १८ ॥

यदा साम्ना न मुञ्चध्वं गन्धर्वा धृतराष्ट्रजान् ।
मोक्षयिष्यामि विक्रम्य स्वयमेव सुयोधनम् ॥ १९ ॥

'गन्धर्वो ! यदि इस प्रकार समझाने-बुझानेसे तुमलोग धृतराष्ट्रके पुत्रोंको नहीं छोड़ोगे, तो मैं स्वयं ही पराक्रम करके दुर्योधनको छुड़ा लूँगा' ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः ।
ससर्ज निशितान् बाणान् खचरान् खचरान् प्रति ॥ २० ॥

ऐसा कहकर सव्यसाची अर्जुनने गन्धर्वोंके एक-एक दलपर अपने तीखे आकाशगामी बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥

तथैव शरवर्षेण गन्धर्वास्ते बलोत्कटाः ।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त पाण्डवाश्च दिवौकसः ॥ २१ ॥

इसी प्रकार बलोन्मत्त गन्धर्व भी बाणोंकी बौछार करते हुए पाण्डवोंसे भिड़ गये। इधरसे पाण्डव भी गन्धर्वोंका डटकर सामना करने लगे ॥ २१ ॥

ततः सुतुमुलं युद्धं गन्धर्वाणां तरस्विनाम् ।
बभूव भीमवेगानां पाण्डवानां च भारत ॥ २२ ॥

भारत ! तदनन्तर बलशाली गन्धर्वों तथा भयानक वेगवाले पाण्डवोंमें अत्यन्त भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि पाण्डवगन्धर्वयुद्धे चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें पाण्डव-गन्धर्वयुद्धविषयक दो सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके द्वारा गन्धर्वोंकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ततो दिव्यास्त्रसम्पन्ना गन्धर्वा हेममालिनः ।
विसृजन्तः शरान् दीप्तान् समन्तात् पर्यवारयन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दिव्यास्त्रोंसे सम्पन्न सुवर्णमालाधारी गन्धर्वोंने तेजोमय बाणोंकी वर्षा करते हुए चारों ओरसे पाण्डवोंको घेर लिया ॥

चत्वारः पाण्डवा वीरा गन्धर्वाश्च सहस्रशः ।
रणे संन्यपतन् राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २ ॥

राजन् ! वीर पाण्डव केवल चार थे, परंतु उस रणभूमिमें हजारों गन्धर्व उनपर एक साथ टूट पड़े थे। यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ २ ॥

यथा कर्णस्य च रथो धार्तराष्ट्रस्य चोभयोः ।
गन्धर्वैः शतशश्छिन्नौ तथा तेषां प्रचक्रिरे ॥ ३ ॥

गन्धर्वोंने जैसे कर्ण तथा दुर्योधन दोनोंके रथोंको छिन्न-भिन्न करके उनके सैकड़ों टुकड़े कर दिये थे, उसी प्रकार वे पाण्डवोंके रथोंको भी टूक-टूक कर देनेकी चेष्टामें लग गये ॥ ३ ॥

तान् समापततो राजन् गन्धर्वाञ्छतशो रणे ।
प्रत्यगृह्णन् नरव्याघ्राः शरवर्षैरनेकशः ॥ ४ ॥

राजन् ! रणभूमिमें सैकड़ों गन्धर्वोंको अपने ऊपर आक्रमण करते देख नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने बारं-बार बाणोंकी झड़ी लगाकर उन सबको रोक दिया ॥ ४ ॥

ते कीर्यमाणाः खगमाः शरवर्षैः समन्ततः ।
न शेकुः पाण्डुपुत्राणां समीपे परिवर्तितुम् ॥ ५ ॥

सब ओरसे बाणोंकी वर्षाका लक्ष्य होनेके कारण वे आकाशचारी गन्धर्व पाण्डवोंके समीप जानेका साहस न कर सके ॥ ५ ॥

अभिक्रुद्धानभिक्रुद्धो गन्धर्वानर्जुनस्तदा ।
लक्षयित्वाथ दिव्यानि महास्त्राण्युपचक्रमे ॥ ६ ॥

उस समय गन्धर्वोंको क्रोधमें भरे हुए देख अर्जुनने भी कुपित होकर महान् दिव्यास्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया ॥ ६ ॥

सहस्राणां सहस्राणि प्राहिणोद् यमसादनम् ।
आग्नेयेनार्जुनः संख्ये गन्धर्वाणां बलोत्कटः ॥ ७ ॥

वे अत्यन्त बलवान् थे। उन्होंने उस युद्धमें आग्नेयास्त्र-का प्रयोग करके दस लाख गन्धर्वोंको यमलोक पहुँचा दिया ॥

तथा भीमो महेष्वासः संयुगे बलिनां वरः ।
गन्धर्वाञ्छतशो राजञ्जघान निशितैः शरैः ॥ ८ ॥

राजन् ! इसी प्रकार बलवानोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर भीमसेनने अपने तीक्ष्ण सायकोंद्वारा सैकड़ों गन्धर्वोंको मार गिराया ॥

माद्रीपुत्रावपि तथा युध्यमानौ बलोत्कटौ ।
परिगृह्याग्रतो राजञ्जघ्नतुः शतशः परान् ॥ ९ ॥

उत्कट बलशाली माद्रीकुमार नकुल और सहदेवने भी युद्धमें तत्पर हो सैकड़ों शत्रुओंको आगेसे पकड़कर मार डाला ॥ ९ ॥

ते वध्यमाना गन्धर्वा दिव्यैरस्त्रैर्महारथैः ।
उत्पेतुः खमुपादाय धृतराष्ट्रसुतांस्ततः ॥ १० ॥

महारथी पाण्डवोंके चलाये दिव्यास्त्रोंकी मार खाकर गन्धर्व धृतराष्ट्रके पुत्रोंको लिये-दिये आकाशमें उड़ गये ॥ १० ॥

स तानुत्पतितान् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
महता शरजालेन समन्तात् पर्यवारयत् ॥ ११ ॥



अर्जुन-चित्रसेन-युद्ध

कुन्तीनन्दन अर्जुनने उन्हें आकाशमें उड़ते देख चारों ओर बाणोंका विस्तृत जाल-सा फैलाकर गन्धर्वोंको घेरेमें डाल दिया ॥ ११ ॥

ते बद्धाः शरजालेन शकुन्ता इव पञ्जरे ।
ववर्षुरर्जुनं क्रोधाद् गदाशक्त्यृष्टिवृष्टिभिः ॥ १२ ॥

उस जालमें वे उसी प्रकार बँध गये, जैसे पिंजड़ेमें पक्षी । अतः वे अत्यन्त कुपित होकर अर्जुनपर गदा, शक्ति और ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ १२ ॥

गदाशक्त्यृष्टिवृष्टीस्ता निहत्य परमास्त्रवित् ।
गात्राणि चाहनद् भल्लैर्गन्धर्वाणां धनंजयः ॥ १३ ॥

तब उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता अर्जुन उनकी गदा, शक्ति तथा ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षाका निवारण करके भल्ल नामक बाणोंद्वारा गन्धर्वोंके अङ्गोंपर आघात करने लगे ॥

शिरोभिः प्रपतद्भिश्च चरणैर्बाहुभिस्तथा ।
अश्मवृष्टिरिवाभाति परेषामभवद् भयम् ॥ १४ ॥

गन्धर्वोंके मस्तक, बाहु तथा पैर कट-कटकर इस प्रकार गिरने लगे, मानो पत्थरोंकी वर्षा हो रही हो । इससे शत्रुओंको बड़ा भय होने लगा ॥ १४ ॥

ते वध्यमाना गन्धर्वाः पाण्डवेन महात्मना ।
भूमिष्ठमन्तरिक्षस्थाः शरवर्षैरवाकिरन् ॥ १५ ॥

महात्मा पाण्डुनन्दन अर्जुनके बाणोंसे घायल होकर आकाशमें स्थित हुए गन्धर्वोंने पृथ्वीपर खड़े हुए अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की ॥ १५ ॥

तेषां तु शरवर्षाणि सव्यसाची परंतपः ।
अस्त्रैः संवार्य तेजस्वी गन्धर्वान् प्रत्यविध्यत ॥ १६ ॥

तेजस्वी परंतप सव्यसाचीने अपने अस्त्रोंद्वारा गन्धर्वोंकी बाणवर्षाका निवारण करके उन्हें फिरसे घायल कर दिया ॥

स्थूणाकर्णेन्द्रजालं च सौरं चापि तथार्जुनः ।
आग्नेयं चापि सौम्यं च ससर्ज कुरुनन्दनः ॥ १७ ॥

कुरुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले अर्जुनने स्थूणाकर्ण, इन्द्रजाल, सौर, आग्नेय तथा सौम्य नामक दिव्यास्त्रोंका प्रयोग किया ॥ १७ ॥

ते दह्यमाना गन्धर्वाः कुन्तीपुत्रस्य सायकैः ।
दैतेया इव शक्रेण विषादमगमन् परम् ॥ १८ ॥

कुन्तीकुमारके उन सायकोंसे गन्धर्व उसी प्रकार दग्ध होने लगे, जैसे इन्द्रके बाणोंद्वारा दैत्य । इससे उनको बड़ा विषाद हुआ ॥ १८ ॥

ऊर्ध्वमाक्रममाणाश्च शरजालेन वारिताः ।
विसर्पमाणा भल्लैश्च वार्यन्ते सव्यसाचिना ॥ १९ ॥

जब वे ऊपरकी ओर उड़ने लगते, तब अर्जुनके बाणोंके जालसे उनकी गति रुक जाती थी और जब इधर-उधर भागने लगते, तब सव्यसाची अर्जुनके भल्ल नामक बाण उन्हें आगे बढ़नेसे रोकते थे ॥ १९ ॥

गन्धर्वांस्त्रासितान् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रेण भारत ।
चित्रसेनो गदां गृह्य सव्यसाचिनमाद्रवत् ॥ २० ॥

भारत ! इस प्रकार कुन्तीकुमारके द्वारा गन्धर्वोंको त्रस्त हुआ देख गन्धर्वराज चित्रसेनने गदा लेकर सव्यसाची अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ २० ॥

तस्याभिपततस्तूर्णं गदाहस्तस्य संयुगे ।
गदां सर्वायसीं पार्थः शरैश्चिच्छेद सप्तधा ॥ २१ ॥

हाथमें गदा लिये बड़े वेगसे युद्धके लिये आते हुए चित्रसेनकी उस गदाके, जो सबकी सब लोहेकी बनी हुई थी, अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा सात टुकड़े कर दिये ॥ २१ ॥

स गदां बहुधा दृष्ट्वा कृत्तां बाणैस्तरस्विना ।
संवृत्य विद्ययाऽऽत्मानं योधयामास पाण्डवम् ॥ २२ ॥

वेगशाली अर्जुनके बाणोंसे अपनी गदाके अनेक टुकड़े हुए देख चित्रसेन अन्तर्धानविद्याद्वारा अपने आपको छिपाकर उन पाण्डुकुमारके साथ युद्ध करने लगे ॥ २२ ॥

अस्त्राणि तस्य दिव्यानि सम्प्रयुक्तानि सर्वशः ।
दिव्यैरस्त्रैस्तदा वीरः पर्यवारयदर्जुनः ॥ २३ ॥

उस समय उन्होंने जिन-जिन दिव्यास्त्रोंका प्रयोग किया, उन सबको वीर अर्जुनने अपने दिव्य अस्त्रोंद्वारा शान्त कर दिया ॥ २३ ॥

स वार्यमाणस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना ।
गन्धर्वराजो बलवान् माययान्तर्हितस्तदा ॥ २४ ॥

महात्मा अर्जुनके उन अस्त्रोंसे रोके जानेपर बलवान् गन्धर्वराज मायासे अदृश्य हो गये ॥ २४ ॥

अन्तर्हितं तमालक्ष्य प्रहरन्तमथार्जुनः ।
ताडयामास खचरैर्दिव्यास्त्रप्रतिमन्त्रितैः ॥ २५ ॥

उन्हें अदृश्य होकर प्रहार करते देख अर्जुनने दिव्यास्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित किये हुए आकाशचारी बाणोंसे बींध डाला ॥ २५ ॥

अन्तर्धानवधं चास्य चक्रे क्रुद्धोऽर्जुनस्तदा ।
शब्दवेधं समाश्रित्य बहुरूपो धनंजयः ॥ २६ ॥

(रणभूमिमें सब ओर विचरनेके कारण) उस समय अर्जुन अनेक रूप धारण किये हुए जान पड़ते थे । उन्होंने कुपित होकर शब्दवेधका सहारा ले चित्रसेनकी अन्तर्धानरूप मायाको भी नष्ट कर दिया ॥ २६ ॥

स वध्यमानस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना ।
ततोऽस्य दर्शयामास तदाऽऽत्मानं प्रियः सखा ॥ २७ ॥

चित्रसेन अर्जुनके प्यारे सखा थे । उन्होंने महात्मा अर्जुनके बाणोंसे अत्यन्त घायल होनेपर अपने-आपको उनके सामने प्रकट कर दिया ॥ २७ ॥



चित्रसेनस्तथोवाच सखायं युधि विद्धि माम् ।
चित्रसेनमथालक्ष्य सखायं युधि दुर्बलम् ॥ २८ ॥
संजहारास्त्रमथ तत् प्रहृष्टं पाण्डवर्षभः ।
दृष्ट्वा तु पाण्डवाः सर्वे संहृतास्त्रं धनंजयम् ॥ २९ ॥
संजहुः प्रद्रुतानश्वाञ्छरवेगान् धनूंषि च ।

चित्रसेनने उनसे कहा—'कुन्तीनन्दन ! इस युद्धमें मुझे तुम अपना सखा चित्रसेन समझो।' यह सुनकर अर्जुनने चित्रसेनकी ओर दृष्टिपात किया । अपने सखाको युद्धमें अत्यन्त दुर्बल हुआ देख पाण्डवप्रवर अर्जुनने अपने धनुषपर प्रकट किये हुए उस दिव्यास्त्रका उपसंहार कर दिया । अर्जुनको अपना अस्त्र समेटते देख सब पाण्डवोंने भी दौड़ते हुए घोड़ोंको रोक लिया तथा वेगपूर्वक छूटनेवाले बाणों और धनुषोंका संचालन भी बंद कर दिया ॥ २८-२९½ ॥

चित्रसेनश्च भीमश्च सव्यसाची यमावपि ।
पृष्ट्वा कौशलमन्योन्यं रथेष्वेवावतस्थिरे ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् गन्धर्वराज चित्रसेन, भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेव सब लोग परस्पर कुशल-समाचार पूछकर अपने रथोंमें ही बैठे रहे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि गन्धर्वपराभवे पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें गन्धर्वपराजयविषयक दो सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४५ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

चित्रसेन, अर्जुन तथा युधिष्ठिरका संवाद और दुर्योधनका छुटकारा

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनश्चित्रसेनं प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
मध्ये गन्धर्वसैन्यानां महेष्वासो महाद्युतिः ॥ १ ॥
किं ते व्यवसितं वीर कौरवाणां विनिग्रहे ।
किमर्थं च सदारोऽयं निगृहीतः सुयोधनः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर परम कान्तिमान् महाधनुर्धर अर्जुनने गन्धर्वोंकी सेनाके बीच चित्रसेनसे हँसते हुए पूछा—'वीर ! कौरवोंको बंदी बनानेमें तुम्हारा क्या उद्देश्य था ? स्त्रियोंसहित दुर्योधनको तुमने किसलिये कैद किया ?' ॥ १-२ ॥

चित्रसेन उवाच

विदितोऽयमभिप्रायस्तत्रस्थेन दुरात्मनः ।
दुर्योधनस्य पापस्य कर्णस्य च धनंजय ॥ ३ ॥
वनस्थान् भवतो ज्ञात्वा क्लिश्यमानाननाथवत् ।
समस्थो विषमस्थांस्तान् द्रक्ष्यामीत्यनवस्थितान्॥ ४ ॥
इमेऽवहसितुं प्राप्ता द्रौपदीं च यशस्विनीम् ।
ज्ञात्वा चिकीर्षितं चैषां मामुवाच सुरेश्वरः ॥ ५ ॥

चित्रसेनने कहा—धनंजय ! देवराज इन्द्रको स्वर्गमें बैठे-ही-बैठे दुरात्मा दुर्योधन और पापी कर्णका यह अभिप्राय मालूम हो गया था कि ये आपलोगोंको वनमें रहकर अनाथकी भाँति क्लेश उठाते और विषम परिस्थितिमें पड़कर अस्थिरभावसे रहते हुए जानकर भी उस अवस्थामें आपको देखने और दुखी करनेका निश्चय कर चुके हैं । ये स्वयं सम (सुखपूर्ण) अवस्थामें स्थित हैं, फिर भी आप पाण्डवों तथा यशस्विनी द्रौपदीकी हँसी उड़ानेके लिये वनमें आये हैं । इस प्रकार इनकी (आपलोगोंका अनिष्ट करनेकी) इच्छा जानकर देवेश्वर इन्द्रने मुझसे इस प्रकार कहा—॥ ३—५ ॥

गच्छ दुर्योधनं बद्ध्वा सहामात्यमिहानय ।
धनंजयश्च ते रक्ष्यः सह भ्रातृभिराहवे ॥ ६ ॥
स च प्रियः सखा तुभ्यं शिष्यश्च तव पाण्डवः ।

'चित्रसेन ! तुम जाओ और दुर्योधनको उसके मन्त्रियोंसहित बाँधकर यहाँ ले आओ । युद्धमें तुम्हें भाइयोंसहित अर्जुनकी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि पाण्डुनन्दन अर्जुन तुम्हारे प्रिय सखा तथा शिष्य हैं' ॥ ६½ ॥

वचनाद् देवराजस्य ततोऽस्मीहागतो द्रुतम् ॥ ७ ॥

अयं दुरात्मा बद्धश्च गमिष्यामि सुरालयम्।
नेष्याम्येनं दुरात्मानं पाकशासनशासनात्॥ ८॥

वहाँसे देवराजकी यह आज्ञा मानकर मैं तुरंत यहाँ चला आया। यह दुरात्मा दुर्योधन मेरी कैदमें आ गया है; अतः अब मैं देवलोकको जाऊँगा और पाकशासन इन्द्रकी आज्ञासे इस दुरात्माको भी वहीं ले जाऊँगा॥ ७-८॥

अर्जुन उवाच

उत्सृज्यतां चित्रसेन भ्रातास्माकं सुयोधनः।
धर्मराजस्य संदेशान्मम चेदिच्छसि प्रियम्॥ ९॥

अर्जुन बोले—चित्रसेन! दुर्योधन हमलोगोंका भाई है। यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो, तो धर्मराजके आदेशसे इसे छोड़ दो॥ ९॥

चित्रसेन उवाच

पापोऽयं नित्यसंतुष्टो न विमोक्षणमर्हति।
प्रलब्धा धर्मराजस्य कृष्णायाश्च धनंजय॥ १०॥

चित्रसेनने कहा—धनंजय! यह पापी सदा राज्य-सुख भोगनेके कारण हर्षसे मतवाला हो उठा है; अतः इसे छोड़ना उचित नहीं है। इसने धर्मराज युधिष्ठिर तथा द्रौपदीको धोखा दिया है॥ १०॥

नेदं चिकीर्षितं तस्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
जानाति धर्मराजो हि श्रुत्वा कुरु यथेच्छसि॥ ११॥

कुन्तीनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर इसके इस कुटिल अभिप्रायको नहीं जानते हैं; अतः यह सब सुनकर तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो॥ ११॥

वैशम्पायन उवाच

ते सर्व एव राजानमभिजग्मुर्युधिष्ठिरम्।
अभिगम्य च तत् सर्वं शशंसुस्तस्य चेष्टितम्॥ १२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वे सब लोग राजा युधिष्ठिरके पास गये। वहाँ जाकर गन्धर्वोंने दुर्योधनकी सारी कुचेष्टा कह सुनायी॥ १२॥

अजातशत्रुस्तच्छ्रुत्वा गन्धर्वस्य वचस्तदा।
मोक्षयामास तान् सर्वान् गन्धर्वान् प्रशशंस च॥ १३॥

गन्धर्वोंका यह कथन सुनकर अजातशत्रु युधिष्ठिरने उस समय समस्त कौरवोंको बन्धनसे छुड़ा दिया और गन्धर्वोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की—॥ १३॥

दिष्ट्या भवद्भिर्बलिभिः शक्तैः सर्वैर्न हिंसितः।
दुर्वृत्तो धार्तराष्ट्रोऽयं सामात्यज्ञातिबान्धवः॥ १४॥

'आप सब लोग बलवान् और सामर्थ्यशाली हैं। आपने मन्त्रियों तथा जातिभाइयोंसहित इस दुराचारी दुर्योधनका वध नहीं किया, यह बड़े सौभाग्यकी बात है॥ १४॥

उपकारो महांस्तात कृतोऽयं मम खेचरैः।
कुलं न परिभूतं मे मोक्षणेऽस्य दुरात्मनः॥ १५॥

'तात! आकाशचारी गन्धर्वोंने यह मेरा बहुत बड़ा उपकार किया कि इस दुरात्माको छोड़ दिया, इसलिये मेरे कुलका अपमान नहीं हुआ॥ १५॥

आज्ञापयध्वमिष्टानि प्रीयामो दर्शनेन वः।
प्राप्य सर्वानभिप्रायांस्ततो व्रजत मा चिरम्॥ १६॥

'गन्धर्वो! अपनी अभीष्ट सेवाके लिये हमें आज्ञा दीजिये। हम सब लोग आपके दर्शनसे बहुत प्रसन्न हैं। अपनी समस्त मनोवाञ्छित वस्तुओंको प्राप्त करनेके पश्चात् यहाँसे शीघ्रता-पूर्वक प्रस्थान कीजियेगा॥ १६॥

अनुज्ञातास्तु गन्धर्वाः पाण्डुपुत्रेण धीमता।
सहाप्सरोभिः संहृष्टाश्चित्रसेनमुखा ययुः॥ १७॥

बुद्धिमान् पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे आज्ञा लेकर चित्रसेन आदि सब गन्धर्व अप्सराओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे विदा हुए॥ १७॥

(देवलोकं ततो गत्वा गन्धर्वैः सहितस्तदा।
न्यवेदयच्च तत् सर्वं चित्रसेनः शतक्रतोः॥)
देवराडपि गन्धर्वान् मृतांस्तान् समजीवयत्।
दिव्येनामृतवर्षेण ये हताः कौरवैर्युधि॥ १८॥

तदनन्तर गन्धर्वोंसहित चित्रसेनने देवलोकमें पहुँचकर देवराज इन्द्रके समक्ष सब समाचार निवेदन किया। युद्धमें कौरवोंद्वारा जो गन्धर्व मारे गये थे, उन सबको देवराज इन्द्रने दिव्य अमृतकी वर्षा करके जिला दिया।१८।

ज्ञातींस्तानवमुच्याथ राजदारांश्च सर्वशः।
कृत्वा च दुष्करं कर्म प्रीतियुक्ताश्च पाण्डवाः॥ १९॥
सस्त्रीकुमारैः कुरुभिः पूज्यमाना महारथाः।
बभ्राजिरे महात्मानः क्रतुमध्ये यथाग्नयः॥ २०॥

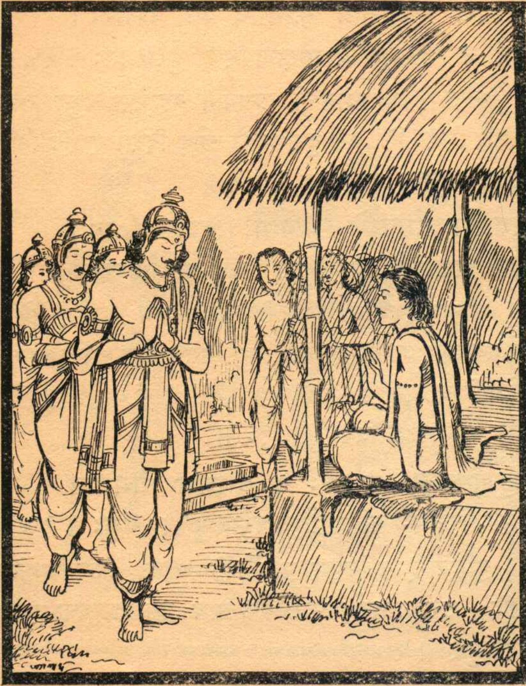
इस प्रकार उन सब भाई-बंधुओं एवं राजकुलकी महिलाओंको गन्धर्वोंसे छुड़ाकर एवं दुष्कर पराक्रम करके प्रसन्न हुए महा-रथी महामना पाण्डव स्त्री-बालकोंसहित कौरवोंद्वारा पूजित एवं प्रशंसित हो यज्ञमण्डपमें प्रज्वलित अग्नियोंके समान देदीप्यमान हो रहे थे॥ १९-२०॥

ततो दुर्योधनं मुक्तं भ्रातृभिः सहितस्तदा।
युधिष्ठिरस्तु प्रणयादिदं वचनमब्रवीत्॥ २१॥

तदनन्तर बन्धनमुक्त हुए दुर्योधनसे भाइयोंसहित युधिष्ठिरने प्रेमपूर्वक यह बात कही—॥ २१॥

मा स्म तात पुनः कार्षीरीदृशं साहसं क्वचित्।
न हि साहसकर्तारः सुखमेधन्ति भारत॥ २२॥

'तात! फिर कभी ऐसा दुःसाहस न करना। भारत!



दुःसाहस करनेवाले मनुष्य कभी सुखी नहीं होते ॥ २२ ॥

स्वस्तिमान् सहितः सर्वैर्भ्रातृभिः कुरुनन्दन ।
गृहान् व्रज यथाकामं वैमनस्यं च मा कृथाः ॥ २३ ॥

'कुरुनन्दन ! अब तुम अपने सब भाइयोंके साथ कुशल-पूर्वक इच्छानुसार घर जाओ । हमलोगोंके प्रति मनमें वैमनस्य न रखना ।' ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवेनाभ्यनुज्ञातो राजा दुर्योधनस्तदा ।
प्रणम्य धर्मपुत्रं तु गतेन्द्रिय इवातुरः ॥ २४ ॥
विदीर्यमाणो व्रीडावाञ्जगाम नगरं प्रति ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर राजा दुर्योधनने उन धर्मपुत्र अजातशत्रुको प्रणाम करके अपने नगरकी ओर प्रस्थान किया । उस समय जिसकी इन्द्रियाँ काम न देती हों उस रोगीकी भाँति उसका हृदय व्यथासे विदीर्ण हो रहा था । उसे अपने कुकृत्यपर बड़ी लज्जा हो रही थी ॥ २४½ ॥

तस्मिन् गते कौरवेये कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥
भ्रातृभिः सहितो वीरः पूज्यमानो द्विजातिभिः ।
तपोधनैश्च तैः सर्वैर्वृतः शक्र इवामरैः ॥ २६ ॥
तथा द्वैतवने तस्मिन् विजहार मुदा युतः ॥ २७ ॥

दुर्योधनके चले जानेपर द्विजातियोंसे प्रशंसित होते हुए भाइयोंसहित वीर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर वहाँके समस्त तपस्वी मुनियोंसे घिरे रहकर देवताओंके बीचमें बैठे हुए इन्द्रकी भाँति शोभा पाने और प्रसन्नतापूर्वक द्वैतवनमें विहार करने लगे ॥ २५-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनमोक्षणे षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनको छुड़ानेसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २८ श्लोक हैं)

सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सेनासहित दुर्योधनका मार्गमें ठहरना और कर्णके द्वारा उसका अभिनन्दन

जनमेजय उवाच

शत्रुभिर्जितबद्धस्य पाण्डवैश्च महात्मभिः ।
मोक्षितस्य युधा पश्चान्मानिनः सुदुरात्मनः ॥ १ ॥
कत्थनस्यावलिप्तस्य गर्वितस्य च नित्यशः ।
सदा च पौरुषौदार्यैः पाण्डवानवमन्यतः ॥ २ ॥
दुर्योधनस्य पापस्य नित्याहंकारवादिनः ।
प्रवेशो हास्तिनपुरे दुष्करः प्रतिभाति मे ॥ ३ ॥
तस्य लज्जान्वितस्यैव शोकव्याकुलचेतसः ।
प्रवेशं विस्तरेण त्वं वैशम्पायन कीर्तय ॥ ४ ॥

जनमेजय बोले—मुने ! दुर्योधनको शत्रुओंने जीता और बाँध लिया । फिर महात्मा पाण्डवोंने गन्धर्वोंके साथ युद्ध करके उसे छुड़ाया । ऐसी दशामें उस अभिमानी और दुरात्मा दुर्योधनका हस्तिनापुरमें प्रवेश करना मुझे तो अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है; क्योंकि वह अपने शौर्यके विषयमें बहुत डींग हाँका करता था, घमंडमें भरा रहता था और सदा गर्वके नशेमें चूर रहा करता था । उसने अपने पौरुष और उदारताद्वारा सदा पाण्डवोंका अपमान ही किया था । पापी दुर्योधन सदा अहंकारकी ही बातें करता था । पाण्डवोंकी सहायतासे मेरे जीवनकी रक्षा हुई, यह सोचकर तो वह लज्जित हो गया होगा; उसका हृदय शोकसे व्याकुल हो उठा होगा । वैशम्पायनजी ! ऐसी स्थितिमें उसने अपनी राजधानीमें कैसे प्रवेश किया ? यह विस्तारपूर्वक कहिये ॥ १-४ ॥

वैशम्पायन उवाच

धर्मराजनिसृष्टस्तु धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ।
लज्जयाधोमुखः सीदन्नुपासर्पत् सुदुःखितः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! धर्मराजसे विदा होकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन लज्जासे मुँह नीचे किये अत्यन्त दुखी और खिन्न होकर वहाँसे चल दिया ॥ ५ ॥

स्वपुरं प्रययौ राजा चतुरङ्गबलानुगः ।
शोकोपहतया बुद्ध्या चिन्तयानः पराभवम् ॥ ६ ॥

राजा दुर्योधनकी बुद्धि शोकसे मारी गयी थी । वह अपने अपमानपर विचार करता हुआ चतुरङ्गिणी सेनाके साथ नगरकी ओर चल पड़ा ॥ ६ ॥

विमुच्य पथि यानानि देशे सुयवसोदके ।
संनिविष्टः शुभे रम्ये भूमिभागे यथेप्सितम् ॥ ७ ॥
हस्त्यश्वरथपादातं यथास्थानं न्यवेशयत् ।

रास्तेमें एक ऐसा स्थान मिला, जहाँ घास और जलकी सुविधा थी । दुर्योधन अपने वाहनोंको वहीं छोड़कर एक सुन्दर एवं रमणीय भूभागमें अपनी रुचिके अनुसार ठहर गया । हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंको भी उसने यथास्थान ठहरनेकी आज्ञा दे दी ॥ ७½ ॥

अथोपविष्टं राजानं पर्यङ्के ज्वलनप्रभे ॥ ८ ॥
उपप्लुतं यथा सोमं राहुणा रात्रिसंक्षये ।

राजा दुर्योधन अग्निके समान उद्दीप्त होनेवाले (सोनेके) पलंगपर बैठा हुआ था । रात्रिके अन्तमें चन्द्रमापर राहुद्वारा ग्रहण लग जानेपर जैसे उसकी शोभा नष्ट हो जाती है, वही दशा उस समय दुर्योधनकी भी थी ॥ ८½ ॥

उपागम्याब्रवीत् कर्णो दुर्योधनमिदं तदा ॥ ९ ॥
दिष्ट्या जीवसि गान्धारे दिष्ट्या नः सङ्गमः पुनः ।
दिष्ट्या त्वया जिताश्चैव गन्धर्वाः कामरूपिणः ॥ १० ॥

उस समय कर्णने समीप आकर दुर्योधनसे इस प्रकार कहा— 'गान्धारीनन्दन ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम जीवित हो । सौभाग्यवश हमलोग पुनः एक दूसरेसे मिल गये । भाग्यसे तुमने इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले गन्धर्वोंपर विजय पायी, यह और भी प्रसन्नताकी बात है ॥ ९-१० ॥

दिष्ट्या समग्रान् पश्यामि भ्रातृंस्ते कुरुनन्दन ।
विजिगीषून् रणे युक्तान् निर्जितारीन् महारथान् ॥ ११ ॥

'कुरुनन्दन ! मैं तुम्हारे सम्पूर्ण महारथी भाइयोंको, जो शत्रुओंपर विजय पा चुके हैं, युद्धके लिये उद्यत तथा पुनः विजयकी अभिलाषासे युक्त देख रहा हूँ, यह भी सौभाग्यका ही सूचक है ॥ ११ ॥

अहं त्वभिद्रुतः सर्वैर्गन्धर्वैः पश्यतस्तव ।
नाशक्नुवं स्थापयितुं दीर्यमाणां च वाहिनीम् ॥ १२ ॥

'मैं तो तुम्हारे देखते-देखते ही समस्त गन्धर्वोंसे पराजित होकर भाग गया था । तितर-बितर होकर भागती हुई सेनाको स्थिर न रख सका ॥ १२ ॥

शरक्षताङ्गश्च भृशं व्यपयातोऽभिपीडितः ।
इदं त्वत्यद्भुतं मन्ये यद् युष्मानिह भारत ॥ १३ ॥
अरिष्टानक्षतांश्चापि सदारबलवाहनान् ।
विमुक्तान् सम्प्रपश्यामि युद्धात् तस्मादमानुषात् ॥ १४ ॥

'बाणोंके आघातसे मेरा सारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया था । समस्त अङ्गोंमें बड़ी वेदना हो रही थी; इसीलिये मुझे भागना पड़ा । भारत ! तुमलोग, जो उस अमानुषिक युद्धसे छूटकर यहाँ स्त्री, सेना और वाहनोंसहित सकुशल तथा क्षतिसे रहित दिखायी देते हो; यह बात मुझे बड़ी अद्भुत जान पड़ती है ॥ १३-१४ ॥

नैतस्य कर्ता लोकेऽस्मिन् पुमान् भारत विद्यते ।
यत् कृतं ते महाराज सह भ्रातृभिराहवे ॥ १५ ॥

'भरतनन्दन महाराज ! इस युद्धमें भाइयोंसहित तुमने जो पराक्रम कर दिखाया है, उसे करनेवाला दूसरा कोई पुरुष इस संसारमें नहीं है' ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा ।
उवाच चाङ्गराजानं बाष्पगद्गदया गिरा ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कर्णके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधन उस समय अश्रुगद्गद वाणीद्वारा अङ्गराज (कर्ण) से इस प्रकार बोला ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदुर्योधनसंवादे सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णदुर्योधनसंवादविषयक दो सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका कर्णको अपनी पराजयका समाचार बताना

दुर्योधन उवाच

अजानतस्ते राधेय नाभ्यसूयाम्यहं वचः ।
जानासि त्वं जिताञ्छत्रून् गन्धर्वांस्तेजसा मया ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—राधानन्दन ! तुम सब बातें जानते नहीं हो, इसीसे मैं तुम्हारे इस कथनको बुरा नहीं मानता । तुम समझते हो कि मैंने अपने शत्रुभूत गन्धर्वोंको अपने ही

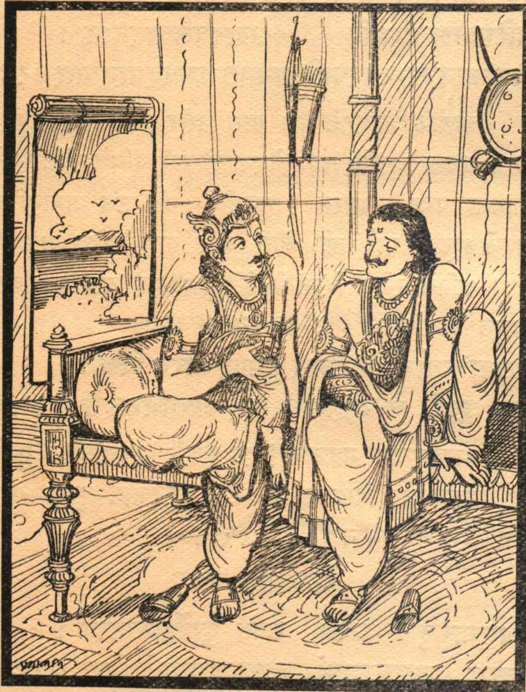
पराक्रमसे हराया है; परंतु ऐसी बात नहीं है ॥ १ ॥

आयोधितास्तु गन्धर्वाः सुचिरं सोदरैर्मम ।
मया सह महाबाहो कृतश्चोभयतः क्षयः ॥ २ ॥

महाबाहो ! मेरे भाइयोंने मेरे साथ रहकर गन्धर्वोंके साथ बहुत देरतक युद्ध किया और उसमें दोनों पक्षके बहुत-से सैनिक मारे गये ॥ २ ॥

मायाधिकास्त्वयुध्यन्त यदा शूरा वियद्गताः ।
तदा नो न समं युद्धमभवत् खेचरैः सह ॥ ३ ॥

परंतु जब मायाके कारण अधिक शक्तिशाली शूरवीर गन्धर्व आकाशमें खड़े होकर युद्ध करने लगे, तब उनके साथ हमलोगोंका युद्ध समान स्थितिमें नहीं रह सका ॥ ३ ॥



पराजयं च प्राप्ताः स्मो रणे बन्धनमेव च ।
सभृत्यामात्यपुत्राश्च सदारबलवाहनाः ॥ ४ ॥

युद्धमें हमारी पराजय हुई और हम सेवक, सचिव, पुत्र, स्त्री, सेना तथा सवारियोंसहित बंदी बना लिये गये ॥

उच्चैराकाशमार्गेण ह्रताःस्मस्तैः सुदुःखिताः ।
अथ नः सैनिकाः केचिदमात्याश्च महारथाः ॥ ५ ॥
उपगम्याब्रुवन् दीनाः पाण्डवाञ्छरणप्रदान् ।

फिर गन्धर्व हमें ऊँचे आकाशमार्गसे ले चले। उस समय हमलोग अत्यन्त दुखी हो रहे थे । तदनन्तर हमारे कुछ सैनिकों और महारथी मन्त्रियोंने अत्यन्त दीन हो शरणदाता पाण्डवोंके पास जाकर कहा—॥ ५½ ॥

एष दुर्योधनो राजा धार्तराष्ट्रः सहानुजः ॥ ६ ॥
सामात्यदारो ह्रियते गन्धर्वैर्दिवमाश्रितैः ।

'कुन्तीकुमारो ! ये धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन अपने भाइयों, मन्त्रियों तथा स्त्रियोंके साथ यहाँ आये थे । इन्हें गन्धर्वगण आकाशमार्गसे हरकर लिये जाते हैं ॥ ६½ ॥

तं मोक्षयत भद्रं वः सहदारं नराधिपम् ॥ ७ ॥
पराभवो मा भविष्यत् कुरुदारेषु सर्वशः ।

'आपलोगोंका कल्याण हो । रानियोंसहित महाराजको छुड़ाइये । कहीं ऐसा न हो कि कुरुकुलकी स्त्रियोंका तिरस्कार हो जाय' ॥ ७½ ॥

एवमुक्ते तु धर्मात्मा ज्येष्ठः पाण्डुसुतस्तदा ॥ ८ ॥
प्रसाद्य पाण्डवान् सर्वानाज्ञापयत मोक्षणे ।

उनके ऐसा कहनेपर ज्येष्ठ पाण्डुपुत्र धर्मात्मा युधिष्ठिरने अन्य सब पाण्डवोंको राजी करके हम सब लोगोंको छुड़ानेके लिये आज्ञा दी ॥ ८½ ॥

अथागम्य तमुद्देशं पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ॥ ९ ॥
सान्त्वपूर्वमयाचन्त शक्ताः सन्तो महारथाः ।

तदनन्तर पुरुषसिंह महारथी पाण्डव उस स्थानपर आकर समर्थ होते हुए भी गन्धर्वोंसे सान्त्वनापूर्ण शब्दोंमें (हमें छोड़ देनेके लिये) याचना करने लगे ॥ ९½ ॥

यदा चास्मान् न मुमुचुर्गन्धर्वाः सान्त्विता अपि ॥ १० ॥
(आकाशचारिणो वीरा नदन्तो जलदा इव) ।
ततोऽर्जुनश्च भीमश्च यमजौ च बलोत्कटौ ।
मुमुचुः शरवर्षाणि गन्धर्वान् प्रत्यनेकशः ॥ ११ ॥

उनके समझाने-बुझानेपर भी जब आकाशचारी वीर गन्धर्व हमें न छोड़ सके और बादलोंकी भाँति गर्जने लगे, तब अर्जुन, भीम तथा उत्कट बलशाली नकुल-सहदेवने उन असंख्य गन्धर्वोंकी ओर लक्ष्य करके बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १०-११ ॥

अथ सर्वे रणं मुक्त्वा प्रयाताः खेचरा दिवम् ।
अस्मानेवाभिकर्षन्तो दीनान् मुदितमानसाः ॥ १२ ॥

फिर तो सारे गन्धर्व रणभूमि छोड़कर आकाशमें उड़ गये और मन-ही-मन आनन्दका अनुभव करते हुए हम दीन-दुःखियोंको अपनी ओर घसीटने लगे ॥ १२ ॥

ततः समन्तात् पश्यामः शरजालेन वेष्टितम् ।
अमानुषाणि चास्त्राणि प्रमुञ्चन्तं धनंजयम् ॥ १३ ॥

इसी समय हमने देखा, चारों ओर बाणोंका जाल-सा बन गया है और उससे वेष्टित हो अर्जुन अलौकिक अस्त्रोंकी वर्षा कर रहे हैं ॥

समावृता दिशो दृष्ट्वा पाण्डवेन शितैः शरैः ।
धनंजयसखाऽऽत्मानं दर्शयामास वै तदा ॥ १४ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने अपने तीखे बाणोंसे समस्त

दिशाओंको आच्छादित कर दिया है, यह देखकर उनके सखा चित्रसेनने अपने आपको उनके सामने प्रकट कर दिया॥

चित्रसेनः पाण्डवेन समाश्लिष्य परस्परम्।
कुशलं परिपप्रच्छ तैः पृष्टश्चाप्यनामयम्॥ १५॥

फिर तो चित्रसेन और अर्जुन दोनों एक-दूसरेसे मिले और कुशल-मङ्गल तथा स्वास्थ्यका समाचार पूछने लगे॥

ते समेत्य तथान्योन्यं सन्नाहान् विप्रमुच्य च।
एकीभूतास्ततो वीरा गन्धर्वाः सह पाण्डवैः।
अपूजयेतामन्योन्यं चित्रसेनधनंजयौ॥ १६॥

दोनोंने एक दूसरेसे मिलकर अपना कवच उतार दिया। फिर समस्त वीर गन्धर्व पाण्डवोंके साथ मिलकर एक हो गये। तत्पश्चात् चित्रसेन और धनंजयने एक दूसरेका आदर-सत्कार किया॥ १६॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनवाक्ये अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २४८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक दो सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२४८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १६½ श्लोक हैं)

एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका कर्णसे अपनी ग्लानिका वर्णन करते हुए आमरण अनशनका निश्चय, दुःशासनको राजा बननेका आदेश, दुःशासनका दुःख और कर्णका दुर्योधनको समझाना

दुर्योधन उवाच

चित्रसेनं समागम्य प्रहसन्नर्जुनस्तदा।
इदं वचनमक्लीबमब्रवीत् परवीरहा॥ १॥

दुर्योधन बोला—कर्ण! चित्रसेनसे मिलकर उस समय शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने हँसते हुए-से यह शूरोचित वचन कहा—॥ १॥

भ्रातॄनर्हसि मे वीर मोक्तुं गन्धर्वसत्तम।
अनर्हधर्षणा ह्येते जीवमानेषु पाण्डुषु॥ २॥

'वीर गन्धर्वश्रेष्ठ! तुम्हें मेरे इन भाइयोंको मुक्त कर देना चाहिये। पाण्डवोंके जीते-जी ये इस प्रकार अपमान सहन करने योग्य नहीं हैं'॥ २॥

एवमुक्तस्तु गन्धर्वः पाण्डवेन महात्मना।
उवाच यत् कर्ण वयं मन्त्रयन्तो विनिर्गताः॥ ३॥
द्रष्टारः स्म सुखाद्धीनान् सदारान् पाण्डवानिति।

कर्ण! महात्मा पाण्डुनन्दन अर्जुनके ऐसा कहनेपर गन्धर्वने वह बात कह दी, जिसके लिये सलाह करके हमलोग घरसे चले थे। उसने बताया कि 'ये कौरव सुखसे वञ्चित हुए पाण्डवों तथा द्रौपदीकी दुर्दशा देखनेके लिये आये हैं'॥ ३½॥

तस्मिन्नुच्चार्यमाणे तु गन्धर्वेण वचस्तथा॥ ४॥
भूमेर्विवरमन्वैच्छं प्रवेष्टुं व्रीडयान्वितः।

जिस समय गन्धर्व उपर्युक्त बात कह रहा था, उस समय मैं (अत्यन्त) लज्जित हो गया। मेरी इच्छा हुई कि धरती फटे और मैं उसमें समा जाऊँ॥ ४½॥

युधिष्ठिरमथागम्य गन्धर्वाः सह पाण्डवैः॥ ५॥
अस्मद्दुर्मन्त्रितं तस्मै बद्धांश्चास्मान् न्यवेदयन्।

तत्पश्चात् गन्धर्वोंने पाण्डवोंके साथ युधिष्ठिरके पास आकर हमलोगोंकी दुर्मन्त्रणा उन्हें बतायी और हमें उनके सुपुर्द कर दिया। उस समय हम सब लोग बँधे हुए थे।५½।

स्त्रीसमक्षमहं दीनो बद्धः शत्रुवशं गतः॥ ६॥
युधिष्ठिरस्योपहृतः किं नु दुःखमतः परम्।

स्त्रियोंके सामने मैं दीनभावसे बँधकर शत्रुओंके वशमें पड़ गया और उसी दशामें युधिष्ठिरको अर्पित किया गया। इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है?।६½।

ये मे निराकृता नित्यं रिपुर्येषामहं सदा॥ ७॥
तैर्मोक्षितोऽहं दुर्बुद्धिर्दत्तं तैरेव जीवितम्।

जिनका मैंने सदा तिरस्कार किया और जिनका मैं सर्वदा शत्रु बना रहा, उन्हीं लोगोंने मुझ दुर्बुद्धिको शत्रुओंके बन्धनसे छुड़ाया है और उन्होंने ही मुझे जीवनदान दिया है॥ ७½॥

प्राप्तः स्यां यद्यहं वीर वधं तस्मिन् महारणे॥ ८॥
श्रेयस्तद् भविता मह्यं नैवंभूतस्य जीवितम्।

वीर! यदि मैं उस महायुद्धमें मारा गया होता, तो यह मेरे लिये कल्याणकारी होता; परंतु इस दशामें जीवित रहना कदापि अच्छा नहीं है॥ ८½॥

भवेद् यशः पृथिव्यां मे ख्यातं गन्धर्वतो वधात्॥ ९॥
प्राप्ताश्च पुण्यलोकाः स्युर्महेन्द्रसदनेऽक्षयाः।

गन्धर्वके हाथसे मारे जानेपर इस भूमण्डलमें मेरा यश विख्यात हो जाता और इन्द्रलोकमें मुझे अक्षय पुण्यधाम प्राप्त होते॥ ९½॥

यत् त्वद्य मे व्यवसितं तच्छृणुध्वं नरर्षभाः॥ १०॥
इह प्रायमुपासिष्ये यूयं व्रजत वै गृहान्।

नरश्रेष्ठ वीरो ! अब मैंने जो निश्चय किया है, उसे सुनो । मैं यहाँ आमरण अनशन करूँगा । तुम सब लोग घर लौट जाओ ॥ १०½ ॥

भ्रातरश्चैव मे सर्वे यान्त्वद्य स्वपुरं प्रति ॥ ११ ॥
कर्णप्रभृतयश्चैव सुहृदो बान्धवाश्च ये ।
दुःशासनं पुरस्कृत्य प्रयान्त्वद्य पुरं प्रति ॥ १२ ॥

मेरे सब भाई आज अपनी राजधानीको चले जायँ । कर्ण आदि मेरे मित्र तथा बान्धवगण भी दुःशासनको आगे करके आज ही हस्तिनापुरको लौट जायँ ॥ ११-१२ ॥

न ह्यहं सम्प्रयास्यामि पुरं शत्रुनिराकृतः ।
शत्रुमानापहो भूत्वा सुहृदां मानकृत् तथा ॥ १३ ॥

शत्रुओंसे अपमानित होकर अब मैं अपने नगरको नहीं जाऊँगा । अबतक मैंने शत्रुओंका मानमर्दन किया है और सुहृदोंको सम्मान दिया है ॥ १३ ॥

स सुहृच्छोकदो जातः शत्रूणां हर्षवर्धनः ।
वारणाह्वयमासाद्य किं वक्ष्यामि जनाधिपम् ॥ १४ ॥

परंतु आज मैं अपने सुहृदोंके लिये शोकदायक और शत्रुओंका हर्ष बढ़ानेवाला हो गया । हस्तिनापुर जाकर मैं राजासे क्या कहूँगा ? ॥ १४ ॥

भीष्मद्रोणौ कृपद्रौणी विदुरः संजयस्तथा ।
बाह्लीकः सौमदत्तिश्च ये चान्ये वृद्धसम्मताः ॥ १५ ॥
ब्राह्मणाः श्रेणिमुख्याश्च तथोदासीनवृत्तयः ।
किं मां वक्ष्यन्ति किं चापि प्रतिवक्ष्यामि तानहम् ॥ १६ ॥

भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विदुर, संजय, बाह्लीक, भूरिश्रवा तथा अन्य जो वृद्ध पुरुषोंके लिये आदरणीय महानुभाव हैं, वे तथा ब्राह्मण, प्रमुख वैश्यगण और उदासीन वृत्तिवाले लोग मुझसे क्या कहेंगे और मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ? ॥ १५-१६ ॥

रिपूणां शिरसि स्थित्वा तथा विक्रम्य चोरसि ।
आत्मदोषात् परिभ्रष्टः कथं वक्ष्यामि तानहम् ॥ १७ ॥

मैं पराक्रम करके शत्रुओंके मस्तक तथा छातीपर खड़ा हो गया था; परंतु अब अपने ही दोषसे नीचे गिर गया । ऐसी दशामें उन आदरणीय पुरुषोंसे मैं किस प्रकार वार्तालाप करूँगा ? ॥ १७ ॥

दुर्विनीताः श्रियं प्राप्य विद्यामैश्वर्यमेव च ।
तिष्ठन्ति न चिरं भद्रे यथाहं मदगर्वितः ॥ १८ ॥

उद्दण्ड मनुष्य लक्ष्मी, विद्या तथा ऐश्वर्यको पाकर भी दीर्घकालतक कल्याणमय पदपर प्रतिष्ठित नहीं रह पाते हैं । जैसे मैं मद और अहंकारमें चूर होकर अपनी प्रतिष्ठा खो बैठा हूँ ॥ १८ ॥

अहो नार्हमिदं कर्म कष्टं दुश्चरितं कृतम् ।
स्वयं दुर्बुद्धिना मोहाद् येन प्राप्तोऽस्मि संशयम् ॥ १९ ॥

अहो ! यह कुकर्म मेरे योग्य नहीं था । मुझ दुर्बुद्धिने स्वयं ही मोहवश दुःखदायक दुष्कर्म कर डाला; जिससे (गन्धर्वोंका बंदी हो जानेके कारण) मेरा जीवन संदिग्ध हो गया ॥ १९ ॥

तस्मात् प्रायमुपासिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ।
चेतयानो हि को जीवेत् कृच्छ्राच्छत्रुभिरुद्धृतः ॥ २० ॥

इसलिये मैं(अवश्य)आमरण उपवास करूँगा । अब जीवित नहीं रह सकूँगा । जिसका शत्रुओंने संकटसे उद्धार किया हो, ऐसा कौन विचारशील पुरुष जीवित रहना चाहेगा ? ॥२०॥

शत्रुभिश्चावहसितो मानी पौरुषवर्जितः ।
पाण्डवैर्विक्रमाढ्यैश्च सावमानमवेक्षितः ॥ २१ ॥

शत्रुओंने मेरी हँसी उड़ायी है । मुझे अपने पौरुषका अभिमान था; किंतु यहाँ मैं कोई पुरुषार्थ न दिखा सका । पराक्रमी पाण्डवोंने अवहेलनापूर्ण दृष्टिसे मुझे देखा है । (ऐसी दशामें मुझे इस जीवनसे विरक्ति हो गयी है) ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं चिन्तापरिगतो दुःशासनमथाब्रवीत् ।
दुःशासन निबोधेदं वचनं मम भारत ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार चिन्तामग्न हुए दुर्योधनने दुःशासनसे कहा—'भरतनन्दन दुःशासन ! मेरी यह बात सुनो— ॥ २२ ॥

प्रतीच्छ त्वं मया दत्तमभिषेकं नृपो भव ।
प्रशाधि पृथिवीं स्फीतां कर्णसौबलपालिताम् ॥ २३ ॥

'मैं तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ । तुम मेरे दिये हुए इस राज्यको ग्रहण करो और राजा बनो । कर्ण और शकुनिकी सहायतासे सुरक्षित एवं धन-धान्यसे समृद्ध इस पृथ्वीका शासन करो ॥ २३ ॥

भ्रातॄन् पालय विस्रब्धं मरुतो वृत्रहा यथा ।
बान्धवाश्चोपजीवन्तु देवा इव शतक्रतुम् ॥ २४ ॥

'जैसे इन्द्र मरुद्गणोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार तुम अपने अन्य भाइयोंका विश्वासपूर्वक पालन करना । जैसे देवता इन्द्रके आश्रित रहकर जीवननिर्वाह करते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे बान्धवजन भी तुम्हारा आश्रय लेकर जीविका चलावें ॥२४॥

ब्राह्मणेषु सदा वृत्तिं कुर्वीथाश्चाप्रमादतः ।
बन्धूनां सुहृदां चैव भवेथास्त्वं गतिः सदा ॥ २५ ॥

'प्रमाद छोड़कर सदा ब्राह्मणोंकी जीविकाकी व्यवस्था एवं रक्षा करना । बन्धुओं तथा सुहृदोंको सदैव सहारा देते रहना ॥ २५ ॥

ज्ञातींश्चाप्यनुपश्येथा विष्णुर्देवगणान् यथा ।
गुरवः पालनीयास्ते गच्छ पालय मेदिनीम् ॥ २६ ॥
नन्दयन् सुहृदः सर्वान् शात्रवांश्चावभर्त्सयन् ।
कण्ठे चैनं परिष्वज्य गम्यतामित्युवाच ह ॥ २७ ॥

'जैसे भगवान् विष्णु देवताओंपर कृपादृष्टि रखते हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने कुटुम्बीजनोंकी देखभाल करते रहना और गुरुजनोंका सदैव पालन करना । अच्छा, अब जाओ और समस्त सुहृदोंका आनन्द बढ़ाते तथा शत्रुओंकी भर्त्सना करते हुए अपनी अधिकृत भूमिकी रक्षा करो ।' ऐसा कहकर दुर्योधनने दुःशासनको गलेसे लगा लिया और गद्गद कण्ठसे कहा—'जाओ' ॥ २६-२७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा दीनो दुःशासनोऽब्रवीत् ।
अश्रुकण्ठः सुदुःखार्तः प्राञ्जलिः प्रणिपत्य च ॥ २८ ॥
सगद्गदमिदं वाक्यं भ्रातरं ज्येष्ठमात्मनः ।
प्रसीदेत्यपतद् भूमौ दूयमानेन चेतसा ॥ २९ ॥
दुःखितः पादयोस्तस्य नेत्रजं जलमुत्सृजन् ।
उक्तवांश्च नरव्याघ्रो नैतदेवं भविष्यति ॥ ३० ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर दुःशासनका गला भर आया । वह अत्यन्त दुःखसे आतुर हो दीनभावसे हाथ जोड़कर अपने बड़े भाईके चरणोंमें गिर पड़ा और गद्गद वाणीमें व्यथित चित्तसे इस प्रकार बोला—'भैया ! आप प्रसन्न हों !' ऐसा कहकर वह धरतीपर लोट गया और दुःखसे कातर हो दुर्योधनके दोनों चरणोंमें अपने नेत्रोंका अश्रुजल चढ़ाता हुआ नरश्रेष्ठ दुःशासन यों बोला—'नहीं' ऐसा नहीं होगा ॥

विदीर्येत् सकला भूमिर्द्यौश्चापि शकलीभवेत् ।
रविरात्मप्रभां जह्यात् सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ॥ ३१ ॥
वायुः शैघ्र्यमथो जह्याद्धिमवांश्च परिव्रजेत् ।
शुष्येत् तोयं समुद्रेषु वह्निरप्युष्णतां त्यजेत् ॥ ३२ ॥
न चाहं त्वदृते राजन् प्रशासेयं वसुन्धराम् ।
पुनः पुनः प्रसीदेति वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ३३ ॥

'चाहे सारी पृथ्वी फट जाय, आकाशके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ, सूर्य अपनी प्रभा और चन्द्रमा अपनी शीतलता त्याग दें, वायु अपनी तीव्र गति छोड़ दें, हिमालय अपना स्थान छोड़कर इधर-उधर घूमने लगे, समुद्रका जल सूख जाय तथा अग्नि अपनी उष्णता त्याग दे; परंतु मैं आपके बिना इस पृथ्वीका शासन नहीं करूँगा । राजन् ! अब आप प्रसन्न हो जाइये, प्रसन्न हो जाइये ।' इस अन्तिम वाक्यको दुःशासनने बार-बार दुहराया और इस प्रकार कहा—॥ ३१-३३ ॥

त्वमेव नः कुले राजा भविष्यसि शतं समाः ।
एवमुक्त्वा स राजानं सुस्वरं प्ररुरोद ह ॥ ३४ ॥
पादौ संस्पृश्य मानार्हौ भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भारत ।

'भैया ! आप ही हमारे कुलमें सौ वर्षोंतक राजा बने रहेंगे ।' जनमेजय ! ऐसा कहकर दुःशासन अपने बड़े भाईके माननीय चरणोंको पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगा ॥३४½॥

तथा तौ दुःखितौ दृष्ट्वा दुःशासनसुयोधनौ ॥ ३५ ॥
अधिगम्य व्यथाविष्टः कर्णस्तौ प्रत्यभाषत ।

दुःशासन और दुर्योधनको इस प्रकार दुखी होते देख कर्णके मनमें बड़ी व्यथा हुई । उसने निकट जाकर उन दोनोंसे कहा—॥ ३५½ ॥

विषीदथः किं कौरव्यौ बालिश्यात् प्राकृताविव ॥ ३६ ॥
न शोकः शोचमानस्य विनिवर्तेत कर्हिचित् ।

'कुरुकुलके श्रेष्ठ वीरो ! तुम दोनों गँवारोंकी तरह नासमझीके कारण इतना विषाद क्यों कर रहे हो ? शोकमें डूबे रहनेसे किसी मनुष्यका शोक कभी निवृत्त नहीं होता ॥३६½॥

यदा च शोचतः शोको व्यसनं नापकर्षति ॥ ३७ ॥
सामर्थ्यं किं ततः शोके शोचमानौ प्रपश्यथः ।
धृतिं गृह्णीतमा शत्रून् शोचन्तौ नन्दयिष्यथः ॥ ३८ ॥

जब शोक करनेवालेका शोक उसपर आये हुए संकटको टाल नहीं सकता है, तब उसमें क्या सामर्थ्य है ? यह तुम दोनों भाई शोक करके प्रत्यक्ष देख रहे हो । अतः धैर्य धारण करो । शोक करके तो शत्रुओंका हर्ष ही बढ़ाओगे ॥३७-३८॥

कर्तव्यं हि कृतं राजन् पाण्डवैस्तव मोक्षणम् ।
नित्यमेव प्रियं कार्यं राज्ञो विषयवासिभिः ॥ ३९ ॥

'राजन् ! पाण्डवोंने गन्धर्वोंके हाथसे तुम्हें छुड़ाकर अपने कर्तव्यका ही पालन किया है । राजाके राज्यमें रहनेवालोंको सदा ही उसका प्रिय करना चाहिये ॥ ३९ ॥

पाल्यमानास्त्वया ते हि निवसन्ति गतज्वराः ।
नार्हस्येवंगते मन्युं कर्तुं प्राकृतवद् यथा ॥ ४० ॥

'तुमसे सुरक्षित होकर वे यहाँ निश्चिन्ततापूर्वक निवास कर रहे हैं । ऐसी दशामें तुम्हें निम्न कोटिके मनुष्योंकी तरह दीनतापूर्ण खेद नहीं करना चाहिये ॥ ४० ॥

विषण्णास्तव सोदर्यास्त्वयि प्रायं समास्थिते ।
(तदलं दुःखितानेतान् कर्तुं सर्वान् नराधिप ॥)
उत्तिष्ठ व्रज भद्रं ते समाश्वासय सोदरान् ॥ ४१ ॥

'राजन् ! तुम आमरण उपवासका व्रत लेकर बैठे हो और इधर तुम्हारे सगे भाई शोक एवं विषादमें डूबे हुए हैं । बस, इन सबको दुखी करनेसे कोई लाभ नहीं है । तुम्हारा भला हो । उठो, चलो और अपने भाइयोंको आश्वासन दो' ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रायोपवेशनविषयक दो सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४१½ श्लोक हैं)

पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्णके समझानेपर भी दुर्योधनका आमरण अनशन करनेका ही निश्चय

कर्ण उवाच

राजन्नाद्यावगच्छामि तवेह लघुसत्त्वताम्।
किमत्र चित्रं यद् वीर मोक्षितः पाण्डवैरसि ॥ १ ॥
सद्यो वशं समापन्नः शत्रूणां शत्रुकर्शन।

कर्ण बोला—राजन्! आज तुम जो यहाँ इतनी लघुताका अनुभव कर रहे हो, इसका कोई कारण मेरी समझमें नहीं आता। शत्रुनाशक वीर! यदि एक बार शत्रुओंके वशमें पड़ जानेपर पाण्डवोंने तुम्हें छुड़ाया है, तो इसमें कौन अद्भुत बात हो गयी? ॥ १½ ॥

सेनाजीवैश्च कौरव्य तथा विषयवासिभिः ॥ २ ॥
अज्ञातैर्यदि वा ज्ञातैः कर्तव्यं नृपतेः प्रियम्।

कुरुश्रेष्ठ! जो राजकीय सेनामें रहकर जीविका चलाते हैं तथा राजाके राज्यमें निवास करते हैं, वे ज्ञात हों या अज्ञात; उनका कर्तव्य है कि वे सदा राजाका प्रिय करें ॥ २½ ॥

प्रायः प्रधानाः पुरुषाः क्षोभयन्त्यरिवाहिनीम् ॥ ३ ॥
निगृह्यन्ते च युद्धेषु मोक्ष्यन्ते चैव सैनिकैः।

प्रायः देखा जाता है कि प्रधान पुरुष लड़ते-लड़ते शत्रुओंकी सेनाको व्याकुल कर देते हैं। फिर उसी युद्धमें वे बंदी बना लिये जाते हैं और साधारण सैनिकोंकी सहायतासे छूट भी जाते हैं ॥ ३½ ॥

सेनाजीवाश्च ये राज्ञां विषये सन्ति मानवाः ॥ ४ ॥
तैः सङ्गम्य नृपार्थाय यतितव्यं यथातथम्।

जो मनुष्य सेनाजीवी हैं अथवा राजाके राज्यमें निवास करते हैं, उन सबको मिलकर अपने राजाके हितके लिये यथोचित प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४½ ॥

यद्येवं पाण्डवै राजन् भवद्विषयवासिभिः ॥ ५ ॥
यदृच्छया मोक्षितोऽसि तत्र का परिदेवना।

राजन्! यदि तुम्हारे राज्यमें निवास करनेवाले पाण्डवोंने इसी नीतिके अनुसार दैववश तुम्हें शत्रुओंके हाथसे छुड़ा दिया है, तो इसमें खेद करनेकी क्या बात है? ॥ ५½ ॥

न चैतत् साधु यद् राजन् पाण्डवास्त्वां नृपोत्तमम् ॥
स्वसेनया सम्प्रयान्तं नानुयान्ति स्म पृष्ठतः।

राजन्! आप श्रेष्ठ नरेश हैं और अपनी सेनाके साथ वनमें पधारे हैं, ऐसी दशामें यहाँ रहनेवाले पाण्डव यदि आपके पीछे-पीछे न चलते—आपकी सहायता न करते, तो यह उनके लिये अच्छी बात न होती ॥ ६½ ॥

शूराश्च बलवन्तश्च संयुगेष्वपलायिनः ॥ ७ ॥
भवतस्ते सहाया वै प्रेष्यतां पूर्वमागताः।

पाण्डव शौर्यसम्पन्न, बलवान् तथा युद्धमें पीठ न दिखानेवाले हैं। वे आपके दास तो बहुत पहले ही हो चुके हैं, अतः उन्हें आपका सहायक होना ही चाहिये ॥ ७½ ॥

पाण्डवेयानि रत्नानि त्वमद्याप्युपभुञ्जसे ॥ ८ ॥
सत्त्वस्थान् पाण्डवान् पश्य न ते प्रायमुपाविशन्।
(तदलं ते महाबाहो विषादं कर्तुमीदृशम्।)
उत्तिष्ठ राजन् भद्रं ते न चिरं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

पाण्डवोंके पास जितने रत्न थे, उन सबका उपभोग आज तुम्हीं कर रहे हो; तथापि देखो, पाण्डव कितने धैर्यवान् हैं कि उन्होंने कभी आमरण अनशन नहीं किया। अतः महाबाहो! तुम्हारे इस प्रकार विषाद करनेसे कोई लाभ नहीं है। राजन्! उठो, तुम्हारा कल्याण हो। अब यहाँ अधिक विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥ ८-९ ॥

अवश्यमेव नृपते राज्ञो विषयवासिभिः।
प्रियाण्याचरितव्यानि तत्र का परिदेवना ॥ १० ॥

नरेश्वर! राजाके राज्यमें निवास करनेवाले लोगोंको अवश्य ही उसके प्रिय कार्य करने चाहिये। अतः इसके लिये पछताने या विलाप करनेकी क्या बात है? ॥ १० ॥

मद्वाक्यमेतद् राजेन्द्र यद्येवं न करिष्यसि।
स्थास्यामीह भवत्पादौ शुश्रूषन्नरिमर्दन ॥ ११ ॥

शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाले महाराज! यदि तुम मेरी यह बात नहीं मानोगे, तो मैं भी तुम्हारे चरणोंकी सेवा करता हुआ यहीं रह जाऊँगा ॥ ११ ॥

नोत्सहे जीवितुमहं त्वद्विहीनो नरर्षभ।
प्रायोपविष्टस्तु नृप राज्ञां हास्यो भविष्यसि ॥ १२ ॥

नरश्रेष्ठ! तुमसे अलग होकर मैं जीवित नहीं रहना चाहता राजन्! आमरण अनशनके लिये बैठ जानेपर तुम समस्त राजाओंके उपहासपात्र हो जाओगे ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा।
नैवोत्थातुं मनश्चक्रे स्वर्गाय कृतनिश्चयः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कर्णके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने स्वर्गलोकमें ही जानेका निश्चय करके उस समय उठनेका विचार नहीं किया ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे कर्णवाक्ये पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रायोपवेशनके प्रसङ्गमें कर्णवाक्यसम्बन्धी दो सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १३½ श्लोक हैं)

एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शकुनिके समझानेपर भी दुर्योधनको प्रायोपवेशनसे विचलित होते न देखकर दैत्योंका कृत्याद्वारा उसे रसातलमें बुलाना

वैशम्पायन उवाच

प्रायोपविष्टं राजानं दुर्योधनममर्षणम्।
उवाच सान्त्वयन् राजञ्छकुनिः सौबलस्तदा॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर अमर्षमें भरकर आमरण उपवासके लिये बैठे हुए राजा दुर्योधनको सान्त्वना देते हुए सुबलपुत्र शकुनिने कहा ॥ १ ॥

शकुनिरुवाच

सम्यगुक्तं हि कर्णेन तच्छ्रुतं कौरव त्वया।
मया हृतां श्रियं स्फीतां तां मोहादपहाय किम्॥ २ ॥

शकुनि बोला—कुरुनन्दन! कर्णने बहुत अच्छी बात कही है, जो तुमने सुनी ही है। मैंने पाण्डवोंसे तुम्हारे लिये जिस समृद्धशालिनी राजलक्ष्मीका अपहरण किया है, तुम उसे मोहवश क्यों त्याग रहे हो? ॥ २ ॥

त्वमल्पबुद्ध्या नृपते प्राणानुत्स्रष्टुमर्हसि।
अथवाप्यवगच्छामि न वृद्धाः सेवितास्त्वया॥ ३ ॥

नरेश्वर! तुम अपनी अल्पबुद्धिके कारण ही आज प्राण-त्याग करनेको उतारू हो गये हो अथवा मैं समझता हूँ कि तुमने कभी वृद्धपुरुषोंका सेवन नहीं किया है ॥ ३ ॥

यः समुत्पतितं हर्षं दैन्यं वा न नियच्छति।
स नश्यति श्रियं प्राप्य पात्रमाममिवाम्भसि॥ ४ ॥

जो मनुष्य सहसा उत्पन्न हुए हर्ष अथवा शोकपर नियन्त्रण नहीं रखता, वह राजलक्ष्मीको पाकर भी उसी प्रकार नष्ट हो जाता है; जैसे मिट्टीका कच्चा बर्तन पानीमें गल जाता है॥४॥

अतिभीरुमतिक्लीबं दीर्घसूत्रं प्रमादिनम्।
व्यसनाद् विषयाक्रान्तं न भजन्ति नृपं प्रजाः॥ ५ ॥

जो राजा अत्यन्त डरपोक, बहुत कायर, दीर्घसूत्री (आलसी), प्रमादी और दुर्व्यसनवश विषयोंमें फँसा होता है, उसे प्रजा अपना स्वामी नहीं स्वीकार करती है ॥५॥

सत्कृतस्य हि ते शोको विपरीते कथं भवेत्।
मा कृतं शोभनं पार्थैः शोकमालम्ब्य नाशय॥ ६ ॥

पाण्डवोंने तुम्हारा सत्कार किया है, तो तुम्हें शोक हो रहा है। इसके विपरीत यदि उन्होंने तिरस्कार किया होता, तो न जाने तुम्हारी कैसी दशा हो जाती? कुन्तीकुमारोंने जो सद्व्यवहार किया है, उसे तुम शोकका आश्रय लेकर नष्ट न कर दो ॥ ६ ॥

यत्र हर्षस्त्वया कार्यः सत्कर्तव्याश्च पाण्डवाः।
तत्र शोचसि राजेन्द्र विपरीतमिदं तव॥ ७ ॥

राजेन्द्र! जहाँ तुम्हें हर्ष मनाना और पाण्डवोंका सत्कार करना चाहिये था, वहाँ तुम शोक कर रहे हो। तुम्हारा यह व्यवहार तो उल्टा ही है ॥ ७ ॥

प्रसीद मा त्यजात्मानं तुष्टश्च सुकृतं स्मर।
प्रयच्छ राज्यं पार्थानां यशो धर्ममवाप्नुहि॥ ८ ॥

अतः मनमें प्रसन्नता लाओ। शरीरका त्याग न करो। पाण्डवोंने तुम्हारे साथ जो सद्व्यवहार किया है, उसे स्मरण करो और संतुष्ट होकर उनका राज्य उन्हें लौटा दो। ऐसा करके यश और धर्मके भागी बनो ॥ ८ ॥

क्रियामेतां समाज्ञाय कृतज्ञस्त्वं भविष्यसि।
सौभ्रात्रं पाण्डवैः कृत्वा समवस्थाप्य चैव तान्॥ ९ ॥
पित्र्यं राज्यं प्रयच्छैषां ततः सुखमवाप्स्यसि।

मेरे इस प्रस्तावको समझकर ऐसा ही करो। इससे तुम कृतज्ञ माने जाओगे। पाण्डवोंके साथ उत्तम भाईचारेका बर्ताव करके उन्हें राज्यसिंहासनपर बिठा दो और उनका पैतृक राज्य उन्हें समर्पित कर दो। इससे तुम्हें सुख प्राप्त होगा ॥ ९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

शकुनेस्तु वचः श्रुत्वा दुःशासनमवेक्ष्य च॥ १० ॥
पादयोः पतितं वीरं विक्लवं भ्रातृसौहृदम्।
बाहुभ्यां साधुजाताभ्यां दुःशासनमरिंदमम्॥ ११ ॥
उत्थाप्य सम्परिष्वज्य प्रीत्याजिघ्रत मूर्धनि।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! शकुनिका यह वचन सुनकर दुर्योधनने अपने चरणोंमें पड़े हुए म्लान मुखवाले भ्रातृभक्त शत्रुदमन वीर दुःशासनकी ओर देखकर अपनी सुन्दर बाँहोंद्वारा उसे उठाया और प्रेमपूर्वक हृदयसे लगाकर उसका मस्तक सूँघा ॥ १०-११½ ॥

कर्णसौबलयोश्चापि संश्रुत्य वचनान्यसौ॥ १२ ॥
निर्वेदं परमं गत्वा राजा दुर्योधनस्तदा।
व्रीडयाभिपरीतात्मा नैराश्यमगमत् परम्॥ १३ ॥

कर्ण और शकुनिकी भी बातें सुनकर राजा दुर्योधन अत्यन्त उदास हो गया तथा मन-ही-मन लज्जासे अभिभूत हो उसने बड़ी निराशाका अनुभव किया ॥ १२-१३ ॥

तच्छ्रुत्वा सुहृदश्चैव समन्युरिदमब्रवीत्।
न धर्मधनसौख्येन नैश्वर्येण न चाज्ञया॥ १४ ॥

नैव भोगैश्च मे कार्यं मा विहन्यत गच्छत।
निश्चितेयं मम मतिः स्थिता प्रायोपवेशने ॥ १५ ॥
गच्छध्वं नगरं सर्वे पूज्याश्च गुरवो मम।

सब सुहृदोंके वचन सुनकर दुर्योधनने उनसे कुपित हो इस प्रकार कहा—'मुझे धर्म, धन, सुख, ऐश्वर्य, शासन और भोग किसीकी भी आवश्यकता नहीं है। तुमलोग मेरे निश्चयमें बाधा न डालो। यहाँसे चले जाओ। आमरण अनशन करनेके सम्बन्धमें मेरी बुद्धिका निश्चय अटल है। तुम सब लोग नगरको जाओ और वहाँ मेरे गुरुजनोंका सदा आदर-सत्कार करो' ॥ १४-१५½ ॥

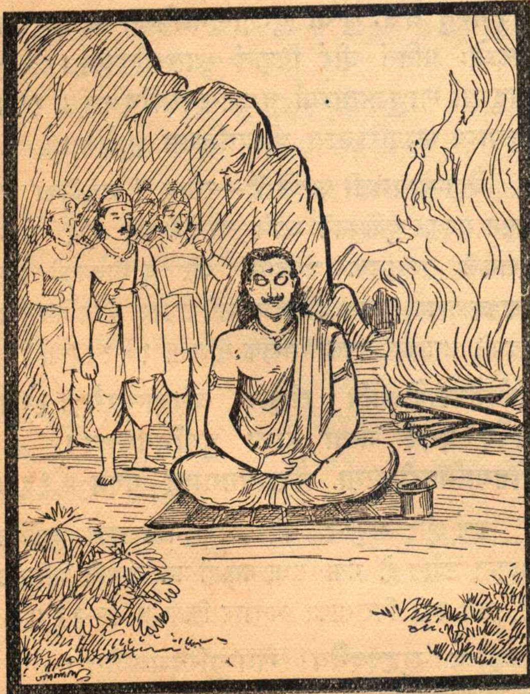
त एवमुक्ताः प्रत्यूचू राजानमरिमर्दनम् ॥ १६ ॥
या गतिस्तव राजेन्द्र सास्माकमपि भारत।
कथं वा सम्प्रवेक्ष्यामस्त्वद्विहीनाः पुरं वयम् ॥ १७ ॥

ऐसा उत्तर पाकर सब सुहृदोंने शत्रुदमन राजा दुर्योधनसे कहा—'राजेन्द्र! तुम्हारी जो गति होगी, वही हमारी भी होगी। भारत! हम तुम्हारे बिना हस्तिनापुरमें कैसे प्रवेश करेंगे?' ॥ १६-१७ ॥

वैशम्पायन उवाच

स सुहृद्भिरमात्यैश्च भ्रातृभिः स्वजनेन च।
बहुप्रकारमप्युक्तो निश्चयान्न विचाल्यते ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुर्योधनको उसके सुहृद्, मन्त्री, भाई तथा स्वजनोंने बहुतेरा समझाया, परंतु कोई भी उसे अपने निश्चयसे विचलित न कर सका ॥ १८ ॥



दर्भास्तरणमास्तीर्य निश्चयाद् धृतराष्ट्रजः।
संस्पृश्यापः शुचिर्भूत्वा भूतले समुपस्थितः ॥ १९ ॥
कुशचीराम्बरधरः परं नियममास्थितः।
वाग्यतो राजशार्दूलः स स्वर्गगतिकाम्यया ॥ २० ॥
मनसोपचितिं कृत्वा निरस्य च बहिःक्रियाः।

धृतराष्ट्रपुत्र नृपश्रेष्ठ दुर्योधन अपने निश्चयपर अटल रहकर आचमन करके पवित्र हो पृथ्वीपर कुशका आसन बिछा कुश और वल्कलके वस्त्र धारण करके बैठा और स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे वाणीका संयम करके उपवासके उत्तम नियमोंका पालन करने लगा। उस समय उसने मनके द्वारा मरनेका ही निश्चय करके स्नान-भोजन आदि बाह्य क्रियाओंको सर्वथा त्याग दिया था ॥ १९-२०½ ॥

अथ तं निश्चयं तस्य बुद्ध्वा दैतेयदानवाः ॥ २१ ॥
पातालवासिनो रौद्राः पूर्वं देवैर्विनिर्जिताः।
ते स्वपक्षक्षयं तं तु ज्ञात्वा दुर्योधनस्य वै ॥ २२ ॥
आह्वानाय तदा चक्रुः कर्म वैतानसम्भवम्।
बृहस्पत्युशनोक्तैश्च मन्त्रैर्मन्त्रविशारदाः ॥ २३ ॥
अथर्ववेदप्रोक्तैश्च याश्चोपनिषदि क्रियाः।
मन्त्रजप्यसमायुक्तास्तास्तदा समवर्तयन् ॥ २४ ॥

दुर्योधनके इस निश्चयको जानकर पातालवासी भयंकर दैत्यों और दानवोंने, जो पूर्वकालमें देवताओंसे पराजित हो चुके थे, मन-ही-मन विचार किया कि इस प्रकार दुर्योधनका प्राणान्त होनेसे तो हमारा पक्ष ही नष्ट हो जायगा; अतः उसे अपने पास बुलानेके लिये मन्त्रविद्यामें निपुण दैत्योंने उस समय बृहस्पति और शुक्राचार्यके द्वारा वर्णित तथा अथर्ववेदमें प्रतिपादित मन्त्रोंद्वारा अग्निविस्तारसाध्य यज्ञकर्मका अनुष्ठान आरम्भ किया और उपनिषद् (आरण्यक) में जो मन्त्रजपसे युक्त हवनादि क्रियाएँ बतायी गयी हैं, उनका भी सम्पादन किया ॥ २१–२४ ॥

जुह्वत्यग्नौ हविः क्षीरं मन्त्रवत् सुसमाहिताः।
ब्राह्मणा वेदवेदाङ्गपारगाः सुदृढव्रताः ॥ २५ ॥

तब दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले, वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो मन्त्रोच्चारणपूर्वक प्रज्वलित अग्निमें घृत और खीरकी आहुति देने लगे ॥ २५ ॥

कर्मसिद्धौ तदा तत्र जृम्भमाणा महाद्भुता।
कृत्या समुत्थिता राजन् किं करोमीति चाब्रवीत् ॥ २६ ॥

राजन्! कर्मकी सिद्धि होनेपर वहाँ यज्ञकुण्डसे उस समय एक अत्यन्त अद्भुत कृत्या जँभाई लेती हुई प्रकट हुई और बोली—'मैं क्या करूँ?' ॥ २६ ॥

आहुर्दैत्याश्च तां तत्र सुप्रीतेनान्तरात्मना।
प्रायोपविष्टं राजानं धार्तराष्ट्रमिहानय ॥ २७ ॥

तब दैत्योंने प्रसन्नचित्त होकर उससे कहा—'तू प्रायोपवेशन करते हुए धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनको यहाँ ले आ' ॥ २७ ॥

तथेति च प्रतिश्रुत्य सा कृत्या प्रययौ तदा।
निमेषादगमच्चापि यत्र राजा सुयोधनः ॥ २८ ॥

'जो आज्ञा' कहकर वह कृत्या तत्काल वहाँसे प्रस्थित हुई और पलक मारते-मारते जहाँ राजा दुर्योधन था, वहाँ पहुँच गयी ॥ २८ ॥

समादाय च राजानं प्रविवेश रसातलम्।
दानवानां मुहूर्ताच्च तमानीतं न्यवेदयत्।
तमानीतं नृपं दृष्ट्वा रात्रौ संगत्य दानवाः ॥ २९ ॥
प्रहृष्टमनसः सर्वे किंचिदुत्फुल्ललोचनाः।
साभिमानमिदं वाक्यं दुर्योधनमथाब्रुवन् ॥ ३० ॥

फिर राजाको साथ ले दो ही घड़ीमें रसातल आ पहुँची और दानवोंको उसके लाये जानेकी सूचना दे दी। राजा दुर्योधनको लाया गया देख सब दानव रातमें एकत्र हुए। उनके मनमें प्रसन्नता भरी थी और नेत्र हर्षातिरेकसे कुछ खिल उठे थे। उन्होंने दुर्योधनसे अभिमानपूर्वक यह बात कही ॥ २९-३० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रायोपवेशनविषयक दो सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दानवोंका दुर्योधनको समझाना और कर्णके अनुरोध करनेपर दुर्योधनका अनशन त्याग करके हस्तिनापुरको प्रस्थान

दानवा ऊचुः

भोः सुयोधन राजेन्द्र भरतानां कुलोद्वह।
शूरैः परिवृतो नित्यं तथैव च महात्मभिः ॥ १ ॥
अकार्षीः साहसमिदं कस्मात् प्रायोपवेशनम्।
आत्मत्यागी ह्यधो याति वाच्यतां चायशस्करीम् ॥ २ ॥

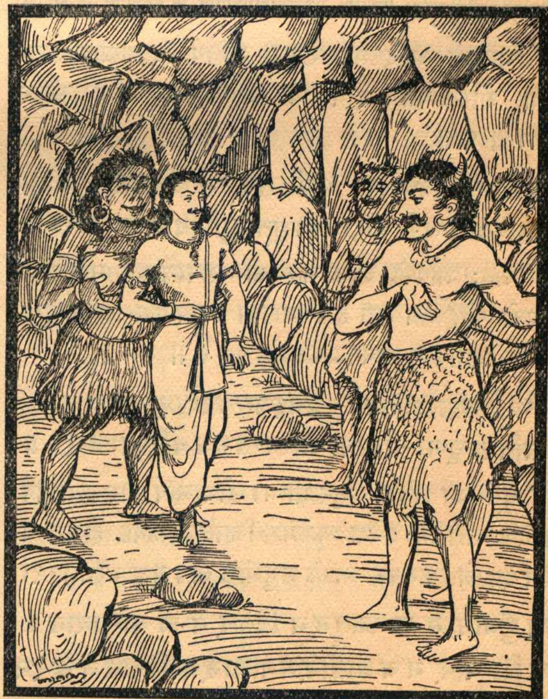
दानव बोले—भरतवंशका भार वहन करनेवाले महाराज सुयोधन! आप सदा शूरवीरों तथा महामना पुरुषोंसे घिरे रहते हैं, फिर आपने यह आमरण उपवास करनेका साहस क्यों किया है? आत्महत्या करनेवाला पुरुष तो अधोगतिको प्राप्त होता है और लोकमें उसकी निन्दा होती है, जो अयश फैलानेवाली है ॥ १-२ ॥

न हि कार्यविरुद्धेषु बहुपापेषु कर्मसु।
मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ ३ ॥

जो अभीष्ट कार्योंके विरुद्ध पड़ते हों, जिनमें बहुत पाप भरे हों तथा जो जड़मूलसहित अपना विनाश करनेवाले हों, ऐसे आत्महत्या आदि अशुभ कर्मोंमें आप-जैसे बुद्धिमान् पुरुष नहीं प्रवृत्त होते हैं ॥ ३ ॥

नियच्छैनां मतिं राजन् धर्मार्थसुखनाशिनीम्।
यशःप्रतापवीर्यघ्नीं शत्रूणां हर्षवर्धनीम् ॥ ४ ॥

राजन्! आपका यह आत्महत्यासम्बन्धी विचार धर्म, अर्थ तथा सुख, यश, प्रताप और पराक्रमका नाश करनेवाला तथा शत्रुओंका हर्ष बढ़ानेवाला है, अतः इसे रोकिये ॥ ४ ॥



श्रूयतां तु प्रभो तत्त्वं दिव्यतां चात्मनो नृप।
निर्माणं च शरीरस्य ततो धैर्यमवाप्नुहि ॥ ५ ॥

प्रभो! एक रहस्यकी बात सुनिये। नरेश्वर! आपका स्वरूप दिव्य है तथा आपके शरीरका निर्माण भी अद्भुत प्रकारसे हुआ है। यह हमलोगोंसे सुनकर धैर्य धारण कीजिये ॥ ५ ॥

पुरा त्वं तपसास्माभिर्लब्धो राजन् महेश्वरात्।

पूर्वकायश्च पूर्वस्ते निर्मितो वज्रसंचयैः ॥ ६ ॥

राजन् ! पूर्वकालमें हमलोगोंने तपस्याद्वारा भगवान् शंकरकी आराधना करके आपको प्राप्त किया था। आपके शरीरका पूर्वभाग–जो नाभिसे ऊपर है, वज्रसमूहसे बना हुआ है ॥ ६ ॥

अस्त्रैरभेद्यः शस्त्रैश्चाप्यधः कायश्च तेऽनघ।
कृतः पुष्पमयो देव्या रूपतः स्त्रीमनोहरः ॥ ७ ॥

वह किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे विदीर्ण नहीं हो सकता। अनघ ! उसी प्रकार आपका नाभिसे नीचेका शरीर पार्वती-देवीने पुष्पमय बनाया है, जो अपने रूप-सौन्दर्यसे स्त्रियोंके मनको मोहनेवाला है ॥ ७ ॥

एवमीश्वरसंयुक्तस्तव देहो नृपोत्तम।
देव्या च राजशार्दूल दिव्यस्त्वं हि न मानुषः ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार आपका शरीर देवी पार्वतीके साथ साक्षात् भगवान् महेश्वरने संघटित किया है । अतः राजसिंह ! आप मनुष्य नहीं, दिव्य पुरुष हैं ॥ ८ ॥

क्षत्रियाश्च महावीर्या भगदत्तपुरोगमाः।
दिव्यास्त्रविदुषः शूराः क्षपयिष्यन्ति ते रिपून् ॥ ९ ॥

भगदत्त आदि महापराक्रमी क्षत्रिय दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता तथा शौर्यसम्पन्न हैं। वे आपके शत्रुओंका संहार करेंगे ॥ ९ ॥

तदलं ते विषादेन भयं तव न विद्यते।
साहाय्यार्थं च ते वीराः सम्भूता भुवि दानवाः ॥ १० ॥

अतः आपको शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है। आपको कोई भय नहीं है। आपकी सहायताके लिये बहुत-से वीर दानव भूतलपर प्रकट हो चुके हैं ॥ १० ॥

भीष्मद्रोणकृपादींश्च प्रवेक्ष्यन्त्यपरेऽसुराः।
यैराविष्टा घृणां त्यक्त्वा योत्स्यन्ते तव वैरिभिः ॥ ११ ॥

दूसरे भी अनेक असुर भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदिके शरीरोंमें प्रवेश करेंगे, जिनसे आविष्ट होकर वे लोग दयाको त्यागकर आपके शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे।११।

नैव पुत्रान् न च भ्रातॄन् न पितॄन् न च बान्धवान्।
नैव शिष्यान् न च ज्ञातीन् न बालान् स्थविरान् न च १२
युधि सम्प्रहरिष्यन्तो मोक्ष्यन्ति कुरुसत्तम।
निःस्नेहा दानवाविष्टाः समाक्रान्तेऽन्तरात्मनि ॥ १३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! दानवोंका आवेश होनेपर भीष्म, द्रोण आदिकी अन्तरात्मापर भी उन दानवोंका ही अधिकार हो जायगा। उस दशामें युद्धमें स्नेहरहित हो प्रहार करते हुए वे लोग पुत्रों, भाइयों, पितृजनों, बान्धवों, शिष्यों, कुटुम्बीजनों, बालकों तथा बूढ़ोंको भी नहीं छोड़ेंगे ॥ १२-१३ ॥

प्रहरिष्यन्ति विवशाः स्नेहमुत्सृज्य दूरतः।
हृष्टाः पुरुषशार्दूलाः कलुषीकृतमानसाः।
अविज्ञानविमूढाश्च दैवाच्च विधिनिर्मितात् ॥ १४ ॥

वे पुरुषसिंह भीष्म आदि वीर (दानवोंके आवेशके कारण) विवश होकर अज्ञानसे मोहित हो जायँगे। उनके मनमें मलिनता आ जायगी और वे स्नेहको दूर छोड़कर प्रसन्नतापूर्वक अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्रहार करेंगे। इसमें विधिनिर्मित होनहार ही कारण है ॥ १४ ॥

व्याभाषमाणाश्चान्योन्यं न मे जीवन् विमोक्ष्यसे।
सर्वे शस्त्रास्त्रमोक्षेण पौरुषे समवस्थिताः ॥ १५ ॥
श्लाघमानाः कुरुश्रेष्ठ करिष्यन्ति जनक्षयम्।

एक दूसरेके विरुद्ध भाषण करते हुए वे सब योद्धा कहेंगे—'आज तू मेरे हाथोंसे जीवित नहीं बच सकता।' कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार सभी अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए पराक्रमपर डटे रहेंगे और परस्पर होड़ लगाकर जनसंहार करेंगे।१५½।

तेऽपि पञ्च महात्मानः प्रतियोत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥ १६ ॥
वधं चैषां करिष्यन्ति दैवयुक्ता महाबलाः।

वे दैवप्रेरित महाबली महात्मा पाँचों पाण्डव भी इन भीष्म आदिका सामना करते हुए इनका वध करेंगे ॥ १६½ ॥

दैत्यरक्षोगणाश्चैव सम्भूताः क्षत्रयोनिषु ॥ १७ ॥
योत्स्यन्ति युधि विक्रम्य शत्रुभिस्तव पार्थिव।
गदाभिर्मुसलैः शूलैः शस्त्रैरुच्चावचैस्तथा ॥ १८ ॥
(प्रहरिष्यन्ति ते वीरास्तवारिषु महाबलाः।)

राजन् ! दैत्यों तथा राक्षसोंके समुदाय क्षत्रिययोनिमें उत्पन्न हुए हैं, जो आपके शत्रुओंके साथ पराक्रमपूर्वक युद्ध करेंगे। वे महाबली वीर दैत्य आपके शत्रुओंपर गदा, मुसल, शूल तथा अन्य छोटे-बड़े अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्रहार करेंगे ॥

यच्च तेऽन्तर्गतं वीर भयमर्जुनसम्भवम्।
तत्रापि विहितोऽस्माभिर्वधोपायोऽर्जुनस्य वै ॥ १९ ॥

वीर ! आपके भीतर जो अर्जुनका भय समाया हुआ है, वह भी निकाल देना चाहिये; क्योंकि हमलोगोंने अर्जुनके वधका उपाय भी कर लिया है ॥ १९ ॥

हतस्य नरकस्यात्मा कर्णमूर्तिमुपाश्रितः।
तद् वैरं संस्मरन् वीर योत्स्यते केशवार्जुनौ ॥ २० ॥

श्रीकृष्णके हाथों जो नरकासुर मारा गया है, उसकी आत्मा कर्णके शरीरमें घुस गयी है। वीरवर ! वह (नरकासुर) उस वैरको याद करके श्रीकृष्ण और अर्जुनसे युद्ध करेगा ॥

स ते विक्रमशौटीरो रणे पार्थं विजेष्यति।
कर्णः प्रहरतां श्रेष्ठः सर्वांश्चारीन् महारथः ॥ २१ ॥

महारथी कर्ण योद्धाओंमें श्रेष्ठ और अपने पराक्रमपर

गर्व रखनेवाला है। वह रणभूमिमें अर्जुन तथा आपके अन्य सब शत्रुओंपर अवश्य विजयी होगा ॥ २१ ॥

ज्ञात्वैतच्छद्मना वज्री रक्षार्थं सव्यसाचिनः।
कुण्डले कवचं चैव कर्णस्यापहरिष्यति ॥ २२ ॥

इस बातको समझकर वज्रधारी इन्द्र अर्जुनकी रक्षाके लिये छल करके कर्णके कुण्डल और कवचका अपहरण कर लेंगे ॥ २२ ॥

तस्मादस्माभिरप्यत्र दैत्याः शतसहस्रशः।
नियुक्ता राक्षसाश्चैव ये ते संशप्तका इति ॥ २३ ॥
प्रख्यातास्तेऽर्जुनं वीरं हनिष्यन्ति च मा शुचः।
असपत्ना त्वया हीयं भोक्तव्या वसुधा नृप ॥ २४ ॥

इसीलिये हमलोगोंने भी एक लाख दैत्यों तथा राक्षसोंको इस काममें लगा रक्खा है, जो संशप्तक नामसे विख्यात हैं। वे वीर अर्जुनको मार डालेंगे। अतः आप शोक न करें। नरेश्वर ! आपको इस पृथ्वीका निष्कंटक राज्य भोगना है ॥

मा विषादं गमस्त्वस्मान्नैतत्त्वय्युपपद्यते।
विनष्टे त्वयि चास्माकं पक्षो हीयेत कौरव ॥ २५ ॥

अतः कुरुनन्दन ! आप विषाद न करें। यह आपको शोभा नहीं देता है। आपके नष्ट हो जानेपर तो हमारे पक्षका ही नाश हो जायगा ॥ २५ ॥

गच्छ वीर न ते बुद्धिरन्या कार्या कथञ्चन।
त्वमस्माकं गतिर्नित्यं देवतानां च पाण्डवाः ॥ २६ ॥

वीरवर ! जाइये। अब आपको किसी तरह भी अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। देखिये, देवताओंने पाण्डवोंका आश्रय ले रक्खा है; परंतु हमारी गति तो सदा आप ही हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा परिष्वज्य दैत्यास्तं राजकुञ्जरम्।
समाश्वास्य च दुर्धर्षं पुत्रवद् दानवर्षभाः ॥ २७ ॥
स्थिरां कृत्वा बुद्धिमस्य प्रियाण्युक्त्वा च भारत।
गम्यतामित्यनुज्ञाय जयमाप्नुहि चेत्यथ ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! दुर्धर्ष वीर नृपशिरोमणि दुर्योधनसे ऐसा कहकर दैत्यों तथा दानवेश्वरोंने उसे पुत्रकी भाँति हृदयसे लगाया और आश्वासन देकर उसकी बुद्धिको स्थिर किया। भारत ! तत्पश्चात् प्रिय वचन बोलकर उन्होंने दुर्योधनको जानेके लिये आज्ञा देते हुए कहा—'अब आप जाइये और शत्रुओंपर विजय प्राप्त कीजिये' ॥ २७-२८ ॥

तैर्विसृष्टं महाबाहुं कृत्या सैवानयत् पुनः।
तमेव देशं यत्रासौ तदा प्रायमुपाविशत् ॥ २९ ॥

दैत्योंके विदा करनेपर उसी कृत्याने महाबाहु दुर्योधनको पुनः उसी स्थानपर पहुँचा दिया, जहाँ वह पहले आमरण उपवासके लिये बैठा था ॥ २९ ॥

प्रतिनिक्षिप्य तं वीरं कृत्या समभिपूज्य च।
अनुज्ञाता च राज्ञा सा तथैवान्तरधीयत ॥ ३० ॥

वीर राजा दुर्योधनको वहाँ रखकर कृत्याने उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया और उससे आज्ञा लेकर जैसे आयी थी, वैसे ही अदृश्य हो गयी ॥ ३० ॥

गतायामथ तस्यां तु राजा दुर्योधनस्तदा।
स्वप्नभूतमिदं सर्वमचिन्तयत भारत ॥ ३१ ॥
(सम्मृश्य तानि वाक्यानि दानवोक्तानि दुर्मतिः।)
विजेष्यामि रणे पाण्डूनिति चास्याभवन्मतिः।

भारत ! कृत्याके चले जानेपर राजा दुर्योधनने इन सारी बातोंको स्वप्न समझा। दैत्योंके कहे हुए वचनोंपर विचार करके दुर्बुद्धि दुर्योधनके मनमें यह संकल्प उदित हुआ कि 'मैं युद्धमें पाण्डवोंको जीत लूँगा' ॥ ३१½ ॥

कर्णं संशप्तकांश्चैव पार्थस्यामित्रघातिनः ॥ ३२ ॥
अमन्यत वधे युक्तान् समर्थांश्च सुयोधनः।

दुर्योधनने यह मान लिया कि संशप्तकगण तथा कर्ण ये शत्रुघाती अर्जुनके वधमें लगे हुए हैं और इसके लिये वे समर्थ हैं ॥ ३२½ ॥

एवमाशा दृढा तस्य धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ ३३ ॥
विनिर्जये पाण्डवानामभवद् भरतर्षभ।

जनमेजय ! इस प्रकार उस खोटी बुद्धिवाले धृतराष्ट्रपुत्रके मनमें पाण्डवोंपर विजय पानेकी दृढ़ आशा हो गयी ॥ ३३½ ॥

कर्णोऽप्याविष्टचित्तात्मा नरकस्यान्तरात्मना ॥ ३४ ॥
अर्जुनस्य वधे क्रूरां करोति स्म तदा मतिम्।

इधर कर्ण भी नरकासुरकी अन्तरात्मासे आविष्टचित्त होनेके कारण अर्जुनका वध करनेके लिये क्रूरतापूर्ण संकल्प करने लगा ॥ ३४½ ॥

संशप्तकाश्च ते वीरा राक्षसाविष्टचेतसः ॥ ३५ ॥
रजस्तमोभ्यामाक्रान्ताः फाल्गुनस्य वधैषिणः।

इसी प्रकार राक्षसोंसे आविष्टचित्त होकर वे संशप्तक वीर भी रजोगुण और तमोगुणसे आक्रान्त हो अर्जुनको मार डालनेकी इच्छा रखने लगे ॥ ३५½ ॥

भीष्मद्रोणकृपाद्याश्च दानवाक्रान्तचेतसः ॥ ३६ ॥
न तथा पाण्डुपुत्राणां स्नेहवन्तो विशाम्पते।

राजन् ! भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिके मनपर भी दानवोंने अधिकार कर लिया था। अतः पाण्डवोंके पति उनका भी वैसा स्नेह नहीं रह गया ॥ ३६½ ॥

(कृत्ययाऽऽनाय्यकथितं यत् तस्यां निशि दानवैः।)
न चाचचक्षे कस्मैचिदेतद् राजा सुयोधनः ॥ ३७ ॥

दानवोंने रातमें कृत्याद्वारा अपने यहाँ बुलाकर जो बातें कही थीं, उन्हें राजा दुर्योधनने किसीपर भी प्रकट नहीं किया ॥

दुर्योधनं निशान्ते च कर्णो वैकर्तनोऽब्रवीत्।
स्मयन्निवाञ्जलिं कृत्वा पार्थिवं हेतुमद् वचः ॥ ३८ ॥

वह रात बीतनेपर सूर्यपुत्र कर्णने आकर राजा दुर्योधनसे हाथ जोड़ मुसकराते हुए यह युक्तियुक्त वचन कहा—॥ ३८॥

न मृतो जयते शत्रूञ्जीवन् भद्राणि पश्यति।
मृतस्य भद्राणि कुतः कौरवेय कुतो जयः ॥ ३९ ॥

'कुरुनन्दन ! मरा हुआ मनुष्य कभी शत्रुओंपर विजय नहीं पाता। जो जीवित रहता है, वह कभी सुखके दिन भी देखता है। मरे हुएको कहाँ सुख और कहाँ विजय ?॥

न कालोऽद्य विषादस्य भयस्य मरणस्य वा।
परिष्वज्याब्रवीच्चैनं भुजाभ्यां स महाभुजः ॥ ४० ॥

'यह समय शोक मनाने, भयभीत होने अथवा मरनेका नहीं है', यह कहकर महाबाहु कर्णने दोनों भुजाओंसे खींचकर दुर्योधनको हृदयसे लगा लिया और कहा—॥ ४० ॥

उत्तिष्ठ राजन् किं शेषे कस्माच्छोचसि शत्रुहन्।
शत्रून् प्रताप्य वीर्येण स कथं मृत्युमिच्छसि ॥ ४१ ॥

'शत्रुघाती नरेश ! उठो, क्यों सो रहे हो ? किसलिये शोक करते हो ? अपने पराक्रमसे शत्रुओंको संतप्त करके अब मृत्युकी इच्छा क्यों करते हो ? ॥ ४१ ॥

अथवा ते भयं जातं दृष्ट्वार्जुनपराक्रमम्।
सत्यं ते प्रतिजानामि वधिष्यामि रणेऽर्जुनम् ॥ ४२ ॥

'अथवा यदि तुम्हें अर्जुनका पराक्रम देखकर भय हो गया हो, तो मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मैं युद्धमें अर्जुनको अवश्य मार डालूँगा ॥ ४२ ॥

गते त्रयोदशे वर्षे सत्येनायुधमालभे।
आनयिष्याम्यहं पार्थान् वशं तव जनाधिप ॥ ४३ ॥

'महाराज ! मैं धनुष छूकर सचाईके साथ यह शपथ ग्रहण करता हूँ कि तेरहवाँ वर्ष व्यतीत होते ही पाण्डवोंको तुम्हारे वशमें ला दूँगा' ॥ ४३ ॥

एवमुक्तस्तु कर्णेन दैत्यानां वचनात् तथा।
प्रणिपातेन चाप्येषामुदतिष्ठत् सुयोधनः ॥ ४४ ॥

कर्णके ऐसा कहनेपर और इन दुःशासन आदि भाइयोंके प्रणामपूर्वक अनुनय-विनय करनेपर दैत्योंके वचनोंका स्मरण करके दुर्योधन अपने आसनसे उठ खड़ा हुआ ।४४।

दैत्यानां तद् वचः श्रुत्वा हृदि कृत्वा स्थिरां मतिम्।
ततो मनुजशार्दूलो योजयामास वाहिनीम् ॥ ४५ ॥
रथनागाश्वकलिलां पदातिजनसंकुलाम्।
गङ्गौघप्रतिमा राजन् सा प्रयाता महाचमूः ॥ ४६ ॥

दैत्योंके पूर्वोक्त कथनको याद करके नरश्रेष्ठ दुर्योधनने पाण्डवोंसे युद्ध करनेका पक्का विचार कर लिया और फिर हस्तिनापुर जानेके लिये रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सैनिकोंसे युक्त अपनी चतुरंगिणी सेनाको तैयार होनेकी आज्ञा दी। राजन् ! वह विशाल वाहिनी गङ्गाके प्रवाहके समान चलने लगी ॥ ४५-४६ ॥

श्वेतच्छत्रैः पताकाभिश्चामरैश्च सुपाण्डुरैः।
रथैर्नागैः पदातैश्च शुशुभेऽतीव संकुला ॥ ४७ ॥
व्यपेताभ्रघने काले द्यौरिवाव्यक्तशारदी।

श्वेत छत्र, पताका, शुभ्र चँवर, रथ, हाथी और पैदल योद्धाओंसे भरी हुई वह कौरव-सेना शरत्कालमें कुछ-कुछ व्यक्त शारदीय सुषमासे सुशोभित आकाशकी भाँति शोभा पा रही थी ॥ ४७½ ॥

जयाशीर्भिर्द्विजेन्द्रैः स स्तूयमानोऽधिराजवत् ॥४८॥
गृह्णन्नञ्जलिमालाश्च धार्तराष्ट्रो जनाधिपः।
सुयोधनो ययावग्रे श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ४९ ॥

धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन सम्राट्की भाँति श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके मुखसे विजयसूचक आशीर्वादोंके साथ अपनी स्तुति सुनता तथा लोगोंकी प्रणामाञ्जलियोंको ग्रहण करता हुआ उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित हो आगे-आगे चला ॥ ४८-४९ ॥

कर्णेन सार्धं राजेन्द्र सौबलेन च देविना।
दुःशासनादयश्चास्य भ्रातरः सर्व एव ते ॥ ५० ॥
भूरिश्रवाः सोमदत्तो महाराजश्च बाह्लिकः।
रथैर्नानाविधाकारैर्हयैर्गजवरैस्तथा ॥ ५१ ॥
प्रयान्तं नृपसिंहं तमनुजग्मुः कुरूद्वहाः।
कालेनाल्पेन राजेन्द्र स्वपुरं विविशुस्तदा ॥ ५२ ॥

राजेन्द्र ! कर्ण तथा द्यूतकुशल शकुनिके साथ दुःशासन आदि सब भाई, भूरिश्रवा, सोमदत्त तथा महाराज बाह्लीक—ये सभी कुरुकुलरत्न नाना प्रकारके रथों, गजराजों तथा घोड़ोंपर बैठकर राजसिंह दुर्योधनके पीछे-पीछे चल रहे थे। जनमेजय ! थोड़े समयमें उन सबने अपनी राजधानी हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ ५०—५२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनपुरप्रवेशे द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनका नगरमें प्रवेशविषयक दो सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १½ श्लोक मिलाकर कुल ५३½ श्लोक हैं)



त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

भीष्मका कर्णकी निन्दा करते हुए दुर्योधनको पाण्डवोंसे संधि करनेका परामर्श देना, कर्णके क्षोभपूर्ण वचन और दिग्विजयके लिये प्रस्थान

जनमेजय उवाच

वसमानेषु पार्थेषु वने तस्मिन् महात्मसु ।
धार्तराष्ट्रा महेष्वासाः किमकुर्वत सत्तमाः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—मुने ! जब महात्मा पाण्डव उस वनमें निवास करते थे, उन दिनों महान् धनुर्धर नरश्रेष्ठ धृतराष्ट्र-पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

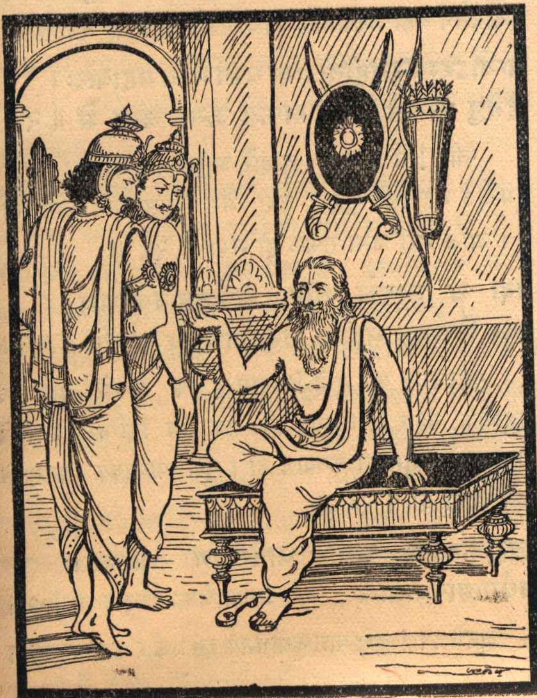
कर्णो वैकर्तनश्चैव शकुनिश्च महाबलः ।
भीष्मद्रोणकृपाश्चैव तन्मे शंसितुमर्हसि ॥ २ ॥

सूर्यपुत्र कर्ण, महाबली शकुनि, भीष्म, द्रोण तथा कृपाचार्य—इन सबने कौन-सा कार्य किया ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं गतेषु पार्थेषु विसृष्टे च सुयोधने ।
आगते हास्तिनपुरं मोक्षिते पाण्डुनन्दनैः ॥ ३ ॥
भीष्मोऽब्रवीन्महाराज धार्तराष्ट्रमिदं वचः ।

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज ! पाण्डवोंद्वारा गन्धर्वोंसे छुटकारा मिल जानेपर जब दुर्योधन विदा होकर हस्तिनापुर पहुँच गया और पाण्डव जाकर पूर्ववत् वनमें ही रहने लगे, तब भीष्मजीने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे यह बात कही—॥ ३½ ॥



उक्तं तात यथा पूर्वं गच्छतस्ते तपोवनम् ॥ ४ ॥
गमनं मे न रुचितं तव तत्र कृतं च ते ।

'तात ! तुम्हारे तपोवन जाते समय जैसा कि मैंने पहले ही कह दिया था, वही आज भी कह रहा हूँ । मुझे तुम्हारा वहाँ जाना अच्छा नहीं लगा और वहाँ जाकर तुमने जो कुछ किया, वह भी पसंद नहीं आया ॥ ४½ ॥

ततः प्राप्तं त्वया वीर ग्रहणं शत्रुभिर्बलात् ॥ ५ ॥
मोक्षितश्चासि धर्मज्ञैः पाण्डवैर्न च लज्जसे ।

'वीर ! शत्रुओंने तुम्हें वहाँ बलपूर्वक बंदी बना लिया और धर्मज्ञ पाण्डवोंने तुम्हें उस संकटसे छुड़ाया है । क्या अब भी तुम्हें लज्जा नहीं आती ? ॥ ५½ ॥

प्रत्यक्षं तव गान्धारे ससैन्यस्य विशाम्पते ॥ ६ ॥
सूतपुत्रोऽपयाद् भीतो गन्धर्वाणां तदा रणात् ।

'गान्धारीनन्दन ! सेनासहित तुम्हारे सामने ही सूतपुत्र कर्ण गन्धर्वोंसे भयभीत हो युद्धभूमिसे भाग निकला ॥ ६½ ॥

क्रोशतस्तव राजेन्द्र ससैन्यस्य नृपात्मज ॥ ७ ॥
दृष्टस्ते विक्रमश्चैव पाण्डवानां महात्मनाम् ।

राजेन्द्र ! राजकुमार ! जब सेनासहित तुम चीखते-चिल्लाते रहे उस समय महात्मा पाण्डवोंने जो पराक्रम कर दिखाया था वह भी तुमने प्रत्यक्ष देखा है ॥ ७½ ॥

कर्णस्य च महाबाहो सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ॥ ८ ॥
न चापि पादभाक् कर्णः पाण्डवानां नृपोत्तम ।
धनुर्वेदे च शौर्ये च धर्मे वा धर्मवत्सल ॥ ९ ॥

महाबाहो ! उस समय खोटी बुद्धिवाले सूतपुत्र कर्णका पराक्रम भी तुमसे छिपा नहीं था । नृपश्रेष्ठ ! धर्मवत्सल ! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि धनुर्वेद, शौर्य और धर्माचरणमें कर्ण पाण्डवोंकी अपेक्षा चौथाई योग्यता भी नहीं रखता है ॥ ८-९ ॥

तस्मादहं क्षमं मन्ये पाण्डवैस्तैर्महात्मभिः ।
संधिं संधिविदां श्रेष्ठ कुलस्यास्य विवृद्धये ॥ १० ॥

'अतः संधिवेत्ताओंमें श्रेष्ठ नरेश ! मैं तो इस कुलके अभ्युदयके लिये उन महात्मा पाण्डवोंके साथ संधि कर लेना ही उचित समझता हूँ' ॥ १० ॥

एवमुक्तश्च भीष्मेण धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः ।
प्रहस्य सहसा राजन् विप्रतस्थे ससौबलः ॥ ११ ॥

राजन् ! भीष्मके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधन हँस पड़ा

और शकुनिके साथ सहसा वहाँसे अन्यत्र चला गया ॥ ११ ॥

तं तु प्रस्थितमाज्ञाय कर्णदुःशासनादयः।
अनुजग्मुर्महेष्वासा धार्तराष्ट्रं महाबलम् ॥ १२ ॥

महाबली दुर्योधनको अन्यत्र गया जान कर्ण और दुःशासन आदि महान् धनुर्धरोंने उसका अनुसरण किया ॥ १२ ॥

तांस्तु सम्प्रस्थितान् दृष्ट्वा भीष्मः कुरुपितामहः।
लज्जया व्रीडितो राजञ्जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १३ ॥

राजन्! उन सबको वहाँसे प्रस्थान करते देख कुरुकुल-पितामह भीष्म लज्जित होकर अपने आवासस्थानको चले गये ॥ १३ ॥

गते भीष्मे महाराज धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः।
पुनरागम्य तं देशममन्त्रयत मन्त्रिभिः ॥ १४ ॥

महाराज! भीष्मके चले जानेपर राजा दुर्योधन फिर उसी स्थानपर लौट आया और अपने मन्त्रियोंके साथ गुप्त मन्त्रणा करने लगा— ॥ १४ ॥

किमस्माकं भवेच्छ्रेयः किं कार्यमवशिष्यते।
कथं च सुकृतं तत् स्यान्मन्त्रयामोऽद्य यद्धितम् ॥ १५ ॥

'मित्रो! क्या करनेसे हमलोगोंकी भलाई होगी? हमारे लिये कौन-सा कार्य शेष रह गया है? कैसे करनेसे हमारा कार्य शुभ परिणामजनक होगा? क्या करनेमें हमारा हित है? आज इसी विषयपर हमलोगोंको विचार करना है' ॥ १५ ॥

कर्ण उवाच

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव।
भीष्मोऽस्मान् निन्दति सदा पाण्डवांश्च प्रशंसति ॥ १६ ॥

कर्ण बोला—कुरुकुलरत्न दुर्योधन! मैं तुमसे जो कुछ कह रहा हूँ, उसपर ध्यान दो। भीष्म सदा हमारी निन्दा और पाण्डवोंकी प्रशंसा करते रहते हैं ॥ १६ ॥

त्वद् द्वेषाच्च महाबाहो ममापि द्वेष्टुमर्हति।
विगर्हते च मां नित्यं त्वत्समीपे नरेश्वर ॥ १७ ॥

महाबाहो! वे तुम्हारे प्रति द्वेष होनेसे मुझसे भी द्वेष रखते हैं। नरेश्वर! तुम्हारे सामने वे सदा मेरी निन्दा ही किया करते हैं ॥ १७ ॥

सोऽहं भीष्मवचस्तद् वै न मृष्यामीह भारत।
त्वत्समक्षं यदुक्तं च भीष्मेणामित्रकर्षण ॥ १८ ॥
पाण्डवानां यशो राजंस्तव निन्दां च भारत।
अनुजानीहि मां राजन् सभृत्यबलवाहनम् ॥ १९ ॥

भारत! तुम्हारे सामने भीष्मने जो कुछ कहा है, उसे मैं सहन नहीं कर सकता। शत्रुदमन! भरतकुलनन्दन! उन्होंने जो पाण्डवोंका यश गाया और तुम्हारी निन्दा की है, यह मेरे लिये असह्य है। अतः तुम मुझे सेवक, सेना तथा सवारियोंके साथ दिग्विजय करनेकी आज्ञा दो ॥ १८-१९ ॥

जेष्यामि पृथिवीं राजन् सशैलवनकाननाम्।
जिता च पाण्डवैर्भूमिश्चतुर्भिर्बलशालिभिः ॥ २० ॥
तामहं ते विजेष्यामि एक एव न संशयः।
सम्पश्यतु सुदुर्बुद्धिर्भीष्मः कुरुकुलाधमः ॥ २१ ॥

राजन्! मैं पर्वत, वन और काननोंसहित सारी पृथ्वीको जीत लूँगा। जिस भूमिपर चार बलशाली पाण्डवोंने मिलकर विजय पायी है, उसे मैं तुम्हारे लिये अकेला ही जीत लूँगा, इसमें संशय नहीं है। खोटी बुद्धिवाला कुरुकुलाधम भीष्म मेरे इस पराक्रमको अपनी आँखों देखे ॥ २०-२१ ॥

अनिन्द्यं निन्दते यो हि अप्रशंस्यं प्रशंसति।
स पश्यतु बलं मेऽद्य आत्मानं तु विगर्हतु ॥ २२ ॥

जो अनिन्दनीयकी निन्दा और अप्रशंसनीयकी प्रशंसा करता है, वह भीष्म आज मेरा बल देख ले और अपने आपको धिक्कारे ॥ २२ ॥

अनुजानीहि मां राजन् ध्रुवो हि विजयस्तव।
प्रतिजानामि ते सत्यं राजन्नायुधमालभे ॥ २३ ॥

राजन्! मुझे आज्ञा दो। तुम्हारी विजय निश्चित है। यह मैं तुमसे प्रतिज्ञापूर्वक सत्य कहता हूँ और शस्त्र छूकर शपथ करता हूँ ॥ २३ ॥

तच्छ्रुत्वा तु वचो राजन् कर्णस्य भरतर्षभ।
प्रीत्या परमया युक्तः कर्णमाह नराधिपः ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ राजन्! कर्णकी यह बात सुनकर राजा दुर्योधनने बड़ी प्रसन्नताके साथ उससे कहा— ॥ २४ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे त्वं महाबलः।
हितेषु वर्तसे नित्यं सफलं जन्म चाद्य मे ॥ २५ ॥

'वीर! मैं धन्य हूँ, तुम्हारे अनुग्रहका पात्र हूँ; क्योंकि तुम-जैसे महाबली सुहृद् सदा मेरे हितसाधनमें लगे रहते हैं। आज मेरा जन्म सफल हो गया ॥ २५ ॥

यदा च मन्यसे वीर सर्वशत्रुनिबर्हणम्।
तदा निर्गच्छ भद्रं ते ह्यनुशाधि च मामिति ॥ २६ ॥

'वीरवर! जब तुम्हें विश्वास है कि तुम्हारे द्वारा सब शत्रुओंका संहार हो सकता है, तब तुम दिग्विजयके लिये यात्रा करो। तुम्हारा कल्याण हो। मुझे आवश्यक व्यवस्थाके लिये आज्ञा दो ॥ २६ ॥

एवमुक्तस्तदा कर्णो धार्तराष्ट्रेण धीमता।
सर्वमाज्ञापयामास प्रायात्रिकमरिंदम ॥ २७ ॥

जनमेजय! बुद्धिमान् दुर्योधनके इस प्रकार कहनेपर कर्णने यात्रासम्बन्धी सारी आवश्यक तैयारीके लिये आज्ञा दे दी ॥ २७ ॥

प्रययौ च महेष्वासो नक्षत्रे शुभदैवते ।
शुभे तिथौ मुहूर्ते च पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २८ ॥
मङ्गलैश्च शुभैः स्नातो वाग्भिश्चापि प्रपूजितः ।
नादयन् रथघोषेण त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर महान् धनुर्धर कर्णने माङ्गलिक शुभ पदार्थोंसे जलके द्वारा स्नान करके द्विजातियोंकी आशीर्वादमय वाणीसे सम्मानित एवं प्रशंसित हो शुभ नक्षत्र, शुभ तिथि और शुभ मुहूर्तमें यात्रा की । उस समय वह अपने रथकी घर्घराहटसे चराचर भूतोंसहित समस्त त्रिलोकीको प्रतिध्वनित कर रहा था ॥ २८-२९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदिग्विजये त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णदिग्विजयविषयक दो सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५३ ॥

चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्णके द्वारा सारी पृथ्वीपर दिग्विजय और हस्तिनापुरमें उसका सत्कार

वैशम्पायन उवाच

ततः कर्णो महेष्वासो बलेन महता वृतः ।
द्रुपदस्य पुरं रम्यं रुरोध भरतर्षभ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! तदनन्तर महाधनुर्धर कर्णने अपनी विशाल सेनाके साथ जाकर राजा द्रुपदके रमणीय नगरको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १ ॥

युद्धेन महता चैनं चक्रे वीरं वशानुगम् ।
सुवर्णं रजतं चापि रत्नानि विविधानि च ॥ २ ॥
करं च दापयामास द्रुपदं नृपसत्तम ।
तं विनिर्जित्य राजेन्द्र राजानस्तस्य येऽनुगाः ॥ ३ ॥
तान् सर्वान् वशगांश्चक्रे करं चैनानदापयत् ।

फिर महान् युद्ध करके उसने वीर द्रुपदको अपने वशमें कर लिया और उन्हें सोना, चाँदी, भाँति-भाँतिके रत्न एवं कर देनेके लिये विवश किया । नृपश्रेष्ठ महाराज जनमेजय ! इस प्रकार द्रुपदको जीतकर कर्णने उनके अनुयायी नरेशोंको भी अपने अधीन कर लिया और उन सबसे भी कर वसूल किया ॥ २-३½ ॥

अथोत्तरां दिशं गत्वा वशे चक्रे नराधिपान् ॥ ४ ॥
भगदत्तं च निर्जित्य राधेयो गिरिमारुहत् ।
हिमवन्तं महाशैलं युध्यमानश्च शत्रुभिः ॥ ५ ॥
प्रययौ च दिशः सर्वान् नृपतीन् वशमानयत् ।
स हैमवतिकाञ्जित्वा करं सर्वानदापयत् ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् उसने उत्तर दिशामें जाकर वहाँके राजाओंको अपने वशमें कर लिया । भगदत्तको जीतकर राधानन्दन कर्ण शत्रुओंसे युद्ध करता हुआ महान् पर्वत हिमालयपर आरूढ़ हुआ । वहाँसे सब दिशाओंमें जाकर उसने समस्त राजाओंको अपने अधीन किया और हिमालयप्रदेशके समस्त भूपालोंको जीतकर उनसे कर लिया ॥ ४-६ ॥

नेपालविषये ये च राजानस्तानवाजयत् ।
अवतीर्य ततः शैलात् पूर्वां दिशमभिद्रुतः ॥ ७ ॥

तदनन्तर नेपालदेशमें जो राजा थे, उनपर भी विजय प्राप्त की, फिर हिमालय पर्वतसे उतरकर उसने पूर्व दिशाकी ओर धावा किया ॥ ७ ॥

अङ्गान् वङ्गान् कलिंगांश्च शुण्डिकान् मिथिलानथ ।
मागधान् कर्कखण्डांश्च निवेश्य विषयेऽऽत्मनः ॥ ८ ॥
आवशीरांश्च योध्यांश्च अहिक्षत्रं च निर्जयत् ।
पूर्वां दिशं विनिर्जित्य वत्सभूमिं तथागमत् ॥ ९ ॥

अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, शुण्डिक, मिथिला, मगध और कर्कखण्ड—इन सब देशोंको अपने राज्यमें मिलाकर कर्णने आवशीर, योध्य और अहिक्षत्र देशको भी जीत लिया । इस प्रकार पूर्व दिशापर विजय प्राप्त करके उसने वत्सभूमिमें पदार्पण किया ॥ ८-९ ॥

वत्सभूमिं विनिर्जित्य केवलां मृत्तिकावतीम् ।
मोहनं पत्तनं चैव त्रिपुरीं कोसलां तथा ॥ १० ॥
एतान् सर्वान् विनिर्जित्य करमादाय सर्वशः ।

वत्सभूमिको जीतकर कर्णने केवला, मृत्तिकावती, मोहन, पत्तन, त्रिपुरी तथा कोसला-इन सब देशोंको अपने अधिकारमें किया और सबसे कर लेकर (दक्षिण दिशाकी ओर) प्रस्थान किया ॥ १०½ ॥

दक्षिणां दिशमास्थाय कर्णो जित्वा महारथान् ॥ ११ ॥
रुक्मिणं दाक्षिणात्येषु योधयामास सूतजः ।
स युद्धं तुमुलं कृत्वा रुक्मी प्रोवाच सूतजम् ॥ १२ ॥

दक्षिण दिशामें पहुँचकर कर्णने बड़े-बड़े महारथियोंको जीता । दाक्षिणात्योंमें रुक्मीके साथ कर्णने युद्ध किया । रुक्मीने पहले तो बड़ा भयंकर युद्ध किया, फिर उसने सूतपुत्र कर्णसे कहा ॥

प्रीतोऽस्मि तव राजेन्द्र विक्रमेण बलेन च ।
न ते विघ्नं करिष्यामि प्रतिज्ञां समपालयम् ॥ १३ ॥

'राजेन्द्र ! मैं तुम्हारे बल और पराक्रमसे बहुत प्रसन्न हूँ । अतः तुम्हारे कार्यमें विघ्न नहीं डालूँगा । थोड़ी देर युद्ध करके मैंने केवल क्षत्रियधर्मका पालन किया है ॥ १३ ॥

प्रीत्या चाहं प्रयच्छामि हिरण्यं यावदिच्छसि ।
समेत्य रुक्मिणा कर्णः पाण्ड्यं शैलं च सोऽगमत् ॥ १४ ॥

'तुम जितना सोना ले जाना चाहो, उतना मैं प्रसन्नतापूर्वक दे रहा हूँ ।' इस प्रकार रुक्मीसे मिलकर कर्णने पाण्ड्यदेश तथा श्रीशैलकी ओर प्रस्थान किया ॥ १४ ॥

स केरलं रणे चैव नीलं चापि महीपतिम् ।
वेणुदारिसुतं चैव ये चान्ये नृपसत्तमाः ॥ १५ ॥
दक्षिणस्यां दिशि नृपान् करान् सर्वानदापयत् ।

उसने रणभूमिमें केरल नरेश, राजा नील तथा वेणुदारिपुत्रको हराया और दक्षिण दिशामें अन्य जितने प्रमुख भूपाल थे, उन सबको जीतकर उनसे कर वसूल किया ॥ १५½ ॥

शैशुपालिं ततो गत्वा विजिग्ये सूतनन्दनः ॥ १६ ॥
पार्श्वस्थांश्चापि नृपतीन् वशे चक्रे महाबलः ।

इसके बाद सूतपुत्र महाबली कर्णने चेदिदेशमें जाकर शिशुपालके पुत्रको हराया और उसके पार्श्ववर्ती नरेशोंको भी अपने अधीन कर लिया ॥ १६½ ॥

आवन्त्यांश्च वशे कृत्वा साम्ना च भरतर्षभ ।
वृष्णिभिः सह संगम्य पश्चिमामपि निर्जयत् ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर उसने सामनीतिके द्वारा अवन्तीदेशके राजाओंको वशमें करके वृष्णिवंशी यादवोंसे हिल-मिलकर पश्चिम दिशापर भी विजय प्राप्त की ॥ १७ ॥

वारुणीं दिशमागम्य यवनान् बर्बरांस्तथा ।
नृपान् पश्चिमभूमिस्थान् दापयामास वै करान् ॥ १८ ॥

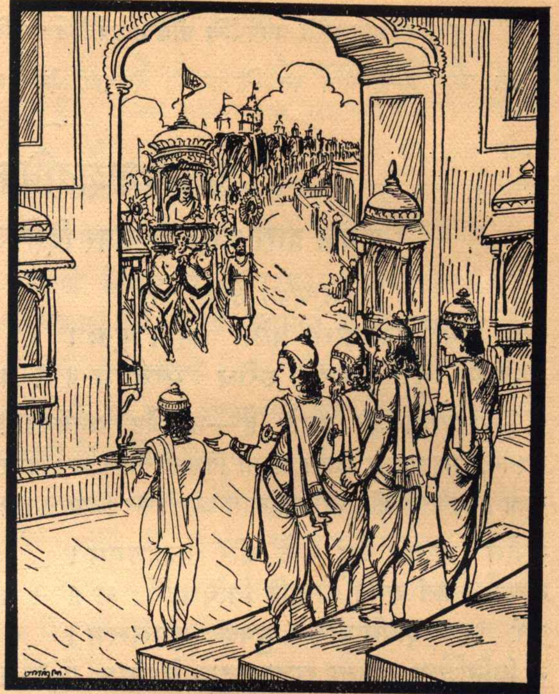
इसके बाद पश्चिम दिशामें जाकर यवन तथा बर्बर राजाओंको, जो पश्चिम देशके ही निवासी थे, पराजित करके उनसे कर लिया ॥ १८ ॥

विजित्य पृथिवीं सर्वां स पूर्वापरदक्षिणाम् ।
सम्लेच्छाटविकान् वीरः सपर्वतनिवासिनः ॥ १९ ॥
भद्रान् रोहितकांश्चैव आग्नेयान् मालवानपि ।
गणान् सर्वान् विनिर्जित्य नीतिकृत् प्रहसन्निव ॥ २० ॥
शशकान् यवनांश्चैव विजिग्ये सूतनन्दनः ।

इस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सब दिशाओंकी समूची पृथ्वीको जीतकर म्लेच्छ, वनवासी, पर्वतीय, भद्र, रोहितक, आग्नेय तथा मालव आदि समस्त गणराज्योंको परास्त किया । इसके बाद नीतिके अनुसार काम करनेवाले सूतनन्दन कर्णने हँसते-हँसते शशक और यवन राजाओंको भी जीत लिया ॥ १९–२०½ ॥

नग्नजित्प्रमुखांश्चैव गणाञ्जित्वा महारथान् ॥ २१ ॥
एवं स पृथिवीं सर्वां वशे कृत्वा महारथः ।
विजित्य पुरुषव्याघ्रो नागसाह्वयमागमत् ॥ २२ ॥

इस प्रकार पुरुषसिंह महारथी कर्ण नग्नजित् आदि महारथी नरेशसमुदायोंको जीतकर सारी पृथ्वीको पराजित करके अपने वशमें कर लेनेके पश्चात् हस्तिनापुरको लौट आया ॥ २१–२२ ॥



तमागतं महेष्वासं धार्तराष्ट्रो जनाधिपः ।
प्रत्युद्गम्य महाराज सभ्रातृपितृबान्धवः ॥ २३ ॥
अर्चयामास विधिना कर्णमाहवशोभिनम् ।
आश्रावयच्च तत् कर्म प्रीयमाणो जनेश्वरः ॥ २४ ॥

महाराज ! रणमें शोभा पानेवाले महाधनुर्धर कर्णको आया हुआ जान भाई, पिता तथा बन्धु-बान्धवोंसहित राजा दुर्योधनने उसकी अगवानी की और विधिपूर्वक उसका स्वागत-सत्कार किया । तत्पश्चात् दुर्योधनने अत्यन्त प्रसन्न होकर कर्णके दिग्विजयकी सब ओर घोषणा करा दी ।२३-२४।

यन्न भीष्मान्न च द्रोणान्न कृपान्न च बाह्लिकात् ।
प्राप्तवानस्मि भद्रं ते त्वत्तः प्राप्तं मया हि तत् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् उसने कर्णसे कहा—'वीरवर ! तुम्हारा कल्याण हो । मुझे भीष्मजीसे, आचार्य द्रोणसे, कृपाचार्यसे तथा बाह्लिकसे भी जो वस्तु नहीं मिली थी, वह तुमसे प्राप्त हो गयी ॥ २५ ॥

बहुना च किमुक्तेन शृणु कर्ण वचो मम ।
सनाथोऽस्मि महाबाहो त्वया नाथेन सत्तम ॥ २६ ॥

'महाबाहु कर्ण ! अधिक कहनेसे क्या लाभ ? तुम मेरी बात सुनो । सत्पुरुषरत्न ! तुम्हें अपना नाथ (सहायक) पाकर ही मैं सनाथ हूँ ॥ २६ ॥

न हि ते पाण्डवाः सर्वे कलामर्हन्ति षोडशीम्।
अन्ये वा पुरुषव्याघ्र राजानोऽभ्युदितोदिताः ॥ २७ ॥

'पुरुषसिंह! वे समस्त पाण्डव अथवा अन्य श्रेष्ठतम नरेश तुम्हारी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते ॥ २७ ॥

स भवान् धृतराष्ट्रं तं गान्धारीं च यशस्विनीम्।
पश्य कर्ण महेष्वास अदितिं वज्रभृद् यथा ॥ २८ ॥

'महाधनुर्धर कर्ण! अब तुम मेरे पूज्य पिता धृतराष्ट्र तथा यशस्विनी माता गान्धारीका उसी प्रकार दर्शन करो, जैसे वज्रधारी इन्द्र माता अदितिका दर्शन करते हैं' ॥२८॥

ततो हलहलाशब्दः प्रादुरासीद् विशाम्पते।
हाहाकाराश्च बहवो नगरे नागसाह्वये ॥ २९ ॥

जनमेजय! तदनन्तर हस्तिनापुर नगरमें सब ओर बड़ा भारी कोलाहल मच गया। अनेक प्रकारके हाहाकार सुनायी देने लगे ॥ २९ ॥

केचिदेनं प्रशंसन्ति निन्दन्ति स्म तथापरे।
तूष्णीमासंस्तथा चान्ये नृपास्तत्र जनाधिप ॥ ३० ॥

राजन्! कोई तो कर्णकी प्रशंसा करते थे और दूसरे उसकी निन्दा करते थे। अन्य कितने ही राजा निन्दा और प्रशंसा कुछ भी न करके मौन थे ॥ ३० ॥

एवं विजित्य राजेन्द्र कर्णः शस्त्रभृतां वरः।
सपर्वतवनाकाशां ससमुद्रां सनिष्कुटाम् ॥ ३१ ॥
देशैरुच्चावचैः पूर्णां पत्तनैर्नगरैरपि।
द्वीपैश्चानूपसम्पूर्णैः पृथिवीं पृथिवीपते ॥ ३२ ॥
कालेन नातिदीर्घेण वशे कृत्वा तु पार्थिवान्।
अक्षयं धनमादाय सूतजो नृपमभ्ययात् ॥ ३३ ॥

महाराज! इस प्रकार शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ सूतपुत्र कर्णने पर्वत, वन, खुले स्थान, समुद्र, उद्यान, ऊँचे-नीचे देश, पुर और नगर, द्वीप और जलयुक्त प्रदेशोंसे युक्त सारी पृथ्वीको जीतकर थोड़े ही समयमें समस्त राजाओंको वशमें कर लिया और उनसे अटूट धनराशि लेकर वह राजा धृतराष्ट्रके समीप आया॥

प्रविश्य च गृहं राजन्नभ्यन्तरमरिंदम।
गान्धारीसहितं वीरो धृतराष्ट्रं ददर्श सः ॥ ३४ ॥
पुत्रवच्च नरव्याघ्र पादौ जग्राह धर्मवित्।
धृतराष्ट्रेण चाश्लिष्य प्रेम्णा चापि विसर्जितः ॥ ३५ ॥

शत्रुसूदन जनमेजय! धर्मज्ञ वीर कर्णने अन्तःपुरमें प्रवेश करके गान्धारीसहित धृतराष्ट्रका दर्शन किया और पुत्रकी भाँति उसने उनके दोनों चरण पकड़ लिये। धृतराष्ट्रने भी उसे प्रेमपूर्वक हृदयसे लगाकर विदा किया ॥ ३४-३५ ॥

तदा प्रभृति राजा च शकुनिश्चापि सौबलः।
जानते निर्जितान् पार्थान् कर्णेन युधि भारत ॥ ३६ ॥

भारत! तबसे राजा दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि युद्धमें कर्णद्वारा पाण्डवोंको पराजित हुआ ही समझने लगे॥३६॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदिग्विजये चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णदिग्विजयसम्बन्धी दो सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२५४॥

पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्ण और पुरोहितकी सलाहसे दुर्योधनकी वैष्णवयज्ञके लिये तैयारी

वैशम्पायन उवाच

जित्वा तु पृथिवीं राजन् सूतपुत्रो जनाधिप।
अब्रवीत् परवीरघ्नो दुर्योधनमिदं वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! शत्रु-वीरोंका संहार करनेवाले सूतपुत्र कर्णने सारी पृथ्वीको जीतकर दुर्योधनसे इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

कर्ण उवाच

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव।
श्रुत्वा वाचं तथा सर्वं कर्तुमर्हस्यरिंदम ॥ २ ॥

कर्ण बोला—कुरुनन्दन दुर्योधन! मैं जो कहता हूँ, उसे सुनो। शत्रुदमन! मेरी बात सुनकर उसके अनुसार सब कुछ करो ॥ २ ॥

तवाद्य पृथिवी वीर निःसपत्ना नृपोत्तम।
तां पालय यथा शक्रो हतशत्रुर्महामनाः ॥ ३ ॥

वीर! नृपश्रेष्ठ! आज सारी पृथ्वी तुम्हारे लिये निष्कण्टक हो गयी है। जैसे महामना इन्द्र अपने शत्रुओंका संहार करके त्रिलोकीका पालन करते हैं, उसी प्रकार तुम भी इस पृथ्वीका पालन करो ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन कर्णं राजाब्रवीत् पुनः।
न किंचिद् दुर्लभं तस्य यस्य त्वं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥
सहायश्चानुरक्तश्च मदर्थं च समुद्यतः।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तं वै शृणु यथातथम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने पुनः उससे कहा—'पुरुषश्रेष्ठ!

जिसके सहायक तुम हो एवं जिसपर तुम्हारा अनुराग है, उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। तुम सदा मेरे हितके लिये उद्यत रहते हो। मेरा एक मनोरथ है, जिसे यथार्थरूपसे बतलाता हूँ, सुनो ॥ ४-५ ॥

राजसूयं पाण्डवस्य दृष्ट्वा क्रतुवरं महत्।
मम स्पृहा समुत्पन्ना तां सम्पादय सूतज ॥ ६ ॥

सूतनन्दन! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके उस क्रतुश्रेष्ठ महान् राजसूय-यज्ञको देखकर मेरे मनमें भी उसे करनेकी इच्छा जाग उठी है। तुम इस इच्छाको पूर्ण करो' ॥ ६ ॥

एवमुक्तस्ततः कर्णो राजानमिदमब्रवीत्।
तवाद्य पृथिवीपाला वश्याः सर्वे नृपोत्तम ॥ ७ ॥
आहूयन्तां द्विजवराः सम्भाराश्च यथाविधि।
सम्भ्रियन्तां कुरुश्रेष्ठ यज्ञोपकरणानि च ॥ ८ ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर कर्णने उससे यह कहा—'नृपश्रेष्ठ! इस समय भूपाल तुम्हारे वशमें हैं। कुरुकुलश्रेष्ठ! उत्तम ब्राह्मणोंको बुलाओ और विधिपूर्वक यज्ञकी सामग्रियों तथा उपकरणोंको जुटाओ ॥ ७-८ ॥

ऋत्विजश्च समाहूता यथोक्ता वेदपारगाः।
क्रियां कुर्वन्तु ते राजन् यथाशास्त्रमरिंदम ॥ ९ ॥

'शत्रुदमन नरेश! तुम्हारे द्वारा आमन्त्रित शास्त्रोक्त योग्यतासे सम्पन्न वेदज्ञ ऋत्विक् विधिके अनुसार सब कार्य करें ॥ ९ ॥

बह्वन्नपानसंयुक्तः सुसमृद्धगुणान्वितः।
प्रवर्ततां महायज्ञस्तवापि भरतर्षभ ॥ १० ॥

'भरतश्रेष्ठ! तुम्हारा महायज्ञ भी प्रचुर अन्नपानकी सामग्रीसे युक्त और अत्यन्त समृद्धिशाली गुणोंसे सम्पन्न हो' ॥

एवमुक्तस्तु कर्णेन धार्तराष्ट्रो विशाम्पते।
पुरोहितं समानाय्य वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं समाप्तवरदक्षिणम्।
आहर त्वं मम कृते यथान्यायं यथाक्रमम् ॥ १२ ॥

राजन्! कर्णके इस प्रकार अनुमोदन करनेपर दुर्योधनने अपने पुरोहितको बुलाकर यह बात कही—'ब्रह्मन्! आप मेरे लिये उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका यथोचित रीतिसे विधिपूर्वक अनुष्ठान करवाइये' ॥ ११-१२ ॥

स एवमुक्तो नृपतिमुवाच द्विजसत्तमः।
(ब्राह्मणैः सहितो राजन् ये तत्रासन् समागताः।)
न स शक्यः क्रतुश्रेष्ठो जीवमाने युधिष्ठिरे ॥ १३ ॥
आहर्तुं कौरवश्रेष्ठ कुले तव नृपोत्तम।
दीर्घायुर्जीवति च ते धृतराष्ट्रः पिता नृप ॥ १४ ॥
अतश्चापि विरुद्धस्ते क्रतुरेष नृपोत्तम।

नरेश्वर! राजाके इस प्रकार आदेश देनेपर विप्रवर पुरोहितने वहाँ आये हुए अन्य ब्राह्मणोंके साथ इस प्रकार उत्तर दिया।—'कौरवश्रेष्ठ! नृपशिरोमणे! राजा युधिष्ठिरके जीते आपके कुलमें इस उत्तम क्रतु राजसूयका अनुष्ठान नहीं किया जा सकता। महाराज! अभी आपके दीर्घायु पिता धृतराष्ट्र भी जीवित हैं, इसलिये भी यह यज्ञ आपके लिये अनुकूल नहीं पड़ता ॥ १३-१४½ ॥

अस्ति त्वन्यन्महत् सत्रं राजसूयसमं प्रभो ॥ १५ ॥

प्रभो! एक दूसरा महान् यज्ञ है, जो राजसूयकी समानता रखता है ॥ १५ ॥

तेन त्वं यज राजेन्द्र शृणु चेदं वचो मम।
य इमे पृथिवीपालाः करदास्तव पार्थिव ॥ १६ ॥
ते करान् सम्प्रयच्छन्तु सुवर्णं च कृताकृतम्।
तेन ते क्रियतामद्य लाङ्गलं नृपसत्तम ॥ १७ ॥

'राजेन्द्र! आप उसीके द्वारा भगवान्‌का यजन कीजिये और इसके सम्बन्धमें मेरी यह बात सुनिये। पृथ्वीनाथ! ये जो सब भूपाल आपको कर देते हैं, इन्हें आज्ञा दीजिये—ये लोग आपको सुवर्णके बने हुए आभूषण तथा सुवर्ण 'कर'के रूपमें अर्पण करें। नृपश्रेष्ठ! उसी सुवर्णसे आप एक हल तैयार करवाइये॥ १६-१७॥

यज्ञवाटस्य ते भूमिः कृष्यतां तेन भारत।
तत्र यज्ञो नृपश्रेष्ठ प्रभूतान्नः सुसंस्कृतः ॥ १८ ॥
प्रवर्ततां यथान्यायं सर्वतो ह्यनिवारितः।

'भारत! उसी हलसे आपके यज्ञमण्डपकी भूमि जोती जाय। नृपश्रेष्ठ! उस जोती हुई भूमिमें ही उत्तम संस्कारसे सम्पन्न, प्रचुर अन्नपानसे युक्त और सबके लिये खुला हुआ यज्ञ यथोचित रूपसे प्रारम्भ किया जाय ॥ १८½ ॥

एष ते वैष्णवो नाम यज्ञः सत्पुरुषोचितः ॥ १९ ॥
एतेन नेष्टवान् कश्चिदृते विष्णुं पुरातनम्।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं स्पर्धत्येष महाक्रतुः ॥ २० ॥

'यह मैंने आपको वैष्णव नामक यज्ञ बताया है जिसका अनुष्ठान सत्पुरुषोंके लिये सर्वथा उचित है। पुरातन पुरुष भगवान् विष्णुके सिवा और किसीने अबतक इस यज्ञका अनुष्ठान नहीं किया है। यह महायज्ञ क्रतुश्रेष्ठ राजसूयसे टक्कर लेनेवाला है ॥ १९-२० ॥

अस्माकं रोचते चैव श्रेयश्च तव भारत।
निर्विघ्नश्च भवत्येष सफला स्यात् स्पृहा तव ॥ २१ ॥

'भारत! हमलोगोंको तो यही यज्ञ पसंद है और यही आपके लिये कल्याणकारी होगा। यह यज्ञ बिना किसी विघ्नबाधाके सम्पन्न हो जाता है; अतः तुम्हारी यह यज्ञविषयक अभिलाषा भी इसीसे सफल होगी ॥ २१ ॥

(तस्मादेष महाबाहो तव यज्ञः प्रवर्तताम् ।)
एवमुक्तस्तु तैर्विप्रैर्धार्तराष्ट्रो महीपतिः।
कर्णं च सौबलं चैव भ्रातॄंश्चैवेदमब्रवीत् ॥ २२ ॥

'इसलिये महाबाहो ! तुम्हारा यह यज्ञ आरम्भ होना चाहिये।' उन ब्राह्मणोंके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने कर्ण, शकुनि तथा अपने भाइयोंसे इस प्रकार कहा—॥ २२ ॥

रोचते मे वचः कृत्स्नं ब्राह्मणानां न संशयः।
रोचते यदि युष्माकं तस्मात् प्रब्रूत मा चिरम्॥ २३ ॥

'बन्धुओ ! मुझे तो इन ब्राह्मणोंकी सारी बातें रुचिकर जान पड़ती हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। यदि तुमलोगोंको भी यह बात अच्छी लगे, तो शीघ्र अपनी सम्मति प्रकट करो'॥ २३ ॥

एवमुक्तास्तु ते सर्वे तथेत्यूचुर्नराधिपम्।
संदिदेश ततो राजा व्यापारस्थान् यथाक्रमम्॥ २४ ॥
हलस्य करणे चापि व्यादिष्टाः सर्वशिल्पिनः।
यथोक्तं च नृपश्रेष्ठ कृतं सर्वं यथाक्रमम्॥ २५ ॥

यह सुनकर उन सबने राजासे 'तथास्तु' कहकर उसकी हाँमें हाँ मिला दी। तदनन्तर राजा दुर्योधनने काममें लगे हुए सब शिल्पियोंको क्रमशः हल बनानेकी आज्ञा दी। नृपश्रेष्ठ ! राजाकी आज्ञा पाकर सब शिल्पियोंने तदनुसार सारा कार्य क्रमशः सम्पन्न किया॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनयज्ञसमारम्भे पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनयज्ञसमारम्भविषयक दो सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२५५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके यज्ञका आरम्भ एवं समाप्ति

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु शिल्पिनः सर्वे अमात्यप्रवराश्च ये।
विदुरश्च महाप्राज्ञो धार्तराष्ट्रे न्यवेदयन्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर समस्त शिल्पियों, श्रेष्ठ मन्त्रियों तथा परम बुद्धिमान् विदुरजीने दुर्योधनको सूचना दी—॥ १ ॥

सज्जं क्रतुवरं राजन् प्राप्तकालं च भारत।
सौवर्णं च कृतं सर्वं लाङ्गलं च महाधनम्॥ २ ॥

'भारत ! क्रतुश्रेष्ठ वैष्णवयज्ञकी सारी सामग्री जुट गयी है। यज्ञका नियत समय भी आ पहुँचा है और सोनेका बहुमूल्य हल भी पूर्णरूपसे बन गया है'॥ २ ॥

एतच्छ्रुत्वा नृपश्रेष्ठो धार्तराष्ट्रो विशाम्पते।
आज्ञापयामास नृपः क्रतुराजप्रवर्तनम्॥ ३ ॥

राजन् ! यह सुनकर नृपश्रेष्ठ दुर्योधनने उस क्रतुराजको प्रारम्भ करनेकी आज्ञा दी॥ ३ ॥

ततः प्रववृते यज्ञः प्रभूतार्थः सुसंस्कृतः।
दीक्षितश्चापि गान्धारिर्यथाशास्त्रं यथाक्रमम्॥ ४ ॥

फिर तो उत्तम संस्कारसे युक्त और प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न वह वैष्णवयज्ञ आरम्भ हुआ। गान्धारीनन्दन दुर्योधनने शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार विधिपूर्वक उस यज्ञकी दीक्षा ली॥

प्रहृष्टो धृतराष्ट्रश्च विदुरश्च महायशाः।
भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णो गान्धारी च यशस्विनी॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र, महायशस्वी विदुर, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण तथा यशस्विनी गान्धारीको इस यज्ञसे बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ५ ॥

निमन्त्रणार्थं दूतांश्च प्रेषयामास शीघ्रगान्।
पार्थिवानां च राजेन्द्र ब्राह्मणानां तथैव च॥ ६ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर समस्त भूपालों तथा ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करनेके लिये बहुत-से शीघ्रगामी दूत भेजे॥ ६ ॥

ते प्रयाता यथोद्दिष्टा दूतास्त्वरितवाहनाः।
तत्र कंचित् प्रयातं तु दूतं दुःशासनोऽब्रवीत्॥ ७ ॥

दूतगण तेज चलनेवाले वाहनोंपर सवार हो जिन्हें जैसी आज्ञा मिली थी, उसके अनुसार कर्तव्यपालनके लिये प्रस्थित हुए। उन्हींमेंसे एक जाते हुए दूतसे दुःशासनने कहा—॥७॥

गच्छ द्वैतवनं शीघ्रं पाण्डवान् पापपूरुषान्।
निमन्त्रय यथान्यायं विप्रांस्तस्मिन् वने तदा॥ ८ ॥

'तुम शीघ्रतापूर्वक द्वैतवनमें जाओ और पापात्मा पाण्डवों तथा उस वनमें रहनेवाले ब्राह्मणोंको यथोचित रीतिसे निमन्त्रण दे आओ'॥ ८ ॥

स गत्वा पाण्डवान् सर्वानुवाचाभिप्रणम्य च।
दुर्योधनो महाराज यजते नृपसत्तमः॥ ९ ॥
स्ववीर्यार्जितमर्थौघमवाप्य कुरुसत्तमः।
तत्र गच्छन्ति राजानो ब्राह्मणाश्च ततस्ततः॥ १० ॥

उस दूतने समस्त पाण्डवोंके पास जाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'महाराज ! कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष नृपतिशिरोमणि दुर्योधन अपने पराक्रमसे अतुल धनराशि प्राप्तकर एक यज्ञ कर रहे हैं। उसमें (विभिन्न स्थानोंसे) बहुत-से राजा और ब्राह्मण पधार रहे हैं॥ ९-१० ॥

अहं तु प्रेषितो राजन् कौरवेण महात्मना।
आमन्त्रयति वो राजा धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः॥ ११ ॥
मनोऽभिलषितं राज्ञस्तं क्रतुं द्रष्टुमर्हथ।

'राजन् ! महामना दुःशासनने मुझे आपके पास भेजा है। जननायक महाराज दुर्योधन आपलोगोंको उस यज्ञमें बुला रहे हैं। आपलोग चलकर राजाके मनोवाञ्छित उस यज्ञका दर्शन कीजिये' ॥ ११½ ॥



ततो युधिष्ठिरो राजा तच्छ्रुत्वा दूतभाषितम् ॥ १२ ॥
अब्रवीन्नृपशार्दूलो दिष्ट्या राजा सुयोधनः ।
यजते क्रतुमुख्येन पूर्वेषां कीर्तिवर्धनः ॥ १३ ॥

दूतका यह कथन सुनकर राजाओंमें सिंहके समान महाराज युधिष्ठिरने इस प्रकार उत्तर दिया—'सौभाग्यकी बात है कि पूर्वजोंकी कीर्ति बढ़ानेवाले राजा दुर्योधन श्रेष्ठ यज्ञके द्वारा भगवान्‌का यजन कर रहे हैं ॥ १२-१३ ॥

वयमप्युपयास्यामो न त्विदानीं कथंचन ।
समयः परिपाल्यो नो यावद् वर्षं त्रयोदशम् ॥ १४ ॥

'हम भी उस यज्ञमें चलते; परंतु इस समय यह किसी तरह सम्भव नहीं है। हमें तेरह वर्षतक वनमें रहनेकी अपनी प्रतिज्ञाका पालन करना है' ॥ १४ ॥

श्रुत्वैतद् धर्मराजस्य भीमो वचनमब्रवीत् ।
तदा तु नृपतिर्गन्ता धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
अस्त्रशस्त्रप्रदीप्तेऽग्नौ यदा तं पातयिष्यति ।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं रणसत्रे नराधिपः ॥ १६ ॥
यदा क्रोधहविर्मोक्ता धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवः ।
आगन्ताहं तदास्मीति वाच्यस्ते स सुयोधनः ॥ १७ ॥

धर्मराजकी यह बात सुनकर भीमसेनने दूतसे इस प्रकार कहा—'दूत ! तुम राजा दुर्योधनसे जाकर यह कह देना कि सम्राट् धर्मराज युधिष्ठिर तेरह वर्ष बीतनेके पश्चात् उस समय वहाँ पधारेंगे, जब कि रणयज्ञमें अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्रज्वलित की हुई रोषाग्निमें वे तुम्हारी आहुति देंगे। जब रोषकी आगमें जलते हुए धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर पाण्डव अपने क्रोधरूपी घीकी आहुति डालनेको उद्यत होंगे, उस समय मैं (भीमसेन) वहाँ पदार्पण करूँगा' ॥ १५—१७ ॥

शेषास्तु पाण्डवा राजन् नैवोचुः किंचिदप्रियम् ।
दूतश्चापि यथावृत्तं धार्तराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ १८ ॥

राजन् ! शेष पाण्डवोंने कोई अप्रिय वचन नहीं कहा। दूतने भी लौटकर दुर्योधनसे सब समाचार ठीक-ठीक बता दिया ॥

अथाजग्मुर्नरश्रेष्ठा नानाजनपदेश्वराः ।
ब्राह्मणाश्च महाभाग धार्तराष्ट्रपुरं प्रति ॥ १९ ॥

महाभाग ! तदनन्तर विभिन्न देशोंके अधिपति नरश्रेष्ठ भूपाल तथा ब्राह्मण दुर्योधनकी राजधानी हस्तिनापुरमें आये ॥१९॥

ते त्वर्चिता यथाशास्त्रं यथाविधि यथाक्रमम् ।
मुदा परमया युक्ताः प्रीताश्चापि नरेश्वराः ॥ २० ॥

उन सबकी शास्त्रीय विधिसे यथोचित सेवा-पूजा की गयी। इससे वे नरेशगण अत्यन्त प्रसन्न हो मन-ही-मन आनन्दका अनुभव करने लगे ॥ २० ॥

धृतराष्ट्रोऽपि राजेन्द्र संवृतः सर्वकौरवैः ।
हर्षेण महता युक्तो विदुरं प्रत्यभाषत ॥ २१ ॥

राजेन्द्र ! समस्त कौरवोंसे घिरे हुए धृतराष्ट्रको भी बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने विदुरसे कहा—॥ २१ ॥

यथा सुखी जनः सर्वः क्षत्तः स्यादन्नसंयुतः ।
तुष्येत् तु यज्ञसदने तथा क्षिप्रं विधीयताम् ॥ २२ ॥

'भैया ! शीघ्र ऐसी व्यवस्था करो, जिससे इस यज्ञमण्डपमें पधारे हुए सभी लोग खानपानसे संतुष्ट एवं सुखी हों' ॥२२॥

विदुरस्तु तदाज्ञाय सर्ववर्णानरिंदम ।
यथा प्रमाणतो विद्वान् पूजयामास धर्मवित् ॥ २३ ॥

शत्रुदमन जनमेजय ! धर्मज्ञ एवं विद्वान् विदुरजीने सब मनुष्योंकी ठीक-ठीक संख्याका ज्ञान करके उन सबका यथोचित स्वागत-सत्कार किया ॥ २३ ॥

भक्ष्यपेयान्नपानेन माल्यैश्चापि सुगन्धिभिः ।
वासोभिर्विविधैश्चैव योजयामास हृष्टवत् ॥ २४ ॥

वे बड़े हर्षके साथ सभी अतिथियोंको उत्तम भक्ष्य, पेय अन्न-पान, सुगन्धित पुष्पहार तथा नाना प्रकारके वस्त्र देने लगे ॥ २४ ॥

कृत्वा ह्यावसथान् वीरो यथाशास्त्रं यथाक्रमम् ।
सान्त्वयित्वा च राजेन्द्रो दत्त्वा च विविधं वसु ॥ २५ ॥

विसर्जयामास नृपान् ब्राह्मणांश्च सहस्रशः ।

वीर राजा दुर्योधनने सभीको शास्त्रानुसार यथायोग्य निवासगृह बनवाकर उनमें ठहराया था । उसने सब प्रकारसे आश्वासन तथा भाँति-भाँतिके रत्न देकर सहस्रों राजाओं तथा ब्राह्मणोंको विदा किया ॥ २५½ ॥

विसृज्य च नृपान् सर्वान् भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २६ ॥
विवेश हास्तिनपुरं सहितः कर्णसौबलैः ॥ २७ ॥

इस प्रकार सब राजाओंको विदा देकर भाइयोंसे घिरे हुए दुर्योधनने कर्ण और शकुनिके साथ हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनयज्ञे षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनका यज्ञविषयक दो सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२५६॥

सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके यज्ञके विषयमें लोगोंका मत, कर्णद्वारा अर्जुनके वधकी प्रतिज्ञा, युधिष्ठिरकी चिन्ता तथा दुर्योधनकी शासननीति

वैशम्पायन उवाच

प्रविशन्तं महाराज सूतास्तुष्टुवुरच्युतम् ।
जनाश्चापि महेष्वासं तुष्टुवू राजसत्तम ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! राजश्रेष्ठ ! नगरमें प्रवेश करते समय सूतों तथा अन्य लोगोंने भी अटल निश्चयी और महान् धनुर्धर राजा दुर्योधनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ १ ॥

लाजैश्चन्दनचूर्णैश्च विकीर्य च जनास्ततः ।
ऊचुर्दिष्ट्या नृपाविघ्नः समाप्तोऽयं क्रतुस्तव ॥ २ ॥

तत्पश्चात् सब लोग लावा और चन्दनचूर्ण बिखेरकर कहने लगे—'महाराज ! आपका यह यज्ञ बिना किसी विघ्न-बाधाके पूर्ण हो गया, यह बड़े सौभाग्यकी बात है' ॥ २ ॥

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र वातिकास्तं महीपतिम् ।
युधिष्ठिरस्य यज्ञेन न समो ह्येष ते क्रतुः ॥ ३ ॥

वहीं कुछ ऐसे लोग भी थे, जिनका मस्तिष्क वातरोगसे विकृत था—कब क्या कहना उचित है, इसको वे नहीं जानते थे, अतः राजा दुर्योधनको सम्बोधित करके कहने लगे—'राजन् ! आपका यह यज्ञ युधिष्ठिरके यज्ञके समान नहीं था' ॥ ३ ॥

नैव तस्य क्रतोरेष कलामर्हति षोडशीम् ।
एवं तत्राब्रुवन् केचिद् वातिकास्तं जनेश्वरम् ॥ ४ ॥

कुछ अन्य वायुरोगग्रस्त लोग राजा दुर्योधनसे इस प्रकार कहने लगे—'यह यज्ञ तो युधिष्ठिरके यज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है' ॥ ४ ॥

सुहृदस्त्वब्रुवंस्तत्र अति सर्वानयं क्रतुः ।
ययातिर्नहुषश्चापि मान्धाता भरतस्तथा ॥ ५ ॥
क्रतुमेनं समाहृत्य पूताः सर्वे दिवं गताः ।

जो राजाके सुहृद् थे, वे वहाँ इस प्रकार बोले—'यह यज्ञ पिछले सब यज्ञोंसे बढ़कर हुआ है । ययाति, नहुष, मांधाता और भरत भी इस यज्ञ-कर्मका अनुष्ठान करके पवित्र हो सब-के-सब स्वर्गलोकमें गये हैं' ॥ ५½ ॥

एता वाचः शुभाः शृण्वन् सुहृदां भरतर्षभ ॥ ६ ॥
प्रविवेश पुरं हृष्टः स्ववेश्म च नराधिपः ।

भरतश्रेष्ठ ! सुहृदोंकी ये सुन्दर बातें सुनता हुआ राजा दुर्योधन प्रसन्नतापूर्वक नगरमें प्रवेश करके अपने राजभवनमें गया ॥ ६½ ॥

अभिवाद्य ततः पादौ मातापित्रोर्विशाम्पते ॥ ७ ॥
भीष्मद्रोणकृपादीनां विदुरस्य च धीमतः ।
अभिवादितः कनीयोभिर्भ्रातृभिर्भ्रातृनन्दनः ॥ ८ ॥

महाराज ! उसने सबसे पहले अपने माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया । तत्पश्चात् क्रमशः भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिको तथा बुद्धिमान् विदुरजीको भी मस्तक झुकाया । तदनन्तर छोटे भाइयोंने आकर भ्राताओंका आनन्द बढ़ानेवाले दुर्योधनको प्रणाम किया ॥ ७-८ ॥

निषसादासने मुख्ये भ्रातृभिः परिवारितः ।
तमुत्थाय महाराजं सूतपुत्रोऽब्रवीद् वचः ॥ ९ ॥

इसके बाद वह भाइयोंसे घिरा हुआ अपने प्रमुख राजसिंहासनपर विराजमान हुआ । उस समय सूतपुत्र कर्णने उठकर महाराज दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

दिष्ट्या ते भरतश्रेष्ठ समाप्तोऽयं महाक्रतुः ।
हतेषु युधि पार्थेषु राजसूये तथा त्वया ॥ १० ॥
आहृतेऽहं नरश्रेष्ठ त्वां सभाजयिता पुनः ।

'भरतश्रेष्ठ ! सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा यह महान् यज्ञ सकुशल समाप्त हुआ । नरश्रेष्ठ ! जब युद्धमें पाण्डव मारे जायँगे, उस समय तुम्हारे द्वारा आयोजित राजसूययज्ञकी समाप्तिपर मैं पुनः इसी प्रकार तुम्हारा अभिनन्दन करूँगा' ॥ १०½ ॥

तमब्रवीन्महाराजो धार्तराष्ट्रो महायशाः ॥ ११ ॥
सत्यमेतत् त्वयोक्तं हि पाण्डवेषु दुरात्मसु ।
निहतेषु नरश्रेष्ठ प्राप्ते चापि महाक्रतौ ॥ १२ ॥
राजसूये पुनर्वीर त्वमेवं वर्धयिष्यसि ।

तब महायशस्वी महाराज दुर्योधनने उससे इस प्रकार कहा—'वीर ! तुम्हारा यह कथन सत्य है । नरश्रेष्ठ ! जब दुरात्मा पाण्डव मारे जायँगे, उस समय महायज्ञ राजसूयके समाप्त होनेपर तुम पुनः इसी प्रकार मेरा अभिनन्दन करोगे' ॥ ११-१२½ ॥

एवमुक्त्वा महाराज कर्णमाश्लिष्य भारत ॥ १३ ॥
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास कौरवः ।

भरतकुलभूषण ! महाराज ! ऐसा कहकर दुर्योधनने कर्णको छातीसे लगा लिया और क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका चिन्तन करने लगा ॥ १३½ ॥

सोऽब्रवीत् कौरवांश्चापि पार्श्वस्थान् नृपसत्तमः॥१४॥
कदा तु तं क्रतुवरं राजसूयं महाधनम् ।
निहत्य पाण्डवान् सर्वानाहरिष्यामि कौरवाः ॥ १५ ॥

नृपश्रेष्ठ दुर्योधनने अपने पास खड़े हुए कौरवोंको सम्बोधित करके कहा—'कुरुकुलके राजकुमारो ! कब ऐसा समय आयगा, जब मैं समस्त पाण्डवोंको मारकर प्रचुर धनसे सम्पन्न होनेवाले उस क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान करूँगा' ॥ १४-१५ ॥

तमब्रवीत् तदा कर्णः शृणु मे राजकुञ्जर ।
पादौ न धावये तावद् यावन्न निहतोऽर्जुनः ॥ १६ ॥
कीलालजं न खादेयं करिष्ये चासुरव्रतम् ।
नास्तीति नैव वक्ष्यामि याचितो येन केनचित् ॥ १७ ॥

उस समय कर्णने दुर्योधनसे कहा—'नृपश्रेष्ठ ! मेरी यह प्रतिज्ञा सुन लो—'जबतक अर्जुन मेरे हाथसे मारा नहीं जाता, तबतक मैं दूसरोंसे पैर नहीं धुलवाऊँगा,' केवल जलसे उत्पन्न पदार्थ नहीं खाऊँगा और आसुरव्रत (क्रूरता आदि) नहीं धारण करूँगा । किसीके भी कुछ माँगनेपर 'नहीं है', ऐसी बात नहीं कहूँगा' ॥ १६-१७ ॥

अथोत्कुष्टं महेष्वासैर्धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
प्रतिज्ञाते फाल्गुनस्य वधे कर्णेन संयुगे ॥ १८ ॥

कर्णके द्वारा युद्धमें अर्जुनके वधकी प्रतिज्ञा करनेपर महान् धनुर्धर महारथी धृतराष्ट्रपुत्रोंने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ १८ ॥

विजितांश्चाप्यमन्यन्त पाण्डवान् धृतराष्ट्रजाः ।
दुर्योधनोऽपि राजेन्द्र विसृज्य नरपुङ्गवान् ॥ १९ ॥
प्रविवेश गृहं श्रीमान् यथा चैत्ररथं प्रभुः ।
तेऽपि सर्वे महेष्वासा जग्मुर्वेश्मानि भारत ॥ २० ॥

उस दिनसे कौरव पाण्डवोंको पराजित ही मानने लगे। राजेन्द्र ! तदनन्तर जैसे देवराज इन्द्र चैत्ररथ नामक उद्यानमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार श्रीमान् राजा दुर्योधनने उन नरपुङ्गवोंको विदा करके अपने महलमें प्रवेश किया । भारत ! तदनन्तर वे सभी महाधनुर्धर वीर अपने-अपने भवनमें चले गये ॥ १९-२० ॥

पाण्डवाश्च महेष्वासा दूतवाक्यप्रचोदिताः ।
चिन्तयन्तस्तमेवार्थं नालभन्त सुखं क्वचित् ॥ २१ ॥

इधर महाधनुर्धर पाण्डव इनके वाक्यसे प्रेरित हो उसी विषयका चिन्तन करते हुए कभी चैन नहीं पाते थे ।२१।

भूयश्च चारै राजेन्द्र प्रवृत्तिरुपपादिता ।
प्रतिज्ञा सूतपुत्रस्य विजयस्य वधं प्रति ॥ २२ ॥

महाराज ! फिर उन्होंने गुप्तचरोंद्वारा वह समाचार भी प्राप्त कर लिया, जिसमें अर्जुनके वधके लिये सूतपुत्र कर्णकी प्रतिज्ञा दुहरायी गयी थी ॥ २२ ॥

एतच्छ्रुत्वा धर्मसुतः समुद्विग्नो नराधिप ।
अभेद्यकवचं मत्वा कर्णमद्भुतविक्रमम् ॥ २३ ॥
अनुस्मरंश्च संक्लेशान् न शान्तिमुपयाति सः ।

राजन् ! यह सब सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर उद्विग्न हो उठे । वे विचारने लगे,—'कर्णका कवच अभेद्य है और उसका पराक्रम भी अद्भुत है।' यह मानकर तथा वनके क्लेशोंका स्मरण करके उन्हें शान्ति नहीं प्राप्त होती थी।२३½।

तस्य चिन्तापरीतस्य बुद्धिर्जज्ञे महात्मनः ॥ २४ ॥
बहुव्यालमृगाकीर्णं त्यक्तुं द्वैतवनं वनम् ।

इस प्रकार चिन्तासे घिरे हुए महात्मा युधिष्ठिरके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'अनेक प्रकारके सर्पों तथा मृगोंसे भरे हुए इस द्वैतवनको छोड़कर हम कहीं अन्यत्र चले चलें' ॥ २४½ ॥

धार्तराष्ट्रोऽपि नृपतिः प्रशशास वसुन्धराम् ॥ २५ ॥
भ्रातृभिः सहितो वीरैर्भीष्मद्रोणकृपैस्तथा ।
सङ्गम्य सूतपुत्रेण कर्णेनाहवशोभिना ॥ २६ ॥
(सततं प्रीयमाणो वै देविना सौबलेन च ।)

इधर राजा दुर्योधन भी अपने वीर भाइयोंके साथ रहकर भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, युद्धमें शोभा पानेवाले सूतपुत्र कर्ण तथा द्यूतकुशल शकुनिसे मिलकर निरन्तर प्रसन्नताका अनुभव करता हुआ इस पृथ्वीका शासन करने लगा।२५-२६।

दुर्योधनः प्रिये नित्यं वर्तमानो महीभृताम् ।
पूजयामास विप्रेन्द्रान् क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २७ ॥

दुर्योधन सदा अपने अधीन रहनेवाले राजाओंका प्रिय करने लगा और प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका भी स्वागत-सत्कार करता रहा ॥ २७ ॥

भ्रातृणां च प्रियं राजन् स चकार परंतपः ।
निश्चित्य मनसा वीरो दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ २८ ॥

राजन् ! शत्रुओंको संताप देनेवाला वीर दुर्योधन निरन्तर अपने भाइयोंका प्रिय कार्य किया करता था। 'धनके दो ही फल हैं—दान और भोग' ऐसा मन-ही-मन निश्चय करके वह इन्हींमें धनका उपयोग करता था ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि युधिष्ठिरचिन्तायां सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें युधिष्ठिरकी चिन्तासे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२५७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २८½ श्लोक हैं)

(मृगस्वप्नोद्भवपर्व)

अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका काम्यकवनमें गमन

जनमेजय उवाच

दुर्योधनं मोक्षयित्वा पाण्डुपुत्रा महाबलाः ।
किमकार्षुर्वने तस्मिंस्तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—दुर्योधनको गन्धर्वोंके बन्धनसे छुड़ाकर महाबली पाण्डवोंने उस वनमें कौन-सा कार्य किया? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः शयानं कौन्तेयं रात्रौ द्वैतवने मृगाः ।
स्वप्नान्ते दर्शयामासुर्बाष्पकण्ठा युधिष्ठिरम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—तदनन्तर एक रातमें जब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर सो रहे थे, स्वप्नमें द्वैतवनके सिंह-बाघ आदि हिंस्र पशुओंने उन्हें दर्शन दिया। उन सबके कण्ठ आँसुओंसे रुँधे हुए थे ॥ २ ॥

तानब्रवीत् स राजेन्द्रो वेपमानान् कृताञ्जलीन् ।
ब्रूत यद् वक्तुकामाः स्थ के भवन्तः किमिष्यते ॥ ३ ॥

वे थरथर काँपते हुए हाथ जोड़कर खड़े थे। महाराज युधिष्ठिरने उनसे पूछा—'आपलोग कौन हैं? क्या कहना चाहते हैं? आपकी क्या इच्छा है? बताइये' ॥ ३ ॥

एवमुक्ताः पाण्डवेन कौन्तेयेन यशस्विना ।
प्रत्यब्रुवन् मृगास्तत्र हतशेषा युधिष्ठिरम् ॥ ४ ॥

यशस्वी पाण्डव कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर मरनेसे बचे हुए हिंसक पशुओंने उनसे कहा—॥४॥

वयं मृगा द्वैतवने हतशिष्टास्तु भारत ।
नोत्सीदेम महाराज क्रियतां वासपर्ययः ॥ ५ ॥

'भारत ! हम द्वैतवनके पशु हैं। आपलोगोंके मारनेसे हमारी इतनी ही संख्या शेष रह गयी है। महाराज! हमारा सर्वथा संहार न हो जाय, इसके लिये आप अपना निवासस्थान बदल दीजिये ॥ ५ ॥

भवतो भ्रातरः शूराः सर्व एवास्त्रकोविदाः ।
कुलान्यल्पावशिष्टानि कृतवन्तो वनौकसाम् ॥ ६ ॥

'आपके सभी भाई शूरवीर एवं अस्त्रविद्याके पण्डित हैं। इन्होंने हम वनवासी हिंसक पशुओंके कुलोंको थोड़ी ही संख्यामें जीवित छोड़ा है ॥ ६ ॥

बीजभूता वयं केचिदवशिष्टा महामते ।
विवर्धेमहि राजेन्द्र प्रसादात् ते युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

'महामते ! हम सिंह, बाघ आदि पशु थोड़ी-सी संख्यामें अपने वंशके बीजमात्र शेष रह गये हैं। महाराज युधिष्ठिर ! आपकी कृपासे हमारे वंशकी वृद्धि हो, यही हम निवेदन करते हैं' ॥ ७ ॥

तान् वेपमानान् वित्रस्तान् बीजमात्रावशेषितान् ।
मृगान् दृष्ट्वा सुदुःखार्तो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ८ ॥

वे सिंह-बाघ आदि पशु त्रस्त होकर थरथर काँप रहे थे और बीजमात्र ही शेष रह गये थे। उनकी यह दयनीय दशा देखकर धर्मराज युधिष्ठिर अत्यन्त दुःखसे व्याकुल हो गये।८।

तांस्तथेत्यब्रवीद् राजा सर्वभूतहिते रतः ।
यथा भवन्तो ब्रुवते करिष्यामि च तत् तथा ॥ ९ ॥

समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले राजा युधिष्ठिरने उनसे कहा—'बहुत अच्छा, तुमलोग जैसा कहते हो, वैसा ही करूँगा' ॥ ९ ॥

इत्येवं प्रतिबुद्धः स रात्र्यन्ते राजसत्तमः ।
अब्रवीत् सहितान् भ्रातॄन् दयापन्नो मृगान् प्रति ॥ १० ॥
उक्तो रात्रौ मृगैरस्मि स्वप्नान्ते हतशेषितैः ।
तन्तुभूताः स्म भद्रं ते दया नः क्रियतामिति ॥ ११ ॥

इस प्रकार रात बीतनेपर जब सबेरे उनकी नींद खुली, तब वे नृपतिशिरोमणि हिंसक पशुओंके प्रति दयाभावसे द्रवित हो अपने सब भाइयोंसे बोले—'बन्धुओ ! रातको सपनेमें मरनेसे बचे हुए इस वनके पशुओंने मुझसे कहा

है—'राजन् ! आपका भला हो। हम अपनी वंशपरम्पराके एक-एक तन्तुमात्र शेष रह गये हैं। अब हमलोगोंपर दया कीजिये' ॥ १०-११ ॥

ते सत्यमाहुः कर्तव्या दयास्माभिर्वनौकसाम्।
साष्टमासं हि नो वर्षं यदेतदुपयुङ्क्ष्महे ॥ १२ ॥

'मेरी समझमें वे पशु ठीक कहते हैं। हमलोगोंको वनवासी हिंस्र जीवोंपर भी दया करनी चाहिये। अबतक हमलोगोंको इस द्वैतवनमें रहते हुए एक वर्ष आठ महीने बीत चुके हैं ॥ १२ ॥

पुनर्बहुमृगं रम्यं काम्यकं काननोत्तमम्।
मरुभूमेः शिरःस्थानं तृणबिन्दुसरः प्रति ॥ १३ ॥
तत्रेमां वसतिं शिष्टां विहरन्तो रमेमहि।

'अतः अब हम पुनः असंख्य मृगोंसे युक्त, रमणीय तथा उत्तम काम्यक वनमें तृणबिन्दु नामक सरोवरके पास चलें। काम्यकवन मरुभूमिके शीर्षक स्थानमें पड़ता है। वहीं विहार करते हुए हम वनवासके शेष दिन सुखपूर्वक बितायेंगे' ॥ १३½ ॥

ततस्ते पाण्डवाः शीघ्रं प्रययुर्धर्मकोविदाः ॥ १४ ॥
ब्राह्मणैः सहिता राजन् ये च तत्र सहोषिताः।
इन्द्रसेनादिभिश्चैव प्रेष्यैरनुगतास्तदा ॥ १५ ॥

राजन् ! तदनन्तर उन धर्मज्ञ पाण्डवोंने वहाँ रहनेवाले ब्राह्मणोंके साथ शीघ्र ही उस वनसे प्रस्थान कर दिया। इन्द्रसेन आदि सेवक भी उस समय उन्हींके साथ चल दिये ॥ १४-१५ ॥

ते यात्वानुसृतैर्मार्गैः स्वन्नैः शुचिजलान्वितैः।
ददृशुः काम्यकं पुण्यमाश्रमं तापसायुतम् ॥ १६ ॥

वे सब लोग उत्तम अन्न और पवित्र जलकी सुविधासे सम्पन्न तथा सदा चालू रहनेवाले मार्गोंसे यात्रा करते हुए पुण्य एवं बहुतेरे तपस्वी जनोंसे युक्त काम्यक वनके आश्रममें पहुँचकर वहाँकी शोभा देखने लगे ॥ १६ ॥

विविशुस्ते स कौरव्या वृता विप्रर्षभैस्तदा।
तद् वनं भरतश्रेष्ठाः स्वर्गं सुकृतिनो यथा ॥ १७ ॥

जैसे पुण्यात्मा पुरुष स्वर्गमें जाते हैं, उसी प्रकार उन भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ काम्यक वनमें प्रवेश किया ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मृगस्वप्नोद्भवपर्वणि काम्यकप्रवेशे अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मृगस्वप्नोद्भवपर्वमें काम्यकवनप्रवेशविषयक दो सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५८ ॥

(व्रीहिद्रौणिकपर्व)

एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता, व्यासजीका पाण्डवोंके पास आगमन और दानकी महत्ताका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

वने निवसतां तेषां पाण्डवानां महात्मनाम्।
वर्षाण्येकादशातीयुः कृच्छ्रेण भरतर्षभ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! इस प्रकार वनमें रहते हुए उन महात्मा पाण्डवोंके ग्यारह वर्ष बड़े कष्टसे बीते ॥ १ ॥

फलमूलाशनास्ते हि सुखार्हा दुःखमुत्तमम्।
प्राप्तकालमनुध्यान्तः सेहिरे वरपूरुषाः ॥ २ ॥

वे फल-मूल खाकर रहते थे। सुख भोगनेके योग्य होकर भी महान् कष्ट भोगते थे और यह सोचकर कि यह हमारे कष्टका समय है, इसे धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये, चुपचाप सब दुःख झेलते थे। उनमें ऐसा विवेक इसलिये था कि वे सबके सब श्रेष्ठ पुरुष थे ॥ २ ॥

युधिष्ठिरस्तु राजर्षिरात्मकर्मापराधजम्।
चिन्तयन् स महाबाहुर्भ्रातॄणां दुःखमुत्तमम् ॥ ३ ॥

महाबाहु राजर्षि युधिष्ठिर सदा यही सोचते रहते थे कि 'मेरे भाइयोंपर जो यह महान् दुःख आ पड़ा है, मेरी ही करनीका फल है। मेरे ही अपराधसे इन्हें कष्ट भोगना पड़ रहा है' ॥ ३ ॥

न सुष्वाप सुखं राजा हृदि शल्यैरिवार्पितैः।
दौरात्म्यमनुपश्यंस्तत् काले द्यूतोद्भवस्य हि ॥ ४ ॥
संस्मरन् परुषा वाचः सूतपुत्रस्य पाण्डवः।
निःश्वासपरमो दीनो बिभ्रत् कोपविषं महत् ॥ ५ ॥

इसी चिन्तामें पड़े-पड़े राजा युधिष्ठिर रातमें सुखकी नींद नहीं सो पाते थे। ये बातें उनके हृदयमें चुभे हुए काँटोंके समान दुःख दिया करती थीं। जूआ खेलनेके कारण-भूत शकुनि आदिकी दुष्टतापर दृष्टिपात करके तथा सूतपुत्र कर्णकी कठोर बातोंको स्मरण करके पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर दीनभावसे लंबी साँसें लेते रहते और महान् क्रोधरूपी विषको अपने हृदयमें धारण करते थे ॥ ४—५ ॥

अर्जुनो यमजौ चोभौ द्रौपदी च यशस्विनी।

स च भीमो महातेजाः सर्वेषामुत्तमो बली ॥ ६ ॥
युधिष्ठिरमुदीक्षन्तः सेहुर्दुःखमनुत्तमम् ।

अर्जुन, दोनों भाई नकुल-सहदेव, यशस्विनी द्रौपदी तथा सर्वश्रेष्ठ बलवान् महातेजस्वी भीमसेन भी राजा युधिष्ठिरकी ओर देखते हुए महान्-से-महान् दुःखको चुपचाप सहते रहे ॥ ६½ ॥

अवशिष्टमल्पकालं मन्वानाः पुरुषर्षभाः ॥ ७ ॥
वपुरन्यदिवाकार्षुरुत्साहामर्षचेष्टितैः ।

'अब तो वनवासका थोड़ा-सा ही समय शेष रह गया है, ऐसा समझकर नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने उत्साह एवं अमर्षयुक्त चेष्टाओंसे अपने शरीरको किसी और ही प्रकारका बना लिया था ॥ ७½ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ ८ ॥
आजगाम महायोगी पाण्डवानवलोककः ।
तमागतमभिप्रेक्ष्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
प्रत्युद्गम्य महात्मानं प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ।

तदनन्तर किसी समय महायोगी सत्यवतीनन्दन व्यास पाण्डवोंको देखनेके लिये वहाँ आये । उन महात्माको आया देख कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर उनकी अगवानीके लिये कुछ दूर आगे बढ़ गये और विधिपूर्वक स्वागत-सत्कारके साथ उन्हें अपने साथ लिवा लाये ॥ ८-९½ ॥

तमासीनमुपासीनः शुश्रूषुर्नियतेन्द्रियः ॥ १० ॥
तोषयन् प्रणिपातेन व्यासं पाण्डवनन्दनः ।

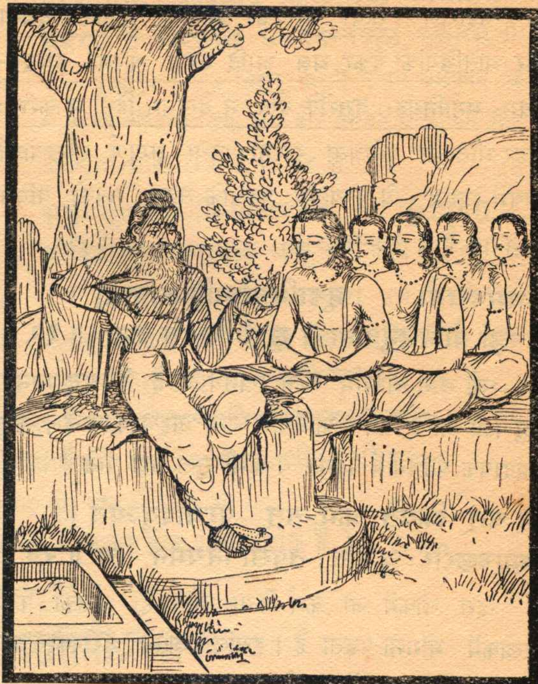
जब वे आसनपर बैठ गये, तब पाण्डवोंका आनन्द बढ़ानेवाले युधिष्ठिर अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए सेवाकी इच्छासे व्यासजीके पास ही बैठ गये और उनके चरणोंमें प्रणाम करके उन्होंने महर्षिको संतुष्ट किया ।१०½।

तानवेक्ष्य कृशान् पौत्रान् वने वन्येन जीवतः ॥ ११ ॥
महर्षिरनुकम्पार्थमब्रवीद्वाष्पगद्गदम् ।

अपने पौत्रोंको वनवासके कष्टसे दुर्बल तथा जङ्गली फल-मूल खाकर जीवननिर्वाह करते देख महर्षि व्यासको बड़ी दया आयी । वे उनपर कृपा करनेके लिये नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए गद्गद कण्ठसे बोले—॥ ११½ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो शृणु धर्मभृतां वर ॥ १२ ॥
नातप्ततपसो लोके प्राप्नुवन्ति महासुखम् ।
सुखदुःखे हि पुरुषः पर्यायेणोपसेवते ॥ १३ ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाबाहु युधिष्ठिर ! मेरी बात सुनो, संसारमें जिन्होंने तपस्या नहीं की है, वे महान् सुखकी उपलब्धि नहीं कर पाते हैं । मनुष्य बारी-बारीसे सुख और दुःख दोनोंका सेवन करता है ॥ १२-१३ ॥



न ह्यनन्तं सुखं कश्चित् प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
प्रज्ञावांस्त्वेव पुरुषः संयुक्तः परया धिया ॥ १४ ॥
उदयास्तमनज्ञो हि न हृष्यति न शोचति ।

'नरश्रेष्ठ ! कोई भी इस जगत्में ऐसा सुख नहीं पाता, जिसका कभी अन्त न हो । उत्तम बुद्धिसे युक्त ज्ञानवान् पुरुष ही उत्पत्ति, स्थिति और लयके अधिष्ठानरूप परमात्माको जानकर कभी हर्ष और शोक नहीं करता है ॥ १४½ ॥

सुखमापतितं सेवेद् दुःखमापतितं वहेत् ॥ १५ ॥
कालप्राप्तमुपासीत सस्यानामिव कर्षकः ।

'अतः विवेकी पुरुषको उचित है कि प्राप्त हुए सुखका (त्यागपूर्वक) सेवन करे और स्वतः आये हुए दुःखका भार भी (धैर्यपूर्वक) वहन करे । जैसे किसान बीज बोकर समयके अनुसार प्रारब्धवश जितना अन्न मिलता है, उसे ग्रहण करता है; उसी प्रकार मनुष्य समय-समयपर दैववश प्राप्त हुए सुख तथा दुःखको स्वीकार करें ॥ १५½ ॥

तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ॥ १६ ॥
नासाध्यं तपसः किंचिदिति बुद्ध्यस्व भारत ।

'भारत ! तपसे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है । तपसे मनुष्य महत्पद (परमात्मा) को प्राप्त कर लेता है । तुम इस बातको अच्छी तरह जान लो कि तपस्यासे कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ १६½ ॥

सत्यमार्जवमक्रोधः संविभागो दमः शमः ॥ १७ ॥
अनसूयाविहिंसा च शौचमिन्द्रियसंयमः ।
पावनानि महाराज नराणां पुण्यकर्मणाम् ॥ १८ ॥

'महाराज ! सत्य, सरलता, क्रोधका अभाव, देवता और अतिथियोंको देकर अन्न आदि ग्रहण करना, इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह, दूसरोंके दोष न देखना, हिंसा न करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोंको काबूमें रखना—ये पुण्यात्मा पुरुषोंके सद्गुण सबको पवित्र करनेवाले हैं ॥ १७-१८ ॥

अधर्मरुचयो मूढास्तिर्यग्गतिपरायणाः ।
कृच्छ्रां योनिमनुप्राप्ता न सुखं विन्दते जनाः ॥ १९ ॥

'जो लोग अधर्ममें रुचि रखनेवाले हैं, वे मूढ़ मानव पशु-पक्षी आदि तिर्यग् योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं। उन कष्टदायक योनियोंमें पड़कर वे कभी सुख नहीं पाते हैं ।१९।

इह यत् क्रियते कर्म तत् परत्रोपयुज्यते ।
तस्माच्छरीरं युञ्जीत तपसा नियमेन च ॥ २० ॥

'इस लोकमें जो कर्म किया जाता है, उसका फल परलोकमें भोगना पड़ता है। इसलिये अपने शरीरको तप और नियमोंके पालनमें लगावे ॥ २० ॥

यथाशक्ति प्रयच्छेत सम्पूज्याभिप्रणम्य च ।
काले प्राप्ते च हृष्टात्मा राजन् विगतमत्सरः ॥ २१ ॥

'राजन् ! समयपर यदि कोई अतिथि आ जाय, तो क्रोधरहित और प्रसन्नचित्त होकर अपनी शक्तिके अनुसार उसे दान दे और विधिवत् पूजन करके उसे प्रणाम करे ॥

सत्यवादी लभेतायुरनायासमथार्जवम् ।
अक्रोधनोऽनसूयश्च निर्वृतिं लभते पराम् ॥ २२ ॥

'सत्यवादी मनुष्य दीर्घ आयु, क्लेशशून्यता (सुख) तथा सरलता प्राप्त करता है। जो क्रोध नहीं करता और दूसरोंके दोष नहीं देखता है, उसे परमानन्दपदकी प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥

दान्तः शमपरः शश्वत् परिक्लेशं न विन्दति ।
न च तप्यति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम् ॥ २३ ॥

'जो सदा अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर मनका निग्रह करता है, उसे कभी क्लेशका सामना नहीं करना पड़ता । जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, वह दूसरोंकी सम्पत्तिको देखकर संतप्त नहीं होता है ॥ २३ ॥

संविभक्ता च दाता च भोगवान् सुखवान् नरः ।
भवत्यहिंसकश्चैव परमारोग्यमश्नुते ॥ २४ ॥

'जो देवताओं और अतिथियोंको उनका भाग समर्पित करता है, वह भोग-सामग्रीसे सम्पन्न होता है। दान करनेवाला मनुष्य सुखी होता है। जो किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता, उसे उत्तम आरोग्यकी प्राप्ति होती है ॥ २४ ॥

मान्यमानयिता जन्म कुले महति विन्दति ।
व्यसनैर्न तु संयोगं प्राप्नोति विजितेन्द्रियः ॥ २५ ॥
(विन्दते सुखमत्यन्तमिह लोके परत्र च ।)

'जो माननीय पुरुषोंका सम्मान करता है, वह महान् कुलमें जन्म पाता है। जितेन्द्रिय पुरुष कभी दुर्व्यसनोंमें नहीं फँसता है उसे इस लोक और परलोकमें भी अत्यन्त सुखकी प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

शुभानुशयबुद्धिर्हि संयुक्तः कालधर्मणा ।
प्रादुर्भवति तद्योगात् कल्याणमतिरेव सः ॥ २६ ॥

'जिसकी बुद्धि शुभमें ही आसक्त होती है, वह मनुष्य मृत्युको प्राप्त होनेपर उस शुभके संयोगसे कल्याणबुद्धि होकर ही उत्पन्न होता है' ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् दानधर्माणां तपसो वा महामुने ।
किंस्विद् बहुगुणं प्रेत्य किं वा दुष्करमुच्यते ॥ २७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! महामुने ! दानधर्म एवं तपस्या-इनमेंसे किसका फल परलोकमें अधिक माना गया है ? और इन दोनोंमें कौन दुष्कर बताया जाता है ? ॥

व्यास उवाच

दानान्न दुष्करं तात पृथिव्यामस्ति किंचन ।
अर्थे च महती तृष्णा स च दुःखेन लभ्यते ॥ २८ ॥

व्यासजीने कहा—तात ! दानसे बढ़कर दुष्कर कार्य इस पृथ्वीपर दूसरा कोई नहीं है। लोगोंको धनका लोभ अधिक होता है और धन मिलता भी बड़े कष्टसे है ॥ २८ ॥

परित्यज्य प्रियान् प्राणान् धनार्थे हि महामते ।
प्रविशन्ति नरा वीराः समुद्रमटवीं तथा ॥ २९ ॥

महामते ! कितने ही साहसी मनुष्य रत्नोंके लिये अपने प्यारे प्राणोंका मोह छोड़कर समुद्रमें गोते लगाते हैं और धनके लिये घोर जंगलोंमें भटकते फिरते हैं ॥ २९ ॥

कृषिगोरक्ष्यमित्येके प्रतिपद्यन्ति मानवाः ।
पुरुषाः प्रेष्यतामेके निर्गच्छन्ति धनार्थिनः ॥ ३० ॥

कुछ मनुष्य कृषि तथा गोरक्षाको अपनी जीविकाका साधन बनाते हैं, कुछ लोग धनकी इच्छासे नौकरी करनेके लिये दूर निकल जाते हैं ॥ ३० ॥

तस्माद् दुःखार्जितस्यैव परित्यागः सुदुष्करः ।
न दुष्करतरं दानात् तस्माद् दानं मतं मम ॥ ३१ ॥

अतः दुःख सहकर कमाये हुए धनका परित्याग करना अत्यन्त कठिन है। दानसे बढ़कर दूसरा कोई दुष्कर कार्य नहीं है। इसलिये मेरे मतमें दान ही सर्वश्रेष्ठ है ॥ ३१ ॥

विशेषस्त्वत्र विज्ञेयो न्यायेनोपार्जितं धनम्।
पात्रे काले च देशे च साधुभ्यः प्रतिपादयेत्॥ ३२॥

यहाँ विशेष बात यह जाननी चाहिये कि मनुष्य न्यायसे कमाये गये धनको उत्तम देश, काल और पात्रका विचार करते हुए श्रेष्ठ पुरुषोंको दे॥ ३२॥

अन्यायात् समुपात्तेन दानधर्मो धनेन यः।
क्रियते न स कर्तारं त्रायते महतो भयात्॥ ३३॥

अन्यायसे प्राप्त किये हुए धनके द्वारा जो दानधर्म किया जाता है, वह कर्ताकी महान् भयसे रक्षा नहीं कर पाता॥ ३३॥

पात्रे दानं स्वल्पमपि काले दत्तं युधिष्ठिर।
मनसा हि विशुद्धेन प्रेत्यानन्तफलं स्मृतम्॥ ३४॥

युधिष्ठिर! यदि विशुद्ध मनसे उत्तम समयपर सत्पात्रको थोड़ा-सा भी दान दिया गया हो, तो वह परलोकमें अनन्त फल देनेवाला माना गया है॥ ३४॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
व्रीहिद्रोणपरित्यागाद् यत् फलं प्राप मुद्गलः॥ ३५॥

इस विषयमें जानकार लोग इस पुराने इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं कि मुद्गल ऋषिने एक द्रोण धानका दान करके महान् फल प्राप्त किया था॥ ३५॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि दानदुष्करत्वकथने एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २५९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत व्रीहिद्रौणिकपर्वमें दानकी दुष्करताका प्रतिपादनविषयक दो सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३५½ श्लोक हैं)

षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्वासाद्वारा महर्षि मुद्गलके दानधर्म एवं धैर्यकी परीक्षा तथा मुद्गलका देवदूतसे कुछ प्रश्न करना

युधिष्ठिर उवाच

व्रीहिद्रोणः परित्यक्तः कथं तेन महात्मना।
कस्मै दत्तश्च भगवन् विधिना केन चात्थ मे॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! महात्मा मुद्गलने एक द्रोण[1] धानका दान कैसे और किस विधिसे किया था तथा वह दान किसको दिया गया था? यह सब मुझे बताइये॥ १॥

प्रत्यक्षधर्मा भगवान् यस्य तुष्टो हि कर्मभिः।
सफलं तस्य जन्माहं मन्ये सद्धर्मचारिणः॥ २॥

मनुष्योंके धर्मको प्रत्यक्ष देखने और जाननेवाले भगवान् जिसके कर्मोंसे संतुष्ट होते हैं, उसी श्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुषका जन्म सफल है, ऐसा मैं मानता हूँ॥ २॥

व्यास उवाच

शिलोञ्छवृत्तिर्धर्मात्मा मुद्गलः संयतेन्द्रियः।
आसीद् राजन् कुरुक्षेत्रे सत्यवागनसूयकः॥ ३॥

व्यासजी बोले—राजन्! कुरुक्षेत्रमें मुद्गलनामक एक ऋषि रहते थे। वे बड़े धर्मात्मा और जितेन्द्रिय थे। शिल[2] तथा उञ्छवृत्तिसे ही वे जीविका चलाते थे तथा सदा सत्य बोलते और किसीकी भी निन्दा नहीं करते थे॥ ३॥

अतिथिव्रती क्रियावांश्च कापोतीं वृत्तिमास्थितः।
सत्रमिष्टीकृतं नाम समुपास्ते महातपाः॥ ४॥
सपुत्रदारो हि मुनिः पक्षाहारो बभूव ह।
कपोतवृत्त्या पक्षेण व्रीहिद्रोणमुपार्जयत्॥ ५॥

उन्होंने अतिथियोंकी सेवाका व्रत ले रक्खा था। वे बड़े कर्मनिष्ठ और तपस्वी थे तथा कापोती वृत्तिका आश्रय ले आवश्यकताके अनुरूप थोड़े-से ही अन्नका संग्रह करते थे। वे मुनि स्त्री और पुत्रके साथ रहकर पंद्रह दिनमें जैसे कबूतर दाने चुगता है, उसी प्रकार चुनकर एक द्रोण धानका संग्रह कर पाते थे और उसके द्वारा इष्टीकृत नामक यज्ञका अनुष्ठान करते थे। इस प्रकार परिवारसहित उन्हें पंद्रह दिनपर भोजन प्राप्त होता था॥ ४-५॥

दर्शं च पौर्णमासं च कुर्वन् विगतमत्सरः।
देवतातिथिशेषेण कुरुते देहयापनम्॥ ६॥

उनके मनमें किसीके प्रति ईर्ष्याका भाव नहीं था। वे प्रत्येक पक्षमें दर्श एवं पौर्णमास यज्ञ करते हुए देवताओं और अतिथियोंको उनका भाग अर्पित करके शेष अन्नसे जीवन-यापन करते थे॥ ६॥

तस्येन्द्रः सहितो देवैः साक्षात् त्रिभुवनेश्वरः।
प्रत्यगृह्णान्महाराज भागं पर्वणि पर्वणि॥ ७॥

महाराज! प्रत्येक पर्वपर तीनों लोकोंके स्वामी साक्षात् इन्द्र देवताओंसहित पधारकर उनके यज्ञमें भाग ग्रहण करते थे॥ ७॥

---

१. कुछ विद्वानोंके मतसे यह सोलह सेरका होता है।

२. 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्।' इस कोषवाक्यके अनुसार बाजार उठ जानेपर या खेत कटनेपर वहाँ बिखरे हुए अन्नके दाने बीनना 'उञ्छ' कहलाता है और खेत कट जानेपर वहाँ गिरी हुई गेहूँ-धान आदिकी बालें बीनना 'शिल' कहा गया है।

स पर्वकालं कृत्वा तु मुनिवृत्त्या समन्वितः ।
अतिथिभ्यो ददावन्नं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ८ ॥

मुद्गल ऋषि मुनिवृत्तिसे रहते हुए पर्वकालोचित कर्म-दर्श और पौर्णमास यज्ञ करके हर्षोल्लासपूर्ण हृदयसे अतिथियोंको भोजन देते थे ॥ ८ ॥

व्रीहिद्रोणस्य तद्धयस्य ददतोऽन्नं महात्मनः ।
शिष्टं मात्सर्यहीनस्य वर्धतेऽतिथिदर्शनात् ॥ ९ ॥

ईर्ष्यासे रहित महात्मा मुद्गल एक द्रोण धानसे तैयार किये हुए अन्नमेंसे जब-जब दान करते थे, तब-तब देनेसे बचा हुआ अन्न मुद्गलके द्वारा दूसरे अतिथियोंका दर्शन करनेसे बढ़ जाया करता था ॥ ९ ॥

तच्छतान्यपि भुञ्जन्ति ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ।
मुनेस्त्यागविशुद्धया तु तदन्नं वृद्धिमृच्छति ॥ १० ॥

इस प्रकार उसमें सैकड़ों मनीषी ब्राह्मण एक साथ भोजन कर लेते थे । मुद्गल मुनिके विशुद्ध त्यागके प्रभावसे वह अन्न निश्चय ही बढ़ जाता था ॥ १० ॥

तं तु शुश्राव धर्मिष्ठं मुद्गलं संशितव्रतम् ।
दुर्वासा नृप दिग्वासास्तमथाभ्याजगाम ह ॥ ११ ॥

राजन् ! एक दिन दिगम्बर वेषमें भ्रमण करनेवाले महर्षि दुर्वासाने उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धर्मिष्ठ महात्मा मुद्गलका नाम सुना । उनके व्रतकी ख्याति सुनकर वे वहाँ आ पहुँचे ॥ ११ ॥

बिभ्रच्चानियतं वेषमुन्मत्त इव पाण्डव ।
विकचः परुषा वाचो व्याहरन् विविधा मुनिः ॥ १२ ॥

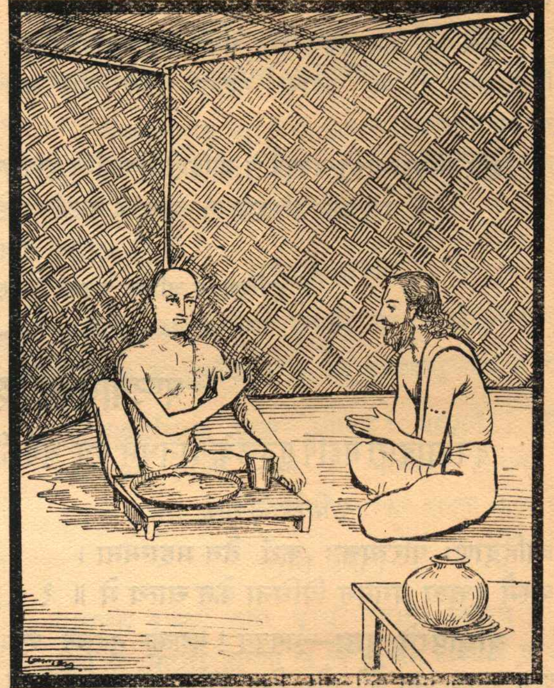
पाण्डुनन्दन ! दुर्वासा मुनि पागलोंकी तरह अटपटा वेष धारण किये, मूँड़ मुड़ाये और नाना प्रकारके कटु वचन बोलते हुए उस आश्रममें पधारे ॥ १२ ॥

अभिगम्याथ तं विप्रमुवाच मुनिसत्तमः ।
अन्नार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम ॥ १३ ॥

ब्रह्मर्षि मुद्गलके पास पहुँचकर मुनिश्रेष्ठ दुर्वासाने कहा—'विप्रवर ! तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि मैं भोजनकी इच्छासे यहाँ आया हूँ' ॥ १३ ॥

स्वागतं तेऽस्त्विति मुनिं मुद्गलः प्रत्यभाषत ।
पाद्यमाचमनीयं च प्रतिपाद्यार्घ्यमुत्तमम् ॥ १४ ॥
प्रादात् स तापसायान्नं क्षुधितायातिथिव्रती ।
उन्मत्ताय परां श्रद्धामास्थाय स धृतव्रतः ॥ १५ ॥
ततस्तदन्नं रसवत् स एव क्षुधयान्वितः ।
बुभुजे कृत्स्नमुन्मत्तः प्रादात् तस्मै च मुद्गलः ॥ १६ ॥

मुद्गलने उनसे कहा—'महर्षे !' आपका स्वागत है, ऐसा कहकर उन्होंने पाद्य, उत्तम अर्घ्य तथा आचमनीय आदि पूजनकी सामग्री भेंट की । तत्पश्चात् उन व्रतधारी अतिथिसेवी महर्षि मुद्गलने बड़ी श्रद्धाके साथ उन्मत्तवेशधारी भूखे तपस्वी दुर्वासाको भोजन अर्पित किया । वह अन्न बड़ा स्वादिष्ट था । वे उन्मत्त मुनि भूखे तो थे ही, परोसी हुई सारी रसोई खा गये । तब महर्षि मुद्गलने उन्हें और भोजन दिया ॥ १४–१६ ॥



भुक्त्वा चान्नं ततः सर्वमुच्छिष्टेनात्मनस्ततः ।
अथाङ्गं लिलिपेऽन्नेन यथागतमगाच्च सः ॥ १७ ॥

इस तरह सारा भोजन उदरस्थ करके दुर्वासाजीने जूठन लेकर अपने सारे अङ्गोंमें लपेट ली और फिर जैसे आये थे, वैसे ही चल दिये ॥ १७ ॥

एवं द्वितीये सम्प्राप्ते यथाकाले मनीषिणः ।
आगम्य बुभुजे सर्वमन्नमुञ्छोपजीविनः ॥ १८ ॥

इसी प्रकार दूसरा पर्वकाल आनेपर दुर्वासा ऋषिने पुनः आकर उञ्छवृत्तिसे जीवननिर्वाह करनेवाले उन मनीषी महात्मा मुद्गलके यहाँका सारा अन्न खा लिया ॥ १८ ॥

निराहारस्तु स मुनिरुञ्छमार्जयते पुनः ।
न चैनं विक्रियां नेतुमशकन्मुद्गलं क्षुधा ॥ १९ ॥

मुनि निराहार रहकर पुनः अन्नके दाने बीनने लगे । भूखका कष्ट उनके मनमें विकार उत्पन्न करनेमें समर्थ न हो सका ॥ १९ ॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं नावमानो न सम्भ्रमः ।
सपुत्रदारमुञ्छन्तमाविवेश द्विजोत्तमम् ॥ २० ॥

स्त्री-पुत्रसहित अन्नके दाने चुनते हुए विप्रवर मुद्गलके

हृदयमें क्रोध, द्वेष, घबराहट तथा अपमान प्रवेश नहीं कर सके ॥ २० ॥

तथा तमुञ्छधर्माणं दुर्वासा मुनिसत्तमम् ।
उपतस्थे यथाकालं षट्कृत्वः कृतनिश्चयः ॥ २१ ॥

इस प्रकार उञ्छधर्मका पालन करनेवाले मुनिश्रेष्ठ मुद्गलके घरपर महर्षि दुर्वासा उनका धैर्य छुड़ानेका दृढ़ निश्चय लेकर लगातार छः बार ठीक पर्वके समय उपस्थित हुए ॥ २१ ॥

न चास्य मनसा कंचिद् विकारं ददृशे मुनिः ।
शुद्धसत्त्वस्य शुद्धं स ददृशे निर्मलं मनः ॥ २२ ॥

किंतु उन्होंने उनके मनमें कभी कोई विकार नहीं देखा। शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि मुद्गलके मनको दुर्वासाने सदा शुद्ध और निर्मल ही पाया ॥ २२ ॥

तमुवाच ततः प्रीतः स मुनिर्मुद्गलं ततः ।
त्वत्समो नास्ति लोकेऽस्मिन् दाता मात्सर्यवर्जितः ॥ २३ ॥

तब वे प्रसन्न होकर मुद्गलसे बोले—'ब्रह्मन्! इस संसारमें ईर्ष्यासे रहित होकर दान देनेवाला मनुष्य तुम्हारे समान दूसरा कोई नहीं है ॥ २३ ॥

क्षुद् धर्मसंज्ञां प्रणुदत्यादत्ते धैर्यमेव च ।
रसानुसारिणी जिह्वा कर्षत्येव रसान् प्रति ॥ २४ ॥

'भूख (बड़े-बड़े लोगोंके) धर्मज्ञानको विलुप्त कर देती है, धैर्य हर लेती है तथा रसका अनुसरण करनेवाली रसना सदा रसीले पदार्थोंकी ओर मनुष्यको खींचती रहती है॥२४॥

आहारप्रभवाः प्राणा मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं निश्चितं तपः ॥ २५ ॥

'भोजनसे ही प्राणोंकी रक्षा होती है। चञ्चल मनको रोकना अत्यन्त कठिन होता है। मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रताको ही निश्चित रूपसे तप कहा गया है ॥ २५ ॥

श्रमेणोपार्जितं त्यक्तुं दुःखं शुद्धेन चेतसा ।
तत् सर्वं भवता साधो यथावदुपपादितम् ॥ २६ ॥

'परिश्रमसे उपार्जित किये हुए धनका शुद्ध हृदयसे दान करना अत्यन्त दुष्कर है। परंतु श्रेष्ठ पुरुष! तुमने यह सब कुछ यथार्थरूपसे सिद्ध कर लिया है ॥ २६ ॥

प्रीताः स्मोऽनुगृहीताश्च समेत्य भवता सह ।
इन्द्रियाभिजयो धैर्यं संविभागो दमः शमः ॥ २७ ॥
दया सत्यं च धर्मश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
(विशुद्धसत्त्वसम्पन्नो न त्वदन्योऽस्ति कश्चन ।)
जितास्ते कर्मभिर्लोकाः प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ॥ २८ ॥

'तुमसे मिलकर हम बहुत प्रसन्न हैं और अपने ऊपर तुम्हारा अनुग्रह मानते हैं। इन्द्रियसंयम, धैर्य, संविभाग (दान), शम, दम, दया, सत्य और धर्म—ये सब गुण तुममें पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। तुम्हारे-जैसा पवित्र अन्तःकरणवाला दूसरा कोई नहीं है। तुमने अपने शुभ कर्मोंसे सभी लोकोंको जीत लिया; परमपदको प्राप्त कर लिया ॥ २७-२८ ॥

अहो दानं विघुष्टं ते सुमहत् स्वर्गवासिभिः ।
सशरीरो भवान् गन्ता स्वर्गं सुचरितव्रत ॥ २९ ॥

'अहो! स्वर्गवासी देवताओंने भी तुम्हारे महान् दानकी सर्वत्र घोषणा की है। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! तुम सदेह स्वर्गलोकको जाओगे' ॥ २९ ॥

इत्येवं वदतस्तस्य तदा दुर्वाससो मुनेः ।
देवदूतो विमानेन मुद्गलं प्रत्युपस्थितः ॥ ३० ॥

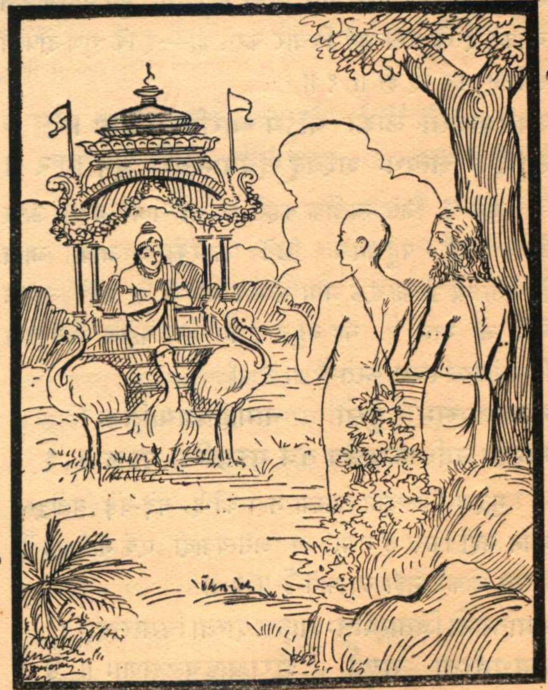
दुर्वासा मुनि इस प्रकार कह ही रहे थे कि एक देवदूत विमानके साथ मुद्गल ऋषिके पास आ पहुँचा ॥ ३० ॥

हंससारसयुक्तेन किङ्किणीजालमालिना ।
कामगेन विचित्रेण दिव्यगन्धवता तथा ॥ ३१ ॥

उस विमानमें हंस एवं सारस जुते हुए थे। क्षुद्रघण्टिकाओंकी जालीसे उसे सुसज्जित किया गया था तथा उससे दिव्य सुगन्ध फैल रही थी। वह विमान देखनेमें बड़ा विचित्र और इच्छानुसार चलनेवाला था ॥ ३१ ॥

उवाच चैनं विप्रर्षिं विमानं कर्मभिर्जितम् ।
समुपारोह संसिद्धिं प्राप्तोऽसि परमां मुने ॥ ३२ ॥

देवदूतने ब्रह्मर्षि मुद्गलसे कहा—'मुने! यह विमान आपको शुभ कर्मोंसे प्राप्त हुआ है। इसपर बैठिये। आप परम सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं' ॥ ३२ ॥



तमेवंवादिनमृषिर्देवदूतमुवाच ह ।
इच्छामि भवता प्रोक्तान् गुणान् स्वर्गनिवासिनाम् ॥ ३३ ॥

के गुणास्तत्र वसतां किं तपः कश्च निश्चयः।
स्वर्गे तत्र सुखं किं च दोषो वा देवदूतक ॥ ३४ ॥

देवदूतके ऐसा कहनेपर महर्षि मुद्गलने उससे कहा—'देवदूत! मैं तुम्हारे मुखसे स्वर्गवासियोंके गुण सुनना चाहता हूँ। वहाँ रहनेवालोंमें कौन-कौनसे गुण होते हैं? कैसी तपस्या होती है? और उनका निश्चित विचार कैसा होता है? स्वर्गमें क्या सुख है और वहाँ क्या दोष है?॥ ३३-३४ ॥

सतां साप्तपदं मैत्रमाहुः सन्तः कुलोचिताः।
मित्रतां च पुरस्कृत्य पृच्छामि त्वामहं विभो ॥ ३५ ॥

'प्रभो! सत्पुरुषोंमें सात पग एक साथ चलनेसे ही मित्रता हो जाती है, ऐसा कुलीन सत्पुरुषोंका कथन है। मैं उसी मैत्रीको सामने रखकर तुमसे उपर्युक्त प्रश्न पूछ रहा हूँ॥ ३५ ॥

यदत्र तथ्यं पथ्यं च तद् ब्रवीह्यविचारयन्।
श्रुत्वा तथा करिष्यामि व्यवसायं गिरा तव ॥ ३६ ॥

'इसके उत्तरमें जो सत्य एवं हितकर बात हो, उसे बिना किसी हिचकिचाहटके कहो। तुम्हारी बात सुनकर उसीके द्वारा मैं अपने कर्तव्यका निश्चय करूँगा' ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि मुद्गलोपाख्याने षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत व्रीहिद्रौणिकपर्वमें मुद्गलोपाख्यानसम्बन्धी दो सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२६०॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३६½ श्लोक हैं)

एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवदूतद्वारा स्वर्गलोकके गुण-दोषोंका तथा दोषरहित विष्णुधामका वर्णन सुनकर मुद्गलका देवदूतको लौटा देना एवं व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाकर अपने आश्रमको लौट जाना

देवदूत उवाच

महर्षे आर्यबुद्धिस्त्वं यः स्वर्गसुखमुत्तमम्।
सम्प्राप्तं बहु मन्तव्यं विमृशस्यबुधो यथा ॥ १ ॥

देवदूत बोला—महर्षे! तुम्हारी बुद्धि बड़ी उत्तम है। जिस उत्तम स्वर्गीय सुखको दूसरे लोग बहुत बड़ी चीज समझते हैं, वह तुम्हें प्राप्त ही है, फिर भी तुम अनजान-से बनकर इसके सम्बन्धमें विचार करते हो—इसके गुण-दोषकी समीक्षा कर रहे हो॥ १ ॥

उपरिष्टादसौ लोको योऽयं स्वरिति संज्ञितः।
ऊर्ध्वगः सत्पथः शश्वद् देवयानचरो मुने ॥ २ ॥

मुने! जिसे स्वर्लोक कहते हैं, वह यहाँसे बहुत ऊपर है। वहाँ पहुँचनेके लिये ऊपरको जाया जाता है, इसलिये उसका एक नाम ऊर्ध्वग भी है। वहाँ जानेके लिये जो मार्ग है, वह बहुत उत्तम है। वहाँके लोग सदा विमानोंपर विचरा करते हैं॥ २ ॥

नातप्ततपसः पुंसो नामहायज्ञयाजिनः।
नानृता नास्तिकाश्चैव तत्र गच्छन्ति मुद्गल ॥ ३ ॥

मुद्गल! जिन्होंने तपस्या नहीं की है, बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा यजन नहीं किया है तथा जो असत्यवादी एवं नास्तिक हैं, वे उस लोकमें नहीं जा पाते हैं॥ ३ ॥

धर्मात्मानो जितात्मानः शान्ता दान्ता विमत्सराः।
दानधर्मरता मर्त्याः शूराश्चाहवलक्षणाः ॥ ४ ॥
तत्र गच्छन्ति धर्माग्र्यं कृत्वा शमदमात्मकम्।
लोकान् पुण्यकृतां ब्रह्मन् सद्भिराचरितान् नृभिः ॥ ५ ॥

ब्रह्मन्! धर्मात्मा, मनको वशमें रखनेवाले, शम-दमसे सम्पन्न, ईर्ष्यारहित, दानधर्मपरायण तथा युद्धकलामें प्रसिद्ध शूरवीर मनुष्य ही वहाँ सब धर्मोंमें श्रेष्ठ इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रहरूपी योगको अपनाकर सत्पुरुषोंद्वारा सेवित पुण्यवानोंके लोकोंमें जाते हैं॥ ४-५ ॥

देवाः साध्यास्तथा विश्वे तथैव च महर्षयः।
यामा धामाश्च मौद्गल्य* गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ६ ॥
एषां देवनिकायानां पृथक् पृथगनेकशः।
भास्वन्तः कामसम्पन्ना लोकास्तेजोमयाः शुभाः ॥ ७ ॥

मुद्गल! वहाँ देवता, साध्य, विश्वेदेव, महर्षिगण, याम, धाम, गन्धर्व तथा अप्सरा—इन सब देवसमूहोंके अलग-अलग अनेक प्रकाशमान लोक हैं, जो इच्छानुसार प्राप्त होनेवाले भोगोंसे सम्पन्न, तेजस्वी तथा मङ्गलकारी हैं॥६-७॥

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि योजनानि हिरण्मयः।
मेरुः पर्वतराड् यत्र देवोद्यानानि मुद्गल ॥ ८ ॥
नन्दनादीनि पुण्यानि विहाराः पुण्यकर्मणाम्।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिर्न शीतोष्णे भयं तथा ॥ ९ ॥

स्वर्गमें तैंतीस हजार योजनका सुवर्णमय एक बहुत ऊँचा पर्वत है, जो मेरुगिरिके नामसे विख्यात है। मुद्गल! वहीं देवताओंके नन्दन आदि पवित्र उद्यान तथा पुण्यात्मा पुरुषोंके विहारस्थल हैं। वहाँ किसीको भूख-प्यास नहीं लगती, मनमें कभी ग्लानि नहीं होती, गर्मी और जाड़ेका कष्ट भी नहीं होता और न कोई भय ही होता है॥ ८-९ ॥

बीभत्समशुभं वापि तत्र किंचिन्न विद्यते।
मनोज्ञाः सर्वतो गन्धाः सुखस्पर्शाश्च सर्वशः ॥ १० ॥

* मुद्गल ऋषिको ही 'मौद्गल्य' भी कहा है।

शब्दाः श्रुतिमनोग्राह्याः सर्वतस्तत्र वै मुने ।
न शोको न जरा तत्र नायासपरिदेवने ॥ ११ ॥

वहाँ कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो घृणा करने योग्य एवं अशुभ हो । वहाँ सब ओर मनोरम सुगन्ध, सुखदायक स्पर्श तथा कानों और मनको प्रिय लगनेवाले मधुर शब्द सुननेमें आते हैं । मुने ! स्वर्गलोकमें न शोक होता है, न बुढ़ापा । वहाँ थकावट तथा करुणाजनक विलाप भी श्रवण-गोचर नहीं होते ॥ १०-११ ॥

ईदृशः स मुने लोकः स्वकर्मफलहेतुकः ।
सुकृतैस्तत्र पुरुषाः सम्भवन्त्यात्मकर्मभिः ॥ १२ ॥

महर्षे ! स्वर्गलोक ऐसा ही है । अपने सत्कर्मोंके फल-रूप ही उसकी प्राप्ति होती है । मनुष्य वहाँ अपने किये हुए पुण्यकर्मोंसे ही रह पाते हैं ॥ १२ ॥

तैजसानि शरीराणि भवन्त्यत्रोपपद्यताम् ।
कर्मजान्येव मौद्गल्य न मातृपितृजान्युत ॥ १३ ॥

मुद्गल ! स्वर्गवासियोंके शरीरमें तैजस तत्त्वकी प्रधानता होती है । वे शरीर पुण्यकर्मोंसे ही उपलब्ध होते हैं । माता-पिताके रजोवीर्यसे उनकी उत्पत्ति नहीं होती है ॥ १३ ॥

न संस्वेदो न दौर्गन्ध्यं पुरीषं मूत्रमेव च ।
तेषां न च रजो वस्त्रं बाधते तत्र वै मुने ॥ १४ ॥

उन शरीरोंमें कभी पसीना नहीं निकलता, दुर्गन्ध नहीं आती तथा मल-मूत्रका भी अभाव होता है । मुने ! उनके कपड़ोंमें कभी मैल नहीं बैठती है ॥ १४ ॥

न म्लायन्ति स्रजस्तेषां दिव्यगन्धा मनोरमाः ।
संयुज्यन्ते विमानैश्च ब्रह्मन्नेवंविधैश्च ते ॥ १५ ॥

स्वर्गवासियोंकी जो (दिव्य कुसुमोंकी) मालाएँ होती हैं, वे कभी कुम्हलाती नहीं हैं । उनसे निरन्तर दिव्य सुगन्ध फैलती रहती है तथा वे देखनेमें भी बड़ी मनोरम होती हैं । ब्रह्मन् ! स्वर्गके सभी निवासी ऐसे ही विमानोंसे सम्पन्न होते हैं ॥ १५ ॥

ईर्ष्याशोकक्लमापेता मोहमात्सर्यवर्जिताः ।
सुखं स्वर्गजितस्तत्र वर्तयन्ते महामुने ॥ १६ ॥

महामुने ! जो अपने सत्कर्मोंद्वारा स्वर्गलोकपर विजय पा चुके हैं, वे वहाँ बड़े सुखसे जीवन बिताते हैं । उनमें किसीके प्रति ईर्ष्या नहीं होती, वे कभी शोक तथा थकावटका अनुभव नहीं करते एवं मोह तथा मात्सर्य (द्वेषभाव) से सदा दूर रहते हैं ॥ १६ ॥

तेषां तथाविधानां तु लोकानां मुनिपुङ्गव ।
उपर्युपरि लोकस्य लोका दिव्या गुणान्विताः ॥ १७ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! देवताओंके जो पूर्वोक्त प्रकारके लोक हैं, उन सबसे ऊपर अन्य कितने ही विविध गुणसम्पन्न दिव्य लोक हैं ॥ १७ ॥

पुरस्ताद् ब्राह्मणास्तत्र लोकास्तेजोमयाः शुभाः ।
यत्र यान्त्यृषयो ब्रह्मन् पूताः स्वैः कर्मभिः शुभैः ॥ १८ ॥

उन सबसे ऊपर ब्रह्माजीके लोक हैं, जो अत्यन्त तेजस्वी एवं मङ्गलकारी हैं । ब्रह्मन् ! वहाँ अपने शुभ कर्मोंसे पवित्र ऋषि, मुनि जाते हैं ॥ १८ ॥

ऋभवो नाम तत्रान्ये देवानामपि देवताः ।
तेषां लोकात् परतरे यान् यजन्तीह देवताः ॥ १९ ॥

वहीं ऋभु नामक दूसरे देवता रहते हैं, जो देवगणोंके भी आराध्यदेव हैं । देवताओंके लोकोंसे उनका स्थान उत्कृष्ट है । देवतालोग भी यज्ञोंद्वारा उनका यजन करते हैं ॥१९॥

स्वयंप्रभास्ते भास्वन्तो लोकाः कामदुघाः परे ।
न तेषां स्त्रीकृतस्तापो न लोकैश्वर्यमत्सरः ॥ २० ॥

उनके उत्तम लोक स्वयंप्रकाश, तेजस्वी और सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले हैं । उन्हें स्त्रियोंके लिये संताप नहीं होता । लोकोंके ऐश्वर्यके लिये उनके मनमें कभी ईर्ष्या नहीं होती ॥ २० ॥

न वर्तयन्त्याहुतिभिस्ते नाप्यमृतभोजनाः ।
तथा दिव्यशरीरास्ते न च विग्रहमूर्तयः ॥ २१ ॥

वे देवताओंकी तरह आहुतियोंसे जीविका नहीं चलाते । उन्हें अमृत पीनेकी भी आवश्यकता नहीं होती । उनके शरीर दिव्य ज्योतिर्मय हैं । उनकी कोई विशेष आकृति नहीं होती ॥ २१ ॥

न सुखे सुखकामास्ते देवदेवाः सनातनाः ।
न कल्पपरिवर्तेषु परिवर्तन्ति ते तथा ॥ २२ ॥

वे सुखमें प्रतिष्ठित हैं, परंतु सुखकी कामना नहीं रखते । वे देवताओंके भी देवता और सनातन हैं । कल्पका अन्त होनेपर भी उनकी स्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं होता—वे ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं ॥ २२ ॥

जरा मृत्युः कुतस्तेषां हर्षः प्रीतिः सुखं न च ।
न दुःखं न सुखं चापि रागद्वेषौ कुतो मुने ॥ २३ ॥

मुने ! उनमें जरा-मृत्युकी सम्भावना तो हो ही कैसे सकती है ? हर्ष, प्रीति तथा सुख आदि विकारोंका भी उनमें सर्वथा अभाव ही है । ऐसी स्थितिमें उनके भीतर दुःख-सुख तथा राग-द्वेषादि कैसे रह सकते हैं ? ॥ २३ ॥

देवानामपि मौद्गल्य काङ्क्षिता सा गतिः परा ।
दुष्प्रापा परमा सिद्धिरगम्या कामगोचरैः ॥ २४ ॥

मौद्गल्य ! स्वर्गवासी देवता भी उस (ऋभु नामक देवताओंकी) परमगतिको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं।

वह परा सिद्धिकी अवस्था है, जो अत्यन्त दुर्लभ है। विषय-भोगोंकी इच्छा रखनेवाले लोगोंकी वहाँतक पहुँच नहीं होती॥

त्रयस्त्रिंशदिमे देवा येषां लोका मनीषिभिः।
गम्यन्ते नियमैः श्रेष्ठैर्दानैर्वा विधिपूर्वकैः॥ २५॥

ये जो तैंतीस देवता हैं, उन्हींके लोकोंको मनीषी पुरुष उत्तम नियमोंके आचरणसे अथवा विधिपूर्वक दिये हुए दानोंसे प्राप्त करते हैं॥ २५॥

सेयं दानकृता व्युष्टिरनुप्राप्ता सुखं त्वया।
तां भुङ्क्ष्व सुकृतैर्लब्धां तपसा द्योतितप्रभः॥ २६॥

ब्रह्मन्! तुमने अपने दानके प्रभावसे अनायास ही वह स्वर्गीय सुख-सम्पत्ति प्राप्त कर ली है। अपनी तपस्याके तेजसे देदीप्यमान होकर अब तुम अपने पुण्यसे प्राप्त हुए उस दिव्य वैभवका उपभोग करो॥ २६॥

एतत् स्वर्गसुखं विप्र लोका नानाविधास्तथा।
गुणाः स्वर्गस्य प्रोक्तास्ते दोषानपि निबोध मे॥ २७॥

विप्रवर! यही स्वर्गका सुख है और ऐसे ही वहाँ भाँति-भाँतिके लोक हैं। यहाँतक मैंने तुम्हें स्वर्गके गुण बताये हैं; अब वहाँके दोष भी मुझसे सुन लो॥ २७॥

कृतस्य कर्मणस्तत्र भुज्यते यत् फलं दिवि।
न चान्यत् क्रियते कर्म मूलच्छेदेन भुज्यते॥ २८॥

अपने किये हुए सत्कर्मोंका जो फल होता है, वही स्वर्गमें भोगा जाता है। वहाँ कोई नया कर्म नहीं किया जाता। अपना पुण्यरूप मूलधन गँवानेसे ही वहाँके भोग प्राप्त होते हैं॥ २८॥

सोऽत्र दोषो मम मतस्तस्यान्ते पतनं च यत्।
सुखव्याप्तमनस्कानां पतनं यच्च मुद्गल॥ २९॥

मुद्गल! स्वर्गमें सबसे बड़ा दोष मुझे यह जान पड़ता है कि कर्मोंका भोग समाप्त होनेपर एक दिन वहाँसे पतन हो ही जाता है। जिनका मन सुखभोगमें लगा हुआ है, उनको सहसा पतन कितना दुःखदायी होता है॥ २९॥

असंतोषः परीतापो दृष्ट्वा दीप्ततराः श्रियः।
यद् भवत्यवरे स्थाने स्थितानां तत् सुदुष्करम्॥ ३०॥

स्वर्गमें भी जो लोग नीचेके स्थानोंमें स्थित हैं, उन्हें अपनेसे ऊपरके लोकोंकी समुज्ज्वल श्रीसम्पत्ति देखकर जो असंतोष और संताप होता है, उसका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है॥ ३०॥

संज्ञामोहश्च पततां रजसा च प्रधर्षणम्।
प्रम्लानेषु च माल्येषु ततः पिपतिषोर्भयम्॥ ३१॥

स्वर्गलोकसे गिरते समय वहाँके निवासियोंकी चेतना लुप्त हो जाती है। रजोगुणके आक्रमणसे उनकी बुद्धि बिगड़ जाती है। पहले उनके गलेकी मालाएँ कुम्हला जाती हैं; इससे उन्हें पतनकी सूचना मिल जानेसे उनके मनमें बड़ा भारी भय समा जाता है॥ ३१॥

आब्रह्मभवनादेते दोषा मौद्गल्य दारुणाः।
नाकलोके सुकृतिनां गुणास्त्वयुतशो नृणाम्॥ ३२॥

मौद्गल्य! ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने लोक हैं, उन सबमें ये भयंकर दोष देखे जाते हैं। स्वर्गलोकमें रहते समय तो पुण्यात्मा पुरुषोंमें सहस्रों गुण होते हैं॥ ३२॥

अयं त्वन्यो गुणः श्रेष्ठश्च्युतानां स्वर्गतो मुने।
शुभानुशययोगेन मनुष्येषूपजायते॥ ३३॥

मुने! परंतु वहाँसे भ्रष्ट हुए जीवोंका भी यह एक अन्य श्रेष्ठ गुण देखा जाता है कि वे अपने शुभ कर्मोंके संस्कारसे युक्त होनेके कारण मनुष्ययोनिमें ही जन्म पाते हैं॥ ३३॥

तत्रापि स महाभागः सुखभागभिजायते।
न चेत् सम्बुध्यते तत्र गच्छत्यधमतां ततः॥ ३४॥

वहाँ भी वह महाभाग मानव सुखके साधनोंसे सम्पन्न होकर ही उत्पन्न होता है। परंतु यदि मानवयोनिमें वह अपने कर्तव्यको न समझे, तो उससे भी नीची योनिमें चला जाता है॥ ३४॥

इह यत् क्रियते कर्म तत् परत्रोपभुज्यते।
कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमिरसौ मता॥ ३५॥

इस मनुष्यलोकमें मानव शरीरद्वारा जो कर्म किया जाता है, उसीको परलोकमें भोगा जाता है। ब्रह्मन्! यह कर्मभूमि और वह फलभोगकी भूमि मानी गयी है॥ ३५॥

मुद्गल उवाच

महान्तस्तु अमी दोषास्त्वया स्वर्गस्य कीर्तिताः।
निर्दोष एव यस्त्वन्यो लोकं तं प्रवदस्व मे॥ ३६॥

मुद्गल बोले—देवदूत! तुमने स्वर्गके महान् दोष बताये, परंतु स्वर्गकी अपेक्षा यदि कोई दूसरा लोक इन दोषोंसे सर्वथा रहित हो, तो मुझसे उसीका वर्णन करो॥

देवदूत उवाच

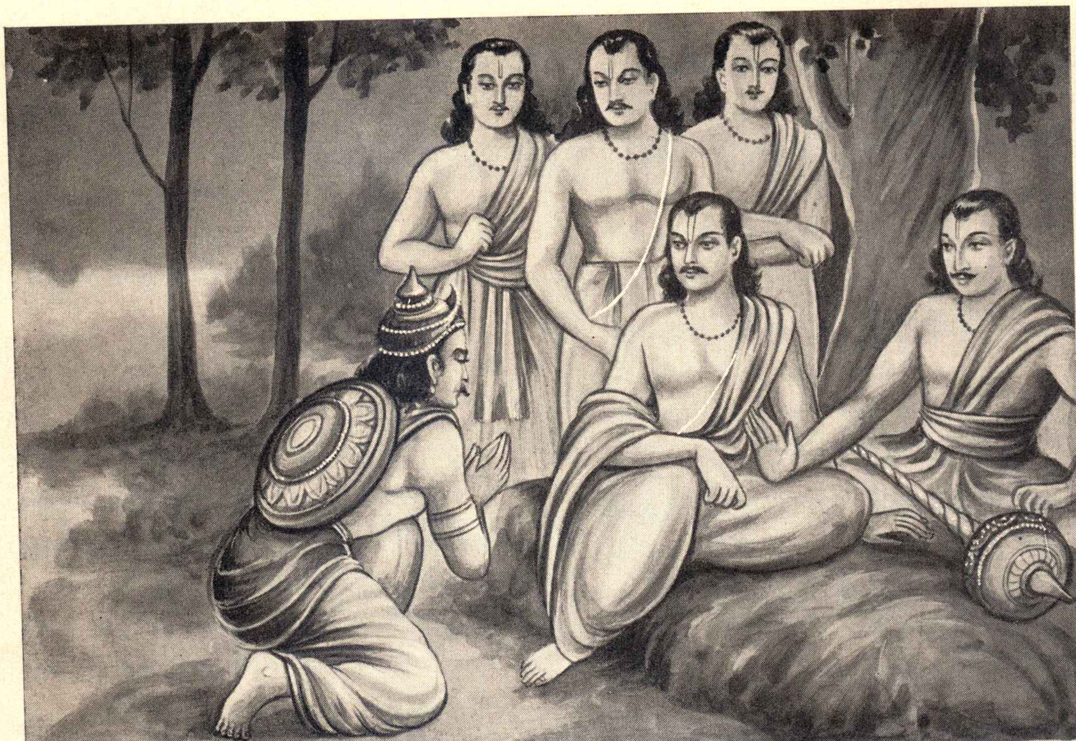
ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं तद् विष्णोः परमं पदम्।
शुद्धं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति यद् विदुः॥ ३७॥

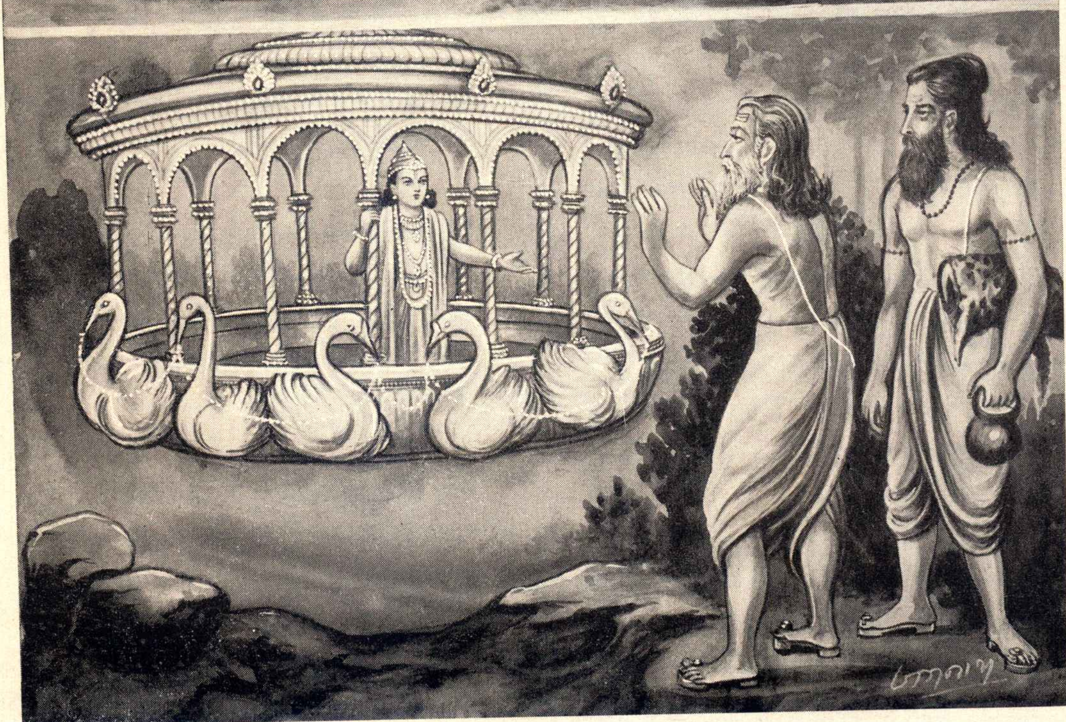
देवदूतने कहा—ब्रह्माजीके भी लोकसे ऊपर भगवान् विष्णुका परम धाम है। वह शुद्ध सनातन ज्योतिर्मय लोक है। उसे परब्रह्म भी कहते हैं॥ ३७॥

न तत्र विप्र गच्छन्ति पुरुषा विषयात्मकाः।
दम्भलोभमहाक्रोधमोहद्रोहैरभिद्रुताः॥ ३८॥

विप्रवर! जिनका मन विषयोंमें रचा-पचा रहता है, वे लोग वहाँ नहीं जा सकते। दम्भ, लोभ, महाक्रोध, मोह और

पाण्डवोंके पास दुर्योधनका दूत





मुद्गलका स्वर्ग जानेसे इन्कार

द्रोहसे युक्त मनुष्य भी वहाँ नहीं पहुँच सकते ॥ ३८ ॥

निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वाः संयतेन्द्रियाः।
ध्यानयोगपराश्चैव तत्र गच्छन्ति मानवाः ॥ ३९ ॥

जो ममता और अहंकारसे रहित, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे ऊपर उठे हुए, जितेन्द्रिय तथा ध्यानयोगमें तत्पर हैं, वे मनुष्य ही उस लोकमें जा सकते हैं ॥ ३९ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां पृच्छसि मुद्गल।
तवानुकम्पया साधो साधु गच्छाम माचिरम् ॥ ४० ॥

मुद्गल ! तुमने जो कुछ मुझसे पूछा था, वह सब मैंने कह सुनाया। साधो ! अब आपकी कृपासे हमलोग सुखपूर्वक स्वर्गकी यात्रा करें, विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥ ४० ॥

व्यास उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु मौद्गल्यो वाक्यं विममृशे धिया।
विमृश्य च मुनिश्रेष्ठो देवदूतमुवाच ह ॥ ४१ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन् ! देवदूतकी यह बात सुनकर मुनिश्रेष्ठ मुद्गलने उसपर बुद्धिपूर्वक विचार किया। विचार करके उन्होंने देवदूतसे कहा—॥ ४१ ॥

देवदूत नमस्तेऽस्तु गच्छ तात यथासुखम्।
महादोषेण मे कार्यं न स्वर्गेण सुखेन वा ॥ ४२ ॥

'देवदूत ! तुम्हें नमस्कार है। तात ! तुम सुखपूर्वक पधारो। स्वर्ग अथवा वहाँका सुख महान् दोषसे युक्त है; इसलिये मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४२ ॥

पतनान्ते महद् दुःखं परितापः सुदारुणः।
स्वर्गभाजश्चरन्तीह तस्मात् स्वर्गं न कामये ॥ ४३ ॥

'ओह ! पतनके बाद तो स्वर्गवासी मनुष्योंको अत्यन्त भयंकर महान् दुःख और अनुताप होता है और फिर वे इसी लोकमें विचरते रहते हैं; इसलिये मुझे स्वर्गमें जानेकी इच्छा नहीं है ॥ ४३ ॥

यत्र गत्वा न शोचन्ति न व्यथन्ति चलन्ति वा।
तदहं स्थानमत्यन्तं मार्गयिष्यामि केवलम् ॥ ४४ ॥

'जहाँ जाकर मनुष्य कभी शोक नहीं करते, व्यथित नहीं होते तथा जहाँसे विचलित नहीं होते हैं, केवल उसी अक्षय धामका मैं अनुसंधान करूँगा' ॥ ४४ ॥

इत्युक्त्वा स मुनिर्वाक्यं देवदूतं विसृज्य तम्।
शिलोञ्छवृत्तिर्धर्मात्मा शममातिष्ठदुत्तमम् ॥ ४५ ॥

ऐसा कहकर मुद्गल मुनिने उस देवदूतको विदा कर दिया और शिल एवं उञ्छवृत्तिसे जीवन निर्वाह करनेवाले वे धर्मात्मा महर्षि उत्तम रीतिसे शम-दम आदि नियमोंका पालन करने लगे ॥ ४५ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्भूत्वा समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
ज्ञानयोगेन शुद्धेन ध्याननित्यो बभूव ह ॥ ४६ ॥

उनकी दृष्टिमें निन्दा और स्तुति समान हो गयी। वे मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझने लगे और विशुद्ध ज्ञानयोगके द्वारा नित्य ध्यानमें तत्पर रहने लगे ॥ ४६ ॥

ध्यानयोगाद् बलं लब्ध्वा प्राप्य बुद्धिमनुत्तमाम्।
जगाम शाश्वतीं सिद्धिं परां निर्वाणलक्षणाम् ॥ ४७ ॥

ध्यानसे (परम वैराग्यका) बल पाकर उन्हें उत्तम बोध प्राप्त हुआ और उसके द्वारा उन्होंने सनातन मोक्षरूपा परम सिद्धि प्राप्त कर ली ॥ ४७ ॥

तस्मात् त्वमपि कौन्तेय न शोकं कर्तुमर्हसि।
राज्यात् स्फीतात् परिभ्रष्टस्तपसा तदवाप्स्यसि ॥४८॥

कुन्तीनन्दन ! इसलिये तुम भी समृद्धिशाली राज्यसे भ्रष्ट होनेके कारण शोक न करो; तपस्याद्वारा तुम उसे प्राप्त कर लोगे ॥ ४८ ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
पर्यायेणोपसर्पन्ते नरं नेमिमरा इव ॥ ४९ ॥

मनुष्यपर सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख बारी-बारीसे आते रहते हैं। जैसे अरे नेमिसे जुड़े हुए ऊँचे-नीचे आते रहते हैं, वैसे ही मनुष्यका दुःख-सुखसे सम्बन्ध होता रहता है ॥ ४९ ॥

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्स्यस्यमितविक्रम।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ५० ॥

अमितपराक्रमी युधिष्ठिर ! तुम तेरहवें वर्षके बाद अपने बाप-दादोंका राज्य प्राप्त कर लोगे, अतः अब तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ५० ॥

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्त्वा भगवान् व्यासः पाण्डवनन्दनम्।
जगाम तपसे धीमान् पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ ५१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! परम बुद्धिमान् भगवान् व्यास पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर तपस्याके लिये पुनः अपने आश्रमकी ओर चले गये ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि मुद्गलदेवदूतसंवादे एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत व्रीहिद्रौणिकपर्वमें मुद्गल-देवदूत-संवादविषयक दो सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६१ ॥

(द्रौपदीहरणपर्व)

द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका महर्षि दुर्वासाको आतिथ्यसत्कारसे संतुष्ट करके उन्हें युधिष्ठिरके पास भेजकर प्रसन्न होना

जनमेजय उवाच

वसत्स्वेवं वने तेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
रममाणेषु चित्राभिः कथाभिर्मुनिभिः सह ॥ १ ॥
सूर्यदत्ताक्षयान्नेन कृष्णाया भोजनावधि ।
ब्राह्मणांस्तर्पमाणेषु ये चान्नार्थमुपागताः ॥ २ ॥
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानः सर्वे दुर्योधनादयः ।
कथं तेष्वन्ववर्तन्त पापाचारा महामुने ॥ ३ ॥
दुःशासनस्य कर्णस्य शकुनेश्च मते स्थिताः ।
एतदाचक्ष्व भगवन् वैशम्पायन पृच्छतः ॥ ४ ॥

जनमेजयने पूछा—महामुनि वैशम्पायनजी ! जब महात्मा पाण्डव इस प्रकार वनमें रहकर मुनियोंके साथ विचित्र कथावार्ताद्वारा मनोरञ्जन करते थे तथा जबतक द्रौपदी भोजन न कर ले, तबतक सूर्यके दिये हुए अक्षय पात्रसे प्राप्त होनेवाले अन्नसे वे उन ब्राह्मणोंको तृप्त करते थे, जो भोजनके लिये उनके पास आये होते थे; उन दिनों दुःशासन, कर्ण और शकुनिके मतके अनुसार चलनेवाले पापाचारी दुरात्मा दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रपुत्रोंने उन पाण्डवोंके साथ कैसा बर्ताव किया ? भगवन् ! मेरे प्रश्नके अनुसार ये सब बातें कहिये ॥ १–४ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तेषां तथा वृत्तिं नगरे वसतामिव ।
दुर्योधनो महाराज तेषु पापमरोचयत् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज ! जब दुर्योधनने सुना कि पाण्डवलोग तो वनमें भी उसी प्रकार दान-पुण्य करते हुए आनन्दसे रह रहे हैं, जैसे नगरके निवासी रहा करते हैं, तब उसने उनका अनिष्ट करनेका विचार किया ॥ ५ ॥

तथा तैर्निकृतिप्रज्ञैः कर्णदुःशासनादिभिः ।
नानोपायैरघं तेषु चिन्तयत्सु दुरात्मसु ॥ ६ ॥
अभ्यागच्छत् स धर्मात्मा तपस्वी सुमहायशाः ।
शिष्यायुतसमोपेतो दुर्वासा नाम कामतः ॥ ७ ॥

इस प्रकार सोचकर छल-कपटकी विद्यामें निपुण कर्ण और दुःशासन आदिके साथ जब वे दुरात्मा धृतराष्ट्र पुत्र भाँति-भाँतिके उपायोंसे पाण्डवोंको संकटमें डालनेकी युक्तिका विचार कर रहे थे, उसी समय महायशस्वी धर्मात्मा तपस्वी महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्योंको साथ लिये हुए वहाँ स्वेच्छासे ही आ पहुँचे ॥ ६-७ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य मुनिं परमकोपनम् ।
दुर्योधनो विनीतात्मा प्रश्रयेण दमेन च ॥ ८ ॥
सहितो भ्रातृभिः श्रीमानातिथ्येन न्यमन्त्रयत् ।

परम क्रोधी दुर्वासा मुनिको आया देख भाइयोंसहित श्रीमान् राजा दुर्योधनने अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखकर नम्रतापूर्वक विनीतभावसे उन्हें अतिथिसत्कारके रूपमें निमन्त्रित किया ॥ ८½ ॥

विधिवत् पूजयामास स्वयं किङ्करवत् स्थितः ॥ ९ ॥
अहानि कतिचित् तत्र तस्थौ स मुनिसत्तमः ।

दुर्योधनने स्वयं दासकी भाँति उनकी सेवामें खड़े रहकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की । मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा कई दिनोंतक वहाँ ठहरे रहे ॥ ९½ ॥

तं च पर्यचरद् राजा दिवारात्रमतन्द्रितः ॥ १० ॥
दुर्योधनो महाराज शापात् तस्य विशङ्कितः ।

महाराज जनमेजय ! राजा दुर्योधन (श्रद्धासे नहीं, अपितु) उनके शापसे डरता हुआ दिन-रात आलस्य छोड़कर उनकी सेवामें लगा रहा ॥ १०½ ॥

क्षुधितोऽस्मि ददस्वान्नं शीघ्रं मम नराधिप ॥ ११ ॥
इत्युक्त्वा गच्छति स्नातुं प्रत्यागच्छति वै चिरात् ।
न भोक्ष्याम्यद्य मे नास्ति क्षुधेत्युक्त्वैत्यदर्शनम् ॥ १२ ॥

वे मुनि कभी कहते कि 'राजन् ! मैं बहुत भूखा हूँ, मुझे शीघ्र भोजन दो' ऐसा कहकर वे स्नान करनेके लिये चले जाते और बहुत देरके बाद लौटते थे । लौटकर वे कह देते —'मैं नहीं खाऊँगा; आज मुझे भूख नहीं है' ऐसा कहकर अदृश्य हो जाते थे ॥ ११-१२ ॥

अकस्मादेत्य च ब्रूते भोजयास्मांस्त्वरान्वितः ।
कदाचिच्च निशीथे स उत्थाय निकृतौ स्थितः ॥ १३ ॥
पूर्ववत् कारयित्वान्नं न भुङ्क्ते गर्हयन् स सः ।

फिर कहींसे अकस्मात् आकर कहते—'हमलोगोंको जल्दी भोजन कराओ ।' कभी आधी रातमें उठकर उसे नीचा दिखानेके लिये उद्यत हो पूर्ववत् भोजन बनवाकर उस भोजनकी निन्दा करते हुए भोजन करनेसे इन्कार कर देते थे ॥ १३½ ॥

वर्तमाने तथा तस्मिन् यदा दुर्योधनो नृपः ॥ १४ ॥
विकृतिं नैति न क्रोधं तदा तुष्टोऽभवन्मुनिः ।
आह चैनं दुराधर्षो वरदोऽस्मीति भारत ॥ १५ ॥

भारत ! ऐसा उन्होंने कई बार किया, तो भी जब राजा दुर्योधनके मनमें विकार या क्रोध नहीं उत्पन्न हुआ, तब वे दुर्धर्ष मुनि उसपर बहुत प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—'मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ' ॥ १४-१५ ॥

दुर्वासा उवाच

वरं वरय भद्रं ते यत् ते मनसि वर्तते ।
मयि प्रीते तु यद् धर्म्यं नालभ्यं विद्यते तव ॥ १६ ॥

दुर्वासा बोले—राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, उसके लिये वर माँगो । मेरे प्रसन्न होनेपर जो धर्मानुकूल वस्तु होगी, वह तुम्हारे लिये अलभ्य नहीं रहेगी ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
अमन्यत पुनर्जातमात्मानं स सुयोधनः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि दुर्वासाका यह वचन सुनकर दुर्योधनने मन-ही-मन ऐसा समझा, मानो उसका नया जन्म हुआ हो ॥ १७ ॥

प्रागेव मन्त्रितं चासीत् कर्णदुःशासनादिभिः ।
याचनीयं मुनेस्तुष्टादिति निश्चित्य दुर्मतिः ॥ १८ ॥
अतिहर्षान्वितो राजन् वरमेनमयाचत ।
शिष्यैः सह मम ब्रह्मन् यथा जातोऽतिथिर्भवान् ॥ १९ ॥
अस्मत्कुले महाराजो ज्येष्ठः श्रेष्ठो युधिष्ठिरः ।
वने वसति धर्मात्मा भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २० ॥
गुणवान् शीलसम्पन्नस्तस्य त्वमतिथिर्भव ।

मुनि संतुष्ट हों, तो क्या माँगना चाहिये, इस बातके लिये कर्ण और दुःशासन आदिके साथ उसकी पहलेसे ही सलाह हो चुकी थी । राजन् ! उसी निश्चयके अनुसार दुर्बुद्धि दुर्योधनने अत्यन्त प्रसन्न होकर यह वर माँगा—'ब्रह्मन् ! हमारे कुलमें महाराज युधिष्ठिर सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं । इस समय वे धर्मात्मा पाण्डुकुमार अपने भाइयोंके साथ वनमें निवास करते हैं । युधिष्ठिर बड़े गुणवान् और सुशील हैं । जिस प्रकार आप मेरे अतिथि हुए, उसी तरह शिष्योंके सहित आप उनके भी अतिथि होइये ॥ १८–२०½ ॥

यदा च राजपुत्री सा सुकुमारी यशस्विनी ॥ २१ ॥
भोजयित्वा द्विजान् सर्वान् पतींश्च वरवर्णिनी ।
विश्रान्ता च स्वयं भुक्त्वा सुखासीना भवेद् यदा ॥ २२ ॥
तदा त्वं तत्र गच्छेथा यद्यनुग्राह्यता मयि ।

'यदि आपकी मुझपर कृपा हो तो मेरी प्रार्थनासे आप वहाँ ऐसे समयमें जाइयेगा, जब परम सुन्दरी यशस्विनी सुकुमारी राजकुमारी द्रौपदी समस्त ब्राह्मणों तथा पाँचों पतियोंको भोजन कराकर स्वयं भी भोजन करनेके पश्चात् सुखपूर्वक बैठकर विश्राम कर रही हो' ॥ २१–२२½ ॥

तथा करिष्ये त्वत्प्रीत्येत्येवमुक्त्वा सुयोधनम् ॥ २३ ॥
दुर्वासा अपि विप्रेन्द्रो यथागतमगात् ततः ।
कृतार्थमपि चात्मानं तदा मेने सुयोधनः ॥ २४ ॥

'तुमपर प्रेम होनेके कारण मैं वैसा ही करूँगा', दुर्योधनसे ऐसा कहकर विप्रवर दुर्वासा जैसे आये थे, वैसे ही चले गये । उस समय दुर्योधनने अपने आपको कृतार्थ माना ॥ २३-२४ ॥

करेण च करं गृह्य कर्णस्य मुदितो भृशम् ।
कर्णोऽपि भ्रातृसहितमित्युवाच नृपं मुदा ॥ २५ ॥

वह कर्णका हाथ अपने हाथमें लेकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ । कर्णने भी भाइयोंसहित राजा दुर्योधनसे बड़े हर्षके साथ इस प्रकार कहा ॥ २५ ॥

कर्ण उवाच

दिष्ट्या कामः सुसंवृत्तो दिष्ट्या कौरव वर्धसे ।
दिष्ट्या ते शत्रवो मग्ना दुस्तरे व्यसनार्णवे ॥ २६ ॥

कर्ण बोला—कुरुनन्दन ! सौभाग्यसे हमारा काम बन गया । तुम्हारा अभ्युदय हो रहा है, यह भी भाग्यकी ही बात है । तुम्हारे शत्रु विपत्तिके अपार महासागरमें डूब गये, यह कितने सौभाग्यकी बात है ? ॥ २६ ॥

दुर्वासःक्रोधजे वह्नौ पतिताः पाण्डुनन्दनाः ।
स्वैरेव ते महापापैर्गता वै दुस्तरं तमः ॥ २७ ॥

पाण्डव दुर्वासाकी क्रोधाग्निमें गिर गये हैं और अपने ही महापापोंके कारण वे दुस्तर नरकमें जा पड़े हैं ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्थं ते निकृतिप्रज्ञा राजन् दुर्योधनादयः ।
हसन्तः प्रीतमनसो जग्मुः स्वं स्वं निकेतनम् ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! छल-कपटकी विद्यामें प्रवीण दुर्योधन आदि इस प्रकार बातें करते और हँसते हुए प्रसन्न मनसे अपने-अपने भवनोंमें गये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि दुर्वासउपाख्याने द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें दुर्वासाका उपाख्यानविषयक दो सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६२ ॥

त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्वासाका पाण्डवोंके आश्रमपर असमयमें आतिथ्यके लिये जाना, द्रौपदीके द्वारा स्मरण किये जानेपर भगवान्‌का प्रकट होना तथा पाण्डवोंको दुर्वासाके भयसे मुक्त करना और उनको आश्वासन देकर द्वारका जाना

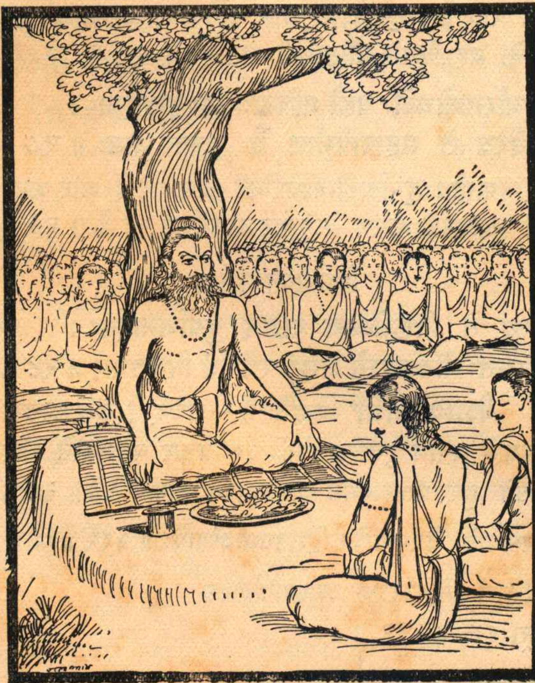
वैशम्पायन उवाच

ततः कदाचिद् दुर्वासाः सुखासीनांस्तु पाण्डवान्।
भुक्त्वा चावस्थितां कृष्णां ज्ञात्वा तस्मिन् वने मुनिः॥ १॥
अभ्यागच्छत् परिवृतः शिष्यैरयुतसम्मितैः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर एक दिन महर्षि दुर्वासा इस बातका पता लगाकर कि पाण्डवलोग भोजन करके सुखपूर्वक बैठे हैं और द्रौपदी भी भोजनसे निवृत्त हो आराम कर रही है, दस हजार शिष्योंसे घिरे हुए उस वनमें आये॥ १½॥

दृष्ट्वाऽऽयान्तं तमतिथिं स च राजा युधिष्ठिरः॥ २॥
जगामाभिमुखः श्रीमान् सह भ्रातृभिरच्युतः।
तस्मै बद्ध्वाञ्जलिं सम्यगुपवेश्य वरासने॥ ३॥
विधिवत् पूजयित्वा तमातिथ्येन न्यमन्त्रयत्।
आह्निकं भगवन् कृत्वा शीघ्रमेहीति चाब्रवीत्॥ ४॥

श्रीमान् राजा युधिष्ठिर अतिथिको आते देख भाइयों-सहित उनके सम्मुख गये। वे अपनी मर्यादासे कभी च्युत नहीं होते थे। उन्होंने उन अतिथिदेवताको लाकर श्रेष्ठ आसनपर आदरपूर्वक बैठाया और हाथ जोड़कर प्रणाम किया। फिर विधिपूर्वक पूजा करके उन्हें अतिथिसत्कारके



रूपमें निमन्त्रित किया और कहा—'भगवन्! अपना नित्य-नियम पूरा करके (भोजनके लिये) शीघ्र पधारिये'॥ २-४॥

जगाम च मुनिः सोऽपि स्नातुं शिष्यैः सहानघः।
भोजयेत् सहशिष्यं मां कथमित्यविचिन्तयन्॥ ५॥
न्यमज्जत् सलिले चापि मुनिसङ्घः समाहितः।

यह सुनकर वे निष्पाप मुनि अपने शिष्योंके साथ स्नान करनेके लिये चले गये। उन्होंने इस बातका तनिक भी विचार नहीं किया कि ये इस समय शिष्योंसहित मुझे भोजन कैसे दे सकेंगे। सारी मुनिमण्डलीने जलमें गोता लगाया, फिर सब लोग एकाग्रचित्त होकर ध्यान करने लगे॥ ५½॥

एतस्मिन्नन्तरे राजन् द्रौपदी योषितां वरा॥ ६॥
चिन्तामवाप परमामन्नहेतोः पतिव्रता।

राजन्! इसी समय युवतियोंमें श्रेष्ठ पतिव्रता द्रौपदीको अन्नके लिये बड़ी चिन्ता हुई॥ ६½॥

सा चिन्तयन्ती च यदा नान्नहेतुमविन्दत॥ ७॥
मनसा चिन्तयामास कृष्णं कंसनिषूदनम्।

जब बहुत सोचने-विचारनेपर भी उसे अन्न मिलनेका कोई उपाय नहीं सूझा, तब वह मन-ही-मन कंसनिकन्दन आनन्द-कन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका स्मरण करने लगी—॥ ७½॥

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय॥ ८॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय॥ ९॥
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर।
आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्तक नतास्मि ते॥ १०॥

'हे कृष्ण! हे महाबाहु श्रीकृष्ण! हे देवकीनन्दन! हे अविनाशी वासुदेव! चरणोंमें पड़े हुए दुखियोंका दुःख दूर करनेवाले हे जगदीश्वर! तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्‌के आत्मा हो। अविनाशी प्रभो! तुम्हीं इस विश्वकी उत्पत्ति और संहार करनेवाले हो। शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले गोपाल! तुम्हीं समस्त प्रजाका पालन करनेवाले परात्पर परमेश्वर हो। आकूति (मन) और चित्ति (बुद्धि) के प्रेरक परमात्मन्! मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ॥ ८-१०॥

वरेण्य वरदानन्त अगतीनां गतिर्भव।
पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर॥ ११॥
सर्वाध्यक्ष पराध्यक्ष त्वामहं शरणं गता।
पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल॥ १२॥







सागके एक पत्तेसे विश्वकी तृप्ति

'सबके वरण करने योग्य वरदाता अनन्त! आओ। जिन्हें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई सहायता देनेवाला नहीं है, उन असहाय भक्तोंकी सहायता करो। पुराणपुरुष! प्राण और मनकी वृत्ति आदि तुम्हारे पासतक नहीं पहुँच सकती। सबके साक्षी परमात्मन्! मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ। शरणागतवत्सल देव! कृपा करके मुझे बचाओ ॥ ११-१२॥

नीलोत्पलदलश्याम पद्मगर्भारुणेक्षण।
पीताम्बरपरीधान लसत्कौस्तुभभूषण ॥ १३ ॥
त्वमादिरन्तो भूतानां त्वमेव च परायणम्।
परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः ॥ १४ ॥

'नीलकमलदलके समान श्यामसुन्दर! कमलपुष्पके भीतरी भागके समान किंचित् लाल नेत्रोंवाले पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण! तुम्हारे वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणिमय आभूषण शोभा पाता है। प्रभो! तुम्हीं समस्त प्राणियोंके आदि और अन्त हो। तुम्हीं सबके परम आश्रय हो। तुम्हीं परात्पर, ज्योतिर्मय सर्वात्मा एवं सब ओर मुखवाले परमेश्वर हो॥

त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसम्पदाम्।
त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि ॥ १५ ॥

'ज्ञानी पुरुष तुम्हें ही इस जगत्का परम बीज और सम्पूर्ण सम्पदाओंकी निधि बतलाते हैं। देवेश्वर! यदि तुम मेरे रक्षक हो, तो मुझपर सारी विपत्तियाँ टूट पड़ें, तो भी मुझे उनसे भय नहीं है ॥ १५ ॥

दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥ १६ ॥

'भगवन्! पहले कौरव-सभामें दुःशासनके हाथसे जैसे तुमने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान संकट-से भी मेरा उद्धार करो' ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स्तुतस्तदा देवः कृष्णया भक्तवत्सलः।
द्रौपद्याः संकटं ज्ञात्वा देवदेवो जगत्पतिः ॥ १७ ॥
पार्श्वस्थां शयने त्यक्त्वा रुक्मिणीं केशवः प्रभुः।
तत्राजगाम त्वरितो ह्यचिन्त्यगतिरीश्वरः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रौपदीके इस प्रकार स्तुति करनेपर अचिन्त्यगति परमेश्वर देवाधिदेव जगन्नाथ भक्त-वत्सल भगवान् केशवको यह मालूम हो गया कि द्रौपदीपर कोई संकट आ गया है, फिर तो शय्यापर अपने पास ही सोयी हुई रुक्मिणीको छोड़कर तुरंत वहाँ आ पहुँचे ॥

ततस्तं द्रौपदी दृष्ट्वा प्रणम्य परया मुदा।
अब्रवीद् वासुदेवाय मुनेरागमनादिकम् ॥ १९ ॥

भगवान्को आया देख द्रौपदीको बड़ा आनन्द हुआ। उसने उन्हें प्रणाम करके दुर्वासा मुनिके आने आदिका सारा समाचार कह सुनाया ॥ १९ ॥

ततस्तामब्रवीत् कृष्णः क्षुधितोऽस्मि भृशातुरः।
शीघ्रं भोजय मां कृष्णे पश्चात् सर्वं करिष्यसि ॥ २० ॥
निशम्य तद्वचः कृष्णा लज्जिता वाक्यमब्रवीत्।
स्थाल्यां भास्करदत्तायामन्नं मद्भोजनावधि ॥ २१ ॥
भुक्तवत्यस्म्यहं देव तस्मादन्नं न विद्यते।

तब भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदीसे कहा—'कृष्णे! इस समय मुझे बड़ी भूख लगी है; मैं भूखसे अत्यन्त पीड़ित हो रहा हूँ। पहले मुझे जल्दी भोजन करा। फिर सारा प्रबन्ध करती रहना।' उनकी यह बात सुनकर द्रौपदीको बड़ी लज्जा हुई। वह बोली—'भगवन्! सूर्यनारायणकी दी हुई बटलोईसे तभीतक भोजन मिलता है, जबतक मैं भोजन न कर लूँ। देव! आज तो मैं भी भोजन कर चुकी हूँ अतः अब उसमें अन्न नहीं रह गया है' ॥ २०-२१½ ॥

ततः प्रोवाच भगवान् कृष्णां कमललोचनः ॥ २२ ॥
कृष्णे न नर्मकालोऽयं क्षुच्छ्रमेणातुरे मयि।
शीघ्रं गच्छ मम स्थालीमानीय त्वं प्रदर्शय ॥ २३ ॥
इति निर्बन्धतः स्थालीमानाय्य स यदूद्वहः।
स्थाल्याः कण्ठेऽथ संलग्नं शाकान्नं वीक्ष्य केशवः ॥ २४ ॥
उपयुज्याब्रवीदेनामनेन हरिरीश्वरः।
विश्वात्मा प्रीयतां देवस्तुष्टश्चास्त्विति यज्ञभुक् ॥ २५ ॥

यह सुनकर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदीसे फिर कहा—'कृष्णे! मैं तो भूख और थकावटसे आतुर हो रहा हूँ और तुझे हँसी सूझती है। यह परिहासका समय नहीं है। जल्दी जा और बटलोई लाकर मुझे दिखा। इस प्रकार हठ करके भगवान्ने द्रौपदीसे बटलोई मँगवायी।



उसके गलेमें जरा-सा साग लगा हुआ था। उसे देखकर श्रीकृष्णने लेकर खा लिया और द्रौपदीसे कहा—'इस सागसे सम्पूर्ण विश्वके आत्मा यज्ञभोक्ता सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि तृप्त और संतुष्ट हों'॥ २२—२५॥

आकारय मुनीन् शीघ्रं भोजनायेति चाब्रवीत्।
सहदेवं महाबाहुः कृष्णः क्लेशविनाशनः॥ २६॥

इतना कहकर सबका क्लेश दूर करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण सहदेवसे बोले—'तुम शीघ्र जाकर मुनियोंको भोजनके लिये बुला लाओ'॥ २६॥

ततो जगाम त्वरितः सहदेवो महायशाः।
आकारितुं तु तान् सर्वान् भोजनार्थं नृपोत्तम॥ २७॥
स्नातुं गतान् देवनद्यां दुर्वासःप्रभृतीन् मुनीन्।

नृपश्रेष्ठ! तब महायशस्वी सहदेव देवनदीमें स्नानके लिये गये हुए उन दुर्वासा आदि सब मुनियोंको भोजनके निमित्त बुलानेके लिये तुरंत गये॥ २७½॥

ते चावतीर्णाः सलिले कृतवन्तोऽघमर्षणम्॥ २८॥
दृष्ट्वोद्गारान् साऽन्नरसांस्तृप्त्या परमया युताः।
उत्तीर्य सलिलात् तस्माद् दृष्टवन्तः परस्परम्॥ २९॥
दुर्वाससमभिप्रेक्ष्य ते सर्वे मुनयोऽब्रुवन्।
राज्ञा हि कारयित्वान्नं वयं स्नातुं समागताः॥ ३०॥
आकण्ठतृप्ता विप्रर्षे किंस्विद् भुञ्जामहे वयम्।
वृथा पाकः कृतोऽस्माभिस्तत्र किं करवामहे॥ ३१॥

वे मुनिलोग उस समय जलमें उतरकर अघमर्षण मन्त्रका जप कर रहे थे। सहसा उन्हें पूर्ण तृप्तिका अनुभव हुआ; बार-बार अन्नरससे युक्त डकारें आने लगीं। यह देखकर वे जलसे बाहर निकले और आपसमें एक दूसरेकी ओर देखने लगे। (सबकी एक-सी अवस्था हो रही थी।) वे सभी मुनि दुर्वासाकी ओर देखकर बोले—'ब्रह्मर्षे! हमलोग राजा युधिष्ठिरको रसोई बनवानेकी आज्ञा देकर स्नान करनेके लिये आये थे, परंतु इस समय इतनी तृप्ति हो रही है कि कण्ठतक अन्न भरा हुआ जान पड़ता है। अब हम कैसे भोजन करेंगे? हमने जो रसोई तैयार करवायी है, वह व्यर्थ होगी। उसके लिये हमें क्या करना चाहिये'॥ २८—३१॥



दुर्वासा उवाच

वृथा पाकेन राजर्षेरपराधः कृतो महान्।
मास्मानधाक्षुर्दृष्ट्वैव पाण्डवाः क्रूरचक्षुषा॥ ३२॥
स्मृत्वानुभावं राजर्षेरम्बरीषस्य धीमतः।
बिभेमि सुतरां विप्रा हरिपादाश्रयाज्जनात्॥ ३३॥
पाण्डवाश्च महात्मानः सर्वे धर्मपरायणाः।
शूराश्च कृतविद्याश्च व्रतिनस्तपसि स्थिताः॥ ३४॥
सदाचाररता नित्यं वासुदेवपरायणाः।
क्रुद्धास्ते निर्दहेयुर्वै तूलराशिमिवानलः।
तत एतानपृष्ट्वैव शिष्याः शीघ्रं पलायत॥ ३५॥

दुर्वासा बोले—वास्तवमें व्यर्थ ही रसोई बनवाकर हमने राजर्षि युधिष्ठिरका महान् अपराध किया है। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डव क्रूर दृष्टिसे देखकर हमें भस्म कर दें। ब्राह्मणो! परम बुद्धिमान् राजा अम्बरीषके प्रभावको याद करके मैं उन भक्तजनोंसे सदा डरता रहता हूँ, जिन्होंने भगवान् श्रीहरिके चरणोंका आश्रय ले रखा है। सब पाण्डव महामना, धर्मपरायण, विद्वान्, शूरवीर, व्रतधारी तथा तपस्वी हैं। वे सदा सदाचारपरायण तथा भगवान् वासुदेवको अपना परम आश्रय माननेवाले हैं। पाण्डव कुपित होनेपर हमको उसी प्रकार भस्म कर सकते हैं, जैसे रूईके ढेरको आग। अतः शिष्यो! पाण्डवोंसे बिना पूछे ही तुरंत भाग चलो॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तास्ते द्विजाः सर्वे मुनिना गुरुणा तदा।
पाण्डवेभ्यो भृशं भीता दुद्रुवुस्ते दिशो दश॥ ३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गुरु दुर्वासा मुनिके ऐसा कहनेपर वे सब ब्राह्मण पाण्डवोंसे अत्यन्त भयभीत हो दसों दिशाओंमें भाग गये॥ ३६॥

सहदेवो देवनद्यामपश्यन् मुनिसत्तमान्।
तीर्थेष्वितस्ततस्तस्या विचचार गवेषयन्॥ ३७॥

सहदेवने जब देवनदीमें उन श्रेष्ठ मुनियोंको नहीं देखा, तब वे वहाँके तीर्थोंमें इधर-उधर खोजते हुए विचरने लगे॥

तत्रस्थेभ्यस्तापसेभ्यः श्रुत्वा तांश्चैव विद्रुतान्।
युधिष्ठिरमथाभ्येत्य तं वृत्तान्तं न्यवेदयत्॥ ३८॥

वहाँ रहनेवाले तपस्वी मुनियोंके मुखसे उनके भागने-

का समाचार सुनकर सहदेव युधिष्ठिरके पास लौट आये और सारा वृत्तान्त उनसे निवेदन कर दिया ॥ ३८ ॥

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे प्रत्यागमनकाङ्क्षिणः।
प्रतीक्षन्तः कियत्कालं जितात्मानोऽवतस्थिरे ॥ ३९ ॥

तदनन्तर मनको वशमें रखनेवाले सब पाण्डव उनके लौट आनेकी आशासे कुछ देरतक उनकी प्रतीक्षा करते रहे॥

निशीथेऽभ्येत्य चाकस्मादस्मान् स छलयिष्यति।
कथं च निस्तरेमास्मात् कृच्छ्राद् दैवोपसादितात्॥ ४०॥
इति चिन्तापरान् दृष्ट्वा निःश्वसन्तो मुहुर्मुहुः।
उवाच वचनं श्रीमान् कृष्णः प्रत्यक्षतां गतः ॥ ४१ ॥

पाण्डव सोचने लगे—'दुर्वासा मुनि अकस्मात् आधी रातको आकर हमें छलेंगे। दैववश प्राप्त हुए इस महान् संकटसे हमारा उद्धार कैसे होगा?' इसी चिन्तामें पड़कर वे बारंबार लंबी साँसें खींचने लगे। उनकी यह दशा देखकर भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिर आदि अन्य सब पाण्डवोंको प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा ॥ ४०-४१ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

भवतामापदं ज्ञात्वा ऋषेः परमकोपनात्।
द्रौपद्या चिन्तितः पार्था अहं सत्वरमागतः ॥ ४२ ॥
न भयं विद्यते तस्मादृषेर्दुर्वाससोऽल्पकम्।
तेजसा भवतां भीतः पूर्वमेव पलायितः ॥ ४३ ॥

श्रीकृष्ण बोले—कुन्तीकुमारो! परम क्रोधी महर्षि दुर्वासासे आपलोगोंपर संकट आता जानकर द्रौपदीने मेरा स्मरण किया था, इसीलिये मैं तुरंत यहाँ आ पहुँचा। अब आपलोगोंको दुर्वासा मुनिसे तनिक भी भय नहीं है। वे आपके तेजसे डरकर पहले ही भाग गये हैं ॥ ४२-४३ ॥

धर्मनित्यास्तु ये केचिन्न ते सीदन्ति कर्हिचित्।
आपृच्छे वो गमिष्यामि नियतं भद्रमस्तु वः ॥ ४४ ॥

जो लोग सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं, वे कभी कष्टमें नहीं पड़ते। अब मैं आपलोगोंसे जानेके लिये आज्ञा चाहता हूँ। यहाँसे द्वारकापुरीको जाऊँगा। आपलोगोंका निरन्तर कल्याण हो ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वेरितं केशवस्य बभूवुः स्वस्थमानसाः।
द्रौपद्या सहिताः पार्थास्तमूचुर्विगतज्वराः ॥ ४५ ॥
त्वया नाथेन गोविन्द दुस्तरामापदं विभो।
तीर्णाः प्लवमिवासाद्य मज्जमाना महार्णवे ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर द्रौपदीसहित पाण्डवोंका चित्त स्वस्थ हुआ। उनकी सारी चिन्ता दूर हो गयी और वे भगवान्से इस प्रकार बोले—'विभो! गोविन्द! तुम्हें अपना सहायक और संरक्षक पाकर हम बड़ी-बड़ी दुस्तर विपत्तियोंसे उसी प्रकार पार हुए हैं, जैसे महासागरमें डूबते हुए मनुष्य जहाजका सहारा पाकर पार हो जाते हैं ॥ ४५-४६ ॥

स्वस्ति साधय भद्रं ते इत्याज्ञातो ययौ पुरीम्।

'तुम्हारा कल्याण हो। इसी प्रकार भक्तोंका हितसाधन किया करो।' पाण्डवोंके इस प्रकार कहनेपर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकापुरीको चले गये ॥ ४६½ ॥

पाण्डवाश्च महाभाग द्रौपद्या सहिताः प्रभो ॥ ४७ ॥
ऊषुः प्रहृष्टमनसो विहरन्तो वनाद् वनम्।

महाभाग जनमेजय! तत्पश्चात् द्रौपदीसहित पाण्डव प्रसन्नचित्त हो वहाँ एक वनसे दूसरे वनमें भ्रमण करते हुए सुखसे रहने लगे ॥ ४७½ ॥

इति तेऽभिहितं राजन् यत् पृष्टोऽहमिह त्वया ॥ ४८ ॥
एवंविधान्यलीकानि धार्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः।
पाण्डवेषु वनस्थेषु प्रयुक्तानि वृथाभवन् ॥ ४९ ॥

राजन्! यहाँ तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने तुम्हें बतला दिया। इस प्रकार दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंने वनवासी पाण्डवोंपर अनेक बार छल-कपटका प्रयोग किया, परंतु वह सब व्यर्थ हो गया ॥ ४८-४९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि दुर्वासउपाख्याने त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें दुर्वासाकी कथाविषयक दो सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२६३॥

चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जयद्रथका द्रौपदीको देखकर मोहित होना और उसके पास कोटिकास्यको भेजना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् बहुमृगेऽरण्ये अटमाना महारथाः।
काम्यके भरतश्रेष्ठा विजह्रुस्ते यथामराः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! काम्यकवनमें नाना प्रकारके वन्य पशु रहते थे। वहाँ भरतकुलभूषण महारथी पाण्डव सब ओर घूमते हुए देवताओंके समान विहार करते थे ॥ १ ॥

प्रेक्षमाणा बहुविधान् वनोद्देशान् समन्ततः।
यथर्तुकालरम्याश्च वनराजीः सुपुष्पिताः ॥ २ ॥

वे चारों ओर घूम-घूमकर नाना प्रकारके वन्य प्रदेशों

तथा ऋतुकालके अनुसार भलीभाँति खिले हुए फूलोंसे सुशोभित रमणीय वनश्रेणियोंकी शोभा देखते थे ॥ २ ॥

पाण्डवा मृगयाशीलाश्चरन्तस्तन्महद् वनम्।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमाः कञ्चित् कालमरिंदम ॥ ३ ॥

शत्रुदमन जनमेजय ! पाण्डवलोग बाघ-चीते आदि हिंसक पशुओंका शिकार किया करते थे। देवराज इन्द्रके समान वे उस महान् वनमें विचरते हुए कुछ कालतक विहार करते रहे ॥ ३ ॥

ततस्ते यौगपद्येन ययुः सर्वे चतुर्दिशम्।
मृगयां पुरुषव्याघ्रा ब्राह्मणार्थे परंतपाः ॥ ४ ॥
द्रौपदीमाश्रमे न्यस्य तृणबिन्दोरनुज्ञया।
महर्षेर्दीप्ततपसो धौम्यस्य च पुरोधसः ॥ ५ ॥

एक दिनकी बात है, शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह पाँचों पाण्डव उद्दीप्त तपस्वी पुरोहित धौम्य तथा महर्षि तृणबिन्दुकी आज्ञासे द्रौपदीको अकेली ही आश्रममें रखकर ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये हिंसक पशुओंको मारने एक साथ चारों दिशाओंमें (अलग-अलग) चले गये ॥ ४-५ ॥

ततस्तु राजा सिन्धूनां वार्द्धक्षत्रिर्महायशाः।
विवाहकामः शाल्वेयान् प्रयातः सोऽभवत् तदा॥ ६ ॥
महता परिबर्हेण राजयोग्येन संवृतः।
राजभिर्बहुभिः सार्धमुपायात् काम्यकं च सः ॥ ७ ॥

उसी समय सिंधुदेशका महायशस्वी राजा जयद्रथ, जो वृद्धक्षत्रका पुत्र था, विवाहकी इच्छासे शाल्वदेशकी ओर जा रहा था। वह बहुमूल्य राजोचित ठाट-बाटसे सुसज्जित था। अनेक राजाओंके साथ यात्रा करता हुआ वह काम्यकवनमें आ पहुँचा ॥ ६-७ ॥

तत्रापश्यत् प्रियां भार्यां पाण्डवानां यशस्विनीम्।
तिष्ठन्तीमाश्रमद्वारि द्रौपदीं निर्जने वने ॥ ८ ॥

वहाँ उसने पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी यशस्विनी द्रौपदीको दूरसे देखा, जो निर्जन वनमें अपने आश्रमके दरवाजेपर खड़ी थी ॥ ८ ॥

विभ्राजमानां वपुषा बिभ्रतीं रूपमुत्तमम्।
भ्राजयन्तीं वनोद्देशं नीलाभ्रमिव विद्युतम् ॥ ९ ॥

वह परम सुन्दर रूप धारण किये अपनी अनुपम कान्तिसे उद्भासित हो रही थी और जैसे विद्युत् अपनी प्रभासे नीले मेघसमूहको प्रकाशित करती है, उसी प्रकार वह सुन्दरी अपनी अङ्गच्छटासे उस वनप्रान्तको सब ओरसे देदीप्यमान कर रही थी ॥ ९ ॥

अप्सरा देवकन्या वा माया वा देवनिर्मिता।
इति कृत्वाञ्जलिं सर्वे ददृशुस्तामनिन्दिताम् ॥ १० ॥

जयद्रथ और उसके सभी साथियोंने उस अनिन्द्य सुन्दरीकी ओर देखा और वे हाथ जोड़कर मन-ही-मन यह विचार करने लगे—'यह कोई अप्सरा है या देवकन्या है अथवा देवताओंकी रची हुई माया है ?' ॥ १० ॥

ततः स राजा सिन्धूनां वार्द्धक्षत्रिर्जयद्रथः।
विस्मितस्त्वनवद्याङ्गीं दृष्ट्वा तां दुष्टमानसः ॥ ११ ॥

निर्दोष अङ्गोंवाली उस सुन्दरीको देखकर वृद्धक्षत्रकुमार सिन्धुराज जयद्रथ चकित रह गया। उसके मनमें दूषित भावनाका उदय हुआ ॥ ११ ॥

स कोटिकास्यं राजानमब्रवीत् काममोहितः।
कस्य त्वेषानवद्याङ्गी यदि वापि न मानुषी ॥ १२ ॥

उसने काममोहित होकर राजा कोटिकास्यसे कहा—'कोटिक ! जरा जाकर पता तो लगाओ, यह सर्वाङ्गसुन्दरी किसकी स्त्री है ? अथवा यह मनुष्यजातिकी स्त्री है भी या नहीं ? ॥

विवाहार्थो न मे कश्चिदिमां प्राप्यातिसुन्दरीम्।
एतामेवाहमादाय गमिष्यामि स्वमालयम् ॥ १३ ॥

'इस अत्यन्त सुन्दरी रमणीको पाकर मुझे और किसीसे विवाह करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। इसीको लेकर मैं अपने घर लौट जाऊँगा ॥ १३ ॥

गच्छ जानीहि सौम्येमां कस्य वात्र कुतोऽपि वा।
किमर्थमागता सुभ्रूरिदं कण्टकितं वनम् ॥ १४ ॥

'सौम्य ! जाओ, पता लगाओ, यह किसकी स्त्री है और कहाँसे इस वनमें आयी है ? यह सुन्दर भौंहोंवाली युवती काँटोंसे भरे हुए इस जंगलमें किसलिये आयी है ? ॥ १४ ॥

अपि नाम वरारोहा मामेषा लोकसुन्दरी।
भजेदद्यायतापाङ्गी सुदती तनुमध्यमा ॥ १५ ॥

'क्या यह मनोहर कटिप्रदेशवाली विश्वसुन्दरी मुझे अङ्गीकार करेगी ? इसके नेत्रप्रान्त कितने विशाल हैं, दाँत कैसे सुन्दर हैं और शरीरका मध्यभाग कितना सूक्ष्म है ?॥१५॥

अप्यहं कृतकामः स्यामिमां प्राप्य वरस्त्रियम्।
गच्छ जानीहि को न्वस्या नाथ इत्येव कोटिक ॥ १६ ॥
स कोटिकास्यस्तच्छ्रुत्वा रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली।
उपेत्य पप्रच्छ तदा क्रोष्टा व्याघ्रवधूमिव ॥ १७ ॥

'यदि मैं इस सुन्दरीको पा जाऊँ, तो कृतार्थ हो जाऊँगा। कोटिक ! जाओ और पता लगाओ कि इसका पति कौन है ?' जयद्रथका यह वचन सुनकर कुण्डलमण्डित कोटिकास्य रथसे उतर पड़ा और जैसे गीदड़ बाघकी स्त्रीसे बात करे, उसी प्रकार उसने द्रौपदीके पास जाकर पूछा ॥ १६-१७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथागमने चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें जयद्रथका आगमनविषयक दो सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२६४॥

पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

कोटिकास्यका द्रौपदीसे जयद्रथ और उसके साथियोंका परिचय देते हुए उसका भी परिचय पूछना

कोटिक उवाच

का त्वं कदम्बस्य विनाम्य शाखा-
मेकाऽऽश्रमे तिष्ठसि शोभमाना ।
देदीप्यमानाग्निशिखेव नक्तं
व्याधूयमाना पवनेन सुभ्रूः ॥ १ ॥

कोटिक बोला—सुन्दर भौंहोंवाली सुन्दरी ! तुम कौन हो ? जो कदम्बकी डाली झुकाकर उसके सहारे इस आश्रममें अकेली खड़ी हो, यहाँ तुम्हारी बड़ी शोभा हो रही है । जैसे रातमें वायुसे आन्दोलित अग्निकी ज्वाला देदीप्यमान दिखायी देती है, उसी प्रकार तुम भी इस आश्रममें अपनी प्रभा बिखेर रही हो ॥ १ ॥

अतीव रूपेण समन्विता त्वं
न चाप्यरण्येषु बिभेषि किं नु ।
देवी नु यक्षी यदि दानवी वा
वराप्सरा दैत्यवराङ्गना वा ॥ २ ॥

तुम बड़ी रूपवती हो । क्या इन जंगलोंमें भी तुम्हें डर नहीं लगता है ? तुम किसी देवता, यक्ष, दानव अथवा दैत्यकी स्त्री तो नहीं हो या कोई श्रेष्ठ अप्सरा हो ? ॥ २ ॥

वपुष्मती वोरगराजकन्या
वनेचरी वा क्षणदाचरस्त्री ।
यद्येव राज्ञो वरुणस्य पत्नी
यमस्य सोमस्य धनेश्वरस्य ॥ ३ ॥

क्या तुम दिव्यरूप धारण करनेवाली नागराजकुमारी हो अथवा वनमें विचरनेवाली किसी राक्षसकी पत्नी हो अथवा राजा वरुण, यमराज, चन्द्रमा एवं धनाध्यक्ष कुबेर—इनमेंसे किसीकी पत्नी हो ? ॥ ३ ॥

धातुर्विधातुः सवितुर्विभोर्वा
शक्रस्य वा त्वं सदनात् प्रपन्ना ।
नह्येव नः पृच्छसि ये वयं स्म
न चापि जानीम तवेह नाथम् ॥ ४ ॥

अथवा तुम धाता, विधाता, सविता, विभु या इन्द्रके भवनसे यहाँ आयी हो ? न तो तुम्हीं हमारा परिचय पूछती हो और न हम ही यहाँ तुम्हारे पतिके विषयमें जानते हैं ॥४॥

वयं हि मानं तव वर्धयन्तः
पृच्छाम भद्रे प्रभवं प्रभुं च ।
आचक्ष्व बन्धूंश्च पतिं कुलं च
तत्त्वेन यच्चेह करोषि कार्यम् ॥ ५ ॥

भद्रे ! हम तुम्हारा सम्मान बढ़ाते हुए तुम्हारे पिता और पतिका परिचय पूछ रहे हैं । तुम अपने बन्धु-बान्धव, पति और कुलका यथार्थ परिचय दो और यह भी बताओ कि तुम यहाँ कौन-सा कार्य करती हो ? ॥ ५ ॥

अहं तु राज्ञः सुरथस्य पुत्रो
यं कोटिकास्येति विदुर्मनुष्याः ।
असौ तु यस्तिष्ठति काञ्चनाङ्गे
रथे हुतोऽग्निश्चयने यथैव ॥ ६ ॥
त्रिगर्तराजः कमलायताक्षि
क्षेमङ्करो नाम स एष वीरः ।

कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी ! मैं राजा सुरथका पुत्र हूँ, जिसे साधारण जनता कोटिकास्यके नामसे जानती है और वे जो सुवर्णमय रथमें बैठे हैं तथा वेदीपर स्थापित एवं घीकी आहुति पड़नेसे प्रज्वलित हुए अग्निके समान प्रकाशित हो रहे हैं, त्रिगर्तदेशके राजा हैं। ये वीर क्षेमङ्करके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ ६½ ॥

अस्मात् परस्त्वेष महाधनुष्मान्
पुत्रः कुलिन्दाधिपतेर्वरिष्ठः ॥ ७ ॥
निरीक्षते त्वां विपुलायताक्षः
सुपुष्पितः पर्वतवासनित्यः ।

इनके बाद जो ये महान् धनुष धारण किये सुन्दर फूलोंकी मालाएँ पहने विशाल नेत्रोंवाले वीर तुम्हें निहार रहे हैं, कुलिन्दराजके ज्येष्ठ पुत्र हैं । ये सदा पर्वतपर ही निवास करते हैं ॥ ७½ ॥

असौ तु यः पुष्करिणीसमीपे
श्यामो युवा तिष्ठति दर्शनीयः ॥ ८ ॥
इक्ष्वाकुराज्ञः सुबलस्य पुत्रः
स एव हन्ता द्विषतां सुगात्रि ।

सुन्दराङ्गि ! और वे जो पुष्करिणीके समीप श्यामवर्णके दर्शनीय नवयुवक खड़े हैं, इक्ष्वाकुवंशी राजा सुबलके पुत्र हैं । ये अकेले ही अपने शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं ॥

यस्यानुचक्रं ध्वजिनः प्रयान्ति
सौवीरका द्वादश राजपुत्राः ॥ ९ ॥
शोणाश्वयुक्तेषु रथेषु सर्वे
मखेषु दीप्ता इव हव्यवाहाः ।
अङ्गारकः कुञ्जरो गुप्तकश्च
शत्रुञ्जयः संजयसुप्रवृद्धौ ॥ १० ॥
भयंकरोऽथ भ्रमरो रविश्च
शूरः प्रतापः कुहनश्च नाम ।

यं षट् सहस्रा रथिनोऽनुयान्ति
नागा हयाश्चैव पदातिनश्च ॥ ११ ॥
जयद्रथो नाम यदि श्रुतस्ते
सौवीरराजः सुभगे स एषः ।

लाल रंगके घोड़ोंसे जुते हुए रथोंपर बैठकर यज्ञोंमें प्रज्वलित अग्निके समान सुशोभित होनेवाले अङ्गारक, कुञ्जर, गुप्तक, शत्रुञ्जय, संजय, सुप्रवृद्ध, भयंकर, भ्रमर, रवि, शूर, प्रताप तथा कुहन—सौवीरदेशके ये बारह राजकुमार जिनके रथके पीछे हाथमें ध्वजा लिये चलते हैं तथा छः हजार रथी, हाथी, घोड़े और पैदल जिनका अनुगमन करते हैं, उन सौवीरराज जयद्रथका नाम तुमने सुना होगा । सौभाग्यशालिनि ! ये वे ही राजा जयद्रथ दिखायी दे रहे हैं ॥९-११½॥

तस्यापरे भ्रातरोऽदीनसत्त्वा
बलाहकानीकविदारणाद्याः ॥ १२ ॥

उनके दूसरे उदार हृदयवाले भाई बलाहक और अनीक–विदारण आदि भी उनके साथ हैं ॥ १२ ॥

सौवीरवीराः प्रवरा युवानो
राजानमेते बलिनोऽनुयान्ति ।
एतैः सहायैरुपयाति राजा
मरुद्गणैरिन्द्र इवाभिगुप्तः ॥ १३ ॥

सौवीरदेशके ये प्रमुख बलवान् नवयुवक वीर सदा राजा जयद्रथके साथ चलते हैं । राजा जयद्रथ इन सहायकोंसे सुरक्षित हो मरुद्गणोंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति यात्रा करते हैं ॥ १३ ॥

अजानतां ख्यापय नः सुकेशि
कस्यासि भार्या दुहिता च कस्य ॥ १४ ॥

सुकेशि ! हम तुमसे सर्वथा अनजान हैं; अतः हमें भी अपना परिचय दो; तुम किसकी पत्नी और किसकी पुत्री हो ? ॥१४॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि कोटिकास्यप्रश्ने पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें कोटिकास्यका प्रश्नविषयक दो सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२६५॥

षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका कोटिकास्यको उत्तर

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीद् द्रौपदी राजपुत्री
पृष्टा शिबीनां प्रवरेण तेन ।
अवेक्ष्य मन्दं प्रविमुच्य शाखां
संगृह्णती कौशिकमुत्तरीयम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शिबिदेशके प्रमुख वीर कोटिकास्यके इस प्रकार पूछनेपर राजकुमारी द्रौपदी कदम्बकी वह डाली छोड़कर अपनी रेशमी ओढ़नीको सँभालती हुई संकोचपूर्वक उसकी ओर देखकर बोली—॥१॥

बुद्ध्याभिजानामि नरेन्द्रपुत्र
न मादृशी त्वामभिभाष्टुमर्हति ।
न त्वेह वक्तास्ति तवेह वाक्य-
मन्यो नरो वाप्यथवापि नारी ॥ २ ॥

'राजकुमार ! मैं बुद्धिसे सोच-विचारकर भलीभाँति समझती हूँ कि मुझ-जैसी पतिपरायणा स्त्रीको तुम-जैसे पर-पुरुषसे वार्तालाप नहीं करना चाहिये; परंतु यहाँ कोई दूसरा ऐसा पुरुष अथवा स्त्री नहीं है, जो तुम्हारी बातका उत्तर दे सके ॥ २ ॥

एका ह्यहं सम्प्रति तेन वाचं
ददामि वै भद्र निबोध चेदम् ।
अहं ह्यरण्ये कथमेकमेका
त्वामालपेयं निरता स्वधर्मे ॥ ३ ॥

'मैं इस समय यहाँ अकेली ही हूँ । इसलिये विवश होकर तुमसे बोलना पड़ रहा है । भद्रपुरुष ! मेरी इस बातपर ध्यान दो । मैं अपने धर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाली हूँ । इस समय इस वनमें मैं अकेली हूँ और तुम भी अकेले पुरुष हो, ऐसी दशामें मैं तुम्हारे साथ कैसे वार्तालाप कर सकती हूँ ? ॥

जानामि च त्वां सुरथस्य पुत्रं
यं कोटिकास्येति विदुर्मनुष्याः ।
तस्मादहं शैब्य तथैव तुभ्य-
माख्यामि बन्धून् प्रथितं कुलं च ॥ ४ ॥

'परंतु मैं तुम्हें पहचानती हूँ, तुम राजा सुरथके पुत्र हो, जिसे लोग कोटिकास्यके नामसे जानते हैं । शैब्य ! इसीलिये मैं तुम्हें अपने बन्धुजनों तथा विश्वविख्यात वंशका परिचय देती हूँ ॥ ४ ॥

अपत्यमस्मि द्रुपदस्य राज्ञः
कृष्णेति मां शैब्य विदुर्मनुष्याः ।
साहं वृणे पञ्च जनान् पतित्वे
ये खाण्डवप्रस्थगताः श्रुतास्ते ॥ ५ ॥

'शिबिदेशके राजकुमार ! मैं राजा द्रुपदकी पुत्री हूँ । मनुष्य मुझे कृष्णाके नामसे जानते हैं । मैंने पाँचों पाण्डवोंका पतिरूपमें वरण किया है, जो खाण्डवप्रस्थमें रहते थे । उनका नाम तुमने अवश्य सुना होगा ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च
माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ ।
ते मां निवेश्येह दिशश्चतस्रो
विभज्य पार्था मृगयां प्रयाताः ॥ ६ ॥

'युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीपुत्र नरवीर नकुल-सहदेव—ये ही मेरे पति हैं। वे सब-के-सब मुझे यहाँ रखकर हिंसक पशुओंको मारनेके लिये अलग-अलग बँटकर चारों दिशाओंमें गये हैं ॥ ६ ॥

प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो
जयः प्रतीचीं यमजावुदीचीम् ।
मन्ये तु तेषां रथसत्तमानां
कालोऽभितः प्राप्त इहोपयातुम् ॥ ७ ॥

'स्वयं राजा युधिष्ठिर पूर्वदिशामें गये हैं, भीमसेन दक्षिण दिशामें, अर्जुन पश्चिम दिशामें और नकुल-सहदेव उत्तर दिशामें गये हैं। मैं समझती हूँ, अब उन महारथियोंके सब ओरसे यहाँ पहुँचनेका समय हो गया है ॥ ७ ॥

सम्मानिता यास्यथ तैर्यथेष्टं
विमुच्य वाहानवरोहयध्वम् ।
प्रियातिथिर्धर्मसुतो महात्मा
प्रीतो भविष्यत्यभिवीक्ष्य युष्मान् ॥ ८ ॥

'अब तुमलोग अपनी सवारियोंसे उतरो और घोड़ोंको खोलकर विश्राम करो। मेरे पतियोंका आदर-सत्कार ग्रहण करके अपने अभीष्ट देशको जाना। महात्मा धर्मपुत्र युधिष्ठिर अतिथियोंके बड़े प्रेमी हैं। वे तुमलोगोंको देखकर बहुत प्रसन्न होंगे' ॥

एतावदुक्त्वा द्रुपदात्मजा सा
शैब्यात्मजं चन्द्रमुखी प्रतीता ।
विवेश तां पर्णशालां प्रशस्तां
संचिन्त्य तेषामतिथित्वमर्थे ॥ ९ ॥

शिबिदेशके राजकुमार कोटिकास्यसे ऐसा कहकर वह चन्द्रमुखी द्रौपदी अपनी उत्तम पर्णशालाके भीतर चली गयी। 'ये लोग हमारे अतिथि हैं' ऐसा सोचकर उसे उनपर विश्वास हो गया था। अतः वह प्रसन्नतापूर्वक उनके आतिथ्यकी व्यवस्थामें लग गयी ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि द्रौपदीवाक्ये षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक दो सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६६ ॥

सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जयद्रथ और द्रौपदीका संवाद

वैशम्पायन उवाच

तथाऽऽसीनेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ।
यदुक्तं कृष्णया सार्धं तत् सर्वं प्रत्यवेदयत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! पूर्वोक्त प्रकारसे रथपर बैठे हुए उन सब राजाओंके पास जाकर कोटिकास्यने द्रौपदीके साथ उसकी जो-जो बातें हुई थीं, वे सब कह सुनायीं ॥ १ ॥

कोटिकास्यवचः श्रुत्वा शैब्यं सौवीरकोऽब्रवीत् ।
यदा वाचं व्याहरन्त्यामस्यां मे रमते मनः ॥ २ ॥
सीमन्तिनीनां मुख्यायां विनिवृत्तः कथं भवान् ।
एतां दृष्ट्वा स्त्रियो मेऽन्या यथा शाखामृगस्त्रियः ॥ ३ ॥
प्रतिभान्ति महाबाहो सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
दर्शनादेव हि मनस्तया मेऽपहृतं भृशम् ॥ ४ ॥
तां समाचक्ष्व कल्याणीं यदि स्याच्छैब्य मानुषी ।

कोटिकास्यकी बात सुनकर सौवीरनरेश जयद्रथने उससे कहा—'शैब्य ! सुन्दरियोंमें सर्वश्रेष्ठ वह युवती जब तुमसे बातचीत कर रही थी, उस समय मेरा मन उसीमें लगा हुआ था। तुम उसे साथ लिये बिना कैसे लौट आये ? महाबाहो ! मैं तुमसे यह सच कहता हूँ, इसे देखकर मुझे दूसरी स्त्रियाँ ऐसी जान पड़ती हैं, मानो बंदरियाँ हों। उसने दर्शनमात्रसे ही मेरे मनको अच्छी तरह हर लिया है। शैब्य ! यदि वह मानवी हो, तो उस कल्याणीके विषयमें ठीक-ठीक बताओ' ॥ २–४½ ॥

कोटिक उवाच

एषा वै द्रौपदी कृष्णा राजपुत्री यशस्विनी ॥ ५ ॥
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां महिषी सम्मता भृशम् ।
सर्वेषां चैव पार्थानां प्रिया बहुमता सती ॥ ६ ॥
तया समेत्य सौवीर सौवीराभिमुखो व्रज ।

कोटिक बोला—सौवीरनरेश ! यह यशस्विनी राजकुमारी द्रुपदपुत्री कृष्णा ही है, जो पाँचों पाण्डवोंकी अत्यन्त आदरणीया महारानी है। कुन्तीके सभी पुत्र इसे प्यार करते हैं। यह सती-साध्वी देवी अपने पतियोंके लिये बड़े सम्मानकी वस्तु है। तुम उससे मिलकर सौवीरदेशकी राह लो ॥ ५–६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच पश्यामि द्रौपदीमिति ॥ ७ ॥
पतिः सौवीरसिन्धूनां दुष्टभावो जयद्रथः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कोटिकास्यके ऐसा कहनेपर सौवीर और सिन्धु आदि देशोंके स्वामी जयद्रथने मनमें दुर्भावना लेकर उसे उत्तर दिया—'अच्छा, मैं भी द्रौपदीसे मिल लेता हूँ' ॥ ७½ ॥

स प्रविश्याश्रमं पुण्यं सिंहगोष्ठं वृको यथा ॥ ८ ॥
आत्मना सप्तमः कृष्णामिदं वचनमब्रवीत्।
कुशलं ते वरारोहे भर्तारस्तेऽप्यनामयाः ॥ ९ ॥
येषां कुशलकामासि तेऽपि कच्चिदनामयाः।

उसने अपने छः भाइयोंके साथ स्वयं सातवाँ बनकर द्रौपदीके पवित्र आश्रममें प्रवेश किया, मानो कोई भेड़िया सिंहकी माँदमें घुसा हो। वहाँ जाकर उसने द्रौपदीसे इस प्रकार कहा—'वरारोहे! तुम कुशलसे हो न? तुम्हारे पति नीरोग तो हैं न? इनके सिवा और जिन लोगोंको तुम सकुशल देखना चाहती हो, वे सभी स्वस्थ तो हैं न? ॥८-९½॥

द्रौपद्युवाच

अपि ते कुशलं राजन् राष्ट्रे कोशे बले तथा ॥ १० ॥
कच्चिदेकः शिबीनाढ्यान् सौवीरान् सह सिन्धुभिः।
अनुतिष्ठसि धर्मेण ये चान्ये विजितास्त्वया ॥ ११ ॥

द्रौपदी बोली—राजन्! तुम स्वयं सकुशल हो न? तुम्हारे राज्य, खजाना और सैनिक तो कुशलसे हैं न? समृद्धिशाली शिबि, सौवीर, सिन्धु तथा अन्य जो-जो प्रदेश तुम्हारे अधिकारमें आ गये हैं, उन सबकी प्रजाका तुम धर्मपूर्वक पालन तो करते हो न? ॥ १०-११ ॥

कौरव्यः कुशली राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अहं च भ्रातरश्चास्य यांश्चान्यान् परिपृच्छसि ॥ १२ ॥
पाद्यं प्रतिगृहाणेदमासनं च नृपात्मज।

मेरे पति कुरुकुलरत्न कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर सकुशल हैं। मैं, उनके चारों भाई तथा अन्य जिन लोगोंके विषयमें तुम पूछ रहे हो, वे सब कुशलसे हैं। राजकुमार! यह पैर धोनेके लिये जल है, इसे ग्रहण करो और यह आसन है, इसपर बैठो ॥ १२½ ॥

जयद्रथ उवाच

एहि मे रथमारोह सुखमाप्नुहि केवलम् ॥ १३ ॥
गतश्रीकांश्च्युतान् राज्यात् कृपणान् गतचेतसः।
अरण्यवासिनः पार्थान् नानुरोद्धुं त्वमर्हसि ॥ १४ ॥
नैव प्राज्ञा गतश्रीकं भर्तारमुपयुञ्जते।
युञ्जानमनुयुञ्जीत न श्रियः संक्षये वसेत् ॥ १५ ॥

जयद्रथने कहा—आओ चलो, मेरे रथपर बैठो और अखण्ड सुखका उपभोग करो। अब पाण्डवोंके पास धन नहीं रहा। उनका राज्य छीन लिया गया। वे दीन और उत्साहहीन हो गये हैं। अब इन बनवासी कुन्तीपुत्रोंका अनुसरण करना तुम्हें शोभा नहीं देता। विदुषी स्त्रियाँ निर्धन पतिकी उपासना नहीं करती हैं। स्वामीके पास जबतक लक्ष्मी रहे, तभीतक उसके साथ रहना चाहिये। जब उसकी सम्पत्ति नष्ट हो जाय, तो वहाँ कदापि न रहे ॥ १३-१५

श्रिया विहीना राष्ट्राच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः।
अलं ते पाण्डुपुत्राणां भक्त्या क्लेशमुपासितुम् ॥ १६ ॥

पाण्डव सदाके लिये श्रीहीन तथा राज्यभ्रष्ट हो गये हैं। अब तुम्हें पाण्डवोंके प्रति भक्ति रखकर कष्ट भोगनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १६ ॥

भार्या मे भव सुश्रोणि त्यजैनान् सुखमाप्नुहि।
अखिलान् सिन्धुसौवीरानाप्नुहि त्वं मया सह ॥ १७ ॥

सुन्दरि! तुम मेरी भार्या बन जाओ। इन पाण्डवोंको छोड़ दो और मेरे साथ रहकर सुख भोगो। मेरे साथ रहनेसे तुम्हें सम्पूर्ण सिन्धु और सौवीरदेशका राज्य प्राप्त होगा, तुम महारानी बनोगी ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्ता सिन्धुराजेन वाक्यं हृदयकम्पनम्।
कृष्णा तस्मादपाक्रामद् देशात् सभ्रुकुटीमुखी ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सिन्धुराज जयद्रथके मुखसे यह हृदय कँपा देनेवाली बात सुनकर द्रुपदकुमारी कृष्णा उस स्थानसे दूर हट गयी। उसके मुखपर रोष छा गया और उसकी भौंहें तन गयीं ॥ १८ ॥

अवमत्यास्य तद् वाक्यमाक्षिप्य च सुमध्यमा।
मैवमित्यब्रवीत् कृष्णा लज्जस्वेति च सैन्धव ॥ १९ ॥

उसके इस प्रस्तावका तिरस्कार करके सुन्दरी द्रौपदीने उसे कड़ी फटकार सुनायी और बोली—'खबरदार, फिर कभी ऐसी बात मुखसे मत निकालना। सिन्धुराज! तुम्हें लज्जा आनी चाहिये थी ॥ १९ ॥

सा काङ्क्षमाणा भर्तॄणामुपयातमनिन्दिता।
विलोभयामास परं वाक्यैर्वाक्यानि युञ्जती ॥ २० ॥

पतिव्रता द्रौपदी चाहती थी कि मेरे पति अभी यहाँ आ जायँ। अतः वह जयद्रथसे वाद-विवाद करती हुई उसे बातोंमें फँसाये रखनेकी चेष्टा करने लगी ॥ २०* ॥

(द्रौपद्युवाच

नैवं वद महाबाहो न्याय्यं त्वं न च बुध्यसे ॥
पाण्डूनां धार्तराष्ट्राणां स्वसा चैव कनीयसी।
दुःशला नाम तस्यास्त्वं भर्ता राजकुलोद्वह ॥
मम भ्राता च न्याय्येन त्वया रक्ष्या महारथ।
धर्मिष्ठानां कुले जातो न धर्मं त्वमवेक्षसे ॥

द्रौपदी बोली—महाबाहो! ऐसी पापकी बात न

बोलो। कौन-सा कार्य धर्मके अनुकूल और न्यायसंगत है, इसका तुम्हें ज्ञान नहीं है। तुम धृतराष्ट्रपुत्रों तथा पाण्डवोंकी छोटी बहन दुःशलाके पति हो। महारथी राजकुमार! इस नातेसे न्यायतः तुम मेरे भाई हो; अतः तुम्हें मेरी रक्षा करनी चाहिये। तुम्हारा जन्म तो धर्मात्माओंके कुलमें हुआ है, परंतु तुम्हारी दृष्टि धर्मकी ओर नहीं है ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः सिन्धुराजोऽथ वाक्यमुत्तरमब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रौपदीके ऐसा कहनेपर सिन्धुराज जयद्रथने उसे इस प्रकार उत्तर दिया।

जयद्रथ उवाच

राज्ञां धर्मं न जानीषे स्त्रियो रत्नानि चैव हि।
साधारणानि लोकेऽस्मिन् प्रवदन्ति मनीषिणः ॥)

जयद्रथ बोला—कृष्णे! तुम राजाओंका धर्म नहीं जानतीं। मनीषी पुरुषोंका कथन है कि इस संसारमें स्त्रियाँ तथा रत्न सर्वसाधारणकी वस्तुएँ हैं।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथद्रौपदीसंवादे सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें जयद्रथद्रौपदीसंवादविषयक दो सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका जयद्रथको फटकारना और जयद्रथद्वारा उसका अपहरण

वैशम्पायन उवाच

सरोषरागोपहतेन वल्गुना
सरागनेत्रेण नतोन्नतभ्रुवा।
मुखेन विस्फूर्य सुवीरराष्ट्रपं
ततोऽब्रवीत् तं द्रुपदात्मजा पुनः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जयद्रथकी बात सुनकर द्रौपदीका सुन्दर मुख क्रोधसे तमतमा उठा, आँखें लाल हो गयीं, भौंहें टेढ़ी होकर तन गयीं और उसने सौवीरराज जयद्रथको फटकारकर पुनः इस प्रकार कहा—॥१॥

यशस्विनस्तीक्ष्णविषान् महारथा-
नभिब्रुवन् मूढ न लज्जसे कथम्।
महेन्द्रकल्पान् निरतान् स्वकर्मसु
स्थितान् समूहेष्वपि यक्षरक्षसाम् ॥ २॥

'अरे मूढ़! मेरे पति पाण्डव महान् यशस्वी, सदा अपने धर्मके पालनमें स्थित, यक्षों तथा राक्षसोंके समूहमें भी युद्ध करनेमें समर्थ, देवराज इन्द्रके सदृश शक्तिशाली तथा महारथी वीर हैं। उनका क्रोध तीक्ष्ण विषवाले नागोंके समान भयंकर है। उनके सम्मानके विरुद्ध ऐसी ओछी बातें कहते हुए तुझे लज्जा कैसे नहीं आती? ॥ २ ॥

न किंचिदीड्यं प्रवदन्ति पापं
वनेचरं वा गृहमेधिनं वा।
तपस्विनं सम्परिपूर्णविद्यं
भषन्ति हैवं श्वनराः सुवीर ॥ ३ ॥

'अच्छे लोग पूजनीय, तपस्वी तथा पूर्ण विद्वान् पुरुषके प्रति भले ही वह वनवासी हो या गृहस्थ कोई अनुचित बात नहीं कहते हैं। जयद्रथ! मनुष्योंमें जो तेरे-जैसे कुत्ते हैं, वे ही इस तरह भूँका करते हैं ॥ ३ ॥



अहं तु मन्ये तव नास्ति कश्चि-
देतादृशे क्षत्रियसंनिवेशे।
यस्त्वाद्य पातालमुखे पतन्तं
पाणौ गृहीत्वा प्रतिसंहरेत ॥ ४ ॥
नागं प्रभिन्नं गिरिकूटकल्प-
मुपत्यकां हैमवतीं चरन्तम्।
दण्डीव यूथादपसेधसि त्वं
यो जेतुमाशंससि धर्मराजम् ॥ ५ ॥

'मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि इस क्षत्रियमण्डलीमें कोई भी तेरा ऐसा हितैषी स्वजन नहीं है, जो आज तेरा हाथ पकड़कर तुझे पातालके गहरे गर्तमें गिरनेसे बचा ले। अरे! जैसे कोई मूर्ख मनुष्य हिमालयकी उपत्यकामें विचरनेवाले पर्वतशिखरके समान ऊँचे एवं मदकी धारा बहानेवाले गजराजको हाथमें डंडा लेकर उसके यूथसे अलग हाँक लाना चाहे, उसी प्रकार तू धर्मराज युधिष्ठिरको जीतनेका हौसला रखता है ॥ ४-५ ॥

बाल्यात् प्रसुप्तस्य महाबलस्य
सिंहस्य पक्ष्माणि मुखाल्लुनासि।
पदा समाहत्य पलायमानः
क्रुद्धं यदा द्रक्ष्यसि भीमसेनम् ॥ ६ ॥

'तू मूर्खतावश (अपनी माँदमें) सोये हुए महाबली सिंहको लात मारकर उसके मुखके बाल नोंच रहा है। जिस समय तू क्रोधमें भरे हुए भीमसेनको देखेगा, उस समय तुरंत भाग छूटेगा ॥ ६ ॥

महाबलं घोरतरं प्रवृद्धं
जातं हरिं पर्वतकन्दरेषु।
प्रसुप्तमुग्रं प्रपदेन हंसि
यः क्रुद्धमायोत्स्यसि जिष्णुमुग्रम् ॥ ७ ॥

'यदि तू रोषमें भरे हुए भयंकर योद्धा अर्जुनसे जूझना चाहता है, तो समझ ले कि पर्वतकी कन्दराओंमें उत्पन्न हो वहीं पलकर बढ़े हुए अत्यन्त घोर और महाबली सोये हुए भयानक सिंहको तू पैरसे ठोकर मार रहा है ॥ ७ ॥

कृष्णोरगौ तीक्ष्णमुखौ द्विजिह्वौ
मत्तः पदाऽऽक्रामसि पुच्छदेशे।
यः पाण्डवाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्यां
जघन्यजाभ्यां प्रयुयुत्ससे त्वम् ॥ ८ ॥

'यदि तू पुरुषरत्न दोनों छोटे पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेकी इच्छा रखता है, तो यह मानना पड़ेगा कि मतवाला होकर तू मुखमें तीक्ष्ण विष धारण करनेवाले एवं दो जिह्वाओंसे युक्त दो काले नागोंकी पूँछको पैरसे कुचल रहा है ॥ ८ ॥

यथा च वेणुः कदली नलो वा
फलन्त्यभावाय न भूतयेऽऽत्मनः।
तथैव मां तैः परिरक्ष्यमाणा-
मादास्यसे कर्कटकीव गर्भम् ॥ ९ ॥

'अरे मूर्ख! जैसे बाँस, केला और नरकुल—ये अपने विनाशके लिये ही फलते हैं, समृद्धिके लिये नहीं तथा जैसे केकड़ेकी मादा अपनी मृत्युके लिये ही गर्भ धारण करती है, उसी प्रकार तू पाण्डवोंद्वारा सदा सुरक्षित मुझ द्रौपदीका अपनी मृत्युके लिये ही अपहरण करना चाहता है' ॥ ९ ॥

जयद्रथ उवाच

जानामि कृष्णे विदितं ममैतद्
यथाविधास्ते नरदेवपुत्राः।
न त्वेवमेतेन विभीषणेन
शक्या वयं त्रासयितुं त्वयाद्य ॥ १० ॥

जयद्रथने कहा—कृष्णे! मैं जानता हूँ कि तुम्हारे पति राजकुमार पाण्डव कैसे हैं? मुझे ये सब बातें मालूम हैं। परंतु इस समय इस विभीषिकाद्वारा तुम हमें डरा नहीं सकतीं ॥ १० ॥

वयं पुनः सप्तदशेषु कृष्णे
कुलेषु सर्वेऽनवमेषु जाताः।
षड्भ्यो गुणेभ्योऽभ्यधिका विहीनान्
मन्यामहे द्रौपदि पाण्डुपुत्रान् ॥ ११ ॥

द्रुपदकुमारी कृष्णे! हम सब लोग उन श्रेष्ठ कुलोंमें उत्पन्न हुए हैं, जो सत्रह[1] गुणोंसे सम्पन्न हैं। इसके सिवा हम छः[2] गुणोंको पाकर पाण्डवोंसे बढ़े-चढ़े हैं; अतः उन्हें अपनेसे हीन मानते हैं ॥ ११ ॥

सा क्षिप्रमातिष्ठ गजं रथं वा
न वाक्यमात्रेण वयं हि शक्याः।
आशंस वा त्वं कृपणं वदन्ती
सौवीरराजस्य पुनः प्रसादम् ॥ १२ ॥

कृष्णे! तुम बड़ी-बड़ी बातें बनाकर हमें रोक नहीं सकतीं। अब तुम्हारे सामने दो ही मार्ग हैं—या तो सीधी तरहसे तुरंत चलकर मेरे हाथी या रथपर सवार हो जाओ; अथवा पाण्डवोंके हार जानेपर दीन वाणीमें विलाप करती हुई सौवीरराज जयद्रथसे कृपाकी भीख माँगो ॥ १२ ॥

द्रौपद्युवाच

महाबला किंत्विह दुर्बलेव
सौवीरराजस्य मताहमस्मि।
नाहं प्रमाथादिह सम्प्रतीता
सौवीरराजं कृपणं वदेयम् ॥ १३ ॥

द्रौपदीने कहा—मैं महान् बल एवं शक्तिसे सम्पन्न हूँ, तो भी सौवीरराज जयद्रथकी दृष्टिमें यहाँ दुर्बल-सी

---

१. खेती, व्यापार, दुर्ग, पुल बनाना, हाथी बाँधना, खानोंकी रक्षा, कर वसूलना और निर्जन प्रदेशोंको बसाना—ये आठ संधान-कर्म तथा प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति, प्रभुसिद्धि, मन्त्र-सिद्धि, उत्साहसिद्धि, प्रभूदय, मन्त्रोदय और उत्साहोदय—ये नौ मिलाकर सत्रह गुण होते हैं।

२. शौर्य, तेज, धृति, दाक्षिण्य, दान तथा ऐश्वर्य—ये छः गुण हैं।

प्रतीत हो रही हूँ। मुझे भगवान्‌पर विश्वास है, मैं जोर-जबर्दस्ती करनेसे यहाँ जयद्रथके सामने कभी दीन वचन नहीं बोल सकती ॥ १३ ॥

यस्या हि कृष्णौ पदवीं चरेतां
समास्थितावेकरथे समेतौ ॥
इन्द्रोऽपि तां नापहरेत् कथंचि-
न्मनुष्यमात्रः कृपणः कुतोऽन्यः ॥ १४ ॥

एक रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन साथ होकर जिसकी खोजमें निकलेंगे, उस द्रौपदीको देवराज इन्द्र भी किसी तरह हरकर नहीं ले जा सकते। फिर दूसरे किसी दीन-हीन मनुष्यकी तो बिसात ही क्या है ? ॥ १४ ॥

यदा किरीटी परवीरघाती
निघ्नन् रथस्थो द्विषतां मनांसि ।
मदन्तरे त्वद्‌ध्वजिनीं प्रवेष्टा
कक्षं दहन्नग्निरिवोष्णगेषु ॥ १५ ॥

जब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले किरीटधारी अर्जुन शत्रुओंके मनोबलको नष्ट करते हुए मेरे लिये रथमें स्थित हो तेरी सेनामें प्रवेश करेंगे, उस समय जैसे गर्मियोंमें आग घास-फूसको जलाती है, उसी प्रकार तुझे और तेरी सेनाको भस्म कर डालेंगे ॥ १५ ॥

जनार्दनः सान्धकवृष्णिवीरो
महेष्वासाः केकयाश्चापि सर्वे ।
एते हि सर्वे मम राजपुत्राः
प्रहृष्टरूपाः पदवीं चरेयुः ॥ १६ ॥

अन्धक और वृष्णिवंशी वीरोंके साथ भगवान् श्रीकृष्ण तथा महान् धनुर्धर समस्त केकयराजकुमार मेरे रक्षक हैं। ये सभी राजपुत्र हर्ष और उत्साहमें भरकर मेरा पता लगानेके लिये निकल पड़ेंगे ॥ १६ ॥

मौर्वीविसृष्टाः स्तनयित्नुघोषा
गाण्डीवमुक्तास्त्वतिवेगवन्तः ।
हस्तं समाहत्य धनंजयस्य
भीमाः शब्दं घोरतरं नदन्ति ॥ १७ ॥

अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चासे छूटे हुए अत्यन्त वेगशाली बाण मेघोंके समान गर्जना करते हैं। वे भयानक बाण अर्जुनके हाथसे टकराकर अत्यन्त घोर शब्दकी सृष्टि करते हैं ॥ १७ ॥

गाण्डीवमुक्तांश्च महाशरौघान्
पतंगसङ्घानिव शीघ्रवेगान् ।
यदा द्रष्टास्यर्जुनं वीर्यशालिनं
तदा स्वबुद्धिं प्रतिनिन्दितासि ॥ १८ ॥

जब तू गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए विशाल बाणसमूहोंको टिड्डियोंकी भाँति वेगसे उड़ते देखेगा और जब अद्भुत पराक्रमसे शोभा पानेवाले वीर अर्जुनपर तेरी दृष्टि पड़ेगी, उस समय अपने इस कुकृत्यको याद करके तू स्वयं ही अपनी बुद्धिको धिक्कारेगा ॥ १८ ॥

सशङ्खघोषः सतलत्रघोषो
गाण्डीवधन्वा मुहुरुद्वहंश्च ।
यदा शरानर्पयिता तवोरसि
तदा मनस्ते किमिवाभविष्यत् ॥ १९ ॥

जब गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन शङ्खध्वनिके साथ दस्तानेकी आवाज फैलाते हुए बार बार बाण उठा-उठाकर तेरी छातीपर चोट करेंगे, उस समय तेरे मनकी दशा कैसी होगी ? (इसे भी सोच ले) ॥ १९ ॥

गदाहस्तं भीममभिद्रवन्तं
माद्रीपुत्रौ सम्पतन्तौ दिशश्च ।
अमर्षजं क्रोधविषं वमन्तौ
दृष्ट्वा चिरं तापमुपैष्यसेऽधम ॥ २० ॥

अरे नीच ! जब भीमसेन हाथमें गदा लिये दौड़ेंगे और माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव अमर्षजनित क्रोधरूपी विष उगलते हुए (तेरी सेनापर) सब दिशाओंसे टूट पड़ेंगे, तब उन्हें देखकर तू दीर्घकालतक संतापकी आगमें जलता रहेगा ॥ २० ॥

यथा चाहं नातिचरे कथंचित्
पतीन् महार्हान् मनसापि जातु ।
तेनाद्य सत्येन वशीकृतं त्वां
द्रष्टास्मि पार्थैः परिकृष्यमाणम् ॥ २१ ॥

यदि मैंने कभी मनसे भी अपने परम पूजनीय पतियोंका किसी तरह उल्लङ्घन नहीं किया हो, तो आज इस सत्यके प्रभावसे मैं देखूँगी कि पाण्डव तुझे जीतकर अपने वशमें करके जमीनपर घसीट रहे हैं ॥ २१ ॥

न सम्भ्रमं गन्तुमहं हि शक्ष्ये
त्वया नृशंसेन विकृष्यमाणा ।
समागताहं हि कुरुप्रवीरैः
पुनर्वनं काम्यकमागतास्मि ॥ २२ ॥

मैं जानती हूँ कि तू नृशंस है, अतः मुझे बलपूर्वक खींचकर ले जायगा। परंतु इससे मैं सम्भ्रम (घबराहट) में नहीं पड़ सकूँगी। मैं अपने पति कुरुवंशी वीर पाण्डवोंसे शीघ्र ही मिलूँगी और उनके साथ पुनः इसी काम्यकवनमें आकर रहूँगी ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

साताननुप्रेक्ष्य विशालनेत्रा
जिघृक्षमाणानवभर्त्सयन्ती ।
प्रोवाच मा मा स्पृशतेति भीता
धौम्यं प्रचुक्रोश पुरोहितं सा ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय जयद्रथके साथी आश्रममें प्रविष्ट होकर द्रौपदीको पकड़ लेना चाहते थे। यह देख विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी उन्हें डाँटकर बोली—'खबरदार, कोई मेरे शरीरका स्पर्श न करे।' फिर भयभीत होकर उसने अपने पुरोहित धौम्य मुनिको पुकारा ॥ २३ ॥

जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे
जयद्रथस्तं समवाक्षिपत् सा।
तया समाक्षिप्ततनुः स पापः
पपात शाखीव निकृत्तमूलः ॥ २४ ॥

इतनेमें ही जयद्रथने आगे बढ़कर द्रौपदीकी ओढ़नीका छोर पकड़ लिया। परंतु द्रौपदीने उसे जोरका धक्का दिया। उसका धक्का लगते ही पापी जयद्रथका शरीर जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २४ ॥

प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन
मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री।
सा कृष्यमाणा रथमारुरोह
धौम्यस्य पादावभिवाद्य कृष्णा ॥ २५ ॥

फिर बड़े वेगसे उठकर उसने राजकुमारी द्रौपदीको पकड़ लिया। तब बार-बार लंबी साँसें छोड़ती हुई द्रौपदीने धौम्य-मुनिके चरणोंमें प्रणाम किया, किंतु वह जयद्रथके द्वारा खींची जानेके कारण बाध्य होकर उसके रथपर बैठ गयी ॥ २५ ॥

धौम्य उवाच

नेयं शक्या त्वया नेतुमविजित्य महारथान्।
धर्मं क्षत्रस्य पौराणमवेक्षस्व जयद्रथ ॥ २६ ॥

तब धौम्यने कहा—जयद्रथ ! तू क्षत्रियोंके प्राचीन धर्मपर दृष्टिपात कर। महारथी पाण्डवोंको परास्त किये बिना इसे ले जानेका तुझे कोई अधिकार नहीं है ॥ २६ ॥

क्षुद्रं कृत्वा फलं पापं त्वं प्राप्स्यसि न संशयः।
आसाद्य पाण्डवान् वीरान् धर्मराजपुरोगमान् ॥ २७ ॥

तू धर्मराज आदि वीर पाण्डवोंके सामने पड़नेपर इस खोटे कर्मका बुरा फल प्राप्त करेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा ह्रियमाणां तां राजपुत्रीं यशस्विनीम्।
अन्वगच्छत् तदा धौम्यः पदातिगणमध्यगः ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर धौम्य मुनि हरकर ले जायी जाती हुई यशस्विनी राजकुमारी द्रौपदीके पीछे-पीछे पैदल सेनाके बीचमें होकर चलने लगे ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें दो सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका आश्रमपर लौटना और धात्रेयिकासे द्रौपदीहरणका वृत्तान्त जानकर जयद्रथका पीछा करना

वैशम्पायन उवाच

ततो दिशः सम्प्रविहृत्य पार्था
मृगान् वराहान् महिषांश्च हत्वा।
धनुर्धराः श्रेष्ठतमाः पृथिव्यां
पृथक् चरन्तः सहिता बभूवुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भूमण्डलके श्रेष्ठतम धनुर्धर पाँचों कुन्तीकुमार सब दिशाओंमें घूम-फिरकर हिंसक पशुओं, वराहों और जंगली भैंसोंको मारकर पृथक्-पृथक् विचरते हुए एक साथ हो गये ॥ १ ॥

ततो मृगव्यालगणानुकीर्णं
महावनं तद् विहगोपघुष्टम्।
भ्रातॄंश्च तानभ्यवदद् युधिष्ठिरः
श्रुत्वा गिरो व्याहरतां मृगाणाम् ॥ २ ॥

उस समय हिंसक पशुओं और साँपोंसे भरा हुआ वह महान् वन सहसा चिड़ियोंके चीत्कारसे गूँज उठा तथा वन्य पशु भी भयभीत होकर आर्तनाद करने लगे। उन सबकी आवाज सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे कहा— ॥ २ ॥

आदित्यदीप्तां दिशमभ्युपेत्य
मृगा द्विजाः क्रूरमिमे वदन्ति।
आयासमुग्रं प्रतिवेदयन्तो
महावनं शत्रुभिर्बाध्यमानम् ॥ ३ ॥

'भाइयो ! देखो, ये मृग और पक्षी सूर्यके द्वारा प्रकाशित पूर्वदिशाकी ओर दौड़ते हुए अत्यन्त कठोर शब्द बोल रहे हैं और किसी भयंकर उत्पातकी सूचना देते हैं। जान पड़ता है, यह विशाल वन हमारे शत्रुओंद्वारा पीड़ित हो रहा है ॥ ३ ॥

क्षिप्रं निवर्तध्वमलं विलम्बै-
र्मनो हि मे दूयति दह्यते च।
बुद्धिं समाच्छाद्य च मे समन्यु-
रुद्धूयते प्राणपतिः शरीरे ॥ ४ ॥

'अब शीघ्र आश्रमकी ओर लौटो। हमें विलम्ब नहीं

करना चाहिये; क्योंकि मेरा मन बुद्धिकी विवेकशक्तिको आच्छादित करके व्यथित तथा चिन्तासे दग्ध हो रहा है तथा मेरे शरीरमें यह प्राणोंका स्वामी (जीव) भयभीत हुआ छटपटा रहा है ॥ ४ ॥

सरः सुपर्णेन हृतोरगं यथा
राष्ट्रं यथाराजकमात्तलक्ष्मि ।
एवंविधं मे प्रतिभाति काम्यकं
शौण्डैर्यथा पीतरसश्च कुम्भः ॥ ५ ॥

'जैसे गरुड़के द्वारा सरोवरमें रहनेवाले महासर्पके पकड़ लिये जानेपर वह मथित-सा हो उठता है, जैसे बिना राजाका राज्य श्रीहीन हो जाता है तथा जिस प्रकार रससे भरा हुआ घड़ा धूर्तोंद्वारा (चुपकेसे) पी लिये जानेपर सहसा खाली दिखायी देता है; उसी प्रकार शत्रुओंद्वारा काम्यकवनकी भी दुरवस्था की गयी है, ऐसा मुझे जान पड़ता है' ॥ ५ ॥

ते सैन्धवैरत्यनिलोग्रवेगै-
र्महाजवैर्वाजिभिरुह्यमानाः ।
युक्तैर्बृहद्भिः सुरथैर्नृवीरा-
स्तदाऽऽश्रमायाभिमुखा बभूवुः ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् वे नरवीर पाण्डव हवासे भी अधिक तेज चलनेवाले सिन्धुदेशके महान् वेगशाली अश्वोंसे जुते हुए सुन्दर एवं विशाल रथोंपर बैठकर आश्रमकी ओर चले ॥ ६ ॥

तेषां तु गोमायुरनल्पघोषो
निवर्ततां वाममुपेत्य पार्श्वम् ।
प्रव्याहरत् तत् प्रविमृश्य राजा
प्रोवाच भीमं च धनंजयं च ॥ ७ ॥

उस समय एक गीदड़ बड़े जोरसे रोता हुआ लौटते हुए पाण्डवोंके वामभागसे होकर निकल गया । इस अपशकुनपर विचार करके राजा युधिष्ठिरने भीमसेन और अर्जुनसे कहा—॥ ७ ॥

यथा वदत्येष विहीनयोनिः
शालावृको वाममुपेत्य पार्श्वम् ।
सुव्यक्तमस्मानवमन्य पापैः
कृतोऽभिमर्दः कुरुभिः प्रसह्य ॥ ८ ॥

'यह नीच योनिका गीदड़, जो हमलोगोंके वामभागसे होकर निकला है, जैसा शब्द कर रहा है, उससे स्पष्ट जान पड़ता है कि पापी कौरवोंने यहाँ आकर हमारी अवहेलना करते हुए हठपूर्वक भारी संहार मचा रक्खा है' ॥ ८ ॥

इत्येव ते तद् वनमाविशन्तो
महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा ।
बालामपश्यन्त तदा रुदन्तीं
धात्रेयिकां प्रेष्यवधूं प्रियायाः ॥ ९ ॥

इस प्रकार उस विशाल वनमें शिकार खेलकर लौटे हुए पाण्डव जब आश्रमके समीपवर्ती वनमें प्रवेश करने लगे, तब उन्होंने देखा कि उनकी प्रिया द्रौपदीकी दासी धात्रेयिका, जो उन्हींके एक सेवककी स्त्री थी, रो रही है ॥ ९ ॥

तामिन्द्रसेनस्त्वरितोऽभिसृत्य
रथादवप्लुत्य ततोऽभ्यधावत् ।
प्रोवाच चैनां वचनं नरेन्द्र
धात्रेयिकामन्तिकतरस्तदानीम् ॥ १० ॥

राजा जनमेजय ! उसे रोती देख सारथि इन्द्रसेन तुरंत रथसे कूद पड़ा और वहाँसे दौड़कर धात्रेयिकाके अत्यन्त निकट जाकर उस समय इस प्रकार बोला—॥ १० ॥



किं रोदिषि त्वं पतिता धरण्यां
किं ते मुखं शुष्यति दीनवर्णम् ।
कच्चिन्न पापैः सुनृशंसकृद्भिः
प्रमाथिता द्रौपदी राजपुत्री ॥ ११ ॥

'तू इस प्रकार धरतीपर पड़ी क्यों रो रही है ? तेरा मुँह दीन होकर क्यों सूख रहा है ? कहीं अत्यन्त निष्ठुर कर्म करनेवाले पापी कौरवोंने यहाँ आकर राजकुमारी द्रौपदीका तिरस्कार तो नहीं किया ? ॥ ११ ॥

अचिन्त्यरूपा सुविशालनेत्रा
शरीरतुल्या कुरुपुङ्गवानाम् ।
यद्येव देवी पृथिवीं प्रविष्टा
दिवं प्रपन्नाप्यथवा समुद्रम् ॥ १२ ॥

तस्या गमिष्यन्ति पदे हि पार्था
यथा हि संतप्यति धर्मपुत्रः ।

'धर्मराज युधिष्ठिर महारानीके लिये जिस प्रकार संतप्त हो रहे हैं, उसे देखते हुए यह निश्चय है कि समस्त कुन्तीकुमार उनकी खोजमें अभी जायँगे । उनका रूप अचिन्त्य है । वे सुन्दर एवं विशाल नेत्रोंसे सुशोभित होती हैं तथा कुरुप्रवर पाण्डवोंको अपने शरीरके समान प्यारी हैं । वे द्रौपदीदेवी यदि पृथ्वीके भीतर प्रविष्ट हुई हों, स्वर्गलोकमें गयी हों अथवा समुद्रमें समा गयी हों, पाण्डव उन्हें अवश्य ढूँढ़ निकालेंगे ॥ १२½ ॥

को ह्यीदृशानामरिमर्दनानां
क्लेशक्षमाणामपराजितानाम् ॥ १३ ॥
प्राणैः समामिष्टतमां जिहीर्षे-
दनुत्तमं रत्नमिव प्रमूढः ।

'जो शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाले और किसीसे भी पराजित नहीं होनेवाले हैं, जो सब प्रकारके क्लेश सहन करनेमें समर्थ हैं, ऐसे पाण्डवोंकी सर्वोत्तम रत्नके समान स्पृहणीय तथा प्राणोंके समान प्रियतमा द्रौपदीका कौन मूर्ख अपहरण करना चाहेगा ? ॥ १३½ ॥

न बुध्यते नाथवतीमिहाद्य
बहिश्चरं हृदयं पाण्डवानाम् ॥ १४ ॥
कस्याद्य कायं प्रतिभिद्य घोरा
महीं प्रवेक्ष्यन्ति शिताः शराग्र्याः ।

'द्रौपदी बाहर प्रकट हुई पाण्डवोंकी अन्तरात्मा है । अपने पतियोंसे सनाथ महारानी द्रौपदीको यहाँ कौन मूर्ख नहीं जानता था ? आज पाण्डवोंके अत्यन्त भयंकर और तीक्ष्ण श्रेष्ठ बाण किसके शरीरको विदीर्ण करके पृथ्वीमें घुस जायँगे ? ॥ १४½ ॥

मा त्वं शुचस्तां प्रति भीरु विद्धि
यथाद्य कृष्णा पुनरेष्यतीति ॥ १५ ॥
निहत्य सर्वान् द्विषतः समग्रान्
पार्थाः समेष्यन्त्यथ याज्ञसेन्या ।

'भीरु ! तू महारानी द्रौपदीके लिये शोक न कर। तू समझ ले कि अभी वे पुनः यहाँ आ जायँगी । कुन्तीके पुत्र अपने समस्त शत्रुओंका संहार करके द्रुपदकुमारीसे अवश्य मिलेंगे' ॥ १५½ ॥

अथाब्रवीच्चारु मुखं प्रमृज्य
धात्रेयिका सारथिमिन्द्रसेनम् ॥ १६ ॥
जयद्रथेनापहृता प्रमथ्य
पञ्चेन्द्रकल्पान् परिभूय कृष्णा ।
तिष्ठन्ति वर्त्मानि नवान्यमूनि
वृक्षाश्च न म्लान्ति तथैव भग्नाः ॥ १७ ॥

तब अपने सुन्दर मुखपर बहते हुए आँसुओंको (दोनों हाथोंसे) पोंछकर धात्रेयिकाने सारथि इन्द्रसेनसे कहा— 'इन्द्रसेन ! इन्द्रके समान पराक्रमी इन पाँचों पाण्डवोंका अपमान करके जयद्रथने हठपूर्वक द्रौपदीका अपहरण किया है । देखो, उसके रथ और सैनिकोंके जानेसे जो ये नये मार्ग बन गये हैं, वे ज्यों-के-त्यों हैं, मिटे नहीं हैं तथा ये टूटे हुए वृक्ष भी अभी मुरझाये नहीं हैं ॥ १६-१७ ॥

आवर्तयध्वं ह्यनुयात शीघ्रं
न दूरयातैव हि राजपुत्री ।
संनह्यध्वं सर्व एवेन्द्रकल्पा
महान्ति चारूणि च दंशनानि ॥ १८ ॥

'इन्द्रके समान तेजस्वी समस्त पाण्डववीरो ! आपलोग अपने रथोंको लौटाइये । शीघ्र शत्रुओंका पीछा कीजिये । अभी राजकुमारी द्रौपदी दूर नहीं गयी होगी । शीघ्र ही महान् एवं मनोहर कवच धारण कर लीजिये ॥ १८ ॥

गृह्णीत चापानि महाधनानि
शरांश्च शीघ्रं पदवीं चरध्वम् ।
पुरा हि निर्भर्त्सनदण्डमोहिता
प्रमोहचित्ता वदनेन शुष्यता ॥ १९ ॥
ददाति कस्मैचिदनर्हते तनुं
वराज्यपूर्णामिव भस्मनि स्रुचम् ।
पुरा तुषाग्नाविव हूयते हविः
पुरा श्मशाने स्रगिवापविद्ध्यते ॥ २० ॥
पुरा च सोमोऽध्वरगोऽवलिह्यते
शुना यथा विप्रजने प्रमोहिते ।
महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा
पुरा श्रृगालो नलिनीं विगाहते ॥ २१ ॥

'बहुमूल्य धनुष और बाण ले लीजिये और शीघ्र ही शत्रुके मार्गका अनुसरण कीजिये । कहीं ऐसा न हो कि डाँट-डपट और दण्डके भयसे मोहित और व्याकुलचित्त हो अपना उदास मुख लिये द्रौपदी किसी अयोग्य पुरुषको आत्मसमर्पण कर दे । ऐसी घटना घटित होनेसे पहले ही वहाँ पहुँच जाइये । यदि राजकुमारी कृष्णा किसी पराये पुरुषके हाथमें पड़ गयी, तो समझ लीजिये, किसीने उत्तम घीसे भरी हुई स्रुवाको राखमें डाल दिया, हविष्यको भूसेकी आगमें होम दिया गया, (देवपूजाके लिये बनी हुई) सुन्दर माला श्मशानमें फेंक दी गयी, यज्ञमण्डपमें रखे हुए पवित्र सोमरसको वहाँके ब्राह्मणोंकी असावधानीसे किसी कुत्तेने चाट लिया और, विशाल वनमें शिकार करके अशुद्ध हुए गीदड़ने किसी पवित्र सरोवरमें गोता लगाकर उसे अपवित्र कर दिया; अतः ऐसी अप्रिय घटना घटित होनेसे पहले ही आपलोगोंको वहाँ पहुँच जाना चाहिये ॥ १९–२१ ॥

मा वः प्रियायाः सुनसं सुलोचनं
चन्द्रप्रभाच्छं वदनं प्रसन्नम् ।
स्पृश्याच्छुभं कश्चिदकृत्यकारी
श्वा वै पुरोडाशमिवाध्वरस्थम् ।
एतानि वर्त्मान्यनुयात शीघ्रं
मा वः कालः क्षिप्रमिहात्यगाद् वै ॥ २२ ॥

'कहीं ऐसा न हो कि आपलोगोंकी प्रियाके सुन्दर नेत्र तथा मनोहर नासिकासे सुशोभित चन्द्ररश्मियोंके समान स्वच्छ, प्रसन्न एवं पवित्र मुखको कोई कुकर्मकारी पापात्मा पुरुष छू दे; ठीक उसी तरह, जैसे कुत्ता यज्ञके पुरोडाशको चाट ले । अतः जितना शीघ्र सम्भव हो, इन्हीं मार्गोंसे शत्रुका पीछा कीजिये । आपलोगोंका बहुमूल्य समय यहाँ अधिक नहीं बीतना चाहिये' ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भद्रे प्रतिक्राम नियच्छ वाचं
मास्मत्सकाशे परुषाण्यवोचः ।
राजानो वा यदि वा राजपुत्रा
बलेन मत्ता वञ्चनां प्राप्नुवन्ति ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर बोले—भद्रे ! हट जाओ । अपनी जबान बंद करो । हमारे निकट द्रौपदीके सम्बन्धमें ऐसी अनुचित और कठोर बातें मुँहसे न निकालो । जिन्होंने अपने बलके घमंडमें आकर ऐसा निन्दनीय कार्य किया है, वे राजा हों या राजकुमार, उन्हें अपने प्राण एवं सम्मानसे अवश्य वञ्चित होना पड़ेगा ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा प्रययुर्हि शीघ्रं
तान्येव वर्त्मान्यनुवर्तमानाः ।
मुहुर्मुहुर्व्यालवदुच्छ्वसन्तो
ज्यां विक्षिपन्तश्च महाधनुर्भ्यः ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर समस्त पाण्डव अपने विशाल धनुषकी डोरी खींचते और बार-बार सर्पोंके समान फुफकारते हुए उन्हीं मार्गोंपर चलते हुए बड़े वेगसे आगे बढ़े ॥ २४ ॥

ततोऽपश्यंस्तस्य सैन्यस्य रेणु-
मुद्धूतं वै वाजिखुरप्रणुन्नम् ।
पदातीनां मध्यगतं च धौम्यं
विक्रोशन्तं भीममभिद्रवेति ॥ २५ ॥

तदनन्तर उन्हें जयद्रथकी सेनाके घोड़ोंकी टापसे आहत होकर उड़ती हुई धूल दिखायी दी । उसके साथ ही पैदल सैनिकोंके बीचमें होकर चलते हुए पुरोहित धौम्य भी दृष्टिगोचर हुए, जो बार-बार पुकार रहे थे—'भीमसेन ! दौड़ो' ॥२५॥

ते सान्त्व्य धौम्यं परिदीनसत्त्वाः
सुखं भवानेत्विति राजपुत्राः ।
श्येना यथैवामिषसम्प्रयुक्ता
जवेन तत् सैन्यमथाभ्यधावन् ॥ २६ ॥

तब असाधारण पराक्रमी राजकुमार पाण्डव धौम्य मुनिको सान्त्वना देते हुए बोले—'आप निश्चिन्त होकर चलिये, (हमलोग आ पहुँचे हैं ।)' फिर जैसे बाज मांसकी ओर झपटते हैं, उसी प्रकार पाण्डव जयद्रथकी सेनाके पीछे बड़े वेगसे दौड़े ॥ २६ ॥

तेषां महेन्द्रोपमविक्रमाणां
संरब्धानां धर्षणाद् याज्ञसेन्याः ।
क्रोधः प्रजज्वाल जयद्रथं च
दृष्ट्वा प्रियां तस्य रथे स्थितां च ॥ २७ ॥

इन्द्रके समान पराक्रमी पाण्डव द्रौपदीके तिरस्कारकी बात सुनकर ही क्रोधातुर हो रहे थे; जब उन्होंने जयद्रथको और उसके रथपर बैठी हुई अपनी प्रिया द्रौपदीको देखा, तब तो उनकी क्रोधाग्नि प्रबल वेगसे प्रज्वलित हो उठी ॥२७॥

प्रचुक्रुशुश्चाप्यथ सिन्धुराजं
वृकोदरश्चैव धनंजयश्च ।
यमौ च राजा च महाधनुर्धरा-
स्ततो दिशः सम्मुमुहुः परेषाम्॥ २८ ॥

फिर तो भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा राजा युधिष्ठिर—ये सभी महाधनुर्धर वीर सिन्धुराज जयद्रथको ललकारने लगे । उस समय शत्रुओंके सैनिकोंको इतनी घबराहट हुई कि उन्हें दिशाओंतकका ज्ञान न रहा ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि पार्थागमने एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें पार्थागमनविषयक दो सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६९ ॥

सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीद्वारा जयद्रथके सामने पाण्डवोंके पराक्रमका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततो घोरतरः शब्दो वन समभवत् तदा ।
भीमसेनार्जुनौ दृष्ट्वा क्षत्रियाणाममर्षिणाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर उस वनमें भीमसेन और अर्जुनको देखकर अमर्षमें भरे हुए क्षत्रियोंका अत्यन्त घोर कोलाहल सुनायी देने लगा ॥ १ ॥

तेषां ध्वजाग्राण्यभिवीक्ष्य राजा
स्वयं दुरात्मा नरपुङ्गवानाम् ।
जयद्रथो याज्ञसेनीमुवाच
रथे स्थितां भानुमतीं हतौजाः ॥ २ ॥

उन नरश्रेष्ठ वीरोंकी ध्वजाओंके अग्रभागोंको देखकर हतोत्साह हुए दुरात्मा राजा जयद्रथने अपने रथपर बैठी हुई तेजस्विनी द्रौपदीसे स्वयं कहा—॥ २ ॥

आयान्तीमे पञ्च रथा महान्तो
मन्ये च कृष्णे पतयस्तवैते ।
सा जानती ख्यापय नः सुकेशि
परं परं पाण्डवानां रथस्थम् ॥ ३ ॥

'सुन्दर केशोंवाली कृष्णे ! ये पाँच विशाल रथ आ रहे हैं। जान पड़ता है, इनमें तुम्हारे पति ही बैठे हैं। तुम तो सबको जानती ही हो। मुझे रथपर बैठे हुए इन पाण्डवोंमेंसे एक-एकका उत्तरोत्तर परिचय दो' ॥ ३ ॥

द्रौपद्युवाच

किं ते ज्ञातैर्मूढ महाधनुर्धरै-
रनायुष्यं कर्म कृत्वातिघोरम् ।
एते वीराः पतयो मे समेता
न वः शेषः कश्चिदिहास्ति युद्धे ॥ ४ ॥

द्रौपदी बोली—अरे मूढ़ ! आयुका नाश करनेवाला यह अत्यन्त भयंकर नीच कर्म करके अब तू इन महाधनुर्धर पाण्डव वीरोंका परिचय जानकर क्या करेगा ? ये मेरे सभी वीर पति जुट गये हैं। इनके साथ जो युद्ध होनेवाला है, उसमें तेरे पक्षका कोई भी मनुष्य जीवित नहीं बचेगा ॥ ४ ॥

आख्यातव्यं त्वेव सर्वं मुमूर्षो-
र्मया तुभ्यं पृष्टया धर्म एषः ।
न मे व्यथा विद्यते त्वद्भयं वा
सम्पश्यन्त्याः सानुजं धर्मराजम् ॥ ५ ॥

मैं भाइयोंसहित धर्मराज युधिष्ठिरको सामने देख रही हूँ; अतः अब न मुझे दुःख है और न तेरा डर ही है। अब तू शीघ्र ही मरना चाहता है; अतः ऐसे समयमें तूने मुझसे जो कुछ पूछा है, उसका उत्तर तुझे दे देना उचित है; यही धर्म है। (अतः मैं अपने पतियोंका परिचय देती हूँ) ॥ ५ ॥

यस्य ध्वजाग्रे नदतो मृदङ्गौ
नन्दोपनन्दौ मधुरौ युक्तरूपौ ।
एतं स्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञं
सदा जनाः कृत्यवन्तोऽनुयान्ति ॥ ६ ॥
य एष जाम्बूनदशुद्धगौरः
प्रचण्डघोणस्तनुरायताक्षः ।
एतं कुरुश्रेष्ठतमं वदन्ति
युधिष्ठिरं धर्मसुतं पतिं मे ॥ ७ ॥

जिनकी ध्वजाके सिरेपर बँधे हुए नन्द और उपनन्द नामक दो सुन्दर मृदङ्ग मधुर स्वरमें बज रहे हैं, जिनका शरीर जाम्बूनद सुवर्णके समान विशुद्ध गौरवर्णका है, जिनकी नासिका ऊँची और नेत्र बड़े-बड़े हैं, जो देखनेमें दुबले-पतले हैं, कुरुकुलके इन श्रेष्ठतम पुरुषको ही धर्मनन्दन युधिष्ठिर कहते हैं। ये मेरे पति हैं। ये अपने धर्म और अर्थके सिद्धान्तको अच्छी तरह जानते हैं; अतः आवश्यकता पड़नेपर लोग इनका सदा अनुसरण करते हैं ॥ ६–७ ॥

अप्येष शत्रोः शरणागतस्य
दद्यात् प्राणान् धर्मचारी नृवीरः ।
परेह्येनं मूढ जवेन भूतये
त्वमात्मनः प्राञ्जलिर्न्यस्तशस्त्रः ॥ ८ ॥

ये धर्मात्मा नरवीर अपनी शरणमें आये हुए शत्रुको भी प्राणदान दे देते हैं। अरे मूर्ख ! यदि तू अपनी भलाई चाहता है, तो हथियार नीचे डाल दे और हाथ जोड़कर शीघ्र इनकी शरणमें जा ॥ ८ ॥

अथाप्येनं पश्यसि यं रथस्थं
महाभुजं शालमिव प्रवृद्धम् ।
संदष्टौष्ठं भ्रुकुटीसंहतभ्रुवं
वृकोदरो नाम पतिर्ममैषः ॥ ९ ॥
आजानेया बलिनः साधु दान्ता
महाबलाः शूरमुदावहन्ति ।
एतस्य कर्माण्यतिमानुषाणि
भीमेति शब्दोऽस्य गतः पृथिव्याम् ॥ १० ॥

ये जो शाल (साखू) के वृक्षकी तरह ऊँचे और विशाल भुजाओंसे सुशोभित वीर पुरुष तुझे रथमें बैठे दिखायी देते हैं, जो क्रोधके मारे भौंहें टेढ़ी करके दाँतोंसे अपने ओंठ चबा रहे हैं, ये मेरे दूसरे पति वृकोदर हैं। बड़े बलवान्, सुशिक्षित और शक्तिशाली आजानेय नामक अश्व इन शूरशिरोमणिके रथको खींचते हैं। इनके सभी कर्म प्रायः ऐसे होते हैं, जिन्हें मानवजगत् नहीं कर सकता। ये अपने भयंकर पराक्रमके कारण इस भूतलपर भीमके नामसे विख्यात हैं ॥ ९-१० ॥

नास्यापराद्धाः शेषमवाप्नुवन्ति
नायं वैरं विस्मरते कदाचित् ।
वैरस्यान्तं संविधायोपयाति
पश्चाच्छान्तिं न च गच्छत्यतीव ॥ ११ ॥

इनके अपराधी कभी जीवित नहीं रह सकते। ये वैरको कभी नहीं भूलते हैं और वैरका बदला लेकर ही रहते हैं। बदला लेनेके बाद भी अच्छी तरह शान्त नहीं हो पाते ॥ ११ ॥

धनुर्धराग्र्यो धृतिमान् यशस्वी
जितेन्द्रियो वृद्धसेवी नृवीरः।
भ्राता च शिष्यश्च युधिष्ठिरस्य
धनंजयो नाम पतिर्ममैषः ॥ १२ ॥
यो वै न कामान्न भयान्न लोभात्
त्यजेद् धर्मं न नृशंसं च कुर्यात्।
स एष वैश्वानरतुल्यतेजाः
कुन्तीसुतः शत्रुसहः प्रमाथी ॥ १३ ॥

ये जो तीसरे वीर पुरुष दिखायी दे रहे हैं, वे मेरे पति धनंजय हैं। इन्हें समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ माना गया है। ये धैर्यवान्, यशस्वी, जितेन्द्रिय, वृद्धपुरुषोंके सेवक तथा महाराज युधिष्ठिरके भाई और शिष्य हैं। अर्जुन कभी काम, भय अथवा लोभवश न तो अपना धर्म छोड़ सकते हैं और न कोई निष्ठुरतापूर्ण कार्य ही कर सकते हैं। इनका तेज अग्निके समान है। ये कुन्तीनन्दन धनंजय समस्त शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ और सभी दुष्टोंका दमन करनेमें दक्ष हैं ॥ १२-१३ ॥

यः सर्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञो
भयार्तानां भयहर्ता मनीषी।
यस्योत्तमं रूपमाहुः पृथिव्यां
यं पाण्डवाः परिरक्षन्ति सर्वे ॥ १४ ॥
प्राणैर्गरीयांसमनुव्रतं वै
स एष वीरो नकुलः पतिर्मे।

जो समस्त धर्म और अर्थके निश्चयको जानते हैं, भयसे पीड़ित मनुष्योंका भय दूर करते हैं, जो परम बुद्धिमान् हैं, इस भूमण्डलमें जिनका रूप सबसे सुन्दर बताया जाता है, जो अपने बड़े भाइयोंकी सेवामें तत्पर रहनेवाले और उन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, समस्त पाण्डव जिनकी रक्षा करते हैं, वे ही ये मेरे वीर पति नकुल हैं ॥ १४½ ॥

यः खड्गयोधी लघुचित्रहस्तो
महांश्च धीमान् सहदेवोऽद्वितीयः ॥ १५ ॥
यस्याद्य कर्म द्रक्ष्यसे मूढसत्त्व
शतक्रतोर्वा दैत्यसेनासु संख्ये।
शूरः कृतास्त्रो मतिमान् मनस्वी
प्रियङ्करो धर्मसुतस्य राज्ञः ॥ १६ ॥

जो खड्गद्वारा युद्ध करनेकी कलामें कुशल हैं, जिनका हाथ बड़ी फुर्तीसे अद्भुत पैंतरे दिखाता हुआ चलता है, जो परम बुद्धिमान् और अद्वितीय वीर हैं, वे सहदेव मेरे पाँचवें पति हैं। ओ मूढ़ प्राणी! जैसे दैत्योंकी सेनामें देवराज इन्द्रका पराक्रम प्रकट होता है, उसी प्रकार युद्धमें तू आज सहदेवका महान् पौरुष देखेगा। वे शौर्यसम्पन्न, अस्त्रविद्याके विशेषज्ञ, बुद्धिमान्, मनस्वी तथा धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरका प्रिय करनेवाले हैं ॥ १५-१६ ॥

य एष चन्द्रार्कसमानतेजा
जघन्यजः पाण्डवानां प्रियश्च।
बुद्ध्या समो यस्य नरो न विद्यते
वक्ता तथा सत्सु विनिश्चयज्ञः ॥ १७ ॥

इनका तेज चन्द्रमा और सूर्यके समान है। ये पाण्डवोंमें सबसे छोटे और सबके प्रिय हैं। बुद्धिमें इनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। ये अच्छे वक्ता और सत्पुरुषोंकी सभामें सिद्धान्तके ज्ञाता माने गये हैं ॥ १७ ॥

स एष शूरो नित्यममर्षणश्च
धीमान् प्राज्ञः सहदेवः पतिर्मे।
त्यजेत् प्राणान् प्रविशेद्धव्यवाहं
न त्वेवैष व्याहरेद् धर्मबाह्यम् ॥ १८ ॥
सदा मनस्वी क्षत्रधर्मे रतश्च
कुन्त्याः प्राणैरिष्टतमो नृवीरः।

मेरे पति सहदेव शूरवीर, सदा ईर्ष्यारहित, बुद्धिमान् और विद्वान् हैं। ये अपने प्राण छोड़ सकते हैं, प्रज्वलित आगमें प्रवेश कर सकते हैं, परंतु धर्मके विरुद्ध कोई बात नहीं बोल सकते। नरवीर सहदेव सदा क्षत्रियधर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाले और मनस्वी हैं। आर्या कुन्तीको ये प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं ॥ १८½ ॥

विशीर्यन्तीं नावमिवार्णवान्ते
रत्नाभिपूर्णां मकरस्य पृष्ठे ॥ १९ ॥
सेनां तवेमां हतसर्वयोधां
विक्षोभितां द्रक्ष्यसि पाण्डुपुत्रैः।

(ओ मूढ़!) रत्नोंसे लदी हुई नाव जैसे समुद्रके बीचमें जाकर किसी मगरमच्छकी पीठसे टकराकर टूट जाती है, उसी प्रकार पाण्डवलोग आज तेरे समस्त सैनिकोंका संहार करके तेरी इस सारी सेनाको छिन्न-भिन्न कर डालेंगे और तू अपनी आँखोंसे यह सब कुछ देखेगा ॥ १९½ ॥

इत्येते वै कथिताः पाण्डुपुत्रा
यांस्त्वं मोहादवमन्य प्रवृत्तः।
यद्येतेभ्यो मुच्यसेऽरिष्टदेहः
पुनर्जन्म प्राप्स्यसे जीव एव ॥ २० ॥

इस प्रकार मैंने तुझे इन पाण्डवोंका परिचय दिया है, जिनका अपमान करके तू मोहवश इस नीच कर्ममें प्रवृत्त हुआ है। यदि आज तू इनके हाथोंसे जीवित बच जाय और तेरे शरीरपर कोई आँच नहीं आये, तो तुझे जीते-जी यह दूसरा जन्म प्राप्त हो ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः पार्थाः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पा-
स्त्यक्त्वा त्रस्तान् प्राञ्जलींस्तान् पदातीन्।
रथानीकं शरवर्षान्धकारं
चक्रुः क्रुद्धाः सर्वतः संनिगृह्य ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! द्रौपदी यह बात कह ही रही थी कि पाँच इन्द्रोंके समान पराक्रमी पाँचों पाण्डव भयभीत होकर हाथ जोड़नेवाले पैदल सैनिकोंको छोड़कर कुपित हो रथ, हाथी और घोड़ोंसे युक्त अवशिष्ट सेनाको सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये और बाणोंकी ऐसी घनघोर वर्षा करने लगे कि चारों ओर अन्धकार छा गया ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि द्रौपदीवाक्ये सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें द्रौपदीवचनविषयक दो सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७० ॥

एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंद्वारा जयद्रथकी सेनाका संहार, जयद्रथका पलायन, द्रौपदी तथा नकुल-सहदेवके साथ युधिष्ठिरका आश्रमपर लौटना तथा भीम और अर्जुनका वनमें जयद्रथका पीछा करना

वैशम्पायन उवाच

संतिष्ठत प्रहरत तूर्णं विपरिधावत ।
इति स्म सैन्धवो राजा चोदयामास तान् नृपान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तब सिन्धुराज जयद्रथ 'ठहरो, मारो, जल्दी दौड़ो' कहकर अपने साथ आये हुए राजाओंको युद्धके लिये उत्साहित करने लगा ॥ १ ॥

ततो घोरतमः शब्दो रणे समभवत् तदा ।
भीमार्जुनयमान् दृष्ट्वा सैन्यानां सयुधिष्ठिरान् ॥ २ ॥

उस समय रणभूमिमें युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवको देखकर जयद्रथके सैनिकोंमें बड़ा भयंकर कोलाहल मच गया ॥ २ ॥

शिबिसौवीरसिन्धूनां विषादश्चाप्यजायत ।
तान् दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान् व्याघ्रानिव बलोत्कटान् ॥ ३ ॥

सिंहके समान उत्कट बलवान् पुरुषसिंह पाण्डवोंको देखकर शिबि, सौवीर तथा सिन्धुदेशके राजाओंके मनमें भी अत्यन्त विषाद छा गया ॥ ३ ॥

हेमचित्रसमुत्सेधां सर्वशैक्यायसीं गदाम् ।
प्रगृह्याभ्यद्रवद् भीमः सैन्धवं कालचोदितम् ॥ ४ ॥

जिसका ऊपरी भाग स्वर्णपत्रसे जटित होनेके कारण विचित्र शोभा पाता था, जिसका सब कुछ शैक्य नामक लोहेसे बनाया गया था, उस विशाल गदाको हाथमें लेकर भीमसेन कालप्रेरित जयद्रथकी ओर दौड़े ॥ ४ ॥

तदन्तरमथावृत्य कोटिकास्योऽभ्यहारयत् ।
महता रथवंशेन परिवार्य वृकोदरम् ॥ ५ ॥

इतनेमें ही रथोंकी विशाल सेनाके द्वारा भीमसेनको सब ओरसे घेरकर कोटिकास्यने जयद्रथ और भीमसेनके बीचमें भारी व्यवधान डाल दिया ॥ ५ ॥

शक्तितोमरनाराचैर्वीरबाहुप्रचोदितैः ।
कीर्यमाणोऽपि बहुभिर्न स भीमोऽभ्यकम्पत ॥ ६ ॥

उस समय सब योद्धा भीमसेनपर अपनी भुजाओंके द्वारा चलाकर शक्ति, तोमर और नाराच आदि बहुत-से अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे; परंतु भीमसेन इससे तनिक भी विचलित नहीं हुए ॥ ६ ॥

गजं तु सगजारोहं पदातींश्च चतुर्दश ।
जघान गदया भीमः सैन्धवध्वजिनीमुखे ॥ ७ ॥

उन्होंने जयद्रथकी सेनाके मुहानेपर जाकर अपनी गदाकी चोटसे सवारसहित एक हाथी और चौदह पैदलोंको मार डाला ॥ ७ ॥

पार्थः पञ्च शतान् शूरान् पर्वतीयान् महारथान् ।
परीप्समानः सौवीरं जघान ध्वजिनीमुखे ॥ ८ ॥

इसी प्रकार अर्जुनने सौवीरराज जयद्रथको पकड़नेकी इच्छा रखकर सेनाके अग्रभागमें स्थित पाँच सौ शूरवीर पर्वतीय महारथियोंको मार डाला ॥ ८ ॥

राजा स्वयं सुवीराणां प्रवराणां प्रहारिणाम् ।
निमेषमात्रेण शतं जघान समरे तदा ॥ ९ ॥

स्वयं राजा युधिष्ठिरने भी उस समय अपने ऊपर प्रहार करनेवाले सौवीर क्षत्रियोंके सौ प्रमुख वीरोंको पलक मारते-मारते समराङ्गणमें मार गिराया ॥ ९ ॥

ददृशे नकुलस्तत्र रथात् प्रस्कन्द्य खड्गधृक् ।
शिरांसि पादरक्षाणां बीजवत् प्रवपन् मुहुः ॥ १० ॥

महावीर नकुल हाथमें तलवार लिये रथसे कूद पड़े और पादरक्षक सैनिकोंके मस्तक काट-काटकर बीजकी भाँति उन्हें बार-बार धरतीपर बोते दिखायी दिये ॥ १० ॥

सहदेवस्तु संयाय रथेन गजयोधिनः ।
पातयामास नाराचैर्द्रुमेभ्य इव बर्हिणः ॥ ११ ॥

सहदेव रथद्वारा आगे बढ़कर हाथीसवार योद्धाओंसे भिड़ गये और नाराच नामक बाणोंसे मार-मारकर उन्हें इस प्रकार नीचे गिराने लगे, मानो कोई व्याध वृक्षोंपरसे मोरोंको घायल करके गिरा रहा हो ॥ ११ ॥

ततस्त्रिगर्तः सधनुरवतीर्य महारथात् ।
गदया चतुरो वाहान् राज्ञस्तस्य तदावधीत् ॥ १२ ॥

तदनन्तर धनुष हाथमें लिये त्रिगर्तराजने अपने विशाल रथसे उतरकर राजा युधिष्ठिरके चारों घोड़ोंको गदासे मार डाला ॥ १२ ॥

तमभ्याशगतं राजा पदातिं कुन्तिनन्दनः ।
अर्धचन्द्रेण बाणेन विव्याधोरसि धर्मराट् ॥ १३ ॥

उसे पैदल ही पास आया देख कुन्तीनन्दन धर्मराज युधिष्ठिरने अर्धचन्द्राकार बाणसे उसकी छातीको छेद डाला ॥ १३ ॥

स भिन्नहृदयो वीरो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ।
पपाताभिमुखः पार्थे छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ १४ ॥

तब हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण वीर त्रिगर्तराज मुखसे रक्त वमन करता हुआ राजा युधिष्ठिरके सामने ही जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १४ ॥

इन्द्रसेनद्वितीयस्तु रथात् प्रस्कन्द्य धर्मराट् ।
हताश्वः सहदेवस्य प्रतिपेदे महारथम् ॥ १५ ॥

इधर धर्मराज युधिष्ठिर अपने घोड़े मारे जानेके कारण सारथि इन्द्रसेनके साथ सहदेवके विशाल रथपर जा बैठे ॥ १५ ॥

नकुलं त्वभिसंधाय क्षेमङ्करमहामुखौ ।
उभावुभयतस्तीक्ष्णैः शरवर्षैरवर्षताम् ॥ १६ ॥

दूसरी ओर क्षेमङ्कर और महामुख नामक दो वीर (राजकुमार) नकुलको लक्ष्य करके दोनों ओरसे तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १६ ॥

तोमरैरभिवर्षन्तौ जीमूताविव वार्षिकौ ।
एकैकेन विपाठेन जघ्ने माद्रवतीसुतः ॥ १७ ॥

उस समय तोमरोंकी वर्षा करते हुए वे दोनों योद्धा वर्षाऋतुके दो बादलोंके समान जान पड़ते थे । परंतु माद्रीनन्दन नकुलने एक-एक विपाठ नामक बाण मारकर उन दोनोंको धराशायी कर दिया ॥ १७ ॥

त्रिगर्तराजः सुरथस्तस्याथ रथधूर्गतः ।
रथमाक्षेपयामास गजेन गजयानवित् ॥ १८ ॥

तदनन्तर हाथीका संचालन करनेमें निपुण त्रिगर्तराज सुरथने नकुलके रथके धुरेके पास पहुँचकर अपने हाथीके द्वारा उनके रथको दूर फेंकवा दिया ॥ १८ ॥

नकुलस्त्वपभीस्तस्माद् रथाच्चर्मासिपाणिमान् ।
उद्भ्रान्तं स्थानमास्थाय तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १९ ॥

परंतु नकुलको इससे तनिक भी भय नहीं हुआ । वे हाथमें ढाल-तलवार लिये उस रथसे कूद पड़े और एक निरापद स्थानमें आकर पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़े हो गये ॥ १९ ॥

सुरथस्तं गजवरं वधाय नकुलस्य तु ।
प्रेषयामास सक्रोधमत्युच्छ्रितकरं ततः ॥ २० ॥

तब सुरथने कुपित होकर अत्यन्त ऊँचे सूँड़ उठाये हुए उस गजराजको नकुलका वध करनेके लिये प्रेरित किया ॥ २० ॥

नकुलस्तस्य नागस्य समीपपरिवर्तिनः ।
सविषाणं भुजं मूले खड्गेन निरकृन्तत ॥ २१ ॥

परंतु नकुलने खड्गद्वारा अपने निकट आये हुए उस हाथीकी सूँड़को दाँतोंसहित जड़से काट डाला ॥ २१ ॥

स विनद्य महानादं गजः किङ्किणिभूषणः ।
पतन्नवाक्शिरा भूमौ हस्त्यारोहमपोथयत् ॥ २२ ॥

फिर तो घुघुरुओंसे विभूषित वह गजराज बड़े जोरसे चीत्कार करके नीचे मस्तक किये पृथ्वीपर गिर पड़ा । गिरते-गिरते उसने महावतको भी पृथ्वीपर दे मारा ॥ २२ ॥

स तत् कर्म महत् कृत्वा शूरो माद्रवतीसुतः ।
भीमसेनरथं प्राप्य शर्म लेभे महारथः ॥ २३ ॥

यह महान् पराक्रम प्रकट करके शूरवीर माद्रीनन्दन महारथी नकुल भीमसेनके रथपर चढ़ गये और वहीं पहुँचकर उन्हें शान्ति मिली ॥ २३ ॥

भीमस्त्वापततो राज्ञः कोटिकास्यस्य सङ्गरे ।
सूतस्य नुदतो वाहान् क्षुरेणापाहरच्छिरः ॥ २४ ॥

इधर भीमसेनने युद्धमें अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले राजा कोटिकास्यके सारथिका, जो उस समय घोड़ोंका संचालन कर रहा था, छुरेसे सिर उड़ा दिया ॥ २४ ॥

न बुबोध हतं सूतं स राजा बाहुशालिना ।
तस्याश्वा व्यद्रवन् संख्ये हतसूतास्ततस्ततः ॥ २५ ॥

परंतु राजाको यह मालूम न हो सका कि बाहुशाली भीमके द्वारा मेरा सारथि मारा गया है । उसके मारे जानेसे कोटिकास्यके घोड़े रणभूमिमें इधर-उधर भागने लगे ॥ २५ ॥

विमुखं हतसूतं तं भीमः प्रहरतां वरः ।
जघान तलयुक्तेन प्रासेनाभ्येत्य पाण्डवः ॥ २६ ॥

सारथिके नष्ट हो जानेसे कोटिकास्यको रणसे विमुख हुआ देख योद्धाओंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन भीमसेनने उसके पास जाकर प्रास नामक मूठदार शस्त्रसे उसे मार डाला ॥ २६ ॥

द्वादशानां तु सर्वेषां सौवीराणां धनंजयः ।
चकर्त निशितैर्भल्लैर्धनूंषि च शिरांसि च ॥ २७ ॥

अर्जुनने सौवीरदेशके जो बारह राजकुमार थे, उन सबके धनुष और मस्तक अपने भल्ल नामक तीखे बाणोंसे काट गिराये ॥ २७ ॥

शिबीनिक्ष्वाकुमुख्यांश्च त्रिगर्तान् सैन्धवानपि ।
जघानातिरथः संख्ये बाणगोचरमागतान् ॥ २८ ॥

उन अतिरथी वीरने युद्धमें बाणोंके लक्ष्य बने हुए

शिबि, इक्ष्वाकु, त्रिगर्त और सिन्धुदेशके क्षत्रियोंको भी मार डाला ॥ २८ ॥

सादिताः प्रत्यदृश्यन्त बहवः सव्यसाचिना ।
सपताकाश्च मातङ्गाः सध्वजाश्च महारथाः ॥ २९ ॥

सव्यसाची अर्जुनके द्वारा मारे या नष्ट किये गये पताका-सहित बहुतेरे हाथी और ध्वजायुक्त अनेक विशाल रथ दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ २९ ॥

प्रच्छाद्य पृथिवीं तस्थुः सर्वमायोधनं प्रति ।
शरीराण्यशिरस्कानि विदेहानि शिरांसि च ॥ ३० ॥

उस समय बिना सिरके धड़ और बिना धड़के सिर समस्त रणभूमिको आच्छादित करके बिखरे पड़े थे ॥ ३० ॥

श्वगृध्रकङ्ककाकोलभासगोमायुवायसाः ।
अतृप्यंस्तत्र वीराणां हतानां मांसशोणितैः ॥ ३१ ॥

वहाँ मारे गये वीरोंके मांस तथा रक्तसे कुत्ते, गीध, कङ्क (सफेद चीलें), काकोल (पहाड़ी कौए), चीलें, गीदड़ और कौए तृप्त हो रहे थे ॥ ३१ ॥

हतेषु तेषु वीरेषु सिन्धुराजो जयद्रथः ।
विमुच्य कृष्णां संत्रस्तः पलायनपरोऽभवत् ॥ ३२ ॥

उन वीरोंके मारे जानेपर सिन्धुराज जयद्रथ भयसे थर्रा उठा और द्रौपदीको वहीं छोड़कर उसने भाग जानेका विचार किया ॥ ३२ ॥

स तस्मिन् संकुले सैन्ये द्रौपदीमवतार्य ताम् ।
प्राणप्रेप्सुरुपाधावद् वनं येन नराधमः ॥ ३३ ॥

उस तितर-बितर हुई सेनाके बीच उस द्रौपदीको रथसे उतारकर नराधम जयद्रथ अपने प्राण बचानेके लिये वनकी ओर भागा ॥ ३३ ॥

द्रौपदीं धर्मराजस्तु दृष्ट्वा धौम्यपुरस्कृताम् ।
माद्रीपुत्रेण वीरेण रथमारोपयत् तदा ॥ ३४ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने देखा कि द्रौपदी धौम्य मुनिको आगे करके आ रही है, तो उन्होंने वीरवर माद्रीनन्दन सहदेवद्वारा उसे रथपर चढ़वा लिया ॥ ३४ ॥

ततस्तद् विद्रुतं सैन्यमपयाते जयद्रथे ।
आदिश्यादिश्य नाराचैराजघान वृकोदरः ॥ ३५ ॥

जयद्रथके भाग जानेपर सारी सेना इधर-उधर भाग चली, परंतु भीमसेन अपने नाराचोंद्वारा नाम बता-बताकर उन सैनिकोंका वध करने लगे ॥ ३५ ॥

सव्यसाची तु तं दृष्ट्वा पलायन्तं जयद्रथम् ।
वारयामास निघ्नन्तं भीमं सैन्धवसैनिकान् ॥ ३६ ॥

जयद्रथको भागते देख अर्जुनने उसके सैनिकोंके संहारमें लगे हुए भीमसेनको रोका ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

यस्यापचारात् प्राप्तोऽयमस्मान् क्लेशो दुरासदः ।
तमस्मिन् समरोद्देशे न पश्यामि जयद्रथम् ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले—जिसके अत्याचारसे हमलोगोंको यह दुःसह क्लेश सहन करना पड़ा है, उस जयद्रथको तो मैं इस समरभूमिमें देखता ही नहीं हूँ ॥ ३७ ॥

तमेवान्विष भद्रं ते किं ते योधैर्निपातितैः ।
अनामिषमिदं कर्म कथं वा मन्यते भवान् ॥ ३८ ॥

भैया ! आपका भला हो, आप जयद्रथकी ही खोज करें, इन (निरीह) सैनिकोंको मारनेसे क्या लाभ ? यह कार्य तो निष्फल दिखायी देता है अथवा आप इसे कैसा समझते हैं ? ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो भीमसेनस्तु गुडाकेशेन धीमता ।
युधिष्ठिरमभिप्रेक्ष्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बुद्धिमान् अर्जुनके ऐसा कहनेपर बातचीतमें कुशल भीमसेनने युधिष्ठिरकी ओर देखकर कहा—॥ ३९ ॥

हतप्रवीरा रिपवो भूयिष्ठं विद्रुता दिशः ।
गृहीत्वा द्रौपदीं राजन् निवर्ततु भवानितः ॥ ४० ॥

'राजन् ! शत्रुओंके प्रमुख वीर मारे जा चुके हैं और बहुत-से सैनिक सब दिशाओंमें भाग गये हैं । अब आप द्रौपदीको साथ लेकर यहाँसे आश्रमको लौटिये ॥ ४० ॥

यमाभ्यां सह राजेन्द्र धौम्येन च महात्मना ।
प्राप्याश्रमपदं राजन् द्रौपदीं परिसान्त्वय ॥ ४१ ॥

'महाराज ! आप नकुल, सहदेव तथा महात्मा धौम्यके साथ आश्रमपर पहुँचकर द्रौपदीको सान्त्वना दीजिये ॥ ४१ ॥

न हि मे मोक्ष्यते जीवन् मूढः सैन्धवको नृपः ।
पातालतलसंस्थोऽपि यदि शक्रोऽस्य सारथिः ॥ ४२ ॥

'मूर्ख सिन्धुराज जयद्रथ यदि पातालमें घुस जाय अथवा इन्द्र भी उसके सारथि या सहायक होकर आ जायँ, तो भी आज वह मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकता' ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न हन्तव्यो महाबाहो दुरात्मापि स सैन्धवः ।
दुःशलामभिसंस्मृत्य गान्धारीं च यशस्विनीम् ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहो ! सिन्धुराज जयद्रथ यद्यपि अत्यन्त दुरात्मा है; तथापि बहिन दुःशला और यशस्विनी माता गान्धारीको स्मरण करके उसका वध न करना ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा द्रौपदी भीममुवाच व्याकुलेन्द्रिया ।
कुपिता ह्रीमती प्राज्ञा पती भीमार्जुनावुभौ ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर द्रौपदीकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं। वह लज्जावती और बुद्धिमती होनेपर भी भीमसेन और अर्जुन दोनों पतियोंसे कुपित होकर बोली—॥ ४४ ॥

कर्तव्यं चेत् प्रियं मह्यं वध्यः स पुरुषाधमः।
सैन्धवापसदः पापो दुर्मतिः कुलपांसनः ॥ ४५ ॥

'यदि आप लोगोंको मेरा प्रिय करना है, तो उस नराधमको अवश्य मार डालिये। वह पापी दुर्बुद्धि जयद्रथ सिन्धुदेशका कलङ्क और कुलाङ्गार है ॥ ४५ ॥

भार्याभिहर्ता वैरी यो यश्च राज्यहरो रिपुः।
याचमानोऽपि संग्रामे न मोक्तव्यः कथंचन ॥ ४६ ॥

'जो अपनी पत्नीका अपहरण करनेवाला तथा राज्यको हड़प लेनेवाला हो, ऐसे शत्रुको युद्धमें पाकर वह प्राणोंकी भीख माँगे, तो भी किसी तरह जीवित नहीं छोड़ना चाहिये' ॥ ४६ ॥

इत्युक्तौ तौ नरव्याघ्रौ ययतुर्यत्र सैन्धवः।
राजा निववृते कृष्णामादाय सपुरोहितः ॥ ४७ ॥

द्रौपदीके ऐसा कहनेपर वे दोनों नरश्रेष्ठ जिस ओर जयद्रथ गया था, उसी ओर चल दिये तथा राजा युधिष्ठिर द्रौपदीको लेकर पुरोहित धौम्यके साथ आश्रमपर चल पड़े ॥ ४७ ॥

स प्रविश्याश्रमपदमपविद्धबृसीमठम्।
मार्कण्डेयादिभिर्विप्रैरनुकीर्णं ददर्श ह ॥ ४८ ॥

उन्होंने आश्रममें प्रवेश करके देखा कि बैठनेके आसन और स्वाध्यायके लिये बनी हुई पर्णशालामें सब वस्तुएँ इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। मार्कण्डेय आदि ब्रह्मर्षि वहाँ इकट्ठे हो रहे थे ॥ ४८ ॥

द्रौपदीमनुशोचद्भिर्ब्राह्मणैस्तैः समाहितैः।
समियाय महाप्राज्ञः सभार्यो भ्रातृमध्यगः ॥ ४९ ॥

वे सब ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो द्रौपदीके लिये ही बार-बार शोक कर रहे थे। इतनेमें ही पत्नीसहित परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर अपने भाई नकुल और सहदेवके बीचमें होकर चलते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ ४९ ॥

ते स्म तं मुदिता दृष्ट्वा पुनः प्रत्यागतं नृपम्।
जित्वा तान् सिन्धुसौवीरान् द्रौपदीं चाहृतां पुनः ॥ ५० ॥

सिन्धु और सौवीरदेशके क्षत्रियोंको जीतकर महाराज लौटे हैं और द्रौपदीदेवी भी पुनः आश्रममें आ गयी हैं, यह देखकर उन ऋषियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ५० ॥

स तैः परिवृतो राजा तत्रैवोपविवेश ह।
प्रविवेशाश्रमं कृष्णा यमाभ्यां सह भाविनी ॥ ५१ ॥

उन ब्राह्मणोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिर वहीं बैठ गये और भामिनी कृष्णा नकुल-सहदेवके साथ आश्रमके भीतर चली गयी ॥ ५१ ॥

भीमसेनार्जुनौ चापि श्रुत्वा क्रोशगतं रिपुम्।
स्वयमश्वांस्तुदन्तौ तौ जवेनैवाभ्यधावताम् ॥ ५२ ॥

इधर भीमसेन और अर्जुनने जब सुना कि हमारा शत्रु जयद्रथ एक कोस आगे निकल गया है, तब वे स्वयं अपने घोड़ोंको हाँकते हुए बड़े वेगसे उसके पीछे दौड़े ॥ ५२ ॥

इदमत्यद्भुतं चात्र चकार पुरुषोऽर्जुनः।
क्रोशमात्रगतानश्वान् सैन्धवस्य जघान यत् ॥ ५३ ॥
स हि दिव्यास्त्रसम्पन्नः कृच्छ्रकालेऽप्यसम्भ्रमः।
अकरोद् दुष्करं कर्म शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः ॥ ५४ ॥

यहाँ वीर पुरुष अर्जुनने एक अद्भुत पराक्रम दिखाया। यद्यपि जयद्रथके घोड़े एक कोस आगे निकल गये थे, तो भी उन्होंने दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंद्वारा उन्हें दूरसे ही मार डाला। अर्जुन दिव्यास्त्रसे सम्पन्न थे। संकटकालमें भी घबराते नहीं थे। इसीलिये उन्होंने वह दुष्कर कर्म कर दिखाया ॥ ५३-५४ ॥

ततोऽभ्यधावतां वीरावुभौ भीमधनंजयौ।
हताश्वं सैन्धवं भीतमेकं व्याकुलचेतसम् ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् वे दोनों वीर भीम और अर्जुन जयद्रथके पीछे दौड़े। वह अकेला तो था ही, घोड़ोंके मारे जानेसे अत्यन्त भयभीत भी हो गया था। उसके हृदयमें व्याकुलता छा गयी थी॥

सैन्धवस्तु हतान् दृष्ट्वा तथाश्वान् स्वान् सुदुःखितः।
अतिविक्रमकर्माणि कुर्वाणं च धनंजयम् ॥ ५६ ॥

सिन्धुराज अपने घोड़ोंको मारा गया देख और अलौकिक पराक्रम कर दिखानेवाले अर्जुनको आता जान अत्यन्त दुखी हो गया ॥ ५६ ॥

पलायनकृतोत्साहः प्राद्रवद् येन वै वनम्।
सैन्धवं त्वभिसम्प्रेक्ष्य पराक्रान्तं पलायने ॥ ५७ ॥
अनुयाय महाबाहुः फाल्गुनो वाक्यमब्रवीत्।

अब उसमें केवल भागनेका उत्साह रह गया था, अतः वह वनकी ओर भागा। सिन्धुराजको केवल भागनेमें ही पराक्रम दिखाता देख महाबाहु अर्जुन उसका पीछा करते हुए बोले।५७½।

अनेन वीर्येण कथं स्त्रियं प्रार्थयसे बलात् ॥ ५८ ॥
राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्तं पलायनम्।
कथं ह्यनुचरान् हित्वा शत्रुमध्ये पलायसे ॥ ५९ ॥

'राजकुमार ! लौटो; तुम्हें पीठ दिखाकर भागना शोभा नहीं देता। अपने सेवकोंको शत्रुओंके बीचमें छोड़कर कैसे भागे जा रहे हो ? क्या इसी बलसे तुम दूसरेकी स्त्रीको बलपूर्वक हरकर ले जाना चाहते थे ?' ॥ ५८-५९ ॥

इत्युच्यमानः पार्थेन सैन्धवो न न्यवर्तत।

तिष्ठ तिष्ठेति तं भीमः सहसाभ्यद्रवद् बली ।
मा वधीरिति पार्थस्तं दयावान् प्रत्यभाषत ॥ ६० ॥

अर्जुनके इस प्रकार ताने देनेपर भी सिन्धुराज नहीं लौटा, तब महाबली भीम 'ठहरो, ठहरो' कहते हुए सहसा उसके पीछे दौड़े । उस समय दयालु अर्जुनने उनसे कहा— 'भैया ! इसकी जान न मारना' ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथपलायने एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें जयद्रथपलायनविषयक दो सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७१॥

(जयद्रथविमोक्षणपर्व)

द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

भीमद्वारा बंदी होकर जयद्रथका युधिष्ठिरके सामने उपस्थित होना, उनकी आज्ञासे छूटकर उसका गङ्गाद्वारमें तप करके भगवान् शिवसे वरदान पाना तथा भगवान् शिवद्वारा अर्जुनके सहायक भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

जयद्रथस्तु सम्प्रेक्ष्य भ्रातरावुद्यतावुभौ ।
प्राधावत् तूर्णमव्यग्रो जीवितेप्सुः सुदुःखितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीम और अर्जुन दोनों भाइयोंको अपने वधके लिये तुले हुए देख जयद्रथ बहुत दुखी हुआ और घबराहट छोड़कर प्राण बचानेकी इच्छासे तुरंत तीव्र गतिसे भागने लगा ॥ १ ॥

तं भीमसेनो धावन्तमवतीर्य रथाद् बली ।
अभिद्रुत्य निजग्राह केशपक्षे ह्यमर्षणः ॥ २ ॥

उसे भागता देख अमर्षमें भरे हुए महाबली भीम भी रथसे उतर गये और बड़े वेगसे दौड़कर उन्होंने उसके केश पकड़ लिये ॥ २ ॥

समुद्यम्य च तं भीमो निष्पिपेष महीतले ।
शिरो गृहीत्वा राजानं ताडयामास चैव ह ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् भीमने उसे ऊपर उठाकर धरतीपर पटक दिया और उसे रौंदने लगे । फिर उन्होंने राजा जयद्रथका सिर पकड़कर उसे कई थप्पड़ लगाये ॥ ३ ॥

पुनः संजीवमानस्य तस्योत्पतितुमिच्छतः ।
पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद् विलपिष्यतः ॥ ४ ॥
तस्य जानू ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना ।
स मोहमगमद् राजा प्रहारवरपीडितः ॥ ५ ॥

इतनी मार खाकर भी वह अभी जीवित ही था और उठनेकी इच्छा कर रहा था । इसी समय महाबाहु भीमने उसके मस्तकपर एक लात मारी । इससे वह रोने-चिल्लाने लगा, तो भी भीमसेनने उसे गिराकर उसके शरीरपर अपने दोनों घुटने रख दिये और उसे घूँसोंसे मारने लगे । इस प्रकार बड़े जोरकी मार पड़नेसे पीड़ाके मारे राजा जयद्रथ मूर्छित हो गया ॥ ४-५ ॥

सरोषं भीमसेनं तु वारयामास फाल्गुनः ।
दुःशलायाः कृते राजा यत् तदाहेति कौरव ॥ ६ ॥

इतनेपर भी भीमसेनका क्रोध कम नहीं हुआ । यह देख अर्जुनने उन्हें रोका और कहा—'कुरुनन्दन ! दुःशलाके वैधव्यका खयाल करके महाराजने जो आज्ञा दी थी, उसका भी तो विचार कीजिये' ॥ ६ ॥

भीमसेन उवाच

नायं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति ।
कृष्णायास्तदनर्हायाः परिक्लेष्टा नराधमः ॥ ७ ॥

भीमसेनने कहा—इस नराधमने क्लेश पानेके अयोग्य द्रौपदीको कष्ट पहुँचाया है; अतः अब मेरे हाथसे इस पापाचारी जयद्रथका जीवित रहना ठीक नहीं है ॥ ७ ॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं यद् राजा सततं घृणी ।
त्वं च बालिशया बुद्ध्या सदैवास्मान् प्रबाधसे ॥ ८ ॥

परंतु मैं क्या कर सकता हूँ ? राजा युधिष्ठिर सदा दयालु ही बने रहते हैं और तुम भी अपनी बालबुद्धिके कारण मेरे ऐसे कामोंमें सदा बाधा पहुँचाया करते हो ॥ ८ ॥

एवमुक्त्वा सटास्तस्य पञ्च चक्रे वृकोदरः ।
अर्धचन्द्रेण बाणेन किंचिदब्रुवतस्तदा ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर भीमने जयद्रथके लम्बे-लम्बे बालोंको अर्द्धचन्द्राकार बाणसे मूँड़कर पाँच चोटियाँ रख दीं । उस समय वह भयके मारे कुछ भी बोल नहीं पाता था ॥ ९ ॥

विकत्थयित्वा राजानं ततः प्राह वृकोदरः ।

जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ॥ १० ॥

तदनन्तर कटुवचनोंसे सिन्धुराजका तिरस्कार करते हुए भीमने उससे कहा—'अरे मूढ़! यदि तू जीवित रहना चाहता है, तो जीवनरक्षाका हेतुभूत मेरा यह वचन सुन—॥

दासोऽस्मीति तथा वाच्यं संसत्सु च सभासु च।
एवं ते जीवितं दद्यामेष युद्धजितो विधिः ॥ ११ ॥

'तू राजाओंकी सभा-समितियोंमें जाकर सदा अपनेको (महाराज युधिष्ठिरका) दास बताया कर। यह शर्त स्वीकार हो, तो तुझे जीवन-दान दे सकता हूँ। युद्धमें विजयी पुरुषकी ओरसे हारे हुएके लिये ऐसा ही विधान है' ॥ ११ ॥

एवमस्त्विति तं राजा कृष्यमाणो जयद्रथः।
प्रोवाच पुरुषव्याघ्रं भीममाहवशोभिनम् ॥ १२ ॥

उस समय सिन्धुराज जयद्रथ धरतीपर घसीटा जा रहा था। उसने उपर्युक्त शर्त स्वीकार कर ली और युद्धमें शोभा पानेवाले पुरुषसिंह भीमसेनसे अपनी स्वीकृति स्पष्ट बता दी ॥ १२ ॥

तत एनं विचेष्टन्तं बद्ध्वा पार्थो वृकोदरः।
रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुण्ठितम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर वह उठनेकी चेष्टा करने लगा। तब कुन्तीकुमार वृकोदरने उसे बाँधकर रथपर डाल दिया। वह बेचारा धूलसे लथपथ और अचेत हो रहा था ॥ १३ ॥

ततस्तं रथमास्थाय भीमः पार्थानुगस्तदा।
अभ्येत्याश्रममध्यस्थमभ्यगच्छद् युधिष्ठिरम् ॥ १४ ॥

उसे रथपर चढ़ाकर आगे-आगे भीम चले और पीछे-पीछे अर्जुन। आश्रमपर आकर भीमसेन वहाँ मध्यभागमें बैठे हुए राजा युधिष्ठिरके पास गये ॥ १४ ॥

दर्शयामास भीमस्तु तदवस्थं जयद्रथम्।
तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा मुच्यतामिति चाब्रवीत् ॥ १५ ॥

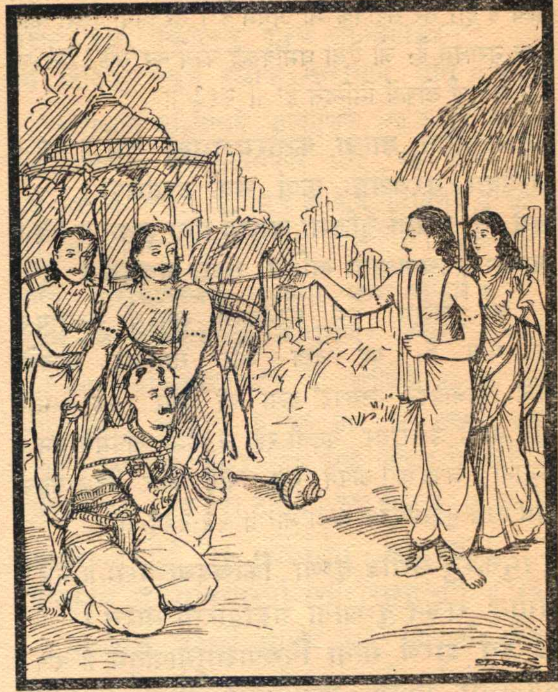
भीमने उसी अवस्थामें जयद्रथको महाराजके सामने उपस्थित किया। उसे देखकर राजा युधिष्ठिर जोर-जोरसे हँसने लगे और बोले—'अब इसे छोड़ दो' ॥ १५ ॥

राजानं चाब्रवीद् भीमो द्रौपद्याः कथ्यतामिति।
दासभावगतो ह्येष पाण्डूनां पापचेतनः ॥ १६ ॥

तब भीमसेनने भी राजासे कहा—'आप द्रौपदीको यह सूचित कर दीजिये कि यह पापात्मा जयद्रथ पाण्डवोंका दास हो चुका है।'

तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः।
मुञ्चैनमधमाचारं प्रमाणा यदि ते वयम् ॥ १७ ॥

तब बड़े भाई युधिष्ठिरने प्रेमपूर्वक भीमसेनसे कहा—'यदि तुम मेरी बात मानते हो, तो इस पापाचारीको छोड़ दो' ॥



द्रौपदी चाब्रवीद् भीममभिप्रेक्ष्य युधिष्ठिरम्।
दासोऽयं मुच्यतां राज्ञस्त्वया पञ्चसटः कृतः ॥ १८ ॥

उस समय द्रौपदीने भी युधिष्ठिरकी ओर देखकर भीमसेनसे कहा—'आपने इसका सिर मूँड़कर पाँच चोटियाँ रख दी हैं तथा यह महाराजका दास हो गया है; अतः अब इसे छोड़ दीजिये' ॥ १८ ॥

स मुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य युधिष्ठिरम्।
ववन्दे विह्वलो राजंस्तांश्च दृष्ट्वा मुनींस्तदा ॥ १९ ॥

राजन्! तब जयद्रथ बन्धनसे मुक्त कर दिया गया। उसने विह्वल होकर राजा युधिष्ठिरके पास जा उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् वहाँ बैठे हुए अन्यान्य मुनियोंको भी देखकर उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ १९ ॥

तमुवाच घृणी राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
तथा जयद्रथं दृष्ट्वा गृहीतं सव्यसाचिना ॥ २० ॥

उस समय (आदर देते हुए) अर्जुनने जयद्रथका हाथ थाम लिया। तब दयालु राजा धर्मपुत्र युधिष्ठिरने जयद्रथकी ओर देखकर कहा—॥ २० ॥

अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः पुनः क्वचित्।
स्त्रीकामं वा धिगस्तु त्वां क्षुद्रः क्षुद्रसहायवान् ॥ २१ ॥
एवंविधं हि कः कुर्यात् त्वदन्यः पुरुषाधमः।
(कर्म धर्मविरुद्धं वै लोकदुष्टं च कर्म ते।)

'सिंधुराज! अब तू दास नहीं रहा, जा, तुझे छोड़ दिया गया है। फिर कभी ऐसा काम न करना। अरे! तू परायी स्त्रीकी इच्छा करता है, तुझे धिक्कार है! तू स्वयं तो

नीच है ही, तेरे सहायक भी अधम हैं। तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा नराधम है, जो ऐसा धर्मविरुद्ध कार्य कर सके? तेरा यह कर्म सम्पूर्ण लोकमें निन्दित है' ॥ २१½ ॥

गतसत्त्वमिव ज्ञात्वा कर्तारमशुभस्य तम् ॥ २२ ॥
सम्प्रेक्ष्य भरतश्रेष्ठः कृपां चक्रे नराधिपः।
धर्मे ते वर्धतां बुद्धिर्मा चाधर्मे मनः कृथाः ॥ २३ ॥
साश्वः सरथपादातः स्वस्ति गच्छ जयद्रथ।

वह अशुभ कर्म करनेवाला जयद्रथ मृतप्राय-सा हो गया है, यह देख और समझकर भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उसपर कृपा की और कहा—'तेरी बुद्धि धर्ममें उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, तू कभी अधर्ममें मन न लगाना। जयद्रथ! अपने रथ, घोड़े और पैदल सबको साथ लिये कुशलपूर्वक चला जा' ॥ २२-२३½ ॥

एवमुक्तस्तु सव्रीडं तूष्णीं किंचिदवाङ्मुखः ॥ २४ ॥
जगाम राजन् दुःखार्तो गङ्गाद्वाराय भारत।
स देवं शरणं गत्वा विरूपाक्षमुमापतिम् ॥ २५ ॥
तपश्चचार विपुलं तस्य प्रीतो वृषध्वजः।
बलिं स्वयं प्रत्यगृह्णात् प्रीयमाणस्त्रिलोचनः ॥ २६ ॥

राजन्! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर जयद्रथ बहुत लज्जित हुआ और नीचा मुँह किये वहाँसे चुपचाप चला गया। जनमेजय! वह पराजित होनेके महान् दुःखसे पीड़ित था; अतः वहाँसे घर न जाकर गङ्गाद्वार (हरिद्वार) को चल दिया। वहाँ पहुँचकर उसने तीन नेत्रोंवाले भगवान् उमापतिकी शरण ले बड़ी भारी तपस्या की। इससे भगवान् शङ्कर प्रसन्न हो गये। त्रिनेत्रधारी महादेवने प्रसन्नतापूर्वक स्वयं दर्शन देकर उसकी पूजा ग्रहण की ॥ २४–२६ ॥

वरं चास्मै ददौ देवः स जग्राह च तच्छृणु।
समस्तान् सरथान् पञ्च जयेयं युधि पाण्डवान् ॥ २७ ॥
इति राजाब्रवीद् देवं नेति देवस्तमब्रवीत्।
अजय्यांश्चाप्यवध्यांश्च वारयिष्यसि तान् युधि ॥ २८ ॥
ऋतेऽर्जुनं महाबाहुं नरं नाम सुरेश्वरम्।
बदर्यां तप्ततपसं नारायणसहायकम् ॥ २९ ॥

जनमेजय! भगवान्ने उसे वर दिया और जयद्रथने उसको ग्रहण किया। वह वर क्या था? यह बताता हूँ, सुनो—'मैं रथसहित पाँचों पाण्डवोंको युद्धमें जीत लूँ', यही वर सिन्धुराजने महादेवजीसे माँगा। परंतु महादेवजीने उससे कहा—'ऐसा नहीं हो सकता। पाण्डव अजेय और अवध्य हैं। तुम केवल एक दिन युद्धमें महाबाहु अर्जुनको छोड़कर अन्य चार पाण्डवोंको आगे बढ़नेसे रोक सकते हो। देवेश्वर नर, जो बदरिकाश्रममें भगवान् नारायणके साथ रहकर तपस्या करते हैं, वे ही अर्जुन हैं ॥ २७–२९ ॥



अजितं सर्वलोकानां देवैरपि दुरासदम्।
मया दत्तं पाशुपतं दिव्यमप्रतिमं शरम्।
अवाप लोकपालेभ्यो वज्रादीन् स महाशरान् ॥ ३० ॥

'उन्हें तुम तो क्या, सम्पूर्ण लोक मिलकर भी जीत नहीं सकते। उनका सामना करना तो देवताओंके लिये भी कठिन है। मैंने उन्हें पाशुपत नामक दिव्य अस्त्र प्रदान किया है, जिसके जोड़का दूसरा कोई अस्त्र ही नहीं है। इसके सिवा अन्यान्य लोकपालोंसे भी उन्होंने वज्र आदि महान् अस्त्र प्राप्त किये हैं ॥ ३० ॥

देवदेवो ह्यनन्तात्मा विष्णुः सुरगुरुः प्रभुः।
प्रधानपुरुषोऽव्यक्तो विश्वात्मा विश्वमूर्तिमान् ॥ ३१ ॥

['अब मैं तुम्हें नरस्वरूप अर्जुनके सहायक भगवान् नारायणकी महिमा बताता हूँ, सुनो] भगवान् नारायण देवताओंके भी देवता, अनन्तस्वरूप, सर्वव्यापी, देवगुरु, सर्वसमर्थ, प्रकृति-पुरुषरूप, अव्यक्त, विश्वात्मा एवं विश्वरूप हैं ॥ ३१ ॥

युगान्तकाले सम्प्राप्ते कालाग्निर्दहते जगत्।
सपर्वतार्णवद्वीपं सशैलवनकाननम् ॥ ३२ ॥

'प्रलयकाल उपस्थित होनेपर वे भगवान् विष्णु ही कालाग्निरूपसे प्रकट हो पर्वत, समुद्र, द्वीप, शैल, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण जगत्को दग्ध कर देते हैं ॥ ३२ ॥

निर्दहन् नागलोकांश्च पातालतलचारिणः।
अथान्तरिक्षे सुमहज्नानावर्णाः पयोधराः ॥ ३३ ॥

'फिर पातालतलमें विचरण करनेवाले नागलोकोंको

भी वे भस्म कर डालते हैं। कालाग्निद्वारा सब कुछ भस्म हो जानेपर आकाशमें अनेक रंगके महान् मेघोंकी घोर घटा घिर आती है ॥ ३३ ॥

घोरस्वरा विनदिनस्तडिन्मालावलम्बिनः।
समुत्तिष्ठन् दिशः सर्वा विवर्षन्तः समन्ततः ॥ ३४॥

'भयंकर स्वरसे गर्जना करते हुए वे बादल बिजलियोंकी मालाओंसे प्रकाशित हो सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल जाते और सब ओर वर्षा करने लग जाते हैं ॥ ३४ ॥

ततोऽग्निं नाशयामासुः संवर्ताग्निनियामकाः।
अक्षमात्रैश्च धाराभिस्तिष्ठन्त्यापूर्य सर्वशः ॥ ३५॥

'इससे प्रलयकालीन अग्नि बुझ जाती है। संवर्तक अग्निका नियन्त्रण करनेवाले वे महामेघ लंबे सर्पोंके समान मोटी धाराओंसे जल गिराते हुए सबको डुबो देते हैं ॥ ३५ ॥

एकार्णवे तदा तस्मिन्नुपशान्तचराचरे।
नष्टचन्द्रार्कपवने ग्रहनक्षत्रवर्जिते ॥ ३६॥

'उस समय सम्पूर्ण दिशाओंमें पानी भर जानेसे चारों ओर एकाकार जलमय समुद्र ही दृष्टिगोचर होता है। उस एकार्णवके जलमें समस्त चराचर जगत् नष्ट हो जाता है। चन्द्रमा, सूर्य और वायु भी विलीन हो जाते हैं। ग्रह और नक्षत्रोंका अभाव हो जाता है ॥ ३६ ॥

चतुर्युगसहस्रान्ते सलिलेनाप्लुता मही।
ततो नारायणाख्यस्तु सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ ३७॥
सहस्रशीर्षा पुरुषः स्वप्तुकामस्त्वतीन्द्रियः।
फटासहस्रविकटं शेषं पर्यङ्कभाजनम् ॥ ३८॥
सहस्रमिव तिग्मांशुसंघातममितद्युतिम्।
कुन्देन्दुहारगोक्षीरमृणालकुमुदप्रभम् ॥ ३९॥
तत्रासौ भगवान् देवः स्वपञ्जलनिधौ तदा।
नैशेन तमसा व्याप्तां स्वां रात्रिं कुरुते विभुः ॥ ४०॥

'एक हजार चतुर्युगी समाप्त होनेपर उपर्युक्त एकार्णवके जलमें यह पृथ्वी डूब जाती है। तत्पश्चात् नारायण नामसे प्रसिद्ध भगवान् श्रीहरि उस एकार्णवके जलमें शयन करनेके हेतु अपने लिये निशाकालोचित अन्धकार (तमोगुण) से व्याप्त महारात्रिका निर्माण करते हैं। उन भगवान्के सहस्रों नेत्र, सहस्रों चरण और सहस्रों मस्तक हैं। वे अन्तर्यामी पुरुष हैं और इन्द्रियातीत होनेपर भी शयन करनेकी इच्छासे उन शेषनागको अपना पर्यङ्क बनाते हैं, जो सहस्रों फणोंसे विकटाकार दिखायी देते हैं। वे शेषनाग एक सहस्र प्रचण्ड सूर्योंके समूहकी भाँति अनन्त एवं असीम प्रभा धारण करते हैं। उनकी कान्ति कुन्द पुष्प, चन्द्रमा, मुक्ताहार, गोदुग्ध, कमलनाल तथा कुमुद-कुसुमके समान उज्ज्वल है। उन्हींकी शय्या बनाकर भगवान् श्रीहरि शयन करते हैं ॥ ३७-४० ॥

सत्त्वोद्रेकात् प्रबुद्धस्तु शून्यं लोकमपश्यत।
इमं चोदाहरन्त्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति ॥ ४१ ॥

'तत्पश्चात् सृष्टिकालमें सत्त्वगुणके आधिक्यसे भगवान् योगनिद्रासे जाग उठे। जागनेपर उन्हें यह समस्त लोक सूना दिखायी दिया। महर्षिगण भगवान् नारायणके सम्बन्धमें यहाँ इस श्लोकका उदाहरण दिया करते हैं—॥ ४१ ॥

आपो नारास्तत्तनव इत्यपां नाम शुश्रुम।
अयनं तेन चैवास्ते तेन नारायणः स्मृतः ॥ ४२ ॥

'जल भगवान्का शरीर है, इसीलिये उनका नाम 'नार' सुनते आये हैं। वह नार ही उनका अयन (गृह) है अथवा उसके साथ एक होकर वे रहते हैं, इसीलिये उन भगवान्को नारायण कहा गया है' ॥ ४२ ॥

प्रध्यानसमकालं तु प्रजाहेतोः सनातनः।
ध्यातमात्रे तु भगवन्नाभ्यां पद्मः समुत्थितः ॥ ४३ ॥

'तत्पश्चात् प्रजाकी सृष्टिके लिये भगवान्ने चिन्तन किया। इस चिन्तनके साथ ही भगवान्की नाभिसे सनातन कमल प्रकट हुआ ॥ ४३ ॥

ततश्चतुर्मुखो ब्रह्मा नाभिपद्माद् विनिःसृतः।
तत्रोपविष्टः सहसा पद्मे लोकपितामहः ॥ ४४ ॥
शून्यं दृष्ट्वा जगत् कृत्स्नं मानसानात्मनः समान्।
ततो मरीचिप्रमुखान् महर्षीनसृजन्नव ॥ ४५ ॥

'उस नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ। उस कमलपर बैठे हुए लोकपितामह ब्रह्माजीने सहसा सम्पूर्ण जगत्को शून्य देखकर अपने मानसपुत्रके रूपमें अपने ही जैसे प्रभावशाली मरीचि आदि नौ महर्षियोंको उत्पन्न किया ॥ ४४-४५ ॥

तेऽसृजन् सर्वभूतानि त्रसानि स्थावराणि च।
यक्षराक्षसभूतानि पिशाचोरगमानुषान् ॥ ४६ ॥

'उन महर्षियोंने स्थावर-जङ्गमरूप सम्पूर्ण भूतोंकी तथा यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, नाग और मनुष्योंकी सृष्टि की ॥ ४६ ॥

सृज्यते ब्रह्ममूर्तिस्तु रक्षते पौरुषी तनुः।
रौद्रीभावेन शमयेत् तिस्रोऽवस्थाः प्रजापतेः ॥ ४७ ॥

'ब्रह्माजीके रूपसे भगवान् सृष्टि करते हैं। परमपुरुष नारायणरूपसे इसकी रक्षा करते हैं तथा रुद्रस्वरूपसे सबका संहार करते हैं। इस प्रकार प्रजापालक भगवान्की ये तीन अवस्थाएँ हैं ॥ ४७ ॥

न श्रुतं ते सिन्धुपते विष्णोरद्भुतकर्मणः।
कथ्यमानानि मुनिभिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ ४८ ॥

'सिन्धुराज! क्या तुमने वेदोंके पारङ्गत ब्रह्मर्षियोंके

मुखसे अद्भुतकर्मा भगवान् विष्णुका चरित्र नहीं सुना है ? ॥ ४८ ॥

जलेन समनुप्राप्ते सर्वतः पृथिवीतले ।
तदा चैकार्णवे तस्मिन्नेकाकाशे प्रभुश्चरन् ॥ ४९॥
निशायामिव खद्योतः प्रावृट्काले समन्ततः ।
प्रतिष्ठानाय पृथिवीं मार्गमाणस्तदाभवत् ॥ ५०॥

'समस्त भूमण्डल सब ओरसे जलमें डूबा हुआ था । उस समय एकार्णवसे उपलक्षित एकमात्र आकाशमें पृथ्वीका पता लगानेके लिये भगवान् इस प्रकार विचर रहे थे, जैसे वर्षाकालकी रातमें जुगनू सब ओर उड़ता फिरता है । वे पृथ्वीको कहीं स्थिररूपसे स्थापित करनेके लिये उसकी खोज कर रहे थे ॥ ४९-५० ॥

जले निमग्नां गां दृष्ट्वा चोद्धर्तुं मनसेच्छति ।
किं नु रूपमहं कृत्वा सलिलादुद्धरे महीम् ॥ ५१॥

'पृथ्वीको जलमें डूबी हुई देख भगवान्ने मन-ही-मन उसे बाहर निकालनेकी इच्छा की । वे सोचने लगे, 'कौन-सा रूप धारण करके मैं इस जलसे पृथ्वीका उद्धार करूँ'॥ ५१ ॥

एवं संचिन्त्य मनसा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ।
जलक्रीडाभिरुचितं वाराहं रूपमस्मरत् ॥ ५२ ॥

'इस प्रकार मन-ही-मन चिन्तन करके उन्होंने दिव्य दृष्टिसे देखा कि जलमें क्रीड़ा करनेके योग्य तो वराहरूप है; अतः उन्होंने उसी रूपका स्मरण किया ॥ ५२ ॥

कृत्वा वराहवपुषं वाङ्मयं वेदसम्मितम् ।
दशयोजनविस्तीर्णमायतं शतयोजनम् ॥ ५३ ॥
महापर्वतवर्ष्माभं तीक्ष्णदंष्ट्रं प्रदीप्तिमत् ।
महामेघौघनिर्घोषं नीलजीमूतसंनिभम् ॥ ५४ ॥

'वेदतुल्य वैदिक वाङ्मय वराहरूप धारण करके भगवान्ने जलके भीतर प्रवेश किया । उनका वह विशाल पर्वताकार शरीर सौ योजन लंबा और दस योजन चौड़ा था । उनकी दाढ़ें बड़ी तीखी थीं । उनका शरीर देदीप्यमान हो रहा था । भगवान्‌का कण्ठ स्वर महान् मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर था । उनकी अङ्गकान्ति नील जलधरके समान श्याम थी ॥ ५३-५४ ॥

भूत्वा यज्ञवराहो वै अपः सम्प्राविशत् प्रभुः ।
दंष्ट्रेणैकेन चोद्धृत्य स्वे स्थाने न्यविशन्महीम् ॥ ५५ ॥

'इस प्रकार यज्ञवाराहरूप धारण करके भगवान्ने जलके भीतर प्रवेश किया और एक ही दाँतसे पृथ्वीको उठाकर उसे अपने स्थानपर स्थापित कर दिया ॥ ५५ ॥

पुनरेव महाबाहुरपूर्वां तनुमाश्रितः ।
नरस्य कृत्वार्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं प्रभुः ॥ ५६ ॥
दैत्येन्द्रस्य सभां गत्वा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ।
दैत्यानामादिपुरुषः सुरारिर्दितिनन्दनः ॥ ५७ ॥
दृष्ट्वा चापूर्वपुरुषं क्रोधात् संरक्तलोचनः ।

'तदनन्तर महाबाहु भगवान् श्रीहरिने एक अपूर्व शरीर धारण किया, जिसमें आधा अङ्ग तो मनुष्यका था और आधा सिंहका । इस प्रकार नृसिंहरूप धारण करके हाथसे हाथका स्पर्श किये हुए दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी सभामें गये । दैत्योंके आदिपुरुष और देवताओंके शत्रु दितिनन्दन हिरण्यकशिपुने उस अपूर्व पुरुषको देखकर क्रोधसे आँखें लाल कर लीं ॥ ५६-५७½ ॥

शूलोद्यतकरः स्रग्वी हिरण्यकशिपुस्तदा ॥ ५८ ॥
मेघस्तनितनिर्घोषो नीलाभ्रचयसंनिभः ।
देवारिर्दितिजो वीरो नृसिंहं समुपाद्रवत् ॥ ५९ ॥

'उसने एक हाथमें शूल उठा रक्खा था । उसके गलेमें पुष्पोंकी माला शोभा पा रही थी । उस समय वीर हिरण्यकशिपुने, जिसकी आवाज मेघकी गर्जनाके समान थी, जो नीले मेघोंके समूह-जैसा श्याम था तथा जो दितिके गर्भसे उत्पन्न होकर देवताओंका शत्रु बना हुआ था; भगवान् नृसिंहपर धावा किया ॥ ५८-५९ ॥

समुपेत्य ततस्तीक्ष्णैर्मृगेन्द्रेण बलीयसा ।
नारसिंहेन वपुषा दारितः करजैर्भृशम् ॥ ६०॥

'इसी समय अत्यन्त बलवान् मृगेन्द्रस्वरूप भगवान् नृसिंहने दैत्यके निकट जाकर उसे अपने तीखे नखोंद्वारा अत्यन्त विदीर्ण कर दिया ॥ ६० ॥

एवं निहत्य भगवान् दैत्येन्द्रं रिपुघातिनम् ।
भूयोऽन्यः पुण्डरीकाक्षः प्रभुर्लोकहिताय च ॥ ६१ ॥

'इस प्रकार शत्रुघाती दैत्यराज हिरण्यकशिपुका वध करके भगवान् कमलनयन श्रीहरि पुनः सम्पूर्ण लोकोंके हितके लिये अन्य रूपमें प्रकट हुए ॥ ६१ ॥

कश्यपस्यात्मजः श्रीमानदित्या गर्भधारितः ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु प्रसूता गर्भमुत्तमम् ॥ ६२ ॥

'उस समय वे कश्यपजीके तेजस्वी पुत्र हुए । अदितिदेवीने उन्हें गर्भमें धारण किया था । पूरे एक हजार वर्षतक गर्भमें धारण करनेके पश्चात् अदितिने एक उत्तम बालकको जन्म दिया ॥ ६२ ॥

दुर्दिनाम्भोदसदृशो दीप्ताक्षो वामनाकृतिः ।
दण्डी कमण्डलुधरः श्रीवत्सोरसि भूषितः ॥ ६३ ॥

'वह वर्षाकालके मेघके समान श्यामवर्णका था । उसके नेत्र देदीप्यमान हो रहे थे । वे वामनाकार, दण्ड और कमण्डलु धारण किये तथा वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित थे ॥ ६३॥

जटी यज्ञोपवीती च भगवान् बालरूपधृक् ।
यज्ञवाटं गतः श्रीमान् दानवेन्द्रस्य वै तदा ॥ ६४ ॥

'उनके सिरपर जटा थी और गलेमें यज्ञोपवीत शोभा पाता था। उस समय वे बालरूपधारी श्रीमान् भगवान् दानवराज बलिकी यज्ञशालाके समीप गये ॥ ६४ ॥

बृहस्पतिसहायोऽसौ प्रविष्टो बलिनो मखे।
तं दृष्ट्वा वामनतनुं प्रहृष्टो बलिरब्रवीत् ॥६५॥

'बृहस्पतिजीकी सहायतासे उनका बलिके यज्ञमण्डपमें प्रवेश हुआ। वामनरूपधारी भगवान्‌को देखकर राजा बलि बहुत प्रसन्न हुए और बोले—॥ ६५ ॥

प्रीतोऽस्मि दर्शने विप्र ब्रूहि त्वं किं ददानि ते।
एवमुक्तस्तु बलिना वामनः प्रत्युवाच ह ॥ ६६॥
स्वस्तीत्युक्त्वा बलिं देवः स्मयमानोऽभ्यभाषत।
मेदिनीं दानवपते देहि मे विक्रमत्रयम् ॥ ६७॥

'ब्रह्मन्! आपका दर्शन पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। आज्ञा कीजिये, मैं आपकी सेवाके लिये क्या दूँ?' बलिके ऐसा कहनेपर भगवान् वामनने '(आपका) स्वस्ति (कल्याण हो)' ऐसा कहकर बलिको आशीर्वाद दिया और मुसकराते हुए कहा—'दानवराज! मुझे तीन पग पृथ्वी दे दीजिये' ॥६६-६७॥

बलिर्ददौ प्रसन्नात्मा विप्रायामिततेजसे।
ततो दिव्याद्भुततमं रूपं विक्रमतो हरेः ॥ ६८॥

'बलिने प्रसन्नचित्त होकर उन अमिततेजस्वी ब्राह्मणदेवताको उनकी मुँहमाँगी वस्तु दे दी। तब भूमिको नापते समय श्रीहरिका अत्यन्त अद्भुत दिव्य रूप प्रकट हुआ ॥ ६८ ॥

विक्रमैस्त्रिभिरक्षोभ्यो जहाराशु स मेदिनीम्।
ददौ शक्राय च महीं विष्णुर्देवः सनातनः ॥ ६९॥

'उन अक्षोभ्य सनातन विष्णुदेवने तीन पगद्वारा शीघ्र ही सारी वसुधा नाप ली और देवराज इन्द्रको समर्पित कर दी ॥ ६९ ॥

एष ते वामनो नाम प्रादुर्भावः प्रकीर्तितः।
तेन देवाः प्रादुरासन् वैष्णवं चोच्यते जगत् ॥ ७०॥

'यह मैंने तुम्हें भगवान्‌के वामनावतारकी बात बतायी है। उन्हींसे देवताओंकी उत्पत्ति हुई है। यह जगत् भी भगवान् विष्णुसे प्रकट होनेके कारण वैष्णव कहलाता है ॥ ७० ॥

असतां निग्रहार्थाय धर्मसंरक्षणाय च।
अवतीर्णो मनुष्याणामजायत यदुक्षये ॥ ७१॥
स एवं भगवान् विष्णुः कृष्णेति परिकीर्त्यते।
अनाद्यन्तमजं देवं प्रभुं लोकनमस्कृतम् ॥ ७२॥

'राजन्! वे ही भगवान् विष्णु दुष्टोंका दमन और धर्मका संरक्षण करनेके लिये मनुष्योंके बीच यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं। उन्हींको श्रीकृष्ण कहते हैं। वे अनादि, अनन्त, अजन्मा, दिव्यस्वरूप, सर्वसमर्थ और विश्ववन्दित हैं ॥ ७१-७२ ॥

यं देवं विदुषो गान्ति तस्य कर्माणि सैन्धव।
यमाहुरजितं कृष्णं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ ७३॥
श्रीवत्सधारिणं देवं पीतकौशेयवाससम्।
प्रधानः सोऽस्त्रविदुषां तेन कृष्णेन रक्ष्यते ॥ ७४॥

'सिन्धुराज! विद्वान् पुरुष उन्हीं भगवान्‌की महिमा गाते और उन्हींके पावन चरित्रोंका वर्णन करते हैं। उन्हींको अपराजित, शङ्खचक्रगदाधारी पीतपट्टाम्बरविभूषित श्रीवत्सधारी भगवान् श्रीकृष्ण कहा गया है। अस्त्रविद्याके विद्वानोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित हैं ॥७३-७४॥

सहायः पुण्डरीकाक्षः श्रीमानतुलविक्रमः।
समानस्यन्दने पार्थमास्थाय परवीरहा ॥ ७५॥

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अतुलपराक्रमी श्रीमान् कमलनयन श्रीकृष्ण एक ही रथपर अर्जुनके समीप बैठकर उनकी सहायता करते हैं ॥ ७५ ॥

न शक्यते तेन जेतुं त्रिदशैरपि दुःसहः।
कः पुनर्मानुषो भावो रणे पार्थं विजेष्यति ॥ ७६॥

'इस कारण अर्जुनको कोई नहीं जीत सकता। उनका वेग सहन करना देवताओंके लिये भी कठिन है; फिर कौन ऐसा मनुष्य है, जो युद्धमें अर्जुनपर विजय पा सके? ॥७६॥

तमेकं वर्जयित्वा तु सर्वं यौधिष्ठिरं बलम्।
चतुरः पाण्डवान् राजन् दिनैकं जेष्यसे रिपून् ॥ ७७॥

'राजन्! केवल अर्जुनको छोड़कर एक दिन ही तुम युधिष्ठिरकी सारी सेनाको और अपने शत्रु चारों पाण्डवोंको भी जीत सकोगे' ॥ ७७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा नृपतिं सर्वपापहरो हरः।
उमापतिः पशुपतिर्यज्ञहा त्रिपुरार्दनः ॥ ७८॥
वामनैर्विकटैः कुब्जैरुग्रश्रवणदर्शनैः।
वृतः पारिषदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ॥ ७९॥
त्र्यम्बको राजशार्दूल भगनेत्रनिपातनः।
उमासहायो भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ८०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उमापति भगवान् हर समस्त पापोंका अपहरण करनेवाले हैं। वे पशुरूपी जीवोंके पालक, दक्षयज्ञ-विध्वंसक तथा त्रिपुरविनाशक हैं। उनके तीन नेत्र हैं और उन्हींके द्वारा भगदेवताके नेत्र नष्ट किये गये हैं। भगवती उमा सदा उनके साथ रहती हैं। नृपश्रेष्ठ! भगवान् शिव सिन्धुराज जयद्रथसे पूर्वोक्त वचन कहकर भयंकर कानों और नेत्रोंवाले भाँति-भाँतिके अस्त्र उठाये रहनेवाले अपने भयंकर पार्षदोंके साथ, जिनमें बौने, कुबड़े और विकट आकृतिवाले प्राणी भी थे,

भगवती पार्वतीसहित वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ७८–८० ॥

जयद्रथोऽपि मन्दात्मा स्वमेव भवनं ययौ ।
पाण्डवाश्च वने तस्मिन् न्यवसन् काम्यके तथा ॥ ८१ ॥

तत्पश्चात् मन्दबुद्धि जयद्रथ भी अपने घर चला गया और पाण्डवगण उस काम्यकवनमें उसी प्रकार निवास करने लगे ॥ ८१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि जयद्रथविमोक्षणपर्वणि द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत जयद्रथविमोक्षणपर्वमें दो सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ८१½ श्लोक हैं)

(रामोपाख्यानपर्व)

त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अपनी दुरवस्थासे दुखी हुए युधिष्ठिरका मार्कण्डेय मुनिसे प्रश्न करना

जनमेजय उवाच

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
अत ऊर्ध्वं नरव्याघ्राः किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—इस प्रकार द्रौपदीका अपहरण होनेपर महान् क्लेश उठानेके पश्चात् मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी पाण्डवोंने कौन-सा कार्य किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं कृष्णां मोक्षयित्वा विनिर्जित्य जयद्रथम् ।
आसांचक्रे मुनिगणैर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय ! इस प्रकार जयद्रथको जीत द्रौपदीको छुड़ाकर लेनेके पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर मुनिमण्डलीके साथ बैठे हुए थे ॥ २ ॥

तेषां मध्ये महर्षीणां शृण्वतामनुशोचताम् ।
मार्कण्डेयमिदं वाक्यमब्रवीत् पाण्डुनन्दनः ॥ ३ ॥

महर्षिलोग भी पाण्डवोंपर आये हुए संकटको सुनते और उसके लिये बारंबार शोक प्रकट करते थे । उन्हींमेंसे मार्कण्डेयजीको लक्ष्य करके पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् देवर्षीणां त्वं ख्यातो भूतभविष्यवित् ।
संशयं परिपृच्छामि छिन्धि मे हृदि संस्थितम् ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! आप भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंके ज्ञाता हैं । देवर्षियोंमें भी आपका नाम विख्यात है । अतः आपसे मैं अपने हृदयका एक संदेह पूछता हूँ, उसका निवारण कीजिये ॥ ४ ॥

द्रुपदस्य सुता ह्येषा वेदिमध्यात् समुत्थिता ।
अयोनिजा महाभागा स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः ॥ ५ ॥

यह परम सौभाग्यशालिनी द्रुपदकुमारी यज्ञकी वेदीसे प्रकट हुई है; अतः अयोनिजा है (इसे गर्भवासका कष्ट नहीं सहन करना पड़ा है) । इसे महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू होनेका गौरव भी मिला है ॥ ५ ॥

मन्ये कालश्च भगवान् दैवं च विधिनिर्मितम् ।
भवितव्यं च भूतानां यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ६ ॥

मेरी समझमें भगवान् काल, विधिनिर्मित दैव और समस्त प्राणियोंकी भवितव्यता अर्थात् उनके लिये होनेवाली घटना—ये तीनों ही प्रबल हैं; इनको कोई टाल नहीं सकता ॥ ६ ॥

इमां हि पत्नीमस्माकं धर्मज्ञां धर्मचारिणीम् ।
संस्पृशेदीदृशो भावः शुचिं स्तैन्यमिवानृतम् ॥ ७ ॥

अन्यथा हमारी इस पत्नीको, जो धर्मको जाननेवाली तथा धर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाली है, ऐसा भाव (अपहृत होनेका लाञ्छन) कैसे स्पर्श कर सकता था ? यह तो ठीक वैसा ही है, जैसे किसी शुद्ध आचार-विचारवाले मनुष्यपर झूठे ही चोरीका कलङ्क लग जाय ॥ ७ ॥

न हि पापं कृतं किंचित् कर्म वा निन्दितं क्वचित् ।
द्रौपद्या ब्राह्मणेष्वेव धर्मः सुचरितो महान् ॥ ८ ॥

इसने कभी कोई पाप या निन्दित कर्म नहीं किया है । द्रौपदीने ब्राह्मणोंके प्रति सेवा-सत्कार आदिके रूपमें महान् धर्मका आचरण किया है ॥ ८ ॥

तां जहार बलाद् राजा मूढबुद्धिर्जयद्रथः ।
तस्याः संहरणात् पापः शिरसः केशपातनम् ॥ ९ ॥
पराजयं च संग्रामे ससहायः समाप्तवान् ।
प्रत्याहृता तथास्माभिर्हत्वा तत् सैन्धवं बलम् ॥ १० ॥

ऐसी स्त्रीका भी मूढ़बुद्धि पापी राजा जयद्रथने बलपूर्वक अपहरण किया । इस अपहरणके ही कारण उसका सिर मूँड़ा गया, वह अपने सहायकोंसहित युद्धमें पराजित हुआ तथा हमलोग सिन्धुदेशकी सेनाका संहार करके पुनः द्रौपदीको लौटा लाये हैं ॥ ९-१० ॥

तद् दारहरणं प्राप्तमस्माभिरवितर्कितम् ।

ज्ञातिभिर्विप्रवासश्च मिथ्याव्यवसितैरियम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार हमने जिसे कभी सोचा तक न था, वह अपनी पत्नीका अपहरणरूप अपमान हमें प्राप्त हुआ और मिथ्या व्यवसायमें लगे हुए बान्धवोंने हमें देशसे निर्वासित कर दिया है ॥ ११ ॥

अस्ति नूनं मया कश्चिदल्पभाग्यतरो नरः।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा भवेत् ॥ १२ ॥

अतः मैं पूछता हूँ, क्या संसारमें मेरे-जैसा मन्दभाग्य मनुष्य कोई और भी है अथवा आपने पहले कभी मुझ-जैसे भाग्यहीनको कहीं देखा या सुना है ? ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरप्रश्ने त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें युधिष्ठिरप्रश्नविषयक दो सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७३ ॥

चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीराम आदिका जन्म तथा कुबेरकी उत्पत्ति और उन्हें ऐश्वर्यकी प्राप्ति

मार्कण्डेय उवाच

प्राप्तमप्रतिमं दुःखं रामेण भरतर्षभ ।
रक्षसा जानकी तस्य हृता भार्या बलीयसा ॥ १ ॥
आश्रमाद् राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना।
मायामास्थाय तरसा हत्वा गृध्रं जटायुषम् ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! श्रीरामचन्द्रजीको भी वनवास तथा स्त्रीवियोगका अनुपम दुःख सहन करना पड़ा था । दुरात्मा राक्षसराज महाबली रावण अपना मायाजाल बिछाकर आश्रमसे उनकी पत्नी सीताको वेगपूर्वक हर ले गया था और अपने कार्यमें बाधा डालनेवाले गृध्रराज जटायुको उसने वहीं मार गिराया था ॥ १–२ ॥

प्रत्याजहार तां रामः सुग्रीवबलमाश्रितः ।
बद्ध्वा सेतुं समुद्रस्य दग्ध्वा लङ्कां शितैः शरैः ॥ ३ ॥

फिर श्रीरामचन्द्रजी भी सुग्रीवकी सेनाका सहारा ले समुद्रपर पुल बाँधकर लङ्कामें गये और अपने तीखे (आग्नेय आदि) बाणोंसे उसको भस्म करके वहाँसे सीताको वापस लाये ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कस्मिन् रामः कुले जातः किंवीर्यः किम्पराक्रमः ।
रावणः कस्य पुत्रो वा किं वैरं तस्य तेन ह ॥ ४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! श्रीरामचन्द्रजी किस कुलमें प्रकट हुए थे ? उनका बल और पराक्रम कैसा था ? रावण किसका पुत्र था और उसका रामचन्द्रजीसे क्या वैर था ? ॥ ४ ॥

एतन्मे भगवन् सर्वं सम्यगाख्यातुमर्हसि ।
श्रोतुमिच्छामि चरितं रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ५ ॥

भगवन् ! ये सभी बातें मुझे अच्छी प्रकार बताइये । मैं अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीरामका चरित्र सुनना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अजो नामाभवद् राजा महानिक्ष्वाकुवंशजः ।
तस्य पुत्रो दशरथः शश्वत्स्वाध्यायवाञ्छुचिः ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन् ! इक्ष्वाकुवंशमें अज नामसे प्रसिद्ध एक महान् राजा हो गये हैं । उनके पुत्र थे दशरथ, जो सदा स्वाध्यायमें संलग्न रहनेवाले और पवित्र थे ॥ ६ ॥

अभवंस्तस्य चत्वारः पुत्रा धर्मार्थकोविदाः ।
रामलक्ष्मणशत्रुघ्ना भरतश्च महाबलः ॥ ७ ॥

उनके चार पुत्र हुए । वे सब-के-सब धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले थे । उनके नाम इस प्रकार हैं—राम, लक्ष्मण, महाबली भरत और शत्रुघ्न ॥ ७ ॥

रामस्य माता कौसल्या कैकेयी भरतस्य तु ।
सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रायाः परंतपौ ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी माताका नाम कौसल्या था, भरतकी माता कैकेयी थी तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले लक्ष्मण और शत्रुघ्न सुमित्राके पुत्र थे ॥ ८ ॥

विदेहराजो जनकः सीता तस्यात्मजा विभो ।
यां चकार स्वयं त्वष्टा रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥ ९ ॥

राजन् ! विदेहदेशके राजा जनककी एक पुत्री थी, जिसका नाम था सीता । उसे स्वयं विधाताने ही भगवान् श्रीरामकी प्यारी रानी होनेके लिये रचा था ॥ ९ ॥

एतद् रामस्य ते जन्म सीतायाश्च प्रकीर्तितम् ।
रावणस्यापि ते जन्म व्याख्यास्यामि जनेश्वर ॥ १० ॥

जनेश्वर ! इस प्रकार मैंने तुम्हें श्रीराम और सीताके

जन्मका वृत्तान्त बताया है। अब रावणके भी जन्मका प्रसङ्ग सुनाऊँगा ॥ १० ॥

पितामहो रावणस्य साक्षाद् देवः प्रजापतिः।
स्वयम्भूः सर्वलोकानां प्रभुः स्रष्टा महातपाः ॥ ११ ॥

सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी, सबकी सृष्टि करनेवाले, प्रजापालक, महातपस्वी और स्वयम्भू साक्षात् भगवान् ब्रह्माजी ही रावणके पितामह थे ॥ ११ ॥

पुलस्त्यो नाम तस्यासीन्मानसो दयितः सुतः।
तस्य वैश्रवणो नाम गवि पुत्रोऽभवत् प्रभुः ॥ १२ ॥

ब्रह्माजीके एक परम प्रिय मानसपुत्र पुलस्त्यजी थे। उनसे उनकी गौ नामकी पत्नीके गर्भसे वैश्रवण नामक शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १२ ॥

पितरं स समुत्सृज्य पितामहमुपस्थितः।
तस्य कोपात् पिता राजन् ससर्जात्मानमात्मना ॥ १३ ॥
स जज्ञे विश्रवा नाम तस्यात्मार्धेन वै द्विजः।
प्रतीकाराय सक्रोधस्ततो वैश्रवणस्य वै ॥ १४ ॥

राजन्! वैश्रवण अपने पिताको छोड़कर पितामहकी सेवामें रहने लगे। इससे उनपर क्रोध करके पिता पुलस्त्यने स्वयं अपने आपको ही दूसरे रूपमें प्रकट कर लिया। पुलस्त्यके आधे शरीरसे जो दूसरा द्विज प्रकट हुआ, उसका नाम विश्रवा था। विश्रवा वैश्रवणसे बदला लेनेके लिये उनके ऊपर सदा कुपित रहा करते थे ॥ १३–१४ ॥

पितामहस्तु प्रीतात्मा ददौ वैश्रवणस्य ह।
अमरत्वं धनेशत्वं लोकपालत्वमेव च ॥ १५ ॥

परंतु पितामह ब्रह्माजी उनपर प्रसन्न थे; अतः उन्होंने वैश्रवणको अमरत्व प्रदान किया और धनका स्वामी तथा लोकपाल बना दिया ॥ १५ ॥

ईशानेन तथा सख्यं पुत्रं च नलकूबरम्।
राजधानीनिवेशं च लङ्कां रक्षोगणान्विताम् ॥ १६ ॥

पितामहने उनकी महादेवजीसे मैत्री करायी, उन्हें नलकूबर नामक पुत्र दिया तथा राक्षसोंसे भरी हुई लंकाको उनकी राजधानी बनायी ॥ १६ ॥

विमानं पुष्पकं नाम कामगं च ददौ प्रभुः।
यक्षाणामाधिपत्यं च राजराजत्वमेव च ॥ १७ ॥

साथ ही उन्हें इच्छानुसार विचरनेवाला पुष्पक नामका एक विमान दिया। इसके सिवा ब्रह्माजीने कुबेरको यक्षोंका स्वामी बना दिया और उन्हें 'राजराज' की पदवी प्रदान की ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामरावणयोर्जन्मकथने चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें राम-रावणजन्मकथनविषयक दो सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७४ ॥

पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण, खर और शूर्पणखाकी उत्पत्ति, तपस्या और वरप्राप्ति तथा कुबेरका रावणको शाप देना

मार्कण्डेय उवाच

पुलस्त्यस्य तु यः क्रोधादर्धदेहोऽभवन्मुनिः।
विश्रवा नाम सक्रोधः स वैश्रवणमैक्षत ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! पुलस्त्यके क्रोधसे उनके आधे शरीरसे जो 'विश्रवा' नामक मुनि प्रकट हुए थे, वे कुबेरको कुपित दृष्टिसे देखने लगे ॥ १ ॥

बुबुधे तं तु सक्रोधं पितरं राक्षसेश्वरः।
कुबेरस्तत्प्रसादार्थं यतते स्म सदा नृप ॥ २ ॥

युधिष्ठिर! राक्षसोंके स्वामी कुबेरको जब यह बात मालूम हो गयी कि मेरे पिता मुझपर रुष्ट रहते हैं, तब वे उन्हें प्रसन्न रखनेका यत्न करने लगे ॥ २ ॥

स राजराजो लङ्कायां न्यवसन्नरवाहनः।
राक्षसीः प्रददौ तिस्रः पितुर्वै परिचारिकाः ॥ ३ ॥

राजराज कुबेर स्वयं लङ्कामें ही रहते थे। वे मनुष्योंद्वारा ढोई जानेवाली पालकी आदिकी सवारीपर चलते थे, इसलिये नरवाहन कहलाते थे। उन्होंने अपने पिता विश्रवाकी सेवाके लिये तीन राक्षसकन्याओंको परिचारिकाओंके रूपमें नियुक्त कर दिया था ॥ ३ ॥

ताः सदा तं महात्मानं संतोषयितुमुद्यताः।
ऋषिं भरतशार्दूल नृत्यगीतविशारदाः ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ! वे तीनों ही नाचने और गानेकी कलामें निपुण थीं तथा सदा ही उन महात्मा महर्षिको संतुष्ट रखनेके लिये सचेष्ट रहती थीं ॥ ४ ॥

पुष्पोत्कटा च राका च मालिनी च विशाम्पते।
अन्योन्यस्पर्धया राजन् श्रेयस्कामाः सुमध्यमाः ॥ ५ ॥

महाराज! उनके नाम थे—पुष्पोत्कटा, राका तथा मालिनी। वे तीनों सुन्दरियाँ अपना भला चाहती थीं।

इसलिये एक दूसरीसे स्पर्धा रखकर मुनिकी सेवा करती थीं ॥

स तासां भगवांस्तुष्टो महात्मा प्रददौ वरान्।
लोकपालोपमान् पुत्रानेकैकस्या यथेप्सितान् ॥ ६ ॥

वे ऐश्वर्यशाली महात्मा उनकी सेवाओंसे प्रसन्न हो गये और उनमेंसे प्रत्येकको उनकी इच्छाके अनुसार लोकपालोंके समान पराक्रमी पुत्र होनेका वरदान दिया ॥ ६ ॥

पुष्पोत्कटायां जज्ञाते द्वौ पुत्रौ राक्षसेश्वरौ।
कुम्भकर्णदशग्रीवौ बलेनाप्रतिमौ भुवि ॥ ७ ॥

पुष्पोत्कटाके दो पुत्र हुए—रावण और कुम्भकर्ण। ये दोनों ही राक्षसोंके अधिपति थे। भूमण्डलमें इनके समान बलवान् दूसरा कोई नहीं था ॥ ७ ॥

मालिनी जनयामास पुत्रमेकं विभीषणम्।
राकायां मिथुनं जज्ञे खरः शूर्पणखा तथा ॥ ८ ॥

मालिनीने एक ही पुत्र विभीषणको जन्म दिया। राकाके गर्भसे एक पुत्र और एक पुत्री हुई। पुत्रका नाम खर था और पुत्रीका शूर्पणखा ॥ ८ ॥

विभीषणस्तु रूपेण सर्वेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत्।
स बभूव महाभागो धर्मगोप्ता क्रियारतिः ॥ ९ ॥

इन सब बालकोंमें विभीषण ही सबसे अधिक रूपवान्, सौभाग्यशाली, धर्मरक्षक तथा कर्तव्यपरायण थे ॥ ९ ॥

दशग्रीवस्तु सर्वेषां श्रेष्ठो राक्षसपुङ्गवः।
महोत्साहो महावीर्यो महासत्त्वपराक्रमः ॥ १० ॥

रावणके दस मस्तक थे। वही सबमें ज्येष्ठ तथा राक्षसोंका स्वामी था। उत्साह, बल, धैर्य और पराक्रममें भी वह महान् था ॥ १० ॥

कुम्भकर्णो बलेनासीत् सर्वेभ्योऽभ्यधिको युधि।
मायावी रणशौण्डश्च रौद्रश्च रजनीचरः ॥ ११ ॥

कुम्भकर्ण शारीरिक बलमें सबसे बढ़ा-चढ़ा था। युद्धमें भी वह सबसे बढ़कर था। मायावी और रणकुशल तो था ही, वह निशाचर बड़ा भयंकर भी था ॥ ११ ॥

खरो धनुषि विक्रान्तो ब्रह्मद्विट् पिशिताशनः।
सिद्धविघ्नकरी चापि रौद्री शूर्पणखा तथा ॥ १२ ॥

खर धनुर्विद्यामें विशेष पराक्रमी था। वह ब्राह्मणोंसे द्वेष रखनेवाला तथा मांसाहारी था। शूर्पणखाकी आकृति बड़ी भयानक थी। वह सिद्ध ऋषि-मुनियोंकी तपस्यामें विघ्न डाला करती थी ॥ १२ ॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः।
ऊषुः पित्रा सह रता गन्धमादनपर्वते ॥ १३ ॥

वे सभी बालक वेदवेत्ता, शूरवीर तथा ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले थे और अपने पिताके साथ गन्धमादन पर्वतपर सुखपूर्वक रहते थे ॥ १३ ॥

ततो वैश्रवणं तत्र ददृशुर्नरवाहनम्।
पित्रा सार्धं समासीनमृद्ध्या परमया युतम् ॥ १४ ॥

एक दिन नरवाहन कुबेर अपने महान् ऐश्वर्यसे युक्त होकर पिताके साथ बैठे थे। उसी अवस्थामें रावण आदिने उनको देखा ॥ १४ ॥

जातामर्षास्ततस्ते तु तपसे धृतनिश्चयाः।
ब्रह्माणं तोषयामासुर्घोरेण तपसा तदा ॥ १५ ॥

उनका वैभव देखकर इन बालकोंके हृदयमें डाह पैदा हो गयी। अतः उन्होंने मन-ही-मन तपस्या करनेका निश्चय किया और घोर तपस्याके द्वारा उन्होंने ब्रह्माजीको संतुष्ट कर लिया ॥ १५ ॥

अतिष्ठदेकपादेन सहस्रं परिवत्सरान्।
वायुभक्षो दशग्रीवः पञ्चाग्निः सुसमाहितः ॥ १६ ॥

रावण सहस्रों वर्षोंतक एक पैरसे खड़ा रहा। वह चित्तको एकाग्र रखकर पञ्चाग्निसेवन करता और वायु पीकर रहता था ॥ १६ ॥

अधःशायी कुम्भकर्णो यताहारो यतव्रतः।
विभीषणः शीर्णपर्णमेकमभ्यवहारयन् ॥ १७ ॥

कुम्भकर्णने भी आहारका संयम किया। वह भूमिपर सोता और कठोर नियमोंका पालन करता था। विभीषण केवल एक सूखा पत्ता खाकर रहते थे ॥ १७ ॥

उपवासरतिर्धीमान् सदा जप्यपरायणः।
तमेव कालमातिष्ठत् तीव्रं तप उदारधीः ॥ १८ ॥

उनका भी उपवासमें ही प्रेम था। बुद्धिमान् एवं उदारबुद्धि विभीषण सदा जप किया करते थे। उन्होंने भी उतने समयतक तीव्र तपस्या की ॥ १८ ॥

खरः शूर्पणखा चैव तेषां वै तप्यतां तपः।
परिचर्यां च रक्षां च चक्रतुर्हृष्टमानसौ ॥ १९ ॥

खर और शूर्पणखा ये दोनों प्रसन्न मनसे तपस्यामें लगे हुए अपने भाइयोंकी परिचर्या तथा रक्षा करते थे ॥ १९ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्छित्त्वा दशाननः।
जुहोत्यग्नौ दुराधर्षस्तेनातुष्यज्जगत्प्रभुः ॥ २० ॥

एक हजार वर्ष पूर्ण होनेपर दुर्धर्ष दशाननने अपना मस्तक काटकर अग्निमें उसकी आहुति दे दी। उसके इस अद्भुत कर्मसे लोकेश्वर ब्रह्माजी बहुत संतुष्ट हुए ॥ २० ॥

ततो ब्रह्मा स्वयं गत्वा तपसस्तान् न्यवारयत्।
प्रलोभ्य वरदानेन सर्वानेव पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥

तदनन्तर ब्रह्माजीने स्वयं जाकर उन सबको तपस्या

करनेसे रोका और प्रत्येकको पृथक्-पृथक् वरदानका लोभ देते हुए कहा ॥ २१ ॥

ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्मि वो निवर्तध्वं वरान् वृणुत पुत्रकाः ।
यद् यदिष्टमृते त्वेकममरत्वं तथास्तु तत् ॥ २२ ॥

ब्रह्माजी बोले—पुत्रो ! मैं तुम सबपर प्रसन्न हूँ, वर माँगो और तपस्यासे निवृत्त हो जाओ । केवल अमरत्वको छोड़कर जिसकी जो-जो इच्छा हो, उसके अनुसार वह वर माँगे । उसका वह मनोरथ पूर्ण होगा ॥ २२ ॥

यद् यदग्नौ हुतं सर्वं शिरस्ते महदीप्सया ।
तथैव तानि ते देहे भविष्यन्ति यथेप्सया ॥ २३ ॥

(तत्पश्चात् उन्होंने रावणकी ओर लक्ष्य करके कहा—) तुमने महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त करनेकी इच्छासे अपने जिन-जिन मस्तकोंकी अग्निमें आहुति दी है, वे सब-के-सब पूर्ववत् तुम्हारे शरीरमें इच्छानुसार जुड़ जायँगे ॥ २३ ॥

वैरूप्यं च न ते देहे कामरूपधरस्तथा ।
भविष्यसि रणेऽरीणां विजेता न च संशयः ॥ २४ ॥

तुम्हारे शरीरमें किसी प्रकारकी कुरूपता नहीं होगी, तुम इच्छानुसार रूप धारण कर सकोगे तथा युद्धमें शत्रुओंपर विजयी होओगे, इसमें संशय नहीं है ॥ २४ ॥

रावण उवाच

गन्धर्वदेवासुरतो यक्षराक्षसतस्तथा ।
सर्पकिन्नरभूतेभ्यो न मे भूयात् पराभवः ॥ २५ ॥

रावण बोला—भगवन् ! गन्धर्व, देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, सर्प, किन्नर तथा भूतोंसे कभी मेरी पराजय न हो ॥



ब्रह्मोवाच

य एते कीर्तिताः सर्वे न तेभ्योऽस्ति भयं तव ।
ऋते मनुष्याद् भद्रं ते तथा तद् विहितं मया ॥ २६ ॥

ब्रह्माजीने कहा—तुमने जिन लोगोंका नाम लिया है, इनमेंसे किसीसे भी तुम्हें भय नहीं होगा । केवल मनुष्यको छोड़कर तुम सबसे निर्भय रहो । तुम्हारा भला हो । तुम्हारे लिये मनुष्यसे होनेवाले भयका विधान मैंने ही किया है ॥ २६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तो दशग्रीवस्तुष्टः समभवत् तदा ।
अवमेने हि दुर्बुद्धिर्मनुष्यान् पुरुषादकः ॥ २७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन् ! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर दसमुख रावण बहुत प्रसन्न हुआ । वह दुर्बुद्धि नरभक्षी राक्षस मनुष्योंकी अवहेलना करता था ॥ २७ ॥

कुम्भकर्णमथोवाच तथैव प्रपितामहः ।
स वव्रे महतीं निद्रां तमसा ग्रस्तचेतनः ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजीने कुम्भकर्णसे वर माँगनेको कहा । परंतु उसकी बुद्धि तमोगुणसे ग्रस्त थी; अतः उसने अधिक कालतक नींद लेनेका वर माँगा ॥ २८ ॥

तथा भविष्यतीत्युक्त्वा विभीषणमुवाच ह ।
वरं वृणीष्व पुत्र त्वं प्रीतोऽस्मीति पुनः पुनः ॥ २९ ॥

उसे 'ऐसा ही होगा' यों कहकर ब्रह्माजी विभीषणके पास गये और इस प्रकार बोले—'बेटा ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, अतः तुम भी वर माँगो ।' ब्रह्माजीने यह बात बार-बार दुहरायी ॥ २९ ॥

विभीषण उवाच

परमापद्गतस्यापि नाधर्मे मे मतिर्भवेत् ।
अशिक्षितं च भगवन् ब्रह्मास्त्रं प्रतिभातु मे ॥ ३० ॥

विभीषण बोले—भगवन् ! बहुत बड़ा संकट आनेपर भी मेरे मनमें कभी पापका विचार न उठे तथा बिना सीखे ही मेरे हृदयमें ब्रह्मास्त्रके प्रयोग और उपसंहारकी विधि स्फुरित हो जाय ॥ ३० ॥

ब्रह्मोवाच

यस्माद् राक्षसयोनौ ते जातस्यामित्रकर्शन ।
नाधर्मे धीयते बुद्धिरमरत्वं ददानि ते ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—शत्रुनाशन ! राक्षसयोनिमें जन्म लेकर भी तुम्हारी बुद्धि अधर्ममें नहीं लगती है; इसलिये (तुम्हारे माँगे हुए वरके अतिरिक्त) मैं तुम्हें अमरत्व भी देता हूँ॥

मार्कण्डेय उवाच

राक्षसस्तु वरं लब्ध्वा दशग्रीवो विशाम्पते ।
लङ्कायाश्च्यावयामास युधि जित्वा धनेश्वरम्॥ ३२ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! राक्षस दशाननने वर प्राप्त कर लेनेपर सबसे पहले अपने भाई कुबेरको युद्धमें परास्त किया और उन्हें लङ्काके राज्यसे बहिष्कृत कर दिया ॥

हित्वा स भगवाँल्लङ्कामाविशद् गन्धमादनम्।
गन्धर्वयक्षानुगतो रक्षःकिम्पुरुषैः सह ॥ ३३ ॥

भगवान् कुबेर लङ्का छोड़कर गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा किम्पुरुषोंके साथ गन्धमादन पर्वतपर आकर रहने लगे ॥ ३३ ॥

विमानं पुष्पकं तस्य जहाराक्रम्य रावणः।
शशाप तं वैश्रवणो न त्वामेतद् वहिष्यति ॥ ३४ ॥
यस्तु त्वां समरे हन्ता तमेवैतद् वहिष्यति।
अवमन्य गुरुं मां च क्षिप्रं त्वं न भविष्यसि ॥ ३५ ॥

रावणने आक्रमण करके उनका पुष्पक विमान भी छीन लिया। तब कुबेरने कुपित होकर उसे शाप दिया—'अरे! यह विमान तेरी सवारीमें नहीं आ सकेगा। जो युद्धमें तुझे मार डालेगा, उसीका यह वाहन होगा। मैं तेरा बड़ा भाई होनेके कारण मान्य था, परंतु तूने मेरा अपमान किया है। इससे बहुत शीघ्र तेरा नाश हो जायगा' ॥ ३४-३५ ॥



विभीषणस्तु धर्मात्मा सतां मार्गमनुस्मरन्।
अन्वगच्छन्महाराज श्रिया परमया युतः ॥ ३६ ॥

महाराज! विभीषण धर्मात्मा थे। उन्होंने सत्पुरुषोंके मार्गका ध्यान रखकर सदा अपने भाई कुबेरका अनुसरण किया; अतः वे उत्तम लक्ष्मीसे सम्पन्न हुए ॥ ३६ ॥

तस्मै स भगवांस्तुष्टो भ्राता भ्रात्रे धनेश्वरः।
सैनापत्यं ददौ धीमान् यक्षराक्षससेनयोः ॥ ३७ ॥

बड़े भाई बुद्धिमान् भगवान् कुबेरने संतुष्ट होकर छोटे भाई विभीषणको यक्ष तथा राक्षसोंकी सेनाका सेनापति बना दिया ॥ ३७ ॥

राक्षसाः पुरुषादाश्च पिशाचाश्च महाबलाः।
सर्वे समेत्य राजानमभ्यषिञ्चन् दशाननम् ॥ ३८ ॥

नरभक्षी राक्षस तथा महाबली पिशाच—सबने मिलकर दशमुख रावणको राक्षसराजके पदपर अभिषिक्त किया ॥ ३८ ॥

दशग्रीवश्च दैत्यानां देवानां च बलोत्कटः।
आक्रम्य रत्नान्यहरत् कामरूपी विहङ्गमः ॥ ३९ ॥

बलोन्मत्त रावण इच्छानुसार रूप धारण करने और आकाशमें भी चलनेमें समर्थ था। उसने दैत्यों और देवताओंपर आक्रमण करके उनके पास जो रत्न या रत्नभूत वस्तुएँ थीं, उन सबका अपहरण कर लिया ॥ ३९ ॥

रावयामास लोकान् यत् तस्माद्रावण उच्यते।
दशग्रीवः कामबलो देवानां भयमादधत् ॥ ४० ॥

उसने सम्पूर्ण लोकोंको रुला दिया था; इसलिये वह रावण कहलाता है। दशाननका बल उसके इच्छानुसार बढ़ जाता था; अतः वह सदा देवताओंको भयभीत किये रहता था ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रावणादिवरप्राप्तौ पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें रावण आदिको वरप्राप्तिविषयक दो सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७५ ॥

षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवताओंका ब्रह्माजीके पास जाकर रावणके अत्याचारसे बचानेके लिये प्रार्थना करना तथा ब्रह्माजीकी आज्ञासे देवताओंका रीछ और वानरयोनिमें संतान उत्पन्न करना एवं दुन्दुभी गन्धर्वीका मन्थरा बनकर आना

मार्कण्डेय उवाच

ततो ब्रह्मर्षयः सर्वे सिद्धा देवर्षयस्तथा।
हव्यवाहं पुरस्कृत्य ब्रह्माणं शरणं गताः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् रावणसे कष्ट पाये हुए ब्रह्मर्षि, देवर्षि तथा सिद्धगण अग्निदेवको आगे करके ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ १ ॥

अग्निरुवाच

योऽसौ विश्रवसः पुत्रो दशग्रीवो महाबलः।
अवध्यो वरदानेन कृतो भगवता पुरा ॥ २ ॥
स बाधते प्रजाः सर्वा विप्रकारैर्महाबलः।
ततो नस्त्रातु भगवन् नान्यस्त्राता हि विद्यते ॥ ३ ॥

अग्निदेव बोले—भगवन्! आपने पहले जो वरदान देकर विश्रवाके पुत्र महाबली रावणको अवध्य कर दिया है, वह महाबलवान् राक्षस अब संसारकी समस्त प्रजाको अनेक प्रकारसे सता रहा है; अतः आप ही उसके भयसे हमारी रक्षा कीजिये। आपके सिवा हमारा दूसरा कोई रक्षक नहीं है ॥२-३॥

ब्रह्मोवाच

न स देवासुरैः शक्यो युद्धे जेतुं विभावसो।
विहितं तत्र यत् कार्यमभितस्तस्य निग्रहः ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीने कहा—अग्ने! देवता या असुर उसे युद्धमें नहीं जीत सकते। उसके विनाशके लिये जो आवश्यक कार्य था, वह कर दिया गया। अब सब प्रकारसे उस दुष्टका दमन हो जायगा ॥ ४ ॥

तदर्थमवतीर्णोऽसौ मन्नियोगाच्चतुर्भुजः।
विष्णुः प्रहरतां श्रेष्ठः स तत् कर्म करिष्यति ॥ ५ ॥

उस राक्षसके निग्रहके लिये मैंने चतुर्भुज भगवान् विष्णुसे अनुरोध किया था। मेरी प्रार्थनासे वे भगवान् भूतलपर अवतार ले चुके हैं। वे योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं; अतः वे ही रावणके दमनका कार्य करेंगे ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

पितामहस्ततस्तेषां संनिधौ शक्रमब्रवीत्।
सर्वैर्देवगणैः सार्धं सम्भव त्वं महीतले ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर ब्रह्माजीने उन देवताओंके समीप ही इन्द्रसे कहा—'तुम समस्त देवताओंके साथ भूतलपर जन्म ग्रहण करो ॥ ६ ॥

विष्णोः सहायानृक्षीषु वानरीषु च सर्वशः।
जनयध्वं सुतान् वीरान् कामरूपबलान्वितान्॥ ७ ॥

'वहाँ रीछों और वानरोंकी स्त्रियोंसे ऐसे वीर पुत्रको उत्पन्न करो, जो इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ, बलवान् तथा भूतलपर अवतीर्ण हुए भगवान् विष्णुके योग्य सहायक हों' ॥ ७ ॥

ततो भागानुभागेन देवगन्धर्वपन्नगाः।
अवतर्तुं महीं सर्वे मन्त्रयामासुरञ्जसा ॥ ८ ॥

तदनन्तर देवता, गन्धर्व और नाग अपने-अपने अंश एवं अंशांशसे इस पृथ्वीपर अवतीर्ण होनेके लिये परस्पर परामर्श करने लगे ॥ ८ ॥

तेषां समक्षं गन्धर्वीं दुन्दुभीं नाम नामतः।
शशास वरदो देवो गच्छ कार्यार्थसिद्धये ॥ ९ ॥

फिर वरदायक देवता ब्रह्माजीने उन सबके सामने ही दुन्दुभी नामवाली गन्धर्वीको आज्ञा दी कि 'तुम भी देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये भूतलपर जाओ ॥ ९ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा गन्धर्वी दुन्दुभी ततः।
मन्थरा मानुषे लोके कुब्जा समभवत् तदा ॥ १० ॥

पितामहकी बात सुनकर गन्धर्वी दुन्दुभी मनुष्यलोकमें आकर मन्थरा नामसे प्रसिद्ध कुबड़ी दासी हुई ॥ १० ॥

शक्रप्रभृतयश्चैव सर्वे ते सुरसत्तमाः।
वानरर्क्षवरस्त्रीषु जनयामासुरात्मजान् ॥ ११ ॥
तेऽन्ववर्तन् पितॄन् सर्वे यशसा च बलेन च।
भेत्तारो गिरिशृङ्गाणां शालतालशिलायुधाः ॥ १२ ॥

इन्द्र आदि समस्त श्रेष्ठ देवता भी वानरों तथा रीछोंकी उत्तम स्त्रियोंसे संतान उत्पन्न करने लगे। वे सब वानर और रीछ यश तथा बलमें अपने पिता देवताओंके समान ही हुए। वे पर्वतोंके शिखर तोड़ डालनेकी शक्ति रखते थे एवं शाल (साखू) और ताल (ताड़) के वृक्ष तथा पत्थरोंकी चट्टानें ही उनके आयुध थे ॥ ११-१२ ॥

वज्रसंहननाः सर्वे सर्वे चौघबलास्तथा।
कामवीर्यबलाश्चैव सर्वे युद्धविशारदाः ॥ १३ ॥

उनका शरीर वज्रके समान दुर्भेद्य और सुदृढ़ था। वे सभी राशि-राशि बलके आश्रय थे। उनका बल और पराक्रम इच्छाके अनुसार प्रकट होता था। वे सबके सब युद्ध करनेकी कलामें दक्ष थे ॥ १३ ॥

नागायुतसमप्राणा वायुवेगसमा जवे।
यत्रेच्छकनिवासाश्च केचिदत्र वनौकसः ॥ १४ ॥

उनके शरीरमें दस हजार हाथियोंके समान बल था। तेज चलनेमें वे वायुके वेगको लजा देते थे। उनका कोई घर-बार नहीं था; जहाँ इच्छा होती, वहीं रह जाते थे। उनमेंसे कुछ लोग केवल वनोंमें ही रहते थे ॥ १४ ॥

एवं विधाय तत् सर्वं भगवाँल्लोकभावनः।
मन्थरां बोधयामास यद् यत् कार्यं यथा यथा ॥१५॥

इस प्रकार सारी व्यवस्था करके लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माने मन्थरा बनी हुई दुन्दुभीको जो-जो काम जैसे-जैसे करना था, वह सब समझा दिया ॥ १५ ॥

सा तद्वचः समाज्ञाय तथा चक्रे मनोजवा।
इतश्चेतश्च गच्छन्ती वैरसन्धुक्षणे रता ॥ १६ ॥

वह मनके समान वेगसे चलनेवाली थी। उसने ब्रह्माजी-की बातको अच्छी तरह समझकर उसके अनुसार ही कार्य किया। वह इधर-उधर घूम-फिरकर वैरकी आग प्रज्वलित करनेमें लग गयी ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि वानराद्युत्पत्तौ षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें वानर आदिकी उत्पत्तिसे सम्बन्धित दो सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी, रामवनगमन, भरतकी चित्रकूटयात्रा, रामके द्वारा खर-दूषण आदि राक्षसोंका नाश तथा रावणका मारीचके पास जाना

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं भगवता जन्म रामादीनां पृथक् पृथक्।
प्रस्थानकारणं ब्रह्मञ्छ्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ॥ १ ॥
कथं दाशरथी वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
सम्प्रस्थितौ वने ब्रह्मन् मैथिली च यशस्विनी ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—ब्रह्मन्! आपने श्रीरामचन्द्रजी आदि सभी भाइयोंके जन्मकी कथा तो पृथक्-पृथक् सुना दी, अब मैं उनके वनवासका कारण सुनना चाहता हूँ; उसे कहिये। दशरथजीके वीर पुत्र दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण तथा मिथिलेशकुमारी यशस्विनी सीताको वनमें क्यों जाना पड़ा? ॥ १-२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

जातपुत्रो दशरथः प्रीतिमानभवन्नृप।
क्रियारतिर्धर्मरतः सततं वृद्धसेविता ॥ ३ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन्! अपने पुत्रोंके जन्मसे महाराज दशरथको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे सदा सत्कर्ममें तत्पर रहनेवाले, धर्मपरायण तथा बड़े-बूढ़ोंके सेवक थे ॥ ३ ॥

क्रमेण चास्य ते पुत्रा व्यवर्धन्त महौजसः।
वेदेषु सरहस्येषु धनुर्वेदेषु पारगाः ॥ ४ ॥
चरितब्रह्मचर्यास्ते कृतदाराश्च पार्थिव।
यदा तदा दशरथः प्रीतिमानभवत् सुखी ॥ ५ ॥

राजाके वे महातेजस्वी पुत्र क्रमशः बढ़ने लगे। उन्होंने (उपनयनके पश्चात्) विधिवत् ब्रह्मचर्यका पालन किया और वेदों तथा रहस्यसहित धनुर्वेदके वे पारंगत विद्वान् हुए। समयानुसार जब उनका विवाह हो गया, तब राजा दशरथ बड़े प्रसन्न तथा सुखी हुए ॥ ४-५ ॥

ज्येष्ठो रामोऽभवत् तेषां रमयामास हि प्रजाः।
मनोहरतया धीमान् पितुर्हृदयनन्दनः ॥ ६ ॥

चारों पुत्रोंमें बुद्धिमान् श्रीराम सबसे बड़े थे। वे अपने मनोहर रूप एवं सुन्दर स्वभावसे समस्त प्रजाको आनन्दित करते थे—सबका मन उन्हींमें रमता था। इसके सिवा वे पिताके मनमें भी आनन्द बढ़ानेवाले थे ॥ ६ ॥

ततः स राजा मतिमान् मत्वाऽऽत्मानं वयोऽधिकम्।
मन्त्रयामास सचिवैर्धर्मज्ञैश्च पुरोहितैः ॥ ७ ॥
अभिषेकाय रामस्य यौवराज्येन भारत।

युधिष्ठिर! राजा दशरथ बड़े बुद्धिमान् थे। उन्होंने यह सोचकर कि अब मेरी अवस्था बहुत अधिक हो गयी; अतः श्रीरामको युवराजपदपर अभिषिक्त कर देना चाहिये; इस विषयमें अपने मन्त्री और धर्मज्ञ पुरोहितोंसे सलाह ली ॥ ७½ ॥

प्राप्तकालं च ते सर्वे मेनिरे मन्त्रिसत्तमाः ॥ ८ ॥
लोहिताक्षं महाबाहुं मत्तमातङ्गगामिनम्।
कम्बुग्रीवं महोरस्कं नीलकुञ्चितमूर्धजम् ॥ ९ ॥
दीप्यमानं श्रिया वीरं शक्रादनवरं रणे।
पारगं सर्वधर्माणां बृहस्पतिसमं मतौ ॥ १० ॥
सर्वानुरक्तप्रकृतिं सर्वविद्याविशारदम्।
जितेन्द्रियममित्राणामपि दृष्टिमनोहरम् ॥ ११ ॥
नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम्।
धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ॥ १२ ॥
पुत्रं राजा दशरथः कौसल्यानन्दवर्धनम्।
संदृश्य परमां प्रीतिमगच्छत् कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

उन सभी श्रेष्ठ मन्त्रियोंने राजाके इस समयोचित प्रस्ताव-का अनुमोदन किया। श्रीरामचन्द्रजीके सुन्दर नेत्र कुछ-कुछ लाल थे और भुजाएँ बड़ी एवं घुटनों तक लंबी थीं। वे मतवाले हाथीके समान मस्तानी चालसे चलते थे। उनकी ग्रीवा शङ्खके समान सुन्दर थी, उनकी छाती चौड़ी थी और उनके सिरपर काले-काले घुँघराले बाल थे। उनकी देह दिव्य दीप्तिसे दमकती रहती थी। युद्धमें उनका पराक्रम देवराज इन्द्रसे कम नहीं था। वे समस्त धर्मोंके पारंगत विद्वान् और बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् थे। सम्पूर्ण प्रजाका उनमें अनुराग था। वे सभी विद्याओंमें प्रवीण तथा जितेन्द्रिय थे। उनका अद्भुत रूप देखकर शत्रुओंके भी नेत्र और मन लुभा जाते थे। वे दुष्टोंका दमन करनेमें समर्थ, साधुओं-के संरक्षक, धर्मात्मा, धैर्यवान्, दुर्धर्ष, विजयी तथा किसीसे भी परास्त न होनेवाले थे। कुरुनन्दन! कौसल्याका आनन्द

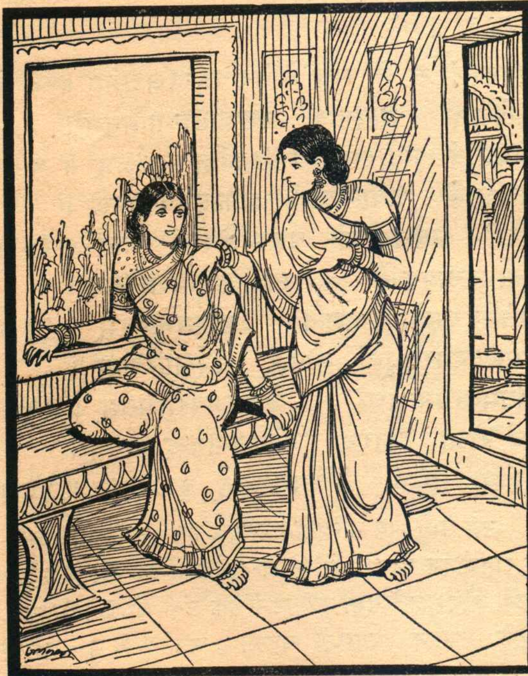
बढ़ानेवाले अपने पुत्र श्रीरामको देख-देखकर राजा दशरथको बड़ी प्रसन्नता होती थी ॥ ८-१३ ॥

चिन्तयंश्च महातेजा गुणान् रामस्य वीर्यवान् ।
अभ्यभाषत भद्रं ते प्रीयमाणः पुरोहितम् ॥ १४ ॥
अद्य पुष्यो निशि ब्रह्मन् पुण्यं योगमुपैष्यति ।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां मे रामश्चोपनिमन्त्र्यताम्॥१५॥

राजन् ! तुम्हारा भला हो। महातेजस्वी तथा परम पराक्रमी राजा दशरथ श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंका स्मरण करते हुए बड़ी प्रसन्नताके साथ पुरोहितसे बोले—'ब्रह्मन् ! आज पुष्य नक्षत्र है। रातमें इसे परम पवित्र योग प्राप्त होनेवाला है। आप राज्याभिषेककी सामग्री तैयार कीजिये और श्रीरामको भी इसकी सूचना दे दीजिये' ॥ १४-१५ ॥

इति तद् राजवचनं प्रतिश्रुत्याथ मन्थरा ।
कैकेयीमभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

राजाकी यह बात मन्थराने भी सुन ली। वह ठीक समयपर कैकेयीके पास जाकर यों बोली—॥ १६ ॥



अद्य कैकेयि दौर्भाग्यं राज्ञा ते ख्यापितं महत् ।
आशीविषस्त्वां संक्रुद्धश्चण्डो दशतु दुर्भगे ॥ १७ ॥

'केकयनन्दिनि ! आज राजाने तुम्हारे लिये महान् दुर्भाग्यकी घोषणा की है। खोटे भाग्यवाली रानी ! इससे अच्छा तो यह होता कि तुम्हें क्रोधमें भरा हुआ प्रचण्ड विषधर सर्प डँस लेता ॥ १७ ॥

सुभगा खलु कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते ।
कुतो हि तव सौभाग्यं यस्याः पुत्रो न राज्यभाक् ॥ १८ ॥

'रानी कौसल्याका भाग्य अवश्य अच्छा है, जिनके पुत्रका राज्याभिषेक होगा। तुम्हारा ऐसा सौभाग्य कहाँ ? जिसका पुत्र राज्यका अधिकारी ही नहीं है' ॥ १८ ॥

सा तद्वचनमाज्ञाय सर्वाभरणभूषिता ।
देवी विलग्नमध्येव बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ १९ ॥
विविक्ते पतिमासाद्य हसन्तीव शुचिस्मिता ।
प्रणयं व्यञ्जयन्तीव मधुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

मन्थराकी यह बात सुनकर सूक्ष्म कटिप्रदेशवाली देवी कैकेयी समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो परम सुन्दर रूप बनाकर एकान्तमें अपने पतिके पास गयी। उसकी मुसकराहटसे उसके शुद्ध भावकी सूचना मिल रही थी। वह हँसती और प्रेम जताती हुई-सी मधुर वाणीमें बोली—॥ १९-२० ॥

सत्यप्रतिज्ञ यन्मे त्वं काममेकं निसृष्टवान् ।
उपाकुरुष्व तद् राजंस्तस्मान्मुच्यस्व संकटात् ॥ २१ ॥

'सच्ची प्रतिज्ञा करनेवाले महाराज ! आपने पहले जो 'तेरा मनोरथ सफल करूँगा' ऐसा वर दिया था, उसे आज पूर्ण कीजिये और उस संकटसे मुक्त हो जाइये' ॥ २१ ॥

राजोवाच

वरं ददानि ते हन्त तद् गृहाण यदिच्छसि ।
अवध्यो वध्यतां कोऽद्य वध्यः कोऽद्य विमुच्यताम्॥२२॥
धनं ददानि कस्याद्य ह्रियतां कस्य वा पुनः ।
ब्राह्मणस्वादिहान्यत्र यत् किंचिद् वित्तमस्ति मे ॥ २३ ॥

राजाने कहा—प्रिये ! यह तो बड़े हर्षकी बात है। मैं अभी तुम्हें वर देता हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, ले लो। आज मैं तुम्हारे कहनेसे किस कैद करनेके अयोग्यको कैद कर दूँ अथवा किस कैद करनेयोग्यको मुक्त कर दूँ ? किसे धन दे दूँ अथवा किसका सर्वस्व हरण कर लूँ ? ब्राह्मणधनके अतिरिक्त यहाँ अथवा अन्यत्र जो कुछ भी मेरे पास धन है, उसपर तुम्हारा अधिकार है ॥ २२-२३ ॥

पृथिव्यां राजराजोऽस्मि चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ।
यस्तेऽभिलषितः कामो ब्रूहि कल्याणि मा चिरम्॥२४॥

मैं इस समय इस भूमण्डलका राजराजेश्वर हूँ, चारों वर्णोंकी रक्षा करनेवाला हूँ। कल्याणि ! तुम्हारा जो भी अभिलषित मनोरथ हो, उसे बताओ, देर न करो ॥ २४ ॥

सा तद्वचनमाज्ञाय परिगृह्य नराधिपम् ।
आत्मनो बलमाज्ञाय तत एनमुवाच ह ॥ २५ ॥

राजाकी बातको समझकर और उन्हें सब प्रकारसे वचनबद्ध करके अपनी शक्तिको भी ठीक-ठीक जान लेनेके बाद कैकेयीने उनसे कहा—॥ २५ ॥

आभिषेचनिकं यत् ते रामार्थमुपकल्पितम् ।
भरतस्तदवाप्नोतु वनं गच्छतु राघवः ॥ २६ ॥

'महाराज ! आपने श्रीरामके लिये जो राज्याभिषेकका सामान तैयार कराया है, वह भरतको प्राप्त हो और राम वनमें चले जायँ' ॥ २६ ॥



स तद् राजा वचः श्रुत्वा विप्रियं दारुणोदयम् ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठ न किंचिद् व्याजहार ह ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कैकेयीका यह अप्रिय एवं भयानक परिणामवाला वचन सुनकर राजा दशरथ दुःखसे आतुर हो अपने मुँहसे कुछ भी बोल न सके ॥ २७ ॥

ततस्तथोक्तं पितरं रामो विज्ञाय वीर्यवान् ।
वनं प्रतस्थे धर्मात्मा राजा सत्यो भवत्विति ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्रजी शक्तिशाली होनेके साथ ही बड़े धर्मात्मा थे। उन्होंने पिताके पूर्वोक्त वरदानकी बात जानकर राजाके सत्यकी रक्षा हो, इस उद्देश्यसे स्वयं ही वनको प्रस्थान किया ॥ २८ ॥

तमन्वगच्छल्लक्ष्मीवान् धनुष्माँल्लक्ष्मणस्तदा ।
सीता च भार्या भद्रं ते वैदेही जनकात्मजा ॥ २९ ॥

राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो। श्रीरामचन्द्रजीके वन जाते समय उत्तम शोभासे सम्पन्न उनके भाई धनुर्धर लक्ष्मणने तथा उनकी पत्नी विदेहराजकुमारी जनकनन्दिनी सीताने भी उनका अनुसरण किया ॥ २९ ॥

ततो वनं गते रामे राजा दशरथस्तदा ।
समयुज्यत देहस्य कालपर्यायधर्मणा ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्रजीके वनमें चले जानेपर (उनके वियोगमें) राजा दशरथने शरीर त्याग दिया ॥ ३० ॥

रामं तु गतमाज्ञाय राजानं च तथागतम् ।
आनाय्य भरतं देवी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्रजी वनमें चले गये तथा राजा परलोकवासी हो गये, यह देखकर कैकेयीने भरतको ननिहालसे बुलवाया और इस प्रकार कहा—॥ ३१ ॥

गतो दशरथः स्वर्गं वनस्थौ रामलक्ष्मणौ ।
गृहाण राज्यं विपुलं क्षेमं निहतकण्टकम् ॥ ३२ ॥

'बेटा ! तुम्हारे पिता महाराज दशरथ स्वर्गलोकको सिधार गये तथा श्रीराम और लक्ष्मण वनमें निवास करते हैं। अब यह विशाल राज्य सब प्रकारसे सुखद और निष्कण्टक हो गया है। तुम इसे ग्रहण करो' ॥ ३२ ॥

तामुवाच स धर्मात्मा नृशंसं बत ते कृतम् ।
पतिं हत्वा कुलं चेदमुत्साद्य धनलुब्धया ॥ ३३ ॥
अयशः पातयित्वा मे मूर्ध्नि त्वं कुलपांसने ।
सकामा भव मे मातरित्युक्त्वा प्ररुरोद ह ॥ ३४ ॥

भरत बड़े धर्मात्मा थे। वे माताकी बात सुनकर उससे बोले—'कुलकलङ्किनी जननी ! तूने धनके लोभमें पड़कर यह कितनी बड़ी क्रूरताका काम किया है ? पतिकी हत्या की और इस कुलका विनाश कर डाला। 'मेरे मस्तकपर कलङ्कका टीका लगाकर तू अपना मनोरथ पूर्ण कर ले।' ऐसा कहकर भरत फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ३३-३४ ॥

स चारित्रं विशोध्याथ सर्वप्रकृतिसंनिधौ ।
अन्वयाद् भ्रातरं रामं विनिवर्तनलालसः ॥ ३५ ॥

उन्होंने सारी प्रजा और मन्त्रियों आदिके निकट अपनी सफाई दी तथा भाई श्रीरामको वनसे लौटा लानेकी लालसासे उन्हींके पथका अनुसरण किया ॥ ३५ ॥

कौसल्यां च सुमित्रां च कैकेयीं च सुदुःखितः ।
अग्रे प्रस्थाप्य यानैः स शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ ३६ ॥

वे कौसल्या, सुमित्रा तथा कैकेयीको सवारियोंद्वारा आगे भेजकर स्वयं अत्यन्त दुखी हो शत्रुघ्नके साथ (पैदल ही) वनको चले ॥ ३६ ॥

वसिष्ठवामदेवाभ्यां विप्रैश्चान्यैः सहस्रशः ।
पौरजानपदैः सार्धं रामानयनकाङ्क्षया ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेकी अभिलाषासे उन्होंने वसिष्ठ, वामदेव और दूसरे सहस्रों ब्राह्मणों तथा नगर एवं जनपदके लोगोंको साथ लेकर यात्रा की ॥ ३७ ॥

ददर्श चित्रकूटस्थं स रामं सहलक्ष्मणम् ।
तापसानामलंकारं धारयन्तं धनुर्धरम् ॥ ३८ ॥

चित्रकूट पहुँचकर भरतने लक्ष्मणसहित श्रीरामको



धनुष हाथमें लिये तपस्वीजनोंकी वेष-भूषा धारण किये देखा ॥ ३८ ॥

(श्रीराम उवाच

गच्छ तात प्रजा रक्ष्याः सत्यं रक्षाम्यहं पितुः।)
विसर्जितः स रामेण पितुर्वचनकारिणा ।
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं पुरस्कृत्यास्य पादुके ॥ ३९ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीने कहा—तात भरत ! अयोध्याको लौट जाओ । तुम्हें प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये और मैं पिताके सत्यकी रक्षा कर रहा हूँ, ऐसा कहकर पिताकी आज्ञा पालन करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने (समझा-बुझाकर) उन्हें विदा कर दिया । तब वे (लौटकर) बड़े भाईकी चरणपादुकाओंको आगे रखकर नन्दिग्राममें ठहर गये और वहींसे राज्यकी देख-भाल करने लगे ॥ ३९ ॥

रामस्तु पुनराशङ्क्य पौरजानपदागमम् ।
प्रविवेश महारण्यं शरभङ्गाश्रमं प्रति ॥ ४० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने वहाँ नगर और जनपदके लोगोंके बराबर आने-जानेकी आशङ्कासे शरभङ्ग मुनिके आश्रमके पास विशाल वनमें प्रवेश किया ॥ ४० ॥

सत्कृत्य शरभङ्गं स दण्डकारण्यमाश्रितः ।
नदीं गोदावरीं रम्यामाश्रित्य न्यवसत् तदा ॥ ४१ ॥

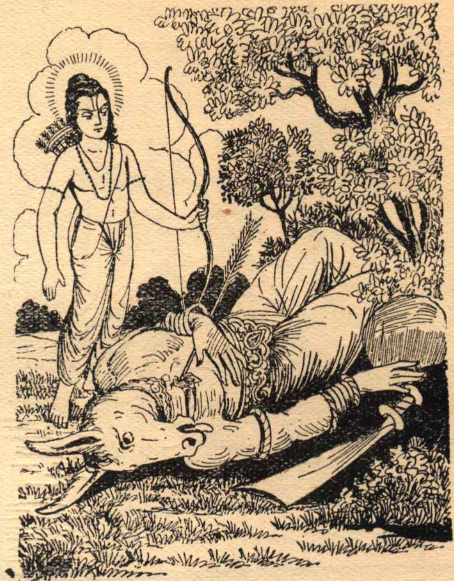
वहाँ शरभङ्गमुनिका सत्कार करके वे दण्डकारण्यमें चले गये और वहाँ सुरम्य गोदावरी नदीके तटका आश्रय लेकर रहने लगे ॥ ४१ ॥

वसतस्तस्य रामस्य ततः शूर्पणखाकृतम् ।
खरेणासीन्महद् वैरं जनस्थाननिवासिना ॥ ४२ ॥

वहाँ रहते समय शूर्पणखाके (नाक, कान और ओंठ काटनेके) कारण श्रीरामचन्द्रजीका जनस्थाननिवासी खर नामक राक्षसके साथ महान् वैर हो गया ॥ ४२ ॥

रक्षार्थं तापसानां तु राघवो धर्मवत्सलः ।
चतुर्दश सहस्राणि जघान भुवि रक्षसाम् ॥ ४३ ॥
दूषणं च खरं चैव निहत्य सुमहाबलौ ।
चक्रे क्षेमं पुनर्धीमान् धर्मारण्यं स राघवः ॥ ४४ ॥

धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्रजीने तपस्वी मुनियोंकी रक्षाके लिये महाबली खर और दूषणको मारकर वहाँके चौदह हजार



राक्षसोंका संहार कर डाला तथा उन बुद्धिमान् रघुनाथजीने पुनः उस वनको क्षेमकारक धर्मारण्य बना दिया ॥ ४३-४४ ॥

हतेषु तेषु रक्षःसु ततः शूर्पणखा पुनः ।
ययौ निकृत्तनासोष्ठी लङ्कां भ्रातुर्निवेशनम् ॥ ४५ ॥

उन राक्षसोंके मारे जानेपर शूर्पणखा, जिसकी नाक और ओंठ काट लिये गये थे, पुनः लङ्कामें अपने भाई रावणके घर गयी ॥ ४५ ॥

ततो रावणमभ्येत्य राक्षसी दुःखमूर्च्छिता ।
पपात पादयोर्भ्रातुः संशुष्करुधिरानना ॥ ४६ ॥

रावणके पास पहुँचकर वह राक्षसी दुःखसे मूर्छित हो भाईके चरणोंमें गिर पड़ी । उसके मुखपर रक्त बहकर सूख गया था ॥ ४६ ॥

तां तथा विकृतां दृष्ट्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।
उत्पपातासनात् क्रुद्धो दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ॥ ४७ ॥

बहिनका रूप इस प्रकार विकृत हुआ देखकर रावण क्रोधसे मूर्छित हो उठा और दाँतोंसे दाँत पीसता हुआ रोषपूर्वक आसनसे उठकर खड़ा हो गया ॥ ४७ ॥

स्वानमात्यान् विसृज्याथ विविक्ते तामुवाच सः ।
केनास्येवं कृता भद्रे मामचिन्त्यावमन्य च ॥ ४८ ॥

अपने मन्त्रियोंको विदा करके उसने एकान्तमें शूर्पणखासे पूछा—'भद्रे ! किसने मेरी परवा न करके—मेरी सर्वथा अवहेलना करके तुम्हारी ऐसी दुर्दशा की है ? ॥ ४८ ॥

कः शूलं तीक्ष्णमासाद्य सर्वगात्रैर्निषेवते।
कः शिरस्यग्निमाधाय विश्वस्तः स्वपते सुखम्॥ ४९॥

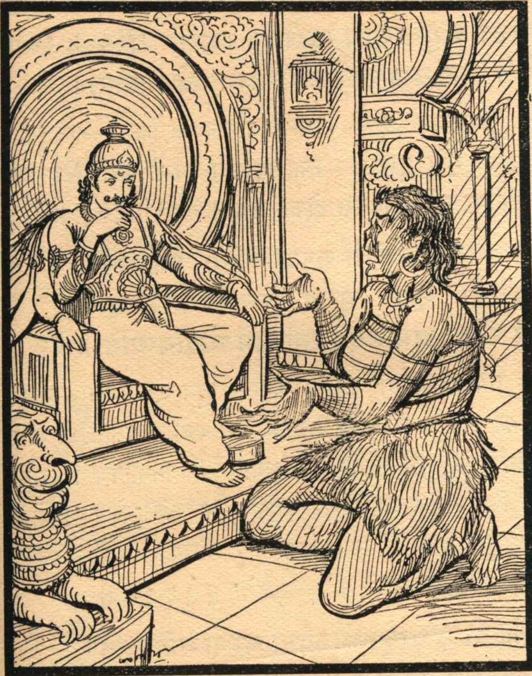
'कौन तीखे शूलके पास जाकर उसे अपने सारे अङ्गोंमें चुभोना चाहता है ? कौन मूर्ख अपने सिरपर आग रखकर बेखटके सुखकी नींद सो रहा है ? ॥ ४९ ॥

आशीविषं घोरतरं पादेन स्पृशतीह कः।
सिंहं केसरिणं कश्च दंष्ट्रायां स्पृश्य तिष्ठति॥ ५०॥

'कौन अत्यन्त भयंकर विषधर सर्पको पैरसे कुचल रहा है ? तथा कौन केसरी सिंहकी दाढ़ोंमें हाथ डालकर निश्चिन्त खड़ा है ?' ॥ ५० ॥

इत्येवं ब्रुवतस्तस्य स्रोतोभ्यस्तेजसोऽर्चिषः।
निश्चेरुर्दह्यतो रात्रौ वृक्षस्येव स्वरन्ध्रतः॥ ५१॥

इस प्रकार बोलते हुए रावणके कान, नाक एवं आँख आदि छिद्रोंसे उसी प्रकार आगकी चिनगारियाँ निकलने लगीं, जिस प्रकार रातको जलते हुए वृक्षके छेदोंसे आगकी लपटें निकलती हैं ॥ ५१ ॥



तस्य तत् सर्वमाचख्यौ भगिनी रामविक्रमम्।
खरदूषणसंयुक्तं राक्षसानां पराभवम्॥ ५२॥

तब रावणकी बहिन शूर्पणखाने श्रीरामके उस पराक्रम और खर-दूषणसहित समस्त राक्षसोंके संहारका (सारा) वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ५२ ॥

स निश्चित्य ततः कृत्यं स्वसारमुपसान्त्व्य च।
ऊर्ध्वमाचक्रमे राजा विधाय नगरे विधिम्॥ ५३॥

यह सुनकर रावणने अपने कर्तव्यका निश्चय किया और अपनी बहिनको सान्त्वना देकर नगर आदिकी रक्षाका प्रबन्ध करके वह आकाशमार्गसे उड़ चला ॥ ५३ ॥

त्रिकूटं समतिक्रम्य कालपर्वतमेव च।
ददर्श मकरावासं गम्भीरोदं महोदधिम्॥ ५४॥

त्रिकूट और कालपर्वतको लाँघकर उसने मगरोंके निवास-स्थान गहरे महासागरको देखा ॥ ५४ ॥

तमतीत्याथ गोकर्णमभ्यगच्छद् दशाननः।
दयितं स्थानमव्यग्रं शूलपाणेर्महात्मनः॥ ५५॥

उसे ऊपर-ही-ऊपर लाँघकर दशमुख रावण गोकर्णतीर्थमें गया, जो परमात्मा शूलपाणि शिवका प्रिय एवं अविचल स्थान है ॥ ५५ ॥

तत्राभ्यगच्छन्मारीचं पूर्वामात्यं दशाननः।
पुरा रामभयादेव तापस्यं समुपाश्रितम्॥ ५६॥

वहाँ रावण अपने भूतपूर्व मन्त्री मारीचसे मिला, जो श्रीरामचन्द्रजीके भयसे ही पहलेसे उस स्थानमें आकर तपस्या करता था ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामवनाभिगमने सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें श्रीरामवनगमनविषयक दो सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५६½ श्लोक हैं)

अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मृगरूपधारी मारीचका वध तथा सीताका अपहरण

मार्कण्डेय उवाच

मारीचस्त्वथ सम्भ्रान्तो दृष्ट्वा रावणमागतम्।
पूजयामास सत्कारैः फलमूलादिभिस्ततः॥ १॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! रावणको आया देख मारीच सहसा उठकर खड़ा हो गया और उसने फल-मूल आदि अतिथिसत्कारकी सामग्रियोंद्वारा उसका विधिवत् पूजन किया ॥ १ ॥

विश्रान्तं चैनमासीनमन्वासीनः स राक्षसः।
उवाच प्रश्रितं वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम्॥ २॥

जब रावण बैठकर विश्राम कर चुका, तब उसके पास बैठकर

बातचीत करनेमें कुशल राक्षस मारीचने वाक्यका मर्म समझनेमें निपुण रावणसे विनयपूर्वक कहा—॥ २ ॥

न ते प्रकृतिमान् वर्णः कच्चित् क्षेमं पुरे तव ।
कच्चित् प्रकृतयः सर्वा भजन्ते त्वां यथा पुरा ॥ ३ ॥

'लंकेश्वर ! तुम्हारे शरीरका रंग ठीक हालतमें नहीं है । तुम उदास दिखायी देते हो । तुम्हारे नगरमें कुशल तो है न ? समस्त प्रजा और मन्त्री आदि पहलेकी भाँति तुम्हारी सेवा करते हैं न ? ॥ ३ ॥

किमिहागमने चापि कार्यं ते राक्षसेश्वर ।
कृतमित्येव तद् विद्धि यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ॥ ४ ॥

'राक्षसराज ! कौन-सा ऐसा कार्य आ गया है, जिसके लिये तुम्हें यहाँतक आना पड़ा ? यदि वह मेरेद्वारा साध्य है, तो कितना ही कठिन क्यों न हो, उसे किया हुआ ही समझो' ॥ ४ ॥

शशंस रावणस्तस्मै तत् सर्वं रामचेष्टितम् ।
समासेनैव कार्याणि क्रोधामर्षसमन्वितः ॥ ५ ॥

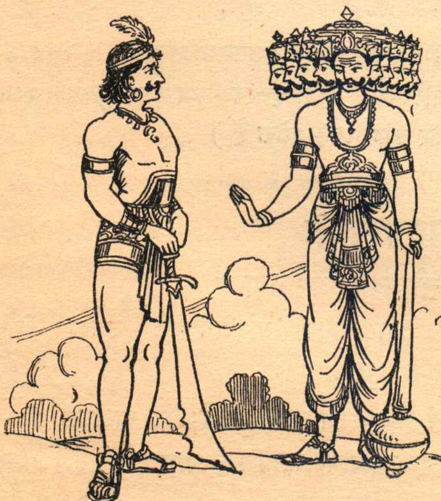
रावण क्रोध और अमर्षमें भरा हुआ था । उसने एक-एक करके रामद्वारा किये हुए सब कार्य संक्षेपसे कह सुनाये ॥ ५ ॥

मारीचस्त्वब्रवीच्छ्रुत्वा समासेनैव रावणम् ।
अलं ते राममासाद्य वीर्यज्ञो ह्यस्मि तस्य वै ॥ ६ ॥

मारीचने सारी बातें सुनकर थोड़ेमें ही रावणको समझाते हुए कहा—'दशानन ! तुम श्रीरामसे भिड़नेका साहस न करो । मैं उनके पराक्रमको जानता हूँ ॥ ६ ॥

बाणवेगं हि कस्तस्य शक्तः सोढुं महात्मनः ।
प्रव्रज्यायां हि मे हेतुः स एव पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥
विनाशमुखमेतत् ते केनाख्यातं दुरात्मना ।

'भला ! इस जगत्‌में कौन ऐसा वीर है, जो परमात्मा श्रीरामके बाणोंका वेग सह सके ? मैं जो यहाँ संन्यासी बना बैठा हूँ, इसमें भी वे पुरुषरत्न श्रीराम ही कारण हैं । श्रीरामसे वैर मोल लेना विनाशके मुखमें जाना है, किस दुरात्माने तुम्हें ऐसी सलाह दी है ?' ॥ ७½ ॥



तमुवाचाथ सक्रोधो रावणः परिभर्त्सयन् ॥ ८ ॥
अकुर्वतोऽस्मद्वचनं स्यान्मृत्युरपि ते ध्रुवम् ।

मारीचकी बात सुनकर रावण और भी कुपित हो उठा और उसे डाँटते हुए बोला—'मारीच ! यदि तू मेरी बात नहीं मानेगा, तो भी तेरी मृत्यु निश्चित ही है' ॥ ८½ ॥

मारीचश्चिन्तयामास विशिष्टान्मरणं वरम् ॥ ९ ॥
अवश्यं मरणे प्राप्ते करिष्याम्यस्य यन्मतम् ।

मारीचने सोचा, 'यदि मृत्यु निश्चित ही है, तो श्रेष्ठ पुरुषके हाथसे ही मरना अच्छा होगा; अतः रावणका जो अभीष्ट कार्य है, उसे अवश्य करूँगा' ॥ ९½ ॥

ततस्तं प्रत्युवाचाथ मारीचो रक्षसां वरम् ॥ १० ॥
किं ते साह्यं मया कार्यं करिष्याम्यवशोऽपि तत् ।

तदनन्तर उसने राक्षसराज रावणसे कहा—'अच्छा; बताओ, मुझे तुम्हारी क्या सहायता करनी होगी ? इच्छा, न होनेपर भी मैं विवश होकर उसे करूँगा' ॥ १०½ ॥

तमब्रवीद् दशग्रीवो गच्छ सीतां प्रलोभय ॥ ११ ॥
रत्नशृङ्गो मृगो भूत्वा रत्नचित्रतनूरुहः ।
ध्रुवं सीता समालक्ष्य त्वां रामं चोदयिष्यति ॥ १२ ॥

तब दशाननने उससे कहा—'तुम एक ऐसे मनोहर मृगका रूप धारण करो, जिसके सींग रत्नमय प्रतीत हों और शरीरके रोएँ भी रत्नोंके ही समान चित्र-विचित्र दिखायी दें । फिर रामके आश्रमपर जाओ और सीताको लुभाओ । सीता तुम्हें देख लेनेपर निश्चय ही रामसे यह अनुरोध करेगी कि 'आप इस मृगको पकड़ लाइये' ॥ ११-१२ ॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे सीता वश्या भविष्यति ।
तामादायापनेष्यामि ततः स न भविष्यति ॥ १३ ॥
भार्यावियोगाद् दुर्बुद्धिरेतत् साह्यं कुरुष्व मे ।

'तुम्हारे पीछे रामके अपने आश्रमसे दूर निकल जानेपर सीताको वशमें लाना सहज हो जायगा । मैं उसे आश्रमसे हरकर ले जाऊँगा और दुर्बुद्धि राम अपनी प्यारी पत्नीके वियोगसे व्याकुल होकर प्राण दे देगा । बस, मेरी इतनी ही सहायता कर दो' ॥ १३½ ॥

इत्येवमुक्तो मारीचः कृत्वोदकमथात्मनः ॥ १४ ॥
रावणं पुरतो यान्तमन्वगच्छत् सुदुःखितः ।

रावणके ऐसा कहनेपर मारीच स्वयं ही अपना श्राद्ध-तर्पण करके अत्यन्त दुखी होकर आगे जाते हुए रावणके पीछे-पीछे चला ॥ १४½ ॥

ततस्तस्याश्रमं गत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ १५ ॥
चक्रतुस्तद् तथा सर्वमुभौ यत् पूर्वमन्त्रितम् ।

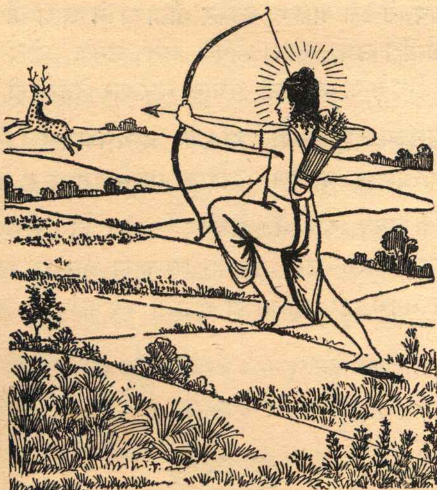
तदनन्तर अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमके समीप जाकर उन दोनोंने पहले जैसी सलाह कर रक्खी थी, उसके अनुसार सब कार्य किया ॥ १५½ ॥

रावणस्तु यतिर्भूत्वा मुण्डः कुण्डी त्रिदण्डधृक् ॥ १६ ॥
मृगश्च भूत्वा मारीचस्तं देशमुपजग्मतुः ।
दर्शयामास मारीचो वैदेहीं मृगरूपधृक् ॥ १७ ॥

रावण मूँड़ मुड़ाये, भिक्षापात्र हाथमें लिये एवं त्रिदण्डधारी संन्यासीका रूप धारण करके और मारीच मृग बनकर—दोनों उस स्थानपर गये । मारीचने विदेहनन्दिनी सीताके समक्ष अपना मृगरूप प्रकट किया ॥ १६-१७ ॥

चोदयामास तस्यार्थे सा रामं विधिचोदिता ।
रामस्तस्याः प्रियं कुर्वन् धनुरादाय सत्वरः ॥ १८ ॥
रक्षार्थे लक्ष्मणं न्यस्य प्रययौ मृगलिप्सया ।

विधिके विधानसे प्रेरित होकर सीताने उस मृगको लानेके लिये श्रीरामचन्द्रजीको भेजा । श्रीरामचन्द्रजी सीताका प्रिय करनेके लिये धनुष हाथमें ले लक्ष्मणको सीताकी रक्षाका भार सौंपकर मृगको लानेकी इच्छासे तुरंत चल दिये ॥ १८½ ॥



स धन्वी बद्धतूणीरः खड्गगोधाङ्गुलित्रवान् ॥ १९ ॥
अन्वधावन्मृगं रामो रुद्रस्तारामृगं यथा ।

वे धनुष-बाण ले, पीठपर तरकस बाँधकर, कटिमें कृपाण लटकाये तथा हाथोंमें दस्ताने पहने उस मृगके पीछे उसी प्रकार दौड़े, जैसे मृगशिरा नक्षत्रके पीछे भगवान् रुद्र दौड़े थे ॥ १९½ ॥

सोऽन्तर्हितः पुनस्तस्य दर्शनं राक्षसो व्रजन् ॥ २० ॥
चकर्ष महदध्वानं रामस्तं बुबुधे ततः ।
निशाचरं विदित्वा तं राघवः प्रतिभानवान् ॥ २१ ॥
अमोघं शरमादाय जघान मृगरूपिणम् ।

मायावी राक्षस मारीच कभी छिप जाता और कभी नेत्रोंके समक्ष प्रकट हो जाता था । इस प्रकार वह श्रीरामचन्द्रजीको आश्रमसे बहुत दूर खींच ले गया । तब श्रीरामचन्द्रजी यह ताड़ गये कि यह कोई मायावी राक्षस है । यह बात ध्यानमें आते ही प्रतिभाशाली श्रीरघुनाथजीने एक अमोघ बाण लेकर उस मृगरूपधारी निशाचरको मार डाला ॥

स रामबाणाभिहतः कृत्वा रामस्वरं तदा ॥ २२ ॥
हा सीते लक्ष्मणेत्येवं चुक्रोशार्तस्वरेण ह ।

श्रीरामचन्द्रजीके बाणसे आहत हो मरते समय मारीचने उनके ही स्वरमें 'हा सीते, हा लक्ष्मण' कहकर आर्तनाद किया ॥ २२½ ॥

शुश्राव तस्य वैदेही ततस्तां करुणां गिरम् ॥ २३ ॥
सा प्राद्रवद् यतः शब्दस्तामुवाचाथ लक्ष्मणः ।
अलं ते शङ्कया भीरु को रामं प्रहरिष्यति ॥ २४ ॥
मुहूर्ताद् द्रक्ष्यसे रामं भर्तारं त्वं शुचिस्मिते ।

विदेहनन्दिनी सीताने भी उसकी वह करुणाभरी पुकार सुनी । उसकी पुकार सुनते ही जिस ओरसे वह आवाज आयी थी, उसी ओर वे दौड़ पड़ीं । तब लक्ष्मणने उनसे कहा—'भीरु ! डरनेकी कोई बात नहीं है । भला, कौन ऐसा है, जो भगवान् रामको मार सकेगा ? शुचिस्मिते ! तुम दो ही घड़ीमें अपने पति भगवान् श्रीरामको यहाँ उपस्थित देखोगी ॥ २३-२४½ ॥

इत्युक्ता सा प्ररुदती पर्यशङ्कत लक्ष्मणम् ॥ २५ ॥
हता वै स्त्रीस्वभावेन शुक्लचारित्रभूषणा ।
सा तं परुषमारब्धा वक्तुं साध्वी पतिव्रता ॥ २६ ॥

लक्ष्मणकी यह बात सुनकर रोती हुई सीताने उन्हें संदेहकी दृष्टिसे देखा । यद्यपि शुद्ध सदाचार ही उनका आभूषण था । वे साध्वी और पतिव्रता थीं; तथापि स्त्री-स्वभाववश उस समय उनकी बुद्धि मारी गयी । उन्होंने लक्ष्मणको कठोर बातें सुनानी आरम्भ कीं—॥ २५-२६ ॥

नैष कामो भवेन्मूढ यं त्वं प्रार्थयसे हृदा ।
अप्यहं शस्त्रमादाय हन्यामात्मानमात्मना ॥ २७ ॥
पतेयं गिरिशृङ्गाद् वा विशेयं वा हुताशनम् ।
रामं भर्तारमुत्सृज्य न त्वहं त्वां कथंचन ॥ २८ ॥
निहीनमुपतिष्ठेयं शार्दूली क्रोष्टुकं यथा ।

'ओ मूढ़ ! तुम मन-ही-मन जिस वस्तुको पाना चाहते हो, तुम्हारा वह मनोरथ कभी पूर्ण न होगा । मैं स्वयं तलवार लेकर अपना गला काट लूँगी, पर्वतके शिखरसे कूद पड़ूँगी अथवा जलती हुई आगमें समा जाऊँगी; परंतु राम-जैसे स्वामीको छोड़कर तुम-जैसे नीच पुरुषका कदापि

बरण न करूँगी। जैसे सिंहिनी सियारको नहीं स्वीकार कर सकती, उसी प्रकार मैं तुम्हें नहीं ग्रहण करूँगी' ॥

एतादृशं वचः श्रुत्वा लक्ष्मणः प्रियराघवः ॥ २९ ॥
पिधाय कर्णौ सद्वृत्तः प्रस्थितो येन राघवः ।
स रामस्य पदं गृह्य प्रससार धनुर्धरः ॥ ३० ॥
अवीक्षमाणो बिम्बोष्ठीं प्रययौ लक्ष्मणस्तदा ।

लक्ष्मण सदाचारी तथा श्रीरामचन्द्रजीके प्रेमी थे। उन्होंने सीताके ये कठोर वचन सुनकर अपने दोनों कान बंद कर लिये और उसी मार्गसे चल दिये, जिससे श्रीरामचन्द्रजी गये थे। उस समय लक्ष्मणके हाथमें धनुष था। उन्होंने बिम्बफलके समान अरुण अधरोंवाली सीताकी ओर आँख उठाकर देखातक नहीं। श्रीरामके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए उन्होंने वहाँसे प्रस्थान कर दिया ॥२९-३०½॥

एतस्मिन्नन्तरे रक्षो रावणः प्रत्यदृश्यत ॥ ३१ ॥
अभव्यो भव्यरूपेण भस्मच्छन्न इवानलः ।
यतिवेषप्रतिच्छन्नो जिहीर्षुस्तामनिन्दिताम् ॥ ३२ ॥

इसी समय अवसर पाकर राक्षस रावण साध्वी सीताको हर ले जानेकी इच्छासे वहाँ दिखायी दिया। वह भयानक निशाचर सुन्दर रूप धारण करके राखमें छिपी हुई आगके समान संन्यासीके वेषमें अपने यथार्थ रूपको छिपाये हुए था ॥

सा तमालक्ष्य सम्प्राप्तं धर्मज्ञा जनकात्मजा ।
निमन्त्रयामास तदा फलमूलाशनादिभिः ॥ ३३ ॥

उस समय यतिको अपने आश्रमपर आया हुआ देख धर्मको जाननेवाली जनकनन्दिनी सीता फल-मूलके भोजन आदिसे अतिथिसत्कारके लिये उसे निमन्त्रित किया ॥ ३३ ॥

अवमन्य ततः सर्वं स्वरूपं प्रत्यपद्यत ।
सान्त्वयामास वैदेहीमिति राक्षसपुङ्गवः ॥ ३४ ॥

राक्षसराज रावण सीताकी दी हुई उन सभी वस्तुओंकी अवहेलना करके अपने असली रूपमें प्रकट हो गया और विदेहराजकुमारीको इस प्रकार सान्त्वना देने लगा—॥

सीते राक्षसराजोऽहं रावणो नाम विश्रुतः ।
मम लङ्का पुरी नाम्ना रम्या पारे महोदधेः ॥ ३५ ॥

'सीते! मैं राक्षसोंका राजा हूँ। मेरा 'रावण' नाम सर्वत्र विख्यात है। समुद्रके पार बसी हुई रमणीय लङ्कापुरी मेरी राजधानी है ॥ ३५ ॥

तत्र त्वं नरनारीषु शोभिष्यसि मया सह ।
भार्या मे भव सुश्रोणि तापसं त्यज राघवम् ॥ ३६ ॥

'वहाँ नर-नारियोंके बीच मेरे साथ रहकर तुम बड़ी शोभा पाओगी। अतः सुन्दरी! तुम मेरी पत्नी हो जाओ और इस तपस्वी रामको छोड़ दो' ॥ ३६ ॥

एवमादीनि वाक्यानि श्रुत्वा तस्याथ जानकी ।
पिधाय कर्णौ सुश्रोणी मैवमित्यब्रवीद् वचः ॥ ३७ ॥
प्रपतेद् द्यौः सनक्षत्रा पृथिवी शकलीभवेत् ।
शैत्यमग्निरियान्नाहं त्यजेयं रघुनन्दनम् ॥ ३८ ॥

रावणके ऐसे वचन सुनकर सुन्दरी जनककिशोरीने अपने दोनों कान बंद कर लिये और उससे इस प्रकार कहा—'बस, अब ऐसी बातें मुँहसे न निकाल। नक्षत्रोंसहित आकाश फट पड़े, पृथ्वी टूक-टूक हो जाय और अग्नि अपनी उष्णताका त्याग करके शीतल हो जाय, परंतु मैं रघुकुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजीको नहीं छोड़ सकती ॥ ३७-३८ ॥

कथं हि भिन्नकरटं पद्मिनं वनगोचरम् ।
उपस्थाय महानागं करेणुः सूकरं स्पृशेत् ॥ ३९ ॥

'गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले पद्ममालामण्डित वनवासी गजराजकी सेवामें उपस्थित होकर कोई हथिनी किसी शूकरको कैसे छू सकती है? ॥ ३९ ॥

कथं हि पीत्वा माध्वीकं पीत्वा च मधुमाधवीम् ।
लोभं सौवीरके कुर्यान्नारी काचिदिति स्मरेत् ॥ ४० ॥

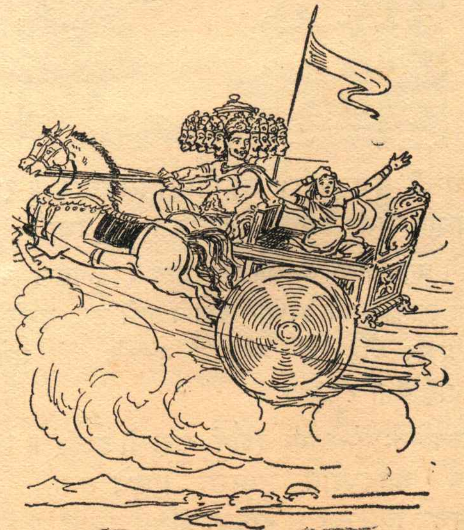
'जो फूलोंके रससे बने हुए मधुर पेय तथा मधुमक्षिकाओंद्वारा तैयार किया हुआ मधु पी चुकी हो, ऐसी कोई भी नारी काँजीके रसका लोभ कैसे कर सकती है?' ॥ ४० ॥

इति सा तं समाभाष्य प्रविवेशाश्रमं ततः ।
क्रोधात् प्रस्फुरमाणौष्ठी विधुन्वाना करौ मुहुः ॥ ४१ ॥

रावणसे इस प्रकार कहकर सीता अपने आश्रममें प्रवेश करने लगीं। उस समय क्रोधके मारे उनके ओठ फड़क रहे थे और वे अपने दोनों हाथोंको बार-बार हिला रही थीं ॥

तामभिद्रुत्य सुश्रोणीं रावणः प्रत्यषेधयत् ।
भर्त्सयित्वा तु रूक्षेण स्वरेण गतचेतनाम् ॥ ४२ ॥

इसी समय रावणने दौड़कर उनका मार्ग रोक लिया और कठोर स्वरसे उन्हें डराना, धमकाना आरम्भ किया। इससे वे भयके मारे मूर्छित हो गयीं ॥ ४२ ॥



मूर्धजेषु निजग्राह ऊर्ध्वमाचक्रमे ततः।
तां ददर्श ततो गृध्रो जटायुर्गिरिगोचरः।
रुदतीं राम रामेति ह्रियमाणां तपस्विनीम् ॥ ४३ ॥

तब रावणने उनके केश पकड़ लिये और आकाश-मार्गसे लङ्काकी ओर प्रस्थान किया। उस समय वे तपस्विनी सीता 'हा राम-हा रामकी' रट लगाती हुई रो रही थीं और वह राक्षस उन्हें हरकर लिये जा रहा था। इसी अवस्थामें एक पर्वतकी गुफामें रहनेवाले गृध्रराज जटायुने उन्हें देखा ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि मारीचवधे सीताहरणे च अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें मारीचवध तथा सीताहरणविषयक दो सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७८ ॥

एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

रावणद्वारा जटायुका वध, श्रीरामद्वारा उसका अन्त्येष्टि-संस्कार, कबन्धका वध तथा उसके दिव्य स्वरूपसे वार्तालाप

मार्कण्डेय उवाच

सखा दशरथस्यासीज्जटायुररुणात्मजः।
गृध्रराजो महावीरः सम्पातिर्यस्य सोदरः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! महावीर गृध्रराज जटायु (सूर्यके सारथि) अरुणके पुत्र थे। उनके बड़े भाईका नाम सम्पाति था। राजा दशरथके साथ उनकी बड़ी मित्रता थी ॥ १ ॥

स ददर्श तदा सीतां रावणाङ्कगतां स्नुषाम्।
सक्रोधोऽभ्यद्रवत् पक्षी रावणं राक्षसेश्वरम् ॥ २ ॥

इसी नाते सीताको वे अपनी पुत्रवधू मानते थे। जब जटायुने उन्हें रावणकी गोदमें पराधीन होकर पड़ी हुई देखा, तब उनके क्रोधकी सीमा न रही। वे राक्षसराज रावणपर टूट पड़े ॥ २ ॥

अथैनमब्रवीद् गृध्रो मुञ्च मुञ्चेति मैथिलीम्।
ध्रियमाणे मयि कथं हरिष्यसि निशाचर ॥ ३ ॥

इस प्रकार और वे बोले—'निशाचर! मिथिलेशकुमारीको छोड़ दे, छोड़ दे। मेरे जीते-जी तू इन्हें कैसे हर ले जायगा?॥ ३॥

न हि मे मोक्ष्यसे जीवन् यदि नोत्सृजसे वधूम्।
उक्त्वैवं राक्षसेन्द्रं तं चकर्त नखरैर्भृशम् ॥ ४ ॥

'यदि मेरी पुत्रवधू सीताको तू नहीं छोड़ेगा, तो मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकेगा।' ऐसा कहकर जटायुने अपने नखोंसे राक्षसराज रावणको बहुत घायल कर दिया ॥ ४ ॥

पक्षतुण्डप्रहारैश्च शतशो जर्जरीकृतम्।
चक्षार रुधिरं भूरि गिरिः प्रस्रवणैरिव ॥ ५ ॥

उन्होंने पंखों और चोंचसे मार-मारकर उसके सैकड़ों घाव कर दिये। रावणका सारा शरीर जर्जर हो गया तथा देहसे रक्तकी धाराएँ बह चलीं; मानो पर्वत अनेक झरनोंसे आर्द्र हो रहा हो॥ ५॥

स वध्यमानो गृध्रेण रामप्रियहितैषिणा।
खड्गमादाय चिच्छेद भुजौ तस्य पतत्रिणः ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय एवं हित चाहनेवाले जटायुको इस प्रकार चोट करते देख रावणने तलवार लेकर उन पक्षिराजके दोनों पंख काट डाले ॥ ६ ॥



निहत्य गृध्रराजं स भिन्नाभ्रशिखरोपमम्।
ऊर्ध्वमाचक्रमे सीतां गृहीत्वाङ्केन राक्षसः ॥ ७ ॥

बादलोंको भेदनेवाले पर्वत-शिखरके समान गृध्रराज जटायुको घायल करके रावण पुनः सीताको गोदमें लिये हुए आकाशमार्गसे चल दिया ॥ ७ ॥

यत्र यत्र तु वैदेही पश्यत्याश्रममण्डलम्।
सरो वा सरितो वापि तत्र मुञ्चति भूषणम् ॥ ८ ॥

विदेहकुमारी सीता जहाँ-जहाँ कोई आश्रम, सरोवर या

नदी देखतीं, वहाँ-वहाँ अपना कोई-न-कोई आभूषण गिरा देती थीं ॥ ८ ॥

सा ददर्श गिरिप्रस्थे पञ्च वानरपुङ्गवान् ।
तत्र वासो महद्दिव्यमुत्ससर्ज मनस्विनी ॥ ९ ॥

आगे जानेपर उन्होंने एक पर्वतके शिखरपर बैठे हुए पाँच श्रेष्ठ वानरोंको देखा । वहाँ उन बुद्धिमती देवीने अपना एक अत्यन्त दिव्य वस्त्र गिरा दिया ॥ ९ ॥

तत् तेषां वानरेन्द्राणां पपात पवनोद्धुतम् ।
मध्ये सुपीतं पञ्चानां विद्युन्मेघान्तरे यथा ॥ १० ॥

वह सुन्दर पीले रंगका वस्त्र आकाशमें उड़ता हुआ उन पाँचों वानरोंके मध्यभागमें जा गिरा, मानो मेघोंके बीचमें विद्युत् प्रकट हो गयी हो ॥ १० ॥

अचिरेणातिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ।
ददर्शाथ पुरीं रम्यां बहुद्वारां मनोरमाम् ॥ ११ ॥

आकाशचारी पक्षीकी भाँति आकाशगामी रावण थोड़े ही समयमें अपना मार्ग तय करके लङ्काके निकट जा पहुँचा । उसने दूरसे ही अपनी रमणीय एवं मनोहर पुरीको देखा, जो अनेक दरवाजोंसे सुशोभित हो रही थी ॥ ११ ॥

प्राकारवप्रसम्बाधां निर्मितां विश्वकर्मणा ।
प्रविवेश पुरीं लङ्कां ससीतो राक्षसेश्वरः ॥ १२ ॥

साक्षात् विश्वकर्माने उस पुरीका निर्माण किया था । वह सब ओरसे चहारदीवारी तथा खाइयोंद्वारा घिरी हुई थी । राक्षसराज रावणने सीताके साथ उसी लङ्कापुरीमें प्रवेश किया ॥ १२ ॥

एवं हृतायां वैदेह्यां रामो हत्वा महामृगम् ।
निवृत्तो ददृशे धीमान् भ्रातरं लक्ष्मणं तथा ॥ १३ ॥

इस प्रकार सीताका अपहरण हो जानेपर बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजी उस महामृगरूप मारीचको मारकर लौटे; उस समय मार्गमें उन्हें लक्ष्मण दिखायी दिये ॥ १३ ॥

कथमुत्सृज्य वैदेहीं वने राक्षससेविते ।
इति तं भ्रातरं दृष्ट्वा प्राप्तोऽसीति व्यगर्हयत् ॥ १४ ॥

भाईको देखकर श्रीरामने उन्हें कोसते हुए कहा— 'लक्ष्मण ! राक्षसोंसे भरे हुए इस घोर जंगलमें जानकीको अकेली छोड़कर तुम यहाँ कैसे चले आये ?' ॥ १४ ॥

मृगरूपधरेणाथ रक्षसा सोऽपकर्षणम् ।
भ्रातुरागमनं चैव चिन्तयन् पर्यतप्यत ॥ १५ ॥

'मृगरूपधारी राक्षस मुझे आश्रमसे दूर खींच लाया और भाई भी आश्रमको अरक्षित छोड़कर मेरे पास आ गया', यह सोचते हुए श्रीरामचन्द्रजी मन-ही-मन संतप्त हो उठे ॥ १५ ॥

गर्हयन्नेव रामस्तु त्वरितस्तं समासदत् ।
अपि जीवति वैदेही नेति पश्यामि लक्ष्मण ॥ १६ ॥

उपर्युक्तरूपसे लक्ष्मणकी निन्दा करते हुए श्रीरामचन्द्रजी तुरंत उनके पास आ गये और कहने लगे—'लक्ष्मण ! मैं देखता हूँ, सीता जीवित भी है या नहीं ॥ १६ ॥

तस्य तत् सर्वमाचख्यौ सीताया लक्ष्मणो वचः ।
यदुक्तवत्यसदृशं वैदेही पश्चिमं वचः ॥ १७ ॥

तब लक्ष्मणने सीताकी वे सारी अनुचित एवं आक्षेपपूर्ण बातें, जिन्हें उन्होंने अन्तमें कहा था, कह सुनायीं ॥ १७ ॥

दह्यमानेन तु हृदा रामोऽभ्यपतदाश्रमम् ।
स ददर्श तदा गृध्रं निहतं पर्वतोपमम् ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका हृदय शोकाग्निसे दग्ध हो रहा था । वे शीघ्रतापूर्वक आश्रमकी ओर बढ़े । मार्गमें उन्हें पर्वताकार गृध्रराज जटायु दिखायी दिये, जो रावणके हाथसे घायल हुए पड़े थे ॥ १८ ॥

राक्षसं शङ्कमानस्तं विकृष्य बलवद् धनुः ।
अभ्यधावत काकुत्स्थस्ततस्तं सहलक्ष्मणः ॥ १९ ॥

लक्ष्मणसहित श्रीरामने उन्हें राक्षस समझकर अपने प्रबल धनुषको खींचा और उनपर धावा कर दिया ॥ १९ ॥

स तावुवाच तेजस्वी सहितौ रामलक्ष्मणौ ।
गृध्रराजोऽस्मि भद्रं वां सखा दशरथस्य वै ॥ २० ॥

तब तेजस्वी जटायुने साथ आये हुए श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंसे कहा—'आप दोनोंका भला हो । मैं राजा दशरथका मित्र गृध्रराज जटायु हूँ' ॥ २० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा संगृह्य धनुषी शुभे ।
कोऽयं पितरमस्माकं नाम्नाऽऽहेत्यूचतुश्च तौ ॥ २१ ॥

उनकी ये बातें सुनकर उन्होंने अपने सुन्दर धनुष उतारकर हाथमें ले लिये और परस्पर पूछने लगे कि 'यह कौन है, जो हमारे पिताका नाम लेकर परिचय दे रहा है' ॥ २१ ॥

ततो ददृशतुस्तौ तं छिन्नपक्षद्वयं खगम् ।
तयोः शशंस गृध्रस्तु सीतार्थे रावणाद् वधम् ॥ २२ ॥

तदनन्तर उन्होंने पास आकर देखा—जटायुके दोनों पंख कटे हुए हैं । गृध्रने बताया कि 'सीताको छुड़ानेके लिये युद्ध करते समय मैं रावणके हाथसे अत्यन्त घायल कर दिया गया हूँ' ॥ २२ ॥

अपृच्छद् राघवो गृध्रं रावणः कां दिशं गतः ।
तस्य गृध्रः शिरःकम्पैराचचक्षे ममार च ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने जटायुसे पूछा—'रावण किस दिशाकी



ओर गया है ?' गृध्रने सिर हिलाकर संकेतसे दक्षिण दिशा बतायी और अपने प्राण त्याग दिये ॥ २३ ॥

दक्षिणामिति काकुत्स्थो विदित्वास्य तदिङ्गितम्।
संस्कारं लम्भयामास सखायं पूजयन् पितुः ॥ २४ ॥

उनके संकेतके अनुसार दक्षिण दिशा समझ लेनेके पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने पिताके मित्र होनेके नाते जटायुको आदर देते हुए उनका विधिपूर्वक अन्त्येष्टि-संस्कार किया ॥ २४ ॥

ततो दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं व्यपविद्धबृसीमठम्।
विध्वस्तकलशं शून्यं गोमायुशतसंकुलम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर आश्रमपर पहुँचकर उन्होंने देखा, कुशकी चटाई बाहर फेंकी हुई है, कुटी उजाड़ हो गयी है, घर सूना पड़ा है, कलश फूटे पड़े हैं और सारे आश्रममें सैकड़ों गीदड़ भरे हुए हैं ॥ २५ ॥

दुःखशोकसमाविष्टौ वैदेहीहरणार्दितौ ।
जग्मतुर्दण्डकारण्यं दक्षिणेन परंतपौ ॥ २६ ॥

सीताका अपहरण हो जानेसे दोनों भाइयोंको बड़ी वेदना हुई। वे दुःख और शोकमें डूब गये। फिर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीराम और लक्ष्मण दण्डकारण्यसे दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥ २६ ॥

वने महति तस्मिंस्तु रामः सौमित्रिणा सह।
ददर्श मृगयूथानि द्रवमाणानि सर्वशः ॥ २७ ॥

उस विशाल वनमें लक्ष्मणसहित श्रीरामने देखा कि मृगोंके झुंड सब ओर भाग रहे हैं ॥ २७ ॥

शब्दं च घोरं सत्त्वानां दावाग्नेरिव वर्धतः।
अपश्येतां मुहूर्ताच्च कबन्धं घोरदर्शनम् ॥ २८ ॥

वन-जन्तुओंका भयंकर शब्द ऐसा जान पड़ता था, मानो वहाँ सब ओर दावानल फैल रहा हो और उससे भयभीत हुए प्राणी आर्तनाद कर रहे हों। दो ही घड़ीमें उन दोनों भाइयोंने देखा, सामने एक 'कबन्ध' (धड़) प्रकट हुआ है, जो देखनेमें अत्यन्त भयंकर है ॥ २८ ॥

मेघपर्वतसंकाशं शालस्कन्धं महाभुजम्।
उरोगतविशालाक्षं महोदरमहामुखम् ॥ २९ ॥

वह मेघके समान काला और पर्वतके समान विशाल-काय था। साखूकी शाखाके समान उसके कंधे और बड़ी-बड़ी भुजाएँ थीं। उसकी चौड़ी छातीमें दो बड़ी-बड़ी आँखें चमक रही थीं और लंबे-से पेटमें बहुत बड़ा मुख दिखायी दे रहा था ॥ २९ ॥

यदृच्छयाथ तद् रक्षः करे जग्राह लक्ष्मणम्।
विषादमगमत् सद्यः सौमित्रिरथ भारत ॥ ३० ॥

वह एक राक्षस था। उसने सहसा आकर लक्ष्मणका एक हाथ पकड़ लिया। भारत! यह देख सुमित्रानन्दन लक्ष्मण तत्काल बहुत दुखी हो गये ॥ ३० ॥

स राममभिसम्प्रेक्ष्य कृष्यते येन तन्मुखम्।
विषण्णश्चाब्रवीद् रामं पश्यावस्थामिमां मम ॥ ३१ ॥

जिस ओर उस राक्षसका मुख था, उसी ओर वे खिंचे चले जा रहे थे। तब श्रीरामकी ओर देखकर वे अत्यन्त विषादग्रस्त होकर बोले—'भैया! देखिये, मेरी यह क्या अवस्था हो रही है? ॥ ३१ ॥

हरणं चैव वैदेह्या मम चायमुपप्लवः ।
राज्यभ्रंशश्च भवतस्तातस्य मरणं तथा ॥ ३२ ॥

'विदेहकुमारीका अपहरण, मेरा इस प्रकार असमयमें विपत्तिग्रस्त होना, आपका राज्यसे निर्वासन तथा पिताजीकी मृत्यु—(इस प्रकार संकटपर संकट आता जा रहा है) ॥ ३२ ॥

नाहं त्वां सह वैदेह्या समेतं कोसलागतम्।
द्रक्ष्यामि पृथिवीराज्ये पितृपैतामहे स्थितम् ॥ ३३ ॥

'जान पड़ता है, जब आप सीताके साथ अयोध्यामें लौटकर पिता-पितामहोंकी परम्परासे प्राप्त हुए इस भूमण्डलके राज्य-पर प्रतिष्ठित होंगे, उस समय मैं आपका दर्शन न कर सकूँगा ॥ ३३ ॥

द्रक्ष्यन्त्यार्यस्य धन्या ये कुशलाजशमीदलैः।
अभिषिक्तस्य वदनं सोमं शान्तघनं यथा ॥ ३४ ॥

'जो लोग कुश, लाजा और शमीपत्र आदिके द्वारा

राज्यपर अभिषिक्त हुए आप आर्यके मेघोंके आवरणसे रहित शरत्कालीन चन्द्रमाके समान मनोहर मुखका दर्शन करेंगे, वे धन्य हैं' ॥ ३४ ॥

एवं बहुविधं धीमान् विललाप स लक्ष्मणः।
तमुवाचाथ काकुत्स्थः सम्भ्रमेष्वप्यसम्भ्रमः ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान् लक्ष्मण इस प्रकार भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगे। भगवान् श्रीराम घबराहटके समय भी घबराते नहीं थे। उन्होंने लक्ष्मणसे कहा—॥ ३५ ॥

मा विषीद नरव्याघ्र नैष कश्चिन्मयि स्थिते।
छिन्ध्यस्य दक्षिणं बाहुं छिन्नः सव्यो मया भुजः ॥ ३६ ॥

'नरश्रेष्ठ! तुम खेद न करो। मेरे रहते यह राक्षस कोई चीज नहीं है; इससे तुम्हें कोई हानि नहीं पहुँच सकती। तुम इसकी दाहिनी बाँह काट डालो। मैं बायीं भुजा काट रहा हूँ' ॥ ३६ ॥

इत्येवं वदता तस्य भुजो रामेण पातितः।
खड्गेन भृशतीक्ष्णेन निकृत्तस्तिलकाण्डवत् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार कहते हुए श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त तीखी तलवारसे उस राक्षसकी एक बाँह तिलके पौधेकी तरह काट गिरायी ॥ ३७ ॥

ततोऽस्य दक्षिणं बाहुं खड्गेनाजघ्निवान् बली।
सौमित्रिरपि सम्प्रेक्ष्य भ्रातरं राघवं स्थितम् ॥ ३८ ॥
पुनर्जघान पार्श्वे वै तद् रक्षो लक्ष्मणो भृशम्।
गतासुरपतद् भूमौ कबन्धः सुमहांस्ततः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर बलवान् सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने भी अपने खड्गसे उसकी दाहिनी बाँह काट डाली और अपने भाई श्रीरामको खड़ा देखकर उन्होंने उसकी पसलीपर भी बड़े जोरसे प्रहार किया। फिर तो वह महान् राक्षस कबन्ध प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३८-३९ ॥



तस्य देहाद् विनिःसृत्य पुरुषो दिव्यदर्शनः।
ददृशे दिवमास्थाय दिवि सूर्य इव ज्वलन् ॥ ४० ॥

उसकी देहसे एक दिव्यरूपधारी पुरुष निकलकर आकाशमें खड़ा दिखायी दिया। वह सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहा था ॥ ४० ॥

पप्रच्छ रामस्तं वाग्मी कस्त्वं प्रब्रूहि पृच्छतः।
कामया किमिदं चित्रमाश्चर्यं प्रतिभाति मे ॥ ४१ ॥

तब कुशल वक्ता भगवान् श्रीरामने उससे पूछा—'तुम कौन हो? अपना परिचय दो। मेरे पूछनेपर अपनी इच्छाके अनुसार बताओ, यह कैसी अद्भुत एवं आश्चर्यमयी घटना प्रतीत हो रही है?॥ ४१ ॥

तस्याचचक्षे गन्धर्वो विश्वावसुरहं नृप।
प्राप्तो ब्राह्मणशापेन योनिं राक्षससेविताम् ॥ ४२ ॥
रावणेन हृता सीता राज्ञा लङ्काधिवासिना।
सुग्रीवमभिगच्छस्व स ते साह्यं करिष्यति ॥ ४३ ॥

उसने कहा—'राजन्! मैं विश्वावसु नामक गन्धर्व हूँ। एक ब्राह्मणके शापसे इस राक्षसयोनिमें आ गया था—लङ्कावासी राक्षसराज रावणने आपकी पत्नी सीताका अपहरण किया है। आप वानरराज सुग्रीवसे मिलिये। वे आपकी सहायता करेंगे ॥ ४२-४३ ॥

एषा पम्पा शिवजला हंसकारण्डवायुता।
ऋष्यमूकस्य शैलस्य संनिकर्षे तटाकिनी ॥ ४४ ॥

'यह थोड़ी ही दूरपर पवित्र जलसे भरा हुआ पम्पा-सरोवर है, जिसमें हंस और कारण्डव आदि पक्षी चहक रहे हैं। वह सरोवर ऋष्यमूक पर्वतसे सटा हुआ है ॥ ४४ ॥

वसते तत्र सुग्रीवश्चतुर्भिः सचिवैः सह।
भ्राता वानरराजस्य वालिनो हेममालिनः ॥ ४५ ॥

'वहीं अपने चार मन्त्रियोंके साथ सुवर्णमालाधारी वानरराज वालीके भाई सुग्रीव निवास करते हैं ॥ ४५ ॥

तेन त्वं सह संगम्य दुःखमूलं निवेदय।
समानशीलो भवतः साहाय्यं स करिष्यति ॥ ४६ ॥

'उनसे मिलकर आप अपने दुःखका कारण बताइये। उनका शील-स्वभाव आपके ही समान है। वे निश्चय ही आपकी सहायता करेंगे ॥ ४६ ॥

एतावच्छक्यमस्माभिर्वक्तुं द्रष्टासि जानकीम्।
ध्रुवं वानरराजस्य विदितो रावणालयः ॥ ४७ ॥

'मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि आपकी जनकनन्दिनी सीतासे अवश्य भेंट होगी। वानरराज सुग्रीवको रावणके घर-का पता निश्चय ही ज्ञात है ॥ ४७ ॥

इत्युक्त्वान्तर्हितो दिव्यः पुरुषः स महाप्रभः।
विस्मयं जग्मतुश्चोभौ प्रवीरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४८ ॥

ऐसा कहकर वह महातेजस्वी दिव्य पुरुष वहीं अन्तर्हित हो गया। वीरवर श्रीराम और लक्ष्मण दोनोंको उसके दर्शन और वार्तालापसे बड़ा विस्मय हुआ ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कबन्धहनने एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें कबन्धवधविषयक दो सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७९ ॥

अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राम और सुग्रीवकी मित्रता, वाली और सुग्रीवका युद्ध, श्रीरामके द्वारा वालीका वध तथा लङ्काकी अशोकवाटिकामें राक्षसियोंद्वारा डरायी हुई सीताको त्रिजटाका आश्वासन

मार्कण्डेय उवाच

ततोऽविदूरे नलिनीं प्रभूतकमलोत्पलाम्।
सीताहरणदुःखार्तः पम्पां रामः समासदत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर सीता-हरणके दुःखसे पीड़ित हो श्रीरामचन्द्रजी पम्पासरोवरपर गये, जो वहाँसे थोड़ी ही दूरपर था। उसमें बहुत-से कमल और उत्पल खिले हुए थे ॥ १ ॥

मारुतेन सुशीतेन सुखेनामृतगन्धिना।
सेव्यमानो वने तस्मिञ्जगाम मनसा प्रियाम् ॥ २ ॥

उस वनमें अमृतकी-सी सुगन्ध लिये मन्द गतिसे प्रवाहित होनेवाली सुखद शीतल वायुका स्पर्श पाकर श्रीरामचन्द्रजी मन-ही-मन अपनी प्रिया सीताका चिन्तन करने लगे ॥ २ ॥

विललाप स राजेन्द्रस्तत्र कान्तामनुस्मरन्।
कामबाणाभिसंतप्तः सौमित्रिस्तमथाब्रवीत् ॥ ३ ॥

अपनी प्राणवल्लभाका बारंबार स्मरण करके कामबाणसे संतप्त हुए-से महाराज श्रीराम विलाप करने लगे। उस समय सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने उनसे कहा—॥ ३ ॥

न त्वामेवंविधो भावः स्प्रष्टुमर्हति मानद।
आत्मवन्तमिव व्याधिः पुरुषं वृद्धशीलिनम् ॥ ४ ॥

'मानद! मनपर काबू रखनेवाले तथा वृद्धोंके समान संयम-नियमसे रहनेवाले पुरुषको जैसे कोई रोग नहीं छू सकता, उसी प्रकार आपको ऐसे दैन्यभावका स्पर्श होना उचित नहीं जान पड़ता है ॥ ४ ॥

प्रवृत्तिरुपलब्धा ते वैदेह्या रावणस्य च।
तां त्वं पुरुषकारेण बुद्ध्या चैवोपपादय ॥ ५ ॥

'आपको सीता तथा उनका अपहरण करनेवाले रावणका समाचार मिल ही गया है। अब आप अपने पुरुषार्थ और बुद्धिबलसे जानकीको प्राप्त कीजिये ॥ ५ ॥

अभिगच्छाव सुग्रीवं शैलस्थं हरिपुङ्गवम्।
मयि शिष्ये च भृत्ये च सहाये च समाश्वस ॥ ६ ॥

'हम दोनों यहाँसे वानरराज सुग्रीवके पास चलें, जो ऋष्यमूक पर्वतके शिखरपर रहते हैं। मैं आपका शिष्य, सेवक और सहायक हूँ। मेरे रहते आपको धैर्य रखना चाहिये ॥ ६ ॥

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्लक्ष्मणेन स राघवः।
उक्तः प्रकृतिमापेदे कार्ये चानन्तरोऽभवत् ॥ ७ ॥

इस प्रकार लक्ष्मणद्वारा अनेक प्रकारके वचनोंसे धैर्य दिलाये जानेपर श्रीरामचन्द्रजी स्वस्थ हुए और आवश्यक कार्यमें लग गये ॥ ७ ॥

निषेव्य वारि पम्पायास्तर्पयित्वा पितॄनपि।
प्रतस्थतुरुभौ वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ८ ॥

उन्होंने पम्पासरोवरके जलमें स्नान करके पितरोंका तर्पण किया। फिर उन दोनों वीर भ्राता श्रीराम और लक्ष्मणने वहाँसे प्रस्थान किया ॥ ८ ॥

तावृष्यमूकमभ्येत्य बहुमूलफलद्रुमम्।
गिर्यग्रे वानरान् पञ्च वीरौ ददृशतुस्तदा ॥ ९ ॥

प्रचुर फल, मूल और वृक्षोंसे भरे हुए ऋष्यमूक पर्वत-पर पहुँचकर उन दोनों वीरोंने देखा, पर्वतके शिखरपर पाँच वानर बैठे हुए हैं ॥ ९ ॥

सुग्रीवः प्रेषयामास सचिवं वानरं तयोः।
बुद्धिमन्तं हनूमन्तं हिमवन्तमिव स्थितम् ॥ १० ॥

सुग्रीवने हिमालयके समान गम्भीर भावसे बैठे हुए अपने बुद्धिमान् सचिव हनुमान्‌को उन दोनोंके पास भेजा ॥ १० ॥

तेन सम्भाष्य पूर्वं तौ सुग्रीवमभिजग्मतुः।
सख्यं वानरराजेन चक्रे रामस्तदा नृप ॥ ११ ॥

उनके साथ पहले बातचीत हो जानेपर वे दोनों भाई सुग्रीवके पास गये। राजन्! उस समय श्रीरामचन्द्रजीने वानरराज सुग्रीवके साथ मैत्री की ॥ ११ ॥

तद् वासो दर्शयामासुस्तस्य कार्ये निवेदिते ।
वानराणां तु यत् सीता ह्रियमाणा व्यपासृजत् ॥ १२ ॥

रामने सुग्रीवके समक्ष जब अपना कार्य निवेदन किया, तब उन्होंने श्रीरामको वह वस्त्र दिखाया, जिसे अपहरण-कालमें सीताने वानरोंके बीचमें डाल दिया था ॥ १२ ॥



तत् प्रत्ययकरं लब्ध्वा सुग्रीवं प्लवगाधिपम् ।
पृथिव्यां वानरैश्वर्ये स्वयं रामोऽभ्यषेचयत् ॥ १३ ॥

रावणद्वारा सीताके अपहृत होनेका यह विश्वासजनक प्रमाण पाकर श्रीरामने स्वयं ही वानरराज सुग्रीवको अखिल भूमण्डलके वानरोंके सम्राट्पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ १३ ॥

प्रतिजज्ञे च काकुत्स्थः समरे वालिनो वधम् ।
सुग्रीवश्चापि वैदेह्याः पुनरानयनं नृप ॥ १४ ॥

साथ ही उन्होंने युद्धमें वालीके वधकी भी प्रतिज्ञा की । राजन् ! तब सुग्रीवने भी विदेहनन्दिनी सीताको पुनः ढूँढ़ लानेकी प्रतिज्ञा की ॥ १४ ॥

इत्युक्त्वा समयं कृत्वा विश्वास्य च परस्परम् ।
अभ्येत्य सर्वे किष्किन्धां तस्थुर्युद्धाभिकाङ्क्षिणः ॥ १५ ॥

इस प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक एक-दूसरेको विश्वास दिलाकर वे सबके सब किष्किन्धापुरीमें आये और युद्धकी अभिलाषासे डटकर खड़े हो गये ॥ १५ ॥

सुग्रीवः प्राप्य किष्किन्धां ननादौघनिभस्वनः ।
नास्य तन्ममृषे वाली तारा तं प्रत्यषेधयत् ॥ १६ ॥

सुग्रीवने किष्किन्धामें जाकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया, मानो बहुत बड़े जनसमूहका शब्द गूँज उठा हो । वालीको यह सहन नहीं हो सका । जब वह युद्धके लिये निकलने लगा, तब उसकी स्त्री ताराने उसे मना करते हुए कहा—॥ १६ ॥

यथा नदति सुग्रीवो बलवानेष वानरः ।
मन्ये चाश्रयवान् प्राप्तो न त्वं निष्क्रान्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

'नाथ ! आज सुग्रीव जिस प्रकार गर्जना कर रहा है, उससे मालूम होता है, इस समय उसका बल बढ़ा हुआ है । मेरी समझमें उसे कोई बलवान् सहायक मिल गया है, तभी वह यहाँतक आ सका है । अतः आप घरसे न निकलें' ॥

हेममाली ततो वाली तारां ताराधिपाननाम् ।
प्रोवाच वचनं वाग्मी तां वानरपतिः पतिः ॥ १८ ॥

तब सुवर्णमालासे विभूषित तारापति वानरराज वाली, जो बातचीत करनेमें कुशल था, अपनी चन्द्रमुखी पत्नी तारासे इस प्रकार बोला—॥ १८ ॥

सर्वभूतरुतज्ञा त्वं पश्य बुद्ध्या समन्विता ।
केन चाश्रयवान् प्राप्तो ममैष भ्रातृगन्धिकः ॥ १९ ॥

'प्रिये ! तुम समस्त प्राणियोंकी बोली समझती हो, साथ ही बुद्धिमती भी हो । अतः सोचो तो सही, यह मेरा नाममात्रका भाई किसका सहारा लेकर यहाँ आया है ?'॥ १९ ॥

चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु तारा ताराधिपप्रभा ।
पतिमित्यब्रवीत् प्राज्ञा शृणु सर्वं कपीश्वर ॥ २० ॥

तारा अपनी अङ्गकान्तिसे चन्द्रमाकी ज्योत्स्नाके समान उद्दीप्त हो रही थी । उस विदुषीने दो घड़ीतक विचार करके अपने पतिसे कहा—'कपीश्वर ! मैं सब बातें बताती हूँ, सुनिये ॥ २० ॥

हृतदारो महासत्त्वो रामो दशरथात्मजः ।
तुल्यारिमित्रतां प्राप्तः सुग्रीवेण धनुर्धरः ॥ २१ ॥

'दशरथनन्दन श्रीराम महान् शक्तिशाली वीर हैं । उनकी पत्नीका किसीने अपहरण कर लिया है । उसकी खोजके लिये उन्होंने सुग्रीवसे मित्रता की है और दोनोंने एक दूसरेके शत्रुको शत्रु तथा मित्रको मित्र मान लिया है । श्रीरामचन्द्रजी बड़े धनुर्धर हैं ॥ २१ ॥

भ्राता चास्य महाबाहुः सौमित्रिरपराजितः ।
लक्ष्मणो नाम मेधावी स्थितः कार्यार्थसिद्धये ॥ २२ ॥

'उनके भाई महाबाहु सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजी भी किसीसे परास्त होनेवाले नहीं हैं । उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर है । वे श्रीरामके प्रत्येक कार्यकी सिद्धिके लिये उनके साथ रहते हैं ॥ २२ ॥

मैन्दश्च द्विविदश्चापि हनूमांश्चानिलात्मजः ।
जाम्बवानृक्षराजश्च सुग्रीवसचिवाः स्थिताः ॥ २३ ॥

'इनके सिवा, मैन्द, द्विविद, वायुपुत्र हनुमान् तथा ऋक्षराज जाम्बवान्—ये सुग्रीवके चार मन्त्री हैं ॥ २३ ॥

सर्व एते महात्मानो बुद्धिमन्तो महाबलाः ।
अलं तव विनाशाय रामवीर्यबलाश्रयात् ॥ २४ ॥

'ये सब-के-सब महामनस्वी, बुद्धिमान् और महाबली हैं। श्रीरामचन्द्रजीके बल-पराक्रमका सहारा मिल जानेसे ये लोग आपको मार डालनेमें समर्थ हैं' ॥ २४ ॥

तस्यास्तदाक्षिप्य वचो हितमुक्तं कपीश्वरः ।
पर्यशङ्कत तामीर्षुः सुग्रीवगतमानसाम् ॥ २५ ॥

यद्यपि ताराने वालीके हितकी बात कही थी, तो भी वानरराज वालीने उसके कथनपर आक्षेप किया और ईर्ष्या-वश उसके मनमें यह शङ्का हो गयी कि तारा मन-ही-मन सुग्रीवको चाहती है ॥ २५ ॥

तारां परुषमुक्त्वा तु निर्जगाम गुहामुखात् ।
स्थितं माल्यवतोऽभ्याशे सुग्रीवं सोऽभ्यभाषत॥ २६ ॥

ताराको कठोर बातें सुनाकर वाली किष्किन्धाकी गुफाके द्वारसे बाहर निकला और माल्यवान् पर्वतके निकट खड़े हुए सुग्रीवसे इस प्रकार बोला—॥ २६ ॥

असकृत् त्वं मया पूर्वं निर्जितो जीवितप्रियः ।
मुक्तो ज्ञातिरिति ज्ञात्वा का त्वरा मरणे पुनः ॥ २७ ॥

'अरे ! तू तो पहले अनेक बार युद्धमें मेरेद्वारा परास्त हो चुका है और जीवनका अधिक लोभ होनेके कारण भाग-कर जान बचाता फिरा है । मैंने भी अपना भाई समझकर तुझे जीवित छोड़ दिया है। फिर आज तुझे मरनेके लिये इतनी उतावली क्यों हो गयी है ?' ॥ २७ ॥

इत्युक्तः प्राह सुग्रीवो भ्रातरं हेतुमद् वचः ।
प्राप्तकालममित्रघ्नो रामं सम्बोधयन्निव ॥ २८ ॥

वालीके ऐसा कहनेपर शत्रुहन्ता सुग्रीव श्रीरामचन्द्र-जीको परिस्थितिका ज्ञान कराते हुए-से अपने उस भाईसे अवसरके अनुरूप युक्तियुक्त वचन बोले—॥ २८ ॥

हृतराज्यस्य मे राजन् हृतदारस्य च त्वया ।
किं मे जीवितसामर्थ्यमिति विद्धि समागतम् ॥ २९ ॥

'राजन् ! तुमने मेरा राज्य हर लिया है, मेरी स्त्रीको भी अपने अधिकारमें कर लिया है, ऐसी दशामें मुझमें जीवित रहनेकी शक्ति ही कहाँ है ? यही सोचकर मरनेके लिये चला आया हूँ । आप मेरे आगमनका यही उद्देश्य समझ लें' ॥ २९ ॥

एवमुक्त्वा बहुविधं ततस्तौ संनिपेततुः ।
समरे वालिसुग्रीवौ शालतालशिलायुधौ ॥ ३० ॥

इस प्रकार बहुत-सी बातें करके वाली और सुग्रीव दोनों एक दूसरेसे गुँथ गये । उस युद्धमें साखू और ताड़के वृक्ष तथा पत्थरकी चट्टानें—ये ही उनके अस्त्र-शस्त्र थे ॥ ३० ॥

उभौ जघ्नतुरन्योन्यमुभौ भूमौ निपेततुः ।
उभौ ववल्गतुश्चित्रं मुष्टिभिश्च निजघ्नतुः ॥ ३१ ॥

दोनों दोनोंपर प्रहार करते, दोनों जमीनपर गिर जाते, फिर दोनों ही उछल-कूदकर विचित्र ढंगसे पैंतरे बदलते तथा मुक्कों और घूसोंसे एक दूसरेको मारते थे ॥ ३१ ॥

उभौ रुधिरसंसिक्तौ नखदन्तपरिक्षतौ ।
शुशुभाते तदा वीरौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ३२ ॥

दोनों नख और दाँतोंके आघातसे क्षत-विक्षत हो रक्तसे लथपथ हो रहे थे । उस समय वे दोनों वीर खिले हुए पलासके दो वृक्षोंकी भाँति शोभा पाते थे ॥ ३२ ॥

न विशेषस्तयोर्युद्धे यदा कश्चन दृश्यते ।
सुग्रीवस्य तदा मालां हनुमान् कण्ठ आसजत् ॥ ३३ ॥

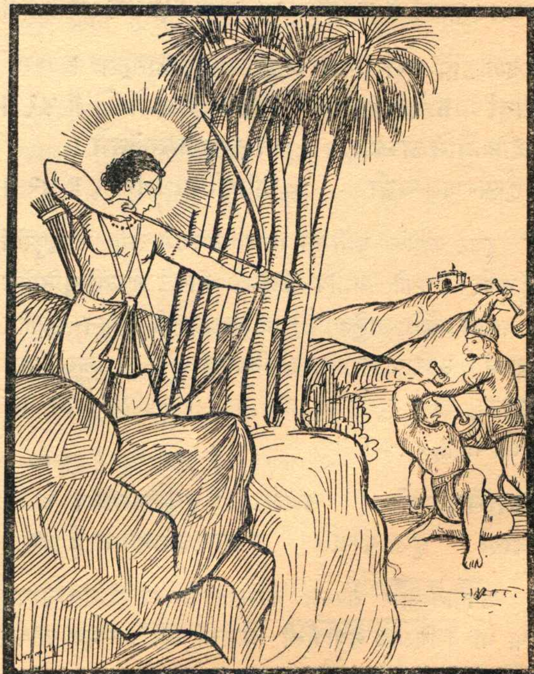
जब युद्धमें उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी दिया, तब हनुमान्‌जीने सुग्रीवकी पहचानके लिये उनके गलेमें एक माला डाल दी ॥ ३३ ॥

स मालया तदा वीरः शुशुभे कण्ठसक्तया ।
श्रीमानिव महाशैलो मलयो मेघमालया ॥ ३४ ॥

कण्ठमें पड़ी हुई उस मालासे वीर सुग्रीव उस समय मेघपंक्तिसे सुशोभित महापर्वत मलयकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ३४ ॥

कृतचिह्नं तु सुग्रीवं रामो दृष्ट्वा महाधनुः ।
विचकर्ष धनुःश्रेष्ठं वालिमुद्दिश्य लक्ष्यवत् ॥ ३५ ॥
विस्फारस्तस्य धनुषो यन्त्रस्येव तदा बभौ ।
वितत्रास तदा वाली शरेणाभिहतोरसि ॥ ३६ ॥

महाधनुर्धर श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवको चिह्न धारण किये



देख वालीको लक्ष्य बनाकर अपना महान् धनुष खींचा। उस धनुषकी टंकार मशीनकी भयंकर आवाजके समान जान पड़ती थी। उसे सुनकर वाली भयभीत हो उठा। इतनेमें ही श्रीरामके बाणने उसकी छातीपर भारी चोट की॥ ३५-३६॥

स भिन्नहृदयो वाली वक्त्राच्छोणितमुद्वमन्।
ददर्शावस्थितं रामं ततः सौमित्रिणा सह॥ ३७॥

इससे वालीका वक्षःस्थल विदीर्ण हो गया और वह अपने मुँहसे रक्तवमन करने लगा। सामने ही उसे लक्ष्मणके साथ खड़े हुए श्रीराम दिखायी दिये॥ ३७॥

गर्हयित्वा स काकुत्स्थं पपात भुवि मूर्च्छितः।
तारा ददर्श तं भूमौ तारापतिसमौजसम्॥ ३८॥

तब वह (छिपकर आघात करनेके कारण) श्रीरामचन्द्रजीकी निन्दा करके पृथ्वीपर गिर पड़ा और मूर्छित हो गया। ताराने चन्द्रमाके समान तेजस्वी अपने वीर पति वालीको प्राणहीन होकर पृथ्वीपर पड़ा देखा॥ ३८॥

हते वालिनि सुग्रीवः किष्किन्धां प्रत्यपद्यत।
तां च तारापतिमुखीं तारां निपतितेश्वराम्॥ ३९॥

वालीके मारे जानेपर अनाथ हुई किष्किन्धापुरी तथा चन्द्रमुखी तारा सुग्रीवको प्राप्त हुई॥ ३९॥

रामस्तु चतुरो मासान् पृष्ठे माल्यवतः शुभे।
निवासमकरोद् धीमान् सुग्रीवेणाभ्युपस्थितः॥ ४०॥

परम बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीने माल्यवान् पर्वतकी सुन्दर घाटीमें वर्षाके चार महीनोंतक निवास किया। समय-समयपर सुग्रीव भी उनकी सेवामें उपस्थित होते रहते थे॥ ४०॥

रावणोऽपि पुरीं गत्वा लङ्कां कामबलात्कृतः।
सीतां निवेशयामास भवने नन्दनोपमे॥ ४१॥
अशोकवनिकाभ्याशे तापसाश्रमसंनिभे।
भर्तृस्मरणतन्वङ्गीं तापसीवेषधारिणीं॥ ४२॥

इधर कामके वशीभूत हुए रावणने भी लङ्कापुरीमें पहुँचकर सीताको अशोकवाटिकाके निकट तपस्वी मुनियोंके आश्रमकी भाँति शान्तिपूर्ण तथा नन्दनवनके समान रमणीय भवनमें ठहराया। पतिका निरन्तर चिन्तन करते-करते सीताका शरीर दुर्बल हो गया था। वे तपस्विनीवेषमें वहाँ रहती थीं॥ ४१-४२॥

उपवासतपःशीला तत्रास पृथुलेक्षणा।
उवास दुःखवसतिं फलमूलकृताशना॥ ४३॥

उपवास और तपस्या करनेका उनका स्वभाव-सा बन गया था। विशाल नेत्रोंवाली जानकी वहाँ फल-मूल खाकर बड़े दुःखसे दिन बिताती थीं॥ ४३॥

दिदेश राक्षसीस्तत्र रक्षणे राक्षसाधिपः।
प्रासासिशूलपरशुमुद्गरालातधारिणीः॥ ४४॥

राक्षसराज रावणने सीताकी रक्षाके लिये कुछ राक्षसियोंको नियुक्त कर दिया था, जो भाला, तलवार, त्रिशूल, फरसा, मुद्गर और जलती हुई लुआठी लिये वहाँ पहरा देती थीं॥ ४४॥

द्व्यक्षीं त्र्यक्षीं ललाटाक्षीं दीर्घजिह्वामजिह्विकाम्।
त्रिस्तनीमेकपादां च त्रिजटामेकलोचनाम्॥ ४५॥

उनमेंसे किसीके दो आँखें थीं, किसीके तीन। किसीके ललाटमें ही आँखें थीं, किसीके बहुत बड़ी जिह्वा थी। तो किसीके जीभ थी ही नहीं। किसीके तीन स्तन थे तो किसीका एक पैर। कोई अपने सिरपर तीन जटाएँ रखती थी, तो किसीके एक ही आँख थी॥ ४५॥

एताश्चान्याश्च दीप्ताक्ष्यः करभोत्कटमूर्द्धजाः।
परिवार्यासते सीतां दिवारात्रमतन्द्रिताः॥ ४६॥

ये तथा दूसरी बहुत-सी राक्षसियाँ निद्रा और आलस्यको छोड़कर दिन-रात सीताको घेरे रहती थीं। उनकी आँखें आगकी तरह प्रज्वलित होती थीं और सिरके बाल ऊँटोंके समान रूखे तथा भूरे थे॥ ४६॥

तास्तु तामायतापाङ्गीं पिशाच्यो दारुणस्वराः।
तर्जयन्ति सदा रौद्राः परुषव्यञ्जनस्वराः॥ ४७॥

वे पिशाची स्त्रियाँ देखनेमें बड़ी भयंकर थीं। उनका स्वर अत्यन्त दारुण था। उनके मुखसे जो स्वर और व्यञ्जन निकलते थे, वे बड़े कठोर होते थे। वे राक्षसियाँ निम्नाङ्कित बातें कहकर विशाल नेत्रोंवाली सीताको सदा डाँटती-फटकारती रहती थीं—॥ ४७॥

खादाम पाटयामैनां तिलशः प्रविभज्य ताम्।
येयं भर्तारमस्माकमवमन्येह जीवति॥ ४८॥

'अरी! यह हमारे स्वामीकी अवहेलना करके अबतक यहाँ जीवित कैसे है? हम इसे चीर डालें। इसे तिल-तिल काटकर खा जायँ'॥ ४८॥

इत्येवं परिभर्त्सन्तीस्त्रास्यमाना पुनः पुनः।
भर्तृशोकसमाविष्टा निःश्वस्येदमुवाच ताः॥ ४९॥

इस तरह कठोर वचनोंद्वारा डराने-धमकानेवाली उन राक्षसियोंसे बार-बार डरायी जाती हुई सीता पतिवियोगके शोकसे संतप्त हो लंबी साँसें खींचती हुई बोलीं—॥ ४९॥

आर्याः खादत मां शीघ्रं न मे लोभोऽस्ति जीविते।
विना तं पुण्डरीकाक्षं नीलकुञ्चितमूर्धजम्॥ ५०॥
अप्येवाहं निराहारा जीवितप्रियवर्जिता।
शोषयिष्यामि गात्राणि व्याली तालगता यथा॥ ५१॥

न त्वन्यमभिगच्छेयं पुमांसं राघवादृते ।
इति जानीत सत्यं मे क्रियतां यदनन्तरम् ॥ ५२ ॥

'बहिनो ! तुमलोग शीघ्र मुझे मारकर खा जाओ । अब इस जीवनके लिये मुझे तनिक भी लोभ नहीं है । मैं काले घुँघराले केश-कलापसे सुशोभित अपने स्वामी कमलनयन भगवान् श्रीरामके बिना जीना ही नहीं चाहती । प्राणवल्लभ रघुनाथजीके दर्शनसे वञ्चित होनेके कारण निराहार ही रहकर ताड़के पेड़पर रहनेवाली नागिनकी तरह मैं अपने शरीरको सुखा डालूँगी; परंतु श्रीरामके सिवा दूसरे किसी पुरुषका सेवन कदापि नहीं करूँगी । मेरी इस बातको सत्य समझो और इसके बाद जो कुछ करना हो, करो' ॥ ५०–५२ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा राक्षस्यस्ताः खरस्वनाः ।
आख्यातुं राक्षसेन्द्राय जग्मुस्तत् सर्वमादृताः ॥ ५३ ॥

सीताकी यह बात सुनकर कठोर बोली बोलनेवाली वे राक्षसियाँ राक्षसराज रावणको आदरपूर्वक वह सब समाचार निवेदन करनेके लिये चली गयीं ॥ ५३ ॥

गतासु तासु सर्वासु त्रिजटा नाम राक्षसी ।
सान्त्वयामास वैदेहीं धर्मज्ञा प्रियवादिनी ॥ ५४ ॥

वहाँ केवल धर्मको जाननेवाली प्रियवादिनी त्रिजटा नामकी राक्षसी रह गयी । अन्य सब राक्षसियोंके चले जानेपर उसने सीताको सान्त्वना देते हुए कहा— ॥ ५४ ॥

सीते वक्ष्यामि ते किंचिद् विश्वासं कुरु मे सखि ।
भयं त्वं त्यज वामोरु शृणु चेदं वचो मम ॥ ५५ ॥

'सखी सीते ! मैं तुमसे एक बात कहूँगी । तुम मुझपर विश्वास करो । वामोरु ! तुम भय छोड़ो और मेरी यह बात सुनो ॥ ५५ ॥

अविन्ध्यो नाम मेधावी वृद्धो राक्षसपुङ्गवः ।
स रामस्य हितान्वेषी त्वदर्थे हि स मावदत् ॥ ५६ ॥

'यहाँ अविन्ध्य नामसे प्रसिद्ध एक बुद्धिमान्, वृद्ध और श्रेष्ठ राक्षस रहते हैं, जो सदा श्रीरामचन्द्रजीके हितका चिन्तन करते रहते हैं । उन्होंने तुमसे कहनेके लिये मेरेद्वारा यह संदेश भेजा है ॥ ५६ ॥

सीता मद्वचनाद् वाच्या समाश्वास्य प्रसाद्य च ।
भर्ता ते कुशली रामो लक्ष्मणानुगतो बली ॥ ५७ ॥
सख्यं वानरराजेन शक्रप्रतिमतेजसा ।
कृतवान् राघवः श्रीमांस्त्वदर्थे च समुद्यतः ॥ ५८ ॥
मा च तेऽस्तु भयं भीरु रावणाल्लोकगर्हितात् ।
नलकूबरशापेन रक्षिता ह्यसि नन्दिनि ॥ ५९ ॥
शप्तो ह्येष पुरा पापो वधूं रम्भां परामृशन् ।
न शक्नोत्यवशां नारीमुपैतुमजितेन्द्रियः ॥ ६० ॥
क्षिप्रमेष्यति ते भर्ता सुग्रीवेणाभिरक्षितः ।
सौमित्रिसहितो धीमांस्त्वां चेतो मोक्षयिष्यति ॥ ६१ ॥

'उनका कहना है कि त्रिजटे ! तुम मेरी ओरसे सीताको समझा-बुझाकर संतुष्ट करके यह कहना कि—'तुम्हारे स्वामी महाबली श्रीराम लक्ष्मणसहित सकुशल हैं । श्रीमान् रघुनाथजीने इन्द्रतुल्य तेजस्वी वानरराज सुग्रीवके साथ मैत्री की है और तुम्हें यहाँसे छुड़ानेके लिये उद्योग आरम्भ कर दिया है; अतः भीरु ! अब तुम्हें लोकनिन्दित रावणसे तनिक भी भय नहीं करना चाहिये । नन्दिनी ! नलकूबरने रावणको जो शाप दे रक्खा है, उसीसे तुम सदा सुरक्षित रहोगी । कुछ समय पहलेकी बात है, इस पापी रावणने नलकूबरकी पत्नी एवं अपनी पुत्रवधूके तुल्य रम्भाका स्पर्श किया था, इसीसे उसको शाप प्राप्त हुआ है । यद्यपि यह रावण जितेन्द्रिय नहीं है, तो भी किसी अवशा—स्वतन्त्रतापूर्वक उसे न चाहनेवाली नारीके पास नहीं जा सकता है । सुग्रीवद्वारा सुरक्षित तुम्हारे स्वामी बुद्धिमान् भगवान् श्रीराम अपने भाई लक्ष्मणके साथ शीघ्र ही यहाँ आयेंगे और तुम्हें यहाँसे छुड़ा ले जायँगे' ॥ ५७–६१ ॥

स्वप्ना हि सुमहाघोरा दृष्टा मेऽनिष्टदर्शनाः ।
विनाशायास्य दुर्बुद्धेः पौलस्त्यकुलघातिनः ॥ ६२ ॥

(अविन्ध्यका संदेश सुनाकर फिर त्रिजटाने अपनी ओरसे कहा—) 'सखी ! मैंने भी रातमें बड़े भयंकर स्वप्न देखे हैं, जो इस पुलस्त्यकुल-घातक दुर्बुद्धि रावणके विनाश एवं अनिष्टकी सूचना देनेवाले हैं ॥ ६२ ॥

दारुणो ह्येष दुष्टात्मा क्षुद्रकर्मा निशाचरः ।
स्वभावाच्छीलदोषेण सर्वेषां भयवर्धनः ॥ ६३ ॥

'यह दारुण दुष्टात्मा तथा क्षुद्रकर्म करनेवाला निशाचर अपने स्वभाव और शीलदोषसे सब लोगोंका भय बढ़ा रहा है ॥ ६३ ॥

स्पर्धते सर्वदेवैर्यः कालोपहतचेतनः ।
मया विनाशलिङ्गानि स्वप्ने दृष्टानि तस्य वै ॥ ६४ ॥

'कालसे इसकी बुद्धि मारी गयी है; अतः यह समस्त देवताओंसे ईर्ष्या रखता है । मैंने स्वप्नमें जो कुछ देखा है, वह सब इसके विनाशकी सूचना दे रहा है ॥ ६४ ॥

तैलाभिषिक्तो विकचो मज्जन् पङ्के दशाननः ।
असकृत् खरयुक्ते तु रथे नृत्यन्निव स्थितः ॥ ६५ ॥

'सपनेमें मैंने देखा है कि रावण तेलसे नहाये, मूँड़ मुँड़ाये, कीचड़में डूब रहा है । फिर कई बार देखनेमें आया कि वह गदहोंसे जुते हुए रथपर खड़ा होकर नृत्य-सा कर रहा है ॥ ६५ ॥

कुम्भकर्णादयश्चेमे नग्नाः पतितमूर्धजाः ।
गच्छन्ति दक्षिणामाशां रक्तमाल्यानुलेपनाः ॥ ६६ ॥

'उसके साथ ही ये कुम्भकर्ण आदि राक्षस भी मूँड़

मुँड़ाये, लाल चन्दन लगाये, लाल फूलोंकी माला पहने, नंगे होकर दक्षिण दिशाकी ओर जा रहे हैं ॥ ६६ ॥

श्वेतातपत्रः सोष्णीषः शुक्लमाल्यानुलेपनः ।
श्वेतपर्वतमारूढ एक एव विभीषणः ॥ ६७ ॥

'केवल विभीषण ही श्वेत छत्र धारण किये, सफेद पगड़ी पहने एवं श्वेत पुष्पोंकी मालासे अलंकृत हो श्वेत चन्दन लगाये श्वेतपर्वतपर आरूढ दिखायी दिये ॥ ६७ ॥

सचिवाश्चास्य चत्वारः शुक्लमाल्यानुलेपनाः ।
श्वेतपर्वतमारूढा मोक्ष्यन्तेऽस्मान्महाभयात् ॥ ६८ ॥

'इनके चारों मन्त्री भी श्वेत पुष्पमाला और चन्दनसे चर्चित हो श्वेत पर्वतके शिखरपर बैठे थे; अतः विभीषणके साथ वे भी आनेवाले महान् भयसे मुक्त हो जायँगे ॥ ६८ ॥

रामस्यास्त्रेण पृथिवी परिक्षिप्ता ससागरा ।
यशसा पृथिवीं कृत्स्नां पूरयिष्यति ते पतिः ॥ ६९ ॥

'स्वप्नमें मुझे यह भी दिखायी दिया है कि भगवान् श्रीरामके बाणोंसे समुद्रसहित सारी पृथ्वी आच्छादित हो गयी है; अतः यह निश्चित है कि तुम्हारे पतिदेव अपने सुयशसे समस्त भूमण्डलको परिपूर्ण कर देंगे ॥ ६९ ॥

अस्थिसंचयमारूढो भुञ्जानो मधुपायसम् ।
लक्ष्मणश्च मया दृष्टो दिधक्षुः सर्वतो दिशम् ॥ ७० ॥

'इसी तरह मैंने लक्ष्मणको भी देखा है । वे हड्डियोंके ढेरपर बैठे हुए मधुमिश्रित खीर खा रहे थे और ऐसा जान पड़ता था, मानो वे समस्त दिशाओंको दग्ध कर देना चाहते हैं ॥ ७० ॥

रुदती रुधिरार्द्राङ्गी व्याघ्रेण परिरक्षिता ।
असकृत् त्वं मया दृष्टा गच्छन्ती दिशमुत्तराम् ॥ ७१ ॥

'सपनेमें मैंने तुमको भी कई बार देखा । तुम्हारे सारे अङ्ग खूनसे तर हो रहे थे । तुम रोती हुई उत्तर दिशाकी ओर जा रही थीं और एक व्याघ्र तुम्हारी रक्षा कर रहा था ॥

हर्षमेष्यसि वैदेहि क्षिप्रं भर्त्रा समन्विता ।
राघवेण सह भ्रात्रा सीते त्वमचिरादिव ॥ ७२ ॥

'विदेहनन्दिनी सीते ! इस सपनेसे यही प्रतीत होता है कि तुम शीघ्र ही अपने स्वामीसे मिलकर हर्षका अनुभव करोगी । भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीसे तुम्हारी अवश्य भेंट होगी; इसमें अब अधिक विलम्ब नहीं है' ॥ ७२ ॥

इत्येतन्मृगशावाक्षी तच्छ्रुत्वा त्रिजटावचः ।
बभूवाशावती बाला पुनर्भर्तृसमागमे ॥ ७३ ॥

त्रिजटाकी यह बात सुनकर मृगशावक-से नेत्रोंवाली सीताको पुनः पतिदेवसे मिलनेकी आशा बँध गयी ॥ ७३ ॥

यावदभ्यागता रौद्राः पिशाच्यस्ताः सुदारुणाः ।
ददृशुस्तां त्रिजटया सहासीनां यथा पुरा ॥ ७४ ॥

इतनेमेंही अत्यन्त क्रूर स्वभाववाली वे भयंकर पिशाचिनियाँ रावणके दरबारसे वहाँ लौट आयीं । आकर उन्होंने देखा, सीता त्रिजटाके साथ पूर्ववत् अपने स्थानपर बैठी है ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि त्रिजटाकृतसीतासान्त्वने अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें त्रिजटाद्वारा सीताको आश्वासनविषयक दो सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८० ॥

एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

रावण और सीताका संवाद

मार्कण्डेय उवाच

ततस्तां भर्तृशोकार्तां दीनां मलिनवाससम् ।
मणिशेषाभ्यलङ्कारां रुदतीं च पतिव्रताम् ॥ १ ॥
राक्षसीभिरुपास्यन्तीं समासीनां शिलातले ।
रावणः कामबाणार्तो ददर्शोपससर्प च ॥ २ ॥
देवदानवगन्धर्वयक्षकिम्पुरुषैर्युधि ।
अजितोऽशोकवनिकां ययौ कन्दर्पपीडितः ॥ ३ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर एक दिन जब पतिव्रता सीता स्वामीके वियोगके दुःखसे पीड़ित हो मैले कपड़े पहने केवल चूड़ामणिमात्र आभूषण धारण किये राक्षसियोंसे घिरी हुई एक शिलापर बैठी दीनभावसे रो रही थीं, उसी समय देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष और किम्पुरुष किसीसे कभी युद्धमें परास्त न होनेवाला रावण कामबाणसे पीड़ित हो अशोकवाटिकामें गया । वहाँ उसने सीताको देखा और कामवेदनासे व्यथित होकर वह उनके समीप चला गया ॥ १-३ ॥

दिव्याम्बरधरः श्रीमान् सुमृष्टमणिकुण्डलः ।
विचित्रमाल्यमुकुटो वसन्त इव मूर्तिमान् ॥ ४ ॥

रावणने दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खे थे । उसके कानोंमें सुन्दर मणिमय कुण्डल झलक रहे थे । वह विचित्र माला और मुकुट पहने मूर्तिमान् वसन्तके समान शोभासम्पन्न जान पड़ता था ॥ ४ ॥

न कल्पवृक्षसदृशो यत्नादपि विभूषितः।
श्मशानचैत्यद्रुमवद् भूषितोऽपि भयंकरः॥ ५॥

उसने बड़े यत्नसे अपने आपको वस्त्राभूषणोंद्वारा सजा रक्खा था, तो भी कल्पवृक्षके समान आह्लादजनक नहीं जान पड़ता था; अपितु श्मशानभूमिके चैत्यवृक्षकी भाँति भूषित होनेपर भी भयानक प्रतीत होता था॥ ५॥

स तस्यास्तनुमध्यायाः समीपे रजनीचरः।
ददृशे रोहिणीमेत्य शनैश्चर इव ग्रहः॥ ६॥

सूक्ष्म कटिप्रदेशवाली सीताके समीप खड़ा हुआ वह राक्षस रोहिणी नक्षत्रके निकट पहुँचे हुए शनैश्चर ग्रहके समान भयंकर दिखायी देता था॥ ६॥

स तामामन्त्र्य सुश्रोणीं पुष्पकेतुशराहतः।
इदमित्यब्रवीद् वाक्यं त्रस्तां रौहीमिवाबलाम्॥ ७॥

कामदेवके बाणोंसे घायल हुआ रावण मृगीके समान भयभीत हुई उस सुन्दरी अबलाको सम्बोधित करके इस प्रकार बोला—॥ ७॥

सीते पर्याप्तमेतावत् कृतो भर्तुरनुग्रहः।
प्रसादं कुरु तन्वङ्गि क्रियतां परिकर्म ते॥ ८॥

'सीते! आजतक तुमने जो अपने पतिपर इतना अनुग्रह दिखाया, यह बहुत हुआ। तन्वङ्गि! अब मुझपर कृपा करो, जिससे तुम्हें शृङ्गार धारण कराया जाय॥ ८॥

भजस्व मां वरारोहे महार्हाभरणाम्बरा।
भव मे सर्वनारीणामुत्तमा वरवर्णिनी॥ ९॥

'वरारोहे! मुझे अङ्गीकार करो और बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंसे भूषित हो मेरी सब स्त्रियोंमें श्रेष्ठ तथा सुन्दरी पटरानी बनो॥ ९॥

सन्ति मे देवकन्याश्च गन्धर्वाणां च योषितः।
सन्ति दानवकन्याश्च दैत्यानां चापि योषितः॥ १०॥

'मेरे महलमें देवताओंकी कन्याएँ, गन्धर्वोंकी युवती स्त्रियाँ, दानवकिशोरियाँ तथा दैत्योंकी रमणियाँ मेरी भार्याओंके रूपमें विद्यमान हैं॥ १०॥

चतुर्दश पिशाचानां कोट्यो मे वचने स्थिताः।
द्विस्तावत् पुरुषादानां रक्षसां भीमकर्मणाम्॥ ११॥

'चौदह करोड़ पिशाच मेरी आज्ञाके अधीन रहते हैं। इनसे दूने नरभक्षी राक्षस मेरे सेवक हैं, जो अत्यन्त भयंकर कर्म करनेवाले हैं॥ ११॥

ततो मे त्रिगुणा यक्षा ये मद्वचनकारिणः।
केचिदेव धनाध्यक्षं भ्रातरं मे समाश्रिताः॥ १२॥

'इनकी अपेक्षा तिगुनी संख्या मेरे आज्ञापालक यक्षोंकी है। यक्षोंमेंसे कुछ ही मेरे भाई धनाध्यक्ष कुबेरकी सेवामें रहते हैं॥ १२॥

गन्धर्वाप्सरसो भद्रे मामापानगतं सदा।
उपतिष्ठन्ति वामोरु यथैव भ्रातरं मम॥ १३॥

'भद्रे! वामोरु! जब मैं मधुपानकी गोष्ठीमें बैठता हूँ, उस समय मेरे भाईकी ही भाँति मेरी सेवामें भी गन्धर्वोंसहित अप्सराएँ उपस्थित होती हैं॥ १३॥

पुत्रोऽहमपि विप्रर्षेः साक्षाद् विश्रवसो मुनेः।
पञ्चमो लोकपालानामिति मे प्रथितं यशः॥ १४॥

'मैं भी कुबेरके ही समान साक्षात् ब्रह्मर्षि विश्रवा मुनिका पुत्र हूँ। (इन्द्र, यम, वरुण और कुबेर—इन चार लोकपालोंके सिवा) पाँचवें लोकपालके रूपमें मेरा सुयश सर्वत्र फैला हुआ है॥ १४॥

दिव्यानि भक्ष्यभोज्यानि पानानि विविधानि च।
यथैव त्रिदशेशस्य तथैव मम भाविनि॥ १५॥

'भामिनि! देवराज इन्द्रकी भाँति मुझे भी दिव्य भक्ष्य-भोज्य पदार्थ तथा नाना प्रकारके पेय रस उपलब्ध होते हैं॥ १५॥

क्षीयतां दुष्कृतं कर्म वनवासकृतं तव।
भार्या मे भव सुश्रोणि यथा मन्दोदरी तथा॥ १६॥

'सुश्रोणि! वनवासका कष्ट प्रदान करनेवाले तुम्हारे पूर्वकृत दुष्कर्मकी समाप्ति हो जानी चाहिये; इसके लिये तुम मन्दोदरीकी भाँति मेरी भार्या हो जाओ'॥ १६॥

इत्युक्ता तेन वैदेही परिवृत्य शुभानना।
तृणमन्तरतः कृत्वा तमुवाच निशाचरम्॥ १७॥
अशिवेनातिवामोरूरजस्रं नेत्रवारिणा।
स्तनावपतितौ बाला संहतावभिवर्षती॥ १८॥
उवाच वाक्यं तं क्षुद्रं वैदेही पतिदेवता।

रावणके ऐसा कहनेपर परम सुन्दर जाँघोंसे सुशोभित, पतिको ही देवता माननेवाली विदेहराजकुमारी सुमुखी सीता अपना मुँह फेरकर बीचमें तिनकेकी ओट करके राक्षसोंके लिये अमङ्गलसूचक आँसुओंद्वारा अपने पीन एवं उन्नत स्तनोंको निरन्तर भिगोती हुई उस नीच निशाचरसे इस प्रकार बोलीं—॥ १७-१८½॥

असकृद् वदतो वाक्यमीदृशं राक्षसेश्वर॥ १९॥
विषादयुक्तमेतत् ते मया श्रुतमभाग्यया।
तद् भद्रमुख भद्रं ते मानसं विनिवर्त्यताम्॥ २०॥

'राक्षसराज! तुम्हारे मुखसे ऐसी दुःखदायिनी बातें अनेक बार निकली हैं और मुझ अभागिनीको वे सारी बातें बार-बार सुननी पड़ी हैं। भद्रमुख! तुम्हारा भला हो। तुम अपना मन मेरी ओरसे हटा लो॥ १९-२०॥

परदारास्म्यलभ्या च सततं च पतिव्रता।
न चैवौपयिकी भार्या मानुषी कृपणा तव॥ २१॥

'मैं परायी स्त्री हूँ, पतिव्रता हूँ। तुम कभी किसी तरह मुझे नहीं पा सकते। एक दीन मानवकन्या होनेके कारण मैं तुम-जैसे निशाचरकी भार्या होने योग्य नहीं हूँ ॥ २१ ॥

विवशां धर्षयित्वा च कां त्वं प्रीतिमवाप्स्यसि।
प्रजापतिसमो विप्रो ब्रह्मयोनिः पिता तव ॥ २२ ॥

'मुझ विवश अबलाको बलपूर्वक अपमानित करके तुम्हें क्या सुख मिलेगा? तुम्हारे पिता ब्राह्मण हैं। ब्रह्मासे उत्पन्न होनेके कारण वे ब्रह्माके ही समान हैं ॥ २२ ॥

न च पालयसे धर्मं लोकपालसमः कथम्।
भ्रातरं राजराजानं महेश्वरसखं प्रभुम् ॥ २३ ॥
धनेश्वरं व्यपदिशन् कथं त्विह न लज्जसे।

'तुम भी लोकपालोंके समान हो, फिर धर्मका पालन क्यों नहीं करते? महेश्वरके सखा राजराज धनाध्यक्ष प्रभु कुबेरको अपना भाई बता रहे हो, तो भी यहाँ ऐसा बर्ताव करते हुए तुम्हें लज्जा क्यों नहीं आती?' ॥ २३½ ॥

इत्युक्त्वा प्रारुदत् सीता कम्पयन्ती पयोधरौ॥ २४ ॥
शिरोधरां च तन्वङ्गी मुखं प्रच्छाद्य वाससा।

ऐसा कहकर तन्वङ्गी सीता अपनी गर्दन और मुखको कपड़ेसे ढककर फूट-फूटकर रोने लगीं। उस समय छाती धड़कनेके कारण उनके स्तन काँप रहे थे ॥ २४½ ॥

तस्या रुदत्या भाविन्या दीर्घा वेणी सुसंयता ॥ २५ ॥
ददृशे स्वसिता स्निग्धा काली व्यालीव मूर्धनि।

अच्छी तरह रोती हुई भामिनी सीताके मस्तकपर बँधी हुई स्निग्ध, असित एवं विशाल वेणी काली नागिनके समान दिखायी देती थी ॥ २५½ ॥

श्रुत्वा तद् रावणो वाक्यं सीतयोक्तं सुनिष्ठुरम्॥ २६ ॥
प्रत्याख्यातोऽपि दुर्मेधाः पुनरेवाब्रवीद् वचः।
काममङ्गानि मे सीते दुनोतु मकरध्वजः ॥ २७ ॥
न त्वामकामां सुश्रोणीं समेष्ये चारुहासिनीम्।

सीताके मुखसे यह अत्यन्त निष्ठुर वचन सुनकर और उनके द्वारा कोरा उत्तर पाकर भी दुर्बुद्धि रावण पुनः इस प्रकार कहने लगा—'सीते! भले ही कामदेव मेरे शरीरको पीड़ा देता रहे, परंतु मैं तुम-जैसी मनोहर मुसकानवाली सुन्दरी युवतीको राजी किये बिना तुम्हारे साथ समागम नहीं करूँगा ॥२६-२७½ ॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं यत् त्वमद्यापि मानुषम् ॥ २८ ॥
आहारभूतमस्माकं राममेवानुरुध्यसे ॥ २९ ॥

'तुम आज भी उस मनुष्य रामके प्रति ही, जो हम लोगोंका आहार है, अनुराग दिखाती जा रही हो; ऐसी दशामें मैं क्या कर सकता हूँ?' ॥ २८-२९ ॥

इत्युक्त्वा तामनिन्द्याङ्गीं स राक्षसमहेश्वरः।
तत्रैवान्तर्हितो भूत्वा जगामाभिमतां दिशम् ॥ ३० ॥

अनिन्द्य अङ्गोंवाली सीतासे ऐसा कहकर राक्षसराज रावण वहीं अन्तर्धान हो अभीष्ट दिशाको ओर चल दिया ॥ ३० ॥

राक्षसीभिः परिवृता वैदेही शोककर्शिता।
सेव्यमाना त्रिजटया तत्रैव न्यवसत् तदा ॥ ३१ ॥

इधर शोकसे दुबली हुई सीता राक्षसियोंसे घिरकर त्रिजटासे सुसेवित हो अशोकवाटिकामें ही रहने लगी ॥३१॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि सीतारावणसंवादे एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें सीतारावणसंवादविषयक दो सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८१ ॥



द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीरामका सुग्रीवपर कोप, सुग्रीवका सीताकी खोजमें वानरोंको भेजना तथा श्रीहनुमान्‌जीका लौटकर अपनी लङ्कायात्राका वृत्तान्त निवेदन करना

मार्कण्डेय उवाच

राघवः सहसौमित्रिः सुग्रीवेणाभिपालितः।
वसन् माल्यवतः पृष्ठे ददर्श विमलं नभः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इधर श्रीराम और लक्ष्मण सुग्रीवसे सुरक्षित हो माल्यवान् पर्वतके पृष्ठभाग-पर रहने लगे। कुछ कालके अनन्तर जब वर्षाऋतु बीत गयी, तब उन्हें आकाश निर्मल दिखायी दिया ॥ १ ॥

स दृष्ट्वा विमले व्योम्नि निर्मलं शशलक्षणम्।
ग्रहनक्षत्रताराभिरनुयातममित्रहा ॥ २ ॥
कुमुदोत्पलपद्मानां गन्धमादाय वायुना।
महीधरस्थः शीतेन सहसा प्रतिबोधितः ॥ ३ ॥

शरद्‌ऋतुके निर्मल आकाशमें ग्रह, नक्षत्र तथा ताराओं-सहित विमल चन्द्रमाका दर्शन करके शत्रुसंहारक श्रीराम अभी पर्वतपर सोये ही थे कि कुमुद, उत्पल और पद्मोंकी सुगन्ध लेकर बहती हुई शीतल एवं सुखद वायुने उन्हें सहसा जगा दिया ॥ २–३ ॥

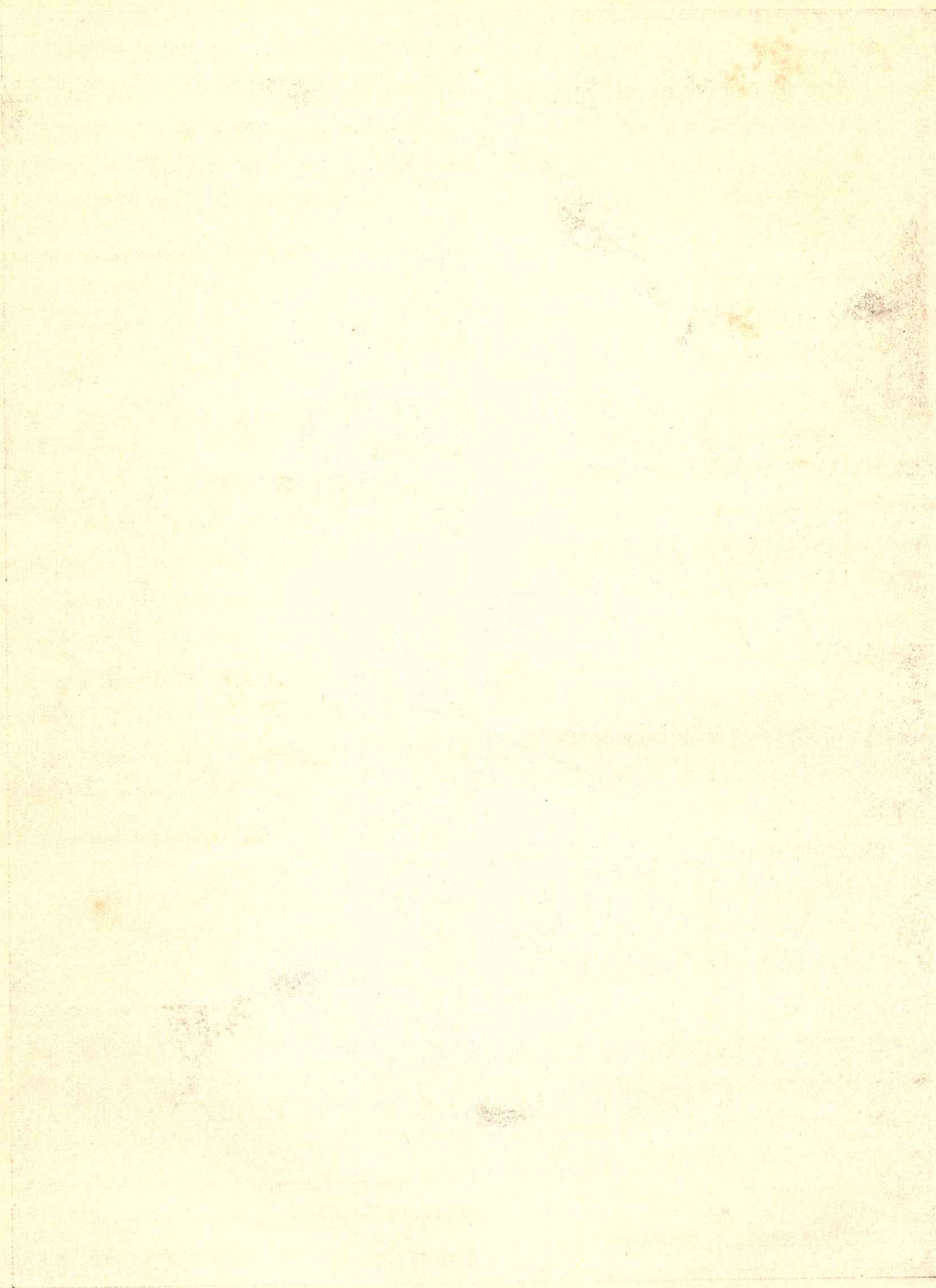
प्रभाते लक्ष्मणं वीरमभ्यभाषत दुर्मनाः।
सीतां संस्मृत्य धर्मात्मा रुद्धां राक्षसवेश्मनि ॥ ४ ॥

धर्मात्मा श्रीरामको प्रातःकाल राक्षसके भवनमें कैद हुई

सीताजीका रावणको फटकारना



हनुमान्‌जीकी श्रीसीताजीसे भेंट



अपनी पत्नी सीताका स्मरण हो आया और वे खिन्नचित्त होकर वीरवर लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले—॥ ४ ॥

गच्छ लक्ष्मण जानीहि किष्किन्धायां कपीश्वरम्।
प्रमत्तं ग्राम्यधर्मेषु कृतघ्नं स्वार्थपण्डितम् ॥ ५ ॥

'लक्ष्मण ! जाओ और पता लगाओ कि किष्किन्धामें वानरराज सुग्रीव क्या कर रहा है ? जान पड़ता है, स्वार्थ-साधनकी कलामें पण्डित कृतघ्न सुग्रीव विषयभोगोंमें आसक्त हो अपने कर्तव्यको भूल गया है ॥ ५ ॥

योऽसौ कुलाधमो मूढो मया राज्येऽभिषेचितः।
सर्ववानरगोपुच्छा यमृक्षाश्च भजन्ति वै ॥ ६ ॥

'उस वानरकुलकलंक मूर्खको मैंने ही राज्यपर अभिषिक्त किया है। इसके कारण सम्पूर्ण वानर, लंगूर तथा रीछ उसकी सेवा करते हैं ॥ ६ ॥

यदर्थं निहतो वाली मया रघुकुलोद्वह।
त्वया सह महाबाहो किष्किन्धोपवने तदा ॥ ७ ॥

'रघुकुलतिलक महाबाहु लक्ष्मण ! इसी सुग्रीवके लिये उन दिनों मैंने तुम्हारे साथ किष्किन्धाके उद्यानमें जाकर वालीका वध किया था ॥ ७ ॥

कृतघ्नं तमहं मन्ये वानरापसदं भुवि।
यो मामेवंगतो मूढो न जानीतेऽद्य लक्ष्मण ॥ ८ ॥

'सुमित्रानन्दन ! मैं तो उस नीच वानरको इस भूतलपर कृतघ्न मानता हूँ, क्योंकि वह मूर्ख इस अवस्थामें पहुँचकर मुझे भूल गया है ॥ ८ ॥

असौ मन्ये न जानीते समयप्रतिपालनम्।
कृतोपकारं मां नूनमवमन्याल्पया धिया ॥ ९ ॥

'मैं तो समझता हूँ, वह अपनी की हुई प्रतिज्ञाका पालन करना नहीं जानता और अपनी मन्दबुद्धिके कारण मुझ उपकारीकी भी वह निश्चय ही अवहेलना कर रहा है ॥ ९ ॥

यदि तावदनुद्युक्तः शेते कामसुखात्मकः।
नेतव्यो वालिमार्गेण सर्वभूतगतिं त्वया ॥ १० ॥

'यदि वह विषयसुखमें ही आसक्त हो सीताकी खोजके लिये कुछ उद्योग न कर रहा हो, तो उसे भी तुम वालीके मार्गसे उसी लोकको पहुँचा देना, जहाँ एक-न-एक दिन सभी प्राणियोंको जाना पड़ता है ॥ १० ॥

अथापि घटतेऽस्माकमर्थे वानरपुङ्गवः।
तमादायैव काकुत्स्थ त्वरावान् भव मा चिरम् ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण ! यदि वानरराज हमारे कार्यके लिये कुछ चेष्टा कर रहा हो, तो उसे साथ लेकर तुरंत लौट आना, देर न लगाना' ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणो भ्रात्रा गुरुवाक्यहिते रतः।
प्रतस्थे रुचिरं गृह्य समार्गणगुणं धनुः ॥ १२ ॥

भाईके ऐसा कहनेपर गुरुजनोंकी आज्ञाके पालन तथा हिताचरणमें तत्पर रहनेवाले लक्ष्मण बाण और प्रत्यञ्चा-सहित सुन्दर धनुष हाथमें लेकर वहाँसे चल दिये ॥ १२ ॥

किष्किन्धाद्वारमासाद्य प्रविवेशानिवारितः।
सक्रोध इति तं मत्वा राजा प्रत्युद्ययौ हरिः ॥ १३ ॥

किष्किन्धाके द्वारपर पहुँचकर वे बेरोक-टोक भीतर घुस गये। लक्ष्मण क्रोधमें भरे हुए आ रहे हैं, यह जानकर राजा सुग्रीव उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़ आया ॥ १३ ॥



तं सदारो विनीतात्मा सुग्रीवः प्लवगाधिपः।
पूजया प्रतिजग्राह प्रीयमाणस्तदर्हया ॥ १४ ॥
तमब्रवीद् रामवचः सौमित्रिरकुतोभयः।

पत्नीसहित वानरराज सुग्रीव विनीतभावसे लक्ष्मणजीकी पूजा करके उन्हें साथ लिवा ले गये। किसीसे भी भय न माननेवाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने उस पूजा (आदर-सत्कार) से प्रसन्न हो उनसे श्रीरामचन्द्रजीकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं ॥ १४½ ॥

स तत् सर्वमशेषेण श्रुत्वा प्रह्वः कृताञ्जलिः ॥ १५ ॥
सभृत्यदारो राजेन्द्र सुग्रीवो वानराधिपः।
इदमाह वचः प्रीतो लक्ष्मणं नरकुञ्जरम् ॥ १६ ॥

राजेन्द्र ! वह सब कुछ पूरा-पूरा सुनकर नम्रतापूर्वक हाथ जोड़े हुए भार्या तथा सेवकोंसहित वानरराज सुग्रीवने नरश्रेष्ठ लक्ष्मणसे सहर्ष निवेदन किया—॥ १५-१६ ॥

नास्मि लक्ष्मण दुर्मेधा नाकृतज्ञो न निर्घृणः।
श्रूयतां यः प्रयत्नो मे सीतापर्येषणे कृतः ॥ १७ ॥

'लक्ष्मण ! मैं न तो दुर्बुद्धि हूँ, न अकृतज्ञ हूँ और न निर्दय ही हूँ। मैंने सीताकी खोजके लिये जो प्रयत्न किया है, उसे सुनिये ॥ १७ ॥

दिशः प्रस्थापिताः सर्वे विनीता हरयो मया।
सर्वेषां च कृतः कालो मासेनागमनं पुनः ॥१८॥

'मैंने सब दिशाओंमें सभी विनयशील वानरोंको भेज दिया है और उन सबके लिये एक महीनेके अंदर ही लौट आनेका समय निश्चित कर दिया है ॥ १८ ॥

यैरियं सवना साद्रिः सपुरा सागराम्बरा।
विचेतव्या मही वीर सग्रामनगराकरा ॥१९॥

'वीर ! वे सब लोग वन, पर्वत, पुर, ग्राम, नगर तथा आकरोंसहित समुद्रवसना इस सारी पृथ्वीपर सीताकी खोज करेंगे ॥ १९ ॥

स मासः पञ्चरात्रेण पूर्णो भवितुमर्हति।
ततः श्रोष्यसि रामेण सहितः सुमहत् प्रियम् ॥ २०॥

'वह एक मास, जिसके समाप्त होनेतक वानरोंको लौट आना है, पाँच रातमें पूरा हो जायगा। तत्पश्चात् आप रामचन्द्रजीके साथ सीताका अत्यन्त प्रिय समाचार सुनेंगे' ॥ २० ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तेन वानरेन्द्रेण धीमता।
त्यक्त्वा रोषमदीनात्मा सुग्रीवं प्रत्यपूजयत् ॥ २१॥

बुद्धिमान् वानरराज सुग्रीवके ऐसा कहनेपर उदार हृदयवाले लक्ष्मणने रोष त्यागकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ २१ ॥

स रामं सहसुग्रीवो माल्यवत्पृष्ठमास्थितम्।
अभिगम्योदयं तस्य कार्यस्य प्रत्यवेदयत् ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् वे सुग्रीवको साथ लेकर माल्यवान् पर्वतके पृष्ठभागमें रहनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके पास गये। वहाँ उन्होंने बताया कि सीताका अनुसंधानकार्य आरम्भ हो गया है ॥ २२ ॥

इत्येवं वानरेन्द्रास्ते समाजग्मुः सहस्रशः।
दिशस्तिस्रो विचित्याथ न तु ये दक्षिणां गताः ॥ २३॥

इसके बाद मास पूर्ण होनेपर तीन दिशाओंकी खोज करके सहस्रों वानरप्रमुख वहाँ आये। केवल वे ही नहीं आये, जो दक्षिण दिशामें पता लगाने गये थे ॥ २३ ॥

आचख्युस्तत्र रामाय महीं सागरमेखलाम्।
विचितां न तु वैदेह्या दर्शनं रावणस्य वा ॥ २४॥

आये हुए वानरोंने श्रीरामचन्द्रजीसे बताया कि समुद्रसे घिरी हुई सारी पृथ्वी हमने देख डाली, परंतु कहीं भी सीता अथवा रावणका दर्शन नहीं हुआ ॥ २४ ॥

गतास्तु दक्षिणामाशां ये वै वानरपुङ्गवाः।
आशावांस्तेषु काकुत्स्थः प्राणानार्तोऽभ्यधारयत् ॥ २५॥

जो प्रमुख वानर दक्षिण दिशाकी ओर गये थे, उन्हींसे सीताका वास्तविक समाचार मिलनेकी आशा बँधी हुई थी, इसीलिये व्यथित होनेपर भी श्रीरामचन्द्रजी अपने प्राणोंको धारण किये रहे ॥ २५ ॥

द्विमासोपरमे काले व्यतीते प्लवगास्ततः।
सुग्रीवमभिगम्येदं त्वरिता वाक्यमब्रुवन् ॥ २६ ॥

दो मास व्यतीत हो जानेपर कुछ वानर बड़ी उतावलीके साथ सुग्रीवके पास आये और इस प्रकार कहने लगे—॥ २६ ॥

रक्षितं वालिना यत् तत् स्फीतं मधुवनं महत्।
त्वया च प्लवगश्रेष्ठ तद् भुङ्क्ते पवनात्मजः ॥ २७ ॥

'वानरराज ! वालीने तथा आपने भी जिस समृद्धिशाली महान् मधुवनकी रक्षा की थी, उसे पवननन्दन हनुमान्जी (राजाज्ञाके बिना ही) अपने उपभोगमें ला रहे हैं ॥ २७ ॥

वालिपुत्रोऽङ्गदश्चैव ये चान्ये प्लवगर्षभाः।
विचेतुं दक्षिणामाशां राजन् प्रस्थापितास्त्वया ॥ २८ ॥

'राजन् ! उनके साथ वालिपुत्र अङ्गद तथा अन्य सभी श्रेष्ठ वानर इस काममें भाग ले रहे हैं, जिन्हें आपने दक्षिण दिशामें सीताजीकी खोजके लिये भेजा था' ॥ २८ ॥

तेषामपनयं श्रुत्वा मेने स कृतकृत्यताम्।
कृतार्थानां हि भृत्यानामेतद् भवति चेष्टितम् ॥ २९ ॥

उन वानरोंके अनुचित बर्तावका समाचार सुनकर सुग्रीवको यह विश्वास हो गया कि वे सब काम पूरा करके लौटे हैं; क्योंकि ऐसी धृष्टतापूर्ण चेष्टा उन्हीं सेवकोंकी होती है, जो अपने कार्यमें सफल हो जाते हैं ॥ २९ ॥

स तद् रामाय मेधावी शशंस प्लवगर्षभः।
रामश्चाप्यनुमानेन मेने दृष्टां तु मैथिलीम् ॥ ३० ॥

बुद्धिमान् वानरप्रवर सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीसे अपना निश्चय बताया। श्रीरामचन्द्रजीने भी अनुमानसे यह मान लिया कि उन वानरोंने अवश्य ही मिथिलेशकुमारी सीताका दर्शन किया होगा ॥ ३० ॥

हनुमत्प्रमुखाश्चापि विश्रान्तास्ते प्लवङ्गमाः।
अभिजग्मुर्हरीन्द्रं तं रामलक्ष्मणसंनिधौ ॥ ३१ ॥

हनुमान् आदि श्रेष्ठ वानर विश्राम कर लेनेके पश्चात् श्रीराम और लक्ष्मणके समीप बैठे हुए उस वानरराज सुग्रीवके पास गये ॥ ३१ ॥

गतिं च मुखवर्णं च दृष्ट्वा रामो हनूमतः।
अगमत् प्रत्ययं भूयो दृष्टा सीतेति भारत ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर ! हनुमान्जीकी चाल-ढाल और मुखकी कान्ति

देखकर श्रीरामचन्द्रजीको यह विश्वास हो गया कि इन्होंने सीताको देखा है ॥ ३२ ॥

हनुमत्प्रमुखास्ते तु वानराः पूर्णमानसाः ।
प्रणेमुर्विधिवद् रामं सुग्रीवं लक्ष्मणं तथा ॥ ३३ ॥

सफलमनोरथ हुए हनुमान् आदि प्रमुख वानरोंने श्रीराम, सुग्रीव तथा लक्ष्मणको विधिपूर्वक प्रणाम किया ॥ ३३ ॥

तानुवाचानतान् रामः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
अपि मां जीवयिष्यध्वमपि वः कृतकृत्यता ॥ ३४ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीने धनुष-बाण लेकर उन प्रणाम करते हुए वानरोंसे पूछा—'क्या तुमलोग सीताका अमृतमय समाचार सुनाकर मुझे जीवनदान दोगे ? क्या तुम लोगोंको अपने कार्यमें सफलता मिली है ? ॥ ३४ ॥

अपि राज्यमयोध्यायां कारयिष्याम्यहं पुनः ।
निहत्य समरे शत्रूनाहृत्य जनकात्मजाम् ॥ ३५ ॥

'क्या मैं युद्धमें शत्रुओंको मारकर जनकनन्दिनी सीताको साथ ले पुनः अयोध्यामें रहकर राज्य करूँगा ? ॥ ३५ ॥

अमोक्षयित्वा वैदेहीमहत्वा च रणे रिपून् ।
हृतदारोऽवधूतश्च नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ३६ ॥

'विदेहनन्दिनी सीताको बिना छुड़ाये तथा समरभूमिमें शत्रुओंका बिना संहार किये पत्नीको खोकर और अवधूत बनकर मैं जीवित नहीं रह सकता' ॥ ३६ ॥

इत्युक्तवचनं रामं प्रत्युवाचानिलात्मजः ।
प्रियमाख्यामि ते राम दृष्टा सा जानकी मया ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर वायुपुत्र हनुमान्‌जीने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'श्रीराम ! मैं आपको प्रिय समाचार सुना रहा हूँ । मैंने जनकनन्दिनी सीताका दर्शन किया है ॥ ३७ ॥



विचित्य दक्षिणामाशां सपर्वतवनाकराम् ।
श्रान्ताः काले व्यतीते स्म दृष्टवन्तो महागुहाम् ॥ ३८ ॥

'पर्वत, वन तथा आकरोंसहित सम्पूर्ण दक्षिण दिशामें श्रीसीताजीका अनुसंधान करके जब हमलोग थक गये और यहाँ लौटनेका समय व्यतीत हो गया, तब हमें एक बहुत बड़ी गुफा दिखायी दी ॥ ३८ ॥

प्रविशामो वयं तां तु बहुयोजनमायताम् ।
सान्धकारां सुविपिनां गहनां कीटसेविताम् ॥ ३९ ॥
गत्वा सुमहदध्वानमादित्यस्य प्रभां ततः ।
दृष्टवन्तः स्म तत्रैव भवनं दिव्यमन्तरा ॥ ४० ॥

'वह कई योजन लंबी थी । उसमें अन्धकार भरा हुआ था । उसके भीतर घने जंगल थे । उस गहन गुफामें बहुत-से कीड़े रहा करते थे । उसमें प्रवेश करके हमने बहुत दूरतकका रास्ता पार कर लिया । तत्पश्चात् सूर्यके प्रकाशका दर्शन हुआ । उसी गुफाके अंदर एक दिव्य भवन शोभा पा रहा था ॥ ३९-४० ॥

मयस्य किल दैत्यस्य तदासीद् वेश्म राघव ।
तत्र प्रभावती नाम तपोऽतप्यत तापसी ॥ ४१ ॥

'रघुनन्दन ! वह सुन्दर भवन दैत्यराज मयका निवास-स्थान बताया जाता है । उसमें प्रभावती नामकी एक तपस्विनी तप कर रही थी ॥ ४१ ॥

तया दत्तानि भोज्यानि पानानि विविधानि च ।
भुक्त्वा लब्धबलाः सन्तस्तयोक्तेन पथा ततः ॥ ४२ ॥
निर्याय तस्मादुद्देशात् पश्यामो लवणाम्भसः ।
समीपे सह्यमलयौ दर्दुरं च महागिरिम् ॥ ४३ ॥

'उसने हमें अनेक प्रकारके भोज्य पदार्थ तथा भाँति-भाँतिके पीने योग्य रस दिये । उन्हें खाकर हमें नूतन बल प्राप्त हुआ । फिर उसीके बताये हुए मार्गसे जब हम गुफासे बाहर निकले, तब हमें लवणसमुद्रके निकटवर्ती सह्य, मलय और दर्दुर नामक महान् पर्वत दिखायी दिये ॥ ४२-४३ ॥

ततो मलयमारुह्य पश्यन्तो वरुणालयम् ।
विषण्णा व्यथिताः खिन्ना निराशा जीविते भृशम् ॥ ४४ ॥

'फिर हमलोग मलयाचलपर चढ़कर समुद्रकी ओर देखने लगे । उसकी विशालता देखकर हमारा हृदय विषादसे भर गया । हम खिन्न और व्यथित हो गये । हमें जीवनकी कोई आशा न रही ॥ ४४ ॥

अनेकशतविस्तीर्णं योजनानां महोदधिम् ।
तिमिनक्रझषावासं चिन्तयन्तः सुदुःखिताः ॥ ४५ ॥

'उस महासागरका विस्तार कई सौ योजनोंमें था। उसमें तिमि, मगर और बड़े-बड़े मत्स्य निवास करते थे। उसके इस स्वरूपका स्मरण करके हम सब लोग बहुत दुखी हो गये ॥ ४५ ॥

तत्रानशनसंकल्पं कृत्वाऽऽसीना वयं तदा ।
ततः कथान्ते गृध्रस्य जटायोरभवत् कथा ॥ ४६ ॥

'अन्तमें अनशन करके प्राण त्याग देनेका संकल्प लेकर हम सब लोग वहाँ बैठ गये। फिर आपसमें बातचीत होने लगी और बीचमें जटायुका प्रसंग छिड़ गया ॥ ४६ ॥

ततः पर्वतशृङ्गाभं घोररूपं भयावहम् ।
पक्षिणं दृष्टवन्तः स्म वैनतेयमिवापरम् ॥ ४७ ॥

'इतनेमें ही हमने दूसरे गरुड़की भाँति एक भयंकर पक्षीको देखा, जो पर्वतशिखरके समान जान पड़ता था। उसका स्वरूप बड़ा डरावना था ॥ ४७ ॥

सोऽस्मानतर्कयद् भोक्तुमथाभ्येत्य वचोऽब्रवीत्।
भोः क एष मम भ्रातुर्जटायोः कुरुते कथाम् ॥ ४८ ॥
सम्पातिर्नाम तस्याहं ज्येष्ठो भ्राता खगाधिपः।
अन्योन्यस्पर्धयारूढावावामादित्यसत्पदम् ॥ ४९ ॥

'वह पक्षी हमें खा जानेकी युक्ति सोचने लगा। फिर हमारे पास आकर बोला—'अजी! कौन मेरे भाई जटायुकी बात कर रहा था। मैं उसका बड़ा भाई पक्षिराज सम्पाति हूँ। हम दोनों एक दूसरेसे होड़ लगाकर आकाशमें सूर्यमण्डलतक पहुँचनेके लिये उड़े थे ॥ ४८-४९ ॥

ततो दग्धाविमौ पक्षौ न दग्धौ तु जटायुषः ।
तदा मे चिरदृष्टः स भ्राता गृध्रपतिः प्रियः ॥ ५० ॥
निर्दग्धपक्षः पतितो ह्यहमस्मिन् महागिरौ ।

'इससे मेरी ये दोनों पाँखें जल गयीं, परंतु जटायुके पंख नहीं जले। तबसे दीर्घकाल व्यतीत हो गया। उन्हीं दिनों मैंने अपने प्रिय भाई गृध्रराज जटायुको देखा था पंख जल जानेसे मैं इसी महान् पर्वतपर गिर पड़ा' ॥ ५०½ ॥

तस्यैवं वदतोऽस्माभिर्हतो भ्राता निवेदितः ॥ ५१ ॥
व्यसनं भवतश्चेदं संक्षेपाद् वै निवेदितम् ।

'सम्पाति जब इस तरहकी बातें कर रहा था, उस समय हमलोगोंने बताया कि जटायु मारे गये। साथ ही हमने संक्षेपसे आपके ऊपर आये हुए इस संकटका समाचार भी निवेदन कर दिया ॥ ५१½ ॥

स सम्पातिस्तदा राजञ्छ्रुत्वा सुमहदप्रियम् ॥ ५२ ॥
विषण्णचेताः पप्रच्छ पुनरस्मानरिंदम ।
कः स रामः कथं सीता जटायुश्च कथं हतः ॥ ५३ ॥
इच्छामि सर्वमेवैतच्छ्रोतुं प्लवगसत्तमाः ।

'राजन्! यह अत्यन्त अप्रिय वृत्तान्त सुनकर उस सम्पातिके मनमें बड़ा खेद हुआ। शत्रुदमन! उसने पुनः हमलोगोंसे पूछा—'श्रेष्ठ वानरगण! वे श्रीराम कौन हैं, सीता कैसी है और जटायु किस प्रकार मारे गये? ये सब बातें मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ' ॥ ५२-५३½ ॥

तस्याहं सर्वमेवैतद् भवतो व्यसनागमम् ॥ ५४ ॥
प्रायोपवेशने चैव हेतुं विस्तरशोऽब्रुवम् ।

'तब मैंने सम्पातिके समक्ष आपपर संकट आनेका यह सारा वृत्तान्त और अपने आमरण अनशनका कारण विस्तारपूर्वक बताया ॥ ५४½ ॥

सोऽस्मानुत्थापयामास वाक्येनानेन पक्षिराट् ॥ ५५ ॥
रावणो विदितो मह्यं लङ्का चास्य महापुरी ।
दृष्टा पारे समुद्रस्य त्रिकूटगिरिकन्दरे ॥ ५६ ॥
भवित्री तत्र वैदेही न मेऽस्त्यत्र विचारणा ।

'तब पक्षिराज सम्पातिने अपने निम्नाङ्कित वचनद्वारा हमें उत्साहित करके उठाया। 'वानरो! मैं रावणको जानता हूँ। उसकी महापुरी लङ्का भी मैंने देखी है। वह समुद्रके उस पार त्रिकूटगिरिकी कन्दरामें बसी है। विदेहकुमारी सीता अवश्य वहीं होंगी, इस विषयमें मुझे कोई अन्यथा विचार नहीं हो रहा है' ॥ ५५-५६½ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा वयमुत्थाय सत्वराः ॥ ५७ ॥
सागरक्रमणे मन्त्रं मन्त्रयामः परंतप ।

परंतप! उसकी यह बात सुनकर हमलोग तुरंत उठे और समुद्र पार करनेके विषयमें परस्पर सलाह करने लगे ॥ ५७½ ॥

नाध्यवास्यद् यदा कश्चित् सागरस्य विलङ्घनम् ॥ ५८ ॥
ततः पितरमाविश्य पुप्लुवेऽहं महार्णवम् ।
शतयोजनविस्तीर्णं निहत्य जलराक्षसीम् ॥ ५९ ॥

'जब कोई भी समुद्रको लाँघनेका साहस न कर सका, तब मैं अपने पिता वायुके स्वरूपमें प्रविष्ट होकर वह सौ योजन विस्तृत महासागर लाँघ गया। उस समय समुद्रके जलमें एक राक्षसी रहती थी, जिसे अपने मार्गमें विघ्न डालनेपर मैंने मार डाला था ॥ ५८-५९ ॥

तत्र सीता मया दृष्टा रावणान्तःपुरे सती ।
उपवासतपःशीला भर्तृदर्शनलालसा ॥ ६० ॥

लङ्कामें पहुँचकर रावणके अन्तःपुरमें मैंने सती सीताका दर्शन किया, जो अपने पतिदेवताके दर्शनकी लालसासे निरन्तर उपवास और तपस्या किया करती हैं ॥ ६० ॥

जटिला मलदिग्धाङ्गी कृशा दीना तपस्विनी ।
निमित्तैस्तामहं सीतामुपलभ्य पृथग्विधैः ॥ ६१ ॥

उपसृत्याब्रुवं चार्यामभिगम्य रहोगताम् ।
सीते रामस्य दूतोऽहं वानरो मारुतात्मजः ॥ ६२ ॥

'उनके केश जटाके रूपमें परिणत हो गये थे। अङ्ग-अङ्गमें मैल जम गयी थी। वे दीन, दुर्बल और तपस्विनी दिखायी देती थीं। कई भिन्न-भिन्न कारणोंसे उन्हें आर्या सीताके रूपमें पहचानकर मैं एकान्तमें उनके निकट गया और इस प्रकार बोला—'देवि सीते ! मैं श्रीरामचन्द्रजीका दूत पवनपुत्र हनुमान् नामक वानर हूँ ॥ ६१-६२ ॥

त्वद्दर्शनमभिप्रेप्सुरिह प्राप्तो विहायसा ।
राजपुत्रौ कुशलिनौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ६३॥

'आपके दर्शनके लिये मैं आकाशमार्गसे यहाँ आया हूँ। दोनों भाई राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण कुशलसे हैं ॥ ६३ ॥

सर्वशाखामृगेन्द्रेण सुग्रीवेणाभिपालितौ ।
कुशलं त्वाब्रवीद् रामः सीते सौमित्रिणा सह ॥ ६४॥

'सम्पूर्ण वानरोंके अधीश्वर सुग्रीव इस समय उनकी रक्षामें तत्पर हैं। देवि ! सुमित्रानन्दन लक्ष्मणके साथ भगवान् श्रीरामने आपको अपने सकुशल होनेका समाचार कहलाया है ॥ ६४ ॥

सखिभावाच्च सुग्रीवः कुशलं त्वानुपृच्छति ।
क्षिप्रमेष्यति ते भर्ता सर्वशाखामृगैः सह ॥ ६५॥
प्रत्ययं कुरु मे देवि वानरोऽस्मि न राक्षसः ।

'उनके मित्र होनेके नाते सुग्रीव भी आपका कुशल-मङ्गल पूछते हैं। आपके स्वामी भगवान् श्रीराम सम्पूर्ण वानरोंकी सेनाके साथ शीघ्र यहाँ पधारेंगे। देवि ! मेरा विश्वास कीजिये। मैं राक्षस नहीं, वानर हूँ' ॥ ६५½ ॥

मुहूर्तमिव च ध्यात्वा सीता मां प्रत्युवाच ह ॥ ६६ ॥
अवैमि त्वां हनूमन्तमविन्ध्यवचनादहम् ।
अविन्ध्यो हि महाबाहो राक्षसो वृद्धसम्मतः ॥ ६७ ॥

'तदनन्तर सीताने दो घड़ीतक कुछ सोचकर मुझसे इस प्रकार कहा—'महाबाहो ! मैं अविन्ध्यके कहनेसे यह विश्वास करती हूँ कि तुम हनुमान् हो। अविन्ध्य राक्षसकुलमें उत्पन्न होते हुए भी वृद्ध एवं आदरणीय हैं ॥ ६६-६७ ॥

कथितस्तेन सुग्रीवस्त्वद्विधैः सचिवैर्वृतः ।
गम्यतामिति चोक्त्वा मां सीता प्रादादिमं मणिम् ॥ ६८॥
धारिता येन वैदेही कालमेतमनिन्दिता ।
प्रत्ययार्थं कथां चेमां कथयामास जानकी ॥ ६९ ॥

'उन्हींने ही तुम्हारे-जैसे मन्त्रियोंसे युक्त सुग्रीवका परिचय दिया है। वत्स ! अब तुम भगवान् श्रीरामके पास जाओ।' ऐसा कहकर सती साध्वी सीताने अपनी पहचानके लिये यह एक मणि दी, जिसको धारण करके वे अबतक अपने प्राणोंकी रक्षा करती आयी हैं। जानकीने विश्वास दिलानेके लिये यह एक कथा भी सुनायी थी—॥ ६८-६९ ॥

क्षिप्तामिषीकां काकाय चित्रकूटे महागिरौ ।
भवता पुरुषव्याघ्र प्रत्यभिज्ञानकारणात् ॥ ७० ॥
(एकाक्षिविकलः काकः सुदुष्टात्मा कृतश्च वै।)

'पुरुषसिंह ! उस कथाका मुख्य विषय यह है कि आपने महापर्वत चित्रकूटपर रहते समय किसी कौएके ऊपर एक सींकका बाण चलाया था और उस दुष्टात्मा कौएको एक आँखसे वञ्चित कर दिया था। यह प्रसङ्ग उन्होंने केवल अपनी पहचान करानेके उद्देश्यसे प्रस्तुत किया था ॥ ७० ॥

ग्राहयित्वाहमात्मानं ततो दग्ध्वा च तां पुरीम् ।
सम्प्राप्त इति तं रामः प्रियवादिनमार्चयत् ॥ ७१ ॥

'तदनन्तर मैंने जान-बूझकर अपने आपको राक्षसोंद्वारा पकड़वा दिया और लङ्कापुरीको जलाकर समुद्रके इस पार आ पहुँचा।' यह सब समाचार सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने प्रियवादी हनुमान्‌का अत्यन्त आदर-सत्कार किया ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि हनुमत्प्रत्यागमने द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें हनुमान्‌जीके लङ्कासे लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७१½ श्लोक हैं)

त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वानर-सेनाका संगठन, सेतुका निर्माण, विभीषणका अभिषेक और लङ्काकी सीमामें सेनाका प्रवेश तथा अङ्गदको रावणके पास दूत बनाकर भेजना

मार्कण्डेय उवाच

ततस्तत्रैव रामस्य समासीनस्य तैः सह ।
समाजग्मुः कपिश्रेष्ठाः सुग्रीववचनात् तदा ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर सुग्रीवकी आज्ञाके अनुसार बड़े-बड़े वानरवीर माल्यवान् पर्वतपर लक्ष्मण आदिके साथ बैठे हुए भगवान् श्रीरामके पास पहुँचने लगे ॥

वृतः कोटिसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम्।
श्वशुरो वालिनः श्रीमान् सुषेणो राममभ्ययात् ॥ २ ॥

सबसे पहले वालीके श्वशुर श्रीमान् सुषेण श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें उपस्थित हुए। उनके साथ वेगशाली वानरोंकी सहस्र कोटि (दस अरब) सेना थी ॥ २ ॥

कोटीशतवृतो वापि गजो गवय एव च।
वानरेन्द्रौ महावीर्यौ पृथक् पृथगदृश्यताम् ॥ ३ ॥

फिर महापराक्रमी वानरराज 'गज' और 'गवय' पृथक्-पृथक् एक-एक अरब सेनाके साथ आते दिखायी दिये ॥३॥

षष्टिकोटिसहस्राणि प्रकर्षन् प्रत्यदृश्यत।
गोलाङ्गूलो महाराज गवाक्षो भीमदर्शनः ॥ ४ ॥

महाराज ! गोलांगूल (लंगूर) जातिका वानर गवाक्ष, जो देखनेमें बड़ा भयंकर था, साठ सहस्र कोटि (छः खरब) वानर-सेना साथ लिये दृष्टिगोचर हुआ ॥ ४ ॥

गन्धमादनवासी तु प्रथितो गन्धमादनः।
कोटीशतसहस्राणि हरीणां समकर्षत ॥ ५ ॥

गन्धमादन पर्वतपर रहनेवाला गन्धमादन नामसे विख्यात वानर वानरोंकी दस खरब सेना साथ लेकर आया ॥ ५ ॥

पनसो नाम मेधावी वानरः सुमहाबलः।
कोटीर्दश द्वादश च त्रिंशत् पञ्च प्रकर्षति ॥ ६ ॥

पनस नामक बुद्धिमान् तथा महाबली वानर सत्तावन करोड़ सेना साथ लेकर आया ॥ ६ ॥

श्रीमान् दधिमुखो नाम हरिवृद्धोऽतिवीर्यवान्।
प्रचकर्ष महासैन्यं हरीणां भीमतेजसाम् ॥ ७ ॥

वानरोंमें वृद्ध तथा अत्यन्त पराक्रमी श्रीमान् दधिमुख भयंकर तेजसे सम्पन्न वानरोंकी विशाल सेना साथ लेकर आये ॥ ७ ॥

कृष्णानां मुखपुण्ड्राणामृक्षाणां भीमकर्मणाम्।
कोटीशतसहस्रेण जाम्बवान् प्रत्यदृश्यत ॥ ८ ॥

जिनके मुख (ललाट) पर तिलकका चिह्न शोभा पा रहा था तथा जो भयंकर पराक्रम करनेवाले थे, ऐसे काले रंगके शतकोटि सहस्र (दस खरब) रीछोंकी सेनाके साथ वहाँ जाम्बवान् दिखायी दिये ॥ ८ ॥

एते चान्ये च बहवो हरियूथपयूथपाः।
असंख्येया महाराज समीयू रामकारणात् ॥ ९ ॥

महाराज ! ये तथा और भी बहुत-से वानरयूथपतियोंके भी यूथपति, जिनकी कोई संख्या नहीं थी, श्रीरामचन्द्रजीके कार्यसे वहाँ एकत्र हुए ॥ ९ ॥

गिरिकूटनिभाङ्गानां सिंहानामिव गर्जताम्।
श्रूयते तुमुलः शब्दस्तत्र तत्र प्रधावताम् ॥ १० ॥

उनके अङ्ग पर्वतोंके शिखरके सदृश जान पड़ते थे। वे सबके सब सिंहोंके समान गरजते और इधर-उधर दौड़ते थे। उन सबका सम्मिलित शब्द बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ १० ॥

गिरिकूटनिभाः केचित् केचिन्महिषसंनिभाः।
शरदभ्रप्रतीकाशाः केचिद्धिङ्गुलकाननाः ॥ ११ ॥

कोई पर्वत-शिखरके समान ऊँचे थे, तो कोई भैंसोंके सदृश मोटे और काले। कितने ही वानर शरद् ऋतुके बादलोंकी तरह सफेद दिखायी देते थे, कितनोंके ही मुख सिन्दूरके समान लाल रंगके थे ॥ ११ ॥

उत्पतन्तः पतन्तश्च प्लवमानाश्च वानराः।
उद्धुन्वन्तोऽपरे रेणून् समाजग्मुः समन्ततः ॥ १२ ॥

वे वानर सैनिक उछलते, गिरते-पड़ते, कूदते-फाँदते और धूल उड़ाते हुए चारों ओरसे एकत्र हो रहे थे ॥ १२ ॥

स वानरमहासैन्यः पूर्णसागरसंनिभः।
निवेशमकरोत् तत्र सुग्रीवानुमते तदा ॥ १३ ॥

वानरोंकी वह विशाल सेना भरे-पूरे महासागरके समान दिखायी देती थी। सुग्रीवकी आज्ञासे उस समय माल्यवान् पर्वतके आस-पास ही उस समस्त सेनाका पड़ाव पड़ गया ॥ १३ ॥

ततस्तेषु हरीन्द्रेषु समावृत्तेषु सर्वशः।
तिथौ प्रशस्ते नक्षत्रे मुहूर्ते चाभिपूजिते ॥ १४ ॥
तेन व्यूढेन सैन्येन लोकानुद्वर्तयन्निव।
प्रययौ राघवः श्रीमान् सुग्रीवसहितस्तदा ॥ १५ ॥

तदनन्तर उन समस्त श्रेष्ठ वानरोंके सब ओरसे एकत्र हो जानेपर सुग्रीवसहित भगवान् श्रीरामने एक दिन शुभ तिथि, उत्तम नक्षत्र और शुभ मुहूर्तमें युद्धके लिये प्रस्थान किया। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो वे उस व्यूह-रचनायुक्त सेनाके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंका संहार करने जा रहे हैं ॥ १४-१५ ॥

मुखमासीत् तु सैन्यस्य हनूमान् मारुतात्मजः।
जघनं पालयामास सौमित्रिरकुतोभयः ॥ १६ ॥

उस सेनाके मुहानेपर वायुपुत्र हनुमान्‌जी विद्यमान थे। किसीसे भी भय न माननेवाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मण उसके पृष्ठभागकी रक्षा कर रहे थे ॥ १६ ॥

बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ राघवौ तत्र जग्मतुः।
वृतौ हरिमहामात्रैश्चन्द्रसूर्यौ ग्रहैरिव ॥ १७ ॥

दोनों रघुवंशी वीर श्रीराम और लक्ष्मण हाथोंमें गोहके चमड़ेके बने हुए दस्ताने पहने हुए थे। वे ग्रहोंसे घिरे हुए चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति वानरजातीय मन्त्रियोंके बीचमें होकर चल रहे थे ॥ १७ ॥

प्रबभौ हरिसैन्यं तत् सालतालशिलायुधम्।
सुमहच्छालिभवनं यथा सूर्योदयं प्रति॥ १८॥

श्रीरामचन्द्रजीके सम्मुख साल, ताल और शिलारूपी आयुध लिये वे समस्त वानर सैनिक सूर्योदयके समय पके हुए धानके विशाल खेतोंके समान जान पड़ते थे॥ १८॥

नलनीलाङ्गदक्राथमैन्दद्विविदपालिता।
ययौ सुमहती सेना राघवस्यार्थसिद्धये॥ १९॥

नल, नील, अङ्गद, क्राथ, मैन्द तथा द्विविदके द्वारा सुरक्षित हुई वह विशाल वानरसेना श्रीरामचन्द्रजीका कार्य सिद्ध करनेके लिये आगे बढ़ती चली जा रही थी॥ १९॥

विविधेषु प्रशस्तेषु बहुमूलफलेषु च।
प्रभूतमधुमूलेषु वारिमत्सु शिवेषु च॥ २०॥
निवसन्ती निराबाधा तथैव गिरिसानुषु।
उपायाद्धरिसेना सा क्षारोदमथ सागरम्॥ २१॥

जहाँ फल-मूलकी बहुतायत होती, मधु और कन्द-मूल प्रचुरमात्रामें उपलब्ध होते तथा जलकी अधिक सुविधा होती, ऐसे कल्याणकारी और उत्तम विविध पर्वतीय शिखरोंपर डेरा डालती हुई वह वानरसेना बिना किसी विघ्न-बाधाके खारे पानीवाले समुद्रके निकट जा पहुँची॥ २०-२१॥

द्वितीयसागरनिभं तद् बलं बहुलध्वजम्।
वेलावनं समासाद्य निवासमकरोत् तदा॥ २२॥

असंख्य ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित वह विशाल वाहिनी दूसरे महासागरके समान जान पड़ती थी। सागरके तटवर्ती वनमें पहुँचकर उसने अपना पड़ाव डाला॥ २२॥

ततो दाशरथिः श्रीमान् सुग्रीवं प्रत्यभाषत।
मध्ये वानरमुख्यानां प्राप्तकालमिदं वचः॥ २३॥

तत्पश्चात् मुख्य-मुख्य वानरोंके बीचमें बैठे हुए दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामने सुग्रीवसे यह समयोचित बात कही—॥ २३॥

उपायः को नु भवतां मतः सागरलङ्घने।
इयं हि महती सेना सागरश्चातिदुस्तरः॥ २४॥

'मित्रो! हमारी यह सेना बहुत बड़ी है और सामने अत्यन्त दुस्तर महासागर लहरें ले रहा है। ऐसी दशामें आपलोग समुद्रके पार जानेके लिये कौन-सा उपाय ठीक समझते हैं?'॥ २४॥

तत्रान्ये व्याहरन्ति स्म वानरा बहुमानिनः।
समर्था लङ्घने सिन्धोर्न तु तत् कृत्स्नकारकम्॥ २५॥

तब वहाँ बहुत-से दूसरे-दूसरे वानर, जो बड़े अभिमानी थे, कहने लगे—'हम तो समुद्रको लाँघ जानेमें समर्थ हैं 'परंतु सब नहीं लाँघ सकते'॥ २५॥

केचिन्नौभिर्व्यवस्यन्ति केचिच्च विविधैः प्लवैः।
नेति रामस्तु तान् सर्वान् सान्त्वयन् प्रत्यभाषत॥ २६॥

कुछ वानर बड़ी-बड़ी नावोंके द्वारा समुद्रके पार जानेका निश्चय प्रकट करने लगे। कुछने नाव-डोंगी आदि विविध साधनोंद्वारा पार जानेकी बात बतायी। परंतु श्रीरामचन्द्रजीने उनकी यह सलाह माननेसे इन्कार कर दिया और सबको सान्त्वना देते हुए कहा—॥ २६॥

शतयोजनविस्तारं न शक्ताः सर्ववानराः।
क्रान्तुं तोयनिधिं वीरा नैषा वो नैष्ठिकी मतिः॥ २७॥

'वीरो! सभी वानरोंमें इतनी शक्ति नहीं है कि वे सौ योजन विस्तृत समुद्रको लाँघ सकें; अतः तुम लोगोंका यह निर्णय सर्वमान्य सिद्धान्तके रूपमें ग्राह्य नहीं है॥ २७॥

नावो न सन्ति सेनाया बह्व्यस्तारयितुं तथा।
वणिजामुपघातं च कथमस्मद्विधश्चरेत्॥ २८॥

'इतनी बड़ी सेनाको पार उतारनेके लिये हमलोगोंके पास अधिक नौकाएँ भी नहीं हैं। (यदि कहें, व्यापारियोंके जहाजोंसे काम लिया जाय, तो) मेरे-जैसा पुरुष अपने स्वार्थके लिये व्यापारियोंके व्यवसायको हानि कैसे पहुँचा सकता है?॥

विस्तीर्णं चैव नः सैन्यं हन्याच्छिद्रेण वै परः।
प्लवोडुपप्रतारश्च नैवात्र मम रोचते॥ २९॥

'इसके सिवा नौका आदिसे यात्रा करनेपर हमारी सेना छिट-फुट होकर बहुत दूरतक फैल जायगी। उस दशामें अवसर पाकर शत्रु इसका नाश भी कर सकता है। इसीलिये डोंगी और नाव आदिपर बैठकर पार उतरनेकी बात मुझे ठीक नहीं जँचती है॥ २९॥

अहं त्विमं जलनिधिं समारप्स्याम्युपायतः।
प्रतिशेष्याम्युपवसन् दर्शयिष्यति मां ततः॥ ३०॥

'मैं तो किसी उपायसे इस समुद्रकी ही आराधना आरम्भ करूँगा। इसके तटपर अन्न-जल छोड़कर धरना दूँगा। इससे यह अवश्य मुझे दर्शन देगा तथा कोई मार्ग दिखायेगा॥ ३०॥

न चेद् दर्शयिता मार्गं धक्ष्याम्येनमहं ततः।
महास्त्रैरप्रतिहतैरत्यग्निपवनोज्ज्वलैः॥ ३१॥

'यदि यह स्वयं प्रकट होकर कोई मार्ग नहीं दिखायेगा, तो मैं अग्नि और वायुसे भी अधिक तेजस्वी तथा कभी न चूकनेवाले महान् दिव्यास्त्रोंद्वारा इसे जलाकर भस्म कर डालूँगा'॥ ३१॥

इत्युक्त्वा सह सौमित्रिरुपस्पृश्याथ राघवः।
प्रतिशिश्ये जलनिधिं विधिवत् कुशसंस्तरे॥ ३२॥

ऐसा कहकर लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीने आचमन करके समुद्रके तटपर कुशकी चटाई बिछाकर उसपर लेटकर विधिपूर्वक धरना दे दिया॥ ३२॥

सागरस्तु ततः स्वप्ने दर्शयामास राघवम् ।
देवो नदनदीभर्ता श्रीमान् यादोगणैर्वृतः ॥ ३३ ॥

तब नदों और नदियोंके स्वामी श्रीमान् समुद्रदेवने जलजन्तुओंके साथ प्रकट होकर स्वप्नमें श्रीरामचन्द्रजीको दर्शन दिया ॥ ३३ ॥

कौसल्यामातरित्येवमाभाष्य मधुरं वचः ।
इदमित्याह रत्नानामाकरैः शतशो वृतः ॥ ३४ ॥

वह सैकड़ों रत्नके आकरोंसे घिरा हुआ था । उसने 'कौसल्यानन्दन' कहकर श्रीरामको सम्बोधित किया और मधुर वाणीमें इस प्रकार कहा—॥ ३४ ॥

ब्रूहि किं ते करोम्यत्र साहाय्यं पुरुषर्षभ ।
ऐक्ष्वाको ह्यस्मि ते ज्ञातिरिति रामस्तमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

'नरश्रेष्ठ ! कहो, मैं यहाँ तुम्हारी क्या सहायता करूँ ? सगरपुत्रोंसे संवर्धित होनेके कारण मैं भी इक्ष्वाकुवंशीय तथा तुम्हारा भाई-बन्धु हूँ'। यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने उससे कहा—॥

मार्गमिच्छामि सैन्यस्य दत्तं नदनदीपते ।
येन गत्वा दशग्रीवं हन्यां पौलस्त्यपांसनम् ॥ ३६ ॥

'नद-नदीश्वर ! मैं अपनी सेनाके लिये तुम्हारे द्वारा दिया हुआ मार्ग चाहता हूँ, जिससे जाकर पुलस्त्यकुलाङ्गार दशमुख रावणको मार सकूँ ॥ ३६ ॥

यद्येवं याचतो मार्गं न प्रदास्यति मे भवान् ।
शरैस्त्वां शोषयिष्यामि दिव्यास्त्रप्रतिमन्त्रितैः ॥ ३७ ॥

'यदि इस प्रकार याचना करनेपर तुम मुझे मार्ग न दोगे, तो मैं दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंद्वारा तुम्हें सुखा दूँगा ॥

इत्येवं ब्रुवतः श्रुत्वा रामस्य वरुणालयः ।
उवाच व्यथितो वाक्यमिति बद्धाञ्जलिः स्थितः ॥ ३८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर वरुणालय समुद्र व्यथित हो उठा और खड़े हुए हाथ जोड़कर बोला—॥ ३८ ॥

नेच्छामि प्रतिघातं ते नास्मि विघ्नकरस्तव ।
शृणु चेदं वचो राम श्रुत्वा कर्तव्यमाचर ॥ ३९ ॥

'श्रीराम ! मैं तुम्हारा सामना करना नहीं चाहता और न मैं तुम्हारे मार्गमें विघ्न डालनेकी ही इच्छा रखता हूँ । मेरी यह बात सुनो और सुनकर जो कर्तव्य हो, उसे करो ॥३९॥

यदि दास्यामि ते मार्गं सैन्यस्य व्रजतोऽऽज्ञया ।
अन्येऽप्याज्ञापयिष्यन्ति मामेवं धनुषो बलात् ॥ ४० ॥

'यदि मैं इस समय तुम्हारी आज्ञासे तुम्हें और लङ्का जाती हुई तुम्हारी सेनाको मार्ग दे दूँगा, तो दूसरे लोग भी इसी प्रकार धनुषके बलसे मुझपर हुक्म चलाया करेंगे ॥ ४० ॥

अस्ति त्वत्र नलो नाम वानरः शिल्पिसम्मतः ।
त्वष्टुर्देवस्य तनयो बलवान् विश्वकर्मणः ॥ ४१ ॥

'तुम्हारी सेनामें एक नल नामक वानर है, जो शिल्पियोंके लिये भी आदरणीय है । बलवान् नल देवशिल्पी विश्वकर्माका पुत्र है ॥ ४१ ॥

स यत् काष्ठं तृणं वापि शिलां वा क्षेप्स्यते मयि ।
सर्वं तद् धारयिष्यामि स ते सेतुर्भविष्यति ॥ ४२ ॥

'वह अपने हाथसे उठाकर जो भी काठ, तिनका या पत्थर मेरे भीतर डाल देगा, वह सब मैं जलके ऊपर धारण किये रहूँगा । वही तुम्हारे लिये पुल हो जायगा' ॥ ४२ ॥

इत्युक्त्वान्तर्हिते तस्मिन् रामो नलमुवाच ह ।
कुरु सेतुं समुद्रे त्वं शक्तो ह्यसि मतो मम ॥ ४३ ॥

ऐसा कहकर समुद्र अन्तर्धान हो गया । तत्पश्चात् श्रीरामने उठकर नलसे कहा—'तुम समुद्रपर एक पुल तैयार करो । मैं जानता हूँ, तुममें यह कार्य करनेकी शक्ति है' ॥ ४३ ॥

तेनोपायेन काकुत्स्थः सेतुबन्धमकारयत् ।
दशयोजनविस्तारमायतं शतयोजनम् ॥ ४४ ॥

उसी उपायसे रघुनाथजीने समुद्रपर सौ योजन लंबा और दस योजन चौड़ा पुल तैयार कराया ॥ ४४ ॥

नलसेतुरिति ख्यातो योऽद्यापि प्रथितो भुवि ।
रामस्याज्ञां पुरस्कृत्य निर्यातो गिरिसंनिभः ॥ ४५ ॥

वह आज भी भूमण्डलमें 'नलसेतु' के नामसे विख्यात है। श्रीरामजीकी आज्ञा मानकर समुद्रने उस पर्वताकार पुलको अपने ऊपर धारण किया ॥ ४५ ॥

तत्रस्थं स तु धर्मात्मा समागच्छद् विभीषणः ।
भ्राता वै राक्षसेन्द्रस्य चतुर्भिः सचिवैः सह ॥ ४६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी अभी समुद्रके किनारे ही थे कि राक्षसराज रावणके भाई धर्मात्मा विभीषण अपने चार मन्त्रियोंके साथ उनसे मिलनेके लिये आये ॥ ४६ ॥



प्रतिजग्राह रामस्तं स्वागतेन महामनाः।
सुग्रीवस्य तु शङ्काभूत् प्रणिधिः स्यादिति स्म ह ॥ ४७॥

महामना श्रीरामने स्वागतपूर्वक उन्हें अपनाया। उस समय सुग्रीवके मनमें यह शङ्का हुई कि 'कहीं यह शत्रुका कोई गुप्तचर न हो' ॥ ४७ ॥

राघवः सत्यचेष्टाभिः सम्यक् च चरितेङ्गितैः।
यदा तत्त्वेन तुष्टोऽभूत् तत एनमपूजयत् ॥ ४८ ॥

परंतु श्रीरामचन्द्रजीने उनकी सत्य चेष्टाओं, उत्तम आचरणों और मुख-नेत्र आदिके संकेतोंसे सूचित होनेवाले मनोभावोंकी सम्यक् समीक्षा करके जब अच्छी तरह संतोष प्राप्त कर लिया, तब विभीषणका बहुत आदर किया ॥ ४८ ॥

सर्वराक्षसराज्ये चाप्यभ्यषिञ्चद् विभीषणम्।
चक्रे च मन्त्रसचिवं सुहृदं लक्ष्मणस्य च ॥ ४९ ॥

साथ ही उन्हें समस्त राक्षसोंके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया और लक्ष्मणका सुहृद् तथा अपना सलाहकार बना लिया॥

विभीषणमते चैव सोऽत्यक्रामन्महार्णवम्।
ससैन्यः सेतुना तेन मासेनैव नराधिप ॥ ५० ॥

नरेश्वर ! विभीषणकी सलाहसे श्रीरामचन्द्रजीने उसी सेतुद्वारा एक ही महीनेमें सेनासहित महासागरको पार कर लिया ॥ ५० ॥

ततो गत्वा समासाद्य लङ्कोद्यानान्यनेकशः।
भेदयामास कपिभिर्महान्ति च बहूनि च ॥ ५१ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने लङ्काकी सीमामें पहुँचकर वानरोंद्वारा वहाँके बहुत-से बड़े-बड़े उद्यानोंको छिन्न-भिन्न करा दिया ॥

ततस्तौ रावणामात्यौ मन्त्रिणौ शुकसारणौ।
चरौ वानररूपेण तौ जग्राह विभीषणः ॥ ५२ ॥

उस सेनामें वानरोंका रूप धारण करके रावणके दो मन्त्री शुक और सारण गुप्तचरका काम करनेके लिये घुस आये थे। विभीषणने उन दोनोंको पहचानकर कैद कर लिया ॥ ५२ ॥

प्रतिपन्नौ यदा रूपं राक्षसं तौ निशाचरौ।
दर्शयित्वा ततः सैन्यं रामः पश्चादवासृजत् ॥ ५३ ॥

जब वे दोनों निशाचर अपने राक्षसरूपमें प्रकट हुए, तब श्रीरामने उन्हें अपनी सेनाका दर्शन कराकर छोड़ दिया ॥ ५३ ॥

निवेश्योपवने सैन्यं तत् पुरः प्राज्ञवानरम्।
प्रेषयामास दौत्येन रावणस्य ततोऽङ्गदम् ॥ ५४ ॥

लङ्कापुरीके उपवनमें वानरसेनाको ठहराकर श्रीरघुनाथजीने बुद्धिमान् वानर अङ्गदको दूतके रूपमें रावणके यहाँ भेजा ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि सेतुबन्धने त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें सेतुबन्धविषयक दो सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८३ ॥

चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अङ्गदका रावणके पास जाकर रामका संदेश सुनाकर लौटना तथा राक्षसों और वानरोंका घोर संग्राम

मार्कण्डेय उवाच

प्रभूतान्नोदके तस्मिन् बहुमूलफले वने।
सेनां निवेश्य काकुत्स्थो विधिवत् पर्यरक्षत ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! लङ्काके उस वनमें अन्न और जलका बहुत सुभीता था। फल और मूल प्रचुर मात्रामें उपलब्ध थे; अतः वहीं सेनाकी छावनी डालकर श्रीरामचन्द्रजी विधिपूर्वक उसकी रक्षा करते रहे ॥ १ ॥

रावणः संविधं चक्रे लङ्कायां शास्त्रनिर्मिताम्।
प्रकृत्यैव दुराधर्षा दृढप्राकारतोरणा ॥ २ ॥

इधर रावण लङ्कामें शास्त्रोक्त प्रकारसे बनी हुई युद्धसामग्री (मशीनगन आदि) का संग्रह करने लगा। लङ्काकी चहारदीवारी और नगर-द्वार अत्यन्त सुदृढ़ थे; अतः स्वभावसे ही वह दुर्धर्ष थी—किसी भी आक्रमणकारीका वहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन था ॥ २ ॥

अगाधतोयाः परिखा मीननक्रसमाकुलाः।
बभूवुः सप्त दुर्धर्षाः खादिरैः शङ्कुभिश्चिताः ॥ ३ ॥

नगरके चारों ओर सात गहरी खाइयाँ थीं, जिनमें अगाध जल भरा रहता था और उनमें मत्स्य-मगर आदि जलजन्तु निवास करते थे। इन खाइयोंमें सब ओर खैरके खूँटे गड़े हुए थे ॥ ३ ॥

कपाटयन्त्रदुर्धर्षा बभूवुः सहुडोपलाः।
साशीविषघटायोधाः ससर्जरसपांसवः ॥ ४ ॥

मजबूत किवाड़ लगे थे और गोला बरसानेवाले यन्त्र (मशीनें) यथास्थान लगे थे। इनके सिवा वहाँ बहुत-से शृङ्ग और गोले जमा किये गये थे। इन सब कारणोंसे इन खाइयोंको पार करना बहुत कठिन था। विषधर सर्पोंके समूह, सैनिक, सर्जरस (लाह) और धूल—इन सबसे संयुक्त और सुरक्षित होनेके कारण भी वे खाइयाँ दुर्गम थीं ॥

मुसलालातनाराचतोमरासिपरश्वधैः।
अन्विताश्च शतघ्नीभिः समधूच्छिष्टमुद्गराः ॥ ५ ॥

मुसल, अलात (बनैठी), बाण, तोमर, तलवार, फरसे, मोमके मुद्गर तथा तोप आदि अस्त्र-शस्त्रोंके संग्रहके कारण भी वे खाइयाँ दुर्लङ्घ्य थीं ॥ ५ ॥

पुरद्वारेषु सर्वेषु गुल्माः स्थावरजङ्गमाः ।
बभूवुः पत्तिबहुलाः प्रभूतगजवाजिनः ॥ ६ ॥

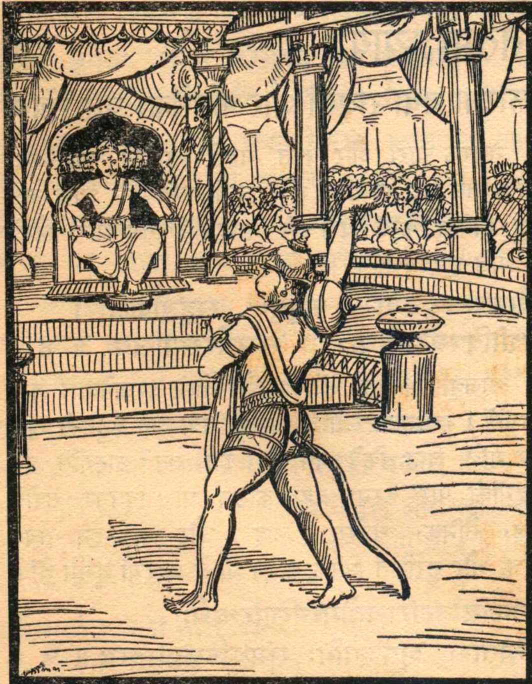
नगरके सभी दरवाजोंपर छिपकर बैठनेके लिये बुर्ज बने हुए थे। ये स्थावर गुल्म कहलाते थे और घूम-फिरकर रक्षा करनेवाले जो सैनिक नियुक्त किये गये थे वे जङ्गम गुल्म कहे जाते थे। इनमें अधिकांश पैदल और बहुत-से हाथीसवार तथा घुड़सवार भी थे ॥ ६ ॥

अङ्गदस्त्वथ लङ्काया द्वारदेशमुपागतः ।
विदितो राक्षसेन्द्रस्य प्रविवेश गतव्यथः ॥ ७ ॥
मध्ये राक्षसकोटीनां बह्वीनां सुमहाबलः ।
शुशुभे मेघमालाभिरादित्य इव संवृतः ॥ ८ ॥

(श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे) महाबली अङ्गद दूत बनकर लङ्कापुरीके द्वारपर आये। राक्षसराज रावणको उनके आगमनकी सूचना दी गयी। फिर अनुमति मिलनेपर उन्होंने निर्भय होकर पुरीमें प्रवेश किया। अनेक करोड़ राक्षसोंके बीचमें जाते हुए अङ्गद मेघोंकी घटासे घिरे हुए सूर्यदेवके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ७-८ ॥

स समासाद्य पौलस्त्यममात्यैरभिसंवृतम् ।
रामसंदेशमामन्त्र्य वाग्मी वक्तुं प्रचक्रमे ॥ ९ ॥

मन्त्रियोंसे घिरकर बैठे हुए पुलस्त्यनन्दन रावणके पास पहुँचकर कुशल वक्ता अङ्गदने रावणको सम्बोधित करके श्रीरामचन्द्रजीका संदेश इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥



आह त्वां राघवो राजन् कोसलेन्द्रो महायशाः ।
प्राप्तकालमिदं वाक्यं तदादत्स्व कुरुष्व च ॥ १० ॥

'राजन्! कोसलदेशके महाराज महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजीने तुमसे कहनेके लिये जो समयोचित संदेश भेजा है, उसे सुनो और तदनुसार कार्य करो ॥ १० ॥

अकृतात्मानमासाद्य राजानमनये रतम् ।
विनश्यन्त्यनयाविष्टा देशाश्च नगराणि च ॥ ११ ॥

'जो राजा अपने मनको काबूमें न रखकर अन्यायमें तत्पर रहता है, उसका आश्रय लेकर उसके अधीन रहनेवाले नगर और देश भी अनीतिपरायण होकर नष्ट हो जाते हैं ॥ ११ ॥

त्वयैकेनापराद्धं मे सीतामाहरता बलात् ।
वधायानपराद्धानामन्येषां तद् भविष्यति ॥ १२ ॥

'सीताका बलपूर्वक अपहरण करके मेरा अपराध तो अकेले तुमने किया है, परंतु इसके कारण अन्य निर्दोष लोग भी मारे जायँगे ॥ १२ ॥

ये त्वया बलदर्पाभ्यामाविष्टेन वनेचराः ।
ऋषयो हिंसिताः पूर्वं देवाश्चाप्यवमानिताः ॥ १३ ॥
राजर्षयश्च निहता रुदत्यश्च हृताः स्त्रियः ।
तदिदं समनुप्राप्तं फलं तस्यानयस्य ते ॥ १४ ॥

'तुमने बल और अहंकारसे उन्मत्त होकर पहले जिन वनवासी ऋषियोंकी हत्या की, देवताओंका अपमान किया, राजर्षियोंके प्राण लिये तथा रोती-बिलखती अबलाओंका भी अपहरण किया था, उन सब अत्याचारोंका फल अब तुम्हें प्राप्त होनेवाला है ॥ १३-१४ ॥

हन्तास्मि त्वां सहामात्यैर्युध्यस्व पुरुषो भव ।
पश्य मे धनुषो वीर्यं मानुषस्य निशाचर ॥ १५ ॥

'मैं मन्त्रियोंसहित तुम्हें मार डालूँगा। साहस हो, तो युद्ध करो और पौरुषका परिचय दो। निशाचर! यद्यपि मैं मनुष्य हूँ, तो भी मेरे धनुषका बल देखना ॥१५॥

मुच्यतां जानकी सीता न मे मोक्ष्यसि कर्हिचित्।
अराक्षसमिमं लोकं कर्तास्मि निशितैः शरैः ॥ १६ ॥

'जनकनन्दिनी सीताको छोड़ दो, अन्यथा कभी मेरे हाथसे जीवित नहीं बचोगे। मैं अपने तीखे बाणोंद्वारा इस संसारको राक्षसोंसे सूना कर दूँगा' ॥ १६ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य दूतस्य परुषं वचः ।
श्रुत्वा न ममृषे राजा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके दूतके मुखसे ऐसी कठोर बातें सुनकर राजा रावण सहन न कर सका। वह क्रोधसे मूर्छित हो उठा ॥ १७ ॥

इङ्गितज्ञास्ततो भर्तुश्चत्वारो रजनीचराः ।
चतुर्ष्वङ्गेषु जगृहुः शार्दूलमिव पक्षिणः ॥ १८ ॥

तब स्वामीके संकेतको समझनेवाले चार निशाचर अपनी जगहसे उठे और जिस प्रकार पक्षी सिंहको पकड़े, उसी प्रकार वे अङ्गदके चार अङ्गोंको पकड़ने लगे ॥ १८ ॥

तांस्तथाङ्गेषु संसक्तानङ्गदो रजनीचरान्।
आदायैव खमुत्पत्य प्रासादतलमाविशत् ॥ १९ ॥

अङ्गद इस प्रकार अपने अङ्गोंसे सटे हुए उन चारों राक्षसोंको लिये-दिये आकाशमें उछलकर महलकी छतपर जा चढ़े ॥ १९ ॥

वेगेनोत्पततस्तस्य पेतुस्ते रजनीचराः।
भुवि सम्भिन्नहृदयाः प्रहारवरपीडिताः ॥ २० ॥

उछलते समय उनके वेगसे छूटकर वे चारों राक्षस पृथ्वीपर जा गिरे। उन राक्षसोंकी छाती फट गयी और अधिक चोट लगनेके कारण उन्हें बड़ी पीड़ा हुई ॥ २० ॥

संसक्तो हर्म्यशिखरात् तस्मात् पुनरवापतत्।
लङ्घयित्वा पुरीं लङ्कां सुवेलस्य समीपतः ॥ २१ ॥

छतपर चढ़े हुए अङ्गद फिर उस महलके कँगूरेसे कूद पड़े और लङ्कापुरीको लाँघकर सुवेलपर्वतके समीप आ पहुँचे ॥ २१ ॥

कोसलेन्द्रमथागम्य सर्वमावेद्य वानरः।
विशश्राम स तेजस्वी राघवेणाभिनन्दितः ॥ २२ ॥

फिर कोसलनरेश श्रीरामचन्द्रजीसे मिलकर तेजस्वी वानर अङ्गदने रावणके दरबारकी सारी बातें बतायीं। श्रीरामने अङ्गदकी बड़ी प्रशंसा की। फिर वे विश्राम करने लगे ॥ २२ ॥

ततः सर्वाभिसारेण हरीणां वातरंहसाम्।
भेदयामास लङ्कायाः प्राकारं रघुनन्दनः ॥ २३ ॥

तदनन्तर भगवान् श्रीरामने वायुके समान वेगशाली वानरोंकी सम्पूर्ण सेनाके द्वारा एक साथ लङ्कापर धावा बोल दिया और उसकी चहारदीवारी तुड़वा डाली ॥ २३ ॥

विभीषणर्क्षाधिपती पुरस्कृत्याथ लक्ष्मणः।
दक्षिणं नगरद्वारमवामृद्नाद् दुरासदम् ॥ २४ ॥

नगरके दक्षिण द्वारमें प्रवेश करना बहुत कठिन था, परंतु लक्ष्मणने विभीषण और जाम्बवान्को आगे करके उसे भी धूलमें मिला दिया ॥ २४ ॥

करभारुणपाण्डूनां हरीणां युद्धशालिनाम्।
कोटीशतसहस्रेण लङ्कामभ्यपतत् तदा ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने हथेलीके समान श्वेत और लाल रंगके युद्धकुशल वानरोंकी दस खरब सेनाके साथ लङ्कामें प्रवेश किया ॥ २५ ॥



प्रलम्बबाहूरुकरजङ्घान्तरविलम्बिनाम्।
ऋक्षाणां धूम्रवर्णानां तिस्रः कोट्यो व्यवस्थिताः ॥ २६ ॥

उनके भुजा, ऊरु, हाथ और जङ्घा (पिंडली)—ये सभी अङ्ग विशाल थे तथा अङ्गोंकी कान्ति धुएँके समान काली थी, ऐसे तीन करोड़ रीछ सैनिक भी उनके साथ लङ्कामें जाकर युद्धके लिये डटे हुए थे ॥ २६ ॥

उत्पतद्भिः पतद्भिश्च निपतद्भिश्च वानरैः।
नादृश्यत तदा सूर्यो रजसा नाशितप्रभः ॥ २७ ॥

उस समय वानरोंके उछलने-कूदने तथा गिरने-पड़नेसे इतनी धूल उड़ी कि उससे सूर्यकी प्रभा नष्ट-सी हो गयी और उसका दीखना बंद हो गया ॥ २७ ॥

शालिप्रसूनसदृशैः शिरीषकुसुमप्रभैः।
तरुणादित्यसदृशैः शणगौरैश्च वानरैः ॥ २८ ॥
प्राकारं ददृशुस्ते तु समन्तात् कपिलीकृतम्।
राक्षसा विस्मिता राजन् सस्त्रीवृद्धाः समन्ततः ॥ २९ ॥

राजन्! धानके फूल-जैसे रंगवाले, मौलसिरीके पुष्प-सदृश कान्तिवाले, प्रातःकालके सूर्यके समान अरुण प्रभावाले तथा सनईके समान सफेद रंगवाले वानरोंसे व्याप्त होनेके कारण लङ्काकी चहारदीवारी चारों ओर कपिलवर्णकी दिखायी देती थी। स्त्रियों और वृद्धोंसहित समस्त लङ्कावासी राक्षस चारों ओर आश्चर्यचकित होकर इस दृश्यको देख रहे थे ॥ २८-२९ ॥

बिभिदुस्ते मणिस्तम्भान् कर्णाट्टशिखराणि च।
भग्नोन्मथितशृङ्गाणि यन्त्राणि च विचिक्षिपुः ॥ ३० ॥

वानर सैनिक वहाँके मणिनिर्मित खम्भों और अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे महलोंके कंगूरोंको तोड़ने-फोड़ने लगे। गोलाबारी

करनेवाले जो तोप आदि यन्त्र लगे थे, उनके शिखरोंको चूर-चूर करके उन्होंने दूर फेंक दिया ॥ ३० ॥

परिगृह्य शतघ्नीश्च सचक्राः सहुडोपलाः ।
चिक्षिपुर्भुजवेगेन लङ्कामध्ये महास्वनाः ॥ ३१ ॥

पहियोंवाली तोपों, शृङ्गों और गोलोंको ले-लेकर महान् कोलाहल करते हुए वानर अपनी भुजाओंके वेगसे उन्हें लङ्कामें फेंकने लगे ॥ ३१ ॥

प्राकारस्थाश्च ये केचिन्निशाचरगणास्तथा ।
प्रदुद्रुवुस्ते शतशः कपिभिः समभिद्रुताः ॥ ३२ ॥

जो कोई निशाचर चहारदीवारीकी रक्षाके लिये सैकड़ोंकी संख्यामें वहाँ खड़े थे, वे सब वानरोंद्वारा खदेड़े जानेपर भाग खड़े हुए ॥ ३२ ॥

ततस्तु राजवचनाद् राक्षसाः कामरूपिणः ।
निर्ययुर्विकृताकाराः सहस्रशतसङ्घशः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर राक्षसराज रावणकी आज्ञा पाकर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षस लाख-लाखकी टोली बनाकर नगरसे बाहर निकले । उन सबकी आकृति बड़ी विकराल थी ॥ ३३ ॥

शस्त्रवर्षाणि वर्षन्तो द्रावयित्वा वनौकसः ।
प्राकारं शोभयन्तस्ते परं विक्रममास्थिताः ॥ ३४ ॥

वे चहारदीवारीकी शोभा बढ़ाते हुए अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करके वनवासी वानरोंको खदेड़ने लगे और अपने उत्तम पराक्रमका परिचय देने लगे ॥ ३४ ॥

स माषराशिसदृशैर्बभूव क्षणदाचरैः ।
कृतो निर्वानरो भूयः प्राकारो भीमदर्शनैः ॥ ३५ ॥

उड़दके ढेर-जैसे काले-कलूटे उन भयंकर निशाचरोंने लड़कर पुनः उस चहारदीवारीको वानरोंसे सूनी कर दिया ॥ ३५ ॥

पेतुः शूलविभिन्नाङ्गा बहवो वानरर्षभाः ।
स्तम्भतोरणभग्नाश्च पेतुस्तत्र निशाचराः ॥ ३६ ॥

उनके शूलोंकी मारसे अङ्ग विदीर्ण हो जानेके कारण बहुत-से श्रेष्ठ वानर धराशायी हो गये । इसी प्रकार वानरोंके हाथोंसे खम्भोंकी मार खाकर कितने ही निशाचर युद्धका मैदान छोड़कर भाग गये और कितने वहीं ढेर हो गये ॥ ३६ ॥

केशाकेश्यभवद् युद्धं रक्षसां वानरैः सह ।
नखैर्दन्तैश्च वीराणां खादतां वै परस्परम् ॥ ३७ ॥

तत्पश्चात् वीर राक्षसोंका वानरोंके साथ सिरके बाल पकड़कर युद्ध होने लगा । वे नखों और दाँतोंसे भी एक-दूसरेको काट खाते थे ॥ ३७ ॥

निघ्नन्तो ह्युभयतस्तत्र वानरराक्षसाः ।
हता निपतिता भूमौ न मुञ्चन्ति परस्परम् ॥ ३८ ॥

दोनों ओरसे गर्जना करते हुए वानर तथा राक्षस इस प्रकार युद्ध करते थे कि मरकर पृथ्वीपर गिर जानेके बाद भी एक-दूसरेको छोड़ते नहीं थे ॥ ३८ ॥

रामस्तु शरजालानि ववर्ष जलदो यथा ।
तानि लङ्कां समासाद्य जघ्नुस्तान् रजनीचरान् ॥ ३९ ॥

उधर श्रीरामचन्द्रजी भी, जैसे बादल जल बरसाते हैं, उसी प्रकार बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे और वे बाण लङ्कामें घुसकर वहाँ खड़े हुए निशाचरोंके प्राण लेने लगे ॥ ३९ ॥

सौमित्रिरपि नाराचैर्दृढधन्वा जितक्लमः ।
आदिश्यादिश्य दुर्गस्थान् पातयामास राक्षसान् ॥ ४० ॥

क्लेश और थकावटपर विजय पानेवाले सुदृढ़ धनुर्धर सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी सूचना दे-देकर नाराच नामक बाणोंद्वारा दुर्गके भीतर रहनेवाले राक्षसोंको भी मार गिराने लगे ॥ ४० ॥

ततः प्रत्यवहारोऽभूत् सैन्यानां राघवाज्ञया ।
कृते विमर्दे लङ्कायां लब्धलक्ष्यो जयोत्तरः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार लङ्कामें भीषण मार-काट मचानेके बाद वानरसैनिक लक्ष्यसिद्धिपूर्वक विजय पाकर श्रीरघुनाथजीकी आज्ञासे युद्ध बंद करके शिविरकी ओर लौट गये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि लङ्काप्रवेशे चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें लङ्कामें प्रवेशविषयक दो सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीराम और रावणकी सेनाओंका द्वन्द्वयुद्ध

मार्कण्डेय उवाच

ततो निविशमानांस्तान् सैनिकान् रावणानुगाः ।
अभिजग्मुर्गणानेके पिशाचक्षुद्ररक्षसाम् ॥ १ ॥

पर्वणः पतनो जम्भः खरः क्रोधवशो हरिः ।
प्ररुजश्चारुजश्चैव प्रघसश्चैवमादयः ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब वानर-सैनिक

शिविरमें प्रवेश करने लगे, उस समय रावणकी सेवामें रहनेवाले पर्वण, पतन, जम्भ, खर, क्रोधवश, हरि, प्ररुज, अरुज और प्रघस आदि पिशाच तथा अधम राक्षसोंके अनेक दलोंने आकर उनपर धावा बोल दिया ॥ १-२ ॥

ततोऽभिपततां तेषामदृश्यानां दुरात्मनाम्।
अन्तर्धानवधं तज्ज्ञश्चकार स विभीषणः ॥ ३ ॥

वे दुरात्मा निशाचर अन्तर्धानविद्यासे अदृश्य होकर आक्रमण कर रहे थे। विभीषण उस विद्याके जानकार थे, अतः उन्होंने उन राक्षसोंकी अन्तर्धानशक्तिको नष्ट कर दिया ॥

ते दृश्यमाना हरिभिर्बलिभिर्दूरपातिभिः।
निहताः सर्वशो राजन् महीं जग्मुर्गतासवः ॥ ४ ॥

फिर तो वे सभी राक्षस वानरोंकी दृष्टिमें आ गये। राजन्! वानर बलवान् तो थे ही, वे दूरतक उछलकर जानेकी शक्ति रखते थे। वे सब ओरसे कूद-कूदकर उन्हें मारने लगे। उनकी मार खाकर वे सभी राक्षस प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४ ॥

अमृष्यमाणः सबलो रावणो निर्ययावथ।
राक्षसानां बलैर्घोरैः पिशाचानां च संवृतः ॥ ५ ॥

रावणके लिये यह बात असह्य हो उठी। वह पिशाचों तथा राक्षसोंकी भयंकर सेनासे घिरा हुआ दल-बलके साथ लङ्कासे बाहर निकला ॥ ५ ॥

युद्धशास्त्रविधानज्ञ उशना इव चापरः।
व्यूह्य चौशनसं व्यूहं हरीनभ्यवहारयत् ॥ ६ ॥

वह दूसरे शुक्राचार्यके समान युद्धशास्त्रके विधानका ज्ञाता था। उसने शुक्राचार्यके मतके अनुसार व्यूह-रचना करके सब वानरोंको घेर लिया ॥ ६ ॥

राघवस्तु विनिर्यान्तं व्यूढानीकं दशाननम्।
बार्हस्पत्यं विधिं कृत्वा प्रत्यव्यूहन्निशाचरम् ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने जब देखा कि दशमुख रावण व्यूहाकार सेनाको साथ ले नगरसे बाहर निकल रहा है, तब उन्होंने भी उस निशाचरके विरुद्ध बृहस्पतिकी बतायी हुई रीतिसे अपनी सेनाका व्यूह बनाया ॥ ७ ॥

समेत्य युयुधे तत्र ततो रामेण रावणः।
युयुधे लक्ष्मणश्चापि तथैवेन्द्रजिता सह ॥ ८ ॥

तदनन्तर वहाँ पहुँचकर रावण श्रीरामचन्द्रजीके साथ युद्ध करने लगा। दूसरी ओर लक्ष्मणने भी इन्द्रजित्के साथ युद्ध करना प्रारम्भ किया ॥ ८ ॥

विरूपाक्षेण सुग्रीवस्तारेण च निखर्वटः।
तुण्डेन च नलस्तत्र पटुशः पनसेन च ॥ ९ ॥

सुग्रीवने विरूपाक्षके साथ युद्ध किया। निखर्वट नामक राक्षस तार नामक वानरसे जा भिड़ा। नलने निशाचर तुण्डका सामना किया तथा पटुश नामक राक्षस पनस वानरके साथ युद्ध करने लगा ॥ ९ ॥

विषह्यं यं हि यो मेने स स तेन समेयिवान्।
युयुधे युद्धवेलायां स्वबाहुबलमाश्रितः ॥ १० ॥

जो जिसे अपने जोड़का समझता था, उसीके साथ उसकी भिड़न्त हुई। सबलोग युद्धके समय अपने बाहुबलका आश्रय ले शत्रुका सामना करते थे ॥ १० ॥

स सम्प्रहारो ववृधे भीरूणां भयवर्धनः।
लोमसंहर्षणो घोरः पुरा देवासुरे यथा ॥ ११ ॥

पूर्वकालमें देवताओं और असुरोंमें जैसा भयंकर तथा रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ था, उसी प्रकार वानरों और निशाचरोंका वह युद्ध भयानकरूपसे बढ़ता जा रहा था। वह संग्राम कायरोंके भयको बढ़ानेवाला था ॥ ११ ॥

रावणो राममानर्छच्छक्तिशूलासिवृष्टिभिः।
निशितैरायसैस्तीक्ष्णै रावणं चापि राघवः ॥ १२ ॥
तथैवेन्द्रजितं यत्तं लक्ष्मणो मर्मभेदिभिः।
इन्द्रजिच्चापि सौमित्रिं बिभेद बहुभिः शरैः ॥ १३ ॥

रावणने शक्ति, शूल और खड्गकी वर्षा करके श्रीरामचन्द्रजीको बहुत पीड़ा दी तथा श्रीरघुनाथजीने भी लोहेके बने हुए तीखे बाणोंद्वारा रावणको अत्यन्त पीड़ित किया। इसी प्रकार युद्धके लिये उद्यत रहनेवाले इन्द्रजित्को लक्ष्मणने मर्मभेदी बाणोंद्वारा घायल किया और इन्द्रजित्ने सुमित्रानन्दन लक्ष्मणको अनेक बाणोंद्वारा बींध डाला॥१२-१३॥

विभीषणः प्रहस्तं च प्रहस्तश्च विभीषणम्।
खगपत्रैः शरैस्तीक्ष्णैरभ्यवर्षद् गतव्यथः ॥ १४ ॥

इधर विभीषण प्रहस्तपर और प्रहस्त विभीषणपर पंखयुक्त तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे। उन दोनोंमेंसे कोई भी व्यथाका अनुभव नहीं करता था ॥ १४ ॥

तेषां बलवतामासीन्महास्त्राणां समागमः।
विव्यथुः सकला येन त्रयो लोकाश्चराचराः ॥ १५ ॥

बड़े-बड़े अस्त्र धारण करनेवाले उन बलवान् वीरोंका वह संग्राम इतना भयंकर था कि उससे तीनों लोकोंके समस्त चराचर प्राणी व्यथित हो उठे ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामरावणद्वन्द्वयुद्धे पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें रामरावणद्वन्द्वयुद्धविषयक दो सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८५ ॥

षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

प्रहस्त और धूम्राक्षके वधसे दुखी हुए रावणका कुम्भकर्णको जगाना और उसे युद्धमें भेजना

मार्कण्डेय उवाच

ततः प्रहस्तः सहसा समभ्येत्य विभीषणम्।
गदया ताडयामास विनद्य रणकर्कशः॥ १॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर युद्धमें निष्ठुर पराक्रम दिखानेवाले प्रहस्तने सहसा विभीषणके पास पहुँचकर गर्जना करते हुए उनपर गदासे आघात किया॥ १॥

स तयाभिहतो धीमान् गदया भीमवेगया।
नाकम्पत महाबाहुर्हिमवानिव सुस्थिरः॥ २॥

भयानक वेगवाली उस गदासे आहत होकर भी बुद्धिमान् महाबाहु विभीषण विचलित नहीं हुए। वे हिमालयके समान सुस्थिरभावसे खड़े रहे॥ २॥

ततः प्रगृह्य विपुलां शतघण्टां विभीषणः।
अनुमन्त्र्य महाशक्तिं चिक्षेपास्य शिरः प्रति॥ ३॥

तत्पश्चात् विभीषणने एक विशाल महाशक्ति हाथमें ली, जिसमें शोभाके लिये सौ घंटियाँ लगी हुई थीं। उसे अभिमन्त्रित करके उन्होंने प्रहस्तके मस्तकपर दे मारा॥ ३॥

पतन्त्या स तया वेगाद् राक्षसोऽशनिवेगया।
हृतोत्तमाङ्गो ददृशे वातरुग्ण इव द्रुमः॥ ४॥

विद्युत्‌के समान वेगवाली उस महाशक्तिका वेगपूर्वक आघात होते ही राक्षस प्रहस्तका मस्तक धड़से अलग हो गया और वह आँधीके द्वारा उखाड़े हुए वृक्षकी भाँति धराशायी दिखायी देने लगा॥ ४॥

तं दृष्ट्वा निहतं संख्ये प्रहस्तं क्षणदाचरम्।
अभिदुद्राव धूम्राक्षो वेगेन महता कपीन्॥ ५॥

निशाचर प्रहस्तको युद्धमें मारा गया देख धूम्राक्ष बड़े वेगसे वानरोंकी ओर दौड़ा॥ ५॥

तस्य मेघोपमं सैन्यमापतद् भीमदर्शनम्।
दृष्ट्वैव सहसा दीर्णा रणे वानरपुङ्गवाः॥ ६॥

मेघोंकी काली घटाके समान भयानक दिखायी देनेवाली उसकी सेनाको आते देख सभी श्रेष्ठ वानर सहसा भयभीत होकर युद्धसे भाग चले॥ ६॥

ततस्तान् सहसा दीर्णान् दृष्ट्वा वानरपुङ्गवान्।
निर्ययौ कपिशार्दूलो हनूमान् मारुतात्मजः॥ ७॥

उन भयभीत प्रमुख वानरोंको सहसा पलायन करते देख कपिकेसरी मारुतनन्दन हनुमान्‌जी धूम्राक्षका सामना करनेके लिये आगे बढ़े॥ ७॥

तं दृष्ट्वावस्थितं संख्ये हरयः पवनात्मजम्।
महत्या त्वरया राजन् संन्यवर्तन्त सर्वशः॥ ८॥

राजन्! पवनकुमारको युद्धके लिये उपस्थित देख सभी वानर सब ओरसे बड़ी उतावलीके साथ लौट आये॥ ८॥

ततः शब्दो महानासीत् तुमुलो लोमहर्षणः।
रामरावणसैन्यानामन्योन्यमभिधावताम्॥ ९॥

फिर तो एक दूसरेपर धावा बोलती हुई श्रीराम तथा रावणकी सेनाओंका अत्यन्त भयंकर रोमाञ्चकारी कोलाहल आरम्भ हो गया॥ ९॥

तस्मिन् प्रवृत्ते संग्रामे घोरे रुधिरकर्दमे।
धूम्राक्षः कपिसैन्यं तद् द्रावयामास पत्रिभिः॥ १०॥

उस घोर संग्राममें धरतीपर रक्तकी कीच जम गयी थी। इसी समय धूम्राक्ष अपने बाणोंसे उस वानरसेनाको खदेड़ने लगा॥ १०॥

तं स रक्षोमहामात्रमापतन्तं सपत्नजित्।
प्रतिजग्राह हनुमांस्तरसा पवनात्मजः॥ ११॥

तब शत्रुविजयी पवननन्दन हनुमान्‌ने अपनी ओर आते हुए उस विशालकाय राक्षसको बड़े वेगसे धर दबाया॥ ११॥

तयोर्युद्धमभूद् घोरं हरिराक्षसवीरयोः।
जिगीषतोर्युधान्योन्यमिन्द्रप्रह्लादयोरिव॥ १२॥

उन दोनों वानर तथा राक्षसवीरोंमें भयंकर युद्ध छिड़ गया। वे इन्द्र और प्रह्लादकी भाँति युद्ध करके एक दूसरेको जीतना चाहते थे॥ १२॥

गदाभिः परिघैश्चैव राक्षसो जघ्निवान् कपिम्।
कपिश्च जघ्निवान् रक्षः सस्कन्धविटपैर्द्रुमैः॥ १३॥

निशाचर धूम्राक्षने गदाओं तथा परिघोंद्वारा कपिवर हनुमान्‌जीको चोट पहुँचायी और हनुमान्‌जीने उस राक्षसपर तने और डालियोंसहित वृक्षोंसे प्रहार किया॥ १३॥

ततस्तमतिकोपेन साश्वं सरथसारथिम्।
धूम्राक्षमवधीत् क्रुद्धो हनूमान् मारुतात्मजः॥ १४॥

तदनन्तर मारुतनन्दन हनुमान्‌जीने अत्यन्त कुपित हो घोड़े, रथ और सारथिसहित धूम्राक्षको मार डाला॥ १४॥

ततस्तं निहतं दृष्ट्वा धूम्राक्षं राक्षसोत्तमम्।
हरयो जातविस्रम्भा जघ्नुरन्ये च सैनिकान्॥ १५॥

राक्षसप्रवर धूम्राक्षको मारा गया देख अन्य वानर तथा भालुओंको अपनी शक्तिपर विश्वास हुआ और वे उत्साहपूर्वक राक्षसोंको मारने लगे॥ १५॥

ते वध्यमाना हरिभिर्बलिभिर्जितकाशिभिः।
राक्षसा भग्नसंकल्पा लङ्कामभ्यपतन् भयात्॥ १६॥

विजयसे उल्लसित हुए बलवान् वानर वीरोंकी मार खाकर राक्षस हताश हो गये और भयके मारे लङ्काकी ओर भाग चले॥ १६॥

तेऽभिपत्य पुरं भग्ना हतशेषा निशाचराः।
सर्वं राज्ञे यथावृत्तं रावणाय न्यवेदयन्॥ १७॥

मरनेसे बचे हुए उन निशाचरोंने भग्नमनोरथ होकर लङ्कापुरीमें प्रवेश किया तथा रावणके समीप जाकर युद्धका सब समाचार ज्यों-का-त्यों निवेदन कर दिया॥१७॥

श्रुत्वा तु रावणस्तेभ्यः प्रहस्तं निहतं युधि।
धूम्राक्षं च महेष्वासं ससैन्यं वानरर्षभैः॥ १८॥
सुदीर्घमिव निःश्वस्य समुत्पत्य वरासनात्।
उवाच कुम्भकर्णस्य कर्मकालोऽयमागतः॥ १९॥

उनके मुखसे श्रेष्ठ वानर वीरोंद्वारा युद्धमें सेनासहित प्रहस्त तथा महाधनुर्धर धूम्राक्षके मारे जानेका वृत्तान्त सुनकर रावण बड़ी देरतक शोकभरे उच्छ्‌वास लेता रहा। फिर वह अपने श्रेष्ठ सिंहासनसे उछलकर खड़ा हो गया और बोला—'अब यह कुम्भकर्णके पराक्रम दिखलानेका समय आ गया है'॥१८-१९॥

इत्येवमुक्त्वा विविधैर्वादित्रैः सुमहास्वनैः।
शयानमतिनिद्रालुं कुम्भकर्णमबोधयत्॥ २०॥

ऐसा कहकर रावणने अत्यन्त उच्चस्वरसे बजनेवाले भाँति-भाँतिके बाजे बजवाकर अधिक नींद लेनेवाले सोये हुए कुम्भकर्णको जगाया॥ २०॥

प्रबोध्य महता चैनं यत्नेनागतसाध्वसः।
स्वस्थमासीनमव्यग्रं विनिद्रं राक्षसाधिपः॥ २१॥
ततोऽब्रवीद् दशग्रीवः कुम्भकर्णं महाबलम्।
धन्योऽसि यस्य ते निद्रा कुम्भकर्णेयमीदृशी॥ २२॥

महान् प्रयत्नद्वारा उसे जगाकर भयभीत हुए राक्षसराज रावणने, जब महाबली कुम्भकर्ण स्वस्थ, शान्त तथा निद्रारहित होकर बैठ गया, तब उससे इस प्रकार कहा—'भैया कुम्भकर्ण! तुम धन्य हो जिसे ऐसी नींद आती है॥ २१-२२॥

य इदं दारुणाकारं न जानीषे महाभयम्।
एष तीर्त्वार्णवं रामः सेतुना हरिभिः सह॥ २३॥
अवमन्येह नः सर्वान् करोति कदनं महत्।
मया त्वपहृता भार्या सीता नामास्य जानकी॥ २४॥

'हमलोगोंपर जो यह अत्यन्त दारुण एवं महान् भय उपस्थित हुआ है, इसका तुम्हें पता ही नहीं है। यह राम सेतुद्वारा समुद्रको लाँघकर हमलोगोंकी अवहेलना करके वानरोंके साथ यहाँ आ पहुँचा है और राक्षसोंका महासंहार कर रहा है। मैंने इसकी पत्नी जनककुमारी सीताका अपहरण किया था॥ २३-२४॥

तां नेतुं स इहायातो बद्ध्वा सेतुं महार्णवे।
तेन चैव प्रहस्तादिर्महान् नः स्वजनो हतः॥ २५॥

'उसे वापस लेनेके लिये ही राम महासागरपर पुल बाँधकर यहाँ आया है। उसने हमारे प्रहस्त आदि प्रमुख स्वजनोंको मार डाला है॥ २५॥

तस्य नान्यो निहन्तास्ति त्वामृते शत्रुकर्शन।
स दंशितोऽभिनिर्याय त्वमद्य बलिनां वर॥ २६॥
रामादीन् समरे सर्वाञ्जहि शत्रूनरिंदम।

'शत्रुसूदन! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो उसको मार सके। बलवानोंमें श्रेष्ठ वीर! तुम शत्रुओंका दमन करनेवाले हो। आज कवच धारण करके निकलो तथा राम आदि समस्त शत्रुओंका समरभूमिमें संहार कर डालो॥ २६½॥

दूषणावरजौ चैव वज्रवेगप्रमाथिनौ॥ २७॥
तौ त्वां बलेन महता सहितावनुयास्यतः।

'दूषणके छोटे भाई वज्रवेग और प्रमाथी अपनी विशाल सेनाके साथ तुम्हारा अनुसरण करेंगे'॥ २७½॥

इत्युक्त्वा राक्षसपतिः कुम्भकर्णं तरस्विनम्।
संदिदेशेतिकर्तव्यं वज्रवेगप्रमाथिनौ॥ २८॥

वेगशाली वीर कुम्भकर्णसे ऐसा कहकर राक्षसराज रावणने वज्रवेग और प्रमाथीको, युद्धमें क्या-क्या करना है, इन सब बातोंको समझाया और उनके पालनका आदेश दिया॥२८॥

तथेत्युक्त्वा तु तौ वीरौ रावणं दूषणानुजौ।
कुम्भकर्णं पुरस्कृत्य तूर्णं निर्ययतुः पुरात्॥ २९॥

दूषणके वे दोनों वीर भाई रावणसे 'तथास्तु' कहकर कुम्भकर्णको आगे करके तुरंत नगरसे बाहर निकले॥ २९॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कुम्भकर्णनिर्गमने षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २८६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें कुम्भकर्णका युद्धके लिये प्रस्थानविषयक दो सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८६॥

सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

कुम्भकर्ण, वज्रवेग और प्रमाथीका वध

मार्कण्डेय उवाच

ततो निर्याय स्वपुरात् कुम्भकर्णः सहानुगः ।
अपश्यत् कपिसैन्यं तज्जितकाश्यग्रतः स्थितम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सेवकोंसहित अपने नगरसे निकलकर कुम्भकर्णने अपने सामने खड़ी हुई वानर-सेनाको देखा, जो विजयके उल्लाससे सुशोभित हो रही थी ॥

स वीक्षमाणस्तत् सैन्यं रामदर्शनकाङ्क्षया ।
अपश्यच्चापि सौमित्रिं धनुष्पाणिं व्यवस्थितम् ॥ २ ॥

फिर जब उसने भगवान् श्रीरामके दर्शनकी इच्छासे उस सेनामें इधर-उधर दृष्टि डाली, तब उसे हाथमें धनुष लिये सुमित्रानन्दन लक्ष्मण खड़े दिखायी दिये ॥ २ ॥



तमभ्येत्याशु हरयः परिवव्रुः समन्ततः ।
अभ्यघ्नंश्च महाकायैर्बहुभिर्जगतीरुहैः ॥ ३ ॥

इतनेमें ही वानरोंने चारों ओरसे आकर कुम्भकर्णको शीघ्रतापूर्वक घेर लिया और बहुत-से बड़े-बड़े पेड़ उखाड़कर उन्हींके द्वारा उसपर प्रहार करने लगे ॥ ३ ॥

करजैस्तुदंश्चान्ये विहाय भयमुत्तमम् ।
बहुधा युध्यमानास्ते युद्धमार्गैः प्लवङ्गमाः ॥ ४ ॥
नानाप्रहरणैर्भीमै राक्षसेन्द्रमताडयन् ।

कुछ वानरोंने कुम्भकर्णसे प्राप्त होनेवाले महान् भयकी परवा न करके उसको नखोंसे पीड़ा देनी प्रारम्भ की । युद्धकी विभिन्न प्रणालियोंद्वारा अनेक प्रकारसे युद्ध करते हुए वानर-सैनिक भाँति-भाँतिके भयंकर आयुधोंद्वारा राक्षसराज कुम्भकर्णको चोट पहुँचाने लगे ॥ ४½ ॥

स ताड्यमानः प्रहसन् भक्षयामास वानरान् ॥ ५ ॥
बलं चण्डबलाख्यं च वज्रबाहुं च वानरम् ।

वानरोंके प्रहार करनेपर वह जोर-जोरसे हँसने और उन्हें पकड़-पकड़कर खाने लगा । देखते-देखते बल, चण्डबल और वज्रबाहु नामक वानर उसके मुखके ग्रास बन गये ॥५½॥

तद् दृष्ट्वा व्यथनं कर्म कुम्भकर्णस्य रक्षसः ॥ ६ ॥
उदक्रोशन् परित्रस्तास्तारप्रभृतयस्तदा ।

राक्षस कुम्भकर्णका यह दुःखदायी कर्म देखकर तार आदि वानर भयभीत हो जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे ॥६½॥

तानुच्चैः क्रोशतः सैन्याञ्छ्रुत्वा स हरियूथपान् ॥ ७ ॥
अभिदुद्राव सुग्रीवः कुम्भकर्णमपेतभीः ।

अपने सैनिकों तथा वानरयूथपतियोंका वह उच्चस्वरसे किया जाता हुआ चीत्कार सुनकर सुग्रीव निर्भय हो कुम्भकर्णकी ओर दौड़े ॥ ७½ ॥

ततो निपत्य वेगेन कुम्भकर्णं महामनाः ॥ ८ ॥
शालेन जघ्निवान् मूर्ध्नि बलेन कपिकुञ्जरः ।

महामना कपिश्रेष्ठ सुग्रीवने बड़े वेगसे उछलकर एक शालवृक्षके द्वारा कुम्भकर्णके मस्तकपर बलपूर्वक प्रहार किया ॥ ८½ ॥

स महात्मा महावेगः कुम्भकर्णस्य मूर्धनि ॥ ९ ॥
बिभेद शालं सुग्रीवो न चैवाव्यथयत् कपिः ।

कपिश्रेष्ठ सुग्रीवका हृदय महान् था । उनका वेग भी महान् था । उन्होंने कुम्भकर्णके मस्तकपर पटककर उस शालवृक्षको दो टूक कर डाला; तथापि वे उसे व्यथा न पहुँचा सके ॥ ९½ ॥

ततो विनद्य सहसा शालस्पर्शविबोधितः ॥ १० ॥
दोर्भ्यामादाय सुग्रीवं कुम्भकर्णोऽहरद् बलात् ।

शालके स्पर्शसे कुम्भकर्ण कुछ सावधान हो गया । उसने सहसा गर्जना करके सुग्रीवको दोनों हाथोंसे बलपूर्वक धर दबाया और अपने साथ ले लिया ॥ १०½ ॥

ह्रियमाणं तु सुग्रीवं कुम्भकर्णेन रक्षसा ॥ ११ ॥
अवेक्ष्याभ्यद्रवद् वीरः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ।

राक्षस कुम्भकर्णके द्वारा सुग्रीवका अपहरण होता देख मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाले सुमित्राकुमार वीरवर लक्ष्मण उसकी ओर दौड़े ॥ ११½ ॥



सोऽभिपत्य महावेगं रुक्मपुङ्खं महाशरम् ॥ १२ ॥
प्राहिणोत् कुम्भकर्णाय लक्ष्मणः परवीरहा ।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने कुम्भकर्णके सामने जाकर उसको लक्ष्य करके सुवर्णमय पंखसे सुशोभित एक महावेगशाली महान् बाण चलाया ॥ १२½ ॥

स तस्य देहावरणं भित्त्वा देहं च सायकः ॥ १३ ॥
जगाम दारयन् भूमिं रुधिरेण समुक्षितः ।

वह बाण उसके कवचको काटकर शरीरको छेदता हुआ रक्तरञ्जित हो धरतीको चीरकर उसमें समा गया ॥ १३½ ॥

तथा स भिन्नहृदयः समुत्सृज्य कपीश्वरम् ॥ १४ ॥
(वेगेन महताऽऽविष्टस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।)
कुम्भकर्णो महेष्वासः प्रगृहीतशिलायुधः ।
अभिदुद्राव सौमित्रिमुद्यम्य महतीं शिलाम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार छाती छिद जानेके कारण महाधनुर्धर कुम्भकर्णने वानरराज सुग्रीवको तो छोड़ दिया और बड़े वेगसे लक्ष्मणकी ओर घूमकर कहा—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' । तत्पश्चात् एक बहुत बड़ी शिला हाथमें लेकर वह सुमित्रानन्दन लक्ष्मणकी ओर दौड़ा ॥ १४-१५ ॥

तस्याभिपततस्तूर्णं क्षुराभ्यामुच्छ्रितौ करौ ।
चिच्छेद निशिताग्राभ्यां स बभूव चतुर्भुजः ॥ १६ ॥

तब लक्ष्मणने भी बड़ी शीघ्रताके साथ तीखी धारवाले दो क्षुर नामक बाण मारकर अपनी ओर आते हुए कुम्भकर्णकी ऊपर उठी हुई दोनों भुजाओंको काट डाला । उनके कटते ही वह चार भुजाओंसे युक्त हो गया ॥ १६ ॥

तानप्यस्य भुजान् सर्वान् प्रगृहीतशिलायुधान् ।
क्षुरैश्चिच्छेद लघ्वस्त्रं सौमित्रिः प्रतिदर्शयन् ॥ १७ ॥

उन चारों भुजाओंमें भी उसने आयुधके रूपमें बड़ी-बड़ी चट्टानें उठा लीं । यह देख सुमित्राकुमारने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए फिरसे पूर्वोक्त बाण मारकर उसकी उन चारों भुजाओंको भी काट दिया ॥ १७ ॥

स बभूवातिकायश्च बहुपादशिरोभुजः ।
तं ब्रह्मास्त्रेण सौमित्रिर्ददाराद्रिचयोपमम् ॥ १८ ॥

अब उसने अपना शरीर बहुत बड़ा बना लिया । उसके अनेक पैर, अनेक सिर और अनेक भुजाएँ हो गयीं । यह देख लक्ष्मणने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करके पर्वतसमूहके समान विशाल शरीरवाले उस राक्षसको चीर डाला ॥ १८ ॥

स पपात महावीर्यो दिव्यास्त्राभिहतो रणे ।
महाशनिविनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव ॥ १९ ॥

जैसे महान् भयंकर बिजलीके आघातसे शाखाओं और पत्तोंसहित वृक्ष दग्ध हो जाता है, उसी प्रकार लक्ष्मणके दिव्यास्त्रसे आहत होकर महापराक्रमी कुम्भकर्ण रणभूमिमें गिर पड़ा ॥ १९ ॥

तं दृष्ट्वा वृत्रसंकाशं कुम्भकर्णं तरस्विनम् ।
गतासुं पतितं भूमौ राक्षसाः प्राद्रवन् भयात् ॥ २० ॥

वृत्रासुरके समान वेगशाली कुम्भकर्णको प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर पड़ा देख सब राक्षस भयके मारे भाग चले ॥ २० ॥

तथा तान् द्रवतो योधान् दृष्ट्वा तौ दूषणानुजौ ।
अवस्थाप्याथ सौमित्रिं संक्रुद्धावभ्यधावताम् ॥ २१ ॥

अपने उन सैनिकोंको इस प्रकार भागते देख दूषणके दोनों भाई—वज्रवेग और प्रमाथीने किसी प्रकार उन्हें रोककर खड़ा किया और अत्यन्त कुपित हो सुमित्राकुमार लक्ष्मणपर धावा बोल दिया ॥ २१ ॥

तावाद्रवन्तौ संक्रुद्धौ वज्रवेगप्रमाथिनौ ।
अभिजग्राह सौमित्रिर्विनद्योभौ पतत्त्रिभिः ॥ २२ ॥

क्रोधमें भरे हुए वज्रवेग और प्रमाथीको अपनी ओर आते देख लक्ष्मणने बड़े जोरसे सिंहनाद किया और उन दोनोंकी गतिको बाणोंद्वारा रोक दिया ॥ २२ ॥

ततः सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
दूषणानुजयोः पार्थ लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर ! फिर तो दूषणके भाइयों तथा बुद्धिमान् लक्ष्मणमें ऐसा भयंकर युद्ध हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥

महता शरवर्षेण राक्षसौ सोऽभ्यवर्षत ।
तौ चापि वीरौ संक्रुद्धावुभौ तं समवर्षताम् ॥ २४ ॥

लक्ष्मण उन दोनों राक्षसोंपर बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा

कर रहे थे और वे दोनों वीर राक्षस भी अत्यन्त कुपित होकर लक्ष्मणपर बाणोंकी बौछार करते थे ॥ २४ ॥

मुहूर्तमेवमभवद् वज्रवेगप्रमाथिनोः ।
सौमित्रेश्च महाबाहोः सम्प्रहारः सुदारुणः ॥ २५ ॥

इस प्रकार वज्रवेग, प्रमाथी और महाबाहु लक्ष्मणका वह भयंकर संग्राम दो घड़ीतक अबाधगतिसे चलता रहा ॥ २५ ॥

अथाद्रिशृङ्गमादाय हनुमान् मारुतात्मजः ।
अभिद्रुत्याददे प्राणान् वज्रवेगस्य रक्षसः ॥ २६ ॥

इसी बीचमें वायुनन्दन हनुमान्‌जीने पर्वतका शिखर हाथमें लेकर वज्रवेग नामक राक्षसके ऊपर आक्रमण किया और उसके प्राण ले लिये ॥ २६ ॥

नीलश्च महता ग्राव्णा दूषणावरजं हरिः ।
प्रमाथिनमभिद्रुत्य प्रममाथ महाबलः ॥ २७ ॥

महाबली नील नामक वानरने एक विशाल चट्टान लेकर दूषणके छोटे भाई प्रमाथीपर हमला किया और उसका कचूमर निकाल दिया ॥ २७ ॥

ततः प्रावर्तत पुनः संग्रामः कटुकोदयः ।
रामरावणसैन्यानामन्योन्यमभिधावताम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर श्रीराम और रावणकी सेनाओंमें परस्पर आक्रमणपूर्वक भीषण संग्राम आरम्भ हो गया, जो कटु परिणामका जनक था ॥ २८ ॥

शतशो नैर्ऋतान् वन्या जघ्नुर्वन्यांश्च नैर्ऋताः ।
नैर्ऋतास्तत्र वध्यन्ते प्रायेण न तु वानराः ॥ २९ ॥

वनवासी वानरोंने सैकड़ों राक्षसोंको तथा राक्षसोंने वानरोंको घायल किया । उस युद्धमें अधिकांश राक्षस ही मारे जा रहे थे, वानर नहीं ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कुम्भकर्णादिवधे सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें कुम्भकर्ण आदिका वधविषयक दो सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२८७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २९½ श्लोक हैं)

अष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्रजित्‌का मायामय युद्ध तथा श्रीराम और लक्ष्मणकी मूर्च्छा

मार्कण्डेय उवाच

ततः श्रुत्वा हतं संख्ये कुम्भकर्णं सहानुगम् ।
प्रहस्तं च महेष्वासं धूम्राक्षं चातितेजसम् ॥ १ ॥
पुत्रमिन्द्रजितं वीरं रावणः प्रत्यभाषत ।
जहि राममित्रघ्न सुग्रीवं च सलक्ष्मणम् ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर सेवकों-सहित कुम्भकर्ण, महाधनुर्धर प्रहस्त तथा अत्यन्त तेजस्वी धूम्राक्षको संग्राममें मारा गया सुनकर रावणने अपने वीर पुत्र इन्द्रजित्‌से कहा—'शत्रुसूदन ! तुम राम, लक्ष्मण तथा सुग्रीवका वध करो ॥ १-२ ॥

त्वया हि मम सत्पुत्र यशो दीप्तमुपार्जितम् ।
जित्वा वज्रधरं संख्ये सहस्राक्षं शचीपतिम् ॥ ३ ॥

'सुपुत्र ! तुमने युद्धमें सहस्र नेत्रोंवाले वज्रधारी शचीपति इन्द्रको जीतकर उज्ज्वल यशका उपार्जन किया है ॥ ३ ॥

अन्तर्हितः प्रकाशो वा दिव्यैर्दत्तवरैः शरैः ।
जहि शत्रूनमित्रघ्न मम शस्त्रभृतां वर ॥ ४ ॥

'शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ शत्रुनाशन वीर ! जिनके लिये देवताओंने तुम्हें वरदान दिया है, ऐसे दिव्यास्त्रोंद्वारा प्रकटरूपमें या अदृश्य होकर मेरे शत्रुओंका नाश करो ॥ ४ ॥

रामलक्ष्मणसुग्रीवाः शरस्पर्शं न तेऽनघ ।
समर्थाः प्रतिसोढुं च कुतस्तदनुयायिनः ॥ ५ ॥

'अनघ ! स्वयं राम, लक्ष्मण और सुग्रीव भी तुम्हारे बाणोंका आघात सहन करनेमें समर्थ नहीं हैं, फिर उनके अनुयायी तो हो ही कैसे सकते हैं ? ॥ ५ ॥

अकृता या प्रहस्तेन कुम्भकर्णेन चानघ ।
खरस्यापचितिः संख्ये तां गच्छ त्वं महाभुज ॥ ६ ॥

'निष्पाप महाबाहो ! प्रहस्त और कुम्भकर्णने भी खरके वधका जो बदला नहीं चुकाया, उसे युद्धमें तुम चुकाओ ॥ ६ ॥

त्वमद्य निशितैर्बाणैर्हत्वा शत्रून् ससैनिकान् ।
प्रतिनन्दय मां पुत्र पुरा जित्वेव वासवम् ॥ ७ ॥

'बेटा ! तुमने पूर्वकालमें इन्द्रको जीतकर जिस प्रकार मुझे आनन्दित किया था, उसी प्रकार आज तुम तीखे बाणोंसे सैनिकोंसहित शत्रुओंका संहार करके मेरा आनन्द बढ़ाओ' ॥

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा रथमास्थाय दंशितः ।
प्रययाविन्द्रजिद् राजंस्तूर्णमायोधनं प्रति ॥ ८ ॥

राजन् ! रावणके द्वारा ऐसी आज्ञा देनेपर इन्द्रजित्‌ने 'बहुत अच्छा' कहकर पिताकी आज्ञा स्वीकार की और वह कवच बाँध रथपर बैठकर तुरंत ही संग्रामभूमिकी ओर चल दिया ॥ ८ ॥

ततो विश्राव्य विस्पष्टं नाम राक्षसपुङ्गवः ।
आह्वयामास समरे लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् उस राक्षसराजने स्पष्टरूपसे अपने नामकी

घोषणा करके शुभलक्षण लक्ष्मणको युद्धके लिये ललकारा ॥

तं लक्ष्मणोऽभ्यधावच्च प्रगृह्य सशरं धनुः ।
त्रासयंस्तलघोषेण सिंहः क्षुद्रमृगान् यथा ॥ १० ॥

तब लक्ष्मण भी धनुषपर बाण चढ़ाये हुए उसकी ओर बड़े वेगसे दौड़े और सिंह जैसे छोटे मृगोंको डरा देता है, उसी प्रकार वे अपने धनुषकी टङ्कारसे सब राक्षसोंको त्रास देने लगे ॥ १० ॥

तयोः समभवद् युद्धं सुमहज्जयगृद्धिनोः ।
दिव्यास्त्रविदुषोस्तीव्रमन्योन्यस्पर्धिनोस्तदा ॥ ११ ॥

वे दोनों ही विजयकी अभिलाषा रखनेवाले, दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता तथा परस्पर बड़ी स्पर्धा रखनेवाले थे । उन दोनोंमें उस समय बड़ा भारी युद्ध हुआ ॥ ११ ॥

रावणिस्तु यदा नैनं विशेषयति सायकैः ।
ततो गुरुतरं यत्नमातिष्ठद् बलिनां वरः ॥ १२ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ रावणकुमार इन्द्रजित् जब बाण वर्षा करनेमें लक्ष्मणसे आगे न बढ़ सका, तब उसने गुरुतर प्रयत्न आरम्भ किया ॥ १२ ॥

तत एनं महावेगैरर्दयामास तोमरैः ।
तानागतान् स चिच्छेद सौमित्रिर्निशितैः शरैः ॥ १३ ॥

उसने अत्यन्त वेगशाली तोमरोंकी वर्षा करके लक्ष्मणको पीड़ा पहुँचानेकी चेष्टा की, परंतु लक्ष्मणने तीखे बाणोंसे उन सब तोमरोंको पास आते ही काट गिराया ॥ १३ ॥

ते निकृत्ताः शरैस्तीक्ष्णैर्न्यपतन् धरणीतले ।
तमङ्गदो वालिसुतः श्रीमानुद्यम्य पादपम् ॥ १४ ॥
अभिद्रुत्य महावेगस्ताडयामास मूर्धनि ।
तस्येन्द्रजिदसम्भ्रान्तः प्रासेनोरसि वीर्यवान् ॥ १५ ॥
प्रहर्तुमैच्छत् तं चास्य प्रासं चिच्छेद लक्ष्मणः ।

लक्ष्मणके तीखे बाणोंसे टूक-टूक होकर वे तोमर पृथ्वीपर बिखर गये । तब महावेगशाली वालिपुत्र श्रीमान् अङ्गदने एक वृक्ष उठा लिया और दौड़कर इन्द्रजित्के मस्तकपर उसे दे मारा; परंतु इन्द्रजित् इससे तनिक भी विचलित न हुआ । उस पराक्रमी वीरने प्रासद्वारा अङ्गदकी छातीमें प्रहार करनेका विचार किया, किंतु लक्ष्मणने उसे पहले ही काट गिराया ॥ १४-१५½ ॥

तमभ्याशगतं वीरमङ्गदं रावणात्मजः ॥ १६ ॥
गदयाताडयत् सव्ये पार्श्वे वानरपुङ्गवम् ।

तब रावणकुमारने अपने निकट आये हुए उस वानरश्रेष्ठ वीर अङ्गदकी बायीं पसलीमें गदासे आघात किया ॥ १६½ ॥

तमचिन्त्य प्रहारं स बलवान् वालिनः सुतः ॥ १७ ॥
ससर्जेन्द्रजितः क्रोधाच्छालस्कन्धं तथाङ्गदः ।

बलवान् वालिनन्दन अङ्गदने इन्द्रजित्के उस गदाप्रहार-की कोई परवा न करके उसके ऊपर क्रोधपूर्वक साखूका तना उठाकर दे मारा ॥ १७½ ॥

सोऽङ्गदेन रुषोत्सृष्टो वधायेन्द्रजितस्तरुः ॥ १८ ॥
जघानेन्द्रजितः पार्थ रथं साश्वं ससारथिम् ।

युधिष्ठिर ! अङ्गदके द्वारा इन्द्रजित्के वधके लिये रोषपूर्वक चलाये हुए उस वृक्षने उसके सारथि और घोड़ोंसहित रथको नष्ट कर दिया ॥ १८½ ॥

ततो हताश्वात् प्रस्कन्द्य रथात् स हतसारथिः ॥ १९ ॥
तत्रैवान्तर्दधे राजन् मायया रावणात्मजः ।

राजन् ! सारथिके मारे जानेपर रावणकुमार इन्द्रजित् उस अश्वहीन रथसे कूद पड़ा और मायाका आश्रय ले वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ १९½ ॥

अन्तर्हितं विदित्वा तं बहुमायं च राक्षसम् ॥ २० ॥
रामस्तं देशमागम्य तत् सैन्यं पर्यरक्षत ।

अनेक प्रकारकी माया जाननेवाले उस राक्षसको अदृश्य हुआ जान भगवान् श्रीराम उस स्थानपर आकर सब ओरसे अपनी सेनाकी रक्षा करने लगे ॥ २०½ ॥

स राममुद्दिश्य शरैस्ततो दत्तवरैस्तदा ॥ २१ ॥
विव्याध सर्वगात्रेषु लक्ष्मणं च महाबलम् ।

तब इन्द्रजित्ने भगवान् श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणके सम्पूर्ण अङ्गोंको देवताओंसे वरदानके रूपमें प्राप्त हुए बाणोंद्वारा क्षत-विक्षत कर दिया ॥ २१½ ॥

तमदृश्यं शरैः शूरौ माययान्तर्हितं तदा ॥ २२ ॥
योधयामासतुरुभौ रावणिं रामलक्ष्मणौ ।

यद्यपि रावणका पुत्र मायासे तिरोहित हो जानेके कारण दिखायी नहीं देता था, तो भी शूरवीर श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई उसके साथ युद्ध करते ही रहे ॥ २२½ ॥

स रुषा सर्वगात्रेषु तयोः पुरुषसिंहयोः ॥ २३ ॥
व्यसृजत् सायकान् भूयः शतशोऽथ सहस्रशः ।

इन्द्रजित्ने पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी उन दोनों भाइयोंके समस्त अङ्गोंमें रोषपूर्वक सैकड़ों और हजारों बाणोंकी बारंबार वृष्टि की ॥ २३½ ॥

तमदृश्यं विचिन्वन्तः सृजन्तमनिशं शरान् ॥ २४ ॥
हरयो विविशुर्व्योम प्रगृह्य महतीः शिलाः ।

वानरोंने देखा कि वह राक्षस छिपकर निरन्तर बाणोंकी झड़ी लगा रहा है, तब वे हाथोंमें बड़ी-बड़ी शिलाएँ लिये आकाशमें उड़ गये और उसकी खोज करने लगे ॥ २४½ ॥

तांश्च तौ चाप्यदृश्यः स शरैर्विव्याध राक्षसः ॥ २५ ॥
स भृशं ताडयामास रावणिर्माययाऽऽवृतः ।

रावणकुमार अपनी मायासे आवृत होनेके कारण

स्वयं किसीकी दृष्टिमें नहीं आता था; परंतु वह उन दोनों भाइयोंको तथा सम्पूर्ण वानरोंको भी निरन्तर अपने बाणों-द्वारा घायल कर रहा था ॥ २५½ ॥

तौ शरैराचितौ वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
पेततुर्गगनाद् भूमिं सूर्याचन्द्रमसाविव ॥ २६ ॥

वे दोनों बन्धु श्रीराम और लक्ष्मण ऊपरसे नीचेतक बाणोंसे व्याप्त हो गये थे; अतः आकाशसे गिरे हुए सूर्य और चन्द्रमाकी भाँति इस पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि इन्द्रजिद्युद्धे अष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ ॥२८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें इन्द्रजित्-युद्धविषयक दो सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२८८॥

एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीराम-लक्ष्मणका सचेत होकर कुबेरके भेजे हुए अभिमन्त्रित जलसे प्रमुख वानरोंसहित अपने नेत्र धोना, लक्ष्मणद्वारा इन्द्रजित्का वध एवं सीताको मारनेके लिये उद्यत हुए रावणका अविन्ध्यके द्वारा निवारण करना

मार्कण्डेय उवाच

तावुभौ पतितौ दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
बबन्ध रावणिर्भूयः शरैर्दत्तवरैस्तदा ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको पृथ्वीपर पड़े देख रावणकुमार इन्द्रजित्ने जिनके लिये देवताओंका वर प्राप्त था, उन बाणोंद्वारा उन्हें सब ओरसे बाँध लिया ॥ १ ॥

तौ वीरौ शरबन्धेन बद्धाविन्द्रजिता रणे।
रेजतुः पुरुषव्याघ्रौ शकुन्ताविव पञ्जरे ॥ २ ॥

इन्द्रजित्द्वारा बाणोंके बन्धनसे बँधे हुए वे दोनों वीर पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण पिंजड़ेमें बंद हुए दो पक्षियों-की भाँति शोभा पा रहे थे ॥ २ ॥

तौ दृष्ट्वा पतितौ भूमौ शतशः सायकैश्चितौ।
सुग्रीवः कपिभिः सार्धं परिवार्य ततः स्थितः ॥ ३ ॥

उन दोनोंको सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त एवं पृथ्वीपर पड़े देख वानरोंसहित सुग्रीव उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ३ ॥

सुषेणमैन्दद्विविदैः कुमुदेनाङ्गदेन च।
हनुमन्नीलतारैश्च नलेन च कपीश्वरः ॥ ४ ॥

सुषेण, मैन्द, द्विविद, कुमुद, अङ्गद, हनुमान्, नील, तार तथा नलके साथ कपिराज सुग्रीव उन दोनों बन्धुओंकी रक्षा करने लगे ॥ ४ ॥

ततस्तं देशमागम्य कृतकर्मा विभीषणः।
बोधयामास तौ वीरौ प्रज्ञास्त्रेण प्रबोधितौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर अपने कर्तव्य कर्मको पूरा करके विभीषण उस स्थानपर आये। उन्होंने प्रज्ञास्त्रद्वारा उन दोनों वीरोंको होशमें लाकर जगाया ॥ ५ ॥

विशल्यौ चापि सुग्रीवः क्षणेनैतौ चकार ह।
विशल्यया महौषध्या दिव्यमन्त्रप्रयुक्तया ॥ ६ ॥

फिर सुग्रीवने दिव्य मन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित विशल्या नामक महौषधिद्वारा उनके अङ्गोंसे बाण निकालकर उन्हें क्षणभरमें स्वस्थ कर दिया ॥ ६ ॥

तौ लब्धसंज्ञौ नृवरौ विशल्यावुदतिष्ठताम्।
गततन्द्रीक्लमौ चापि क्षणेनैतौ महारथौ ॥ ७ ॥

होशमें आ जानेपर वे दोनों नरश्रेष्ठ महारथी वीर बाणोंसे रहित हो आलस्य और थकावट त्यागकर क्षणभरमें उठ खड़े हुए ॥ ७ ॥

ततो विभीषणः पार्थ राममिक्ष्वाकुनन्दनम्।
उवाच विज्वरं दृष्ट्वा कृताञ्जलिरिदं वचः ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर ! तदनन्तर विभीषणने इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजीको नीरोग एवं स्वस्थ देख हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

इदमम्भो गृहीत्वा तु राजराजस्य शासनात्।
गुह्यकोऽभ्यागतः श्वेतात् त्वत्सकाशमरिन्दम॥ ९ ॥

'शत्रुदमन ! राजाधिराज कुबेरकी आज्ञासे एक गुह्यक यह जल लिये हुए श्वेतपर्वतसे चलकर आपके समीप आया है ॥ ९ ॥

इदमम्भः कुबेरस्ते महाराजः प्रयच्छति।
अन्तर्हितानां भूतानां दर्शनार्थं परंतप ॥ १० ॥



'परंतप ! महाराज कुबेर आपको यह जल इस उद्देश्यसे समर्पित कर रहे हैं कि आप इसे नेत्रोंमें लगाकर मायासे अदृश्य हुए प्राणियोंको देख सकें ॥ १० ॥

अनेन मृष्टनयनो भूतान्यन्तर्हितान्युत ।
भवान् द्रक्ष्यति यस्मै च प्रदास्यति नरः स तु ॥ ११ ॥

'उन्होंने कहा है कि आप इस जलसे अपने दोनों नेत्र धोकर अदृश्य प्राणियोंको भी देख सकेंगे और आप जिसे यह जल अर्पित करेंगे, वह मनुष्य भी अदृश्य भूतोंको देखनेमें समर्थ होगा' ॥ ११ ॥

तथेति रामस्तद् वारि प्रतिगृह्याभिसंस्कृतम् ।
चकार नेत्रयोः शौचं लक्ष्मणश्च महामनाः ॥ १२ ॥

'बहुत अच्छा' कहकर श्रीरामचन्द्रजीने वह अभिमन्त्रित जल ले लिया । फिर उन्होंने तथा महामना लक्ष्मणने भी उससे अपने दोनों नेत्र धोये ॥ १२ ॥

सुग्रीवजाम्बवन्तौ च हनुमानङ्गदस्तथा ।
मैन्दद्विविदनीलाश्च प्रायः प्लवगसत्तमाः ॥ १३ ॥

सुग्रीव, जाम्बवान्, हनुमान्, अङ्गद, मैन्द, द्विविद तथा नील आदि प्रायः सभी प्रमुख वानरोंने उस जलसे अपनी-अपनी आँखें धोयीं ॥ १३ ॥

तथा समभवच्चापि यदुवाच विभीषणः ।
क्षणेनातीन्द्रियाण्येषां चक्षूंष्यासन् युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर ! जैसा विभीषणने बताया था, उसका वैसा ही प्रभाव देखनेमें आया । इन सबकी आँखें क्षणभरमें अतीन्द्रिय वस्तुओंका साक्षात्कार करनेवाली हो गयीं ॥ १४ ॥

इन्द्रजित् कृतकर्मा च पित्रे कर्म तदाऽऽत्मनः ।
निवेद्य पुनरागच्छत् त्वरयाऽऽजिशिरः प्रति ॥ १५ ॥

इन्द्रजित्‌ने उस दिन युद्धमें जो पराक्रम कर दिखाया था, अपने उस वीरोचित कर्मको पितासे बताकर वह पुनः युद्धके मुहानेकी ओर लौटने लगा ॥ १५ ॥

तमापतन्तं संक्रुद्धं पुनरेव युयुत्सया ।
अभिदुद्राव सौमित्रिर्विभीषणमते स्थितः ॥ १६ ॥

उसे क्रोधमें भरकर पुनः युद्धकी इच्छासे आते देख विभीषणकी सम्मतिसे लक्ष्मणने उसपर धावा किया ॥ १६ ॥

अकृताह्निकमेवैनं जिघांसुर्जितकाशिनम् ।
शरैर्जघान संक्रुद्धः कृतसंज्ञोऽथ लक्ष्मणः ॥ १७ ॥

इन्द्रजित् विजयके उल्लाससे सुशोभित हो रहा था । अभी उसने नित्यकर्म भी नहीं किया था, उसी अवस्थामें सचेत हुए लक्ष्मणने कुपित होकर उसे मार डालनेकी इच्छासे उसपर बाणोंद्वारा प्रहार करना आरम्भ किया ॥ १७ ॥

तयोः समभवद् युद्धं तदान्योन्यं जिगीषतोः ।
अतीव चित्रमाश्चर्यं शक्रप्रह्लादयोरिव ॥ १८ ॥

वे दोनों ही एक-दूसरेको जीतनेके लिये उत्सुक थे । उस समय उनमें इन्द्र और प्रह्लादकी भाँति अत्यन्त अद्भुत तथा आश्चर्यजनक युद्ध होने लगा ॥ १८ ॥

अविध्यदिन्द्रजित् तीक्ष्णैः सौमित्रिं मर्मभेदिभिः ।
सौमित्रिश्चानलस्पर्शैरविध्यद् रावणिं शरैः ॥ १९ ॥

इन्द्रजित्‌ने तीखे तथा मर्मभेदी बाणोंद्वारा सुमित्राकुमार लक्ष्मणको बींध डाला । इसी प्रकार लक्ष्मणने भी अग्निके समान दाहक स्पर्शवाले तीखे सायकोंद्वारा रावणकुमार इन्द्रजित्‌को घायल कर दिया ॥ १९ ॥

सौमित्रिशरसंस्पर्शाद् रावणिः क्रोधमूर्च्छितः ।
असृजल्लक्ष्मणायाष्टौ शरानाशीविषोपमान् ॥ २० ॥

लक्ष्मणके बाणोंकी चोट खाकर रावणकुमार क्रोधसे मूर्च्छित हो उठा । उसने उनके ऊपर विषधर साँपोंके समान विषैले आठ बाण छोड़े ॥ २० ॥

तस्यासून् पावकस्पर्शैः सौमित्रिः पत्त्रिभिस्त्रिभिः ।
यथा निरहरद् वीरस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ २१ ॥

वीर सुमित्राकुमारने अग्निके समान दाहक तीन बाणोंद्वारा जिस प्रकार इन्द्रजित्‌के प्राण लिये, वह बताता हूँ; सुनो ॥ २१ ॥

एकेनास्य धनुष्मन्तं बाहुं देहादपातयत् ।
द्वितीयेन सनाराचं भुजं भूमौ न्यपातयत् ॥ २२ ॥

एक बाणद्वारा उन्होंने इन्द्रजित्‌की धनुष धारण करनेवाली भुजाको काटकर शरीरसे अलग कर दिया । दूसरे बाणद्वारा नाराच लिये हुए शत्रुकी दूसरी भुजाको धराशायी कर दिया ॥ २२ ॥

तृतीयेन तु बाणेन पृथुधारेण भास्वता ।
जहार सुनसं चापि शिरो भ्राजिष्णुकुण्डलम् ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् मोटी धारवाले और चमकीले तीसरे बाणसे

उन्होंने सुन्दर नासिका और शोभाशाली कुण्डलोंसे विभूषित शत्रुके मस्तकको भी धड़से अलग कर दिया ॥ २३ ॥

विनिकृत्तभुजस्कन्धं कबन्धं भीमदर्शनम् ।
तं हत्वा सूतमप्यस्त्रैर्जघान बलिनां वरः ॥ २४ ॥

भुजाओं और कंधोंके कट जानेसे उसका धड़ बड़ा भयंकर दिखायी देता था। इन्द्रजित्‌को मारकर बलवानोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मणने अपने अस्त्रोंद्वारा उसके सारथिको भी मार गिराया ॥ २४ ॥

लङ्कां प्रवेशयामासुस्तं रथं वाजिनस्तदा ।
ददर्श रावणस्तं च रथं पुत्रविनाकृतम् ॥ २५ ॥
स पुत्रं निहतं ज्ञात्वा त्रासात् सम्भ्रान्तमानसः ।
रावणः शोकमोहार्तो वैदेहीं हन्तुमुद्यतः ॥ २६ ॥

उस समय घोड़ोंने ही उस खाली रथको लङ्कापुरीमें पहुँचाया। रावणने देखा, मेरे पुत्रका रथ उसके बिना ही लौट आया है। तब पुत्रको मारा गया जान भयके मारे रावणका मन उद्भ्रान्त हो उठा। वह शोक और मोहसे आतुर होकर विदेहनन्दिनी सीताको मार डालनेके लिये उद्यत हो गया ॥ २५-२६ ॥

अशोकवनिकास्थां तां रामदर्शनलालसाम् ।
खड्गमादाय दुष्टात्मा जवेनाभिपपात ह ॥ २७ ॥

दुष्टात्मा दशानन हाथमें तलवार लेकर अशोकवाटिकामें श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी लालसासे बैठी हुई सीताजीके पास बड़े वेगसे दौड़ा गया ॥ २७ ॥

तं दृष्ट्वा तस्य दुर्बुद्धेरविन्ध्यः पापनिश्चयम् ।
शमयामास संक्रुद्धं श्रूयतां येन हेतुना ॥ २८ ॥

दूषित बुद्धिवाले उस निशाचरके इस पापपूर्ण निश्चयको जानकर मन्त्री अविन्ध्यने समझा-बुझाकर उसका क्रोध शान्त किया। किस युक्तिसे उसने रावणको शान्त किया, यह बताता हूँ, सुनो— ॥ २८ ॥

महाराज्ये स्थितो दीप्ते न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
हतैवैषा यदा स्त्री च बन्धनस्था च ते वशे ॥ २९ ॥

'राक्षसराज ! आप लङ्काके समुज्ज्वल सम्राट्-पदपर विराजमान होकर एक अबलाको न मारें। यह स्त्री होकर आपके वशमें पड़ी है, आपके घरमें कैद है; ऐसी दशामें यह तो मरी हुई ही है ॥ २९ ॥

न चैषा देहभेदेन हता स्यादिति मे मतिः ।
जहि भर्तारमेवास्या हते तस्मिन् हता भवेत् ॥ ३० ॥

'इसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर देनेसे ही इसका वध नहीं होगा, ऐसा मेरा विचार है। इसके पतिको ही मार डालिये। उसके मारे जानेपर यह स्वतः मर जायगी ॥ ३० ॥

न हि ते विक्रमे तुल्यः साक्षादपि शतक्रतुः ।
असकृद्धि त्वया सेन्द्रास्त्रासितास्त्रिदशा युधि ॥ ३१ ॥

'साक्षात् इन्द्र भी पराक्रममें आपकी समानता नहीं कर सकते। आपने अनेक बार युद्धमें इन्द्रसहित संपूर्ण देवताओं-को भयभीत (एवं पराजित) किया है' ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधैर्वाक्यैरविन्ध्यो रावणं तदा ।
क्रुद्धं संशमयामास जगृहे च स तद्वचः ॥ ३२ ॥

इस तरह अनेक प्रकारके वचनोंद्वारा अविन्ध्यने रावण-का क्रोध शान्त किया और रावणने भी उसकी बात मान ली ॥ ३२ ॥

निर्याणे स मतिं कृत्वा निधायासिं क्षपाचरः ।
आज्ञापयामास तदा रथो मे कल्प्यतामिति ॥ ३३ ॥

फिर उस निशाचरने युद्धके लिये प्रस्थान करनेका निश्चय करके तलवार रख दी और आज्ञा दी—'मेरा रथ तैयार किया जाय' ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि इन्द्रजिद्वधे एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें इन्द्रजित्-वधविषयक दो सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२८९॥

नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राम और रावणका युद्ध तथा रावणका वध

मार्कण्डेय उवाच

ततः क्रुद्धो दशग्रीवः प्रिये पुत्रे निपातिते ।
निर्ययौ रथमास्थाय हेमरत्नविभूषितम् ॥ १ ॥
स वृतो राक्षसैर्घोरैर्विविधायुधपाणिभिः ।
अभिदुद्राव रामं स योधयन् हरियूथपान् ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! अपने प्रिय पुत्र इन्द्रजित्‌के मारे जानेपर दशमुख रावणका क्रोध बहुत बढ़ गया। वह सुवर्ण तथा रत्नोंसे विभूषित रथपर बैठकर लङ्कापुरीसे बाहर निकला। हाथोंमें अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले भयंकर राक्षस उसे घेरकर चले। वह वानर-यूथपतियोंसे युद्ध करता हुआ श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दौड़ा ॥ १-२ ॥

तमाद्रवन्तं संक्रुद्धं मैन्दनीलनलाङ्गदाः ।
हनूमाञ्जाम्बवांश्चैव ससैन्याः पर्यवारयन् ॥ ३ ॥

उसे क्रोधपूर्वक आक्रमण करते देख मैन्द, नील, नल, अङ्गद, हनुमान् और जाम्बवान्‌ने सेनासहित आगे बढ़कर उसे चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३ ॥

ते दशग्रीवसैन्यं तदृक्षवानरपुङ्गवाः।
द्रुमैर्विध्वंसयांचक्रुर्दशग्रीवस्य पश्यतः ॥ ४ ॥

उन रीछ और वानर-सेनापतियोंने दशाननके देखते-देखते वृक्षोंकी मारसे उसकी सेनाका संहार आरम्भ कर दिया ॥ ४ ॥

ततः स सैन्यमालोक्य वध्यमानमरातिभिः।
मायावी चासृजन्मायां रावणो राक्षसाधिपः ॥ ५ ॥

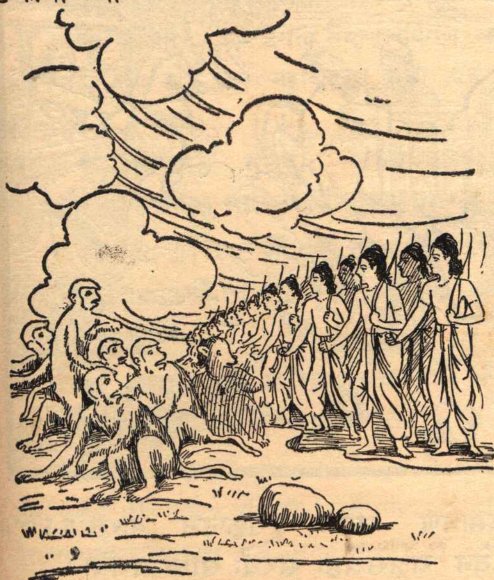
अपनी सेनाको शत्रुओंद्वारा मारी जाती देख मायावी राक्षसराज रावणने माया प्रकट की ॥ ५ ॥

तस्य देहविनिष्क्रान्ताः शतशोऽथ सहस्रशः।
राक्षसाः प्रत्यदृश्यन्त शरशक्त्यृष्टिपाणयः ॥ ६ ॥

उसके शरीरसे सैकड़ों और हजारों राक्षस प्रकट होकर हाथोंमें बाण, शक्ति तथा ऋष्टि आदि आयुध लिये दिखायी देने लगे ॥ ६ ॥

तान् रामो जघ्निवान् सर्वान् दिव्येनास्त्रेण राक्षसान्।
अथ भूयोऽपि मायां स व्यदधाद् राक्षसाधिपः ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने अपने दिव्य अस्त्रके द्वारा उन सब राक्षसोंको नष्ट कर दिया। तब राक्षसराजने पुनः मायाकी सृष्टि की ॥ ७ ॥



कृत्वा रामस्य रूपाणि लक्ष्मणस्य च भारत।
अभिदुद्राव रामं च लक्ष्मणं च दशाननः ॥ ८ ॥

भारत! दशाननने श्रीराम और लक्ष्मणके ही बहुत-से रूप धारण करके श्रीराम और लक्ष्मणपर धावा किया ॥ ८ ॥

ततस्ते राममार्च्छन्तो लक्ष्मणं च क्षपाचराः।
अभिपेतुस्तदा रामं प्रगृहीतशरासनाः ॥ ९ ॥

तदनन्तर वे राक्षस हाथोंमें धनुष-बाण लिये श्रीराम और लक्ष्मणको पीड़ा देते हुए उनपर टूट पड़े ॥ ९ ॥

तां दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रस्य मायामिक्ष्वाकुनन्दनः।
उवाच रामं सौमित्रिरसम्भ्रान्तो बृहद् वचः ॥ १० ॥

राक्षसराज रावणकी उस मायाको देखकर इक्ष्वाकुकुल-का आनन्द बढ़ानेवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणको तनिक भी घबराहट नहीं हुई। उन्होंने श्रीरामसे यह महत्त्वपूर्ण बात कही—॥ १० ॥

जहीमान् राक्षसान् पापानात्मनः प्रतिरूपकान्।
जघान रामस्तांश्चान्यानात्मनः प्रतिरूपकान् ॥ ११ ॥

'भगवन्! अपने ही समान आकारवाले इन पापी राक्षसों-को मार डालिये।' तब श्रीरामने रावणकी मायासे निर्मित अपने ही समान रूप धारण करनेवाले उन सबको तथा अन्य राक्षसोंको भी मार डाला ॥ ११ ॥

ततो हर्यश्वयुक्तेन रथेनादित्यवर्चसा।
उपतस्थे रणे रामं मातलिः शक्रसारथिः ॥ १२ ॥

इसी समय इन्द्रका सारथि मातलि हरे रंगके घोड़ोंसे जुते हुए सूर्यके समान तेजस्वी रथके साथ उस रणभूमिमें श्रीरामचन्द्रजीके समीप आ पहुँचा ॥ १२ ॥

मातलिरुवाच

अयं हयश्वयुग् जैत्रो मघोनः स्यन्दनोत्तमः।
अनेन शक्रः काकुत्स्थ समरे दैत्यदानवान् ॥ १३ ॥
शतशः पुरुषव्याघ्र रथोदारेण जघ्निवान्।
तदनेन नरव्याघ्र मया यत्तेन संयुगे। १४ ॥
स्यन्दनेन जहि क्षिप्रं रावणं मा चिरं कृथाः।

मातलि बोला—पुरुषसिंह श्रीराम! यह हरे रंगके घोड़ोंसे जुता हुआ विजयशाली उत्तम रथ देवराज इन्द्रका है। इस विशाल रथके द्वारा इन्द्रने सैकड़ों दैत्यों और दानवोंका समराङ्गणमें संहार किया है। नरश्रेष्ठ! मेरेद्वारा संचालित इस रथपर बैठकर आप युद्धमें रावणको शीघ्र मार डालिये, विलम्ब न कीजिये ॥ १३-१४½ ॥

इत्युक्तो राघवस्तथ्यं वचोऽशङ्कत मातलेः ॥ १५ ॥
मायैषा राक्षसस्येति तमुवाच विभीषणः।
नेयं माया नरव्याघ्र रावणस्य दुरात्मनः ॥ १६ ॥

मातलिके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उसकी बातपर इसलिये संदेह किया कि कहीं यह भी राक्षसकी माया ही न हो। तब विभीषणने उनसे कहा–'पुरुषसिंह! यह दुरात्मा रावणकी माया नहीं है ॥ १५-१६ ॥

तदातिष्ठ रथं शीघ्रमिममैन्द्रं महाद्युते ।
ततः प्रहृष्टः काकुत्स्थस्तथेत्युक्त्वा विभीषणम् ॥ १७ ॥
रथेनाभिपपाताथ दशग्रीवं रुषान्वितः ।

'महाद्युते ! आप शीघ्र इन्द्रके इस रथपर आरूढ़ होइये ।' तब श्रीरामचन्द्रजीने प्रसन्नतापूर्वक विभीषणसे कहा—'ठीक है ।' यों कहकर उन्होंने रथपर आरूढ़ हो बड़े रोषके साथ दशमुख रावणपर आक्रमण किया ॥ १७½ ॥

हाहाकृतानि भूतानि रावणे समभिद्रुते ॥ १८ ॥
सिंहनादाः सपटहा दिवि दिव्यास्तथानदन् ।
दशकन्धरराजसून्वोस्तथा युद्धमभून्महत् ॥ १९ ॥

रावणपर श्रीरामकी चढ़ाई होते ही समस्त प्राणी हाहाकार कर उठे देवलोकमें नगारे बज उठे और जोर-जोरसे सिंहनाद होने लगा । दशकन्धर रावण तथा राजकुमार श्रीराममें उस समय महान् युद्ध छिड़ गया ॥ १८-१९ ॥

अलब्धोपममन्यत्र तयोरेव तथाभवत् ।
स रामाय महाघोरं विससर्ज निशाचरः ॥ २० ॥
शूलमिन्द्राशनिप्रख्यं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ।
तच्छूलं सत्वरं रामश्चिच्छेद निशितैः शरैः ॥ २१ ॥

उस युद्धकी संसारमें अन्यत्र कहीं उपमा नहीं थी । उनका वह संग्राम उन्हींके संग्रामके समान था । निशाचर रावणने श्रीरामपर एक त्रिशूल चलाया, जो उठे हुए इन्द्रके वज्र तथा ब्रह्मदण्डके समान अत्यन्त भयंकर था । परंतु श्रीरामने तत्काल अपने तीखे बाणों द्वारा उस त्रिशूलके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ २०-२१ ॥

तद् दृष्ट्वा दुष्करं कर्म रावणं भयमाविशत् ।
ततः क्रुद्धः ससर्जाशु दशग्रीवः शिताञ्छरान् ॥ २२ ॥

उनका वह दुष्कर कर्म देखकर दशानन रावणके मनमें भय समा गया । फिर कुपित होकर उसने तुरंत ही तीखे सायकोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ २२ ॥

सहस्रायुतशो रामे शस्त्राणि विविधानि च ।
ततो भुशुण्डीः शूलानि मुसलानि परश्वधान् ॥ २३ ॥
शक्तीश्च विविधाकाराः शतघ्नीश्च शितान् क्षुरान् ।

उस समय श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर भाँति-भाँतिके हजारों शस्त्र गिरने लगे तथा भुशुण्डी, शूल, मुसल, फरसे, नाना प्रकारकी शक्तियाँ, शतघ्नी और तीखी धारवाले बाणोंकी वृष्टि होने लगी ॥ २३½ ॥

तां मायां विकृतां दृष्ट्वा दशग्रीवस्य रक्षसः ॥ २४ ॥
भयात् प्रदुद्रुवुः सर्वे वानराः सर्वतोदिशम् ।

राक्षस दशाननकी उस विकराल मायाको देखकर सब वानर भयके मारे चारों दिशाओंमें भाग चले ॥ २४½ ॥

ततः सुपत्रं सुमुखं हेमपुङ्खं शरोत्तमम् ॥ २५ ॥
तूणादादाय काकुत्स्थो ब्रह्मास्त्रेण युयोज ह ।
तं बाणवर्यं रामेण ब्रह्मास्त्रेणानुमन्त्रितम् ॥ २६ ॥
जहृषुर्देवगन्धर्वा दृष्ट्वा शक्रपुरोगमाः ।
अल्पावशेषमायुश्च ततोऽमन्यन्त रक्षसः ॥ २७ ॥
ब्रह्मास्त्रोदीरणाच्छत्रोर्देवदानवकिंनराः ।

तब श्रीरामचन्द्रजीने सोनेके सुन्दर पंख तथा उत्तम अग्रभागवाले एक श्रेष्ठ बाणको तरकससे निकालकर उसे ब्रह्मास्त्रद्वारा अभिमन्त्रित किया । श्रीरामद्वारा ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित किये हुए उस उत्तम बाणको देखकर इन्द्र आदि देवताओं तथा गन्धर्वोंके हर्षकी सीमा न रही । शत्रुके प्रति श्रीरामके मुखसे ब्रह्मास्त्रका प्रयोग होता देख देवता, दानव और किंनर यह समझ गये कि अब इस राक्षसकी आयु बहुत थोड़ी रह गयी है ॥ २५-२७½ ॥

ततः ससर्ज तं रामः शरमप्रतिमौजसम् ॥ २८ ॥
रावणान्तकरं घोरं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ।

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने उठे हुए ब्रह्मदण्डके समान भयंकर तथा अप्रतिम तेजस्वी उस रावणविनाशक बाणको छोड़ दिया ॥ २८½ ॥



मुक्तमात्रेण रामेण दूराकृष्टेन भारत ॥ २९ ॥
स तेन राक्षसश्रेष्ठः सरथः साश्वसारथिः ।
प्रजज्वाल महाज्वालेनाग्निनाभिपरिप्लुतः ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर ! श्रीरामद्वारा धनुषको दूरतक खींचकर छोड़े हुए उस बाणके लगते ही राक्षसराज रावण रथ, घोड़े और सारथिसहित इस प्रकार जलने लगा मानो भयंकर लपटोंवाली आगके लपेटमें आ गया हो ॥ २९-३० ॥

ततः प्रहृष्टास्त्रिदशाः सहगन्धर्वचारणाः ।
निहतं रावणं दृष्ट्वा रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ३१ ॥

इस प्रकार अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके हाथोंसे रावणको मारा गया देख देवता, गन्धर्व तथा चारण बहुत प्रसन्न हुए ॥ ३१ ॥

तत्यजुस्तं महाभागं पञ्च भूतानि रावणम् ।
भ्रंशितः सर्वलोकेभ्यः स हि ब्रह्मास्त्रतेजसा ॥ ३२ ॥

तदनन्तर पाँचों भूतोंने उस महान् भाग्यशाली रावणको त्याग दिया। ब्रह्मास्त्रके तेजसे दग्ध होकर वह सम्पूर्ण लोकोंसे भ्रष्ट हो गया ॥ ३२ ॥

शरीरधातवो ह्यस्य मांसं रुधिरमेव च ।
नेशुर्ब्रह्मास्त्रनिर्दग्धा न च भस्माप्यदृश्यत ॥ ३३ ॥

उसके शरीरके धातु, मांस तथा रक्त भी ब्रह्मास्त्रसे दग्ध होकर नष्ट हो गये। उसकी राखतक नहीं दिखायी दी ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि श्रीरामोपाख्यानपर्वणि रावणवधे नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत श्रीरामोपाख्यानपर्वमें रावणवधविषयक दो सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९० ॥

एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीरामका सीताके प्रति संदेह, देवताओंद्वारा सीताकी शुद्धिका समर्थन, श्रीरामका दल-बलसहित लङ्कासे प्रस्थान एवं किष्किन्धा होते हुए अयोध्यामें पहुँचकर भरतसे मिलना तथा राज्यपर अभिषिक्त होना

मार्कण्डेय उवाच

स हत्वा रावणं क्षुद्रं राक्षसेन्द्रं सुरद्विषम् ।
बभूव हृष्टः ससुहृद् रामः सौमित्रिणा सह ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार नीच स्वभाववाले देवद्रोही राक्षसराज रावणका वध करके भगवान् श्रीराम अपने मित्रों तथा लक्ष्मणके साथ बड़े प्रसन्न हुए ॥१॥

ततो हते दशग्रीवे देवाः सर्षिपुरोगमाः ।
आशीर्भिर्जययुक्ताभिरानर्चुस्तं महाभुजम् ॥ २ ॥

दशाननके मारे जानेपर देवता तथा महर्षिगण जययुक्त आशीर्वाद देते हुए उन महाबाहुकी पूजा एवं प्रशंसा करने लगे ॥ २ ॥

रामं कमलपत्राक्षं तुष्टुवुः सर्वदेवताः ।
गन्धर्वाः पुष्पवर्षैश्च वाग्भिश्च त्रिदशालयाः ॥ ३ ॥

स्वर्गवासी सम्पूर्ण देवताओं तथा गन्धर्वोंने फूलोंकी वर्षा करते हुए उत्तम वाणीद्वारा कमलनयन भगवान् श्रीरामका स्तवन किया ॥ ३ ॥

पूजयित्वा यथा रामं प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।
तन्महोत्सवसङ्काशमासीदाकाशमच्युत ॥ ४ ॥

श्रीरामकी भलीभाँति पूजा करके वे सब जैसे आये थे, उसी प्रकार लौट गये। युधिष्ठिर ! उस समय आकाश महान् उत्सवसमारोहसे भरा-सा जान पड़ता था ॥ ४ ॥

ततो हत्वा दशग्रीवं लङ्कां रामो महायशाः ।
विभीषणाय प्रददौ प्रभुः परपुरञ्जयः ॥ ५ ॥

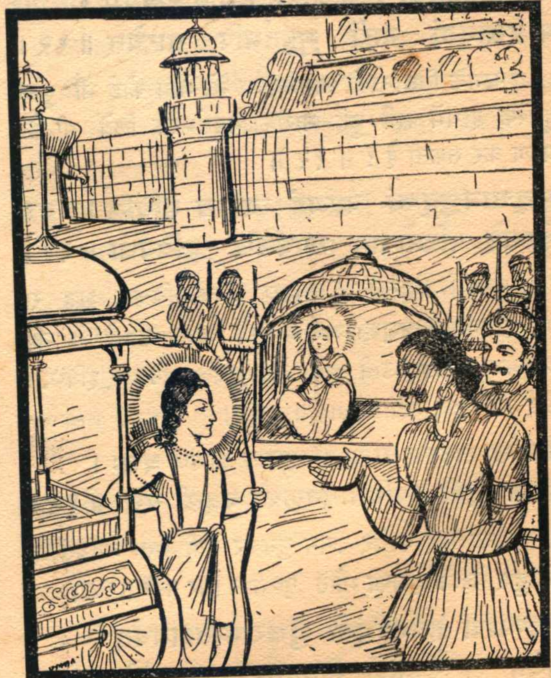
तत्पश्चात् शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महायशस्वी भगवान् श्रीरामने दशानन रावणका वध करनेके अनन्तर लङ्काका राज्य विभीषणको दे दिया ॥ ५ ॥

ततः सीतां पुरस्कृत्य विभीषणपुरस्कृताम् ।
अविन्ध्यो नाम सुप्रज्ञो वृद्धामात्यो विनिर्ययौ ॥ ६ ॥

इसके बाद उत्तम बुद्धिसे युक्त बूढ़े मन्त्री अविन्ध्य विभीषणसहित भगवती सीताको आगे करके लङ्कापुरीसे बाहर निकले ॥ ६ ॥

उवाच च महात्मानं काकुत्स्थं दैन्यमास्थितः ।
प्रतीच्छ देवीं सद्वृत्तां महात्मञ्जानकीमिति ॥ ७ ॥

वे ककुत्स्थकुलभूषण महात्मा श्रीरामचन्द्रजीसे दीनतापूर्वक बोले—'महात्मन् ! सदाचारसे सुशोभित जनककिशोरी महारानी सीताको ग्रहण कीजिये' ॥ ७ ॥



एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्मादवतीर्य रथोत्तमात् ।
बाष्पेणापिहितां सीतां ददर्शेक्ष्वाकुनन्दनः ॥ ८ ॥

यह सुनकर इक्ष्वाकुनन्दन भगवान् श्रीरामने उस उत्तम रथसे उतरकर सीताको देखा । उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी ॥ ८ ॥

तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं यानस्थां शोककर्शिताम् ।
मलोपचितसर्वाङ्गीं जटिलां कृष्णवाससम् ॥ ९ ॥

शिबिकामें बैठी हुई सर्वाङ्गसुन्दरी सीता शोकसे दुबली हो गयी थीं । उनके समस्त अङ्गोंमें मैल जम गयी थी, सिरके बाल आपसमें चिपककर जटाके रूपमें परिणत हो गये थे और उनका वस्त्र काला पड़ गया था ॥ ९ ॥

उवाच रामो वैदेहीं परामर्शविशङ्कितः ।
गच्छ वैदेहि मुक्ता त्वं यत् कार्यं तन्मया कृतम् ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजीके मनमें यह संदेह हुआ कि सम्भव है, सीता परपुरुषके स्पर्शसे अपवित्र हो गयी हों; अतः उन्होंने विदेहनन्दिनी सीतासे स्पष्ट वचनोंद्वारा कहा—'विदेहकुमारी ! मैंने तुम्हें रावणकी कैदसे छुड़ा दिया । अब तुम जाओ । मेरा जो कर्तव्य था, उसे मैंने पूरा कर दिया ॥ १० ॥

मामासाद्य पतिं भद्रे न त्वं राक्षसवेश्मनि ।
जरां व्रजेथा इति मे निहतोऽसौ निशाचरः ॥ ११ ॥

'भद्रे ! मुझ-जैसे पतिको पाकर तुम्हें वृद्धावस्थातक किसी राक्षसके घरमें न रहना पड़े, यही सोचकर मैंने उस निशाचरका वध किया है ॥ ११ ॥

कथं ह्यस्मद्विधो जातु जानन् धर्मविनिश्चयम् ।
परहस्तगतां नारीं मुहूर्तमपि धारयेत् ॥ १२ ॥

'धर्मके सिद्धान्तको जाननेवाला मेरे-जैसा कोई भी पुरुष दूसरेके हाथमें पड़ी हुई नारीको मुहूर्तभरके लिये भी कैसे ग्रहण कर सकता है ? ॥ १२ ॥

सुवृत्तामसुवृत्तां वाप्यहं त्वामद्य मैथिलि ।
नोत्सहे परिभोगाय श्वावलीढं हविर्यथा ॥ १३ ॥

'मिथिलेशनन्दिनि ! तुम्हारा आचार-विचार शुद्ध रह गया हो अथवा अशुद्ध, अब मैं तुम्हें अपने उपयोगमें नहीं ला सकता—ठीक उसी तरह, जैसे कुत्तेके चाटे हुए हविष्यको कोई भी ग्रहण नहीं करता' ॥ १३ ॥

ततः सा सहसा बाला तच्छ्रुत्वा दारुणं वचः ।
पपात देवी व्यथिता निकृत्ता कदली यथा ॥ १४ ॥

सहसा यह कठोर वचन सुनकर देवी सीता व्यथित हो कटे हुए केलेके वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ीं ॥१४॥

योऽप्यस्या हर्षसम्भूतो मुखरागस्तदाभवत् ।
क्षणेन स पुनर्नष्टो निःश्वास इव दर्पणे ॥ १५ ॥

जैसे श्वास लेनेसे दर्पणमें पड़ा हुआ मुखका प्रतिबिम्ब मलिन हो जाता है, उसी प्रकार सीताके मुखपर उस समय जो हर्षजनित कान्ति छा रही थी, वह एक ही क्षणमें फिर विलीन हो गयी ॥ १५ ॥

ततस्ते हरयः सर्वे तच्छ्रुत्वा रामभाषितम् ।
गतासुकल्पा निश्चेष्टा बभूवुः सहलक्ष्मणाः ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह कथन सुनकर समस्त वानर तथा लक्ष्मण सबके सब मरे हुएके समान निश्चेष्ट हो गये ॥ १६ ॥

ततो देवो विशुद्धात्मा विमानेन चतुर्मुखः ।
पद्मयोनिर्जगत्स्रष्टा दर्शयामास राघवम् ॥ १७ ॥

इसी समय विशुद्ध अन्तःकरणवाले कमलयोनि जगत्स्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्माजीने विमानद्वारा वहाँ आकर श्रीरामचन्द्रजीको दर्शन दिया ॥ १७ ॥

शक्रश्चाग्निश्च वायुश्च यमो वरुण एव च ।
यक्षाधिपश्च भगवांस्तथा सप्तर्षयोऽमलाः ॥ १८ ॥

साथ ही इन्द्र, अग्नि, वायु, यम, वरुण, यक्षराज भगवान् कुबेर तथा निर्मल चित्तवाले सप्तर्षिगण भी वहाँ आ गये ॥१८॥

राजा दशरथश्चैव दिव्यभास्वरमूर्तिमान् ।
विमानेन महार्हेण हंसयुक्तेन भास्वता ॥ १९ ॥

इनके सिवा हंसोंसे युक्त एक बहुमूल्य तेजस्वी विमानद्वारा दिव्य प्रकाशमय स्वरूप धारण किये स्वयं राजा दशरथ भी वहाँ पधारे ॥ १९ ॥

ततोऽन्तरिक्षं तत् सर्वं देवगन्धर्वसंकुलम् ।
शुशुभे तारकाचित्रं शरदीव नभस्तलम् ॥ २० ॥

उस समय देवताओं और गन्धर्वोंसे भरा हुआ वह सम्पूर्ण अन्तरिक्ष इस प्रकार शोभा पाने लगा, मानो असंख्य तारागणोंसे चित्रित शरद्‌ऋतुका आकाश हो ॥ २० ॥

तत उत्थाय वैदेही तेषां मध्ये यशस्विनी ।
उवाच वाक्यं कल्याणी रामं पृथुलवक्षसम् ॥ २१ ॥

तब उन सबके बीचमें खड़ी होकर कल्याणमयी यशस्विनी सीताने चौड़ी छातीवाले भगवान् श्रीरामसे इस प्रकार कहा—॥ २१ ॥

राजपुत्र न ते दोषं करोमि विदिता हि ते ।
गतिः स्त्रीणां नराणां च शृणु चेदं वचो मम ॥ २२ ॥

'राजपुत्र ! मैं आपको दोष नहीं देती, क्योंकि आप स्त्रियों और पुरुषोंकी कैसी गति है, यह अच्छी तरह जानते हैं । केवल मेरी यह बात सुन लीजिये ॥ २२ ॥

अन्तश्चरति भूतानां मातरिश्वा सदागतिः ।
स मे विमुञ्चतु प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥ २३ ॥

'निरन्तर संचरण करनेवाले वायुदेव समस्त प्राणियोंके

भीतर विचरते हैं। यदि मैंने कोई पापाचार किया हो तो वे वायुदेवता मेरे प्राणोंका परित्याग कर दें ॥ २३ ॥

अग्निरापस्तथाऽऽकाशं पृथिवी वायुरेव च।
विमुञ्चन्तु मम प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥ २४ ॥

'यदि मैं पापका आचरण करती होऊँ तो अग्नि, जल, आकाश, पृथ्वी और वायु—ये सब मिलकर मुझसे मेरे प्राणोंका वियोग करा दें ॥ २४ ॥

यथाहं त्वद्‌गते वीर नान्यं स्वप्नेऽप्यचिन्तयम्।
तथा मे देवनिर्दिष्टस्त्वमेव हि पतिर्भव ॥ २५ ॥

'वीर! यदि मैंने आपके सिवा दूसरे किसी पुरुषका स्वप्नमें भी चिन्तन न किया हो तो देवताओंके दिये हुए एकमात्र आप ही मेरे पति हों' ॥ २५ ॥

ततोऽन्तरिक्षे वागासीत् सुभगा लोकसाक्षिणी।
पुण्या संहर्षणी तेषां वानराणां महात्मनाम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर आकाशमें सब लोगोंको साक्षी देती हुई एक सुन्दर वाणी उच्चरित हुई, जो परम पवित्र होनेके साथ ही उन महामना वानरोंको भी हर्ष प्रदान करनेवाली थी ॥ २६ ॥

वायुरुवाच

भो भो राघव सत्यं वै वायुरस्मि सदागतिः।
अपापा मैथिली राजन् संगच्छ सह भार्यया ॥ २७ ॥

(उस आकाशवाणीके रूपमें) वायुदेवता बोले— रघुनन्दन! मैं सदा विचरण करनेवाला वायुदेवता हूँ। सीताने जो कुछ कहा है, वह सत्य है। राजन्! मिथिलेश-कुमारी सर्वथा पापशून्य हैं। आप अपनी इस पत्नीसे निःसंकोच होकर मिलिये ॥ २७ ॥

अग्निरुवाच

अहमन्तःशरीरस्थो भूतानां रघुनन्दन।
सुसूक्ष्ममपि काकुत्स्थ मैथिली नापराध्यति ॥ २८ ॥

अग्निदेवने कहा—रघुनन्दन! मैं समस्त प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाला अग्नि हूँ। मुझे मालूम है कि मिथिलेश-कुमारीके द्वारा कभी सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म अपराध नहीं हुआ है॥२८॥

वरुण उवाच

रसा वै मत्प्रसूता हि भूतदेहेषु राघव।
अहं वै त्वां प्रब्रवीमि मैथिली प्रतिगृह्यताम् ॥ २९ ॥

वरुणदेवने कहा—श्रीराम! समस्त प्राणियोंके शरीरोंमें जो जलतत्त्व है, वह मुझसे ही उत्पन्न हुआ है। अतः मैं तुमसे कहता हूँ, मिथिलेशकुमारी निष्पाप है, इसे ग्रहण करो ॥ २९ ॥

ब्रह्मोवाच

पुत्र नैतदिहाश्चर्यं त्वयि राजर्षिधर्मणि।
साधो सद्‌वृत्त काकुत्स्थ शृणु चेदं वचो मम ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजी बोले—वत्स! तुम राजर्षियोंके धर्मपर चलनेवाले हो; अतः तुममें ऐसा सद्विचार होना आश्चर्यकी बात नहीं है। साधु सदाचारी श्रीराम! तुम मेरी यह बात सुनो ॥ ३० ॥

शत्रुरेष त्वया वीर देवगन्धर्वभोगिनाम्।
यक्षाणां दानवानां च महर्षीणां च पातितः ॥ ३१ ॥

वीरवर! यह रावण देवता, गन्धर्व, नाग, यक्ष, दानव तथा महर्षियोंका भी शत्रु था। इसे तुमने मार गिराया है ॥ ३१ ॥

अवध्यः सर्वभूतानां मत्प्रसादात् पुराभवत्।
कस्माच्चित् कारणात् पापः कश्चित् कालमुपेक्षितः॥ ३२॥

पूर्वकालमें मेरे ही प्रसादसे यह समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य हो गया था। किसी कारणवश ही कुछ कालतक इस पापीकी उपेक्षा की गयी थी ॥ ३२ ॥

वधार्थमात्मनस्तेन हृता सीता दुरात्मना।
नलकूबरशापेन रक्षा चास्याः कृता मया ॥ ३३ ॥

दुरात्मा रावणने अपने वधके लिये ही सीताका अपहरण किया था। नलकूबरके शापद्वारा मैंने सीताकी रक्षाका प्रबन्ध कर दिया था ॥ ३३ ॥

यदि ह्यकामां सेवेत स्त्रियमन्यामपि ध्रुवम्।
शतधास्य फलेन्मूर्धा इत्युक्तः सोऽभवत् पुरा ॥ ३४॥

पूर्वकालमें रावणको यह शाप दिया गया था कि यदि यह उसे न चाहनेवाली किसी परायी स्त्रीका बलपूर्वक सेवन करेगा तो उसके मस्तकके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे ॥ ३४ ॥

नात्र शङ्का त्वया कार्या प्रतीच्छेमां महाद्युते।
कृतं त्वया महत् कार्यं देवानाममरप्रभ ॥ ३५॥

अतः महातेजस्वी श्रीराम! तुम्हें सीताके विषयमें कोई शंका नहीं करनी चाहिये। इसे ग्रहण करो। देवताओंके समान तेजस्वी वीर! तुमने रावणको मारकर देवताओंका महान् कार्य सिद्ध किया है ॥ ३५ ॥

दशरथ उवाच

प्रीतोऽस्मि वत्स भद्रं ते पिता दशरथोऽस्मि ते।
अनुजानामि राज्यं च प्रशाधि पुरुषोत्तम ॥ ३६ ॥

दशरथजी बोले—वत्स! मैं तुम्हारा पिता दशरथ हूँ, तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारा कल्याण हो। पुरुषोत्तम! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि अब तुम अयोध्याका राज्य करो ॥ ३६ ॥

राम उवाच

अभिवादये त्वां राजेन्द्र यदि त्वं जनको मम ।
गमिष्यामि पुरीं रम्यामयोध्यां शासनात् तव ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—राजेन्द्र ! यदि आप मेरे पिता हैं तो मैं आपको प्रणाम करता हूँ । आपकी आज्ञासे अब मैं रमणीय अयोध्यापुरीको लौट जाऊँगा ॥ ३७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तमुवाच पिता भूयः प्रहृष्टो भरतर्षभ ।
गच्छायोध्यां प्रशाधीति रामं रक्तान्तलोचनम् ॥ ३८ ॥
सम्पूर्णानीह वर्षाणि चतुर्दश महाद्युते ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तदनन्तर पिता दशरथने अत्यन्त प्रसन्न होकर कुछ-कुछ लाल नेत्रोंवाले श्रीरामचन्द्रजीसे पुनः कहा—'महाद्युते ! तुम्हारे वनवासके चौदह वर्ष पूरे हो गये हैं । अब तुम अयोध्या जाओ और वहाँका शासन अपने हाथमें लो' ॥ ३८½ ॥

ततो देवान् नमस्कृत्य सुहृद्भिरभिनन्दितः ॥ ३९ ॥
महेन्द्र इव पौलोम्या भार्यया स समेयिवान् ।

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने देवताओंको नमस्कार किया और सुहृदोंसे अभिनन्दित हो अपनी पत्नी सीतासे मिले, मानो इन्द्रका शचीसे मिलन हुआ हो ॥ ३९½ ॥

ततो वरं ददौ तस्मै ह्यविन्ध्याय परन्तपः ॥ ४० ॥
त्रिजटां चार्थमानाभ्यां योजयामास राक्षसीम् ।

इसके बाद परंतप श्रीरामने अविन्ध्यको अभीष्ट वरदान दिया तथा त्रिजटा राक्षसीको धन और सम्मानसे संतुष्ट किया ॥ ४०½ ॥

तमुवाच ततो ब्रह्मा देवैः शक्रपुरोगमैः ॥ ४१ ॥
कौसल्यामातरिष्टांस्ते वरानद्य ददानि कान् ।

यह सब हो जानेपर इन्द्र आदि देवताओंसहित ब्रह्माने भगवान् रामसे कहा—'कौसल्यानन्दन ! कहो, आज मैं तुम्हें कौन-कौनसे अभीष्ट वर प्रदान करूँ ?' ॥ ४१½ ॥

वव्रे रामः स्थितिं धर्मे शत्रुभिश्चापराजयम् ॥ ४२ ॥
राक्षसैर्निहतानां च वानराणां समुद्भवम् ।

तब श्रीरामचन्द्रजीने उनसे ये वर माँगे 'मेरी धर्ममें सदा स्थिति रहे, शत्रुओंसे कभी पराजय न हो तथा राक्षसोंके द्वारा मारे गये वानर पुनः जीवित हो जायँ' ॥ ४२½ ॥

ततस्ते ब्रह्मणा प्रोक्ते तथेति वचने तदा ॥ ४३ ॥
समुत्तस्थुर्महाराज वानरा लब्धचेतसः ।

यह सुनकर ब्रह्माजीने कहा—'ऐसा ही हो ।' महाराज ! उनके इतना कहते ही सभी वानर चेतना प्राप्त करके जी उठे ॥ ४३½ ॥

सीता चापि महाभागा वरं हनुमते ददौ ॥ ४४ ॥
रामकीर्त्या समं पुत्र जीवितं ते भविष्यति ।

महासौभाग्यवती सीताने भी हनुमान्‌जीको यह वर दिया—'पुत्र ! जबतक इस धरातलपर भगवान् श्रीरामकी कीर्ति बनी रहेगी, तबतक तुम्हारा जीवन स्थिर रहेगा ॥ ४४½ ॥

दिव्यास्त्वामुपभोगाश्च मत्प्रसादकृताः सदा ॥ ४५ ॥
उपस्थास्यन्ति हनुमन्निति स्म हरिलोचन ।

'पिङ्गलनयन हनुमान् ! मेरी कृपासे तुम्हें सदा ही दिव्य भोग प्राप्त होते रहेंगे' ॥ ४५½ ॥

ततस्ते प्रेक्षमाणानां तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ॥ ४६ ॥
अन्तर्धानं ययुर्देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः ।

तदनन्तर अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले वानरोंके देखते-देखते वहाँ इन्द्र आदि सब देवता अन्तर्धान हो गये ॥ ४६½ ॥

दृष्ट्वा रामं तु जानक्या संगतं शक्रसारथिः ॥ ४७ ॥
उवाच परमप्रीतः सुहृन्मध्य इदं वचः ।
देवगन्धर्वयक्षाणां मानुषासुरभोगिनाम् ॥ ४८ ॥
अपनीतं त्वया दुःखमिदं सत्यपराक्रम ।

श्रीरामचन्द्रजीको जनकनन्दिनी सीताके साथ विराजमान देख इन्द्रसारथि मातलिको बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने सब सुहृदोंके बीचमें इस प्रकार कहा—'सत्यपराक्रमी श्रीराम ! आपने देवता, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, असुर और नाग इन सबका दुःख दूर कर दिया है ॥ ४७-४८½ ॥

सदेवासुरगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ॥ ४९ ॥
कथयिष्यन्ति लोकास्त्वां यावद् भूमिर्धरिष्यति ।

'जबतक यह पृथ्वी रहेगी, तबतक देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा नागोंसहित सम्पूर्ण जगत्‌के लोग आपकी कीर्तिकथाका गान करेंगे ॥ ४९½ ॥

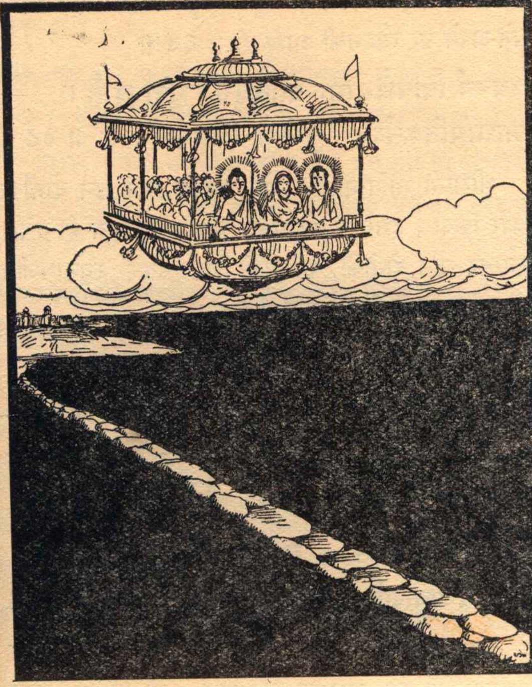
इत्येवमुक्त्वानुज्ञाप्य रामं शस्त्रभृतां वरम् ॥ ५० ॥
सम्पूज्यापाक्रमत् तेन रथेनादित्यवर्चसा ।

ऐसा कहकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा ले उनकी पूजा करके सूर्यके समान तेजस्वी उसी रथके द्वारा मातलि स्वर्गलोकको चला गया ॥ ५०½ ॥

ततः सीतां पुरस्कृत्य रामः सौमित्रिणा सह ॥ ५१ ॥
सुग्रीवप्रमुखैश्चैव सहितः सर्ववानरैः ।
विधाय रक्षां लङ्कायां विभीषणपुरस्कृतः ॥ ५२ ॥
संततार पुनस्तेन सेतुना मकरालयम् ।
पुष्पकेण विमानेन खेचरेण विराजता ॥ ५३ ॥
कामगेन यथामुख्यैरमात्यैः संवृतो वशी ।

तदनन्तर जितेन्द्रिय भगवान् श्रीरामने लङ्कापुरीकी सुरक्षाका प्रबन्ध करके लक्ष्मण, सुग्रीव आदि सभी श्रेष्ठ

वानरों, विभीषण तथा प्रधान-प्रधान सचिवोंके साथ सीताको आगे करके इच्छानुसार चलनेवाले, आकाशचारी, शोभाशाली



पुष्पकविमानपर आरूढ़ हो उसीके द्वारा पूर्वोक्त सेतुमार्गसे ऊपर-ही-ऊपर पुनः मकरालय समुद्रको पार किया॥ ५१-५३½ ॥

ततस्तीरे समुद्रस्य यत्र शिश्ये स पार्थिवः ॥ ५४ ॥
तत्रैवोवास धर्मात्मा सहितः सर्ववानरैः ।

समुद्रके इस पार आकर धर्मात्मा श्रीरामने पहले जहाँ शयन किया था, उसी स्थानपर सम्पूर्ण वानरोंके साथ विश्राम किया ॥ ५४½ ॥

अथैनान् राघवः काले समानीयाभिपूज्य च ॥ ५५ ॥
विसर्जयामास तदा रत्नैः संतोष्य सर्वशः ।

फिर श्रीरघुनाथजीने यथासमय सबको अपने पास बुलाकर सबका यथायोग्य आदर-सत्कार किया तथा रत्नोंकी भेंटसे संतुष्ट करके सभी वानरों और रीछोंको बिदा किया ॥ ५५½ ॥

गतेषु वानरेन्द्रेषु गोपुच्छर्क्षेषु तेषु च ॥ ५६॥
सुग्रीवसहितो रामः किष्किन्धां पुनरागमत् ।

जब वे रीछ, श्रेष्ठ वानर और लंगूर चले गये, तब सुग्रीवसहित श्रीरामने पुनः किष्किन्धापुरीको प्रस्थान किया ॥ ५६½ ॥

विभीषणेनानुगतः सुग्रीवसहितस्तदा ॥ ५७॥
पुष्पकेण विमानेन वैदेह्या दर्शयन् वनम् ।
किष्किन्धां तु समासाद्य रामः प्रहरतां वरः ॥ ५८ ॥
अङ्गदं कृतकर्माणं यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।

विभीषण और सुग्रीवके साथ पुष्पक-विमानद्वारा विदेहकुमारी सीताको वनकी शोभा दिखाते हुए योद्धाओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने किष्किन्धामें पहुँचकर अङ्गदको, जिन्होंने लंकाके युद्धमें महान् पराक्रम दिखाया था, युवराजके पदपर अभिषिक्त किया ॥ ५७-५८½ ॥

ततस्तैरेव सहितो रामः सौमित्रिणा सह ॥ ५९ ॥
यथागतेन मार्गेण प्रययौ स्वपुरं प्रति ।

इसके बाद लक्ष्मण तथा सुग्रीव आदिके साथ श्रीरामचन्द्रजी जिस मार्गसे आये थे, उसीके द्वारा अपनी राजधानी अयोध्याकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ५९½ ॥

अयोध्यां स समासाद्य पुरीं राष्ट्रपतिस्ततः ॥ ६० ॥
भरताय हनूमन्तं दूतं प्रास्थापयत् तदा ।

तत्पश्चात् अयोध्यापुरीके निकट पहुँचकर राष्ट्रपति श्रीरामने हनुमान्‌जीको दूत बनाकर भरतके पास भेजा ॥ ६०½ ॥

लक्षयित्वेङ्गितं सर्वं प्रियं तस्मै निवेद्य वै ॥ ६१ ॥
वायुपुत्रे पुनः प्राप्ते नन्दिग्राममुपागमत् ।

जब वायुपुत्र हनुमान्‌जी भरतजीकी सारी चेष्टाओंको लक्ष्य करके उन्हें श्रीरामचन्द्रजीके पुनरागमनका प्रिय समाचार सुनाकर लौट आये, तब श्रीरामचन्द्रजी नन्दिग्राममें आये ॥ ६१½ ॥

स तत्र मलदिग्धाङ्गं भरतं चीरवाससम् ॥ ६२ ॥
अग्रतः पादुके कृत्वा ददर्शासीनमासने ।

वहाँ आकर श्रीरामने देखा, भरत चीरवस्त्र पहने हुए हैं, उनका शरीर मैलसे भरा हुआ है और वे मेरी चरण-पादुकाएँ आगे रखकर कुशासनपर बैठे हैं ॥६२½ ॥

संगतो भरतेनाथ शत्रुघ्नेन च वीर्यवान् ॥ ६३ ॥
राघवः सहसौमित्रिर्मुमुदे भरतर्षभ ।

युधिष्ठिर ! लक्ष्मणसहित पराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी भरत और शत्रुघ्नसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए ॥ ६३½ ॥

ततो भरतशत्रुघ्नौ समेतौ गुरुणा तदा ॥ ६४ ॥
वैदेह्या दर्शनेनोभौ प्रहर्षं समवापतुः ।

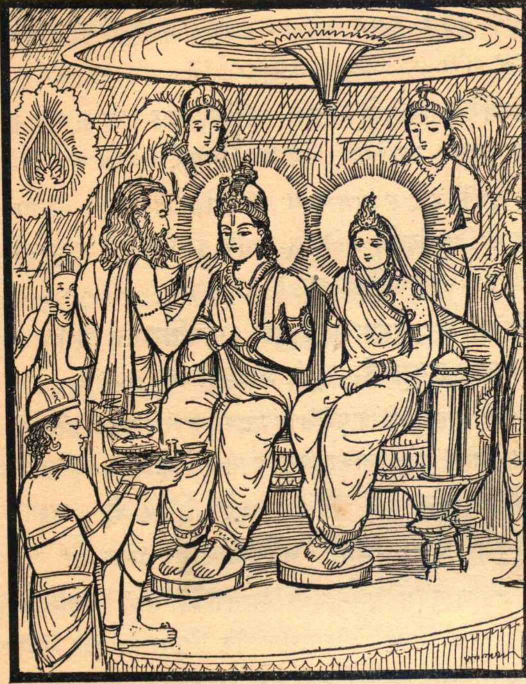
भरत और शत्रुघ्नको भी उस समय बड़े भाईसे मिलकर तथा विदेहकुमारी सीताका दर्शन करके महान् हर्ष प्राप्त हुआ ॥ ६४½ ॥

तस्मै तद् भरतो राज्यमागतायातिसत्कृतम् ।
न्यासं निर्यातयामास युक्तः परमया मुदा ॥ ६५ ॥

फिर भरतजीने बड़ी प्रसन्नताके साथ अयोध्या पधारे हुए भगवान् श्रीरामको अपने पास धरोहरके रूपमें रखा हुआ (अयोध्याका) राज्य अत्यन्त सत्कारपूर्वक लौटा दिया ॥ ६५ ॥

ततस्तं वैष्णवे शूरं नक्षत्रेऽभिमतेऽहनि ।
वसिष्ठो वामदेवश्च सहितावभ्यषिञ्चताम् ॥ ६६ ॥

तत्पश्चात् विष्णुदेवतासम्बन्धी श्रवण नक्षत्रका पुण्य



दिवस आनेपर वसिष्ठ और वामदेव दोनों ऋषियोंने मिलकर शूरशिरोमणि भगवान् रामका राज्याभिषेक किया ॥ ६६ ॥

सोऽभिषिक्तः कपिश्रेष्ठं सुग्रीवं ससुहृज्जनम् ।
विभीषणं च पौलस्त्यमन्वजानाद् गृहान् प्रति ॥ ६७ ॥

राज्याभिषेकका कार्य सम्पन्न हो जानेपर श्रीरामचन्द्रजीने सुहृदोंसहित सुग्रीवको तथा पुलस्त्यकुलनन्दन विभीषणको अपने-अपने घर लौटनेकी आज्ञा दी ॥ ६७ ॥

अभ्यर्च्य विविधैर्भोगैः प्रीतियुक्तौ मुदा युतौ ।
समाधायेतिकर्तव्यं दुःखेन विससर्ज ह ॥ ६८ ॥

श्रीरामने भाँति-भाँतिके भोग अर्पित करके उन दोनोंका सत्कार किया । इससे वे बड़े प्रसन्न और आनन्दमग्न हो गये । तदनन्तर उन दोनोंको कर्तव्यकी शिक्षा देकर रघुनाथजीने उन्हें बड़े दुःखसे विदा किया ॥ ६८ ॥

पुष्पकं च विमानं तत् पूजयित्वा स राघवः ।
प्रादाद् वैश्रवणायैव प्रीत्या स रघुनन्दनः ॥ ६९ ॥

इसके बाद उस पुष्पकविमानकी पूजा करके रघुनन्दन श्रीरामने उसे कुबेरको ही प्रेमपूर्वक लौटा दिया ॥ ६९ ॥

ततो देवर्षिसहितः सरितं गोमतीमनु ।
दशाश्वमेधानाजह्रे जारूथ्यान् स निरर्गलान् ॥ ७० ॥

तदनन्तर देवर्षियोंसहित गोमती नदीके तटपर जाकर श्रीरघुनाथजीने दस अश्वमेध यज्ञ किये, जो स्तुतिके योग्य थे और जिनमें अन्न आदिकी इच्छासे आनेवाले याचकोंके लिये कभी द्वार बंद नहीं होता था ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि श्रीरामाभिषेके एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें श्रीरामाभिषेकविषयक दो सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९१ ॥

द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीके द्वारा राजा युधिष्ठिरको आश्वासन

मार्कण्डेय उवाच

एवमेतन्महाबाहो रामेणामिततेजसा ।
प्राप्तं व्यसनमत्युग्रं वनवासकृतं पुरा ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—महाबाहु युधिष्ठिर ! इस प्रकार प्राचीन कालमें अमिततेजस्वी श्रीरामने वनवासजनित अत्यन्त भयंकर कष्ट भोगा था ॥ १ ॥

मा शुचः पुरुषव्याघ्र क्षत्रियोऽसि परंतप ।
बाहुवीर्याश्रिते मार्गे वर्तसे दीप्तनिर्णये ॥ २ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह ! तुम क्षत्रिय हो, शोक न करो । तुम तो उस मार्गपर चल रहे हो, जहाँ केवल अपने बाहुबलका भरोसा किया जाता है तथा जहाँ अभीष्ट फलकी प्राप्ति प्रत्यक्ष एवं असंदिग्ध है ॥ २ ॥

न हि ते वृजिनं किंचिद् वर्तते परमण्वपि ।
अस्मिन् मार्गे निषीदेयुः सेन्द्रा अपि सुरासुराः ॥ ३ ॥

श्रीरामके कष्टके सामने तुम्हारा कष्ट अणुमात्र भी नहीं है । इन्द्रसहित देवता तथा असुर भी इस क्षत्रियधर्मके मार्गपर चले हैं ॥ ३ ॥

संहत्य निहतो वृत्रो मरुद्भिर्वज्रपाणिना ।
नमुचिश्चैव दुर्धर्षो दीर्घजिह्वा च राक्षसी ॥ ४ ॥

वज्रपाणि इन्द्रने मरुद्गणोंके साथ मिलकर वृत्रासुर, दुर्धर्ष वीर नमुचि तथा दीर्घजिह्वा राक्षसीका वध किया था ॥

सहायवति सर्वार्थाः संतिष्ठन्तीह सर्वशः ।
किं नु तस्याजितं संख्ये यस्य भ्राता धनंजयः ॥ ५ ॥

जो सहायकोंसे सम्पन्न है, उसके सभी मनोरथ इस जगत्‌में सब प्रकारसे सिद्ध होते हैं । फिर जिसे धनंजय-जैसा भाई मिला हो, वह युद्धमें किसे परास्त नहीं कर सकता ॥ ५ ॥

अयं च बलिनां श्रेष्ठो भीमो भीमपराक्रमः ।

युवानौ च महेष्वासौ वीरौ माद्रवतीसुतौ ॥ ६ ॥

ये भयंकर पराक्रमी भीमसेन बलवानोंमें श्रेष्ठ हैं। माद्रीनन्दन वीर नकुल-सहदेव भी महान् धनुर्धर तथा नवयुवक हैं ॥ ६ ॥

एभिः सहायैः कस्मात् त्वं विषीदसि परंतप ।
य इमे वज्रिणः सेनां जयेयुः समरुद्गणाम् ॥ ७ ॥

परंतप ! इन सब सहायकोंके होते हुए तुम विषाद क्यों करते हो ? तुम्हारे ये भाई तो मरुद्गणोंसहित वज्रधारी इन्द्रकी सेनाको भी परास्त कर सकते हैं ॥ ७ ॥

त्वमप्येभिर्महेष्वासैः सहायैर्देवरूपिभिः ।
विजेष्यसे रणे सर्वानमित्रान् भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम भी इन देवस्वरूप महाधनुर्धर भाइयोंकी सहायतासे अपने समस्त शत्रुओंको युद्धमें जीत लोगे ॥

इतश्च त्वमिमां पश्य सैन्धवेन दुरात्मना ।
बलिना वीर्यमत्तेन हृतामेभिर्महात्मभिः ॥ ९ ॥
आनीतां द्रौपदीं कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
जयद्रथं च राजानं विजितं वशमागतम् ॥ १० ॥

इधर इस द्रौपदीकी ओर देखो । अपने पराक्रमके मदसे उन्मत्त महाबली दुरात्मा सिन्धुराजने इसे हर लिया था; परंतु तुम्हारे इन महात्मा बन्धुओंने अत्यन्त दुष्कर कर्म करके द्रुपदकुमारी कृष्णाको पुनः लौटा लिया तथा राजा जयद्रथको भी परास्त करके अपने अधीन कर लिया था ॥

असहायेन रामेण वैदेही पुनराहृता ।
हत्वा संख्ये दशग्रीवं राक्षसं भीमविक्रमम् ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके तो कोई स्वजातीय सहायक भी नहीं थे, तो भी उन्होंने युद्धमें भयंकर पराक्रमी राक्षस दशाननका वध करके विदेहनन्दिनी सीताको पुनः लौटा लिया ॥ ११ ॥

यस्य शाखामृगा मित्राण्यृक्षाः कालमुखास्तथा।
जात्यन्तरगता राजन्नेतद् बुद्ध्यानुचिन्तय ॥ १२ ॥

राजन् ! दूसरी योनिके प्राणी वानर, लंगूर तथा रीछ ही उनके मित्र अथवा सहायक थे (किंतु तुम्हारे तो चार शूरवीर भाई सहायक हैं) । इस बातपर बुद्धिद्वारा विचार करो ॥ १२ ॥

तस्मात् स त्वं कुरुश्रेष्ठ मा शुचो भरतर्षभ ।
त्वद्विधा हि महात्मानो न शोचन्ति परंतप ॥ १३ ॥

अतः कुरुश्रेष्ठ ! भरतभूषण ! तुम शोक न करो । क्योंकि परंतप ! तुम्हारे-जैसे महात्मा पुरुष कभी शोक नहीं करते ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितो राजा मार्कण्डेयेन धीमता ।
त्यक्त्वा दुःखमदीनात्मा पुनरप्येनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! परम बुद्धिमान् मार्कण्डेय मुनिके इस प्रकार आश्वासन देनेपर उदार हृदयवाले राजा युधिष्ठिर दुःख-शोक छोड़कर पुनः उनसे इस प्रकार बोले ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें युधिष्ठिरको आश्वासनविषयक दो सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२९२॥

(पतिव्रतामाहात्म्यपर्व)

त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजा अश्वपतिको देवी सावित्रीके वरदानसे सावित्री नामक कन्याकी प्राप्ति तथा सावित्रीका पतिवरणके लिये विभिन्न देशोंमें भ्रमण

युधिष्ठिर उवाच

नात्मानमनुशोचामि नेमान् भ्रातॄन् महामुने ।
हरणं चापि राज्यस्य यथेमां द्रुपदात्मजाम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—महामुने ! इस द्रुपदकुमारीके लिये मुझे जैसा शोक होता है, वैसा न तो अपने लिये, न इन भाइयोंके लिये और न राज्य छिन जानेके लिये ही होता है ॥ १ ॥

द्यूते दुरात्मभिः क्लिष्टाः कृष्णया तारिता वयम्।
जयद्रथेन च पुनर्वनाच्चापि हृता बलात् ॥ २ ॥

दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंने जूएके समय हमलोगोंको भारी संकटमें डाल दिया था, परंतु इस द्रौपदीने हमें बचा लिया । फिर जयद्रथने इस वनसे इसका बलपूर्वक अपहरण किया ॥ २ ॥

अस्ति सीमन्तिनी काचिद् दृष्टपूर्वापि वा श्रुता।
पतिव्रता महाभागा यथेयं द्रुपदात्मजा ॥ ३ ॥

क्या आपने किसी ऐसी परम सौभाग्यवती पतिव्रता नारीको पहले कभी देखा अथवा सुना है, जैसी यह द्रौपदी है ? ॥

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन् कुलस्त्रीणां महाभाग्यं युधिष्ठिर।
सर्वमेतद् यथा प्राप्तं सावित्र्या राजकन्यया॥ ४ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—राजा युधिष्ठिर! राजकन्या सावित्रीने कुलकामिनियोंके लिये परम सौभाग्यरूप यह पातिव्रत्य आदि सब सद्गुणसमूह जिस प्रकार प्राप्त किया था, वह बताता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

आसीन्मद्रेषु धर्मात्मा राजा परमधार्मिकः।
ब्रह्मण्यश्च महात्मा च सत्यसंधो जितेन्द्रियः॥ ५ ॥

प्राचीनकालकी बात है, मद्रदेशमें एक परम धर्मात्मा राजा राज्य करते थे। वे ब्राह्मण-भक्त, विशालहृदय, सत्य-प्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय थे ॥ ५ ॥

यज्वा दानपतिर्दक्षः पौरजानपदप्रियः।
पार्थिवोऽश्वपतिर्नाम सर्वभूतहिते रतः॥ ६ ॥

वे यज्ञ करनेवाले, दानाध्यक्ष, कार्य-कुशल, नगर और जनपदके लोगोंके परम प्रिय तथा सम्पूर्ण भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले भूपाल थे। उनका नाम अश्वपति था ॥ ६ ॥

क्षमावाननपत्यश्च सत्यवाग् विजितेन्द्रियः।
अतिक्रान्तेन वयसा संतापमुपजग्मिवान्॥ ७ ॥

राजा अश्वपति क्षमाशील, सत्यवादी और जितेन्द्रिय होनेपर भी संतानहीन थे। बहुत अधिक अवस्था बीत जानेपर इसके कारण उनके मनमें बड़ा संताप हुआ ॥ ७ ॥

अपत्योत्पादनार्थं च तीव्रं नियममास्थितः।
काले परिमिताहारो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः॥ ८ ॥

अतः उन्होंने संतानकी उत्पत्तिके लिये बड़े कठोर नियमोंका आश्रय लिया। वे निश्चित समयपर थोड़ा-सा भोजन करते और ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए इन्द्रियोंको संयममें रखते थे ॥

हुत्वा शतसहस्रं स सावित्र्या राजसत्तमः।
षष्ठे षष्ठे तदा काले बभूव मितभोजनः॥ ९ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ अश्वपति ब्राह्मणोंके साथ प्रतिदिन गायत्री-मन्त्रसे एक लाख आहुति देकर दिनके छठे भागमें परिमित भोजन करते थे ॥ ९ ॥

एतेन नियमेनासीद् वर्षाण्यष्टादशैव तु।
पूर्णे त्वष्टादशे वर्षे सावित्री तुष्टिमभ्यगात्॥ १० ॥

उनको इस नियमसे रहते हुए अठारह वर्ष बीत गये। अठारहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर सावित्रीदेवी संतुष्ट हुईं ॥ १० ॥

रूपिणी तु तदा राजन् दर्शयामास तं नृपम्।
अग्निहोत्रात् समुत्थाय हर्षेण महतान्विता।
उवाच चैनं वरदा वचनं पार्थिवं तदा॥ ११ ॥
(सा तमश्वपतिं राजन् सावित्री नियमे स्थितम्॥)

राजन्! तब मूर्तिमती सावित्रीदेवीने अग्निहोत्रकी अग्निसे प्रकट होकर बड़े हर्षके साथ राजाको प्रत्यक्ष दर्शन दिया और वर देनेके लिये उद्यत हो अनुष्ठानके नियमोंमें स्थित उस राजा अश्वपतिसे इस प्रकार कहा ॥ ११ ॥

सावित्र्युवाच

ब्रह्मचर्येण शुद्धेन दमेन नियमेन च।
सर्वात्मना च भक्त्या च तुष्टास्मि तव पार्थिव॥ १२ ॥

सावित्री बोली—राजन्! मैं तुम्हारे विशुद्ध ब्रह्मचर्य, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह तथा सम्पूर्ण हृदयसे की हुई भक्तिके द्वारा बहुत संतुष्ट हुई हूँ ॥ १२ ॥

वरं वृणीष्वाश्वपते मद्रराज यदीप्सितम्।
न प्रमादश्च धर्मेषु कर्तव्यस्ते कथञ्चन॥ १३ ॥

मद्रराज अश्वपते! तुम्हें जो अभीष्ट हो, वह वर माँगो। धर्मोंके पालनमें तुम्हें कभी किसी तरह भी प्रमाद नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

अश्वपतिरुवाच

अपत्यार्थः समारम्भः कृतो धर्मेप्सया मया।
पुत्रा मे बहवो देवि भवेयुः कुलभावनाः॥ १४ ॥

अश्वपतिने कहा—देवि! मैंने धर्मप्राप्तिकी इच्छासे संतानके लिये यह अनुष्ठान आरम्भ किया था। आपकी कृपासे मुझे बहुत-से वंशप्रवर्तक पुत्र प्राप्त हों ॥ १४ ॥

तुष्टासि यदि मे देवि वरमेतं वृणोम्यहम्।
संतानं परमो धर्म इत्याहुर्मां द्विजातयः॥ १५ ॥

देवि! यदि आप प्रसन्न हैं तो मैं आपसे यह संतान-सम्बन्धी वर ही माँगता हूँ; क्योंकि द्विजातिगण मुझसे बराबर यही कहते हैं कि 'न्याययुक्त संतानोत्पादन (भी) परम धर्म है' ॥ १५ ॥

सावित्र्युवाच

पूर्वमेव मया राजन्नभिप्रायमिमं तव।
ज्ञात्वा पुत्रार्थमुक्तो वै भगवांस्ते पितामहः॥ १६ ॥

सावित्री बोली—राजन्! मैंने पहले ही तुम्हारे इस अभिप्रायको जानकर पुत्रके लिये भगवान् ब्रह्माजीसे निवेदन किया था ॥ १६ ॥

प्रसादाच्चैव तस्मात् ते स्वयम्भुविहिताद् भुवि।
कन्या तेजस्विनी सौम्य क्षिप्रमेव भविष्यति॥ १७ ॥

अतः सौम्य! भगवान् ब्रह्माजीके कृपाप्रसादसे तुम्हें शीघ्र ही इस पृथ्वीपर एक तेजस्विनी कन्या प्राप्त होगी ॥ १७ ॥

उत्तरं च न ते किंचिद् व्याहर्तव्यं कथञ्चन।
पितामहनिसर्गेण तुष्टा ह्येतद् ब्रवीमि ते॥ १८ ॥

इस विषयमें तुम्हें किसी तरह भी कोई प्रतिवाद या

उत्तर नहीं देना चाहिये। मैं ब्रह्माजीकी आज्ञासे संतुष्ट होकर तुमसे यह बात कहती हूँ ॥ १८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय सावित्र्या वचनं नृपः।
प्रसादयामास पुनः क्षिप्रमेतद् भविष्यति ॥ १९ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! सावित्रीदेवीकी बात सुनकर राजाने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञाका पालन करनेकी प्रतिज्ञा की और पुनः सावित्री-देवीको इस उद्देश्यसे प्रसन्न किया कि यह भविष्यवाणी शीघ्र सफल हो ॥ १९ ॥

अन्तर्हितायां सावित्र्यां जगाम स्वपुरं नृपः।
स्वराज्ये चावसद् वीरः प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ २० ॥

जब सावित्रीदेवी अन्तर्धान हो गयीं, तब वीर राजा अश्वपति भी अपने नगरको चले गये और प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते हुए अपने राज्यमें ही रहने लगे ॥ २० ॥

कस्मिंश्चित् तु गते काले स राजा नियतव्रतः।
ज्येष्ठायां धर्मचारिण्यां महिष्यां गर्भमादधे ॥ २१ ॥

नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजा अश्वपतिने किसी समय अपनी धर्मपरायणा बड़ी रानीमें गर्भ स्थापित किया ॥ २१ ॥

राजपुत्र्यास्तु गर्भः स मालव्या भरतर्षभ।
व्यवर्धत तदा शुक्ले तारापतिरिवाम्बरे ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ! अश्वपतिकी पत्नी मालवदेशकी राजकुमारी थीं। उनका वह गर्भ आकाशमें शुक्लपक्षीय चन्द्रमाकी भाँति दिनोंदिन बढ़ने लगा ॥ २२ ॥

प्राप्ते काले तु सुषुवे कन्यां राजीवलोचनाम्।
क्रियाश्च तस्या मुदितश्चक्रे च नृपसत्तमः ॥ २३ ॥

समय प्राप्त होनेपर महारानीने एक कमलनयनी कन्याको जन्म दिया तथा नृपश्रेष्ठ अश्वपतिने अत्यन्त प्रसन्न होकर उसके जातकर्म आदि संस्कार सम्पन्न करवाये ॥ २३ ॥

सावित्र्या प्रीतया दत्ता सावित्र्या हुतया ह्यपि।
सावित्रीत्येव नामास्याश्चक्रुर्विप्रास्तथा पिता ॥ २४ ॥

सावित्रीने प्रसन्न होकर उस कन्याको दिया था तथा गायत्री मन्त्रद्वारा आहुति देनेसे ही सावित्रीदेवी प्रसन्न हुई थीं, अतः ब्राह्मणों तथा पिताने उस कन्याका नाम 'सावित्री' ही रक्खा ॥ २४ ॥

सा विग्रहवतीव श्रीर्व्यवर्धत नृपात्मजा।
कालेन चापि सा कन्या यौवनस्था बभूव ह ॥ २५ ॥

वह राजकन्या मूर्तिमती लक्ष्मीके समान बढ़ने लगी और यथासमय उसने युवावस्थामें प्रवेश किया ॥ २५ ॥

तां सुमध्यां पृथुश्रोणीं प्रतिमां काञ्चनीमिव।
प्राप्तेयं देवकन्येति दृष्ट्वा सम्मेनिरे जनाः ॥ २६ ॥

उसके शरीरका कटिभाग परम सुन्दर तथा नितम्बदेश पृथुल था। वह सुवर्णकी बनी हुई प्रतिमा-सी जान पड़ती थी। उसे देखकर सब लोग यही मानते थे कि यह कोई देवकन्या आ गयी है ॥ २६ ॥

तां तु पद्मपलाशाक्षीं ज्वलन्तीमिव तेजसा।
न कश्चिद् वरयामास तेजसा प्रतिवारितः ॥ २७ ॥

उसके नेत्रयुगल विकसित नील कमलदलके समान मनोहर थे। वह अपने तेजसे प्रज्वलित-सी जान पड़ती थी। उसके तेजसे प्रतिहत हो जानेके कारण कोई भी राजा या राजकुमार उसका वरण नहीं कर सका ॥ २७ ॥

अथोपोष्य शिरःस्नाता देवतामभिगम्य सा।
हुत्वाग्निं विधिवद् विप्रान् वाचयामास पर्वणि ॥ २८ ॥

एक दिन किसी पर्वके अवसरपर उपवासपूर्वक शिरसे स्नान करके सावित्री देवताके दर्शनके लिये गयी और विधिपूर्वक अग्निमें आहुति दे उसने ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया ॥ २८ ॥

ततः सुमनसः शेषाः प्रतिगृह्य महात्मनः।
पितुः समीपमगमद् देवी श्रीरिव रूपिणी ॥ २९ ॥

तदनन्तर इष्टदेवताका प्रसाद लेकर मूर्तिमती लक्ष्मीदेवीके समान सुशोभित होती हुई वह अपने महात्मा पिताके समीप गयी ॥

साभिवाद्य पितुः पादौ शेषाः पूर्वं निवेद्य च।
कृताञ्जलिर्वरारोहा नृपतेः पार्श्वमास्थिता ॥ ३० ॥

पहले प्रसाद आदि निवेदन करके उसने पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। फिर वह सुन्दरी कन्या हाथ जोड़कर पिताके पार्श्वभागमें खड़ी हो गयी ॥ ३० ॥

यौवनस्थां तु तां दृष्ट्वा स्वां सुतां देवरूपिणीम्।
अयाच्यमानां च वरैर्नृपतिर्दुःखितोऽभवत् ॥ ३१ ॥

अपनी देवस्वरूपिणी पुत्रीको युवावस्थामें प्रविष्ट हुई देख और अभीतक इसके लिये किसी वरने याचना नहीं की, यह सोचकर मद्रनरेशको बड़ा दुःख हुआ ॥ ३१ ॥

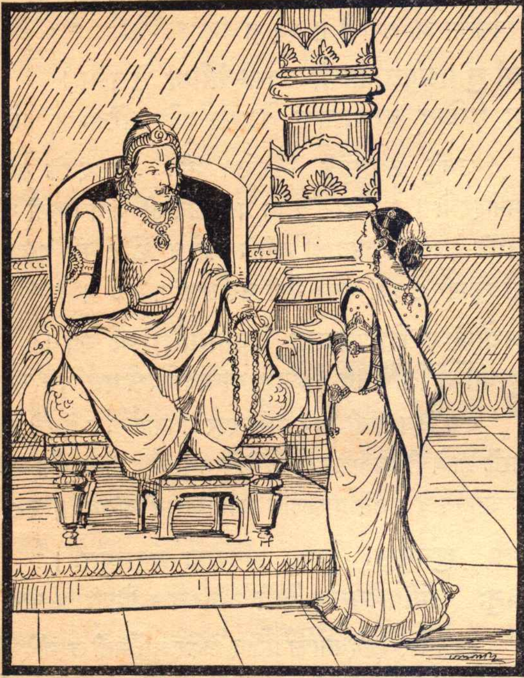
राजोवाच

पुत्रि प्रदानकालस्ते न च कश्चिद् वृणोति माम्।
स्वयमन्विच्छ भर्तारं गुणैः सदृशमात्मनः ॥ ३२ ॥

राजा बोले—बेटी! अब किसी वरके साथ तेरा ब्याह कर देनेका समय आ गया है, परंतु (तेरे तेजसे प्रतिहत हो जानेके कारण) कोई भी मुझसे तुझे माँग नहीं रहा है। इसलिये तू स्वयं ही ऐसे वरकी खोज कर ले, जो गुणोंमें तेरे समान हो ॥ ३२ ॥

प्रार्थितः पुरुषो यश्च स निवेद्यस्त्वया मम।
विमृश्याहं प्रदास्यामि वरय त्वं यथेप्सितम् ॥ ३३ ॥

जिस पुरुषको तू पतिरूपमें प्राप्त करना चाहे, उसका मुझे परिचय दे देना; फिर मैं सोच-विचारकर उसके साथ तेरा ब्याह कर दूँगा । तू मनोवाञ्छित वरका वरण कर ले ॥ ३३ ॥



श्रुतं हि धमशास्त्रेषु पठ्यमानं द्विजातिभिः ।
तथा त्वमपि कल्याणि गदतो मे वचः श्रृणु ॥ ३४ ॥

कल्याणि ! मैंने ब्राह्मणोंके मुखसे धर्मशास्त्रोंकी जो बात सुनी है, उसे बता रहा हूँ, तू भी सुन ले—॥ ३४ ॥

अप्रदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन् पतिः ।
मृते भर्तरि पुत्रश्च वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ३५ ॥

'विवाहके योग्य हो जानेपर कन्याका दान न करनेवाला पिता निन्दनीय है । ऋतुकालमें पत्नीके साथ समागम न करनेवाला पति निन्दाका पात्र है तथा पतिके मर जानेपर विधवा माताकी रक्षा न करनेवाला पुत्र धिक्कारके योग्य है' ॥ ३५ ॥

इदं मे वचनं श्रुत्वा भर्तुरन्वेषणे त्वर ।
देवतानां यथा वाच्यो न भवेयं तथा कुरु ॥ ३६ ॥

मेरी यह बात सुनकर तू पतिकी खोज करनेमें शीघ्रता कर । ऐसी चेष्टा कर, जिससे मैं देवताओंकी दृष्टिमें अपराधी न बनूँ ॥ ३६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा दुहितरं तथा वृद्धांश्च मन्त्रिणः ।
व्यादिदेशानुयात्रं च गम्यतां चेत्यचोदयत् ॥ ३७ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पुत्रीसे ऐसा कहकर राजाने बूढ़े मन्त्रियोंको आज्ञा दी—'आपलोग यात्राके लिये आवश्यक सामग्री (वाहन आदि) लेकर सावित्रीके साथ जायँ' ॥ ३७ ॥

साभिवाद्य पितुः पादौ व्रीडितेव मनस्विनी ।
पितुर्वचनमाज्ञाय निर्जगामाविचारितम् ॥ ३८ ॥

मनस्विनी सावित्रीने कुछ लज्जित-सी होकर पिताके चरणोंमें प्रणाम किया और उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके बिना कुछ सोच-विचार किये उसने प्रस्थान कर दिया ॥ ३८ ॥

सा हैमं रथमास्थाय स्थविरैः सचिवैर्वृता ।
तपोवनानि रम्याणि राजर्षीणां जगाम ह ॥ ३९ ॥

सुवर्णमय रथपर सवार हो बूढ़े मन्त्रियोंसे घिरी हुई वह राजकन्या राजर्षियोंके सुरम्य तपोवनोंमें गयी ॥ ३९ ॥

मान्यानां तत्र वृद्धानां कृत्वा पादाभिवादनम् ।
वनानि क्रमशस्तात सर्वाण्येवाभ्यगच्छत ॥ ४० ॥

तात ! वहाँ माननीय वृद्धजनोंकी चरणवन्दना करके उसने क्रमशः सभी वनोंमें भ्रमण किया ॥ ४० ॥

एवं तीर्थेषु सर्वेषु धनोत्सर्गं नृपात्मजा ।
कुर्वती द्विजमुख्यानां तं तं देशं जगाम ह ॥ ४१ ॥

इस प्रकार राजकुमारी सावित्री सभी तीर्थोंमें जाकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धनदान करती हुई विभिन्न देशोंमें घूमती फिरी ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४१½ श्लोक हैं ।)

चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सावित्रीका सत्यवान्‌के साथ विवाह करनेका दृढ़ निश्चय

मार्कण्डेय उवाच

अथ मद्राधिपो राजा नारदेन समागतः ।
उपविष्टः सभामध्ये कथायोगेन भारत ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतनन्दन युधिष्ठिर ! एक दिन मद्रराज अश्वपति अपनी सभामें बैठे हुए देवर्षि नारदजीके साथ मिलकर बातें कर रहे थे ॥ १ ॥

ततोऽभिगम्य तीर्थानि सर्वाण्येवाश्रमांस्तथा ।
आजगाम पितुर्वेश्म सावित्री सह मन्त्रिभिः ॥ २ ॥

उसी समय सावित्री सब तीर्थों और आश्रमोंमें घूम-फिरकर मन्त्रियोंके साथ अपने पिताके घर आ पहुँची ॥ २ ॥

नारदेन सहासीनं सा दृष्ट्वा पितरं शुभा ।
उभयोरेव शिरसा चक्रे पादाभिवादनम् ॥ ३ ॥

वहाँ पिताको नारदजीके साथ बैठे हुए देखकर शुभ-लक्षणा सावित्रीने दोनोंके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया ॥ ३ ॥

नारद उवाच

क्व गताभूत् सुतेयं ते कुतश्चैवागता नृप ।
किमर्थं युवतीं भर्त्रे न चैनां सम्प्रयच्छसि ॥ ४ ॥

नारदजीने पूछा—राजन्! आपकी यह पुत्री कहाँ गयी थी और कहाँसे आ रही है? अब तो यह युवती हो गयी है। आप किसी वरके साथ इसका विवाह क्यों नहीं कर देते हैं? ॥ ४ ॥

अश्वपतिरुवाच

कार्येण खल्वनेनैव प्रेषिताद्यैव चागता ।
एतस्याः शृणु देवर्षे भर्तारं योऽनया वृतः ॥ ५ ॥

अश्वपतिने कहा—देवर्षे! इसे मैंने इसी कार्यसे भेजा था और यह अभी-अभी लौटी है। इसने अपने लिये जिस पतिका वरण किया है, उसका नाम इसीके मुखसे सुनिये ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सा ब्रूहि विस्तरेणेति पित्रा संचोदिता शुभा ।
तदैव तस्य वचनं प्रतिगृह्येदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! पिताके यह कहनेपर कि 'बेटी! तू अपनी यात्राका वृत्तान्त विस्तारके साथ बतला' शुभलक्षणा सावित्री उनकी आज्ञा मानकर उस समय इस प्रकार बोली ॥ ६ ॥

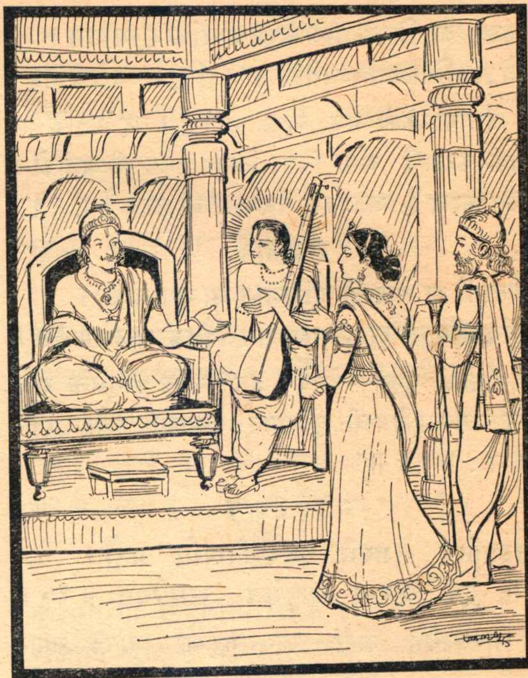
सावित्र्युवाच

आसीच्छाल्वेषु धर्मात्मा क्षत्रियः पृथिवीपतिः ।
द्युमत्सेन इति ख्यातः पश्चाच्चान्धो बभूव ह ॥ ७ ॥

सावित्रीने कहा—पिताजी! शाल्वदेशमें द्युमत्सेन नामसे प्रसिद्ध एक धर्मात्मा क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। पीछे वे अंधे हो गये ॥ ७ ॥

विनष्टचक्षुषस्तस्य बालपुत्रस्य धीमतः ।
सामीप्येन हृतं राज्यं छिद्रेऽस्मिन् पूर्ववैरिणा ॥ ८ ॥

उनकी आँखें चली गयीं और पुत्र अभी बाल्यावस्थामें था,



यह अवसर पाकर उनके पूर्वशत्रु एक पड़ोसी राजाने आक्रमण किया और उन बुद्धिमान् नरेशका राज्य हर लिया ॥ ८ ॥

स बालवत्सया सार्धं भार्यया प्रस्थितो वनम् ।
महारण्यं गतश्चापि तपस्तेपे महाव्रतः ॥ ९ ॥
तस्य पुत्रः पुरे जातः संवृद्धश्च तपोवने ।
सत्यवाननुरूपो मे भर्तेति मनसा वृतः ॥ १० ॥

तब अपनी छोटी अवस्थाके पुत्रवाली पत्नीके साथ वे वनमें चले आये और विशाल वनके भीतर रहकर बड़े-बड़े व्रतोंका पालन करते हुए तपस्या करने लगे। उनके एक पुत्र हैं सत्यवान्, जो पैदा तो नगरमें हुए हैं, परंतु उनका पालन-पोषण एवं संवर्धन तपोवनमें हुआ है। वे ही मेरे योग्य पति हैं। उन्हींका मैंने मन-ही-मन वरण किया है ॥ ९-१० ॥

नारद उवाच

अहो बत महत् पापं सावित्र्या नृपते कृतम् ।
अजानन्त्या यदनया गुणवान् सत्यवान् वृतः ॥ ११ ॥

(यह सुनकर) **नारदजी बोल उठे**—अहो! यह बड़े खेदकी बात है। राजन्! सावित्रीने बिना जाने ही अपना बड़ा अनिष्ट किया है, जो कि इसने सत्यवान्‌को गुणवान् समझकर वरण कर लिया है ॥ ११ ॥

सत्यं वदत्यस्य पिता सत्यं माता प्रभाषते ।
तथास्य ब्राह्मणाश्चक्रुर्नामैतत् सत्यवानिति ॥ १२ ॥

इस राजकुमारके पिता सदा सत्य बोलते हैं। इसकी

माता भी सत्यभाषण करती है। इसलिये ब्राह्मणोंने इसका नाम 'सत्यवान्' रख दिया था ॥ १२ ॥

बालस्याश्वाः प्रियाश्चास्य करोत्यश्वांश्च मृन्मयान्।
चित्रेऽपि विलिखत्यश्वांश्चित्राश्व इति चोच्यते ॥ १३ ॥

इस बालकको अश्व बहुत प्रिय हैं। यह मिट्टीके अश्व बनाया करता है और चित्र लिखते समय भी अश्वोंको ही अंकित करता है, अतः इसे 'चित्राश्व' भी कहते हैं ॥ १३ ॥

राजोवाच

अपीदानीं स तेजस्वी बुद्धिमान् वा नृपात्मजः।
क्षमावानपि वा शूरः सत्यवान् पितृवत्सलः ॥ १४ ॥

राजाने पूछा—देवर्षे ! इस समय पितृभक्त राजकुमार सत्यवान् तेजस्वी, बुद्धिमान्, क्षमावान् और शूरवीर तो है न ? ॥ १४ ॥

नारद उवाच

विवस्वानिव तेजस्वी बृहस्पतिसमो मतौ।
महेन्द्र इव वीरश्च वसुधेव समन्वितः ॥ १५ ॥

नारदजीने कहा—वह राजकुमार सूर्यके समान तेजस्वी, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान्, इन्द्रके समान वीर और पृथ्वीके समान क्षमाशील है ॥ १५ ॥

अश्वपतिरुवाच

अपि राजात्मजो दाता ब्रह्मण्यश्चापि सत्यवान्।
रूपवानप्युदारो वाप्यथवा प्रियदर्शनः ॥ १६ ॥

अश्वपतिने पूछा—क्या राजपुत्र सत्यवान् दानी, ब्राह्मणभक्त, रूपवान्, उदार अथवा प्रियदर्शन भी है ?॥१६॥

नारद उवाच

सांकृते रन्तिदेवस्य स्वशक्त्या दानतः समः।
ब्रह्मण्यः सत्यवादी च शिबिरौशीनरो यथा ॥ १७ ॥

नारदजीने कहा—सत्यवान् अपनी शक्तिके अनुसार दान देनेमें संकृतिनन्दन रन्तिदेवके समान है तथा उशीनरपुत्र शिबिके समान ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी है ॥ १७ ॥

ययातिरिव चोदारः सोमवत् प्रियदर्शनः।
रूपेणान्यतमोऽश्विभ्यां द्युमत्सेनसुतो बली ॥ १८ ॥

वह ययातिकी भाँति उदार और चन्द्रमाके समान प्रियदर्शन है। द्युमत्सेनका वह बलवान् पुत्र रूपवान् तो इतना है मानो अश्विनीकुमारोंमेंसे ही एक हो ॥ १८ ॥

स दान्तः स मृदुः शूरः स सत्यः संयतेन्द्रियः।
स मैत्रः सोऽनसूयश्च स ह्रीमान् द्युतिमांश्च सः ॥ १९ ॥

वह जितेन्द्रिय, मृदुल, शूरवीर, सत्यस्वरूप, इन्द्रिय-संयमी, सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला, अदोषदर्शी, लज्जावान् और कान्तिमान् है ॥ १९ ॥

नित्यशश्चार्जवं तस्मिन् स्थितिस्तस्यैव च ध्रुवा।
संक्षेपतस्तपोवृद्धैः शीलवृद्धैश्च कथ्यते ॥ २० ॥

तप और शीलमें बढ़े हुए वृद्ध पुरुष संक्षेपमें उसके विषयमें ऐसा कहते हैं कि राजकुमार सत्यवान्‌में सरलताका नित्य निवास है और उस सद्गुणमें उसकी अविचल स्थिति है ॥ २० ॥

अश्वपतिरुवाच

गुणैरुपेतं सर्वैस्तं भगवन् प्रब्रवीषि मे।
दोषानप्यस्य मे ब्रूहि यदि सन्तीह केचन ॥ २१ ॥

अश्वपति बोले—भगवन् ! आप तो उसे सभी गुणोंसे सम्पन्न ही बता रहे हैं, यदि उसमें कोई दोष हों तो उन्हें भी बतलाइये ॥ २१ ॥

नारद उवाच

एक एवास्य दोषो हि गुणानाक्रम्य तिष्ठति।
स च दोषः प्रयत्नेन न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ २२ ॥

नारदजीने कहा—दोष तो एक ही है, जो उसके सभी गुणोंको दबाकर स्थित है। उस दोषको प्रयत्न करके भी हटाया नहीं जा सकता ॥ २२ ॥

एको दोषोऽस्ति नान्योऽस्य सोऽद्यप्रभृति सत्यवान्।
संवत्सरेण क्षीणायुर्देहन्यासं करिष्यति ॥ २३ ॥

आजसे लेकर एक वर्ष पूर्ण होनेतक सत्यवान्‌की आयु पूर्ण हो जायगी और वह शरीर त्याग देगा। केवल यही दोष उसमें है, दूसरा नहीं ॥ २३ ॥

राजोवाच

एहि सावित्रि गच्छस्व अन्यं वरय शोभने।
तस्य दोषो महानेको गुणानाक्रम्य च स्थितः ॥ २४ ॥

राजा बोले—बेटी सावित्री ! यहाँ आ। शोभने ! तू पुनः यात्रा कर और दूसरे किसी पुरुषका वरण कर ले। सत्यवान्‌का यह एक ही बहुत बड़ा दोष है, जो उसके सभी गुणोंको दबाकर स्थित है ॥ २४ ॥

यथा मे भगवानाह नारदो देवसत्कृतः।
संवत्सरेण सोऽल्पायुर्देहन्यासं करिष्यति ॥ २५ ॥

जैसा कि देववन्दित भगवान् नारदजी कह रहे हैं, सत्यवान्‌की आयु बहुत थोड़ी है और वह एक ही वर्षमें देहत्याग कर देगा ॥ २५ ॥

सावित्र्युवाच

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥ २६ ॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा।
सकृद् वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम् ॥ २७ ॥

सावित्री बोली—भाइयोंमें धनका बँटवारा एक ही बार होता है, कन्या एक ही बार दी जाती है तथा श्रेष्ठ दाता 'मैं दूँगा', यह कहकर एक ही बार वचनदान करता है। ये तीन बातें एक-एक बार ही होती हैं। सत्यवान् दीर्घायु हों या अल्पायु, गुणवान् हों या गुणहीन; मैंने उन्हें एक बार अपना पति चुन लिया। अब मैं दूसरे किसी पुरुषका वरण नहीं कर सकती ॥ २६-२७ ॥

मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते।
क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः ॥ २८ ॥

पहले मनसे निश्चय करके फिर वाणीद्वारा कहा जाता है। तत्पश्चात् उसे कार्यरूपमें परिणत किया जाता है, अतः इस विषयमें मेरा मन ही प्रमाण है ॥ २८ ॥

नारद उवाच

स्थिरा बुद्धिर्नरश्रेष्ठ सावित्र्या दुहितुस्तव।
नैषा वारयितुं शक्या धर्मादस्मात् कथंचन ॥ २९ ॥

नारदजी बोले—नरश्रेष्ठ ! आपकी पुत्री सावित्रीकी बुद्धि स्थिर है। इसे इस धर्ममार्गसे किसी तरह हटाया नहीं जा सकता ॥ २९ ॥

नान्यस्मिन् पुरुषे सन्ति ये सत्यवति वै गुणाः।
प्रदानमेव तस्मान्मे रोचते दुहितुस्तव ॥ ३० ॥

सत्यवान्में जो गुण हैं, वे दूसरे किसी पुरुषमें हैं भी नहीं। अतः मुझे आपकी पुत्रीका सत्यवान्के साथ विवाह कर देना ही ठीक मालूम पड़ता है ॥ ३० ॥

राजोवाच

अविचाल्यं तदुक्तं यत् तथ्यं भगवता वचः।
करिष्याम्येतदेवं च गुरुर्हि भगवान् मम ॥ ३१ ॥

राजा बोले—देवर्षे ! आपने जो बात कही है, वह ठीक है। उसे टाला नहीं जा सकता। अतः मैं ऐसा ही करूँगा, क्योंकि आप मेरे गुरु हैं ॥ ३१ ॥

नारद उवाच

अविघ्नमस्तु सावित्र्याः प्रदाने दुहितुस्तव।
साधयिष्याम्यहं तावत् सर्वेषां भद्रमस्तु वः ॥ ३२ ॥

नारदजीने कहा—राजन् ! आपकी पुत्री सावित्रीके विवाहमें किसी प्रकारकी विघ्न-बाधा न आवे। अच्छा, अब मैं चलता हूँ। आप सब लोगोंका कल्याण हो ॥ ३२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा समुत्पत्य नारदस्त्रिदिवं गतः।
राजापि दुहितुः सज्जं वैवाहिकमकारयत् ॥ ३३ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर नारदजी उठे और स्वर्गलोकमें चले गये। इधर राजा भी अपनी पुत्रीके विवाहकी तैयारी कराने लगे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२९४॥

पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सत्यवान् और सावित्रीका विवाह तथा सावित्रीका अपनी सेवाओंद्वारा सबको संतुष्ट करना

मार्कण्डेय उवाच

अथ कन्याप्रदाने स तमेवार्थं विचिन्तयन्।
समानिन्ये च तत् सर्वं भाण्डं वैवाहिकं नृपः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर कन्यादानके विषयमें नारदजीके ही कथनपर विचार करते हुए राजा अश्वपतिने विवाहके लिये सारी सामग्री एकत्र करवायी ॥

ततो वृद्धान् द्विजान् सर्वानृत्विजः सपुरोहितान्।
समाहूय दिने पुण्ये प्रययौ सह कन्यया ॥ २ ॥

फिर उन्होंने बूढ़े ब्राह्मणों, समस्त ऋत्विजों तथा पुरोहितोंको बुलाकर किसी शुभ दिनमें कन्याके साथ तपोवनको प्रस्थान किया ॥ २ ॥

मेध्यारण्यं स गत्वा च द्युमत्सेनाश्रमं नृपः।
पद्भ्यामेव द्विजैः सार्धं राजर्षिं तमुपागमत् ॥ ३ ॥

पवित्र वनमें द्युमत्सेनके आश्रमके निकट पहुँचकर राजा अश्वपति ब्राह्मणोंके साथ पैदल ही उन राजर्षिके पास गये ॥ ३ ॥

तत्रापश्यन्महाभागं शालवृक्षमुपाश्रितम्।
कौश्यां बृस्यां समासीनं चक्षुर्हीनं नृपं तदा ॥ ४ ॥

वहाँ उन्होंने उन महाभाग नेत्रहीन नरेशको शालवृक्षके नीचे एक कुशकी चटाईपर बैठे देखा ॥ ४ ॥

स राजा तस्य राजर्षेः कृत्वा पूजां यथार्हतः।
वाचा सुनियतो भूत्वा चकारात्मनिवेदनम् ॥ ५ ॥
तस्यार्घ्यमासनं चैव गां चावेद्य स धर्मवित्।
किमागमनमित्येवं राजा राजानमब्रवीत् ॥ ६ ॥

राजा अश्वपतिने राजर्षि द्युमत्सेनकी यथायोग्य पूजा की और वाणीको संयममें रखकर उन्होंने उनके समक्ष अपना परिचय दिया। तब धर्मज्ञ राजा द्युमत्सेनने मद्रराज अश्वपतिको

अर्घ्य, आसन और गौ निवेदन करके उनसे पूछा—'किस उद्देश्यसे आपका यहाँ शुभागमन हुआ है ?' ॥ ५-६ ॥

तस्य सर्वमभिप्रायमितिकर्तव्यतां च ताम्।
सत्यवन्तं समुद्दिश्य सर्वमेव न्यवेदयत् ॥ ७ ॥

तब राजाने उनसे सत्यवान्‌के उद्देश्यसे अपना सारा अभिप्राय तथा कैसे-कैसे क्या-क्या करना है इत्यादि बातोंका विवरण सब कुछ स्पष्ट बता दिया ॥ ७ ॥

अश्वपतिरुवाच

सावित्री नाम राजर्षे कन्येयं मम शोभना।
तां स्वधर्मेण धर्मज्ञ स्नुषार्थे त्वं गृहाण मे ॥ ८ ॥

अश्वपति बोले—धर्मज्ञ राजर्षे ! सावित्री नामसे प्रसिद्ध मेरी यह सुन्दरी कन्या है। इसे आप धर्मतः अपनी पुत्रवधू बनानेके लिये स्वीकार करें ॥ ८ ॥

द्युमत्सेन उवाच

च्युताः स्म राज्याद् वनवासमाश्रिता-
श्चराम धर्मं नियतास्तपस्विनः।
कथं त्वनर्हा वनवासमाश्रमे
निवत्स्यते क्लेशमिमं सुता तव ॥ ९ ॥

द्युमत्सेन बोले—महाराज ! हम राज्यसे भ्रष्ट हो चुके हैं एवं वनका आश्रय लेकर संयम-नियमके साथ तपस्वी-जीवन बिताते हुए धर्मका अनुष्ठान करते हैं। आपकी कन्या ये सब कष्ट सहन करने योग्य नहीं है। ऐसी दशामें यह आश्रममें रहकर वनवासके इस कष्टको कैसे सह सकेगी ? ॥९॥

अश्वपतिरुवाच

सुखं च दुःखं च भवाभवात्मकं
यदा विजानाति सुताहमेव च।
न मद्विधे युज्यति वाक्यमीदृशं
विनिश्चयेनाभिगतोऽस्मि ते नृप ॥ १० ॥

अश्वपतिने कहा—राजन् ! सुख और दुःख तो उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। इस बातको मैं और मेरी पुत्री दोनों जानते हैं। मेरे-जैसे मनुष्यसे आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। मैं तो सब प्रकारसे निश्चय करके ही आपके पास आया हूँ ॥ १० ॥

आशां नार्हसि मे हन्तुं सौहृदात् प्रणतस्य च।
अभितश्चागतं प्रेम्णा प्रत्याख्यातुं न मार्हसि ॥ ११ ॥

मैं सौहार्दभावसे आपकी शरणमें आया हूँ। आप मेरी आशा भङ्ग न करें—प्रेमपूर्वक अपने पास आये हुए मुझ प्रार्थीको निराश न लौटावें ॥ ११ ॥

अनुरूपो हि युक्तश्च त्वं ममाहं तवापि च।
स्नुषां प्रतीच्छ मे कन्यां भार्यां सत्यवतः सतः ॥ १२ ॥

आप सर्वथा मेरे अनुरूप और योग्य हैं। मैं भी आपके योग्य हूँ। आप मेरी इस कन्याको अपने श्रेष्ठ पुत्र सत्यवान्‌की पत्नी एवं अपनी पुत्रवधूके रूपमें ग्रहण कीजिये ॥ १२ ॥

द्युमत्सेन उवाच

पूर्वमेवाभिलषितः सम्बन्धो मे त्वया सह।
भ्रष्टराज्यस्त्वहमिति तत एतद् विचारितम् ॥ १३ ॥

द्युमत्सेन बोले—महाराज ! मैं तो पहलेसे ही आपके साथ सम्बन्ध करना चाहता था; परंतु इस समय अपने राज्यसे भ्रष्ट हो गया हूँ, यह सोचकर मैंने ऐसा विचार कर लिया था कि अब यह सम्बन्ध नहीं हो सकेगा ॥ १३ ॥

अभिप्रायस्त्वयं यो मे पूर्वमेवाभिकाङ्क्षितः।
स निर्वर्ततु मेऽद्यैव काङ्क्षितो ह्यसि मेऽतिथिः ॥ १४ ॥

किंतु मेरा यह अभिप्राय, जो मुझे पहलेसे ही अभीष्ट था, यदि आज ही सिद्ध होना चाहता है, तो अवश्य हो। आप मेरे मनोवाञ्छित अतिथि हैं ॥ १४ ॥

ततः सर्वान् समानाय्य द्विजानाश्रमवासिनः।
यथाविधि समुद्वाहं कारयामासतुर्नृपौ ॥ १५ ॥

तदनन्तर उस आश्रममें रहनेवाले सभी ब्राह्मणोंको बुलाकर दोनों राजाओंने सत्यवान्-सावित्रीका विवाह-संस्कार विधिवत् सम्पन्न कराया ॥ १५ ॥

दत्त्वा सोऽश्वपतिः कन्यां यथार्हं सपरिच्छदम्।
ययौ स्वमेव भवनं युक्तः परमया मुदा ॥ १६ ॥

राजा अश्वपति दहेजसहित कन्यादान देकर बड़ी प्रसन्नताके साथ अपनी राजधानीको लौट गये ॥ १६ ॥

सत्यवानपि तां भार्यां लब्ध्वा सर्वगुणान्विताम्।
मुमुदे सा च तं लब्ध्वा भर्तारं मनसेप्सितम् ॥ १७ ॥

उस सर्वसद्गुणसम्पन्न भार्याको पाकर सत्यवान्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई और सत्यवान्‌को अपने मनोवाञ्छित पतिके रूपमें पाकर सावित्रीको भी बड़ा आनन्द हुआ ॥ १७ ॥

गते पितरि सर्वाणि संन्यस्याभरणानि सा।
जगृहे वल्कलान्येव वस्त्रं काषायमेव च ॥ १८ ॥

पिताके चले जानेपर सावित्री अपने सब आभूषण उतारकर वल्कल तथा गेरुआ वस्त्र पहनने लगी ॥ १८ ॥

परिचारैर्गुणैश्चैव प्रश्रयेण दमेन च।
सर्वकामक्रियाभिश्च सर्वेषां तुष्टिमादधे ॥ १९ ॥

सावित्रीने सेवा, गुण, विनय, संयम और सबके मनके अनुसार कार्य करनेसे सभीको प्रसन्न कर लिया ॥ १९ ॥

श्वश्रूं शरीरसत्कारैः सर्वैराच्छादनादिभिः।
श्वशुरं देवसत्कारैर्वाचः संयमनेन च ॥ २० ॥

उसने शारीरिक सेवा तथा वस्त्राभूषण आदिके द्वारा सासको और वाणीके संयमपूर्वक देवोचित सत्कारद्वारा ससुरको संतुष्ट किया ॥ २० ॥

तथैव प्रियवादेन नैपुणेन शमेन च ।
रहश्चैवोपचारेण भर्तारं पर्यतोषयत् ॥ २१ ॥

इसी प्रकार मधुर सम्भाषण, कार्य-कुशलता, शान्ति तथा एकान्तसेवाद्वारा पतिदेवको भी सदा प्रसन्न रक्खा ॥

एवं तत्राश्रमे तेषां तदा निवसतां सताम् ।
कालस्तपस्यतां कश्चिदपाक्रामत भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार उन सब लोगोंको उस आश्रममें रहकर तपस्या करते कुछ काल व्यतीत हो गया ॥

सावित्र्या ग्लायमानायास्तिष्ठन्त्यास्तु दिवानिशम् ।
नारदेन यदुक्तं तद् वाक्यं मनसि वर्तते ॥ २३ ॥

इधर सावित्री निरन्तर चिन्तासे गली जा रही थी। दिन-रात सोते-उठते हर समय नारदजीकी कही हुई बात उसके मनमें बनी रहती थी—वह उसे क्षणभरके लिये भी नहीं भूलती थी ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ पञ्चानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९५ ॥

षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सावित्रीकी व्रतचर्या तथा सास-ससुर और पतिकी आज्ञा लेकर सत्यवान्‌के साथ उसका वनमें जाना

मार्कण्डेय उवाच

ततः काले बहुतिथे व्यतिक्रान्ते कदाचन ।
प्राप्तः स कालो मर्तव्यं यत्र सत्यवता नृप ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर बहुत दिन बीत जानेपर एक दिन वह समय भी आ पहुँचा जब कि सत्यवान्‌की मृत्यु होनेवाली थी ॥ १ ॥

गणयन्त्याश्च सावित्र्या दिवसे दिवसे गते ।
यद् वाक्यं नारदेनोक्तं वर्तते हृदि नित्यशः ॥ २ ॥

सावित्री एक-एक दिन बीतनेपर उसकी गणना करती रहती थी। नारदजीने जो बात कही थी, वह उसके हृदयमें सदा विद्यमान रहती थी ॥ २ ॥

चतुर्थेऽहनि मर्तव्यमिति संचिन्त्य भाविनी ।
व्रतं त्रिरात्रमुद्दिश्य दिवारात्रं स्थिताभवत् ॥ ३ ॥

भाविनी सावित्रीको जब यह निश्चय हो गया कि मेरे पतिको आजसे चौथे दिन मरना है, तब उसने तीन रातका व्रत धारण किया और उसमें वह दिन-रात खड़ी ही रही ।३।

तं श्रुत्वा नियमं तस्या भृशं दुःखान्वितो नृपः ।
उत्थाय वाक्यं सावित्रीमब्रवीत् परिसान्त्वयन् ॥ ४ ॥

सावित्रीका यह कठोर नियम सुनकर राजा द्युमत्सेनको बड़ा दुःख हुआ । उन्होंने उठकर सावित्रीको सान्त्वना देते हुए कहा ॥ ४ ॥

द्युमत्सेन उवाच

अतितीव्रोऽयमारम्भस्त्वयाऽऽरब्धो नृपात्मजे ।
तिसृणां वसतीनां हि स्थानं परमदुश्चरम् ॥ ५ ॥

द्युमत्सेन बोले—राजकुमारी ! तुमने यह बड़ा कठोर व्रत आरम्भ किया है । तीन दिनोंतक निराहार रहना तो अत्यन्त दुष्कर कार्य है ॥ ५ ॥

सावित्र्युवाच

न कार्यस्तात संतापः पारयिष्याम्यहं व्रतम् ।
व्यवसायकृतं हीदं व्यवसायश्च कारणम् ॥ ६ ॥

सावित्री बोली—पिताजी ! आप चिन्ता न करें । मैं इस व्रतको पूर्ण कर लूँगी । दृढ़ निश्चय ही व्रतके निर्वाहमें कारण हुआ करता है, सो मैंने भी दृढ़ निश्चयसे ही इस व्रतको आरम्भ किया है ॥ ६ ॥

द्युमत्सेन उवाच

व्रतं भिन्धीति वक्तुं त्वां नास्मि शक्तः कथञ्चन ।
पारयस्वेति वचनं युक्तमस्मद्विधो वदेत् ॥ ७ ॥

द्युमत्सेनने कहा—यह तो मैं तुम्हें किसी तरह नहीं कह सकता कि 'बेटी ! तुम व्रत भंग कर दो ।' मेरे-जैसा मनुष्य यही समुचित बात कह सकता है कि 'तुम व्रतको निर्विघ्न पूर्ण करो' ॥ ७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा द्युमत्सेनो विरराम महामनाः ।
तिष्ठन्ती चैव सावित्री काष्ठभूतेव लक्ष्यते ॥ ८ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर महामना द्युमत्सेन चुप हो गये । सावित्री एक स्थानपर खड़ी हुई काठ-सी दिखायी देती थी ॥ ८ ॥

श्वोभूते भर्तृमरणे सावित्र्या भरतर्षभ ।
दुःखान्वितायास्तिष्ठन्त्याः सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कल ही पतिदेवकी मृत्यु होनेवाली है, यह

सोचकर दुःखमें डूबी हुई सावित्रीकी वह रात खड़े-ही-खड़े बीत गयी ॥ ९ ॥

अथ तद् दिवसं चेति हुत्वा दीप्तं हुताशनम् ।
युगमात्रोदिते सूर्ये कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः ॥ १० ॥

दूसरे दिन यह सोचकर कि आज ही वह दिन है, उसने सूर्यदेवके चार हाथ ऊपर उठते-उठते पूर्वाह्णकालके सब कृत्य पूरे कर लिये और प्रज्वलित अग्निमें आहुति दी ॥

ततः सर्वान् द्विजान् वृद्धान् श्वश्रूं श्वशुरमेव च ।
अभिवाद्यानुपूर्व्येण प्राञ्जलिर्नियता स्थिता ॥ ११ ॥

फिर सभी ब्राह्मणों, बड़े-बूढ़ों और सास-ससुरको क्रमशः प्रणाम करके वह नियमपूर्वक हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ी रही ॥ ११ ॥

अवैधव्याशिषस्ते तु सावित्र्यर्थं हिताः शुभाः ।
ऊचुस्तपस्विनः सर्वे तपोवननिवासिनः ॥ १२ ॥

उस तपोवनमें रहनेवाले सभी तपस्वियोंने सावित्रीके लिये अवैधव्यसूचक—सौभाग्यवर्धक, शुभ और हितकर आशीर्वाद दिये ॥ १२ ॥

एवमस्त्विति सावित्री ध्यानयोगपरायणा ।
मनसा ता गिरः सर्वाः प्रत्यगृह्णात् तपस्विनाम् ॥ १३ ॥

सावित्रीने ध्यानयोगमें स्थित हो तपस्वियोंकी उस आशीर्वादमयी वाणीको 'एवमस्तु (ऐसा ही हो)' कहकर मन-ही-मन शिरोधार्य किया ॥ १३ ॥

तं कालं तं मुहूर्तं च प्रतीक्षन्ती नृपात्मजा ।
यथोक्तं नारदवचश्चिन्तयन्ती सुदुःखिता ॥ १४ ॥

फिर पतिकी मृत्युसे सम्बन्ध रखनेवाले समय और मुहूर्तकी प्रतीक्षा करती हुई राजकुमारी सावित्री नारदजीके पूर्वोक्त वचनका चिन्तन करके बहुत दुखी हो गयी ॥ १४ ॥

ततस्तु श्वश्रूश्वशुरावूचतुस्तां नृपात्मजाम् ।
एकान्तमास्थितां वाक्यं प्रीत्या भरतसत्तम ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर सास और ससुरने एकान्तमें बैठी हुई राजकुमारी सावित्रीसे प्रेमपूर्वक इस प्रकार कहा ॥ १५ ॥

श्वशुरावूचतुः

व्रतं यथोपदिष्टं तु तथा तत् पारितं त्वया ।
आहारकालः सम्प्राप्तः क्रियतां यदनन्तरम् ॥ १६ ॥

सास-ससुर बोले—बेटी ! तुमने शास्त्रके उपदेशके अनुसार अपना व्रत पूरा कर लिया है, अब पारण करनेका समय हो गया है । अतः जो कर्तव्य है, वह करो ॥ १६ ॥

सावित्र्युवाच

अस्तं गते मयाऽऽदित्ये भोक्तव्यं कृतकामया ।
एष मे हृदि संकल्पः समयश्च कृतो मया ॥ १७ ॥

सावित्री बोली— सूर्यास्त होनेपर जब मेरा मनोरथ पूर्ण हो जायगा, तभी मैं भोजन करूँगी । यह मेरे मनका संकल्प है और मैंने ऐसा करनेकी प्रतिज्ञा कर ली है ॥ १७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवं सम्भाषमाणायाः सावित्र्या भोजनं प्रति ।
स्कन्धे परशुमादाय सत्यवान् प्रस्थितो वनम् ॥ १८ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जब सावित्री भोजनके सम्बन्धमें इस प्रकार बातें कर रही थी, उसी समय सत्यवान् कंधेपर कुल्हाड़ी रखकर (फल-फूल, समिधा आदि लानेके लिये) वनकी ओर चले ॥ १८ ॥

सावित्री त्वाह भर्तारं नैकस्त्वं गन्तुमर्हसि ।
सह त्वया गमिष्यामि न हि त्वां हातुमुत्सहे ॥ १९ ॥

उस समय सावित्रीने अपने पतिसे कहा—नाथ ! आप अकेले न जाइये । मैं भी आपके साथ चलूँगी । आज मैं आपको अकेला नहीं छोड़ सकती ॥ १९ ॥



सत्यवानुवाच

वनं न गतपूर्वं ते दुःखः पन्थाश्च भाविनि ।
व्रतोपवासक्षामा च कथं पद्भ्यां गमिष्यसि ॥ २० ॥

सत्यवान्ने कहा—सुन्दरी ! तुम पहले कभी वनमें नहीं गयी हो । वनका रास्ता बड़ा दुःखदायक होता है, तुम व्रत और उपवास करनेके कारण दुर्बल हो रही हो । ऐसी दशामें पैदल कैसे चल सकोगी ? ॥ २० ॥

सावित्र्युवाच

उपवासान्न मे ग्लानिर्नास्ति चापि परिश्रमः ।
गमने च कृतोत्साहां प्रतिषेद्धुं न मार्हसि ॥ २१॥

सावित्री बोली—उपवासके कारण मुझे किसी प्रकार-की शिथिलता और थकावट नहीं है। चलनेके लिये मेरे मन-में पूर्ण उत्साह है, अतः आप मुझे मना न कीजिये ॥२१॥

सत्यवानुवाच

यदि ते गमनोत्साहः करिष्यामि तव प्रियम् ।
मम त्वामन्त्रय गुरून् न मां दोषः स्पृशेदयम् ॥ २२॥

सत्यवान्ने कहा—यदि तुम्हें चलनेका उत्साह है तो मैं तुम्हारा प्रिय मनोरथ पूर्ण करूँगा। परंतु तुम मेरे माता-पितासे पूछ लो, जिससे मुझे दोषका भागी न होना पड़े ॥ २२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

साभिवाद्याब्रवीच्छ्वश्रूं श्वशुरं च महाव्रता ।
अयं गच्छति मे भर्ता फलाहारो महावनम् ॥ २३ ॥
इच्छेयमभ्यनुज्ञाता आर्यया श्वशुरेण ह ।
अनेन सह निर्गन्तुं न मेऽद्य विरहः क्षमः ॥ २४ ॥
गुर्वग्निहोत्रार्थकृते प्रस्थितश्च सुतस्तव ।
न निवार्यो निवार्यः स्यादन्यथा प्रस्थितो वनम् ॥ २५॥
संवत्सरः किंचिदूनो न निष्क्रान्ताहमाश्रमात् ।
वनं कुसुमितं द्रष्टुं परं कौतूहलं हि मे ॥ २६॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तब महान् व्रतका पालन करनेवाली सावित्रीने अपने सास-ससुरको प्रणाम करके कहा—'ये मेरे पतिदेव फल आदि लानेके लिये महान् वनमें जा रहे हैं। यदि सासजी और ससुरजी मुझे आज्ञा दें, तो मैं भी इनके साथ जाना चाहती हूँ। आज मुझे इनका एक क्षणका भी विरह सहा नहीं जाता है। आपके पुत्र आज गुरुजनोंके लिये तथा अग्निहोत्रके उद्देश्यसे फल, फूल और समिधा आदि लानेके लिये वनमें जा रहे हैं, अतः उनको रोकना उचित नहीं है। हाँ, यदि किसी दूसरे कार्यके लिये वनमें जाते होते तो उन्हें रोका भी जा सकता था। एक वर्षसे कुछ ही कम हुआ, मैं आश्रमसे बाहर नहीं निकली। अतः आज फूलोंसे भरे हुए वनको देखनेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ २३-२६ ॥

द्युमत्सेन उवाच

यतः प्रभृति सावित्री पित्रा दत्ता स्नुषा मम ।
नानयाभ्यर्थनायुक्तमुक्तपूर्वं स्माराम्यहम् ॥ २७ ॥

द्युमत्सेन बोले—जबसे सावित्रीके पिताने इसे मेरी पुत्रवधू बनाकर दिया है, तबसे आजतक इसने पहले कभी मुझसे किसी बातके लिये प्रार्थना की हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है॥२७॥

तदेषा लभतां कामं यथाभिलषितं वधूः ।
अप्रमादश्च कर्तव्यः पुत्रि सत्यवतः पथि ॥ २८ ॥

अतः आज मेरी पुत्रवधू अपना अभीष्ट मनोरथ प्राप्त करे। बेटी ! जा, सत्यवान्के मार्गमें सावधानी रखना ॥२८॥

मार्कण्डेय उवाच

उभाभ्यामभ्यनुज्ञाता सा जगाम यशस्विनी ।
सह भर्त्रा हसन्तीव हृदयेन विदूयता॥ २९ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार सास और ससुर दोनोंकी आज्ञा पाकर यशस्विनी सावित्री अपने पतिदेवके साथ चल दी, वह ऊपरसे तो हँसती-सी जान पड़ती थी, किंतु उसका हृदय दुःखकी ज्वालासे दग्ध हो रहा था ॥ २९ ॥

सा वनानि विचित्राणि रमणीयानि सर्वशः ।
मयूरगणजुष्टानि ददर्श विपुलेक्षणा ॥ ३० ॥

विशाल नेत्रोंवाली सावित्रीने सब ओर घूम-घूमकर मयूर-समूहोंसे सेवित रमणीय और विचित्र वन देखे ॥ ३० ॥

नदीः पुण्यवहाश्चैव पुष्पितांश्च नगोत्तमान् ।
सत्यवानाह पश्येति सावित्रीं मधुरं वचः ॥ ३१ ॥

पवित्र जल बहानेवाली नदियों तथा फूलोंसे लदे हुए सुन्दर वृक्षोंको लक्ष्य करके सत्यवान् सावित्रीसे मधुर वाणीमें कहते—'प्रिये ! देखो, कैसा मनोहर दृश्य है' ॥ ३१ ॥

निरीक्षमाणा भर्तारं सर्वावस्थमनिन्दिता ।
मृतमेव हि भर्तारं काले मुनिवचः स्मरन् ॥ ३२ ॥

सती-साध्वी सावित्री अपने पतिकी सभी अवस्थाओंका निरीक्षण करती थी। नारदजीके वचनोंको स्मरण करके उसे निश्चय हो गया था कि समयपर मेरे पतिकी मृत्यु अवश्यम्भावी है ॥ ३२ ॥

अनुव्रजन्ती भर्तारं जगाम मृदुगामिनी ।
द्विधेव हृदयं कृत्वा तं च कालमवेक्षती ॥ ३३ ॥

मन्दगतिसे चलनेवाली सावित्री मानो अपने हृदयके दो भाग करके एकसे अपने पतिका अनुसरण करती और दूसरेसे प्रतिक्षण उनके मृत्युकालकी प्रतीक्षा कर रही थी ३३

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९६ ॥

सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सावित्री और यमका संवाद, यमराजका संतुष्ट होकर सावित्रीको अनेक वरदान देते हुए मरे हुए सत्यवान्‌को भी जीवित कर देना तथा सत्यवान् और सावित्रीका वार्तालाप एवं आश्रमकी ओर प्रस्थान

मार्कण्डेय उवाच

अथ भार्यासहायः स फलान्यादाय वीर्यवान् ।
कठिनं पूरयामास ततः काष्ठान्यपाटयत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तदनन्तर पत्नीसहित शक्तिशाली सत्यवान्‌ने फल चुनकर एक काठकी टोकरी भर ली। तत्पश्चात् वे लकड़ी चीरने लगे ॥ १ ॥

तस्य पाटयतः काष्ठं स्वेदो वै समजायत ।
व्यायामेन च तेनास्य जज्ञे शिरसि वेदना ॥ २ ॥
सोऽभिगम्य प्रियां भार्यामुवाच श्रमपीडितः ।

लकड़ी चीरते समय परिश्रमके कारण उनके शरीरसे पसीना निकल आया और उसी परिश्रमसे उनके सिरमें दर्द होने लगा। तब वे श्रमसे पीड़ित हो अपनी प्यारी पत्नीके पास जाकर बोले ॥ २½ ॥

सत्यवानुवाच

व्यायामेन ममानेन जाता शिरसि वेदना ॥ ३ ॥
अङ्गानि चैव सावित्रि हृदयं दूयतीव च ।
अस्वस्थमिव चात्मानं लक्षये मितभाषिणि ॥ ४ ॥
शूलैरिव शिरो विद्धमिदं संलक्षयाम्यहम् ।
तत् स्वप्तुमिच्छे कल्याणि न स्थातुं शक्तिरस्ति मे॥५ ॥

सत्यवान्‌ने कहा—सावित्री ! आज लकड़ी काटनेके परिश्रमसे मेरे सिरमें दर्द होने लगा है, सारे अङ्गोंमें पीड़ा हो रही है और हृदय दग्ध-सा होता जान पड़ता है। मितभाषिणी प्रिये ! मैं अपने-आपको अस्वस्थ-सा देख रहा हूँ। ऐसा जान पड़ता है, कोई शूलोंसे मेरे सिरको छेद रहा है। कल्याणि ! अब मैं सोना चाहता हूँ। मुझमें खड़े रहनेकी शक्ति नहीं रह गयी है ॥ ३—५ ॥

सा समासाद्य सावित्री भर्तारमुपगम्य च ।
उत्सङ्गेऽस्य शिरः कृत्वा निषसाद महीतले ॥ ६ ॥

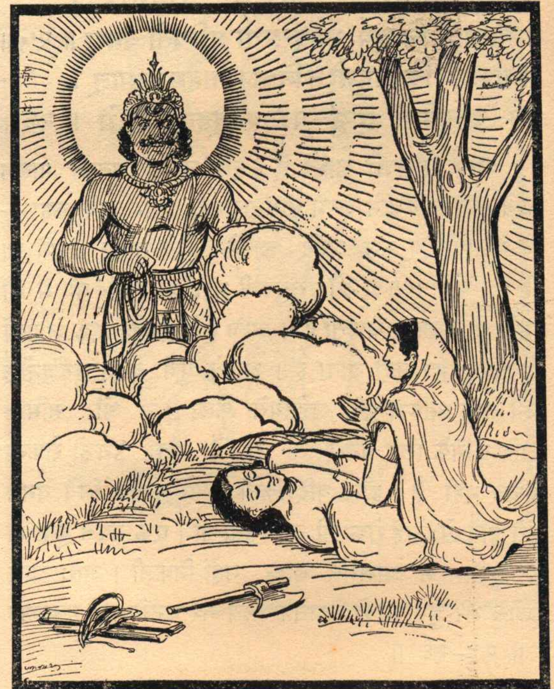
यह सुनकर सावित्री शीघ्र अपने पतिके पास आयी और उनका सिर गोदीमें लेकर पृथ्वीपर बैठ गयी ॥ ६ ॥

ततः सा नारदवचो विमृशन्ती तपस्विनी ।
तं मुहूर्तं क्षणं वेलां दिवसं च युयोज ह ॥ ७ ॥

फिर वह तपस्विनी राजकन्या नारदजीकी बात याद करके उस मुहूर्त, क्षण, समय और दिनका योग मिलाने लगी ॥

मुहूर्तादेव चापश्यत् पुरुषं रक्तवाससम् ।
बद्धमौलिं वपुष्मन्तमादित्यसमतेजसम् ॥ ८ ॥
श्यामावदातं रक्ताक्षं पाशहस्तं भयावहम् ।
स्थितं सत्यवतः पार्श्वे निरीक्षन्तं तमेव च ॥ ९ ॥

दो ही घड़ीमें उसने देखा, एक दिव्य पुरुष प्रकट हुए हैं, जिनके शरीरपर लाल रंगका वस्त्र शोभा पा रहा है।



सिरपर मुकुट बँधा हुआ है। सूर्यके समान तेजस्वी होनेके कारण वे मूर्तिमान् सूर्य ही जान पड़ते हैं। उनका शरीर श्याम एवं उज्ज्वल प्रभासे उद्भासित है, नेत्र लाल हैं। उनके हाथमें पाश है। उनका स्वरूप डरावना है। वे सत्यवान्‌के पास खड़े हैं और बार-बार उन्हींकी ओर देख रहे हैं ॥ ८-९ ॥



यम-सावित्री

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय भर्तुर्न्यस्य शनैः शिरः ।
कृताञ्जलिरुवाचार्ता हृदयेन प्रवेपती ॥ १० ॥

उन्हें देखते ही सावित्रीने धीरेसे पतिका मस्तक भूमिपर रख दिया और सहसा खड़ी हो हाथ जोड़कर काँपते हुए हृदयसे वह आर्त वाणीमें बोली ॥ १० ॥

सावित्र्युवाच

दैवतं त्वाभिजानामि वपुरेतद्ध्यमानुषम् ।
कामया ब्रूहि देवेश कस्त्वं किं च चिकीर्षसि ॥ ११ ॥

सावित्रीने कहा—मैं समझती हूँ, आप कोई देवता हैं; क्योंकि आपका यह शरीर मनुष्यों-जैसा नहीं है । देवेश्वर ! यदि आपकी इच्छा हो तो बताइये आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं ॥ ११ ॥

यम उवाच

पतिव्रतासि सावित्रि तथैव च तपोऽन्विता ।
अतस्त्वामभिभाषामि विद्धि मां त्वं शुभे यमम् ॥ १२ ॥

यमराज बोले—सावित्री ! तू पतिव्रता और तपस्विनी है, इसलिये मैं तुझसे वार्तालाप कर सकता हूँ । शुभे ! तू मुझे यमराज जान ॥ १२ ॥

अयं ते सत्यवान् भर्ता क्षीणायुः पार्थिवात्मजः ।
नेष्यामि तमहं बद्ध्वा विद्ध्येतन्मे चिकीर्षितम् ॥ १३ ॥

तेरे पति इस राजकुमार सत्यवान्‌की आयु समाप्त हो गयी है, अतः मैं इसे बाँधकर ले जाऊँगा । बस, मैं यही करना चाहता हूँ ॥ १३ ॥

सावित्र्युवाच

श्रूयते भगवन् दूतास्तवागच्छन्ति मानवान् ।
नेतुं किल भवान् कस्मादागतोऽसि स्वयं प्रभो ॥ १४ ॥

सावित्रीने पूछा—भगवन् ! मैंने तो सुना है कि मनुष्योंको ले जानेके लिये आपके दूत आया करते हैं । प्रभो ! आप स्वयं यहाँ कैसे चले आये ? ॥ १४ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्तः पितृराजस्तां भगवान् स्वचिकीर्षितम् ।
यथावत् सवमाख्यातुं तत्प्रियार्थं प्रचक्रमे ॥ १५ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सावित्रीके इस प्रकार पूछनेपर पितृराज भगवान् यमने उसका प्रिय करनेके लिये अपना सारा अभिप्राय यथार्थरूपसे बताना आरम्भ किया ॥

अयं च धर्मसंयुक्तो रूपवान् गुणसागरः ।
नार्हो मत्पुरुषैर्नेतुमतोऽस्मि स्वयमागतः ॥ १६ ॥

'यह सत्यवान् धर्मात्मा, रूपवान् और गुणोंका समुद्र है । मेरे दूतोंद्वारा ले जाया जाने योग्य नहीं है । इसीलिये मैं स्वयं आया हूँ' ॥ १६ ॥

ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम् ।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥ १७ ॥

तदनन्तर यमराजने सत्यवान्‌के शरीरसे पाशमें बँधे हुए अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाले विवश हुए जीवको बलपूर्वक खींचकर निकाला ॥ १७ ॥

ततः समुद्धृतप्राणं गतश्वासं हतप्रभम् ।
निर्विचेष्टं शरीरं तद् बभूवाप्रियदर्शनम् ॥ १८ ॥

फिर तो प्राण निकल जानेसे उसकी साँस बंद हो गयी—अङ्गकान्ति फीकी पड़ गयी और शरीर निश्चेष्ट होकर अपरूप दिखायी देने लगा ॥ १८ ॥

यमस्तु तं ततो बद्ध्वा प्रयातो दक्षिणामुखः ।
सावित्री चैव दुःखार्ता यममेवान्वगच्छत ।
नियमव्रतसंसिद्धा महाभागा पतिव्रता ॥ १९ ॥

यमराज उस जीवको बाँधकर साथ लिये दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये । सावित्री दुःखसे आतुर हो यमराजके ही पीछे-पीछे चल पड़ी । वह परम सौभाग्यवती पतिव्रता राजकन्या नियमपूर्वक व्रतोंके पालनसे पूर्णतः सिद्ध हो चुकी थी । (अतः निर्बाध गतिसे सर्वत्र आने-जानेमें समर्थ थी) ॥

यम उवाच

निवर्त गच्छ सावित्रि कुरुष्वास्यौर्ध्वदेहिकम् ।
कृतं भर्तुस्त्वयाऽऽनृण्यं यावद् गम्यं गतं त्वया ॥ २० ॥

यमराज बोले—सावित्री ! अब तू लौट जा, सत्यवान्‌का अन्त्येष्टि-संस्कार कर । अब तू पतिके ऋणसे उऋण हो गयी । पतिके पीछे तुझे जहाँतक आना चाहिये था, तू वहाँतक आ चुकी ॥ २० ॥

सावित्र्युवाच

यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति ।
मया च तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥

सावित्रीने कहा—जहाँ मेरे पति ले जाये जाते हैं अथवा ये स्वयं जहाँ जा रहे हैं, वहीं मुझे भी जाना चाहिये; यही सनातन धर्म है ॥ २१ ॥

तपसा गुरुभक्त्या च भर्तुः स्नेहाद् व्रतेन च ।
तव चैव प्रसादेन न मे प्रतिहता गतिः ॥ २२ ॥

तपस्या, गुरुभक्ति, पतिप्रेम, व्रतपालन तथा आपकी कृपासे मेरी गति कहीं भी रुक नहीं सकती ॥ २२ ॥

प्राहुः साप्तपदं मैत्रं बुधास्तत्त्वार्थदर्शिनः ।
मित्रतां च पुरस्कृत्य किञ्चिद् वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ २३ ॥

तत्त्वार्थदर्शी विद्वान् ऐसा कहते हैं कि सात पग साथ चलनेमात्रसे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, उसी मित्रताको सामने रखकर मैं आपसे कुछ निवेदन करूँगी, उसे सुनिये ॥ २३ ॥

नानात्मवन्तस्तु वने चरन्ति
धर्मं च वासं च परिश्रमं च ।
विज्ञानतो धर्ममुदाहरन्ति
तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥ २४ ॥

जिन्होंने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, वे वनमें रहकर धर्मपालन, गुरुकुलवास तथा कष्टसहनरूप तपस्या नहीं कर सकते हैं। जितेन्द्रिय पुरुष ही यह सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। महात्मालोग विवेक-विचारसे ही धर्म-प्राप्ति बताते हैं, अतः सभी सत्पुरुष धर्मको ही श्रेष्ठ मानते हैं ॥ २४ ॥

एकस्य धर्मेण सतां मतेन
सर्वे स्म तं मार्गमनुप्रपन्नाः ।
मा वै द्वितीयं मा तृतीयं च वाञ्छेत्
तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥ २५ ॥

अपने एक ही वर्णके सत्पुरुष-सम्मत धर्मका पालन करनेसे सभी लोग उस विज्ञान-मार्गपर पहुँच जाते हैं, जो सबका लक्ष्य है। अतः दूसरे या तीसरे वर्णकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। इसलिये साधु पुरुष केवल वर्ण-धर्मको ही प्रधानता देते हैं ॥ २५ ॥

यम उवाच

निवर्त तुष्टोऽस्मि तवानया गिरा
स्वराक्षरव्यञ्जनहेतुयुक्तया ।
वरं वृणीष्वेह विनास्य जीवितं
ददानि ते सर्वमनिन्दिते वरम् ॥ २६ ॥

यमराज बोले—अनिन्दिते! तू लौट जा। स्वर, अक्षर, व्यञ्जन एवं युक्तियोंसे युक्त तेरी इन बातोंसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तू यहाँ मुझसे कोई वर माँग ले। सत्यवान्‌के जीवनके सिवा मैं और सब कुछ तुझे दे सकता हूँ ॥ २६ ॥

सावित्र्युवाच

च्युतः स्वराज्याद् वनवासमाश्रितो
विनष्टचक्षुः श्वशुरो ममाश्रमे ।
स लब्धचक्षुर्बलवान् भवेन्नृप-
स्तव प्रसादाज्ज्वलनार्कसंनिभः ॥ २७ ॥

सावित्री बोली—भगवन्! मेरे श्वशुर अपने राज्यसे भ्रष्ट होकर वनमें रहते हैं। उनकी आँखें भी नष्ट हो गयी हैं। मैं चाहती हूँ, आपकी कृपासे उन महाराजको उनकी आँखें मिल जायँ और वे बलवान् तथा अग्नि एवं सूर्यके समान तेजस्वी हो जायँ ॥ २७ ॥

यम उवाच

ददानि तेऽहं तमनिन्दिते वरं
यथा त्वयोक्तं भविता च तत् तथा ।
तवाध्वना ग्लानिमिवोपलक्षये
निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ॥ २८ ॥

यमराज बोले—अनिन्दिते! मैं तुझे वर देता हूँ। तूने जैसा कहा है, वह सब वैसा ही होगा। मैं देखता हूँ, तू राह चलनेके कारण बहुत थक गयी है। अब लौट जा, जिससे तुझे अधिक परिश्रम न हो ॥ २८ ॥

सावित्र्युवाच

श्रमः कुतो भर्तृसमीपतो हि मे
यतो हि भर्ता मम सा गतिर्ध्रुवा ।
यतः पतिं नेष्यसि तत्र मे गतिः
सुरेश भूयश्च वचो निबोध मे ॥ २९ ॥

सावित्री बोली—स्वामीके समीप रहते हुए मुझे श्रम हो ही कैसे सकता है। जहाँ मेरे पतिदेव रहेंगे, वहीं मेरी भी गति निश्चित है। आप जहाँ मेरे प्राणनाथको ले जायँगे, वहीं मेरा जाना भी अवश्यम्भावी है। देवेश्वर! आप फिर मेरी बात सुनिये ॥ २९ ॥

सतां सकृत्संगतमीप्सितं परं
ततः परं मित्रमिति प्रचक्षते।
न चाफलं सत्पुरुषेण सङ्गतं
ततः सतां संनिवसेत् समागमे ॥ ३० ॥

सत्पुरुषोंका एक बारका समागम भी अत्यन्त अभीष्ट होता है। उनके साथ मित्रता हो जाना उससे भी बढ़कर बताया गया है। साधु पुरुषका सङ्ग कभी निष्फल नहीं होता; अतः सदा सत्पुरुषोंके ही समीप रहना चाहिये ॥ ३० ॥

यम उवाच

मनोऽनुकूलं बुधबुद्धिवर्धनं
त्वया यदुक्तं वचनं हिताश्रयम्।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं
वरं द्वितीयं वरयस्व भामिनि ॥ ३१ ॥

यमराज बोले—भामिनी! तूने जो सबके हितकी बात कही है, वह मेरे मनके अनुकूल है तथा विद्वानोंकी भी बुद्धिको बढ़ानेवाली है; अतः इस सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर तू दूसरा कोई वर और माँग ले ॥ ३१ ॥

सावित्र्युवाच

हृतं पुरा मे श्वशुरस्य धीमतः
स्वमेव राज्यं लभतां स पार्थिवः।
जह्यात् स्वधर्मं न च मे गुरुर्यथा
द्वितीयमेतद् वरयामि ते वरम् ॥ ३२ ॥

सावित्री बोली—मेरे बुद्धिमान् श्वशुरका राज्य, जो पहले उनसे छीन लिया गया है, उसे वे महाराज पुनः प्राप्त कर लें तथा वे मेरे पूज्य गुरु महाराज द्युमत्सेन कभी अपना धर्म न छोड़ें; यही दूसरा वर मैं आपसे माँगती हूँ ॥ ३२ ॥

यम उवाच

स्वमेव राज्यं प्रतिपत्स्यतेऽचिरा-
न्न च स्वधर्मात् परिहास्यते नृपः।
कृतेन कामेन मया नृपात्मजे
निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ॥ ३३ ॥

यमराज बोले—राजा द्युमत्सेन शीघ्र एवं अनायास ही अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे और वे कभी अपने धर्मका भी परित्याग नहीं करेंगे। राजकुमारी! मेरेद्वारा अब तेरी इच्छा पूरी हो गयी। तू लौट जा, जिससे तुझे परिश्रम न हो ॥ ३३ ॥

सावित्र्युवाच

प्रजास्त्वयैता नियमेन संयता
नियम्य चैता नयसे निकामया।
ततो यमत्वं तव देव विश्रुतं
निबोध चेमां गिरमीरितां मया ॥ ३४ ॥

सावित्री बोली—देव! इस सारी प्रजाको आप नियमसे संयममें रखते हैं और उसका नियमन करके आप अपनी इच्छाके अनुसार उसे विभिन्न लोकोंमें ले जाते हैं। इसीलिये आपका 'यम' नाम सर्वत्र विख्यात है। मैं जो बात कहती हूँ, उसे सुनिये ॥ ३४ ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ ३५ ॥

मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, सबपर दयाभाव बनाये रखना और दान देना यह साधु पुरुषोंका सनातन धर्म है ॥ ३५ ॥

एवंप्रायश्च लोकोऽयं मनुष्याः शक्तिपेशलाः।
सन्तस्त्वेवाप्यमित्रेषु दयां प्राप्तेषु कुर्वते ॥ ३६ ॥

प्रायः इस संसारके लोग अल्पायु होते हैं, मनुष्योंकी शक्तिहीनता तो प्रसिद्ध ही है। आप-जैसे संत-महात्मा तो अपनी शरणमें आये हुए शत्रुओंपर भी दया करते हैं (फिर हम-जैसे दीन मनुष्योंपर दया क्यों न करेंगे?) ॥ ३६ ॥

यम उवाच

पिपासितस्येव भवेद् यथा पय-
स्तथा त्वया वाक्यमिदं समीरितम्।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं
वरं वृणीष्वेह शुभे यदिच्छसि ॥ ३७ ॥

यमराज बोले—शुभे! जैसे प्यासे मनुष्यको प्राप्त हुआ जल आनन्ददायक होता है, उसी प्रकार तेरी कही हुई यह बात मुझे अत्यन्त सुख दे रही है। अतः तू सत्यवान्‌के जीवनके सिवा और कोई वर, जिसे तू लेना चाहे, माँग ले ॥ ३७ ॥

सावित्र्युवाच

ममानपत्यः पृथिवीपतिः पिता
भवेत् पितुः पुत्रशतं तथौरसम्।

कुलस्य सन्तानकरं च यद् भवेत्
तृतीयमेतद् वरयामि ते वरम् ॥ ३८ ॥

सावित्रीने कहा—भगवन् ! मेरे पिता महाराज अश्वपति पुत्रहीन हैं; उन्हें सौ ऐसे औरस पुत्र प्राप्त हों, जो उनके कुलकी संतानपरम्पराको चलानेवाले हों। मैं आपसे यही तीसरा वर माँगती हूँ ॥ ३८ ॥

यम उवाच

कुलस्य सन्तानकरं सुवर्चसं
शतं सुतानां पितुरस्तु ते शुभे।
कृतेन कामेन नराधिपात्मजे
निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥ ३९ ॥

यमराज बोले—शुभे ! तेरे पिताके कुलकी संतान-परम्पराको चलानेवाले सौ तेजस्वी पुत्र होंगे। राजकुमारी ! तेरी यह कामना भी पूरी हुई। अब लौट जा, तू रास्तेसे बड़ी दूर चली आयी है ॥ ३९ ॥

सावित्र्युवाच

न दूरमेतन्मम भर्तृसंनिधौ
मनो हि मे दूरतरं प्रधावति।
अथ व्रजन्नेव गिरं समुद्यतां
मयोच्यमानां शृणु भूय एव च ॥ ४० ॥

सावित्रीने कहा—भगवन् ! मैं अपने स्वामीके समीप हूँ। इसलिये यह स्थान मेरे लिये दूर नहीं है। मेरा मन तो और भी दूरतक दौड़ लगाता है। आप चलते-चलते ही मेरी कही हुई ये प्रस्तुत बातें पुनः सुनें ॥ ४० ॥

विवस्वतस्त्वं तनयः प्रतापवां-
स्ततो हि वैवस्वत उच्यसे बुधैः।
समेन धर्मेण चरन्ति ताः प्रजा-
स्ततस्तवेहेश्वर धर्मराजता ॥ ४१ ॥

देवेश्वर ! आप विवस्वान् (सूर्य) के प्रतापी पुत्र हैं, इसलिये विद्वान् पुरुष आपको वैवस्वत कहते हैं। आप समस्त प्रजाके साथ समतापूर्वक धर्मानुसार आचरण करते हैं, इसलिये आप धर्मराज कहलाते हैं ॥ ४१ ॥

आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः।
तस्मात् सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति ॥ ४२ ॥

मनुष्यको अपने-आपपर भी उतना विश्वास नहीं होता है, जितना संतोंपर होता है। इसलिये सब लोग संतोंसे विशेष प्रेम करना चाहते हैं ॥ ४२ ॥

सौहृदात् सर्वभूतानां विश्वासो नाम जायते।
तस्मात् सत्सु विशेषेण विश्वासं कुरुते जनः ॥ ४३ ॥

सौहार्दसे ही समस्त प्राणियोंका एक दूसरेके प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। संतोंमें सौहार्द होनेके कारण ही सब लोग उनपर अधिक विश्वास करते हैं ॥ ४३ ॥

यम उवाच

उदाहृतं ते वचनं यदङ्गने
शुभे न तादृक् त्वदृते श्रुतं मया।
अनेन तुष्टोऽस्मि विनास्य जीवितं
वरं चतुर्थं वरयस्व गच्छ च ॥ ४४ ॥

यमराज बोले—कल्याणि ! तूने जैसी बात कही है, वैसी मैंने तेरे सिवा किसी दूसरेके मुखसे नहीं सुनी है। शुभे ! तेरी इस बातसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ; तू सत्यवान्‌के जीवनके सिवा और कोई चौथा वर माँग ले और यहाँसे लौट जा ॥

सावित्र्युवाच

ममात्मजं सत्यवतस्तथौरसं
भवेदुभाभ्यामिह यत् कुलोद्वहम्।
शतं सुतानां बलवीर्यशालिना-
मिदं चतुर्थं वरयामि ते वरम् ॥ ४५ ॥

सावित्रीने कहा—मेरे और सत्यवान्—दोनोंके संयोगसे कुलकी वृद्धि करनेवाले, बल और पराक्रमसे सुशोभित सौ औरस पुत्र हों। यह मैं आपसे चौथा वर माँगती हूँ ॥ ४५ ॥

यम उवाच

शतं सुतानां बलवीर्यशालिनां
भविष्यति प्रीतिकरं तवाबले।
परिश्रमस्ते न भवेन्नृपात्मजे
निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥ ४६ ॥

यमराज बोले—अबले ! तुझे बल और पराक्रमसे सम्पन्न सौ पुत्र प्राप्त होंगे; जो तेरी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले होंगे। राजकुमारी ! अब तू लौट जा, जिससे तुझे थकावट न हो। तू रास्तेसे बहुत दूर चली आयी है ॥ ४६ ॥

सावित्र्युवाच

सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः
सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ति।
सतां सद्भिर्नाफलः सङ्गमोऽस्ति
सद्भ्यो भयं नानुवर्तन्ति सन्तः ॥ ४७ ॥

सावित्रीने कहा—सत्पुरुषोंकी वृत्ति निरन्तर धर्ममें ही लगी रहती है। श्रेष्ठ पुरुष कभी दुखी या व्यथित नहीं होते। सत्पुरुषोंका संतोंके साथ जो समागम होता है, वह कभी निष्फल नहीं होता है। श्रेष्ठ पुरुष संतोंसे कभी भय नहीं मानते हैं ॥ ४७ ॥

सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यं
सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन्
सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः ॥ ४८ ॥

श्रेष्ठ पुरुष सत्यके बलसे सूर्यका संचालन करते हैं। संत-महात्मा अपनी तपस्यासे इस पृथ्वीको धारण करते हैं। राजन्! सत्पुरुष ही भूत, वर्तमान और भविष्यके आश्रय हैं। श्रेष्ठ पुरुष संतोंके बीचमें रहकर कभी दुःख नहीं उठाते हैं ॥

आर्यजुष्टमिदं वृत्तमिति विज्ञाय शाश्वतम्।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ति परस्परम् ॥ ४९ ॥

यह सनातन सदाचार सत्पुरुषोंद्वारा सेवित है। यह जानकर सभी श्रेष्ठ पुरुष परोपकार करते हैं और आपसमें एक-दूसरेकी ओर स्वार्थकी दृष्टिसे कभी नहीं देखते हैं ॥

न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो
न चाप्यर्थो नश्यति नापि मानः।
यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं
तस्मात् सन्तो रक्षितारो भवन्ति ॥ ५० ॥

सत्पुरुषोंका प्रसाद कभी व्यर्थ नहीं जाता। वहाँ किसीको स्वार्थकी हानि नहीं उठानी पड़ती है और न मान-सम्मान ही नष्ट होता है। ये तीनों (प्रसाद, अर्थ और मान) संतोंमें नित्य-निरन्तर बने रहते हैं; इसलिये वे सम्पूर्ण जगत्के रक्षक होते हैं ॥ ५० ॥

यम उवाच

यथा यथा भाषसि धर्मसंहितं
मनोऽनुकूलं सुपदं महार्थवत्।
तथा तथा मे त्वयि भक्तिरुत्तमा
वरं वृणीष्वाप्रतिमं पतिव्रते ॥ ५१ ॥

यमराज बोले—पतिव्रते! जैसे-जैसे तू गम्भीर अर्थसे युक्त और सुन्दर पदोंसे विभूषित, मनके अनुकूल धर्मसंगत बातें मुझे सुनाती जा रही है, वैसे-ही-वैसे तेरे प्रति मेरी उत्तम भक्ति बढ़ती जाती है; अतः तू मुझसे कोई अनुपम वर माँग ले ॥ ५१ ॥

सावित्र्युवाच

न तेऽपवर्गः सुकृताद् विनाकृत-
स्तथा यथान्येषु वरेषु मानद।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं
यथा मृता ह्येवमहं पतिं विना ॥ ५२ ॥

सावित्रीने कहा—मानद! आपने मुझे जो पुत्र-प्राप्तिका वर दिया है, वह पुण्यमय दाम्पत्य-संयोगके बिना सफल नहीं हो सकता। अन्य वरोंकी जैसी स्थिति है, वैसी इस अन्तिम वरकी नहीं है। इसलिये मैं पुनः यह वर माँगती हूँ कि ये सत्यवान् जीवित हो जायँ; क्योंकि इन पतिदेवताके बिना मैं मरी हुईके ही समान हूँ ॥ ५२ ॥

न कामये भर्तृविनाकृता सुखं
न कामये भर्तृविनाकृता दिवम्।
न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं
न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम् ॥ ५३ ॥

पतिके बिना यदि कोई सुख मिलता है, तो वह मुझे नहीं चाहिये। पतिदेवके बिना मैं स्वर्गलोकमें भी जानेकी इच्छा नहीं रखती। पतिके बिना मुझे धन-सम्पत्तिकी भी इच्छा नहीं है। अधिक क्या कहूँ, मैं पतिके बिना जीवित रहना भी नहीं चाहती ॥ ५३ ॥

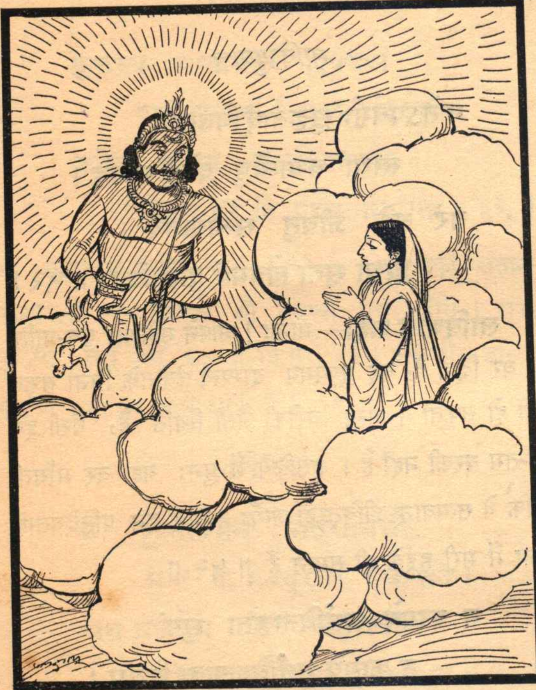
वरातिसर्गः शतपुत्रता मम
त्वयैव दत्तो ह्रियते च मे पतिः।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं
तवैव सत्यं वचनं भविष्यति ॥ ५४ ॥

आपने ही मुझे सौ पुत्र होनेका वर दिया है और आप ही मेरे पतिको अन्यत्र लिये जा रहे हैं; अतः मैं वही वर माँगती हूँ कि ये सत्यवान् जीवित हो जायँ, इससे आपका ही वचन सत्य होगा ॥ ५४ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तथेत्युक्त्वा तु तं पाशं मुक्त्वा वैवस्वतो यमः।
धर्मराजः प्रहृष्टात्मा सावित्रीमिदमब्रवीत् ॥ ५५॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर 'तथास्तु' कहकर सूर्यपुत्र धर्मराज यमने सत्यवान्का बन्धन खोल दिया और प्रसन्नचित्त होकर सावित्रीसे इस प्रकार कहा—



एष भद्रे मया मुक्तो भर्ता ते कुलनन्दिनि।
(तोषितोऽहं त्वया साध्वि वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः।)
अरोगस्तव नेयश्च सिद्धार्थः स भविष्यति ॥ ५६॥

'भद्रे ! यह ले, मैंने तेरे पतिको छोड़ दिया। कुलनन्दिनी ! तूने अपने धर्मार्थयुक्त वचनोंद्वारा मुझे पूर्ण संतुष्ट कर दिया है। साध्वी ! यह सत्यवान् नीरोग, सफलमनोरथ तथा तेरेद्वारा ले जाने योग्य हो गया ॥ ५६ ॥

चतुर्वर्षशतायुश्च त्वया सार्धमवाप्स्यति।
इष्ट्वा यज्ञैश्च धर्मेण ख्यातिं लोके गमिष्यति ॥ ५७॥

'यह तेरे साथ रहकर चार सौ वर्षोंकी आयु प्राप्त करेगा। यज्ञोंद्वारा भगवान्का यजन करके यह अपने धर्माचरणके द्वारा सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात होगा ॥ ५७ ॥

त्वयि पुत्रशतं चैव सत्यवाञ्जनयिष्यति।
ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः ॥ ५८॥

'सत्यवान् तेरे गर्भसे सौ पुत्र उत्पन्न करेगा और वे सभी राजकुमार राजा होनेके साथ ही पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न होंगे ॥ ५८ ॥

ख्यातास्त्वन्नामधेयाश्च भविष्यन्तीह शाश्वताः।
पितुश्च ते पुत्रशतं भविता तव मातरि ॥ ५९॥

'तेरे ही नामसे उनकी सदा ख्याति होगी अर्थात् वे सावित्र नामसे प्रसिद्ध होंगे। तेरे पिताके भी तेरी माताके ही गर्भसे सौ पुत्र होंगे ॥ ५९ ॥

मालव्यां मालवा नाम शाश्वताः पुत्रपौत्रिणः।
भ्रातरस्ते भविष्यन्ति क्षत्रियास्त्रिदशोपमाः ॥ ६० ॥

'वे तेरी माता मालवीसे उत्पन्न होनेके कारण मालव नामसे विख्यात होंगे। तेरे भाई मालव क्षत्रिय पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न तथा देवताओंके समान तेजस्वी होंगे' ॥६०॥

एवं तस्यै वरं दत्त्वा धर्मराजः प्रतापवान्।
निवर्तयित्वा सावित्रीं स्वमेव भवनं ययौ ॥ ६१ ॥

सावित्रीको इस प्रकार वरदान दे प्रतापी धर्मराज उसे लौटाकर अपने लोकको चले गये ॥ ६१ ॥

सावित्र्यपि यमे याते भर्तारं प्रतिलभ्य च।
जगाम तत्र यत्रास्या भर्तुः शावं कलेवरम् ॥ ६२ ॥

यमराजके चले जानेपर सावित्री अपने पतिको पाकर उसी स्थानपर गयी; जहाँ पतिका मृत शरीर पड़ा था ॥६२॥

सा भूमौ प्रेक्ष्य भर्तारमुपसृत्योपगृह्य च।
उत्सङ्गे शिर आरोप्य भूमावुपविवेश ह ॥ ६३ ॥

वह पृथ्वीपर अपने पतिको पड़ा देख उनके पास गयी और पृथ्वीपर बैठ गयी, फिर पतिको उठाकर उसने उनके मस्तकको गोदीमें रख लिया ॥ ६३ ॥

संज्ञां च स पुनर्लब्ध्वा सावित्रीमभ्यभाषत।
प्रोष्यागत इव प्रेम्णा पुनः पुनरुदीक्ष्य वै ॥ ६४ ॥

तदनन्तर पुनः चेतना प्राप्त करके सत्यवान् परदेशमें रहकर लौटे हुए पुरुषकी भाँति बार-बार प्रेमपूर्वक सावित्रीकी ओर देखते हुए उससे बोले ॥ ६४ ॥

सत्यवानुवाच

सुचिरं बत सुप्तोऽस्मि किमर्थं नावबोधितः।
क्व चासौ पुरुषः श्यामो योऽसौ मां संचकर्ष ह ॥६५॥

सत्यवान‌्ने कहा—प्रिये! खेद है कि मैं बहुत देर-तक सोता रह गया। तुमने मुझे जगा क्यों नहीं दिया? वे श्यामवर्णके पुरुष कहाँ हैं, जिन्होंने मुझे खींचा था?॥ ६५ ॥

सावित्र्युवाच

सुचिरं त्वं प्रसुप्तोऽसि ममाङ्के पुरुषर्षभ।
गतः स भगवान् देवः प्रजासंयमनो यमः॥ ६६॥

सावित्री बोली—नरश्रेष्ठ! आप मेरी गोदमें बहुत देरतक सोते रह गये। वे श्यामवर्णके पुरुष प्रजाको संयममें रखनेवाले साक्षात् भगवान् यम थे, जो अब चले गये हैं॥

विश्रान्तोऽसि महाभाग विनिद्रश्च नृपात्मज।
यदि शक्यं समुत्तिष्ठ विगाढां पश्य शर्वरीम्॥ ६७॥

महाभाग! आपने विश्राम कर लिया। राजकुमार! अब आपकी नींद भी टूट चुकी है। यदि शक्ति हो तो उठिये; देखिये, प्रगाढ़ अन्धकारसे युक्त रात्रि हो गयी है॥ ६७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

उपलभ्य ततः संज्ञां सुखसुप्त इवोत्थितः।
दिशः सर्वा वनान्तांश्च निरीक्ष्योवाच सत्यवान्॥ ६८॥
फलाहारोऽस्मि निष्क्रान्तस्त्वया सह सुमध्यमे।
ततः पाटयतः काष्ठं शिरसो मे रुजाभवत्॥ ६९॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब होशमें आकर सत्यवान् सुखपूर्वक सोये हुए पुरुषकी भाँति उठकर संपूर्ण दिशाओं तथा वनप्रान्तकी ओर दृष्टि डालकर बोले—'सुमध्यमे! मैं फल लानेके लिये तुम्हारे साथ घरसे निकला था, फिर लकड़ी चीरते समय मेरे सिरमें जोर-जोरसे दर्द होने लगा था॥ ६८-६९ ॥

शिरोऽभितापसंतप्तः स्थातुं चिरमशक्नुवन्।
तवोत्सङ्गे प्रसुप्तोऽस्मि इति सर्वं स्मरे शुभे॥ ७०॥

'शुभे! मस्तककी उस पीड़ासे संतप्त हो मैं देरतक खड़ा रहनेमें असमर्थ हो गया और तुम्हारी गोदमें सिर रखकर सो रहा। ये सारी बातें मुझे क्रमशः याद आ रही हैं॥ ७० ॥

त्वयोपगूढस्य च मे निद्रयापहृतं मनः।
ततोऽपश्यं तमो घोरं पुरुषं च महौजसम्॥ ७१॥

'तुम्हारे अङ्गोंका स्पर्श होनेसे मेरा मन नींदमें खो गया। तत्पश्चात् मुझे घोर अंधकार दिखायी दिया। साथ ही एक महातेजस्वी दिव्य पुरुषका दर्शन हुआ॥ ७१ ॥

तद् यदि त्वं विजानासि किं तद् ब्रूहि सुमध्यमे।
स्वप्नो मे यदि वा दृष्टो यदि वा सत्यमेव तत्॥ ७२॥

'सुमध्यमे! यदि तुम जानती हो तो बताओ; वह सब क्या था? मैंने जो कुछ देखा है, वह स्वप्न तो नहीं था? अथवा वह सब सत्य ही था'॥ ७२ ॥

तमुवाचाथ सावित्री रजनी व्यवगाहते।
श्वस्ते सर्वं यथावृत्तमाख्यास्यामि नृपात्मज॥ ७३॥

तब सावित्री उनसे बोली—'राजकुमार! रात बढ़ती जा रही है। कल सबेरे मैं आपसे सब बातें ठीक-ठीक बताऊँगी॥ ७३ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते पितरौ पश्य सुव्रत।
विगाढा रजनी चेयं निवृत्तश्च दिवाकरः॥ ७४॥

'सुव्रत! उठिये, उठिये, आपका कल्याण हो। आप चलकर माता-पिताका दर्शन तो कीजिये। सूर्य डूब गये तथा रात घनी हो गयी है॥ ७४ ॥

नक्तंचराश्चरन्त्येते हृष्टाः क्रूराभिभाषिणः।
श्रूयन्ते पर्णशब्दाश्च मृगाणां चरतां वने॥ ७५॥

ये क्रूर बोली बोलनेवाले निशाचर यहाँ प्रसन्नतापूर्वक विचर रहे हैं। वनमें घूमते हुए मृगोंके पैरोंसे लगकर पत्तोंके मर्मर शब्द सुनायी पड़ते हैं॥ ७५ ॥

एता घोरं शिवा नादान् दिशं दक्षिणपश्चिमाम्।
आस्थाय विरुवन्त्युग्राः कम्पयन्त्यो मनो मम॥ ७६॥

'दक्षिण और पश्चिमके कोणकी दिशामें जाकर ये उग्र सियारिनें भयंकर शब्द कर रही हैं, जिससे मेरा हृदय काँप उठता है।

सत्यवानुवाच

वनं प्रतिभयाकारं घनेन तमसाऽऽवृतम्।
न विज्ञास्यसि पन्थानं गन्तुं चैव न शक्ष्यसि॥ ७७॥

सत्यवान् बोले—प्रिये! यह वन गाढ अंधकारसे आच्छादित होकर अत्यन्त भयंकर दिखायी दे रहा है। इस समय न तो तुम्हें रास्ता सूझेगा और न तुम चल ही सकोगी।

सावित्र्युवाच

अस्मिन्नद्य वने दग्धे शुष्कवृक्षः स्थितो ज्वलन्।

वायुना धम्यमानोऽत्र दृश्यतेऽग्निः क्वचित् क्वचित् ७८

सावित्रीने कहा—आज इस वनमें आग लगी थी। इसमें एक सूखा वृक्ष खड़ा है, जो जल रहा है। हवा लगनेसे उसमें कहीं-कहीं आग दिखायी देती है ॥ ७८ ॥

ततोऽग्निमानयित्वेह ज्वालयिष्यामि सर्वतः।
काष्ठानीमानि सन्तीह जहि संतापमात्मनः ॥ ७९ ॥

वहींसे आग ले आकर मैं सब ओर लकड़ियाँ जलाऊँगी। यहाँ बहुतसे काठ-कबाड़ पड़े हैं। आप मनसे चिन्ता निकाल दीजिये ॥ ७९ ॥

यदि नोत्सहसे गन्तुं सरुजं त्वां हि लक्षये।
न च ज्ञास्यसि पन्थानं तमसा संवृते वने ॥ ८० ॥
श्वः प्रभाते वने दृश्ये यास्यावोऽनुमते तव।
वसावेह क्षपामेकां रुचितं यदि तेऽनघ ॥ ८१ ॥

परंतु मैं आपको रुग्ण देख रही हूँ। ऐसी दशामें यदि आपके मनमें चलनेका उत्साह न हो अथवा इस तिमिराच्छन्न वनमें यदि आपको रास्तेका ज्ञान न हो सके तो आपकी अनुमति होनेपर हम दोनों कल सबेरे, जब वनकी हर एक वस्तु स्पष्ट दीखने लगे, घर चलेंगे। अनघ! यदि आपकी रुचि हो तो एक रात हमलोग यहीं निवास करें ॥

सत्यवानुवाच

शिरोरुजा निवृत्ता मे स्वस्थान्यङ्गानि लक्षये।
मातापितृभ्यामिच्छामि संगमं त्वत्प्रसादजम् ॥ ८२ ॥

सत्यवान्ने कहा—प्रिये! मेरे सिरका दर्द दूर हो गया है। मुझे अपने सब अङ्ग स्वस्थ दिखायी देते हैं। अब तुम्हारे कृपाप्रसादसे मैं अपने माता-पितासे मिलना चाहता हूँ ॥

न कदाचिद् विकालं हि गतपूर्वो मयाऽऽश्रमः।
अनागतायां सन्ध्यायां माता मे प्ररुणद्धि माम् ॥ ८३ ॥

आजसे पहले कभी भी मैं इतनी देर करके असमयमें अपने आश्रमपर नहीं लौटा हूँ। संध्या होनेसे पहले ही माता मुझे रोक लेती है—आश्रमसे बाहर नहीं जाने देती है ॥ ८३ ॥

दिवापि मयि निष्क्रान्ते संतप्येते गुरू मम।
विचिनोति हि मां तातः सहैवाश्रमवासिभिः ॥ ८४ ॥

दिनमें भी यदि मैं आश्रमसे दूर निकल जाता हूँ तो मेरे माता-पिता व्याकुल हो उठते हैं एवं पिताजी आश्रमवासियोंके साथ मुझे खोजने निकल पड़ते हैं ॥ ८४ ॥

मात्रा पित्रा च सुभृशं दुःखिताभ्यामहं पुरा।
उपालब्धश्च बहुशश्चिरेणागच्छसीति ह ॥ ८५ ॥

मेरे माता-पिताने अत्यन्त दुखी होकर पहले कई बार मुझे उलाहना दिया है कि 'तू देरसे घर लौटता है' ॥ ८५ ॥

का त्ववस्था तयोरद्य मदर्थमिति चिन्तये।
तयोरदृश्ये मयि च महद् दुःखं भविष्यति ॥ ८६ ॥

आज मेरे लिये उन दोनोंकी क्या अवस्था हुई होगी? यह सोचकर मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है। मुझे न देखनेपर उन दोनोंको महान् दुःख होगा ॥ ८६ ॥

पुरा मामूचतुश्चैव रात्रावस्रायमाणकौ।
भृशं सुदुःखितौ वृद्धौ बहुशः प्रीतिसंयुतौ ॥ ८७ ॥

पहलेकी बात है, मेरे वृद्ध माता-पिताने अत्यन्त दुखी हो रातमें आँसू बहाते हुए मुझसे बारंबार प्रेमपूर्वक कहा था— ॥

त्वया हीनौ न जीवाव मुहूर्तमपि पुत्रक।
यावद् धरिष्यसे पुत्र तावन्नौ जीवितं ध्रुवम् ॥ ८८ ॥

'बेटा! तुम्हारे बिना हम दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकते। वत्स! तुम जबतक जीवित रहोगे, तभीतक हमारा भी जीवन निश्चित है ॥ ८८ ॥

वृद्धयोरन्धयोर्दृष्टिस्त्वयि वंशः प्रतिष्ठितः।
त्वयि पिण्डश्च कीर्तिश्च संतानं चावयोरिति ॥ ८९ ॥

'हम दोनों बूढ़े और अंधे हैं। तुम्हीं हमारी दृष्टि हो तथा तुम्हींपर हमारा वंश प्रतिष्ठित है। हम दोनोंका पिण्ड, कीर्ति और कुलपरम्परा सब कुछ तुमपर ही अवलम्बित है' ॥

माता वृद्धा पिता वृद्धस्तयोर्यष्टिरहं किल।
तौ रात्रौ मामपश्यन्तौ कामवस्थां गमिष्यतः ॥ ९० ॥

मेरी माता बूढ़ी है। पिता भी वृद्ध हैं, केवल मैं ही उन दोनोंके लिये लाठीका सहारा हूँ। वे दोनों रातमें मुझे न देखकर पता नहीं किस दशाको पहुँच जायँगे? ॥ ९० ॥

निद्रायाश्चाभ्यसूयामि यस्या हेतोः पिता मम।
माता च संशयं प्राप्ता मत्कृतेऽनपकारिणी ॥ ९१ ॥

मैं अपनी इस नींदको कोसता हूँ, जिसके कारण मेरे पिता तथा कभी मेरा अपकार न करनेवाली मेरी माताका जीवन संशयमें पड़ गया है ॥ ९१ ॥

अहं च संशयं प्राप्तः कृच्छ्रामापदमास्थितः।
मातापितृभ्यां हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ९२ ॥

मैं भी कठिन विपत्तिमें फँसकर प्राण-संशयकी दशामें आ पहुँचा हूँ। माता-पिताके बिना तो मैं कदापि जीवित नहीं रह सकता ॥ ९२ ॥

व्यक्तमाकुलया बुद्ध्या प्रज्ञाचक्षुः पिता मम।
एकैकमस्यां वेलायां पृच्छत्याश्रमवासिनम् ॥ ९३ ॥

निश्चय ही इस समय मेरे प्रज्ञाचक्षु (अंधे) पिता व्याकुल हृदयसे एक-एक आश्रमवासीके पास जाकर मेरे विषयमें पूछ रहे होंगे ॥ ९३ ॥

नात्मानमनुशोचामि यथाहं पितरं शुभे।
भर्तारं चाप्यनुगतां मातरं परिदुर्बलाम् ॥ ९४ ॥

शुभे ! मुझे अपने लिये उतना शोक नहीं है, जितना कि पिताके लिये और उन्हींका अनुसरण करनेवाली दुबली-पतली माताके लिये है ॥ ९४ ॥

मत्कृतेन हि तावद्य सन्तापं परमेष्यतः।
जीवन्तावनुजीवामि भर्तव्यौ तौ मयेति ह ॥ ९५ ॥
तयोः प्रियं मे कर्तव्यमिति जानामि चाप्यहम्।

मेरे कारण आज मेरे माता-पिता बहुत संतप्त होंगे। उन्हें जीवित देखकर ही मैं जी रहा हूँ। मुझे उन दोनोंका भरण-पोषण करना चाहिये। मैं यह भी जानता हूँ कि माता-पिताका प्रिय करना ही मेरा कर्तव्य है ॥ ९५½ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा गुरुभक्तो गुरुप्रियः ॥ ९६ ॥
उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्तः सुस्वरं प्ररुरोद ह।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यों कहकर धर्मात्मा, गुरुभक्त एवं गुरुजनोंके प्रिय सत्यवान् दोनों बाँहें ऊपर उठाकर दुःखसे आतुर हो फूट-फूटकर रोने लगे ॥

ततोऽब्रवीत् तथा दृष्ट्वा भर्तारं शोककर्शितम् ॥ ९७ ॥
प्रमृज्याश्रूणि नेत्राभ्यां सावित्री धर्मचारिणी।
यदि मेऽस्ति तपस्तप्तं यदि दत्तं हुतं यदि ॥ ९८ ॥
श्वश्रूश्वशुरभर्तृणां मम पुण्यास्तु शर्वरी।

अपने पतिको इस प्रकार शोकसे कातर हुआ देख धर्मका पालन करनेवाली सावित्रीने नेत्रोंसे बहते हुए आँसुओं-को पोंछकर कहा—'यदि मैंने कोई तपस्या की हो, यदि दान दिया हो और होम किया हो तो मेरे सास-ससुर और पतिके लिये यह रात पुण्यमयी हो ॥ ९७-९८½ ॥

न स्मराम्युक्तपूर्वां वै स्वैरेष्वप्यनृतां गिरम् ॥ ९९ ॥
तेन सत्येन तावद्य ध्रियेतां श्वशुरौ मम।

'मैंने पहले कभी इच्छानुसार किये जानेवाले क्रीडा-विनोदमें भी झूठी बात कही हो, मुझे इसका स्मरण नहीं है। उस सत्यके प्रभावसे इस समय मेरे सास-ससुर जीवित रहें ॥

सत्यवानुवाच

कामये दर्शनं पित्रोर्याहि सावित्रि मा चिरम् ॥ १०० ॥
(अपि नाम गुरू तौ हि पश्येयं प्रीयमाणकौ।)

सत्यवान्‌ने कहा—सावित्री ! चलो, मैं शीघ्र ही माता-पिताका दर्शन करना चाहता हूँ। क्या मैं उन दोनोंको प्रसन्न देख सकूँगा ? ॥ १०० ॥

पुरा मातुः पितुर्वापि यदि पश्यामि विप्रियम्।
न जीविष्ये वरारोहे सत्येनात्मानमालभे ॥ १०१ ॥

वरारोहे ! मैं सत्यकी शपथ खाकर अपना शरीर छूकर कहता हूँ, यदि मैं माता अथवा पिताका अप्रिय देखूँगा तो जीवित नहीं रहूँगा ॥ १०१ ॥

यदि धर्मे च ते बुद्धिर्मां चेज्जीवन्तमिच्छसि।
मम प्रियं वा कर्तव्यं गच्छावाश्रममन्तिकात् ॥ १०२ ॥

यदि तुम्हारी बुद्धि धर्ममें रत है, यदि तुम मुझे जीवित देखना चाहती हो अथवा मेरा प्रिय करना अपना कर्तव्य समझती हो, तो हम दोनों शीघ्र ही आश्रमके समीप चलें ॥ १०२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सावित्री तत उत्थाय केशान् संयम्य भाविनी।
पतिमुत्थापयामास बाहुभ्यां परिगृह्य वै ॥ १०३ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब पतिका हित-चिन्तन करनेवाली सावित्रीने उठकर अपने खुले हुए केशोंको बाँध लिया और दोनों हाथोंसे पकड़कर पतिको उठाया ॥

उत्थाय सत्यवांश्चापि प्रमृज्याङ्गानि पाणिना।
सर्वा दिशः समालोक्य कठिने दृष्टिमादधे ॥ १०४ ॥

सत्यवान्‌ने भी उठकर एक हाथसे अपने सभी अङ्ग पोंछे और चारों ओर देखकर फलोंकी टोकरीपर दृष्टि डाली ॥

तमुवाचाथ सावित्री श्वः फलानि हरिष्यसि ।
योगक्षेमार्थमेतं ते नेष्यामि परशुं त्वहम् ॥१०५॥

तब सावित्रीने उनसे कहा—'कल सबेरे फलोंको ले चलियेगा । इस समय आपके योग-क्षेमके लिये इस कुल्हाड़ीको मैं साथ ले चलूँगी' ॥ १०५ ॥

कृत्वा कठिनभारं सा वृक्षशाखावलम्बिनम् ।
गृहीत्वा परशुं भर्तुः सकाशे पुनरागमत् ॥१०६॥

फिर उसने टोकरीके बोझको पेड़की डालमें लटका दिया और कुल्हाड़ी लेकर वह पुनः पतिके पास आ गयी ॥



वामे स्कन्धे तु वामोरूर्भर्तुर्बाहुं निवेश्य च ।
दक्षिणेन परिष्वज्य जगाम गजगामिनी ॥१०७॥

कमनीय ऊरुओंसे सुशोभित तथा हाथीके समान मन्द गतिसे चलनेवाली सावित्रीने पतिकी दाहिनी भुजाको अपने बायें कंधेपर रखकर दाहिने हाथसे उन्हें अपने पार्श्वभागमें सटा लिया और धीरे-धीरे चलने लगी ॥ १०७ ॥

सत्यवानुवाच

अभ्यासगमनाद् भीरु पन्थानो विदिता मम ।
वृक्षान्तरालोकितया ज्योत्स्नया चापि लक्षये ॥१०८॥

उस समय सत्यवान्‌ने कहा—भीरु ! बार-बार आने-जानेसे यहाँके सभी मार्ग मेरे परिचित हैं । वृक्षोंके भीतरसे दिखायी देनेवाली चाँदनीसे भी मैं रास्तोंकी पहचान कर लेता हूँ ॥ १०८ ॥

आगतौ स्वः पथा येन फलान्यवचितानि च ।
यथागतं शुभे गच्छ पन्थानं मा विचारय ॥१०९॥

यह वही मार्ग है, जिससे हम दोनों आये थे और हमने फल चुने थे । शुभे ! तुम जैसे आयी हो, वैसे चली चलो । रास्तेका विचार न करो ॥ १०९ ॥

पलाशखण्डे चैतस्मिन् पन्था व्यावर्तते द्विधा ।
तस्योत्तरेण यः पन्थास्तेन गच्छ त्वरस्व च ॥११०॥
स्वस्थोऽस्मि बलवानस्मि दिदृक्षुः पितरावुभौ ।

पलाश-वृक्षोंके इस वनप्रदेशमें यह मार्ग अलग-अलग दो दिशाओंकी ओर मुड़ जाता है । इन दोनोंमेंसे जो मार्ग उत्तरकी ओरसे जाता है, उसीसे चलो और शीघ्रतापूर्वक पैर बढ़ाओ । अब मैं स्वस्थ हूँ, बलवान् हूँ और अपने माता तथा पिता दोनोंको देखनेके लिये उत्सुक हूँ ॥ ११०½ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ब्रुवन्नेवं त्वरायुक्तः सम्प्रायादाश्रमं प्रति ॥१११॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—ऐसा कहते हुए सत्यवान् बड़ी उतावलीके साथ आश्रमकी ओर चलने लगे ॥ १११ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक

दो सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका एक श्लोक मिलाकर कुल ११२ श्लोक हैं)

रजि० सं० ए० ८५४
License No. A. 33
Licensed to post without prepayment.

श्रीहरिः

नये-पुराने ग्राहकोंको सूचना

मासिक महाभारतका पहला अङ्क

कार्तिक (नवम्बर) का अङ्क दूसरी बार छप गया है तथा जिन नये ग्राहकोंको नहीं गया था, उनको अब भेजा जा चुका है ।

मार्गशीर्ष (दिसम्बर) के अङ्कका पुनर्मुद्रण समाप्त-प्राय है और वह भी शीघ्र ही उन ग्राहकोंको भेज दिया जा सकेगा जिन्हें नहीं गया है ।

पौष (जनवरी) के तीसरे अङ्कके दुबारा तैयार होनेमें अभी लगभग एक महीना लग सकता है । अतः प्रेमी ग्राहकोंसे प्रार्थना है कि वे कृपापूर्वक धैर्य रक्खें और अनावश्यक पत्र-व्यवहार न करें ।

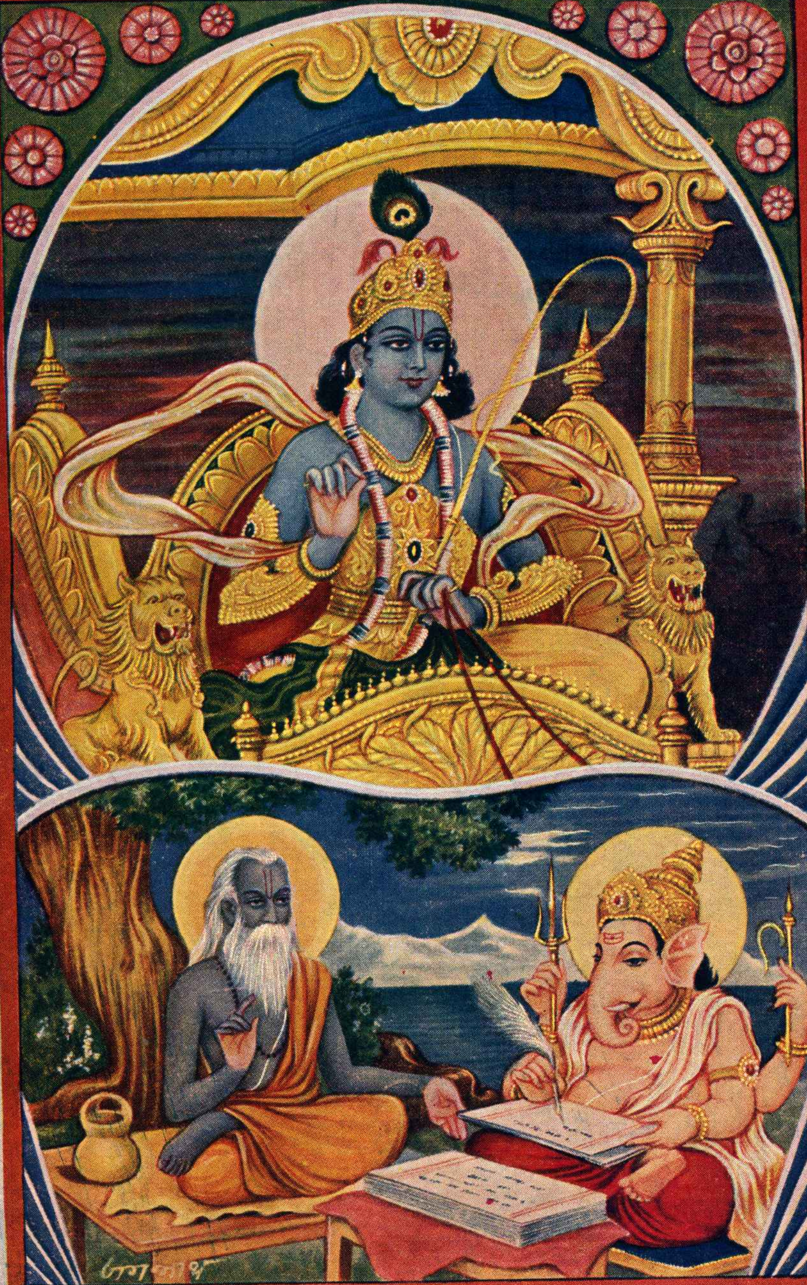
दूसरे संस्करणके समाप्त हो जानेपर तीसरे संस्करणके जल्दी छपनेकी आशा नहीं की जा सकती । अतः नये बनने-वाले ग्राहकोंको शीघ्रता करनी चाहिये ।

व्यवस्थापक—'महाभारत' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

महाभारत

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद



संस्कृत मूल

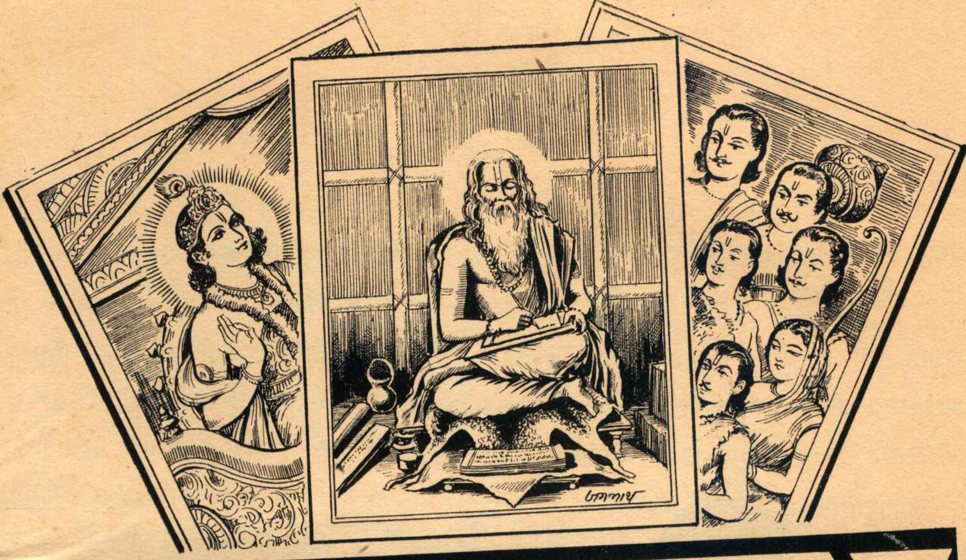
हिन्दी अनुवाद

वर्ष १

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या १०

ॐ श्रीपरमात्मने नमः



महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

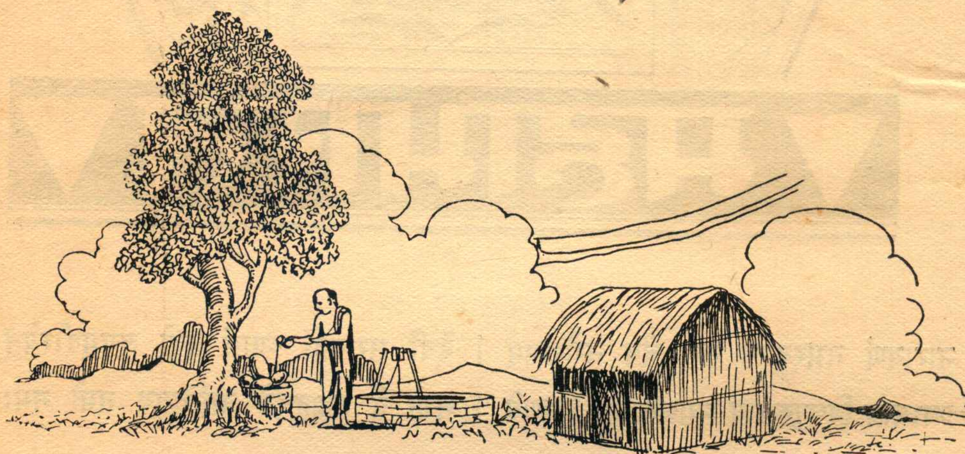
वर्ष १ | गोरखपुर, श्रावण २०१३, अगस्त १९५६ | संख्या १० पूर्ण संख्या १०

श्रीकृष्णकी शरण

यस्य प्रभावमतुलं न विदुः शिवाद्या
यस्यावतारचरितानि समर्चितानि ।
वेदान्तवेद्यमखिलज्ञमुदारकीर्तिं
श्रीकृष्णमेव! सततं शरणं प्रपद्ये ॥

जिनके अनुपम प्रभावको शिव आदि देवता भी नहीं जानते हैं; जिनके अवतारचरित्रोंकी सदा और सर्वत्र पूजा (स्तुति) की गयी है, जो वेदान्तवेद्य, सर्वज्ञ तथा उदारकीर्ति परमेश्वर हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णकी ही मैं सदा शरण लेता हूँ ।

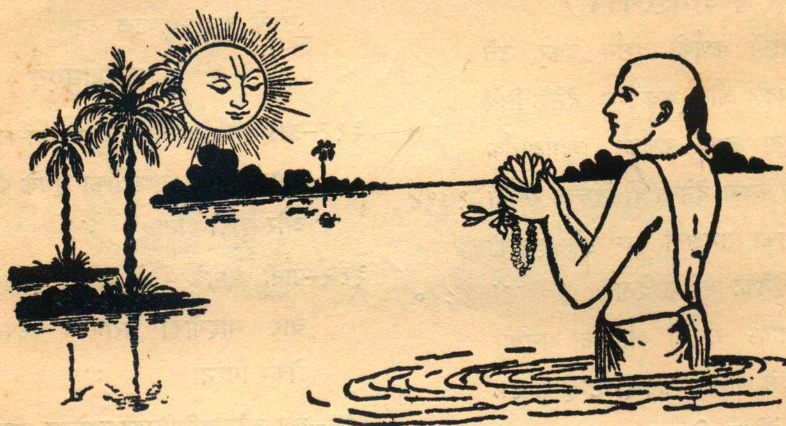
(महाभारत, तात्पर्यप्रकाश)



॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

चित्र-सूची



॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विराटपर्व

चित्र-सूची

सम्पादक—**हनुमानप्रसाद पोद्दार**

टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

इन्द्रका शक्ति-दान



युधिष्ठिर और बगुलारूपधारी यक्ष

अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पत्नीसहित राजा द्युमत्सेनकी सत्यवान्‌के लिये चिन्ता, ऋषियोंका उन्हें आश्वासन देना, सावित्री और सत्यवान्‌का आगमन तथा सावित्रीद्वारा विलम्बसे आनेके कारणपर प्रकाश डालते हुए वरप्राप्तिका विवरण बताना

मार्कण्डेय उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु द्युमत्सेनो महाबलः।
लब्धचक्षुः प्रसन्नायां दृष्ट्यां सर्वं ददर्श ह ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इसी समय महाबली महाराजा द्युमत्सेनको उनकी खोयी हुई आँखें मिल गयीं। दृष्टि स्वच्छ हो जानेके कारण वे सब कुछ देखने लगे ॥

स सर्वानाश्रमान् गत्वा शैब्यया सह भार्यया।
पुत्रहेतोः परामार्तिं जगाम भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे अपनी पत्नी शैब्याके साथ सभी आश्रमोंमें जाकर पुत्रका पता लगाने लगे। उस समय उन्हें सत्यवान्‌के लिये बड़ी वेदना हो रही थी ॥ २ ॥

तावाश्रमान् नदीश्चैव वनानि च सरांसि च।
तस्यां निशि विचिन्वन्तौ दम्पती परिजग्मतुः ॥ ३ ॥

वे दोनों पति-पत्नी उस रातमें पुत्रकी खोज करते हुए विभिन्न आश्रमों, नदीके तटों तथा वनों और सरोवरोंमें भ्रमण करने लगे ॥ ३ ॥

श्रुत्वा शब्दं तु यं कञ्चिदुन्मुखौ सुतशङ्कया।
सावित्रीसहितोऽभ्येति सत्यवानित्यभाषताम् ॥ ४ ॥

जो कोई भी शब्द कानमें पड़ता, उसीको सुनकर वे अपने पुत्रके आनेकी आशङ्कासे उत्सुक हो उठते और परस्पर कहने लगते कि 'सावित्रीके साथ सत्यवान् आ रहा है' ॥ ४ ॥

भिन्नैश्च परुषैः पादैः सव्रणैः शोणितोक्षितैः।
कुशकण्टकविद्धाङ्गावुन्मत्ताविव धावतः ॥ ५ ॥

उनके पैरोंमें बिवाई फट गयी थी, वे कठोर हो गये थे तथा घाव हो जानेके कारण रक्तसे भींगे रहते थे, तो भी उन्हीं पैरोंसे वे दोनों दम्पति इधर-उधर पागलोंकी भाँति दौड़ रहे थे। उस समय उनके अङ्गोंमें कुश और काँटे बिंध गये थे ॥ ५ ॥

ततोऽभिसृत्य तैर्विप्रैः सर्वैराश्रमवासिभिः।
परिवार्य समाश्वास्य तावानीतौ स्वमाश्रमम् ॥ ६ ॥

तब उन आश्रमोंमें रहनेवाले समस्त ब्राह्मणोंने उनके पास जा उन्हें सब ओरसे घेरकर आश्वासन दिया तथा उन दोनोंको उनके आश्रमपर पहुँचाया ॥ ६ ॥

तत्र भार्यासहायः स वृतो वृद्धैस्तपोधनैः।
आश्वासितोऽपि चित्रार्थैः पूर्वराज्ञां कथाश्रयैः ॥ ७ ॥

ततस्तौ पुनराश्वस्तौ वृद्धौ पुत्रदिदृक्षया।
बाल्यवृत्तानि पुत्रस्य स्मरन्तौ भृशदुःखितौ ॥ ८ ॥

तपस्याके धनी वृद्ध ब्राह्मणोंद्वारा घिरे हुए पत्नीसहित राजा द्युमत्सेनको प्राचीन राजाओंकी विचित्र अर्थोंसे भरी हुई कथाएँ सुनाकर पूरा आश्वासन दिया गया, तो भी वे दोनों वृद्ध बारंबार सान्त्वना मिलते रहनेपर भी अपने पुत्रको देखनेकी इच्छासे उसके बचपनकी बातें सोचते हुए बहुत दुःखी हो गये ॥ ७-८ ॥

पुनरुक्त्वा च करुणां वाचं तौ शोककर्शितौ।
हा पुत्र हा साध्वि वधूः क्वासि क्वासीत्यरोदताम्।
ब्राह्मणः सत्यवाक् तेषामुवाचेदं तयोर्वचः ॥ ९ ॥

वे शोककातर दम्पति बारंबार करुण वचन बोलते हुए 'हा पुत्र ! हा सती-साध्वी बहू ! तुम कहाँ हो, कहाँ हो ?' यों कहकर रोने लगे। उस समय एक सत्यवादी ब्राह्मणने उन दोनोंसे इस प्रकार कहा ॥ ९ ॥

सुवर्चा उवाच

यथास्य भार्या सावित्री तपसा च दमेन च।
आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १० ॥

सुवर्चा बोले—सत्यवान्‌की पत्नी सावित्री जैसी तपस्या, इन्द्रियसंयम तथा सदाचारसे संयुक्त है, उसे देखते हुए मैं कह सकता हूँ कि सत्यवान् जीवित है ॥ १० ॥

गौतम उवाच

वेदाः साङ्गा मयाधीतास्तपो मे संचितं महत्।
कौमारब्रह्मचर्यं च गुरवोऽग्निश्च तोषिताः ॥ ११ ॥
समाहितेन चीर्णानि सर्वाण्येव व्रतानि मे।
वायुभक्षोपवासश्च कृतो मे विधिवत् पुरा ॥ १२ ॥
अनेन तपसा वेद्मि सर्वं परचिकीर्षितम्।
सत्यमेतन्निबोधध्वं ध्रियते सत्यवानिति ॥ १३ ॥

गौतम बोले—मैंने छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन किया है। महान् तपका संचय किया है। कुमारावस्थासे ही ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरुजनों तथा अग्निदेवको संतुष्ट किया है। एकाग्रचित्त होकर सभी व्रत पूर्ण किये हैं। पूर्वकालमें हवा पीकर विधिपूर्वक उपवासव्रतका साधन किया है। इस तपस्याके प्रभावसे मैं दूसरोंकी सारी चेष्टाओंको जान लेता हूँ। आपलोग मेरी यह बात सच मानें कि सत्यवान् जीवित है ॥ ११-१३ ॥

शिष्य उवाच

उपाध्यायस्य मे वक्त्राद् यथा वाक्यं विनिःसृतम्।
नैव जातु भवेन्मिथ्या तथा जीवति सत्यवान्॥१४॥

गौतमके शिष्यने कहा—मेरे गुरुजीके मुखसे जो बात निकली है, वह कभी मिथ्या नहीं हो सकती। सत्यवान् अवश्य जीवित है॥ १४॥

ऋषय ऊचुः

यथास्य भार्या सावित्री सर्वैरेव सुलक्षणैः।
अवैधव्यकरैर्युक्ता तथा जीवति सत्यवान्॥१५॥

कुछ ऋषियोंने कहा—सत्यवान्की पत्नी सावित्री उन सभी शुभ लक्षणोंसे युक्त है, जो वैधव्यका निवारण करके सौभाग्यकी वृद्धि करनेवाले हैं इसलिये सत्यवान् अवश्य जीवित है॥ १५॥

भारद्वाज उवाच

यथास्य भार्या सावित्री तपसा च दमेन च।
आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान्॥ १६॥

भारद्वाज बोले—सत्यवान्की पत्नी सावित्री जैसी तपस्या, इन्द्रियसंयम तथा सदाचारसे संयुक्त है, उसे देखते हुए मैं कह सकता हूँ कि सत्यवान् जीवित है॥ १६॥

दाल्भ्य उवाच

यथा दृष्टिः प्रवृत्ता ते सावित्र्याश्च यथा व्रतम्।
गताऽऽहारमकृत्वा च तथा जीवति सत्यवान्॥१७॥

दाल्भ्यने कहा—राजन्! जिस प्रकार आपको दृष्टि प्राप्त हो गयी और जिस प्रकार सावित्रीका उपवास-व्रत चल रहा था तथा जिस प्रकार वह आज भोजन किये बिना ही पतिके साथ गयी है, इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि सत्यवान् जीवित है॥ १७॥

आपस्तम्ब उवाच

यथा वदन्ति शान्तायां दिशि वै मृगपक्षिणः।
पार्थिवी च प्रवृत्तिस्ते तथा जीवति सत्यवान्॥१८॥

आपस्तम्ब बोले—इस शान्त (एवं प्रसन्न) दिशामें मृग और पक्षी जैसी बोली बोल रहे हैं और आपके द्वारा जिस प्रकार राजोचित धर्मका अनुष्ठान हो रहा है, उसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि सत्यवान् जीवित है॥ १८॥

धौम्य उवाच

सर्वैर्गुणैरुपेतस्ते यथा पुत्रो जनप्रियः।
दीर्घायुर्लक्षणोपेतस्तथा जीवति सत्यवान्॥१९॥

धौम्यने कहा—महाराज! आपका यह पुत्र जिस प्रकार समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न, जनप्रिय तथा चिरजीवी पुरुषोंके लक्षणोंसे युक्त है, उसके अनुसार यही मानना चाहिये कि सत्यवान् जीवित है॥ १९॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमाश्वासितस्तैस्तु सत्यवाग्भिस्तपस्विभिः।
तांस्तान् विगणयन् सर्वांस्ततः स्थिर इवाभवत्॥ २०॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार सत्यवादी एवं तपस्वी मुनियोंने जब राजा द्युमत्सेनको पूर्णतः आश्वासन दिया, तब उन सबका समादर करते हुए उनकी बात मानकर वे स्थिर-से हो गये॥ २०॥

ततो मुहूर्तात् सावित्री भर्त्रा सत्यवता सह।
आजगामाश्रमं रात्रौ प्रहृष्टा प्रविवेश ह॥२१॥

तदनन्तर दो ही घड़ीमें सावित्री अपने पति सत्यवान्के साथ रातमें वहाँ आयी और बड़े हर्षके साथ उसने आश्रममें प्रवेश किया॥ २१॥

ब्राह्मणा ऊचुः

पुत्रेण संगतं त्वां तु चक्षुष्मन्तं निरीक्ष्य च।
सर्वे वयं वै पृच्छामो वृद्धिं वै पृथिवीपते॥ २२॥

तब ब्राह्मणोंने कहा—महाराज! पुत्रके साथ आपका मिलन हुआ और आपको नेत्र भी प्राप्त हो गये, इस अवस्थामें आपको देखकर हम सब लोग आपका अभ्युदय मना रहे हैं॥ २२॥

समागमेन पुत्रस्य सावित्र्या दर्शनेन च।
चक्षुषश्चात्मनो लाभात् त्रिभिर्दिष्ट्या विवर्धसे॥ २३॥

बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपको पुत्रका समागम प्राप्त हुआ, बहू सावित्रीका दर्शन हुआ और अपने खोये हुए नेत्र पुनः मिल गये। इन तीनों बातोंसे आपका अभ्युदय सूचित होता है॥ २३॥

सर्वैरस्माभिरुक्तं यत् तथा तन्नात्र संशयः।
भूयोभूयः समृद्धिस्ते क्षिप्रमेव भविष्यति॥ २४॥

हम सब लोगोंने जो बात कही है, वह ज्यों-की-त्यों सत्य निकली, इसमें संशय नहीं है। आगे भी शीघ्र ही आपकी बारंबार समृद्धि होनेवाली है॥ २४॥

ततोऽग्निं तत्र संज्वाल्य द्विजास्ते सर्व एव हि।
उपासांचक्रिरे पार्थ द्युमत्सेनं महीपतिम्॥ २५॥

युधिष्ठिर! तदनन्तर सभी ब्राह्मण वहाँ आग जलाकर राजा द्युमत्सेनके पास बैठ गये॥ २५॥

शैब्या च सत्यवांश्चैव सावित्री चैकतः स्थिताः।
सर्वैस्तैरभ्यनुज्ञाता विशोकाः समुपाविशन्॥ २६॥

शैब्या, सत्यवान् तथा सावित्री—ये तीनों भी एक ओर खड़े थे, जो उन सब महात्माओंकी आज्ञा पाकर शोकरहित हो बैठ गये॥ २६॥

ततो राज्ञा सहासीनाः सर्वे ते वनवासिनः ।
जातकौतूहलाः पार्थ पप्रच्छुर्नृपतेः सुतम् ॥ २७ ॥

पार्थ ! तत्पश्चात् राजाके साथ बैठे हुए वे सभी वनवासी कौतूहलवश राजकुमार सत्यवान्से पूछने लगे ॥ २७ ॥

ऋषय ऊचुः

प्रागेव नागतं कस्मात् सभार्येण त्वया विभो ।
विरात्रे चागतं कस्मात् कोऽनुबन्धस्तवाभवत्॥ २८ ॥

ऋषि बोले—राजकुमार ! तुम अपनी पत्नीके साथ पहले ही क्यों नहीं चले आये ? क्यों इतनी रात बिताकर आये ? तुम्हारे सामने कौन-सी अड़चन आ गयी थी ?॥

संतापितः पिता माता वयं चैव नृपात्मज ।
कस्मादिति न जानीमस्तत् सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ २९ ॥

राजपुत्र ! तुमने आनेमें विलम्ब करके अपने माता-पिता तथा हमलोगोंको भी भारी संतापमें डाल दिया था। तुमने ऐसा क्यों किया ? यह हम नहीं जान पाते हैं, अतः सब बातें स्पष्ट रूपसे बताओ ॥ २९ ॥

सत्यवानुवाच

पित्राहमभ्यनुज्ञातः सावित्रीसहितो गतः ।
अथ मेऽभूच्छिरोदुःखं वने काष्ठानि भिन्दतः ॥ ३० ॥

सत्यवान् बोले—मैं पिताकी आज्ञा पाकर सावित्रीके साथ वनमें गया । फिर वनमें लकड़ियोंको चीरते समय मेरे सिरमें बड़े जोरसे दर्द होने लगा ॥ ३० ॥

सुप्तश्चाहं वेदनया चिरमित्युपलक्षये ।
तावत् कालं न च मया सुप्तपूर्वं कदाचन ॥ ३१ ॥

मैं समझता हूँ कि मैं वेदनासे व्याकुल होकर देरतक सोता रह गया । उतने समयतक मैं उसके पहले कभी नहीं सोया था ॥ ३१ ॥

सर्वेषामेव भवतां संतापो मा भवेदिति ।
अतो विरात्रागमनं नान्यदस्तीह कारणम् ॥ ३२ ॥

नींद खुलनेपर मैं इतनी रातके बाद भी इसलिये चला आया कि आप सब लोगोंको मेरे लिये चिन्तित न होना पड़े । इस विलम्बमें और कोई कारण नहीं है ॥ ३२ ॥

गौतम उवाच

अकस्माच्चक्षुषः प्राप्तिर्द्युमत्सेनस्य ते पितुः ।
नास्य त्वं कारणं वेत्सि सावित्री वक्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

गौतम बोले—तुम्हारे पिता द्युमत्सेनको जो सहसा नेत्रोंकी प्राप्ति हुई है, इसका कारण तुम नहीं जानते । सम्भवतः सावित्री बतला सकती है ॥ ३३ ॥

श्रोतुमिच्छामि सावित्रि त्वं हि वेत्थ परावरम् ।
त्वां हि जानामि सावित्रि सावित्रीमिव तेजसा ॥ ३४ ॥

त्वमत्र हेतुं जानीषे तस्मात् सत्यं निरुच्यताम् ।
रहस्यं यदि ते नास्ति किंचिदत्र वदस्व नः ॥ ३५ ॥

सावित्री ! मैं इसका रहस्य तुमसे सुनना चाहता हूँ; क्योंकि तुम भूत और भविष्य सब कुछ जानती हो । मैं तुम्हें साक्षात् सावित्रीदेवीके समान तेजस्विनी जानता हूँ । राजाको जो सहसा नेत्रोंकी प्राप्ति हुई है, इसका कारण तुम जानती हो । सच-सच बताओ, यदि इसमें कुछ छिपानेकी बात न हो, तो हमसे अवश्य कहो ॥ ३४-३५ ॥

सावित्र्युवाच

एवमेतद् यथा वेत्थ संकल्पो नान्यथा हि वः ।
न हि किंचिद् रहस्यं मे श्रूयतां तथ्यमेव यत् ॥ ३६ ॥

सावित्री बोली—मुनीश्वरो ! आपलोग जैसा समझते हैं, ठीक है । आपलोगोंका संकल्प अन्यथा नहीं हो सकता । मेरेलिये कोई छिपानेकी बात नहीं है । मैं सब घटनाएँ ठीक-ठीक बताती हूँ, सुनिये ॥ ३६ ॥

मृत्युर्मे पत्युराख्यातो नारदेन महात्मना ।
स चाद्य दिवसः प्राप्तस्ततो नैनं जहाम्यहम् ॥ ३७ ॥

महात्मा नारदजीने मुझसे मेरे पतिकी मृत्युका हाल बताया था । वह मृत्युदिवस आज ही आया था; इसलिये मैं इन्हें अकेला नहीं छोड़ती थी ॥ ३७ ॥

सुप्तं चैनं यमः साक्षादुपागच्छत् सकिङ्करः ।
स एनमनयद् बद्ध्वा दिशं पितृनिषेविताम् ॥ ३८ ॥

जब ये सिरके दर्दसे व्याकुल होकर सो गये, उस समय साक्षात् भगवान् यमराज अपने सेवकके साथ पधारे । वे इन्हें बाँधकर दक्षिण दिशाकी ओर ले चले ॥ ३८ ॥

अस्तौषं तमहं देवं सत्येन वचसा विभुम् ।
पञ्च वै तेन मे दत्ता वराः शृणुत तान् मम ॥ ३९ ॥

उस समय मैंने सत्यवचनोंद्वारा उन भगवान् यमकी स्तुति की । तब उन्होंने मुझे पाँच वर दिये । उन वरोंको आप मुझसे सुनिये ॥ ३९ ॥

चक्षुषी च स्वराज्यं च द्वौ वरौ श्वशुरस्य मे ।
लब्धं पितुः पुत्रशतं पुत्राणां चात्मनः शतम् ॥ ४० ॥

नेत्र तथा अपने राज्यकी प्राप्ति—ये दो वर मेरे श्वशुरके लिये प्राप्त हुए हैं । इसके सिवा मैंने अपने पिताके लिये सौ पुत्र तथा अपने लिये भी सौ पुत्र होनेके दो वर और पाये हैं ॥ ४० ॥

चतुर्वर्षशतायुर्मे भर्ता लब्धश्च सत्यवान् ।
भर्तुर्हि जीवितार्थं तु मया चीर्णं त्विदं व्रतम् ॥ ४१ ॥

पाँचवें वरके रूपमें मुझे मेरे पति सत्यवान् चार सौ वर्षोंकी आयु लेकर प्राप्त हुए हैं । पतिके जीवनकी रक्षाके लिये ही मैंने यह व्रत किया था ॥ ४१ ॥

एतत् सर्वं मयाऽऽख्यातं कारणं विस्तरेण वः।
यथावृत्तं सुखोदर्कमिदं दुःखं महन्मम ॥ ४२ ॥

इस प्रकार मैंने आपलोगोंसे विलम्बसे आनेका कारण और उसका यथावत् वृत्तान्त विस्तारपूर्वक बताया है। मुझे जो यह महान् दुःख उठाना पड़ा है, उसका अन्तिम फल सुख ही हुआ है ॥ ४२ ॥

ऋषय ऊचुः

निमज्जमानं व्यसनैरभिद्रुतं
कुलं नरेन्द्रस्य तमोमये ह्रदे।
त्वया सुशीलव्रतपुण्यया कुलं
समुद्धृतं साध्वि पुनः कुलीनया ॥ ४३ ॥

ऋषि बोले—पतिव्रते ! राजा द्युमत्सेनका कुल भाँति-भाँतिकी विपत्तियोंसे ग्रस्त होकर दुःखके अंधकारमय गढेमें डूबा जा रहा था; परंतु तुझ-जैसी सुशीला, व्रतपरायणा और पवित्र आचरणवाली कुलीन वधूने आकर इसका उद्धार कर दिया ॥ ४३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तथा प्रशस्य ह्यभिपूज्य चैव
वरस्त्रियं तामृषयः समागताः।
नरेन्द्रमामन्त्र्य सपुत्रमञ्जसा
शिवेन जग्मुर्मुदिताः स्वमालयम् ॥ ४४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार वहाँ आये हुए महर्षियोंने स्त्रियोंमें श्रेष्ठ सावित्रीकी भूरि-भूरि प्रशंसा तथा आदर-सत्कार करके पुत्रसहित राजा द्युमत्सेनकी अनुमति ले सुख और प्रसन्नताके साथ अपने-अपने घरको प्रस्थान किया ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२९८॥

नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शाल्वदेशकी प्रजाके अनुरोधसे महाराज द्युमत्सेनका राज्याभिषेक कराना तथा सावित्रीको सौ पुत्रों और सौ भाइयोंकी प्राप्ति

मार्कण्डेय उवाच

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामुदिते सूर्यमण्डले।
कृतपौर्वाह्णिकाः सर्वे समेयुस्ते तपोधनाः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—जब वह रात बीत गयी और सूर्यमण्डलका उदय हुआ, उस समय सब तपोधन ऋषिगण पूर्वाह्णकालका नित्यकृत्य पूरा करके पुनः उस आश्रममें एकत्र हुए ॥ १ ॥

तदेव सर्वं सावित्र्या महाभाग्यं महर्षयः।
द्युमत्सेनाय नातृप्यन् कथयन्तः पुनः पुनः ॥ २ ॥

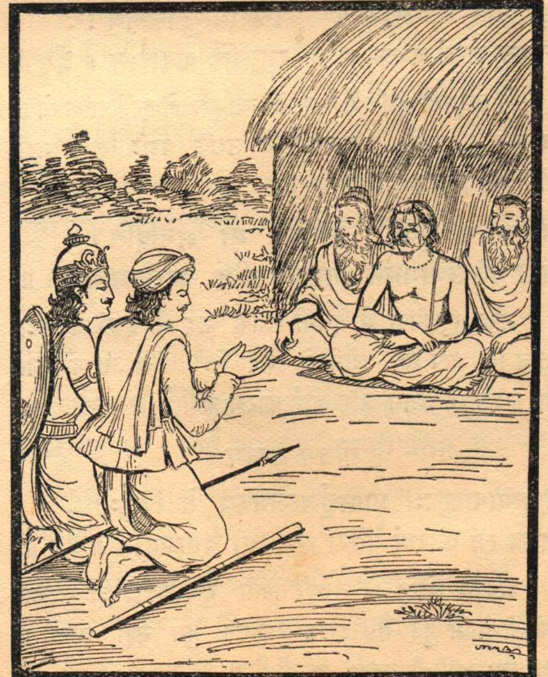
वे महर्षिगण राजा द्युमत्सेनसे सावित्रीके उस परम सौभाग्यका बारंबार वर्णन करते हुए भी तृप्त नहीं होते थे ॥ २ ॥

ततः प्रकृतयः सर्वाः शाल्वेभ्योऽभ्यागता नृप।
आचख्युर्निहतं चैव स्वेनामात्येन तं द्विषम् ॥ ३ ॥

राजन् ! उसी समय शाल्वदेशसे वहाँकी सारी प्रजाओंने आकर महाराज द्युमत्सेनसे कहा—'प्रभो ! आपका शत्रु अपने ही मन्त्रीके हाथों मारा गया है' ॥ ३ ॥

तं मन्त्रिणा हतं श्रुत्वा ससहायं सबान्धवम्।
न्यवेदयन् यथावृत्तं विद्रुतं च द्विषद्बलम् ॥ ४ ॥
ऐकमत्यं च सर्वस्य जनस्याथ नृपं प्रति।
सचक्षुर्वाप्यचक्षुर्वा स नो राजा भवत्विति ॥ ५ ॥

उन्होंने यह भी निवेदन किया कि 'उसके सहायक और



बन्धु-बान्धव भी मन्त्रीके ही हाथों मर चुके हैं। शत्रुकी सारी सेना पलायन कर गयी है। यह यथावत् वृत्तान्त सुनकर

सब लोगोंका एकमतसे यह निश्चय हुआ है कि हमें पूर्व नरेशपर ही विश्वास है । उन्हें दिखायी देता हो या न दीखता हो, वे ही हमारे राजा हों ॥ ४-५ ॥

अनेन निश्चयेनेह वयं प्रस्थापिता नृप ।
प्राप्तानीमानि यानानि चतुरङ्गं च ते बलम् ॥ ६ ॥

'नरेश्वर ! ऐसा निश्चय करके ही हमें यहाँ भेजा गया है । ये सवारियाँ प्रस्तुत हैं और आपकी चतुरङ्गिणी सेना भी सेवामें उपस्थित है ॥ ६ ॥

प्रयाहि राजन् भद्रं ते घुष्टस्ते नगरे जयः ।
अध्यास्व चिररात्राय पितृपैतामहं पदम् ॥ ७ ॥

'राजन् ! आपका कल्याण हो । अब अपने राज्यमें पधारिये । नगरमें आपकी विजय घोषित कर दी गयी है । आप दीर्घकालतक अपने बाप-दादोंके राज्यपर प्रतिष्ठित रहें' ॥

चक्षुष्मन्तं च तं दृष्ट्वा राजानं वपुषान्वितम् ।
मूर्ध्ना निपतिताः सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् राजा द्युमत्सेनको नेत्रयुक्त और स्वस्थ शरीरसे सुशोभित देखकर उन सबके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे और सबने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया ॥ ८ ॥

ततोऽभिवाद्य तान् वृद्धान् द्विजानाश्रमवासिनः ।
तैश्चाभिपूजितः सर्वैः प्रययौ नगरं प्रति ॥ ९ ॥

इसके बाद राजाने आश्रममें रहनेवाले उन वृद्ध ब्राह्मणोंका अभिवादन किया और उन सबसे समादृत हो वे अपनी राजधानीकी ओर चले ॥ ९ ॥

शैब्या च सह सावित्र्या स्वास्तीर्णेन सुवर्चसा ।
नरयुक्तेन यानेन प्रययौ सेनया वृता ॥ १० ॥

शैब्या भी अपनी बहू सावित्रीके साथ सुन्दर बिछावनसे युक्त तेजस्वी शिबिकापर, जिसे कई कहार ढो रहे थे, आरूढ़ हो सेनासे घिरी हुई चल दी ॥ १० ॥

ततोऽभिषिषिचुः प्रीत्या द्युमत्सेनं पुरोहिताः ।
पुत्रं चास्य महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयन् ॥ ११ ॥

वहाँ पहुँचनेपर पुरोहितोंने बड़ी प्रसन्नताके साथ द्युमत्सेनका राज्याभिषेक किया । साथ ही उनके महामना पुत्र सत्यवान्‌को भी युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥

ततः कालेन महता सावित्र्याः कीर्तिवर्धनम् ।
तद् वै पुत्रशतं जज्ञे शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् सावित्रीके गर्भसे उसकी कीर्ति बढ़ानेवाले सौ पुत्र उत्पन्न हुए । वे सब-के-सब शूरवीर तथा संग्रामसे कभी पीछे न हटनेवाले थे ॥ १२ ॥

भ्रातॄणां सोदराणां च तथैवास्याभवच्छतम् ।
मद्राधिपस्याश्वपतेर्मालव्यां सुमहद् बलम् ॥ १३ ॥

इसी प्रकार मद्रराज अश्वपतिके भी मालवीके गर्भसे सावित्रीके सौ सहोदर भाई उत्पन्न हुए, जो अत्यन्त बलशाली थे ॥ १३ ॥

एवमात्मा पिता माता श्वश्रूः श्वशुर एव च ।
भर्तुः कुलं च सावित्र्या सर्वं कृच्छ्रात् समुद्धृतम् ॥ १४ ॥

इस तरह सावित्रीने अपने आपको, पिता-माताको, सास-ससुरको तथा पतिके समस्त कुलको भी भारी संकटसे बचा लिया था ॥ १४ ॥

तथैवैषा हि कल्याणी द्रौपदी शीलसम्मता ।
तारयिष्यति वः सर्वान् सावित्रीव कुलाङ्गना ॥ १५ ॥

सावित्रीकी ही भाँति यह कल्याणमयी उत्तम कुलवाली सुशीला द्रौपदी तुम सब लोगोंका महान् संकटसे उद्धार करेगी ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स पाण्डवस्तेन अनुनीतो महात्मना ।
विशोको विज्वरो राजन् काम्यके न्यवसत् तदा ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार उन महात्मा मार्कण्डेयजीके समझाने-बुझाने और आश्वासन देनेपर उस समय पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिर शोक तथा चिन्तासे रहित हो काम्यकवनमें सुखपूर्वक रहने लगे ॥ १६ ॥

यश्चेदं शृणुयाद् भक्त्या सावित्र्याख्यानमुत्तमम् ।
स सुखी सर्वसिद्धार्थो न दुःखं प्राप्नुयान्नरः ॥ १७ ॥

जो इस परम उत्तम सावित्री-उपाख्यानको भक्तिभावसे सुनेगा, वह मनुष्य सदा अपने समस्त मनोरथोंके सिद्ध होनेसे सुखी होगा और कभी दुःख नहीं पायेगा ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९९ ॥

(कुण्डलाहरणपर्व)

त्रिशततमोऽध्यायः

सूर्यका स्वप्नमें कर्णको दर्शन देकर उसे इन्द्रको कुण्डल और कवच न देनेके लिये सचेत करना तथा कर्णका आग्रहपूर्वक कुण्डल और कवच देनेका ही निश्चय रखना

जनमेजय उवाच

यत् तत् तदा महद् ब्रह्मल्लॅ ोमशो वाक्यमब्रवीत्।
इन्द्रस्य वचनादेव पाण्डुपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥
यच्चापि ते भयं तीव्रं न च कीर्तयसे क्वचित्।
तच्चाप्यपहरिष्यामि धनंजय इतो गते ॥ २ ॥
किं नु तज्जपतां श्रेष्ठ कर्णं प्रति महद् भयम्।
आसीन्न च स धर्मात्मा कथयामास कस्यचित् ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! लोमशजीने इन्द्रके कथनानुसार उस समय पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे जो यह महत्त्वपूर्ण वचन कहा था कि 'तुम्हें जो बड़ा भारी भय लगा रहता है और जिसकी तुम किसीके सामने चर्चा भी नहीं करते, उसे भी मैं अर्जुनके यहाँ (स्वर्ग) से चले जानेपर दूर कर दूँगा।' जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ वैशम्पायनजी! धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिरको कर्णसे वह कौन-सा भारी भय था, जिसकी वे किसीके सम्मुख बात भी नहीं चलाते थे ॥ १—३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अहं ते राजशार्दूल कथयामि कथामिमाम्।
पृच्छतो भरतश्रेष्ठ शुश्रूषस्व गिरं मम ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—नृपश्रेष्ठ ! भरतकुलभूषण ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैं यह कथा सुनाऊँगा । तुम ध्यान देकर मेरी बात सुनो ॥ ४ ॥

द्वादशे समतिक्रान्ते वर्षे प्राप्ते त्रयोदशे।
पाण्डूनां हितकृच्छक्रः कर्णं भिक्षितुमुद्यतः ॥ ५ ॥

जब पाण्डवोंके वनवासके बारह वर्ष बीत गये और तेरहवाँ वर्ष आरम्भ हुआ, तब पाण्डवोंके हितकारी इन्द्र कर्णसे कवच-कुण्डल माँगनेको उद्यत हुए ॥ ५ ॥

अभिप्रायमथो ज्ञात्वा महेन्द्रस्य विभावसुः।
कुण्डलार्थे महाराज सूर्यः कर्णमुपागतः ॥ ६ ॥

महाराज ! कुण्डलके विषयमें देवराज इन्द्रका मनोभाव जानकर भगवान् सूर्य कर्णके पास गये ॥ ६ ॥

महार्हे शयने वीरं स्पर्द्ध्यास्तरणसंवृते।
शयानमतिविश्वस्तं ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी वीर कर्ण अत्यन्त निश्चिन्त होकर एक सुन्दर बिछौनेवाली बहुमूल्य शय्यापर सोया था ॥

स्वप्नान्ते निशि राजेन्द्र दर्शयामास रश्मिवान्।
कृपया परयाऽऽविष्टः पुत्रस्नेहाच्च भारत ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! भरतनन्दन ! अंशुमाली भगवान् सूर्यने पुत्रस्नेहवश अत्यन्त दयाभावसे युक्त हो रातको सपनेमें कर्णको दर्शन दिया ॥ ८ ॥



ब्राह्मणो वेदविद् भूत्वा सूर्यो योगर्द्धिरूपवान्।
हितार्थमब्रवीत् कर्णं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ ९ ॥

उस समय उन्होंने वेदवेत्ता ब्राह्मणका रूप धारण कर रक्खा था। उनका स्वरूप योग-समृद्धिसे सम्पन्न था। उन्होंने कर्णके हितके लिये उसे समझाते हुए इस प्रकार कहा—॥

कर्ण मद्वचनं तात शृणु सत्यभृतां वर।
ब्रुवतोऽद्य महाबाहो सौहृदात् परमं हितम् ॥ १० ॥

'सत्यधारियोंमें श्रेष्ठ तात कर्ण ! मेरी बात सुनो। महाबाहो ! मैं सौहार्दवश आज तुम्हारे परम हितकी बात कहता हूँ ॥ १० ॥

उपायास्यति शक्रस्त्वां पाण्डवानां हितेप्सया।
ब्राह्मणच्छद्मना कर्ण कुण्डलापजिहीर्षया ॥ ११ ॥

'कर्ण ! देवराज इन्द्र पाण्डवोंके हितकी इच्छासे तुम्हारे

दोनों कुण्डल (और कवच) लेनेके लिये ब्राह्मणका छद्मवेष धारण करके तुम्हारे पास आयँगे ॥ ११ ॥

विदितं तेन शीलं ते सर्वस्य जगतस्तथा।
यथा त्वं भिक्षितः सद्भिर्ददास्येव न याचसे ॥ १२ ॥

'तुम्हारी दानशीलताका उन्हें ज्ञान है तथा सम्पूर्ण जगत्‌को तुम्हारे इस नियमका पता है कि किसी सत्पुरुषके माँगनेपर तुम उसकी अभीष्ट वस्तु देते ही हो, उससे कुछ माँगते नहीं हो ॥ १२ ॥

त्वं हि तात ददास्येव ब्राह्मणेभ्यः प्रयाचितम्।
वित्तं यच्चान्यदप्याहुर्न प्रत्याख्यासि कस्यचित् ॥ १३ ॥

'तात ! तुम ब्राह्मणोंको उनकी माँगी हुई वस्तु दे ही देते हो; साथ ही धन तथा और जो कुछ भी वे माँग लें, सब दे डालते हो। किसीको 'नहीं' कहकर निराश नहीं लौटाते ॥

त्वां तु चैवंविधं ज्ञात्वा स्वयं वै पाकशासनः।
आगन्ता कुण्डलार्थाय कवचं चैव भिक्षितुम् ॥ १४ ॥

'तुम्हारे ऐसे स्वभावको जानकर साक्षात् इन्द्र तुमसे तुम्हारे कवच और कुण्डल माँगनेके लिये आनेवाले हैं ॥१४॥

तस्मै प्रयाचमानाय न देये कुण्डले त्वया।
अनुनेयः परं शक्त्या श्रेय एतद्धि ते परम् ॥ १५ ॥

'उनके माँगनेपर तुम उन्हें अपने दोनों कुण्डल दे न देना। यथाशक्ति अनुनय-विनय करके उन्हें समझा देना; इससे तुम्हारा परम मङ्गल होगा ॥ १५ ॥

कुण्डलार्थे ब्रुवंस्तात कारणैर्बहुभिस्त्वया।
अन्यैर्बहुविधैर्वित्तैः सन्निवार्यः पुनः पुनः ॥ १६ ॥

'इस प्रकार वे जब-जब कुण्डलके लिये बात करें, तब-तब बहुत-से कारण बताकर तथा दूसरे नाना प्रकारके धन आदि देनेकी बात कहकर बार-बार उन्हें कुण्डल माँगनेसे मना करना ॥

रत्नैः स्त्रीभिस्तथा गोभिर्धनैर्बहुविधैरपि।
निदर्शनैश्च बहुभिः कुण्डलेप्सुः पुरन्दरः ॥ १७ ॥

'नाना प्रकारके रत्न, स्त्री, गौ, भाँति-भाँतिके धन देकर तथा बहुत-से दृष्टान्तोंद्वारा बहलाकर कुण्डलार्थी इन्द्रको टालनेका प्रयत्न करना ॥ १७ ॥

यदि दास्यसि कर्ण त्वं सहजे कुण्डले शुभे।
आयुषः प्रक्षयं गत्वा मृत्योर्वशमुपैष्यसि ॥ १८ ॥

'कर्ण ! यदि तुम अपने जन्मके साथ ही उत्पन्न हुए ये सुन्दर कुण्डल इन्द्रको दे दोगे, तो तुम्हारी आयु क्षीण हो जायगी और तुम मृत्युके अधीन हो जाओगे ॥ १८ ॥

कवचेन समायुक्तः कुण्डलाभ्यां च मानद।
अवध्यस्त्वं रणेऽरीणामिति विद्धि वचो मम ॥ १९ ॥

'मानद ! तुम अपने कवच और कुण्डलोंसे संयुक्त होनेपर रणमें शत्रुओंके लिये भी अवध्य बने रहोगे, मेरी इस बातको समझ लो ॥ १९ ॥

अमृतादुत्थितं ह्येतदुभयं रत्नसम्भवम्।
तस्माद् रक्ष्यं त्वया कर्ण जीवितं चेत् प्रियं तव ॥ २० ॥

'कर्ण ! ये दोनों रत्नमय कवच और कुण्डल अमृतसे उत्पन्न हुए हैं; अतः यदि तुम्हें अपना जीवन प्रिय हो, तो इन दोनों वस्तुओंकी रक्षा अवश्य करना' ॥ २० ॥

कर्ण उवाच

को मामेवं भवान् प्राह दर्शयन् सौहृदं परम्।
कामया भगवन् ब्रूहि को भवान् द्विजवेषधृक् ॥ २१ ॥

कर्णने पूछा—भगवन् ! आप मेरे प्रति अत्यन्त स्नेह दिखाते हुए जो इस प्रकार हितकर सलाह दे रहे हैं, इससे मैं जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं ? यदि इच्छा हो, तो बताइये। इस प्रकार ब्राह्मणवेष धारण करनेवाले आप कौन हैं?॥

ब्राह्मण उवाच

अहं तात सहस्रांशुः सौहृदात् त्वां निदर्शये।
कुरुष्वैतद् वचो मे त्वमेतच्छ्रेयः परं हि ते ॥ २२ ॥

ब्राह्मणने कहा—तात ! मैं सहस्रांशु सूर्य हूँ। स्नेहवश ही तुम्हें दर्शन देकर सामयिक कर्तव्य सुझा रहा हूँ। तुम मेरा कहना मान लो। इससे तुम्हारा परम कल्याण होगा ॥

कर्ण उवाच

श्रेय एव ममात्यन्तं यस्य मे गोपतिः प्रभुः।
प्रवक्ताद्य हितान्वेषी शृणु चेदं वचो मम ॥ २३ ॥

कर्णने कहा—जिसके हितका अनुसंधान साक्षात् भगवान् सूर्य करते और हितकी बात बताते हैं, उस कर्णका तो परम कल्याण है ही। भगवन् ! आप मेरी यह बात सुनें ॥ २३ ॥

प्रसादये त्वां वरदं प्रणयाच्च ब्रवीम्यहम्।
न निवार्यो व्रतादस्मादहं यद्यस्मि ते प्रियः ॥ २४ ॥

प्रभो ! आप वरदायक देवता हैं। मैं आपसे प्रसन्न रहनेका अनुरोध करता हूँ और प्रेमपूर्वक यह कहता हूँ कि यदि मैं आपका प्रिय हूँ, तो आप मुझे इस व्रतसे विचलित न करें ॥ २४ ॥

व्रतं वै मम लोकोऽयं वेत्ति कृत्स्नं विभावसो।
यथाहं द्विजमुख्येभ्यो दद्यां प्राणानपि ध्रुवम् ॥ २५ ॥

सूर्यदेव ! संसारमें सब लोग मेरे इस व्रतके विषयमें पूर्णरूपसे जानते हैं कि मैं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके याचना करनेपर उन्हें निश्चय ही अपने प्राण भी दे सकता हूँ ॥ २५ ॥

यद्यागच्छति मां शक्रो ब्राह्मणच्छद्मना वृतः।
हितार्थं पाण्डुपुत्राणां खेचरोत्तम भिक्षितुम् ॥ २६ ॥

दास्यामि विबुधश्रेष्ठ कुण्डले वर्म चोत्तमम् ।
न मे कीर्तिः प्रणश्येत त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ २७ ॥

आकाशमें विचरनेवालोंमें उत्तम सूर्यदेव ! यदि पाण्डवोंके हितके लिये ब्राह्मणके छद्मवेशमें अपनेको छिपाकर साक्षात् इन्द्रदेव मेरे पास भिक्षा माँगने आ रहे हैं, तो देवेश्वर ! मैं उन्हें दोनों कुण्डल और उत्तम कवच अवश्य दे दूँगा, जिससे तीनों लोकोंमें विख्यात हुई मेरी कीर्ति नष्ट न होने पाये ॥

मद्विधस्य यशस्यं हि न युक्तं प्राणरक्षणम् ।
युक्तं हि यशसा युक्तं मरणं लोकसम्मतम् ॥ २८ ॥

मेरे-जैसे शूरवीरको प्राण देकर भी यशकी ही रक्षा करनी चाहिये; अपयश लेकर प्राणोंकी रक्षा करनी कदापि उचित नहीं है । सुयशके साथ यदि मृत्यु हो जाय, तो वह वीरोचित एवं सम्पूर्ण लोकके लिये सम्मानकी वस्तु है ॥ २८ ॥

सोऽहमिन्द्राय दास्यामि कुण्डले सह वर्मणा ।
यदि मां बलवृत्रघ्नो भिक्षार्थमुपयास्यति ॥ २९ ॥

ऐसी स्थितिमें यदि बलासुर और वृत्रासुरके विनाशक देवराज इन्द्र मेरे पास भिक्षाके लिये पधारेंगे, तो मैं कवच-सहित दोनों कुण्डल उन्हें अवश्य दे दूँगा ॥ २९ ॥

हितार्थं पाण्डुपुत्राणां कुण्डले मे प्रयाचितुम् ।
तन्मे कीर्तिकरं लोके तस्याकीर्तिर्भविष्यति ॥ ३० ॥

यदि इन्द्र पाण्डवोंके हितके लिये मेरे कुण्डल माँगने आयेंगे, तो इससे संसारमें मेरी कीर्ति बढ़ेगी और उनका अपयश होगा ॥ ३० ॥

वृणोमि कीर्तिं लोके हि जीवितेनापि भानुमन् ।
कीर्तिमानश्नुते स्वर्गं हीनकीर्तिस्तु नश्यति ॥ ३१ ॥

अतः सूर्यदेव ! मैं जीवन देकर भी जगत्में कीर्तिका ही वरण करूँगा । कीर्तिमान् पुरुष स्वर्गका सुख भोगता है । जिसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है, वह स्वयं भी नष्ट ही है ॥

कीर्तिर्हि पुरुषं लोके संजीवयति मातृवत् ।
अकीर्तिर्जीवितं हन्ति जीवतोऽपि शरीरिणः ॥ ३२ ॥

कीर्ति इस संसारमें माताकी भाँति मनुष्यको नूतन जीवन प्रदान करती है । परंतु अकीर्ति जीवित पुरुषके भी जीवनको नष्ट कर देती है ॥ ३२ ॥

अयं पुराणः श्लोको हि स्वयं गीतो विभावसो ।
धात्रा लोकेश्वर यथा कीर्तिरायुर्नरस्य ह ॥ ३३ ॥

विभावसो ! लोकेश्वर ! साक्षात् ब्रह्माजीके द्वारा गाया हुआ यह प्राचीन श्लोक है कि कीर्ति मनुष्यकी आयु है ॥ ३३ ॥

पुरुषस्य परे लोके कीर्तिरेव परायणम् ।
इह लोके विशुद्धा च कीर्तिरायुर्विवर्द्धनी ॥ ३४ ॥

परलोकमें कीर्ति ही पुरुषके लिये सबसे महान् आश्रय है । इस लोकमें भी विशुद्ध कीर्ति आयु बढ़ानेवाली होती है ॥

सोऽहं शरीरजे दत्त्वा कीर्तिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम् ।
दत्त्वा च विधिवद् दानं ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि ॥ ३५ ॥
हुत्वा शरीरं संग्रामे कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
विजित्य च परानाजौ यशः प्राप्स्यामि केवलम् ॥ ३६ ॥

अतः मैं अपने शरीरके साथ उत्पन्न हुए कवच-कुण्डल इन्द्रको देकर सनातन कीर्ति प्राप्त करूँगा । ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक दान देकर, अत्यन्त दुष्कर पराक्रम करके समराग्निमें शरीरकी आहुति देकर तथा शत्रुओंको संग्राममें जीतकर मैं केवल सुयशका उपार्जन करूँगा ॥ ३५-३६ ॥

भीतानामभयं दत्त्वा संग्रामे जीवितार्थिनाम् ।
वृद्धान् बालान् द्विजातींश्च मोक्षयित्वा महाभयात् ॥ ३७ ॥
प्राप्स्यामि परमं लोके यशः स्वर्ग्यमनुत्तमम् ।
जीवितेनापि मे रक्ष्या कीर्तिस्तद् विद्धि मे व्रतम् ॥ ३८ ॥

संग्राममें भयभीत होकर प्राणोंकी भीख माँगनेवाले सैनिकोंको अभय देकर तथा बालक, वृद्ध और ब्राह्मणोंको महान् भयसे छुड़ाकर संसारमें परम उत्तम स्वर्गीय यशका उपार्जन करूँगा । मुझे प्राण देकर भी अपनी कीर्ति सुरक्षित रखनी है । यही मेरा व्रत समझें ॥ ३७-३८ ॥

सोऽहं दत्त्वा मघवते भिक्षामेतामनुत्तमाम् ।
ब्राह्मणच्छद्मिने देव लोके गन्ता परां गतिम् ॥ ३९ ॥

इसलिये देव ! इस प्रकारके व्रतवाला मैं ब्राह्मणवेषधारी इन्द्रको यह परम श्रेष्ठ भिक्षा देकर जगत्में उत्तम गति प्राप्त करूँगा ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे त्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्यकर्णसंवादविषयक तीन सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०० ॥

एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सूर्यका कर्णको समझाते हुए उसे इन्द्रको कुण्डल न देनेका आदेश देना

सूर्य उवाच

माहितं कर्ण कार्षीस्त्वमात्मनः सुहृदां तथा ।
पुत्राणामथ भार्याणामथो मातुरथो पितुः ॥ १ ॥

सूर्यने कहा—कर्ण ! तुम अपना, अपने सुहृदोंका, पुत्रों और पत्नियोंका तथा माता-पिताका अहित न करो ॥ १ ॥

शरीरस्याविरोधेन प्राणिनां प्राणभृद्वर ।
इष्यते यशसः प्राप्तिः कीर्तिश्च त्रिदिवे स्थिरा ॥ २ ॥

प्राणधारियोंमें श्रेष्ठ वीर ! अपने शरीरकी रक्षा करते हुए ही प्राणियोंको इहलोकमें यशकी प्राप्ति तथा स्वर्गमें स्थायी कीर्ति अभीष्ट होती है ॥ २ ॥

यस्त्वं प्राणविरोधेन कीर्तिमिच्छसि शाश्वतीम्।
सा ते प्राणान् समादाय गमिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥

यदि तुम प्राणोंका विरोध (नाश) करके सनातन कीर्ति प्राप्त करना चाहते हो, तो इसमें संदेह नहीं कि वह (कीर्ति) तुम्हारे प्राणोंको लेकर ही जायगी ॥ ३ ॥

जीवतां कुरुते कार्यं पिता माता सुतास्तथा।
ये चान्ये बान्धवाः केचिल्लोकेऽस्मिन् पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥

पुरुषरत्न ! पिता, माता, पुत्र तथा और जो कोई भी भाई-बन्धु इस लोकमें हैं, वे सब जीवित पुरुषोंसे ही अपने प्रयोजनकी सिद्धि करते हैं ॥ ४ ॥

राजानश्च नरव्याघ्र पौरुषेण निबोध तत्।
कीर्तिश्च जीवतः साध्वी पुरुषस्य महाद्युते ॥ ५ ॥

महातेजस्वी नरश्रेष्ठ ! राजालोग भी जीवित रहनेपर ही पुरुषार्थसे कीर्तिलाभ करते हैं। इस बातको समझो; जीवित पुरुषके लिये ही कीर्ति अच्छी मानी गयी है ॥ ५ ॥

मृतस्य कीर्त्या किं कार्यं भस्मीभूतस्य देहिनः।
मृतः कीर्तिं न जानीते जीवन् कीर्तिं समश्नुते ॥ ६ ॥

जो मर गया, जिसका शरीर चिताकी आगमें जलकर भस्म हो गया; उसे कीर्तिसे क्या प्रयोजन है ? मरा हुआ पुरुष कीर्तिके विषयमें कुछ नहीं जानता है। जीवित पुरुष ही कीर्तिजनित सुखका अनुभव करता है ॥ ६ ॥

मृतस्य कीर्तिर्मर्त्यस्य यथा माला गतायुषः।
अहं तु त्वां ब्रवीम्येतद् भक्तोऽसीति हितेप्सया ॥ ७ ॥

मरे हुए मनुष्यकी कीर्ति मुर्देके गलेमें पड़ी हुई मालाके समान व्यर्थ है। तुम मेरे भक्त हो, इसीलिये तुम्हारे हितकी इच्छासे मैं ये सब बातें कहता हूँ ॥ ७ ॥

भक्तिमन्तो हि मे रक्ष्या इत्येतेनापि हेतुना।
भक्तोऽयं परया भक्त्या मामित्येव महाभुज।
ममापि भक्तिरुत्पन्ना स त्वं कुरु वचो मम ॥ ८ ॥

मुझे अपने भक्तोंकी रक्षा करनी ही चाहिये, इसलिये भी तुमसे तुम्हारे हितकी बात कहता हूँ। महाबाहो ! यह मेरा भक्त है, परम भक्तिभावसे मेरा भजन करता है, यह सोचकर मेरे मनमें भी तुम्हारे प्रति स्नेह जाग उठा है। अतः तुम मेरी आज्ञाका पालन करो ॥ ८ ॥

अस्ति चात्र परं किञ्चिदध्यात्मं देवनिर्मितम्।
अतश्च त्वां ब्रवीम्येतत् क्रियतामविशङ्कया ॥ ९ ॥

इस सम्बन्धमें एक देवविहित आध्यात्मिक रहस्य है। इसी कारण तुमसे कह रहा हूँ कि तुम बेखटके यही कार्य करो, जिसे मैंने तुम्हें बतलाया है ॥ ९ ॥

देवगुह्यं त्वया ज्ञातुं न शक्यं पुरुषर्षभ।
तस्मान्नाख्यामि ते गुह्यं काले वेत्स्यति तद् भवान् ॥ १० ॥

पुरुषरत्न ! देवताओंकी गुप्त बात तुम नहीं समझ सकते, इसीलिये वह गोपनीय रहस्य तुम्हें नहीं बता रहा हूँ। समय आनेपर तुम सब कुछ अपने-आप जान लोगे ॥ १० ॥

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि त्वं राधेय निबोध तत्।
मास्मै ते कुण्डले दद्या भिक्षिते वज्रपाणिना ॥ ११ ॥

राधानन्दन ! मैं फिर अपनी कही हुई बात दुहराता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो—'इन्द्रके माँगनेपर भी तुम उन्हें अपने वे कुण्डल न देना' ॥ ११ ॥

शोभसे कुण्डलाभ्यां च रुचिराभ्यां महाद्युते।
विशाखयोर्मध्यगतः शशीव विमले दिवि ॥ १२ ॥

महाद्युते ! तुम इन दोनों मनोहर कुण्डलोंसे निर्मल आकाशमें विशाखा नामक दो नक्षत्रोंके बीच प्रकाशित होनेवाले चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते हो ॥ १२ ॥

कीर्तिश्च जीवतः साध्वी पुरुषस्येति विद्धि तत्।
प्रत्याख्येयस्त्वया तात कुण्डलार्थे सुरेश्वरः ॥ १३ ॥

तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि जीवित पुरुषके लिये ही कीर्ति प्रशंसनीय है। अतः तात ! तुम्हें कुण्डलके लिये आये हुए देवराज इन्द्रको देनेसे इन्कार कर देना चाहिये ॥ १३ ॥

शक्या बहुविधैर्वाक्यैः कुण्डलेप्सा त्वयानघ।
विहन्तुं देवराजस्य हेतुयुक्तैः पुनः पुनः ॥ १४ ॥

अनघ ! तुम बारंबार युक्तियुक्त वचन कहकर अनेक प्रकारकी बातोंमें बहलाकर देवराज इन्द्रकी कुण्डल लेनेकी इच्छाको नष्ट कर सकते हो ॥ १४ ॥

हेतुमदुपपन्नार्थैर्माधुर्यकृतभूषणैः।
पुरन्दरस्य कर्ण त्वं बुद्धिमेतामपानुद ॥ १५ ॥

कर्ण ! अनेक कारण दिखाकर, नाना प्रकारकी युक्तियाँ सामने रखकर तथा माधुर्यगुणसे विभूषित वचन सुनाकर देवराज इन्द्रके इस कुण्डल लेनेके विचारको तुम पलट देना ॥ १५ ॥

त्वं हि नित्यं नरव्याघ्र स्पर्धसे सव्यसाचिना।
सव्यसाची त्वया चेह युधि शूरः समेष्यति ॥ १६ ॥

नरव्याघ्र ! तुम सदा अर्जुनसे स्पर्धा रखते हो; अतः शूरवीर अर्जुन युद्धमें कभी तुमसे अवश्य भिड़ेगा ॥ १६ ॥

न तु त्वामर्जुनः शक्तः कुण्डलाभ्यां समन्वितम्।
विजेतुं युधि यद्यस्य स्वयमिन्द्रः सखा भवेत् ॥ १७ ॥

यदि तुम इन दोनों कुण्डलोंको धारण किये रहोगे, तो अर्जुन तुम्हें युद्धमें कदापि नहीं जीत सकते; भले ही

साक्षात् इन्द्र भी उनकी सहायता करनेके लिये आ जायँ ॥ १७ ॥

तस्मान्न देये शक्राय त्वयैते कुण्डले शुभे ।
संग्रामे यदि निर्जेतुं कर्ण कामयसेऽर्जुनम् ॥ १८ ॥

अतः कर्ण ! यदि तुम समरभूमिमें अर्जुनको जीतनेकी अभिलाषा रखते हो, तो इन्द्रको ये दोनों शुभ कुण्डल कदापि न देना ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्य-कर्ण-संवादविषयक तीन सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०१ ॥

द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सूर्य-कर्ण-संवाद, सूर्यकी आज्ञाके अनुसार कर्णका इन्द्रसे शक्ति लेकर ही उन्हें कुण्डल और कवच देनेका निश्चय

कर्ण उवाच

भगवन्तमहं भक्तो यथा मां वेत्थ गोपते ।
तथा परमतिग्मांशो नास्त्यदेयं कथंचन ॥ १ ॥

कर्णने कहा—सूर्यदेव ! मैं आपका अनन्य भक्त हूँ, जैसा कि आप भी मुझे जानते हैं । प्रचण्डरश्मे ! आपके लिये किसी प्रकार कुछ भी अदेय नहीं है ॥ १ ॥

न मे दारा न मे पुत्रा न चात्मा सुहृदो न च ।
तथेष्टा वै सदा भक्त्या यथा त्वं गोपते मम ॥ २ ॥

स्त्री, पुत्र, सुहृद् और अपना शरीर भी मुझे वैसा प्रिय नहीं है, जैसे आप हैं । किरणोंके स्वामी सूर्यदेव ! सदा आप ही मेरे भक्तिभावके आश्रय हैं ॥ २ ॥

इष्टानां च महात्मानो भक्तानां च न संशयः ।
कुर्वन्ति भक्तिमिष्टां च जानीषे त्वं च भास्कर ॥ ३ ॥

प्रभाकर ! आप भी जानते ही हैं कि महात्मा पुरुष भी अपने प्रिय भक्तोंपर पूर्ण स्नेह रखते हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ ३ ॥

इष्टो भक्तश्च मे कर्णो न चान्यद् दैवतं दिवि ।
जानीत इति वै कृत्वा भगवानाह मद्धितम् ॥ ४ ॥

आपको यह मालूम है कि कर्ण मेरा प्रिय भक्त है और वह स्वर्गके दूसरे किसी भी देवताको (अपने इष्टरूपमें) नहीं जानता है, यही समझकर आप मुझे मेरे हितका उपदेश कर रहे हैं ॥ ४ ॥

भूयश्च शिरसा याचे प्रसाद्य च पुनः पुनः ।
इति ब्रवीमि तिग्मांशो त्वं तु मे क्षन्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

प्रचण्ड किरणोंवाले देव ! मैं पुनः आपके चरणोंमें मस्तक रखकर, आपको प्रसन्न करके बारंबार क्षमायाचना करता हूँ । इस समय मैं जो कुछ कहता हूँ, उसके लिये आप मुझे क्षमा करें ॥ ५ ॥

बिभेमि न तथा मृत्योर्यथा बिभ्येऽनृतादहम् ।
विशेषेण द्विजातीनां सर्वेषां सर्वदा सताम् ॥ ६ ॥
प्रदाने जीवितस्यापि न मेऽत्रास्ति विचारणा ।

मैं मृत्युसे भी उतना नहीं डरता, जितना झूठसे डरता हूँ । विशेषतः सदा समस्त सज्जन ब्राह्मणोंको उनके माँगनेपर अपने प्राण देनेमें भी मुझे कोई सोच-विचार नहीं हो सकता ॥ ६½ ॥

यच्च मामात्थ देव त्वं पाण्डवं फाल्गुनं प्रति ॥ ७ ॥
व्येतु संतापजं दुःखं तव भास्कर मानसम् ।
अर्जुनप्रतिमं चैव विजेष्यामि रणेऽर्जुनम् ॥ ८ ॥

देव ! आपने पाण्डुनन्दन अर्जुनसे जो मेरे लिये डरकी बात बतायी है, उसके लिये आपके मनमें कोई दुःख और संताप नहीं होना चाहिये । भास्कर ! मैं कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी अर्जुनको युद्धमें अवश्य जीत लूँगा ॥ ७-८ ॥

तवापि विदितं देव ममाप्यस्त्रबलं महत् ।
जामदग्न्यादुपात्तं यत् तथा द्रोणान्महात्मनः ॥ ९ ॥

देव ! मेरे पास भी अस्त्रोंका जो महान् बल है । इसे आप भी जानते हैं । मैंने जमदग्निनन्दन परशुराम तथा महात्मा द्रोणाचार्यसे अस्त्रविद्या सीखी है ॥ ९ ॥

इदं त्वमनुजानीहि सुरश्रेष्ठ व्रतं मम ।
भिक्षते वज्रिणे दद्यामपि जीवितमात्मनः ॥ १० ॥

सुरश्रेष्ठ ! यह जो मेरा दान देनेका व्रत है, उसके लिये आप भी मुझे आज्ञा दीजिये, जिससे मैं याचक बनकर आये हुए इन्द्रको अपने प्राणतक दे सकूँ ॥ १० ॥

सूर्य उवाच

यदि तात ददास्येते वज्रिणे कुण्डले शुभे ।
त्वमप्येनमथो ब्रूया विजयार्थं महाबलम् ॥ ११ ॥
नियमेन प्रदद्यां ते कुण्डले वै शतक्रतो ।

सूर्य बोले—तात ! यदि तुम इन्द्रको ये दोनों सुन्दर कुण्डल दे रहे हो, तो तुम भी उन महाबली इन्द्रसे अपनी विजयके लिये कोई अस्त्र माँग लेना और उनसे स्पष्ट कह देना कि देवराज ! मैं एक शर्तके साथ ये दोनों कुण्डल आपको दे सकता हूँ ॥ ११½ ॥

अवध्यो ह्यसि भूतानां कुण्डलाभ्यां समन्वितः ॥ १२ ॥
अर्जुनेन विनाशं हि तव दानवसूदनः।
प्रार्थयानो रणे वत्स कुण्डले ते जिहीर्षति ॥ १३ ॥

कर्ण! इन दोनों कुण्डलोंसे युक्त रहनेपर तुम सभी प्राणियोंके लिये अवध्य बने रहोगे। वत्स! दानवसूदन इन्द्र युद्धमें अर्जुनके द्वारा तुम्हारा विनाश चाहते हैं। इसीलिये वे तुम्हारे दोनों कुण्डलोंको हर लेनेकी इच्छा करते हैं ॥ १२-१३ ॥

स त्वमप्येनमाराध्य सूनृताभिः पुनः पुनः।
अभ्यर्थयेथा देवेशममोघार्थं पुरन्दरम् ॥ १४ ॥

अतः तुम भी उनकी आराधना करके बारंबार मीठे वचन बोलकर देवेश्वर इन्द्रसे किसी अमोघ अस्त्रके लिये प्रार्थना करना ॥ १४ ॥

अमोघां देहि मे शक्तिममित्रविनिबर्हिणीम्।
दास्यामि ते सहस्राक्ष कुण्डले वर्म चोत्तमम् ॥ १५ ॥

तुम उनसे कहना—'सहस्राक्ष! मैं आपको अपने शरीरका उत्तम कवच और दोनों कुण्डल दे दूँगा, परंतु आप भी मुझे अपनी वह अमोघ शक्ति प्रदान कीजिये, जो शत्रुओंका संहार करनेवाली है' ॥ १५ ॥

इत्येव नियमेन त्वं दद्याः शक्राय कुण्डले।
तया त्वं कर्ण संग्रामे हनिष्यसि रणे रिपून् ॥ १६ ॥

इसी शर्तके साथ तुम इन्द्रको अपने कुण्डल देना। कर्ण! उस शक्तिके द्वारा तुम युद्धमें अपने शत्रुओंको मार डालोगे ॥

नाहत्वा हि महाबाहो शत्रूनेति करं पुनः।
सा शक्तिर्देवराजस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १७ ॥

महाबाहो! देवराज इन्द्रकी वह शक्ति युद्धमें सैकड़ों-हजारों शत्रुओंका वध किये बिना पुनः हाथमें लौटकर नहीं आती ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सहस्रांशुः सहसान्तरधीयत।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर सूर्यदेव सहसा वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १७½ ॥

(कर्णस्तु बुबुधे राजन् स्वप्नान्ते प्रवदन्निव।
प्रतिबुद्धस्तु राधेयः स्वप्नं संचिन्त्य भारत ॥
चकार निश्चयं राजन् शक्त्यर्थं वदतां वरः।
यदि मामिन्द्र आयाति कुण्डलार्थं परंतपः ॥
शक्त्या तस्मै प्रदास्यामि कुण्डले वर्म चैव ह।
स कृत्वा प्रातरुत्थाय कार्याणि भरतर्षभ ॥
ब्राह्मणान् वाचयित्वाथ यथाकार्यमुपाक्रमत्।
विधिना राजशार्दूल मुहूर्तमजपत् ततः ॥)

राजन्! स्वप्नके अन्तमें कुछ बोलता हुआ-सा कर्ण जाग उठा। भारत! जगनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ राधानन्दन कर्णने स्वप्नका चिन्तन करके शक्तिके लिये इस प्रकार निश्चय किया, 'यदि शत्रुओंको संताप देनेवाले इन्द्र कुण्डलके लिये मेरे पास आ रहे हैं तो मैं शक्ति लेकर ही उन्हें कुण्डल और कवच दूँगा।' भरतश्रेष्ठ! ऐसा निश्चय करके कर्ण प्रातःकाल उठा और आवश्यक कार्य करके ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर यथासमय संध्योपासन आदि कार्य करने लगा। नृपश्रेष्ठ! फिर उसने विधिपूर्वक दो घड़ीतक जप किया ॥

ततः सूर्याय जप्यान्ते कर्णः स्वप्नं न्यवेदयत् ॥ १८ ॥
यथादृष्टं यथातत्त्वं यथोक्तमुभयोर्निशि।
तत् सर्वमानुपूर्व्येण शशंसास्मै वृषस्तदा ॥ १९ ॥

तदनन्तर जपके अन्तमें कर्णने भगवान् सूर्यसे स्वप्नका वृत्तान्त निवेदन किया। उसने जो कुछ देखा था तथा रातमें उन दोनोंमें जैसी बातें हुई थीं, उन सबको कर्णने क्रमशः उनसे ठीक-ठीक कह सुनाया ॥ १८-१९ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् देवो भानुः स्वर्भानुसूदनः।
उवाच तं तथेत्येव कर्णं सूर्यः स्मयन्निव ॥ २० ॥

राहुका संहार करनेवाले भगवान् सूर्यदेवने यह सब सुनकर कर्णसे मुसकराते हुए-से कहा—'तुमने जो कुछ देखा है, वह सब ठीक है' ॥ २० ॥

ततस्तत्त्वमिति ज्ञात्वा राधेयः परवीरहा।
शक्तिमेवाभिकाङ्क्षन् वै वासवं प्रत्यपालयत् ॥ २१ ॥

तब शत्रुओंका संहार करनेवाला राधानन्दन कर्ण उस स्वप्नकी घटनाको यथार्थ जानकर शक्ति प्राप्त करनेकी ही अभिलाषा ले इन्द्रकी प्रतीक्षा करने लगा ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्य-कर्ण-संवादविषयक तीन सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तिभोजके यहाँ ब्रह्मर्षि दुर्वासाका आगमन तथा राजाका उनकी सेवाके लिये पृथाको आवश्यक उपदेश देना

जनमेजय उवाच

किं तद् गुह्यं न चाख्यातं कर्णायेहोष्णरश्मिना ।
कीदृशे कुण्डले ते च कवचं चैव कीदृशम् ॥ १ ॥
कुतश्च कवचं तस्य कुण्डले चैव सत्तम ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—सज्जनशिरोमणे ! कौन-सी ऐसी गोपनीय बात थी, जिसे भगवान् सूर्यने कर्णपर प्रकट नहीं किया । उसके वे दोनों कुण्डल और कवच कैसे थे ? तपोधन ! कर्णको कुण्डल और कवच कहाँसे प्राप्त हुए थे ? मैं यह सुनना चाहता हूँ; आप कृपापूर्वक मुझे बताइये ॥

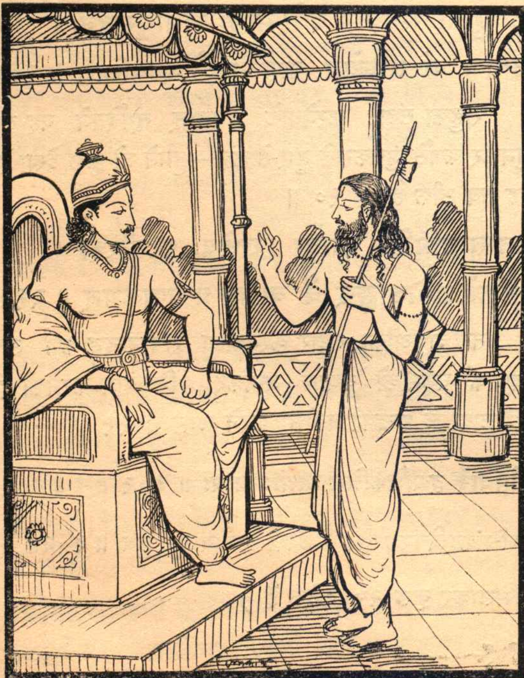
वैशम्पायन उवाच

अयं राजन् ब्रवीम्येतत् तस्य गुह्यं विभावसोः ।
यादृशे कुण्डले ते च कवचं चैव यादृशम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! सूर्यदेवकी दृष्टिमें जो गोपनीय रहस्य था, उसे बताता हूँ । इसके साथ कर्णके कुण्डल और कवच कैसे थे ? यह भी बता रहा हूँ ॥ ३ ॥

कुन्तिभोजं पुरा राजन् ब्राह्मणः पर्युपस्थितः ।
तिग्मतेजा महाप्रांशुः श्मश्रुदण्डजटाधरः ॥ ४ ॥

राजन् ! प्राचीनकालकी बात है, राजा कुन्तिभोजके दरबारमें अत्यन्त ऊँचे कदके एक प्रचण्ड तेजस्वी ब्राह्मण



उपस्थित हुए । उन्होंने दाढ़ी, मूँछ, दण्ड और जटा धारण कर रक्खी थी ॥ ४ ॥

दर्शनीयोऽनवद्याङ्गस्तेजसा प्रज्वलन्निव ।
मधुपिङ्गो मधुरवाक् तपःस्वाध्यायभूषणः ॥ ५ ॥

उनका स्वरूप देखने ही योग्य था । उनके सभी अङ्ग निर्दोष थे । वे तेजसे प्रज्वलित होते-से जान पड़ते थे । उनके शरीरकी कान्ति मधुके समान पिङ्गल वर्णकी थी । वे मधुर वचन बोलनेवाले तथा तपस्या और स्वाध्यायरूप सद्गुणोंसे विभूषित थे ॥ ५ ॥

स राजानं कुन्तिभोजमब्रवीत् सुमहातपाः ।
भिक्षामिच्छामि वै भोक्तुं तव गेहे विमत्सर ॥ ६ ॥

उन महातपस्वीने राजा कुन्तिभोजसे कहा—'किसीसे ईर्ष्या न करनेवाले नरेश ! मैं तुम्हारे घरमें भिक्षान्न भोजन करना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

न मे व्यलीकं कर्तव्यं त्वया वा तव चानुगैः ।
एवं वत्स्यामि ते गेहे यदि ते रोचतेऽनघ ॥ ७ ॥

'परंतु एक शर्त है, तुम या तुम्हारे सेवक कभी मेरे मनके प्रतिकूल आचरण न करें । अनघ ! यदि तुम्हें मेरी यह शर्त ठीक जान पड़े, तो उस दशामें मैं तुम्हारे घरमें निवास करूँगा ॥ ७ ॥

यथाकामं च गच्छेयमागच्छेयं तथैव च ।
शय्यासने च मे राजन् नापराध्येत कश्चन ॥ ८ ॥

'मैं अपनी इच्छाके अनुसार जब चाहूँगा, चला जाऊँगा और जब जीमें आयेगा, चला आऊँगा । राजन् ! मेरी शय्या और आसनपर बैठना अपराध होगा । अतः यह अपराध कोई न करे' ॥

तमब्रवीत् कुन्तिभोजः प्रीतियुक्तमिदं वचः ।
एवमस्तु परं चेति पुनश्चैनमथाब्रवीत् ॥ ९ ॥

तब राजा कुन्तिभोजने बड़ी प्रसन्नताके साथ उत्तर दिया—'विप्रवर ! 'एवमस्तु'—जैसा आप चाहते हैं, वैसा ही होगा,' इतना कहकर वे फिर बोले—॥ ९ ॥

मम कन्या महाप्राज्ञ पृथा नाम यशस्विनी ।
शीलवृत्तान्विता साध्वी नियता चैव भाविनी ॥ १० ॥

'महाप्राज्ञ ! मेरे पृथा नामकी एक यशस्विनी कन्या है, जो शील और सदाचारसे सम्पन्न, साध्वी, संयम-नियमसे रहनेवाली और विचारशील है ॥ १० ॥

उपस्थास्यति सा त्वां वै पूजयानवमन्य च।
तस्याश्च शीलवृत्तेन तुष्टिं समुपयास्यसि ॥ ११ ॥

'वह सदा आपकी सेवा-पूजाके लिये उपस्थित रहेगी। उसके द्वारा आपका अपमान कभी न होगा। मेरा विश्वास है कि उसके शील और सदाचारसे आप संतुष्ट होंगे' ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा तु तं विप्रमभिपूज्य यथाविधि।
उवाच कन्यामभ्येत्य पृथां पृथुललोचनाम् ॥ १२ ॥

ऐसा कहकर उन ब्राह्मणदेवताकी विधिपूर्वक पूजा करके राजाने अपनी विशाल नेत्रोंवाली कन्या पृथाके पास जाकर कहा—॥ १२ ॥

अयं वत्से महाभागो ब्राह्मणो वस्तुमिच्छति।
मम गेहे मया चास्य तथेत्येवं प्रतिश्रुतम् ॥ १३ ॥

'वत्से! ये महाभाग ब्राह्मण मेरे घरमें निवास करना चाहते हैं। मैंने 'तथास्तु' कहकर इन्हें अपने यहाँ ठहरानेकी प्रतिज्ञा कर ली है ॥ १३ ॥

त्वयि वत्से पराश्वस्य ब्राह्मणस्याभिराधनम्।
तन्मे वाक्यममिथ्या त्वं कर्तुमर्हसि कर्हिचित् ॥ १४ ॥

'बेटी! तुमपर भरोसा करके ही मैंने इन तेजस्वी ब्राह्मणकी आराधना स्वीकार की है; अतः तुम मेरी बात कभी मिथ्या न होने दोगी, ऐसी आशा है ॥ १४ ॥

अयं तपस्वी भगवान् स्वाध्यायनियतो द्विजः।
यद् यद् ब्रूयान्महातेजास्तत्तद् देयममत्सरात् ॥ १५ ॥

'ये विप्रवर महातेजस्वी, तपस्वी, ऐश्वर्यशाली तथा नियमपूर्वक वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न रहनेवाले हैं। ये जिस-जिस वस्तुके लिये कहें, वह सब इन्हें ईर्ष्यारहित हो श्रद्धाके साथ देना ॥

ब्राह्मणो हि परं तेजो ब्राह्मणो हि परं तपः।
ब्राह्मणानां नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते ॥ १६ ॥

'क्योंकि ब्राह्मण ही उत्कृष्ट तेज है, ब्राह्मण ही परम तप है, ब्राह्मणोंके नमस्कारसे ही सूर्यदेव आकाशमें प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १६ ॥

अमानयन् हि मानार्हान् वातापिश्च महासुरः।
निहतो ब्रह्मदण्डेन तालजङ्घस्तथैव च ॥ १७ ॥

'माननीय ब्राह्मणोंका सम्मान न करनेके कारण ही महान् असुर वातापि और उसी प्रकार तालजङ्घ ब्रह्मदण्डसे मारे गये ॥ १७ ॥

सोऽयं वत्से महाभार आहितस्त्वयि साम्प्रतम्।
त्वं सदा नियता कुर्या ब्राह्मणस्याभिराधनम् ॥ १८ ॥

'अतः बेटी! इस समय सेवाका यह महान् भार मैंने तुम्हारे ऊपर रक्खा है। तुम सदा नियमपूर्वक इन ब्राह्मणदेवताकी आराधना करती रहो ॥ १८ ॥

जानामि प्रणिधानं ते बाल्यात् प्रभृति नन्दिनि।
ब्राह्मणेष्विह सर्वेषु गुरुबन्धुषु चैव ह ॥ १९ ॥
तथा प्रेष्येषु सर्वेषु मित्रसम्बन्धिमातृषु।
मयि चैव यथावत् त्वं सर्वमावृत्य वर्तसे ॥ २० ॥

'माता-पिताका आनन्द बढ़ानेवाली पुत्री! मैं जानता हूँ, बचपनसे ही तुम्हारा चित्त एकाग्र है। समस्त ब्राह्मणों, गुरुजनों, बन्धु-बान्धवों, सेवकों, मित्रों, सम्बन्धियों तथा माताओंके प्रति और मेरे प्रति भी तुम सदा यथोचित बर्ताव करती आयी हो। तुमने अपने सद्भावसे सबको प्रभावित कर लिया है ॥ १९-२० ॥

न ह्यतुष्टो जनोऽस्तीह पुरे चान्तःपुरे च ते।
सम्यग्वृत्त्यानवद्याङ्गि तव भृत्यजनेष्वपि ॥ २१ ॥

'निर्दोष अङ्गोंवाली पुत्री! नगरमें या अन्तःपुरमें, सेवकोंमें भी कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो तुम्हारे उत्तम बर्तावसे संतुष्ट न हो ॥ २१ ॥

संदेष्टव्यां तु मन्ये त्वां द्विजातिं कोपनं प्रति।
पृथे बालेति कृत्वा वै सुता चासि ममेति च ॥ २२ ॥

'तथापि पृथे! तुम अभी बालिका और मेरी पुत्री हो, इसलिये इन क्रोधी ब्राह्मणके प्रति बर्ताव करनेके विषयमें तुम्हें कुछ उपदेश देनेकी आवश्यकताका अनुभव मैं करता हूँ ॥

वृष्णीनां च कुले जाता शूरस्य दयिता सुता।
दत्ता प्रीतिमता मह्यं पित्रा बाला पुरा स्वयम् ॥ २३ ॥

'वृष्णिवंशमें तुम्हारा जन्म हुआ है। तुम शूरसेनकी प्यारी पुत्री हो। पूर्वकालमें स्वयं तुम्हारे पिताने बाल्यावस्थामें ही बड़ी प्रसन्नताके साथ तुम्हें मेरे हाथों सौंपा था ॥ २३ ॥

वसुदेवस्य भगिनी सुतानां प्रवरा मम।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय तेनासि दुहिता मम ॥ २४ ॥

तुम वसुदेवकी बहिन तथा मेरी संतानोंमें सबसे बड़ी हो। पहले उन्होंने यह प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि मैं अपनी पहली संतान तुम्हें दे दूँगा। उसीके अनुसार उन्होंने तुम्हें मेरी गोदमें अर्पित किया है, इस कारण तुम मेरी दत्तक पुत्री हो ॥ २४ ॥

तादृशे हि कुले जाता कुले चैव विवर्धिता।
सुखात् सुखमनुप्राप्ता ह्रदाद्ध्रदमिवागता ॥ २५ ॥

'वैसे उत्तम कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ तथा मेरे श्रेष्ठ कुलमें तुम पालित और पोषित होकर बड़ी हुई। जैसे जलकी धारा एक सरोवरसे निकलकर दूसरे सरोवरमें गिरती है, उसी प्रकार तुम एक सुखमय स्थानसे दूसरे सुखमय स्थानमें आयी हो ॥ २५ ॥

दौष्कुलेया विशेषेण कथंचित् प्रग्रहं गताः।
बालभावाद् विकुर्वन्ति प्रायशः प्रमदाः शुभे ॥ २६ ॥

'शुभे ! जो दूषित कुलमें उत्पन्न होनेवाली स्त्रियाँ हैं, वे किसी तरह विशेष आग्रहमें पड़कर अपने अविवेकके कारण प्रायः बिगड़ जाती हैं (परंतु तुमसे ऐसी आशङ्का नहीं है) ॥ २६ ॥

पृथे राजकुले जन्म रूपं चापि तवाद्भुतम् ।
तेन तेनासि सम्पन्ना समुपेता च भाविनी ॥ २७ ॥

'पृथे ! तुम्हारा जन्म राजकुलमें हुआ है । तुम्हारा रूप भी अद्भुत है । कुल और स्वरूपके अनुसार ही तुम उत्तम शील, सदाचार और सद्गुणोंसे संयुक्त एवं सम्पन्न हो । साथ ही विचारशील भी हो ॥ २७ ॥

सा त्वं दर्पं परित्यज्य दम्भं मानं च भाविनि ।
आराध्य वरदं विप्रं श्रेयसा योक्ष्यसे पृथे ॥ २८ ॥

'सुन्दर भाववाली पृथे ! तुम दर्प, दम्भ और मानको त्यागकर यदि इन वरदायक ब्राह्मणकी आराधना करोगी, तो परम कल्याणकी भागिनी होओगी ॥ २८ ॥

एवं प्राप्स्यसि कल्याणि कल्याणमनघे ध्रुवम् ।
कोपिते च द्विजश्रेष्ठे कृत्स्नं दह्येत मे कुलम् ॥ २९ ॥

'कल्याणि ! तुम पापरहित हो । यदि इस प्रकार इनकी सेवा करनेमें सफल हो गयीं, तो तुम्हें निश्चय ही कल्याणकी प्राप्ति होगी और यदि तुमने अपने अनुचित बर्तावसे इन श्रेष्ठ ब्राह्मणको कुपित कर दिया, तो मेरा सम्पूर्ण कुल जलकर भस्म हो जायगा' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथोपदेशे त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें पृथाको उपदेशविषयक तीन सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०३ ॥

चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तीका पितासे वार्तालाप और ब्राह्मणकी परिचर्या

कुन्त्युवाच

ब्राह्मणं यन्त्रिता राजन्नुपस्थास्यामि पूजया ।
यथाप्रतिज्ञं राजेन्द्र न च मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ १ ॥

कुन्ती बोली—राजन् ! मैं नियमोंमें आबद्ध रहकर आपकी प्रतिज्ञाके अनुसार निरन्तर इन तपस्वी ब्राह्मणकी सेवा-पूजाके लिये उपस्थित रहूँगी । राजेन्द्र ! मैं झूठ नहीं बोलती हूँ ॥ १ ॥

एष चैव स्वभावो मे पूजयेयं द्विजानिति ।
तव चैव प्रियं कार्यं श्रेयश्च परमं मम ॥ २ ॥

यह मेरा स्वभाव ही है कि मैं ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजा करूँ और आपका प्रिय करना तो मेरे लिये परम कल्याणकी बात है ही ॥ २ ॥

यद्येवैष्यति सायाह्ने यदि प्रातरथो निशि ।
यद्यर्धरात्रे भगवान् न मे कोपं करिष्यति ॥ ३ ॥

ये पूजनीय ब्राह्मण यदि सायंकाल आवें, प्रातःकाल पधारें अथवा रात या आधीरातमें भी दर्शन दें, ये कभी भी मेरे मनमें क्रोध उत्पन्न नहीं कर सकेंगे—मैं हर समय इनकी समुचित सेवाके लिये प्रस्तुत रहूँगी ॥ ३ ॥

लाभो ममैष राजेन्द्र यद् वै पूजयती द्विजान् ।
आदेशे तव तिष्ठन्ती हितं कुर्यां नरोत्तम ॥ ४ ॥

राजेन्द्र ! नरश्रेष्ठ ! मेरे लिये महान् लाभकी बात यही है कि मैं आपकी आज्ञाके अधीन रहकर ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजा करती हुई सदैव आपका हित-साधन करूँ ॥ ४ ॥

विस्रब्धो भव राजेन्द्र न व्यलीकं द्विजोत्तमः ।
वसन् प्राप्स्यति ते गेहे सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ५ ॥

महाराज ! विश्वास कीजिये । आपके भवनमें निवास करते हुए ये द्विजश्रेष्ठ कभी अपने मनके प्रतिकूल कोई कार्य नहीं देख पायेंगे । यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ ॥ ५ ॥

यत् प्रियं च द्विजस्यास्य हितं चैव तवानघ ।
यतिष्यामि तथा राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ६ ॥

निष्पाप नरेश ! आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये । मैं वही कार्य करनेका प्रयत्न करूँगी, जो इन तपस्वी ब्राह्मणको प्रिय और आपके लिये हितकर हो ॥ ६ ॥

ब्राह्मणा हि महाभागाः पूजिताः पृथिवीपते ।
तारणाय समर्थाः स्युर्विपरीते वधाय च ॥ ७ ॥

क्योंकि पृथ्वीपते ! महाभाग ब्राह्मण भलीभाँति पूजित होनेपर सेवकको तारनेमें समर्थ होते हैं और इसके विपरीत अपमानित होनेपर विनाशकारी बन जाते हैं ॥ ७ ॥

साहमेतद् विजानन्ती तोषयिष्ये द्विजोत्तमम् ।
न मत्कृते व्यथां राजन् प्राप्स्यसि द्विजसत्तमात् ॥ ८ ॥

मैं इस बातको जानती हूँ । अतः इन श्रेष्ठ ब्राह्मणको सब तरहसे संतुष्ट रक्खूँगी । राजन् ! मेरे कारण इन द्विजश्रेष्ठसे आपको कोई कष्ट नहीं प्राप्त होगा ॥ ८ ॥

अपराधेऽपि राजेन्द्र राज्ञामश्रेयसे द्विजाः ।
भवन्ति च्यवनो यद्वत् सुकन्यायाः कृते पुरा ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! किसी बालिकाद्वारा अपराध बन जानेपर

भी ब्राह्मणलोग राजाओंका अमङ्गल करनेको उद्यत हो जाते हैं, जैसे प्राचीनकालमें सुकन्याद्वारा अपराध होनेपर महर्षि च्यवन महाराज शर्यातिका अनिष्ट करनेको उद्यत हो गये थे ॥ ९ ॥

नियमेन परेणाहमुपस्थास्ये द्विजोत्तमम्।
यथा त्वया नरेन्द्रेदं भाषितं ब्राह्मणं प्रति ॥१०॥

नरेन्द्र ! आपने ब्राह्मणके प्रति बर्ताव करनेके विषयमें जो कुछ कहा है, उसके अनुसार मैं उत्तम नियमोंके पालनपूर्वक इन श्रेष्ठ ब्राह्मणकी सेवामें उपस्थित रहूँगी ॥ १० ॥

एवं ब्रुवन्तीं बहुशः परिष्वज्य समर्थ्य च।
इति चेति च कर्तव्यं राजा सर्वमथादिशत् ॥११॥

इस प्रकार कहती हुई कुन्तीको बारंबार गलेसे लगाकर राजाने उसकी बातोंका समर्थन किया और कैसे-कैसे क्या-क्या करना चाहिये, इसके विषयमें उसे सुनिश्चित आदेश दिया ॥ ११ ॥

राजोवाच

एवमेतत् त्वया भद्रे कर्तव्यमविशङ्कया।
मद्धितार्थं तथाऽऽत्मार्थं कुलार्थं चाप्यनिन्दिते॥१२॥

राजा बोले—भद्रे ! अनिन्दिते ! मेरे, तुम्हारे तथा कुलके हितके लिये तुम्हें निःशङ्कभावसे इसी प्रकार यह सब कार्य करना चाहिये ॥ १२ ॥

एवमुक्त्वा तु तां कन्यां कुन्तिभोजो महायशाः।
पृथां परिददौ तस्मै द्विजाय द्विजवत्सलः ॥१३॥

ब्राह्मणप्रेमी महायशस्वी राजा कुन्तिभोजने पुत्रीसे ऐसा कहकर उन आये हुए द्विजकी सेवामें पृथाको दे दिया ॥१३॥

इयं ब्रह्मन् मम सुता बाला सुखविवर्धिता।
अपराध्येत यत् किंचिन्न कार्यं हृदि तत् त्वया ॥१४॥

और कहा—'ब्रह्मन् ! यह मेरी पुत्री पृथा अभी बालिका है और सुखमें पली हुई है। यदि आपका कोई अपराध कर बैठे, तो भी आप उसे मनमें नहीं लाइयेगा ॥ १४ ॥

द्विजातयो महाभागा वृद्धबालतपस्विषु।
भवन्त्यक्रोधनाः प्रायो ह्यपराद्धेषु नित्यदा ॥ १५॥

'वृद्ध, बालक और तपस्वीजन यदि कोई अपराध कर दें, तो भी आप-जैसे महाभाग ब्राह्मण प्रायः कभी उनपर क्रोध नहीं करते ॥ १५ ॥

सुमहत्यपराधेऽपि क्षान्तिः कार्या द्विजातिभिः।
यथाशक्ति यथोत्साहं पूजा ग्राह्या द्विजोत्तम ॥ १६॥

'विप्रवर ! सेवकका महान् अपराध होनेपर भी ब्राह्मणोंको क्षमा करनी चाहिये तथा शक्ति और उत्साहके अनुसार उनके द्वारा की हुई सेवा-पूजा स्वीकार कर लेनी चाहिये' ॥

तथेति ब्राह्मणेनोक्तः स राजा प्रीतमानसः।
हंसचन्द्रांशुसंकाशं गृहमस्मै न्यवेदयत् ॥ १७॥

ब्राह्मणने 'तथास्तु' कहकर राजाका अनुरोध मान लिया। इससे उनके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने ब्राह्मणको रहनेके लिये हंस और चन्द्रमाकी किरणोंके समान एक उज्ज्वल भवन दे दिया ॥ १७ ॥

तत्राग्निशरणे क्लृप्तमासनं तस्य भानुमत्।
आहारादि च सर्वं तत् तथैव प्रत्यवेदयत् ॥ १८॥

वहाँ अग्निहोत्रगृहमें उनके लिये चमचमाते हुए सुन्दर आसनकी व्यवस्था हो गयी। भोजन आदिकी सब सामग्री भी राजाने वहीं प्रस्तुत कर दी ॥ १८ ॥

निक्षिप्य राजपुत्री तु तन्द्रीं मानं तथैव च।
आतस्थे परमं यत्नं ब्राह्मणस्याभिराधने ॥ १९॥

राजकुमारी कुन्ती आलस्य और अभिमानको दूर भगाकर ब्राह्मणकी आराधनामें बड़े यत्नसे संलग्न हो गयी।१९।

तत्र सा ब्राह्मणं गत्वा पृथा शौचपरा सती।
विधिवत् परिचाराहं देववत् पर्यतोषयत् ॥ २०॥

बाहर-भीतरसे शुद्ध हो सती-साध्वी पृथा उन पूजनीय ब्राह्मणके पास जाकर देवताकी भाँति उनकी विधिवत् आराधना करके उन्हें पूर्णरूपसे संतुष्ट रखने लगी ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथाद्विजपरिचर्यायां चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें कुन्तीके द्वारा ब्राह्मणकी परिचर्याविषयक तीन सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०४ ॥

पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तीकी सेवासे संतुष्ट होकर तपस्वी ब्राह्मणका उसको मन्त्रका उपदेश देना

वैशम्पायन उवाच

सा तु कन्या महाराज ब्राह्मणं संशितव्रतम्।
तोषयामास शुद्धेन मनसा संशितव्रता ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! इस प्रकार वह कन्या पृथा कठोर व्रतका पालन करती हुई शुद्ध हृदयसे उन उत्तम व्रतधारी ब्राह्मणको अपनी सेवाओंद्वारा संतुष्ट रखने लगी ॥ १ ॥

प्रातरेष्याम्यथेत्युक्त्वा कदाचिद् द्विजसत्तमः।
तत आयाति राजेन्द्र सायं रात्रावथो पुनः॥ २॥

राजेन्द्र! वे श्रेष्ठ ब्राह्मण कभी यह कहकर कि 'मैं प्रातःकाल लौट आऊँगा' चल देते और सायंकाल अथवा बहुत रात बीतनेपर पुनः वापस आते थे॥ २॥

तं च सर्वासु वेलासु भक्ष्यभोज्यप्रतिश्रयैः।
पूजयामास सा कन्या वर्धमानैस्तु सर्वदा॥ ३॥

परंतु वह कन्या प्रतिदिन हर समय पहलेकी अपेक्षा अधिक-अधिक परिणाममें भक्ष्य-भोज्य आदि सामग्री तथा शय्या-आसन आदि प्रस्तुत करके उनका सेवा-सत्कार किया करती थी॥ ३॥

अन्नादिसमुदाचारः शय्यासनकृतस्तथा।
दिवसे दिवसे तस्य वर्धते न तु हीयते॥ ४॥

नित्यप्रति अन्न आदिके द्वारा उन ब्राह्मणका सत्कार अन्य दिनोंकी अपेक्षा बढ़कर ही होता था। उनके लिये शय्या और आसन आदिकी सुविधा भी पहलेकी अपेक्षा अधिक ही दी जाती थी। किसी बातमें तनिक भी कमी नहीं की जाती थी॥ ४॥

निर्भर्त्सनापवादैश्च तथैवाप्रियया गिरा।
ब्राह्मणस्य पृथा राजन् न चकाराप्रियं तदा॥ ५॥

राजन्! वे ब्राह्मण कभी धिक्कारते, कभी बात-बातमें दोषारोपण करते और प्रायः कटु वचन भी बोला करते थे, तो भी पृथा उनके प्रति कभी कोई अप्रिय बर्ताव नहीं करती थी॥ ५॥

व्यस्ते काले पुनश्चैति न चैति बहुशो द्विजः।
सुदुर्लभमपि ह्यन्नं दीयतामिति सोऽब्रवीत्॥ ६॥

वे कभी ऐसे समयमें लौटकर आते थे, जब कि पृथाको दूसरे कामोंसे दम लेनेकी भी फुरसत नहीं होती थी और कभी वे कई दिनोंतक आते ही नहीं थे। आनेपर भी ऐसा भोजन माँग लेते, जो अत्यन्त दुर्लभ होता॥ ६॥

कृतमेव च तत् सर्वं यथा तस्मै न्यवेदयत्।
शिष्यवत् पुत्रवच्चैव स्वसृवच्च सुसंयता॥ ७॥

परंतु कुन्ती उन्हें उनकी माँगी हुई सब वस्तुएँ इस प्रकार प्रस्तुत कर देती थी, मानो उनको पहलेसे ही तैयार करके रक्खा हो। वह अत्यन्त संयत होकर शिष्य, पुत्र तथा छोटी बहिनकी भाँति सदा उनकी सेवामें लगी रहती थी॥

यथोपजोषं राजेन्द्र द्विजातिप्रवरस्य सा।
प्रीतिमुत्पादयामास कन्यारत्नमनिन्दिता॥ ८॥

राजेन्द्र! उस अनिन्द्य कन्यारत्न कुन्तीने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणको उनकी रुचिके अनुसार सेवा करके अत्यन्त प्रसन्न कर लिया॥ ८॥

तस्यास्तु शीलवृत्तेन तुतोष द्विजसत्तमः।
अवधानेन भूयोऽस्याः परं यत्नमथाकरोत्॥ ९॥

उसके शील, सदाचार तथा सावधानीसे उन द्विजश्रेष्ठको बड़ा संतोष हुआ। उन्होंने कुन्तीका हित करनेका पूरा प्रयत्न किया॥ ९॥

तां प्रभाते च सायं च पिता पप्रच्छ भारत।
अपि तुष्यति ते पुत्रि ब्राह्मणः परिचर्यया॥ १०॥

जनमेजय! पिता कुन्तिभोज प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकालमें पूछते थे—'बेटी! तुम्हारी सेवासे ब्राह्मणको संतोष तो है न?'॥ १०॥

तं सा परममित्येव प्रत्युवाच यशस्विनी।
ततः प्रीतिमवापाग्र्यां कुन्तिभोजो महामनाः॥ ११॥

वह यशस्विनी कन्या उन्हें उत्तर देती—'हाँ पिताजी! वे बहुत प्रसन्न हैं।' यह सुनकर महामना कुन्तिभोजको बड़ा हर्ष प्राप्त होता था॥ ११॥

ततः संवत्सरे पूर्णे यदासौ जपतां वरः।
नापश्यद् दुष्कृतं किंचित् पृथायाः सौहृदे रतः॥ १२॥
ततः प्रीतमना भूत्वा स एनां ब्राह्मणोऽब्रवीत्।
प्रीतोऽस्मि परमं भद्रे परिचारेण ते शुभे॥ १३॥
वरान् वृणीष्व कल्याणि दुरापान् मानुषैरिह।
यैस्त्वं सीमन्तिनीः सर्वा यशसाभिभविष्यसि॥ १४॥

तदनन्तर जब एक वर्ष पूरा हो गया और पृथाके प्रति वात्सल्य स्नेह रखनेवाले जपकर्ताओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण दुर्वासाजीने उसकी सेवामें कोई त्रुटि नहीं देखी, तब वे प्रसन्नचित्त होकर पृथासे इस प्रकार बोले—'भद्रे! मैं तुम्हारी सेवासे बहुत प्रसन्न हूँ। शुभे! कल्याणि! तुम मुझसे ऐसे वर माँगो, जो यहाँ दूसरे मनुष्योंके लिये दुर्लभ हों और जिनके कारण तुम संसारकी समस्त सुन्दरियोंको अपने सुयशसे पराजित कर सको'॥ १२–१४॥

कुन्त्युवाच

कृतानि मम सर्वाणि यस्या मे वेदवित्तम।
त्वं प्रसन्नः पिता चैव कृतं विप्र वरैर्मम॥ १५॥

कुन्ती बोली—वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ! जब मुझ सेविकाके ऊपर आप और पिताजी प्रसन्न हो गये, तब मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गयीं। विप्रवर! मुझे वर लेनेकी आवश्यकता नहीं है॥ १५॥

ब्राह्मण उवाच

यदि नेच्छसि मत्तस्त्वं वरं भद्रे शुचिस्मिते ।
इमं मन्त्रं गृहाण त्वमाह्वानाय दिवौकसाम् ॥ १६ ॥

ब्राह्मणने कहा—भद्रे ! पवित्र मुसकानवाली पृथे ! यदि तुम मुझसे वर नहीं लेना चाहती हो, तो देवताओंका आवाहन करनेके लिये यह एक मन्त्र ही ग्रहण कर लो ॥

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि ।
तेन तेन वशे भद्रे स्थातव्यं ते भविष्यति ॥ १७ ॥

भद्रे ! तुम इस मन्त्रके द्वारा जिस-जिस देवताका आवाहन करोगी, वह-वह तुम्हारे अधीन हो जानेके लिये बाध्य होगा ॥ १७ ॥

अकामो वा सकामो वा स समेष्यति ते वशे ।
विबुधो मन्त्रसंशान्तो भवेद् भृत्य इवानतः ॥ १८ ॥

वह देवता कामनारहित हो या कामनायुक्त, मन्त्रके प्रभावसे शान्तचित्त हो वह विनीत सेवककी भाँति तुम्हारे पास आकर तुम्हारे अधीन हो जायगा ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

न शशाक द्वितीयं सा प्रत्याख्यातुमनिन्दिता ।
तं वै द्विजातिप्रवरं तदा शापभयान्नृप ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! साध्वी पृथा दूसरी बार उन श्रेष्ठ ब्राह्मणकी बात न टाल सकी; क्योंकि वैसा करनेपर उसे उनके शापका भय था ॥ १९ ॥

ततस्तामनवद्याङ्गीं ग्राहयामास स द्विजः ।
मन्त्रग्रामं तदा राजन्नथर्वशिरसि श्रुतम् ॥ २० ॥

राजन् ! तब ब्राह्मणने निर्दोष अङ्गोंवाली कुन्तीको उस मन्त्रसमूहका उपदेश दिया, जो अथर्ववेदीय उपनिषद्में प्रसिद्ध है ॥ २० ॥

तं प्रदाय तु राजेन्द्र कुन्तिभोजमुवाच ह ।
उषितोऽस्मि सुखं राजन् कन्यया परितोषितः ॥ २१ ॥
तव गेहेषु विहितः सदा सुप्रतिपूजितः ।
साधयिष्यामहे तावदित्युक्त्वान्तरधीयत ॥ २२ ॥

राजेन्द्र ! पृथाको वह मन्त्र देकर ब्राह्मणने राजा कुन्तिभोजसे कहा—'राजन् ! मैं तुम्हारे घरमें तुम्हारी कन्याद्वारा सदा समादृत और संतुष्ट होकर बड़े सुखसे रहा हूँ । अब हम अपनी कार्यसिद्धिके लिये यहाँसे जायँगे ।' ऐसा कहकर वे ब्राह्मण वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २१-२२ ॥

स तु राजा द्विजं दृष्ट्वा तत्रैवान्तर्हितं तदा ।
बभूव विस्मयाविष्टः पृथां च समपूजयत् ॥ २३ ॥

ब्राह्मणको अन्तर्हित हुआ देख उस समय राजाको बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने अपनी पुत्री कुन्तीका विशेष आदर-सत्कार किया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथाया मन्त्रप्राप्तौ पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें पृथाको मन्त्रकी प्राप्तिविषयक तीन सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०५ ॥

षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तीके द्वारा सूर्यदेवताका आवाहन तथा कुन्ती-सूर्य-संवाद

वैशम्पायन उवाच

गते तस्मिन् द्विजश्रेष्ठे कस्मिंश्चित् कारणान्तरे ।
चिन्तयामास सा कन्या मन्त्रग्रामबलाबलम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन श्रेष्ठ ब्राह्मणके चले जानेपर किसी कारणवश * राजकन्या कुन्तीने मन-ही-मन सोचा; 'इस मन्त्रसमूहमें कोई बल है या नहीं ॥

अयं वै कीदृशस्तेन मम दत्तो महात्मना ।
मन्त्रग्रामो बलं तस्य ज्ञास्ये नातिचिरादिति ॥ २ ॥

'उन महात्मा ब्राह्मणने मुझे यह कैसा मन्त्रसमूह प्रदान किया है ? उसके बलको मैं शीघ्र ही (परीक्षाद्वारा) जानूँगी' ॥

एवं संचिन्तयन्ती सा ददर्शर्तुं यदृच्छया ।
व्रीडिता साभवद् बाला कन्याभावे रजस्वला ॥ ३ ॥

इस प्रकार सोच-विचारमें पड़ी हुई कुन्तीने अकस्मात् अपने शरीरमें ऋतुका प्रादुर्भाव हुआ देखा । कन्यावस्थामें ही अपनेको रजस्वला पाकर उस बालिकाने लज्जाका अनुभव किया॥

ततो हर्म्यतलस्था सा महार्हशयनोचिता ।
प्राच्यां दिशि समुद्यन्तं ददर्शादित्यमण्डलम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर एक दिन कुन्ती अपने महलके भीतर एक बहुमूल्य पलंगपर लेटी हुई थी । उसी समय उसने (खिड़कीसे) पूर्वदिशामें उदित होते हुए सूर्यमण्डलकी ओर दृष्टिपात किया ॥ ४ ॥

तत्र बद्धमनोदृष्टिरभवत् सा सुमध्यमा ।
न चातप्यत रूपेण भानोः संध्यागतस्य सा ॥ ५ ॥

प्रातःसंध्याके समय उगते हुए सूर्यकी ओर देखनेमें सुमध्यमा कुन्तीको तनिक भी तापका अनुभव नहीं हुआ । उसके मन और नेत्र उन्हींमें आसक्त हो गये ॥ ५ ॥

तस्या दृष्टिरभूद् दिव्या सापश्यद् दिव्यदर्शनम् ।
आमुक्तकवचं देवं कुण्डलाभ्यां विभूषितम् ॥ ६ ॥

उस समय उसकी दृष्टि दिव्य हो गयी । उसने दिव्यरूपमें

---

* इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें सूर्यदेवने उस कारणका स्पष्टीकरण किया है ।

दिखायी देनेवाले भगवान् सूर्यकी ओर देखा। वे कवच धारण किये एवं कुण्डलोंसे विभूषित थे ॥ ६ ॥

तस्याः कौतूहलं त्वासीन्मन्त्रं प्रति नराधिप।
आह्वानमकरोत् साथ तस्य देवस्य भाविनी ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! उन्हें देखकर कुन्तीके मनमें अपने मन्त्रकी शक्तिकी परीक्षा करनेके लिये कौतूहल पैदा हुआ। तब उस सुन्दरी राजकन्याने सूर्यदेवका आवाहन किया ॥ ७ ॥

प्राणानुपस्पृश्य तदा ह्याजुहाव दिवाकरम्।
आजगाम ततो राजंस्त्वरमाणो दिवाकरः ॥ ८ ॥

उसने विधिपूर्वक आचमन और प्राणायाम करके भगवान् दिवाकरका आवाहन किया। राजन् ! तब भगवान् सूर्य बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आये ॥ ८ ॥

मधुपिङ्गो महाबाहुः कम्बुग्रीवो हसन्निव।
अङ्गदी बद्धमुकुटो दिशः प्रज्वालयन्निव ॥ ९ ॥

उनकी अङ्गकान्ति मधुके समान पिङ्गलवर्णकी थी। भुजाएँ बड़ी-बड़ी और ग्रीवा शङ्खके समान थी। वे हँसते हुए-से जान पड़ते थे। उनकी भुजाओंमें अङ्गद (बाजूबंद) चमक रहे थे और मस्तकपर बँधा हुआ मुकुट शोभा पाता था। वे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रज्वलित-सी कर रहे थे ॥ ९ ॥

योगात् कृत्वा द्विधाऽऽत्मानमाजगाम तताप च।
आबभाषे ततः कुन्तीं साम्ना परमवल्गुना ॥ १० ॥

वे योगशक्तिसे अपने दो स्वरूप बनाकर एकसे वहाँ आये और दूसरेसे आकाशमें तपते रहे। उन्होंने कुन्तीको समझाते हुए परम मधुर वाणीमें कहा— ॥ १० ॥

आगतोऽस्मि वशं भद्रे तव मन्त्रबलात्कृतः।
किं करोमि वशो राज्ञि ब्रूहि कर्ता तदस्मि ते ॥ ११ ॥

'भद्रे ! मैं तुम्हारे मन्त्रके बलसे आकृष्ट होकर तुम्हारे वशमें आ गया हूँ। राजकुमारी ! बताओ, तुम्हारे अधीन रहकर मैं कौन-सा कार्य करूँ ? तुम जो कहोगी, वही करूँगा' ॥ ११ ॥

कुन्त्युवाच

गम्यतां भगवंस्तत्र यत एवागतो ह्यसि।
कौतूहलात् समाहूतः प्रसीद भगवन्निति ॥ १२ ॥

कुन्ती बोली—भगवन् ! आप जहाँसे आये हैं, वहीं पधारिये। मैंने आपको कौतूहलवश ही बुलाया था। प्रभो ! प्रसन्न होइये ॥ १२ ॥

सूर्य उवाच

गमिष्येऽहं यथा मां त्वं ब्रवीषि तनुमध्यमे।
न तु देवं समाहूय न्याय्यं प्रेषयितुं वृथा ॥ १३ ॥

सूर्यने कहा—तनुमध्यमे ! जैसा तुम कह रही हो, उसके अनुसार मैं चला तो जाऊँगा ही; परंतु किसी देवताको बुलाकर उसे व्यर्थ लौटा देना न्यायकी बात नहीं है ॥ १३ ॥

तवाभिसंधिः सुभगे सूर्यात् पुत्रो भवेदिति।
वीर्येणाप्रतिमो लोके कवची कुण्डलीति च ॥ १४ ॥

सुभगे ! तुम्हारे मनमें यह संकल्प उठा था कि 'सूर्यदेवसे मुझे एक ऐसा पुत्र प्राप्त हो, जो संसारमें अनुपम पराक्रमी तथा जन्मसे ही दिव्य कवच एवं कुण्डलोंसे सुशोभित हो' ॥

सा त्वमात्मप्रदानं वै कुरुष्व गजगामिनि।
उत्पत्स्यति हि पुत्रस्ते यथासंकल्पमङ्गने ॥ १५ ॥

अतः गजगामिनि ! तुम मुझे अपना शरीर समर्पित कर दो। अङ्गने ! ऐसा करनेसे तुम्हें अपने संकल्पके अनुसार तेजस्वी पुत्र प्राप्त होगा ॥ १५ ॥

अथ गच्छाम्यहं भद्रे त्वया संगम्य सुस्मिते।
यदि त्वं वचनं नाद्य करिष्यसि मम प्रियम् ॥ १६ ॥
शपिष्ये त्वामहं क्रुद्धो ब्राह्मणं पितरं च ते।
त्वत्कृते तान् प्रधक्ष्यामि सर्वानपि न संशयः ॥ १७ ॥

भद्रे ! सुन्दर मुसकानवाली पृथे ! तुमसे समागम करके मैं पुनः लौट जाऊँगा; परंतु यदि आज तुम मेरा प्रिय वचन नहीं मानोगी, तो मैं कुपित होकर तुमको, उस मन्त्रदाता ब्राह्मणको और तुम्हारे पिताको भी शाप दे दूँगा। तुम्हारे कारण मैं उन सबको जलाकर भस्म कर दूँगा; इसमें संशय नहीं है ॥ १६-१७ ॥

पितरं चैव ते मूढं यो न वेत्ति तवानयम्।
तस्य च ब्राह्मणस्याद्य योऽसौ मन्त्रमदात् तव ॥ १८ ॥
शीलवृत्तमविज्ञाय धास्यामि विनयं परम्।

तुम्हारे मूर्ख पिताको भी मैं जला दूँगा, जो तुम्हारे इस अन्यायको नहीं जानता है तथा जिसने तुम्हारे शील और सदाचारको जाने बिना ही मन्त्रका उपदेश दिया है, उस ब्राह्मणको भी अच्छी सीख दूँगा ॥ १८½ ॥

एते हि विबुधाः सर्वे पुरन्दरमुखा दिवि ॥ १९ ॥
त्वया प्रलब्धं पश्यन्ति स्मयन्त इव भाविनि।
पश्य चैनान् सुरगणान् दिव्यं चक्षुरिदं हि ते।
पूर्वमेव मया दत्तं दृष्टवत्यसि येन माम् ॥ २० ॥

भामिनि ! ये इन्द्र आदि समस्त देवता आकाशमें खड़े होकर मुसकराते हुए-से मेरी ओर इस भावसे देख रहे हैं कि मैं तुम्हारेद्वारा कैसा ठगा गया ? देखो न, इन देवताओंकी ओर। मैंने तुम्हें पहलेसे ही दिव्य दृष्टि दे दी है, जिससे तुम मुझे देख सकी हो ॥ १९-२० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽपश्यत् त्रिदशान् राजपुत्री
सर्वानेव स्वेषु धिष्ण्येषु खस्थान्।
प्रभावन्तं भानुमन्तं महान्तं
यथाऽऽदित्यं रोचमानांस्तथैव ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजकुमारी कुन्तीने आकाशमें अपने-अपने विमानोंपर बैठे हुए

सब देवताओंको देखा। जैसे सहस्रों किरणोंसे युक्त भगवान् सूर्य अत्यन्त दीप्तिमान् दिखायी देते हैं, उसी प्रकार वे सब देवता प्रकाशित हो रहे थे ॥ २१ ॥

सा तान् दृष्ट्वा व्रीडमानेव बाला
सूर्यं देवी वचनं प्राह भीता।
गच्छ त्वं वै गोपते स्वं विमानं
कन्याभावाद् दुःख एवापचारः ॥ २२ ॥

उन्हें देखकर बालिका कुन्तीको बड़ी लज्जा हुई। उस देवीने भयभीत होकर सूर्यदेवसे कहा—'किरणोंके स्वामी दिवाकर! आप अपने विमानपर चले जाइये। छोटी बालिका होनेके कारण मेरेद्वारा आपको बुलानेका यह दुःखदायक अपराध बन गया है ॥ २२ ॥

पिता माता गुरवश्चैव येऽन्ये
देहस्यास्य प्रभवन्ति प्रदाने।
नाहं धर्मं लोपयिष्यामि लोके
स्त्रीणां वृत्तं पूज्यते देहरक्षा ॥ २३ ॥

'मेरे पिता-माता तथा अन्य गुरुजन ही मेरे इस शरीरको देनेका अधिकार रखते हैं। मैं अपने धर्मका लोप नहीं करूँगी। स्त्रियोंके सदाचारमें अपने शरीरकी पवित्रताको बनाये रखना ही प्रधान है और संसारमें उसीकी प्रशंसा की जाती है ॥ २३ ॥

मया मन्त्रबलं ज्ञातुमाहूतस्त्वं विभावसो।
बाल्याद् बालेति तत् कृत्वा क्षन्तुमर्हसि मे विभो॥ २४ ॥

'प्रभो! प्रभाकर! मैंने अपने बाल-स्वभावके कारण मन्त्रका बल जाननेके लिये हीआपका आवाहन किया है। एक अनजान बालिका समझकर आप मेरे इस अपराधको क्षमा कर दें' ॥

सूर्य उवाच

बालेति कृत्वानुनयं तवाहं
ददानि नान्यानुनयं लभेत।
आत्मप्रदानं कुरु कुन्तिकन्ये
शान्तिस्तवैवं हि भवेच्च भीरु ॥ २५ ॥

सूर्यदेवने कहा—कुन्तिभोजकुमारी कुन्ती! बालिका समझकर ही मैं तुमसे इतनी अनुनय-विनय करता हूँ। दूसरी कोई स्त्री मुझसे अनुनयका अवसर नहीं पा सकती। भीरु! तुम मुझे अपना शरीर अर्पण करो। ऐसा करनेसे ही तुम्हें शान्ति प्राप्त हो सकती है ॥ २५ ॥

न चापि गन्तुं युक्तं हि मया मिथ्याकृतेन वै।
असमेत्य त्वया भीरु मन्त्राहूतेन भाविनि ॥ २६ ॥
गमिष्याम्यनवद्याङ्गि लोके समवहास्यताम्।
सर्वेषां विबुधानां च वक्तव्यः स्यां तथा शुभे ॥ २७ ॥

निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी! तुमने मन्त्रद्वारा मेरा आवाहन किया है; इस दशामें उस आवाहनको व्यर्थ करके तुमसे मिले बिना ही लौट जाना मेरे लिये उचित न होगा। भीरु! यदि मैं इसी तरह लौटूँगा, तो जगत्‌में मेरा उपहास होगा। शुभे! सम्पूर्ण देवताओंकी दृष्टिमें भी मुझे निन्दनीय बनना पड़ेगा ॥ २६-२७ ॥

सा त्वं मया समागच्छ लप्स्यसे मादृशं सुतम्।
विशिष्टा सर्वलोकेषु भविष्यसि न संशयः ॥ २८ ॥

अतः तुम मेरे साथ समागम करो। तुम मेरे ही समान पुत्र पाओगी और समस्त संसारमें (अन्य स्त्रियोंसे) विशिष्ट समझी जाओगी; इसमें संशय नहीं है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्याह्वाने षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्यका आवाहनविषयक तीन सौ छःवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०६ ॥

सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सूर्यद्वारा कुन्तीके उदरमें गर्भस्थापन

वैशम्पायन उवाच

सा तु कन्या बहुविधं ब्रुवन्ती मधुरं वचः।
अनुनेतुं सहस्रांशुं न शशाक मनस्विनी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार राजकन्या मनस्विनी कुन्ती नाना प्रकारसे मधुर वचन कहकर अनुनय-विनय करनेपर भी भगवान् सूर्यको मनानेमें सफल न हो सकी ॥ १ ॥

न शशाक यदा बाला प्रत्याख्यातुं तमोनुदम्।
भीता शापात् ततो राजन् दध्यौ दीर्घमथान्तरम्॥ २ ॥

राजन्! जब वह बाला अन्धकारनाशक भगवान् सूर्यदेवको टाल न सकी, तब शापसे भयभीत हो दीर्घकालतक मन-ही-मन कुछ सोचने लगी ॥ २ ॥

अनागसः पितुः शापो ब्राह्मणस्य तथैव च।
मन्निमित्तः कथं न स्यात् क्रुद्धादस्माद् विभावसोः ॥३॥

उसने सोचा कि 'क्या उपाय करूँ? जिससे मेरे कारण मेरे निरपराध पिता तथा निर्दोष ब्राह्मणको क्रोधमें भरे हुए इन सूर्यदेवसे शाप न प्राप्त हो ॥ ३ ॥

बालेनापि सता मोहाद् भृशं पापकृतान्यपि।
नाभ्यासादयितव्यानि तेजांसि च तपांसि च ॥ ४ ॥

'सज्जन बालकको भी चाहिये कि वह अत्यन्त मोहके कारण पापशून्य, तेजस्वी तथा तपस्वी पुरुषोंके अत्यन्त निकट न जाय॥

साहमद्य भृशं भीता गृहीता च करे भृशम्।
कथं त्वकार्यं कुर्यां वै प्रदानं ह्यात्मनः स्वयम्॥ ५॥

'परंतु मैं तो आज अत्यन्त भयभीत हो भगवान् सूर्यदेवके हाथमें पड़ गयी हूँ, तो भी स्वयं अपने शरीरको देने-जैसा न करनेयोग्य नीच कर्म कैसे करूँ ?' ॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

सा वै शापपरित्रस्ता बहु चिन्तयती हृदा।
मोहेनाभिपरीताङ्गी स्मयमाना पुनः पुनः॥ ६॥
तं देवमब्रवीद् भीता बन्धूनां राजसत्तम।
व्रीडाविह्वलया वाचा शापत्रस्ता विशाम्पते॥ ७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! कुन्ती शापसे अत्यन्त डरकर मन-ही-मन तरह-तरहकी बातें सोच रही थी। उसके सारे अङ्ग मोहसे व्याप्त हो रहे थे। वह बार-बार आश्चर्यचकित हो रही थी। एक ओर तो वह शापसे आतङ्कित थी, दूसरी ओर उसे भाई-बन्धुओंका भय लगा हुआ था। भूपाल ! उस दशामें वह लज्जाके कारण विशृङ्खल वाणीद्वारा सूर्यदेवसे इस प्रकार बोली ॥ ६-७॥

कुन्त्युवाच

पिता मे ध्रियते देव माता चान्ये च बान्धवाः।
न तेषु ध्रियमाणेषु विधिलोपो भवेदयम्॥ ८॥

कुन्तीने कहा—देव ! मेरे पिता, माता तथा अन्य बान्धव जीवित हैं। उन सबके जीते-जी स्वयं आत्मदान करनेपर कहीं शास्त्रीय विधिका लोप न हो जाय ? ॥ ८॥

त्वया तु संगमो देव यदि स्याद् विधिवर्जितः।
मन्निमित्तं कुलस्यास्य लोके कीर्तिर्नशेत् ततः॥ ९॥

भगवन् ! यदि आपके साथ मेरा वेदोक्त विधिके विपरीत समागम हो, तो मेरे ही कारण जगत्में इस कुलकी कीर्ति नष्ट हो जायगी ॥ ९॥

अथवा धर्ममेतं त्वं मन्यसे तपतां वर।
ऋते प्रदानाद् बन्धुभ्यस्तव कामं करोम्यहम्॥ १०॥

अथवा तपनेवालोंमें श्रेष्ठ दिवाकर ! यदि बन्धुजनोंके दिये बिना ही मेरे साथ अपने समागमको आप धर्मयुक्त समझते हों, तो मैं आपकी इच्छा पूर्ण कर सकती हूँ ॥ १०॥

आत्मप्रदानं दुर्धर्ष तव कृत्वा सती त्वहम्।
त्वयि धर्मो यशश्चैव कीर्तिरायुश्च देहिनाम्॥ ११॥

दुर्धर्ष देव ! क्या मैं आपको आत्मदान करके भी सती-साध्वी रह सकती हूँ ? आपमें ही देहधारियोंके धर्म, यश, कीर्ति तथा आयु प्रतिष्ठित हैं ॥ ११॥

सूर्य उवाच

न ते पिता न ते माता गुरवो वा शुचिस्मिते।
प्रभवन्ति वरारोहे भद्रं ते शृणु मे वचः॥ १२॥

भगवान् सूर्यने कहा—शुचिस्मिते ! वरारोहे ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी बात सुनो। तुम्हारे पिता, माता अथवा अन्य गुरुजन तुम्हें (इस कामसे रोकनेमें) समर्थ नहीं हैं ॥ १२॥

सर्वान् कामयते यस्मात् कनेर्धातोश्च भाविनि।
तस्मात् कन्येह सुश्रोणि स्वतन्त्रा वरवर्णिनि॥ १३॥

सुन्दर भाववाली कुन्ती ! 'कम्' धातुसे कन्या शब्दकी सिद्धि होती है। सुन्दरी ! वह (स्वयंवरमें आये हुए) सब वरोंमेंसे किसीको भी स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी कामनाका विषय बना सकती है; इसीलिये इस जगत्में उसे कन्या कहा गया है ॥

नाधर्मश्चरितः कश्चित् त्वया भवति भाविनि।
अधर्मं कुत एवाहं चरेयं लोककाम्यया॥ १४॥

कुन्ती ! मेरे साथ समागम करनेसे तुम्हारेद्वारा कोई अधर्म नहीं बन रहा है। भला ! मैं लौकिक कामवासनाके वशीभूत होकर अधर्मका वरण कैसे कर सकता हूँ ? ॥१४॥

अनावृताः स्त्रियः सर्वा नराश्च वरवर्णिनि।
स्वभाव एष लोकानां विकारोऽन्य इति स्मृतः॥ १५॥

वरवर्णिनि ! मेरे लिये सभी स्त्रियाँ और पुरुष आवरण-रहित हैं; क्योंकि मैं सबका साक्षी हूँ। जो अन्य सब विकार है, यह तो प्राकृत मनुष्योंका स्वभाव माना गया है ॥१५॥

सा मया सह संगम्य पुनः कन्या भविष्यसि।
पुत्रश्च ते महाबाहुर्भविष्यति महायशाः॥ १६॥

तुम मेरे साथ समागम करके पुनः कन्या ही बनी रहोगी और तुम्हें महाबाहु एवं महायशस्वी पुत्र प्राप्त होगा ॥

कुन्त्युवाच

यदि पुत्रो मम भवेत् त्वत्तः सर्वतमोनुद।
कुण्डली कवची शूरो महाबाहुर्महाबलः॥ १७॥

कुन्ती बोली—समस्त अन्धकारको दूर करनेवाले सूर्यदेव ! यदि आपसे मुझे पुत्र प्राप्त हो, तो वह महाबाहु, महाबली तथा कुण्डल और कवचसे विभूषित शूरवीर हो ॥

सूर्य उवाच

भविष्यति महाबाहुः कुण्डली दिव्यवर्मभृत्।
उभयं चामृतमयं तस्य भद्रे भविष्यति॥ १८॥

सूर्यने कहा—भद्रे ! तुम्हारा पुत्र महाबाहु, कुण्डल-धारी तथा दिव्य कवच धारण करनेवाला होगा। उसके कुण्डल और कवच दोनों अमृतमय होंगे ॥ १८॥

कुन्त्यु [illegible]च

यद्येतदमृतादस्ति कुण्डले वर्म चोत्तमम्।
मम पुत्रस्य यं वै त्वं मत्त उत्पादयिष्यसि॥ १९॥
अस्तु मे सङ्गमो देव यथोक्तं भगवंस्त्वया।
त्वद्वीर्यरूपसत्त्वौजा धर्मयुक्तो भवेत् स च॥ २०॥

कुन्ती बोली—प्रभो ! आप मेरे गर्भसे जिसको जन्म देंगे, उस मेरे पुत्रके कुण्डल और कवच यदि अमृतसे उत्पन्न हुए होंगे; तो भगवन् ! आपने जैसा कहा है, उसी रूपमें मेरा आपके साथ समागम हो । आपका वह पुत्र आपके ही समान वीर्य, रूप, धैर्य, ओज तथा धर्मसे युक्त होना चाहिये ॥

सूर्य उवाच

अदित्या कुण्डले राज्ञि दत्ते मे मत्तकाशिनि ।
तेऽस्य दास्यामि वै भीरु वर्म चैवेदमुत्तमम् ॥ २१ ॥

सूर्यदेवने कहा—यौवनके मदसे सुशोभित होनेवाली भीरु राजकुमारी ! माता अदितिने मुझे जो कुण्डल दिये हैं, उन्हें मैं तुम्हारे इस पुत्रको दे दूँगा । साथ ही यह उत्तम कवच भी उसे अर्पित करूँगा ॥ २१ ॥

कुन्त्युवाच

परमं भगवन्नेवं संगमिष्ये त्वया सह ।
यदि पुत्रो भवेदेवं यथा वदसि गोपते ॥ २२ ॥

कुन्ती बोली—भगवन् ! गोपते ! जैसा आप कहते हैं, वैसा ही पुत्र यदि मुझे प्राप्त हो, तो मैं आपके साथ उत्तम रीतिसे समागम करूँगी ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्त्वा तु तां कुन्तीमाविवेश विहङ्गमः ।
स्वर्भानुशत्रुर्योगात्मा नाभ्यां पस्पर्श चैव ताम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर आकाशचारी राहुशत्रु भगवान् सूर्यने योगरूपसे कुन्तीके शरीरमें प्रवेश किया और उसकी नाभिको छू दिया ॥

ततः सा विह्वलेवासीत् कन्या सूर्यस्य तेजसा ।
पपात चाथ सा देवी शयने मूढचेतना ॥ २४ ॥

तब वह राजकन्या सूर्यके तेजसे विह्वल और अचेत-सी होकर शय्यापर गिर पड़ी ॥ २४ ॥

सूर्य उवाच

साधयिष्यामि सुश्रोणि पुत्रं वै जनयिष्यसि ।
सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं कन्या चैव भविष्यसि ॥ २५ ॥

सूर्यने कहा—सुन्दरी ! मैं ऐसी चेष्टा करूँगा, जिससे तुम समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पुत्रको जन्म दोगी और कन्या ही बनी रहोगी ॥ २५ ॥

ततः सा व्रीडिता बाला तदा सूर्यमथाब्रवीत् ।
एवमस्त्विति राजेन्द्र प्रस्थितं भूरिवर्चसम् ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! तब संगमके लिये उद्यत हुए महातेजस्वी सूर्यदेवकी ओर देखकर लजित हुई उस राजकन्याने उनसे कहा—'प्रभो ! ऐसा ही हो' ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति स्मोक्ता कुन्तिराजात्मजा सा
विवस्वन्तं याचमाना सलज्जा ।
तस्मिन् पुण्ये शयनीये पपात
मोहाविष्टा भज्यमाना लतेव ॥ २७ ॥

ऐसा कहकर कुन्तिनरेशकी कन्या पृथा भगवान् सूर्यसे पुत्रके लिये प्रार्थना करती हुई अत्यन्त लज्जा और मोहके वशीभूत होकर कटी हुई लताकी भाँति उस पवित्र शय्यापर गिर पड़ी ॥

तिग्मांशुस्तां तेजसा मोहयित्वा
योगेनाविश्यात्मसंस्थां चकार ।
न चैवैनां दूषयामास भानुः
संज्ञां लेभे भूय एवाथ बाला ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् सूर्यदेवने उसे अपने तेजसे मोहित कर दिया और योगशक्तिके द्वारा उसके भीतर प्रवेश करके अपना तेजोमय वीर्य स्थापित कर दिया । उन्होंने कुन्तीको दूषित नहीं किया—उसका कन्याभाव अछूता ही रहा । तदनन्तर वह राजकन्या फिर सचेत हो गयी ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकुन्तीसमागमे सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्यकुन्ती-समागमविषयक तीन सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०७ ॥

अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कर्णका जन्म, कुन्तीका उसे पिटारीमें रखकर जलमें बहा देना और विलाप करना

वैशम्पायन उवाच

ततो गर्भः समभवत् पृथायाः पृथिवीपते ।
शुक्ले दशोत्तरे पक्षे तारापतिरिवाम्बरे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार आकाशमें जैसे चन्द्रमाका उदय होता है, उसी प्रकार ग्यारहवें मास-* के शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको कुन्तीके उदरमें भगवान् सूर्यके द्वारा गर्भ स्थापित हुआ ॥ १ ॥

* यहाँ मूल पाठमें मासका निर्देश करनेके लिये 'दशोत्तरे' यह पद आया है, जिसका अर्थ है ग्यारहवें महीनेमें । यह ग्यारहवाँ महीना कौन-सा है ? इस विषयमें दो प्रकारके मत उपलब्ध होते हैं । एक मतके अनुसार यहाँ 'माघ' मास ग्रहण किया जाना चाहिये; कारण कि वर्षका आरम्भ चैत्रसे होता है, अतः इस क्रमसे गणना करनेपर 'माघ' ही ग्यारहवाँ मास निश्चित होता है । दूसरे मतवालोंका कहना यह है कि पहले मार्गशीर्ष माससे वर्षकी गणना होती थी । इसीलिये वह 'अग्रहायण' (वर्षका प्रथम मास) कहा जाता है । 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' इस वचनसे भी यही सूचित होता है । इस क्रमसे गणना करनेपर 'आश्विन मास' ग्यारहवाँ सिद्ध होता है ।

सा बान्धवभयाद् बाला गर्भं तं विनिगूहती ।
धारयामास सुश्रोणी न चैनां बुबुधे जनः ॥ २ ॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली कुन्ती भाई-बन्धुओंके भयसे उस गर्भको छिपाती हुई धारण करने लगी । अतः कोई भी मनुष्य नहीं जान सका कि यह गर्भवती है ॥ २ ॥

न हि तां वेद नार्यन्या काचिद् धात्रेयिकामृते ।
कन्यापुरगतां बालां निपुणां परिरक्षणे ॥ ३ ॥

एक धायके सिवा दूसरी कोई स्त्री भी इसका पता न पा सकी । कुन्ती सदा कन्याओंके अन्तःपुरमें रहती थी एवं अपने रहस्यको छिपानेमें वह अत्यन्त निपुण थी ॥ ३ ॥

ततः कालेन सा गर्भं सुषुवे वरवर्णिनी ।
कन्यैव तस्य देवस्य प्रसादादमरप्रभम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर सुन्दरी पृथाने यथासमय भगवान् सूर्यके कृपाप्रसादसे स्वयं कन्या ही बनी रहकर देवताओंके समान तेजस्वी एक पुत्रको जन्म दिया ॥ ४ ॥

तथैवाबद्धकवचं कनकोज्ज्वलकुण्डलम् ।
हर्यक्षं वृषभस्कन्धं यथास्य पितरं तथा ॥ ५ ॥

उसने अपने पिताके ही समान शरीरपर कवच बाँध रक्खा था और उसके कानोंमें सोनेके बने हुए दो दिव्य कुण्डल जगमगा रहे थे । उस बालककी आँखें सिंहके समान और कंधे वृषभ-जैसे थे ॥ ५ ॥

जातमात्रं च तं गर्भं धात्र्या सम्मन्त्र्य भाविनी ।
मञ्जूषायां समाधाय स्वास्तीर्णायां समन्ततः ॥ ६ ॥
मधूच्छिष्टस्थितायां सा सुखायां रुदती तथा ।
श्लक्ष्णायां सुपिधानायामश्वनद्यामवासृजत् ॥ ७ ॥

उस बालकके पैदा होते ही भामिनी कुन्तीने धायसे सलाह लेकर एक पिटारी मँगवायी और उसमें सब ओर सुन्दर मुलायम बिछौने बिछा दिये । इसके बाद उस पिटारीमें चारों ओर मोम चुपड़ दिया, जिससे उसके भीतर जल न प्रवेश कर सके । जब वह सब तरहसे चिकनी और सुखद हो गयी, तब उसके भीतर उस बालकको सुला दिया और उसका सुन्दर ढक्कन बंद कर दिया तथा रोते-रोते उस पिटारीको अश्वनदीमें छोड़ दिया* ॥ ६-७ ॥

जानती चाप्यकर्तव्यं कन्याया गर्भधारणम् ।
पुत्रस्नेहेन सा राजन् करुणं पर्यदेवयत् ॥ ८ ॥

राजन् ! यद्यपि वह यह जानती थी कि किसी कन्याके लिये गर्भधारण करना सर्वथा निषिद्ध और अनुचित है, तथापि पुत्रस्नेह उमड़ आनेसे कुन्ती वहाँ करुणाजनक विलाप करने लगी ॥ ८ ॥

समुत्सृजन्ती मञ्जूषामश्वनद्यां तदा जले ।
उवाच रुदती कुन्ती यानि वाक्यानि तच्छृणु ॥ ९ ॥

उस समय अश्वनदीके जलमें उस पिटारीको छोड़ते समय रोती हुई कुन्तीने जो बातें कहीं, उन्हें बताता हूँ; सुनो ॥

स्वस्ति ते त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च पुत्रक ।
दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यस्तथा तोयचराश्च ये ॥ १० ॥

वह बोली—'मेरे बच्चे ! जलचर, थलचर, आकाशचारी तथा दिव्य प्राणी तेरा मङ्गल करें ॥ १० ॥

शिवास्ते सन्तु पन्थानो मा च ते परिपन्थिनः ।
आगताश्च तथा पुत्र भवन्त्वद्रोहचेतसः ॥ ११ ॥

'तेरा मार्ग मङ्गलमय हो । बेटा ! तेरे पास शत्रु न आयें । जो आ जायँ, उनके मनमें तेरे प्रति द्रोहकी भावना न रहे ॥ ११ ॥

पातु त्वां वरुणो राजा सलिले सलिलेश्वरः ।
अन्तरिक्षेऽन्तरिक्षस्थः पवनः सर्वगस्तथा ॥ १२ ॥

'जलमें उसके स्वामी राजा वरुण तेरी रक्षा करें । अन्तरिक्षमें वहाँ रहनेवाले सर्वगामी वायुदेव तेरी रक्षा करें ॥

पिता त्वां पातु सर्वत्र तपनस्तपतां वरः ।
येन दत्तोऽसि मे पुत्र दिव्येन विधिना किल ॥ १३ ॥

'पुत्र ! जिन्होंने दिव्य रीतिसे तुझे मेरे गर्भमें स्थापित किया है वे तपनेवालोंमें श्रेष्ठ तेरे पिता भगवान् सूर्य सर्वत्र तेरा पालन करें ॥ १३ ॥

आदित्या वसवो रुद्राः साध्या विश्वे च देवताः ।
मरुतश्च सहेन्द्रेण दिशश्च सदिगीश्वराः ॥ १४ ॥
रक्षन्तु त्वां सुराः सर्वे समेषु विषमेषु च ।
वेत्स्यामि त्वां विदेशेऽपि कवचेनाभिसूचितम् ॥ १५ ॥

'आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, विश्वेदेव, इन्द्रसहित मरुद्गण, दिक्पालोंसहित दिशाएँ तथा समस्त देवता सभी सम-विषम स्थानोंमें तेरी रक्षा करें । यदि विदेशमें भी तू जीवित रहेगा, तो मैं इन कवच-कुण्डल आदि चिह्नोंसे उपलक्षित होनेपर तुझे पहचान लूँगी ॥ १४-१५ ॥

धन्यस्ते पुत्र जनको देवो भानुर्विभावसुः ।
यस्त्वां द्रक्ष्यति दिव्येन चक्षुषा वाहिनीगतम् ॥ १६ ॥

'बेटा ! तेरे पिता भगवान् भुवनभास्कर धन्य हैं, जो अपनी दिव्य दृष्टिसे नदीकी धारामें स्थित हुए तुझको देखेंगे ॥ १६ ॥

धन्या सा प्रमदा या त्वां पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ।
यस्यास्त्वं तृषितः पुत्र स्तनं पास्यसि देवज ॥ १७ ॥

'देवपुत्र ! वह रमणी धन्य है, जो तुझे अपना पुत्र बनाकर पालेगी और तू भूख-प्यास लगनेपर जिसके स्तनोंका दूध पियेगा ॥ १७ ॥

को नु स्वप्नस्तया दृष्टो या त्वामादित्यवर्चसम् ।
दिव्यवर्मसमायुक्तं दिव्यकुण्डलभूषितम् ॥ १८ ॥

---

* इस प्रकार पिटारीमें बंद करके बहा देनेपर भी वह बालक इसलिये नहीं मरा कि वह अमृतसे उत्पन्न कवच और कुण्डल धारण किये हुए था । देखिये इसी अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक ।

पद्मायतविशालाक्षं पद्मताम्रदलोज्ज्वलम् ।
सुललाटं सुकेशान्तं पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ॥ १९ ॥

'उस भाग्यशालिनी नारीने कौन-सा ऐसा शुभ स्वप्न देखा होगा, जो सूर्यके समान तेजस्वी, दिव्य कवचसे संयुक्त, दिव्य कुण्डलभूषित, कमलदलके समान विशाल नेत्रवाले, लाल कमलदलके सदृश गौर कान्तिवाले, सुन्दर ललाट और मनोहर केशसमूहसे विभूषित तुझ-जैसे दिव्य बालकको अपना पुत्र बनायेगी ॥ १८-१९ ॥

धन्या द्रक्ष्यन्ति पुत्र त्वां भूमौ संसर्पमाणकम्।
अव्यक्तकलवाक्यानि वदन्तं रेणुगुण्ठितम् ॥ २० ॥

'वत्स ! जब तू धरतीपर पेटके बल सरकता फिरेगा और समझमें न आनेवाली मधुर तोतली बोली बोलेगा, उस समय तेरे धूलिधूसरित अङ्गोंको जो लोग देखेंगे, वे धन्य हैं ॥ २० ॥

धन्या द्रक्ष्यन्ति पुत्र त्वां पुनर्यौवनगोचरम् ।
हिमवद्वनसम्भूतं सिंहं केसरिणं यथा ॥ २१ ॥

'पुत्र ! हिमालयके जंगलमें उत्पन्न हुए केसरी सिंहके समान तुझे जवानीमें जो लोग देखेंगे, वे धन्य हैं' ॥

एवं बहुविधं राजन् विलप्य करुणं पृथा ।
अवासृजत मञ्जूषामश्वनद्यास्तदा जले ॥ २२ ॥

राजन् ! इस तरह बहुत-सी बातें कहकर करुण-विलाप करती हुई कुन्तीने उस समय अश्वनदीके जलमें वह पिटारी छोड़ दी ॥ २२ ॥

रुदती पुत्रशोकार्ता निशीथे कमलेक्षणा ।
धात्र्या सह पृथा राजन् पुत्रदर्शनलालसा ॥ २३ ॥

जनमेजय ! आधी रातके समय कमलनयनी कुन्ती पुत्रशोकसे आतुर हो उसके दर्शनकी लालसासे धात्रीके साथ नदीके तटपर देरतक रोती रही ॥ २३ ॥

विसर्जयित्वा मञ्जूषां सम्बोधनभयात् पितुः ।
विवेश राजभवनं पुनः शोकातुरा ततः ॥ २४ ॥

पेटीको पानीमें बहाकर, कहीं पिताजी जग न जायँ, इस भयसे वह शोकसे आतुर हो पुनः राजभवनमें चली गयी ॥ २४ ॥

मञ्जूषा त्वश्वनद्याः सा ययौ चर्मण्वतीं नदीम्।
चर्मण्वत्याश्च यमुनां ततो गङ्गां जगाम ह ॥ २५ ॥

वह पिटारी अश्वनदीसे चर्मण्वती (चम्बल) नदीमें गयी। चर्मण्वतीसे यमुनामें और वहाँसे गङ्गामें जा पहुँची ॥ २५ ॥

गङ्गायाः सूतविषयं चम्पामनुययौ पुरीम् ।
स मञ्जूषागतो गर्भस्तरङ्गैरुह्यमानकः ॥ २६ ॥

पिटारीमें सोया हुआ वह बालक गङ्गाकी लहरोंसे बहाया जाता हुआ चम्पापुरीके पास सूतराज्यमें जा पहुँचा ॥

अमृतादुत्थितं दिव्यं तनुवर्म सकुण्डलम् ।
धारयामास तं गर्भं दैवं च विधिनिर्मितम् ॥ २७ ॥

उसके शरीरका दिव्य कवच और कानोंके कुण्डल—ये अमृतसे प्रकट हुए थे। वे ही विधाताद्वारा रचित उस देवकुमारको जीवित रख रहे थे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि कर्णपरित्यागे अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें कर्णपरित्यागविषयक तीन सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०८ ॥

नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अधिरथ सूत तथा उसकी पत्नी राधाको बालक कर्णकी प्राप्ति, राधाके द्वारा उसका पालन, हस्तिनापुरमें उसकी शिक्षा-दीक्षा तथा कर्णके पास इन्द्रका आगमन

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु धृतराष्ट्रस्य वै सखा ।
सूतोऽधिरथ इत्येव सदारो जाह्नवीं ययौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय राजा धृतराष्ट्रका मित्र अधिरथ सूत अपनी स्त्रीके साथ गङ्गाजीके तटपर गया ॥ १ ॥

तस्य भार्याभवद् राजन् रूपेणासदृशी भुवि ।
राधा नाम महाभागा न सा पुत्रमविन्दत ॥ २ ॥

राजन् ! उसकी परम सौभाग्यवती पत्नी इस भूतलपर अनुपम सुन्दरी थी। उसका नाम था राधा। उसके कोई पुत्र नहीं हुआ था ॥ २ ॥

अपत्यार्थे परं यत्नमकरोच्च विशेषतः ।
सा ददर्शाथ मञ्जूषामुह्यमानां यदृच्छया ॥ ३ ॥

राधा पुत्रप्राप्तिके लिये विशेष यत्न करती रहती थी। दैवयोगसे उसीने गङ्गाजीके जलमें बहती हुई उस पिटारीको देखा ॥ ३ ॥

दत्तरक्षाप्रतिसरामन्वालम्भनशोभनाम् ।
ऊर्मीतरङ्गैर्जाह्नव्याः समानीतामुपह्वरम् ॥ ४ ॥

पिटारीके ऊपर उसकी रक्षाके लिये लता लपेट दी गयी थी और सिन्दूरका लेप लगा होनेसे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी। गङ्गाकी तरङ्गोंके थपेड़े खाकर वह पिटारी तटके समीप आ लगी ॥ ४ ॥

सा तु कौतूहलात् प्राप्तां ग्राहयामास भाविनी ।
ततो निवेदयामास सूतस्याधिरथस्य वै ॥ ५ ॥

भामिनी राधाने कौतूहलवश उस पिटारीको सेवकोंसे पकड़वा मँगाया और अधिरथ सूतको इसकी सूचना दी ॥ ५ ॥

स तामुद्धृत्य मञ्जूषामुत्सार्य जलमन्तिकात्।
यन्त्रैरुद्घाटयामास सोऽपश्यत् तत्र बालकम्॥ ६ ॥

अधिरथने उस पिटारीको पानीसे बाहर निकालकर जब यन्त्रों (औजारों) द्वारा उसे खोला, तब उसके भीतर एक बालकको देखा ॥ ६ ॥

तरुणादित्यसंकाशं हेमवर्मधरं तथा।
मृष्टकुण्डलयुक्तेन वदनेन विराजता॥ ७ ॥

वह बालक प्रातःकालीन सूर्यके समान तेजस्वी था। उसने अपने अङ्गोंमें स्वर्णमय कवच धारण कर रक्खा था। उसका मुख कानोंमें पड़े हुए दो उज्ज्वल कुण्डलोंसे प्रकाशित हो रहा था॥ ७ ॥

स सूतो भार्यया सार्धं विस्मयोत्फुल्ललोचनः।
अङ्कमारोप्य तं बालं भार्यां वचनमब्रवीत्॥ ८ ॥

उसे देखकर पत्नीसहित सूतके नेत्रकमल आश्चर्य एवं प्रसन्नतासे खिल उठे। उसने बालकको गोदमें लेकर अपनी पत्नीसे कहा—॥ ८ ॥

इदमत्यद्भुतं भीरु यतो जातोऽस्मि भाविनि।
दृष्टवान् देवगर्भोऽयं मन्येऽस्मान् समुपागतः॥ ९ ॥

'भीरु! भाविनि! जबसे मैं पैदा हुआ हूँ, तबसे आज ही मैंने ऐसा अद्भुत बालक देखा है। मैं समझता हूँ, यह कोई देवबालक ही हमें भाग्यवश प्राप्त हुआ है॥ ९ ॥

अनपत्यस्य पुत्रोऽयं देवैर्दत्तो ध्रुवं मम।
इत्युक्त्वा तं ददौ पुत्रं राधायै स महीपते॥ १० ॥

'मुझ पुत्रहीनको अवश्य ही देवताओंने दया करके यह पुत्र प्रदान किया है।' राजन्! ऐसा कहकर अधिरथने वह पुत्र राधाको दे दिया॥ १० ॥

प्रतिजग्राह तं राधा विधिवद् दिव्यरूपिणम्।
पुत्रं कमलगर्भाभं देवगर्भं श्रिया वृतम्॥ ११ ॥
(स्तन्यं समास्रवच्चास्या दैवादित्यथ निश्चयः।)

राधाने भी कमलके भीतरी भागके समान कान्तिमान्, शोभाशाली तथा दिव्यरूपधारी उस देवबालकको विधिपूर्वक ग्रहण किया। निश्चय ही दैवकी प्रेरणासे राधाके स्तनोंसे दूध भी झरने लगा॥ ११ ॥

पुपोष चैनं विधिवद् ववृधे स च वीर्यवान्।
ततःप्रभृति चाप्यन्ये प्राभवन्नौरसाः सुताः॥ १२ ॥

उसने विधिपूर्वक उस बालकका पालन-पोषण किया और वह धीरे-धीरे सबल होकर दिनोंदिन बढ़ने लगा। तभीसे उस सूत-दम्पतिके और भी अनेक औरस पुत्र उत्पन्न हुए॥ १२ ॥

वसुवर्मधरं दृष्ट्वा तं बालं हेमकुण्डलम्।
नामास्य वसुषेणेति ततश्चक्रुर्द्विजातयः॥ १३ ॥

तदनन्तर वसु (सुवर्ण) मय कवच धारण किये तथा सोनेके ही कुण्डल पहने हुए उस बालकको देखकर ब्राह्मणोंने उसका नाम 'वसुषेण' रक्खा॥ १३ ॥

एवं स सूतपुत्रत्वं जगामामितविक्रमः।
वसुषेण इति ख्यातो वृष इत्येव च प्रभुः॥ १४ ॥

इस प्रकार वह अमितपराक्रमी एवं सामर्थ्यशाली बालक सूतपुत्र बन गया। लोकमें 'वसुषेण' और 'वृष' इन दो नामोंसे उसकी प्रसिद्धि हुई॥ १४ ॥

सूतस्य ववृधेऽङ्गेषु श्रेष्ठः पुत्रः स वीर्यवान्।
चारेण विदितश्चासीत् पृथया दिव्यवर्मभृत्॥ १५ ॥

अधिरथ सूतका वह पराक्रमी श्रेष्ठ पुत्र अङ्गदेशमें पालित होकर दिनोंदिन बढ़ने लगा। कुन्तीने गुप्तचर भेजकर मालूम कर लिया था कि मेरा दिव्य कवचधारी पुत्र अधिरथके यहाँ पल रहा है॥ १५ ॥

सूतस्त्वधिरथः पुत्रं विवृद्धं समयेन तम्।
दृष्ट्वा प्रस्थापयामास पुरं वारणसाह्वयम्॥ १६ ॥

अधिरथ सूतने अपने पुत्रको बड़ा हुआ देख उसे यथासमय हस्तिनापुर भेज दिया॥ १६ ॥

तत्रोपसदनं चक्रे द्रोणस्येष्वस्त्रकर्मणि।
सख्यं दुर्योधनेनैवमगमत् स च वीर्यवान्॥ १७ ॥

वहाँ उसने धनुर्वेदकी शिक्षा लेनेके लिये आचार्य द्रोणकी शिष्यता स्वीकार की। इस प्रकार पराक्रमी कर्णकी दुर्योधनके साथ मित्रता हो गयी॥ १७ ॥

द्रोणात् कृपाच्च रामाच्च सोऽस्त्रग्रामं चतुर्विधम्।
लब्ध्वा लोकेऽभवत् ख्यातः परमेष्वासतां गतः॥ १८ ॥

वह द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा परशुरामसे चारों प्रकारकी अस्त्रविद्या सीखकर संसारमें एक महान् धनुर्धरके रूपमें विख्यात हुआ॥ १८ ॥

संधाय धार्तराष्ट्रेण पार्थानां विप्रिये रतः।
योद्धुमाशंसते नित्यं फाल्गुनेन महात्मना॥ १९ ॥

धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे मिलकर वह कुन्तीकुमारोंका अनिष्ट करनेमें लगा रहता और सदा महामना अर्जुनसे युद्ध करनेकी इच्छा व्यक्त किया करता था॥ १९ ॥

सदा हि तस्य स्पर्धाऽऽसीदर्जुनेन विशाम्पते।
अर्जुनस्य च कर्णेन यतो दृष्टो बभूव सः॥ २० ॥

राजन्! अर्जुन और कर्णने जबसे एक दूसरेको देखा था, तभीसे कर्ण अर्जुनके साथ स्पर्धा रखता था और अर्जुन भी कर्णके साथ बड़ी स्पर्धा रखते थे॥ २० ॥

एतद् गुह्यं महाराज सूर्यस्यासीन्न संशयः।
यः सूर्यसम्भवः कर्णः कुन्त्यां सूतकुले तथा॥ २१ ॥

महाराज! निःसंदेह सूर्यका यही वह गुप्त रहस्य है कि कुन्तीके गर्भसे सूर्यद्वारा उत्पन्न कर्ण सूतकुलमें पला था॥

तं तु कुण्डलिनं दृष्ट्वा वर्मणा च समन्वितम्।
अवध्यं समरे मत्वा पर्यतप्यद् युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥

उसे दिव्य कुण्डल और कवचसे संयुक्त देख युद्धमें अवध्य जानकर राजा युधिष्ठिर सदा संतप्त होते रहते थे ॥२२॥

यदा च कर्णो राजेन्द्र भानुमन्तं दिवाकरम्।
स्तौति मध्यन्दिने प्राप्ते प्राञ्जलिः सलिले स्थितः ॥ २३ ॥
तत्रैनमुपतिष्ठन्ति ब्राह्मणा धनहेतुना ।
नादेयं तस्य तत्काले किञ्चिदस्ति द्विजातिषु ॥ २४ ॥

राजेन्द्र ! जब कर्ण दोपहरके समय जलमें खड़ा हो हाथ जोड़कर अंशुमाली भगवान् दिवाकरकी स्तुति करता था, उस समय बहुत-से ब्राह्मण धनके लिये उसके पास आते थे। उस अवसरपर उसके पास कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जो ब्राह्मणोंके लिये अदेय हो ॥ २३-२४ ॥

तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षां देहीत्युपस्थितः ।
स्वागतं चेति राधेयस्तमथ प्रत्यभाषत ॥ २५ ॥

इन्द्र भी उसी समय ब्राह्मण बनकर वहाँ उपस्थित हुए और बोले—'मुझे भिक्षा दो।' यह सुनकर राधानन्दन कर्णने उत्तर दिया—'विप्रवर ! आपका स्वागत है' ॥२५॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि राधाकर्णप्राप्तौ नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें राधाको कर्णकी प्राप्तिविषयक तीन सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३०९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

इन्द्रका कर्णको अमोघ शक्ति देकर बदलेमें उसके कवच-कुण्डल लेना

वैशम्पायन उवाच

देवराजमनुप्राप्तं ब्राह्मणच्छद्मना वृतम् ।
दृष्ट्वा स्वागतमित्याह न बुबोधास्य मानसम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवराजको ब्राह्मणके छद्मवेषमें छिपकर आये देख कर्णने कहा—'ब्रह्मन्! आपका स्वागत है।' परंतु कर्णको उस समय इन्द्रके मनोभावका कुछ भी पता न चला ॥ १ ॥

हिरण्यकण्ठीः प्रमदा ग्रामान् वा बहुगोकुलान्।
किं ददानीति तं विप्रमुवाचाधिरथिस्ततः ॥ २ ॥

तब अधिरथकुमारने उन ब्राह्मणरूपधारी इन्द्रसे कहा—'विप्रवर ! मैं आपको क्या दूँ ? सोनेके कण्ठोंसे विभूषित युवती स्त्रियाँ अथवा बहुसंख्यक गोधनोंसे भरे हुए अनेक ग्राम ?'॥

ब्राह्मण उवाच

हिरण्यकण्ठ्यः प्रमदा यच्चान्यत् प्रीतिवर्धनम्।
नाहं दत्तमिहेच्छामि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मण बोले—वीरवर ! तुम्हारी दी हुई सोनेके कंठोंसे विभूषित युवती स्त्रियाँ तथा दूसरी आनन्दवर्धक वस्तुएँ मैं नहीं लेना चाहता। इन वस्तुओंको उन याचकोंको दे दो, जो इनकी अभिलाषा लेकर आये हों ॥ ३ ॥

यदेतत् सहजं वर्म कुण्डले च तवानघ ।
एतदुत्कृत्य मे देहि यदि सत्यव्रतो भवान् ॥ ४ ॥

अनघ ! यदि तुम सत्यव्रती हो, तो ये जो तुम्हारे शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए कवच और कुण्डल हैं, इन्हें काटकर मुझे दे दो ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं क्षिप्रं त्वया दत्तं परंतप ।
एष मे सर्वलाभानां लाभः परमको मतः ॥ ५ ॥

परंतप ! तुम्हारा दिया हुआ यही दान मैं शीघ्रतापूर्वक लेना चाहता हूँ। यही मेरे लिये सम्पूर्ण लाभोंमें सबसे बढ़कर लाभ है ॥ ५ ॥

कर्ण उवाच

अवनिं प्रमदा गाश्च निवापं बहुवार्षिकम् ।
तत् ते विप्र प्रदास्यामि न तु वर्म सकुण्डलम् ॥ ६ ॥

कर्णने कहा—ब्रह्मन् ! यदि आप घर बनानेके लिये भूमि, गृहस्थी बसानेके लिये सुन्दरी तरुणी स्त्रियाँ, बहुत-सी गौएँ, खेत और बहुत वर्षोंतक चालू रहनेवाली जीवनवृत्ति लेना चाहें, तो दे दूँगा; परंतु कवच और कुण्डल नहीं दे सकता ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्याच्यमानः स तु द्विजः ।
कर्णेन भरतश्रेष्ठ नान्यं वरमयाचत ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार बहुत-सी बातें कहकर कर्णके प्रार्थना करनेपर भी उन ब्राह्मणदेवने दूसरा कोई वर नहीं माँगा ॥ ७ ॥

सान्त्वितश्च यथाशक्ति पूजितश्च यथाविधि ।
न चान्यं स द्विजश्रेष्ठः कामयामास वै वरम् ॥ ८ ॥

कर्णने उन्हें यथाशक्ति बहुत समझाया एवं विधिपूर्वक उनका पूजन किया। तथापि उन द्विजश्रेष्ठने और किसी वरको लेनेसे अनिच्छा प्रकट कर दी ॥ ८ ॥

यदा नान्यं प्रवृणुते वरं वै द्विजसत्तमः ।
(विनाश्य सहजं वर्म कुण्डले च विशाम्पते)।
तदैनमब्रवीद् भूयो राधेयः प्रहसन्निव ॥ ९ ॥

राजन् ! जब उन द्विजश्रेष्ठने कर्णके सहज कवच और

कुण्डलके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं माँगी, तब राधानन्दन कर्णने उनसे हँसते हुए-से कहा—॥ ९ ॥

सहजं वर्म मे विप्र कुण्डले चामृतोद्भवे ।
तेनावध्योऽस्मि लोकेषु ततो नैतज्जहाम्यहम् ॥ १० ॥

'विप्रवर ! कवच तो मेरे शरीरके साथ ही उत्पन्न हुआ है और दोनों कुण्डल भी अमृतसे प्रकट हुए हैं । इन्हींके कारण मैं संसारमें अवध्य बना हुआ हूँ; अतः मैं इन सब वस्तुओंको त्याग नहीं सकता ॥ १० ॥

विशालं पृथिवीराज्यं क्षेमं निहतकण्टकम् ।
प्रतिगृह्णीष्व मत्तस्त्वं साधु ब्राह्मणपुङ्गव ॥ ११ ॥

'ब्राह्मणप्रवर ! आप मुझसे समूची पृथ्वीका कल्याणमय, अकण्टक, विशाल एवं उत्तम साम्राज्य ले लें ॥ ११ ॥

कुण्डलाभ्यां विमुक्तोऽहं वर्मणा सहजेन च ।
गमनीयो भविष्यामि शत्रूणां द्विजसत्तम ॥ १२ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! इस सहज कवच और दोनों कुण्डलोंसे वञ्चित हो जानेपर मैं शत्रुओंका वध्य हो जाऊँगा (अतः इन्हें न माँगिये)' ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

यदान्यं न वरं वव्रे भगवान् पाकशासनः ।
ततः प्रहस्य कर्णस्तं पुनरित्यब्रवीद् वचः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इतना अनुनय-विनय करनेपर भी जब पाकशासन भगवान् इन्द्रने दूसरा कोई वर नहीं माँगा, तब कर्णने हँसकर पुनः इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

विदितो देवदेवेश प्रागेवासि मम प्रभो ।
न तु न्याय्यं मया दातुं तव शक्र वृथा वरम् ॥ १४ ॥

'देवदेवेश्वर ! प्रभो ! आप पधार रहे हैं, यह बात मुझे पहले ही ज्ञात हो गयी थी । पर देवेन्द्र ! मैं आपको निष्फल वर दूँ, यह न्यायसंगत नहीं है ॥ १४ ॥

त्वं हि देवेश्वरः साक्षात् त्वया देयो वरो मम ।
अन्येषां चैव भूतानामीश्वरो ह्यसि भूतकृत् ॥ १५ ॥

'आप साक्षात् देवेश्वर हैं । उचित तो यही है कि आप मुझे वर दें; क्योंकि आप अन्य सब भूतोंके ईश्वर तथा उन्हें उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ १५ ॥

यदि दास्यामि ते देव कुण्डले कवचं तथा ।
वध्यतामुपयास्यामि त्वं च शक्रावहास्यताम् ॥ १६ ॥
तस्माद् विनिमयं कृत्वा कुण्डले वर्म चोत्तमम् ।
हरस्व शक्र कामं मे न दद्यामहमन्यथा ॥ १७ ॥

'इन्द्रदेव ! यदि मैं आपको अपने दोनों कुण्डल और कवच दे दूँगा, तो मैं तो शत्रुओंका वध्य हो जाऊँगा और संसारमें आपकी हँसी होगी । इसलिये (कर्णने सूर्यकी आज्ञाको याद करके कहा—) शक्र ! आप कुछ बदला देकर इच्छानुसार मेरे कुण्डल और उत्तम कवच ले जाइये; अन्यथा मैं इन्हें नहीं दे सकता' ॥ १६-१७ ॥

शक्र उवाच

विदितोऽहं रवेः पूर्वमायानेव तवान्तिकम् ।
तेन ते सर्वमाख्यातमेवमेतन्न संशयः ॥ १८ ॥

इन्द्र बोले—कर्ण ! जब मैं तुम्हारे पास आ रहा था, उसके पहले ही सूर्यदेवको यह बात मालूम हो गयी थी । इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने ही तुमसे सारी बातें बता दी हैं ॥ १८ ॥

काममस्तु तथा तात तव कर्ण यथेच्छसि ।
वर्जयित्वा तु मे वज्रं प्रवृणीष्व यथेच्छसि ॥ १९ ॥

तात कर्ण ! तुम्हारी रुचिके अनुसार इन वस्तुओंका परिवर्तन ही हो जाय । मेरे वज्रको छोड़कर तुम जो चाहो, वही आयुध मुझसे माँग लो ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कर्णः प्रहृष्टस्तु उपसंगम्य वासवम् ।
अमोघां शक्तिमभ्येत्य वव्रे सम्पूर्णमानसः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब कर्ण अत्यन्त प्रसन्न होकर देवराज इन्द्रके पास गया और सफलमनोरथ होकर उसने उनकी अमोघ शक्ति माँगी ॥ २० ॥

कर्ण उवाच

वर्मणा कुण्डलाभ्यां च शक्तिं मे देहि वासव ।
अमोघां शत्रुसंघानां घातिनीं पृतनामुखे ॥ २१ ॥

कर्ण बोला—वासव ! मेरे कवच और कुण्डल लेकर आप मुझे अपनी वह अमोघ शक्ति प्रदान कीजिये, जो सेनाके अग्रभागमें शत्रुसमुदायका संहार करनेवाली है ॥ २१ ॥

ततः संचिन्त्य मनसा मुहूर्तमिव वासवः ।
शक्त्यर्थं पृथिवीपाल कर्णं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ २२ ॥

राजन् ! तब इन्द्रने शक्तिके विषयमें दो घड़ीतक मन-ही-मन विचार करके कर्णसे इस प्रकार कहा— ॥ २२ ॥

कुण्डले मे प्रयच्छस्व वर्म चैव शरीरजम् ।
गृहाण कर्ण शक्तिं त्वमनेन समयेन च ॥ २३ ॥

'कर्ण ! तुम मुझे अपने दोनों कुण्डल और सहज कवच दे दो और मेरी यह शक्ति ग्रहण कर लो । इसी शर्तके अनुसार हमलोगोंमें इन वस्तुओंका विनिमय (बदला) हो जाय ॥

अमोघा हन्ति शतशः शत्रून् मम करच्युता ।
पुनश्च पाणिमभ्येति मम दैत्यान् विनिघ्नतः ॥ २४ ॥

'सूतनन्दन ! दैत्योंका संहार करते समय मेरे हाथसे छूटनेपर यह अमोघ शक्ति सैकड़ों शत्रुओंको मार देती है और पुनः मेरे हाथमें चली आती है ॥ २४ ॥

सेयं तव करप्राप्ता हत्वैकं रिपुमूर्जितम् ।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च मामेवैष्यति सूतज ॥ २५ ॥

'वही शक्ति तुम्हारे हाथमें जाकर किसी एक तेजस्वी, ओजस्वी, प्रतापी तथा गर्जना करनेवाले शत्रुको मारकर पुनः मेरे ही पास आ जायगी' ॥ २५ ॥

कर्ण उवाच

एकमेवाहमिच्छामि रिपुं हन्तुं महाहवे ।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च यतो मम भयं भवेत् ॥ २६ ॥

कर्ण बोला—देवेन्द्र ! मैं महासमरमें अपने एक ही शत्रुको इसके द्वारा मारना चाहता हूँ, जो बहुत गर्जना करनेवाला और प्रतापी है तथा जिससे मुझे सदा भय बना रहता है ॥ २६ ॥

इन्द्र उवाच

एकं हनिष्यसि रिपुं गर्जन्तं बलिनं रणे ।
त्वं तु यं प्रार्थयस्येकं रक्ष्यते स महात्मना ॥ २७ ॥
यमाहुर्वेदविद्वांसो वराहमपराजितम् ।
नारायणमचिन्त्यं च तेन कृष्णेन रक्ष्यते ॥ २८ ॥

इन्द्रने कहा—कर्ण ! तुम (इस शक्तिसे) रणभूमिमें गर्जना करनेवाले किसी एक बलवान् शत्रुको मार सकोगे, परंतु इस समय तुम जिस एक शत्रुको लक्ष्य करके यह अमोघ शक्ति माँग रहे हो, वह तो उन परमात्माद्वारा सुरक्षित है, जिन्हें वेदवेत्ता विद्वान् पुरुषोत्तम अपराजित, हरि तथा अचिन्त्य-स्वरूप नारायण कहते हैं। वे स्वयं श्रीकृष्ण हैं, जिनके द्वारा उस वीरकी रक्षा हो रही है ॥ २७-२८ ॥

कर्ण उवाच

एवमप्यस्तु भगवन्नेकवीरवधे मम ।
अमोघां देहि मे शक्तिं यथा हन्यां प्रतापिनम् ॥ २९ ॥

कर्ण बोला—भगवन् ! ऐसा ही हो। तो भी आप एक वीरके वधके लिये मुझे अपनी अमोघ शक्ति दे दीजिये, जिससे मैं अपने प्रतापी शत्रुका वध कर सकूँ ॥ २९ ॥

उत्कृत्य तु प्रदास्यामि कुण्डले कवचं च ते ।
निकृत्तेषु तु गात्रेषु न मे बीभत्सता भवेत् ॥ ३० ॥

मैं आपको अपने शरीरसे उधेड़कर कवच और कुण्डल तो दे दूँगा; परंतु उस समय मेरे अङ्गोंके कट जानेपर मेरा स्वरूप बीभत्स न होना चाहिये ॥ ३० ॥

इन्द्र उवाच

न ते बीभत्सता कर्ण भविष्यति कथञ्चन ।
व्रणश्चैव न गात्रेषु यस्त्वं नानृतमिच्छसि ॥ ३१ ॥

इन्द्रने कहा—कर्ण ! तुम्हारा स्वरूप किसी प्रकार भी बीभत्स नहीं होगा। तुम्हारे अङ्गोंमें घावतक नहीं होगा; क्योंकि तुम असत्यकी इच्छा नहीं रखते हो ॥ ३१ ॥

यादृशस्ते पितुर्वर्णस्तेजश्च वदतां वर ।
तादृशेनैव वर्णेन त्वं कर्ण भविता पुनः ॥ ३२ ॥
विद्यमानेषु शस्त्रेषु यद्यमोघामसंशये ।
प्रमत्तो मोक्ष्यसे चापि त्वय्येवैषा पतिष्यति ॥ ३३ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ कर्ण ! तुम्हारे पिताका जैसा वर्ण और तेज है, वैसे ही वर्ण और तेजसे तुम पुनः सम्पन्न हो जाओगे। जबतक तुम्हारे पास दूसरे शस्त्र रहें और प्राणसंकटकी परिस्थिति न आ जाय, तबतक तुम यदि प्रमादवश यह अमोघ शक्ति यों ही किसी शत्रुपर छोड़ दोगे, तो यह उसे न मारकर तुम्हारे ही ऊपर आ पड़ेगी ॥ ३२-३३ ॥

कर्ण उवाच

संशयं परमं प्राप्य विमोक्ष्ये वासवीमिमाम् ।
यथा मामात्थ शक्र त्वं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३४ ॥

कर्ण बोला—देवेन्द्र ! आप जैसा मुझसे कह रहे हैं, उसके अनुसार प्राणसंकटकी अवस्थामें पड़कर ही मैं आपकी दी हुई इस शक्तिका उपयोग करूँगा, यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः शक्तिं प्रज्वलितां प्रतिगृह्य विशाम्पते ।
शस्त्रं गृहीत्वा निशितं सर्वगात्राण्यकृन्तत ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर इन्द्रकी प्रज्वलित शक्ति लेकर कर्णने तीखी तलवार उठायी और कवच उधेड़नेके लिये अपने सब अङ्गोंको काटना आरम्भ किया ॥

ततो देवा मानवा दानवाश्च
निकृन्तन्तं कर्णमात्मानमेवम् ।
दृष्ट्वा सर्वे सिंहनादान् प्रणेदु-
र्न ह्यस्यासीन्मुखजो वै विकारः ॥ ३६ ॥

उस समय देवता, मनुष्य और दानव सब लोग इस प्रकार अपना शरीर काटते हुए कर्णको देखकर सिंहनाद करने लगे; परंतु कर्णके मुखपर तनिक भी विकार नहीं आया ॥ ३६ ॥

ततो दिव्या दुन्दुभयः प्रणेदुः
पपातोच्चैः पुष्पवर्षं च दिव्यम् ।
दृष्ट्वा कर्णं शस्त्रसंकृत्तगात्रं
मुहुश्चापि स्मयमानं नृवीरम् ॥ ३७ ॥

कर्णके सारे अङ्ग शस्त्रोंके आघातसे कट गये थे, फिर भी वह नरवीर बारंबार मुसकरा रहा था। यह देखकर दिव्य दुन्दुभियाँ बज उठीं एवं आकाशसे दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ ३७ ॥

ततश्छित्त्वा कवचं दिव्यमङ्गात्
तथैवार्द्रं प्रददौ वासवाय ।
तथोत्कृत्य प्रददौ कुण्डले ते
कर्णात् तस्मात् कर्मणा तेन कर्णः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर अपने शरीरसे दिव्य कवचको उधेड़कर कर्णने इन्द्रके हाथमें दे दिया; वह कवच उस समय रक्तसे भींगा हुआ ही था। इसी प्रकार उसने कानोंके वे कुण्डल भी काटकर दे दिये। अतः इस कर्णन (कर्तन) रूपी कर्मसे उसका नाम 'कर्ण' हुआ ॥ ३८ ॥

ततः शक्रः प्रहसन् वञ्चयित्वा
कर्णं लोके यशसा योजयित्वा ।
कृतं कार्यं पाण्डवानां हि मेने
ततः पश्चाद् दिवमेवोत्पपात ॥ ३९ ॥

इस प्रकार कर्णको (कवच और कुण्डलसे) वञ्चित करके एवं संसारमें उसका सुयश फैलाकर देवराज इन्द्र हँसते हुए स्वर्गलोकको चले गये । उन्हें मन-ही-मन यह विश्वास हो गया कि 'मैंने पाण्डवोंका कार्य पूरा कर दिया' ॥ ३९ ॥

श्रुत्वा कर्णं मुषितं धार्तराष्ट्रा
दीनाः सर्वे भग्नदर्पा इवासन् ।
तां चावस्थां गमितं सूतपुत्रं
श्रुत्वा पार्था जहृषुः काननस्थाः॥ ४० ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रोंने जब यह सुना कि कर्णको (कवच और कुण्डलोंसे) वञ्चित कर दिया गया तो वे सब अत्यन्त दीन-से हो गये; उनका घमंड चूर-चूर-सा हो गया । वनमें रहनेवाले कुन्तीपुत्रोंने जब सुना कि सूतपुत्र इस दशामें पहुँच गया है, तब उन्हें बड़ा हर्ष हुआ ॥४०॥

जनमेजय उवाच

क्वस्था वीराः पाण्डवास्ते बभूवुः
कुतश्चैते श्रुतवन्तः प्रियं तत् ।
किं वाकार्षुर्द्वादशेऽब्दे व्यतीते
तन्मे सर्वं भगवान् व्याकरोतु ॥ ४१ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! वे वीर पाण्डव उन दिनों कहाँ थे ? उन्होंने वह प्रिय समाचार कैसे सुना और बारहवाँ वर्ष व्यतीत हो जानेपर क्या किया ? ये सब बातें आप मुझे स्पष्टरूपसे बतायें ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच

लब्ध्वा कृष्णां सैन्धवं द्रावयित्वा
विप्रैः सार्धं काम्यकादाश्रमात् ते ।
मार्कण्डेयाच्छ्रुतवन्तः पुराणं
देवर्षीणां चरितं विस्तरेण ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! द्रौपदीको पाकर तथा जयद्रथको काम्यक वनसे भगाकर ब्राह्मणोंसहित समस्त पाण्डवोंने मार्कण्डेयजीके मुखसे पुराणकथा और देवताओं तथा ऋषियोंके विस्तृत चरित्र सुनते हुए इसे भी सुना था ॥४२॥

(प्रत्याजग्मुः सरथाः सानुयात्राः
सर्वैः सार्धं सूतपौरोगवैस्ते ।
ततो ययुर्द्वैतवने नृवीरा
निस्तीर्यैवं वनवासं समग्रम् ॥)

इस प्रकार वनवासकी पूरी अवधि बिताकर वे नरवीर पाण्डव अपने रथ, अनुचर, सूत तथा रसोइयोंके साथ पुनः द्वैतवनमें लौट आये ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि कवचकुण्डलदाने दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें कवच-कुण्डलदानविषयक तीन सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं)

(आरणेयपर्व)

एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणकी अरणि एवं मन्थन-काष्ठका पता लगानेके लिये पाण्डवोंका मृगके पीछे दौड़ना और दुखी होना

जनमेजय उवाच

एवं हृतायां भार्यायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
प्रतिपद्य ततः कृष्णां किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! इस प्रकार अपनी पत्नी द्रौपदीका अपहरण होनेपर अत्यन्त क्लेश उठाकर पाण्डवोंने जब उन्हें पुनः प्राप्त कर लिया, उसके बाद उन्होंने क्या किया ? ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
विहाय काम्यकं राजा सह भ्रातृभिरच्युतः ॥ २ ॥
पुनर्द्वैतवनं रम्यमाजगाम युधिष्ठिरः ।
स्वादुमूलफलं रम्यं विचित्रबहुपादपम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! पूर्वोक्त प्रकारसे द्रौपदीका हरण होनेपर भारी क्लेश उठानेके बाद जब पाण्डवोंने उन्हें पा लिया, तब धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ काम्यकवन छोड़कर पुनः रमणीय द्वैतवनमें ही चले आये । वहाँ स्वादिष्ट फल-मूलोंकी बहुतायत थी तथा बहुत-से विचित्र वृक्ष उस वनकी शोभा बढ़ाते थे ॥ २-३ ॥

अनुभुक्तफलाहाराः सर्व एव मिताशनाः ।
न्यवसन् पाण्डवास्तत्र कृष्णया सह भार्यया ॥ ४ ॥

वहाँ सब पाण्डव अपनी पत्नी द्रौपदीके साथ केवल फलाहार करके परिमित भोजनपर जीवन-निर्वाह करते हुए रहते थे ॥ ४ ॥

वसन् द्वैतवने राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ५ ॥
ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ता धर्मात्मानो यतव्रताः।
क्लेशमार्च्छन्त विपुलं सुखोदर्कं परंतपाः ॥ ६ ॥

द्वैतवनमें रहते समय कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीकुमार नकुल-सहदेव—इन सभी शत्रुसंतापी संयम-नियम-परायण धर्मात्मा पाण्डवोंने एक दिन एक ब्राह्मणके लिये पराक्रम करते हुए महान् क्लेश उठाया, परंतु उसका भावी परिणाम सुखमय ही हुआ ॥ ५-६ ॥

तस्मिन् प्रतिवसन्तस्ते यत् प्रापुः कुरुसत्तमाः।
वने क्लेशं सुखोदर्कं तत् प्रवक्ष्यामि ते शृणु ॥ ७ ॥

राजन् ! उस वनमें रहते हुए उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंने जो भविष्यमें सुख देनेवाला क्लेश उठाया, उसका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ७ ॥

अरणीसहितं मन्थं ब्राह्मणस्य तपस्विनः।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥ ८ ॥

एक तपस्वी ब्राह्मणका (रस्सीमें बँधा) अरणीसहित मन्थनकाष्ठ एक वृक्षमें टँगा था; वहीं एक मृग आकर उस वृक्षसे अपना शरीर रगड़ने लगा। उस समय वे दोनों काष्ठ उस मृगके सींगमें अटक गये ॥ ८ ॥

तदादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः।
आश्रमान्तरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥ ९ ॥

राजन् ! उन काष्ठोंको लेकर वह महामृग बड़ी उतावलीसे भागा और बड़े वेगसे चौकड़ी भरता हुआ शीघ्र ही आश्रमसे ओझल हो गया ॥ ९ ॥

ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा स विप्रः कुरुसत्तम।
त्वरितोऽभ्यागमत् तत्र अग्निहोत्रपरीप्सया ॥ १० ॥

कुरुश्रेष्ठ ! उस ब्राह्मणने जब देखा कि मृग मेरी अरणी और मथानीको लेकर तेजीसे भागा जा रहा है, तब वह अग्निहोत्रकी रक्षाके लिये तुरंत वहीं (पाण्डवोंके आश्रममें) आया ॥ १० ॥

अजातशत्रुमासीनं भ्रातृभिः सहितं वने।
आगम्य ब्राह्मणस्तूर्णं संतप्तश्चेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वनमें भाइयोंके साथ बैठे हुए अजातशत्रु युधिष्ठिरके पास तुरंत आकर संतप्त हुए उस ब्राह्मणने इस प्रकार कहा—॥

अरणीसहितं मन्थं समासक्तं वनस्पतौ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥ १२ ॥
तमादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः।
आश्रमात् त्वरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥ १३ ॥

'राजन् ! मैंने अपनी अरणी और मथानी एक वृक्षपर रख दी थी। एक मृग वहाँ आकर उस वृक्षसे शरीर रगड़ने लगा और उसके सींगमें वे दोनों काष्ठ फँस गये। वह महान् मृग उन काष्ठोंको लेकर बड़ी उतावलीके साथ भाग गया है और अत्यन्त वेगवान् होनेके कारण चौकड़ी भरता हुआ शीघ्र ही आश्रमसे बहुत दूर निकल गया है ॥ १२-१३ ॥

तस्य गत्वा पदं राजन्नासाद्य च महामृगम्।
अग्निहोत्रं न लुप्येत तदानयत पाण्डवाः ॥ १४ ॥

'महाराज युधिष्ठिर! तथा वीर पाण्डवो! तुम सब लोग उसके पदचिह्नोंको देखते हुए उस महामृगके पास पहुँचो और वे दोनों काष्ठ ले आओ, जिससे मेरा अग्निहोत्रकर्म लुप्त न हो' ॥

ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा संतप्तोऽथ युधिष्ठिरः।
धनुरादाय कौन्तेयः प्राद्रवद् भ्रातृभिः सह ॥ १५ ॥

ब्राह्मणकी बात सुनकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर बहुत दुखी हुए और मृगका पता लगानेके लिये वे धनुष लेकर भाइयोंसहित दौड़े ॥ १५ ॥

सन्नद्धा धन्विनः सर्वे प्राद्रवन् नरपुङ्गवाः।
ब्राह्मणार्थे यतन्तस्ते शीघ्रमन्वगमन् मृगम् ॥ १६ ॥

वे सभी नरश्रेष्ठ कवच बाँध एवं कमर कसकर धनुष लिये आश्रमसे दौड़े और ब्राह्मणकी कार्यसिद्धिके लिये प्रयत्नशील होकर तीव्र गतिसे मृगका पीछा करने लगे ॥ १६ ॥

कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन्तो महारथाः।
नाविध्यन् पाण्डवास्तत्र पश्यन्तो मृगमन्तिकात् ॥ १७ ॥

कुछ दूर जानेपर उन्हें वह मृग अपने पास ही दिखायी दिया। तब वे महारथी पाण्डव कर्णि, नालीक और नाराच नामक बाण उसपर छोड़ने लगे; किंतु वे देखते हुए भी वहाँ उस मृगको बींध न सके ॥ १७ ॥

तेषां प्रयतमानानां नादृश्यत महामृगः।
अपश्यन्तो मृगं श्रान्ता दुःखं प्राप्ता मनस्विनः ॥ १८ ॥

घोर प्रयत्न करनेपर भी वह महामृग उनके हाथ न लगा; सहसा अदृश्य हो गया। मृगको न देखकर वे मनस्वी वीर हतोत्साह और दुखी हो गये ॥ १८ ॥

शीतलच्छायमागम्य न्यग्रोधं गहने वने।
क्षुत्पिपासापरीताङ्गाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् उस गहन वनमें भूख-प्याससे पीड़ित अङ्गोंवाले पाण्डव एक शीतल छायावाले बरगदके पास आकर बैठ गये ॥

तेषां समुपविष्टानां नकुलो दुःखितस्तदा।
अब्रवीद् भ्रातरं श्रेष्ठममर्षात् कुरुनन्दनम् ॥ २० ॥

उनके बैठ जानेपर नकुल अत्यन्त दुखी हो अमर्षमें आकर बड़े भाई कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥

नास्मिन् कुले जातु ममज्ज धर्मो
न चालस्यादर्थलोपो बभूव ।
अनुत्तराः सर्वभूतेषु भूयः
सम्प्राप्ताः स्मः संशयं किंनु राजन् ॥ २१ ॥

'राजन्! हमारे कुलमें कभी आलस्यवश धर्मका लोप नहीं हुआ; अर्थका भी कभी नाश नहीं हुआ। हमने किसी भी प्राणीके प्रार्थना करनेपर कभी उसे कोरा जवाब नहीं दिया—निराश नहीं किया। फिर भी हम धर्मसंकटमें कैसे पड़ गये?' ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि मृगान्वेषणे एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें मृगका अनुसंधानविषयक तीन सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३११ ॥

द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पानी लानेके लिये गये हुए नकुल आदि चार भाइयोंका सरोवरके तटपर अचेत होकर गिरना

युधिष्ठिर उवाच

नापदामस्ति मर्यादा न निमित्तं न कारणम् ।
धर्मस्तु विभजत्यर्थमुभयोः पुण्यपापयोः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—भैया! आपत्तियोंकी न तो कोई सीमा है, न कोई निमित्त दिखायी देता है और न कोई विशेष कारण ही परिलक्षित होता है। पहलेका किया हुआ पुण्य और पापरूप कर्म ही प्रारब्ध बनकर सुख और दुःखरूप फल बाँटता रहता है ॥ १ ॥

भीम उवाच

प्रातिकाम्यनयत् कृष्णां सभायां प्रेष्यवत् तदा ।
न मया निहतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ २ ॥

भीमसेनने कहा—जब प्रातिकामीकी जगह दूत बनकर गया हुआ दुःशासन द्रौपदीको कौरवोंकी सभामें दासीकी भाँति बलपूर्वक खींच ले आया, उस समय मैंने जो उसका वध नहीं कर डाला; इसीके कारण हमलोग ऐसे धर्मसंकटमें पड़े हैं ॥ २ ॥

अर्जुन उवाच

वाचस्तीक्ष्णास्थिभेदिन्यः सूतपुत्रेण भाषिताः ।
अतितीव्रा मया क्षान्तास्तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ ३ ॥

अर्जुन बोले—सूतपुत्र कर्णके कहे हुए कठोर अस्थियोंको भी विदीर्ण कर देनेवाले अत्यन्त कड़वे वचन सुनकर भी जो हमने सहन कर लिये; उसीसे आज हम धर्मसंकटकी अवस्थामें आ पहुँचे हैं ॥ ३ ॥

सहदेव उवाच

शकुनिस्त्वां यदाजैषीदक्षद्यूतेन भारत ।
स मया न हतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ ४ ॥

सहदेवने कहा—भारत! जब शकुनिने आपको जूएमें जीत लिया और उस समय मैंने उसे मार नहीं डाला, उसीका यह फल है कि आज हमलोग धर्मसंकटमें पड़ गये हैं ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा नकुलं वाक्यमब्रवीत् ।
आरुह्य वृक्षं माद्रेय निरीक्षस्व दिशो दश ॥ ५ ॥
पानीयमन्तिके पश्य वृक्षांश्चाप्युदकाश्रितान् ।
एते हि भ्रातरः श्रान्तास्तव तात पिपासिताः ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने नकुलसे कहा—'माद्रीनन्दन! किसी वृक्षपर चढ़कर सब दिशाओंमें दृष्टिपात करो। कहीं आस-पास पानी हो, तो देखो अथवा जलके किनारे होनेवाले वृक्षोंपर भी दृष्टि डालो। तात! तुम्हारे ये भाई थके-माँदे और प्यासे हैं' ॥ ५-६ ॥

नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा शीघ्रमारुह्य पादपम् ।
अब्रवीद् भ्रातरं ज्येष्ठमभिवीक्ष्य समन्ततः ॥ ७ ॥

तब नकुल 'बहुत अच्छा' कहकर शीघ्र ही एक पेड़पर चढ़ गये और चारों ओर दृष्टि डालकर अपने बड़े भाईसे बोले—॥

पश्यामि बहुलान् राजन् वृक्षानुदकसंश्रयान् ।
सारसानां च निर्ह्रादमत्रोदकमसंशयम् ॥ ८ ॥

'राजन्! मैं ऐसे बहुतेरे वृक्ष देख रहा हूँ, जो जलके किनारे ही होते हैं। सारसोंकी आवाज भी सुनायी देती है; अतः निःसंदेह यहाँ आस-पास ही कोई जलाशय है' ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीत् सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गच्छ सौम्य ततः शीघ्रं तूणैः पानीयमानय ॥ ९ ॥

तब सत्यका पालन करनेवाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने नकुलसे कहा—'सौम्य! शीघ्र जाओ और तरकसोंमें पानी भर लाओ' ॥ ९ ॥

नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात् ।
प्राद्रवद् यत्र पानीयं शीघ्रं चैवान्वपद्यत ॥ १० ॥

नकुल 'बहुत अच्छा' कहकर बड़े भाईकी आज्ञासे शीघ्रतापूर्वक गये और जहाँ जलाशय था, वहाँ तुरंत पहुँच गये ॥ १० ॥

स दृष्ट्वा विमलं तोयं सारसैः परिवारितम् ।
पातुकामस्ततो वाचमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे ॥ ११ ॥

वहाँ सारसोंसे घिरे हुए जलाशयका स्वच्छ जल देखकर नकुलको उसे पीनेकी इच्छा हुई। इतनेमें ही आकाशसे उनके कानोंमें एक स्पष्ट वाणी सुनायी दी ॥ ११ ॥

यक्ष उवाच

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा तु माद्रेय ततः पिब हरस्व च ॥ १२ ॥

यक्ष बोला—तात! तुम इस सरोवरका पानी पीनेका साहस न करो। इसपर पहलेसे ही मेरा अधिकार हो चुका है। माद्रीकुमार! पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे दो, फिर पानी पीओ और ले भी जाओ ॥ १२ ॥

अनादृत्य तु तद् वाक्यं नकुलः सुपिपासितः।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १३ ॥

नकुलकी प्यास बहुत बढ़ गयी थी। उन्होंने यक्षके कथनकी अवहेलना करके वहाँका शीतल जल पी लिया। पीते ही वे अचेत होकर गिर पड़े ॥ १३ ॥

चिरायमाणे नकुले कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अब्रवीद् भ्रातरं वीरं सहदेवमरिंदमम् ॥ १४ ॥

नकुलके लौटनेमें जब अधिक विलम्ब हो गया, तब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अपने शत्रुहन्ता वीर भ्राता सहदेवसे कहा—॥ १४ ॥

भ्राता हि चिरयातो नः सहदेव तवाग्रजः।
तथैवानय सोदर्यं पानीयं च त्वमानय ॥ १५ ॥

'सहदेव! हमारे अनुज और तुम्हारे अग्रज भ्राता नकुलको यहाँसे गये बहुत देर हो गयी। तुम जाकर अपने सहोदर भाईको बुला लाओ और पानी भी ले आओ' ॥१५॥

सहदेवस्तथेत्युक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत।
ददर्श च हतं भूमौ भ्रातरं नकुलं तदा ॥ १६ ॥

तब सहदेव 'बहुत अच्छा' कहकर उसी दिशाकी ओर चल दिये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा, भाई नकुल पृथ्वीपर मरे पड़े हैं ॥ १६ ॥

भ्रातृशोकाभिसंतप्तस्तृषया च प्रपीडितः।
अभिदुद्राव पानीयं ततो वागभ्यभाषत ॥ १७ ॥

भाईके शोकसे उनका हृदय संतप्त हो उठा। साथ ही प्याससे भी वे बहुत कष्ट पा रहे थे; अतः पानीकी ओर दौड़े। उसी समय आकाशवाणी बोल उठी—॥ १७ ॥

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा यथाकामं पिबस्व च हरस्व च ॥ १८ ॥

'तात! पानी पीनेका साहस न करो। यहाँ पहलेसे ही मेरा अधिकार हो चुका है। तुम पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे दो, फिर इच्छानुसार जल पीओ और साथ ले भी जाओ' ॥

अनादृत्य तु तद् वाक्यं सहदेवः पिपासितः।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १९ ॥

प्यासे सहदेव उस वचनकी अवहेलना करके वहाँका ठंडा जल पीने लगे एवं पीते ही अचेत होकर गिर पड़े ॥१९॥

अथाब्रवीत् स विजयं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भ्रातरौ ते चिरगतौ बीभत्सो शत्रुकर्शन ॥ २० ॥

तदनन्तर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा—'शत्रुनाशन बीभत्सो! तुम्हारे दोनों भाइयोंको गये बहुत देर हो गयी ॥ २० ॥

तौ चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां दुःखितानामपाश्रयः ॥ २१ ॥

'तुम्हारा कल्याण हो। तुम उन दोनोंको बुला लाओ और साथ ही पानी भी ले आओ। तात! तुम्हीं हम सब दुखी बन्धुओंके सहारे हो' ॥ २१ ॥

एवमुक्तो गुडाकेशः प्रगृह्य सशरं धनुः।
आमुक्तखड्गो मेधावी तत् सरः प्रत्यपद्यत ॥ २२ ॥

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर निद्राविजयी बुद्धिमान् अर्जुन धनुष-बाण और खड्ग लिये उस सरोवरके तटपर गये ॥२२॥

ततः पुरुषशार्दूलौ पानीयहरणे गतौ।
तौ ददर्श हतौ तत्र भ्रातरौ श्वेतवाहनः ॥ २३ ॥

श्वेतवाहन अर्जुनने जल लानेके लिये गये हुए उन दोनों पुरुषसिंह भाइयोंको वहाँ मरे हुए देखा ॥ २३ ॥

प्रसुप्ताविव तौ दृष्ट्वा नरसिंहः सुदुःखितः।
धनुरुद्यम्य कौन्तेयो व्यलोकयत तद् वनम् ॥ २४ ॥

दोनोंको प्रगाढ़ निद्रामें सोये हुएकी भाँति देखकर मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी अर्जुनको बहुत दुःख हुआ। उन्होंने धनुष उठाकर उस वनका अच्छी तरह निरीक्षण किया ॥ २४ ॥

नापश्यत् तत्र किञ्चित् स भूतमस्मिन् महावने।
सव्यसाची ततः श्रान्तः पानीयं सोऽभ्यधावत ॥ २५ ॥

जब उस विशाल वनमें उन्हें कोई भी हिंसक प्राणी नहीं दिखायी दिया, तब सव्यसाची अर्जुन थककर पानीकी ओर दौड़े ॥ २५ ॥

अभिधावंस्ततो वाक्यमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे।
किमासीदसि पानीयं नैतच्छक्यं बलात् त्वया ॥ २६ ॥
कौन्तेय यदि प्रश्नांस्तान् मयोक्तान् प्रतिपत्स्यसे।
ततः पास्यसि पानीयं हरिष्यसि च भारत ॥ २७ ॥

दौड़ते समय उन्हें आकाशकी ओरसे आती हुई वाणी सुनायी दी—'कुन्तीनन्दन! क्यों पानीके निकट जा रहे हो? तुम जबरदस्ती यह जल नहीं पी सकते। भारत! यदि मेरे उन प्रश्नोंका उत्तर दे सको, तो यहाँका पानी पीओ और साथ ले भी जाओ' ॥ २६-२७ ॥

वारितस्त्वब्रवीत् पार्थो दृश्यमानो निवारय।
यावद् बाणैर्विनिर्भिन्नः पुनर्नैवं वदिष्यसि ॥ २८ ॥

इस प्रकार रोके जानेपर अर्जुनने कहा—'जरा सामने आकर रोको। सामने आते ही बाणोंसे टुकड़े-टुकड़े हो जानेपर फिर तुम इस प्रकार नहीं बोल पाओगे' ॥ २८ ॥

एवमुक्त्वा ततः पार्थः शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः ।
प्रववर्ष दिशः कृत्स्नाः शब्दवेधं च दर्शयन् ॥ २९ ॥

ऐसा कहकर अर्जुनने अपनी शब्दवेध-कलाका परिचय देते हुए दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंकी सब ओर झड़ी लगा दी ॥ २९ ॥

कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन् भरतर्षभ ।
स त्वमोघानिषून् मुक्त्वा तृष्णयाभिप्रपीडितः ॥ ३० ॥
अनेकैरिषुसङ्घातैरन्तरिक्षे ववर्ष ह ।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! अर्जुन उस समय कर्णी, नालीक तथा नाराच आदि बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। प्याससे पीड़ित हुए अर्जुनने कितने ही अमोघ बाणोंका प्रयोग करके आकाशमें भी कई बार बाणसमूहकी वर्षा की ॥ ३०½ ॥

यक्ष उवाच

किं विघातेन ते पार्थ प्रश्नानुक्त्वा ततः पिब ॥ ३१ ॥
अनुक्त्वा च पिबन् प्रश्नान् पीत्वैव न भविष्यसि ।

यक्ष बोला—पार्थ ! इस प्रकार प्राणियोंपर आघात करनेसे क्या लाभ ? पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, फिर जल पीओ। यदि तुम प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना ही यहाँका जल पीओगे, तो पीते ही मर जाओगे ॥ ३१½ ॥

एवमुक्तस्ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः ॥ ३२ ॥
अवज्ञायैव तां वाचं पीत्वैव निपपात ह ।

उसके ऐसा कहनेपर कुन्तीपुत्र सव्यसाची धनंजय उसके वचनोंकी अवहेलना करके जल पीने लगे और पीते ही अचेत होकर गिर पड़े ॥ ३२½ ॥

अथाब्रवीद् भीमसेनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३३ ॥
नकुलः सहदेवश्च बीभत्सुश्च परंतप ।
चिरं गतास्तोयहेतोर्न चागच्छन्ति भारत ॥ ३४ ॥
तांश्चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ।

तब कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने भीमसेनसे कहा—'परंतप ! भरतनन्दन ! नकुल, सहदेव और अर्जुनको पानीके लिये गये बहुत देर हो गयी। वे अभीतक नहीं आ रहे हैं। तुम्हारा कल्याण हो। तुम जाकर उन्हें बुला लाओ और पानी भी ले आओ' ॥ ३३-३४½ ॥

भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा तं देशं प्रत्यपद्यत ॥ ३५ ॥
यत्र ते पुरुषव्याघ्रा भ्रातरोऽस्य निपातिताः ।
तान् दृष्ट्वा दुःखितो भीमस्तृषया च प्रपीडितः ॥ ३६ ॥

तब भीमसेन 'बहुत अच्छा' कहकर उस स्थानपर गये, जहाँ वे पुरुषसिंह तीनों भाई पृथ्वीपर पड़े थे। उन्हें उस अवस्थामें देखकर भीमसेनको बड़ा दुःख हुआ। इधर प्यास भी उन्हें बहुत कष्ट दे रही थी ॥ ३५-३६ ॥

अमन्यत महाबाहुः कर्म तद् यक्षरक्षसाम् ।
स चिन्तयामास तदा योद्धव्यं ध्रुवमद्य वै ॥ ३७ ॥
पास्यामि तावत् पानीयमिति पार्थो वृकोदरः ।
ततोऽभ्यधावत् पानीयं पिपासुः पुरुषर्षभः ॥ ३८ ॥

महाबाहु भीमसेनने मन-ही-मन यह निश्चय किया कि 'यह यक्षों तथा राक्षसोंका काम है।' फिर उन्होंने सोचा; 'आज निश्चय ही मुझे शत्रुके साथ युद्ध करना पड़ेगा, अतः पहले जल तो पी लूँ।' ऐसा निश्चय करके प्यासे नरश्रेष्ठ कुन्तीकुमार भीमसेन जलकी ओर दौड़े ॥ ३७-३८ ॥

यक्ष उवाच

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥ ३९ ॥

यक्ष बोला—तात ! पानी पीनेका साहस न करना। इस जलपर पहलेसे ही मेरा अधिकार स्थापित हो चुका है। कुन्तीकुमार ! पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे दो, फिर पानी पीओ और ले भी जाओ ॥ ३९ ॥

एवमुक्तस्तदा भीमो यक्षेणामिततेजसा ।
अनुक्त्वैव तु तान् प्रश्नान् पीत्वैव निपपात ह ॥ ४० ॥

अमिततेजस्वी यक्षके ऐसा कहनेपर भी भीमसेन उन प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना ही जल पीने लगे और पीते ही मूर्छित होकर गिर पड़े ॥ ४० ॥

ततः कुन्तीसुतो राजा प्रचिन्त्य पुरुषर्षभः ।
समुत्थाय महाबाहुर्दह्यमानेन चेतसा ॥ ४१ ॥
व्यपेतजननिर्घोषं प्रविवेश महावनम् ।
रुरुभिश्च वराहैश्च पक्षिभिश्च निषेवितम् ॥ ४२ ॥

तदनन्तर कुन्तीपुत्र पुरुषरत्न महाबाहु राजा युधिष्ठिर बहुत देरतक सोच-विचार करके उठे और जलते हुए हृदयसे उन्होंने उस विशाल वनमें प्रवेश किया, जहाँ मनुष्योंकी आवाजतक नहीं सुनायी देती थी। वहाँ रुरु मृग, वराह तथा पक्षियोंके समुदाय ही निवास करते थे ॥ ४१-४२ ॥

नीलभास्वरवर्णैश्च पादपैरुपशोभितम् ।
भ्रमरैरुपगीतं च पक्षिभिश्च महायशाः ॥ ४३ ॥

नीले रंगके चमकीले वृक्ष उस वनकी शोभा बढ़ा रहे थे। भ्रमरोंके गुञ्जन और विहंगोंके कलरवसे वह वनप्रान्त शब्दायमान हो रहा था ॥ ४३ ॥

स गच्छन् कानने तस्मिन् हेमजालपरिष्कृतम् ।
ददर्श तत् सरः श्रीमान् विश्वकर्मकृतं यथा ॥ ४४ ॥

महायशस्वी श्रीमान् युधिष्ठिरने उस वनमें विचरण करते हुए उस सरोवरको देखा, जो सुनहरे रंगके कुसुमकेसरोंसे विभूषित था। जान पड़ता था; साक्षात् विश्वकर्माने ही उसका निर्माण किया है ॥ ४४ ॥

उपेतं नलिनीजालैः सिन्धुवारैः सवेतसैः ।
केतकैः करवीरैश्च पिप्पलैश्चैव संवृतम् ।
(ततो धर्मसुतः श्रीमान् भ्रातृदर्शनलालसः।)
श्रमार्तस्तदुपागम्य सरो दृष्ट्वाथ विस्मितः ॥ ४५ ॥

उस सरोवरका जल कमलकी बेलोंसे आच्छादित हो रहा था और उसके चारों किनारोंपर सिंदुवार, बेंत, केवड़े, करवीर तथा पीपलके वृक्ष उसे घेरे हुए थे। उस समय भाइयोंसे मिलनेके लिये उत्सुक श्रीमान् धर्मनन्दन युधिष्ठिर थकावटसे पीड़ित हो उस सरोवरपर आये और वहाँकी अवस्था देखकर बड़े विस्मित हुए ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि नकुलादिपतने द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें नकुल आदि चारों भाइयोंके मूर्छित होकर गिरनेसे सम्बन्ध रखनेवाला तीन सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

यक्ष और युधिष्ठिरका प्रश्नोत्तर तथा युधिष्ठिरके उत्तरसे संतुष्ट हुए यक्षका चारों भाइयोंके जीवित होनेका वरदान देना

वैशम्पायन उवाच

स ददर्श हतान् भ्रातॄँल्लोकपालानिव च्युतान् ।
युगान्ते समनुप्राप्ते शक्रप्रतिमगौरवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरने इन्द्रके समान गौरवशाली अपने भाइयोंको सरोवरके तटपर निर्जीवकी भाँति पड़े हुए देखा; मानो प्रलयकालमें सम्पूर्ण लोकपाल अपने लोकोंसे भ्रष्ट होकर गिर गये हों ॥ १ ॥

विनिकीर्णधनुर्बाणं दृष्ट्वा निहतमर्जुनम् ।
भीमसेनं यमौ चैव निर्विचेष्टान् गतायुषः ॥ २ ॥
स दीर्घमुष्णं निःश्वस्य शोकबाष्पपरिप्लुतः ।
तान् दृष्ट्वा पतितान् भ्रातॄन् सर्वांश्चिन्तासमन्वितः ॥ ३ ॥
धर्मपुत्रो महाबाहुर्विललाप सुविस्तरम् ।

अर्जुन मरे पड़े थे; उनके धनुष-बाण इधर-उधर बिखरे थे। भीमसेन और नकुल-सहदेव भी प्राणरहित हो निश्चेष्ट हो गये थे। इन सबको देखकर युधिष्ठिर गरम-गरम लंबी साँसें खींचने लगे। उनके नेत्रोंसे शोकके आँसू उमड़कर उन्हें भिगो रहे थे। अपने समस्त भ्राताओंको इस प्रकार धराशायी हुए देख महाबाहु धर्मपुत्र युधिष्ठिर गहरी चिन्तामें डूब गये और देरतक विलाप करते रहे—॥ २-३½ ॥

ननु त्वया महाबाहो प्रतिज्ञातं वृकोदर ॥ ४ ॥
सुयोधनस्य भेत्स्यामि गदया सक्थिनी रणे ।
व्यर्थं तदद्य मे सर्वं त्वयि वीर निपातिते ॥ ५ ॥
महात्मनि महाबाहो कुरूणां कीर्तिवर्धने ।

वे बोले—'महाबाहु वृकोदर ! तुमने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं युद्धमें अपनी गदासे दुर्योधनकी दोनों जाँघें तोड़ डालूँगा।' महाबाहो ! तुम कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले थे। तुम्हारा हृदय विशाल था। वीर ! आज तुम्हारे गिर जानेसे मेरेलिये वह सब कुछ व्यर्थ हो गया ॥४-५½॥

मनुष्यसम्भवा वाचो विधर्मिण्यः प्रतिश्रुताः ॥ ६ ॥
भवतां दिव्यवाचस्तु ता भवन्तु कथं मृषा ।

'साधारण मनुष्योंकी बातें तथा उनकी प्रतिज्ञाएँ तो झूठी निकल जाती हैं; परंतु तुमलोगोंके सम्बन्धमें जो दिव्य वाणियाँ हुई थीं, वे कैसे मिथ्या हो सकती हैं ? ॥ ६½ ॥

देवाश्चापि यदाब्रोचन् सूतके त्वां धनंजय ॥ ७ ॥
सहस्राक्षादनवरः कुन्ति पुत्रस्तवेति वै ।
उत्तरे पारियात्रे च जगुर्भूतानि सर्वशः ॥ ८ ॥
विप्रणष्टां श्रियं चैषामाहर्ता पुनरञ्जसा ।
नास्य जेता रणे कश्चिदजेता नैष कस्यचित् ॥ ९ ॥

"धनंजय ! जब तुम्हारा जन्म हुआ था, उस समय देवताओंने भी कहा था कि 'कुन्ती ! तुम्हारा यह पुत्र सहस्रनेत्रधारी इन्द्रसे किसी बातमें कम न होगा।' उत्तर पारियात्र पर्वतपर सब प्राणियोंने तुम्हारे विषयमें यही कहा था कि 'ये अर्जुन शीघ्र ही पाण्डवोंकी खोयी हुई राजलक्ष्मीको पुनः लौटा लायेंगे। युद्धमें कोई भी इनपर विजय पानेवाला न होगा और ये भी किसीको परास्त किये बिना न रहेंगे" ॥७–९ ॥

सोऽयं मृत्युवशं यातः कथं जिष्णुर्महाबलः ।
अयं ममाशां संहत्य शेते भूमौ धनंजयः ॥ १० ॥
आश्रित्य यं वयं नाथं दुःखान्येतानि सेहिम ।

'वे ही महाबली अर्जुन आज मृत्युके अधीन कैसे हो गये ? ये वे ही धनंजय मेरी आशालताको छिन्न-भिन्न करके धरतीपर पड़े हैं; जिन्हें अपना रक्षक बनाकर और जिनका ही भारी भरोसा करके हमलोग ये सारे दुःख सहते आये हैं ॥१०½ ॥

रणे प्रमत्तौ वीरौ च सदा शत्रुनिबर्हणौ ॥ ११ ॥
कथं रिपुवशं यातौ कुन्तीपुत्रौ महाबलौ ।
यौ सर्वास्त्राप्रतिहतौ भीमसेनधनंजयौ ॥ १२ ॥

'कुन्तीके ये दोनों महाबली पुत्र भीमसेन और अर्जुन—जो

किसी भी अस्त्रसे प्रतिहत न होनेवाले, समराङ्गणमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले तथा सदैव शत्रुओंका संहार करनेवाले वीर थे, वे आज सहसा शत्रुके अधीन कैसे हो गये ? ॥ ११-१२ ॥

अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम दुर्हृदः ।
यमौ यदेतौ दृष्ट्वाद्य पतितौ नावदीर्यते ॥ १३ ॥

'मुझ दुष्टका हृदय निश्चय ही पत्थर और लोहेका बना हुआ है, जो कि आज इन दोनों भाई नकुल और सहदेवको धरतीपर पड़ा देख विदीर्ण नहीं हो जाता है ॥ १३ ॥

शास्त्रज्ञा देशकालज्ञास्तपोयुक्ताः क्रियान्विताः ।
अकृत्वा सदृशं कर्म किं शेध्वं पुरुषर्षभाः ॥ १४ ॥

'पुरुषसिंह बन्धुओ ! तुमलोग शास्त्रोंके विद्वान्, देशकालको समझनेवाले, तपस्वी और कर्मठ वीर थे। अपने योग्य पराक्रम किये बिना ही तुमलोग (प्राणहीन हो) कैसे सो रहे हो ? ॥ १४ ॥

अविक्षतशरीराश्चाप्यप्रमृष्टशरासनाः ।
असंज्ञा भुवि संगम्य किं शेध्वमपराजिताः ॥ १५ ॥

'तुम्हारे शरीरोंमें कोई घाव नहीं है, तुमने धनुष-बाणका स्पर्शतक नहीं किया है तथा तुम किसीसे परास्त होनेवाले नहीं हो; ऐसी दशामें इस पृथ्वीपर संज्ञाशून्य होकर क्यों पड़े हो ?' ॥ १५ ॥

सानूनिवाद्रेः संसुप्तान् दृष्ट्वा भ्रातॄन् महामतिः ।
सुखं प्रसुप्तान् प्रस्विन्नः खिन्नः कष्टां दशां गतः ॥ १६ ॥

परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर धरतीपर पड़े हुए पर्वत-शिखरोंके समान अपने भाइयोंको इस प्रकार सुखकी नींद सोते देखकर बहुत दुखी हुए। उनके सारे अङ्गोंमें पसीना निकल आया और वे अत्यन्त कष्टप्रद अवस्थामें पहुँच गये ॥

एवमेवेदमित्युक्त्वा धर्मात्मा स नरेश्वरः ।
शोकसागरमध्यस्थो दध्यौ कारणमाकुलः ॥ १७ ॥

'यह ऐसी ही होनहार है', ऐसा कहकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर शोकसागरमें मग्न तथा व्याकुल होकर भाइयोंकी मृत्युके कारणपर विचार करने लगे ॥ १७ ॥

इतिकर्तव्यतां चेति देशकालविभागवित् ।
नाभिपेदे महाबाहुश्चिन्तयानो महामतिः ॥ १८ ॥

वे यह भी सोचने लगे कि 'अब क्या करना चाहिये ?' महाबुद्धिमान् महाबाहु युधिष्ठिर देश और कालके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जाननेवाले थे; तो भी बहुत सोचने-विचारनेपर भी वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके ॥ १८ ॥

अथ संस्तभ्य धर्मात्मा तदाऽऽत्मानं तपोयुतः ।
एवं विलप्य बहुधा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १९ ॥
बुद्ध्या विचिन्तयामास वीराः केन निपातिताः॥ २० ॥
नैषां शस्त्रप्रहारोऽस्ति पदं नेहास्ति कस्यचित् ।
भूतं महदिदं मन्ये भ्रातरो येन मे हताः ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् धर्मात्मा और तपस्वी धर्मपुत्र युधिष्ठिर अपने मनको स्थिर करके बहुत विलाप करनेके पश्चात् अपनी बुद्धि-द्वारा यह विचार करने लगे—'इन वीरोंको किसने मार गिराया है ? इनके शरीरोंमें अस्त्र-शस्त्रोंके आघातका कोई चिह्न नहीं है और न इस स्थानपर किसी दूसरेके पैरोंका निशान ही है। मैं समझता हूँ, अवश्य वह कोई भारी भूत है, जिसने मेरे भाइयोंको मारा है ॥ १९–२१ ॥

एकाग्रं चिन्तयिष्यामि पीत्वा वेत्स्यामि वा जलम् ।
स्यात् तु दुर्योधनेनेदमुपांशुविहितं कृतम् ॥ २२ ॥

'इस विषयमें मैं चित्तको एकाग्र करके फिर सोचूँगा अथवा पानी पीकर इस रहस्यको समझनेकी चेष्टा करूँगा। सम्भव है, दुर्योधनने चुपके-चुपके कोई षड्यन्त्र किया हो ॥

गान्धारराजरचितं सततं जिह्मबुद्धिना ।
यस्य कार्यमकार्यं वा सममेव भवत्युत ॥ २३ ॥
कस्तस्य विश्वसेद् वीरो दुष्कृतेरकृतात्मनः ।
अथवा पुरुषैर्गूढैः प्रयोगोऽयं दुरात्मनः ॥ २४ ॥

'अथवा जिसकी बुद्धिमें सदा कुटिलता ही निवास करती है, उस गान्धारराज शकुनिकी भी यह करतूत हो सकती है। जिसके लिये कर्तव्य और अकर्तव्य दोनों बराबर हैं, उस अजितात्मा पापी शकुनिपर कौन वीर पुरुष विश्वास कर सकता है ? अथवा गुप्तरूपसे नियुक्त किये हुए पुरुषोंद्वारा दुरात्मा दुर्योधनने ही यह हिंसात्मक प्रयोग किया होगा' ॥ २३-२४ ॥

भवेदिति महाबुद्धिर्बहुधा तदचिन्तयत् ।
तस्यासीन्न विषेणेदमुदकं दूषितं यथा ॥ २५ ॥

इस प्रकार परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर भाँति-भाँतिकी चिन्ता करने लगे। (परीक्षा करनेपर) उन्हें इस बातका निश्चय हो गया था कि इस सरोवरके जलमें जहर नहीं मिलाया गया है ॥

मृतानामपि चैतेषां विकृतं नैव जायते ।
मुखवर्णाः प्रसन्ना मे भ्रातॄणामित्यचिन्तयत्॥ २६ ॥

'क्योंकि मर जानेपर भी मेरे इन भाइयोंके शरीरमें कोई विकृति नहीं उत्पन्न हुई है। अब भी मेरे भाइयोंके मुखकी कान्ति प्रसन्न है।' इस तरह वे सोच-विचारमें ही डूबे रहे ॥

एकैकशश्चौघबलानिमान् पुरुषसत्तमान् ।
कोऽन्यः प्रतिसमासेत कालान्तकयमादृते ॥ २७ ॥

'मेरे इन पुरुषरत्न भाइयोंमेंसे प्रत्येकके शरीरमें बलका अगाध सिन्धु लहराता था। आयु पूर्ण होनेपर सबका अन्त कर देनेवाले यमराजके सिवा दूसरा कौन इनसे भिड़ सकता था ?' ॥ २७ ॥

एतेन व्यवसायेन तत् तोयं व्यवगाढवान् ।
गाहमानश्च तत् तोयमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे ॥ २८ ॥

इस प्रकार निश्चय करके युधिष्ठिर जलमें उतरे। पानीमें प्रवेश करते ही उनके कानोंमें आकाशवाणी सुनायी दी ॥

यक्ष उवाच

अहं बकः शैवलमत्स्यभक्षो
नीता मया प्रेतवशं तवानुजाः ।
त्वं पञ्चमो भविता राजपुत्र
न चेत् प्रश्नान् पृच्छतो व्याकरोषि॥२९॥

यक्ष बोला—राजकुमार ! मैं सेवार और मछली खानेवाला बगुला हूँ। मैंने ही तुम्हारे छोटे भाइयोंको यमलोक भेजा है; अतः मेरे पूछनेपर यदि तुम मेरे प्रश्नोंका उत्तर न दोगे, तो तुम भी यमलोकके पाँचवें अतिथि होओगे॥ २९ ॥

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥ ३० ॥

तात ! जल पीनेका साहस न करना। इसपर मेरा पहलेसे ही अधिकार हो गया है। कुन्तीकुमार! मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो और तब जल पीओ और ले भी जाओ ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच

रुद्राणां वा वसूनां वा मरुतां वा प्रधानभाक् ।
पृच्छामि को भवान् देवो नैतच्छकुनिना कृतम्॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर बोले—मैं पूछता हूँ, तुम रुद्रों, वसुओं अथवा मरुद्गणोंमेंसे कौन-से प्रधान देवता हो ? बताओ। यह काम किसी पक्षीका किया हुआ नहीं हो सकता ! ।३१।

हिमवान् पारियात्रश्च विन्ध्यो मलय एव च ।
चत्वारः पर्वताः केन पातिता भूरितेजसः ॥ ३२॥

मेरे महातेजस्वी भाई हिमवान्, पारियात्र, विन्ध्य तथा मलय—इन चारों पर्वतोंके समान हैं। इन्हें किसने मार गिराया है ? ॥ ३२ ॥

अतीव ते महत् कर्म कृतं च बलिनां वर ।
यान् न देवा न गन्धर्वा नासुराश्च न राक्षसाः॥ ३३ ॥
विषहेरन् महायुद्धे कृतं ते तन्महाद्भुतम् ।
न ते जानामि यत् कार्यं नाभिजानामि काङ्क्षितम्॥ ३४ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ वीर! तुमने यह अत्यन्त महान् कर्म किया है। बड़े-बड़े युद्धोंमें जिन वीरों (के प्रभाव) को देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस भी नहीं सह सकते थे, उन्हें गिराकर तुमने परम अद्भुत पराक्रम किया है। तुम्हारा कार्य क्या है ? यह मैं नहीं जानता। तुम क्या चाहते हो ? इसका भी मुझे पता नहीं है ॥ ३३-३४ ॥

कौतूहलं महज्जातं साध्वसं चागतं मम ।
येनास्म्युद्विग्नहृदयः समुत्पन्नशिरोज्वरः ॥ ३५ ॥
पृच्छामि भगवंस्तस्मात् को भवानिह तिष्ठति ।

तुम्हारे विषयमें मुझे महान् कौतूहल हो गया है। तुमसे मुझे कुछ भय भी लगने लगा है, जिससे मेरा हृदय उद्विग्न हो उठा है और सिरमें संताप होने लगा है। अतः भगवन् ! मैं विनयपूर्वक पूछता हूँ, तुम यहाँ कौन विराज रहे हो ? ॥

यक्ष उवाच

यक्षोऽहमस्मि भद्रं ते नास्मि पक्षी जलेचरः ॥ ३६ ॥
मयैते निहताः सर्वे भ्रातरस्ते महौजसः ।

यक्षने कहा—तुम्हारा कल्याण हो। मैं जलचर पक्षी नहीं हूँ, यक्ष हूँ। तुम्हारे ये सभी महान् तेजस्वी भाई मेरेद्वारा ही मारे गये हैं ॥ ३६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तामशिवां श्रुत्वा वाचं स परुषाक्षराम् ॥ ३७ ॥
यक्षस्य ब्रुवतो राजन्नुपक्रम्य तदा स्थितः ।
विरूपाक्षं महाकायं यक्षं तालसमुच्छ्रयम् ॥ ३८ ॥
ज्वलनार्कप्रतीकाशमधृष्यं पर्वतोपमम् ।
वृक्षमाश्रित्य तिष्ठन्तं ददर्श भरतर्षभः ॥ ३९ ॥
मेघगम्भीरनादेन तर्जयन्तं महास्वनम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् उस समय इस प्रकार बोलनेवाले उस यक्षकी वह अमङ्गलमयी और कठोर वाणी सुनकर भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर उसके पास जाकर खड़े हो गये । उन्होंने देखा, एक विकट नेत्रोंवाला विशालकाय यक्ष वृक्षके ऊपर बैठा है । वह बड़ा ही दुर्धर्ष, ताड़के समान लंबा, अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी तथा पर्वतके समान ऊँचा है। वही अपनी मेघके समान गम्भीर नादयुक्त वाणीसे उन्हें फटकार रहा है। उसकी आवाज बहुत ऊँची है ॥ ३७—३९½ ॥

यक्ष उवाच

इमे ते भ्रातरो राजन् वार्यमाणा मयासकृत् ॥ ४० ॥
बलात् तोयं जिहीर्षन्तस्ततो वै मृदिता मया ।
न पेयमुदकं राजन् प्राणानिह परीप्सता ॥ ४१ ॥
पार्थ मा साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥ ४२ ॥

यक्षने कहा—राजन् ! तुम्हारे इन भाइयोंको मैंने बार-बार रोका था; फिर भी ये बलपूर्वक जल ले जाना चाहते थे; इसीसे मैंने इन्हें मार डाला । महाराज युधिष्ठिर ! यदि तुम्हें अपने प्राण बचानेकी इच्छा हो, तो वहाँ जल नहीं पीना चाहिये । पार्थ ! तुम पानी पीनेका साहस न करना, यह पहलेसे ही मेरे अधिकारकी वस्तु है। कुन्तीनन्दन ! पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, उसके बाद जल पीओ और ले भी जाओ ॥ ४०—४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न चाहं कामये यक्ष तव पूर्वपरिग्रहम् ।
कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तो हि पुरुषाः सदा ॥ ४३ ॥
यदात्मना स्वमात्मानं प्रशंसे पुरुषर्षभ ।
यथाप्रज्ञं तु ते प्रश्नान् प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम् ॥४४॥

युधिष्ठिरने कहा—यक्ष ! मैं तुम्हारे अधिकारकी वस्तुको नहीं ले जाना चाहता । मैं स्वयं ही अपनी बड़ाई

करूँ; इस बातकी सत्पुरुष कभी प्रशंसा नहीं करते। मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दूँगा, तुम मुझसे प्रश्न करो ॥ ४३-४४ ॥

यक्ष उवाच

किं स्विदादित्यमुन्नयति के च तस्याभितश्चराः ।
कश्चैनमस्तं नयति कस्मिंश्च प्रतितिष्ठति ॥ ४५ ॥

यक्षने पूछा—सूर्यको कौन ऊपर उठाता (उदित) करता है ? उसके चारों ओर कौन चलते हैं ? उसे अस्त कौन करता है ? और वह किसमें प्रतिष्ठित है ? ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याभितश्चराः ।
धर्मश्चास्तं नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्म सूर्यको ऊपर उठाता (उदित करता) है, देवता उसके चारों ओर चलते हैं, धर्म उसे अस्त करता है और वह सत्यमें प्रतिष्ठित है ॥ ४६ ॥

यक्ष उवाच

केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति केनस्विद् विन्दते महत् ।
केनस्विद् द्वितीयवान् भवति राजन् केन च बुद्धिमान्॥

यक्षने पूछा—राजन् ! मनुष्य श्रोत्रिय किससे होता है ? महत्पदको किसके द्वारा प्राप्त करता है ? वह किसके द्वारा द्वितीयवान् होता है ? और किससे बुद्धिमान् होता है ? ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विन्दते महत् ।
धृत्या द्वितीयवान् भवति बुद्धिमान् वृद्धसेवया ॥४८॥

युधिष्ठिर बोले—वेदाध्ययनके द्वारा मनुष्य श्रोत्रिय होता है, तपसे महत्पद प्राप्त करता है, धैर्यसे द्वितीयवान् (दूसरे साथीसे युक्त) होता है और वृद्ध पुरुषोंकी सेवासे बुद्धिमान् होता है ॥ ४८ ॥

यक्ष उवाच

किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ४९ ॥

यक्षने पूछा—ब्राह्मणोंमें देवत्व क्या है ? उनमें सत्पुरुषोंका-सा धर्म क्या है ? उनका मनुष्यभाव क्या है ? और उनमें असत्पुरुषोंका-सा आचरण क्या है ? ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव ।
मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव ॥ ५० ॥

युधिष्ठिर बोले—वेदोंका स्वाध्याय ही ब्राह्मणोंमें देवत्व है, तप सत्पुरुषोंका-सा धर्म है, मरना मनुष्य-भाव है और निन्दा करना असत्पुरुषोंका-सा आचरण है ॥ ५० ॥

यक्ष उवाच

किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ५१ ॥

यक्षने पूछा—क्षत्रियोंमें देवत्व क्या है ? उनमें सत्पुरुषोंका-सा धर्म क्या है ? उनका मनुष्य-भाव क्या है ? और उनमें असत्पुरुषोंका-सा आचरण क्या है ? ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव ।
भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर बोले—बाणविद्या क्षत्रियोंका देवत्व है, यज्ञ उनका सत्पुरुषोंका-सा धर्म है, भय मानवीय भाव है और शरणमें आये हुए दुखियोंका परित्याग कर देना उनमें असत्पुरुषोंका-सा आचरण है ॥ ५२ ॥

यक्ष उवाच

किमेकं यज्ञियं साम किमेकं यज्ञियं यजुः ।
का चैषां वृणुते यज्ञं कां यज्ञो नातिवर्तते ॥ ५३ ॥

यक्षने पूछा—कौन एक वस्तु यज्ञिय साम है ? कौन एक (यज्ञसम्बन्धी) यज्ञिय यजु है ? कौन एक वस्तु यज्ञका वरण करती है ? और किस एकका यज्ञ अतिक्रमण नहीं करता ? ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्राणो वै यज्ञियं साम मनो वै यज्ञियं यजुः ।
ऋगेका वृणुते यज्ञं तां यज्ञो नातिवर्तते ॥ ५४ ॥

युधिष्ठिर बोले—प्राण ही यज्ञिय साम है, मन ही यज्ञसम्बन्धी यजु है, एकमात्र ऋचा ही यज्ञका वरण करती है और उसीका यज्ञ अतिक्रमण नहीं करता ॥ ५४ ॥

यक्ष उवाच

किंस्विदावपतां श्रेष्ठं किंस्विन्निवपतां वरम् ।
किंस्वित् प्रतिष्ठमानानां किंस्वित् प्रसवतां वरम् ॥ ५५ ॥

यक्षने पूछा—खेती करनेवालोंके लिये कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है ? बिखेरने (बोने) वालोंके लिये क्या श्रेष्ठ है ? प्रतिष्ठा-प्राप्त धनियोंके लिये कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है ? तथा संतानोत्पादन करनेवालोंके लिये क्या श्रेष्ठ है ? ॥ ५५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वर्षमावपतां श्रेष्ठं बीजं निवपतां वरम् ।
गावः प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रसवतां वरः ॥ ५६ ॥

युधिष्ठिर बोले—खेती करनेवालोंके लिये वर्षा श्रेष्ठ है। बिखेरने (बोने) वालोंके लिये बीज श्रेष्ठ है। प्रतिष्ठाप्राप्त धनियोंके लिये गौ (का पालन-पोषण और संग्रह) श्रेष्ठ है और संतानोत्पादन करनेवालोंके लिये पुत्र श्रेष्ठ है ॥

यक्ष उवाच

इन्द्रियार्थाननुभवन् बुद्धिमाँल्लोकपूजितः ।
सम्मतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन् को न जीवति ॥ ५७ ॥

यक्षने पूछा—ऐसा कौन पुरुष है, जो बुद्धिमान्, लोकमें सम्मानित और सब प्राणियोंका माननीय होकर एवं इन्द्रियोंके विषयोंको अनुभव करते तथा श्वास लेते हुए भी वास्तवमें जीवित नहीं है ? ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन् न स जीवति॥ ५८ ॥

युधिष्ठिरने कहा—जो देवता, अतिथि, भरणीय कुटुम्बीजन, पितर और आत्मा—इन पाँचोंका पोषण नहीं करता, वह श्वास लेनेपर भी जीवित नहीं है ॥ ५८ ॥

यक्ष उवाच

किंस्विद् गुरुतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरं च खात् ।
किंस्विच्छीघ्रतरं वायोः किंस्विद् बहुतरं तृणात्॥ ५९ ॥

यक्षने पूछा—पृथ्वीसे भी भारी क्या है ? आकाशसे भी ऊँचा क्या है ? वायुसे भी तेज चलनेवाला क्या है ? और तिनकोंसे भी अधिक (असंख्य) क्या है ? ॥ ५९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा ।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरी तृणात् ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर बोले—माताका गौरव पृथ्वीसे भी अधिक है । पिता आकाशसे भी ऊँचा है । मन वायुसे भी तेज चलनेवाला है और चिन्ता तिनकोंसे भी अधिक असंख्य एवं अनन्त है ॥ ६० ॥

यक्ष उवाच

किंस्वित् सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति ।
कस्यस्विद्धृदयं नास्ति किंस्विद् वेगेन वर्धते ॥ ६१ ॥

यक्षने पूछा—कौन सोनेपर भी आँखें नहीं मूँदता ? उत्पन्न होकर भी कौन चेष्टा नहीं करता ? किसमें हृदय नहीं है ? और कौन वेगसे बढ़ता है ? ॥ ६१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥ ६२ ॥

युधिष्ठिर बोले—मछली सोनेपर भी आँखें नहीं मूँदती, अण्डा उत्पन्न होकर भी चेष्टा नहीं करता, पत्थरमें हृदय नहीं है और नदी वेगसे बढ़ती है ॥ ६२ ॥

यक्ष उवाच

किंस्वित् प्रवसतो मित्रं किंस्विन्मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य च किं मित्रं किंस्विन्मित्रं मरिष्यतः ॥ ६३ ॥

यक्षने पूछा—प्रवासी (परदेशके यात्री) का मित्र कौन है ? गृहवासी (गृहस्थ) का मित्र कौन है ? रोगीका मित्र कौन है ? और मृत्युके समीप पहुँचे हुए पुरुषका मित्र कौन है ? ॥ ६३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य भिषङ्मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः ॥ ६४ ॥

युधिष्ठिर बोले—सहयात्रियोंका समुदाय अथवा साथमें यात्रा करनेवाला साथी ही प्रवासीका मित्र है, पत्नी गृहवासीका मित्र है, वैद्य रोगीका मित्र है और दान मुमूर्षु (अर्थात् मरनेवाले) मनुष्यका मित्र है ॥ ६४ ॥

यक्ष उवाच

कोऽतिथिः सर्वभूतानां किंस्विद् धर्मं सनातनम् ।
अमृतं किंस्विद् राजेन्द्र किंस्वित् सर्वमिदं जगत्॥ ६५ ॥

यक्षने पूछा—राजेन्द्र ! समस्त प्राणियोंका अतिथि कौन है ? सनातन धर्म क्या है ? अमृत क्या है ? और यह सारा जगत् क्या है ? ॥ ६५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अतिथिः सर्वभूतानामग्निः सोमो गवामृतम् ।
सनातनोऽमृतो धर्मो वायुः सर्वमिदं जगत् ॥ ६६ ॥

युधिष्ठिर बोले—अग्नि समस्त प्राणियोंका अतिथि है, गौका दूध अमृत है, अविनाशी नित्य धर्म ही सनातन धर्म है और वायु यह सारा जगत् है ॥ ६६ ॥

यक्ष उवाच

किंस्विदेको विचरते जातः को जायते पुनः ।
किंस्विद्धिमस्य भैषज्यं किंस्विदावपनं महत् ॥ ६७ ॥

यक्षने पूछा—अकेला कौन विचरता है ? एक बार उत्पन्न होकर पुनः कौन उत्पन्न होता है ? शीतकी ओषधि क्या है ? और महान् आवपन (क्षेत्र) क्या है? ॥ ६७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सूर्य एको विचरते चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत् ॥ ६८ ॥

युधिष्ठिर बोले—सूर्य अकेला विचरता है, चन्द्रमा एक बार जन्म लेकर पुनः जन्म लेता है, अग्नि शीतकी ओषधि है और पृथ्वी बड़ा भारी आवपन है ॥ ६८ ॥

यक्ष उवाच

किंस्विदेकपदं धर्म्यं किंस्विदेकपदं यशः ।
किंस्विदेकपदं स्वर्ग्यं किंस्विदेकपदं सुखम् ॥ ६९ ॥

यक्षने पूछा—धर्मका मुख्य स्थान क्या है ? यशका मुख्य स्थान क्या है ? स्वर्गका मुख्य स्थान क्या है ? और सुखका मुख्य स्थान क्या है ? ॥ ६९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः ।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ॥ ७० ॥

युधिष्ठिर बोले—धर्मका मुख्य स्थान दक्षता है, यशका मुख्य स्थान दान है, स्वर्गका मुख्य स्थान सत्य है और सुखका मुख्य स्थान शील है ॥ ७० ॥

यक्ष उवाच

किंस्विदात्मा मनुष्यस्य किंस्विद् दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं किंस्विदस्य किंस्विदस्य परायणम् ॥ ७१ ॥

यक्षने पूछा—मनुष्यकी आत्मा क्या है ? इसका दैवकृत सखा कौन है ? इसका उपजीवन (जीवनका सहारा) क्या है और इसका परम आश्रय क्या है ? ॥ ७१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम् ॥ ७२ ॥

युधिष्ठिर बोले—पुत्र मनुष्यकी आत्मा है, स्त्री इसकी दैवकृत सहचरी है, मेघ उपजीवन है और दान इसका परम आश्रय है ॥ ७२ ॥

यक्ष उवाच

धन्यानामुत्तमं किंस्विद् धनानां स्यात् किमुत्तमम् ।
लाभानामुत्तमं किं स्यात् सुखानां स्यात् किमुत्तमम् ७३

यक्षने पूछा—धन्यवादके योग्य पुरुषोंमें उत्तम गुण क्या है ? धनोंमें उत्तम धन क्या है ? लाभोंमें प्रधान लाभ क्या है ? और सुखोंमें उत्तम सुख क्या है ? ॥ ७३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम् ।
लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ॥ ७४ ॥

युधिष्ठिर बोले—धन्य पुरुषोंमें दक्षता ही उत्तम गुण है, धनोंमें शास्त्रज्ञान प्रधान है, लाभोंमें आरोग्य श्रेष्ठ है और सुखोंमें संतोष ही उत्तम सुख है ॥ ७४ ॥

यक्ष उवाच

कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः ।
किं नियम्य न शोचन्ति कैश्च संधिर्न जीर्यते ॥ ७५ ॥

यक्षने पूछा—लोकमें श्रेष्ठ धर्म क्या है ? नित्य फलवाला धर्म क्या है ? किसको वशमें रखनेसे मनुष्य शोक नहीं करते ? और किनके साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती ? ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः ।
मनो यम्य न शोचन्ति संधिः सद्भिर्न जीर्यते ॥ ७६ ॥

युधिष्ठिर बोले—लोकमें दया श्रेष्ठ धर्म है, वेदोक्त धर्म नित्य फलवाला है, मनको वशमें रखनेसे मनुष्य शोक नहीं करते और सत्पुरुषोंके साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती ॥ ७६ ॥

यक्ष उवाच

किं नु हित्वा प्रियो भवति
किं नु हित्वा न शोचति ।
किं नु हित्वार्थवान् भवति
किं नु हित्वा सुखी भवेत् ॥ ७७ ॥

यक्षने पूछा—किस वस्तुको त्यागकर मनुष्य प्रिय होता है ? किसको त्यागकर शोक नहीं करता ? किसको त्यागकर वह अर्थवान् होता है ? और किसको त्यागकर सुखी होता है ? ॥ ७७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मानं हित्वा प्रियो भवति
क्रोधं हित्वा न शोचति ।
कामं हित्वार्थवान् भवति
लोभं हित्वा सुखी भवेत् ॥ ७८ ॥

युधिष्ठिर बोले—मानको त्याग देनेपर मनुष्य प्रिय होता है, क्रोधको त्यागकर शोक नहीं करता, कामको त्यागकर वह अर्थवान् होता है और लोभको त्यागकर सुखी होता है ॥ ७८ ॥

यक्ष उवाच

किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्तके ।
किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु ॥ ७९ ॥

यक्षने पूछा—ब्राह्मणको किसलिये दान दिया जाता है ? नट और नर्तकोंको क्यों दान देते हैं ? सेवकोंको दान देनेका क्या प्रयोजन है ? और राजाओंको क्यों दान दिया जाता है ? ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोऽर्थं नटनर्तके ।
भृत्येषु भरणार्थं भयार्थं चैव राजसु ॥ ८० ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्राह्मणको धर्मके लिये दान दिया जाता है, नट-नर्तकोंको यशके लिये दान (धन) देते हैं, सेवकोंको उनके भरण-पोषणके लिये दान (वेतन) दिया जाता है और राजाओंको भयके कारण दान (कर) देते हैं ॥ ८० ॥

यक्ष उवाच

केनस्विदावृतो लोकः केनस्विन्न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥ ८१ ॥

यक्षने पूछा—जगत् किस वस्तुसे ढका हुआ है ?

किसके कारण वह प्रकाशित नहीं होता ? मनुष्य मित्रोंको किसलिये त्याग देता है ? और स्वर्गमें किस कारण नहीं जाता ? ॥ ८१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अज्ञानेनावृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते ।
लोभात् त्यजति मित्राणि संगात् स्वर्गं न गच्छति॥८२॥

युधिष्ठिर बोले—जगत् अज्ञानसे ढका हुआ है, तमोगुणके कारण वह प्रकाशित नहीं होता, लोभके कारण मनुष्य मित्रोंको त्याग देता है और आसक्तिके कारण स्वर्गमें नहीं जाता ॥ ८२ ॥

यक्ष उवाच

मृतः कथं स्यात् पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत् ।
श्राद्धं मृतं कथं वा स्यात् कथं यज्ञो मृतो भवेत् ॥ ८३ ॥

यक्षने पूछा—पुरुष किस प्रकार मरा हुआ कहा जाता है ? राष्ट्र किस प्रकार मर जाता है ? श्राद्ध किस प्रकार मृत हो जाता है ? और यज्ञ कैसे नष्ट हो जाता है ? ॥ ८३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रमराजकम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥ ८४ ॥

युधिष्ठिर बोले—दरिद्र पुरुष मरा हुआ है यानी मरे हुएके समान है, बिना राजाका राज्य मर जाता है यानी नष्ट हो जाता है, श्रोत्रिय ब्राह्मणके बिना श्राद्ध मृत हो जाता है और बिना दक्षिणाका यज्ञ नष्ट हो जाता है ॥ ८४ ॥

यक्ष उवाच

का दिक् किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं किं च वै विषम् ।
श्राद्धस्य कालमाख्याहि ततः पिब हरस्व च ॥८५॥

यक्षने पूछा—दिशा क्या है ? जल क्या है ? अन्न क्या है ? विष क्या है ? और श्राद्धका समय क्या है ? यह बताओ । इसके बाद जल पीओ और ले भी जाओ ॥ ८५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सन्तो दिग् जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम् ।
श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः कथं वा यक्ष मन्यसे ॥ ८६ ॥

युधिष्ठिर बोले—सत्पुरुष दिशा हैं, आकाश जल है, पृथ्वी अन्न है, प्रार्थना (कामना) विष है और ब्राह्मण ही श्राद्धका समय है अथवा यक्ष ! इस विषयमें तुम्हारी क्या मान्यता है ? ॥ ८६ ॥

यक्ष उवाच

तपः किंलक्षणं प्रोक्तं को दमश्च प्रकीर्तितः ।
क्षमा च का परा प्रोक्ता का च ह्रीः परिकीर्तिता ॥ ८७ ॥

यक्षने पूछा—तपका क्या लक्षण बताया गया है ? दम किसे कहा गया है ? उत्तम क्षमा क्या बतायी गयी है ? और लज्जा किसको कहा गया है ? ॥ ८७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः ।
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ॥ ८८ ॥

युधिष्ठिर बोले—अपने धर्ममें तत्पर रहना तप है, मनके दमनका ही नाम दम है, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वोंको सहन करना क्षमा है तथा न करने योग्य कामसे दूर रहना लज्जा है ॥ ८८ ॥

यक्ष उवाच

किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन् कः शमश्च प्रकीर्तितः ।
दया च का परा प्रोक्ता किं चार्जवमुदाहृतम् ॥ ८९ ॥

यक्षने पूछा—राजन् ! ज्ञान किसे कहते हैं ? शम क्या कहलाता है ? उत्तम दया किसका नाम है ? और आर्जव (सरलता) किसे कहते हैं ? ॥ ८९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः शमश्चित्तप्रशान्तता ।
दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता ॥ ९० ॥

युधिष्ठिर बोले—परमात्मतत्त्वका यथार्थ बोध ही ज्ञान है, चित्तकी शान्ति ही शम है, सबके सुखकी इच्छा रखना ही उत्तम दया है और समचित्त होना ही आर्जव (सरलता) है ॥ ९० ॥

यक्ष उवाच

कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधिरनन्तकः ।
कीदृशश्च स्मृतः साधुरसाधुः कीदृशः स्मृतः ॥ ९१ ॥

यक्षने पूछा—मनुष्योंका दुर्जय शत्रु कौन है ? अनन्त व्याधि क्या है ? साधु कौन माना जाता है ? और असाधु किसे कहते हैं ? ॥ ९१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः ।
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः ॥ ९२ ॥

युधिष्ठिर बोले—क्रोध दुर्जय शत्रु है, लोभ अनन्त व्याधि है तथा जो समस्त प्राणियोंका हित करनेवाला हो, वही साधु है और निर्दयी पुरुषको ही असाधु माना गया है ।९२।

यक्ष उवाच

को मोहः प्रोच्यते राजन् कश्च मानः प्रकीर्तितः ।
किमालस्यं च विज्ञेयं कश्च शोकः प्रकीर्तितः ॥ ९३ ॥

यक्षने पूछा—राजन् ! मोह किसे कहते हैं ? मान क्या कहलाता है ? आलस्य किसे जानना चाहिये ? और शोक किसे कहते हैं ? ॥ ९३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मोहो हि धर्ममूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता।
धर्मनिष्क्रियताऽऽलस्यं शोकस्त्वज्ञानमुच्यते॥ ९४ ॥

युधिष्ठिर बोले—धर्ममूढ़ता ही मोह है, आत्माभिमान ही मान है, धर्मका पालन न करना आलस्य है और अज्ञानको ही शोक कहते हैं ॥ ९४ ॥

यक्ष उवाच

किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किं च धैर्यमुदाहृतम्।
स्नानं च किं परं प्रोक्तं दानं च किमिहोच्यते ॥ ९५ ॥

यक्षने पूछा—ऋषियोंने स्थिरता किसे कहा है? धैर्य क्या कहलाता है? परम स्नान किसे कहते हैं? और दान किसका नाम है? ॥ ९५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः।
स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥ ९६ ॥

युधिष्ठिर बोले—अपने धर्ममें स्थिर रहना ही स्थिरता है, इन्द्रियनिग्रह धैर्य है, मानसिक मलोंका त्याग करना परम स्नान है और प्राणियोंकी रक्षा करना ही दान है ॥

यक्ष उवाच

कः पण्डितः पुमाञ्ज्ञेयो नास्तिकः कश्च उच्यते।
को मूर्खः कश्च कामः स्यात् को मत्सर इति स्मृतः॥९७॥

यक्षने पूछा—किस पुरुषको पण्डित समझना चाहिये, नास्तिक कौन कहलाता है? मूर्ख कौन है? काम क्या है? तथा मत्सर किसे कहते हैं? ॥ ९७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते।
कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥ ९८ ॥

युधिष्ठिर बोले—धर्मज्ञको पण्डित समझना चाहिये, मूर्ख नास्तिक कहलाता है और नास्तिक मूर्ख है तथा जो जन्म-मरणरूप संसारका कारण है, वह वासना काम है और हृदयकी जलन ही मत्सर है ॥ ९८ ॥

यक्ष उवाच

कोऽहङ्कार इति प्रोक्तः कश्च दम्भः प्रकीर्तितः।
किं तद् दैवं परं प्रोक्तं किं तत् पैशुन्यमुच्यते ॥ ९९ ॥

यक्षने पूछा—अहङ्कार किसे कहते हैं? दम्भ क्या कहलाता है? जिसे परम दैव कहते हैं, वह क्या है? और पैशुन्य किसका नाम है? ॥ ९९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

महाज्ञानमहङ्कारो दम्भो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः।
दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम् ॥१००॥

युधिष्ठिर बोले—महान् अज्ञान अहङ्कार है, अपनेको झूठ-मूठ बड़ा धर्मात्मा प्रसिद्ध करना दम्भ है, दानका फल दैव कहलाता है और दूसरोंको दोष लगाना पैशुन्य (चुगली) है ॥ १०० ॥

यक्ष उवाच

धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः।
एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र संगमः ॥१०१॥

यक्षने पूछा—धर्म, अर्थ और काम—ये सब परस्पर विरोधी हैं। इन नित्य-विरुद्ध पुरुषार्थोंका एक स्थानपर कैसे संयोग हो सकता है? ॥ १०१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगमः ॥१०२॥

युधिष्ठिर बोले—जब धर्म और भार्या—ये दोनों परस्पर अविरोधी होकर मनुष्यके वशमें हो जाते हैं, उस समय धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों परस्पर विरोधियोंका भी एक साथ रहना सहज हो जाता है* ॥ १०२ ॥

यक्ष उवाच

अक्षयो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ।
एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि ॥१०३॥

यक्षने पूछा—भरतश्रेष्ठ! अक्षय नरक किस पुरुषको प्राप्त होता है? मेरे इस प्रश्नका शीघ्र ही उत्तर दो ॥ १०३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिञ्चनम्।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात् सोऽक्षयं नरकं व्रजेत्॥१०४॥

युधिष्ठिर बोले—जो पुरुष भिक्षा माँगनेवाले किसी अकिञ्चन ब्राह्मणको स्वयं बुलाकर फिर उसे 'नाहीं' कर देता है, वह अक्षय नरकमें जाता है ॥ १०४ ॥

वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु।
देवेषु पितृधर्मेषु सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥१०५॥

जो पुरुष वेद, धर्मशास्त्र, ब्राह्मण, देवता और पितृधर्मोंमें मिथ्याबुद्धि रखता है, वह अक्षय नरकको प्राप्त होता है ॥

विद्यमाने धने लोभाद् दानभोगविवर्जितः।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात् सोऽक्षयं नरकं व्रजेत्॥१०६॥

धन पास रहते हुए भी जो लोभवश दान और भोगसे रहित है तथा (माँगनेवाले ब्राह्मणादिको एवं न्याययुक्त भोगके

---

* धर्मानुकूल प्राप्त भार्यासे धर्मका विरोध नहीं होता एवं वह पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली हो, तो धर्मसे उसका विरोध नहीं होता। इस प्रकार धर्मानुसार प्राप्त पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली स्त्री और धर्म दोनों जिसके अनुकूल हो जाते हैं, वह धर्मात्मा गृहस्थ कभी दरिद्र नहीं होता। इसलिये उसके घरमें धर्म, अर्थ और काम तीनों बिना विरोधके एक साथ रह सकते हैं।

लिये स्त्री-पुत्रादिको) पीछेसे यह कह देता है कि मेरे पास कुछ नहीं है, वह अक्षय नरकमें जाता है ॥ १०६ ॥

यक्ष उवाच

राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम् ॥१०७॥

यक्षने पूछा—राजन्! कुल, आचार, स्वाध्याय और शास्त्रश्रवण—इनमेंसे किसके द्वारा ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है? यह बात निश्चय करके बताओ ॥ १०७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥१०८॥

युधिष्ठिर बोले—तात यक्ष! सुनो न तो कुल ब्राह्मणत्वमें कारण है न स्वाध्याय और न शास्त्रश्रवण। ब्राह्मणत्वका हेतु आचार ही है, इसमें संशय नहीं है॥१०८॥

वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥१०९॥

इसलिये प्रयत्नपूर्वक सदाचारकी ही रक्षा करनी चाहिये। ब्राह्मणको तो उसपर विशेषरूपसे दृष्टि रखनी जरूरी है; क्योंकि जिसका सदाचार अक्षुण्ण है, उसका ब्राह्मणत्व भी बना हुआ है और जिसका आचार नष्ट हो गया, वह तो स्वयं भी नष्ट हो गया ॥ १०९ ॥

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥११०॥

पढ़नेवाले, पढ़ानेवाले तथा शास्त्रका विचार करनेवाले—ये सब तो व्यसनी और मूर्ख ही हैं। पण्डित तो वही है, जो अपने (शास्त्रोक्त) कर्तव्यका पालन करता है ॥ ११० ॥

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥१११॥

चारों वेद पढ़ा होनेपर भी जो दुराचारी है, वह अधमतामें शूद्रसे भी बढ़कर है। जो (नित्य) अग्निहोत्रमें तत्पर और जितेन्द्रिय है, वही 'ब्राह्मण' कहा जाता है ॥ १११ ॥

यक्ष उवाच

प्रियवचनवादी किं लभते
विमृशितकार्यकरः किं लभते।
बहुमित्रकरः किं लभते
धर्मरतः किं लभते कथय ॥११२॥

यक्षने पूछा—बताओ; मधुर वचन बोलनेवालेको क्या मिलता है? सोच-विचारकर काम करनेवाला क्या पा लेता है? जो बहुत-से मित्र बना लेता है, उसे क्या लाभ होता है? और जो धर्मनिष्ठ है, उसे क्या मिलता है? ॥ ११२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रियवचनवादी प्रियो भवति
विमृशितकार्यकरोऽधिकं जयति।
बहुमित्रकरः सुखं वसते
यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥११३॥

युधिष्ठिर बोले—मधुर वचन बोलनेवाला सबको प्रिय होता है, सोच-विचारकर काम करनेवालेको अधिकतर सफलता मिलती है एवं जो बहुत-से मित्र बना लेता है, वह सुखसे रहता है और जो धर्मनिष्ठ है, वह सद्गति पाता है॥ ११३ ॥

यक्ष उवाच

को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्थाः का च वार्तिका।
ममैतांश्चतुरः प्रश्नान् कथयित्वा जलं पिब ॥११४॥

यक्षने पूछा—सुखी कौन है? आश्चर्य क्या है? मार्ग क्या है और वार्ता क्या है? मेरे इन चार प्रश्नोंका उत्तर देकर जल पीओ ॥ ११४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते ॥११५॥

युधिष्ठिर बोले—जलचर यक्ष! जिस पुरुषपर ऋण नहीं है और जो परदेशमें नहीं है, वह भले ही पाँचवें या छठे दिन अपने घरके भीतर साग-पात ही पकाकर खाता हो, तो भी वही सुखी है ॥ ११५ ॥

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥११६॥

संसारसे रोज-रोज प्राणी यमलोकमें जा रहे हैं; किंतु जो बचे हुए हैं, वे सर्वदा जीते रहनेकी इच्छा करते हैं; इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा? ॥ ११६ ॥

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥११७॥

तर्ककी कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें निहित है अर्थात् अत्यन्त गूढ़ है; अतः जिससे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है ॥ ११७ ॥

अस्मिन् महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥११८॥

इस महामोहरूपी कड़ाहेमें भगवान् काल समस्त प्राणियोंको मास और ऋतुरूप करछीसे उलट-पलटकर सूर्यरूप अग्नि और रात-दिनरूप ईंधनके द्वारा राँध रहे हैं, यही वार्ता है ॥ ११८ ॥

यक्ष उवाच

व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना याथातथ्यं परंतप ।
पुरुषं त्विदानीं व्याख्याहि यश्च सर्वधनी नरः॥११९॥

यक्षने पूछा—परंतप ! तुमने मेरे सब प्रश्नोंके उत्तर ठीक-ठीक दे दिये, अब तुम पुरुषकी भी व्याख्या कर दो और यह बताओ कि सबसे बड़ा धनी कौन है ? ॥ ११९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्येन कर्मणा ।
यावत् स शब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते ॥१२०॥

युधिष्ठिर बोले—जिस व्यक्तिके पुण्यकर्मोंकी कीर्तिका शब्द जबतक स्वर्ग और भूमिको स्पर्श करता है, तबतक वह पुरुष कहलाता है ॥ १२० ॥

तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च ।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः ॥१२१॥

जो मनुष्य प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख और भूत-भविष्यत्—इन द्वन्द्वोंमें सम है, वही सबसे बड़ा धनी है ॥ १२१ ॥

(भूतभव्यभविष्येषु निःस्पृहः शान्तमानसः ।
सुप्रसन्नः सदा योगी स वै सर्वधनीश्वरः ॥)

जो भूत, वर्तमान और भविष्य सभी विषयोंकी ओरसे निःस्पृह, शान्तचित्त, सुप्रसन्न और सदा योगयुक्त है, वही सब धनियोंका स्वामी है ।

यक्ष उवाच

व्याख्यातः पुरुषो राजन् यश्च सर्वधनी नरः ।
तस्मात् त्वमेकं भ्रातॄणां यमिच्छसि स जीवतु ॥१२२॥

यक्षने कहा—राजन् ! जो सबसे बढ़कर धनी पुरुष है, उसकी तुमने ठीक-ठीक व्याख्या कर दी; इसलिये अपने भाइयोंमेंसे जिस एकको तुम चाहो, वही जीवित हो सकता है ॥ १२२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्यामो य एष रक्ताक्षो बृहच्छाल इवोत्थितः ।
व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो यक्ष जीवतु ॥१२३॥

युधिष्ठिर बोले—यक्ष ! यह जो श्यामवर्ण, अरुणनयन, सुविशाल शालवृक्षके समान ऊँचा और चौड़ी छातीवाला महाबाहु नकुल है, वही जीवित हो जाय ॥ १२३ ॥

यक्ष उवाच

प्रियस्ते भीमसेनोऽयमर्जुनो वः परायणम् ।
स कस्मान्नकुलं राजन् सापत्नं जीवमिच्छसि ॥१२४॥

यक्षने कहा—राजन् ! यह तुम्हारा प्रिय भीमसेन है और यह तुमलोगोंका सबसे बड़ा सहारा अर्जुन है; इन्हें छोड़कर तुम किसलिये सौतेले भाई नकुलको जिलाना चाहते हो ? ॥ १२४ ॥

यस्य नागसहस्रेण दशसंख्येन वै बलम् ।
तुल्यं तं भीममुत्सृज्य नकुलं जीवमिच्छसि ॥१२५॥

जिसमें दस हजार हाथियोंके समान बल है, उस भीमको छोड़कर तुम नकुलको ही क्यों जिलाना चाहते हो ? ॥ १२५ ॥

तथैनं मनुजाः प्राहुर्भीमसेनं प्रियं तव ।
अथ केनानुभावेन सापत्नं जीवमिच्छसि ॥१२६॥

सभी मनुष्य भीमसेनको तुम्हारा प्रिय बतलाते हैं; उसे छोड़कर भला सौतेले भाई नकुलमें तुम कौन-सा सामर्थ्य देखकर उसे जिलाना चाहते हो ? ॥ १२६ ॥

यस्य बाहुबलं सर्वे पाण्डवाः समुपासते ।
अर्जुनं तमपाहाय नकुलं जीवमिच्छसि ॥१२७॥

जिसके बाहुबलका सभी पाण्डवोंको पूरा भरोसा है, उस अर्जुनको भी छोड़कर तुम्हें नकुलको जिला देनेकी इच्छा क्यों है ? ॥ १२७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद् धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥१२८॥

युधिष्ठिर बोले—यदि धर्मका नाश किया जाय, तो वह नष्ट हुआ धर्म ही कर्ताको भी नष्ट कर देता है और यदि उसकी रक्षा की जाय, तो वही कर्ताकी भी रक्षा कर लेता है । इसीसे मैं धर्मका त्याग नहीं करता कि कहीं नष्ट होकर वह धर्म मेरा ही नाश न कर दे ॥ १२८ ॥

आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थाच्च मे मतम् ।
आनृशंस्यं चिकीर्षामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥१२९॥

यक्ष ! मेरा ऐसा विचार है कि वस्तुतः अनृशंसता (दया तथा समता) ही परम धर्म है । यही सोचकर मैं सबके प्रति दया और समानभाव रखना चाहता हूँ; इसलिये नकुल ही जीवित हो जाय ॥ १२९ ॥

धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः ।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥१३०॥

यक्ष ! लोग मेरे विषयमें ऐसा समझते हैं कि राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं; अतएव मैं अपने धर्मसे विचलित नहीं

होऊँगा। मेरा भाई नकुल जीवित हो जाय ॥ १३० ॥

कुन्ती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम।
उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः ॥१३१॥

मेरे पिताके कुन्ती और माद्री नामकी दो भार्याएँ रहीं। वे दोनों ही पुत्रवती बनी रहें, ऐसा मेरा विचार है॥

यथा कुन्ती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥१३२॥

यक्ष! मेरेलिये जैसी कुन्ती है, वैसी ही माद्री। उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। मैं दोनों माताओंके प्रति समान-भाव ही रखना चाहता हूँ। इसलिये नकुल ही जीवित हो॥

यक्ष उवाच

तस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम्।
तस्मात् ते भ्रातरः सर्वे जीवन्तु भरतर्षभ ॥१३३॥

यक्षने कहा—भरतश्रेष्ठ! तुमने अर्थ और कामसे भी अधिक दया और समताका आदर किया है, इसलिये तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जायँ॥ १३३॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि यक्षप्रश्ने त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें यक्षप्रश्नविषयक तीन सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १३४ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

यक्षका चारों भाइयोंको जिलाकर धर्मके रूपमें प्रकट हो युधिष्ठिरको वरदान देना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते यक्षवचनादुदतिष्ठन्त पाण्डवाः।
क्षुत्पिपासे च सर्वेषां क्षणेन व्यपगच्छताम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर यक्षके कहते ही सब पाण्डव उठकर खड़े हो गये तथा एक क्षणमें ही उन सबकी भूख-प्यास जाती रही॥ १॥

युधिष्ठिर उवाच

सरस्येकेन पादेन तिष्ठन्तमपराजितम्।
पृच्छामि को भवान् देवो न मे यक्षो मतो भवान्॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—इस सरोवरमें एक पैरसे खड़े हुए, किसीसे भी पराजित न होनेवाले आपसे मैं पूछता हूँ—आप कौन देवश्रेष्ठ हैं? मुझे तो आप यक्ष नहीं मालूम होते॥२॥

वसूनां वा भवानेको रुद्राणामथवा भवान्।
अथवा मरुतां श्रेष्ठो वज्री वा त्रिदशेश्वरः ॥ ३ ॥

आप वसुओंमेंसे, रुद्रोंमेंसे अथवा मरुद्गणोंमेंसे कोई एक श्रेष्ठ पुरुष तो नहीं हैं? अथवा आप स्वयं वज्रधारी देवराज इन्द्र ही हैं?॥ ३॥

मम हि भ्रातर इमे सहस्रशतयोधिनः।
तं योधं न प्रपश्यामि येन सर्वे निपातिताः ॥ ४ ॥

मेरे ये भाई तो लाखों वीरोंसे युद्ध करनेवाले हैं। ऐसा तो मैंने कोई योद्धा नहीं देखा, जिसने इन सभीको रणभूमिमें गिरा दिया हो॥ ४॥

सुखं प्रतिप्रबुद्धानामिन्द्रियाण्युपलक्षये।
स भवान् सुहृदोऽस्माकमथवा नः पिता भवान्॥ ५ ॥

अब जीवित होनेपर भी इनकी इन्द्रियाँ सुखकी नींद सोकर उठे हुए पुरुषोंके समान स्वस्थ दिखायी देती हैं, अतः आप हमारे कोई सुहृद् हैं अथवा पिता?॥ ५॥

यक्ष उवाच

अहं ते जनकस्तात धर्मोऽमृदुपराक्रम।
त्वां दिदृक्षुरनुप्राप्तो विद्धि मां भरतर्षभ ॥ ६ ॥

यक्षने कहा—प्रचण्ड पराक्रमी भरतश्रेष्ठ तात युधिष्ठिर! मैं तुम्हारा जन्मदाता पिता धर्मराज हूँ। तुम्हें देखनेकी इच्छासे ही मैं यहाँ आया हूँ, मुझे पहचानो॥ ६॥

यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम्।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम ॥ ७ ॥

यश, सत्य, दम, शौच, सरलता, लज्जा, अचञ्चलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य—ये सब मेरे शरीर हैं॥ ७॥

अहिंसा समता शान्तिस्तपः शौचममत्सरः।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम ॥ ८ ॥

अहिंसा, समता, शान्ति, दया और अमत्सर—डाहका न होना—इन्हें मेरे पास पहुँचनेके द्वार समझो। तुम मुझे सदा प्रिय हो॥ ८॥

दिष्ट्या पञ्चसु रक्तोऽसि दिष्ट्या ते षट्पदी जिता।
द्वे पूर्वे मध्यमे द्वे च द्वे चान्ते साम्परायिके॥ ९ ॥

सौभाग्यवश तुम्हारा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान—इन पाँचों साधनोंपर अनुराग है तथा सौभाग्यसे तुमने भूख-प्यास, शोक-मोह और जरा-मृत्यु—इन छहों दोषोंको जीत लिया है। इनमेंसे पहले दो दोष आरम्भसे ही रहते हैं,

बीचके दो तरुणावस्था आनेपर होते हैं तथा बादवाले दो दोष अन्तिम समयपर आते हैं ॥ ९ ॥

धर्मोऽहमिति भद्रं ते जिज्ञासुस्त्वामिहागतः।
आनृशंस्येन तुष्टोऽस्मि वरं दास्यामि तेऽनघ ॥१०॥

तुम्हारा मङ्गल हो। मैं धर्म हूँ और तुम्हारा व्यवहार जाननेकी इच्छासे ही यहाँ आया हूँ। निष्पाप राजन्! तुम्हारी दयालुता और समदर्शितासे मैं तुमपर प्रसन्न हूँ और तुम्हें वर देना चाहता हूँ ॥ १० ॥

वरं वृणीष्व राजेन्द्र दाता ह्यस्मि तवानघ।
ये हि मे पुरुषा भक्ता न तेषामस्ति दुर्गतिः ॥ ११ ॥

पापरहित राजेन्द्र! तुम मनोनुकूल वर माँग लो। मैं तुम्हें अवश्य दे दूँगा। जो मनुष्य मेरे भक्त हैं, उनकी कभी दुर्गति नहीं होती ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अरणीसहितं यस्य मृगो ह्यादाय गच्छति।
तस्याग्नयो न लुप्येरन् प्रथमोऽस्तु वरो मम ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन्! पहला वर तो मैं यही माँगता हूँ कि जिस ब्राह्मणके अरणीसहित मन्थनकाष्ठको मृग लेकर भाग गया है, उसके अग्निहोत्रका लोप न हो ॥

यक्ष उवाच

अरणीसहितं ह्यस्य ब्राह्मणस्य हृतं मया।
मृगवेषेण कौन्तेय जिज्ञासार्थं तव प्रभो ॥ १३ ॥

यक्षने कहा—कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर! उस ब्राह्मणके अरणीसहित मन्थनकाष्ठको तो तुम्हारी परीक्षाके लिये मैं ही मृगरूपसे लेकर भाग गया था ॥ १३॥

वैशम्पायन उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत।
अन्यं वरय भद्रं ते वरं त्वममरोपम ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इसके बाद भगवान् धर्मने उत्तर दिया कि (लो, अरणी और मन्थनकाष्ठ) तुम्हें दे ही देता हूँ। देवोपम नरेश! तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम कोई दूसरा वर माँगो ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वर्षाणि द्वादशारण्ये त्रयोदशमुपस्थितम्।
तत्र नो नाभिजानीयुर्वसतो मनुजाः क्वचित् ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर बोले—हम बारह वर्षतक वनमें रह चुके। अब तेरहवाँ वर्ष आ लगा है। अतः ऐसा वर दीजिये कि इसमें कहीं भी रहनेपर लोग हमें पहचान न सकें ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत।
भूयश्चाश्वासयामास कौन्तेयं सत्यविक्रमम् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यह सुनकर भगवान् धर्मने उत्तरमें कहा—'मैं तुम्हें यह वर भी देता हूँ।' इसके बाद धर्मराजने पुनः सत्यपराक्रमी युधिष्ठिरको आश्वासन देते हुए कहा—॥ १६ ॥

यद्यपि स्वेन रूपेण चरिष्यथ महीमिमाम्।
न वो विज्ञास्यते कश्चित् त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १७ ॥

'भरतनन्दन! यद्यपि तुम इस पृथ्वीपर इसी रूपसे विचरोगे, तो भी तीनों लोकोंमें कोई भी तुम्हें नहीं पहचान सकेगा ॥ १७ ॥

वर्षं त्रयोदशमिदं मत्प्रसादात् कुरूद्वहाः।
विराटनगरे गूढा अविज्ञाताश्चरिष्यथ ॥ १८ ॥

'कुरुनन्दन पाण्डवगण! मेरी कृपासे तुमलोग तेरहवें वर्षमें गुप्तरूपसे विराटनगरमें रहते हुए किसीसे भी पहचाने न जाकर विचरण करोगे ॥ १८ ॥

यद् वः संकल्पितं रूपं मनसा यस्य यादृशम्।
तादृशं तादृशं सर्वे छन्दतो धारयिष्यथ ॥ १९ ॥

'तथा तुममेंसे जो-जो मनसे जैसा संकल्प करेगा, वह इच्छानुसार वैसा-वैसा ही रूप धारण कर सकेगा ॥ १९ ॥

अरणीसहितं चेदं ब्राह्मणाय प्रयच्छत।
जिज्ञासार्थं मया ह्येतदाहृतं मृगरूपिणा ॥ २० ॥

'यह अरणीसहित मन्थनकाष्ठ उस ब्राह्मणको दे दो। तुम्हारी परीक्षाके लिये ही मैंने मृगका रूप धारण करके इसका हरण किया था ॥ २० ॥

प्रवृणीष्वापरं सौम्य वरमिष्टं ददानि ते।
न तृप्यामि नरश्रेष्ठ प्रयच्छन् वै वरांस्तथा ॥ २१ ॥

'सौम्य! इसके अतिरिक्त तुम एक और भी अभीष्ट वर माँग लो। वह मैं तुम्हें दूँगा। नरश्रेष्ठ! तुम्हें वर देते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ २१ ॥

तृतीयं गृह्यतां पुत्र वरमप्रतिमं महत्।
त्वं हि मत्प्रभवो राजन् विदुरश्च ममांशजः ॥ २२ ॥

'बेटा! तुम तीसरा भी महान् एवं अनुपम वर माँग लो। राजन्! तुम मेरे पुत्र हो और विदुरने भी मेरे ही अंशसे जन्म लिया है' ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

देवदेवो मया दृष्टो भवान् साक्षात् सनातनः।
यं ददासि वरं तुष्टस्तं ग्रहीष्याम्यहं पितः ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर बोले—पिताजी! आप सनातन देवाधिदेव हैं। आज मुझे साक्षात् आपके दर्शन हो गये। आप प्रसन्न होकर

मुझे जो भी वर देंगे, उसे मैं शिरोधार्य करूँगा ॥ २३ ॥

जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत् ॥ २४ ॥

विभो ! मुझे ऐसा वर दीजिये कि मैं लोभ, मोह और क्रोधको जीत सकूँ तथा दान, तप और सत्यमें सदा मेरा मन लगा रहे ॥ २४ ॥

धर्म उवाच

उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पाण्डव।
भवान् धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति ॥ २५ ॥

धर्मराजने कहा—पाण्डुपुत्र ! तुम तो स्वयं धर्मस्वरूप ही हो। अतः इन गुणोंसे तो स्वभावसे ही सम्पन्न हो। आगे भी तुम्हारे कथनानुसार तुममें ये सब धर्म बने रहेंगे ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वान्तर्दधे धर्मो भगवाँल्लोकभावनः।
समेताः पाण्डवाश्चैव सुखसुप्ता मनस्विनः ॥ २६ ॥
उपेत्य चाश्रमं वीराः सर्व एव गतक्लमाः।
आरणेयं ददुस्तस्मै ब्राह्मणाय तपस्विने ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर लोक-रक्षक भगवान् धर्म अन्तर्धान हो गये एवं सुखपूर्वक सोकर उठनेसे श्रमरहित हुए मनस्वी वीर पाण्डवगण एकत्र होकर आश्रममें लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने उस तपस्वी ब्राह्मणको उसकी अरणी एवं मन्थनकाष्ठ दे दिये ॥ २६-२७ ॥

इदं समुत्थानसमागतं महत्
पितुश्च पुत्रस्य च कीर्तिवर्धनम्।
पठन् नरः स्याद् विजितेन्द्रियो वशी
सपुत्रपौत्रः शतवर्षभाग् भवेत् ॥ २८ ॥

भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवके पुनः जीवनलाभ करनेसे सम्बन्ध रखनेवाले तथा पिता धर्म और पुत्र युधिष्ठिर-के संवाद तथा समागमरूप, कीर्तिको बढ़ानेवाले इस प्रशस्त उपाख्यानका जो पुरुष पाठ करता है, वह जितेन्द्रिय, वशी तथा पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न होकर सौ वर्षतक जीवित रहता है ॥

न चाप्यधर्मे न सुहृद्विभेदने
परस्वहारे परदारमर्शने।
कदर्यभावे न रमेन्मनः सदा
नृणां सदाख्यानमिदं विजानताम् ॥ २९ ॥

तथा जो लोग सदा इस मनोहर उपाख्यानको स्मरण रक्खेंगे; उनका मन अधर्ममें, सुहृदोंके भीतर फूट डालनेमें, दूसरोंका धन हरनेमें, परस्त्रीगमनमें अथवा कृपणतामें कभी प्रवृत्त नहीं होगा ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि नकुलादिजीवनादिवरप्राप्तौ चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें नकुल आदिके जीवित होने आदि वरोंकी प्राप्तिविषयक तीन सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१४ ॥

पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अज्ञातवासके लिये अनुमति लेते समय शोकाकुल हुए युधिष्ठिरको महर्षि धौम्यका समझाना, भीमसेनका उत्साह देना तथा आश्रमसे दूर जाकर पाण्डवोंका परस्पर परामर्शके लिये बैठना

वैशम्पायन उवाच

धर्मेण तेऽभ्यनुज्ञाताः पाण्डवाः सत्यविक्रमाः।
अज्ञातवासं वत्स्यन्तश्छन्ना वर्षं त्रयोदशम् ॥ १ ॥
उपोपविष्टा विद्वांसः सहिताः संशितव्रताः।
ये तद्भक्ता वसन्ति स्म वनवासे तपस्विनः ॥ २ ॥
तानब्रुवन् महात्मानः स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा।
अभ्यनुज्ञापयिष्यन्तस्तं निवासं धृतव्रताः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराजकी अनुमति पाकर सत्यपराक्रमी पाण्डव तेरहवें वर्षमें छिपकर अज्ञातवास करनेकी इच्छासे एकत्र हो विचार-विमर्शके लिये आस-पास बैठे। वे सब-के-सब उत्तम व्रतका पालन करने-वाले और विद्वान् थे। वनवासके समय जो तपस्वी ब्राह्मण पाण्डवोंके प्रति स्नेह होनेके कारण उनके साथ रहते थे, उनसे अज्ञातवासके हेतु आज्ञा लेनेके लिये व्रतधारी महात्मा पाण्डव हाथ जोड़कर खड़े हो इस प्रकार बोले—॥ १—३ ॥

विदितं भवतां सर्वं धार्तराष्ट्रैर्यथा वयम्।
छद्मना हृतराज्याश्चानयाश्च बहुशः कृताः ॥ ४ ॥

'मुनिवरो ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंने जिस प्रकार छल करके हमारा राज्य हर लिया और हमपर बारंबार अत्याचार किया, वह सब आपलोगोंको विदित ही है ॥ ४ ॥



उषिताश्च वने कृच्छ्रे वयं द्वादश वत्सरान् ।
अज्ञातवाससमयं शेषं वर्षं त्रयोदशम् ॥ ५ ॥

'हमलोग कष्टदायक वनमें बारह वर्षोंतक रह लिये । अब अन्तिम तेरहवाँ वर्ष हमारे अज्ञातवासका समय है ॥ ५ ॥

तद् वसामो वयं छन्नास्तदनुज्ञातुमर्हथ ।
सुयोधनश्च दुष्टात्मा कर्णश्च सहसौबलः ॥ ६ ॥
जानन्तो विषमं कुर्युरस्मास्वत्यन्तवैरिणः ।
युक्तचाराश्च युक्ताश्च पौरस्य स्वजनस्य च ॥ ७ ॥

'अतः इस वर्ष हम छिपकर रहना चाहते हैं । इसके लिये आपलोग हमें आज्ञा दें । दुष्टात्मा दुर्योधन, कर्ण और शकुनि हमसे अत्यन्त वैर रखते हैं । वे स्वयं तो हमारा पता लगानेको उद्यत हैं ही, उन्होंने गुप्तचर भी लगा रखे हैं । अतः यदि उन्हें हमारे रहनेका पता चल जायगा, तो वे हमसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरजनों तथा स्वजनोंके साथ भी विषम (बुरा) बर्ताव कर सकते हैं ॥ ६-७ ॥

अपि नस्तद् भवेद् भूयो यद् वयं ब्राह्मणैः सह ।
समस्ताः स्वेषु राष्ट्रेषु स्वराज्यस्था भवेमहि ॥ ८ ॥

'क्या हमारे सामने फिर कभी ऐसा अवसर आयेगा, जब कि हम सब भाई ब्राह्मणोंके साथ अपने राष्ट्रमें रहेंगे—अपने राज्यपर प्रतिष्ठित होंगे' ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा दुःखशोकार्तः शुचिर्धर्मसुतस्तदा ।
सम्मूर्छितोऽभवद् राजा साश्रुकण्ठो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर पवित्र अन्तःकरणवाले धर्मनन्दन राजा युधिष्ठिर दुःख और शोकसे आतुर होकर मूर्छित हो गये । उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी और कण्ठ अवरुद्ध हो गया था ॥ ९ ॥

तमथाश्वासयन् सर्वे ब्राह्मणा भ्रातृभिः सह ।
अथ धौम्योऽब्रवीद् वाक्यं महार्थं नृपतिं तदा ॥ १० ॥

उस समय उनके भाइयोंसहित समस्त ब्राह्मणोंने उन्हें आश्वासन दिया । तत्पश्चात् महर्षि धौम्यने राजा युधिष्ठिरसे यह गम्भीर अर्थयुक्त वचन कहा—॥ १० ॥

राजन् विद्वान् भवान् दान्तः
सत्यसंधो जितेन्द्रियः ।
नैवंविधाः प्रमुह्यन्ते
नराः कस्याञ्चिदापदि ॥ ११ ॥

'राजन् ! आप विद्वान्, मनको वशमें रखनेवाले, सत्य-प्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय हैं । आप-जैसे मनुष्य किसी भी आपत्तिमें मोहित नहीं होते अर्थात् अपना धैर्य और विवेक नहीं खोते हैं ॥ ११ ॥

देवैरप्यापदः प्राप्ताश्छन्नैश्च बहुशस्तथा ।
तत्र तत्र सपत्नानां निग्रहार्थं महात्मभिः ॥ १२ ॥

'महामना देवताओंको भी जहाँ-तहाँ शत्रुओंके निग्रहके लिये अनेक बार छिपकर रहना और विपत्तियोंको भोगना पड़ा है ॥ १२ ॥

इन्द्रेण निषधान् प्राप्य गिरिप्रस्थाश्रमे तदा ।
छन्नेनोष्य कृतं कर्म द्विषतां च विनिग्रहे ॥ १३ ॥

'देवराज इन्द्र शत्रुओंका दमन करनेके लिये गुप्तरूपसे निषधदेशमें गये और गिरिप्रस्थाश्रममें छिपे रहकर उन्होंने अपना कार्य सिद्ध किया ॥ १३ ॥

विष्णुनाश्वशिरः प्राप्य तथादित्यां निवत्स्यता ।
गर्भे वधार्थं दैत्यानामज्ञातेनोषितं चिरम् ॥ १४ ॥

'भगवान् विष्णु भी दैत्योंका वध करनेके लिये हयग्रीव-स्वरूप धारण करके अज्ञातभावसे अदितिके गर्भमें दीर्घकाल-तक रहे हैं ॥ १४ ॥

प्राप्य वामनरूपेण प्रच्छन्नं ब्रह्मरूपिणा ।
बलेर्यथा हृतं राज्यं विक्रमैस्तच्च ते श्रुतम् ॥ १५ ॥

'उन्होंने ही ब्राह्मणवेषमें वामनरूप धारण करके अपने तीन पगोंद्वारा जिस प्रकार छिपे तौरपर राजा बलिका राज्य हर लिया था, वह सब तो तुमने सुना ही होगा ॥ १५ ॥

हुताशनेन यच्चापः प्रविश्यच्छन्नमासता ।
विबुधानां कृतं कर्म तच्च सर्वं श्रुतं त्वया ॥ १६ ॥

'अग्निने जलमें प्रवेश करके वहाँ छिपे रहकर देवताओंका कार्य जिस प्रकार सिद्ध किया, वह सब कुछ भी तुम सुन चुके हो ॥ १६ ॥

प्रच्छन्नं चापि धर्मज्ञ हरिणारिविनिग्रहे ।
वज्रं प्रविश्य शक्रस्य यत् कृतं तच्च ते श्रुतम्॥ १७ ॥

'धर्मज्ञ ! भगवान् श्रीहरिने शत्रुओंके विनाशके लिये छिपे तौरपर इन्द्रके वज्रमें प्रवेश करके जो कार्य किया, वह भी तुम्हारे कानोंमें पड़ा होगा ॥ १७ ॥

और्वेण वसता छन्नमूरौ ब्रह्मर्षिणा तदा ।
यत् कृतं तात देवेषु कर्म तत्तेऽनघ श्रुतम् ॥ १८ ॥

'तात ! निष्पाप नरेश ! ब्रह्मर्षि और्वने (माताके) ऊरुमें गुप्तरूपसे निवास करते हुए जो देवकार्य सिद्ध किया था, वह भी तुम्हारे सुननेमें आया ही होगा ॥ १८ ॥

एवं विवस्वता तात छन्नेनोत्तमतेजसा ।
निर्दग्धाः शात्रवाः सर्वे वसता भुवि सर्वशः ॥ १९ ॥

'तात ! इसी प्रकार महातेजस्वी भगवान् सूर्यने भी पृथ्वीपर गुप्तरूपसे निवास करके समस्त शत्रुओंको दग्ध किया है ॥ १९ ॥

विष्णुना वसता चापि गृहे दशरथस्य वै ।
दशग्रीवो हतश्छन्नं संयुगे भीमकर्मणा ॥ २० ॥

'भयंकर पराक्रमी भगवान् विष्णुने भी श्रीरामरूपसे दशरथके घरमें छिपे रहकर युद्धमें दशमुख रावणका वध किया था ॥ २० ॥

एवमेव महात्मानः प्रच्छन्नास्तत्र तत्र ह ।
अजयञ्छात्रवान् युद्धे तथा त्वमपि जेष्यसि ॥ २१ ॥

'इसी प्रकार कितने ही महामना वीर पुरुषोंने यत्र-तत्र छिपे रहकर युद्धमें शत्रुओंपर विजय पायी है। इसी प्रकार तुम भी विजयी होओगे' ॥ २१ ॥

तथा धौम्येन धर्मज्ञो वाक्यैः सम्परितोषितः ।
शास्त्रबुद्ध्या स्वबुद्ध्या च न चचाल युधिष्ठिरः॥ २२॥

महर्षि धौम्यने जब इस प्रकार युक्तियुक्त वचनोंद्वारा धर्मज्ञ युधिष्ठिरको संतोष प्रदान किया, तब वे शास्त्रज्ञान और अपने बुद्धिबलके कारण (धर्मसे) विचलित नहीं हुए ॥ २२ ॥

अथाब्रवीन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ।
राजानं बलिनां श्रेष्ठो गिरा सम्परिहर्षयन् ॥ २३ ॥

तदनन्तर बलवानोंमें श्रेष्ठ महाबली महाबाहु भीमसेनने अपनी वाणीसे राजा युधिष्ठिरका हर्ष और उत्साह बढ़ाते हुए कहा—॥ २३ ॥

अवेक्षया महाराज तव गाण्डीवधन्वना ।
धर्मानुगतया बुद्ध्या न किञ्चित् साहसं कृतम् ॥ २४॥

'महाराज ! गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुनने आपके आदेशकी प्रतीक्षा तथा अपनी धर्मानुगामिनी बुद्धिके कारण ही अबतक कोई साहसका कार्य नहीं किया है ॥ २४॥

सहदेवो मया नित्यं नकुलश्च निवारितौ ।
शक्तौ विध्वंसने तेषां शत्रूणां भीमविक्रमौ ॥ २५ ॥

'भयंकर पराक्रमी नकुल और सहदेव उन सब शत्रुओंका विध्वंस करनेमें समर्थ हैं। इन दोनोंको मैं ही सदा रोकता आया हूँ ॥ २५ ॥

न वयं तत् प्रहास्यामो यस्मिन् योक्ष्यति नो भवान्।
भवान् विधत्तां तत् सर्वं क्षिप्रं जेष्यामहे रिपून् ॥ २६॥

'आप हमें जिस कार्यमें लगा देंगे, उसे हमलोग पूरा किये बिना नहीं छोड़ेंगे। अतः आप युद्धकी सारी व्यवस्था कीजिये। हम शत्रुओंपर शीघ्र ही विजय पायेंगे' ॥ २६ ॥

इत्युक्ते भीमसेनेन ब्राह्मणाः परमाशिषा ।
उक्त्वा चापृच्छ्य भरतान्यथास्वान्स्वान्ययुर्गृहान्॥२७॥

भीमसेनके ऐसा कहनेपर सब ब्राह्मण पाण्डवोंको उत्तम आशीर्वाद देकर और उन भरतवंशियोंसे अनुमति लेकर अपने-अपने घरोंको चले गये ॥ २७ ॥

सर्वे वेदविदो मुख्या यतयो मुनयस्तथा ।
आसेदुस्ते यथान्यायं पुनर्दर्शनकाङ्क्षया ॥ २८ ॥

वेदोंके ज्ञाता समस्त प्रधान-प्रधान संन्यासी तथा मुनिलोग पाण्डवोंसे फिर मिलनेकी इच्छा रखकर न्यायानुसार अपने योग्य स्थानोंमें रहने लगे ॥ २८ ॥

सह धौम्येन विद्वांसस्तथा पञ्च च पाण्डवाः ।
उत्थाय प्रययुर्वीराः कृष्णामादाय धन्विनः ॥ २९ ॥

धौम्यसहित विद्वान् एवं वीर पाँचों पाण्डव द्रौपदीको साथ लिये धनुष धारण किये वहाँसे उठकर चल दिये ॥२९॥

क्रोशमात्रमुपागम्य तस्माद् देशान्निमित्ततः ।
श्वोभूते मनुजव्याघ्राश्छन्नवासार्थमुद्यताः ॥ ३० ॥
पृथक्छास्त्रविदः सर्वे सर्वे मन्त्रविशारदाः ।
संधिविग्रहकालज्ञा मन्त्राय समुपाविशन् ॥ ३१ ॥

किसी कारणवश उस स्थानसे एक कोस दूर जाकर वे नरश्रेष्ठ ठहर गये और आगामी दूसरे दिनसे अज्ञातवास

आरम्भ करनेके लिये उद्यत हो परस्पर सलाह करनेके निमित्त आस-पास बैठ गये । वे सभी पृथक्-पृथक् शास्त्रोंके ज्ञाता, मन्त्रणा करनेमें कुशल तथा संधि-विग्रह आदिके अवसरको जाननेवाले थे ॥ ३०-३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां वनपर्वणि आरणेयपर्वणि अज्ञातवासमन्त्रणे पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत—व्यासनिर्मित शतसाहस्री संहिताके वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें अज्ञातवासके लिये मन्त्रणाविषयक तीन सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१५ ॥

वनपर्वकी श्लोक-संख्या

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंका ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	गद्य	कुल योग।
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	१०९३७	(७८५)	१०८०।=	१७१॥	१२१८८।॥=
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	८२	(४)	५॥		८७॥

वनपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या १२२७६।=

वनपर्व-श्रवण-महिमा

इदमारण्यकं श्रुत्वा महापापैः प्रमुच्यते ।
अधनो धनमाप्नोति पुत्रपौत्रसमन्वितः ॥ १ ॥

इस वनपर्वको सुनकर मनुष्य बड़े-बड़े पापोंसे मुक्त हो जाता है, निर्धन धन पाता है और पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न होता है ॥ १ ॥

यं यं प्रार्थयते कामं तं तं प्राप्नोत्यसंशयम् ।
नारी वा पुरुषो वापि शुचिः प्रयतमानसः ॥ २ ॥
आरण्यके श्रुतेऽधीते ब्राह्मणान् पायसादिभिः।
भोजयेद् वस्त्रगोस्वर्णदानै रत्नैः प्रपूजितान् ॥ ३ ॥

वह जिस-जिस मनोवाञ्छित वस्तुके लिये प्रार्थना करता है, उसे निश्चय ही पा लेता है । स्त्री हो या पुरुष; शुद्ध एवं एकाग्रचित्त होकर इस वनपर्वका श्रवण अथवा पाठ करनेपर वस्त्र, गौ, सुवर्ण तथा रत्नोंके दानसे ब्राह्मणोंका सम्मान करके उन्हें खीर आदिका भोजन करावे ॥ २-३ ॥

ब्राह्मणेषु च तुष्टेषु संतुष्टाः पाण्डुनन्दनाः ।
ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रः शक्रो देवगणास्तथा ॥ ४ ॥
भूतानि मुनयो देव्यस्तथा पितृगणाश्च ये ।
वाचकं पूजयेच्छक्त्या वस्त्रान्नैः स्वर्णभूषणैः ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंके संतुष्ट होनेपर पाण्डव, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, देवगण, भूतगण, मुनिगण, देवियाँ तथा पितृगण—ये सभी संतुष्ट होते हैं । अपनी शक्तिके अनुसार अन्न-वस्त्र और आभूषण देकर वाचककी पूजा करनी चाहिये ॥ ४-५ ॥

विशेषतस्तु कपिला देया तु जयपाठके ।
कांस्यदोहा रौप्यखुरा स्वर्णशृङ्गी सभूषणा ।
पाण्डूनां परितोषार्थं दद्यादन्नं द्विजातये ॥ ६ ॥

महाभारतके वाचकको विशेषतः एक कपिला गौ देनी चाहिये । उसके साथ काँसेका एक दुग्धपात्र होना चाहिये । गायके खुरोंमें चाँदी और सींगोंमें सोना मढ़ा दे । उसे अन्य आभूषणोंसे भी विभूषित करे । पाण्डवोंके संतोषके लिये ब्राह्मणोंको अन्नदान करे ॥ ६ ॥

आरण्यकाख्यमाख्यानं शृणुयाद् यो नरोत्तमः ।
स सर्वकाममाप्नोति पुनः स्वर्गतिमाप्नुयात् ॥ ७ ॥

जो नरश्रेष्ठ इस वनपर्वकी कथाको सुनता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है एवं शरीरका अन्त होनेपर स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ७ ॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

विराटपर्व

(पाण्डवप्रवेशपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

विराटनगरमें अज्ञातवास करनेके लिये पाण्डवोंकी गुप्त मन्त्रणा तथा युधिष्ठिरके द्वारा अपने भावी कार्यक्रमका दिग्दर्शन

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

अन्तर्यामी नारायण भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्यसखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥ १ ॥

जनमेजय उवाच

कथं विराटनगरे मम पूर्वपितामहाः ।
अज्ञातवासमुषिता दुर्योधनभयार्दिताः ॥ २ ॥
पतिव्रता महाभागा सततं ब्रह्मवादिनी ।
द्रौपदी च कथं ब्रह्मन्नज्ञाता दुःखितावसत् ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! मेरे प्रपितामह पाण्डवोंने दुर्योधनके भयसे कष्ट उठाते हुए विराटनगरमें अपने अज्ञातवासका समय किस प्रकार व्यतीत किया तथा दुःखमें पड़ी हुई सदा ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णका नामकीर्तन करनेवाली परम सौभाग्यवती पतिव्रता द्रौपदी वहाँ अपनेको अज्ञात रखकर कैसे निवास कर सकी ? ॥ २-३ ॥

वैशम्पायन उवाच

यथा विराटनगरे तव पूर्वपितामहाः ।
अज्ञातवासमुषितास्तच्छृणुष्व नराधिप ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! तुम्हारे प्रपितामहोंने विराटनगरमें जिस प्रकार अज्ञातवासके दिन पूरे किये थे, वह बताता हूँ; सुनो ॥ ४ ॥

तथा स तु वराँल्लब्ध्वा धर्मो धर्मभृतां वरः ।
गत्वाऽऽश्रमं ब्राह्मणेभ्य आचख्यौ सर्वमेव तत् ॥ ५ ॥

यक्षरूपधारी धर्मसे इस प्रकार वरदान पानेके अनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मपुत्र युधिष्ठिरने आश्रमपर जाकर वह सब समाचार ब्राह्मणोंको बताया ॥ ५ ॥

कथयित्वा तु तत् सर्वं ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिरः ।
अरणीसहितं तस्मै ब्राह्मणाय न्यवेदयत् ॥ ६ ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा धर्मपुत्रो महामनाः ।
संनिवर्त्यानुजान् सर्वानिति होवाच भारत ॥ ७ ॥

भारत ! ब्राह्मणोंसे सब कुछ बताकर जब युधिष्ठिरने अरणीसहित मन्थनकाष्ठ पूर्वोक्त ब्राह्मणदेवताको सौंप दिया, तब धर्मपुत्र महामनस्वी उन राजा युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंको एकत्र करके इस प्रकार कहा—॥ ६—७ ॥

द्वादशेमानि वर्षाणि राज्यविप्रोषिता वयम् ।
त्रयोदशोऽयं सम्प्राप्तः कृच्छ्रात् परमदुर्वसः ॥ ८ ॥

'आज बारह वर्ष बीत गये, हमलोग अपने राज्यसे बाहर आकर वनमें रहते हैं । अब यह तेरहवाँ वर्ष आरम्भ हुआ है । इसमें बड़े कष्टसे कठिनाइयोंका सामना करते हुए अत्यन्त गुप्तरूपसे रहना होगा ॥ ८ ॥

स साधु कौन्तेय इतो वासमर्जुन रोचय ।
संवत्सरमिमं यत्र वसेमाविदिताः परैः ॥ ९ ॥

'कुन्तीनन्दन अर्जुन ! तुम अपनी रुचिके अनुसार कोई उत्तम निवासस्थान चुनो, जहाँ यहाँसे चलकर हम एक वर्षतक इस प्रकार रहें कि शत्रुओंको हमारा पता न चल सके' ॥ ९ ॥

अर्जुन उवाच

तस्यैव वरदानेन धर्मस्य मनुजाधिप ।
अज्ञाता विचरिष्यामो नराणां नात्र संशयः ॥ १० ॥
तत्र वासाय राष्ट्राणि कीर्तयिष्यामि कानिचित् ।
रमणीयानि गुप्तानि तेषां किञ्चित् स्म रोचय ॥ ११ ॥

अर्जुन बोले—नरेश्वर ! इसमें संदेह नहीं कि उन्हीं भगवान् धर्मके दिये हुए वरके प्रभावसे हमलोग इस पृथ्वीपर विचरते रहेंगे और हमें दूसरे मनुष्य पहचान न सकेंगे तथापि मैं आपसे निवास करने योग्य कुछ रमणीय एवं गुप्त राष्ट्रोंके नाम बतलाऊँगा, उनमेंसे किसीको आप स्वयं ही अपनी रुचिके अनुसार चुन लीजिये ॥ १०-११ ॥

सन्ति रम्या जनपदा बह्वन्नाः परितः कुरून्।
पाञ्चालाश्चेदिमत्स्याश्च शूरसेनाः पटच्चराः ॥१२॥
दशार्णा नवराष्ट्राश्च मल्लाः शाल्वा युगन्धराः।
कुन्तिराष्ट्रं च विपुलं सुराष्ट्रावन्तयस्तथा ॥१३॥

कुरुदेशके चारों ओर बहुत-से सुरम्य जनपद हैं, जहाँ बहुत अन्न होता है। उनके नाम ये हैं-पाञ्चाल, चेदि, मत्स्य, शूरसेन, पटच्चर, दशार्ण, नवराष्ट्र, मल्ल, शाल्व, युगन्धर, विशाल कुन्तिराष्ट्र, सौराष्ट्र तथा अवन्ती ॥ १२-१३ ॥

एतेषां कतमो राजन् निवासस्तव रोचते।
यत्र वत्स्यामहे राजन् संवत्सरमिमं वयम् ॥१४॥

राजन् ! इनमेंसे कौन-सा राष्ट्र आपको निवास करनेके लिये पसंद है ? जिसमें हम सब लोग इस वर्ष निवास करें ॥१४॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतमेतन्महाबाहो यथा स भगवान् प्रभुः।
अब्रवीत् सर्वभूतेशस्तत् तथा न तदन्यथा ॥१५॥

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहो ! तुम्हारी यह बात मैंने ध्यानसे सुनी है। सम्पूर्ण भूतोंके अधीश्वर और प्रभावशाली भगवान् धर्मने हमारे लिये जैसा आदेश दिया है, वह सब वैसा ही होगा। उसके विपरीत कुछ नहीं होगा ॥ १५ ॥

अवश्यं त्वेव वासार्थं रमणीयं शिवं सुखम्।
सम्मन्त्र्य सहितैः सर्वैर्वस्तव्यमकुतोभयैः ॥१६॥

तथापि हम सब लोगोंको आपसमें सलाह करके अवश्य ही अपने रहनेके लिये कोई परम सुन्दर, कल्याणकारी तथा सुखद स्थान चुन लेना चाहिये, जहाँ हम निर्भय होकर रह सकें ॥ १६ ॥

मत्स्यो विराटो बलवानभिरक्तोऽथ पाण्डवान्।
धर्मशीलो वदान्यश्च वृद्धश्च सततं प्रियः ॥१७॥

[तुम्हारे बताये हुए देशोंमेंसे] मत्स्यदेशके राजा विराट बहुत बलवान् हैं और पाण्डवोंके प्रति उनका अनुराग भी है; साथ ही वे स्वभावतः धर्मात्मा, वृद्ध, उदार तथा हमें सदैव प्रिय हैं ॥ १७ ॥

विराटनगरे तात संवत्सरमिमं वयम्।
कुर्वन्तस्तस्य कर्माणि विहरिष्याम भारत ॥१८॥

भाई अर्जुन ! इसलिये इस वर्ष हमलोग राजा विराटके ही नगरमें रहें और उनका कार्यसाधन करते हुए उनके यहाँ विचरण करें ॥ १८ ॥

यानि यानि च कर्माणि तस्य वक्ष्यामहे वयम्।
आसाद्य मत्स्यं तत् कर्म प्रब्रूत कुरुनन्दनाः ॥१९॥

किंतु कुरुनन्दनो ! तुमलोग यह तो बताओ कि हम मत्स्यराजके पास पहुँचकर किन-किन कार्योंका भार सँभाल सकेंगे ? ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

नरदेव कथं तस्य राष्ट्रे कर्म करिष्यसि।
विराटनगरे साधो रंस्यसे केन कर्मणा ॥२०॥

अर्जुनने पूछा—नरदेव ! आप उनके राष्ट्रमें किस प्रकार कार्य करेंगे ? महात्मन् ! विराटनगरमें कौन-सा कर्म करनेसे आपको प्रसन्नता होगी ? ॥ २० ॥

मृदुर्वदान्यो ह्रीमांश्च धार्मिकः सत्यविक्रमः।
राजंस्त्वमापदाऽऽकृष्टः किं करिष्यसि पाण्डव ॥२१॥

राजन् ! आपका स्वभाव कोमल है। आप उदार, लज्जाशील, धर्मपरायण तथा सत्यपराक्रमी हैं, तथापि विपत्तिमें पड़ गये हैं। पाण्डुनन्दन ! आप वहाँ क्या करेंगे ? ॥

न दुःखमुचितं किञ्चिद् राजन् वेद यथा जनः।
स इमामापदं प्राप्य कथं घोरां तरिष्यसि ॥२२॥

राजन् ! साधारण मनुष्योंकी भाँति आपको किसी प्रकारके दुःखका अनुभव हो, यह उचित नहीं है; अतः इस घोर आपत्तिमें पड़कर आप कैसे इसके पार होंगे ? ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शृणुध्वं यत् करिष्यामि कर्म वै कुरुनन्दनाः।
विराटमनुसम्प्राप्य राजानं पुरुषर्षभाः ॥२३॥

युधिष्ठिरने कहा—नरश्रेष्ठ कुरुनन्दनो ! मैं राजा विराटके यहाँ चलकर जो कार्य करूँगा, वह बताता हूँ; सुनो ॥ २३ ॥

सभास्तारो भविष्यामि तस्य राज्ञो महात्मनः।
कङ्को नाम द्विजो भूत्वा मताक्षः प्रियदेवनः ॥२४॥
वैदूर्यान् काञ्चनान् दान्तान् फलैर्ज्योतीरसैः सह।
कृष्णाँल्लोहितवर्णांश्च निर्वर्त्स्यामि मनोरमान् ॥२५॥

मैं पासा खेलनेकी विद्या जानता हूँ और यह खेल मुझे प्रिय भी है, अतः मैं कङ्क* नामक ब्राह्मण बनकर महामना

---

* विश्व कोषके अनुसार 'कङ्क' शब्द यमराजका वाचक है। यमराजका ही दूसरा नाम धर्म है और वे ही युधिष्ठिररूपमें अवतीर्ण हुए थे। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इस उक्तिके अनुसार भी धर्म एवं धर्मपुत्र युधिष्ठिरमें कोई अन्तर नहीं है। यह समझकर ही अपनी सत्यवादिताकी रक्षा करते हुए युधिष्ठिरने 'कङ्क' नामसे अपना परिचय दिया। इसके सिवा उन्होंने जो अपनेको युधिष्ठिर-

राजा विराटकी राजसभाका एक सदस्य हो जाऊँगा और वैदूर्यमणिके समान हरी, सुवर्णके समान पीली तथा हाथी-दाँतकी बनी हुई काली और लाल रंगकी मनोहर गोटियोंको चमकीले बिन्दुओंसे युक्त पासोंके अनुसार चलाता रहूँगा ॥

विराटराजं रमयन् सामात्यं सहबान्धवम् ।
न च मां वेत्स्यते कश्चित् तोषयिष्ये च तं नृपम् ॥२६॥

मैं राजा विराटको उनके मन्त्रियों तथा बन्धु-बान्धवोंसहित पासोंके खेलसे प्रसन्न करता रहूँगा। इस रूपमें मुझे कोई पहचान न सकेगा और मैं उन मत्स्यनरेशको भलीभाँति संतुष्ट रक्खूँगा ॥ २६ ॥

आसं युधिष्ठिरस्याहं पुरा प्राणसमः सखा ।
इति वक्ष्यामि राजानं यदि मां सोऽनुयोक्ष्यते ॥२७॥

यदि वे राजा मुझसे पूछेंगे कि आप कौन हैं, तो मैं उन्हें बताऊँगा कि मैं पहले महाराज युधिष्ठिरका प्राणोंके समान प्रिय सखा था ॥ २७ ॥

इत्येतद् वो मयाऽऽख्यातं विहरिष्याम्यहं यथा ।

इस प्रकार मैंने तुमलोगोंको बता दिया कि विराटनगरमें मैं किस प्रकार रहूँगा ॥ २७½ ॥

(*वैशम्पायन उवाच*

एवं निर्दिश्य चात्मानं भीमसेनमुवाच ह ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार अज्ञातवासमें अपनेद्वारा किये जानेवाले कार्यको बतलाकर युधिष्ठिर भीमसेनसे बोले ॥

युधिष्ठिर उवाच

भीमसेन कथं कर्म मात्स्यराष्ट्रे करिष्यसि ॥
हत्वा क्रोधवशांस्तत्र पर्वते गन्धमादने ।
यक्षान् क्रोधाभिताम्राक्षान् राक्षसांश्चापि पौरुषान् ।
प्रादाः पाञ्चालकन्यायै पद्मानि सुबहून्यपि ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भीमसेन ! तुम मत्स्यदेशमें किस प्रकार कोई कार्य कर सकोगे ? तुमने गन्धमादन पर्वतपर क्रोधसे सदा लाल आँखें किये रहनेवाले क्रोधवश नामक यक्षों और महापराक्रमी राक्षसोंका वध करके पाञ्चालराज-कुमारी द्रौपदीको बहुत-से कमल लाकर दिये थे ॥

बकं राक्षसराजानं भीषणं पुरुषादकम् ।
जघ्निवानसि कौन्तेय ब्राह्मणार्थमरिंदम ॥
क्षेमा चाभयसंवीता ह्येकचक्रा त्वया कृता ॥

शत्रुहन्ता भीम ! ब्राह्मणपरिवारकी रक्षाके लिये तुमने भयानक आकृतिवाले नरभक्षी राक्षसराज बकको भी मार डाला था और इस प्रकार एकचक्रा नगरीको भयरहित एवं कल्याणयुक्त बनाया था ॥

हिडिम्बं च महावीर्यं किर्मीरं चैव राक्षसम् ।
त्वया हत्वा महाबाहो वनं निष्कण्टकं कृतम् ॥

महाबाहो ! तुमने महावीर हिडिम्ब और राक्षस किर्मीरको मारकर वनको निष्कण्टक बनाया था ॥

आपदं चापि सम्प्राप्ता द्रौपदी चारुहासिनी ।
जटासुरवधं कृत्वा त्वया च परिमोक्षिता ॥
मत्स्यराजान्तिके तात वीर्यपूर्णोऽत्यमर्षणः ।)
वृकोदर विराटे त्वं रंस्यसे केन हेतुना ॥२८॥

संकटमें पड़ी हुई मनोहर हास्यवाली द्रौपदीको भी तुमने जटासुरका वध करके छुड़ाया था। तात भीमसेन ! तुम अत्यन्त बलवान् एवं अमर्षशाली हो। राजा विराटके यहाँ कौन-सा कार्य करके तुम प्रसन्नतापूर्वक रह सकोगे—यह बतलाओ ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमन्त्रणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी परस्पर मन्त्रणासे सम्बन्ध रखनेवाला पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६½ श्लोक मिलाकर कुल ३४½ श्लोक हैं)

द्वितीयोऽध्यायः

भीमसेन और अर्जुनद्वारा विराटनगरमें किये जानेवाले अपने अनुकूल कार्योंका निर्देश

भीमसेन उवाच

पौरोगवो ब्रुवाणोऽहं बल्लवो नाम भारत ।
उपस्थास्यामि राजानं विराटमिति मे मतिः ॥ १ ॥

भीमसेनने कहा—भरतवंशशिरोमणे ! मैं पौरोगव[1]

का प्राणोंके समान प्रिय सखा बताया, वह भी असत्य नहीं है। युधिष्ठिर नामक शरीरको ही यहाँ युधिष्ठिर समझना चाहिये। आत्माकी सत्तासे ही शरीरका संचालन होता है। अतः आत्मा उसके साथ रहनेके कारण उसका सखा है। आत्मा सबसे बढ़कर प्रिय है ही; अतः यहाँ युधिष्ठिरका आत्मा युधिष्ठिर-शरीरका प्रिय सखा कहा गया है।

१. पुरोगु कहते हैं वायुको, उसके पुत्र होनेसे भीमसेनका 'पौरोगव' नाम सत्य एवं सार्थक है।

(पाकशालाका अध्यक्ष) बनकर और बल्लव[1] नामसे अपना परिचय देकर राजा विराटके दरबारमें उपस्थित होऊँगा। मेरा यही विचार है ॥ १ ॥

सूपानस्य करिष्यामि कुशलोऽस्मि महानसे।
कृतपूर्वाणि यान्यस्य व्यञ्जनानि सुशिक्षितैः ॥ २ ॥
तान्यप्यभिभविष्यामि प्रीतिं संजनयन्नहम्।

मैं रसोई बनानेके काममें चतुर हूँ। अपने ऊपर राजाके मनमें अत्यन्त प्रेम उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे उनके लिये सूप (दाल, कढ़ी एवं साग आदि) तैयार करूँगा और पाककलामें भलीभाँति शिक्षा पाये हुए चतुर रसोइयोंने राजाके लिये पहले जो-जो व्यञ्जन बनाये होंगे, उन्हें भी अपने बनाये हुए व्यञ्जनोंसे तुच्छ सिद्ध कर दूँगा ॥ २½ ॥

आहरिष्यामि दारूणां निचयान् महतोऽपि च ॥ ३ ॥
यत् प्रेक्ष्य विपुलं कर्म राजा संयोक्ष्यते स माम्।
अमानुषाणि कुर्वाणस्तानि कर्माणि भारत ॥ ४ ॥

इतना ही नहीं, मैं रसोईके लिये लकड़ियोंके बड़े-से-बड़े गट्ठोंको भी उठा लाऊँगा, जिस महान् कर्मको देखकर राजा विराट मुझे अवश्य रसोइयेके कामपर नियुक्त कर लेंगे। भारत! मैं वहाँ ऐसे-ऐसे अद्भुत कार्य करता रहूँगा, जो साधारण मनुष्योंकी शक्तिके बाहर है ॥ ३-४ ॥

राजस्तस्य परे प्रेष्या मंस्यन्ते मां यथा नृपम्।
भक्ष्यान्नरसपानानां भविष्यामि तथेश्वरः ॥ ५ ॥

इससे राजा विराटके दूसरे सेवक राजाके ही समान मेरा सम्मान करेंगे और मैं भक्ष्य, भोज्य, रस तथा पेय पदार्थोंका इच्छानुसार उपयोग करनेमें समर्थ होऊँगा ॥ ५ ॥

द्विपा वा बलिनो राजन् वृषभा वा महाबलाः।
विनिग्राह्या यदि मया निग्रहीष्यामि तानपि ॥ ६ ॥

राजन्! बलवान् हाथी अथवा महाबली बैल भी यदि काबूमें करनेके लिये मुझे सौंपे जायँगे तो मैं उन्हें भी बाँधकर अपने वशमें कर लूँगा ॥ ६ ॥

ये च केचिन्नियोत्स्यन्ति समाजेषु नियोधकाः।
तानहं हि नियोत्स्यामि रतिं तस्य विवर्धयन् ॥ ७ ॥

तथा जो कोई भी मल्लयुद्ध करनेवाले पहलवान जन-समाजमें दंगल करना चाहेंगे, राजाका प्रेम बढ़ानेके लिये मैं उनसे भी भिड़ जाऊँगा ॥ ७ ॥

न त्वेतान् युद्ध्यमानान् वै हनिष्यामि कथञ्चन।
तथैतान् पातयिष्यामि यथा यास्यन्ति न क्षयम् ॥ ८ ॥

परंतु कुश्ती करनेवाले इन पहलवानोंको मैं किसी प्रकार जानसे नहीं मारूँगा; अपितु इस प्रकार नीचे गिराऊँगा, जिससे उनकी मृत्यु न हो ॥ ८ ॥

आरालिको गोविकर्ता सूपकर्ता नियोधकः।
आसं युधिष्ठिरस्याहमिति वक्ष्यामि पृच्छतः ॥ ९ ॥

महाराजके पूछनेपर मैं यह कहूँगा कि मैं राजा युधिष्ठिरके यहाँ आरालिक (मतवाले हाथियोंको भी काबूमें करनेवाला गजशिक्षक), गोविकर्ता (महाबली वृषभोंको भी पछाड़कर उन्हें नाथनेवाला), सूपकर्ता (दाल-साग आदि भाँति-भाँतिके व्यञ्जन बनानेवाला) तथा नियोधक (दंगली पहलवान) रहा हूँ ॥ ९ ॥

आत्मानमात्मना रक्षंश्चरिष्यामि विशाम्पते।
इत्येतत् प्रतिजानामि विहरिष्याम्यहं यथा ॥ १० ॥

राजन्! अपने-आप अपनी रक्षा करते हुए मैं विराटके नगरमें विचरूँगा। मुझे विश्वास है कि इस प्रकार मैं वहाँ सुखपूर्वक रह सकूँगा ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

यमग्निर्ब्राह्मणो भूत्वा समागच्छन्नृणां वरम्।
दिधक्षुः खाण्डवं दावं दाशार्हसहितं पुरा ॥ ११ ॥
महाबलं महाबाहुमजितं कुरुनन्दनम्।
सोऽयं किं कर्म कौन्तेयः करिष्यति धनंजयः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—जो मनुष्योंमें श्रेष्ठ महाबली और महाबाहु है, पहले भगवान् श्रीकृष्णके साथ बैठे हुए जिस अर्जुनके पास खाण्डववनको जलानेकी इच्छासे ब्राह्मणका रूप धारण करके साक्षात् अग्निदेव पधारे थे, जो कुरुकुलको आनन्द देनेवाला तथा किसीसे भी परास्त न होनेवाला है, वह कुन्तीनन्दन धनंजय विराटनगरमें कौन-सा कार्य करेगा? ॥

योऽयमासाद्य तं दावं तर्पयामास पावकम्।
विजित्यैकरथेनेन्द्रं हत्वा पन्नगराक्षसान् ॥ १३ ॥
वासुकेः सर्पराजस्य स्वसारं हृतवांश्च यः।
श्रेष्ठो यः प्रतियोधानां सोऽर्जुनः किं करिष्यति ॥ १४ ॥

जिसने खाण्डवदाहके समय वहाँ पहुँचकर एकमात्र रथका आश्रय ले इन्द्रको पराजित कर तथा नागों एवं राक्षसोंको मारकर अग्निदेवको तृप्त किया और अपने अप्रतिम सौन्दर्यसे नागराज वासुकिकी बहिन उलूपीका चित्त चुरा लिया एवं जो सम्मुख युद्ध करनेवाले वीरोंमें सबसे श्रेष्ठ है, वह अर्जुन वहाँ क्या काम करेगा? ॥ १३-१४ ॥

सूर्यः प्रतपतां श्रेष्ठो द्विपदां ब्राह्मणो वरः।
आशीविषश्च सर्पाणामग्निस्तेजस्विनां वरः ॥ १५ ॥
आयुधानां वरं वज्रं ककुद्मी च गवां वरः।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठः पर्जन्यो वर्षतां वरः ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्रश्च नागानां हस्तिष्वैरावणो वरः।
पुत्रः प्रियाणामधिको भार्या च सुहृदां वरा ॥ १७ ॥
(गिरीणां प्रवरो मेरुर्देवानां मधुसूदनः।
ग्रहाणां प्रवरश्चन्द्रः सरसां मानसं वरम् ॥)

१. बल्लवका अर्थ है सूपकर्ता अर्थात् रसोइया। रसोईके काममें निपुण होनेसे उनका यह नाम यथार्थ ही है।

यथैतानि विशिष्टानि जात्यां जात्यां वृकोदर ।
एवं युवा गुडाकेशः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥१८॥

जैसे तपनेवाले तेजस्वी पदार्थोंमें सूर्य श्रेष्ठ है, मनुष्योंमें ब्राह्मणका स्थान ऊँचा है, जैसे सर्पोंमें आशीविष जातिवाले सर्प महान् हैं, तेजस्वियोंमें अग्नि श्रेष्ठ हैं, अस्त्र-शस्त्रोंमें वज्रका स्थान ऊँचा है, गौओंमें ऊँचे कंधेवाला साँड़ बड़ा माना गया है, जलाशयोंमें समुद्र सबसे महान् है, वर्षा करनेवाले मेघोंमें पर्जन्य श्रेष्ठ हैं, नागोंमें धृतराष्ट्र तथा हाथियोंमें ऐरावत बड़ा है, जैसे प्रिय सम्बन्धियोंमें पुत्र सबसे अधिक प्रिय है और अकारण हित चाहनेवाले सुहृदोंमें धर्मपत्नी सबसे बढ़कर है, जैसे पर्वतोंमें मेरु श्रेष्ठ है, देवताओंमें मधुसूदन भगवान् विष्णु श्रेष्ठ हैं, ग्रहोंमें चन्द्रमा श्रेष्ठ हैं और सरोवरोंमें मानसरोवर श्रेष्ठ है। भीमसेन! अपनी-अपनी जातिमें जिस प्रकार ये पूर्वोक्त वस्तुएँ विशिष्ट मानी गयी हैं, वैसे ही सम्पूर्ण धनुर्धारियोंमें युवावस्थासे सम्पन्न यह गुडाकेश (निद्राविजयी) अर्जुन श्रेष्ठ है ॥ १५–१८ ॥

सोऽयमिन्द्रादनवरो वासुदेवान्महाद्युतिः ।
गाण्डीवधन्वा बीभत्सुः श्वेताश्वः किं करिष्यति ॥१९॥

यह देवराज इन्द्र और भगवान् श्रीकृष्णसे किसी बातमें कम नहीं है। श्वेत घोड़ोंवाले रथपर चलनेवाला यह महातेजस्वी गाण्डीवधारी बीभत्सु (अर्जुन) वहाँ कौन-सा कार्य करेगा ? ॥ १९ ॥

उषित्वा पञ्च वर्षाणि सहस्राक्षस्य वेश्मनि ।
अस्त्रयोगं समासाद्य स्ववीर्यान्मानुषाद्भुतम् ।
दिव्यान्यस्त्राणि चाप्तानि देवरूपेण भास्वता ॥२०॥

इसने पाँच वर्षोंतक देवराज इन्द्रके भवनमें रहकर ऐसे दिव्यास्त्र प्राप्त किये हैं, जिनका मनुष्योंमें होना एक अद्भुत-सी बात है। अपने देवोपम स्वरूपसे प्रकाशित होनेवाले अर्जुनने अनेक दिव्यास्त्र पाये हैं ॥ २० ॥

यं मन्ये द्वादशं रुद्रमादित्यानां त्रयोदशम् ।
वसूनां नवमं मन्ये ग्रहाणां दशमं तथा ॥२१॥

जिस अर्जुनको मैं बारहवाँ रुद्र और तेरहवाँ आदित्य मानता हूँ, नवम वसु तथा दसवाँ ग्रह स्वीकार करता हूँ ॥

यस्य बाहू समौ दीर्घौ ज्याघातकठिनत्वचौ ।
दक्षिणे चैव सव्ये च गवामिव वहः कृतः ॥२२॥

जिसकी दोनों भुजाएँ एक-सी विशाल हैं; प्रत्यञ्चाके आघातसे उनकी त्वचा कठोर हो गयी है। जैसे बैलोंके कंधोंपर जुआठेकी रगड़से चिह्न बन जाता है, उसी प्रकार जिसकी दाहिनी और बायीं भुजाओंपर प्रत्यञ्चाकी रगड़से चिह्न बन गये हैं ॥ २२ ॥

हिमवानिव शैलानां समुद्रः सरितामिव ।
त्रिदशानां यथा शक्रो वसूनामिव हव्यवाट् ॥२३॥
मृगाणामिव शार्दूलो गरुडः पतताभिव ।
वरः संनह्यमानानां सोऽर्जुनः किं करिष्यति ॥२४॥

जैसे पर्वतोंमें हिमालय, सरिताओंमें समुद्र, देवताओंमें इन्द्र, वसुओंमें हव्यवाहक अग्नि, मृगोंमें सिंह तथा पक्षियोंमें गरुड़ श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार कवचधारी वीरोंमें जिसका स्थान सबसे ऊँचा है, वह अर्जुन विराटनगरमें जाकर क्या काम करेगा ? ॥ २३-२४ ॥

अर्जुन उवाच

प्रतिज्ञां षण्ढकोऽस्मीति करिष्यामि महीपते ।
ज्याघातौ हि महान्तौ मे संवर्तुं नृप दुष्करौ ॥२५॥
वलयैश्छादयिष्यामि बाहू किणकृताविमौ ।

अर्जुनने कहा—महाराज! मैं राजाकी सभामें यह दृढ़तापूर्वक कहूँगा कि मैं षण्ढक (नपुंसक) हूँ। राजन्! यद्यपि मेरी दायीं-बायीं भुजाओंमें धनुषकी डोरीकी रगड़से जो महान् चिह्न बन गये हैं, उन्हें छिपाना बहुत कठिन है तथापि कंगन आदि आभूषणोंसे मैं इन ज्याघातचिह्नित भुजाओंको ढक लूँगा ॥ २५½ ॥

कर्णयोः प्रतिमुच्याहं कुण्डले ज्वलनप्रभे ॥२६॥
पिनद्धकम्बुः पाणिभ्यां तृतीयां प्रकृतिं गतः ।
वेणीकृतशिरा राजन् नाम्ना चैव बृहन्नला ॥२७॥

मैं दोनों कानोंमें अग्निके समान कान्तिमान् कुण्डल पहनकर हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ धारण कर लूँगा। इस प्रकार तीसरी प्रकृति (नपुंसकभाव) को अपनाकर सिरपर चोटी गूँथ लूँगा और अपनेको बृहन्नला नामसे घोषित करूँगा*॥२६-२७॥

पठन्नाख्यायिकाश्चैव स्त्रीभावेन पुनः पुनः ।
रमयिष्ये महीपालमन्यांश्चान्तःपुरे जनान् ॥२८॥

स्त्रीभावसे अपने स्वरूपको छिपाकर बारंबार पूर्ववर्ती राजाओंके चरित्रोंका गान करके महाराज विराट तथा अन्तःपुरकी अन्यान्य स्त्रियोंका मनोरञ्जन करूँगा ॥ २८ ॥

गीतं नृत्यं विचित्रं च वादित्रं विविधं तथा ।
शिक्षयिष्याम्यहं राजन् विराटस्य पुरस्त्रियः ॥२९॥

राजन्! मैं विराटनगरकी स्त्रियोंको गीत गाने, विचित्र ढंगसे नृत्य करने तथा भाँति-भाँतिके बाजे बजानेकी शिक्षा दूँगा ॥ २९ ॥

* इस प्रसङ्गमें अर्जुनने अपनेको षण्ढक और बृहन्नला कहा है। षण्ढक शब्दका अर्थ है नपुंसक। अर्जुन इस समय उर्वशीके शापसे नपुंसक हो गये थे। बृहन्नलाका मूल शब्द बृहन्नल है। विद्वानोंने 'र' और 'ल' को एक-सा माना है; अतः बृहन्नलका अर्थ बृहन्नर अर्थात् श्रेष्ठ या महान् मानव है। भगवान् नारायणके सखा होनेके कारण अर्जुन नरश्रेष्ठ हैं ही।

प्रजानां समुदाचारं बहु कर्म कृतं वदन्।
छादयिष्यामि कौन्तेय माययाऽऽत्मानमात्मना ॥३०॥

कुन्तीनन्दन ! प्रजाजनोंके उत्तम आचार-विचार और उनके किये हुए अनेक प्रकारके सत्कर्मोंका वर्णन करता हुआ मैं मायामय नपुंसकवेशसे बुद्धिद्वारा अपने यथार्थ स्वरूपको छिपाये रक्खूँगा ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका।
उषितास्मीति वक्ष्यामि पृष्टो राज्ञा च पाण्डव ॥३१॥

पाण्डुनन्दन ! यदि राजा विराटने मेरा परिचय पूछा, तो मैं कह दूँगा कि मैं महाराज युधिष्ठिरके घरमें महारानी द्रौपदीकी परिचारिका[1] रह चुकी हूँ ॥ ३१ ॥

एतेन विधिना छन्नः कृतकेन यथानलः।
विहरिष्यामि राजेन्द्र विराटभवने सुखम् ॥३२॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार कृत्रिम वेशभूषासे राखमें छिपी हुई अग्निके समान अपनेको छिपाकर मैं विराटके महलमें सुखपूर्वक निवास करूँगा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमन्त्रणे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी मन्त्रणाविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३३ श्लोक हैं)

तृतीयोऽध्यायः

नकुल, सहदेव तथा द्रौपदीद्वारा अपने-अपने भावी कर्तव्योंका दिग्दर्शन

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीर-
स्तथार्जुनो धर्मभृतां वरिष्ठः।
वाक्यं तथासौ विरराम भूयो
नृपोऽपरं भ्रातरमाबभाषे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तथा पुरुषोंमें महान् वीर अर्जुन इस प्रकार कहकर चुप हो गये। तब राजा युधिष्ठिर पुनः दूसरे भाईसे बोले ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं त्वं नकुल कुर्वाणस्तत्र तात चरिष्यसि।
कर्म तत् त्वं समाचक्ष्व राज्ये तस्य महीपतेः।
सुकुमारश्च शूरश्च दर्शनीयः सुखोचितः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नकुल ! तुम राजा विराटके राज्यमें कौन-सा कार्य करते हुए निवास करोगे ? वह कार्य बताओ। तात ! तुम तो शूरवीर होनेके साथ ही अत्यन्त सुकुमार, परम दर्शनीय और सर्वथा सुख भोगनेके ही योग्य हो ॥ २ ॥

नकुल उवाच

अश्वबन्धो भविष्यामि विराटनृपतेरहम्।
सर्वथा ज्ञानसम्पन्नः कुशलः परिरक्षणे ॥ ३ ॥

नकुल बोले—राजन् ! मैं राजा विराटके यहाँ अश्वबन्ध (घोड़ोंको वशमें करनेवाला सवार) होकर रहूँगा। मैं अश्व-विज्ञानसे सम्पन्न और घोड़ोंकी रक्षाके कार्यमें कुशल हूँ ॥ ३॥

ग्रन्थिको नाम नाम्नाहं कर्मैतत् सुप्रियं मम।
कुशलोऽस्म्यश्वशिक्षायां तथैवाश्वचिकित्सने।
प्रियाश्च सततं मेऽश्वाः कुरुराज यथा तव ॥ ४ ॥

मैं राजसभामें ग्रन्थिक नामसे अपना परिचय दूँगा। घोड़ोंकी देखभालका काम मुझे अत्यन्त प्रिय है। उन्हें भाँति-भाँतिकी चालें सिखाने और उनकी चिकित्सा करनेमें भी मैं निपुण हूँ। कुरुराज ! आपकी ही भाँति मुझे भी घोड़े सदैव प्रिय रहे हैं* ॥ ४ ॥

ये मामामन्त्रयिष्यन्ति विराटनगरे जनाः।
तेभ्य एवं प्रवक्ष्यामि विहरिष्याम्यहं यथा ॥ ५ ॥
पाण्डवेन पुरा तात अश्वेष्वधिकृतः पुरा।
विराटनगरे छन्नश्चरिष्यामि महीपते ॥ ६ ॥

विराटनगरमें जो लोग मुझसे पूछेंगे, उन्हें मैं इस प्रकार उत्तर दूँगा—'तात ! पहले पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने मुझे अश्वोंका अध्यक्ष बनाकर रख रक्खा था।' महीपते ! मैं जिस प्रकार वहाँ विहार करूँगा, वह सब मैंने आपको बता दिया। राजा विराटके नगरमें अपनेको छिपाये रखकर ही मैं सर्वत्र विचरूँगा ॥ ५-६ ॥

१. परिचारिकाका एक अर्थ है सेविका और दूसरा अर्थ है सब ओर विचरण करनेवाली। इस प्रकार अर्जुनने गूढ़ अभिप्राययुक्त परिचारिका शब्दद्वारा अपनेको द्रौपदीका पति सूचित किया है।

* नकुलने अपना नाम ग्रन्थिक बताया और अपनेको अश्वोंका अधिकारी कहा है। ग्रन्थिकका अर्थ है आयुर्वेद तथा अध्वर्यु-विद्यासम्बन्धी ग्रन्थोंको जाननेवाला। श्रुतिमें अश्विनीकुमारोंको देवताओंका वैद्य तथा अध्वर्यु कहा गया है। 'अश्विनौ वै देवानां भिषजावश्विनावध्वर्यू'। नकुल अश्विनीकुमारोंके पुत्र हैं; अतः उनका अपनेको ग्रन्थिक कहना उपयुक्त ही है। 'नास्ति श्वो येषां ते अश्वाः' जिनके कलतक जीवित रहनेकी आशा न हो, वे अश्व हैं—इस व्युत्पत्तिके अनुसार जीवनकी आशा छोड़कर युद्धमें डटे रहनेवाले वीरोंको अश्व कहते हैं। नकुल उनके अधिकारी अर्थात् वीरोंमें प्रधान हैं। अतः उनका यह परिचय यथार्थ ही है।

युधिष्ठिर उवाच

सहदेव कथं तस्य समीपे विहरिष्यसि ।
किं वा त्वं कर्म कुर्वाणः प्रच्छन्नो विहरिष्यसि ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने सहदेवसे पूछा—भैया सहदेव ! तुम राजा विराटके समीप कैसे जाओगे उनके यहाँ क्या काम करते हुए गुप्तरूपसे निवास करोगे ? ॥ ७ ॥

सहदेव उवाच

गोसंख्याता भविष्यामि विराटस्य महीपतेः ।
प्रतिषेद्धा च दोग्धा च संख्याने कुशलो गवाम् ॥ ८ ॥

सहदेवने कहा—महाराज ! मैं राजा विराटके यहाँ गौओंकी गिनती—जाँच-पड़ताल करनेवाला गोशालाध्यक्ष होकर रहूँगा । मैं गौओंको नियन्त्रणमें रखने और दुहनेका काम अच्छी तरह जानता हूँ । उन्हें गिनने और उनकी परख-पहचानके काममें भी कुशल हूँ ॥ ८ ॥

तन्तिपाल इति ख्यातो नाम्नाहं विदितस्त्वथ ।
निपुणं च चरिष्यामि व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ९ ॥

मैं वहाँ तन्तिपाल नामसे प्रसिद्ध होऊँगा । इसी नामसे मुझे सब लोग जानेंगे । मैं बड़ी चतुराईसे अपनेको छिपाये रखकर वहाँ सब ओर विचरूँगा; अतः मेरे विषयमें आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ९ ॥

(अरोगा बहुलाः पुष्टाः क्षीरवत्यो बहुप्रजाः ।
निष्पन्नसत्त्वाः सुभृता व्यपेतज्वरकिल्बिषाः ॥
नष्टचोरभया नित्यं व्याधिव्याघ्रविवर्जिताः ।
गावश्च सुसुखा राजन् निरुद्विग्ना निरामयाः ॥
भविष्यन्ति मया गुप्ता विराटपशवो नृप ॥)

राजन् ! मेरेद्वारा रक्षित होकर राजा विराटके पशु तथा गौएँ नीरोग, संख्यामें अधिक, हृष्ट-पुष्ट, अधिक दूध देनेवाली, बहुत संतानोंवाली, सत्त्वयुक्त, अच्छी तरह सम्हाल होनेसे रोगरूप पापसे रहित, चोरोंके भयसे मुक्त तथा सदा व्याधि एवं बाघ आदिके भयसे रहित होंगी । महाराज ! वे उद्वेग-रहित, सुखी और निरामय तो होंगी ही ॥

अहं हि सततं गोषु भवता प्रहितः पुरा ।
तत्र मे कौशलं सर्वमवबुद्धं विशाम्पते ॥ १० ॥

भूपाल ! पहले आपने मुझे सदा गौओंकी देखभालके कार्यमें नियुक्त किया है । इस कार्यमें मैं कितना दक्ष हूँ, यह सब आपको विदित ही है ॥ १० ॥

लक्षणं चरितं चापि गवां यच्चापि मङ्गलम् ।
तत् सर्वं मे सुविदितमन्यच्चापि महीपते ॥ ११ ॥
वृषभानपि जानामि राजन् पूजितलक्षणान् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते ॥ १२ ॥

महीपते ! गौओंके जो लक्षण और चरित्र मङ्गलकारक होते हैं, वे सब मुझे भलीभाँति मालूम हैं । उनके विषयमें और भी बहुत-सी बातें मैं जानता हूँ । राजन् ! इसके सिवा मैं ऐसे प्रशंसनीय लक्षणोंवाले साँड़ोंको भी जानता हूँ, जिनके मूत्रको सूँघ लेनेमात्रसे वन्ध्या स्त्री भी गर्भवती हो सकती है ॥ ११-१२ ॥

सोऽहमेवं चरिष्यामि प्रीतिरत्र हि मे सदा ।
न च मां वेत्स्यते कश्चित् तोषयिष्ये च पार्थिवम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार मैं गौओंकी सेवा करूँगा । इस कार्यमें मुझे सदासे प्रेम रहा है । वहाँ मुझे कोई पहचान नहीं सकेगा । मैं अपने कार्यसे राजा विराटको संतुष्ट कर लूँगा* ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

इयं हि नः प्रिया भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।
मातेव परिपाल्या च पूज्या ज्येष्ठेव च स्वसा ॥ १४ ॥
केन स्म द्रौपदी कृष्णा कर्मणा विचरिष्यति ।
न हि किञ्चिद् विजानाति कर्म कर्तुं यथा स्त्रियः ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर बोले—यह द्रुपदकुमारी कृष्णा हमलोगोंकी प्यारी भार्या है । इसका गौरव हमारे लिये प्राणोंसे भी बढ़कर है । यह माता (पृथ्वी) की भाँति पालन करने योग्य तथा बड़ी बहन (धेनु) के समान आदरणीय है । यह तो दूसरी स्त्रियोंकी भाँति कोई काम-काज भी नहीं जानती; फिर वहाँ किस कर्मका आश्रय लेकर निवास करेगी ? ॥ १४-१५ ॥

सुकुमारी च बाला च राजपुत्री यशस्विनी ।
पतिव्रता महाभागा कथं नु विचरिष्यति ॥ १६ ॥

इसका शरीर अत्यन्त सुकुमार है । इसकी अवस्था नयी है । यह यशस्विनी राजकुमारी परम सौभाग्यवती तथा पतिव्रता है । भला, यह विराटनगरमें किस प्रकार रहेगी ? ॥१६॥

माल्यगन्धानलङ्कारान् वस्त्राणि विविधानि च ।
एतान्येवाभिजानाति यतो जाता हि भामिनी ॥ १७ ॥

इस भामिनीने जबसे जन्म लिया है, तबसे अबतक माला, सुगन्धित पदार्थ, भाँति-भाँतिके गहने तथा अनेक प्रकारके वस्त्रोंको ही जाना है । इसने कभी कष्टका अनुभव नहीं किया है ॥ १७ ॥

---

* 'तस्य वाक्तन्तिर्नामानि दामानि' इस श्रुतिके अनुसार तन्ति शब्द वाणीका वाचक है । तन्तिपाल कहकर सहदेवने गूढ़रूपसे युधिष्ठिरको यह बताया कि मैं आपकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करूँगा । साधारण लोगोंकी दृष्टिमें तन्तिपालका अर्थ है, बैलोंको बाँधनेकी रस्सीको सुरक्षित रखनेवाला । अतः सहदेवने भी अपना परिचय यथार्थ ही दिया ।

द्रौपद्युवाच

सैरन्ध्र्यो रक्षिता लोके भुजिष्याः सन्ति भारत।
नैवमन्याः स्त्रियो यान्ति इति लोकस्य निश्चयः॥
साहं ब्रुवाणा सैरन्ध्री कुशला केशकर्मणि॥ १८॥
युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका।
उषितास्मीति वक्ष्यामि पृष्टा राज्ञा च भारत॥ १९॥

द्रौपदीने कहा—भारत! इस जगत्‌में बहुत-सी ऐसी स्त्रियाँ हैं, जिनका दूसरोंके घरोंमें पालन होता है और जो शिल्पकर्मोंद्वारा जीवननिर्वाह करती हैं। वे अपने सदाचार-से स्वतः सुरक्षित होती हैं। ऐसी स्त्रियोंको सैरन्ध्री कहते हैं। लोगोंको अच्छी तरह मालूम है कि सैरन्ध्रीकी भाँति दूसरी स्त्रियाँ बाहरकी यात्रा नहीं करतीं, [अतः सैरन्ध्रीके वेशमें मुझे कोई पहचान नहीं सकेगा।] इसलिये मैं सैरन्ध्री कहकर अपना परिचय दूँगी। बालोंको सँवारने और वेणी-रचना आदिके कार्यमें मैं बहुत निपुण हूँ। यदि राजा मुझसे पूछेंगे, तो कह दूँगी कि 'मैं महाराज युधिष्ठिरके महलमें महारानी द्रौपदीकी परिचारिका बनकर रही हूँ' ॥ १८-१९॥

आत्मगुप्ता चरिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥ २०॥
सुदेष्णां प्रत्युपस्थास्ये राजभार्यां यशस्विनीम्।
सा रक्षिष्यति मां प्राप्तां मा भूत् ते दुःखमीदृशम्॥२१॥

मैं अपनी रक्षा स्वयं कर लूँगी। आप जो मुझसे पूछते हैं कि तुम वहाँ क्या करोगी? कैसे रहोगी? उसके उत्तरमें निवेदन है कि मैं यशस्विनी राजपत्नी सुदेष्णा-के पास जाऊँगी। मुझे अपने पास आयी हुई जानकर वे रख लेंगी और सब प्रकारसे मेरी रक्षा करेंगी। अतः आपके मनमें इस बातका दुःख नहीं होना चाहिये कि द्रौपदी कैसे सुरक्षित रह सकेगी॥ २०-२१॥

युधिष्ठिर उवाच

कल्याणं भाषसे कृष्णे कुले जातासि भामिनि।
न पापमभिजानासि साध्वी साधुव्रते स्थिता॥ २२॥

युधिष्ठिर बोले—कृष्णे! तुमने भली बात कही, इसमें कल्याण ही भरा है। क्यों न हो, तुम ऊँचे कुलमें उत्पन्न जो हुई हो! भामिनि! तुम्हें पापका रञ्चमात्र भी ज्ञान नहीं है। तुम साध्वी हो और उत्तम व्रतके पालनमें तत्पर रहती हो॥ २२॥

यथा न दुर्हृदः पापा भवन्ति सुखिनः पुनः।
कुर्यास्तत् त्वं हि कल्याणि लक्षयेयुर्न ते तथा॥ २३॥

कल्याणि! वहाँ ऐसा बर्ताव करना, जिससे वे पापी शत्रु फिर सुखी होनेका अवसर न पा सकें; वे तुम्हें किसी तरह पहचान न सकें॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमन्त्रणे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी परस्पर मन्त्रणाविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ॥ ३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

चतुर्थोऽध्यायः

धौम्यका पाण्डवोंको राजाके यहाँ रहनेका ढंग बताना और सबका अपने-अपने अभीष्ट स्थानोंको जाना

युधिष्ठिर उवाच

कर्माण्युक्तानि युष्माभिर्यानि यानि करिष्यथ।
मम चापि यथा बुद्धिरुचिता विधिनिश्चयात्॥ १॥

युधिष्ठिर बोले—विराटके यहाँ रहकर तुम्हें जो-जो कार्य करने हैं, वे सब तुमने बताये। मुझे भी अपनी बुद्धिके अनुसार जो कार्य उचित प्रतीत हुआ, वह कह चुका। जान पड़ता है, विधाताका यही निश्चय है॥ १॥

पुरोहितोऽयमस्माकमग्निहोत्राणि रक्षतु।
सूदपौरोगवैः सार्द्धं द्रुपदस्य निवेशने॥ २॥
इन्द्रसेनमुखाश्चेमे रथानादाय केवलान्।
यान्तु द्वारवतीं शीघ्रमिति मे वर्तते मतिः॥ ३॥

अब मेरी सलाह यह है कि ये पुरोहित धौम्यजी रसोइयों तथा पाकशालाध्यक्षके साथ राजा द्रुपदके घर जाकर रहें और वहाँ हमारे अग्निहोत्रकी अग्नियोंकी रक्षा करें तथा ये इन्द्रसेन आदि सेवकगण केवल रथोंको लेकर शीघ्र यहाँसे द्वारकाको चले जायँ॥ २-३॥

इमाश्च नार्यो द्रौपद्याः सर्वाश्च परिचारिकाः।
पाञ्चालानेव गच्छन्तु सूदपौरोगवैः सह॥ ४॥

और ये जो द्रौपदीकी सेवा करनेवाली स्त्रियाँ हैं, वे सब रसोइयों और पाकशालाध्यक्षके साथ पाञ्चालदेशको ही चली जायँ॥ ४॥

सर्वैरपि च वक्तव्यं न प्राज्ञायन्त पाण्डवाः।
गता ह्यस्मानपाहाय सर्वे द्वैतवनादिति॥ ५॥

वहाँ सब लोग यही कहें—'हमें पाण्डवोंका कुछ भी पता नहीं है। वे सब द्वैतवनसे ही हमें छोड़कर न जाने कहाँ चले गये'॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

एवं तेऽन्योन्यमामन्त्र्य कर्माण्युक्त्वा पृथक् पृथक्।
धौम्यमामन्त्रयामासुः स च तान् मन्त्रमब्रवीत्॥ ६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार आपसमें एक दूसरेकी सलाह लेकर और अपने पृथक्-पृथक् कर्म बतलाकर पाण्डवोंने पुरोहित धौम्यकी भी सम्मति ली । तब पुरोहित धौम्यने उन्हें इस प्रकार सलाह दी ॥ ६ ॥

धौम्य उवाच

विहितं पाण्डवाः सर्वं ब्राह्मणेषु सुहृत्सु च ।
याने प्रहरणे चैव तथैवाग्निषु भारत ॥ ७ ॥
त्वया रक्षा विधातव्या कृष्णायाः फाल्गुनेन च ।
विदितं वो यथा सर्वं लोकवृत्तमिदं तव ॥ ८ ॥

धौम्यजी बोले—पाण्डवो ! ब्राह्मणों, सुहृदों, सवारी या युद्ध-यात्रा, आयुध या युद्ध तथा अग्नियोंके प्रति जो शास्त्रविहित कर्तव्य हैं, उन्हें तुम अच्छी तरह जानते हो और तदनुकूल तुमने जो व्यवस्था की है, वह सब ठीक है । भारत ! अब मैं तुमसे यह कहना चाहता हूँ कि तुम और अर्जुन सावधान रहकर सदा द्रौपदीकी रक्षा करना । लोकव्यवहार-की सभी बातें अथवा साधारण लोगोंके व्यवहार तुम सब लोगोंको विदित हैं ॥ ७-८ ॥

विदिते चापि वक्तव्यं सुहृद्भिरनुरागतः ।
एष धर्मश्च कामश्च अर्थश्चैव सनातनः ॥ ९ ॥

विदित होनेपर भी हितैषी सुहृदोंका कर्तव्य है कि वे स्नेहवश हितकी बात बतावें । यही सनातन धर्म है और इसीसे काम एवं अर्थकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

अतोऽहमपि वक्ष्यामि हेतुमत्र निबोधत ।
हन्तेमां राजवसतिं राजपुत्रा ब्रवीम्यहम् ॥ १० ॥
यथा राजकुलं प्राप्य सर्वान् दोषांस्तरिष्यथ ।
दुर्वसं चैव कौरव्य जानता राजवेश्मनि ॥ ११ ॥

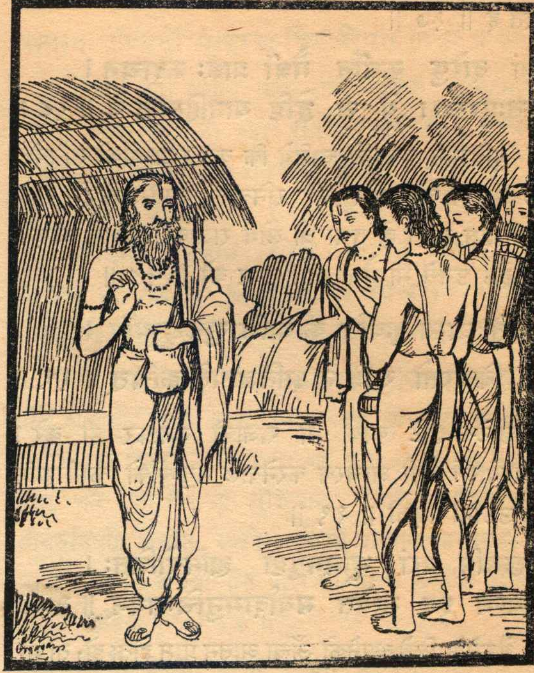
इसलिये मैं भी जो युक्तियुक्त बातें बताऊँगा, उन्हें यहाँ ध्यान देकर सुनो । राजपुत्रो ! मैं यह बता रहा हूँ कि राजाके घरमें रहकर कैसा बर्ताव करना चाहिये ? उसके अनुसार राजकुलमें रहते हुए भी तुमलोग वहाँके सब दोषोंसे पार हो जाओगे । कुरुनन्दन ! विवेकी पुरुषके लिये भी राजमहलमें निवास करना अत्यन्त कठिन है ॥ १०-११ ॥

अमानितैर्मानितैर्वा अज्ञातैः परिवत्सरम् ।
ततश्चतुर्दशे वर्षे चरिष्यथ यथासुखम् ॥ १२ ॥

वहाँ तुम्हारा अपमान हो या सम्मान, सब कुछ सहकर एक वर्षतक अज्ञातभावसे रहना चाहिये । तदनन्तर चौदहवें वर्षमें तुमलोग अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक विचरण कर सकोगे ॥ १२ ॥

दृष्टद्वारो लभेद् द्रष्टुं राजस्वेषु न विश्वसेत् ।
तदेवासनमन्विच्छेद् यत्र नाभिपतेत् परः ॥ १३ ॥

राजासे मिलना हो, तो पहले द्वारपालसे मिलकर राजाको



सूचना देनी चाहिये और मिलनेके लिये उनकी आज्ञा मँगा लेनी चाहिये । इन राजाओंपर पूर्ण विश्वास कभी न करे । अपने लिये वही आसन पसंद करे, जिसपर दूसरा कोई बैठनेवाला न हो ॥ १३ ॥

यो न यानं न पर्यङ्कं न पीठं न गजं रथम् ।
आरोहेत् सम्मतोऽस्मीति स राजवसतिं वसेत् ॥ १४ ॥

जो 'मैं राजाका प्रिय व्यक्ति हूँ', यों मानकर कभी राजाकी सवारी, पलंग, पादुका, हाथी एवं रथ आदिपर नहीं चढ़ता है, वही राजाके घरमें कुशलपूर्वक रह सकता है ॥ १४ ॥

यत्र यत्रैनमासीनं शङ्केरन् दुष्टचारिणः ।
न तत्रोपविशेद् यो वै स राजवसतिं वसेत् ॥ १५ ॥

जिन-जिन स्थानोंपर बैठनेसे दुराचारी मनुष्य संदेह करते हों, वहाँ-वहाँ जो कभी नहीं बैठता, वही राजभवनमें रह सकता है ॥ १५ ॥

न चानुशिष्याद् राजानमपृच्छन्तं कदाचन ।
तूष्णीं त्वेनमुपासीत काले समभिपूजयेत् ॥ १६ ॥

बिना पूछे राजाको कभी कर्तव्यका उपदेश न दे । मौनभावसे ही उसकी सेवा करे और उपयुक्त अवसरपर राजाकी प्रशंसा भी करे ॥ १६ ॥

असूयन्ति हि राजानो जनाननृतवादिनः ।
तथैव चावमन्यन्ते मन्त्रिणं वादिनं मृषा ॥ १७ ॥

झूठ बोलनेवाले मनुष्योंके प्रति राजालोग दोषदृष्टि कर

लेते हैं। इसी प्रकार वे मिथ्यावादी मन्त्रीका भी अपमान करते हैं ॥ १७ ॥

नैषां दारेषु कुर्वीत मैत्रीं प्राज्ञः कदाचन।
अन्तःपुरचरा ये च द्वेष्टि यानहिताश्च ये ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह राजाओंकी रानियोंसे मेल-जोल न करे और जो रनिवासमें आते-जाते हों, राजा जिनसे द्वेष रखते हों तथा जो लोग राजाका अहित चाहनेवाले हों, उनसे भी मैत्री स्थापित न करे ॥ १८ ॥

विदिते चास्य कुर्वीत कार्याणि सुलघून्यपि।
एवं विचरतो राज्ञि न क्षतिर्जायते क्वचित् ॥ १९ ॥

छोटे-से-छोटे कार्य भी राजाको जनाकर ही करे। राजदरबारमें ऐसा आचरण करनेवाले मनुष्योंको कभी हानि नहीं उठानी पड़ती ॥ १९ ॥

गच्छन्नपि परां भूमिमपृष्टो ह्यनियोजितः।
जात्यन्ध इव मन्येत मर्यादामनुचिन्तयन् ॥ २० ॥

बैठनेके लिये अपनेको ऊँचा आसन प्राप्त होता हो, तो भी जबतक राजा न पूछें—बैठनेका आदेश न दें, तबतक राजदरबारकी मर्यादाका खयाल करके अपनेको जन्मान्ध-सा माने, मानो उस आसनको वह देखता ही न हो। इस भावसे खड़ा रहकर राजाज्ञाकी प्रतीक्षा करता रहे ॥ २० ॥

न हि पुत्रं न नप्तारं न भ्रातरमरिंदमाः।
समतिक्रान्तमर्यादं पूजयन्ति नराधिपाः ॥ २१ ॥

क्योंकि शत्रुविजयी राजालोग मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले अपने पुत्र, नाती-पोते और भाईका भी आदर नहीं करते ॥ २१ ॥

यत्नाच्चोपचरेदेनमग्निवद् देववत् त्विह।
अनृतेनोपचीर्णो हि हन्यादेव न संशयः ॥ २२ ॥

इस जगत्‌में राजाको अग्निके समान दाहक मानकर उसके अत्यन्त निकट न रहे और देवताके समान निग्रह तथा अनुग्रहमें समर्थ जानकर उसकी कभी अवहेलना न करे। इस प्रकार यत्नपूर्वक उसकी परिचर्यामें संलग्न रहे। इसमें संदेह नहीं कि जो मिथ्या एवं कपटपूर्ण उपचारके द्वारा राजाकी सेवा करता है, वह एक दिन अवश्य उसके हाथसे मारा जाता है ॥ २२ ॥

यद् यद् भर्तानुयुञ्जीत तत् तदेवानुवर्तयेत्।
प्रमादमवलेपं च कोपं च परिवर्जयेत् ॥ २३ ॥

राजा जिस-जिस कार्यके लिये आज्ञा दे, उसीका पालन करे। लापरवाही, घमंड और क्रोधको सर्वथा त्याग दे ॥

समर्थनासु सर्वासु हितं च प्रियमेव च।
संवर्णयेत् तदेवास्य प्रियादपि हितं भवेत् ॥ २४ ॥

कर्तव्य और अकर्तव्यके निर्णयके सभी अवसरोंपर हितकारक और प्रिय वचन कहे। यदि दोनों सम्भव न हों, तो प्रिय वचनका त्याग करके भी जो हितकारक हो, वही बात कहे (हितविरोधी प्रिय वचन कदापि न कहे) ॥ २४ ॥

अनुकूलो भवेच्चास्य सर्वार्थेषु कथासु च।
अप्रियं चाहितं यत् स्यात् तदस्मै नानुवर्णयेत् ॥ २५ ॥

सभी विषयों तथा सब बातोंमें राजाके अनुकूल रहे। कथावार्तामें भी राजाके सामने ऐसी बातोंकी बार-बार चर्चा न करे, जो उसे अप्रिय एवं अहितकर प्रतीत होती हों॥२५॥

नाहमस्य प्रियोऽस्मीति मत्वा सेवेत पण्डितः।
अप्रमत्तश्च सततं हितं कुर्यात् प्रियं च यत् ॥ २६ ॥

विद्वान् पुरुष 'मैं राजाका प्रिय व्यक्ति नहीं हूँ', ऐसा मानता हुआ सदा सावधान रहकर उसकी सेवा करे। राजाके लिये जो हितकर और प्रिय हो, वही कार्य करे ॥ २६ ॥

नास्यानिष्टानि सेवेत नाहितैः सह संवदेत्।
स्वस्थानान्न विकम्पेत स राजवसतिं वसेत् ॥ २७ ॥

जो चीज राजाको पसंद न हो, उसका कदापि सेवन न करे। उसके शत्रुओंसे बातचीत न करे और अपने स्थानसे कभी विचलित न हो। ऐसा बर्ताव करनेवाला मनुष्य ही राजाके यहाँ सकुशल रह सकता है ॥ २७ ॥

दक्षिणं वाथ वामं वा पार्श्वमासीत पण्डितः।
रक्षिणां ह्यात्तशस्त्राणां स्थानं पश्चाद् विधीयते ॥ २८ ॥

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह राजाके दाहिने या बायें भागमें बैठे; क्योंकि राजाके पीछे अस्त्र-शस्त्रधारी अङ्गरक्षक सैनिकोंका स्थान होता है ॥ २८ ॥

नित्यं हि प्रतिषिद्धं तु पुरस्तादासनं महत्।
न च संदर्शने किंचित् प्रवृत्तमपि संजयेत् ॥ २९ ॥

राजाके सामने किसीके लिये भी ऊँचा आसन लगाना सर्वथा निषिद्ध है। उसकी आँखोंके सामने यदि कोई पुरस्कार-वितरण या वेतनदान आदिका कार्य हो रहा हो, तो उसमें बिना बुलाये स्वयं पहले लेनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये ॥

अपि ह्येतद् दरिद्राणां व्यलीकस्थानमुत्तमम्।
न मृषाभिहितं राज्ञां मनुष्येषु प्रकाशयेत् ॥ ३० ॥

क्योंकि ऐसी ढिठाई तो दरिद्रोंको भी बहुत अप्रिय जान पड़ती है; फिर राजाओंकी तो बात ही क्या है! राजाओंकी किसी झूठी बातको दूसरे मनुष्योंके सामने प्रकाशित न करे ॥ ३० ॥

असूयन्ति हि राजानो नराननृतवादिनः।
तथैव चावमन्यन्ते नरान् पण्डितमानिनः ॥ ३१ ॥

क्योंकि झूठ बोलनेवाले मनुष्योंसे राजालोग द्वेष मान लेते हैं। इसी तरह जो लोग अपनेको पण्डित मानते हैं, उनका भी राजा तिरस्कार करते हैं ॥ ३१ ॥

शूरोऽस्मीति न दृप्तः स्याद् बुद्धिमानिति वा पुनः।
प्रियमेवाचरन् राज्ञः प्रियो भवति भोगवान् ॥ ३२ ॥

'मैं शूरवीर हूँ अथवा बड़ा बुद्धिमान् हूँ', ऐसा घमंड न करे। जो सदा राजाको प्रिय लगनेवाले कार्य ही करता है, वही उसका प्रेमपात्र तथा ऐश्वर्यभोगसे सम्पन्न होता है ॥३२॥

ऐश्वर्यं प्राप्य दुष्प्रापं प्रियं प्राप्य च राजतः।
अप्रमत्तो भवेद् राज्ञः प्रियेषु च हितेषु च ॥ ३३ ॥

राजासे दुर्लभ ऐश्वर्य तथा प्रिय भोग प्राप्त होनेपर मनुष्य सदा सावधान होकर उसके प्रिय एवं हितकर कार्योंमें संलग्न रहे ॥ ३३ ॥

यस्य कोपो महाबाधः प्रसादश्च महाफलः।
कस्तस्य मनसापीच्छेदनर्थं प्राज्ञसम्मतः ॥ ३४ ॥

जिसका क्रोध बड़ा भारी संकट उपस्थित कर देता है और जिसकी प्रसन्नता महान् फल—ऐश्वर्य-भोग देनेवाली है, उस राजाका कौन बुद्धिमान् पुरुष मनसे भी अनिष्ट साधन करना चाहेगा ? ॥ ३४ ॥

न चोष्ठौ न भुजौ जानू न च वाक्यं समाक्षिपेत्।
सदा वातं च वाचं च ष्ठीवनं चाचरेच्छनैः ॥ ३५ ॥

राजाके समक्ष अपने दोनों हाथ, ओठ और घुटनोंको व्यर्थ न हिलावे; बकवाद न करे। सदा शनैः-शनैः बोले। धीरेसे थूके और दूसरोंको पता न चले, इस प्रकार अधोवायु छोड़े ॥ ३५ ॥

हास्यवस्तुषु चान्यस्य वर्तमानेषु केषुचित्।
नातिगाढं प्रहृष्येत न चाप्युन्मत्तवद्धसेत् ॥ ३६ ॥
न चातिधैर्येण चरेद् गुरुतां हि व्रजेत् ततः।
स्मितं तु मृदुपूर्वेण दर्शयेत प्रसादजम् ॥ ३७ ॥

किसी दूसरे व्यक्तिके सम्बन्धमें कोई हास्यजनक वस्तु दिखायी दे, तो अधिक हर्ष न प्रकट करे एवं पागलोंकी तरह अट्टहास न करे तथा अत्यन्त धैर्यके कारण जडवत् निश्चेष्ट होकर भी न रहे। इससे वह गौरव (सम्मान) को प्राप्त होता है। मनमें प्रसन्नता होनेपर मुखसे मृदुल (मन्द) मुसकानका ही प्रदर्शन करे ॥ ३६-३७ ॥

लाभे न हर्षयेद् यस्तु न व्यथेद् योऽवमानितः।
असम्मूढश्च यो नित्यं स राजवसतिं वसेत् ॥ ३८ ॥

जो अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेपर (अधिक) हर्षित नहीं होता अथवा अपमानित होनेपर अधिक व्यथाका अनुभव नहीं करता और सदा मोहशून्य होकर विवेकसे काम लेता है, वही राजाके यहाँ सुखपूर्वक रह सकता है ॥ ३८ ॥

राजानं राजपुत्रं वा संवर्णयति यः सदा।
अमात्यः पण्डितो भूत्वा स चिरं तिष्ठते प्रियः ॥ ३९ ॥

जो बुद्धिमान् सचिव सदा राजा अथवा राजकुमारकी प्रशंसा करता रहता है, वही राजाके यहाँ उसका प्रीतिपात्र होकर दीर्घकालतक टिक सकता है ॥ ३९ ॥

प्रगृहीतश्च योऽमात्यो निगृहीतस्त्वकारणैः।
न निर्वदति राजानं लभते सम्पदं पुनः ॥ ४० ॥
प्रत्यक्षं च परोक्षं च गुणवादी विचक्षणः।
उपजीवी भवेद् राज्ञो विषये योऽपि वा भवेत् ॥ ४१ ॥

यदि कोई मन्त्री पहले राजाका कृपापात्र रहा हो और पीछे अकारण उसे दण्ड भोगना पड़ा हो, उस दशामें भी जो राजाकी निन्दा नहीं करता, वह पुनः अपने पूर्व वैभवको प्राप्त कर लेता है। जो बुद्धिमान् राजाके आश्रित रहकर जीवननिर्वाह अथवा उसके राज्यमें निवास करता है, उसे राजाके सामने अथवा पीठ पीछे भी उसके गुणोंकी ही चर्चा करनी चाहिये ॥ ४०-४१ ॥

अमात्यो हि बलाद् भोक्तुं राजानं प्रार्थयेत यः।
न स तिष्ठेच्चिरं स्थानं गच्छेच्च प्राणसंशयम् ॥ ४२ ॥

जो मन्त्री राजाको बलपूर्वक अपने अधीन करना चाहता है, वह अधिक समयतक अपने पदपर नहीं टिक सकता। इतना ही नहीं, उसके प्राणोंपर भी संकट आ जाता है ॥४२॥

श्रेयः सदाऽऽत्मनो दृष्ट्वा परं राज्ञा न संवदेत्।
विशेषयेच्च राजानं योग्यभूमिषु सर्वदा ॥ ४३ ॥

अपनी भलाई अथवा लाभ देखकर दूसरेको सदा राजाके साथ न मिलावे; न बातचीत करावे। उपयुक्त स्थान और अवसर देखकर सदा राजाकी विशेषता प्रकट करे ॥ ४३ ॥

अम्लानो बलवाञ्छूरश्छायेवानुगतः सदा।
सत्यवादी मृदुर्दान्तः स राजवसतिं वसेत् ॥ ४४ ॥

जो उत्साहसम्पन्न, बुद्धि-बलसे युक्त, शूरवीर, सत्यवादी, कोमलस्वभाव और जितेन्द्रिय होकर सदा छायाकी भाँति राजाका अनुसरण करता है, वही राजदरबारमें टिक सकता है ॥ ४४ ॥

अन्यस्मिन् प्रेष्यमाणे तु पुरस्ताद् यः समुत्पतेत्।
अहं किं करवाणीति स राजवसतिं वसेत् ॥ ४५ ॥

जब दूसरेको किसी कार्यके लिये भेजा जा रहा हो, उस समय जो स्वयं ही उठकर आगे जाय और पूछे—'मेरे लिये क्या आज्ञा है', वही राजभवनमें निवास कर सकता है ॥४५॥

आन्तरे चैव बाह्ये च राज्ञा यश्चाथ सर्वदा।
आदिष्टो नैव कम्पेत स राजवसतिं वसेत् ॥ ४६ ॥

जो राजाके द्वारा आन्तरिक (धन एवं स्त्री आदिकी रक्षा) और बाह्य (शत्रुविजय आदि) कार्योंके लिये आदेश

मिलनेपर कभी शंकित या भयभीत नहीं होता, वही राजाके यहाँ रह सकता है ॥ ४६ ॥

यो वै गृहेभ्यः प्रवसन् प्रियाणां नानुसंस्मरेत् ।
दुःखेन सुखमन्विच्छेत् स राजवसतिं वसेत् ॥ ४७ ॥

जो घर-बार छोड़कर परदेशमें पड़ा रहनेपर भी प्रियजनों एवं अभीष्ट भोगोंका स्मरण नहीं करता और कष्ट सहकर सुख पानेकी इच्छा करता है, वही राजदरबारमें टिक सकता है ॥ ४७ ॥

समवेषं न कुर्वीत नोच्चैः संनिहितो वसेत् ।
न मन्त्रं बहुधा कुर्यादेवं राज्ञः प्रियो भवेत् ॥ ४८ ॥

राजाके समान वेशभूषा न धारण करे। उसके अत्यन्त निकट न रहे। उसके सामने उच्च आसनपर न बैठे। अपने साथ राजाने जो गुप्त सलाह की हो, उसे दूसरोंपर प्रकट न करे। ऐसा करनेसे ही मनुष्य राजाका प्रिय हो सकता है ॥ ४८ ॥

न कर्मणि नियुक्तः सन् धनं किंचिदपि स्पृशेत् ।
प्राप्नोति हि हरन् द्रव्यं बन्धनं यदि वा वधम् ॥ ४९ ॥

यदि राजाने किसी कामपर नियुक्त किया हो, तो उसमें घूसके रूपमें थोड़ा भी धन न ले; क्योंकि जो इस प्रकार चोरीसे धन लेता है, उसे एक दिन बन्धन अथवा वधका दण्ड भोगना पड़ता है ॥ ४९ ॥

यानं वस्त्रमलङ्कारं यच्चान्यत् सम्प्रयच्छति ।
तदेव धारयेन्नित्यमेवं प्रियतरो भवेत् ॥ ५० ॥

राजा प्रसन्न होकर सवारी, वस्त्र, आभूषण तथा और भी जो कोई वस्तु दे, उसीको सदा धारण करे या उपयोगमें लावे। ऐसा करनेसे वह राजाका अधिक प्रिय होता है ॥५०॥

एवं संयम्य चित्तानि यत्नतः पाण्डुनन्दनाः ।
संवत्सरमिमं तात तथाशीला बुभूषत ।
अथ स्वविषयं प्राप्य यथाकामं करिष्यथ ॥ ५१ ॥

तात युधिष्ठिर एवं पाण्डवो ! इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक अपने मनको वशमें रखकर पूर्वोक्त रीतिसे उत्तम बर्ताव करते हुए इस तेरहवें वर्षको व्यतीत करो और इसी रूपमें रहकर ऐश्वर्य पानेकी इच्छा करो। तदनन्तर अपने राज्यमें आकर इच्छानुसार व्यवहार करना ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनुशिष्टाः स्म भद्रं ते नैतद् वक्तास्ति कश्चन ।
कुन्तीमृते मातरं नो विदुरं वा महामतिम् ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन् ! आपका भला हो। आपने हमें बहुत अच्छी शिक्षा दी। हमारी माता कुन्ती तथा महाबुद्धिमान् विदुरजीको छोड़कर दूसरा कोई नहीं है, जो हमें ऐसी बात बतावे ॥ ५२ ॥

यदेवानन्तरं कार्यं तद् भवान् कर्तुमर्हति ।
तारणायास्य दुःखस्य प्रस्थानाय जयाय च ॥ ५३ ॥

अब हमें इस दुःखसागरसे पार होने, यहाँसे प्रस्थान करने और विजय पानेके लिये जो कर्तव्य आवश्यक हो, उसे आप पूर्ण करें ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो राज्ञा धौम्योऽथ द्विजसत्तमः ।
अकरोद् विधिवत् सर्वं प्रस्थाने यद् विधीयते ॥ ५४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर विप्रवर धौम्यजीने यात्राके समय जो आवश्यक शास्त्रविहित कर्तव्य है, वह सब विधिपूर्वक सम्पन्न किया ॥ ५४ ॥

तेषां समिध्य तानग्नीन् मन्त्रवच्च जुहाव सः ।
समृद्धिवृद्धिलाभाय पृथिवीविजयाय च ॥ ५५ ॥

पाण्डवोंकी अग्निहोत्रसम्बन्धी अग्निको प्रज्वलित करके उन्होंने उनकी समृद्धि, वृद्धि, राज्यलाभ तथा पृथ्वीपर विजय-प्राप्तिके लिये वेदमन्त्र पढ़कर होम किया ॥ ५५ ॥

अग्नीन् प्रदक्षिणीकृत्य ब्राह्मणांश्च तपोधनान् ।
याज्ञसेनीं पुरस्कृत्य षडेवाथ प्रवव्रजुः ॥ ५६ ॥

तत्पश्चात् पाण्डवोंने अग्नि तथा तपस्वी ब्राह्मणोंकी परिक्रमा करके द्रौपदीको आगे रखकर वहाँसे प्रस्थान किया। कुल छः व्यक्ति ही आसन छोड़कर एक साथ चले थे ॥५६॥

गतेषु तेषु वीरेषु धौम्योऽथ जपतां वरः ।
अग्निहोत्राण्युपादाय पाञ्चालानभ्यगच्छत ॥ ५७ ॥

उन पाण्डव वीरोंके चले जानेपर जपयज्ञ करनेवालोंमें श्रेष्ठ धौम्यजी उस अग्निहोत्रसम्बन्धी अग्निको साथ लेकर पाञ्चालदेशमें चले गये ॥ ५७ ॥

इन्द्रसेनादयश्चैव यथोक्ताः प्राप्य यादवान् ।
रथानश्वांश्च रक्षन्तः सुखमूषुः सुसंवृताः ॥ ५८ ॥

इन्द्रसेन आदि सेवक भी पूर्वोक्त आदेश पाकर यदुवंशियोंकी नगरी द्वारकामें जा पहुँचे और वहाँ स्वयं सुरक्षित हो रथ और घोड़ोंकी रक्षा करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे ॥५८॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि धौम्योपदेशे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें धौम्योपदेशसम्बन्धी चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

पाण्डवोंका विराटनगरके समीप पहुँचकर श्मशानमें एक शमीवृक्षपर अपने अस्त्र-शस्त्र रखना

वैशम्पायन उवाच

ते वीरा बद्धनिस्त्रिंशास्तथा बद्धकलापिनः।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणाः कालिन्दीमभितो ययुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर वे वीर पाण्डव तलवार बाँधे, पीठपर तूणीर कसे, गोहके चमड़ेसे बनेहुए अङ्गुलित्र (दस्ताने) पहने (पैदल चलते-चलते) यमुनानदीके समीप जा पहुँचे ॥ १ ॥

ततस्ते दक्षिणं तीरमन्वगच्छन् पदातयः।
निवृत्तवनवासा हि स्वराष्ट्रं प्रेप्सवस्तदा।
वसन्तो गिरिदुर्गेषु वनदुर्गेषु धन्विनः ॥ २ ॥
विध्यन्तो मृगजातानि महेष्वासा महाबलाः।

इसके बाद वे यमुनाके दक्षिण किनारेपर पैदल ही चलने लगे। उस समय उनके मनमें यह अभिलाषा जाग उठी थी कि अब हम वनवासके कष्टसे मुक्त हो अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे। उन सबने धनुष ले रखे थे। वे महान् धनुर्धर और महापराक्रमी वीर पर्वतों और वनोंके दुर्गम प्रदेशोंमें डेरा डालते और हिंसक पशुओंको मारते हुए यात्रा कर रहे थे ॥ २½ ॥

उत्तरेण दशार्णांस्ते पञ्चालान् दक्षिणेन च ॥ ३ ॥
अन्तरेण यकृल्लोमान् शूरसेनांश्च पाण्डवाः।
लुब्धा ब्रुवाणा मत्स्यस्य विषयं प्राविशन् वनात्॥ ४ ॥
धन्विनो बद्धनिस्त्रिंशा विवर्णाः श्मश्रुधारिणः।
ततो जनपदं प्राप्य कृष्णा राजानमब्रवीत् ॥ ५ ॥

आगे जाकर वे दशार्णसे उत्तर और पाञ्चालसे दक्षिण एवं यकृल्लोम तथा शूरसेन देशोंके बीचसे होकर यात्रा करने लगे। उन्होंने हाथोंमें धनुष धारण कर रक्खे थे। उनकी कमरमें तलवारें बँधी थीं। उनके शरीर मलिन एवं उदास थे। उन सबकी दाढ़ी-मूँछें बढ़ गयी थीं। किसीके पूछनेपर वे अपनेको मत्स्यदेशमें निवास करनेके इच्छुक बताते थे। इस प्रकार उन्होंने वनसे निकलकर मत्स्यराष्ट्रके जनपदमें प्रवेश किया। जनपदमें आनेपर द्रौपदीने राजा युधिष्ठिरसे कहा—॥ ३—५ ॥

पश्यैकपद्यो दृश्यन्ते क्षेत्राणि विविधानि च।
व्यक्तं दूरे विराटस्य राजधानी भविष्यति।
वसामेहापरां रात्रिं बलवान् मे परिश्रमः ॥ ६ ॥

'महाराज! देखिये, यहाँ अनेक प्रकारके खेत और उनमें पहुँचनेके लिये बहुत-सी पगडंडियाँ दिखायी देती हैं। जान पड़ता है, विराटकी राजधानी अभी दूर होगी। मुझे बड़ी थकावट हो रही है, अतः हम एक रात और यहीं रहें' ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धनंजय समुद्यम्य पाञ्चालीं वह भारत।
राजधान्यां निवत्स्यामो विमुक्ताश्च वनादितः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर बोले—धनंजय! तुम द्रौपदीको कंधेपर उठाकर ले चलो। भारत! इस वनसे निकलकर अब हमलोग राजधानीमें ही निवास करेंगे ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तामादायार्जुनस्तूर्णं द्रौपदीं गजराडिव।
सम्प्राप्य नगराभ्याशमवतारयदर्जुनः ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तब गजराजके समान पराक्रमी अर्जुनने तुरंत ही द्रौपदीको उठा लिया और नगरके निकट पहुँचकर उन्हें कंधेसे उतारा ॥ ८ ॥

स राजधानीं सम्प्राप्य कौन्तेयोऽर्जुनमब्रवीत्।
क्वायुधानि समासज्ज्य प्रवेक्ष्यामः पुरं वयम् ॥ ९ ॥

राजधानीके समीप पहुँचकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा—'भैया! हम अपने अस्त्र-शस्त्र कहाँ रखकर नगरमें प्रवेश करें? ॥ ९ ॥

सायुधाश्च प्रवेक्ष्यामो वयं तात पुरं यदि।
समुद्वेगं जनस्यास्य करिष्यामो न संशयः ॥ १० ॥

'तात! यदि अपने आयुधोंके साथ हम नगरमें प्रवेश करेंगे, तो निःसंदेह यहाँके निवासियोंको उद्वेग (भय) में डाल देंगे ॥ १० ॥

गाण्डीवं च महद् गाढं लोके च विदितं नृणाम्।
तच्चेदायुधमादाय गच्छामो नगरं वयम्।
क्षिप्रमस्मान् विजानीयुर्मनुष्या नात्र संशयः ॥ ११ ॥

'तुम्हारा गाण्डीव धनुष तो बहुत बड़ा और भारी है। संसारके सब लोगोंमें उसकी प्रसिद्धि है। ऐसी दशामें यदि हम अस्त्र-शस्त्र लेकर नगरमें चलेंगे, तो यहाँ सब लोग हमें शीघ्र ही पहचान लेंगे। इसमें संशय नहीं है ॥ ११ ॥

ततो द्वादश वर्षाणि प्रवेष्टव्यं वने पुनः।
एकस्मिन्नपि विज्ञाते प्रतिज्ञातं हि नस्तथा ॥ १२ ॥

'यदि हममेंसे एक भी पहचान लिया गया, तो हमें दुबारा बारह वर्षोंके लिये वनमें प्रवेश करना पड़ेगा; क्योंकि हमने ऐसी ही प्रतिज्ञा कर रक्खी है' ॥ १२ ॥

अर्जुन उवाच

इयं कूटे मनुष्येन्द्र गहना महती शमी।
भीमशाखा दुरारोहा श्मशानस्य समीपतः ॥ १३ ॥

अर्जुनने कहा—राजन् ! श्मशानभूमिके समीप एक टीलेपर यह शमीका बहुत बड़ा सघन वृक्ष है । इसकी शाखाएँ बड़ी भयानक हैं, इससे इसपर चढ़ना कठिन है ॥१३॥

न चापि विद्यते कश्चिन्मनुष्य इति मे मतिः ।
योऽस्मान् निदधतो द्रष्टा भवेच्छस्त्राणि पाण्डवाः॥१४॥

पाण्डवो ! मेरा विश्वास है कि यहाँ कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो हमें अपने अस्त्र-शस्त्रोंको यहाँ रखते समय देख सके ॥ १४ ॥

उत्पथे हि वने जाता मृगव्यालनिषेविते ।
समीपे च श्मशानस्य गहनस्य विशेषतः ॥ १५ ॥
समाधायायुधं शम्यां गच्छामो नगरं प्रति ।
एवमत्र यथायोगं विहरिष्याम भारत ॥ १६ ॥

यह वृक्ष रास्तेसे बहुत दूर जंगलमें है । इसके आसपास हिंसक जीव और सर्प आदि रहते हैं । विशेषतः यह दुर्गम श्मशानभूमिके निकट है; (अतः यहाँतक किसीके आने या वृक्षपर चढ़नेकी सम्भावना नहीं है;) इसलिये इसी शमी-वृक्षपर हम अपने अस्त्र-शस्त्र रखकर नगरमें चलें । भारत ! ऐसा करके हम यहाँ जैसा सुयोग होगा, उसके अनुसार विचरण करेंगे ॥ १५-१६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स राजानं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
प्रचक्रमे निधानाय शस्त्राणां भरतर्षभ ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर अर्जुन वहाँ अस्त्र-शस्त्रोंको रखनेके प्रयत्नमें लग गये ॥ १७ ॥

येन देवान् मनुष्यांश्च सर्वांश्चैकरथोऽजयत् ।
स्फीताञ्जनपदांश्चान्यानजयत् कुरुपुङ्गवः ॥ १८ ॥
तदुदारं महाघोषं सपत्नबलसूदनम् ।
अपज्यमकरोत् पार्थो गाण्डीवं सुभयंकरम् ॥ १९ ॥

कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने जिस धनुषके द्वारा एकमात्र रथका आश्रय ले सम्पूर्ण देवताओं और मनुष्योंपर विजय पायी थी तथा अन्यान्य अनेक समृद्धिशाली जनपदोंपर विजयपताका फहरायी थी, जिस धनुषने दिव्य बलसे सम्पन्न असुरों आदिकी सेनाओंका भी संहार किया था, जिसकी टङ्कारध्वनि बहुत दूरतक फैलती है, उस उदार तथा अत्यन्त भयंकर गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चा अर्जुनने उतार डाली ॥ १८-१९ ॥

येन वीरः कुरुक्षेत्रमभ्यरक्षत् परंतपः ।
अमुञ्चद् धनुषस्तस्य ज्यामक्षय्यां युधिष्ठिरः ॥ २० ॥

परंतप वीर युधिष्ठिरने जिसके द्वारा समूचे कुरुक्षेत्रकी रक्षा की थी, उस धनुषकी अक्षय डोरीको उन्होंने भी उतार दिया ॥ २० ॥

पाञ्चालान् येन संग्रामे भीमसेनोऽजयत् प्रभुः ।
प्रत्यषेधद् बहूनेकः सपत्नांश्चैव दिग्जये ॥ २१ ॥
निशम्य यस्य विस्फारं व्यद्रवन्त रणात् परे ।
पर्वतस्येव दीर्णस्य विस्फोटमशनेरिव ॥ २२ ॥
सैन्धवं येन राजानं पर्यामृषितवानथ ।
ज्यापाशं धनुषस्तस्य भीमसेनोऽवतारयत् ॥ २३ ॥

भीमसेनने जिसके द्वारा पाञ्चाल वीरोंपर विजय पायी थी, दिग्विजयके समय उन्होंने अकेले ही जिसकी सहायतासे बहुतेरे शत्रुओंको परास्त किया था, वज्रके फटने और पर्वतके विदीर्ण होनेके समान जिसका भयंकर टङ्कार सुनकर कितने ही शत्रु युद्ध छोड़कर भाग खड़े हुए तथा जिसके सहयोगसे उन्होंने सिन्धुराज जयद्रथको परास्त किया था, अपने उसी धनुषकी प्रत्यञ्चाको भीमसेनने भी उतार दिया ॥ २१-२३ ॥

अजयत् पश्चिमामाशां धनुषा येन पाण्डवः ।
माद्रीपुत्रो महाबाहुस्ताम्रास्यो मितभाषिता ॥ २४ ॥
तस्य मौर्वीमपाकर्षच्छूरः संक्रन्दनो युधि ।
कुले नास्ति समो रूपे यस्येति नकुलः स्मृतः ॥ २५ ॥

जिनका मुख ताँबेके समान लाल था, जो बहुत कम बोलते थे, उन महाबाहु माद्रीनन्दन नकुलने दिग्विजयके समय जिस धनुषकी सहायतासे पश्चिम दिशापर विजय प्राप्त की थी, समूचे कुरुकुलमें जिनके समान दूसरा कोई रूपवान् न होनेके कारण जिन्हें नकुल कहा जाता था, जो युद्धमें शत्रुओंको रुलानेवाले शूर-वीर थे; उन वीरवर नकुलने भी अपने पूर्वोक्त धनुषकी प्रत्यञ्चा उतार दी ॥ २४-२५ ॥

दक्षिणां दक्षिणाचारो दिशं येनाजयत् प्रभुः ।
अपज्यमकरोद् वीरः सहदेवस्तदायुधम् ॥ २६ ॥

शास्त्रानुकूल तथा उदार आचार-विचारवाले शक्तिशाली वीर सहदेवने भी जिसकी सहायतासे दक्षिण दिशाको जीता था, उस धनुषकी डोरी उतार दी ॥ २६ ॥

खड्गांश्च दीप्तान् दीर्घांश्च कलापांश्च महाधनान् ।
विपाठान् क्षुरधारांश्च धनुर्भिर्निदधुः सह ॥ २७ ॥

धनुषोंके साथ-साथ पाण्डवोंने बड़े-बड़े एवं चमकीले खड्ग, बहुमूल्य तूणीर, छुरेके समान तीखी धारवाले क्षुरधार और विपाठ नामक बाण भी रख दिये ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथान्वशासन्नकुलं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आरुह्येमां शमीं वीर धनूंष्येतानि निक्षिप ॥ २८ ॥

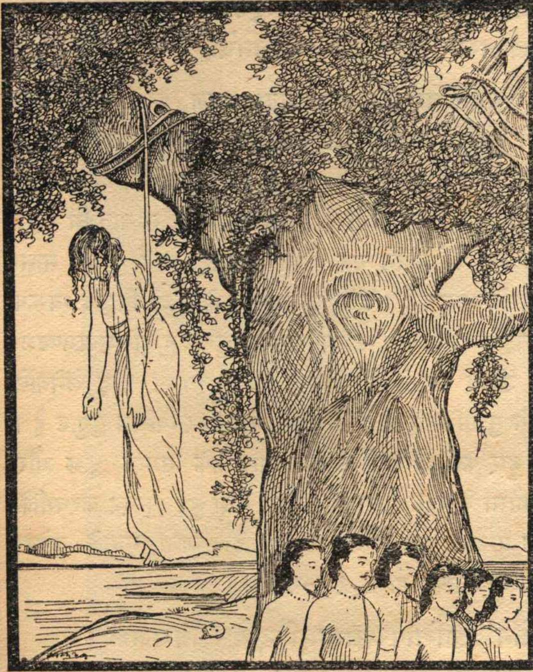
वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर कुन्ती-नन्दन युधिष्ठिरने नकुलको आज्ञा दी—'वीर ! तुम इस शमीपर चढ़कर ये धनुष आदि अस्त्र-शस्त्र रख दो' ॥ २८ ॥

तामुपारुह्य नकुलो धनूंषि निदधे स्वयम् ।
यानि तस्यावकाशानि दिव्यरूपाण्यमन्यत ॥ २९ ॥

तब नकुलने उस वृक्षपर चढ़कर उसके खोंखलोंमें वे धनुष आदि आयुध स्वयं अपने हाथसे रक्खे। उसके जो खोंखले थे, वे नकुलको दिव्यरूप जान पड़े ॥ २९ ॥

यत्र चापश्यत स वै तिरोवर्षाणि वर्षति ।
तत्र तानि दृढैः पाशैः सुगाढं पर्यबन्धत ॥ ३० ॥

क्योंकि उन्होंने देखा, वहाँ मेघ तिरछी वृष्टि करता है (जिससे खोंखलोंमें पानी नहीं पड़ता)। उन्हींमें उन आयुधोंको रखकर मजबूत रस्सियोंसे उन्हें अच्छी तरह बाँध दिया ॥



शरीरं च मृतस्यैकं समबध्नन्त पाण्डवाः ।
विवर्जयिष्यन्ति नरा दूरादेव शमीमिमाम् ॥ ३१ ॥
आबद्धं शवमत्रेति गन्धमाघ्राय पूतिकम् ।
अशीतिशतवर्षेयं माता न इति वादिनः ॥ ३२ ॥
कुलधर्मोऽयमस्माकं पूर्वैराचरितोऽपि वा ।
समासज्ज्याथ वृक्षेऽस्मिन्निति वै व्याहरन्ति ते ॥ ३३ ॥
आगोपालाविपालेभ्य आचक्षाणाः परंतपाः ।
आजग्मुर्नगराभ्याशं पार्थाः शत्रुनिबर्हणाः ॥ ३४ ॥

इसके बाद पाण्डवोंने एक मृतकका शव लाकर उस वृक्षकी शाखामें बाँध दिया। उसे बाँधनेका उद्देश्य यह था कि इसकी दुर्गन्ध नाकमें पड़ते ही लोग समझ लेंगे कि इसमें सड़ी लाश बँधी है; अतः दूरसे ही वे इस शमीवृक्षको त्याग देंगे। परंतप पाण्डव इस प्रकार उस शमीवृक्षपर शव बाँधकर उस वनमें गाय चरानेवाले ग्वालों और भेड़ पालनेवाले गड़रियोंसे शव बाँधनेका कारण बताते हुए इस प्रकार कहते थे—'यह एक सौ अस्सी वर्षकी हमारी माता है। हमारे कुलका यह धर्म है, इसलिये ऐसा किया है। हमारे पूर्वज भी ऐसा ही करते आये हैं।'* इस प्रकार शत्रुओंका संहार करनेवाले वे कुन्तीपुत्र नगरके निकट आ पहुँचे ॥

जयो जयन्तो विजयो जयत्सेनो जयद्बलः ।
इति गुह्यानि नामानि चक्रे तेषां युधिष्ठिरः ॥ ३५ ॥

तब युधिष्ठिरने क्रमशः पाँचों भाइयोंके जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जयद्बल—ये गुप्त नाम रक्खे ॥ ३५ ॥

ततो यथाप्रतिज्ञाभिः प्राविशन् नगरं महत् ।
अज्ञातचर्यां वत्स्यन्तो राष्ट्रे वर्षं त्रयोदशम् ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार तेरहवें वर्षका अज्ञातवास पूर्ण करनेके लिये मत्स्यराष्ट्रके उस विशाल नगरमें प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि पुरप्रवेशे अस्त्रसंस्थापने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें नगरप्रवेशके लिये अस्त्रस्थापनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा दुर्गादेवीकी स्तुति और देवीका प्रत्यक्ष प्रकट होकर उन्हें वर देना

वैशम्पायन उवाच

विराटनगरं रम्यं गच्छमानो युधिष्ठिरः ।
अस्तुवन्मनसा देवीं दुर्गां त्रिभुवनेश्वरीम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! विराटके रमणीय नगरमें प्रवेश करते समय महाराज युधिष्ठिरने मन-ही-मन त्रिभुवनकी अधीश्वरी दुर्गादेवीका इस प्रकार स्तवन किया—॥

* पाण्डवलोग शव बँधी हुई शाखाकी ओर अंगुलीसे संकेत करके कहते थे—'यह हमारी माता है।' वे अपने आयुधोंकी रक्षा करनेके कारण शमीको ही अपनी माता मानते थे और उसीकी ओर उनका वास्तविक संकेत था। शव-बन्धनके व्याजसे वे अस्त्र-संरक्षणको ही पूर्वजोंद्वारा आचरित कुलधर्म घोषित करते थे।

यशोदागर्भसम्भूतां नारायणवरप्रियाम् ।
नन्दगोपकुले जातां मङ्गल्यां कुलवर्धिनीम् ॥ २ ॥
कंसविद्रावणकरीमसुराणां क्षयंकरीम् ।
शिलातटविनिक्षिप्तामाकाशं प्रति गामिनीम् ॥ ३ ॥
वासुदेवस्य भगिनीं दिव्यमाल्यविभूषिताम् ।
दिव्याम्बरधरां देवीं खड्गखेटकधारिणीम् ॥ ४ ॥

'जो यशोदाके गर्भसे प्रकट हुई है, जो भगवान् नारायणको अत्यन्त प्रिय है, नन्दगोपके कुलमें जिसने अवतार लिया है, जो सबका मङ्गल करनेवाली तथा कुलको बढ़ानेवाली है, जो कंसको भयभीत करनेवाली और असुरोंका संहार करनेवाली है, कंसके द्वारा पत्थरकी शिलापर पटकी जानेपर जो आकाशमें उड़ गयी थी, जिसके अङ्ग दिव्य गन्धमाला एवं आभूषणोंसे विभूषित हैं, जिसने दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खा है, जो हाथोंमें ढाल और तलवार धारण करती है, वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी भगिनी उस दुर्गादेवीका मैं चिन्तन करता हूँ ॥ २–४ ॥

भारावतरणे पुण्ये ये स्मरन्ति सदाशिवाम् ।
तान् वै तारयसे पापात् पङ्के गामिव दुर्बलाम् ॥ ५ ॥

'पृथ्वीका भार उतारनेवाली पुण्यमयी देवि ! तुम सदा सबका कल्याण करनेवाली हो । जो लोग तुम्हारा स्मरण करते हैं, निश्चय ही तुम उन्हें पाप और उसके फलस्वरूप होनेवाले दुःखसे उबार लेती हो; ठीक उसी तरह, जैसे कोई पुरुष कीचड़में फँसी हुई दुर्बल गायका उद्धार कर देता है' ॥ ५ ॥

स्तोतुं प्रचक्रमे भूयो विविधैः स्तोत्रसम्भवैः ।
आमन्त्र्य दर्शनाकाङ्क्षी राजा देवीं सहानुजः ॥ ६ ॥
नमोऽस्तु वरदे कृष्णे कुमारि ब्रह्मचारिणि ।
बालार्कसदृशाकारे पूर्णचन्द्रनिभानने ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरने देवीके दर्शनकी अभिलाषा रखकर नाना प्रकारके स्तुतिपरक नामोंद्वारा उन्हें सम्बोधित करके पुनः उनकी स्तुति प्रारम्भ की—'इच्छानुसार उत्तम वर देनेवाली देवि ! तुम्हें नमस्कार है । सच्चिदानन्दमयी कृष्णे ! तुम कुमारी और ब्रह्मचारिणी हो । तुम्हारी अङ्गकान्ति प्रभातकालीन सूर्यके सदृश लाल है । तुम्हारा मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति आह्लाद प्रदान करनेवाला है ॥

चतुर्भुजे चतुर्वक्त्रे पीनश्रोणिपयोधरे ।
मयूरपिच्छवलये केयूराङ्गदधारिणि ।
भासि देवि यथा पद्मा नारायणपरिग्रहः ॥ ८ ॥
स्वरूपं ब्रह्मचर्यं च विशदं गगनेश्वरी ।
कृष्णच्छविसमा कृष्णा संकर्षणसमानना ॥ ९ ॥

'तुम चार भुजाओंसे सुशोभित विष्णुरूपा और चार मुखोंसे अलंकृत ब्रह्मस्वरूपा हो । तुम्हारे नितम्ब और उरोज पीन हैं । तुमने मोरपंखका कंगन धारण किया है तथा केयूर और अङ्गद पहन रक्खे हैं । देवि ! भगवान् नारायणकी धर्मपत्नी लक्ष्मीजीके समान तुम्हारी शोभा हो रही है । आकाशमें विचरनेवाली देवि ! तुम्हारा स्वरूप और ब्रह्मचर्य परम उज्ज्वल है । श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी छविके समान तुम्हारी श्याम कान्ति है, इसीलिये तुम कृष्णा कहलाती हो । तुम्हारा मुख संकर्षणके समान है ॥ ८-९ ॥

बिभ्रती विपुलौ बाहू शक्रध्वजसमुच्छ्रयौ ।
पात्री च पङ्कजी घण्टी स्त्रीविशुद्धा च या भुवि ॥ १० ॥
पाशं धनुर्महाचक्रं विविधान्यायुधानि च ।
कुण्डलाभ्यां सुपूर्णाभ्यां कर्णाभ्यां च विभूषिता ॥ ११ ॥
चन्द्रविस्पर्द्धिना देवि मुखेन त्वं विराजसे ।
मुकुटेन विचित्रेण केशबन्धेन शोभिना ॥ १२ ॥
भुजङ्गाभोगवासेन श्रोणिसूत्रेण राजता ।
विभ्राजसे चाबद्धेन भोगेनेवेह मन्दरः ॥ १३ ॥

'तुम (वर और अभय मुद्रा धारण करनेवाली) ऊपर उठी हुई दो विशाल भुजाओंको इन्द्रकी ध्वजाके समान धारण करती हो । तुम्हारे तीसरे हाथमें पात्र, चौथेमें कमल और पाँचवेंमें घण्टा सुशोभित है । छठे हाथमें पाश, सातवेंमें धनुष तथा आठवेंमें महान् चक्र शोभा पाता है । ये ही तुम्हारे नाना प्रकारके आयुध हैं । इस पृथ्वीपर स्त्रीका जो विशुद्ध स्वरूप है, वह तुम्हीं हो । कुण्डलमण्डित कर्णयुगल तुम्हारे मुखमण्डलकी शोभा बढ़ाते हैं । देवि ! तुम चन्द्रमासे होड़ लेनेवाले मुखसे सुशोभित होती हो । तुम्हारे मस्तकपर विचित्र मुकुट है । बँधे हुए केशोंकी वेणी साँपकी आकृतिके समान कुछ और ही शोभा दे रही है । यहाँ कमरमें बँधी हुई सुन्दर करधनीके द्वारा तुम्हारी ऐसी शोभा हो रही है, मानो नागसे लपेटा हुआ मन्दराचल हो ॥ १०–१३ ॥

ध्वजेन शिखिपिच्छानामुच्छ्रितेन विराजसे ।
कौमारं व्रतमास्थाय त्रिदिवं पावितं त्वया ॥ १४ ॥

'तुम्हारी मयूरपिच्छसे चिह्नित ध्वजा आकाशमें ऊँची फहरा रही है । उससे तुम्हारी शोभा और भी बढ़ गयी है । तुमने ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके तीनों लोकोंको पवित्र कर दिया है ॥ १४ ॥

तेन त्वं स्तूयसे देवि त्रिदशैः पूज्यसेऽपि च ।
त्रैलोक्यरक्षणार्थाय महिषासुरनाशिनि ।
प्रसन्ना मे सुरश्रेष्ठे दयां कुरु शिवा भव ॥ १५ ॥

'देवि ! इसीलिये सम्पूर्ण देवता तुम्हारी स्तुति और पूजा भी करते हैं । तीनों लोकोंकी रक्षाके लिये महिषासुरका नाश करनेवाली देवेश्वरी ! मुझपर प्रसन्न होकर दया करो । मेरे लिये कल्याणमयी हो जाओ ॥ १५ ॥

जया त्वं विजया चैव संग्रामे च जयप्रदा ।
ममापि विजयं देहि वरदा त्वं च साम्प्रतम् ॥ १६ ॥



युधिष्ठिरद्वारा देवीकी स्तुति

'तुम जया और विजया हो। तुम्हीं संग्राममें विजय देनेवाली हो, अतः मुझे भी विजय दो। इस समय तुम मेरे लिये वरदायिनी हो जाओ ॥ १६ ॥

विन्ध्ये चैव नगश्रेष्ठे तव स्थानं हि शाश्वतम्।
कालि कालि महाकालि खड्गखट्वाङ्गधारिणि ॥ १७ ॥

'पर्वतोंमें श्रेष्ठ विन्ध्याचलपर तुम्हारा सनातन निवासस्थान है। काली! काली!! महाकाली!!! तुम खड्ग और खट्वाङ्ग धारण करनेवाली हो ॥ १७ ॥

कृतानुयात्रा भूतैस्त्वं वरदा कामचारिणि।
भारावतारे ये च त्वां संस्मरिष्यन्ति मानवाः ॥ १८ ॥
प्रणमन्ति च ये त्वां हि प्रभाते तु नरा भुवि।
न तेषां दुर्लभं किंचित् पुत्रतो धनतोऽपि वा ॥ १९ ॥

'जो प्राणी तुम्हारा अनुसरण करते हैं, उन्हें तुम मनोवाञ्छित वर देती हो। इच्छानुसार विचरनेवाली देवि! जो मनुष्य अपने ऊपर आये हुए संकटका भार उतारनेके लिये तुम्हारा स्मरण करते हैं तथा जो मानव प्रतिदिन प्रातःकाल तुम्हें प्रणाम करते हैं, उनके लिये इस पृथ्वीपर पुत्र अथवा धन-धान्य आदि कुछ भी दुर्लभ नहीं हैं ॥ १८-१९ ॥

दुर्गात् तारयसे दुर्गे तत् त्वं दुर्गा स्मृता जनैः।
कान्तारेष्ववसन्नानां मग्नानां च महार्णवे ॥ २० ॥
दस्युभिर्वा निरुद्धानां त्वं गतिः परमा नृणाम्।
जलप्रतरणे चैव कान्तारेष्वटवीषु च ॥ २१ ॥
ये स्मरन्ति महादेवि न च सीदन्ति ते नराः।
त्वं कीर्तिः श्रीर्धृतिः सिद्धिर्ह्रीर्विद्या संततिर्मतिः ॥ २२ ॥
संध्या रात्रिः प्रभा निद्रा ज्योत्स्ना कान्तिः क्षमा दया।
नृणां च बन्धनं मोहं पुत्रनाशं धनक्षयम् ॥ २३ ॥
व्याधिं मृत्युं भयं चैव पूजिता नाशयिष्यसि।
सोऽहं राज्यात् परिभ्रष्टः शरणं त्वां प्रपन्नवान् ॥ २४ ॥

'दुर्गे! तुम दुःसह दुःखसे उद्धार करती हो, इसीलिये लोगोंके द्वारा दुर्गा कही जाती हो। जो दुर्गम वनमें कष्ट पा रहे हों, महासागरमें डूब रहे हों अथवा लुटेरोंके वशमें पड़ गये हों, उन सब मनुष्योंके लिये तुम्हीं परम गति हो—तुम्हीं उन्हें संकटसे मुक्त कर सकती हो। महादेवि! पानीमें तैरते समय, दुर्गम मार्गमें चलते समय और जंगलोंमें भटक जानेपर जो तुम्हारा स्मरण करते हैं, वे मनुष्य क्लेश नहीं पाते। तुम्हीं कीर्ति, श्री, धृति, सिद्धि, लज्जा, विद्या, संतति, मति, संध्या, रात्रि, प्रभा, निद्रा, ज्योत्स्ना, कान्ति, क्षमा और दया हो। तुम पूजित होनेपर मनुष्योंके बन्धन, मोह, पुत्रनाश और धननाशका संकट, व्याधि, मृत्यु और सम्पूर्ण भय नष्ट कर देती हो। मैं भी राज्यसे भ्रष्ट हूँ, इसलिये तुम्हारी शरणमें आया हूँ ॥ २०-२४ ॥

प्रणतश्च यथा मूर्ध्ना तव देवि सुरेश्वरि।
त्राहि मां पद्मपत्राक्षि सत्ये सत्या भवस्व नः ॥ २५ ॥

'कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली देवि! देवेश्वरि! मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करता हूँ। मेरी रक्षा करो। सत्ये! हमारे लिये वस्तुतः सत्यस्वरूपा बनो—अपनी महिमाको सत्य कर दिखाओ ॥ २५ ॥

शरणं भव मे दुर्गे शरण्ये भक्तवत्सले।
एवं स्तुता हि सा देवी दर्शयामास पाण्डवम् ॥ २६ ॥
उपगम्य तु राजानमिदं वचनमब्रवीत्।

'शरणागतोंकी रक्षा करनेवाली भक्तवत्सले दुर्गे! मुझे शरण दो।' इस प्रकार स्तुति करनेपर देवी दुर्गाने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको प्रत्यक्ष दर्शन दिया तथा राजाके पास आकर यह बात कही ॥ २६½ ॥

देव्युवाच

शृणु राजन् महाबाहो मदीयं वचनं प्रभो ॥ २७ ॥
भविष्यत्यचिरादेव संग्रामे विजयस्तव।
मम प्रसादान्निर्जित्य हत्वा कौरववाहिनीम् ॥ २८ ॥
राज्यं निष्कण्टकं कृत्वा भोक्ष्यसे मेदिनीं पुनः।
भ्रातृभिः सहितो राजन् प्रीतिं प्राप्स्यसि पुष्कलाम् ॥ २९ ॥

देवी बोली—महाबाहु राजा युधिष्ठिर! मेरी बात सुनो। समर्थ राजन्! शीघ्र ही तुम्हें संग्राममें विजय प्राप्त होगी। मेरे प्रसादसे कौरवसेनाको जीतकर उसका संहार करके तुम निष्कण्टक राज्य करोगे और पुनः इस पृथ्वीका सुख भोगोगे। राजन्! तुम्हें भाइयोंसहित पूर्ण प्रसन्नता प्राप्त होगी ॥ २७—२९ ॥

मत्प्रसादाच्च ते सौख्यमारोग्यं च भविष्यति।
ये च संकीर्तयिष्यन्ति लोके विगतकल्मषाः ॥ ३० ॥
तेषां तुष्टा प्रदास्यामि राज्यमायुर्वपुः सुतम्।
प्रवासे नगरे चापि संग्रामे शत्रुसंकटे ॥ ३१ ॥
अटव्यां दुर्गकान्तारे सागरे गहने गिरौ।
ये स्मरिष्यन्ति मां राजन् यथाहं भवता स्मृता ॥ ३२ ॥
न तेषां दुर्लभं किंचिदस्मिँल्लोके भविष्यति।
इदं स्तोत्रवरं भक्त्या शृणुयाद् वा पठेत वा ॥ ३३ ॥
तस्य सर्वाणि कार्याणि सिद्धिं यास्यन्ति पाण्डवाः।
मत्प्रसादाच्च वः सर्वान् विराटनगरे स्थितान् ॥ ३४ ॥
न प्रज्ञास्यन्ति कुरवो नरा वा तन्निवासिनः।
इत्युक्त्वा वरदा देवी युधिष्ठिरमरिंदमम्।
रक्षां कृत्वा च पाण्डूनां तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३५ ॥

मेरी कृपासे तुम्हें सुख और आरोग्य सुलभ होगा। लोकमें जो मनुष्य मेरा कीर्तन और स्तवन करेंगे, वे पापरहित होंगे और मैं संतुष्ट होकर उन्हें राज्य, बड़ी आयु, नीरोग शरीर और पुत्र प्रदान करूँगी। राजन्! जैसे तुमने मेरा स्मरण किया है, इसी प्रकार जो लोग परदेशमें रहते समय, नगरमें, युद्धमें, शत्रुओंद्वारा संकट प्राप्त होनेपर,

घने जंगलोंमें, दुर्गम मार्गोंमें, समुद्रमें तथा गहन पर्वतपर भी मेरा स्मरण करेंगे, उनके लिये इस संसारमें कुछ भी दुर्लभ न होगा। पाण्डवो ! जो इस उत्तम स्तोत्रको भक्तिभावसे सुनेगा या पढ़ेगा, उसके सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो जायँगे। मेरे कृपाप्रसादसे विराटनगरमें रहते समय तुम सब लोगोंको कौरवगण अथवा उस नगरके निवासी मनुष्य नहीं पहचान सकेंगे।

शत्रुओंका दमन करनेवाले राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर वरदायिनी देवी दुर्गा पाण्डवोंकी रक्षाका भार ले वहीं अन्तर्धान हो गयी ॥ ३०–३५ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि दुर्गास्तवे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें दुर्गास्तोत्रविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका राजसभामें जाकर विराटसे मिलना और वहाँ आदरपूर्वक निवास पाना

वैशम्पायन उवाच

(ततस्तु ते पुण्यतमां शिवां शुभां
महर्षिगन्धर्वनिषेवितोदकाम् ।
त्रिलोककान्तामवतीर्य जाह्नवी-
मृषींश्च देवांश्च पितॄनतर्पयन् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर पाण्डवोंने परम पवित्र, कल्याणमयी, मङ्गलस्वरूपा, त्रिभुवनकमनीया गङ्गामें, जिसके जलका महर्षि और गन्धर्वगण सदा सेवन करते हैं, उतरकर देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण किया ॥

वरप्रदानं ह्यनुचिन्त्य पार्थिवो
हुताग्निहोत्रः कृतजप्यमङ्गलः ।
दिशं तथैन्द्रीमभितः प्रपेदिवान्
कृताञ्जलिर्धर्ममुपाह्वयच्छनैः ॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिर अग्निहोत्र, जप और मङ्गलपाठ करके धर्मराजके दिये हुए वरदानका चिन्तन करते हुए पूर्व दिशाकी ओर चले और हाथ जोड़कर धीरे-धीरे धर्मराजका स्मरण करने लगे ॥

युधिष्ठिर उवाच

वरप्रदानं मम दत्तवान् पिता
प्रसन्नचेता वरदः प्रजापतिः ।
जलार्थिनो मे तृषितस्य सोदरा
मया प्रयुक्ता विविशुर्जलाशयम् ॥

युधिष्ठिर बोले—मेरे पिता प्रजापति धर्म वरदायक देवता हैं। उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर मुझे वर दिया है। मैंने प्याससे पीड़ित हो जलकी इच्छासे अपने भाइयोंको भेजा था। मेरी प्रेरणासे ही वे एक सरोवरमें उतरे ॥

निपातिता यक्षवरेण ते वने
महाहवे वज्रभृतेव दानवाः ।
मया च गत्वा वरदोऽभितोषितो
विवक्षता प्रश्नसमुच्चयं गुरुः ॥

परंतु उस वनमें श्रेष्ठ यक्षके रूपमें आये हुए उन धर्मराजने मेरे भाइयोंको उसी प्रकार धराशायी कर दिया, जैसे वज्रधारी इन्द्र महान् संग्राममें दानवोंको मार गिराते हैं। तब मैंने वहाँ जाकर उनके प्रश्नोंका उत्तर दे उन वरदायक गुरुरूप पिताको संतुष्ट किया ॥

स मे प्रसन्नो भगवान् वरं ददौ
परिष्वजंश्चाह तथैव सौहृदात् ।
वृणीष्व यद् वाञ्छसि पाण्डुनन्दन
स्थितोऽन्तरिक्षे वरदोऽस्मि पश्यताम् ॥

उस समय प्रसन्न हो भगवान् धर्मने बड़े स्नेहसे मुझे हृदयसे लगाया और वर देनेके लिये उद्यत हो मुझसे कहा—'पाण्डुनन्दन ! तुम जो कुछ चाहते हो, वह मुझसे माँग लो। मैं तुम्हें वर देनेके लिये आकाशमें खड़ा हूँ। मेरी ओर देखो ॥'

स वै मयोक्तो वरदः पिता प्रभुः
सदैव मे धर्मरता मतिर्भवेत् ।
इमे च जीवन्तु ममानुजाः प्रभो
वपुश्च रूपं च बलं तथाप्नुयुः ॥

तब मैंने अपने वरदायक पिता भगवान् धर्मराजसे कहा—'प्रभो ! मेरी बुद्धि सदा धर्ममें ही लगी रहे तथा ये मेरे छोटे भाई जीवित हो जायँ और पहले-जैसा रूप, युवावस्था एवं बल प्राप्त कर लें ॥

क्षमा च कीर्तिश्च यथेष्टतो भवेद्
व्रतं च सत्यं च समाप्तिरेव च ।
वरो ममैषोऽस्तु यथानुकीर्तितो
न तन्मृषा देववरो यदब्रवीत् ॥

'हमलोगोंमें इच्छानुसार क्षमा और कीर्ति हो और हम अपने सत्यव्रतको पूर्ण कर लें; यही वर हमें प्राप्त होना चाहिये।' जैसा कि मैंने बताया, वैसा ही वर उन्होंने दिया। देवेश्वर धर्मने जैसा कहा है, वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्ममेवानुचिन्तयन्।
तदैव तत्प्रसादेन रूपमेवाभजत् स्वकम्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर धर्मात्मा युधिष्ठिर उस समय धर्मका ही बार-बार चिन्तन करने लगे। तब धर्मदेवके प्रसादसे उन्होंने तत्काल अपने अभीष्ट स्वरूपको प्राप्त कर लिया॥

स वै द्विजातिस्तरुणस्त्रिदण्डधृक्
कमण्डलूष्णीषधरोऽन्वजायत।
सुरक्तमाञ्जिष्ठवराम्बरः शिखी
पवित्रपाणिर्ददृशे तदद्भुतम्॥

वे कमण्डलु और पगड़ी धारण किये त्रिदण्डधारी तरुण ब्राह्मण बन गये। उनके शरीरपर मँजीठके रंगके सुन्दर लाल वस्त्र शोभा पाने लगे तथा मस्तकपर शिखा दिखायी देने लगी। वे हाथमें कुश लिये अद्भुत रूपमें दृष्टिगोचर होने लगे॥

तथैव तेषामपि धर्मचारिणां
यथेप्सिता ह्याभरणाम्बरस्रजः।
क्षणेन राजन्नभवन्महात्मनां
प्रशस्तधर्माग्र्यफलाभिकाङ्क्षिणाम्॥)

राजन्! इसी प्रकार उत्तम धर्मके श्रेष्ठ फलकी अभिलाषा रखनेवाले उन सभी धर्मचारी महात्मा पाण्डवोंको क्षणभरमें उनके अभीष्ट वेशके अनुरूप वस्त्र, आभूषण और माला आदि वस्तुएँ प्राप्त हो गयीं॥

ततो विराटं प्रथमं युधिष्ठिरो
राजा सभायामुपविष्टमाव्रजत्।
वैदूर्यरूपान् प्रतिमुच्य काञ्चना-
नक्षान् स कक्षे परिगृह्य वाससा॥ १॥

तदनन्तर वैदूर्यके समान हरी, सुवर्णके समान पीली (तथा लाल और काली) चौसरकी गोटियोंसहित पासोंको कपड़ेमें बाँधकर बगलमें दबाये हुए राजा युधिष्ठिर सबसे पहले राजाके दरबारमें गये। उस समय राजा विराट सभामें बैठे थे॥ १॥

नराधिपो राष्ट्रपतिं यशस्विनं
महायशाः कौरववंशवर्धनः।
महानुभावो नरराजसत्कृतो
दुरासदस्तीक्ष्णविषो यथोरगः॥ २॥
बलेन रूपेण नरर्षभो महा-
नपूर्वरूपेण यथामरस्तथा।
महाभ्रजालैरिव संवृतो रवि-
र्यथानलो भस्मवृतश्च वीर्यवान्॥ ३॥

वे बड़े यशस्वी और मत्स्यराष्ट्रके अधिपति थे। राजा युधिष्ठिर भी महान् यशस्वी, कौरववंशकी मर्यादाको बढ़ानेवाले तथा महानुभाव (अत्यन्त प्रभावशाली) थे। सब राजे-महाराजे उनका सत्कार करते थे। तीखे विषवाले सर्पकी भाँति वे दुर्धर्ष थे। बल और रूपकी दृष्टिसे मनुष्योंमें सबसे श्रेष्ठ और महान् थे। अपने अपूर्व रूपके कारण वे देवताके समान जान पड़ते थे। महामेघमालाओंसे आवृत सूर्य तथा राखमें छिपी हुई अग्निके समान उनका तेजस्वी रूप वेषभूषासे आच्छादित था। वे बड़े पराक्रमी थे॥ २-३॥

तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य पाण्डवं
विराटराडिन्दुमिवाभ्रसंवृतम्।
समागतं पूर्णशशिप्रभाननं
महानुभावं न चिरेण दृष्टवान्॥ ४॥

उनका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहा था। बादलोंसे ढके हुए चन्द्रमाकी भाँति शोभायमान महानुभाव पाण्डुनन्दनको आते देख राजा विराटकी दृष्टि सहसा उनकी ओर आकृष्ट हो गयी। निकट आनेपर शीघ्र ही उन्होंने बड़े गौरसे उनकी ओर देखा॥ ४॥

मन्त्रिद्विजान् सूतमुखान् विशस्तथा
ये चापि केचित् परितः समासते।
पप्रच्छ कोऽयं प्रथमं समेयिवान्
नृपोपमोऽयं समवेक्षते सभाम्॥ ५॥

मन्त्री, ब्राह्मण, सूत-मागध आदि, वैश्यगण तथा अन्य जो कोई भी सभासद् उनके दायें-बायें सब ओर बैठे थे, उन सबसे राजाने पूछा—'ये कौन हैं? जो पहले-पहल यहाँ पधारे हैं! ये तो किसी राजाकी भाँति मेरी सभाको निहार रहे हैं॥ ५॥

न तु द्विजोऽयं भविता नरोत्तमः
पतिः पृथिव्या इति मे मनोगतम्।
न चास्य दासो न रथो न कुञ्जरः
समीपतो भ्राजति चायमिन्द्रवत्॥ ६॥

इनका वेश तो ब्राह्मणका-सा है, किंतु ये ब्राह्मण नहीं हो सकते। ये नरश्रेष्ठ तो कहींके भूपति ही होंगे; ऐसा विचार मेरे मनमें उठ रहा है। परंतु इनके साथ दास, रथ और हाथी-घोड़े आदि कुछ भी नहीं हैं। फिर भी ये निकटसे इन्द्रके समान सुशोभित हो रहे हैं॥ ६॥

शरीरलिङ्गैरुपसूचितो ह्ययं
मूर्द्धाभिषिक्त इति मे मनोगतम्।
समीपमायाति च मे गतव्यथो
यथा गजस्तामरसीं मदोत्कटः॥ ७॥

'इनके शरीरमें जो लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उनसे यह सूचित होता है कि ये मूर्द्धाभिषिक्त सम्राट् हैं। मेरे

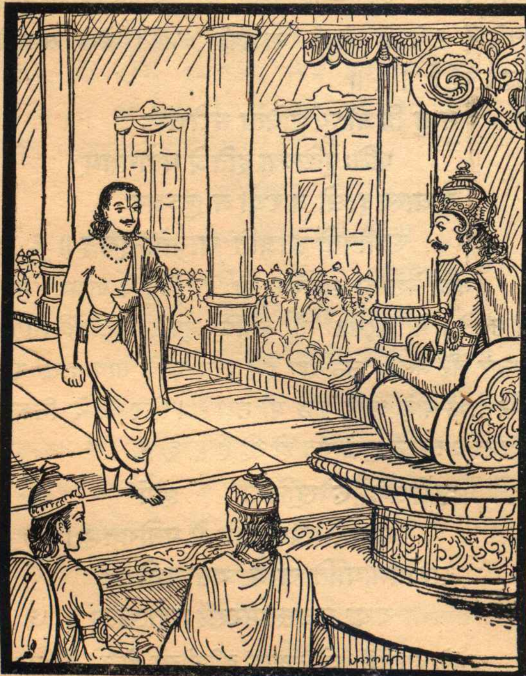
मनमें तो यही बात आती है । जैसे मतवाला हाथी बेखटके किसी कमलिनीके पास जाता हो, उसी प्रकार ये बिना किसी संकोचके—व्यथारहित होकर मेरी सभामें आ रहे हैं' ॥ ७ ॥

वितर्कयन्तं तु नरर्षभस्तथा
युधिष्ठिरोऽभ्येत्य विराटमब्रवीत्।
सम्राड् विजानात्विह जीवनार्थिनं
विनष्टसर्वस्वमुपागतं द्विजम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार तर्क-वितर्कमें पड़े हुए राजा विराटके पास आकर नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरने कहा—'महाराज ! आपको विदित हो; मैं एक ब्राह्मण हूँ; मेरा सर्वस्व नष्ट हो गया है; अतः मैं आपके यहाँ जीवननिर्वाहके लिये आया हूँ ॥ ८ ॥

इहाहमिच्छामि तवानघान्तिके
वस्तुं यथा कामचरस्तथा विभो ।
तमब्रवीत् स्वागतमित्यनन्तरं
राजा प्रहृष्टः प्रतिसंगृहाण च ॥ ९ ॥
तं राजसिंहं प्रतिगृह्य राजा
प्रीत्याऽऽत्मना चैनमिदं बभाषे ।
कामेन ताताभिवदाम्यहं त्वां
कस्यासि राज्ञो विषयादिहागतः ॥ १० ॥

'अनघ ! मैं यहाँ आपके समीप रहना चाहता हूँ । प्रभो ! जैसी आपकी इच्छा होगी, उसी प्रकार सब कार्य करते हुए मैं यहाँ रहूँगा ।' युधिष्ठिरकी बात सुनकर राजा विराट बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'ब्रह्मन् ! आपका स्वागत है ।' तदनन्तर उन्होंने राजाओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरको सादर ग्रहण किया । ग्रहण करके राजा विराटने प्रसन्न मनसे उनसे इस



प्रकार कहा—'तात ! मैं प्रेमपूर्वक आपसे पूछता हूँ, आप इस समय किस राजाके राज्यसे यहाँ आये हैं? ॥ ९-१० ॥

गोत्रं च नामापि च शंस तत्त्वतः
किं चापि शिल्पं तव विद्यते कृतम् ॥ ११ ॥

'अपने गोत्र और नाम भी ठीक-ठीक बताइये । साथ ही यह भी कहें कि आपने किस विद्या या कलामें कुशलता प्राप्त की है' ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

युधिष्ठिरस्यासमहं पुरा सखा
वैयाघ्रपद्यः पुनरस्मि विप्रः ।
अक्षान् प्रयोक्तुं कुशलोऽस्मि देविनां
कङ्केति नाम्नास्मि विराट विश्रुतः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाराज विराट ! मैं वैयाघ्रपद-गोत्रमें उत्पन्न हुआ ब्राह्मण हूँ । लोगोंमें 'कङ्क' नामसे मेरी प्रसिद्धि है । मैं पहले राजा युधिष्ठिरके साथ रहता था । वे मुझे अपना सखा मानते थे । मैं चौसर खेलनेवालोंके बीच पासे फेंकनेकी कलामें कुशल हूँ ॥ १२ ॥

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरं यमिच्छसि
प्रशाधि मत्स्यान् वशगो ह्यहं तव ।
प्रियाश्च धूर्ता मम देविनः सदा
भवांश्च देवोपम राज्यमर्हति ॥ १३ ॥

विराट बोले—ब्रह्मन् ! मैं आपको वर देता हूँ; आप जो चाहें, माँग लें । समूचे मत्स्यदेशपर शासन करें । मैं आपके वशमें हूँ; क्योंकि द्यूतक्रीडामें निपुण, चतुर, चालाक मनुष्य मुझे सदा प्रिय हैं । देवोपम ब्राह्मण ! आप तो राज्य पानेके योग्य हैं ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्राप्तो विवादः प्रथमं विशाम्पते
न विद्यते कं च न मत्स्य हीनतः ।
न मे जितः कश्चन धारयेद् धनं
वरो ममैषोऽस्तु तव प्रसादजः ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—मत्स्यराज ! नरनाथ ! मुझे किसी हीन वर्णके मनुष्यसे विवाद न करना पड़े, यह मैं पहला वर माँगता हूँ तथा मुझसे पराजित होनेवाला कोई भी मनुष्य हारे हुए धनको अपने पास न रखे (मुझे दे दे) । आपकी कृपासे यह दूसरा वर मुझे प्राप्त हो जाय, तो मैं रह सकता हूँ ॥ १४ ॥

विराट उवाच

हन्यामवश्यं यदि तेऽप्रियं चरेत्
प्रव्राजयेयं विषयाद् द्विजांस्तथा ।

श्रृण्वन्तु मे जानपदाः समागताः
कङ्को यथाहं विषये प्रभुस्तथा ॥ १५ ॥

विराट बोले—ब्रह्मन् ! यदि कोई ब्राह्मणेतर मनुष्य आपका अप्रिय करेगा तो उसे मैं निश्चय ही प्राण-दण्ड दूँगा। यदि ब्राह्मणोंने आपका अपराध किया तो उन्हें देशसे निकाल दूँगा। [युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर राजा, विराट अन्य सभासदोंसे बोले—] मेरे राज्यमें निवास करनेवाले और इस सभामें आये हुए लोगो ! मेरी बात सुनो, जैसे मैं इस मत्स्यदेशका स्वामी हूँ, वैसे ही ये कङ्क भी हैं ॥ १५ ॥

समानयानो भवितासि मे सखा
प्रभूतवस्त्रो बहुपानभोजनः।
पश्येस्त्वमन्तश्च बहिश्च सर्वदा
कृतं च ते द्वारमपावृतं मया ॥ १६ ॥

[फिर वे युधिष्ठिरसे बोले—]कङ्क ! आजसे आप मेरे सखा हैं। जैसी सवारीमें मैं चलता हूँ, वैसी ही आपको भी मिलेगी। पहननेके वस्त्र और भोजन-पान आदिका प्रबन्ध भी आपके लिये पर्याप्तमात्रामें रहेगा। बाहरके राज्य-कोश, उद्यान और सेना आदि तथा भीतरके धन-दारा आदिकी भी देख-भाल आप ही करें। मेरे आदेशसे आपके लिये राजमहलका द्वार सदा खुला रहेगा; आपसे कोई परदा नहीं रक्खा जायगा ॥१६॥

ये त्वानुवादेऽयुरवृत्तिकर्शिता
ब्रूयाश्च तेषां वचनेन मां सदा।
दास्यामि सर्वं तदहं न संशयो
न ते भयं विद्यति संनिधौ मम ॥ १७ ॥

जो लोग जीविकाके अभावमें कष्ट पा रहे हों और अनुवादके लिये अर्थात् पहलेके स्थायी तौरपर दिये हुए खेत और बगीचे आदिको पुनः उपयोगमें लानेके निमित्त नूतन राजाज्ञा प्राप्त करनेके लिये आपके पास आवें, उनके अनुरोध-पूर्ण वचनसे आप सदा उनकी प्रार्थना मुझे सुना सकते हैं। विश्वास रखिये, आपके कथनानुसार उन याचकोंको मैं सब कुछ दूँगा; इसमें संशय नहीं है। आपको मेरे पास आने या कुछ कहनेमें भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

(एवं तु राज्ञः प्रथमः समागमो
बभूव मात्स्यस्य युधिष्ठिरस्य च।
विराटराजस्य हि तेन संगमो
बभूव विष्णोरिव वज्रपाणिना ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार वहाँ राजा युधिष्ठिर तथा मत्स्यनरेशकी प्रथम भेंट हुई। जैसे भगवान् विष्णुका वज्रधारी इन्द्रसे मिलन हुआ हो, उसी प्रकार विराटनरेशका राजा युधिष्ठिरके साथ समागम हुआ ॥

तमासनस्थं प्रियरूपदर्शनं
निरीक्षमाणो न ततर्प भूमिपः।
सभां च तां प्रज्वलयन् युधिष्ठिरः
श्रिया यथा शक्र इव त्रिविष्टपम्॥)

युधिष्ठिरके स्वरूपका दर्शन विराटराजको बहुत प्रिय लगा। जब वे आसनपर बैठ गये, तब राजा विराट उन्हें एक-टक निहारने लगे। उनके दर्शनसे वे तृप्त ही नहीं होते थे। जैसे इन्द्र अपनी कान्तिसे स्वर्गकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार राजा युधिष्ठिर उस सभाको प्रकाशित कर रहे थे ॥

एवं स लब्ध्वा तु वरं समागमं
विराटराजेन नरर्षभस्तदा।
उवास धीरः परमार्चितः सुखी
न चापि कश्चिच्चरितं बुबोध तत्॥ १८ ॥

धीर स्वभाववाले नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर उस समय राजा विराटके साथ इस प्रकार अच्छे ढंगसे मिलकर और उनके द्वारा परम आदर-सत्कार पाकर वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे। उनका वह चरित्र किसीको भी मालूम नहीं हुआ ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरप्रवेशो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिरप्रवेशविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

अष्टमोऽध्यायः

भीमसेनका राजा विराटकी सभामें प्रवेश और राजाके द्वारा आश्वासन पाना

वैशम्पायन उवाच

अथापरो भीमबलः श्रिया ज्वल-
न्नुपाययौ सिंहविलासविक्रमः।
खजां च दर्वीं च करेण धारय-
न्नसिं च कालाङ्गमकोशमव्रणम्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर द्वितीय पाण्डव भयंकर बलशाली भीमसेन सिंहकी-सी मस्त चालसे चलते हुए राजाके दरबारमें आये। वे अपने सहज तेजसे प्रकाशित हो रहे थे। उन्होंने हाथमें मथानी, करछी और शाक काटनेके लिये एक काले रंगका तीखी धारवाला छुरा

ले रक्खा था। उनका वह छुरा टूटा-फूटा न था और न उसके ऊपर कोई आवरण था ॥ १ ॥

स सूदरूपः परमेण वर्चसा
रविर्यथा लोकमिमं प्रकाशयन्।
स कृष्णवासा गिरिराजसारवां-
स्तं मत्स्यराजं समुपेत्य तस्थिवान्॥ २ ॥

वे यद्यपि रसोइयेके वेशमें थे, तो भी अपने उत्कृष्ट तेजसे इस लोकको प्रकाशित करनेवाले सूर्यदेवकी भाँति सुशोभित हो रहे थे। उनके वस्त्र काले थे और उनका शरीर पर्वतराज मेरुके समान सुदृढ़ था। वे मत्स्यराज विराटके समीप आकर खड़े हो गये ॥ २ ॥

तं प्रेक्ष्य राजा रमयन्नुपागतं
ततोऽब्रवीज्जानपदान् समागतान्।
सिंहोन्नतांसोऽयमतीव रूपवान्
प्रदृश्यते को नु नरर्षभो युवा ॥ ३ ॥

अपने पास आये हुए भीमसेनको देखकर उन्हें प्रसन्न करते हुए राजा विराट मत्स्य जनपदके निवासी समागत सभासदोंसे बोले—'सिंहके समान ऊँचे कंधोंवाला और मनुष्योंमें श्रेष्ठ यह जो अत्यन्त रूपवान् युवक दिखायी दे रहा है, कौन है ? ॥ ३ ॥

अदृष्टपूर्वः पुरुषो रविर्यथा
वितर्कयन् नास्य लभामि निश्चयम्।
तथास्य चित्तं ह्यपि संवितर्कयन्
नरर्षभस्यास्य न यामि तत्त्वतः॥ ४ ॥

'आजसे पहले कभी इसका दर्शन नहीं हुआ है। यह वीर पुरुष सूर्यके समान तेजस्वी है। मैं बहुत सोच-विचारकर भी इसके विषयमें किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाता। यहाँ आनेमें इस श्रेष्ठ पुरुषका आन्तरिक अभिप्राय क्या है ? इसपर भी मैंने बहुत तर्क-वितर्क किया है; परंतु किसी वास्तविक परिणामतक नहीं पहुँच पा रहा हूँ ॥ ४ ॥

दृष्ट्वैव चैनं तु विचारयाम्यहं
गन्धर्वराजो यदि वा पुरंदरः।
जानीत कोऽयं मम दर्शने स्थितो
यदीप्सितं तल्लभतां च मा चिरम्॥ ५ ॥

'इसे देखकर ही मैं सोचने लगा हूँ कि यह गन्धर्वराज है या देवराज इन्द्र ? मेरी दृष्टिके सामने खड़ा हुआ यह युवक कौन है, इसका पता लगाओ और यह जो कुछ पाना चाहता हो, वह सब इसे मिल जाना चाहिये; इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये' ॥ ५ ॥

विराटवाक्येन च तेन चोदिता
नरा विराटस्य सुशीघ्रगामिनः।
उपेत्य कौन्तेयमथाब्रुवंस्तदा
यथा स राजावदताच्युतानुजम्॥ ६ ॥

राजा विराटके पूर्वोक्त आदेशसे प्रेरित हो दरबारीलोग शीघ्रतापूर्वक धर्मराज युधिष्ठिरके छोटे भाई कुन्तीपुत्र भीमसेनके समीप गये तथा राजाने जैसे कहा था, उसी प्रकार उनका परिचय पूछा ॥ ६ ॥

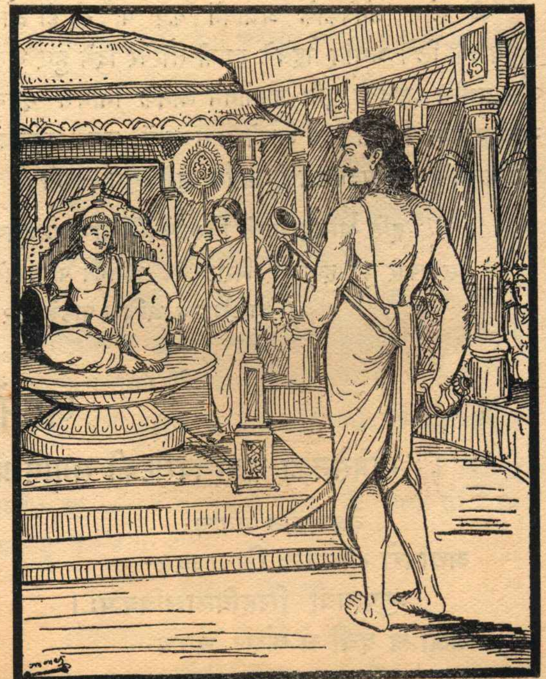
ततो विराटं समुपेत्य पाण्डव-
स्त्वदीनरूपं वचनं महामनाः।
उवाच सूदोऽस्मि नरेन्द्र बल्लवो
भजस्व मां व्यञ्जनकारमुत्तमम् ॥ ७ ॥

तब महामना पाण्डुनन्दन भीम विराटके अत्यन्त निकट जाकर दीनतारहित वाणीमें बोले—'नरेन्द्र ! मैं रसोइया हूँ। मेरा नाम बल्लव है। मैं बहुत उत्तम व्यञ्जन बनाता हूँ। आप मुझे अपने यहाँ इस कार्यके लिये रख लीजिये' ॥

विराट उवाच

न सूदतां बल्लव श्रद्दधामि ते
सहस्रनेत्रप्रतिमो विराजसे।
श्रिया च रूपेण च विक्रमेण च
प्रभाससे त्वं नृवरो नरेष्विव ॥ ८ ॥

विराट बोले—बल्लव ! तुम रसोइये हो, इस बातपर मुझे विश्वास नहीं होता। तुम तो इन्द्रके समान तेजस्वी दिखायी देते हो। अपने अद्भुत रूप, दिव्य शोभा और महान् पराक्रमसे तुम मनुष्योंमें कोई श्रेष्ठ पुरुष अथवा राजा प्रतीत होते हो ॥ ८ ॥















विराटके यहाँ पाण्डव

भीम उवाच

नरेन्द्र सूदः परिचारकोऽस्मि ते
जानामि सूपान् प्रथमं च केवलान्।
आस्वादिता ये नृपते पुराभवन्
युधिष्ठिरेणापि नृपेण सर्वशः ॥ ९ ॥

भीमसेनने कहा—महाराज ! मैं रसोई बनानेवाला आपका सेवक हूँ। मैं भाँति-भाँतिके व्यञ्जन बनाना जानता हूँ जिनका बनाना केवल मुझे ही ज्ञात है। मेरे बनाये हुए व्यञ्जन उत्तम श्रेणीके होते हैं। राजन् ! पहले महाराज युधिष्ठिरने भी उन सब प्रकारके व्यञ्जनोंका आस्वादन किया है ॥ ९ ॥

बलेन तुल्यश्च न विद्यते मया
नियुद्धशीलश्च सदैव पार्थिव।
गजैश्च सिंहैश्च समेयिवानहं
सदा करिष्यामि तवानघ प्रियम् ॥ १० ॥

इसके सिवा शारीरिक बलमें भी मेरी समता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। भूपाल ! मैं सदा कुश्ती लड़नेवाला पहलवान हूँ; हाथियों और सिंहोंसे भी भिड़ जाता हूँ। अनघ ! मैं सदा आपको प्रिय लगनेवाला कार्य करूँगा ॥ १० ॥

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरान् महानसे
तथा च कुर्याः कुशलं प्रभाषसे।
न चैव मन्ये तव कर्म यत् समं
समुद्रनेमिं पृथिवीं त्वमर्हसि ॥ ११ ॥

विराट बोले—बल्लव ! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें अभीष्ट वर देता हूँ। तुम अपनेको भोजन बनानेके काममें कुशल बताते हो, तो मेरी पाकशालामें रहकर वही करो। किंतु मैं यह कार्य तुम्हारे योग्य नहीं समझता। तुम तो समुद्रसे घिरी हुई समूची पृथ्वीका शासन करनेके योग्य हो ॥ ११ ॥

तथा हि कामो भवतस्तथा कृतं
महानसे त्वं भव मे पुरस्कृतः।
नराश्च ये तत्र समाहिताः पुरा
भवांश्च तेषामधिपो मया कृतः ॥ १२ ॥

तथापि जैसी तुम्हारी रुचि है, मैंने वैसा किया है। तुम मेरी पाकशालामें अग्रणी होकर रहो। जो लोग वहाँ पहलेसे नियुक्त हैं, मैंने तुम्हें उन सबका स्वामी बनाया ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा स भीमो विहितो महानसे
विराटराज्ञो दयितोऽभवद् दृढम्।
उवास राज्ये न च तं पृथग् जनो
बुबोध तत्रानुचराश्च केचन ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार भीमसेन पाकशालामें नियुक्त हो राजा विराटके अत्यन्त प्रिय व्यक्ति होकर रहने लगे। उस राज्यके किसी भी मनुष्यने उनका रहस्य नहीं जाना और न उस पाकशालाके कोई सेवक ही उन्हें पहचान सके ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि भीमप्रवेशे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें भीमप्रवेशसम्बन्धी आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

द्रौपदीका सैरन्ध्रीके वेशमें विराटके रनिवासमें जाकर रानी सुदेष्णासे वार्तालाप करना और वहाँ निवास पाना

वैशम्पायन उवाच

ततः केशान् समुत्क्षिप्य वेल्लिताग्राननिन्दितान्।
कृष्णान् सूक्ष्मान् मृदून् दीर्घान् समुद्ग्रथ्य शुचिस्मिता॥
जुगूहे दक्षिणे पार्श्वे मृदूनसितलोचना।
वासश्च परिधायैकं कृष्णा सुमलिनं महत् ॥ २ ॥
कृत्वा वेषं च सैरन्ध्र्यास्ततो व्यचरदार्तवत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पवित्र मन्द मुसकान और कजरारे नेत्रोंवाली द्रौपदीने अपने सुन्दर, महीन, कोमल और बड़े-बड़े, काले एवं घुँघुराले केशोंकी चोटी गूँथकर उन मृदुल अलकोंको दाहिने भागमें छिपा दिया और एक अत्यन्त मलिन वस्त्र धारण करके सैरन्ध्रीका वेश बनाये वह दीन-दुखियोंकी भाँति नगरमें विचरने लगी ॥ १-२½ ॥

तां नराः परिधावन्तीं स्त्रियश्च समुपाद्रवन् ॥ ३ ॥
अपृच्छंश्चैव तां दृष्ट्वा का त्वं किं च चिकीर्षसि।

उसे इधर-उधर भटकती देख बहुत-सी स्त्रियाँ और पुरुष उसके पास दौड़े आये तथा पूछने लगे—'तुम कौन हो ? और क्या करना चाहती हो ?' ॥ ३½ ॥

सा तानुवाच राजेन्द्र सैरन्ध्र्यहमिहागता ॥ ४ ॥
कर्म चेच्छामि वै कर्तुं तस्य यो मां युयुक्षति।
तस्या रूपेण वेषेण श्लक्ष्णया च तथा गिरा।
न श्रद्दधत तां दासीमन्नहेतोरुपस्थिताम् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! उनके इस प्रकार पूछनेपर द्रौपदीने उनसे कहा—'मैं सैरन्ध्री * हूँ । जो मुझे अपने यहाँ नियुक्त करना चाहे, उसीके यहाँ मैं सैरन्ध्रीका कार्य करना चाहती हूँ और इसीलिये यहाँ आयी हूँ ।' उसके रूप, वेष और मधुर वाणी-से किसीको यह विश्वास नहीं हुआ कि यह दासी है और अन्न-वस्त्रके लिये यहाँ उपस्थित हुई है ॥ ४-५ ॥

विराटस्य तु कैकेयी भार्या परमसम्मता ।
आलोकयन्ती ददृशे प्रासादाद् द्रुपदात्मजाम् ॥ ६ ॥

इतनेमें ही राजा विराटकी अत्यन्त प्यारी भार्या केकय-राजकुमारी सुदेष्णाने, जो अपने महलपर खड़ी हुई नगरकी शोभा निहार रही थी, वहींसे द्रुपदकुमारीको देखा ॥ ६ ॥

सा समीक्ष्य तथारूपामनाथामेकवाससम् ।
समाहूयाब्रवीद् भद्रे का त्वं किं च चिकीर्षसि ॥ ७ ॥

वह एक वस्त्र धारण किये थी एवं अनाथा-सी जान पड़ती थी । ऐसे दिव्य रूपवाली तरुणीको उस अवस्थामें देखकर रानीने उसे अपने पास बुलाया और पूछा—'भद्रे ! तुम कौन हो और क्या करना चाहती हो ?' ॥ ७ ॥

सा तामुवाच राजेन्द्र सैरन्ध्र्यहमुपागता ।
कर्म चेच्छाम्यहं कर्तुं तस्य यो मां युयुक्षति ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! तब द्रौपदीने रानी सुदेष्णासे कहा—'मैं सैरन्ध्री हूँ । जो मुझे अपने यहाँ नियुक्त करना चाहे, उसके यहाँ रहकर मैं सैरन्ध्रीका कार्य करना चाहती हूँ और इसीलिये यहाँ आयी हूँ' ॥ ८ ॥

सुदेष्णोवाच

नैवंरूपा भवन्त्येव यथा वदसि भामिनि ।
प्रेषयन्तीव वै दासीर्दासांश्च विविधान् बहून् ॥ ९ ॥

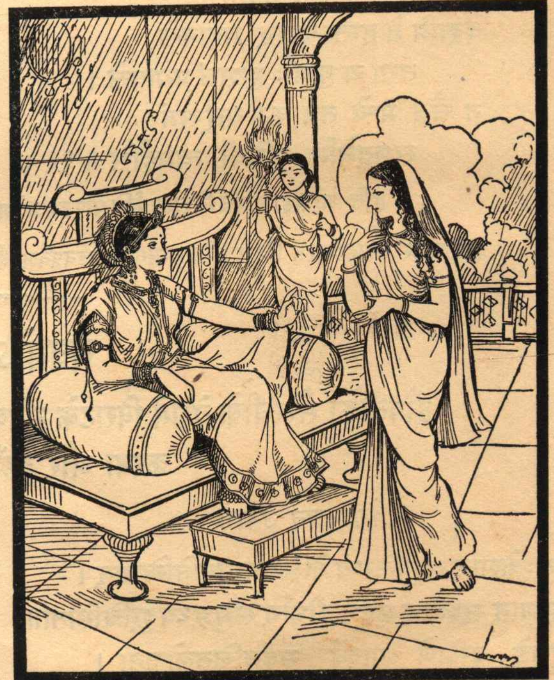
सुदेष्णाने कहा—भामिनि ! तुम जैसा कह रही हो, उसपर विश्वास नहीं होता, क्योंकि तुम्हारी-जैसी रूपवती स्त्रियाँ सैरन्ध्री (दासी) नहीं हुआ करतीं । तुम तो बहुत-सी दासियों और नाना प्रकारके बहुतेरे दासोंको आज्ञा देनेवाली रानी-जैसी जान पड़ती हो ॥ ९ ॥

नोच्चगुल्फा संहतोरुस्त्रिगम्भीरा षडुन्नता ।
रक्ता पञ्चसु रक्तेषु हंसगद्गदभाषिणी ॥१०॥
सुकेशी सुस्तनी श्यामा पीनश्रोणिपयोधरा ।
तेन तेनैव सम्पन्ना काश्मीरीव तुरङ्गमी ॥११॥
अरालपक्ष्मनयना बिम्बोष्ठी तनुमध्यमा ।
कम्बुग्रीवा गूढशिरा पूर्णचन्द्रनिभानना ॥१२॥

तुम्हारे गुल्फ ऊँचे नहीं हैं, दोनों जाँघें परस्पर सटी हुई हैं । तुम्हारी नाभि, वाणी और बुद्धि तीनोंमें गम्भीरता है । नाक, कान, आँख, स्तन, नख और घाँटी—इन छहों अङ्गोंमें ऊँचाई है । हाथों और पैरोंके तलवे, आँखके कोने, ओठ, जिह्वा और नख—इन पाँचों अङ्गोंमें स्वाभाविक लालिमा है । हंसोंकी भाँति मधुर एवं गद्गद वाणी है । तुम्हारे केश काले और चिकने हैं । स्तन बहुत सुन्दर हैं । अङ्गकान्ति श्याम है । नितम्ब और उरोज पीन हैं । ऊपर कही हुई प्रत्येक विशेषता-से तुम सम्पन्न हो । काश्मीरदेशकी घोड़ीके समान तुममें अनेक शुभ लक्षण हैं । तुम्हारे नेत्रोंकी पलकें काली और तिरछी हैं । ओष्ठ पके हुए बिम्बफलके समान लाल हैं । कमर पतली है । गर्दन शङ्खकी शोभाको छीने लेती है । नसें मांससे ढकी हुई हैं तथा मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाको लज्जित कर रहा है ॥ १०–१२ ॥

शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया ।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण सदृशी श्रिया ॥१३॥

तुम रूपमें उन्हीं लक्ष्मीके समान हो, जिनके नेत्र शरद्-ऋतुके विकसित कमलदलके समान विशाल हैं, जिनके अङ्गोंसे शरत्कालीन कमलकी-सी सुगन्ध फैलती रहती है तथा जो शरद्-ऋतुके कमलोंका सेवन करती हैं ॥ १३ ॥



का त्वं ब्रूहि यथा भद्रे नासि दासी कथंचन ।
यक्षी वा यदि वा देवी गन्धर्वी यदि वाप्सराः ॥१४॥
देवकन्या भुजङ्गी वा नगरस्याथ देवता ।
विद्याधरी किन्नरी वा यदि वा रोहिणी स्वयम् ॥१५॥

कल्याणी ! बताओ, तुम वास्तवमें कौन हो ? दासी तो तुम किसी प्रकार भी नहीं हो सकतीं । तुम यक्षी हो या देवी ? गन्धर्वकन्या हो या अप्सरा ? देवकन्या हो या नागकन्या ?

* सैरन्ध्री किसे कहते हैं, यह स्वयं द्रौपदीने इसके पूर्व तीसरे अध्यायके १८ वें श्लोकमें बताया है ।

अथवा इस नगरकी अधिष्ठात्री देवी तो नहीं हो ? विद्याधरी, किन्नरी या साक्षात् चन्द्रदेवकी पत्नी रोहिणी तो नहीं हो ? ॥ १४-१५ ॥

अलम्बुषा मिश्रकेशी पुण्डरीकाथ मालिनी ।
इन्द्राणी वारुणी वा त्वं त्वष्टुर्धातुः प्रजापतेः ।
देव्यो देवेषु विख्यातास्तासां त्वं कतमा शुभे ॥१६॥

तुम अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका अथवा मालिनी नामकी अप्सरा तो नहीं हो ? क्या तुम इन्द्राणी, वारुणी देवी, विश्वकर्माकी पत्नी अथवा प्रजापति ब्रह्माकी शक्ति सावित्री हो ? शुभे ! देवताओंके यहाँ जो प्रसिद्ध देवियाँ हैं, उनमेंसे तुम कौन हो ? ॥ १६ ॥

द्रौपद्युवाच

नास्मि देवी न गन्धर्वी नासुरी न च राक्षसी ।
सैरन्ध्री तु भुजिष्यास्मि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥१७॥

द्रौपदी बोली—रानीजी ! मैं न तो देवी हूँ, न गन्धर्वी; न असुरपत्नी हूँ, न राक्षसी । मैं तो सेवा करनेवाली सैरन्ध्री हूँ । यह मैं आपसे सच-सच कह रही हूँ ॥

केशाञ्जानाम्यहं कर्तुं पिंषे साधु विलेपनम् ।
मल्लिकोत्पलपद्मानां चम्पकानां तथा शुभे ॥१८॥
ग्रथयिष्ये विचित्राश्च स्रजः परमशोभनाः ।

मैं केशोंका शृङ्गार करना जानती हूँ तथा उबटन या अङ्गराग बहुत अच्छा पीस लेती हूँ । शुभे ! मैं मल्लिका, उत्पल, कमल और चम्पा आदि फूलोंके बहुत सुन्दर एवं विचित्र हार भी गूँथ सकती हूँ ॥ १८½ ॥

आराधयं सत्यभामां कृष्णस्य महिषीं प्रियाम् ॥१९॥
कृष्णां च भार्यां पाण्डूनां कुरूणामेकसुन्दरीम् ।

पहले मैं श्रीकृष्णकी प्यारी रानी सत्यभामा तथा कुरुकुलकी एकमात्र सुन्दरी पाण्डवोंकी धर्मपत्नी द्रौपदीकी सेवामें रह चुकी हूँ ॥ १९½ ॥

तत्र तत्र चराम्येवं लभमाना सुभोजनम् ॥२०॥
वासांसि यावन्ति लभे तावत् तावद् रमे तथा ।
मालिनीत्येव मे नाम स्वयं देवी चकार सा ।
साहमद्यागता देवि सुदेष्णे त्वन्निवेशनम् ॥२१॥

मैं भिन्न-भिन्न स्थानोंमें सेवा करके उत्तम भोजन पाती हुई विचरती हूँ । मुझे जितने वस्त्र मिल जाते हैं, उतनेंमें ही मैं प्रसन्न रहती हूँ । स्वयं देवी द्रौपदीने मेरा नाम 'मालिनी' रख दिया था । देवि सुदेष्णे ! आज वही मैं सैरन्ध्री आपके महलमें आयी हूँ ॥ २०-२१ ॥

सुदेष्णोवाच

मूर्ध्नि त्वां वासयेयं वै संशयो मे न विद्यते ।
न चेदिच्छति राजा त्वां गच्छेत् सर्वेण चेतसा ॥२२॥

सुदेष्णाने कहा—सुन्दरी ! यदि मेरे मनमें संदेह न होता, तो मैं तुम्हें अपने सिर-माथे रख लेती । यदि राजा तुम्हें चाहने न लगें—सम्पूर्ण चित्तसे तुमपर आसक्त न हो जायँ तो तुम्हें रखनेमें मुझे कोई आपत्ति न होगी ॥ २२ ॥

स्त्रियो राजकुले याश्च याश्चेमा मम वेश्मनि ।
प्रसक्तास्त्वां निरीक्षन्ते पुमांसं कं न मोहयेः ॥२३॥

इस राजकुलमें जितनी स्त्रियाँ हैं तथा मेरे महलमें भी जो ये सुन्दरियाँ हैं, वे सब एकटक तुम्हारी ओर निहार रही हैं; फिर पुरुष कौन ऐसा होगा, जिसे तुम मोहित न कर सको ? ॥ २३ ॥

वृक्षांश्चावस्थितान् पश्य य इमे मम वेश्मनि ।
तेऽपि त्वां संनमन्तीव पुमांसं कं न मोहयेः ॥२४॥

देखो, मेरे भवनमें ये जो वृक्ष खड़े हैं, वे भी तुम्हें देखनेके लिये मानो झुके-से पड़ते हैं । फिर पुरुष कौन ऐसा होगा, जिसे तुम मोहित न कर लो ? ॥ २४ ॥

राजा विराटः सुश्रोणि दृष्ट्वा वपुरमानुषम् ।
विहाय मां वरारोहे गच्छेत् सर्वेण चेतसा ॥२५॥

सुन्दर नितम्बोंवाली सुन्दरी ! तुम्हारे सम्पूर्ण अङ्ग सुन्दर हैं । राजा विराट तुम्हारा यह दिव्य रूप देखते ही मुझे छोड़कर सम्पूर्ण चित्तसे तुम्हींमें आसक्त हो जायँगे ॥ २५ ॥

यं हि त्वमनवद्याङ्गि तरलायतलोचने ।
प्रसक्तमभिवीक्षेथाः स कामवशगो भवेत् ॥२६॥

निर्दोष अङ्गों तथा चञ्चल एवं विशाल नेत्रोंवाली सैरन्ध्री ! जिस पुरुषकी ओर तुम ध्यानसे देख लोगी, वही कामके अधीन हो जायगा ॥ २६ ॥

यश्च त्वां सततं पश्येत् पुरुषश्चारुहासिनि ।
एवं सर्वानवद्याङ्गि स चानङ्गवशो भवेत् ॥२७॥

शुभाङ्गि ! चारुहासिनि ! इसी प्रकार जो पुरुष प्रतिदिन तुम्हें देखेगा, वह भी कामदेवके वशीभूत हो जायगा ॥२७॥

अध्यारोहेद् यथा वृक्षान् वधायैवात्मनो नरः ।
राजवेश्मनि ते सुभ्रु गृहे तु स्यात् तथा मम ॥२८॥

सुभ्रु ! जैसे कोई मूर्ख मनुष्य आत्महत्याके लिये (गिरनेके उद्देश्यसे) वृक्षोंपर चढ़े, उसी प्रकार राजमहलमें या अपने घरमें तुम्हें रखना मेरे लिये अनिष्टकारी हो सकता है ॥ २८ ॥

यथा च कर्कटी गर्भमाधत्ते मृत्युमात्मनः ।
तथाविधमहं मन्ये वासं तव शुचिस्मिते ॥२९॥

शुचिस्मिते ! जैसे केंकड़ेकी मादा अपने मृत्युके लिये ही गर्भ धारण करती है, उसी प्रकार तुम्हें इस घरमें ठहराना मैं अपने लिये मरणके तुल्य मानती हूँ ॥ २९ ॥

द्रौपद्युवाच

नास्मि लभ्या विराटेन न चान्येन कदाचन।
गन्धर्वाः पतयो मह्यं युवानः पञ्च भामिनि ॥३०॥

द्रौपदी बोली—भामिनि ! मुझे राजा विराट या दूसरा कोई पुरुष कभी नहीं पा सकता। पाँच तरुण गन्धर्व मेरे पति हैं ॥ ३० ॥

पुत्रा गन्धर्वराजस्य महासत्त्वस्य कस्यचित्।
रक्षन्ति ते च मां नित्यं दुःखाचारा तथा ह्यहम् ॥३१॥

वे सब किसी महान् शक्तिशाली गन्धर्वराजके* पुत्र हैं। वे ही मेरी प्रतिदिन रक्षा करते हैं तथा मैं स्वयं भी दुर्धर्ष हूँ ॥ ३१ ॥

यो मे न दद्यादुच्छिष्टं न च पादौ प्रधावयेत्।
प्रीणेरंस्तेन वासेन गन्धर्वाः पतयो मम ॥३२॥

जो मुझे जूँठा अन्न नहीं देता और मुझसे अपने पैर नहीं धुलवाता, उसके उस व्यवहारसे मेरे पति गन्धर्वलोग प्रसन्न रहते हैं ॥ ३२ ॥

यो हि मां पुरुषो गृध्द्येद् यथान्याः प्राकृताः स्त्रियः।
तामेव निवसेद् रात्रिं प्रविश्य च परां तनुम् ॥३३॥

परंतु जो पुरुष मुझे अन्य प्राकृत स्त्रियोंके समान समझकर (बलपूर्वक) प्राप्त करना चाहता है, उसका उसी रातमें परलोकवास हो जाता है ॥ ३३ ॥

न चाप्यहं चालयितुं शक्या केनचिदङ्गने।
दुःखशीला हि गन्धर्वास्ते च मे बलिनः प्रियाः ॥३४॥
प्रच्छन्नाश्चापि रक्षन्ति ते मां नित्यं शुचिस्मिते।

अतः कल्याणि ! मुझे कोई भी सतीत्वसे विचलित नहीं कर सकता। शुचिस्मिते ! यद्यपि मेरे पति गन्धर्वगण इस समय दुःखमें पड़े हैं; तथापि वे बड़े बलवान् हैं और गुप्तरूपसे सदा मेरी रक्षा करते रहते हैं ॥ ३४½ ॥

सुदेष्णोवाच

एवं त्वां वासयिष्यामि यथा त्वं नन्दिनीच्छसि ॥३५॥
न च पादौ न चोच्छिष्टं स्प्रक्ष्यसि त्वं कथंचन।

सुदेष्णाने कहा—आनन्ददायिनी सुन्दरी ! यदि (तुम्हारा शील-स्वभाव) ऐसा है, तो मैं जैसी तुम्हारी इच्छा है, उसके अनुसार तुम्हें अवश्य अपने घरमें ठहराऊँगी। तुम्हें किसी प्रकार पैर या जूँठन नहीं छूने पड़ेंगे ॥३५½॥

वैशम्पायन उवाच

एवं कृष्णा विराटस्य भार्यया परिसान्त्विता ॥३६॥
उवास नगरे तस्मिन् पतिधर्मवती सती।
न चैनां वेद तत्रान्यस्तत्त्वेन जनमेजय ॥३७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—विराटकी रानीने जब इस प्रकार आश्वासन दिया, तब पातिव्रत्य धर्मका पालन करनेवाली सती द्रौपदी उस नगरमें रहने लगी। जनमेजय ! वहाँ दूसरा कोई मनुष्य उसका वास्तविक परिचय न पा सका ॥ ३६-३७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि द्रौपदीप्रवेशे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें द्रौपदीप्रवेशसम्बन्धी नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

सहदेवका राजा विराटके साथ वार्तालाप और गौओंकी देखभालके लिये उनकी नियुक्ति

वैशम्पायन उवाच

सहदेवोऽपि गोपानां कृत्वा वेषमनुत्तमम्।
भाषां चैषां समास्थाय विराटमुपयादथ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सहदेव भी ग्वालोंका परम उत्तम वेष बनाकर उन्हींकी भाषामें बोलते हुए राजा विराटके यहाँ गये ॥ १ ॥

गोष्ठमासाद्य तिष्ठन्तं भवनस्य समीपतः।
राजाथ दृष्ट्वा पुरुषान् प्राहिणोज्जातविस्मयः ॥ २ ॥

राजभवनके पास ही गोशाला थी; वहाँ पहुँचकर वे खड़े हो गये। राजा उन्हें दूरसे ही देखकर आश्चर्यमें पड़ गये और उनके पास कुछ लोगोंको भेजा ॥ २ ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य भ्राजमानं नरर्षभम्।
समुपस्थाय वै राजा पप्रच्छ कुरुनन्दनम् ॥ ३ ॥

[अपने सेवकोंके बुलानेपर उनके साथ] दिव्य कान्तिसे सुशोभित नरश्रेष्ठ सहदेवको राजसभाकी ओर आते देख राजा विराट स्वयं उठकर उनके पास चले गये और कुरुकुलको आनन्द देनेवाले सहदेवसे पूछने लगे—॥ ३ ॥

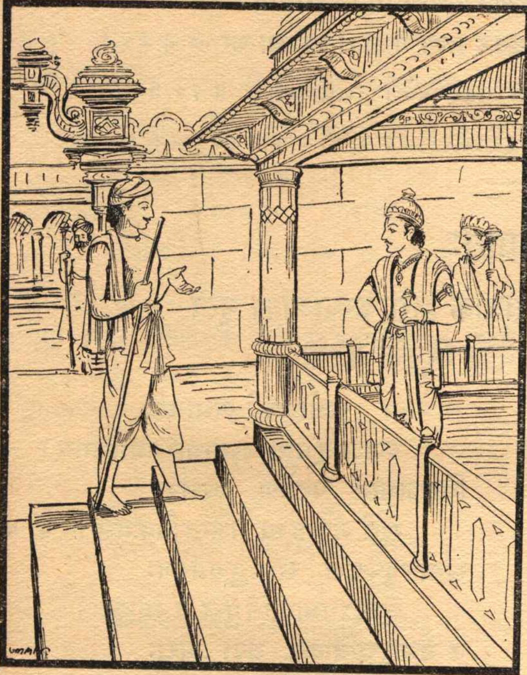
कस्य वा त्वं कुतो वा त्वं किं वा त्वं तु चिकीर्षसि।
न हि मे दृष्टपूर्वस्त्वं तत्त्वं ब्रूहि नरर्षभ ॥ ४ ॥

'पुरुषप्रवर ! तुम किसके पुत्र हो, कहाँसे आये हो और क्या करना चाहते हो ? मैंने आजसे पहले तुम्हें कभी नहीं देखा है; अतः अपना ठीक-ठीक परिचय दो' ॥ ४ ॥

* यहाँ 'गन्धर्वराज' कहनेका गूढ़ अभिप्राय यह है कि वे गन्धर्वतुल्य राजा पाण्डुके पुत्र हैं।

सम्प्राप्य राजानममित्रतापनं
ततोऽब्रवीन्मेघमहौघनिःस्वनः ।
वैश्योऽस्मि नाम्नाहमरिष्टनेमि-
र्गोसंख्य आसं कुरुपुङ्गवानाम् ॥ ५ ॥
वस्तुं त्वयीच्छामि विशां वरिष्ठ
तान् राजसिंहान् न हि वेद्मि पार्थान् ।
न शक्यते जीवितुमन्यकर्मणा
न च त्वदन्यो मम रोचते नृपः ॥ ६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा विराटके निकट पहुँचकर सहदेव मेघोंकी घनघोर घटाके समान गम्भीर स्वरमें बोले—



'महाराज ! मैं वैश्य हूँ । मेरा नाम अरिष्टनेमि है । नृपश्रेष्ठ ! मैं कुरुवंशशिरोमणि पाण्डवोंके यहाँ गौओंकी गणना तथा देखभाल करता रहा हूँ । अब आपके यहाँ रहना चाहता हूँ; क्योंकि राजाओंमें सिंहके समान पाण्डव कहाँ हैं ? यह मैं नहीं जानता । बिना काम किये जीविका चल नहीं सकती और आपके सिवा दूसरा कोई राजा मुझे पसंद नहीं है' ॥ ५-६ ॥

विराट उवाच

त्वं ब्राह्मणो यदि वा क्षत्रियोऽसि
समुद्रनेमीश्वररूपवानसि ।
आचक्ष्व मे तत्त्वममित्रकर्शन
न वैश्यकर्म त्वयि विद्यते क्षमम् ॥ ७ ॥

विराटने कहा—शत्रुतापन ! मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय हो । समुद्रसे घिरी हुई समूची पृथ्वीके सम्राट्की भाँति तुम्हारा भव्य रूप है; अतः मुझे अपना ठीक-ठीक परिचय दो । यह वैश्य कर्म (गोपालन) तुम्हारे योग्य नहीं है ॥ ७ ॥

कस्यासि राज्ञो विषयादिहागतः
किं वापि शिल्पं तव विद्यते कृतम् ।
कथं त्वमस्मासु निवत्स्यसे सदा
वदस्व किं चापि तवेह वेतनम् ॥ ८ ॥

तुम किस राजाके राज्यसे यहाँ आये हो ? और तुमने किस कलाकी शिक्षा प्राप्त की है ? बोलो, हमारे यहाँ कैसे सदा रह सकोगे ? और यहाँ तुम्हारा वेतन क्या होगा ? ॥ ८ ॥

सहदेव उवाच

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः ।
तस्याष्टशतसाहस्रा गवां वर्गाः शतं शतम् ॥ ९ ॥

सहदेव बोले—राजन् ! पाँचों पाण्डवोंमें सबसे बड़े भाई युधिष्ठिर हैं । उनके पास एक प्रकारकी गौओंके आठ लाख झुंड थे और प्रत्येक झुंडमें सौ-सौ गायें थीं ॥ ९ ॥

अपरे शतसाहस्रा द्विस्तावन्तस्तथा परे ।
तेषां गोसंख्य आसं वै तन्तिपालेति मां विदुः ॥ १० ॥
भूतं भव्यं भविष्यं च यच्च संख्यागतं गवाम् ।
न मेऽस्त्यविदितं किंचित् समन्ताद् दशयोजनम् ॥ ११ ॥

इनके सिवा, दूसरे प्रकारकी गौओंके एक लाख झुंड तथा तीसरे प्रकारकी गौओंके उनसे दुगुने अर्थात् दो लाख झुंड थे । (प्रत्येक झुंडमें सौ-सौ गायें थीं ।) पाण्डवोंकी उन गौओंका मैं गणक और निरीक्षक था । वे लोग मुझे 'तन्तिपाल' कहा करते थे । चारों ओर दस योजनकी दूरीमें जितनी गौएँ हों; उनकी भूत, वर्तमान और भविष्यमें जितनी संख्या थी, है और होगी, उन सबको मैं जानता हूँ । गौओंके सम्बन्धमें तीनों कालमें होनेवाली कोई ऐसी बात नहीं है, जो मुझे ज्ञात न हो ॥ १०-११ ॥

गुणाः सुविदिता ह्यासन् मम तस्य महात्मनः ।
असकृत् स मया तुष्टः कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥
क्षिप्रं च गावो बहुला भवन्ति
न तासु रोगो भवतीह कश्चन ।
तैस्तैरुपायैर्विदितं ममैत-
देतानि शिल्पानि मयि स्थितानि ॥ १३ ॥
ऋषभांश्चापि जानामि राजन् पूजितलक्षणान् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते ॥ १४ ॥

महात्मा राजा युधिष्ठिरको मेरे ये गुण भलीभाँति विदित थे । वे कुरुराज युधिष्ठिर सदा मेरे ऊपर संतुष्ट रहते थे । किन किन उपायोंसे गौओंकी संख्या शीघ्र बढ़ जाती है और उनमें कोई रोग नहीं पैदा होता, यह सब मुझे ज्ञात है । महाराज ! ये ही कलाएँ मुझमें विद्यमान हैं । इनके सिवा मैं

उन उत्तम लक्षणोंवाले बैलोंको भी जानता हूँ, जिनके मूत्रको सूँघ लेनेमात्रसे वन्ध्या स्त्री भी गर्भधारण एवं संतान उत्पन्न करनेयोग्य हो जाती है ॥ १२–१४ ॥

विराट उवाच

शतं सहस्राणि समाहितानि
सवर्णवर्णस्य विमिश्रितान् गुणैः।
पशून् सपालान् भवते ददाम्यहं
त्वदाश्रया मे पशवो भवन्त्विह ॥ १५ ॥

विराटने कहा—तन्तिपाल ! मेरे यहाँ एक लाख पशु संगृहीत हैं। उनमेंसे कुछ तो एक ही रंगके हैं और कुछ मिश्रित रंगके। वे सब विभिन्न गुणोंसे संयुक्त हैं। मैं उन पशुओं और पशुपालोंको आजसे तुम्हारे हाथमें सौंपता हूँ। मेरे पशु अबसे तुम्हारे ही अधीन रहेंगे ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा स राज्ञोऽविदितो विशाम्पते-
रुवास तत्रैव सुखं नरोत्तमः।
न चैनमन्येऽपि विदुः कथंचन
प्रादाच्च तस्मै भरणं यथेप्सितम्॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार प्रजापालक राजा विराटसे अपरिचित रहकर नरश्रेष्ठ सहदेव वहीं गोशालामें रहने लगे। दूसरे लोग भी उन्हें किसी तरह पहचान न सके। राजाने उनके लिये उनकी इच्छाके अनुसार भरण-पोषणकी व्यवस्था कर दी ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि सहदेवप्रवेशे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें सहदेवप्रवेशविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

अर्जुनका राजा विराटसे मिलना और राजाके द्वारा कन्याओंको नृत्य आदिकी शिक्षा देनेके लिये उनको नियुक्त करना

वैशम्पायन उवाच

अथापरोऽदृश्यत रूपसम्पदा
स्त्रीणामलङ्कारधरो बृहत्पुमान्।
प्राकारवप्रे प्रतिमुच्य कुण्डले
दीर्घे च कम्बूपरि हाटके शुभे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर नगरकी चहारदीवारीके पीछे जो मिट्टीका ऊँचा टीला था, उसके समीप रूप-सम्पदासे सुशोभित एक दूसरा पुरुष दिखायी दिया। उसका डील-डौल ऊँचा था। उसने स्त्रियोंके लिये उचित आभूषण पहन रक्खे थे तथा कानोंमें बड़े-बड़े कुण्डल और हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनकर उनके ऊपर सोनेके सुन्दर कंगन धारण कर लिये थे ॥ १ ॥

बाहू च दीर्घान् प्रविकीर्य मूर्धजान्
महाभुजो वारणतुल्यविक्रमः।
गतेन भूमिं प्रतिकम्पयंस्तदा
विराटमासाद्य सभासमीपतः ॥ २ ॥

अपने बड़े-बड़े केशोंकी लटोंको खोलकर हाथोंतक फैलाये वह महाबाहु पुरुष उस समय हाथीके समान मस्तानी चालसे चलता और पग-पगपर मानो पृथ्वीको कँपाता हुआ राजसभाके समीप राजा विराटके पास आकर खड़ा हुआ ॥२॥

तं प्रेक्ष्य राजोपगतं सभातले
व्याजात् प्रतिच्छन्नमरिप्रमाथिनम्।
विराजमानं परमेण वर्चसा
सुतं महेन्द्रस्य गजेन्द्रविक्रमम् ॥ ३ ॥
सर्वानपृच्छच्च सभानुचारिणः
कुतोऽयमायाति पुरा न मे श्रुतः।
न चैनमूचुर्विदितं तदा नराः
सविस्मयं वाक्यमिदं नृपोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

छद्मवेशसे अपने स्वरूपको छिपाकर सभाभवनमें आया हुआ वह शत्रुविजयी वीर पुरुष अपने उत्कृष्ट तेजसे प्रकाशित हो रहा था। गजराजके समान बल-विक्रमवाले उस महेन्द्रपुत्र अर्जुनको देखकर राजाने समस्त सभासदोंसे पूछा—'यह कहाँसे आया है ? आजसे पहले मैंने कभी इसके विषयमें नहीं सुना है।' राजाके पूछनेपर उन मनुष्योंमेंसे किसीने उस पुरुषको अपना परिचित नहीं बताया। तब राजाने आश्चर्ययुक्त होकर यह बात कही— ॥ ३-४ ॥

सत्त्वोपपन्नः पुरुषोऽमरोपमः
श्यामो युवा वारणयूथपोपमः।
आमुच्य कम्बूपरि हाटके शुभे
विमुच्य वेणीमपिनह्य कुण्डले ॥ ५ ॥
स्रग्वी सुकेशः परिधाय चान्यथा
शुशोभ धन्वी कवची शरी यथा।

आरुह्य यानं परिधावतां भवान्
सुतैः समो मे भव वा मया समः ॥ ६ ॥

'तात ! तुम शक्ति और धैर्यसे सम्पन्न देवोपम पुरुष हो । तुम्हारी अङ्गकान्ति श्याम है । तुम तरुण हो और हाथियोंके यूथके अधिपति महान् गजराजके समान शोभा पा रहे हो । तुमने हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनकर उनके ऊपर सोनेके सुन्दर कंगन डाल लिये हैं, वेणी खोलकर केशोंकी लटें छितरा ली हैं तथा कानोंमें कुण्डल धारणकर गलेमें गजरा डाल रक्खा है । तुम्हारे केश बहुत ही सुन्दर हैं । तुम नारीजनोचित वेश-भूषा धारण करके भी उसके विपरीत धनुष-बाण और कवच धारण करनेवाले वीरके समान शोभा पा रहे हो । तुम रथ आदि वाहनोंपर बैठकर इच्छानुसार भ्रमण करो और मेरे पुत्रोंके अथवा मेरे ही समान होकर रहो ।५-६।

वृद्धो ह्यहं वै परिहारकामः
सर्वान् मत्स्यांस्तरसा पालयस्व ।
नैवंविधाः क्लीबरूपा भवन्ति
कथंचनेति प्रतिभाति मे मनः ॥ ७ ॥

'मैं बूढ़ा हो गया हूँ; अब राजकाज छोड़ना चाहता हूँ; अतः तुम सम्पूर्ण मत्स्यदेशका शीघ्र ही पालन करो । तुम्हारे-जैसे स्वरूपवाले किसी तरह नपुंसक नहीं हो सकते । मेरे मनको ऐसा ही प्रतीत होता है' ॥ ७ ॥

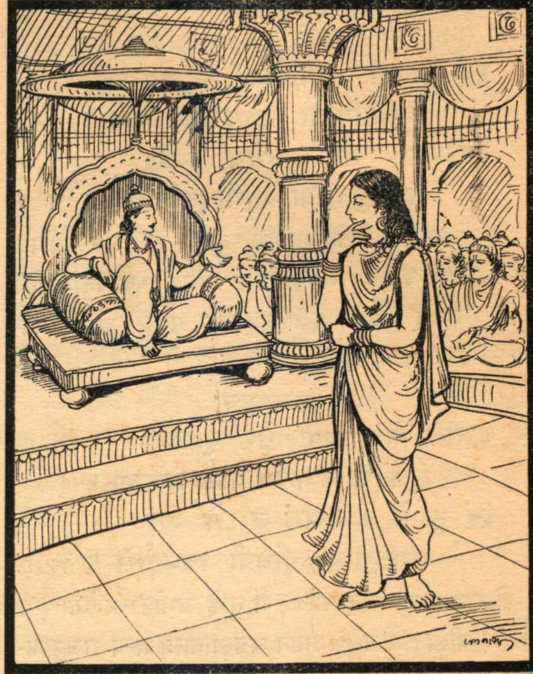
(*अर्जुन उवाच*

वेणीं प्रकुर्यां रुचिरे च कुण्डले
तथा स्रजः प्रावरणानि संहरे ।
स्नानं चरेयं विमृजे च दर्पणं
विशेषकेष्वेव च कौशलं मम ॥
क्लीबेषु बालेषु जनेषु नर्तने
शिक्षाप्रदानेषु च योग्यता मम ।
करोमि वेणीषु च पुष्पपूरणं
न मे स्त्रियः कर्मणि कौशलाधिकाः ॥

अर्जुन बोले—मैं वेणी-रचना अच्छी कर सकता हूँ, मनोहर कुण्डल बनाना जानता हूँ, फूलोंके हार तथा ओढ़नेकी चादरें सुन्दर ढंगसे बनाता हूँ, स्नान करा सकता हूँ, दर्पणकी सफाई करता हूँ और चन्दन आदिसे अनेक प्रकारकी रेखाएँ बनाकर शृङ्गार करनेकी क्रियामें मुझे विशेष कुशलता प्राप्त है । नपुंसकों, बालकों एवं साधारण लोगोंमें नाचने तथा संगीत एवं नृत्यकी शिक्षा देनेमें मेरी अच्छी योग्यता है । स्त्रियोंकी वेणीमें फूल गूँथनेका कार्य भी मैं अच्छे ढंगसे सम्पन्न करता हूँ । इन सब कार्योंमें स्त्रियाँ भी मुझसे अधिक कुशल नहीं हैं ॥

तमब्रवीत् प्रांशुमुदीक्ष्य विस्मितो
विराटराजोपसृतं महायशाः ॥

निकट आनेपर उसका कद बहुत ऊँचा देखकर महायशस्वी राजा विराट अत्यन्त विस्मित होकर बोले ॥



विराट उवाच

नार्हस्तु वेषोऽयमनूर्जितस्ते
नापुंस्त्वमर्हो नरदेवसिंह ।
तवैष वेशोऽशुभवेषभूषणै-
र्विभूषितो भूतपतेरिव प्रभो ॥
विभाति भानोरिव रश्मिमालिनो
घनावरुद्धे गगने घनैरिव ।
धनुर्हि मन्ये तव शोभयेद् भुजौ
तथा हि पीनावतिमात्रमायतौ ॥)

विराटने कहा—नरदेवसिंह ! ओज और बलसे रहित नपुंसकका-सा यह वेष तुम्हारे योग्य नहीं है । तुम क्लीब होनेके योग्य नहीं हो । प्रभो ! तुम्हारा यह वेष भगवान् भूतनाथकी भाँति अशुभ वेष-भूषासे विभूषित है । जैसे बादलोंकी घटासे आच्छादित आकाशमें भी अंशुमाली सूर्यका मण्डल सुशोभित होता है, उसी प्रकार इस क्लीब-वेषमें भी तुम पौरुषसे प्रकाशित हो रहे हो । मेरा ऐसा विश्वास है कि तुम्हारी इन मोटी और अत्यन्त विशाल भुजाओंको धनुष ही सुशोभित कर सकता है ॥

अर्जुन उवाच

गायामि नृत्याम्यथ वादयामि
भद्रोऽस्मि नृत्ये कुशलोऽस्मि गीते ।
त्वमुत्तरायै प्रदिशस्व मां स्वयं
भवामि देव्या नरदेव नर्तकः ॥ ८ ॥

अर्जुनने कहा—नरदेव ! मैं गाता, नाचता और बाजे बजाता हूँ । नृत्यकलामें निपुण और संगीत-कलामें भी कुशल हूँ । आप उत्तराको शिक्षा देनेके लिये मुझे रख लें । मैं स्वयं राजकुमारी उत्तराको नृत्य सिखलाऊँगा ॥ ८ ॥

इदं तु रूपं मम येन किं तव
प्रकीर्तयित्वा भृशशोकवर्धनम् ।
बृहन्नलां मां नरदेव विद्धि
सुतं सुतां वा पितृमातृवर्जिताम् ॥ ९ ॥

मेरा ऐसा रूप जिस कारणसे हुआ है, उसे आपके सामने कहनेसे क्या लाभ है ? वह अधिक शोक बढ़ानेवाली बात है । राजन् ! आप मुझे बृहन्नला समझें और पिता-मातासे रहित पुत्र या पुत्री मान लें ॥ ९ ॥

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरं बृहन्नले
सुतां च मे नर्तय याश्च तादृशीः ।
इदं तु ते कर्म समं न मे मतं
समुद्रनेमिं पृथिवीं त्वमर्हसि ॥ १० ॥

विराट बोले—बृहन्नले ! मैं तुम्हें अभीष्ट वर देता हूँ । तुम मेरी पुत्रीको तथा उसके समान अवस्थावाली अन्य राजकुमारियोंको नृत्यकला सिखलाओ । परंतु मुझे यह कर्म तुम्हारे योग्य नहीं जान पड़ता । तुम तो समुद्रसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीके शासक होने योग्य हो ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

बृहन्नलां तामभिवीक्ष्य मत्स्यराट्
कलासु नृत्येषु तथैव वादिते ।
सम्मन्त्र्य राजा विविधैः स्वमन्त्रिभिः
परीक्ष्य चैनं प्रमदाभिराशु वै ॥ ११ ॥
अपुंस्त्वमप्यस्य निशम्य च स्थिरं
ततः कुमारीपुरमुत्ससर्ज तम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर मत्स्यनरेशने बृहन्नलाकी गीत, नृत्य और बाजे बजानेकी कलाओंमें परीक्षा करके अपने अनेक मन्त्रियोंसे यह सलाह ली कि इसे अन्तःपुरमें रखना चाहिये या नहीं । फिर तरुणी स्त्रियोंद्वारा शीघ्र ही उनके नपुंसकत्वकी जाँच करायी । जब सब तरहसे उनका नपुंसक होना ठीक प्रमाणित हो गया, तब यह सुन-समझकर उन्होंने बृहन्नलाको कन्याके अन्तःपुरमें जानेकी आज्ञा दी ॥ ११½ ॥

स शिक्षयामास च गीतवादितं
सुतां विराटस्य धनंजयः प्रभुः ॥ १२ ॥
सखीश्च तस्याः परिचारिकास्तथा
प्रियश्च तासां स बभूव पाण्डवः ॥ १३ ॥
तथा स सत्रेण धनंजयो वसन्
प्रियाणि कुर्वन् सह ताभिरात्मवान् ।
तथा च तं तत्र न जज्ञिरे जना
बहिश्चरा वाप्यथ चान्तरेचराः ॥ १४ ॥

शक्तिशाली अर्जुन विराटकन्या उत्तरा, उसकी सखियों तथा सेविकाओंको भी गीत, वाद्य एवं नृत्यकलाकी शिक्षा देने लगे । इससे वे उन सबके प्रिय हो गये । छद्मवेशमें कन्याओंके साथ रहते हुए भी अर्जुन अपने मनको सदा पूर्णरूपसे वशमें रखते और उन सबको प्रिय लगनेवाले कार्य करते थे । इस रूपमें वहाँ रहते हुए अर्जुनको बाहर अथवा अन्तःपुरके कोई भी मनुष्य पहचान न सके ॥ १२—१४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि अर्जुनप्रवेशो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें अर्जुनप्रवेशनामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल १८½ श्लोक हैं)



द्वादशोऽध्यायः

नकुलका विराटके अश्वोंकी देखरेखमें नियुक्त होना

वैशम्पायन उवाच

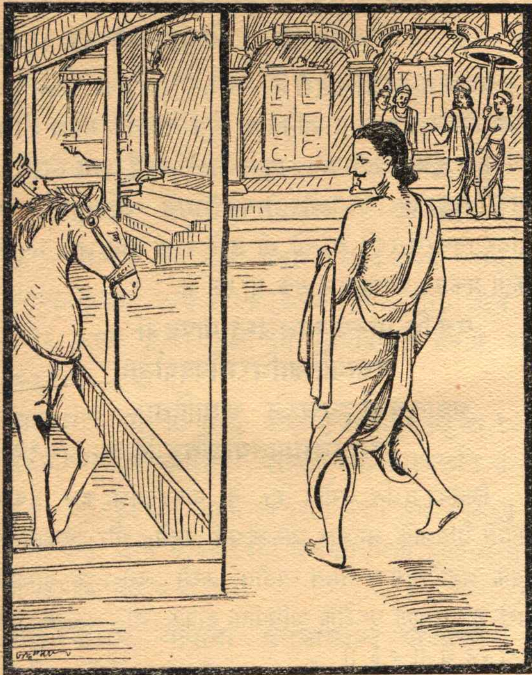
अथापरोऽदृश्यत पाण्डवः प्रभु-
र्विराटराजं तरसा समेयिवान् ।
तमापतन्तं ददृशे पृथग्जनो
विमुक्तमभ्रादिव सूर्यमण्डलम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अन्य पाण्डुपुत्र शक्तिशाली नकुल बड़े वेगसे चलते हुए राजा विराटके यहाँ आये । उन्हें आते समय साधारण लोगोंने देखा; उस समय वे मेघमालाकी ओटसे निकले हुए सूर्यमण्डलके समान तेजस्वी जान पड़ते थे ॥ १ ॥

स वै हयानैक्षत तांस्ततस्ततः
समीक्षमाणं स ददर्श मत्स्यराट् ।
ततोऽब्रवीत्ताननुगान् नरेश्वरः
कुतोऽयमायाति नरोऽमरोपमः ॥ २ ॥
स्वयं हयानीक्षति मामकान् दृढं
ध्रुवं हयज्ञो भविता विचक्षणः ।

प्रवेश्यतामेष समीपमाशु मे
विभाति वीरो हि यथामरस्तथा ॥ ३ ॥

आते ही उन्होंने इधर-उधर घूमकर घोड़ोंको देखना



प्रारम्भ किया। इस प्रकार उन अश्वोंका निरीक्षण करते समय उन्हें मत्स्यराज विराटने देखा। तब वे नरेश वहाँ बैठे हुए अनुचरोंसे बोले—'पता तो लगाओ, यह देवोपम पुरुष कहाँसे आ रहा है? यह बिना कहे-सुने स्वयं मेरे घोड़ोंको बहुत ध्यानसे देख रहा है; अतः यह अवश्य घोड़ोंको पहचाननेवाला और अश्वविद्याका विद्वान् होगा। इसलिये इसे शीघ्र मेरे समीप ले आओ। यह वीर देवताओंकी भाँति सुशोभित हो रहा है' ॥ २-३ ॥

अभ्येत्य राजानममित्रहाब्रवी-
ज्जयोऽस्तु ते पार्थिव भद्रमस्तु वः।
हयेषु युक्तो नृप सम्मतः सदा
तवाश्वसूतो निपुणो भवाम्यहम् ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् राजसेवकोंके साथ राजाके समीप आकर शत्रु-हन्ता नकुलने कहा—'राजन्! आपकी जय हो। आपका कल्याण हो। मैं घोड़ोंको शिक्षा देनेमें निपुण हूँ और अनेक राजाओंसे सम्मानित हूँ। मैं सदा आपके घोड़ोंका चतुर सारथि हो सकता हूँ ॥ ४ ॥

विराट उवाच

ददामि यानानि धनं निवेशनं
ममाश्वसूतो भवितुं त्वमर्हसि।
कुतोऽसि कस्यासि कथं त्वमागतः
प्रब्रूहि शिल्पं तव विद्यते च यत् ॥ ५ ॥

विराटने कहा—भद्र पुरुष! मैं तुम्हें सवारी, धन और रहनेके लिये घर देता हूँ। तुम मेरे घोड़ोंको शिक्षा देनेवाले सारथि हो सकते हो, किंतु मैं पहले यह जानना चाहता हूँ कि तुम कहाँसे आये हो? किसके पुत्र हो और किसलिये तुम्हारा यहाँ आगमन हुआ है? तुममें जो कला-कौशल हो, उसे भी बताओ ॥ ५ ॥

नकुल उवाच

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः।
तेनाहमश्वेषु पुरा नियुक्तः शत्रुकर्शन ॥ ६ ॥
अश्वानां प्रकृतिं वेद्मि विनयं चापि सर्वशः।
दुष्टानां प्रतिपत्तिं च कृत्स्नं चैव चिकित्सितम् ॥ ७ ॥

नकुल बोले—शत्रुदमन! सुनिये, पाँचों पाण्डवोंमें जो बड़े भ्राता युधिष्ठिर हैं, उन्होंने पहले मुझे घोड़ोंकी देख-भालके कामपर लगा रक्खा था। मैं घोड़ोंकी जाति पहचानता हूँ एवं उन्हें सब प्रकारकी शिक्षा देनेकी कला भी जानता हूँ। दुष्ट घोड़ोंकी दुष्टता-निवारणका ढंग भी मुझे मालूम है तथा घोड़ोंकी चिकित्सा भी मैं पूर्णरूपसे जानता हूँ ॥ ६-७ ॥

न कातरं स्यान्मम जातु वाहनं
न मेऽस्ति दुष्टा वडवा कुतो हयाः।
जनस्तु मामाह स चापि पाण्डवो
युधिष्ठिरो ग्रन्थिकमेव नामतः ॥ ८ ॥

मेरा सिखाया हुआ घोड़ा कभी कायर नहीं हो सकता। मेरी सिखायी हुई घोड़ीमें भी कोई ऐब नहीं आता, फिर घोड़े तो बिगड़ ही कैसे सकते हैं? मुझे साधारण लोग तथा पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर भी 'ग्रन्थिक' नामसे ही पुकारा करते थे ॥ ८ ॥

(मातलिरिव देवपतेर्दशरथनृपतेः सुमन्त्र इव यन्ता।
सुमह इव जामदग्न्येस्तथैव तव शिक्षयाम्यश्वान् ॥
युधिष्ठिरस्य राजेन्द्र नरराजस्य शासनात्।
शतसाहस्रकोटीनामश्वानामस्मि रक्षिता ॥)

जैसे देवराज इन्द्रके सारथि मातलि हैं, जैसे राजा दशरथके रथचालक सुमन्त्र हैं और जैसे जमदग्निनन्दन परशुरामके सूत सुमह हैं, उसी प्रकार मैं आपका सारथि होकर आपके घोड़ोंको शिक्षा दूँगा। राजेन्द्र! मैं महाराज युधिष्ठिरके आदेशसे उनके यहाँ लक्षकोटि अश्वोंका संरक्षक रहा हूँ ॥

विराट उवाच

यदस्ति किंचिन्मम वाजिवाहनं
तदस्तु सर्वं त्वदधीनमद्य वै।
ये चापि केचिन्मम वाजियोजका-
स्त्वदाश्रयाः सारथयश्च सन्तु मे ॥ ९ ॥

विराटने कहा—ग्रन्थिक! मेरे पास जो भी घोड़े और अन्य वाहन हैं, वे सब आजसे ही तुम्हारे अधीन हो जायँ। इसके सिवा जो कोई भी मेरे घोड़ोंको जोतनेवाले सारथि हैं, वे सब तुम्हारे अधिकारमें रहें ॥ ९ ॥

इदं तवेष्टं यदि वै सुरोपम
ब्रवीहि यत् ते प्रसमीक्षितं वसु।
न तेऽनुरूपं हयकर्म विद्यते
प्रभासि राजेव हि सम्मतो मम ॥१०॥
युधिष्ठिरस्येव हि दर्शनेन मे
समं तवेदं प्रियमत्र दर्शनम्।
कथं तु भृत्यैः स विनाकृतो वने
वसत्यनिन्द्यो रमते च पाण्डवः ॥११॥

देवोपम पुरुष! यदि यही कार्य तुम्हें प्रिय है, तो बताओ, इसके लिये वेतनरूपसे कितना धन लेनेका तुमने विचार किया है? यह घोड़ोंकी शिक्षाका कार्य तुम्हारे अनुरूप नहीं है। तुम तो राजाकी भाँति शोभा पा रहे हो और मुझे भी अत्यन्त प्रिय लगते हो। आज मुझे तुम्हारा जो यहाँ दर्शन हुआ है, यह राजा युधिष्ठिरके ही दर्शनके समान मुझे अत्यन्त प्रिय है। अहो! सर्वथा प्रशंसाके योग्य पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर सेवकोंके बिना वनमें कैसे रहते होंगे और कैसे उनका मन वहाँ लगता होगा? ॥ १०-११ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा स गन्धर्ववरोपमो युवा
विराटराज्ञा मुदितेन पूजितः।
न चैनमन्येऽपि विदुः कथंचन
प्रियाभिरामं विचरन्तमन्तरा ॥१२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार प्रसन्न हुए राजा विराटके द्वारा सम्मानित हो श्रेष्ठ गन्धर्वके सदृश शोभा पानेवाले युवावस्थासम्पन्न नकुल वहाँ रहने लगे। उनका स्वरूप बड़ा ही प्रिय और नयनाभिराम था। वे नगरके भीतर विचरते रहते थे, तो भी उन्हें राजा तथा अन्य मनुष्य किसी प्रकार पहचान न सके ॥ १२ ॥

एवं हि मत्स्ये न्यवसन्त पाण्डवा
यथाप्रतिज्ञाभिरमोघदर्शनाः।
अज्ञातचर्यां व्यचरन् समाहिताः
समुद्रनेमीपतयोऽतिदुःखिताः ॥१३॥

जिनका दर्शन अमोघ है, वे पाण्डवगण इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार मत्स्यदेशमें रहने और एकाग्रतापूर्वक अज्ञातवासका समय व्यतीत करने लगे। वे सागरसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीके अधिपति होकर भी अत्यन्त कष्ट उठा रहे थे ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि नकुलप्रवेशे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें नकुलप्रवेशसम्बन्धी बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १५ श्लोक हैं)

(समयपालनपर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा जीमूत नामक विश्वविख्यात मल्लका वध

जनमेजय उवाच

एवं ते मत्स्यनगरे प्रच्छन्नाः कुरुनन्दनाः।
अत ऊर्ध्वं महावीर्याः किमकुर्वत वै द्विज ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! इस प्रकार मत्स्यदेशकी राजधानीमें गुप्तरूपसे निवास करनेवाले महापराक्रमी पाण्डुपुत्रोंने इसके बाद क्या किया? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं मत्स्यस्य नगरे प्रच्छन्नाः कुरुनन्दनाः।
आराधयन्तो राजानं यदकुर्वत तच्छृणु ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! इस प्रकार मत्स्यदेशकी राजधानीमें गुप्तरूपसे निवास करनेवाले पाण्डवोंने राजा विराटकी सेवा करते हुए जो-जो कार्य किया, वह सुनो ॥ २ ॥

तृणबिन्दुप्रसादाच्च धर्मस्य च महात्मनः।
अज्ञातवासमेवं तु विराटनगरेऽवसन् ॥ ३ ॥
युधिष्ठिरः सभास्तारो मत्स्यानामभवत् प्रियः।
तथैव च विराटस्य सपुत्रस्य विशाम्पते ॥ ४ ॥
स ह्यक्षहृदयज्ञस्तान् क्रीडयामास पाण्डवः।
अक्षवत्यां यथाकामं सूत्रबद्धानिव द्विजान् ॥ ५ ॥

राजर्षि तृणबिन्दु और महात्मा धर्मके प्रसादसे पाण्डव लोग इस प्रकार विराटके नगरमें अज्ञातवासके दिन पूरे करने लगे। महाराज युधिष्ठिर राजसभाके प्रमुख सदस्य और मत्स्यदेशकी प्रजाके अत्यन्त प्रिय थे। राजन्! इसी प्रकार पुत्रसहित राजा विराटका भी उनपर विशेष प्रेम था। वे पासोंका मर्म जानते थे। जैसे कोई सूतमें बाँधे हुए पक्षियोंको इच्छानुसार उड़ावे, उसी प्रकार वे द्यूतशालामें पासोंको

अपने इच्छानुसार फेंकते हुए राजा आदिको जूआ खेलाया करते थे ॥ ३-५ ॥

अज्ञातं च विराटस्य विजित्य वसु धर्मराट्।
भ्रातृभ्यः पुरुषव्याघ्रो यथार्हं सम्प्रयच्छति ॥ ६ ॥

पुरुषसिंह धर्मराज युधिष्ठिर जूएमें धन जीतकर अपने भाइयोंको यथायोग्य बाँट देते थे।' इसका राजा विराटको भी पता नहीं लगता था ॥ ६ ॥

भीमसेनोऽपि मांसानि भक्ष्याणि विविधानि च।
अतिसृष्टानि मत्स्येन विक्रीणीते युधिष्ठिरे ॥ ७ ॥

भीमसेन भी नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ, जो मत्स्यनरेशद्वारा उन्हें पुरस्काररूपमें प्राप्त होते, बेच देते और उससे मिला हुआ धन युधिष्ठिरकी सेवामें अर्पित करते थे ॥ ७ ॥

वासांसि परिजीर्णानि लब्धान्यन्तःपुरेऽर्जुनः।
विक्रीणानश्च सर्वेभ्यः पाण्डवेभ्यः प्रयच्छति ॥ ८ ॥

अर्जुनको अन्तःपुरमें जो पुराने उतारे हुए बहुमूल्य वस्त्र प्राप्त होते, उन्हें वे बेचते और बेचनेसे मिला हुआ मूल्य सब पाण्डवोंको देते थे ॥ ८ ॥

सहदेवोऽपि गोपानां वेषमास्थाय पाण्डवः।
दधि क्षीरं घृतं चैव पाण्डवेभ्यः प्रयच्छति ॥ ९ ॥

पाण्डुनन्दन सहदेव भी ग्वालोंका वेश धारणकर पाण्डवोंको दही, दूध और घी दिया करते थे॥ ९ ॥

नकुलोऽपि धनं लब्ध्वा कृते कर्मणि वाजिनाम्।
तुष्टे तस्मिन् नरपतौ पाण्डवेभ्यः प्रयच्छति ॥१०॥

नकुल भी घोड़ोंके शिक्षणका कार्य करके महाराज विराटके संतुष्ट होनेपर उनसे पुरस्कारस्वरूप जो धन पाते, उसे सब पाण्डवोंको बाँट दिया करते थे ॥ १० ॥

कृष्णा तु सर्वान् भर्तॄंस्तान् निरीक्षन्ती तपस्विनी।
यथा पुनरविज्ञाता तथा चरति भामिनी ॥११॥

तपस्विनी एवं सुन्दरी द्रौपदी भी उन सब पतियोंकी देखभाल करती हुई ऐसा बर्ताव करती, जिससे फिर कोई उसे पहचान न सके ॥ ११ ॥

एवं सम्पादयन्तस्ते तदान्योन्यं महारथाः।
विराटनगरे चेरुः पुनर्गर्भधृता इव ॥१२॥

इस प्रकार एक दूसरेका सहयोग करते हुए वे महारथी पाण्डव विराटनगरमें बहुत छिपकर रहते थे; मानो पुनः माताके गर्भमें निवास कर रहे हों ॥ १२ ॥

साशङ्का धार्तराष्ट्रस्य भयात् पाण्डुसुतास्तदा।
प्रेक्षमाणास्तदा कृष्णामूषुश्छन्ना नराधिप ॥१३॥

राजन्! दुर्योधनद्वारा पहचान लिये जानेके भयसे पाण्डव सदा सशङ्क रहते थे; अतः वे उस समय द्रौपदीकी देखभाल करते हुए भी छिपकर ही वहाँ निवास करते थे ॥

अथ मासे चतुर्थे तु ब्रह्मणः सुमहोत्सवः।
आसीत् समृद्धो मत्स्येषु पुरुषाणां सुसम्मतः ॥१४॥
तत्र मल्लाः समापेतुर्दिग्भ्यो राजन् सहस्रशः।
समाजे ब्रह्मणो राजन् यथा पशुपतेरिव ॥१५॥

तदनन्तर चौथा महीना प्रारम्भ होनेपर मत्स्यदेशमें ब्रह्माजीकी पूजाका महान् उत्सव मनाया जाने लगा। इसमें बड़ा समारोह होता था। मत्स्यदेशके लोगोंको यह बहुत प्रिय था। जनमेजय! उस समय विराटनगरमें चारों दिशाओंसे हजारों कुश्ती लड़नेवाले मल्ल जुटने लगे। इसी अवसरपर ब्रह्माजी और भगवान् शङ्करकी सभाके समान उस राजधानीमें लोगोंका जमाव होता था ॥ १४-१५ ॥

महाकाया महावीर्याः कालखञ्जा इवासुराः।
वीर्योन्मत्ता बलोदग्रा राज्ञा समभिपूजिताः ॥१६॥

वहाँ आये हुए विशालकाय और महान् बलशाली मल्ल कालखञ्ज नामक असुरोंके समान जान पड़ते थे। वे सब अपनी शक्ति और पराक्रमके मदसे उन्मत्त थे एवं बलमें बहुत बढ़े-चढ़े थे। राजा विराटने उन सबका खूब स्वागत-सत्कार किया ॥ १६ ॥

सिंहस्कन्धकटिग्रीवाः स्ववदाता मनस्विनः।
असकृल्लब्धलक्षास्ते रङ्गे पार्थिवसंनिधौ ॥१७॥

उनके कंधे, कमर और कण्ठ सिंहके समान थे। वे निर्मल यशसे सुशोभित और मनस्वी थे। उन्होंने अनेक बार राजाके समीप रंगभूमि (अखाड़े)में विजय पायी थी ॥ १७॥

तेषामेको महानासीत् सर्वमल्लानथाह्वयत्।
आवल्गमानं तं रङ्गे नोपतिष्ठति कश्चन ॥१८॥

उन सबमें एक बहुत बड़ा पहलवान था, जो दूसरे सब पहलवानोंको अपने साथ लड़नेके लिये ललकारता था। जब वह अखाड़ेमें उतरकर उछलने लगा, उस समय कोई भी उसके समीप खड़ा न हो सका ॥ १८॥

यदा सर्वे विमनसस्ते मल्ला हतचेतसः।
अथ सूदेन तं मल्लं योधयामास मत्स्यराट् ॥१९॥

जब वे सभी मल्ल उदासीन हो हिम्मत हार बैठे, तब मत्स्यनरेशने अपने रसोइयेसे उस पहलवानको लड़ानेका निश्चय किया ॥ १९ ॥

नोद्यमानस्तदा भीमो दुःखेनैवाकरोन्मतिम्।
न हि शक्नोति विवृते प्रत्याख्यातुं नराधिपम् ॥२०॥

उस समय राजासे प्रेरित होनेपर भीमसेनने [पहचाने जानेके भयसे] दुखी होकर ही उससे लड़नेका विचार

किया । वे राजाकी बातको प्रकटरूपमें टाल नहीं सकते थे ॥ २० ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रः शार्दूलशिथिलश्चरन् ।
प्रविवेश महारङ्गं विराटमभिपूजयन् ॥२१॥

तदनन्तर पुरुषसिंह भीमने सिंहके समान धीमी चालसे चलते हुए राजा विराटका मान रखनेके लिये उस विशाल रंगभूमिमें प्रवेश किया ॥ २१ ॥

बबन्ध कक्षां कौन्तेयस्ततः संहर्षयञ्जनम् ।
ततस्तु वृत्रसंकाशं भीमो मल्लं समाह्वयत् ॥२२॥
जीमूतं नाम तं तत्र मल्लं प्रख्यातविक्रमम् ।

फिर लोगोंमें हर्षका संचार करते हुए उन्होंने लँगोट बाँधा और उस प्रसिद्ध पराक्रमी जीमूत नामक मल्लको, जो वृत्रासुरके समान दिखायी देता था, युद्धके लिये ललकारा ॥ २२½ ॥

तावुभौ सुमहोत्साहावुभौ भीमपराक्रमौ ॥२३॥
मत्ताविव महाकायौ वारणौ षष्टिहायनौ ।

वे दोनों बड़े उत्साहमें भरे थे । दोनों ही प्रचण्ड पराक्रमी थे, ऐसा लगता था मानो साठ वर्षके दो मतवाले एवं विशालकाय गजराज एक दूसरेसे भिड़नेको उद्यत हों ॥ २३½ ॥

ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुयुद्धं समीयतुः ॥२४॥
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ।
आसीत् सुभीमः सम्पातो वज्रपर्वतयोरिव ॥२५॥

अत्यन्त हर्षमें भरकर एक दूसरेको जीत लेनेकी इच्छावाले वे दोनों नरश्रेष्ठ वीर बाहुयुद्ध करने लगे । उस समय उन दोनोंमें बड़ी भयंकर भिड़न्त हुई । उनके परस्परके आघातसे इस प्रकार चटचट शब्द होने लगा, मानो वज्र और पर्वत एक दूसरेसे टकरा गये हों ॥ २४-२५ ॥

उभौ परमसंहृष्टौ बलेनातिबलावुभौ ।
अन्योन्यस्यान्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ॥२६॥

दोनों अत्यन्त प्रसन्न थे । बलकी दृष्टिसे दोनों ही अत्यन्त बलशाली थे और एक दूसरेपर चोट करनेका अवसर देखते हुए विजयके अभिलाषी हो रहे थे ॥ २६ ॥

उभौ परमसंहृष्टौ मत्ताविव महागजौ ।
कृतप्रतिकृतैश्चित्रैर्बाहुभिश्च सुसङ्कटैः ।
संनिपातावधूतैश्च प्रमाथोन्मथनैस्तथा[1] ॥२७॥

दोनोंमें भरपूर हर्ष और उत्साह भरा था । दोनों ही मतवाले गजराजोंकी भाँति एक दूसरेसे भिड़े हुए थे । जब एक दूसरेका कोई अङ्ग जोरसे दबाता, तब दूसरा फौरन उसका प्रतीकार करता—उस अङ्गको उसकी पकड़से छुड़ा लेता था । दोनों एक दूसरेके हाथोंको मुट्ठीसे पकड़कर विवश कर देते और विचित्र ढंगसे परस्पर प्रहार करते थे । दोनों आपसमें गुँथ जाते और फिर धक्के देकर एक दूसरेको दूर हटा देते । कभी एक दूसरेको पटककर जमीनपर रगड़ता, तो दूसरा नीचेसे ही कुलाँचकर ऊपरवालेको दूर फेंक देता या उसे लिये-दिये खड़ा हो अपने शरीरसे दबाकर उसके अङ्गोंको भी मथ डालता था ॥ २७ ॥

क्षेपणैर्[2]मुष्टिभिश्[3]चैव वराहोद्धूतनिःस्वनैः[4] ।
तलैर्[5]वज्रैर्निपातैश्च प्रसृष्टाभिस्[6]तथैव च ॥२८॥

कभी दोनों दोनोंको बलपूर्वक पीछे हटाते और मुक्कोंसे एक-दूसरेकी छातीपर चोट करते थे । कभी एकको दूसरा अपने कंधेपर उठा लेता और उसका मुँह नीचे करके घुमाकर पटक देता था, जिससे ऐसा शब्द होता; मानो किसी शूकरने चोट की हो । कभी परस्पर तर्जनी और अँगूठेके मध्यभागको फैलाकर चाँटोंकी मार होती और कभी हाथकी अङ्गुलियोंको फैलाकर वे एक-दूसरेको थप्पड़ मारते थे ॥२८ ॥

शलाकानखपातैश्च पादोद्धूतैश्च दारुणैः ।
जानुभिश्चाश्मनिर्घोषैः शिरोभिश्चावघट्टनैः ॥२९॥

कभी वे रोषपूर्वक अङ्गुलियोंके नखोंसे एक-दूसरेको बकोटते । कभी पैरोंमें उलझाकर दोनों दोनोंको गिरा देते । कभी घुटने और सिरसे टक्कर मारते; जिससे पत्थर टकरानेके समान भयंकर शब्द होता था ॥ २९ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरमशस्त्रं बाहुतेजसा ।
बलप्राणेन शूराणां समाजोत्सवसंनिधौ ॥३०॥
अरज्यत जनः सर्वः सोत्कृष्टनिनदोत्थितः ।
बलिनोः संयुगे राजन् वृत्रवासवयोरिव ॥३१॥
प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्याकर्षविकर्षणैः ।*
आकर्षतुरथान्योन्यं जानुभिश्चापि जघ्नतुः ॥३२॥

१—प्रमाथ तथा उन्मथन आदि मल्लयुद्धके दाँव-पेचोंके नाम हैं । इनकी व्याख्या नीलकण्ठी आदि टीकाओंमें मल्लशास्त्रके अनुसार इस प्रकार दी गयी है—

निपात्य पेषणं भूमौ प्रमाथ इति कथ्यते ।
यत् तूत्थायाङ्गमथनं तदुन्मथनमुच्यते ॥

२—क्षेपणं कथ्यते यत् तु स्थानात् प्रच्यावनं हठात् ॥

३—उभयोर्मुञ्जयोर्मुष्टिरुरोमध्ये निपात्यते ।
मुष्टिरित्युच्यते तज्ज्ञैर्मल्लविद्याविशारदैः ॥

४—अवाङ्मुखं स्कन्धगतं भ्रामयित्वा तदैव यः ।
क्षिप्तस्य शब्दः स भवेद् वराहोद्धूतनिःस्वनः ॥

५—तर्जन्यङ्गुष्ठमध्येन प्रसारितकरो हि यः ।
सम्प्रहारतलाख्यस्तु संग्राह्यो वज्रमिष्यते ॥

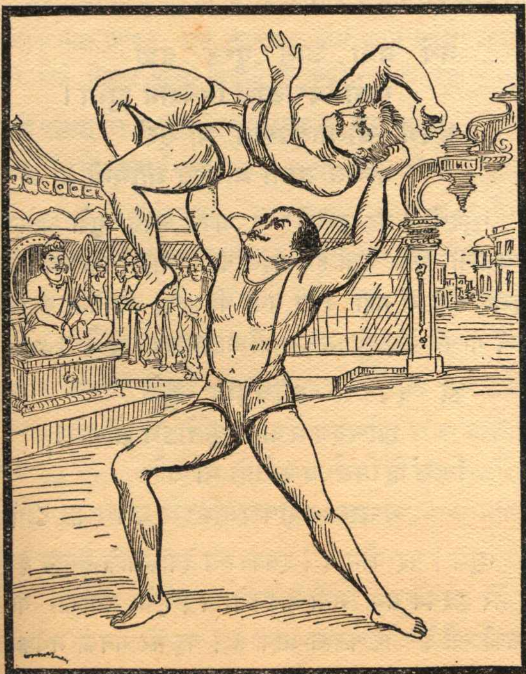
६—अङ्गुल्यः प्रसृता यास्तु ताः प्रसृष्टा उदीरिताः ॥

* आकृष्य क्रोडीकरणं प्रकर्षणमुदाहृतम् ।
आकर्षणं लीलयैव सम्मुखीकरणं स्मृतम् ॥
पुरः पश्चात् पार्श्वयोश्चाभ्याकर्षो भ्रमणं तथा ।
पश्चात् प्रपातनं वेगाद् विकर्षणमुदाहृतम् ॥

कभी वे प्रतिपक्षीको गोदमें घसीट लाते, कभी खेलमें ही उसे सामने खींच लेते, कभी आगे-पीछे, दायें-बायें पैंतरे बदलते और कभी सहसा पीछे ढकेलकर पटक देते थे। इस तरह दोनों दोनोंको अपनी ओर खींचते और घुटनोंसे एक-दूसरेपर प्रहार करते थे। उस सामूहिक उत्सवमें पहलवानों और जन-समुदायके निकट उन दोनोंमें केवल बाहुबल, शारीरिक बल तथा प्राणबलसे किसी अस्त्र-शस्त्रके बिना बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। राजन्! इन्द्र और वृत्रासुरके समान भीम और जीमूतके उस मल्लयुद्धमें सब लोगोंका बड़ा मनोरञ्जन हुआ। सभी दर्शक जीतनेवालेका उत्साह बढ़ानेके लिये जोर-जोरसे हर्षनाद कर उठते थे॥ ३०-३२॥

ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम्।
व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव॥ ३३॥
चकर्ष दोर्भ्यामुत्पात्य भीमो मल्लममित्रहा।
निनदन्तमभिक्रोशन् शार्दूल इव वारणम्॥ ३४॥
समुद्यम्य महाबाहुर्भ्रामयामास वीर्यवान्।
ततो मल्लाश्च मत्स्याश्च विस्मयं चक्रिरे परम्॥ ३५॥

तदनन्तर चौड़ी छाती और लंबी भुजावाले, कुश्तीके दाँव-पेचमें कुशल वे दोनों वीर गम्भीर गर्जनाके साथ एक-दूसरेको डाँट बताते हुए लोहेके परिघ (मोटे डंडे) जैसी बाँहोंसे बाँहें मिलाकर परस्पर भिड़ गये। फिर विपुलपराक्रमी शत्रुहन्ता महाबाहु भीमसेनने गर्जना करते हुए, जैसे सिंह हाथीपर झपटे, उसी प्रकार झपटकर जीमूतको दोनों हाथोंसे पकड़कर खींचा और ऊपर उठाकर उसे घुमाना आरम्भ किया। यह देख वहाँ आये हुए पहलवानों तथा मत्स्यदेशकी प्रजाको बड़ा आश्चर्य हुआ॥ ३३-३५॥



भ्रामयित्वा शतगुणं गतसत्त्वमचेतनम्।
प्रत्यपिंषन्महाबाहुर्मल्लं भुवि वृकोदरः॥ ३६॥

सौ बार घुमानेपर जब वह धैर्य, साहस और चेतनासे भी हाथ धो बैठा, तब बड़ी-बड़ी बाहुओंवाले वृकोदरने उसे पृथ्वीपर गिराकर मसल डाला॥ ३६॥

तस्मिन् विनिहते वीरे जीमूते लोकविश्रुते।
विराटः परमं हर्षमगच्छद् बान्धवैः सह॥ ३७॥

इस प्रकार उस लोकविख्यात वीर जीमूतके मारे जानेपर राजा विराटको अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ३७॥

प्रहर्षात् प्रददौ वित्तं बहु राजा महामनाः।
बल्लवाय महारङ्गे यथा वैश्रवणस्तथा॥ ३८॥

उस समय कुबेरके समान महामनस्वी राजा विराटने अत्यन्त हर्षमें भरकर बल्लवको उस विशाल रंगभूमिमें ही बहुत धन दिया॥ ३८॥

एवं स सुबहून् मल्लान् पुरुषांश्च महाबलान्।
विनिघ्नन् मत्स्यराजस्य प्रीतिमाहरदुत्तमाम्॥ ३९॥

इसी तरह बहुत-से पहलवानों और महाबली पुरुषोंको मारकर भीमसेनने मत्स्यनरेश विराटका उत्तम प्रेम प्राप्त किया॥

यदास्य तुल्यः पुरुषो न कश्चित् तत्र विद्यते।
ततो व्याघ्रैश्च सिंहैश्च द्विरदैश्चाप्ययोधयत्॥ ४०॥

जब वहाँ उनकी जोड़का कोई पहलवान नहीं रह गया, तब विराट उन्हें व्याघ्रों, सिंहों और हाथियोंसे लड़ाने लगे॥ ४०॥

पुनरन्तःपुरगतः स्त्रीणां मध्ये वृकोदरः।
योध्यते स विराटेन सिंहैर्मत्तैर्महाबलैः॥ ४१॥

कभी-कभी विराटकी प्रेरणासे स्त्रियोंके अन्तःपुरमें जाकर भीमसेन उन्हें दिखानेके लिये महान् बलवान् और मतवाले सिंहोंके साथ लड़ा करते थे॥ ४१॥

बीभत्सुरपि गीतेन स्वनृत्येन च पाण्डवः।
विराटं तोषयामास सर्वाश्चान्तःपुरस्त्रियः॥ ४२॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने भी अपने गीत और नृत्यसे राजा विराट तथा अन्तःपुरकी सम्पूर्ण स्त्रियोंको संतुष्ट कर लिया था॥ ४२॥

अश्वैर्विनीतैर्जवनैस्तत्र तत्र समागतैः।
तोषयामास राजानं नकुलो नृपसत्तमम्॥ ४३॥
तस्मै प्रदेयं प्रायच्छत् प्रीतो राजा धनं बहु।

विनीतान् वृषभान् दृष्ट्वा सहदेवस्य चाभितः।
धनं ददौ बहुविधं विराटः पुरुषर्षभः॥ ४४॥

इसी प्रकार नकुलने जहाँ-तहाँसे आये हुए वेगवान् घोड़ोंको सुशिक्षित करके नृपश्रेष्ठ विराटको प्रसन्न किया था। प्रसन्न होकर राजाने पुरस्काररूपमें उन्हें बहुत धन दिया था। इसी तरह सहदेवके द्वारा शिक्षित एवं विनीत किये हुए बैलोंको देखकर नरश्रेष्ठ विराटने उन्हें भी इनाममें बहुत धन दिया॥ ४३-४४॥

द्रौपदी प्रेक्ष्य तान् सर्वान् क्लिश्यमानान् महारथान्।
नातिप्रीतमना राजन् निःश्वासपरमाभवत्॥ ४५॥

राजन्! अपने सम्पूर्ण महारथी पतियोंको इस प्रकार क्लेश उठाते देख द्रौपदीके मनमें खेद होता था और वह लंबी साँसें भरती रहती थी॥ ४५॥

एवं ते न्यवसंस्तत्र प्रच्छन्नाः पुरुषर्षभाः।
कर्माणि तस्य कुर्वाणा विराटनृपतेस्तदा॥ ४६॥

इस प्रकार वे पुरुषशिरोमणि पाण्डव उस समय राजा विराटके भिन्न-भिन्न कार्य सँभालते हुए वहाँ छिपकर रहते थे॥ ४६॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि समयपालनपर्वणि जीमूतवधे त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत समयपालनपर्वमें जीमूतवधसम्बन्धी तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३॥

(कीचकवधपर्व)

चतुर्दशोऽध्यायः

कीचकका द्रौपदीपर आसक्त हो उससे प्रणययाचना करना और द्रौपदीका उसे फटकारना

वैशम्पायन उवाच

वसमानेषु पार्थेषु मत्स्यस्य नगरे तदा।
महारथेषु छन्नेषु मासा दश समाययुः॥ १॥
याज्ञसेनी सुदेष्णां तु शुश्रूषन्ती विशाम्पते।
आवसत् परिचारार्हा सुदुःखं जनमेजय॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय कुन्तीके उन महारथी पुत्रोंको मत्स्यराजके नगरमें छिपकर रहते हुए धीरे-धीरे दस महीने बीत गये। राजन्! यज्ञसेन-कुमारी द्रौपदी, जो स्वयं स्वामिनीकी भाँति सेवाके योग्य थी, रानी सुदेष्णाकी शुश्रूषा करती हुई बड़े कष्टसे वहाँ रहती थी॥ १-२॥

तथा चरन्ती पाञ्चाली सुदेष्णाया निवेशने।
तां देवीं तोषयामास तथा चान्तःपुरस्त्रियः॥ ३॥

सुदेष्णाके महलमें पूर्वोक्तरूपसे सेवा करती हुई पाञ्चालीने महारानी तथा अन्तःपुरकी अन्य स्त्रियोंको पूर्ण प्रसन्न कर लिया॥ ३॥

तस्मिन् वर्षे गतप्राये कीचकस्तु महाबलः।
सेनापतिर्विराटस्य ददर्श द्रुपदात्मजाम्॥ ४॥

जब वह वर्ष पूरा होनेमें कुछ ही समय बाकी रह गया, तबकी बात है; एक दिन राजा विराटके सेनापति महाबली कीचकने द्रुपदकुमारीको देखा॥ ४॥

तां दृष्ट्वा देवगर्भाभां चरन्तीं देवतामिव।
कीचकः कामयामास कामबाणप्रपीडितः॥ ५॥

राजमहलमें देवाङ्गनाकी भाँति विचरती हुई देवकन्याके समान कान्तिवाली द्रौपदीको देखकर कीचक कामबाणसे अत्यन्त पीड़ित हो उसे चाहने लगा॥ ५॥

स तु कामाग्निसंतप्तः सुदेष्णामभिगम्य वै।
प्रहसन्निव सेनानीरिदं वचनमब्रवीत्॥ ६॥

कामवासनाकी आगमें जलता हुआ सेनापति कीचक अपनी बहिन रानी सुदेष्णाके पास गया और हँसता हुआ-सा उससे इस प्रकार बोला—॥ ६॥

नेयं मया जातु पुरेह दृष्टा
राज्ञो विराटस्य निवेशने शुभा।
रूपेण चोन्मादयतीव मां भृशं
गन्धेन जाता मदिरेव भामिनी॥ ७॥

'सुदेष्णे! यह सुन्दरी जो अपने रूपसे मुझे अत्यन्त उन्मत्त-सा किये देती है, पहले कभी राजा विराटके इस महलमें मेरेद्वारा नहीं देखी गयी थी। यह भामिनी अपनी दिव्य गन्धसे मेरेलिये मदिरा-सी मादक हो रही है॥ ७॥

का देवरूपा हृदयङ्गमा शुभे
ह्याचक्ष्व मे कस्य कुतोऽत्र शोभने।
चित्तं हि निर्मथ्य करोति मां वशे
न चान्यदत्रौषधमस्ति मे मतम्॥ ८॥

'शुभे! यह कौन है? इसका रूप देवाङ्गनाके समान है। यह मेरे हृदयमें समा गयी है। शोभने! मुझे बताओ, यह किसकी स्त्री है और कहाँसे आयी है? यह मेरे मनको मथकर मुझे वशमें किये लेती है। मेरे इस रोगकी ओषधि

इसकी प्राप्तिके सिवा दूसरी कोई नहीं जान पड़ती ॥ ८ ॥

अहो तवेयं परिचारिका शुभा
प्रत्यग्ररूपा प्रतिभाति मामियम् ।
अयुक्तरूपं हि करोति कर्म ते
प्रशास्तु मां यच्च ममास्ति किंचन॥ ९ ॥

'अहो ! बड़े आश्चर्यकी बात है कि यह सुन्दरी तुम्हारे यहाँ दासीका काम कर रही है। मुझे ऐसा लगता है, इसका रूप नित्य नवीन है। तुम्हारे यहाँ जो काम यह करती है, वह इसके योग्य कदापि नहीं है। मैं चाहता हूँ, यह मेरी गृहस्वामिनी होकर मुझपर और मेरे पास जो कुछ है, उसपर भी एकच्छत्र शासन करे ॥ ९ ॥

प्रभूतनागाश्वरथं महाजनं
समृद्धियुक्तं बहुपानभोजनम् ।
मनोहरं काञ्चनचित्रभूषणं
गृहं महच्छोभयतामियं मम ॥ १० ॥

'मेरे घरमें बहुत-से हाथी, घोड़े और रथ हैं, बहुत-से सेवा करनेवाले परिजन हैं तथा उसमें प्रचुर सम्पत्ति भरी है। भोजन और पेयकी उसमें अधिकता है। देखनेमें भी वह मनोहर है। सुवर्णमय चित्र उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। मेरे उस विशाल भवनमें चलकर यह सुन्दरी उसे सुशोभित करे' ॥

ततः सुदेष्णामनुमन्त्र्य कीचक-
स्ततः समभ्येत्य नराधिपात्मजाम् ।
उवाच कृष्णामभिसान्त्वयंस्तदा
मृगेन्द्रकन्यामिव जम्बुको वने ॥ ११ ॥

तदनन्तर रानी सुदेष्णाकी सम्मति ले कीचक राजकुमारी द्रौपदीके पास आकर उसे सान्त्वना देता हुआ बोला; मानो वनमें कोई सियार किसी सिंहकी कन्याको फुसला रहा हो ॥

का त्वं कस्यासि कल्याणि कुतो वा त्वं वरानने ।
प्राप्ता विराटनगरं तत् त्वमाचक्ष्व शोभने ॥ १२ ॥

(उसने द्रौपदीसे पूछा—) 'कल्याणि ! तुम कौन हो और किसकी कन्या हो ? अथवा सुमुखि ! तुम कहाँसे इस विराटनगरमें आयी हो ? शोभने ! ये सब बातें मुझे सच-सच बताओ ॥

रूपमग्र्यं तथा कान्तिः सौकुमार्यमनुत्तमम् ।
कान्त्या विभाति वक्त्रं ते शशाङ्क इव निर्मलम् ॥ १३ ॥

'तुम्हारा यह श्रेष्ठ और सुन्दर रूप, यह दिव्य कान्ति और यह सुकुमारता संसारमें सबसे उत्तम है और तुम्हारा निर्मल मुख तो अपनी छबिसे निष्कलङ्क चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहा है ॥ १३ ॥

नेत्रे सुविपुले सुभ्रु पद्मपत्रनिभे शुभे ।
वाक्यं ते चारुसर्वाङ्गि परपुष्टरुतोपमम् ॥ १४ ॥

'सुन्दर भौंहोंवाली सर्वाङ्गसुन्दरी ! तुम्हारे ये उत्तम और विशाल नेत्र कमलदलके समान सुशोभित हैं। तुम्हारी वाणी क्या है; कोकिलकी कूक है ॥ १४ ॥

एवंरूपा मया नारी काचिदन्या महीतले ।
न दृष्टपूर्वा सुश्रोणि यादृशी त्वमनिन्दिते ॥ १५ ॥

'सुश्रोणि ! अनिन्दिते ! जैसी तुम हो, ऐसे मनोहर रूपवाली कोई दूसरी स्त्री इस पृथ्वीपर मैंने आजसे पहले कभी नहीं देखी थी ॥ १५ ॥

लक्ष्मीः पद्मालया का त्वमथ भूतिः सुमध्यमे ।
ह्रीः श्रीः कीर्तिरथो कान्तिरासां का त्वं वरानने ॥ १६ ॥

'सुमध्यमे ! तुम कमलोंमें निवास करनेवाली लक्ष्मी हो अथवा साकार विभूति ? सुमुखि ! लज्जा, श्री, कीर्ति और कान्ति—इन देवियोंमेंसे तुम कौन हो ? ॥ १६ ॥

अतीवरूपिणी किं त्वमनङ्गाङ्गविहारिणी ।
अतीव भ्राजसे सुभ्रु प्रभेवेन्दोरनुत्तमा ॥ १७ ॥

'क्या तुम कामदेवके अङ्गोंसे क्रीड़ा करनेवाली अतिशय रूपवती रति हो ? सुभ्रु ! तुम चन्द्रमाकी परम उत्तम प्रभाके समान अत्यन्त उद्भासित हो रही हो ॥ १७ ॥

अपि चेक्षणपक्ष्माणां स्मितं ज्योत्स्नोपमं शुभम् ।
दिव्यांशुरश्मिभिर्वृत्तं दिव्यकान्तिमनोरमम् ॥ १८ ॥
निरीक्ष्य वक्त्रचन्द्रं ते लक्ष्म्यानुपमया युतम् ।
कृत्स्ने जगति को नेह कामस्य वशगो भवेत् ॥ १९ ॥

'तुम्हारा सुन्दर मुखचन्द्र अनुपम लक्ष्मीसे अलंकृत है, तुम्हारे नेत्रोंकी अधखुली पलकें चाँदनीके समान मनको आह्लादित करनेवाली हैं। दिव्य रश्मियोंसे आवृत तुम्हारा यह मुखचन्द्र दिव्य छविके द्वारा मनको रमा लेनेवाला है। इसे देखकर सम्पूर्ण जगत्‌में कौन ऐसा पुरुष है, जो कामके अधीन न हो जाय ? ॥ १८-१९ ॥

हारालंकारयोग्यौ तु स्तनौ चोभौ सुशोभनौ ।
सुजातौ सहितौ लक्ष्म्या पीनौ वृत्तौ निरन्तरौ ॥ २० ॥

'तुम्हारे दोनों स्तन हार आदि आभूषणोंके योग्य और परम सुन्दर हैं। वे ऊँचे, श्रीसम्पन्न, स्थूल, गोल-गोल और परस्पर सटे हुए हैं ॥ २० ॥

कुड्मलाम्बुरुहाकारौ तव सुभ्रु पयोधरौ ।
कामप्रतोदाविव मां तुदतश्चारुहासिनि ॥ २१ ॥

'सुन्दर भौंहों तथा मनोरम मुसकानवाली सुन्दरी ! कमलकोशके समान आकारवाले तुम्हारे दोनों उरोज कामदेवके चाबुककी भाँति मुझे पीड़ा दे रहे हैं ॥ २१ ॥

वलीविभङ्गचतुरं स्तनभारविनामितम् ।
कराग्रसम्मितं मध्यं तवेदं तनुमध्यमे ॥ २२ ॥

'तनुमध्यमे ! तुम्हारी कमर इतनी पतली है कि हाथोंके

अग्रभागसे (अँगूठेसे लेकर तर्जनीतकके बित्तेसे) माप ली जा सकती है। वह त्रिवलीकी तीन रेखाओंसे परम सुन्दर दीखती है। तुम्हारे स्तनोंके भारने उसे कुछ झुका दिया है॥

दृष्ट्वैव चारु जघनं सरित्पुलिनसंनिभम्।
कामव्याधिरसाध्यो मामप्याक्रामति भामिनि ॥ २३ ॥

'भामिनि ! नदीके दो किनारोंके समान तुम्हारे मनोहर जघनको देख लेनेसे ही कामरूपी असाध्य रोग मुझ-जैसे वीरपर भी आक्रमण कर रहा है॥ २३ ॥

जज्वाल चाग्निमदनो दावाग्निरिव निर्दयः।
त्वत्सङ्गमाभिसंकल्पविवृद्धो मां दहत्ययम् ॥ २४ ॥

'निर्दयी कामदेव अग्निस्वरूप होकर दावानलकी भाँति मेरे हृदयरूपी वनमें जल उठा है। तुम्हारे समागमका संकल्प इसमें घीका काम करता है। इससे अत्यन्त प्रज्वलित होकर यह काम मुझे जला रहा है॥ २४॥

आत्मप्रदानवर्षेण संगमाम्भोधरेण च।
शमयस्व वरारोहे ज्वलन्तं मन्मथानलम् ॥ २५ ॥

'वरारोहे ! तुम अपने संगमरूपी मेघसे आत्मसमर्पणरूपी वर्षाद्वारा इस प्रज्वलित मदनाग्निको बुझा दो॥ २५ ॥

मच्चित्तोन्मादनकरा मन्मथस्य शरोत्कराः।
त्वत्संगमाशानिशितास्तीव्राः शशिनिभानने।
मह्यं विदार्य हृदयमिदं निर्दयवेगिताः ॥ २६ ॥
प्रविष्टा ह्यसितापाङ्गि प्रचण्डाश्चण्डदारुणाः।
अत्युन्मादसमारम्भाः प्रीत्युन्मादकरा मम।
आत्मप्रदानसम्भोगैर्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥ २७ ॥

'चन्द्रमुखी ! मेरे मनको उन्मत्त बना देनेवाले कामदेवके बाण-समूह तुम्हारे समागमकी आशारूपी शानपर चढ़कर अत्यन्त तीखे और तीव्र हो गये हैं। कजरारे नयनप्रान्तोंवाली सुन्दरी ! अत्यन्त क्रोधपूर्वक चलाये हुए कामके वे प्रचण्ड एवं भयंकर बाण दयाशून्य हो वेगसे आकर मेरे इस हृदयको विदीर्ण करके भीतर घुस गये हैं और अतिशय उन्माद (सन्निपातजनित बेहोशी) पैदा कर रहे हैं। वे मेरे लिये प्रेमोन्मादजनक हो रहे हैं। अब तुम्हीं आत्मदानजनित सम्भोगरूप औषधके द्वारा यहाँ मेरा उद्धार कर सकती हो॥

चित्रमाल्याम्बरधरा सर्वाभरणभूषिता।
कामं प्रकामं सेव त्वं मया सह विलासिनि ॥ २८ ॥

'विलासिनि ! विचित्र माला और सुन्दर वस्त्र धारण करके समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो मेरे साथ अतिशय कामभोगका सेवन करो॥ २८ ॥

नार्हसीहासुखं वस्तुं सुखार्हा सुखवर्जिता।
प्राप्नुह्यनुत्तमं सौख्यं मत्तस्त्वं मत्तगामिनि ॥ २९ ॥

'यहाँ अनेक प्रकारके कष्ट हैं। अतः तुम ऐसे स्थानमें निवास करने योग्य नहीं हो। तुम सुख भोगनेके योग्य हो, किंतु यहाँ सुखसे वञ्चित हो। मस्तीभरी चालसे चलनेवाली सैरन्ध्री ! तुम मुझसे सर्वोत्तम सुखभोग प्राप्त करो॥ २९ ॥

स्वादून्यमृतकल्पानि पेयानि विविधानि च।
पिबमाना मनोज्ञानि रममाणा यथासुखम् ॥ ३० ॥

'अमृतके समान स्वादिष्ट और मनोहर भाँति-भाँतिके पेय रसोंका पान करती हुई तुम्हें जैसे सुख मिले, उसी प्रकार रमण करो॥ ३० ॥

भोगोपचारान् विविधान् सौभाग्यं चाप्यनुत्तमम्।
पानं पिब महाभागे भोगैश्चानुत्तमैः शुभैः ॥ ३१ ॥

इदं हि रूपं प्रथमं तवानघे
निरर्थकं केवलमद्य भामिनि।
अधार्यमाणा स्रगिवोत्तमा शुभा
न शोभसे सुन्दरि शोभना सती ॥ ३२ ॥

'महाभागे ! नाना प्रकारकी भोग-सामग्री तथा सर्वोत्तम सौभाग्य पाकर उत्तमोत्तम शुभ भोगोंके साथ पीने योग्य रसोंका आस्वादन करो। अनघे ! तुम्हारा यह सर्वोत्कृष्ट रूप-सौन्दर्य आजकी परिस्थितिमें केवल व्यर्थ जा रहा है। भामिनि ! जैसे उत्तम हारको यदि किसीने गलेमें धारण नहीं किया, तो उसकी शोभा नहीं होती, उसी प्रकार सुन्दरि ! तुम शुभस्वरूपा और शोभामयी होकर भी किसीके गलेका हार न बन सकनेके कारण सुशोभित नहीं होती हो॥ ३१-३२ ॥

त्यजामि दारान् मम ये पुरातना
भवन्तु दास्यस्तव चारुहासिनि।
अहं च ते सुन्दरि दासवत् स्थितः
सदा भविष्ये वशगो वरानने ॥ ३३ ॥

'चारुहासिनि ! यदि तुम चाहो तो मैं पहली स्त्रियोंको त्याग दूँगा अथवा वे सब तुम्हारी दासी बनकर रहेंगी। सुन्दरि ! सुमुखि ! मैं स्वयं भी दासकी भाँति सदा तुम्हारे अधीन रहूँगा'॥ ३३ ॥

द्रौपद्युवाच

अप्रार्थनीयामिह मां सूतपुत्राभिमन्यसे।
निहीनवर्णां सैरन्ध्रीं बीभत्सां केशकारिणीम् ॥ ३४ ॥

द्रौपदीने कहा—सूतपुत्र ! तुम मुझे चाहते हो। छिः छिः; मुझसे इस तरहकी याचना करना तुम्हारे लिये कदापि योग्य नहीं है। एक तो मेरी जाति छोटी है, दूसरे मैं सैरन्ध्री (दासी) हूँ, बीभत्स वेषवाली स्त्री हूँ तथा केश सँवारनेका काम करनेवाली एक तुच्छ सेविका हूँ॥ ३४ ॥

(स्वेषु दारेषु मेधावी कुरुते यत्नमुत्तमम्।
स्वदारनिरतो ह्याशु नरो भद्राणि पश्यति ॥

बुद्धिमान् पुरुष अपनी पत्नीको ही अनुकूल बनाये रखनेके लिये उत्तम यत्न करता है। अपनी स्त्रीमें अनुराग रखनेवाला मनुष्य शीघ्र ही कल्याणका भागी होता है॥

न चाधर्मेण लिप्येत न चाकीर्तिमवाप्नुयात्।
स्वदारेषु रतिर्धर्मो मृतस्यापि न संशयः॥

मनुष्यको चाहिये कि वह पापमें लिप्त न हो, अपयशका पात्र न बने, अपनी ही पत्नीके प्रति अनुराग रखना परम धर्म है। वह मृत पुरुषके लिये भी कल्याणकारी होता है, इसमें संशय नहीं है॥

स्वजातिदारा मर्त्यस्य इहलोके परत्र च।
प्रेतकार्याणि कुर्वन्ति निवापैस्तर्पयन्ति च॥

अपनी जातिकी स्त्रियाँ मनुष्यके लिये इहलोक और परलोकमें भी हितकारिणी होती हैं। वे प्रेतकार्य (अन्त्येष्टि-संस्कार) करती और जलाञ्जलि देकर मृतात्माको तृप्त करती हैं॥

तदक्षय्यं च धर्म्यं च स्वर्ग्यमाहुर्मनीषिणः।
स्वजातिदारजाः पुत्रा जायन्ते कुलपूजिताः॥

उनके इस कार्यको मनीषी पुरुषोंने अक्षय, धर्मसङ्गत एवं स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला बताया है। अपनी जातिकी स्त्रीसे उत्पन्न हुए पुरुष कुलमें सम्मानित होते हैं॥

प्रिया हि प्राणिनां दारास्तस्मात् त्वं धर्मभाग् भव।
परदाररतो मर्त्यो न च भद्राणि पश्यति॥)

सभी प्राणियोंको अपनी ही पत्नी प्यारी होती है। इसलिये तुम भी ऐसा करके धर्मके भागी बनो। परस्त्रीलम्पट पुरुष कभी कल्याण नहीं देखता॥

परदारास्मि भद्रं ते न युक्तं तव साम्प्रतम्।
दयिताः प्राणिनां दारा धर्मं समनुचिन्तय॥ ३५॥

सबसे बड़ी बात यह है कि मैं दूसरेकी पत्नी हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। इस समय मुझसे इस तरहकी बातें करना तुम्हारे लिये किसी तरह उचित नहीं है। जगत्‌के सब प्राणियोंके लिये अपनी ही स्त्री प्रिय होती है। तुम धर्मका विचार करो॥

परदारे न ते बुद्धिर्जातु कार्या कथंचन।
विवर्जनं ह्यकार्याणामेतत् सुपुरुषव्रतम्॥ ३६॥

परायी स्त्रीमें तुम्हें कभी किसी तरह भी मन नहीं लगाना चाहिये। न करने योग्य अनुचित कर्मोंको सर्वथा त्याग दिया जाय, यही श्रेष्ठ पुरुषोंका व्रत है॥ ३६॥

मिथ्याभिगृध्नो हि नरः पापात्मा मोहमास्थितः।
अयशः प्राप्नुयाद् घोरं महद् वा प्राप्नुयाद् भयम्॥ ३७॥

झूठे विषयोंमें आसक्त होनेवाला पापात्मा मनुष्य मोहमें पड़कर भयंकर अपयश पाता है अथवा उसे बड़े भारी भय (मृत्यु) का सामना करना पड़ता है॥ ३७॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु सैरन्ध्र्या कीचकः काममोहितः।
जानन्नपि सुदुर्बुद्धिः परदाराभिमर्शने॥ ३८॥
दोषान् बहून् प्राणहरान् सर्वलोकविगर्हितान्।
प्रोवाचेदं सुदुर्बुद्धिर्द्रौपदीमजितेन्द्रियः॥ ३९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सैरन्ध्रीके इस प्रकार समझानेपर भी कीचकको होश न हुआ। वह कामसे मोहित हो रहा था। यद्यपि उस दुर्बुद्धिको यह मालूम था कि परायी स्त्रीके स्पर्शसे बहुत-से ऐसे दोष प्रकट होते हैं, जिनकी सब लोग निन्दा करते हैं तथा जिनके कारण प्राणोंसे भी हाथ धोना पड़ता है; तो भी उस अजितेन्द्रिय तथा अत्यन्त दुर्बुद्धिने द्रौपदीसे इस प्रकार कहा—॥ ३८-३९॥

नार्हस्येवं वरारोहे प्रत्याख्यातुं वरानने।
मां मन्मथसमाविष्टं त्वत्कृते चारुहासिनि॥ ४०॥

'वरारोहे! सुमुखि! तुम्हें इस प्रकार मेरी प्रार्थना नहीं ठुकरानी चाहिये! चारुहासिनि! मैं तुम्हारे लिये कामवेदनासे पीड़ित हूँ॥ ४०॥

प्रत्याख्याय च मां भीरु वशगं प्रियवादिनम्।
नूनं त्वमसितापाङ्गि पश्चात्तापं करिष्यसि॥ ४१॥

'भीरु! मैं तुम्हारे वशमें हूँ और प्रिय वचन बोलता हूँ। कजरारे नयनोंवाली सैरन्ध्री! मुझे ठुकराकर तुम निश्चय ही पश्चात्ताप करोगी॥ ४१॥

अहं हि सुभ्रु राज्यस्य कृत्स्नस्यास्य सुमध्यमे।
प्रभुर्वासयिता चैव वीर्ये चाप्रतिमः क्षितौ॥ ४२॥

'सुभ्रू! सुमध्यमे! मैं इस सम्पूर्ण राज्यका स्वामी और इसे बसानेवाला हूँ। बल और पराक्रममें इस पृथ्वीपर मेरी समानता करनेवाला कोई नहीं है॥ ४२॥

पृथिव्यां मत्समो नास्ति कश्चिदन्यः पुमानिह।
रूपयौवनसौभाग्यैर्भोगैश्चानुत्तमैः शुभैः॥ ४३॥

'रूप, यौवन, सौभाग्य और सर्वोत्तम शुभ भोगोंकी दृष्टिसे इस भूतलपर मेरी समता करनेवाला दूसरा कोई पुरुष नहीं है॥

सर्वकामसमृद्धेषु भोगेष्वनुपमेष्विह।
भोक्तव्येषु च कल्याणि कस्माद् दास्ये रता ह्यसि॥ ४४॥

'कल्याणि! जब सम्पूर्ण मनोरथोंसे सम्पन्न अनुपम भोग यहाँ भोगनेके लिये तुम्हें सुलभ हो रहे हैं, तब तुम दासीपनमें क्यों आसक्त हो?॥ ४४॥

मया दत्तमिदं राज्यं स्वामिन्यसि शुभानने।
भजस्व मां वरारोहे भुङ्क्ष्व भोगाननुत्तमान्॥ ४५॥

'शुभानने! मैंने यह सम्पूर्ण राज्य तुम्हें अर्पित कर दिया। अब तुम्हीं इसकी स्वामिनी हो। वरारोहे! मुझे अपना लो और मेरे साथ उत्तमोत्तम भोगोंका उपभोग करो'॥ ४५॥

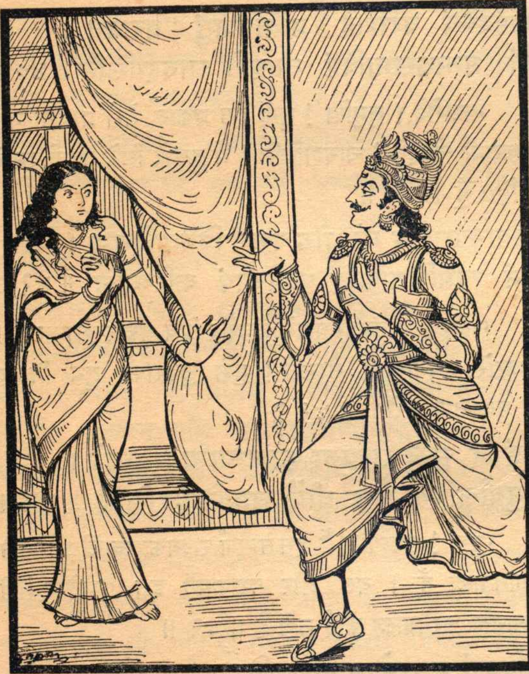
एवमुक्ता तु सा साध्वी कीचकेनाशुभं वचः।
कीचकं प्रत्युवाचेदं गर्हयन्त्यस्य तद् वचः ॥ ४६ ॥

कीचकके इस प्रकार अशुभ (पापपूर्ण) वचन कहनेपर सती-साध्वी द्रौपदीने उसकी उन ओछी बातोंकी निन्दा करते हुए इस प्रकार उत्तर दिया ॥ ४६ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

मा सूतपुत्र मुह्यस्व माद्य त्यक्ष्यस्व जीवितम्।
जानीहि पञ्चभिर्घोरैर्नित्यं मामभिरक्षिताम् ॥ ४७ ॥

सैरन्ध्री बोली—सूतपुत्र ! तू आज इस प्रकार मोहके फंदेमें न पड़। अपनी जान न गँवा। तुझे मालूम होना चाहिये कि पाँच भयंकर गन्धर्व मेरी नित्य रक्षा करते हैं ॥



न चाप्यहं त्वया लभ्या गन्धर्वाः पतयो मम।
ते त्वां निहन्युः कुपिताः साध्वलं मा व्यनीनशः ॥ ४८ ॥

वे गन्धर्व ही मेरे पति हैं। तू कदापि मुझे पा नहीं सकता। मेरे पति कुपित होकर तुझे मार डालेंगे; अतः सँभल जा। इस पापबुद्धिका त्याग कर दे। अपना सर्वनाश न करा ॥ ४८ ॥

अशक्यरूपं पुरुषैरध्वानं गन्तुमिच्छसि।
यथा निश्चेतनो बालः कूलस्थः कूलमुत्तरम्।
तर्तुमिच्छति मन्दात्मा तथा त्वं कर्तुमिच्छसि ॥ ४९ ॥

अरे ! तू उस राहपर जाना चाहता है, जहाँ दूसरे पुरुष नहीं जा सकते। जैसे नदीके एक किनारेपर बैठा हुआ कोई मन्दबुद्धि अचेत बालक दूसरे किनारेपर तैरकर जाना चाहता हो, वैसा ही विनाशकारी कार्य तू भी करना चाहता है॥

अन्तर्महीं वा यदि वोर्ध्वमुत्पतेः
समुद्रपारं यदि वा प्रधावसि।
तथापि तेषां न विमोक्षमर्हसि
प्रमाथिनो देवसुता हि खेचराः ॥ ५० ॥

सूतपुत्र ! मुझपर कुदृष्टि डालकर पृथ्वीके भीतर (पातालमें) घुस जा, आकाशमें उड़ जा अथवा समुद्रके उस पार भाग जा, तथापि मेरे पतियोंके हाथसे तू छूट नहीं सकता; क्योंकि मेरे पति देवताओंके पुत्र तथा आकाशमें विचरनेवाले हैं। वे अपने शत्रुओंको मथ डालनेकी शक्ति रखते हैं ॥ ५० ॥

(मां हि त्वमवमन्वानः सूतपुत्र विनङ्क्ष्यसि।
आशु चाद्यैव नचिरात् सपुत्रः सहबान्धवः ॥

सूतपुत्र ! तू मेरा अपमान कर रहा है; अतः पुत्रों तथा बन्धु-बान्धवोंसहित तू आज ही शीघ्र नष्ट हो जायगा। तेरे विनाशमें अब विलम्ब नहीं है॥

दुर्लभामभिमन्वानो मां वीरैरभिरक्षिताम्।
पतिष्यस्यवशस्तूर्णं वृन्तात् तालफलं यथा ॥

मैं वीर गन्धर्वोंद्वारा सुरक्षित होनेके कारण तेरे लिये सर्वथा दुर्लभ हूँ। मेरा अपमान करनेसे शीघ्र ही विवशता-पूर्वक तेरा उसी प्रकार पतन होगा, जैसे ताड़का फल अपने मूलस्थानसे नीचे गिरता है ॥

यो मामज्ञाय कामार्तः अबद्धानि प्रभाषसे।
अशक्तस्तु पुमाञ्छैलं न लङ्घयितुमर्हति ॥

तू मुझे नहीं जानता, इसीलिये कामातुर होकर बहकी-बहकी बातें कर रहा है। परंतु कोई असमर्थ पुरुष कितना ही प्रयत्न करे, वह पर्वतको नहीं लाँघ सकता ॥

दिशः प्रपन्नो गिरिगह्वराणि वा
गुहां प्रविष्टोऽन्तरितोऽपि वा क्षितेः॥
जुह्वञ्जपन् वा प्रपतन् गिरेस्तटा-
द्धुताशनादित्यगतिं गतोऽपि वा।
भार्याभिमन्ता पुरुषो महात्मनां
न जातु मुच्येत कथंचनाहतः ॥

चाहे कोई सम्पूर्ण दिशाओंकी शरण लेता फिरे, पर्वतकी बड़ी-बड़ी कन्दराओं अथवा दुर्गम गुफाओंमें छिप जाय या पृथ्वीके अंदर ही रहने लगे, होम और जपमें संलग्न रहे, पर्वतके शिखरसे कूद पड़े, जलती आग अथवा सूर्यकी प्रचण्ड रश्मियों-की शरण ले तो भी महात्मा गन्धर्वोंकी पत्नीका अपमान करनेवाला पुरुष कभी किसी तरह भी उनके हाथसे जीवित नहीं बच सकता ॥

मोघं तवेदं वचनं भविष्यति
प्रतोलनं वा तुलया महागिरेः।

हुताशनं प्रज्वलितं महावने
निदाघमध्याह्न इवातुरः स्वयम् ॥
प्रवेष्टुकामोऽसि वधाय चात्मनः
कुलस्य सर्वस्य विनाशनाय च।

तेरी ये सब बातें व्यर्थ होंगी। तेरे लिये मुझे पाना किसी महान् पर्वतको तराजूपर तौलनेके समान महान् असम्भव है। गर्मीकी दोपहरीमें जब किसी महान् वनके भीतर प्रचण्ड दावानल धधक चुका हो, उस समय उसमें स्वयं ही घुसनेवाले किसी आतुर पुरुषकी भाँति तू भी अपने और समस्त कुलके विनाशके लिये ही वहाँ प्रवेश करना चाहता है॥

सदेवगन्धर्वमहर्षिसंनिधौ
सनागलोकासुरराक्षसालये ॥
गूढस्थितां मामवमन्य चेतसा
न जीवितार्थी शरणं त्वमाप्स्यसि ॥)

मैं यहाँ अपने स्वरूपको छिपाकर रहती हूँ। फिर भी तू मनसे समझ-बूझकर मेरा अपमान करना चाहता है। किंतु याद रख, तू ऐसा करके यदि अपना जीवन बचानेके लिये देवताओं, गन्धर्वों और महर्षियोंके निकट चला जाय अथवा नागलोक, असुरलोक तथा राक्षसोंके निवासस्थानमें भी पहुँच जाय, तो भी तू वहाँ शरण नहीं पा सकेगा॥

त्वं कालरात्रीमिव कश्चिदातुरः
किं मां दृढं प्रार्थयसेऽद्य कीचक।
किं मातुरङ्के शयितो यथा शिशु-
श्चन्द्रं जिघृक्षुरिव मन्यसे हि माम्॥ ५१ ॥

कीचक! जैसे कोई रोगी कालरात्रिका आवाहन करे, उसी प्रकार मुझे प्राप्त करनेके लिये तू क्यों आज दुराग्रहपूर्ण प्रार्थना कर रहा है? अरे! जैसे माताकी गोदमें सोया हुआ शिशु चन्द्रमाको ग्रहण करना चाहे, क्या तू उसी प्रकार मुझे पाना चाहता है?॥ ५१॥

तेषां प्रियां प्रार्थयतो न ते भुवि
गत्वा दिवं वा शरणं भविष्यति।
न वर्तते कीचक ते दृशा शुभं
या तेन संजीवनमर्थयेत सा ॥ ५२ ॥

कीचक! उन गन्धर्वोंकी प्रियतमासे ऐसी अनुचित प्रार्थना करके पृथ्वी अथवा आकाशमें भाग जानेपर भी तुझे कोई शरण देनेवाला नहीं मिलेगा। (तू इतना कामान्ध हो गया है कि) तुझे वह शुभ दृष्टि—वह बुद्धि नहीं प्राप्त होती, जो तेरी मङ्गलकामना करे—जिससे तेरा जीवन सुरक्षित रह सके॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचककृष्णासंवादे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें कीचक-द्रौपदी-संवादविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ६४ श्लोक हैं)

पञ्चदशोऽध्यायः

रानी सुदेष्णाका द्रौपदीको कीचकके घर भेजना

वैशम्पायन उवाच

प्रत्याख्यातो राजपुत्र्या सुदेष्णां कीचकोऽब्रवीत्।
अमर्यादेन कामेन घोरेणाभिपरिप्लुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजकुमारी द्रौपदीके द्वारा इस प्रकार ठुकरा दिये जानेपर कीचक असीम एवं भयंकर कामसे विवश होकर अपनी बहिन सुदेष्णासे बोला—॥ १॥

यथा कैकेयि सैरन्ध्री समेयात् तद् विधीयताम्।
येनोपायेन सैरन्ध्री भजेन्मां गजगामिनी।
तं सुदेष्णे परीप्सस्व प्राणान् मोहात् प्रहासिषम्॥ २॥

'केकयराजनन्दिनि! जिस उपायसे भी वह गजगामिनी सैरन्ध्री मेरे पास आवे और मुझे अङ्गीकार कर ले, वह करो। सुदेष्णे! तुम स्वयं ही ऊहापोह करके युक्तिसे वह उचित उपाय ढूँढ़ निकालो, जिससे मुझे (मोहके वश हो) प्राणोंका त्याग न करना पड़े'॥ २॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य सा बहुशः श्रुत्वा वाचं विलपतस्तदा।
विराटमहिषी देवी कृपां चक्रे मनस्विनी ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार बारंबार विलाप करते हुए कीचककी बात सुनकर उस समय राजा विराटकी मनस्विनी महारानी सुदेष्णाके मनमें उसके प्रति दयाभाव प्रकट हो गया॥ ३॥

(सुदेष्णोवाच

शरणागतेयं सुश्रोणी मया दत्ताभया च सा।
शुभाचारा च भद्रं ते नैनां वक्तुमिहोत्सहे ॥

सुदेष्णा बोली—भाई! यह सुन्दरी सैरन्ध्री मेरी शरणमें आयी है। इसे मैंने अभय दे रक्खा है। तुम्हारा कल्याण हो। यह बड़ी सदाचारिणी है। मैं इससे तुम्हारी मनोगत बात नहीं कह सकती॥

नैषा शक्या हि चान्येन स्प्रष्टुं पापेन चेतसा।
गन्धर्वाः किल पञ्चैनां रक्षन्ति रमयन्ति च ॥

इसे कोई भी दूसरा पुरुष मनमें दूषित भाव लेकर नहीं छू सकता। सुनती हूँ, पाँच गन्धर्व इसकी रक्षा करते हैं और इसे सुख पहुँचाते हैं॥

एवमेषा ममाचष्टे तथा प्रथमसंगमे ।
तथैव गजनासोरुः सत्यमाह ममान्तिके ॥
ते हि क्रुद्धा महात्मानो नाशयेयुर्हि जीवितम्।

इसने यह बात मुझसे उसी समय जब कि मेरी इससे पहले-पहल भेंट हुई थी, बता दी थी। इसी प्रकार हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली इस सुन्दरीने मेरे निकट यह सत्य ही कहा है कि यदि किसीने मेरा अपमान किया, तो मेरे महात्मा पति कुपित होकर उसके जीवनको ही नष्ट कर देंगे ॥

राजा चैव समीक्ष्यैनां सम्मोहं गतवानिह ॥
मया च सत्यवचनैरनुनीतो महीपतिः।

राजा भी इसे यहाँ देखकर मोहित हो गये थे, तब मैंने इसकी कही हुई सच्ची बातें बताकर उन्हें किसी प्रकार समझा-बुझाकर शान्त किया ॥

सोऽप्येनामनिशं दृष्ट्वा मनसैवाभ्यनन्दत ॥
भयाद् गन्धर्वमुख्यानां जीवितस्योपघातिनाम्।
मनसापि ततस्त्वेनां न चिन्तयति पार्थिवः॥

तबसे वे भी सदा इसे देखकर मन-ही-मन इसका अभिनन्दन करते हैं। जीवनका विनाश करनेवाले उन श्रेष्ठ गन्धर्वोंके भयसे महाराज कभी मनसे भी इसका चिन्तन नहीं करते हैं ॥

ते हि क्रुद्धा महात्मानो गरुडानिलतेजसः।
दहेयुरपि लोकांस्त्रीन् युगान्तेष्विव भास्कराः ॥

वे महात्मा गन्धर्व गरुड़ और वायुके समान तेजस्वी हैं। वे कुपित होनेपर प्रलयकालके सूर्योंकी भाँति तीनों लोकोंको दग्ध कर सकते हैं ॥

सैरन्ध्र्या ह्येतदाख्यातं मम तेषां महद् बलम्।
तव चाहमिदं गुह्यं स्नेहादाख्यामि बन्धुवत्॥

सैरन्ध्रीने स्वयं ही मुझसे उनके महान् बलका परिचय दिया है। भ्रातृस्नेहके कारण मैंने तुमसे यह गोपनीय बात भी बता दी है ॥

मा गमिष्यसि वै कृच्छ्रां गतिं परमदुर्गमाम्।
बलिनस्ते रुजं कुर्युः कुलस्य च धनस्य च ॥

इसे ध्यानमें रखनेसे तुम अत्यन्त दुःखदायिनी संकट-पूर्ण परिस्थितिमें नहीं पड़ोगे। गन्धर्वलोग बलवान् हैं। वे तुम्हारे कुल और सम्पत्तिका भी नाश कर सकते हैं ॥

तस्मान्नास्यां मनः कर्तुं यदि प्राणाः प्रियास्तव।
मा चिन्तयेथा मा गास्त्वं मत्प्रियं च यदीच्छसि॥

इसलिये यदि तुम्हें अपने प्राण प्रिय हैं और यदि तुम मेरा भी प्रिय करना चाहते हो, तो इस सैरन्ध्रीमें मन न लगाओ। उसका चिन्तन छोड़ दो और उसके पास कभी न जाओ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु दुष्टात्मा भगिनीं कीचकोऽब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सुदेष्णाके ऐसा कहनेपर दुष्टात्मा कीचक अपनी बहिनसे बोला ॥

कीचक उवाच

गन्धर्वाणां शतं वापि सहस्रमयुतानि वा ॥
अहमेको हनिष्यामि गन्धर्वान् पञ्च किं पुनः।

कीचकने कहा—बहिन! मैं सैकड़ों, सहस्रों तथा अयुत गन्धर्वोंको भी अकेला ही मार गिराऊँगा, फिर पाँचकी तो बात ही क्या है? ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता सुदेष्णा तु शोकेनाभिप्रपीडिता ॥
अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो पापमिति स्म ह।
प्रारुदद् भृशदुःखार्ता विपाकं तस्य वीक्ष्य सा ॥
पातालेषु पतत्येष विलपन् वडवामुखे ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कीचकके ऐसा कहनेपर सुदेष्णा शोकसे अत्यन्त व्यथित हो उठी और मन-ही-मन कहने लगी—'अहो! यह महान् दुःख, महान् संकट और महान् पापकी बात हो रही है।' इस कर्मके भावी परिणाम-पर दृष्टिपात करके वह अत्यन्त दुःखसे आतुर हो रोने लगी और मन-ही-मन बोली—'मेरा यह भाई तो ऊटपटाँग बातें बोलकर स्वयं ही पाताल अथवा बडवानलके मुखमें गिर रहा है'। (तत्पश्चात् वह कीचकको सुनाकर कहने लगी—)

त्वत्कृते विनशिष्यन्ति भ्रातरः सुहृदश्च मे ॥
किं नु शक्यं मया कर्तुं यत् त्वमेवमभिप्लुतः।
न च श्रेयोऽभिजानीषे काममेवानुवर्तसे ॥

'मैं देखती हूँ; तेरे कारण मेरे सभी भाई और सुहृद् नष्ट हो जायँगे। तू ऐसी अनुचित इच्छाको अपने मनमें स्थान दे रहा है; मैं इसके लिये क्या कर सकती हूँ? अपनी भलाई किस बातमें है, यह तू नहीं समझता है और केवल कामका ही गुलाम हो रहा है ॥

ध्रुवं गतायुस्त्वं पाप यदेवं काममोहितः।
अकर्तव्ये हि मां पापे नियुनङ्क्षि नराधम ॥

'पापी! निश्चय ही तेरी आयु समाप्त हो गयी है; तभी तू इस प्रकार कामसे मोहित हो रहा है। नराधम! तू मुझे ऐसे पापपूर्ण कार्यमें लगा रहा है, जो कदापि करने योग्य नहीं है ॥

अपि चैतत् पुरा प्रोक्तं निपुणैर्मनुजोत्तमैः।
एकस्तु कुरुते पापं स्वजातिस्तेन हन्यते ॥

'प्राचीनकालके श्रेष्ठ एवं कुशल मनुष्योंने यह ठीक ही कहा है कि कुलमें एक मनुष्य पाप करता है और उसके कारण सभी जाति-भाई मारे जाते हैं ॥

गतस्त्वं धर्मराजस्य विषयं नात्र संशयः ।
अदूषकमिमं सर्वं स्वजनं घातयिष्यसि ॥

'तू यमराजके लोकमें गया हुआ ही है, इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं रह गया है ; तू अपने साथ इन समस्त निरपराध स्वजनोंको भी मरवा डालेगा ॥

एतत् तु मे दुःखतरं येनाहं भ्रातृसौहृदात् ।
विदितार्था करिष्यामि तुष्टो भव कुलक्षयात् ॥)

'मेरे लिये सबसे महान् दुःखकी बात यह है कि मैं सारे परिणामोंको समझ-बूझकर भी भ्रातृ-स्नेहके कारण तेरी आज्ञाका पालन करूँगी । तू अपने कुलका संहार करके संतुष्ट हो ले' ॥

स्वमन्त्रमभिसंधाय तस्यार्थमनुचिन्त्य च ।
उद्योगं चैव कृष्णायाः सुदेष्णा सूतमब्रवीत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर सुदेष्णाने अपने कार्यका विचार करके कीचकके मनोभावपर ध्यान दिया और फिर उसे द्रौपदीकी प्राप्ति करानेके लिये उचित उपायका निश्चय करके उसने सूतसे कहा--॥ ४ ॥

पर्वणि त्वं समुद्दिश्य सुरामन्नं च कारय ।
तत्रैनां प्रेषयिष्यामि सुराहारीं तवान्तिकम् ॥ ५ ॥

'कीचक ! तुम किसी पर्व या त्यौहारके दिन अपने घरमें मदिरा तथा अन्न-भोजनकी सामग्री तैयार कराओ । फिर मैं इस सैरन्ध्रीको वहाँसे सुरा ले आनेके बहाने तुम्हारे पास भेजूँगी ॥ ५ ॥

तत्र सम्प्रेषितामेनां विजने निरवग्रहे ।
सान्त्वयेथा यथाकामं सान्त्व्यमाना रमेद् यदि ॥ ६ ॥

'वहाँ भेजी हुई इस सेविकाको एकान्तमें, जहाँ कोई विघ्न-बाधा न हो, अपनी इच्छाके अनुसार समझाना-बुझाना । सम्भव है, तुम्हारी सान्त्वना मिलनेपर यह रमणके लिये उद्यत हो जाय' ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स विनिष्क्रम्य भगिन्या वचनात् तदा ।
सुरामाहारयामास राजार्हां सुपरिष्कृताम् ॥ ७ ॥
भक्ष्यांश्च विविधाकारान् बहूंश्चोच्चावचांस्तदा ।
कारयामास कुशलैरन्नं पानं सुशोभनम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! बहिनके वचनसे इस प्रकार आश्वासन मिलनेपर कीचक उस समय वहाँसे चला गया और घर जाकर उसने यथासमय चतुर रसोइयोंके द्वारा राजाओंके उपयोगमें आने योग्य उत्तम एवं परिष्कृत मदिरा मँगवायी और भाँति-भाँतिके अनेक विशिष्ट और साधारण भक्ष्य पदार्थ, एवं परम उत्तम अन्न-पान-की तैयारी करायी ॥ ७-८ ॥

तस्मिन् कृते तदा देवी कीचकेनोपमन्त्रिता ।

उसकी व्यवस्था हो जानेपर कीचकने सुदेष्णाको भोजन-के लिये आमन्त्रित किया ॥ ८½ ॥

(त्वरावान् कालपाशेन कण्ठे बद्धः पशुर्यथा ।
नावबुध्यत मूढात्मा मरणं समुपस्थितम् ॥

मूढात्मा कीचक कण्ठमें कालपाशसे बँधे हुए पशुकी भाँति अपने निकट आयी हुई मृत्युको नहीं जान पाता था । वह द्रौपदीको पानेके लिये उतावला हो रहा था ॥

कीचक उवाच

मधु मद्यं बहुविधं भक्ष्याश्च विविधाः कृताः ।
सुदेष्णे ब्रूहि सैरन्ध्रीं यथा सा मे गृहं व्रजेत् ॥

कीचक बोला—सुदेष्णे ! मैंने नाना प्रकारकी मीठी मदिरा मँगा ली है और विविध प्रकारकी रसोई भी तैयार कर ली है । अब तुम सैरन्ध्रीसे कह दो, जिससे वह मेरे घरमें पधारे ॥

केनचित् त्वद्य कार्येण त्वर शीघ्रं मम प्रियम् ॥
अहं हि शरणं देवं प्रपद्ये वृषभध्वजम् ।
समागमं मे सैरन्ध्र्या मरणं वा दिशेति वै ॥

किसी कामके बहाने उसे जल्दी मेरे यहाँ भेजो । मेरा प्रिय कार्य सिद्ध करनेमें शीघ्रता करो । मैं भगवान् शंकरकी शरण लेकर यह प्रार्थना करता हूँ कि प्रभो ! मुझे सैरन्ध्रीसे मिला दो अथवा मृत्यु प्रदान करो ॥

वैशम्पायन उवाच

सा तमाह विनिःश्वस्य प्रतिगच्छ स्वकं गृहम् ।
एषाहमपि सैरन्ध्रीं सुरार्थे तूर्णमादिशे ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब सुदेष्णा लंबी साँस खींचकर उससे बोली—'तुम अपने घर लौट जाओ । मैं सैरन्ध्रीको शीघ्र ही वहाँसे मदिरा ले आनेके लिये आज्ञा देती हूँ' ॥

एवमुक्तस्तु पापात्मा कीचकस्त्वरितः पुनः ।
स्वगृहं प्राविशत् तूर्णं सैरन्ध्रीगतमानसः ॥)

उसके ऐसा कहनेपर सैरन्ध्रीका चिन्तन करता हुआ पापात्मा कीचक फिर तुरंत ही अपने घरको लौट गया ॥

सुदेष्णा प्रेषयामास सैरन्ध्रीं कीचकालयम् ॥ ९ ॥

तब सुदेष्णाने सैरन्ध्रीको कीचकके घर जानेके लिये कहा ॥ ९ ॥

सुदेष्णोवाच

उत्तिष्ठ गच्छ सैरन्ध्रि कीचकस्य निवेशनम्।
पानमानय कल्याणि पिपासा मां प्रबाधते ॥ १० ॥

सुदेष्णा बोली—सैरन्ध्री! उठो और कीचकके घर जाओ। कल्याणी! मुझे प्यास विशेष कष्ट दे रही है; अतः वहाँसे मेरे पीने योग्य रस ले आओ ॥ १० ॥

सैरन्ध्र्युवाच

न गच्छेयमहं तस्य राजपुत्रि निवेशनम्।
त्वमेव राज्ञि जानासि यथा स निरपत्रपः ॥ ११ ॥

सैरन्ध्रीने कहा—राजकुमारी! मैं उसके घर नहीं जा सकती। महारानी! आप तो जानती ही हैं कि वह कैसा निर्लज्ज है ॥ ११ ॥

न चाहमनवद्याङ्गि तव वेश्मनि भामिनि।
कामवृत्ता भविष्यामि पतीनां व्यभिचारिणी ॥ १२ ॥

निर्दोष अङ्गोंवाली देवि! मैं आपके महलमें अपने पतियोंकी दृष्टिमें व्यभिचारिणी और स्वेच्छाचारिणी होकर नहीं रहूँगी ॥

त्वं चैव देवि जानासि यथा स समयः कृतः।
प्रविशन्त्या मया पूर्वं तव वेश्मनि भामिनि ॥ १३ ॥

भामिनि! देवि! पहले आपके इस राजभवनमें प्रवेश करते समय मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसे भी आप जानती ही हैं ॥ १३ ॥

कीचकस्तु सुकेशान्ते मूढो मदनदर्पितः।
सोऽवमंस्यति मां दृष्ट्वा न यास्ये तत्र शोभने ॥ १४ ॥

कमनीय केशोंवाली सुन्दरी! मूर्ख कीचक तो काममदसे उन्मत्त हो रहा है। वह मुझे देखते ही अपमानित कर बैठेगा। इसलिये मैं वहाँ नहीं जाऊँगी ॥ १४ ॥

सन्ति बह्व्यस्तव प्रेष्या राजपुत्रि वशानुगाः।
अन्यां प्रेषय भद्रं ते स हि मामवमंस्यते ॥ १५ ॥

राजपुत्री! आपके अधीन तो और भी बहुत-सी दासियाँ हैं; उन्हींमेंसे किसी दूसरीको भेज दीजिये। आपका कल्याण हो। मेरे जानेसे कीचक मेरा अपमान करेगा ॥ १५॥

सुदेष्णोवाच

नैव त्वां जातु हिंस्यात् स इतः सम्प्रेषितां मया।
इत्युक्त्वा प्रददौ पात्रं सपिधानं हिरण्मयम् ॥ १६ ॥

सुदेष्णा बोली—शुभे! मैंने तुम्हें यहाँसे भेजा है, अतः वह कभी तुम्हें कष्ट नहीं देगा।

यह कहकर सुदेष्णाने द्रौपदीके हाथमें ढक्कनसहित एक सुवर्णमय पात्र दे दिया ॥ १६ ॥

सा शङ्कमाना रुदती दैवं शरणमीयुषी।
प्रातिष्ठत सुराहारी कीचकस्य निवेशनम् ॥ १७ ॥

द्रौपदी मदिरा लानेके लिये उस पात्रको लेकर शङ्कित हो रोती हुई कीचकके घरकी ओर चली और अपने सतीत्व-की रक्षाके लिये मन-ही-मन भगवान् सूर्यकी शरणमें गयी ॥

सैरन्ध्र्युवाच

यथाहमन्यं भर्तृभ्यो नाभिजानामि कंचन।
तेन सत्येन मां प्राप्तां मा कुर्यात् कीचको वशे ॥ १८ ॥

सैरन्ध्रीने कहा—भगवन्! यदि मैं अपने पतियोंके सिवा दूसरे किसी पुरुषको मनमें नहीं लाती, तो इस सत्यके प्रभाव-से कीचक अपने घरमें आयी हुई मुझ अबलाको अपने वशमें न कर सके ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

उपातिष्ठत सा सूर्यं मुहूर्तमबला ततः।
स तस्यास्तनुमध्यायाः सर्वं सूर्योऽवबुद्धवान् ॥ १९ ॥
अन्तर्हितं ततस्तस्या रक्षो रक्षार्थमादिशत्।
तच्चैनां नाजहात् तत्र सर्वावस्थास्वनिन्दिताम्॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सब प्रकार-के बलसे रहित द्रौपदी दो घड़ीतक भगवान् सूर्यकी उपासना करती रही। तदनन्तर श्रीसूर्यदेवने पतले कटिभागवाली द्रुपदकुमारीकी सारी परिस्थिति समझ ली और उसकी रक्षाके लिये अदृश्यरूपसे एक राक्षसको नियुक्त कर दिया। वह राक्षस किसी भी अवस्थामें सती-साध्वी द्रौपदीको वहाँ असहाय नहीं छोड़ता था ॥ १९-२० ॥

तां मृगीमिव संत्रस्तां दृष्ट्वा कृष्णां समीपगाम्।
उदतिष्ठन्मुदा सूतो नावं लब्ध्वेव पारगः ॥ २१ ॥

डरी हुई हरिणीकी भाँति भयभीत द्रौपदीको समीप आयी देख सूत कीचक आनन्दमें भरकर खड़ा हो गया; मानो नदीके पार जानेवाला पथिक नौका पाकर प्रसन्न हो गया हो ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीसुराहरणे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीके द्वारा मदिरानयनसम्बन्धी पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २५ श्लोक मिलाकर कुल ४६ श्लोक हैं)

षोडशोऽध्यायः

कीचकद्वारा द्रौपदीका अपमान

कीचक उवाच

स्वागतं ते सुकेशान्ते सुव्युष्टा रजनी मम ।
स्वामिनी त्वमनुप्राप्ता प्रकुरुष्व मम प्रियम् ॥ १ ॥

कीचकने कहा—सुन्दर अलकोंवाली सैरन्ध्री ! तुम्हारा स्वागत है । आजकी रातका प्रभात मेरे लिये बड़ा मङ्गलमय है । अब तुम मेरी स्वामिनी होकर मेरा प्रिय कार्य करो ॥१॥

सुवर्णमालाः कम्बूश्च कुण्डले परिहाटके ।
नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्नं च शोभनम् ॥ २ ॥
आहरन्तु च वस्त्राणि कौशिकान्यजिनानि च ।

मैं दासियोंको आज्ञा देता हूँ; वे तुम्हारे लिये सोनेके हार, शङ्खकी चूड़ियाँ, विभिन्न नगरोंमें बने हुए शुभ्र सुवर्णमय कर्णफूलके जोड़े, सुन्दर मणि-रत्नमय आभूषण, रेशमी साड़ियाँ तथा मृगचर्म आदि ले आवें ॥ २½ ॥

अस्ति मे शयनं दिव्यं त्वदर्थमुपकल्पितम् ।
एहि तत्र मया सार्द्धं पिबस्व मधुमाधवीम् ॥ ३ ॥

मैंने तुम्हारे लिये पहलेसे ही यह दिव्य शय्या बिछा रक्खी है । आओ, यहाँ मेरे साथ बैठकर मधुर माध्वीरसका पान करो ॥ ३ ॥

द्रौपद्युवाच

(नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुं निषादेनेव ब्राह्मणी ।
मा गमिष्यसि दुर्बुद्धे गतिं दुर्गान्तरान्तराम् ॥

द्रौपदी बोली—दुर्बुद्धे ! जैसे निषाद ब्राह्मणीका स्पर्श नहीं कर सकता, उसी प्रकार तुम भी मुझे छू नहीं सकते । तुम मेरा तिरस्कार करके भारीसे भारी दुर्गतिमें न पड़ो ॥

यत्र गच्छन्ति बहवः परदाराभिमर्शकाः ।
नराः सम्भिन्नमर्यादाः कीटवच्च गुहाशयाः ॥)

उस दुरवस्थामें न जाओ, जहाँ धर्ममर्यादाका छेदन करनेवाले बहुत-से परस्त्रीगामी मनुष्य बिलमें सोनेवाले कीड़ोंकी भाँति जाया करते हैं ॥

अप्रैषीद् राजपुत्री मां सुराहारीं तवान्तिकम् ।
पानमाहर मे क्षिप्रं पिपासा मेऽति चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

राजकुमारी सुदेष्णाने मुझे मदिरा लानेके लिये तुम्हारे पास भेजा है । उनका कहना है—'मुझे बड़े जोरकी प्यास लगी है; अतः शीघ्र मेरे लिये पीने योग्य रस ले आओ' ॥ ४ ॥

कीचक उवाच

अन्या भद्रे नयिष्यन्ति राजपुत्र्याः प्रतिश्रुतम् ।
इत्येतां दक्षिणे पाणौ सूतपुत्रः परामृशत् ॥ ५ ॥

कीचकने कहा—कल्याणी ! राजपुत्री सुदेष्णाकी मँगायी हुई वस्तु दूसरी दासियाँ पहुँचा देंगी ।

ऐसा कहकर सूतपुत्रने द्रौपदीका दाहिना हाथ पकड़ लिया ॥ ५ ॥

द्रौपद्युवाच

यथैवाहं नाभिचरे कदाचित्
पतीन् मदाद् वै मनसापि जातु ।
तेनैव सत्येन वशीकृतं त्वां
द्रष्टास्मि पापं परिकृष्यमाणम् ॥ ६ ॥

द्रौपदी बोली—ओ पापी ! यदि मैंने आजतक कभी मनसे भी अभिमानवश अपने पतियोंके विरुद्ध आचरण न किया हो, तो इस सत्यके प्रभावसे मैं देखूँगी कि तू शत्रुके अधीन होकर पृथ्वीपर घसीटा जा रहा है ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

स तामभिप्रेक्ष्य विशालनेत्रां
जिघृक्षमाणः परिभर्त्सयन्तीम् ।
जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे
स कीचकस्तां सहसाऽऽक्षिपन्तीम् ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! बड़े-बड़े नेत्रोंवाली द्रौपदीको इस प्रकार फटकारती देख कीचकने उसे पकड़ लेनेकी इच्छा की; किंतु वह सहसा झटका देकर पीछेकी ओर हटने लगी; इतनेमेंही झपटकर कीचकने उसके दुपट्टेका छोर पकड़ लिया ॥ ७ ॥

प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन
मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री ।
तया समाक्षिप्ततनुः स पापः
पपात शाखीव निकृत्तमूलः ॥ ८ ॥

अब वह बड़े वेगसे उसे काबूमें लानेका प्रयत्न करने लगा । इधर राजकुमारी द्रौपदी बारंबार लंबी साँसें भरती हुई उससे छूटनेका प्रयत्न करने लगी । उसने सँभलकर दोनों हाथोंसे कीचकको बड़े जोरका धक्का दिया; जिससे वह पापी जड़-मूलसे कटे वृक्षकी भाँति (धम्मसे) जमीनपर जा गिरा ॥ ८ ॥

सा गृहीता विधुन्वाना भूमावाक्षिप्य कीचकम् ।
सभां शरणमागच्छद् यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

इस प्रकार पकड़में आनेपर कीचकको धरतीपर गिराकर भयसे काँपती हुई द्रौपदीने भागकर उस राजसभाकी शरण ली, जहाँ राजा युधिष्ठिर विद्यमान थे ॥ ९ ॥

तां कीचकः प्रधावन्तीं केशपाशे परामृशत्।
अथैनां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदावधीत् ॥१०॥

कीचकने भी उठकर भागती हुई द्रौपदीका पीछा किया और उसका केशपाश पकड़ लिया। फिर उसने राजाके देखते-देखते उसे पृथ्वीपर गिराकर लात मारी ॥ १० ॥

तस्य योऽसौ तदार्केण राक्षसः संनियोजितः।
स कीचकमपोवाह वातवेगेन भारत ॥११॥

भारत ! इतनेमें ही भगवान् सूर्यने जिस राक्षसको द्रौपदीकी रक्षाके लिये नियुक्त कर रक्खा था, उसने कीचकको पकड़कर आँधीके समान वेगसे दूर फेंक दिया ॥ ११ ॥

स पपात तदा भूमौ रक्षोबलसमाहतः।
विघूर्णमानो निश्चेष्टश्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥१२॥

राक्षसद्वारा बलपूर्वक आहत होकर कीचकके सारे शरीरमें चक्कर आ गया और वह जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति निश्चेष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १२ ॥

(सभायां पश्यतो राज्ञो विराटस्य महात्मनः।
ब्राह्मणानां च वृद्धानां क्षत्रियाणां च पश्यताम् ॥
तस्याः पादाभितप्ताया मुखाद् रुधिरमास्रवत्।
तां दृष्ट्वा तत्र ते सभ्या हाहाभूताः समन्ततः ॥
न युक्तं सूतपुत्रेति कीचकेति च मानवाः।
किमियं वध्यते बाला कृपणा चाप्यबान्धवा ॥)

सभामें महामना राजा विराटके तथा वृद्ध ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके देखते-देखते कीचकके पादप्रहारसे पीड़ित हुई द्रौपदीके मुँहसे रक्त बहने लगा। उसे उस अवस्थामें देखकर समस्त सभासद् सब ओरसे हाहाकार कर उठे और सब लोग कहने लगे—'सूतपुत्र कीचक ! तुम्हारा यह कार्य उचित नहीं है। यह बेचारी अबला अपने बन्धु-बान्धवोंसे रहित है। इसे क्यों पीड़ा दे रहे हो ?'

तां चासीनौ ददृशतुर्भीमसेनयुधिष्ठिरौ।
अमृष्यमाणौ कृष्णायाः कीचकेन पराभवम् ॥१३॥

उस समय भीमसेन और युधिष्ठिर भी राजसभामें बैठे हुए थे। उन्होंने कीचकके द्वारा द्रौपदीका यह अपमान अपनी आँखों देखा; जिसे वे सहन न कर सके ॥ १३ ॥

तस्य भीमो वधं प्रेप्सुः कीचकस्य दुरात्मनः।
दन्तैर्दन्तांस्तदा रोषान्निष्पिपेष महामनाः ॥१४॥

महामना भीमसेन दुरात्मा कीचकको मार डालनेकी इच्छासे उस समय रोषवश दाँतोंसे दाँत पीसने लगे ॥ १४ ॥

धूमच्छाया ह्यभजतां नेत्रे चोच्छ्रितपक्ष्मणी।
सस्वेदा भ्रुकुटी चोग्रा ललाटे समवर्तत ॥१५॥

उनकी आँखोंकी पलकें ऊपरको उठकर तन गयीं। उनमें धूआँ-सा छा गया, ललाटमें पसीना निकल आया और भौंहें टेढ़ी होकर भयंकर प्रतीत होने लगीं ॥ १५ ॥

हस्तेन ममृजे चैव ललाटं परवीरहा।
भूयश्च त्वरितः क्रुद्धः सहसोत्थातुमैच्छत ॥१६॥

शत्रुहन्ता भीम हाथसे माथेका पसीना पोंछने लगे। फिर तुरंत ही प्रचण्ड कोपमें भर गये और सहसा उठनेकी इच्छा करने लगे ॥ १६ ॥

अथावमृद्नादङ्गुष्ठमङ्गुष्ठेन युधिष्ठिरः।
प्रबोधनभयाद् राजा भीमं तं प्रत्यषेधयत् ॥१७॥

तब राजा युधिष्ठिरने रहस्य प्रकट हो जानेके डरसे अपने अँगूठेसे भीमका अँगूठा दबाया और इस प्रकार उन्हें उत्तेजित होनेसे रोका ॥ १७ ॥

तं मत्तमिव मातङ्गं वीक्षमाणं वनस्पतिम्।
स तमावारयामास भीमसेनं युधिष्ठिरः ॥१८॥

भीमसेन मतवाले गजराजकी भाँति एक वृक्षकी ओर देख रहे थे। तब युधिष्ठिरने उन्हें रोकते हुए कहा—॥१८॥

आलोकयसि किं वृक्षं सूद दारुकृतेन वै।
यदि ते दारुभिः कृत्यं बहिर्वृक्षान्निगृह्यताम् ॥१९॥

'बल्लव ! क्या तुम ईंधनके लिये वृक्षकी ओर देखते हो ? यदि रसोईके लिये सूखी लकड़ी चाहिये, तो बाहर जाकर वृक्षसे ले लो ॥ १९ ॥

(यस्य चार्द्रस्य वृक्षस्य शीतच्छायां समाश्रयेत्।
न तस्य पर्णं द्रुह्येत पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥

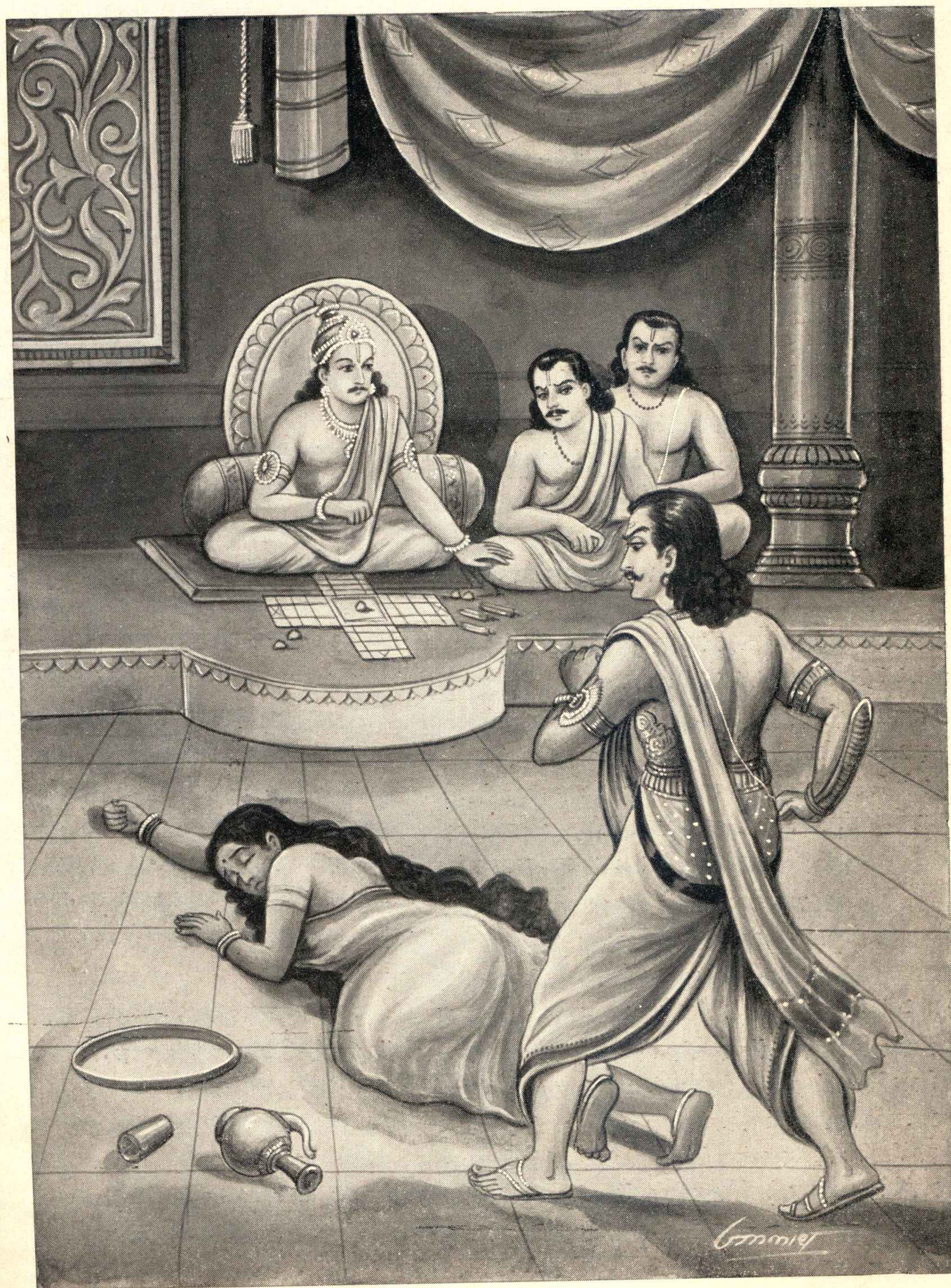
'जिस हरे-भरे वृक्षकी शीतल छायाका आश्रय लेकर रहा जाय, उसके किसी एक पत्तेसे भी द्रोह नहीं करना चाहिये। उसके पहलेके उपकारोंको सदा याद रखकर उसकी रक्षा करनी चाहिये' ॥

इङ्गितज्ञः स तु भ्रातुस्तूष्णीमासीद् वृकोदरः ॥
भीमस्य तु समारम्भं दृष्ट्वा राज्ञश्च चेष्टितम्।
द्रौपद्यभ्यधिकं क्रुद्धा प्रारुदत् सा पुनः पुनः ॥
कीचकेनानुगमनात् कृष्णा ताम्रायतेक्षणा।)

तब भाईके संकेतको समझनेवाले भीमसेन उस समय चुप हो गये। भीमके उस क्रोधको तथा राजा युधिष्ठिरकी शान्तिपूर्ण चेष्टाको देखकर द्रौपदी अधिक क्रुद्ध हो उठी। कीचकके पीछा करनेसे कृष्णाकी आँखें रोषसे लाल हो रही थीं। वह खीझके कारण बार-बार रोने लगी ॥

सा सभाद्वारमासाद्य रुदती मत्स्यमब्रवीत्।
अवेक्षमाणा सुश्रोणी पतींस्तान् दीनचेतसः ॥२०॥

इधर सुन्दर कटिप्रान्तवाली द्रौपदी राजसभाके द्वारपर आकर अपने दीन हृदयवाले पतियोंकी ओर देखती हुई मत्स्यनरेशसे बोली ॥ २० ॥



विराटकी राजसभामें कीचकद्वारा सैरन्ध्रीका अपमान

आकारमभिरक्षन्ती प्रतिज्ञाधर्मसंहिता ।
दह्यमानेव रौद्रेण चक्षुषा द्रुपदात्मजा ॥२१॥

उस समय वह प्रतिज्ञारूप धर्मसे आबद्ध होनेके कारण अपने स्वरूपको छिपा रही थी; किंतु उसके नेत्र मानो जला रहे हों, इस प्रकार भयंकर हो उठे थे ॥ २१ ॥

(द्रौपद्युवाच

प्रजारक्षणशीलानां राज्ञां ह्यमिततेजसाम् ।
कार्यं हि पालनं नित्यं धर्मे सत्ये च तिष्ठताम् ॥
स्वप्रजायां प्रजायां च विशेषं नाधिगच्छताम् ।

द्रौपदीने कहा—जो स्वभावसे ही प्रजाजनोंकी रक्षामें लगे हुए हैं, सदा धर्म और सत्यके मार्गमें स्थित हैं तथा प्रजा और अपनी संतानमें कोई अन्तर नहीं समझते, उन अमित-तेजस्वी राजाओंको चाहिये कि वे सदा आश्रितजनोंका पालन एवं संरक्षण करें ॥

प्रियेष्वपि च द्वेष्येषु समत्वं ये समाश्रिताः ॥
विवादेषु प्रवृत्तेषु समं कार्यानुदर्शिना ।
राज्ञा धर्मासनस्थेन जितौ लोकावुभावपि ॥

जो प्रियजनों तथा द्वेषपात्रोंमें भी समानभाव रखते हैं, प्रजाजनोंमें विवाद आरम्भ होनेपर जो राजा धर्मासनपर बैठ-कर समानभावसे प्रत्येक कार्यपर विचार करते हैं, वे दोनों लोकोंको जीत लेते हैं ॥

राजन् धर्मासनस्थोऽपि रक्ष मां त्वमनागसीम् ॥
अहं त्वनपराध्यन्ती कीचकेन दुरात्मना ।
पश्यतस्ते महाराज हता पादेन दासवत् ॥

राजन् ! आप धर्मके आसनपर बैठे हैं । मुझ निरपराध अबलाकी रक्षा कीजिये । महाराज ! मैंने कोई अपराध नहीं किया है, तो भी दुरात्मा कीचकने आपके देखते-देखते मुझको लात मारी है; मेरे साथ (खरीदे हुए) दासका-सा बर्ताव किया है ॥

मत्स्याधिप प्रजा रक्ष पिता पुत्रानिवौरसान् ॥
यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्मा कुरुते नृपः ।
अचिरात् तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥

मत्स्यराज ! जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप अपने प्रजाजनोंका संरक्षण कीजिये । जो मोहमें डूबा हुआ राजा अधर्मयुक्त कार्य करता है, उस दुरात्माको उसके शत्रु शीघ्र ही वशमें कर लेते हैं ॥

मत्स्यानां कुलजस्त्वं हि तेषां सत्यं परायणम् ।
त्वं किलैवंविधो जातः कुले धर्मपरायणे ॥

आप मत्स्यकुलमें उत्पन्न हुए हैं । सत्य ही मत्स्यनरेशों-का महान् आश्रय रहा है । आप भी इस धर्मपरायण कुलमें ऐसे ही धर्मात्मा पैदा हुए हैं ॥

अतस्त्वाहमभिक्रन्दे शरणार्थं नराधिप ।
त्राहि मामद्य राजेन्द्र कीचकात् पापपूरुषात् ॥

अतः नरेश्वर ! मैं आपसे शरण देनेके लिये रुदन करती हूँ । राजेन्द्र ! आज मुझे इस पापी कीचकसे बचाइये ॥

अनाथामिह मां ज्ञात्वा कीचकः पुरुषाधमः ।
प्रहरत्येव नीचात्मा न तु धर्ममवेक्षते ॥

पुरुषाधम कीचक यहाँ मुझे असहाय जानकर मार रहा है । यह नीच अपने धर्मकी ओर नहीं देखता है ॥

अकार्याणामनारम्भात् कार्याणामनुपालनात् ।
प्रजासु ये सुवृत्तास्ते स्वर्गमायान्ति भूमिपाः ॥

जो भूमिपाल न करने योग्य कार्योंका आरम्भ नहीं करते, करनेयोग्य कर्तव्योंका निरन्तर पालन करते हैं और सदा प्रजाके साथ उत्तम बर्ताव करते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

कार्याकार्यविशेषज्ञाः कामकारेण पार्थिव ।
प्रजासु किल्बिषं कृत्वा नरकं यान्त्यधोमुखाः ॥

परंतु राजन् ! जो राजा कर्तव्य और अकर्तव्यके अन्तरको जानते हुए भी स्वेच्छाचारितावश प्रजावर्गके साथ पापाचार करते हैं, वे अधोमुख हो नरकमें जाते हैं ॥

नैव यज्ञैर्न वा दानैर्न गुरोरुपसेवया ।
प्राप्नुवन्ति तथा धर्मं यथा कार्यानुपालनात् ॥

राजालोग यज्ञ, दान अथवा गुरुसेवनसे भी वैसा धर्म (पुण्य) नहीं पाते हैं, जैसा कि अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेसे प्राप्त करते हैं ॥

क्रियायामक्रियायां च प्रापणे पुण्यपापयोः ॥
प्रजायां सृज्यमानायां पुरा ह्येतदुदाहृतम् ।
एतद् वो मानुषाः सम्यक् कार्यं द्वन्द्वतया भुवि ।
अस्मिन् सुनीते दुर्नीते लभते कर्मजं फलम् ॥

पूर्वकालमें सृष्टिकी रचनाके समय ब्रह्माजीने क्रिया करने और न करनेकी स्थितिमें पुण्य और पापकी प्राप्तिके विषयमें इस प्रकार कहा था—'मनुष्यो ! तुमलोगोंको इस पृथ्वीलोकमें द्वन्द्वरूपमें प्राप्त धर्म और अधर्मके विषयमें भली-भाँति समझकर कर्म करना चाहिये; क्योंकि अच्छी या बुरी जैसी नीयतसे काम किया जाता है, वैसा ही कर्मजनित फल मिलता है ॥

कल्याणकारी कल्याणं पापकारी च पापकम् ।
तेन गच्छति संसर्गं स्वर्गाय नरकाय वा ॥

'कल्याणकारी मनुष्य कल्याणका और पापाचारी पुरुष पापके फलस्वरूप दुःखका भागी होता है । जो इनके संसर्गमें आता है, वह भी (कर्मानुसार) स्वर्ग या नरकमें जाता है ॥

सुकृतं दुष्कृतं वापि कृत्वा मोहेन मानवः ।
पश्चात्तापेन तप्येत स्वबुद्ध्या मरणं गतः ॥

'मनुष्य मोहपूर्वक सत्कर्म या दुष्कर्म करके मृत्युके बाद भी मन ही-मन पश्चात्ताप करता रहता है' ॥

एवमुक्त्वा परं वाक्यं विससर्ज शतक्रतुम्।
शक्रोऽप्यापृच्छ्य ब्रह्माणं देवराज्यमपालयत्॥

इस प्रकार उत्तम वचन कहकर ब्रह्माजीने इन्द्रको विदा कर दिया। इन्द्र भी ब्रह्माजीसे पूछकर देवलोकमें आये और देवसाम्राज्यका पालन करने लगे ॥

यथोक्तं देवदेवेन ब्रह्मणा परमेष्ठिना।
तथा त्वमपि राजेन्द्र कार्याकार्ये स्थिरो भव॥

राजेन्द्र! देवाधिदेव परमेष्ठी ब्रह्माजीने जैसा उपदेश दिया है, उसके अनुसार आप भी कर्तव्य और अकर्तव्यके निर्णयमें दृढतापूर्वक लगे रहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विलपमानायां पाञ्चाल्यां मत्स्यपुङ्गवः।
अशक्तः कीचकं तत्र शासितुं बलदर्पितम्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीके इस प्रकार विलाप करनेपर भी मत्स्यराज विराट बलाभिमानी कीचकपर शासन करनेमें असमर्थ ही रहे॥

विराटराजः सूतं तु सान्त्वेनैव न्यवारयत्।
कीचकं मत्स्यराजेन कृतागसमनिन्दिता॥
नापराधानुरूपेण दण्डेन प्रतिपादितम्।
पाञ्चालराजस्य सुता दृष्ट्वा सुरसुतोपमा॥
धर्मज्ञा व्यवहाराणां कीचकं कृतकिल्बिषम्।
पुनः प्रोवाच राजानं स्मरन्ती धर्ममुत्तमम्॥
सम्प्रेक्ष्य च वरारोहा सर्वांस्तत्र सभासदः।
विराटं चाह पाञ्चाली दुःखेनाविष्टचेतना॥)

उन्होंने शान्तिपूर्वक समझा-बुझाकर ही सूतको वैसा करनेसे मना किया। यद्यपि कीचकने भारी अपराध किया था, तो भी मत्स्यराजने उसे अपराधके अनुसार दण्ड नहीं दिया; यह देख देवकन्याके समान सुन्दरी एवं व्यवहार-धर्मको जाननेवाली साध्वी द्रौपदी उत्तम धर्मका स्मरण करती हुई राजा विराट तथा समस्त सभासदोंकी ओर देखकर दुखी हृदयसे इस प्रकार बोली—॥

येषां वैरी न स्वपिति षष्ठेऽपि विषये वसन्।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत्॥२२॥

'जिन मेरे पतियोंके वैरीको पाँच देशोंको पार करके छठे देशमें रहनेपर भी भयके मारे नींद नहीं आती, आज उन्हींकी मानिनी पत्नी मुझ असहाय अबलाको एक सूतपुत्रने लातसे मारा है ॥ २२ ॥

ये दद्युर्न च याचेयुर्ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत्॥२३॥

'जो सदा दूसरोंको देते हैं, किंतु किसीसे याचना नहीं करते, जो ब्राह्मणभक्त तथा सत्यवादी हैं, उन्हींकी मुझ मानिनी पत्नीको सूतपुत्रने लात मारी है ॥ २३ ॥

येषां दुन्दुभिनिर्घोषो ज्याघोषः श्रूयतेऽनिशम्।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत्॥२४॥

'जिनके धनुषकी टङ्कार सदा देव-दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनिके समान सुनायी पड़ती है, उन्हींकी मुझ मानिनी पत्नीको सूतपुत्रने लातसे मारा है ॥ २४ ॥

ये च तेजस्विनो दान्ता बलवन्तोऽतिमानिनः।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत्॥२५॥

'जो तेजस्वी, जितेन्द्रिय, बलवान् और अत्यन्त मानी हैं, उन्हींकी मुझ मानिनी पत्नीपर सूतपुत्रने पैरसे आघात किया है ॥ २५ ॥

सर्वलोकमिमं हन्युर्धर्मपाशसितास्तु ये।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत्॥२६॥

'मेरे पति इस सम्पूर्ण संसारको मार सकते हैं; किंतु वे धर्मके बन्धनमें बँधे हैं, इसीसे आज उनकी मुझ मानिनी पत्नीपर सूतपुत्रने पैरसे प्रहार किया है ॥ २६ ॥

शरणं ये प्रपन्नानां भवन्ति शरणार्थिनाम्।
चरन्ति लोके प्रच्छन्नाः क नु तेऽद्य महारथाः॥२७॥

'जो शरण चाहनेवाले अथवा शरणमें आये हुए सब लोगोंको शरण देते हैं, वे मेरे महारथी पति अपने स्वरूपको छिपाकर आज जगत्में कहाँ विचर रहे हैं ? ॥ २७ ॥

कथं ते सूतपुत्रेण वध्यमानां प्रियां सतीम्।
मर्षयन्ति यथा क्लीबा बलवन्तोऽमितौजसः॥२८॥

'जो अमिततेजस्वी और बलवान् हैं, वे (मेरे पति) एक सूतपुत्रद्वारा मारी जाती हुई अपनी सती-साध्वी प्रिय पत्नीका अपमान कायरों और नपुंसकोंकी भाँति कैसे सहन कर रहे हैं ? ॥

क नु तेषाममर्षश्च वीर्यं तेजश्च वर्तते।
न परीप्सन्ति ये भार्यां वध्यमानां दुरात्मना॥२९॥

'आज उनका अमर्ष, पराक्रम और तेज कहाँ है ? जो एक दुरात्माकी मार खाती हुई अपनी पत्नीकी रक्षा नहीं करते हैं ॥ २९ ॥

मयात्र शक्यं किं कर्तुं विराटे धर्मदूषके।
यः पश्यन् मां मर्षयति वध्यमानामनागसम्॥३०॥

'यहाँका राजा विराट भी धर्मको कलङ्कित करनेवाला है; जो मुझ निरपराध अबलाको अपने सामने मार खाती देखकर भी सहन किये जाता है। भला, इसके रहते मैं इस अपमान-का बदला चुकानेके लिये क्या कर सकती हूँ ? ॥ ३० ॥

न राजा राजवत् किंचित् समाचरति कीचके।
दस्यूनामिव धर्मस्ते न हि संसदि शोभते॥३१॥

नाहमेतेन युक्तं वै हन्तुं मत्स्य तवान्तिके।
सभासदोऽत्र पश्यन्तु कीचकस्य व्यतिक्रमम् ॥३२॥

'यह राजा होकर भी कीचकके प्रति कुछ भी राजोचित न्याय नहीं कर रहा है। मत्स्यराज! तुम्हारा यह लुटेरोंका-सा धर्म इस राजसभामें शोभा नहीं देता। तुम्हारे निकट इस कीचकद्वारा मुझपर मार पड़ी, यह कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। यहाँ जो सभासद् बैठे हैं, वे भी कीचकका यह अत्याचार देखें ॥ ३१-३२ ॥

कीचको न च धर्मज्ञो न च मत्स्यः कथंचन।
सभासदोऽप्यधर्मज्ञा य एनं पर्युपासते ॥३३॥

'कीचकको धर्मका ज्ञान नहीं है और यह मत्स्यराज भी किसी प्रकार धर्मज्ञ नहीं है तथा जो इस अधर्मी राजाके पास बैठते हैं, वे सभासद् भी धर्मके ज्ञाता नहीं हैं' ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवंविधैर्वचोभिः सा तदा कृष्णाश्रुलोचना।
उपालभत राजानं मत्स्यानां वरवर्णिनी ॥३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उत्तम वर्णवाली द्रौपदीने उस समय आँखोंमें आँसू भरकर ऐसे वचनोंद्वारा मत्स्यराजको बहुत फटकारा और उलाहना दिया ॥ ३४ ॥

विराट उवाच

परोक्षं नाभिजानामि विग्रहं युवयोरहम्।
अर्थतत्त्वमविज्ञाय किं नु स्यात् कौशलं मम ॥३५॥

तब विराट बोले—सैरन्ध्री! हमारे परोक्षमें तुम दोनोंमें किस प्रकार कलह हुआ है; इसे मैं नहीं जानता और वास्तविक बातको जाने बिना न्याय करनेमें मेरा क्या कौशल प्रकट होगा? ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु सभ्या विज्ञाय कृष्णां भूयोऽभ्यपूजयन्।
साधु साध्विति चाप्याहुः कीचकं च व्यगर्हयन् ॥३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सभासदोंने सारा रहस्य जानकर द्रौपदीकी बार-बार सराहना की। उसे अनेक बार साधुवाद दिया और कीचककी निन्दा करते हुए उसे बहुत धिक्कारा ॥ ३६ ॥

सभ्या ऊचुः

यस्येयं चारुसर्वाङ्गी भार्या स्यादायतेक्षणा।
परो लाभस्तु तस्य स्यान्न च शोचेत् कथंचन ॥३७॥

सभासद् बोले—सम्पूर्ण मनोहर अङ्गोंसे सुशोभित यह बड़े-बड़े नेत्रोंवाली साध्वी जिसकी धर्मपत्नी है, उसे जीवनमें बहुत बड़ा लाभ मिला है। वह किसी प्रकार शोक नहीं कर सकता ॥ ३७ ॥

(यस्या गात्रं शुभं पीनं मुखं जयति पङ्कजम्।
गतिर्हंसं स्मितं कुन्दं सैषा नार्हति पद्वधम् ॥

जिसका शरीर शुभ और हृष्ट-पुष्ट है, जिसका मुख अपने सौन्दर्यसे कमलको पराजित कर रहा है तथा जिसकी मन्द-मन्द गति हंसको और मुस्कान कुन्दपुष्पोंकी शोभाको तिरस्कृत कर रही है, वही यह नारी पदप्रहारके योग्य नहीं है ॥

द्वात्रिंशद् दशना यस्याः श्वेता मांसनिबन्धनाः।
स्निग्धाश्च मृदवः केशाः सैषा नार्हति पद्वधम् ॥

जिसके बत्तीसों दाँत मसूड़ोंमें दृढ़तापूर्वक आबद्ध और उज्ज्वल हैं, जिसके केश चिकने और कोमल हैं, वैसी यह नारी लात मारने योग्य कदापि नहीं है ॥

पद्मं चक्रं ध्वजं शङ्खं प्रासादो मकरस्तथा।
यस्याः पाणितले सन्ति सैषा नार्हति पद्वधम् ॥

जिसकी हथेलीमें कमल, चक्र, ध्वजा, शङ्ख, मन्दिर और मगरके चिह्न हैं, वह शुभलक्षणा नारी पैरोंसे ठुकरायी जाय, यह कदापि उचित नहीं है ॥

आवर्ताः खलु चत्वारः सर्वे चैव प्रदक्षिणाः।
समं गात्रं शुभं स्निग्धं यस्या नार्हति पद्वधम् ॥

जिसके शरीरमें चार आवर्त हैं और वे सबके सब प्रदक्षिणभावसे सुशोभित हैं, जिसके अङ्ग समान (सुडौल), शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न और स्निग्ध हैं, वह लात मारने योग्य नहीं है ॥

अच्छिद्रहस्तपादा च अच्छिद्रदशना च या।
कन्या कमलपत्राक्षी कथमर्हति पद्वधम् ॥

जिसके हाथों, पैरों और दाँतोंमें छिद्र नहीं दिखायी देते हैं, वह कमलदललोचना कन्या पैरोंसे ठोकर मारने योग्य कैसे हो सकती है? ॥

सेयं लक्षणसम्पन्ना पूर्णचन्द्रनिभानना।
सुरूपिणी सुवदना नेयं योग्या पदा वधम् ॥

यह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न है। इसका मुख पूर्णचन्द्रके समान मनोहर है। यह सुन्दर रूपवाली सुमुखी नारी पैरोंसे ठुकराने योग्य नहीं है ॥

देवदेवीव सुभगा शक्रदेवीव शोभना।
अप्सरा इव सौरूप्यान्नेयं योग्या पदा वधम् ॥)

यह देवाङ्गनाके समान सौभाग्यशालिनी, इन्द्राणीके समान शोभासम्पन्न तथा अप्सराके समान सुन्दर रूप धारण करनेवाली है। यह लात मारने योग्य कदापि नहीं है ॥

न हीदृशी मनुष्येषु सुलभा वरवर्णिनी।
नारी सर्वानवद्याङ्गी देवीं मन्यामहे वयम् ॥३८॥

मनुष्य-जातिमें तो ऐसी सती-साध्वी और सुन्दरी स्त्री सुलभ ही नहीं होती । इसके सम्पूर्ण अङ्ग निर्दोष हैं। हम तो इसे मानवी नहीं; देवी मानते हैं ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्पूजयन्तस्ते कृष्णां प्रेक्ष्य सभासदः ।
युधिष्ठिरस्य कोपात् तु ललाटे स्वेद आगमत् ॥३९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जब इस प्रकार द्रौपदीको देखकर सभासद् उसकी प्रशंसा कर रहे थे, उस समय कीचकके प्रति क्रोध होनेके कारण युधिष्ठिरके ललाटमें पसीना आ गया ॥ ३९ ॥

(सा विनिःश्वस्य सुश्रोणी भूमावन्तर्मुखी स्थिता ।
तूष्णीमासीत् तदा दृष्ट्वा विवक्षन्तं युधिष्ठिरम् ॥)

तदनन्तर सुन्दरी द्रौपदी लंबी साँस खींचकर नीचा मुख किये भूमिपर खड़ी हो गयी और राजा युधिष्ठिरको कुछ कहनेके लिये उद्यत देख वह स्वयं मौन रह गयी ॥

अथाब्रवीद् राजपुत्रीं कौरव्यो महिषीं प्रियाम् ।
गच्छ सैरन्ध्रि मात्र स्थाः सुदेष्णाया निवेशनम् ॥४०॥

तब उन कुरुनन्दनने अपनी प्यारी रानीसे इस प्रकार कहा—'सैरन्ध्री ! अब तू यहाँ न ठहर । रानी सुदेष्णाके महलमें चली जा ॥ ४० ॥

भर्तारमनुरुन्धन्त्यः क्लिश्यन्ते वीरपत्नयः ।
शुश्रूषया क्लिश्यमानाः पतिलोकं जयन्त्युत ॥४१॥

'पतिका अनुसरण करनेवाली वीरपत्नियाँ सब क्लेश चुपचाप सहन कर लेती हैं । जो पतिसेवापूर्वक क्लेश उठाती हैं, वे साध्वी देवियाँ पतिलोकपर विजय पा लेती हैं ॥ ४१ ॥

मन्ये न कालं क्रोधस्य पश्यन्ति पतयस्तव ।
तेन त्वां नाभिधावन्ति गन्धर्वाः सूर्यवर्चसः ॥४२॥

'मैं समझता हूँ, तुम्हारे सूर्यके समान तेजस्वी पति गन्धर्वगण अभी क्रोध करनेका अवसर नहीं देखते; इसीलिये तुम्हारे पास दौड़कर नहीं आ रहे हैं ॥ ४२ ॥

(श्रूयन्तां ते सुकेशान्ते मोक्षधर्माश्रयाः कथाः ।
यथा धर्मः कुलस्त्रीणां दृष्टो धर्मानुरोधनात् ॥

'सुन्दर केशप्रान्तवाली सैरन्ध्री ! तुम मोक्षधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें सुनो । धर्मशास्त्रके अनुसार कुलवती स्त्रियोंका धर्म इस प्रकार देखा गया है ॥

नास्ति कश्चित् स्त्रिया यज्ञो न श्राद्धं नाप्युपोषणम् ।
या च भर्तरि शुश्रूषा सा स्वर्गायाभिजायते ॥

'स्त्रीके लिये न तो कोई यज्ञ है, न श्राद्ध है और न उपवासका ही विधान है। स्त्रियोंके द्वारा जो पतिकी सेवा होती है, वही उन्हें स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली है ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

'कुमारावस्थामें पिता, युवावस्थामें पति और वृद्धावस्थामें पुत्र नारीकी रक्षा करता है । स्त्रीको कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये ॥

भर्तॄन् प्रति तथा पत्न्यो न क्रुध्यन्ति कदाचन ।
बहुभिश्च परिक्लेशैरवज्ञाताश्च शत्रुभिः ॥

'पतिव्रता स्त्रियाँ नाना प्रकारके क्लेश सहकर तथा शत्रुओंद्वारा अपमानित होकर भी अपने पतियोंपर कभी क्रोध नहीं करतीं ॥

अनन्यभावशुश्रूषाः पुण्यलोकं व्रजन्त्युत ॥
न क्रुद्धान् प्रति यायाद् वै पतींस्ते वृत्रहा अपि ॥

'इस प्रकार अनन्यभावसे पतिकी शुश्रूषा करनेवाली स्त्रियाँ पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेती हैं । सैरन्ध्री ! तुम्हारे पतियोंके कुपित होनेपर तो वृत्रहन्ता इन्द्र भी युद्धमें उनका सामना नहीं कर सकते ॥

यदि ते समयः कश्चित् कृतो ह्यायतलोचने ।
तं स्मरस्व क्षमाशीले क्षमा धर्मो ह्यनुत्तमः ॥

'विशाललोचने ! यदि उनके साथ तेरी कोई शर्त हुई हो, तो उसे याद कर ले । क्षमाशीले ! क्षमा सबसे उत्तम धर्म है ॥

क्षमा सत्यं क्षमा दानं क्षमा धर्मः क्षमा तपः ।
क्षमावतामयं लोकः परलोकः क्षमावताम् ॥
द्व्यंशिनो द्वादशाङ्गस्य चतुर्विंशतिपर्वणः ।
कः षष्टित्रिशतारस्य मासोनस्याक्षमी भवेत् ॥

'क्षमा सत्य है, क्षमा दान है, क्षमा धर्म है और क्षमा ही तप है । क्षमाशील मनुष्योंके लिये ही यह लोक और परलोक है । जिसके दो (उत्तरायण एवं दक्षिणायन) अंश हैं, बारह (मास) अङ्ग हैं, चौबीस (पक्ष) पर्व हैं और तीन सौ साठ (दिन) अरे हैं, उस कालचक्रके पूर्ण होनेमें यदि एक मासकी ही कमी रह गयी हो; तो कौन उसकी प्रतीक्षा न करके क्षमाका त्याग कर सकता है ?' ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्ते तिष्ठन्तीं पुनरेवाह धर्मराट् ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इतना कहनेपर भी जब द्रौपदी वहाँ खड़ी ही रह गयी, तब धर्मराजने पुनः उससे कहा—॥

अकालज्ञासि सैरन्ध्रि शैलूषीव विरोदिषि ।
विघ्नं करोषि मत्स्यानां दीव्यतां राजसंसदि ॥४३॥

'सैरन्ध्री ! तू अवसरको नहीं पहचानती; इसीलिये नटीकी भाँति राजसभामें रो रही है और द्यूतक्रीडामें लगे हुए मत्स्यराजकुमारोंके खेलमें विघ्न डालती है ॥ ४३ ॥

गच्छ सैरन्ध्रि गन्धर्वाः करिष्यन्ति तव प्रियम् ।
व्यपनेष्यन्ति ते दुःखं येन ते विप्रियं कृतम् ॥४४॥

'सैरन्ध्री ! जाओ, गन्धर्व तुम्हारा प्रिय करेंगे । जिसने तुम्हारा अपकार किया है, उसे मारकर तुम्हारा दुःख दूर कर देंगे' ॥ ४४ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

अतीव तेषां घृणिनामर्थेऽहं धर्मचारिणी ।
तस्य तस्यैव ते वध्या येषां ज्येष्ठोऽक्षदेविता ॥४५॥

सैरन्ध्री बोली—जिनके बड़े भाई सदा जूआ खेला करते हैं, उन दयालु गन्धर्वोंके लिये मैं अत्यन्त धर्मपरायणा रहूँगी । मेरा अपकार करनेवाले दुरात्मा उन सबके लिये वध्य हों ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्राद्रवत् कृष्णा सुदेष्णाया निवेशनम् ।
केशान् मुक्त्वा च सुश्रोणी संरम्भाल्लोहितेक्षणा ॥४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यों कहकर सुन्दर कटिप्रान्तवाली द्रौपदी तीव्र गतिसे रानी सुदेष्णाके महलको चली गयी । उसके केश खुले हुए थे और क्रोधसे उसकी आँखें लाल हो रही थीं ॥ ४६ ॥

शुशुभे वदनं तस्या रुदत्याः सुचिरं तदा ।
मेघलेखाविनिर्मुक्तं दिवीव शशिमण्डलम् ॥४७॥

उस समय रोती हुई द्रौपदीका मुख इस प्रकार सुशोभित हो रहा था, मानो आकाशमें मेघमालाके आवरणसे मुक्त चन्द्रबिम्ब शोभा पा रहा हो ॥ ४७ ॥

(पांसुकुण्ठितसर्वाङ्गी गजराजवधूरिव ।
प्रतस्थे नागनासोरूर्भर्तुराज्ञाय शासनम् ॥

समस्त अङ्गोंमें धूलिसे धूसरित गजराजवधूकी भाँति शोभा पानेवाली तथा हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली द्रौपदी स्वामीकी आज्ञा शिरोधार्य करके राजसभासे अन्तःपुरमें चली गयी ॥

विमुक्ता मृगशावाक्षी निरन्तरपयोधरा ।
प्रभा नक्षत्रराजस्य कालमेघैरिवावृता ॥

उसके स्तन एक दूसरेसे सटे हुए थे, तथा नेत्र मृगशावकोंके समान चञ्चल हो रहे थे । वह कीचकके हाथसे छूटकर शोक और दुःखसे इस प्रकार मलिन हो रही थी, मानो चन्द्रमाकी प्रभा वर्षाकालके मेघोंसे आच्छादित हो गयी हो ॥

यस्या ह्यर्थे पाण्डवेयास्त्यजेयुरपि जीवितम् ।
तां ते दृष्ट्वा तथा कृष्णां क्षमिणो धर्मचारिणः ॥
समयं नातिवर्तन्ते वेलामिव महोदधिः ॥)

जिसके लिये समस्त पाण्डव अपने प्राणतक दे सकते थे, उसी कृष्णाको उस दशामें देखकर भी धर्मात्मा पाण्डव क्षमा धारण किये बैठे थे । जैसे समुद्र अपने तटकी सीमाका उल्लङ्घन नहीं करता, उसी प्रकार वे अज्ञातवासके लिये स्वीकृत समयका अतिक्रमण नहीं कर रहे थे ॥

सुदेष्णोवाच

कस्त्वावधीद् वरारोहे कस्माद् रोदिषि शोभने ।
कस्याद्य न सुखं भद्रे केन ते विप्रियं कृतम् ॥४८॥

सुदेष्णाने पूछा—वरारोहे ! तुम्हें किसने मारा है ? शोभने ! तू क्यों रोती है ? भद्रे ! आज किसका सुख समाप्त हो गया ? किसने तुम्हारा अपराध किया है ? ॥ ४८ ॥

(किमिदं पद्मसंकाशं सुदन्तोष्ठाक्षिनासिकम् ।
रुदन्त्या अवमृष्टास्रं पूर्णेन्दुसमवर्चसम् ॥

कमलके समान कमनीय, सुन्दर दाँत, ओठ, नेत्र और नासिकासे सुशोभित तथा पूर्णचन्द्रके समान कान्तिमान् तुम्हारा यह मनोहर मुख ऐसा (मलिन) क्यों हो रहा है ? तुम रोती हुई अपने मुखपर बहे हुए आँसुओंको पोंछ रही हो ॥

बिम्बोष्ठं कृष्णताराभ्यामत्यन्तरुचिरप्रभम् ।
नयनाभ्यामजिह्माभ्यां मुखं ते मुञ्चते जलम् ॥

काली पुतलीवाले सरल नेत्रोंसे सुशोभित , बिम्बफलके समान अरुण अधरोंसे उपलक्षित और अत्यन्त मनोहर प्रभासे प्रकाशित तुम्हारा मुख इस समय आँसू क्यों गिरा रहा है ? ॥

वैशम्पायन उवाच

तां निःश्वस्याब्रवीत् कृष्णा जानन्ती नाम पृच्छसि ।
भ्रात्रे त्वं मामनुप्रेष्य किमेवं त्वं विकत्थसे ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब कृष्णाने लंबी साँसें खींचकर कहा—'तुम सब कुछ जानती हुई भी मुझसे क्या पूछ रही हो ? स्वयं ही मुझे अपने भाईके पास भेजकर अब इस प्रकारकी बातें क्यों बना रही हो ? ॥

द्रौपद्युवाच

कीचको मावधीत् तत्र सुराहारीं गतां तव ।
सभायां पश्यतो राज्ञो यथैव विजने वने ॥४९॥

द्रौपदी फिर बोली—मैं तुम्हारे लिये मदिरा लाने गयी थी । वहाँ कीचकने राजसभामें महाराजके देखते-देखते मुझपर प्रहार किया है; ठीक उसी तरह, जैसे कोई निर्जन वनमें किसी असहाय अबलापर आघात करता हो ॥ ४९ ॥

सुदेष्णोवाच

घातयामि सुकेशान्ते कीचकं यदि मन्यसे ।
योऽसौ त्वां कामसम्मत्तो दुर्लभामवमन्यते ॥५०॥

सुदेष्णाने कहा—सुन्दर लटोंवाली सुन्दरी ! यदि तुम्हारी सम्मति हो, तो मैं कीचकको मरवा डालूँ; जो कामसे उन्मत्त होकर तुझ-जैसी दुर्लभ देवीका अपमान कर रहा है ॥ ५० ॥

सैरन्ध्र्युवाच

अन्ये चैनं वधिष्यन्ति येषामागः करोति सः ।
मन्ये चैवाद्य सुव्यक्तं यमलोकं गमिष्यति ॥५१॥

सैरन्ध्री बोली—महारानी ! उसे दूसरे ही लोग मार डालेंगे, जिनका कि अपराध वह कर रहा है । मैं तो समझती हूँ, अब वह निश्चय ही यमलोककी यात्रा करेगा ॥

(भ्रातुः प्रयच्छ त्वरिता जीवश्राद्धं त्वमद्य वै ।
सुदृष्टं कुरु वै चैनं नासून् मन्ये धरिष्यति ॥

रानी ! आज तुम अपने भाईके लिये शीघ्र ही जीवित-श्राद्ध कर लो । उसके लिये आवश्यक दान दे लो । साथ ही उसे आँख भरकर अच्छी तरह देख लो । मेरा विश्वास है कि अब उसके प्राण नहीं रहेंगे ॥

तेषां हि मम भर्तॄणां पञ्चानां धर्मचारिणाम् ।
एको दुर्धर्षणोऽत्यर्थं बले चाप्रतिमो भुवि ॥
निर्मनुष्यमिमं लोकं कुर्यात् क्रुद्धो निशामिमाम् ।
न च संक्रुध्यते तावद् गन्धर्वः कामरूपधृक् ॥

मेरे पाँच धर्मात्मा पतियोंमेंसे एक अत्यन्त दुःसह एवं अमर्षशील वीर हैं । भूतलपर बलमें उनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है । वे कुपित होनेपर इस रातमें ही इस संसारको मनुष्योंसे शून्य कर सकते हैं । परंतु इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वे गन्धर्व न जाने क्यों अभीतक क्रोध नहीं कर रहे हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

सुदेष्णामेवमुक्त्वा तु सैरन्ध्री दुःखमोहिता ।
कीचकस्य वधार्थाय व्रतदीक्षामुपागमत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रानी सुदेष्णासे ऐसा कहकर दुःखसे मोहित हुई सैरन्ध्रीने कीचकके वधके लिये व्रतकी दीक्षा ग्रहण की ॥

अभ्यर्थिता च नारीभिर्मानिता च सुदेष्णया ।
न च स्नाति न चाश्नाति न पांसून् परिमार्जति ॥

दूसरी स्त्रियोंने उससे बहुत प्रार्थना की । रानी सुदेष्णाने भी उसे बहुत मनाया; तथापि न वह स्नान करती, न भोजन करती और न अपने शरीरकी धूल ही झाड़ती थी ॥

रुधिरक्लिन्नवदना बभूव रुदितेक्षणा ॥
तां तथा शोकसंतप्तां दृष्ट्वा प्ररुदितां स्त्रियः ।
कीचकस्य वधं सर्वा मनोभिश्च शशंसिरे ॥

उसका मुँह रक्तसे भींगा हुआ था, आँखोंमें रुलाईके आँसू भरे हुए थे । उसे इस प्रकार शोकसे संतप्त होकर रोती देख सब स्त्रियाँ मन-ही-मन कीचकके वधकी इच्छा करने लगीं ॥

जनमेजय उवाच

अहो दुःखतरं प्राप्ता कीचकेन पदा हता ।
पतिव्रता महाभागा द्रौपदी योषितां वरा ॥

जनमेजय बोले—विप्रवर ! संसारकी युवतियोंमें श्रेष्ठ एवं पतिव्रता महाभागा द्रौपदीको कीचकने लात मार दी; इससे वह महान् दुःखमें डूब गयी । अहो ! यह कितने कष्टकी बात है ॥

दुःशलां मानयन्ती या भर्तॄणां भगिनीं शुभाम् ।
नाशपत् सिन्धुराजं तं बलात्कारेण वाहिता ॥

जिस समय सिन्धुराज जयद्रथने बलपूर्वक उसका अपहरण किया था, उस समय उसने अपने पतियोंकी बहिन दुःशलाका सम्मान करते हुए वह कष्ट सह लिया और शुभलक्षणा सिन्धुराजको शाप नहीं दिया ॥

किमर्थं धर्षणं प्राप्ता कीचकेन दुरात्मना ।
नाशपत् तं महाभागा कृष्णा पादेन ताडिता ॥

परंतु जब दुरात्मा कीचकने उसका तिरस्कार किया और उसे लातसे मारा, उस समय महाभागा कृष्णाने उस दुष्टको शाप क्यों नहीं दे दिया ? ॥

तेजोराशिरियं देवी धर्मज्ञा सत्यवादिनी ।
केशपक्षे परामृष्टा मर्षयिष्यत्यशक्तवत् ॥
नैतत् कारणमल्पं हि श्रोतुकामोऽस्मि सत्तम ।
कृष्णायास्तु परिक्लेशान्मनो मे दूयते भृशम् ॥

देवी द्रौपदी तेजकी राशि थी । वह धर्मज्ञा और सत्यवादिनी थी । उसके-जैसी तेजस्विनी स्त्री अपने केश पकड़ लिये जानेपर असमर्थकी भाँति चुपचाप सह लेगी, यह सम्भव नहीं है । यदि उसने सह लिया, तो इसका कोई छोटा कारण नहीं होगा । साधुशिरोमणे ! मैं वह कारण सुनना चाहता हूँ । कृष्णाके क्लेशकी बात सुनकर मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो रहा है ॥

कस्य वंशे समुद्भूतः स च दुर्ललितो मुने ।
बलोन्मत्तः कथं चासीच्छ्यालो मात्स्यस्य कीचकः ॥

मुने ! मत्स्यराजका साला दुष्ट कीचक किसके कुलमें उत्पन्न हुआ था ? और वह बलसे उन्मत्त क्यों हो गया था ? ॥

वैशम्पायन उवाच

त्वदुक्तोऽयमनुप्रश्नः कुरूणां कीर्तिवर्धन ।
एतत् सर्वं तथा वक्ष्ये विस्तरेणैव पार्थिव ॥

वैशम्पायनजीने कहा—कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले

नरेश ! तुम्हारा उठाया हुआ यह प्रश्न ठीक है । मैं यह सब विस्तारपूर्वक बताऊँगा ।

ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातः सूतो भवति पार्थिव ।
प्रातिलोम्येन जातानां स ह्येको द्विज एव तु ॥

राजन् ! क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी मातासे उत्पन्न हुआ बालक 'सूत' कहलाता है । प्रतिलोमसंकर जातियोंमें अकेली यह सूत जाति ही द्विज कही गयी है ॥

रथकारमितीमं हि क्रियायुक्तं द्विजन्मनाम् ।
क्षत्रियादवरं वैश्याद् विशिष्टमिति चक्षते ॥

द्विजोचित कर्मोंसे युक्त उस सूतको ही रथकार भी कहते हैं । इसे क्षत्रियसे हीन और वैश्यसे श्रेष्ठ बताते हैं ॥

सह सूतेन सम्बन्धः कृतपूर्वो नरेश्वरैः ।
तथापि तैर्महीपाल राजशब्दो न लभ्यते ॥

राजन् ! पहलेके नरेशोंने सूतजातिके साथ भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया है, परंतु उन्हें राजाकी उपाधि नहीं प्राप्त होती थी ॥

तेषां तु सूतविषयः सूतानां नामतः कृतः ।
उपजीव्य च यत् क्षत्रं लब्धं सूतेन तत् पुरा ॥

उनके लिये सूतोंके नामसे सूतराज्य ही नियत कर दिया गया था । वह राज्य सूतजातिके एक पुरुषने किसी क्षत्रियकी सेवा करके ही प्राप्त किया था ॥

सूतानामधिपो राजा केकयो नाम विश्रुतः ॥
राजकन्यासमुद्भूतः सारथ्येऽनुपमोऽभवत् ।

सुप्रसिद्ध केकय नामक राजा सूतोंके ही अधिपति थे । उनका जन्म किसी क्षत्रियकन्याके गर्भसे हुआ था । वे सारथिके कर्ममें अनुपम थे ॥

पुत्रास्तस्य कुरुश्रेष्ठ मालव्यां जज्ञिरे तदा ॥
तेषामतिबलो ज्येष्ठः कीचकः सर्वजित् प्रभो ।

कुरुश्रेष्ठ ! उनके मालवीके गर्भसे कई पुत्र उत्पन्न हुए । प्रभो ! उन पुत्रोंमें कीचक ही सबसे बड़ा था । वह अत्यन्त बलवान् और सर्वविजयी योद्धा था ॥

द्वितीयायां तु मालव्यां चित्रा ह्यवरजाभवत् ।
तां सुदेष्णेति वै प्राहुर्विराटमहिषीं प्रियाम् ॥

राजा केकयकी दूसरी रानी भी मालवकन्या ही थी । उसके गर्भसे चित्रा नामवाली कन्या उत्पन्न हुई, जो समस्त कीचकबन्धुओंकी छोटी बहिन थी । उसीको सुदेष्णा भी कहते हैं । वही आगे चलकर महाराज विराटकी प्यारी पटरानी हुई ॥

तां विराटस्य मात्स्यस्य केकयः प्रददौ मुदा ।
सुरथायां मृतायां तु कौसल्यां श्वेतमातरि ॥

विराटकी बड़ी रानी कोसलदेशकी राजकुमारी सुरथा, जो श्वेतकी जननी थी, उसकी मृत्यु हो जानेपर केकय-नरेशने अपनी कन्या सुदेष्णाका विवाह मत्स्यराज विराटके साथ प्रसन्नतापूर्वक कर दिया ॥

सुदेष्णां महिषीं लब्ध्वा राजा दुःखमपानुदत् ॥
उत्तरं चोत्तरां चैव विराटात् पृथिवीपते ।
सुदेष्णा सुषुवे देवी कैकेयी कुलवृद्धये ॥

सुदेष्णाको महारानीके रूपमें पाकर राजा विराटका दुःख दूर हो गया । जनमेजय ! केकयकुमारी रानी सुदेष्णाने राजा विराटसे अपने कुलकी वृद्धिके लिये उत्तर और उत्तरा नामक दो संतानोंको उत्पन्न किया ॥

मातृष्वसृसुतां राजन् कीचकस्तामनिन्दिताम् ।
सदा परिचरन् प्रीत्या विराटे न्यवसत् सुखी ॥

राजन् ! कीचक अपनी मौसीकी बेटी सती-साध्वी सुदेष्णाकी प्रेमपूर्वक परिचर्या करता हुआ विराटके यहाँ सुखपूर्वक रहने लगा ॥

भ्रातरस्तस्य विक्रान्ताः सर्वे च तमनुव्रताः ।
विराटस्यैव संहृष्टा बलं कोशं च वर्धयन् ॥

उसके सभी पराक्रमी भाई कीचकके ही प्रेमी भक्त थे; अतः वे भी विराटके ही बल और कोषको बढ़ाते हुए प्रसन्नतापूर्वक वहाँ रहने लगे ॥

कालेया नाम दैतेयाः प्रायशो भुवि विश्रुताः ।
जज्ञिरे कीचका राजन् बाणो ज्येष्ठस्ततोऽभवत् ॥
स हि सर्वास्त्रसम्पन्नो बलवान् भीमविक्रमः ।
कीचको नष्टमर्यादो बभूव भयदो नृणाम् ।

राजन् ! कालेय नामक दैत्य ही, जो प्रायः इस भूमण्डलमें विख्यात थे, कीचकोंके रूपमें उत्पन्न हुए थे । कालेयोंमें बाण सबसे बड़ा था । वही सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न, भयंकर-पराक्रमी और महाबली कीचक हुआ, जो धर्मकी मर्यादाको तोड़ने और मनुष्योंके भयको बढ़ानेवाला था ॥

तं प्राप्य बलसम्मत्तं विराटः पृथिवीपतिः ॥
जिगाय सर्वांश्च रिपून् यथेन्द्रो दानवानिव ।

उस बलोन्मत्त कीचककी सहायता पाकर, जैसे इन्द्र दानवोंपर विजय पाते हैं, उसी प्रकार राजा विराटने भी समस्त शत्रुओंपर विजय प्राप्त की ॥

मेखलांश्च त्रिगर्तांश्च दशार्णांश्च कशेरुकान् ।
मालवान् यवनांश्चैव पुलिन्दान् काशिकोसलान् ।
अङ्गान् वङ्गान् कलिङ्गांश्च तङ्गणान् परतङ्गणान् ।
मलदान् निषधांश्चैव तुण्डिकेरांश्च कोङ्कणान् ॥
करदांश्च निषिद्धांश्च शिवान् दुश्छल्लिकांस्तथा ।

अन्ये च बहवः शूराः नानाजनपदेश्वराः ।
कीचकेन रणे भग्ना व्यद्रवन्त दिशो दश ॥

मेखल, त्रिगर्त, दशार्ण, कशेरुक, मालव, यवन, पुलिन्द, काशी, कोसल, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, तङ्गण, परतङ्गण, मलद, निषध, तुण्डिकेर, कोङ्कण, करद, निषिद्ध, शिव, दुश्छिल्लिक तथा अन्य नाना जनपदोंके स्वामी अनेक शूरवीर नरेश रणभूमिमें कीचकसे पराजित हो दसों दिशाओंमें भाग गये ॥

तमेवं वीर्यसम्पन्नं नागायुतबलं रणे ।
विराटस्तत्र सेनायाश्चकार पतिमात्मनः ॥

ऐसे पराक्रमसम्पन्न कीचकको, जो संग्राममें दस हजार हाथियोंका बल रखता था, राजा विराटने अपना सेनापति बना लिया ॥

विराटभ्रातरश्चैव दश दाशरथोपमाः ।
ते चैनानन्वर्तन्त कीचकान् बलवत्तरान् ॥

विराटके दस भाई ऐसे थे, जो दशरथनन्दन श्रीरामके समान शक्तिशाली समझे जाते थे । वे भी इन प्रबलतर कीचकबन्धुओंका अनुसरण करने लगे ॥

एवंविधबलोपेताः कीचकास्ते न तद्विधाः ।
राज्ञः श्याला महात्मानो विराटस्य हितैषिणः ।

ऐसे बलसम्पन्न कीचक, जो राजा विराटके साले लगते थे, शौर्यमें अपना सानी नहीं रखते थे । वे महामना विराटके बड़े हितैषी थे ॥

एतत् ते कथितं सर्वं कीचकस्य पराक्रमम् ॥
द्रौपदी न शशापैनं यस्मात् तद् गदतः शृणु ।

जनमेजय ! इस प्रकार मैंने तुमसे कीचकके पराक्रमकी सारी बातें बता दीं । अब यह भी सुन लो कि द्रौपदीने उसे शाप क्यों नहीं दिया ? ॥

क्षरतीति तपः क्रोधादृषयो न शपन्ति हि ॥
जानन्ती तद् यथातत्त्वं पाञ्चाली न शशाप तम् ।

क्रोधसे तपस्या नष्ट होती है, इसीलिये ऋषि भी सहसा किसीको शाप नहीं देते हैं । द्रौपदी इस बातको अच्छी तरह जानती थी; इसीलिये उसने उसे शाप नहीं दिया ॥

क्षमा धर्मः क्षमा दानं क्षमा यज्ञः क्षमा यशः ।
क्षमा सत्यं क्षमा शीलं क्षमा कीर्तिः क्षमा परम् ॥
क्षमा पुण्यं क्षमा तीर्थं क्षमा सर्वमिति श्रुतिः ।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।
एतत् सर्वं विजानन्ती सा क्षमामन्वपद्यत ॥

क्षमा धर्म है, क्षमा दान है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा यश है, क्षमा सत्य है, क्षमा शील है, क्षमा कीर्ति है, क्षमा सबसे उत्कृष्ट तत्त्व है, क्षमा पुण्य है, क्षमा तीर्थ है और क्षमा सब कुछ है; ऐसा श्रुतिका कथन है । यह लोक क्षमावानोंका ही है । परलोक भी क्षमावानोंका ही है । द्रौपदी यह सब कुछ जानती थी, इसलिये उसने क्षमाका ही आश्रय लिया ॥

भर्तॄणां मतमाज्ञाय क्षमिणां धर्मचारिणाम् ।
नाशपत् तं विशालाक्षी सती शक्तापि भारत ॥

भरतनन्दन ! क्षमाशील एवं धर्मात्मा पतियोंका मत जानकर विशाल नेत्रोंवाली सती-साध्वी द्रौपदीने समर्थ होते हुए भी कीचकको शाप नहीं दिया ॥

पाण्डवाश्चापि ते सर्वे द्रौपदीं प्रेक्ष्य दुःखिताः ।
क्रोधाग्निना व्यदह्यन्त तदा कालव्यपेक्षया ॥

समस्त पाण्डव भी द्रौपदीकी दुरवस्था देखकर दुखी हो समयकी प्रतीक्षा करते हुए क्रोधाग्निमें जलते रहे ॥

अथ भीमो महाबाहुः सूदयिष्यंस्तु कीचकम् ।
वारितो धर्मपुत्रेण वेलयेव महोदधिः ॥

महाबाहु भीमसेन तो कीचकको तत्काल मार डालनेके लिये उद्यत थे; परंतु जैसे वेला (तटकी सीमा) महासागरके वेगको रोके रहती है, उसी प्रकार धर्मपुत्र युधिष्ठिरने उन्हें रोक दिया ॥

संधार्य मनसा रोषं दिवारात्रं विनिःश्वसन् ।
महानसे तदा कृच्छ्रात् सुष्वाप रजनीं च ताम् ॥

वे मनमें क्रोधको रोककर दिन-रात लंबी साँसें खींचते रहते थे । उस दिन पाकशालामें जाकर वे रातमें बड़े कष्टसे सोये ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीपरिभवे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीतिरस्कारसम्बन्धी सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९२ श्लोक मिलाकर कुल १४३ श्लोक हैं)

सप्तदशोऽध्यायः

द्रौपदीका भीमसेनके समीप जाना

वैशम्पायन उवाच

सा हता सूतपुत्रेण राजपत्नी यशस्विनी।
वधं कृष्णा परीप्सन्ती सेनावाहस्य भामिनी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सूतपुत्र सेनापति कीचकने जबसे लात मारी थी, तभीसे यशस्विनी राजपत्नी भामिनी द्रौपदी उसके वधकी बात सोचने लगी ॥ १ ॥

जगामावासमेवाथ सा तदा द्रुपदात्मजा।
कृत्वा शौचं यथान्यायं कृष्णा सा तनुमध्यमा ॥ २ ॥
गात्राणि वाससी चैव प्रक्षाल्य सलिलेन सा।
चिन्तयामास रुदती तस्य दुःखस्य निर्णयम् ॥ ३ ॥

वह अपने निवासस्थानपर गयी। उस समय सूक्ष्म कटि-भागवाली द्रुपदकुमारी कृष्णाने वहाँ यथायोग्य शौच-स्नान करके जलसे अपने शरीर और वस्त्र धोये तथा वह रोती हुई उस दुःखके निवारणका उपाय सोचने लगी—॥ २-३ ॥

किं करोमि क्व गच्छामि कथं कार्यं भवेन्मम।
इत्येवं चिन्तयित्वा सा भीमं वै मनसागमत् ॥ ४ ॥

'क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? कैसे मेरा अभीष्ट कार्य होगा, इस प्रकार चिन्तन करके उसने मन-ही-मन भीमसेनका स्मरण किया ॥ ४ ॥

नान्यः कर्ता ऋते भीमान्ममाद्य मनसः प्रियम्।
तत उत्थाय रात्रौ सा विहाय शयनं स्वकम् ॥ ५ ॥
प्राद्रवन्नाथमिच्छन्ती कृष्णा नाथवती सती।
भवनं भीमसेनस्य क्षिप्रमायतलोचना ॥ ६ ॥
दुःखेन महता युक्ता मानसेन मनस्विनी।

'भीमसेनके सिवा दूसरा कोई आज मेरे मनको प्रिय लगनेवाला कार्य नहीं कर सकता,'—ऐसा निश्चय करके वह विशाल नेत्रोंवाली सती-साध्वी सनाथा कृष्णा रातको अपनी शय्या छोड़कर उठी और अपने नाथ (रक्षक) से मिलनेकी इच्छा रखकर शीघ्रतापूर्वक भीमसेनके भवनमें गयी। उस समय मनस्विनी द्रौपदी महान् मानसिक दुःखसे पीड़ित थी ॥ ५-६½ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

तस्मिञ्जीवति पापिष्ठे सेनावाहे मम द्विषि ॥ ७ ॥
तत् कर्म कृतवानद्य कथं निद्रां निषेवसे।

वहाँ पहुँचते ही सैरन्ध्री बोली—आर्यपुत्र! मुझसे द्वेष रखनेवाले उस महापापी सेनापतिके, जिसने मेरे साथ वैसा अपमानजनक बर्ताव किया था, जीते-जी तुम आज नींद कैसे ले रहे हो? ॥ ७½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वाथ तां शालां प्रविवेश मनस्विनी ॥ ८ ॥
यस्यां भीमस्तथा शेते मृगराज इव श्वसन्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहती हुई मनस्विनी द्रौपदीने उस भवनमें प्रवेश किया, जिसमें सिंहकी भाँति साँसें खींचते हुए भीमसेन सो रहे थे ॥ ८½ ॥

तस्या रूपेण सा शाला भीमस्य च महात्मनः ॥ ९ ॥
सम्मूर्छितेव कौरव्य प्रजज्वाल च तेजसा।
सा वै महानसं प्राप्य भीमसेनं शुचिस्मिता ॥ १० ॥
सर्वश्वेतेव माहेयी वने जाता त्रिहायणी।
उपातिष्ठत पाञ्चाली वासितेव नरर्षभम् ॥ ११ ॥

कुरुनन्दन! द्रौपदीके दिव्य रूपसे महात्मा भीमकी वह पाकशाला शोभा-समृद्धिको प्राप्त होकर तेजसे प्रकाशित हो उठी। पवित्र मुसकानवाली द्रौपदी पाकशालामें पहुँचकर क्रमशः [बक, साँड़ और गजराजके पास जानेवाली] जलमें उत्पन्न हुई बकी, तीन सालकी पार्थिव गौ तथा हथिनीके समान श्रेष्ठ पुरुष भीमसेनके समीप गयीं ॥ ९-११ ॥

सा लतेव महाशालं फुल्लं गोमतितीरजम्।
परिष्वजत पाञ्चाली मध्यमं पाण्डुनन्दनम् ॥ १२ ॥

जैसे लता गोमतीके तटपर उत्पन्न एवं खिले हुए ऊँचे शालवृक्षमें लिपट जाती है, उसी प्रकार सती-साध्वी पाञ्चालीने मध्यम[1] पाण्डव भीमसेनका आलिङ्गन किया ॥ १२ ॥

बाहुभ्यां परिरभ्यैनं प्राबोधयदनिन्दिता।
सिंहं सुप्तं वने दुर्गे मृगराजवधूरिव ॥ १३ ॥

उसने उन्हें दोनों भुजाओंसे कसकर जगाया; ठीक वैसे ही, जैसे दुर्गम वनमें सोये हुए सिंहको सिंहिनी जगाती है ॥ १३ ॥

भीमसेनमुपाश्लिष्यद्धस्तिनीव महागजम्।
वीणेव मधुरालापा गान्धारं साधु मूर्छती।
अभ्यभाषत पाञ्चाली भीमसेनमनिन्दिता ॥ १४ ॥

जैसे हथिनी महान् गजराजका आलिङ्गन करती है, उसी प्रकार निर्दोष पाञ्चालराजकुमारी भीमसेनसे सटकर गान्धार स्वरमें मधुर ध्वनि फैलाती हुई वीणाकी भाँति मीठे वचनोंमें बोली—॥ १४ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे भीमसेन यथा मृतः।
नामृतस्य हि पापीयान् भार्यामालभ्य जीवति ॥ १५ ॥

'भीमसेन! उठो, उठो, क्यों मुर्देकी तरह सो रहे हो?; क्योंकि (तुम्हारे-जैसे वीर) पुरुषके जीवित रहते हुए उसकी पत्नी-का स्पर्श करके कोई महापापी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता' ॥

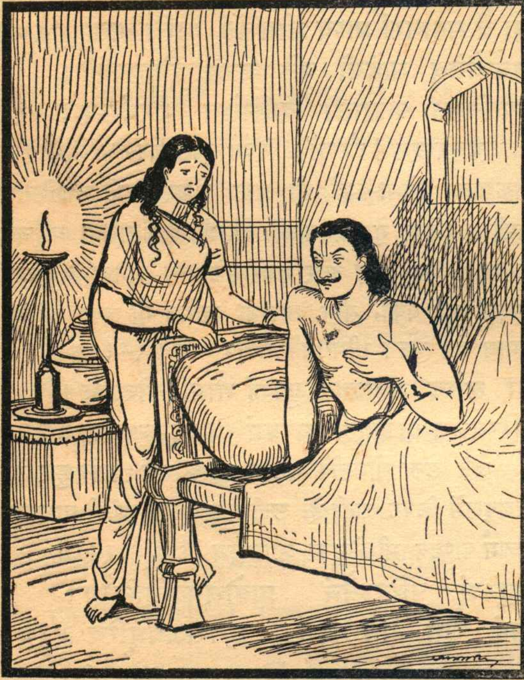
स सम्प्रहाय शयनं राजपुत्र्या प्रबोधितः।
उपातिष्ठत मेघाभः पर्यङ्के सोपसंग्रहे ॥ १६ ॥

---

१. नकुल-सहदेव जुड़वें पैदा हुए थे; अतः वे दोनों कनिष्ठ (छोटे) भाई हैं। युधिष्ठिर बड़े हैं। भीमसेन और अर्जुन मध्यम हैं। विराटपर्वके प्रसंगमें अर्जुन पुरुष नहीं रह गये हैं। अतः भीमसेन ही यहाँ प्रधानरूपसे मध्यम पाण्डव कहे गये हैं।

अथाब्रवीद् राजपुत्रीं कौरव्यो महिषीं प्रियाम् ।
केनास्यर्थेन सम्प्राप्ता त्वरितेव ममान्तिकम् ॥ १७ ॥
न ते प्रकृतिमान् वर्णः कृशा पाण्डुश्च लक्ष्यसे ।
आचक्ष्व परिशेषेण सर्वं विद्यामहं यथा ॥ १८ ॥

राजकुमारी द्रौपदीके जगानेपर मेघके समान श्याम वर्णवाले कुरुनन्दन भीमसेन तोशक बिछे हुए पलंगपर शयन छोड़कर उठ बैठे और अपनी प्यारी रानीसे बोले—'देवि !



किस कार्यसे तुम इतनी उतावली-सी होकर मेरे पास आयी हो ? तुम्हारे शरीरकी कान्ति स्वाभाविक नहीं रह गयी है । तुमपर उदासी छायी है । तुम दुबली और पीली दिखायी देती हो । पूरी बात बताओ, जिससे मैं सब कुछ जान सकूँ ॥१६-१८॥

सुखं वा यदि वा दुःखं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
यथावत् सर्वमाचक्ष्व श्रुत्वा ज्ञास्यामि यत् क्षमम् ॥ १९ ॥

'तुम्हें सुख हो या दुःख, बुरा हुआ हो या भला, सब बातें ठीक-ठीक कह जाओ । वह सब सुनकर मैं उसके निवारणके लिये उचित उपाय सोचूँगा ॥ १९ ॥

अहमेव हि ते कृष्णे विश्वास्यः सर्वकर्मसु ।
अहमापत्सु चापि त्वां मोक्षयामि पुनः पुनः ॥ २० ॥

'कृष्णे ! सब कार्योंके लिये मैं ही तुम्हारा विश्वासपात्र हूँ । मैं ही सब प्रकारकी विपत्तियोंमें बार-बार सहायता करके तुम्हें संकटसे मुक्त करता हूँ ॥ २० ॥

शीघ्रमुक्त्वा यथाकामं यत् ते कार्यं विवक्षितम् ।
गच्छ वै शयनायैव पुरा नान्येन बुध्यते ॥ २१ ॥

'अतः जैसी तुम्हारी रुचि हो और जिस कार्यके लिये कुछ कहना चाहती हो, उसे शीघ्र कहकर पहले ही अपने शयन-गृहमें चली जाओ, जिससे दूसरे किसीको इसका पता न चल सके' ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदी-भीम-संवादविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

द्रौपदीका भीमसेनके प्रति अपने दुःखके उद्गार प्रकट करना

वैशम्पायन उवाच

(सा लज्जमाना भीता च अधोमुखमुखी ततः ।
नोवाच किंचिद् वचनं वाष्पदूषितलोचना ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय लज्जित और भयभीत हुई द्रौपदीके नेत्रोंमें आँसू भर आये थे । वह मुँह नीचा किये मौन बैठी रही; कुछ भी बोल न सकी ॥

अथाब्रवीद् भीमपराक्रमो बली
वृकोदरः पाण्डवमुख्यसम्मतः ।
प्रब्रूहि किं ते करवाणि सुन्दरि
प्रियं प्रिये वारणखेलगामिनि ॥)

तब पाण्डवप्रवर युधिष्ठिरके परम प्रिय भयंकरपराक्रमी महाबली भीम इस प्रकार बोले—'सुन्दरि ! गजराजकी भाँति लीला-विलासपूर्वक मन्दगतिसे चलनेवाली प्रिये ! बताओ; मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?' ॥

द्रौपद्युवाच

अशोच्यत्वं कुतस्तस्य यस्या भर्ता युधिष्ठिरः ।
जानन् सर्वाणि दुःखानि किं मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—जिस स्त्रीके पति राजा युधिष्ठिर हों, वह बिना शोकके रहे, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? तुम मेरे सारे दुःखोंको जानते हुए भी मुझसे कैसे पूछते हो ? ॥ १ ॥

यन्मां दासीप्रवादेन प्रातिकामी तदानयत्।
सभापरिषदो मध्ये तन्मां दहति भारत ॥ २ ॥

दुर्योधनके सेवकके रूपमें दुःशासन मुझे दासी कहकर जो उस समय कौरवोंके सभाभवनमें जनसमाजके भीतर घसीट ले गया, वह अपमानकी आग मुझे आजतक जला रही है ॥२॥

(क्षत्रियैस्तत्र कर्णाद्यैर्दृष्टा दुर्योधनेन च।
श्वशुराभ्यां च भीष्मेण विदुरेण च धीमता ॥
द्रोणेन च महाबाहो कृपेण च परंतप।

शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबाहु भीम ! उस समय वहाँ बैठे हुए कर्ण आदि क्षत्रियोंने, दुर्योधनने, मेरे दोनों ससुर भीष्म और बुद्धिमान् विदुरने तथा द्रोणाचार्य और कृपाचार्यने भी मुझे उस दुरवस्थामें देखा था ॥

साहं श्वशुरयोर्मध्ये भ्रातृमध्ये च पाण्डव ॥
केशे गृहीत्वैव सभां नीता जीवति वै त्वयि।)

पाण्डुनन्दन ! इस प्रकार तुम्हारे जीते-जी मेरे केश पकड़कर मुझे दोनों श्वशुरों तथा दुर्योधन आदि भ्राताओंके बीच राजसभामें लाया गया।

पार्थिवस्य सुता नाम का नु जीवति मादृशी।
अनुभूयेदृशं दुःखमन्यत्र द्रौपदीं प्रभो ॥ ३ ॥

स्वामिन् ! मुझ द्रुपदकन्याको छोड़कर दूसरी मेरी-जैसी कौन राजकुमारी होगी, जो ऐसा दुःख भोगकर जी रही हो ॥

वनवासगतायाश्च सैन्धवेन दुरात्मना।
परामर्शो द्वितीयो वै सोढुमुत्सहते तु का ॥ ४ ॥

वनवासमें जानेपर दुरात्मा सिन्धुराज जयद्रथने जो मेरा स्पर्श कर लिया, यह दूसरा अपमान था। उसे भी कौन सह सकती है ? ॥ ४ ॥

(पद्भ्यां पर्यचरं चाहं देशान् विषमसंस्थितान्।
दुर्गाञ्छ्वापदसंकीर्णांस्त्वयि जीवति पाण्डव ॥

पाण्डुकुमार ! तुम्हारे जीते-जी मुझे हिंसक जन्तुओंसे भरे हुए विषम एवं दुर्गम प्रदेशोंमें पैदल विचरना पड़ा ॥

ततोऽहं द्वादशे वर्षे वन्यमूलफलाशना।
इदं पुरमनुप्राप्ता सुदेष्णापरिचारिका ॥
परस्त्रियमुपातिष्ठे सत्यधर्मपथस्थिता।

तदनन्तर बारहवें वर्षके अन्तमें मैं जंगली फल-मूलोंका आहार करती हुई इस विराटनगरमें आयी और सुदेष्णाकी सेविका बन गयी। मैं सत्यधर्मके मार्गमें स्थित होकर आज दूसरी स्त्रीकी सेवा करती हूँ ॥

गोशीर्षकं पद्मकं च हरिश्यामं च चन्दनम् ॥
नित्यं पिंषे विराटस्य त्वयि जीवति पाण्डव ॥
साहं बहूनि दुःखानि गणयामि न ते कृते।

द्रुपदस्य सुता चाहं धृष्टद्युम्नस्य चानुजा।
अग्निकुण्डात् समुद्भूता नोर्व्यां जातु चरामि भोः ॥)

पाण्डुपुत्र ! तुम्हारे जीते-जी मैं प्रतिदिन राजा विराटके लिये गोशीर्ष, पद्मकाष्ठ और हरिश्याम आदि चन्दन पीसती हूँ। फिर भी तुम्हारे संतोषके लिये मैं ऐसे बहुत-से दुःखोंको कुछ भी नहीं गिनती। मैं द्रुपदकी पुत्री और धृष्टद्युम्नकी बहिन हूँ। अग्निकुण्डसे मेरी उत्पत्ति हुई है। मैं कभी धरतीपर पैदल नहीं चलती थी (परंतु अब यहाँ यह दुर्दशा भोग रही हूँ)।

मत्स्यराजसमक्षं तु तस्य धूर्तस्य पश्यतः।
कीचकेन परामृष्टा का नु जीवति मादृशी ॥ ५ ॥

मत्स्यदेशके राजा विराटके सामने उस जुआरीके देखते-देखते कीचकने जो लात मारकर मेरा अपमान किया है, उसको सहकर मेरी-जैसी कौन राजकुमारी जीवित रह सकती है ? ॥ ५ ॥

एवं बहुविधैः क्लेशैः क्लिश्यमानां च भारत।
न मां जानासि कौन्तेय किं फलं जीवितेन मे ॥ ६ ॥

भरतकुलभूषण कुन्तीनन्दन ! ऐसे बहुत-से क्लेशोंद्वारा मैं निरन्तर पीड़ित रहती हूँ; क्या तुम यह नहीं जानते ? फिर मेरे जीनेका ही क्या प्रयोजन है ? ॥ ६ ॥

योऽयं राज्ञो विराटस्य कीचको नाम भारत।
सेनानीः पुरुषव्याघ्र श्यालः परमदुर्मतिः ॥ ७ ॥
स मां सैरन्ध्रिवेषेण वसन्तीं राजवेश्मनि।
नित्यमेवाह दुष्टात्मा भार्या मम भवेति वै ॥ ८ ॥

भारत ! पुरुषसिंह ! राजा विराटका जो यह कीचक नामक सेनापति है, वह उनका साला लगता है। उसकी बुद्धि बड़ी खोटी है। राजमहलमें सैरन्ध्रीके वेशमें निवास करती हुई मुझे देखकर वह दुष्टात्मा प्रतिदिन ही आकर मुझसे कहता है—'मेरी ही पत्नी हो जाओ' ॥ ७-८ ॥

तेनोपमन्त्र्यमाणाया वधार्हेण सपत्नहन्।
कालेनेव फलं पक्वं हृदयं मे विदीर्यते ॥ ९ ॥

शत्रुदमन ! उस मार डालने योग्य पापीके द्वारा रोज-रोज यह घृणित प्रस्ताव सुनते-सुनते समयसे पके हुए फलकी भाँति मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है ॥ ९ ॥

(विजानामि तवामर्षं बलं वीर्यं च पाण्डव।
ततोऽहं परिदेवामि चाग्रतस्ते महाबल ॥

महाबली पाण्डुनन्दन ! मैं तुम्हारे अमर्ष, बल और पराक्रमको जानती हूँ; इसीलिये मैं तुम्हारे आगे रोती-बिलखती हूँ ॥

यथा यूथपतिर्मत्तः कुञ्जरः षष्टिहायनः।
भूमौ निपतितं बिल्वं पद्भ्यामाक्रम्य पीडयेत् ॥

तथैव च शिरस्तस्य निपात्य धरणीतले ।
वामेन पुरुषव्याघ्र मर्द पादेन पाण्डव ॥

पुरुषसिंह पाण्डुपुत्र ! जैसे साठ वर्षका मतवाला यूथपति गजराज धरतीपर गिरे हुए बेलके फलको पैरोंसे दबाकर कुचल डाले, उसी प्रकार कीचकके मस्तकको पृथ्वीपर गिराकर बायें पैरसे मसल डालो ॥

स चेदुद्यन्तमादित्यं प्रातरुत्थाय पश्यति ।
कीचकः शर्वरीं व्युष्टां नाहं जीवितुमुत्सहे ॥)

यदि कीचक इस रात्रिके बीतनेपर प्रातःकाल उठकर उगते हुए सूर्यका दर्शन कर लेगा, तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगी ॥

भ्रातरं च विगर्हस्व ज्येष्ठं दुर्द्यूतदेविनम् ।
यस्यास्मि कर्मणा प्राप्ता दुःखमेतदनन्तकम् ॥ १० ॥

दूषित द्यूतक्रीड़ामें लगे रहनेवाले अपने उस बड़े भाईकी निन्दा करो, जिसकी करतूतसे मैं इस अनन्त दुःखमें पड़ गयी हूँ ॥ १० ॥

को हि राज्यं परित्यज्य सर्वस्वं चात्मना सह ।
प्रव्रज्यायैव दीव्येत विना दुर्द्यूतदेविनम् ॥ ११ ॥

निन्दनीय जूएमें आसक्त रहनेवाले उस जुआरीको छोड़कर दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपने साथ ही राज्य तथा सर्वस्वका परित्याग करके वनवास लेनेकी शर्तपर जूआ खेल सकता हो ? ॥ ११ ॥

यदि निष्कसहस्रेण यच्चान्यत् सारवद् धनम् ।
सायम्प्रातरदेविष्यदपि संवत्सरान् बहून् ॥ १२ ॥
रुक्मं हिरण्यं वासांसि यानं युग्यमजाविकम् ।
अश्वाश्वतरसङ्घांश्च न जातु क्षयमावहेत् ॥ १३ ॥

यदि वे प्रतिदिन शाम-सबेरे एक सहस्र स्वर्णमुद्राओंसे जूआ खेलते तथा जो दूसरे बहुमूल्य धन थे, उनको—सोने, चाँदी, वस्त्र, सवारी, रथ, बकरी, भेड़, घोड़े और खच्चरों आदिके समूहको बहुत वर्षोंतक भी दाँवपर लगाते रहते, तो भी हमारा राज्य-वैभव कभी क्षीण नहीं होता ॥ १२-१३ ॥

सोऽयं द्यूतप्रवादेन श्रियः प्रत्यवरोपितः ।
तूष्णीमास्ते यथा मूढः स्वानि कर्माणि चिन्तयन् ॥ १४ ॥

जूएकी आसक्तिने इन्हें राजलक्ष्मीके सिंहासनसे नीचे उतार दिया है और अब ये अपने उन कर्मोंका चिन्तन करते हुए अज्ञकी भाँति चुपचाप बैठे रहते हैं ॥ १४ ॥

दश नागसहस्राणि हयानां हेममालिनाम् ।
यं यान्तमनुयान्तीह सोऽयं द्यूतेन जीवति ॥ १५ ॥

जिनके कहीं यात्रा करते समय दस हजार हाथी और सोनेकी मालाएँ पहने हुए सहस्रों घोड़े पीछे-पीछे चलते थे, वे ही महाराज यहाँ जूएसे जीविका चलाते हैं ॥ १५ ॥

रथाः शतसहस्राणि नृपाणाममितौजसाम् ।
उपासन्त महाराजमिन्द्रप्रस्थे युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥
शतं दासीसहस्राणां यस्य नित्यं महानसे ।
पात्रीहस्तं दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत ॥ १७ ॥
एष निष्कसहस्राणि प्रदाय ददतां वरः ।
द्यूतजेन ह्यनर्थेन महता समुपाश्रितः ॥ १८ ॥

इन्द्रप्रस्थमें जिनकी सवारीके लिये एक लाख रथ प्रस्तुत रहते थे और जिन महाराज युधिष्ठिरकी सेवामें सहस्रों महापराक्रमी राजा बैठा करते थे, जिनके भोजनालयमें नित्य एक लाख दासियाँ सोनेके पात्र हाथमें लिये दिन-रात अतिथियोंको भोजन कराया करती थीं तथा जो दाताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर रोज सहस्रों स्वर्णमुद्राएँ दानमें बाँटा करते थे, वे ही धर्मराज यहाँ जूएमें कमाये हुए महान् अनर्थकारी धनसे जीवन-निर्वाह कर रहे हैं ॥ १६—१८ ॥

एनं हि स्वरसम्पन्ना बहवः सूतमागधाः ।
सायम्प्रातरुपातिष्ठन् सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ १९ ॥

इन्द्रप्रस्थमें विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण करनेवाले बहुत-से सूत और मागध मधुर स्वरसे संयुक्त वाणीद्वारा सायंकाल और प्रातःकाल इन महाराजकी स्तुति किया करते थे ॥ १९ ॥

सहस्रमृषयो यस्य नित्यमासन् सभासदः ।
तपःश्रुतोपसम्पन्नाः सर्वकामैरुपस्थिताः ॥ २० ॥

तपस्या और वेदज्ञानसे सम्पन्न सहस्रों पूर्णकाम ऋषि-महर्षि प्रतिदिन इनकी राजसभामें बैठा करते थे ॥ २० ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥

अट्ठासी हजार स्नातक गृहस्थ ब्राह्मणोंका, जिनमेंसे एक-एककी सेवाके लिये तीस-तीस दासियाँ थीं, राजा युधिष्ठिर अपने यहाँ पालन करते थे ॥ २१ ॥

अप्रतिग्राहिणां चैव यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
दश चापि सहस्राणि सोऽयमास्ते नरेश्वरः ॥ २२ ॥

साथ ही ये महाराज दान न लेनेवाले दस हजार ऊर्ध्वरेता संन्यासियोंका भी स्वयं ही भरण-पोषण करते थे । आज वे ही इस अवस्थामें रह रहे हैं ॥ २२ ॥

आनृशंस्यमनुक्रोशं संविभागस्तथैव च ।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि सोऽयमास्ते नरेश्वरः ॥ २३ ॥

जिनमें कोमलता, दया और सबको अन्न-वस्त्र देना आदि समस्त सद्गुण विद्यमान थे, वे ही ये महाराज आज इस दुरवस्थामें पड़े हैं ॥ २३ ॥

अन्धान् वृद्धांस्तथानाथान् बालान् राष्ट्रेषु दुर्गतान् ।
बिभर्ति विविधान् राजा धृतिमान् सत्यविक्रमः ।
संविभागमना नित्यमानृशंस्याद् युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

धैर्यवान् तथा सत्यपराक्रमी राजा युधिष्ठिर अपने कोमल स्वभावके कारण सदा सबको भोजन आदि देनेमें ही मन लगाते थे और अपने राज्यके अनेक अंधों, बूढ़ों, अनाथों, बालकों तथा दुर्गतिमें पड़े हुए लोगोंका भरण-पोषण करते रहते थे ॥ २४ ॥

स एष निरयं प्राप्तो मत्स्यस्य परिचारकः।
सभायां देविता राज्ञः कङ्को ब्रूते युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥

वे ही ये युधिष्ठिर आज मत्स्यराजके सेवक होकर परतन्त्रतारूपी नरकमें पड़े हुए हैं। ये सभामें राजाको जूआ खेलाते और कङ्क कहकर अपना परिचय देते हैं ॥ २५ ॥

इन्द्रप्रस्थे निवसतः समये यस्य पार्थिवाः।
आसन् बलिभृतः सर्वे सोऽद्यान्यैर्भृत्तिमिच्छति ॥ २६ ॥

इन्द्रप्रस्थमें रहते समय जिन्हें सब राजा भेंट देते थे, वे ही आज दूसरोंसे अपने भरण-पोषणके लिये धन पानेकी इच्छा रखते हैं ॥ २६ ॥

पार्थिवाः पृथिवीपाला यस्यासन् वशवर्तिनः।
स वशे विवशो राजा परेषामद्य वर्तते ॥ २७ ॥

इस पृथ्वीका पालन करनेवाले बहुत-से भूपाल जिनकी आज्ञाके अधीन थे, वे ही महाराज आज विवश होकर दूसरोंके वशमें रहते हैं ॥ २७ ॥

प्रताप्य पृथिवीं सर्वां रश्मिमानिव तेजसा।
सोऽयं राज्ञो विराटस्य सभास्तारो युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥

सूर्यकी भाँति अपने तेजसे सम्पूर्ण भूमण्डलको प्रकाशित-कर अब ये धर्मराज युधिष्ठिर राजा विराटकी सभाके एक साधारण सदस्य बने हुए हैं ॥ २८ ॥

यमुपासन्त राजानः सभायामृषिभिः सह।
तमुपासीनमद्यान्यं पश्य पाण्डव पाण्डवम् ॥ २९ ॥

पाण्डुनन्दन! देखो, राजसभामें ऋषियोंके साथ अनेक राजा जिनकी उपासना करते थे, वे ही पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आज दूसरेकी उपासना कर रहे हैं ॥ २९ ॥

सदस्यं यमुपासीनं परस्य प्रियवादिनम्।
दृष्ट्वा युधिष्ठिरं कोपो वर्धते मामसंशयम् ॥ ३० ॥

एक सामान्य सदस्यकी हैसियतसे दूसरेकी सेवामें बैठे हुए वे विराटके मनको प्रिय लगनेवाली बातें करते हैं। महाराज युधिष्ठिरको इस दशामें देखकर निश्चय ही मेरा क्रोध बढ़ जाता है ॥ ३० ॥

अतदर्हं महाप्राज्ञं जीवितार्थेऽभिसंस्थितम्।
दृष्ट्वा कस्य न दुःखं स्याद् धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥३१॥

जो धर्मात्मा और परम बुद्धिमान् हैं, जिनका कभी इस दुरवस्थामें पड़ना उचित नहीं है, वे ही जीविकाके लिये आज दूसरेके घरमें पड़े हैं। महाराज युधिष्ठिरको इस दशामें देखकर किसे दुःख न होगा? ॥ ३१ ॥

उपास्ते स्म सभायां यं कृत्स्ना वीर वसुन्धरा।
तमुपासीनमप्यन्यं पश्य भारत भारतम् ॥ ३२ ॥

वीर! पहले राजसभामें समस्त भूमण्डलके लोग जिनकी सब ओरसे उपासना करते थे, भारत! अब उन्हीं भरतवंश-शिरोमणिको आज दूसरे राजाकी सभामें बैठे देख लो ॥३२॥

एवं बहुविधैर्दुःखैः पीड्यमानामनाथवत्।
शोकसागरमध्यस्थां किं मां भीम न पश्यसि ॥ ३३ ॥

भीमसेन! इस प्रकार अनेक दुःखोंसे अनाथकी भाँति पीड़ित होती हुई मैं शोकके महासागरमें डूब रही हूँ, क्या तुम मेरी यह दुर्दशा नहीं देखते? ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीभीमसंवादविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३½ श्लोक मिलाकर कुल ४६½ श्लोक हैं)

एकोनविंशोऽध्यायः

पाण्डवोंके दुःखसे दुःखित द्रौपदीका भीमसेनके सम्मुख विलाप

द्रौपद्युवाच

इदं तु ते महद् दुःखं यत् प्रवक्ष्यामि भारत।
न मेऽभ्यसूया कर्तव्या दुःखादेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—भारत! अब जो दुःख मैं तुमसे निवेदन करनेवाली हूँ, वह तो मेरे लिये और भी महान् है। तुम इसके लिये मुझे दोष न देना। मैं दुःखसे व्यथित होनेके कारण ही यह सब कह रही हूँ ॥ १ ॥

सूदकर्मणि हीने त्वमसमे भरतर्षभ।
ब्रुवन् बल्लवजातीयः कस्य शोकं न वर्धयेः ॥ २ ॥

भरतर्षभ! जो तुम्हारे लिये सर्वथा अयोग्य है, ऐसे रसोइयेके नीच काममें लगे हो और अपनेको 'बल्लव' जाति-का मनुष्य बताते हो। इस अवस्थामें तुम्हें देखकर किसका शोक न बढ़ेगा? ॥ २ ॥

सूपकारं विराटस्य बल्लवं त्वां विदुर्जनाः।
प्रेष्यत्वं समनुप्राप्तं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३ ॥

लोग तुम्हें राजा विराटके रसोइये बल्लवके नामसे जानते

हैं। तुम स्वामी होकर भी आज सेवककी दशामें पड़े हो। इससे बढ़कर महान् कष्ट मेरे लिये और क्या हो सकता है ? ॥३॥

यदा महानसे सिद्धे विराटमुपतिष्ठसि ।
ब्रुवाणो बल्लवः सूदस्तदा सीदति मे मनः ॥ ४ ॥

जब पाकशालामें भोजन बना लेनेपर तुम विराटकी सेवामें उपस्थित होते हो और कहते हो—'महाराज! बल्लव रसोइया आपको भोजनके लिये बुलाने आया है', तब यह सब सुनकर मेरा मन दुःखित हो जाता है ॥ ४ ॥

यदा प्रहृष्टः सम्राट् त्वां संयोधयति कुञ्जरैः ।
हसन्त्यन्तःपुरे नार्यो मम तूद्विजते मनः ॥ ५ ॥

जब विराटनरेश प्रसन्न होकर तुम्हें हाथियोंसे लड़ाते हैं, उस समय रनिवासकी दूसरी स्त्रियाँ तो हँसती हैं और मेरा हृदय शोकसे व्याकुल हो उठता है ॥ ५ ॥

शार्दूलैर्महिषैः सिंहैरागारे योध्यसे यदा ।
कैकेय्याः प्रेक्षमाणायास्तदा मे कश्मलं भवेत् ॥ ६ ॥

जब रानी सुदेष्णा दर्शक बनकर बैठती हैं और तुम महलके आँगनमें व्याघ्रों, सिंहों तथा भैंसोंसे लड़ते हो, उस समय मुझे बड़ी व्यथा होती है ॥ ६ ॥

तत उत्थाय कैकेयी सर्वास्ताः प्रत्यभाषत ।
प्रेष्याः समुत्थिताश्चापि कैकेयीं ताः स्त्रियोऽब्रुवन्॥ ७ ॥
प्रेक्ष्य मामनवद्याङ्गीं कश्मलोपहतामिव ।

एक दिन उक्त पशुओंसे तुम्हारा युद्ध देखकर उठनेके बाद मुझ निर्दोष अङ्गोंवाली अबलाको इसी कारण शोकपीड़ित-सी देख केकयराजकुमारी सुदेष्णा अपने साथ आयी हुई सम्पूर्ण दासियोंसे और वे खड़ी हुई दासियाँ रानी कैकेयीसे इस प्रकार कहने लगीं—॥ ७½ ॥

स्नेहात् संवासजाद् धर्मात् सूदमेषा शुचिस्मिता ॥ ८ ॥
योद्ध्यमानं महावीर्यमियं समनुशोचति ।
कल्याणरूपा सैरन्ध्री बल्लवश्चापि सुन्दरः ॥ ९ ॥

'यह पवित्र मुसकानवाली सैरन्ध्री पहले (युधिष्ठिरके यहाँ) एक स्थानमें साथ-साथ रहनेके कारण पैदा होनेवाले स्नेहसे अथवा धर्मसे प्रेरित होकर उस महापराक्रमी रसोइयेको पशुओंसे लड़ते देख उसके लिये बार-बार शोक करने लगती है। सैरन्ध्रीका रूप तो मङ्गलमय है ही, बल्लव भी बड़ा सुन्दर है ॥ ८-९ ॥

स्त्रीणां चित्तं च दुर्ज्ञेयं युक्तरूपौ च मे मतौ ।
सैरन्ध्री प्रियसंवासान्नित्यं करुणवादिनी ॥ १० ॥

'स्त्रियोंके हृदयको समझ लेना बहुत कठिन है, हमें तो यह जोड़ी अच्छी जान पड़ती है। सैरन्ध्री अपने प्रिय सम्बन्धके कारण जब रसोइयेको हाथी आदिसे लड़ानेकी बात की जाती है, तब (अत्यन्त दीन-सी होकर) सदा करुणायुक्त वचन बोलने लगती है ॥ १० ॥

अस्मिन् राजकुले चेमौ तुल्यकालनिवासिनौ ।
इति ब्रुवाणा वाक्यानि सा मां नित्यमतर्जयत् ॥ ११ ॥

'क्यों न हो, इस राजपरिवारमें भी तो ये दोनों एक ही समयसे निवास करते हैं !' इस तरहकी बातें कहकर रानी सुदेष्णा प्रायः नित्य मुझे झिड़का करती हैं ॥ ११ ॥

क्रुध्यन्तीं मां च सम्प्रेक्ष्य समशङ्कत मां त्वयि ।
तस्यां तथा ब्रुवत्यां तु दुःखं मां महदाविशत् ॥ १२ ॥

और मुझे क्रोध करती देख तुम्हारे प्रति मेरे गुप्त प्रेमकी आशङ्का कर बैठती हैं। जब-जब वे वैसी बातें कहती हैं, उस समय मुझे बहुत दुःख होता है ॥ १२ ॥

त्वय्येवं निरयं प्राप्ते भीमे भीमपराक्रमे ।
शोके यौधिष्ठिरे मग्ना नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ १३ ॥

भीम ! भयंकर पराक्रम दिखानेवाले होकर भी तुम ऐसे नरकतुल्य कष्ट भोग रहे हो और उधर महाराज युधिष्ठिरको भी भारी शोक सहन करना पड़ता है। इस प्रकार मैं दुःखके समुद्रमें डूबी हुई हूँ। अब मुझे जीवित रहनेका तनिक भी उत्साह नहीं है ॥ १३ ॥

यः सदेवान् मनुष्यांश्च सर्वांश्चैकरथोऽजयत् ।
सोऽयं राज्ञो विराटस्य कन्यानां नर्तको युवा ॥ १४ ॥

वह तरुण वीर अर्जुन, जो अकेले ही रथमें बैठकर सम्पूर्ण मनुष्यों तथा देवताओंपर भी विजय पा चुका है, आज राजा विराटकी कन्याओंको नाचना सिखाता है ॥१४॥

योऽतर्पयदमेयात्मा खाण्डवे जातवेदसम् ।
सोऽन्तःपुरगतः पार्थ कूपेऽग्निरिव संवृतः ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो असीम आत्मबलसे सम्पन्न है, जिसने खाण्डववनमें साक्षात् अग्निदेवको तृप्त किया था, वही वीर अर्जुन आज कुएँमें पड़ी हुई अग्निकी तरह अन्तःपुरमें छिपा हुआ है ॥ १५ ॥

यस्माद् भयममित्राणां सदैव पुरुषर्षभात् ।
स लोकपरिभूतेन वेषेणास्ते धनंजयः ॥ १६ ॥

जो पुरुषोंमें श्रेष्ठ है, जिससे शत्रुओंको सदा ही भय प्राप्त होता आया है, वही धनंजय आज लोकनिन्दित नपुंसकवेषमें रह रहा है ॥ १६ ॥

यस्य ज्याक्षेपकठिनौ बाहू परिघसंनिभौ ।
स शङ्खपरिपूर्णाभ्यां शोचन्नास्ते धनंजयः ॥ १७ ॥

जिसकी परिघ (लोहदण्ड) के समान मोटी भुजाएँ प्रत्यञ्चा खींचते-खींचते कठोर हो गयी थीं, वही धनंजय आज हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहनकर दुःख भोग रहा है ॥ १७ ॥

यस्य ज्यातलनिर्घोषात् समकम्पन्त शत्रवः ।
स्त्रियो गीतस्वनं तस्य मुदिताः पर्युपासते ॥ १८ ॥

जिसके धनुषकी टंकारसे समस्त शत्रु थर्रा उठते थे, आज अन्तःपुरकी स्त्रियाँ उसीके गीतोंकी ध्वनि सुनती और प्रसन्न होती हैं ॥ १८ ॥

किरीटं सूर्यसंकाशं यस्य मूर्द्धन्यशोभत ।
वेणीविकृतकेशान्तः सोऽयमद्य धनंजयः ॥ १९ ॥

जिसके मस्तकपर सूर्यके समान तेजस्वी किरीट शोभा पाता था, सिरपर चोटी धारण करनेके कारण उसी अर्जुनके केशोंकी शोभा बिगड़ गयी है ॥ १९ ॥

तं वेणीकृतकेशान्तं भीमधन्वानमर्जुनम् ।
कन्यापरिवृतं दृष्ट्वा भीम सीदति मे मनः ॥ २० ॥

भीम ! भयंकर गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले वीर अर्जुनको अपने सिरपर केशोंकी चोटी धारण किये कन्याओंसे घिरा देख मेरा हृदय विषादसे भर जाता है ॥ २० ॥

यस्मिन्नस्त्राणि दिव्यानि समस्तानि महात्मनि ।
आधारः सर्वविद्यानां स धारयति कुण्डले ॥ २१ ॥

जिस महात्मामें सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्रतिष्ठित हैं तथा जो समस्त विद्याओंका आधार है, वह आज कानोंमें (स्त्रियोंकी भाँति) कुण्डल धारण करता है ॥ २१ ॥

स्प्रष्टुं राजसहस्राणि तेजसाप्रतिमानि वै ।
समरे नाभ्यवर्तन्त वेलामिव महार्णवः ॥ २२ ॥
सोऽयं राज्ञो विराटस्य कन्यानां नर्तको युवा ।
आस्ते वेषप्रतिच्छन्नः कन्यानां परिचारकः ॥ २३ ॥

जैसे महासागर तट सीमाको नहीं लाँघ पाता, उसी प्रकार सहस्रों अप्रतिम तेजवाले राजा जिस वीरको वशीभूत करनेके लिये आगे न बढ़ सके, वही तरुण अर्जुन इस समय राजा विराटकी कन्याओंको नाचना सिखा रहा है और हीजड़े-के वेषमें छिपकर उन कन्याओंकी सेवा करता है ॥२२-२३॥

यस्य स्म रथघोषेण समकम्पत मेदिनी ।
सपर्वतवना भीम सहस्थावरजङ्गमा ॥ २४ ॥
यस्मिञ्जाते महाभागे कुन्त्याः शोको व्यनश्यत ।
स शोचयति मामद्य भीमसेन तवानुजः ॥ २५ ॥

भीमसेन ! जिसके रथकी घर्घराहटसे पर्वत, वन और चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वी काँप उठती थी, जिस महान् भाग्यशाली पुत्रके उत्पन्न होनेपर माता कुन्तीका सारा शोक नष्ट हो गया था, वही तुम्हारा छोटा भाई अर्जुन आज अपनी दुरवस्थाके कारण मुझे शोकमग्न किये देता है ॥ २४-२५ ॥

भूषितं तमलंकारैः कुण्डलैः परिहाटकैः ।
कम्बुपाणिनमायान्तं दृष्ट्वा सीदति मे मनः ॥ २६ ॥

अर्जुनको स्त्रीजनोचित आभूषणों तथा सुवर्णमय कुण्डलोंसे विभूषित हो हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ धारण किये आते देख मेरा हृदय दुःखित हो जाता है ॥ २६ ॥

यस्य नास्ति समो वीर्ये कश्चिदुर्व्यां धनुर्धरः ।
सोऽद्य कन्यापरिवृतो गायन्नास्ते धनंजयः ॥ २७ ॥

इस भूतलपर जिसके बल-पराक्रमकी समानता करनेवाला कोई धनुर्धर वीर नहीं है, वही धनंजय आज राजकन्याओंके बीचमें बैठकर गीत गाया करता है ॥ २७ ॥

धर्मे शौर्ये च सत्ये च जीवलोकस्य सम्मतम् ।
स्त्रीवेषविकृतं पार्थं दृष्ट्वा सीदति मे मनः ॥ २८ ॥

धर्म, शूरवीरता और सत्यभाषणमें जो सम्पूर्ण जीव-जगत्के लिये एक आदर्श था, उसी अर्जुनको अब स्त्रीवेषमें विकृत हुआ देखकर मेरा हृदय शोकमें डूब जाता है ॥२८॥

यदा ह्येनं परिवृतं कन्याभिर्देवरूपिणम् ।
प्रभिन्नमिव मातङ्गं परिकीर्णं करेणुभिः ॥ २९ ॥
मत्स्यमर्थपतिं पार्थं विराटं समुपस्थितम् ।
पश्यामि तूर्यमध्यस्थं दिशो नश्यन्ति मे तदा ॥ ३० ॥

हथिनियोंसे घिरे हुए गण्डस्थलसे मधुकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति जब वाद्ययन्त्रोंके बीचमें बैठे हुए देवरूपधारी कुन्तीनन्दन अर्जुनको (नृत्यशालामें) कन्याओंसे घिरकर धनपति मत्स्यराज विराटकी सेवामें उपस्थित देखती हूँ, उस समय मेरी आँखोंमें अँधेरा छा जाता है; मुझे दिशाएँ नहीं सूझती हैं ॥ २९-३० ॥

नूनमार्या न जानाति कृच्छ्रं प्राप्तं धनंजयम् ।
अजातशत्रुं कौरव्यं मग्नं दुर्द्यूतदेविनम् ॥ ३१ ॥

निश्चय ही मेरी सास कुन्ती नहीं जानती होंगी कि मेरा पुत्र धनंजय ऐसे संकटमें पड़ा है और खोटे जूएके खेलमें आसक्त कुरुवंशशिरोमणि अजातशत्रु युधिष्ठिर भी शोकमें डूबे हुए हैं ॥ ३१ ॥

(ऐन्द्रवारुणवायव्यब्राह्माग्नेयैश्च वैष्णवैः ।
अग्नीन् संतर्पयन् पार्थः सर्वांश्चैकरथोऽजयत् ॥
दिव्यैरस्त्रैरचिन्त्यात्मा सर्वशत्रुनिबर्हणः ॥
दिव्यं गान्धर्वमस्त्रं च वायव्यमथ वैष्णवम् ।
ब्राह्मं पाशुपतं चैव स्थूणाकर्णं च दर्शयन् ॥
पौलोमान् कालकेयांश्च इन्द्रशत्रून् महासुरान् ।
निवातकवचैः सार्धं घोरानेकरथोऽजयत् ।
सोऽन्तःपुरगतः पार्थः कूपेऽग्निरिव संवृतः ॥

जिन कुन्तीकुमार अर्जुनने ऐन्द्र, वारुण, वायव्य, ब्राह्म, आग्नेय और वैष्णव अस्त्रोंद्वारा अग्निदेवको तृप्त करते हुए एकमात्र रथकी सहायतासे सब देवताओंको जीत लिया, जिनका आत्मबल अचिन्त्य है, जो अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा समस्त शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ हैं, जिन्होंने एकमात्र

रथपर आरूढ़ हो दिव्य गान्धर्व, वायव्य, वैष्णव, ब्राह्म, पाशुपत तथा स्थूणाकर्ण नामक अस्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए युद्धमें निवातकवचोंसहित भयंकर पौलोम और कालकेय आदि महान् असुरोंको, जो इन्द्रसे शत्रुता रखनेवाले थे, परास्त कर दिया था, वे ही अर्जुन आज अन्तःपुरमें उसी प्रकार छिपे बैठे हैं, जैसे प्रज्वलित अग्नि कुएँमें ढक दी गयी हो ॥

कन्यापुरगतं दृष्ट्वा गोष्ठेष्विव महर्षभम् ।
स्त्रीवेषविकृतं पार्थं कुन्तीं गच्छति मे मनः ॥)

जैसे बड़ा भारी साँड़ गोशालाओंमें आबद्ध हो, उसी प्रकार स्त्रियोंके वेषसे विकृत अर्जुनको कन्याओंके अन्तःपुरमें देखकर मेरा मन बार-बार कुन्तीदेवीकी याद करता है ॥

तथा दृष्ट्वा यवीयांसं सहदेवं गवां पतिम् ।
गोषु गोवेषमायान्तं पाण्डुभूतास्मि भारत ॥ ३२ ॥

भारत ! इसी प्रकार तुम्हारे छोटे भाई सहदेवको, जो गौओंका पालक बनाया गया है, जब मैं गौओंके बीच ग्वालेके वेशमें आते देखती हूँ, तो मेरा रक्त सूख जाता है और सारा शरीर पीला पड़ जाता है ॥ ३२ ॥

सहदेवस्य वृत्तानि चिन्तयन्ती पुनः पुनः ।
न निद्रामभिगच्छामि भीमसेन कुतो रतिम् ॥ ३३ ॥

भीमसेन ! सहदेवकी दुर्दशाका बार-बार चिन्तन करनेके कारण मुझे कभी नींदतक नहीं आती; फिर सुख कहाँसे मिल सकता है ? ॥ ३३ ॥

न विन्दामि महाबाहो सहदेवस्य दुष्कृतम् ।
यस्मिन्नेवंविधं दुःखं प्राप्नुयात् सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥

महाबाहो ! जहाँतक मैं जानती हूँ, सहदेवने कभी कोई पाप नहीं किया है, जिससे इस सत्यपराक्रमी वीरको ऐसा दुःख उठाना पड़े ॥ ३४ ॥

दूयामि भरतश्रेष्ठ दृष्ट्वा ते भ्रातरं प्रियम् ।
गोषु गोवृषसंकाशं मत्स्येनाभिनिवेशितम् ॥ ३५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! साँड़के समान हृष्ट-पुष्ट तुम्हारे प्रिय भ्राता सहदेवको राजा विराटके द्वारा गौओंकी सेवामें लगाया गया देख मुझे बड़ा दुःख होता है ॥ ३५ ॥

संरब्धं रक्तनेपथ्यं गोपालानां पुरोगमम् ।
विराटमभिनन्दन्तमथ मे भवति ज्वरः ॥ ३६ ॥

गेरू आदिसे लाल रंगका शृङ्गार धारण किये ग्वालोंके अगुआ बने हुए सहदेवको उद्विग्न होनेपर भी जब मैं राजा विराटका अभिनन्दन करते देखती हूँ, तब मुझे बुखार चढ़ आता है ॥ ३६ ॥

सहदेवं हि मे वीर नित्यमार्या प्रशंसति ।
महाभिजनसम्पन्नः शीलवान् वृत्तवानिति ॥ ३७ ॥

वीर ! आर्या कुन्ती मुझसे सहदेवकी सदा प्रशंसा किया करती थीं कि यह महान् कुलमें उत्पन्न, शीलवान् और सदाचारी है ॥ ३७ ॥

ह्रीनिषेवो मधुरवाक् धार्मिकश्च प्रियश्च मे ।
स तेऽरण्येषु वोढव्यो याज्ञसेनि क्षपास्वपि ॥ ३८ ॥
सुकुमारश्च शूरश्च राजानं चाप्यनुव्रतः ।
ज्येष्ठापचायिनं वीरं स्वयं पाञ्चालि भोजयेः ॥ ३९ ॥
इत्युवाच हि मां कुन्ती रुदती पुत्रगृद्धिनी ।
प्रव्रजन्तं महारण्यं तं परिष्वज्य तिष्ठती ॥ ४० ॥

मुझे स्मरण है, जब सहदेव महान् वनमें आने लगे, उस समय पुत्रवत्सला माता कुन्ती उन्हें हृदयसे लगाकर खड़ी हो गयीं और रोती हुई मुझसे यों कहने लगीं—'याज्ञसेनी ! सहदेव बड़ा लज्जाशील, मधुरभाषी और धार्मिक है । यह मुझे अत्यन्त प्रिय है । इसे वनमें रात्रिके समय तुम स्वयं सँभालकर (हाथ पकड़कर) ले जाना, क्योंकि यह सुकुमार है (सम्भव है, थकावटके कारण चल न सके) । मेरा सहदेव शूरवीर, राजा युधिष्ठिरका भक्त, अपने बड़े भाईका पुजारी और वीर है । पाञ्चालराजकुमारी ! तुम इसे अपने हाथों भोजन कराना ॥३८–४०॥

तं दृष्ट्वा व्यापृतं गोषु वत्सचर्मक्षपाशयम् ।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं किं नु जीवामि पाण्डव ॥ ४१ ॥

पाण्डुनन्दन ! योद्धाओंमें श्रेष्ठ उसी सहदेवको जब मैं गौओंकी सेवामें तत्पर और बछड़ोंके चमड़ेपर रातमें सोते देखती हूँ, तब किसलिये जीवन धारण करूँ ? ॥ ४१ ॥

यस्त्रिभिर्नित्यसम्पन्नो रूपेणास्त्रेण मेधया ।
सोऽश्वबन्धो विराटस्य पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ ४२ ॥

इसी प्रकार जो सुन्दर रूप, अस्त्रबल और मेधाशक्ति—इन तीनोंसे सदा सम्पन्न रहता है, वह वीरवर नकुल आज विराटके यहाँ घोड़े बाँधता है । देखो, कालकी कैसी विपरीत गति है ? ॥ ४२ ॥

अभ्यकीर्यन्त वृन्दानि दामग्रन्थिमुदीक्ष्य तम् ।
विनयन्तं जवेनाश्वान् महाराजस्य पश्यतः ॥ ४३ ॥

जिसे देखकर शत्रुओंके समुदाय बिखर जाते—भाग खड़े होते हैं, वही अब ग्रन्थिक बनकर घोड़ोंकी रास खोलता और बाँधता है तथा महाराजके सामने अश्वोंको वेगसे चलनेकी शिक्षा देता है ॥ ४३ ॥

अपश्यमेनं श्रीमन्तं मत्स्यं भ्राजिष्णुमुत्तमम् ।
विराटमुपतिष्ठन्तं दर्शयन्तं च वाजिनः ॥ ४४ ॥

मैंने शोभासम्पन्न, तेजस्वी तथा उत्तम रूपवाले नकुलको अपनी आँखों देखा है । वह मत्स्यनरेश विराटको भाँति-भाँतिके घोड़े दिखाता और उनकी सेवामें खड़ा रहता है ॥

किं नु मां मन्यसे पार्थ सुखिनीति परंतप ।
एवं दुःखशताविष्टा युधिष्ठिरनिमित्ततः ॥ ४५ ॥

कुन्तीनन्दन ! शत्रुदमन ! क्या तुम समझते हो, यह सब देखकर मैं सुखी हूँ ? राजा युधिष्ठिरके कारण ऐसे सैकड़ों दुःख मुझे सदा घेरे रहते हैं ॥ ४५ ॥

अतः प्रतिविशिष्टानि दुःखान्यन्यानि भारत ।
वर्तन्ते मयि कौन्तेय वक्ष्यामि शृणु तान्यपि ॥ ४६ ॥

भारत ! कुन्तीकुमार ! इनसे भी भारी दूसरे दुःख मुझपर आ पड़े हैं, उनका भी वर्णन करती हूँ, सुनो ॥ ४६ ॥

युष्मासु ध्रियमाणेषु दुःखानि विविधान्युत ।
शोषयन्ति शरीरं मे किं नु दुःखमतः परम् ॥ ४७ ॥

तुम सबके जीते-जी नाना प्रकारके कष्ट मेरे शरीरको सुखा रहे हैं, इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है ? ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीभीमसेनसंवादविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ५२ श्लोक हैं)

विंशोऽध्यायः

द्रौपदीद्वारा भीमसेनसे अपना दुःख निवेदन करना

द्रौपद्युवाच

अहं सैरन्ध्रिवेषेण चरन्ती राजवेश्मनि ।
शौचदास्मि सुदेष्णाया अक्षधूर्तस्य कारणात् ॥ १ ॥

द्रौपदी कहती है—परंतप ! तुम्हारे जूएमें चतुर चालाक भाईके कारण आज मैं राजमहलमें सैरन्ध्रीका वेश धारण करके टहल बजाती और रानी सुदेष्णाको स्नानकी वस्तुएँ जुटाकर देती हूँ ॥ १ ॥

विक्रियां पश्य मे तीव्रां राजपुत्र्याः परंतप ।
आत्मकालमुदीक्षन्ती सर्वं दुःखं किलान्तवत् ॥ २ ॥

राजपुत्री होकर भी मुझे कैसा भारी हीन कार्य करना पड़ता है, यह अपनी आँखों देख लो; परंतु सब लोग अपने अभ्युदयका अवसर देखते रहते हैं; क्योंकि यदि दुःख आता है, तो उसका अन्त भी होता ही है ॥ २ ॥

अनित्या किल मर्त्यानामर्थसिद्धिर्जयाजयौ ।
इति कृत्वा प्रतीक्षामि भर्तॄणामुदयं पुनः ॥ ३ ॥

मनुष्योंकी अर्थ-सिद्धि या जय-पराजय अनित्य हैं । वे सदा स्थिर नहीं रहते । यही सोचकर मैं अपने पतियोंके पुनः अभ्युदयकी प्रतीक्षा करती हूँ ॥ ३ ॥

चक्रवत्परिवर्तन्ते ह्यर्थाश्च व्यसनानि च ।
इतिकृत्वा प्रतीक्षामि भर्तॄणामुदयं पुनः ॥ ४ ॥

धन और व्यसन (सम्पत्ति और विपत्ति) सदा गाड़ीके पहियेकी तरह घूमा करते हैं; ऐसा विचारकर मैं पतियोंके पुनः अभ्युदयकालकी प्रतीक्षा करती हूँ ॥ ४ ॥

य एव हेतुर्भवति पुरुषस्य जयावहः ।
पराजये च हेतुश्च स इति प्रतिपालये ।
किं मां न प्रतिजानीषे भीमसेन मृतामिव ॥ ५ ॥

जो काल मनुष्यके लिये विजयदायक होता है, वही उसकी पराजयका भी कारण बन जाता है । ऐसा विचारकर मैं अपने पक्षकी विजयके अवसरकी राह देखती हूँ । भीमसेन ! क्या तुम नहीं जानते कि इन दुःखोंके आघातसे मैं मरी हुई-सी हो गयी हूँ ॥ ५ ॥

दत्त्वा याचन्ति पुरुषा हत्वा वध्यन्ति चापरे ।
पातयित्वा च पात्यन्ते परैरिति च मे श्रुतम् ॥ ६ ॥

मैंने सुना है, जो मनुष्य दान करते हैं, वे ही कभी याचनाके लिये विवश हो जाते हैं । दूसरे बहुत-से मनुष्य ऐसे हैं, जो दूसरोंको मारकर स्वयं भी दूसरोंके द्वारा मारे जाते हैं तथा जो दूसरोंको नीचे गिराते हैं, वे स्वयं भी दूसरे प्रतिपक्षियोंद्वारा नीचे गिराये जाते हैं ॥ ६ ॥

न दैवस्यातिभारोऽस्ति न चैवास्यातिवर्तनम् ।
इति चाप्यागमं भूयो दैवस्य प्रतिपालये ॥ ७ ॥

अतः दैवके लिये कुछ भी दुष्कर नहीं है । दैवके विधानको लाँघ जाना भी असम्भव है । इसलिये मैं दैवकी प्रधानता बतानेवाले शास्त्र-वचनोंका पालन करती—उन्हें आदर देती हूँ ॥ ७ ॥

स्थितं पूर्वं जलं यत्र पुनस्तत्रैव गच्छति ।
इति पर्यायमिच्छन्ती प्रतीक्षे उदयं पुनः ॥ ८ ॥

पानी जहाँ पहले स्थिर होता है, वह फिर भी वहीं ठहरता है । इस क्रमको चाहती हुई मैं पुनः अभ्युदयकालकी प्रतीक्षा करती हूँ ॥ ८ ॥

दैवेन किल यस्यार्थः सुनीतोऽपि विपद्यते ।
दैवस्य चागमे यत्नस्तेन कार्यो विजानता ॥ ९ ॥

उत्तम नीतिद्वारा सुरक्षित पदार्थ भी यदि दैव प्रतिकूल हो, तो उसके द्वारा नष्ट हो जाता है; अतः विज्ञ पुरुषको दैवको अनुकूल बनानेका ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ ९ ॥

यत् तु मे वचनस्यास्य कथितस्य प्रयोजनम् ।
पृच्छ मां दुःखितां तत्त्वं पृष्टा चात्र ब्रवीमि ते ॥ १० ॥

मैंने इस समय जो ये बातें कही हैं, इनका क्या प्रयोजन है ? यह मुझ दुखियासे पूछो । तुम्हारे पूछनेपर यहाँ मैं यथार्थ बात बताती हूँ, सुनो ॥ १० ॥

महिषी पाण्डुपुत्राणां दुहिता द्रुपदस्य च ।
इमामवस्थां सम्प्राप्ता मदन्या का जिजीविषेत् ॥ ११ ॥

मैं पाण्डवोंकी पटरानी और द्रुपदकी पुत्री होकर भी ऐसी दुर्दशामें पड़ी हूँ । मेरे सिवा दूसरी कौन स्त्री ऐसी अवस्थामें जीना चाहेगी ? ॥ ११ ॥

कुरून् परिभवेत् सर्वान् पञ्चालानपि भारत ।
पाण्डवेयांश्च सम्प्राप्तो मम क्लेशो ह्यरिंदम ॥ १२ ॥

भारत ! शत्रुदमन ! मुझपर पड़ा हुआ यह क्लेश समस्त कौरवों, पाञ्चालों और पाण्डवोंके लिये अपमानकी बात है ॥ १२ ॥

भ्रातृभिः श्वशुरैः पुत्रैर्बहुभिः परिवारिता ।
एवं समुदिता नारी का त्वन्या दुःखिता भवेत् ॥ १३ ॥

जिसके बहुत-से भाई, श्वशुर और पुत्र हों, जो इन सबसे घिरी हुई हो तथा भलीभाँति अभ्युदयशील हो, ऐसी परिस्थितिमें मेरे सिवा दूसरी कौन स्त्री दुःख भोगनेके लिये विवश हुई होगी ? ॥ १३ ॥

नूनं हि बालया धातुर्मया वै विप्रियं कृतम् ।
यस्य प्रसादाद् दुर्नीतं प्राप्तास्मि भरतर्षभ ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जान पड़ता है, बचपनमें मैंने विधाताका निश्चय ही महान् अपराध किया है, जिसके फलस्वरूप मैं आज इस दुर्दशामें पड़ गयी हूँ ॥ १४ ॥

वर्णावकाशमपि मे पश्य पाण्डव यादृशम् ।
तादृशो मे न तत्रासीद् दुःखे परमके तदा ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन ! देखो, मेरे शरीरकी कान्ति कैसी फीकी पड़ गयी है ! यहाँ नगरमें मेरी जो अवस्था है, वह उन दिनों अत्यन्त दुःखपूर्ण वनवासके समय भी नहीं थी ॥१५॥

त्वमेव भीम जानीषे यन्मे पार्थ सुखं पुरा ।
साहं दासीत्वमापन्ना न शान्तिमवशा लभे ॥ १६ ॥
नादैविकमहं मन्ये यत्र पार्थो धनंजयः ।
भीमधन्वा महाबाहुरास्ते छन्न इवानलः ॥ १७ ॥

भीमसेन ! तुम्हीं जानते हो, पहले मुझे कितना सुख था । यहाँ आकर जबसे मैं दासीभावको प्राप्त हुई हूँ, तभीसे परतन्त्र होनेके कारण मुझे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती है । इसे मैं दैवकी ही लीला मानती हूँ । जहाँ प्रचण्ड धनुष धारण करनेवाले महाबाहु अर्जुन भी राखसे ढकी हुई अग्निकी भाँति रनिवासमें छिपकर रहते हैं ॥ १६-१७ ॥

अशक्या वेदितुं पार्थ प्राणिनां वै गतिर्नरैः ।
विनिपातमिमं मन्ये युष्माकं ह्यविचिन्तितम् ॥ १८ ॥

कुन्तीनन्दन ! दैवाधीन प्राणियोंकी कब क्या गति होगी, इसे जानना मनुष्योंके लिये सर्वथा असम्भव है । मैं तो समझती हूँ, तुमलोगोंकी जो यह अवनति हुई है, इसकी किसीके मनमें कल्पनातक नहीं थी ॥ १८ ॥

यस्या मम मुखप्रेक्षा यूयमिन्द्रसमाः सदा ।
सा प्रेक्षे मुखमन्यासामवराणां वरा सती ॥ १९ ॥

एक दिन वह था कि इन्द्रके समान पराक्रमी तुम सब भाई सदा मेरा मुँह निहारा करते थे । आज वही मैं श्रेष्ठ होकर भी अपनेसे निकृष्ट दूसरी स्त्रियोंका मुँह जोहती रहती हूँ ॥ १९ ॥

पश्य पाण्डव मेऽवस्थां यथा नार्हामि वै तथा ।
युष्मासु ध्रियमाणेषु पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ २० ॥
यस्याः सागरपर्यन्ता पृथिवी वशवर्तिनी ।
आसीत् साद्य सुदेष्णाया भीताहं वशवर्तिनी ॥२१॥

पाण्डुनन्दन ! देखो, तुम सबके जीते-जी मैं ऐसी बुरी हालतमें पड़ी हूँ, जो मेरे लिये कदापि उचित नहीं है । समयके इस उलट-फेरको तो देखो; एक दिन समुद्रके पास-तककी सारी पृथ्वी जिसके अधीन थी, वही मैं आज सुदेष्णाके वशमें होकर उससे डरती रहती हूँ ॥ २०-२१ ॥

यस्याः पुरःसरा आसन् पृष्ठतश्चानुगामिनः ।
साहमद्य सुदेष्णायाः पुरः पश्चाच्च गामिनी ॥ २२ ॥

जिसके आगे और पीछे बहुत-से सेवक रहा करते थे, वही मैं अब रानी सुदेष्णाके आगे और पीछे चलती हूँ ॥

इदं तु दुःखं कौन्तेय ममासह्यं निबोध तत् ।
या न जातु स्वयं पिंषे गात्रोद्वर्तनमात्मनः ।
अन्यत्र कुन्त्या भद्रं ते सा पिनष्म्यद्य चन्दनम् ॥ २३ ॥
पश्य कौन्तेय पाणी मे नैवाभूतां हि यौ पुरा ।

कुन्तीकुमार ! इसके सिवा मेरे एक और असह्य दुःखको तो देखो । पहले मैं माता कुन्तीको छोड़कर (और किसीके लिये तो क्या) स्वयं अपने लिये भी कभी उबटन नहीं पीसती थी; किंतु वही मैं आज दूसरोंके लिये चन्दन घिसती हूँ । पार्थ ! देखो, ये मेरे दोनों हाथ, जिनमें घट्ठे पड़ गये हैं, पहले ये ऐसे नहीं थे ॥ २३½ ॥

इत्यस्य दर्शयामास किणवन्तौ करावुभौ ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर द्रौपदीने भीमसेनको अपने दोनों हाथ दिखाये, जिनमें चन्दन रगड़नेसे काले दाग पड़ गये थे ॥

बिभेमि कुन्त्या या नाहं युष्माकं वा कदाचन ।
साद्याग्रतो विराटस्य भीता तिष्ठामि किङ्करी ॥ २५ ॥

(फिर वह सिसकती हुई बोली-) नाथ! जो पहले कभी आर्या कुन्तीसे अथवा तुमलोगोंसे भी नहीं डरती थी, वही द्रौपदी आज दासी होकर राजा विराटके आगे भयभीत-सी खड़ी रहती है' ॥ २५ ॥

किं नु वक्ष्यति सम्राण्मां वर्णकः सुकृतो न वा।
नान्यपिष्टं हि मत्स्यस्य चन्दनं किल रोचते ॥ २६ ॥

उस समय मैं सोचती हूँ, 'न जाने सम्राट् मुझे क्या कहेंगे ? यह उबटन अच्छा बना है या नहीं।' मेरे सिवा दूसरेका पीसा हुआ चन्दन मत्स्यराजको अच्छा ही नहीं लगता ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा कीर्तयन्ती दुःखानि भीमसेनस्य भामिनी।
रुरोद शनकैः कृष्णा भीमसेनमुदीक्षती ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भामिनी द्रौपदी इस प्रकार भीमसेनसे अपने दुःख बताकर उनके मुखकी ओर देखती हुई धीरे-धीरे रोने लगी ॥ २७ ॥

सा वाष्पकलया वाचा निःश्वसन्ती पुनः पुनः।
हृदयं भीमसेनस्य घट्टयन्तीदमब्रवीत् ॥ २८ ॥

वह बार-बार लंबी साँसें लेती हुई आँसुओंसे गद्गद वाणीमें भीमसेनके हृदयको कम्पित करती हुई इस प्रकार बोली—॥ २८ ॥

नाल्पं कृतं मया भीम देवानां किल्बिषं पुरा।
अभाग्या यत्र जीवामि कर्तव्ये सति पाण्डव ॥ २९ ॥

'पाण्डुनन्दन भीमसेन! मैंने पूर्वकालमें देवताओंका थोड़ा अपराध नहीं किया है, तभी तो मुझ अभागिनीको जहाँ मर जाना चाहिये, उस दशामें भी मैं जी रही हूँ' ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तस्याः करौ सूक्ष्मौ किणबद्धौ वृकोदरः।
मुखमानीय वै पत्न्या रुरोद परवीरहा ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर शत्रुहन्ता भीमसेन अपनी पत्नी द्रौपदीके दुबले-पतले हाथों-को, जिनमें घट्ठे पड़ गये थे, अपने मुखपर लगाकर रो पड़े ॥

तौ गृहीत्वा च कौन्तेयो बाष्पमुत्सृज्य वीर्यवान्।
ततः परमदुःखार्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

फिर पराक्रमी भीमने उन हाथोंको पकड़कर आँसू बहाते हुए अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो इस प्रकार कहा ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदी-भीम-संवादविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

भीमसेन और द्रौपदीका संवाद

भीमसेन उवाच

धिगस्तु मे बाहुबलं गाण्डीवं फाल्गुनस्य च।
यत् ते रक्तौ पुरा भूत्वा पाणी कृतकिणाविमौ ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—देवि! मेरे बाहुबलको तथा अर्जुनके गाण्डीव धनुषको भी धिक्कार है; क्योंकि तुम्हारे ये दोनों कोमल हाथ, जो पहले लाल थे, अब घट्ठे पड़नेसे काले हो गये हैं ॥ १ ॥

सभायां तु विराटस्य करोमि कदनं महत्।
तत्र मे कारणं भाति कौन्तेयो यत् प्रतीक्षते ॥ २ ॥

मैं तो उसी दिन विराटकी सभामें ही भारी संहार मचा देता, किंतु ऐसा न करनेमें कारण बन गये कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर। वे प्रकट हो जानेका भय सूचित करते हुए मेरी ओर देखने लगे ॥ २ ॥

अथवा कीचकस्याहं पोथयामि पदा शिरः।
ऐश्वर्यमदमत्तस्य क्रीडन्निव महाद्विपः ॥ ३ ॥

अथवा ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हुए उस कीचकका मस्तक मैं उसी प्रकार पैरोंसे रौंद डालता जैसे क्रीडा करता हुआ महान् गजराज कीचक (बाँस) के वृक्षको मसल डालता है ॥

अपश्यं त्वां यदा कृष्णे कीचकेन पदा हताम्।
तदैवाहं चिकीर्षामि मत्स्यानां कदनं महत् ॥ ४ ॥

कृष्णे! जब कीचकने तुम्हें लातसे मारा था, उस समय मैं वहीं था और अपनी आँखों यह घटना मैंने देखी थी। उसी क्षण मेरी इच्छा हुई कि आज इन मत्स्यदेशवासियोंका महासंहार कर डालूँ ॥ ४ ॥

तत्र मां धर्मराजस्तु कटाक्षेण न्यवारयत्।
तदहं तस्य विज्ञाय स्थित एवास्मि भामिनि ॥ ५ ॥

किंतु धर्मराजने वहाँ नेत्रोंसे संकेत करके मुझे ऐसा करने-से रोक दिया। भामिनि! उनके उस इशारेको समझकर ही मैं चुप रह गया ॥ ५ ॥

यच्च राष्ट्रात् प्रच्यवनं कुरूणामवधश्च यः।
सुयोधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ॥ ६ ॥
दुःशासनस्य पापस्य यन्मया नाहृतं शिरः।

तन्मे दहति गात्राणि हृदि शल्यमिवार्पितम् ।
मा धर्मं जहि सुश्रोणि क्रोधं जहि महामते ॥ ७ ॥

जिस दिन हमें राज्यसे वञ्चित किया गया, उसी दिन जो कौरवोंका वध नहीं हुआ, दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा पापी दुःशासनके मस्तक मैंने नहीं काट डाले, यह सब सोचकर मेरे हृदयमें काँटा-सा चुभ जाता है और शरीरमें आग लग जाती है। सुश्रोणि ! तुम बड़ी बुद्धिमती हो, धर्मको न छोड़ो; क्रोधका त्याग करो ॥ ६-७ ॥

इमं तु समुपालम्भं त्वत्तो राजा युधिष्ठिरः ।
शृणुयाद् वापि कल्याणि कृत्स्नं जह्यात् स जीवितम्॥८॥

कल्याणी ! यदि राजा युधिष्ठिर तुम्हारे मुखसे यह सारा उपालम्भ सुन लेंगे, तो प्राण त्याग देंगे ॥ ८ ॥

धनंजयो वा सुश्रोणि यमौ वा तनुमध्यमे ।
लोकान्तरगतेष्वेषु नाहं शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ ९ ॥

सुश्रोणि ! तनुमध्यमे ! धनंजय अथवा नकुल-सहदेव भी इसे सुनकर जीवित नहीं रह सकते। इन सबके परलोकवासी हो जानेपर मैं भी नहीं जी सकूँगा ॥ ९ ॥

पुरा सुकन्या भार्या च भार्गवं च्यवनं वने ।
वल्मीकभूतं शाम्यन्तमन्वपद्यत भामिनी ॥ १० ॥
नारायणी चेन्द्रसेना रूपेण यदि ते श्रुता ।
पतिमन्वचरद् वृद्धं पुरा वर्षसहस्रिणम् ॥ ११ ॥

प्राचीन कालकी बात है, भृगुनन्दन महर्षि च्यवन तपस्या करते-करते बाँबीके समान हो गये थे, मानो अब उनका जीवन-दीप बुझ जायगा; ऐसी दशा हो गयी थी, तो भी उनकी कल्याणमयी पत्नी सुकन्याने उन्हींका अनुसरण किया—वह उन्हींकी सेवाशुश्रूषामें लगी रही। नारायणी इन्द्रसेना भी अपने रूप-सौन्दर्यके कारण विख्यात थी। तुमने भी उसका नाम सुना होगा। पूर्वकालमें उसने अपने हजार वर्षके बूढ़े पति मुद्गल ऋषिकी निरन्तर सेवा की थी ॥ १०-११ ॥

दुहिता जनकस्यापि वैदेही यदि ते श्रुता ।
पतिमन्वचरत् सीता महारण्यनिवासिनम् ॥ १२ ॥

जनकनन्दिनी वैदेही सीताका नाम तो तुम्हारे कानोंमें पड़ा ही होगा। उन्होंने अत्यन्त घोर वनमें निवास करनेवाले अपने पति श्रीरामचन्द्रजीका अनुगमन किया था ॥ १२ ॥

रक्षसा निग्रहं प्राप्य रामस्य महिषी प्रिया ।
क्लिश्यमानापि सुश्रोणि राममेवान्वपद्यत ॥ १३ ॥

सुश्रोणि ! जानकी श्रीरामकी प्यारी रानी थीं। वे राक्षसकी कैदमें पड़कर दीर्घकालतक क्लेश उठाती रहीं, तो भी उन्होंने श्रीरामको ही अपनाये रक्खा; अपना धर्म नहीं छोड़ा ॥ १३ ॥

लोपामुद्रा तथा भीरु वयोरूपसमन्विता ।
अगस्तिमन्वयाद्धित्वा कामान् सर्वानमानुषान् ॥ १४ ॥

भीरु ! नयी अवस्था और अनुपम रूप-सौन्दर्यसे सम्पन्न राजकुमारी लोपामुद्राने सम्पूर्ण अलौकिक सुख-भोगोंपर लात मारकर अपने पति महर्षि अगस्त्यका ही अनुसरण किया था ॥ १४ ॥

द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवन्तमनिन्दिता ।
सावित्र्यनुचचारैका यमलोकं मनस्विनी ॥ १५ ॥

सती-साध्वी मनस्विनी सावित्री द्युमत्सेनके पुत्र वीरवर सत्यवान्के मर जानेपर उनके पीछे-पीछे अकेली ही यमलोककी ओर गयी थी ॥ १५ ॥

यथैताः कीर्तिता नार्यो रूपवत्यः पतिव्रताः ।
तथा त्वमपि कल्याणि सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ १६ ॥

कल्याणि ! इन रूपवती पतिव्रता नारियोंका जैसा आदर्श बताया गया है, उसी प्रकार तुम भी समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हो ॥ १६ ॥

मादीर्घं क्षम कालं त्वं मासमर्धं च सम्मितम् ।
पूर्णे त्रयोदशे वर्षे राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ॥ १७ ॥

अब तुम थोड़े दिनोंतक और ठहर जाओ। वर्ष पूरा होनेमें महीना—आध-महीना और रह गया है। तेरहवाँ वर्ष पूर्ण होते ही तुम राजरानी बनोगी ॥ १७ ॥

(सत्येन ते शपे चाहं भविता नान्यथेति ह ।
सर्वासां परमस्त्रीणां प्रामाण्यं कर्तुमर्हसि ।

देवि ! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, ऐसा ही होगा; यह टल नहीं सकता। तुम्हें सभी श्रेष्ठ स्त्रियोंके समक्ष अपना आदर्श उपस्थित करना चाहिये ॥

सर्वेषां च नरेन्द्राणां मूर्ध्नि स्थास्यसि भामिनि ॥
भर्तृभक्त्या च वृत्तेन भोगान् प्राप्स्यसि दुर्लभान्)॥

भामिनि ! तुम अपनी पतिभक्ति तथा सदाचारसे सम्पूर्ण नरेशोंके मस्तकपर स्थान प्राप्त करोगी और तुम्हें दुर्लभ भोग सुलभ होंगे ॥

द्रौपद्युवाच

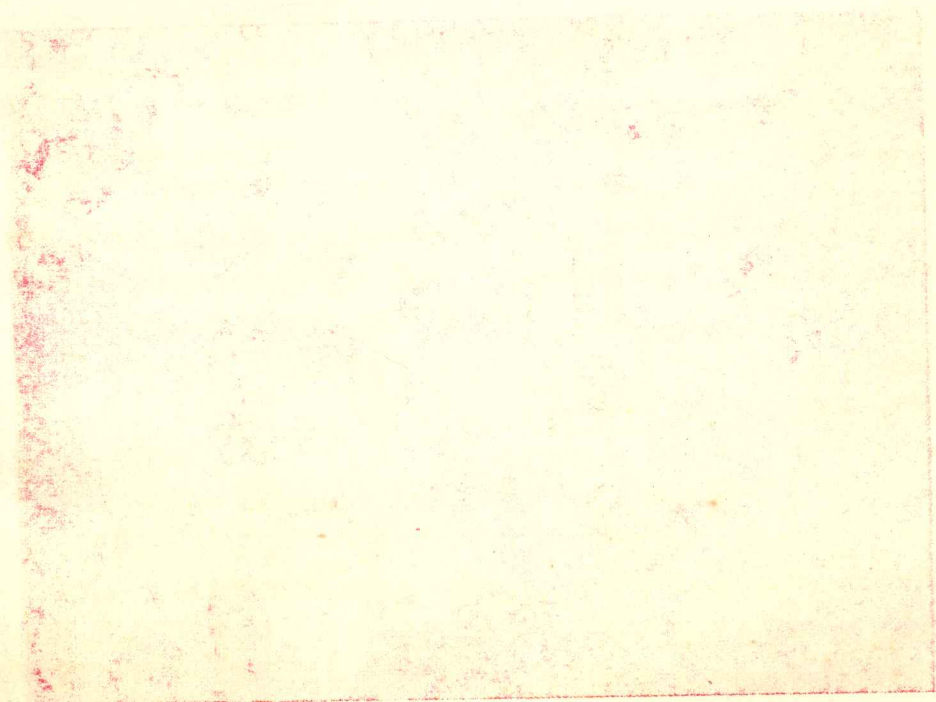
आर्तयैतन्मया भीम कृतं बाष्पप्रमोचनम् ।
अपारयन्त्या दुःखानि न राजानमुपालभे ॥ १८ ॥

द्रौपदीने कहा—प्राणनाथ भीम ! इधर अनेक प्रकारके दुःखोंको सहन करनेमें असमर्थ एवं आर्त होकर ही मैंने ये आँसू बहाये हैं। मैं राजा युधिष्ठिरको उलाहना नहीं दूँगी॥१८॥

किमुक्तेन व्यतीतेन भीमसेन महाबल ।
प्रत्युपस्थितकालस्य कार्यस्यानन्तरो भव ॥ १९ ॥

महाबली भीमसेन ! अब बीती बातोंको दुहरानेसे क्या









भीमसेन और द्रौपदी



कीचक-वध

लाभ ? इस समय जिसका अवसर उपस्थित है, उस कार्यके लिये तैयार हो जाओ ॥ १९ ॥

ममेह भीम कैकेयी रूपाभिभवशङ्कया ।
नित्यमुद्विजते राजा कथं नेयादिमामिति ॥ २० ॥

भीम ! केकयकुमारी सुदेष्णा यहाँ मेरे रूपसे पराजित होनेके कारण सदा इस शङ्कासे उद्विग्न रहती है कि राजा विराट किसी प्रकार इसपर आसक्त न हो जायँ ॥ २० ॥

तस्या विदित्वा तं भावं स्वयं चानृतदर्शनः ।
कीचकोऽयं सुदुष्टात्मा सदा प्रार्थयते हि माम्॥ २१ ॥

जिसका देखना भी अनृत (पापमय) है, वही यह परम दुष्टात्मा कीचक रानी सुदेष्णाके उक्त मनोभावको जानकर सदा स्वयं आकर मेरे आगे प्रार्थना किया करता है ॥ २१ ॥

तमहं कुपिता भीम पुनः कोपं नियम्य च ।
अब्रुवं कामसम्मूढमात्मानं रक्ष कीचक ॥ २२ ॥

भीम ! पहले-पहल उसके ऐसा कहनेपर मैं कुपित हो उठी; किंतु पुनः क्रोधके वेगको रोककर बोली—'कीचक ! तू कामसे मोहित हो रहा है। अरे ! तू अपने आपकी रक्षा कर ॥ २२ ॥

गन्धर्वाणामहं भार्या पञ्चानां महिषी प्रिया ।
ते त्वां निहन्युः कुपिताः शूराः साहसकारिणः॥ २३ ॥

'मैं पाँच गन्धर्वोंकी पत्नी तथा प्यारी रानी हूँ। वे साहसी तथा शूरवीर गन्धर्व तुम्हें कुपित होकर मार डालेंगे' ॥

एवमुक्तः सुदुष्टात्मा कीचकः प्रत्युवाच ह ।
नाहं बिभेमि सैरन्ध्रि गन्धर्वाणां शुचिस्मिते ॥ २४ ॥

मेरे ऐसा कहनेपर महा दुष्टात्मा कीचकने उत्तर दिया—'पवित्र मुसकानवाली सैरन्ध्री ! मैं गन्धर्वोंसे नहीं डरता॥२४॥

शतं शतसहस्राणि गन्धर्वाणामहं रणे ।
समागतं हनिष्यामि त्वं भीरु कुरु मे क्षणम् ॥ २५ ॥

'भीरु ! यदि युद्धमें मेरे सामने एक करोड़ गन्धर्व भी आ जायँ, तो मैं उन्हें मार डालूँगा; परंतु तुम मुझे स्वीकार कर लो' ॥ २५ ॥

इत्युक्ते चाब्रुवं मत्तं कामातुरमहं पुनः ।
न त्वं प्रतिबलश्चैषां गन्धर्वाणां यशस्विनाम् ॥ २६ ॥

उसके इस प्रकार उत्तर देनेपर मैंने पुनः उस कामातुर और मतवाले कीचकसे कहा— 'कीचक ! तू मेरे यशस्वी पति गन्धर्वोंके समान बलवान् नहीं है ॥ २६ ॥

धर्मे स्थितास्मि सततं कुलशीलसमन्विता ।
नेच्छामि कंचिद् वध्यन्तं तेन जीवसि कीचक ॥ २७ ॥

'मैं सदा पातिव्रत्य-धर्ममें स्थित रहती हूँ एवं अपने उत्तम कुलकी मर्यादा और सदाचारसे सम्पन्न हूँ। मैं नहीं चाहती कि मेरे कारण किसीका वध हो, इसीलिये तू अबतक जीवित है' ॥ २७ ॥

एवमुक्तः स दुष्टात्मा प्राहसत् स्वनवत् तदा ।
अथ मां तत्र कैकेयी प्रैषयत् प्रणयेन तु ॥ २८ ॥
तेनैव देशिता पूर्वं भ्रातृप्रियचिकीर्षया ।
सुरामानय कल्याणि कीचकस्य निवेशनात् ॥ २९ ॥

मेरी यह बात सुनकर वह दुष्टात्मा ठहाका मारकर हँसने लगा। तदनन्तर केकयराजकुमारी सुदेष्णा, जैसा कीचकने पहले उसे सिखा रक्खा था, उसी योजनाके अनुसार अपने भाईका प्रिय करनेकी इच्छासे मुझे प्रेमपूर्वक कीचकके यहाँ भेजने लगी और बोली—'कल्याणि ! तुम कीचकके महलसे मेरे लिये मदिरा ले आओ' ॥ २८-२९ ॥

सूतपुत्रस्तु मां दृष्ट्वा महत् सान्त्वमवर्तयत् ।
सान्त्वे प्रतिहते क्रुद्धः परामर्शमनाभवत् ॥ ३० ॥

मैं वहाँ गयी। सूतपुत्रने मुझे देखकर पहले तो अपनी बात मान लेनेके लिये बड़े-बड़े आश्वासनोंके साथ समझाना आरम्भ किया; किंतु जब मैंने उसकी प्रार्थना ठुकरा दी, तब उसने क्रोधपूर्वक मेरे साथ बलात्कार करनेका विचार किया ॥

विदित्वा तस्य संकल्पं कीचकस्य दुरात्मनः ।
तथाहं राजशरणं जवेनैव प्रधाविता ॥ ३१ ॥

दुरात्मा कीचकके उस संकल्पको मैं जान गयी और राजाकी शरणमें पहुँचनेके लिये बड़े वेगसे भागी ॥ ३१ ॥

संदर्शने तु मां राज्ञः सूतपुत्रः परामृशत् ।
पातयित्वा तु दुष्टात्मा पदाहं तेन ताडिता ॥ ३२ ॥

किंतु वहाँ भी दुष्टात्मा सूतपुत्रने राजाके सामने मुझे पकड़ लिया और पृथ्वीपर गिराकर लातसे मारा ॥ ३२ ॥

प्रेक्षते स्म विराटस्तु कङ्कस्तु बहवो जनाः ।
रथिनः पीठमर्दाश्च हस्त्यारोहाश्च नैगमाः ॥ ३३ ॥

राजा विराट देखते रह गये। कङ्क तथा अन्य लोगोंने भी यह सब देखा। रथी, पीठमर्द (राजाके प्रिय व्यक्ति), महावत, वैदिक विद्वान् तथा नागरिक—सबकी दृष्टिमें यह बात आयी थी ॥ ३३ ॥

उपालब्धो मया राजा कङ्कश्चापि पुनः पुनः ।
ततो न वारितो राज्ञा न तस्याविनयः कृतः ॥ ३४ ॥

मैंने राजा विराट और कङ्कको बार-बार फटकारा, तो भी राजाने न तो उसे मना किया और न उसकी उद्दण्डताका दमन ही किया ॥ ३४ ॥

योऽयं राज्ञो विराटस्य कीचको नाम सारथिः ।
त्यक्तधर्मा नृशंसश्च नरस्त्रीसम्मतः प्रियः ॥ ३५ ॥

राजा विराटका यह जो कीचक नामवाला सारथि है,

इसने धर्मको त्याग दिया है। यह अत्यन्त क्रूर है, तो भी विराट और सुदेष्णा दोनों पति-पत्नी उसे बहुत मानते हैं। यह उनका प्रिय सेनापति है ॥ ३५ ॥

शूरोऽभिमानी पापात्मा सर्वार्थेषु च मुग्धवान्।
दारामर्शी महाभाग लभतेऽर्थान् बहूनपि ॥ ३६ ॥

इसे अपनी शूरवीरताका बड़ा अभिमान है। यह पापात्मा सब बातोंमें मूर्ख है। महाभाग ! यह परायी स्त्रियों-पर बलात्कार करता और लोगोंसे बहुत धन हड़पता रहता है ॥ ३६ ॥

आहरेदपि वित्तानि परेषां क्रोशतामपि।
न तिष्ठति स्म सन्मार्गे न च धर्मं बुभूषति ॥ ३७ ॥

लोग रोते-चिल्लाते रह जाते हैं; किंतु यह उनका सारा धन हड़प लेता है। यह सन्मार्गमें स्थिर नहीं रहता तथा धर्मोपार्जन भी नहीं करना चाहता है ॥ ३७ ॥

पापात्मा पापभावश्च कामबाणवशानुगः।
अविनीतश्च दुष्टात्मा प्रत्याख्यातः पुनः पुनः ॥ ३८ ॥

यह पापात्मा है; इसके मनमें पापकी ही वासना है। यह कामदेवके बाणोंसे विवश हो रहा है। उद्दण्ड और दुष्टात्मा तो है ही। मैंने बार-बार इसकी प्रार्थना ठुकरायी है ॥

दर्शने दर्शने हन्याद् यदि जह्यां च जीवितम्।
तद् धर्मे यतमानानां महान् धर्मो नशिष्यति ॥ ३९ ॥

अतः यह जब-जब सामने आयेगा, मुझे मारेगा। सम्भव है, किसी दिन मुझे जीवनसे भी हाथ धोना पड़े। उस दशामें धर्मके लिये प्रयत्न करनेवाले तुम सब लोगोंका सबसे महान् धर्म नष्ट हो जायगा ॥ ३९ ॥

समयं रक्षमाणानां भार्या वो न भविष्यति।
भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ॥ ४० ॥

यदि तुमलोग प्रतिज्ञाके अनुसार तेरह वर्षकी अवधिका पालन करते रहोगे, तो तुम्हारी यह भार्या जीवित न रहेगी। भार्याकी रक्षा करनेपर संतानकी रक्षा होती है ॥ ४० ॥

प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः।
आत्मा हि जायते तस्यां तेन जायां विदुर्बुधाः ॥ ४१ ॥

संतानकी रक्षा होनेपर अपना आत्मा सुरक्षित होता है। आत्मा ही पत्नीके गर्भसे पुत्ररूपमें जन्म लेता है। इसीलिये विद्वान् पुरुष पत्नीको 'जाया' कहते हैं ॥ ४१ ॥

भर्ता तु भार्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे।
वदतां वर्णधर्मांश्च ब्राह्मणानामिति श्रुतः ॥ ४२ ॥

मैंने वर्णधर्मका उपदेश देनेवाले ब्राह्मणोंके मुँहसे सुना है, पत्नीको पतिकी रक्षा इसलिये करनी चाहिये कि यह किसी दिन मेरे पेटसे पुत्ररूपमें जन्म लेगा ॥ ४२ ॥

क्षत्रियस्य सदा धर्मो नान्यः शत्रुनिबर्हणात्।
पश्यतो धर्मराजस्य कीचको मां पदावधीत् ॥ ४३ ॥
तव चैव समक्षं वै भीमसेन महाबल।
त्वया ह्यहं परित्राता तस्माद् घोराज्जटासुरात् ॥ ४४ ॥

महाबली भीमसेन ! क्षत्रियके लिये सदा शत्रुओंका संहार करनेके सिवा और कोई धर्म नहीं है। कीचकने धर्मराज युधिष्ठिरके देखते-देखते और तुम्हारी आँखोंके सामने मुझे लात मारी है। तुमने उस भयंकर राक्षस जटासुरसे मेरी रक्षा की है ॥ ४३-४४ ॥

जयद्रथं तथैव त्वमजैषीर्भ्रातृभिः सह।
जहीममपि पापिष्ठं योऽयं मामवमन्यते ॥ ४५ ॥

भाइयोंसहित तुमने जयद्रथको भी परास्त किया है। अतः अब इस महापापी कीचकको भी मार डालो, जो मेरा अपमान कर रहा है ॥ ४५ ॥

कीचको राजवाल्लभ्याच्छोककृन्मम भारत।
तमेवं कामसम्मत्तं भिन्धि कुम्भमिवाश्मनि ॥ ४६ ॥

भारत ! राजाका प्रिय होनेके कारण ही कीचक मेरेलिये शोककारक हो रहा है। अतः ऐसे कामोन्मत्त पापीको तुम उसी तरह विदीर्ण कर डालो, जैसे पत्थरपर पटककर घड़ेको फोड़ दिया जाता है ॥ ४६ ॥

यो निमित्तमनर्थानां बहूनां मम भारत।
तं चेज्जीवन्तमादित्यः प्रातरभ्युदयिष्यति ॥ ४७ ॥
विषमालोड्य पास्यामि मा कीचकवशं गमम्।
श्रेयो हि मरणं मह्यं भीमसेन तवाग्रतः ॥ ४८ ॥

भारत ! जो मेरेलिये बहुत-से अनर्थोंका कारण बना हुआ है, उसके जीते-जी यदि कल सूर्योदय हो जायगा, तो मैं विष घोलकर पी लूँगी; किंतु कीचकके अधीन नहीं होऊँगी। भीमसेन ! कीचकके वशमें पड़नेकी अपेक्षा तुम्हारे सामने प्राण त्याग देना मेरेलिये कल्याणकारी होगा ॥ ४७-४८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्रारुदत् कृष्णा भीमस्योरःसमाश्रिता।
भीमश्च तां परिष्वज्य महत् सान्त्वं प्रयुज्य च ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर द्रौपदी भीमके वक्षःस्थलपर माथा टेककर फूट-फूटकर रोने लगी। भीमसेनने उसको हृदयसे लगाकर बहुत सान्त्वना दी ॥ ४९ ॥

आश्वासयित्वा बहुशो भृशमार्तां सुमध्यमाम्।
हेतुतत्त्वार्थसंयुक्तैर्वचोभिर्द्रुपदात्मजाम् ॥ ५० ॥
प्रमृज्य वदनं तस्याः पाणिनाश्रुसमाकुलम्।
कीचकं मनसागच्छत् सृक्किणी परिसंलिहन्।
उवाच चैनां दुःखार्तां भीमः क्रोधसमन्वितः ॥ ५१ ॥

वह बहुत आर्त हो रही थी; अतः उन्होंने सुन्दर कटिभागवाली द्रुपदकुमारीको युक्तियुक्त तात्त्विक वचनोंसे अनेक बार आश्वासन देकर अपने हाथसे उसके आँसूभरे मुँहको पोंछा और क्रोधसे जबड़े चाटते हुए मन-ही-मन कीचकका स्मरण किया। तदनन्तर भीमने दुःखपीड़ित द्रौपदीसे इस प्रकार कहा ॥ ५०-५१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीसान्त्वने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीको आश्वासनविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५३ श्लोक हैं)

द्वाविंशोऽध्यायः

कीचक और भीमसेनका युद्ध तथा कीचकवध

भीमसेन उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे ।
अद्य तं सूदयिष्यामि कीचकं सहबान्धवम् ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—भद्रे ! तू जैसा कह रही है, वैसा ही करूँगा। भीरु ! मैं आज कीचकको उसके भाई-बन्धुओंसहित मार डालूँगा ॥ १ ॥

अस्याः प्रदोषे शर्वर्याः कुरुष्वानेन संगतम् ।
दुःखं शोकं च निर्धूय याज्ञसेनि शुचिस्मिते ॥ २ ॥

पवित्र मुसकानवाली द्रौपदी ! तुम दुःख-शोक भुलाकर आगामी रात्रिके प्रदोषकालमें कीचकसे मिलो और उसे नृत्यशालामें आनेके लिये कह दो ॥ २ ॥

यैषा नर्तनशालेह मत्स्यराजेन कारिता ।
दिवात्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथागृहम् ॥ ३ ॥

मत्स्यराज विराटने जो यहाँ नृत्यशाला बनवायी है, उसमें दिनके समय तो कन्याएँ नाचती हैं तथा रातको अपने-अपने घर चली जाती हैं ॥ ३ ॥

तत्रास्ति शयनं दिव्यं दृढाङ्गं सुप्रतिष्ठितम् ।
तत्रास्य दर्शयिष्यामि पूर्वप्रेतान् पितामहान् ॥ ४ ॥

उस नृत्यशालामें एक बहुत सुन्दर मजबूत पलंग बिछा हुआ है। वहीं आनेपर उस कीचकको मैं उसके मरे हुए बाप-दादोंका दर्शन कराऊँगा ॥ ४ ॥

यथा च त्वां न पश्येयुः कुर्वाणां तेन संविदम् ।
कुर्यास्तथा त्वं कल्याणि यथा संनिहितो भवेत् ॥ ५ ॥

तुम ऐसी चेष्टा करना, जिससे उसके साथ गुप्त वार्तालाप करते समय कोई तुम्हें देख न ले। कल्याणी ! तुम ऐसी बात करना, जिससे वहाँ दिये हुए संकेतके अनुसार वह अवश्य मेरे पास आ जाय ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा तौ कथयित्वा तु बाष्पमुत्सृज्य दुःखितौ ।
रात्रिशेषं तमत्युग्रं धारयामासतुर्हृदि ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार बातचीत करके वे दोनों दुखी दम्पति आँसू बहाकर अलग हुए तथा रात्रिके शेषभागको उन्होंने बड़ी व्याकुलतासे बिताया और आपसकी बातचीतको मनमें ही गुप्त रखा ॥ ६ ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरुत्थाय कीचकः ।
गत्वा राजकुलायैव द्रौपदीमिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

वह रात बीत जानेपर कीचक सबेरे उठा और राजमहलमें जाकर द्रौपदीसे इस प्रकार बोला— ॥ ७ ॥

सभायां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदाहनम् ।
न चैवालभसे त्राणमभिपन्ना बलीयसा ॥ ८ ॥

'सैरन्ध्री ! मैंने राजसभामें तुम्हारे महाराजके देखते-देखते तुम्हें पृथ्वीपर गिराकर लातोंसे मारा था। तुम मुझ-जैसे महाबलवान् पुरुषके पाले पड़ी हो; तुम्हें कोई बचा नहीं सकता ॥ ८ ॥

प्रवादेनेह मत्स्यानां राजा नाम्नायमुच्यते ।
अहमेव हि मत्स्यानां राजा वै वाहिनीपतिः ॥ ९ ॥

'राजा विराट तो कहनेके लिये ही मत्स्यदेशका नाममात्रका राजा है। वास्तवमें मैं ही यहाँका राजा हूँ; क्योंकि सेनाका मालिक मैं हूँ ॥ ९ ॥

मां सुखं प्रतिपद्यस्व दासो भीरु भवामि ते ।
अह्नाय तव सुश्रोणि शतं निष्कान् ददाम्यहम् ॥ १० ॥

'भीरु ! सुखपूर्वक मुझे स्वीकार कर लो, फिर तो मैं तुम्हारा दास बन जाऊँगा। सुश्रोणि ! मैं तुम्हारे दैनिक खर्चके लिये प्रतिदिन सौ मोहरें देता रहूँगा ॥ १० ॥

दासीशतं च ते दद्यां दासानामपि चापरम् ।
रथं चाश्वतरीयुक्तमस्तु नौ भीरु संगमः ॥ ११ ॥

'तुम्हारी सेवाके लिये सौ दासियाँ और उतने ही दास दूँगा। तुम्हारी सवारीके लिये खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ प्रस्तुत रहेगा। भीरु! अब हम दोनोंका परस्पर समागम होना चाहिये ॥

द्रौपद्युवाच

एवं मे समयं त्वद्य प्रतिपद्यस्व कीचक ।

न त्वां सखा वा भ्राता वा जानीयात् संगतं मया ॥ १२ ॥

द्रौपदीने कहा—कीचक ! यदि ऐसी बात है, तो आज मेरी एक शर्त स्वीकार करो । तुम मुझसे मिलने आते हो—यह बात तुम्हारा मित्र अथवा भाई कोई भी न जाने ॥ १२ ॥

अनुप्रवादाद् भीतास्मि गन्धर्वाणां यशस्विनाम् ।
एवं मे प्रतिजानीहि ततोऽहं वशगा तव ॥ १३ ॥

क्योंकि मैं यशस्वी गन्धर्वोंके अपवादसे डरती हूँ । यदि इस बातके लिये मुझसे प्रतिज्ञा करो, तो मैं तुम्हारे अधीन हो सकती हूँ ॥ १३ ॥

कीचक उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा सुश्रोणि भाषसे ।
एको भद्रे गमिष्यामि शून्यमावसथं तव ॥ १४ ॥

कीचक बोला—ठीक है । सुश्रोणि ! तुम जैसा कहती हो, वैसा ही करूँगा । भद्रे ! तुम्हारे सूने घरमें मैं अकेला ही जाऊँगा ॥ १४ ॥

समागमार्थं रम्भोरु त्वया मदनमोहितः ।
यथा त्वां नैव पश्येयुर्गन्धर्वाः सूर्यवर्चसः ॥ १५ ॥

रम्भोरु ! मैं कामसे मोहित होकर तुम्हारे साथ समागमके लिये इस प्रकार आऊँगा, जिससे सूर्यके समान तेजस्वी गन्धर्व तुम्हें उस समय मेरे साथ न देख सकें ॥ १५ ॥

द्रौपद्युवाच

यदेतन्नर्तनागारं मत्स्यराजेन कारितम् ।
दिवात्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथागृहम् ॥ १६ ॥

द्रौपदीने कहा—कीचक ! मत्स्यराजने यह जो नृत्यशाला बनवायी है, उसमें दिनके समय कन्याएँ नृत्य करती हैं तथा रातमें अपने-अपने घर चली जाती हैं ॥ १६ ॥

तमिस्रे तत्र गच्छेथा गन्धर्वास्तन्न जानते ।
तत्र दोषः परिहृतो भविष्यति न संशयः ॥ १७ ॥

वहाँ अँधेरा रहता है, अतः मुझसे मिलनेके लिये वहीं जाना । उस स्थानको गन्धर्व नहीं जानते । वहाँ मिलनेसे सब दोष दूर हो जायगा; इसमें संशय नहीं है ॥ १७ ॥

(*कीचक उवाच*

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु मन्यसे ।
एकः सन् नर्तनागारमागमिष्यामि शोभने ॥
समागमार्थं सुश्रोणि शपे च सुकृतेन मे ।

कीचक बोला—भद्रे ! भीरु ! तुम जैसा ठीक समझती हो, वैसा ही करूँगा । शोभने ! मैं तुमसे मिलनेके लिये अकेला ही नृत्यशालामें आऊँगा । सुश्रोणि ! यह बात मैं अपने पुण्यकी शपथ खाकर कहता हूँ ॥

यथा त्वां नावबुध्यन्ते गन्धर्वा वरवर्णिनि ॥
सत्यं ते प्रतिजानामि गन्धर्वेभ्यो न ते भयम् ।)

वरवर्णिनी ! मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे गन्धर्वोंको तुम्हारे विषयमें कुछ भी पता न लगे । मैं सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तुम्हें गन्धर्वोंसे कोई भय नहीं है ॥

वैशम्पायन उवाच

तमर्थमपि जल्पन्त्याः कृष्णायाः कीचकेन ह ।
दिवसार्धं समभवन्मासेनैव समं नृप ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार कीचकके साथ बात करनेके बाद द्रौपदीको अवशिष्ट आधा दिन (भीमसेनसे यह बात निवेदन करनेकी प्रतीक्षामें) एक महीनेके समान भारी मालूम हुआ ॥ १८ ॥

कीचकोऽथ गृहं गत्वा भृशं हर्षपरिप्लुतः ।
सैरन्ध्रीरूपिणं मूढो मृत्युं तं नावबुद्धवान् ॥ १९ ॥

इधर कीचक महान् हर्षमें भरा हुआ अपने घरको गया । उस मूर्खको यह पता नहीं था कि सैरन्ध्रीके रूपमें मेरी मृत्यु आ रही है ॥ १९ ॥

गन्धाभरणमाल्येषु व्यासक्तः सविशेषतः ।
अलंचक्रे तदाऽऽत्मानं सत्वरः काममोहितः ॥ २० ॥

वह तो कामसे मोहित हो रहा था, अतः घर जाकर शीघ्र ही अपने आपको (गहने-कपड़ोंसे) सजाने लगा । वह विशेषतः सुगन्धित पदार्थों, आभूषणों तथा मालाओंके सेवनमें संलग्न रहा ॥ २० ॥

तस्य तत् कुर्वतः कर्म कालो दीर्घ इवाभवत् ।
अनुचिन्तयतश्चापि तामेवायतलोचनाम् ॥ २१ ॥

मन-ही-मन विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदीका बारंबार चिन्तन करते हुए श्रृङ्गार धारण करते समय कीचकको वह थोड़ा-सा समय भी उत्कण्ठावश बहुत बड़ा-सा प्रतीत हुआ ॥

आसीदभ्यधिका चापि श्रीः श्रियं प्रमुमुक्षतः ।
निर्वाणकाले दीपस्य वर्तीमिव दिधक्षतः ॥ २२ ॥

वास्तवमें जो सदाके लिये राजलक्ष्मीसे वियुक्त होनेवाला है, उस कीचककी भी उस समय श्रृङ्गार आदि धारण करनेसे श्री (शोभा) बहुत बढ़ गयी थी । ठीक उसी तरह, जैसे बुझनेके समय बत्तीको भी जला देनेकी इच्छावाले दीपककी प्रभा विशेष बढ़ जाती है ॥ २२ ॥

कृतसम्प्रत्ययस्तस्याः कीचकः काममोहितः ।
नाजानाद् दिवसं यान्तं चिन्तयानः समागमम् ॥ २३ ॥

काममोहित कीचकने द्रौपदीकी बातपर पूरा विश्वास कर लिया था; अतः उसके समागम-सुखका चिन्तन करते-करते उसे यह भी पता न चला कि दिन कब बीत गया ॥

ततस्तु द्रौपदी गत्वा तदा भीमं महानसे ।
उपातिष्ठत कल्याणी कौरव्यं पतिमन्तिकम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर कल्याणस्वरूपा द्रौपदी पाकशालामें अपने पति कुरुनन्दन भीमसेनके पास गयी ॥ २४ ॥

तमुवाच सुकेशान्ता कीचकस्य मया कृतः।
संगमो नर्तनागारे यथावोचः परंतप ॥ २५ ॥

वहाँ सुन्दर लटोंवाली कृष्णाने कहा—'शत्रुतापन ! जैसा तुमने कहा था, उसके अनुसार मैंने कीचकको नृत्यशालामें मिलनेका संकेत कर दिया है ॥ २५ ॥

शून्यं स नर्तनागारमागमिष्यति कीचकः।
एको निशि महाबाहो कीचकं तं निषूदय ॥ २६ ॥

'अतः महाबाहो ! कीचक रातके समय उस सूनी नृत्यशालामें अकेला आवेगा। तुम वहीं उसे मार डालना ॥

तं सूतपुत्रं कौन्तेय कीचकं मददर्पितम्।
गत्वा त्वं नर्तनागारं निर्जीवं कुरु पाण्डव ॥ २७ ॥

'कुन्तीकुमार ! पाण्डुनन्दन ! तुम नृत्यगृहमें जाकर उस मदोन्मत्त सूतपुत्र कीचकको प्राणशून्य कर दो ॥ २७ ॥

दर्पाच्च सूतपुत्रोऽसौ गन्धर्वानवमन्यते।
तं त्वं प्रहरतां श्रेष्ठ ह्रदान्नागमिवोद्धर ॥ २८ ॥

'प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ वीर ! वह सूतपुत्र अपनी वीरताके घमंडमें आकर गन्धर्वोंकी अवहेलना करता है; अतः जलाशयसे सर्पकी भाँति उसे तुम इस जगत्से निकाल फेंको॥

अश्रु दुःखाभिभूताया मम मार्जस्व भारत।
आत्मनश्चैव भद्रं ते कुरु मानं कुलस्य च ॥ २९ ॥

'भारत ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम कीचकको मारकर मुझ दुःखपीड़ित अबलाके आँसू पोंछो तथा अपना और अपने कुलका सम्मान बढ़ाओ' ॥ २९ ॥

भीमसेन उवाच

स्वागतं ते वरारोहे यन्मां वेदयसे प्रियम्।
न ह्यन्यं कञ्चिदिच्छामि सहायं वरवर्णिनि ॥ ३० ॥

भीमसेन बोले—वरारोहे ! तुम्हारा स्वागत है; क्योंकि तुमने मुझे प्रिय संवाद सुनाया है। सुन्दरी ! मैं इस कार्यमें दूसरे किसीको सहायक बनाना नहीं चाहता ॥ ३० ॥

या मे प्रीतिस्त्वयाऽऽख्याता कीचकस्य समागमे।
हत्वा हिडिम्बं सा प्रीतिर्ममासीद् वरवर्णिनि ॥ ३१ ॥

वरवर्णिनि ! कीचकसे मिलनेके लिये तुमने जो शुभ संवाद दिया है और इसे सुनकर मुझे जितनी प्रसन्नता हुई है, ऐसी प्रसन्नता मुझे हिडिम्बासुरको मारकर प्राप्त हुई थी॥

सत्यं भ्रातॄंश्च धर्मं च पुरस्कृत्य ब्रवीमि ते।
कीचकं निहनिष्यामि वृत्रं देवपतिर्यथा ॥ ३२ ॥

मैं सत्य, धर्म और भाइयोंको आगे करके—उनकी शपथ खाकर तुमसे कहता हूँ, जैसे देवराज इन्द्रने वृत्रासुरको मारा था, उसी प्रकार मैं भी कीचकका वध कर डालूँगा ॥ ३२ ॥

तं गह्वरे प्रकाशे वा पोथयिष्यामि कीचकम्।
अथ चेदपि योत्स्यन्ति हिंसे मत्स्यानपि ध्रुवम् ॥ ३३ ॥

एकान्तमें या जन-समुदायमें जहाँ भी वह मिलेगा, कीचकको मैं कुचल डालूँगा और यदि मत्स्यदेशके लोग उसकी ओरसे युद्ध करेंगे तो, उन्हें भी निश्चय ही मार डालूँगा ॥ ३३ ॥

ततो दुर्योधनं हत्वा प्रतिपत्स्ये वसुन्धराम्।
कामं मत्स्यमुपास्तां हि कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर दुर्योधनको मारकर समूची पृथ्वीका राज्य ले लूँगा। भले ही कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर यहाँ बैठकर मत्स्यराज विराटकी उपासना करते रहें ॥ ३४ ॥

द्रौपद्युवाच

यथा न संत्यजेथास्त्वं सत्यं वै मत्कृते विभो।
निगूढस्त्वं तथा पार्थ कीचकं तं निषूदय ॥ ३५ ॥

द्रौपदीने कहा—प्रभो ! तुम वही करो, जिससे मेरे लिये तुम्हें सत्यका परित्याग न करना पड़े। कुन्तीनन्दन ! तुम अपनेको गुप्त रखकर ही उस कीचकका संहार करो ॥

भीमसेन उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे।
अद्य तं सूदयिष्यामि कीचकं सह बान्धवैः ॥ ३६ ॥

भीमसेन बोले—ठीक है, भीरु ! तुम जैसा कहती हो, वही करूँगा। आज मैं उस कीचकको उसके भाई-बन्धुओं-सहित मार डालूँगा ॥ ३६ ॥

अदृश्यमानस्तस्याथ तमस्विन्यामनिन्दिते।
नागो बिल्वमिवाक्रम्य पोथयिष्याम्यहं शिरः।
अलभ्यामिच्छतस्तस्य कीचकस्य दुरात्मनः ॥ ३७ ॥

अनिन्दिते ! गजराज जैसे बेलके फलपर पैर रखकर उसे कुचल दे, उसी प्रकार मैं अँधेरी रातमें उससे अदृश्य रहकर तुझ-जैसी अलभ्य नारीको प्राप्त करनेकी इच्छावाले दुरात्मा कीचकके मस्तकको कुचल डालूँगा ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमोऽथ प्रथमं गत्वा रात्रौ छन्न उपाविशत्।
मृगं हरिरिवादृश्यः प्रत्याकाङ्क्षत कीचकम् ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर भीमसेन रातके समय पहले ही जाकर नृत्यशालामें छिपकर बैठ गये और कीचककी इस प्रकार प्रतीक्षा करने लगे, जैसे सिंह अदृश्य रहकर मृगकी घातमें बैठा रहता है ॥ ३८ ॥

कीचकश्चाप्यलंकृत्य यथाकाममुपागमत्।
तां वेलां नर्तनागारं पाञ्चालीसंगमाशया ॥ ३९ ॥

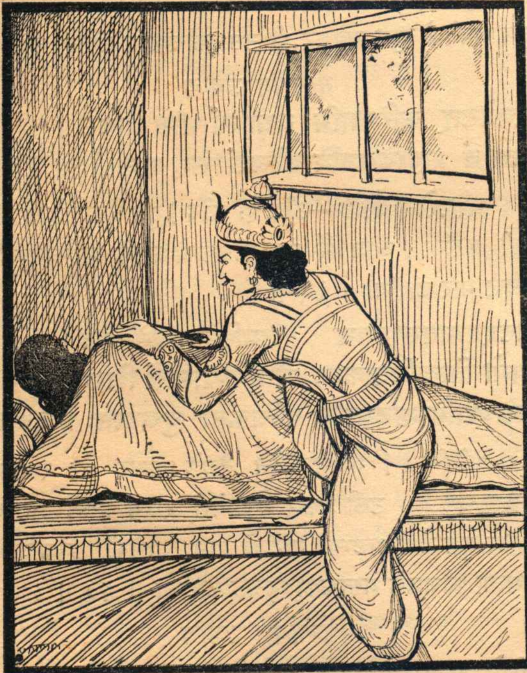
इधर कीचक भी इच्छानुसार वस्त्राभूषणोंसे सज-धजकर द्रौपदीके साथ समागमकी अभिलाषासे उसी समय नृत्यशालाके समीप आया ॥ ३९ ॥

मन्यमानः स संकेतमागारं प्राविशच्च तत् ।
प्रविश्य च स तद् वेश्म तमसा संवृतं महत् ॥ ४० ॥

उस गृहको संकेत-स्थान मानकर उसने भीतर प्रवेश किया। वह विशाल भवन सब ओरसे अन्धकारसे आच्छन्न हो रहा था ॥ ४० ॥

पूर्वागतं ततस्तत्र भीममप्रतिमौजसम् ।
एकान्तावस्थितं चैनमाससाद स दुर्मतिः ॥ ४१ ॥
शयानं शयने तत्र सूतपुत्रः परामृशत् ।
जाज्वल्यमानं कोपेन कृष्णाधर्षणजेन ह ॥ ४२ ॥

अतुलितपराक्रमी भीमसेन तो वहाँ पहलेसे ही आकर एकान्तमें एक शय्यापर लेटे हुए थे। खोटी बुद्धिवाला सूतपुत्र कीचक वहीं पहुँच गया और उन्हें हाथसे टटोलने लगा। उस समय भीमसेन कीचकद्वारा द्रौपदीके अपमानके कारण क्रोधसे जल रहे थे ॥ ४१-४२ ॥



उपसंगम्य चैवैनं कीचकः काममोहितः ।
हर्षोन्मथितचित्तात्मा स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥ ४३ ॥

उनके पास पहुँचते ही काममोहित कीचक हर्षसे उन्मत्त-चित्त हो मुसकराते हुए बोला—॥ ४३ ॥

प्रापितं ते मया वित्तं बहुरूपमनन्तकम् ।
यत् कृतं धनरत्नाढ्यं दासीशतपरिच्छदम् ॥ ४४ ॥
रूपलावण्ययुक्ताभिर्युवतीभिरलंकृतम् ।
गृहं चान्तःपुरं सुभ्रु क्रीडारतिविराजितम् ।
तत् सर्वं त्वां समुद्दिश्य सहसाहमुपागतः ॥ ४५ ॥

'सुभ्रु ! मैंने अनेक प्रकारका जो अनन्त धन संचित किया है, वह सब तुम्हें भेंट कर दिया तथा मेरा जो धन-रत्नादिसे सम्पन्न, सैकड़ों दासी आदि उपकरणोंसे युक्त, रूप-लावण्यवती युवतियोंसे अलंकृत तथा क्रीडा-विलाससे सुशोभित गृह एवं अन्तःपुर है, वह सब तुम्हारे लिये ही निछावर करके मैं सहसा तुम्हारे पास चला आया हूँ ॥ ४४-४५ ॥

अकस्मान्मां प्रशंसन्ति सदा गृहगताः स्त्रियः ।
सुवासा दर्शनीयश्च नान्योऽस्ति त्वादृशः पुमान् ॥ ४६ ॥

मेरे घरकी स्त्रियाँ अकस्मात् मेरी प्रशंसा करने लगती हैं और कहती हैं—'आपके समान सुन्दर वस्त्रधारी और दर्शनीय दूसरा कोई पुरुष नहीं है' ॥ ४६ ॥

भीमसेन उवाच

दिष्ट्या त्वं दर्शनीयोऽथ दिष्ट्याऽऽत्मानं प्रशंससि ।
ईदृशस्तु त्वया स्पर्शः स्पृष्टपूर्वो न कर्हिचित् ॥ ४७ ॥

भीमसेन बोले—सौभाग्यकी बात है कि तुम ऐसे दर्शनीय हो और यह भी भाग्यकी ही बात है कि तुम स्वयं ही अपनी प्रशंसा कर रहे हो। परंतु ऐसा कोमल स्पर्श भी तुम्हें पहले कभी नहीं प्राप्त हुआ होगा ॥ ४७ ॥

स्पर्शं वेत्सि विदग्धस्त्वं कामधर्मविचक्षणः ।
स्त्रीणां प्रीतिकरो नान्यस्त्वत्समः पुरुषस्त्विह ॥ ४८ ॥

स्पर्शको तो तुम खूब पहचानते हो। इस कलामें बड़े चतुर हो। कामधर्मके विलक्षण ज्ञाता जान पड़ते हो। इस संसारमें स्त्रियोंको प्रसन्न करनेवाला तुम्हारे सिवा दूसरा कोई पुरुष नहीं है ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।
सहसोत्पत्य कौन्तेयः प्रहस्येदमुवाच ह ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! कीचकसे ऐसा कहकर भयंकरपराक्रमी कुन्तीपुत्र महाबाहु भीमसेन सहसा उछलकर खड़े हो गये और हँसते हुए इस प्रकार बोले—॥

अद्य त्वां भगिनी पापं कृष्यमाणं मया भुवि ।
द्रक्ष्यतेऽद्रिप्रतीकाशं सिंहेनेव महागजम् ॥ ५० ॥

'अरे ! तू पर्वतके समान विशालकाय है, तो भी जैसे सिंह महान् गजराजको घसीटता है, उसी प्रकार आज मैं तुझ पापीको पृथ्वीपर पटककर घसीटूँगा और तेरी बहिन यह सब देखेगी ॥ ५० ॥

निराबाधा त्वयि हते सैरन्ध्री विचरिष्यति ।
सुखमेव चरिष्यन्ति सैरन्ध्र्याः पतयः सदा ॥ ५१ ॥

'इस प्रकार तेरे मारे जानेपर सैरन्ध्री बेखटके विचरेगी और उसके पति भी सदा सुखसे ही रहेंगे' ॥ ५१ ॥

ततो जग्राह केशेषु माल्यवत्सु महाबलः।
स केशेषु परामृष्टो बलेन बलिनां वरः ॥ ५२ ॥
आक्षिप्य केशान् वेगेन बाह्वोर्जग्राह पाण्डवम्।
बाहुयुद्धं तयोरासीत् क्रुद्धयोर्नरसिंहयोः ॥ ५३ ॥
वसन्ते वासिताहेतोर्बलवद्गजयोरिव ॥

ऐसा कहकर महाबली भीमसेनने उसके पुष्पहारविभूषित केश पकड़ लिये। कीचक भी बलवानोंमें श्रेष्ठ था। सिरके बाल पकड़ लिये जानेपर उसने बलपूर्वक झटका देकर उन्हें छुड़ा लिया और बड़ी फुर्तीसे पाण्डुनन्दन भीमको दोनों भुजाओंमें भर लिया। तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए उन दोनों पुरुषसिंहोंमें बाहुयुद्ध होने लगा, मानो वसन्तऋतुमें हथिनीके लिये दो बलवान् गजराज एक दूसरे-से जूझ रहे हों।५२-५३½।

कीचकानां तु मुख्यस्य नराणामुत्तमस्य च ॥ ५४ ॥
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोः पुरेव कपिसिंहयोः।
अन्योन्यमपि संरब्धौ परस्परजयैषिणौ ॥ ५५ ॥

एक ओर कीचकोंका प्रधान कीचक था, तो दूसरी ओर मनुष्योंमें श्रेष्ठ भीमसेन। जैसे पूर्वकालमें कपि-श्रेष्ठ वाली और सुग्रीव दोनों भाइयोंमें घोर युद्ध हुआ था, वैसा ही इन दोनोंमें भी होने लगा। दोनों एक दूसरेपर कुपित थे और परस्पर विजय पानेकी इच्छासे लड़ रहे थे ॥ ५४-५५ ॥

ततः समुद्यम्य भुजौ पञ्चशीर्षाविवोरगौ।
नखदंष्ट्राभिरन्योन्यं घ्नतः क्रोधविषोद्धतौ ॥ ५६ ॥

फिर दोनों क्रोधरूपी विषसे उद्धत हुए पाँच मस्तकोंवाले सर्पोंकी भाँति अपनी-अपनी (पाँच अंगुलियोंसे युक्त) भुजाओंको ऊपर उठाकर एक-दूसरेपर नखों और दाँतोंसे प्रहार करने लगे ॥ ५६ ॥

वेगेनाभिहतो भीमः कीचकेन बलीयसा।
स्थिरप्रतिज्ञः स रणे पदान्न चलितः पदम् ॥ ५७ ॥

बलिष्ठ कीचकने बड़े वेगसे आघात किया, तो भी दृढ-प्रतिज्ञ भीम उस युद्धमें स्थिर रहे; एक पग भी पीछे नहीं हटे ॥ ५७ ॥

तावन्योन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षन्तौ परस्परम्।
उभावपि प्रकाशेते प्रवृद्धौ वृषभाविव ॥ ५८ ॥

फिर दोनों आपसमें गुँथ गये और एक-दूसरेको खींचने लगे। उस समय वे दो हृष्ट-पुष्ट साँड़ोंकी भाँति सुशोभित होते थे ॥ ५८ ॥

तयोर्ह्यासीत् सुतुमुलः सम्प्रहारः सुदारुणः।
नखदन्तायुधवतोर्व्याघ्रयोरिव दृप्तयोः ॥ ५९ ॥

नख और दाँत ही उनके आयुध थे। जैसे दो मतवाले व्याघ्र परस्पर लड़ रहे हों, उसी प्रकार उनमें अत्यन्त भयंकर तुमुल युद्ध होने लगा ॥ ५९ ॥

अभिपत्याथ बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णादमर्षितः।
मातङ्ग इव मातङ्गं प्रभिन्नकरटामुखम् ॥ ६० ॥

जैसे क्रोधमें भरा हुआ एक हाथी गण्डस्थलसे मद टपकाते हुए दूसरे हाथीको सूँड़से पकड़ ले, उसी प्रकार रोष-युक्त कीचकने सहसा झपटकर दोनों हाथोंसे भीमसेनको पकड़ लिया ॥ ६० ॥

स चाप्येनं तदा भीमः प्रतिजग्राह वीर्यवान्।
तमाक्षिपत् कीचकोऽथ बलेन बलिनां वरः ॥ ६१ ॥

तब पराक्रमी भीमने भी झपटकर उसे पकड़ा; किंतु बलवानोंमें श्रेष्ठ कीचकने बलपूर्वक उन्हें झटक दिया ॥६१॥

तयोर्भुजविनिष्पेषादुभयोर्बलिनोस्तदा।
शब्दः समभवद् घोरो वेणुस्फोटसमो युधि ॥ ६२ ॥

उस समय उस युद्धमें उन दोनों बलवानोंकी भुजाओंकी रगड़से बाँस फटनेका-सा भयानक शब्द होने लगा ॥ ६२ ॥

अथैनमाक्षिप्य बलाद् गृहमध्ये वृकोदरः।
धूनयामास वेगेन वायुश्चण्ड इव द्रुमम् ॥ ६३ ॥

फिर जिस प्रकार प्रचण्ड आँधी वृक्षको झकझोर डालती है, उसी प्रकार भीमसेन कीचकको बलपूर्वक धक्के दे-देकर उसे नृत्यशालामें वेगसे घुमाने लगे ॥ ६३ ॥

भीमेन च परामृष्टो दुर्बलो बलिना रणे।
प्रास्पन्दत यथाप्राणं विचकर्ष च पाण्डवम् ॥ ६४ ॥

उस युद्धमें बलवान् भीमकी पकड़में आकर यद्यपि कीचक अपना बल खो रहा था, तथापि वह यथाशक्ति उन्हें परास्त करनेकी चेष्टा करता रहा और भीमसेनको अपनी ओर खींचने लगा ॥ ६४ ॥

ईषदाकलितं चापि क्रोधाद् द्रुतपदं स्थितम्।
कीचको बलवान् भीमं जानुभ्यामाक्षिपद् भुवि ॥ ६५ ॥

जब वे कुछ-कुछ वशमें आ गये और उनका पैर कुछ लड़-खड़ाने लगा, तब उस दशामें खड़े हुए भीमसेनको बलवान् कीचकने क्रोधपूर्वक दोनों घुटनोंसे मारकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ६५ ॥

पातितो भुवि भीमस्तु कीचकेन बलीयसा।
उत्पपाताथ वेगेन दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ६६ ॥

अत्यन्त बलशाली कीचकद्वारा इस प्रकार भूमिपर गिराये हुए भीमसेन हाथमें दण्ड धारण करनेवाले यमराजकी भाँति बड़े वेगसे उछलकर खड़े हो गये ॥ ६६ ॥

स्पर्धया च बलोन्मत्तौ तावुभौ सूतपाण्डवौ।
निशीथे पर्यकर्षेतां बलिनौ निर्जने स्थले ॥ ६७ ॥

सूतपुत्र और पाण्डुनन्दन दोनों बलसे उन्मत्त हो रहे थे। वे दोनों बलवान् वीर स्पर्धाके कारण उस निर्जन स्थानमें आधीरातके समय एक दूसरेको खींचते और धक्के देते रहे ॥

ततस्तद् भवनं श्रेष्ठं प्राकम्पत मुहुर्मुहुः।
बलवच्चापि संक्रुद्धावन्योन्यं प्रति गर्जतः ॥ ६८ ॥

इससे वह विशाल भवन बार-बार हिल उठता था। दोनों योद्धा बड़े क्रोधमें भरकर एक-दूसरेके सामने जोर-जोरसे गरज रहे थे ॥ ६८ ॥

तलाभ्यां स तु भीमेन वक्षस्यभिहतो बली।
कीचको रोषसंतप्तः पदान्न चलितः पदम् ॥ ६९ ॥

इतनेमें ही भीमने दोनों हथेलियोंसे कीचककी छातीपर प्रहार किया। चोट खाकर बलवान् कीचक क्रोधसे जल उठा, किंतु अपने स्थानसे एक पग भी विचलित नहीं हुआ ॥ ६९ ॥

मुहूर्तं तु स तं वेगं सहित्वा भुवि दुःसहम्।
बलादहीयत तदा सूतो भीमबलार्दितः ॥ ७० ॥

भूमिपर खड़े रहकर दो घड़ीतक उस दुःसह वेगको सह लेनेके पश्चात् भीमसेनके बलसे पीडित हो सूतपुत्र कीचक अपनी शक्ति खो बैठा ॥ ७० ॥

तं हीयमानं विज्ञाय भीमसेनो महाबलः।
वक्षस्यानीय वेगेन ममर्दैनं विचेतसम् ॥ ७१ ॥

महाबली भीमसेन उसे निर्बल एवं अचेत होते देख उसकी छातीपर चढ़ बैठे और बड़े वेगसे उसे रौंदने लगे ॥

क्रोधाविष्टो विनिःश्वस्य पुनश्चैनं वृकोदरः।
जग्राह जयतां श्रेष्ठः केशेष्वेव तदा भृशम् ॥ ७२ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ भीमसेनका क्रोधावेश अभी उतरा नहीं था। उन्होंने पुनः बारंबार उच्छ्वास लेकर कीचकके केश पकड़ लिये ॥ ७२ ॥

गृहीत्वा कीचकं भीमो विरराज महाबलः।
शार्दूलः पिशिताकाङ्क्षी गृहीत्वेव महामृगम् ॥ ७३ ॥

जैसे कच्चे मांसकी अभिलाषा रखनेवाला सिंह महान् मृगको पकड़ ले, उसी प्रकार महाबली भीम कीचकको पकड़कर बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ७३ ॥

तत एनं परिश्रान्तमुपलभ्य वृकोदरः।
योक्त्रयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा ॥ ७४ ॥

तदनन्तर उसे अत्यन्त थका जानकर भीमने अपनी भुजाओंमें इस प्रकार कस लिया, जैसे पशुको रस्सीसे बाँध दिया गया हो ॥ ७४ ॥

नदन्तं च महानादं भिन्नभेरीसमस्वनम्।
भ्रामयामास सुचिरं विस्फुरन्तमचेतसम् ॥ ७५ ॥

अब वह फूटे नगारेके समान विकृत स्वरमें जोर-जोरसे सिंहनाद करने तथा बन्धनसे छूटनेके लिये छटपटाने लगा। उसकी चेतना लुप्त हो रही थी। उसी दशामें भीमसेनने बहुत देरतक उसे घुमाया ॥ ७५ ॥

प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां कण्ठं तस्य वृकोदरः।
अपीडयत कृष्णायास्तदा कोपोपशान्तये ॥ ७६ ॥

फिर द्रौपदीका क्रोध शान्त करनेके लिये उन्होंने दोनों हाथोंसे उसका गला पकड़कर बड़े वेगसे दबाया ॥ ७६ ॥

अथ तं भग्नसर्वाङ्गं व्याविद्धनयनाम्बरम्।
आक्रम्य च कटीदेशे जानुना कीचकाधमम्।
अपीडयत बाहुभ्यां पशुमारममारयत् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार जब उसके सब अङ्ग भग्न हो गये, आँखकी पुतलियाँ बाहर निकल आयीं और वस्त्र फट गये, तब उन्होंने उस कीचकाधमकी कमरको अपने घुटनोंसे दबाकर दोनों भुजाओंद्वारा उसका गला घोंट दिया और उसे पशुकी तरह मारने लगे ॥ ७७ ॥

तं विषीदन्तमाज्ञाय कीचकं पाण्डुनन्दनः।
भूतले भ्रामयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ७८ ॥

मृत्युके समय कीचकको विषाद करते देख पाण्डुनन्दन भीमने उसे धरतीपर घसीटा और इस प्रकार कहा— ॥ ७८ ॥

अद्याहमनृणो भूत्वा भ्रातुर्भार्यापहारिणम्।
शान्तिं लब्धास्मि परमां हत्वा सैरन्ध्रिकण्टकम् ॥ ७९ ॥

'जो सैरन्ध्रीके लिये कण्टक था, जिसने मेरे भाईकी पत्नीका अपहरण करनेकी चेष्टा की थी, उस दुष्ट कीचकको मारकर आज मैं उऋण हो जाऊँगा और मुझे बड़ी शान्ति मिलेगी' ॥ ७९ ॥

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीर-
स्तं कीचकं क्रोधसरागनेत्रः।
आस्रस्तवस्त्राभरणं स्फुरन्त-
मुद्भ्रान्तनेत्रं व्यसुमुत्ससर्ज ॥ ८० ॥

पुरुषोंमें उत्कृष्ट वीर भीमसेनके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे। उन्होंने उपर्युक्त बातें कहकर कीचकको नीचे डाल दिया। उस समय उसके गहने-कपड़े इधर-उधर बिखर गये थे। वह छटपटा रहा था। उसकी आँखें ऊपरको चढ़ गयी थीं और उसके प्राणपखेरू निकल रहे थे ॥ ८० ॥

निष्पिष्य पाणिना पाणिं संदष्टौष्ठपुटं बली।
समाक्रम्य च संक्रुद्धो बलेन बलिनां वरः ॥ ८१ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ भीम अब भी क्रोधमें भरे थे। वे हाथसे हाथ मलते हुए दाँतोंसे ओठ दबाकर पुनः बलपूर्वक कीचकके ऊपर चढ़ गये ॥ ८१ ॥

तस्य पादौ च पाणी च शिरो ग्रीवां च सर्वशः।
काये प्रवेशयामास पशोरिव पिनाकधृक् ॥ ८२ ॥

तदनन्तर जैसे महादेवजीने गयासुरके सब अङ्गोंको उसके शरीरके भीतर घुसेड़ दिया था, उसी प्रकार उन्होंने भी कीचकके हाथ, पैर, सिर और गर्दन आदि सब अङ्गोंको उसके धड़में ही घुसा दिया ॥ ८२ ॥

तं सम्मथितसर्वाङ्गं मांसपिण्डोपमं कृतम् ।
कृष्णाया दर्शयामास भीमसेनो महाबलः ॥ ८३ ॥

महाबली भीमने उसका सारा शरीर मथ डाला और उसे मांसका लोंदा-सा बना दिया। इसके बाद उन्होंने द्रौपदीको दिखाया ॥

उवाच च महातेजा द्रौपदीं योषितां वराम्।
पश्यैनमेहि पाञ्चालि कामुकोऽयं यथा कृतः॥ ८४ ॥

उस समय महातेजस्वी भीमने युवतियोंमें श्रेष्ठ द्रौपदीसे कहा—'पाञ्चाली! यहाँ आओ और इसे देखो। इस कामीकी शक्ल कैसी बना दी है!' ॥ ८४ ॥

एवमुक्त्वा महाराज भीमो भीमपराक्रमः ।
पादेन पीडयामास तस्य कायं दुरात्मनः ॥ ८५ ॥

महाराज! भयंकरपराक्रमी भीमने ऐसा कहकर उस दुरात्माकी लाशको पैरसे दबाया ॥ ८५ ॥

ततोऽग्निं तत्र प्रज्वाल्य दर्शयित्वा तु कीचकम्।
पाञ्चालीं स तदा वीर इदं वचनमब्रवीत् ॥ ८६ ॥

फिर वहाँ आग जलाकर उन्होंने कीचकका शव दिखाया। उस समय वीरवर भीमने पाञ्चालीसे यह बात कही—॥ ८६ ॥

प्रार्थयन्ति सुकेशान्ते ये त्वां शीलगुणान्विताम्।
एवं ते भीरु वध्यन्ते कीचकः शोभते यथा ॥ ८७ ॥

'सुन्दर केशोंवाली भीरु पाञ्चाली! तुम सुशील और सद्गुणोंसे सम्पन्न हो। जो दुष्ट तुमसे समागमकी याचना करेंगे, वे इसी प्रकार मारे जायँगे। जैसे आज कीचक शोभा पाता है, वही दशा उनकी भी होगी' ॥ ८७ ॥

तत् कृत्वा दुष्करं कर्म कृष्णायाः प्रियमुत्तमम्।
तथा स कीचकं हत्वा गत्वा रोषस्य वै शमम् ॥ ८८ ॥
आमन्त्र्य द्रौपदीं कृष्णां क्षिप्रमायान्महानसम् ।
कीचकं घातयित्वा तु द्रौपदी योषितां वरा ।
प्रहृष्टा गतसंतापा सभापालानुवाच ह ॥ ८९ ॥

द्रौपदीको प्रिय लगनेवाले इस उत्तम एवं दुष्कर कर्मको करके ऊपर बताये अनुसार कीचकको मारकर अपना रोष शान्त करनेके पश्चात् द्रौपदीसे पूछकर भीमसेन पुनः पाकशालामें चले गये। युवतियोंमें श्रेष्ठ द्रौपदी इस प्रकार कीचकको मरवाकर बड़ी प्रसन्न हुई। उसके सब संताप दूर हो गये। फिर वह सभाभवनके रक्षकोंके पास जाकर बोली—॥

कीचकोऽयं हतः शेते गन्धर्वैः पतिभिर्मम ।
परस्त्रीकामसम्मत्तस्तत्रागच्छत पश्यत ॥ ९० ॥

'आओ, देखो, 'परायी स्त्रीके प्रति कामोन्मत्त रहनेवाला यह कीचक मेरे पति गन्धर्वोंद्वारा मारा जाकर वहाँ नृत्यशालामें पड़ा है' ॥ ९० ॥

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्या नर्तनागाररक्षिणः ।
सहसैव समाजग्मुरादायोल्काः सहस्रशः ॥ ९१ ॥

उसका यह कथन सुनकर नृत्यशालाके रक्षक सहस्रोंकी संख्यामें हाथोंमें मसाल लिये सहसा वहाँ आये ॥ ९१ ॥

ततो गत्वाथ तद् वेश्म कीचकं विनिपातितम्।
गतासुं ददृशुर्भूमौ रुधिरेण समुक्षितम् ॥ ९२ ॥

और उस घरके भीतर जाकर उन्होंने देखा; कीचकको गन्धर्वने मार गिराया है, उसके प्राण निकल गये हैं और उसकी लाश खूनसे लथपथ होकर धरतीपर पड़ी है ॥ ९२ ॥

पाणिपादविहीनं तु दृष्ट्वा च व्यथिताऽभवन् ।
निरीक्षन्ति ततः सर्वे परं विस्मयमागताः ॥ ९३ ॥

उसे हाथ-पैरसे हीन देख उन सबको बड़ी व्यथा हुई। फिर वे सभी बड़े आश्चर्यमें पड़कर उसे ध्यानसे देखने लगे ॥ ९३ ॥

अमानुषं कृतं कर्म तं दृष्ट्वा विनिपातितम् ।
क्वास्य ग्रीवा क्व चरणौ क्व पाणी क्व शिरस्तथा ।
इति स्म तं परीक्षन्ते गन्धर्वेण हतं तदा ॥ ९४ ॥

कीचकको इस तरह मारा गया देख वे आपसमें बोले—'यह कर्म तो किसी मनुष्यका किया हुआ नहीं हो सकता। देखो न, इसकी गर्दन, हाथ, पैर और सिर आदि अङ्ग कहाँ चले गये?' यों कहकर जब परीक्षा की, तो वे इसी निश्चयपर पहुँचे कि हो-न-हो, इसे गन्धर्वने ही मारा है ॥ ९४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचकवधे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें कीचकवधविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ९६½ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

उपकीचकोंका सैरन्ध्रीको बाँधकर श्मशानभूमिमें ले जाना और भीमसेनका उन सबको मारकर सैरन्ध्रीको छुड़ाना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् काले समागम्य सर्वे तत्रास्य बान्धवाः ।
रुरुदुः कीचकं दृष्ट्वा परिवार्य समन्ततः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उसी समय यह

समाचार पाकर कीचकके सब बन्धु-बान्धव वहाँ आ गये। वे कीचककी यह दशा देख उसे चारों ओरसे घेरकर विलाप करने लगे ॥ १ ॥



सर्वे संहृष्टरोमाणः संत्रस्ताः प्रेक्ष्य कीचकम् ।
तथा सम्भिन्नसर्वाङ्गं कूर्मं स्थल इवोद्धृतम् ॥ २ ॥

उसके सारे अवयव शरीरमें घुस गये थे, इसलिये वह जलसे निकालकर स्थलमें रक्खे हुए कछुएके समान जान पड़ता था। कीचकके शवकी वह दुर्गति देखकर वे सब थर्रा उठे, उन सबके रोंगटे खड़े हो गये ॥ २ ॥

पोथितं भीमसेनेन तमिन्द्रेणेव दानवम् ।
संस्कारयितुमिच्छन्तो बहिर्नेतुं प्रचक्रमुः ॥ ३ ॥

जैसे इन्द्रने दानव वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार भीमसेनके हाथसे मारे गये उस कीचकका दाह-संस्कार करनेकी इच्छासे उसके बान्धवगण उसे बाहर (श्मशानभूमिमें) ले जानेकी तैयारी करने लगे ॥ ३ ॥

ददृशुस्ते ततः कृष्णां सूतपुत्राः समागताः ।
अदूराच्चानवद्याङ्गीं स्तम्भमालिङ्ग्य तिष्ठतीम् ॥ ४ ॥

इसी समय वहाँ आये हुए सूतपुत्रोंने देखा, निर्दोष अङ्गोंवाली द्रौपदी थोड़ी ही दूरपर एक खंभेका सहारा लिये खड़ी है ॥ ४ ॥

समवेतेषु सर्वेषु तामूचुरुपकीचकाः ।
हन्यतां शीघ्रमसती यत्कृते कीचको हतः ॥ ५ ॥

जब सब लोग जुट गये, तब उन उपकीचकों (कीचकके भाइयों) ने द्रौपदीको लक्ष्य करके कहा—'इस दुष्टाको शीघ्र मार डाला जाय, क्योंकि इसीके लिये कीचककी जान गयी है॥

अथवा नैव हन्तव्या दह्यतां कामिना सह ।
मृतस्यापि प्रियं कार्यं सूतपुत्रस्य सर्वथा ॥ ६ ॥

'अथवा मारा न जाय। कामी कीचककी लाशके साथ ही इसे भी जला दिया जाय। मर जानेपर भी सूतपुत्रका जो प्रिय हो; जिससे उसकी आत्मा प्रसन्न हो, वह कार्य हमें सर्वथा करना चाहिये' ॥ ६ ॥

ततो विराटमूचुस्ते कीचकोऽस्याः कृते हतः ।
सहानेनाद्य दह्येम तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ७ ॥

तदनन्तर उन्होंने विराटसे कहा—'इस सैरन्ध्रीके लिये ही कीचक मारा गया है, अतः आज हम कीचककी लाशके साथ इसे भी जला देना चाहते हैं, आप इसके लिये आज्ञा दें' ॥ ७ ॥

पराक्रमं तु सूतानां मत्वा राजान्वमोदत ।
सैरन्ध्र्याः सूतपुत्रेण सह दाहं विशाम्पतिः ॥ ८ ॥

राजाने सूतपुत्रोंके पराक्रमका विचार करके सैरन्ध्रीको कीचकके साथ जला डालनेकी अनुमति दे दी ॥ ८ ॥

तां समासाद्य वित्रस्तां कृष्णां कमललोचनाम्।
मोमुह्यमानां ते तत्र जगृहुः कीचका भृशम् ॥ ९ ॥

फिर क्या था, उपकीचकोंने उसके पास जाकर भयभीत एवं मूर्छित हुई कमललोचना कृष्णाको बलपूर्वक पकड़ लिया॥

ततस्तु तां समारोप्य निबध्य च सुमध्यमाम् ।
जग्मुरुद्यम्य ते सर्वे श्मशानाभिमुखास्तदा ॥ १० ॥

फिर उन्होंने सुन्दर कटिभागवाली उस देवीको टिकटीपर चढ़ाकर लाशके साथ ही बाँध दिया। इसके बाद वे सब लोग मृतकको उठाकर श्मशानभूमिकी ओर ले चले ॥ १० ॥

ह्रियमाणा तु सा राजन् सूतपुत्रैरनिन्दिता ।
प्राक्रोशन्नाथमिच्छन्ती कृष्णा नाथवती सती ॥ ११ ॥

राजन्! सूतपुत्रोंद्वारा इस प्रकार ले जायी जाती हुई सती द्रौपदी सनाथा होकर भी [अनाथा-सी हो रही थी, वह] नाथ (रक्षक) की इच्छा करती हुई जोर-जोरसे पुकारने लगी ॥ ११ ॥

द्रौपद्युवाच

जयो जयन्तो विजयो जयत्सेनो जयद्बलः ।
ते मे वाचं विजानन्तु सूतपुत्रा नयन्ति माम् ॥ १२ ॥

द्रौपदी बोली—मेरे पति जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जयद्बल जहाँ भी हों, मेरी यह आर्त वाणी सुनें और समझें। ये सूतपुत्र मुझे श्मशानमें लिये जा रहे हैं ॥ १२ ॥

येषां ज्यातलनिर्घोषो विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
व्यश्रूयत महायुद्धे भीमघोषस्तरस्विनाम् ॥ १३ ॥

रथघोषश्च बलवान् गन्धर्वाणां तरस्विनाम् ।
ते मे वाचं विजानन्तु सूतपुत्रा नयन्ति माम् ॥ १४ ॥

जिन वेगवान् गन्धर्वोंके धनुषोंकी प्रत्यञ्चाका भीषण शब्द वज्राघातके समान सुनायी देता है तथा जिनके रथोंकी घर्घराहटकी आवाज भी बड़े जोरसे उठती और दूरतक फैलती है, वे मेरी आर्त वाणी सुनें और समझें। ये सूतपुत्र मुझे श्मशानमें ले जा रहे हैं ॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्ताः कृपणा वाचः कृष्णायाः परिदेवितम् ।
श्रुत्वैवाभ्यापतद् भीमः शयनादविचारयन् ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! द्रौपदीकी वह दीन वाणी और करुण विलाप सुनते ही भीमसेन बिना कोई विचार किये शय्यासे कूद पड़े ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच

अहं शृणोमि ते वाचं त्वया सैरन्ध्रि भाषिताम् ।
तस्मात् ते सूतपुत्रेभ्यो भयं भीरु न विद्यते ॥ १६ ॥

भीमसेन बोले—सैरन्ध्री ! तुम जो कुछ कह रही हो, तुम्हारी वह वाणी मैं सुनता हूँ। इसलिये भीरु ! अब इन सूतपुत्रोंसे तेरेलिये कोई भय नहीं है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा स महाबाहुर्विजजृम्भे जिघांसया ।
ततः स व्यायतं कृत्वा वेषं विपरिवर्त्य च ॥ १७ ॥
अद्वारेणाभ्यवस्कन्द्य निर्जगाम बहिस्तदा ।
स भीमसेनः प्राकारादारुह्य तरसा द्रुमम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर महाबाहु भीमसेनने उपकीचकोंका वध करनेके लिये अँगड़ाई लेते हुए अपने शरीरको बढ़ा लिया और प्रयत्नपूर्वक वेष बदलकर बिना दरवाजेके ही दीवार फाँदकर पाकशालासे बाहर निकल गये। फिर वे नगरका परकोटा लाँघकर बड़े वेगसे एक वृक्षपर चढ़ गये (और वहींसे यह देखने लगे कि उपकीचक द्रौपदीको किधर ले जा रहे हैं) ॥ १७-१८ ॥

श्मशानाभिमुखः प्रायाद् यत्र ते कीचका गताः ।
स लङ्घयित्वा प्राकारं निःसृत्य च पुरोत्तमात् ।
जवेन पतितो भीमः सूतानामग्रतस्तदा ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् वे उपकीचक जिधर गये थे, उसी ओर भीमसेन भी श्मशानभूमिकी दिशामें चल दिये। चहारदीवारी लाँघनेके पश्चात् उस श्रेष्ठ नगरसे निकलकर भीमसेन इतने वेगसे चले कि सूतपुत्रोंसे पहले ही वहाँ पहुँच गये ॥ १९ ॥

चितासमीपे गत्वा स तत्रापश्यद् वनस्पतिम् ।
तालमात्रं महास्कन्धं मूर्धशुष्कं विशाम्पते ॥ २० ॥

राजन् ! चिताके समीप जाकर उन्होंने वहाँ ताड़के बराबर एक वृक्ष देखा, जिसकी शाखाएँ बहुत बड़ी थीं और जो ऊपरसे सूख गया था ॥ २० ॥

तं नागवदुपक्रम्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।
स्कन्धमारोपयामास दशव्यामं परंतपः ॥ २१ ॥

उस वृक्षकी ऊँचाई दस व्याम[1] थी। उसे शत्रुतापन भीमसेनने दोनों भुजाओंमें भरकर हाथीके समान जोर लगाकर उखाड़ा और अपने कंधेपर रख लिया ॥ २१ ॥

स तं वृक्षं दशव्यामं सस्कन्धविटपं बली ।
प्रगृह्याभ्यद्रवत् सूतान् दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ २२ ॥

शाखा-प्रशाखाओंसहित उस दस व्याम ऊँचे वृक्षको लेकर बलवान् भीम दण्डपाणि यमराजके समान उन सूतपुत्रोंकी ओर दौड़े ॥ २२ ॥

ऊरुवेगेन तस्याथ न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकाः ।
भूमौ निपतिता वृक्षाः सङ्घशस्तत्र शेरते ॥ २३ ॥

उस समय उनकी जङ्घाओंके वेगसे टकराकर बहुतेरे बरगद, पीपल और ढाकके वृक्ष पृथ्वीपर गिरकर ढेर-के-ढेर बिखर गये ॥ २३ ॥

तं सिंहमिव संक्रुद्धं दृष्ट्वा गन्धर्वमागतम् ।
वित्रेसुः सर्वशः सूता विषादभयकम्पिताः ॥ २४ ॥

सिंहके समान क्रोधमें भरे हुए गन्धर्वरूपी भीमको अपनी ओर आते देखकर सभी सूतपुत्र डर गये और विषाद एवं भयसे काँपते हुए कहने लगे—॥ २४ ॥

गन्धर्वो बलवानेति क्रुद्ध उद्यम्य पादपम् ।
सैरन्ध्री मुच्यतां शीघ्रं यतो नो भयमागतम् ॥ २५ ॥

'अरे ! देखो, यह बलवान् गन्धर्व वृक्ष उठाये कुपित हो हमारी ओर आ रहा है। सैरन्ध्रीको शीघ्र छोड़ दो, क्योंकि उसीके कारण हमें यह भय उपस्थित हुआ है' ॥२५॥

ते तु दृष्ट्वा तदाऽऽविद्धं भीमसेनेन पादपम् ।
विमुच्य द्रौपदीं तत्र प्राद्रवन्नगरं प्रति ॥ २६ ॥

इतनेमेंही भीमसेनके द्वारा घुमाये जाते हुए उस वृक्षको देखकर वे द्रौपदीको वहीं छोड़ नगरकी ओर भागने लगे ॥

द्रवतस्तांस्तु सम्प्रेक्ष्य स वज्री दानवानिव ।
शतं पञ्चाधिकं भीमः प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ २७ ॥
वृक्षेणैतेन राजेन्द्र प्रभञ्जनसुतो बली ।

राजेन्द्र ! उन्हें भागते देख वायुपुत्र बलवान् भीमने, वज्रधारी इन्द्र जैसे दानवोंका वध करते हैं, उसी प्रकार उस वृक्षसे एक सौ पाँच उपकीचकोंको यमराजके घर भेज दिया ॥ $२७\frac{1}{2}$ ॥

[1] १—दोनों हाथोंको फैलानेपर जितनी लम्बाई होती है, उसे एक व्याम कहते हैं ।



तत आश्वासयत् कृष्णां स विमुच्य विशाम्पते ॥ २८ ॥

महाराज ! तदनन्तर उन्होंने द्रौपदीको बन्धनसे मुक्त करके आश्वासन दिया ॥ २८ ॥

उवाच च महाबाहुः पाञ्चालीं तत्र द्रौपदीम् ।
अश्रुपूर्णमुखीं दीनां दुर्धर्षः स वृकोदरः ॥ २९ ॥

उस समय पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी बड़ी दीन एवं दयनीय हो गयी थी । उसके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी । दुर्धर्ष वीर महाबाहु वृकोदरने उसे धीरज बँधाते हुए कहा—॥ २९ ॥

एवं ते भीरु वध्यन्ते ये त्वां क्लिश्यन्त्यनागसम् ।
प्रैहि त्वं नगरं कृष्णे न भयं विद्यते तव ॥ ३० ॥
अन्येनाहं गमिष्यामि विराटस्य महानसम् ॥ ३१ ॥

'भीरु ! जो तुझ निरपराध अबलाको सतायेंगे, वे इसी तरह मारे जायँगे । कृष्णे ! नगरको जाओ । अब तुम्हारे लिये कोई भय नहीं है । मैं दूसरे मार्गसे विराटकी पाकशालामें चला जाऊँगा' ॥ ३०-३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

पञ्चाधिकं शतं तच्च निहतं तेन भारत ।
महावनमिवच्छिन्नं शिश्ये विगलितद्रुमम् ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! भीमसेनके द्वारा मारे गये वे एक सौ पाँच उपकीचक वहाँ श्मशानभूमिमें इस प्रकार सो रहे थे, मानो काटा हुआ महान् जंगल गिरे हुए पेड़ोंसे भरा हो ॥ ३२ ॥

एवं ते निहता राजञ्छतं पञ्च च कीचकाः ।
स च सेनापतिः पूर्वमित्येतत् सूतषट्शतम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! इस प्रकार वे एक सौ पाँच उपकीचक और पहले मरा हुआ सेनापति कीचक सब मिलकर एक सौ छः सूतपुत्र मारे गये ॥ ३३ ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं नरा नार्यश्च संगताः ।
विस्मयं परमं गत्वा नोचुः किञ्चन भारत ॥ ३४ ॥

भारत ! उस समय श्मशानभूमिमें बहुत-से पुरुष और स्त्रियाँ एकत्र हो गयी थीं । उन सबने यह महान् आश्चर्यजनक काण्ड देखा, किंतु भारी विस्मयमें पड़कर किसीने कुछ कहा नहीं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

द्रौपदीका राजमहलमें लौटकर आना और बृहन्नला एवं सुदेष्णासे उसकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ते दृष्ट्वा निहतान् सूतान् राज्ञे गत्वा न्यवेदयन् ।
गन्धर्वैर्निहता राजन् सूतपुत्रा महाबलाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! नगरवासियोंने सूतपुत्रोंका यह संहार देख राजा विराटके पास जाकर निवेदन किया—'महाराज ! गन्धर्वोंने महाबली सूतपुत्रोंको मार डाला ॥ १ ॥

यथा वज्रेण वै दीर्णं पर्वतस्य महच्छिरः ।
व्यतिकीर्णाः प्रदृश्यन्ते तथा सूता महीतले ॥ २ ॥

'जैसे पर्वतका महान् शिखर वज्रसे विदीर्ण हो गया हो, उसी प्रकार वे सूतपुत्र पृथ्वीपर बिखरे दिखायी देते हैं ॥२॥

सैरन्ध्री च विमुक्तासौ पुनरायाति ते गृहम् ।
सर्वं संशयितं राजन् नगरं ते भविष्यति ॥ ३ ॥

'सैरन्ध्री बन्धनमुक्त हो गयी है, अब वह पुनः आपके

महलकी ओर आ रही है। उसके रहनेसे आपके सम्पूर्ण नगरका जीवन संकटमें पड़ जायगा ॥ ३ ॥

यथारूपा च सैरन्ध्री गन्धर्वाश्च महाबलाः ।
पुंसामिष्टश्च विषयो मैथुनाय न संशयः ॥ ४ ॥

'सैरन्ध्रीका जैसा अप्रतिम रूप-सौन्दर्य है, वह सबको विदित ही है। उसके पति गन्धर्व भी बड़े बलवान् हैं। पुरुषोंको मैथुनके लिये विषयभोग अभीष्ट है ही; इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

यथा सैरन्ध्रिदोषेण न ते राजन्निदं पुरम् ।
विनाशमेति वै क्षिप्रं तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ५ ॥

'अतः राजन्! आप शीघ्र ही कोई ऐसी नीति अपनावें, जिससे सैरन्ध्रीके दोषसे आपका यह नगर नष्ट न हो जाय' ॥५॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा विराटो वाहिनीपतिः ।
अब्रवीत् क्रियतामेषां सूतानां परमक्रिया ॥ ६ ॥

उनकी वह बात सुनकर सेनाओंके स्वामी राजा विराटने कहा—'इन सूतपुत्रोंका अन्त्येष्टि-संस्कार किया जाय ॥ ६ ॥

एकस्मिन्नेव ते सर्वे सुसमिद्धे हुताशने ।
दह्यन्तां कीचकाः शीघ्रं रत्नैर्गन्धैश्च सर्वशः ॥ ७ ॥

'एक ही चितामें अग्नि प्रज्वलित करके रत्न और सुगन्धित पदार्थोंके साथ सम्पूर्ण कीचकोंका दाह करना चाहिये' ॥ ७ ॥

सुदेष्णामब्रवीद् राजा महिषीं जातसाध्वसः ।
सैरन्ध्रीमागतां ब्रूया ममैव वचनादिदम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर राजाने भयभीत होकर रानी सुदेष्णाके पास जाकर कहा—'देवि! जब सैरन्ध्री यहाँ आ जाय, तो मेरी ही ओरसे उससे यों कहो—॥ ८ ॥

गच्छ सैरन्ध्रि भद्रं ते यथाकामं वरानने ।
बिभेति राजा सुश्रोणि गन्धर्वेभ्यः पराभवात् ॥ ९ ॥

'सैरन्ध्री! तुम्हारा कल्याण हो। वरानने! तुम्हारी जहाँ रुचि हो, चली जाओ। सुश्रोणि! गन्धर्वोंके तिरस्कारसे राजा डरते हैं ॥ ९ ॥

न हि त्वामुत्सहे वक्तुं स्वयं गन्धर्वरक्षिताम् ।
स्त्रियास्त्वदोषस्तां वक्तुमतस्त्वां प्रब्रवीम्यहम् ॥ १० ॥

'तुम गन्धर्वोंसे सुरक्षित हो। मैं पुरुष होनेके कारण स्वयं तुमसे कोई बात नहीं कह सकता। किंतु स्त्रीके मुखसे तुम्हारे प्रति यह सब कहलानेमें दोष नहीं है; अतः अपनी पत्नीके द्वारा स्वयं ही तुमसे यह बात कह रहा हूँ' ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ मुक्ता भयात् कृष्णा सूतपुत्रान् निरस्य च ।
मोक्षिता भीमसेनेन जगाम नगरं प्रति ॥ ११ ॥

त्रासितेव मृगी बाला शार्दूलेन मनस्विनी ।
गात्राणि वाससी चैव प्रक्षाल्य सलिलेन सा ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब सूतपुत्रोंको मारकर भीमसेनने द्रौपदीका बन्धन खोल दिया और वह भयसे मुक्त हो गयी, तब जलसे स्नान करके अपने शरीर और वस्त्रोंको धोकर सिंहसे डरायी हुई हरिणीकी भाँति वह मनस्विनी बाला नगरकी ओर चली ॥ ११-१२ ॥

तां दृष्ट्वा पुरुषा राजन् प्राद्रवन्त दिशो दश ।
गन्धर्वाणां भयत्रस्ताः केचिद् दृष्ट्वा न्यमीलयन् ॥ १३ ॥

जनमेजय! उस समय द्रौपदीको देखकर गन्धर्वोंके भयसे डरे हुए पुरुष दसों दिशाओंकी ओर भाग जाते थे और कोई-कोई उसे देखकर आँख मूँद लेते थे ॥ १३ ॥

ततो महानसद्वारि भीमसेनमवस्थितम् ।
ददर्श राजन् पाञ्चाली यथा मत्तं महाद्विपम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर पाकशालाके द्वारपर पहुँचकर पाञ्चालीने वहाँ मतवाले गजराजके समान भीमसेनको खड़ा देखा ॥ १४ ॥

तं विस्मयन्ती शनकैः संज्ञाभिरिदमब्रवीत् ।
गन्धर्वराजाय नमो येनास्मि परिमोचिता ॥ १५ ॥

और विस्मयविमुग्ध होकर उसने धीरेसे संकेतपूर्वक इस प्रकार कहा—'उन गन्धर्वराजको नमस्कार है, जिन्होंने मुझे भारी संकटसे मुक्त किया है' ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच

ये पुरा विचरन्तीह पुरुषा वशवर्तिनः ।
तस्यास्ते वचनं श्रुत्वा ह्यनृणा विहरन्त्वतः ॥ १६ ॥

भीमसेन बोले—देवि! जो पुरुष तुम्हारी आज्ञाके अधीन होकर यहाँ पहलेसे विचर रहे हैं, वे तुम्हारी यह बात सुनकर प्रतिज्ञासे उऋण हो इच्छानुसार विहार करें ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सा नर्तनागारे धनंजयमपश्यत ।
राज्ञः कन्या विराटस्य नर्तयानं महाभुजम् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् द्रौपदीने नृत्यशालामें पहुँचकर महाबाहु अर्जुनको देखा, जो राजा विराटकी कन्याओंको नृत्य सिखा रहे थे ॥ १७ ॥

ततस्ता नर्तनागाराद् विनिष्क्रम्य सहार्जुनाः ।
कन्या ददृशुरायान्तीं क्लिष्टां कृष्णामनागसम् ॥ १८ ॥

उसके आनेका समाचार पाकर अर्जुनसहित वे सब कन्याएँ नृत्यगृहसे बाहर निकल आयीं और वहाँ आती हुई निरपराध सतायी गयी कृष्णाको देखने लगीं ॥ १८ ॥

कन्या ऊचुः

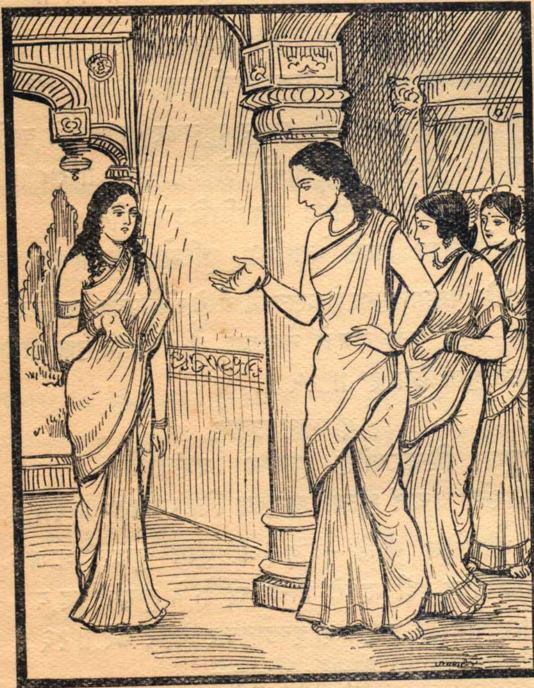
दिष्ट्या सैरन्ध्रि मुक्तासि दिष्ट्यासि पुनरागता ।
दिष्ट्या विनिहताः सूता ये त्वां क्लिश्यन्त्यनागसम् ॥ १९ ॥

उसे देखकर कन्याओंने कहा—सैरन्ध्री ! सौभाग्यकी बात है कि तुम संकटसे मुक्त हो गयीं और सौभाग्यसे यहाँ पुनः लौट आयीं। वे सूतपुत्र जो तुम्हें बिना किसी अपराधके ही कष्ट दे रहे थे, मार दिये गये, यह भी भाग्यवश अच्छा ही हुआ ॥ १९ ॥

बृहन्नलोवाच

कथं सैरन्ध्रि मुक्तासि कथं पापाश्च ते हताः ।
इच्छामि वै तव श्रोतुं सर्वमेव यथातथम् ॥ २० ॥

बृहन्नलाने पूछा—सैरन्ध्री ! तू उन पापियोंके हाथसे कैसे छूटी ? और वे पापी कैसे मारे गये ? मैं ये सब बातें तेरे मुखसे ज्यों-की-त्यों सुनना चाहती हूँ ॥ २० ॥



सैरन्ध्र्युवाच

बृहन्नले किं नु तव सैरन्ध्र्या कार्यमद्य वै ।
या त्वं वससि कल्याणि सदा कन्यापुरे सुखम् ॥ २१ ॥

सैरन्ध्री बोली—बृहन्नले ! अब तुम्हें सैरन्ध्रीसे क्या काम है ? कल्याणी ! तुम तो मौजसे इन कन्याओंके अन्तःपुरमें रहती हो ॥ २१ ॥

न हि दुःखं समाप्नोषि सैरन्ध्री यदुपाश्नुते ।
तेन मां दुःखितामेवं पृच्छसे प्रहसन्निव ॥ २२ ॥

सैरन्ध्री जो दुःख भोग रही है, उसे दूर तो करोगी नहीं या उसका अनुभव तो तुम्हें होता नहीं; इसीलिये मुझ दुखियाकी केवल हँसी उड़ानेके लिये ऐसा प्रश्न कर रही हो ? ॥ २२ ॥

बृहन्नलोवाच

बृहन्नलापि कल्याणि दुःखमाप्नोत्यनुत्तमम् ।
तिर्यग्योनिगता बाले न चैनामवबुध्यसे ॥ २३ ॥

बृहन्नलाने कहा—कल्याणी ! पशुओंकी-सी नीच या नपुंसक योनिमें पड़कर बृहन्नला भी महान् दुःख भोग रही है, तू अभी भोली-भाली है; इसीलिये बृहन्नलाको नहीं समझ पाती ॥ २३ ॥

त्वया सहोषिता चास्मि त्वं च सर्वैः सहोषिता ।
क्लिश्यन्त्यां त्वयि सुश्रोणि को नु दुःखं न चिन्तयेत् ॥ २४ ॥

सुश्रोणि ! तेरे साथ तो मैं रह चुकी हूँ और तू भी हम सबके साथ रही है; फिर तेरे ऊपर कष्ट पड़नेपर किसको दुःख न होगा ? ॥ २४ ॥

न तु केनचिदत्यन्तं कस्यचिद्धृदयं क्वचित् ।
वेदितुं शक्यते नूनं तेन मां नावबुध्यसे ॥ २५ ॥

निश्चय ही, कोई अन्य व्यक्ति किसी दूसरेके हृदयको कभी पूर्णरूपसे नहीं समझ सकता, यही कारण है कि तुम मुझे नहीं समझ पातीं; मेरे कष्टका अनुभव नहीं कर पातीं ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सहैव कन्याभिर्द्रौपदी राजवेश्म तत् ।
प्रविवेश सुदेष्णायाः समीपमुपगामिनी ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर उन कन्याओंके साथ ही द्रौपदी राजभवनमें गयी और रानी सुदेष्णाके पास जाकर खड़ी हो गयी ॥ २६ ॥

तामब्रवीद् राजपुत्री विराटवचनादिदम् ।
सैरन्ध्रि गम्यतां शीघ्रं यत्र कामयसे गतिम् ॥ २७ ॥

तब राजपुत्री सुदेष्णाने विराटके कथनानुसार उससे कहा—'सैरन्ध्री ! तुम जहाँ जाना चाहो, शीघ्र चली जाओ ॥

राजा बिभेति ते भद्रे गन्धर्वेभ्यः पराभवात् ।
त्वं चापि तरुणी सुभ्रु रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
पुंसामिष्टश्च विषयो गन्धर्वाश्चातिकोपनाः ॥ २८ ॥

'भद्रे ! तुम्हारे गन्धर्वोंद्वारा प्राप्त होनेवाले पराभवसे महाराजको भय हो रहा है। सुभ्रु ! तुम अभी तरुणी हो, रूप-सौन्दर्यमें भी तुम्हारी समानता कर सके, ऐसी कोई स्त्री इस भूमण्डलमें नहीं है। पुरुषोंको विषयभोग प्रिय होता ही है; (अतः उनसे प्रमाद होनेकी सम्भावना है।) इधर तुम्हारे गन्धर्व बड़े क्रोधी हैं (वे न जाने कब क्या कर बैठें ?)' ॥ २८ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

त्रयोदशाहमात्रं मे राजा क्षाम्यतु भामिनि ।
कृतकृत्या भविष्यन्ति गन्धर्वास्ते न संशयः ॥ २९ ॥

सैरन्ध्रीने कहा—भामिनि ! मेरे लिये तेरह दिन और

महाराज क्षमा करें। निःसंदेह तबतक गन्धर्वोंका अभीष्ट कार्य पूर्ण हो जायगा—वे कृतकृत्य हो जायँगे ॥ २९ ॥

ततो मामुपनेष्यन्ति करिष्यन्ति च ते प्रियम्।
ध्रुवं च श्रेयसा राजा योक्ष्यते सह बान्धवैः ॥ ३० ॥

इसके बाद वे मुझे तो ले ही जायँगे, आपका भी प्रिय करेंगे। (गन्धर्वोंकी प्रसन्नतासे) अवश्य ही राजा विराट अपने भाई-बन्धुओंसहित कल्याणके भागी होंगे ॥ ३० ॥

(राज्ञा कृतोपकाराश्च कृतज्ञाश्च सदा शुभे।
साधवश्च बलोत्सिक्ताः कृतप्रतिकृतेप्सवः ॥
अर्थिनी प्रब्रवीम्येषा यद् वा तद् वेति चिन्तय।
भरस्व तदहर्मात्रं ततः श्रेयो भविष्यति ॥

शुभे! राजा विराटने गन्धर्वोंका बड़ा उपकार किया है; अतः वे सदा उनके प्रति कृतज्ञ बने रहते हैं। गन्धर्वलोग बलके अभिमानी होते हुए भी साधु स्वभावके पुरुष हैं और अपने प्रति किये हुए उपकारका बदला चुकानेकी इच्छा रखते हैं। मैं एक प्रयोजनसे यहाँ रहती हूँ; इसीलिये तुमसे अभी कुछ दिन और यहाँ ठहरने देनेके लिये अनुरोध करती हूँ। तुम अपने मनमें जो कुछ भी सोच-विचार करो, किंतु कुछ गिने गिनाये दिनोंतक अभी और मेरा भरण-पोषण करती चलो; इससे तुम्हारा कल्याण होगा ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कैकेयी दुःखमोहिता।
उवाच द्रौपदीमार्ता भ्रातृव्यसनकर्शिता ॥
वस भद्रे यथेष्टं त्वं त्वामहं शरणं गता।
त्रायस्व मम भर्तारं पुत्रांश्चैव विशेषतः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सैरन्ध्रीकी यह बात सुनकर केकयराजकुमारी सुदेष्णा भाईके शोकसे पीड़ित और दुःखसे मोहित हो आर्त होकर द्रौपदीसे बोली—'भद्रे! तुम्हारी जबतक इच्छा हो, यहाँ रहो; परंतु मेरे पति और पुत्रोंकी विशेषरूपसे रक्षा करो। इसके लिये मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचकदाहे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें कीचकोंके दाह-संस्कारविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

(गोहरणपर्व)

पञ्चविंशोऽध्यायः

दुर्योधनके पास उसके गुप्तचरोंका आना और उनका पाण्डवोंके विषयमें कुछ पता न लगा, यह बताकर कीचकवधका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

(कीचके तु हते राजा विराटः परवीरहा।
शोकमाहरयत् तीव्रं सामात्यः सपुरोहितः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कीचकके मारे जानेपर शत्रुवीरोंका वध करनेवाले राजा विराट पुरोहित और मन्त्रियोंसहित बहुत दुखी हुए ॥

कीचकस्य तु घातेन सानुजस्य विशाम्पते।
अत्याहितं चिन्तयित्वा व्यस्मयन्त पृथग् जनाः ॥ १ ॥

नरेश्वर! भाइयोंसहित कीचकका वध होनेसे सब लोग इसको बड़ी भारी दुर्घटना या दुःसाहसका काम मानकर अलग-अलग आश्चर्यमें पड़े रहे ॥ १ ॥

तस्मिन् पुरे जनपदे संजल्पोऽभूच्च सङ्घशः।
शौर्याद्धि वल्लभो राज्ञो महासत्त्वः स कीचकः ॥ २ ॥

उस नगर तथा राष्ट्रमें झुंडके झुंड मनुष्य एकत्र हो जाते और उनमें इस तरहकी बातें होने लगती थीं—'महाबली कीचक अपनी शूरवीरताके कारण राजा विराटको बहुत प्रिय था ॥ २ ॥

आसीत् प्रहर्ता सैन्यानां दारामर्शी च दुर्मतिः।
स हतः खलु पापात्मा गन्धर्वैर्दुष्टपूरुषः ॥ ३ ॥

'उसने विपक्षी दलोंकी बहुत-सी सेनाओंका संहार किया था, किंतु उसकी बुद्धि बड़ी खोटी थी। वह परायी स्त्रियोंपर बलात्कार करनेवाला पापात्मा और दुष्ट था; इसीलिये गन्धर्वोंद्वारा मारा गया है ॥ ३ ॥

इत्यजल्पन् महाराज परानीकविनाशनम्।
देशे देशे मनुष्याश्च कीचकं दुष्प्रधर्षणम् ॥ ४ ॥

महाराज जनमेजय! शत्रुओंकी सेनाका संहार करनेवाले उस दुर्धर्ष वीर कीचकके विषयमें देश-देशके लोग ऐसी ही बातें किया करते थे ॥ ४ ॥

अथ वै धार्तराष्ट्रेण प्रयुक्ता ये बहिश्चराः।
मृगयित्वा बहून् ग्रामान् राष्ट्राणि नगराणि च ॥ ५ ॥

संविधाय यथादृष्टं यथादेशप्रदर्शनम् ।
कृतकृत्या न्यवर्तन्त ते चरा नगरं प्रति ॥ ६ ॥

इधर अज्ञातवासकी अवस्थामें पाण्डवोंका पता लगानेके लिये दुर्योधनने जो बाहरके देशोंमें घूमनेवाले गुप्तचर लगा रक्खे थे, वे अनेक ग्राम, राष्ट्र और नगरोंमें उन्हें ढूँढ़कर, जैसा वे देख सकते या पता लगा सकते थे अथवा जिन-जिन देशोंमें छान-बीन कर सकते थे, उन सबमें उसी प्रकार देख-भाल करके अपना काम पूरा करके पुनः हस्तिनापुरमें लौट आये ॥ ५-६ ॥

तत्र दृष्ट्वा तु राजानं कौरव्यं धृतराष्ट्रजम् ।
द्रोणकर्णकृपैः सार्धं भीष्मेण च महात्मना ॥ ७ ॥
संगतं भ्रातृभिश्चापि त्रिगर्तैश्च महारथैः ।
दुर्योधनं सभामध्ये आसीनमिदमब्रुवन् ॥ ८ ॥

वहाँ वे धृतराष्ट्रपुत्र कुरुनन्दन दुर्योधनसे मिले, जो द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, महात्मा भीष्म, अपने सम्पूर्ण भाई तथा महारथी त्रिगर्तोंके साथ राजसभामें बैठा था । उससे मिलकर उन गुप्तचरोंने यों कहा ॥७-८ ॥

चरा ऊचुः

कृतोऽस्माभिः परो यत्नस्तेषामन्वेषणे सदा ।
पाण्डवानां मनुष्येन्द्र तस्मिन् महति कानने ॥ ९ ॥

गुप्तचर बोले—नरेन्द्र ! हमने उस विशाल वनमें पाण्डवों-की खोजके लिये सदा महान् प्रयत्न जारी रक्खा है ॥ ९ ॥

निर्जने मृगसंकीर्णे नानाद्रुमलताकुले ।
लताप्रतानबहुले नानागुल्मसमावृते ॥ १० ॥
न च विद्मो गता येन पार्थाः सुदृढविक्रमाः ।
मार्गमाणाः पदन्यासं तेषु तेषु तथा तथा ॥ ११ ॥

मृगोंसे भरे हुए निर्जन वनमें, जो अनेकानेक वृक्षों और लताओंसे व्याप्त, विविध लताओंकी बहुलता एवं विस्तारसे विलसित तथा नाना गुल्मोंसे समावृत है, घूमकर वहाँके विभिन्न स्थानोंमें अनेक प्रकारसे उनके पदचिह्न हम ढूँढ़ते रहे हैं तथापि वे सुदृढ़ पराक्रमी कुन्तीकुमार किस मार्गसे कहाँ गये ? यह नहीं जान सके ॥ १०-११ ॥

गिरिकूटेषु तुङ्गेषु नानाजनपदेषु च ।
जनाकीर्णेषु देशेषु खर्वटेषु पुरेषु च ॥ १२ ॥
नरेन्द्र बहुशोऽन्विष्टा नैव विद्मश्च पाण्डवान् ।
अत्यन्तं वा विनष्टास्ते भद्रं तुभ्यं नरर्षभ ॥ १३ ॥

महाराज ! हमने पर्वतोंके ऊँचे-ऊँचे शिखरोंपर, भिन्न-भिन्न देशोंमें, जनसमूहसे भरे हुए स्थानोंमें तथा तराईके गाँवों, बाजारों और नगरोंमें भी उनकी बहुत खोज की, परंतु कहीं भी पाण्डवोंका पता नहीं लगा । नरश्रेष्ठ ! आपका कल्याण हो । सम्भव है, वे सर्वथा नष्ट हो गये हों ॥१२-१३॥

वर्त्मन्यन्वेष्यमाणा वै रथिनां रथिसत्तम ।
न हि विद्मो गतिं तेषां वासं हि नरसत्तम ॥ १४ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ नरोत्तम ! हमने रथियोंके मार्गपर भी उनका अन्वेषण किया है, किंतु वे कहाँ गये और कहाँ रहते हैं ? इसका पता हमें नहीं लगा ॥ १४ ॥

किंचित्काले मनुष्येन्द्र सूतानामनुगा वयम् ।
मृगयित्वा यथान्यायं वेदितार्थाः स्म तत्त्वतः ॥ १५ ॥

मानवेन्द्र ! कुछ कालतक हमलोग उनके सारथियोंके पीछे लगे रहे और अच्छी तरह खोज करके हमने एक यथार्थ बातका ठीक-ठीक पता लगा लिया है ॥ १५ ॥

प्राप्ता द्वारवतीं सूता विना पार्थैः परंतप ।
न तत्र कृष्णा राजेन्द्र पाण्डवाश्च महाव्रताः ॥ १६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले राजेश्वर ! पाण्डवोंके इन्द्रसेन आदि सारथि उनके बिना ही द्वारकापुरीमें पहुँच गये हैं । वहाँ न तो द्रौपदी है और न महान् व्रतधारी पाण्डव ही हैं ॥

सर्वथा विप्रणष्टास्ते नमस्ते भरतर्षभ ।
न हि विद्मो गतिं तेषां वासं वापि महात्मनाम्॥ १७ ॥
पाण्डवानां प्रवृत्तिं च विद्मः कर्मापि वा कृतम् ।
स नः शाधि मनुष्येन्द्र अत ऊर्ध्वं विशाम्पते ॥ १८ ॥

जान पड़ता है; वे बिल्कुल नष्ट हो गये । भरतश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है । हम महात्मा पाण्डवोंके मार्ग, निवास-स्थान, प्रवृत्ति अथवा उनके द्वारा किये हुए कार्यके विषयमें कुछ भी जानकारी नहीं प्राप्त कर सके । प्रजापालक नरेश ! इसके बाद हमारे लिये क्या आज्ञा है ? ॥१७-१८॥

अन्वेषणे पाण्डवानां भूयः किं करवामहे ।
इमां च नः प्रियां वीर वाचं भद्रवतीं शृणु ॥ १९ ॥

बताइये, पाण्डवोंको ढूँढ़नेके लिये हम पुनः क्या करें ? वीर ! हमारी एक बात और सुनिये, यह आपको प्रिय लगेगी। इसमें आपके लिये मङ्गलजनक समाचार है ॥ १९ ॥

येन त्रिगर्ता निहता बलेन महता नृप ।
सूतेन राज्ञो मत्स्यस्य कीचकेन बलीयसा ॥ २० ॥
स हतः पतितः शेते गन्धर्वैर्निशि भारत ।
अदृश्यमानैर्दुष्टात्मा भ्रातृभिः सह सोदरैः ॥ २१ ॥

राजन् ! मत्स्यराज विराटके जिस महाबली सेनापति सूतपुत्र कीचकने बहुत बड़ी सेनाके द्वारा त्रिगर्तदेश और वहाँके निवासियोंको तहस-नहस कर दिया था, भारत ! गन्धर्वोंने उस दुष्टात्माको उसके सहोदर भाइयोंसहित रात्रिमें गुप्तरूपसे मार डाला है । अब वह श्मशानभूमिमें पड़ा सो रहा है ॥

(श्यालो राज्ञो विराटस्य सेनापतिरुदारधीः ।
सुदेष्णायाः स वै ज्येष्ठः शूरो वीरो गतव्यथः ॥
उत्साहवान् महावीर्यो नीतिमान् बलवानपि ।
युद्धज्ञो रिपुवीरघ्नः सिंहतुल्यपराक्रमः ॥

प्रजारक्षणदक्षश्च शत्रुग्रहणशक्तिमान् ।
विजितारिर्महायुद्धे प्रचण्डो मानवत् परः ॥
नरनारीमनोह्लादी धीरो वाग्मी रणप्रियः ।

उदारचित्त कीचक राजा विराटका साला और सेनापति था । रानी सुदेष्णाका वह बड़ा भाई लगता था । कीचक शूरवीर, व्यथारहित, उत्साही, महापराक्रमी, नीतिमान्, बलवान्, युद्धकी कलाको जाननेवाला, शत्रुवीरोंका संहार करनेमें समर्थ, सिंहके समान पराक्रमसम्पन्न, प्रजारक्षणमें कुशल, शत्रुओंको काबूमें लानेकी शक्ति रखनेवाला, बड़े-बड़े युद्धोंमें वैरियोंपर विजय पानेवाला, अत्यन्त क्रोधी, अभिमानी, नर-नारियोंके मनको आह्लादित करनेवाला, रणप्रिय धीर और बोलनेमें चतुर था ॥

स हतो निशि गन्धर्वैः स्त्रीनिमित्तं नराधिप ।
अमृष्यमाणो दुष्टात्मा निशीथे सह सोदरैः ॥
सुहृदश्चास्य निहता योधाश्च प्रवरा हताः ।)

नरेश्वर ! वह अमर्षशील दुष्टात्मा कीचक एक स्त्रीके कारण गन्धर्वोंद्वारा आधीरातमें अपने भाइयोंसहित मार डाला गया है । उसके प्रिय सुहृद् और श्रेष्ठ सैनिक भी मारे गये हैं ॥

प्रियमेतदुपश्रुत्य शत्रूणां च पराभवम् ।
कृतकृत्यश्च कौरव्य विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ २२ ॥

कुरुनन्दन ! शत्रुओंके पराभवका यह प्रिय संवाद सुनकर आप कृतकृत्य हों और इसके बाद जो कुछ करना हो, वह करें ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्यागमने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें गुप्तचरोंके लौटकर आनेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल २८ श्लोक हैं)

षड्विंशोऽध्यायः

दुर्योधनका सभासदोंसे पाण्डवोंका पता लगानेके लिये परामर्श तथा इस विषयमें कर्ण और दुःशासनकी सम्मति

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा श्रुत्वा तेषां वचस्तदा ।
चिरमन्तर्मना भूत्वा प्रत्युवाच सभासदः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा दुर्योधन उस समय दूतोंकी बातपर विचार करके बहुत देरतक मन-ही-मन कुछ सोचता रहा । उसके बाद उसने सभासदोंसे कहा—॥ १ ॥



सुदुःखा खलु कार्याणां गतिर्विज्ञातुमन्ततः ।
तस्मात् सर्वे निरीक्षध्वं क नु ते पाण्डवा गताः ॥ २ ॥

'कार्योंके अन्तिम परिणामको ठीक-ठीक समझ लेना अत्यन्त कठिन है; अतः आप सब लोग इस बातको समझें कि पाण्डव कहाँ चले गये ? ॥ २ ॥

अल्पावशिष्टं कालस्य गतभूयिष्ठमन्ततः ।
तेषामज्ञातचर्यायामस्मिन् वर्षे त्रयोदशे ॥ ३ ॥

'इस तेरहवें वर्षमें पाण्डवोंके अज्ञातवासका अधिकांश समय बीत चुका है और थोड़े ही दिन शेष हैं ॥ ३ ॥

अस्य वर्षस्य शेषं चेद् व्यतीयुरिह पाण्डवाः ।
निवृत्तसमयास्ते हि सत्यव्रतपरायणाः ॥ ४ ॥
क्षरन्त इव नागेन्द्राः सर्वे ह्याशीविषोपमाः ।
दुःखा भवेयुः संरब्धाः कौरवान् प्रति ते ध्रुवम् ॥ ५ ॥

'यदि शेष समय भी पाण्डव इसी प्रकार यहाँ व्यतीत कर लें, तो वे प्रतिज्ञापालनके भारसे मुक्त हो जायँगे । फिर तो वे सत्यव्रती पाण्डव मदकी धारा बहानेवाले गजराजों और विषधर सर्पोंके समान क्रोधमें भरकर निश्चय ही कौरवोंके लिये दुःखदायी हो जायँगे ॥ ४-५ ॥

सर्वे कालस्य वेत्तारः कृच्छ्ररूपधराः स्थिताः ।
प्रविशेयुर्जितक्रोधास्तावदेव पुनर्वनम् ॥ ६ ॥
तस्मात् क्षिप्रं बुभूषध्वं यथा तेऽत्यन्तमव्ययम् ।
राज्यं निर्द्वन्द्वमव्यग्रं निःसपत्नं चिरं भवेत् ॥ ७ ॥

'वे सब समयकी नियत अवधिको जानते हैं; अतः कहीं ऐसा वेष धारण करके छिपे होंगे, जिससे उन्हें पहचानना

कठिन हो गया है; इसलिये आपलोग शीघ्र उनका पता लगानेकी चेष्टा करें, जिससे वे क्रोधको दबाकर उतने ही समयके लिये अर्थात् बारह वर्षोंके लिये फिर वनमें चले जायँ। ऐसा होनेपर ही मेरा यह राज्य दीर्घकालतकके लिये निर्द्वन्द्व, व्यग्रताशून्य तथा निष्कण्टक हो जायगा' ॥ ६-७ ॥

अथाब्रवीत् ततः कर्णः क्षिप्रं गच्छन्तु भारत।
अन्ये धूर्ता नरा दक्षा निभृताः साधुकारिणः ॥ ८ ॥

यह सुनकर कर्णने कहा—'भरतनन्दन! तब शीघ्र ही दूसरे कार्यकुशल गुप्तचर भेजे जायँ, जो धूर्त होनेके साथ ही छिपे रहकर अपना कार्य अच्छी तरह कर सकें ॥ ८ ॥

चरन्तु देशान् संवीताः स्फीताञ्जनपदाकुलान्।
तत्र गोष्ठीषु रम्यासु सिद्धप्रव्रजितेषु च ॥ ९ ॥
परिचारेषु तीर्थेषु विविधेष्वाकरेषु च।
विज्ञातव्या मनुष्यैस्तैस्तर्कया सुविनीतया ॥ १० ॥

'वे गुप्तरूपसे धन-धान्यसम्पन्न एवं जनसमुदायसे भरे हुए देशोंमें जायँ और वहाँ सुरम्य सभाओंमें, सिद्ध-संन्यासी महात्माओंके आश्रमोंमें, राजनगरोंमें, नाना प्रकारके तीर्थों और सर्वोत्तम स्थानोंमें, वहाँ निवास करनेवाले मनुष्योंसे विनयपूर्ण युक्तिसे पूछकर उनका पता लगावें ॥ ९-१० ॥

विविधैस्तत्परैः सम्यक् तज्ज्ञैर्निपुणसंवृतैः।
अन्वेष्टव्याः सुनिपुणैः पाण्डवाश्छन्नवासिनः ॥ ११ ॥
नदीकुञ्जेषु तीर्थेषु ग्रामेषु नगरेषु च।
आश्रमेषु च रम्येषु पर्वतेषु गुहासु च ॥ १२ ॥

'पाण्डव छिपकर किसी गुप्त स्थानमें निवास करते होंगे; अतः जो कार्यसाधनमें तत्पर, उन्हें अच्छी तरह पहचाननेवाले, बुद्धिमानीसे स्वयं भी छिपकर कार्य करनेवाले और अत्यन्त कुशल हों, ऐसे अनेक गुप्तचर नदी-तटवर्ती कुञ्जों, तीर्थों, गाँवों, नगरों, रमणीय आश्रमों, पर्वतों तथा गुफाओंमें जा-जाकर उनकी खोज करें' ॥ ११-१२ ॥

अथाग्रजानन्तरजः पापभावानुरागवान्।
ज्येष्ठं दुःशासनस्तत्र भ्राता भ्रातरमब्रवीत् ॥ १३ ॥

तदनन्तर सदा पापभावनामें अनुरक्त रहनेवाला दुर्योधनसे छोटा भाई दुःशासन अपने बड़े भाईसे बोला— ॥ १३ ॥

येषु नः प्रत्ययो राजंश्चारेषु मनुजाधिप।
ते यान्तु दत्तदेया वै भूयस्तान् परिमार्गितुम् ॥ १४ ॥

'राजन्! नरेश्वर! जिन गुप्तचरोंपर हमारा अधिक विश्वास हो, उन्हें देनेयोग्य सब साधन देकर पुनः पाण्डवोंकी खोजके लिये भेजा जाय ॥ १४ ॥

एतच्च कर्णो यत् प्राह सर्वमीहामहे तथा।
यथोद्दिष्टं चराः सर्वे मृगयन्तु ततस्ततः ॥ १५ ॥

'कर्णने जो बात कही है, वह सब हम करें। इनके बताये हुए स्थानोंमें जहाँ-तहाँ घूमकर सभी गुप्तचर उनका पता लगावें' ॥ १५ ॥

एते चान्ये च भूयांसो देशाद् देशं यथाविधि।
न तु तेषां गतिर्वासः प्रवृत्तिश्चोपलभ्यते ॥ १६ ॥

'ये तथा और भी बहुत-से लोग एक देशसे दूसरे देशमें विधिपूर्वक खोज करें। अभीतक तो पाण्डवोंके गन्तव्य स्थान, निवास तथा प्रवृत्तिका कुछ भी पता नहीं लग रहा है ॥ १६ ॥

अत्यन्तं वा निगूढास्ते पारं चोर्मिमतो गताः।
व्यालैश्चापि महारण्ये भक्षिताः शूरमानिनः ॥ १७ ॥

'या तो वे अधिक गुप्त स्थानमें छिपे हैं या समुद्रके उस पार चले गये हैं। यह भी सम्भव है कि अपनेको शूरवीर माननेवाले इन पाण्डवोंको उस महान् वनमें अजगर निगल गये हों ॥

अथवा विषमं प्राप्य विनष्टाः शाश्वतीः समाः।
तस्मान्मानसमव्यग्रं कृत्वा त्वं कुरुनन्दन।
कुरु कार्यं महोत्साहं मन्यसे यन्नराधिप ॥ १८ ॥

'अथवा वे किसी विषम परिस्थितिमें पड़कर सदाके लिये नष्ट हो गये हों। अतः कुरुनन्दन! मनुजेश्वर! आप अपने चित्तको स्वस्थ करके जो ठीक समझमें आवे, वह कार्य पूर्ण उत्साहके साथ करें' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि कर्णदुःशासनवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें कर्ण और दुःशासनके वचनविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

आचार्य द्रोणकी सम्मति

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्महावीर्यो द्रोणस्तत्त्वार्थदर्शिवान्।
न तादृशा विनश्यन्ति न प्रयान्ति पराभवम् ॥ १ ॥
शूराश्च कृतविद्याश्च बुद्धिमन्तो जितेन्द्रियाः।
धर्मज्ञाश्च कृतज्ञाश्च धर्मराजमनुव्रताः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर तत्त्वार्थदर्शी महापराक्रमी द्रोणाचार्यने कहा—'पाण्डवलोग शूरवीर, विद्वान्, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, और

अपने बड़े भाई धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञा माननेवाले उनके भक्त हैं। ऐसे महापुरुष न तो नष्ट होते हैं और न किसीसे तिरस्कृत ही होते हैं ॥ १-२ ॥

नीतिधर्मार्थतत्त्वज्ञं पितृवच्च समाहितम्।
धर्मे स्थितं सत्यधृतिं ज्येष्ठं ज्येष्ठानुयायिनः ॥ ३ ॥
अनुव्रता महात्मानं भ्रातरो भ्रातरं नृप।
अजातशत्रुं श्रीमन्तं सर्वभ्रातॄननुव्रतम् ॥ ४ ॥

'उनमें धर्मराज तो नीति, धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले, भाइयोंद्वारा पिताकी भाँति सम्मानित, धर्मपर अटल रहनेवाले, सत्यपरायण और भाइयोंमें सबसे ज्येष्ठ हैं। राजन्! उनके भाई भी अपनेसे बड़ोंके अनुगामी और अपने महात्मा बन्धु श्रीमान् अजातशत्रु युधिष्ठिरके भक्त हैं। धर्मराज भी सब भाइयोंपर अत्यन्त स्नेह रखते हैं ॥ ३-४ ॥

तेषां तथा विधेयानां निभृतानां महात्मनाम्।
किमर्थं नीतिमान् पार्थः श्रेयो नैषां करिष्यति ॥ ५ ॥

'जो इस प्रकार आज्ञापालक, विनयशील और महात्मा हैं, ऐसे अपने छोटे भाइयोंका नीतिज्ञ धर्मराज कैसे भला नहीं करेंगे? ॥ ५ ॥

तस्माद् यत्नात् प्रतीक्षन्ते कालस्योदयमागतम्।
न हि ते नाशमृच्छेयुरिति पश्याम्यहं धिया ॥ ६ ॥

'अतः मैं अपनी बुद्धि और अनुभवकी दृष्टिसे यह देखता हूँ कि पाण्डवलोग अपने अनुकूल समयके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं; वे नष्ट नहीं हो सकते ॥ ६ ॥

साम्प्रतं चैव यत् कार्यं तच्च क्षिप्रमकालिकम्।
क्रियतां साधु संचिन्त्य वासश्चैषां प्रचिन्त्यताम् ॥ ७ ॥
यथावत् पाण्डुपुत्राणां सर्वार्थेषु धृतात्मनाम्।
दुर्ज्ञेयाः खलु शूरास्ते दुरापास्तपसा वृताः ॥ ८ ॥

'इस समय जो कुछ करना है, वह खूब सोच-विचारकर शीघ्र किया जाना चाहिये। इसमें विलम्ब करना ठीक नहीं है। सभी विषयोंमें धैर्य रखनेवाले उन पाण्डवोंके निवास-स्थानका ही ठीक-ठीक पता लगाना चाहिये। वे सभी शूरवीर और तपस्यासे आवृत हैं, अतः उन्हें पाना कठिन है। पा लेनेपर भी उन्हें पहचानना तो और भी कठिन है ॥ ७-८ ॥

शुद्धात्मा गुणवान् पार्थः सत्यवान् नीतिमाञ्छुचिः।
तेजोराशिरसंख्येयो गृह्णीयादपि चक्षुषा ॥ ९ ॥

'कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर शुद्धचित्त, गुणवान्, सत्यवान्, नीतिमान्, पवित्र और तेजके पुञ्ज हैं; अतः उन्हें पहचानना असम्भव है। आँखोंसे दीख जानेपर भी वे मनुष्यको मोह लेंगे—पहचाने नहीं जा सकेंगे ॥ ९ ॥

विज्ञाय क्रियतां तस्माद् भूयश्च मृगयामहे।
ब्राह्मणैश्चारकैः सिद्धैर्ये चान्ये तद्विदो जनाः ॥ १० ॥

'इसलिये इन बातोंको अच्छी तरह सोच-समझकर ही हमें कोई काम करना चाहिये। ब्राह्मण, गुप्तचर, सिद्ध पुरुष अथवा जो दूसरे लोग उन्हें पहचानते हों, उनके द्वारा पुनः उन सबकी खोज करानी चाहिये' ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि द्रोणवाक्ये चारप्रत्याचारे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें द्रोणवाक्य एवं गुप्तचर भेजनेसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी महिमा कहते हुए भीष्मकी पाण्डवोंके अन्वेषणके विषयमें सम्मति

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो भरतानां पितामहः।
श्रुतवान् देशकालज्ञस्तत्त्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥ १ ॥
आचार्यवाक्योपरमे तद्वाक्यमभिसंदधत्।
हितार्थं समुवाचैनां भारतीं भारतान् प्रति ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसके पश्चात् भरतवंशियोंके पितामह, देशकालके ज्ञाता, वेद-शास्त्रोंके विद्वान्, तत्त्वज्ञानी और सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मजीने आचार्य द्रोणकी बात पूरी होनेपर कौरवोंके हितके लिये आचार्यके कथनसे मेल खाती हुई यह बात कौरवोंसे कही ॥ १-२ ॥

युधिष्ठिरे समासक्तां धर्मज्ञे धर्मसंवृताम्।
असत्सु दुर्लभां नित्यं सतां चाभिमतां सदा ॥ ३ ॥

उनकी वह बात धर्मज्ञ युधिष्ठिरसे सम्बन्ध रखनेवाली तथा धर्मसे युक्त थी। वह दुष्ट पुरुषोंके लिये सदा दुर्लभ और सत्पुरुषोंको सदैव प्रिय लगनेवाली थी ॥ ३ ॥

भीष्मः समवदत् तत्र गिरं साधुभिरर्चिताम्।
यथैष ब्राह्मणः प्राह द्रोणः सर्वार्थतत्त्ववित् ॥ ४ ॥

इस प्रकार भीष्मजीने वहाँ सत्पुरुषोंद्वारा प्रशंसित सम्यक् वचन कहा—'सब विषयोंके तत्त्वज्ञ तथा विप्रवर आचार्य द्रोणने जैसा कहा है, वह ठीक है ॥ ४ ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नाः साधुव्रतसमन्विताः।
श्रुतव्रतोपपन्नाश्च नानाश्रुतिसमन्विताः ॥ ५ ॥

वृद्धानुशासने युक्ताः सत्यव्रतपरायणाः ।
समयं समयज्ञास्ते पालयन्तः शुचिव्रताः ॥ ६ ॥

वास्तवमें पाण्डव समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, साधु-पुरुषोचित नियमों एवं व्रतके पालनमें तत्पर, वेदोक्त व्रतके पालक, नाना प्रकारकी श्रुतियोंके ज्ञाता, बड़े-बूढ़ोंके उपदेश और आदेशके पालनमें संलग्न, सत्यव्रतपरायण तथा शुद्ध व्रत धारण करनेवाले हैं। वे अज्ञातवासके नियत समयको जानते हैं, इसीलिये उसका पालन कर रहे हैं ॥ ५–६ ॥

क्षत्रधर्मरता नित्यं केशवानुगताः सदा ।
प्रवीरपुरुषास्ते वै महात्मानो महाबलाः ।
नावसीदितुमर्हन्ति उद्वहन्तः सतां धुरम् ॥ ७ ॥

'पाण्डव क्षत्रिय-धर्ममें नित्य अनुरक्त रहकर सदा भगवान् श्रीकृष्णका अनुगमन करनेवाले हैं। वे उत्तम वीर पुरुष, महात्मा, महाबलवान् तथा साधु पुरुषोंके लिये उचित कर्तव्य-का भार वहन कर रहे हैं; अतः वे कष्ट भोगने या नष्ट होने योग्य नहीं हैं ॥ ७ ॥

धर्मतश्चैव गुप्तास्ते सुवीर्येण च पाण्डवाः ।
न नाशमधिगच्छेयुरिति मे धीयते मतिः ॥ ८ ॥

'पाण्डव अपने धर्म तथा उत्तम पराक्रमसे सुरक्षित हैं। अतः वे नष्ट नहीं हो सकते, यह मेरा निश्चित विचार है ॥८॥

तत्र बुद्धिं प्रवक्ष्यामि पाण्डवान् प्रति भारत ।
न तु नीतिः सुनीतस्य शक्यतेऽन्वेषितुं परैः ॥ ९ ॥

'भरतनन्दन ! पाण्डवोंके विषयमें मेरी बुद्धिका जो निश्चय है, उसे बताता हूँ। जो उत्तम नीतिसे सम्पन्न है, उसकी उस नीतिका अनुसंधान दूसरे (अनीतिपरायण) मनुष्य नहीं कर सकते ॥ ९ ॥

यत् तु शक्यमिहास्माभिस्तान् वै संचिन्त्य पाण्डवान् ।
बुद्ध्या प्रयुक्तं न द्रोहात् प्रवक्ष्यामि निबोध तत् ॥

'पाण्डवोंके सम्बन्धमें अपनी बुद्धिसे भलीभाँति सोच-विचारकर मुझे जो युक्तिसंगत जान पड़ा है, वही उपाय हम यहाँ कर सकते हैं। मैं उसे द्रोहके कारण नहीं, तुम्हारे भलेके लिये बताता हूँ; ध्यान देकर सुनो ॥ १० ॥

न त्वियं मादृशैर्नीतिस्तस्य वाच्या कथंचन ।
सा त्वियं साधु वक्तव्या न त्वनीतिः कथंचन ॥११॥

'युधिष्ठिरकी जो नीति है, उसकी मेरे-जैसे पुरुषोंको कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये। उसे अच्छी नीति ही कहनी चाहिये, अनीति कहना किसी प्रकार ठीक नहीं है ॥ ११ ॥

वृद्धानुशासने तात तिष्ठता सत्यशीलिना ।
अवश्यं त्विह धीरेण सतां मध्ये विवक्षता ॥१२॥
यथार्हमिह वक्तव्यं सर्वथा धर्मलिप्सया ।

'तात ! जो वृद्धपुरुषोंके अनुशासनमें रहनेवाला और सत्यपालक है, वह धीर पुरुष यदि साधुपुरुषोंके समाजमें कुछ कहना चाहता है, तो उसे यहाँ सर्वथा धर्म प्राप्त करनेकी इच्छासे यथार्थ एवं उचित बात ही कहनी चाहिये ॥ १२½ ॥

तत्र नाहं तथा मन्ये यथायमितरो जनः ॥१३॥
निवासं धर्मराजस्य वर्षेऽस्मिन् वै त्रयोदशे ।

'अतः इस तेरहवें वर्षमें धर्मराज युधिष्ठिरके निवासके सम्बन्धमें दूसरे लोग जैसी धारणा रखते हैं, वैसा मैं नहीं मानता ॥ १३½ ॥

तत्र तात न तेषां हि राज्ञां भाव्यमसाम्प्रतम् ॥१४॥
पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः ।
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः ।
जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥१५॥

'तात ! जिस नगर या राष्ट्रमें राजा युधिष्ठिर निवास करते होंगे, वहाँके राजाओंका अकल्याण नहीं हो सकता। जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, उस जनपदके लोगोंको दानशील, उदार, विनयी और लज्जाशील होना चाहिये ॥ १४-१५ ॥

प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः ।
हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥१६॥

'जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके मनुष्य सदा प्रिय वचन बोलनेवाले, जितेन्द्रिय, कल्याणभागी, सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र और कार्यकुशल होंगे ॥ १६ ॥

नासूयको न चापीर्षुर्नाभिमानी न मत्सरी ।
भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः ॥ १७ ॥

'वहाँ कोई न तो दूसरेके दोष देखनेवाला होगा और न ईर्ष्यालु। न किसीमें अभिमान होगा और न मात्सर्य (द्वेष)। वहाँके सब लोग स्वयं ही धर्ममें तत्पर होंगे ॥ १७ ॥

ब्रह्मघोषाश्च भूयांसः पूर्णाहुत्यस्तथैव च ।
क्रतवश्च भविष्यन्ति भूयांसो भूरिदक्षिणाः ॥ १८ ॥

'उस देश या जनपदमें प्रचुर रूपसे वेदध्वनि होती होगी, यज्ञोंमें पूर्णाहुतियाँ दी जाती होंगी और बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले बहुत-से यज्ञ हो रहे होंगे ॥ १८ ॥

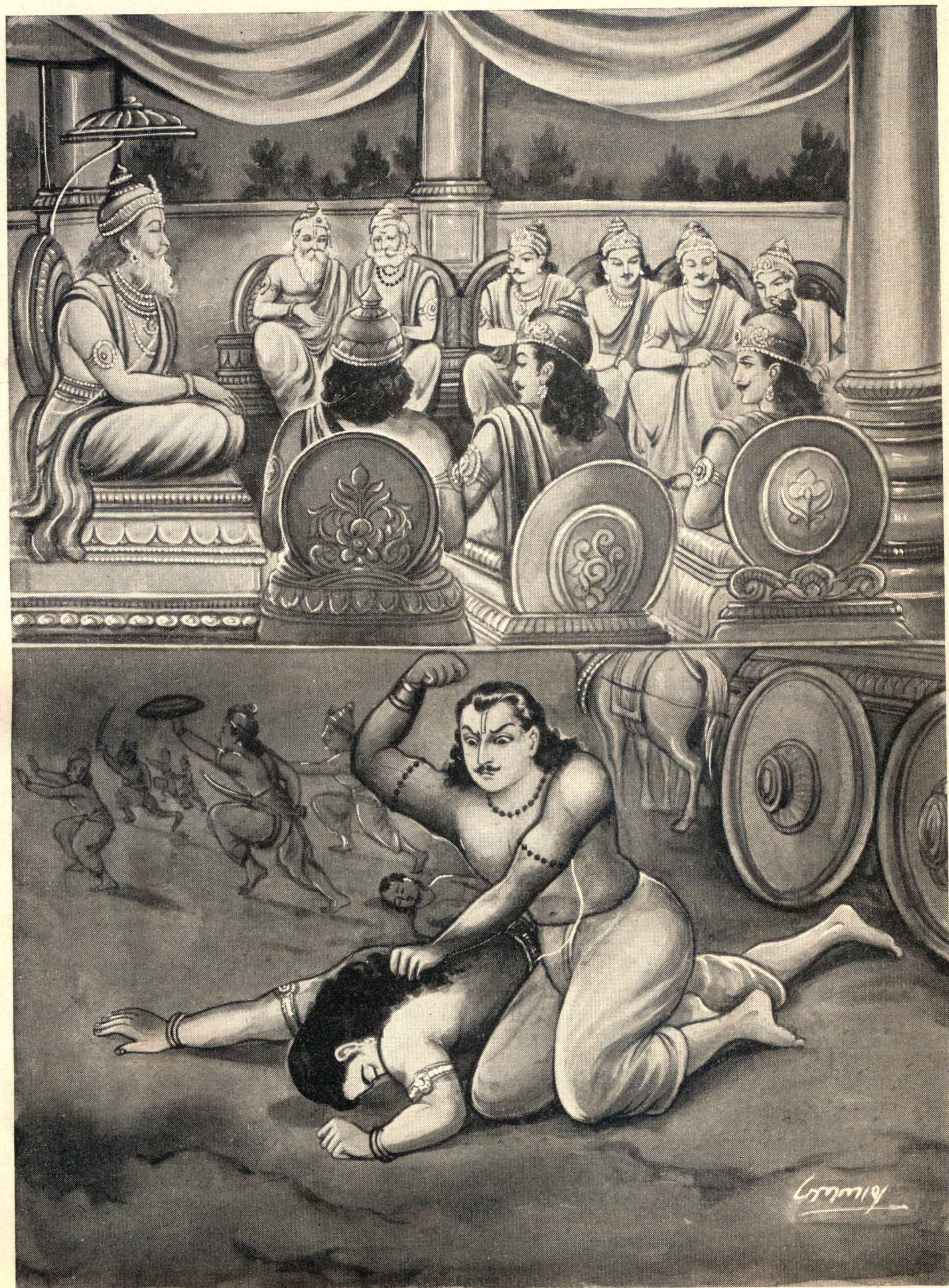
सदा च तत्र पर्जन्यः सम्यग्वर्षी न संशयः ।
सम्पन्नसस्या च मही निरातङ्का भविष्यति ॥ १९ ॥

'वहाँ मेघ सदा ठीक-ठीक वर्षा करता होगा, इसमें संशय नहीं है। वहाँकी भूमिपर खेती लहलहाती होगी और वहाँ निवास करनेवाली प्रजा सर्वथा निर्भय होगी ॥ १९ ॥

गुणवन्ति च धान्यानि रसवन्ति फलानि च ।
गन्धवन्ति च माल्यानि शुभशब्दा च भारती ॥ २० ॥

'वहाँ गुणयुक्त धान्य, सरस फल, सुगन्धयुक्त माला

पाण्डवोंके अन्वेषणके विषयमें भीष्मकी सम्मति



सुशर्मापर भीमसेनका प्रहार

और माङ्गलिक शब्दोंसे युक्त वाणी सुलभ होगी ॥ २० ॥

वायुश्च सुखसंस्पर्शो निष्प्रतीपं च दर्शनम् ।
न भयं त्वाविशेत् तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥

'वहाँ जिसका स्पर्श सुखदायक हो, ऐसी शीतल एवं मन्द वायु चलती होगी। धर्म और ब्रह्मके स्वरूपका विचार पाखण्डशून्य होगा। जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ भयका प्रवेश नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

गावश्च बहुलास्तत्र न कृशा न च दुर्बलाः ।
पयांसि दधिसर्पींषि रसवन्ति हितानि च ॥ २२ ॥

'उस जनपदमें गौओंकी अधिकता होगी और वे गौएँ कृश या दुर्बल न होकर खूब हृष्ट-पुष्ट होंगी। उनके दूध, दही और घी भी बड़े स्वादिष्ट तथा हितकारी होंगे ॥ २२ ॥

गुणवन्ति च पेयानि भोज्यानि रसवन्ति च ।
तत्र देशे भविष्यन्ति यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥

'जिस देशमें राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ गुणकारी पेय और सरस भोज्य पदार्थ सुलभ होंगे ॥ २३ ॥

रसाः स्पर्शाश्च गन्धाश्च शब्दाश्चापि गुणान्विताः ।
दृश्यानि च प्रसन्नानि यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

'जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द—सभी विषय गुणकारी होंगे और मनको प्रसन्न करनेवाले दृश्य देखनेको मिलेंगे ॥ २४ ॥

धर्माश्च तत्र सर्वैस्तु सेविताश्च द्विजातिभिः ।
स्वैः स्वैर्गुणैश्च संयुक्ता अस्मिन् वर्षे त्रयोदशे ॥ २५ ॥

'इस तेरहवें वर्षमें राजा युधिष्ठिर जहाँ कहीं भी होंगे, वहाँके समस्त द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) अपने-अपने धर्मोंका पालन करते होंगे और धर्म भी अपने गुण तथा प्रभावसे सम्पन्न होंगे ॥ २५ ॥

देशे तस्मिन् भविष्यन्ति तात पाण्डवसंयुते ।
सम्प्रीतिमाञ्जनस्तत्र संतुष्टः शुचिरव्ययः ॥ २६ ॥

'तात! पाण्डवोंसे संयुक्त देशमें ये सब विशेषताएँ होंगी। वहाँके लोग प्रसन्न, संतुष्ट, पवित्र और विकारशून्य होंगे ॥

देवतातिथिपूजासु सर्वभावानुरागवान् ।
इष्टदानो महोत्साहः स्वस्वधर्मपरायणः ॥ २७ ॥

'देवता और अतिथियोंकी पूजामें सबका सर्वतोभावेन अनुराग होगा। सभी लोग दानको प्रिय मानेंगे, सबमें भारी उत्साह भरा होगा और सभी अपने-अपने धर्मके पालनमें तत्पर होंगे ॥ २७ ॥

अशुभाद्धि शुभप्रेप्सुरिष्टयज्ञः शुभव्रतः ।
भविष्यति जनस्तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥

'जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके लोग अशुभको छोड़कर शुभके अभिलाषी होंगे। यज्ञोंका अनुष्ठान उनके लिये अभीष्ट कार्य होगा और वे श्रेष्ठ व्रतोंको धारण करनेवाले होंगे ॥ २८ ॥

त्यक्तवाक्यानृतस्तात शुभकल्याणमङ्गलः ।
शुभार्थेप्सुः शुभमतिर्यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २९ ॥

'तात! जहाँ राजा युधिष्ठिर रहते होंगे, वहाँके लोग असत्य-भाषणका त्याग करनेवाले, शुभ, कल्याण एवं मङ्गलसे युक्त, शुभ वस्तुओंकी प्राप्तिके इच्छुक तथा शुभमें ही मन लगानेवाले होंगे ॥ २९ ॥

भविष्यति जनस्तत्र नित्यं चेष्टप्रियव्रतः ।
धर्मात्मा शक्यते ज्ञातुं नापि तात द्विजातिभिः ॥ ३० ॥
किं पुनः प्राकृतैस्तात पार्थो विज्ञायते क्वचित् ।
यस्मिन् सत्यं धृतिर्दानं परा शान्तिर्ध्रुवा क्षमा ॥ ३१ ॥
ह्रीः श्रीः कीर्तिः परं तेज आनृशंस्यमथार्जवम् ।

'सदा इष्टजनोंका प्रिय करना ही उनका व्रत होगा। कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं। उनमें सत्य, धैर्य, दान, परम शान्ति, अटल क्षमा, लज्जा, श्री, कीर्ति, उत्कृष्ट तेज, दयालुता और सरलता आदि गुण सदा रहते हैं। अतः अन्य साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) भी उन्हें नहीं पहचान सकते ॥ ३०-३१½ ॥

तस्मात् तत्र निवासं तु छन्नं यत्नेन धीमतः ।
गतिं च परमां तत्र नोत्सहे वक्तुमन्यथा ॥ ३२ ॥

'इसलिये जहाँ ऐसे लक्षण पाये जायँ, वहीं बुद्धिमान् युधिष्ठिर-का यत्नपूर्वक छिपाया हुआ निवासस्थान हो सकता है; वहीं उनका उत्कृष्ट आश्रय होना सम्भव है। इसके विपरीत मैं और कोई बात नहीं कह सकता ॥ ३२ ॥

एवमेतत् तु संचिन्त्य यत्कृते मन्यसे हितम् ।
तत् क्षिप्रं कुरु कौरव्य यद्येवं श्रद्दधासि मे ॥ ३३ ॥

'कुरुनन्दन! यदि मेरी बातोंपर तुम्हें विश्वास हो, तो इसी प्रकार सोच-विचारकर जो काम करनेसे तुम्हें अपना हित जान पड़े, उसे शीघ्र करो' ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्याचारे भीष्मवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें गुप्तचर भेजनेके विषयमें भीष्मवचनसम्बन्धी अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

कृपाचार्यकी सम्मति और दुर्योधनका निश्चय

वैशम्पायन उवाच

ततः शारद्वतो वाक्यमित्युवाच कृपस्तदा ।
युक्तं प्राप्तं च वृद्धेन पाण्डवान् प्रति भाषितम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इसके पश्चात् महर्षि शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने उस समय यह बात कही–'राजन् ! वयोवृद्ध भीष्मजीने पाण्डवोंके विषयमें जो कुछ कहा है, वह युक्तियुक्त तो है ही, अवसरके अनुकूल भी है ॥ १ ॥

धर्मार्थसहितं श्लक्ष्णं तत्त्वतश्च सहेतुकम् ।
तत्रानुरूपं भीष्मेण ममाप्यत्र गिरं शृणु ॥ २ ॥

'उसमें धर्म और अर्थ दोनों ही संनिहित हैं । वह सुन्दर, तात्त्विक और सकारण है । इस विषयमें मेरा भी जो कथन है, वह भीष्मजीके ही अनुरूप है, उसे सुनो ॥ २ ॥

तेषां चैव गतिस्तीर्थैर्वासश्चैषां प्रचिन्त्यताम् ।
नीतिर्विधीयतां चापि साम्प्रतं या हिता भवेत् ॥ ३ ॥

'तुमलोग गुप्तचरोंसे पाण्डवोंकी गति और स्थितिका पता लगवाओ और उसी नीतिका आश्रय लो, जो इस समय हितकारिणी हो ॥ ३ ॥

नावज्ञेयो रिपुस्तात प्राकृतोऽपि बुभूषता ।
किं पुनः पाण्डवास्तात सर्वास्त्रकुशला रणे ॥ ४ ॥

'तात ! जिसे सम्राट् बननेकी इच्छा हो, उसे साधारण शत्रुकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये । फिर जो युद्धमें सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके संचालनमें कुशल हैं, उन पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है ! ॥ ४ ॥

तस्मात् सत्रं प्रविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
गूढभावेषु छन्नेषु काले चोदयमागते ॥ ५ ॥
स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे च ज्ञातव्यं बलमात्मनः ।
उदयः पाण्डवानां च प्राप्ते काले न संशयः ॥ ६ ॥

'अतः इस समय जब कि महात्मा पाण्डव छद्मवेष धारण करके (अर्थात् वेष बदलकर) गुप्तरूपसे छिपे हुए हैं और अज्ञातवासकी जो नियत अवधि थी, वह प्रायः समाप्त हो चली है, स्वराष्ट्र और परराष्ट्रमें अपनी कितनी शक्ति है—इसे समझ लेना चाहिये । इसमें संदेह नहीं कि उपयुक्त समय आते ही पाण्डव प्रकट हो जायँगे ॥ ५–६ ॥

निवृत्तसमयाः पार्था महात्मानो महाबलाः ।
महोत्साहा भविष्यन्ति पाण्डवा ह्यमितौजसः ॥ ७ ॥

'अज्ञातवासका समय पूर्ण कर लेनेपर कुन्तीके वे महाबली, अमितपराक्रमी और महात्मा पुत्र पाण्डव महान् उत्साहसे सम्पन्न हो जायँगे ॥ ७ ॥

तस्माद् बलं च कोषश्च नीतिश्चापि विधीयताम् ।
यथा कालोदये प्राप्ते सम्यक् तैः संदधामहे ॥ ८ ॥

'अतः इस समय तुम्हें अपनी सेना, कोष और नीति ऐसी बनायी रखनी चाहिये, जिससे समय आनेपर हम उनके साथ यथावत् सन्धि (मेल अथवा बाण-संधान) कर सकें ॥८॥

तात बुद्ध्यापि तत् सर्वं बुध्यस्व बलमात्मनः ।
नियतं सर्वमित्रेषु बलवत्स्वबलेषु च ॥ ९ ॥

'तात ! तुम स्वयं बुद्धिसे भी विचारकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति कितनी है, इसकी जानकारी प्राप्त कर लो । तुम्हारे बलवान् और निर्बल सब प्रकारके मित्रोंमें निश्चित बल कितना है, यह भी जान लेना चाहिये ॥ ९ ॥

उच्चावचं बलं ज्ञात्वा मध्यस्थं चापि भारत ।
प्रहृष्टमप्रहृष्टं च संदधाम तथा परैः ॥ १० ॥

'भारत ! उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकारकी सेनाओंकी स्थिति समझो । उत्तम और मध्यम सेनाएँ प्रसन्न हैं या अप्रसन्न—इसे जान लो; तब हम शत्रुओंसे सन्धि (मेल या बाण-संधान) कर सकते हैं ॥ १० ॥

साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन बलिकर्मणा ।
न्यायेनाक्रम्य च परान् बलाच्चानम्य दुर्बलान् ॥ ११ ॥
सान्त्वयित्वा तु मित्राणि बलं चाभाष्यतां सुखम् ।
सुकोषबलसंवृद्धः सम्यक् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १२ ॥

'साम (समझाना), दान (धन आदि देना), भेद (शत्रुओंमें फूट डालना), दण्ड देना और कर लेना—इन नीतियोंके द्वारा* शत्रुपर आक्रमण करके, दुर्बलोंको बलसे दबाकर, मित्रोंको मेल-जोलसे अपनाकर और सेनाको मिष्ट-भाषण एवं वेतन आदि देकर अपने अनुकूल कर लेना चाहिये । इस प्रकार उत्तम कोष और सेनाको बढ़ा लेनेपर तुम अच्छी सफलता प्राप्त कर सकोगे ॥ ११-१२ ॥

योत्स्यसे चापि बलिभिररिभिः प्रत्युपस्थितैः ।
अन्यैस्त्वं पाण्डवैर्वापि हीनैः स्वबलवाहनैः ॥ १३ ॥

* जब शत्रुकी शक्ति अपने बराबर हो, तब उसके प्रति साम और भेदनीतिका प्रयोग करना चाहिये अर्थात् उससे समझौता करना या उसकी सेनामें फूट डालनी चाहिये । यदि शत्रु अपनेसे अधिक शक्तिशाली हो, तो वहाँ दाननीतिका प्रयोग उचित है अर्थात् उसे धन, रत्न आदि भेंट देकर शान्त करना चाहिये । यदि अपनी ही शक्ति अधिक हो, तो उसे दण्ड देना या युद्धमें मार गिराना चाहिये । अतः अपने और विपक्षीके बला-बलका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है ।

'उस दशामें बलवान्-से-बलवान् शत्रु क्यों न आ जायँ और वे पाण्डव हों या दूसरे कोई, यदि सेना और वाहन आदिकी दृष्टिसे उनमें अपनी अपेक्षा न्यूनता है तो तुम उन सबके साथ युद्ध कर सकोगे ॥ १३ ॥

एवं सर्वं विनिश्चित्य व्यवसायं स्वधर्मतः ।
यथाकालं मनुष्येन्द्र चिरं सुखमवाप्स्यसि ॥ १४ ॥

'नरेन्द्र ! इस प्रकार अपने धर्मके अनुकूल सम्पूर्ण कर्तव्यका निश्चय करके यथासमय उसका पालन करोगे, तो दीर्घकालतक सुख भोगोगे' ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

(ततो दुर्योधनो वाक्यं श्रुत्वा तेषां महात्मनाम् ।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य सचिवानिदमब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर दुर्योधन उन महात्माओंका वचन सुनकर दो घड़ीतक कुछ विचार करता रहा । फिर मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोला ॥

दुर्योधन उवाच

श्रुतं ह्येतन्मया पूर्वं कथासु जनसंसदि ।
वीराणां शास्त्रविदुषां प्राज्ञानां मतिनिश्चये ॥
कृतिनां सारफल्गुत्वं जानामि नयचक्षुषा ।

दुर्योधनने कहा—मन्त्रियो ! मैंने पूर्वकालमें जनसाधारणकी बैठकमें आपसकी बातचीतके समय शास्त्रोंके विद्वान्, ज्ञानी, वीर एवं पुण्यात्मा पुरुषोंके निश्चित सिद्धान्तके विषयमें कुछ ऐसी बातें सुनी हैं, जिनसे नीतिकी दृष्टिके अनुसार मैं मनुष्योंके बलाबलकी जानकारी रखता हूँ ॥

सत्त्वे बाहुबले धैर्ये प्राणे शारीरसम्भवे ।
साम्प्रतं मानुषे लोके सदैत्यनरराक्षसे ॥
चत्वारस्तु नरव्याघ्रा बले शक्रोपमा भुवि ।
उत्तमाः प्राणिनां तेषां नास्ति कश्चिद् बले समः ॥
समप्राणबला नित्यं सम्पूर्णबलपौरुषाः ।
बलदेवश्च भीमश्च मद्रराजश्च वीर्यवान् ॥
चतुर्थः कीचकस्तेषां पञ्चमं नानुशुश्रुमः ।
अन्योन्यानन्तरबलाः परस्परजयैषिणः ॥
बाहुयुद्धमभीप्सन्तो नित्यं संरब्धमानसाः ।
तेनाहमवगच्छामि प्रत्ययेन वृकोदरम् ॥
मनस्यभिनिविष्टं मे व्यक्तं जीवन्ति पाण्डवाः ।

इस समय मनुष्यलोकमें दैत्य, मानव तथा राक्षसोंमें चार ही ऐसे पुरुषसिंह सुने जाते हैं, जो इस भूतलपर आत्मबल, बाहुबल, धैर्य तथा शारीरिक शक्तिमें इन्द्रके समान हैं । वे ही समस्त प्राणधारियोंमें उत्तम हैं । बलमें उनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है । उन सबमें सदा एक समान प्राणशक्ति मानी गयी है । वे सम्पूर्ण बल और पराक्रमसे सम्पन्न हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं— बलदेव, भीमसेन, पराक्रमी मद्रराज शल्य तथा कीचक । इनमें कीचकका चौथा स्थान है । इनके समान कोई पाँचवाँ वीर मेरे सुननेमें नहीं आया । ये सभी परस्पर समान बलशाली तथा (मौका पड़नेपर) एक दूसरेको जीतनेके लिये उत्सुक रहे हैं । इनके मनमें एक दूसरेके प्रति सदा रोष भरा रहा और ये परस्पर बाहुयुद्ध करना चाहते रहे हैं । इस आधारपर मैं भीमसेनका पता पा लेता हूँ और मेरे मनमें स्पष्टरूपसे यह बात आ जाती है कि पाण्डव अवश्य जीवित हैं ।

तत्राहं कीचकं मन्ये भीमसेनेन मारितम् ॥
सैरन्ध्रीं द्रौपदीं मन्ये नात्र कार्या विचारणा ।

अब मुझे ऐसा लगता है कि विराटनगरमें कीचकको भीमसेनने ही मारा है । सैरन्ध्रीको मैं द्रौपदी समझता हूँ । इस विषयमें कोई अधिक विचार नहीं करना चाहिये ॥

शङ्के कृष्णानिमित्तं तु भीमसेनेन कीचकः ॥
गन्धर्वव्यपदेशेन हतो निशि महाबलः ।
को हि शक्तः परो भीमात् कीचकं हन्तुमोजसा ॥
शस्त्रं विना बाहुवीर्यात् तथा सर्वाङ्गचूर्णने ।
मर्दितुं वा तथा शीघ्रं चर्ममांसास्थिचूर्णितम् ॥

मुझे संदेह है कि द्रौपदीके निमित्तसे भीमसेनने ही गन्धर्वका नाम धारण करके रात्रिके समय महाबली कीचकको मारा होगा । भीमसेनके सिवा दूसरा कौन ऐसा वीर है, जो बिना अस्त्र-शस्त्रके केवल शारीरिकशक्ति और बाहुबलसे कीचकको मार सके तथा उसके सम्पूर्ण अङ्गोंको चूर-चूर करने और शीघ्रतापूर्वक अस्थि, चर्म एवं मांसके उस चूर्णसमुदायको मसलकर मांसपिण्ड बना देनेमें समर्थ हो ? ॥

रूपमन्यत् समास्थाय भीमस्यैतद् विचेष्टितम् ।
ध्रुवं कृष्णानिमित्तं तु भीमसेनेन सूतजाः ॥
गन्धर्वव्यपदेशेन हता युधि न संशयः ।

अतः यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि दूसरा रूप धारण करके भीमसेनने ही यह पराक्रम किया है । गन्धर्वनामधारी भीमने ही कृष्णाके लिये रातके समय सूतपुत्रोंका वध किया है, इसमें संशय नहीं है ॥

पितामहेन ये चोक्ता देशस्य च जनस्य च ॥
गुणास्ते मत्स्यराष्ट्रस्य बहुशोऽपि मया श्रुताः ।
विराटनगरे मन्ये पाण्डवाश्छन्नचारिणः ॥
निवसन्ति पुरे रम्ये तत्र यात्रा विधीयताम् ।

पितामह भीष्मने युधिष्ठिरके निवासके प्रभावसे देश और जनसमुदायके जो गुण बताये हैं, उनमें भी बहुत-से गुण मत्स्यराष्ट्रमें (दूतोंद्वारा) मेरे सुननेमें आये हैं । इससे मैं मानता हूँ कि पाण्डव राजा विराटके रमणीय नगरमें निवास करते और छद्मवेष धारण करके गुप्तरूपसे विचरते हैं, अतः वहाँकी यात्रा करनी चाहिये ॥

मत्स्यराष्ट्रं हनिष्यामो ग्रहीष्यामश्च गोधनम् ॥
गृहीते गोधने नूनं तेऽपि योत्स्यन्ति पाण्डवाः ।
अपूर्णे समये चापि यदि पश्येम पाण्डवान् ।
द्वादशान्यानि वर्षाणि प्रवेक्ष्यन्ति पुनर्वनम् ॥

हमलोग वहाँ चलकर मत्स्यराष्ट्रको तहस-नहस करेंगे और राजा विराटके गोधनपर अपना अधिकार कर लेंगे । उनके गोधनका अपहरण कर लेनेपर निश्चय ही पाण्डव भी हमलोगोंके साथ युद्ध करेंगे । ऐसी दशामें यदि अज्ञातवासका समय पूर्ण होनेसे पूर्व ही हम पाण्डवोंको देख लेंगे, तो उन्हें पुनः दूसरी बार बारह वर्षोंके लिये वनमें प्रवेश करना पड़ेगा ॥

तस्मादन्यतरेणापि लाभोऽस्माकं भविष्यति ।
कोषवृद्धिरिहास्माकं शत्रूणां निधनं भवेत् ॥
कथं सुयोधनं गच्छेद् युधिष्ठिरभृतः पुरा ।
एतच्चापि वदत्येष मात्स्यः परिभवान्मयि ॥

अतः दोमेंसे एक भी हो जाय, तो भी हमें लाभ ही होगा । इस रणयात्रासे हमारे कोषकी वृद्धि होगी और शत्रुओंका नाश हो जायगा । मत्स्यदेशका राजा विराट मेरे प्रति तिरस्कारका भाव रखकर यह भी कहा करता है कि पूर्वकालमें धर्मराज युधिष्ठिरने जिसका पालन-पोषण किया हो, वह दुर्योधनके अधिकारमें कैसे जा सकता है ? ॥

तस्मात् कर्तव्यमेतद् वै तत्र यात्रा विधीयताम् ।
एतत् सुनीतं मन्येऽहं सर्वेषां यदि रोचते ॥)

अतः निश्चय ही मत्स्यदेशपर आक्रमण करना चाहिये । वहाँकी यात्रा अवश्य की जाय । यदि आप सब लोगोंको अच्छा लगे, तो मैं इस कार्यको नीतिके अनुकूल मानता हूँ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्याचारे कृपवाक्ये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें गुप्तचर भेजनेके विषयमें कृपाचार्यवचनसम्बन्धी उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २० श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

त्रिंशोऽध्यायः

सुशर्माके प्रस्तावके अनुसार त्रिगर्तों और कौरवोंका मत्स्यदेशपर धावा

वैशम्पायन उवाच

अथ राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा रथयूथपः ।
प्राप्तकालमिदं वाक्यमुवाच त्वरितो बली ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर त्रिगर्तदेशके राजा महाबली सुशर्माने, जो रथियोंके समूहका अधिपति था, बड़ी उतावलीके साथ अपना यह समयोचित प्रस्ताव उपस्थित किया ॥ १ ॥

असकृन्निकृताः पूर्वं मत्स्यशाल्वेयकैः प्रभो ।
सूतेनैव च मत्स्यस्य कीचकेन पुनः पुनः ॥ २ ॥
बाधितो बन्धुभिः सार्धं बलाद् बलवता विभो ।
स कर्णमभ्युदीक्ष्याथ दुर्योधनमभाषत ॥ ३ ॥

उसने कर्णकी ओर देखकर दुर्योधनसे कहा—'प्रभो ! पहले मत्स्य तथा शाल्वदेशके सैनिकोंने अनेक बार चढ़ाई करके हमें कष्ट दिया है । मत्स्यराजके सेनापति महाबली सूतपुत्र कीचकने अपने बन्धुओंके साथ बार-बार आक्रमण करके मुझे बलपूर्वक सताया है ॥ २-३ ॥

असकृन्मत्स्यराज्ञा मे राष्ट्रं बाधितमोजसा ।
प्रणेता कीचकस्तस्य बलवानभवत् पुरा ॥ ४ ॥

'मत्स्यनरेशने बहुत बार अपने बल-पराक्रमसे धावा करके मेरे समूचे राष्ट्रको क्लेश पहुँचाया है । पहले बलवान् कीचक ही उनका सेनानायक था ॥ ४ ॥

क्रूरोऽमर्षी स दुष्टात्मा भुवि प्रख्यातविक्रमः ।
निहतः स तु गन्धर्वैः पापकर्मा नृशंसवान् ॥ ५ ॥

'वह दुष्टात्मा बहुत ही क्रूर और क्रोधी था । इस भूतलपर अपने पराक्रमके लिये उसकी सर्वत्र ख्याति थी । अब वह निर्दयी और पापाचारी कीचक गन्धर्वोंद्वारा मार डाला गया है ॥ ५ ॥

तस्मिन् विनिहते राजा हतदर्पो निराश्रयः ।
भविष्यति निरुत्साहो विराट इति मे मतिः ॥ ६ ॥

'उसके मारे जानेसे राजा विराटका घमण्ड चूर-चूर हो गया होगा । अब वे निराधार एवं निरुत्साह हो गये होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ६ ॥

तत्र यात्रा मम मता यदि ते रोचतेऽनघ ।
कौरवाणां च सर्वेषां कर्णस्य च महात्मनः ॥ ७ ॥

'अनघ ! यदि आपको जचे, तो मेरी राय यह है कि समस्त कौरव वीरों और महामना कर्णका भी उस देशपर आक्रमण हो ॥ ७ ॥

एतत् प्राप्तमहं मन्ये कार्यमात्ययिकं हि नः ।
राष्ट्रं तस्याभियास्यामो बहुधान्यसमाकुलम् ॥ ८ ॥

'मैं समझता हूँ; इसके लिये उपयुक्त अवसर प्राप्त हुआ है । यह हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक कार्य है । हम प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न मत्स्यराष्ट्रपर चढ़ाई करें ॥ ८ ॥

आददामोऽस्य रत्नानि विविधानि वसूनि च ।
ग्रामान् राष्ट्राणि वा तस्य हरिष्यामो विभागशः ॥ ९ ॥

'राजा विराटके यहाँ नाना प्रकारके रत्न और धन हैं। हम वे सब ले लेंगे और उनके गाँव तथा सम्पूर्ण राष्ट्रको जीतकर आपसमें बाँट लेंगे ॥ ९ ॥

अथवा गोसहस्राणि शुभानि च बहूनि च ।
विविधानि हरिष्यामः प्रतिपीड्य पुरं बलात् ॥ १० ॥

'अथवा उनके यहाँ सहस्रों सुन्दर गौओंके बहुत-से समुदाय हैं; अतः बलपूर्वक उनके नगरमें उत्पात मचाकर उन समस्त गौओंका अपहरण कर लेंगे ॥ १० ॥

कौरवैः सह संगत्य त्रिगर्तैश्च विशाम्पते ।
गास्तस्यापहरामोऽद्य सर्वैश्चैव सुसंहताः ॥ ११ ॥

'महाराज ! कौरवोंके साथ संगठित त्रिगर्तदेशीय सैनिकोंकी सहायतासे हम सब मिलकर विराटकी गौओंको हर लेंगे ॥ ११ ॥

संविभागेन कृत्वा तु निबध्नीमोऽस्य पौरुषम् ।
हत्वा चास्य चमूं कृत्स्नां वशमेवानयामहे ॥ १२ ॥

'और हम आपसमें विभाजन करके उन्हें अपने यहाँ बाँध लेंगे। साथ ही मत्स्यराजके सामर्थ्यको नष्ट करके उसकी सारी सेनाको अपने अधीन कर लेंगे ॥ १२ ॥

तं वशे न्यायतः कृत्वा सुखं वत्स्यामहे वयम् ।
भवतां बलवृद्धिश्च भविष्यति न संशयः ॥ १३ ॥

'विराटको नीतिसे वशमें करके हम सुखसे रहेंगे। इससे आपलोगोंकी सेना और शक्तिकी वृद्धि भी होगी; इसमें संशय नहीं है' ॥ १३ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कर्णो राजानमब्रवीत् ।
सूक्तं सुशर्मणा वाक्यं प्राप्तकालं हितं च नः ॥ १४ ॥

त्रिगर्तराजका यह कथन सुनकर कर्णने राजा दुर्योधनसे कहा—'सुशर्माने ठीक कहा है; यह समयोचित होनेके साथ ही हमारे लिये हितकर भी है ॥ १४ ॥

तस्मात् क्षिप्रं विनिर्यामो योजयित्वा वरूथिनीम् ।
विभज्य चाप्यनीकानि यथा वा मन्यसेऽनघ ॥ १५ ॥

'इसलिये सेनाको सुसज्जित करके उसे कई टुकड़ियोंमें बाँटकर हमलोग शीघ्र यहाँसे कूच कर दें। अथवा अनघ ! आपको जैसा ठीक लगे, वैसा करें ॥ १५ ॥

प्राज्ञो वा कुरुवृद्धोऽयं सर्वेषां नः पितामहः ॥
आचार्यश्च यथा द्रोणः कृपः शारद्वतस्तथा ।
मन्यन्ते ते यथा सर्वे तथा यात्रा विधीयताम् ॥ १६ ॥

'अथवा कुरुकुलमें सबसे वृद्ध हमारे पितामह परम बुद्धिमान् भीष्म, आचार्य द्रोण तथा शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य—ये लोग जैसे ठीक समझें, वैसे ही यात्रा करनी चाहिये ॥

सम्मन्त्र्य चाशु गच्छामः साधनार्थं महीपतेः ।
किं च नः पाण्डवैः कार्यं हीनार्थबलपौरुषैः ॥ १७ ॥

'आपसमें अच्छी तरह सलाह करके हमें राजा विराटको वशमें करनेके लिये शीघ्र प्रस्थान कर देना चाहिये। पाण्डवलोग धन, बल तथा पौरुष तीनोंसे हीन हैं, अतः उनसे हमें क्या काम है ? ॥ १७ ॥

अत्यन्तं वा प्रणष्टास्ते प्राप्ता वापि यमक्षयम् ।
यामो राजन् निरुद्विग्ना विराटनगरं वयम् ।
आदास्यामो हि गास्तस्य विविधानि वसूनि च ॥ १८ ॥

'राजन् ! वे अत्यन्त अदृश्य (छिपे हुए) हों या यमराजके घर पहुँच गये हों, हमें तो उद्वेगशून्य होकर विराटनगरकी यात्रा करनी चाहिये। वहाँ हमलोग विराटकी गौओंको तथा उनके विविध धन-रत्नोंको हस्तगत कर लेंगे' ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा वाक्यमादाय तस्य तत् ।
वैकर्तनस्य कर्णस्य क्षिप्रमाज्ञापयत् स्वयम् ॥ १९ ॥
शासने नित्यसंयुक्तं दुःशासनमनन्तरम् ।
सह वृद्धैस्तु सम्मन्त्र्य क्षिप्रं योजय वाहिनीम् ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा दुर्योधनने सूर्यपुत्र कर्णकी बात मानकर अपनी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा संनद्ध रहनेवाले छोटे भाई दुःशासनको स्वयं ही तुरंत आदेश दे दिया—'वृद्धजनोंकी सम्मति लेकर शीघ्र अपनी सेनाको प्रस्थानके लिये तैयार करो ॥ १९-२० ॥

यथोद्देशं च गच्छामः सहितास्तत्र कौरवैः ।
सुशर्मा च यथोद्दिष्टं देशं यातु महारथः ।
त्रिगर्तैः सहितो राजा समग्रबलवाहनः ॥ २१ ॥

'जिधरसे आक्रमणका निश्चय हो, उसी ओर हम कौरव-सैनिकोंके साथ चलें। महारथी सुशर्मा भी त्रिगर्तोंके साथ निश्चित दिशाकी ओर जायँ और अपने समस्त बल (सेना) एवं वाहनोंको साथ ले लें ॥ २१ ॥

प्रागेव हि सुसंवीतो मत्स्यस्य विषयं प्रति ।
जघन्यतो वयं तत्र यास्यामो दिवसान्तरे ।
विषयं मत्स्यराजस्य सुसमृद्धं सुसंहताः ॥ २२ ॥

'सब साधनोंसे सम्पन्न हो सुशर्मा पहले मत्स्यदेशपर आक्रमण करें। फिर पीछेसे एक दिन बाद हमलोग भी पूर्णतः संगठित हो मत्स्यनरेशके समृद्धिशाली राज्यपर धावा बोल देंगे ॥ २२ ॥

ते यान्तु सहितास्तत्र विराटनगरं प्रति ।
क्षिप्रं गोपान् समासाद्य गृह्णन्तु विपुलं धनम् ॥ २३ ॥

'त्रिगर्त-सैनिक एक साथ मिलकर तुरंत विराटनगरपर चढ़ाई करें और पहले ग्वालोंके पास पहुँचकर वहाँके बढ़े हुए गोधनपर अधिकार कर लें ॥ २३ ॥

गवां शतसहस्राणि श्रीमन्ति गुणवन्ति च ।
वयमप्यनुगृह्णीमो द्विधा कृत्वा वरूथिनीम् ॥ २४ ॥

'फिर हमलोग अपनी सेनाको दो टुकड़ोंमें बाँटकर उनकी लाखों सुन्दर तथा गुणवती गौओंका अपहरण करेंगे' ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते स्म गत्वा यथोद्दिष्टां दिशं वह्नेर्महीपते ।
संनद्धा रथिनः सर्वे सपदाता बलोत्कटाः ॥ २५ ॥
प्रति वैरं चिकीर्षन्तो गोषु गृद्धा महाबलाः ।
आदातुं गाः सुशर्माथ कृष्णपक्षस्य सप्तमीम् ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर पूर्व वैरका बदला लेनेकी इच्छावाले त्रिगर्तदेशीय रथी और पैदल सैनिक कवच आदि धारण करके तैयार हो गये । वे सभी महान् बलवान् और प्रचण्ड पराक्रमी थे । सुशर्माने विराटकी गौओंका अपहरण करनेके लिये पूर्वनिश्चित योजनाके अनुसार कृष्णपक्षकी सप्तमीको अग्निकोणकी ओरसे विराटनगरपर चढ़ाई की ॥ २५-२६ ॥

अपरे दिवसे सर्वे राजन् सम्भूय कौरवाः ।
अष्टम्यां ते न्यगृह्णन्त गोकुलानि सहस्रशः ॥ २७ ॥

राजन् ! फिर दूसरे दिन अष्टमीको दूसरी ओरसे सब कौरवोंने मिलकर धावा किया और गौओंके सहस्रों झुंडोंपर अधिकार जमा लिया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे सुशर्माभियाने त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिणदिशाकी गौओंको ग्रहण करनेके लिये सुशर्मा आदिकी मत्स्यदेशपर चढ़ाईसे सम्बन्ध रखनेवाला तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

चारों पाण्डवोंसहित राजा विराटकी सेनाका युद्धके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततस्तेषां महाराज तत्रैवामिततेजसाम् ।
छद्मलिङ्गप्रविष्टानां पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ १ ॥
व्यतीतः समयः सम्यग् वसतां वै पुरोत्तमे ।
कुर्वतां तस्य कर्माणि विराटस्य महीपतेः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! उन दिनों छद्मवेषमें छिपकर उस श्रेष्ठ नगरमें रहते और महाराज विराटके कार्य सम्पादन करते हुए अतुलित तेजस्वी महात्मा पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष भलीभाँति बीत चुका था ॥ १-२ ॥

कीचके तु हते राजा विराटः परवीरहा ।
परां सम्भावनां चक्रे कुन्तीपुत्रे युधिष्ठिरे ॥ ३ ॥

कीचकके मारे जानेपर शत्रुहन्ता राजा विराट कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके प्रति बड़ी आदरबुद्धि रखने और उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ करने लगे थे ॥ ३ ॥

ततस्त्रयोदशस्यान्ते तस्य वर्षस्य भारत ।
सुशर्मणा गृहीतं तद् गोधनं तरसा बहु ॥ ४ ॥

भारत ! तदनन्तर तेरहवें वर्षके अन्तमें सुशर्माने बड़े वेगसे आक्रमण करके विराटकी बहुत-सी गौओंको अपने अधिकारमें कर लिया ॥ ४ ॥

(ततः शब्दो महानासीद् रेणुश्च दिवमस्पृशत् ।
शङ्खदुन्दुभिघोषश्च भेरीणां च महास्वनः ॥
गवाश्वरथनागानां नराणां च पदातिनाम् ।

इससे उस समय बड़ा भारी कोलाहल मचा । धरतीकी धूल उड़कर ऊँचे आकाशमें व्याप्त हो गयी । शङ्ख, दुन्दुभि तथा नगारोंके महान् शब्द सब ओर गूँज उठे । बैलों, घोड़ों, रथों, हाथियों तथा पैदल सैनिकोंकी आवाज सब ओर फैल गयी ॥

एवं तैस्त्वभिनिर्याय मत्स्यराजस्य गोधने ॥
त्रिगर्तैर्गृह्यमाणे तु गोपालाः प्रत्यषेधयन् ।

इस प्रकार इन सबके साथ आक्रमण करके जब त्रिगर्तदेशीय योद्धा मत्स्यराजके गोधनको लेकर जाने लगे, उस समय उन गौओंके रक्षकोंने उन सैनिकोंको रोका ॥

अथ त्रिगर्ता बहवः परिगृह्य धनं बहु ॥
परिक्षिप्य हयैः शीघ्रै रथव्रातैश्च भारत ।
गोपालान् प्रत्ययुध्यन्त रणे कृत्वा जये धृतिम् ॥
ते हन्यमाना बहुभिः प्रासतोमरपाणिभिः ।
गोपाला गोकुले भक्ता वारयामासुरोजसा ।
परश्वधैश्च मुसलैर्भिन्दिपालैश्च मुद्गरैः ॥
गोपालाः कर्षणैश्चित्रैर्जघ्नुरश्वान् समन्ततः ।

भारत ! तब त्रिगर्तोंने बहुत-सा धन लेकर उसे अपने अधिकारमें करके शीघ्रगामी अश्वों तथा रथसमूहोंद्वारा युद्धमें विजयका दृढ़ संकल्प लेकर उन गोरक्षकोंका सामना करना आरम्भ किया। त्रिगर्तोंकी संख्या बहुत थी। वे हाथोंमें प्रास और तोमर लेकर विराटके ग्वालोंको मारने लगे; तथापि गोसमुदायके प्रति भक्तिभाव रखनेवाले वे ग्वाले बलपूर्वक उन्हें रोके रहे। उन्होंने फरसे, मूसल, भिन्दिपाल, मुद्गर तथा 'कर्षण' नामक विचित्र शस्त्रोंद्वारा सब ओरसे शत्रुओंके अश्वोंको मार भगाया ॥

ते हन्यमानाः संक्रुद्धास्त्रिगर्ता रथयोधिनः ॥
विसृज्य शरवर्षाणि गोपान् व्यद्रावयन् रणे।)

ग्वालोंके आघातसे अत्यन्त कुपित हो रथोंद्वारा युद्ध करनेवाले त्रिगर्तसैनिक बाणोंकी वर्षा करके उन ग्वालोंको रणभूमिसे खदेड़ने लगे ॥

ततो जवेन महता गोपः पुरमथाव्रजत्।
स दृष्ट्वा मत्स्यराजं च रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ॥ ५ ॥

तब उन गौओंका रक्षक गोप, जिसने कानोंमें कुण्डल पहन रक्खे थे, रथपर आरूढ़ हो तीव्र गतिसे नगरमें आया और मत्स्यराजको देखकर दूरसे ही रथसे उतर पड़ा ॥५॥

शूरैः परिवृतं योधैः कुण्डलाङ्गदधारिभिः।
संवृतं मन्त्रिभिः सार्धं पाण्डवैश्च महात्मभिः ॥ ६ ॥
तं सभायां महाराजमासीनं राष्ट्रवर्धनम्।

अपने राष्ट्रकी उन्नति करनेवाले महाराज विराट कुण्डल तथा अङ्गद (बाजूबन्द) धारी शूरवीर योद्धाओंसे घिरकर मन्त्रियों तथा महात्मा पाण्डवोंके साथ राजसभामें बैठे थे ॥

सोऽब्रवीदुपसंगम्य विराटं प्रणतस्तदा ॥ ७ ॥
अस्मान् युधि विनिर्जित्य परिभूय सबान्धवान्।
गवां शतसहस्राणि त्रिगर्ताः कालयन्ति ते ॥ ८ ॥

उस समय उनके पास जाकर गोपने प्रणाम करके कहा—'महाराज ! त्रिगर्तदेशके सैनिक हमें युद्धमें जीतकर और भाई-बन्धुओंसहित हमारा तिरस्कार करके आपकी लाखों गौओंको हाँककर लिये जा रहे हैं ॥ ७-८ ॥

तान् परीप्सस्व राजेन्द्र मा नेशुः पशवस्तव।
तच्छ्रुत्वा नृपतिः सेनां मत्स्यानां समयोजयत् ॥ ९ ॥

'राजेन्द्र ! उन्हें वापस लेने—छुड़ानेकी चेष्टा कीजिये; जिससे आपके वे पशु नष्ट न हो जायँ—आपके हाथोंसे दूर न निकल जायँ।' यह सुनकर राजाने मत्स्यदेशकी सेना एकत्र की ॥ ९ ॥

रथनागाश्वकलिलां पत्तिध्वजसमाकुलाम्।
राजानो राजपुत्राश्च तनुत्राण्यथ भेजिरे ॥ १० ॥

उसमें रथ, हाथी, घोड़े और पैदल—सब प्रकारके सैनिक भरे थे और वह सेना ध्वजा-पताकाओंसे व्याप्त थी। फिर राजा तथा राजकुमारोंने पृथक्-पृथक् कवच धारण किये ॥

भानुमन्ति विचित्राणि शूरसेव्यानि भागशः।
सवज्रायसगर्भं तु कवचं तत्र काञ्चनम् ॥ ११ ॥
विराटस्य प्रियो भ्राता शतानीकोऽभ्यहारयत्।

वे कवच बड़े चमकीले, विचित्र और शूरवीरोंके धारण करने योग्य थे। राजा विराटके प्रिय भाई शतानीकने सुवर्णमय कवच ग्रहण किया, जिसके भीतर हीरे और लोहेकी जालियाँ लगी थीं ॥ ११½ ॥

सर्वपारसवं वर्म कल्याणपटलं दृढम् ॥ १२ ॥
शतानीकादवरजो मदिराक्षोऽभ्यहारयत्।

शतानीकसे छोटे भाईका नाम मदिराक्ष था। उन्होंने सुवर्णपत्रसे आच्छादित सुदृढ़ कवच धारण किया, जो सारा का सारा सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंको सहन करनेमें समर्थ फौलादका बना हुआ था ॥ १२½ ॥

शतसूर्यं शतावर्तं शतबिन्दु शताक्षिमत् ॥ १३ ॥
अभेद्यकल्पं मत्स्यानां राजा कवचमाहरत्।
उत्सेधे यस्य पद्मानि शतं सौगन्धिकानि च ॥ १४ ॥

मत्स्यदेशके राजा विराटने अभेद्यकल्प नामक कवच ग्रहण किया, जो किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे कट नहीं सकता था। उसमें सूर्यके समान चमकीली सौ फूलियाँ लगी थीं, सौ भँवरें बनी थीं, सौ बिन्दु (सूक्ष्म चक्र) और सौ नेत्रके समान आकारवाले चक्र बने थे। इसके सिवा उसमें नीचेसे ऊपरतक सौगन्धिक (कह्लार) जातिके सौ कमलोंकी आकृतियाँ पंक्तिबद्ध बनी हुई थीं ॥ १३-१४ ॥

सुवर्णपृष्ठं सूर्याभं सूर्यदत्तोऽभ्यहारयत्।
दृढमायसगर्भं च श्वेतं वर्म शताक्षिमत् ॥ १५ ॥
विराटस्य सुतो ज्येष्ठो वीरः शङ्खोऽभ्यहारयत्।

सेनापति सूर्यदत्त (शतानीक) ने पृष्ठभागमें सुवर्णजटित एवं सूर्यके समान चमकीला कवच पहन रखा था। विराटके ज्येष्ठ पुत्र वीरवर शङ्खने श्वेत रंगका एक सुदृढ़ कवच धारण किया, जिसके भीतरी भागमें लोहा लगा था और ऊपर नेत्रके समान सौ चिह्न बने हुए थे ॥ १५½ ॥

शतशश्च तनुत्राणि यथास्वं ते महारथाः ॥ १६ ॥
योत्स्यमाना अनह्यन्त देवरूपाः प्रहारिणः।

इसी प्रकार सैकड़ों देवताओंके समान रूपवान् महारथियोंने युद्धके लिये उद्यत हो अपने-अपने वैभवके अनुसार कवच पहन लिये। वे सबके सब प्रहार करनेमें कुशल थे ॥ १६½ ॥

सूपस्करेषु शुभ्रेषु महत्सु च महारथाः ॥ १७ ॥
पृथक् काञ्चनसंनाहान् रथेष्वश्वानयोजयन्।

उन महारथियोंने सुन्दर पहियोंवाले विशाल एवं उज्ज्वल रथोंमें पृथक्-पृथक् सोनेके बख्तर धारण कराये हुए घोड़ोंको जोता ॥ १७½ ॥

सूर्यचन्द्रप्रतीकाशे रथे दिव्ये हिरण्मये ॥ १८ ॥
महानुभावो मत्स्यस्य ध्वज उच्छिश्रिये तदा ।

मत्स्यराजके सुवर्णमय दिव्य रथमें, जो सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहा था, उस समय बहुत ऊँची ध्वजा फहराने लगी ॥ १८½ ॥

अथान्यान् विविधाकारान् ध्वजान् हेमपरिष्कृतान् ॥ १९ ॥
यथास्वं क्षत्रियाः शूरा रथेषु समयोजयन् ।

इसी प्रकार अन्य शूरवीर क्षत्रियोंने अपने-अपने रथोंमें यथाशक्ति सुवर्णमण्डित नाना प्रकारकी ध्वजाएँ फहरायीं ॥

(रथेषु युज्यमानेषु कङ्को राजानमब्रवीत् ।
मयाप्यस्त्रं चतुर्मार्गमवाप्तमृषिसत्तमात् ॥
दंशितो रथमास्थाय पदं निर्यास्यहं गवाम् ।
अयं च बलवाञ्छूरो बल्लवो दृश्यतेऽनघ ॥
गोसंख्यमश्वबन्धं च रथेषु समयोजय ।
नैते न जातु युध्येयुर्गवार्थमिति मे मतिः ॥)
अथ मत्स्योऽब्रवीद् राजा शतानीकं जघन्यजम् ॥ २० ॥

जब रथ जोते जा रहे थे, उस समय कङ्कने राजा विराटसे कहा—'मैंने भी एक श्रेष्ठ महर्षिसे चार मार्गोंवाले धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की है; अतः मैं भी कवच धारण करके रथपर बैठकर गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करूँगा। निष्पाप नरेश ! यह बल्लव नामक रसोइया भी बलवान् एवं शूरवीर दिखायी देता है, इसे, गौओंकी गणना करनेवाले गोशालाध्यक्ष तन्तिपाल तथा अश्वोंकी शिक्षाका प्रबन्ध करनेवाले ग्रन्थिकको भी रथोंपर बिठा दीजिये। मेरा विश्वास है कि ये गौओंके लिये युद्ध करनेसे कदापि मुँह नहीं मोड़ सकते।'

तदनन्तर मत्स्यराजने अपने छोटे भाई शतानीकसे कहा—॥ २० ॥

कङ्कबल्लवगोपाला दामग्रन्थिश्च वीर्यवान् ।
युद्ध्येयुरिति मे बुद्धिर्वर्तते नात्र संशयः ॥ २१ ॥

'भैया ! मेरे विचारमें यह बात आती है कि ये कङ्क, बल्लव, तन्तिपाल और ग्रन्थिक भी युद्ध कर सकते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

एतेषामपि दीयन्तां रथा ध्वजपताकिनः ।
कवचानि च चित्राणि दृढानि च मृदूनि च ॥ २२ ॥
प्रतिमुञ्चन्तु गात्रेषु दीयन्तामायुधानि च ।
वीराङ्गरूपाः पुरुषा नागराजकरोपमाः ॥ २३ ॥

'अतः इनके लिये भी ध्वजा और पताकाओंसे सुशोभित रथ दो। ये भी अपने अङ्गोंमें ऊपरसे दृढ़, किंतु भीतरसे कोमल और विचित्र कवच धारण कर लें। फिर इन्हें भी सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र अर्पित करो। इनके अङ्ग और स्वरूप वीरोचित जान पड़ते हैं। इन वीर पुरुषोंकी भुजाएँ गजराजकी सूँड़दण्डकी भाँति शोभा पाती हैं ॥ २२-२३ ॥

नेमे जातु न युध्येरन्निति मे धीयते मतिः ।
एतच्छ्रुत्वा तु नृपतेर्वाक्यं त्वरितमानसः ।
शतानीकस्तु पार्थेभ्यो रथान् राजन् समादिशत् ॥ २४ ॥

'ये युद्ध न करते हों, यह कदापि सम्भव नहीं अर्थात् ये अवश्य युद्धकुशल हैं। मेरी बुद्धिका तो ऐसा ही निश्चय है।'

जनमेजय ! राजाका यह वचन सुनकर शतानीकने उतावले मनसे कुन्तीपुत्रोंके लिये शीघ्रतापूर्वक रथ लानेका आदेश दिया ॥

सहदेवाय राज्ञे च भीमाय नकुलाय च ।
तान् प्रहृष्टांस्ततः सूता राजभक्तिपुरस्कृताः ॥ २५ ॥
निर्दिष्टा नरदेवेन रथाञ्छीघ्रमयोजयन् ।

सहदेव, राजा युधिष्ठिर, भीम और नकुल—इन चारोंके लिये रथ लानेकी आज्ञा हुई। इस बातसे पाण्डव बड़े प्रसन्न थे। तब राजभक्त सारथि महाराज विराटके बताये अनुसार रथोंको शीघ्रतापूर्वक जोतकर ले आये ॥ २५½ ॥

कवचानि विचित्राणि मृदूनि च दृढानि च ॥ २६ ॥
विराटः प्रादिशद् यानि तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तान्यामुच्य शरीरेषु दंशितास्ते परंतपाः ॥ २७ ॥

उसके बाद अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले पाण्डुपुत्रोंको राजा विराटने अपने हाथसे विचित्र कवच प्रदान किये, जो ऊपरसे सुदृढ़ और भीतरसे कोमल थे। उन्हें लेकर उन वीरोंने अपने अङ्गोंमें यथास्थान बाँध लिया ॥ २६-२७ ॥

रथान् हयैः सुसम्पन्नानास्थाय च नरोत्तमाः ।
निर्ययुर्मुदिताः पार्थाः शत्रुसंघावमर्दिनः ॥ २८ ॥

शत्रुसमूहको रौंद डालनेवाले वे नरश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र घोड़े जुते हुए रथोंपर बैठकर बड़ी प्रसन्नताके साथ राजभवनसे बाहर निकले ॥ २८ ॥

तरस्विनश्छन्नरूपाः सर्वे युद्धविशारदाः ।
रथान् हेमपरिच्छन्नानास्थाय च महारथाः ॥ २९ ॥
विराटमन्वयुः पार्थाः सहिताः कुरुपुङ्गवाः ।
चत्वारो भ्रातरः शूराः पाण्डवाः सत्यविक्रमाः ॥ ३० ॥

वे बड़े वेगसे चले। उन्होंने अपने यथार्थ स्वरूपको अभीतक छिपा रक्खा था। वे सबके सब युद्धकी कलामें अत्यन्त निपुण थे। कुरुवंशशिरोमणि वे चारों महारथी कुन्तीकुमार सुवर्णमण्डित रथोंपर आरूढ़ हो एक ही साथ विराटके पीछे-पीछे चले। चारों भाई पाण्डव शूरवीर और सत्यपराक्रमी थे ॥ २९-३० ॥

(दीर्घाणां च दृढानां च धनुषां ते यथाबलम्।
उत्कृष्य पाशान् मौर्वीणां वीराश्चापेष्वयोजयन्॥
ततः सुवाससः सर्वे ते वीराश्चन्दनोक्षिताः।
चोदिता नरदेवेन क्षिप्रमश्वानचोदयन्॥
ते हया हेमसंच्छन्ना बृहन्तः साधुवाहिनः।
चोदिताः प्रत्यदृश्यन्त पक्षिणामिव पङ्क्तयः॥)

उन वीरोंने अपने विशाल और सुदृढ़ धनुषोंकी डोरियोंको यथाशक्ति ऊपर खींचकर धनुषके दूसरे सिरेपर चढ़ाया। फिर सुन्दर वस्त्र धारण करके चन्दनसे चर्चित हो उन समस्त वीर पाण्डवोंने नरदेव विराटकी आज्ञासे शीघ्रतापूर्वक अपने घोड़े हाँक दिये। अच्छी तरह रथका भार वहन करनेवाले वे स्वर्णभूषित विशाल अश्व हाँके जानेपर श्रेणीबद्ध होकर उड़ते हुए पक्षियोंके समान दिखायी देने लगे॥

भीमाश्च मत्तमातङ्गा प्रभिन्नकरटामुखाः।
क्षरन्तश्चैव नागेन्द्राः सुदन्ताः षष्टिहायनाः॥ ३१॥
स्वारूढा युद्धकुशलैः शिक्षिता हस्तिसादिभिः।
राजानमन्वयुः पश्चाच्चलन्त इव पर्वताः॥ ३२॥

जिनके गण्डस्थलसे मदकी धारा बहती थी, ऐसे भयंकर मतवाले हाथी तथा सुन्दर दाँतोंवाले साठ वर्षके मदवर्षी गजराज, जिन्हें युद्धकुशल महावतोंने शिक्षा दी थी, सवारों-को अपनी पीठपर चढ़ाये राजा विराटके पीछे-पीछे इस प्रकार जा रहे थे, मानो चलते-फिरते पर्वत हों॥ ३१-३२॥

विशारदानां मुख्यानां हृष्टानां चारुजीविनाम्।
अष्टौ रथसहस्राणि दश नागशतानि च॥ ३३॥
षष्टिश्चाश्वसहस्राणि मत्स्यानामभिनिर्ययुः।
तदनीकं विराटस्य शुशुभे भरतर्षभ॥ ३४॥

युद्धकी कलामें कुशल, प्रसन्न रहनेवाले तथा उत्तम जीविकावाले मत्स्यदेशके प्रधान-प्रधान वीरोंकी उस सेनामें आठ हजार रथी, एक हजार हाथीसवार तथा साठ हजार घुड़सवार थे, जो युद्धके लिये तैयार होकर निकले थे। भरतर्षभ! उनसे विराटकी वह विशाल वाहिनी अत्यन्त सुशोभित हो रही थी॥ ३३-३४॥

सम्प्रयातं तदा राजन् निरीक्षन्तं गवां पदम्।
तद् बलाग्र्यं विराटस्य सम्प्रस्थितमशोभत।
दृढायुधजनाकीर्णं गजाश्वरथसंकुलम्॥ ३५॥

राजन्! उस समय गौओंके पदचिह्न देखती युद्धके लिये प्रस्थित हुई विराटकी वह श्रेष्ठ सेना अपूर्व शोभा पा रही थी। उसमें ऐसे पैदल सैनिक भरे थे, जिनके हाथोंमें मजबूत हथियार थे। साथ ही हाथी, घोड़े तथा रथके सवारों-से भी वह सेना परिपूर्ण थी॥ ३५॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे मत्स्यराजरणोद्योगे एकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिण दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें मत्स्यराजविराटके युद्धोद्योगसे सम्बद्ध इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३ श्लोक मिलाकर कुल ४८ श्लोक हैं)

द्वात्रिंशोऽध्यायः

मत्स्य तथा त्रिगर्तदेशीय सेनाओंका परस्पर युद्ध

वैशम्पायन उवाच

निर्याय नगराच्छूरा व्यूढानीकाः प्रहारिणः।
त्रिगर्तानस्पृशन् मत्स्याः सूर्ये परिणते सति॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! नगरसे निकल-कर प्रहार करनेमें कुशल वे मत्स्यदेशीय वीर योद्धा अपनी सेनाका व्यूह बनाकर चले और सूर्यके ढलते-ढलते उन्होंने त्रिगर्तों-को पकड़ लिया॥ १॥

ते त्रिगर्ताश्च मत्स्याश्च संरब्धा युद्धदुर्मदाः।
अन्योन्यमभिगर्जन्तो गोषु गृद्धा महाबलाः॥ २॥

फिर तो क्रोधमें भरकर युद्धके लिये उन्मत्त हुए वे त्रिगर्त और मत्स्यदेशके महाबली वीर गौओंको ले जानेकी इच्छासे एक दूसरेको लक्ष्य करके गर्जना करने लगे॥ २॥

भीमाश्च मत्तमातङ्गास्तोमराङ्कुशनोदिताः।
ग्रामणीयैः समारूढाः कुशलैर्हस्तिसादिभिः॥ ३॥
तेषां समागमो घोरस्तुमुलो लोमहर्षणः।
घ्नतां परस्परं राजन् यमराष्ट्रविवर्धनः॥ ४॥

हाथियोंपर चढ़कर उन्हें चलानेमें कुशल श्रेष्ठ महावतों-द्वारा तोमरों और अङ्कुशोंकी मारसे आगे बढ़ाये हुए भयंकर और मतवाले गजराज दोनों ओरसे एक दूसरेपर टूट पड़े। परस्पर शस्त्रोंका प्रहार करनेवाले हाथीसवारोंका वह कोलाहलपूर्ण भयंकर युद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला एवं महासंहारकारी था॥ ३-४॥

देवासुरसमो राजन्नासीत् सूर्येऽवलम्बति।
पदातिरथनागेन्द्रहयारोहबलौघवान्॥ ५॥

राजन्! सूर्य पश्चिमकी ओर ढल रहे थे। उस समय पैदल, रथी, हाथीसवार तथा घुड़सवारोंके समूहसे भरा हुआ वह युद्ध देवासुरसंग्रामके समान हो रहा था॥ ५॥

अन्योन्यमभ्यापततां निघ्नतां चेतरेतरम्।

उदतिष्ठद् रजो भौमं न प्राज्ञायत किंचन ॥ ६ ॥

एक-दूसरेपर धावा बोलकर आपसमें मार-काट मचानेवाले उन सैनिकोंके पदाघातसे इतनी धूल उड़ी कि कुछ भी सूझ-बूझ नहीं पड़ता था ॥ ६ ॥

पक्षिणश्चापतन् भूमौ सैन्येन रजसाऽऽवृताः ।
इषुभिर्व्यतिसर्पद्भिरादित्योऽन्तरधीयत ॥ ७ ॥

सेनाकी धूलसे आच्छादित होकर उड़ते हुए पक्षी भी भूमिपर गिर जाते थे। दोनों ओरसे छूटे हुए बाणोंद्वारा (आकाश खचाखच भर जानेके कारण) सूर्यदेवका दीखना बंद हो गया ॥ ७ ॥

खद्योतैरिव संयुक्तमन्तरिक्षं व्यराजत ।
रुक्मपृष्ठानि चापानि व्यतिषिक्तानि धन्विनाम् ॥ ८ ॥
पततां लोकवीराणां सव्यदक्षिणमस्यताम् ।
रथा रथैः समाजग्मुः पादातैश्च पदातयः ॥ ९ ॥

बाणोंके कारण अन्तरिक्ष मानो जुगनुओंसे भर गया हो, इस प्रकार चकमक हो रहा था। दाँयें-बाँयें बाण मारनेवाले वे विश्व-विख्यात धनुर्धर वीर जब घायल होकर गिरते थे, उस समय उनके सुवर्णकी पीठवाले धनुष दूसरोंके हाथमें चले जाते थे। रथी रथियोंसे और पैदल पैदलोंसे भिड़े हुए थे ॥८-९॥

सादिनः सादिभिश्चैव गजैश्चापि महागजाः ।
असिभिः पट्टिशैः प्रासैः शक्तिभिस्तोमरैरपि ॥ १० ॥
संरब्धाः समरे राजन् निजघ्नुरितरेतरम् ।
निघ्नन्तः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः ॥ ११ ॥
न शेकुरभिसंरब्धाः शूरान् कर्तुं पराङ्मुखान् ।

घुड़सवार घुड़सवारोंसे और गजारोही गजारोहियोंसे लड़ रहे थे। राजन्! वे सब क्रोधमें भरकर उस युद्धमें एक-दूसरेपर तलवार, पट्टिश, प्रास, शक्ति और तोमर आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे प्रहार कर रहे थे; किंतु परिघके समान प्रचण्ड भुजदण्डवाले वे शूरवीर परस्पर क्रोधपूर्वक प्रहार करनेपर भी सामना करनेवाले वीरोंको पीछे नहीं हटा पाते थे ॥१०-११½॥

कृत्तोत्तरोष्ठं सुनसं कृत्तकेशमलंकृतम् ॥ १२ ॥
अदृश्यत शिरश्छिन्नं रजोध्वस्तं सकुण्डलम् ।

बातकी बातमें, कुण्डलोंसहित कटे हुए कितने ही मस्तक धूलमें लोटने लगे। किसीकी नाक बड़ी सुन्दर थी, परंतु ऊपरका ओठ कट गया था। कोई अलंकारोंसे अलंकृत था, किंतु उसका केशभाग कटकर उड़ गया था ॥ १२½ ॥

अदृश्यंस्तत्र गात्राणि शरैश्छिन्नानि भागशः ॥ १३ ॥
शालस्कन्धनिकाशानि क्षत्रियाणां महामृधे ।

उस महासंग्राममें बहुत-से क्षत्रिय वीरोंके शरीर, जो शालवृक्षकी शाखाओंके समान विशाल एवं हृष्ट-पुष्ट थे, छिन्न-भिन्न होकर टुकड़े-टुकड़े दिखायी देने लगे ॥ १३½ ॥

नागभोगनिकाशैश्च बाहुभिश्चन्दनोक्षितैः ॥ १४ ॥
आस्तीर्णा वसुधा भाति शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।

सर्पोंके शरीरकी भाँति सुशोभित चन्दनचर्चित भुजाओं तथा कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे पटी हुई रणभूमि अपूर्व शोभा धारण कर रही थी ॥ १४½ ॥

रथिनां रथिभिश्चात्र सम्प्रहारोऽभ्यवर्तत ॥ १५ ॥
सादिभिः सादिनां चापि पदातीनां पदातिभिः ।
उपाशाम्यद् रजो भौमं रुधिरेण प्रसर्पता ॥ १६ ॥

वहाँ रथियोंका रथियोंसे, घुड़सवारोंका घुड़सवारोंसे और पैदल योद्धाओंका पैदलोंसे घमासान युद्ध होने लगा। सब ओर रक्तकी धारा बह चली और उसमें सनकर धरतीकी धूल शान्त हो गयी ॥ १५-१६ ॥

कश्मलं चाविशद् घोरं निर्मर्यादमवर्तत ।

युद्ध करनेवाले वीरोंको मूर्च्छा आने लगी। उनमें मर्यादाशून्य भयंकर युद्ध छिड़ गया ॥ १६½ ॥

(युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा भ्रातृभिः सहितस्तदा ।
व्यूहं कृत्वा विराटस्य अन्वयुध्यत पाण्डवः ॥
आत्मानं श्येनवत् कृत्वा तुण्डमासीद् युधिष्ठिरः ।
पक्षौ यमौ च भवतः पुच्छमासीद् वृकोदरः ॥
सहस्रं न्यहनत् तत्र कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनः सुसंक्रुद्धः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥
द्विसहस्रं रथान् वीरः परलोकं प्रवेशयत् ।
नकुलस्त्रिशतं जघ्ने सहदेवश्चतुःशतम् ॥)

पाण्डुनन्दन धर्मात्मा युधिष्ठिरने भी भाइयोंसहित व्यूह-रचना करके राजा विराटके लिये त्रिगर्तोंके साथ युद्ध आरम्भ किया। उन्होंने अपने आपको श्येन (बाज) पक्षीके रूपमें उपस्थित करके उसकी चोंचका स्थान ग्रहण किया। नकुल और सहदेव दोनों पंखोंके रूपमें हो गये। भीमसेन पूँछके स्थानमें हुए। कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने शत्रुओंके एक सहस्र सैनिकोंका संहार कर डाला। सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ वीर भीमसेनने अत्यन्त कुपित हो दो हजार रथियोंको परलोक पहुँचा दिया। नकुलने तीन सौ और सहदेवने चार सौ सैनिकोंको मार डाला ॥

उपाविशन् गरुत्मन्तः शरैर्गाढं प्रवेजिताः ।
अन्तरिक्षे गतिर्येषां दर्शनं चाप्यरुध्यत ॥ १७ ॥

आकाशचारी पक्षी भी बाणसमूहोंसे अत्यन्त उद्विग्न होकर इधर-उधर बैठ गये। उनका आकाशमें उड़ना और दूरतक देखना भी बंद हो गया ॥ १७ ॥

ते घ्नन्तः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः ।
न शेकुरभिसंरब्धाः शूरान् कर्तुं पराङ्मुखान् ॥ १८ ॥

परिघकी-सी मोटी बाँहोंवाले सूरमा कुपित हो एक दूसरेपर घातक प्रहार करते हुए भी सच्चे शूरवीरोंको युद्धसे विमुख नहीं कर पाते थे ॥ १८ ॥

शतानीकः शतं हत्वा विशालाक्षश्चतुःशतम्।
प्रविष्टौ महतीं सेनां त्रिगर्तानां महारथौ ॥ १९ ॥

इस प्रकार युद्ध करते-करते शतानीक सौ तथा विशालाक्ष (मदिराक्ष) चार सौ त्रिगर्त योद्धाओंको मारकर उनकी भारी सेनामें घुस गये। वे दोनों महारथी थे ॥ १९ ॥

तौ प्रविष्टौ महासेनां बलवन्तौ मनस्विनौ।
आच्छेंतां बहुसंरब्धौ केशाकेशि रथारथि ॥ २० ॥

उस विशाल सेनामें घुसे हुए और अत्यन्त क्रुद्ध हुए उन बलवान् एवं मनस्वी वीरोंने उस सारी सेनाको मोहित कर दिया। वे दोनों उन त्रिगर्त सैनिकोंसे एक दूसरेके केश पकड़-पकड़कर तथा रथोंपर बैठे हुए रथियोंको गिरा-गिराकर युद्ध करने लगे ॥ २० ॥

लक्षयित्वा त्रिगर्तानां तौ प्रविष्टौ रथव्रजम्।
अग्रतः सूर्यदत्तश्च मदिराक्षश्च पृष्ठतः ॥ २१ ॥

फिर उन दोनोंने त्रिगर्तोंकी रथसेनाको लक्ष्य बनाकर उसमें प्रवेश किया। सूर्यदत्तने आगेकी ओरसे आक्रमण किया और मदिराक्षने पीछेकी ओरसे ॥ २१ ॥

विराटस्तत्र संग्रामे हत्वा पञ्चशतान् रथान्।
हयानां च शतान्यष्टौ हत्वा पञ्च महारथान् ॥ २२ ॥
चरन् स विविधान् मार्गान् रथेन रथसत्तमः।
त्रिगर्तानां सुशर्माणमार्च्छद् रुक्मरथं रणे ॥ २३ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ राजा विराटने रथके द्वारा विविध मार्गोंसे चलते—अनेक प्रकारके रणकौशल दिखाते हुए उस युद्धमें त्रिगर्तोंके पाँच सौ रथी, आठ सौ घुड़सवार तथा पाँच महारथियोंको मार गिरानेके पश्चात् स्वर्णभूषित रथपर बैठे हुए सुशर्मापर धावा किया ॥ २२-२३ ॥

तौ व्यवाहरतां तत्र महात्मानौ महाबलौ।
अन्योन्यमभिगर्जन्तौ गोष्ठेषु वृषभाविव ॥ २४ ॥

वे दोनों महान् बलवान् और महामनस्वी वीर गर्जते हुए एक दूसरेसे इस प्रकार जा भिड़े, मानो गोशालामें दो साँड़ लड़ रहे हों।

ततो राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा युद्धदुर्मदः।
मत्स्यं समायाद् राजानं द्वैरथेन नरर्षभः ॥ २५ ॥

त्रिगर्तराज सुशर्मापर युद्धका घोर उन्माद छाया हुआ था। उस नरश्रेष्ठ वीरने राजा विराटका द्वैरथयुद्धके द्वारा सामना किया ॥ २५ ॥

ततो रथाभ्यां रथिनौ व्यतीयतुरमर्षणौ।
शरान् व्यसृजतां शीघ्रं तोयधारा घना इव ॥ २६ ॥

क्रोधमें भरे हुए वे दोनों रथी अपना-अपना रथ बढ़ाकर निकट आ गये और शीघ्रतापूर्वक एक दूसरेपर बाणोंकी झड़ी लगाने लगे, मानो दो मेघ जलकी धाराएँ बरसा रहे हों ॥

अन्योन्यं चापि संरब्धौ विचेरतुरमर्षणौ।
कृतास्त्रौ निशितैर्बाणैरसिशक्तिगदाभृतौ ॥ २७ ॥

दोनोंका एक दूसरेके प्रति क्रोध और अमर्ष बढ़ा हुआ था। दोनों ही अस्त्रविद्यामें निपुण थे और दोनोंने ही तलवार, शक्ति तथा गदा भी ले रक्खी थी। उस समय दोनों तीखे बाणोंसे परस्पर प्रहार करते हुए रणभूमिमें विचरने लगे ॥

ततो राजा सुशर्माणं विव्याध दशभिः शरैः।
पञ्चभिः पञ्चभिश्चास्य विव्याध चतुरो हयान् ॥ २८ ॥

इसी समय राजा विराटने सुशर्माको दस बाणोंसे बींध डाला और पाँच-पाँच बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥ २८ ॥

तथैव मत्स्यराजानं सुशर्मा युद्धदुर्मदः।
पञ्चाशता शितैर्बाणैर्विव्याध परमास्त्रवित् ॥ २९ ॥

इसी प्रकार महान् अस्त्रवेत्ता सुशर्माने भी रणोन्मत्त होकर पचास तीखे बाणोंसे मत्स्यराज विराटको बींध डाला ॥

ततः सैन्यं महाराज मत्स्यराजसुशर्मणोः।
नाभ्यजानात् तदान्योन्यं सैन्येन रजसाऽऽवृतम् ॥ ३० ॥

महाराज! तदनन्तर सैनिकोंके पैरोंसे इतनी धूल उड़ी कि मत्स्यनरेश तथा सुशर्मा दोनोंकी सेनाएँ उससे आच्छादित हो गयीं और एक दूसरेके विषयमें यह भी न जान सकीं कि कौन कहाँ क्या कर रहा है ? ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे विराटसुशर्मयुद्धे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरण पर्वमें दक्षिणदिशाकी गौओंके अपहरणके समय होनेवाले विराट और सुशर्माके युद्धके विषयमें बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

सुशर्माका विराटको पकड़कर ले जाना, पाण्डवोंके प्रयत्नसे उनका छुटकारा, भीमद्वारा सुशर्माका निग्रह और युधिष्ठिरका अनुग्रह करके उसे छोड़ देना

वैशम्पायन उवाच

तमसाभिप्लुते लोके रजसा चैव भारत।
अतिष्ठन् वै मुहूर्तं तु व्यूढानीकाः प्रहारिणः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! उस समय [सूर्यास्त हो चुका था एवं रात्रि आ गयी थी, अतः] सब लोग धूलसे तो आवृत थे ही, अन्धकारसे भी आच्छादित हो गये; अतः प्रहार करनेवाले सैनिक सेनाका व्यूह बनाकर कुछ देर-तक युद्ध बंद करके खड़े रहे॥ १॥

ततोऽन्धकारं प्रणुदन्नुदतिष्ठत चन्द्रमाः।
कुर्वाणो विमलां रात्रिं नन्दयन् क्षत्रियान् युधि॥ २॥

इतनेमें ही अन्धकारका निवारण करते हुए चन्द्रदेवका उदय हुआ। उन्होंने उस रणक्षेत्रमें क्षत्रियोंको आनन्द प्रदान करते हुए उस रात्रिको निर्मल (अन्धकारशून्य) बना दिया॥ २॥

ततः प्रकाशमासाद्य पुनर्युद्धमवर्तत।
घोररूपं ततस्ते स्म नावैक्षन्त परस्परम्॥ ३॥

अतः उजाला हो जानेसे पुनः घोर युद्ध प्रारम्भ हो गया। उस समय (युद्धके आवेशमें) योद्धा एक दूसरेको देख नहीं रहे थे॥ ३॥

ततः सुशर्मा त्रैगर्तः सह भ्रात्रा यवीयसा।
अभ्यद्रवन्मत्स्यराजं रथव्रातेन सर्वशः॥ ४॥

तदनन्तर त्रिगर्तराज सुशर्माने अपने छोटे भाईके साथ रथियोंका समूह लेकर चारों ओरसे मत्स्यराज विराटपर धावा बोल दिया॥ ४॥

ततो रथाभ्यां प्रस्कन्द्य भ्रातरौ क्षत्रियर्षभौ।
गदापाणी सुसंरब्धौ समभ्यद्रवतां रथान्॥ ५॥

फिर वे क्षत्रियशिरोमणि दोनों बन्धु रथोंसे कूद पड़े और हाथमें गदा ले क्रोधमें भरकर शत्रुसेनाके रथोंकी ओर दौड़े॥ ५॥

(मत्ताविव वृषावेतौ गजाविव मदोद्धतौ।
सिंहाविव गजग्राहौ शक्रवृत्राविवोत्थितौ॥
उभौ तुल्यबलोत्साहावुभौ तुल्यपराक्रमौ।
उभौ तुल्यास्त्रविदुषावुभौ युद्धविशारदौ॥)

वे दोनों मतवाले साँड़ों, मदोन्मत्त गजराजों, एक ही हाथीपर आक्रमण करनेवाले दो सिंहों तथा युद्धके लिये उद्यत वृत्रासुर एवं इन्द्रके समान जान पड़ते थे। दोनों-के बल और उत्साह समान थे। दोनों ही एक-जैसे पराक्रमी और एक-से ही अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता थे। युद्ध करनेकी कलामें वे दोनों ही वीर अत्यन्त निपुण थे॥

तथैव तेषां तु बलानि तानि
क्रुद्धान्यथान्योन्यमभिद्रवन्ति।
गदासिखड्गैश्च परश्वधैश्च
प्रासैश्च तीक्ष्णाग्रसुपीतधारैः॥ ६॥

इसी प्रकार उन सबकी वे सेनाएँ भी कुपित हो गदा, तलवार, खड्ग, फरसे और भलीभाँति तेज किये हुए तीखी धारवाले प्रासों (भालों) से प्रहार करती हुई एक दूसरीपर टूट पड़ीं॥ ६॥

बलं तु मत्स्यस्य बलेन राजा
सर्वं त्रिगर्ताधिपतिः सुशर्मा।
प्रमथ्य जित्वा च प्रसह्य मत्स्यं
विराटमोजस्विनमभ्यधावत्॥ ७॥
तौ निहत्य पृथग् धुर्यावुभौ तौ पार्ष्णिसारथी।
विरथं मत्स्यराजानं जीवग्राहमगृह्णताम्॥ ८॥

त्रिगर्तदेशके स्वामी राजा सुशर्माने अपनी सेनाके द्वारा मत्स्यराजकी सेनाको मथ डाला और बलपूर्वक उसे परास्त करके महापराक्रमी मत्स्यनरेश विराटपर चढ़ाई कर दी। उन दोनों भाइयोंने पृथक्-पृथक् विराटके दोनों घोड़ोंको मारकर उनके पार्श्वभागकी रक्षा करनेवाले सिपाहियों तथा सारथिको भी मार डाला और उन्हें रथहीन करके जीते-जी ही पकड़ लिया॥ ७-८॥

तमुन्मथ्य सुशर्माथ युवतीमिव कामुकः।
स्यन्दनं स्वं समारोप्य प्रययौ शीघ्रवाहनः॥ ९॥

जैसे कामी पुरुष किसी युवतीको बलपूर्वक पकड़ ले, वैसे ही सुशर्माने राजा विराटको पीड़ित करके पकड़ लिया और उनको शीघ्रगामी वाहनोंसे युक्त अपने रथपर चढ़ाकर वह चल दिया॥ ९॥

तस्मिन् गृहीते विरथे विराटे बलवत्तरे।
प्राद्रवन्त भयान्मत्स्यास्त्रिगर्तैरर्दिता भृशम्॥ १०॥

अतिशय बलवान् राजा विराट जब रथहीन होकर पकड़ लिये गये, तब त्रिगर्तोंद्वारा अत्यन्त पीड़ित हुए मत्स्यदेशीय सैनिक भयभीत होकर भागने लगे॥ १०॥

तेषु संत्रस्यमानेषु कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
प्रत्यभाषन्महाबाहुं भीमसेनमरिंदमम्॥ ११॥

उनके इस प्रकार अत्यन्त भयभीत होनेपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबाहु भीमसेनसे कहा—॥ ११ ॥

मत्स्यराजः परामृष्टस्त्रिगर्तेन सुशर्मणा ।
तं मोचय महाबाहो न गच्छेद् द्विषतां वशम् ॥१२॥

'महाबाहो ! त्रिगर्तराज सुशर्माने मत्स्यराजको पकड़ लिया है । उन्हें शीघ्र छुड़ाओ; जिससे वे शत्रुओंके वशमें न पड़ जायँ ॥ १२ ॥

उषिताः स्म सुखं सर्वे सर्वकामैः सुपूजिताः ।
भीमसेन त्वया कार्या तस्य वासस्य निष्कृतिः ॥१३॥

'हम सब लोग उनके यहाँ सुखपूर्वक रहे हैं और उन्होंने हमें सब प्रकारकी अभीष्ट वस्तुएँ देकर हमारा भलीभाँति सत्कार किया है । अतः भीमसेन ! तुम्हें उनके घरमें रहनेके उपकारका बदला चुकाना चाहिये' ॥ १३ ॥

भीमसेन उवाच

अहमेनं परित्रास्ये शासनात् तव पार्थिव ।
पश्य मे सुमहत् कर्म युध्यतः सह शत्रुभिः ॥१४॥

भीमसेन बोले—महाराज ! आपकी आज्ञासे मैं इन्हें सुशर्माके हाथोंसे छुड़ा लूँगा । आज आप शत्रुओंके साथ युद्ध करते समय मेरे महान् पराक्रमको देखें ॥ १४ ॥

स्वबाहुबलमाश्रित्य तिष्ठ त्वं भ्रातृभिः सह ।
एकान्तमाश्रितो राजन् पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥१५॥

मैं अपने बाहुबलका भरोसा करके लड़ूँगा । राजन् ! आज आप भाइयोंसहित एकान्तमें खड़े होकर अब मेरा पराक्रम देखें ॥ १५ ॥

सुस्कन्धोऽयं महावृक्षो गदारूप इव स्थितः ।
अहमेनमपारुज्य द्रावयिष्यामि शात्रवान् ॥१६॥

यह सामने जो महान् वृक्ष है, इसकी शाखाएँ बड़ी सुन्दर हैं । यह तो मानो गदाके ही रूपमें खड़ा है । अतः मैं इसीको उखाड़कर इसके द्वारा शत्रुदलको मार भगाऊँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

तं मत्तमिव मातङ्गं वीक्षमाणं वनस्पतिम् ।
अब्रवीद् भ्रातरं वीरं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥१७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह कहकर भीमसेन मदोन्मत्त गजराजकी भाँति उस वृक्षकी ओर देखने लगे । तब धर्मराज युधिष्ठिरने अपने वीर भ्रातासे कहा—॥

मा भीम साहसं कार्षीस्तिष्ठत्वेष वनस्पतिः ।
मा त्वां वृक्षेण कर्माणि कुर्वाणमतिमानुषम् ॥१८॥
जनाः समवबुध्येरन् भीमोऽयमिति भारत ।
अन्यदेवायुधं किंचित् प्रतिपद्यस्व मानुषम् ॥१९॥

'भीमसेन ! ऐसा दुःसाहस न करो, इस वृक्षको खड़ा रहने दो । यदि तुम इस महावृक्षको उखाड़नेका अतिमानुष (मानवोंके लिये असाध्य) कर्म करोगे, तो सब लोग पहचान लेंगे कि यह तो भीम है । अतः भारत ! तुम किसी दूसरे मानवोचित आयुधको ही ग्रहण करो ॥ १८-१९ ॥

चापं वा यदि वा शक्तिं निस्त्रिंशं वा परश्वधम् ।
यदेव मानुषं भीम भवेदन्यैरलक्षितम् ॥२०॥
तदेवायुधमादाय मोक्षयाशु महीपतिम् ।
यमौ च चक्ररक्षौ ते भवितारौ महाबलौ ॥२१॥
सहिताः समरे तत्र मत्स्यराजं परीप्सत ।

'धनुष, शक्ति, खड्ग अथवा कुठार, जो भी मनुष्योचित अस्त्र-शस्त्र तुम्हें ठीक लगे; जिससे तुम दूसरोंद्वारा पहचाने न जा सको, वही लेकर राजाको शीघ्र छुड़ाओ । ये महाबली नकुल और सहदेव तुम्हारे रथके पहियोंकी रक्षा करेंगे । तुम तीनों भाई युद्धमें एक साथ मिलकर महाराज विराटको छुड़ाओ' ॥ २०-२१½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु वेगेन भीमसेनो महाबलः ॥२२॥
गृहीत्वा तु धनुः श्रेष्ठं जवेन सुमहाजवः ।
व्यमुञ्चच्छरवर्षाणि सतोय इव तोयदः ॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! युधिष्ठिरके उक्त आदेश देनेपर महान् वेगशाली महाबली भीमसेनने शीघ्रतापूर्वक एक उत्तम धनुष हाथमें ले लिया । फिर तो जैसे मेघ जलकी धारा बरसाता हो, उसी प्रकार वे वेगपूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २२-२३ ॥

तं भीमो भीमकर्माणं सुशर्माणमथाद्रवत् ।
विराटं समवीक्ष्यैनं तिष्ठ तिष्ठेति चावदत् ॥२४॥

तदनन्तर भीमसेन भयंकर कर्म करनेवाले सुशर्माकी ओर दौड़े और विराटकी ओर देखते हुए सुशर्मासे बोले—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २४ ॥

सुशर्मा चिन्तयामास कालान्तकयमोपमम् ।
तिष्ठ तिष्ठेति भाषन्तं पृष्ठतो रथपुङ्गवः ।
पश्यतां सुमहत् कर्म महद् युद्धमुपस्थितम् ॥२५॥

रथियोंमें श्रेष्ठ सुशर्मा पीछेकी ओरसे आते और 'खड़ा रह, खड़ा रह' कहते हुए काल, अन्तक एवं यमराजके समान भयंकर वीर पुरुषको देखकर चिन्तामें पड़ गया और अपने साथियोंसे बोला—'देखो, फिर बड़ा भारी युद्ध उपस्थित हुआ है । इसमें महान् पराक्रम दिखाओ' ॥ २५ ॥

परावृत्तो धनुर्गृह्य सुशर्मा भ्रातृभिः सह ।
निमेषान्तरमात्रेण भीमसेनेन ते रथाः ॥२६॥
रथानां च गजानां च वाजिनां च ससादिनाम् ।
सहस्रशतसङ्घाताः शूराणामुग्रधन्विनाम् ॥२७॥

पातिता भीमसेनेन विराटस्य समीपतः ।
पत्तयो निहतास्तेषां गदां गृह्य महात्मना ॥२८॥

ऐसा कहकर सुशर्मा भाइयोंसहित धनुष उठाये लौट पड़ा । इधर महात्मा भीमसेनने निमेषमात्रमें ही गदा लेकर शत्रुओंके भयंकर धनुष धारण करनेवाले रथी, हाथीसवार और घुड़सवार वीरोंके एक लाख सैनिकोंके समूहोंको राजा विराटके समीप मार गिराया और बहुत-से पैदल सिपाहियोंका भी संहार कर डाला ॥ २६–२८ ॥

तद् दृष्ट्वा तादृशं युद्धं सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
चिन्तयामास मनसा किं शेषं हि बलस्य मे ।
अपरो दृश्यते सैन्ये पुरा मग्नो महाबले ॥२९॥

ऐसा भयानक युद्ध देख रणोन्मत्त सुशर्मा मन-ही-मन सोचने लगा, 'जान पड़ता है, मेरी सेना बुरी तरह मारी जायगी; क्योंकि मेरा दूसरा भाई भी पहलेसे ही इस विशाल सैन्य-समुद्रमें डूबा हुआ दिखायी देता है' ॥ २९ ॥

आकर्णपूर्णेन तदा धनुषा प्रत्यदृश्यत ।
सुशर्मा सायकांस्तीक्ष्णान् क्षिपते च पुनः पुनः ॥३०॥
ततः समस्तास्ते सर्वे तुरगानभ्यचोदयन् ।
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणास्त्रिगर्तान् प्रत्यमर्षणाः ॥३१॥

ऐसा विचारकर वह कानतक खींचे हुए धनुषके द्वारा युद्धके लिये उद्यत दिखायी देने लगा । सुशर्मा बारंबार तीखे बाणोंकी झड़ी लगा रहा है, यह देख सम्पूर्ण मत्स्यदेशीय योद्धा त्रिगर्तोंके प्रति कुपित हो दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए अपने रथोंके घोड़ोंको आगे बढ़ाने लगे ॥ ३०-३१ ॥

तान् निवृत्तरथान् दृष्ट्वा पाण्डवान् सा महाचमूः ।
वैराटिः परमक्रुद्धो युयुधे परमाद्भुतम् ॥३२॥

पाण्डवोंको त्रिगर्तोंकी ओर रथ लौटाते देख मत्स्य-वीरोंकी वह विशालवाहिनी भी लौट पड़ी । विराटके पुत्र श्वेत अत्यन्त क्रोधमें भरकर बड़ा अद्भुत युद्ध करने लगे ॥

सहस्रमवधीत् तत्र कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमः सप्त सहस्राणि यमलोकमदर्शयत् ॥३३॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने एक हजार त्रिगर्तोंको मार गिराया । भीमसेनने सात हजार योद्धाओंको यमलोकका दर्शन कराया॥

नकुलश्चापि सप्तैव शतानि प्राहिणोच्छरैः ।
शतानि त्रीणि शूराणां सहदेवः प्रतापवान् ॥३४॥
युधिष्ठिरसमादिष्टो निजघ्ने पुरुषर्षभः ।

नकुलने अपने बाणोंसे सात सौ सैनिकोंको यमराजके घर भेज दिया तथा पुरुषोंमें श्रेष्ठ प्रतापी वीर सहदेवने युधिष्ठिरकी आज्ञासे तीन सौ शूरवीरोंका संहार कर डाला ॥ ३४½ ॥

ततोऽभ्यपतदत्युग्रः सुशर्माणमुदायुधः ॥३५॥
हत्वा तां महतीं सेनां त्रिगर्तानां महारथः ।

तदनन्तर महारथी सहदेव त्रिगर्तोंकी उस महासेनाका संहार करके अत्यन्त उग्र रूप धारण किये हाथमें धनुष ले सुशर्मापर चढ़ आये ॥ ३५½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा त्वरमाणो महारथः ॥३६॥
अभिपत्य सुशर्माणं शरैरभ्याहनद् भृशम् ।

तत्पश्चात् महारथी राजा युधिष्ठिर भी बड़ी उतावलीके साथ सुशर्मापर धावा बोलकर उसे बाणोंद्वारा बारंबार बींधने लगे ॥ ३६½ ॥

सुशर्मापि सुसंरब्धस्त्वरमाणो युधिष्ठिरम् ॥३७॥
अविध्यन्नवभिर्बाणैश्चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।

तब सुशर्माने भी अत्यन्त कुपित हो बड़ी फुर्तीके साथ नौ बाणोंसे राजा युधिष्ठिरको और चार बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको बींध डाला ॥ ३७½ ॥

ततो राजन्नाशुकारी कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥३८॥
समासाद्य सुशर्माणमश्वानस्य व्यपोथयत् ।
पृष्ठगोपांश्च तस्याथ हत्वा परमसायकैः ॥३९॥
अथास्य सारथिं क्रुद्धो रथोपस्थादपातयत् ।

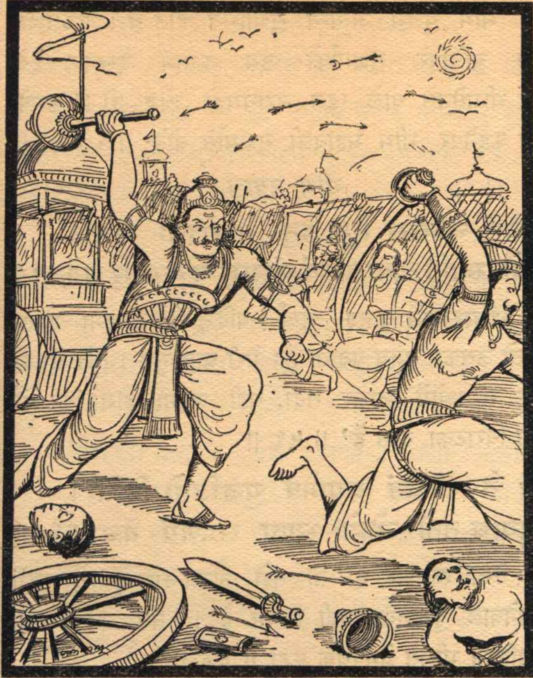
राजन् ! फिर तो शीघ्रता करनेवाले कुन्तीपुत्र भीमने सुशर्माके पास पहुँचकर उत्तम बाणोंसे उसके घोड़ोंको मार डाला । साथ ही उसके पृष्ठरक्षकोंको भी मारकर कुपित हो उसके सारथिको भी रथसे नीचे गिरा दिया ॥ ३८-३९½ ॥

चक्ररक्षश्च शूरो वै मदिराक्षोऽतिविश्रुतः ॥४०॥
समायाद् विरथं दृष्ट्वा त्रिगर्तं प्राहरत् तदा ।

सुशर्माको रथहीन हुआ देखकर राजा विराटके चक्ररक्षक सुप्रसिद्ध वीर मदिराक्ष भी वहाँ आ पहुँचे और त्रिगर्तनरेशपर बाणोंसे प्रहार करने लगे ॥ ४०½ ॥

ततो विराटः प्रस्कन्द्य रथादथ सुशर्मणः ॥४१॥
गदां तस्य परामृश्य तमेवाभ्यद्रवद् बली ।
स चचार गदापाणिर्वृद्धोऽपि तरुणो यथा ॥४२॥

इसी बीचमें बलवान् राजा विराट सुशर्माके रथसे कूद पड़े और उसकी गदा लेकर उसीकी ओर दौड़े । उस समय



हाथमें गदा लिये राजा विराट बूढ़े होनेपर भी तरुणके समान रणभूमिमें विचर रहे थे ॥ ४१-४२ ॥

पलायमानं त्रैगर्तं दृष्ट्वा भीमोऽभ्यभाषत ।
राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्तं पलायनम् ॥४३॥

इसी बीचमें मौका पाकर त्रिगर्तराज भागने लगा। उसे पलायन करते देख भीमसेन बोले—'राजकुमार! लौट आओ। तुम्हारा युद्धसे पीठ दिखाकर भागना उचित नहीं है ॥ ४३ ॥

अनेन वीर्येण कथं गास्त्वं प्रार्थयसे बलात् ।
कथं चानुचरांस्त्यक्त्वा शत्रुमध्ये विषीदसि ॥४४॥

'इसी पराक्रमके भरोसे तुम विराटकी गौओंको बलपूर्वक कैसे ले जाना चाहते थे? अपने सेवकोंको शत्रुओंके बीचमें छोड़कर क्यों भागते और विषाद करते हो?' ॥ ४४ ॥

इत्युक्तः स तु पार्थेन सुशर्मा रथयूथपः ।
तिष्ठ तिष्ठेति भीमं स सहसाऽभ्यद्रवद् बली ॥४५॥
भीमस्तु भीमसंकाशो रथात् प्रस्कन्द्य पाण्डवः ।
प्राद्रवत् तूर्णमव्यग्रो जीवितेप्सुः सुशर्मणः ॥४६॥

भीमसेनके ऐसा कहनेपर रथियोंके यूथका अधिपति बलवान् सुशर्मा 'खड़ा रह, खड़ा रह', ऐसा कहते हुए सहसा भीमसेनपर टूट पड़ा। परंतु पाण्डुनन्दन भीम तो भीम-जैसे ही थे; वे तनिक भी व्यग्र नहीं हुए; अपितु रथसे कूदकर सुशर्माके प्राण लेनेके लिये बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े ॥

तं भीमसेनो धावन्तमभ्यधावत वीर्यवान् ।
त्रिगर्तराजमादातुं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥४७॥

तब सुशर्मा फिर भाग चला और पराक्रमी भीमसेन त्रिगर्त-राजको पकड़नेके लिये उसी प्रकार उसका पीछा करने लगे, जैसे सिंह छोटे मृगोंको पकड़नेके लिये जाता है ॥ ४७ ॥

अभिद्रुत्य सुशर्माणं केशपक्षे परामृशत् ।
समुद्यम्य तु रोषात् तं निष्पिपेष महीतले ॥४८॥

सुशर्माके पास पहुँचकर भीमने उसके केश पकड़ लिये और क्रोधपूर्वक उसे उठाकर पृथ्वीपर दे मारा। तत्पश्चात् उसे वहीं रगड़ने लगे ॥ ४८ ॥

पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद् विलपिष्यतः ।
तस्य जानुं ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना ।
स मोहमगमद् राजा प्रहारवरपीडितः ॥४९॥

इससे सुशर्मा विलाप करने लगा। उस समय भीमने उसके मस्तकपर लात मारी और उसके पेटको घुटनोंसे दबाकर ऐसा घूँसा मारा कि उसके भारी आघातसे पीड़ित होकर राजा सुशर्मा मूर्छित हो गया ॥ ४९ ॥

तस्मिन् गृहीते विरथे त्रिगर्तानां महारथे ।
अभज्यत बलं सर्वं त्रैगर्तं तद् भयातुरम् ॥५०॥

त्रिगर्तोंका महारथी वीर सुशर्मा जब रथहीन होकर कैद कर लिया गया, तब वह सारी त्रिगर्तसेना भयसे व्याकुल हो तितर-बितर हो गयी ॥ ५० ॥

निवर्त्य गास्ततः सर्वाः पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
अवजित्य सुशर्माणं धनं चादाय सर्वशः ॥५१॥

तदनन्तर पाण्डुके महारथी पुत्र सुशर्माको परास्त करनेके पश्चात् सब गौओंको लौटाकर और लूटका सारा धन वापस लेकर चले ॥ ५१ ॥

स्वबाहुबलसम्पन्ना ह्रीनिषेवा यतव्रताः ।
विराटस्य महात्मानः परिक्लेशविनाशनाः ॥५२॥

वे सभी अपने बाहुबलसे सम्पन्न, लज्जाशील, संयमपूर्वक व्रतपालनमें तत्पर, महात्मा तथा विराटका सारा क्लेश दूर करनेवाले थे ॥ ५२ ॥

स्थिताः समक्षं ते सर्वे त्वथ भीमोऽभ्यभाषत ॥५३॥
नायं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति ।
किं तु शक्यं मया कर्तुं यद् राजा सततं घृणी ॥५४॥

जब वे सब राजाके सामने आकर खड़े हुए, तब भीमसेन बोले—'यह पापाचारी सुशर्मा मेरे हाथसे छूटकर जीवित रहने-योग्य तो नहीं है; परंतु मैं कर ही क्या सकता हूँ? हमारे महाराज सदाके दयालु हैं' ॥ ५३-५४ ॥

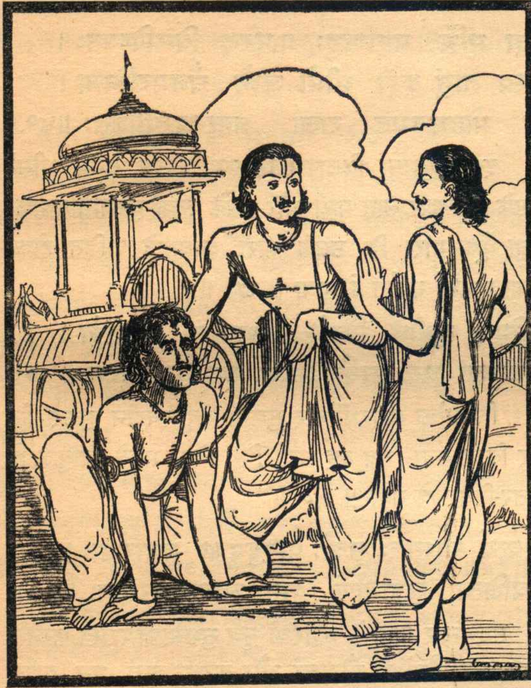
गले गृहीत्वा राजानमानीय विवशं वशम् ।
तत एनं विचेष्टन्तं बद्ध्वा पार्थो वृकोदरः ॥५५॥
रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुण्ठितम् ।

इसके बाद भीम राजा सुशर्माका गला पकड़कर ले आये। उस समय वह लाचार होकर उनके वशमें पड़ा था और छूटनेके लिये छटपटा रहा था। कुन्तीपुत्र भीमने सुशर्माको रस्सियोंसे बाँधकर रथपर रख दिया। उसके सारे

अङ्ग धूलमें सने थे और चेतना लुप्त-सी हो रही थी ॥५५½॥

अभ्येत्य रणमध्यस्थमभ्यगच्छद् युधिष्ठिरम् ॥५६॥
दर्शयामास भीमस्तु सुशर्माणं नराधिपम् ।

इसके बाद भीमने रणभूमिमें स्थित राजा युधिष्ठिरके पास जाकर उन्हें राजा सुशर्माको दिखलाया ॥ ५६½ ॥



प्रोवाच पुरुषव्याघ्रो भीममाहवशोभिनम् ॥५७॥
तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा मुच्यतां वै नराधमः ।
एवमुक्तोऽब्रवीद् भीमः सुशर्माणं महाबलम् ॥५८॥

भीम युद्धमें अत्यन्त सुशोभित होते थे । पुरुषश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर सुशर्माको उस दशामें देखकर हँसे और भीमसेनसे बोले—'इस नराधमको छोड़ दो ।' उनके ऐसा कहनेपर भीम महाबली सुशर्मासे बोले ॥ ५७-५८ ॥

भीम उवाच

जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ।
दासोऽस्मीति त्वया वाच्यं संसत्सु च सभासु च ॥५९॥

भीमसेनने कहा—मूर्ख ! यदि तू जीवित रहना चाहता है, तो उसका उपाय बताता हूँ; मेरी बात सुन । तुझे संसदों और सभाओंमें जाकर सदा यही कहना होगा कि 'मैं राजा विराटका दास हूँ' ॥ ५९ ॥

एवं ते जीवितं दद्यामेष युद्धजितो विधिः ।
तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः ॥६०॥

ऐसा स्वीकार हो तो तुझे जीवन-दान दूँगा । युद्धमें जीतनेवाले पुरुषोंका यही नियम है । तब बड़े भ्राता युधिष्ठिरने भीमसे प्रेमपूर्वक कहा ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर उवाच

मुञ्च मुञ्चाधमाचारं प्रमाणं यदि ते वयम् ।
दासभावं गतो ह्येष विराटस्य महीपतेः ।
अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः कदाचन ॥६१॥

तब युधिष्ठिर बोले—भैया ! यदि तुम मेरी बात मानते हो, तो इस पापाचारीको 'छोड़ दो, छोड़ दो' । यह महाराज विराटका दास तो हो ही चुका है । (इसके बाद वे सुशर्मासे बोले—) 'तुम दास नहीं रहे, जाओ, छोड़ दिये गये । फिर कभी 'ऐसा काम न करना' ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिण दिशाकी गौओंका अपहरण करते समय सुशर्माके निग्रहसे सम्बन्ध रखनेवाला तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ६३ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

राजा विराटद्वारा पाण्डवोंका सम्मान, युधिष्ठिरद्वारा राजाका अभिनन्दन तथा विराटनगरमें राजाकी विजयघोषणा

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु सव्रीडः सुशर्माऽऽसीदधोमुखः ।
स मुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य प्रतस्थिवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर सुशर्माने लज्जित होकर अपना मुँह नीचे कर लिया और बन्धनसे मुक्त हो राजा विराटके पास जा उन्हें प्रणाम करके अपने देशको प्रस्थान किया ॥ १ ॥

विसृज्य तु सुशर्माणं पाण्डवास्ते हतद्विषः ।
स्वबाहुबलसम्पन्ना ह्रीनिषेवा यतव्रताः ॥ २ ॥
संग्रामशिरसो मध्ये तां रात्रिं सुखिनोऽवसन् ॥

इस प्रकार सुशर्माको मुक्त करके शत्रुओंका संहार करनेवाले, अपने बाहुबलसे सम्पन्न, लज्जाशील और संयम-पूर्वक व्रतपालनमें तत्पर रहनेवाले वे पाण्डव उस युद्धके मुहानेपर ही रातभर सुखसे रहे ॥ २½ ॥

ततो विराटः कौन्तेयानतिमानुषविक्रमान् ।
अर्चयामास वित्तेन मानेन च महारथान् ॥ ३ ॥

तदनन्तर राजा विराटने अतिमानुष (मानवीय शक्ति-से परे) पराक्रम करनेवाले महारथी कुन्तीपुत्रोंका धन और मानदानद्वारा सत्कार किया ॥ ३ ॥

विराट उवाच

यथैव मम रत्नानि युष्माकं तानि वै तथा ।
कार्यं कुरुत वै सर्वे यथाकामं यथासुखम् ॥ ४ ॥
ददाम्यलंकृताः कन्या वसूनि विविधानि च ।
मनसश्चाप्यभिप्रेतं युद्धे शत्रुनिबर्हणाः ॥ ५ ॥

विराटने कहा—युद्धमें शत्रुओंका संहार करनेवाले वीरो ! ये रत्न और धन जैसे मेरे हैं, वैसे ही तुमलोगोंके भी। तुम सब लोग यहाँ सुखपूर्वक रहो और जिस कार्यमें तुमलोगोंकी रुचि हो, वही करो । मैं तुम सबको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कन्याएँ, नाना प्रकारके रत्न, धन तथा और भी मनोवाञ्छित पदार्थ देता हूँ ॥ ४-५ ॥

युष्माकं विक्रमादद्य मुक्तोऽहं स्वस्तिमानिह ।
तस्माद् भवन्तो मत्स्यानामीश्वराः सर्व एव हि ॥ ६ ॥

आज मैं तुमलोगोंके ही पराक्रमसे यहाँ शत्रुके पंजेसे कुशलपूर्वक छूटकर आया हूँ । अतः तुमलोग मत्स्यदेशके स्वामी ही हो ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेतिवादिनं मत्स्यं कौरवेयाः पृथक् पृथक् ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार कहनेवाले मत्स्यराजसे युधिष्ठिर आदि सभी कुरुवंशी पृथक्-पृथक् हाथ जोड़कर बोले—॥ ७ ॥

प्रतिनन्दाम ते वाक्यं सर्वं चैव विशाम्पते ।
एतेनैव प्रतीताः स्म यत् त्वं मुक्तोऽद्य शत्रुभिः ॥ ८ ॥

'महाराज ! आपका कहना ठीक है । हम आपके सम्पूर्ण वचनोंका अभिनन्दन करते हैं, किंतु हमलोग इतनेसेही संतुष्ट हैं कि आप आज शत्रुओंसे मुक्त हो गये' ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीत् प्रीतमना मत्स्यराजो युधिष्ठिरम् ।
पुनरेव महाबाहुर्विराटो राजसत्तमः ॥ ९ ॥
एहि त्वामभिषेक्ष्यामि मत्स्यराजस्तु नो भवान् ॥ १० ॥

तब राजाओंमें श्रेष्ठ मत्स्यनरेश महाबाहु विराटने मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न होकर पुनः युधिष्ठिरसे कहा—'कङ्कजी ! आइये, मैं आपका अभिषेक करूँगा । आप ही हमारे मत्स्यदेशके राजा बनें ॥ ९-१० ॥

मनसश्चाप्यभिप्रेतं यथेष्टं भुवि दुर्लभम् ।
तत् तेऽहं सम्प्रदास्यामि सर्वमर्हति नो भवान् ॥ ११ ॥

'इस पृथ्वीपर दुर्लभ जो और भी प्रिय तथा मनोवाञ्छित पदार्थ होगा, वह भी मैं आपको दूँगा । आप तो हमारा सब कुछ पानेके अधिकारी हैं ॥ ११ ॥

रत्नानि गाः सुवर्णं च मणिमुक्तमथापि च ।
वैयाघ्रपद्य विप्रेन्द्र सर्वथैव नमोऽस्तु ते ॥ १२ ॥

'व्याघ्रपदगोत्रमें उत्पन्न विप्रवर ! मेरे रत्न, गौएँ, सुवर्ण, मणि तथा मोती भी आपके अर्पण हैं । आपको हमारा सब प्रकारसे नमस्कार है ॥ १२ ॥

त्वत्कृते ह्यद्य पश्यामि राज्यं संतानमेव च ।
यतश्च जातसंरम्भो न च शत्रुवशं गतः ॥ १३ ॥

'आपके कारण ही आज मैं अपने राज्य और संतानका मुख देख पाऊँगा; क्योंकि पकड़े जानेपर मैं भयभीत हो गया था, किंतु आपके पराक्रमसे शत्रुके अधीन नहीं रहा' ॥ १३ ॥

ततो युधिष्ठिरो मत्स्यं पुनरेवाभ्यभाषत ।
प्रतिनन्दामि ते वाक्यं मनोज्ञं मत्स्य भाषसे ॥ १४ ॥
आनृशंस्यपरो नित्यं सुसुखी सततं भव ।

यह सुनकर राजा युधिष्ठिरने मत्स्यराजसे पुनः कहा—'राजन् ! आप बड़ी मनोहर बात कह रहे हैं । मैं आपके इस वचनका अभिनन्दन करता हूँ आप निरन्तर दयाभाव रखते हुए सर्वदा परम सुखी हों ॥ १४½ ॥

(वैशम्पायन उवाच

पुनरेव विराटश्च राजा कङ्कमभाषत ।
अहो सूदस्य कर्माणि बल्लवस्य द्विजोत्तम ।
सोऽहं सूदेन संग्रामे बल्लवेनाभिरक्षितः ॥
त्वत्कृते सर्वमेवैतदुपपन्नं ममानघ ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते ब्रूहि किं करवाणि ते ॥
ददामि ते महाप्रीत्या रत्नान्युच्चावचानि च ।
शयनासनयानानि कन्याश्च समलंकृताः ॥
हस्त्यश्वरथसङ्घाश्च राष्ट्राणि विविधानि च ।
एतानि च मम प्रीत्या प्रतिगृह्णीष्व सुव्रत ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कङ्कनामधारी युधिष्ठिरके यों कहनेपर राजा विराट पुनः उनसे इस प्रकार बोले—'द्विजश्रेष्ठ ! बल्लव नामक रसोइयेका कर्म भी अद्भुत है । इस युद्धमें बल्लवने ही मेरी रक्षा की है। निष्पाप विप्रवर ! आपके ही करनेसे यह सब कुछ सम्भव हुआ है । आपका कल्याण हो । आप मुझसे वर माँगिये और बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ आपको नाना प्रकारके उत्तमोत्तम रत्न, शय्या, आसन, वाहन, वस्त्राभूषणों-से विभूषित सुन्दरी कन्याएँ, हाथी, घोड़े और रथोंके समूह तथा भाँति-भाँतिके जनपद भेंट करता हूँ । सुव्रत ! आप मेरी प्रसन्नताके लिये इन सब वस्तुओंको ग्रहण करें ॥

तं तथावादिनं तत्र कौरव्यः प्रत्यभाषत ।
एकैव तु मम प्रीतिर्यत् त्वं मुक्तोऽसि शत्रुभिः ।
प्रतीतश्च पुरं तुष्टः प्रवेक्ष्यसि तदानघ ॥
दारैः पुत्रैश्च संश्लिष्य सा हि प्रीतिर्ममातुला ।)

तब वहाँ ऐसी बातें कहनेवाले राजा विराटको कुरुकुल-नन्दन युधिष्ठिरने इस प्रकार उत्तर दिया—'महाराज ! आप शत्रुओंके हाथसे छूट गये, यही मेरे लिये बड़ी प्रसन्नताकी बात है । अनघ ! आप निर्भय होकर संतोषपूर्वक अपने नगरमें प्रवेश करेंगे और अपने स्त्री-पुत्रोंसे मिलकर सुखी होंगे; यही मेरे लिये अनुपम प्रसन्नताकी बात होगी ॥

गच्छन्तु दूतास्त्वरितं नगरं तव पार्थिव ॥ १५ ॥
सुहृदां प्रियमाख्यातुं घोषयन्तु च ते जयम् ।
ततस्तद्वचनान्मत्स्यो दूतान् राजा समादिशत् ॥ १६ ॥

'महाराज ! अब आपके नगरमें सुहृदोंसे यह प्रिय समाचार बतानेके लिये तुरंत ही दूतोंको जाना चाहिये । वे दूत वहाँ आपकी विजय घोषित करें ।' तब उनके कथनानुसार राजा विराटने दूतोंको आदेश दिया—॥ १५-१६ ॥

आचक्षध्वं पुरं गत्वा संग्रामविजयं मम ।
कुमार्यः समलंकृत्य पर्यागच्छन्तु मे पुरात् ॥ १७ ॥

'दूतो ! तुमलोग नगरमें जाकर सूचना दो कि युद्धमें मेरी विजय हुई है । कुमारी कन्याएँ शृङ्गार करके स्वागतके लिये नगरसे बाहर आ जायँ ॥ १७ ॥

वादित्राणि च सर्वाणि गणिकाश्च स्वलंकृताः ।
एतां चाज्ञां ततः श्रुत्वा राज्ञा मत्स्येन नोदिताः ।
तामाज्ञां शिरसा कृत्वा प्रस्थिता हृष्टमानसाः ॥ १८ ॥

'सब प्रकारके बाजे बजाये जायँ और वेश्याएँ भी सज-धजकर तैयार रहें ।' मत्स्यराजकी इस आज्ञाको सुनकर उसे शिरोधार्य करके दूत प्रसन्नचित्त होकर चले ॥ १८ ॥

ते गत्वा तत्र तां रात्रिमथ सूर्योदयं प्रति ।
विराटस्य पुराभ्याशे दूता जयमघोषयन् ॥ १९ ॥

रातमें ही वहाँसे प्रस्थान करके सूर्योदय होते-होते दूत विराटकी राजधानीमें जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने सब ओर मत्स्यराजकी विजय घोषित कर दी ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे विराटजयघोषे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिण दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें विराटके जयघोषसम्बन्धी चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

कौरवोंद्वारा उत्तर दिशाकी ओरसे आकर विराटकी गौओंका अपहरण और गोपाध्यक्षका उत्तरकुमारको युद्धके लिये उत्साह दिलाना

वैशम्पायन उवाच

याते त्रिगर्तान् मत्स्ये तु पशूंस्तान् वै परीप्सति ।
दुर्योधनः सहामात्यो विराटमुपयादथ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जिस समय अपने पशुओंको छुड़ा लानेकी इच्छासे राजा विराट त्रिगर्तोंसे युद्ध करनेके लिये गये, उसी समय दुर्योधनने अपने मन्त्रियोंके साथ विराटदेशपर चढ़ाई की ॥ १ ॥

भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च कृपश्च परमास्त्रवित् ।
द्रौणिश्च सौबलश्चैव तथा दुःशासनः प्रभो ॥ २ ॥
विविंशतिर्विकर्णश्च चित्रसेनश्च वीर्यवान् ।
दुर्मुखो दुःशलश्चैव ये चैवान्ये महारथाः ॥ ३ ॥

राजन् ! भीष्म, द्रोण, कर्ण, अस्त्रविद्याके श्रेष्ठ विद्वान् कृपाचार्य, अश्वत्थामा, शकुनि, दुःशासन, विविंशति, विकर्ण, पराक्रमी चित्रसेन, दुर्मुख, दुःशल तथा अन्य महारथी भी दुर्योधनके साथ थे ॥ २-३ ॥

एते मत्स्यानुपागम्य विराटस्य महीपतेः ।
घोषान् विद्राव्य तरसा गोधनं जह्रुरोजसा ॥ ४ ॥

इन सबने राजा विराटके मत्स्यदेशमें आकर उनके गोष्ठोंमें भगदड़ मचा दी और बड़े वेगसे बलपूर्वक गोधनका अपहरण करना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

षष्टिं गवां सहस्राणि कुरवः कालयन्ति च ।
महता रथवंशेन परिवार्य समन्ततः ॥ ५ ॥

वे कौरव वीर राजा विराटकी साठ हजार गौओंको विशाल रथसमूहोंद्वारा चारों ओरसे घेरकर हाँक ले चले ॥ ५ ॥

गोपालानां तु घोषस्य हन्यतां तैर्महारथैः ।
आरावः सुमहानासीत् सम्प्रहारे भयंकरे ॥ ६ ॥

उस समय वहाँ भयंकर मारपीट हुई । उन महारथियोंद्वारा मारे जाते हुए गोष्ठके ग्वालोंका जोर-जोरसे होनेवाला आर्तनाद बहुत दूरतक सुनायी देता था ॥ ६ ॥

कौरवोंद्वारा विराटकी गायोंका हरण

गोपाध्यक्षो भयत्रस्तो रथमास्थाय सत्वरः।
जगाम नगरायैव परिक्रोशंस्तदाऽऽर्तवत् ॥ ७ ॥

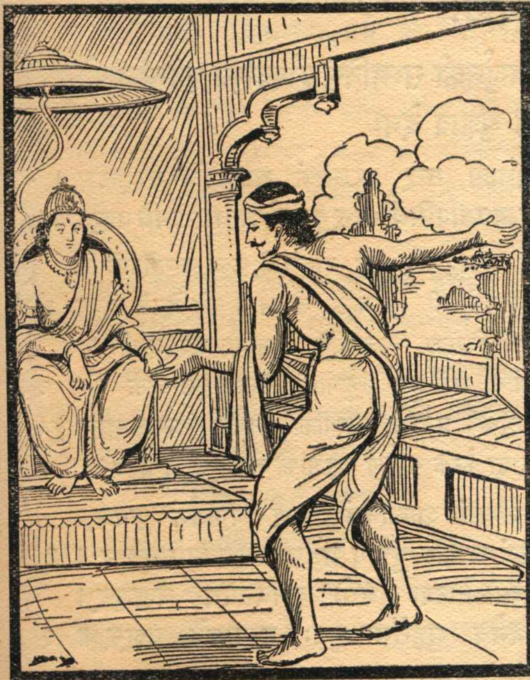
तब उन गौओंका रक्षक भयभीत हो तुरंत ही रथपर बैठकर आर्तकी भाँति विलाप करता हुआ राजधानीकी ओर चल दिया ॥ ७ ॥

स प्रविश्य पुरं राज्ञो नृपवेश्माभ्ययात् ततः।
अवतीर्य रथात् तूर्णमाख्यातुं प्रविवेश ह ॥ ८ ॥

राजा विराटके नगरमें पहुँचकर वह राजभवनके समीप गया और रथसे उतरकर तुरंत यह समाचार सूचित करनेके लिये महलके भीतर चला गया ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा भूमिंजयं नाम पुत्रं मत्स्यस्य मानिनम्।
तस्मै तत् सर्वमाचष्ट राष्ट्रस्य पशुकर्षणम् ॥ ९ ॥
षष्टिं गवां सहस्राणि कुरवः कालयन्ति ते।
तद् विजेतुं समुत्तिष्ठ गोधनं राष्ट्रवर्धन ॥ १० ॥

वहाँ मत्स्यराजके मानी पुत्र भूमिञ्जय (उत्तर) से मिलकर उस गोपने उनसे राज्यके पशुओंके अपहरणका सब समाचार बताते हुए कहा—'राजकुमार ! आप इस राष्ट्रकी वृद्धि



करनेवाले हैं। आज कौरव आपकी साठ हजार गौओंको हाँक ले जा रहे हैं। उनके हाथसे उस गोधनको जीत लानेके लिये उठ खड़े होइये ॥ ९-१० ॥

राजपुत्र हितप्रेप्सुः क्षिप्रं निर्याहि च स्वयम्।
त्वां हि मत्स्यो महीपालः शून्यपालमिहाकरोत् ॥ ११ ॥

'राजपुत्र ! आप इस राज्यके हितैषी हैं, अतः स्वयं ही युद्धके लिये तैयार होकर निकलिये। मत्स्यनरेशने अपनी अनुपस्थितिमें आपको ही यहाँका रक्षक नियुक्त किया है ॥

त्वया परिषदो मध्ये श्लाघते स नराधिपः।
पुत्रो ममानुरूपश्च शूरश्चेति कुलोद्वहः ॥ १२ ॥

'वे सभामें आपसे प्रभावित होकर आपकी प्रशंसामें बड़ी-बड़ी बातें किया करते हैं। उनका कहना है—'मेरा यह पुत्र उत्तर मेरे अनुरूप शूरवीर और इस वंशका भार वहन करनेमें समर्थ है ॥ १२ ॥

इष्वस्त्रे निपुणो योधः सदा वीरश्च मे सुतः।
तस्य तत् सत्यमेवास्तु मनुष्येन्द्रस्य भाषितम् ॥ १३ ॥

'मेरा वह लाड़ला बेटा बाण चलाने तथा अन्यान्य अस्त्रोंके प्रयोगकी कलामें भी निपुण, सदा युद्धके लिये उद्यत रहनेवाला और वीर है।' उन महाराजका यह कथन आज सत्य सिद्ध होना चाहिये ॥ १३ ॥

आवर्तय कुरूञ्जित्वा पशून् पशुमतां वर।
निर्दहैषामनीकानि भीमेन शरतेजसा ॥ १४ ॥

'पशुसम्पत्तिवाले समस्त राजाओंमें आप श्रेष्ठ हैं; अतः कौरवोंको परास्त करके अपने पशुओंको लौटा लाइये और बाणोंकी भयंकर अग्निसे इन कौरवोंकी सारी सेनाओंको भस्म कर डालिये ॥ १४ ॥

धनुश्च्युतै रुक्मपुङ्खैः शरैः संनतपर्वभिः।
द्विषतां भिन्ध्यनीकानि गजानामिव यूथपः ॥ १५ ॥

'जैसे हाथियोंके झुंडका स्वामी गजराज अपने विरोधियोंको रौंद डालता है, उसी प्रकार आप अपने धनुषसे छूटे हुए सुवर्णमय पंखसे सुशोभित और झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंद्वारा विपक्षियोंकी विपुल वाहिनीको छिन्न-भिन्न कर डालिये ॥ १५ ॥

पाशोपधानां ज्यातन्त्रीं चापदण्डां महास्वनाम्।
शरवर्णां धनुर्वीणां शत्रुमध्ये प्रवादय ॥ १६ ॥

'आज शत्रुओंके बीचमें जोर-जोरसे गूँजनेवाली धनुषरूपी वीणा बजाइये। पाश (प्रत्यञ्चा बाँधनेके दोनों सिरे) उसके उपधान (खूँटियाँ) हैं, प्रत्यञ्चा तार हैं, धनुष उसका दण्ड है और बाण ही उससे झङ्कृत होनेवाले वर्ण (स्वर) हैं ॥ १६ ॥

श्वेता रजतसंकाशा रथे युज्यन्तु ते हयाः।
ध्वजं च सिंहं सौवर्णमुच्छ्रयन्तु तव प्रभो ॥ १७ ॥

'प्रभो ! अब चाँदीके समान चमकनेवाले वे श्वेत रंगके घोड़े आपके रथमें जोते जायँ और सिंहके चिह्नसे सुशोभित सुवर्णमय ऊँचा ध्वज फहरा दिया जाय ॥ १७ ॥

रुक्मपुङ्खाः प्रसन्नाग्रा मुक्ता हस्तवता त्वया।
छादयन्तु शराः सूर्यं राज्ञां मार्गनिरोधकाः ॥ १८ ॥

'वीरवर ! आपके हाथ बहुत मजबूत हैं। उनके द्वारा

आपके चलाये हुए सोनेकी पाँख और स्वच्छ नोकवाले बाण शत्रुपक्षके राजाओंकी राह रोककर सूर्यदेवको भी ढक दें ॥

रणे जित्वा कुरून् सर्वान् वज्रपाणिरिवासुरान् ।
यशो महदवाप्य त्वं प्रविशेदं पुरं पुनः ॥ १९ ॥

'जैसे वज्रपाणि इन्द्र समस्त असुरोंको परास्त कर देते हैं, उसी प्रकार आप युद्धमें सम्पूर्ण कौरवोंको जीतकर महान् यश प्राप्त करके पुनः इस नगरमें प्रवेश करें ॥ १९ ॥

त्वं हि राष्ट्रस्य परमा गतिर्मत्स्यपतेः सुतः ।
यथा हि पाण्डुपुत्राणामर्जुनो जयतां वरः ॥ २० ॥
एवमेव गतिर्नूनं भवान् विषयवासिनाम् ।
गतिमन्तो वयं त्वद्य सर्वे विषयवासिनः ॥ २१ ॥

'मत्स्यराजके सुयोग्य पुत्र होनेके कारण आप ही इस राष्ट्रके महान् आश्रय हैं। जैसे विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन पाण्डवोंके उत्तम आश्रय हैं, उसी प्रकार आप भी निश्चय ही इस राज्यके निवासियोंकी परम गति हैं। हम सभी मत्स्यदेशवासी आज आपको पाकर ही गतिमान् (सनाथ) हैं' ॥ २०-२१ ॥

वैशम्पायन उवाच

स्त्रीमध्य उक्तस्तेनासौ तद् वाक्यमभयंकरम् ।
अन्तःपुरे श्लाघमान इदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उस समय राजकुमार उत्तर अन्तःपुरमें स्त्रियोंके बीचमें बैठा था। वहीं उस गोपाध्यक्षने उससे ये निर्भय बनानेवाली उत्साहजनक बातें कहीं । अतः वह अपनी प्रशंसा करता हुआ इस प्रकार कहने लगा ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे गोपवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी गौओंके अपहरणके प्रसंगमें गोपवचनविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

उत्तरका अपने लिये सारथि ढूँढ़नेका प्रस्ताव, अर्जुनकी सम्मतिसे द्रौपदीका बृहन्नलाको सारथि बनानेके लिये सुझाव देना

उत्तर उवाच

अद्याहमनुगच्छेयं दृढधन्वा गवां पदम् ।
यदि मे सारथिः कश्चिद् भवेदश्वेषु कोविदः ॥ १ ॥

उत्तर बोला—गोपप्रवर ! मेरा धनुष तो बहुत मजबूत है। यदि मेरे पास घोड़े हाँकनेकी कलामें कुशल कोई सारथि होता, तो आज मैं अवश्य ही उन गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करता ॥ १ ॥

तं त्वहं नावगच्छामि यो मे यन्ता भवेन्नरः ।
पश्यध्वं सारथिं क्षिप्रं मम युक्तं प्रयास्यतः ॥ २ ॥

इस समय मुझे ऐसे किसी मनुष्यका पता नहीं है, जो मेरा सारथि बन सके । मैं युद्धके लिये प्रस्थान करूँगा, अतः शीघ्र मेरेलिये किसी योग्य सारथिकी तलाश करो ॥

अष्टाविंशतिरात्रं वा मासं वा नूनमन्ततः ।
यत् तदासीन्महद् युद्धं तत्र मे सारथिर्हतः ॥ ३ ॥

पहले लगातार अट्ठाईस राततक अथवा अन्ततः एक मासतक जो वह महायुद्ध हुआ था, उसमें मेरा सारथि मारा गया था ॥ ३ ॥

स लभेयं यदा त्वन्यं हययानविदं नरम् ।
त्वरावानद्य यात्वाहं समुच्छ्रितमहाध्वजम् ॥ ४ ॥
विगाह्य तत् परानीकं गजवाजिरथाकुलम् ।
शस्त्रप्रतापनिर्वीर्यान् कुरूञ्जित्वाऽऽनये पशून् ॥ ५ ॥

अतः यदि घोड़े हाँकनेकी कला जाननेवाले किसी दूसरे मनुष्यको भी पा जाऊँ, तो अभी बड़े वेगसे जाकर ऊँची-ऊँची विशाल ध्वजाओंसे विभूषित एवं हाथी, घोड़े तथा रथोंसे भरी हुई शत्रुओंकी सेनामें घुस जाऊँ और अपने आयुधोंके प्रतापसे कौरवोंको निर्वीर्य (पराक्रमशून्य) तथा परास्त करके सम्पूर्ण पशुओंको लौटा लाऊँ ॥ ४-५ ॥

दुर्योधनं शान्तनवं कर्णं वैकर्तनं कृपम् ।
द्रोणं च सह पुत्रेण महेष्वासान् समागतान् ॥ ६ ॥
वित्रासयित्वा संग्रामे दानवानिव वज्रभृत् ।
अनेनैव मुहूर्तेन पुनः प्रत्यानये पशून् ॥ ७ ॥

जैसे वज्रधारी इन्द्र दानवोंको भयभीत कर देते हैं, उसी प्रकार मैं दुर्योधन, शान्तनुनन्दन भीष्म, सूर्यपुत्र कर्ण, कृपाचार्य तथा पुत्र (अश्वत्थामा) सहित द्रोणाचार्य आदि महान् धनुर्धरोंको, जो यहाँ आये हैं, युद्धमें अत्यन्त भय पहुँचाकर इसी मुहूर्तमें अपने पशुओंको वापस ला सकता हूँ॥

शून्यमासाद्य कुरवः प्रयान्त्यादाय गोधनम् ।
किं नु शक्यं मया कर्तुं यदहं तत्र नाभवम् ॥ ८ ॥

गोष्ठको सूना पाकर कौरवलोग मेरा गोधन लिये जा

रहे हैं। परंतु अब मैं यहाँसे क्या कर सकता हूँ? जब कि वहाँ उस समय मैं मौजूद नहीं था॥ ८॥

पश्येयुरद्य मे वीर्यं कुरवस्ते समागताः।
किं नु पार्थोऽर्जुनः साक्षादयमस्मान् प्रबाधते॥ ९॥

अच्छा, जब कौरवलोग यहाँ आ ही गये हैं, तब आज मेरा पराक्रम देख लें। फिर तो वे कहेंगे—'क्या यह साक्षात् कुन्तीपुत्र अर्जुन ही हमें पीड़ा दे रहा है?'॥ ९॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तदर्जुनो वाक्यं राज्ञः पुत्रस्य भाषतः।
अतीतसमये काले प्रियां भार्यामनिन्दिताम्॥ १०॥
द्रुपदस्य सुतां तन्वीं पाञ्चालीं पावकात्मजाम्।
सत्यार्जवगुणोपेतां भर्तुः प्रियहिते रताम्॥ ११॥
उवाच रहसि प्रीतः कृष्णां सर्वार्थकोविदः।
उत्तरं ब्रूहि कल्याणि क्षिप्रं मद्वचनादिदम्॥ १२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार बोलते हुए राजकुमार उत्तरकी वह बात सुनकर सब बातोंमें कुशल अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए। उस समयतक उनके अज्ञात-वासकी अवधि पूरी हो गयी थी। अतः उन्होंने अपनी सती-साध्वी प्यारी पत्नी पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको, जिसका अग्निसे प्रादुर्भाव हुआ था और जो तन्वङ्गी, सत्य-सरलता आदि सद्गुणोंसे विभूषित तथा पतिके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहनेवाली थी, एकान्तमें बुलाकर कहा—'कल्याणि! तुम मेरी बात मानकर राजकुमार उत्तरसे शीघ्र इस प्रकार कहो—॥ १०—१२॥

अयं वै पाण्डवस्यासीत् सारथिः सम्मतो दृढः।
महायुद्धेषु संसिद्धः स ते यन्ता भविष्यति॥ १३॥

'यह बृहन्नला पाण्डुनन्दन अर्जुनका सुदृढ़ एवं प्रिय सारथि रह चुका है। उसने बड़े-बड़े युद्धोंमें सफलता प्राप्त की है। वह तुम्हारा सारथि हो जायगा'॥ १३॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं स्त्रीषु भाषतश्च पुनः पुनः।
न सामर्षत पाञ्चाली बीभत्सोः परिकीर्तनम्॥ १४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उत्तर स्त्रियोंके बीचमें बैठा था और बार-बार अपनी तुलनामें अर्जुनका नाम ले-लेकर डींग मार रहा था। पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीसे यह सहन न हो सका॥ १४॥

अथैनमुपसंगम्य स्त्रीमध्यात् सा तपस्विनी।
व्रीडमानेव शनकैरिदं वचनमब्रवीत्॥ १५॥

वह तपस्विनी स्त्रियोंके बीचसे उठकर उत्तरके समीप आयी और लजाती हुई-सी धीरे-धीरे इस प्रकार बोली—।१५।

योऽसौ बृहद्वारणाभो युवा सुप्रियदर्शनः।
बृहन्नलेति विख्यातः पार्थस्यासीत् स सारथिः॥ १६॥

'राजकुमार! यह जो विशाल गजराजके समान हृष्ट-पुष्ट, तरुण, सुन्दर और देखनेमें अत्यन्त प्रिय 'बृहन्नला' नामसे विख्यात नर्तक है, पहले कुन्तीपुत्र अर्जुनका सारथि था॥ १६॥

धनुष्यनवरश्चासीत् तस्य शिष्यो महात्मनः।
दृष्टपूर्वो मया वीर चरन्त्या पाण्डवान् प्रति॥ १७॥

'वीर! यह उन्हीं महात्माका शिष्य है, अतः धनुर्विद्यामें भी उनसे कम नहीं है। पहले पाण्डवोंके यहाँ रहते समय मैंने इसे देखा है॥ १७॥

यदा तत् पावको दावमदहत् खाण्डवं महत्।
अर्जुनस्य तदानेन संगृहीता हयोत्तमाः॥ १८॥

'जिन दिनों अर्जुनकी सहायतासे अग्निदेवने दावानल-रूप हो महान् खाण्डववनको जलाया था, उस समय इसीने अर्जुनके श्रेष्ठ घोड़ोंकी बागडोर सँभाली थी॥ १८॥

तेन सारथिना पार्थः सर्वभूतानि सर्वशः।
अजयत् खाण्डवप्रस्थे न हि यन्तास्ति तादृशः॥ १९॥

'इसी सारथिके सहयोगसे कुन्तीपुत्र अर्जुनने खाण्डवप्रस्थमें सम्पूर्ण प्राणियोंपर विजय पायी थी; अतः इसके समान दूसरा कोई सारथि नहीं है'॥ १९॥

उत्तर उवाच

सैरन्ध्रि जानासि तथा युवानं
नपुंसको नैव भवेद् यथासौ।
अहं न शक्नोमि बृहन्नलां शुभे
वक्तुं स्वयं यच्छ हयान् ममेति वै॥ २०॥

उत्तरने कहा—सैरन्ध्री! वह युवक ऐसे गुणोंसे विभूषित है कि वह नपुंसक नहीं हो सकता; इन बातोंको तुम अच्छी तरह जानती हो; [अतः तुम उससे कह दो, तो ठीक है।] शुभे! मैं स्वयं बृहन्नलासे नहीं कह सकता कि तुम मेरे घोड़ोंकी रास सँभालो॥ २०॥

द्रौपद्युवाच

येयं कुमारी सुश्रोणी भगिनी ते यवीयसी।
अस्याः स वीर वचनं करिष्यति न संशयः॥ २१॥

द्रौपदीने कहा—वीर! यह जो सुन्दर कटिप्रदेश-वाली तुम्हारी छोटी बहिन कुमारी उत्तरा है। इसकी बात वह अवश्य मान लेगा, इसमें संशय नहीं है॥ २१॥

यदि वै सारथिः स स्यात् कुरून् सर्वान् न संशयः।
जित्वा गाश्च समादाय ध्रुवमागमनं भवेत्॥ २२॥

यदि वह सारथि हो जाय, तो निःसंदेह सम्पूर्ण कौरवोंको जीतकर और गौओंको भी वापस लेकर तुम्हारा इस नगरमें आगमन हो सकता है, यह ध्रुव सत्य है॥ २२॥

एवमुक्तः स सैरन्ध्र्या भगिनीं प्रत्यभाषत ।
गच्छ त्वमनवद्याङ्गि तामानय बृहन्नलाम् ॥ २३ ॥

सैरन्ध्रीके ऐसा कहनेपर उत्तर अपनी बहिनसे बोला—'निर्दोष अङ्गोंवाली उत्तरे ! जाओ; उस बृहन्नलाको बुला ले आओ' ॥ २३ ॥

सा भ्रात्रा प्रेषिता शीघ्रमगच्छन्नर्तनागृहम् ।
यत्रास्ते स महाबाहुश्छन्नः सत्रेण पाण्डवः ॥ २४ ॥

भाईके भेजनेपर कुमारी उत्तरा शीघ्र नृत्यशालामें गयी, जहाँ पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुन कपटवेषमें छिपकर रहते थे ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे बृहन्नलासारथ्यकथने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें बृहन्नलाका सारथ्यकथनसम्बन्धी छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

बृहन्नलाको सारथि बनाकर राजकुमार उत्तरका रणभूमिकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

सा प्राद्रवत् काञ्चनमाल्यधारिणी
ज्येष्ठेन भ्रात्रा प्रहिता यशस्विनी ।
सुदक्षिणा वेदिविलग्नमध्या
सा पद्मपत्राभनिभा शिखण्डिनी ॥ १ ॥
तन्वी शुभाङ्गी मणिचित्रमेखला
मत्स्यस्य राज्ञो दुहिता श्रिया वृता ।
तन्नर्तनागारमरालपक्ष्मा
शतह्रदा मेघमिवान्वपद्यत ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुमारी उत्तरा सोनेकी माला और मोरपंखका शृङ्गार धारण किये हुए थी। उसकी अङ्गकान्ति कमलदलकी-सी आभावाली लक्ष्मीको भी लज्जित कर रही थी। उसकी कमर यज्ञकी वेदीके समान सूक्ष्म थी। शरीरसे भी वह पतली ही थी। उसके सभी अङ्ग शुभ लक्षणोंसे युक्त थे। उसने कटिप्रदेशमें मणियोंकी बनी हुई विचित्र करधनी पहन रक्खी थी। मत्स्यराजकी वह यशस्विनी कन्या अनुपम शोभासे प्रकाशित हो रही थी। बड़ोंकी आज्ञा माननेवाली कुमारी उत्तरा बड़े भाईके भेजनेसे बड़ी उतावलीके साथ नृत्यशालामें गयी; मानो चपला मेघमालामें विलीन हो गयी हो। उसके नेत्रोंकी टेढ़ी-टेढ़ी बरौनियाँ बड़ी भली मालूम होती थीं ॥ १-२ ॥

सा हस्तिहस्तोपमसंहितोरूः
स्वनिन्दिता चारुदती सुमध्यमा ।
आसाद्य तं वै वरमाल्यधारिणी
पार्थं शुभा नागवधूरिव द्विपम् ॥ ३ ॥

उसकी परस्पर सटी हुई जाँघें हाथीकी सूँड़के समान सुशोभित होती थीं, दाँत चमकीले और मनोहर थे। शरीरका मध्यभाग बड़ा सुहावना था। वह अनिन्द्यसुन्दरी सुन्दर हार धारण किये उन कुन्तीनन्दन अर्जुनके पास पहुँचकर गजराजके समीप गयी हुई हथिनीके समान शोभा पा रही थी ॥ ३ ॥

सा रत्नभूता मनसः प्रियार्चिता
सुता विराटस्य यथेन्द्रलक्ष्मीः ।
सुदर्शनीया प्रमुखे यशस्विनी
प्रीत्याब्रवीदर्जुनमायतेक्षणा ॥ ४ ॥

विराटकुमारी उत्तरा स्त्रियोंमें रत्नस्वरूपा और मनको प्रिय लगनेवाली थी। वह उस राजभवनमें इन्द्रकी साम्राज्यलक्ष्मीके समान सम्मानित थी। उसके नेत्र बड़े-बड़े थे। वह यशस्विनी बाला सामनेसे देखने ही योग्य थी। वह अर्जुनसे प्रेमपूर्वक बोली—॥ ४ ॥

सुसंहतोरूं कनकोज्ज्वलत्वचं
पार्थः कुमारीं स तदाभ्यभाषत ।
किमागमः काञ्चनमाल्यधारिणि
मृगाक्षि किं त्वं त्वरितेव भामिनि ॥
किं ते मुखं सुन्दरि न प्रसन्न-
माचक्ष्व तत्त्वं मम शीघ्रमङ्गने ॥ ५ ॥

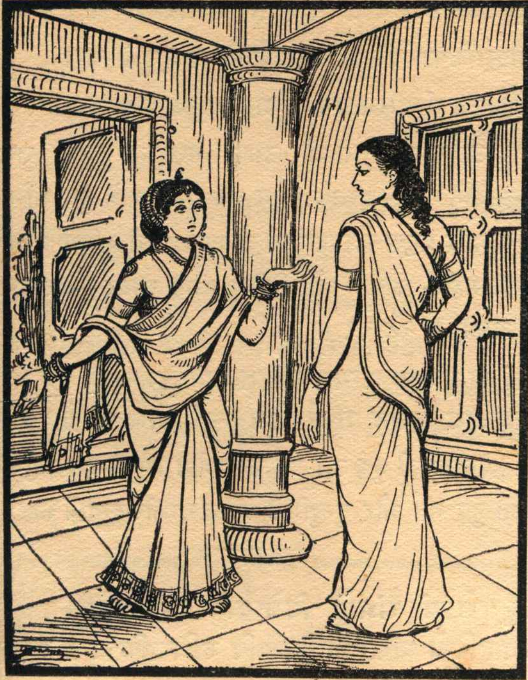
सुवर्णके समान सुन्दर एवं गौर त्वचा तथा सटी जाँघोंवाली कुमारी उत्तराको देखकर अर्जुनने पूछा—'सुवर्णकी माला धारण करनेवाली मृगलोचने ! भामिनि ! तुम क्यों उतावली-सी चली आ रही हो ? सुन्दरि ! आज तुम्हारा मुख प्रसन्न क्यों नहीं है ? अङ्गने ! मुझे शीघ्र सब बातें ठीक-ठीक बताओ' ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

स तां दृष्ट्वा विशालाक्षीं राजपुत्रीं सखीं तथा ।
प्रहसन्नब्रवीद् राजन् किमागमनमित्युत ॥ ६ ॥
तमब्रवीद् राजपुत्री समुपेत्य नरर्षभम् ।
प्रणयं भावयन्ती सा सखीमध्य इदं वचः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विशाल नेत्रोंवाली अपनी सखी राजकुमारी उत्तराकी ओर देखकर अर्जुनने

हँसते हुए जब उससे अपने पास आनेका कारण पूछा, तब वह राजपुत्री नरश्रेष्ठ अर्जुनके समीप जा अपना प्रेम प्रकट करती हुई सखियोंके बीचमें इस प्रकार बोली—॥ ६-७ ॥



गावो राष्ट्रस्य कुरुभिः काल्यन्ते नो बृहन्नले ।
ता विजेतुं मम भ्राता प्रयास्यति धनुर्धरः ॥ ८ ॥

'बृहन्नले ! हमारे राष्ट्रकी गौओंको कौरव हाँककर लिये जाते हैं; अतः उन्हें जीतनेके लिये मेरे भैया धनुष धारण करके जानेवाले हैं ॥ ८ ॥

नाचिरं निहतस्तस्य संग्रामे रथसारथिः ।
तेन नास्ति समः सूतो योऽस्य सारथ्यमाचरेत् ॥ ९ ॥

'थोड़े ही दिन हुए, उनके रथका सारथि एक युद्धमें मारा गया। इस कारण कोई ऐसा योग्य सूत नहीं है, जो उनके सारथिका काम सँभाल सके ॥ ९ ॥

तस्मै प्रयतमानाय सारथ्यर्थं बृहन्नले ।
आचचक्षे हयज्ञाने सैरन्ध्री कौशलं तव ॥ १० ॥

'बृहन्नले ! वे सारथि ढूँढ़नेका प्रयत्न कर रहे थे, इतनेमें ही सैरन्ध्रीने पहुँचकर यह बताया कि तुम अश्वविद्यामें कुशल हो ॥ १० ॥

अर्जुनस्य किलासीस्त्वं सारथिर्दयितः पुरा ।
त्वयाजयत् सहायेन पृथिवीं पाण्डवर्षभः ॥ ११ ॥

'पहले तुम अर्जुनका प्रिय सारथि रह चुकी हो। तुम्हारी सहायतासे उन पाण्डवशिरोमणिने समूची पृथ्वीपर विजय पायी है ॥ ११ ॥

सा सारथ्यं मम भ्रातुः कुरु साधु बृहन्नले ।
पुरा दूरतरं गावो ह्रियन्ते कुरुभिर्हि नः ॥ १२ ॥

'अतः बृहन्नले ! इसके पहले कि कौरवलोग हमारी गौओंको बहुत दूर लेकर चले जायँ, तुम मेरे भाईके सारथिका कार्य अच्छी तरह कर दो ॥ १२ ॥

अथैतद् वचनं मेऽद्य नियुक्ता न करिष्यसि ।
प्रणयादुच्यमाना त्वं परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ १३ ॥

'सखी ! मैं बड़े प्रेमसे यह बात कहती हूँ। यदि आज इतना अनुरोध करनेपर भी तुम मेरी बात नहीं मानोगी, तो मैं प्राण त्याग दूँगी' ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु सुश्रोण्या तया सख्या परंतपः ।
जगाम राजपुत्रस्य सकाशममितौजसः ॥ १४ ॥
तमाव्रजन्तं त्वरितं प्रभिन्नमिव कुञ्जरम् ।
अन्वगच्छद् विशालाक्षी गजं गजवधूरिव ॥ १५ ॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली सखी उत्तराके ऐसा कहनेपर शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुन अमितपराक्रमी राजकुमार उत्तरके समीप गये। मद टपकानेवाले गजराजकी भाँति शीघ्रतापूर्वक आते हुए अर्जुनके पीछे-पीछे विशाल नेत्रोंवाली उत्तरा भी आयी; ठीक उसी तरह, जैसे हथिनी हाथीके पीछे-पीछे जाती है ॥ १४-१५ ॥

दूरादेव तु तां प्रेक्ष्य राजपुत्रोऽभ्यभाषत ।
त्वया सारथिना पार्थः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ॥ १६ ॥
पृथिवीमजयत् कृत्स्नां कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
सैरन्ध्री त्वां समाचष्टे सा हि जानाति पाण्डवान् ॥ १७ ॥

राजकुमार उत्तरने बृहन्नलाको दूरसे ही देखकर इस प्रकार कहा—'बृहन्नले ! अर्जुनने तुम्हें सारथि बनाकर खाण्डववनमें अग्निको तृप्त किया था। इतना ही नहीं, कुन्तीपुत्र धनंजयने तुम-जैसे सारथिके सहयोगसे ही समूची पृथ्वीपर विजय पायी है।' तुम्हारे विषयमें यह बात सैरन्ध्री कह रही थी, क्योंकि वह पाण्डवोंको अच्छी तरह जानती है ॥ १६-१७ ॥

संयच्छ मामकानश्वांस्तथैव त्वं बृहन्नले ।
कुरुभिर्योत्स्यमानस्य गोधनानि परीप्सतः ॥ १८ ॥

'बृहन्नले ! तुम अर्जुनकी ही भाँति मेरे घोड़ोंको भी काबूमें रखना, क्योंकि मैं अपना गोधन वापस लेनेके लिये कौरवोंके साथ युद्ध करनेवाला हूँ ॥ १८ ॥

अर्जुनस्य किलासीस्त्वं सारथिर्दयितः पुरा ।
त्वयाजयत् सहायेन पृथिवीं पाण्डवर्षभः ॥ १९ ॥

'पहले तुम अर्जुनका प्रिय सारथि रह चुकी हो और तुम्हारी ही सहायतासे उन पाण्डवशिरोमणिने समूची पृथ्वीपर विजय पायी है' ॥ १९ ॥

एवमुक्ता प्रत्युवाच राजपुत्रं बृहन्नला ।
का शक्तिर्मम सारथ्यं कर्तुं संग्राममूर्धनि ॥ २० ॥

उसके ऐसा कहनेपर बृहन्नला राजकुमारसे बोली—'भला, मेरी क्या शक्ति है कि मैं युद्धके मुहानेपर सारथिका काम सँभाल सकूँ ?' ॥ २० ॥

गीतं वा यदि वा नृत्यं वादित्रं वा पृथग्विधम् ।
तत् करिष्यामि भद्रं ते सारथ्यं तु कुतो मम ॥ २१ ॥

'राजकुमार ! आपका कल्याण हो । यदि गाना हो, नृत्य करना हो अथवा विभिन्न प्रकारके बाजे बजाने हों, तो वह कर लूँगी । सारथिका काम मुझसे कैसे हो सकता है ?' ॥२१॥

उत्तर उवाच

बृहन्नले गायनो वा नर्तनो वा पुनर्भव ।
क्षिप्रं मे रथमास्थाय निगृह्णीष्व हयोत्तमान् ॥ २२ ॥

उत्तर बोला—बृहन्नले ! तुम पुनः लौटकर गायक या नर्तक जो चाहो, बन जाना । इस समय तो शीघ्र ही मेरे रथपर बैठकर श्रेष्ठ घोड़ोंको काबूमें करो ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

स तत्र नर्मसंयुक्तमकरोत् पाण्डवो बहु ।
उत्तरायाः प्रमुखतः सर्वं जानन्नरिंदमः ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शत्रुओंका दमन करनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने सब कुछ जानते हुए भी उत्तराके सामने हँसीके लिये बहुत-से अनभिज्ञतासूचक कार्य किये ॥ २३ ॥

ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य कवचं शरीरे प्रत्यमुञ्चत ।
कुमार्यस्तत्र तं दृष्ट्वा प्राहसन् पृथुलोचनाः ॥ २४ ॥

वे कवचको ऊपर उठाकर शरीरमें डालने लगे । यह देखकर वहाँ खड़ी हुई बड़े-बड़े नेत्रोंवाली राजकुमारियाँ हँसने लगीं ॥ २४ ॥

स तु दृष्ट्वा विमुह्यन्तं स्वयमेवोत्तरस्ततः ।
कवचेन महार्हेण समनह्यद् बृहन्नलाम् ॥ २५ ॥

बृहन्नलाको(कवच धारणके समय)भूल करती देख राजकुमार उत्तरने स्वयं ही उसे बहुमूल्य कवच धारण कराया ॥ २५ ॥

स बिभ्रत् कवचं चाग्र्यं स्वयमप्यंशुमत्प्रभम् ।
ध्वजं च सिंहमुच्छ्रित्य सारथ्ये समकल्पयत् ॥ २६ ॥

फिर उसने स्वयं भी सूर्यके समान कान्तिमान् सुन्दर कवच धारण किया और रथपर सिंहध्वज फहराकर बृहन्नलाको सारथिके कार्यमें नियुक्त कर दिया ॥ २६ ॥

धनूंषि च महार्हाणि बाणांश्च रुचिरान् बहून् ।
आदाय प्रययौ वीरः स बृहन्नलसारथिः ॥ २७ ॥

तदनन्तर बहुत-से बहुमूल्य धनुष और सुन्दर बाण लेकर वीर उत्तर बृहन्नला सारथिके साथ युद्धके लिये प्रस्थित हुआ ॥ २७ ॥

अथोत्तरा च कन्याश्च सख्यस्तामब्रुवंस्तदा ।
बृहन्नले आनयेथा वासांसि रुचिराणि च ॥ २८ ॥
पाञ्चालिकार्थं चित्राणि सूक्ष्माणि च मृदूनि च ।
विजित्य संग्रामगतान् भीष्मद्रोणमुखान् कुरून् ॥२९॥

उस समय उत्तरा और उसकी सखीरूपा दूसरी राजकन्याओंने कहा—'बृहन्नले ! तुम युद्धभूमिमें आये हुए भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख कौरववीरोंको जीतकर हमारी गुड़ियोंके लिये उनके महीन, कोमल और विचित्र रंगके सुन्दर-सुन्दर वस्त्र ले आना' ॥ २८-२९ ॥

एवं ता ब्रुवतीः कन्याः सहिताः पाण्डुनन्दनः ।
प्रत्युवाच हसन् पार्थो मेघदुन्दुभिनिःस्वनः ॥ ३० ॥

ऐसा कहती हुई उन सब कन्याओंसे पाण्डुनन्दन अर्जुनने हँसते हुए मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर वाणीमें कहा ॥

बृहन्नलोवाच

यद्युत्तरोऽयं संग्रामे विजेष्यति महारथान् ।
अथाहरिष्ये वासांसि दिव्यानि रुचिराणि च ॥ ३१ ॥

बृहन्नला बोली—यदि ये राजकुमार उत्तर रणभूमिमें उन महारथियोंको परास्त कर देंगे, तो मैं अवश्य उनके दिव्य और सुन्दर वस्त्र ले आऊँगी ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु बीभत्सुस्ततः प्राचोदयद्धयान् ।
कुरूनभिमुखः शूरो नानाध्वजपताकिनः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर शूरवीर अर्जुनने भाँति-भाँतिकी ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित कौरवोंकी ओर जानेके लिये घोड़ोंको हाँक दिया ॥ ३२ ॥

तमुत्तरं वीक्ष्य रथोत्तमे स्थितं
बृहन्नलायाः सहितं महाभुजम् ।
स्त्रियश्च कन्याश्च द्विजाश्च सुव्रताः
प्रदक्षिणं चक्रुरथोचुरङ्गनाः ॥ ३३ ॥

बृहन्नलाके साथ उत्तम रथपर बैठे हुए महाबाहु उत्तरको जाते देख स्त्रियों, कन्याओं तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंने उसकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की । तत्पश्चात् स्त्रियाँ और कन्याएँ बोलीं—॥ ३३ ॥

यदर्जुनस्यर्षभतुल्यगामिनः
पुराभवत् खाण्डवदाहमङ्गलम् ।
कुरून् समासाद्य रणे बृहन्नले
सहोत्तरेणाद्य तदस्तु मङ्गलम् ॥ ३४ ॥

'बृहन्नले ! वृषभके समान गतिवाले अर्जुनको पहले खाण्डववनदाहके समय जैसा मङ्गल प्राप्त हुआ था, आज युद्धमें कौरवोंके पास पहुँचनेपर राजकुमार उत्तरके साथ तुम्हें वैसा ही मङ्गल प्राप्त हो' ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे उत्तरनिर्याणं नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें राजकुमार उत्तरका युद्धके लिये प्रस्थानविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

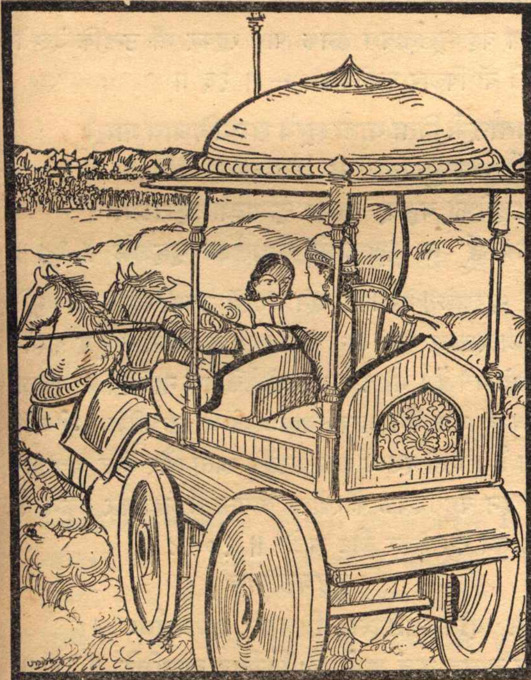
अष्टात्रिंशोऽध्यायः

उत्तरकुमारका भय और अर्जुनका उसे आश्वासन देकर रथपर चढ़ाना

वैशम्पायन उवाच

स राजधान्या निर्याय वैराटिरकुतोभयः ।
प्रयाहीत्यब्रवीत् सूतं यत्र ते कुरवो गताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजधानीसे निकलकर विराटकुमार उत्तरने सर्वथा निर्भय हो सारथिसे कहा—'बृहन्नले ! जहाँ कौरव गये हैं, उधर ही रथ ले चलो ॥ १ ॥



समवेतान् कुरून् सर्वाञ्जिगीषूनवजित्य वै ।
गास्तेषां क्षिप्रमादाय पुनरेष्याम्यहं पुरम् ॥ २ ॥

'मैं यहाँ विजयकी आशासे एकत्र होनेवाले समस्त कौरवोंको परास्त करके उनसे अपनी गौएँ वापस ले शीघ्र अपने नगरमें लौट आऊँगा' ॥ २ ॥

ततस्तांश्चोदयामास सदश्वान् पाण्डुनन्दनः ।
ते हया नरसिंहेन नोदिता वातरंहसः ।
आलिखन्त इवाकाशमूहुः काञ्चनमालिनः ॥ ३ ॥

तब पाण्डुनन्दन अर्जुनने उत्तरके उत्तम जातिके घोड़ोंको हाँका और उनकी बाग ढीली कर दी । नरश्रेष्ठ अर्जुनके हाँकनेपर सोनेकी माला पहने हुए वे घोड़े हवाके समान वेगसे चलने लगे, मानो आकाशमें अपनी टाप अड़ाते हुए रथ लिये उड़े जा रहे हों ॥ ३ ॥

नातिदूरमथो गत्वा मत्स्यपुत्रधनंजयौ ।
अवेक्षेताममित्रघ्नौ कुरूणां बलिनां बलम् ॥ ४ ॥

थोड़ी ही दूर जानेपर शत्रुहन्ता विराटपुत्र उत्तर और धनंजयने महाबली कौरवोंकी विशाल सेना देखी ॥ ४ ॥

श्मशानमभितो गत्वा आससाद कुरूनथ ।
तां शमीमन्ववीक्षेतां व्यूढानीकांश्च सर्वशः ॥ ५ ॥

श्मशानभूमिके समीप जाकर उन्होंने कौरवोंको पा लिया । वे दोनों उस शमीवृक्षके आसपास सब ओर सेनाका व्यूह बनाकर खड़े हुए कौरव-सैनिकोंकी ओर देखने लगे ॥ ५ ॥

तदनीकं महत् तेषां विबभौ सागरोपमम् ।
सर्पमाणमिवाकाशे वनं बहुलपादपम् ॥ ६ ॥

उनकी वह विशाल वाहिनी समुद्रके समान जान पड़ती थी । जब वह चलती, तब ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशमें असंख्य वृक्षोंसे भरा हुआ वन चल रहा हो ॥ ६ ॥

ददृशे पार्थिवो रेणुर्जनितस्तेन सर्पता ।
दृष्टिप्रणाशो भूतानां दिवस्पृक् कुरुसत्तम ॥ ७ ॥

कुरुश्रेष्ठ जनमेजय ! कौरव-सेनाके चलनेसे ऊपर उठी हुई धरतीकी धूल अन्तरिक्षको छूती-सी दिखायी देती थी । उसके कारण समस्त प्राणियोंकी दृष्टिका लोप-सा हो गया था—किसीको कुछ सूझ नहीं पड़ता था ॥ ७ ॥

तदनीकं महद् दृष्ट्वा गजाश्वरथसंकुलम् ।
कर्णदुर्योधनकृपैर्गुप्तं शान्तनवेन च ॥ ८ ॥
द्रोणेन च सपुत्रेण महेष्वासेन धीमता ।
हृष्टरोमा भयोद्विग्नः पार्थं वैराटिरब्रवीत् ॥ ९ ॥

वह भारी सेना हाथी, घोड़ों एवं रथोंसे भरी हुई थी । कर्ण, दुर्योधन, कृपाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा और महान्

धनुर्धर एवं परम बुद्धिमान् द्रोण उसकी रक्षा कर रहे थे। उसे देखकर विराटपुत्र उत्तरके रोंगटे खड़े हो गये। उसने भयसे व्याकुल होकर अर्जुनसे कहा ॥ ८-९ ॥

उत्तर उवाच

नोत्सहे कुरुभिर्योद्धुं रोमहर्षं हि पश्य मे।
बहुप्रवीरमत्युग्रं देवैरपि दुरासदम् ॥ १० ॥

उत्तर बोला—बृहन्नले! मुझमें कौरवोंके साथ युद्ध करनेका साहस नहीं है; क्योंकि देखो, भयके कारण मेरे रोएँ खड़े हो गये हैं। इस सेनाके भीतर बहुतेरे बड़े-बड़े वीर हैं। यह बड़ी भयानक जान पड़ती है। इसे परास्त करना तो देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ १० ॥

प्रतियोद्धुं न शक्ष्यामि कुरुसैन्यमनन्तकम्।
नाशंसे भारतीं सेनां प्रवेष्टुं भीमकार्मुकाम् ॥ ११ ॥

कौरवोंकी सेनाका कहीं अन्त नहीं है। मैं इसका सामना नहीं कर सकता। भयानक धनुषवाली भरतवंशियोंकी इस विशाल वाहिनीमें प्रवेश करना तो दूर रहे, मैं उसके सम्बन्धमें बात भी नहीं कर सकता ॥ ११ ॥

रथनागाश्वकलिलां पत्तिध्वजसमाकुलाम्।
दृष्ट्वैव हि परानाजौ मनः प्रव्यथतीव मे ॥ १२ ॥

रथ, हाथी और घोड़ोंसे यह कौरवदल खचाखच भरा हुआ है। पैदल सिपाहियों और असंख्य ध्वजाओंसे व्याप्त है। इसलिये रणभूमिमें इन शत्रुओंको देखकर ही मेरा हृदय व्यथित-सा हो गया है ॥ १२ ॥

यत्र द्रोणश्च भीष्मश्च कृपः कर्णो विविंशतिः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तश्च बाह्लिकः ॥ १३ ॥
दुर्योधनस्तथा वीरो राजा च रथिनां वरः।
द्युतिमन्तो महेष्वासाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ १४ ॥

जहाँ द्रोण, भीष्म, कृप, कर्ण, विविंशति, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक तथा रथियोंमें श्रेष्ठ वीर राजा दुर्योधन हैं। जो सबके सब तेजस्वी, महान् धनुर्धर और युद्धकी कलामें प्रवीण हैं ॥ १३-१४ ॥

(मत्ता इव महानागा युक्तध्वजपताकिनः।
नीतिमन्तो महेष्वासा सर्वास्त्रकृतनिश्चयाः ॥
दुर्जयाः सर्वसैन्यानां देवैरपि सवासवैः।
पताकिनश्च मातङ्गाः सध्वजाश्च महारथाः ॥
विप्रकीर्णाः कृतोद्योगा वाजिनश्चित्रभूषिताः।
ताञ्जेतुं समरे शूरान् दुर्बुद्धिरहमागतः ॥)

ये कौरववीर मदसे उन्मत्त हुए महान् गजराजोंके समान जान पड़ते हैं। ये सबके सब ध्वजा-पताकाओंसे युक्त, नीति-निपुण, महाधनुर्धर तथा सम्पूर्ण अस्त्रविद्याका सुनिश्चित ज्ञान रखते हैं। इनपर विजय पाना सम्पूर्ण सेनाओंके लिये ही नहीं, इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है। इनके हाथियोंपर भी पताकाएँ फहरा रही हैं। बड़े-बड़े रथ ध्वजाओंसे सुशोभित हो रहे हैं। विचित्र आभूषणोंसे आभूषित घोड़े चारों ओर फैलकर विजयके लिये उद्योगशील प्रतीत होते हैं। ऐसे शूरवीर कौरवोंको युद्धमें जीतनेके लिये मैं दुर्बुद्धि बालक कहाँ आ गया? ॥

दृष्ट्वैव हि कुरूनेतान् व्यूढानीकान् प्रहारिणः।
हृषितानि च रोमाणि कश्मलं चागतं मम ॥ १५ ॥

सेनाकी व्यूहरचना करके प्रहारके लिये उद्यत खड़े हुए इन कौरवोंको देखकर ही मेरे रोंगटे खड़े हो गये हैं। मुझे मूर्च्छा-सी आ रही है ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

अविजातो विजातस्य मौर्ख्याद् धूर्तस्य पश्यतः।
परिदेवयते मन्दः सकाशे सव्यसाचिनः ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मूर्ख उत्तर एक साधारण कोटिका मनुष्य था और छद्मवेशधारी सव्यसाची अर्जुन असाधारण वीर थे। अतः उनके प्रभावको न जाननेके कारण वह मूर्खतावश उनके पास रहकर भी उन्हींके देखते-देखते यों विलाप करने लगा— ॥ १६ ॥

त्रिगर्तान् मे पिता यातः शून्ये सम्प्रणिधाय माम्।
सर्वां सेनामुपादाय न मे सन्तीह सैनिकाः ॥ १७ ॥
सोऽहमेको बहून् बालः कृतास्त्रानकृतश्रमः।
प्रतियोद्धुं न शक्ष्यामि निवर्तस्व बृहन्नले ॥ १८ ॥

'बृहन्नले! मेरे पिता सूने नगरमें उसकी रक्षाके लिये मुझे अकेला रखकर स्वयं सारी सेना साथ ले त्रिगर्तोंसे युद्ध करनेके लिये गये हैं। मेरे पास यहाँ कोई सैनिक नहीं है। मैं अकेला बालक हूँ और मैंने अस्त्रविद्यामें अभी अधिक परिश्रम भी नहीं किया है। ऐसी दशामें अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता और प्रौढ़ अवस्थावाले इन बहुसंख्यक कौरवोंका सामना मैं नहीं कर सकूँगा। अतः तुम रथ लेकर लौट चलो' ॥ १७-१८ ॥

बृहन्नलोवाच

भयेन दीनरूपोऽसि द्विषतां हर्षवर्धनः।
न च तावत् कृतं कर्म परैः किंचिद् रणाजिरे ॥ १९ ॥

बृहन्नलाने कहा—राजकुमार! तुम भयके कारण दीन होकर शत्रुओंका हर्ष बढ़ा रहे हो। अभी तो शत्रुओंने युद्धके मैदानमें कोई पराक्रम भी नहीं प्रकट किया है ॥ १९ ॥

स्वयमेव च मामात्थ वह मां कौरवान् प्रति।
सोऽहं त्वां तत्र नेष्यामि यत्रैते बहुला ध्वजाः ॥ २० ॥

तुमने स्वयं ही कहा था कि मुझे कौरवोंके पास ले चलो; अतः जहाँ ये बहुत-सी ध्वजाएँ फहरा रही हैं, वहीं तुम्हें ले चलूँगी ॥ २० ॥

मध्यमामिषगृध्राणां कुरूणामाततायिनाम् ।
नेष्यामि त्वां महाबाहो पृथिव्यामपि युध्यताम् ॥ २१ ॥

महाबाहो ! जैसे गीध मांसपर टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार जो गौओंको लूटनेके लिये यहाँ आये हैं, उन आततायी कौरवोंके बीच तुम्हें ले चलती हूँ। यदि ये पृथ्वीके लिये भी युद्ध ठानेंगे तो उसमें भी मैं तुम्हें ले चलूँगी ॥ २१ ॥

तथा स्त्रीषु प्रतिश्रुत्य पौरुषं पुरुषेषु च ।
कत्थमानोऽभिनिर्याय किमर्थं न युयुत्ससे ॥ २२ ॥

तुम स्त्रियों और पुरुषोंके बीच कौरवोंको हराकर अपने गोधनको वापस लानेकी प्रतिज्ञा करके पुरुषार्थके विषयमें अपनी श्लाघा करते हुए युद्धके लिये निकले थे; फिर अब क्यों युद्ध नहीं करना चाहते ? ॥ २२ ॥

न चेद् विजित्य गास्तास्त्वं गृहान् वै प्रतियास्यसि।
प्रहसिष्यन्ति वीरास्त्वां नरा नार्यश्च संगताः ॥ २३ ॥

यदि उन गौओंको बिना जीते ही तुम घर लौटोगे, तो वीर पुरुष तुम्हारी हँसी उड़ायेंगे और यत्र-तत्र स्त्रियाँ और पुरुष एकत्र हो तुम्हारा उपहास करेंगे ॥ २३ ॥

अहमप्यत्र सैरन्ध्र्या ख्याता सारथ्यकर्मणि ।
न च शक्ष्याम्यनिर्जित्य गाः प्रयातुं पुरं प्रति ॥ २४ ॥

मैं भी सैरन्ध्रीके द्वारा सारथ्यके कार्यमें कुशल बतायी गयी हूँ, अतः अब गौओंको जीतकर वापस लिये बिना मैं नगरमें नहीं जा सकूँगी ॥ २४ ॥

स्तोत्रेण चैव सैरन्ध्र्यास्तव वाक्येन तेन च ।
कथं न युध्येयमहं कुरून् सर्वान् स्थिरो भव ॥ २५ ॥

सैरन्ध्री और तुमने भी बड़ी-बड़ी बातें कहकर मेरी बहुत स्तुति-प्रशंसा की है, फिर सम्पूर्ण कौरवोंके साथ मैं ही क्यों न युद्ध करूँ ? तुम दृढ़तापूर्वक डट जाओ ॥ २५ ॥

उत्तर उवाच

कामं हरन्तु मत्स्यानां भूयांसः कुरवो धनम् ।
प्रहसन्तु च मां नार्यो नरा वापि बृहन्नले ॥ २६ ॥
संग्रामे न च कार्यं मे गावो गच्छन्तु चापि मे।
शून्यं मे नगरं चापि पितुश्चैव बिभेम्यहम् ॥ २७ ॥

उत्तर बोला—बृहन्नले ! भारी संख्यामें आये हुए कौरव भले ही मत्स्यदेशका सारा धन इच्छानुसार हर ले जायँ, स्त्रियाँ अथवा पुरुष जितना चाहें, मेरा उपहास करें तथा मेरी गौएँ भी चली जायँ; किंतु इस युद्धमें मेरा कोई काम नहीं है । मेरा नगर सूना पड़ा है । [पिताजी उसकी रक्षाका भार मुझे दे गये थे] । मैं पिताजीसे डरता हूँ [इसलिये यहाँ नहीं ठहर सकता] ॥ २६-२७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्राद्रवद् भीतो रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली।
त्यक्त्वा मानं च दर्पं च विसृज्य सशरं धनुः ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर मान और अभिमानको त्यागकर बाणसहित धनुषको वहीं छोड़कर कुण्डलधारी राजकुमार उत्तर रथसे कूद पड़ा और भयभीत होकर भाग चला ॥ २८ ॥

बृहन्नलोवाच

नैष शूरैः स्मृतो धर्मः क्षत्रियस्य पलायनम् ।
श्रेयस्तु मरणं युद्धे न भीतस्य पलायनम् ॥ २९ ॥

तब बृहन्नलाने कहा—राजकुमार ! क्षत्रियका युद्धसे भागना शूरवीरोंकी दृष्टिमें धर्म नहीं है । युद्ध करके मर जाना अच्छा है; किंतु भयभीत होकर भागना कदापि अच्छा नहीं है॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयः सोऽवप्लुत्य रथोत्तमात्।
तमन्वधावद् धावन्तं राजपुत्रं धनंजयः ॥ ३० ॥
दीर्घां वेणीं विधुन्वानः साधु रक्ते च वाससी ।
विधूय वेणीं धावन्तमजानन्तोऽर्जुनं तदा ॥ ३१ ॥
सैनिकाः प्राहसन् केचित् तथारूपमवेक्ष्य तम् ।
तं शीघ्रमभिधावन्तं सम्प्रेक्ष्य कुरवोऽब्रुवन् ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर कुन्ती-नन्दन धनंजय भी उस उत्तम रथसे कूद पड़े और भागते हुए राजकुमारको पकड़नेके लिये अपनी लंबी चोटी हिलाते और लाल रंगकी साड़ी एवं दुपट्टेको फहराते हुए उसके पीछे-पीछे



दौड़े । उस समय चोटी हिला-हिलाकर दौड़ते हुए अर्जुनको उस रूपमें देखकर उन्हें न जाननेवाले कुछ सैनिक ठहाका

मारकर हँसने लगे। उन्हें शीघ्र गतिसे दौड़ते देख कौरव आपसमें कहने लगे—॥ ३०—३२ ॥

क एष वेषसंच्छन्नो भस्मन्येव हुताशनः।
किंचिदस्य यथा पुंसः किंचिदस्य यथा स्त्रियः॥ ३३॥

'यह कौन है जो राखमें छिपी हुई अग्निकी भाँति नारीके वेशमें छिपा है? इसकी कुछ बातें तो पुरुषों-जैसी हैं और कुछ स्त्रियों-जैसी ॥ ३३ ॥

सारूप्यमर्जुनस्येव क्लीबरूपं बिभर्ति च।
तदेवैतच्छिरो ग्रीवं तौ बाहू परिघोपमौ।
तद्वदेवास्य विक्रान्तं नायमन्यो धनंजयात्॥ ३४॥

'इसका स्वरूप तो अर्जुनसे मिलता-जुलता है; किंतु वेश-भूषा इसने नपुंसकों-जैसी बना रक्खी है। देखो न, वही अर्जुन-जैसा सिर है, वैसी ही ग्रीवा है, वे ही परिघ-जैसी मोटी भुजाएँ हैं और उन्हींके समान इसकी चाल-ढाल है; अतः यह अर्जुनके सिवा दूसरा कोई नहीं है ॥ ३४ ॥

अमरेष्विव देवेन्द्रो मानुषेषु धनंजयः।
एकः कोऽस्मानुपायायादन्यो लोके धनंजयात्॥ ३५॥

'मनुष्योंमें धनंजयका वही स्थान है, जो देवताओंमें इन्द्रका है। संसारमें अर्जुनके सिवा दूसरा कौन वीर है, जो अकेला हमलोगोंका सामना करनेके लिये चला आये? ॥ ३५ ॥

एकः पुत्रो विराटस्य शून्ये संनिहितः पुरे।
स एष किल निर्यातो बालभावान्न पौरुषात्॥ ३६॥

'विराटके सूने नगरमें उनका एक ही पुत्र देख-रेखके लिये रह गया था; सो यह बचपन (मूर्खता) के ही कारण हमारा सामना करनेके लिये चला आया, अपने पुरुषार्थसे प्रेरित होकर नहीं ॥ ३६ ॥

सत्रेण नूनं छन्नं हि चरन्तं पार्थमर्जुनम्।
उत्तरः सारथिं कृत्वा निर्यातो नगराद् बहिः॥ ३७॥

'निश्चय ही कपटवेशमें छिपे हुए कुन्तीपुत्र अर्जुनको अपना सारथि बनाकर उत्तर नगरसे बाहर निकला था ॥

स नो मन्यामहे दृष्ट्वा भीत एष पलायते।
तं नूनमेष धावन्तं जिघृक्षति धनंजयः॥ ३८॥

'मालूम होता है, हमलोगोंको देखकर यह बहुत डर गया है; इसीलिये भागा जाता है और ये अर्जुन अवश्य ही उस भागते हुए राजकुमारको पकड़ लाना चाहते हैं' ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति स्म कुरवः सर्वे विमृशन्तः पृथक् पृथक्।
न च व्यवसितुं किंचिदुत्तरं शक्नुवन्ति ते॥ ३९॥
छन्नं तथा तं सत्रेण पाण्डवं प्रेक्ष्य भारत।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! इस प्रकार सभी कौरव अलग-अलग विचार-विमर्श करते थे, किंतु छद्मवेशमें छिपे हुए पाण्डुनन्दन अर्जुन तथा उत्तरको देखकर भी वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाते थे ॥ ३९½ ॥

(दुर्योधन उवाचेदं सैनिकान् रथसत्तमान्॥
अर्जुनो वासुदेवो वा रामः प्रद्युम्न एव वा।
ते हि नः प्रतिसंयातुं संग्रामे न च शक्नुयुः॥
अन्यो वा क्लीबरूपेण यद्यागच्छेद् गवां पदम्।
अर्पयित्वा शरैस्तीक्ष्णैः पातयिष्यामि भूतले॥
कथमेकतरस्तेषां समस्तान् योधयेत् कुरून्।
अर्जुनो नेति चेत्येनं न व्यवस्यन्ति ते पुनः।
इति स्म कुरवः सर्वे मन्त्रयन्तो महारथाः॥
दृढवेधी महासत्त्वः शक्रतुल्यपराक्रमः।
अद्यागच्छति ये योद्धुं सर्वे संशयितं बलम्॥
न चाप्यन्यं नरं तत्र व्यवस्यन्ति धनंजयात्।)

उस समय दुर्योधनने रथियोंमें श्रेष्ठ समस्त सैनिकोंसे इस प्रकार कहा—'अर्जुन, श्रीकृष्ण, बलराम और प्रद्युम्न भी संग्राम-भूमिमें हमलोगोंका सामना नहीं कर सकते। यदि कोई दूसरा मनुष्य ही हीजड़ेका रूप धारण करके इन गौओंके स्थानपर आयेगा, तो मैं उसे अपने तीखे बाणोंसे घायल करके धरतीपर सुला दूँगा। यह उपर्युक्त वीरोंमेंसे ही कोई एक हो, तो भी अकेला समस्त कौरवोंके साथ कैसे युद्ध कर सकता है?' उधर 'यह अर्जुन ही तो नहीं है? नहीं, वे नहीं जान पड़ते।' इस प्रकार आपसमें मन्त्रणा करते हुए समस्त कौरव महारथी अर्जुनके विषयमें कोई निश्चय नहीं कर पाते थे। कई एक कहने लगे कि 'अर्जुनकी शक्ति महान् है। उनका पराक्रम इन्द्रके समान है। वे दृढतापूर्वक शत्रुओंका वेधन करनेवाले हैं। यदि वे ही आज युद्ध करनेके लिये आ रहे हैं, तब तो समस्त सैनिकों-का जीवन संशयमें पड़ गया।' वे इस मनुष्यको वहाँ अर्जुनसे भिन्न भी नहीं निश्चित कर पाते थे ॥

उत्तरं तु प्रधावन्तमभिद्रुत्य धनंजयः।
गत्वा पदशतं तूर्णं केशपक्षे परामृशत्॥ ४०॥

उधर अर्जुनने भागते हुए उत्तरका पीछा करके सौ कदम दूर जाते-जाते उसके केश पकड़ लिये ॥ ४० ॥

सोऽर्जुनेन परामृष्टः पर्यदेवयदार्तवत्।
बहुलं कृपणं चैव विराटस्य सुतस्तदा॥ ४१॥

अर्जुनके द्वारा पकड़ लिये जानेपर विराटपुत्र उत्तर बड़ी दीनताके साथ आर्तकी भाँति विलाप करने लगा ॥ ४१ ॥

उत्तर उवाच

श्रृणुयास्त्वं हि कल्याणि बृहन्नले सुमध्यमे।
निवर्तय रथं क्षिप्रं जीवन् भद्राणि पश्यति॥ ४२॥

उत्तर बोला—सुन्दर कटिवाली कल्याणमयी बृहन्नले!

तुम मेरी बात सुनो। मेरे रथको शीघ्र लौटाओ; क्योंकि मनुष्य जीवित रहे, तो वह अनेक बार मङ्गल देखता है ॥४२॥

शातकुम्भस्य शुद्धस्य शतं निष्कान् ददामि ते।
मणीनष्टौ च वैदूर्यान् हेमबद्धान् महाप्रभान् ॥ ४३ ॥

मैं तुम्हें शुद्ध सुवर्णकी सौ मोहरें देता हूँ, साथ ही अत्यन्त प्रकाशमान स्वर्णजटित आठ वैदूर्यमणियाँ भेंट करता हूँ ॥ ४३ ॥

हेमदण्डप्रतिच्छन्नं रथं युक्तं च सुव्रतैः।
मत्तांश्च दश मातङ्गान् मुञ्च मां त्वं बृहन्नले ॥ ४४ ॥

इतना ही नहीं, उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए तथा सुवर्णमय दण्डसे युक्त एक रथ और दस मतवाले हाथी भी दे रहा हूँ। बृहन्नले ! यह सब ले लो, किंतु तुम मुझे छोड़ दो॥

वैशम्पायन उवाच

एवमादीनि वाक्यानि विलपन्तमचेतसम्।
प्रहस्य पुरुषव्याघ्रो रथस्यान्तिकमानयत् ॥ ४५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उत्तर इसी प्रकारकी बातें कहता और विलाप करता हुआ अचेत हो रहा था। पुरुषसिंह अर्जुन उसकी बातोंपर हँसते हुए उसे रथके समीप ले आये ॥ ४५ ॥

अथैनमब्रवीत् पार्थो भयार्तं नष्टचेतसम्।
यदि नोत्सहसे योद्धुं शत्रुभिः शत्रुकर्षण।
एहि मे त्वं हयान् यच्छ युध्यमानस्य शत्रुभिः ॥ ४६ ॥

जब वह भयसे आतुर होकर अपनी सुध-बुध खोने लगा तब अर्जुनने उससे कहा—'शत्रुनाशन ! यदि तुम्हें शत्रुओंके साथ युद्ध करनेका उत्साह नहीं है तो चलो; मैं उनसे युद्ध करूँगा। तुम मेरे घोड़ोंकी बागडोर सँभालो ।४६।

प्रयाह्येतद् रथानीकं मद्बाहुबलरक्षितः।
अप्रधृष्यतमं घोरं गुप्तं वीरैर्महारथैः ॥ ४७ ॥

'तुम मेरे बाहुबलसे सुरक्षित हो इस रथ-सेनाकी ओर चलो, जो महारथी वीरोंसे सुरक्षित, घोर एवं अत्यन्त दुर्धर्ष है ॥४७॥

मा भैस्त्वं राजपुत्राग्र्य क्षत्रियोऽसि परंतप।
कथं पुरुषशार्दूल शत्रुमध्ये विषीदसि ॥ ४८ ॥

'राजपुत्रशिरोमणे ! भयभीत न होओ। शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर ! तुम क्षत्रिय हो, पुरुषसिंह ! तुम शत्रुओंके बीचमें आकर विषाद कैसे कर रहे हो ? ॥ ४८ ॥

अहं वै कुरुभिर्योत्स्ये विजेष्यामि च ते पशून्।
प्रविश्यैतद् रथानीकमप्रधृष्यं दुरासदम् ॥ ४९ ॥

'देखो, मैं इस अतीव दुर्धर्ष तथा दुर्गम रथसेनामें घुसकर कौरवोंके साथ युद्ध करूँगा और तुम्हारे पशुओंको जीत लाऊँगा ॥ ४९ ॥

यन्ता भव नरश्रेष्ठ योत्स्येऽहं कुरुभिः सह।

'नरश्रेष्ठ ! तुम केवल मेरे सारथि बनकर बैठे रहो। इन कौरवोंके साथ युद्ध तो मैं करूँगा' ॥ ४९½ ॥

एवं ब्रुवाणो बीभत्सुर्वैराटिमपराजितः।
समाश्वास्य मुहूर्तं तमुत्तरं भरतर्षभ ॥ ५० ॥
तत एनं विचेष्टन्तमकामं भयपीडितम्।
रथमारोपयामास पार्थः प्रहरतां वरः ॥ ५१ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ और कभी परास्त न होनेवाले कुन्तीपुत्र अर्जुनने उपर्युक्त बातें कहकर विराटकुमार उत्तरको दो घड़ीतक भलीभाँति समझाया-बुझाया। तत्पश्चात् युद्धकी कामनासे रहित, भयसे व्याकुल और भागनेके लिये छटपटाते हुए उत्तरको उन्होंने रथपर चढ़ाया ॥ ५०-५१ ॥

(गाण्डीवं पुनरादातुमुपायात् तां शमीं प्रति ॥
उत्तरं स समाश्वास्य कृत्वा यन्तारमर्जुनः।)

अर्जुन अपने गाण्डीव धनुषको लानेके लिये पुनः उस शमीवृक्षकी ओर गये। उन्होंने उत्तरको समझा-बुझाकर सारथि बननेके लिये राजी कर लिया था ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे उत्तराश्वासने अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशासे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें उत्तरके आश्वासनसे सम्बन्ध रखनेवाला अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल ६०½ श्लोक हैं)

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

द्रोणाचार्यद्वारा अर्जुनके अलौकिक पराक्रमकी प्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

तं दृष्ट्वा क्लीबवेषेण रथस्थं नरपुङ्गवम्।
शमीमभिमुखं यान्तं रथमारोप्य चोत्तरम् ॥ १ ॥
भीष्मद्रोणमुखास्तत्र कुरवो रथिसत्तमाः।
वित्रस्तमनसः सर्वे धनंजयकृताद् भयात् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! नपुंसकवेषमें रथपर बैठे हुए नरश्रेष्ठ अर्जुनको, जो उत्तरको रथपर बिठाकर शमीवृक्षकी ओर जा रहे थे, भीष्म-द्रोण आदि

कौरव महारथियोंने देखा। यह देखकर अर्जुनकी आशङ्का होनेसे वे सबके सब मन-ही-मन भयभीत हो उठे ॥ १-२ ॥

तानवेक्ष्य हतोत्साहानुत्पातानपि चाद्भुतान्।
गुरुः शस्त्रभृतां श्रेष्ठो भारद्वाजोऽभ्यभाषत ॥ ३ ॥

उन सब महारथियोंको हतोत्साह देख तथा अद्भुत उत्पातोंको भी देखकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन आचार्य द्रोण बोले—॥ ३ ॥

चण्डाश्च वाताः संवान्ति रूक्षाः शर्करवर्षिणः।
भस्मवर्णप्रकाशेन तमसा संवृतं नभः ॥ ४ ॥

'इस समय कंकड़ बरसानेवाली प्रचण्ड एवं रूखी हवा चल रही है। राखके समान रंगवाले अन्धकारसे आकाश आच्छादित हो रहा है ॥ ४ ॥

रूक्षवर्णाश्च जलदा दृश्यन्तेऽद्भुतदर्शनाः।
निःसरन्ति च कोशेभ्यः शस्त्राणि विविधानि च ॥ ५ ॥

'रूक्ष वर्णवाले अद्भुत बादल भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। म्यानोंसे अनेक प्रकारके शस्त्र निकल रहे हैं ॥ ५ ॥

शिवाश्च विनदन्त्येता दीप्तायां दिशि दारुणाः।
हयाश्चाश्रूणि मुञ्चन्ति ध्वजाः कम्पन्त्यकम्पिताः ॥ ६ ॥

'दिशाओंमें आग-सी लग रही है और उनमें ये भयंकर गीदड़ियाँ चीत्कार करती हैं। घोड़े आँसू बहाते हैं और रथोंकी ध्वजाएँ बिना हिलाये ही हिल रही हैं ॥ ६ ॥

यादृशान्यत्र रूपाणि संदृश्यन्ते बहूनि च।
यत्ता भवन्तस्तिष्ठन्तु साध्वसं समुपस्थितम् ॥ ७ ॥

'यहाँ जैसे-जैसे बहुत-से रूप (लक्षण) दिखायी दे रहे हैं, उनसे यह सूचित होता है कि कोई महान् भय उपस्थित होनेवाला है; अतः आप सब लोग सावधान हो जायँ ॥ ७ ॥

रक्षध्वमपि चात्मानं व्यूहध्वं वाहिनीमपि।
वैशसं च प्रतीक्षध्वं रक्षध्वं चापि गोधनम् ॥ ८ ॥

'आपलोग अपने आपकी रक्षा तो करें ही, सेनाका भी व्यूह बना लें। युद्धमें बहुत बड़ा नरसंहार होनेवाला है। उसकी प्रतीक्षा करें। और इस गोधनकी भी रखवाली करते रहें ॥

एष वीरो महेष्वासः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
आगतः क्लीबवेषेण पार्थो नास्त्यत्र संशयः ॥ ९ ॥

'नपुंसकवेशमें ये समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महान् धनुर्धर वीर अर्जुन ही आ गये हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥९॥

नदीज लङ्केशवनारिकेतु-
र्नगाह्वयो नाम नगारिसूनुः।
एषोऽङ्गनावेषधरः किरीटी
जित्वाव यं नेष्यति चाद्य गा वः॥१०॥

'गङ्गानन्दन ! जिनकी ध्वजापर हनुमान्‌जी विराजमान होते हैं, एक वृक्षका नाम (अर्जुन) ही जिनका नाम है और जो इन्द्रके पुत्र हैं, वे किरीटधारी धनंजय ही नारी-वेश धारण किये यहाँ आ रहे हैं। ये जिसको जीतकर आज हमारी इन गौओंको लौटा ले जायँगे, उस दुर्योधनकी रक्षा कीजिये ॥ १० ॥

स एष पार्थो विक्रान्तः सव्यसाची परंतपः।
नायुद्धेन निवर्तेत सर्वैरपि सुरासुरैः ॥११॥

'ये वे ही शत्रुओंको संताप देनेवाले महापराक्रमी सव्यसाची अर्जुन हैं, जो (सामना होनेपर) सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंके साथ भी बिना युद्ध किये पीछे नहीं लौट सकते ॥

क्लेशितश्च वने शूरो वासवेनापि शिक्षितः।
अमर्षवशमापन्नो वासवप्रतिमो युधि।
नेहास्य प्रतियोद्धारमहं पश्यामि कौरवाः ॥१२॥

'कौरवो ! साक्षात् इन्द्रने भी इन्हें अस्त्रविद्याकी शिक्षा दी है। युद्धमें कुपित होनेपर ये साक्षात् इन्द्रके समान पराक्रम दिखाते हैं। तुम लोगोंने इन शूरवीरको वनमें (अनुचित) क्लेश पहुँचाया है। मुझे इनका सामना करनेवाला कोई योद्धा यहाँ नहीं दिखायी देता ॥ १२ ॥

महादेवोऽपि पार्थेन श्रूयते युधि तोषितः।
किरातवेषप्रच्छन्नो गिरौ हिमवति प्रभुः ॥१३॥

'सुना जाता है, हिमालय पर्वतपर किरातवेशमें छिपे हुए साक्षात् भगवान् शंकरको भी अर्जुनने युद्धमें संतुष्ट किया था' ॥ १३ ॥

कर्ण उवाच

सदा भवान् फाल्गुनस्य गुणैरस्मान् विकत्थसे।
न चार्जुनः कलापूर्णो मम दुर्योधनस्य च ॥१४॥

कर्णने कहा—आचार्य ! आप सदा हमारे सामने अर्जुनके गुणोंकी श्लाघा करते रहते हैं, परंतु अर्जुन मेरी और दुर्योधनकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं है ॥१४॥

दुर्योधन उवाच

यद्येष पार्थो राधेय कृतं कार्यं भवेन्मम।
ज्ञाताः पुनश्चरिष्यन्ति द्वादशाब्दान् विशाम्पते ॥१५॥

दुर्योधनने कहा—राधानन्दन ! यदि यह अर्जुन है; तब तो मेरा काम ही बन गया। अङ्गराज ! अब ये पाण्डव पहचान लिये जानेके कारण फिर बारह वर्षोंतक वनमें भटकेंगे ॥ १५ ॥

अथैष कश्चिदेवान्यः क्लीबवेषेण मानवः।
शरैरेनं सुनिशितैः पातयिष्यामि भूतले ॥१६॥

और यदि यह नपुंसकवेशमें कोई दूसरा ही मनुष्य है, तो इसे अत्यन्त तीखे बाणोंद्वारा अभी इस भूतलपर मार गिराऊँगा ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् ब्रुवति तद् वाक्यं धार्तराष्ट्रे परंतप।
भीष्मो द्रोणः कृपो द्रौणिः पौरुषं तदपूजयन् ॥ १७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—परंतप! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके ऐसा कहनेपर भीष्म, द्रोण, कृप और अश्वत्थामाने उसके इस पराक्रमकी बड़ी प्रशंसा की ॥ १७॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनप्रशंसायामेकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें अर्जुनकी प्रशंसाविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरको शमीवृक्षसे अस्त्र उतारनेके लिये आदेश

वैशम्पायन उवाच

तां शमीमुपसंगम्य पार्थो वैराटिमब्रवीत् ॥
सुकुमारं समाज्ञाय संग्रामे नातिकोविदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस शमीवृक्षके समीप पहुँचकर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरको सुकुमार तथा युद्धकी कलामें पूर्णतया कुशल न जानकर उससे कहा—॥१॥

समादिष्टो मया क्षिप्रं धनूंष्यवहरोत्तर।
नेमानि हि त्वदीयानि सोढुं शक्ष्यन्ति मे बलम्।
भारं चापि गुरुं वोढुं कुञ्जरं वा प्रमर्दितुम् ॥ २ ॥
मम वा बाहुविक्षेपं शत्रूनिह विजेष्यतः।

'उत्तर! मेरी आज्ञासे तुम शीघ्र इस वृक्षपर चढ़कर वहाँ रक्खे हुए धनुष उतारो, क्योंकि तुम्हारे ये धनुष मेरे बाहुबलको नहीं सह सकेंगे, कोई भारी कार्य-भार नहीं उठा सकेंगे अथवा बड़े-बड़े गजराजोंका नाश करनेमें भी ये काम न दे सकेंगे। इतना ही नहीं, यहाँ शत्रुओंपर विजय पानेके लिये युद्ध करते समय ये मेरे बाहुविक्षेपको भी नहीं सँभाल सकेंगे ॥ २½ ॥

(नैभिः काममलं कर्तुं कर्म वैजयिकं त्विह।
अतिसूक्ष्माणि ह्रस्वानि सर्वाणि च मृदूनि च।
आयुधानि महाबाहो तवैतानि परंतप ॥)
तस्माद् भूमिंजयारोह शमीमेतां पलाशिनीम् ॥ ३ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबाहु उत्तर! तुम्हारे ये सभी अस्त्र-शस्त्र अत्यन्त सूक्ष्म, छोटे और कोमल हैं। इनके द्वारा यहाँ विजय दिलानेवाला पराक्रम नहीं किया जा सकता। इसलिये भूमिंजय! पत्तोंसे सुशोभित इस शमीवृक्षपर शीघ्र चढ़ जाओ ॥ ३ ॥

अस्यां हि पाण्डुपुत्राणां धनूंषि निहितान्युत।
युधिष्ठिरस्य भीमस्य बीभत्सोर्यमयोस्तथा ॥ ४ ॥

'इसपर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेव—इन सब पाण्डवोंके धनुष रक्खे हुए हैं ॥ ४ ॥

ध्वजाः शराश्च शूराणां दिव्यानि कवचानि च।
अत्र चैतन्महावीर्यं धनुः पार्थस्य गाण्डिवम् ॥ ५ ॥
एकं शतसहस्रेण सम्मितं राष्ट्रवर्धनम्।
व्यायामसहमत्यर्थं तृणराजसमं महत् ॥ ६ ॥

'उन शूरवीरोंके ध्वज, बाण और दिव्य कवच भी यहीं हैं। यहीं अर्जुनका वह महान् शक्तिशाली गाण्डीव धनुष भी है, जो अकेला ही एक लाख धनुषोंके समान है। यह राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला, परिश्रमको सहनेमें समर्थ और ताड़के समान अत्यन्त विशाल है ॥ ५-६ ॥

सर्वायुधमहामात्रं शत्रुसम्बाधकारकम्।
सुवर्णविकृतं दिव्यं श्लक्ष्णमायतमव्रणम् ॥ ७ ॥
अलं भारं गुरुं वोढुं दारुणं चारुदर्शनम्।
तादृशान्येव सर्वाणि बलवन्ति दृढानि च।
युधिष्ठिरस्य भीमस्य बीभत्सोर्यमयोस्तथा ॥ ८ ॥

'सम्पूर्ण आयुधोंमें यह सबसे बड़ा है और शत्रुओंको विशेष पीड़ा देनेवाला है। यह सोनेको गलाकर बनाया हुआ, दिव्य, सुन्दर, विस्तृत तथा व्रणरहित (नित्य नूतन) है। यह भारीसे भारी भार वहन करनेमें समर्थ, भयंकर और देखनेमें मनोहर है। ऐसे ही युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवके भी सब धनुष प्रबल और सुदृढ़ हैं ॥ ७-८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनास्त्रकथने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके प्रसंगमें अर्जुनके द्वारा अस्त्र-वर्णनविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ९½ श्लोक हैं)

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

उत्तरका अर्जुनके आदेशके अनुसार शमीवृक्षसे पाण्डवोंके दिव्य धनुष आदि उतारना

उत्तर उवाच

अस्मिन् वृक्षे किलोद्बद्धं शरीरमिति नः श्रुतम्।
तदहं राजपुत्रः सन् स्पृशेयं पाणिना कथम्॥ १॥

उत्तर बोला—मैंने तो सुन रक्खा था कि इस वृक्षमें कोई लाश बँधी है, ऐसी दशामें मैं राजकुमार होकर अपने हाथसे उसका स्पर्श कैसे कर सकता हूँ ?॥ १॥

नैवंविधं मया युक्तमालब्धुं क्षत्रयोनिना।
महता राजपुत्रेण मन्त्रयज्ञविदा सता॥ २॥

एक तो मैं क्षत्रिय, दूसरे महान् राजकुमार तथा तीसरे मन्त्र और यज्ञोंका ज्ञाता एवं सत्पुरुष हूँ, अतः मुझे ऐसी अपवित्र वस्तुका स्पर्श करना उचित नहीं है॥ २॥

स्पृष्टवन्तं शरीरं मां शववाहमिवाशुचिम्।
कथं वा व्यवहार्यं वै कुर्वीथास्त्वं बृहन्नले॥ ३॥

बृहन्नले ! यदि मैं शवका स्पर्श कर लूँ, तो मुर्दा ढोनेवालोंकी भाँति अपवित्र हो जाऊँगा; फिर तुम मुझे व्यवहारमें लाने योग्य शुद्ध कैसे कर सकोगी ?॥ ३॥

बृहन्नलोवाच

व्यवहार्यश्च राजेन्द्र शुचिश्चैव भविष्यसि।
धनूंष्येतानि मा भैस्त्वं शरीरं नात्र विद्यते॥ ४॥

बृहन्नलाने कहा—राजेन्द्र ! तुम इन धनुषोंको छूकर भी व्यवहारमें लाने योग्य और पवित्र ही रहोगे। डरो मत, ये केवल धनुष हैं; इनमें कोई शव नहीं है॥ ४॥

दायादं मत्स्यराजस्य कुले जातं मनस्विनाम्।
त्वां कथं निन्दितं कर्म कारयेयं नृपात्मज॥ ५॥

राजकुमार ! तुम मनस्वी पुरुषोंके उत्तम कुलमें उत्पन्न और मत्स्यनरेशके पुत्र हो। भला, मैं तुमसे कोई निन्दित कर्म कैसे करवा सकती हूँ ?॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स पार्थेन रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली।
आरुरोह शमीवृक्षं वैराटिरवशस्तदा॥ ६॥
तमन्वशासच्छत्रुघ्नो रथे तिष्ठन् धनंजयः।
अवरोपय वृक्षाग्राद् धनूंष्येतानि मा चिरम्॥ ७॥
परिवेष्टनमेतेषां क्षिप्रं चैव व्यपानुद।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर कुण्डलधारी विराटपुत्र उत्तर विवश हो रथसे कूदकर शमीवृक्षपर चढ़ गया। तब रथपर बैठे हुए शत्रुनाशक पृथापुत्र धनंजयने शासनके स्वरमें कहा—'इन धनुषोंको जल्दी वृक्षसे नीचे उतारो और इन सबका पत्रमय वेष्टन भी शीघ्र हटा दो।'॥ ६-७½॥

सोऽपहृत्य महार्हाणि धनूंषि पृथुवक्षसाम्।
परिवेष्टनपत्राणि विमुच्य समुपानयत्॥ ८॥
तथा संनहनान्येषां परिमुच्य समन्ततः।
अपश्यद् गाण्डिवं तत्र चतुर्भिरपरैः सह॥ ९॥

तब उत्तरने विशाल वक्षःस्थलवाले पाण्डवोंके बहुमूल्य धनुषोंको वृक्षके नीचे ले आकर उनपर जो पत्तोंके वेष्टन लगे थे, उन्हें खोलकर हटाया। फिर उन धनुषों तथा उनकी डोरियोंको सब ओरसे खोलकर अर्जुनके पास ले आया। उसमें अन्य चार धनुषोंके साथ रक्खे हुए गाण्डीव धनुषको उत्तरने देखा॥ ८-९॥

तेषां विमुच्यमानानां धनुषामर्कवर्चसाम्।
विनिश्चेरुः प्रभा दिव्या ग्रहाणामुदयेष्विव॥ १०॥

वेष्टन खोलनेपर उन सूर्यके समान तेजस्वी धनुषोंकी प्रभा चारों ओर फैल गयी, जैसे उदय होनेपर ग्रहोंका दिव्य प्रकाश सब ओर छा जाता है॥ १०॥

स तेषां रूपमालोक्य भोगिनामिव जृम्भताम्।
हृष्टरोमा भयोद्विग्नः क्षणेन समपद्यत॥ ११॥
संस्पृश्य तानि चापानि भानुमन्ति बृहन्ति च।
वैराटिरर्जुनं राजन्निदं वचनमब्रवीत्॥ १२॥

जँभाई लेनेके लिये मुँह खोले हुए विशाल सर्पोंकी भाँति उन धनुषोंका रूप देखकर उत्तरके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वह क्षणभरमें भयसे उद्विग्न हो गया। राजन् ! तदनन्तर उन प्रभापूर्ण विशाल धनुषोंका स्पर्श करके विराटपुत्र उत्तरने अर्जुनसे इस प्रकार कहा॥ ११-१२॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अस्त्रावरोपणे एकचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर वृक्षसे अस्त्रोंको उतारनेसे सम्बन्ध रखनेवाला इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४१॥



द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

उत्तरका बृहन्नलासे पाण्डवोंके अस्त्र-शस्त्रोंके विषयमें प्रश्न करना

उत्तर उवाच

बिन्दवो जातरूपस्य शतं यस्मिन् निपातिताः।
सहस्रकोटि सौवर्णाः कस्यैतद् धनुरुत्तमम्॥ १॥

उत्तरने पूछा—बृहन्नले! जिसपर सोनेकी सौ फूलियाँ जड़ी हैं, जिसके दोनों सिरे बहुत ही मजबूत और चमकीले हैं, यह उत्तम धनुष किस यशस्वी वीरका है?॥ १॥

वारणा यत्र सौवर्णाः पृष्ठे भासन्ति दंशिताः।
सुपार्श्वं सुग्रहं चैव कस्यैतद् धनुरुत्तमम्॥ २॥

जिसकी पीठपर सोनेके प्रकाशमान हाथी सुशोभित हो रहे हैं तथा जिसके दोनों किनारे बड़े सुन्दर और मध्यभाग बहुत ही उत्तम है, यह श्रेष्ठ धनुष किसका है?॥ २॥

तपनीयस्य शुद्धस्य षष्टिर्यस्येन्द्रगोपकाः।
पृष्ठे विभक्ताः शोभन्ते कस्यैतद् धनुरुत्तमम्॥ ३॥

जिसके पृष्ठभागमें शुद्ध सुवर्णके बने हुए लाल-पीले रंगवाले साठ इन्द्रगोप (वीरबहूटी) नामक कीट पृथक्-पृथक् शोभा पा रहे हैं, यह उत्तम धनुष किसका है?॥ ३॥

सूर्या यत्र च सौवर्णास्त्रयो भासन्ति दंशिताः।
तेजसा प्रज्वलन्तो हि कस्यैतद् धनुरुत्तमम्॥ ४॥

जिसमें परस्पर सटे हुए तीन सुवर्णमय सूर्यचिह्न प्रकाशित हो रहे हैं, जो तेजसे मानो प्रज्वलित हैं, यह उत्तम धनुष किसका है?॥ ४॥

शलभा यत्र सौवर्णास्तपनीयविभूषिताः।
सुवर्णमणिचित्रं च कस्यैतद् धनुरुत्तमम्॥ ५॥

जिसपर तप्त-सुवर्णभूषित मीनेके फतिंगे शोभा पा रहे हैं तथा जो उत्तम वर्णकी मणियोंसे जटित होनेके कारण विचित्र दिखायी देता है, यह उत्तम धनुष किसका है?॥ ५॥

इमे च कस्य नाराचाः साहस्रा लोमवाहिनः।
समन्तात् कलधौताग्रा उपासंगे हिरण्मये॥ ६॥
विपाठाः पृथवः कस्य गार्ध्रपत्राः शिलाशिताः।
हारिद्रवर्णाः सुमुखाः पीताः सर्वायसाः शराः॥ ७॥

ये जो सोनेके तरकसमें सहस्रों नाराच रक्खे हुए हैं, जिनके सब ओर विशेषतः अग्रभागमें सोनेका पानी चढ़ा है और जो सबके सब पंखवाले हैं, ये किसके उपयोगमें आते हैं? ये मोटे-मोटे विपाठ (स्थूल दण्डवाले बाणविशेष) किसके हैं? इनमें गीधकी पाँखें लगी हुई हैं। इन बाणोंको पत्थरपर रगड़कर तेज किया गया है। इनके रंग हल्दीके समान हैं और अग्रभाग बहुत ही सुन्दर हैं। कारीगरने इनपर भी खूब पानी चढ़ाया है। ये सबके सब लोहेके ही बाण हैं (अर्थात् इनमें नीचे काठका डंडा नहीं लगा है)॥ ६-७॥

कस्यायमसितश्चापः पञ्चशार्दूललक्षणः।
वराहकर्णव्यामिश्रान् शरान् धारयते दश॥ ८॥

जिसपर पाँच सिंहोंके चिह्न हैं, ऐसा यह काले रंगका धनुष किसका है? यह तो सूअरके कानके समान नोकवाले दस बाणोंको एक साथ धारण कर सकता है॥ ८॥

कस्येमे पृथवो दीर्घाश्चन्द्रबिम्बार्धदर्शनाः।
शतानि सप्त तिष्ठन्ति नाराचा रुधिराशनाः॥ ९॥

ये जो शत्रुओंका रक्त पीनेवाले मोटे, विशाल तथा अर्धचन्द्राकार दिखायी देनेवाले सात सौ नाराच रक्खे हुए हैं, किसके हैं?॥ ९॥

कस्येमे शुकपत्राभैः पूर्वैरर्धैः सुवाससः।
उत्तरैरायसैः पीतैर्हेमपुङ्खैः शिलाशितैः॥ १०॥

जिनके पूर्वार्धभाग तोतेकी पाँखके समान रंगवाले और उत्तरार्धभाग सुवर्णमय पंखसे युक्त एवं पीले हैं, जो पत्थरपर घिसकर तेज किये हुए और लोहेके बने हैं, ऐसे ये सुन्दर पाँखवाले बाण किसके हैं?॥ १०॥

गुरुभारसहो दिव्यः शात्रवाणां भयंकरः।
कस्यायं सायको दीर्घः शिलीपृष्ठः शिलीमुखः॥ ११॥

जिसके पृष्ठभागमें मेढ़कीका चित्र है और जिसका मुख-भाग भी मेढ़कीके मुख-सा बना हुआ है, ऐसा यह भारी भार सहन करनेमें समर्थ, दिव्य और शत्रुमण्डलीके लिये भयंकर विशाल खड्ग किसका है?॥ ११॥

वैयाघ्रकोशे निहितो हेमचित्रो दुरासदः।
सुफलश्चित्रकोशश्च किङ्किणीसायको महान्॥ १२॥
कस्य हेमत्सरुर्दिव्यः खड्गः परमनिर्मलः।

जो बाघके चमड़ेकी बनी हुई म्यानके भीतर रक्खा गया है, जो सुवर्णचित्रित और शत्रुओंके लिये असह्य है, जिसका अग्रभाग भी बहुत ही सुन्दर है, जिसकी म्यानपर चित्रकारी की हुई है, जो घुँघरूदार और विशाल है, वह सोनेकी मूठवाला दिव्य एवं अत्यन्त निर्मल खड्ग किसका है?॥ १२½॥

कस्यायं विमलः खड्गो गव्ये कोशे समर्पितः॥ १३॥
हेमत्सरुरनाधृष्यो नैषध्यो भारसाधनः।

जिसे गोचर्मकी म्यानमें रक्खा गया है, जो निषध-देशका बना हुआ है, जिसे कोई तोड़ नहीं सकता, जो

भारी भार सह सकता है, वह सोनेकी मूठवाला विमल खड्ग किसका है ? ॥ १३½ ॥

कस्य पाञ्चनखे कोशे सायको हेमविग्रहः ॥ १४ ॥
प्रमाणरूपसम्पन्नः पीत आकाशसंनिभः ।

जिसे बकरेके चमड़ेकी बनी हुई म्यानमें रक्खा गया है, जो सोनेकी मूठसे युक्त और सुवर्णभूषित स्वरूपवाली है, वह उचित लंबाई-चौड़ाई एवं आकृतिवाली, आकाशके समान नीलोज्ज्वल एवं पानीदार तलवार किसकी है ? ॥ १४½ ॥

कस्य हेममये कोशे सुतप्ते पावकप्रभे ॥ १५ ॥
निस्त्रिंशोऽयं गुरुः पीतः सायकः परनिर्व्रणः ।
कस्यायमसितः खड्गो हेमबिन्दुभिरावृतः ॥ १६ ॥
आशीविषसमस्पर्शः परकायप्रभेदनः ।
गुरुभारसहो दिव्यः सपत्नानां भयप्रदः ॥ १७ ॥*

जो अग्निके समान प्रकाशमान एवं आगमें तपाये शुद्ध सुवर्णकी बनी हुई म्यानमें सुरक्षित, भारी, पानीदार तथा तीस अङ्गुलसे बड़ा है, जो स्वर्णबिन्दुओंसे विभूषित तथा काले रंगका है, जिसे शत्रु काट नहीं सकते, जिसका स्पर्श सर्पके समान है, जो शत्रुके शरीरको चीर डालनेवाला, भारी भार सहन करनेमें समर्थ, दिव्य एवं शत्रुओंके लिये भयदायक है, वह खड्ग किसका है ? ॥ १५–१७ ॥

निर्दिशस्व यथातत्त्वं मया पृष्टा बृहन्नले ।
विस्मयो मे परो जातो दृष्ट्वा सर्वमिदं महत् ॥ १८ ॥

बृहन्नले ! मैंने जो पूछा है, उसे ठीक-ठीक बताओ । ये सब महान् अस्त्र-शस्त्र देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरवाक्यं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरवाक्यविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

बृहन्नलाद्वारा उत्तरको पाण्डवोंके आयुधोंका परिचय कराना

बृहन्नलोवाच

यन्मां पूर्वमिहापृच्छः शत्रुसेनापहारिणम् ।
गाण्डीवमेतत् पार्थस्य लोकेषु विदितं धनुः ॥ १ ॥
सर्वायुधमहामात्रं शातकुम्भपरिष्कृतम् ।
एतत् तदर्जुनस्यासीद् गाण्डीवं परमायुधम् ॥ २ ॥

बृहन्नला बोली—राजकुमार ! तुमने पहले जिसके विषयमें मुझसे प्रश्न किया है, वही यह अर्जुनका विश्वविख्यात गाण्डीव धनुष है, जो शत्रुओंकी सेनाके लिये कालरूप है । यह सब आयुधोंसे विशाल है । इसमें सब ओर सोना मढ़ा है । यही उत्तम आयुध गाण्डीव अर्जुनके पास रहा करता था ॥ १-२ ॥

यत् तच्छतसहस्रेण सम्मितं राष्ट्रवर्द्धनम् ।
येन देवान् मनुष्यांश्च पार्थो विजयते मृधे ॥ ३ ॥
चित्रमुच्चावचैर्वर्णैः श्लक्ष्णमायतमव्रणम् ।
देवदानवगन्धर्वैः पूजितं शाश्वतीः समाः ॥ ४ ॥

यह अकेला ही एक लाख धनुषोंकी बराबरी करनेवाला तथा अपने राष्ट्रको बढ़ानेवाला है । पृथापुत्र अर्जुन इसीके द्वारा युद्धमें मनुष्यों तथा देवताओंपर विजय पाते आ रहे हैं । हल्के-गहरे अनेक प्रकारके रंगोंसे इसकी विचित्र शोभा होती है । यह चिकना, चमकदार और विस्तृत है । इसमें कहीं कोई चोटका चिह्न नहीं आया है । देवताओं, दानवों तथा गन्धर्वोंने इसका बहुत वर्षोंतक पूजन किया है ॥ ३-४ ॥

एतद् वर्षसहस्रं तु ब्रह्मा पूर्वमधारयत् ।
ततोऽनन्तरमेवाथ प्रजापतिरधारयत् ॥ ५ ॥
त्रीणि पञ्चशतं चैव शक्रोऽशीतिं च पञ्च च ।
सोमः पञ्चशतं राजा तथैव वरुणः शतम् ।
पार्थः पञ्च च षष्टिं च वर्षाणि श्वेतवाहनः ॥ ६ ॥

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इसे एक हजार वर्षोंतक धारण किया था । तदनन्तर प्रजापतिने पाँच सौ तीन वर्षोंतक इसे अपने पास रक्खा । फिर इन्द्रने पचासी वर्षोंतक रक्खा । इन्द्रके बाद सोमने पाँच सौ तथा राजा वरुणने सौ वर्षोंतक इसे धारण किया । तत्पश्चात् श्वेतवाहन अर्जुन पैंसठ वर्षोंसे इसे धारण करते चले आ रहे हैं ॥ ५-६ ॥

महावीर्यं महाद्दिव्यमेतत् तद् धनुरुत्तमम् ।
एतत् पार्थमनुप्राप्तं वरुणाच्चारुदर्शनम् ॥ ७ ॥

यह सर्वोत्तम धनुष देखनेमें बड़ा ही मनोहर है । इसके द्वारा महान् पराक्रम प्रकट होता है । अर्जुनको यह महादिव्य धनुष साक्षात् वरुणदेवसे प्राप्त हुआ था ॥ ७ ॥

पूजितं सुरमर्त्येषु बिभर्ति परमं वपुः ।
सुपार्श्वं भीमसेनस्य जातरूपग्रहं धनुः ।

* ये १६,१७ श्लोक अन्य बहुत-सी प्रतियोंमें नहीं हैं, परंतु नीलकंठवाली प्रतिमें हैं, इसलिये यहाँ ले लिये गये हैं । किंतु अगले अध्यायमें जो उत्तर दिया गया है, उससे इन श्लोकोंका मेल नहीं है ।

येन पार्थोऽजयत् कृत्स्नां दिशं प्राचीं परंतपः ॥ ८ ॥

तथा दूसरा देवताओं और मनुष्योंमें पूजित उत्कृष्ट रूप धारण करनेवाला धनुष भीमसेनका है, जिसके दोनों किनारे बड़े सुन्दर हैं और मध्यभागमें सोना मढ़ा हुआ है। यह वही धनुष है, जिससे शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार भीमसेनने सम्पूर्ण प्राचीदिशापर विजय पायी थी ॥ ८ ॥

इन्द्रगोपकचित्रं च यदेतच्चारुदर्शनम्।
राज्ञो युधिष्ठिरस्यैतद् वैराटे धनुरुत्तमम् ॥ ९ ॥

उत्तर ! जिसके ऊपर 'इन्द्रगोप' (वीरबहूटी) नामक कीटोंका चित्र है और जो देखनेमें मनोहर है, वही यह उत्तम धनुष राजा युधिष्ठिरका है ॥ ९ ॥

सूर्या यस्मिंस्तु सौवर्णाः प्रकाशन्ते प्रकाशिनः।
तेजसा प्रज्वलन्तो वै नकुलस्यैतदायुधम् ॥ १० ॥

जिसमें सुवर्णके बने हुए प्रकाशपूर्ण सूर्य प्रकाशित हो रहे हैं और जो तेजसे जाज्वल्यमान जान पड़ते हैं, वही यह नकुलका आयुध है ॥ १० ॥

शलभा यत्र सौवर्णास्तपनीयविचित्रिताः।
एतन्माद्रीसुतस्यापि सहदेवस्य कार्मुकम् ॥ ११ ॥

जिसके ऊपर सुवर्णजटित मीनेके फतिङ्गे सुशोभित हैं, वही यह माद्रीनन्दन सहदेवका धनुष है ॥ ११ ॥

ये त्विमे क्षुरसंकाशाः सहस्रा लोमवाहिनः।
एतेऽर्जुनस्य वैराटे शराः सर्पविषोपमाः ॥ १२ ॥

विराटपुत्र ! ये जो छुरेके समान मजबूत और चमकीले बाण हैं, जिनमें पंख लगे हुए हैं और जो साँपोंके विषके समान प्रभाव रखते हैं, ये सब अर्जुनके ही हैं ॥ १२ ॥

एते ज्वलन्तः संग्रामे तेजसा शीघ्रगामिनः।
भवन्ति वीरस्याक्षय्या व्यूहतः समरे रिपून् ॥ १३ ॥

ये युद्धमें तेजसे प्रकाशित होकर बड़ी तेजीसे शत्रुपर आघात करते हैं। रणमें शत्रुओंपर बाणवर्षा करनेवाले वीर-के लिये भी इन बाणोंका कटना असम्भव है ॥ १३ ॥

ये चेमे पृथवो दीर्घाश्चन्द्रबिम्बार्धदर्शनाः।
एते भीमस्य निशिता रिपुक्षयकराः शराः ॥ १४ ॥
हारिद्रवर्णा ये त्वेते हेमपुङ्खाः शिलाशिताः।

ये जो मोटे, विशाल और अर्धचन्द्राकार दिखायी देते हैं; वे भीमसेनके तीखे बाण हैं, जो शत्रुओंका संहार कर डालते हैं। ये हल्दीके समान रंगवाले और सुनहरी पाँखोंसे सुशोभित हैं। इन्हें पत्थरपर रगड़कर तेज किया गया है ॥ १४½ ॥

नकुलस्य कलापोऽयं पञ्चशार्दूललक्षणः ॥ १५ ॥
येनासौ व्यजयत् कृत्स्नां प्रतीचीं दिशमाहवे।
कलापो ह्येष तस्यासीन्माद्रीपुत्रस्य धीमतः ॥ १६ ॥

जिसपर पाँच सिंहोंके चिह्न हैं, वही यह नकुलका 'कलाप' (तरकस) है, जिससे उन्होंने युद्धमें सम्पूर्ण पश्चिमदिशापर विजय पायी थी। उस समय बुद्धिमान् माद्रीपुत्र नकुलके पास यही कलाप था ॥ १५-१६ ॥

ये त्विमे भास्कराकाराः सर्वपारसवाः शराः।
एते चित्रक्रियोपेताः सहदेवस्य धीमतः ॥ १७ ॥

और ये जो सूर्यके समान आकृतिवाले चमकीले बाण हैं, इनके द्वारा सम्पूर्ण शत्रुसमूहोंका विनाश होता है। विचित्र क्रियाशक्तिसे सम्पन्न ये सभी बाण बुद्धिमान् सहदेवके हैं ॥ १७ ॥

ये त्विमे निशिताः पीताः पृथवो दीर्घवाससः।
हेमपुङ्खास्त्रिपर्वाणो राज्ञ एते महाशराः ॥ १८ ॥

ये जो तीखे, पानीदार, मोटे और बड़ी-बड़ी पाँखोंवाले तीन पर्वोंके बाण हैं और जिनकी पाँखें सोनेकी बनी हुई हैं; ये सब राजा युधिष्ठिरके महान् शर हैं ॥ १८ ॥

यस्त्वयं सायको दीर्घः शिलीपृष्ठः शिलीमुखः।
अर्जुनस्यैष संग्रामे गुरुभारसहो दृढः ॥ १९ ॥

जिसके पृष्ठभागमें मेढकीका चित्र है और जिसका मुख-भाग भी मेढकीके मुखके समान ही बना हुआ है, यह विशाल खड्ग अर्जुनका है। यह युद्धभूमिमें भारी आघातको सह सकनेमें समर्थ और मजबूत है ॥ १९ ॥

वैयाघ्रकोशः सुमहान् भीमसेनस्य सायकः।
गुरुभारसहो दिव्यः शात्रवाणां भयंकरः ॥ २० ॥

जिसकी म्यान व्याघ्रचर्मकी बनी हुई है, वह महान् खड्ग भीमसेनका है। यह भी गुरुतर भार सहन करनेवाला, दिव्य एवं शत्रुओंके लिये भयंकर है ॥ २० ॥

सुफलश्चित्रकोशश्च हेमत्सरुरनुत्तमः।
निस्त्रिंशः कौरवस्यैष धर्मराजस्य धीमतः ॥ २१ ॥

जिसकी धार सुन्दर एवं पतली है, जिसकी म्यान विचित्र और मूठ सोनेकी है, वह तीस अङ्गुलसे बड़ा सर्वोत्तम खड्ग परम बुद्धिमान् कुरुनन्दन धर्मराजका है ॥ २१ ॥

यस्तु पाञ्चनखे कोशे निहितश्चित्रयोधने।
नकुलस्यैष निस्त्रिंशो गुरुभारसहो दृढः ॥ २२ ॥

जो बकरेके चमड़ेकी बनी हुई म्यानमें बंद है तथा नाना प्रकारके युद्धोंमें शस्त्रोंका भारी आघात सहन करनेमें समर्थ और मजबूत है, वही यह नकुलका खड्ग है ॥ २२ ॥

यस्त्वयं विपुलः खड्गो गव्ये कोशे समर्पितः।

सहदेवस्य विद्ध्येनं सर्वभारसहं दृढम् ॥ २३ ॥

और यह जो गोचर्मकी म्यानमें रक्खा गया है, यह सहदेवका विशाल खड्ग है। इसे सब प्रकारके अघात-प्रत्याघात सहनेमें समर्थ और सुदृढ़ जानो ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे आयुधवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर आयुधवर्णनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरकुमारसे अपना और अपने भाइयोंका यथार्थ परिचय देना

उत्तर उवाच

सुवर्णविकृतानीमान्यायुधानि महात्मनाम्।
रुचिराणि प्रकाशन्ते पार्थानामाशुकारिणाम्॥ १ ॥
क नु स्विदर्जुनः पार्थः कौरव्यो वा युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पाण्डवः॥ २ ॥

उत्तरने पूछा—बृहन्नले ! रणमें फुर्ती दिखानेवाले जिन महात्मा कुन्तीपुत्रोंके ये सुवर्णभूषित सुन्दर आयुध इतने प्रकाशित हो रहे हैं, वे पृथापुत्र अर्जुन, कुरुनन्दन युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव और पाण्डुपुत्र भीमसेन अब कहाँ हैं ? ॥ १-२ ॥

सर्व एव महात्मानः सर्वामित्रविनाशनाः।
राज्यमक्षैः पराकीर्य न श्रूयन्ते कथंचन॥ ३ ॥

सम्पूर्ण शत्रुओंका नाश करनेवाले वे सभी महात्मा जूए-द्वारा अपना राज्य हारकर कहाँ गये ? जिससे कहीं किसी प्रकार भी उनके विषयमें कुछ सुननेमें नहीं आता ? ॥ ३ ॥

द्रौपदी क च पाञ्चाली स्त्रीरत्नमिति विश्रुता।
जितानक्षैस्तदा कृष्णा तानेवान्वगमद् वनम्॥ ४ ॥

पाञ्चालदेशकी राजकुमारी द्रौपदी स्त्रीरत्नके रूपमें विख्यात है। वह कहाँ है ? सुना है, जब पाण्डव जूएमें हार गये, तब द्रुपदकुमारी कृष्णा भी उन्हींके साथ वनमें चली गयी थी ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच

अहमस्म्यर्जुनः पार्थः सभास्तारो युधिष्ठिरः।
बल्लवो भीमसेनस्तु पितुस्ते रसपाचकः॥ ५ ॥

अर्जुनने कहा—राजकुमार ! मैं ही पृथापुत्र अर्जुन हूँ। राजाकी सभाके माननीय सदस्य कङ्क ही युधिष्ठिर हैं। बल्लव भीमसेन हैं, जो तुम्हारे पिताके भोजनालयमें रसोइयेका काम करते हैं ॥ ५ ॥

अश्वबन्धोऽथ नकुलः सहदेवस्तु गोकुले।
सैरन्ध्रीं द्रौपदीं विद्धि यत्कृते कीचका हताः॥ ६ ॥

अश्वोंकी देखभाल करनेवाले ग्रन्थिक नकुल हैं और गोशालाके अध्यक्ष तन्तिपाल सहदेव। सैरन्ध्रीको ही द्रौपदी समझो, जिसके कारण सभी कीचक मारे गये हैं ॥ ६ ॥

उत्तर उवाच

दश पार्थस्य नामानि यानि पूर्वं श्रुतानि मे।
प्रब्रूयास्तानि यदि मे श्रद्दध्यां सर्वमेव ते॥ ७ ॥

उत्तर बोला—मैंने पहलेसे जो अर्जुनके दस नाम सुन रक्खे हैं, उन्हें यदि तुम बता दो तो मैं तुम्हारी सारी बातोंपर विश्वास कर सकता हूँ ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच

हन्त तेऽहं समाचक्षे दश नामानि यानि मे।
वैराटे शृणु तानि त्वं यानि पूर्वं श्रुतानि ते॥ ८ ॥

अर्जुनने कहा—विराटपुत्र ! मेरे जो दस नाम हैं और जिन्हें तुमने पहलेसे ही सुन रक्खा है, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ८ ॥

एकाग्रमानसो भूत्वा शृणु सर्वं समाहितः।
अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः किरीटी श्वेतवाहनः।
बीभत्सुर्विजयः कृष्णः सव्यसाची धनंजयः॥ ९ ॥

एकाग्रचित्त हो सावधानीके साथ सबको सुनना। (वे नाम ये हैं—) अर्जुन, फाल्गुन, जिष्णु, किरीटी, श्वेतवाहन, बीभत्सु, विजय, कृष्ण, सव्यसाची और धनंजय ॥

उत्तर उवाच

केनासि विजयो नाम केनासि श्वेतवाहनः।
किरीटी नाम केनासि सव्यसाची कथंभवान्॥ १० ॥

उत्तरने पूछा—किस कारणसे आपका नाम विजय हुआ और किसलिये आप श्वेतवाहन कहलाते हैं ? आपके किरीटी नाम धारण करनेका क्या कारण है ? और आप सव्यसाची नामसे कैसे प्रसिद्ध हुए ? ॥ १० ॥

अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः कृष्णो बीभत्सुरेव च।
धनंजयश्च केनासि ब्रूहि तन्मम तत्त्वतः॥ ११ ॥

इसी प्रकार आपके अर्जुन, फाल्गुन, जिष्णु, कृष्ण, बीभत्सु और धनंजय नाम पड़नेका भी क्या कारण है ? यह सब मुझे ठीक-ठीक बताइये ॥ ११ ॥

श्रुता मे तस्य वीरस्य केवला नामहेतवः ।
तत् सर्वं यदि मे ब्रूयाः श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ॥ १२ ॥

वीर अर्जुनके विभिन्न नाम पड़नेके जो प्रधान हेतु हैं, वे सब मैंने सुन रक्खे हैं। उन सबको यदि आप बता देंगे तो आपकी सब बातोंपर मेरा विश्वास हो जायगा ॥१२॥

अर्जुन उवाच

सर्वाञ्जनपदाञ्जित्वा वित्तमादाय केवलम् ।
मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मां धनंजयम् ॥ १३ ॥

अर्जुनने कहा—मैं सम्पूर्ण देशोंको जीतकर और उनसे (कररूपमें) केवल धन लेकर धनके ही बीचमें स्थित था, इसलिये लोग मुझे 'धनंजय' कहते हैं ॥ १३ ॥

अभिप्रयामि संग्रामे यदहं युद्धदुर्मदान् ।
नाजित्वा विनिवर्तामि तेन मां विजयं विदुः ॥ १४ ॥

जब मैं संग्रामभूमिमें रणोन्मत्त योद्धाओंका सामना करनेके लिये जाता हूँ, तब उन्हें परास्त किये बिना कभी नहीं लौटता। इसीलिये वीर पुरुष मुझे 'विजय'के नामसे जानते हैं ॥ १४ ॥

श्वेताः काञ्चनसंनाहा रथे युज्यन्ति मे हयाः ।
संग्रामे युध्यमानस्य तेनाहं श्वेतवाहनः ॥ १५ ॥
उत्तराभ्यां फल्गुनीभ्यां नक्षत्राभ्यामहं दिवा ।
जातो हिमवतः पृष्ठे तेन मां फाल्गुनं विदुः ॥ १६ ॥

संग्राममें युद्ध करते समय मेरे रथमें सोनेके बख्तरसे सजे हुए श्वेत रंगके घोड़े जोते जाते हैं, इसलिये मेरा नाम 'श्वेतवाहन' हुआ है तथा हिमालयके शिखरपर उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें दिनके समय मेरा जन्म हुआ था; इसलिये मुझे 'फाल्गुन' कहते हैं ॥ १५-१६ ॥

पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः ।
किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम् ॥ १७ ॥

पूर्वकालमें बड़े-बड़े दानव वीरोंके साथ युद्ध करते समय देवराज इन्द्रने मेरे मस्तकपर सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाला किरीट रख दिया था; इसीलिये मुझे 'किरीटी' कहते हैं ॥ १७ ॥

न कुर्यां कर्म बीभत्सं युध्यमानः कथंचन ।
तेन देवमनुष्येषु बीभत्सुरिति विश्रुतः ॥ १८ ॥

युद्ध करते समय मैं किसी प्रकार भी बीभत्स (घृणित) कर्म नहीं करता; इसीलिये देवताओं और मनुष्योंमें मेरी 'बीभत्सु' नामसे प्रसिद्धि हुई है ॥ १८ ॥

उभौ मे दक्षिणौ पाणी गाण्डीवस्य विकर्षणे ।
तेन देवमनुष्येषु सव्यसाचीति मां विदुः ॥ १९ ॥

मेरा बाँया और दाहिना दोनों हाथ गाण्डीव धनुषकी डोरी खींचनेमें समर्थ हैं, इसलिये देवताओं और मनुष्योंमें लोग मुझे 'सव्यसाची' समझते हैं ॥ १९ ॥

पृथिव्यां चतुरन्तायां वर्णो मे दुर्लभः समः ।
करोमि कर्म शुक्लं च तस्मान्मामर्जुनं विदुः ॥ २० ॥

(अर्जुन शब्दके तीन अर्थ हैं—वर्ण या दीप्ति, ऋजुता या समता, धवल या शुद्ध ।) चारों ओर समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर मेरे-जैसी दीप्ति दुर्लभ है। मैं सबके प्रति समभाव रखता हूँ और शुद्ध कर्म करता हूँ। इसी कारण विज्ञ पुरुष मुझे 'अर्जुन' के नामसे जानते हैं ॥ २० ॥

अहं दुरापो दुर्धर्षो दमनः पाकशासनिः ।
तेन देवमनुष्येषु जिष्णुर्नामास्मि विश्रुतः ॥ २१ ॥
कृष्ण इत्येव दशमं नाम चक्रे पिता मम ।
कृष्णावदातस्य ततः प्रियत्वाद् बालकस्य वै ॥ २२ ॥

मुझे पकड़ना या तिरस्कृत करना बहुत कठिन है। मैं इन्द्रका पुत्र एवं शत्रुदमन विजयी वीर हूँ, इसलिये देवताओं और मनुष्योंमें 'जिष्णु' नामसे मेरी ख्याति हुई है। (कृष्णशब्दका अर्थ है—श्यामवर्ण तथा मनको आकर्षित करनेवाला) मेरे शरीरका रंग कृष्ण-गौर है तथा बाल्यावस्थामें चित्ताकर्षक होनेके कारण मैं पिताजीको बहुत प्रिय था। अतः मेरे पिताने ही मेरा दसवाँ नाम 'कृष्ण' रक्खा था ॥२१-२२॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स पार्थं वैराटिरभ्यवादयदन्तिकात् ।
अहं भूमिंजयो नाम नाम्नाहमपि चोत्तरः ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर विराटपुत्र उत्तरने निकट जाकर अर्जुनके चरणोंमें प्रणाम किया और बोला—'मेरा नाम भूमिंजय तथा उत्तर भी है ॥ २३ ॥

दिष्ट्या त्वां पार्थ पश्यामि स्वागतं ते धनंजय ।
लोहिताक्ष महाबाहो नागराजकरोपम ॥ २४ ॥

'कुन्तीनन्दन ! मेरा सौभाग्य है कि मुझे आपका दर्शन मिला। धनंजय ! आपका स्वागत है। महाबाहो ! आपके नेत्र लाल हैं और बाहुदण्ड गजराजके शुण्डको लज्जित कर रहे हैं ॥ २४ ॥

यदज्ञानादवोचं त्वां क्षन्तुमर्हसि तन्मम ।
यतस्त्वया कृतं पूर्वं चित्रं कर्म सुदुष्करम् ।
अतो भयं व्यतीतं मे प्रीतिश्च परमा त्वयि ॥ २५ ॥

'मैंने अज्ञानवश आपसे जो अनुचित बात कह दी हो, उसे आप क्षमा करेंगे। पूर्वकालमें आपने अत्यन्त दुष्कर और अद्भुत कार्य किये हैं, इसलिये आपका संरक्षण पाकर मेरा भय दूर हो गया है और आपके प्रति मेरा प्रेम बहुत बढ़ गया है ॥ २५ ॥

(दासोऽहं ते भविष्यामि पश्य मामनुकम्पया ।
या प्रतिज्ञा कृता पूर्वं तव सारथ्यकर्मणि ॥
मनः स्वास्थ्यं च मे जातं जातं भाग्यं च मे महत् ।)

'पार्थ ! मैं आपका दास होऊँगा । आप मेरी ओर कृपापूर्ण दृष्टिसे देखें । मैंने आपके सारथिका कार्य करनेके लिये पहले जो प्रतिज्ञा की थी, उसके लिये अब मेरा मन स्वस्थ हो गया है । मेरा महान् सौभाग्य प्रकट हुआ है मुझे (जिससे आपकी सेवाका यह शुभ अवसर प्राप्त हो रहा है)' ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनपरिचये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर अर्जुनपरिचय-सम्बन्धी चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ हैं)

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा युद्धकी तैयारी, अस्त्र-शस्त्रोंका स्मरण, उनसे वार्तालाप तथा उत्तरके भयका निवारण

उत्तर उवाच

आस्थाय रुचिरं वीर रथं सारथिना मया ।
कतमं यास्यसेऽनीकमुक्तो यास्याम्यहं त्वया ॥ १ ॥

उत्तर बोला—वीरवर ! आप सुन्दर रथपर आरूढ़ हो मुझ सारथिके साथ किस सेनाकी ओर चलेंगे ? आप जहाँ चलनेके लिये आज्ञा देंगे, वहीं मैं आपके साथ चलूँगा ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

प्रीतोऽस्मि पुरुषव्याघ्र न भयं विद्यते तव ।
सर्वान् नुदामि ते शत्रून् रणे रणविशारद ॥ २ ॥

अर्जुनने कहा—पुरुषसिंह ! अब तुम्हें कोई भय नहीं रहा, यह जानकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ । रणकर्ममें कुशल वीर ! मैं तुम्हारे सब शत्रुओंको अभी मार भगाता हूँ ॥ २ ॥

स्वस्थो भव महाबाहो पश्य मां शत्रुभिः सह ।
युध्यमानं विमर्देऽस्मिन् कुर्वाणं भैरवं महत् ॥ ३ ॥

महाबाहो ! तुम स्वस्थचित्त (निश्चिन्त) हो जाओ और इस संग्राममें मुझे शत्रुओंके साथ युद्ध तथा अत्यन्त भयंकर पराक्रम करते देखो ॥ ३ ॥

एतान् सर्वानुपासङ्गान् क्षिप्रं बध्नीहि मे रथे ।
एकं चाहर निस्त्रिंशं जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ४ ॥

मेरे इन सब तरकसोंको शीघ्र रथमें बाँध दो और एक सुवर्णभूषित खड्ग भी ले आओ ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा त्वरावानुत्तरस्तदा ।
अर्जुनस्यायुधान् गृह्य शीघ्रेणावातरत् ततः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनका यह कथन सुनकर उत्तर उतावला हो अर्जुनके सब आयुधोंको लेकर शीघ्रतापूर्वक वृक्षसे उतर आया ॥ ५ ॥

अर्जुन उवाच

अहं वै कुरुभिर्योत्स्याम्यवजेष्यामि ते पशून् ॥ ६ ॥

अर्जुन बोले— मैं कौरवोंसे युद्ध करूँगा और तुम्हारे पशुओंको जीत लूँगा ॥ ६ ॥

संकल्पपक्षविक्षेपं बाहुप्राकारतोरणम् ।
त्रिदण्डतूणसम्बाधमनेकध्वजसंकुलम् ॥ ७ ॥
ज्याक्षेपणं क्रोधकृतं नेमीनिनददुन्दुभि ।
नगरं ते मया गुप्तं रथोपस्थं भविष्यति ॥ ८ ॥

मुझसे सुरक्षित होकर रथका यह ऊपरी भाग ही तुम्हारे लिये नगर हो जायगा । इस रथके जो धुरी-पहिये आदि अङ्ग हैं, उनकी सुदृढ़ कल्पना ही नगरकी गलियोंके दोनों भागोंमें बने हुए गृहोंका विस्तार है । मेरी दोनों भुजाएँ ही चहारदीवारी और नगरद्वार हैं । इस रथमें जो त्रिदण्ड (हरिस और उसके अगल-बगलकी लकड़ियाँ) तथा तूणीर आदि हैं, वे किसीको यहाँतक फटकने नहीं देंगे । जैसे नगरमें हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथी—इन त्रिविध सेनाओं तथा आयुधोंके कारण उसके भीतर दूसरोंका प्रवेश करना असम्भव होता है । नगरमें जैसे बहुत-सी ध्वजा-पताकाएँ फहराती हैं, उसी प्रकार इस रथमें भी फहरा रही हैं । धनुषकी प्रत्यञ्चा ही नगरमें लगी हुई तोपकी नली है, जिसका क्रोधपूर्वक उपयोग होता है और रथके पहियोंकी घर्घराहटको ही नगरमें बजनेवाले नगाड़ोंकी आवाज समझो ॥ ७-८ ॥

अधिष्ठितो मया संख्ये रथो गाण्डीवधन्वना ।
अजेयः शत्रुसैन्यानां वैराटे व्येतु ते भयम् ॥ ९ ॥

जब मैं युद्धभूमिमें गाण्डीव धनुष लेकर रथपर सवार होऊँगा, उस समय शत्रुओंकी सेनाएँ मुझे जीत नहीं सकेंगी; अतः विराटनन्दन ! तुम्हारा भय अब दूर हो जाना चाहिये ॥

उत्तर उवाच

बिभेमि नाहमेतेषां जानामि त्वां स्थिरं युधि ।
केशवेनापि संग्रामे साक्षादिन्द्रेण वा समम् ॥ १० ॥

उत्तरने कहा—अब मैं उनसे नहीं डरता; क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि आप संग्रामभूमिमें भगवान् श्री-

कृष्ण और साक्षात् इन्द्रके समान स्थिर रहनेवाले हैं ॥ १० ॥

इदं तु चिन्तयन्नेवं परिमुह्यामि केवलम् ।
निश्चयं चापि दुर्मेधा न गच्छामि कथंचन ॥ ११ ॥

केवल इसी एक बातको सोचकर मैं ऐसे मोहमें पड़ जाता हूँ कि बुद्धि अच्छी न होनेके कारण किसी तरह भी किसी निश्चयतक नहीं पहुँच पाता ॥ ११ ॥

एवं युक्ताङ्गरूपस्य लक्षणैः सूचितस्य च ।
केन कर्मविपाकेन क्लीबत्वमिदमागतम् ॥ १२ ॥

(वह चिन्ता इस प्रकार है—) आपका एक-एक अवयव तथा रूप सब प्रकारसे उपयुक्त है । आप लक्षणोंद्वारा भी अलौकिक सूचित हो रहे हैं । ऐसी दशामें भी किस कर्मके परिणामसे आपको यह नपुंसकता प्राप्त हुई है ? ॥ १२ ॥

मन्ये त्वां क्लीबवेषेण चरन्तं शूलपाणिनम् ।
गन्धर्वराजप्रतिमं देवं वापि शतक्रतुम् ॥ १३ ॥

मैं तो नपुंसकवेशमें विचरनेवाले आपको शूलपाणि भगवान् शंकरका स्वरूप मानता हूँ अथवा गन्धर्वराजके समान या साक्षात् देवराज इन्द्र समझता हूँ ॥ १३ ॥

अर्जुन उवाच

(उर्वशीशापसम्भूतं क्लैब्यं मां समुपस्थितम् ।
पुराहमाज्ञया भ्रातुर्ज्येष्ठस्यास्मि सुरालयम् ॥
प्राप्तवानुर्वशी दृष्टा सुधर्मायां मया तदा ।
नृत्यन्ती परमं रूपं बिभ्रती वज्रिसंनिधौ ॥
अपश्यंस्तामनिमिषं कूटस्थामन्वयस्य मे ।
रात्रौ समागता मह्यं शयानं रन्तुमिच्छया ॥
अहं तामभिवाद्यैव मातृसत्कारमाचरम् ।
सा च मामशपत् क्रुद्धा शिखण्डी त्वं भवेरिति ॥
श्रुत्वा तमिन्द्रो मामाह मा भैस्त्वं पार्थ षण्ढतः ।
उपकारो भवेत् तुभ्यमज्ञातवसतौ पुरा ॥
इतीन्द्रो मामनुग्राह्य ततः प्रेषितवान् वृषा ।
तदिदं समनुप्राप्तं व्रतं तीर्णं मयानघ ॥)

अर्जुन बोले—महाबाहो ! उर्वशीके शापसे मुझे यह नपुंसक-भाव प्राप्त हुआ है । पूर्वकालमें मैं अपने बड़े भाईकी आज्ञासे देवलोकमें गया था । वहाँ सुधर्मा नामक सभामें मैंने उस समय उर्वशी अप्सराको देखा । वह परम सुन्दर रूप धारण करके वज्रधारी इन्द्रके समीप नृत्य कर रही थी । मेरे वंशकी मूलहेतु (जननी) होनेके कारण मैं उसे अपलक नेत्रोंसे देखने लगा । तब वह रातमें सोते समय रमणकी इच्छासे मेरे पास आयी, परंतु मैंने उसे (प्रणाम करके (उसकी इच्छाकी पूर्ति न करके) उसका माताके समान सत्कार किया । तब उसने कुपित होकर मुझे शाप दे दिया—'तुम नपुंसक हो जाओ ।' तब इन्द्रने वह शाप सुनकर मुझसे कहा—'पार्थ ! तुम नपुंसक होनेसे डरो मत । यह तुम्हारे लिये अज्ञातवासके समय उपकारक होगा ।' इस प्रकार देवराज इन्द्रने मुझपर अनुग्रह करके यह आश्वासन दिया और स्वर्गलोकसे यहाँ भेजा । अनघ ! वही यह व्रत प्राप्त हुआ था, जिसको मैंने पूरा किया है ॥

भ्रातुर्नियोगाज्ज्येष्ठस्य संवत्सरमिदं व्रतम् ।
चरामि व्रतचर्यं च सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥
नास्मि क्लीबो महाबाहो परवान् धर्मसंयुतः ।
समाप्तव्रतमुत्तीर्णं विद्धि मां त्वं नृपात्मज ॥ १५ ॥

महाबाहो ! मैं बड़े भाईकी आज्ञासे इस वर्ष एक व्रतका पालन कर रहा था । उस व्रतकी जो दिनचर्या है, उसके अनुसार मैं नपुंसक बनकर रहा हूँ । मैं तुमसे यह सच्ची बात कह रहा हूँ । वास्तवमें मैं नपुंसक नहीं हूँ; भाईकी आज्ञाके अधीन होकर धर्मके पालनमें तत्पर रहा हूँ । राजकुमार ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि अब मेरा व्रत समाप्त हो गया है; अतः मैं नपुंसक-भावके कष्टसे भी मुक्त हो चुका हूँ ॥ १४-१५ ॥

उत्तर उवाच

परमोऽनुग्रहो मेऽद्य यतस्तर्को न मे वृथा ।
न हीदृशाः क्लीबरूपा भवन्ति तु नरोत्तम ॥ १६ ॥

उत्तरने कहा—नरश्रेष्ठ ! आज मुझपर आपने बड़ा अनुग्रह किया, जो मुझे सब बात बता दी । ऐसे लक्षणोंवाले पुरुष नपुंसक नहीं होते, इस प्रकार जो मेरे मनमें तर्क उठ रहा था, वह व्यर्थ नहीं था ॥ १६ ॥

सहायवानस्मि रणे युध्येयममरैरपि ।
साध्वसं हि प्रणष्टं मे किं करोमि ब्रवीहि मे ॥ १७ ॥
अहं ते संग्रहीष्यामि हयान् शत्रुरथारुजान् ।
शिक्षितो ह्यस्मि सारथ्ये तीर्थतः पुरुषर्षभ ॥ १८ ॥

अब तो मुझे आपकी सहायता मिल गयी है; अतः युद्ध-भूमिमें देवताओंका भी सामना कर सकता हूँ । मेरा सारा भय नष्ट हो गया । बताइये, अब मैं क्या करूँ ? पुरुषप्रवर ! मैंने गुरुसे सारथ्यकर्मकी शिक्षा प्राप्त की है; इसलिये आपके घोड़ोंको, जो शत्रुके रथका नाश करनेवाले हैं, मैं काबूमें रक्खूँगा ॥ १७-१८ ॥

दारुको वासुदेवस्य यथा शक्रस्य मातलिः ।
तथा मां विद्धि सारथ्ये शिक्षितं नरपुङ्गव ॥ १९ ॥

नरपुङ्गव ! जैसे भगवान् वासुदेवका सारथि दारुक और इन्द्रका सारथि मातलि है, उसी प्रकार मुझे भी आप सारथि-के कार्यमें पूर्ण शिक्षित मानिये ॥ १९ ॥

यस्य याते न पश्यन्ति भूमौ क्षिप्तं पदं पदम् ।
दक्षिणां यो धुरं युक्तः सुग्रीवसदृशो हयः ॥ २० ॥

जो घोड़ा दाहिनी धुरीमें जोता गया है तथा जिसके जाते समय लोग यह नहीं देख पाते कि उसने कब कहाँ पृथ्वीपर पैर

रक्खा या उठाया है, यह (भगवान् श्रीकृष्णके चार अश्वों-मेंसे) सुग्रीव नामक घोड़ेके समान है ॥ २० ॥

योऽयं धुरं धुर्यवरो वामां वहति शोभनः ।
तं मन्ये मेघपुष्पस्य जवेन सदृशं हयम् ॥ २१ ॥

और भार ढोनेवालोंमें श्रेष्ठ जो यह सुन्दर अश्व बाँयीं धुरीका भार वहन करता है, उसे वेगमें मेघपुष्प नामक अश्वके समान मानता हूँ ॥ २१ ॥

योऽयं काञ्चनसंनाहः पार्ष्णिं वहति शोभनः ।
समं शैब्यस्य तं मन्ये जवेन बलवत्तरम् ॥ २२ ॥

यह जो सोनेके बख्तरसे सजा हुआ सुन्दर अश्व बाँयीं ओर पिछला जुआ ढो रहा है, इसे वेगमें मैं शैब्य नामक अश्वके समान अत्यन्त बलवान् मानता हूँ ॥ २२ ॥

योऽयं वहति मे पार्ष्णिं दक्षिणामभितः स्थितः ।
बलाहकादपि मतः स जवे वीर्यवत्तरः ॥ २३ ॥

और यह जो दाहिने भागका पिछला जुआ धारण करके खड़ा है, वह वेगमें बलाहक नामवाले अश्वसे भी अधिक समझा गया है ॥ २३ ॥

त्वामेवायं रथो वोढुं संग्रामेऽर्हति धन्विनम् ।
त्वं चेमं रथमास्थाय योद्धुमर्हो मतो मम ॥ २४ ॥

यह रथ आप-जैसे धनुर्धर वीरको ही वहन करने योग्य है और मेरी रायमें आप इसी रथपर बैठकर युद्ध करने योग्य हैं ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विमुच्य बाहुभ्यां वलयानि स वीर्यवान् ।
चित्रे काञ्चनसंनाहे प्रत्यमुञ्चत् तदा तले ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पराक्रमी अर्जुनने हाथोंसे कड़े और चूड़ियाँ उतार दीं और हथेलियोंमें सोनेके बने हुए विचित्र कवच धारण कर लिये ॥ २५ ॥

कृष्णान् भङ्गिमतः केशान् श्वेतेनोद्ग्रथ्य वाससा ।
अथासौ प्राङ्मुखो भूत्वा शुचिः प्रयतमानसः ।
अभिदध्यौ महाबाहुः सर्वास्त्राणि रथोत्तमे ॥ २६ ॥

फिर उन्होंने काले-काले घुँघराले केशोंको श्वेत वस्त्रसे बाँध दिया और पूर्वकी ओर मुँह करके पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो महाबाहु धनंजयने उस श्रेष्ठ रथपर सम्पूर्ण अस्त्रोंका ध्यान किया॥

ऊचुश्च पार्थं सर्वाणि प्राञ्जलीनि नृपात्मजम् ।
इमे स्म परमोदाराः किंकराः पाण्डुनन्दन ॥ २७ ॥

तब वे सब अस्त्र प्रकट होकर राजकुमार अर्जुनसे हाथ जोड़कर बोले— 'पाण्डुनन्दन ! ये हमलोग तुम्हारे परम उदार किंकर हैं' ॥ २७ ॥

प्रणिपत्य ततः पार्थः समालभ्य च पाणिना ।
सर्वाणि मानसानीह भवतेत्यभ्यभाषत ॥ २८ ॥

तब अर्जुनने उन्हें प्रणाम करके अपने हाथसे उनका स्पर्श किया और कहा—'आप सब लोग मेरे मनमें निवास करें' ॥

प्रतिगृह्य ततोऽस्त्राणि प्रहृष्टवदनोऽभवत् ।
अधिज्यं तरसा कृत्वा गाण्डीवं व्याक्षिपद् धनुः ॥ २९ ॥

इस प्रकार अपने अस्त्र-शस्त्रोंको अनुकूल करके अर्जुनका मुखारविन्द प्रसन्नतासे खिल उठा । उन्होंने बड़े वेगसे गाण्डीव धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसकी टंकार की ॥ २९ ॥

तस्य विक्षिप्यमाणस्य धनुषोऽभून्महाध्वनिः ।
यथा शैलस्य महतः शैलेनैवावजघ्नतः ॥ ३० ॥

उस धनुषकी टंकारके समय बड़े जोरका शब्द हुआ, मानो किसी महान् पर्वतको पर्वतसे ही टक्कर लगी हो ॥३०॥

स निर्घातोऽभवद् भूमिद् दिक्षु वायुर्ववौ भृशम् ।
पपात महती चोल्का दिशो न प्रचकाशिरे ।
भ्रान्तध्वजं खं तदासीत् प्रकम्पितमहाद्रुमम् ॥ ३१ ॥
तं शब्दं कुरवोऽजानन् विस्फोटमशनेरिव ।
यदर्जुनो धनुःश्रेष्ठं बाहुभ्यामाक्षिपद् रथे ॥ ३२ ॥

वह भयानक शब्द पृथ्वीको विदीर्ण करता-सा गूँज उठा । सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रचण्ड आँधी चलने लगी, महान् उल्कापात होने लगा और दिशाओंमें अन्धकार छा गया । शत्रु-सेनाके ध्वज आकाशमें अकारण हिलने लगे । बड़े-बड़े वृक्ष भी हिलने लगे । अर्जुनने अपने दोनों हाथोंसे रथपर बैठे-बैठे जो अपने श्रेष्ठ धनुषकी टंकार-ध्वनि की, उसे सुनकर कौरवोंने समझा, कहींसे बिजली टूट पड़ी है ॥ ३१-३२ ॥

उत्तर उवाच

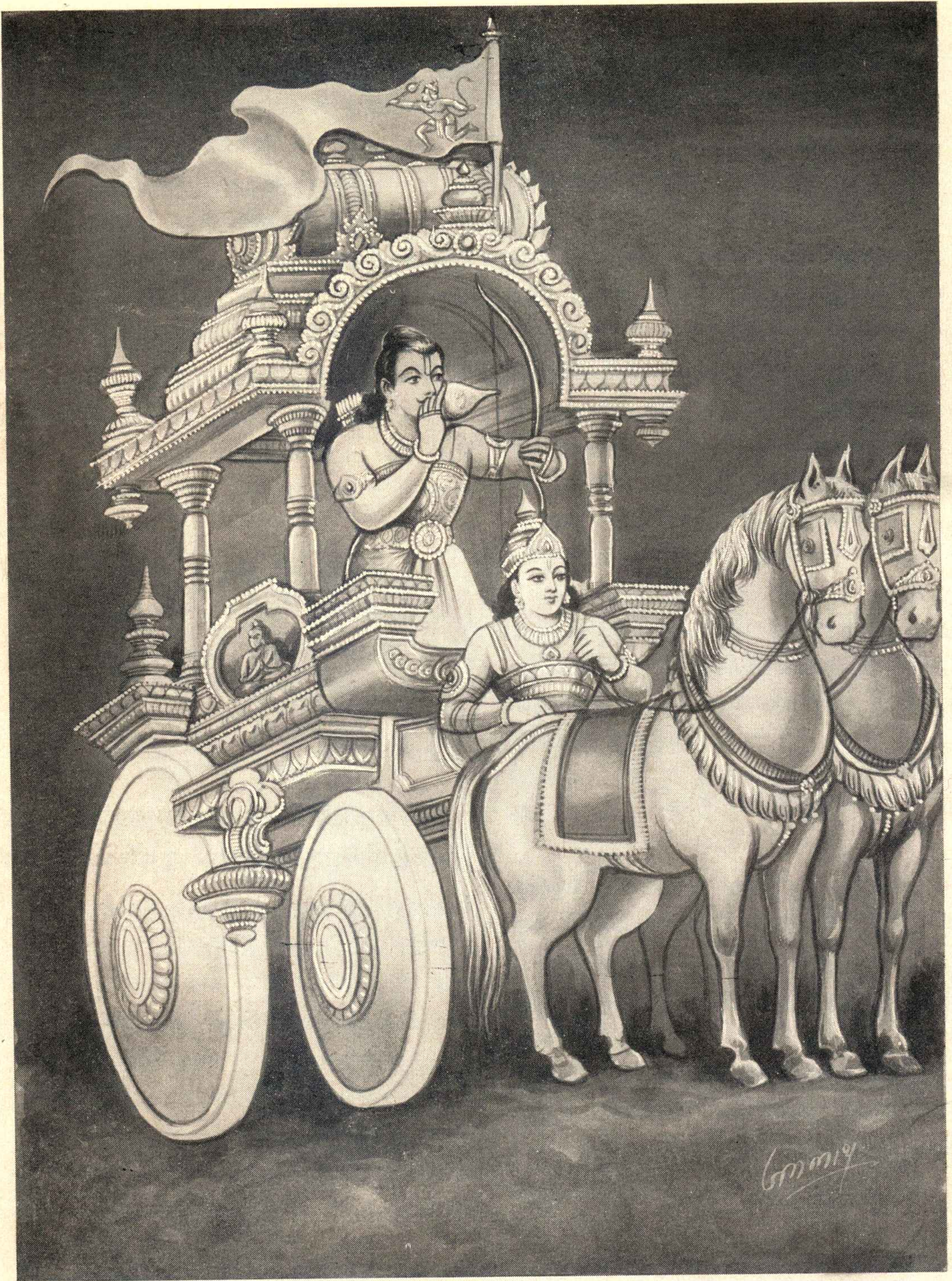
एकस्त्वं पाण्डवश्रेष्ठ बहूनेतान् महारथान् ।
कथं जेष्यसि संग्रामे सर्वशस्त्रास्त्रपारगान् ॥ ३३ ॥

उस समय उत्तर बोला—पाण्डवश्रेष्ठ ! आप तो अकेले हैं, इन सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके पारगामी बहुसंख्यक महारथियोंको युद्धमें कैसे जीत सकेंगे ? ॥ ३३ ॥

असहायोऽसि कौन्तेय ससहायाश्च कौरवाः ।
अतएव महाबाहो भीतस्तिष्ठामि तेऽग्रतः ॥ ३४ ॥

कुन्तीनन्दन ! आप असहाय हैं और कौरवोंके साथ बहुतेरे सहायक हैं । महाबाहो ! यह सोचकर मैं आपके सामने भयभीत हो रहा हूँ ॥ ३४ ॥

उवाच पार्थो मा भैषीः प्रहस्य स्वनवत् तदा ॥३५॥
युध्यमानस्य मे वीर गन्धर्वैः सुमहाबलैः ।
सहायो घोषयात्रायां कस्तदाऽऽसीत् सखा मम॥३६॥
तथा प्रतिभये तस्मिन् देवदानवसंकुले ।
खाण्डवे युध्यमानस्य कस्तदाऽऽसीत् सखा मम॥३७॥



अर्जुनका शङ्खनाद

यह सुनकर अर्जुन खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—'वीर ! डरो मत ! कौरवोंकी घोषयात्राके समय जब मैंने महाबली गन्धर्वोंके साथ युद्ध किया था, उस समय मेरा सखा या सहायक कौन था ? जब देवताओं और दानवोंसे भरे हुए उस अत्यन्त भयंकर खाण्डववनमें मैं युद्ध कर रहा था, उस समय मेरा साथी कौन था ? ॥ ३५—३७ ॥

निवातकवचैः सार्धं पौलोमैश्च महाबलैः।
युध्यतो देवराजार्थे कः सहायस्तदाभवत् ॥ ३८ ॥

देवराज इन्द्रके लिये महाबली निवातकवच और पौलोम दैत्योंके साथ युद्ध करते समय मेरा कौन सहायक था ? ॥ ३८ ॥

स्वयंवरे तु पाञ्चाल्या राजभिः सह संयुगे।
युध्यतो बहुभिस्तात कः सहायस्तदाभवत् ॥ ३९ ॥

तात ! द्रौपदीके स्वयंवरमें जब मुझे अनेक राजाओंके साथ युद्ध करना पड़ा था, उस समय किसने मेरी सहायता की थी ? ॥ ३९ ॥

उपजीव्य गुरुं द्रोणं शक्रं वैश्रवणं यमम्।
वरुणं पावकं चैव कृपं कृष्णं च माधवम् ॥ ४० ॥
पिनाकपाणिनं चैव कथमेतान् न योधये।
रथं वाहय मे शीघ्रं व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ४१ ॥

मैं गुरुवर द्रोणाचार्य, इन्द्र, कुबेर, यमराज, वरुण, अग्निदेव, कृपाचार्य, लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण तथा पिनाकपाणि भगवान् शङ्कर—इन सबका आश्रय पा चुका हूँ; फिर भला, इन महारथियोंसे युद्ध क्यों नहीं कर सकूँगा ? शीघ्र मेरा रथ हाँको; तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये॥४०-४१॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे उत्तरार्जुनयोर्वाक्यं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर विराटकुमार उत्तर और अर्जुनकी बातचीतविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल ४७ श्लोक हैं)

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

उत्तरके रथपर अर्जुनको ध्वजकी प्राप्ति, अर्जुनका शङ्खनाद और द्रोणाचार्यका कौरवोंसे उत्पात-सूचक अपशकुनोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

उत्तरं सारथिं कृत्वा शमीं कृत्वा प्रदक्षिणम्।
आयुधं सर्वमादाय प्रययौ पाण्डवर्षभः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उत्तरको सारथि बना शमी वृक्षकी परिक्रमा करके अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र लेकर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन युद्धके लिये चले ॥ १ ॥

ध्वजं सिंहं रथात् तस्मादपनीय महारथः।
प्रणिधाय शमीमूले प्रायादुत्तरसारथिः ॥ २ ॥

उन महारथी पार्थने उस रथपरसे सिंहचिह्नयुक्त ध्वजाको हटाकर शमीवृक्षके नीचे रख दिया और सारथि उत्तरके साथ प्रस्थान किया ॥ २ ॥

दैवीं मायां रथे युक्तां विहितां विश्वकर्मणा।
काञ्चनं सिंहलाङ्गूलं ध्वजं वानरलक्षणम् ॥ ३ ॥
मनसा चिन्तयामास प्रसादं पावकस्य च।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा ध्वजे भूतान्यदेशयत् ॥ ४ ॥

उस समय उन्होंने मन-ही-मन अग्निदेवके प्रसादस्वरूप प्राप्त हुए अपने सुवर्णमय ध्वजका चिन्तन किया, जिसपर मूर्तिमान् वानर उपलक्षित होता है और जिसकी लंबी पूँछ सिंहके समान है। वह ध्वज क्या था, विश्वकर्माकी बनायी हुई दैवी माया थी, जो रथमें संयुक्त हो जाती थी। अग्निदेवने अर्जुनका मनोभाव जानकर उस ध्वजपर स्थित रहनेके लिये भूतोंको आदेश दिया ॥ ३-४ ॥

सपताकं विचित्राङ्गं सोपासङ्गं महाबलम्।
खात् पपात रथे तूर्णं दिव्यरूपं मनोरमम् ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् पताका तथा विचित्र अङ्ग और उपाङ्गोंसहित वह अतिशय शक्तिशाली दिव्यरूप मनोरम ध्वज तुरंत ही आकाशसे अर्जुनके रथपर आ गिरा ॥ ५ ॥

रथं तमागतं दृष्ट्वा दक्षिणं प्राकरोत् तदा।
रथमास्थाय बीभत्सुः कौन्तेयः श्वेतवाहनः ॥ ६ ॥
बद्धगोधाङ्गुलित्राणः प्रगृहीतशरासनः।
ततः प्रायादुदीचीं च कपिप्रवरकेतनः ॥ ७ ॥

इस प्रकार उस ध्वजको रथपर आया हुआ देख श्वेत घोड़ोंवाले कुन्तीनन्दन अर्जुनने उस रथकी परिक्रमा की तथा उसके ऊपर बैठकर अपनी अङ्गुलियोंमें गोहके चमड़ेके बने हुए दस्ताने धारण किये। फिर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीसे उपलक्षित ध्वजाको फहराते हुए गाण्डीव धनुषके साथ उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया ॥ ६-७ ॥

स्वनवन्तं महाशङ्खं बलवानरिमर्दनः।
प्राधमद् बलमास्थाय द्विषतां लोमहर्षणम् ॥ ८ ॥

उस समय शत्रुमर्दन महाबली अर्जुनने घोर शब्द करने-

वाले अपने महान् शङ्खको खूब जोर लगाकर बजाया। जिसकी आवाज सुनकर शत्रुओंके रोंगटे खड़े हो गये ॥ ८ ॥

(शशाङ्करूपं बीभत्सुः प्राध्मापयदरिंदमः।
शङ्खशब्दोऽस्य सोऽत्यर्थं श्रूयते कालमेघवत् ॥
तस्य शङ्खस्य शब्देन धनुषो निस्वनेन च।
वानरस्य च नादेन रथनेमिस्वनेन च ॥
जङ्गमस्य भयं घोरमकरोत् पाकशासनिः।)

शत्रुदमन अर्जुनने जो महान् शङ्ख फूँका था, वह चन्द्रमाके समान परम उज्ज्वल जान पड़ता था। उस शङ्खका जोर-जोरसे होनेवाला शब्द वर्षाकालके मेघकी गर्जनाके समान सुनायी देता था। शङ्खकी ध्वनि, धनुषकी टंकार, वानरकी गर्जना तथा रथके पहियोंकी घर्घराहटसे इन्द्रपुत्र अर्जुनने समस्त जङ्गम प्राणियोंके मनमें घोर भयका संचार कर दिया ॥

ततस्ते जवना धुर्या जानुभ्यामगमन्महीम्।
उत्तरश्चापि संत्रस्तो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ ९ ॥

उस शङ्खध्वनिसे घबराकर रथके वेगशाली घोड़ोंने भी धरतीपर घुटने टेक दिये और उत्तर भी अत्यन्त भयभीत हो रथके ऊपरी भागमें जहाँ रथीका स्थान है, आ बैठा ॥९॥

संस्थाप्य चाश्वान् कौन्तेयः समुद्यम्य च रश्मिभिः।
उत्तरं च परिष्वज्य समाश्वासयदर्जुनः ॥ १० ॥

तब कुन्तीनन्दन अर्जुनने स्वयं रास खींचकर घोड़ोंको खड़ा किया और उत्तरको हृदयसे लगाकर धीरज बँधाया ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच

मा भैस्त्वं राजपुत्राग्र्य क्षत्रियोऽसि परंतप।
कथं तु पुरुषव्याघ्र शत्रुमध्ये विषीदसि ॥ ११ ॥

अर्जुनने कहा—शत्रुओंको संताप देनेवाले राजकुमार-शिरोमणे! डरो मत, तुम क्षत्रिय हो। पुरुषसिंह! शत्रुओंके बीचमें आकर घबराते कैसे हो? ॥ ११ ॥

श्रुतास्ते शङ्खशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः।
कुञ्जराणां च नदतां व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ॥ १२ ॥

तुमने बहुत बार शङ्ख-ध्वनि सुनी होगी। रणभेरियोंके भयंकर शब्द भी बहुत बार तुम्हारे कानोंमें पड़े होंगे और व्यूहबद्ध सेनाओंमें खड़े हुए चिग्घाड़नेवाले गजराजोंके शब्द भी तुमने सुने ही होंगे ॥ १२ ॥

स त्वं कथमिहानेन शङ्खशब्देन भीषितः।
विवर्णरूपो वित्रस्तः पुरुषः प्राकृतो यथा ॥ १३ ॥

फिर यहाँ इस शङ्खनादसे तुम भयभीत कैसे हो गये? साधारण मनुष्योंके समान अधिक डर जानेके कारण तुम्हारे शरीरका रंग फीका कैसे पड़ गया? ॥ १३ ॥

उत्तर उवाच

श्रुता मे शङ्खशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः।
कुञ्जराणां निनदतां व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ॥ १४ ॥

उत्तरने कहा—वीरवर! इसमें संदेह नहीं कि मैंने बहुत बार शङ्खध्वनि सुनी है। रणभेरियोंके भयंकर शब्द भी बहुत बार मेरे कानोंमें पड़े हैं और व्यूहबद्ध सेनाओंमें खड़े हुए चिग्घाड़नेवाले गजराजोंके शब्द भी मैंने सुने हैं ॥

नैवंविधः शङ्खशब्दः पुरा जातु मया श्रुतः।
ध्वजस्य चापि रूपं मे दृष्टपूर्वं न हीदृशम् ॥ १५ ॥

परंतु आजके पहले कभी ऐसा भयंकर शङ्खनाद मेरे सुननेमें नहीं आया था और ध्वजका भी ऐसा रूप मैंने कभी नहीं देखा था ॥ १५ ॥

धनुषश्चैव निर्घोषः श्रुतपूर्वो न मे क्वचित्।
अस्य शङ्खस्य शब्देन धनुषो निस्वनेन च ॥ १६ ॥
अमानुषाणां शब्देन भूतानां ध्वजवासिनाम्।
रथस्य च निनादेन मनो मुह्यति मे भृशम् ॥ १७ ॥

धनुषकी ऐसी टंकार भी पहले कभी मैंने नहीं सुनी थी। इस शङ्खके भयानक शब्दसे, धनुषकी अनुपम टंकारसे, ध्वजामें निवास करनेवाले मानवेतर प्राणियोंके घोर शब्दसे तथा रथकी भारी घर्घराहटसे भी डरकर मेरा हृदय बहुत व्याकुल हो उठा है ॥ १६-१७ ॥

व्याकुलाश्च दिशः सर्वा हृदयं व्यथतीव मे।
ध्वजेन पिहिताः सर्वा दिशो न प्रतिभान्ति मे ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें घबराहट छा गयी है तथा मेरे हृदयमें बड़ी व्यथा हो रही है, इस ध्वजने तो समस्त दिशाओंको ढँक लिया है। अतः मुझे किसी दिशाकी प्रतीति नहीं हो रही है ॥ १८ ॥

गाण्डीवस्य च शब्देन कर्णौ मे बधिरीकृतौ।
स मुहूर्तं प्रयातं तु पार्थो वैराटिमब्रवीत् ॥ १९ ॥

गाण्डीव धनुषकी टंकारसे तो मेरे दोनों कान बहरे हो गये हैं।

इस प्रकार दो घड़ीतक आगे बढ़नेपर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरसे कहा— ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

एकान्तं रथमास्थाय पद्भ्यां त्वमवपीडयन्।
दृढं च रश्मीन् संयच्छ शङ्खं ध्मास्याम्यहं पुनः॥२०॥

अर्जुन बोले—राजकुमार! अब तुम रथपर अच्छी तरह जमकर बैठ जाओ और अपनी टाँगोंसे बैठनेके स्थानको जकड़ लो। साथ ही घोड़ोंकी रासको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो। मैं फिर शङ्ख बजाऊँगा ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः शङ्खमुपाध्मासीद् दारयन्निव पर्वतान्।
गुहा गिरीणां च तदा दिशः शैलांस्तथैव च।
उत्तरश्चापि संलीनो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब अर्जुनने इतने जोरसे शङ्ख बजाया मानो वे पर्वतों, पर्वतीय गुफाओं, सम्पूर्ण दिशाओं और बड़ी-बड़ी चट्टानोंको भी विदीर्ण कर डालेंगे। उत्तर इस बार भी रथके भीतरी भागमें छिपकर बैठ गया ॥

तस्य शङ्खस्य शब्देन रथनेमिस्वनेन च ।
गाण्डीवस्य च घोषेण पृथिवी समकम्पत ॥ २२ ॥

उस शङ्खके शब्दसे, रथनेमियोंकी घर्घराहटसे तथा गाण्डीव धनुषकी टंकारसे धरती काँप उठी ॥ २२ ॥

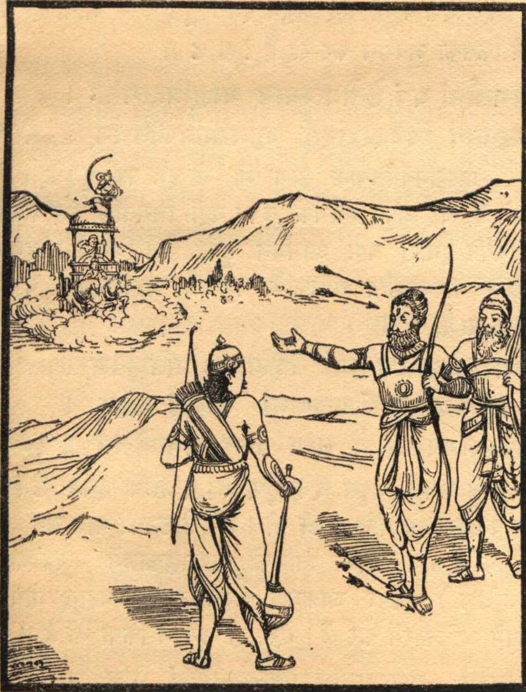
तं समाश्वासयामास पुनरेव धनंजयः ॥ २३ ॥

तदनन्तर अर्जुनने उत्तरको पुनः धीरज बँधाया ॥२३॥

द्रोण उवाच

यथा रथस्य निर्घोषो यथा मेघ उदीर्यते ।
कम्पते च यथा भूमिर्नैषोऽन्यः सव्यसाचिनः ॥ २४ ॥

(यह शङ्ख-ध्वनि सुनकर कौरवसेनामें) द्रोणाचार्यने कहा—जैसी यह रथकी घर्घराहट सुनायी दे रही है, जिस तरह उससे मेघगर्जनाका-सा शब्द हो रहा है और उसीके कारण जिस प्रकार यह पृथ्वी काँपने लगी है, इनसे यह सूचित होता है कि यह आनेवाला योद्धा अर्जुनके सिवा दूसरा कोई नहीं है ॥ २४ ॥



शस्त्राणि न प्रकाशन्ते न प्रहृष्यन्ति वाजिनः ।
अग्नयश्च न भासन्ते समिद्धास्तन्न शोभनम् ॥ २५ ॥

अब हमारे शस्त्र चमक नहीं रहे हैं; घोड़े प्रसन्न नहीं जान पड़ते और अग्निहोत्रकी अग्नियाँ भी प्रज्वलित एवं उद्दीप्त नहीं हो रही हैं। यह सब अशुभकी सूचना है ॥२५॥

प्रत्यादित्यं च नः सर्वे मृगा घोरप्रवादिनः ।
ध्वजेषु च निलीयन्ते वायसास्तन्न शोभनम् ॥ २६ ॥

हमारे सभी पशु सूर्यकी ओर दृष्टि करके भयंकर क्रन्दन करते हैं और रथोंकी ध्वजाओंमें कौए छिप रहे हैं। यह भी शुभसूचक नहीं है ॥ २६ ॥

शकुनाश्चापसव्या नो वेदयन्ति महद् भयम् ॥ २७ ॥
गोमायुरेष सेनायां रुदन् मध्येन धावति ।
अनाहतश्च निष्क्रान्तो महद् वेदयते भयम् ॥ २८ ॥

ये पक्षी भी हमारे वामभागमें उड़कर महान् भयकी सूचना दे रहे हैं। और यह गीदड़ बिना किसी आघातके हमारी सेनाके बीचसे निकलकर रोता हुआ भाग रहा है, यह भी महान् भयका विज्ञापन कर रहा है ॥ २७-२८ ॥

भवतां रोमकूपाणि प्रहृष्टान्युपलक्षये ।
ध्रुवं विनाशो युद्धेन क्षत्रियाणां प्रदृश्यते ॥ २९ ॥

कौरवो ! मैं देखता हूँ, तुम्हारे रोंगटे खड़े हो गये हैं; अतः निश्चय ही, इस युद्धके द्वारा क्षत्रियोंका विनाश निकट दिखायी देता है ॥ २९ ॥

ज्योतींषि न प्रकाशन्ते दारुणा मृगपक्षिणः ।
उत्पाता विविधा घोरा दृश्यन्ते क्षत्रनाशनाः ॥ ३० ॥

सूर्य आदिका प्रकाश मंद पड़ गया है। भयंकर मृग और पक्षी सामने आ रहे हैं और क्षत्रियोंके संहारकी सूचना देनेवाले अनेक प्रकारके घोर उत्पात दिखायी देते हैं ॥३०॥

विशेषत इहास्माकं निमित्तानि विनाशने ।
उल्काभिश्च प्रदीप्ताभिर्बाध्यते पृतना तव ।
वाहनान्यप्रहृष्टानि रुदन्तीव विशाम्पते ॥ ३१ ॥

राजा दुर्योधन ! विशेषतः यहीं हमारे लिये विनाशसूचक अपशकुन हो रहे हैं। तुम्हारी सेनाके ऊपर जलती हुई उल्काएँ गिर-गिरकर उसे पीड़ा देती हैं। तुम्हारे वाहन (हाथी-घोड़े) अप्रसन्न तथा रोते-से दीखते हैं ॥ ३१ ॥

उपासते च सैन्यानि गृध्रास्तव समन्ततः ।
तप्स्यसे वाहिनीं दृष्ट्वा पार्थबाणप्रपीडिताम् ।
पराभूता च वः सेना न कश्चिद् योद्धुमिच्छति ॥ ३२ ॥

सेनाके चारों ओर गीध बैठ रहे हैं, इससे जान पड़ता है; तुम अपनी सेनाको अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित होती देख मनमें संताप करोगे। तुम्हारी सेना अभीसे तिरस्कृत-सी हो रही है, कोई भी सैनिक युद्ध करना नहीं चाहता है ॥ ३२ ॥

विवर्णमुखभूयिष्ठाः सर्वे योधा विचेतसः ।
गाः सम्प्रस्थाप्य तिष्ठामो व्यूढानीकाः प्रहारिणः॥ ३३ ॥

समस्त सैनिकोंके मुखपर भारी उदासी छा गयी है। सब अचेत—हतोत्साह हो रहे हैं। अतः हम गौओंको हस्तिनापुर-की ओर भेजकर सेनाकी व्यूहरचना करके शत्रुपर प्रहार करनेके लिये उद्यत हो जायँ ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे औत्पातिको नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर उत्पातसूचक अपशकुनसम्बन्धी छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ३५½ श्लोक हैं)

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा युद्धका निश्चय तथा कर्णकी उक्ति

वैशम्पायन उवाच

अथ दुर्योधनो राजा समरे भीष्ममब्रवीत् ।
द्रोणं च रथशार्दूलं कृपं च सुमहारथम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा दुर्योधनने समरभूमिमें भीष्म, रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोण और महारथी कृपाचार्यसे कहा—॥ १ ॥

उक्तोऽयमर्थ आचार्यौ मया कर्णेन चासकृत् ।
पुनरेव प्रवक्ष्यामि न हि तृप्यामि तं ब्रुवन् ॥ २ ॥

'आचार्यो ! मैंने और कर्णने यह बात आपलोगोंसे कई बार कही है और फिर उसीको दुहराता हूँ; क्योंकि उसे बार-बार कहकर भी मुझे तृप्ति नहीं होती ॥ २ ॥

पराभूतैर्हि वस्तव्यं तैश्च द्वादश वत्सरान् ।
वने जनपदे ज्ञातैरेष एव पणो हि नः ॥ ३ ॥

'जूआ खेलते समय हमलोगोंकी यही शर्त थी कि हममेंसे जो हारेंगे, उन्हें बारह वर्षोंतक किसी वनमें प्रकटरूपसे और एक वर्षतक किसी नगरमें अज्ञातभावसे निवास करना पड़ेगा ॥ ३ ॥

तेषां न तावन्निर्वृत्तं वर्तते तु त्रयोदशम् ।
अज्ञातवासो बीभत्सुरथास्माभिः समागतः ॥ ४ ॥

'अभी पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष पूरा नहीं हुआ है, तो भी अज्ञातवासमें रहनेवाला अर्जुन आज प्रकटरूपसे हमारे साथ युद्ध करने आ रहा है ॥ ४ ॥

अनिवृत्ते तु निर्वासे यदि बीभत्सुरागतः ।
पुनर्द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥

'यदि अज्ञातवास पूर्ण होनेके पहले ही अर्जुन आ गया है, तो पाण्डव फिर बारह वर्षोंतक वनमें निवास करेंगे ॥ ५ ॥

लोभाद् वा ते न जानीयुरस्मान् वा मोह आविशत् ।
हीनातिरिक्तमेतेषां भीष्मो वेदितुमर्हति ॥ ६ ॥

'वे राज्यके लोभसे अपनी प्रतिज्ञाको स्मरण नहीं रख सके हैं या हमलोगोंमें ही मोह (प्रमाद) आ गया है। इनके तेरहवें वर्षमें अभी कुछ कमी है या अधिक दिन बीत गये हैं; यह भीष्मजी जान सकते हैं ॥ ६ ॥

अर्थानां च पुनर्द्वैधे नित्यं भवति संशयः ।
अन्यथा चिन्तितो ह्यर्थः पुनर्भवति सोऽन्यथा ॥ ७ ॥

'जिन विषयोंमें दुविधा पड़ जाती है, उनमें सदा संदेह बना रहता है। किसी विषयको अन्य प्रकारसे सोचा जाता है, किंतु पता लगनेपर वह किसी और ही प्रकारका सिद्ध होता है ॥ ७ ॥

उत्तरं मार्गमाणानां मत्स्यानां च युयुत्सताम् ।
यदि बीभत्सुरायातस्तदा कस्यापराध्नुमः ॥ ८ ॥

'हमलोग मत्स्यदेशके उत्तरगोष्ठकी खोज करते हुए यहाँ आये और मत्स्यदेशीय सैनिकोंके साथ ही युद्ध करना चाहते थे। इस दशामें भी यदि अर्जुन हमसे युद्ध करने आया है, तो हम किसका अपराध कर रहे हैं ? ॥ ८ ॥

त्रिगर्तानां वयं हेतोर्मत्स्यान् योद्धुमिहागताः ।
मत्स्यानां विप्रकारांस्ते बहूनस्मानकीर्तयन् ॥ ९ ॥

'मत्स्यनिवासियोंके साथ भी जो हम यहाँ युद्धके लिये आये हैं, वह अपने स्वार्थको लेकर नहीं, त्रिगर्तोंकी सहायताके उद्देश्यसे हमारा यहाँ आगमन हुआ है। त्रिगर्तोंने हमारे सामने मत्स्यदेशीय सैनिकोंके बहुत-से अत्याचारोंका वर्णन किया था ॥ ९ ॥

तेषां भयाभिभूतानां तदस्माभिः प्रतिश्रुतम् ।
प्रथमं तैर्ग्रहीतव्यं मत्स्यानां गोधनं महत् ।
सप्तम्यामपराह्णे वै तथा तैस्तु समाहितम् ॥ १० ॥

'वे भयसे बहुत दबे हुए थे; इसलिये हमने उनकी सहायताके लिये प्रतिज्ञा की थी। हमारी उनकी बात यह हुई थी कि वे लोग सप्तमी तिथिको अपराह्णकालमें मत्स्यदेशके (दक्षिण) गोष्ठपर आक्रमण करके वहाँका महान् गोधन अपने अधिकारमें कर लें। ऐसा ही उन्होंने किया भी है ॥

अष्टम्यां पुनरस्माभिरादित्यस्योदयं प्रति ।
इमा गावो ग्रहीतव्या गते मत्स्ये गवां पदम् ॥ ११ ॥

'साथ ही यह भी तै हुआ था कि हमलोग अष्टमीको सूर्योदय होते-होते उत्तरगोष्ठकी इन गौओंको ग्रहण कर लें; क्योंकि उस समय मत्स्यराज गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए त्रिगर्तोंके पीछे गये होंगे ॥ ११ ॥

ते वा गाश्चानयिष्यन्ति यदि वा स्युः पराजिताः।
अस्मान् वा ह्युपसंधाय कुर्युर्मत्स्येन संगतम् ॥ १२ ॥

'वे त्रिगर्त-सैनिक गौओंको यहाँ ले आयेंगे अथवा यदि परास्त हो गये, तो हमलोगोंसे मिलकर पुनः मत्स्यराजके साथ युद्ध करेंगे ॥ १२ ॥

अथवा तानपाहाय मत्स्यो जानपदैः सह ।
सर्वया सेनया सार्धं संवृतो भीमरूपया ।
आयातः केवलं रात्रिमस्मान् योद्धुमिहागतः ॥ १३ ॥

'अथवा यदि मत्स्यराज त्रिगर्तोंको भगाकर अपने देशके लोगों एवं अपनी सारी भयंकर सेनाके साथ इस रातमें हमलोगोंसे युद्ध करनेके लिये यहाँ आ रहे होंगे ॥ १३ ॥

तेषामेव महावीर्यः कश्चिदेष पुरःसरः ।
अस्माञ्जेतुमिहायातो मत्स्यो वापि स्वयं भवेत् ॥ १४ ॥

'उन्हीं सैनिकोंमेंसे यह कोई महापराक्रमी योद्धा अगुआ बनकर हमें जीतने आया है। यह भी सम्भव है कि ये स्वयं मत्स्यराज ही हों ॥ १४ ॥

यद्येष राजा मत्स्यानां यदि बीभत्सुरागतः ।
सर्वैर्योद्धव्यमस्माभिरिति नः समयः कृतः ॥ १५ ॥

'यदि यह मत्स्योंका राजा विराट हो अथवा अर्जुन ही उसकी ओरसे आया हो, तो भी हम सब लोगोंको उससे युद्ध करना ही है; यह हमने प्रतिज्ञा कर ली है ॥ १५ ॥

अथ कस्मात् स्थिता ह्येते रथेषु रथसत्तमाः ।
भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विकर्णो द्रौणिरेव च ॥ १६ ॥
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे काले ह्यस्मिन् महारथाः ।
नान्यत्र युद्धाच्छ्रेयोऽस्ति तथाऽऽत्मा प्रणिधीयताम् ।१७।

'फिर ये हमारे श्रेष्ठ रथी-महारथी भीष्म, द्रोण, कृप, विकर्ण और अश्वत्थामा आदि इस समय भ्रान्तचित्त हो रथोंमें चुपचाप क्यों बैठे हैं ? युद्धके सिवा और किसी बातमें कल्याण नहीं है। यह समझकर अपने-आपको इस परिस्थितिके अनुकूल बनाना चाहिये ॥ १६-१७ ॥

आच्छिन्ने गोधनेऽस्माकमपि देवेन वज्रिणा ।
यमेन वापि संग्रामे को हास्तिनपुरं व्रजेत् ॥ १८ ॥

'यदि स्वयं वज्रधारी इन्द्र अथवा यमराज ही युद्धमें आकर हमसे गोधन छीन लें, तो भी ऐसा कौन होगा, जो उनका सामना करना छोड़कर हस्तिनापुरको लौट जाय ? ॥ १८ ॥

शरैरेभिः प्रणुन्नानां भग्नानां गहने वने ।
को हि जीवेत् पदातीनां भवेदश्वेषु संशयः ॥ १९ ॥

'यदि कोई गहन वनमें भागकर प्राण बचाना चाहें, तो मेरे इन बाणोंसे वे छिन्न-भिन्न कर दिये जायँगे। इस तरह भागनेवाले पैदल सैनिकोंमेंसे कौन जीवित रह सकता है ? घुड़सवारोंके विषयमें संदेह है (वे भागनेपर मारे भी जा सकते हैं और बच भी सकते हैं)' ॥ १९ ॥

दुर्योधनवचः श्रुत्वा राधेयस्त्वब्रवीद् वचः ।
आचार्यं पृष्ठतः कृत्वा तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २० ॥

दुर्योधनकी बात सुनकर राधानन्दन कर्णने कहा—'राजन् ! आप आचार्य द्रोणको पीछे रखकर ऐसी नीति बनाइये कि विजय प्राप्त हो ॥ २० ॥

जानाति हि मतं तेषामतस्त्रासयतीह नः ।
अर्जुने चास्य सम्प्रीतिमधिकामुपलक्षये ॥ २१ ॥

'ये पाण्डवोंका मत जानते हैं, इसीलिये यहाँ हमें डरा रहे हैं। और अर्जुनके प्रति इनका प्रेम अधिक मैं देखता हूँ ॥

तथा हि दृष्ट्वा बीभत्सुमुपायान्तं प्रशंसति ।
यथा सेना न भज्येत तथा नीतिर्विधीयताम् ॥२२॥

'तभी तो अर्जुनको आते देख ये उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। (इनकी बातोंसे हतोत्साह होकर) सेनामें भगदड़ न मच जाय, इसका खयाल रखते हुए तदनुकूल नीति निर्धारित कीजिये ॥

हेषितं ह्युपशृण्वाने द्रोणे सर्वं विघट्टितम् ।
अदेशिका महारण्ये ग्रीष्मे शत्रुवशं गताः ।
यथा न विभ्रमेत् सेना तथा नीतिर्विधीयताम् ॥२३॥

'[आगे रहनेपर] ये अर्जुनके घोड़ोंकी हिनहिनाहट सुनते ही घबरा उठेंगे। फिर तो सारी सेना ही विचलित हो जायगी। इस समय हम विदेशमें हैं, बड़े भारी जंगलमें पड़े हुए हैं, गर्मीकी ऋतु है और हम शत्रुके वशमें आ गये हैं; अतः ऐसी नीतिसे काम लें कि इनकी बातें सुनकर सैनिकोंके मनमें भ्रम न फैले ॥ २३ ॥

इष्टा हि पाण्डवा नित्यमाचार्यस्य विशेषतः ।
आसयन्नपरार्थाश्च कथ्यते स्म स्वयं तथा ॥२४॥

'आचार्यको सदासे ही पाण्डव अधिक प्रिय रहे हैं। उन स्वार्थियोंने अपना काम बनानेके लिये ही द्रोणाचार्यको आपके पास रख छोड़ा है। ये स्वयं भी ऐसी बातें कहते हैं, जिससे हमारे कथनकी पुष्टि होती है ॥ २४ ॥

अश्वानां हेषितं श्रुत्वा कः प्रशंसापरो भवेत् ।
स्थाने वापि व्रजन्तो वा सदा ह्रेषन्ति वाजिनः ॥२५॥

'भला, घोड़ोंकी हिनहिनाहट सुनकर कौन किसीकी प्रशंसा करने लग जाता है ? घोड़े अपने स्थानपर हों या यात्रा करते हों, वे सदा ही हींसते रहते हैं (इससे किसीकी वीरताका क्या सम्बन्ध है ?) ॥ २५ ॥

सदा च वायवो वान्ति नित्यं वर्षति वासवः ।
स्तनयित्नोश्च निर्घोषः श्रूयते बहुशस्तथा ॥२६॥
किमत्र कार्यं पार्थस्य कथं वा स प्रशस्यते ।
अन्यत्र कामाद् द्वेषाद् वा रोषादस्मासु केवलात् ॥२७॥

'हवा सदा चला करती है। इन्द्र हमेशा वर्षा करते हैं। मेघोंकी गर्जना बहुत बार सुननेको मिलती है। (इससे डरने या अपशकुन माननेकी क्या बात है ?) इसमें अर्जुनका क्या काम है (कौन-सा चमत्कार है ?) इस बातको लेकर क्यों उसकी प्रशंसा की जाती है ? इसका कारण इस बातके सिवा और क्या हो सकता है कि आचार्यके मनमें अर्जुनका भला करनेकी इच्छा हो एवं हमारे प्रति इनके हृदयमें केवल द्वेष तथा रोषका भाव ही संचित हो ? ॥ २६-२७ ॥

आचार्या वै कारुणिकाः प्राज्ञाश्चापापदर्शिनः।
नैते महाभये प्राप्ते सम्प्रष्टव्याः कथंचन ॥२८॥

'आचार्यलोग बड़े दयालु, बुद्धिमान् और पाप तथा हिंसाके विरुद्ध विचार रखनेवाले होते हैं। जब कोई महान् भयका अवसर प्राप्त हो, उस समय इनसे किसी प्रकारकी सलाह नहीं पूछनी चाहिये ॥ २८ ॥

प्रासादेषु विचित्रेषु गोष्ठीषूपवनेषु च।
कथा विचित्राः कुर्वाणाः पण्डितास्तत्र शोभनाः ॥२९॥

'पण्डितलोग सुन्दर महलों और मन्दिरोंमें, सभाओंमें और बगीचोंमें बैठकर जब विचित्र कथावार्ता सुना रहे हों, तब वहीं उनकी शोभा होती है ॥ २९ ॥

बहून्याश्चर्यरूपाणि कुर्वाणा जनसंसदि।
इज्यास्त्रे चोपसंधाने पण्डितास्तत्र शोभनाः ॥३०॥

जनसमुदायमें बहुत-से आश्चर्यजनक विनोदपूर्ण कार्य करने तथा यज्ञ-सम्बन्धी आयुधों (पात्रों) को यथास्थान रखने एवं प्रोक्षण आदि करनेमें ही पण्डितोंकी शोभा है ॥

परेषां विवरज्ञाने मनुष्यचरितेषु च।
हस्त्यश्वरथचर्यासु खरोष्ट्राजाविकर्मणि ॥३१॥
गोधनेषु प्रतोलीषु वरद्वारमुखेषु च।
अन्नसंस्कारदोषेषु पण्डितास्तत्र शोभनाः ॥३२॥

'दूसरोंके छिद्रको जानने या देखनेमें, मनुष्योंकी दिनचर्या बतानेमें, हाथी, घोड़े तथा रथ यात्रा करनेका मुहूर्त आदिसे निकालनेमें, गदहों, ऊँटों, बकरों और भेड़ोंकी गुण-दोष-समीक्षा एवं चिकित्सा आदिमें, गोधनके संग्रह और परीक्षणमें, गलियों तथा घरके श्रेष्ठ दरवाजोंपर किये जानेवाले माङ्गलिक कृत्यमें, नवीन अन्नका इष्टिद्वारा संस्कार कराने तथा अन्नमें केश-कीट आदि गिर जानेसे जो दोष आता है, उनपर विचार करनेमें भी पण्डितोंकी राय लेनी चाहिये। ऐसे ही कार्योंमें उनकी शोभा है ॥ ३१-३२ ॥

पण्डितान् पृष्ठतः कृत्वा परेषां गुणवादिनः।
विधीयतां तथा नीतिर्यथा वध्यो भवेत् परः ॥३३॥

'शत्रुओंके गुणोंका बखान करनेवाले पण्डितोंको पीछे करके ऐसी नीति काममें लें, जिससे शत्रुका वध हो सके ॥

गावश्च सम्प्रतिष्ठाप्य सेनां व्यूह्य समन्ततः।
आरक्षाश्च विधीयन्तां यत्र योत्स्यामहे परान् ॥३४॥

'गौओंको बीचमें खड़ी करके उनके चारों ओर सेनाका व्यूह बना लिया जाय तथा सब ओरसे रक्षाकी ऐसी व्यवस्था कर ली जाय, जिससे हम शत्रुओंके साथ युद्ध कर सकें' ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे दुर्योधनवाक्ये सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहमें दुर्योधनवाक्यसम्बन्धी सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

कर्णकी आत्मप्रशंसापूर्ण अहंकारोक्ति

कर्ण उवाच

सर्वानायुष्मतो भीतान् संत्रस्तानिव लक्षये।
अयुद्धमनसश्चैव सर्वांश्चैवानवस्थितान् ॥ १ ॥

कर्ण बोला—मैं आप सब आयुष्मानोंको भयभीत एवं त्रस्त-सा देखता हूँ। आपमेंसे किसीका मन युद्धमें नहीं लग रहा है एवं सभी चञ्चल दिखायी देते हैं ॥ १ ॥

यद्येष राजा मत्स्यानां यदि बीभत्सुरागतः।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ २ ॥

यदि यह मत्स्यदेशका राजा हो अथवा यदि स्वयं अर्जुन आया हो, तो भी जैसे वेला समुद्रको रोक देती है, उसी प्रकार मैं भी इसे आगे बढ़नेसे रोक दूँगा ॥ २ ॥

मम चापप्रयुक्तानां शराणां नतपर्वणाम्।
नावृत्तिर्गच्छतां तेषां सर्पाणामिव सर्पताम् ॥ ३ ॥

मेरे धनुषसे छूटकर सर्पोंकी भाँति आगे बढ़नेवाले और झुकी हुई गाँठवाले बाण कभी अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होते ॥ ३ ॥

रुक्मपुङ्खाः सुतीक्ष्णाग्रा मुक्ता हस्तवता मया।
छादयन्तु शराः पार्थं शलभा इव पादपम् ॥ ४ ॥

सुनहरी पाँख और तीखी नोकवाले बाण मेरे हाथोंसे छूटकर अर्जुनको ठीक उसी तरह, ढँक लेंगे; जैसे टिड्डियाँ पेड़को आच्छादित कर देती हैं ॥ ४ ॥

शराणां पुङ्खसक्तानां मौर्व्याभिहतया दृढम् ।
श्रूयतां तलयोः शब्दो भेर्योराहतयोरिव ॥ ५ ॥

पाँखवाले बाणोंको धनुषकी प्रत्यञ्चापर चढ़ाकर भलीभाँति खींचनेके पश्चात् मेरी दोनों हथेलियोंका ऐसा शब्द होता है, जैसे दो नगाड़े पीटे गये हों । आज वह शब्द आपलोग सुनें ॥ ५ ॥

समाहितो हि बीभत्सुर्वर्षाण्यष्टौ च पञ्च च ।
जातस्नेहश्च युद्धेऽस्मिन् मयि सम्प्रहरिष्यति ॥ ६ ॥

अर्जुन तेरह वर्षोंतक वनमें समाधि लगाता रहा है, किंतु उसका इस युद्धमें स्नेह है; अतः मुझपर वह बाणोंका प्रहार करेगा ॥ ६ ॥

पात्रीभूतश्च कौन्तेयो ब्राह्मणो गुणवानिव ।
शरौघान् प्रतिगृह्णातु मया मुक्तान् सहस्रशः ॥ ७ ॥

कुन्तीनन्दन धनंजय गुणवान् ब्राह्मणकी भाँति मेरेलिये एक सुपात्र व्यक्ति है । अतः आज वह मेरे छोड़े हुए सहस्रों बाणसमुदायोंका दान स्वीकार करे ॥ ७ ॥

एष चैव महेष्वासस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
अहं चापि नरश्रेष्ठादर्जुनान्नावरः क्वचित् ॥ ८ ॥

यह तीनों लोकोंमें महान् धनुर्धरके रूपमें विख्यात है और मैं भी नरश्रेष्ठ अर्जुनसे किसी बातमें कम नहीं हूँ ॥८॥

इतश्चेतश्च निर्मुक्तैः काञ्चनैर्गार्ध्रवाजितैः ।
दृश्यतामद्य वै व्योम खद्योतैरिव संवृतम् ॥ ९ ॥

इधर-उधर दोनों ओरसे छूटे हुए गीधकी पाँखोंसे युक्त सुवर्णमय बाणोंद्वारा आच्छादित हो आज आकाश जुगुनुओंसे भरा हुआ-सा दिखायी देगा ॥ ९ ॥

अद्याहमृणमक्षय्यं पुरा वाचा प्रतिश्रुतम् ।
धार्तराष्ट्राय दास्यामि निहत्य समरेऽर्जुनम् ॥१०॥

मैं आज युद्धमें अर्जुनको मारकर पहले की हुई अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार दुर्योधनका अक्षय ऋण चुका दूँगा ॥ १० ॥

अन्तराच्छिद्यमानानां पुङ्खानां व्यतिशीर्यताम् ।
शलभानामिवाकाशे प्रचारः सम्प्रदृश्यताम् ॥११॥

आज बीचसे कटकर इधर-उधर बिखर जानेवाले पंखयुक्त बाणोंका आकाशमें फतिंगोंकी भाँति उड़ना और गिरना देखो ॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शं महेन्द्रसमतेजसम् ।
अर्दयिष्याम्यहं पार्थमुल्काभिरिव कुञ्जरम् ॥१२॥

यद्यपि अर्जुन महेन्द्रके समान तेजस्वी है, तो भी आज उसे उल्काओं (मशालों) द्वारा गजराजकी भाँति इन्द्रके वज्रकी तरह कठोर स्पर्शवाले अपने बाणोंसे पीड़ित कर दूँगा ॥ १२ ॥

रथादतिरथं शूरं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
विवशं पार्थमादास्ये गरुत्मानिव पन्नगम् ॥१३॥

जो रथियोंसे भी बढ़कर—अतिरथी, सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ और शूरवीर है, उस कुन्तीपुत्रको आज मैं युद्धमें विवश करके उसी प्रकार दबोच लूँगा, जैसे गरुड़ साँपको पकड़ लेता है ॥ १३ ॥

तमग्निमिव दुर्धर्षमसिशक्तिशरेन्धनम् ।
पाण्डवाग्निमहं दीप्तं प्रदहन्तमिवाहितम् ॥१४॥
अश्ववेगपुरोवातो रथौघस्तनयित्नुमान् ।
शरधारो महामेघः शमयिष्यामि पाण्डवम् ॥१५॥

जो अग्निकी भाँति दुर्धर्ष है, खड्ग, शक्ति और बाणरूपी ईंधनसे प्रज्वलित है और अपने शत्रुको भस्म कर रही है, उस अर्जुनरूपी जलती हुई आगको आज मैं महामेघ बनकर बुझा दूँगा । मेरे अश्वोंका वेग ही पुरवैया हवाका काम करेगा । रथसमूहकी घर्घराहट ही बादलोंकी गम्भीर गर्जना होगी और बाणोंकी धारा ही जलधाराका काम करेगी ॥

मत्कार्मुकविनिर्मुक्ताः पार्थमाशीविषोपमाः ।
शराः समभिसर्पन्तु वल्मीकमिव पन्नगाः ॥१६॥

आज मेरे धनुषसे छूटे हुए सर्पोंके समान विषैले बाण अर्जुनके शरीरमें उसी प्रकार प्रवेश करेंगे, जैसे साँप बाँबीमें घुसते हैं ॥ १६ ॥

सुतेजनै रुक्मपुङ्खैः सुधौतैर्नतपर्वभिः ।
आचितं पश्य कौन्तेयं कर्णिकारैरिवाचलम् ॥१७॥

कनेरके फूलोंसे व्याप्त पर्वतकी जैसी शोभा होती है, उसी प्रकार मेरे तेज, सुनहरे पंखवाले, उज्ज्वल और झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कुन्तीपुत्र अर्जुनको आच्छादित हुआ देखो॥

जामदग्न्यान्मया ह्यस्त्रं यत् प्राप्तमृषिसत्तमात् ।
तदुपाश्रित्य वीर्यं च युध्येयमपि वासवम् ॥१८॥

मुनिश्रेष्ठ परशुरामजीसे मैंने जो अस्त्र प्राप्त किये हैं, उन अस्त्रों और अपने पराक्रमका आश्रय लेकर मैं इन्द्रसे भी युद्ध कर सकता हूँ ॥ १८ ॥

ध्वजाग्रे वानरस्तिष्ठन् भल्लेन निहतो मया ।
अद्यैव पततां भूमौ विनदन् भैरवान् रवान् ॥१९॥

अर्जुनकी ध्वजाके अग्रभागपर स्थित होनेवाला वानर जो भयंकर गर्जना किया करता है, वह आज ही मेरे बाणोंसे मारा जाकर पृथ्वीपर गिर जाय ॥ १९ ॥

शत्रोर्मया विपन्नानां भूतानां ध्वजवासिनाम् ।
दिशः प्रतिष्ठमानानामस्तु शब्दो दिवंगमः ॥२०॥

शत्रुकी ध्वजामें निवास करनेवाले भूतगण भी मुझसे मारे जाकर जब चारों दिशाओंमें भागने लगेंगे, उस समय

उनके हाहाकारका शब्द स्वर्गलोकतक पहुँच जायगा ॥ २० ॥

अद्य दुर्योधनस्याहं शल्यं हृदि चिरस्थितम् ।
समूलमुद्धरिष्यामि बीभत्सुं पातयन् रथात् ॥ २१ ॥

अर्जुनको रथसे गिराकर आज मैं दुर्योधनके हृदयमें चिरकालसे चुभे हुए काँटेको जड़सहित निकाल फेंकूँगा ॥

हताश्वं विरथं पार्थं पौरुषे पर्यवस्थितम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागमद्य पश्यन्तु कौरवाः ॥ २२ ॥

पुरुषार्थसाधनमें लगे हुए अर्जुनके घोड़े मार दिये जायँगे और वह रथहीन होकर केवल साँपकी भाँति फुफकार मारता फिरेगा । कौरवलोग आज उसकी यह अवस्था भी देखें ॥

कामं गच्छन्तु कुरवो धनमादाय केवलम् ।
रथेषु वापि तिष्ठन्तो युद्धं पश्यन्तु मामकम् ॥ २३ ॥

कौरवोंकी इच्छा हो, तो वे केवल गोधन लेकर यहाँसे चले जायँ अथवा अपने रथोंपर बैठे रहकर अर्जुनके साथ मेरा युद्ध देखें ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कर्णविकत्थने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय कर्णके आत्मप्रशंसापूर्ण वचनसम्बन्धी अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कृपाचार्यका कर्णको फटकारते हुए युद्धके विषयमें अपना विचार बताना

कृप उवाच

सदैव तव राधेय युद्धे क्रूरतरा मतिः ।
नार्थानां प्रकृतिं वेत्सि नानुबन्धमवेक्षसे ॥ १ ॥

तदनन्तर कृपाचार्यने कहा—राधानन्दन ! युद्धके विषयमें तुम्हारा विचार सदा ही क्रूरतापूर्ण रहता है । तुम न तो कार्योंके स्वरूपको ही जानते हो और न उनके परिणामका ही विचार करते हो ॥ १ ॥

माया हि बहवः सन्ति शास्त्रमाश्रित्य चिन्तिताः ।
तेषां युद्धं तु पापिष्ठं वेदयन्ति पुराविदः ॥ २ ॥

मैंने शास्त्रका आश्रय लेकर बहुत-सी मायाओंका चिन्तन किया है; किंतु उन सबमें युद्ध ही सर्वाधिक पापपूर्ण कर्म है—ऐसा प्राचीन विद्वान् बताते हैं ॥ २ ॥

देशकालेन संयुक्तं युद्धं विजयदं भवेत् ।
हीनकालं तदेवेह फलं न लभते पुनः ॥
देशे काले च विक्रान्तं कल्याणाय विधीयते ॥ ३ ॥

देश और कालके अनुसार जो युद्ध किया जाता है, वह विजय देनेवाला होता है; किंतु जो अनुपयुक्त कालमें किया जाता है, वह युद्ध सफल नहीं होता । देश और कालके अनुसार किया हुआ पराक्रम ही कल्याणकारी होता है ॥ ३ ॥

आनुकूल्येन कार्याणामन्तरं संविधीयते ।
भारं हि रथकारस्य न व्यवस्यन्ति पण्डिताः ॥ ४ ॥

देश और कालकी अनुकूलता होनेसे ही कार्योंका फल सिद्ध होता है । विद्वान् पुरुष रथ बनानेवाले (सूत) की बातपर ही सारा भार डालकर स्वयं देश-कालका विचार किये बिना युद्ध आदिका निश्चय नहीं करते* ॥ ४ ॥

परिचिन्त्य तु पार्थेन संनिपातो न नः क्षमः ।
एकः कुरूनभ्यगच्छदेकश्चाग्निमतर्पयत् ॥ ५ ॥

विचार करनेपर तो यही समझमें आता है कि अर्जुनके साथ युद्ध करना हमारे लिये कदापि उचित नहीं है; [क्योंकि वे अकेले भी हमें परास्त कर सकते हैं] । अर्जुनने अकेले ही उत्तरकुरुदेशपर चढ़ाई की और उसे जीत लिया । अकेले ही खाण्डववन देकर अग्निको तृप्त किया ॥ ५ ॥

एकश्च पञ्च वर्षाणि ब्रह्मचर्यमधारयत् ।
एकः सुभद्रामारोप्य द्वैरथे कृष्णमाह्वयत् ॥ ६ ॥

उन्होंने अकेले ही पाँच वर्षतक कठोर तप करते हुए ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया । अकेले ही सुभद्राको रथपर बिठाकर उसका अपहरण किया और द्वन्द्वयुद्धके लिये श्रीकृष्णको भी ललकारा ॥ ६ ॥

एकः किरातरूपेण स्थितं रुद्रमयोधयत् ।
अस्मिन्नेव वने पार्थो हृतां कृष्णामवाजयत् ॥ ७ ॥

---

* जैसे कोई रथ बनानेवाला कारीगर रथ लाकर यह कहे कि मैंने इस दिव्य रथका निर्माण किया है । इसका प्रत्येक अङ्ग सुदृढ़ है । इसपर बैठकर युद्ध करनेसे तुम देवताओंपर भी सर्वथा विजय पा सकोगे । तो केवल उसके इस कहनेपर भरोसा करके कोई बुद्धिमान् पुरुष युद्धके लिये तैयार न हो जायगा । उसी प्रकार कर्ण ! केवल तुम्हारे इस डींग मारनेपर भरोसा करके देश-काल आदिका विचार किये बिना हमलोगोंका युद्धके लिये उद्यत होना ठीक नहीं है, यही कृपाचार्यके उपर्युक्त कथनका अभिप्राय है ।

अर्जुनने अकेले ही किरातरूपमें सामने आये हुए भगवान् शंकरसे युद्ध किया। इसी वनवासकी घटना है, जब जयद्रथने द्रौपदीका अपहरण किया था, उस समय भी अर्जुनने अकेले ही उसे हराकर द्रौपदीको उसके हाथसे छुड़ाया था ॥ ७ ॥

एकश्च पञ्च वर्षाणि शक्रादस्त्राण्यशिक्षत ।
एकः सोऽयमरिं जित्वा कुरूणामकरोद् यशः ॥ ८ ॥
एको गन्धर्वराजानं चित्रसेनमरिंदमः ।
विजिग्ये तरसा संख्ये सेनां प्राप्य सुदुर्जयाम् ॥९॥

उन्होंने अकेले ही पाँच वर्षतक स्वर्गमें रहकर साक्षात् इन्द्रसे अस्त्र-शस्त्र सीखे हैं और अकेले ही सब शत्रुओंको जीतकर कुरुवंशका यश बढ़ाया है । शत्रुओंका दमन करनेवाले महावीर अर्जुनने कौरवोंकी घोषयात्राके समय युद्धमें गन्धर्वोंकी दुर्जय सेनाका वेगपूर्वक सामना करते हुए अकेले ही गन्धर्वराज चित्रसेनपर विजय पायी थी ॥ ८-९ ॥

तथा निवातकवचाः कालखञ्जाश्च दानवाः ।
दैवतैरप्यवध्यास्ते एकेन युधि पातिताः ॥१०॥

निवातकवच और कालखञ्ज आदि दानवगण तो देवताओंके लिये भी अवध्य थे, किंतु अर्जुनने अकेले ही उन सबको युद्धमें मार गिराया है ॥ १० ॥

एकेन हि त्वया कर्ण किं नामेह कृतं पुरा ।
एकैकेन यथा तेषां भूमिपाला वशे कृताः ॥११॥

किंतु कर्ण ! तुम तो बताओ, तुमने पहले कभी अकेले रहकर इस जगत्में कौन-सा पुरुषार्थ किया है ? पाण्डवोंमेंसे तो एक-एकने विभिन्न दिशाओंमें जाकर वहाँके भूमिपालोंको अपने वशमें कर लिया था [क्या तुमने भी ऐसा कोई कार्य किया है ?] ॥ ११ ॥

इन्द्रोऽपि हि न पार्थेन संयुगे योद्धुमर्हति ।
यस्तेनाशंसते योद्धुं कर्तव्यं तस्य भेषजम् ॥१२॥

अर्जुनके साथ तो इन्द्र भी रणभूमिमें खड़े होकर युद्ध नहीं कर सकते । फिर जो उनसे अकेले भिड़नेकी बात करता है, (वह पागल है ।) उसकी दवा करानी चाहिये ॥ १२ ॥

आशीविषस्य क्रुद्धस्य पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
अवमुच्य प्रदेशिन्या दंष्ट्रामादातुमिच्छसि ॥१३॥

सूतपुत्र ! (अर्जुनके साथ अकेले भिड़नेका साहस करके) तुम मानो क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके मुखमें अपना दाहिना हाथ उठाकर डालना और तर्जनी अङ्गुलीसे उसके दाँत उखाड़ लेना चाहते हो ॥ १३ ॥

अथवा कुञ्जरं मत्तमेक एव चरन् वने ।
अनङ्कुशं समारुह्य नगरं गन्तुमिच्छसि ॥१४॥

अथवा वनमें अकेले घूमते हुए तुम बिना अङ्कुशके ही मतवाले हाथीकी पीठपर बैठकर नगरमें जाना चाहते हो ॥ १४ ॥

समिद्धं पावकं चैव घृतमेदोवसाहुतम् ।
घृताक्तश्चीरवासास्त्वं मध्येनोत्तर्तुमिच्छसि ॥१५॥

अथवा अपने शरीरमें घी पोतकर चिथड़े या वल्कल पहने हुए तुम घी, मेदा और चर्बी आदिकी आहुतियोंसे प्रज्वलित आगके भीतरसे होकर निकलना चाहते हो ॥ १५ ॥

आत्मानं कः समुद्बध्य कण्ठे बद्ध्वा महाशिलाम् ।
समुद्रं तरते दोर्भ्यां तत्र किं नाम पौरुषम् ॥१६॥

अपने-आपको बन्धनसे जकड़कर और गलेमें बड़ी भारी शिला बाँधकर कौन दोनों हाथोंसे तैरता हुआ समुद्रको पार कर सकता है ? उसमें क्या यह पुरुषार्थ है ! अर्थात् मूर्खता है ॥

अकृतास्त्रः कृतास्त्रं वै बलवन्तं सुदुर्बलः ।
तादृशं कर्ण यः पार्थं योद्धुमिच्छेत् स दुर्मतिः ॥१७॥

कर्ण ! जिसने अस्त्र-शस्त्रोंकी पूर्ण शिक्षा न पायी हो, वह अत्यन्त दुर्बल पुरुष यदि अस्त्र-शस्त्रोंकी कलामें प्रवीण तथा कुन्तीपुत्र अर्जुन-जैसे बलवान् वीरसे युद्ध करना चाहे, तो समझना चाहिये कि उसकी बुद्धि मारी गयी है ॥ १७ ॥

अस्माभिर्ह्येष निकृतो वर्षाणीह त्रयोदश ।
सिंहः पाशविनिर्मुक्तो न नः शेषं करिष्यति ॥१८॥
एकान्ते पार्थमासीनं कूपेऽग्निमिव संवृतम् ।
अज्ञानादभ्यवस्कन्द्य प्राप्ताः स्मो भयमुत्तमम् ॥१९॥

हमलोगोंने तेरह वर्षोंतक इन्हें वनमें रखकर इनके साथ कपटपूर्ण बर्ताव किया है । (अब ये प्रतिज्ञाके बन्धनसे मुक्त हो गये हैं;) अतः बन्धनसे छूटे हुए सिंहकी भाँति क्या वे हमारा नाश न कर डालेंगे ? कुएँमें छिपी हुई अग्निके समान यहाँ एकान्तमें स्थित कुन्तीपुत्र अर्जुनके पास हम अज्ञानवश आ पहुँचे हैं और भारी भय एवं संकटमें पड़ गये हैं ॥ १८-१९ ॥

सह युध्यामहे पार्थमागतं युद्धदुर्मदम् ।
सैन्यास्तिष्ठन्तु संनद्धा व्यूढानीकाः प्रहारिणः ॥२०॥

इसलिये हमारा विचार है कि हमलोग एक साथ संगठित होकर यहाँ आये हुए रणोन्मत्त अर्जुनके साथ युद्ध करें । हमारे सैनिक कवच बाँधकर खड़े रहें, सेनाका व्यूह बना लिया जाय और सब लोग प्रहार करनेके लिये उद्यत हो जायँ ॥ २० ॥

द्रोणो दुर्योधनो भीष्मो भवान् द्रौणिस्तथा वयम् ।
सर्वे युध्यामहे पार्थं कर्ण मा साहसं कृथाः ॥२१॥
वयं व्यवसितं पार्थं वज्रपाणिमिवोद्यतम् ।
षड्रथाः प्रतियुध्येम तिष्ठेम यदि संहताः ॥२२॥

कर्ण! तुम अकेले अर्जुनसे भिड़नेका दुःसाहस न करो। आचार्य द्रोण, दुर्योधन, भीष्म, तुम, अश्वत्थामा और हम सब मिलकर अर्जुनसे युद्ध करेंगे। यदि हम छहों महारथी संगठित होकर सामना करें, तभी इन्द्रके सदृश दुर्धर्ष एवं दृढ़निश्चयी कुन्तीपुत्र अर्जुनके साथ युद्ध कर सकते हैं ॥ २१-२२ ॥

व्यूढानीकानि सैन्यानि यत्ताः परमधन्विनः।
युध्यामहेऽर्जुनं संख्ये दानवा इव वासवम् ॥२३॥

सेनाओंकी व्यूहरचना हो जाय और हम सभी श्रेष्ठ धनुर्धर सावधान रहें, तो जैसे दानव इन्द्रसे भिड़ते हैं, उसी प्रकार हम युद्धमें अर्जुनका सामना कर सकते हैं ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कृपवाक्यं नाम एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय कृपाचार्य-वाक्यविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके उद्गार

अश्वत्थामोवाच

न च तावज्जिता गावो न च सीमान्तरं गताः।
न हास्तिनपुरं प्राप्तास्त्वं च कर्ण विकत्थसे ॥ १ ॥

अश्वत्थामाने कहा—कर्ण! अभी तो हमने न गौओंको जीता है, न मत्स्यदेशकी सीमाके बाहर जा सके हैं और न हस्तिनापुरमें ही पहुँच गये हैं। फिर तुम इतनी व्यर्थ बकवाद क्यों कर रहे हो? ॥ १ ॥

संग्रामांश्च बहूञ्जित्वा लब्ध्वा च विपुलं धनम्।
विजित्य च परां सेनां नाहुः किंचन पौरुषम् ॥ २ ॥
दहत्यग्निरवाक्यस्तु तूष्णीं भाति दिवाकरः।
तूष्णीं धारयते लोकान् वसुधा सचराचरान् ॥ ३ ॥

विद्वान् पुरुष बहुत-सी लड़ाइयाँ जीतकर, असंख्य धनराशि पाकर तथा शत्रुओंकी सेनाको परास्त करके भी इस तरह व्यर्थ बकवाद नहीं करते। आग बिना कुछ कहे-सुने ही सबको जलाकर भस्म कर देती है, सूर्यदेव मौन रहकर ही प्रकाशित होते हैं, पृथ्वी चुप रहकर ही सम्पूर्ण चराचर लोकोंको धारण करती है (इनमेंसे कोई अपने पराक्रमकी प्रशंसा नहीं करता) ॥ २-३ ॥

चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि विहितानि स्वयम्भुवा।
धनं यैरधिगन्तव्यं यच्च कुर्वन् न दुष्यति ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीने चारों वर्णोंके कर्म नियत कर दिये हैं, जिनसे धन भी मिल सकता है और जिनका अनुष्ठान करनेसे कर्ता दोषका भागी नहीं होता ॥ ४ ॥

अधीत्य ब्राह्मणो वेदान् याजयेत यजेत वा।
क्षत्रियो धनुराश्रित्य यजेच्चैव न याजयेत् ॥ ५ ॥

ब्राह्मण वेदोंको पढ़कर यज्ञ करावे अथवा करे। क्षत्रिय धनुषका आश्रय लेकर धन कमाये और यज्ञ करे; परंतु वह दूसरोंका यज्ञ न करावे (क्योंकि यह काम ब्राह्मणोंका है) ॥ ५ ॥

वैश्योऽधिगम्य वित्तानि ब्रह्मकर्माणि कारयेत्।
शूद्रः शुश्रूषणं कुर्यात् त्रिषु वर्णेषु नित्यशः।
वन्दनायोगविधिभिर्वैतसीं वृत्तिमास्थितः ॥ ६ ॥

वैश्य कृषि और व्यापार आदिके द्वारा धनोपार्जन करके ब्राह्मणोंके द्वारा वेदोक्त कर्म करावें और शूद्र वैतसीवृत्ति (बेंतके वृक्षकी भाँति नम्रता) का आश्रय ले प्रणाम और आज्ञापालन आदिके द्वारा सदा तीनों वर्णोंके पास रहकर उनकी सेवा करे ॥ ६ ॥

वर्तमाना यथाशास्त्रं प्राप्य चापि महीमिमाम्।
सत्कुर्वन्ति महाभागा गुरून् सुविगुणानपि ॥ ७ ॥

महान् सौभाग्यशाली श्रेष्ठ पुरुष शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार बर्ताव करते हुए न्यायसे इस पृथ्वीको प्राप्त करके भी अत्यन्त गुणहीन गुरुजनोंका भी सत्कार करते हैं (और यहाँ अन्यायसे राज्य लेकर गुणवान् गुरुजनोंका भी तिरस्कार हो रहा है) ॥ ७ ॥

प्राप्य द्यूतेन को राज्यं क्षत्रियस्तोष्टुमर्हति।
तथा नृशंसरूपोऽयं धार्तराष्ट्रश्च निर्घृणः ॥ ८ ॥

भला जूएसे राज्य पाकर कौन क्षत्रिय संतुष्ट हो सकता है? परंतु इस धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको इसीमें संतोष है; क्योंकि यह क्रूर और निर्दयी है ॥ ८ ॥

तथाधिगम्य वित्तानि को विकत्थेद् विचक्षणः।
निकृत्या वञ्चनायोगैश्चरन् वैतंसिको यथा ॥ ९ ॥

जैसे व्याध शठता और छल-कपटसे भरे हुए उपायोंद्वारा जीवननिर्वाह करता है, उस प्रकार कपटपूर्ण वृत्तिसे धन पाकर कौन बुद्धिमान् पुरुष अपने ही मुँह अपनी बड़ाई करेगा? ॥ ९ ॥

कतमद् द्वैरथं युद्धं यत्राजैषीर्धनंजयम्।
नकुलं सहदेवं वा धनं येषां त्वया हृतम् ॥१०॥

राजा दुर्योधन ! तुमने जिन पाण्डवोंका धन कपटद्यूतके द्वारा हर लिया है, उनमेंसे धनंजय, नकुल या सहदेव किसको कब युद्धमें हराया है ? वह कौन-सा द्वन्द्वयुद्ध हुआ था, जिसमें तुमने अर्जुन आदिमेंसे किसीको जीता हो ?

युधिष्ठिरो जितः कस्मिन् भीमश्च बलिनां वरः ।
इन्द्रप्रस्थं त्वया कस्मिन् संग्रामे निर्जितं पुरा ॥ ११ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर अथवा बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन तुम्हारेद्वारा किस युद्धमें परास्त किये गये हैं ? आज जिस इन्द्रप्रस्थपर तुम्हारा अधिकार है, उसे पहले तुमने किस युद्धमें जीता था ? ॥ ११ ॥

तथैव कतमद् युद्धं यस्मिन् कृष्णा जिता त्वया ।
एकवस्त्रा सभां नीता दुष्टकर्मन् रजस्वला ॥ १२ ॥

दुष्ट कर्म करनेवाले पापी ! बताओ तो, कौन-सा ऐसा युद्ध हुआ था, जिसमें तुमने द्रौपदीको जीत लिया हो ? तुमलोग तो अकारण ही एक वस्त्र धारण करनेवाली बेचारी द्रौपदीको रजस्वलावस्थामें राजसभाके भीतर घसीट लाये थे ॥ १२ ॥

मूलमेषां महत् कृत्तं सारार्थी चन्दनं यथा ।
कर्म कारयिथाः सूत तत्र किं विदुरोऽब्रवीत् ॥ १३ ॥

सूतपुत्र ! जैसे धनकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य चन्दनकी लकड़ी काटता है, उसी प्रकार तुमने और दुर्योधनने कपट-द्यूत और द्रौपदीके अपमानद्वारा इन पाण्डवोंका मूलोच्छेद किया । जिस समय तुमलोगोंने पाण्डवोंको कर्मकार (दास) बनाया था, उस दिन वहाँ महात्मा विदुरने क्या कहा था; (उन्होंने जूएको कुरुकुलके संहारका कारण बताया था,) याद है न ? ॥ १३ ॥

यथाशक्ति मनुष्याणां शममालक्षयामहे ।
अन्येषामपि सत्त्वानामपि कीटपिपीलिकैः ।
द्रौपद्याः सम्परिक्लेशं न क्षन्तुं पाण्डवोऽर्हति ॥ १४ ॥

हम देखते हैं, मनुष्य हों या अन्य जीव-जन्तु अथवा कीड़े-मकोड़े आदि ही क्यों न हों, सबमें अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार सहनशीलताकी एक सीमा होती है । द्रौपदीको जो कष्ट दिये गये हैं, उन्हें पाण्डुपुत्र अर्जुन कभी क्षमा नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

क्षयाय धार्तराष्ट्राणां प्रादुर्भूतो धनंजयः ।
त्वं पुनः पण्डितो भूत्वा वाचं वक्तुमिहेच्छसि ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रोंका संहार करनेके लिये ही धनंजय प्रकट हुए हैं और एक तुम हो, जो यहाँ पण्डित बनकर बड़ी-बड़ी बातें बनाना चाहते हो ॥ १५ ॥

वैरान्तकरणो जिष्णुर्न नः शेषं करिष्यति ॥ १६ ॥

क्या वैरका बदला चुकानेवाले अर्जुन हमलोगोंका संहार नहीं कर डालेंगे ? ॥ १६ ॥

नैष देवान् न गन्धर्वान् नासुरान् न च राक्षसान् ।
भयादिह न युध्येत कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १७ ॥

यह कभी सम्भव नहीं है कि कुन्तीनन्दन अर्जुन भयके कारण देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षसोंसे भी युद्ध न करें ॥ १७ ॥

यं यमेषोऽतिसंक्रुद्धः संग्रामे निपतिष्यति ।
वृक्षं गरुत्मान् वेगेन विनिहत्य तमेष्यति ॥ १८ ॥

जैसे गरुड़ जिस-जिस वृक्षपर पैर रखते हैं, अपने वेगसे उसे गिराकर चले जाते हैं, उसी प्रकार अर्जुन अत्यन्त क्रोधमें भरकर संग्रामभूमिमें जिस-जिस महारथीपर आक्रमण करेंगे, उसे नष्ट करके ही आगे बढ़ेंगे ॥ १८ ॥

त्वत्तो विशिष्टं वीर्येण धनुष्यमरराट्समम् ।
वासुदेवसमं युद्धे तं पार्थं को न पूजयेत् ॥ १९ ॥

कर्ण ! अर्जुन पराक्रममें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े हैं, धनुष चलानेमें तो वे देवराज इन्द्रके तुल्य हैं और युद्धकी कलामें साक्षात् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके समान हैं; ऐसे कुन्तीपुत्रकी कौन प्रशंसा नहीं करेगा ? ॥ १९ ॥

दैवं दैवेन युध्येत मानुषेण च मानुषम् ।
अस्त्रं ह्यस्त्रेण यो हन्यात् कोऽर्जुनेन समः पुमान् ॥ २० ॥

जो देवताओंके साथ देवोचित ढंगसे और मनुष्योंके साथ मानवोचित प्रणालीसे युद्ध करते हैं और प्रत्येक अस्त्रको उसके विरोधी अस्त्रद्वारा नष्ट कर सकते हैं, उन कुन्तीनन्दन धनंजयकी समानता करनेवाला कौन पुरुष है ? ॥ २० ॥

पुत्रादनन्तरं शिष्य इति धर्मविदो विदुः ।
एतेनापि निमित्तेन प्रियो द्रोणस्य पाण्डवः ॥ २१ ॥

धर्मज्ञ पुरुष ऐसा मानते हैं कि गुरुको पुत्रके बाद शिष्य ही प्रिय होता है, इस कारणसे भी पाण्डुनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोणको प्रिय हैं [अतः वे उनकी प्रशंसा क्यों न करें ?] ॥

यथा त्वमकरोर्द्यूतमिन्द्रप्रस्थं यथाऽऽहरः ।
यथाऽऽनैषीः सभां कृष्णां तथा युध्यस्व पाण्डवम् ॥ २२ ॥

दुर्योधन ! जैसे तुमलोगोंने जूएका खेल किया, जिस तरह इन्द्रप्रस्थके राज्यका अपहरण किया और जिस प्रकार भरी सभामें द्रौपदीको घसीट ले गये, उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुनसे युद्ध भी करो । [जब उन अन्यायोंके समय तुम्हें हमारे सहयोगकी आवश्यकता नहीं जान पड़ी, तब इस युद्धमें भी सहयोगकी आशा न रक्खो] ॥ २२ ॥

अयं ते मातुलः प्राज्ञः क्षत्रधर्मस्य कोविदः ।
दुर्द्यूतदेवी गान्धारः शकुनिर्युध्यतामिह ॥ २३ ॥

ये तुम्हारे मामा शकुनि बड़े बुद्धिमान् और क्षत्रियधर्मके महापण्डित हैं। छलपूर्वक जूआ खेलनेवाले ये गान्धारदेशके नरेश शकुनि ही यहाँ युद्ध करें ॥ २३ ॥

नाक्षान् क्षिपति गाण्डीवं न कृतं द्वापरं न च।
ज्वलतो निशितान् बाणांस्तांस्तान् क्षिपति गाण्डिवम् ॥

गाण्डीव धनुष कृतयुग, द्वापर और त्रेता नामक पासे नहीं फेंकता है, वह तो लगातार तीखे और प्रज्वलित बाणोंकी वर्षा करता है ॥

न हि गाण्डीवनिर्मुक्ता गार्ध्रपक्षाः सुतेजनाः।
नान्तरेष्ववतिष्ठन्ते गिरीणामपि दारणाः ॥ २५ ॥

गाण्डीवसे छूटे हुए गीधके पंखवाले तीखे बाण पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाले हैं। वे शत्रुकी छातीमें घुसे बिना नहीं रहते ॥ २५ ॥

अन्तकः पवनो मृत्युस्तथाग्निर्वडवामुखः।
कुर्युरेते क्वचिच्छेषं न तु क्रुद्धो धनंजयः ॥ २६ ॥

यमराज, वायु, मृत्यु और बड़वानल—ये चाहे जड़-मूलसे नष्ट न करें, कुछ बाकी छोड़ दें, परंतु अर्जुन कुपित होनेपर कुछ भी नहीं छोड़ेंगे ॥ २६ ॥

यथा सभायां द्यूतं त्वं मातुलेन सहाकरोः।
तथा युध्यस्व संग्रामे सौबलेन सुरक्षितः ॥ २७ ॥

राजन्! जैसे राजसभामें तुमने मामाके साथ जूएका खेल किया है, उसी प्रकार इस संग्रामभूमिमें भी तुम उन्हीं मामा शकुनिसे सुरक्षित होकर युद्ध करो। (किसी दूसरेसे सहयोगकी आशा न रक्खो) ॥ २७ ॥

युध्यन्तां कामतो योधा नाहं योत्स्ये धनंजयम्।
मत्स्यो ह्यस्माभिरायोध्यो यद्यागच्छेद् गवां पदम् ॥२८॥

अथवा अन्य योद्धाओंकी इच्छा हो, तो वे युद्ध कर सकते हैं, किंतु मैं अर्जुनके साथ नहीं लड़ूँगा। हमें तो मत्स्यनरेशसे युद्ध करना है। यदि वे इस गोष्ठपर आ जायँ, तो मैं उनके साथ युद्ध कर सकता हूँ ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे द्रौणिवाक्यं नाम पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अश्वत्थामावाक्यविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मजीके द्वारा सेनामें शान्ति और एकता बनाये रखनेकी चेष्टा तथा द्रोणाचार्यके द्वारा दुर्योधनकी रक्षाके लिये प्रयत्न

भीष्म उवाच

साधु पश्यति वै द्रौणिः कृपः साध्वनुपश्यति।
कर्णस्तु क्षत्रधर्मेण केवलं योद्धुमिच्छति ॥ १ ॥

भीष्मजी बोले—दुर्योधन! अश्वत्थामा ठीक विचार कर रहे हैं। कृपाचार्यकी दृष्टि भी ठीक है। कर्ण तो केवल क्षत्रिय-धर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना चाहता है ॥ १ ॥

आचार्यो नाभिवक्तव्यः पुरुषेण विजानता।
देशकालौ तु सम्प्रेक्ष्य योद्धव्यमिति मे मतिः ॥ २ ॥

विज्ञ पुरुषको अपने आचार्यकी निन्दा या तिरस्कार नहीं करना चाहिये। मेरा भी विचार यही है कि देश, कालका विचार करके ही युद्ध करना उचित है ॥ २ ॥

यस्य सूर्यसमाः पञ्च सपत्नाः स्युः प्रहारिणः।
कथमभ्युदये तेषां न प्रमुह्येत पण्डितः ॥ ३ ॥

जिसके सूर्यके समान तेजस्वी और प्रहार करनेमें समर्थ पाँच शत्रु हों और उन शत्रुओंका अभ्युदय हो रहा हो, तो उस दशामें विद्वान् पुरुषको भी कैसे मोह न होगा? ॥ ३ ॥

स्वार्थे सर्वे विमुह्यन्ति येऽपि धर्मविदो जनाः।
तस्माद् राजन् ब्रवीम्येष वाक्यं ते यदि रोचते ॥ ४ ॥

स्वार्थके विषयमें सोचते समय सभी मनुष्य—धर्मज्ञ पुरुष भी मोहमें पड़ जाते हैं; अतः राजन्! यदि तुम्हें जचे, तो मैं इस विषयमें अपनी सलाह भी देता हूँ ॥ ४ ॥

कर्णो हि यदवोचत् त्वां तेजःसंजननाय तत्।
आचार्यपुत्रः क्षमतां महत् कार्यमुपस्थितम् ॥ ५ ॥

कर्णने तुमसे जो कुछ कहा है, वह तेज एवं उत्साहको बढ़ानेके लिये ही कहा है। आचार्यपुत्र क्षमा करें। इस समय महान् कार्य उपस्थित है ॥ ५ ॥

नायं कालो विरोधस्य कौन्तेये समुपस्थिते।
क्षन्तव्यं भवता सर्वमाचार्येण कृपेण च ॥ ६ ॥

यह समय आपसके विरोधका नहीं है; विशेषतः ऐसे मौकेपर जब कि कुन्तीनन्दन अर्जुन युद्धके लिये उपस्थित हैं। पूजनीय आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्यको सब अपराध क्षमा करना चाहिये ॥ ६ ॥

भवतां हि कृतास्त्रत्वं यथाऽऽदित्ये प्रभा तथा ।
यथा चन्द्रमसो लक्ष्मीः सर्वथा नापकृष्यते ॥ ७ ॥

जैसे सूर्यमें प्रभा और चन्द्रमामें लक्ष्मी (शोभा) सर्वथा विद्यमान रहती है—कभी कम नहीं होती; उसी प्रकार आपलोगोंका अस्त्रविद्यामें जो पाण्डित्य है, वह अक्षुण्ण है ॥

एवं भवत्सु ब्राह्मण्यं ब्रह्मास्त्रं च प्रतिष्ठितम् ।
चत्वार एकतो वेदाः क्षात्रमेकत्र दृश्यते ॥ ८ ॥

इस प्रकार आपलोगोंमें ब्राह्मणत्व तथा ब्रह्मास्त्र दोनों ही प्रतिष्ठित हैं, यद्यपि प्रायः एक व्यक्तिमें चारों वेदोंका ज्ञान देखा जाता है, तो दूसरेमें क्षात्रधर्मका ॥ ८ ॥

नैतत् समस्तमुभयं कस्मिंश्चिदनुशुश्रुम ।
अन्यत्र भारताचार्यात् सपुत्रादिति मे मतिः ॥ ९ ॥

ये दोनों बातें पूर्णरूपसे किसी एक व्यक्तिमें हमने नहीं सुनी हैं। केवल भरतवंशियोंके आचार्य कृप, द्रोण और उनके पुत्र अश्वत्थामामें ही ये दोनों शक्तियाँ (ब्रह्मबल और क्षात्रबल) हैं। इनके सिवा और कहीं उक्त दोनों बातोंका एकत्र समावेश नहीं है। यह मेरा दृढ़ विश्वास है ॥ ९ ॥

वेदान्तांश्च पुराणानि इतिहासं पुरातनम् ।
जामदग्न्यमृते राजन् को द्रोणादधिको भवेत् ॥ १० ॥

राजन् ! वेदान्त, पुराण और प्राचीन इतिहासके ज्ञानमें जमदग्निनन्दन परशुरामजीके सिवा दूसरा कौन मनुष्य द्रोणाचार्यसे बढ़कर हो सकता है ? ॥ १० ॥

ब्रह्मास्त्रं चैव वेदाश्च नैतदन्यत्र दृश्यते ।
आचार्यपुत्रः क्षमतां नायं कालो विभेदने ॥ ११ ॥
सर्वे संहत्य युध्यामः पाकशासनिमागतम् ॥ १२ ॥

ब्रह्मास्त्र और वेद—ये दोनों वस्तुएँ हमारे आचार्योंके सिवा अन्यत्र कहीं नहीं देखी जातीं। आचार्यपुत्र क्षमा करें, यह समय आपसमें फूट पैदा करनेका नहीं है। हम सब लोग मिलकर यहाँ आये हुए अर्जुनसे युद्ध करेंगे ॥ ११-१२ ॥

बलस्य व्यसनानीह यान्युक्तानि मनीषिभिः ।
मुख्यो भेदो हि तेषां तु पापिष्ठो विदुषां मतः ॥ १३ ॥

मनीषी पुरुषोंने सेनाका विनाश करनेवाले जितने संकट बताये हैं, उनमें आपसकी फूट सबसे प्रधान कहा है। विद्वानोंने इस फूटको महान् पाप माना है ॥ १३ ॥

अश्वत्थामोवाच

नैव न्याय्यमिदं वाच्यमस्माकं पुरुषर्षभ ।
किं तु रोषपरीतेन गुरुणा भाषिता गुणाः ॥ १४ ॥

अश्वत्थामाने कहा—पुरुषश्रेष्ठ ! हमारी न्यायोचित बातकी निन्दा नहीं की जानी चाहिये। आचार्य द्रोणने पाण्डवोंपर हुए पहलेके अन्यायोंका स्मरण करके रोषपूर्वक अर्जुनके गुणोंका यहाँ वर्णन किया है (भेद उत्पन्न करनेके लिये नहीं) ॥ १४ ॥

शत्रोरपि गुणा ग्राह्या दोषा वाच्या गुरोरपि ।
सर्वथा सर्वयत्नेन पुत्रे शिष्ये हितं वदेत् ॥ १५ ॥

शत्रुके भी गुण ग्रहण करने चाहिये और गुरुके भी दोष बतानेमें संकोच नहीं करना चाहिये। गुरुको सब प्रकारसे पूर्ण प्रयत्न करके पुत्र और शिष्यके लिये जो हितकर हो, वही बात कहनी चाहिये ॥ १५ ॥

दुर्योधन उवाच

आचार्य एव क्षमतां शान्तिरत्र विधीयताम् ।
अभिद्यमाने तु गुरौ तद् वृत्तं रोषकारितम् ॥ १६ ॥

दुर्योधनने कहा—आचार्य ! क्षमा करें, अब शान्ति धारण करनी चाहिये। यदि गुरुके मनमें भेद न हो, तभी यह समझा जायगा कि पहले जो बातें कही गयी हैं, उनमें रोष ही कारण था ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो द्रोणं क्षमयामास भारत ।
सह कर्णेन भीष्मेण कृपेण च महात्मना ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दुर्योधनने कर्ण, भीष्म और महात्मा कृपाचार्यके साथ आचार्य द्रोणसे क्षमा माँगी ॥ १७ ॥

द्रोण उवाच

यदेतत् प्रथमं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ।
तेनैवाहं प्रसन्नो वै नीतिरत्र विधीयताम् ॥ १८ ॥
यथा दुर्योधनं पार्थो नोपसर्पति संगरे ।
साहसाद् यदि वा मोहात् तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ १९ ॥

तब द्रोण बोले—शान्तनुनन्दन भीष्मजीने पहले जो बात कही थी, उसीसे मैं प्रसन्न हूँ। अब ऐसी नीतिसे काम लेना चाहिये, जिससे अर्जुन इस युद्धमें दुर्योधनके पासतक न पहुँच सकें। साहससे अथवा प्रमादवश भी दुर्योधनपर उनका आक्रमण न हो, ऐसी नीति निर्धारित करनी चाहिये ॥ १८-१९ ॥

वनवासे ह्यनिर्वृत्ते दर्शयेन्न धनंजयः ।
धनं चालभमानोऽत्र नाद्य तत् क्षन्तुमर्हति ॥ २० ॥

वनवासकी अवधि पूर्ण हुए बिना अर्जुन अपनेको प्रकट नहीं कर सकते थे। आज यदि वे यहाँ आकर अपना गोधन न पा सके, तो हमको क्षमा नहीं कर सकते ॥ २० ॥

यथा नायं समायुञ्ज्याद् धार्तराष्ट्रान् कथंचन ।

न च सेनाः पराजय्यात् तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २१ ॥

ऐसी दशामें जैसे भी सम्भव हो; वे धृतराष्ट्रपुत्रोंपर आक्रमण न कर सकें और किसी प्रकार भी कौरवसेनाओंको परास्त न करने पावें, ऐसी कोई नीति बनानी चाहिये ॥ २१ ॥

उक्तं दुर्योधनेनापि पुरस्ताद् वाक्यमीदृशम् ।
तदनुस्मृत्य गाङ्गेय यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ २२ ॥

दुर्योधनने भी पहले ऐसी बात कही थी कि पाण्डवोंका अज्ञातवास पूर्ण होनेमें संदेह है, अतः गङ्गानन्दन भीष्म! आप स्वयं स्मरण करके यथार्थ बात क्या है—उनका अज्ञातवास पूर्ण हो गया है या नहीं, इसका निर्णय करें ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे द्रोणवाक्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय द्रोणवाक्यसम्बन्धी इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

पितामह भीष्मकी सम्मति

भीष्म उवाच

कलाः काष्ठाश्च युज्यन्ते मुहूर्ताश्च दिनानि च ।
अर्धमासाश्च मासाश्च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥ १ ॥
ऋतवश्चापि युज्यन्ते तथा संवत्सरा अपि ।
एवं कालविभागेन कालचक्रं प्रवर्तते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—कला, काष्ठा, मुहूर्त, दिन, मास, पक्ष, नक्षत्र, ग्रह, ऋतु और संवत्सर—ये सब एक दूसरेसे जुड़ते हैं। इस तरह कालके इन छोटे-छोटे विभागोंद्वारा यह सम्पूर्ण कालचक्र चल रहा है ॥ १-२ ॥

तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषां च व्यतिक्रमात् ।
पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासावुपजायतः ॥ ३ ॥

इन पक्ष-मास आदिके समयके बढ़ने-घटनेसे और ग्रह-नक्षत्रोंकी गतिके व्यतिक्रमसे हर पाँचवें वर्षमें दो महीने अधिमासके बढ़ जाते हैं ॥ ३ ॥

एषामभ्यधिका मासाः पञ्च च द्वादश क्षपाः ।
त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्तते मतिः ॥ ४ ॥

इस प्रकार इन तेरह वर्षोंके पूर्ण होनेके पश्चात् भी पाण्डवोंके पाँच महीने बारह दिन और अधिक बीत चुके हैं। ऐसा मेरा विचार है * ॥ ४ ॥

सर्वं यथावच्चरितं यद् यदेभिः प्रतिश्रुतम् ।
एवमेतद् ध्रुवं ज्ञात्वा ततो बीभत्सुरागतः ॥ ५ ॥

इन पाण्डवोंने जो-जो प्रतिज्ञाएँ की थीं, उन सबका यथावत् पालन किया है; अवश्य इस बातको अच्छी तरह जानकर ही अर्जुन यहाँ आये हैं ॥ ५ ॥

सर्वे चैव महात्मानः सर्वे धर्मार्थकोविदाः ।
येषां युधिष्ठिरो राजा कस्माद् धर्मेऽपराध्नुयुः ॥ ६ ॥

सभी पाण्डव महात्मा हैं और सभी धर्म तथा अर्थके ज्ञाता हैं। जिनके नेता राजा युधिष्ठिर हैं, वे धर्मके विषयमें कैसे कोई अपराध कर सकते हैं? ॥ ६ ॥

अलुब्धाश्चैव कौन्तेयाः कृतवन्तश्च दुष्करम् ।
न चापि केवलं राज्यमिच्छेयुस्तेऽनुपायतः ॥ ७ ॥

कुन्तीके पुत्र लोभी नहीं हैं। उन्होंने तपस्या आदि कठिन कर्म किये हैं। वे अधर्म या अनुचित उपायसे (धर्मको गँवाकर) केवल राज्य लेनेके इच्छुक नहीं हैं ॥ ७ ॥

तदैव ते हि विक्रान्तुमीषुः कौरवनन्दनाः ।
धर्मपाशनिबद्धास्तु न चेलुः क्षत्रियव्रतात् ॥ ८ ॥
यच्चानृत इति ख्यायाद् यः स गच्छेत् पराभवम् ।
वृणुयुर्मरणं पार्था नानृतत्वं कथंचन ॥ ९ ॥

कुरुकुलको आनन्द देनेवाले पाण्डव उसी समय पराक्रम करनेमें समर्थ थे, किंतु वे धर्मके बन्धनमें बँधे थे; इसलिये क्षत्रियव्रतसे विचलित नहीं हुए। यदि कोई अर्जुनको असत्यवादी कहेगा तो वह पराजयको प्राप्त होगा। कुन्तीके

* चान्द्रवर्ष तीन सौ चौवन दिनोंका होता है और सौरवर्ष तीन सौ पैंसठ दिन पंद्रह घड़ी एवं कुछ पलोंका हुआ करता है। इस हिसाबसे तेरह सौर वर्षोंमें चान्द्रवर्षके लगभग पाँच महीने अधिक हो जाते हैं। इन वर्षोंमें यदि छः बार अधिमास पड़ जायँ, तो जिस तिथिको पाण्डवोंका वनवास हुआ था, तेरहवें वर्षकी उसी तिथितक तेरह वर्षोंसे पाँच महीने और बारह दिन अधिक हो सकते हैं। पाण्डवोंने सूर्यकी संक्रान्तिके अनुसार वर्षकी गणना की थी; अतः उन्होंने अधिमास आदिके कारण बढ़े हुए महीनों और दिनोंकी संख्याको अलग नहीं माना। इसीलिये उनकी गणनामें तेरह ही वर्ष हुए। भीष्मजीने चान्द्र वर्षकी गणनाका आश्रय लेकर बढ़े हुए महीनों और दिनोंको भी गणनामें ले लिया। अतः उनके हिसाबसे उस दिनतक तेरह वर्ष पूर्ण होकर पाँच मास बारह दिन अधिक हुए। यह कालभेद सौर और चान्द्रवर्षोंकी गणनाके भेदसे ही हुआ है। वास्तवमें सूर्यकी संक्रान्तिके हिसाबसे उस समयतक पाण्डवोंके तेरह वर्ष छः दिन हो चुके थे। चान्द्रवर्षकी गणनाके अनुसार वही समय तेरह वर्ष पाँच मास बारह दिनका हो गया।

पुत्र मौतको गले लगा सकते हैं, किंतु किसी प्रकार असत्य-का आश्रय नहीं ले सकते ॥८-९॥

प्राप्तकाले तु प्राप्तव्यं नोत्सृजेयुर्नरर्षभाः।
अपि वज्रभृता गुप्तं तथावीर्या हि पाण्डवाः ॥ १० ॥

नरश्रेष्ठ पाण्डव समय आनेपर अपने पाने योग्य भाग या हकको भी नहीं छोड़ सकते, भले ही वज्रधारी इन्द्र उस वस्तुकी रक्षा करते हों। पाण्डवोंका ऐसा ही पराक्रम है ॥१०॥

प्रतियुध्येम समरे सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
तस्माद् यदत्र कल्याणं लोके सद्भिरनुष्ठितम्।
तत् संविधीयतां शीघ्रं
मा वो ह्यर्थोऽभ्यगात् परम् ॥ ११ ॥

इस समय रणभूमिमें समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन-के साथ हमें युद्ध करना है। इसलिये जगत्में साधुपुरुषोंद्वारा आचरित जो कल्याणकारी उपाय है, उसे शीघ्र करना चाहिये, जिससे तुम्हारा यह गोधन शत्रुके हाथमें न जाय ॥

न हि पश्यामि संग्रामे कदाचिदपि कौरव।
एकान्तसिद्धिं राजेन्द्र सम्प्राप्तश्च धनंजयः ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन! राजेन्द्र! मैं युद्धमें कभी ऐसा नहीं देखता कि किसी एक पक्षकी ही सफलता अनिवार्य हो। लो, अर्जुन आ पहुँचे हैं ॥ १२ ॥

सम्प्रवृत्ते तु संग्रामे भावाभावौ जयाजयौ।
अवश्यमेकं स्पृशतो दृष्टमेतदसंशयम् ॥ १३ ॥

संग्राम छिड़ जानेपर किसी-न-किसी पक्षको लाभ या हानि, जय अथवा पराजय अवश्य प्राप्त होते हैं, यह सदा देखा गया है। इसमें संशयकी कोई बात नहीं है ॥ १३ ॥

तस्माद् युद्धोचितं कर्म कर्म वा धर्मसंहितम्।
क्रियतामाशु राजेन्द्र सम्प्राप्तश्च धनंजयः ॥ १४ ॥

अतः राजेन्द्र! तुम युद्धोचित कर्तव्यका पालन करो अथवा धर्मके अनुसार कार्य करो—बिना युद्धके ही राज्य देकर सन्धि कर लो। जो कुछ करना हो, जल्दी करो। अर्जुन अब सिरपर आ पहुँचे हैं ॥ १४ ॥

(एकोऽपि समरे पार्थः पृथिवीं निर्दहेच्छरैः।
भ्रातृभिः सहितस्तात किं पुनः कौरवान् रणे।
तस्मात् सन्धिं कुरुश्रेष्ठ कुरुष्व यदि मन्यसे।)

कुन्तीपुत्र अर्जुन अकेला ही समरभूमिमें समूची पृथ्वीको भी दग्ध कर सकता है, फिर वह अपने सम्पूर्ण वीर बन्धुओं-के साथ मिलकर केवल कौरवोंको रणभूमिमें नष्ट कर दे, यह कौन बड़ी बात है! अतः कुरुश्रेष्ठ! यदि आप ठीक समझें, तो पाण्डवोंके साथ सन्धि कर लें ॥

दुर्योधन उवाच

नाहं राज्यं प्रदास्यामि पाण्डवानां पितामह।
युद्धोपचारिकं यत् तु तच्छीघ्रं प्रविधीयताम् ॥ १५ ॥

दुर्योधनने कहा—किन्तु पितामह! मैं पाण्डवोंको राज्य तो दूँगा नहीं, (अतः उनसे सन्धि हो नहीं सकती तब फिर) युद्धमें उपयोगी जो भी कार्य हो, उसे ही शीघ्र पूरा किया जाय ॥ १५॥

भीष्म उवाच

अत्र या मामिका बुद्धिः श्रूयतां यदि रोचते।
सर्वथा हि मया श्रेयो वक्तव्यं कुरुनन्दन ॥ १६ ॥

भीष्मने कहा—कुरुनन्दन! यदि तुम्हें जचे, तो इस विषयमें मेरी जो सलाह है, उसे सुनो। मैं सर्वथा कल्याण-की ही बात कहूँगा ॥ १६ ॥

क्षिप्रं बलचतुर्भागं गृह्य गच्छ पुरं प्रति।
ततोऽपरश्चतुर्भागो गाः समादाय गच्छतु ॥ १७ ॥

तुम सेनाका एक चौथाई भाग लेकर शीघ्र ही हस्तिनापुरकी ओर चल दो तथा दूसरी एक चौथाई टुकड़ी गौओंको साथ लेकर जाय ॥ १७ ॥

वयं चार्धेन सैन्यस्य प्रतियोत्स्याम पाण्डवम्।
अहं द्रोणश्च कर्णश्च अश्वत्थामा कृपस्तथा।
प्रतियोत्स्याम बीभत्सुमागतं कृतनिश्चयम् ॥ १८ ॥

हमलोग आधी सेना साथ लेकर पाण्डुनन्दन अर्जुनका सामना करेंगे। मैं, द्रोणाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्य युद्धका निश्चय करके आये हुए अर्जुनके साथ लड़ेंगे ॥ १८ ॥

मत्स्यं वा पुनरायातमागतं वा शतक्रतुम्।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ १९ ॥

फिर तो चाहे मत्स्यनरेश आ जायँ या साक्षात् इन्द्र, जैसे वेला समुद्रको रोक देती है, उसी प्रकार मैं उन्हें आगे बढ़नेसे रोक रक्खूँगा ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वाक्यं रुरुचे तेषां भीष्मेणोक्तं महात्मना।
तथा हि कृतवान् राजा कौरवाणामनन्तरम् ॥ २० ॥
भीष्मः प्रस्थाप्य राजानं गोधनं तदनन्तरम्।
सेनामुख्यान् व्यवस्थाप्य व्यूहितुं सम्प्रचक्रमे॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा भीष्मकी कही हुई यह बात सबको पसंद आ गयी। फिर कौरवोंके राजा दुर्योधनने वैसा ही किया। पहले राजा दुर्योधनको और उसके बाद गोधनको भेजकर सेनापतियोंको व्यवस्थित करके भीष्मजीने सेनाका व्यूह बनानेकी तैयारी की ॥ २०-२१ ॥

भीष्म उवाच

आचार्य मध्ये तिष्ठ त्वमश्वत्थामा तु सव्यतः।
कृपः शारद्वतो धीमान् पार्श्वं रक्षतु दक्षिणम्॥ २२ ॥

भीष्मजी बोले—आचार्य ! आप बीचमें खड़े हों, अश्वत्थामा वामभागकी रक्षा करें और शरद्वान्‌के पुत्र बुद्धिमान् कृपाचार्य सेनाके दक्षिणभागकी रक्षा करें ॥ २२ ॥

अग्रतः सूतपुत्रस्तु कर्णस्तिष्ठतु दंशितः ।
अहं सर्वस्य सैन्यस्य पश्चात् स्थास्यामि पालयन् ॥ २३ ॥

सूतपुत्र कर्ण कवच धारण करके सेनाके आगे रहे और मैं पृष्ठभागकी रक्षा करता हुआ सम्पूर्ण सेनाके पीछे स्थित रहूँगा ॥ २३ ॥

(सर्वे महारथाः शूरा महेष्वासा महाबलाः ।
युद्धयन्तु पाण्डवश्रेष्ठमागतं यत्नतो युधि ॥

सभी महारथी महाधनुर्धर और महाबली शूरवीर योद्धा यहाँ आये हुए पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके साथ रणभूमिमें यत्नपूर्वक युद्ध करें ॥

वैशम्पायन उवाच

अभेद्यं सर्वसैन्यानां व्यूह्य व्यूहं कुरूत्तमः ।
वज्रगर्भं व्रीहिमुखमर्धचक्रान्तमण्डलम् ॥
तस्य व्यूहस्य पश्चार्धे भीष्मश्चाथोद्यतायुधः ।
सौवर्णं तालमुच्छ्रित्य रथे तिष्ठन्नशोभत ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कुरुश्रेष्ठ भीष्मने समस्त सेनाओंका दुर्भेद्य व्यूह रचकर उसे वज्रगर्भ, व्रीहिमुख तथा अर्धचक्रान्तमण्डल आदिके रूपमें खड़ा किया और उसके पिछले भागमें भीष्मजी भी सुवर्णमय तालध्वज फहराकर हाथमें हथियार लिये खड़े हो गये । उस समय उनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि भीष्मसैन्यव्यूहे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें भीष्मजीके द्वारा सेनाकी व्यूहरचनाविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल २७½ श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका दुर्योधनकी सेनापर आक्रमण करके गौओंको लौटा लेना

वैशम्पायन उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु कौरवेयेषु भारत ।
उपायादर्जुनस्तूर्णं रथघोषेण नादयन् ॥ १ ॥
ददृशुस्ते ध्वजाग्रं वै शुश्रुवुश्च महास्वनम् ।
दोधूयमानस्य भृशं गाण्डीवस्य च निस्वनम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार कौरव-सेनाकी व्यूह-रचना हो जानेपर अर्जुन अपने रथकी घर्घराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए शीघ्र ही निकट आ पहुँचे । सैनिकोंने उनकी ध्वजाके अग्रभागको देखा, उनके रथसे आती हुई भयंकर आवाज भी सुनी और खींचे जाते हुए गाण्डीवकी जोर-जोरसे होनेवाली टंकारध्वनि भी उनके कानोंमें पड़ी ॥ १-२ ॥

ततस्तु सर्वमालोक्य द्रोणो वचनमब्रवीत् ।
महारथमनुप्राप्तं दृष्ट्वा गाण्डीवधन्विनम् ॥ ३ ॥

तब सब कुछ देखकर गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले महारथी अर्जुनको निकट आया जानकर आचार्य द्रोण यह वचन बोले ॥ ३ ॥

द्रोण उवाच

एतद् ध्वजाग्रं पार्थस्य दूरतः सम्प्रकाशते ।
एष घोषः स रथजो रोरवीति च वानरः ॥ ४ ॥

द्रोणने कहा—यह अर्जुनकी ध्वजाका ऊपरी भाग दूरसे ही प्रकाशित हो रहा है । यह उन्हींके रथकी घर्घराहटका शब्द है । साथ ही ध्वजापर बैठा हुआ वानर भी उच्च स्वरसे गर्जना कर रहा है ॥ ४ ॥

एष तिष्ठन् रथश्रेष्ठे रथे च रथिनां वरः ।
उत्कर्षति धनुःश्रेष्ठं गाण्डीवमशनिस्वनम् ॥ ५ ॥

यह देखो, उस श्रेष्ठ रथमें बैठे हुए रथियोंमें प्रधान वीर अर्जुन धनुषोंमें सर्वोत्तम गाण्डीवकी डोरी खींच रहे हैं और उससे वज्रकी गड़गड़ाहटके समान शब्द हो रहा है ॥

इमौ च बाणौ सहितौ पादयोर्मे व्यवस्थितौ ।
अपरौ चाप्यतिक्रान्तौ कर्णौ संस्पृश्य मे शरौ ॥ ६ ॥

ये दो बाण एक साथ आकर मेरे पैरोंके आगे गिरे हैं और दूसरे दो बाण मेरे दोनों कानोंको छूकर निकल गये हैं ॥ ६ ॥

निरुष्य हि वने वासं कृत्वा कर्मातिमानुषम् ।
अभिवादयते पार्थः श्रोत्रे च परिपृच्छति ॥ ७ ॥

कुन्तीनन्दन अर्जुन वनमें रहकर वहाँ तपस्या तथा शौर्यद्वारा अतिमानुष (मानवी शक्तिसे बाहरका) पराक्रम करके आज प्रकट हुए हैं । ये प्रथम दो बाणोंद्वारा मुझे प्रणाम कर रहे हैं और दूसरे दो बाणोंद्वारा कानोंमें युद्धके लिये आज्ञा माँगते हैं ॥ ७ ॥

चिरदृष्टोऽयमस्माभिः प्रज्ञावान् बान्धवप्रियः ।
अतीव ज्वलितो लक्ष्म्या पाण्डुपुत्रो धनंजयः ॥ ८ ॥

बन्धु-बान्धवोंको प्रिय लगनेवाले परम बुद्धिमान् अर्जुन-

को आज हमने दीर्घकालके बाद देखा है। अहा! पाण्डुपुत्र धनंजय अपनी दिव्य लक्ष्मी (शोभा) से अत्यन्त प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ८ ॥

रथी शरी चारुतली निषङ्गी
शङ्खी पताकी कवची किरीटी।
खड्गी च धन्वी च विभाति पार्थः
शिखी वृतः स्रुग्भिरिवाज्यसिक्तः॥ ९ ॥

रथपर बैठे हुए धनंजयने बाण, सुन्दर दस्ताने, तरकस, शङ्ख, कवच, किरीट, खड्ग और धनुष धारण कर रक्खे हैं। इनके रथपर पताका फहरा रही है। इन सामग्रियोंसे सम्पन्न होकर आज ये तेजस्वी पार्थ स्रुवा आदि यज्ञसाधनोंसे घिरे और घीकी आहुति पाकर प्रज्वलित हुए अग्निके समान शोभा पा रहे हैं ॥ ९ ॥

(वैशम्पायन उवाच

तमदूरमुपायान्तं दृष्ट्वा पाण्डवमर्जुनम्।
नारयः प्रेक्षितुं शेकुस्तपन्तं हि यथा रविम्॥
स तं दृष्ट्वा रथानीकं पार्थः सारथिमब्रवीत्।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तपते हुए सूर्यकी भाँति देदीप्यमान पाण्डुनन्दन अर्जुनको समीप आते देख शत्रु उनकी ओर दृष्टिपात न कर सके। रथियोंकी सेनाको सामने देख कुन्तीकुमार अर्जुनने सारथिसे कहा॥

अर्जुन उवाच

इषुपाते च सेनाया हयान् संयच्छ सारथे।
यावत् समीक्षे सैन्येऽस्मिन् क्वासौ कुरुकुलाधमः॥ १०॥
सर्वानेताननादृत्य दृष्ट्वा तमतिमानिनम्।
तस्य मूर्ध्नि पतिष्यामि तत एते पराजिताः॥ ११ ॥

अर्जुनने कहा—सारथे! धनुषसे बाण चलानेपर वह जितनी दूरीपर जाकर गिरता है, कौरवसेनासे उतना ही अन्तर रह जाय, तो घोड़ोंको रोक लेना; जिससे मैं यह देख लूँ कि इस सेनामें वह कुरुकुलाधम दुर्योधन कहाँ है। उस अत्यन्त अभिमानी दुर्योधनको देख लेनेपर मैं इन सब योद्धाओंको छोड़कर उसीके सिरपर पड़ूँगा। उसके पराजित होनेसे ये सब परास्त हो जायँगे ॥ १०-११ ॥

एष व्यवस्थितो द्रोणो द्रौणिश्च तदनन्तरम्।
भीष्मः कृपश्च कर्णश्च महेष्वासाः समागताः॥ १२ ॥

ये आचार्य द्रोण खड़े हैं। उनके बाद उन्हींके पुत्र अश्वत्थामा हैं। उधर पितामह भीष्म दिखायी देते हैं। इधर कृपाचार्य हैं और वह कर्ण है। ये सब महान् धनुर्धर यहाँ युद्धके लिये आये हैं ॥ १२ ॥

राजानं नात्र पश्यामि गाः समादाय गच्छति।
दक्षिणं मार्गमास्थाय शङ्के जीवपरायणः॥ १३ ॥

परंतु इनमें मैं राजा दुर्योधनको नहीं देखता हूँ। मुझे संदेह है कि वह दक्षिण दिशाका मार्ग पकड़कर गौओंको साथ ले अपनी जान बचाये भागा जा रहा है ॥ १३ ॥

उत्सृजैतद् रथानीकं गच्छ यत्र सुयोधनः।
तत्रैव योत्स्ये वैराटे नास्ति युद्धं निरामिषम्।
तं जित्वा विनिवर्तिष्ये गाः समादाय वै पुनः॥ १४ ॥

अतः विराटनन्दन! इस रथियोंकी सेनाको छोड़ो और जहाँ दुर्योधन है, वहीं चलो। मैं वहीं युद्ध करूँगा। यहाँ व्यर्थ युद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है। उसे जीतकर गौओंको अपने साथ ले मैं पुनः लौट आऊँगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स वैराटिर्हयान् संयम्य यत्नतः।
नियम्य च ततो रश्मीन् यत्र ते कुरुपुङ्गवाः।
अचोदयत् ततो वाहान् यत्र दुर्योधनो गतः॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर विराटकुमार उत्तरने यत्नपूर्वक घोड़ोंकी रास खींचकर जहाँ बड़े-बड़े कौरव महारथी खड़े थे, उधर जानेसे उन्हें रोका। फिर उसने काबूमें रखते हुए उन घोड़ोंको उसी ओर बढ़ाया, जिधर राजा दुर्योधन गया था ॥ १५ ॥

उत्सृज्य रथवंशं तु प्रयाते श्वेतवाहने।
अभिप्रायं विदित्वा च कृपो वचनमब्रवीत्॥ १६ ॥

रथियोंकी सेना छोड़कर श्वेतवाहन अर्जुन जब दूसरी ओर चल दिये, तब उनका अभिप्राय समझकर कृपाचार्य बोले—॥ १६ ॥

नैषोऽन्तरेण राजानं बीभत्सुः स्थातुमिच्छति।
तस्य पार्ष्णिं ग्रहीष्यामो जवेनाभिप्रयास्यतः॥ १७ ॥

'ये अर्जुन राजा दुर्योधनके बिना ठहरना नहीं चाहते, इसलिये उधर ही बड़े वेगसे जा रहे हैं। अतः हमलोग शीघ्र चलकर इनका पीछा करें ॥ १७ ॥

न ह्येनमतिसंक्रुद्धमेको युध्येत संयुगे।
अन्यो देवात् सहस्राक्षात् कृष्णाद् वा देवकीसुतात्।
आचार्याच्च सपुत्राद् वा भारद्वाजान्महारथात्॥ १८ ॥

'इस समय ये बड़े क्रोधमें भरे हैं; अतः साक्षात् इन्द्र या देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा पुत्रसहित महारथी आचार्य द्रोणके सिवा दूसरा कोई इनके साथ अकेला युद्ध नहीं कर सकता ॥ १८ ॥

किं नो गावः करिष्यन्ति धनं वा विपुलं तथा।
दुर्योधनः पार्थजले पुरा नौरिव मज्जति॥ १९ ॥

'ये गौएँ अथवा प्रचुर धन हमें क्या लाभ पहुँचायेंगे? राजा दुर्योधन पार्थरूपी जलमें पुरानी नावकी भाँति डूबना चाहता है ॥ १९ ॥

तथैव गत्वा बीभत्सुर्नाम विश्राव्य चात्मनः ।
शलभैरिव तां सेनां शरैः शीघ्रमवाकिरत् ॥ २० ॥

उधर अर्जुन उसी प्रकार रथसे दुर्योधनके पास पहुँच गये और उच्चस्वरसे अपना नाम सुनाकर बड़ी शीघ्रतासे कौरवसेनापर टिड्डीदलोंकी भाँति असंख्य बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २० ॥

कीर्यमाणाः शरौघैस्तु योधास्ते पार्थचोदितैः ।
नापश्यन्नावृतां भूमिं नान्तरिक्षं च पत्रिभिः ॥ २१ ॥

अर्जुनके छोड़े हुए बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर वे समस्त सैनिक कुछ देख नहीं पाते थे । पृथ्वी और आकाश भी बाणोंसे ढँक गये थे ॥ २१ ॥

तेषामापततां युद्धे नापयानेऽभवन्मतिः ।
शीघ्रत्वमेव पार्थस्य पूजयन्ति स्म चेतसा ॥ २२ ॥

युद्धमें बाणोंकी मार खाकर कौरवसैनिक धराशायी होते जा रहे थे, तो भी उनका मन वहाँसे भागनेको नहीं होता था । वे मन-ही-मन अर्जुनकी फुर्तीकी सराहना करते थे ॥ २२ ॥

ततः शङ्खं प्रदध्मौ स द्विषतां लोमहर्षणम् ।
विस्फार्य च धनुःश्रेष्ठं ध्वजे भूतान्यचोदयत् ॥ २३ ॥

तदनन्तर पार्थने अपना शङ्ख बजाया, जो शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला था । फिर उन्होंने अपने श्रेष्ठ धनुषकी टंकार करके ध्वजापर बैठे हुए भूतोंको सिंहनाद करनेकी प्रेरणा दी ॥ २३ ॥

तस्य शङ्खस्य शब्देन रथनेमिस्वनेन च ।
गाण्डीवस्य च घोषेण पृथिवी समकम्पत ॥ २४ ॥
अमानुषाणां भूतानां तेषां च ध्वजवासिनाम् ।
ऊर्ध्वं पुच्छान् विधुन्वाना रेभमाणाः समन्ततः ।
गावः प्रतिन्यवर्तन्त दिशमास्थाय दक्षिणाम् ॥ २५ ॥

अर्जुनके शङ्खनाद, रथके पहियोंकी घर्घराहट, गाण्डीव धनुषकी टंकार तथा ध्वजमें निवास करनेवाले मानवेतर भूतोंके भयंकर कोलाहलसे पृथ्वी काँप उठी तथा गौएँ ऊपरको पूँछ उठाकर हिलाती और रँभाती हुई सब ओरसे लौट पड़ीं और दक्षिण दिशाकी ओर भाग चलीं ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे गोनिवर्तने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय गौओंके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं)

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका कर्णपर आक्रमण, विकर्णकी पराजय, शत्रुंतप और संग्रामजित्का वध, कर्ण और अर्जुनका युद्ध तथा कर्णका पलायन

वैशम्पायन उवाच

स शत्रुसेनां तरसा प्रणुद्य
गास्ता विजित्याथ धनुर्धराग्र्यः ।
दुर्योधनायाभिमुखं प्रयातो
भूयो रणं सोऽभिचिकीर्षमाणः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने शत्रुसेनाको बड़े वेगसे दबाकर उन गौओंको जीत लिया और वे युद्धकी इच्छासे फिर दुर्योधनकी ओर चले ॥ १ ॥

गोषु प्रयातासु जवेन मत्स्यान्
किरीटिनं कृतकार्यं च मत्वा ।
दुर्योधनायाभिमुखं प्रयातं
कुरुप्रवीराः सहसा निपेतुः ॥ २ ॥

जब गौएँ तीव्र गतिसे मत्स्यदेशकी राजधानीकी ओर भाग गयीं और अर्जुन अपने कार्यमें सफल होकर दुर्योधनकी ओर बढ़ चले, तब यह सब जानकर कौरव वीर सहसा वहाँ आ पहुँचे ॥ २ ॥

तेषामनीकानि बहूनि गाढं
व्यूढानि दृष्ट्वा बहुलध्वजानि ।
मत्स्यस्य पुत्रं द्विषतां निहन्ता
वैराटिमामन्त्र्य ततोऽभ्युवाच ॥ ३ ॥

उनकी अनेक सेनाएँ थीं और उन सबकी अच्छी तरह व्यूह-रचना की गयी थी । उन सेनाओंमें बहुत-सी ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं । शत्रुओंका नाश करनेवाले अर्जुनने उन सबको देखकर विराटपुत्र उत्तरको सम्बोधित करके कहा—॥ ३ ॥

एतेन तूर्णं प्रतिपादयेमान्
श्वेतान् हयान् काञ्चनरश्मियोक्त्रान् ।
जवेन सर्वेण कुरु प्रयत्न-
मासादयेऽहं कुरुसिंहवृन्दम् ॥ ४ ॥
गजो गजेनेव मया दुरात्मा
योद्धुं समाकाङ्क्षति सूतपुत्रः ।
तमेव मां प्रापय राजपुत्र
दुर्योधनापाश्रयजातदर्पम् ॥ ५ ॥

'राजकुमार ! सुनहरी रस्सियोंसे जुते हुए मेरे इन सफेद घोड़ोंको तुम शीघ्र ही इस मार्गसे ले चलो और सम्पूर्ण वेगसे ऐसा प्रयत्न करो कि मैं कुरुश्रेष्ठ दुर्योधनकी सेनाके पास पहुँच जाऊँ । यह देखो, जैसे हाथी हाथीके साथ भिड़ना चाहता हो, उसी प्रकार यह दुरात्मा सूतपुत्र कर्ण मेरे साथ युद्ध करना चाहता है । पहले इसीके पास मुझे ले चलो । यह दुर्योधनका सहारा पाकर बड़ा घमंडी हो गया है ॥ ४-५ ॥

स तैर्हयैर्वातजवैर्बृहद्भिः
पुत्रो विराटस्य सुवर्णकक्षैः ।
व्यध्वंसयत् तद् रथिनामनीकं
ततोऽवहत् पाण्डवमाजिमध्ये ॥ ६ ॥

अर्जुनके विशाल घोड़े वायुके समान वेगशाली थे । उनकी जीनके नीचे लगे हुए कपड़ेके दोनों पिछले छोर सुनहरे थे । विराटपुत्र उत्तरने तेजीसे हाँककर उन घोड़ोंके द्वारा कौरव रथियोंकी सेनाको कुचलवाते हुए पाण्डुनन्दन अर्जुनको सेनाके मध्यभागमें पहुँचा दिया ॥ ६ ॥

तं चित्रसेनो विशिखैर्विपाठैः
संग्रामजिच्छत्रुसहो जयश्च ।
प्रत्युद्ययुर्भारतमापतन्तं
महारथाः कर्णमभीप्समानाः ॥ ७ ॥

इतनेमें ही चित्रसेन, संग्रामजित्, शत्रुसह तथा जय आदि महारथी विपाठ नामक बाणोंकी वर्षा करते हुए कर्णकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे वहाँ आक्रमण करनेवाले अर्जुनके सामने आ डटे ॥

ततः स तेषां पुरुषप्रवीरः
शरासनार्चिः शरवेगतापः ।
व्रातं रथानामदहत् समन्यु-
र्वनं यथाग्निः कुरुपुङ्गवानाम् ॥ ८ ॥

तब पुरुषश्रेष्ठ वीरवर अर्जुन क्रोधसे युक्त हो आगबबूले हो गये । धनुष मानो उस आगकी ज्वाला थी और बाणोंका वेग ही आँच बन गया था । जैसे आग वनको जला डालती है, उसी प्रकार वे उन कुरुश्रेष्ठ महारथियोंके रथसमूहोंको भस्म करने लगे ॥ ८ ॥

तस्मिंस्तु युद्धे तुमुले प्रवृत्ते
पार्थं विकर्णोऽतिरथं रथेन ।
विपाठवर्षेण कुरुप्रवीरो
भीमेन भीमानुजमाससाद ॥ ९ ॥

इस प्रकार घोर युद्ध छिड़ जानेपर कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर विकर्णने रथपर सवार हो विपाठ नामक बाणोंकी भयंकर वर्षा करते हुए भीमके छोटे भाई अतिरथी वीर अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ ९ ॥

ततो विकर्णस्य धनुर्विकृष्य
जाम्बूनदाग्र्योपचितं दृढज्यम् ।
अपातयत् तं ध्वजमस्य मथ्य
च्छिन्नध्वजः सोऽप्यपयाज्जवेन ॥ १० ॥

तब अर्जुनने अपने बाणोंसे जाम्बूनद नामक उत्तम सुवर्ण मढ़े हुए सुदृढ़ प्रत्यञ्चावाले विकर्णके धनुषको काटकर उसके ध्वजको भी टुकड़े-टुकड़े करके गिरा दिया । रथकी ध्वजा कट जानेपर विकर्ण बड़े वेगसे भाग निकला ॥ १० ॥

तं शात्रवाणां गणबाधितारं
कर्माणि कुर्वन्तममानुषाणि ।
शत्रुंतपः पार्थममृष्यमाणः
समार्दयच्छरवर्षेण पार्थम् ॥ ११ ॥

शत्रुदलके वीरोंका वध करनेवाले कुन्तीनन्दन अर्जुनको इस प्रकार अमानुषिक पराक्रम करते देख शत्रुंतप नामक वीर उनके सामने आया । वह अर्जुनका पराक्रम न सह अपनी बाणवर्षासे पार्थको पीड़ा देने लगा ॥ ११ ॥

स तेन राज्ञातिरथेन विद्धो
विगाहमानो ध्वजिनीं कुरूणाम् ।
शत्रुंतपं पञ्चभिराशु विद्ध्वा
ततोऽस्य सूतं दशभिर्जघान ॥ १२ ॥

कौरवसेनामें विचरनेवाले अर्जुनने अतिरथी राजा शत्रुंतपके बाणोंसे घायल होकर उसे भी तुरंत ही पाँच बाणोंसे बींध डाला । फिर उसके सारथिको दस बाण मारकर यमलोक पहुँचा दिया ॥ १२ ॥

ततः स विद्धो भरतर्षभेण
बाणेन गात्रावरणातिगेन ।
गतासुराजौ निपपात भूमौ
नगो नगाग्रादिव वातरुग्णः ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ अर्जुनके बाण कवच छेदकर शरीरके भीतर घुस जाते थे । उनके द्वारा घायल होकर राजा शत्रुंतपके प्राणपखेरू उड़ गये और जैसे आँधीसे उखड़ा हुआ वृक्ष पर्वतशिखरसे नीचे गिरे, उसी प्रकार वह रथसे रणभूमिमें गिर पड़ा ॥ १३ ॥

नरर्षभास्तेन नरर्षभेण
वीरा रणे वीरतरेण भग्नाः ।
चकम्पिरे वातवशेन काले
प्रकम्पितानीव महावनानि ॥ १४ ॥

नरश्रेष्ठ वीरवर धनंजयके बाणोंकी मार खाकर कौरवसेनाके कितने ही श्रेष्ठ वीर घायल हो इस प्रकार काँपने लगे, जैसे समयानुसार प्रचण्ड आँधीके वेगसे बड़े-बड़े जंगलोंके वृक्ष हिलने लगते हैं ॥ १४ ॥

हतास्तु पार्थेन नरप्रवीरा
गतासवोर्व्यां सुषुपुः सुवेषाः।
वसुप्रदा वासवतुल्यवीर्याः
पराजिता वासवजेन संख्ये ॥ १५ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुनके द्वारा मारे गये बहुतेरे उत्कृष्ट नरवीर जो सुन्दर वेश-भूषासे सुशोभित थे, प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर सो गये। जो वीर दूसरोंको वसु (धन) देनेवाले और वासव (इन्द्र) के तुल्य पराक्रमी थे, वे भी वासवनन्दन अर्जुनके द्वारा उस युद्धमें पराजित हो गये ॥ १५ ॥

सुवर्णकार्ष्णायसवर्मनद्धा
नागा यथा हैमवताः प्रवृद्धाः।
तथा स शत्रून् समरे विनिघ्नन्
गाण्डीवधन्वा पुरुषप्रवीरः ॥ १६ ॥
चचार संख्ये विदिशो दिशश्च
दहन्निवाग्निर्वनमातपान्ते ।

उनमेंसे कुछ तो सोनेके कवच पहने थे और कुछ लोगोंने काले लोहेके बख्तर बाँध रक्खे थे। वे उस युद्धभूमिमें पड़े हुए हिमालयप्रदेशके विशालकाय गजराजोंके समान जान पड़ते थे। इस प्रकार संग्राममें शत्रुओंका संहार करनेवाले गाण्डीवधारी वीरशिरोमणि नररत्न अर्जुन वहाँ सब दिशाओंमें इस प्रकार विचरने लगे, मानो ग्रीष्म-ऋतुमें दावानल सम्पूर्ण वनको दग्ध करता हुआ चारों ओर फैल रहा हो ॥ १६½ ॥

प्रकीर्णपर्णानि यथा वसन्ते
विशातयित्वा पवनोऽम्बुदांश्च ॥ १७ ॥
तथा सपत्नान् विकिरन् किरीटी
चचार संख्येऽतिरथो रथेन।

जैसे वसन्तऋतुमें (तेज चलनेवाली) हवा पतझड़के बिखरे पत्तोंको उड़ाती और बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार उस रणभूमिमें रथपर बैठे हुए अतिरथी वीर किरीटधारी अर्जुन शत्रुओंका संहार करते हुए विचरने लगे ॥ १७½ ॥

शोणाश्ववाहस्य हयान् निहत्य
वैकर्तनभ्रातुरदीनसत्त्वः ।
एकेन संग्रामजितः शरेण
शिरो जहाराथ किरीटमाली ॥ १८ ॥

उनके हृदयमें दीनताका लेश भी नहीं था। वे सुन्दर किरीट और मालाओंसे अलंकृत थे। उन्होंने लाल घोड़ेवाले रथपर बैठकर अपने सामने आये हुए कर्णके भाई संग्रामजित्के घोड़ोंको मार डाला और एक बाणसे उसके मस्तकको भी धड़से अलग कर दिया ॥ १८ ॥

तस्मिन् हते भ्रातरि सूतपुत्रो
वैकर्तनो वीर्यमथाददानः।
प्रगृह्य दन्ताविव नागराजो
महर्षभं व्याघ्र इवाभ्यधावत् ॥ १९ ॥

अपने भाई संग्रामजित्के मारे जानेपर सूतपुत्र कर्णने कुपित हो पराक्रम दिखानेकी इच्छासे अर्जुन और उत्तरपर इस प्रकार हठपूर्वक धावा किया; मानो कोई गजराज दो पर्वत-शिखरोंसे भिड़ने चला हो अथवा कोई व्याघ्र किसी महाबली साँड़पर टूट पड़ा हो ॥ १९ ॥

स पाण्डवं द्वादशभिः पृषत्कै-
र्वैकर्तनः शीघ्रमथो जघान।
विव्याध गात्रेषु हयांश्च सर्वान्
विराटपुत्रं च करे निजघ्ने ॥ २० ॥

सूर्यपुत्र कर्णने बड़ी शीघ्रताके साथ पाण्डुनन्दन अर्जुनको बारह बाणोंसे घायल किया; उनके घोड़ोंके शरीर छेदकर छलनी कर दिये और विराटपुत्र उत्तरके हाथमें भी भारी चोट पहुँचायी ॥ २० ॥

तमापतन्तं सहसा किरीटी
वैकर्तनं वै तरसाभिपत्य।
प्रगृह्य वेगं न्यपतज्जवेन
नागं गरुत्मानिव चित्रपक्षः ॥ २१ ॥

कर्णको सहसा आते देख किरीटधारी अर्जुन भी तीव्र गतिसे आगे बढ़कर जैसे विचित्र पंखवाले गरुड़ किसी नागपर जोरसे आक्रमण करते हों, उसी प्रकार बड़े वेगसे उसपर टूट पड़े ॥ २१ ॥

तावुत्तमौ सर्वधनुर्धराणां
महाबलौ सर्वसपत्नसाहौ।
कर्णस्य पार्थस्य निशम्य युद्धं
दिदृक्षमाणाः कुरवोऽभितस्थुः ॥ २२ ॥

वे दोनों ही सम्पूर्ण धनुर्धर वीरोंमें श्रेष्ठ, महान् बलवान् तथा समस्त शत्रुओंका वेग सहन करनेवाले थे। कर्ण और अर्जुनका युद्ध सुनकर समस्त कौरववीर उसे देखनेके लिये दर्शकोंकी भाँति खड़े हो गये ॥ २२ ॥

स पाण्डवस्तूर्णमुदीर्णकोपः
कृतागसं कर्णमुदीक्ष्य हर्षात्।
क्षणेन साश्वं सरथं ससारथि-
मन्तर्दधे घोरशरौघवृष्ट्या ॥ २३ ॥

अपने अपराधी कर्णको सामने देखकर पाण्डुनन्दन अर्जुनकी क्रोधाग्नि भड़क उठी। वे तुरंत ही हर्ष एवं उत्साहसे भर गये और भयंकर बाणोंकी वर्षा करके

उन्होंने क्षणभरमें घोड़े, रथ और सारथिसहित कर्णको ढँक दिया ॥ २३ ॥

ततः सुविद्धाः सरथाः सनागा
योधा विनेदुर्भरतर्षभाणाम् ।
अन्तर्हिता भीष्ममुखाः सहाश्वाः
किरीटिना कीर्णरथाः पृषत्कैः ॥ २४ ॥

तदनन्तर कौरवसेनाके रथियों और हाथीसवारोंसहित सम्पूर्ण योद्धा अत्यन्त घायल होकर चीखने-चिल्लाने लगे। किरीटधारी पार्थके बाणोंसे रथ आच्छादित हो जानेके कारण भीष्म आदि सभी महारथी घोड़ोंसहित अदृश्य हो गये ॥ २४ ॥

स चापि तानर्जुनबाहुमुक्ता-
ञ्छराञ्छरौघैः प्रतिहत्य वीरः ।
तस्थौ महात्मा सधनुः सबाणः
सविस्फुलिङ्गोऽग्निरिवाशु कर्णः ॥ २५ ॥

तब महामना वीर कर्ण भी बाणसमूहोंद्वारा अर्जुनकी भुजाओंसे छोड़े गये सम्पूर्ण बाणोंको शीघ्र ही काटकर अपने धनुष और बाणोंके साथ चिनगारियोंसे युक्त अग्निकी भाँति सुशोभित होने लगा ॥ २५ ॥

ततस्त्वभूद् वै तलतालशब्दः
सशङ्खभेरीपणवप्रणादः ।
प्रक्ष्वेडितज्यातलनिस्वनं तं
वैकर्तनं पूजयतां कुरूणाम् ॥ २६ ॥

फिर तो वहाँ कर्ण बारबार प्रत्यञ्चा खींचकर धनुषकी टंकार फैलाने लगा और उसकी प्रशंसा करनेवाले कौरवोंके दलमें हथेलियों और तालियोंकी गड़गड़ाहट होने लगी। शङ्ख बज उठे, नगाड़े पीटे जाने लगे और ढोलोंका गम्भीर शब्द सब ओर गूँजने लगा ॥ २६ ॥

उद्धूतलाङ्गूलमहापताक-
ध्वजोत्तमांसाकुलभीषणान्तम् ।
गाण्डीवनिर्ह्रादकृतप्रणादं
किरीटिनं प्रेक्ष्य ननाद कर्णः ॥ २७ ॥

अर्जुनके रथकी ध्वजापर बैठे वानरवीरकी पूँछ बहुत बड़ी पताकाके समान हिल रही थी और उसके अग्रभागपर भयंकर भूतोंका भैरवनाद हो रहा था। इसके साथ ही वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीव धनुषकी टंकार फैल रही थी। ऐसे किरीटधारी अर्जुनकी ओर देखकर कर्ण बार-बार सिंहनाद करने लगा ॥ २७ ॥

स चापि वैकर्तनमर्दयित्वा
साश्वं ससूतं सरथं पृषत्कैः ।
तमाववर्ष प्रसभं किरीटी
पितामहं द्रोणकृपौ च दृष्ट्वा ॥ २८ ॥

तब अर्जुनने भी घोड़े, सारथि एवं रथसहित कर्णको बाणोंद्वारा पीड़ित करके पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्यकी ओर देखते हुए कर्णपर हठपूर्वक बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की ॥ २८ ॥

स चापि पार्थं बहुभिः पृषत्कै-
र्वैकर्तनो मेघ इवाभ्यवर्षत् ।
तथैव कर्णं च किरीटमाली
संछादयामास शितैः पृषत्कैः ॥ २९ ॥

यह देख कर्णने भी अर्जुनपर मेघकी भाँति बहुत-से बाणोंकी झड़ी लगा दी। इसी प्रकार किरीटमाली अर्जुनने भी अपने तीखे सायकोंसे कर्णको ढँक दिया ॥ २९ ॥

तयोः सुतीक्ष्णान् सृजतोः शरौघान्
महाशरौघास्त्रविवर्धने रणे ।
रथे विलग्नाविव चन्द्रसूर्यौ
घनान्तरेणानुददर्श लोकः ॥ ३० ॥

इस प्रकार जहाँ राशि-राशि बाणोंद्वारा भीषण मार-काट मची हुई थी, उस रणक्षेत्रमें वे दोनों वीर अत्यन्त तीक्ष्ण शरसमूहोंकी बौछार कर रहे थे। लोगोंने देखा, वे रथपर बैठे हुए बाणसमूहके भीतरसे इस प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं, मानो बादलोंके भीतरसे सूर्य और चन्द्रमा चमक रहे हों ॥ ३० ॥

अथाशुकारी चतुरो हयांश्च
विव्याध कर्णो निशितैः किरीटिनः ।
त्रिभिश्च यन्तारममृष्यमाणो
विव्याध तूर्णं त्रिभिरस्य केतुम् ॥ ३१ ॥

कर्णको अर्जुनका पराक्रम असह्य हो उठा। उसने अपनी आशुकारिता (शीघ्र बाण छोड़नेकी कला) का परिचय देते हुए तीखे बाणोंसे अर्जुनके चारों घोड़ोंको बींध डाला; फिर तीन बाणोंसे उनके सारथिको घायल किया और तुरंत ही तीन बाण मारकर ध्वजको भी छेद डाला। ३१।

ततोऽभिविद्धः समरावमर्दी
प्रबोधितः सिंह इव प्रसुप्तः ।
गाण्डीवधन्वा ऋषभः कुरूणा-
मजिह्मगैः कर्णमियाय जिष्णुः ॥ ३२ ॥

कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष गाण्डीवधारी अर्जुन समरभूमिमें शत्रुओंको रौंद डालनेवाले थे। वे सूतपुत्रके बाणोंसे घायल होकर सोये हुए सिंहके समान जाग उठे और विपक्षियोंपर सीधे आघात करनेवाले बाणोंद्वारा कर्णका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ ३२ ॥

शराम्बुवृष्ट्या निहतो महात्मा
प्रादुश्चकारातिमनुष्यकर्म ।
प्राच्छादयत् कर्णरथं पृषत्कै-
र्लोकानिमान् सूर्य इवांशुजालैः ॥ ३३ ॥

कर्णकी बाणवर्षासे आहत हुए महात्मा अर्जुनने अतिमानुष पराक्रम प्रकट किया । जैसे सूर्य अपनी किरणोंके समूहसे समस्त संसारको आच्छादित कर देते हैं, उसी प्रकार उन्होंने बाणसमुदायसे कर्णके रथको ढक दिया ॥ ३३ ॥

स हस्तिनेवाभिहतो गजेन्द्रः
प्रगृह्य भल्लान् निशितान् निषङ्गात् ।
आकर्णपूर्णं च धनुर्विकृष्य
विव्याध गात्रेष्वथ सूतपुत्रम् ॥ ३४ ॥

उस समय अर्जुनकी दशा उस गजराजकी भाँति हो रही थी, जो अपने प्रतिद्वन्द्वी गजका प्रहार सहकर स्वयं भी उसपर चोट करनेके लिये उद्यत हो । उन्होंने तरकससे भल्ल नामक तीखे बाण निकाले और धनुषको कानतक खींचकर सूतपुत्रके अङ्गोंको बींध डाला ॥ ३४ ॥

अथास्य बाहूरुशिरोललाटं
ग्रीवां वराङ्गानि परावमर्दी ।
शितैश्च बाणैर्युधि निर्बिभेद
गाण्डीवमुक्तैरशनिप्रकाशैः ॥ ३५ ॥

शत्रुओंका मान-मर्दन करनेवाले वीर धनंजयने गाण्डीव धनुषसे छूटकर वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले तीखे सायकोंद्वारा उस युद्धमें कर्णकी दोनों भुजाओं, जाँघों, मस्तक, ललाट तथा ग्रीवा आदि उत्तम अङ्गोंको छेद डाला ॥ ३५ ॥

स पार्थमुक्तैरिषुभिः प्रणुन्नो
गजो गजेनेव जितस्तरस्वी ।
विहाय संग्रामशिरः प्रयातो
वैकर्तनः पाण्डवबाणतप्तः ॥ ३६ ॥

अर्जुनके छोड़े हुए बाणोंकी चोट खाकर सूर्यपुत्र कर्ण तिलमिला उठा और एक हाथीसे पराजित हुए दूसरे वेगशाली हाथीकी भाँति वह पाण्डुनन्दन अर्जुनके बाणोंसे संतप्त हो युद्धका मुहाना छोड़कर भाग निकला ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कर्णापयाने चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय कर्णका युद्धसे पलायनविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा कौरवसेनाका संहार और उत्तरका उनके रथको कृपाचार्यके पास ले जाना

वैशम्पायन उवाच

अपयाते तु राधेये दुर्योधनपुरोगमाः ।
अनीकेन यथास्वेन शनैराच्छन्त पाण्डवम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राधानन्दन कर्णके भाग जानेपर दुर्योधन आदि कौरवयोद्धा अपनी-अपनी सेनाके साथ धीरे-धीरे पाण्डुनन्दन अर्जुनकी ओर बढ़ आये ॥ १ ॥

बहुधा तस्य सैन्यस्य व्यूढस्यापततः शरैः ।
अधारयत वेगं स वेलेव तु महोदधेः ॥ २ ॥

तब जैसे वेला (तटभूमि) महासागरके वेगको रोक लेती है, उसी प्रकार अर्जुनने व्यूहरचनापूर्वक बाणवर्षाके साथ आती हुई अनेक भागोंमें विभक्त कौरवसेनाके बढ़ावको रोक दिया ॥ २ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुः कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।
दिव्यमस्त्रं प्रकुर्वाणः प्रत्यायाद् रथसत्तमः ॥ ३ ॥

यथा रश्मिभिरादित्यः प्रच्छादयति मेदिनीम् ।
तथा गाण्डीवनिर्मुक्तैः शरैः पार्थो दिशो दश ॥ ४ ॥

तदनन्तर श्वेत घोड़ोंवाले श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ कुन्तीनन्दन अर्जुनने हँसकर दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए उस सेनाका सामना किया । जैसे सूर्यदेव अपनी अनन्त किरणोंद्वारा समूची पृथ्वीको आच्छादित कर लेते हैं, उसी प्रकार अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए असंख्य बाणोंद्वारा दसों दिशाओंको ढँक दिया ॥ ३-४ ॥

न रथानां न चाश्वानां न गजानां न वर्मणाम् ।
अनिविद्धं शितैर्बाणैरासीद् व्यङ्गुलमन्तरम् ॥ ५ ॥

वहाँ रथों, घोड़ों, हाथियों तथा उनके सवारोंके अङ्गों और कवचोंमें दो अङ्गुल भी ऐसा स्थान नहीं बचा था, जो अर्जुनके तीखे बाणोंसे बिंध न गया हो ॥ ५ ॥

दिव्ययोगाच्च पार्थस्य हयानामुत्तरस्य च ।
शिक्षाशिल्पोपपन्नत्वादस्त्राणां च परिक्रमात् ।

वीर्यवत्त्वं द्रुतं चाग्र्यं दृष्ट्वा जिष्णोरपूजयन् ॥ ६ ॥

अर्जुनके दिव्यास्त्रोंका प्रयोग, घोड़ोंकी शिक्षा, रथ-सञ्चालनकी कलामें उत्तरका कौशल तथा पार्थके अस्त्र चलानेका क्रम—इन सबके कारण तथा उनका पराक्रम और अत्यन्त फुर्ती देखकर शत्रु भी उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ६ ॥

कालाग्निमिव बीभत्सुं निर्दहन्तमिव प्रजाः ।
नारयः प्रेक्षितुं शेकुर्ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ ७ ॥

अर्जुन समस्त प्रजाका संहार करनेवाली प्रलयकालीन अग्निके समान शत्रुओंको भस्म कर रहे थे। वे मानो जलती आग हो रहे थे। शत्रु उनकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं पाते थे ॥ ७ ॥

तानि ग्रस्तान्यनीकानि रेजुरर्जुनमार्गणैः ।
शैलं प्रति बलाभ्राणि व्याप्तानीवार्करश्मिभिः ॥ ८ ॥

अर्जुनके बाणोंसे आच्छादित हुई कौरवोंकी सेना इस प्रकार सुशोभित हुई, मानो पर्वतके निकट नवीन मेघोंकी घटा सूर्यकी किरणोंसे व्याप्त हो गयी हो ॥ ८ ॥

अशोकानां वनानीवच्छन्नानि बहुशः शुभैः ।
रेजुः पार्थशरैस्तत्र तदा सैन्यानि भारत ॥ ९ ॥

भारत ! उस समय कुन्तीपुत्र अर्जुनके बाणोंसे घायल हो लहूलुहान हुए कौरवसैनिक बहुतेरे लाल फूलोंसे आच्छादित अशोकवनके समान शोभा पा रहे थे ॥ ९ ॥

स्रजोऽर्जुनशरैः शीर्णं शुष्यत्पुष्पं हिरण्मयम् ।
छत्राणि च पताकाश्च खे दधार सदागतिः ॥ १० ॥

अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो हारसे टूटकर बिखरे हुए स्वर्णचम्पाके सूखे फूल, छत्र और पताकाओं आदिको वायु कुछ देरतक आकाशमें ही धारण किये रहती थी (बाणोंके जालपर रुक जानेसे वे जल्दी नीचे नहीं गिरते थे) ॥ १० ॥

स्वबलत्रासनात्त्रस्ताः परिपेतुर्दिशो दश ।
रथाङ्गदेशानादाय पार्थच्छिन्नयुगा हयाः ॥ ११ ॥

अर्जुनने जिनके जुए काट दिये थे, वे शत्रुदलके घोड़े अपनी सेनाकी घबराहटसे स्वयं भी व्यग्र हो उठे और जुएका एक-एक टुकड़ा अपने साथ लिये सब ओर भागने लगे ॥

कर्णकक्षविषाणेषु अन्तरोष्ठेषु चैव ह ।
मर्मस्वङ्गेषु चाहत्यापातयत् समरे गजान् ॥ १२ ॥

अब अर्जुन युद्धभूमिमें गजराजोंके कान, कक्ष, दाँत, निचले ओठ तथा अन्य मर्मस्थानोंमें बाण मारकर उन्हें धराशायी करने लगे ॥ १२ ॥

कौरवाग्रगजानां तु शरीरैर्गतचेतसाम् ।
क्षणेन संवृता भूमिर्मेघैरिव नभस्तलम् ॥ १३ ॥

एक ही क्षणमें प्राणहीन हुए कौरवसेनाके आगे चलनेवाले गजराजोंकी लाशोंसे वहाँकी भूमि पट गयी एवं मेघोंकी घटासे आच्छादित आकाशकी भाँति प्रतीत होने लगी ॥ १३ ॥

युगान्तसमये सर्वं यथा स्थावरजङ्गमम् ।
कालक्षयमशेषेण दहत्यग्रशिखः शिखी ।
तद्वत् पार्थो महाराज ददाह समरे रिपून् ॥ १४ ॥

महाराज ! जैसे प्रलयकालमें लपलपाती लपटोंके साथ आगे बढ़नेवाली संवर्तकाग्नि सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार कुन्तीनन्दन अर्जुन उस समरभूमिमें शत्रुओंको अपनी बाणाग्निसे दग्ध करने लगे ॥१४॥

ततः सर्वास्त्रतेजोभिर्धनुषो निस्वनेन च ।
शब्देनामानुषाणां च भूतानां ध्वजवासिनाम् ।
भैरवं शब्दमत्यर्थं वानरस्य च कुर्वतः ॥ १५ ॥
दैवारिपाच्च बीभत्सुस्तस्मिन् दौर्योधने वने ।
भयमुत्पादयामास बलवानरिमर्दनः ॥ १६ ॥

तदनन्तर शत्रुओंका मान-मर्दन करनेवाले बलवान् अर्जुनने अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके तेजसे, धनुषकी टंकारसे, ध्वजामें निवास करनेवाले मानवेतर भूतोंके भयंकर कोलाहलसे, अत्यन्त भैरव गर्जना करनेवाले वानरके प्रभावसे तथा भीषण नाद फैलानेवाले शङ्खसे भी दुर्योधनकी उस सेनामें भारी भय उत्पन्न कर दिया ॥ १५-१६ ॥

रथशक्तिममित्राणां प्रागेव निपतद् भुवि ।
सोऽपयात् सहसा पश्चात् साहसाच्चाभ्युपेयिवान् ॥ १७ ॥

शत्रुओंकी रथशक्तिको तो अर्जुन पहलेसे ही धरतीपर सुला चुके थे। फिर असमर्थोंका वध करना अनुचित साहस मानकर वे एक बार वहाँसे हट गये, परंतु (उन सैनिकोंको युद्धके लिये उद्यत देख) फिर उनके पास आ गये ॥

शरव्रातैः सुतीक्ष्णाग्रैः समादिष्टैः खगैरिव ।
अर्जुनस्तु खमावव्रे लोहितप्राशनैः खगैः ॥ १८ ॥

अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए अत्यन्त तीखी धारवाले बाणसमूह मानो रक्त पीनेवाले आकाशचारी पक्षी थे, उनके द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण आकाशको ढँक दिया ॥ १८ ॥

अत्र मध्ये यथार्कस्य रश्मयस्तिग्मतेजसः ।
दिशासु च तथा राजन्नसंख्याताः शरास्तदा ॥ १९ ॥

राजन् ! जैसे प्रचण्ड तेजवाले सूर्यदेवकी किरणें एक

पात्रमें नहीं अँट सकतीं; उसी प्रकार उस समय सम्पूर्ण दिशाओंमें फैले हुए अर्जुनके असंख्य बाण आकाशमें समा नहीं पाते थे ॥ १९ ॥

सकृदेवानतं शेकू रथमभ्यसितुं परे।
अलभ्यः पुनरश्वैस्तु रथात् सोऽतिप्रपादयेत्॥ २० ॥

शत्रुसैनिक अर्जुनका रथ निकट आनेपर उसे एक ही बार पहचान पाते थे; दुबारा इसके लिये उन्हें अवसर नहीं मिलता था; क्योंकि पास आते ही अर्जुन उन्हें घोड़ोंसहित इस लोकसे परलोक भेज देते थे ॥ २० ॥

ते शरा द्विट्शरीरेषु यथैव न ससञ्जिरे।
द्विडनीकेषु बीभत्सोर्न ससञ्जे रथस्तदा ॥ २१ ॥

अर्जुनके वे बाण जिस प्रकार शत्रुओंके शरीरमें अटकते नहीं थे, उन्हें छेदकर पार निकल जाते थे, उसी प्रकार उनका रथ भी उस समय शत्रु-सेनाओंमें कहीं रुकता नहीं था; उनको चीरता हुआ आगे बढ़ जाता था ॥ २१ ॥

स तद् विक्षोभयामास ह्यरातिबलमञ्जसा।
अनन्तभोगो भुजगः क्रीडन्निव महार्णवे ॥ २२ ॥

जैसे अनन्त फणोंवाले नागराज शेष महासागरमें क्रीड़ा करते हुए उसे मथ डालते हैं, उसी प्रकार अर्जुनने अनायास ही शत्रुसेनामें घूम-घूमकर भारी हलचल पैदा कर दी ॥ २२ ॥

अस्यतो नित्यमत्यर्थं सर्वमेवातिगस्तथा।
अश्रुतः श्रूयते भूतैर्धनुर्घोषः किरीटिनः ॥ २३ ॥

जब अर्जुन बाण चलाते थे, उस समय समस्त प्राणी सदा उनके गाण्डीव धनुषकी बड़े जोरसे होनेवाली अद्भुत टंकार सुनते थे। वैसी टंकार-ध्वनि पहले किसीने कभी नहीं सुनी थी। उसके सामने दूसरे सभी प्रकारके शब्द दब जाते थे ॥ २३ ॥

संततास्तत्र मातङ्गा बाणैरल्पान्तरान्तरे।
संवृतास्तेन दृश्यन्ते मेघा इव गभस्तिभिः ॥ २४ ॥

उस युद्धभूमिमें खड़े हुए हाथियोंके सम्पूर्ण अङ्ग बहुत थोड़ी-थोड़ी दूरपर बाणोंसे छिद गये थे। इस कारण वे सूर्यकी किरणोंसे आवृत मेघोंकी घटाके समान दिखायी देते थे ॥

दिशोऽनुभ्रमतः सर्वाः सव्यदक्षिणमस्यतः।
सततं दृश्यते युद्धे सायकासनमण्डलम् ॥ २५ ॥

अर्जुन सब दिशाओंमें बार-बार घूमते हुए दाँयें-बाँयें बाण चला रहे थे; इसलिये युद्धमें अलातचक्रकी भाँति उनका मण्डलाकार धनुष सदा दृष्टिगोचर होता रहता था ॥

पतन्त्यरूपेषु यथा चक्षूंषि न कदाचन।
नालक्ष्येषु शराः पेतुस्तथा गाण्डीवधन्वनः ॥ २६ ॥

जैसे आँखें रूपहीन पदार्थोंपर कभी नहीं पड़तीं, उसी प्रकार गाण्डीवधारी अर्जुनके बाण उन व्यक्तियोंपर नहीं पड़ते थे, जो उनके बाणोंके लक्ष्य नहीं थे (अर्थात् जिन्हें वे अपने बाणोंका निशाना नहीं बनाना चाहते थे।) ॥ २६ ॥

मार्गो गजसहस्रस्य युगपद् गच्छतो वने।
यथा भवेत् तथा जज्ञे रथमार्गः किरीटिनः ॥ २७ ॥

जैसे वनमें एक साथ चलते हुए सहस्रों हाथियोंके पद-चिह्नोंसे बहुत साफ और चौड़ा रास्ता बन जाता है, उसी प्रकार किरीटधारी अर्जुनके रथका मार्ग भी उनकी बाणवर्षासे साफ हो जाता था ॥ २७ ॥

नूनं पार्थजयैषित्वाच्छक्रः सर्वामरैः सह।
हन्त्यस्मानित्यमन्यन्त पार्थेन निहताः परे ॥ २८ ॥

अर्जुनके बाणोंसे घायल हुए शत्रु ऐसा समझते थे कि निश्चय ही अर्जुनकी विजयकी अभिलाषा रखनेके कारण साक्षात् इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंके साथ आकर हमें मार रहे हैं ॥२८॥

घ्नन्तमत्यर्थमहितान् विजयं तत्र मेनिरे।
कालमर्जुनरूपेण संहरन्तमिव प्रजाः ॥ २९ ॥

उस समरभूमिमें असंख्य शत्रुओंका संहार करते हुए पार्थकी ओर देखकर लोग यह मानने लगे कि अर्जुनके रूपमें साक्षात् काल ही आकर सबका संहार कर रहा है ॥ २९ ॥

कुरुसेनाशरीराणि पार्थेनैवाहतान्यपि।
सेदुः पार्थहतानीव पार्थकर्मानुशासनात् ॥ ३० ॥

कौरव-योद्धाओंके शरीर कुन्तीनन्दन अर्जुनके बाणोंसे घायल होकर छिन्न-भिन्न हो गये थे। वे पार्थके बाणोंसे मारे हुएकी ही भाँति पड़े थे; क्योंकि पार्थके इस अद्भुत पराक्रमकी उन्हींसे उपमा दी जा सकती है ॥ ३० ॥

ओषधीनां शिरांसीव द्विषच्छीर्षाणि सोऽन्वयात्।
अवनेशुः कुरूणां हि वीर्याण्यर्जुनजाद् भयात्॥ ३१ ॥

वे धानकी बालके समान शत्रुओंके सिर क्रमशः काटते जाते थे। अर्जुनके भयसे कौरवोंकी सारी शक्ति नष्ट हो गयी थी ॥ ३१ ॥

अर्जुनानिलभिन्नानि वनान्यर्जुनविद्विषाम् ।
चक्रुर्लोहितधाराभिर्धरणीं लोहितान्तराम् ॥ ३२ ॥

अर्जुनके शत्रुरूपी वन अर्जुनरूपी वायुसे ही छिन्न-भिन्न हो लाल धाराएँ (रक्त) बहाकर पृथ्वीको भी लाल करने लगे ॥ ३२ ॥

लोहितेन समायुक्तैः पांसुभिः पवनोद्धूतैः ।
बभूवुर्लोहितास्तत्र भृशमादित्यरश्मयः ॥ ३३ ॥

वायुद्वारा उड़ायी हुई रक्तसे सनी धूलके संसर्गसे आकाशमें सूर्यकी किरणें भी अधिक लाल हो गयीं ॥ ३३ ॥

सार्कं खं तत्क्षणेनासीत् संध्यायामिव लोहितम् ।
अप्यस्तं प्राप्य सूर्योऽपि निवर्तेत न पाण्डवः॥ ३४ ॥

जैसे संध्याकालमें पश्चिमका आकाश लाल हो जाता है, उसी प्रकार उस समय सूर्यसहित आकाश लाल रंगका हो गया था । संध्याकालमें तो सूर्य अस्ताचलपर पहुँचकर पर-संताप-कर्मसे निवृत्त हो जाते हैं; परंतु पाण्डुनन्दन अर्जुन शत्रुपीडनरूपी कर्मसे निवृत्त नहीं हुए ॥ ३४ ॥

तान् सर्वान् समरे शूरः पौरुषे समवस्थितान् ।
दिव्यैरस्त्रैरचिन्त्यात्मा सर्वानार्च्छद् धनुर्धरान् ॥३५॥

अचिन्त्य मन-बुद्धिवाले शूरवीर अर्जुनने रणभूमिमें पुरुषार्थ दिखानेके लिये डटे हुए उन सभी धनुषधारियोंपर अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

स तु द्रोणं त्रिसप्तत्या क्षुरप्राणां समार्पयत् ।
दुःसहं दशभिर्बाणैर्द्रौणिमष्टाभिरेव च ॥ ३६ ॥
दुःशासनं द्वादशभिः कृपं शारद्वतं त्रिभिः ।
भीष्मं शान्तनवं षष्ट्या राजानं च शतेन ह ।
कर्णं च कर्णिना कर्णे विव्याध परवीरहा ॥ ३७ ॥

उन्होंने द्रोणाचार्यको तिहत्तर, दुःसहको दस, अश्वत्थामाको आठ, दुःशासनको बारह, शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यको तीन, शान्तनुनन्दन भीष्मको साठ तथा राजा दुर्योधनको सौ क्षुरप्र नामवाले बाणोंसे घायल किया । तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले अर्जुनने कर्णके कानमें एक कर्णी नामक बाण मारकर उसे बींध डाला ॥ ३६-३७ ॥

तस्मिन् विद्धे महेष्वासे कर्णे सर्वास्त्रकोविदे ।
हताश्वसूते विरथे ततोऽनीकमभज्यत ॥ ३८ ॥

फिर उसके घोड़े और सारथिको भी यमलोक भेजकर रथहीन कर दिया । इस प्रकार सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता महाधनुर्धर सुप्रसिद्ध कर्णके घायल होने तथा उसके घोड़े, सारथि एवं रथके नष्ट हो जानेपर सारी सेनामें भगदड़ मच गयी ॥

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा पार्थमाजिस्थितं पुनः ।
अभिप्रायं समाज्ञाय वैराटिरिदमब्रवीत् ॥ ३९ ॥
आस्थाय रुचिरं जिष्णो रथं सारथिना मया ।
कतमं यास्यसेऽनीकमुक्तो यास्याम्यहं त्वया ॥ ४० ॥

विराटकुमार उत्तरने कौरव-सेनाको भागती और कुन्तीपुत्र अर्जुनको पुनः युद्धके लिये डटा हुआ देखकर उनका अभिप्राय समझकर यों कहा—'जिष्णो ! मुझ सारथिके साथ इस सुन्दर रथपर बैठे हुए आप अब किस सेनाकी ओर जाना चाहते हैं ? आप जहाँके लिये आज्ञा दें, वहीं आपके साथ चलूँ ॥ ३९-४० ॥

अर्जुन उवाच

लोहिताश्वमरिष्टं यं वैयाघ्रमनुपश्यसि ।
नीलां पताकामाश्रित्य रथे तिष्ठन्तमुत्तर ॥ ४१ ॥
कृपस्यैतदनीकाग्र्यं प्रापयस्वैतदेव माम् ।
एतस्य दर्शयिष्यामि शीघ्रास्त्रं दृढधन्विनः ॥ ४२ ॥

अर्जुन बोले—उत्तर ! जिनके लाल-लाल घोड़े हैं, जिन शुभस्वरूप महापुरुषको तुम बाघम्बर पहने देख रहे हो, जो अपने रथपर नीले रंगकी पताका फहराकर बैठे हुए हैं, वे कृपाचार्यजी हैं और वहीं यह उनकी श्रेष्ठ सेना है । मुझे इसी सेनाके पास ले चलो । मैं इन दृढ़ धनुषवाले कृपाचार्यजीको शीघ्र अस्त्र चलानेकी कला दिखलाऊँगा ॥ ४१-४२ ॥

ध्वजे कमण्डलुर्यस्य शातकौम्भमयः शुभः ।
आचार्य एष हि द्रोणः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ४३ ॥

जिनकी ध्वजामें सुन्दर सुवर्णमय कमण्डलु सुशोभित है, ये सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण हैं ॥ ४३ ॥

सदा ममैष मान्यस्तु सर्वशस्त्रभृतामपि ।
सुप्रसन्नं महावीरं कुरुष्वैनं प्रदक्षिणम् ॥ ४४ ॥

ये मेरे तथा अन्य सब शस्त्रधारियोंके माननीय हैं । तुम इन परम प्रसन्न महावीर आचार्यपादकी रथद्वारा प्रदक्षिणा करो ॥ ४४ ॥

अत्रैव चावरोहैनमेष धर्मः सनातनः ।
यदि मे प्रथमं द्रोणः शरीरे प्रहरिष्यति ।
ततोऽस्य प्रहरिष्यामि नास्य कोपो भवेदिति ॥ ४५ ॥

तुम इसी समय इन्हें आदर दो और युद्धके लिये उद्यत हो रथपर बैठे रहो । यह सनातन धर्म है । यदि आचार्य द्रोण पहले मेरे शरीरपर प्रहार करेंगे, तब मैं इनके ऊपर भी

बाणोंद्वारा आघात करूँगा । ऐसा करनेपर इन्हें क्रोध नहीं होगा ॥ ४५ ॥

अस्याविदूरे हि धनुर्ध्वजाग्रे यस्य दृश्यते ।
आचार्यस्यैष पुत्रो वै अश्वत्थामा महारथः ॥ ४६ ॥
सदा ममैष मान्यस्तु सर्वशस्त्रभृतामपि ।
एतस्य त्वं रथं प्राप्य निवर्तेथाः पुनः पुनः ॥ ४७ ॥

इनके पास ही जिनकी ध्वजाके अग्रभागमें धनुषका चिह्न दिखायी देता है, ये आचार्यके ही योग्य पुत्र महारथी अश्वत्थामा हैं । ये भी मेरे तथा सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंके लिये माननीय हैं, अतः इनके रथके समीप जाकर भी तुम बार-बार लौट आना ॥ ४६-४७ ॥

य एष तु रथानीके सुवर्णकवचावृतः ।
सेनाग्र्येण तृतीयेन व्यावहार्येण तिष्ठति ॥ ४८ ॥
यस्य नागो ध्वजाग्रेऽसौ हेमकेतनसंवृतः ।
धृतराष्ट्रात्मजः श्रीमानेष राजा सुयोधनः ॥ ४९ ॥

यह जो रथियोंकी सेनामें सोनेका कवच धारण किये तीसरी काम देने योग्य (बिना थकी-मादी) सेनाके साथ विराजमान है, जिसकी ध्वजाके अग्रभागमें नागका चिह्न है और सोनेकी पताका फहरा रही है, यह धृतराष्ट्रपुत्र श्रीमान् राजा सुयोधन है ॥ ४८-४९ ॥

एतस्याभिमुखं वीर रथं पररथारुजम् ।
प्रापयस्वैष राजा हि प्रमाथी युद्धदुर्मदः ॥ ५० ॥

वीर ! शत्रुओंके रथको तोड़ डालनेवाले अपने इस रथको तुम इसीके सम्मुख ले चलो । यह राजा शत्रुओंको मथ डालनेवाला तथा युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाला है ॥ ५० ॥

एष द्रोणस्य शिष्याणां शीघ्रास्त्रे प्रथमो मतः ।
एतस्य दर्शयिष्यामि शीघ्रास्त्रं विपुलं रणे ॥ ५१ ॥

यह शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेमें आचार्य द्रोणके शिष्योंमें प्रथम माना गया है । इस युद्धमें आज मैं इसे शीघ्र अस्त्र चलानेकी विपुल कलाका दर्शन कराऊँगा ॥ ५१ ॥

नागकक्षा तु रुचिरा ध्वजाग्रे यस्य तिष्ठति ।
एष वैकर्तनः कर्णो विदितः पूर्वमेव ते ॥ ५२ ॥

जिसकी ध्वजाके अग्रभागपर हाथी या उसकी साँकलके चिह्नसे युक्त पताका फहरा रही है, यह विकर्तनपुत्र कर्ण है । इससे तुम पहले ही परिचित हो चुके हो ॥ ५२ ॥

एतस्य रथमास्थाय राधेयस्य दुरात्मनः ।
यत्तो भवेथाः संग्रामे स्पर्धते हि सदा मया ॥ ५३ ॥

इस दुरात्मा राधापुत्रके रथके निकट जाकर सावधान हो जाना । यह सदा युद्धमें मेरे साथ स्पर्धा रखता है ॥ ५३ ॥

यस्तु नीलानुसारेण पञ्चतारेण केतुना ।
हस्तावापी बृहद्धन्वा रथे तिष्ठति वीर्यवान् ॥ ५४ ॥
यस्य तारार्कचित्रोऽसौ ध्वजो रथवरे स्थितः ।
यस्यैतत् पाण्डुरं छत्रं विमलं मूर्ध्नि तिष्ठति ॥ ५५ ॥
महतो रथवंशस्य नानाध्वजपताकिनः ।
बलाहकाग्रे सूर्यो वा य एष प्रमुखे स्थितः ॥ ५६ ॥
हैमं चन्द्रार्कसंकाशं कवचं यस्य दृश्यते ।
जातरूपशिरस्त्राणं मनस्तापयतीव मे ॥ ५७ ॥
एष शान्तनवो भीष्मः सर्वेषां नः पितामहः ।
राजश्रियाभिवृद्धश्च सुयोधनवशानुगः ॥ ५८ ॥

जो नीले रंगकी पाँच तारोंके चिह्नसे सुशोभित पताका-वाले रथपर बैठे हुए हैं, जिनका धनुष विशाल है, जिन्होंने हाथोंमें दस्ताने पहन रक्खे हैं, जिनका वह तारों और सूर्यके चिह्नोंसे विचित्र शोभा धारण करनेवाला ध्वज फहरा रहा है, जिनके मस्तकपर श्वेत रंगका उज्ज्वल छत्र सुशोभित है, जो नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे उपलक्षित रथियोंकी विशाल सेनाके अग्रभागमें बादलोंके आगे सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं, जिनके शरीरपर चन्द्रमा और सूर्यके समान चमकीला सोनेका कवच और सुवर्णमय शिरस्त्राण दिखायी देता है, वे श्रेष्ठ रथपर विराजमान महापराक्रमी वीर पुरुष हम सबके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्म हैं । ये राज्य-लक्ष्मीसे सम्पन्न होकर भी दुर्योधनके अधीन हो रहे हैं । इसलिये मेरे मनको संतप्त-सा किये देते हैं ॥ ५४–५८ ॥

पश्चादेष प्रयातव्यो न मे विघ्नकरो भवेत् ।
एतेन युध्यमानस्य यत्तः संयच्छ मे हयान् ॥ ५९ ॥

इनके पास सबसे पीछे चलना । ये मेरे मार्गमें विघ्न-कारक नहीं होंगे । इनके साथ युद्ध करते समय सावधान होकर मेरे घोड़ोंको सँभालना ॥ ५९ ॥

ततोऽभ्यवहदव्यग्रो वैराटिः सव्यसाचिनम् ।
यत्रातिष्ठत् कृपो राजन् योत्स्यमानो धनंजयम् ॥ ६० ॥

राजन् ! अर्जुनकी यह बात सुनकर विराटपुत्र उत्तर निर्भय एवं सावधान हो सव्यसाची धनंजयको उस स्थानपर ले गया, जहाँ कृपाचार्य उनसे युद्ध करनेके लिये खड़े थे ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि अर्जुनकृपसंग्रामे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुन-कृप-संग्रामविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

रजि० सं० ए० ८५४
License No. A. 33
Licensed to post without prepayment.

श्रीहरिः

महाभारतके पहले तीनों अङ्क छप गये हैं

नवम्बर, दिसम्बर और जनवरीके तीनों अङ्क जो समाप्त हो जानेके कारण नये ग्राहकोंको नहीं दिये जा रहे थे, वे तीनों दुबारा छप गये हैं और जिन ग्राहकोंके जाने बाकी थे, उन्हें भेजे जा रहे हैं। यदि किसी ग्राहकको एक सप्ताहतक न मिलें तो सूचना देनेकी कृपा करेंगे।

मासिक महाभारतके ग्राहक बढ़ाइये

नवम्बर सन् १९५५ से महाभारतका प्रकाशन हो रहा है। नये ग्राहकोंको उसी महीनेसे सब अङ्क मिल सकेंगे।

पाठक-पाठिकाओंसे तथा ग्राहक-अनुग्राहकोंसे विनीत अनुरोध है कि अधिक-से-अधिक संख्यामें ग्राहक बनाकर इस पवित्र प्रचारमें सहायता करनेकी कृपा करें। वार्षिक मूल्य डाकखर्च सहित २०) मात्र।

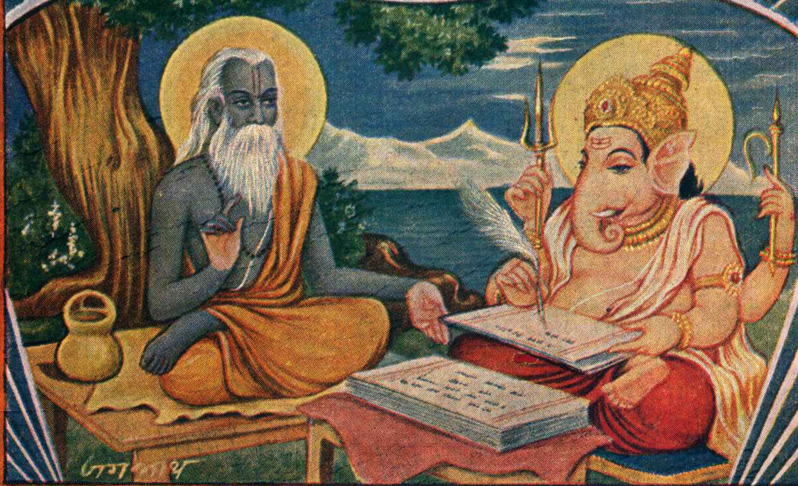
व्यवस्थापक—'महाभारत', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

महाभारत

संस्कृत मूल

संस्कृत मूल





हिन्दी अनुवाद

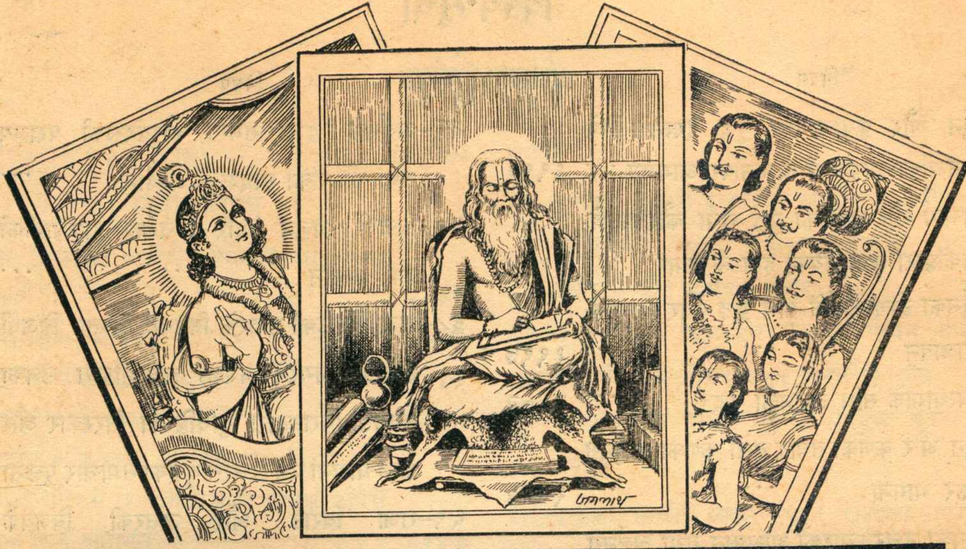
हिन्दी अनुवाद

व[illegible]

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या ११

ॐ श्रीपरमात्मने नमः



महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष १ } गोरखपुर, भाद्रपद २०१३, सितम्बर १९५६ { संख्या ११ पूर्ण संख्या ११

महाभारतमें वेदका सिद्धान्त—भगवद्भक्तिकी महत्ता

भक्तिर्हरेर्विजयते सकलाघहन्त्री
किं कर्मणाथ तपसाखिलसाधनैर्वा ।
सिद्धान्त एष निगमस्य मुनिप्रणीतः
श्रीभारते शृणुत भोः कृतिनो महान्तः ॥

हे महान् पुण्यात्मा पुरुषो ! भगवान्‌की भक्ति समस्त पापोंका नाश करनेवाली है, उसकी सर्वत्र विजय है । (उसके रहते) कर्म, तपस्या अथवा अन्य सारे सा[धनों]की क्या आवश्यकता है ? वेदका यह सिद्धान्त है, जो महर्षि व्यासद्वारा श्रीमहाभारत-ग्रन्थमें प्रतिपादित हुआ है । इसे आप लोग सुनें ।

(महाभारत, तात्पर्यप्रकाश)

*

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

चित्र-सूची

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

उद्योगपर्व

चित्र-सूची

सम्पादक—**हनुमानप्रसाद पोद्दार**

टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुन और कृपाचार्यका युद्ध देखनेके लिये देवताओंका आकाशमें विमानोंपर आगमन

वैशम्पायन उवाच

तान्यनीकान्यदृश्यन्त कुरूणामुग्रधन्विनाम् ।
संसर्पन्ते यथा मेघा घर्मान्ते मन्दमारुताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भयंकर धनुष धारण करनेवाले कौरवोंके वे सैनिक शनैः-शनैः आगे बढ़ने लगे । उस समय वे ऐसे दिखायी देते थे, मानो ग्रीष्मके अन्त एवं वर्षाके प्रारम्भमें मन्द वायुद्वारा प्रेरित मेघ धीरे-धीरे आ रहे हों ॥ १ ॥

अभ्याशे वाजिनस्तस्थुः समारूढाः प्रहारिणः ।
भीमरूपाश्च मातङ्गास्तोमराङ्कुशनोदिताः ।
महामात्रैः समारूढा विचित्रकवचोज्ज्वलाः ॥ २ ॥

घुड़सवार योद्धा समीप आकर खड़े हो गये । घोड़ोंके साथ ही भयंकर हाथी भी आगे बढ़ आये । उन्हें महावत तोमर और अङ्कुशोंकी मारसे आगे बढ़नेकी प्रेरणा दे रहे थे और उन हाथियोंपर बैठे हुए शूर-वीर अपने विचित्र कवचोंकी प्रभासे प्रकाशित हो रहे थे ॥ २ ॥

ततः शक्रः सुरगणैः समारुह्य सुदर्शनम् ।
सहोपायात् तदा राजन् विश्वाश्विमरुतां गणैः॥ ३ ॥

राजन् ! इसी समय देवताओंसहित इन्द्र विमानपर बैठकर विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गणोंके साथ वहाँ आये, जहाँ परस्पर शत्रुता रखनेवाले दो दलोंका भयंकर संघर्ष छिड़ा हुआ था ॥ ३ ॥

तद् देवयक्षगन्धर्वमहोरगसमाकुलम् ।
शुशुभेऽभ्रविनिर्मुक्तं ग्रहाणामिव मण्डलम् ॥ ४ ॥

उस समय देवता, यक्ष, गन्धर्व तथा बड़े-बड़े नागों (के विमानों) से भरा हुआ वहाँका आकाश बादलोंके आवरणसे रहित ग्रहमण्डलकी भाँति शोभा पाने लगा ॥ ४ ॥

अस्त्राणां च बलं तेषां मानुषेषु प्रयुञ्जताम् ।
तच्च भीमं महद् युद्धं कृपार्जुनसमागमे ।
द्रष्टुमभ्यागता देवाः स्वविमानैः पृथक् पृथक्॥ ५ ॥

कृपाचार्य और अर्जुनके संग्राममें देवताओंके उन अस्त्रों-की शक्तिका मनुष्योंपर प्रयोग करनेवाले शूरवीरोंके उस महा-भयंकर युद्धको अपनी आँखों देखनेके लिये देवतालोग पृथक्-पृथक् अपने विमानोंपर बैठकर आये थे ॥ ५ ॥

शतं शतसहस्राणां यत्र स्थूणा हिरण्मयी ।
मणिरत्नमयी चान्या प्रासादं तदधारयत् ॥ ६ ॥

ततः कामगमं दिव्यं सर्वरत्नविभूषितम् ।
विमानं देवराजस्य शुशुभे खेचरं तदा ॥ ७ ॥

उन विमानोंमें देवराज इन्द्रका आकाशचारी विमान उस समय सबसे अधिक शोभा पा रहा था । वह इच्छानुसार चलनेवाला दिव्य यान सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित था । उस विमानको एक करोड़ खंभोंने धारण कर रक्खा था । उनमें एक ओर सोनेके और दूसरी ओर मणि एवं रत्नोंके खंभे लगे थे ॥ ६-७ ॥

तत्र देवास्त्रयस्त्रिंशत् तिष्ठन्ति सहवासवाः ।
गन्धर्वा राक्षसाः सर्पाः पितरश्च महर्षिभिः ॥ ८ ॥
तथा राजा वसुमना बलाक्षः सुप्रतर्दनः ।
अष्टकश्च शिबिश्चैव ययातिर्नहुषो गयः ॥ ९ ॥
मनुः पूरू रघुर्भानुः कृशाश्वः सगरो नलः ।
विमाने देवराजस्य समदृश्यन्त सुप्रभाः ॥ १० ॥

उस विमानमें इन्द्रसहित तैंतीस देवता विराजमान थे । इनके सिवा गन्धर्व, राक्षस, सर्प, पितर, महर्षिगण, राजा वसुमना, बलाक्ष, सुप्रतर्दन, अष्टक, शिबि, ययाति, नहुष, गय, मनु, पूरु, रघु, भानु, कृशाश्व, सगर तथा नल—ये सब तेजस्वी रूप धारण करके देवराजके विमानमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ८-१० ॥

अग्नेरीशस्य सोमस्य वरुणस्य प्रजापतेः ।
तथा धातुर्विधातुश्च कुबेरस्य यमस्य च ॥ ११ ॥
अलम्बुषोग्रसेनानां गन्धर्वस्य च तुम्बुरोः ।
यथामानं यथोद्देशं विमानानि चकाशिरे ॥ १२ ॥

अग्नि, ईश, सोम, वरुण, प्रजापति, धाता, विधाता कुबेर, यम, अलम्बुष और उग्रसेन आदि गन्धर्व तथा गन्धर्वराज तुम्बुरुके भी पृथक्-पृथक् विमान अपनी-अपनी लंबाई-चौड़ाईके अनुसार आकाशके विभिन्न प्रदेशोंमें प्रकाशित हो रहे थे ॥ ११-१२ ॥

सर्वदेवनिकायाश्च सिद्धाश्च परमर्षयः ।
अर्जुनस्य कुरूणां च द्रष्टुं युद्धमुपागताः ॥ १३ ॥

ये सभी देवसमुदाय, सिद्ध और महर्षिगण अर्जुन तथा कौरवदलका युद्ध देखनेके लिये जुटे थे ॥ १३ ॥

दिव्यानां सर्वमाल्यानां गन्धः पुण्योऽथ सर्वशः।
प्रससार वसन्ताग्रे वनानामिव भारत ॥ १४ ॥

जनमेजय ! जैसे वसन्तके प्रारम्भमें वनके फूलोंकी मनोहर सुगन्ध सब ओर फैलने लगती है, उसी प्रकार दिव्य मालाओंकी पुण्यमय गन्ध वहाँ सब ओर छा गयी ॥ १४ ॥

तत्र रत्नानि देवानां समदृश्यन्त तिष्ठताम् ।
आतपत्राणि वासांसि स्रजश्च व्यजनानि च ॥ १५ ॥

उन विमानोंमें बैठे हुए देवताओंके रत्न, छत्र, वस्त्र, मालाएँ और चँवर आदि स्पष्ट दिखायी दे रहे थे ॥ १५ ॥

उपाशाम्यद् रजो भौमं सर्वं व्याप्तं मरीचिभिः ।
दिव्यगन्धानुपादाय वायुर्योधानसेवत ॥ १६ ॥

धरतीकी धूल शान्त हो गयी थी और पृथ्वीकी प्रत्येक वस्तुपर (दिव्य) किरणोंका प्रकाश छा गया था। वायु दिव्य गन्ध लेकर वहाँपर स्थित योद्धाओंका सेवन करती थी ॥ १६ ॥

प्रभासितमिवाकाशं चित्ररूपमलंकृतम् ।
सम्पतद्भिः स्थितैश्चापि नानारत्नविभासितैः ॥ १७ ॥

विमानैर्विविधैश्चित्रैरुपानीतैः सुरोत्तमैः ।
वज्रभृच्छुशुभे तत्र विमानस्थैः सुरैर्वृतः ॥ १८ ॥
बिभ्रन्मालां महातेजाः पद्मोत्पलसमायुताम् ।
विप्रेक्ष्यमाणो बहुभिर्नातृप्यत् सुमहाहवम् ॥ १९ ॥

श्रेष्ठ देवताओंद्वारा लाये हुए भाँति-भाँतिके विचित्र विमान अनेकानेक रत्नोंसे उद्भासित थे। उनमेंसे कुछ स्थिर हो गये थे और कुछ (नीचे-ऊपर) उड़ रहे थे। उनके द्वारा उद्भासित होनेवाले आकाशकी विचित्र शोभा हो रही थी। वहाँ विमानस्थ देवताओंसे घिरे हुए वज्रधारी महातेजस्वी इन्द्र पद्म और उत्पलोंकी माला पहने सुशोभित हो रहे थे। वे अनेक वीरोंके साथ छिड़े हुए अर्जुनके उस महान् संग्रामको बार-बार देखते थे, तो भी तृप्त नहीं होते थे ॥ १७–१९ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि देवागमने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें देवागमनविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कृपाचार्य और अर्जुनका युद्ध तथा कौरवपक्षके सैनिकोंद्वारा कृपाचार्यको हटा ले जाना

वैशम्पायन उवाच

दृष्ट्वा व्यूढान्यनीकानि कुरूणां कुरुनन्दन ।
तत्र वैराटिमामन्त्र्य पार्थो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कौरवसेनाओंको व्यूह-रचना करके खड़ी हुई देखकर कुन्तीनन्दन अर्जुनने विराटकुमार उत्तरको सम्बोधित करके कहा— ॥ १ ॥

जाम्बूनदमयी वेदी ध्वजे यस्य प्रदृश्यते ।
तस्य दक्षिणतो याहि कृपः शारद्वतो यतः ॥ २ ॥

'उत्तर ! जिसकी ध्वजापर सोनेकी वेदीका चिह्न दिखायी देता है, उस रथके दाहिने होकर चलो। उधर ही शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य हैं' ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

धनंजयवचः श्रुत्वा वैराटिस्त्वरितस्ततः ।
हयान् रजतसंकाशान् हेमभाण्डानचोदयत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धनंजयकी बात सुनकर विराटकुमार उत्तरने तुरंत ही चाँदीके समान चमकीले उन श्वेत घोड़ोंको; जो सोनेके साज-सामानसे सुशोभित हो रहे थे, हाँका ॥ ३ ॥

आनुपूर्व्यात् तु तत् सर्वमास्थाय जवमुत्तमम् ।
प्राहिणोच्चन्द्रसंकाशान् कुपितानिव तान् हयान् ॥ ४ ॥

घोड़ोंको वेगपूर्वक भगानेके जितने उत्तम ढंग हैं, क्रमशः उन सबका सहारा लेकर उत्तरने उन चन्द्रमाके समान श्वेत घोड़ोंको इतनी तीव्र गतिसे आगे बढ़ाया, मानो वे कुपित होकर भाग रहे हों ॥ ४ ॥

स गत्वा कुरुसेनायाः समीपं हयकोविदः ।
पुनरावर्तयामास तान् हयान् वातरंहसः ॥ ५ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य मण्डलं सव्यमेव च ।

अश्वविद्यामें प्रवीण विराटपुत्रने पहले कौरवसेनाके समीप जाकर उन वायुके समान वेगशाली घोड़ोंको पुनः लौटाया और दाँयीं ओरसे घुमाकर बाँयीं ओर बढ़ा दिया ॥ ५½ ॥

कुरून् सम्मोहयामास मत्स्यो यानेन तत्त्ववित् ॥ ६ ॥
कृपस्य रथमास्थाय वैराटिरकुतोभयः ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य तस्थौ तस्याग्रतो बली ॥ ७ ॥

अश्वसंचालनका रहस्य जाननेवाले मत्स्यनरेशके पुत्रने रथकी चालसे कौरवोंको मोह (भ्रम) में डाल दिया—वे यह न जान सके कि रथ किस महारथीके पास जाना चाहता है। विराटनन्दन महाबली उत्तरको किसी ओरसे कोई भय नहीं था। उसने कृपाचार्यके रथके समीप जा रथद्वारा उनकी प्रदक्षिणा की। फिर उनके सामने जा वह रथ रोककर खड़ा हो गया ॥ ६-७ ॥

ततोऽर्जुनः शङ्खवरं देवदत्तं महारवम् ।
प्रदध्मौ बलमास्थाय नाम विश्राव्य चात्मनः ॥ ८ ॥

तब अर्जुनने अपना नाम सुनाकर और पूरा बल लगाकर भारी आवाज करनेवाले अपने उत्तम शङ्ख देवदत्तको बजाया॥

तस्य शब्दो महानासीद् धम्यमानस्य जिष्णुना।
तथा वीर्यवता संख्ये पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ ९ ॥

युद्धभूमिमें वैसे महापराक्रमी विजयशील अर्जुनके द्वारा बजाये जानेपर उस शङ्खसे इतने जोरकी आवाज हुई, मानो कोई पर्वत फट गया हो ॥ ९ ॥

पूजयांचक्रिरे शङ्खं कुरवः सहसैनिकाः।
अर्जुनेन तथा ध्मातः शतधा यन्न दीर्यते ॥ १० ॥

उस समय समस्त कौरव अपने सैनिकोंके साथ यह कहकर उस शङ्खकी सराहना करने लगे कि अहो ! यह अद्भुत शङ्ख है; जो अर्जुनके इस प्रकार बजानेपर भी उसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते ! ॥ १० ॥

दिवमावृत्य शब्दस्तु निवृत्तः शुश्रुवे पुनः।
सृष्टो मघवता वज्रः प्रपतन्निव पर्वते ॥ ११ ॥

वह शङ्खनाद स्वर्गलोकसे टकराकर जब पुनः लौटा, तब इस प्रकार सुनायी दिया, मानो इन्द्रका चलाया हुआ वज्र किसी पर्वतपर गिरा हो ॥ ११ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो बलवीर्यसमन्वितः।
अर्जुनं प्रति संरब्धः कृपः परमदुर्जयः।
अमृष्यमाणस्तं शब्दं कृपः शारद्वतस्तदा ॥ १२ ॥
अर्जुनं प्रति संरब्धो युद्धार्थी स महारथः।
महोदधिजमादाय दध्मौ वेगेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥

वीरवर कृपाचार्य बल और पराक्रमसे सम्पन्न थे। उन्हें जीतना अत्यन्त कठिन था। वे अर्जुनके शङ्ख बजानेके अनन्तर उनके प्रति कुपित हो उठे। शरद्वान्‌के पुत्र महारथी कृपाचार्य उस समय अर्जुनके शङ्खनादको नहीं सह सके उनके मनमें अर्जुनपर कुछ रोष हो आया; इसलिये युद्धके (उसके साथ) अभिलाषी होकर उन महापराक्रमी महारथीने अपना शङ्ख लेकर उसे बड़े जोरसे फूँका ॥१२-१३॥

स तु शब्देन लोकांस्त्रीनावृत्य रथिनां वरः।
धनुरादाय सुमहज्ज्याशब्दमकरोत् तदा ॥ १४ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने उस शङ्खनादसे तीनों लोकोंको गुँजाकर उस समय हाथमें धनुष ले लिया और उसकी प्रत्यञ्चा खींचकर टंकारध्वनि की ॥ १४ ॥

तौ रथौ सूर्यसंकाशौ योत्स्यमानौ महाबलौ।
शारदाविव जीमूतौ व्यरोचेतां व्यवस्थितौ ॥ १५ ॥

वे दोनों महारथी बड़े पराक्रमी और सूर्यके समान तेजस्वी थे, अतः युद्ध करनेके लिये खड़े हुए वे दोनों वीर शरत्कालके दो मेघोंकी भाँति शोभा पाने लगे ॥ १५ ॥

ततः शारद्वतस्तूर्णं पार्थं दशभिराशुगैः।
विव्याध परवीरघ्नं निशितैर्मर्मभेदिभिः ॥ १६ ॥

तदनन्तर कृपाचार्यने मर्मस्थानको विदीर्ण कर देनेवाले दस तीखे बाणोंद्वारा शत्रुवीरोंके संहारक कुन्तीनन्दन अर्जुनको तुरंत बींध डाला ॥ १६ ॥

पार्थोऽपि विश्रुतं लोके गाण्डीवं परमायुधम्।
विकृष्य चिक्षेप बहून् नाराचान् मर्मभेदिनः ॥ १७ ॥

तब अर्जुनने भी अपने विश्वविख्यात उत्तम आयुध गाण्डीवको (कानतक) खींचकर बहुत-से मर्मभेदी नाराच छोड़े ॥ १७ ॥



तान् प्राप्ताञ्छितैर्बाणैर्नाराचान् रक्तभोजनान्।
कृपश्चिच्छेद पार्थस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १८ ॥

किंतु अर्जुनके द्वारा चलाये हुए उन रक्त पीनेवाले नाराचोंको अपने पास आनेसे पहले ही कृपाचार्यने तीखे बाण मारकर उनके सैकड़ों और हजारों टुकड़े कर डाले ॥ १८ ॥

ततः पार्थस्तु संक्रुद्धश्चित्रान् मार्गान् प्रदर्शयन्।
दिशः संछादयन् बाणैः प्रदिशश्च महारथः।
एकच्छायमिवाकाशमकरोत् सर्वतः प्रभुः ॥ १९ ॥

तब सामर्थ्यशाली महारथी कुन्तीपुत्र अर्जुनने क्रोधमें भरकर बाण चलानेकी विचित्र पद्धतियोंका प्रदर्शन करते हुए बाणोंकी झड़ी लगाकर सम्पूर्ण दिशा-विदिशाओंको ढँक दिया और आकाशको सब ओरसे एकमात्र अन्धकारमें निमग्न-सा कर दिया ॥ १९ ॥

प्राच्छादयदमेयात्मा पार्थः शरशतैः कृपम्।
स शरैरर्दितः क्रुद्धः शितैरग्निशिखोपमैः ॥ २० ॥

तदनन्तर अचिन्त्य मन-बुद्धिवाले पृथापुत्र अर्जुनने

सैकड़ों बाण मारकर कृपाचार्यको ढँक दिया। आगकी लपटोंके समान जलानेवाले उन तीखे बाणोंसे पीड़ित होनेपर कृपाचार्यको बड़ा क्रोध हुआ ॥ २० ॥

तूर्णं दशसहस्रेण पार्थमप्रतिमौजसम्।
अर्दयित्वा महात्मानं ननर्द समरे कृपः ॥ २१ ॥

तब उन्होंने अनुपम पराक्रमी महात्मा पृथापुत्रको युद्धमें तुरंत ही दस हजार बाणोंसे पीड़ित करके बड़े जोरसे गर्जना की ॥ २१ ॥

ततः कनकपर्वाग्रैर्वीरः संनतपर्वभिः।
त्वरन् गाण्डीवनिर्मुक्तैरर्जुनस्तस्य वाजिनः ॥ २२ ॥
चतुर्भिश्चतुरस्तीक्ष्णैरविध्यत् परमेषुभिः।
ते हया निशितैर्बाणैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः।
उत्पेतुः सहसा सर्वे कृपः स्थानादथाच्यवत् ॥ २३ ॥

तब वीर अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए झुकी हुई गाँठ और सुनहरे पर्वाग्र (फल) वाले चार बाणोंद्वारा बड़ी उतावलीसे कृपाचार्यके चारों घोड़ोंको बींध डाला। वे चारों बाण बड़े तीखे और उत्तम थे। विषाग्निसे जलते हुए सर्पोंकी भाँति उन तेज बाणोंकी मार खाकर वे सभी घोड़े सहसा उछल पड़े। इससे कृपाचार्य अपने स्थानसे गिर गये ॥ २२-२३ ॥

च्युतं तु गौतमं स्थानात् समीक्ष्य कुरुनन्दनः।
नाविध्यत् परवीरघ्नो रक्षमाणोऽस्य गौरवम् ॥ २४ ॥

कृपाचार्यको स्थानसे गिरा हुआ देख शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले कुरुनन्दन अर्जुनने उनके गौरवकी रक्षा करते हुए उनपर बाणोंसे आघात नहीं किया ॥ २४ ॥

स तु लब्ध्वा पुनः स्थानं गौतमः सव्यसाचिनम्।
विव्याध दशभिर्बाणैस्त्वरितः कङ्कपत्रिभिः ॥ २५ ॥

किंतु कृपाचार्यने पुनः अपना स्थान ग्रहण कर लेनेपर तुरंत ही सफेद चीलके पंखोंसे युक्त दस बाणोंका प्रहार करके सव्यसाची अर्जुनको बींध डाला ॥ २५ ॥

ततः पार्थो धनुस्तस्य भल्लेन निशितेन ह।
चिच्छेदैकेन भूयश्च हस्तावापमथाहरत् ॥ २६ ॥

तब अर्जुनने एक तीखे भल्ल नामक बाणद्वारा कृपाचार्यका धनुष काट डाला और पुनः उनके दस्तानेको नष्ट कर दिया ॥ २६ ॥

अथास्य कवचं बाणैर्निशितैर्मर्मभेदिभिः।
व्यधमन्न च पार्थोऽस्य शरीरमवपीडयत् ॥ २७ ॥

उसके बाद पार्थने मर्मभेदी तीखे बाणोंद्वारा उनके कवचको भी छिन्न-भिन्न कर दिया; किंतु उनके शरीरको तनिक भी कष्ट नहीं पहुँचाया ॥ २७ ॥

तस्य निर्मुच्यमानस्य कवचात् काय आबभौ।
समये मुच्यमानस्य सर्पस्येव तनुर्यथा ॥ २८ ॥

कवचसे मुक्त होनेपर कृपाचार्यका शरीर इस प्रकार सुशोभित हुआ, मानो समयपर केंचुल छूटनेके बाद सर्पका शरीर सुशोभित हो रहा हो ॥ २८ ॥

छिन्ने धनुषि पार्थेन सोऽन्यदादाय कार्मुकम्।
चकार गौतमः सज्यं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २९ ॥

अर्जुनद्वारा धनुष काट दिये जानेपर गौतम(कृप)ने दूसरा धनुष लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा ली। यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ २९ ॥

स तदप्यस्य कौन्तेयश्चिच्छेद नतपर्वणा।
एवमन्यानि चापानि बहूनि कृतहस्तवत्।
शारद्वतस्य चिच्छेद पाण्डवः परवीरहा ॥ ३० ॥

परंतु कुन्तीनन्दनने झुकी हुई गाँठवाले एक बाणसे उनके उस धनुषको भी काट दिया और इसी प्रकार कृपाचार्यके बहुत-से दूसरे धनुष भी शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पाण्डुनन्दनने हाथकी फुर्ती दिखानेमें कुशल वीरकी भाँति छिन्न-भिन्न कर डाले ॥ ३० ॥

स च्छिन्नधनुरादाय रथशक्तिं प्रतापवान्।
प्राहिणोत् पाण्डुपुत्राय प्रदीप्तामशनीमिव ॥ ३१ ॥

इस तरह धनुष कट जानेपर प्रतापी कृपाचार्यने पाण्डुपुत्र अर्जुनपर वज्रकी भाँति प्रज्वलित रथशक्ति चलायी ॥ ३१ ॥

तामर्जुनस्तदाऽऽयान्तीं शक्तिं हेमविभूषिताम्।
वियद्गतां महोल्काभां चिच्छेद दशभिः शरैः ॥ ३२ ॥
सापतद् दशधा छिन्ना भूमौ पार्थेन धीमता ॥ ३३ ॥

तब अर्जुनने भारी उल्काकी भाँति अपनी ओर आती हुई उस सुवर्णभूषित शक्तिको दस बाण मारकर आकाशमें ही काट डाला। बुद्धिमान् पार्थके द्वारा दस टुकड़ोंमें कटी हुई वह शक्ति पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३२-३३ ॥

युगपच्चैव भल्लैस्तु ततः सज्यधनुः कृपः।
तमाशु निशितैः पार्थं बिभेद दशभिः शरैः ॥ ३४ ॥

तब कृपाचार्यने पुनः प्रत्यञ्चासहित धनुष लेकर उसके ऊपर एक ही साथ भल्ल नामक दस बाणोंका संधान किया और उन दसों तीक्ष्ण बाणोंद्वारा तुरंत ही अर्जुनको बींध डाला ॥ ३४ ॥

ततः पार्थो महातेजा विशिखानग्नितेजसः।
चिक्षेप समरे क्रुद्धस्त्रयोदश शिलाशितान् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी कुन्तीपुत्रने उस संग्रामभूमिमें कुपित हो (कृपाचार्यपर) पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए अग्निके समान तेजस्वी तेरह बाण चलाये ॥ ३५ ॥

अथास्य युगमेकेन चतुर्भिश्चतुरो हयान्।
षष्ठेन च शिरः कायाच्छरेण रथसारथेः ॥ ३६ ॥

एक बाणसे उनके रथका जूआ काटकर चार बाणोंसे चारों घोड़े मार डाले और छठे बाणसे रथके सारथिका सिर धड़से अलग कर दिया ॥ ३६ ॥

त्रिभिस्त्रिवेणुं समरे द्वाभ्यामक्षं महारथः।
द्वादशेन तु भल्लेन चकर्तास्य ध्वजं तदा ॥ ३७ ॥
ततो वज्रनिकाशेन फाल्गुनः प्रहसन्निव।
त्रयोदशेनेन्द्रसमः कृपं वक्षस्यविध्यत ॥ ३८ ॥

फिर उन महारथी अर्जुनने तीन बाणोंसे रथके तीनों वेणु, दोसे रथका धुरा और बारहवें भल्ल नामक बाणसे उनके रथकी ध्वजाको भी उस समय रणभूमिमें काट गिराया। इसके बाद इन्द्रके समान पराक्रमी फाल्गुनने हँसते हुए-से वज्रसदृश तेरहवें बाणद्वारा कृपाचार्यकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ ३७-३८ ॥

सच्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
गदापाणिरवप्लुत्य तूर्णं चिक्षेप तां गदाम् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार धनुष, रथ, घोड़े और सारथि आदिके नष्ट हो जानेपर कृपाचार्य हाथमें गदा लिये रथसे कूद पड़े और तुरंत ही उसे अर्जुनपर दे मारा ॥ ३९ ॥

सा च मुक्ता गदा गुर्वी कृपेण सुपरिष्कृता।
अर्जुनेन शरैर्नुन्ना प्रतिमार्गमथागमत् ॥ ४० ॥

जिसका सुवर्ण आदिसे भलीभाँति परिष्कार किया गया था, वह कृपाचार्यद्वारा चलायी हुई भारी गदा अर्जुनके बाणोंसे प्रेरित हो उल्टी लौट गयी ॥ ४० ॥

तं तु योधाः परीप्सन्तः शारद्वतममर्षणम्।
सर्वतः समरे पार्थं शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ४१ ॥

शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य अत्यन्त अमर्षमें भरे थे। उनके प्राण बचानेकी इच्छावाले कौरव सैनिक सब ओरसे आकर उस युद्धमें अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥

ततो विराटस्य सुतः सव्यमावृत्य वाजिनः।
यमकं मण्डलं कृत्वा तान् योधान् प्रत्यवारयत् ॥ ४२ ॥

यह देख विराटपुत्र उत्तरने घोड़ोंको दाँयीं ओरसे घुमाकर यमकमण्डलसे रथ-संचालन करते हुए उन सब योद्धाओंको बाणवर्षासे रोक दिया ॥ ४२ ॥

ततः कृपमुपादाय विरथं ते नरर्षभाः।
अपजह्रुर्महावेगा कुन्तीपुत्राद् धनंजयात् ॥ ४३ ॥

इतनेमें ही वे नरश्रेष्ठ सैनिक कुन्तीपुत्र धनंजयसे डरकर रथहीन कृपाचार्यको बड़े वेगसे हटा ले गये ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहणे कृपापयाने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोष्ठकी गौओंके अपहरणके प्रसङ्गमें कृपाचार्यका पलायनसम्बन्धी सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका द्रोणाचार्यके साथ युद्ध और आचार्यका पलायन

वैशम्पायन उवाच

कृपेऽपनीते द्रोणस्तु प्रगृह्य सशरं धनुः।
अभ्यद्रवदनाधृष्यः शोणाश्वः श्वेतवाहनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब कृपाचार्य रणभूमिसे बाहर हटा दिये गये, तब लाल घोड़ोंवाले दुर्धर्ष वीर आचार्य द्रोणने धनुष-बाण लेकर श्वेतवाहन अर्जुनपर धावा किया ॥ १ ॥

स तु रुक्मरथं दृष्ट्वा गुरुमायान्तमन्तिकात्।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठ उत्तरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

सुवर्णमय रथपर आरूढ़ गुरुदेवको अपने निकट आते देख विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उत्तरसे इस प्रकार बोले ॥ २ ॥

अर्जुन उवाच

यत्रैषा काञ्चनी वेदी ध्वजे यस्य प्रकाशते।
उच्छ्रिता प्रवरे दण्डे पताकाभिरलङ्कृता।
अत्र मां वह भद्रं ते द्रोणानीकाय सारथे ॥ ३ ॥

अर्जुनने कहा—सारथे! तुम्हारा कल्याण हो। जिस रथकी ध्वजामें ऊँचे डंडेके ऊपर पताकाओंसे विभूषित यह ऊँची सुवर्णमयी वेदी प्रकाशित हो रही है, वहाँ आचार्य द्रोणकी सेना है। मुझे वहीं ले चलो ॥ ३ ॥

अश्वाः शोणाः प्रकाशन्ते बृहन्तश्चारुवाहिनः।
स्निग्धविद्रुमसंकाशास्ताम्रास्याः प्रियदर्शनाः।
युक्ता रथवरे यस्य सर्वशिक्षाविशारदाः ॥ ४ ॥
दीर्घबाहुर्महातेजा बलरूपसमन्वितः।
सर्वलोकेषु विक्रान्तो भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५ ॥

जिनके श्रेष्ठ रथमें जुते हुए सब प्रकारकी शिक्षाओंमें निपुण, चिकने, मूँगेके समान लाल रंगके, ताँबे-से मुखवाले, सुन्दर तथा अच्छे ढंगसे रथका भार वहन करनेवाले बड़े-बड़े अश्व सुशोभित हो रहे हैं, वे महातेजस्वी दीर्घबाहु, बल एवं रूपसे सम्पन्न तथा समस्त संसारमें विख्यात पराक्रमी प्रतापी वीर भरद्वाजनन्दन द्रोण हैं ॥ ४-५ ॥

बुद्ध्या तुल्यो ह्युशनसा बृहस्पतिसमो नये।
वेदास्तथैव चत्वारो ब्रह्मचर्यं तथैव च ॥ ६ ॥
ससंहाराणि सर्वाणि दिव्यान्यस्त्राणि मारिष।
धनुर्वेदश्च कात्स्न्र्येन यस्मिन् नित्यं प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥

ये बुद्धिमें शुक्राचार्य और नीतिमें बृहस्पतिके समान हैं। मारिष[1] ! इनमें चारों वेद, ब्रह्मचर्य, संहार-विधिसहित सम्पूर्ण दिव्यास्त्र और समस्त धनुर्वेद सदा प्रतिष्ठित है ॥ ६-७ ॥

क्षमा दमश्च सत्यं च आनृशंस्यमथार्जवम्।
एते चान्ये च बहवो यस्मिन् नित्यं द्विजे गुणाः ॥ ८ ॥

इन विप्रशिरोमणिमें क्षमा, इन्द्रियसंयम, सत्य, कोमलता, सरलता तथा अन्य बहुत-से सद्गुण नित्य विद्यमान हैं ॥ ८ ॥

तेनाहं योद्धुमिच्छामि महाभागेन संयुगे।
तस्मात् तं प्रापयाचार्यं क्षिप्रमुत्तर वाहय ॥ ९ ॥

अतः मैं इन्हीं महाभाग आचार्यके साथ इस समरभूमिमें युद्ध करना चाहता हूँ। अतः उत्तर ! रथ बढ़ाओ और मुझे शीघ्र उन आचार्यके समीप पहुँचा दो ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु वैराटिर्हेमभूषणान्।
चोदयामास तानश्वान् भारद्वाजरथं प्रति ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अर्जुनके इस प्रकार आदेश देनेपर विराटनन्दन उत्तरने सोनेके आभूषणोंसे विभूषित उन अश्वोंको आचार्य द्रोणके रथकी ओर हाँक दिया ॥ १० ॥

तमापतन्तं वेगेन पाण्डवं रथिनां वरम्।
द्रोणः प्रत्युद्ययौ पार्थं मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ ११ ॥

महारथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन अर्जुनको बड़े वेगसे अपनी ओर आते देख आचार्य द्रोण भी पार्थकी ओर आगे बढ़ आये, ठीक उसी तरह जैसे एक उन्मत्त गजराज दूसरे मतवाले गजराजसे भिड़नेके लिये जा रहा हो ॥ ११ ॥

ततः प्राध्मापयच्छङ्खं भेरीशतनिनादिनम्।
प्रचुक्षुभे बलं सर्वमुद्धूत इव सागरः ॥ १२ ॥

तदनन्तर द्रोणने सौ नगाड़ोंके बराबर आवाज करनेवाले अपने शङ्खको बजाया। उसे सुनकर सारी सेनामें हलचल मच गयी, मानो समुद्रमें ज्वार आ गया हो ॥ १२ ॥

अथ शोणान् सदश्वांस्तान् हंसवर्णैर्मनोजवैः।
मिश्रितान् समरे दृष्ट्वा व्यस्मयन्त रणे नराः ॥ १३ ॥

रणभूमिमें उन लाल रंगके सुन्दर घोड़ोंको हंसके समान वर्णवाले मनके सदृश वेगशाली श्वेत घोड़ोंसे मिला देख युद्ध करनेके विषयमें सब लोग आश्चर्यमें पड़ गये ॥ १३ ॥

तौ रथौ वीर्यसम्पन्नौ दृष्ट्वा संग्राममूर्धनि।
आचार्यशिष्यावजितौ कृतविद्यौ मनस्विनौ ॥ १४ ॥
समाश्लिष्टौ तदान्योन्यं द्रोणपार्थौ महाबलौ।
दृष्ट्वा प्राकम्पत मुहुर्भरतानां महद् बलम् ॥ १५ ॥

महाबली द्रोण और कुन्तीपुत्र अर्जुन दोनों महारथी बल-वीर्य-सम्पन्न, अजेय, अस्त्रविद्याके विशेषज्ञ और मनस्वी थे। युद्धके सिरेपर वे दोनों आचार्य और शिष्य अपने-अपने रथपर बैठे हुए (ही एक-दूसरेकी ओर हाथ बढ़ाकर मानो) परस्पर आलिङ्गन करने लगे। उन्हें इस अवस्थामें देखकर भरत-वंशियोंकी वह विशाल सेना बारंबार भयसे काँपने लगी ॥

हर्षयुक्तस्ततः पार्थः प्रहसन्निव वीर्यवान्।
रथं रथेन द्रोणस्य समासाद्य महारथः ॥ १६ ॥
अभिवाद्य महाबाहुः सामपूर्वमिदं वचः।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा कौन्तेयः परवीरहा ॥ १७ ॥

तदनन्तर शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले महारथी और महापराक्रमी कुन्तीपुत्र महाबाहु अर्जुन हर्षोल्लासमें भर गये और आचार्य द्रोणके रथसे अपना रथ भिड़ाकर उन्हें प्रणाम करके हँसते हुए-से शान्तिपूर्वक मधुर वाणीमें यों बोले—॥

उषिताः स्मो वने वासं प्रतिकर्म चिकीर्षवः।
कोपं नार्हसि नः कर्तुं सदा समरदुर्जय ॥ १८ ॥
अहं तु प्रहृते पूर्वं प्रहरिष्यामि तेऽनघ।
इति मे वर्तते बुद्धिस्तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥ १९ ॥

'आचार्य ! युद्धमें आपपर विजय पाना सर्वथा कठिन है। हमलोग बहुत वर्षोंतक वनमें रहकर कष्ट उठाते रहे हैं। अब शत्रुओंसे बदला लेनेकी इच्छासे आये हैं; अतः आप हमलोगोंपर क्रोध न करें। अनघ ! मैं तो आपपर तभी प्रहार करूँगा, जब पहले आप मुझपर प्रहार कर लेंगे। मेरा यही निश्चय है, अतः आप ही पहले मुझपर प्रहार करें' ।१८-१९।

ततोऽस्मै प्राहिणोद् द्रोणः शरानधिकविंशतिम्।
अप्राप्तांश्चैव तान् पार्थश्चिच्छेद कृतहस्तवत् ॥ २० ॥

तब आचार्य द्रोणने अर्जुनपर इक्कीस बाण चलाये; किंतु पार्थने उन सबको अपने पास आनेसे पहले ही काट गिराया, मानो उनके हाथ इस कलामें पूर्ण सुशिक्षित थे ॥

ततः शरसहस्रेण रथं पार्थस्य वीर्यवान्।
अवाकिरत् ततो द्रोणः शीघ्रमस्त्रं विदर्शयन् ॥ २१ ॥

तदनन्तर पराक्रमी द्रोणने अपनी अस्त्र चलानेकी फुर्ती दिखाते हुए अर्जुनके रथपर सहस्रों बाणोंकी वृष्टि की ।।२१।।

हयांश्च रजतप्रख्यान् कङ्कपत्रैः शिलाशितैः।
अवाकिरदमेयात्मा पार्थं संकोपयन्निव ॥ २२ ॥

उनका आत्मबल असीम था। उन्होंने चाँदीके समान अंगवाले अर्जुनके श्वेत घोड़ोंको भी शानपर चढ़ाकर तेज

---
1. 'आर्यस्तु मारिषः' (अमरकोष)

किये हुए सफेद चीलकी पाँखवाले बाणोंसे ढँक दिया। जान पड़ता था, आचार्य यह सब करके अर्जुनके क्रोधको उभाड़ना चाहते थे ॥ २२ ॥

एवं प्रववृते युद्धं भारद्वाजकिरीटिनोः।
समं विमुञ्चतो संख्ये विशिखान् दीप्ततेजसः ॥ २३ ॥

इस प्रकार भरद्वाजनन्दन द्रोण और किरीटधारी अर्जुनमें युद्ध छिड़ गया। वे दोनों समरभूमिमें (एक-दूसरेपर) समानरूपसे तेजस्वी बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २३ ॥

तावुभौ ख्यातकर्माणावुभौ वायुसमौ जवे।
उभौ दिव्यास्त्रविदुषावुभावुत्तमतेजसौ।
क्षिपन्तौ शरजालानि मोहयामासतुर्नृपान् ॥ २४ ॥

दोनों ही विख्यात पराक्रमी थे। वेगमें दोनों ही वायुके समान थे। वे दोनों गुरु-शिष्य दिव्यास्त्रोंके महापण्डित और उत्तम तेजसे सम्पन्न थे। परस्पर बाणोंकी झड़ी लगाते हुए दोनोंने सब राजाओंको मोहमें डाल दिया ॥ २४ ॥

व्यस्मयन्त ततो योधा ये तत्रासन् समागताः।
शरान् विसृजतोस्तूर्णं साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ २५ ॥

तदनन्तर जो-जो सैनिक वहाँ आये थे, वे एक-दूसरेपर तीव्र गतिसे बाण-वर्षा करनेवाले दोनों वीरोंकी 'साधु-साधु' कहकर सराहना करने लगे—॥ २५ ॥

द्रोणं हि समरे कोऽन्यो योद्धुमर्हति फाल्गुनात्।
रौद्रः क्षत्रियधर्मोऽयं गुरुणा यदयुध्यत।
इत्यब्रुवञ्जनास्तत्र संग्रामशिरसि स्थिताः ॥ २६ ॥

'भला, युद्धमें अर्जुनके सिवा दूसरा कौन द्रोणाचार्यका सामना कर सकता है? यह क्षत्रियधर्म कितना भयंकर है कि शिष्यको गुरुसे युद्ध करना पड़ा है।' इस प्रकार वहाँ युद्धके मुहानेपर खड़े हुए योद्धा आपसमें बातें करते थे ॥ २६ ॥

वीरौ तावभिसंरब्धौ संनिकृष्टौ महाभुजौ।
छादयेतां शरव्रातैरन्योन्यमपराजितौ ॥ २७ ॥

दोनों महाबाहु वीर क्रोधमें भरकर निकट आ गये और बाणसमूहोंसे एक-दूसरेको आच्छादित करने लगे। उनमेंसे कोई भी पराजित होनेवाला न था ॥ २७ ॥

विस्फार्य सुमहच्चापं हेमपृष्ठं दुरासदम्।
भारद्वाजोऽथ संक्रुद्धः फाल्गुनं प्रत्यविध्यत ॥ २८ ॥

भरद्वाजनन्दन द्रोण अत्यन्त कुपित हो, जिसके पृष्ठभागमें सुवर्ण जड़ा हुआ था और जिसे उठाना दूसरोंके लिये बहुत कठिन था, उस महान् धनुषको खींचकर अर्जुनको बाणोंसे बींधने लगे ॥ २८ ॥

स सायकमयैर्जालैरर्जुनस्य रथं प्रति।
भानुमद्भिः शिलाधौतैर्भानोराच्छादयत् प्रभाम् ॥ २९ ॥

उन्होंने अर्जुनके रथपर बाणोंका जाल-सा बिछा दिया। इतना ही नहीं, शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए उन तेजस्वी बाणोंद्वारा उन्होंने सूर्यकी प्रभाको भी आच्छादित कर दिया ॥

पार्थं च सुमहाबाहुर्महावेगैर्महारथः।
विव्याध निशितैर्बाणैर्मेघो वृष्ट्येव पर्वतम् ॥ ३० ॥

जैसे मेघ पर्वतपर जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार महाबाहु महारथी द्रोण पृथापुत्र अर्जुनको अत्यन्त वेगशाली तीखे बाणोंद्वारा बींध रहे थे ॥ ३० ॥

तथैव दिव्यं गाण्डीवं धनुरादाय पाण्डवः।
शत्रुघ्नं वेगवान् हृष्टो भारसाधनमुत्तमम् ॥ ३१ ॥
विससर्ज शरांश्चित्रान् सुवर्णविकृतान् बहून्।
नाशयन् शरवर्षाणि भारद्वाजस्य वीर्यवान्।
तूर्णं चापविनिर्मुक्तैस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार हर्षमें भरे हुए वेगशाली पाण्डुनन्दन अर्जुन भी भार सहन करनेमें समर्थ और शत्रुओंका नाश करनेवाला उत्तम एवं दिव्य गाण्डीव धनुष लेकर बहुत-से स्वर्णभूषित विचित्र बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। पराक्रमी पार्थ अपने धनुषसे छूटे हुए बाणसमूहोंद्वारा तुरंत ही आचार्य द्रोणकी बाण-वर्षाको नष्ट करते जाते थे। यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ३१-३२ ॥

स रथेन चरन् पार्थः प्रेक्षणीयो धनंजयः।
युगपद् दिक्षु सर्वासु सर्वतोऽस्त्राण्यदर्शयत् ॥ ३३ ॥
एकच्छायमिवाकाशं बाणैश्चक्रे समन्ततः।
नादृश्यत तदा द्रोणो नीहारेणेव संवृतः ॥ ३४ ॥

रथसे विचरनेवाले कुन्तीपुत्र धनंजय सबके लिये दर्शनीय हो रहे थे। उन्होंने सब दिशाओंमें एक ही साथ अस्त्रोंकी वर्षा दिखायी और आकाशको चारों ओरसे बाणोंद्वारा ढँककर एकमात्र अन्धकारमें निमग्न-सा कर दिया। उस समय आचार्य द्रोण कुहरेसे ढके हुएकी भाँति अदृश्य हो गये ॥

तस्याभवत् तदा रूपं संवृतस्य शरोत्तमैः।
जाज्वल्यमानस्य तदा पर्वतस्येव सर्वतः ॥ ३५ ॥

उत्तम बाणोंसे ढके हुए द्रोणाचार्यका स्वरूप उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो सब ओरसे जलता हुआ कोई पर्वत हो ॥ ३५ ॥

दृष्ट्वा तु पार्थस्य रणे शरैः स्वरथमावृतम्।
स विस्फार्य धनुःश्रेष्ठं मेघस्तनितनिस्वनम् ॥ ३६ ॥
अग्निचक्रोपमं घोरं व्यकर्षत् परमायुधम्।
व्यशातयच्छरांस्तांस्तु द्रोणः समितिशोभनः ॥ ३७ ॥

आचार्य द्रोण संग्रामभूमिमें बड़ी शोभा पानेवाले थे। संग्राममें उन्होंने अपने रथको जब अर्जुनके बाणोंसे ढका हुआ देखा, तब मेघगर्जनाके समान गम्भीर नाद करनेवाले अग्निचक्रके

सदृश भयंकर परम उत्तम आयुधश्रेष्ठ धनुषकी टंकार फैलाते हुए उसे (कानोंतक) खींचा और अपने शर-समूहोंसे अर्जुनके उन सब बाणोंको काट डाला ॥ ३६-३७ ॥

महानभूत् ततः शब्दो वंशानामिव दह्यताम् ॥ ३८ ॥

उस समय जलते हुए बाँसोंके चटखनेका-सा बड़ा भयंकर शब्द हो रहा था ॥ ३८ ॥

जाम्बूनदमयैः पुङ्खैश्चित्रचापविनिर्गतैः ।
प्राच्छादयदमेयात्मा दिशः सूर्यस्य च प्रभाम्॥ ३९ ॥

जिनकी मन-बुद्धि अमेय है, उन द्रोणने अपने विचित्र धनुषसे छूटे हुए सुवर्णमय पंखोंवाले बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओं तथा सूर्यके प्रकाशको भी ढक दिया ॥ ३९ ॥

ततः कनकपुङ्खानां शराणां नतपर्वणाम् ।
वियच्चराणां वियति दृश्यन्ते बहवो व्रजाः ॥ ४० ॥

उस समय सोनेकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले आकाशचारी बाणोंके बहुत-से समुदाय आकाशमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ४० ॥

द्रोणस्य पुङ्खसक्ताश्च प्रभवन्तः शरासनात् ।
एको दीर्घ इवादृश्यदाकाशे संहतः शरः ॥ ४१ ॥

वे सभी पक्षधारी बाण-समुदाय आचार्य द्रोणके धनुषसे प्रकट हुए थे । आकाशमें उन बाणोंका समूह परस्पर सटकर एक ही विशाल बाणके समान दिखायी देता था ॥ ४१ ॥

एवं तौ स्वर्णविकृतान् विमुञ्चन्तौ महाशरान् ।
आकाशं संवृतं वीरावुल्काभिरिव चक्रतुः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार वे दोनों वीर सुवर्णविभूषित महाबाणोंकी वर्षा करते हुए आकाशको मानो उल्काओंसे आच्छादित करने लगे ॥ ४२ ॥

शरास्तयोस्तु विबभुः कङ्कबर्हिणवाससः ।
पङ्क्त्यः शरदि खस्थानां हंसानां चरतामिव ॥ ४३ ॥

कङ्क और मोरकी पाँखवाले उन दोनोंके बाण शरद्‌ऋतुमें आकाशमें विचरनेवाले हंसोंकी पाँतके समान सुशोभित होते थे ॥

युद्धं समभवत् तत्र सुसंरब्धं महात्मनोः ।
द्रोणपाण्डवयोर्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥ ४४ ॥

महामना द्रोण और पाण्डुनन्दन अर्जुनका वह रोषपूर्ण युद्ध वृत्रासुर और इन्द्रके समान भयंकर प्रतीत होता था ॥

तौ गजाविव चासाद्य विषाणाग्रैः परस्परम् ।
शरैः पूर्णायतोत्सृष्टैरन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ ४५ ॥

जैसे दो हाथी एक दूसरेसे भिड़कर दाँतोंके अग्रभागसे प्रहार करते हों, उसी प्रकार वे दोनों धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए बाणोंद्वारा एक दूसरेको घायल कर रहे थे ॥ ४५ ॥

तौ व्यवाहरतां युद्धे संरब्धौ रणशोभिनौ ।
उदीरयन्तौ समरे दिव्यान्यस्त्राणि भागशः ॥ ४६ ॥

क्रोधमें भरे हुए उन दोनों वीरोंकी रणभूमिमें बड़ी शोभा हो रही थी । वे उस संग्राममें पृथक्-पृथक् दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए धर्मयुद्ध कर रहे थे ॥ ४६ ॥

अथ त्वाचार्यमुख्येन शरान् सृष्टाञ्छिलाशितान् ।
न्यवारयच्छितैर्बाणैरर्जुनो जयतां वरः ॥ ४७ ॥

तदनन्तर विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने आचार्यप्रवर द्रोणके द्वारा चलाये हुए शानपर तेज किये हुए बाणोंको अपने तीखे सायकोंसे नष्ट कर दिया ॥ ४७ ॥

दर्शयन् वीक्षमाणानामस्त्रमुग्रपराक्रमः ।
इषुभिस्तूर्णमाकाशं बहुभिश्च समावृणोत् ॥ ४८ ॥
जिघांसन्तं नरव्याघ्रमर्जुनं तिग्मतेजसम् ।
आचार्यमुख्यः समरे द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ।
अर्जुनेन सहाक्रीडच्छरैः संनतपर्वभिः ॥ ४९ ॥

वे भयानक पराक्रमी थे, उन्होंने दर्शकोंको अपना अस्त्र-कौशल दिखाते हुए तुरंत बहुसंख्यक बाणोंद्वारा आकाशको ढँक दिया । यद्यपि प्रचण्ड तेजस्वी नरश्रेष्ठ अर्जुन विपक्षीको मार डालनेकी इच्छा रखते थे, तो भी शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ आचार्यप्रवर द्रोण उस समरभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा प्रहार करके अर्जुनके साथ मानो खेल कर रहे थे (उनमें अर्जुनके प्रति वात्सल्यका भाव उमड़ रहा था) ॥ ४८-४९ ॥

दिव्यान्यस्त्राणि वर्षन्तं तस्मिन् वै तुमुले रणे ।
अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य फाल्गुनं समयोधयत् ॥ ५० ॥

उस तुमुल युद्धमें अर्जुन दिव्यास्त्रोंकी वर्षा कर रहे थे, किंतु आचार्य अपने अस्त्रोंद्वारा उनके अस्त्रोंका निवारण-मात्र करके उन्हें लड़ा रहे थे ॥ ५० ॥

तयोरासीत् सम्प्रहारः क्रुद्धयोर्नरसिंहयोः ।
अमर्षिणोस्तदान्योन्यं देवदानवयोरिव ॥ ५१ ॥

वे दोनों नरश्रेष्ठ जब क्रोध और अमर्षमें भर गये, तब उनमें परस्पर देवताओं और दानवोंकी भाँति घमासान युद्ध छिड़ गया ॥ ५१ ॥

ऐन्द्रं वायव्यमाग्नेयमस्त्रमस्त्रेण पाण्डवः ।
द्रोणेन मुक्तमात्रं तु ग्रसति स्म पुनः पुनः ॥ ५२ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोणके छोड़े हुए ऐन्द्र, वायव्य और आग्नेय आदि अस्त्रोंको उसके विरोधी अस्त्रद्वारा बार-बार नष्ट कर देते थे ॥ ५२ ॥

एवं शूरौ महेष्वासौ विसृजन्तौ शिताञ्छरान् ।
एकच्छायं चक्रतुस्तावाकाशं शरवृष्टिभिः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार वे दोनों महान् धनुर्धर शूरवीर तीखे बाण

छोड़ते हुए अपनी बाणवर्षाद्वारा आकाशको एकमात्र अन्धकारमें निमग्न करने लगे ॥ ५३ ॥

तत्रार्जुनेन मुक्तानां पततां वै शरीरिषु ।
पर्वतेष्विव वज्राणां शराणां श्रूयते स्वनः ॥ ५४ ॥

अर्जुनके छोड़े हुए बाण जब देहधारियोंपर पड़ते थे, तब पर्वतोंपर गिरनेवाले वज्रके समान भयंकर शब्द सुनायी देता था ॥ ५४ ॥

ततो नागा रथाश्चैव वाजिनश्च विशाम्पते ।
शोणिताक्ता व्यदृश्यन्त पुष्पिता इव किंशुकाः॥ ५५ ॥

जनमेजय ! उस समय हाथीसवार, रथी और घुड़सवार लोहूलुहान होकर फूले हुए पलाश वृक्षके समान दिखायी देते थे ॥ ५५ ॥

बाहुभिश्च सकेयूरैर्विचित्रैश्च महारथैः ।
सुवर्णचित्रैः कवचैर्ध्वजैश्च विनिपातितैः ॥ ५६ ॥
योधैश्च निहतैस्तत्र पार्थबाणप्रपीडितैः ।
बलमासीत् समुद्भ्रान्तं द्रोणार्जुनसमागमे ॥ ५७ ॥

द्रोणाचार्य और अर्जुनके उस युद्धमें पार्थके बाणोंसे पीड़ित हो कितने ही योद्धा मर गये थे। कितनोंकी केयूरभूषित भुजाएँ कटकर गिरी थीं । विचित्र वेष-भूषावाले महारथी धराशायी हो रहे थे । सुवर्णजटित विचित्र कवच और ध्वजाएँ वहाँ बिखरी पड़ी थीं । इन सब कारणोंसे वह सारी सेना उद्भ्रान्त- (भयसे अचेत-) सी हो गयी थी ॥५६-५७॥

विधुन्वानौ तु तौ तत्र धनुषी भारसाधने ।
आच्छादयेतामन्योन्यं तितक्षतुरथेषुभिः ॥ ५८ ॥

उन दोनोंके धनुष भार सहन करनेमें समर्थ थे। वे उन धनुषोंको कँपाते हुए (तीखे) बाणोंद्वारा एक दूसरेको बींधते और आच्छादित कर देते थे ॥ ५८ ॥

तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं भरतर्षभ ।
द्रोणकौन्तेययोस्तत्र बलिवासवयोरिव ॥ ५९ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! तदनन्तर द्रोण और कुन्तीपुत्रमें बलि और इन्द्रके संग्राम-सा तुमुल युद्ध होने लगा ॥ ५९ ॥

अथ पूर्णायतोत्सृष्टैः शरैः संनतपर्वभिः ।
व्यदारयेतामन्योन्यं प्राणद्यूते प्रवर्तिते ॥ ६० ॥

उस समय प्राणोंकी बाजी लगाकर (युद्धका जूआ खेला जा रहा था ।) दोनों वीर धनुषको कानतक खींचकर छोड़े हुए झुकी गाँठवाले बाणोंसे एक दूसरेको विदीर्ण कर रहे थे ॥ ६० ॥

अथान्तरिक्षे नादोऽभूद् द्रोणं तत्र प्रशंसताम् ।
दुष्करं कृतवान् द्रोणो यदर्जुनमयोधयत् ॥ ६१ ॥

प्रमाथिनं महावीर्यं दृढमुष्टिं दुरासदम् ।
जेतारं देवदैत्यानां सर्वेषां च महारथम् ॥ ६२ ॥

इसी समय आचार्य द्रोणकी प्रशंसा करनेवाले देवताओंका यह शब्द आकाशमें गूँज उठा—'अहो ! द्रोणाचार्यने बड़ा दुष्कर कार्य किया कि अबतक अर्जुनके साथ युद्धमें डटे रह गये । ये अर्जुन तो शत्रुओंको मथ डालनेवाले, महापराक्रमी, दृढ़ मुष्टिवाले, दुर्धर्ष तथा सम्पूर्ण देवताओं और दैत्योंको जीतनेवाले महारथी वीर हैं' ॥ ६१-६२ ॥

अविभ्रमं च शिक्षां च लाघवं दूरपातिताम् ।
पार्थस्य समरे दृष्ट्वा द्रोणस्याभूच्च विस्मयः ॥ ६३ ॥

उस समरभूमिमें अर्जुनका कभी न चूकनेका स्वभाव, अस्त्र-शस्त्रोंकी अद्भुत शिक्षा, हाथोंकी फुर्ती और दूरतक बाण मारनेकी शक्ति देखकर आचार्य द्रोणको भी बड़ा विस्मय हुआ ॥ ६३ ॥

अथ गाण्डीवमुद्यम्य दिव्यं धनुरमर्षणः ।
विचकर्ष रणे पार्थो बाहुभ्यां भरतर्षभ ॥ ६४ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर रणभूमिमें कुन्तीपुत्रने दिव्य गाण्डीव धनुषको ऊँचे उठाकर कुपित हो उसे दोनों हाथोंसे खींचना आरम्भ किया ॥ ६४ ॥

तस्य बाणमयं वर्षं शलभानामिवायतिम् ।
दृष्ट्वा ते विस्मिताः सर्वे साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ ६५ ॥

फिर तो टिड्डियोंके झुंडके समान उनकी (अद्भुत) बाण-वर्षा देखकर वे सभी सैनिक आश्चर्यचकित हो 'साधु-साधु' कहते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ६५ ॥

न च बाणान्तरे वायुरस्य शक्नोति सर्पितुम् ।
अनिशं संदधानस्य शरानुत्सृजतस्तथा ॥ ६६ ॥
ददर्श नान्तरं कश्चित् पार्थस्याददतोऽपि च ॥ ६७ ॥

उनके बाणोंके भीतर वायु भी प्रवेश नहीं कर पाती थी। कुन्तीनन्दन अर्जुन निरन्तर बाणोंको हाथमें लेते, धनुषपर रखते और छोड़ते थे । कोई भी उनकी इन क्रियाओंमें क्षण-भरका भी अन्तर नहीं देख पाता था ॥ ६६-६७ ॥

तथा शीघ्रास्त्रयुद्धे तु वर्तमाने सुदारुणे ।
शीघ्रं शीघ्रतरं पार्थः शरानन्यानुदीरयत् ॥ ६८ ॥

इस प्रकार शीघ्रतापूर्वक अस्त्रप्रहारके द्वारा चलनेवाले उस अत्यन्त भयंकर संग्राममें कुन्तीपुत्र अर्जुन शीघ्र एवं अत्यन्त शीघ्र दूसरे-दूसरे बाण प्रकट करने लगे ॥ ६८ ॥

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ।
युगपत् प्रापतंस्तत्र द्रोणस्य रथमन्तिकात् ॥ ६९ ॥
कीर्यमाणे तदा द्रोणे शरैर्गाण्डीवधन्वना ।
हाहाकारो महानासीत् सैन्यानां भरतर्षभ ॥ ७० ॥

तत्पश्चात् एक ही साथ झुकी हुई गाँठवाले एक लाख बाण द्रोणाचार्यके रथके समीप आ गिरे। जनमेजय! गाण्डीव-धन्वा अर्जुनके द्वारा जब द्रोणपर इस प्रकार बाणवर्षा होने लगी, तब कौरव-सैनिकोंमें भारी हाहाकार मच गया ॥ ६९-७० ॥

पाण्डवस्य तु शीघ्रास्त्रं मघवा प्रत्यपूजयत्।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव ये च तत्र समागताः ॥ ७१ ॥

पाण्डुनन्दनके शीघ्रतापूर्वक अस्त्र-संचालनके लिये इन्द्रने उनकी बड़ी प्रशंसा की। उनके सिवा वहाँ जो गन्धर्व और अप्सराएँ आयी थीं, उन्होंने भी उनकी बड़ी सराहना की ॥ ७१ ॥

ततो वृन्देन महता रथानां रथयूथपः।
आचार्यपुत्रः सहसा पाण्डवं पर्यवारयत् ॥ ७२ ॥

तदनन्तर रथियोंके यूथपति आचार्यपुत्र अश्वत्थामाने रथारोहियोंके विशाल समूहके साथ सहसा वहाँ पहुँचकर पाण्डुनन्दनको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ७२ ॥

अश्वत्थामा तु तत् कर्म हृदयेन महात्मनः।
पूजयामास पार्थस्य कोपं चास्याकरोद् भृशम् ॥ ७३ ॥

अश्वत्थामाने महात्मा अर्जुनके उस पराक्रमकी मन-ही-मन भूरि-भूरि प्रशंसा की और उनपर अपना महान् क्रोध प्रकट किया ॥ ७३ ॥

स मन्युवशमापन्नः पार्थमभ्यद्रवद् रणे।
किरञ्छरसहस्राणि पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ ७४ ॥

आचार्यपुत्र क्रोधके वशीभूत हो गया था। वह रणभूमिमें जल बरसानेवाले मेघकी भाँति सहस्रों बाणोंकी बौछार करता हुआ पार्थपर टूट पड़ा ॥ ७४ ॥

आवृत्य तु महाबाहुर्यतो द्रौणिस्ततो हयान्।
अन्तरं प्रददौ पार्थो द्रोणस्य व्यपसर्पितुम् ॥ ७५ ॥

तब महाबाहु अर्जुनने जिधर अश्वत्थामा था, उसी ओर घोड़ोंको घुमाकर आचार्य द्रोणको भाग जानेका अवसर दे दिया ॥ ७५ ॥

स तु लब्ध्वान्तरं तूर्णमपायाज्जवनैर्हयैः।
छिन्नवर्मध्वजः शूरो निकृत्तः परमेषुभिः ॥ ७६ ॥

अर्जुनके उत्तम बाणोंसे द्रोणके कवच और ध्वज छिन्न-भिन्न हो चुके थे। वे स्वयं भी बहुत घायल हो गये थे; अतः मौका पाते ही वेगशाली घोड़ोंको बढ़ाकर तुरंत वहाँसे भाग निकले ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि द्रोणापयाने अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें द्रोणाचार्यके पलायनसे सम्बन्ध रखनेवाला अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५८॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके साथ अर्जुनका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रौणिर्महाराज प्रययावर्जुनं रणे।
तं पार्थः प्रतिजग्राह वायुवेगमिवोद्धतम्।
शरजालेन महता वर्षमाणमिवाम्बुदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! तदनन्तर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने रणभूमिमें जब अर्जुनपर बड़े वेगसे आक्रमण किया, तब अर्जुनने भी प्रचण्ड वायुवेगके समान तीव्र गतिसे आते हुए अश्वत्थामाको रोका। उस समय जल बरसानेवाले मेघकी भाँति वह महान् शरसमूहकी वर्षा कर रहा था ॥ १ ॥

तयोर्देवासुरसमः संनिपातो महानभूत्।
किरतोः शरजालानि वृत्रवासवयोरिव ॥ २ ॥

उन दोनोंमें देवताओं और असुरोंके समान भारी संघर्ष होने लगा। वे दोनों (एक-दूसरेपर) बाणसमूहोंकी बौछार करते हुए वृत्रासुर और इन्द्रके समान जान पड़ते थे ॥ २ ॥

न स्म सूर्यस्तदा भाति न च वाति समीरणः।
शरजालावृते व्योम्निच्छायाभूते समन्ततः ॥ ३ ॥

उनके बाणोंके जालसे आच्छादित होकर आकाश सब ओरसे अन्धकारमय हो रहा था। उस समय न तो सूर्य प्रकाशित हो रहे थे और न वायु ही चल पाती थी ॥ ३ ॥

महांश्चटचटाशब्दो योधयोर्हन्यमानयोः।
दह्यतामिव वेणूनामासीत् परपुरंजय ॥ ४ ॥

शत्रुविजयी जनमेजय! जब दोनों योद्धा एक दूसरेपर आघात करते, तब जलते हुए बाँसोंके चटखनेकी भाँति चट-चट शब्द होने लगता था ॥ ४ ॥

हयानस्यार्जुनः सर्वान् कृतवानल्पजीवितान्।
ते राजन् न प्रजानन्त दिशं काञ्चन मोहिताः ॥ ५ ॥

अर्जुनने अश्वत्थामाके घोड़ोंको घायल करके अल्पजीवी बना दिया। राजन्! वे मोहग्रस्त (मूर्च्छित) होनेके कारण किसी भी दिशाको नहीं जान पाते थे ॥ ५ ॥

ततो द्रौणिर्महावीर्यः पार्थस्य विचरिष्यतः।
विवरं सूक्ष्ममालोक्य ज्यां चिच्छेद क्षुरेण ह।
तदस्यापूजयन् देवाः कर्म दृष्ट्वातिमानुषम्॥ ६॥

तदनन्तर महापराक्रमी अश्वत्थामाने रणभूमिमें विचरते हुए अर्जुनका छोटा-सा छिद्र (तनिक-सी असावधानी) देखकर क्षुर नामक बाणसे उनकी प्रत्यञ्चा काट डाली। उसके इस अतिमानुष कर्मको देखकर सब देवता उसकी बड़ी प्रशंसा करने लगे॥ ६॥

द्रोणो भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्चैव महारथः।
साधु साध्विति भाषन्तोऽपूजयन् कर्म तस्य तत्॥ ७॥

द्रोण, भीष्म, कर्ण और कृपाचार्य—ये सभी महारथी साधुवाद देते हुए अश्वत्थामाके उस कार्यकी सराहना करने लगे॥ ७॥

ततो द्रौणिर्धनुः श्रेष्ठमपकृष्य रथर्षभम्।
पुनरेवाहनत् पार्थं हृदये कङ्कपत्रिभिः॥ ८॥

तदनन्तर द्रोणपुत्रने अपना श्रेष्ठ धनुष खींचकर कङ्क पक्षीके पंखवाले बाणोंद्वारा रथियोंमें श्रेष्ठ पार्थकी छातीमें पुनः भारी आघात पहुँचाया॥ ८॥

ततः पार्थो महाबाहुः प्रहस्य स्वनवत् तदा।
योजयामास नवया मौर्व्या गाण्डीवमोजसा॥ ९॥

उस समय महाबाहु पार्थ ठहाका मारकर हँसने लगे। फिर उन्होंने गाण्डीव धनुषपर बलपूर्वक नयी प्रत्यञ्चा चढ़ा दी॥ ९॥

ततोऽर्धचन्द्रमावृत्य तेन पार्थः समागमत्।
वारणेनेव मत्तेन मत्तो वारणयूथपः॥ १०॥

तदनन्तर पसीनेसे अर्धचन्द्राकार धनुषकी डोरीको माँजकर अर्जुन अश्वत्थामासे भिड़ गये, मानो कोई उन्मत्त गजयूथाधिपति किसी दूसरे मतवाले हाथीके साथ जा भिड़ा हो॥ १०॥

ततः प्रववृते युद्धं पृथिव्यामेकवीरयोः।
रणमध्ये द्वयोरेवं सुमहल्लोमहर्षणम्॥ ११॥

इसके बाद उस रणभूमिमें भूमण्डलके इन दोनों अनुपम वीरोंका ऐसा भयंकर संग्राम हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था॥ ११॥

तौ वीरौ ददृशुः सर्वे कुरवो विस्मयान्विताः।
युध्यमानौ महावीर्यौ यूथपाविव संगतौ॥ १२॥

समस्त कौरव विस्मयविमुग्ध होकर उन दोनों वीरोंकी ओर देखने लगे। महापराक्रमी अश्वत्थामा और अर्जुन परस्पर भिड़े हुए दो यूथपतियोंकी भाँति लड़ रहे थे॥ १२॥

तौ समाजघ्नतुर्वीरावन्योन्यं पुरुषर्षभौ।
शरैराशीविषाकारैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः॥ १३॥

वे दोनों पुरुषसिंह वीर विषधर सर्पके समान आकारवाले जलते हुए-से बाणोंद्वारा एक दूसरेको चोट पहुँचाने लगे॥ १३॥

अक्षय्याविषुधी दिव्यौ पाण्डवस्य महात्मनः।
तेन पार्थो रणे शूरस्तस्थौ गिरिरिवाचलः॥ १४॥

महात्मा पाण्डुनन्दनके पास दो दिव्य अक्षय तूणीर थे, इससे कुन्तीपुत्र शूरवीर अर्जुन रणभूमिमें पर्वतकी भाँति अविचल खड़े रहे॥ १४॥

अश्वत्थाम्नः पुनर्बाणाः क्षिप्रमभ्यस्यतो रणे।
जग्मुः परिक्षयं तूर्णमभूत् तेनाधिकोऽर्जुनः॥ १५॥

परंतु संग्राममें शीघ्रतापूर्वक बार-बार शरसंधान करनेवाले अश्वत्थामाके बाण जल्दी समाप्त हो गये। इस कारण अर्जुन उसकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए॥ १५॥

ततः कर्णो महाचापं विकृष्याभ्यधिकं तदा।
अवाक्षिपत् ततः शब्दो हाहाकारो महानभूत्॥ १६॥

तब कर्णने अपने महान् धनुषको बड़े जोरसे खींचकर टंकार की। उससे वहाँ महान् हाहाकारका शब्द होने लगा॥ १६॥

ततश्चक्षुर्दधे पार्थो यत्र विस्फार्यते धनुः।
ददर्श तत्र राधेयं तस्य कोपो व्यवर्धत॥ १७॥

तब अर्जुनने जहाँ धनुषकी टंकार हो रही थी, उधर दृष्टि डाली, तो वहाँ राधानन्दन कर्ण दिखायी पड़ा। इससे उनका क्रोध बहुत बढ़ गया॥ १७॥

स रोषवशमापन्नः कर्णमेव जिघांसया।
तमैक्षत विवृत्ताभ्यां नेत्राभ्यां कुरुपुङ्गवः॥ १८॥

तब कुरुश्रेष्ठ अर्जुन रोषके वशीभूत हो कर्णको ही मार डालनेकी इच्छासे दोनों आँखें फाड़-फाड़कर उसकी ओर देखने लगे॥ १८॥

तथा तु विमुखे पार्थे द्रोणपुत्रस्य सायकान्।
त्वरिताः पुरुषा राजन्नुपाजह्रुः सहस्रशः॥ १९॥

राजन्! इस प्रकार जब अर्जुनने उधरसे दृष्टि हटाकर दूसरी ओर मुँह फेर लिया, तब बहुत-से सैनिक तुरंत वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने द्रोणपुत्रके हजारों बाणोंको (रणभूमिसे उठाकर) उन्हें समर्पित कर दिया॥ १९॥

उत्सृज्य च महाबाहुर्द्रोणपुत्रं धनंजयः।
अभिदुद्राव सहसा कर्णमेव सपत्नजित्॥ २०॥

तब शत्रुविजयी महाबाहु धनंजयने द्रोणपुत्रको वहीं छोड़कर सहसा कर्णपर ही धावा किया॥ २०॥

तमभिद्रुत्य कौन्तेयः क्रोधसंरक्तलोचनः।

कामयन् द्वैरथं तेन युद्धं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

और कर्णके पास पहुँचकर उसके साथ द्वन्द्वयुद्धकी इच्छा रखते हुए कुन्तीकुमारने क्रोधसे लाल आँखें करके यह बात कही ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनाश्वत्थामयुद्धे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अर्जुन और अश्वत्थामाके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और कर्णका संवाद तथा कर्णका अर्जुनसे हारकर भागना

अर्जुन उवाच

कर्ण यत् ते सभामध्ये बहु वाचा विकत्थितम् ।
न मे युधि समोऽस्तीति तदिदं समुपस्थितम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले— कर्ण ! पहले कौरवोंकी सभामें तूने जो अपनी बहुत प्रशंसा करते हुए यह बात कही थी कि युद्धमें मेरे समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है । (उसकी सचाईकी परीक्षाके लिये) यह युद्धका अवसर उपस्थित हो गया है ॥ १ ॥

सोऽद्य कर्ण मया सार्धं व्यवहृत्य महामृधे ।
ज्ञास्यस्यबलमात्मानं न चान्यानवमंस्यसे ॥ २ ॥

कर्ण ! आज इस महासंग्राममें मेरे साथ भिड़कर तू अपनेको भलीभाँति निर्बल समझ लेगा और फिर कभी दूसरोंका अपमान नहीं करेगा ॥ २ ॥

अवोचः परुषा वाचो धर्ममुत्सृज्य केवलम् ।
इदं तु दुष्करं मन्ये यदिदं ते चिकीर्षितम् ॥ ३ ॥

पहले तूने केवल धर्मकी अवहेलना करके बड़ी कठोर बातें कही हैं, परंतु तू जो कुछ करना चाहता है, वह तेरेलिये मैं अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ ॥ ३ ॥

यत् त्वया कथितं पूर्वं मामनासाद्य किंचन ।
तदद्य कुरु राधेय कुरुमध्ये मया सह ॥ ४ ॥

राधानन्दन ! मेरे साथ भिड़न्त होनेके पहले कौरवोंकी सभामें तूने जो कुछ कहा है, आज मेरे साथ युद्ध करके वह सब सत्य कर दिखा ॥ ४ ॥

यत् सभायां स पाञ्चालीं क्लिश्यमानां दुरात्मभिः ।
दृष्टवानसि तस्याद्य फलमाप्नुहि केवलम् ॥ ५ ॥

अरे ! भरी सभामें दुरात्मा कौरव पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको क्लेश दे रहे थे और तू मौजसे यह सब देखता रहा । आज केवल उस अत्याचारका फल भोग ले ॥ ५ ॥

धर्मपाशनिबद्धेन यन्मया मर्षितं पुरा ।
तस्य राधेय कोपस्य विजयं पश्य मे मृधे ॥ ६ ॥

पहले मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हुआ था । इसलिये मैंने सब कुछ (चुपचाप) सह लिया । परंतु राधापुत्र ! आजके युद्धमें मेरे उस क्रोधका फल मेरी विजयके रूपमें अभी देख ले ॥ ६ ॥

वने द्वादश वर्षाणि यानि सोढानि दुर्मते ।
तस्याद्य प्रतिकोपस्य फलं प्राप्नुहि सम्प्रति ॥ ७ ॥

ओ दुर्मते ! हमने बारह वर्षोंतक वनमें रहकर जो क्लेश सहन किये हैं, उनका बदला चुकानेके लिये आज मेरे बढ़े हुए क्रोधका फल तू अभी चख ले ॥ ७ ॥

एहि कर्ण मया सार्धं प्रतियुध्यस्व सङ्गरे ।
प्रेक्षकाः कुरवः सर्वे भवन्तु तव सैनिकाः ॥ ८ ॥

कर्ण ! आ, रणभूमिमें मेरा सामना कर । समस्त कौरव और तेरे सैनिक सब दर्शक होकर हमारे युद्धको देखें ॥ ८ ॥

कर्ण उवाच

ब्रवीषि वाचा यत् पार्थ कर्मणा तत् समाचर ।
अतिशेते हि ते वाक्यं कर्मैतत् प्रथितं भुवि ॥ ९ ॥

कर्णने कहा—कुन्तीपुत्र ! तू मुझसे जो कुछ कहता है, उसे क्रियाद्वारा करके दिखा । तेरी बातें कार्य करनेकी अपेक्षा बहुत बढ़-चढ़कर होती हैं । यह बात भूमण्डलमें प्रसिद्ध है ॥ ९ ॥

यत् त्वया मर्षितं पूर्वं तदशक्तेन मर्षितम् ।
इतो गृह्णीमहे पार्थ तव दृष्ट्वा पराक्रमम् ॥ १० ॥

पार्थ ! तेरा यह जबानी पराक्रम देखकर तो हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि तूने पहले जो कुछ सहन किया है, वह अपनी असमर्थताके ही कारण किया है ॥ १० ॥

धर्मपाशनिबद्धेन यत् त्वया मर्षितं पुरा ।
तथैव बद्धमात्मानमबद्धमिव मन्यसे ॥ ११ ॥

यदि तूने पहले धर्मके बन्धनमें बँधकर कष्ट सहन किया है, तो आज भी तू उसी प्रकार बँधा हुआ है; तो भी तू अपने आपको उस बन्धनसे मुक्त-सा मान रहा है ॥ ११ ॥

यदि तावद् वने वासो यथोक्तश्चरितस्त्वया ।
तत् त्वं धर्मार्थवित् क्लिष्टः स मया योद्धुमिच्छसि ॥ १२ ॥

यदि तूने वनवासके पूर्वोक्त नियमका भलीभाँति पालन

कर लिया है, तो तू धर्म और अर्थका ज्ञाता ठहरा। इसलिये तूने कष्ट सहा है और उसीको याद करके इस समय मेरे साथ लड़ना चाहता है ॥ १२ ॥

यदि शक्रः स्वयं पार्थ युध्यते तव कारणात्।
तथापि न व्यथा काचिन्मम स्याद् विक्रमिष्यतः ॥ १३ ॥

पार्थ ! यदि इस समय साक्षात् इन्द्र भी तेरे लिये युद्ध करने आयें, तो भी युद्धमें पराक्रम दिखाते हुए मुझको किसी प्रकारकी व्यथा न होगी ॥ १३ ॥

अयं कौन्तेय कामस्ते नचिरात् समुपस्थितः।
योत्स्यसे हि मया सार्धमद्य द्रक्ष्यसि मे बलम् ॥ १४ ॥

कुन्तीकुमार ! मेरे साथ युद्धका जो तेरा हौसला है, वह अभी-अभी प्रकट हुआ है। अतः अब मेरे साथ तेरा युद्ध होगा और आज तू मेरा बल स्वयं देख लेगा ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

इदानीमेव तावत् त्वमपयातो रणान्मम।
तेन जीवसि राधेय निहतस्त्वनुजस्तव ॥ १५ ॥

अर्जुन बोले—राधापुत्र ! अभी कुछ ही देर पहलेकी बात है, मेरे सामने युद्धसे पीठ दिखाकर तू भाग गया था, इसीलिये अबतक जी रहा है; किंतु तेरा छोटा भाई मारा गया ॥ १५ ॥

भ्रातरं घातयित्वा कस्त्यक्त्वा रणशिरश्च कः।
त्वदन्यः कः पुमान् सत्सु ब्रूयादेवं व्यवस्थितः ॥ १६ ॥

तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपने भाईको मरवाकर और युद्धका मुहाना छोड़कर (भाग जानेके बाद भी) भलेमानसोंके बीचमें खड़ा हो ऐसी डींग मारेगा ? ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति कर्णं ब्रुवन्नेव बीभत्सुरपराजितः।
अभ्ययाद् विसृजन् बाणान् कायावरणभेदिनः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुन किसीसे भी परास्त होनेवाले नहीं थे। वे कर्णसे उपर्युक्त बातें कहकर कवचको भी विदीर्ण कर देनेवाले बाण छोड़ते हुए उसकी ओर बढ़े ॥ १७ ॥

प्रतिजग्राह तं कर्णः प्रीयमाणो महारथः।
महता शरवर्षेण वर्षमाणमिवाम्बुदम् ॥ १८ ॥

महारथी कर्णने बड़ी प्रसन्नताके साथ मेघके सदृश बाणोंकी वृष्टि करनेवाले अर्जुनको अपने सायकोंकी भारी बौछार करके रोका ॥ १८ ॥

उत्पेतुः शरजालानि घोररूपाणि सर्वशः।
अविध्यदश्वान् बाह्वोश्च हस्तावापं पृथक् पृथक् ॥ १९ ॥

सोऽमृष्यमाणः कर्णस्य निषङ्गस्यावलम्बनम्।
चिच्छेद निशिताग्रेण शरेण नतपर्वणा ॥ २० ॥

फिर तो आकाशमें सब ओर भयंकर बाणोंके समूह उड़ने लगे। अर्जुनसे यह सहन न हो सका; अतः उन्होंने झुकी हुई गाँठ एवं तीखी नोकवाले बाणसे कर्णके घोड़ोंको बींध डाला। भुजाओंमें भी गहरी चोट पहुँचायी और हाथोंके दस्तानोंको भी पृथक्-पृथक् विदीर्ण कर दिया। इतना ही नहीं, कर्णके भाथा लटकानेकी रस्सीको भी काट गिराया ॥ १९-२० ॥

उपासङ्गादुपादाय कर्णो बाणानथापरान्।
विव्याध पाण्डवं हस्ते तस्य मुष्टिरशीर्यत ॥ २१ ॥

तब कर्णने (अलग रक्खे हुए) छोटे तरकससे दूसरे बाण लेकर पाण्डुनन्दन अर्जुनके हाथमें चोट पहुँचायी। इससे उनकी मुट्ठी ढीली पड़ गयी ॥ २१ ॥

ततः पार्थो महाबाहुः कर्णस्य धनुरच्छिनत्।
स शक्तिं प्राहिणोत् तस्मै तां पार्थो व्यधमच्छरैः ॥

तब महाबाहु पार्थने कर्णका धनुष काट दिया। यह देख कर्णने अर्जुनपर शक्ति चलायी; किंतु पार्थने उसे बाणोंसे नष्ट कर दिया ॥ २२ ॥

ततोऽनुपेतुर्बहवो राधेयस्य पदानुगाः।
तांश्च गाण्डीवनिर्मुक्तैः प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ २३ ॥

इतनेमें ही राधापुत्र कर्णके बहुत-से सैनिक वहाँ आ पहुँचे; किंतु अर्जुनने गाण्डीवद्वारा छोड़े हुए बाणोंसे मारकर उन सबको यमलोक भेज दिया ॥ २३ ॥

ततोऽस्याश्वाञ्छरैस्तीक्ष्णैर्बीभत्सुर्भारसाधनैः।
आकर्णमुक्तैरवधीत् ते हताः प्रापतन् भुवि ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् बीभत्सुने भार (शत्रुओंके आघात) सहनेमें समर्थ तीखे बाणोंद्वारा, जो धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये थे, कर्णके घोड़ोंको घायल कर दिया। वे घोड़े मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २४ ॥

अथापरेण बाणेन ज्वलितेन महौजसा।
विव्याध कर्णं कौन्तेयस्तीक्ष्णेनोरसि वीर्यवान् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् पराक्रमी कुन्तीकुमारने महान् तेजस्वी तथा अग्निके समान प्रज्वलित दूसरे बाणद्वारा कर्णकी छातीमें आघात किया ॥ २५ ॥

तस्य भित्त्वा तनुत्राणं कायमभ्यगमच्छरः।
ततः स तमसाऽऽविष्टो न स किंचित् प्रजज्ञिवान् ॥

वह बाण कर्णका कवच काटकर उसके वक्षःस्थलके भीतर घुस गया। इससे कर्णको मूर्च्छा आ गयी और उसे किसी भी बातकी सुध-बुध न रही ॥ २६ ॥

स गाढवेदनो हित्वा रणं प्रायादुदङ्मुखः।
ततोऽर्जुन उदक्रोशदुत्तरश्च महारथः ॥ २७ ॥

कर्णको उस चोटसे बड़ी भारी वेदना हुई और वह युद्धभूमिको छोड़कर उत्तर दिशाकी ओर भागा। यह देख अर्जुन और उत्तर दोनों महारथी जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि कर्णापयाने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें कर्णका पलायनविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरकुमारको आश्वासन तथा अर्जुनसे दुःशासन आदिकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ततो वैकर्तनं जित्वा पार्थो वैराटिमब्रवीत्।
एतन्मां प्रापयानीकं यत्र तालो हिरण्मयः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार वैकर्तन कर्णको जीतकर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरसे कहा—'सारथे ! तुम मुझे इस सेनाकी ओर ले चलो, जिसकी ध्वजापर सुवर्णमय ताड़ वृक्षका चिह्न है ॥ १ ॥

अत्र शान्तनवो भीष्मो रथेऽस्माकं पितामहः।
काङ्क्षमाणो मया युद्धं तिष्ठत्यमरदर्शनः ॥ २ ॥

'उस रथपर हम सबके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मजी बैठे हैं। वे मेरे साथ युद्धकी इच्छा रखकर खड़े हैं। उनका दर्शन देवताओंके समान है' ॥ २ ॥

अथ सैन्यं महद् दृष्ट्वा रथनागहयाकुलम्।
अब्रवीदुत्तरः पार्थमपविद्धः शरैर्भृशम् ॥ ३ ॥
नाहं शक्ष्यामि वीरेह नियन्तुं ते हयोत्तमान्।
विषीदन्ति मम प्राणा मनो विह्वलतीव मे ॥ ४ ॥

यह सुनकर उत्तरने, जो बाणोंसे अत्यन्त घायल हो चुका था, रथों, हाथियों और घोड़ोंसे भरी हुई विशाल सेनाकी ओर देखकर कहा—'वीर ! अब मैं युद्धभूमिमें आपके उत्तम घोड़ोंको नहीं सम्हाल सकूँगा। मेरे प्राण बड़ी व्यथामें हैं और मन व्याकुल-सा हो रहा है ॥ ३-४ ॥

अस्त्राणामिव दिव्यानां प्रभावः सम्प्रयुज्यताम्।
त्वया च कुरुभिश्चैव द्रवन्तीव दिशो दश ॥ ५ ॥

'आपके तथा कौरव वीरोंके द्वारा प्रयुक्त होनेवाले दिव्यास्त्रोंका प्रभाव यह है कि मुझे दसों दिशाएँ भागती-सी प्रतीत होती हैं ॥ ५ ॥

गन्धेन मूर्च्छितश्चाहं वसारुधिरमेदसाम्।
द्वैधीभूतं मनो मेऽद्य तव चैव प्रपश्यतः ॥ ६ ॥

'मैं चर्बी, रक्त और मेदकी गन्धसे मूर्च्छित हो रहा हूँ। आज आपके देखते-देखते मेरा मन दुविधामें पड़ गया है ॥६॥

अदृष्टपूर्वः शूराणां मया संख्ये समागमः।
गदापातेन महता शङ्खानां निस्वनेन च ॥ ७ ॥
सिंहनादैश्च शूराणां गजानां बृंहितैस्तथा।
गाण्डीवशब्देन भृशमशनिप्रतिमेन च।
श्रुतिः स्मृतिश्च मे वीर प्रणष्टा मूढचेतसः ॥ ८ ॥

'युद्धमें इतने शूरवीरोंका जमघट मैंने पहले कभी नहीं देखा था। वीरवर ! गदाओंके भारी आघात, शङ्खोंके भयंकर शब्द, शूरवीरोंके सिंहनाद, हाथियोंके चिग्घाड़ तथा वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीव धनुषकी भारी टंकार-ध्वनिसे मेरा चित्त मोहित हो गया है। मेरी श्रवणशक्ति और स्मरणशक्ति भी जवाब दे चुकी है ॥ ७-८ ॥

अलातचक्रप्रतिमं मण्डलं सततं त्वया।
व्याक्षिप्यमाणं समरे गाण्डीवं च प्रकर्षता।
दृष्टिः प्रचलिता वीर हृदयं दीर्यतीव मे ॥ ९ ॥

'रणभूमिमें आप निरन्तर गाण्डीव धनुषको खींचते और टंकारते रहते हैं, जिससे यह अलातचक्रके समान गोल प्रतीत होता है। उसे देखकर मेरी आँखें चौंधियाँ रही हैं तथा हृदय फटा-सा जा रहा है ॥ ९ ॥

वपुश्चोग्रं तव रणे क्रुद्धस्येव पिनाकिनः।
व्यायच्छतस्तव भुजं दृष्ट्वा भीर्मे भवत्यपि ॥ १० ॥

'इस संग्राममें कुपित हुए पिनाकपाणि भगवान् रुद्रकी भाँति आपका शरीर भयानक जान पड़ता है और लगातार धनुष-बाण चलानेके व्यायाममें संलग्न रहनेवाले आपकी भुजाओंको देखकर भी मुझे भय लगता है ॥ १० ॥

नाददानं न संधानं न मुञ्चन्तं शरोत्तमान्।
त्वामहं सम्प्रपश्यामि पश्यन्नपि न चेतनः ॥ ११ ॥

'आप कब उत्तम बाणोंको हाथमें लेते, कब धनुषपर रखते और कब उन्हें छोड़ते हैं, यह सब मैं नहीं देख पाता और देखनेपर भी मुझे चेत नहीं रहता ॥ ११ ॥

अवसीदन्ति मे प्राणा भूरियं चलतीव च।
न च प्रतोदं रश्मींश्च संयन्तुं शक्तिरस्ति मे ॥ १२ ॥

इस समय मेरे प्राण अकुला रहे हैं। यह पृथ्वी काँपती-सी जान पड़ती है। इस समय मुझमें इतनी शक्ति नहीं है कि घोड़ोंकी रास सँभालूँ और चाबुक लेकर इन्हें हाँकूँ' ॥

अर्जुन उवाच

मा भैषीः स्तम्भयात्मानं त्वयापि नरपुङ्गव।
अत्यद्भुतानि कर्माणि कृतानि रणमूर्धनि॥ १३॥

अर्जुन बोले—नरश्रेष्ठ! डरो मत। अपने आपको सँभालो। तुमने भी युद्धके मुहानेपर बड़े अद्भुत पराक्रम दिखाये हैं॥ १३॥

राजपुत्रोऽसि भद्रं ते कुले मत्स्यस्य विश्रुते।
जातस्त्वं शत्रुदमने नावसीदितुमर्हसि॥ १४॥
धृतिं कृत्वा सुविपुलां राजपुत्र रथे मम।
युध्यमानस्य समरे हयान् संयच्छ शत्रुहन्॥ १५॥

तुम राजकुमार हो। तुम्हारा कल्याण हो। तुमने मत्स्यनरेशके विख्यात वंशमें जन्म ग्रहण किया है; अतः शत्रुओंके संहारके अवसरपर तुम्हें शिथिल नहीं होना चाहिये। राजपुत्र! तुम तो शत्रुओंका नाश करनेवाले हो, अतः पूर्णरूपसे धैर्य धारण करके रथपर बैठो और युद्ध करते समय मेरे घोड़ोंको काबूमें रक्खो॥ १४-१५॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुर्वैराटिं नरसत्तमः।
अर्जुनो रथिनां श्रेष्ठ उत्तरं वाक्यमब्रवीत्॥ १६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार समझा-बुझाकर रथियोंमें श्रेष्ठ और मनुष्योंमें सर्वोत्तम महाबाहु अर्जुन विराट-कुमार उत्तरसे पुनः यह वचन बोले—॥ १६॥

सेनाग्रमाशु भीष्मस्य प्रापयस्वैतदेव माम्।
आच्छेत्स्याम्यहमेतस्य धनुर्ज्यामपि चाहवे॥ १७॥

'राजकुमार! तुम शीघ्र ही पितामह भीष्मकी इसी सेनाके सामने मेरा रथ ले चलो, मुझे पहुँचाओ। इस युद्धमें मैं इनकी प्रत्यञ्चा भी काट डालूँगा॥ १७॥

अस्यन्तं दिव्यमस्त्रं मां चित्रमद्य निशामय।
शतह्रदामिवायान्तीं स्तनयित्नोरिवाम्बरे॥ १८॥
सुवर्णपृष्ठं गाण्डीवं द्रक्ष्यन्ति कुरवो मम।
दक्षिणेनाथ वामेन कतरेण स्विदस्यति॥ १९॥
इति मां सङ्गताः सर्वे तर्कयिष्यन्ति शत्रवः।
शोणितोदां रथावर्तां नागनक्रां दुरत्ययाम्।
नदीं प्रस्कन्दयिष्यामि परलोकप्रवाहिनीम्॥ २०॥

'आज मुझे विचित्र दिव्यास्त्रोंका प्रहार करते देखो। जैसे आकाशमें मेघोंकी घटासे बिजली प्रकट होती है, उसी प्रकार (बाणोंकी विद्युच्छटा प्रकट करनेवाले) मेरे गाण्डीव धनुषको, जिसके पृष्ठभागमें सोना मढ़ा है, आज कौरवलोग विस्मित होकर देखेंगे। आज सारी शत्रुमण्डली इकट्ठी होकर यह अनुमान लगायेगी कि अर्जुन किस हाथसे बाण चलाते हैं? दाहिने हाथसे या बायेंसे? आज मैं परलोककी ओर प्रवाहित होनेवाली (शत्रुसेनारूप) दुर्लङ्घ्य नदीको मथ डालूँगा, जिसमें रक्त ही जल है, रथ भँवर हैं और हाथी ग्राहके स्थानमें हैं॥ १८—२०॥

पाणिपादशिरःपृष्ठबाहुशाखानिरन्तरम्।
वनं कुरूणां छेत्स्यामि शरैः संनतपर्वभिः॥ २१॥

'आज झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कौरवसेनारूपी जंगलको काट डालूँगा। हाथ, पैर, सिर, पृष्ठ (पीठ) तथा बाहु आदि अङ्ग ही विविध शाखाओंके रूपमें फैलकर इस कौरव-वनको सघन किये हुए हैं॥ २१॥

जयतः कौरवीं सेनामेकस्य मम धन्विनः।
शतं मार्गा भविष्यन्ति पावकस्येव कानने॥ २२॥

'जैसे वनमें लगे हुए दावानलको आगे बढ़नेके लिये सैकड़ों मार्ग सुलभ होते हैं, उसी प्रकार कौरवसेनापर विजय पानेवाले मुझ एकमात्र धनुर्धर वीरके लिये इसमें सैकड़ों मार्ग प्रकट हो जायँगे॥ २२॥

मया चक्रमिवाविद्धं सैन्यं द्रक्ष्यसि केवलम्।
इष्वस्त्रे शिक्षितं चित्रमहं दर्शयितास्मि ते॥ २३॥

'मेरे बाणोंसे घायल हुई सारी सेनाको तुम चक्रकी भाँति घूमती हुई देखोगे। आज तुम्हें बाणविद्यामें प्राप्त की हुई अपनी विचित्र शिक्षाका परिचय कराऊँगा॥ २३॥

असम्भ्रान्तो रथे तिष्ठ समेषु विषमेषु च।
दिवमावृत्य तिष्ठन्तं गिरिं भिन्द्यां स्म पत्रिभिः॥ २४॥

'तुम सम-विषम (ऊँची-नीची) भूमियोंमें सम्भ्रम-रहित (सावधान) होकर रथपर बैठो (और घोड़ोंकी सँभाल रखो।) आज मैं सारे आकाशको घेरकर खड़े हुए (महान्) पर्वतको भी अपने बाणोंसे विदीर्ण कर डालूँगा॥ २४॥

अहमिन्द्रस्य वचनात् संग्रामेऽभ्यहनं पुरा।
पौलोमान् कालखञ्जांश्च सहस्राणि शतानि च॥ २५॥

'मैंने पहले देवराज इन्द्रकी आज्ञासे युद्धमें उनके शत्रु पौलोम और कालखञ्ज नामक लाखों दानवोंका वध किया है॥ २५॥

अहमिन्द्राद् दृढां मुष्टिं ब्रह्मणः कृतहस्तताम्।
प्रगाढे तुमुलं चित्रमिति विद्धि प्रजापतेः॥ २६॥

'तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि मैंने धनुष पकड़ते समय मुट्ठीको दृढ़ रखना इन्द्रसे, बाण चलाते समय हाथोंकी फुर्ती ब्रह्माजीसे तथा संकटके समय विचित्र प्रकारसे तुमुल युद्ध करनेकी कला प्रजापतिसे सीखी है॥ २६॥

अहं पारे समुद्रस्य हिरण्यपुरवासिनाम्।
जित्वा षष्टिं सहस्राणि रथिनामुग्रधन्विनाम्॥ २७॥

'पहलेकी बात है, मैंने समुद्रके उस पार हिरण्यपुरमें

निवास करनेवाले साठ हजार अत्यन्त भयंकर धनुर्धर महारथियोंको परास्त किया था ॥ २७ ॥

शीर्यमाणानि कूलानि प्रवृद्धेनेव वारिणा।
मया कुरूणां वृन्दानि पात्यमानानि पश्य वै ॥ २८ ॥

'आज देख लेना, जैसे प्रबल वेगसे आयी हुई जलकी बाढ़ किनारोंको काट-काटकर गिरा देती है, उसी प्रकार मैं कौरवदलके सैन्यसमूहोंको मार गिराऊँगा ॥ २८ ॥

ध्वजवृक्षं पत्तितृणं रथसिंहगणायुतम्।
वनमादीपयिष्यामि कुरूणामस्त्रतेजसा ॥ २९ ॥

'कौरवोंकी सेना एक जंगलके समान है, उसमें ध्वज ही वृक्ष हैं, पैदल सैनिक घास-फूस हैं तथा रथ ही सिंहोंके स्थानमें हैं। मैं अपने अस्त्र-शस्त्ररूपी अग्निसे आज इस कौरववनको जलाकर भस्म कर दूँगा ॥ २९ ॥

तानहं रथनीडेभ्यः शरैः संनतपर्वभिः।
यत्तान् सर्वानतिबलान् योत्स्यमानानवस्थितान्।
एकः संकालयिष्यामि वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ३० ॥

'जैसे व्याध घोंसलेमें बैठे हुए पक्षियोंको भी मार गिराता है, उसी प्रकार मैं मुड़ी हुई नोकवाले (तीखे) बाणोंसे मारकर उन सभी कौरववीरोंको रथोंकी बैठकोंसे नीचे गिरा दूँगा। जैसे वज्रधारी इन्द्र अकेले ही समस्त असुरोंका संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार मैं भी अकेला ही यहाँ युद्धके लिये सावधान होकर खड़े हुए समस्त महाबली योद्धाओंका भलीभाँति विनाश कर डालूँगा ॥ ३० ॥

रौद्रं रुद्रादहं ह्यस्त्रं वारुणं वरुणादपि।
अस्त्रमाग्नेयमग्नेश्च वायव्यं मातरिश्वनः।
वज्रादीनि तथास्त्राणि शक्रादहमवाप्तवान् ॥ ३१ ॥

'मैंने भगवान् रुद्रसे रौद्रास्त्रकी, वरुणसे वारुणास्त्रकी, अग्निसे आग्नेयास्त्रकी और वायु देवतासे वायव्यास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की है। इसी प्रकार साक्षात् इन्द्रसे मैंने वज्र आदि अस्त्र प्राप्त किये हैं ॥ ३१ ॥

धार्तराष्ट्रवनं घोरं नरसिंहाभिरक्षितम्।
अहमुत्पाटयिष्यामि वैराटे व्येतु ते भयम् ॥ ३२ ॥

'वीर मानवरूपी सिंहोंसे सुरक्षित इस भयंकर कौरव-वनको मैं अकेला ही उजाड़ डालूँगा, अतः विराटकुमार! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये' ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितस्तेन वैराटिः सव्यसाचिना।
व्यवागाहद् रथानीकं भीमं भीष्माभिरक्षितम् ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सव्यसाची अर्जुनके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर विराटकुमार उत्तरने भीष्मजीके द्वारा सब ओरसे सुरक्षित रथियोंकी भयंकर सेनामें प्रवेश किया ॥ ३३ ॥

तमायान्तं महाबाहुं जिगीषन्तं रणे कुरून्।
अभ्यवारयदव्यग्रः क्रूरकर्माऽऽपगासुतः ॥ ३४ ॥

रणभूमिमें कौरवोंको जीतनेकी इच्छासे आते हुए महाबाहु अर्जुनको कठोर कर्म करनेवाले गङ्गानन्दन भीष्मने बिना किसी घबराहटके रोक दिया ॥ ३४ ॥

तस्य जिष्णुरुपावृत्य ध्वजं मूलादपातयत्।
विकृष्य कलधौताग्रैः स विद्धः प्रापतद् भुवि ॥ ३५ ॥

तब अर्जुनने उनकी ओर घूमकर सुनहरी धारवाले बाणोंसे भीष्मजीकी ध्वजाको जड़से काट गिराया, बाणोंसे छिद जानेके कारण वह ध्वजा पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३५ ॥

तं चित्रमाल्याभरणाः कृतविद्या मनस्विनः।
आगच्छन् भीमधन्वानं चत्वारश्च महाबलाः ॥ ३६ ॥
दुःशासनो विकर्णश्च दुःसहोऽथ विविंशतिः।
आगत्य भीमधन्वानं बीभत्सुं पर्यवारयन् ॥ ३७ ॥

इतनेहीमें विचित्र माला और आभूषणोंसे विभूषित और अस्त्रसंचालनकी विद्यामें निपुण चार महाबली मनस्वी वीर दुःशासन, विकर्ण, दुःसह और विविंशति वहाँ भयंकर धनुषवाले अर्जुनपर चढ़ आये और वहाँ आकर उन्होंने उग्रधन्वा बीभत्सुको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३६-३७ ॥

दुःशासनस्तु भल्लेन विद्ध्वा वैराटमुत्तरम्।
द्वितीयेनार्जुनं वीरः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ॥ ३८ ॥

वीर दुःशासनने भल्ल नामक एक बाणसे विराटकुमार उत्तरको घायल करके दूसरेसे अर्जुनकी छाती छेद डाली ॥ ३८ ॥

तस्य जिष्णुरुपावृत्य पृथुधारेण कार्मुकम्।
चकर्त गार्ध्रपत्रेण जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ३९ ॥

तब अर्जुन उसकी ओर मुड़े और मोटी धार और गीधकी पाँख-जैसे पंखवाले बाणसे उन्होंने दुःशासनके सुवर्णजटित धनुषको काट डाला ॥ ३९ ॥

अथैनं पञ्चभिः पश्चात् प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे।
सोऽपयातो रणं हित्वा पार्थबाणप्रपीडितः ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् उसकी छातीमें भी पाँच बाण मारे। पार्थके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो दुःशासन युद्ध छोड़कर भाग गया ॥ ४० ॥

तं विकर्णः शरैस्तीक्ष्णैर्गृध्रपत्रैरजिह्मगैः।
विव्याध परवीरघ्नमर्जुनं धृतराष्ट्रजः ॥ ४१ ॥

तब धृतराष्ट्रपुत्र विकर्णने शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले अर्जुनको सीधे लक्ष्यकी ओर जानेवाले गृध्रपत्रयुक्त तीखे बाणोंसे बींध डाला ॥ ४१ ॥

ततस्तमपि कौन्तेयः शरेणानतपर्वणा ।
ललाटेऽभ्यहनत् तूर्णं स विद्धः प्रापतद् रथात् ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् कुन्तीनन्दन अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे उसको भी ललाटमें बींध डाला। उस बाणसे घायल होकर विकर्ण तुरंत ही रथसे नीचे गिर पड़ा ॥ ४२ ॥

ततः पार्थमभिद्रुत्य दुःसहः सविविंशतिः ।
अवाकिरच्छरैस्तीक्ष्णैः परीप्सुर्भ्रातरं रणे ॥ ४३ ॥

तब दुःसह और विविंशति अर्जुनकी ओर दौड़े और युद्धमें भाईका बदला लेनेके लिये उनके ऊपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ४३ ॥

तावुभौ गार्ध्रपत्राभ्यां निशिताभ्यां धनंजयः ।
विद्ध्वा युगपदव्यग्रस्तयोर्वाहानसूदयत् ॥ ४४ ॥

फिर धनंजयने गृध्रकी पाँखवाले दो तीखे बाणोंद्वारा उन दोनोंको एक ही साथ घायल करके बिना किसी घबराहटके उनके घोड़ोंको भी मार गिराया ॥ ४४ ॥

तौ हताश्वौ विभिन्नाङ्गौ धृतराष्ट्रात्मजावुभौ ।
अभिपत्य रथैरन्यैरपनीतौ पदानुगैः ॥ ४५ ॥

घोड़ोंके मारे जाने और शरीरके छिंध जानेपर उन दोनों धृतराष्ट्रकुमारोंके पास उनके सेवक आ पहुँचे और उन्हें दूसरे रथपर डालकर अन्यत्र हटा ले गये ॥ ४५ ॥

सर्वा दिशश्चाभ्यपतद् बीभत्सुरपराजितः ।
किरीटमाली कौन्तेयो लब्धलक्षो महाबलः ॥ ४६ ॥

किसीसे परास्त न होनेवाले किरीट-मालाधारी महाबली कुन्तीनन्दन अर्जुनका निशाना कभी चूकता नहीं था। वे उस सेनामें सब ओर विचरने लगे ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि अर्जुनदुःशासनादियुद्धे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुनदुःशासन आदिके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनका सब योद्धाओं और महारथियोंके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

अथ संगम्य सर्वे ते कौरवाणां महारथाः ।
अर्जुनं सहिता यत्ताः प्रत्ययुध्यन्त भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कौरवसेनाके सब महारथी मिलकर एक साथ संगठित हो बड़ी सावधानीके साथ अर्जुनका सामना करने लगे ॥ १ ॥

स सायकमयैर्जालैः सर्वतस्तान् महारथान् ।
प्राच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव पर्वतान् ॥ २ ॥

परंतु असीम आत्मबलसे सम्पन्न कुन्तीपुत्रने सब ओर सायकोंका जाल-सा बिछाकर कुहरेसे ढके हुए पहाड़ोंकी तरह उन सब महारथियोंको आच्छादित कर दिया ॥ २ ॥

नदद्भिश्च महानागैर्हेषमाणैश्च वाजिभिः ।
भेरीशङ्खनिनादैश्च स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ ३ ॥

बड़े-बड़े गजराजोंके चिग्घाड़ने, घोड़ोंके हिनहिनाने और नगाड़ों तथा शङ्खोंके बजाये जानेसे जो शब्द हुए, उनके एकत्र मिलनेसे उस रणभूमिमें भारी कोलाहल मच गया ॥ ३ ॥

नराश्वकायान् निर्भिद्य लौहानि कवचानि च ।
पार्थस्य शरजालानि विनिष्पेतुः सहस्रशः ॥ ४ ॥

पार्थके सहस्रों बाणसमुदाय मनुष्यों और घोड़ोंके शरीरोंको छेदकर और उनके लोहेके बने हुए कवचोंको भी छिन्न-भिन्न करके नीचे गिरा रहे थे ॥ ४ ॥

त्वरमाणः शरानस्यन् पाण्डवः प्रबभौ रणे ।
मध्यंदिनगतोऽर्चिष्मान्छरदीव दिवाकरः ॥ ५ ॥

जैसे शरद्‌ऋतुके (निर्मल आकाशमें) दोपहरका सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणें फैलाकर प्रकाशित होता है, उसी प्रकार संग्राममें पाण्डुनन्दन अर्जुन शत्रुसेनापर उतावलीके साथ बाणवर्षा करते हुए सुशोभित होते थे ॥ ५ ॥

उपप्लवन्ति वित्रस्ता रथेभ्यो रथिनस्तथा ।
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चैव पदातयः ॥ ६ ॥

उस समय अत्यन्त भयभीत होकर रथी सैनिक रथोंसे कूदकर और घुड़सवार घोड़ोंकी पीठसे उछलकर जान लेकर भाग चले और पैदल योद्धा तो भूमिपर थे ही; उन्होंने भी (डरके मारे) इधर-उधरकी राह ली ॥ ६ ॥

शरैः संछिद्यमानानां कवचानां महात्मनाम् ।
ताम्रराजतलौहानां प्रादुरासीन्महास्वनः ॥ ७ ॥

महामना शूरवीरोंके ताँबे, चाँदी और लोहेके बने हुए कवच जब बाणोंसे कटते थे, तब उनका बड़ा भारी शब्द होता था ॥ ७ ॥

छन्नमायोधनं सर्वं शरीरैर्गतचेतसाम् ।
गजाश्वसादिनां तत्र शितबाणात्तजीवितैः ॥ ८ ॥
रथोपस्थाभिपतितैरास्तृता मानवैर्मही ।
प्रनृत्यतीव संग्रामे चापहस्तो धनंजयः ॥ ९ ॥

कुछ ही देरमें युद्धका सारा मैदान मूर्च्छित हुए सैनिकोंके शरीरोंसे पट गया। तीखे बाणोंकी मारसे जिनके प्राण निकल गये थे, उन हाथीसवारों, घुड़सवारों तथा रथकी बैठकसे गिरे हुए मनुष्योंकी लाशोंसे वहाँकी भूमि आच्छादित हो गयी थी। उस समय ऐसा जान पड़ता था, जैसे धनुष हाथमें लिये अर्जुन युद्धभूमिमें सब ओर नाचते फिर रहे हों ॥ ८-९ ॥

श्रुत्वा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
त्रस्तानि सर्वसैन्यानि व्यपागच्छन् महाहवात् ॥ १० ॥
कुण्डलोष्णीषधारीणि जातरूपस्रजस्तथा।
पतितानि स्म दृश्यन्ते शिरांसि रणमूर्धनि ॥ ११ ॥

गाण्डीवकी टंकार वज्रकी गड़गड़ाहटको भी मात कर रही थी। उसे सुनकर समस्त सैनिक भयभीत हो उस महान् संग्रामसे भाग निकले। युद्धके मुहानेपर कुण्डल और पगड़ी धारण किये असंख्य कटे हुए सिर पड़े दिखायी देते थे। कितने ही सोनेके हार इधर-उधर गिरे थे ॥ १०-११ ॥

विशिखोन्मथितैर्गात्रैर्बाहुभिश्च सकार्मुकैः।
सहस्ताभरणैश्चान्यैः प्रच्छन्ना भाति मेदिनी ॥ १२ ॥

अर्जुनके बाणोंसे मथित हुई लाशोंसे वहाँकी जमीन पट गयी थी। कितनी ही भुजाएँ कटकर गिरी थीं; जो अब भी (मुट्ठीमें दृढ़तापूर्वक) धनुष पकड़े हुए थीं। उन हाथोंमें बाजूबन्द, कड़े और अंगूठी आदि आभूषण सभी ज्यों-के-त्यों थे। इन सबसे आच्छादित होकर उस रणभूमिकी विचित्र शोभा हो रही थी ॥ १२ ॥

शिरसां पात्यमानानामन्तरा निशितैः शरैः।
अश्मवृष्टिरिवाकाशादभवद् भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ! बीचमें तीखे बाणोंसे काटकर गिराये जानेवाले योद्धाओंके मस्तकोंकी श्रेणी आकाशसे होनेवाली पत्थरोंकी वर्षा-सी जान पड़ती थी ॥ १३ ॥

दर्शयित्वा तथाऽऽत्मानं रौद्रं रुद्रपराक्रमः।
अवरुद्धोऽचरत् पार्थो वर्षाणि त्रिदशानि च।
क्रोधाग्निमुत्सृजन् वीरो धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवः ॥ १४ ॥

भयानक पराक्रमी कुन्तीपुत्र अर्जुन तेरह वर्षोंतक वनमें विवश होकर रुके थे। अब (उपयुक्त अवसर पाकर) वे वीर पाण्डुकुमार धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर अपनी क्रोधाग्नि बरसाते तथा अपने रौद्र रूपका दर्शन कराते हुए रणभूमिमें विचरने लगे ॥ १४ ॥

तस्य तद् दहतः सैन्यं दृष्ट्वा चैव पराक्रमम्।
सर्वे शान्तिपरा योधा धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ १५ ॥

कौरव-योद्धाओंको दग्ध करनेवाले अर्जुनका वह पराक्रम देखकर सभी सैनिक दुर्योधनके सामने ही ठण्डे पड़ गये ॥ १५ ॥

वित्रासयित्वा तत् सैन्यं द्रावयित्वा महारथान्।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठः पर्यवर्तत भारत ॥ १६ ॥

भारत! विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उस सेनाको भयभीत करके (सामने आये हुए) महारथियोंको भगाकर रणभूमिमें चारों ओर घूमने लगे ॥ १६ ॥

प्रावर्तयन्नदीं घोरां शोणितोदां तरङ्गिणीम्।
अस्थिशैवालसम्बाधां युगान्ते कालनिर्मिताम् ॥ १७ ॥

पार्थने उस समय वहाँ खूनकी नदी बहा दी; जो बड़ी ही भयंकर थी। उसमें जलकी जगह रक्तकी धारा बहती थी तथा रक्तकी ही तरङ्गें उठती थीं। हड्डियाँ ही उसमें सेवार बनकर छा रही थीं। जान पड़ता था, प्रलयकालमें साक्षात् कालने ही उसका निर्माण किया हो ॥ १७ ॥

शरचापप्लवां घोरां केशशैवलशाद्वलाम्।
तनुत्रोष्णीषसम्बाधां नागकूर्ममहाद्विपाम् ॥ १८ ॥

उसमें धनुष और बाण ऐसे बहते थे, मानो डोंगियाँ चल रही हों। उसका स्वरूप बड़ा भयानक लगता था। केश उसमें सेवार और घासके समान प्रतीत होते थे। उसमें वीरोंके कवच और पगड़ियाँ भरी थीं। हाथी कछुओं और बड़े-बड़े जलहस्तियोंके समान जान पड़ते थे ॥ १८ ॥

मेदोवसासृक्प्रवहां महाभयविवर्धिनीम्।
रौद्ररूपां महाभीमां श्वापदैरभिनादिताम् ॥ १९ ॥

मेदा, चर्बी तथा रुधिरको बहानेवाली वह नदी महान् भयको बढ़ानेवाली थी। उसकी स्थिति बड़ी भीषण थी। उस रौद्ररूपा नदीके तटपर (रक्तभोजी) हिंसक जन्तु कोलाहल कर रहे थे ॥ १९ ॥

तीक्ष्णशस्त्रमहाग्राहां क्रव्यादगणसेविताम्।
मुक्ताहारोर्मिकलिलां चित्रालंकारबुद्बुदाम् ॥ २० ॥

तीखे शस्त्र उसके भीतर बड़े-बड़े ग्राहोंके समान जान पड़ते थे। मांसभोजी जीव-जन्तु वहाँ निवास करते थे। मोतियोंकी मालाएँ लहरोंके समान जान पड़ती थीं। विचित्र आभूषण उसमें उठते हुए जलके बुलबुले-जैसे प्रतीत होते थे ॥ २० ॥

शरसंघमहावर्तां नागनक्रां दुरत्ययाम्।
महारथमहाद्वीपां शङ्खदुन्दुभिनिस्वनाम्।
चकार च तदा पार्थो नदीं दुस्तरशोणिताम् ॥ २१ ॥

बाणोंके समूह बड़ी-बड़ी भँवरें थे। हाथी घड़ियालों-से जान पड़ते थे; अतः उसके पार जाना अत्यन्त कठिन था। बड़े-बड़े रथ उसके भीतर विशाल टापू-जैसे प्रतीत होते थे। शङ्ख और नगाड़ोंकी आवाज ही उस

नदीकी कलकल ध्वनि थी। इस प्रकार अर्जुनने वहाँ खूनकी दुर्लंघ्य नदी बहा दी ॥ २१ ॥

आददानस्य हि शरान् संधाय च विमुञ्चतः।
विकर्षतश्च गाण्डीवं न कश्चिद् ददृशे जनः ॥ २२ ॥

अर्जुन कब बाण हाथमें लेते, गाण्डीव धनुषपर रखते, उसकी प्रत्यञ्चा खींचते और बाण छोड़ते हैं, यह कोई भी मनुष्य नहीं देख पाता था ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि, गोहरणपर्वणि अर्जुनसंकुलयुद्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुनके संकुलयुद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६२॥

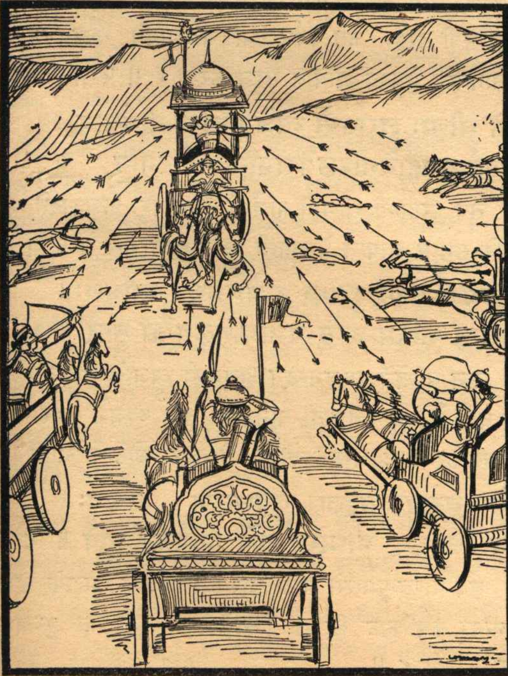
त्रिषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनपर समस्त कौरवपक्षीय महारथियोंका आक्रमण और सबका युद्धभूमिसे पीठ दिखाकर भागना

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनः कर्णो दुःशासनविविंशती।
द्रोणश्च सह पुत्रेण कृपश्चापि महारथः ॥ १ ॥
पुनर्ययुश्च संरब्धा धनंजयजिघांसवः।
विस्फारयन्तश्चापानि बलवन्ति दृढानि च ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, विविंशति, पुत्रसहित आचार्य द्रोण और महारथी कृपाचार्य—ये सब योद्धा रोषमें भरकर धनंजयको मार डालनेकी इच्छासे अपने मजबूत और दृढ़ धनुषोंकी टंकार फैलाते हुए उनपर पुनः चढ़ आये ॥ १-२ ॥



तान् विकीर्णपताकेन रथेनादित्यवर्चसा।
प्रत्युद्ययौ महाराज समन्ताद् वानरध्वजः ॥ ३ ॥

महाराज ! तब वानरयुक्त ध्वजावाले अर्जुन भी सूर्यके समान तेजस्वी तथा फहराती हुई पताकासे सुशोभित रथके द्वारा सब ओरसे उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥३॥

ततः कृपश्च कर्णश्च द्रोणश्च रथिनां वरः।
तं महास्त्रैर्महावीर्यं परिवार्य धनंजयम् ॥ ४ ॥
शरौघान् सम्यगस्यन्तो जीमूता इव वार्षिकाः।
ववर्षुः शरवर्षाणि पातयन्तो धनंजयम् ॥ ५ ॥

यह देख कृपाचार्य, कर्ण तथा रथियोंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण—ये महापराक्रमी धनंजयको (चारों ओरसे) घेरकर अपने महान् धनुर्घोंसे उनपर राशि-राशि बाणोंका खूब जमकर प्रहार करने लगे। वे तीनों महारथी धनंजयको मार गिरानेकी इच्छासे वर्षाकालके मेघोंकी भाँति सायकोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ ४-५ ॥

इषुभिर्बहुभिस्तूर्णं समरे लोमवाहिभिः।
अदूरात् पर्यवस्थाप्य पूरयामासुरादृताः ॥ ६ ॥

उन्होंने समरभूमिमें थोड़ी ही दूरपर पार्थकी गतिको कुण्ठित करके बड़े चावसे बहुसंख्यक पंखयुक्त बाणोंकी बौछार करते हुए उन्हें तुरंत ढँक दिया ॥ ६ ॥

तथा तैरवकीर्णस्य दिव्यैरस्त्रैः समन्ततः।
न तस्य द्व्यङ्गुलमपि विवृतं सम्प्रदृश्यते ॥ ७ ॥

वे महारथी जब इस प्रकार सब ओरसे अर्जुनपर दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंकी वर्षा करने लगे, उस समय उनके शरीरका दो अङ्गुल भाग भी बाणोंसे खाली नहीं दिखायी देता था ॥ ७ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुर्दिव्यमैन्द्रं महारथः।
अस्त्रमादित्यसंकाशं गाण्डीवे समयोजयत् ॥ ८ ॥

तब महारथी अर्जुनने हँसकर गाण्डीव धनुषपर सूर्यके समान तेजस्वी दिव्य ऐन्द्रास्त्रका संधान किया ॥ ८ ॥

शररश्मिरिवादित्यः प्रतस्थे समरे बली।
किरीटमाली कौन्तेयः सर्वान् प्राच्छादयत् कुरून् ॥९॥

फिर तो महाबली किरीटमाली कुन्तीनन्दन अर्जुन सूर्यकी भाँति बाणरूपी प्रचण्ड किरणोंको बिखेरते हुए समरभूमिमें आगे बढ़े। उन्होंने समस्त कौरव-योद्धाओंको सायकोंसे ढँक दिया ॥ ९ ॥

यथा बलाहके विद्युत् पावको वा शिलोच्चये।
तथा गाण्डीवमभवदिन्द्रायुधमिवानतम्॥ १०॥

जैसे मेघोंमें बिजली और पर्वतपर आगकी ज्वाला शोभा पाती है, उसी प्रकार अर्जुनके हाथमें गाण्डीव धनुष सुशोभित होता था। वह आकाशमें इन्द्रधनुष-सा झुका हुआ था॥१०॥

यथा वर्षति पर्जन्ये विद्युद् विभ्राजते दिवि।
द्योतयन्ती दिशः सर्वाः पृथिवीं च समन्ततः॥ ११॥
तथा दश दिशः सर्वाः पतद्गाण्डीवमावृणोत्।
नागाश्च रथिनः सर्वे मुमुहुस्तत्र भारत॥ १२॥

जैसे मेघके वर्षा करते समय आकाशमें बिजली चमक उठती है और वह सम्पूर्ण दिशाओं तथा पृथ्वीको भी सब ओरसे प्रकाशित कर देती है, उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करते हुए गाण्डीव धनुषने दसों दिशाओंको सम्पूर्णतया आच्छादित कर दिया। जनमेजय! उस समय वहाँ हाथीसवार और रथी आदि सब सैनिक मोहित (मूर्च्छित) हो रहे थे॥११-१२॥

सर्वे शान्तिपरा योधाः स्वचित्तानि न लेभिरे।
संग्रामे विमुखाः सर्वे योधास्ते हतचेतसः॥ १३॥

सबने शान्ति (जडता और मूकता) धारण कर ली थी। किसीका होश ठिकाने न था। सभी योद्धाओंने हतोत्साह होकर युद्धसे मुँह मोड़ लिया॥ १३॥

एवं सर्वाणि सैन्यानि भग्नानि भरतर्षभ।
व्यद्रवन्त दिशः सर्वा निराशानि स्वजीविते॥ १४॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! इस प्रकार सारी सेनाका व्यूह टूट गया। सब सैनिक अपने जीवनसे निराश होकर चारों दिशाओंमें भागने लगे॥ १४॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनसंकुलयुद्धे त्रिषष्टितमोऽध्यायः॥ ६३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अर्जुनका संकुलयुद्धविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥६३॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और भीष्मका अद्भुत युद्ध तथा मूर्च्छित भीष्मका सारथिद्वारा रणभूमिसे हटाया जाना

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो भरतानां पितामहः।
वध्यमानेषु योधेषु धनंजयमुपाद्रवत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भरतवंशके सुप्रसिद्ध वीर शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म अपने पक्षके योद्धाओंका संहार होता देख अर्जुनकी ओर दौड़े॥१॥

प्रगृह्य कार्मुकश्रेष्ठं जातरूपपरिष्कृतम्।
शरानादाय तीक्ष्णाग्रान् मर्मभेदान् प्रमाथिनः॥ २॥

उन्होंने हाथमें सुवर्णभूषित श्रेष्ठ धनुष और शत्रुओंको मथ डालनेवाले तीखे एवं मर्मभेदी बाण ले रक्खे थे॥ २॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
शुशुभे स नरव्याघ्रो गिरिः सूर्योदये यथा॥ ३॥

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे वे नरश्रेष्ठ भीष्म सूर्योदयकालमें उदयाचलकी भाँति सुशोभित हो रहे थे॥ ३॥

प्रध्माय शङ्खं गाङ्गेयो धार्तराष्ट्रान् प्रहर्षयन्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य बीभत्सुं समवारयत्॥ ४॥

गङ्गानन्दन भीष्मने शङ्ख बजाकर धृतराष्ट्रपुत्रोंका हर्ष बढ़ाया और दाहिनी ओर मुड़कर अर्जुनको आगे बढ़नेसे रोका॥ ४॥

तमुदीक्ष्य समायान्तं कौन्तेयः परवीरहा।
प्रत्यगृह्णात् प्रहृष्टात्मा धाराधरमिवाचलः॥ ५॥

शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले कुन्तीकुमार धनंजयने भीष्मको आते देख प्रसन्नचित्त होकर उनका सामना किया; ठीक उसी तरह, जैसे पर्वत अविचलभावसे खड़ा हो जल बरसानेवाले मेघका आघात सहन करता है॥ ५॥

ततो भीष्मः शरानष्टौ ध्वजे पार्थस्य वीर्यवान्।
समार्पयन्महावेगाञ्छ्वसमानानिवोरगान्॥ ६॥

तब पराक्रमी भीष्मने पार्थकी ध्वजापर फुफकारते हुए सर्पोंके समान अत्यन्त वेगशाली आठ बाण मारे॥ ६॥

ते ध्वजं पाण्डुपुत्रस्य समासाद्य पतत्रिणः।
ज्वलन्तं कपिमाजघ्नुर्ध्वजाग्रनिलयांश्च तान्॥ ७॥

उन बाणोंने पाण्डुनन्दन अर्जुनकी ध्वजाके समीप पहुँचकर वहाँ बैठे हुए तेजस्वी वानरको तथा ध्वजके अग्रभागमें निवास करनेवाले अन्य भूतोंको भी गहरी चोट पहुँचायी॥

ततो भल्लेन महता पृथुधारेण पाण्डवः।
छत्रं चिच्छेद भीष्मस्य तूर्णं तदपतद् भुवि॥ ८॥

तब पाण्डुकुमारने मोटी धारवाले विशाल भल्लके द्वारा भीष्मका छत्र काट दिया, जिससे वह तुरंत ही पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ ८॥

ध्वजं चैवास्य कौन्तेयः शरैरभ्यहनद् भृशम्।
शीघ्रकृद् रथवाहांश्च तथोभौ पार्ष्णिसारथी॥ ९॥

फिर कुन्तीनन्दनने शीघ्रता करते हुए उनकी ध्वजाको भी अपने बाणोंसे छेद डाला और रथके घोड़ों, पार्श्वरक्षकों तथा सारथिको भी बहुत घायल कर दिया॥ ९॥

अमृष्यमाणस्तद् भीष्मो जानन्नपि स पाण्डवम् ।
दिव्येनास्त्रेण महता धनंजयमवाकिरत् ॥ १० ॥

भीष्मजी अपने सैनिकोंपर किये गये अर्जुनके उस पराक्रमको सह न सके । वे यह जानते हुए भी कि ये पाण्डुपुत्र धनंजय हैं, महान् दिव्यास्त्रद्वारा उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १० ॥

तथैव पाण्डवो भीष्मे दिव्यमस्त्रमुदीरयन् ।
प्रत्यगृह्णादमेयात्मा महामेघमिवाचलः ॥ ११ ॥

परंतु असीम आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डुपुत्र अर्जुन जैसे पर्वत महामेघका सामना करता है, उसी प्रकार भीष्मपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते हुए उनका सामना करने लगे ॥

तयोस्तदभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
भीष्मस्य सह पार्थेन बलिवासवयोरिव ॥ १२ ॥

उन दोनोंका वह तुमुल युद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला था । पार्थके साथ भीष्मका वह संग्राम बलि और इन्द्रके युद्धके समान था ॥ १२ ॥

प्रैक्षन्त कुरवः सर्वे योधाश्च सहसैनिकाः ।
भल्लैर्भल्लाः समागम्य भीष्मपाण्डवयोर्युधि ।
अन्तरिक्षे व्यराजन्त खद्योताः प्रावृषीव हि ॥ १३ ॥

समस्त कौरव-योद्धा अपने सैनिकोंके साथ खड़े-खड़े तमाशा देखने लगे । रणभूमिमें भीष्म और पाण्डुकुमारके भल्ल एक-दूसरेसे टकराकर वर्षाकालके आकाशमें जुगुनुओंकी भाँति चमक उठते थे ॥ १३ ॥

अग्निचक्रमिवाविद्धं सव्यदक्षिणमस्यतः ।
गाण्डीवमभवद् राजन् पार्थस्य सृजतः शरान् ॥ १४ ॥
ततः संछादयामास भीष्मं शरशतैः शितैः ।
पर्वतं वारिधाराभिश्छादयन्निव तोयदः ॥ १५ ॥

राजन् ! दाँयें-बाँयें बाण फेंकनेवाले पार्थके द्वारा घुमाया जाता हुआ गाण्डीव धनुष अलातचक्रके समान जान पड़ता था । तदनन्तर जैसे मेघ अपनी जलधाराओंसे पर्वतको भी आच्छादित कर देता है, उसी प्रकार अर्जुनने सैकड़ों पैने बाणोंसे भीष्मको ढँक दिया ॥ १४-१५ ॥

तां स वेलामिवोद्भूतां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ।
व्यधमत् सायकैर्भीष्मः पाण्डवं समवारयत् ॥ १६ ॥

जैसे समुद्रमें ज्वार आ गया हो; उसी प्रकार वहाँ प्रकट हुई उस बाणवर्षाको भीष्मने अपने सायकोंसे छिन्न-भिन्न कर दिया और पाण्डुपुत्र अर्जुनको कुण्ठित कर दिया । १६ ।

ततस्तानि निकृत्तानि शरजालानि भागशः ।
समरे च व्यशीर्यन्त फाल्गुनस्य रथं प्रति ॥ १७ ॥

तदनन्तर रणभूमिमें कटकर टुकड़े-टुकड़े हुए वे बाण-समूह अर्जुनके रथपर बिखरने लगे ॥ १७ ॥

ततः कनकपुङ्खानां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ।
पाण्डवस्य रथात् तूर्णं शलभानामिवायतिम् ।
व्यधमत् तां पुनस्तस्य भीष्मः शरशतैः शितैः ॥ १८ ॥

इसके बाद पुनः पाण्डुपुत्र अर्जुनके रथसे टिड्डियोंके दलकी भाँति तुरंत ही सोनेके पंखवाले बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ हुई; किंतु भीष्मने सैकड़ों पैने बाणोंद्वारा उसे फिर शान्त कर दिया ॥ १८ ॥

ततस्ते कुरवः सर्वे साधु साध्विति चाब्रुवन् ।
दुष्करं कृतवान् भीष्मो यदर्जुनमयोधयत् ॥ १९ ॥

उस समय समस्त कौरव साधुवाद देते हुए बोल उठे—'अहो! भीष्मजीने यह दुष्कर पराक्रम किया, जो कि अर्जुनके साथ युद्ध किया' ॥ १९ ॥

बलवांस्तरुणो दक्षः क्षिप्रकारी धनंजयः ।
कोऽन्यः समर्थः पार्थस्य वेगं धारयितुं रणे ॥ २० ॥
ऋते शान्तनवाद् भीष्मात् कृष्णाद् वा देवकीसुतात् ।
आचार्यप्रवराद् वापि भारद्वाजान्महाबलात् ॥ २१ ॥

अर्जुन बलवान्, तरुण, कुशल और शीघ्रतापूर्वक बाण चलानेवाले हैं । शान्तनुनन्दन भीष्म, देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा आचार्यप्रवर महाबली भरद्वाजनन्दन द्रोणके सिवा दूसरा कौन ऐसा है, जो संग्राममें पार्थका वेग रोक सके ? ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य क्रीडन्तौ भरतर्षभौ ।
चक्षूंषि सर्वभूतानां मोहयन्तौ महाबलौ ॥ २२ ॥

वे दोनों भरतकुलशिरोमणि महाबली वीर समस्त प्राणियोंके नेत्रोंमें मोह एवं आश्चर्य उत्पन्न करते हुए अस्त्रोंद्वारा एक-दूसरेके अस्त्रोंका निवारण करके खेल-सा कर रहे थे ॥ २२ ॥

प्राजापत्यं तथैवैन्द्रमाग्नेयं रौद्रदारुणम् ।
कौबेरं वारुणं चैव याम्यं वायव्यमेव च ।
प्रयुञ्जानौ महात्मानौ समरे तौ विचेरतुः ॥ २३ ॥

प्राजापत्य, ऐन्द्र, आग्नेय, भयंकर रौद्र, कौबेर, वारुण, याम्य तथा वायव्य अस्त्रोंका प्रयोग करते हुए वे दोनों महापुरुष समरभूमिमें विचर रहे थे ॥ २३ ॥

विस्मितान्यथ भूतानि तौ दृष्ट्वा संयुगे तदा ।
साधु पार्थ महाबाहो साधु भीष्मेति चाब्रुवन् ॥ २४ ॥

उस समय युद्धमें उन दोनोंकी ओर देखकर सब प्राणी आश्चर्यचकित हो बोल उठते थे—'महाबाहु पार्थ ! साधुवाद, महाबाहु भीष्म ! साधुवाद ॥ २४ ॥

नायं युक्तो मनुष्येषु योऽयं संदृश्यते महान् ।
महास्त्राणां सम्प्रयोगः समरे भीष्मपार्थयोः ॥ २५ ॥

'भीष्म और पार्थके युद्धमें जो यह बड़े-बड़े दिव्यास्त्रोंका

महान् प्रयोग देखा जा रहा है, यह मनुष्योंमें अन्यत्र कहीं सम्भव नहीं है' ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सर्वास्त्रविदुषोरस्त्रयुद्धमवर्तत ।
अस्त्रयुद्धे तु निर्वृत्ते शरयुद्धमवर्तत ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता भीष्म और अर्जुनमें कुछ कालतक दिव्यास्त्रोंका युद्ध चलता रहा । उसके समाप्त हो जानेपर पुनः बाणयुद्ध प्रारम्भ हुआ ॥ २६ ॥

अथ जिष्णुरुपावृत्य क्षुरधारेण कार्मुकम् ।
चकर्त भीष्मस्य तदा जातरूपपरिष्कृतम् ॥ २७ ॥

तदनन्तर विजयशील अर्जुनने निकट आकर छुरेके समान धारवाले एक बाणसे भीष्मके सुवर्णभूषित धनुषको काट डाला ॥ २७ ॥

निमेषान्तरमात्रेण भीष्मोऽन्यत् कार्मुकं रणे ।
समादाय महाबाहुः सज्यं चक्रे महारथः ।
शरांश्च सुबहून् क्रुद्धो मुमोचाशु धनंजये ॥ २८ ॥

किंतु विशाल भुजाओंवाले महारथी भीष्मने पलक मारते-मारते उस युद्धमें दूसरा धनुष ले उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और क्रोधमें भरकर धनंजयपर बहुत-से बाणोंका प्रहार किया ॥ २८ ॥

अर्जुनोऽपि शरांस्तीक्ष्णान् भीष्माय निशितान् बहून् ।
चिक्षेप सुमहातेजास्तथा भीष्मश्च पाण्डवे ॥ २९ ॥

तब महातेजस्वी अर्जुनने भी भीष्मपर बहुत-से पैने बाण फेंके और भीष्मने भी पाण्डुपुत्रको अनेक तीखे बाण मारे ।२९।

तयोर्दिव्यास्त्रविदुषोरस्यतोर्निशिताञ्छरान् ।
न विशेषस्तदा राजँल्लक्ष्यते स्म महात्मनोः॥ ३० ॥

राजन् ! वे दोनों महात्मा दिव्यास्त्रोंके पण्डित थे और एक दूसरेपर पैने बाण फेंक रहे थे । उस समय उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ ३० ॥

अथावृणोद् दश दिशः शरैरतिरथस्तदा ।
किरीटमाली कौन्तेयः शूरः शान्तनवस्तथा ॥ ३१ ॥

किरीटमाली कुन्तीकुमार अर्जुन और शान्तनुनन्दन भीष्म दोनों ही अतिरथी वीर थे । उन्होंने अपने बाणोंसे दसों दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥ ३१ ॥

अतीव पाण्डवो भीष्मं भीष्मश्चातीव पाण्डवम् ।
बभूव तस्मिन् संग्रामे राजँल्लोके तदद्भुतम् ॥ ३२ ॥

राजा जनमेजय ! उस युद्धमें कभी पाण्डुपुत्र अर्जुन भीष्मसे बढ़ जाते थे, तो कभी भीष्म ही अर्जुनको लाँघ जाते थे । जगत्में यह एक अद्भुत बात थी ॥३२॥

पाण्डवेन हताः शूरा भीष्मस्य रथरक्षिणः ।
शेरते स्म तदा राजन् कौन्तेयस्याभितो रथम्॥ ३३ ॥

राजन् ! भीष्मके रथकी रक्षा करनेवाले शूरवीर सैनिक अर्जुनके द्वारा मारे जाकर उनके रथके दोनों ओर पड़े थे ॥ ३३ ॥

ततो गाण्डीवनिर्मुक्ता निरमित्रं चिकीर्षवः ।
आगच्छन् पुङ्खसंश्लिष्टाः श्वेतवाहनपत्रिणः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर श्वेतवाहन अर्जुनके पंखधारी बाण गाण्डीव धनुषसे छूटकर संसारको शत्रुरहित करनेकी इच्छासे सब ओर आने लगे ॥ ३४ ॥

निष्पतन्तो रथात् तस्य धौता हैरण्यवाससः ।
आकाशे समदृश्यन्त हंसानामिव पङ्क्तयः ॥ ३५ ॥

उनके रथसे निकलते हुए सुनहरे पंखवाले श्वेत बाण आकाशमें हंसोंकी पंक्तिसे दिखायी देते थे ॥ ३५ ॥

तस्य तद् दिव्यमस्त्रं हि विगाढं चित्रमस्यतः।
प्रेक्षन्ते स्मान्तरिक्षस्थाः सर्वे देवाः सवासवाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन विचित्र ढंगसे मर्मभेदी दिव्यास्त्रोंका प्रयोग कर रहे थे और आकाशमें खड़े हुए इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता उनका वह अस्त्रकौशल देख रहे थे ॥ ३६ ॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतो गन्धर्वश्चित्रमद्भुतम् ।
शशंस देवराजाय चित्रसेनः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥

उस समय प्रतापी चित्रसेन गन्धर्वने अर्जुनकी ओर देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो देवराज इन्द्रसे उनके विचित्र एवं अद्भुत रणकौशलकी प्रशंसा करते हुए कहा—॥ ३७ ॥

पश्येमान् पार्थनिर्मुक्तान् संसक्तानिव गच्छतः ।
चित्ररूपमिदं जिष्णोर्दिव्यमस्त्रमुदीर्यतः ॥ ३८ ॥

'प्रभो ! देखिये, ये पार्थके छोड़े हुए बाण परस्पर सटे हुए-से जा रहे हैं । दिव्यास्त्र प्रकट करनेवाले अर्जुनकी यह अस्त्र-संचालनकला विचित्र एवं अद्भुत है ॥ ३८ ॥

नेदं मनुष्याः संदध्युर्न हीदं तेषु विद्यते ।
पौराणानां महास्त्राणां विचित्रोऽयं समागमः ॥ ३९ ॥

'दूसरे मनुष्य इस दिव्यास्त्रका संधान नहीं कर सकते; क्योंकि यह अस्त्र दूसरे मनुष्योंके पास है ही नहीं । यहाँ प्राचीनकालके बड़े-बड़े अस्त्रोंका यह अद्भुत समागम हुआ है ॥ ३९ ॥

आददानस्य हि शरान् संधाय च विमुञ्चतः ।
विकर्षतश्च गाण्डीवं नान्तरं समदृश्यत ॥ ४० ॥

'अर्जुन कब बाण निकालते हैं, कब चढ़ाते हैं, कब छोड़ते हैं और कब गाण्डीव धनुषको खींचते हैं तथा इन क्रियाओंमें कितना अन्तर पड़ता है; यह सब किसीको दिखायी ही नहीं देता था ॥ ४० ॥

मध्यंदिनगतं सूर्यं प्रतपन्तमिवाम्बरे ।
नाशक्नुवन्त सैन्यानि पाण्डवं प्रति वीक्षितुम् ॥४१॥

'आकाशमें दोपहरके समय प्रचण्ड किरणोंसे तपते हुए सूर्यकी ओर जैसे कोई देख नहीं सकता, उसी प्रकार प्रतापी पाण्डुपुत्रकी ओर कौरव-सैनिक आँख उठाकर देखनेमें भी असमर्थ हो गये हैं ॥ ४१ ॥

तथैव भीष्मं गाङ्गेयं द्रष्टुं नोत्सहते जनः ॥ ४२ ॥

'इसी प्रकार गङ्गानन्दन भीष्मकी ओर भी कोई मनुष्य देखनेका साहस नहीं करता है ॥ ४२ ॥

उभौ विश्रुतकर्माणावुभौ तीव्रपराक्रमौ।
उभौ सदृशकर्माणावुभौ युधि सुदुर्जयौ ॥ ४३ ॥

'दोनों वीर अपने अद्भुत कार्योंके लिये संसारमें प्रसिद्ध हैं। दोनोंके पराक्रम उग्र हैं। दोनों एक-सा पराक्रम दिखानेवाले तथा युद्धमें अत्यन्त दुर्जय हैं' ॥ ४३ ॥

इत्युक्तो देवराजस्तु पार्थभीष्मसमागमम्।
पूजयामास दिव्येन पुष्पवर्षेण भारत ॥ ४४ ॥

जनमेजय ! चित्रसेनके ऐसा कहनेपर देवराज इन्द्रने दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करके अर्जुन और भीष्मके इस अद्भुत संग्रामके प्रति आदर प्रकट किया ॥ ४४ ॥

ततः शान्तनवो भीष्मो वामं पार्श्वमताडयत्।
पश्यतः प्रतिसंधाय विध्यतः सव्यसाचिनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्मने (कौरवसेनाको) घायल करनेवाले सव्यसाची अर्जुनके देखते-देखते बाणसंधान करके उनका बाँयाँ पार्श्व बींध डाला ॥ ४५ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुः पृथुधारेण कार्मुकम्।
चिच्छेद गार्ध्रपत्रेण भीष्मस्यादित्यतेजसः ॥ ४६ ॥

तब अर्जुनने भी हँसकर मोटी धार एवं गीधकी पाँखवाले बाणसे सूर्यके समान तेजस्वी भीष्मका धनुष फिर काट दिया ॥ ४६ ॥

अथैनं दशभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे।
यतमानं पराक्रान्तं कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् कुन्तीपुत्र धनंजयने विजयके लिये प्रयत्नशील पराक्रमी भीष्मकी छातीमें दस बाण मारकर गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४७ ॥



स पीडितो महाबाहुर्गृहीत्वा रथकूबरम्।
गाङ्गेयो युद्धदुर्धर्षस्तस्थौ दीर्घमिवान्तरम् ॥ ४८ ॥

उससे पीड़ित हो रणदुर्धर्ष वीर महाबाहु भीष्म रथका कूबर पकड़कर बहुत देरतक निश्चेष्ट बैठे रह गये ॥ ४८ ॥

तं विसंज्ञमपोवाह संयन्ता रथवाजिनाम्।
उपदेशमनुस्मृत्य रक्षमाणो महारथम् ॥ ४९ ॥

वे बेहोश थे। 'ऐसी दशामें सारथिको रथीकी रक्षा करनी चाहिये' इस उपदेशका स्मरण करके महारथी भीष्मकी प्राणरक्षाके उद्देश्यसे उनके रथ और घोड़ोंको काबूमें रखनेवाला सारथि उन्हें संग्रामभूमिसे दूर हटा ले गया। ४९।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि भीष्मापयाने चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें भीष्मके रणभूमिसे हटाये जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और दुर्योधनका युद्ध, विकर्ण आदि योद्धाओंसहित दुर्योधनका युद्धके मैदानसे भागना

वैशम्पायन उवाच

भीष्मे तु संग्रामशिरो विहाय
पलायमाने धृतराष्ट्रपुत्रः।
उत्सृज्य केतुं विनदन् महात्मा
धनुर्विगृह्यार्जुनमाससाद ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब भीष्मजी युद्धका मुहाना छोड़कर दूर हट गये, तब धृतराष्ट्रपुत्र महामना दुर्योधन अपने रथकी पताका फहराकर हाथमें धनुष ले सिंहनाद करता हुआ अर्जुनपर चढ़ आया ॥ १ ॥

स भीमधन्वानमुदग्रवीर्यं
धनंजयं शत्रुगणे चरन्तम् ।
आकर्णपूर्णायतचोदितेन
विव्याध भल्लेन ललाटमध्ये ॥ २ ॥

उस समय भयंकर धनुष धारण करनेवाले प्रचण्ड पराक्रमी धनंजय शत्रुसेनामें विचर रहे थे। दुर्योधनने धनुषको कानतक खींचकर छोड़े हुए भल्लनामक बाणसे उनके ललाटमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २ ॥

स तेन बाणेन समर्पितेन
जाम्बूनदाग्रेण सुसंहितेन ।
रराज राजन् महनीयकर्मा
यथैकपर्वा रुचिरैकशृङ्गः ॥ ३ ॥

वह बाण अर्जुनके ललाटमें धँस गया। राजन्! प्रशंसनीय पराक्रमवाले अर्जुन सुनहरी धारवाले उस धँसे हुए बाणके द्वारा उसी प्रकार सुशोभित हुए, जैसे एक सुन्दर शिखरवाला पर्वत अपने ऊपर उगे हुए एक ही बाँसके पेड़से शोभा पा रहा हो ॥ ३ ॥

अथास्य बाणेन विदारितस्य
प्रादुर्बभूवासृगजस्रमुष्णम् ।
स तस्य जाम्बूनदपुङ्खचित्रो
भित्त्वा ललाटं सुविराजते स्म ॥ ४ ॥

दुर्योधनके उस बाणसे अर्जुनका ललाट विदीर्ण हो गया और उससे गरम-गरम रक्तकी अविच्छिन्न धारा बहने लगी । जाम्बूनद सुवर्णकी पाँखवाला वह विचित्र बाण पार्थका ललाट छेदकर बड़ी शोभा पा रहा था ॥ ४ ॥

दुर्योधनश्चापि तमुग्रतेजाः
पार्थश्च दुर्योधनमेकवीरः ।
अन्योन्यमाजौ पुरुषप्रवीरौ
समौ समाजग्मतुराजमीढौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर उग्रतेजस्वी अद्वितीय वीर अर्जुनने दुर्योधनपर और दुर्योधनने अर्जुनपर आक्रमण किया। अजमीढवंशके वे दोनों प्रमुख वीर पुरुष एक समान पराक्रमी थे। उन्होंने संग्राममें एक-दूसरेपर बड़े वेगसे धावा किया ॥ ५ ॥

ततः प्रभिन्नेन महागजेन
महीधराभेन पुनर्विकर्णः ।
रथैश्चतुर्भिर्गजपादरक्षैः
कुन्तीसुतं जिष्णुमथाभ्यधावत् ॥ ६ ॥

उसी समय एक पर्वताकार विशाल गजराजपर, जिसके मस्तकसे मद टपक रहा था, चढ़कर विकर्ण पुनः विजयशाली कुन्तीनन्दन अर्जुनपर चढ़ आया। उसके साथ चार रथारोही योद्धा भी थे, जो हाथीके चारों पैरोंकी रक्षा करते थे ॥ ६ ॥

तमापतन्तं त्वरितं गजेन्द्रं
धनंजयः कुम्भविभागमध्ये ।
आकर्णपूर्णेन महायसेन
बाणेन विव्याध महाजवेन ॥ ७ ॥

गजराजको तीव्र गतिसे अपनी ओर आते देख धनंजयने धनुषको कानतक खींचकर चलाये हुए लोहेके अत्यन्त वेगशाली बाणद्वारा उसके कुम्भस्थलको बींध डाला ॥ ७ ॥

पार्थेन सृष्टः स तु गार्ध्रपत्र
आपुङ्खदेशात् प्रविवेश नागम् ।
विदार्य शैलप्रवरं प्रकाशं
यथाशनिः पर्वतमिन्द्रसृष्टः ॥ ८ ॥

पार्थका छोड़ा हुआ वह गीध पक्षीके परोंवाला बाण उस हाथीके मस्तकमें पंखसहित घुस गया; मानो इन्द्रका चलाया हुआ वज्र किसी प्रकाशपूर्ण गिरिराजको विदीर्ण करके उसके भीतर समा गया हो ॥ ८ ॥

शरप्रतप्तः स तु नागराजः
प्रवेपिताङ्गो व्यथितान्तरात्मा ।
संसीदमानो निपपात मह्यां
वज्राहतं शृङ्गमिवाचलस्य ॥ ९ ॥

वह गजराज अर्जुनके बाणसे संतप्त हो उठा। उसकी अन्तरात्मा व्यथित हो गयी और सारा शरीर काँपने लगा। जैसे वज्रका मारा हुआ पर्वतशिखर ढह जाता है, उसी प्रकार वह नागराज शिथिल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ९ ॥

निपातिते दन्तिवरे पृथिव्यां
त्रासाद् विकर्णः सहसावतीर्य ।
तूर्णं पदान्यष्टशतानि गत्वा
विविंशतेः स्यन्दनमारुरोह ॥ १० ॥

उस विशाल हाथीके धराशायी हो जानेपर विकर्ण बहुत डर गया और सहसा कूदकर शीघ्रतापूर्वक भाग गया और आठ सौ पग चलकर विविंशतिके रथपर चढ़ गया ॥ १० ॥

निहत्य नागं तु शरेण तेन
वज्रोपमेनाद्रिवराम्बुदाभम् ।
तथाविधेनैव शरेण पार्थो
दुर्योधनं वक्षसि निर्बिभेद ॥ ११ ॥

उस वज्रसदृश बाणद्वारा पर्वत तथा मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होनेवाले गजराजको मारकर पार्थने वैसे ही दूसरे बाणसे दुर्योधनकी छाती छेद डाली ॥ ११ ॥

ततो गजे राजनि चैव भिन्ने
भग्ने विकर्णे च सपादरक्षे ।
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैः प्रणुन्ना-
स्ते योधमुख्याः सहसापजग्मुः ॥ १२ ॥

इस प्रकार गजराज और कुरुराज दोनोंके घायल होने तथा गजराजके पादरक्षकोंसहित विकर्णके भाग जानेपर गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए सायकोंकी मार खाकर पीड़ित हुए समस्त मुख्य-मुख्य योद्धा सहसा मैदान छोड़कर भाग गये ॥१२॥

दृष्ट्वैव पार्थेन हतं च नागं
योधांश्च सर्वान् द्रवतो निशम्य ।
रथं समावृत्य कुरुप्रवीरो
रणात् प्रदुद्राव यतो न पार्थः ॥ १३ ॥

अर्जुनके हाथसे गजराज मारा गया और सम्पूर्ण योद्धा भी रणभूमि छोड़कर भाग रहे हैं, यह देखकर कुरुवंशका प्रमुख वीर दुर्योधन भी, जिस ओर अर्जुन नहीं थे, उसी दिशामें रथ घुमाकर भागा ॥ १३ ॥

तं भीमरूपं त्वरितं द्रवन्तं
दुर्योधनं शत्रुसहोऽभिषङ्गात् ।
प्रास्फोटयद् योद्धुमनाः किरीटी
बाणेन विद्धं रुधिरं वमन्तम् ॥ १४ ॥

उस समय दुर्योधनका रूप भयंकर हो रहा था। वह हार खाकर बाणसे घायल हो रक्त वमन करता हुआ भागा जा रहा था। यह देखकर शत्रुका वेग सहन करनेवाले किरीटधारी अर्जुनने ताल ठोंकी और मनमें युद्धके लिये उत्साह रखते हुए वे शत्रुको ललकारने लगे ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

विहाय कीर्तिं विपुलं यशश्च
युद्धात् परावृत्य पलायसे किम् ।
न तेऽद्य तूर्याणि समाहतानि
तथैव राज्यादवरोपितस्य ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरस्यास्मि निदेशकारी
पार्थस्तृतीयो युधि संस्थितोऽस्मि ।
तदर्थमावृत्य मुखं प्रयच्छ
नरेन्द्रवृत्तं स्मर धार्तराष्ट्र ॥ १६ ॥

अर्जुन बोले---धृतराष्ट्रके पुत्र ! तू युद्धसे पीठ दिखाकर क्यों भागा जा रहा है ? अरे ! ऐसा करके तू अपनी कीर्ति और विशाल यशसे हाथ धो बैठा है। आज तेरे विजयके बाजे पहले-जैसे नहीं बज रहे हैं। तूने जिन्हें राज्यसे उतार दिया है, उन्हीं महाराज युधिष्ठिर-का आज्ञाकारी मैं तीसरा पाण्डव युद्धके लिये खड़ा हूँ। अतः तू मेरा सामना करनेके लिये लौटकर अपना मुँह तो दिखा। राजाका आचार-व्यवहार कैसा होना चाहिये, इसकी याद तो कर ले ॥ १५-१६ ॥

मोघं तवेदं भुवि नामधेयं
दुर्योधनेतीह कृतं पुरस्तात् ।
न हीह दुर्योधनता तवास्ति
पलायमानस्य रणं विहाय ॥ १७ ॥

व्यर्थ ही इस पृथ्वीपर तेरा नाम दुर्योधन रक्खा गया। तू तो युद्ध छोड़कर भागा जा रहा है; अतः यहाँ तुझमें दुर्योधन नामके अनुरूप कोई गुण नहीं है ॥ १७ ॥

न ते पुरस्तादथ पृष्ठतो वा
पश्यामि दुर्योधन रक्षितारम् ।
अपेहि युद्धात् पुरुषप्रवीर
प्राणान् प्रियान् पाण्डवतोऽद्य रक्ष ॥१८॥

दुर्योधन! अच्छा, तेरे आगे या पीछे कोई रक्षक नहीं दिखायी देता। अतः वीर पुरुष ! तू युद्धसे भाग जा और पाण्डुपुत्र अर्जुनके हाथसे आज अपने प्यारे प्राणोंकी रक्षा कर ले ॥१८॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दुर्योधनापयाने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दुर्योधनका युद्धसे पलायनविषयक पैंसठवां अध्याय पूरा हुआ ।६५।

षट्षष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा समस्त कौरवदलकी पराजय तथा कौरवोंका स्वदेशको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

आहूयमानश्च स तेन संख्ये
महात्मना वै धृतराष्ट्रपुत्रः ।
निवर्तितस्तस्य गिराङ्कुशेन
महागजो मत्त इवाङ्कुशेन ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा अर्जुनने जब इस प्रकार युद्धके लिये ललकारा, तब धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन अङ्कुशकी चोट खाये हुए मतवाले गजराजकी भाँति उनके कटुवचनरूपी अङ्कुशसे पीड़ित हो पुनः लौट पड़ा ॥ १ ॥

सोऽमृष्यमाणो वचसाभिमृष्टो
महारथेनातिरथस्तरस्वी ।
पर्याववर्ताथ रथेन वीरो
भोगी यथा पादतलाभिमृष्टः ॥ २ ॥

महारथी कुन्तीकुमारने अपने वचनोंद्वारा उसका तिरस्कार किया था; अतः वह वेगशाली अतिरथी वीर इस

अपमानको न सह सका; अतएव जैसे पैरोंसे कुचला हुआ सर्प बदला लेनेके लिये लौट पड़ता है, उसी प्रकार दुर्योधन अपने रथके साथ लौट आया ॥ २ ॥

तं प्रेक्ष्य कर्णः परिवर्तमानं
निवर्त्य संस्तभ्य च विद्धगात्रम्।
दुर्योधनस्योत्तरतोऽभ्यगच्छत्
पार्थं नृवीरो युधि हेममाली ॥ ३ ॥

उसको लौटते देख कर्ण भी अपने घायल शरीरको किसी प्रकार सँभालकर लौट पड़ा और दुर्योधनके उत्तर (वाम) भागमें रहकर युद्धभूमिमें पार्थका सामना करनेके लिये चला। नरवीर कर्ण सोनेकी मालासे अलंकृत था ॥ ३ ॥

भीष्मस्ततः शान्तनवो विवृत्य
हिरण्यकक्षस्त्वरयाभिषङ्गी ।
दुर्योधनं पश्चिमतोऽभ्यरक्षत्
पार्थान्महाबाहुरधिज्यधन्वा ॥ ४ ॥

तदनन्तर सुनहरे रंगकी चादर ओढ़े शान्तनुनन्दन भीष्म भी बड़े वेगसे रथ घुमाकर वहाँ आ पहुँचे। वे शत्रुको पराजित करनेमें समर्थ थे। महाबाहु भीष्म धनुषकी प्रत्यञ्चा चढ़ाकर पश्चिम या पीछेकी ओरसे पार्थके आक्रमणोंसे दुर्योधनकी रक्षा करने लगे ॥ ४ ॥

द्रोणः कृपश्चैव विविंशतिश्च
दुःशासनश्चैव विवृत्य शीघ्रम्।
सर्वे पुरस्ताद् विततोरुचापा
दुर्योधनार्थं त्वरिताऽभ्युपेयुः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् द्रोण, कृपाचार्य, विविंशति और दुःशासन भी शीघ्र ही घूमकर आ गये। वे सब अपने विशाल धनुषको ताने हुए पूर्व या सामनेकी ओरसे दुर्योधनकी रक्षाके लिये बड़ी उतावलीके साथ आये थे ॥ ५ ॥

स तान्यनीकानि निवर्तमाना-
न्यालोक्य पूर्णौघनिभानि पार्थः।
हंसो यथा मेघमिवापतन्तं
धनंजयः प्रत्यतपत् तरस्वी ॥ ६ ॥

जैसे सूर्य घिरती हुई मेघोंकी घटाको अपनी किरणोंसे तपाता है, उसी प्रकार वेगशाली कुन्तीपुत्र धनंजयने भारी जलप्रवाहके समान लौटती हुई उन कौरवसेनाओंको देखकर उन्हें संताप देना आरम्भ किया ॥ ६ ॥

ते सर्वतः सम्परिवार्य पार्थ-
मस्त्राणि दिव्यानि समाददानाः।
ववर्षुरभ्येत्य शरैः समन्ता-
न्मेघा यथा भूधरमम्बुवर्गैः ॥ ७ ॥

दिव्य अस्त्र धारण किये हुए उन योद्धाओंने अर्जुनको चारों ओरसे घेर लिया और जैसे बादल पहाड़के ऊपर सब ओरसे पानी बरसाते हैं, उसी प्रकार वे निकट आकर उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ७ ॥

ततोऽस्त्रमस्त्रेण निवार्य तेषां
गाण्डीवधन्वा कुरुपुङ्गवानाम्।
सम्मोहनं शत्रुसहोऽन्यदस्त्रं
प्रादुश्चकारैन्द्रिरपारणीयम् ॥ ८ ॥

तब शत्रुओंका वेग सहन करनेवाले इन्द्रपुत्र गाण्डीवधारी अर्जुनने अपने अस्त्रसे कौरवदलके उन श्रेष्ठ वीरोंके अस्त्रोंका निवारण करके सम्मोहन नामक दूसरा अस्त्र प्रकट किया, जिसका निवारण करना किसीके लिये भी असम्भव था ॥

ततो दिशश्चानुदिशो विवृत्य
शरैः सुधारैर्निशितैः सुपत्रैः।
गाण्डीवघोषेण मनांसि तेषां
महाबलः प्रव्यथयाञ्चकार ॥ ९ ॥

फिर तो उन महाबलीने सुन्दर पंख और पैनी धारवाले बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओं और दिक्कोणोंको आच्छादित करके गाण्डीव धनुषकी (भयंकर) टंकारसे कौरवयोद्धाओंके हृदयमें बड़ी व्यथा उत्पन्न कर दी ॥ ९ ॥

ततः पुनर्भीमरवं प्रगृह्य
दोर्भ्यां महाशङ्खमुदारघोषम्।
व्यनादयत् स प्रदिशो दिशः खं
भुवं च पार्थो द्विषतां निहन्ता ॥ १० ॥

तत्पश्चात् शत्रुहन्ता कुन्तीकुमारने भयंकर शब्द करनेवाले अपने महाशङ्खको, जिसकी आवाज बहुत दूरतक सुनायी पड़ती थी, दोनों हाथोंसे थामकर बजाया। उसकी ध्वनि सम्पूर्ण दिशाओं-विदिशाओं, आकाश तथा पृथ्वीमें सब ओर गूँज उठी ॥ १० ॥

ते शङ्खनादेन कुरुप्रवीराः
सम्मोहिताः पार्थसमीरितेन।
उत्सृज्य चापानि दुरासदानि
सर्वे तदा शान्तिपरा बभूवुः ॥ ११ ॥

अर्जुनके बजाये हुए उस शङ्खकी आवाजसे वे समस्त कौरव वीर मोहित (मूर्च्छित) हो गये और अपने दुर्लभ धनुषोंको त्यागकर सबके सब गहरी शान्ति (बेहोशी) में डूब गये ॥ ११ ॥

तथा विसंज्ञेषु च तेषु पार्थः
स्मृत्वा च वाक्यानि तथोत्तरायाः।
निर्याहि मध्यादिति मत्स्यपुत्र-
मुवाच यावत् कुरवो विसंज्ञाः ॥ १२ ॥

आचार्यशारद्वतयोः सुशुक्ले
कर्णस्य पीतं रुचिरं च वस्त्रम्।
द्रौणेश्च राज्ञश्च तथैव नीले
वस्त्रे समादत्स्व नरप्रवीर ॥ १३ ॥

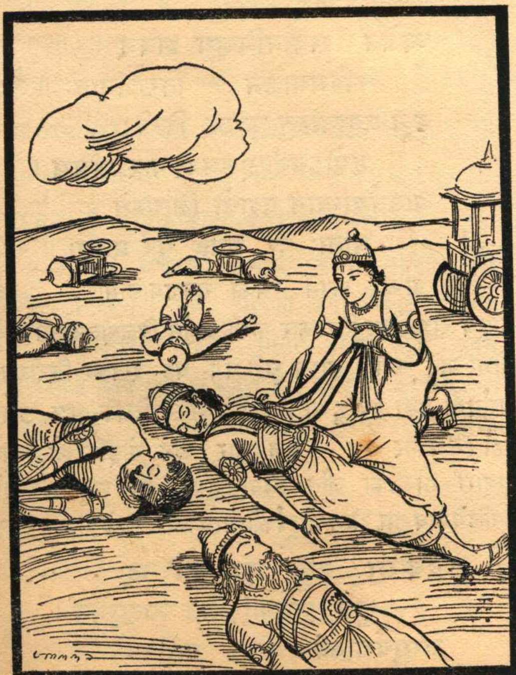
उन कौरव महारथियोंके अचेत हो जानेपर अर्जुनको उत्तराकी कही हुई बातें स्मरण हो आयीं और उन्होंने मत्स्य-नरेशके पुत्र उत्तरसे कहा—'नरवीर ! ये कौरव अभी बेहोश पड़े हुए हैं। ये जबतक होशमें आवें, उसके पहले ही सेनाके बीचसे निकल जाओ ! आचार्य द्रोण और कृपाचार्यके शरीरपर जो श्वेत वस्त्र सुशोभित हैं, कर्णके अङ्गोंपर जो सुन्दर पीले रंगका वस्त्र है, अश्वत्थामा तथा राजा दुर्योधनके शरीर-पर जो नीले रंगके कपड़े हैं, उन सबको उतार लो ॥ १२-१३ ॥

भीष्मस्य संज्ञां तु तथैव मन्ये
जानाति सोऽस्त्रप्रतिघातमेषः।
एतस्य वाहान् कुरु सव्यतस्त्व-
मेवं हि यातव्यममूढसंज्ञैः ॥ १४ ॥

'मैं समझता हूँ, पितामह भीष्मको होश बना हुआ है; क्योंकि वे इस सम्मोहन अस्त्रको निवारण करनेकी विधि जानते हैं। उनके घोड़ोंको बाँयीं ओर छोड़कर जाना; क्योंकि जिनकी चेतना लुप्त नहीं हुई है, ऐसे वीरोंके निकटसे जाना हो, तो इसी प्रकार जाना चाहिये' ॥ १४ ॥

रश्मीन् समुत्सृज्य ततो महात्मा
रथादवप्लुत्य विराटपुत्रः।
वस्त्राण्युपादाय महारथानां
तूर्णं पुनः स्वं रथमारुरोह ॥ १५ ॥

तब महामना विराटपुत्र घोड़ोंकी रास छोड़कर रथसे कूद पड़ा और उन महारथियोंके कपड़े लेकर फिर शीघ्र ही अपने रथपर चढ़ आया ॥ १५ ॥



ततोऽन्वशासच्चतुरः सदश्वान्
पुत्रो विराटस्य हिरण्यकक्षान्।
ते तद् व्यतीयुर्ध्वजिनामनीकं
श्वेता वहन्तोऽर्जुनमाजिमध्यात् ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् विराटकुमारने सोनेके साज-सामानसे सुशोभित उन चारों सुन्दर घोड़ोंको हाँक दिया। वे श्वेत घोड़े अर्जुनको रथमें लिये हुए रणभूमिके मध्यभागसे निकले और रथारोहियोंकी ध्वजायुक्त सेनाका घेरा पार करके बाहर पहुँच गये ॥ १६ ॥

तथानुयान्तं पुरुषप्रवीरं
भीष्मः शरैरभ्यहनत् तरस्वी।
स चापि भीष्मस्य हयान् निहत्य
विव्याध पार्थो दशभिः पृषत्कैः ॥ १७ ॥

मनुष्योंमें प्रधान वीर अर्जुनको इस प्रकार जाते देख वेगशाली भीष्मने बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया। तब अर्जुनने भी भीष्मके घोड़ोंको मारकर दस बाणोंसे उन्हें भी घायल कर दिया ॥ १७ ॥

ततोऽर्जुनो भीष्ममपास्य युद्धे
विद्ध्वास्य यन्तारमरिष्टधन्वा।
तस्थौ विमुक्तो रथवृन्दमध्या-
न्मेघं विदार्येव सहस्ररश्मिः ॥ १८ ॥

दुर्भेद्य धनुषवाले अर्जुन भीष्मको युद्धभूमिमें छोड़कर और उनके सारथिको बाणोंसे बींधकर रथोंके घेरेसे बाहर जा खड़े हुए। उस समय वे बादलोंको छिन्न-भिन्न करके प्रकाशित होनेवाले सूर्यदेवकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ १८ ॥

लब्ध्वा हि संज्ञां तु कुरुप्रवीराः
पार्थं निरीक्ष्याथ सुरेन्द्रकल्पम्।
रणे विमुक्तं स्थितमेकमाजौ
स धार्तराष्ट्रस्त्वरितं बभाषे ॥ १९ ॥

थोड़ी देर बाद होशमें आकर कौरववीरोंने देखा, देव-राज इन्द्रके समान पराक्रमी कुन्तीपुत्र अर्जुन युद्धमें रथोंके घेरेसे बाहर हो अकेले खड़े हैं। उन्हें इस अवस्थामें देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन तुरंत बोल उठा— ॥ १९ ॥

अयं कथं वै भवतो विमुक्त-
स्तथा प्रमथ्नीत यथा न मुच्येत्।
तमब्रवीच्छान्तनवः प्रहस्य
क्व ते गता बुद्धिरभूत् क्व वीर्यम् ॥ २० ॥
शान्तिं परां प्राप्य यदा स्थितोऽभू-
रुत्सृज्य बाणांश्च धनुर्विचित्रम्।

'पितामह ! यह आपके हाथसे कैसे बच गया ? आप इसे इस प्रकार मथ डालिये, जिससे यह छूटने न पावे।' तब

शान्तनुनन्दन भीष्मने हँसकर दुर्योधनसे कहा—'राजन् ! जब तू अपने विचित्र धनुष और बाणोंको त्यागकर यहाँ गहरी शान्तिमें डूबा हुआ अचेत पड़ा था, उस समय तेरी बुद्धि कहाँ गयी थी ? और पराक्रम कहाँ था ? ॥ २०½ ॥

न त्वेष बीभत्सुरलं नृशंसं
कर्तुं न पापेऽस्य मनो विशिष्टम् ॥ २१ ॥
त्रैलोक्यहेतोर्न जहेत् स्वधर्मं
सर्वे न तस्मान्निहता रणेऽस्मिन् ।
क्षिप्रं कुरून् याहि कुरुप्रवीर
विजित्य गाश्च प्रतियातु पार्थः ।
मा ते स्वकोऽर्थो निपतेत मोहात्
तत् संविधातव्यमरिष्टबन्धम् ॥ २२ ॥

'ये अर्जुन कभी निर्दयताका व्यवहार नहीं कर सकते । इनका मन कभी पापाचारमें प्रवृत्त नहीं होता । ये त्रिलोकीके राज्यके लिये भी अपना धर्म नहीं छोड़ सकते । यही कारण है कि इन्होंने इस युद्धमें हम सबके प्राण नहीं लिये । कुरुकुलके प्रमुख वीर ! अब तू शीघ्र ही कुरुदेशको लौट चल । अर्जुन भी गायोंको जीतकर लौट जायँ । अब मोहवश तेरा अपना स्वार्थ भी नष्ट न हो जाय, इसका ध्यान रख । सबको वही काम करना चाहिये, जिससे अपना कल्याण हो' ॥ २१-२२ ॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनस्तस्य तु तन्निशम्य
पितामहस्यात्महितं वचोऽथ ।
अतीतकामो युधि सोऽत्यमर्षी
राजा विनिःश्वस्य बभूव तूष्णीम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पितामहके ये अपने लिये हितकर वचन सुनकर राजा दुर्योधनके मनमें युद्धकी इच्छा नहीं रह गयी । वह भीतर-ही-भीतर अत्यन्त अमर्षका भार लिये लंबी साँसें भरता हुआ चुप हो गया ॥

तद् भीष्मवाक्यं हितमीक्ष्य सर्वे
धनंजयाग्निं च विवर्धमानम् ।
निवर्तनायैव मनो निदध्यु-
र्दुर्योधनं ते परिरक्षमाणाः ॥ २४ ॥

अन्य सब योद्धाओंको भी भीष्मजीका वह कथन हितकर जान पड़ा; क्योंकि युद्ध करनेसे तो धनंजयरूपी अग्नि उत्तरोत्तर बढ़कर प्रचण्ड रूप ही धारण करती जाती, यह सब सोचकर उन सबने दुर्योधनकी रक्षा करते हुए अपने देशको लौट जानेका ही निश्चय किया ॥ २४ ॥

तान् प्रस्थितान् प्रीतमनाः स पार्थो
धनंजयः प्रेक्ष्य कुरुप्रवीरान् ।
अभाषमाणोऽनुनयं मुहूर्तं
वचोऽब्रवीत् सम्परिहृत्य भूयः ॥ २५ ॥
पितामहं शान्तनवं च वृद्धं
द्रोणं गुरुं च प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।

उन कौरववीरोंको वहाँसे प्रस्थान करते देख कुन्तीपुत्र धनंजय मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए । वे दो घड़ीतक किसीसे अनुनय-विनयपूर्ण वचन न कहकर मौन रहे । फिर लौटकर उन्होंने वृद्ध पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्यके चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और कुछ बातचीत भी की ॥

द्रौणिं कृपं चैव कुरूंश्च मान्या-
ञ्छरैर्विचित्रैरभिवाद्य चैव ॥ २६ ॥
दुर्योधनस्योत्तमरत्नचित्रं
चिच्छेद पार्थो मुकुटं शरेण ।

फिर अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा अन्य माननीय (बाह्लीक, सोमदत्त आदि) कौरवोंको बाणोंकी विचित्र रीतिसे नमस्कार करके पार्थने एक बाण मारकर दुर्योधनके उत्तम रत्नजटित विचित्र मुकुटको काट डाला ॥ २६½ ॥

आमन्त्र्य वीरांश्च तथैव मान्यान्
गाण्डीवघोषेण विनाद्य लोकान् ॥ २७ ॥
स देवदत्तं सहसा विनाद्य
विदार्य वीरो द्विषतां मनांसि ।

इसी प्रकार अन्य माननीय वीरोंसे भी विदा ले गाण्डीवकी टंकारसे सम्पूर्ण जगत्‌को प्रतिध्वनित करके वीर अर्जुनने सहसा देवदत्त नामक शङ्ख बजाया और शत्रुओंका दिल दहला दिया ॥ २७½ ॥

ध्वजेन सर्वानभिभूय शत्रून्
सहेममालेन विराजमानः ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा प्रयातांस्तु कुरून् किरीटी
हृष्टोऽब्रवीत् तत्र स मत्स्यपुत्रम् ।
आवर्तयाश्वान् पशवो जितास्ते
याताः परे याहि पुरं प्रहृष्टः ॥ २९ ॥

इस प्रकार अपने रथकी सुवर्णमालामण्डित ध्वजासे सम्पूर्ण शत्रुओंका तिरस्कार करके अर्जुन विजयोल्लाससे विशेष शोभा पाने लगे । कौरव चले गये, यह देखकर किरीटधारी अर्जुनको बड़ा हर्ष हुआ । उन्होंने मत्स्यनरेशके पुत्र उत्तरसे वहाँ इस प्रकार कहा—'राजकुमार ! अब घोड़ोंको लौटाओ । तुम्हारी गौओंको जीत लिया गया और शत्रु भाग गये; इसलिये अब तुम आनन्दपूर्वक नगरकी ओर चलो' ॥२८-२९॥

देवास्तु दृष्ट्वा महदद्भुतं तद्
युद्धं कुरूणां सह फाल्गुनेन ।
जग्मुर्यथास्वं भवनं प्रतीताः
पार्थस्य कर्माणि विचिन्तयन्तः ॥ ३० ॥

अर्जुनके साथ होनेवाला कौरवोंका वह अत्यन्त अद्भुत युद्ध देखकर देवतालोग बड़े प्रसन्न हुए और अर्जुनके पराक्रमका स्मरण करते हुए अपने-अपने भवनको चले गये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि समस्तकौरवपलायने षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें समस्त कौरवोंके पलायनसे सम्बन्ध रखनेवाला छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ६६

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

विजयी अर्जुन और उत्तरका राजधानीकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततो विजित्य संग्रामे कुरून् स वृषभेक्षणः ।
समानयामास तदा विराटस्य धनं महत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार बैल-सी विशाल आँखोंवाले अर्जुन उस समय युद्धमें कौरवोंको जीतकर विराटका वह महान् गोधन लौटा लाये ॥ १ ॥

गतेषु च प्रभग्नेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वतः ।
वनान्निष्क्रम्य गहनाद् बहवः कुरुसैनिकाः ॥ २ ॥
भयात् संत्रस्तमनसः समाजग्मुस्ततस्ततः ।
मुक्तकेशास्त्वदृश्यन्त स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा ॥ ३ ॥
क्षुत्पिपासापरिश्रान्ता विदेशस्था विचेतसः ।

जब कौरव-दलके लोग चले गये या इधर-उधर सब दिशाओंमें भाग गये, उस समय बहुत-से कौरवसैनिक जो घने जंगलमें छिपे हुए थे, वहाँसे निकलकर डरते-डरते अर्जुनके पास आये । उनके मनमें भय समा गया था । वे भूखे-प्यासे और थके-माँदे थे । परदेशमें होनेके कारण उनके हृदयकी व्याकुलता और बढ़ गयी थी । वे उस समय केश खोले और हाथ जोड़े हुए खड़े दिखायी दिये ॥ २-३½ ॥

ऊचुः प्रणम्य सम्भ्रान्ताः पार्थ किं करवाम ते ॥ ४ ॥
(प्राणानन्तर्मनोयातान् प्रयाचिष्यामहे वयम् ।
वयं चार्जुन ते दासा ह्यनुरक्ष्या ह्यनायकाः ॥

वे सब-के-सब अर्जुनको प्रणाम करके घबराये हुए बोले—'कुन्तीनन्दन ! हम आपकी क्या सेवा करें ? अर्जुन ! हम आपसे हृदयके भीतर छिपे हुए अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये याचना करते हैं । हमलोग आपके दास और अनाथ हैं; अतः आपको सदा हमारी रक्षा करनी चाहिये' ॥

अर्जुन उवाच

अनाथान् दुःखितान् दीनान्
कृशान् वृद्धान् पराजितान् ।
न्यस्तशस्त्रान् निराशांश्च
नाहं हन्मि कृताञ्जलीन् ॥)

स्वस्ति व्रजत वो भद्रं न भेतव्यं कथंचन ।
नाहमार्ताञ्जिघांसामि भृशमाश्वासयामि वः ॥ ५ ॥

अर्जुनने कहा—सैनिको ! जो लोग अनाथ, दुखी, दीन, दुर्बल, वृद्ध, पराजित, अस्त्र-शस्त्रोंको नीचे डाल देनेवाले, प्राणोंसे निराश एवं हाथ जोड़कर शरणागत होते हैं, उन सबको मैं नहीं मारता हूँ । तुम्हारा भला हो । तुम कुशलपूर्वक घर लौट जाओ । तुम्हें मेरी ओरसे किसी प्रकारका भय नहीं होना चाहिये । मैं संकटमें पड़े हुए मनुष्योंको नहीं मारना चाहता । इस बातके लिये मैं तुम्हें पूरा-पूरा विश्वास दिलाता हूँ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तामभयां वाचं श्रुत्वा योधाः समागताः ।
आयुःकीर्तियशोदाभिस्तमाशीर्भिरनन्दयन् ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनकी वह अभयदानयुक्त वाणी सुनकर वहाँ आये हुए समस्त योद्धाओंने उन्हें आयु, कीर्ति तथा सुयश बढ़ानेवाले आशीर्वाद देते हुए उनका अभिनन्दन किया ॥ ६ ॥

ततोऽर्जुनं नागमिव प्रभिन्न-
मुत्सृज्य शत्रून् विनिवर्तमानम् ।
विराटराष्ट्राभिमुखं प्रयान्तं
नाशक्नुवंस्तं कुरवोऽभियातुम् ॥ ७ ॥

उस समय अर्जुन शत्रुओंको छोड़कर—उन्हें जीवनदान दे, मदकी धारा बहानेवाले हाथीकी भाँति मस्तीकी चालसे विराटनगरकी ओर लौटे जा रहे थे । कौरवोंको उनपर आक्रमण करनेका साहस नहीं हुआ ॥ ७ ॥

ततः स तन्मेघमिवापतन्तं
विद्राव्य पार्थः कुरुसैन्यवृन्दम् ।
मत्स्यस्य पुत्रं द्विषतां निहन्ता
वचोऽब्रवीत् सम्परिरभ्य भूयः ॥ ८ ॥

कौरवोंकी सेना मेघोंकी घटा-सी उमड़ आयी थी; किंतु शत्रुहन्ता पार्थने उसे मार भगाया । इस प्रकार शत्रुसेनाको परास्त करके अर्जुनने उत्तरको पुनः हृदयसे लगाकर कहा—॥

पितुः सकाशे तव तात सर्वे
वसन्ति पार्था विदितं तवैव ।

तात मा प्रशंसेर्नगरं प्रविश्य
भीतः प्रणश्येद्धि स मत्स्यराजः ॥ ९ ॥

'तात ! तुम्हारे पिताके समीप समस्त पाण्डव निवास करते हैं, यह बात अबतक तुम्हींको विदित हुई है; अतः तुम नगरमें प्रवेश करके पाण्डवोंकी प्रशंसा न करना, नहीं तो मत्स्यराज डरकर प्राण त्याग देंगे ॥ ९ ॥

मया जिता सा ध्वजिनी कुरूणां
मया च गावो विजिता द्विषद्भ्यः।
पितुः सकाशं नगरं प्रविश्य
त्वमात्मनः कर्म कृतं ब्रवीहि ॥ १० ॥

'राजधानीमें प्रवेश करके पिताके समीप जानेपर तुम यही कहना कि मैंने कौरवोंकी उस विशाल सेनापर विजय पायी है और मैंने ही शत्रुओंसे अपनी गौओंको जीता है। सारांश यह कि युद्धमें जो कुछ हुआ है, वह सब तुम अपना ही किया हुआ पराक्रम बताना' ॥ १० ॥

उत्तर उवाच

यत् ते कृतं कर्म न पारणीयं
तत् ते कर्म कर्तुं मम नास्ति शक्तिः।
न त्वां प्रवक्ष्यामि पितुः सकाशे
यावन्न मां वक्ष्यसि सव्यसाचिन् ॥ ११ ॥

उत्तरने कहा—सव्यसाचिन् ! आपने जो पराक्रम किया है, वह दूसरेके लिये असम्भव है। वैसा अद्भुत कर्म करनेकी मुझमें शक्ति नहीं है; तथापि जबतक आप मुझे आज्ञा न देंगे, तबतक पिताजीके निकट आपके विषयमें मैं कुछ भी नहीं कहूँगा ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

स शत्रुसेनामवजित्य जिष्णु-
राच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः।
श्मशानमागत्य पुनः शमीं ता-
मभ्येत्य तस्थौ शरविक्षताङ्गः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विजयशील अर्जुन पूर्वोक्तरूपसे शत्रुसेनाको परास्त करके कौरवोंके हाथसे सारा गोधन छीन लेनेके बाद पुनः श्मशानभूमिमें उसी शमी-वृक्षके समीप आकर खड़े हुए। उस समय उनके सभी अङ्ग बाणोंके आघातसे क्षत-विक्षत हो रहे थे ॥ १२ ॥

ततः स वह्निप्रतिमो महाकपिः
सहैव भूतैर्दिवमुत्पपात।
तथैव माया विहिता बभूव
ध्वजं च सैंहं युयुजे रथे पुनः ॥ १३ ॥

तदनन्तर वह अग्निके समान तेजस्वी महावानर ध्वज-निवासी भूतगणोंके साथ आकाशमें उड़ गया। उसी प्रकार ध्वजसहित वह दैवी माया भी विलीन हो गयी और अर्जुनके रथमें फिर वही सिंहध्वज लगा दिया गया ॥ १३ ॥

विधाय तच्चायुधमाजिवर्धनं
कुरूत्तमानामिषुधीः शरांस्तथा।
प्रायात् स मत्स्यो नगरं प्रहृष्टः
किरीटिना सारथिना महात्मना ॥ १४ ॥

कुरुकुलशिरोमणि पाण्डवोंके युद्धक्षमतावर्धक आयुधों, तरकसों और बाणोंको फिर पूर्ववत् शमीवृक्षपर रखकर मत्स्य-कुमार उत्तर महात्मा अर्जुनको सारथि बना उनके साथ प्रसन्नतापूर्वक नगरको चला ॥ १४ ॥

पार्थस्तु कृत्वा परमार्यकर्म
निहत्य शत्रून् द्विषतां निहन्ता।
चकार वेणीं च तथैव भूयो
जग्राह रश्मीन् पुनरुत्तरस्य।
विवेश हृष्टो नगरं महामना
बृहन्नलारूपमुपेत्य सारथिः ॥ १५ ॥

शत्रुहन्ता कुन्तीपुत्रने शत्रुओंको मारकर महान् वीरोचित पराक्रम करके पुनः पूर्ववत् सिरपर वेणी धारण कर ली और उत्तरके घोड़ोंकी रास सँभाली। इस प्रकार बृहन्नलाका रूप धारणकर महामना अर्जुनने सारथिके रूपमें प्रसन्नतापूर्वक राजधानीमें प्रवेश किया ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो निवृत्ताः कुरवः प्रभग्ना वशमास्थिताः।
हस्तिनापुरमुद्दिश्य सर्वे दीना ययुस्तदा ॥ १६ ॥
पन्थानमुपसङ्गम्य फाल्गुनो वाक्यमब्रवीत् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर कौरव युद्धसे भागकर विवशतापूर्वक लौट गये। उन सबने दीनभावसे उस समय हस्तिनापुरकी ओर प्रस्थान किया। इधर अर्जुनने नगरके रास्तेमें आकर उत्तरसे कहा—॥ १६-१७ ॥



राजपुत्र प्रत्यवेक्ष समानीतानि सर्वशः।
गोकुलानि महाबाहो वीर गोपालकैः सह ॥ १८ ॥
ततोऽपराह्णे यास्यामो विराटनगरं प्रति।
आश्वास्य पाययित्वा च परिप्लाव्य च वाजिनः ॥ १९ ॥

'महाबाहु राजकुमार ! देख लो, तुम्हारे सब गोधन ग्वालोंके साथ यहाँ आ गये हैं। वीर ! अब हमलोग घोड़ोंको पानी पिला और नहलाकर उनकी थकावट दूर हो जानेके बाद अपराह्णकालमें विराटनगर चलेंगे ॥ १८-१९ ॥

गच्छन्तु त्वरिताश्चेमे गोपालाः प्रेषितास्त्वया।
नगरे प्रियमाख्यातुं घोषयन्तु च ते जयम् ॥ २० ॥

'तुम्हारेद्वारा भेजे हुए ये ग्वाले तुरंत नगरमें विजयका प्रिय संवाद सुनानेके लिये जायँ और यह घोषित कर दें कि राजकुमार उत्तरकी जीत हुई है' ॥२०॥

वैशम्पायन उवाच

अथोत्तरस्त्वरमाणः स दूता-
नाज्ञापयद् वचनात् फाल्गुनस्य।
आचक्षध्वं विजयं पार्थिवस्य
भग्नाः परे विजिताश्चापि गावः ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब अर्जुनके कथनानुसार उत्तरने बड़ी उतावलीके साथ दूतोंको आज्ञा दी—'जाओ और सूचित करो कि महाराजकी विजय हुई है। शत्रु भाग गये और गौएँ जीतकर वापस लायी गयी हैं' ॥

इत्येवं तौ भारतमत्स्यवीरौ
सम्मन्त्र्य सङ्गम्य ततः शमीं ताम्।
अभ्येत्य भूयो विजयेन तृप्ता-
वुत्सृष्टमारोपयतां स्वभाण्डम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार भरतकुल और मत्स्यकुलके उन दोनों वीरोंने आपसमें सलाह करके पूर्वोक्त शमीवृक्षके समीप जा पहलेके उतारे हुए अपने अलंकार आदि शरीरपर धारण कर लिये थे और उनके रखनेके पात्र (भी) रथपर चढ़ा लिये थे ॥ २२ ॥

स शत्रुसेनामभिभूय सर्वा-
माच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः।
वैराटिरायान्नगरं प्रतीतो
बृहन्नलासारथिना प्रवीरः ॥ २३ ॥

इस तरह शत्रुओंकी सम्पूर्ण सेनाको पराजित करके कौरवोंसे सारा गोधन छीनकर विराटकुमार वीर उत्तर बृहन्नला सारथिके साथ प्रसन्नतापूर्वक नगरकी ओर प्रस्थित हुआ ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरागमने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरका आगमन-विषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

राजा विराटकी उत्तरके विषयमें चिन्ता, विजयी उत्तरका नगरमें प्रवेश, प्रजाओंद्वारा उनका स्वागत, विराटद्वारा युधिष्ठिरका तिरस्कार और क्षमाप्रार्थना एवं उत्तरसे युद्धका समाचार पूछना

वैशम्पायन उवाच

धनं चापि विजित्याशु विराटो वाहिनीपतिः।
विवेश नगरं हृष्टश्चतुर्भिः पाण्डवैः सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सेनाओंके स्वामी राजा विराटने (दक्षिण गोष्ठकी) गौओंको जीतकर शीघ्र ही चारों पाण्डवोंके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक नगरमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

जित्वा त्रिगर्तान् संग्रामे गाश्चैवादाय सर्वशः।
अशोभत महाराज सहपार्थैः श्रिया वृतः ॥ २ ॥

महाराज ! संग्राममें त्रिगर्तोंको हराकर सम्पूर्ण गौएँ वापस ले विजय-लक्ष्मीसे सम्पन्न महाराज विराट कुन्तीपुत्रोंके साथ बड़ी शोभा पाने लगे ॥ २ ॥

तमासनगतं वीरं सुहृदां हर्षवर्धनम्।
उपासाञ्चक्रिरे सर्वे सह पार्थैः परंतपाः ॥ ३ ॥

मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाले वीरवर विराट राजसिंहासनपर विराजमान हुए। उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले सब शूरवीर कुन्तीपुत्रोंके साथ राजाकी सेवाके लिये उनके पास बैठे ॥ ३ ॥

उपतस्थुः प्रकृतयः समस्ता ब्राह्मणैः सह।
सभाजितः ससैन्यस्तु प्रतिनन्द्याथ मत्स्यराट् ॥ ४ ॥

फिर ब्राह्मणोंसहित समस्त प्रजावर्गके लोग उपस्थित हुए। सबने सेनासहित मत्स्यराजका अभिनन्दन एवं स्वागत-सत्कार किया ॥ ४ ॥

विसर्जयामास तदा द्विजांश्च प्रकृतीस्तथा।
तथा स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ॥ ५ ॥
उत्तरं परिपप्रच्छ क्व यात इति चाब्रवीत्।
आचख्युस्तस्य तत् सर्वं स्त्रियः कन्याश्च वेश्मनि ॥ ६ ॥

तदनन्तर मत्स्यदेशके राजा सेनाओंके स्वामी विराटने

ब्राह्मणों तथा प्रजावर्गके लोगोंको विदा कर दिया और (अन्तःपुरमें जाकर) उत्तरके विषयमें पूछा—'राजकुमार उत्तर कहाँ गये हैं ?' तब घरमें रहनेवाली स्त्रियों और कन्याओंने उनसे सब बातें बतायीं—॥ ५-६ ॥

अन्तःपुरचराश्चैव कुरुभिर्गोधनं हृतम्।
विजेतुमभिसंरब्ध एक एवातिसाहसात्।
बृहन्नलासहायश्च निर्गतः पृथिवीञ्जयः॥ ७ ॥

'इसी प्रकार अन्तःपुरमें रहनेवाली स्त्रियोंने भी बताया कि कौरवोंने हमारे गोष्ठका गोधन हर लिया है, अतः कुमार भूमिंजय अत्यन्त साहसके कारण क्रोधमें भरकर अकेले ही उन गौओंको जीत लानेके लिये बृहन्नलाके साथ निकले हैं ॥

उपयातानतिरथान् भीष्मं शान्तनवं कृपम्।
कर्णं दुर्योधनं द्रोणं द्रोणपुत्रं च षड् रथान्॥ ८ ॥

'सुना है, शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, द्रोणाचार्य तथा द्रोणपुत्र अश्वत्थामा—ये छः अतिरथी वीर युद्धके लिये आये हैं' ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

राजा विराटोऽथ भृशाभितप्तः
श्रुत्वा सुतं त्वेकरथेन यातम्।
बृहन्नलासारथिमाजिवर्धनं
प्रोवाच सर्वानथ मन्त्रिमुख्यान्॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युद्धमें आगे बढ़नेवाले अपने पुत्रको बृहन्नला सारथिके साथ एकमात्र रथकी सहायतासे कौरवोंका सामना करनेके लिये गया हुआ सुनकर राजा विराटको बड़ा संताप हुआ। उन्होंने (अपने) सभी प्रधान मन्त्रियोंसे कहा—॥ ९ ॥

सर्वथा कुरवस्ते हि ये चान्ये वसुधाधिपाः।
त्रिगर्तान् निःसृताञ्छ्रुत्वा न स्थास्यन्ति कदाचन ।१०।

'कौरव हों या दूसरे कोई राजा, जब वे सुनेंगे कि त्रिगर्त लोग युद्धमें पीठ दिखाकर भाग गये हैं, तब वे कदापि यहाँ ठहर नहीं सकेंगे ॥ १० ॥

तस्माद् गच्छन्तु मे योधा बलेन महता वृताः।
उत्तरस्य परीप्सार्थं ये त्रिगर्तैरविक्षताः॥ ११ ॥

'अतः मेरे सैनिकोंमेंसे जो लोग त्रिगर्तोंके साथ होनेवाले युद्धमें घायल नहीं हुए हों, वे सब विशाल सेनाके साथ राजकुमार उत्तरकी रक्षाके लिये जायँ' ॥ ११ ॥

हयांश्च नागांश्च रथांश्च शीघ्रं
पदातिसङ्घांश्च ततः प्रवीरान्।
प्रस्थापयामास सुतस्य हेतो-
र्विचित्रशस्त्राभरणोपपन्नान्॥ १२ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने पुत्रकी रक्षाके लिये विचित्र-विचित्र आयुधों और आभूषणोंसे विभूषित घुड़सवारों, हाथीसवारों, रथारोहियों तथा पैदल योद्धाओंके समूहोंको, जो बड़े शूरवीर थे, भेजा ॥ १२ ॥

एवं स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः।
व्यादिदेशाथ तां क्षिप्रं वाहिनीं चतुरङ्गिणीम्॥ १३ ॥
कुमारमाशु जानीत यदि जीवति वा न वा।
यस्य यन्ता गतः षण्ढो मन्येऽहं स न जीवति॥ १४ ॥

इस प्रकार सेनाओंके स्वामी मत्स्यनरेश विराटने अपनी उस चतुरंगिणी सेनाको शीघ्र आदेश दिया, 'जाओ, शीघ्र पता लगाओ। कुमार जीवित हैं या नहीं। एक हिजड़ा जिसका सारथि बनकर गया है, वह मेरी समझसे तो अब जीवित नहीं होगा' ॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीद् धर्मराजो विहस्य
विराटराजं तु भृशाभितप्तम्।
बृहन्नला सारथिश्चेन्नरेन्द्र
परे न नेष्यन्ति तवाद्य गास्ताः॥ १५ ॥
सर्वान् महीपान् सहितान् कुरूंश्च
तथैव देवासुरसिद्धयक्षान्।
अलं विजेतुं समरे सुतस्ते
स्वनुष्ठितः सारथिना हि तेन॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा विराटको बहुत दुखी देखकर धर्मराज युधिष्ठिरने उनसे हँसकर कहा—'नरेन्द्र ! यदि बृहन्नला सारथि है, तो यह विश्वास कीजिये कि शत्रु आज आपकी वे गौएँ नहीं ले जा सकेंगे। उस हितैषी सारथिके सहयोगसे सब कार्य ठीक-ठीक कर लेनेपर आपका पुत्र युद्धमें समस्त राजाओं तथा संगठित होकर आये हुए कौरवोंकी तो बात ही क्या, देवता, असुर, सिद्ध और यक्षोंपर भी निश्चय ही विजय पा सकता है' ॥ १५-१६ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथोत्तरेण प्रहिता दूतास्ते शीघ्रगामिनः।
विराटनगरं प्राप्य विजयं समवेदयन्॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इसी समय उत्तरके भेजे हुए शीघ्रगामी दूतोंने विराटनगरमें आकर विजयकी सूचना दी ॥ १७ ॥

राज्ञस्तत् सर्वमाचख्यौ मन्त्री विजयमुत्तमम्।
पराजयं कुरूणां चाप्युपायान्तं तथोत्तरम्॥ १८ ॥
सर्वा विनिर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः।
उत्तरः सह सूतेन कुशली च परंतपः॥ १९ ॥

मन्त्रीने वह सब समाचार महाराजसे कह सुनाया। अपने पक्षकी उत्तम विजय और कौरवोंकी करारी हार हुई है। राजकुमार उत्तर नगरमें आ रहे हैं। समस्त गौएँ जीत

ली गयीं तथा कौरव परास्त होकर भाग गये। शत्रुओंको संताप देनेवाले कुमार उत्तर सारथिसहित सकुशल हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या विनिर्जिता गावः कुरवश्च पलायिताः।
नाद्भुतं त्वेव मन्येऽहं यत् ते पुत्रोऽजयत् कुरून्॥ २०॥
ध्रुव एव जयस्तस्य यस्य यन्ता बृहन्नला।
(देवेन्द्रसारथिश्चैव मातलिर्लघुविक्रमः।
कृष्णस्य सारथिश्चैव न बृहन्नलया समौ॥)

युधिष्ठिरने कहा—महाराज! सौभाग्यकी बात है कि गौएँ जीत ली गयीं और कौरव भाग गये। आपके पुत्रने कौरवोंपर जो विजय पायी है, उसे मैं कोई आश्चर्यकी बात नहीं मानता। जिसका सारथि बृहन्नला हो, उसकी विजय तो निश्चित ही है। देवराज इन्द्रका शीघ्रगामी सारथि मातलि तथा श्रीकृष्णका सारथि दारुक—ये दोनों बृहन्नलाकी समानता नहीं कर सकते॥ २०½ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विराटो नृपतिः सम्प्रहृष्टतनूरुहः॥ २१॥
श्रुत्वा स विजयं तस्य कुमारस्यामितौजसः।
आच्छादयित्वा दूतांस्तान् मन्त्रिणं सोऽभ्यचोदयत्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने अमित-पराक्रमी कुमारकी विजयका समाचार सुनकर राजा विराट बड़े प्रसन्न हुए। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उन्होंने वस्त्र और आभूषणोंसे उन दूतोंका सत्कार किया और मन्त्री-को आज्ञा दी—॥ २१-२२ ॥

राजमार्गाः क्रियन्तां मे पताकाभिरलंकृताः।
पुष्पोपहारैरर्च्यन्तां देवताश्चापि सर्वशः॥ २३॥
कुमारा योधमुख्याश्च गणिकाश्च स्वलंकृताः।
वादित्राणि च सर्वाणि प्रत्युद्यान्तु सुतं मम॥ २४॥

'मेरे नगरकी सड़कोंको पताकाओंसे अलंकृत किया जाय। फूलों तथा नाना प्रकारके उपहारोंसे सब देवताओंकी पूजा होनी चाहिये। कुमार, मुख्य-मुख्य योद्धा, शृङ्गारसे सुशोभित वाराङ्गनाएँ और सब प्रकारके बाजे-गाजे मेरे पुत्रकी अगवानीमें भेजे जायँ॥ २३-२४ ॥

घण्टावान् मानवः शीघ्रं मत्तमारुह्य वारणम्।
शृङ्गाटकेषु सर्वेषु आख्यातु विजयं मम॥ २५॥
उत्तरा च कुमारीभिर्बह्वीभिः परिवारिता।
शृङ्गारवेषाभरणा प्रत्युद्यातु सुतं मम॥ २६॥

'एक मनुष्य शीघ्र ही हाथमें घण्टा लिये मतवाले गज-राजपर बैठ जाय और नगरके समस्त चौराहोंपर हमारी विजयका संवाद सुनावे। राजकुमारी उत्तरा भी उत्तम शृङ्गार और सुन्दर वेष-भूषासे सुशोभित हो अन्य राजकुमारियोंके साथ मेरे पुत्रकी अगवानीमें जायँ'॥ २५-२६ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा चेदं वचनं पार्थिवस्य
सर्वं पुरं स्वस्तिकपाणिभूतम्।
भेर्यश्च तूर्याणि च वारिजाश्च
वेषैः परार्ध्यैः प्रमदाः शुभाश्च॥ २७॥
तथैव सूतैः सह मागधैश्च
नान्दीवाद्याः पणवास्तूर्यवाद्याः।
पुराद् विराटस्य महाबलस्य
प्रत्युद्ययुः पुत्रमनन्तवीर्यम्॥ २८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! राजाकी इस आज्ञाको सुनकर बहुमूल्य वेशभूषासे सुशोभित सौभाग्यवती तरुणी स्त्रियों, सूत, मागध और बंदीजनोंसहित समस्त पुरवासी, हाथोंमें माङ्गलिक वस्तुएँ लेकर भेरी, तूर्य, शङ्ख तथा पणव आदि माङ्गलिक बाजे साथ लिये महाबली विराटके अनन्त पराक्रमी पुत्र उत्तरकी अगवानी करनेके लिये नगरसे बाहर गये॥ २७-२८ ॥

प्रस्थाप्य सेनां कन्याश्च गणिकाश्च स्वलङ्कृताः।
मत्स्यराजो महाप्राज्ञः प्रहृष्ट इदमब्रवीत्॥ २९॥

राजन्! तदनन्तर सेना, सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कन्याओं और वाराङ्गनाओंको भेजकर परम बुद्धिमान् मत्स्यनरेश हर्षोल्लासमें भरकर इस प्रकार बोले—॥ २९ ॥

अक्षानाहर सैरन्ध्रि कङ्क द्यूतं प्रवर्तताम्।
तं तथावादिनं दृष्ट्वा पाण्डवः प्रत्यभाषत॥ ३०॥

'सैरन्ध्री! जा, पासे ले आ। कङ्क! जूआ प्रारम्भ हो।' उन्हें ऐसा कहते देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर बोले—॥

न देवितव्यं हृष्टेन कितवेनेति नः श्रुतम्।
तं त्वामद्य मुदा युक्तं नाहं देवितुमुत्सहे।
प्रियं तु ते चिकीर्षामि वर्ततां यदि मन्यसे॥ ३१॥

'राजन्! मैंने सुना है, जब चालाक जुआरी अत्यन्त हर्षमें भरा हो, तो उसके साथ जूआ नहीं खेलना चाहिये। आज आप भी बड़े आनन्दमें मग्न हैं; अतः आपके साथ जूआ खेलनेका साहस नहीं होता, तथापि आपका प्रिय कार्य तो करना ही चाहता हूँ; अतः यदि आपकी इच्छा हो, तो खेल शुरू हो सकता है'॥ ३१ ॥

विराट उवाच

स्त्रियो गावो हिरण्यं च यच्चान्यद् वसु किञ्चन।
न मे किञ्चित् त्वया रक्ष्यमन्तरेणापि देवितुम्॥ ३२॥

विराटने कहा—स्त्रियाँ, गौएँ, सुवर्ण तथा अन्य जो कोई भी धन सुरक्षित रक्खा जाता है, विना जूएके वह सब मुझे कुछ नहीं चाहिये। (मुझे तो जूआ ही सबसे अधिक प्रिय है)॥ ३२ ॥

कङ्क उवाच

किं ते द्यूतेन राजेन्द्र बहुदोषेण मानद ।
देवने बहवो दोषास्तस्मात् तत् परिवर्जयेत् ॥ ३३ ॥

कङ्क बोले—सबको मान देनेवाले महाराज ! आपको जूएसे क्या लेना है ? इसमें तो बहुत-से दोष हैं । जूआ खेलनेमें अनेक दोष होते हैं, इसलिये इसे त्याग देना चाहिये ॥ ३३ ॥

श्रुतस्ते यदि वा दृष्टः पाण्डवेयो युधिष्ठिरः ।
स राष्ट्रं सुमहत् स्फीतं भ्रातॄंश्च त्रिदशोपमान् ॥३४॥
राज्यं हारितवान् सर्वं तस्माद् द्यूतं न रोचये ।
(निःसंशयं स कितवः पश्चात् तप्यति पाण्डवः ॥
विविधानां च रत्नानां धनानां च पराजये ।
अस्मिन् क्षितिविनाशश्च वाक्पारुष्यमनन्तरम् ॥
अविश्वास्यं बुधैर्नित्यमेकाह्ना द्रव्यनाशनम् ।)
अथवा मन्यसे राजन् दीव्याम यदि रोचते ॥ ३५ ॥

आपने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको देखा होगा अथवा उनका नाम तो अवश्य सुना होगा । वे अपने अत्यन्त समृद्धिशाली राष्ट्रको, देवताओंके समान तेजस्वी भाइयोंको तथा समूचे राज्यको भी जूएमें हार गये थे । अतः मैं जूएको पसंद नहीं करता । नाना प्रकारके रत्नों और धनको हार जानेके कारण अब वे जुआरी युधिष्ठिर निश्चय ही पश्चात्ताप करते होंगे । इस जूएमें आसक्त होनेपर राज्यका नाश होता है, फिर जुआरी एक दूसरेके प्रति कटु वचनोंका प्रयोग करते हैं । जूआ एक ही दिनमें महान् धनराशिका नाश करनेवाला है । अतः विद्वान् पुरुषोंको इस (धोखा देनेवाले जूए) पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये । राजन् ! तो भी यदि आपकी रुचि और आग्रह हो, तो हम खेलेंगे ही ॥ ३४-३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रवर्तमाने द्यूते तु मत्स्यः पाण्डवमब्रवीत् ।
पश्य पुत्रेण मे युद्धे तादृशाः कुरवो जिताः ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जूएका खेल आरम्भ हो गया । खेलते-खेलते मत्स्यराजने पाण्डुनन्दनसे कहा—'देखो, आज मेरे बेटेने युद्धमें उन प्रसिद्ध कौरवोंपर विजय पायी है' ॥ ३६ ॥

ततोऽब्रवीन्महात्मा स एनं राजा युधिष्ठिरः ।
बृहन्नला यस्य यन्ता कथं स न जयेद् युधि ॥ ३७ ॥

तब महात्मा राजा युधिष्ठिरने विराटसे कहा—'बृहन्नला जिसका सारथि हो, वह युद्धमें कैसे नहीं जीतेगा ?' ॥ ३७ ॥

इत्युक्तः कुपितो राजा मत्स्यः पाण्डवमब्रवीत् ।
समं पुत्रेण मे षण्ढं ब्रह्मबन्धो प्रशंससि ॥ ३८ ॥

यह सुनते ही मत्स्यनरेश कुपित हो उठे और पाण्डुनन्दनसे बोले—'अधम ब्राह्मण ! तू मेरे पुत्रके समान एक हिजड़ेकी प्रशंसा करता है ! ॥ ३८ ॥

वाच्यावाच्यं न जानीषे नूनं मामवमन्यसे ।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वान् कस्मान्न स विजेष्यति ॥ ३९ ॥
वयस्यत्वात् तु ते ब्रह्मन्नपराधमिमं क्षमे ।
नेदृशं तु पुनर्वाच्यं यदि जीवितुमिच्छसि ॥ ४० ॥

'क्या कहना चाहिये और क्या नहीं, इसका तुझे ज्ञान नहीं है । निश्चय ही तू अपनी बातोंसे मेरा अपमान कर रहा है । भला मेरा पुत्र भीष्म-द्रोण आदि समस्त वीरोंको क्यों नहीं जीत लेगा ? ब्रह्मन् ! मित्र होनेके नाते ही मैं तुम्हारे इस अपराधको क्षमा करता हूँ । यदि जीनेकी इच्छा हो, तो फिर ऐसी बात न कहना' ॥ ३९-४० ॥

युधिष्ठिर उवाच

यत्र द्रोणस्तथा भीष्मो द्रौणिर्वैकर्तनः कृपः ।
दुर्योधनश्च राजेन्द्रस्तथान्ये च महारथाः ॥ ४१ ॥
मरुद्गणैः परिवृतः साक्षादपि मरुत्पतिः ।
कोऽन्यो बृहन्नलायास्तान् प्रतियुध्येत सङ्गतान् ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर बोले—जहाँ द्रोणाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा, कर्ण, कृपाचार्य, राजा दुर्योधन तथा अन्य महारथी उपस्थित हों, वहाँ बृहन्नलाके सिवा दूसरा कौन पुरुष, चाहे वह देवताओंसे घिरा हुआ साक्षात् देवराज इन्द्र ही क्यों न हो, उन सब संगठित वीरोंका सामना कर सकता है ? ॥ ४१-४२ ॥

यस्य बाहुबले तुल्यो न भूतो न भविष्यति ।
अतीव समरं दृष्ट्वा हर्षो यस्योपजायते ॥ ४३ ॥
योऽजयत् सङ्गतान् सर्वान् ससुरासुरमानवान् ।
तादृशेन सहायेन कस्मात् स न विजेष्यते ॥ ४४ ॥

बाहुबलमें जिसकी समानता करनेवाला न कोई हुआ है और न होगा ही, युद्धका अवसर आया देखकर जिसे अत्यन्त हर्ष होता है, जिसने युद्धमें एकत्र हुए देवता, असुर और मनुष्य—सबको जीत लिया है, वैसे बृहन्नला-जैसे सहायकके होनेपर राजकुमार उत्तर विजयी क्यों न होंगे ? ॥ ४३-४४ ॥

विराट उवाच

बहुशः प्रतिषिद्धोऽसि न च वाचं नियच्छसि ।
नियन्ता चेन्न विद्येत न कश्चिद् धर्ममाचरेत् ॥ ४५ ॥

विराटने कहा—कङ्क ! मैंने बहुत बार मना किया, तो भी तू अपनी जबान नहीं बंद कर रहा है । सच है, यदि शासन करनेवाला राजा न हो, तो कोई भी धर्मका आचरण नहीं कर सकता ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रकुपितो राजा तमक्षेणाहनद् भृशम् ।
मुखे युधिष्ठिरं कोपान्नैवमित्येव भर्त्सयन् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इतना कहकर कोपमें भरे हुए राजा विराटने वह पासा युधिष्ठिरके मुखपर जोरसे दे मारा तथा रोषपूर्वक डाँटते हुए उनसे कहा—'फिर कभी ऐसी बात न कहना' ॥ ४६ ॥

बलवत् प्रतिविद्धस्य नस्तः शोणितमावहत्।
तदप्राप्तं महीं पार्थः पाणिभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥ ४७ ॥
अवैक्षत स धर्मात्मा द्रौपदीं पार्श्वतः स्थिताम्।
सा ज्ञात्वा तमभिप्रायं भर्तुश्चित्तवशानुगा ॥ ४८ ॥
पात्रं गृहीत्वा सौवर्णं जलपूर्णमनिन्दिता।
तच्छोणितं प्रत्यगृह्णाद् यत् प्रसुस्राव नस्ततः ॥ ४९ ॥

पासेका आघात जोरसे लगा था, अतः उनकी नाकसे रक्तकी धारा बह चली। किंतु धर्मात्मा युधिष्ठिरने उस रक्तको पृथ्वीपर गिरनेसे पहले ही अपने दोनों हाथोंमें रोक लिया और पास ही खड़ी हुई द्रौपदीकी ओर देखा। द्रौपदी अपने स्वामीके मनके अधीन रहनेवाली और उनकी अनुगामिनी थी। उस सती-साध्वी देवीने उनका अभिप्राय समझ लिया; अतः जलसे भरा हुआ सुवर्णमय पात्र ले आकर युधिष्ठिरकी नाकसे जो रक्त बहता था, वह सब उसमें ले लिया ॥ ४७-४९ ॥



अथोत्तरः शुभैर्गन्धैर्माल्यैश्च विविधैस्तथा।
अवकीर्यमाणः संहृष्टो नगरं स्वैरमागतः ॥ ५० ॥

इसी समय राजकुमार उत्तर बड़े हर्षके साथ स्वच्छन्दतापूर्वक नगरमें आये। मार्गमें उनके ऊपर उत्तम गन्ध और भाँति-भाँतिके पुष्पहार बरसाये जा रहे थे ॥ ५० ॥

सभाज्यमानः पौरैश्च स्त्रीभिर्जानपदैस्तथा।
आसाद्य भवनद्वारं पित्रे सम्प्रत्यवेदयत् ॥ ५१ ॥

मत्स्यदेशके लोगों, पुरवासियों तथा सुन्दरी स्त्रियोंने उनका स्वागत किया; फिर राजभवनके द्वारपर पहुँचकर उन्होंने पिताको अपने आगमनकी सूचना करवायी ॥ ५१ ॥

ततो द्वाःस्थः प्रविश्यैव विराटमिदमब्रवीत्।
बृहन्नलासहायश्च पुत्रो द्वार्युत्तरः स्थितः ॥ ५२ ॥

सब द्वारपालने भीतर जाकर महाराज विराटसे कहा—'प्रभो ! बृहन्नलाके साथ राजकुमार उत्तर द्वारपर खड़े हैं'॥

ततो हृष्टो मत्स्यराजः क्षत्तारमिदमब्रवीत्।
प्रवेश्यतामुभौ तूर्णं दर्शनेप्सुरहं तयोः ॥ ५३ ॥

इस समाचारसे प्रसन्न होकर मत्स्यराज अपने सेवकसे बोले—'मैं उन दोनोंसे मिलना चाहता हूँ; अतः उन्हें शीघ्र भीतर ले आओ' ॥ ५३ ॥

क्षत्तारं कुरुराजस्तु शनैः कर्ण उपाजपत्।
उत्तरः प्रविशत्वेको न प्रवेश्या बृहन्नला ॥ ५४ ॥

तब जाते हुए सेवकके कानमें युधिष्ठिरने धीरेसे कहा—'पहले अकेले राजकुमार उत्तर ही यहाँ आवें। बृहन्नलाको साथमें न ले आना' ॥ ५४ ॥

एतस्य हि महाबाहो व्रतमेतत् समाहितम्।
यो ममाङ्गे व्रणं कुर्याच्छोणितं वापि दर्शयेत्।
अन्यत्र संग्रामगतान्न स जीवेत् कथञ्चन ॥ ५५ ॥

'महाबाहो ! बृहन्नलाका यह निश्चित व्रत है कि जो युद्धभूमिके सिवा अन्य किसी स्थानमें मेरे शरीरमें घाव कर दे या रक्त बहता दिखा दे, वह किसी प्रकार जीवित न रहने पाये ॥ ५५ ॥

न मृष्याद् भृशसंक्रुद्धो मां दृष्ट्वा तु सशोणितम्।
विराटमिह सामात्यं हन्यात् सबलवाहनम् ॥ ५६ ॥

'मेरे शरीरमें रक्त देखकर वह अत्यन्त कुपित हो उठेगा और इस अपराधको क्षमा नहीं करेगा एवं राजा विराटको मन्त्री, सेना और वाहनोंसहित यहीं मार डालेगा' ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञः सुतो ज्येष्ठः प्राविशत् पृथिवीञ्जयः।
सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कङ्कं चाप्युपतिष्ठत ॥ ५७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा विराटके ज्येष्ठ पुत्र कुमार भूमिंजय (उत्तर) ने भीतर प्रवेश किया और पिताके दोनों चरणोंमें प्रणाम करके कङ्कको भी मस्तक झुकाया ॥ ५७ ॥

ततो रुधिरसंयुक्तमनेकाग्रमनागसम्।
भूमावासीनमेकान्ते सैरन्ध्र्या प्रत्युपस्थितम् ॥ ५८ ॥

उसने देखा, कङ्क एकान्तमें भूमिपर बैठे हैं। सैरन्ध्री उनकी सेवामें उपस्थित है। उनका मन एकाग्र नहीं है और वे निरपराध हैं, तो भी उनके शरीरसे रक्त बह रहा है ॥५८॥

ततः पप्रच्छ पितरं त्वरमाण इवोत्तरः।
केनायं ताडितो राजन् केन पापमिदं कृतम् ॥ ५९ ॥

तब उत्तरने बड़ी उतावलीके साथ अपने पितासे पूछा—'राजन्! किसने इन्हें मारा है? किसने यह पाप किया है?' ॥ ५९ ॥

विराट उवाच

मयायं ताडितो जिह्मो न चाप्येतावदर्हति।
प्रशस्यमाने यच्छूरे त्वयि षण्ढं प्रशंसति ॥ ६० ॥

विराटने कहा—बेटा! मैंने ही इस कुटिलको मारा है। यह इतने सम्मानके योग्य कदापि नहीं है। देखो न, जब मैं तुम्हारे शौर्यकी प्रशंसा करता हूँ, तब यह उस हिजड़ेकी बड़ाई करने लगता है ॥ ६० ॥

उत्तर उवाच

अकार्यं ते कृतं राजन् क्षिप्रमेव प्रसाद्यताम्।
मा त्वां ब्रह्मविषं घोरं समूलमिह निर्दहेत् ॥ ६१ ॥

उत्तर बोले—राजन्! आपने इन्हें मारकर बड़ा अनुचित कार्य किया है। शीघ्र ही इनको मनाइये; अन्यथा ब्राह्मणका भयंकर क्रोधविष आपको यहाँ जड़-मूलसहित भस्म कर डालेगा ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन उवाच

स पुत्रस्य वचः श्रुत्वा विराटो राष्ट्रवर्धनः।
क्षमयामास कौन्तेयं भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ६२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पुत्रकी यह बात सुनकर अपने राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाले महाराज विराटने राखमें छिपी हुई अग्निकी भाँति तेजस्वी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे क्षमा माँगी ॥ ६२ ॥

क्षमयन्तं तु राजानं पाण्डवः प्रत्यभाषत।
चिरं क्षान्तमिदं राजन् न मन्युर्विद्यते मम ॥ ६३ ॥

राजाको क्षमा माँगते देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने कहा—'राजन्! मैंने चिरकालसे क्षमाका व्रत ले रक्खा है, अतः आपका यह अपराध क्षमा हो चुका है। मुझे आपपर जरा भी क्रोध नहीं है ॥ ६३ ॥

यदि ह्येतत् पतेद् भूमौ रुधिरं मम नस्ततः।
सराष्ट्रस्त्वं महाराज विनश्येथा न संशयः ॥ ६४ ॥

'महाराज! यदि मेरी नाकसे बहनेवाला यह रक्त धरतीपर गिर जाता, तो आप सारे राष्ट्रके साथ नष्ट हो जाते; इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ६४ ॥

न दूषयामि ते राजन् यद् वै हन्याददूषकम्।
बलवन्तं प्रभुं राजन् क्षिप्रं दारुणमाप्नुयात् ॥ ६५ ॥

'राजन्! जो किसीकी निन्दा या अपराध न करे, उसे मार देना अन्याय है, तथापि मैं आपके इस कार्यकी निन्दा नहीं करता; क्योंकि बलवान् राजाको प्रायः शीघ्र ही ऐसे कठोर कर्म करनेका अवसर प्राप्त हो जाता है' ६५

वैशम्पायन उवाच

शोणिते तु व्यतिक्रान्ते प्रविवेश बृहन्नला।
अभिवाद्य विराटं तु कङ्कं चाप्युपतिष्ठत ॥ ६६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब युधिष्ठिरकी नाकसे रक्त बहना बंद हो गया, उस समय बृहन्नलाने राजसभामें प्रवेश किया। उसने विराटको नमस्कार करके कङ्कको भी प्रणाम किया ॥ ६६ ॥

क्षमयित्वा तु कौरव्यं रणादुत्तरमागतम्।
प्रशशंस ततो मत्स्यः शृण्वतः सव्यसाचिनः ॥ ६७ ॥

इधर मत्स्यनरेश कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे क्षमा माँगकर सव्यसाची अर्जुनके सुनते हुए ही रणभूमिसे आये हुए उत्तरकी प्रशंसा करने लगे— ॥ ६७ ॥

त्वया दायादवानस्मि कैकेयीनन्दिवर्धन।
त्वया मे सदृशः पुत्रो न भूतो न भविष्यति ॥ ६८ ॥

'कैकेयीनन्दन! तुम्हें पाकर मैं वास्तवमें पुत्रवान् हूँ। तुम्हारे समान मेरा दूसरा कोई पुत्र न हुआ है; न होगा ही ॥ ६८ ॥

पदं पदसहस्रेण यश्चरन् नापराध्नुयात्।
तेन कर्णेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ६९ ॥
मनुष्यलोके सकले यस्य तुल्यो न विद्यते।
तेन भीष्मेण ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७० ॥

'तात! जो एक ही लक्ष्यके साथ-साथ सहस्रों लक्ष्योंका वेध करनेके लिये बाण चलाता है और कहीं भी चूकता नहीं है, उस कर्णके साथ तुम्हारा युद्ध किस प्रकार हुआ? बेटा! सारे मनुष्यलोकमें जिनकी समानता करनेवाला कोई नहीं है, उन भीष्मजीके साथ तुम्हारी भिड़न्त किस प्रकार हुई? ॥ ६९-७० ॥

आचार्यो वृष्णिवीराणां कौरवाणां च यो द्विजः।
सर्वक्षत्रस्य चाचार्यः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
तेन द्रोणेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७१ ॥

'तात! जो वृष्णि वीरों और कौरवों दोनोंके आचार्य हैं अथवा दोनोंके ही नहीं, सम्पूर्ण क्षत्रियोंके आचार्य हैं, समस्त शस्त्रधारियोंमें जिनका सबसे ऊँचा स्थान है, उन द्रोणाचार्यके साथ तुम्हारा संग्राम किस प्रकार हुआ? ॥ ७१ ॥

आचार्यपुत्रो यः शूरः सर्वशस्त्रभृतामपि।
अश्वत्थामेति विख्यातस्तेनासीत् संगरः कथम्॥ ७२॥

'आचार्यके जो शूरवीर पुत्र सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं, जिनकी अश्वत्थामा नामसे ख्याति है, उनके साथ तुम्हारी लड़ाई कैसे हुई ?॥ ७२॥

रणे यं प्रेक्ष्य सीदन्ति हृतस्वा वणिजो यथा।
कृपेण तेन ते तात कथमासीत् समागमः॥ ७३॥

'बेटा ! जैसे वणिक् अपना धन छिन जानेपर दुखी होते हैं, उसी प्रकार युद्धमें जिन्हें देखकर बड़े-बड़े योद्धा शिथिल हो जाते हैं, उन कृपाचार्यके साथ तुम्हारा संग्राम किस प्रकार हुआ ?॥ ७३॥

पर्वतं योऽभिविध्येत राजपुत्रो महेषुभिः।
दुर्योधनेन ते तात कथमासीत् समागमः॥ ७४॥

'तात ! जो राजपुत्र अपने महान् बाणोंसे पर्वतको भी विदीर्ण कर सकता है, उस दुर्योधनके साथ तुम्हारी मुठभेड़ कैसे हुई ?॥ ७४॥

अवगाढा द्विषन्तो मे सुखो वातोऽभिवाति माम्।
यस्त्वं धनमथाजैषीः कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे॥ ७५॥

'बेटा ! कौरवोंने जिस गोधनको संग्राममें हड़प लिया था, उसे तुम जीतकर ले आये, यह बहुत अच्छा हुआ। आज हमारे शत्रु परास्त हो गये, इसलिये आजकी वायु मुझे बड़ी सुख-दायिनी प्रतीत हो रही है॥ ७५॥

तेषां भयाभिपन्नानां सर्वेषां बलशालिनाम्।
नूनं प्रकाल्य तान् सर्वांस्त्वया युधि नरर्षभ।
आच्छिन्नं गोधनं सर्वं शार्दूलेनामिषं यथा॥ ७६॥

'नरश्रेष्ठ ! तुमने उन समस्त शत्रुओंको युद्धमें जीतकर उन्हें भयमें डाल दिया है और उन समस्त बलशालियोंके हाथसे अपने सारे गोधनको इस प्रकार छीन लिया है, जैसे सिंह दूसरे जन्तुओंके हाथसे मांस छीन लेता है'॥ ७६॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि विराटोत्तरसंवादे अष्टषष्टितमोऽध्यायः॥ ६८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें विराट-उत्तर-संवादविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ७९ श्लोक हैं)

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

राजा विराट और उत्तरकी विजयके विषयमें बातचीत

उत्तर उवाच

न मया निर्जिता गावो न मया निर्जिताः परे।
कृतं तत् सकलं तेन देवपुत्रेण केनचित्॥ १॥

उत्तरने कहा—पिताजी ! मैंने गौओंको नहीं जीता है और न मैंने शत्रुओंपर ही विजय पायी है। यह सब कार्य तो किसी देवकुमारने किया है॥ १॥

स हि भीतं द्रवन्तं मां देवपुत्रो न्यवर्तयत्।
स चातिष्ठद् रथोपस्थे वज्रसंहननो युवा॥ २॥

मैं तो डरकर भागा आ रहा था; किंतु वज्रके समान सुदृढ़ शरीरवाले उस तरुण देवपुत्रने मुझे लौटाया और वह स्वयं ही रथके पिछले भागमें रथी बनकर बैठ गया॥ २॥

तेन ता निर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः।
तस्य तत् कर्म वीरस्य न मया तात तत् कृतम्॥ ३॥

उसीने उन गौओंको जीता है और कौरवोंको भी परास्त किया है। पिताजी ! यह सब उसी वीरका कर्म है। मैंने कुछ नहीं किया है॥ ३॥

स हि शारद्वतं द्रोणं द्रोणपुत्रं च षड् रथान्।
सूतपुत्रं च भीष्मं च चकार विमुखाञ्छरैः॥ ४॥
दुर्योधनं विकर्णं च सनागमिव यूथपम्।
प्रभग्नमब्रवीद् भीतं राजपुत्रं महाबलः॥ ५॥

उसीने कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण, भीष्म और दुर्योधन—इन छहों महारथियोंको अपने बाणोंसे मार-कर युद्धसे भगा दिया। वहाँ जैसे यूथपति गजराज अपने झुंडके हाथियोंसहित भागा जाता हो, उसी प्रकार दुर्योधन और विकर्ण आदि राजपुत्र भयभीत होकर भागने लगे; तब उस महाबली देवपुत्रने दुर्योधनसे कहा—॥ ४-५॥

न हास्तिनपुरे त्राणं तव पश्यामि किंचन।
व्यायामेन परीप्सस्व जीवितं कौरवात्मज॥ ६॥

'धृतराष्ट्रकुमार ! अब हस्तिनापुरमें तेरी जीवनरक्षाका कोई उपाय मुझे नहीं दिखायी देता; अतः देश-देशान्तरोंमें घूमकर अपनी जान बचा॥ ६॥

न मोक्ष्यसे पलायंस्त्वं राजन् युद्धे मनः कुरु।
पृथिवीं भोक्ष्यसे जित्वा हतो वा स्वर्गमाप्स्यसि॥ ७॥

'राजन् ! भागनेसे तू नहीं बच सकता। युद्धमें मन लगा। जीत लेगा, तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा अथवा मारे जानेपर तुझे स्वर्ग मिलेगा'॥ ७॥

स निवृत्तो नरव्याघ्रो मुञ्चन् वज्रनिभाञ्छरान्।
सचिवैः संवृतो राजा रथे नाग इव श्वसन्॥ ८॥

महाराज ! इतना सुनना था कि नरश्रेष्ठ दुर्योधन साँपकी भाँति फुँफकारता हुआ रथके द्वारा लौट आया और

मन्त्रियोंसे घिरकर उस देवपुत्रपर वज्र-सरीखे बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ८ ॥

तं दृष्ट्वा रोमहर्षोऽभूदूरुकम्पश्च मारिष ।
स तत्र सिंहसंकाशमनीकं व्यधमच्छरैः ॥ ९ ॥

मारिष ! उस समय उसे देखकर मेरे तो रोंगटे खड़े हो गये और जाँघें काँपने लगीं; किंतु उस देवपुत्रने अपने बाणोंद्वारा सिंहके समान पराक्रमी दुर्योधन और उसकी सेनाको संतप्त कर दिया ॥ ९ ॥

तत् प्रणुद्य रथानीकं सिंहसंहननो युवा ।
कुरूंस्तान् प्रहसन् राजन् संस्थितान् हृतवाससः ॥ १० ॥
एकेन तेन वीरेण षड् रथाः परिनिर्जिताः ।
शार्दूलेनेव मत्तेन यथा वनचरा मृगाः ॥ ११ ॥

सिंहके समान सुदृढ़ शरीरवाले उस तरुण वीरने रथारोहियोंकी सेनाको छिन्न-भिन्न करके हँसते-हँसते उन कौरवोंको भी धराशायी कर दिया, जिससे उनके कपड़े उतार लिये गये। जैसे मदोन्मत्त सिंह वनमें विचरनेवाले मृगोंको परास्त करता है, उसी प्रकार उस वीर देवपुत्रने अकेले ही उन छः महारथियोंको हराया है ॥ १०-११ ॥

विराट उवाच

क स वीरो महाबाहुर्देवपुत्रो महायशाः ।
यो मे धनमथाजैषीत् कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ॥ १२ ॥
इच्छामि तमहं द्रष्टुमर्चितुं च महाबलम् ।
येन मे त्वं च गावश्च रक्षिता देवसूनुना ॥ १३ ॥

विराटने पूछा—बेटा ! वह महायशस्वी महाबाहु वीर देवपुत्र कहाँ है, जिसने युद्धमें कौरवोंद्वारा काबूमें की हुई मेरी गौओंको जीता है ? जिस देवकुमारने तुम्हें और मेरी गौओंको भी बचाया है, मैं उस महापराक्रमी वीरको देखना और उसका सत्कार करना चाहता हूँ ॥ १२-१३ ॥

उत्तर उवाच

अन्तर्धानं गतस्तत्र देवपुत्रो महाबलः ।
स तु श्वो वा परश्वो वा मन्ये प्रादुर्भविष्यति ॥ १४ ॥

उत्तरने कहा—पिताजी ! वह महाबली देवपुत्र वहीं अन्तर्धान हो गया; किंतु मेरा विश्वास है कि वह कल या परसों यहाँ फिर प्रकट होगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाख्यायमानं तु छन्नं सत्रेण पाण्डवम् ।
वसन्तं तत्र नाज्ञासीद् विराटो वाहिनीपतिः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार संकेतपूर्वक बतानेपर भी सेनाओंके स्वामी राजा विराट नपुंसक-वेशमें छिपकर वहीं रहनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनको पहचान न सके ॥ १५ ॥

ततः पार्थोऽभ्यनुज्ञातो विराटेन महात्मना ।
प्रददौ तानि वासांसि विराटदुहितुः स्वयम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर महामना विराटकी आज्ञासे बृहन्नलारूपी अर्जुनने स्वयं विराटकन्या उत्तराको वे सब कपड़े, जो महारथियोंके शरीरसे उतारे गये थे, दे दिये ॥ १६ ॥

उत्तरा तु महार्हाणि विविधानि नवानि च ।
प्रतिगृह्याभवत् प्रीता तानि वासांसि भामिनी ॥ १७ ॥
मन्त्रयित्वा तु कौन्तेय उत्तरेण महात्मना ।
इतिकर्तव्यतां सर्वां राजन् पार्थे युधिष्ठिरे ॥ १८ ॥
ततस्तथा तद् व्यदधाद् यथावत् पुरुषर्षभ ।
सह पुत्रेण मत्स्यस्य प्रहृष्टा भरतर्षभाः ॥ १९ ॥

भामिनी उत्तरा उन भाँति-भाँतिके नवीन एवं बहुमूल्य वस्त्रोंको लेकर बहुत प्रसन्न हुई। जनमेजय ! कुन्तीनन्दन अर्जुनने महामना उत्तरके साथ राजा युधिष्ठिरको प्रकट करनेके विषयमें सलाह की और क्या-क्या करना चाहिये, इन सब बातोंका निश्चय कर लिया। नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर उन्होंने उसी निश्चयके अनुसार सब कार्य ठीक-ठीक किया। भरतकुलशिरोमणि पाण्डव मत्स्यनरेशके पुत्र उत्तरके साथ वह सब व्यवस्था करके बड़े प्रसन्न हुए ॥ १७-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि विराटोत्तरसंवादे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें विराट-उत्तर-संवादविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

(वैवाहिकपर्व)

सप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका राजा विराटको महाराज युधिष्ठिरका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तृतीये दिवसे भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
स्नाताः शुक्लाम्बरधराः समये चरितव्रताः ॥ १ ॥
युधिष्ठिरं पुरस्कृत्य सर्वाभरणभूषिताः ।
द्वारि मत्ता यथा नागा भ्राजमाना महारथाः ॥ २ ॥
विराटस्य सभां गत्वा भूमिपालासनेष्वथ ।
निषेदुः पावकप्रख्याः सर्वे धिष्ण्येष्विवाग्नयः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर

नियत समयतक अपनी प्रतिज्ञाका पालन करके अग्निके समान तेजस्वी पाँचों भाई महारथी पाण्डव तीसरे दिन स्नान करके श्वेत वस्त्र धारणकर समस्त राजोचित आभूषणोंसे विभूषित हो राजसभामें द्वारपर स्थित मदोन्मत्त गजराजोंकी भाँति सुशोभित होने लगे। वे राजा युधिष्ठिरको आगे करके विराटकी सभामें गये और राजाओंके लिये रक्खे हुए सिंहासनोंपर बैठे। उस समय वे भिन्न-भिन्न यज्ञवेदियोंपर प्रज्वलित अग्नियोंके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ १—३॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु विराटः पृथिवीपतिः।
आजगाम सभां कर्तुं राजकार्याणि सर्वशः॥ ४॥

पाण्डवोंके वहाँ बैठ जानेपर राजा विराट अपने समस्त राजकाज करनेके लिये सभामें आये॥ ४॥

श्रीमतः पाण्डवान् दृष्ट्वा ज्वलतः पावकानिव।
मुहूर्तमिव च ध्यात्वा सरोषः पृथिवीपतिः॥ ५॥
अथ मत्स्योऽब्रवीत् कङ्कं देवरूपमिव स्थितम्।
मरुद्गणैरुपासीनं त्रिदशानामिवेश्वरम्॥ ६॥

वहा प्रज्वलित अग्नियोंके समान तेजस्वी श्रीसम्पन्न पाण्डवोंको देखकर पृथ्वीपति विराटने दो घड़ीतक मन-ही-मन कुछ विचार किया। फिर वे कुपित होकर देवताके समान स्थित मरुद्गणोंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रके तुल्य सुशोभित कङ्कसे बोले—॥ ५-६॥

स किलाक्षातिवापस्त्वं सभास्तारो मया वृतः।
अथ राजासने कस्मादुपविष्टस्त्वलंकृतः॥ ७॥

'कङ्क! तुम्हें तो मैंने पासा फेंकनेवाला सभासद् बनाया था। आज बन-ठनकर राजसिंहासनपर कैसे बैठ गये?'॥ ७॥

वैशम्पायन उवाच

परिहासेप्सया वाक्यं विराटस्य निशम्य तत्।
स्मयमानोऽर्जुनो राजन्निदं वचनमब्रवीत्॥ ८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मानो परिहास करनेके लिये कहा गया हो, ऐसा विराटका वह वचन सुनकर अर्जुन मुसकराते हुए इस प्रकार बोले॥ ८॥

अर्जुन उवाच

इन्द्रस्यार्धासनं राजन्नयमारोढुमर्हति।
ब्रह्मण्यः श्रुतवांस्त्यागी यज्ञशीलो दृढव्रतः॥ ९॥

अर्जुनने कहा—राजन्! आपके राजासनकी तो बात ही क्या है, ये तो इन्द्रके भी आधे सिंहासनपर बैठनेके अधिकारी हैं। ये ब्राह्मणभक्त, शास्त्रोंके विद्वान्, त्यागी, यज्ञशील तथा दृढ़ताके साथ अपने व्रतका पालन करनेवाले हैं॥ ९॥

एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः।
एष बुद्ध्याधिको लोके तपसां च परायणम्॥ १०॥
एषोऽस्त्रं विविधं वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे।
न चैवान्यः पुमान् वेत्ति न वेत्स्यति कदाचन॥ ११॥

ये मूर्तिमान् धर्म हैं तथा पराक्रमी पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। इस जगत्‌में ये सबसे बढ़कर बुद्धिमान् और तपस्याके परम आश्रय हैं। ये नाना प्रकारके ऐसे अस्त्रोंको जानते हैं, जिन्हें इस चराचर त्रिलोकीमें दूसरा मनुष्य न तो जानता है और न कभी जान सकेगा॥ १०-११॥

न देवा नासुराः केचिन्न मनुष्या न राक्षसाः।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिंनरमहोरगाः॥ १२॥

जिन अस्त्रोंको देवता, असुर, मनुष्य, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और बड़े-बड़े नाग भी नहीं जानते, उन सबका इन्हें ज्ञान है॥ १२॥

दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः।
पाण्डवानामतिरथो यज्ञधर्मपरो वशी॥ १३॥

ये दीर्घदर्शी, महातेजस्वी तथा नगर और देशके लोगोंको अत्यन्त प्रिय हैं। ये पाण्डवोंमें अतिरथी वीर हैं एवं सदा यज्ञ और धर्मके अनुष्ठानमें संलग्न तथा मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले हैं॥ १३॥

महर्षिकल्पो राजर्षिः सर्वलोकेषु विश्रुतः।
बलवान् धृतिमान् दक्षः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
धनैश्च सञ्चयैश्चैव शक्रवैश्रवणोपमः॥ १४॥

ये महर्षियोंके समान हैं, राजर्षि हैं और समस्त लोकोंमें विख्यात हैं। बलवान्, धैर्यवान्, चतुर, सत्यवादी और जितेन्द्रिय हैं। धन और संग्रहकी दृष्टिसे ये इन्द्र और कुबेरके समान हैं॥ १४॥

यथा मनुर्महातेजा लोकानां परिरक्षिता।
एवमेष महातेजाः प्रजानुग्रहकारकः॥ १५॥

जैसे महातेजस्वी मनु समस्त लोकोंके रक्षक हैं, उसी प्रकार ये महातेजस्वी नरेश भी प्रजाजनोंपर अनुग्रह करनेवाले हैं॥ १५॥

अयं कुरूणामृषभो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
अस्य कीर्तिः स्थिता लोके सूर्यस्येवोद्यतः प्रभा॥ १६॥

ये ही कुरुवंशमें सर्वश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर हैं। उदयकालके सूर्यकी शान्त प्रभाके समान इनकी सुखदायिनी कीर्ति समस्त संसारमें फैली हुई है॥ १६॥

संसरन्ति दिशः सर्वा यशसोऽस्य इवांशवः।
उदितस्येव सूर्यस्य तेजसोऽनु गभस्तयः॥ १७॥

जैसे सूर्योदय होनेपर सूर्यके तेजके पश्चात् उनकी किरणें समस्त दिशाओंमें फैल जाती हैं, उसी प्रकार इनके सुयशके साथ-साथ उसकी सुधाधवल किरणें समस्त दिशाओंमें छा रही हैं॥ १७॥

एनं दशसहस्राणि कुञ्जराणां तरस्विनाम्।
अन्वयुः पृष्ठतो राजन् यावदध्यावसत् कुरून् ॥ १८ ॥

राजन्! ये महाराज जब कुरुदेशमें रहते थे, उस समय इनके पीछे दस हजार वेगवान् हाथी चला करते थे ॥ १८ ॥

त्रिंशदेनं सहस्राणि रथाः काञ्चनमालिनः।
सदश्वैरुपसम्पन्नाः पृष्ठतोऽनुययुस्तदा ॥ १९ ॥

इसी प्रकार अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमालामण्डित तीस हजार रथ भी उस समय इनका अनुसरण करते थे ॥ १९ ॥

एनमष्टशताः सूताः सुमृष्टमणिकुण्डलाः।
अब्रुवन् मागधैः सार्धं पुरा शक्रमिवर्षयः ॥ २० ॥

जैसे महर्षिगण इन्द्रकी स्तुति करते हैं, उसी प्रकार पहले विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण किये आठ सौ सूत और मागध इनके गुण गाते थे ॥ २० ॥

एनं नित्यमुपासन्त कुरवः किंकरा यथा।
सर्वे च राजन् राजानो धनेश्वरमिवामराः ॥ २१ ॥

राजन्! जैसे देवगण धनाध्यक्ष कुबेरका दरबार किया करते हैं, वैसे ही सब राजा और कौरव किंकरोंकी भाँति इनकी नित्य उपासना करते थे ॥ २१ ॥

एष सर्वान् महीपालान् करदान् समकारयत्।
वैश्यानिव महाभागो विवशान् स्ववशानपि ॥ २२ ॥
अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम्।
उपजीवन्ति राजानमेनं सुचरितव्रतम् ॥ २३ ॥

इन महाभाग नरेशने इस देशके सब राजाओंको वैश्योंकी भाँति स्ववश (अपने अधीन) और विवश करके कर देनेवाला बना दिया था। (अर्थात् सब राजा इन्हें कर दिया करते थे।) अत्यन्त उत्तम व्रतका पालन करनेवाले इन महाराजके यहाँ प्रतिदिन अट्ठासी हजार महाबुद्धिमान् स्नातकोंकी जीविका चलती थी ॥ २२-२३ ॥

एष वृद्धाननाथांश्च पङ्गूनन्धांश्च मानवान्।
पुत्रवत् पालयामास प्रजा धर्मेण वै विभुः ॥ २४ ॥

ये बूढ़े, अनाथ, पङ्गु और अंधे मनुष्योंका भी स्नेहपूर्वक पालन करते थे। ये नरेश अपनी प्रजाकी धर्मपूर्वक पुत्रकी भाँति रक्षा करते थे ॥ २४ ॥

एष धर्मे दमे चैव क्रोधे चापि जितव्रतः।
महाप्रसादो ब्रह्मण्यः सत्यवादी च पार्थिवः ॥ २५ ॥

ये भूपाल धर्म और इन्द्रियसंयममें तत्पर तथा क्रोधको काबूमें रखनेके लिये दृढ़प्रतिज्ञ हैं। ये बड़े कृपालु, ब्राह्मणभक्त और सत्यवक्ता हैं ॥ २५ ॥

शीघ्रं तापेन चैतस्य तप्यते स सुयोधनः।
सगणः सह कर्णेन सौबलेनापि वा विभुः ॥ २६ ॥

इनके प्रतापसे दुर्योधन शक्तिशाली होकर भी कर्ण, शकुनि तथा अपने गणोंके साथ शीघ्र ही संतप्त होनेवाला है ॥ २६ ॥

न शक्यन्ते ह्यस्य गुणाः प्रसंख्यातुं नरेश्वर।
एष धर्मपरो नित्यमानृशंसश्च पाण्डवः ॥ २७ ॥
एवं युक्तो महाराजः पाण्डवः पार्थिवर्षभः।
कथं नार्हति राजार्हमासनं पृथिवीपते ॥ २८ ॥

नरेश्वर! इनके सद्गुणोंकी गणना नहीं की जा सकती। ये पाण्डुनन्दन नित्य धर्मपरायण तथा दयालु स्वभावके हैं। राजन्! समस्त राजाओंके शिरोमणि पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर इस प्रकार सर्वोत्तम गुणोंसे युक्त होकर भी राजोचित आसनके अधिकारी क्यों नहीं हैं? ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पाण्डवप्रकाशे सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें पाण्डवप्राकट्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

विराटको अन्य पाण्डवोंका भी परिचय प्राप्त होना तथा विराटके द्वारा युधिष्ठिरको राज्य समर्पण करके अर्जुनके साथ उत्तराके विवाहका प्रस्ताव करना

विराट उवाच

यद्येष राजा कौरव्यः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
कतमोऽस्यार्जुनो भ्राता भीमश्च कतमो बली ॥ १ ॥
नकुलः सहदेवो वा द्रौपदी वा यशस्विनी।
यदा द्यूतजिताः पार्था न प्राज्ञायन्त ते क्वचित् ॥ २ ॥

विराटने पूछा—यदि ये कुरुकुलके रत्न कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर हैं, तो इनमें कौन इनके भाई अर्जुन हैं? कौन महाबली भीम हैं? नकुल, सहदेव अथवा यशस्विनी द्रौपदी कौन हैं? जबसे कुन्तीपुत्र जूएमें हार गये, तबसे उनका कहीं भी पता नहीं लगा ॥ १-२ ॥

अर्जुन उवाच

य एष बल्लवो ब्रूते सूदस्तव नराधिप।
एष भीमो महाराज भीमवेगपराक्रमः ॥ ३ ॥

अर्जुन बोले—महाराज ! ये जो बल्लवनामधारी आपके रसोइये हैं, ये ही भयंकर वेग और पराक्रमवाले भीमसेन हैं ॥ ३ ॥

एष क्रोधवशान् हत्वा पर्वते गन्धमादने।
सौगन्धिकानि दिव्यानि कृष्णार्थे समुपाहरत् ॥ ४ ॥
गन्धर्व एष वै हन्ता कीचकानां दुरात्मनाम्।
व्याघ्रानृक्षान् वराहांश्च हतवान् स्त्रीपुरे तव ॥ ५ ॥

ये ही गन्धमादन पर्वतपर क्रोधवश नामवाले राक्षसोंको मारकर द्रौपदीके लिये दिव्य सौगन्धिक कमल ले आये थे। दुरात्मा कीचकोंका संहार करनेवाले गन्धर्व भी ये ही हैं। इन्होंने ही आपके अन्तःपुरमें अनेक व्याघ्रों, भालुओं और वराहोंका वध किया है ॥ ४-५ ॥

(हिडिम्बं च बकं चैव किर्मीरं च जटासुरम्।
हत्वा निष्कण्टकं चक्रेऽरण्यं सर्वतः सुखम् ॥)

इन्होंने ही हिडिम्ब, बकासुर, किर्मीर और जटासुरको मारकर वनको सर्वथा निष्कण्टक और सुखमय बनाया था ॥

यश्चासीदश्वबन्धस्ते नकुलोऽयं परंतपः।
गोसङ्ख्यः सहदेवश्च माद्रीपुत्रौ महारथौ ॥ ६ ॥
शृङ्गारवेषाभरणौ रूपवन्तौ यशस्विनौ।
महारथसहस्राणां समर्थौ भरतर्षभौ ॥ ७ ॥

और ये शत्रुओंको संताप देनेवाले नकुल जो अबतक आपके यहाँ अश्वशालाके प्रबन्धक रहे हैं और ये सहदेव हैं, जो गौओंकी सँभाल करते आये हैं। ये दोनों (हमारी माता) माद्रीके पुत्र एवं महारथी वीर हैं। उत्तम शृङ्गार, सुन्दर वेष और आभूषणोंसे सुशोभित ये दोनों भाई बड़े ही रूपवान् और यशस्वी हैं। भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ये नकुल-सहदेव युद्धमें सहस्रों महारथियोंका सामना करनेमें समर्थ हैं ॥ ६-७ ॥

एषा पद्मपलाशाक्षी सुमध्या चारुहासिनी।
सैरन्ध्री द्रौपदी राजन् यस्यार्थे कीचका हताः ॥ ८ ॥

राजन् ! यह विकसित कमलदलके समान विशाल नेत्र, सुन्दर कटिप्रदेश और मनोहर मुसकानवाली सैरन्ध्री ही महारानी द्रौपदी है, जिसके धर्मकी रक्षाके लिये कीचकोंका वध किया गया ॥ ८ ॥

अर्जुनोऽहं महाराज व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः।
भीमादवरजः पार्थो यमाभ्यां चापि पूर्वजः ॥ ९ ॥

महाराज ! मैं ही अर्जुन हूँ। अवश्य मेरा नाम भी आपके कानोंमें पड़ा होगा। मैं कुन्तीदेवीका पुत्र हूँ। भीमसेनसे छोटा और नकुल-सहदेवसे बड़ा हूँ ॥ ९ ॥

उषिताः स्मो महाराज सुखं तव निवेशने।
अज्ञातवासमुषिता गर्भवास इव प्रजाः ॥ १० ॥

राजन् ! हमलोगोंने बड़े सुखसे आपके महलमें अज्ञातवासका समय बिताया है। जैसे संतान गर्भवासमें रही हो, उसी प्रकार हम भी यहाँ अज्ञातवासमें रहे हैं ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

यदार्जुनेन ते वीराः कथिताः पञ्च पाण्डवाः।
तदार्जुनस्य वैराटिः कथयामास विक्रमम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जब अर्जुनने पाँचों पाण्डव वीरोंका परिचय दे दिया, तब विराटकुमार उत्तरने अर्जुनका पराक्रम बताया ॥ ११ ॥

पुनरेव च तान् पार्थान् दर्शयामास चोत्तरः ॥ १२ ॥

साथ ही उन्होंने पाँचों पाण्डवोंका एक-एक करके पुनः राजाको परिचय दिया ॥ १२ ॥

उत्तर उवाच

य एष जाम्बूनदशुद्धगौर-
तनुर्महान् सिंह इव प्रवृद्धः।
प्रचण्डघोणः पृथुदीर्घनेत्र-
स्ताम्रायताक्षः कुरुराज एषः ॥ १३ ॥

उत्तर बोले—पिताजी ! विशुद्ध जाम्बूनद नामक सुवर्णके समान जिनका गौर शरीर है, जो सबसे बड़े और सिंहके समान हृष्ट-पुष्ट हैं, जिनकी नाक लंबी और बड़े-बड़े नेत्र कुछ लालिमा लिये कानोंतक फैले हुए हैं, ये ही कुरुकुल-नरेश महाराज युधिष्ठिर हैं ॥ १३ ॥

अयं पुनर्मत्तगजेन्द्रगामी
प्रतप्तचामीकरशुद्धगौरः ।
पृथ्वायतांसो गुरुदीर्घबाहु-
र्वृकोदरः पश्यत पश्यतैनम् ॥ १४ ॥

और ये जो मतवाले गजराजकी भाँति मस्तानी चालसे चलनेवाले हैं, तपाये हुए सुवर्णके समान जिनका विशुद्ध गौर शरीर है, जिनके कंधे मोटे और चौड़े हैं तथा भुजाएँ बड़ी-बड़ी और भारी हैं, ये ही भीमसेन हैं। इन्हें अच्छी तरह देखिये ॥ १४ ॥

यस्त्वेव पार्श्वेऽस्य महाधनुष्मान्
श्यामो युवा वारणयूथपोपमः।
सिंहोन्नतांसो गजराजगामी
पद्मायताक्षोऽर्जुन एष वीरः ॥ १५ ॥

इनके बगलमें जो ये महान् धनुर्धर श्याम वर्णके तरुण वीर विराज रहे हैं, जो यूथपति गजराजके समान शोभा पाते हैं, जिनके कंधे सिंहके समान ऊँचे और चाल मतवाले हाथीके समान मस्तानी है, ये ही कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाले वीरवर अर्जुन हैं ॥ १५ ॥

राज्ञः समीपे पुरुषोत्तमौ तु
यमाविमौ विष्णुमहेन्द्रकल्पौ ।
मनुष्यलोके सकले समोऽस्ति
ययोर्न रूपे न बले न शीले ॥ १६ ॥

महाराज युधिष्ठिरके समीप बैठे हुए वे इन्द्र और उपेन्द्रके समान दोनों नरश्रेष्ठ माद्रीके जुड़वें पुत्र नकुल-सहदेव हैं। सम्पूर्ण मानव-जगत्में इनके रूप, बल और शीलकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ १६ ॥

आभ्यां तु पार्श्वे कनकोत्तमाङ्गी
यैषा प्रभा मूर्तिमतीव गौरी ।
नीलोत्पलाभा सुरदेवतेव
कृष्णा स्थिता मूर्तिमतीव लक्ष्मीः ॥ १७ ॥

इन दोनोंके बगलमें ये जो तेजस्विनी देवी मूर्तिमती गौरीके समान खड़ी हैं, जिनके उत्तम अङ्गोंसे सुनहरी छटा छिटक रही है, जिनकी कान्ति नीलकमलकी आभाको लज्जित कर रही है तथा जो देवताओंकी भी देवी और साकाररूपमें प्रकट हुई लक्ष्मीके समान शोभा पा रही हैं, ये ही द्रुपद-कुमारी महारानी कृष्णा हैं ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं निवेद्य तान् पार्थान् पाण्डवान् पञ्च भूपतेः ।
ततोऽर्जुनस्य वैराटिः कथयामास विक्रमम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार उन पाँचों कुन्तीपुत्र पाण्डवोंका राजाको परिचय देकर विराटकुमारने अर्जुनका पराक्रम बताना प्रारम्भ किया ॥ १८ ॥

उत्तर उवाच

अयं स द्विषतां हन्ता मृगाणामिव केसरी ।
अचरद् रथवृन्देषु निघ्नंस्तांस्तान् वरान् रथान्॥१९॥

उत्तरने कहा—पिताजी! ये ही वे देवपुत्र हैं, जो शत्रुओंका उसी प्रकार वध करते हैं, जैसे सिंह मृगोंका। ये ही कौरव रथारोहियोंकी सेनामें उन सब श्रेष्ठ महारथियोंको घायल करते हुए निर्भय विचर रहे थे ॥ १९ ॥

अनेन विद्धो मातङ्गो महानेकेषुणा हतः ।
सुवर्णकक्षः संग्रामे दन्ताभ्यामगमन्महीम् ॥ २० ॥

युद्धमें इनके एक ही बाणसे घायल होकर विकर्णका विशाल गजराज, जो सोनेकी साँकलसे सुशोभित था, धरतीपर दोनों दाँत टेककर मर गया ॥ २० ॥

अनेन विजिता गावो जिताश्च कुरवो युधि ।
अस्य शङ्खप्रणादेन कर्णौ मे बधिरीकृतौ ॥ २१ ॥

इन्होंने ही गौओंको जीता और युद्धमें कौरवोंको परास्त किया है। इनके शङ्खकी गम्भीर ध्वनि सुनकर मेरे तो कान बहरे हो गये थे ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मत्स्यराजः प्रतापवान् ।
उत्तरं प्रत्युवाचेदमभिपन्नो युधिष्ठिरे ॥ २२ ॥
प्रसादनं पाण्डवस्य प्राप्तकालं हि रोचते ।
उत्तरां च प्रयच्छामि पार्थाय यदि मन्यसे ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उत्तरकी यह बात सुनकर प्रतापी मत्स्यनरेश, जो युधिष्ठिरके अपराधी थे, अपने पुत्रसे इस प्रकार बोले—'बेटा! यह पाण्डवोंको प्रसन्न करनेका समय आया है। मेरी ऐसी ही रुचि है। यदि तुम्हारी राय हो, तो मैं कुमारी उत्तराका विवाह कुन्तीपुत्र अर्जुनसे कर दूँ' ॥ २२-२३ ॥

उत्तर उवाच

आर्याः पूज्याश्च मान्याश्च प्राप्तकालं च मे मतम् ।
पूज्यन्तां पूजनार्हाश्च महाभागाश्च पाण्डवाः ॥ २४ ॥

उत्तरने कहा—पिताजी! पाण्डवलोग महान् सौभाग्यशाली हैं। ये सर्वथा श्रेष्ठ, पूजनीय और सम्मानके योग्य हैं। मेरी समझमें इनके सत्कारका हमें अवसर भी मिल गया है, अतः इन पूजने योग्य पाण्डवोंका आप अवश्य पूजन करें ॥ २४ ॥

विराट उवाच

अहं खल्वपि संग्रामे शत्रूणां वशमागतः ।
मोक्षितो भीमसेनेन गावश्चापि जितास्तथा ॥ २५ ॥

विराट बोले—बेटा! मैं भी त्रिगर्तोंके साथ होनेवाले संग्राम-में शत्रुओंके वशीभूत हो गया था, किंतु भीमसेनने मुझे छुड़ाया और हमारी सब गौओंको भी जीता ॥ २५ ॥

एतेषां बाहुवीर्येण अस्माकं विजयो मृधे ।
एवं सर्वे सहामात्याः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
प्रसादयामो भद्रं ते सानुजं पाण्डवर्षभम् ॥ २६ ॥

इन पाण्डवोंके ही बाहुबलसे संग्राममें हमारी विजय हुई है; इसलिये वत्स! तुम्हारा भला हो। हम सब लोग मन्त्रियों-सहित चलकर पाण्डवश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको उनके छोटे भाइयोंसहित प्रसन्न करें ॥ २६ ॥

यदस्माभिरजानद्भिः किंचिदुक्तो नराधिपः ।
क्षन्तुमर्हति तत् सर्वं धर्मात्मा ह्येष पाण्डवः ॥ २७ ॥

हमने अनजानमें उनके प्रति जो कुछ अनुचित वचन कह दिया है, वह सब ये धर्मात्मा पाण्डुपुत्र महाराज युधिष्ठिर क्षमा करें ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विराटः परमाभितुष्टः
समेत्य राजा समयं चकार ।
राज्यं च सर्वं विससर्ज तस्मै
सदण्डकोशं सपुरं महात्मा ॥ २८ ॥

पाण्डवांश्च ततः सर्वान् मत्स्यराजः प्रतापवान्।
धनंजयं पुरस्कृत्य दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रवीत्॥ २९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर राजा विराटने बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने पुत्रसे मिलकर कुछ विचार किया, फिर उन महामनाने दण्ड, कोश और नगर आदिसहित सम्पूर्ण राज्य युधिष्ठिरको समर्पित कर दिया। फिर प्रतापी मत्स्यराज अर्जुनको आगे रखकर सब पाण्डवोंसे मिले और यह कहने लगे कि हमारा बड़ा सौभाग्य है, हमारा बड़ा सौभाग्य है; जो आपलोगोंका दर्शन हुआ॥ २८-२९॥

समुपाघ्राय मूर्धानं संश्लिष्य च पुनः पुनः।
युधिष्ठिरं च भीमं च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ॥ ३०॥

फिर उन्होंने युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवका बार-बार मस्तक सूँघा और सबको हृदयसे लगाया॥ ३०॥

नातृप्यद् दर्शने तेषां विराटो वाहिनीपतिः।
स प्रीयमाणो राजानं युधिष्ठिरमथाब्रवीत्॥ ३१॥

सेनाओंके स्वामी राजा विराट पाण्डवोंको देख-देखकर तृप्त नहीं होते थे। वे प्रेमपूर्वक राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥

दिष्ट्या भवन्तः सम्प्राप्ताः सर्वे कुशलिनो वनात्।
दिष्ट्या सम्पालितं कृच्छ्रमज्ञातं वै दुरात्मभिः॥ ३२॥

'बड़े सौभाग्यकी बात है, जो आप सब लोग वनसे कुशलपूर्वक लौट आये। दुरात्मा कौरवोंसे अज्ञात रहकर आपने यह कष्टसाध्य अज्ञातवासका नियम पूरा कर लिया, यह भी बड़े आनन्दकी बात है॥ ३२॥

इदं च राज्यं पार्थाय यच्चान्यदपि किञ्चन।
प्रतिगृह्णन्तु तत् सर्वं पाण्डवा अविशङ्कया॥ ३३॥

'मेरा यह राज्य कुन्तीपुत्रको समर्पित है। इसके सिवा और भी जो कुछ मेरे पास है, वह सब पाण्डवलोग बिना किसी संकोचके ग्रहण करें॥ ३३॥

उत्तरां प्रतिगृह्णातु सव्यसाची धनंजयः।
अयं ह्यौपयिको भर्ता तस्याः पुरुषसत्तमः॥ ३४॥

'सव्यसाची धनंजय मेरी कन्या उत्तराको पत्नीरूपमें स्वीकार करें। ये नरश्रेष्ठ उसके लिये सर्वथा योग्य पति हैं'॥ ३४॥

एवमुक्तो धर्मराजः पार्थमैक्षद् धनंजयम्।
ईक्षितश्चार्जुनो भ्रात्रा मत्स्यं वचनमब्रवीत्॥ ३५॥
प्रतिगृह्णाम्यहं राजन् स्नुषां दुहितरं तव।
युक्तश्चावां हि सम्बन्धो मत्स्यभारतयोरपि॥ ३६॥

राजा विराटके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने कुन्तीनन्दन अर्जुनकी ओर देखा। भाईके देखनेपर अर्जुनने मत्स्यराजसे इस प्रकार कहा—'राजन्! मैं आपकी पुत्रीको अपनी पुत्रवधूके रूपमें स्वीकार करता हूँ। मत्स्य और भरतवंशका यह सम्बन्ध सर्वथा उचित है'॥ ३५-३६॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि उत्तराविवाहप्रस्तावे एकसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें उत्तराविवाहप्रस्तावविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३७ श्लोक हैं)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका अपनी पुत्रवधूके रूपमें उत्तराको ग्रहण करना एवं अभिमन्यु और उत्तराका विवाह

विराट उवाच

किमर्थं पाण्डवश्रेष्ठ भार्यां दुहितरं मम।
प्रतिग्रहीतुं नेमां त्वं मया दत्तामिहेच्छसि॥ १॥

विराट बोले—पाण्डवश्रेष्ठ! मैं स्वयं तुम्हें अपनी कन्या दे रहा हूँ, फिर तुम उसे अपनी पत्नीके रूपमें क्यों नहीं स्वीकार करते?॥ १॥

अर्जुन उवाच

अन्तःपुरेऽहमुषितः सदा पश्यन् सुतां तव।
रहस्यं च प्रकाशं च विश्वस्ता पितृवन्मयि॥ २॥
प्रियो बहुतमश्चासं नर्तको गीतकोविदः।
आचार्यवच्च मां नित्यं मन्यते दुहिता तव॥ ३॥

अर्जुनने कहा—राजन्! मैं बहुत समयतक आपके रनिवासमें रहा हूँ और आपकी कन्याको एकान्तमें तथा सबके सामने भी (पुत्रीभावसे ही) देखता आया हूँ। उसने भी मुझपर पिताकी भाँति ही विश्वास किया है। मैं नाचता तो था ही, गानविद्यामें भी कुशल हूँ, अतः उसका मेरे प्रति बहुत अधिक प्रेम रहा है, किंतु आपकी पुत्री मुझे सदा आचार्य (गुरु) की भाँति मानती आयी है॥ २-३॥

वयःस्थया तया राजन् सह संवत्सरोषितः।
अतिशङ्का भवेत् स्थाने तव लोकस्य वा विभो॥ ४॥

राजन्! जब वह वयस्क हो चुकी थी तब मैं उसके साथ एक वर्षतक रह चुका हूँ। प्रभो! (ऐसी अवस्थामें यदि मैं उसके साथ विवाह करूँगा, तो) आपको या और किसी मनुष्यको हमारे चरित्रके विषयमें (अवश्य ही) संदेह होगा और वह युक्तिसंगत ही होगा॥ ४॥

तस्मान्निमन्त्रयेऽहं ते दुहितां मनुजाधिप।
शुद्धो जितेन्द्रियो दान्तस्तस्याः शुद्धिः कृता मया॥ ५॥

महाराज ! वह संदेह न हो, इसके लिये मैं आपकी पुत्रीको पुत्रवधूके रूपमें ही ग्रहण करूँगा। ऐसा होनेपर ही मैं शुद्धचरित्र, जितेन्द्रिय तथा मनको दमन करनेवाला समझा जाऊँगा और इसीसे मेरेद्वारा आपकी कन्याके चरित्रकी शुद्धि स्पष्ट हो जायगी ॥ ५ ॥

स्नुषायां दुहितुर्वापि पुत्रे चात्मनि वा पुनः ।
अत्र शङ्कां न पश्यामि तेन शुद्धिर्भविष्यति ॥ ६ ॥

पुत्रवधू और पुत्रीमें तथा पुत्र अथवा आत्मामें भेद नहीं है, अतः उसे पुत्रवधूके रूपमें ग्रहण करनेपर मुझे कलङ्ककी शंका नहीं दिखायी देती और इससे हम दोनोंकी पवित्रता भी स्पष्ट हो जायगी ॥ ६ ॥

अभिशापादहं भीतो मिथ्यावादात् परंतप ।
स्नुषार्थमुत्तरां राजन् प्रतिगृह्णामि ते सुताम् ॥ ७ ॥

परंतप ! मैं अभिशाप और मिथ्यावादसे डरता हूँ, (यदि मैं आपकी पुत्रीको पत्नीरूपमें ग्रहण करूँ, तो लोग यह कल्पना कर सकते हैं कि इन दोनोंमें पहलेसे ही अनुचित सम्बन्ध था); इसलिये राजन् ! मैं आपकी पुत्री उत्तराको पुत्रवधूके रूपमें ही ग्रहण करता हूँ ॥ ७ ॥

स्वस्रीयो वासुदेवस्य साक्षाद् देवशिशुर्यथा ।
दयितश्चक्रहस्तस्य सर्वास्त्रेषु च कोविदः ॥ ८ ॥

मेरा पुत्र देवकुमारके समान है । वह साक्षात् भगवान् वासुदेवका भानजा है । चक्रधारी श्रीकृष्णको वह बहुत प्रिय है । साथ ही वह सब प्रकारकी अस्त्रविद्यामें कुशल है ॥ ८ ॥

अभिमन्युर्महाबाहुः पुत्रो मम विशाम्पते ।
जामाता तव युक्तो वै भर्ता च दुहितुस्तव ॥ ९ ॥

महाराज ! मेरे उस महाबाहु पुत्रका नाम अभिमन्यु है । वह आपका सुयोग्य दामाद और आपकी पुत्रीका उपयुक्त पति होगा ॥ ९ ॥

विराट उवाच

उपपन्नं कुरुश्रेष्ठे कुन्तीपुत्रे धनंजये ।
य एवं धर्मनित्यश्च जातज्ञानश्च पाण्डवः ॥ १० ॥
यत् कृत्यं मन्यसे पार्थ क्रियतां तदनन्तरम् ।
सर्वे कामाः समृद्धा मे सम्बन्धी यस्य मेऽर्जुनः ॥ ११ ॥

विराट बोले—पार्थ ! आप कौरवोंमें श्रेष्ठ और कुन्ती-देवीके पुत्र हैं । धनंजयमें इस प्रकार धर्मका विचार होना उचित ही है । पाण्डुपुत्र अर्जुन ही इस प्रकार नित्यधर्मपरायण और ज्ञानसम्पन्न हो सकते हैं । अब इसके बाद जो कर्तव्य आप ठीक समझें, उसे पूर्ण करें । मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गयीं । जिसके सम्बन्धी अर्जुन हो रहे हों, उसकी कौन-सी कामना अपूर्ण रह सकती है ? ॥ १०-११ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति राजेन्द्रे कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अन्वशासत् स संयोगं समये मत्स्यपार्थयोः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाराज विराट-के ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने उचित अवसर जान मत्स्यनरेश और पार्थके इस सम्बन्धका अनुमोदन किया ॥

ततो मित्रेषु सर्वेषु वासुदेवं च भारत ।
प्रेषयामास कौन्तेयो विराटश्च महीपतिः ॥ १३ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर तथा राजा विराटने अपने-अपने सम्पूर्ण सुहृदों एवं सगे-सम्बन्धियोंको तथा भगवान् वासुदेवको भी निमन्त्रण भेजा ॥ १३ ॥

ततस्त्रयोदशे वर्षे निवृत्ते पञ्च पाण्डवाः ।
उपप्लव्यं विराटस्य समपद्यन्त सर्वशः ॥ १४ ॥

पाँचों पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष तो पूर्ण हो ही चुका था, वे सब-के-सब राजा विराटके उपप्लव्य नामक नगरमें आकर रहने लगे ॥ १४ ॥

अभिमन्युं च बीभत्सुरानिनाय जनार्दनम् ।
आनर्तेभ्योऽपि दाशार्हानानयामास पाण्डवः ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने आनर्तदेशसे अभिमन्यु, भगवान् वासुदेव तथा दशार्हवंशके अपने अन्य सम्बन्धियोंको भी वहाँ बुलवा लिया ॥ १५ ॥

काशिराजश्च शैब्यश्च प्रीयमाणौ युधिष्ठिरे ।
अक्षौहिणीभ्यां सहितावागतौ पृथिवीपती ॥ १६ ॥

काशिराज और शैब्य दोनों युधिष्ठिरके बड़े प्रेमी थे । वे दोनों नरेश एक-एक अक्षौहिणी सेनाके साथ उपप्लव्य नगरमें आये ॥ १६ ॥

अक्षौहिण्या च सहितो यज्ञसेनो महाबलः ।
द्रौपद्याश्च सुता वीराः शिखण्डी चापराजितः ॥ १७ ॥
धृष्टद्युम्नश्च दुर्धर्षः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
समस्ताक्षौहिणीपाला यज्वानो भूरिदक्षिणाः ।
वेदावभृथसम्पन्नाः सर्वे शूरास्तनुत्यजः ॥ १८ ॥

महाबली राजा द्रुपद भी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पधारे । उनके साथ द्रौपदीके पाँचों वीर पुत्र, कभी परास्त न होनेवाले शिखण्डी और समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ एवं दुर्धर्ष वीर धृष्टद्युम्न भी थे । इनके सिवा और भी अनेक राजा वहाँ पधारे, जो सबके सब एक-एक अक्षौहिणी सेनाके पालक, यज्ञकर्ता, यज्ञोंमें अधिकसे अधिक दक्षिणा देनेवाले, वेद और अवभृथ (यज्ञान्त) स्नानसे सम्पन्न, शूरवीर तथा पाण्डवोंके लिये प्राण देनेवाले थे ॥ १७-१८ ॥

तानागतानभिप्रेक्ष्य मत्स्यो धर्मभृतां वरः ।
पूजयामास विधिवत् सभृत्यबलवाहनान् ॥ १९ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ मत्स्यनरेश विराटने उन्हें आया हुआ देख सेवक, सेना और सवारियोंसहित उन सबका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार किया ॥ १९ ॥

प्रीतोऽभवद् दुहितरं दत्त्वा तामभिमन्यवे ।
ततः प्रत्युपयातेषु पार्थिवेषु ततस्ततः ॥ २० ॥

तत्रागमद् वासुदेवो वनमाली हलायुधः।
कृतवर्मा च हार्दिक्यो युयुधानश्च सात्यकिः ॥ २१ ॥
अनाधृष्टिस्तथाक्रूरः साम्बो निशठ एव च।
अभिमन्युमुपादाय सह मात्रा परंतपाः ॥ २२ ॥

अभिमन्युको अपनी पुत्रीका वाग्दान करके राजा विराट बहुत प्रसन्न थे। तत्पश्चात् सब राजालोग अपने-अपने लिये नियत किये हुए स्थानोंमें विश्रामके लिये पधारे। वहाँ वनमालाधारी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण, हलरूपी शस्त्र धारण करनेवाले बलराम, हृदीकपुत्र कृतवर्मा, युयुधान नामसे प्रसिद्ध सात्यकि, अनाधृष्टि, अक्रूर, साम्ब और निशठ—ये सभी शत्रुसंतापन वीर अभिमन्यु और उसकी माता सुभद्राको साथ लिये वहाँ पधारे थे ॥ २०—२२ ॥

इन्द्रसेनादयश्चैव रथैस्तैः सुसमाहितैः।
आययुः सहिताः सर्वे परिसंवत्सरोषिताः ॥ २३ ॥

जिन्होंने एक वर्षतक द्वारकामें निवास किया था, वे इन्द्रसेन आदि सारथि भी अच्छी तरह सब सामग्रियोंसे सम्पन्न किये हुए रथोंसहित वहाँ आये थे ॥ २३ ॥

दशनागसहस्राणि हयानां द्विगुणं तथा।
रथानामयुतं पूर्णं नियुतं च पदातिनाम् ॥ २४ ॥
वृष्ण्यन्धकाश्च बहवो भोजाश्च परमौजसः।
अन्वयुर्वृष्णिशार्दूलं वासुदेवं महाद्युतिम् ॥ २५ ॥

परमतेजस्वी वृष्णिवंशशिरोमणि भगवान् वासुदेवके साथ दस हजार हाथी, उनसे दुगुने अर्थात् बीस हजार घोड़े, दस हजार रथ और दस लाख पैदल सेना थी। इसके सिवा वृष्णि, अन्धक तथा भोजवंशके और भी बहुत-से महापराक्रमी वीर उनके साथ पधारे थे ॥ २४-२५ ॥

पारिबर्हं ददौ कृष्णः पाण्डवानां महात्मनाम्।
स्त्रियो रत्नानि वासांसि पृथक् पृथगनेकशः ॥ २६ ॥
ततो विवाहो विधिवद् ववृधे मत्स्यपार्थयोः।

भगवान् श्रीकृष्णने महात्मा पाण्डवोंको दहेज या निमन्त्रणमें बहुत-सी दासियाँ, नाना प्रकारके रत्न और बहुत-से वस्त्र पृथक्-पृथक् भेंट किये। तत्पश्चात् मत्स्य और पार्थकुलके वैवाहिक सम्बन्धका कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न होने लगा ॥ २६½ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च गोमुखा डम्बरास्तथा ॥ २७ ॥
पार्थैः संयुज्यमानस्य नेदुर्मत्स्यस्य वेश्मनि।
भक्ष्यान्नभोज्यपानानि प्रभूतान्यभ्यहारयन् ॥ २८ ॥

तदनन्तर कुन्तीपुत्रोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेवाले मत्स्यनरेशके महलमें शङ्ख, नगाड़े, गोमुख और डम्बर आदि भाँति-भाँतिके बाजे बजने लगे। साथ ही उन्होंने खाने योग्य अन्न, भोज्य और पीने आदिकी सामग्री भी प्रचुर मात्रामें प्रस्तुत की ॥ २७-२८ ॥

गायनाख्यानशीलाश्च नटवैतालिकास्तथा।
स्तुवन्तस्तानुपातिष्ठन् सूताश्च सह मागधैः ॥ २९ ॥

गानेवाले, प्राचीन उपाख्यान सुनानेवाले, नट और वैतालिक सूत-मागध आदिके साथ उपस्थित हो पाण्डवोंकी स्तुति-प्रशंसा करने लगे ॥ २९ ॥

सुदेष्णां च पुरस्कृत्य मत्स्यानां च वरस्त्रियः।
आजग्मुश्चारुसर्वाङ्ग्यः सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ३० ॥

मत्स्यनरेशके रनिवासकी सुन्दरी स्त्रियाँ रानी सुदेष्णाको आगे करके महारानी द्रौपदीके यहाँ आयीं। उन सबके सभी अङ्ग बड़े मनोहर थे। उन सबने विशुद्ध मणिमय कुण्डल पहन रक्खे थे ॥ ३० ॥

वर्णोपपन्नास्ता नार्यो रूपवत्यः स्वलंकृताः।
सर्वाश्चाभ्यभवन् कृष्णा रूपेण यशसा श्रिया ॥ ३१ ॥

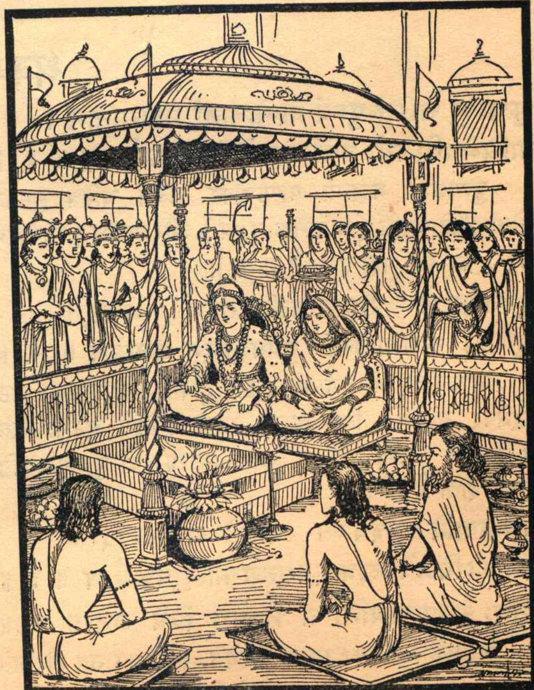
वे सभी नारियाँ उत्तम वर्णकी थीं। रूपवती होनेके साथ ही वे भाँति-भाँतिके सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित भी थीं; परंतु द्रुपदकुमारी कृष्णाने अपने दिव्य रूप, यश और उत्तम कान्तिसे उन सबको तिरस्कृत कर दिया ॥ ३१ ॥

परिवार्योत्तरां तास्तु राजपुत्रीमलंकृताम्।
सुतामिव महेन्द्रस्य पुरस्कृत्योपतस्थिरे ॥ ३२ ॥

उस समय राजकुमारी उत्तरा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो महेन्द्रपुत्री जयन्ती-सी सुशोभित हो रही थी। राजपरिवारकी स्त्रियाँ उसे आगे करके दोनों ओरसे घेरकर वहाँ उपस्थित हुईं ॥ ३२ ॥

तां प्रत्यगृह्णात् कौन्तेयः सुतस्यार्थे धनंजयः।
सौभद्रस्यानवद्याङ्गीं विराटतनयां तदा ॥ ३३ ॥

उस समय कुन्तीनन्दन अर्जुनने अपने पुत्र सुभद्राकुमार अभिमन्युके लिये निर्दोष अङ्गोंवाली विराटकुमारी उत्तराको ग्रहण किया ॥ ३३ ॥



तत्रातिष्ठन्महाराजो रूपमिन्द्रस्य धारयन्।
स्नुषां तां प्रतिजग्राह कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३४ ॥

वहाँ इन्द्रके समान रूप धारण किये कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर भी खड़े थे। उन्होंने भी उत्तराको पुत्रवधूके रूपमें अङ्गीकार किया ॥ ३४ ॥

प्रतिगृह्य च तां पार्थः पुरस्कृत्य जनार्दनम्।
विवाहं कारयामास सौभद्रस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार पार्थने उत्तराको ग्रहण करके भगवान् श्रीकृष्णके सामने महामना अभिमन्यु और उत्तराका विवाह-संस्कार सम्पन्न कराया ॥ ३५ ॥

तस्मै सप्त सहस्राणि हयानां वातरंहसाम्।
द्वे च नागशते मुख्ये प्रादाद् बहुधनं तदा ॥ ३६ ॥
हुत्वा सम्यक् समिद्धाग्निमर्चयित्वा द्विजन्मनः।
राज्यं बलं च कोशं च सर्वमात्मानमेव च ॥ ३७ ॥

विवाहकालमें विराटने प्रज्वलित अग्निमें विधिवत् होम कराकर ब्राह्मणोंका पूजन करनेके पश्चात् दहेजमें वरपक्षको वायुके समान वेगवान् सात हजार घोड़े, दो सौ बड़े-बड़े हाथी तथा और भी बहुत-सा धन भेंट किया। साथ ही राजपाट, सेना और खजानेसहित सब कुछ एवं अपने-आपको भी उनकी सेवामें समर्पित कर दिया ॥ ३६-३७ ॥

कृते विवाहे तु तदा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं यदुपाहरदच्युतः ॥ ३८ ॥

विवाह सम्पन्न हो जानेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णसे जो धन मिला था, उसमेंसे बहुत कुछ ब्राह्मणोंको दान किया ॥ ३८ ॥

गोसहस्राणि रत्नानि वस्त्राणि विविधानि च।
भूषणानि च मुख्यानि यानानि शयनानि च ॥ ३९ ॥
भोजनानि च हृद्यानि पानानि विविधानि च।
तन्महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनायुतम्।
नगरं मत्स्यराजस्य शुशुभे भरतर्षभ ॥ ४० ॥

हजारों गौएँ, रत्न, नाना प्रकारके वस्त्र, आभूषण, मुख्य-मुख्य वाहन, शय्या, भोजनसामग्री तथा भाँति-भाँतिकी पीनेयोग्य उत्तम वस्तुएँ भी अर्पण कीं। जनमेजय! उस समय हजारों-लाखों हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरा हुआ मत्स्यराजका वह नगर मूर्तिमान् महोत्सव-सा सुशोभित हो रहा था ॥ ३९-४० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि उत्तराविवाहे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार व्यासनिर्मित श्रीमहाभारत नामक एक लाख श्लोकोंकी संहितामें विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें उत्तराविवाहविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

विराटपर्वकी श्लोक-संख्या

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंका ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	२१२५	(१९८)	२८३॥	२४०८॥
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	२४९	(२२॥)	३३॥	२८२॥

विराटपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या—२६९१

श्रवण-महिमा

श्रुत्वा तु चरितं पुण्यं पाण्डवानां महात्मनाम्।
नाधिव्याधिभयं तेषां जायते पुण्यकर्मणाम् ॥ १ ॥

पुण्यकर्मा महात्मा पाण्डवोंका पवित्र चरित्र सुनकर श्रोताओंको आधि (मानसिक दुःख) और व्याधि (शारीरिक कष्ट) का भय नहीं होता है ॥ १ ॥

दुर्गतेस्तरणे तेषामायतं तरणं भवेत्।
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं पुण्यवृद्धिः प्रजायते ॥ २ ॥

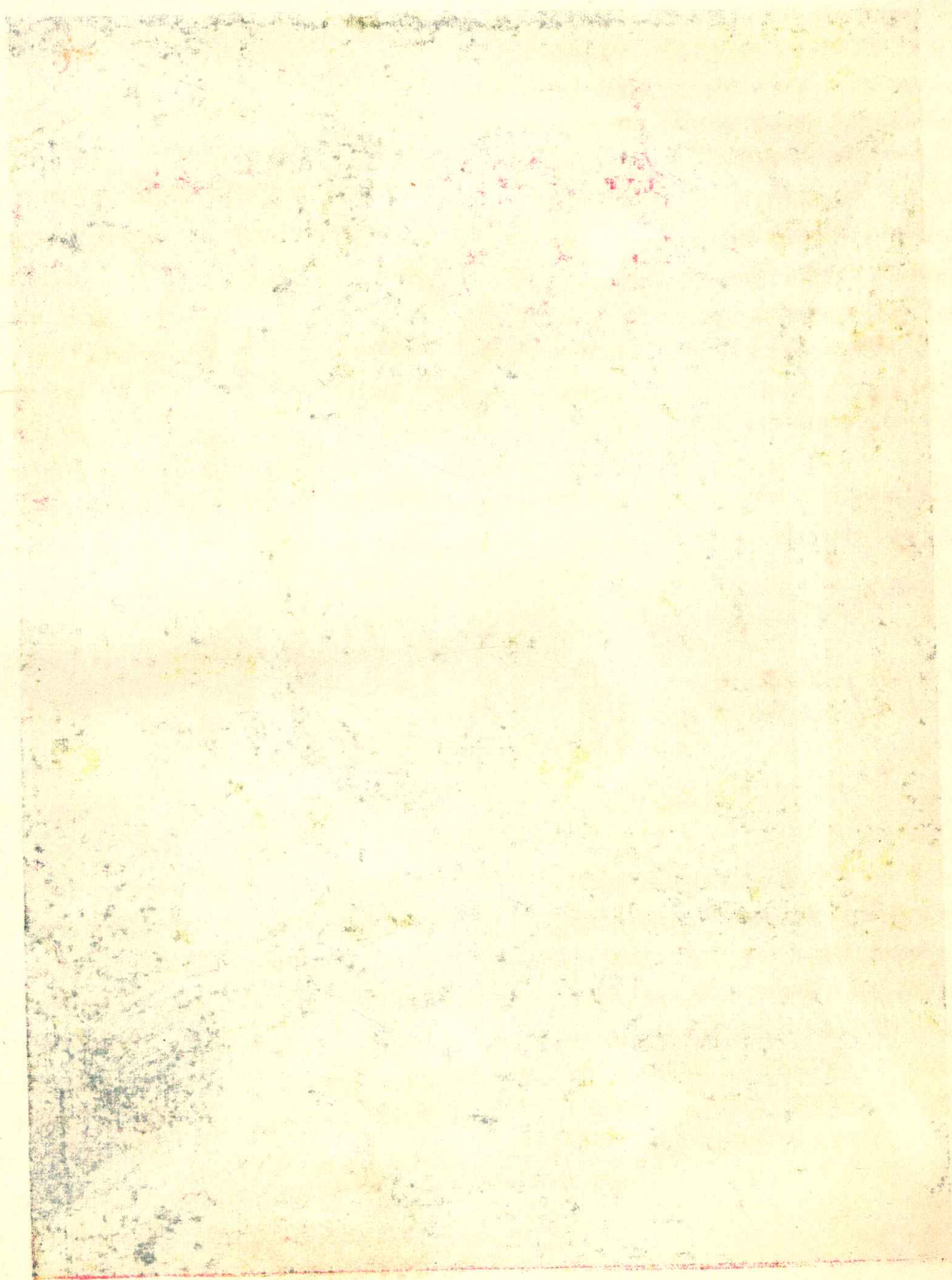
पाण्डवोंका जो दुर्गतिसे उद्धार हुआ, उस प्रसङ्गका पाठ करनेपर मनुष्यके लिये भारीसे भारी संकटसे छूटना सरल हो जाता है। उन्हें सुभिक्ष, क्षेम, आरोग्य तथा पुण्यकी वृद्धि सुलभ होती है ॥ २ ॥

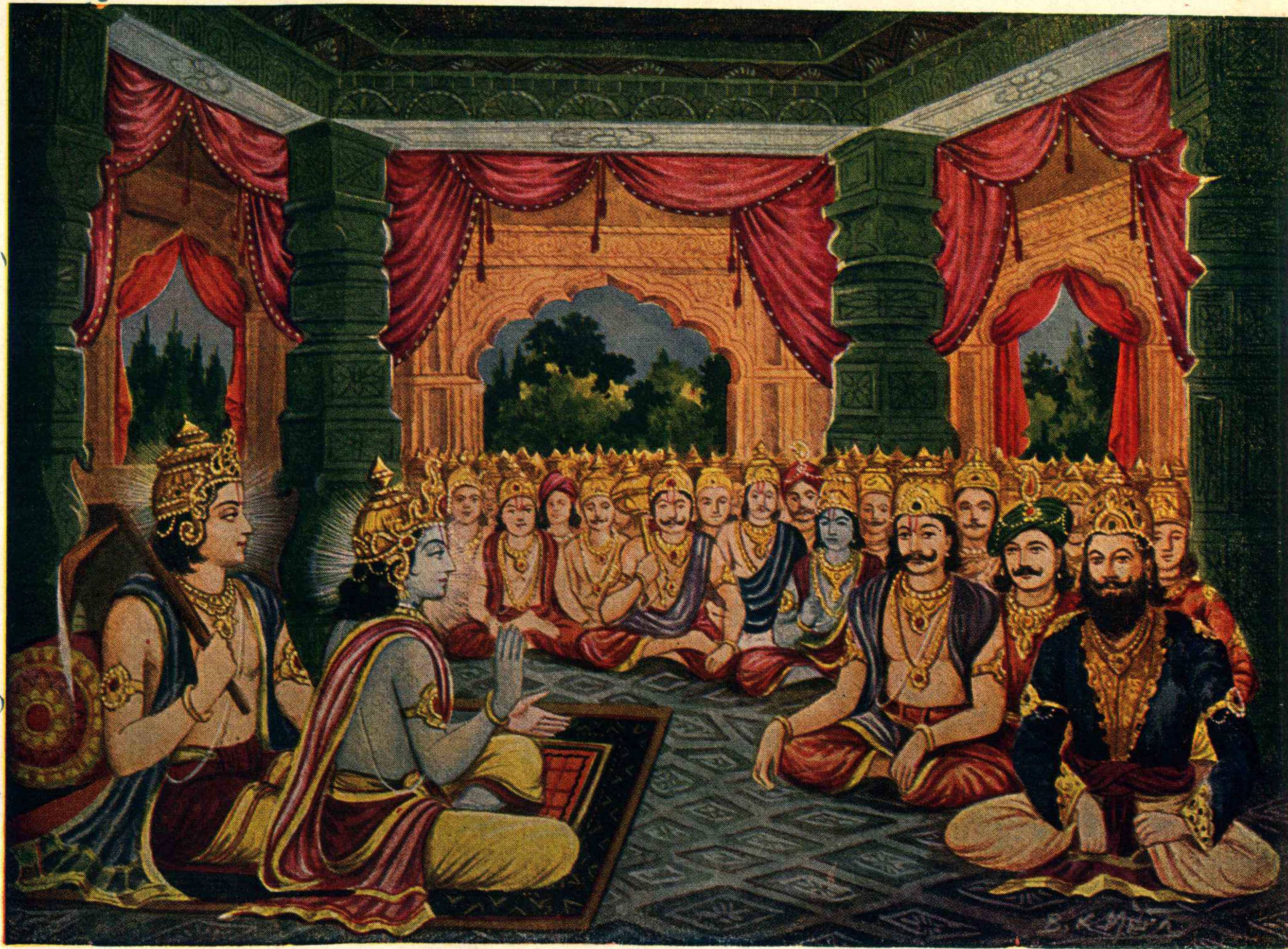
सर्वपापानि नश्यन्ति जायन्ते सर्वसम्पदः।
एकाकी विजयेच्छत्रून् स्मृत्वा फाल्गुनकर्म च ॥ ३ ॥
ईतयः सम्प्रणश्यन्ति न वियोगः प्रिये जने ॥ ४ ॥

अर्जुनके चरित्रका स्मरण करनेसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, सब प्रकारकी सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं और मनुष्य अकेला या असहाय होनेपर भी शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं, (अतिवृष्टि आदि) ईतियोंका नाश होता है और प्रियजनोंसे कभी वियोग नहीं होता ॥ ३-४ ॥

श्रुत्वा वैराटकं पर्व वासांसि विविधानि च।
हिरण्यं धान्यं गावश्च दद्याद् वित्तानुसारतः ॥ ५ ॥
प्रीतये देवतानां वै दद्याद् वै द्विजमुख्यके।
वाचके तु सुसंतुष्टे तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणान् भोजयेच्छक्त्या पायसैः सर्पिषा सितैः।
एवं श्रुते च वैराटे सम्यक् फलमवाप्नुयात् ॥ ७ ॥

विराटपर्वकी कथा सुनकर अपने वैभवके अनुसार भाँति-भाँतिके वस्त्र, सुवर्ण, धान्य और गौ—ये वस्तुएँ देवताओंकी प्रसन्नताके लिये श्रेष्ठ ब्राह्मणको दान करनी चाहिये। वाचकके भलीभाँति संतुष्ट होनेपर सब देवता संतुष्ट होते हैं। तत्पश्चात् यथाशक्ति घी और मिश्री मिलायी हुई खीरका ब्राह्मणोंको भोजन करावे। इस विधिसे विराटपर्व सुननेपर श्रोताको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ॥ ५-७ ॥





विराटकी राजसभामें श्रीकृष्णका भाषण

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

उद्योगपर्व

(सेनोद्योगपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

राजा विराटकी सभामें भगवान् श्रीकृष्णका भाषण

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

वैशम्पायन उवाच

कृत्वा विवाहं तु कुरुप्रवीरा-
स्तदाभिमन्योर्मुदिताः स्वपक्षाः।
विश्रम्य रात्रावुषसि प्रतीताः
सभां विराटस्य ततोऽभिजग्मुः॥ १॥



वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय अभिमन्युका विवाह करके कुरुवीर पाण्डव तथा उनके अपने पक्षके लोग (यादव पाञ्चाल आदि) अत्यन्त आनन्दित हुए। रात्रिमें विश्राम करके वे प्रातःकाल जगे और (नित्यकर्म करके) विराटकी सभामें उपस्थित हुए॥१॥

सभा तु सा मत्स्यपतेः समृद्धा
मणिप्रवेकोत्तमरत्नचित्रा।
न्यस्तासना माल्यवती सुगन्धा
तामभ्ययुस्ते नरराजवृद्धाः॥ २॥

मत्स्यदेशके अधिपति विराटकी वह सभा अत्यन्त समृद्धिशालिनी थी। उसमें मणियों (मोती-मूँगे आदि) की खिड़कियाँ और झालरें लगी थीं। उसके फर्श और दीवारोंमें उत्तम-उत्तम रत्नों (हीरे-पन्ने आदि) की पच्चीकारी की गयी थी। इन सबके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उस सभाभवनमें यथायोग्य स्थानोंपर आसन लगे हुए थे, जगह-जगह मालाएँ लटक रही थीं और सब ओर सुगन्ध फैल रही थी। वे श्रेष्ठ नरपतिगण उसी सभामें एकत्र हुए॥२॥

अथासनान्याविशतां पुरस्ता-
दुभौ विराटद्रुपदौ नरेन्द्रौ।
वृद्धौ च मान्यौ पृथिवीपतीनां
पित्रा समं रामजनार्दनौ च॥ ३॥

वहाँ सबसे पहले राजा विराट और द्रुपद आसनपर विराजमान हुए; क्योंकि वे दोनों समस्त भूपतियोंमें वृद्ध और माननीय थे। तत्पश्चात् अपने पिता वसुदेवके साथ बलराम और श्रीकृष्णने भी आसन ग्रहण किये॥ ३॥

पाञ्चालराजस्य समीपतस्तु
शिनिप्रवीरः सहरौहिणेयः।
मत्स्यस्य राज्ञस्तु सुसंनिकृष्टौ
जनार्दनश्चैव युधिष्ठिरश्च॥ ४॥

पाञ्चालराज द्रुपदके पास शिनिवंशके श्रेष्ठ वीर सात्यकि तथा रोहिणीनन्दन बलरामजी बैठे थे और मत्स्यराज विराटके अत्यन्त निकट श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिर विराजमान थे॥ ४॥

सुताश्च सर्वे द्रुपदस्य राज्ञो
भीमार्जुनौ माद्रवतीसुतौ च।
प्रद्युम्नसाम्बौ च युधि प्रवीरौ
विराटपुत्रैश्च सहाभिमन्युः ॥ ५ ॥
सर्वे च शूराः पितृभिः समाना
वीर्येण रूपेण बलेन चैव।
उपाविशन् द्रौपदेयाः कुमाराः
सुवर्णचित्रेषु वरासनेषु ॥ ६ ॥

राजा द्रुपदके सब पुत्र, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, युद्धवीर प्रद्युम्न और साम्ब, विराटके पुत्रोंसहित अभिमन्यु तथा द्रौपदीके सभी पुत्र सुवर्णजटित सुन्दर सिंहासनोंपर आसपास ही बैठे थे। द्रौपदीके पाँचों पुत्र पराक्रम, सौन्दर्य और बलमें अपने पिता पाण्डवोंके ही समान थे। वे सबके सब शूरवीर थे ॥ ५-६ ॥

तथोपविष्टेषु महारथेषु
विराजमानाभरणाम्बरेषु ।
रराज सा राजवती समृद्धा
ग्रहैरिव द्यौर्विमलैरुपेता ॥ ७ ॥

इस प्रकार चमकीले आभूषणों तथा सुन्दर वस्त्रोंसे विभूषित उन समस्त महारथियोंके बैठ जानेपर राजाओंसे भरी हुई वह समृद्धिशालिनी सभा ऐसी शोभा पा रही थी, मानो उज्ज्वल ग्रह-नक्षत्रोंसे भरा आकाश जगमगा रहा हो ॥७॥

ततः कथास्ते समवाययुक्ताः
कृत्वा विचित्राः पुरुषप्रवीराः।
तस्थुर्मुहूर्तं परिचिन्तयन्तः
कृष्णं नृपास्ते समुदीक्षमाणाः ॥ ८ ॥

तदनन्तर उन शूरवीर पुरुषोंने समाजमें जैसी बातचीत करनी उचित है, वैसी ही विविध प्रकारकी विचित्र बातें कीं। फिर वे सब नरेश भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए दो घड़ीतक कुछ सोचते हुए चुप बैठे रहे ॥ ८ ॥

कथान्तमासाद्य च माधवेन
संघट्टिताः पाण्डवकार्यहेतोः।
ते राजसिंहाः सहिता ह्यश्रृण्वन्
वाक्यं महार्थं सुमहोदयं च ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके कार्यके लिये ही उन श्रेष्ठ राजाओंको संगठित किया था। जब उन सब लोगोंकी बातचीत बंद हो गयी, तब वे सिंहके समान पराक्रमी नरेश एक साथ श्रीकृष्णके सारगर्भित तथा श्रेष्ठ फल देनेवाले वचन सुनने लगे ॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

सर्वैर्भवद्भिर्विदितं यथायं
युधिष्ठिरः सौबलेनाक्षवत्याम्।
जितो निकृत्यापहृतं च राज्यं
वनप्रवासे समयः कृतश्च ॥ १० ॥

श्रीकृष्णने भाषण देना प्रारम्भ किया—उपस्थित सुहृद्गण! आप सब लोगोंको यह मालूम ही है कि सुबलपुत्र शकुनिने द्यूतसभामें किस प्रकार कपट करके धर्मात्मा युधिष्ठिरको परास्त किया और इनका राज्य छीन लिया है। उस जूएमें यह शर्त रख दी गयी थी कि जो हारे, वह बारह वर्षोंतक वनवास और एक वर्षतक अज्ञातवास करे ॥१०॥

शक्तैर्विजेतुं तरसा महीं च
सत्ये स्थितैः सत्यरथैर्यथावत्।
पाण्डोः सुतैस्तद् व्रतमुग्ररूपं
वर्षाणि षट् सप्त च चीर्णमग्र्यैः ॥ ११ ॥

पाण्डव सदा सत्यपर आरूढ़ रहते हैं। सत्य ही इनका रथ (आश्रय) है। इनमें वेगपूर्वक समस्त भूमण्डलको जीत लेनेकी शक्ति है तथापि इन वीराग्रगण्य पाण्डुकुमारोंने सत्यका खयाल करके तेरह वर्षोंतक वनवास और अज्ञातवासके उस कठोर व्रतका धैर्यपूर्वक पालन किया है, जिसका स्वरूप बड़ा ही उग्र है ॥ ११ ॥

त्रयोदशश्चैव सुदुस्तरोऽय-
मज्ञायमानैर्भवतां समीपे।
क्लेशानसह्यान् विविधान् सहद्भि-
र्महात्मभिश्चापि वने निविष्टम् ॥ १२ ॥

इस तेरहवें वर्षको पार करना बहुत ही कठिन था, परंतु इन महात्माओंने आपके पास ही अज्ञातरूपसे रहकर भाँति-भाँतिके असह्य क्लेश सहते हुए यह वर्ष बिताया है, इसके अतिरिक्त बारह वर्षोंतक ये वनमें भी रह चुके हैं ॥

एतैः परप्रेष्यनियोगयुक्तै-
रिच्छद्भिरात्तं स्वकुलेन राज्यम्।
एवंगते धर्मसुतस्य राज्ञो
दुर्योधनस्यापि च यद्धितं स्यात् ॥ १३ ॥
तच्चिन्तयध्वं कुरुपुङ्गवानां
धर्म्यं च युक्तं च यशस्करं च।
अधर्मयुक्तं न च कामयेत
राज्यं सुराणामपि धर्मराजः ॥ १४ ॥

अपनी कुलपरम्परासे प्राप्त हुए राज्यकी अभिलाषासे ही इन वीरोंने अबतक अज्ञातावस्थामें दूसरोंकी सेवामें संलग्न रहकर तेरहवाँ वर्ष पूरा किया है। ऐसी परिस्थितिमें जिस उपायसे धर्मपुत्र युधिष्ठिर तथा राजा दुर्योधनका भी हित हो, उसका आपलोग विचार करें। आप कोई ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकालें, जो इन कुरुश्रेष्ठ वीरोंके लिये धर्मानुकूल, न्यायोचित तथा यशकी वृद्धि करनेवाला हो। धर्मराज युधिष्ठिर यदि

धर्मके विरुद्ध देवताओंका भी राज्य प्राप्त होता हो, तो उसे लेना नहीं चाहेंगे ॥ १३-१४ ॥

धर्मार्थयुक्तं तु महीपतित्वं
ग्रामेऽपि कस्मिंश्चिदयं बुभूषेत् ।
पित्र्यं हि राज्यं विदितं नृपाणां
यथापकृष्टं धृतराष्ट्रपुत्रैः ॥ १५ ॥

किसी छोटेसे गाँवका राज्य भी यदि धर्म और अर्थके अनुकूल प्राप्त होता हो, तो ये उसे लेनेकी इच्छा कर सकते हैं। आप सभी नरेशोंको यह विदित ही है कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने पाण्डवोंके पैतृक राज्यका किस प्रकार अपहरण किया है ॥१५॥

मिथ्योपचारेण यथा ह्यनेन
कृच्छ्रं महत् प्राप्तमसह्यरूपम् ।
न चापि पार्थो विजितो रणे तैः
स्वतेजसा धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः ॥ १६ ॥

कौरवोंके इस मिथ्या व्यवहार तथा छल-कपटके कारण पाण्डवोंको कितना महान् और असह्य कष्ट भोगना पड़ा है, यह भी आपलोगोंसे छिपा नहीं है। धृतराष्ट्रके उन पुत्रोंने अपने बल और पराक्रमसे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको किसी युद्धमें पराजित नहीं किया था (छलसे ही इनका राज्य छीना) ॥ १६ ॥

तथापि राजा सहितः सुहृद्भि-
रभीप्सतेऽनामयमेव तेषाम् ।
यत् तु स्वयं पाण्डुसुतैर्विजित्य
समाहृतं भूमिपतीन् प्रपीड्य ॥ १७ ॥
तत् प्रार्थयन्ते पुरुषप्रवीराः
कुन्तीसुता माद्रवतीसुतौ च ।
बालास्त्विमे तैर्विविधैरुपायैः
सम्प्रार्थिता हन्तुममित्रसंघैः ॥ १८ ॥
राज्यं जिहीर्षद्भिरसद्भिरुग्रैः
सर्वं च तद् वो विदितं यथावत् ।

तथापि सुहृदोंसहित राजा युधिष्ठिर उनकी भलाई ही चाहते हैं। पाण्डवोंने दूसरे-दूसरे राजाओंको युद्धमें जीतकर उन्हें पीड़ित करके जो धन स्वयं प्राप्त किया था, उसीको कुन्ती और माद्रीके ये वीर पुत्र माँग रहे हैं। जब पाण्डव बालक थे— अपना हित-अहित कुछ नहीं समझते थे, तभी इनके राज्यको हर लेनेकी इच्छासे उन उग्र प्रकृतिके दुष्ट शत्रुओंने संघबद्ध होकर भाँति-भाँतिके षड्यन्त्रोंद्वारा इन्हें मार डालनेकी पूरी चेष्टा की थी; ये सब बातें आपलोग अच्छी तरह जानते होंगे ॥

तेषां च लोभं प्रसमीक्ष्य वृद्धं
धर्मज्ञतां चापि युधिष्ठिरस्य ॥ १९ ॥
सम्बन्धितां चापि समीक्ष्य तेषां
मतिं कुरुध्वं सहिताः पृथक् च ।
इमे च सत्येऽभिरताः सदैव
तं पालयित्वा समयं यथावत् ॥ २० ॥

अतः सभी सभासद् कौरवोंके बढ़े हुए लोभको, युधिष्ठिरकी धर्मज्ञताको तथा इन दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धको देखते हुए अलग-अलग तथा एक रायसे भी कुछ निश्चय करें। ये पाण्डवगण सदा ही सत्यपरायण होनेके कारण पहले की हुई प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करके हमारे सामने उपस्थित हैं ॥ १९-२० ॥

अतोऽन्यथा तैरुपचर्यमाणा
हन्युः समेतान् धृतराष्ट्रपुत्रान् ।
तैर्विप्रकारं च निशम्य कार्ये
सुहृज्जनास्तान् परिवारयेयुः ॥ २१ ॥

यदि अब भी धृतराष्ट्रके पुत्र इनके साथ विपरीत व्यवहार ही करते रहेंगे—इनका राज्य नहीं लौटायेंगे, तो पाण्डव उन सबको मार डालेंगे। कौरवलोग पाण्डवोंके कार्यमें विघ्न डाल रहे हैं और उनकी बुराईपर ही तुले हुए हैं; यह बात निश्चितरूपसे जान लेनेपर सुहृदों और सम्बन्धियोंको उचित है कि वे उन दुष्ट कौरवोंको (इस प्रकार अत्याचार करनेसे) रोकें ॥ २१ ॥

युद्धेन बाधेयुरिमांस्तथैव
तैर्बाध्यमाना युधि तांश्च हन्युः ।
तथापि नेमेऽल्पतया समर्था-
स्तेषां जयायेति भवेन्मतं वः ॥ २२ ॥

यदि धृतराष्ट्रके पुत्र इस प्रकार युद्ध छेड़कर इन पाण्डवोंको सतायेंगे, तो उनके बाध्य करनेपर ये भी डटकर युद्धमें उनका सामना करेंगे और उन्हें मार गिरायेंगे। सम्भव है, आपलोग यह सोचते हों कि ये पाण्डव अल्पसंख्यक होनेके कारण उनपर विजय पानेमें समर्थ नहीं हैं ॥ २२ ॥

समेत्य सर्वे सहिताः सुहृद्भि-
स्तेषां विनाशाय यतेयुरेव ।
दुर्योधनस्यापि मतं यथाव-
न्न ज्ञायते किं नु करिष्यतीति ॥ २३ ॥

तथापि ये सब लोग अपने हितैषी सुहृदोंके साथ मिलकर शत्रुओंके विनाशके लिये प्रयत्न तो करेंगे ही। (अतः इन्हें आपलोग दुर्बल न समझें) युद्धका भी निश्चय कैसे किया जाय; क्योंकि, दुर्योधनके भी मतका अभी ठीक-ठीक पता नहीं है कि वह क्या करेगा ? ॥ २३ ॥

अज्ञायमाने च मते परस्य
किं स्यात् समारभ्यतमं मतं वः ।
तस्मादितो गच्छतु धर्मशीलः
शुचिः कुलीनः पुरुषोऽप्रमत्तः ॥ २४ ॥

शत्रुपक्षका विचार जाने बिना आपलोग कोई ऐसा

निश्चय कैसे कर सकते हैं ? जिसे अवश्य ही कार्यरूपमें परिणत किया जा सके। अतः मेरा विचार है कि यहाँसे कोई धर्मशील, पवित्रात्मा, कुलीन और सावधान पुरुष दूत बनकर वहाँ जाय ॥ २४ ॥

दूतः समर्थः प्रशमाय तेषां
राज्यार्धदानाय युधिष्ठिरस्य ।

वह दूत ऐसा होना चाहिये, जो उनके जोश तथा रोषको शान्त करनेमें समर्थ हो और उन्हें युधिष्ठिरको इनका आधा राज्य दे देनेके लिये विवश कर सके ॥ २४½ ॥

निशम्य वाक्यं तु जनार्दनस्य
धर्मार्थयुक्तं मधुरं समं च ॥ २५ ॥
समाददे वाक्यमथाग्रजोऽस्य
सम्पूज्य वाक्यं तदतीव राजन् ॥ २६ ॥

राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णका धर्म और अर्थसे युक्त, मधुर एवं उभयपक्षके लिये समानरूपसे हितकर वचन सुनकर उनके बड़े भाई बलरामजीने उस भाषणकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके अपना वक्तव्य आरम्भ किया ॥ २५-२६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें (द्रुपदके) पुरोहितकी यात्राविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

बलरामजीका भाषण

बलदेव उवाच

श्रुतं भवद्भिर्गदपूर्वजस्य
वाक्यं यथा धर्मवदर्थवच्च ।
अजातशत्रोश्च हितं हितं च
दुर्योधनस्यापि तथैव राज्ञः ॥ १ ॥

बलदेवजी बोले—सज्जनो ! गदाग्रज श्रीकृष्णने जो कुछ धर्मानुकूल तथा अर्थशास्त्रसम्मत सम्भाषण किया है, उसे आप सब लोगोंने सुना है। इसीमें अजातशत्रु युधिष्ठिरका भी हित है तथा ऐसा करनेसे ही राजा दुर्योधनकी भलाई है ॥ १ ॥

अर्धं हि राज्यस्य विसृज्य वीराः
कुन्तीसुतास्तस्य कृते यतन्ते ।
प्रदाय चार्धं धृतराष्ट्रपुत्रः
सुखी सहास्माभिरतीव मोदेत् ॥ २ ॥

वीर कुन्तीकुमार आधा राज्य छोड़कर केवल आधेके लिये ही प्रयत्नशील हैं। दुर्योधन भी पाण्डवोंको आधा राज्य देकर हमारे साथ स्वयं भी सुखी और प्रसन्न होगा ॥ २ ॥

लब्ध्वा हि राज्यं पुरुषप्रवीराः
सम्यक्प्रवृत्तेषु परेषु चैव ।
ध्रुवं प्रशान्ताः सुखमाविशेयु-
स्तेषां प्रशान्तिश्च हितं प्रजानाम् ॥ ३ ॥

पुरुषोंमें श्रेष्ठ वीर पाण्डव आधा राज्य पाकर दूसरे पक्षकी ओरसे अच्छा बर्ताव होनेपर अवश्य ही शान्त (लड़ाई-झगड़ेसे दूर) रहकर कहीं सुखपूर्वक निवास करेंगे। इससे कौरवोंको शान्ति मिलेगी और प्रजावर्गका भी हित होगा ॥

दुर्योधनस्यापि मतं च वेत्तुं
वक्तुं च वाक्यानि युधिष्ठिरस्य ।
प्रियं च मे स्याद् यदि तत्र कश्चिद्
व्रजेच्छमार्थं कुरुपाण्डवानाम् ॥ ४ ॥

यदि दुर्योधनका भी विचार जाननेके लिये, युधिष्ठिरके संदेशको उसके कानोंतक पहुँचानेके लिये तथा कौरव-पाण्डवोंमें शान्ति स्थापित करनेके लिये कोई दूत जाय, तो यह मेरे लिये बड़ी प्रसन्नताकी बात होगी ॥ ४ ॥

स भीष्ममामन्त्र्य कुरुप्रवीरं
वैचित्रवीर्यं च महानुभावम् ।
द्रोणं सपुत्रं विदुरं कृपं च
गान्धारराजं च ससूतपुत्रम् ॥ ५ ॥
सर्वे च येऽन्ये धृतराष्ट्रपुत्रा
बलप्रधाना निगमप्रधानाः ।
स्थिताश्च धर्मेषु तथा स्वकेषु
लोकप्रवीराः श्रुतकालवृद्धाः ॥ ६ ॥
एतेषु सर्वेषु समागतेषु
पौरेषु वृद्धेषु च संगतेषु ।
ब्रवीतु वाक्यं प्रणिपातयुक्तं
कुन्तीसुतस्यार्थकरं यथा स्यात् ॥ ७ ॥

वह दूत वहाँ जाकर कुरुवंशके श्रेष्ठ वीर भीष्म, महानुभाव धृतराष्ट्र, द्रोण, अश्वत्थामा, विदुर, कृपाचार्य, शकुनि, कर्ण तथा दूसरे सब धृतराष्ट्रपुत्र, जो शक्तिशाली, वेदज्ञ, स्वधर्मनिष्ठ, लोकप्रसिद्ध वीर, विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध हैं, उन सबको आमन्त्रित करे और इन सबके आ जाने एवं नागरिकों तथा बड़े बूढ़ोंके सम्मिलित होनेपर वह दूत विनयपूर्वक प्रणाम करके ऐसी बात कहे, जिससे युधिष्ठिरके प्रयोजनकी सिद्धि हो ॥५-७॥

सर्वास्ववस्थासु च ते न कोप्या
ग्रस्तो हि सोऽर्थो बलमाश्रितैस्तैः ।

प्रियाभ्युपेतस्य युधिष्ठिरस्य
द्यूते प्रसक्तस्य हृतं च राज्यम् ॥ ८ ॥

किसी भी दशामें कौरवोंको उत्तेजित या कुपित नहीं करना चाहिये, क्योंकि उन्होंने बलवान् होकर ही पाण्डवोंके राज्यपर अधिकार जमाया है। (युधिष्ठिर भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं, क्योंकि) ये जूएको प्रिय मानकर उसमें आसक्त हो गये थे। तभी इनके राज्यका अपहरण हुआ है ॥ ८ ॥

निवार्यमाणश्च कुरुप्रवीरः
सर्वैः सुहृद्भिर्ह्ययमप्यतज्ज्ञः ।
स दीव्यमानः प्रतिदीव्य चैनं
गान्धारराजस्य सुतं मताक्षम् ॥ ९ ॥
हित्वा हि कर्णं च सुयोधनं च
समाह्वयद् देवितुमाजमीढः ।
दुरोदरास्तत्र सहस्रशोऽन्ये
युधिष्ठिरो यान् विषहेत जेतुम् ॥ १० ॥
उत्सृज्य तान् सौबलमेव चायं
समाह्वयत् तेन जितोऽक्षवत्याम् ।

अजमीढवंशी कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर जूएका खेल नहीं जानते थे। इसीलिये समस्त सुहृदोंने इन्हें मना किया था, (परंतु इन्होंने किसीकी बात नहीं मानी।) दूसरी ओर गान्धारराजका पुत्र शकुनि जूएके खेलमें निपुण था। यह जानते हुए भी ये उसीके साथ बारंबार खेलते रहे। इन्होंने कर्ण और दुर्योधनको छोड़कर शकुनिको ही अपने साथ जूआ खेलनेके लिये ललकारा था। उस सभामें दूसरे भी हजारों जुआरी मौजूद थे, जिन्हें युधिष्ठिर जीत सकते थे। परंतु उन सबको छोड़कर इन्होंने सुबलपुत्रको ही बुलाया। इसीलिये उस जूएमें इनकी हार हुई ॥ ९-१०½ ॥

स दीव्यमानः प्रतिदेवनेन
अक्षेषु नित्यं तु पराङ्मुखेषु ॥ ११ ॥
संरम्भमाणो विजितः प्रसह्य
तत्रापराधः शकुनेर्न कश्चित् ।

जब ये खेलने लगे और प्रतिपक्षीकी ओरसे फेंके हुए पासे जब बराबर इनके प्रतिकूल पड़ने लगे, तब ये और भी रोषावेशमें आकर खेलने लगे। इन्होंने हठपूर्वक खेल जारी रक्खा और अपनेको हराया, इसमें शकुनिका कोई अपराध नहीं है ॥ ११½ ॥

तस्मात् प्रणम्यैव वचो ब्रवीतु
वैचित्रवीर्यं बहुसामयुक्तम् ॥ १२ ॥
तथा हि शक्यो धृतराष्ट्रपुत्रः
स्वार्थे नियोक्तुं पुरुषेण तेन ।

इसलिये जो दूत यहाँसे भेजा जाय, वह धृतराष्ट्रको प्रणाम करके अत्यन्त विनयके साथ सामनीतियुक्त वचन कहे। ऐसा करनेसे ही धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको वह पुरुष अपने प्रयोजनकी सिद्धिमें लगा सकता है ॥ १२½ ॥

अयुद्धमाकाङ्क्षत कौरवाणां
साम्नैव दुर्योधनमाह्वयध्वम् ॥ १३ ॥
साम्ना जितोऽर्थोऽर्थकरो भवेत
युद्धेऽनयो भविता नेह सोऽर्थः ॥ १४ ॥

कौरव पाण्डवोंमें परस्पर युद्ध हो, ऐसी आकाङ्क्षा न करो—ऐसा कोई कदम न उठाओ। सन्धि या समझौतेकी भावनासे ही दुर्योधनको आमन्त्रित करो। मेल-मिलापसे समझा-बुझाकर जो प्रयोजन सिद्ध किया जाता है, वही परिणाममें हितकारी होता है। युद्धमें तो दोनों पक्षकी ओरसे अन्याय अर्थात् अनीतिका ही बर्ताव किया जाता है और अन्यायसे इस जगत्‌में किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवत्येव मधुप्रवीरे
शिनिप्रवीरः सहसोत्पपात ।
तच्चापि वाक्यं परिनिन्द्य तस्य
समाददे वाक्यमिदं समन्युः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मधुवंशके प्रमुख वीर बलदेवजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि शिनिवंशके श्रेष्ठ शूरमा सात्यकि सहसा उछलकर खड़े हो गये। उन्होंने कुपित होकर बलभद्रजीके भाषणकी कड़ी आलोचना करते हुए इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बलदेववाक्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें बलदेववाक्यविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥



तृतीयोऽध्यायः

सात्यकिके वीरोचित उद्गार

सात्यकिरुवाच

यादृशः पुरुषस्यात्मा तादृशं सम्प्रभाषते ।
यथारूपोऽन्तरात्मा ते तथारूपं प्रभाषसे ॥ १ ॥

सात्यकिने कहा—बलरामजी ! मनुष्यका जैसा

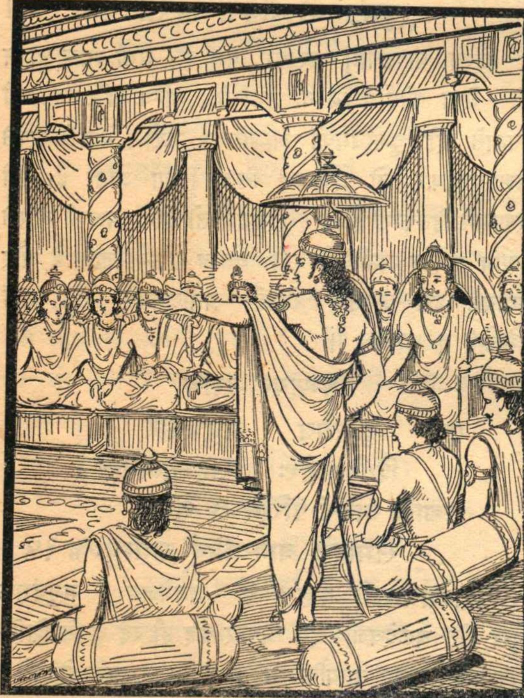
हृदय होता है, वैसी ही बात उसके मुखसे निकलती है। आपका भी जैसा अन्तःकरण है, वैसा ही आप भाषण दे रहे हैं ॥ १ ॥

सन्ति वै पुरुषाः शूराः सन्ति कापुरुषास्तथा।
उभावेतौ दृढौ पक्षौ दृश्येते पुरुषान् प्रति ॥ २ ॥

संसारमें शूर-वीर पुरुष भी हैं और कापुरुष (कायर) भी। पुरुषोंमें ये दोनों पक्ष निश्चितरूपसे देखे जाते हैं ॥२॥

एकस्मिन्नेव जायेते कुले क्लीबमहाबलौ।
फलाफलवती शाखे यथैकस्मिन् वनस्पतौ ॥ ३ ॥

जैसे एक ही वृक्षमें कोई शाखा फलवती होती है और कोई फलहीन। इसी प्रकार एक ही कुलमें दो प्रकारकी संतान उत्पन्न होती है, एक नपुंसक और दूसरी महान् बलशाली ॥ ३ ॥



नाभ्यसूयामि ते वाक्यं ब्रुवतो लाङ्गलध्वज।
ये तु शृण्वन्ति ते वाक्यं तानसूयामि माधव ॥ ४ ॥

अपनी ध्वजामें हलका चिह्न धारण करनेवाले मधुकुल-रत्न ! आप जो कुछ कह रहे हैं, उसमें मैं दोष नहीं निकाल रहा हूँ, जो लोग आपकी बातें चुप-चाप सुन रहे हैं, उन्हीं-को मैं दोषी मानता हूँ ॥ ४ ॥

कथं हि धर्मराजस्य दोषमल्पमपि ब्रुवन्।
लभते परिषन्मध्ये व्याहर्तुमकुतोभयः ॥ ५ ॥

भला, कोई भी मनुष्य भरी सभामें निर्भय होकर धर्म-राज युधिष्ठिरपर थोड़ा-सा भी दोषारोपण करे, तो वह कैसे बोलनेका अवसर पा सकता है ? ॥ ५ ॥

समाहूय महात्मानं जितवन्तोऽक्षकोविदाः।
अनक्षज्ञं यथाश्रद्धं तेषु धर्मजयः कुतः ॥ ६ ॥

महात्मा युधिष्ठिर जूआ खेलना नहीं जानते थे, तो भी जूएके खेलमें निपुण धूर्तोंने उन्हें अपने घर बुलाकर अपने विश्वासके अनुसार हराया अथवा जीता है। यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कैसे कही जा सकती है ? ॥ ६ ॥

यदि कुन्तीसुतं गेहे क्रीडन्तं भ्रातृभिः सह।
अभिगम्य जयेयुस्ते तत् तेषां धर्मतो भवेत्।
समाहूय तु राजानं क्षत्रधर्मरतं सदा ॥ ७ ॥
निकृत्या जितवन्तस्ते किं नु तेषां परं शुभम्।
कथं प्रणिपतेच्चायमिह कृत्वा पणं परम् ॥ ८ ॥

यदि भाइयोंसहित कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने घरपर जूआ खेलते होते और ये कौरव वहाँ जाकर उन्हें हरा देते, तो यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कही जा सकती थी। परंतु उन्होंने सदा क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले राजा युधिष्ठिरको बुलाकर छल और कपटसे उन्हें पराजित किया है। क्या यही उनका परम कल्याणमय कर्म कहा जा सकता है? ये राजा युधिष्ठिर अपनी वनवासविषयक प्रतिज्ञा तो पूर्ण ही कर चुके हैं, अब किस लिये उनके आगे मस्तक झुकायें—क्यों प्रणाम अथवा विनय करें ? ॥ ७-८ ॥

वनवासाद् विमुक्तस्तु प्राप्तः पैतामहं पदम्।
यद्ययं परवित्तानि कामयेत युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
एवमप्ययमत्यन्तं परान् नार्हति याचितुम्।

वनवासके बन्धनसे मुक्त होकर अब ये अपने बाप-दादोंके राज्यको पानेके न्यायतः अधिकारी हो गये हैं। यदि युधिष्ठिर अन्यायसे भी अपना धन, अपना राज्य लेनेकी इच्छा करें, तो भी अत्यन्त दीन बनकर शत्रुओंके सामने हाथ फैलाने या भीख माँगनेके योग्य नहीं हैं ॥ ९½ ॥

कथं च धर्मयुक्तास्ते न च राज्यं जिहीर्षवः ॥ १० ॥
निवृत्तवासान् कौन्तेयान् य आहुर्विदिता इति।

कुन्तीके पुत्र वनवासकी अवधि पूरी करके जब लौटे हैं, तब कौरव यह कहने लगे हैं कि हमने तो इन्हें समय पूर्ण होनेसे पहले ही पहचान लिया है। ऐसी दशामें यह कैसे कहा जाय कि कौरव धर्ममें तत्पर हैं और पाण्डवोंके राज्यका अपहरण नहीं करना चाहते हैं ॥ १०½ ॥

अनुनीता हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ॥ ११ ॥
न व्यवस्यन्ति पाण्डूनां प्रदातुं पैतृकं वसु।

वे भीष्म, द्रोण और विदुरके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी पाण्डवोंको उनका पैतृक धन वापस देनेका

निश्चय अथवा प्रयास नहीं कर रहे हैं ॥ ११½ ॥

अहं तु ताञ्छितैर्बाणैरनुनीय रणे बलात् ॥ १२ ॥
पादयोः पातयिष्यामि कौन्तेयस्य महात्मनः ।

मैं तो रणभूमिमें पैने बाणोंसे उन्हें बलपूर्वक मनाकर महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके चरणोंमें गिरा दूँगा ॥१२½॥

अथ ते न व्यवस्यन्ति प्रणिपाताय धीमतः ॥ १३ ॥
गमिष्यन्ति सहामात्या यमस्य सदनं प्रति ।

यदि वे परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरके चरणोंमें गिरनेका निश्चय नहीं करेंगे, तो अपने मन्त्रियोंसहित उन्हें यमलोककी यात्रा करनी पड़ेगी ॥ १३½ ॥

न हि ते युयुधानस्य संरब्धस्य युयुत्सतः ॥ १४ ॥
वेगं समर्थाः संसोढुं वज्रस्येव महीधराः ।

जैसे बड़े-बड़े पर्वत भी वज्रका वेग सहन करनेमें समर्थ नहीं हैं, उसी प्रकार युद्धकी इच्छा रखनेवाले और क्रोधमें भरे हुए मुझ सात्यकिके प्रहार-वेगको सहन करनेकी सामर्थ्य उनमेंसे किसीमें भी नहीं है ॥ १४½ ॥

को हि गाण्डीवधन्वानं कश्च चक्रायुधं युधि॥ १५ ॥
मां चापि विषहेत् क्रुद्धं कश्च भीमं दुरासदम् ।
यमौ च दृढधन्वानौ यमकालोपमद्युती ।
विराटद्रुपदौ वीरौ यमकालोपमद्युती ॥ १६ ॥
को जिजीविषुरासादेद् धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ।

कौरवदलमें ऐसा कौन है, जो जीवनकी इच्छा रखते हुए भी युद्धभूमिमें गाण्डीवधन्वा अर्जुन, चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्ण, क्रोधमें भरे हुए मुझ सात्यकि, दुर्धर्ष वीर भीमसेन, यम और कालके समान तेजस्वी दृढ़ धनुर्धर नकुल-सहदेव, यम और कालको भी अपने तेजसे तिरस्कृत करनेवाले वीरवर विराट और द्रुपदका तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नका भी सामना कर सकता है ? ॥ १५-१६½ ॥

पञ्चैतान् पाण्डवेयांस्तु द्रौपद्याः कीर्तिवर्धनान् ॥ १७ ॥
समप्रमाणान् पाण्डूनां समवीर्यान् मदोत्कटान् ।
सौभद्रं च महेष्वासममरैरपि दुःसहम् ॥ १८ ॥
गदप्रद्युम्नसाम्बांश्च कालसूर्यानलोपमान् ।

द्रौपदीकी कीर्तिको बढ़ानेवाले ये पाँचों पाण्डवकुमार अपने पिताके समान ही डील-डौलवाले, वैसे ही पराक्रमी तथा उन्हींके समान रणोन्मत्त शूरवीर हैं । महान् धनुर्धर सुभद्राकुमार अभिमन्युका वेग तो देवताओंके लिये भी दुःसह है, गद, प्रद्युम्न और साम्ब—ये काल, सूर्य और अग्निके समान अजेय हैं—इन सबका सामना कौन कर सकता है ? ॥ १७-१८½ ॥

ते वयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रं शकुनिना सह ॥ १९ ॥
कर्णं चैव निहत्याजावभिषेक्ष्याम पाण्डवम् ।

हमलोग शकुनिसहित धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको तथा कर्णको भी युद्धमें मारकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका राज्याभिषेक करेंगे ॥ १९½ ॥

नाधर्मो विद्यते कश्चिच्छत्रून् हत्वाऽऽततायिनः॥ २० ॥
अधर्म्यमयशस्यं च शात्रवाणां प्रयाचनम् ।

आततायी शत्रुओंका वध करनेमें कोई पाप नहीं है । शत्रुओंके सामने याचना करना ही अधर्म और अपयशकी बात है ॥ २०½ ॥

हृद्गतस्तस्य यः कामस्तं कुरुध्वमतन्द्रिताः ॥ २१ ॥
निसृष्टं धृतराष्ट्रेण राज्यं प्राप्नोतु पाण्डवः ।
अद्य पाण्डुसुतो राज्यं लभतां वा युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
निहता वा रणे सर्वे स्वप्स्यन्ति वसुधातले ॥ २३ ॥

अतः पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके मनमें जो अभिलाषा है, उसीकी आपलोग आलस्य छोड़कर सिद्धि करें । धृतराष्ट्र राज्य लौटा दें और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर उसे ग्रहण करें । अब पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको राज्य मिल जाना चाहिये, अन्यथा समस्त कौरव युद्धमें मारे जाकर रणभूमिमें सदाके लिये सो जायँगे ॥२१–२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि सात्यकिक्रोधवाक्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें सात्यकिका क्रोधपूर्ण वचनसम्बन्धी तीसरा अध्याय पूरा हुआ॥ ३ ॥



चतुर्थोऽध्यायः

राजा द्रुपदकी सम्मति

द्रुपद उवाच

एवमेतन्महाबाहो भविष्यति न संशयः ।
न हि दुर्योधनो राज्यं मधुरेण प्रदास्यति ॥ १ ॥
अनुवर्त्स्यति तं चापि धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ।
भीष्मद्रोणौ च कार्पण्यान्मौर्ख्याद् राधेयसौबलौ॥ २ ॥

(सात्यकिकी बात सुनकर) द्रुपदने कहा—महाबाहो ! तुम्हारा कहना ठीक है । इसमें संदेह नहीं कि ऐसा ही होगा; क्योंकि दुर्योधन मधुर व्यवहारसे राज्य नहीं देगा । अपने उस पुत्रके प्रति आसक्त रहनेवाले धृतराष्ट्र भी उसीका अनुसरण करेंगे । भीष्म और द्रोणाचार्य दीनतावश तथा

कर्ण और शकुनि मूर्खतावश दुर्योधनका साथ देंगे ॥ १-२ ॥

बलदेवस्य वाक्यं तु मम ज्ञाने न युज्यते ।
एतद्धि पुरुषेणाग्रे कार्यं सुनयमिच्छता ॥ ३ ॥
न तु वाच्यो मृदुवचो धार्तराष्ट्रः कथंचन ।
न हि मार्दवसाध्योऽसौ पापबुद्धिर्मतो मम ॥ ४ ॥

बलदेवजीका कथन मेरी समझमें ठीक नहीं जान पड़ता । मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ, वही सुनीतिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सबसे पहले करना चाहिये । धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे मधुर अथवा नम्रतापूर्ण वचन कहना किसी प्रकार उचित नहीं है । मेरा ऐसा मत है कि वह पापपूर्ण विचार रखनेवाला है, अतः मृदु व्यवहारसे वशमें आनेवाला नहीं है ॥ ३-४ ॥

गर्दभे मार्दवं कुर्याद् गोषु तीक्ष्णं समाचरेत् ।
मृदु दुर्योधने वाक्यं यो ब्रूयात् पापचेतसि ॥ ५ ॥

जो पापात्मा दुर्योधनके प्रति मृदु वचन बोलेगा, वह मानो गदहेके प्रति कोमलतापूर्ण व्यवहार करेगा और गायोंके प्रति कठोर बर्ताव ॥ ५ ॥

मृदुं वै मन्यते पापो भाषमाणमशक्तिकम् ।
जितमर्थं विजानीयादबुधो मार्दवे सति ॥ ६ ॥

पापी एवं मूर्ख मनुष्य मृदु वचन बोलनेवालेको शक्तिहीन समझता है और कोमलताका बर्ताव करनेपर यह मानने लगता है कि मैंने इसके धनपर विजय पा ली ॥ ६ ॥

एतच्चैव करिष्यामो यत्नश्च क्रियतामिह ।
प्रस्थापयाम मित्रेभ्यो बलान्युद्योजयन्तु नः ॥ ७ ॥

(हम आपके सामने जो प्रस्ताव ला रहे हैं;) इसीको सम्पन्न करेंगे और इसीके लिये यहाँ प्रयत्न किया जाना चाहिये । हमें अपने मित्रोंके पास यह संदेश भेजना चाहिये कि वे हमारे लिये सैन्य-संग्रहका उद्योग करें ॥ ७ ॥

शल्यस्य धृष्टकेतोश्च जयत्सेनस्य वा विभो ।
केकयानां च सर्वेषां दूता गच्छन्तु शीघ्रगाः ॥ ८ ॥

भगवन् ! हमारे शीघ्रगामी दूत शल्य, धृष्टकेतु, जयत्सेन और समस्त केकय राजकुमारोंके पास जायँ ॥ ८ ॥

स च दुर्योधनो नूनं प्रेषयिष्यति सर्वशः ।
पूर्वाभिपन्नाः सन्तश्च भजन्ते पूर्वचोदनम् ॥ ९ ॥

निश्चय ही दुर्योधन भी सबके यहाँ संदेश भेजेगा । श्रेष्ठ राजा जब किसीके द्वारा पहले सहायताके लिये निमन्त्रित हो जाते हैं, तब प्रथम निमन्त्रण देनेवालेकी ही सहायता करते हैं ।९।

तत् त्वरध्वं नरेन्द्राणां पूर्वमेव प्रचोदने ।
महद्धि कार्यं वोढव्यमिति मे वर्तते मतिः ॥ १० ॥

अतः सभी राजाओंके पास पहले ही अपना निमन्त्रण पहुँच जाय; इसके लिये शीघ्रता करो । मैं समझता हूँ, हम सब लोगोंको महान् कार्यका भार वहन करना है ॥ १० ॥

शल्यस्य प्रेष्यतां शीघ्रं ये च तस्यानुगा नृपाः ।
भगदत्ताय राज्ञे च पूर्वसागरवासिने ॥ ११ ॥

राजा शल्य तथा उनके अनुगामी नरेशोंके पास शीघ्र दूत भेजे जायँ । पूर्व समुद्रके तटवर्ती राजा भगदत्तके पास भी दूत भेजना चाहिये ॥ ११ ॥

अमितौजसे तथोग्राय हार्दिक्यायान्धकाय च ।
दीर्घप्रज्ञाय शूराय रोचमानाय वा विभो ॥ १२ ॥

भगवन् ! इसी प्रकार अमितौजा, उग्र, हार्दिक्य (कृतवर्मा), अन्धक, दीर्घप्रज्ञ तथा शूरवीर रोचमानके पास भी दूतोंको भेजना आवश्यक है ॥ १२ ॥

आनीयतां बृहन्तश्च सेनाबिन्दुश्च पार्थिवः ।
सेनजित् प्रतिविन्ध्यश्च चित्रवर्मा सुवास्तुकः ॥ १३ ॥
बाह्लीको मुञ्जकेशश्च चैद्याधिपतिरेव च ।
सुपार्श्वश्च सुबाहुश्च पौरवश्च महारथः ॥ १४ ॥
शकानां पह्लवानां च दरदानां च ये नृपाः ।
सुरारिश्च नदीजश्च कर्णवेष्टश्च पार्थिवः ॥ १५ ॥
नीलश्च वीरधर्मा च भूमिपालश्च वीर्यवान् ।
दुर्जयो दन्तवक्त्रश्च रुक्मी च जनमेजयः ॥ १६ ॥
आषाढो वायुवेगश्च पूर्वपाली च पार्थिवः ।
भूरितेजा देवकश्च एकलव्यः सहात्मजैः ॥ १७ ॥
कारूषकाश्च राजानः क्षेमधूर्तिश्च वीर्यवान् ।
काम्बोजा ऋषिका ये च पश्चिमानूपकाश्च ये ॥ १८ ॥
जयत्सेनश्च काश्यश्च तथा पञ्चनदा नृपाः ।
क्राथपुत्रश्च दुर्धर्षः पार्वतीयाश्च ये नृपाः ॥ १९ ॥
जानकिश्च सुशर्मा च मणिमान् योतिमत्सकः ।
पांशुराष्ट्राधिपश्चैव धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ॥ २० ॥
तुण्डश्च दण्डधारश्च बृहत्सेनश्च वीर्यवान् ।
अपराजितो निषादश्च श्रेणिमान् वसुमानपि ॥ २१ ॥
बृहद्बलो महौजाश्च बाहुः परपुरञ्जयः ।
समुद्रसेनो राजा च सह पुत्रेण वीर्यवान् ॥ २२ ॥
उद्भवः क्षेमकश्चैव वाटधानश्च पार्थिवः ।
श्रुतायुश्च दृढायुश्च शाल्वपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ २३ ॥
कुमारश्च कलिङ्गानामीश्वरो युद्धदुर्मदः ।
एतेषां प्रेष्यतां शीघ्रमेतद्धि मम रोचते ॥ २४ ॥

बृहन्तको भी बुलाया जाय । राजा सेनाबिन्दु, सेनजित्, प्रतिविन्ध्य, चित्रवर्मा, सुवास्तुक, बाह्लीक, मुञ्जकेश, चैद्यराज, सुपार्श्व, सुबाहु, महारथी पौरव, शकनरेश, पह्लवराज तथा दरददेशके नरेश भी निमन्त्रित किये जाने चाहिये । सुरारि, नदीज, भूपाल कर्णवेष्ट, नील, वीरधर्मा, पराक्रमी भूमिपाल, दुर्जय दन्तवक्त्र, रुक्मी, जनमेजय, आषाढ, वायुवेग, राजा

पूर्वपाली, भूरितेजा, देवक, पुत्रोंसहित एकलव्य, करूष-देशके बहुत-से नरेश, पराक्रमी क्षेमधूर्ति, काम्बोजनरेश, ऋषिकदेशके राजा, पश्चिम द्वीपवासी नरेश, जयत्सेन, काश्य, पञ्चनद प्रदेशके राजा, दुर्धर्ष क्राथपुत्र, पर्वतीय नरेश, राजा जनकके पुत्र, सुशर्मा, मणिमान्, योतिमत्सक, पांशुराज्यके अधिपति, पराक्रमी धृष्टकेतु, तुण्ड, दण्डधार, वीर्यशाली बृहत्सेन, अपराजित, निषादराज, श्रेणिमान्, वसुमान्, बृहद्बल, महौजा, शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले बाहु, पुत्रसहित पराक्रमी राजा समुद्रसेन, उद्भव, क्षेमक, राजा वाटधान, श्रुतायु, दृढायु, पराक्रमी शाल्वपुत्र, कुमार तथा युद्धदुर्मद कलिङ्गराज—इन सबके पास शीघ्र ही रण-निमन्त्रण भेजा जाय; मुझे यही ठीक जान पड़ता है ॥ १३–२४ ॥

अयं च ब्राह्मणो विद्वान् मम राजन् पुरोहितः।
प्रेष्यतां धृतराष्ट्राय वाक्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ २५ ॥

मत्स्यराज ! ये मेरे पुरोहित विद्वान् ब्राह्मण हैं, इन्हें धृतराष्ट्रके पास भेजिये और वहाँके लिये उचित संदेश दीजिये ॥ २५ ॥

यथा दुर्योधनो वाच्यो यथा शान्तनवो नृपः।
धृतराष्ट्रो यथा वाच्यो द्रोणश्च रथिनां वरः ॥ २६ ॥

दुर्योधनसे क्या कहना है ? शान्तनुनन्दन भीष्मजीसे किस प्रकार बातचीत करनी है ? धृतराष्ट्रको क्या संदेश देना है ? तथा रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे किस प्रकार वार्तालाप करना है ? यह सब उन्हें समझा दीजिये ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि द्रुपदवाक्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें द्रुपदवाक्यविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका द्वारकागमन, विराट और द्रुपदके संदेशसे राजाओंका पाण्डवपक्षकी ओरसे युद्धके लिये आगमन

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं वाक्यं सोमकानां धुरंधरे।
अर्थसिद्धिकरं राज्ञः पाण्डवस्यामितौजसः ॥ १ ॥

(तत्पश्चात् भगवान्) श्रीकृष्णने कहा—सभासदो ! सोमकवंशके धुरंधर वीर महाराज द्रुपदने जो बात कही है, वह उन्हींके योग्य है। इसीसे अमित तेजस्वी पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरके अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो सकती है ॥ १ ॥

एतच्च पूर्वं कार्यं नः सुनीतमभिकाङ्क्षताम्।
अन्यथा ह्याचरन् कर्म पुरुषः स्यात् सुबालिशः॥ २ ॥

हमलोग सुनीतिकी इच्छा रखनेवाले हैं; अतः हमें सबसे पहले यही कार्य करना चाहिये। जो अवसरके विपरीत आचरण करता है, वह मनुष्य अत्यन्त मूर्ख माना जाता है ॥ २ ॥

किं तु सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं कुरुपाण्डुषु।
यथेष्टं वर्तमानेषु पाण्डवेषु च तेषु च ॥ ३ ॥

परंतु हमलोगोंका कौरवों और पाण्डवोंसे एक-सा सम्बन्ध है। पाण्डव और कौरव दोनों ही हमारे साथ यथा-योग्य अनुकूल बर्ताव करते हैं ॥ ३ ॥

ते विवाहार्थमानीता वयं सर्वे तथा भवान्।
कृते विवाहे मुदिता गमिष्यामो गृहान् प्रति ॥ ४ ॥

इस समय हम और आप सब लोग विवाहोत्सवमें निमन्त्रित होकर आये हैं। विवाहकार्य सम्पन्न हो गया; अतः अब हम प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने घरोंको लौट जायँगे ॥ ४ ॥

भवान् वृद्धतमो राज्ञां वयसा च श्रुतेन च।
शिष्यवत् ते वयं सर्वे भवामेह न संशयः ॥ ५ ॥

आप समस्त राजाओंमें अवस्था तथा शास्त्रज्ञान दोनों ही दृष्टियोंसे सबकी अपेक्षा बड़े हैं। इसमें संदेह नहीं कि हम सब लोग आपके शिष्यके समान हैं ॥ ५ ॥

भवन्तं धृतराष्ट्रश्च सततं बहु मन्यते।
आचार्ययोः सखा चासि द्रोणस्य च कृपस्य च ॥ ६ ॥

राजा धृतराष्ट्र भी सदा आपको विशेष आदर देते हैं, आचार्य द्रोण और कृप दोनोंके आप सखा हैं ॥ ६ ॥

स भवान् प्रेषयत्वद्य पाण्डवार्थकरं वचः।
सर्वेषां निश्चितं तन्नः प्रेषयिष्यति यद् भवान् ॥ ७ ॥

अतः आप ही आज पाण्डवोंकी कार्य-सिद्धिके अनुकूल संदेश भेजिये। आप जो भी संदेश भेजेंगे, वह हम सब लोगों-का निश्चित मत होगा ॥ ७ ॥

यदि तावच्छमं कुर्यान्न्यायेन कुरुपुङ्गवः।
न भवेत् कुरुपाण्डूनां सौभ्रात्रेण महान् क्षयः ॥ ८ ॥

यदि कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन न्यायके अनुसार शान्ति स्वीकार करेगा, तो कौरव और पाण्डवोंमें परस्पर बन्धुजनोचित सौहार्द-वश महान् संहार न होगा ॥ ८ ॥

अथ दर्पान्वितो मोहान्न कुर्याद् धृतराष्ट्रजः।
अन्येषां प्रेषयित्वा च पश्चादस्मान् समाह्वये ॥ ९ ॥

यदि धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन मोहवश घमंडमें आकर हमारा प्रस्ताव न स्वीकार करे, तो आप दूसरे राजाओंको युद्धका निमन्त्रण भेजकर सबके बाद हमलोगोंको आमन्त्रित कीजियेगा ॥ ९ ॥

ततो दुर्योधनो मन्दः सहामात्यः सबान्धवः।
निष्ठामापत्स्यते मूढः क्रुद्धे गाण्डीवधन्वनि ॥ १०॥

फिर तो गाण्डीवधन्वा अर्जुनके कुपित होनेपर मन्द-बुद्धि मूढ दुर्योधन अपने मन्त्रियों और बन्धुजनोंके साथ सर्वथा नष्ट हो जायगा ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्कृत्य वार्ष्णेयं विराटः पृथिवीपतिः।
गृहान् प्रस्थापयामास सगणं सहबान्धवम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा विराटने सेवकवृन्द तथा बान्धवोंसहित वृष्णिकुल-नन्दन भगवान् श्रीकृष्णका सत्कार करके उन्हें द्वारका जानेके लिये बिदा किया ॥ ११ ॥

द्वारकां तु गते कृष्णे युधिष्ठिरपुरोगमाः।
चक्रुः सांग्रामिकं सर्वं विराटश्च महीपतिः ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णके द्वारका चले जानेपर युधिष्ठिर आदि पाण्डव तथा राजा विराट युद्धकी सारी तैयारियाँ करने लगे ॥१२॥

ततः सम्प्रेषयामास विराटः सह बान्धवैः।
सर्वेषां भूमिपालानां द्रुपदश्च महीपतिः ॥१३ ॥

बन्धुओंसहित राजा विराट तथा महाराज द्रुपदने मिल-कर सब राजाओंके पास युद्धका निमन्त्रण भेजा ॥ १३ ॥

वचनात् कुरुसिंहानां मत्स्यपाञ्चालयोश्च ते।
समाजग्मुर्महीपालाः सम्प्रहृष्टा महाबलाः ॥ १४ ॥

कुरुकुलके सिंह पाण्डव, मत्स्यनरेश विराट तथा पाञ्चालराज द्रुपदके संदेशसे (दूर-दूरके) महाबली नरेश बड़े हर्ष और उत्साहमें भरकर वहाँ आने लगे ॥ १४ ॥

तच्छ्रुत्वा पाण्डुपुत्राणां समागच्छन्महद् बलम्।
धृतराष्ट्रसुताश्चापि समानिन्युर्महीपतीन् ॥ १५ ॥

पाण्डवोंके यहाँ विशाल सेना एकत्र हो रही है; यह सुनकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंने भी भूमिपालोंको बुलाना आरम्भ कर दिया ॥ १५ ॥

समाकुला मही राजन् कुरुपाण्डवकारणात्।
तदा समभवत् कृत्स्ना सम्प्रयाणे महीक्षिताम् ॥ १६ ॥
संकुला च तदा भूमिश्चतुरङ्गबलान्विता।

राजन् ! इस प्रकार कौरवों तथा पाण्डवोंके उद्देश्यसे दूर-दूरके नरेश अपनी सेना लेकर प्रस्थान करने लगे। इनकी चतुरङ्गिणी सेनासे सारी पृथ्वी व्याप्त हुई-सी जान पड़ने लगी ॥ १६½ ॥

बलानि तेषां वीराणामागच्छन्ति ततस्ततः ॥ १७ ॥
चालयन्तीव गां देवीं सपर्वतवनामिमाम्।

चारों ओरसे उन वीरोंके जो सैनिक आ रहे थे, वे पर्वतों और वनोंसहित इस सारी पृथ्वीको प्रकम्पित-सी कर रहे थे ॥ १७½ ॥

ततः प्रज्ञावयोवृद्धं पाञ्चाल्यः स्वपुरोहितम्।
कुरुभ्यः प्रेषयामास युधिष्ठिरमते स्थितः ॥ १८ ॥

तदनन्तर पाञ्चालनरेशने युधिष्ठिरकी सम्मतिके अनुसार बुद्धि और अवस्थामें भी बढ़े-चढ़े अपने पुरोहितको कौरवोंके पास भेजा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहित-प्रस्थानविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

द्रुपदका पुरोहितको दौत्यकर्मके लिये अनुमति देना तथा पुरोहितका हस्तिनापुरको प्रस्थान

द्रुपद उवाच

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेष्वपि द्विजातयः ॥ १ ॥

राजा द्रुपदने (पुरोहितसे) कहा—पुरोहितजी ! समस्त भूतोंमें प्राणधारी श्रेष्ठ हैं। प्राणधारियोंमें भी बुद्धि-जीवी श्रेष्ठ हैं। बुद्धिजीवी प्राणियोंमें भी मनुष्य और मनुष्योंमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ माने गये हैं ॥ १ ॥

द्विजेषु वैद्याः श्रेयांसो वैद्येषु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः ॥ २ ॥

ब्राह्मणोंमें विद्वान्, विद्वानोंमें सिद्धान्तके जानकार, सिद्धान्तके ज्ञाताओंमें भी तदनुसार आचरण करनेवाले पुरुष तथा उनमें भी ब्रह्मवेत्ता श्रेष्ठ हैं ॥ २ ॥



स भवान् कृतबुद्धीनां प्रधान इति मे मतिः।
कुलेन च विशिष्टोऽसि वयसा च श्रुतेन च ॥ ३ ॥

मेरा ऐसा विश्वास है कि आप सिद्धान्तवेत्ताओंमें प्रमुख हैं। आपका कुल तो श्रेष्ठ है ही, अवस्था तथा शास्त्र-ज्ञानमें भी आप बढ़े-चढ़े हैं ॥ ३ ॥

प्रज्ञया सदृशश्चासि शुक्रेणाङ्गिरसेन च।
विदितं चापि ते सर्वं यथावृत्तः स कौरवः ॥ ४ ॥

आपकी बुद्धि शुक्राचार्य और बृहस्पतिके समान है। दुर्योधनका आचार-विचार जैसा है, वह सब भी आपको ज्ञात ही है ॥ ४ ॥

पाण्डवश्च यथावृत्तः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
धृतराष्ट्रस्य विदिते वञ्चिताः पाण्डवाः परैः ॥ ५ ॥

कुन्तीपुत्र पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका आचार-विचार भी आपलोगोंसे छिपा नहीं है। धृतराष्ट्रकी जानकारीमें शत्रुओंने पाण्डवोंको ठगा है ॥ ५ ॥

विदुरेणानुनीतोऽपि पुत्रमेवानुवर्तते।
शकुनिर्बुद्धिपूर्वं हि कुन्तीपुत्रं समाह्वयत् ॥ ६ ॥
अनक्षज्ञं मताक्षः सन् क्षत्रवृत्ते स्थितं शुचिम्।

विदुरजीके अनुनय-विनय करनेपर भी धृतराष्ट्र अपने पुत्रका ही अनुसरण करते हैं। शकुनिने स्वयं जूएके खेलमें प्रवीण होकर यह जानते हुए भी कि युधिष्ठिर जूएके खिलाड़ी नहीं हैं, वे क्षत्रियधर्मपर चलनेवाले शुद्धात्मा पुरुष हैं, उन्हें समझ-बूझकर जूएके लिये बुलाया ॥ ६½ ॥

ते तथा वञ्चयित्वा तु धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥
न कस्यांचिदवस्थायां राज्यं दास्यन्ति वै स्वयम्।

उन सबने मिलकर धर्मराज युधिष्ठिरको ठगा है। अब वे किसी भी अवस्थामें स्वयं राज्य नहीं लौटायेंगे ॥ ७½ ॥

भवांस्तु धर्मसंयुक्तं धृतराष्ट्रं ब्रुवन् वचः ॥ ८ ॥
मनांसि तस्य योधानां ध्रुवमावर्तयिष्यति।

परंतु आप राजा धृतराष्ट्रसे धर्मयुक्त बातें कहकर उनके योद्धाओंका मन निश्चय ही अपनी ओर फेर लेंगे ॥ ८½ ॥

विदुरश्चापि तद् वाक्यं साधयिष्यति तावकम् ॥ ९ ॥
भीष्मद्रोणकृपादीनां भेदं संजनयिष्यति।

विदुरजी भी वहाँ आपके वचनोंका समर्थन करेंगे तथा आप भीष्म, द्रोण एवं कृपाचार्य आदिमें भेद उत्पन्न कर देंगे ॥ ९½ ॥

अमात्येषु च भिन्नेषु योधेषु विमुखेषु च ॥ १० ॥
पुनरेकत्रकरणं तेषां कर्म भविष्यति।

जब मन्त्रियोंमें फूट पड़ जायगी और योद्धा भी विमुख होकर चल देंगे, तब उनका (प्रधान) कार्य होगा--पुनः नूतन सेनाका संग्रह और संगठन ॥ १०½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे पार्थाः सुखमेकाग्रबुद्धयः ॥ ११ ॥
सेनाकर्म करिष्यन्ति द्रव्याणां चैव संचयम्।

इसी बीचमें एकाग्रचित्तवाले कुन्तीकुमार अनायास ही सेनाका संगठन और द्रव्यका संग्रह कर लेंगे ॥ ११½ ॥

विद्यमानेषु च स्वेषु लम्बमाने तथा त्वयि ॥ १२ ॥
न तथा ते करिष्यन्ति सेनाकर्म न संशयः।

जब वहाँ हमारे स्वजन उपस्थित रहेंगे और आप भी वहाँ रहकर लौटनेमें विलम्ब करते रहेंगे, तब निःसंदेह वे सैन्य-संग्रहका कार्य उतने अच्छे ढंगसे नहीं कर सकेंगे ॥ १२½ ॥

एतत् प्रयोजनं चात्र प्राधान्येनोपलभ्यते ॥ १३ ॥
संगत्या धृतराष्ट्रश्च कुर्याद् धर्म्यं वचस्तव।

वहाँ आपके जानेका यही प्रयोजन प्रधानरूपसे दिखायी देता है। यह भी सम्भव है कि आपकी संगतिसे धृतराष्ट्रका मन बदल जाय और वे आपकी धर्मानुकूल बात स्वीकार कर लें ॥

स भवान् धर्मयुक्तश्च धर्म्यं तेषु समाचरन् ॥ १४ ॥
कृपालुषु परिक्लेशान् पाण्डवीयान् प्रकीर्तयन्।
वृद्धेषु कुलधर्मं च ब्रुवन् पूर्वैरनुष्ठितम् ॥ १५ ॥
विभेत्स्यति मनांस्येषामिति मे नात्र संशयः।

आप धर्मपरायण तो हैं ही, वहाँ धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए कौरवकुलमें जो कृपालु वृद्ध पुरुष हैं, उनके समक्ष पूर्वपुरुषोंद्वारा आचरित कुलधर्मका प्रतिपादन एवं पाण्डवोंके क्लेशोंका वर्णन कीजियेगा। इस प्रकार आप उनका मन दुर्योधनकी ओरसे फोड़ लेंगे, इसमें मुझे कोई संशय नहीं है ॥ १४-१५½ ॥

न च तेभ्यो भयं तेऽस्ति ब्राह्मणो ह्यसि वेदवित् ॥
दूतकर्मणि युक्तश्च स्थविरश्च विशेषतः ।

आपको उनसे कोई भय नहीं है; क्योंकि आप वेदवेत्ता ब्राह्मण हैं। विशेषतः दूतकर्ममें नियुक्त और वृद्ध हैं ॥ १६½ ॥

स भवान् पुष्ययोगेन मुहूर्तेन जयेन च ।
कौरवेयान् प्रयात्वाशु कौन्तेयस्यार्थसिद्धये ॥ १७ ॥

अतः आप पुष्य नक्षत्रसे युक्त जय नामक मुहूर्तमें कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके कार्यकी सिद्धिके लिये कौरवोंके पास शीघ्र जाइये ॥

वैशम्पायन उवाच

तथानुशिष्टः प्रययौ द्रुपदेन महात्मना ।
पुरोधा वृत्तसम्पन्नो नगरं नागसाह्वयम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महामना राजा द्रुपदके द्वारा इस प्रकार अनुशासित होकर सदाचार-सम्पन्न पुरोहितने हस्तिनापुरको प्रस्थान किया ॥ १८ ॥

शिष्यैः परिवृतो विद्वान् नीतिशास्त्रार्थकोविदः ।
पाण्डवानां हितार्थाय कौरवान् प्रति जग्मिवान् ॥ १९ ॥

वे विद्वान् तथा नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्रके विशेषज्ञ थे। वे पाण्डवोंके हितके लिये शिष्योंके साथ कौरवोंकी (राजधानीकी) ओर गये थे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहितप्रस्थानविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधन तथा अर्जुन दोनोंको सहायता देना

वैशम्पायन उवाच

पुरोहितं ते प्रस्थाप्य नगरं नागसाह्वयम् ।
दूतान् प्रस्थापयामासुः पार्थिवेभ्यस्ततस्ततः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पुरोहितको हस्तिनापुर भेजकर पाण्डवलोग यत्र-तत्र राजाओंके यहाँ अपने दूतोंको भेजने लगे ॥ १ ॥

प्रस्थाप्य दूतानन्यत्र द्वारकां पुरुषर्षभः ।
स्वयं जगाम कौरव्यः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ २ ॥

अन्य सब स्थानोंमें दूत भेजकर कुरुकुलनन्दन कुन्तीपुत्र नरश्रेष्ठ धनंजय स्वयं द्वारकापुरीको गये ॥ २ ॥

गते द्वारवतीं कृष्णे बलदेवे च माधवे ।
सह वृष्ण्यन्धकैः सर्वैर्भोजैश्च शतशस्तदा ॥ ३ ॥
सर्वमागमयामास पाण्डवानां विचेष्टितम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा गूढैः प्रणिहितैश्चरैः ॥ ४ ॥

जब मधुकुलनन्दन श्रीकृष्ण और बलभद्र सैकड़ों वृष्णि, अन्धक और भोजवंशी यादवोंको साथ ले द्वारकापुरीकी ओर चले थे, तभी धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनने अपने नियुक्त किये हुए गुप्तचरोंसे पाण्डवोंकी सारी चेष्टाओंका पता लगा लिया था ॥ ३-४ ॥

स श्रुत्वा माधवं यान्तं सदश्वैरनिलोपमैः ।
बलेन नातिमहता द्वारकामभ्ययात् पुरीम् ॥ ५ ॥

जब उसने सुना कि श्रीकृष्ण विराटनगरसे द्वारकाको जा रहे हैं, तब वह वायुके समान वेगवान् उत्तम अश्वों तथा एक छोटी-सी सेनाके साथ द्वारकापुरीकी ओर चल दिया ॥ ५ ॥

तमेव दिवसं चापि कौन्तेयः पाण्डुनन्दनः ।
आनर्तनगरीं रम्यां जगामाशु धनंजयः ॥ ६ ॥

कुन्तीकुमार पाण्डुनन्दन अर्जुनने भी उसी दिन शीघ्रता-पूर्वक रमणीय द्वारकापुरीकी ओर प्रस्थान किया ॥ ६ ॥

तौ यात्वा पुरुषव्याघ्रौ द्वारकां कुरुनन्दनौ ।
सुप्तं ददृशतुः कृष्णं शयानं चाभिजग्मतुः ॥ ७ ॥

कुरुवंशका आनन्द बढ़ानेवाले उन दोनों नरवीरोंने द्वारकामें पहुँचकर देखा, श्रीकृष्ण शयन कर रहे हैं। तब वे दोनों सोये हुए श्रीकृष्णके पास गये ॥ ७ ॥

ततः शयाने गोविन्दे प्रविवेश सुयोधनः ।
उच्छीर्षतश्च कृष्णस्य निषसाद वरासने ॥ ८ ॥

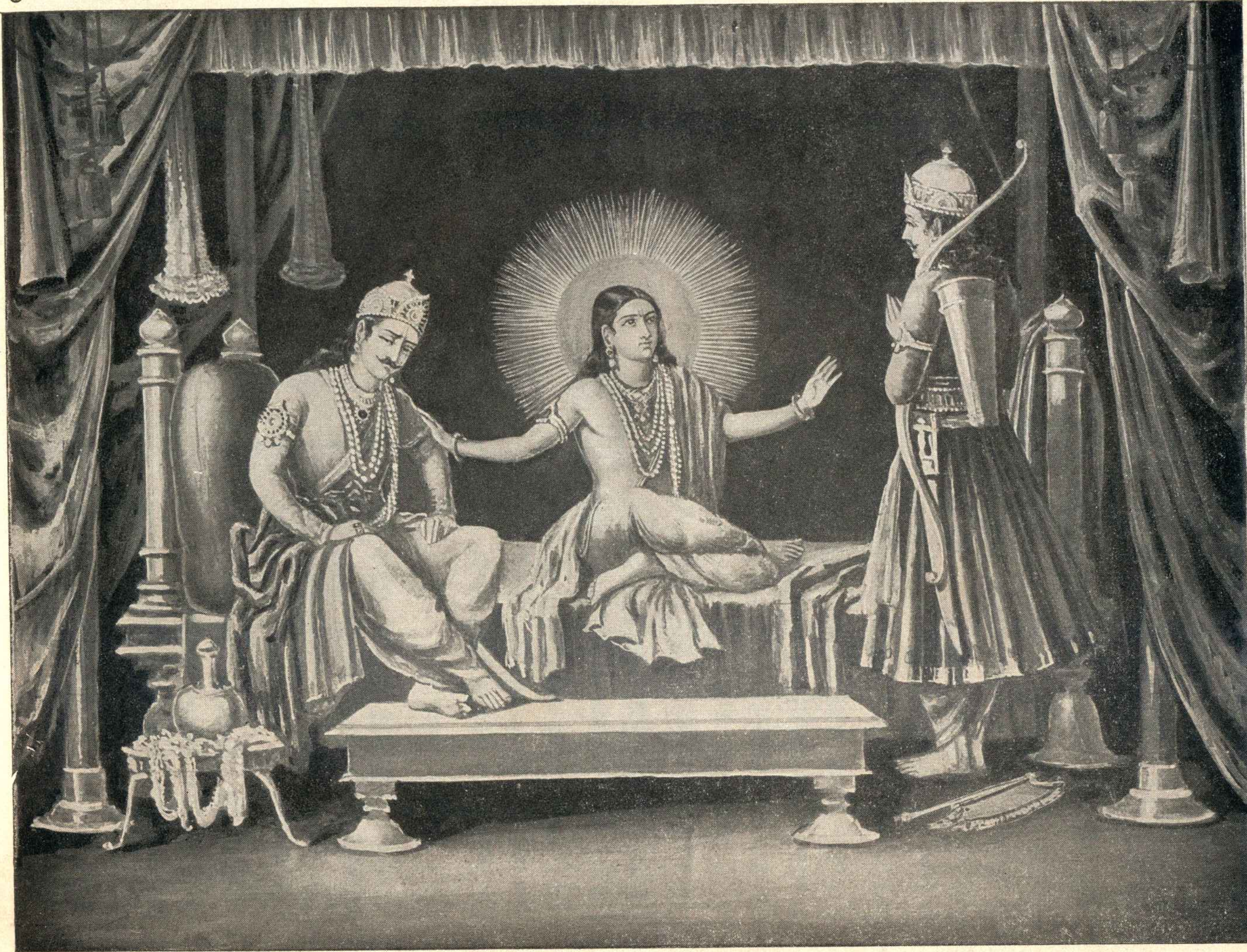
श्रीकृष्णके शयनकालमें पहले दुर्योधनने उनके भवनमें प्रवेश किया और उनके सिरहानेकी ओर रक्खे हुए एक श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठ गया ॥ ८ ॥

ततः किरीटी तस्यानुप्रविवेश महामनाः ।
पश्चाच्चैव स कृष्णस्य प्रह्वोऽतिष्ठत् कृताञ्जलिः ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् महामना किरीटधारी अर्जुनने श्रीकृष्णके शयनागारमें प्रवेश किया। वे बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़े हुए श्रीकृष्णके चरणोंकी ओर खड़े रहे ॥ ९ ॥

प्रतिबुद्धः स वार्ष्णेयो ददर्शाग्रे किरीटिनम् ।
स तयोः स्वागतं कृत्वा यथावत् प्रतिपूज्य तौ ॥ १० ॥
तदागमनजं हेतुं पप्रच्छ मधुसूदनः ।
ततो दुर्योधनः कृष्णमुवाच प्रहसन्निव ॥ ११ ॥

जागनेपर वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्णने पहले अर्जुनको ही देखा। मधुसूदनने उन दोनोंका यथायोग्य आदर-सत्कार



दुर्योधन और अर्जुनका श्रीकृष्णसे युद्धके लिये सहायता माँगना

करके उनसे उनके आगमनका कारण पूछा। तब दुर्योधनने भगवान् श्रीकृष्णसे हँसते हुए-से कहा—॥ १०-११ ॥

विग्रहेऽस्मिन् भवान् साह्यं मम दातुमिहार्हति।
समं हि भवतः सख्यं मम चैवार्जुनेऽपि च ॥ १२ ॥
तथा सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं त्वयि माधव।
अहं चाभिगतः पूर्वं त्वामद्य मधुसूदन ॥ १३ ॥
पूर्वं चाभिगतं सन्तो भजन्ते पूर्वसारिणः।
त्वं च श्रेष्ठतमो लोके सतामद्य जनार्दन।
सततं सम्मतश्चैव सद्वृत्तमनुपालय ॥ १४ ॥

'माधव! (पाण्डवोंके साथ हमारा) जो युद्ध होनेवाला है, उसमें आप मुझे सहायता दें। आपकी मेरे तथा अर्जुनके साथ एक-सी मित्रता है एवं हमलोगोंका आपके साथ सम्बन्ध भी समान ही है और मधुसूदन! आज मैं ही आपके पास पहले आया हूँ। पूर्वपुरुषोंके सदाचारका अनुसरण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष पहले आये हुए प्रार्थीकी ही सहायता करते हैं। जनार्दन! आप इस समय संसारके सत्पुरुषोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं और सभी सर्वदा आपको सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। अतः आप सत्पुरुषोंके ही आचारका पालन करें' ॥ १२-१४ ॥

कृष्ण उवाच

भवानभिगतः पूर्वमत्र मे नास्ति संशयः।
दृष्टस्तु प्रथमं राजन् मया पार्थो धनंजयः ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन्! इसमें संदेह नहीं कि आप ही मेरे यहाँ पहले आये हैं, परंतु मैंने पहले कुन्तीनन्दन अर्जुनको ही देखा है ॥ १५ ॥



तव पूर्वाभिगमनात् पूर्वं चाप्यस्य दर्शनात्।
साहाय्यमुभयोरेव करिष्यामि सुयोधन ॥ १६ ॥

सुयोधन! आप पहले आये हैं और अर्जुनको मैंने पहले देखा है; इसलिये मैं दोनोंकी ही सहायता करूँगा ॥ १६ ॥

प्रवारणं तु बालानां पूर्वं कार्यमिति श्रुतिः।
तस्मात् प्रवारणं पूर्वमर्हः पार्थो धनंजयः ॥ १७ ॥

शास्त्रकी आज्ञा है कि पहले बालकोंको ही उनकी अभीष्ट वस्तु देनी चाहिये; अतः अवस्थामें छोटे होनेके कारण पहले कुन्तीपुत्र अर्जुन ही अपनी अभीष्ट वस्तु पानेके अधिकारी हैं॥

मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत्।
नारायणा इति ख्याताः सर्वे संग्रामयोधिनः ॥ १८ ॥

मेरे पास दस करोड़ गोपोंकी विशाल सेना है, जो सबके सब मेरे जैसे-ही बलिष्ठ शरीरवाले हैं। उन सबकी 'नारायण' संज्ञा है। वे सभी युद्धमें डटकर लोहा लेनेवाले हैं ॥ १८ ॥

ते वा युधि दुराधर्षा भवन्त्वेकस्य सैनिकाः।
अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः ॥ १९ ॥

एक ओर तो वे दुर्धर्ष सैनिक युद्धके लिये उद्यत रहेंगे और दूसरी ओरसे अकेला मैं रहूँगा; परंतु मैं न तो युद्ध करूँगा और न कोई शस्त्र ही धारण करूँगा ॥ १९ ॥

आभ्यामन्यतरं पार्थ यत् ते हृद्यतरं मतम्।
तद् वृणीतां भवानग्रे प्रवार्यस्त्वं हि धर्मतः ॥ २० ॥

अर्जुन! इन दोनोंमेंसे कोई एक वस्तु, जो तुम्हारे मनको अधिक प्रिय जान पड़े, तुम पहले चुन लो; क्योंकि धर्मके अनुसार पहले तुम्हें ही अपनी मनचाही वस्तु चुननेका अधिकार है॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम् ॥ २१ ॥
नारायणममित्रघ्नं कामाज्जातमजं नृषु।
सर्वक्षत्रस्य पुरतो देवदानवयोरपि ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार धनंजयने संग्रामभूमिमें युद्ध न करनेवाले उन भगवान् श्रीकृष्णको ही (अपना सहायक) चुना, जो साक्षात् शत्रुहन्ता नारायण हैं और अजन्मा होते हुए भी स्वेच्छासे देवता, दानव तथा समस्त क्षत्रियोंके सम्मुख मनुष्योंमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ २१-२२ ॥

दुर्योधनस्तु तत् सैन्यं सर्वमावरयत् तदा।
सहस्राणां सहस्रं तु योधानां प्राप्य भारत ॥ २३ ॥
कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा सम्प्राप परमां मुदम्।
दुर्योधनस्तु तत् सैन्यं सर्वमादाय पार्थिवः ॥ २४ ॥
ततोऽभ्ययाद् भीमबलो रौहिणेयं महाबल।

सर्वं चागमने हेतुं स तस्मै संन्यवेदयत् ।
प्रत्युवाच ततः शौरिर्धार्तराष्ट्रमिदं वचः ॥ २५ ॥

जनमेजय ! तब दुर्योधनने वह सारी सेना माँग ली, जो अनेक सहस्र सैनिकोंकी सहस्रों टोलियोंमें संगठित थी । उन योद्धाओंको पाकर और श्रीकृष्णको ठगा गया समझकर राजा दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई । उसका बल भयंकर था । वह सारी सेना लेकर महाबली रोहिणीनन्दन बलरामजी-के पास गया और उसने उन्हें अपने आनेका सारा कारण बताया । तब शूरवंशी बलरामजीने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको इस प्रकार उत्तर दिया ॥ २३-२५ ॥

बलदेव उवाच

विदितं ते नरव्याघ्र सर्वं भवितुमर्हति ।
यन्मयोक्तं विराटस्य पुरा वैवाहिके तदा ॥ २६ ॥

बलदेवजी बोले—पुरुषसिंह ! पहले राजा विराटके यहाँ विवाहोत्सवके अवसरपर मैंने जो कुछ कहा था, वह सब तुम्हें मालूम हो गया होगा ॥ २६ ॥

निगृह्योक्तो हृषीकेशस्त्वदर्थं कुरुनन्दन ।
मया सम्बन्धकं तुल्यमिति राजन् पुनः पुनः ॥ २७ ॥
न च तद् वाक्यमुक्तं वै केशवं प्रत्यपद्यत ।
न चाहमुत्सहे कृष्णं विना स्थातुमपि क्षणम् ॥ २८ ॥

कुरुनन्दन ! तुम्हारे लिये मैंने श्रीकृष्णको बाध्य करके कहा था कि हमारे साथ दोनों पक्षोंका समानरूपसे सम्बन्ध है । राजन्! मैंने वह बात बार-बार दुहरायी, परंतु श्रीकृष्ण-को जँची नहीं और मैं श्रीकृष्णको छोड़कर एक क्षण भी अन्यत्र कहीं ठहर नहीं सकता ॥ २७-२८ ॥

नाहं सहायः पार्थस्य नापि दुर्योधनस्य वै ।
इति मे निश्चिता बुद्धिर्वासुदेवमवेक्ष्य ह ॥ २९ ॥

अतः मैं श्रीकृष्णकी ओर देखकर मन-ही-मन इस निश्चय-पर पहुँचा हूँ कि मैं न तो अर्जुनकी सहायता करूँगा और न दुर्योधनकी ही ॥ २९ ॥

जातोऽसि भारते वंशे सर्वपार्थिवपूजिते ।
गच्छ युध्यस्व धर्मेण क्षात्रेण पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥

पुरुषरत्न ! तुम समस्त राजाओंद्वारा सम्मानित भरत-वंशमें उत्पन्न हुए हो । जाओ, क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध करो ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्तस्तु तदा परिष्वज्य हलायुधम् ।
कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा युद्धान्मेने जितं जयम् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बलभद्रजीके ऐसा कहनेपर दुर्योधनने उन्हें हृदयसे लगाया और श्रीकृष्ण-को ठगा गया जानकर युद्धसे अपनी निश्चित विजय समझ ली ॥ ३१ ॥

सोऽभ्ययात् कृतवर्माणं धृतराष्ट्रसुतो नृपः ।
कृतवर्मा ददौ तस्य सेनामक्षौहिणीं तदा ॥ ३२ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन कृतवर्माके पास गया । कृतवर्माने उसे एक अक्षौहिणी सेना दी ॥ ३२ ॥

स तेन सर्वसैन्येन भीमेन कुरुनन्दनः ।
वृतः परिययौ हृष्टः सुहृदः सम्प्रहर्षयन् ॥ ३३ ॥

उस सारी भयंकर सेनाके द्वारा घिरा हुआ कुरुनन्दन दुर्योधन अपने सुहृदोंका हर्ष बढ़ाता हुआ बड़ी प्रसन्नताके साथ हस्तिनापुरको लौट गया ॥ ३३ ॥

ततः पीताम्बरधरो जगत्स्रष्टा जनार्दनः ।
गते दुर्योधने कृष्णः किरीटिनमथाब्रवीत् ।
अयुध्यमानः कां बुद्धिमास्थायाहं वृतस्त्वया ॥ ३४ ॥

दुर्योधनके चले जानेपर पीताम्बरधारी जगत्स्रष्टा जनार्दन श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! मैं तो युद्ध करूँगा नहीं; फिर तुमने क्या सोच-समझकर मुझे चुना है ?' ॥ ३४ ॥

अर्जुन उवाच

भवान् समर्थस्तान् सर्वान् निहन्तुं नात्र संशयः ।
निहन्तुमहमप्येकः समर्थः पुरुषर्षभ ॥ ३५ ॥

अर्जुन बोले—भगवन् ! आप अकेले ही उन सबको नष्ट करनेमें समर्थ हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है । पुरुषोत्तम ! (आपकी ही कृपासे) मैं भी अकेला ही उन सब शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हूँ ॥ ३५ ॥

भवांस्तु कीर्तिमाँल्लोके तद् यशस्त्वां गमिष्यति ।
यशसां चाहमप्यर्थी तस्मादसि मया वृतः ॥ ३६ ॥

परंतु आप संसारमें यशस्वी हैं । आप जहाँ भी रहेंगे, वह यश आपका ही अनुसरण करेगा । मुझे भी यशकी इच्छा है ही; इसीलिये मैंने आपका वरण किया है ॥ ३६ ॥

सारथ्यं तु त्वया कार्यमिति मे मानसं सदा ।
चिररात्रेप्सितं कामं तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥ ३७ ॥

मेरे मनमें बहुत दिनोंसे यह अभिलाषा थी कि आपको अपना सारथि बनाऊँ—अपने जीवनरथकी बागडोर आपके हाथोंमें सौंप दूँ । मेरी इस चिरकालिक अभिलाषाको आप पूर्ण करें ॥ ३७ ॥

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं पार्थ यत् स्पर्धसि मया सह ।
सारथ्यं ते करिष्यामि कामः सम्पद्यतां तव ॥ ३८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पार्थ ! तुम जो (शत्रुओं-

पर विजय पानेमें) मेरे साथ स्पर्धा रखते हो, यह तुम्हारे लिये ठीक ही है। मैं तुम्हारा सारथ्य करूँगा। तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण हो ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रमुदितः पार्थः कृष्णेन सहितस्तदा।
वृतो दशार्हप्रवरैः पुनरायाद् युधिष्ठिरम् ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार (अपनी इच्छा पूर्ण होनेसे) प्रसन्न हुए अर्जुन श्रीकृष्णके सहित मुख्य-मुख्य दशार्हवंशी यादवोंसे घिरे हुए पुनः युधिष्ठिरके पास आये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि कृष्णसारथ्यस्वीकारे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें श्रीकृष्णका सारथ्यस्वीकारविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

शल्यका दुर्योधनके सत्कारसे प्रसन्न हो उसे वर देना और युधिष्ठिरसे मिलकर उन्हें आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

शल्यः श्रुत्वा तु दूतानां सैन्येन महता वृतः।
अभ्ययात् पाण्डवान् राजन् सह पुत्रैर्महारथैः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंके दूतोंके मुखसे उनका संदेश सुनकर राजा शल्य अपने महारथी पुत्रोंके साथ विशाल सेनासे घिरकर पाण्डवोंके पास चले ॥ १ ॥

तस्य सेनानिवेशोऽभूदध्यर्धमिव योजनम्।
तथा हि विपुलां सेनां बिभर्ति स नरर्षभः ॥ २ ॥

नरश्रेष्ठ शल्य इतनी अधिक सेनाका भरण-पोषण करते थे कि उसका पड़ाव पड़नेपर आधी योजन भूमि घिर जाती थी ॥ २ ॥

अक्षौहिणीपती राजन् महावीर्यपराक्रमः।
विचित्रकवचाः शूरा विचित्रध्वजकार्मुकाः ॥ ३ ॥
विचित्राभरणाः सर्वे विचित्ररथवाहनाः।
विचित्रस्रग्धराः सर्वे विचित्राम्बरभूषणाः ॥ ४ ॥
स्वदेशवेषाभरणा वीराः शतसहस्रशः।
तस्य सेनाप्रणेतारो बभूवुः क्षत्रियर्षभाः ॥ ५ ॥

राजन् ! महान् बलवान् और पराक्रमी शल्य अक्षौहिणी सेनाके स्वामी थे। सैकड़ों और हजारों वीर क्षत्रियशिरोमणि उनकी विशाल वाहिनीका संचालन करनेवाले सेनापति थे। वे सबके सब शौर्य-सम्पन्न, अद्भुत कवच धारण करनेवाले तथा विचित्र ध्वज एवं धनुषसे सुशोभित थे। उन सबके अङ्गोंमें विचित्र आभूषण शोभा दे रहे थे। सभीके रथ और वाहन विचित्र थे। सबके गलेमें विचित्र मालाएँ सुशोभित थीं। सबके वस्त्र और अलङ्कार अद्भुत दिखायी देते थे। उन सबने अपने-अपने देशकी वेष-भूषा धारण कर रक्खी थी ॥

व्यथयन्निव भूतानि कम्पयन्निव मेदिनीम्।
शनैर्विश्रामयन् सेनां स ययौ येन पाण्डवः ॥ ६ ॥

राजा शल्य समस्त प्राणियोंको व्यथित और पृथ्वीको कम्पित-से करते हुए अपनी सेनाको धीरे-धीरे विभिन्न स्थानों-पर ठहराकर विश्राम देते हुए उस मार्गपर चले, जिससे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके पास शीघ्र पहुँच सकते थे ॥ ६ ॥

ततो दुर्योधनः श्रुत्वा महात्मानं महारथम्।
उपायान्तमभिद्रुत्य स्वयमानर्च भारत ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! उन्हीं दिनों दुर्योधनने महारथी एवं महामना राजा शल्यका आगमन सुनकर स्वयं आगे बढ़कर (मार्गमें ही) उनका सेवा-सत्कार प्रारम्भ कर दिया ॥ ७ ॥

कारयामास पूजार्थं तस्य दुर्योधनः सभाः।
रमणीयेषु देशेषु रत्नचित्राः स्वलंकृताः ॥ ८ ॥

दुर्योधनने राजा शल्यके स्वागत-सत्कारके लिये रमणीय प्रदेशोंमें बहुत-से सभाभवन तैयार कराये, जिनकी दीवारोंमें रत्न जड़े हुए थे। उन भवनोंको सब प्रकारसे सजाया गया था ॥ ८ ॥

शिल्पिभिर्विविधैश्चैव क्रीडास्तत्र प्रयोजिताः।
तत्र वस्त्राणि माल्यानि भक्ष्यं पेयं च सत्कृतम् ॥ ९ ॥

नाना प्रकारके शिल्पियोंने उनमें अनेकानेक क्रीडा-विहारके स्थान बनाये थे। वहाँ भाँति-भाँतिके वस्त्र, मालाएँ, खाने-पीनेके सामान तथा सत्कारकी अन्यान्य वस्तुएँ रक्खी गयी थीं ॥ ९ ॥

कूपाश्च विविधाकारा मनोहर्षविवर्धनाः।
वाप्यश्च विविधाकारा औदकानि गृहाणि च ॥ १० ॥

अनेक प्रकारके कुएँ तथा भाँति-भाँतिकी बावड़ियाँ बनायी गयी थीं, जो हृदयके हर्षको बढ़ा रही थीं। बहुत-से ऐसे गृह बने थे, जिनमें जलकी विशेष सुविधा सुलभ की गयी थी ॥ १० ॥

स ताः सभाः समासाद्य पूज्यमानो यथामरः।
दुर्योधनस्य सचिवैर्देशे देशे समन्ततः ॥ ११ ॥

सब ओर विभिन्न स्थानोंमें बने हुए उन सभाभवनोंमें पहुँचकर राजा शल्य दुर्योधनके मन्त्रियोंद्वारा देवताओंकी भाँति पूजित होते थे ॥ ११ ॥

आजगाम सभामन्यां देवावसथवर्चसम् ।
स तत्र विषयैर्युक्तः कल्याणैरतिमानुषैः ॥ १२ ॥

इस तरह (यात्रा करते हुए) शल्य किसी दूसरे सभाभवनमें गये, जो देवमन्दिरोंके समान प्रकाशित होता था। वहाँ उन्हें अलौकिक कल्याणमय भोग प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

मेनेऽभ्यधिकमात्मानमवमेने पुरंदरम् ।
पप्रच्छ स ततः प्रेष्यान् प्रहृष्टः क्षत्रियर्षभः ॥ १३ ॥

उस समय उन क्षत्रियशिरोमणि नरेशने अपने-आपको सबसे अधिक सौभाग्यशाली समझा। उन्हें देवराज इन्द्र भी अपनेसे तुच्छ प्रतीत हुए। उस समय अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्होंने सेवकोंसे पूछा—॥ १३ ॥

युधिष्ठिरस्य पुरुषाः केऽत्र चक्रुः सभा इमाः ।
आनीयन्तां सभाकाराः प्रदेयार्हा हि मे मताः ॥ १४ ॥

'युधिष्ठिरके किन आदमियोंने ये सभाभवन बनाये हैं। उन सबको बुलाओ। मैं उन्हें पुरस्कार देनेके योग्य मानता हूँ ॥ १४ ॥

प्रसादमेषां दास्यामि कुन्तीपुत्रोऽनुमन्यताम् ।
दुर्योधनाय तत् सर्वं कथयन्ति स्म विस्मिताः ॥ १५ ॥

'मैं इन सबको अपनी प्रसन्नताके फलस्वरूप कुछ पुरस्कार दूँगा, कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको भी मेरे इस व्यवहार-का अनुमोदन करना चाहिये।' यह सुनकर सब सेवकोंने विस्मित हो दुर्योधनसे वे सारी बातें बतायीं ॥ १५ ॥

सम्प्रहृष्टो यदा शल्यो दिदित्सुरपि जीवितम् ।
गूढो दुर्योधनस्तत्र दर्शयामास मातुलम् ॥ १६ ॥

जब हर्षमें भरे हुए राजा शल्य (अपने प्रति किये गये उपकारके बदले) प्राणतक देनेको तैयार हो गये, तब गुप्तरूपसे वहीं छिपा हुआ दुर्योधन मामा शल्यके सामने गया ॥१६॥

तं दृष्ट्वा मद्रराजश्च ज्ञात्वा यत्नं च तस्य तम् ।
परिष्वज्याब्रवीत् प्रीत इष्टोऽर्थो गृह्यतामिति ॥ १७ ॥

उसे देखकर तथा उसीने यह सारी तैयारी की है, यह जानकर मद्रराजने प्रसन्नतापूर्वक दुर्योधनको हृदयसे लगा लिया और कहा—'तुम अपनी अभीष्ट वस्तु मुझसे माँग लो' ॥ १७ ॥

दुर्योधन उवाच

सत्यवाग् भव कल्याण वरो वै मम दीयताम् ।
सर्वसेनाप्रणेता वै भवान् भवितुमर्हति ॥ १८ ॥

दुर्योधनने कहा—कल्याणस्वरूप महानुभाव ! आपकी बात सत्य हो। आप मुझे अवश्य वर दीजिये। मैं चाहता हूँ कि आप मेरी सम्पूर्ण सेनाके अधिनायक हो जायँ ॥१८॥

(यथैव पाण्डवास्तुभ्यं तथैव भवते ह्यहम् ।
अनुमान्यं च पाल्यं च भक्तं च भज मां विभो ॥

आपके लिये जैसे पाण्डव हैं, वैसा ही मैं हूँ। प्रभो ! मैं आपका भक्त होनेके कारण आपके द्वारा समादृत और पालित होने योग्य हूँ। अतः मुझे अपनाइये ॥

शल्य उवाच

एवमेतन्महाराज यथा वदसि पार्थिव ।
एवं ददामि ते प्रीत एवमेतद् भविष्यति ॥)

शल्यने कहा—महाराज ! तुम्हारा कहना ठीक है। भूपाल ! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही वर तुम्हें प्रसन्नतापूर्वक देता हूँ। यह ऐसा ही होगा—मैं तुम्हारी सेनाका अधिनायक बनूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

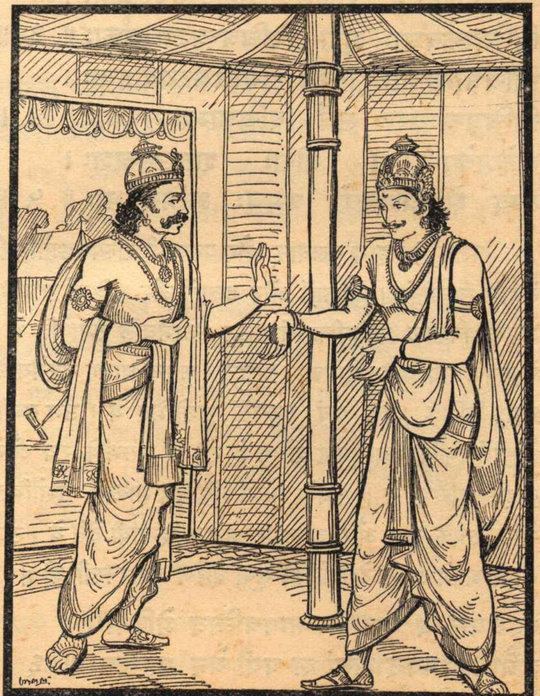
कृतमित्यब्रवीच्छल्यः किमन्यत् क्रियतामिति ।
कृतमित्येव गान्धारिः प्रत्युवाच पुनः पुनः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उस समय शल्यने दुर्योधनसे कहा—'तुम्हारी यह प्रार्थना तो स्वीकार कर ली। अब और कौन-सा कार्य करूँ ?' यह सुनकर गान्धारीनन्दन दुर्योधनने बार-बार यही कहा कि मेरा तो सब काम आपने पूरा कर दिया ॥ १९ ॥

शल्य उवाच

गच्छ दुर्योधन पुरं स्वकमेव नरर्षभ ।
अहं गमिष्ये द्रष्टुं वै युधिष्ठिरमरिंदमम् ॥ २० ॥

शल्य बोले—नरश्रेष्ठ दुर्योधन ! अब तुम अपने नगर-को जाओ। मैं शत्रुदमन युधिष्ठिरसे मिलने जाऊँगा ॥ २० ॥



दृष्ट्वा युधिष्ठिरं राजन् क्षिप्रमेष्ये नराधिप ।
अवश्यं चापि द्रष्टव्यः पाण्डवः पुरुषर्षभः ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! मैं युधिष्ठिरसे मिलकर शीघ्र ही लौट आऊँगा। पाण्डुपुत्र नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे मिलना भी अत्यन्त आवश्यक है ॥ २१ ॥

दुर्योधन उवाच

क्षिप्रमागम्यतां राजन् पाण्डवं वीक्ष्य पार्थिव ।
त्वय्यधीनाः स्म राजेन्द्र वरदानं स्मरस्व नः ॥ २२ ॥

दुर्योधनने कहा—राजन् ! पृथ्वीपते ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे मिलकर आप शीघ्र चले आइये । राजेन्द्र ! हम आपके ही अधीन हैं। आपने हमें जो वरदान दिया है, उसे याद रखियेगा ॥ २२ ॥

शल्य उवाच

क्षिप्रमेष्यामि भद्रं ते गच्छस्व स्वपुरं नृप ।
परिष्वज्य तथान्योन्यं शल्यदुर्योधनावुभौ ॥ २३ ॥

शल्य बोले—नरेश्वर ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम अपने नगरको जाओ । मैं शीघ्र आऊँगा ।

ऐसा कहकर राजा शल्य तथा दुर्योधन दोनों एक दूसरेसे गले मिलकर विदा हुए ॥ २३ ॥

स तथा शल्यमामन्त्र्य पुनरायात् स्वकं पुरम् ।
शल्यो जगाम कौन्तेयानाख्यातुं कर्म तस्य तत् ॥२४॥

इस प्रकार शल्यसे आज्ञा लेकर दुर्योधन पुनः अपने नगरको लौट आया और शल्य कुन्तीकुमारोंसे दुर्योधनकी वह करतूत सुनानेके लिये युधिष्ठिरके पास गये ॥ २४ ॥

उपप्लव्यं स गत्वा तु स्कन्धावारं प्रविश्य च ।
पाण्डवानथ तान् सर्वान् शल्यस्तत्र ददर्श ह ॥ २५ ॥

विराटनगरके उपप्लव्य नामक प्रदेशमें जाकर वे पाण्डवोंकी छावनीमें पहुँचे और वहीं उन सब पाण्डवोंसे मिले ॥ २५ ॥

समेत्य च महाबाहुः शल्यः पाण्डुसुतैस्तदा ।
पाद्यमर्घ्यं च गां चैव प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ॥ २६ ॥

पाण्डुपुत्रोंसे मिलकर महाबाहु शल्यने उनके द्वारा विधिपूर्वक दिये हुए पाद्य, अर्घ्य और गौको ग्रहण किया ॥ २६ ॥

ततः कुशलपूर्वं हि मद्रराजोऽरिसूदनः ।
प्रीत्या परमया युक्तः समाश्लिष्यद् युधिष्ठिरम्॥ २७ ॥
तथा भीमार्जुनौ हृष्टौ स्वस्रीयौ च यमावुभौ ।

तत्पश्चात् शत्रुसूदन मद्रराज शल्यने कुशल-प्रश्नके अनन्तर बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा युधिष्ठिरको हृदयसे लगाया। इसी प्रकार उन्होंने हर्षमें भरे हुए दोनों भाई भीमसेन और अर्जुनको तथा अपनी बहिनके दोनों जुड़वे पुत्रों—नकुल-सहदेवको भी गले लगाया ॥ २७½ ॥

(द्रौपदी च सुभद्रा च अभिमन्युश्च भारत ।
समेत्य च महाबाहुं शल्यं पाण्डुसुतस्तदा ॥
कृताञ्जलिरदीनात्मा धर्मात्मा शल्यमब्रवीत् ।

भारत ! तदनन्तर द्रौपदी, सुभद्रा तथा अभिमन्युने महाबाहु शल्यके पास आकर उन्हें प्रणाम किया । उस समय उदारचेता धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने दोनों हाथ जोड़कर शल्यसे कहा ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वागतं तेऽस्तु वै राजन्नेतदासनमास्यताम् ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! आपका स्वागत है । इस आसनपर विराजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो न्यषीदच्छल्यश्च काञ्चने परमासने ।
कुशलं पाण्डवोऽपृच्छच्छल्यं सर्वसुखावहम् ॥
स तैः परिवृतः सर्वैः पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ।)
आसने चोपविष्टस्तु शल्यः पार्थमुवाच ह ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा शल्य सुवर्णके श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान हुए । उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने सबको सुख देनेवाले शल्यसे कुशल-समाचार पूछा । उन समस्त धर्मात्मा पाण्डवोंसे घिरकर आसनपर बैठे हुए राजा शल्य कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले— ॥ २८ ॥

कुशलं राजशार्दूल कच्चित् ते कुरुनन्दन ।
अरण्यवासाद् दिष्ट्यासि विमुक्तो जयतां वर ॥ २९ ॥

'नृपतिश्रेष्ठ कुरुनन्दन ! तुम कुशलसे तो हो न ? विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ नरेश ! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम वनवासके कष्टसे छुटकारा पा गये ॥ २९ ॥

सुदुष्करं कृतं राजन् निर्जने वसता त्वया ।
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र कृष्णया चानया सह ॥ ३० ॥

'राजन् ! तुमने अपने भाइयों तथा इस द्रुपदकुमारी कृष्णाके साथ निर्जन वनमें निवास करके अत्यन्त दुष्कर कार्य किया है ॥ ३० ॥

अज्ञातवासं घोरं च वसता दुष्करं कृतम् ।
दुःखमेव कुतः सौख्यं भ्रष्टराज्यस्य भारत ॥ ३१ ॥

'भारत ! भयंकर अज्ञातवास करके तो तुमलोगोंने और भी दुष्कर कार्य सम्पन्न किया है । जो अपने राज्यसे वञ्चित हो गया हो, उसे तो कष्ट ही उठाना पड़ता है, सुख कहाँसे मिल सकता है ? ॥ ३१ ॥

दुःखस्यैतस्य महतो धार्तराष्ट्रकृतस्य वै।
अवाप्स्यसि सुखं राजन् हत्वा शत्रून् परंतप ॥ ३२ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! दुर्योधनके दिये हुए इस महान् दुःखके अन्तमें अब तुम शत्रुओंको मारकर सुखके भागी होओगे ॥ ३२ ॥

विदितं ते महाराज लोकतन्त्रं नराधिप।
तस्माल्लोभकृतं किंचित् तव तात न विद्यते ॥ ३३ ॥

'महाराज ! नरेश्वर ! तुम्हें लोकतन्त्रका सम्यक् ज्ञान है। तात ! इसीलिये तुममें लोभजनित कोई भी बर्ताव नहीं है ॥ ३३ ॥

राजर्षीणां पुराणानां मार्गमन्विच्छ भारत।
दाने तपसि सत्ये च भव तात युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥

'भारत ! प्राचीन राजर्षियोंके मार्गका अनुसरण करो। तात युधिष्ठिर ! तुम सदा दान, तपस्या और सत्यमें ही संलग्न रहो ॥ ३४ ॥

क्षमा दमश्च सत्यं च अहिंसा च युधिष्ठिर।
अद्भुतश्च पुनर्लोकस्त्वयि राजन् प्रतिष्ठितः ॥ ३५ ॥

'राजा युधिष्ठिर ! क्षमा, इन्द्रियसंयम, सत्य, अहिंसा तथा अद्भुत लोक—ये सब तुममें प्रतिष्ठित हैं ॥ ३५ ॥

मृदुर्वदान्यो ब्रह्मण्यो दाता धर्मपरायणः।
धर्मास्ते विदिता राजन् बहवो लोकसाक्षिकाः ॥ ३६ ॥

'महाराज ! तुम कोमल, उदार, ब्राह्मणभक्त, दानी तथा धर्मपरायण हो। संसार जिनका साक्षी है, ऐसे बहुत-से धर्म तुम्हें ज्ञात हैं ॥ ३६ ॥

सर्वं जगदिदं तात विदितं ते परंतप।
दिष्ट्या कृच्छ्रमिदं राजन् पारितं भरतर्षभ ॥ ३७ ॥

'तात ! परंतप ! तुम्हें इस सम्पूर्ण जगत्का तत्त्व ज्ञात है। भरतश्रेष्ठ नरेश ! तुम इस महान् संकटसे पार हो गये, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ ३७ ॥

दिष्ट्या पश्यामि राजेन्द्र धर्मात्मानं सहानुगम्।
निस्तीर्णं दुष्करं राजंस्त्वां धर्मनिचयं प्रभो ॥ ३८ ॥

'राजेन्द्र ! तुम धर्मात्मा एवं धर्मकी निधि हो। राजन् ! तुमने भाइयोंसहित अपनी दुष्कर प्रतिज्ञा पूरी कर ली है और इस अवस्थामें मैं तुम्हें देख रहा हूँ; यह मेरा अहोभाग्य है' ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽस्याकथयद् राजा दुर्योधनसमागमम्।
तच्च शुश्रूषितं सर्वं वरदानं च भारत ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! तदनन्तर राजा शल्यने दुर्योधनके मिलने, सेवा-शुश्रूषा करने और उसे अपने वरदान देनेकी सारी बातें कह सुनायीं ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सुकृतं ते कृतं राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
दुर्योधनस्य यद् वीर त्वया वाचा प्रतिश्रुतम् ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर बोले—वीर महाराज ! आपने प्रसन्नचित्त होकर जो दुर्योधनको उसकी सहायताका वचन दे दिया, वह अच्छा ही किया ॥ ४० ॥

एकं त्विच्छामि भद्रं ते क्रियमाणं महीपते।
राजन्नकर्तव्यमपि कर्तुमर्हसि सत्तम ॥ ४१ ॥
ममत्ववेक्षया वीर शृणु विज्ञापयामि ते।
भवानिह च सारथ्ये वासुदेवसमो युधि ॥ ४२ ॥

परंतु पृथ्वीपते ! आपका कल्याण हो। मैं आपके द्वारा अपना भी एक काम कराना चाहता हूँ। साधुशिरोमणे ! वह न करने योग्य होनेपर भी मेरी ओर देखते हुए आपको अवश्य करना चाहिये। वीरवर ! सुनिये; मैं वह कार्य आपको बता रहा हूँ। महाराज ! आप इस भूतलपर संग्राममें सारथिका काम करनेके लिये वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके समान माने गये हैं ॥ ४१-४२ ॥

कर्णार्जुनाभ्यां सम्प्राप्ते द्वैरथे राजसत्तम।
कर्णस्य भवता कार्यं सारथ्यं नात्र संशयः ॥ ४३ ॥

नृपशिरोमणे ! जब कर्ण और अर्जुनके द्वैरथयुद्धका अवसर प्राप्त होगा, उस समय आपको ही कर्णके सारथिका काम करना पड़ेगा; इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥४३॥

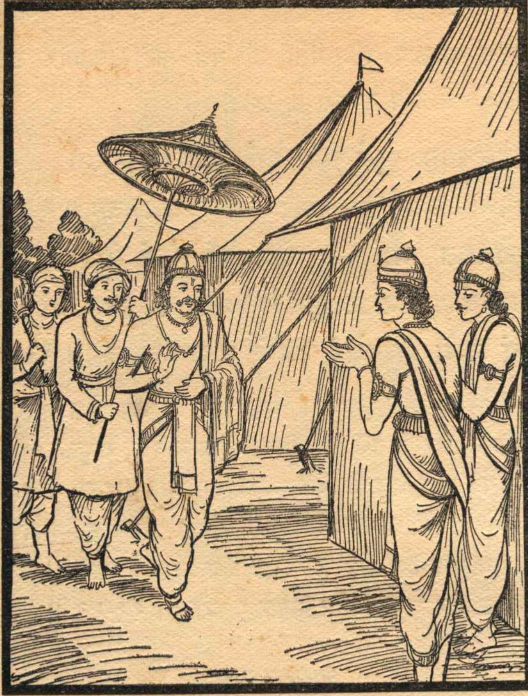
तत्र पाल्योऽर्जुनो राजन् यदि मत्प्रियमिच्छसि।
तेजोवधश्च ते कार्यः सौतेरस्मज्जयावहः ॥ ४४ ॥
अकर्तव्यमपि ह्येतत् कर्तुमर्हसि मातुल।

राजन् ! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं, तो उस युद्धमें आपको अर्जुनकी रक्षा करनी होगी। आपका कार्य इतना ही होगा कि आप कर्णका उत्साह भङ्ग करते रहें। वही कर्णसे हमें विजय दिलानेवाला होगा। मामाजी ! मेरेलिये यह न करने योग्य कार्य भी करें ॥ ४४½ ॥

शल्य उवाच

शृणु पाण्डव ते भद्रं यद् ब्रवीषि महात्मनः।
तेजोवधनिमित्तं मां सूतपुत्रस्य सङ्गमे ॥ ४५ ॥
अहं तस्य भविष्यामि संग्रामे सारथिर्ध्रुवम्।
वासुदेवेन हि समं नित्यं मां स हि मन्यते ॥ ४६ ॥

शल्य बोले—पाण्डुनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी बात सुनो ! युद्धमें महामना सूतपुत्र कर्णके तेज और उत्साहको नष्ट करनेके लिये तुम जो मुझसे अनुरोध करते हो, वह ठीक है। यह निश्चय है कि मैं उस युद्धमें उसका सारथि होऊँगा। स्वयं कर्ण भी सदा मुझे सारथिकर्ममें भगवान् श्रीकृष्णके समान समझता है ॥ ४५-४६ ॥



तस्याहं कुरुशार्दूल प्रतीपमहितं वचः।
ध्रुवं संकथयिष्यामि योद्धुकामस्य संयुगे ॥ ४७ ॥
यथा स हृतदर्पश्च हृततेजाश्च पाण्डव।
भविष्यति सुखं हन्तुं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ४८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जब कर्ण रणभूमिमें अर्जुनके साथ युद्धकी इच्छा करेगा, उस समय मैं अवश्य ही उसके प्रतिकूल अहितकर वचन बोलूँगा, जिससे उसका अभिमान और तेज नष्ट हो जायगा और वह युद्धमें सुखपूर्वक मारा जा सकेगा। पाण्डुनन्दन! मैं तुमसे यह सत्य कहता हूँ।४७-४८।

एवमेतत् करिष्यामि यथा तात त्वमात्थ माम्।
यच्चान्यदपि शक्ष्यामि तत् करिष्यामि ते प्रियम् ॥४९॥

तात ! तुम मुझसे जो कुछ कह रहे हो, यह अवश्य पूर्ण करूँगा। इसके सिवा और भी जो कुछ मुझसे हो सकेगा, तुम्हारा वह प्रिय कार्य अवश्य करूँगा ॥ ४९ ॥

यच्च दुःखं त्वया प्राप्तं द्यूते वै कृष्णया सह।
परुषाणि च वाक्यानि सूतपुत्रकृतानि वै ॥ ५० ॥
जटासुरात् परिक्लेशः कीचकाच्च महाद्युते।
द्रौपद्याधिगतं सर्वं दमयन्त्या यथाशुभम् ॥ ५१ ॥
सर्वं दुःखमिदं वीर सुखोदर्कं भविष्यति।
नात्र मन्युस्त्वया कार्यो विधिर्हि बलवत्तरः ॥ ५२ ॥

महातेजस्वी वीरवर युधिष्ठिर ! तुमने द्यूतसभामें द्रौपदीके साथ जो दुःख उठाया है, सूतपुत्र कर्णने तुम्हें जो कठोर बातें सुनायी हैं तथा पूर्वकालमें दमयन्तीने जैसे अशुभ (दुःख) भोगा था, उसी प्रकार द्रौपदीने जटासुर तथा कीचकसे जो महान् क्लेश प्राप्त किया है, यह सभी दुःख भविष्यमें तुम्हारे लिये सुखके रूपमें परिवर्तित हो जायगा। इसके लिये तुम्हें खेद नहीं करना चाहिये; क्योंकि विधाताका विधान अति प्रबल होता है ॥ ५०–५२ ॥

दुःखानि हि महात्मानः प्राप्नुवन्ति युधिष्ठिर।
देवैरपि हि दुःखानि प्राप्तानि जगतीपते ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर ! महात्मा पुरुष भी समय-समयपर दुःख पाते हैं । पृथ्वीपते ! देवताओंने भी बहुत दुःख उठाये हैं ॥ ५३ ॥

इन्द्रेण श्रूयते राजन् सभार्येण महात्मना।
अनुभूतं महद् दुःखं देवराजेन भारत ॥ ५४ ॥

भरतवंशी नरेश ! सुना जाता है कि पत्नीसहित महामना देवराज इन्द्रने भी महान् दुःख भोगा है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि शल्यवाक्ये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें शल्यवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

इन्द्रके द्वारा त्रिशिराका वध, वृत्रासुरकी उत्पत्ति, उसके साथ इन्द्रका युद्ध तथा देवताओंकी पराजय

युधिष्ठिर उवाच

कथमिन्द्रेण राजेन्द्र सभार्येण महात्मना।
दुःखं प्राप्तं परं घोरमेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजेन्द्र ! पत्नीसहित महामना इन्द्रने कैसे अत्यन्त भयंकर दुःख प्राप्त किया था ? यह मैं जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

शल्य उवाच

शृणु राजन् पुरावृत्तमितिहासं पुरातनम्।
सभार्येण यथा प्राप्तं दुःखमिन्द्रेण भारत ॥ २ ॥

शल्यने कहा—भरतवंशी नरेश ! यह पूर्वकालमें घटित पुरातन इतिहास है। पत्नीसहित इन्द्रने जिस प्रकार महान् दुःख प्राप्त किया था, वह बताता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

त्वष्टा प्रजापतिर्ह्यासीद् देवश्रेष्ठो महातपाः।
स पुत्रं वै त्रिशिरसमिन्द्रद्रोहात् किलासृजत् ॥ ३ ॥

त्वष्टा नामसे प्रसिद्ध एक प्रजापति थे, जो देवताओंमें

श्रेष्ठ और महान् तपस्वी माने जाते थे। कहते हैं, उन्होंने इन्द्रके प्रति द्रोहबुद्धि हो जानेके कारण ही एक तीन सिर-वाला पुत्र उत्पन्न किया ॥ ३ ॥

ऐन्द्रं स प्रार्थयत् स्थानं विश्वरूपो महाद्युतिः।
तैस्त्रिभिर्वदनैर्घोरैः सूर्येन्दुज्वलनोपमैः ॥ ४ ॥

उस महातेजस्वी बालकका नाम था विश्वरूप। वह सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निके समान तेजस्वी एवं भयंकर अपने उन तीनों मुखोंद्वारा इन्द्रका स्थान पानेकी प्रार्थना करता था ॥४॥

वेदानेकेन सोऽधीते सुरामेकेन चापिबत्।
एकेन च दिशः सर्वाः पिबन्निव निरीक्षते ॥ ५ ॥

वह अपने एक मुखसे वेदोंका स्वाध्याय करता, दूसरेसे सुरा पीता और तीसरेसे सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर इस प्रकार देखता था, मानो उन्हें पी जायगा ॥ ५ ॥

स तपस्वी मृदुर्दान्तो धर्मे तपसि चोद्यतः।
तपस्तस्य महत् तीव्रं सुदुश्चरमरिंदम ॥ ६ ॥

शत्रुदमन! त्वष्टाका वह पुत्र कोमल स्वभाववाला, तपस्वी, जितेन्द्रिय तथा धर्म और तपस्याके लिये सदा उद्यत रहनेवाला था। उसका बड़ा भारी तीव्र तप दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर था ॥ ६ ॥

तस्य दृष्ट्वा तपोवीर्यं सत्यं चामिततेजसः।
विषादमगमच्छक्र इन्द्रोऽयं मा भवेदिति ॥ ७ ॥

उस अमिततेजस्वी बालकका तपोबल तथा सत्य देखकर इन्द्रको बड़ा दुःख हुआ। वे सोचने लगे, 'कहीं यह इन्द्र न हो जाय ॥ ७ ॥

कथं सज्जेच्च भोगेषु न च तप्येन्महत् तपः।
विवर्धमानस्त्रिशिराः सर्वं हि भुवनं ग्रसेत् ॥ ८ ॥

'क्या उपाय किया जाय, जिससे यह भोगोंमें आसक्त हो जाय और भारी तपस्यामें प्रवृत्त न हो? क्योंकि यह वृद्धिको प्राप्त हुआ त्रिशिरा तीनों लोकोंको अपना ग्रास बना लेगा' ।८।

इति संचिन्त्य बहुधा बुद्धिमान् भरतर्षभ।
आज्ञापयत् सोऽप्सरसस्त्वष्टृपुत्रप्रलोभने ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ! इस तरह बहुत सोच-विचार करके बुद्धिमान् इन्द्रने त्वष्टाके पुत्रको लुभानेके लिये अप्सराओंको आज्ञा दी— ॥ ९ ॥

यथा स सज्जेत् त्रिशिराः कामभोगेषु वै भृशम्।
क्षिप्रं कुरुत गच्छध्वं प्रलोभयत मा चिरम् ॥ १० ॥

'अप्सराओ! जिस प्रकार त्रिशिरा कामभोगोंमें अत्यन्त आसक्त हो जाय, शीघ्र वैसा ही यत्न करो। जाओ, उसे लुभाओ, विलम्ब न करो ॥ १० ॥

शृङ्गारवेषाः सुश्रोण्यो हारैर्युक्ता मनोहरैः।
हावभावसमायुक्ताः सर्वाः सौन्दर्यशोभिताः ॥ ११ ॥
प्रलोभयत भद्रं वः शमयध्वं भयं मम।
अस्वस्थं ह्यात्मनाऽऽत्मानं लक्षयामि वराङ्गनाः।
भयं तन्मे महाघोरं क्षिप्रं नाशयताबलाः ॥ १२ ॥

'सुन्दरियो! तुम सब शृङ्गारके अनुरूप वेष धारण करके मनोहर हारोंसे विभूषित, हाव-भावसे संयुक्त तथा सौन्दर्यसे सुशोभित हो विश्वरूपको लुभाओ। तुम्हारा कल्याण हो, मेरे भयको शान्त करो। वराङ्गनाओ! मैं अपने आपको अस्वस्थचित्त देख रहा हूँ, अतः अबलाओ! तुम मेरे इस अत्यन्त घोर भयका शीघ्र निवारण करो' ॥ ११-१२ ॥

अप्सरस ऊचुः

तथा यत्नं करिष्यामः शक्र तस्य प्रलोभने।
यथा नावाप्स्यसि भयं तस्माद् बलनिषूदन ॥ १३ ॥

अप्सराएँ बोलीं—शक्र! बलनिषूदन! हमलोग विश्वरूपको लुभानेके लिये ऐसा यत्न करेंगी, जिससे उनकी ओरसे आपको कोई भय नहीं प्राप्त होगा ॥ १३ ॥

निर्दहन्निव चक्षुर्भ्यां योऽसावास्ते तपोनिधिः।
तं प्रलोभयितुं देव गच्छामः सहिता वयम् ॥ १४ ॥
यतिष्यामो वशे कर्तुं व्यपनेतुं च ते भयम्।

देव! जो तपोनिधि विश्वरूप अपने दोनों नेत्रोंसे सबको दग्ध करते हुए-से विराज रहे हैं, उन्हें प्रलोभनमें डालनेके लिये हम सब अप्सराएँ एक साथ जा रही हैं। वहाँ उन्हें वशमें करने तथा आपके भयको दूर हटानेके लिये हम पूर्ण प्रयत्न करेंगी ॥ १४½ ॥

शल्य उवाच

इन्द्रेण तास्त्वनुज्ञाता जग्मुस्त्रिशिरसोऽन्तिकम्।
तत्र ता विविधैर्भावैर्लोभयन्त्यो वराङ्गनाः ॥ १५ ॥
नित्यं संदर्शयामासुस्तथैवाङ्गेषु सौष्ठवम्।
नाभ्यगच्छत् प्रहर्षं ताः स पश्यन् सुमहातपाः ॥ १६ ॥
इन्द्रियाणि वशे कृत्वा पूर्वसागरसंनिभः।

शल्य बोले—राजन्! इन्द्रकी आज्ञा पाकर वे सब अप्सराएँ त्रिशिराके समीप गयीं। वहाँ उन सुन्द-



रियोंने भाँति-भाँतिके हाव-भावोंद्वारा उन्हें लुभानेका प्रयत्न किया तथा प्रतिदिन विश्वरूपको अपने अङ्गोंके सौन्दर्यका दर्शन कराया । तथापि वे महातपस्वी महर्षि उन सबको देखते हुए हर्ष आदि विकारोंको नहीं प्राप्त हुए; अपितु वे इन्द्रियोंको वशमें करके पूर्वसागरके समान शान्तभावसे बैठे रहे ॥ १५-१६½ ॥

तास्तु यत्नं परं कृत्वा पुनः शक्रमुपस्थिताः ॥ १७ ॥
कृताञ्जलिपुटाः सर्वा देवराजमथाब्रुवन् ।
न स शक्यः सुदुर्धर्षो धैर्याच्चालयितुं प्रभो ॥ १८ ॥
यत् ते कार्यं महाभाग क्रियतां तदनन्तरम् ।

वे सब अप्सराएँ (त्रिशिराको विचलित करनेका) पूरा प्रयत्न करके पुनः देवराज इन्द्रकी सेवामें उपस्थित हुईं और हाथ जोड़कर बोलीं—'प्रभो ! वे त्रिशिरा बड़े दुर्धर्ष तपस्वी हैं, उन्हें धैर्यसे विचलित नहीं किया जा सकता । महाभाग ! अब आपको जो कुछ करना हो, उसे कीजिये' ॥ १७–१८½ ॥

सम्पूज्याप्सरसः शक्रो विसृज्य च महामतिः ॥ १९ ॥
चिन्तयामास तस्यैव वधोपायं युधिष्ठिर ।

युधिष्ठिर ! तब परम बुद्धिमान् इन्द्रने अप्सराओंका आदर-सत्कार करके उन्हें विदा कर दिया और वे त्रिशिराके वधका उपाय सोचने लगे ॥ १९½ ॥

स तूष्णीं चिन्तयन् वीरो देवराजः प्रतापवान् ॥ २० ॥
विनिश्चितमतिर्धीमान् वधे त्रिशिरसोऽभवत् ।

प्रतापी वीर बुद्धिमान् देवराज इन्द्र चुपचाप सोचते हुए त्रिशिराके वधके विषयमें एक निश्चयपर पहुँच गये ॥ २०½ ॥

वज्रमस्य क्षिपाम्यद्य स क्षिप्रं न भविष्यति ॥ २१ ॥
शत्रुः प्रवृद्धो नोपेक्ष्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा ।

(उन्होंने सोचा—) 'आज मैं त्रिशिरापर वज्रका प्रहार करूँगा, जिससे वह तत्काल नष्ट हो जायगा । बलवान् पुरुषको दुर्बल होनेपर भी बढ़ते हुए अपने शत्रुकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये' ॥ २१½ ॥

शास्त्रबुद्ध्या विनिश्चित्य कृत्वा बुद्धिं वधे दृढाम् ॥ २२ ॥
अथ वैश्वानरनिभं घोररूपं भयावहम् ।
मुमोच वज्रं संक्रुद्धः शक्रस्त्रिशिरसं प्रति ॥ २३ ॥
स पपात हतस्तेन वज्रेण दृढमाहतः ।
पर्वतस्येव शिखरं प्रणुन्नं मेदिनीतले ॥ २४ ॥

शास्त्रयुक्त बुद्धिसे त्रिशिराके वधका दृढ़ निश्चय करके क्रोधमें भरे हुए इन्द्रने अग्निके समान तेजस्वी, घोर एवं भयंकर वज्रको त्रिशिराकी ओर चला दिया । उस वज्रकी गहरी चोट खाकर त्रिशिरा मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो वज्रके आघातसे टूटा हुआ पर्वतका शिखर भूतलपर पड़ा हो ॥ २२–२४ ॥

तं तु वज्रहतं दृष्ट्वा शयानमचलोपमम् ।
न शर्म लेभे देवेन्द्रो दीपितस्तस्य तेजसा ॥ २५ ॥

त्रिशिराको वज्रके प्रहारसे प्राणशून्य होकर पर्वतकी भाँति पृथ्वीपर पड़ा देखकर भी देवराज इन्द्रको शान्ति नहीं मिली । वे उनके तेजसे संतप्त हो रहे थे ॥ २५ ॥

हतोऽपि दीप्ततेजाः स जीवन्निव हि दृश्यते ।
घातितस्य शिरांस्याजौ जीवन्तीवाद्भुतानि वै ॥ २६ ॥

क्योंकि वे मारे जानेपर भी अपने तेजसे उद्दीप्त होकर जीवित-से दिखायी देते थे । युद्धमें मारे हुए त्रिशिराके तीनों सिर जीते-जागते-से अद्भुत प्रतीत हो रहे थे ॥ २६ ॥

ततोऽतिभीतगात्रस्तु शक्र आस्ते विचारयन् ।
अथाजगाम परशुं स्कन्धेनादाय वर्धकिः ॥ २७ ॥

इससे अत्यन्त भयभीत हो इन्द्र भारी सोच-विचारमें पड़ गये । इसी समय एक बढ़ई कंधेपर कुल्हाड़ी लिये उधर आ निकला ॥ २७ ॥

तदरण्यं महाराज यत्रास्तेऽसौ निपातितः ।
स भीतस्तत्र तक्षाणं घटमानं शचीपतिः ॥ २८ ॥
अपश्यदब्रवीच्चैनं सत्वरं पाकशासनः ।
क्षिप्रं छिन्धि शिरांस्यस्य कुरुष्व वचनं मम ॥ २९ ॥

महाराज ! वह बढ़ई उसी वनमें आया, जहाँ त्रिशिराको मार गिराया गया था । डरे हुए शचीपति इन्द्रने वहाँ अपना काम करते हुए बढ़ईको देखा । देखते ही पाकशासन इन्द्रने तुरंत उससे कहा—'बढ़ई ! तू शीघ्र इस शवके तीनों

मस्तकोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे । मेरी इस आज्ञाका पालन कर' ॥ २८-२९ ॥

तक्षोवाच

महास्कन्धो भृशं ह्येष परशुर्न भविष्यति ।
कर्तुं चाहं न शक्ष्यामि कर्म सद्भिर्विगर्हितम् ॥ ३० ॥

बढ़ईने कहा—इसके कंधे तो बड़े भारी और विशाल हैं । मेरी यह कुल्हाड़ी इसपर काम नहीं देगी और इस प्रकार किसी प्राणीकी हत्या करना तो साधु पुरुषोंद्वारा निन्दित पापकर्म है, अतः मैं इसे नहीं कर सकूँगा ॥ ३० ॥

इन्द्र उवाच

मा भैस्त्वं शीघ्रमेतद् वै कुरुष्व वचनं मम ।
मत्प्रसादाद्धि ते शस्त्रं वज्रकल्पं भविष्यति ॥ ३१ ॥

इन्द्रने कहा—बढ़ई ! तू भय न कर । शीघ्र मेरी इस आज्ञाका पालन कर । मेरे प्रसादसे तेरी यह कुल्हाड़ी वज्रके समान हो जायगी ॥ ३१ ॥

तक्षोवाच

कं भवन्तमहं विद्यां घोरकर्माणमद्य वै ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन कथयस्व मे ॥ ३२ ॥

बढ़ईने पूछा—आज इस प्रकार भयानक कर्म करनेवाले आप कौन हैं, यह मैं कैसे समझूँ ? मैं आपका परिचय सुनना चाहता हूँ । यह यथार्थरूपसे बताइये ॥ ३२ ॥

इन्द्र उवाच

अहमिन्द्रो देवराजस्तक्षन् विदितमस्तु ते ।
कुरुष्वैतद् यथोक्तं मे तक्षन् मात्र विचारय ॥ ३३ ॥

इन्द्रने कहा—बढ़ई ! तुझे मालूम होना चाहिये कि मैं देवराज इन्द्र हूँ । मैंने जो कुछ कहा है, उसे शीघ्र पूरा कर । इस विषयमें कुछ विचार न कर ॥ ३३ ॥

तक्षोवाच

क्रूरेण नापत्रपसे कथं शक्रेह कर्मणा ।
ऋषिपुत्रमिमं हत्वा ब्रह्महत्याभयं न ते ॥ ३४ ॥

बढ़ईने कहा—देवराज ! इस क्रूर कर्मसे आपको यहाँ लज्जा कैसे नहीं आती है ? इस ऋषिकुमारकी हत्या करनेसे जो ब्रह्महत्याका पाप लगेगा, क्या उसका भय आपको नहीं है ? ॥ ३४ ॥

शक्र उवाच

पश्चाद् धर्मं चरिष्यामि पावनार्थं सुदुश्चरम् ।
शत्रुरेष महावीर्यो वज्रेण निहतो मया ॥ ३५ ॥

इन्द्रने कहा—यह मेरा महान् शक्तिशाली शत्रु था, जिसे मैंने वज्रसे मार डाला है । इसके बाद ब्रह्महत्यासे अपनी शुद्धि करनेके लिये मैं किसी ऐसे धर्मका अनुष्ठान करूँगा, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर हो ॥ ३५ ॥

अद्यापि चाहमुद्विग्नस्तक्षन्नस्माद् बिभेमि वै ।
क्षिप्रं छिन्धि शिरांसि त्वं करिष्येऽनुग्रहं तव ॥ ३६ ॥

बढ़ई ! यद्यपि यह मारा गया है, तो भी अभीतक मुझे इसका भय बना हुआ है । तू शीघ्र इसके मस्तकोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे । मैं तेरे ऊपर अनुग्रह करूँगा ॥ ३६ ॥

शिरः पशोस्ते दास्यन्ति भागं यज्ञेषु मानवाः ।
एष तेऽनुग्रहस्तक्षन् क्षिप्रं कुरु मम प्रियम् ॥ ३७ ॥

मनुष्य हिंसाप्रधान तामस यज्ञोंमें पशुका सिर तेरे भागके रूपमें देंगे । बढ़ई ! यह तेरे ऊपर मेरा अनुग्रह है । अब तू जल्दी मेरा प्रिय कार्य कर ॥ ३७ ॥

शल्य उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु तक्षा स महेन्द्रवचनात् तदा ।
शिरांस्यथ त्रिशिरसः कुठारेणाच्छिनत् तदा ॥ ३८ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! यह सुनकर बढ़ईने उस समय महेन्द्रकी आज्ञाके अनुसार कुठारसे त्रिशिराके तीनों सिरोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ३८ ॥

निकृत्तेषु ततस्तेषु निष्क्रामन्नण्डजास्त्वथ ।
कपिञ्जलास्तित्तिराश्च कलविङ्काश्च सर्वशः ॥ ३९ ॥

कट जानेपर उनके अंदरसे तीन प्रकारके पक्षी बाहर निकले, कपिञ्जल, तीतर और गौरैये ॥ ३९ ॥

येन वेदानधीते स्म पिबते सोममेव च ।
तस्माद् वक्त्राद् विनिश्चेरुः क्षिप्रं तस्य कपिञ्जलाः ॥ ४० ॥

जिस मुखसे वे वेदोंका पाठ करते तथा केवल सोमरस पीते थे, उससे शीघ्रतापूर्वक कपिञ्जल पक्षी बाहर निकले थे ॥ ४० ॥

येन सर्वा दिशो राजन् पिबन्निव निरीक्षते ।
तस्माद् वक्त्राद् विनिश्चेरुस्तित्तिरास्तस्य पाण्डव ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर ! जिसके द्वारा वे सम्पूर्ण दिशाओंको इस प्रकार देखते थे, मानो पी जायँगे, उस मुखसे तीतर पक्षी निकले ॥ ४१ ॥

यत् सुरापं तु तस्यासीद् वक्त्रं त्रिशिरसस्तदा ।
कलविङ्काः समुत्पेतुः श्येनाश्च भरतर्षभ ॥ ४२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! त्रिशिराका जो मुख सुरापान करनेवाला था, उससे गौरैये तथा बाज नामक पक्षी प्रकट हुए ॥ ४२ ॥

ततस्तेषु निकृत्तेषु विज्वरो मघवानथ ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टस्तक्षापि स्वगृहान् ययौ ॥ ४३ ॥

उन तीनों सिरोंके कट जानेपर इन्द्रकी मानसिक चिन्ता दूर हो गयी । वे प्रसन्न होकर स्वर्गको लौट गये तथा बढ़ई भी अपने घर चला गया ॥ ४३ ॥

(तक्षापि स्वगृहं गत्वा नैव शंसति कस्यचित्।
अथैनं नाभिजानन्ति वर्षमेकं तथागतम् ॥
अथ संवत्सरे पूर्णे भूताः पशुपतेः प्रभो।
समाक्रोशन्त मघवान् नः प्रभुर्ब्रह्महा इति ॥
तत इन्द्रो व्रतं घोरमाचरत् पाकशासनः।
तपसा च स संयुक्तः सह देवैर्मरुद्गणैः ॥
समुद्रेषु पृथिव्यां च वनस्पतिषु स्त्रीषु च।
विभज्य ब्रह्महत्यां च तान् वरैरप्ययोजयत् ॥
वरदस्तु वरं दत्त्वा पृथिव्यै सागराय च।
वनस्पतिभ्यः स्त्रीभ्यश्च ब्रह्महत्यां नुनोद ताम् ॥
ततस्तु शुद्धो भगवान् देवैर्लोकैश्च पूजितः।
इन्द्रस्थानमुपातिष्ठत् पूज्यमानो महर्षिभिः ॥)

उस बढ़ईने भी अपने घर जाकर किसीसे कुछ नहीं कहा। तदनन्तर इन्द्रने ऐसा काम किया है, यह एक वर्षतक किसीको मालूम नहीं हुआ। युधिष्ठिर ! वर्ष पूर्ण होनेपर भगवान् पशुपतिके भूतगण यह हल्ला मचाने लगे कि हमारे स्वामी इन्द्र ब्रह्महत्यारे हैं। तब पाकशासन इन्द्रने ब्रह्महत्यासे मुक्ति पानेके लिये कठिन व्रतका आचरण किया। वे देवताओं तथा मरुद्गणोंके साथ तपस्यामें संलग्न हो गये। उन्होंने समुद्र, पृथ्वी, वृक्ष तथा स्त्रीसमुदायको अपनी ब्रह्महत्या बाँटकर उन सबको अभीष्ट वरदान दिया। इस प्रकार वरदायक इन्द्रने पृथ्वी, समुद्र, वनस्पति तथा स्त्रियोंको वर देकर उस ब्रह्महत्याको दूर किया। तदनन्तर शुद्ध होकर भगवान् इन्द्र देवताओं, मनुष्यों तथा महर्षियोंसे पूजित होते हुए अपने इन्द्रपदपर आसीन हुए ॥

मेने कृतार्थमात्मानं हत्वा शत्रुं सुरारिहा।
त्वष्टा प्रजापतिः श्रुत्वा शक्रेणाथ हतं सुतम् ॥ ४४ ॥
क्रोधसंरक्तनयन इदं वचनमब्रवीत्।

दैत्योंका संहार करनेवाले इन्द्रने शत्रुको मारकर अपने आपको कृतार्थ माना। इधर त्वष्टा प्रजापतिने जब यह सुना कि इन्द्रने मेरे पुत्रको मार डाला है, तब उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं और वे इस प्रकार बोले ॥ ४४½ ॥

त्वष्टोवाच

तप्यमानं तपो नित्यं क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम्।
विनापराधेन यतः पुत्रं हिंसितवान् मम ॥ ४५ ॥

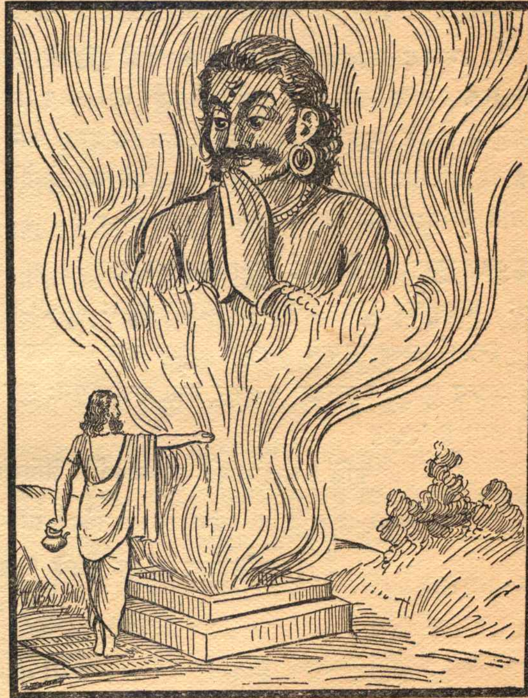
त्वष्टाने कहा—मेरा पुत्र सदा क्षमाशील, संयमी और जितेन्द्रिय रहकर तपस्यामें लगा हुआ था, तो भी इन्द्रने बिना किसी अपराधके उसकी हत्या की है ॥ ४५ ॥

तस्माच्छक्रविनाशाय वृत्रमुत्पादयाम्यहम्।
लोकाः पश्यन्तु मे वीर्यं तपसश्च बलं महत् ॥ ४६ ॥

अतः मैं भी देवेन्द्रके विनाशके लिये वृत्रासुरको उत्पन्न करूँगा। आज संसारके लोग मेरा पराक्रम तथा मेरी तपस्याका महान् बल देखें ॥ ४६ ॥

स च पश्यतु देवेन्द्रो दुरात्मा पापचेतनः।
उपस्पृश्य ततः क्रुद्धस्तपस्वी सुमहायशाः ॥ ४७ ॥
अग्नौ हुत्वा समुत्पाद्य घोरं वृत्रमुवाच ह।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व प्रभावात् तपसो मम ॥ ४८ ॥

साथ ही वह पापात्मा और दुरात्मा देवेन्द्र भी मेरा महान् तपोबल देख ले। ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए तपस्वी एवं महायशस्वी त्वष्टाने आचमन करके अग्निमें आहुति दे घोर रूपवाले वृत्रासुरको उत्पन्न करके उससे कहा—'इन्द्रशत्रो ! तू मेरी तपस्याके प्रभावसे खूब बढ़ जा' ॥ ४७-४८ ॥



सोऽवर्धत दिवं स्तब्ध्वा सूर्यवैश्वानरोपमः।
किं करोमीति चोवाच कालसूर्य इवोदितः ॥ ४९ ॥

उनके इतना कहते ही सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी वृत्रासुर सारे आकाशको आक्रान्त करके बहुत बड़ा हो गया। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो प्रलयकालका सूर्य उदित हुआ हो। उसने पूछा—'पिताजी ! मैं क्या करूँ ?' ॥ ४९॥

शक्रं जहीति चाप्युक्तो जगाम त्रिदिवं ततः।
ततो युद्धं समभवद् वृत्रवासवयोर्महत् ॥ ५० ॥

तब त्वष्टाने कहा-'इन्द्रको मार डालो।' उनके ऐसा कहनेपर वृत्रासुर स्वर्गलोकमें गया। तदनन्तर वृत्रासुर तथा इन्द्रमें बड़ा भारी युद्ध छिड़ गया ॥ ५० ॥

संक्रुद्धयोर्महाघोरं प्रसक्तं कुरुसत्तम।
ततो जग्राह देवेन्द्रं वृत्रो वीरः शतक्रतुम् ॥ ५१ ॥

अपावृत्याक्षिपद् वक्त्रे शक्रं कोपसमन्वितः।
ग्रस्ते वृत्रेण शक्रे तु सम्भ्रान्तास्त्रिदिवेश्वराः॥ ५२॥

कुरुश्रेष्ठ! वे दोनों क्रोधमें भरे हुए थे। उनमें अत्यन्त घोर संग्राम होने लगा। तदनन्तर कुपित हुए वीर वृत्रासुरने शतक्रतु इन्द्रको पकड़ लिया और मुँह बाकर उन्हें उसके भीतर डाल लिया। वृत्रासुरके द्वारा इन्द्रके ग्रस लिये जानेपर सम्पूर्ण श्रेष्ठ देवता घबरा गये॥ ५१-५२॥

असृजंस्ते महासत्त्वा जृम्भिकां वृत्रनाशिनीम्।
विजृम्भमाणस्य ततो वृत्रस्यास्यादपावृतात्॥ ५३॥
स्वान्यङ्गान्यभिसंक्षिप्य निष्क्रान्तो बलनाशनः।
ततः प्रभृति लोकस्य जृम्भिका प्राणसंश्रिता॥ ५४॥

तब उन महासत्त्वशाली देवताओंने जँभाईकी सृष्टि की, जो वृत्रासुरका नाश करनेवाली थी। जँभाई लेते समय जब वृत्रासुरने अपना मुख फैलाया, तब बलनाशक इन्द्र अपने अङ्गोंको समेटकर बाहर निकल आये। तभीसे सब लोगोंके प्राणोंमें जृम्भाशक्तिका निवास हो गया॥ ५३-५४॥

जहृषुश्च सुराः सर्वे शक्रं दृष्ट्वा विनिःसृतम्।
ततः प्रववृते युद्धं वृत्रवासवयोः पुनः॥ ५५॥

इन्द्रको उसके मुखसे निकला हुआ देख सब देवता बड़े प्रसन्न हुए। तदनन्तर वृत्रासुर तथा इन्द्रमें पुनः युद्ध होने लगा॥ ५५॥

संरब्धयोस्तदा घोरं सुचिरं भरतर्षभ।
यदा व्यवर्धत रणे वृत्रो बलसमन्वितः॥ ५६॥
त्वष्टुस्तेजोबलाविद्धस्तदा शक्रो न्यवर्तत।
निवृत्ते च तदा देवा विषादमगमन् परम्॥ ५७॥

भरतश्रेष्ठ! क्रोधमें भरे हुए उन दोनों वीरोंका वह भयानक संग्राम बहुत देरतक चलता रहा। वृत्रासुर त्वष्टाके तेज और बलसे व्याप्त हो जब युद्धमें अधिक बलशाली हो बढ़ने लगा, तब इन्द्र युद्धसे विमुख हो गये। इन्द्रके विमुख होनेपर सब देवताओंको बड़ा दुःख हुआ॥ ५६-५७॥

समेत्य सह शक्रेण त्वष्टुस्तेजोविमोहिताः।
आमन्त्रयन्त ते सर्वे मुनिभिः सह भारत॥ ५८॥
किं कार्यमिति वै राजन् विचिन्त्य भयमोहिताः।
जग्मुः सर्वे महात्मानं मनोभिर्विष्णुमव्ययम्।
उपविष्टा मन्दराग्रे सर्वे वृत्रवधेप्सवः॥ ५९॥

भारत! त्वष्टाके तेजसे मोहित हुए सब देवता देवराज इन्द्र तथा ऋषियोंसे मिलकर सलाह करने लगे कि अब हमें क्या करना चाहिये? राजन्! भयसे मोहित हुए सब देवता बहुत देरतक सोच-विचार करके मन-ही-मन अविनाशी परमात्मा भगवान् विष्णुकी शरणमें गये और वे वृत्रासुरके वधकी इच्छासे मन्दराचलके शिखरपर ध्यानस्थ होकर बैठ गये॥ ५८-५९॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रविजये नवमोऽध्यायः॥ ९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्रविजयविषयक नौवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल ६५ श्लोक हैं)

दशमोऽध्यायः

इन्द्रसहित देवताओंका भगवान् विष्णुकी शरणमें जाना और इन्द्रका उनके आज्ञानुसार वृत्रासुरसे संधि करके अवसर पाकर उसे मारना एवं ब्रह्महत्याके भयसे जलमें छिपना

इन्द्र उवाच

सर्वं व्याप्तमिदं देवा वृत्रेण जगदव्ययम्।
न ह्यस्य सदृशं किंचित् प्रतिघाताय यद् भवेत्॥ १॥

इन्द्र बोले—देवताओ! वृत्रासुरने इस सम्पूर्ण जगत्को आक्रान्त कर लिया है। इसके योग्य कोई ऐसा अस्त्र-शस्त्र नहीं है, जो इसका विनाश कर सके॥ १॥

समर्थो ह्यभवं पूर्वमसमर्थोऽस्मि साम्प्रतम्।
कथं नु कार्यं भद्रं वो दुर्धर्षः स हि मे मतः॥ २॥

पहले मैं सब प्रकारसे सामर्थ्यशाली था; किंतु इस समय असमर्थ हो गया हूँ। आपलोगोंका कल्याण हो। बताइये, कैसे क्या काम करना चाहिये? मुझे तो वृत्रासुर दुर्जय प्रतीत हो रहा है॥ २॥

तेजस्वी च महात्मा च युद्धे चामितविक्रमः।
ग्रसेत् त्रिभुवनं सर्वं सदेवासुरमानुषम्॥ ३॥

वह तेजस्वी और महाकाय है। युद्धमें उसके बल-पराक्रमकी कोई सीमा नहीं है। वह चाहे तो देवता, असुर और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण त्रिलोकीको अपना ग्रास बना सकता है॥ ३॥

तस्माद् विनिश्चयमिमं शृणुध्वं त्रिदिवौकसः।
विष्णोः क्षयमुपागम्य समेत्य च महात्मना।
तेन सम्मन्त्र्य वेत्स्यामो वधोपायं दुरात्मनः॥ ४॥

अतः देवताओ! इस विषयमें मेरे इस निश्चयको सुनो। हमलोग भगवान् विष्णुके धाममें चलें और उन परमात्मासे मिलकर उन्हींसे सलाह करके उस दुरात्माके वधका उपाय जानें॥ ४॥

शल्य उवाच

एवमुक्ते मघवता देवाः सर्षिगणास्तदा ।
शरण्यं शरणं देवं जग्मुर्विष्णुं महाबलम् ॥ ५ ॥

शल्य बोले—राजन् ! इन्द्रके ऐसा कहनेपर ऋषियों-सहित सम्पूर्ण देवता सबके शरणदाता अत्यन्त बलशाली भगवान् विष्णुकी शरणमें गये ॥ ५ ॥

ऊचुश्च सर्वे देवेशं विष्णुं वृत्रभयार्दिताः ।
त्रयो लोकास्त्वया क्रान्तास्त्रिभिर्विक्रमणैः पुरा ॥ ६ ॥

वे सबके सब वृत्रासुरके भयसे पीड़ित थे। उन्होंने देवेश्वर भगवान् विष्णुसे इस प्रकार कहा—'प्रभो ! आपने पूर्वकालमें अपने तीन डगोंद्वारा सम्पूर्ण त्रिलोकीको माप लिया था ॥ ६ ॥



अमृतं चाहृतं विष्णो दैत्याश्च निहता रणे ।
बलिं बद्ध्वा महादैत्यं शक्रो देवाधिपः कृतः ॥ ७ ॥

'विष्णो ! आपने ही (मोहिनी अवतार धारण करके) दैत्योंके हाथसे अमृत छीना एवं युद्धमें उन सबका संहार किया तथा महादैत्य बलिको बाँधकर इन्द्रको देवताओंका राजा बनाया ॥ ७ ॥

त्वं प्रभुः सर्वदेवानां त्वया सर्वमिदं ततम् ।
त्वं हि देवो महादेव सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ८ ॥

'आप ही सम्पूर्ण देवताओंके स्वामी हैं। आपसे ही यह समस्त चराचर जगत् व्याप्त है। महादेव ! आप ही अखिल-विश्ववन्दित देवता हैं ॥ ८ ॥

गतिर्भव त्वं देवानां सेन्द्राणाममरोत्तम ।
जगद् व्याप्तमिदं सर्वं वृत्रेणासुरसूदन ॥ ९ ॥

सुरश्रेष्ठ ! आप इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके आश्रय हों। असुरसूदन ! वृत्रासुरने इस सम्पूर्ण जगत्को आक्रान्त कर लिया है ॥ ९ ॥

विष्णुरुवाच

अवश्यं करणीयं मे भवतां हितमुत्तमम् ।
तस्मादुपायं वक्ष्यामि यथासौ न भविष्यति ॥ १० ॥

भगवान् विष्णु बोले—देवताओ ! मुझे तुमलोगोंका उत्तम हित अवश्य करना है। अतः तुम सबको एक उपाय बताऊँगा, जिससे वृत्रासुरका अन्त होगा ॥ १० ॥

गच्छध्वं सर्षिगन्धर्वा यत्रासौ विश्वरूपधृक् ।
साम तस्य प्रयुञ्जध्वं तत एनं विजेष्यथ ॥ ११ ॥

तुमलोग ऋषियों और गन्धर्वोंके साथ वहीं जाओ, जहाँ विश्वरूपधारी वृत्रासुर विद्यमान है। तुमलोग उसके साथ संधि कर लो; तभी उसे जीत सकोगे ॥ ११ ॥

भविष्यति जयो देवाः शक्रस्य मम तेजसा ।
अदृश्यश्च प्रवेक्ष्यामि वज्रे ह्यस्यायुधोत्तमे ॥ १२ ॥

देवताओ ! मेरे तेजसे इन्द्रकी विजय होगी। मैं इनके उत्तम आयुध वज्रमें अदृश्यभावसे प्रवेश करूँगा ॥ १२ ॥

गच्छध्वमृषिभिः सार्धं गन्धर्वैश्च सुरोत्तमाः ।
वृत्रस्य सह शक्रेण सन्धिं कुरुत मा चिरम् ॥ १३ ॥

देवेश्वरगण ! तुमलोग ऋषियों तथा गन्धर्वोंके साथ जाओ और इन्द्रके साथ वृत्रासुरकी संधि कराओ। इसमें विलम्ब न करो ॥ १३ ॥

शल्य उवाच

एवमुक्ते तु देवेन ऋषयस्त्रिदशास्तथा ।
ययुः समेत्य सहिताः शक्रं कृत्वा पुरःसरम् ॥ १४ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर ऋषि तथा देवता एक साथ मिलकर देवेन्द्रको आगे करके वृत्रासुरके पास गये ॥ १४ ॥

समीपमेत्य च यदा सर्व एव महौजसः ।
तं तेजसा प्रज्वलितं प्रतपन्तं दिशो दश ॥ १५ ॥
ग्रसन्तमिव लोकांस्त्रीन् सूर्याचन्द्रमसौ यथा ।
ददृशुस्ते ततो वृत्रं शक्रेण सह देवताः ॥ १६ ॥

समस्त महाबली देवता जब वृत्रासुरके समीप आये, तब वह अपने तेजसे प्रज्वलित होकर दसों दिशाओंको तपा रहा था, मानो सूर्य और चन्द्रमा अपना प्रकाश बिखेर रहे हों। इन्द्रके साथ सम्पूर्ण देवताओंने वृत्रासुरको देखा। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो तीनों लोकोंको अपना ग्रास बना लेगा॥

ऋषयोऽथ ततोऽभ्येत्य वृत्रमूचुः प्रियं वचः ।
व्याप्तं जगदिदं सर्वं तेजसा तव दुर्जय ॥ १७ ॥

उस समय वृत्रासुरके पास आकर ऋषियोंने उससे यह प्रिय वचन कहा—'दुर्जय वीर ! तुम्हारे तेजसे यह सारा जगत् व्याप्त हो रहा है ॥ १७ ॥

न च शक्नोषि निर्जेतुं वासवं बलिनां वर ।
युध्यतोश्चापि वां कालो व्यतीतः सुमहानिह ॥ १८ ॥

'बलवानोंमें श्रेष्ठ वृत्र ! इतनेपर भी तुम इन्द्रको जीत नहीं सकते। तुम दोनोंको युद्ध करते बहुत समय बीत गया है ॥ १८ ॥

पीड्यन्ते च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः ।
सख्यं भवतु ते वृत्र शक्रेण सह नित्यदा ॥ १९ ॥

'देवता, असुर तथा मनुष्योंसहित सारी प्रजा इस युद्धसे पीड़ित हो रही है। अतः वृत्रासुर ! हम चाहते हैं कि इन्द्रके साथ तुम्हारी सदाके लिये मैत्री हो जाय ॥ १९ ॥

अवाप्स्यसि सुखं त्वं च शक्रलोकांश्च शाश्वतान् ।
ऋषिवाक्यं निशम्याथ वृत्रः स तु महाबलः ॥ २० ॥
उवाच तानृषीन् सर्वान् प्रणम्य शिरसासुरः ।
सर्वे यूयं महाभागा गन्धर्वाश्चैव सर्वशः ॥ २१ ॥
यद् ब्रूथ तच्छ्रुतं सर्वं ममापि शृणुतानघाः ।
संधिः कथं वै भविता मम शक्रस्य चोभयोः ।
तेजसोर्हि द्वयोर्देवाः सख्यं वै भविता कथम् ॥ २२ ॥

'इससे तुम्हें सुख मिलेगा और इन्द्रके सनातन लोकोंपर भी तुम्हारा अधिकार रहेगा।' ऋषियोंकी यह बात सुनकर महाबली वृत्रासुरने उन सबको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'महाभाग देवताओ ! महर्षियो तथा गन्धर्वो ! आप सब लोग जो कुछ कह रहे हैं, वह सब मैंने सुन लिया। निष्पाप देवगण ! अब मेरी भी बात आपलोग सुनें। मुझमें और इन्द्रमें संधि कैसे होगी ? दो तेजस्वी पुरुषोंमें मैत्रीका सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित होगा ?' ॥२०—२२॥

ऋषय ऊचुः

सकृत् सतां संगतं लिप्सितव्यं
ततः परं भविता भव्यमेव ।
नातिक्रामेत् सत्पुरुषेण संगतं
तस्मात् सतां संगतं लिप्सितव्यम् ॥ २३ ॥

ऋषि बोले—एक बार साधु पुरुषोंकी संगतिकी अभिलाषा अवश्य रखनी चाहिये। साधु पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होनेपर उससे परम कल्याण ही होगा। साधु पुरुषोंके सङ्गकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। अतः संतोंका सङ्ग मिलनेकी अवश्य इच्छा करे ॥ २३ ॥

दृढं सतां संगतं चापि नित्यं
ब्रूयाच्चार्थं ह्यर्थकृच्छ्रेषु धीरः ।
महार्थवत् सत्पुरुषेण संगतं
तस्मात् सन्तं न जिघांसेत धीरः ॥ २४ ॥

सज्जनोंका सङ्ग सुदृढ़ एवं चिरस्थायी होता है। धीर संत-महात्मा संकटके समय हितकर कर्तव्यका ही उपदेश देते हैं। साधु पुरुषोंका सङ्ग महान् अभीष्ट वस्तुओंका साधक होता है। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह सज्जनोंको नष्ट करनेकी इच्छा न करे ॥ २४ ॥

इन्द्रः सतां सम्मतश्च निवासश्च महात्मनाम् ।
सत्यवादी ह्यनिन्द्यश्च धर्मवित् सूक्ष्मनिश्चयः ॥ २५ ॥

इन्द्र सत्पुरुषोंके सम्माननीय हैं। महात्मा पुरुषोंके आश्रय हैं। वे सत्यवादी, अनिन्दनीय, धर्मज्ञ तथा सूक्ष्म बुद्धिवाले हैं॥

तेन ते सह शक्रेण संधिर्भवतु नित्यदा ।
एवं विश्वासमागच्छ मा तेऽभूद् बुद्धिरन्यथा ॥ २६ ॥

ऐसे इन्द्रके साथ तुम्हारी सदाके लिये संधि हो जाय। इस प्रकार तुम उनका विश्वास प्राप्त करो। तुम्हें इसके विपरीत कोई विचार नहीं करना चाहिये ॥ २६ ॥

शल्य उवाच

महर्षिवचनं श्रुत्वा तानुवाच महाद्युतिः ।
अवश्यं भगवन्तो मे माननीयास्तपस्विनः ॥ २७ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! महर्षियोंकी यह बात सुनकर महातेजस्वी वृत्रने उनसे कहा—'भगवन् ! आप-जैसे तपस्वी महात्मा अवश्य ही मेरे लिये सम्माननीय हैं ॥ २७ ॥

ब्रवीमि यदहं देवास्तत् सर्वं क्रियते यदि ।
ततः सर्वं करिष्यामि यदूचुर्मां द्विजर्षभाः ॥ २८ ॥

'देवताओ ! मैं अभी जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब यदि आपलोग स्वीकार कर लें, तो इन श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंने मुझे जो आदेश दिये हैं, उन सबका मैं अवश्य पालन करूँगा ॥

न शुष्केण न चार्द्रेण नाश्मना न च दारुणा ।
न शस्त्रेण न चास्त्रेण न दिवा न तथा निशि ॥ २९ ॥
वध्यो भवेयं विप्रेन्द्राः शक्रस्य सह दैवतैः ।
एवं मे रोचते सन्धिः शक्रेण सह नित्यदा ॥ ३० ॥

'विप्रवरो ! मैं देवताओंसहित इन्द्रके द्वारा न सूखी वस्तुसे; न गीली वस्तुसे; न पत्थरसे, न लकड़ीसे; न शस्त्रसे, न अस्त्रसे; न दिनमें और न रातमें ही मारा जाऊँ। इस शर्तपर देवेन्द्रके साथ सदाके लिये मेरी संधि हो, तो मैं उसे पसंद करता हूँ' ॥ २९-३० ॥

बाढमित्येव ऋषयस्तमूचुर्भरतर्षभ ।
एवंवृत्ते तु संधाने वृत्रः प्रमुदितोऽभवत् ॥ ३१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब ऋषियोंने उससे 'बहुत अच्छा' कहा । इस प्रकार संधि हो जानेपर वृत्रासुरको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

युक्तः सदाभवच्चापि शक्रो हर्षसमन्वितः ।
वृत्रस्य वधसंयुक्तानुपायाननन्वचिन्तयत् ॥ ३२ ॥

इन्द्र भी हर्षमें भरकर सदा उससे मिलने लगे, परंतु वे वृत्रके वधसम्बन्धी उपायोंको ही सोचते रहते थे ॥ ३२ ॥

छिद्रान्वेषी समुद्विग्नः सदा वसति देवराट् ।
स कदाचित् समुद्रान्ते समपश्यन्महासुरम् ॥ ३३ ॥

वृत्रासुरके छिद्रकी (उसे मारनेके अवसरकी) खोज करते हुए देवराज इन्द्र सदा उद्विग्न रहते थे । एक दिन उन्होंने समुद्रके तटपर उस महान् असुरको देखा ॥ ३३ ॥

संध्याकाल उपावृत्ते मुहूर्ते चातिदारुणे ।
ततः संचिन्त्य भगवान् वरदानं महात्मनः ॥ ३४ ॥
संध्येयं वर्तते रौद्रा न रात्रिर्दिवसं न च ।
वृत्रश्चावश्यवध्योऽयं मम सर्वहरो रिपुः ॥ ३५ ॥
यदि वृत्रं न हन्म्यद्य वञ्चयित्वा महासुरम् ।
महाबलं महाकायं न मे श्रेयो भविष्यति ॥ ३६ ॥

उस समय अत्यन्त दारुण संध्याकालका मुहूर्त उपस्थित था । भगवान् इन्द्रने परमात्मा श्रीविष्णुके वरदानका विचार करके सोचा—'यह भयंकर संध्या उपस्थित है, इस समय न रात है, न दिन है; अतः अभी इस वृत्रासुरका अवश्य वध कर देना चाहिये; क्योंकि यह मेरा सर्वस्व हर लेनेवाला शत्रु है । यदि इस महाबली, महाकाय और महान् असुर वृत्रको धोखा देकर मैं अभी नहीं मार डालता हूँ, तो मेरा भला न होगा' ॥ ३४–३६ ॥

एवं संचिन्तयन्नेव शक्रो विष्णुमनुस्मरन् ।
अथ फेनं तदापश्यत् समुद्रे पर्वतोपमम् ॥ ३७ ॥

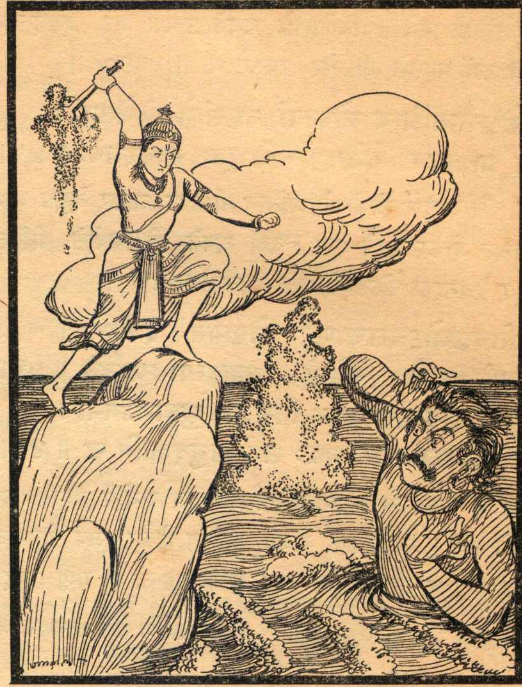
इस प्रकार सोचते हुए ही इन्द्र भगवान् विष्णुका बार-बार स्मरण करने लगे । इसी समय उनकी दृष्टि समुद्रमें उठते हुए पर्वताकार फेनपर पड़ी ॥ ३७ ॥

नायं शुष्को न चार्द्रोऽयं न च शस्त्रमिदं तथा ।
एनं क्षेप्स्यामि वृत्रस्य क्षणादेव नशिष्यति ॥ ३८ ॥

उसे देखकर इन्द्रने मन-ही-मन यह विचार किया कि यह न सूखा है न आर्द्र, न अस्त्र है न शस्त्र; अतः इसीको वृत्रासुरपर छोड़ूँगा, जिससे वह क्षणभरमें नष्ट हो जायगा ॥ ३८ ॥

सवज्रमथ फेनं तं क्षिप्रं वृत्रे निसृष्टवान् ।
प्रविश्य फेनं तं विष्णुरथ वृत्रं व्यनाशयत् ॥ ३९ ॥

यह सोचकर इन्द्रने तुरंत ही वृत्रासुरपर वज्रसहित फेनका प्रहार किया । उस समय भगवान् विष्णुने उस



फेनमें प्रवेश करके वृत्रासुरको नष्ट कर दिया ॥ ३९ ॥

निहते तु ततो वृत्रे दिशो वितिमिराऽभवन् ।
प्रववौ च शिवो वायुः प्रजाश्च जहृषुस्तथा ॥ ४० ॥

वृत्रासुरके मारे जानेपर सम्पूर्ण दिशाओंका अन्धकार दूर हो गया, शीतल-सुखद वायु चलने लगी और सम्पूर्ण प्रजामें हर्ष छा गया ॥ ४० ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा यक्षरक्षोमहोरगाः ।
ऋषयश्च महेन्द्रं तमस्तुवन् विविधैः स्तवैः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महानाग तथा ऋषि भाँति-भाँतिके स्तोत्रोंद्वारा महेन्द्रकी स्तुति करने लगे ॥ ४१ ॥

नमस्कृतः सर्वभूतैः सर्वभूतान्यसान्त्वयत् ।
हत्वा शत्रुं प्रहृष्टात्मा वासवः सह दैवतैः ॥ ४२ ॥

शत्रुको मारकर देवताओंसहित इन्द्रका हृदय हर्षसे भर गया । समस्त प्राणियोंने उन्हें नमस्कार किया और उन्होंने उन सबको सान्त्वना दी ॥ ४२ ॥

विष्णुं त्रिभुवनश्रेष्ठं पूजयामास धर्मवित् ।
ततो हते महावीर्ये वृत्रे देवभयंकरे ॥ ४३ ॥
अनृतेनाभिभूतोऽभूच्छक्रः परमदुर्मनाः ।
त्रैशीर्षयाभिभूतश्च स पूर्वं ब्रह्महत्यया ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् धर्मज्ञ देवराजने तीनों लोकोंके श्रेष्ठ आराध्य-देव भगवान् विष्णुका पूजन किया । इस प्रकार देवताओं-

को भय देनेवाले महापराक्रमी वृत्रासुरके मारे जानेपर विश्वासघातरूपी असत्यसे अभिभूत होकर इन्द्र मन-ही-मन बहुत दुखी हो गये। त्रिशिराके वधसे उत्पन्न हुई ब्रह्महत्याने तो उन्हें पहलेसे ही घेर रक्खा था ॥ ४३-४४ ॥

सोऽन्तमाश्रित्य लोकानां नष्टसंज्ञो विचेतनः।
न प्राज्ञायत देवेन्द्रस्त्वभिभूतः स्वकल्मषैः ॥ ४५॥

वे सम्पूर्ण लोकोंकी अन्तिम सीमापर जाकर बेसुध और अचेत होकर रहने लगे। वहाँ अपने ही पापोंसे पीड़ित हुए देवेन्द्रका किसीको पता न चला ॥ ४५ ॥

प्रतिच्छन्नोऽवसच्चाप्सु चेष्टमान इवोरगः।
ततः प्रणष्टे देवेन्द्रे ब्रह्महत्याभयार्दिते ॥ ४६॥
भूमिः प्रध्वस्तसंकाशा निर्वृक्षा शुष्ककानना।
विच्छिन्नस्रोतसो नद्यः सरांस्यनुदकानि च ॥ ४७॥

वे जलमें विचरनेवाले सर्पकी भाँति पानीमें ही छिपकर रहने लगे। ब्रह्महत्याके भयसे पीड़ित होकर जब देवराज इन्द्र अदृश्य हो गये, तब यह पृथ्वी नष्ट-सी हो गयी। यहाँके वृक्ष उजड़ गये, जंगल सूख गये, नदियोंका स्रोत छिन्न-भिन्न हो गया और सरोवरोंका जल सूख गया ॥ ४६-४७ ॥

संक्षोभश्चापि सत्त्वानामनावृष्टिकृतोऽभवत्।
देवाश्चापि भृशं त्रस्तास्तथा सर्वे महर्षयः ॥ ४८ ॥

सब जीवोंमें अनावृष्टिके कारण क्षोभ उत्पन्न हो गया। देवता तथा सम्पूर्ण महर्षि भी अत्यन्त भयभीत हो गये ॥ ४८ ॥

अराजकं जगत् सर्वमभिभूतमुपद्रवः।
ततो भीताऽभवन् देवाः को नो राजा भवेदिति ॥ ४९ ॥
दिवि देवर्षयश्चापि देवराजविनाकृताः।
न स्म कश्चन देवानां राज्ये वै कुरुते मतिम् ॥ ५० ॥

सम्पूर्ण जगत्‌में अराजकताके कारण भारी उपद्रव होने लगे। स्वर्गमें देवराज इन्द्रके न होनेसे देवता तथा देवर्षि भी भयभीत होकर सोचने लगे—'अब हमारा राजा कौन होगा?' देवताओंमेंसे कोई भी स्वर्गका राजा बननेका विचार नहीं करता था ॥ ४९-५० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि वृत्रवधे इन्द्रविजयो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें वृत्रवधके प्रसंगमें इन्द्रविजयविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

देवताओं तथा ऋषियोंके अनुरोधसे राजा नहुषका इन्द्रके पदपर अभिषिक्त होना एवं काम-भोगमें आसक्त होना और चिन्तामें पड़ी हुई इन्द्राणीको बृहस्पतिका आश्वासन

शल्य उवाच

ऋषयोऽथाब्रुवन् सर्वे देवाश्च त्रिदिवेश्वराः।
अयं वै नहुषः श्रीमान् देवराज्येऽभिषिच्यताम् ॥ १ ॥
तेजस्वी च यशस्वी च धार्मिकश्चैव नित्यदा।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार (स्वर्गमें अराजकता हो जानेपर) ऋषियों, सम्पूर्ण देवताओं एवं देवेश्वरोंने परस्पर मिलकर कहा—'ये जो श्रीमान् नहुष हैं, इन्हींको देवराजके पदपर अभिषिक्त किया जाय; क्योंकि ये तेजस्वी, यशस्वी तथा नित्य-निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं' ॥ १½ ॥

ते गत्वा त्वब्रुवन् सर्वे राजा नो भव पार्थिव ॥ २ ॥
स तानुवाच नहुषो देवानृषिगणांस्तथा।
पितृभिः सहितान् राजन् परीप्सन् हितमात्मनः ॥ ३ ॥

ऐसा निश्चय करके वे सब लोग राजा नहुषके पास जाकर बोले—'पृथिवीपते! आप हमारे राजा होइये'—राजन्! तब नहुषने पितरोंसहित उन देवताओं तथा ऋषियोंसे अपने हितकी इच्छासे कहा— ॥ २-३ ॥



दुर्बलोऽहं न मे शक्तिर्भवतां परिपालने।
बलवाञ्जायते राजा बलं शक्रे हि नित्यदा॥ ४॥

'मैं तो दुर्बल हूँ, मुझमें आपलोगोंकी रक्षा करनेकी शक्ति नहीं है। बलवान् पुरुष ही राजा होता है। इन्द्रमें ही बलकी नित्य सत्ता है'॥ ४॥

तमब्रुवन् पुनः सर्वे देवा ऋषिपुरोगमाः।
अस्माकं तपसा युक्तः पाहि राज्यं त्रिविष्टपे॥ ५॥
परस्परभयं घोरमस्माकं हि न संशयः।
अभिषिच्यस्व राजेन्द्र भव राजा त्रिविष्टपे॥ ६॥

यह सुनकर सम्पूर्ण देवता तथा ऋषि पुनः उनसे बोले—'राजेन्द्र! आप हमारी तपस्यासे संयुक्त हो स्वर्गके राज्यका पालन कीजिये। हमलोगोंमें प्रत्येकको एक-दूसरेसे घोर भय बना रहता है, इसमें संशय नहीं है। अतः आप अपना अभिषेक कराइये और स्वर्गके राजा होइये॥ ५-६॥

देवदानवयक्षाणामृषीणां रक्षसां तथा।
पितृगन्धर्वभूतानां चक्षुर्विषयवर्तिनाम्॥ ७॥
तेज आदास्यसे पश्यन् बलवांश्च भविष्यसि।
धर्मं पुरस्कृत्य सदा सर्वलोकाधिपो भव॥ ८॥

'देवता, दानव, यक्ष, ऋषि, राक्षस, पितर, गन्धर्व और भूत—जो भी आपके नेत्रोंके सामने आ जायँगे, उन्हें देखते ही आप उनका तेज हर लेंगे और बलवान् हो जायँगे। अतः सदा धर्मको सामने रखते हुए आप सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति होइये॥ ७-८॥

ब्रह्मर्षींश्चापि देवांश्च गोपायस्व त्रिविष्टपे।
अभिषिक्तः स राजेन्द्र ततो राजा त्रिविष्टपे॥ ९॥

'आप स्वर्गमें रहकर ब्रह्मर्षियों तथा देवताओंका पालन कीजिये।' युधिष्ठिर! तदनन्तर राजा नहुषका स्वर्गमें इन्द्रके पदपर अभिषेक हुआ॥ ९॥

धर्मं पुरस्कृत्य तदा सर्वलोकाधिपोऽभवत्।
सुदुर्लभं वरं लब्ध्वा प्राप्य राज्यं त्रिविष्टपे॥ १०॥
धर्मात्मा सततं भूत्वा कामात्मा समपद्यत।

धर्मको आगे रखकर उस समय राजा नहुष सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति हो गये। वे परम दुर्लभ वर पाकर स्वर्गके राज्यको हस्तगत करके निरन्तर धर्मपरायण रहते हुए भी कामभोगमें आसक्त हो गये॥ १०½॥

देवोद्यानेषु सर्वेषु नन्दनोपवनेषु च॥ ११॥
कैलासे हिमवत्पृष्ठे मन्दरे श्वेतपर्वते।
सह्ये महेन्द्रे मलये समुद्रेषु सरित्सु च॥ १२॥
अप्सरोभिः परिवृतो देवकन्यासमावृतः।
नहुषो देवराजोऽथ क्रीडन् बहुविधं तदा॥ १३॥
शृण्वन् दिव्या बहुविधाः कथाः श्रुतिमनोहराः।
वादित्राणि च सर्वाणि गीतं च मधुरस्वनम्॥ १४॥

देवराज नहुष सम्पूर्ण देवोद्यानोंमें, नन्दनवनके उपवनोंमें, कैलासमें, हिमालयके शिखरपर, मन्दराचल, श्वेतगिरि, सह्य, महेन्द्र तथा मलयपर्वतपर एवं समुद्रों और सरिताओंमें, अप्सराओं तथा देवकन्याओंके साथ भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ करते थे, कानों और मनको आकर्षित करनेवाली नाना प्रकारकी दिव्य कथाएँ सुनते थे तथा सब प्रकारके वाद्यों और मधुर स्वरसे गाये जानेवाले गीतोंका आनन्द लेते थे॥ ११-१४॥

विश्वावसुर्नारदश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः।
ऋतवः षट् च देवेन्द्रं मूर्तिमन्त उपस्थिताः॥ १५॥

विश्वावसु, नारद, गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदाय तथा छहों ऋतुएँ शरीर धारण करके देवेन्द्रकी सेवामें उपस्थित होती थीं॥ १५॥

मारुतः सुरभिर्वाति मनोज्ञः सुखशीतलः।
एवं च क्रीडतस्तस्य नहुषस्य दुरात्मनः॥ १६॥
सम्प्राप्ता दर्शनं देवी शक्रस्य महिषी प्रिया।

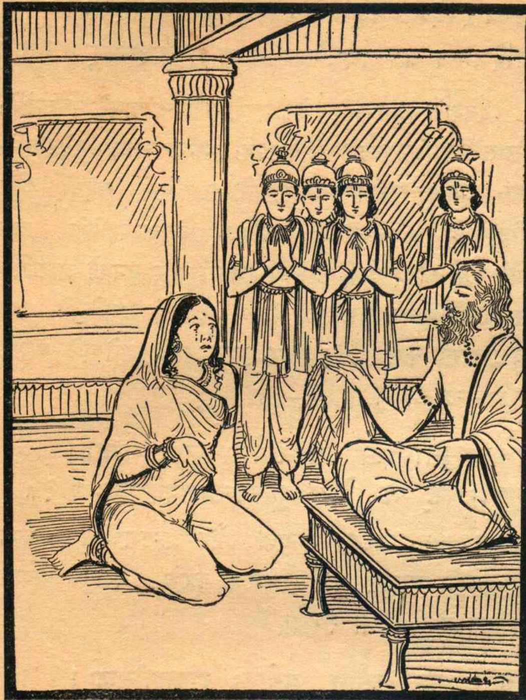
उनके लिये वायु मनोहर, सुखद, शीतल और सुगन्धित होकर बहते थे। इस प्रकार क्रीडा करते हुए दुरात्मा राजा नहुषकी दृष्टि एक दिन देवराज इन्द्रकी प्यारी महारानी शचीपर पड़ी॥ १६½॥

स तां संदृश्य दुष्टात्मा प्राह सर्वान् सभासदः॥ १७॥
इन्द्रस्य महिषी देवी कस्मान्मां नोपतिष्ठति।
अहमिन्द्रोऽस्मि देवानां लोकानां च तथेश्वरः॥ १८॥
आगच्छतु शची मह्यं क्षिप्रमद्य निवेशनम्।

उन्हें देखकर दुष्टात्मा नहुषने समस्त सभासदोंसे कहा—'इन्द्रकी महारानी शची मेरी सेवामें क्यों नहीं उपस्थित होतीं? मैं देवताओंका इन्द्र हूँ और सम्पूर्ण लोकोंका अधीश्वर हूँ। अतः शचीदेवी आज मेरे महलमें शीघ्र पधारें'॥ १७-१८½॥

तच्छ्रुत्वा दुर्मना देवी बृहस्पतिमुवाच ह॥ १९॥
रक्ष मां नहुषाद् ब्रह्मंस्त्वामस्मि शरणं गता।
सर्वलक्षणसम्पन्नां ब्रह्मंस्त्वं मां प्रभाषसे॥ २०॥
देवराजस्य दयितामत्यन्तं सुखभागिनीम्।
अवैधव्येन युक्तां चाप्येकपत्नीं पतिव्रताम्॥ २१॥

यह सुनकर शचीदेवी मन-ही-मन बहुत दुःखी हुईं और बृहस्पतिसे बोलीं—'ब्रह्मन्! मैं आपकी शरणमें आयी हूँ, आप नहुषसे मेरी रक्षा कीजिये। विप्रवर! आप मुझसे कहा



करते हैं कि तुम समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, देवराज इन्द्रकी प्राणवल्लभा, अत्यन्त सुखभागिनी, सौभाग्यवती, एकपत्नी और पतिव्रता हो ॥ १९–२१ ॥

उक्तवानसि मां पूर्वमृतां तां कुरु वै गिरम् ।
नोक्तपूर्वं च भगवन् वृथा ते किंचिदीश्वर ॥ २२ ॥
तस्मादेतद् भवेत् सत्यं त्वयोक्तं द्विजसत्तम ।

'भगवन् ! आपने पहले जो वैसी बातें कही हैं, अपनी उन वाणियोंको सत्य कीजिये । देवगुरो ! आपके मुखसे पहले कभी कोई व्यर्थ या असत्य वचन नहीं निकला है, अतः द्विजश्रेष्ठ ! आपका यह पूर्वोक्त वचन भी सत्य होना चाहिये' ॥ २२½ ॥

बृहस्पतिरथोवाच शक्राणीं भयमोहिताम् ॥ २३ ॥
यदुक्तासि मया देवि सत्यं तद् भविता ध्रुवम् ।
द्रक्ष्यसे देवराजानमिन्द्रं शीघ्रमिहागतम् ॥ २४ ॥
न भेतव्यं च नहुषात् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
समानयिष्ये शक्रेण न चिराद् भवतीमहम् ॥ २५ ॥

यह सुनकर बृहस्पतिने भयसे व्याकुल हुई इन्द्राणीसे कहा–'देवि ! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह सब अवश्य सत्य होगा । तुम शीघ्र ही देवराज इन्द्रको यहाँ आया हुआ देखोगी । नहुषसे तुम्हें डरना नहीं चाहिये । मैं सच्ची बात कहता हूँ, थोड़े ही दिनोंमें तुम्हें इन्द्रसे मिला दूँगा' ॥ २३–२५ ॥

अथ शुश्राव नहुषः शक्राणीं शरणं गताम् ।
बृहस्पतेरङ्गिरसश्चुक्रोध स नृपस्तदा ॥ २६ ॥

जब राजा नहुषने सुना कि इन्द्राणी अङ्गिराके पुत्र बृहस्पतिकी शरणमें गयी है, तब वे बहुत कुपित हुए ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीभये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणी-भयविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

देवता-नहुष-संवाद, बृहस्पतिके द्वारा इन्द्राणीकी रक्षा तथा इन्द्राणीका नहुषके पास कुछ समयकी अवधि माँगनेके लिये जाना

शल्य उवाच

क्रुद्धं तु नहुषं दृष्ट्वा देवा ऋषिपुरोगमाः ।
अब्रुवन् देवराजानं नहुषं घोरदर्शनम् ॥ १ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! देवराज नहुषको क्रोधमें भरे हुए देख देवतालोग ऋषियोंको आगे करके उनके पास गये । उस समय उनकी दृष्टि बड़ी भयंकर प्रतीत होती थी । देवताओं तथा ऋषियोंने कहा—॥ १ ॥

देवराज जहि क्रोधं त्वयि क्रुद्धे जगद् विभो ।
त्रस्तं सासुरगन्धर्वं सकिंनरमहोरगम् ॥ २ ॥

'देवराज ! आप क्रोध छोड़ें । प्रभो ! आपके कुपित होनेसे असुर, गन्धर्व, किन्नर और महानागगणोंसहित सम्पूर्ण जगत् भयभीत हो उठा है ॥ २ ॥

जहि क्रोधमिमं साधो न कुप्यन्ति भवद्विधाः ।
परस्य पत्नी सा देवी प्रसीदस्व सुरेश्वर ॥ ३ ॥

'साधो ! आप इस क्रोधको त्याग दीजिये । आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुष दूसरोंपर कोप नहीं करते हैं । अतः प्रसन्न होइये । सुरेश्वर ! शची देवी दूसरे इन्द्रकी पत्नी हैं ॥ ३ ॥

निवर्तय मनः पापात् परदाराभिमर्शनात् ।
देवराजोऽसि भद्रं ते प्रजा धर्मेण पालय ॥ ४ ॥

'परायी स्त्रियोंका स्पर्श पापकर्म है । उससे मनको हटा लीजिये । आप देवताओंके राजा हैं । आपका कल्याण हो । आप धर्मपूर्वक प्रजाका पालन कीजिये' ॥ ४ ॥

एवमुक्तो न जग्राह तद्वचः काममोहितः ।
अथ देवानुवाचेदमिन्द्रं प्रति सुराधिपः ॥ ५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर भी काममोहित नहुषने उनकी बात नहीं मानी । उस समय देवेश्वर नहुषने इन्द्रके विषयमें देवताओंसे इस प्रकार कहा— ॥ ५ ॥

अहल्या धर्षिता पूर्वमृषिपत्नी यशस्विनी ।
जीवतो भर्तुरिन्द्रेण स वः किं न निवारितः ॥ ६ ॥

'देवताओ ! जब इन्द्रने पूर्वकालमें यशस्विनी ऋषि-पत्नी अहल्याका उसके पति गौतमके जीते-जी सतीत्व नष्ट किया था, उस समय आपलोगोंने उन्हें क्यों नहीं रोका ? ॥ ६ ॥

बहूनि च नृशंसानि कृतानीन्द्रेण वै पुरा ।
वैधर्म्याण्युपधाश्चैव स वः किं न निवारितः ॥ ७ ॥

'प्राचीनकालमें इन्द्रने बहुत-से क्रूरतापूर्ण कर्म किये हैं । अनेक अधार्मिक कृत्य तथा छल-कपट उनके द्वारा हुए हैं । उन्हें आपलोगोंने क्यों नहीं रोका था ? ॥ ७ ॥

उपतिष्ठतु देवी मामेतदस्या हितं परम् ।
युष्माकं च सदा देवाः शिवमेवं भविष्यति ॥ ८ ॥

'शची देवी मेरी सेवामें उपस्थित हों । इसीमें इनका परम हित है तथा देवताओ ! ऐसा होनेपर ही सदा तुम्हारा कल्याण होगा' ॥ ८ ॥

देवा ऊचुः

इन्द्राणीमानयिष्यामो यथेच्छसि दिवस्पते ।
जहि क्रोधमिमं वीर प्रीतो भव सुरेश्वर ॥ ९ ॥

देवता बोले—स्वर्गलोकके स्वामी वीर देवेश्वर ! आपकी जैसी इच्छा है, उसके अनुसार हमलोग इन्द्राणीको आपकी सेवामें ले आयेंगे । आप यह क्रोध छोड़िये और प्रसन्न होइये ॥ ९ ॥

शल्य उवाच

इत्युक्त्वा तं तदा देवा ऋषिभिः सह भारत ।
जग्मुर्बृहस्पतिं वक्तुमिन्द्राणीं चाशुभं वचः ॥ १० ॥

शल्यने कहा—युधिष्ठिर ! नहुषसे ऐसा कहकर उस समय सब देवता ऋषियोंके साथ इन्द्राणीसे यह अशुभ वचन कहनेके लिये बृहस्पतिजीके पास गये ॥ १० ॥

जानीमः शरणं प्राप्तामिन्द्राणीं तव वेश्मनि ।
दत्ताभयां च विप्रेन्द्र त्वया देवर्षिसत्तम ॥ ११ ॥

उन्होंने कहा—'देवर्षिप्रवर ! विप्रेन्द्र ! हमें पता लगा है कि इन्द्राणी आपकी शरणमें आयी हैं और आपके ही भवनमें रह रही हैं । आपने उन्हें अभय-दान दे रक्खा है ॥ ११ ॥

ते त्वां देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च महाद्युते ।
प्रसादयन्ति चेन्द्राणी नहुषाय प्रदीयताम् ॥ १२ ॥

'महाद्युते ! अब ये देवता, गन्धर्व तथा ऋषि आपको इस बातके लिये प्रसन्न करा रहे हैं कि आप इन्द्राणीको राजा नहुषकी सेवामें अर्पण कर दीजिये ॥ १२ ॥

इन्द्राद् विशिष्टो नहुषो देवराजो महाद्युतिः ।
वृणोत्विमं वरारोहा भर्तृत्वे वरवर्णिनी ॥ १३ ॥

'इस समय महातेजस्वी नहुष देवताओंके राजा हैं। अतः इन्द्रसे बढ़कर हैं । सुन्दर रूप-रंगवाली शची इन्हें अपना पति स्वीकार कर लें' ॥ १३ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी बाष्पमुत्सृज्य सस्वनम् ।
उवाच रुदती दीना बृहस्पतिमिदं वचः ॥ १४ ॥

'देवताओंके यह बात कहनेपर शची देवी आँसू बहाती हुई फूट-फूटकर रोने लगीं और दीनभावसे बृहस्पतिजीको सम्बोधित करके इस प्रकार बोलीं— ॥ १४ ॥

नाहमिच्छामि नहुषं पतिं देवर्षिसत्तम ।
शरणागतास्मि ते ब्रह्मंस्त्रायस्व महतो भयात् ॥ १५ ॥

'देवर्षियोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणदेव ! मैं नहुषको अपना पति बनाना नहीं चाहती; इसीलिये आपकी शरणमें आयी हूँ । आप इस महान् भयसे मेरी रक्षा कीजिये' ॥ १५ ॥

बृहस्पतिरुवाच

शरणागतं न त्यजेयमिन्द्राणि मम निश्चयः ।
धर्मज्ञां सत्यशीलां च न त्यजेयमनिन्दिते ॥ १६ ॥

बृहस्पतिने कहा—इन्द्राणी ! मैं शरणागतका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा दृढ़ निश्चय है । अनिन्दिते ! तुम धर्मज्ञ और सत्यशील हो; अतः मैं तुम्हारा त्याग नहीं करूँगा ॥ १६ ॥

नाकार्यं कर्तुमिच्छामि ब्राह्मणः सन् विशेषतः ।
श्रुतधर्मा सत्यशीलो जानन् धर्मानुशासनम् ॥ १७ ॥
नाहमेतत् करिष्यामि गच्छध्वं वै सुरोत्तमाः ।
अस्मिंश्चार्थे पुरा गीतं ब्रह्मणा श्रूयतामिदम् ॥ १८ ॥

विशेषतः ब्राह्मण होकर मैं यह न करने योग्य कार्य नहीं कर सकता । मैंने धर्मकी बातें सुनी हैं और सत्यको अपने स्वभावमें उतार लिया है । शास्त्रोंमें जो धर्मका उपदेश किया है, उसे भी जानता हूँ; अतः मैं यह पापकर्म नहीं करूँगा ! सुरश्रेष्ठगण ! आपलोग लौट जायँ । इस विषयमें ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जो गीत गाया था, वह इस प्रकार है, सुनिये ॥ १७-१८ ॥

न तस्य बीजं रोहति रोहकाले
न तस्य वर्षं वर्षति वर्षकाले ।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे
न स त्रातारं लभते त्राणमिच्छन् ॥ १९ ॥

'जो भयभीत होकर शरणमें आये हुए प्राणीको उसके शत्रुके हाथमें दे देता है, उसका बोया हुआ बीज समयपर नहीं जमता है। उसके यहाँ ठीक समयपर वर्षा नहीं होती और वह जब कभी अपनी रक्षा चाहता है, तो उसे कोई रक्षक नहीं मिलता है ॥ १९ ॥

मोघमन्नं विन्दति चाप्यचेताः
स्वर्गाल्लोकाद् भ्रश्यति नष्टचेष्टः।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति यो वै
न तस्य हव्यं प्रतिगृह्णन्ति देवाः॥ २० ॥

'जो भयभीत शरणागतको शत्रुके हाथमें सौंप देता है, वह दुर्बलचित्त मानव जो अन्न ग्रहण करता है, वह व्यर्थ हो जाता है। उसके सारे उद्यम नष्ट हो जाते हैं और वह स्वर्गलोकसे नीचे गिर जाता है। इतना ही नहीं, देवतालोग उसके दिये हुए हविष्यको स्वीकार नहीं करते हैं ॥२०॥

प्रमीयते चास्य प्रजा ह्यकाले
सदा विवासं पितरोऽस्य कुर्वते।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे
सेन्द्रा देवाः प्रहरन्त्यस्य वज्रम्॥ २१ ॥

'उसकी संतान अकालमें ही मर जाती है। उसके पितर सदा नरकमें निवास करते हैं। जो भयभीत शरणागतको शत्रुके हाथमें दे देता है, उसपर इन्द्र आदि देवता वज्रका प्रहार करते हैं' ॥ २१ ॥

एतदेवं विजानन् वै न दास्यामि शचीमिमाम्।
इन्द्राणीं विश्रुतां लोके शक्रस्य महिषीं प्रियाम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार ब्रह्माजीके उपदेशके अनुसार शरणागतके त्यागसे होनेवाले अधर्मको मैं निश्चितरूपसे जानता हूँ; अतः जो सम्पूर्ण विश्वमें इन्द्रकी पत्नी तथा देवराजकी प्यारी पटरानीके रूपमें विख्यात हैं, उन्हीं इन शचीदेवीको मैं नहुषके हाथमें नहीं दूँगा ॥ २२ ॥

अस्या हितं भवेद् यच्च मम चापि हितं भवेत्।
क्रियतां तत् सुरश्रेष्ठा न हि दास्याम्यहं शचीम् ॥ २३ ॥

श्रेष्ठ देवताओ! जो इनके लिये हितकर हो, जिससे मेरा भी हित हो, वह कार्य आपलोग करें। मैं शचीको कदापि नहीं दूँगा ॥ २३ ॥

शल्य उवाच

अथ देवाः सगन्धर्वा गुरुमाहुरिदं वचः।
कथं सुनीतं नु भवेन्मन्त्रयस्व बृहस्पते ॥ २४ ॥

शल्य कहते हैं—राजन्! तब देवताओं तथा गन्धर्वोंने गुरुसे इस प्रकार कहा—'बृहस्पते! आप ही सलाह दीजिये कि किस उपायका अवलम्बन करनेसे शुभ परिणाम होगा?' ॥ २४ ॥

बृहस्पतिरुवाच

नहुषं याचतां देवी किंचित् कालान्तरं शुभा।
इन्द्राणी हितमेतद्धि तथास्माकं भविष्यति ॥ २५ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—देवगण! शुभलक्षणा शची देवी नहुषसे कुछ समयकी अवधि माँगें। इसीसे इनका और हमारा भी हित होगा ॥ २५ ॥

बहुविघ्नः सुराः कालः कालः कालं नयिष्यति।
गर्वितो बलवांश्चापि नहुषो वरसंश्रयात् ॥ २६ ॥

देवताओ! समय अनेक प्रकारके विघ्नोंसे भरा होता है। इस समय नहुष आपलोगोंके वरदानके प्रभावसे बलवान् और गर्वीला हो गया है। काल ही उसे कालके गालमें पहुँचा देगा ॥ २६ ॥

शल्य उवाच

ततस्तेन तथोक्ते तु प्रीता देवास्तथाब्रुवन्।
ब्रह्मन् साध्विदमुक्तं ते हितं सर्वदिवौकसाम् ॥ २७ ॥

शल्य कहते हैं—राजन्! उनके इस प्रकार सलाह देनेपर देवता बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन्! आपने बहुत अच्छी बात कही है। इसीमें सम्पूर्ण देवताओंका हित है ॥ २७ ॥

एवमेतद् द्विजश्रेष्ठ देवी चेयं प्रसाद्यताम्।
ततः समस्ता इन्द्राणीं देवाश्चाग्निपुरोगमाः।
ऊचुर्वचनमव्यग्रा लोकानां हितकाम्यया ॥ २८ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! इसी बातके लिये शचीदेवीको राजी कीजिये।' तदनन्तर अग्नि आदि सब देवता इन्द्राणीके पास जा समस्त लोकोंके हितके लिये शान्तभावसे इस प्रकार बोले ॥ २८ ॥

देवा ऊचुः

त्वया जगदिदं सर्वं धृतं स्थावरजङ्गमम्।
एकपत्न्यसि सत्या च गच्छस्व नहुषं प्रति ॥ २९ ॥
क्षिप्रं त्वामभिकामश्च विनशिष्यति पापकृत्।
नहुषो देवि शक्रश्च सुरैश्वर्यमवाप्स्यति ॥ ३० ॥

देवता बोले—देवि! यह समस्त चराचर जगत् तुमने ही धारण कर रक्खा है, क्योंकि तुम पतिव्रता और सत्यपरायणा हो। अतः तुम नहुषके पास चलो। देवेश्वरि! तुम्हारी कामना करनेके कारण पापी नहुष शीघ्र नष्ट हो जायगा और इन्द्र पुनः अपने देवसाम्राज्यको प्राप्त कर लेंगे ॥ २९-३० ॥

एवं विनिश्चयं कृत्वा इन्द्राणी कार्यसिद्धये।
अभ्यगच्छत सव्रीडा नहुषं घोरदर्शनम् ॥ ३१ ॥

अपनी कार्य-सिद्धिके लिये ऐसा निश्चय करके इन्द्राणी

भयंकर दृष्टिवाले नहुषके पास बड़े संकोचके साथ गयी ॥

दृष्ट्वा तां नहुषश्चापि वयोरूपसमन्विताम् ।
समहृष्यत दुष्टात्मा कामोपहतचेतनः ॥ ३२ ॥

नयी अवस्था और सुन्दर रूपसे सुशोभित इन्द्राणीको देखकर दुष्टात्मा नहुष बहुत प्रसन्न हुआ। कामभावनासे उसकी बुद्धि मारी गयी थी ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीकालावधियाचने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणीकी नहुषसे समययाचनासे सम्बन्ध रखनेवाला बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

नहुषका इन्द्राणीको कुछ कालकी अवधि देना, इन्द्रका ब्रह्महत्यासे उद्धार तथा शचीद्वारा रात्रिदेवीकी उपासना

शल्य उवाच

अथ तामब्रवीद् दृष्ट्वा नहुषो देवराट् तदा ।
त्रयाणामपि लोकानामहमिन्द्रः शुचिस्मिते ॥ १ ॥
भजस्व मां वरारोहे पतित्वे वरवर्णिनि ।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस समय देवराज नहुषने इन्द्राणीको देखकर कहा—'शुचिस्मिते ! मैं तीनों लोकोंका स्वामी इन्द्र हूँ। उत्तम रूप-रंगवाली सुन्दरी ! तुम मुझे अपना पति बना लो' ॥ १½ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी नहुषेण पतिव्रता ॥ २ ॥
प्रावेपत भयोद्विग्ना प्रवाते कदली यथा ।
प्रणम्य सा हि ब्रह्माणं शिरसा तु कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥
देवराजमथोवाच नहुषं घोरदर्शनम् ।
कालमिच्छाम्यहं लब्धुं त्वत्तः कंचित् सुरेश्वर ॥ ४ ॥

नहुषके ऐसा कहनेपर पतिव्रता देवी शची भयसे उद्विग्न हो तेज हवामें हिलनेवाले केलेके वृक्षकी भाँति काँपने लगीं। उन्होंने मस्तक झुकाकर ब्रह्माजीको प्रणाम किया और भयंकर दृष्टिवाले देवराज नहुषसे हाथ जोड़कर कहा—'देवेश्वर ! मैं आपसे कुछ समयकी अवधि लेना चाहती हूँ ॥ २–४ ॥

न हि विज्ञायते शक्रः किंवा प्राप्तः क वा गतः ।
तत्त्वमेतत् तु विज्ञाय यदि न ज्ञायते प्रभो ॥ ५ ॥
ततोऽहं त्वामुपस्थास्ये सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
एवमुक्तः स इन्द्राण्या नहुषः प्रीतिमानभूत् ॥ ६ ॥

'अभी यह पता नहीं है कि देवेन्द्र किस अवस्थामें पड़े हैं ? अथवा कहाँ चले गये हैं ? प्रभो ! इसका ठीक-ठीक पता लगानेपर यदि कोई बात मालूम नहीं हो सकी, तो मैं आपकी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगी। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ।' इन्द्राणीके ऐसा कहनेपर नहुषको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ५-६ ॥

नहुष उवाच

एवं भवतु सुश्रोणि यथा मामिह भाषसे ।
ज्ञात्वा चागमनं कार्यं सत्यमेतदनुस्मरेः ॥ ७ ॥

नहुष बोले—सुन्दरी ! तुम मुझसे यहाँ जैसा कह रही हो ऐसा ही हो। इसके अनुसार पता लगाकर तुम्हें मेरे पास आ जाना चाहिये; इस सत्यको सदा याद रखना ॥ ७ ॥

नहुषेण विसृष्टा च निश्चक्राम ततः शुभा ।
बृहस्पतिनिकेतं च सा जगाम यशस्विनी ॥ ८ ॥

नहुषसे बिदा लेकर शुभलक्षणा यशस्विनी शची उस स्थानसे निकली और पुनः बृहस्पतिजीके भवनमें चली गयी ॥ ८ ॥

तस्याः संश्रुत्य च वचो देवाश्चाग्निपुरोगमाः ।
चिन्तयामासुरेकाग्राः शक्रार्थं राजसत्तम ॥ ९ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इन्द्राणीकी बात सुनकर अग्नि आदि सब देवता एकाग्रचित्त होकर इन्द्रकी खोज करनेके लिये आपसमें विचार करने लगे ॥ ९ ॥

देवदेवेन सङ्गम्य विष्णुना प्रभविष्णुना ।
ऊचुश्चैनं समुद्विग्ना वाक्यं वाक्यविशारदाः ॥ १० ॥

फिर बातचीतमें कुशल देवगण सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिके कारणभूत देवाधिदेव भगवान् विष्णुसे मिले और भयसे उद्विग्न हो उनसे इस प्रकार बोले—॥ १० ॥



ब्रह्मवध्याभिभूतो वै शक्रः सुरगणेश्वरः ।
गतिश्च नस्त्वं देवेश पूर्वजो जगतः प्रभुः ॥ ११ ॥

'देवेश्वर! देवसमुदायके स्वामी इन्द्र ब्रह्महत्यासे अभिभूत होकर कहीं छिप गये हैं। भगवन्! आप ही हमारे आश्रय और सम्पूर्ण जगत्के पूर्वज तथा प्रभु हैं ॥ ११ ॥

रक्षार्थं सर्वभूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् ।
त्वद्वीर्यनिहते वृत्रे वासवो ब्रह्महत्यया ॥ १२ ॥
वृतः सुरगणश्रेष्ठ मोक्षं तस्य विनिर्दिश ।

'आपने समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये विष्णुरूप धारण किया है। यद्यपि वृत्रासुर आपकी ही शक्तिसे मारा गया है तथापि इन्द्रको ब्रह्महत्याने आक्रान्त कर लिया है। सुरगण-श्रेष्ठ! अब आप ही उनके उद्धारका उपाय बताइये' ॥ १२½ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा देवानां विष्णुरब्रवीत् ॥ १३ ॥
मामेव यजतां शक्रः पावयिष्यामि वज्रिणम् ।
पुण्येन हयमेधेन मामिष्ट्वा पाकशासनः ॥ १४ ॥
पुनरेष्यति देवानामिन्द्रत्वमकुतोभयः ।
स्वकर्मभिश्च नहुषो नाशं यास्यति दुर्मतिः ॥ १५ ॥
किंचित् कालमिदं देवा मर्षयध्वमतन्द्रिताः ।

देवताओंकी यह बात सुनकर भगवान् विष्णु बोले—'इन्द्र यज्ञोंद्वारा केवल मेरी ही आराधना करें, इससे मैं वज्रधारी इन्द्रको पवित्र कर दूँगा। पाकशासन इन्द्र पवित्र अश्वमेध यज्ञके द्वारा मेरी आराधना करके पुनः निर्भय हो देवेन्द्र-पदको प्राप्त कर लेंगे और खोटी बुद्धिवाला नहुष अपने कर्मोंसे ही नष्ट हो जायगा। देवताओ! तुम आलस्य छोड़कर कुछ कालतक और यह कष्ट सहन करो'।१३-१५½।

श्रुत्वा विष्णोः शुभां सत्यां वाणींताममृतोपमाम् ॥ १६ ॥
ततः सर्वे सुरगणाः सोपाध्यायाः सहर्षिभिः ।
यत्र शक्रो भयोद्विग्नस्तं देशमुपचक्रमुः ॥ १७ ॥

भगवान् विष्णुकी यह शुभ, सत्य तथा अमृतके समान मधुर वाणी सुनकर गुरु तथा महर्षियोंसहित सब देवता उस स्थानपर गये, जहाँ भयसे व्याकुल हुए इन्द्र छिपकर रहते थे ॥ १६-१७ ॥

तत्राश्वमेधः सुमहान् महेन्द्रस्य महात्मनः ।
ववृते पावनार्थं वै ब्रह्महत्यापहो नृप ॥ १८ ॥

नरेश्वर! वहाँ महात्मा महेन्द्रकी शुद्धिके लिये एक महान् अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान हुआ, जो ब्रह्महत्याको दूर करनेवाला था ॥ १८ ॥

विभज्य ब्रह्महत्यां तु वृक्षेषु च नदीषु च ।
पर्वतेषु पृथिव्यां च स्त्रीषु चैव युधिष्ठिर ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर! इन्द्रने वृक्ष, नदी, पर्वत, पृथ्वी और स्त्री-समुदायमें ब्रह्महत्याको बाँट दिया ॥ १९ ॥

संविभज्य च भूतेषु विसृज्य च सुरेश्वरः ।
विज्वरो धूतपाप्मा च वासवोऽभवदात्मवान् ॥ २० ॥

इस प्रकार समस्त भूतोंमें ब्रह्महत्याका विभाजन करके देवेश्वर इन्द्रने उसे त्याग दिया और स्वयं मनको वशमें करके वे निष्पाप तथा निश्चिन्त हो गये ॥ २० ॥

अकम्पन्नहुषं स्थानाद् दृष्ट्वा बलनिषूदनः ।
तेजोघ्नं सर्वभूतानां वरदानाच्च दुःसहम् ॥ २१ ॥

परंतु बल नामक दानवका नाश करनेवाले इन्द्र जब अपना स्थान ग्रहण करनेके लिये स्वर्गलोकमें आये, तब उन्होंने देखा—नहुष देवताओंके वरदानसे अपनी दृष्टि-मात्रसे समस्त प्राणियोंके तेजको नष्ट करनेमें समर्थ और दुःसह हो गया है। यह देखकर वे काँप उठे ॥ २१ ॥

ततः शचीपतिर्देवः पुनरेव व्यनश्यत ।
अदृश्यः सर्वभूतानां कालाकाङ्क्षी चचार ह ॥ २२ ॥

तदनन्तर शचीपति इन्द्रदेव पुनः सबकी आँखोंसे ओझल हो गये तथा अनुकूल समयकी प्रतीक्षा करते हुए समस्त प्राणियोंसे अदृश्य रहकर विचरने लगे ॥ २२ ॥

प्रणष्टे तु ततः शक्रे शची शोकसमन्विता ।
हा शक्रेति तदा देवी विललाप सुदुःखिता ॥ २३ ॥

इन्द्रके पुनः अदृश्य हो जानेपर शची देवी शोकमें डूब गयीं और अत्यन्त दुखी हो 'हा इन्द्र! हा इन्द्र' कहती हुई विलाप करने लगीं ॥ २३ ॥

यदि दत्तं यदि हुतं गुरवस्तोषिता यदि ।
एकभर्तृत्वमेवास्तु सत्यं यद्यस्ति वा मयि ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् वे इस प्रकार बोलीं—'यदि मैंने दान दिया हो, होम किया हो, गुरुजनोंको संतुष्ट रक्खा हो तथा मुझमें सत्य विद्यमान हो, तो मेरा पातिव्रत्य सुरक्षित रहे।२४।

पुण्यां चेमामहं दिव्यां प्रवृत्तामुत्तरायणे ।
देवीं रात्रिं नमस्यामि सिध्यतां मे मनोरथः ॥ २५ ॥

'उत्तरायणके दिन जो यह पुण्य एवं दिव्य रात्रि आ रही है, उसकी अधिष्ठात्री देवी रात्रिको मैं नमस्कार करती हूँ, मेरा मनोरथ सफल हो' ॥ २५ ॥

प्रयता च निशां देवीमुपातिष्ठत तत्र सा ।
पतिव्रतात्वात् सत्येन सोपश्रुतिमथाकरोत् ॥ २६ ॥
यत्रास्ते देवराजोऽसौ तं देशं दर्शयस्व मे ।
इत्याहोपश्रुतिं देवीं सत्यं सत्येन दृश्यते ॥ २७ ॥

ऐसा कहकर शचीने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर रात्रि देवीकी उपासना की। पतिव्रता तथा सत्यपरा-

यणा होनेके कारण उन्होंने उपश्रुति नामवाली रात्रिदेवीका आवाहन किया और उनसे कहा—'देवि ! जहाँ देवराज इन्द्र हों, वह स्थान मुझे दिखाइये । सत्यका सत्यसे ही दर्शन होता है' ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि उपश्रुतियाचने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें उपश्रुतिसे प्रार्थनाविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

उपश्रुति देवीकी सहायतासे इन्द्राणीकी इन्द्रसे भेंट

शल्य उवाच

अथैनां रूपिणी साध्वीमुपातिष्ठदुपश्रुतिः ।
तां वयोरूपसम्पन्नां दृष्ट्वा देवीमुपस्थिताम् ॥ १ ॥
इन्द्राणी सम्प्रहृष्टात्मा सम्पूज्यैनामथाब्रवीत् ।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं का त्वं ब्रूहि वरानने ॥ २ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर उपश्रुति देवी मूर्तिमती होकर साध्वी शचीदेवीके पास आयीं । नूतन वय तथा मनोहर रूपसे सुशोभित उपश्रुति देवीको उपस्थित हुई देख इन्द्राणीका मन प्रसन्न हो गया । उन्होंने उनका पूजन करके कहा—'सुमुखि ! मैं आपको जानना चाहती हूँ, बताइये, आप कौन हैं ?' ॥ १–२ ॥

उपश्रुतिरुवाच

उपश्रुतिरहं देवि तवान्तिकमुपागता ।
दर्शनं चैव सम्प्राप्ता तव सत्येन भाविनि ॥ ३ ॥

उपश्रुति बोलीं—देवि ! मैं उपश्रुति हूँ और तुम्हारे पास आयी हूँ । भामिनि ! तुम्हारे सत्यसे प्रभावित होकर मैंने तुम्हें दर्शन दिया है ॥ ३ ॥

पतिव्रता च युक्ता च यमेन नियमेन च ।
दर्शयिष्यामि ते शक्रं देवं वृत्रनिषूदनम् ॥ ४ ॥

तुम पतिव्रता होनेके साथ ही यम और नियमसे संयुक्त हो, अतः मैं तुम्हें वृत्रासुरनिषूदन इन्द्रदेवका दर्शन कराऊँगी ॥ ४ ॥

क्षिप्रमन्वेहि भद्रं ते द्रक्ष्यसे सुरसत्तमम् ।
ततस्तां प्रहितां देवीमिन्द्राणी सा समन्वगात् ॥ ५ ॥

तुम्हारा कल्याण हो । तुम शीघ्र मेरे पीछे-पीछे चली आओ । तुम्हें सुरश्रेष्ठ देवराजके दर्शन होंगे । ऐसा कहकर उपश्रुति देवी वहाँसे चल दीं; फिर इन्द्राणी भी उनके पीछे हो लीं ॥ ५ ॥

देवारण्यान्यतिक्रम्य पर्वतांश्च बहूंस्ततः ।
हिमवन्तमतिक्रम्य उत्तरं पार्श्वमागमत् ॥ ६ ॥
समुद्रं च समासाद्य बहुयोजनविस्तृतम् ।
आससाद महाद्वीपं नानाद्रुमलतावृतम् ॥ ७ ॥

देवताओंके अनेकानेक वन, बहुतसे पर्वत तथा हिमालयको लाँघकर उपश्रुति देवी उसके उत्तर भागमें जा पहुँचीं । तदनन्तर अनेक योजनोंतक फैले हुए समुद्रके पास पहुँचकर उन्होंने एक महाद्वीपमें प्रवेश किया, जो नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे सुशोभित था ॥ ६-७ ॥

तत्रापश्यत् सरो दिव्यं नानाशकुनिभिर्वृतम् ।
शतयोजनविस्तीर्णं तावदेवायतं शुभम् ॥ ८ ॥

वहाँ एक दिव्य सरोवर दिखायी दिया, जिसमें अनेक प्रकारके जल-पक्षी निवास करते थे । वह सुन्दर सरोवर सौ योजन लंबा और उतना ही चौड़ा था ॥ ८ ॥

तत्र दिव्यानि पद्मानि पञ्चवर्णानि भारत ।
षट्पदैरुपगीतानि प्रफुल्लानि सहस्रशः ॥ ९ ॥

भारत ! उसके भीतर सहस्रों कमल खिले हुए थे, जो पाँच रंगके दिखायी देते थे । उनपर मँडराते हुए भौंरे गुनगुना रहे थे ॥ ९ ॥

सरसस्तस्य मध्ये तु पद्मिनी महती शुभा ।
गौरेणोन्नतनालेन पद्मेन महता वृता ॥ १० ॥

उक्त सरोवरके मध्यभागमें एक बहुत बड़ी सुन्दर कमलिनी थी, जिसे एक ऊँची नालवाले गौर वर्णके विशाल कमलने घेर रक्खा था ॥ १० ॥

पद्मस्य भित्त्वा नालं च विवेश सहिता तया ।
बिसतन्तुप्रविष्टं च तत्रापश्यच्छतक्रतुम् ॥ ११ ॥

उपश्रुति देवीने उस कमलनालको चीरकर इन्द्राणी-सहित उस कमलके भीतर प्रवेश किया और वहीं एक तन्तुमें घुसकर छिपे हुए शतक्रतु इन्द्रको देखा ॥ ११ ॥

तं दृष्ट्वा च सुसूक्ष्मेण रूपेणावस्थितं प्रभुम् ।
सूक्ष्मरूपधरा देवी बभूवोपश्रुतिश्च सा ॥ १२ ॥

अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे अवस्थित भगवान् इन्द्रको वहाँ देखकर देवी उपश्रुति तथा इद्राणीने भी सूक्ष्म रूप धारण कर लिया ॥ १२ ॥

इन्द्रं तुष्टाव चेन्द्राणी विश्रुतैः पूर्वकर्मभिः ।
स्तूयमानस्ततो देवः शचीमाह पुरन्दरः ॥ १३ ॥

इन्द्राणीने पहलेके विख्यात कर्मोंका बखान करके इन्द्रदेवका स्तवन किया । अपनी स्तुति सुनकर इन्द्रदेवने शचीसे कहा—॥ १३ ॥



किमर्थमसि सम्प्राप्ता विज्ञातश्च कथं त्वहम् ।
ततः सा कथयामास नहुषस्य विचेष्टितम् ॥ १४ ॥

'देवि ! तुम किसलिये यहाँ आयी हो और तुम्हें कैसे मेरा पता लगा है ?' तब इन्द्राणीने नहुषकी कुचेष्टाका वर्णन किया ॥ १४ ॥

इन्द्रत्वं त्रिषु लोकेषु प्राप्य वीर्यसमन्वितः ।
दर्पाविष्टश्च दुष्टात्मा मामुवाच शतक्रतो ॥ १५ ॥
उपतिष्ठेति स क्रूरः कालं च कृतवान् मम ।
यदि न त्रास्यसि विभो करिष्यति स मां वशे ॥ १६ ॥

'शतक्रतो ! तीनों लोकोंके इन्द्रका पद पाकर नहुष बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो घमंडमें भर गया है । उस दुष्टात्माने मुझसे भी कहा है कि तू मेरी सेवामें उपस्थित हो । उस क्रूर नरेशने मेरे लिये कुछ समयकी अवधि दी है । प्रभो ! यदि आप मेरी रक्षा नहीं करेंगे तो वह पापी मुझे अपने वशमें कर लेगा ॥ १५-१६ ॥

एतेन चाहं सम्प्राप्ता द्रुतं शक्र तवान्तिकम् ।
जहि रौद्रं महाबाहो नहुषं पापनिश्चयम् ॥ १७ ॥

'महाबाहु इन्द्र ! इसी कारण मैं शीघ्रतापूर्वक आपके निकट आयी हूँ । पापपूर्ण विचार रखनेवाले उस भयानक नहुषको आप मार डालिये ॥ १७ ॥

प्रकाशयात्मनाऽऽत्मानं दैत्यदानवसूदन ।
तेजः समाप्नुहि विभो देवराज्यं प्रशाधि च ॥ १८ ॥

'दैत्यदानवसूदन प्रभो ! अब आप अपने आपको प्रकाशमें लाइये, तेज प्राप्त कीजिये और देवताओंके राज्यका शासन अपने हाथमें लीजिये' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीन्द्रस्तवे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणीद्वारा इन्द्रकी स्तुतिविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

इन्द्रकी आज्ञासे इन्द्राणीके अनुरोधपर नहुषका ऋषियोंको अपना वाहन बनाना तथा बृहस्पति और अग्निका संवाद

शल्य उवाच

एवमुक्तः स भगवाञ्छच्या तां पुनरब्रवीत् ।
विक्रमस्य न कालोऽयं नहुषो बलवत्तरः ॥ १ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! शचीदेवीके ऐसा कहनेपर भगवान् इन्द्रने पुनः उनसे कहा—'देवि ! यह पराक्रम करनेका समय नहीं है । आजकल नहुष बहुत बलवान् हो गया है ॥ १ ॥

विवर्धितश्च ऋषिभिर्हव्यकव्यैश्च भाविनि ।
नीतिमत्र विधास्यामि देवि तां कर्तुमर्हसि ॥ २ ॥

'भामिनि ! ऋषियोंने हव्य और कव्य देकर उसकी शक्तिको बहुत बढ़ा दिया है । अतः मैं यहाँ नीतिसे काम लूँगा । देवि ! तुम उसी नीतिका पालन करो ॥ २ ॥

गुह्यं चैतत् त्वया कार्यं नाख्यातव्यं शुभे क्वचित् ।
गत्वा नहुषमेकान्ते ब्रवीहि च सुमध्यमे ॥ ३ ॥
ऋषियानेन दिव्येन मामुपैहि जगत्पते ।
एवं तव वशे प्रीता भविष्यामीति तं वद ॥ ४ ॥

'शुभे ! तुम्हें गुप्तरूपसे यह कार्य करना है । कहीं (भी इसे) प्रकट न करना । सुमध्यमे ! तुम एकान्तमें नहुषके पास जाकर कहो, जगत्पते ! आप दिव्य ऋषियानपर बैठकर मेरे पास आइये । ऐसा होनेपर मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके वशमें हो जाऊँगी' ॥ ३-४ ॥

इत्युक्ता देवराजेन पत्नी सा कमलेक्षणा ।
एवमस्त्वित्यथोक्त्वा तु जगाम नहुषं प्रति ॥ ५ ॥

देवराजके इस प्रकार आदेश देनेपर उनकी कमलनयनी पत्नी शची 'एवमस्तु' कहकर नहुषके पास गयीं ॥ ५ ॥

नहुषस्तां ततो दृष्ट्वा सस्मितो वाक्यमब्रवीत्।
स्वागतं ते वरारोहे किं करोमि शुचिस्मिते ॥ ६ ॥

उन्हें देखकर नहुष मुसकराया और इस प्रकार बोला—'वरारोहे ! तुम्हारा स्वागत है। शुचिस्मिते ! कहो, तुम्हारी क्या सेवा करूँ ? ॥ ६ ॥

भक्तं मां भज कल्याणि किमिच्छसि मनस्विनि ।
तव कल्याणि यत् कार्यं तत् करिष्ये सुमध्यमे ॥ ७ ॥

'कल्याणि ! मैं तुम्हारा भक्त हूँ, मुझे स्वीकार करो। मनस्विनि ! तुम क्या चाहती हो ? सुमध्यमे ! तुम्हारा जो भी कार्य होगा, उसे मैं सिद्ध करूँगा ॥ ७ ॥

न च व्रीडा त्वया कार्या सुश्रोणि मयि विश्वसेः ।
सत्येन वै शपे देवि करिष्ये वचनं तव ॥ ८ ॥

'सुश्रोणि ! तुम्हें मुझसे लज्जा नहीं करनी चाहिये। मुझपर विश्वास करो। देवि ! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, तुम्हारी प्रत्येक आज्ञाका पालन करूँगा' ॥ ८ ॥

इन्द्राण्युवाच

यो मे कृतस्त्वया कालस्तमाकाङ्क्षे जगत्पते ।
ततस्त्वमेव भर्ता मे भविष्यसि सुराधिप ॥ ९ ॥

इन्द्राणी बोलीं—जगत्पते ! आपके साथ जो मेरी शर्त हो चुकी है, उसे मैं पूर्ण करना चाहती हूँ। सुरेश्वर ! फिर तो आप ही मेरे पति होंगे ॥ ९ ॥

कार्यं च हृदि मे यत् तद् देवराजावधारय ।
वक्ष्यामि यदि मे राजन् प्रियमेतत् करिष्यसि ॥ १० ॥
वाक्यं प्रणयसंयुक्तं ततः स्यां वशगा तव ।

देवराज ! मेरे हृदयमें एक कार्यकी अभिलाषा है, उसे बताती हूँ, सुनिये। राजन् ! यदि आप मेरे इस प्रिय कार्यको पूर्ण कर देंगे, प्रेमपूर्वक कही हुई मेरी यह बात मान लेंगे तो मैं आपके अधीन हो जाऊँगी ॥ १०½ ॥

इन्द्रस्य वाजिनो वाहा हस्तिनोऽथ रथास्तथा ॥ ११ ॥
इच्छाम्यहमथापूर्वं वाहनं ते सुराधिप ।
यन्न विष्णोर्न रुद्रस्य नासुराणां न रक्षसाम् ॥ १२ ॥

सुरेश्वर ! पहले जो इन्द्र थे, उनके वाहन हाथी, घोड़े तथा रथ आदि रहे हैं, परंतु आपका वाहन उनसे सर्वथा विलक्षण—अपूर्व हो, ऐसी मेरी इच्छा है। वह वाहन ऐसा होना चाहिये, जो भगवान् विष्णु, रुद्र, असुर तथा राक्षसोंके भी उपयोगमें न आया हो ॥ ११-१२ ॥

वहन्तु त्वां महाभागा ऋषयः संगता विभो ।
सर्वे शिबिकया राजन्नेतद्धि मम रोचते ॥ १३ ॥

प्रभो ! महाभाग सप्तर्षि एकत्र होकर शिबिकाद्वारा आपका वहन करें। राजन् ! यही मुझे अच्छा लगता है ॥

नासुरेषु न देवेषु तुल्यो भवितुमर्हसि ।
सर्वेषां तेज आदत्से स्वेन वीर्येण दर्शनात् ।
न ते प्रमुखतः स्थातुं कश्चिच्छक्नोति वीर्यवान् ॥ १४ ॥

आप अपने पराक्रमसे तथा दृष्टिपात करनेमात्रसे सबका तेज हर लेते हैं। देवताओं तथा असुरोंमें कोई भी आपकी समानता करनेवाला नहीं है। कोई कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, आपके सामने ठहर नहीं सकता है ॥ १४ ॥

शल्य उवाच

एवमुक्तस्तु नहुषः प्राहृष्यत तदा किल ।
उवाच वचनं चापि सुरेन्द्रस्तामनिन्दिताम् ॥ १५ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्राणीके ऐसा कहनेपर देवराज नहुष बड़े प्रसन्न हुए और उस सती-साध्वी देवीसे इस प्रकार बोले ॥ १५ ॥

नहुष उवाच

अपूर्वं वाहनमिदं त्वयोक्तं वरवर्णिनि ।
दृढं मे रुचितं देवि त्वद्वशोऽस्मि वरानने ॥ १६ ॥

नहुषने कहा—सुन्दरि ! तुमने तो यह अपूर्व वाहन बताया। देवि ! मुझे भी वही सवारी अधिक पसंद है। सुमुखि ! मैं तुम्हारे वशमें हूँ ॥ १६ ॥

न ह्यल्पवीर्यो भवति यो वाहान् कुरुते मुनीन् ।
अहं तपस्वी बलवान् भूतभव्यभवत्प्रभुः ॥ १७ ॥

जो ऋषियोंको भी अपना वाहन बना सके, उस पुरुषमें थोड़ी शक्ति नहीं होती है। मैं तपस्वी, बलवान् तथा भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंका स्वामी हूँ ॥ १७ ॥

मयि क्रुद्धे जगन्न स्यान्मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
देवदानवगन्धर्वाः किन्नरोरगराक्षसाः ॥ १८ ॥
न मे क्रुद्धस्य पर्याप्ताः सर्वे लोकाः शुचिस्मिते ।
चक्षुषा यं प्रपश्यामि तस्य तेजो हराम्यहम् ॥ १९ ॥

मेरे कुपित होनेपर यह संसार मिट जायगा। मुझपर ही सब कुछ टिका हुआ है। शुचिस्मिते ! यदि मैं क्रोधमें भर जाऊँ तो यह देवता, दानव, गन्धर्व, किन्नर, नाग, राक्षस और सम्पूर्ण लोक मेरा सामना नहीं कर सकते हैं। मैं अपनी आँखसे जिसको देख लेता हूँ, उसका तेज हर लेता हूँ ॥

तस्मात् ते वचनं देवि करिष्यामि न संशयः ।
सप्तर्षयो मां वक्ष्यन्ति सर्वे ब्रह्मर्षयस्तथा ।
पश्य माहात्म्ययोगं मे ऋद्धिं च वरवर्णिनि ॥ २० ॥

अतः देवि ! मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा, इसमें संशय नहीं है। सम्पूर्ण सप्तर्षि और ब्रह्मर्षि मेरी पालकी

ढोयेंगे। वरवर्णिनि ! मेरे माहात्म्य तथा समृद्धिको तुम प्रत्यक्ष देख लो ॥ २० ॥

शल्य उवाच

एवमुक्त्वा तु तां देवीं विसृज्य च वराननाम्।
विमाने योजयित्वा च ऋषीन् नियममास्थितान् ॥ २१ ॥
अब्रह्मण्यो बलोपेतो मत्तो मदबलेन च।
कामवृत्तः स दुष्टात्मा वाहयामास तानृषीन् ॥ २२ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! सुन्दर मुखवाली शची देवीसे ऐसा कहकर नहुषने उन्हें विदा कर दिया और यम-नियमका पालन करनेवाले बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंका अपमान करके अपनी पालकीमें जोत दिया। वह ब्राह्मणद्रोही नरेश बल पाकर उन्मत्त हो गया था। मद और बलसे गर्वित हो स्वेच्छाचारी दुष्टात्मा नहुषने उन महर्षियोंको अपना वाहन बनाया ॥ २१-२२ ॥

नहुषेण विसृष्टा च बृहस्पतिमथाब्रवीत्।
समयोऽल्पावशेषो मे नहुषेणेह यः कृतः ॥ २३ ॥

उधर नहुषसे विदा लेकर इन्द्राणी बृहस्पतिके यहाँ गयीं और इस प्रकार बोलीं—'देवगुरो ! नहुषने मेरे लिये जो समय निश्चित किया है, उसमें थोड़ा ही शेष रह गया है ॥

शक्रं मृगय शीघ्रं त्वं भक्तायाः कुरु मे दयाम्।
बाढमित्येव भगवान् बृहस्पतिरुवाच ताम् ॥ २४ ॥

'आप शीघ्र इन्द्रका पता लगाइये। मैं आपकी भक्त हूँ। मुझपर दया कीजिये।' तब भगवान् बृहस्पतिने 'बहुत अच्छा' कहकर उनसे इस प्रकार कहा—॥ २४ ॥

न भेतव्यं त्वया देवि नहुषाद् दुष्टचेतसः।
न ह्येष स्थास्यति चिरं गत एष नराधमः ॥ २५ ॥

'देवि ! तुम दुष्टात्मा नहुषसे डरो मत। यह नराधम अब अधिक समयतक यहाँ ठहर नहीं सकेगा। इसे गया हुआ ही समझो ॥ २५ ॥

अधर्मज्ञो महर्षीणां वाहनाच्च ततः शुभे।
इष्टिं चाहं करिष्यामि विनाशायास्य दुर्मतेः ॥ २६ ॥
शक्रं चाधिगमिष्यामि मा भैस्त्वं भद्रमस्तु ते।

'शुभे ! यह पापी धर्मको नहीं जानता। अतः महर्षियोंको अपना वाहन बनानेके कारण शीघ्र नीचे गिरेगा। इसके सिवा मैं भी इस दुर्बुद्धि नहुषके विनाशके लिये एक यज्ञ करूँगा। साथ ही इन्द्रका भी पता लगाऊँगा। तुम डरो मत। तुम्हारा कल्याण होगा' ॥ २६$\frac{1}{2}$ ॥

ततः प्रज्वाल्य विधिवज्जुहाव परमं हविः ॥ २७ ॥
बृहस्पतिर्महातेजा देवराजोपलब्धये।
हुत्वाग्निं सोऽब्रवीद् राजञ्छक्रमन्विष्यतामिति ॥ २८ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी बृहस्पतिने देवराजकी प्राप्तिके लिये विधिपूर्वक अग्निको प्रज्वलित करके उसमें उत्तम हविष्यकी आहुति दी। राजन् ! अग्निमें आहुति देकर उन्होंने अग्निदेवसे कहा—'आप इन्द्रदेवका पता लगाइये' ॥



तस्माच्च भगवान् देवः स्वयमेव हुताशनः।
स्त्रीवेषमद्भुतं कृत्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥ २९ ॥

उस हवनकुण्डसे साक्षात् भगवान् अग्निदेव प्रकट होकर अद्भुत स्त्रीवेष धारण करके वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २९ ॥

स दिशः प्रदिशश्चैव पर्वतानि वनानि च।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च विचिन्त्याथ मनोगतिः।
निमेषान्तरमात्रेण बृहस्पतिमुपागमत् ॥ ३० ॥

मनके समान तीव्र गतिवाले अग्निदेव सम्पूर्ण दिशाओं, विदिशाओं, पर्वतों और वनोंमें तथा भूतल और आकाशमें भी इन्द्रकी खोज करके पलभरमें बृहस्पतिके पास लौट आये॥

अग्निरुवाच

बृहस्पते न पश्यामि देवराजमिह क्वचित्।
आपः शेषाः सदा चापः प्रवेष्टुं नोत्सहाम्यहम् ॥ ३१ ॥

अग्निदेव बोले—बृहस्पते ! मैं देवराजको तो इस संसारमें कहीं नहीं देख रहा हूँ, केवल जल शेष रह गया है, जहाँ उनकी खोज नहीं की है। परंतु मैं कभी भी जलमें प्रवेश करनेका साहस नहीं कर सकता ॥ ३१ ॥

न मे तत्र गतिर्ब्रह्मन् किमन्यत् करवाणि ते।
तमब्रवीद् देवगुरुरपो विश महाद्युते ॥ ३२ ॥

ब्रह्मन् ! जलमें मेरी गति नहीं है। इसके सिवा तुम्हारा

दूसरा कौन कार्य मैं करूँ ? तब देवगुरुने कहा—'महाद्युते ! आप जलमें भी प्रवेश कीजिये' ॥ ३२ ॥

अग्निरुवाच

नापः प्रवेष्टुं शक्ष्यामि क्षयो मेऽत्र भविष्यति।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि स्वस्ति तेऽस्तु महाद्युते॥ ३३ ॥

अग्निदेव बोले—मैं जलमें नहीं प्रवेश कर सकूँगा; क्योंकि उसमें मेरा विनाश हो जायगा। महातेजस्वी बृहस्पते ! मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। (मुझे जलमें जानेके लिये न कहो) ॥ ३३ ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३४ ॥

जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय तथा पत्थरसे लोहेकी उत्पत्ति हुई है। इनका तेज सर्वत्र काम करता है। परंतु अपने कारणभूत पदार्थोंमें आकर बुझ जाता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बृहस्पत्यग्निसंवादे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें बृहस्पति-अग्निसंवादविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

बृहस्पतिद्वारा अग्नि और इन्द्रका स्तवन तथा बृहस्पति एवं लोकपालोंकी इन्द्रसे बातचीत

बृहस्पतिरुवाच

त्वमग्ने सर्वदेवानां मुखं त्वमसि हव्यवाट्।
त्वमन्तः सर्वभूतानां गूढश्चरसि साक्षिवत् ॥ १ ॥

बृहस्पति बोले—अग्निदेव ! आप सम्पूर्ण देवताओंके मुख हैं। आप ही देवताओंको हविष्य पहुँचानेवाले हैं। आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें साक्षीकी भाँति गूढ़भावसे विचरते हैं ॥ १ ॥

त्वामाहुरेकं कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः।
त्वया त्यक्तं जगच्चेदं सद्यो नश्येद्धुताशन ॥ २ ॥

विद्वान् पुरुष आपको एक बताते हैं। फिर वे ही आपको तीन प्रकारका कहते हैं। हुताशन ! आपके त्याग देनेपर यह सम्पूर्ण जगत् तत्काल नष्ट हो जायगा ॥ २ ॥

कृत्वा तुभ्यं नमो विप्राः स्वकर्मविजितां गतिम्।
गच्छन्ति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम्॥ ३ ॥

ब्राह्मणलोग आपकी पूजा और वन्दना करके अपनी पत्नियों तथा पुत्रोंके साथ अपने कर्मोंद्वारा प्राप्त चिरस्थायी स्वर्गीय सुख लाभ करते हैं ॥ ३ ॥

त्वमेवाग्ने हव्यवाहस्त्वमेव परमं हविः।
यजन्ति सत्रैस्त्वामेव यज्ञैश्च परमाध्वरे ॥ ४ ॥

अग्ने ! आप ही हविष्यको वहन करनेवाले देवता हैं। आप ही उत्कृष्ट हवि हैं। याज्ञिक विद्वान् पुरुष बड़े-बड़े यज्ञोंमें अवान्तर सत्रों और यज्ञोंद्वारा आपकी ही आराधना करते हैं॥

सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान् हव्यवाह
प्राप्ते काले पचसि पुनः समिद्धः।
त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूति-
स्त्वमेवाग्ने भवसि पुनः प्रतिष्ठा ॥ ५ ॥

हव्यवाहन ! आप ही सृष्टिके समय इन तीनों लोकोंको उत्पन्न करके प्रलयकाल आनेपर पुनः प्रज्वलित हो इन सबका संहार करते हैं। अग्ने ! आप ही सम्पूर्ण विश्वके उत्पत्तिस्थान हैं और आप ही पुनः इसके प्रलयकालमें आधार होते हैं ॥ ५ ॥

त्वामग्ने जलदानाहुर्विद्युतश्च मनीषिणः।
दहन्ति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हेतयः ॥ ६ ॥

अग्निदेव ! मनीषी पुरुष आपको ही मेघ और विद्युत् कहते हैं। आपसे ही ज्वालाएँ निकलकर सम्पूर्ण भूतोंको दग्ध करती हैं ॥ ६ ॥

त्वय्यापो निहिताः सर्वास्त्वयि सर्वमिदं जगत्।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित् त्रिषु लोकेषु पावक ॥ ७ ॥

पावक ! आपमें ही सारा जल संचित है। आपमें ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है। तीनों लोकोंमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो ॥ ७ ॥

स्वयोनिं भजते सर्वो विशस्वापोऽविशङ्कितः।
अहं त्वां वर्धयिष्यामि ब्राह्मैर्मन्त्रैः सनातनैः ॥ ८ ॥

समस्त पदार्थ अपने-अपने कारणमें प्रवेश करते हैं। अतः आप भी निःशङ्क होकर जलमें प्रवेश कीजिये। मैं सनातन वेदमन्त्रोंद्वारा आपको बढ़ाऊँगा ॥ ८ ॥

एवं स्तुतो हव्यवाट् स भगवान् कविरुत्तमः।
बृहस्पतिमथोवाच प्रीतिमान् वाक्यमुत्तमम्।
दर्शयिष्यामि ते शक्रं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ९ ॥

इस प्रकार स्तुति की जानेपर हविष्य वहन करनेवाले श्रेष्ठ एवं सर्वज्ञ भगवान् अग्निदेव प्रसन्न होकर बृहस्पतिसे यह उत्तम वचन बोले—'ब्रह्मन् ! मैं आपको इन्द्रका दर्शन कराऊँगा, यह मैं आपसे सत्य कह रहा हूँ' ॥ ९ ॥

शल्य उवाच

प्रविश्यापस्ततो वह्निः ससमुद्राः सपल्वलाः।
आससाद सरस्तच्च गूढो यत्र शतक्रतुः ॥ १० ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर अग्निदेवने छोटे गड्ढेसे लेकर बड़े-से-बड़े समुद्रतकके जलमें प्रवेश करके पता लगाते हुए क्रमशः उस सरोवरमें जा पहुँचे, जहाँ इन्द्र छिपे हुए थे ॥ १० ॥

अथ तत्रापि पद्मानि विचिन्वन् भरतर्षभ ।
अपश्यत् स तु देवेन्द्रं बिसमध्यगतं स्थितम् ॥११॥

भरतश्रेष्ठ ! उसमें भी कमलोंके भीतर खोज करते हुए अग्निदेवने एक कमलके नालमें बैठे हुए देवेन्द्रको देखा ॥

आगत्य च ततस्तूर्णं तमाचष्ट बृहस्पतेः ।
अणुमात्रेण वपुषा पद्मतन्त्वाश्रितं प्रभुम् ॥१२॥

वहाँसे तुरंत लौटकर अग्निदेवने बृहस्पतिको बताया कि भगवान् इन्द्र सूक्ष्म शरीर धारण करके एक कमलनाल-का आश्रय लेकर रहते हैं ॥ १२ ॥

गत्वा देवर्षिगन्धर्वैः सहितोऽथ बृहस्पतिः ।
पुराणैः कर्मभिर्देवं तुष्टाव बलसूदनम् ॥१३॥

तब बृहस्पतिजीने देवर्षियों और गन्धर्वोंके साथ वहाँ जाकर बलसूदन इन्द्रके पुरातन कर्मोंका वर्णन करते हुए उनकी स्तुति की—॥ १३ ॥

महासुरो हतः शक्र नमुचिर्दारुणस्त्वया ।
शम्बरश्च बलश्चैव तथोभौ घोरविक्रमौ ॥१४॥

'इन्द्र ! आपने अत्यन्त भयंकर नमुचिनामक महान् असुरको मार गिराया है । शम्बर और बल दोनों भयंकर पराक्रमी दानव थे; परंतु उन्हें भी आपने मार डाला ॥१४॥

शतक्रतो विवर्धस्व सर्वाञ्छत्रून् निषूदय ।
उत्तिष्ठ शक्र सम्पश्य देवर्षींश्च समागतान् ॥१५॥

'शतक्रतो ! आप अपने तेजस्वी स्वरूपसे बढ़िये और समस्त शत्रुओंका संहार कीजिये । इन्द्रदेव ! उठिये और यहाँ पधारे हुए देवर्षियोंका दर्शन कीजिये ॥ १५ ॥

महेन्द्र दानवान् हत्वा लोकास्त्रातास्त्वया विभो ।
अपां फेनं समासाद्य विष्णुतेजोऽतिबृंहितम् ।
त्वया वृत्रो हतः पूर्वं देवराज जगत्पते ॥ १६ ॥

'प्रभो महेन्द्र ! आपने कितने ही दानवोंका वध करके समस्त लोकोंकी रक्षा की है । जगदीश्वर देवराज ! भगवान् विष्णुके तेजसे अत्यन्त शक्तिशाली बने हुए समुद्रफेनको लेकर आपने पूर्वकालमें वृत्रासुरका वध किया ॥ १६ ॥

त्वं सर्वभूतेषु शरण्य ईड्य-
स्त्वया समं विद्यते नेह भूतम् ।
त्वया धार्यन्ते सर्वभूतानि शक्र
त्वं देवानां महिमानं चकर्थ ॥ १७ ॥

'आप सम्पूर्ण भूतोंमें स्तवन करने योग्य और सबके शरणदाता हैं । आपकी समानता करनेवाला जगत्में दूसरा कोई प्राणी नहीं है । शक्र ! आप ही सम्पूर्ण भूतोंको धारण करते हैं और आपने ही देवताओंकी महिमा बढ़ायी है ॥ १७ ॥

पाहि सर्वांश्च लोकांश्च महेन्द्र बलमाप्नुहि ।
एवं संस्तूयमानश्च सोऽवर्धत शनैः शनैः ॥ १८ ॥

'महेन्द्र ! आप शक्ति प्राप्त कीजिये और सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा कीजिये ।' इस प्रकार स्तुति की जानेपर देवराज इन्द्र धीरे-धीरे बढ़ने लगे ॥ १८ ॥

स्वं चैव वपुरास्थाय बभूव स बलान्वितः ।
अब्रवीच्च गुरुं देवो बृहस्पतिमवस्थितम् ॥ १९ ॥

अपने पूर्व शरीरको प्राप्त करके वे बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो गये । तत्पश्चात् इन्द्रने वहाँ खड़े हुए अपने गुरु बृहस्पति-से कहा—॥ १९ ॥

किं कार्यमवशिष्टं वो हतस्त्वाष्ट्रो महासुरः ।
वृत्रश्च सुमहाकायो यो वै लोकाननाशयत् ॥ २० ॥

'ब्रह्मन् ! त्वष्टाका पुत्र विशालकाय महासुर वृत्र, जो सम्पूर्ण लोकोंका विनाश कर रहा था, मेरेद्वारा मारा गया; अब आपलोगोंका कौन-सा बचा हुआ कार्य करूँ ?' ।२०।

बृहस्पतिरुवाच

मानुषो नहुषो राजा देवर्षिगणतेजसा ।
देवराज्यमनुप्राप्तः सर्वान् नो बाधते भृशम् ॥ २१ ॥

बृहस्पति बोले—देवेन्द्र ! मनुष्य-लोकका राजा नहुष देवर्षियोंके प्रभावसे देवताओंका राज्य पा गया है, जो हम सब लोगोंको बड़ा कष्ट दे रहा है ॥ २१ ॥

इन्द्र उवाच

कथं च नहुषो राज्यं देवानां प्राप दुर्लभम् ।
तपसा केन वा युक्तः किंवीर्यो वा बृहस्पते ॥ २२ ॥
(तत् सर्वं कथयध्वं मे यथेन्द्रत्वमुपेयिवान् ।)

इन्द्र बोले—बृहस्पते ! नहुषने देवताओंका दुर्लभ राज्य कैसे प्राप्त किया ? वह किस तपस्यासे संयुक्त है ? अथवा उसमें कितना बल और पराक्रम है ? उसे किस प्रकार इन्द्रपदकी प्राप्ति हुई है ? ये सारी बातें आप सब लोग मुझे बताइये ॥ २२ ॥

बृहस्पतिरुवाच

देवा भीताः शक्रमकामयन्त
त्वया त्यक्तं महदैन्द्रं पदं तत् ।
तदा देवाः पितरोऽथर्षयश्च
गन्धर्वमुख्याश्च समेत्य सर्वे ॥ २३ ॥

गत्वाब्रुवन् नहुषं तत्र शक्र
त्वं नो राजा भव भुवनस्य गोप्ता ।
तानब्रवीन्नहुषो नास्मि शक्त
आप्यायध्वं तपसा तेजसा माम् ॥ २४ ॥

शक्र ! आपने जब उस महान् इन्द्र-पदका परित्याग कर दिया, तब देवतालोग भयभीत होकर दूसरे किसी इन्द्रकी कामना करने लगे । तब देवता, पितर, ऋषि तथा मुख्य गन्धर्व—सब मिलकर राजा नहुषके पास गये । शक्र ! वहाँ उन्होंने नहुषसे इस प्रकार कहा—'आप हमारे राजा होइये और सम्पूर्ण विश्वकी रक्षा कीजिये ।' यह सुनकर नहुषने उनसे कहा—'मुझमें इन्द्र बननेकी शक्ति नहीं है, अतः आपलोग अपने तप और तेजसे मुझे आप्यायित (पुष्ट) कीजिये' ॥ २३-२४ ॥

एवमुक्तैर्वर्धितश्चापि देवै
राजाभवन्नहुषो घोरवीर्यः ।
त्रैलोक्ये च प्राप्य राज्यं महर्षीन्
कृत्वा वाहान् याति लोकान् दुरात्मा ॥ २५ ॥

उसके ऐसा कहनेपर देवताओंने उसे तप और तेजसे बढ़ाया । फिर भयंकर पराक्रमी राजा नहुष स्वर्गका राजा बन गया । इस प्रकार त्रिलोकीका राज्य पाकर वह दुरात्मा नहुष महर्षियोंको अपना वाहन बनाकर सब लोकोंमें घूमता है ॥ २५ ॥

तेजोहरं दृष्टिविषं सुघोरं
मा त्वं पश्येर्नहुषं वै कदाचित् ।
देवाश्च सर्वे नहुषं भृशार्ता
न पश्यन्ते गूढरूपाश्चरन्तः ॥ २६ ॥

वह देखनेमात्रसे सबका तेज हर लेता है । उसकी दृष्टिमें भयंकर विष है । वह अत्यन्त घोर स्वभावका हो गया है । तुम नहुषकी ओर कभी देखना नहीं । सब देवता भी अत्यन्त पीडित हो गूढरूपसे विचरते रहते हैं; परंतु नहुषकी ओर कभी देखते नहीं हैं ॥ २६ ॥

शल्य उवाच

एवं वदत्यङ्गिरसां वरिष्ठे
बृहस्पतौ लोकपालः कुबेरः ।
वैवस्वतश्चैव यमः पुराणो
देवश्च सोमो वरुणश्चाजगाम ॥ २७ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! अङ्गिराके पुत्रोंमें श्रेष्ठ बृहस्पति जब ऐसा कह रहे थे, उसी समय लोकपाल कुबेर, सूर्यपुत्र यम, पुरातन देवता चन्द्रमा तथा वरुण भी वहाँ आ पहुँचे ॥ २७ ॥

ते वै समागम्य महेन्द्रमूचु-
र्दिष्ट्या त्वाष्ट्रो निहतश्चैव वृत्रः ।
दिष्ट्या च त्वां कुशलिनमक्षतं च
पश्यामो वै निहतारिं च शक्र ॥ २८ ॥

वे सब देवराज इन्द्रसे मिलकर बोले—'शक्र ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपने त्वष्टाके पुत्र वृत्रासुरका वध किया । हमलोग आपको शत्रुका वध करनेके पश्चात् सकुशल और अक्षत देखते हैं, यह भी बड़े आनन्दकी बात है' ॥ २८ ॥

स तान् यथावच्च हि लोकपालान्
समेत्य वै प्रीतमना महेन्द्रः ।
उवाच चैनान् प्रतिभाष्य शक्रः
संचोदयिष्यन्नहुषस्यान्तरेण ॥ २९ ॥

उन लोकपालोंसे यथायोग्य मिलकर महेन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने उन सबको सम्बोधित करके राजा नहुषके भीतर बुद्धिभेद उत्पन्न करनेके लिये प्रेरणा देते हुए कहा—॥ २९ ॥

राजा देवानां नहुषो घोररूप-
स्तत्र साह्यं दीयतां मे भवद्भिः ।
ते चाब्रुवन् नहुषो घोररूपो
दृष्टीविषस्तस्य बिभीम ईश ॥ ३० ॥

'इन देवताओंका राजा नहुष बड़ा भयंकर हो रहा है । उसे स्वर्गसे हटानेके कार्यमें आपलोग मेरी सहायता करें ।' यह सुनकर उन्होंने उत्तर दिया—'देवेश्वर ! नहुष तो बड़ा भयंकर रूपवाला है । उसकी दृष्टिमें विष है । अतः हमलोग उससे डरते हैं ॥ ३० ॥

त्वं चेद् राजानं नहुषं पराजये-
स्ततो वयं भागमर्हाम शक्र ।
इन्द्रोऽब्रवीद् भवतु भवानपां पति-
र्यमः कुबेरश्च मयाभिषेकम् ॥ ३१ ॥
सम्प्राप्नुवन्त्वद्य सहैव दैवतै
रिपुं जयाम तं नहुषं घोरदृष्टिम् ।
ततः शक्रं ज्वलनोऽप्याह भागं
प्रयच्छ मह्यं तव साह्यं करिष्ये ।
तमाह शक्रो भवितान्ने तवापि
चेन्द्राग्न्योर्वै भाग एको महाक्रतौ ॥ ३२ ॥

'शक्र ! यदि आप हमारी सहायतासे राजा नहुषको पराजित करनेके लिये उद्यत हैं तो हम भी यज्ञमें भाग पानेके अधिकारी हों ।' इन्द्रने कहा—'वरुणदेव ! आप जलके स्वामी हों, यमराज और कुबेर भी मेरे द्वारा अपने-अपने पदपर अभिषिक्त हों । देवताओंसहित हम सब लोग भयंकर दृष्टिवाले अपने शत्रु नहुषको परास्त करेंगे ।' तब अग्निने भी इन्द्रसे कहा—'प्रभो ! मुझे भी भाग दीजिये, मैं आपकी

सहायता करूँगा ।' तब इन्द्रने उनसे कहा—'अग्निदेव ! महायज्ञमें इन्द्र और अग्निका एक सम्मिलित भाग होगा, जिसपर तुम्हारा भी अधिकार रहेगा' ॥ ३१-३२ ॥

शल्य उवाच

एवं संचिन्त्य भगवान् महेन्द्रः पाकशासनः ।
कुबेरं सर्वयक्षाणां धनानां च प्रभुं तथा ॥ ३३ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार सोच-विचारकर पाकशासन भगवान् महेन्द्रने कुबेरको सम्पूर्ण यक्षों तथा धनका अधिपति बना दिया ॥ ३३ ॥

वैवस्वतं पितृणां च वरुणं चाप्यपां तथा ।
आधिपत्यं ददौ शक्रः संचिन्त्य वरदस्तथा ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार वरदायक इन्द्रने खूब सोच-समझकर वैवस्वत यमको पितरोंका तथा वरुणको जलका स्वामित्व प्रदान किया ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रवरुणादिसंवादे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्रवरुणादिसंवादविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३४½ श्लोक हैं)

सप्तदशोऽध्यायः

अगस्त्यजीका इन्द्रसे नहुषके पतनका वृत्तान्त बताना

शल्य उवाच

अथ संचिन्तयानस्य देवराजस्य धीमतः ।
नहुषस्य वधोपायं लोकपालैः सदैवतैः ॥ १ ॥
तपस्वी तत्र भगवानगस्त्यः प्रत्यदृश्यत ।
सोऽब्रवीदर्च्य देवेन्द्रं दिष्ट्या वै वर्धते भवान् ॥ २ ॥
विश्वरूपविनाशेन वृत्रासुरवधेन च ।
दिष्ट्या च नहुषो भ्रष्टो देवराज्यात् पुरंदर ।
दिष्ट्या हतारिं पश्यामि भवन्तं बलसूदन ॥ ३ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! जिस समय बुद्धिमान् देवराज इन्द्र देवताओं तथा लोकपालोंके साथ बैठकर नहुषके वधका उपाय सोच रहे थे, उसी समय वहाँ तपस्वी भगवान् अगस्त्य दिखायी दिये । उन्होंने देवेन्द्रकी पूजा करके कहा—'सौभाग्यकी बात है कि आप विश्वरूपके विनाश तथा वृत्रासुरके वधसे निरन्तर अभ्युदयशील हो रहे हैं । बलसूदन पुरंदर ! यह भी सौभाग्यकी ही बात है कि आज नहुष देवताओंके राज्यसे भ्रष्ट हो गये । बलसूदन ! सौभाग्यसे ही मैं आपको शत्रुहीन देख रहा हूँ ॥ १-३ ॥

इन्द्र उवाच

स्वागतं ते महर्षेऽस्तु प्रीतोऽहं दर्शनात् तव ।
पाद्यमाचमनीयं च गामर्घ्यं च प्रतीच्छ मे ॥ ४ ॥

इन्द्र बोले—महर्षे ! आपका स्वागत है, आपके दर्शनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता मिली है, आपकी सेवामें यह पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तथा गौ समर्पित है । आप मेरी दी हुई ये सब वस्तुएँ ग्रहण कीजिये ॥ ४ ॥

शल्य उवाच

पूजितं चोपविष्टं तमासने मुनिसत्तमम् ।
पर्यपृच्छत देवेशः प्रहृष्टो ब्राह्मणर्षभम् ॥ ५ ॥
एतदिच्छामि भगवन् कथ्यमानं द्विजोत्तम ।
परिभ्रष्टः कथं स्वर्गान्नहुषः पापनिश्चयः ॥ ६ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य जब पूजा ग्रहण करके आसनपर विराजमान हुए, उस समय देवेश्वर इन्द्रने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन विप्रशिरोमणिसे पूछा—'भगवन् ! द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपके शब्दोंमें यह सुनना चाहता हूँ कि पापपूर्ण विचार रखनेवाला नहुष स्वर्गसे किस प्रकार भ्रष्ट हुआ है ?' ॥ ५-६ ॥

अगस्त्य उवाच

शृणु शक्र प्रियं वाक्यं यथा राजा दुरात्मवान् ।
स्वर्गाद् भ्रष्टो दुराचारो नहुषो बलदर्पितः ॥ ७ ॥

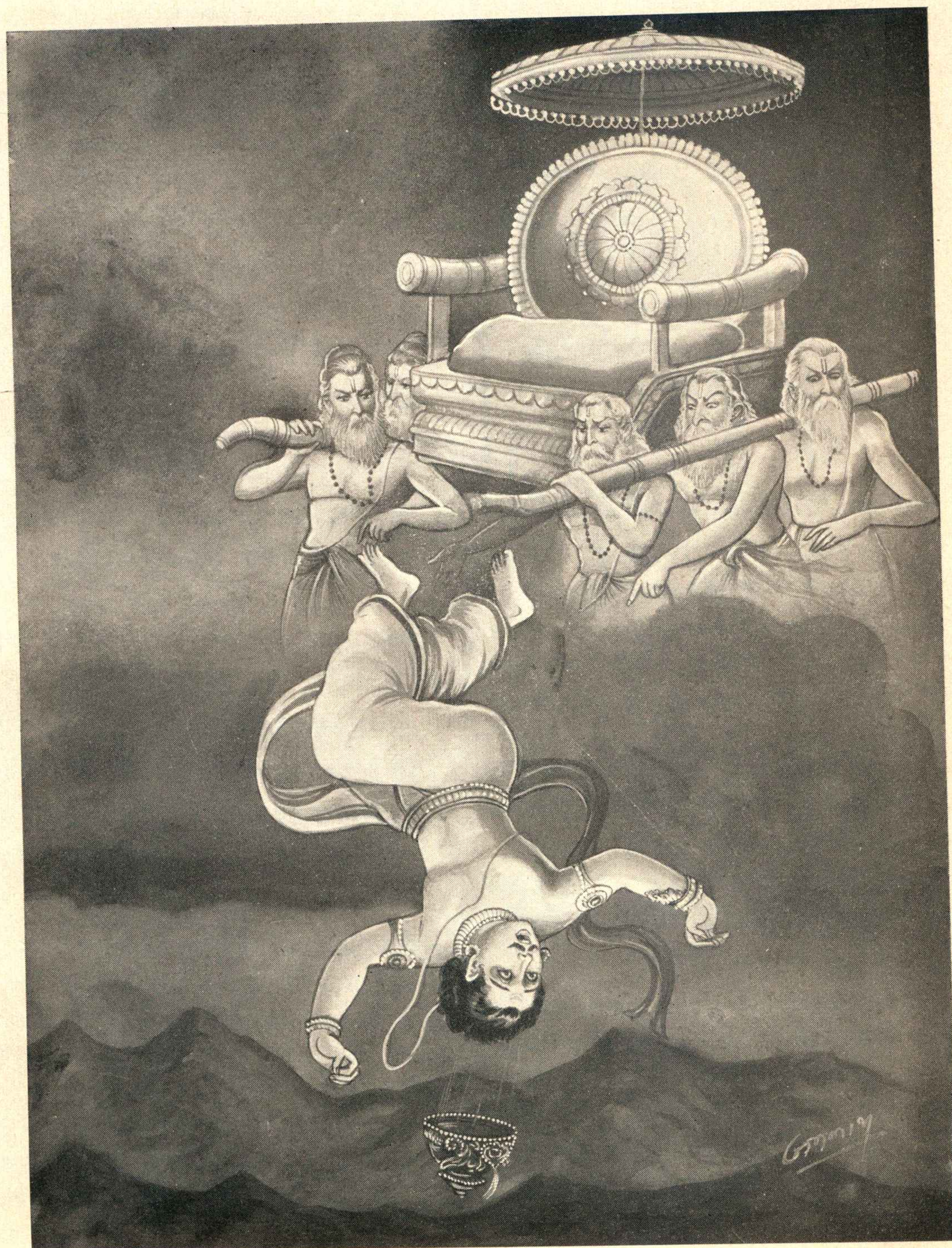
अगस्त्यजीने कहा—इन्द्र ! बलके घमंडमें भरा हुआ दुराचारी और दुरात्मा राजा नहुष जिस प्रकार स्वर्गसे भ्रष्ट हुआ है, वह प्रिय समाचार सुनो ॥ ७ ॥

श्रमार्ताश्च वहन्तस्तं नहुषं पापकारिणम् ।
देवर्षयो महाभागास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ८ ॥

महाभाग देवर्षि तथा निर्मल अन्तःकरणवाले ब्रह्मर्षि पापाचारी नहुषका बोझ ढोते-ढोते परिश्रमसे पीड़ित हो गये थे ॥ ८ ॥

पप्रच्छुर्नहुषं देव संशयं जयतां वर ।
य इमे ब्रह्मणा प्रोक्ता मन्त्रा वै प्रोक्षणे गवाम् ॥ ९ ॥
एते प्रमाणं भवत उताहो नेति वासव ।
नहुषो नेति तानाह तमसा मूढचेतनः ॥ १० ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ इन्द्र ! उस समय उन महर्षियोंने नहुषसे एक संदेह पूछा—'देवेन्द्र ! गौओंके प्रोक्षणके विषयमें जो ये मन्त्र वेदमें बताये गये हैं, इन्हें आप प्रामाणिक मानते हैं या नहीं ।' नहुषकी बुद्धि तमोमय अज्ञानके कारण



नहुषका स्वर्गसे पतन

किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही थी। उसने महर्षियोंको उत्तर देते हुए कहा—'मैं इन वेदमन्त्रोंको प्रमाण नहीं मानता'।९-१०।

ऋषय ऊचुः

अधर्मे सम्प्रवृत्तस्त्वं धर्मं न प्रतिपद्यसे।
प्रमाणमेतदस्माकं पूर्वं प्रोक्तं महर्षिभिः ॥ ११ ॥

ऋषिगण बोले—तुम अधर्ममें प्रवृत्त हो रहे हो, इसलिये धर्मका तत्त्व नहीं समझते हो। पूर्वकालमें महर्षियोंने इन सब मन्त्रोंको हमारे लिये प्रमाणभूत बताया है ॥११॥

अगस्त्य उवाच

ततो विवदमानः स मुनिभिः सह वासव।
अथ मामस्पृशन्मूर्ध्नि पादेनाधर्मपीडितः ॥ १२ ॥

अगस्त्यजी कहते हैं—इन्द्र! तब नहुष मुनियोंके साथ विवाद करने लगा और अधर्मसे पीड़ित होकर उस पापीने मेरे मस्तकपर पैरसे प्रहार किया ॥ १२ ॥

तेनाभूद्धततेजाश्च निःश्रीकश्च महीपतिः।
ततस्तं तमसाऽऽविग्नमवोचं भृशपीडितम् ॥ १३ ॥

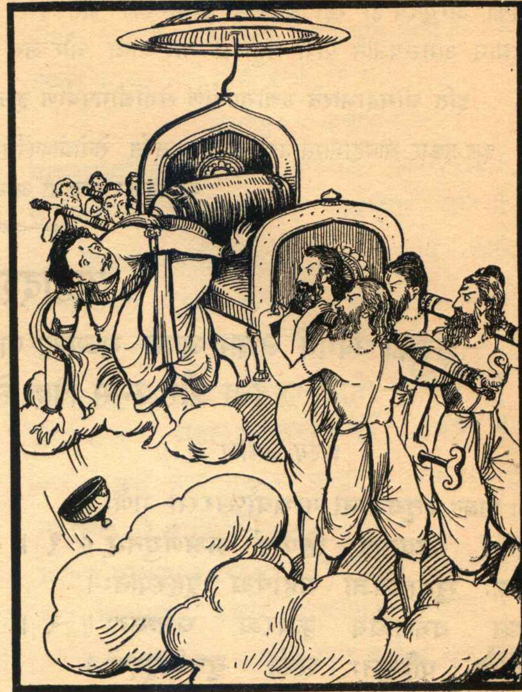
इससे उसका सारा तेज नष्ट हो गया। वह राजा श्रीहीन हो गया। तब तमोगुणमें डूबकर अत्यन्त पीड़ित हुए नहुषसे मैंने इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

यस्मात् पूर्वैः कृतं राजन् ब्रह्मर्षिभिरनुष्ठितम्।
अदुष्टं दूषयसि मे यच्च मूर्ध्न्यस्पृशः पदा ॥ १४ ॥
यच्चापि त्वमृषीन् मूढ ब्रह्मकल्पान् दुरासदान्॥ १५ ॥
वाहान् कृत्वा वाहयसि तेन स्वर्गाद्धतप्रभः।
ध्वंस पाप परिभ्रष्टः क्षीणपुण्यो महीतले ॥१६॥

'राजन्! पूर्वकालके ब्रह्मर्षियोंने जिसका अनुष्ठान किया है—जिसे प्रमाणभूत माना है, उस निर्दोष वेदमतको जो तुम सदोष बताते हो—उसे अप्रामाणिक मानते हो, इसके सिवा तुमने जो मेरे सिरपर लात मारी है तथा पापात्मा मूढ़! जो तुम ब्रह्माजीके समान दुर्धर्ष तेजस्वी ऋषियोंको वाहन बनाकर उनसे अपनी पालकी ढुलवा रहे हो, इससे तेजोहीन हो गये हो। तुम्हारा पुण्य क्षीण हो गया है। अतः स्वर्गसे भ्रष्ट होकर तुम पृथ्वीपर गिरो ॥ १४–१६ ॥

दशवर्षसहस्राणि सर्परूपधरो महान्।
विचरिष्यसि पूर्णेषु पुनः स्वर्गमवाप्स्यसि ॥१७॥

'वहाँ दस हजार वर्षोंतक तुम महान् सर्पका रूप धारण करके विचरोगे और उतने वर्ष पूर्ण हो जानेपर पुनः स्वर्ग-लोक प्राप्त कर लोगे' ॥ १७ ॥



एवं भ्रष्टो दुरात्मा स देवराज्यादरिंदम।
दिष्ट्या वर्धामहे शक्र हतो ब्राह्मणकण्टकः ॥ १८ ॥

शत्रुदमन शक्र! इस प्रकार दुरात्मा नहुष देवताओंके राज्यसे भ्रष्ट हो गया। ब्राह्मणोंका कण्टक मारा गया। सौभाग्यकी बात है कि अब हमलोगोंकी वृद्धि हो रही है ॥ १८ ॥

त्रिविष्टपं प्रपद्यस्व पाहि लोकाञ्छचीपते।
जितेन्द्रियो जितामित्रः स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ १९ ॥

शचीपते! अब आप अपनी इन्द्रियों और शत्रुओंपर विजय पा गये हैं। महर्षिगण आपकी स्तुति करते हैं, अतः आप स्वर्गलोकमें चलें और तीनों लोकोंकी रक्षा करें ॥ १९ ॥

शल्य उवाच

ततो देवा भृशं तुष्टा महर्षिगणसंवृताः।
पितरश्चैव यक्षाश्च भुजगा राक्षसास्तथा ॥ २० ॥
गन्धर्वा देवकन्याश्च सर्वे चाप्सरसां गणाः।
सरांसि सरितः शैलाः सागराश्च विशाम्पते ॥ २१ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर महर्षियोंसे घिरे हुए देवता, पितर, यक्ष, नाग, राक्षस, गन्धर्व, देवकन्याएँ तथा समस्त अप्सराएँ बहुत प्रसन्न हुईं। सरिताएँ, सरोवर, शैल और समुद्र भी बहुत संतुष्ट हुए ॥ २०-२१ ॥

उपागम्याब्रुवन् सर्वे दिष्ट्या वर्धसि शत्रुहन्।
हतश्च नहुषः पापो दिष्ट्यागस्त्येन धीमता।
दिष्ट्या पापसमाचारः कृतः सर्पो महीतले ॥ २२ ॥

वे सब लोग इन्द्रके पास आकर बोले—'शत्रुहन्!

आपका अभ्युदय हो रहा है, यह सौभाग्यकी बात है । बुद्धिमान् अगस्त्यजीने पापी नहुषको मार डाला और उस पापाचारीको पृथ्वीपर सर्प बना दिया, यह भी हमारे लिये बड़े हर्ष तथा सौभाग्यकी बात है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रागस्त्यसंवादे नहुषभ्रंशे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्र और अगस्त्यके संवादके प्रसङ्गमें नहुषके पतनसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

इन्द्रका स्वर्गमें जाकर अपने राज्यका पालन करना, शल्यका युधिष्ठिरको आश्वासन देना और उनसे विदा लेकर दुर्योधनके यहाँ जाना

शल्य उवाच

ततः शक्रः स्तूयमानो गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
ऐरावतं समारुह्य द्विपेन्द्रं लक्षणैर्युतम् ॥ १ ॥
पावकः सुमहातेजा महर्षिश्च बृहस्पतिः ।
यमश्च वरुणश्चैव कुबेरश्च धनेश्वरः ॥ २ ॥
सर्वैर्देवैः परिवृतः शक्रो वृत्रनिषूदनः ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च यातस्त्रिभुवनं प्रभुः ॥ ३ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! तत्पश्चात् वृत्रासुरको मारनेवाले भगवान् इन्द्र गन्धर्वों और अप्सराओंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए उत्तम लक्षणोंसे युक्त गजराज ऐरावतपर आरूढ़ हो महान् तेजस्वी अग्निदेव, महर्षि बृहस्पति, यम, वरुण, धनाध्यक्ष कुबेर, सम्पूर्ण देवता, गन्धर्वगण तथा अप्सराओंसे घिरकर स्वर्गलोकको चले ।१–३।

स समेत्य महेन्द्राण्या देवराजः शतक्रतुः ।
मुदा परमया युक्तः पालयामास देवराट् ॥ ४ ॥

सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्र अपनी महारानी शचीसे मिलकर अत्यन्त आनन्दित हो स्वर्गका पालन करने लगे ॥ ४ ॥

ततः स भगवांस्तत्र अङ्गिराः समदृश्यत ।
अथर्ववेदमन्त्रैश्च देवेन्द्रं समपूजयत् ॥ ५ ॥

तदनन्तर वहाँ भगवान् अङ्गिराने दर्शन दिया और अथर्ववेदके मन्त्रोंसे देवेन्द्रका पूजन किया ॥ ५ ॥

ततस्तु भगवानिन्द्रः संहृष्टः समपद्यत ।
वरं च प्रददौ तस्मै अथर्वाङ्गिरसे तदा ॥ ६ ॥

इससे भगवान् इन्द्र उनपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उस समय अथर्वाङ्गिरसको यह वर दिया—॥ ६ ॥

अथर्वाङ्गिरसो नाम वेदेऽस्मिन् वै भविष्यति ।
उदाहरणमेतद्धि यज्ञभागं च लप्स्यसे ॥ ७ ॥

'ब्रह्मन् ! आप इस अथर्ववेदमें अथर्वाङ्गिरस नामसे विख्यात होंगे और आपको यज्ञभाग भी प्राप्त होगा । इस विषयमें मेरा यह वचन ही उदाहरण (प्रमाण) होगा' ।७।

एवं सम्पूज्य भगवानथर्वाङ्गिरसं तदा ।
व्यसर्जयन्महाराज देवराजः शतक्रतुः ॥ ८ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! इस प्रकार देवराज भगवान् इन्द्रने उस समय अथर्वाङ्गिरसकी पूजा करके उन्हें विदा कर दिया ।८।

सम्पूज्य सर्वांस्त्रिदशानृषींश्चापि तपोधनान् ।
इन्द्रः प्रमुदितो राजन् धर्मेणापालयत् प्रजाः ॥ ९ ॥

राजन् ! इसके बाद सम्पूर्ण देवताओं तथा तपोधन महर्षियोंकी पूजा करके देवराज इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हो धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करने लगे ॥ ९ ॥

एवं दुःखमनुप्राप्तमिन्द्रेण सह भार्यया ।
अज्ञातवासश्च कृतः शत्रूणां वधकाङ्क्षया ॥ १० ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार पत्नीसहित इन्द्रने बारंबार दुःख उठाया और शत्रुओंके वधकी इच्छासे अज्ञातवास भी किया ॥

नात्र मन्युस्त्वया कार्यो यत् क्लिष्टोऽसि महावने ।
द्रौपद्या सह राजेन्द्र भ्रातृभिश्च महात्मभिः ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! तुमने अपने महामना भाइयों तथा द्रौपदीके साथ महान् वनमें रहकर जो क्लेश सहन किया है, उसके लिये तुम्हें अनुताप नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

एवं त्वमपि राजेन्द्र राज्यं प्राप्स्यसि भारत ।
वृत्रं हत्वा यथा प्राप्तः शक्रः कौरवनन्दन ॥ १२ ॥

भरतवंशी कुरुकुलनन्दन महाराज ! जैसे इन्द्रने वृत्रासुरको मारकर अपना राज्य प्राप्त किया था, इसी प्रकार तुम भी अपना राज्य प्राप्त करोगे ॥ १२ ॥

दुराचारश्च नहुषो ब्रह्मद्विट् पापचेतनः ।
अगस्त्यशापाभिहतो विनष्टः शाश्वतीः समाः ॥ १३ ॥
एवं तव दुरात्मानः शत्रवः शत्रुसूदन ।
क्षिप्रं नाशं गमिष्यन्ति कर्णदुर्योधनादयः ॥ १४ ॥

शत्रुसूदन ! दुराचारी, ब्राह्मणद्रोही और पापात्मा नहुष जिस प्रकार अगस्त्यके शापसे ग्रस्त होकर अनन्त वर्षोंके लिये

नष्ट हो गया, इसी प्रकार तुम्हारे दुरात्मा शत्रु कर्ण और दुर्योधन आदि शीघ्र ही विनाशके मुखमें चले जायँगे ॥ १३-१४॥

ततः सागरपर्यन्तां भोक्ष्यसे मेदिनीमिमाम्।
भ्रातृभिः सहितो वीर द्रौपद्या च सहानया ॥ १५ ॥

वीर ! तत्पश्चात् तुम अपने भाइयों तथा इस द्रौपदीके साथ समुद्रोंसे घिरे हुए इस समस्त भूमण्डलका राज्य भोगोगे॥

उपाख्यानमिदं शक्रविजयं वेदसम्मितम्।
राज्ञा व्यूढेष्वनीकेषु श्रोतव्यं जयमिच्छता ॥ १६ ॥

शत्रुओंकी सेना जब मोर्चा बाँधकर खड़ी हो, उस समय विजयकी अभिलाषा रखनेवाले राजाको यह 'इन्द्रविजय' नामक वेदतुल्य उपाख्यान अवश्य सुनना चाहिये ॥ १६ ॥

तस्मात् संश्रावयामि त्वां विजयं जयतां वर।
संस्तूयमाना वर्धन्ते महात्मानो युधिष्ठिर ॥ १७॥

अतः विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! मैंने तुम्हें यह 'इन्द्र-विजय' नामक उपाख्यान सुनाया है; क्योंकि जब महात्मा देवताओंकी स्तुति-प्रशंसा की जाती है, तब वे मानवकी उन्नति करते हैं ॥ १७ ॥

क्षत्रियाणामभावोऽयं युधिष्ठिर महात्मनाम्।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर ! दुर्योधनके अपराधसे तथा भीमसेन और अर्जुनके बलसे यह महामना क्षत्रियोंके संहारका अवसर उपस्थित हो गया है ॥ १८ ॥

आख्यानमिन्द्रविजयं य इदं नियतः पठेत्।
धूतपाप्मा जितस्वर्गः परत्रेह च मोदते ॥ १९ ॥

जो पुरुष नियमपरायण हो इस इन्द्रविजयनामक उपाख्यानका पाठ करता है, वह पापरहित हो स्वर्गपर विजय पाता तथा इहलोक और परलोकमें भी सुखी होता है ॥१९॥

न चारिजं भयं तस्य नापुत्रो वा भवेन्नरः।
नापदं प्राप्नुयात् कांचिद् दीर्घमायुश्च विन्दति।
सर्वत्र जयमाप्नोति न कदाचित् पराजयम् ॥ २० ॥

वह मनुष्य कभी संतानहीन नहीं होता, उसे शत्रुजनित भय नहीं सताता, उसपर कोई आपत्ति नहीं आती, वह दीर्घायु होता है, उसे सर्वत्र विजय प्राप्त होती है तथा कभी उसकी पराजय नहीं होती है ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितो राजा शल्येन भरतर्षभ।
पूजयामास विधिवच्छल्यं धर्मभृतां वरः ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! शल्यके इस प्रकार आश्वासन देनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने उनका विधिपूर्वक पूजन किया ॥ २१ ॥

श्रुत्वा तु शल्यवचनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
प्रत्युवाच महाबाहुर्मद्रराजमिदं वचः ॥ २२ ॥

शल्यकी बात सुनकर कुन्तीपुत्र महाबाहु युधिष्ठिर मद्रराजसे यह वचन बोले— ॥ २२ ॥

भवान् कर्णस्य सारथ्यं करिष्यति न संशयः।
तत्र तेजोवधः कार्यः कर्णस्यार्जुनसंस्तवः ॥ २३ ॥

'मामाजी ! जब अर्जुनके साथ कर्णका युद्ध होगा, उस समय आप कर्णका सारथ्य करेंगे, इसमें संशय नहीं है। उस समय आप अर्जुनकी प्रशंसा करके कर्णके तेज और उत्साहका नाश करें (यही मेरा अनुरोध है)' ॥ २३ ॥

शल्य उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा मां सम्प्रभाषसे।
यच्चान्यदपि शक्ष्यामि तत् करिष्याम्यहं तव ॥ २४ ॥

शल्य बोले--राजन् ! तुम जैसा कह रहे हो, ऐसा ही करूँगा और भी (तुम्हारे हितके लिये) जो कुछ मुझसे हो सकेगा, वह सब तुम्हारे लिये करूँगा ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्त्वामन्त्र्य कौन्तेयाञ्छल्यो मद्राधिपस्तदा।
जगाम सबलः श्रीमान् दुर्योधनमरिंदम ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन जनमेजय ! तदनन्तर समस्त कुन्तीकुमारोंसे विदा लेकर श्रीमान् मद्रराज शल्य अपनी सेनाके साथ दुर्योधनके यहाँ चले गये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि शल्यगमने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें शल्यगमनविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर और दुर्योधनके यहाँ सहायताके लिये आयी हुई सेनाओंका संक्षिप्त विवरण

वैशम्पायन उवाच

युयुधानस्ततो वीरः सात्वतानां महारथः।
महता चतुरङ्गेण बलेनागाद् युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सात्वतवंशके महारथी वीर युयुधान (सात्यकि) विशाल चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर युधिष्ठिरके पास आये ॥ १ ॥

तस्य योधा महावीर्या नानादेशसमागताः ।
नानाप्रहरणा वीराः शोभयाञ्चक्रिरे बलम् ॥ २ ॥

उनके सैनिक बड़े पराक्रमी वीर थे। विभिन्न देशोंसे उनका आगमन हुआ था। वे भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र लिये उस सेनाकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ २ ॥

परश्वधैर्भिन्दिपालैः शूलतोमरमुद्गरैः ।
परिघैर्यष्टिभिः पाशैः करवालैश्च निर्मलैः ॥ ३ ॥
खड्गकार्मुकनिर्व्यूहैः शरैश्च विविधैरपि ।
तैलधौतैः प्रकाशद्भिस्तदशोभत वै बलम् ॥ ४ ॥

फरसे, भिन्दिपाल, शूल, तोमर, मुद्गर, परिघ, यष्टि, पाश, निर्मल तलवार, खड्ग[1], धनुषसमूह तथा भाँति-भाँतिके बाण आदि अस्त्र-शस्त्र तेलमें धुले होनेके कारण चमचमा रहे थे, जिनसे वह सेना सुशोभित हो रही थी ॥ ३-४ ॥



तस्य मेघप्रकाशस्य सौवर्णैः शोभितस्य च ।
बभूव रूपं सैन्यस्य मेघस्येव सविद्युतः ॥ ५ ॥

सात्यकिकी वह सेना (हाथियोंके समूहके कारण तथा काली वर्दी पहननेसे) मेघोंके समान काली दिखायी देती थी। सैनिकोंके सुनहरे आभूषणोंसे सुशोभित हो वह ऐसी जान पड़ती थी, मानो बिजलियोंसहित मेघोंकी घटा छा रही हो ॥ ५ ॥

अक्षौहिणी तु सा सेना तदा यौधिष्ठिरं बलम् ।
प्रविश्यान्तर्दधे राजन् सागरं कुनदी यथा ॥ ६ ॥

राजन्! वह एक अक्षौहिणी सेना युधिष्ठिरकी विशाल वाहिनीमें समाकर उसी प्रकार विलीन हो गयी, जैसे कोई छोटी नदी समुद्रमें मिल गयी हो ॥ ६ ॥

तथैवाक्षौहिणीं गृह्य चेदीनामृषभो बली ।
धृष्टकेतुरुपागच्छत् पाण्डवानमितौजसः ॥ ७ ॥

इसी प्रकार महाबली चेदिराज धृष्टकेतु अपनी एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर अमित तेजस्वी पाण्डवोंके पास आये ॥ ७ ॥

मागधश्च जयत्सेनो जारासन्धिर्महाबलः ।
अक्षौहिण्यैव सैन्यस्य धर्मराजमुपागमत् ॥ ८ ॥

मागध वीर जयत्सेन और जरासंधका महाबली पुत्र सहदेव—ये दोनों एक अक्षौहिणी सेनाके साथ धर्मराज युधिष्ठिरके पास आये थे ॥ ८ ॥

तथैव पाण्ड्यो राजेन्द्र सागरानूपवासिभिः ।
वृतो बहुविधैर्योधैर्युधिष्ठिरमुपागमत् ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! इसी प्रकार समुद्रतटवर्ती जलप्राय देशके निवासी अनेक प्रकारके सैनिकोंसे घिरे हुए पाण्ड्यनरेश युधिष्ठिरके पक्षमें पधारे थे ॥ ९ ॥

तस्य सैन्यमतीवासीत् तस्मिन् बलसमागमे ।
प्रेक्षणीयतरं राजन् सुवेषं बलवत् तदा ॥ १० ॥

राजन्! उस सैन्य-समागमके समय युधिष्ठिरकी सुन्दर वेष-भूषासे विभूषित तथा प्रबल सेना, जिसकी संख्या बहुत अधिक थी, देखने ही योग्य जान पड़ती थी ॥ १० ॥

द्रुपदस्याप्यभूत् सेना नानादेशसमागतैः ।
शोभिता पुरुषैः शूरैः पुत्रैश्चास्य महारथैः ॥ ११ ॥

द्रुपदकी सेना तो वहाँ पहलेसे ही उपस्थित थी, जो विभिन्न देशोंसे आये हुए शूरवीर पुरुषों तथा द्रुपदके महारथी पुत्रोंसे सुशोभित थी ॥ ११ ॥

तथैव राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ।
पर्वतीयैर्महीपालैः सहितः पाण्डवानियात् ॥ १२ ॥

इसी प्रकार मत्स्यनरेश सेनापति विराट भी पर्वतीय राजाओंके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये प्रस्तुत थे ॥ १२ ॥

इतश्चेतश्च पाण्डूनां समाजग्मुर्महात्मनाम् ।
अक्षौहिण्यस्तु सप्तैता विविधध्वजसंकुलाः ॥ १३ ॥
युयुत्समानाः कुरुभिः पाण्डवान् समहर्षयन् ।

महात्मा पाण्डवोंके पास इधर-उधरसे सात अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं, जो नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे व्याप्त दिखायी देती थीं। ये सब सेनाएँ कौरवोंसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाती थीं ॥ १३½ ॥

तथैव धार्तराष्ट्रस्य हर्षं समभिवर्धयन् ॥ १४ ॥

[1] 'खड्ग' दुधारी तलवारको कहते हैं।

भगदत्तो महीपालः सेनामक्षौहिणीं ददौ ।
तस्य चीनैः किरातैश्च काञ्चनैरिव संवृतम् ॥ १५ ॥
बभौ बलमनाधृष्यं कर्णिकारवनं यथा ।

इसी प्रकार राजा भगदत्तने दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए उसे एक अक्षौहिणी सेना प्रदान की। सुनहरे शरीरवाले चीन और किरात देशके योद्धाओंसे भरी हुई भगदत्तकी दुर्धर्ष सेना (खिले हुए) कनेरके जंगल-सी जान पड़ती थी ॥ १४-१५½ ॥

तथा भूरिश्रवाः शूरः शल्यश्च कुरुनन्दन ॥ १६ ॥
दुर्योधनमुपायातावक्षौहिण्या पृथक् पृथक् ।

कुरुनन्दन ! इसी प्रकार शूरवीर भूरिश्रवा तथा राजा शल्य पृथक्-पृथक् एक-एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर दुर्योधनके पास आये ॥ १६½ ॥

कृतवर्मा च हार्दिक्यो भोजान्धककुकुरैः सह ॥ १७ ॥
अक्षौहिण्यैव सेनाया दुर्योधनमुपागमत् ।

हृदिकपुत्र कृतवर्मा भी भोज, अन्धक तथा कुकुरवंशी वीरोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर दुर्योधनके पास आया ॥ १७½ ॥

तस्य तैः पुरुषव्याघ्रैर्वनमालाधरैर्बलम् ॥ १८ ॥
अशोभत यथा मत्तैर्वनं प्रक्रीडितैर्गजैः ।

उन वनमालाधारी पुरुषसिंहोंसे कृतवर्माकी सेना उसी प्रकार सुशोभित हुई, जैसे क्रीडापरायण मतवाले हाथियोंसे कोई (विशाल) वन शोभा पा रहा हो ॥१८½॥

जयद्रथमुखाश्चान्ये सिन्धुसौवीरवासिनः ॥ १९ ॥
आजग्मुः पृथिवीपालाः कम्पयन्त इवाचलान् ।

जयद्रथ आदि अन्य राजा, जो सिन्धु और सौवीरदेशके निवासी थे, पर्वतोंको कँपाते हुए-से दुर्योधनके पास आये ॥

तेषामक्षौहिणी सेना बहुला विबभौ तदा ॥ २० ॥
विधूयमानो वातेन बहुरूप इवाम्बुदः ।

उनकी वह एक अक्षौहिणी विशाल सेना उस समय हवासे उड़ाये जाते हुए अनेक रूपवाले मेघके समान प्रतीत होती थी ॥ २०½ ॥

सुदक्षिणश्च काम्बोजो यवनैश्च शकैस्तथा ॥ २१ ॥
उपाजगाम कौरव्यमक्षौहिण्या विशाम्पते ।
तस्य सेनासमावायः शलभानामिवाबभौ ॥२२॥
स च सम्प्राप्य कौरव्यं तत्रैवान्तर्दधे तदा ।

राजन् ! कम्बोजनरेश सुदक्षिण भी यवनों और शकोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लिये दुर्योधनके पास आया। उसका सैन्य-समूह टिड्डियोंके दल-सा जान पड़ता था ॥ वह सारा सैन्य-समुदाय कौरव-सेनामें आकर विलीन हो गया ॥

तथा माहिष्मतीवासी नीलो नीलायुधैः सह ॥ २३ ॥
महीपालो महावीर्यैर्दक्षिणापथवासिभिः ।

इसी प्रकार माहिष्मती पुरीके निवासी राजा नील भी दक्षिण देशके रहनेवाले श्यामवर्णके शस्त्रधारी महापराक्रमी सैनिकोंके साथ दुर्योधनके पक्षमें आये ॥ २३½ ॥

आवन्त्यौ च महीपालौ महाबलसुसंवृतौ ॥ २४ ॥
अक्षौहिण्या च कौरव्यं दुर्योधनमुपागतौ ।

अवन्तीदेशके दोनों राजा विन्द और अनुविन्द भी पृथक्-पृथक् एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे हुए दुर्योधनके पास आये ॥ २४½ ॥

केकयाश्च नरव्याघ्राः सोदर्याः पञ्च पार्थिवाः ॥ २५ ॥
संहर्षयन्तः कौरव्यमक्षौहिण्या समाद्रवन् ।

केकयदेशके पुरुषसिंह पाँच नरेश, जो परस्पर सगे भाई थे, दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए एक अक्षौहिणी सेनाके साथ आ पहुँचे ॥ २५½ ॥

ततस्ततस्तु सर्वेषां भूमिपानां महात्मनाम् ॥ २६ ॥
तिस्रोऽन्याः समवर्तन्त वाहिन्यो भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर इधर-उधरसे समस्त महामना नरेशोंकी तीन अक्षौहिणी सेनाएँ और आ पहुँचीं ॥ २६½ ॥

एवमेकादशावृत्ताः सेना दुर्योधनस्य ताः ॥ २७ ॥
युयुत्समानाः कौन्तेयान् नानाध्वजसमाकुलाः ।

इस प्रकार दुर्योधनके पास सब मिलाकर ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयीं, जो भाँति-भाँतिकी ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित थीं और कुन्तीकुमारोंसे युद्ध करनेका उत्साह रखती थीं ॥ २७½ ॥

न हास्तिनपुरे राजन्नवकाशोऽभवत् तदा ॥ २८ ॥
राज्ञां स्वबलमुख्यानां प्राधान्येनापि भारत ।

राजन् ! दुर्योधनकी अपनी सेनाके जो प्रधान-प्रधान राजा थे, उनके भी ठहरनेके लिये हस्तिनापुरमें स्थान नहीं रह गया था ॥ २८½ ॥

ततः पञ्चनदं चैव कृत्स्नं च कुरुजाङ्गलम् ॥ २९ ॥
तथा रोहितकारण्यं मरुभूमिश्च केवला ।
अहिच्छत्रं कालकूटं गङ्गाकूलं च भारत ॥ ३० ॥
वारणं वाटधानं च यामुनश्चैव पर्वतः ।
एष देशः सुविस्तीर्णः प्रभूतधनधान्यवान् ॥ ३१ ॥

इसलिये भारत ! पञ्चनद प्रदेश, सम्पूर्ण कुरुजाङ्गल देश, रोहितकवन (रोहतक), समस्त मरुभूमि, अहिच्छत्र, कालकूट, गङ्गातट, वारण, वाटधान तथा यामुनपर्वत—यह प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न सुविस्तृत प्रदेश कौरवोंकी सेनासे भलीभाँति घिर गया ॥

बभूव कौरवेयाणां बलेनातीव संवृतः ।

तत्र सैन्यं तथा युक्तं ददर्श स पुरोहितः ॥ ३२ ॥
यः स पाञ्चालराजेन प्रेषितः कौरवान् प्रति ॥ ३३ ॥

पाञ्चालराज द्रुपदने अपने जिन पुरोहित ब्राह्मणको कौरवोंके पास भेजा था, उन्होंने वहाँ पहुँचकर उस विशाल सेनाके जमावको देखा ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितसैन्यदर्शने एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहितके द्वारा सैन्यदर्शनविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(संजययानपर्व)

विंशोऽध्यायः

द्रुपदके पुरोहितका कौरवसभामें भाषण

वैशम्पायन उवाच

स च कौरव्यमासाद्य द्रुपदस्य पुरोहितः ।
सत्कृतो धृतराष्ट्रेण भीष्मेण विदुरेण च ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर द्रुपदके पुरोहित कौरवनरेशके पास पहुँचकर राजा धृतराष्ट्र, भीष्म तथा विदुरजीद्वारा सम्मानित हुए ॥ १ ॥

सर्वं कौशल्यमुक्त्वाऽऽदौ पृष्ट्वा चैवमनामयम् ।
सर्वसेनाप्रणेतॄणां मध्ये वाक्यमुवाच ह ॥ २ ॥

उन्होंने पहले (अपने पक्षके लोगोंका) सारा कुशल-समाचार बताकर धृतराष्ट्र आदिके स्वास्थ्यका समाचार पूछा, फिर सम्पूर्ण सेनानायकोंके समक्ष इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

सर्वैर्भवद्भिर्विदितो राजधर्मः सनातनः ।
वाक्योपादानहेतोस्तु वक्ष्यामि विदिते सति ॥ ३ ॥

'आप सब लोग सनातन राजधर्मको अच्छी तरह जानते हैं । जाननेपर भी स्वयं इसलिये कुछ कह रहा हूँ कि अन्तमें कुछ आपलोगोंके मुखसे भी सुननेका अवसर मिले ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च सुतावेकस्य विश्रुतौ ।
तयोः समानं द्रविणं पैतृकं नात्र संशयः ॥ ४ ॥
धृतराष्ट्रस्य ये पुत्राः प्राप्तं तैः पैतृकं वसु ।
पाण्डुपुत्राः कथं नाम न प्राप्ताः पैतृकं वसु ॥ ५ ॥

'राजा धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दोनों एक ही पिताके सुविख्यात पुत्र हैं । पैतृक सम्पत्तिमें दोनोंका समान अधिकार है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है । धृतराष्ट्रके जो पुत्र हैं, उन्होंने तो पैतृक धन प्राप्त कर लिया, परंतु पाण्डवोंको वह पैतृक सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो ? ॥ ४-५ ॥

एवंगते पाण्डवेयैर्विदितं वः पुरा यथा ।
न प्राप्तं पैतृकं द्रव्यं धृतराष्ट्रेण संवृतम् ॥ ६ ॥

'धृतराष्ट्रने सारा धन अपने अधिकारमें कर लिया; इसलिये पाण्डुपुत्रोंको पैतृक धन नहीं मिला है, यह बात आपलोग पहलेसे ही जानते हैं ॥ ६ ॥

प्राणान्तिकैरप्युपायैः प्रयतद्भिरनेकशः ।
शेषवन्तो न शकिता नेतुं वै यमसादनम् ॥ ७ ॥

'उसके बाद दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र-पुत्रोंने प्राणान्तकारी उपायोंद्वारा अनेक बार पाण्डवोंको नष्ट करनेका प्रयत्न किया; परंतु इनकी आयु शेष थी, इसलिये वे इन्हें यमलोक न पहुँचा सके ॥ ७ ॥

पुनश्च वर्धितं राज्यं स्वबलेन महात्मभिः ।
छद्मनापहृतं क्षुद्रैर्धार्तराष्ट्रैः ससौबलैः ॥ ८ ॥

'फिर महात्मा पाण्डवोंने अपने बाहुबलसे नूतन राज्यकी प्रतिष्ठा करके उसे बढ़ा लिया; परंतु शकुनिसहित क्षुद्र धृतराष्ट्रपुत्रोंने जूएमें छल-कपटका आश्रय ले उसका हरण कर लिया ॥ ८ ॥

तदप्यनुमतं कर्म यथायुक्तमनेन वै ।
वासिताश्च महारण्ये वर्षाणीह त्रयोदश ॥ ९ ॥

'तत्पश्चात् धृतराष्ट्रने भी उस द्यूतकर्मका अनुमोदन किया और उन्होंने जैसा आदेश दिया, उसके अनुसार पाण्डव महान् वनमें तेरह वर्षोंतक* निवास करनेके लिये विवश हुए ॥ ९ ॥

सभायां क्लेशितैर्वीरैः सहभार्यैस्तथा भृशम् ।
अरण्ये विविधाः क्लेशाः सम्प्राप्तास्तैः सुदारुणाः ॥ १० ॥

'पत्नीसहित वीर पाण्डवोंको कौरव-सभामें भारी क्लेश पहुँचाया गया तथा वनमें भी उन्हें नाना प्रकारके भयंकर कष्ट भोगने पड़े ॥ १० ॥

तथा विराटनगरे योन्यन्तरगतैरिव ।
प्राप्तः परमसंक्लेशो यथा पापैर्महात्मभिः ॥ ११ ॥

'इतना ही नहीं, दूसरी योनिमें पड़े हुए पापियोंकी तरह विराटनगरमें भी इन महात्माओंको महान् क्लेश सहन करना पड़ा है ॥ ११ ॥

* बारह वर्षका वनवास एवं एक वर्षका अज्ञातवास दोनों मिलाकर तेरह वर्ष समझने चाहिये ।

ते सर्वं पृष्ठतः कृत्वा तत् सर्वं पूर्वकिल्बिषम् ।
सामैव कुरुभिः सार्धमिच्छन्ति कुरुपुङ्गवाः ॥ १२ ॥

'पहलेके किये हुए इन सब अत्याचारोंको भुलाकर वे कुरुश्रेष्ठ पाण्डव अब भी इन कौरवोंके साथ मेल-जोल ही रखना चाहते हैं ॥ १२ ॥

तेषां च वृत्तमाज्ञाय वृत्तं दुर्योधनस्य च ।
अनुनेतुमिहार्हन्ति धार्तराष्ट्रं सुहृज्जनाः ॥ १३ ॥

'पाण्डवोंके आचार-व्यवहारको तथा दुर्योधनके बर्तावको जानकर (उभयपक्षका हित चाहनेवाले) सुहृदोंका यह कर्तव्य है कि वे दुर्योधनको समझावें ॥ १३ ॥

न हि ते विग्रहं वीराः कुर्वन्ति कुरुभिः सह ।
अविनाशेन लोकस्य काङ्क्षन्ते पाण्डवाः स्वकम् ॥ १४ ॥

'वीर पाण्डव कौरवोंके साथ युद्ध नहीं कर रहे हैं, वे जनसंहार किये बिना ही अपना राज्य पाना चाहते हैं ॥ १४॥

यश्चापि धार्तराष्ट्रस्य हेतुः स्याद् विग्रहं प्रति ।
स च हेतुर्न मन्तव्यो बलीयांसस्तथा हि ते ॥ १५ ॥

'दुर्योधन जिस हेतुको सामने रखकर युद्धके लिये उत्सुक है, उसे यथार्थ नहीं मानना चाहिये; क्योंकि पाण्डव इन कौरवोंसे अधिक बलिष्ठ हैं ॥ १५ ॥

अक्षौहिण्यश्च सप्तैव धर्मपुत्रस्य संगताः ।
युयुत्समानाः कुरुभिः प्रतीक्षन्तेऽस्य शासनम् ॥ १६ ॥

'धर्मपुत्र युधिष्ठिरके पास सात अक्षौहिणी सेनाएँ भी एकत्र हो गयी हैं, जो कौरवोंके साथ युद्धकी अभिलाषा रखकर उनके आदेशभरकी प्रतीक्षा कर रही हैं ॥ १६ ॥

अपरे पुरुषव्याघ्राः सहस्राक्षौहिणीसमाः ।
सात्यकिर्भीमसेनश्च यमौ च सुमहाबलौ ॥ १७ ॥

'इसके सिवा सात्यकि, भीमसेन तथा महाबली नकुल-सहदेव आदि जो दूसरे पुरुषसिंह वीर हैं, वे अकेले हजार अक्षौहिणी सेनाओंके समान हैं ॥ १७ ॥

एकादशैताः पृतना एकतश्च समागताः ।
एकतश्च महाबाहुर्बहुरूपी धनंजयः ॥ १८ ॥

'ये कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एक ओरसे आवें और दूसरी ओर केवल अनेक रूपधारी[1] महाबाहु अर्जुन हों, तो वे अकेले ही इन सबके लिये पर्याप्त हैं ॥ १८ ॥

यथा किरीटी सर्वाभ्यः सेनाभ्यो व्यतिरिच्यते ।
एवमेव महाबाहुर्वासुदेवो महाद्युतिः ॥ १९ ॥

'जैसे किरीटधारी अर्जुन अकेले ही इन सब सेनाओंसे बढ़कर हैं, उसी प्रकार महातेजस्वी महाबाहु श्रीकृष्ण भी हैं ॥ १९ ॥

बहुलत्वं च सेनानां विक्रमं च किरीटिनः ।
बुद्धिमत्त्वं च कृष्णस्य बुद्ध्वा युध्येत को नरः ॥ २० ॥

'युधिष्ठिरकी सेनाओंके बाहुल्य, किरीटधारी अर्जुनके पराक्रम तथा भगवान् श्रीकृष्णकी बुद्धिमत्ताको जान लेनेपर कौन मनुष्य पाण्डवोंके साथ युद्ध कर सकता है ? ॥ २० ॥

ते भवन्तो यथाधर्मं यथासमयमेव च ।
प्रयच्छन्तु प्रदातव्यं मा वः कालोऽत्यगादयम् ॥ २१ ॥

'अतः आपलोग अपने धर्म और पहले की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार पाण्डवोंको उनका आधा राज्य, जो उन्हें मिलना ही चाहिये, दे दीजिये । कहीं ऐसा न हो कि यह सुन्दर अवसर आपलोगोंके हाथसे निकल जाय' ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि पुरोहितयाने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें पुरोहितकी यात्राविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा द्रुपदके पुरोहितकी बातका समर्थन करते हुए अर्जुनकी प्रशंसा करना, इसके विरुद्ध कर्णके आक्षेपपूर्ण वचन तथा धृतराष्ट्रद्वारा भीष्मकी बातका समर्थन करते हुए दूतको सम्मानित करके विदा करना

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा प्रज्ञावृद्धो महाद्युतिः ।
सम्पूज्यैनं यथाकालं भीष्मो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पुरोहितकी

---

१. यहाँ अनेक रूपधारी शब्दका यह तात्पर्य है कि अर्जुन इतने वेगसे युद्ध करते थे कि वे रणभूमिमें अनेक-से दिखायी देते थे। द्रोणपर्वके ८९वें अध्यायमें युद्धके प्रसंगमें ऐसा वर्णन भी मिलता है—

अयं पार्थः कुतः पार्थ एष पार्थ इति प्रभो । तव सैन्येषु योधानां पार्थभूतमिवाभवत् ॥
अन्योन्यमपि चाजघ्नुरात्मानमपि चापरे । पार्थभूतममन्यन्त जगत् कालेन मोहिताः ॥

महाराज ! आपके सैनिकोंको सब ओर अर्जुन-ही-अर्जुन दिखायी देते थे । वे बार-बार 'अर्जुन यह है, अर्जुन कहाँ है ? अर्जुन वह खड़ा है' इस प्रकार चिल्ला उठते थे । इस भ्रममें पड़कर उनमेंसे कोई-कोई तो आपसमें और कोई अपनेपर ही प्रहार कर बैठते थे । उस समय कालके वशीभूत हो वे सारे संसारको अर्जुनमय ही देखने लगे थे ।

यह बात सुनकर बुद्धिमें बढ़े-चढ़े महातेजस्वी भीष्मने समय-के अनुरूप उनकी पूजा करके इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

दिष्ट्या कुशलिनः सर्वे सह दामोदरेण ते ।
दिष्ट्या सहायवन्तश्च दिष्ट्या धर्मे च ते रताः ॥ २ ॥

'ब्रह्मन् ! सब पाण्डव भगवान् श्रीकृष्णके साथ सकुशल हैं, यह सौभाग्यकी बात है । उनके बहुतसे सहायक हैं और वे धर्ममें भी तत्पर हैं, यह और भी सौभाग्य तथा हर्षका विषय है ॥ २ ॥

दिष्ट्या च संधिकामास्ते भ्रातरः कुरुनन्दनाः ।
दिष्ट्या न युद्धमनसः पाण्डवाः सह बान्धवैः ॥ ३ ॥

'कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले पाँचों भाई पाण्डव सन्धिकी इच्छा रखते हैं, यह सौभाग्यका विषय है । वे अपने बन्धु-बान्धवोंकेसाथ युद्धमें मन नहीं लगा रहे हैं, यह भी सौभाग्यकी बात है ॥ ३ ॥

भवता सत्यमुक्तं तु सर्वमेतन्न संशयः ।
अतितीक्ष्णं तु ते वाक्यं ब्राह्मण्यादिति मे मतिः ॥ ४ ॥

'आपने जितनी बातें कही हैं, वे सब सत्य हैं; इसमें संशय नहीं है । परंतु आपकी बातें बड़ी तीखी हैं । यह तीक्ष्णता ब्राह्मण-स्वभावके कारण ही है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

असंशयं क्लेशितास्ते वने चेह च पाण्डवाः ।
प्राप्ताश्च धर्मतः सर्वे पितुर्धनमसंशयम् ॥ ५ ॥

'निःसंदेह पाण्डवोंको वनमें और यहाँ भी कष्ट उठाना पड़ा है । उन्हें धर्मतः अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति पानेका अधिकार प्राप्त हो चुका है; इसमें भी कोई संशय नहीं है ।५।

किरीटी बलवान् पार्थः कृतास्त्रश्च महारथः ।
को हि पाण्डुसुतं युद्धे विषहेत धनंजयम् ॥ ६ ॥

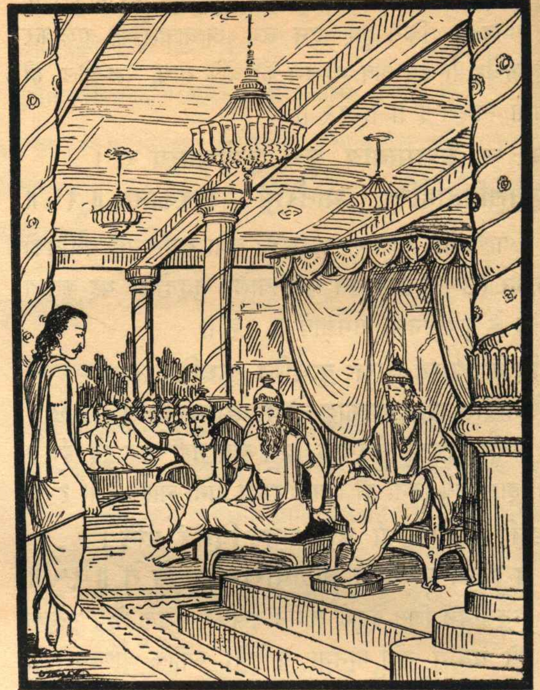
'कुन्तीपुत्र किरीटधारी महारथी अर्जुन बलवान् तथा अस्त्रविद्यामें निपुण हैं । कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें पाण्डुपुत्र अर्जुनका वेग सह सके ? ॥ ६ ॥

अपि वज्रधरः साक्षात् किमुतान्ये धनुर्भृतः ।
त्रयाणामपि लोकानां समर्थ इति मे मतिः ॥ ७ ॥

'साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी युद्धमें उनका सामना नहीं कर सकते; फिर दूसरे धनुर्धरोंकी बात ही क्या है ? मेरा तो ऐसा विश्वास है कि अर्जुन तीनों लोकोंका सामना करनेमें समर्थ हैं' ॥ ७ ॥

भीष्मे ब्रुवति तद् वाक्यं धृष्टमाक्षिप्य मन्युना ।
दुर्योधनं समालोक्य कर्णो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

भीष्मजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि कर्णने दुर्योधन-की ओर देखकर क्रोधसे धृष्टतापूर्वक आक्षेप करते हुए (भीष्मजीके कथनकी अवहेलना करके) यह बात कही—॥ ८ ॥



न तत्राविदितं ब्रह्मँल्लोके भूतेन केनचित् ।
पुनरुक्तेन किं तेन भाषितेन पुनः पुनः ॥ ९ ॥

'ब्रह्मन् ! इस लोकमें जो घटना बीत चुकी है, वह किसीको अज्ञात नहीं है, उसको दोहरानेसे या बारंबार उस-पर भाषण देनेसे क्या लाभ है ? ॥ ९ ॥

दुर्योधनार्थे शकुनिर्द्यूते निर्जितवान् पुरा ।
समयेन गतोऽरण्यं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

'पहलेकी बात है, शकुनिने दुर्योधनके लिये पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको द्यूत-क्रीडामें परास्त किया था और वे उस जूएकी शर्तके अनुसार वनमें गये थे ॥ १० ॥

स तं समयमाश्रित्य राज्यं नेच्छति पैतृकम् ।
बलमाश्रित्य मत्स्यानां पञ्चालानां च मूर्खवत् ॥ ११ ॥

'युधिष्ठिर उस शर्तका पालन करके अपना पैतृक राज्य चाहते हों, ऐसी बात नहीं है । वे तो मूर्खोंकी भाँति मत्स्य और पाञ्चाल देशकी सेनाके भरोसे राज्य लेना चाहते हैं ॥ ११ ॥

दुर्योधनो भयाद् विद्वन् न दद्यात् पादमन्ततः ।
धर्मतस्तु महीं कृत्स्नां प्रदद्याच्छत्रवेऽपि च ॥ १२ ॥

'विद्वन् ! दुर्योधन किसीके भयसे अपने राज्यका आधा कौन कहे चौथाई भाग भी नहीं देंगे; परंतु धर्मानुसार तो वे शत्रुको भी समूची पृथ्वीतक दे सकते हैं ॥ १२ ॥

यदि काङ्क्षन्ति ते राज्यं पितृपैतामहं पुनः।
यथाप्रतिज्ञं कालं तं चरन्तु वनमाश्रिताः ॥ १३ ॥

'यदि पाण्डव अपने बाप-दादोंका राज्य लेना चाहते हैं तो पूर्व-प्रतिज्ञाके अनुसार उतने समयतक पुनः वनमें निवास करें ॥ १३ ॥

ततो दुर्योधनस्याङ्के वर्तन्तामकुतोभयाः।
अधार्मिकीं तु मा बुद्धिं मौर्ख्यात् कुर्वन्तु केवलात् ॥ १४॥

'तत्पश्चात् वे दुर्योधनके आश्रयमें निर्भय होकर रह सकते हैं। केवल मूर्खतावश वे अपनी बुद्धिको अधर्मपरायण न बनावें। १४।

अथ ते धर्ममुत्सृज्य युद्धमिच्छन्ति पाण्डवाः।
आसाद्येमान् कुरुश्रेष्ठान् स्मरिष्यन्ति वचो मम ॥ १५ ॥

'यदि पाण्डव धर्मको त्यागकर युद्ध ही करना चाहते हैं तो इन कुरुश्रेष्ठ वीरोंसे भिड़नेपर मेरी बात याद करेंगे' ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच

किं नु राधेय वाचा ते कर्म तत् स्मर्तुमर्हसि।
एक एव यदा पार्थः षड्‌रथाञ्जितवान् युधि ॥ १६ ॥

भीष्मजी बोले—राधानन्दन ! तू जो इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें बनाता है, इससे क्या होगा ? तुझे पार्थका वह पराक्रम याद करना चाहिये, जब कि विराटनगरके युद्धमें उन्होंने अकेले ही सम्पूर्ण सेनासहित छः अतिरथियोंको जीत लिया था ॥ १६ ॥

बहुशो जीयमानस्य कर्म दृष्टं तदैव ते।
न चेदेवं करिष्यामो यदयं ब्राह्मणोऽब्रवीत्।
ध्रुवं युधि हतास्तेन भक्षयिष्याम पांसुकान् ॥ १७ ॥

तेरा पराक्रम तो उसी समय देखा गया था, जब कि अनेक बार उनके सामने जाकर तुझे परास्त होना पड़ा। इन ब्राह्मणदेवताने जो कुछ कहा है, यदि हमलोग तदनुसार कार्य नहीं करेंगे तो यह निश्चय है कि युद्धमें पाण्डुनन्दन अर्जुनके हाथसे आहत होकर हमें धूल खानी पड़ेगी ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्ततो भीष्ममनुमान्य प्रसाद्य च।
अवभर्त्स्य च राधेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रने कर्णको डाँटकर भीष्मजीका सम्मान किया और उन्हें राजी करके इस प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

अस्मद्धितं वाक्यमिदं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत्।
पाण्डवानां हितं चैव सर्वस्य जगतस्तथा ॥ १९ ॥

'शान्तनुनन्दन भीष्मने हमारे लिये यह हितकर बात कही है। इसमें पाण्डवोंका तथा सम्पूर्ण जगत्का भी हित है ॥ १९ ॥

चिन्तयित्वा तु पार्थेभ्यः प्रेषयिष्यामि संजयम्।
स भवान् प्रति यात्वद्य पाण्डवानेव मा चिरम् ॥ २० ॥

'ब्रह्मन् ! अब मैं कुछ सोच-विचारकर पाण्डवोंके पास संजयको भेजूँगा। आप पुनः पाण्डवोंके पास ही पधारें, विलम्ब न करें' ॥ २० ॥

स तं सत्कृत्य कौरव्यः प्रेषयामास पाण्डवान्।
सभामध्ये समाहूय संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २१ ॥

तदनन्तर राजा धृतराष्ट्रने उन ब्राह्मणका सत्कार करके उन्हें पाण्डवोंके पास वापस भेजा और सभामें संजयको बुलाकर यह बात कही ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि पुरोहितयाने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें पुरोहितकी यात्राविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका संजयसे पाण्डवोंके प्रभाव और प्रतिभाका वर्णन करते हुए उसे संदेश देकर पाण्डवोंके पास भेजना

धृतराष्ट्र उवाच

प्राप्तानाहुः संजय पाण्डुपुत्रा-
नुपप्लव्ये तान् विजानीहि गत्वा।
अजातशत्रुं च सभाजयेथा
दिष्ट्याऽऽनद्य स्थानमुपस्थितस्त्वम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! लोग कहते हैं कि पाण्डव उपप्लव्य नामक स्थानमें आ गये हैं। तुम वहाँ जाकर उनका समाचार जानो। अजातशत्रु युधिष्ठिरसे आदरपूर्वक मिलकर कहना, सौभाग्यकी बात है कि आप सन्नद्ध होकर अपने योग्य स्थानपर आ पहुँचे हैं ॥ १ ॥

सर्वान् वदेः संजय स्वस्तिमन्तः
कृच्छ्रं वासमतदर्हान् निरुष्य।
तेषां शान्तिर्विद्यतेऽस्माशु शीघ्रं
मिथ्यापेतानामुपकारिणां सताम् ॥ २ ॥

संजय ! सब पाण्डवोंसे कहना कि हमलोग सकुशल हैं। पाण्डवलोग मिथ्यासे दूर रहनेवाले, परोपकारी तथा साधुपुरुष हैं। वे वनवासका कष्ट भोगनेयोग्य नहीं थे, तो भी उन्होंने वनवासका नियम पूरा कर लिया है। इतनेपर भी हमारे ऊपर उनका क्रोध शीघ्र ही शान्त हो गया है ॥ २ ॥

नाहं क्वचित् संजय पाण्डवानां
मिथ्यावृत्तिं काञ्चन जात्वपश्यम्।
सर्वां श्रियं ह्यात्मवीर्येण लब्धां
पर्याकार्षुः पाण्डवा मह्यमेव ॥ ३ ॥

संजय ! मैंने कभी कहीं पाण्डवोंमें थोड़ी-सी भी मिथ्या वृत्ति नहीं देखी है। पाण्डवोंने अपने पराक्रमसे प्राप्त हुई सारी सम्पत्ति मेरे ही अधीन कर दी थी ॥ ३ ॥

दोषं ह्येषां नाध्यगच्छं परीच्छन्
नित्यं कंचिद् येन गर्हेय पार्थान्।
धर्मार्थाभ्यां कर्म कुर्वन्ति नित्यं
सुखप्रिये नानुरुध्यन्ति कामात् ॥ ४ ॥

मैंने सदा ढूँढ़ते रहनेपर भी कुन्तीपुत्रोंका कोई ऐसा दोष नहीं देखा है, जिससे उनकी निन्दा करूँ। वे सदा धर्म और अर्थके लिये ही कर्म करते हैं, कामनावश मानसिक प्रीति और स्त्री-पुत्रादि प्रिय वस्तुओंमें नहीं फँसते हैं—काम-भोगमें आसक्त होकर धर्मका परित्याग नहीं करते हैं ॥ ४ ॥

घर्मं शीतं क्षुत्पिपासे तथैव
निद्रां तन्द्रीं क्रोधहर्षौ प्रमादम्।
धृत्या चैव प्रज्ञया चाभिभूय
धर्मार्थयोगात् प्रयतन्ति पार्थाः ॥ ५ ॥

पाण्डव घाम-शीत, भूख-प्यास, निद्रा तन्द्रा, क्रोध-हर्ष तथा प्रमादको धैर्य एवं विवेकपूर्ण बुद्धिके द्वारा जीतकर धर्म और अर्थके लिये ही प्रयत्नशील बने रहते हैं ॥ ५ ॥

त्यजन्ति मित्रेषु धनानि काले
न संवासाज्जीर्यति तेषु मैत्री।
यथार्हमानार्थकरा हि पार्था-
स्तेषां द्वेष्टा नास्त्याजमीढस्य पक्षे॥ ६ ॥
अन्यत्र पापाद् विषमान्मन्दबुद्धे-
र्दुर्योधनात् क्षुद्रतराच्च कर्णात्।
(पुत्रो मह्यं मृत्युवशं जगाम
दुर्योधनः संजय रागबुद्धिः।
भागं हर्तुं घटते मन्दबुद्धि-
र्महात्मनां संजय दीप्ततेजसाम् ॥)
तेषां हीमौ हीनसुखप्रियाणां
महात्मनां संजनयतो हि तेजः ॥ ७ ॥

वे समय पड़नेपर मित्रोंको उनकी सहायताके लिये धन देते हैं। दीर्घकालिक प्रवाससे भी उनकी मैत्री क्षीण नहीं होती है। कुन्तीके पुत्र सबका यथायोग्य सत्कार करनेवाले हैं। अजमीढवंशी हम कौरवोंके पक्षमें पापी, बेईमान तथा मन्द-बुद्धि दुर्योधन एवं अत्यन्त क्षुद्र स्वभाववाले कर्णको छोड़कर दूसरा कोई भी उनसे द्वेष रखनेवाला नहीं है। संजय ! मेरा पुत्र दुर्योधन कालके अधीन हो गया है; क्योंकि उसकी बुद्धि रागसे दूषित है। वह मूर्ख अत्यन्त तेजस्वी महात्मा पाण्डवोंके स्वत्वको दबा लेनेकी चेष्टा कर रहा है। केवल दुर्योधन और कर्ण ही सुख और प्रियजनोंसे बिछुड़े हुए महामना पाण्डवोंके मनमें क्रोध उत्पन्न करते रहते हैं ॥ ६-७ ॥

उत्थानवीर्यः सुखमेधमानो
दुर्योधनः सुकृतं मन्यते तत्।
तेषां भागं यच्च मन्येत बालः
शक्यं हर्तुं जीवतां पाण्डवानाम्॥ ८ ॥

दुर्योधन आरम्भमें ही पराक्रम दिखानेवाला है, (अन्ततक उसे निभा नहीं सकता;) क्योंकि वह सुखमें ही पलकर बड़ा हुआ है। वह इतना मूर्ख है कि पाण्डवोंके जीते-जी उनका भाग हर लेना सरल समझता है। इतना ही नहीं, वह इस कुकर्मको उत्तम कर्म भी मानने लगा है ॥ ८ ॥

यस्यार्जुनः पदवीं केशवश्च
वृकोदरः सात्यकोऽजातशत्रोः।
माद्रीपुत्रौ सृंजयाश्चापि यान्ति
पुरा युद्धात् साधु तस्य प्रदानम्॥ ९ ॥

अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन, सात्यकि, नकुल, सहदेव और सम्पूर्ण सृञ्जयवंशी वीर जिनके पीछे चलते हैं, उन युधिष्ठिरको युद्धके पहले ही उनका राज्यभाग दे देनेमें भलाई है ॥ ९ ॥

स ह्येवैकः पृथिवीं सव्यसाची
गाण्डीवधन्वा प्रणुदेद् रथस्थः।
तथा जिष्णुः केशवोऽप्यप्रधृष्यो
लोकत्रयस्याधिपतिर्महात्मा ॥ १० ॥
तिष्ठेत कस्तस्य मर्त्यः पुरस्ताद्
यः सर्वलोकेषु वरेण्य एकः।
पर्जन्यघोषान् प्रवपञ्छरौघान्
पतङ्गसङ्घानिव शीघ्रवेगान् ॥ ११ ॥

गाण्डीवधारी सव्यसाची अर्जुन रथमें बैठकर अकेले ही सारी पृथ्वीको जीत सकते हैं। इसी प्रकार विजयशील एवं दुर्धर्ष महात्मा श्रीकृष्ण भी तीनों लोकोंको जीतकर उनके अधिपति हो सकते हैं। जो समस्त लोकोंमें एकमात्र सर्वश्रेष्ठ वीर हैं, जो मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर शब्द करनेवाले तथा टिड्डियोंके दलकी भाँति तीव्र वेगसे चलनेवाले बाण-समूहोंकी वर्षा करते हैं, उन वीरवर अर्जुनके सामने कौन मनुष्य ठहर सकता है ? ॥ १०-११ ॥

दिशं ह्युदीचीमपि चोत्तरान् कुरून्
गाण्डीवधन्वैकरथो जिगाय ।
धनं चैषामाहरत् सव्यसाची
सेनानुगान् द्रविडांश्चैव चक्रे ॥ १२ ॥

गाण्डीव धनुष धारण करके एकमात्र रथपर आरूढ़ हो सव्यसाची अर्जुनने न केवल उत्तर दिशापर विजय पायी थी, अपितु उत्तर कुरुदेशको भी जीत लिया था और उन सबकी धन-सम्पत्ति जीतकर ले आये थे । उन्होंने द्रविडोंको भी जीतकर अपनी सेनाका अनुगामी बनाया था ॥ १२ ॥

यश्चैव देवान् खाण्डवे सव्यसाची
गाण्डीवधन्वा प्रजिगाय सेन्द्रान् ।
उपाहरत् पाण्डवो जातवेदसे
यशो मानं वर्धयन् पाण्डवानाम् ॥ १३ ॥

गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले पाण्डुपुत्र सव्यसाची अर्जुन वे ही हैं, जिन्होंने खाण्डववनमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंपर विजय पायी थी और पाण्डवोंके यश तथा सम्मानकी वृद्धि करते हुए अग्निदेवको वह वन उपहारके रूपमें अर्पित किया था॥

गदाभृतां नास्ति समोऽत्र भीमा-
द्धस्त्यारोहो नास्ति समश्च तस्य ।
रथेऽर्जुनादाहुरहीनमेनं
बाह्वोर्बलेनायुतनागवीर्यम् ॥ १४ ॥

गदाधारियोंमें इस भूतलपर भीमसेनके समान दूसरा कोई नहीं है और न उनके-जैसा कोई हाथीसवार ही है । रथमें बैठकर युद्ध करनेकी कलामें भी वे अर्जुनसे कम नहीं बताये जाते हैं और बाहुबलमें तो वे दस हजार हाथियोंके समान शक्तिशाली हैं ॥ १४ ॥

सुशिक्षितः कृतवैरस्तरस्वी
दहेत् क्षुद्रांस्तरसा धार्तराष्ट्रान् ।
सदात्यमर्षी न बलात् स शक्यो
युद्धे जेतुं वासवेनापि साक्षात् ॥ १५ ॥

अस्त्र-विद्यामें उन्हें अच्छी शिक्षा मिली है । वे बड़े वेगशाली वीर हैं । उनके साथ मेरे पुत्रोंने वैर ठान रक्खा है और वे सदा अत्यन्त अमर्षमें भरे रहते हैं; अतः यदि युद्ध हुआ तो भीमसेन मेरे क्षुद्र स्वभाववाले पुत्रोंको वेगपूर्वक (अपनी कोपाग्निसे) जलाकर भस्म कर देंगे । साक्षात् इन्द्र भी उन्हें युद्धमें बलपूर्वक परास्त नहीं कर सकते ॥ १५ ॥

सुचेतसौ बलिनौ शीघ्रहस्तौ
सुशिक्षितौ भ्रातरौ फाल्गुनेन ।
श्येनौ यथा पक्षिपूगान् रुजन्तौ
माद्रीपुत्रौ शेषयेतां न शत्रून् ॥ १६ ॥

माद्रीनन्दन नकुल और सहदेव भी शुद्धचित्त और बलवान् हैं । अस्त्र-संचालनमें उनके हाथोंकी फुर्ती देखने ही योग्य है । स्वयं अर्जुनने अपने उन दोनों भाइयोंको युद्धकी अच्छी शिक्षा दी है । जैसे दो बाज पक्षियोंके समुदायको (सर्वथा) नष्ट कर देते हैं । उसी प्रकार वे दोनों भाई शत्रुओंसे भिड़कर उन्हें जीवित नहीं छोड़ सकते ॥ १६ ॥

एतद् बलं पूर्णमस्माकमेवं
यत् सत्यं तान् प्राप्य नास्तीति मन्ये ।
तेषां मध्ये वर्तमानस्तरस्वी
धृष्टद्युम्नः पाण्डवानामिहैकः ॥ १७ ॥
सहामात्यः सोमकानां प्रबर्हः
संत्यक्तात्मा पाण्डवार्थे श्रुतो मे ।
अजातशत्रुं प्रसहेत कोऽन्यो
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः ॥ १८ ॥

यह ठीक है कि हमारी सेना सब प्रकारसे परिपूर्ण है तथापि मेरा यह विश्वास है कि यह पाण्डवोंका सामना पड़नेपर नहींके बराबर है । पाण्डवोंके पक्षमें धृष्टद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् योद्धा है, जो सोमकवंशका श्रेष्ठ राजकुमार है । मैंने सुना है, उसने पाण्डवोंके लिये मन्त्रियोंसहित अपने शरीरको निछावर कर दिया है । जिन अजातशत्रु युधिष्ठिरके अगुआ अथवा नेता वृष्णिवंशके सिंह भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उनका वेग दूसरा कौन सह सकता है ! ॥ १७-१८ ॥

सहोषितश्चरितार्थो वयःस्थो
मात्स्येयानामधिपो वै विराटः ।
स वै सपुत्रः पाण्डवार्थे च शश्वद्
युधिष्ठिरं भक्त इति श्रुतं मे ॥ १९ ॥

मत्स्यदेशके राजा विराट भी अपने पुत्रोंके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये सदा उद्यत रहते हैं । मैंने सुना है कि वे युधिष्ठिरके बड़े भक्त हैं । कारण यह है कि अज्ञातवासके समय वे युधिष्ठिरके साथ एक वर्ष रहे हैं और युधिष्ठिरके द्वारा उनके गोधनकी रक्षा हुई है । अवस्थामें वृद्ध होनेपर भी वे युद्धमें नौजवान-से जान पड़ते हैं ॥ १९ ॥

अवरुद्धा रथिनः केकयेभ्यो
महेष्वासा भ्रातरः पञ्च सन्ति ।
केकयेभ्यो राज्यमाकाङ्क्षमाणा
युद्धार्थिनश्चानुवसन्ति पार्थान् ॥ २० ॥

केकयदेशसे बाहर निकाले हुए पाँच भाई केकयराजकुमार महान् धनुर्धर एवं रथी वीर हैं । वे पाण्डवोंके सहयोगसे केकयदेशके राजाओंसे पुनः अपना राज्य लेना चाहते हैं, इसलिये उनकी ओरसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर उन्हींके साथ रह रहे हैं ॥ २० ॥

सर्वांश्च वीरान् पृथिवीपतीनां
समागतान् पाण्डवार्थे निविष्टान् ।

शूरानहं भक्तिमतः शृणोमि
प्रीत्या युक्तान् संश्रितान् धर्मराजम् ॥ २१ ॥

मैं यह भी सुनता हूँ कि राजाओंमें जितने वीर हैं, वे सब पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर उनकी छावनीमें रहते हैं। वे सबके सब शौर्यसम्पन्न, युधिष्ठिरके प्रति भक्ति रखनेवाले, प्रसन्नचित्त एवं धर्मराजके आश्रित हैं ॥ २१ ॥

गिर्याश्रया दुर्गनिवासिनश्च
योधाः पृथिव्यां कुलजातिशुद्धाः ।
म्लेच्छाश्च नानायुधवीर्यवन्तः
समागताः पाण्डवार्थे निविष्टाः ॥ २२ ॥

पर्वतोंपर रहनेवाले, दुर्गम भूमिमें निवास करनेवाले एवं समतल भूमिके निवासी योद्धा, जो कुल और जातिकी दृष्टिसे बहुत शुद्ध हैं, वे तथा म्लेच्छ भी नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र एवं बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं और उनके शिविरमें निवास करते हैं ॥ २२ ॥

पाण्ड्यश्च राजा समितीन्द्रकल्पो
योधप्रवीरैर्बहुभिः समेतः ।
समागतः पाण्डवार्थे महात्मा
लोकप्रवीरोऽप्रतिवीर्यतेजाः ॥ २३ ॥

पाण्ड्यदेशके महामना राजा, जो संसारके सुविख्यात वीर, अनुपम पराक्रम और तेजसे सम्पन्न तथा युद्धमें देवराज इन्द्रके समान हैं, पाण्डवोंकी सहायताके लिये बहुत-से प्रमुख योद्धाओंके साथ पधारे हैं ॥ २३ ॥

अस्त्रं द्रोणादर्जुनाद् वासुदेवात्
कृपाद् भीष्माद् येन वृतं शृणोमि ।
यं तं कार्ष्णिप्रतिममाहुरेकं
स सात्यकिः पाण्डवार्थे निविष्टः ॥ २४ ॥

जिसने द्रोणाचार्य, अर्जुन, श्रीकृष्ण, कृपाचार्य तथा भीष्मसे भी अस्त्रविद्या सीखी है तथा जिस एकमात्र वीरको श्रीकृष्णपुत्र प्रद्युम्नके समान पराक्रमी बताया जाता है, वह सात्यकि भी, सुनता हूँ, पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर टिका हुआ है ॥ २४ ॥

उपाश्रिताश्चेदिकरूषकाश्च
सर्वोद्योगैर्भूमिपालाः समेताः ।
तेषां मध्ये सूर्यमिवातपन्तं
श्रिया वृतं चेदिपतिं ज्वलन्तम् ॥ २५ ॥
अस्तम्भनीयं युधि मन्यमानो
ज्यां कर्षतां श्रेष्ठतमं पृथिव्याम् ।
सर्वोत्साहं क्षत्रियाणां निहत्य
प्रसह्य कृष्णस्तरसा सम्ममर्द ॥ २६ ॥

(युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें चेदि और करूषदेशके भूपाल सब प्रकारकी तैयारीसे संगठित होकर आये थे। उन सबके बीचमें चेदिराज शिशुपाल अपनी दिव्य शोभासे तपते हुए सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा था। युद्धमें उसके वेगको रोकना असम्भव था। धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचनेवाले भूमण्डलके सभी योद्धाओंमें शिशुपाल एक श्रेष्ठतम वीर था। यह सब समझकर भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ चेदिदेशीय क्षत्रियोंके सम्पूर्ण उत्साहको नष्ट करके हठपूर्वक बड़े वेगसे शिशुपालको मार डाला ॥ २५-२६ ॥

यशोमानौ वर्धयन् पाण्डवानां
पुराभिनच्छिशुपालं समीक्ष्य ।
यस्य सर्वे वर्धयन्ति स्म मानं
करूषराजप्रमुखा नरेन्द्राः ॥ २७ ॥

करूषराज आदि सब नरेश जिसका सम्मान बढ़ाते थे, उस शिशुपालकी ओर दृष्टिपात करके पाण्डवोंके यश और मानकी वृद्धिके उद्देश्यसे श्रीकृष्णने उसे पहले ही मार डाला॥

तमसह्यं केशवं तत्र मत्वा
सुग्रीवयुक्तेन रथेन कृष्णम् ।
सम्प्राद्रवंश्चेदिपतिं विहाय
सिंहं दृष्ट्वा क्षुद्रमृगा इवान्ये ॥ २८ ॥

सुग्रीव आदि घोड़ोंसे जुते हुए रथपर आरूढ़ होनेवाले श्रीकृष्णको असह्य मानकर चेदिराज शिशुपालके सिवा दूसरे भूपाल उसी प्रकार पलायन कर गये, जैसे सिंहको देखते ही जंगलके क्षुद्र पशु भाग जाते हैं ॥ २८ ॥

यस्तं प्रतीपस्तरसा प्रत्युदीया-
दाशंसमानो द्वैरथे वासुदेवम् ।
सोऽशेत कृष्णेन हतः परासु-
र्वातेनेवोन्मथितः कर्णिकारः ॥ २९ ॥

जिसने द्वैरथ-युद्धमें विजयकी आशा रखकर भगवान् श्रीकृष्णका विरोधी हो बड़े वेगसे उनपर धावा किया, वह शिशुपाल श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर प्राणशून्य हो सदाके लिये इस प्रकार धरतीपर सो गया, मानो कनेरका वृक्ष हवाके वेगसे उखड़कर धराशायी हो गया हो ॥ २९ ॥

पराक्रमं मे यदवेदयन्त
तेषामर्थे संजय केशवस्य ।
अनुस्मरंस्तस्य कर्माणि विष्णो-
र्गावल्गणे नाधिगच्छामि शान्तिम् ॥ ३० ॥

संजय ! पाण्डवोंके लिये किये हुए श्रीकृष्णके उस पराक्रमका वृत्तान्त मेरे गुप्तचरोंने मुझे बताया था। गावल्गणे ! श्रीहरिके उन वीरोचित कर्मोंको बारंबार याद करके मुझे शान्ति नहीं मिल रही है ॥ ३० ॥

न जातु ताञ्छत्रुरन्यः सहेत
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः ।
प्रवेपते मे हृदयं भयेन
श्रुत्वा कृष्णावेकरथे समेतौ ॥ ३१ ॥

जिनके अग्रगामी वृष्णिसिंह भगवान् वासुदेव हैं, उन पाण्डवोंका आक्रमण कभी भी दूसरा कोई शत्रु नहीं सह सकता । श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों एक रथपर एकत्र हो गये हैं, यह सुनकर तो मेरा हृदय भयसे काँप उठता है॥

न चेद् गच्छेत् संगरं मन्दबुद्धि-
स्ताभ्यां लभेच्छर्म तदा सुतो मे ।
नो चेत् कुरून् संजय निर्दहेता-
मिन्द्राविष्णू दैत्यसेनां यथैव ॥ ३२ ॥

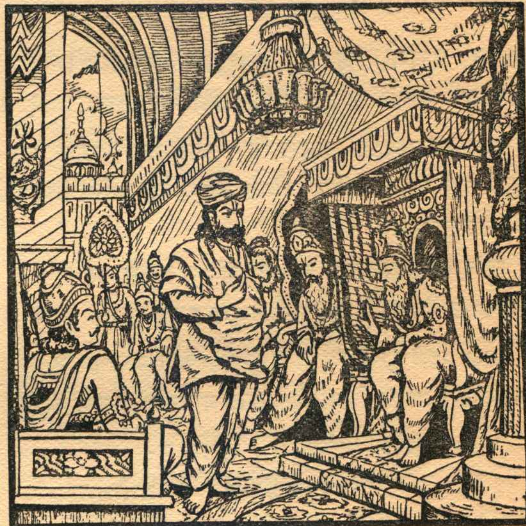
संजय ! यदि मेरा मन्दबुद्धि पुत्र उन दोनोंसे युद्ध करनेके लिये न जाय, तभी वह कल्याणका भागी हो सकता है । अन्यथा वे दोनों वीर कौरवोंको उसी प्रकार भस्म कर देंगे, जैसे इन्द्र और विष्णु दैत्यसेनाका संहार कर डालते हैं ॥

मतो हि मे शक्रसमो धनंजयः
सनातनो वृष्णिवीरश्च विष्णुः ।
धर्मारामो ह्रीनिषेवस्तरस्वी
कुन्तीपुत्रः पाण्डवोऽजातशत्रुः ॥ ३३ ॥
दुर्योधनेन निकृतो मनस्वी
नो चेत् क्रुद्धः प्रदहेद् धार्तराष्ट्रान् ।
नाहं तथा ह्यर्जुनाद् वासुदेवाद्
भीमाद् वाहं यमयोर्वा बिभेमि ॥ ३४ ॥
यथा राज्ञः क्रोधदीप्तस्य सूत
मन्योरहं भीततरः सदैव ।
महातपा ब्रह्मचर्येण युक्तः
संकल्पोऽयं मानसस्तस्य सिद्ध्येत् ॥ ३५ ॥

मुझे तो अर्जुन इन्द्रके समान प्रतीत होते हैं और वृष्णि-वीर श्रीकृष्ण सनातन विष्णु जान पड़ते हैं । कुन्तीनन्दन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर धर्माचरणमें ही सुख मानते हैं । वे लज्जाशील और बलशाली हैं । उनके मनमें किसीके प्रति कभी शत्रुभाव नहीं पैदा हुआ है । नहीं तो वे मनस्वी युधिष्ठिर दुर्योधनके द्वारा छल-कपटके शिकार होनेपर क्रोध करके मेरे सभी पुत्रों-को जलाकर भस्म कर देते । संजय ! मैं अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन तथा नकुल-सहदेवसे भी उतना नहीं डरता, जितना कि क्रोधसे तमतमाये हुए राजा युधिष्ठिरके कोपसे । उनके रोषसे मैं सदा ही अत्यन्त भयभीत रहता हूँ; क्योंकि वे महान् तपस्वी और ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न हैं, इसलिये उनके मनमें जो संकल्प होगा, वह सिद्ध होकर ही रहेगा ॥ ३३–३५ ॥

तस्य क्रोधं संजयाहं समीक्ष्य
स्थाने जानन् भृशमस्म्यद्य भीतः ।
स गच्छ शीघ्रं प्रहितो रथेन
पाञ्चालराजस्य चमूनिवेशनम् ॥ ३६ ॥
अजातशत्रुं कुशलं स पृच्छेः
पुनः पुनः प्रीतियुक्तं वदेस्त्वम् ।
जनार्दनं चापि समेत्य तात
महामात्रं वीर्यवतामुदारम् ॥ ३७ ॥
अनामयं मद्वचनेन पृच्छे-
र्धृतराष्ट्रः पाण्डवैः शान्तिमीप्सुः ।
न तस्य किंचिद् वचनं न कुर्यात्
कुन्तीपुत्रो वासुदेवस्य सूत ॥ ३८ ॥

संजय ! मैं उनके क्रोधको देखकर और उसे उचित जानकर आज बहुत डरा हुआ हूँ । मेरेद्वारा भेजे हुए तुम



रथपर बैठकर शीघ्र ही पाञ्चालराज द्रुपदकी छावनीमें जाकर वहाँ अत्यन्त प्रेमपूर्वक अजातशत्रु युधिष्ठिरसे वार्तालाप करना और बारंबार उनका कुशल-मङ्गल पूछना । तात ! तुम बलवानोंमें श्रेष्ठ महाभाग भगवान् श्रीकृष्णसे भी मिलकर मेरी ओरसे उनका कुशल-समाचार पूछना और यह बताना कि धृतराष्ट्र पाण्डवोंके साथ शान्तिपूर्ण बर्ताव चाहते हैं । सूत ! कुन्तीकुमार युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णकी कोई भी बात टाल नहीं सकते ॥

प्रियश्चैषामात्मसमश्च कृष्णो
विद्वांश्चैषां कर्मणि नित्ययुक्तः ।
समानीतान् पाण्डवान् सृंजयांश्च
जनार्दनं युयुधानं विराटम् ॥ ३९ ॥
अनामयं मद्वचनेन पृच्छेः
सर्वांस्तथा द्रौपदेयांश्च पञ्च ।
यद् यत् तत्र प्राप्तकालं परेभ्य-
स्त्वं मन्येथा भारतानां हितं च ।
तद् भाषेथाः संजय राजमध्ये
न मूर्च्छयेद् यन्न च युद्धहेतुः ॥ ४० ॥

क्योंकि श्रीकृष्ण इनको आत्माके समान प्रिय हैं। श्रीकृष्ण विद्वान् हैं और सदा पाण्डवोंके हितके कार्यमें लगे रहते हैं। संजय! तुम वहाँ एकत्र हुए पाण्डवों तथा सृञ्जयवंशी क्षत्रियोंसे और श्रीकृष्ण, सात्यकि, राजा विराट एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंसे भी मेरी ओरसे स्वास्थ्यका समाचार पूछना। इसके सिवा जैसा अवसर हो और जिसमें तुम्हें भरतवंशियोंका हित प्रतीत हो, वैसी बातें पाण्डवपक्षके लोगोंसे कहना। राजाओंके बीचमें ऐसा कोई वचन न कहना, जो उनके क्रोधको बढ़ावे तथा युद्धका कारण बने ॥ ३९-४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि धृतराष्ट्रसंदेशे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें धृतराष्ट्रसंदेशविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४१ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरसे मिलकर उनकी कुशल पूछना एवं युधिष्ठिरका संजयसे कौरवपक्षका कुशल-समाचार पूछते हुए उससे सारगर्भित प्रश्न करना

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रस्य संजयः।
उपप्लव्यं ययौ द्रष्टुं पाण्डवानमितौजसः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्रकी बात सुनकर संजय अमित तेजस्वी पाण्डवोंसे मिलनेके लिये उपप्लव्य गया ॥ १ ॥

स तु राजानमासाद्य कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
अभिवाद्य ततः पूर्वं सूतपुत्रोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥

वहाँ पहले कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके पास जाकर सूतपुत्र संजयने उन्हें प्रणाम किया और उनसे बातचीत प्रारम्भ की।२।

गावल्गणिः संजयः सूतसूनु-
रजातशत्रुमवदत् प्रतीतः।
दिष्ट्या राजंस्त्वामरोगं प्रपश्ये
सहायवन्तं च महेन्द्रकल्पम् ॥ ३ ॥

गवल्गणनन्दन सूतपुत्र संजयने प्रसन्न होकर अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरसे कहा—'राजन्! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मैं देवराज इन्द्रके समान आपको अपने सहायकोंके साथ स्वस्थ एवं सकुशल देख रहा हूँ ॥ ३ ॥

अनामयं पृच्छति त्वाऽऽम्बिकेयो
वृद्धो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी।
कच्चिद् भीमः कुशली पाण्डवाग्र्यो
धनंजयस्तौ च माद्रीतनूजौ ॥ ४ ॥

'वृद्ध एवं बुद्धिमान् अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्रने आपका कुशल-समाचार पूछा है। भीमसेन, पाण्डवप्रवर अर्जुन तथा वे दोनों माद्रीकुमार नकुल-सहदेव कुशलसे तो हैं न? ॥४॥

कच्चित् कृष्णा द्रौपदी राजपुत्री
सत्यव्रता वीरपत्नी सपुत्रा।
मनस्विनी यत्र च वाञ्छसि त्व-
मिष्टान् कामान् भारत स्वस्तिकामः ॥ ५ ॥

'सत्यव्रतका पालन करनेवाली वीरपत्नी द्रुपदकुमारी राजपुत्री मनस्विनी कृष्णा अपने पुत्रोंसहित कुशलपूर्वक है न? भारत! इनके सिवा आप जिन-जिनके कल्याणकी इच्छा रखते हैं तथा जिन अभीष्ट भोगोंको बनाये रखना चाहते हैं, वे आत्मीय जन तथा धन-वैभव-वाहन आदि भोगोपकरण सकुशल हैं न?' ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गावल्गणे संजय स्वागतं ते
प्रीयामहे ते वयं दर्शनेन।
अनामयं प्रतिजाने तवाहं
सहानुजैः कुशली चास्मि विद्वन् ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले—गवल्गणकुमार संजय! तुम्हारा स्वागत है। तुम्हें देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है। विद्वन्! मैं अपने भाइयोंसहित कुशलसे हूँ तथा तुम्हें अपने आरोग्यकी सूचना दे रहा हूँ ॥ ६ ॥

चिरादिदं कुशलं भारतस्य
श्रुत्वा राज्ञः कुरुवृद्धस्य सूत।
मन्ये साक्षाद् दृष्टमहं नरेन्द्रं
दृष्ट्वैव त्वां संजय प्रीतियोगात् ॥ ७ ॥

सूत! कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भरतनन्दन महाराज धृतराष्ट्रका यह कुशल-समाचार दीर्घकालके बाद सुनकर और प्रेमपूर्वक तुम्हें भी देखकर मैं यह अनुभव करता हूँ कि आज मुझे साक्षात् महाराज धृतराष्ट्रका ही दर्शन हुआ है।७।

पितामहो नः स्थविरो मनस्वी
महाप्राज्ञः सर्वधर्मोपपन्नः।
स कौरव्यः कुशली तात भीष्मो
यथापूर्वं वृत्तिरस्त्यस्य कच्चित् ॥ ८ ॥

तात! मनस्वी, परम ज्ञानी तथा समस्त धर्मोंके ज्ञानसे सम्पन्न हमारे बूढ़े पितामह कुरुवंशी भीष्मजी तो कुशलसे

हैं न ? हमलोगोंपर उनका स्नेहभाव तो पूर्ववत् बना हुआ है न ? ॥ ८ ॥

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
वैचित्रवीर्यः कुशली महात्मा ।
महाराजो बाह्लिकः प्रातिपेयः
कच्चिद् विद्वान् कुशली सूतपुत्र॥ ९ ॥

संजय ! क्या अपने पुत्रोंसहित विचित्रवीर्यनन्दन महामना राजा धृतराष्ट्र सकुशल हैं ? प्रतीपके विद्वान् पुत्र महाराज बाह्लीक तो कुशलपूर्वक हैं न ? ॥ ९ ॥

स सोमदत्तः कुशली तात कच्चिद्
भूरिश्रवाः सत्यसंधः शलश्च ।
द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च विप्रो
महेष्वासाः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ॥१०॥

तात ! सोमदत्त, भूरिश्रवा, सत्यप्रतिज्ञ शल, पुत्रसहित द्रोणाचार्य और विप्रश्रेष्ठ कृपाचार्य—ये महाधनुर्धर वीर स्वस्थ तो हैं न ? ॥ १० ॥

सर्वे कुरुभ्यः स्पृहयन्ति संजय
धनुर्धरा ये पृथिव्यां प्रधानाः ।
महाप्राज्ञाः सर्वशास्त्रावदाता
धनुर्भृतां मुख्यतमाः पृथिव्याम् ॥ ११ ॥

संजय ! क्या पृथ्वीके ये महान् धनुर्धर, जो परम बुद्धिमान्, समस्त शास्त्रोंके ज्ञानसे उज्ज्वल तथा भूमण्डलके धनुर्धरोंमें प्रधान हैं, कौरवोंसे स्नेह-भाव रखते हैं ? ॥ ११ ॥

कच्चिन्मानं तात लभन्त एते
धनुर्भृतः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ।
येषां राष्ट्रे निवसति दर्शनीयो
महेष्वासः शीलवान् द्रोणपुत्रः ॥ १२ ॥

तात ! जिनके राष्ट्रमें दर्शनीय, शीलवान् तथा महाधनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा निवास करता है, उन कौरवोंके बीच क्या पूर्वोक्त धनुर्धर विद्वान् आदर पाते हैं ? क्या ये कौरव भी नीरोग हैं ? ॥ १२ ॥

वैश्यापुत्रः कुशली तात कच्चि-
न्महाप्राज्ञो राजपुत्रो युयुत्सुः ।
कर्णोऽमात्यः कुशली तात कच्चित्
सुयोधनो यस्य मन्दो विधेयः ॥ १३ ॥

तात ! क्या राजा धृतराष्ट्रकी वैश्यजातीय पत्नीके पुत्र महाज्ञानी राजकुमार युयुत्सु सकुशल हैं ? संजय ! मूढ दुर्योधन सदा जिसकी आज्ञाके अधीन रहता है, वह मन्त्री कर्ण भी कुशलपूर्वक है न ? ॥ १३ ॥

स्त्रियो वृद्धा भारतानां जनन्यो
महानस्यो दासभार्याश्च सूत ।
वध्वः पुत्रा भागिनेया भगिन्यो
दौहित्रा वा कच्चिदप्यव्यलीकाः ॥ १४ ॥

सूत ! भरतवंशियोंकी माताएँ, बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ, रसोई बनानेवाली सेविकाएँ, दासियाँ, बहुएँ, पुत्र, भानजे, बहिनें और पुत्रियोंके पुत्र—ये सभी निष्कपटभावसे रहते हैं न ? ॥ १४ ॥

कच्चिद् राजा ब्राह्मणानां यथावत्
प्रवर्तते पूर्ववत् तात वृत्तिम् ।
कच्चिद् दायान् मामकान् धार्तराष्ट्रो
द्विजातीनां संजय नोपहन्ति ॥ १५ ॥

तात ! क्या राजा दुर्योधन पहलेकी भाँति ब्राह्मणोंको जीविका देनेमें यथोचित रीतिसे तत्पर रहता है ? संजय ! मैंने ब्राह्मणोंको वृत्तिके रूपमें जो गाँव आदि दिये थे, उन्हें वह छीनता तो नहीं है ? ॥ १५ ॥

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्र
उपेक्षते ब्राह्मणातिक्रमान् वै ।
स्वर्गस्य कच्चिन्न तथा वर्त्मभूता-
मुपेक्षते तेषु सदैव वृत्तिम् ॥ १६ ॥

पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र ब्राह्मणोंके प्रति किये गये अपराधोंकी उपेक्षा तो नहीं करते ? ब्राह्मणोंको जो सदा वृत्ति दी जाती है, वह स्वर्गलोकमें पहुँचनेका मार्ग है; अतः राजा उस वृत्तिकी उपेक्षा या अवहेलना तो नहीं करते हैं ? ॥ १६ ॥

एतज्ज्योतिश्चोत्तमं जीवलोके
शुक्लं प्रजानां विहितं विधात्रा ।
ते चेद् दोषं न नियच्छन्ति मन्दाः
कृत्स्नो नाशो भविता कौरवाणाम्॥ १७ ॥

ब्राह्मणोंको दी हुई जीविकावृत्तिकी रक्षा परलोकको प्रकाशित करनेवाली उत्तम ज्योति है और इस जीव-जगत्‌में वह उज्ज्वल यशका विस्तार करनेवाली है । यह नियम विधाताने ही प्रजाके हितके लिये रच रक्खा है । यदि मन्दबुद्धि कौरव लोभवश ब्राह्मणोंकी जीविकावृत्तिके अपहरणरूप दोषको काबूमें नहीं रक्खेंगे तो कौरवकुलका सर्वथा विनाश हो जायगा ॥ १७ ॥

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
बुभूषते वृत्तिममात्यवर्गे ।
कच्चिन्न भेदेन जिजीविषन्ति
सुहृद्रूपा दुर्हृदश्चैकमत्यात् ॥ १८ ॥

क्या पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र मन्त्रिवर्गको भी जीवन-निर्वाहके योग्य वृत्ति देनेकी इच्छा रखते हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि वे भेदसे जीविका चलाना चाहते हों (शत्रुओंने उन्हें फोड़ लिया हो और वे उन्हींके दिये हुए धनसे जीवन-

निर्वाह करना चाहते हों)। वे सुहृद्के रूपमें रहते हुए भी एकमत होकर शत्रु तो नहीं बन गये हैं ?॥ १८ ॥

कच्चिन्न पापं कथयन्ति तात
ते पाण्डवानां कुरवः सर्व एव।
द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च वीरो
नास्मासु पापानि वदन्ति कच्चित्॥ १९ ॥

तात संजय ! कहीं सब कौरव मिलकर पाण्डवोंके किसी दोषकी चर्चा तो नहीं करते हैं ? पुत्रसहित द्रोणाचार्य और वीर कृपाचार्य हमलोगोंपर किन्हीं दोषोंका आरोप तो नहीं करते हैं ? ॥ १९ ॥

कच्चिद् राज्ये धृतराष्ट्रं सपुत्रं
समेत्याहुः कुरवः सर्व एव।
कच्चिद् दृष्ट्वा दस्युसङ्घान् समेतान्
स्मरन्ति पार्थस्य युधां प्रणेतुः॥ २० ॥

क्या कभी सब कौरव एकत्र हो पुत्रसहित धृतराष्ट्रके पास जाकर हमें राज्य देनेके विषयमें कुछ कहते हैं ? क्या राज्यमें लुटेरोंके दलोंको देखकर वे कभी संग्रामविजयी अर्जुनको भी याद करते हैं ? ॥ २० ॥

मौर्वीभुजाग्रप्रहितान् स तात
दोधूयमानेन धनुर्गुणेन।
गाण्डीवनुन्नान् स्तनयित्नुघोषा-
नजिह्मगान् कच्चिदनुस्मरन्ति॥ २१ ॥

संजय ! प्रत्यञ्चाको बारंबार हिलाकर और कानोंतक खींचकर अँगुलियोंके अग्रभागसे जिनका संधान किया जाता है तथा जो गाण्डीव धनुषसे छूटकर मेघकी गर्जनाके समान सनसनाते हुए सीधे लक्ष्यतक पहुँच जाते हैं, अर्जुनके उन बाणोंको कौरवलोग बराबर याद करते हैं न ? ॥ २१ ॥

न ह्यपश्यं कंचिदहं पृथिव्यां
योधं समं वाधिकमर्जुनेन।
यस्यैकषष्टिर्निशितास्तीक्ष्णधाराः
सुवाससः सम्मतो हस्तवापः॥ २२ ॥

मैंने इस पृथ्वीपर अर्जुनसे बढ़कर या उनके समान दूसरे किसी योद्धाको नहीं देखा है; क्योंकि जब वे एक बार अपने हाथोंसे धनुषपर शर-संधान करते हैं, तब उससे सुन्दर पंख और पैनी धारवाले इकसठ तीखे बाण प्रकट होते हैं ॥ २२ ॥

गदापाणिर्भीमसेनस्तरस्वी
प्रवेपयञ्छत्रुसङ्घाननीके।
नागः प्रभिन्न इव नड्वलेषु
चंक्रम्यते कच्चिदेनं स्मरन्ति॥ २३ ॥

जैसे मस्तकसे मदकी धारा बहानेवाला गजराज सरकंडोंसे भरे हुए स्थानोंमें निर्भय विचरता है, उसी प्रकार वेगशाली वीर भीमसेन हाथमें गदा लिये रणभूमिमें शत्रुसमुदायको कम्पित करते हुए विचरण करते हैं। क्या कौरवलोग उन्हें भी कभी याद करते हैं ? ॥ २३ ॥

माद्रीपुत्रः सहदेवः कलिङ्गान्
समागतानजयद् दन्तकूरे।
वामेनास्यन् दक्षिणेनैव यो वै
महाबलं कच्चिदेनं स्मरन्ति॥ २४ ॥

जिसमें दाँत पीसकर अस्त्र-शस्त्र चलाये जाते हैं, उस भयंकर युद्धमें माद्रीनन्दन सहदेवने दाहिने और बाँयें हाथसे बाणोंकी वर्षा करके अपना सामना करनेके लिये आये हुए कलिङ्गदेशीय योद्धाओंको परास्त किया था। क्या इस महाबली वीरको भी कौरव कभी याद करते हैं ?॥२४॥

पुरा जेतुं नकुलः प्रेषितोऽयं
शिबींस्त्रिगर्तान् संजय पश्यतस्ते।
दिशं प्रतीचीं वशमानयन्मे
माद्रीसुतं कच्चिदेनं स्मरन्ति॥ २५ ॥

संजय ! पहले राजसूययज्ञमें तुम्हारे सामने ही शिबि और त्रिगर्त देशके वीरोंको जीतनेके लिये इस नकुलको भेजा गया था; परंतु इसने सारी पश्चिम दिशाको जीतकर मेरे अधीन कर दिया। क्या कौरव इस वीर माद्रीकुमारका भी स्मरण करते हैं ? ॥ २५ ॥

पराभवो द्वैतवने य आसीद्
दुर्मन्त्रिते घोषयात्रागतानाम्।
यत्र मन्दाञ्छत्रुवशं प्रयाता-
नमोचयद् भीमसेनो जयश्च॥ २६ ॥

कर्णकी खोटी सलाहके अनुसार घोषयात्रामें गये हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंकी द्वैतवनमें जो पराजय हुई थी, उसमें वे सभी मन्दबुद्धि कौरव शत्रुओंके अधीन हो गये थे। उस समय भीमसेन और अर्जुनने ही उन्हें बन्धनसे मुक्त किया था।२६।

अहं पश्चादर्जुनमभ्यरक्षं
माद्रीपुत्रौ भीमसेनोऽप्यरक्षत्।
गाण्डीवधन्वा शत्रुसङ्घानुदस्य
स्वस्त्यागमत् कच्चिदेनं स्मरन्ति॥ २७ ॥

उस युद्धमें मैंने पीछे रहकर यत्नके द्वारा अर्जुनकी रक्षा की थी और भीमसेनने नकुल तथा सहदेवका संरक्षण किया था। गाण्डीवधारी अर्जुनने शत्रुओंके समुदायको मार गिराया था और स्वयं सकुशल लौट आये थे। क्या कौरव कभी उनकी याद करते हैं ? ॥ २७ ॥

न कर्मणा साधुनैकेन नूनं
सुखं शक्यं वै भवतीह संजय ।
सर्वात्मना परिजेतुं वयं चे-
न्न शक्नुमो धृतराष्ट्रस्य पुत्रम् ॥ २८ ॥

संजय ! यदि हम धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको सभी उपायोंसे नहीं जीत सकते तो केवल एक अच्छे व्यवहारसे ही उसे सुखपूर्वक जीतना हमारे लिये निश्चय ही सम्भव नहीं है ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरप्रश्ने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरप्रश्नविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको उनके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए उन्हें राजा धृतराष्ट्रका संदेश सुनानेकी प्रतिज्ञा करना

संजय उवाच

यथाऽऽत्थ मे पाण्डव तत् तथैव
कुरून् कुरुश्रेष्ठ जनं च पृच्छसि ।
अनामयास्तात मनस्विनस्ते
कुरुश्रेष्ठान् पृच्छसि पार्थ यांस्त्वम् ॥ १ ॥

संजय बोला—कुरुश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन ! आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वह बिल्कुल ठीक है । कौरवों तथा अन्य लोगोंके विषयमें आप जो कुछ पूछ रहे हैं, वह बताता हूँ, सुनिये । तात ! कुन्तीनन्दन ! आपने जिन श्रेष्ठ कुरुवंशियोंके कुशल-समाचार पूछे हैं, वे सभी मनस्वी पुरुष स्वस्थ और सानन्द हैं ॥ १ ॥

सन्त्येव वृद्धाः साधवो धार्तराष्ट्रे
सन्त्येव पापाः पाण्डव तस्य विद्धि ।
दद्याद् रिपुभ्योऽपि हि धार्तराष्ट्रः
कुतो दायाँल्लोपयेद् ब्राह्मणानाम् ॥ २ ॥

पाण्डव ! धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनके पास जैसे बहुत-से पापी रहते हैं, उसी प्रकार उसके यहाँ साधुस्वभाववाले वृद्ध पुरुष भी रहते ही हैं । आप इस बातको सत्य समझें । दुर्योधन तो शत्रुओंको भी धन देता है, फिर वह ब्राह्मणोंकी जीविकाका लोप तो कर ही कैसे सकता है ? ॥ २ ॥

यद् युष्माकं वर्तते सौनधर्म्य-
मद्रुग्धेषु द्रुग्धवत् तन्न साधु ।
मित्रध्रुक् स्याद् धृतराष्ट्रः सपुत्रो
युष्मान् द्विषन् साधुवृत्तानसाधुः ॥ ३ ॥

आपलोगोंने दुर्योधनके प्रति कभी द्रोहका भाव नहीं रक्खा है, तो भी वह आपके प्रति जो क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता है—द्रोही पुरुषोंके समान ही आचरण करता है, (दुर्योधनके लिये) यह उचित नहीं है । आप-जैसे साधुस्वभाव लोगोंसे द्वेष करनेपर तो पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र असाधु और मित्रद्रोही ही समझे जायँगे ॥ ३ ॥

न चानुजानाति भृशं च तप्यते
शोचत्यन्तः स्थविरोऽजातशत्रो ।
शृणोति हि ब्राह्मणानां समेत्य
मित्रद्रोहः पातकेभ्यो गरीयान् ॥ ४ ॥

अजातशत्रो ! राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंको आपसे द्वेष करनेकी आज्ञा नहीं देते; बल्कि आपके प्रति उनके द्रोहकी बात सुनकर वे मन-ही-मन अत्यन्त संतप्त होते तथा शोक किया करते हैं; क्योंकि वे अपने यहाँ पधारे हुए ब्राह्मणोंसे मिलकर सदा उनसे यही सुना करते हैं कि मित्रद्रोह सब पापोंसे बढ़कर है ॥ ४ ॥

स्मरन्ति तुभ्यं नरदेव संयुगे
युद्धे च जिष्णोश्च युधां प्रणेतुः ।
समुत्क्रुष्टे दुन्दुभिशङ्खशब्दे
गदापाणिं भीमसेनं स्मरन्ति ॥ ५ ॥

नरदेव ! कौरवगण युद्धकी चर्चा चलनेपर आपको तथा वीराग्रणी अर्जुनको भी स्मरण करते हैं । युद्धकालमें जब दुन्दुभि और शङ्खकी ध्वनि गूँज उठती है, उस समय उन्हें गदापाणि भीमसेनकी बहुत याद आती है ॥ ५ ॥

माद्रीसुतौ चापि रणाजिमध्ये
सर्वा दिशः सम्पतन्तौ स्मरन्ति ।
सेनां वर्षन्तौ शरवर्षैरजस्रं
महारथौ समरे दुष्प्रकम्पौ ॥ ६ ॥

समराङ्गणमें जिन्हें हराना तो दूरकी बात है, विचलित या कम्पित करना भी अत्यन्त कठिन है, जो शत्रुसेनापर निरन्तर बाणोंकी वर्षा करते हैं और संग्राममें सम्पूर्ण दिशाओंमें आक्रमण करते हैं, उन महारथी माद्रीकुमार नकुल-सहदेवको भी कौरव सदा याद करते हैं ॥ ६ ॥

न त्वेव मन्ये पुरुषस्य राज-
न्ननागतं ज्ञायते यद् भविष्यम् ।
त्वं चेत् तथा सर्वधर्मोपपन्नः
प्राप्तः क्लेशं पाण्डव कृच्छ्ररूपम् ।

त्वमेवैतत् कृच्छ्रगतश्च भूयः
समीकुर्याः प्रज्ञयाजातशत्रो ॥ ७ ॥

पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर ! मेरा यह विश्वास है कि मनुष्यका भविष्य जबतक वह सामने नहीं आता, किसीको ज्ञात नहीं होता; क्योंकि आप-जैसे सर्वधर्मसम्पन्न पुरुष भी अत्यन्त भयंकर क्लेशमें पड़ गये। अजातशत्रो ! संकटमें पड़नेपर भी आप ही अपनी बुद्धिसे विचारकर इस झगड़ेकी शान्तिके लिये पुनः कोई सरल उपाय ढूँढ़ निकालिये ॥

न कामार्थं संत्यजेयुर्हि धर्मं
पाण्डोः सुताः सर्व एवेन्द्रकल्पाः।
त्वमेवैतत् प्रज्ञयाजातशत्रो
समीकुर्या येन शर्माप्नुयुस्ते ॥ ८ ॥
धार्तराष्ट्राः पाण्डवाः सृंजयाश्च
ये चाप्यन्ये संनिविष्टा नरेन्द्राः।

पाण्डुके सभी पुत्र इन्द्रके समान पराक्रमी हैं। वे किसी भी स्वार्थके लिये कभी धर्मका त्याग नहीं करते। अतः अजातशत्रो ! आप ही इस समस्याको हल कीजिये, जिससे धृतराष्ट्रके सभी पुत्र, पाण्डव, सृंजयवंशी क्षत्रिय तथा अन्य नरेश, जो आकर सेनाकी छावनीमें टिके हुए हैं, कल्याणके भागी हों ॥

यन्माब्रवीद् धृतराष्ट्रो निशाया-
मजातशत्रो वचनं पिता ते ॥ ९ ॥
सहामात्यः सहपुत्रश्च राजन्
समेत्य तां वाचमिमां निबोध ॥ १० ॥

महाराज युधिष्ठिर ! आपके ताऊ धृतराष्ट्रने रातके समय मुझसे आपलोगोंके लिये जो संदेश कहा था, उसे आप मन्त्रियों और पुत्रोंसहित मेरे इन शब्दोंमें सुनिये ॥ ९-१० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको धृतराष्ट्रका संदेश सुनाना एवं अपनी ओरसे भी शान्तिके लिये प्रार्थना करना

युधिष्ठिर उवाच

समागताः पाण्डवाः सृंजयाश्च
जनार्दनो युयुधानो विराटः।
यत् ते वाक्यं धृतराष्ट्रानुशिष्टं
गावल्गणे ब्रूहि तत् सूतपुत्र ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—गवल्गणकुमार सूतपुत्र संजय ! यहाँ पाण्डव, सृंजय, भगवान् श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा राजा विराट—सब एकत्र हुए हैं। राजा धृतराष्ट्रने तुम्हारे द्वारा जो संदेश भेजा है, उसे कहो ॥ १ ॥

संजय उवाच

अजातशत्रुं च वृकोदरं च
धनंजयं माद्रवतीसुतौ च।
आमन्त्रये वासुदेवं च शौरिं
युयुधानं चेकितानं विराटम् ॥ २ ॥
पञ्चालानामधिपं चैव वृद्धं
धृष्टद्युम्नं पार्षतं याज्ञसेनिम्।
सर्वे वाचं श्रृणुतेमां मदीयां
वक्ष्यामि यां भूतिमिच्छन् कुरूणाम् ॥ ३ ॥

संजय बोला—मैं अजातशत्रु युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, भगवान् श्रीकृष्ण, सात्यकि, चेकितान, विराट, पाञ्चालदेशके बूढ़े नरेश द्रुपद तथा उनके पुत्र पृषतवंशी धृष्टद्युम्नको भी आमन्त्रित करता हूँ। मैं कौरवोंकी भलाई चाहता हुआ जो कुछ कह रहा हूँ, मेरी उस वाणीको आप सब लोग सुनें ॥ २-३ ॥



शमं राजा धृतराष्ट्रोऽभिनन्द-
न्नयोजयत् त्वरमाणो रथं मे।
सभ्रातृपुत्रस्वजनस्य राज्ञ-
स्तद् रोचतां पाण्डवानां शमोऽस्तु ॥ ४ ॥



संजयकी श्रीकृष्ण एवं पाण्डवोंसे भेंट

राजा धृतराष्ट्र शान्तिका आदर करते हैं (युद्ध नहीं चाहते)। उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ मेरे लिये शीघ्रतापूर्वक रथ तैयार कराया और मुझे यहाँ भेजा। मैं चाहता हूँ कि भाई, पुत्र तथा स्वजनोंसहित राजा धृतराष्ट्रका यह शान्तिसंदेश पाण्डवोंको रुचिकर प्रतीत हो और दोनों पक्षोंमें सन्धि स्थापित हो जाय ॥४॥

सर्वैर्धर्मैः समुपेतास्तु पार्थाः
संस्थानेन मार्दवेनार्जवेन।
जाताः कुले ह्यनृशंसा वदान्या
ह्रीनिषेवाः कर्मणां निश्चयज्ञाः ॥ ५ ॥

कुन्तीके पुत्रो! आपलोग अपने दिव्य शरीर, दयालु एवं कोमल स्वभाव और सरलता आदि गुणों तथा सम्पूर्ण धर्मोंसे युक्त हैं। आपलोगोंका उत्तम कुलमें जन्म हुआ है। आपलोगोंमें क्रूरताका सर्वथा अभाव है। आपलोग उदार, लज्जाशील और कर्मोंके परिणामको जाननेवाले हैं ॥ ५ ॥

न युज्यते कर्म युष्मासु हीनं
सत्त्वं हि वस्तादृशं भीमसेनाः।
उद्भासते ह्यञ्जनबिन्दुवत् त-
च्छुभ्रे वस्त्रे यद् भवेत् किल्बिषं वः ॥ ६ ॥

भयंकर सैन्यसंग्रह करनेवाले पाण्डवो! आपलोगोंमें ऐसा सत्त्वगुण भरा है कि आपके द्वारा कोई नीच कर्म बन ही नहीं सकता। यदि आपलोगोंमें कोई दोष होता तो वह सफेद वस्त्रमें काले दागकी भाँति चमक उठता (छिप नहीं सकता) ॥ ६ ॥

सर्वक्षयो दृश्यते यत्र कृत्स्नः
पापोदयो निरयोऽभावसंस्थः।
कस्तत् कुर्याज्जातु कर्म प्रजानन्
पराजयो यत्र समो जयश्च ॥ ७ ॥

जिसमें सबका विनाश दिखायी देता है, जिससे पूर्णतः पापका उदय होता है, जो नरकका हेतु है, जिसके अन्तमें अभाव ही हाथ लगता है और जिसमें जय तथा पराजय दोनों समान हैं, उस युद्ध-जैसे कठोर कर्मके लिये कौन समझदार मनुष्य कभी उद्योग करेगा? ॥ ७ ॥

ते वै धन्या यैः कृतं ज्ञातिकार्यं
ते वै पुत्राः सुहृदो बान्धवाश्च।
उपक्रुष्टं जीवितं संत्यजेयु-
र्यतः कुरूणां नियतो वै भवः स्यात् ॥ ८ ॥

जिन्होंने जाति और कुटुम्बके हितकर कार्योंका साधन किया है, वे धन्य हैं। वे ही पुत्र, मित्र तथा बान्धव कहलाने योग्य हैं। कौरवोंको चाहिये कि वे निन्दित जीवनका परित्याग कर दें, जिससे कौरवकुलका अभ्युदय अवश्यम्भावी हो ॥ ८ ॥

ते चेत् कुरूननुशिष्याथ पार्था
निर्णीय सर्वान् द्विषतो निगृह्य।
समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्याद्
यज्जीवध्वं ज्ञातिवधे न साधु ॥ ९ ॥

कुन्तीकुमारो! यदि आपलोग समस्त कौरवोंको निश्चित रूपसे अपना शत्रु मानकर उन्हें दण्ड देंगे, कैद करेंगे अथवा उनका वध कर डालेंगे तो उस दशामें आपका जो जीवन होगा, वह आपके द्वारा कुटुम्बीजनोंका वध होनेके कारण अच्छा नहीं समझा जायगा। वह निन्दित जीवन तो मृत्युके समान ही होगा ॥ ९ ॥

को ह्येव युष्मान् सह केशवेन
सचेकितानान् पार्षतबाहुगुप्तान्।
ससात्यकीन् विषहेत प्रजेतुं
लब्ध्वापि देवान् सचिवान् सहेन्द्रान् ॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, चेकितान और सात्यकि आपलोगोंके सहायक हैं। आपलोग महाराज द्रुपदके बाहुबलसे सुरक्षित हैं। ऐसी दशामें इन्द्रसहित समस्त देवताओंको अपने सहायकके रूपमें पाकर भी कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो आपलोगोंको जीतनेका साहस करेगा? ॥ १० ॥

को वा कुरून् द्रोणभीष्माभिगुप्ता-
नश्वत्थाम्ना शल्यकृपादिभिश्च।
रणे विजेतुं विषहेत राजन्
राधेयगुप्तान् सह भूमिपालैः ॥ ११ ॥

राजन्! इसी प्रकार द्रोणाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा, शल्य, कृपाचार्य आदि वीरों तथा अन्य राजाओंसहित कर्णके द्वारा सुरक्षित कौरवोंको युद्धमें जीतनेका साहस कौन कर सकता है? ॥ ११ ॥

महद् बलं धार्तराष्ट्रस्य राज्ञः
को वै शक्तो हन्तुमक्षीयमाणः।
सोऽहं जये चैव पराजये च
निःश्रेयसं नाधिगच्छामि किंचित् ॥ १२ ॥

राजा दुर्योधनके पास विशाल वाहिनी एकत्र हो गयी है। कौन ऐसा वीर है, जो स्वयं क्षीण न होकर उस सेनाका विनाश कर सके? मैं तो इस युद्धमें किसी भी पक्षकी जय हो या पराजय, कोई कल्याणकी बात नहीं देखता हूँ ॥१२॥

कथं हि नीचा इव दौष्कुलेया
निर्धर्मार्थं कर्म कुर्युश्च पार्थाः।
सोऽहं प्रसाद्य प्रणतो वासुदेवं
पञ्चालानामधिपं चैव वृद्धम् ॥ १३ ॥
कृताञ्जलिः शरणं वः प्रपद्ये
कथं स्वस्ति स्यात् कुरुसृंजयानाम्।

न ह्येवमेवं वचनं वासुदेवो
धनंजयो वा जातु किंचिन्न कुर्यात् ॥ १४ ॥

भला ! कुन्तीके पुत्र नीच कुलमें उत्पन्न हुए दूसरे अधम मनुष्योंके समान ऐसा (निन्दित) कर्म कैसे कर सकते हैं ? जिससे न तो धर्मकी सिद्धि होनेवाली है और न अर्थकी ही। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं तथा वृद्ध पाञ्चालराज द्रुपद भी उपस्थित हैं। मैं इन सबको प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ, हाथ जोड़कर आपलोगोंकी शरणमें आया हूँ। आप स्वयं विचार करें कि कुरु तथा संजय वंशका कल्याण कैसे हो ? मुझे विश्वास है कि भगवान् श्रीकृष्ण अथवा अर्जुन इस प्रकार प्रार्थनापूर्वक कही हुई मेरी किसी भी बातको ठुकरा नहीं सकते ॥ १३-१४ ॥

प्राणान् दद्याद् याचमानः कुतोऽन्य-
देतद् विद्वन् साधनार्थं ब्रवीमि।
एतद् राज्ञो भीष्मपुरोगमस्य
मतं यद् वः शान्तिरिहोत्तमा स्यात् ॥ १५ ॥

इतना ही नहीं, मेरे माँगनेपर अर्जुन अपने प्राणतक दे सकते हैं, फिर दूसरी किसी वस्तुके लिये तो कहना ही क्या है ? विद्वान् राजा युधिष्ठिर ! मैं संधि-कार्यकी सिद्धिके लिये ही यह सब कह रहा हूँ। भीष्म तथा राजा धृतराष्ट्रको भी यही अभिमत है और इसीसे आप सब लोगोंको उत्तम शान्ति प्राप्त हो सकती है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका संजयको इन्द्रप्रस्थ लौटानेसे ही शान्ति होना सम्भव बतलाना

युधिष्ठिर उवाच

कां नु वाचं संजय मे शृणोषि
युद्धैषिणीं येन युद्धाद् बिभेषि।
अयुद्धं वै तात युद्धाद् गरीयः
कस्तल्लब्ध्वा जातु युद्ध्येत सूत ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! तुमने मेरी कौन-सी ऐसी बात सुनी है, जिससे मेरी युद्धकी इच्छा व्यक्त हुई है, जिसके कारण तुम युद्धसे भयभीत हो रहे हो ? तात ! युद्ध करनेकी अपेक्षा युद्ध न करना ही श्रेष्ठ है। सूत ! युद्ध न करनेका अवसर पाकर भी कौन मनुष्य कभी युद्धमें प्रवृत्त होगा ? ॥ १ ॥

अकुर्वतश्चेत् पुरुषस्य संजय
सिद्ध्येत् संकल्पो मनसा यं यमिच्छेत्।
न कर्म कुर्याद् विदितं ममैत-
दन्यत्र युद्धाद् बहु यल्लघीयः ॥ २ ॥

संजय ! यदि कर्म न करनेपर भी पुरुषका संकल्प सिद्ध हो जाता—वह मनसे जिस-जिस वस्तुको चाहता, वह-वह उसे मिल जाती तो कोई भी मनुष्य कर्म नहीं करता, यह बात मुझे अच्छी तरह मालूम है। युद्ध किये बिना यदि थोड़ा भी लाभ प्राप्त होता हो तो उसे बहुत समझना चाहिये ॥ २ ॥

कुतो युद्धं जातु नरोऽवगच्छेत्
को देवशप्तो हि वृणीत युद्धम्।
सुखैषिणः कर्म कुर्वन्ति पार्था
धर्मादहीनं यच्च लोकस्य पथ्यम् ॥ ३ ॥

मनुष्य कभी भी किसलिये युद्धका विचार करेगा ? किसे देवताओंने शाप दे रक्खा है, जो जान-बूझकर युद्धका वरण करेगा ? कुन्तीके पुत्र सुखकी इच्छा रखकर वही कर्म करते हैं, जो धर्मके विपरीत न हो तथा जिससे सब लोगोंका भला होता हो ॥ ३ ॥

धर्मोदयं सुखमाशंसमानाः
कृच्छ्रोपायं तत्त्वतः कर्म दुःखम्।
सुखं प्रेप्सुर्विजिघांसुश्च दुःखं
य इन्द्रियाणां प्रीतिरसानुगामी ॥ ४ ॥

हमलोग वही सुख चाहते हैं, जो धर्मकी प्राप्ति करानेवाला हो। जो इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले विषय-रसका अनुगामी होता है, वह सुखको पाने और दुःखको नष्ट करनेकी इच्छासे कर्म करता है; परंतु वास्तवमें उसका सारा कर्म दुःखरूप ही है; क्योंकि वह कष्टदायक उपायोंसे ही साध्य है ॥ ४ ॥

कामाभिध्या स्वशरीरं दुनोति
यया प्रमुक्तो न करोति दुःखम्।
यथेध्यमानस्य समिद्धतेजसो
भूयो बलं वर्धते पावकस्य ॥ ५ ॥

कामार्थलाभेन तथैव भूयो
न तृप्यते सर्पिषेवाग्निरिद्धः।

विषयोंका चिन्तन अपने शरीरको पीड़ा देता है। जो विषय-चिन्तनसे सर्वथा मुक्त है, वह कभी दुःखका अनुभव नहीं करता। जैसे प्रज्वलित अग्निमें ईंधन डालनेसे उसका बल बहुत अधिक बढ़ जाता है, उसी प्रकार विषयभोग और धनका लाभ होनेसे मनुष्यकी तृष्णा और अधिक बढ़ जाती है। घीसे शान्त न होनेवाली प्रज्वलित अग्निकी भाँति मानव कभी विषयभोग और धनसे तृप्त नहीं होता है॥ ५½ ॥

सम्पश्येमं भोगचयं महान्तं
सहास्माभिर्धृतराष्ट्रस्य राज्ञः॥ ६ ॥

हमलोगोंसहित राजा धृतराष्ट्रके पास यह भोगोंकी विशाल राशि संचित हो गयी है। परंतु देखो (इतनेपर भी उनकी तृप्ति नहीं होती) ॥ ६ ॥

नाश्रेयानीश्वरो विग्रहाणां
नाश्रेयान् वै गीतशब्दं शृणोति।
नाश्रेयान् वै सेवते माल्यगन्धान्
न चाप्यश्रेयाननुलेपनानि॥ ७ ॥
नाश्रेयान् वै प्रावारान् संविवस्ते
कथं त्वस्मान् सम्प्रणुदेत् कुरुभ्यः।
अत्रैव स्यादबुधस्यैव कामः
प्रायः शरीरे हृदयं दुनोति॥ ८ ॥

जो पुण्यात्मा नहीं है, वह संग्रामोंमें विजयी नहीं होता। जो पुण्यात्मा नहीं है, वह अपना यशोगान नहीं सुनता। जिसने पुण्य नहीं किया है, वह मालाएँ और गन्ध नहीं धारण कर सकता। जो पुण्यात्मा नहीं है, वह चन्दन आदि अवलेपनका भी उपयोग नहीं कर सकता। जिसने पुण्य नहीं किया है, वह अच्छे कपड़े नहीं धारण करता। यदि राजा धृतराष्ट्र पुण्यवान् न होते, तो हम लोगोंको कुरुदेशसे दूर कैसे कर देते? तथापि यह भोगतृष्णा अज्ञानी दुर्योधन आदिके ही योग्य है, जो प्रायः (सभीके) शरीरोंके भीतर अन्तःकरणको पीड़ा देती रहती है॥ ७-८ ॥

स्वयं राजा विषमस्थः परेषु
सामस्थ्यमन्विच्छति तन्न साधु।
यथाऽऽत्मनः पश्यति वृत्तमेव
तथा परेषामपि सोऽभ्युपैतु॥ ९ ॥

राजा धृतराष्ट्र स्वयं तो विषम-बर्तावमें लगे हुए हैं; परंतु दूसरोंमें समतापूर्ण बर्ताव देखना चाहते हैं, यह अच्छी बात नहीं है। वे जैसा अपना बर्ताव देखते हैं, वैसा ही दूसरोंका भी देखें॥ ९ ॥

आसन्नमग्निं तु निदाघकाले
गम्भीरकक्षे गहने विसृज्य।
यथा विवृद्धं वायुवशेन शोचेत्
क्षेमं मुमुक्षुः शिशिरव्यपाये॥ १० ॥
प्राप्तैश्वर्यो धृतराष्ट्रोऽद्य राजा
लालप्यते संजय कस्य हेतोः।
प्रगृह्य दुर्बुद्धिमनार्जवे रतं
पुत्रं मन्दं मूढममन्त्रिणं तु॥ ११ ॥

संजय! जैसे कोई मनुष्य शिशिर ऋतु बीतनेपर ग्रीष्म-ऋतुकी दोपहरीमें बहुत घास-फूससे भरे हुए गहन वनमें आग लगा दे और जब हवा चलनेसे वह आग सब ओर फैलकर अपने निकट आ जाय, तब उसकी ज्वालासे अपने आपको बचानेके लिये वह कुशल-क्षेमकी इच्छा रखकर बार-बार शोक करने लगे, उसी प्रकार आज राजा धृतराष्ट्र सारा ऐश्वर्य अपने अधिकारमें करके खोटी बुद्धिवाले, उद्दण्ड, भाग्यहीन, मूर्ख और किसी अच्छे मन्त्रीकी सलाहके अनुसार न चलनेवाले अपने पुत्र दुर्योधनका पक्ष लेकर अब किस लिये (दीनकी भाँति) विलाप करते हैं? ॥ १०-११ ॥

अनाप्तवच्चाप्ततमस्य वाचः
सुयोधनो विदुरस्यावमत्य।
सुतस्य राजा धृतराष्ट्रः प्रियैषी
सम्बुध्यमानो विशतेऽधर्ममेव॥ १२ ॥

अपने पुत्र दुर्योधनका प्रिय चाहनेवाले राजा धृतराष्ट्र अपने सबसे अधिक विश्वासपात्र विदुरजीके वचनोंको अविश्वसनीय-से समझकर उनकी अवहेलना करके जान-बूझकर अधर्मके ही पथका आश्रय ले रहे हैं॥ १२ ॥

मेधाविनं ह्यर्थकामं कुरूणां
बहुश्रुतं वाग्मिनं शीलवन्तम्।
स तं राजा धृतराष्ट्रः कुरुभ्यो
न सस्मार विदुरं पुत्रकाम्यात्॥ १३ ॥

बुद्धिमान्, कौरवोंके अभीष्टकी सिद्धि चाहनेवाले, बहुश्रुत विद्वान्, उत्तम वक्ता तथा शीलवान् विदुरजीका भी राजा धृतराष्ट्रने कौरवोंके हितके लिये पुत्रस्नेहकी लालसासे आदर नहीं किया॥ १३ ॥

मानघ्नस्यासौ मानकामस्य चेर्षोः
संरम्भिणश्चार्थधर्मातिगस्य।
दुर्भाषिणो मन्युवशानुगस्य
कामात्मनो दौर्हृदैर्भावितस्य॥ १४ ॥
अनेयस्याश्रेयसो दीर्घमन्यो-
र्मित्रद्रुहः संजय पापबुद्धेः।
सुतस्य राजा धृतराष्ट्रः प्रियैषी
प्रपश्यमानः प्राजहाद् धर्मकामौ॥ १५ ॥

संजय! दूसरोंका मान मिटाकर अपना मान चाहनेवाले, ईर्ष्यालु, क्रोधी, अर्थ और धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले, कटुवचन बोलनेवाले, क्रोध और दीनताके वशवर्ती, कामात्मा (भोगासक्त), पापियोंसे प्रशंसित, शिक्षा देनेके अयोग्य, भाग्यहीन, अधिक क्रोधी, मित्रद्रोही तथा पापबुद्धि पुत्र दुर्योधनका प्रिय चाहनेवाले

राजा धृतराष्ट्रने समझते हुए भी धर्म और कामका परित्याग किया है ॥ १४-१५ ॥

तदैव मे संजय दीव्यतोऽभू-
न्मतिः कुरूणामागतः स्यादभावः।
काव्यां वाचं विदुरो भाषमाणो
न विन्दते यद् धार्तराष्ट्रात् प्रशंसाम् ॥ १६ ॥

संजय ! जिस समय मैं जूआ खेल रहा था, उसी समयकी बात है, विदुरजी शुक्रनीतिके अनुसार युक्तियुक्त वचन कह रहे थे, तो भी दुर्योधनकी ओरसे उन्हें प्रशंसा नहीं प्राप्त हुई। तभी मेरे मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ था कि सम्भवतः कौरवोंका विनाशकाल समीप आ गया है ॥ १६ ॥

क्षत्तुर्यदा नान्ववर्तन्त बुद्धिं
कृच्छ्रं कुरून् सूत तदाभ्याजगाम।
यावत् प्रज्ञामन्ववर्तन्त तस्य
तावत् तेषां राष्ट्रवृद्धिर्बभूव ॥ १७ ॥

सूत ! जबतक कौरव विदुरजीकी बुद्धिके अनुसार बर्ताव करते और चलते थे, तबतक सदा उनके राष्ट्रकी वृद्धि ही होती रही। जबसे उन्होंने विदुरजीसे सलाह लेना छोड़ दिया, तभीसे उनपर विपत्ति आ पड़ी है ॥ १७ ॥

तदर्थलुब्धस्य निबोध मेऽद्य
ये मन्त्रिणो धार्तराष्ट्रस्य सूत।
दुःशासनः शकुनिः सूतपुत्रो
गावल्गणे पश्य सम्मोहमस्य ॥ १८ ॥

गवल्गणपुत्र संजय ! धनके लोभी दुर्योधनके जो-जो मन्त्री हैं, उनके नाम आज तुम मुझसे सुन लो। दुःशासन, शकुनि तथा सूतपुत्र कर्ण—ये ही उसके मन्त्री हैं। उसका मोह तो देखो ॥ १८ ॥

सोऽहं न पश्यामि परीक्षमाणः
कथं स्वस्ति स्यात् कुरुसृंजयानाम्।
आत्तैश्वर्यो धृतराष्ट्रः परेभ्यः
प्रव्राजिते विदुरे दीर्घदृष्टौ ॥ १९ ॥
आशंसते वै धृतराष्ट्रः सपुत्रो
महाराज्यमसपत्नं पृथिव्याम्।
तस्मिञ्छमः केवलं नोपलभ्यः
सर्वं स्वकं मद्गते मन्यतेऽर्थम् ॥ २० ॥

मैं बहुत सोचने-विचारनेपर भी कोई ऐसा उपाय नहीं देखता, जिससे कुरु तथा सृंजयवंश दोनोंका कल्याण हो। धृतराष्ट्र हम शत्रुओंसे ऐश्वर्य छीनकर दूरदर्शी विदुरको देशसे निर्वासित करके अपने पुत्रोंसहित भूमण्डलका निष्कण्टक साम्राज्य प्राप्त करनेकी आशा लगाये बैठे हैं। ऐसे लोभी नरेशके साथ केवल संधि ही बनी रहेगी, (युद्ध आदिका अवसर नहीं आयेगा) यह सम्भव नहीं जान पड़ता; क्योंकि हमलोगोंके वन चले जानेपर वे हमारे सारे धनको अपना ही मानने लगे हैं ॥ १९-२० ॥

यत् तत् कर्णो मन्यते पारणीयं
युद्धे गृहीतायुधमर्जुनं वै।
आसंश्च युद्धानि पुरा महान्ति
कथं कर्णो नाभवद् द्वीप एषाम् ॥ २१ ॥

कर्ण जो ऐसा समझता है कि युद्धमें धनुष उठाये हुए अर्जुनको जीत लेना सहज है, वह उसकी भूल है। पहले भी तो बड़े-बड़े युद्ध हो चुके हैं। उनमें कर्ण इन कौरवोंका आश्रयदाता क्यों न हो सका ? ॥ २१ ॥

कर्णश्च जानाति सुयोधनश्च
द्रोणश्च जानाति पितामहश्च।
अन्ये च ये कुरवस्तत्र सन्ति
यथार्जुनान्नास्त्यपरो धनुर्धरः ॥ २२ ॥

अर्जुनसे बढ़कर दूसरा कोई धनुर्धर नहीं है—इस बातको कर्ण जानता है, दुर्योधन जानता है, आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म जानते हैं तथा अन्य जो-जो कौरव वहाँ रहते हैं, वे सब भी जानते हैं ॥ २२ ॥

जानन्त्येतत् कुरवः सर्व एव
ये चाप्यन्ये भूमिपालाः समेताः।
दुर्योधने राज्यमिहाभवद् यथा
अरिंदमे फाल्गुने विद्यमाने ॥ २३ ॥

समस्त कौरव तथा वहाँ एकत्र हुए अन्य भूपाल भी इस बातको जानते हैं कि शत्रुदमन अर्जुनके उपस्थित रहते हुए दुर्योधनने किस उपायसे पाण्डवोंका राज्य प्राप्त किया (अर्थात् उन्होंने अपनी वीरतासे नहीं, अपितु छलपूर्वक जूएके द्वारा ही हमारा राज्य लिया) ॥ २३ ॥

तेनानुबन्धं मन्यते धार्तराष्ट्रः
शक्यं हर्तुं पाण्डवानां ममत्वम्।
किरीटिना तालमात्रायुधेन
तद्वेदिना संयुगं तत्र गत्वा ॥ २४ ॥

राज्य आदिपर जो पाण्डवोंका ममत्व है, उसे हर लेना क्या दुर्योधन सरल समझता है ? इसके लिये उसे उन किरीटधारी अर्जुनके साथ युद्धभूमिमें उतरना पड़ेगा, जो चार हाथ लंबा धनुष धारण करते हैं और धनुर्वेदके प्रकाण्ड विद्वान् हैं ॥ २४ ॥

गाण्डीवविस्फारितशब्दमाजा-
वशृण्वाना धार्तराष्ट्रा ध्रियन्ते।
क्रुद्धं न चेदीक्षते भीमसेनं
सुयोधनो मन्यते सिद्धमर्थम् ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्र तभीतक जीवित हैं, जबतक कि वे युद्धमें गाण्डीव धनुषका टंकारघोष नहीं सुन रहे हैं। दुर्योधन जबतक क्रोधमें भरे हुए भीमसेनको नहीं देख रहा है, तभीतक अपने राज्यप्राप्तिसम्बन्धी मनोरथको सिद्ध हुआ समझे॥

इन्द्रोऽप्येतन्नोत्सहेत् तात हर्तु-
मैश्वर्यं नो जीवति भीमसेने।
धनंजये नकुले चैव सूत
तथा वीरे सहदेवे सहिष्णौ॥ २६॥

तात संजय! जबतक भीमसेन, अर्जुन, नकुल तथा सहनशील वीर सहदेव जीवित हैं, तबतक इन्द्र भी हमारे ऐश्वर्यका अपहरण नहीं कर सकता॥ २६॥

स चेदेतां प्रतिपद्येत बुद्धिं
वृद्धो राजा सह पुत्रेण सूत।
एवं रणे पाण्डवकोपदग्धा
न नश्येयुः संजय धार्तराष्ट्राः॥ २७॥

सूत! यदि राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके साथ यह अच्छी तरह समझ लेंगे कि पाण्डवोंको राज्य न देनेमें कुशल नहीं है तो धृतराष्ट्रके सभी पुत्र समराङ्गणमें पाण्डवोंकी क्रोधाग्निसे दग्ध होकर नष्ट होनेसे बच जायँगे॥ २७॥

जानासि त्वं क्लेशमस्मासु वृत्तं
त्वां पूजयन् संजयाहं क्षमेयम्।
यच्चास्माकं कौरवैर्भूतपूर्वं
या नो वृत्तिर्धार्तराष्ट्रे तदाऽऽसीत्॥ २८॥

संजय! हमलोगोंको कौरवोंके कारण पहले कितना क्लेश उठाना पड़ा है, यह तुम भलीभाँति जानते हो तथापि मैं तुम्हारा आदर करते हुए उनके सब अपराधोंको क्षमा कर सकता हूँ। दुर्योधन आदि कौरवोंने पहले हमारे साथ कैसा बर्ताव किया है और उस समय हमलोगोंका उनके साथ कैसा बर्ताव रहा है, यह भी तुमसे छिपा नहीं है॥ २८॥

अद्यापि तत् तत्र तथैव वर्ततां
शान्तिं गमिष्यामि यथा त्वमात्थ।
इन्द्रप्रस्थे भवतु ममैव राज्यं
सुयोधनो यच्छतु भारताग्र्यः॥ २९॥

अब भी वह सब कुछ पहलेके ही समान हो सकता है। जैसा तुम कह रहे हो, उसके अनुसार मैं शान्ति धारण कर लूँगा। परंतु इन्द्रप्रस्थमें पूर्ववत् मेरा ही राज्य रहे और भरतवंशशिरोमणि सुयोधन मेरा वह राज्य मुझे लौटा दे॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको युद्धमें दोषकी सम्भावना बतलाकर उन्हें युद्धसे उपरत करनेका प्रयत्न करना

संजय उवाच

धर्मनित्या पाण्डव ते विचेष्टा
लोके श्रुता दृश्यते चापि पार्थ।
महास्रावं जीवितं चाप्यनित्यं
सम्पश्य त्वं पाण्डव मा व्यनीनशः॥ १॥

संजय बोला—पाण्डुनन्दन! आपकी प्रत्येक चेष्टा सदा धर्मके अनुसार ही होती है। कुन्तीकुमार! आपकी वह धर्मयुक्त चेष्टा लोकमें तो विख्यात है ही, देखनेमें भी आ रही है। यद्यपि यह जीवन अनित्य है तथापि इससे महान् सुयशकी प्राप्ति हो सकती है। पाण्डव! आप जीवनकी उस अनित्यतापर दृष्टिपात करें और अपनी कीर्तिको नष्ट न होने दें॥ १॥

न चेद् भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्
प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो।
भैक्षचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये
श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम्॥ २॥

अजातशत्रो! यदि कौरव युद्ध किये बिना आपको राज्यका भाग न दें, तो भी अन्धक और वृष्णिवंशी क्षत्रियोंके राज्यमें भीख माँगकर जीवन-निर्वाह कर लेना मैं आपके लिये श्रेष्ठ समझता हूँ; परंतु युद्ध करके राज्य लेना अच्छा नहीं समझता॥

अल्पकालं जीवितं यन्मनुष्ये
महास्रावं नित्यदुःखं चलं च।
भूयश्च तद् यशसो नानुरूपं
तस्मात् पापं पाण्डव मा कृथास्त्वम्॥ ३॥

मनुष्यका जो यह जीवन है, वह बहुत थोड़े समयतक रहनेवाला है। इसको क्षीण करनेवाले महान् दोष इसे प्राप्त होते रहते हैं। यह सदा दुःखमय और चञ्चल है। अतः पाण्डुनन्दन! आप युद्धरूपी पाप न कीजिये। वह आपके सुयशके अनुरूप नहीं है॥ ३॥

कामा मनुष्यं प्रसृजन्त एते
धर्मस्य ये विघ्नमूलं नरेन्द्र।
पूर्वं नरस्तान् मतिमान् प्रणिघ्नं-
ल्लोके प्रशंसां लभतेऽनवद्याम्॥ ४॥

नरेन्द्र ! जो धर्माचरणमें विघ्न डालनेकी मूल कारण हैं, वे कामनाएँ प्रत्येक मनुष्यको अपनी ओर खींचती हैं। अतः बुद्धिमान् मनुष्य पहले उन कामनाओंको नष्ट करता है, तदनन्तर जगत्में निर्मल प्रशंसाका भागी होता है ॥ ४ ॥

निबन्धनी ह्यर्थतृष्णेह पार्थ
तामिच्छतां बाध्यते धर्म एव।
धर्मं तु यः प्रवृणीते स बुद्धः
कामे गृध्नो हीयतेऽर्थानुरोधात्॥ ५ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस संसारमें धनकी तृष्णा ही बन्धनमें डालनेवाली है। जो धनकी तृष्णामें फँसता है, उसका धर्म भी नष्ट हो जाता है। जो धर्मका वरण करता है, वही ज्ञानी है। भोगोंकी इच्छा करनेवाला मनुष्य तो धनमें आसक्त होनेके कारण धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं
महाप्रतापः सवितेव भाति।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां
लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः ॥ ६ ॥

तात ! धर्म, अर्थ और काम तीनोंमें धर्मको प्रधान मानकर तदनुसार चलनेवाला पुरुष महाप्रतापी होकर सूर्यकी भाँति चमक उठता है; परंतु जो धर्मसे हीन है और जिसकी बुद्धि पापमें ही लगी हुई है, वह मनुष्य इस सारी पृथ्वीको पाकर भी कष्ट ही भोगता रहता है ॥ ६ ॥

वेदोऽधीतश्चरितं ब्रह्मचर्यं
यज्ञैरिष्टं ब्राह्मणेभ्यश्च दत्तम्।
परं स्थानं मन्यमानेन भूय
आत्मा दत्तो वर्षपूगं सुखेभ्यः ॥ ७ ॥

आपने परलोकपर विश्वास करके वेदोंका अध्ययन, ब्रह्मचर्यका पालन एवं यज्ञोंका अनुष्ठान किया है तथा ब्राह्मणोंको दान दिया है और अनन्त वर्षोंतक वहाँके सुख भोगनेके लिये अपने-आपको भी समर्पित कर दिया है ॥ ७ ॥

सुखप्रिये सेवमानोऽतिवेलं
योगाभ्यासे यो न करोति कर्म।
वित्तक्षये हीनसुखोऽतिवेलं
दुःखं शेते कामवेगप्रणुन्नः ॥ ८ ॥

जो मनुष्य भोग तथा प्रिय (पुत्रादि) का निरन्तर सेवन करते हुए योगाभ्यासोपयोगी कर्मका सेवन नहीं करता, वह धनका क्षय हो जानेपर सुखसे वञ्चित हो कामवेगसे अत्यन्त विक्षुब्ध होकर सदा दुःखशय्यापर शयन करता रहता है ॥

एवं पुनर्ब्रह्मचर्याप्रसक्तो
हित्वा धर्मं यः प्रकरोत्यधर्मम्।
अश्रद्दधत् परलोकाय मूढो
हित्वा देहं तप्यते प्रेत्य मन्दः ॥ ९ ॥

जो ब्रह्मचर्यपालनमें प्रवृत्त न हो धर्मका त्याग करके अधर्मका आचरण करता है तथा जो मूढ़ परलोकपर विश्वास नहीं रखता है, वह मन्दभाग्य मानव शरीर त्यागनेके पश्चात् परलोकमें बड़ा कष्ट पाता है ॥ ९ ॥

न कर्मणां विप्रणाशोऽस्त्यमुत्र
पुण्यानां वाप्यथवा पापकानाम्।
पूर्वं कर्तुर्गच्छति पुण्यपापं
पश्चात् त्वेनमनुयात्येव कर्ता ॥ १० ॥

पुण्य अथवा पाप किन्हीं भी कर्मोंका परलोकमें नाश नहीं होता है। पहले कर्ताके पुण्य और पाप परलोकमें जाते हैं, फिर उन्हींके पीछे-पीछे कर्ता जाता है ॥ १० ॥

न्यायोपेतं ब्राह्मणेभ्योऽथ दत्तं
श्रद्धापूतं गन्धरसोपपन्नम्।
अन्वाहार्येषूत्तमदक्षिणेषु
तथारूपं कर्म विख्यायते ते ॥ ११ ॥

लोकमें आपके कर्म इस रूपमें विख्यात हैं कि आपने उत्तम दक्षिणायुक्त वृद्धिश्राद्ध आदिके अवसरोंपर ब्राह्मणोंको न्यायोपार्जित प्रचुर धन एवं श्रद्धासहित उत्तम गन्धयुक्त, सुस्वादु एवं पवित्र अन्नका दान किया है ॥ ११ ॥

इह क्षेत्रे क्रियते पार्थ कार्यं
न वै किञ्चित् क्रियते प्रेत्य कार्यम्।
कृतं त्वया पारलौक्यं च कर्म
पुण्यं महत् सद्भिरतिप्रशस्तम् ॥ १२ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस शरीरके रहते हुए ही कोई भी सत्कर्म किया जा सकता है। मरनेके बाद कोई कार्य नहीं किया जा सकता। आपने तो परलोकमें सुख देनेवाला महान् पुण्यकर्म किया है, जिसकी साधु पुरुषोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है ॥ १२ ॥

जहाति मृत्युं च जरां भयं च
न क्षुत्पिपासे मनसोऽप्रियाणि।
न कर्तव्यं विद्यते तत्र किञ्चि-
दन्यत्र वै चेन्द्रियप्रीणनाद्धि ॥ १३ ॥

(पुण्यात्मा) मनुष्य (स्वर्गलोकमें जाकर) मृत्यु, बुढ़ापा तथा भय त्याग देता है। वहाँ उसे मनके प्रतिकूल भूख-प्यासका कष्ट भी नहीं सहन करना पड़ता है। परलोकमें इन्द्रियोंको सुख पहुँचानेके सिवा दूसरा कोई कर्तव्य नहीं रह जाता है*॥

एवंरूपं कर्मफलं नरेन्द्र
मात्रावहं हृदयस्य प्रियेण।

---

* देवयोनि भोगयोनि है, कर्मयोनि नहीं। उसमें नवीन कर्म करनेके लिये देवता बाध्य नहीं हैं।

स क्रोधजं पाण्डव हर्षजं च
लोकावुभौ मा प्रहासीश्चिराय ॥ १४ ॥

नरेन्द्र ! इस प्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाले विषयसे कर्मफलकी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये । पाण्डुनन्दन ! आप क्रोधजनित नरक और हर्षजनित स्वर्ग—इन दोनों लोकोंमें कभी न जायँ (; अपितु सनातन मोक्ष-सुखके लिये निष्काम कर्म अथवा ज्ञानयोगका ही साधन करें) ॥ १४ ॥

अन्तं गत्वा कर्मणां मा प्रजह्याः
सत्यं दमं चार्जवमानृशंस्यम् ।
अश्वमेधं राजसूयं तथेज्याः
पापस्यान्तं कर्मणो मा पुनर्गाः ॥ १५ ॥

इस तरह (ज्ञानाग्निके द्वारा) कर्मोंको दग्ध करके सत्य, दम, आर्जव (सरलता) तथा अनृशंसता (दया) इन सद्गुणोंका कभी त्याग न करें । अश्वमेध, राजसूय और अन्य यज्ञोंको भी न छोड़ें; परंतु युद्ध-जैसे पापकर्मके निकट फिर कभी न जायँ ॥ १५ ॥

तच्चेदेवं द्वेषरूपेण पार्थाः
करिष्यध्वं कर्म पापं चिराय ।
निवसध्वं वर्षपूगान् वनेषु
दुःखं वासं पाण्डवा धर्म एव ॥ १६ ॥

कुन्तीकुमारो ! यदि आपलोगोंको राज्यके लिये चिरस्थायी विद्वेषके रूपमें युद्धरूप पापकर्म ही करना है, तब तो मैं यही कहूँगा कि आप बहुत वर्षोंतक दुःखमय वनवासका ही कष्ट भोगते रहें । पाण्डवो ! वह वनवास ही आपके लिये धर्मरूप होगा ॥ १६ ॥

अप्रव्रज्येमा स्म हित्वाऽऽपुरस्ता-
दात्माधीनं यद् बलं ह्येतदासीत् ।
नित्यं च वश्याः सचिवास्तवेमे
जनार्दनो युयुधानश्च वीरः ॥ १७ ॥

पहले (द्यूतक्रीडाके समय ही) हमलोग बलपूर्वक इन्हें अपने वशमें रखकर वनमें गये बिना ही यहाँ रह सकते थे; क्योंकि आज जो सेना एकत्र हुई है, यह पहले भी अपने ही लोगोंके अधीन थी और ये भगवान् श्रीकृष्ण तथा वीरवर सात्यकि सदासे ही आपलोगोंके (प्रेमके कारण) वशीभूत एवं आपके सहायक रहे हैं ॥ १७ ॥

मत्स्यो राजा रुक्मरथः सपुत्रः
प्रहारिभिः सह वीरैर्विराटः ।
राजानश्च ये विजिताः पुरस्तात्
त्वामेव ते संश्रयेयुः समस्ताः ॥ १८ ॥

प्रहार करनेमें कुशल वीर सैनिकों तथा पुत्रोंके साथ सुवर्णमय रथसे सुशोभित मत्स्यदेशके राजा विराट तथा दूसरे भी बहुत से नरेश, जिन्हें पहले आपलोगोंने युद्धमें जीता था, वे सबके सब संग्राममें आपका ही पक्ष लेते ॥ १८ ॥

महासहायः प्रतपन् बलस्थः
पुरस्कृतो वासुदेवार्जुनाभ्याम् ।
वरान् हनिष्यन् द्विषतो रङ्गमध्ये
व्यनेष्यथा धार्तराष्ट्रस्य दर्पम् ॥ १९ ॥

उस समय आप महान् सहायकोंसे सम्पन्न और बलशाली थे, आप श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके आगे-आगे चलकर शत्रुओंपर आक्रमण कर सकते थे । समराङ्गणमें अपने महान् शत्रुओंका संहार करते हुए आप दुर्योधनके घमंडको चूर-चूर कर सकते थे ॥ १९ ॥

बलं कस्माद् वर्धयित्वा परस्य
निजान् कस्मात् कर्शयित्वा सहायान् ।
निरुष्य कस्माद् वर्षपूगान् वनेषु
युयुत्ससे पाण्डव हीनकालम् ॥ २० ॥

पाण्डुनन्दन ! फिर क्या कारण है कि आपने शत्रुकी शक्तिको बढ़नेका अवसर दिया ? किसलिये अपने सहायकोंको दुर्बल बनाया और क्यों बारह वर्षोंतक वनमें निवास किया ? फिर आज जब वह अनुकूल अवसर बीत चुका है, आपको युद्ध करनेकी इच्छा क्यों हुई है ? ॥ २० ॥

अप्राज्ञो वा पाण्डव युध्यमानो-
ऽधर्मज्ञो वा भूतिमथोऽभ्युपैति ।
प्रज्ञावान् वा बुध्यमानोऽपि धर्मं
संरम्भाद् वा सोऽपि भूतेरपैति ॥ २१ ॥

पाण्डुकुमार ! अज्ञानी अथवा पापी मनुष्य भी युद्ध करके सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है और बुद्धिमान् अथवा धर्मज्ञ पुरुष भी दैवी बाधाके कारण पराजित होकर ऐश्वर्यसे हाथ धो बैठता है ॥ २१ ॥

नाधर्मे ते धीयते पार्थ बुद्धि-
र्न संरम्भात् कर्म चकर्थ पापम् ।
अद्धा किं तत् कारणं यस्य हेतोः
प्रज्ञाविरुद्धं कर्म चिकीर्षसीदम् ॥ २२ ॥

कुन्तीनन्दन ! आपकी बुद्धि कभी अधर्ममें नहीं लगती तथा आपने क्रोधमें आकर भी कभी पाप कर्म नहीं किया है, तो बताइये, कौन-सा ऐसा (प्रबल) कारण है, जिसके लिये अब आप अपनी बुद्धिके विरुद्ध यह युद्ध-जैसा पापकर्म करना चाहते हैं ?

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
यशोमुषं पापफलोदयं वा ।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ २३ ॥

महाराज ! जो बिना व्याधिके ही उत्पन्न होता है, स्वादमें कड़ुआ है, जिसके कारण सिरमें दर्द होने लगता है, जो यशका नाशक और पापरूप फलको प्रकट करनेवाला है, जो सज्जन पुरुषोंके ही पीने योग्य है, जिसे असाधु पुरुष नहीं पीते हैं, उस क्रोधको आप पी लीजिये और शान्त हो जाइये ॥ २३ ॥

पापानुबन्धं को नु तं कामयेत
क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः ।
यत्र भीष्मः शान्तनवो हतः स्याद्
यत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात् ॥ २४ ॥

जो पापकी जड़ है, उस क्रोधकी इच्छा कौन करेगा ? आपकी दृष्टिमें तो क्षमा ही सबसे श्रेष्ठ वस्तु है, वे भोग नहीं, जिनके लिये शान्तनुनन्दन भीष्म तथा पुत्रसहित आचार्य द्रोणकी हत्या की जाय ॥ २४ ॥

कृपः शल्यः सौमदत्तिर्विकर्णो
विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च ।
एतान् हत्वा कीदृशं तत् सुखं स्याद्
यद् विन्देथास्तदनु ब्रूहि पार्थ ॥ २५ ॥

कुन्तीनन्दन ! ऐसा कौन-सा सुख हो सकता है, जिसे आप कृपाचार्य, शल्य, भूरिश्रवा, विकर्ण, विविंशति, कर्ण तथा दुर्योधन—इन सबका वध करके पाना चाहते हैं, कृपया बताइये ॥ २५ ॥

लब्ध्वापीमां पृथिवीं सागरान्तां
जरामृत्यू नैव हि त्वं प्रजह्याः ।
प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राज-
न्नेवं विद्वान् नैव युद्धं कुरु त्वम् ॥ २६ ॥

राजन् ! समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीको पाकर भी आप जरा-मृत्यु, प्रिय-अप्रिय तथा सुख-दुःखसे पिण्ड नहीं छुड़ा सकते । आप इन सब बातोंको अच्छी तरह जानते हैं; अतः मेरी प्रार्थना है कि आप युद्ध न करें ॥ २६ ॥

अमात्यानां यदि कामस्य हेतो-
रेवं युक्तं कर्म चिकीर्षसि त्वम् ।
अपक्रामेः स्वं प्रदायैव तेषां
मा गास्त्वं वै देवयानात् पथोऽद्य ॥ २७ ॥

यदि आप अपने मन्त्रियोंकी इच्छासे ही ऐसा पापमय युद्ध करना चाहते हैं तो अपना सर्वस्व उन मन्त्रियोंको ही देकर वानप्रस्थ ग्रहण कर लीजिये; परंतु अपने कुटुम्बका वध करके देवयानमार्गसे भ्रष्ट न होइये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

संजयको युधिष्ठिरका उत्तर

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं संजय सत्यमेतद्
धर्मो वरः कर्मणां यत् त्वमात्थ ।
ज्ञात्वा तु मां संजय गर्हयेस्त्वं
यदि धर्मं यद्यधर्मं चरेयम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! सब प्रकारके कर्मोंमें धर्म ही श्रेष्ठ है । यह जो तुमने कहा है, वह बिल्कुल ठीक है । इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं है; परंतु मैं धर्म कर रहा हूँ या अधर्म, इस बातको पहले अच्छी तरह जान लो; फिर मेरी निन्दा करना ॥ १ ॥

यत्राधर्मो धर्मरूपाणि धत्ते
धर्मः कृत्स्नो दृश्यतेऽधर्मरूपः ।
बिभ्रद् धर्मो धर्मरूपं तथा च
विद्वांसस्तं सम्प्रपश्यन्ति बुद्ध्या ॥ २ ॥

कहीं तो अधर्म ही धर्मका रूप धारण कर लेता है, कहीं पूर्णतया धर्म ही अधर्म दिखायी देता है तथा कहीं धर्म अपने वास्तविक स्वरूपको ही धारण किये रहता है । विद्वान् पुरुष अपनी बुद्धिसे विचार करके उसके असली रूपको देख और समझ लेते हैं ॥ २ ॥

एवं तथैवापदि लिङ्गमेतद्
धर्माधर्मौ नित्यवृत्ती भजेताम् ।
आद्यं लिङ्गं यस्य तस्य प्रमाण-
मापद्धर्मं संजय तं निबोध ॥ ३ ॥

इस प्रकार जो यह विभिन्न वर्णोंका अपना-अपना लक्षण (लिङ्ग) (जैसे ब्राह्मणके लिये अध्ययनाध्यापन आदि, क्षत्रियके लिये शौर्य आदि तथा वैश्यके लिये कृषि आदि) है, वह ठीक उसी प्रकार उस-उस वर्णके लिये धर्मरूप है और वही दूसरे वर्णके लिये अधर्मरूप है । इस प्रकार यद्यपि धर्म और अधर्म

सदा सुनिश्चितरूपसे रहते हैं तथापि आपत्तिकालमें वे दूसरे वर्णके लक्षणको भी अपना लेते हैं। प्रथम वर्ण ब्राह्मणका जो विशेष लक्षण (याजन और अध्यापन आदि) है, वह उसीके लिये प्रमाणभूत है (क्षत्रिय आदिको आपत्तिकालमें भी याजन और अध्यापन आदिका आश्रय नहीं लेना चाहिये)। संजय ! आपद्धर्मका क्या स्वरूप है, उसे तुम (शास्त्रके वचनोंद्वारा) जानो ॥ ३ ॥

लुप्तायां तु प्रकृतौ येन कर्म
निष्पादयेत् तत् परीप्सेद् विहीनः।
प्रकृतिस्थश्चापदि वर्तमान
उभौ गर्ह्यौ भवतः संजयैतौ ॥ ४ ॥

प्रकृति (जीविकाके साधन) का सर्वथा लोप हो जानेपर जिस वृत्तिका आश्रय लेनेसे (जीवनकी रक्षा एवं) सत्कर्मोंका अनुष्ठान हो सके, जीविकाहीन पुरुष उसे अवश्य अपनानेकी इच्छा करे। संजय ! जो प्रकृतिस्थ (स्वाभाविक स्थितिमें स्थित) होकर भी आपद्धर्मका आश्रय लेता है, वह (अपनी लोभवृत्तिके कारण) निन्दनीय होता है तथा जो आपत्तिग्रस्त होनेपर भी (उस समयके अनुरूप शास्त्रोक्त साधनको अपनाकर) जीविका नहीं चलाता है, वह (जीवन और कुटुम्बकी रक्षा न करनेके कारण) गर्हणीय होता है। इस प्रकार ये दोनों तरहके लोग निन्दाके पात्र होते हैं ॥ ४ ॥

अविनाशमिच्छतां ब्राह्मणानां
प्रायश्चित्तं विहितं यद् विधात्रा।
सम्पश्येथाः कर्मसु वर्तमानान्
विकर्मस्थान् संजय गर्हयेस्त्वम् ॥ ५ ॥

सूत ! (जीविकाका मुख्य साधन न होनेपर) ब्राह्मणोंका नाश न हो जाय, ऐसी इच्छा रखनेवाले विधाताने जो (उनके लिये अन्य वर्णोंकी वृत्तिसे जीविका चलाकर अन्तमें) प्रायश्चित्त करनेका विधान किया है, उसपर दृष्टिपात करो। फिर यदि हम आपत्तिकालमें भी (स्वाभाविक) कर्मोंमें ही लगे हों और आपत्तिकाल न होनेपर भी अपने वर्णके विपरीत कर्मोंमें स्थित हो रहे हों तो उस दशामें हमें देखकर तुम (अवश्य) हमारी निन्दा करो ॥ ५ ॥

मनीषिणां सत्त्वविच्छेदनाय
विधीयते सत्सु वृत्तिः सदैव।
अब्राह्मणाः सन्ति तु ये न वैद्याः
सर्वोत्सङ्गं साधु मन्येत तेभ्यः ॥ ६ ॥

मनीषी पुरुषोंको सत्त्व आदिके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये सदा ही सत्पुरुषोंका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करना चाहिये, यह उनके लिये शास्त्रीय विधान है। परंतु जो ब्राह्मण नहीं हैं तथा जिनकी ब्रह्मविद्यामें निष्ठा नहीं है, उन सबके लिये सबके समीप अपने धर्मके अनुसार ही जीविका चलानी चाहिये ॥ ६ ॥

तद्ध्वानः पितरो ये च पूर्वे
पितामहा ये च तेभ्यः परेऽन्ये।
यज्ञैषिणो ये च हि कर्म कुर्यु-
र्नान्यं ततो नास्तिकोऽस्मीति मन्ये ॥ ७ ॥

यज्ञकी इच्छा रखनेवाले मेरे पूर्व पिता-पितामह आदि तथा उनके भी पूर्वज उसी मार्गपर चलते रहे (जिसकी मैंने ऊपर चर्चा की है) तथा जो कर्म करते हैं, वे भी उसी मार्गसे चलते आये हैं। मैं भी नास्तिक नहीं हूँ, इसलिये उसी मार्गपर चलता हूँ; उसके सिवा दूसरे मार्गपर विश्वास नहीं रखता हूँ ॥ ७ ॥

यत् किंचनेदं वित्तमस्यां पृथिव्यां
यद् देवानां त्रिदशानां परं यत्।
प्राजापत्यं त्रिदिवं ब्रह्मलोकं
नाधर्मतः संजय कामयेयम् ॥ ८ ॥

संजय ! इस धरातलपर जो कुछ भी धन-वैभव विद्यमान है, नित्य यौवनसे युक्त रहनेवाले देवताओंके यहाँ जो धनराशि है, उससे भी उत्कृष्ट जो प्रजापतिका धन है तथा जो स्वर्गलोक एवं ब्रह्मलोकका सम्पूर्ण वैभव है, वह सब मिल रहा हो, तो भी मैं उसे अधर्मसे लेना नहीं चाहूँगा ।८।

धर्मेश्वरः कुशलो नीतिमांश्चा-
प्युपासिता ब्राह्मणानां मनीषी।
नानाविधांश्चैव महाबलांश्च
राजन्यभोजाननुशास्ति कृष्णः ॥ ९ ॥

यदि ह्यहं विसृजन् साम गर्ह्यो
नियुध्यमानो यदि जह्यां स्वधर्मम्।
महायशाः केशवस्तद् ब्रवीतु
वासुदेवस्तूभयोरर्थकामः ॥ १० ॥

यहाँ धर्मके स्वामी, कुशल नीतिज्ञ, ब्राह्मण भक्त और मनीषी भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हैं, जो नाना प्रकारके महान् बलशाली क्षत्रियों तथा भोजवंशियोंका शासन करते हैं। यदि मैं सामनीति अथवा संधिका परित्याग करके निन्दाका पात्र होता होऊँ या युद्धके लिये उद्यत होकर अपने धर्मका उल्लङ्घन करता होऊँ तो ये महायशस्वी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अपने विचार प्रकट करें; क्योंकि ये दोनों पक्षोंका हित चाहनेवाले हैं ॥ ९-१० ॥

शैनेयोऽयं चेदयश्चान्धकाश्च
वार्ष्णेयभोजाः कुकुराः सृंजयाश्च।
उपासीना वासुदेवस्य बुद्धिं
निगृह्य शत्रून् सुहृदो नन्दयन्ति ॥ ११ ॥

ये सात्यकि, ये चेदिदेशके लोग, ये अन्धक, वृष्णि, भोज, कुकुर तथा सृंजयवंशके क्षत्रिय इन्हीं भगवान् वासुदेवकी सलाहसे चलकर अपने शत्रुओंको बंदी बनाते और सुहृदोंको आनन्दित करते हैं ॥ ११ ॥

वृष्ण्यन्धका ह्युग्रसेनादयो वै
कृष्णप्रणीताः सर्व एवेन्द्रकल्पाः ।
मनस्विनः सत्यपरायणाश्च
महाबला यादवा भोगवन्तः ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णकी बतायी हुई नीतिके अनुसार बर्ताव करनेसे वृष्णि और अन्धकवंशके सभी उग्रसेन आदि क्षत्रिय इन्द्रके समान शक्तिशाली हो गये हैं तथा सभी यादव मनस्वी, सत्यपरायण, महान् बलशाली और भोगसामग्रीसे सम्पन्न हुए हैं ॥ १२ ॥

काश्यो बभ्रुः श्रियमुत्तमां गतो
लब्ध्वा कृष्णं भ्रातरमीशितारम् ।
यस्मै कामान् वर्षति वासुदेवो
ग्रीष्मात्यये मेघ इव प्रजाभ्यः ॥ १३ ॥

(पौण्ड्रक वासुदेवके छोटे भाई) काशीनरेश बभ्रु श्रीकृष्णको ही शासक बन्धुके रूपमें पाकर उत्तम राज्यलक्ष्मीके अधिकारी हुए हैं । भगवान् श्रीकृष्ण बभ्रुके लिये समस्त मनोवाञ्छित भोगोंकी वर्षा उसी प्रकार करते हैं, जैसे वर्षाकालमें मेघ प्रजाओंके लिये जलकी वृष्टि करता है ॥ १३ ॥

ईदृशोऽयं केशवस्तात विद्वान्
विद्धि ह्येनं कर्मणां निश्चयज्ञम् ।
प्रियश्च नः साधुतमश्च कृष्णो
नातिक्रामे वचनं केशवस्य ॥ १४ ॥

तात संजय ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे प्रभावशाली और विद्वान् हैं । ये प्रत्येक कर्मका अन्तिम परिणाम जानते हैं । ये हमारे सबसे बढ़कर प्रिय तथा श्रेष्ठतम पुरुष हैं । मैं इनकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

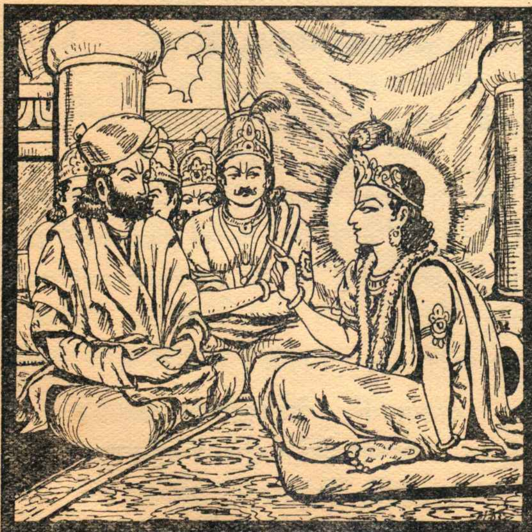
इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरवचनसम्बन्धी अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

संजयकी बातोंका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीकृष्णका उसे धृतराष्ट्रके लिये चेतावनी देना

वासुदेव उवाच

अविनाशं संजय पाण्डवाना-
मिच्छाम्यहं भूतिमेषां प्रियं च ।
तथा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सूत
समाशंसे बहुपुत्रस्य वृद्धिम् ॥ १ ॥

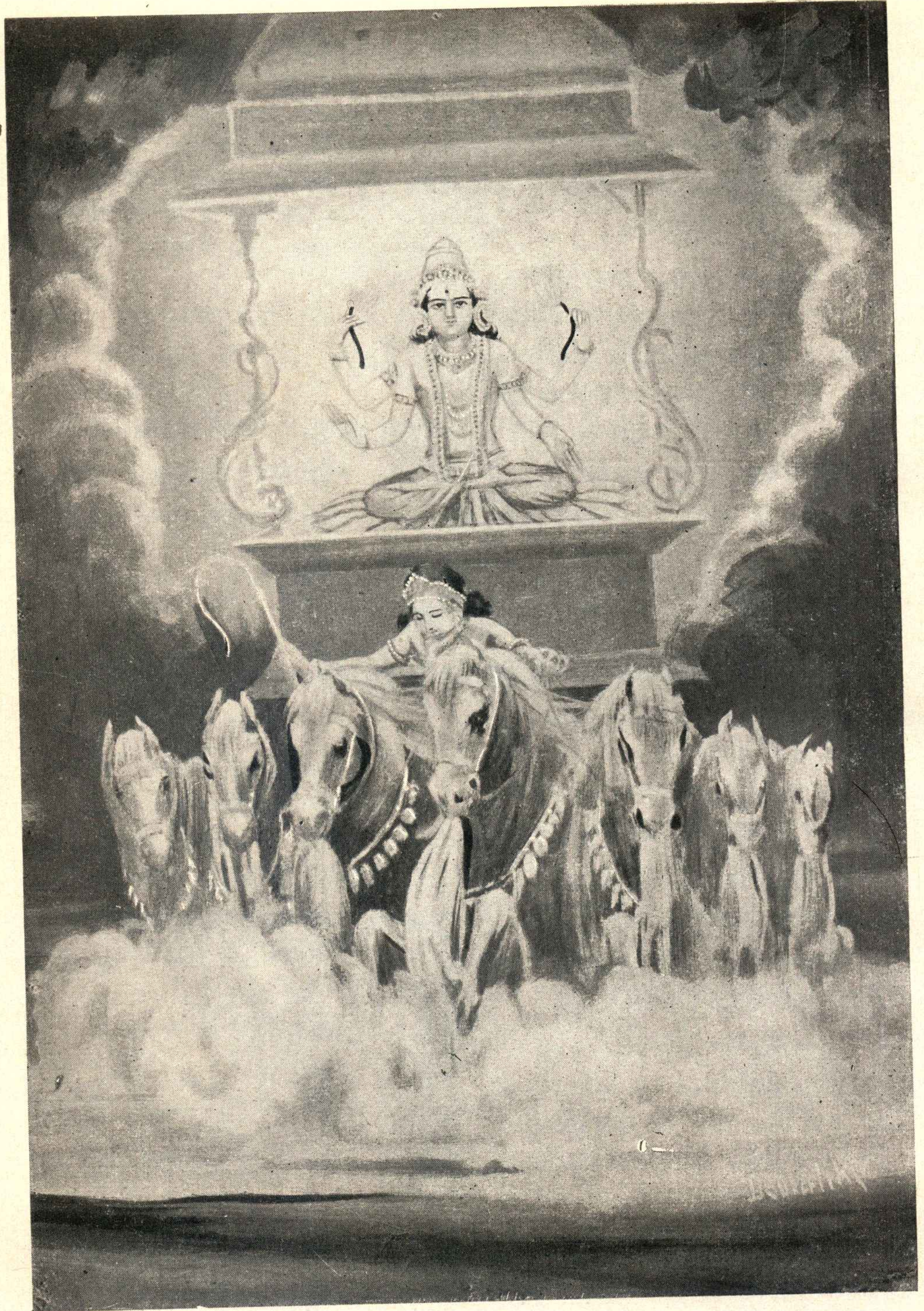


भगवान् श्रीकृष्णने कहा—सूत संजय ! मैं जिस प्रकार पाण्डवोंको विनाशसे बचाना, उनको ऐश्वर्य दिलाना तथा उनका प्रिय करना चाहता हूँ, उसी प्रकार अनेक पुत्रोंसे युक्त राजा धृतराष्ट्रका भी अभ्युदय चाहता हूँ ॥ १ ॥

कामो हि मे संजय नित्यमेव
नान्यद् ब्रूयां तान् प्रति शाम्यतेति ।
राज्ञश्च हि प्रियमेतच्छृणोमि
मन्ये चैतत् पाण्डवानां समक्षम् ॥ २ ॥

सूत ! मेरी भी सदा यही अभिलाषा है कि दोनों पक्षोंमें शान्ति बनी रहे । 'कुन्तीकुमारो ! कौरवोंसे संधि करो, उनके प्रति शान्त बने रहो,' इसके सिवा दूसरी कोई बात मैं पाण्डवोंके सामने नहीं कहता हूँ । राजा युधिष्ठिरके मुँहसे भी ऐसा ही प्रिय वचन सुनता हूँ और स्वयं भी इसीको ठीक मानता हूँ ॥ २ ॥

सुदुष्करस्तत्र शमो हि नूनं
प्रदर्शितः संजय पाण्डवेन ।
यस्मिन् गृद्धो धृतराष्ट्रः सपुत्रः
कस्मादेषां कलहो नावमूर्च्छेत् ॥ ३ ॥



आकाशचारी भगवान् सूर्यदेव

संजय ! जैसा कि पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने प्रकट किया है, राज्यके प्रश्नोंको लेकर दोनों पक्षोंमें शान्ति बनी रहे, यह अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है। पुत्रोंसहित धृतराष्ट्र (इनके स्वत्वरूप) जिस राज्यमें आसक्त होकर उसे लेनेकी इच्छा करते हैं, उसके लिये इन कौरव-पाण्डवोंमें कलह कैसे नहीं बढ़ेगा ? ॥ ३ ॥

न त्वं धर्मं विचरं संजयेह
मत्तश्च जानासि युधिष्ठिराच्च ।
अथो कस्मात् संजय पाण्डवस्य
उत्साहिनः पूरयतः स्वकर्म ॥ ४ ॥
यथाऽऽख्यातमावसतः कुटुम्बे
पुरा कस्मात् साधुविलोपमात्थ ।
अस्मिन् विधौ वर्तमाने यथाव-
दुच्चावचा मतयो ब्राह्मणानाम् ॥ ५ ॥

संजय ! तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मुझसे और युधिष्ठिरसे धर्मका लोप नहीं हो सकता, तो भी जो उत्साहपूर्वक स्वधर्मका पालन करते हैं तथा शास्त्रोंमें जैसा बताया गया है, उसके अनुसार ही कुटुम्ब (गृहस्थाश्रम) में रहते हैं, उन्हीं पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके धर्मलोपकी चर्चा या आशङ्का तुमने पहले किस आधारपर की है ? गृहस्थ-आश्रममें रहनेकी जो शास्त्रोक्त विधि है, उसके होते हुए भी इसके ग्रहण अथवा त्यागके विषयमें वेदज्ञ ब्राह्मणोंके भिन्न-भिन्न विचार हैं ॥ ४-५ ॥

कर्मणाऽऽहुः सिद्धिमेके परत्र
हित्वा कर्म विद्यया सिद्धिमेके ।
नाभुञ्जानो भक्ष्यभोज्यस्य तृप्येद्
विद्वानपीह विहितं ब्राह्मणानाम् ॥ ६ ॥

कोई तो (गृहस्थाश्रममें रहकर) कर्मयोगके द्वारा ही परलोकमें सिद्धि-लाभ होनेकी बात बताते हैं, *दूसरे लोग कर्मको त्यागकर ज्ञानके द्वारा ही सिद्धि (मोक्ष) का प्रतिपादन करते हैं।

विद्वान् पुरुष भी इस जगत्में भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंको भोजन किये बिना तृप्त नहीं हो सकता; अतएव विद्वान् ब्राह्मणके लिये भी क्षुधानिवृत्तिके लिये भोजन करनेका विधान है। ६।

* इस प्रकार यद्यपि गृहस्थाश्रममें रहने और संन्यास लेनेका भी शास्त्रद्वारा ही विधान किया गया है, तथापि अन्य आश्रमोंमें प्राप्त होनेवाले ज्ञानकी उपलब्धि तो गृहस्थाश्रममें भी हो सकती है, परंतु गृहस्थ-साध्य यज्ञादि पुण्यकर्म आश्रमान्तरोंमें नहीं हो सकते; अतः सम्पूर्ण धर्मोंकी सिद्धिका स्थान गृहस्थाश्रम ही है।

या वै विद्याः साधयन्तीह कर्म
तासां फलं विद्यते नेतरासाम् ।
तत्रेह वै दृष्टफलं तु कर्म
पीत्वोदकं शाम्यति तृष्णयाऽऽर्तः ॥ ७ ॥

जो विद्याएँ कर्मका सम्पादन करती हैं, उन्हींका फल दृष्टिगोचर होता है, दूसरी विद्याओंका नहीं। विद्या तथा कर्ममें भी कर्मका ही फल यहाँ प्रत्यक्ष दिखायी देता है। प्याससे पीड़ित मनुष्य जल पीकर ही शान्त होता है (उसे जानकर नहीं; अतः गृहस्थाश्रममें रहकर सत्कर्म करना ही श्रेष्ठ है) ॥ ७ ॥

सोऽयं विधिर्विहितः कर्मणैव
संवर्तते संजय तत्र कर्म ।
तत्र योऽन्यत् कर्मणः साधु मन्ये-
न्मोघं तस्यालपितं दुर्बलस्य ॥ ८ ॥

संजय ! ज्ञानका विधान भी कर्मको साथ लेकर ही है; अतः ज्ञानमें भी कर्म विद्यमान है। जो कर्मसे भिन्न कर्मोंके त्यागको श्रेष्ठ मानता है, वह दुर्बल है, उसका कथन व्यर्थ ही है ॥ ८ ॥

कर्मणामी भान्ति देवाः परत्र
कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वा ।
अहोरात्रे विदधत् कर्मणैव
अतन्द्रितो नित्यमुदेति सूर्यः ॥ ९ ॥

ये देवता कर्मसे ही स्वर्गलोकमें प्रकाशित होते हैं। वायुदेव कर्मको अपनाकर ही सम्पूर्ण जगत्में विचरण करते हैं तथा सूर्यदेव आलस्य छोड़कर कर्मद्वारा ही दिन-रातका विभाग करते हुए प्रतिदिन उदित होते हैं ॥ ९ ॥

मासार्धमासानथ नक्षत्रयोगा-
नतन्द्रितश्चन्द्रमाश्चाभ्युपैति ।
अतन्द्रितो दहते जातवेदाः
समिध्यमानः कर्म कुर्वन् प्रजाभ्यः ॥ १० ॥

चन्द्रमा भी आलस्य त्यागकर (कर्मके द्वारा ही) मास, पक्ष तथा नक्षत्रोंका योग प्राप्त करते हैं; इसी प्रकार जातवेदा (अग्निदेव) भी आलस्यरहित होकर प्रजाके लिये कर्म करते हुए ही प्रज्वलित होकर दाह-क्रिया सम्पन्न करते हैं।१०।

अतन्द्रिता भारमिमं महान्तं
बिभर्ति देवी पृथिवी बलेन ।
अतन्द्रिताः शीघ्रमपो वहन्ति
संतर्पयन्त्यः सर्वभूतानि नद्यः ॥ ११ ॥

पृथ्वीदेवी भी आलस्यशून्य हो (कर्ममें तत्पर रहकर ही) बलपूर्वक विश्वके इस महान् भारको ढोती हैं। ये नदियाँ भी आलस्य छोड़कर (कर्मपरायण हो) सम्पूर्ण

प्राणियोंको तृप्त करती हुई शीघ्रतापूर्वक जल बहाया करती हैं ॥ ११ ॥

अतन्द्रितो वर्षति भूरितेजाः
संनादयन्नन्तरिक्षं दिशश्च ।
अतन्द्रितो ब्रह्मचर्यं चचार
श्रेष्ठत्वमिच्छन् बलभिद् देवतानाम्॥ १२ ॥

जिन्होंने देवताओंमें श्रेष्ठ स्थान पानेकी इच्छासे तन्द्रारहित होकर ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया था, वे महातेजस्वी बल-सूदन इन्द्र भी आलस्य छोड़कर (कर्मपरायण होकर ही) मेघगर्जनाद्वारा आकाश तथा दिशाओंको गुँजाते हुए समय-समयपर वर्षा करते हैं ॥ १२ ॥

हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि
तेन शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप ।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो
दमं तितिक्षां समतां प्रियं च ॥ १३ ॥
एतानि सर्वाण्युपसेवमानः
स देवराज्यं मघवान् प्राप मुख्यम्।
बृहस्पतिर्ब्रह्मचर्यं चचार
समाहितः संशितात्मा यथावत्॥ १४ ॥
हित्वा सुखं प्रतिरुध्येन्द्रियाणि
तेन देवानामगमद् गौरवं सः ।
तथा नक्षत्राणि कर्मणामुत्र भान्ति
रुद्रादित्या वसवोऽथापि विश्वे ॥ १५ ॥

इन्द्रने सुख तथा मनको प्रिय लगनेवाली वस्तुओंका त्याग करके सत्कर्मके बलसे ही देवताओंमें ऊँची स्थिति प्राप्त की । उन्होंने सावधान होकर सत्य, धर्म, इन्द्रिय-संयम, सहिष्णुता, समदर्शिता तथा सबको प्रिय लगनेवाले उत्तम बर्तावका पालन किया था । इन समस्त सद्गुणोंका सेवन करनेके कारण ही इन्द्रको देवसम्राट्का श्रेष्ठ पद प्राप्त हुआ है । इसी प्रकार बृहस्पतिजीने भी नियमपूर्वक समाहित एवं संयतचित्त होकर सुखका परित्याग करके समस्त इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते हुए ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया था । इसी सत्कर्मके प्रभावसे उन्होंने देवगुरु-का सम्मानित पद प्राप्त किया है । आकाशके सारे नक्षत्र सत्कर्मके ही प्रभावसे परलोकमें प्रकाशित हो रहे हैं । रुद्र, आदित्य, वसु तथा विश्वेदेवगण भी कर्मबलसे ही महत्त्वको प्राप्त हुए हैं ॥ १३–१५ ॥

यमो राजा वैश्रवणः कुबेरो
गन्धर्वयक्षाप्सरसश्च सूत ।
ब्रह्मविद्यां ब्रह्मचर्यं क्रियां च
निषेवमाणा ऋषयोऽमुत्र भान्ति॥ १६ ॥

सूत ! यमराज, विश्रवाके पुत्र कुबेर, गन्धर्व, यक्ष तथा अप्सराएँ भी अपने-अपने कर्मोंके प्रभावसे ही स्वर्गमें विराजमान हैं । ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मचर्यकर्मका सेवन करने-वाले महर्षि भी कर्मबलसे ही परलोकमें प्रकाशमान हो रहे हैं ॥ १६ ॥

जानन्निमं सर्वलोकस्य धर्मं
विप्रेन्द्राणां क्षत्रियाणां विशां च ।
स कस्मात् त्वं जानतां ज्ञानवान् सन्
व्यायच्छसे संजय कौरवार्थे ॥ १७ ॥

संजय ! तुम श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा सम्पूर्ण लोकों-के इस सुप्रसिद्ध धर्मको जानते हो । तुम ज्ञानियोंमें भी श्रेष्ठ ज्ञानी हो, तो भी तुम कौरवोंकी स्वार्थसिद्धिके लिये क्यों वाग्जाल फैला रहे हो ? ॥ १७ ॥

आम्नायेषु नित्यसंयोगमस्य
तथाश्वमेधे राजसूये च विद्धि ।
संयुज्यते धनुषा वर्मणा च
हस्त्यश्वाद्यै रथशस्त्रैश्च भूयः ॥ १८ ॥
ते चेदिमे कौरवाणामुपाय-
मवगच्छेयुरवधेनैव पार्थाः ।
धर्मत्राणं पुण्यमेषां कृतं स्या-
दार्ये वृत्ते भीमसेनं निगृह्य ॥ १९ ॥

राजा युधिष्ठिरका वेद-शास्त्रोंके साथ स्वाध्यायके रूपमें सदा सम्बन्ध बना रहता है । इसी प्रकार अश्वमेध तथा राजसूय आदि यज्ञोंसे भी इनका सदा लगाव है । ये धनुष और कवचसे भी संयुक्त हैं । हाथी-घोड़े आदि वाहनों, रथों और अस्त्र-शस्त्रोंकी भी इनके पास कमी नहीं है । ये कुन्तीपुत्र यदि कौरवोंका वध किये बिना ही अपने राज्यकी प्राप्तिका कोई दूसरा उपाय जान लेंगे, तो भीमसेनको आग्रहपूर्वक आर्य पुरुषोंके द्वारा आचरित सद्व्यवहारमें लगाकर धर्मरक्षारूप पुण्यका ही सम्पादन करेंगे, तुम ऐसा (भलीभाँति) समझ लो ॥ १८-१९ ॥

ते चेत् पित्र्ये कर्मणि वर्तमाना
आपद्येरन् दिष्टवशेन मृत्युम् ।
यथाशक्त्या पूरयन्तः स्वकर्म
तदप्येषां निधनं स्यात् प्रशस्तम् ॥ २० ॥

पाण्डव अपने बाप-दादोंके कर्म—क्षात्रधर्म (युद्ध आदि) में प्रवृत्त हो यथाशक्ति अपने कर्तव्यका पालन करते हुए यदि दैववश मृत्युको भी प्राप्त हो जायँ तो इनकी वह मृत्यु उत्तम ही मानी जायगी ॥ २० ॥

उताहो त्वं मन्यसे शाम्यमेव
राज्ञां युद्धे वर्तते धर्मतन्त्रम् ।

अयुद्धे वा वर्तते धर्मतन्त्रं
तथैव ते वाचमिमां शृणोमि ॥ २१ ॥

यदि तुम शान्ति धारण करना ही ठीक समझते हो तो बताओ, युद्धमें प्रवृत्त होनेसे राजाओंके धर्मका ठीक-ठीक पालन होता है या युद्ध छोड़कर भाग जानेसे ? क्षत्रिय-धर्मका विचार करते हुए तुम जो कुछ भी कहोगे, मैं तुम्हारी वही बात सुननेको उद्यत हूँ ॥ २१ ॥

चातुर्वर्ण्यस्य प्रथमं संविभाग-
मवेक्ष्य त्वं संजय स्वं च कर्म ।
निशम्याथो पाण्डवानां च कर्म
प्रशंस वा निन्द वा या मतिस्ते ॥ २२ ॥

संजय ! तुम पहले ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके विभाग तथा उनमेंसे प्रत्येक वर्णके अपने-अपने कर्मको देख लो । फिर पाण्डवोंके वर्तमान कर्मपर दृष्टिपात करो; तत्पश्चात् जैसा तुम्हारा विचार हो, उसके अनुसार इनकी प्रशंसा अथवा निन्दा करना ॥ २२ ॥

अधीयीत ब्राह्मणो वै यजेत
दद्यादीयात् तीर्थमुख्यानि चैव ।
अध्यापयेद् याजयेच्चापि याज्यान्
प्रतिग्रहान् वा विहितान् प्रतीच्छेत् ॥ २३ ॥

ब्राह्मण अध्ययन, यज्ञ एवं दान करे तथा प्रधान-प्रधान तीर्थोंकी यात्रा करे, शिष्योंको पढ़ावे और यजमानोंका यज्ञ करावे अथवा शास्त्रविहित प्रतिग्रह (दान) स्वीकार करे ॥

(अधीयीत क्षत्रियोऽथो यजेत
दद्याद् दानं न तु याचेत किंचित् ।
न याजयेन्नापि चाध्यापयीत
एष स्मृतः क्षत्रधर्मः पुराणः ॥)

इसी प्रकार क्षत्रिय स्वाध्याय, यज्ञ और दान करे । किसीसे किसी भी वस्तुकी याचना न करे । वह न तो दूसरोंका यज्ञ करावे और न अध्यापनका ही कार्य करे; यही धर्मशास्त्रोंमें क्षत्रियोंका प्राचीन धर्म बताया गया है ॥

तथा राजन्यो रक्षणं वै प्रजानां
कृत्वा धर्मेणाप्रमत्तोऽथ दत्त्वा ।
यज्ञैरिष्ट्वा सर्ववेदानधीत्य
दारान् कृत्वा पुण्यकृदावसेद् गृहान् ॥ २४ ॥
स धर्मात्मा धर्ममधीत्य पुण्यं
यदिच्छया व्रजति ब्रह्मलोकम् ।

इसके सिवा क्षत्रिय धर्मके अनुसार सावधान रहकर प्रजाजनोंकी रक्षा करे, दान दे, यज्ञ करे, सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके विवाह करे और पुण्य कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ गृहस्थाश्रममें रहे । इस प्रकार वह धर्मात्मा क्षत्रिय धर्म एवं पुण्यका सम्पादन करके अपनी इच्छाके अनुसार ब्रह्मलोकको जाता है ॥ २४½ ॥

वैश्योऽधीत्य कृषिगोरक्षपण्यै-
र्वित्तं चिन्वन् पालयन्नप्रमत्तः ॥ २५ ॥
प्रियं कुर्वन् ब्राह्मणक्षत्रियाणां
धर्मशीलः पुण्यकृदावसेद् गृहान् ।

वैश्य अध्ययन करके कृषि, गोरक्षा तथा व्यापारद्वारा धनोपार्जन करते हुए सावधानीके साथ उसकी रक्षा करे । ब्राह्मणों और क्षत्रियोंका प्रिय करते हुए धर्मशील एवं पुण्यात्मा होकर वह गृहस्थाश्रममें निवास करे ॥ २५½ ॥

परिचर्या वन्दनं ब्राह्मणानां
नाधीयीत प्रतिषिद्धोऽस्य यज्ञः ।
नित्योत्थितो भूतयेऽतन्द्रितः स्या-
देवं स्मृतः शूद्रधर्मः पुराणः ॥ २६ ॥

शूद्र ब्राह्मणोंकी सेवा तथा वन्दना करे, वेदोंका स्वाध्याय न करे । उसके लिये यज्ञका भी निषेध है । वह सदा उद्योगी और आलस्यरहित होकर अपने कल्याणके लिये चेष्टा करे । इस प्रकार शूद्रोंका प्राचीन धर्म बताया गया है ॥ २६ ॥

एतान् राजा पालयन्नप्रमत्तो
नियोजयन् सर्ववर्णान् स्वधर्मे ।
अकामात्मा समवृत्तिः प्रजासु
नाधार्मिकाननुरुध्येत कामान् ॥ २७ ॥

राजा सावधानीके साथ इन सब वर्णोंका पालन करते हुए ही इन्हें अपने-अपने धर्ममें लगावे । वह कामभोगमें आसक्त न होकर समस्त प्रजाओंके साथ समानभावसे बर्ताव करे और पापपूर्ण इच्छाओंका कदापि अनुसरण न करे ॥ २७ ॥

श्रेयांस्तस्माद् यदि विद्येत कश्चि-
दभिज्ञातः सर्वधर्मोपपन्नः ।
स तं द्रष्टुमनुशिष्यात् प्रजानां
न चैतद् बुध्येदिति तस्मिन्नसाधु ॥ २८ ॥

यदि राजाको यह ज्ञात हो जाय कि उसके राज्यमें कोई सर्वधर्मसम्पन्न श्रेष्ठ पुरुष निवास करता है तो वह उसीको प्रजाके गुण-दोषका निरीक्षण करनेके लिये नियुक्त करे तथा उसके द्वारा पता लगवावे कि मेरे राज्यमें कोई पापकर्म करनेवाला तो नहीं है ॥ २८ ॥

यदा गृध्येत् परभूतौ नृशंसो
विधिप्रकोपाद् बलमाददानः ।
ततो राज्ञामभवद् युद्धमेतत्
तत्र जातं वर्म शस्त्रं धनुश्च ॥ २९ ॥

जब कोई क्रूर मनुष्य दूसरेकी धन-सम्पत्तिमें लालच रखकर उसे ले लेनेकी इच्छा करता है और विधाताके कोपसे

(परपीडनके लिये) सेना-संग्रह करने लगता है, उस समय राजाओंमें युद्धका अवसर उपस्थित होता है। इस युद्धके लिये ही कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुषका आविष्कार हुआ है ॥ २९ ॥

इन्द्रेणैतद् दस्युवधाय कर्म
उत्पादितं वर्म शस्त्रं धनुश्च ॥ ३० ॥

स्वयं देवराज इन्द्रने ऐसे लुटेरोंका वध करनेके लिये कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुषका आविष्कार किया है॥ ३० ॥

तत्र पुण्यं दस्युवधेन लभ्यते
सोऽयं दोषः कुरुभिस्तीव्ररूपः ।
अधर्मज्ञैर्धर्ममबुध्यमानैः
प्रादुर्भूतः संजय साधु तन्न ॥ ३१ ॥

(राजाओंको) लुटेरोंका वध करनेसे पुण्यकी प्राप्ति होती है। संजय ! कौरवोंमें यह लुटेरेपनका दोष तीव्ररूपसे प्रकट हो गया है, जो अच्छा नहीं है। वे अधर्मके तो पूरे पण्डित हैं; परंतु धर्मकी बात बिल्कुल नहीं जानते ॥ ३१ ॥

तत्र राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
धर्म्यं हरेत् पाण्डवानामकस्मात् ।
नावेक्षन्ते राजधर्मं पुराणं
तदन्वयाः कुरवः सर्व एव ॥ ३२ ॥

राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके साथ मिलकर सहसा पाण्डवोंके धर्मतः प्राप्त उनके पैतृक राज्यका अपहरण करनेको उतारू हो गये हैं। अन्य समस्त कौरव भी उन्हींका अनुसरण कर रहे हैं। वे प्राचीन राजधर्मकी ओर नहीं देखते हैं ॥३२॥

स्तेनो हरेद् यत्र धनं ह्यदृष्टः
प्रसह्य वा यत्र हरेत दृष्टः ।
उभौ गर्ह्यौ भवतः संजयैतौ
किं वै पृथक्त्वं धृतराष्ट्रस्य पुत्रे ॥ ३३ ॥

चोर छिपा रहकर धन चुरा ले जाय अथवा सामने आकर डाका डाले, दोनों ही दशाओंमें वे चोर-डाकू निन्दाके ही पात्र होते हैं। संजय ! तुम्हीं कहो, धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन और उन चोर-डाकुओंमें क्या अन्तर है ? ॥३३॥

सोऽयं लोभान्मन्यते धर्ममेतं
यमिच्छति क्रोधवशानुगामी ।
भागः पुनः पाण्डवानां निविष्ट-
स्तं नः कस्मादाददीरन् परे वै ॥ ३४ ॥

दुर्योधन क्रोधके वशीभूत हो उसके अनुसार चलनेवाला है और वह लोभसे राज्यको ले लेना चाहता है। इसे वह धर्म मान रहा है; परंतु वह तो पाण्डवोंका भाग है, जो कौरवोंके यहाँ धरोहरके रूपमें रक्खा गया है। संजय ! हमारे उस भागको हमसे शत्रुता रखनेवाले कौरव कैसे ले सकते हैं ? ॥ ३४ ॥

अस्मिन् पदे युध्यतां नो वधोऽपि
श्लाघ्यः पित्र्यं परराज्याद् विशिष्टम् ।
एतान् धर्मान् कौरवाणां पुराणा-
नाचक्षीथाः संजय राजमध्ये ॥ ३५ ॥

सूत ! इस राज्यभागकी प्राप्तिके लिये युद्ध करते हुए हमलोगोंका वध हो जाय तो वह भी हमारे लिये स्पृहणीय ही है। बाप-दादोंका राज्य पराये राज्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। संजय ! तुम राजाओंकी मण्डलीमें राजाओंके इन प्राचीन धर्मोंका कौरवोंके समक्ष वर्णन करना ॥ ३५ ॥

एते मदान्मृत्युवशाभिपन्नाः
समानीता धार्तराष्ट्रेण मूढाः ।
इदं पुनः कर्म पापीय एव
सभामध्ये पश्य वृत्तं कुरूणाम् ॥ ३६ ॥

दुर्योधनने जिन्हें युद्धके लिये बुलवाया है, वे मूर्ख राजा बलके मदसे मोहित होकर मौतके फंदेमें फँस गये हैं। संजय ! भरी सभामें कौरवोंने जो यह अत्यन्त पापपूर्ण कर्म किया था, उनके इस दुराचारपर दृष्टि डालो ॥ ३६ ॥

प्रियां भार्यां द्रौपदीं पाण्डवानां
यशस्विनीं शीलवृत्तोपपन्नाम् ।
यदुपैक्षन्त कुरवो भीष्ममुख्याः
कामानुगेनोपरुद्धां व्रजन्तीम् ॥ ३७ ॥

पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी यशस्विनी द्रौपदी जो शील और सदाचारसे सम्पन्न है, रजस्वला-अवस्थामें सभाके भीतर लायी जा रही थी, परंतु भीष्म आदि प्रधान कौरवोंने भी उसकी ओरसे उपेक्षा दिखायी ॥ ३७ ॥

तं चेत् तदा ते सकुमारवृद्धा
अवारयिष्यन् कुरवः समेताः ।
मम प्रियं धृतराष्ट्रोऽकरिष्यत्
पुत्राणां च कृतमस्याभविष्यत् ॥ ३८ ॥

यदि बालकसे लेकर बूढ़ेतक सभी कौरव उस समय दुःशासनको रोक देते तो राजा धृतराष्ट्र मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करते तथा उनके पुत्रोंका भी प्रिय मनोरथ सिद्ध हो जाता ॥ ३८ ॥

दुःशासनः प्रातिलोम्यान्निनाय
सभामध्ये श्वशुराणां च कृष्णाम् ।
सा तत्र नीता करुणं व्यपेक्ष्य
नान्यं क्षत्तुर्नाथमवाप किंचित् ॥ ३९ ॥

दुःशासन मर्यादाके विपरीत द्रौपदीको सभाके भीतर श्वशुरजनोंके समक्ष घसीट ले गया। द्रौपदीने वहाँ जाकर कातर-

भावसे चारों ओर करुणदृष्टि डाली; परंतु उसने वहाँ विदुरजीके सिवा और किसीको अपना रक्षक नहीं पाया ॥ ३९ ॥

कार्पण्यादेव सहितास्तत्र भूपा
नाशक्नुवन् प्रतिवक्तुं सभायाम्।
एकः क्षत्ता धर्म्यमर्थं ब्रुवाणो
धर्मबुद्ध्या प्रत्युवाचाल्पबुद्धिम्॥ ४० ॥

उस समय सभामें बहुत-से भूपाल एकत्रित थे, परंतु अपनी कायरताके कारण वे उस अन्यायका प्रतिवाद न कर सके । एकमात्र विदुरजीने अपना धर्म समझकर मन्दबुद्धि दुर्योधनसे धर्मानुकूल वचन कहकर उसके अन्यायका विरोध किया ॥ ४० ॥

अबुद्ध्वा त्वं धर्ममेतं सभाया-
मथेच्छसे पाण्डवस्योपदेष्टुम् ।
कृष्णा त्वेतत् कर्म चकार शुद्धं
सुदुष्करं तत्र सभां समेत्य ॥ ४१ ॥
येन कृच्छ्रात् पाण्डवानुज्जहार
तथाऽऽत्मानं नौरिव सागरौघात्।
यत्राब्रवीत् सूतपुत्रः सभायां
कृष्णां स्थितां श्वशुराणां समीपे ॥ ४२ ॥
न ते गतिर्विद्यते याज्ञसेनि
प्रपद्य दासी धार्तराष्ट्रस्य वेश्म ।
पराजितास्ते पतयो न सन्ति
पतिं चान्यं भाविनि त्वं वृणीष्व ॥ ४३ ॥

संजय ! द्यूतसभामें जो अन्याय हुआ था, उसे भुलाकर तुम पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको धर्मका उपदेश देना चाहते हो । द्रौपदीने उस दिन सभामें जाकर अत्यन्त दुष्कर और पवित्र कार्य किया कि उसने पाण्डवों तथा अपनेको महान् संकटसे बचा लिया; ठीक उसी तरह, जैसे नौका समुद्रकी अगाध जलराशिमें डूबनेसे बचा लेती है । उस सभामें कृष्णा श्वशुरजनोंके समीप खड़ी थी, तो भी सूतपुत्र कर्णने उसे अपमानित करते हुए कहा—'याज्ञसेनि ! अब तेरे लिये दूसरी गति नहीं है, तू दासी बनकर दुर्योधनके महलमें चली जा । पाण्डव जूएमें अपनेको हार चुके हैं, अतः अब वे तेरे पति नहीं रहे । भाविनि ! अब तू किसी दूसरेको अपना पति वरण कर ले' ॥४१–४३॥

यो बीभत्सोर्हृदये प्रौत आसी-
दस्थिच्छिन्दन् मर्मघाती सुघोरः ।
कर्णाच्छरो वाङ्मयस्तिग्मतेजाः
प्रतिष्ठितो हृदये फाल्गुनस्य ॥ ४४ ॥

कर्णके मुखसे निकला हुआ वह अत्यन्त घोर कटुवचन-रूपी बाण मर्मपर चोट पहुँचानेवाला था । वह कानके रास्तेसे भीतर जाकर हड्डियोंको छेदता हुआ अर्जुनके हृदयमें धँस गया । तीखी कसक पैदा करनेवाला वह वाग्बाण आज भी अर्जुनके हृदयमें गड़ा हुआ है (और इनके कलेजेको साल रहा है)॥ ४४ ॥

कृष्णाजिनानि परिधित्समानान्
दुःशासनः कटुकान्यभ्यभाषत् ।
एते सर्वे षण्ढतिला विनष्टाः
क्षयं गता नरकं दीर्घकालम् ॥ ४५ ॥

जिस समय पाण्डव वनमें जानेके लिये कृष्णमृगचर्म धारण करना चाहते थे, उस समय दुःशासनने उनके प्रति कितनी ही कड़वी बातें कहीं—'ये सब-के-सब हीजड़े अब नष्ट हो गये, चिरकालके लिये नरकके गर्तमें गिर गये' ॥

गान्धारराजः शकुनिर्निकृत्या
यदब्रवीद् द्यूतकाले स पार्थम् ।
पराजितो नन्दनः किं तवास्ति
कृष्णया त्वं दीव्य वै याज्ञसेन्या ॥ ४६ ॥

गान्धारराज शकुनिने द्यूतक्रीड़ाके समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे शठतापूर्वक यह बात कही थी कि अब तो तुम अपने छोटे भाईको भी हार गये, अब तुम्हारे पास क्या है ! इसलिये इस समय तुम द्रुपदनन्दिनी कृष्णाको दाँवपर रखकर जूआ खेलो ॥ ४६ ॥

जानासि त्वं संजय सर्वमेतद्
द्यूते वाक्यं गर्ह्यमेवं यथोक्तम् ।
स्वयं त्वहं प्रार्थये तत्र गन्तुं
समाधातुं कार्यमेतद् विपन्नम् ॥ ४७ ॥

संजय ! (कहाँतक गिनाऊँ,) जूएके समय जितने और जैसे निन्दनीय वचन कहे गये थे, वे सब तुम्हें ज्ञात हैं, तथापि इस बिगड़े हुए कार्यको बनानेके लिये मैं स्वयं हस्तिनापुर चलना चाहता हूँ ॥ ४७ ॥

अहापयित्वा यदि पाण्डवार्थं
शमं कुरूणामपि चेच्छकेयम् ।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महोदयं
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥ ४८ ॥

यदि पाण्डवोंका स्वार्थ नष्ट किये बिना ही मैं कौरवोंके साथ इनकी संधि करानेमें सफल हो सका तो मेरेद्वारा यह परम पवित्र और महान् अभ्युदयका कार्य सम्पन्न हो जायगा तथा कौरव भी मौतके फंदेसे छूट जायँगे ॥ ४८ ॥

अपि मे वाचं भाषमाणस्य काव्यां
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्राम् ।
अवेक्षेरन् धार्तराष्ट्राः समक्षं
मां च प्राप्तं कुरवः पूजयेयुः ॥ ४९ ॥

मैं वहाँ जाकर शुक्रनीतिके अनुसार धर्म और अर्थसे युक्त ऐसी बातें कहूँगा, जो हिंसावृत्तिको दबानेवाली होंगी। क्या धृतराष्ट्रके पुत्र मेरी उन बातोंपर विचार करेंगे ? क्या कौरवगण अपने सामने उपस्थित होनेपर मेरा सम्मान करेंगे ?

अतोऽन्यथा रथिना फाल्गुनेन
भीमेन चैवाहवदंशितेन।
परासिक्तान् धार्तराष्ट्रांश्च विद्धि
प्रदह्यमानान् कर्मणा स्वेन पापान् ॥ ५० ॥

संजय ! यदि ऐसा नहीं हुआ—कौरवोंने इसके विपरीत भाव दिखाया तो समझ लो कि रथपर बैठे हुए अर्जुन और युद्धके लिये कवच धारण करके तैयार हुए भीमसेनके द्वारा पराजित होकर धृतराष्ट्रके वे सभी पापात्मा पुत्र अपने ही कर्मदोषसे दग्ध हो जायँगे ॥ ५० ॥

पराजितान् पाण्डवेयांस्तु वाचो
रौद्रा रूक्षा भाषते धार्तराष्ट्रः।
गदाहस्तो भीमसेनोऽप्रमत्तो
दुर्योधनं स्मारयिता हि काले ॥ ५१ ॥

द्यूतके समय जब पाण्डव हार गये थे, तब दुर्योधनने उनके प्रति बड़ी भयानक और कड़वी बातें कही थीं; अतः सदा सावधान रहनेवाले भीमसेन युद्धके समय गदा हाथमें लेकर दुर्योधनको उन बातोंकी याद दिलायेंगे ॥ ५१ ॥

सुयोधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ॥ ५२ ॥

दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्षके समान है, कर्ण उस वृक्षका स्कन्ध, शकुनि शाखा और दुःशासन समृद्ध फल-पुष्प है। अज्ञानी राजा धृतराष्ट्र ही इसके मूल (जड़) हैं ॥५२॥

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।
माद्रीपुत्रौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं त्वहं ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर धर्ममय विशाल वृक्ष हैं। अर्जुन (उस वृक्षके) स्कन्ध, भीमसेन शाखा और माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव इसके समृद्ध फल-पुष्प हैं। मैं, वेद और ब्राह्मण ही इस वृक्षके मूल (जड़) हैं ॥ ५३ ॥

वनं राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
व्याघ्रास्ते वै संजय पाण्डुपुत्राः।
सिंहाभिगुप्तं न वनं विनश्येत्
सिंहो न नश्येत वनाभिगुप्तः ॥ ५४ ॥

संजय ! पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र एक वन हैं और पाण्डव उस वनमें निवास करनेवाले व्याघ्र हैं। सिंहोंसे रक्षित वन नष्ट नहीं होता एवं वनमें रहकर सुरक्षित सिंह नष्ट नहीं होता उस वनका उच्छेद न करो ॥ ५४ ॥

निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम्।
तस्माद् व्याघ्रो वनं रक्षेद् वनं व्याघ्रं च पालयेत् ॥ ५५ ॥

क्योंकि वनसे बाहर निकला हुआ व्याघ्र मारा जाता है और बिना व्याघ्रके वनको सब लोग आसानीसे काट लेते हैं। अतः व्याघ्र वनकी रक्षा करे और वन व्याघ्रकी ॥ ५५ ॥

लताधर्मा धार्तराष्ट्राः शालाः संजय पाण्डवाः।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥ ५६ ॥

संजय ! धृतराष्ट्रके पुत्र लताओंके समान हैं और पाण्डव शाल-वृक्षोंके समान। कोई भी लता किसी महान् वृक्षका आश्रय लिये बिना कभी नहीं बढ़ती है (अतः पाण्डवोंका आश्रय लेकर ही धृतराष्ट्रपुत्र बढ़ सकते हैं) ॥ ५६ ॥

स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिंदमाः।
यत् कृत्यं धृतराष्ट्रस्य तत् करोतु नराधिपः ॥ ५७ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीपुत्र धृतराष्ट्रकी सेवा करनेके लिये भी उद्यत हैं और युद्धके लिये भी। अब राजा धृतराष्ट्रका जो कर्तव्य हो, उसका वे पालन करें ॥ ५७ ॥

स्थिताः शमे महात्मानः पाण्डवा धर्मचारिणः।
योधाः समर्थास्तद् विद्वन्नाचक्षीथा यथातथम् ॥ ५८ ॥

विद्वान् संजय ! धर्मका आचरण करनेवाले महात्मा पाण्डव शान्तिके लिये भी तैयार हैं और युद्ध करनेमें भी समर्थ हैं। इन दोनों अवस्थाओंको समझकर तुम राजा धृतराष्ट्रसे यथार्थ बातें कहना ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि कृष्णवाक्ये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यसम्बन्धी उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५९ श्लोक हैं)

त्रिंशोऽध्यायः

संजयकी विदाई तथा युधिष्ठिरका संदेश

संजय उवाच

आमन्त्रये त्वां नरदेवदेव
गच्छाम्यहं पाण्डव स्वस्ति तेऽस्तु ।
कच्चिन्न वाचा वृजिनं हि किंचि-
दुच्चारितं मे मनसोऽभिषङ्गात् ॥ १ ॥

संजयने कहा—नरदेवदेव पाण्डुनन्दन ! आपका कल्याण हो। अब मैं आपसे विदा लेता और हस्तिनापुरको जाता हूँ। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि मैंने मानसिक आवेगके कारण वाणीद्वारा कोई ऐसी बात कह दी हो, जिससे आपको कष्ट हुआ हो ? ॥ १ ॥

जनार्दनं भीमसेनार्जुनौ च
माद्रीसुतौ सात्यकिं चेकितानम् ।
आमन्त्र्य गच्छामि शिवं सुखं वः
सौम्येन मां पश्यत चक्षुषा नृपाः ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, सात्यकि तथा चेकितानसे भी आज्ञा लेकर मैं जा रहा हूँ। आपलोगोंको सुख और कल्याणकी प्राप्ति हो। राजाओ ! आप मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखें ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनुज्ञातः संजय स्वस्ति गच्छ
न नः स्मरस्यप्रियं जातु विद्वन् ।
विद्मश्च त्वां ते च वयं च सर्वे
शुद्धात्मानं मध्यगतं सभास्थम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! मैं तुम्हें जानेकी अनुमति देता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम जाओ। विद्वन् ! तुम कभी हमलोगोंका अनिष्ट-चिन्तन नहीं करते हो। इसलिये कौरव तथा हमलोग सभी तुम्हें शुद्धचित्त एवं मध्यस्थ सदस्य समझते हैं ॥ ३ ॥

आप्तो दूतः संजय सुप्रियोऽसि
कल्याणवाक् शीलवांस्तृप्तिमांश्च ।
न मुह्येस्त्वं संजय जातु मत्या
न च क्रुद्ध्येरुच्यमानो दुरुक्तैः ॥ ४ ॥

संजय ! तुम विश्वसनीय दूत और हमारे अत्यन्त प्रिय हो। तुम्हारी बातें कल्याणकारिणी होती हैं। तुम शीलवान् और संतोषी हो। तुम्हारी बुद्धि कभी मोहित नहीं होती और कटु वचन सुनकर भी तुम कभी क्रोध नहीं करते हो ॥ ४॥

न मर्मगां जातु वक्तासि रूक्षां
नोपश्रुतिं कटुकां नोत मुक्ताम् ।
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्रा-
मेतां वाचं तव जानीम सूत ॥ ५ ॥

सूत ! तुम्हारे मुखसे कभी कोई ऐसी बात नहीं निकलती, जो कड़वी होनेके साथ ही मर्मपर आघात करनेवाली हो। तुम नीरस और अप्रासङ्गिक बात भी नहीं बोलते। हम अच्छी तरह जानते हैं कि तुम्हारा यह कथन धर्मानुकूल होनेके कारण मनोहर, अर्थयुक्त तथा हिंसाकी भावनासे रहित है ॥ ५ ॥

त्वमेव नः प्रियतमोऽसि दूत
इहागच्छेद् विदुरो वा द्वितीयः ।
अभीक्ष्णदृष्टोऽसि पुरा हि नस्त्वं
धनंजयस्यात्मसमः सखासि ॥ ६ ॥

संजय ! तुम्हीं हमारे अत्यन्त प्रिय हो। जान पड़ता है, दूसरे विदुरजी ही (दूत बनकर) यहाँ आ गये हैं। पहले भी तुम हमसे बारंबार मिलते रहे हो और धनंजयके तो तुम अपने आत्माके समान प्रिय सखा हो ॥ ६ ॥

इतो गत्वा संजय क्षिप्रमेव
उपातिष्ठेथा ब्राह्मणान् ये तदर्हाः ।
विशुद्धवीर्यांश्चरणोपपन्नाः
कुले जाताः सर्वधर्मोपपन्नाः ॥ ७ ॥

संजय ! यहाँसे जाकर तुम शीघ्र ही जो आदर और सम्मानके योग्य हैं, उन विशुद्ध शक्तिशाली, ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न, कुलीन तथा सर्वधर्मसम्पन्न ब्राह्मणोंको हमारी ओरसे प्रणाम कहना ॥ ७ ॥

स्वाध्यायिनो ब्राह्मणा भिक्षवश्च
तपस्विनो ये च नित्या वनेषु ।
अभिवाद्या वै मद्वचनेन वृद्धा-
स्तथेतरेषां कुशलं वदेथाः ॥ ८ ॥

स्वाध्यायशील ब्राह्मणों, संन्यासियों तथा सदा वनमें निवास करनेवाले तपस्वी मुनियों एवं बड़े-बूढ़े लोगोंसे हमारी ओरसे प्रणाम कहना और दूसरे लोगोंसे भी कुशल-समाचार पूछना ॥ ८ ॥

पुरोहितं धृतराष्ट्रस्य राज्ञ-
स्तथाऽऽचार्यानृत्विजो ये च तस्य ।
तैश्च त्वं तात सहितैर्यथार्हं
संगच्छेथाः कुशलेनैव सूत ॥ ९ ॥

तात संजय ! राजा धृतराष्ट्रके पुरोहित, आचार्य तथा उनके ऋत्विजोंसे भी (उनके साथ भेंट होनेपर) तुम

(हमारी ओरसे) कुशल-मङ्गलका समाचार पूछते हुए ही मिलना ॥ ९ ॥

(ततोऽव्यग्रस्तन्मनाः प्राञ्जलिश्च
कुर्या नमो मद्वचनेन तेभ्यः ।)

तदनन्तर शान्तभावसे उन्हींकी ओर मनकी वृत्तियोंको एकाग्र करके हाथ जोड़कर मेरे कहनेसे उन सबको प्रणाम निवेदन करना ॥

अश्रोत्रिया ये च वसन्ति वृद्धा
मनस्विनः शीलबलोपपन्नाः ।
आशंसन्तोऽस्माकमनुस्मरन्तो
यथाशक्ति धर्ममात्रां चरन्तः ॥ १० ॥
श्लाघस्व मां कुशलिनं स्म तेभ्यो
ह्यनामयं तात पृच्छेर्जघन्यम् ।

तात ! जो अश्रोत्रिय (शूद्र) वृद्ध पुरुष मनस्वी तथा शील और बलसे सम्पन्न हैं एवं हस्तिनापुरमें निवास करते हैं, जो यथाशक्ति कुछ धर्मका आचरण करते हुए हमलोगोंके प्रति शुभ कामना रखते हैं और बारंबार हमें याद करते हैं, उन सबसे हमलोगोंका कुशल-समाचार निवेदन करना । तत्पश्चात् उनके स्वास्थ्यका समाचार पूछना ॥ १०½ ॥

ये जीवन्ति व्यवहारेण राष्ट्रे
पशूंश्च ये पालयन्तो वसन्ति ॥ ११ ॥
(कृषीवला बिभ्रति ये च लोकं
तेषां सर्वेषां कुशलं स्म पृच्छेः ।)

जो कौरव-राज्यमें व्यापारसे जीविका चलाते हैं, पशुओंका पालन करते हुए निवास करते हैं तथा जो खेती करके सब लोगोंका भरण-पोषण करते हैं, उन सब वैश्योंका भी कुशल-समाचार पूछना ॥ ११ ॥

आचार्य इष्टो नयगो विधेयो
वेदानभीप्सन् ब्रह्मचर्यं चचार ।
योऽस्त्रं चतुष्पात् पुनरेव चक्रे
द्रोणः प्रसन्नोऽभिवाद्यस्त्वयासौ ॥ १२ ॥

जिन्होंने वेदोंकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये पहले ब्रह्मचर्यका पालन किया । तत्पश्चात् मन्त्र, उपचार, प्रयोग तथा संहार—इन चार पादोंसे युक्त अस्त्रविद्याकी शिक्षा प्राप्त की, वे सबके प्रिय, नीतिज्ञ, विनयी तथा सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाले आचार्य द्रोण भी हमारे अभिवादनके योग्य हैं, तुम उनसे भी मेरा प्रणाम कहना ॥ १२ ॥

अधीतविद्यश्चरणोपपन्नो
योऽस्त्रं चतुष्पात् पुनरेव चक्रे ।
गन्धर्वपुत्रप्रतिमं तरस्विनं
तमश्वत्थामानं कुशलं स्म पृच्छेः ॥ १३ ॥

जो वेदाध्ययनसम्पन्न तथा सदाचारयुक्त हैं, जिन्होंने चारों पादोंसे युक्त अस्त्रविद्याकी शिक्षा पायी है, जो गन्धर्वकुमारके समान वेगशाली वीर हैं, उन आचार्यपुत्र अश्वत्थामाका भी कुशल-समाचार पूछना ॥ १३ ॥

शारद्वतस्यावसथं स्म गत्वा
महारथस्यात्मविदां वरस्य ।
त्वं मामभीक्ष्णं परिकीर्तयन् वै
कृपस्य पादौ संजय पाणिना स्पृशेः ॥ १४ ॥

संजय ! तदनन्तर आत्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महारथी कृपाचार्यके घर जाकर बारंबार मेरा नाम लेते हुए अपने हाथसे उनके दोनों चरणोंका स्पर्श करना ॥ १४ ॥

यस्मिञ्शौर्यमानृशंस्यं तपश्च
प्रज्ञा शीलं श्रुतिसत्त्वे धृतिश्च ।
पादौ गृहीत्वा कुरुसत्तमस्य
भीष्मस्य मां तत्र निवेदयेथाः ॥ १५ ॥

जिनमें वीरत्व, दया, तपस्या, बुद्धि, शील, शास्त्रज्ञान, सत्त्व और धैर्य आदि सद्गुण विद्यमान हैं, उन कुरुश्रेष्ठ पितामह भीष्मके दोनों चरण पकड़कर मेरा प्रणाम निवेदन करना ॥ १५ ॥

प्रज्ञाचक्षुर्यः प्रणेता कुरूणां
बहुश्रुतो वृद्धसेवी मनीषी ।
तस्मै राज्ञे स्थविरायाभिवाद्य
आचक्षीथाः संजय मामरोगम् ॥ १६ ॥

संजय ! जो कौरवगणोंके नेता, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, बड़े बूढ़ोंके सेवक और बुद्धिमान् हैं, उन वृद्ध नरेश प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्रको मेरा प्रणाम निवेदन करके यह बताना कि युधिष्ठिर नीरोग और सकुशल है ॥ १६ ॥

ज्येष्ठः पुत्रो धृतराष्ट्रस्य मन्दो
मूर्खः शठः संजय पापशीलः ।
यस्यापवादः पृथिवीं याति सर्वां
सुयोधनं कुशलं तात पृच्छेः ॥ १७ ॥

तात संजय ! जो धृतराष्ट्रका ज्येष्ठ पुत्र, मन्दबुद्धि, मूर्ख, शठ और पापाचारी है तथा जिसकी निन्दा सारी पृथ्वीमें फैल रही है, उस सुयोधनसे भी मेरी ओरसे कुशल-मङ्गल पूछना ॥ १७ ॥

भ्राता कनीयानपि तस्य मन्द-
स्तथाशीलः संजय सोऽपि शश्वत् ।
महेष्वासः शूरतमः कुरूणां
दुःशासनः कुशलं तात वाच्यः ॥ १८ ॥

तात संजय ! जो दुर्योधनका छोटा भाई है तथा उसीके समान मूर्ख और सदा पापमें संलग्न रहनेवाला है, कुरुकुलके उस महाधनुर्धर एवं विख्यात वीर दुःशासनसे भी कुशल पूछकर मेरा कुशल-समाचार कहना ॥ १८ ॥

यस्य कामो वर्तते नित्यमेव
नान्यः शमाद् भारतानामिति स्म ।
स बाह्लिकानामृषभो मनीषी
त्वयाभिवाद्यः संजय साधुशीलः ॥ १९ ॥

संजय ! भरतवंशियोंमें परस्पर शान्ति बनी रहे, इसके सिवा दूसरी कोई कामना जिनके हृदयमें कभी नहीं होती है, जो बाह्लीकवंशके श्रेष्ठ पुरुष हैं, उन साधु स्वभाववाले बुद्धिमान् बाह्लीकको भी तुम मेरा प्रणाम निवेदन करना ॥

गुणैरनेकैः प्रवरैश्च युक्तो
विज्ञानवान् नैव च निष्ठुरो यः ।
स्नेहादमर्षं सहते सदैव
स सोमदत्तः पूजनीयो मतो मे ॥ २० ॥

जो अनेक श्रेष्ठ गुणोंसे विभूषित और ज्ञानवान् हैं, जिनमें निष्ठुरताका लेशमात्र भी नहीं है, जो स्नेहवश सदा ही हमलोगोंका क्रोध सहन करते रहते हैं, वे सोमदत्त भी मेरे लिये पूजनीय हैं ॥ २० ॥

अर्हत्तमः कुरुषु सौमदत्तिः
स नो भ्राता संजय मत्सखा च ।
महेष्वासो रथिनामुत्तमोऽर्हः
सहामात्यः कुशलं तस्य पृच्छेः ॥ २१ ॥

संजय ! सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा कुरुकुलमें पूज्यतम पुरुष माने गये हैं । वे हमलोगोंके निकट सम्बन्धी और मेरे प्रिय सखा हैं । रथी वीरोंमें उनका बहुत ऊँचा स्थान है । वे महान् धनुर्धर तथा आदरणीय वीर हैं । तुम मेरी ओरसे मन्त्रियोंसहित उनका कुशल-समाचार पूछना ॥ २१ ॥

ये चैवान्ये कुरुमुख्या युवानः
पुत्राः पौत्रा भ्रातरश्चैव ये नः ।
यं यमेषां मन्यसे येन योग्यं
तत् तत् प्रोच्यानामयं सूत वाच्याः ॥ २२ ॥

संजय ! इनके सिवा और भी जो कुरुकुलके प्रधान नवयुवक हैं, जो हमारे पुत्र, पौत्र और भाई लगते हैं, इनमेंसे जिस-जिसको तुम जिस व्यवहारके योग्य समझो, उससे वैसी ही बात कहकर उन सबसे बताना कि पाण्डव-लोग स्वस्थ और सानन्द हैं ॥ २२ ॥

ये राजानः पाण्डवायोधनाय
समानीता धार्तराष्ट्रेण केचित् ।
वशातयः शाल्वकाः केकयाश्च
तथाम्बष्ठा ये त्रिगर्ताश्च मुख्याः ॥ २३ ॥
प्राच्योदीच्या दाक्षिणात्याश्च शूरा-
स्तथा प्रतीच्याः पर्वतीयाश्च सर्वे ।
अनृशंसाः शीलवृत्तोपपन्ना-
स्तेषां सर्वेषां कुशलं सूत पृच्छेः ॥ २४ ॥

दुर्योधनने हम पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेके लिये जिन-जिन राजाओंको बुलाया है । वे वशाति, शाल्व, केकय, अम्बष्ठ तथा त्रिगर्तदेशके प्रधान वीर, पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशाके शौर्यसम्पन्न योद्धा तथा समस्त पर्वतीय नरेश वहाँ उपस्थित हैं । वे लोग दयालु तथा शील और सदाचारसे सम्पन्न हैं । संजय ! तुम मेरी ओरसे उन सबका कुशल-मङ्गल पूछना ॥ २३-२४ ॥

हस्त्यारोहा रथिनः सादिनश्च
पदातयश्चार्यसङ्घा महान्तः ।
आख्याय मां कुशलिनं स्म नित्य-
मनामयं परिपृच्छेः समग्रान् ॥ २५ ॥

जो हाथीसवार, रथी, घुड़सवार, पैदल तथा बड़े-बड़े सज्जनोंके समुदाय वहाँ उपस्थित हैं, उन सबसे मुझे सकुशल बताकर उनका भी आरोग्य-समाचार पूछना ॥ २५ ॥

तथा राज्ञो ह्यर्थयुक्तानमात्यान्
दौवारिकान् ये च सेनां नयन्ति ।
आयव्ययं ये गणयन्ति नित्य-
मर्थांश्च ये महतश्चिन्तयन्ति ॥ २६ ॥

जो राजाके हितकर कार्योंमें लगे हुए मन्त्री, द्वारपाल, सेनानायक, आय-व्ययनिरीक्षक तथा निरन्तर बड़े-बड़े कार्यों एवं प्रश्नोंपर विचार करनेवाले हैं; उनसे भी कुशल-समाचार पूछना ॥ २६ ॥

वृन्दारकं कुरुमध्येष्वमूढं
महाप्रज्ञं सर्वधर्मोपपन्नम् ।
न तस्य युद्धं रोचते वै कदाचिद्
वैश्यापुत्रं कुशलं तात पृच्छेः ॥ २७ ॥

तात ! जो समस्त कौरवोंमें श्रेष्ठ, महाबुद्धिमान्, ज्ञानी तथा सब धर्मोंसे सम्पन्न है, जिसे कौरव और पाण्डवोंका युद्ध कभी अच्छा नहीं लगता, उस वैश्यापुत्र युयुत्सुका भी मेरी ओरसे कुशल-मङ्गल पूछना ॥ २७ ॥

निकर्तने देवने योऽद्वितीय-
श्छन्नोपधः साधुदेवी मताक्षः ।
यो दुर्जयो देवरथेन संख्ये
स चित्रसेनः कुशलं तात वाच्यः ॥ २८ ॥

तात ! जो धनके अपहरण और द्यूतक्रीडामें अद्वितीय है, छलको छिपाये रखकर अच्छी तरहसे जूआ खेलता है, पासे फेंकनेकी कलामें प्रवीण है तथा जो युद्धमें दिव्य रथारूढ़ वीरके लिये भी दुर्जय है, उस चित्रसेनसे भी कुशल-समाचार पूछना और बताना ॥ २८ ॥

गान्धारराजः शकुनिः पर्वतीयो
निकर्तने योऽद्वितीयोऽक्षदेवी ।
मानं कुर्वन् धार्तराष्ट्रस्य सूत
मिथ्याबुद्धेः कुशलं तात पृच्छेः ॥ २९ ॥

तात संजय ! जो जूआ खेलकर पराये धनका अपहरण करनेकी कलामें अपना सानी नहीं रखता तथा दुर्योधनका सदा सम्मान करता है, उस मिथ्याबुद्धि पर्वतनिवासी गान्धारराज शकुनिकी भी कुशल पूछना ॥ २९ ॥

यः पाण्डवानेकरथेन वीरः
समुत्सहत्यप्रधृष्यान् विजेतुम् ।
यो मुह्यतां मोहयिताद्वितीयो
वैकर्तनः कुशलं तस्य पृच्छेः ॥ ३० ॥

जो अद्वितीय वीर एकमात्र रथकी सहायतासे अजेय पाण्डवोंको भी जीतनेका उत्साह रखता है तथा जो मोहमें पड़े हुए धृतराष्ट्रके पुत्रोंको और भी मोहित करनेवाला है, उस वैकर्तन कर्णकी भी कुशल पूछना ॥ ३० ॥

स एव भक्तः स गुरुः स भर्ता
स वै पिता स च माता सुहृच्च ।
अगाधबुद्धिर्विदुरो दीर्घदर्शी
स नो मन्त्री कुशलं तं स्म पृच्छेः ॥ ३१ ॥

अगाधबुद्धि दूरदर्शी विदुरजी हमलोगोंके प्रेमी, गुरु, पालक, पिता-माता और सुहृद् हैं, वे ही हमारे मन्त्री भी हैं । संजय ! तुम मेरी ओरसे उनकी भी कुशल पूछना ॥ ३१ ॥

वृद्धाः स्त्रियो याश्च गुणोपपन्ना
ज्ञायन्ते नः संजय मातरस्ताः ।
ताभिः सर्वाभिः सहिताभिः समेत्य
स्त्रीभिर्वृद्धाभिरभिवादं वदेथाः ॥ ३२ ॥

संजय ! राजघरानेमें जो सद्गुणवती वृद्धा स्त्रियाँ हैं, वे सब हमारी माताएँ लगती हैं । उन सब वृद्धा स्त्रियोंसे एक साथ मिलकर तुम उनसे हमारा प्रणाम निवेदन करना ॥ ३२ ॥

कच्चित् पुत्रा जीवपुत्राः सुसम्यग्
वर्तन्ते वो वृत्तिमनृशंसरूपाः ।
इति स्मोक्त्वा संजय ब्रूहि पश्चा-
दजातशत्रुः कुशली सपुत्रः ॥ ३३ ॥

संजय ! उन बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंसे इस प्रकार कहना—'माताओ ! आपके पुत्र आपके साथ उत्तम बर्ताव करते हैं न ? उनमें क्रूरता तो नहीं आ गयी है ? उन सबके दीर्घायु पुत्र हो गये हैं न ?' इस प्रकार कहकर पीछे यह बताना कि आपका बालक अजातशत्रु युधिष्ठिर पुत्रोंसहित सकुशल है ॥ ३३ ॥

या नो भार्याः संजय वेत्थ तत्र
तासां सर्वासां कुशलं तात पृच्छेः ।
सुसंगुप्ताः सुरभयोऽनवद्याः
कच्चिद् गृहानावसथाप्रमत्ताः ॥ ३४ ॥
कच्चिद् वृत्तिं श्वशुरेषु भद्राः
कल्याणीं वर्तध्वमनृशंसरूपाम् ।
यथा च वः स्युः पतयोऽनुकूला-
स्तथा वृत्तिमात्मनः स्थापयध्वम् ॥ ३५ ॥

तात संजय ! हस्तिनापुरमें हमारे भाइयोंकी जो स्त्रियाँ हैं, उन सबको तो तुम जानते ही हो । उन सबकी कुशल पूछना और कहना क्या तुमलोग सर्वथा सुरक्षित रहकर निर्दोष जीवन बिता रही हो ? तुम्हें आवश्यक सुगन्ध आदि प्रसाधन-सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं न ? तुम घरमें प्रमादशून्य होकर रहती हो न ? भद्र महिलाओ ! क्या तुम अपने श्वशुरजनोंके प्रति क्रूरतारहित कल्याणकारी बर्ताव करती हो तथा जिस प्रकार तुम्हारे पति अनुकूल बने रहें, वैसे व्यवहार और सद्भावको अपने हृदयमें स्थान देती हो ? ॥ ३४-३५ ॥

या नः स्नुषाः संजय वेत्थ तत्र
प्राप्ताः कुलेभ्यश्च गुणोपपन्नाः ।
प्रजावत्यो ब्रूहि समेत्य ताश्च
युधिष्ठिरो वोऽभ्यवदत् प्रसन्नः ॥ ३६ ॥

संजय ! तुम वहाँ उन स्त्रियोंको भी जानते हो, जो हमारी पुत्रवधुएँ लगती हैं, जो उत्तम कुलोंसे आयी हैं तथा सर्वगुणसम्पन्न और संतानवती हैं । वहाँ जाकर उनसे कहना, 'बहुओ ! युधिष्ठिर प्रसन्न होकर तुमलोगोंका कुशल-समाचार पूछते थे' ॥ ३६ ॥

कन्याः स्वजेथाः सदनेषु संजय
अनामयं मद्वचनेन पृष्ट्वा ।
कल्याणा वः सन्तु पतयोऽनुकूला
यूयं पतीनां भवतानुकूलाः ॥ ३७ ॥

संजय ! राजमहलमें जो छोटी-छोटी बालिकाएँ हैं, उन्हें हृदयसे लगाना और मेरी ओरसे उनका आरोग्य-समाचार पूछकर उन्हें कहना—'पुत्रियो ! तुम्हें कल्याणकारी पति प्राप्त हों और वे तुम्हारे अनुकूल बने रहें । साथ ही तुम भी पतियोंके अनुकूल बनी रहो' ॥ ३७ ॥

अलंकृता वस्त्रवत्यः सुगन्धा
अबीभत्साः सुखिता भोगवत्यः ।
लघु यासां दर्शनं वाक् च लघ्वी
वेशस्त्रियः कुशलं तात पृच्छेः ॥ ३८ ॥

तात संजय ! जिनका दर्शन मनोहर और बातें मनको प्रिय लगनेवाली होती हैं, जो वेश-भूषासे अलङ्कृत, सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित, उत्तम सुगन्ध धारण करनेवाली, घृणित व्यवहारसे रहित, सुखशालिनी और भोग-सामग्रीसे सम्पन्न हैं, उन वेश (शृङ्गार) धारण करानेवाली स्त्रियोंकी भी कुशल पूछना ॥ ३८ ॥

दास्यः स्युर्या ये च दासाः कुरूणां
तदाश्रया बहवः कुब्जखञ्जाः ।
आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्यो-
ऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ॥ ३९ ॥

कौरवोंके जो दास-दासियाँ हों तथा उनके आश्रित जो बहुतसे कुबड़े और लँगड़े मनुष्य रहते हों, उन सबसे मुझे सकुशल बताकर अन्तमें मेरी ओरसे उनकी भी कुशल पूछना ॥ ३९ ॥

कच्चिद् वृत्तिं वर्तते वै पुराणीं
कच्चिद् भोगान् धार्तराष्ट्रो ददाति ।
अङ्गहीनान् कृपणान् वामनान् वा
यानानृशंस्यो धृतराष्ट्रो बिभर्ति ॥ ४० ॥

(और कहना—) क्या राजा धृतराष्ट्र दयावश जिन अङ्गहीनों, दीनों और बौने मनुष्योंका पालन करते हैं, उन्हें दुर्योधन भरण-पोषणकी सामग्री देता है ? क्या वह उनकी प्राचीन जीविका-वृत्तिका निर्वाह करता है ? ॥ ४० ॥

अन्धांश्च सर्वान् स्थविरांस्तथैव
हस्त्याजीवा बहवो येऽत्र सन्ति ।
आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्यो-
ऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ॥ ४१ ॥

हस्तिनापुरमें जो बहुतसे हाथीवान हैं तथा जो अन्धे और बूढ़े हैं, उन सबको मेरी कुशल बताकर अन्तमें मेरी ओरसे उनके भी आरोग्य आदिका समाचार पूछना ॥ ४१ ॥

मा भैष्ट दुःखेन कुजीवितेन
नूनं कृतं परलोकेषु पापम् ।
निगृह्य शत्रून् सुहृदोऽनुगृह्य
वासोभिरन्नेन च वो भरिष्ये ॥ ४२ ॥

साथ ही उन्हें आश्वासन देते हुए मेरा यह संदेश सुना देना। तुम्हें जो दुःख प्राप्त होता है अथवा कुत्सित जीवन बिताना पड़ता है, इसके कारण तुमलोग भयभीत न होना। निश्चय ही यह दूसरे जन्मोंमें किये हुए पापका फल प्रकट हुआ है । मैं कुछ ही दिनोंमें अपने शत्रुओंको कैद करके हितैषी सुहृदोंपर अनुग्रह करते हुए अन्न और वस्त्रद्वारा तुमलोगोंका भरण-पोषण करूँगा ॥ ४२ ॥

सन्त्येव मे ब्राह्मणेभ्यः कृतानि
भावीन्यथो नो बत वर्तयन्ति ।
तान् पश्यामि युक्तरूपांस्तथैव
तामेव सिद्धिं श्रावयेथा नृपं तम् ॥ ४३ ॥

राजा दुर्योधनसे कहना, मैंने कुछ ब्राह्मणोंके लिये वार्षिक जीविका-वृत्तियाँ नियत कर रक्खी थीं, किंतु खेद है कि तुम्हारे कर्मचारीगण उन्हें ठीकसे नहीं चला रहे हैं। मैं उन ब्राह्मणोंको पुनः पूर्ववत् उन्हीं वृत्तियोंसे युक्त देखना चाहता हूँ । तुम किसी दूतके द्वारा मुझे यह समाचार सुना दो कि उन वृत्तियोंका अब यथावत्‌रूपसे पालन होने लगा है ॥ ४३ ॥

ये चानाथा दुर्बलाः सर्वकाल-
मात्मन्येव प्रयतन्तेऽथ मूढाः ।
तांश्चापि त्वं कृपणान् सर्वथैव-
हास्मद्वाक्यात् कुशलं तात पृच्छेः ॥ ४४ ॥

संजय ! जो अनाथ, दुर्बल एवं मूर्खजन सदा अपने शरीरका पोषण करनेके लिये ही प्रयत्न करते हैं, तुम मेरे कहनेसे उन दीनजनोंके पास भी जाकर सब प्रकारसे उनका कुशल-समाचार पूछना ॥ ४४ ॥

ये चाप्यन्ये संश्रिता धार्तराष्ट्रान्
नानादिग्भ्योऽभ्यागताः सूतपुत्र ।
दृष्ट्वा तांश्चैवार्हतश्चापि सर्वान्
सम्पृच्छेथाः कुशलं चाव्ययं च ॥ ४५ ॥

सूतपुत्र ! इनके सिवा विभिन्न दिशाओंसे आये हुए दूसरे-दूसरे लोग धृतराष्ट्रपुत्रोंका आश्रय लेकर रहते हैं। उन सब माननीय पुरुषोंसे भी मिलकर उनकी कुशल और क्या वे जीवित बचे रहेंगे, इस सम्बन्धमें भी प्रश्न करना ॥

एवं सर्वानागताभ्यागतांश्च
राज्ञो दूतान् सर्वदिग्भ्योऽभ्युपेतान्।
पृष्ट्वा सर्वान् कुशलं तांश्च सूत
पश्चादहं कुशली तेषु वाच्यः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वहाँ सब दिशाओंसे पधारे हुए राजदूतों तथा अन्य सब अभ्यागतोंसे कुशल-मङ्गल पूछकर अन्तमें उनसे मेरा कुशल-समाचार भी निवेदन करना ॥ ४६ ॥

न हीदृशाः सन्त्यपरे पृथिव्यां
ये योधका धार्तराष्ट्रेण लब्धाः ।
धर्मस्तु नित्यो मम धर्म एव
महाबलः शत्रुनिबर्हणाय ॥ ४७ ॥

यद्यपि दुर्योधनने जिन योद्धाओंका संग्रह किया है, वैसे वीर इस भूमण्डलमें दूसरे नहीं हैं, तथापि धर्म ही नित्य है और मेरे पास शत्रुओंका नाश करनेके लिये धर्मका ही सबसे महान् बल है ॥ ४७ ॥

इदं पुनर्वचनं धार्तराष्ट्रं
सुयोधनं संजय श्रावयेथाः ।
यस्ते शरीरे हृदयं दुनोति
कामः कुरूनसपत्नोऽनुशिष्याम् ॥ ४८ ॥
न विद्यते युक्तिरेतस्य काचि-
न्नैवंविधाः स्याम यथा प्रियं ते ।
ददस्व वा शक्रपुरीं ममैव
युध्यस्व वा भारतमुख्य वीर ॥ ४९ ॥

संजय ! दुर्योधनको तुम मेरी यह बात पुनः सुना देना—'तुम्हारे शरीरके भीतर मनमें जो यह अभिलाषा उत्पन्न हुई है कि मैं कौरवोंका निष्कण्टक राज्य करूँ, वह तुम्हारे हृदयको पीड़ामात्र दे रही है। उसकी सिद्धिका कोई उपाय नहीं है। हम ऐसे पौरुषहीन नहीं हैं कि तुम्हारा यह प्रिय कार्य होने दें। भरतवंशके प्रमुख वीर ! तुम इन्द्रप्रस्थपुरी फिर मुझे ही लौटा दो अथवा युद्ध करो' ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरसंदेशे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरसंदेशविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

एकत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका मुख्य-मुख्य कुरुवंशियोंके प्रति संदेश

युधिष्ठिर उवाच

उत सन्तमसन्तं वा बालं वृद्धं च संजय ।
उताबलं बलीयांसं धाता प्रकुरुते वशे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! साधु-असाधु, बालक-वृद्ध तथा निर्बल एवं बलिष्ठ—सबको विधाता अपने वशमें रखता है ॥ १ ॥

उत बालाय पाण्डित्यं पण्डितायोत बालताम् ।
ददाति सर्वमीशानः पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन् ॥ २ ॥

वही सबका नियन्ता है और प्राणियोंके पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार उन्हें सब प्रकारका फल देता है। वही मूर्खको विद्वान् और विद्वानको मूर्ख बना देता है ॥ २ ॥

बलं जिज्ञासमानस्य आचक्षीथा यथातथम् ।
अथ मन्त्रं मन्त्रयित्वा याथातथ्येन हृष्टवत् ॥ ३ ॥

दुर्योधन अथवा धृतराष्ट्र यदि मेरे बल और सेनाका समाचार पूछें तो तुम उन्हें सब ठीक-ठीक बता देना। जिससे वे प्रसन्न होकर आपसमें सलाह करके यथार्थरूपसे अपने कर्तव्यका निश्चय कर सकें ॥ ३ ॥

गावल्गणे कुरून् गत्वा धृतराष्ट्रं महाबलम् ।
अभिवाद्योपसंगृह्य ततः पृच्छेरनामयम् ॥ ४ ॥

संजय ! तुम कुरुदेशमें जाकर मेरी ओरसे महाबली धृतराष्ट्रको प्रणाम करके उनके दोनों पैर पकड़ लेना और उनसे स्वास्थ्यका समाचार पूछना ॥ ४ ॥

ब्रूयाश्चैनं त्वमासीनं कुरुभिः परिवारितम् ।
तवैव राजन् वीर्येण सुखं जीवन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् कौरवोंसे घिरकर बैठे हुए इन महाराज धृतराष्ट्रसे कहना—'राजन् ! पाण्डवलोग आपकी ही सामर्थ्यसे सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं ॥ ५ ॥

तव प्रसादाद् बालास्ते प्राप्ता राज्यमरिंदम ।
राज्ये तान् स्थापयित्वाग्रे नोपेक्षस्व विनश्यतः ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन नरेश ! जब वे बालक थे, तब आपकी ही कृपासे उन्हें राज्य मिला था। पहले उन्हें राज्यपर बिठाकर अब अपने ही आगे उन्हें नष्ट होते देख उपेक्षा न कीजिये' ॥

सर्वमप्येतदेकस्य नालं संजय कस्यचित् ।
तात संहत्य जीवामो द्विषतां मा वशं गमः ॥ ७ ॥

संजय ! उन्हें यह भी बताना कि 'तात ! यह सारा राज्य किसी एकके ही लिये पर्याप्त हो, ऐसी बात नहीं है। हम सब लोग मिलकर एक साथ रहकर सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह करें, इसके विपरीत करके आप शत्रुओंके वशमें न पड़ें' ॥७॥

तथा भीष्मं शान्तनवं भारतानां पितामहम् ।
शिरसाभिवदेथास्त्वं मम नाम प्रकीर्तयन् ॥ ८ ॥
अभिवाद्य च वक्तव्यस्ततोऽस्माकं पितामहः ।
भवता शन्तनोर्वंशो निमग्नः पुनरुद्धृतः ॥ ९ ॥
स त्वं कुरु तथा तात स्वमतेन पितामह ।
यथा जीवन्ति ते पौत्राः प्रीतिमन्तः परस्परम् ॥ १० ॥

इसी तरह भरतवंशियोंके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मजीको भी मेरा नाम लेते हुए सिर झुकाकर प्रणाम करना और प्रणामके पश्चात् हमारे उन पितामहसे इस प्रकार कहना—'दादाजी ! आपने शान्तनुके डूबते हुए वंशका पुनरुद्धार किया था। अब फिर अपनी बुद्धिसे विचार करके कोई ऐसा काम

कीजिये, जिससे आपके सभी पौत्र परस्पर प्रेमपूर्वक जीवन बिता सकें' ॥ ८–१० ॥

तथैव विदुरं ब्रूयाः कुरूणां मन्त्रधारिणम् ।
अयुद्धं सौम्य भाषस्व हितकामो युधिष्ठिरे ॥ ११ ॥

संजय ! इसी प्रकार कौरवोंके मन्त्री विदुरजीसे कहना— 'सौम्य ! आप युद्ध न होनेकी ही सलाह दें; क्योंकि आप युधिष्ठिरका हित चाहनेवाले हैं' ॥ ११ ॥

अथ दुर्योधनं ब्रूया राजपुत्रममर्षणम् ।
मध्ये कुरूणामासीनमनुनीय पुनः पुनः ॥ १२ ॥

तदनन्तर कौरवोंकी सभामें बैठे हुए अमर्षमें भरे रहनेवाले राजकुमार दुर्योधनसे बार-बार अनुनय-विनय करके कहना—॥ १२ ॥

अपापां यदुपैक्षस्त्वं कृष्णामेतां सभागताम् ।
तद् दुःखमतितिक्षाम मा वधिष्म कुरूनिति ॥ १३ ॥

'तुमने द्रौपदीको बिना किसी अपराधके सभामें बुलाकर जो उसका तिरस्कार किया, उस दुःखको हमलोगोंने इसलिये चुपचाप सह लिया है कि हमें कौरवोंका वध न करना पड़े ॥ १३ ॥

एवं पूर्वापरान् क्लेशानतितिक्षन्त पाण्डवाः ।
बलीयांसोऽपि सन्तो यत् तत् सर्वं कुरवो विदुः ॥ १४ ॥

'इसी प्रकार पाण्डवोंने अत्यन्त बलिष्ठ होते हुए भी जो (तुम्हारे दिये हुए) पहले और पीछेके सभी क्लेशोंको सहन किया है, उसे सब कौरव जानते हैं ॥ १४ ॥

यन्नः प्राव्राजयः सौम्य अजिनैः प्रतिवासितान् ।
तद् दुःखमतितिक्षाम मा वधिष्म कुरूनिति ॥ १५ ॥

'सौम्य ! तुमने हमलोगोंको मृगछाला पहनाकर जो वनमें निर्वासित कर दिया, उस दुःखको भी हम इसलिये सह लेते हैं कि हमें कौरवोंका वध न करना पड़े ॥ १५ ॥

यत् कुन्तीं समतिक्रम्य कृष्णां केशेष्वधर्षयत् ।
दुःशासनस्तेऽनुमते तच्चास्माभिरुपेक्षितम् ॥ १६ ॥

'तुम्हारी अनुमतिसे दुःशासनने माता कुन्तीकी उपेक्षा करके जो द्रौपदीके केश पकड़ लिये, उस अपराधकी भी हमने इसीलिये उपेक्षा कर दी है ॥ १६ ॥

अथोचितं स्वकं भागं लभेमहि परंतप ।
निवर्तय परद्रव्याद् बुद्धिं गृद्धां नरर्षभ ॥ १७ ॥

'परंतप ! परंतु अब हम अपना उचित भाग निश्चय ही लेंगे । नरश्रेष्ठ ! तुम दूसरोंके धनसे अपनी लोभयुक्त बुद्धि हटा लो ॥ १७ ॥

शान्तिरेवं भवेद् राजन् प्रीतिश्चैव परस्परम् ।
राज्यैकदेशमपि नः प्रयच्छ शममिच्छताम् ॥ १८ ॥

'राजन् ! इस प्रकार हमलोगोंमें परस्पर शान्ति एवं प्रीति बनी रह सकती है । हम शान्ति चाहते हैं; भले ही तुम हमें राज्यका एक हिस्सा ही दे दो ॥ १८ ॥

अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दीं वारणावतम् ।
अवसानं भवत्वत्र किंचिदेकं च पञ्चमम् ॥ १९ ॥

'अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत तथा पाँचवाँ कोई भी एक गाँव दे दो । इसीपर युद्धकी समाप्ति हो जायगी॥

भ्रातॄणां देहि पञ्चानां पञ्च ग्रामान् सुयोधन ।
शान्तिर्नोऽस्तु महाप्राज्ञ ज्ञातिभिः सह संजय ॥ २० ॥

'सुयोधन ! हम पाँच भाइयोंको पाँच गाँव दे दो ।' महाप्राज्ञ संजय ! ऐसा हो जानेपर अपने कुटुम्बीजनोंके साथ हमलोगोंकी शान्ति बनी रहेगी ॥ २० ॥

भ्राता भ्रातरमन्वेतु पिता पुत्रेण युज्यताम् ।
स्मयमानाः समायान्तु पञ्चालाः कुरुभिः सह ॥ २१ ॥
अक्षतान् कुरुपाञ्चालान् पश्येयमिति कामये ।
सर्वे सुमनसस्तात शाम्याम भरतर्षभ ॥ २२ ॥

'भाई भाईसे मिले और पिता पुत्रसे मिले । पाञ्चालदेशीय क्षत्रिय कुरुवंशियोंके साथ मुसकराते हुए मिलें । मेरी यही कामना है कि कौरवों तथा पाञ्चालोंको अक्षतशरीर देखूँ । तात ! भरतश्रेष्ठ दुर्योधन ! हम सब लोग प्रसन्नचित्त होकर शान्त हो जायँ, ऐसी चेष्टा करो' ॥ २१-२२ ॥

अलमेव शमायास्मि तथा युद्धाय संजय ।
धर्मार्थयोरलं चाहं मृदवे दारुणाय च ॥ २३ ॥

संजय ! मैं शान्ति रखनेमें भी समर्थ हूँ और युद्ध करनेमें भी । धर्म और अर्थके विषयका भी मुझे ठीक-ठीक ज्ञान है । मैं समयानुसार कोमल भी हो सकता हूँ और कठोर भी ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरसंदेशे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरसंदेशविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा कौरवोंके लिये संदेश देना, संजयका हस्तिनापुर जा धृतराष्ट्रसे मिलकर उन्हें युधिष्ठिरका कुशल-समाचार कहकर धृतराष्ट्रके कार्यकी निन्दा करना

वैशम्पायन उवाच

(धर्मराजस्य तु वचः श्रुत्वा पार्थो धनंजयः ।
उवाच संजयं तत्र वासुदेवस्य शृण्वतः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरकी बात सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते हुए वहाँ संजयसे इस प्रकार कहा ।

अर्जुन उवाच

पितामहं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च संजय ।
द्रोणं सपुत्रं शल्यं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥
विकर्णं सोमदत्तं च शकुनिं चापि सौबलम् ।
विविंशतिं चित्रसेनं जयत्सेनं च संजय ॥
भगदत्तं तथा चैव शूरं रणकृतां वरम् ॥
ये चाप्यन्ये कुरवस्तत्र सन्ति
राजानश्चेद् भूमिपालाः समेताः ।
युयुत्सवः पार्थिवाः सैन्धवाश्च
समानीता धार्तराष्ट्रेण सूत ॥
यथान्यायं कुशलं वन्दनं च
समागमे मद्वचनेन वाच्याः ।
ततो ब्रूयाः संजय राजमध्ये
दुर्योधनं पापकृतां प्रधानम् ॥

अर्जुन बोले—संजय ! शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, धृतराष्ट्र, पुत्रसहित द्रोणाचार्य, महाराज शल्य, बाह्लीक, विकर्ण, सोमदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, विविंशति, चित्रसेन, जयत्सेन तथा योद्धाओंमें श्रेष्ठ शूरवीर भगदत्त—इन सबसे और दूसरे भी जो कौरव वहाँ रहते हैं, युद्धकी इच्छासे जो-जो राजा वहाँ एकत्र हुए हैं तथा दुर्योधनने जिन-जिन भूमिपालों और सिंधु-देशीय वीरोंको बुला रक्खा है, उन सबसे भी यथोचित रीतिसे मिलकर मेरी ओरसे कुशल और अभिवादन कहना । तत्पश्चात् राजाओंकी मण्डलीमें पापियोंके सिरमौर दुर्योधनको मेरा संदेश सुना देना ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रतिष्ठाप्य धनंजयस्तं
ततोऽर्थवद् धर्मवच्चैव पार्थः ।
उवाच वाक्यं स्वजनप्रहर्षं
वित्रासनं धृतराष्ट्रात्मजानाम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार कुन्तीपुत्र धनंजयने संजयको जानेकी अनुमति देकर अर्थ और धर्मसे युक्त बात कही, जो स्वजनोंको हर्ष देनेवाली तथा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको भयभीत करनेवाली थी ॥

अर्जुनेन समादिष्टस्तथेत्युक्त्वा तु संजयः ।
पार्थानामन्त्रयामास केशवं च यशस्विनम् ॥)

अर्जुनके इस प्रकार आदेश देनेपर संजयने 'तथास्तु' कहकर उसे शिरोधार्य किया । तत्पश्चात् उसने अन्य कुन्ती-कुमारों तथा यशस्वी भगवान् श्रीकृष्णसे जानेकी अनुमति माँगी ॥

अनुज्ञातः पाण्डवेन प्रययौ संजयस्तदा ।
शासनं धृतराष्ट्रस्य सर्वं कृत्वा महात्मनः ॥ १ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर संजय महामना राजा धृतराष्ट्रके सम्पूर्ण आदेशोंका पालन करके उस समय वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

सम्प्राप्य हास्तिनपुरं शीघ्रमेव प्रविश्य च ।
अन्तःपुरं समास्थाय द्वाःस्थं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

हस्तिनापुर पहुँचकर उन्होंने शीघ्र ही राजभवनमें प्रवेश किया और अन्तःपुरके निकट जाकर द्वारपालसे कहा—॥

आचक्ष्व धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां समुपागतम् ।
सकाशात् पाण्डुपुत्राणां संजयं मा चिरं कृथाः ॥ ३ ॥

'द्वारपाल ! तुम राजा धृतराष्ट्रको मेरे आनेकी सूचना दो और कहो—'पाण्डवोंके पाससे संजय आया है ।' विलम्ब न करो ॥ ३ ॥

जागर्ति चेदभिवदेस्त्वं हि द्वाःस्थ
प्रविशेयं विदितो भूमिपस्य ।
निवेद्यमत्रात्ययिकं हि मेऽस्ति
द्वाःस्थोऽथ श्रुत्वा नृपतिं जगाम ॥ ४ ॥

'द्वारपाल ! यदि महाराज जागते हों तो तुम उन्हें मेरा प्रणाम कहना । उनकी सूचना मिल जानेपर मैं भीतर प्रवेश करूँगा । मुझे उनसे एक आवश्यक निवेदन करना है ।' यह सुनकर द्वारपाल महाराजके पास गया और इस प्रकार बोला ॥

द्वाःस्थ उवाच

संजयोऽथ भूमिपते नमस्ते
दिदृक्षया द्वारमुपागतस्ते ।
प्राप्तो दूतः पाण्डवानां सकाशात्
प्रशाधि राजन् किमयं करोतु ॥ ५ ॥

द्वारपालने कहा—महाराज ! आपको नमस्कार है । पाण्डवोंके पाससे लौटे हुए दूत संजय आपके दर्शनकी इच्छासे

द्वारपर खड़े हैं । राजन् ! आज्ञा दीजिये, ये संजय क्या करें ? ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

आचक्ष्व मां कुशलिनं कल्पमस्मै
प्रवेश्यतां स्वागतं संजयाय ।
न चाहमेतस्य भवाम्यकल्पः
स मे कस्माद् द्वारि तिष्ठेच्च सक्तः॥ ६ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—द्वारपाल ! संजयका स्वागत है । उसे कहो कि मैं सकुशल हूँ, अतः इस समय उससे भेंट करनेको तैयार हूँ । उसे भीतर ले आओ । उससे मिलनेमें मुझे कभी भी अड़चन नहीं होती । फिर वह दरवाजेपर सटकर क्यों खड़ा है ? ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रविश्यानुमते नृपस्य
महद् वेश्म प्राज्ञशूरार्यगुप्तम् ।
सिंहासनस्थं पार्थिवमाससाद
वैचित्रवीर्यं प्राञ्जलिः सूतपुत्रः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार राजाकी आज्ञा पाकर सूतपुत्र संजयने बुद्धिमान्, शूरवीर तथा श्रेष्ठ पुरुषोंसे सुरक्षित विशाल राजभवनमें प्रवेश किया और सिंहासनपर बैठे हुए विचित्रवीर्यनन्दन महाराज धृतराष्ट्रके पास जा हाथ जोड़कर कहा ॥ ७ ॥

संजय उवाच

संजयोऽहं भूमिपते नमस्ते
प्राप्तोऽस्मि गत्वा नरदेव पाण्डवान् ।
अभिवाद्य त्वां पाण्डुपुत्रो मनस्वी
युधिष्ठिरः कुशलं चान्वपृच्छत् ॥ ८ ॥

संजय बोला—भूपाल ! आपको नमस्कार है । नरदेव ! मैं संजय हूँ और पाण्डवोंके पास जाकर लौटा हूँ । उदारचित्त पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने आपको प्रणाम करके आपकी कुशल पूछी है ॥ ८ ॥

स ते पुत्रान् पृच्छति प्रीयमाणः
कच्चित् पुत्रैः प्रीयसे नप्तृभिश्च ।
तथा सुहृद्भिः सचिवैश्च राजन्
ये चापि त्वामुपजीवन्ति तैश्च ॥ ९ ॥

उन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ आपके पुत्रोंका समाचार पूछा है । राजन् ! आप अपने पुत्रों, नातियों, सुहृदों, मन्त्रियों तथा जो आपके आश्रित रहकर जीवननिर्वाह करते हैं, उन सबके साथ आनन्दपूर्वक हैं न ? ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अभिनन्द्य त्वां तात वदामि संजय
अजातशत्रुं च सुखेन पार्थम् ।
कच्चित् स राजा कुशली सपुत्रः
सहामात्यः सानुजः कौरवाणाम् ॥ १० ॥

धृतराष्ट्रने कहा—तात संजय ! मैं तुम्हारा स्वागत करके पूछता हूँ कि कुन्तीनन्दन अजातशत्रु युधिष्ठिर सुखसे हैं न ? क्या कौरवोंके राजा युधिष्ठिर अपने पुत्र, मन्त्री तथा छोटे भाइयोंसहित सकुशल हैं ? ॥ १० ॥

संजय उवाच

सहामात्यः कुशली पाण्डुपुत्रो
बुभूषते यच्च तेऽग्रेऽऽत्मनोऽभूत् ।
निर्णिक्तधर्मार्थकरो मनस्वी
बहुश्रुतो दृष्टिमाञ्छीलवांश्च ॥ ११ ॥

संजयने कहा—पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपने मन्त्रियोंसहित सकुशल हैं और पहले आपके सामने जो उनका राज्य और धन आदि उन्हें प्राप्त था, उसे पुनः वापस लेना चाहते हैं । वे विशुद्धभावसे धर्म और अर्थका सेवन करनेवाले, मनस्वी, विद्वान्, दूरदर्शी और शीलवान् हैं ॥ ११ ॥

परो धर्मात् पाण्डवस्यानृशंस्यं
धर्मः परो वित्तचयान्मतोऽस्य ।
सुखप्रिये धर्महीनेऽनपार्थेऽ-
नुरुध्यते भारत तस्य बुद्धिः ॥ १२ ॥

भारत ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी दृष्टिमें अन्य धर्मोंकी अपेक्षा दया ही परम धर्म है । वे धनसंग्रहकी अपेक्षा धर्म-पालनको ही श्रेष्ठ मानते हैं । उनकी बुद्धि धर्मविहीन एवं निष्प्रयोजन सुख तथा प्रिय वस्तुओंका अनुसरण नहीं करती है ॥ १२ ॥

परप्रयुक्तः पुरुषो विचेष्टते
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
इमं दृष्ट्वा नियमं पाण्डवस्य
मन्ये परं कर्म दैवं मनुष्यात् ॥ १३ ॥

महाराज ! सूतमें बँधी हुई कठपुतली जिस प्रकार दूसरोंसे प्रेरित होकर ही नृत्य करती है, उसी प्रकार मनुष्य परमात्माकी प्रेरणासे ही प्रत्येक कार्यके लिये चेष्टा करता है । पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके इस कष्टको देखकर मैं यह मानने लगा हूँ कि मनुष्यके पुरुषार्थकी अपेक्षा दैव (ईश्वरीय) विधान ही बलवान् है ॥ १३ ॥

इमं च दृष्ट्वा तव कर्मदोषं
पापोदर्कं घोरमवर्णरूपम् ।
यावत् परः कामयतेऽतिवेलं
तावन्नरोऽयं लभते प्रशंसाम् ॥ १४ ॥

आपका कर्मदोष अत्यन्त भयंकर, अवर्णनीय तथा भविष्यमें पाप एवं दुःखकी प्राप्ति करानेवाला है। इसे भी देखकर मैं इसी निश्चयपर पहुँचा हूँ कि परमात्माका विधान ही प्रधान है। जबतक विधाता चाहता है, तभीतक यह मनुष्य सीमित समयतक ही प्रशंसा पाता है ॥ १४ ॥

अजातशत्रुस्तु विहाय पापं
जीर्णां त्वचं सर्प इवासमर्थाम्।
विरोचतेऽहार्यवृत्तेन वीरो
युधिष्ठिरस्त्वयि पापं विसृज्य ॥ १५ ॥

जैसे सर्प पुरानी केंचुलको, जो शरीरमें ठहर नहीं सकती, उतारकर चमक उठता है, उसी प्रकार अजातशत्रु वीर युधिष्ठिर पापका परित्याग करके और उस पापको आपपर ही छोड़कर अपने स्वाभाविक सदाचारसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

हन्तात्मनः कर्म निबोध राजन्
धर्मार्थयुक्तादार्यवृत्तादपेतम्।
उपक्रोशं चेह गतोऽसि राजन्
भूयश्च पापं प्रसजेदमुत्र ॥ १६ ॥

महाराज! जरा आप अपने कर्मपर तो ध्यान दीजिये। धर्म और अर्थसे युक्त जो श्रेष्ठ पुरुषोंका व्यवहार है, आपका बर्ताव उससे सर्वथा विपरीत है। राजन्! इसीके कारण इस लोकमें आपकी निन्दा हो रही है और पुनः परलोकमें भी आपको पापमय नरकका दुःख भोगना पड़ेगा ॥ १६ ॥

स त्वमर्थं संशयितं विना तै-
राशंससे पुत्रवशानुगोऽस्य।
अधर्मशब्दश्च महान् पृथिव्यां
नेदं कर्म त्वत्समं भारताग्र्य ॥ १७ ॥

भरतवंशशिरोमणे! आप इस समय अपने पुत्रोंके वशमें होकर पाण्डवोंको अलग करके अकेले उनकी सारी सम्पत्ति ले लेना चाहते हैं; पहले तो इसकी सफलतामें ही संदेह है। (और यदि आप सफल हो भी जायँ तो) इस भूमण्डलमें इस अधर्मके कारण आपकी बड़ी भारी निन्दा होगी। अतः यह कार्य कदापि आपके योग्य नहीं है ॥ १७ ॥

हीनप्रज्ञो दौष्कुलेयो नृशंसो
दीर्घं वैरी क्षत्रविद्यास्वधीरः।
एवंधर्मानापदः संश्रयेयु-
र्हीनवीर्यो यश्च भवेदशिष्टः ॥ १८ ॥

जो लोग बुद्धिहीन, नीच कुलमें उत्पन्न, क्रूर, दीर्घकालतक वैरभाव बनाये रखनेवाले, क्षत्रियोचित युद्धविद्यामें अनभिज्ञ, पराक्रमहीन और अशिष्ट होते हैं, ऐसे ही स्वभावके लोगोंपर आपत्तियाँ आती हैं ॥ १८ ॥

कुले जातो बलवान् यो यशस्वी
बहुश्रुतः सुखजीवी यतात्मा।
धर्माधर्मौ ग्रथितौ यो बिभर्ति
स ह्यस्य दिष्टस्य वशादुपैति ॥ १९ ॥

जो कुलीन, बलवान्, यशस्वी, बहुज्ञ विद्वान्, सुखजीवी और मनको वशमें रखनेवाला है तथा जो परस्पर गुँथे हुए धर्म और अधर्मको धारण करता है, वही भाग्यवश अभीष्ट गुण-सम्पत्ति प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

कथं हि मन्त्राग्र्यधरो मनीषी
धर्मार्थयोरापदि सम्प्रणेता।
एवं युक्तः सर्वमन्त्रैरहीनो
नरो नृशंसं कर्म कुर्यादमूढः ॥ २० ॥

आप श्रेष्ठ मन्त्रियोंका सेवन करनेवाले हैं, स्वयं भी बुद्धिमान् हैं, आपत्तिकालमें धर्म और अर्थका उचितरूपसे प्रयोग करते हैं, सब प्रकारकी अच्छी सलाहोंसे भी आप युक्त हैं। फिर आप-जैसे साधनसम्पन्न विद्वान् पुरुष ऐसा क्रूरतापूर्ण कार्य कैसे कर सकते हैं? ॥ २० ॥

तव ह्यमी मन्त्रविदः समेत्य
समासते कर्मसु नित्ययुक्ताः।
तेषामयं बलवान् निश्चयश्च
कुरुक्षये नियमेनोदपादि ॥ २१ ॥

सदा कर्मोंमें नियुक्त किये हुए ये आपके मन्त्रवेत्ता मन्त्री कर्ण आदि एकत्र होकर बैठक किया करते हैं। इन्होंने (पाण्डवोंको राज्य न देनेका) जो प्रबल निश्चय कर लिया है, यह अवश्य ही कौरवोंके भावी विनाशका कारण बन गया है ॥ २१ ॥

अकालिकं कुरवो नाभविष्यन्
पापेन चेत् पापमजातशत्रुः।
इच्छेज्जातु त्वयि पापं विसृज्य
निन्दा चेयं तव लोकेऽभविष्यत् ॥ २२ ॥

राजन्! यदि अजातशत्रु युधिष्ठिर (आपको ही दोषी ठहराकर) आपपर ही सारे पापों (दोषों) का भार डालकर (आपकी ही भाँति) पापके बदले पाप करनेकी इच्छा कर लें तो सारे कौरव असमयमें ही नष्ट हो जायँ और संसारमें केवल आपकी निन्दा फैल जाय ॥ २२ ॥

किमन्यत्र विषयादीश्वराणां
यत्र पार्थः परलोकं स्म द्रष्टुम्।
अत्यक्रामत् स तथा सम्मतः स्या-
न्न संशयो नास्ति मनुष्यकारः ॥ २३ ॥

ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो लोकपालोंके अधिकारसे बाहर हो? तभी तो अर्जुन (इन्द्रकील पर्वतपर लोकपालोंसे मिलकर

एवं उनसे अस्त्र प्राप्त करके भू और भुवर्लोकको लाँघकर) स्वर्गलोकको देखनेके लिये गये थे। इस प्रकार लोकपालोंद्वारा सम्मानित होनेपर भी यदि उन्हें कष्ट भोगना पड़ता है तो निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि दैवबलके सामने मनुष्यका पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है ॥ २३ ॥

एतान् गुणान् कर्मकृतानवेक्ष्य
भावाभावौ वर्तमानावनित्यौ ।
बलिर्हि राजा पारमविन्दमानो
नान्यत् कालात् कारणं तत्र मेने ॥ २४ ॥

ये शौर्य, विद्या आदि गुण अपने पूर्वकर्मके अनुसार ही प्राप्त होते हैं और प्राणियोंकी वर्तमान उन्नति तथा अवनति भी अनित्य हैं। यह सब सोचकर राजा बलिने जब इसका पार नहीं पाया, तब यही निश्चय किया कि इस विषयमें काल (दैव) के सिवा और कोई कारण नहीं है ॥ २४ ॥

चक्षुःश्रोत्रे नासिका त्वक् च जिह्वा
ज्ञानस्यैतान्यायतनानि जन्तोः ।
तानि प्रीतान्येव तृष्णाक्षयान्ते
तान्यव्यथो दुःखहीनः प्रणुद्यात् ॥ २५ ॥

आँख, कान, नाक, त्वचा तथा जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ समस्त प्राणियोंके रूप आदि विषयोंके ज्ञानके स्थान (कारण) हैं। तृष्णाका अन्त होनेके पश्चात् ये सदा प्रसन्न ही रहती हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह व्यथा और दुःखसे रहित हो तृष्णाकी निवृत्तिके लिये उन इन्द्रियोंको अपने वशमें करे ॥ २५ ॥

न त्वेव मन्ये पुरुषस्य कर्म
संवर्तते सुप्रयुक्तं यथावत् ।
मातुः पितुः कर्मणाभिप्रसूतः
संवर्धते विधिवद् भोजनेन ॥ २६ ॥

कहते हैं, केवल पुरुषार्थका अच्छे ढंगसे प्रयोग होनेपर भी वह उत्तम फल देनेवाला होता है, जैसे माता-पिताके प्रयत्नसे उत्पन्न हुआ पुत्र विधिपूर्वक भोजनादिद्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है; परंतु मैं इस मान्यतापर विश्वास नहीं करता (क्योंकि इस विषयमें दैव ही प्रधान है) ॥ २६ ॥

प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राजन्
निन्दाप्रशंसे च भजन्त एव ।
परस्त्वेनं गर्हयतेऽपराधे
प्रशंसते साधुवृत्तं तमेव ॥ २७ ॥

राजन्! इस जगत्में प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा—ये मनुष्यको प्राप्त होते ही रहते हैं। इसीलिये लोग अपराध करनेपर अपराधीकी निन्दा करते हैं और जिसका बर्ताव उत्तम होता है, उस साधु पुरुषकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ २७ ॥

स त्वां गर्हे भारतानां विरोधा-
दन्तो नूनं भवितायं प्रजानाम् ।
नो चेदिदं तव कर्मापराधात्
कुरून् दहेत् कृष्णवर्त्मेव कक्षम् ॥ २८ ॥

अतः आप जो भरतवंशमें विरोध फैलाते हैं, इसके कारण मैं तो आपकी निन्दा करता हूँ; क्योंकि इस कौरव-पाण्डव-विरोधसे निश्चय ही समस्त प्रजाओंका विनाश होगा। यदि आप मेरे कथनानुसार कार्य नहीं करेंगे तो आपके अपराधसे अर्जुन समस्त कौरववंशको उसी प्रकार दग्ध कर डालेंगे, जैसे आग घास-फूसके समूहको जला देती है ॥ २८ ॥

त्वमेवैको जातु पुत्रस्य राजन्
वशं गत्वा सर्वलोके नरेन्द्र ।
कामात्मनः श्लाघनो द्यूतकाले
नागाः शमं पश्य विपाकमस्य ॥ २९ ॥

राजन्! महाराज! समस्त संसारमें एकमात्र आप ही अपने स्वेच्छाचारी पुत्रकी प्रशंसा करते हुए उसके अधीन होकर द्यूतक्रीड़ाके समय जो उसकी प्रशंसा करते थे तथा (राज्यका लोभ छोड़कर) शान्त न हो सके, उसका अब यह भयंकर परिणाम अपनी आँखों देख लीजिये ॥ २९ ॥

अनाप्तानां संग्रहात् त्वं नरेन्द्र
तथाऽऽप्तानां निग्रहाच्चैव राजन् ।
भूमिं स्फीतां दुर्बलत्वादनन्ता-
मशक्तस्त्वं रक्षितुं कौरवेय ॥ ३० ॥

नरेन्द्र! आपने ऐसे लोगों (शकुनि-कर्ण आदि) को इकट्ठा कर लिया है, जो विश्वासके योग्य नहीं हैं तथा विश्वसनीय पुरुषों (पाण्डवों) को आपने दण्ड दिया है, अतः कुरुकुल-नन्दन! अपनी इस (मानसिक) दुर्बलताके कारण आप अनन्त एवं समृद्धिशालिनी पृथिवीकी रक्षा करनेमें कभी समर्थ नहीं हो सकते ॥ ३० ॥

अनुज्ञातो रथवेगावधूतः
श्रान्तोऽभिपद्ये शयनं नृसिंह ।
प्रातः श्रोतारः कुरवः सभाया-
मजातशत्रोर्वचनं समेताः ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ! इस समय रथके वेगसे हिलने-डुलनेके कारण मैं थक गया हूँ, यदि आज्ञा हो तो सोनेके लिये जाऊँ। प्रातःकाल जब सभी कौरव सभामें एकत्र होंगे, उस समय वे अजातशत्रु युधिष्ठिरके वचन सुनेंगे ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अनुज्ञातोऽस्यावसथं परेहि
प्रपद्यस्व शयनं सूतपुत्र ।
प्रातः श्रोतारः कुरवः सभाया-
मजातशत्रोर्वचनं त्वयोक्तम् ॥ ३२ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—सूतपुत्र ! मैं आज्ञा देता हूँ, तुम अपने घर जाओ और शयन करो । सवेरे सब कौरव सभामें एकत्र हो तुम्हारे मुखसे अजातशत्रु युधिष्ठिरके संदेशको सुनेंगे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें धृतराष्ट्रसंजयसंवादविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

(प्रजागरपर्व)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः*

धृतराष्ट्र-विदुर-संवाद

वैशम्पायन उवाच

द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
विदुरं द्रष्टुमिच्छामि तमिहानय मा चिरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! [संजयके चले जानेपर] महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने द्वारपालसे कहा—'मैं विदुरसे मिलना चाहता हूँ । उन्हें यहाँ शीघ्र बुला लाओ' ॥ १ ॥

प्रहितो धृतराष्ट्रेण दूतः क्षत्तारमब्रवीत् ।
ईश्वरस्त्वां महाराजो महाप्राज्ञ दिदृक्षति ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रका भेजा हुआ वह दूत जाकर विदुरसे बोला—'महामते ! हमारे स्वामी महाराज धृतराष्ट्र आपसे मिलना चाहते हैं' ॥ २ ॥

एवमुक्तस्तु विदुरः प्राप्य राजनिवेशनम् ।
अब्रवीद् धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां प्रतिवेदय ॥ ३ ॥

उसके ऐसा कहनेपर विदुरजी राजमहलके पास जाकर बोले—'द्वारपाल ! धृतराष्ट्रको मेरे आनेकी सूचना दे दो' ॥ ३ ॥

द्वाःस्थ उवाच

विदुरोऽयमनुप्राप्तो राजेन्द्र तव शासनात् ।
द्रष्टुमिच्छति ते पादौ किं करोतु प्रशाधि माम् ॥ ४ ॥

द्वारपालने जाकर कहा—महाराज ! आपकी आज्ञासे विदुरजी यहाँ आ पहुँचे हैं, वे आपके चरणोंका दर्शन करना चाहते हैं । मुझे आज्ञा दीजिये, उन्हें क्या कार्य बताया जाय ? ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

प्रवेशय महाप्राज्ञं विदुरं दीर्घदर्शिनम् ।
अहं हि विदुरस्यास्य नाकल्पो जातु दर्शने ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महाबुद्धिमान् दूरदर्शी विदुरको भीतर ले आओ, मुझे इस विदुरसे मिलनेमें कभी भी अड़चन नहीं है ॥ ५ ॥

द्वाःस्थ उवाच

प्रविशान्तःपुरं क्षत्तर्महाराजस्य धीमतः ।
नहि ते दर्शनेऽकल्पो जातु राजाब्रवीद्धि माम् ॥ ६ ॥

द्वारपाल विदुरके पास आकर बोला—विदुरजी ! आप बुद्धिमान् महाराज धृतराष्ट्रके अन्तःपुरमें प्रवेश कीजिये । महाराजने मुझसे कहा है कि मुझे विदुरसे मिलनेमें कभी अड़चन नहीं है ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं चिन्तयानं नराधिपम् ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर विदुर धृतराष्ट्रके महलके भीतर जाकर चिन्तामें पड़े हुए राजासे हाथ जोड़कर बोले— ॥ ७ ॥

विदुरोऽहं महाप्राज्ञ सम्प्राप्तस्तव शासनात् ।
यदि किंचन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम् ॥ ८ ॥

'महाप्राज्ञ ! मैं विदुर हूँ, आपकी आज्ञासे यहाँ आया हूँ । यदि मेरे करने योग्य कुछ काम हो तो मैं उपस्थित हूँ, मुझे आज्ञा कीजिये' ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

संजयो विदुर प्राज्ञो गर्हयित्वा च मां गतः ।
अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! बुद्धिमान् संजय आया था, वह मुझे बुरा-भला कहकर चला गया है । कल सभामें वह अजातशत्रु युधिष्ठिरके वचन सुनायेगा ॥ ९ ॥

* इस ३३वें अध्यायसे प्रारम्भ होकर ४०वें अध्यायतक 'विदुरनीति' है ।



विदुर और धृतराष्ट्र

तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया।
तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत् प्रजागरम् ॥ १० ॥

आज मैं उस कुरुवीर युधिष्ठिरकी बात न जान सका—यही मेरे अङ्गोंको जला रहा है और इसीने मुझे अबतक जगा रक्खा है ॥ १० ॥

जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥ ११ ॥

तात ! मैं चिन्तासे जलता हुआ अभीतक जग रहा हूँ। मेरे लिये जो कल्याणकी बात समझो, वह कहो; क्योंकि हमलोगोंमें तुम्हीं धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण हो ॥ ११ ॥

यतः प्राप्तः संजयः पाण्डवेभ्यो
न मे यथावन्मनसः प्रशान्तिः।
सर्वेन्द्रियाण्यप्रकृतिं गतानि
किं वक्ष्यतीत्येव मेऽद्य प्रचिन्ता॥ १२ ॥

संजय जबसे पाण्डवोंके यहाँसे लौटकर आया है, तबसे मेरे मनको पूर्ण शान्ति नहीं मिलती। सभी इन्द्रियाँ विकल हो रही हैं। कल वह क्या कहेगा, इसी बातकी मुझे इस समय बड़ी भारी चिन्ता हो रही है ॥ १२ ॥

विदुर उवाच

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम्।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः ॥ १३ ॥

विदुरजी बोले—राजन्! जिसका बलवान्‌के साथ विरोध हो गया है, उस साधनहीन दुर्बल मनुष्यको, जिसका सब कुछ हर लिया गया है, उसको, कामीको तथा चोरको रातमें नींद नहीं आती ॥ १३ ॥

कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप।
कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन् न परितप्यसे ॥ १४ ॥

नरेन्द्र ! कहीं आपका भी इन महान् दोषोंसे सम्पर्क तो नहीं हो गया है ? कहीं पराये धनके लोभसे तो आप कष्ट नहीं पा रहे हैं ? ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः।
अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसम्मतः ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! मैं तुम्हारे धर्मयुक्त तथा कल्याण करनेवाले सुन्दर वचन सुनना चाहता हूँ; क्योंकि इस राजर्षिवंशमें केवल तुम्हीं विद्वानोंके भी माननीय हो ॥ १५ ॥

विदुर उवाच

(राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्याधिपो भवेत्।
प्रेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥

विदुरजी बोले—महाराज धृतराष्ट्र ! श्रेष्ठ लक्षणोंसे



सम्पन्न राजा युधिष्ठिर तीनों लोकोंके स्वामी हो सकते हैं। वे आपके आज्ञाकारी थे, पर आपने उन्हें वनमें भेज दिया ॥

विपरीततरश्च त्वं भागधेये न सम्मतः।
अर्चिषां प्रक्षयाच्चैव धर्मात्मा धर्मकोविदः ॥

आप धर्मात्मा और धर्मके जानकार होते हुए भी आँखोंकी ज्योतिसे हीन होनेके कारण उन्हें पहचान न सके, इसीसे उनके अत्यन्त विपरीत हो गये और उन्हें राज्यका भाग देनेमें आपकी सम्मति नहीं हुई ॥

आनृशंस्यादनुक्रोशाद् धर्मात् सत्यात् पराक्रमात्।
गुरुत्वात् त्वयि सम्प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्षते॥

युधिष्ठिरमें क्रूरताका अभाव, दया, धर्म, सत्य तथा पराक्रम है; वे आपमें पूज्यबुद्धि रखते हैं। इन्हीं सद्गुणोंके कारण वे सोच-विचारकर चुपचाप बहुत-से क्लेश सह रहे हैं ॥

दुर्योधने सौबले च कर्णे दुःशासने तथा।
एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥

आप दुर्योधन, शकुनि, कर्ण तथा दुःशासन-जैसे अयोग्य व्यक्तियोंपर राज्यका भार रखकर कैसे कल्याण चाहते हैं ? ॥

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥)

अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान, उद्योग, दुःख सहनेकी शक्ति और धर्ममें स्थिरता—ये गुण जिस मनुष्यको पुरुषार्थसे च्युत नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है ॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम् ॥ १६ ॥

जो अच्छे कर्मोंका सेवन करता और बुरे कर्मोंसे दूर रहता है, साथ ही जो आस्तिक और श्रद्धालु है, उसके वे सद्गुण पण्डित होनेके लक्षण हैं ॥ १६ ॥

क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीः स्तम्भो मान्यमानिता।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १७ ॥

क्रोध, हर्ष, गर्व, लज्जा, उद्दण्डता तथा अपनेको पूज्य समझना—ये भाव जिसको पुरुषार्थसे भ्रष्ट नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है ॥ १७ ॥

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १८ ॥

दूसरे लोग जिसके कर्तव्य, सलाह और पहलेसे किये हुए विचारको नहीं जानते, बल्कि काम पूरा होनेपर ही जानते हैं, वही पण्डित कहलाता है ॥ १८ ॥

यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥ १९ ॥

सर्दी-गरमी, भय-अनुराग, सम्पत्ति अथवा दरिद्रता—ये जिसके कार्यमें विघ्न नहीं डालते, वही पण्डित कहलाता है ॥ १९ ॥

यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते ॥ २० ॥

जिसकी लौकिक बुद्धि धर्म और अर्थका ही अनुसरण करती है और जो भोगको छोड़कर पुरुषार्थका ही वरण करता है, वही पण्डित कहलाता है ॥ २० ॥

यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथाशक्ति च कुर्वते।
न किंचिदवमन्यन्ते नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २१ ॥

विवेकपूर्ण बुद्धिवाले पुरुष शक्तिके अनुसार काम करनेकी इच्छा रखते हैं और करते भी हैं तथा किसी वस्तुको तुच्छ समझकर उसकी अवहेलना नहीं करते ॥ २१ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे
तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ २२ ॥

विद्वान् पुरुष किसी विषयको देरतक सुनता है; किंतु शीघ्र ही समझ लेता है, समझकर कर्तव्यबुद्धिसे पुरुषार्थमें प्रवृत्त होता है—कामनासे नहीं, बिना पूछे दूसरेके विषयमें व्यर्थ कोई बात नहीं कहता है। उसका यह स्वभाव पण्डितकी मुख्य पहचान है ॥ २२ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २३ ॥

पण्डितोंकी-सी बुद्धि रखनेवाले मनुष्य दुर्लभ वस्तुकी कामना नहीं करते, खोयी हुई वस्तुके विषयमें शोक करना नहीं चाहते और विपत्तिमें पड़कर घबराते नहीं हैं ॥ २३ ॥

निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥ २४ ॥

जो पहले निश्चय करके फिर कार्यका आरम्भ करता है, कार्यके बीचमें नहीं रुकता, समयको व्यर्थ नहीं जाने देता और चित्तको वशमें रखता है, वही पण्डित कहलाता है ॥

आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते।
हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ ॥ २५ ॥

भरतकुलभूषण ! पण्डितजन श्रेष्ठ कर्मोंमें रुचि रखते हैं, उन्नतिके कार्य करते हैं तथा भलाई करनेवालोंमें दोष नहीं निकालते ॥ २५ ॥

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तप्यते।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥ २६ ॥

जो अपना आदर होनेपर हर्षके मारे फूल नहीं उठता, अनादरसे संतप्त नहीं होता तथा गङ्गाजीके ह्रद (गहरे गर्त) के समान जिसके चित्तको क्षोभ नहीं होता, वही पण्डित कहलाता है ॥ २६ ॥

तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम्।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते ॥ २७ ॥

जो सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंकी असलियतका ज्ञान रखनेवाला, सब कार्योंके करनेका ढंग जाननेवाला तथा मनुष्योंमें सबसे बढ़कर उपायका जानकार है, वह मनुष्य पण्डित कहलाता है ॥ २७ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥ २८ ॥

जिसकी वाणी कहीं रुकती नहीं, जो विचित्र ढंगसे बातचीत करता है, तर्कमें निपुण और प्रतिभाशाली है तथा जो ग्रन्थके तात्पर्यको शीघ्र बता सकता है, वह पण्डित कहलाता है ॥ २८ ॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥ २९ ॥

जिसकी विद्या बुद्धिका अनुसरण करती है और बुद्धि विद्याका तथा जो शिष्ट पुरुषोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करता, वही पण्डितकी संज्ञा पा सकता है ॥ २९ ॥

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ ३० ॥

बिना पढ़े ही गर्व करनेवाले, दरिद्र होकर भी बड़े-बड़े मनोरथ करनेवाले और बिना काम किये ही धन पानेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको पण्डितलोग मूर्ख कहते हैं ॥३०॥

स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति ।
मिथ्या चरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥ ३१ ॥

जो अपना कर्तव्य छोड़कर दूसरेके कर्तव्यका पालन करता है तथा मित्रके साथ असत् आचरण करता है, वह मूर्ख कहलाता है ॥ ३१ ॥

अकामान् कामयति यः कामयानान् परित्यजेत् ।
बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३२ ॥

जो न चाहनेवालोंको चाहता है और चाहनेवालोंको त्याग देता है तथा जो अपनेसे बलवान्‌के साथ वैर बाँधता है, उसे मूढ़ विचारका मनुष्य कहते हैं ॥ ३२ ॥

अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३३ ॥

जो शत्रुको मित्र बनाता और मित्रसे द्वेष करते हुए उसे कष्ट पहुँचाता है तथा सदा बुरे कर्मोंका आरम्भ किया करता है, उसे मूढ़ चित्तवाला कहते हैं ॥ ३३ ॥

संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते ।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो अपने कामोंको व्यर्थ ही फैलाता है, सर्वत्र संदेह करता है तथा शीघ्र होनेवाले काममें भी देर लगाता है, वह मूढ है ॥ ३४ ॥

श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि न चार्चति ।
सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३५ ॥

जो पितरोंका श्राद्ध और देवताओंका पूजन नहीं करता तथा जिसे सुहृद् मित्र नहीं मिलता, उसे मूढ चित्तवाला कहते हैं ॥ ३५ ॥

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥ ३६ ॥

मूढ चित्तवाला अधम मनुष्य बिना बुलाये ही भीतर चला आता है, बिना पूछे ही बहुत बोलता है तथा अविश्वसनीय मनुष्यपर भी विश्वास करता है ॥ ३६ ॥

परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा ।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ॥ ३७ ॥

स्वयं दोषयुक्त बर्ताव करते हुए भी जो दूसरेपर उसके दोष बताकर आक्षेप करता है तथा जो असमर्थ होते हुए भी व्यर्थका क्रोध करता है, वह मनुष्य महामूर्ख है ॥ ३७ ॥

आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम् ।
अलभ्यमिच्छन् नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ॥ ३८ ॥

जो अपने बलको न समझकर बिना काम किये ही धर्म और अर्थसे विरुद्ध तथा न पाने योग्य वस्तुकी इच्छा करता है, वह पुरुष इस संसारमें मूढबुद्धि कहलाता है ॥ ३८ ॥

अशिष्यं शास्ति यो राजन् यश्च शून्यमुपासते[1] ।
कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३९ ॥

राजन् ! जो अनधिकारीको उपदेश देता और शून्यकी उपासना करता है तथा जो कृपणका आश्रय लेता है, उसे मूढ चित्तवाला कहते हैं ॥ ३९ ॥

अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा ।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पण्डित उच्यते ॥ ४० ॥

जो बहुत धन, विद्या तथा ऐश्वर्यको पाकर भी उद्दण्डतापूर्वक नहीं चलता, वह पण्डित कहलाता है ॥ ४० ॥

एकः सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम् ।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः ॥ ४१ ॥

जो अपनेद्वारा भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंको बाँटे बिना अकेले ही उत्तम भोजन करता और अच्छा वस्त्र पहनता है, उससे बढ़कर क्रूर कौन होगा ? ॥ ४१ ॥

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥ ४२ ॥

मनुष्य अकेला पाप कर (के धन कमा) ता है और (उस धनका) उपभोग बहुत-से लोग करते हैं । उपभोग करनेवाले तो दोषसे छूट जाते हैं, पर उसका कर्ता दोषका भागी होता है ॥ ४२ ॥

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद् राष्ट्रं सराजकम् ॥ ४३ ॥

किसी धनुर्धर वीरके द्वारा छोड़ा हुआ बाण सम्भव है, एकको भी मारे या न मारे । परन्तु बुद्धिमान्‌द्वारा प्रयुक्त की हुई बुद्धि राजाके साथ-साथ सम्पूर्ण राष्ट्रका विनाश कर सकती है ॥ ४३ ॥

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु ।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ॥ ४४ ॥

एक (बुद्धि) से दो (कर्तव्य और अकर्तव्य) का निश्चय करके चार (साम, दान, भेद, दण्ड) से तीन (शत्रु, मित्र तथा उदासीन) को वशमें कीजिये । पाँच (इन्द्रियों) को जीतकर छः (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रयरूप) गुणोंको जानकर तथा सात (स्त्री, जूआ, मृगया, मद्य, कठोर वचन, दण्डकी कठोरता और अन्यायसे धनोपार्जन) को छोड़कर सुखी हो जाइये ॥ ४४ ॥

एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्रविप्लवः ॥ ४५ ॥

---

१. यहाँ 'उपास्ते'के स्थानपर 'उपासते' यह प्रयोग आर्ष समझना चाहिये ।

विषका रस एक (पीनेवाले) को ही मारता है, शस्त्रसे एकका ही वध होता है; किंतु (गुप्त) मन्त्रणाका प्रकाशित होना राष्ट्र और प्रजाके साथ ही राजाका भी विनाश कर डालता है ॥ ४५ ॥

एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान् न चिन्तयेत् ।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥४६॥

अकेले स्वादिष्ट भोजन न करे, अकेला किसी विषयका निश्चय न करे, अकेला रास्ता न चले और बहुत-से लोग सोये हों तो उनमें अकेला न जागता रहे ॥ ४६ ॥

एकमेवाद्वितीयं तद् यद् राजन् नावबुध्यसे ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ४७ ॥

राजन् ! जैसे समुद्रके पार जानेके लिये नाव ही एकमात्र साधन है, उसी प्रकार स्वर्गके लिये सत्य ही एकमात्र सोपान है, दूसरा नहीं; किंतु आप इसे नहीं समझ रहे हैं ॥ ४७ ॥

एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ४८ ॥

क्षमाशील पुरुषोंमें एक ही दोषका आरोप होता है, दूसरेकी तो सम्भावना ही नहीं है। वह दोष यह है कि क्षमाशील मनुष्यको लोग असमर्थ समझ लेते हैं ॥ ४८ ॥

सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥ ४९ ॥

किंतु क्षमाशील पुरुषका वह दोष नहीं मानना चाहिये; क्योंकि क्षमा बहुत बड़ा बल है। क्षमा असमर्थ मनुष्योंका गुण तथा समर्थोंका भूषण है ॥ ४९ ॥

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥ ५० ॥

इस जगत्में क्षमा वशीकरणरूप है। भला, क्षमासे क्या नहीं सिद्ध होता ? जिसके हाथमें शान्तिरूपी तलवार है, उसका दुष्ट पुरुष क्या कर लेंगे ? ॥ ५० ॥

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।
अक्षमावान् परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥ ५१ ॥

तृणरहित स्थानमें गिरी हुई आग अपने-आप बुझ जाती है। क्षमाहीन पुरुष अपनेको तथा दूसरेको भी दोषका भागी बना लेता है ॥ ५१ ॥

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥ ५२ ॥

केवल धर्म ही परम कल्याणकारक है, एकमात्र क्षमा ही शान्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय है। एक विद्या ही परम संतोष देनेवाली है और एकमात्र अहिंसा ही सुख देनेवाली है ॥५२॥

(पृथिव्यां सागरान्तायां द्वाविमौ पुरुषाधमौ ।
गृहस्थश्च निरारम्भः सारम्भश्चैव भिक्षुकः ॥)

समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीमें ये दो प्रकारके अधम पुरुष हैं—अकर्मण्य गृहस्थ और कर्मोंमें लगा हुआ संन्यासी ॥

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ५३ ॥

बिलमें रहनेवाले जीवोंको जैसे साँप खा जाता है, उसी प्रकार यह पृथ्वी शत्रुसे विरोध न करनेवाले राजा और परदेश सेवन न करनेवाले ब्राह्मण—इन दोनोंको खा जाती है ॥ ५३ ॥

द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिँल्लोके विरोचते ।
अब्रुवन् परुषं किंचिदसतोऽनर्चयंस्तथा ॥ ५४ ॥

जरा भी कठोर न बोलना और दुष्ट पुरुषोंका आदर न करना—इन दो कर्मोंका करनेवाला मनुष्य इस लोकमें विशेष शोभा पाता है ॥ ५४ ॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्ययकारिणौ ।
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः ॥ ५५ ॥

दूसरी स्त्रीद्वारा चाहे गये पुरुषकी कामना करनेवाली स्त्रियाँ तथा दूसरोंके द्वारा पूजित मनुष्यका आदर करनेवाले पुरुष—ये दो प्रकारके लोग दूसरोंपर विश्वास करके चलनेवाले होते हैं ॥ ५५ ॥

द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥ ५६ ॥

जो निर्धन होकर भी बहुमूल्य वस्तुकी इच्छा रखता और असमर्थ होकर भी क्रोध करता है—ये दोनों ही अपने लिये तीक्ष्ण काँटोंके समान हैं एवं अपने शरीरको सुखानेवाले हैं ॥ ५६ ॥

द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ ५७ ॥

दो ही अपने विपरीत कर्मके कारण शोभा नहीं पाते—अकर्मण्य गृहस्थ और प्रपञ्चमें लगा हुआ संन्यासी ॥ ५७ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥ ५८ ॥

राजन् ! ये दो प्रकारके पुरुष स्वर्गके भी ऊपर स्थान पाते हैं—शक्तिशाली होनेपर भी क्षमा करनेवाला और निर्धन होनेपर भी दान देनेवाला ॥ ५८ ॥

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ५९ ॥

न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए धनके दो ही दुरुपयोग समझने चाहिये—अपात्रको देना और सत्पात्रको न देना ॥ ५९ ॥

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥ ६० ॥

जो धनी होनेपर भी दान न दे और दरिद्र होनेपर भी कष्ट सहन न कर सके—इन दो प्रकारके मनुष्योंको गलेमें मजबूत पत्थर बाँधकर पानीमें डुबा देना चाहिये ॥ ६० ॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥ ६१ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! ये दो प्रकारके पुरुष सूर्यमण्डलको भेदकर ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होते हैं—योगयुक्त संन्यासी और संग्राममें शत्रुओंके सम्मुख युद्ध करके मारा गया योद्धा ॥ ६१ ॥

त्रयो न्याया मनुष्याणां श्रूयन्ते भरतर्षभ।
कनीयान् मध्यमः श्रेष्ठ इति वेदविदो विदुः ॥ ६२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मनुष्योंकी कार्यसिद्धिके लिये उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीन प्रकारके न्यायानुकूल उपाय सुने जाते हैं, ऐसा वेदवेत्ता विद्वान् जानते हैं ॥ ६२ ॥

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेद् यथावत् तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ६३ ॥

राजन् ! उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीन प्रकारके पुरुष होते हैं; इनको यथायोग्य तीन ही प्रकारके कर्मोंमें लगाना चाहिये ॥ ६३ ॥

त्रय एवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद् धनम् ॥ ६४ ॥

राजन् ! तीन ही धनके अधिकारी नहीं माने जाते—स्त्री, पुत्र तथा दास। ये जो कुछ कमाते हैं, वह धन उसीका होता है, जिसके अधीन ये रहते हैं ॥ ६४ ॥

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥ ६५ ॥

दूसरेके धनका हरण, दूसरेकी स्त्रीका संसर्ग तथा सुहृद् मित्रका परित्याग—ये तीनों ही दोष (मनुष्यके आयु, धर्म तथा कीर्तिका) क्षय करनेवाले होते हैं ॥ ६५ ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ ६६ ॥

काम, क्रोध और लोभ—ये आत्माका नाश करनेवाले नरकके तीन दरवाजे हैं; अतः इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ॥ ६६ ॥

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत।
शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात् त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ ६७ ॥

भारत ! वरदान पाना, राज्यकी प्राप्ति और पुत्रका जन्म—ये तीन एक ओर और शत्रुके कष्टसे छूटना—यह एक ओर; वे तीन और यह एक बराबर ही हैं ॥ ६७ ॥

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम्।
त्रीनेतांश्छरणं प्राप्तान् विषमेऽपि न संत्यजेत् ॥ ६८ ॥

भक्त, सेवक तथा मैं आपका ही हूँ, ऐसा कहनेवाले—इन तीन प्रकारके शरणागत मनुष्योंको संकट पड़नेपर भी नहीं छोड़ना चाहिये ॥ ६८ ॥

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन
वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात्।
अल्पप्रज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्या-
न्न दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च ॥ ६९ ॥

थोड़ी बुद्धिवाले, दीर्घसूत्री, जल्दबाज और स्तुति करनेवाले लोगोंके साथ गुप्त सलाह नहीं करनी चाहिये। ये चारों महाबली राजाके लिये त्यागने योग्य बताये गये हैं। विद्वान् पुरुष ऐसे लोगोंको पहचान ले ॥ ६९ ॥

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः
सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या ॥ ७० ॥

तात ! गृहस्थधर्ममें स्थित आप लक्ष्मीवान्के घरमें चार प्रकारके मनुष्योंको सदा रहना चाहिये—अपने कुटुम्बका बूढ़ा, संकटमें पड़ा हुआ उच्च कुलका मनुष्य, धनहीन मित्र और बिना संतानकी बहिन ॥ ७० ॥

चत्वार्याह महाराज साद्यस्कानि बृहस्पतिः।
पृच्छते त्रिदशेन्द्राय तानीमानि निबोध मे ॥ ७१ ॥

महाराज ! इन्द्रके पूछनेपर उनसे बृहस्पतिजीने जिन चारोंको तत्काल फल देनेवाला बताया था, उन्हें आप मुझसे सुनिये—॥ ७१ ॥

देवतानां च संकल्पमनुभावं च धीमताम्।
विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम् ॥ ७२ ॥

देवताओंका संकल्प, बुद्धिमानोंका प्रभाव, विद्वानोंकी नम्रता और पापियोंका विनाश ॥ ७२ ॥

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥ ७३ ॥

चार कर्म भयको दूर करनेवाले हैं; किंतु वे ही यदि ठीक तरहसे सम्पादित न हों, तो भय प्रदान करते हैं। वे कर्म हैं—आदरके साथ अग्निहोत्र, आदरपूर्वक मौनका पालन, आदरपूर्वक स्वाध्याय और आदरके साथ यज्ञका अनुष्ठान ॥ ७३ ॥

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥ ७४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु— मनुष्यको इन पाँच अग्नियोंकी बड़े यत्नसे सेवा करनी चाहिये ॥ ७४ ॥

पञ्चैव पूजयँल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम्।
देवान् पितॄन् मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान् ॥ ७५ ॥

देवता, पितर, मनुष्य, संन्यासी और अतिथि—इन पाँचोंकी पूजा करनेवाला मनुष्य शुद्ध यश प्राप्त करता है ॥

पञ्च त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः ॥ ७६ ॥

राजन् ! आप जहाँ-जहाँ जायँगे, वहाँ-वहाँ मित्र, शत्रु, उदासीन, आश्रय देनेवाले तथा आश्रय पानेवाले—ये पाँच आपके पीछे लगे रहेंगे ॥ ७६ ॥

पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ७७ ॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियोंवाले पुरुषकी यदि एक भी इन्द्रिय छिद्र (दोष) युक्त हो जाय तो उससे उसकी बुद्धि इस प्रकार बाहर निकल जाती है, जैसे मशकके छेदसे पानी ॥ ७७ ॥

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ७८ ॥

ऐश्वर्य या उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको नींद, तन्द्रा (ऊँघना), डर, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता (जल्दी हो जानेवाले काममें अधिक देर लगानेकी आदत)—इन छः दुर्गुणोंको त्याग देना चाहिये ॥ ७८ ॥

षडिमान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ७९ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम्।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ८० ॥

उपदेश न देनेवाले आचार्य, मन्त्रोच्चारण न करनेवाले होता, रक्षा करनेमें असमर्थ राजा, कटु वचन बोलनेवाली स्त्री, ग्राममें रहनेकी इच्छावाले ग्वाले तथा वनमें रहनेकी इच्छावाले नाई—इन छःको उसी भाँति छोड़ दे, जैसे समुद्रकी सैर करनेवाला मनुष्य छिद्रयुक्त नावका परित्याग कर देता है ॥ ७९-८० ॥

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥ ८१ ॥

मनुष्यको कभी भी सत्य, दान, कर्मण्यता, अनसूया (गुणोंमें दोष दिखानेकी प्रवृत्तिका अभाव), क्षमा तथा धैर्य—इन छः गुणोंका त्याग नहीं करना चाहिये ॥ ८१ ॥

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ८२ ॥

राजन् ! धनकी प्राप्ति, नित्य नीरोग रहना, स्त्रीका अनुकूल तथा प्रियवादिनी होना, पुत्रका आज्ञाके अंदर रहना तथा धन पैदा करानेवाली विद्याका ज्ञान—ये छः बातें इस मनुष्यलोकमें सुखदायिनी होती हैं ॥ ८२ ॥

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥ ८३ ॥

मनमें नित्य रहनेवाले छः शत्रु—(काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य) को जो वशमें कर लेता है, वह जितेन्द्रिय पुरुष पापोंसे ही लिप्त नहीं होता, फिर उनसे उत्पन्न होनेवाले अनर्थोंसे युक्त होनेकी तो बात ही क्या है ?॥ ८३ ॥

षडिमे षट्सु जीवन्ति सप्तमो नोपलभ्यते।
चौराः प्रमत्ते जीवन्ति व्याधितेषु चिकित्सकाः ॥ ८४ ॥
प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः।
राजा विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः ॥ ८५ ॥

निम्नाङ्कित छः प्रकारके मनुष्य छः प्रकारके लोगोंसे अपनी जीविका चलाते हैं, सातवेंकी उपलब्धि नहीं होती। चोर असावधान पुरुषसे, वैद्य रोगीसे, कामोन्मत्त स्त्रियाँ कामियोंसे, पुरोहित यजमानोंसे, राजा झगड़नेवालोंसे तथा विद्वान् पुरुष मूर्खोंसे अपनी जीविका चलाते हैं ॥ ८४-८५ ॥

षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्तमनवेक्षणात्।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्या वृषलसंगतिः ॥ ८६ ॥

मुहूर्त[1]भर भी देख-रेख न करनेसे गौ, सेवा, खेती, स्त्री, विद्या तथा शूद्रोंसे मेल—ये छः चीजें नष्ट हो जाती हैं ॥ ८६ ॥

षडेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम्।
आचार्यं शिक्षिताः शिष्याः कृतदाराश्च मातरम् ॥ ८७ ॥
नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम्।
नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सकम् ॥ ८८ ॥

ये छः प्रायः सदा अपने पूर्व उपकारीका सम्मान नहीं करते हैं—शिक्षा समाप्त हो जानेपर शिष्य आचार्यका, विवाहित बेटे माताका, कामवासनाकी शान्ति हो जानेपर पुरुष स्त्रीका, कृतकार्य मनुष्य सहायकका, नदीकी दुर्गम धारा पार कर लेनेवाले पुरुष नावका तथा रोगी पुरुष रोग छूटनेके बाद वैद्यका ॥ ८७-८८ ॥

---

१. 'मुहूर्त' शब्दका अर्थ दो घड़ी होता है। एक घड़ी २४ मिनटकी मानी जाती है।

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः
सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः ।
स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवासः
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ८९ ॥

राजन् ! नीरोग रहना, ऋणी न होना, परदेशमें न रहना, अच्छे लोगोंके साथ मेल होना, अपनी वृत्तिसे जीविका चलाना और निर्भय होकर रहना—ये छः मनुष्यलोकके सुख हैं ॥ ८९ ॥

ईर्ष्यी घृणी नसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ॥ ९० ॥

ईर्ष्या करनेवाला, घृणा करनेवाला, असंतोषी, क्रोधी, सदा शङ्कित रहनेवाला और दूसरेके भाग्यपर जीवन-निर्वाह करनेवाला—ये छः सदा दुखी रहते हैं ॥ ९० ॥

सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूला अपीश्वराः ॥ ९१ ॥
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पञ्चमम् ।
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥ ९२ ॥

स्त्रीविषयक आसक्ति, जूआ, शिकार, मद्यपान, वचनकी कठोरता, अत्यन्त कठोर दण्ड देना और धनका दुरुपयोग करना—ये सात दुःखदायी दोष राजाको सदा त्याग देने चाहिये। इनसे दृढ़मूल राजा भी प्रायः नष्ट हो जाते हैं ॥ ९१-९२ ॥

अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः ।
ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ॥ ९३ ॥
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति ।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति ॥ ९४ ॥
नैनान् स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति ।
एतान् दोषान् नरः प्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विसर्जयेत् ॥ ९५ ॥

विनाशके मुखमें पड़नेवाले मनुष्यके आठ पूर्वचिह्न हैं—प्रथम तो वह ब्राह्मणोंसे द्वेष करता है, फिर उनके विरोधका पात्र बनता है, ब्राह्मणोंका धन हड़प लेता है, उनको मारना चाहता है, ब्राह्मणोंकी निन्दामें आनन्द मानता है, उनकी प्रशंसा सुनना नहीं चाहता, यज्ञ-यागादिमें उनका स्मरण नहीं करता तथा कुछ माँगनेपर उनमें दोष निकालने लगता है। इन सब दोषोंको बुद्धिमान् मनुष्य समझे और समझकर त्याग दे ॥ ९३-९५ ॥

अष्टाविमानि हर्षस्य नवनीतानि भारत ।
वर्तमानानि दृश्यन्ते तान्येव स्वसुखान्यपि ॥ ९६ ॥
समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः ।
पुत्रेण च परिष्वङ्गः संनिपातश्च मैथुने ॥ ९७ ॥
समये च प्रियालापः स्वयूथ्येषु समुन्नतिः ।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि ॥ ९८ ॥

भारत ! मित्रोंसे समागम, अधिक धनकी प्राप्ति, पुत्रका आलिङ्गन, मैथुनमें संलग्न होना, समयपर प्रिय वचन बोलना, अपने वर्गके लोगोंमें उन्नति, अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति और जन-समाजमें सम्मान—ये आठ हर्षके सार दिखायी देते हैं और ये ही अपने लौकिक सुखके भी साधन होते हैं ॥ ९६-९८ ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ९९ ॥

बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रियनिग्रह, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, अधिक न बोलना, शक्तिके अनुसार दान और कृतज्ञता—ये आठ गुण पुरुषकी ख्याति बढ़ा देते हैं ॥ ९९ ॥

नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ॥१००॥

जो विद्वान् पुरुष [आँख, कान आदि] नौ दरवाजेवाले, तीन (सत्त्व, रज तथा तमरूपी) खंभोंवाले, पाँच (ज्ञानेन्द्रिय-रूप) साक्षीवाले, आत्माके निवासस्थान इस शरीररूपी गृहको तत्त्वसे जानता है, वह बहुत बड़ा ज्ञानी है ॥ १०० ॥

दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान् ।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥१०१॥
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश ।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ॥१०२॥

महाराज धृतराष्ट्र ! दस प्रकारके लोग धर्मके तत्त्वको नहीं जानते, उनके नाम सुनो। नशेमें मतवाला, असावधान, पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, जल्दबाज, लोभी, भयभीत और कामी—ये दस हैं। अतः इन सब लोगोंमें विद्वान् पुरुष आसक्त न होवे ॥ १०१-१०२ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पुत्रार्थमसुरेन्द्रेण गीतं चैव सुधन्वना ॥१०३॥

इसी विषयमें असुरोंके राजा प्रह्लादने सुधन्वाके साथ अपने पुत्रके प्रति कुछ उपदेश दिया था। नीतिज्ञलोग उस पुरातन इतिहासका उदाहरण देते हैं ॥ १०३ ॥

यः काममन्यू प्रजहाति राजा
पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च ।
विशेषविच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी
तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ॥१०४॥

जो राजा काम और क्रोधका त्याग करता है और सुपात्र-को धन देता है, विशेषज्ञ है, शास्त्रोंका ज्ञाता और कर्तव्यको शीघ्र पूरा करनेवाला है, उस (के व्यवहार और वचनों) को सब लोग प्रमाण मानते हैं ॥ १०४ ॥

जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्
विज्ञातदोषेषु दधाति दण्डम् ।
जानाति मात्रां च तथा क्षमां च
तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा ॥१०५॥

जो मनुष्योंमें विश्वास उत्पन्न करना जानता है, जिनका अपराध प्रमाणित हो गया है उन्हींको जो दण्ड देता है, जो दण्ड देनेकी न्यूनाधिक मात्रा तथा क्षमाका उपयोग जानता है, उस राजाकी सेवामें सम्पूर्ण सम्पत्ति चली आती है॥१०५॥

सुदुर्बलं नावजानाति कंचिद्
युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम् ।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः
काले च यो विक्रमते स धीरः ॥१०६॥

जो किसी दुर्बलका अपमान नहीं करता, सदा सावधान रहकर शत्रुके साथ बुद्धिपूर्वक व्यवहार करता है, बलवानोंके साथ युद्ध पसंद नहीं करता तथा समय आनेपर पराक्रम दिखाता है, वही धीर है ॥ १०६ ॥

प्राप्यापदं न व्यथते कदाचि-
दुद्योगमन्विच्छति चाप्रमत्तः ।
दुःखं च काले सहते महात्मा
धुरन्धरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥१०७॥

जो धुरन्धर महापुरुष आपत्ति पड़नेपर कभी दुखी नहीं होता, बल्कि सावधानीके साथ उद्योगका आश्रय लेता है तथा समयपर दुःख सहता है, उसके शत्रु तो पराजित ही हैं ॥ १०७ ॥

अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः
पापैः सन्धिं परदाराभिमर्शम् ।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं
न सेवते यश्च सुखी सदैव ॥१०८॥

जो घर छोड़कर निरर्थक विदेशवास, पापियोंसे मेल, परस्त्रीगमन, पाखण्ड, चोरी, चुगलखोरी तथा मदिरापान—इन सबका सेवन नहीं करता, वह सदा सुखी रहता है॥१०८॥

न संरम्भेणारभते त्रिवर्ग-
माकारितः शंसति तत्त्वमेव ।
न मित्रार्थे रोचयते विवादं
नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढः ॥१०९॥

न योऽभ्यसूयत्यनुकम्पते च
न दुर्बलः प्रातिभाव्यं करोति ।
नात्याह किंचित् क्षमते विवादं
सर्वत्र तादृग् लभते प्रशंसाम् ॥११०॥

जो क्रोध या उतावलीके साथ धर्म, अर्थ तथा कामका आरम्भ नहीं करता, पूछनेपर यथार्थ बात ही बतलाता है, मित्रके लिये झगड़ा नहीं पसंद करता, आदर न पानेपर क्रुद्ध नहीं होता, विवेक नहीं खो बैठता, दूसरोंके दोष नहीं देखता, सबपर दया करता है, असमर्थ होते हुए किसीकी जमानत नहीं देता, बढ़कर नहीं बोलता तथा विवादको सह लेता है, ऐसा मनुष्य सब जगह प्रशंसा पाता है ॥१०९-११०॥

यो नोद्धतं कुरुते जातु वेषं
न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान् ।
न मूर्च्छितः कटुकान्याह किंचित्
प्रियं सदा तं कुरुते जनो हि ॥१११॥

जो कभी उद्दण्डका-सा वेष नहीं बनाता, दूसरोंके सामने अपने पराक्रमकी श्लाघा भी नहीं करता, क्रोधसे व्याकुल होनेपर भी कटुवचन नहीं बोलता, उस मनुष्यको लोग सदा ही प्यारा बना लेते हैं ॥ १११ ॥

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं
न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं
तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥११२॥

जो शान्त हुई वैरकी आगको फिर प्रज्वलित नहीं करता, गर्व नहीं करता, हीनता नहीं दिखाता तथा 'मैं विपत्तिमें पड़ा हूँ' ऐसा सोचकर अनुचित काम नहीं करता, उस उत्तम आचरणवाले पुरुषको आर्यजन सर्वश्रेष्ठ कहते हैं ॥ ११२ ॥

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥११३॥

जो अपने सुखमें प्रसन्न नहीं होता, दूसरेके दुःखके समय हर्ष नहीं मानता और दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह सज्जनोंमें सदाचारी कहलाता है ॥ ११३ ॥

देशाचारान् समयाञ्जातिधर्मान्
बुभूषते यः स परावरज्ञः ।
स यत्र तत्राभिगतः सदैव
महाजनस्याधिपत्यं करोति ॥११४॥

जो मनुष्य देशके व्यवहार, अवसर तथा जातियोंके धर्मोंको तत्त्वसे जानना चाहता है, उसे उत्तम-अधमका विवेक हो जाता है । वह जहाँ कहीं भी जाता है, सदा महान् जनसमूहपर अपनी प्रभुता स्थापित कर लेता है ॥ ११४ ॥

दम्भं मोहं मत्सरं पापकृत्यं
राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम् ।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं
यः प्रज्ञावान् वर्जयेत् स प्रधानः ॥११५॥

जो बुद्धिमान् दम्भ, मोह, मात्सर्य, पापकर्म, राजद्रोह, चुगलखोरी, समूहसे वैर और मतवाले, पागल तथा दुर्जनोंसे विवाद छोड़ देता है, वह श्रेष्ठ है ॥ ११५ ॥

दानं होमं दैवतं मङ्गलानि
प्रायश्चित्तान् विविधाँल्लोकवादान्।
एतानि यः कुरुते नैत्यकानि
तस्योत्थानं देवता राधयन्ति ॥११६॥

जो दान, होम, देवपूजन, माङ्गलिक कर्म, प्रायश्चित्त तथा अनेक प्रकारके लौकिक आचार—इन नित्य किये जानेयोग्य कर्मोंको करता है, देवतालोग उसके अभ्युदयकी सिद्धि करते हैं ॥ ११६ ॥

समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः
समैः सख्यं व्यवहारं कथां च।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति
विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः ॥११७॥

जो अपने बराबरवालोंके साथ विवाह, मित्रता, व्यवहार तथा बातचीत करता है, हीन पुरुषोंके साथ नहीं; और गुणोंमें बढ़े-चढ़े पुरुषोंको सदा आगे रखता है, उस विद्वान्की नीति श्रेष्ठ नीति है ॥ ११७ ॥

मितं भुङ्क्ते संविभज्याश्रितेभ्यो
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सं-
स्तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः ॥११८॥

जो अपने आश्रित जनोंको बाँटकर थोड़ा ही भोजन करता है, बहुत अधिक काम करके भी थोड़ा सोता है तथा माँगनेपर जो मित्र नहीं है, उन्हें भी धन देता है, उस मनस्वी पुरुषको सारे अनर्थ दूरसे ही छोड़ देते हैं ॥ ११८ ॥

चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य
नान्ये जनाः कर्म जानन्ति किंचित्।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च
नाल्पोऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः ॥११९॥

जिसके अपनी इच्छाके अनुकूल और दूसरोंकी इच्छाके विरुद्ध कार्यको दूसरे लोग कुछ भी नहीं जान पाते, मन्त्र गुप्त रहने और अभीष्ट कार्यका ठीक-ठीक सम्पादन होनेके कारण उसका थोड़ा भी काम बिगड़ने नहीं पाता ॥११९॥

यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः
सत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्धभावः।
अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये
महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः ॥१२०॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंको शान्ति प्रदान करनेमें तत्पर, सत्यवादी, कोमल, दूसरोंको आदर देनेवाला तथा पवित्र विचारवाला होता है, वह अच्छी खानसे निकले और चमकते हुए श्रेष्ठ रत्नकी भाँति अपनी जातिवालोंमें अधिक प्रसिद्धि पाता है ॥ १२० ॥

य आत्मनापत्रपते भृशं नरः
स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत।
अनन्ततेजाः सुमनाः समाहितः
स तेजसा सूर्य इवावभासते ॥१२१॥

जो स्वयं ही अधिक लज्जाशील है, वह सब लोगोंमें श्रेष्ठ समझा जाता है। वह अपने अनन्त तेज, शुद्ध हृदय एवं एकाग्रतासे युक्त होनेके कारण कान्तिमें सूर्यके समान शोभा पाता है ॥ १२१ ॥

वने जाताः शापदग्धस्य राज्ञः
पाण्डोः पुत्राः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पाः।
त्वयैव बाला वर्धिताः शिक्षिताश्च
तवादेशं पालयन्त्याम्बिकेय ॥१२२॥

अम्बिकानन्दन ! (मृगरूपधारी किंदम ऋषिके) शापसे दग्ध राजा पाण्डुके जो पाँच पुत्र वनमें उत्पन्न हुए, वे पाँच इन्द्रोंके समान शक्तिशाली हैं, उन्हें आपने ही बचपनसे पाला और शिक्षा दी है; वे भी आपकी आज्ञाका पालन करते रहते हैं ॥ १२२ ॥

प्रदायैषामुचितं तात राज्यं
सुखी पुत्रैः सहितो मोदमानः।
न देवानां नापि च मानुषाणां
भविष्यसि त्वं तर्कणीयो नरेन्द्र ॥१२३॥

तात ! उन्हें उनका न्यायोचित राज्यभाग देकर आप अपने पुत्रोंके साथ आनन्दित होते हुए सुख भोगिये। नरेन्द्र ! ऐसा करनेपर आप देवताओं तथा मनुष्योंकी आलोचनाके विषय नहीं रह जायँगे ॥ १२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके नीतिवाक्य-विषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल १२९ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीके नीतियुक्त वचन

धृतराष्ट्र उवाच

जाग्रतो दह्यमानस्य यत् कार्यमनुपश्यसि।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—तात ! मैं चिन्तासे जलता हुआ अभीतक जाग रहा हूँ; तुम मेरे करने योग्य जो कार्य समझो, उसे बताओ; क्योंकि हमलोगोंमें तुम्हीं धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण हो ॥ १ ॥

त्वं मां यथावद् विदुर प्रशाधि
प्रज्ञापूर्वं सर्वमजातशत्रोः।
यन्मन्यसे पथ्यमदीनसत्त्व
श्रेयस्करं ब्रूहि तद् वै कुरूणाम्॥ २ ॥

उदारचित्त विदुर ! तुम अपनी बुद्धिसे विचारकर मुझे ठीक-ठीक उपदेश करो । जो बात युधिष्ठिरके लिये हितकर और कौरवोंके लिये कल्याणकारी समझो, वह सब अवश्य बताओ ॥ २ ॥

पापाशङ्की पापमेवानुपश्यन्
पृच्छामि त्वां व्याकुलेनात्मनाहम्।
कवे तन्मे ब्रूहि सर्वं यथाव-
न्मनीषितं सर्वमजातशत्रोः॥ ३ ॥

विद्वन् ! मेरे मनमें अनिष्टकी आशङ्का बनी रहती है, इसलिये मैं सर्वत्र अनिष्ट ही देखता हूँ, अतः व्याकुल हृदयसे मैं तुमसे पूछ रहा हूँ—अजातशत्रु युधिष्ठिर क्या चाहते हैं, सो सब ठीक-ठीक बताओ ॥ ३ ॥

विदुर उवाच

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम्।
अपृष्टस्तस्य तद् ब्रूयाद् यस्य नेच्छेत् पराभवम्॥ ४ ॥

विदुरजीने कहा—राजन् ! मनुष्यको चाहिये कि वह जिसकी पराजय नहीं चाहता, उसको बिना पूछे भी अच्छी अथवा बुरी, कल्याण करनेवाली या अनिष्ट करनेवाली—जो भी बात हो, बता दे ॥ ४ ॥

तस्माद् वक्ष्यामि ते राजन् हितं यत् स्यात् कुरून् प्रति।
वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे ॥ ५ ॥

इसलिये राजन् ! जिससे समस्त कौरवोंका हित हो, मैं वही बात आपसे कहूँगा । मैं जो कल्याणकारी एवं धर्मयुक्त वचन कह रहा हूँ, उन्हें आप ध्यान देकर सुनें ॥ ५ ॥

मिथ्योपेतानि कर्माणि सिध्येयुर्यानि भारत।
अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ६ ॥

भारत ! असत् उपायों (अन्यायपूर्वक युद्ध एवं द्यूत) आदिका प्रयोग करके जो कपटपूर्ण कार्य सिद्ध होते हैं, उनमें आप मन मत लगाइये ॥ ६ ॥

तथैव योगविहितं यत् तु कर्म न सिध्यति।
उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥ ७ ॥

इसी प्रकार अच्छे उपायोंका उपयोग करके सावधानीके साथ किया गया कोई कर्म यदि सफल न हो तो बुद्धिमान् पुरुषको उसके लिये मनमें ग्लानि नहीं करनी चाहिये ॥ ७ ॥

अनुबन्धानपेक्षेत सानुबन्धेषु कर्मसु।
सम्प्रधार्य च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत् ॥ ८ ॥

किसी प्रयोजनसे किये गये कर्मोंमें पहले प्रयोजनको समझ लेना चाहिये । खूब सोच-विचारकर काम करना चाहिये, जल्दबाजीसे किसी कामका आरम्भ नहीं करना चाहिये ॥ ८॥

अनुबन्धं च सम्प्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम्।
उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा ॥ ९ ॥

धीर मनुष्यको उचित है कि पहले कर्मोंका प्रयोजन, परिणाम तथा अपनी उन्नतिका विचार करके फिर काम आरम्भ करे या न करे ॥ ९ ॥

यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये।
कोशे जनपदे दण्डे न स राज्येऽवतिष्ठते ॥ १० ॥

जो राजा स्थिति, लाभ, हानि, खजाना, देश तथा दण्ड आदिकी मात्राको नहीं जानता, वह राज्यपर स्थिर नहीं रह सकता ॥ १० ॥

यस्त्वेतानि प्रमाणानि यथोक्तान्यनुपश्यति।
युक्तो धर्मार्थयोर्ज्ञाने स राज्यमधिगच्छति ॥ ११ ॥

जो इनके प्रमाणोंको उपर्युक्त प्रकारसे ठीक-ठीक जानता है तथा धर्म और अर्थके ज्ञानमें दत्तचित्त रहता है, वह राज्यको प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम्।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥ १२ ॥

'अब तो राज्य प्राप्त ही हो गया'—ऐसा समझकर अनुचित बर्ताव नहीं करना चाहिये । उद्दण्डता सम्पत्तिको उसी प्रकार नष्ट कर देती है, जैसे सुन्दर रूपको बुढ़ापा।१२।

भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मत्स्यो बडिशमायसम्।
लोभाभिपाती ग्रसते नानुबन्धमवेक्षते ॥ १३ ॥

जैसे मछली बढ़िया खाद्य वस्तुसे ढकी हुई लोहेकी

काँटीको लोभमें पड़कर निगल जाती है, उससे होनेवाले परिणामपर विचार नहीं करती (अतएव मर जाती है) ॥

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत्।
हितं च परिणामे यत् तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ १४ ॥

अतः अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको वही वस्तु खानी (या ग्रहण करनी) चाहिये, (जो परिणाममें अनिष्टकर न न हो अर्थात्) जो खाने योग्य हो तथा खायी जा सके, खाने (या ग्रहण करने) पर पच सके और पच जानेपर हितकारी हो ॥ १४ ॥

वनस्पतेरपक्कानि फलानि प्रचिनोति यः।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥ १५ ॥

जो पेड़से कच्चे फलोंको तोड़ता है, वह उन फलोंसे रस तो पाता नहीं, परंतु उस वृक्षके बीजका नाश हो जाता है ॥ १५ ॥

यस्तु पक्कमुपादत्ते काले परिणतं फलम्।
फलाद् रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥ १६ ॥

परंतु जो समयपर पके हुए फलको ग्रहण करता है, वह फलसे रस पाता है और उस बीजसे पुनः फल प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥ १७ ॥

जैसे भौंरा फूलोंकी रक्षा करता हुआ ही उनके मधुका ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाजनोंको कष्ट दिये बिना ही उनसे धन ले ॥ १७ ॥

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः ॥ १८ ॥

जैसे माली बगीचेमें एक-एक फूल तोड़ता है, उसकी जड़ नहीं काटता, उसी प्रकार राजा प्रजाकी रक्षापूर्वक उनसे कर ले। कोयला बनानेवालेकी तरह जड़से नहीं काटे ॥ १८ ॥

किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः।
इति कर्माणि संचिन्त्य कुर्याद् वा पुरुषो न वा ॥ १९ ॥

इसे करनेसे मेरा क्या लाभ होगा और न करनेसे क्या हानि होगी—इस प्रकार कर्मोंके विषयमें भलीभाँति विचार करके फिर मनुष्य (कर्म) करे या न करे ॥ १९ ॥

अनारभ्या भवन्त्यर्थाः केचिन्नित्यं तथागताः।
कृतः पुरुषकारो हि भवेद् येषु निरर्थकः ॥ २० ॥

कुछ ऐसे व्यर्थ कार्य हैं, जो नित्य अप्राप्त होनेके कारण आरम्भ करने योग्य नहीं होते; क्योंकि उनके लिये किया हुआ पुरुषार्थ भी व्यर्थ हो जाता है ॥ २० ॥

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥ २१ ॥

जिसकी प्रसन्नताका कोई फल नहीं और क्रोध भी व्यर्थ है, उसको प्रजा स्वामी बनाना नहीं चाहती—जैसे स्त्री नपुंसकको पति नहीं बनाना चाहती ॥ २१ ॥

कांश्चिदर्थान् नरः प्राज्ञो लघुमूलान् महाफलान्।
क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान् ॥ २२ ॥

जिनका मूल (साधन) छोटा और फल महान् हो, बुद्धिमान् पुरुष उनको शीघ्र ही आरम्भ कर देता है; वैसे कामोंमें वह विघ्न नहीं आने देता ॥ २२ ॥

ऋजु पश्यति यः सर्वं चक्षुषानुपिबन्निव।
आसीनमपि तूष्णीकमनुरज्यन्ति तं प्रजाः ॥ २३ ॥

जो राजा इस प्रकार प्रेमके साथ कोमल दृष्टिसे देखता है, मानो आँखोंसे पीना चाहता है, वह चुपचाप बैठा भी रहे, तो भी प्रजा उससे अनुराग रखती है ॥ २३ ॥

सुपुष्पितः स्यादफलः फलितः स्याद् दुरारुहः।
अपक्कः पक्कसंकाशो न तु शीर्येत कर्हिचित् ॥ २४ ॥

राजा वृक्षकी भाँति अच्छी तरह फूलने (प्रसन्न रहने) पर भी फलसे खाली रहे (अधिक देनेवाला न हो)। यदि फलसे युक्त (देनेवाला) हो तो भी जिसपर चढ़ा न जा सके, ऐसा (पहुँचके बाहर) होकर रहे। कच्चा (कम शक्ति-वाला) होनेपर भी पके (शक्तिसम्पन्न) की भाँति अपनेको प्रकट करे। ऐसा करनेसे वह नष्ट नहीं होता ॥ २४ ॥

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम्।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥ २५ ॥

जो राजा नेत्र, मन, वाणी और कर्म—इन चारोंसे प्रजाको प्रसन्न करता है, उसीसे प्रजा प्रसन्न रहती है ॥२५॥

यस्मात् त्रस्यन्ति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव।
सागरान्तामपि महीं लब्ध्वा स परिहीयते ॥ २६ ॥

जैसे व्याधसे हरिन भयभीत होते हैं, उसी प्रकार जिससे समस्त प्राणी डरते हैं, वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य पाकर भी प्रजाजनोंके द्वारा त्याग दिया जाता है ॥ २६ ॥

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्तवान् स्वेन कर्मणा।
वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः ॥ २७ ॥

अन्यायमें स्थित हुआ राजा बाप-दादोंका राज्य पाकर भी अपने कर्मोंसे उसे इस तरह भ्रष्ट कर देता है, जैसे हवा बादलको छिन्न-भिन्न कर देती है ॥ २७ ॥

धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः।
वसुधा वसुसम्पूर्णा वर्धते भूतिवर्धिनी ॥ २८ ॥

परम्परासे सज्जन पुरुषोंद्वारा किये हुए धर्मका आचरण करनेवाले राजाके राज्यकी पृथ्वी धन-धान्यसे पूर्ण होकर उन्नतिको प्राप्त होती है और उसके ऐश्वर्यको बढ़ाती है ॥

अथ संत्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठतः ।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा ॥ २९ ॥

जो राजा धर्मको छोड़ता और अधर्मका अनुष्ठान करता है, उसकी राज्यभूमि आगपर रक्खे हुए चमड़ेकी भाँति संकुचित हो जाती है ॥ २९ ॥

य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्दने ।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥ ३० ॥

दूसरे राष्ट्रोंका नाश करनेके लिये जिस प्रकारका प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकारकी तत्परता अपने राज्यकी रक्षाके लिये करनी चाहिये ॥ ३० ॥

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत् ।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥ ३१ ॥

धर्मसे ही राज्य प्राप्त करे और धर्मसे ही उसकी रक्षा करे; क्योंकि धर्ममूलक राज्यलक्ष्मीको पाकर न तो राजा उसे छोड़ता है और न वही राजाको छोड़ती है ॥ ३१ ॥

अप्युन्मत्तात् प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः ।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इव काञ्चनम् ॥ ३२ ॥

निरर्थक बोलनेवाले, पागल तथा बकवाद करनेवाले बच्चेसे भी सब ओरसे उसी भाँति सार बात ग्रहण करनी चाहिये, जैसे पत्थरोंमेंसे सोना लिया जाता है ॥ ३२ ॥

सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः ।
संचिन्वन् धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा ॥ ३३ ॥

जैसे शिलोञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाला अनाजका एक-एक दाना चुगता रहता है, उसी प्रकार धीर पुरुषको जहाँ-तहाँसे भावपूर्ण वचनों, सूक्तियों और सत्कर्मोंका संग्रह करते रहना चाहिये ॥ ३३ ॥

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ ३४ ॥

गौएँ गन्धसे, ब्राह्मणलोग वेदोंसे, राजा गुप्तचरोंसे और अन्य साधारण लोग आँखोंसे देखा करते हैं ॥ ३४ ॥

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा ।
अथ या सुदुहा राजन् नैव तां वितुदन्त्यपि ॥ ३५ ॥

राजन् ! जो गाय बड़ी कठिनाईसे दुहने देती है, वह बहुत क्लेश उठाती है; किंतु जो आसानीसे दूध देती है, उसे लोग कष्ट नहीं देते ॥ ३५ ॥

यदतप्तं प्रणमति न तत् संतापयन्त्यपि ।
यच्च स्वयं नतं दारु न तत् संनमयन्त्यपि ॥ ३६ ॥

जो धातु बिना गरम किये मुड़ जाते हैं, उन्हें आगमें नहीं तपाते । जो काठ स्वयं झुका होता है, उसे कोई झुकानेका प्रयत्न नहीं करता ॥ ३६ ॥

एतयोपमया धीरः संनमेत बलीयसे ।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ३७ ॥

इस दृष्टान्तके अनुसार बुद्धिमान् पुरुषको अधिक बलवान्‌के सामने झुक जाना चाहिये; जो अधिक बलवान्‌के सामने झुकता है, वह मानो इन्द्रको प्रणाम करता है ॥ ३७ ॥

पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मन्त्रिबान्धवाः ।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः ॥ ३८ ॥

पशुओंके रक्षक या स्वामी हैं बादल, राजाओंके सहायक हैं मन्त्री, स्त्रियोंके बन्धु (रक्षक) हैं पति और ब्राह्मणोंके बान्धव हैं वेद ॥ ३८ ॥

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥ ३९ ॥

सत्यसे धर्मकी रक्षा होती है, योगसे विद्या सुरक्षित होती है, सफाईसे (सुन्दर) रूपकी रक्षा होती है और सदाचार-से कुलकी रक्षा होती है ॥ ३९ ॥

मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः ।
अभीक्ष्णदर्शनं गाश्च स्त्रियो रक्ष्याः कुचैलतः ॥ ४० ॥

भलीभाँति सँभालकर रखनेसे नाजकी रक्षा होती है, फेरनेसे घोड़े सुरक्षित रहते हैं, बारंबार देख-भाल करनेसे गौओंकी तथा मैले वस्त्रोंसे स्त्रियोंकी रक्षा होती है ॥ ४० ॥

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः ।
अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥ ४१ ॥

मेरा ऐसा विचार है कि सदाचारसे हीन मनुष्यका केवल ऊँचा कुल मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि नीच कुलमें उत्पन्न मनुष्यका भी सदाचार श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ४१ ॥

य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये ।
सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः ॥ ४२ ॥

जो दूसरोंके धन, रूप, पराक्रम, कुलीनता, सुख, सौभाग्य और सम्मानपर डाह करता है, उसका यह रोग असाध्य है ॥ ४२ ॥

अकार्यकरणाद् भीतः कार्याणां च विवर्जनात् ।
अकाले मन्त्रभेदाच्च येन माद्येन्न तत् पिबेत् ॥ ४३ ॥

न करने योग्य काम करनेसे, करने योग्य काममें प्रमाद करनेसे तथा कार्यसिद्धि होनेके पहले ही मन्त्र प्रकट हो जानेसे डरना चाहिये और जिससे नशा चढ़े, ऐसी मादक वस्तु नहीं पीनी चाहिये ॥ ४३ ॥

विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥ ४४ ॥

विद्याका मद, धनका मद और तीसरा ऊँचे कुलका मद है। ये घमंडी पुरुषोंके लिये तो मद हैं, परंतु ये (विद्या, धन और कुलीनता) ही सज्जन पुरुषोंके लिये दमके साधन हैं ॥ ४४ ॥

असन्तोऽभ्यर्थिताः सद्भिः क्वचित्कार्ये कदाचन।
मन्यन्ते सन्तमात्मानमसन्तमपि विश्रुतम् ॥ ४५ ॥

कभी किसी कार्यमें सज्जनोंद्वारा प्रार्थित होनेपर दुष्टलोग अपनेको प्रसिद्ध दुष्ट जानते हुए भी सज्जन मानने लगते हैं ॥ ४५ ॥

गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः।
असतां च गतिः सन्तो न त्वसन्तः सतां गतिः ॥ ४६ ॥

मनस्वी पुरुषोंको सहारा देनेवाले संत हैं; संतोंके भी सहारे संत ही हैं, दुष्टोंको भी सहारा देनेवाले संत हैं, पर दुष्टलोग संतोंको सहारा नहीं देते ॥ ४६ ॥

जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ॥ ४७ ॥

अच्छे वस्त्रवाला सभाको जीतता (अपना प्रभाव जमा लेता) है; जिसके पास गौ है, वह (दूध, घी, मक्खन, खोवा आदि पदार्थोंके आस्वादनसे) मीठे स्वादकी आकाङ्क्षाको जीत लेता है, सवारीसे चलनेवाला मार्गको जीत लेता (तय कर लेता) है और शीलस्वभाववाला पुरुष सबपर विजय पा लेता है ॥ ४७ ॥

शीलं प्रधानं पुरुषे तद् यस्येह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिः ॥ ४८ ॥

पुरुषमें शील ही प्रधान है; जिसका वही नष्ट हो जाता है, इस संसारमें उसका जीवन, धन और बन्धुओंसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ॥ ४८ ॥

आढ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम्।
तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ ॥ ४९ ॥

भरतश्रेष्ठ! धनोन्मत्त (तामस स्वभाववाले) पुरुषोंके भोजनमें मांसकी, मध्यम श्रेणीवालोंके भोजनमें गोरसकी तथा दरिद्रोंके भोजनमें तेलकी प्रधानता होती है ॥ ४९ ॥

सम्पन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुञ्जते सदा।
क्षुत् स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा ॥ ५० ॥

दरिद्र पुरुष सदा स्वादिष्ट भोजन ही करते हैं; क्योंकि भूख उनके भोजनमें (विशेष) स्वाद उत्पन्न कर देती है और वह भूख धनियोंके लिये सर्वथा दुर्लभ है ॥ ५० ॥

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
जीर्यन्त्यपि हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते ॥ ५१ ॥

राजन्! संसारमें धनियोंको प्रायः भोजनको पचानेकी शक्ति नहीं होती, किंतु दरिद्रोंके पेटमें काठ भी पच जाते हैं ॥ ५१ ॥

अवृत्तिर्भयमन्त्यानां मध्यानां मरणाद् भयम्।
उत्तमानां तु मर्त्यानामवमानात् परं भयम् ॥ ५२ ॥

अधम पुरुषोंको जीविका न होनेसे भय लगता है, मध्यम श्रेणीके मनुष्योंको मृत्युसे भय होता है; परंतु उत्तम पुरुषोंको अपमानसे ही महान् भय होता है ॥ ५२ ॥

ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नापतित्वा विबुध्यते ॥ ५३ ॥

यों तो (मादक वस्तुओंके) पीनेका नशा आदि भी नशा ही है, किंतु ऐश्वर्यका नशा तो बहुत ही बुरा है; क्योंकि ऐश्वर्यके मदसे मतवाला पुरुष भ्रष्ट हुए बिना होशमें नहीं आता ॥ ५३ ॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु वर्तमानैरनिग्रहैः।
तैरयं ताप्यते लोको नक्षत्राणि ग्रहैरिव ॥ ५४ ॥

वशमें न होनेके कारण विषयोंमें रमनेवाली इन्द्रियोंसे यह संसार उसी भाँति कष्ट पाता है, जैसे सूर्य आदि ग्रहोंसे नक्षत्र तिरस्कृत हो जाते हैं ॥ ५४ ॥

यो जितः पञ्चवर्गेण सहजेनात्मकर्षिणा।
आपदस्तस्य वर्धन्ते शुक्लपक्ष इवोडुराट् ॥ ५५ ॥

जो मनुष्य जीवोंको वशमें करनेवाली सहज पाँच इन्द्रियोंसे जीत लिया गया, उसकी आपत्तियाँ शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति बढ़ती हैं ॥ ५५ ॥

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते।
अमित्रान् वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ ५६ ॥

इन्द्रियोंसहित मनको जीते बिना ही जो मन्त्रियोंको जीतनेकी इच्छा करता है या मन्त्रियोंको अपने अधीन किये बिना शत्रुको जीतना चाहता है, उस अजितेन्द्रिय पुरुषको सब लोग त्याग देते हैं ॥ ५६ ॥

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण यो जयेत्।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ ५७ ॥

जो पहले इन्द्रियोंसहित मनको ही शत्रु समझकर जीत लेता है, उसके बाद यदि वह मन्त्रियों तथा शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करे तो उसे सफलता मिलती है ॥ ५७ ॥

वश्येन्द्रियं जितात्मानं धृतदण्डं विकारिषु।
परीक्ष्य कारिणं धीरमत्यन्तं श्रीर्निषेवते ॥ ५८ ॥

इन्द्रियों तथा मनको जीतनेवाले, अपराधियोंको दण्ड देनेवाले और जाँच-परखकर काम करनेवाले धीर पुरुषकी लक्ष्मी अत्यन्त सेवा करती है ॥ ५८ ॥

रथः शरीरं पुरुषस्य राज-
न्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥ ५९ ॥

राजन्! मनुष्यका शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है और इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं। इनको वशमें करके सावधान रहनेवाला चतुर एवं धीर पुरुष काबूमें किये हुए घोड़ोंसे रथीकी भाँति सुखपूर्वक संसारपथका अतिक्रमण करता है ॥ ५९ ॥

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम्।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥ ६० ॥

शिक्षा न पाये हुए तथा काबूमें न आनेवाले घोड़े जैसे मूर्ख सारथिको मार्गमें मार गिराते हैं, वैसे ही ये इन्द्रियाँ वशमें न रहनेपर पुरुषको मार डालनेमें भी समर्थ होती हैं ॥ ६० ॥

अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थं चैवाप्यनर्थतः।
इन्द्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं मन्यते सुखम् ॥ ६१ ॥

इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण अर्थको अनर्थ और अनर्थको अर्थ समझकर अज्ञानी पुरुष बहुत बड़े दुःखको भी सुख मान बैठता है ॥ ६१ ॥

धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ ६२ ॥

जो धर्म और अर्थका परित्याग करके इन्द्रियोंके वशमें हो जाता है, वह शीघ्र ही ऐश्वर्य, प्राण, धन तथा स्त्रीसे भी हाथ धो बैठता है ॥ ६२ ॥

अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद् भ्रश्यते हि सः ॥ ६३ ॥

जो अधिक धनका स्वामी होकर भी इन्द्रियोंपर अधिकार नहीं रखता, वह इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण ही ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ ६३ ॥

आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६४ ॥

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको अपने अधीन कर अपनेसे ही अपने आत्माको जाननेकी इच्छा करे; क्योंकि आत्मा ही अपना बन्धु और आत्मा ही अपना शत्रु है ॥ ६४ ॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनैवात्माऽऽत्मना जितः।
स एव नियतो बन्धुः स एवानियतो रिपुः ॥ ६५ ॥

जिसने स्वयं अपने आत्माको ही जीत लिया है, उसका आत्मा ही उसका बन्धु है। वही आत्मा जीता गया होनेपर सच्चा बन्धु और वही न जीता हुआ होनेपर शत्रु है ॥ ६५ ॥

क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुरू।
कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुम्पतः ॥ ६६ ॥

राजन्! जिस प्रकार सूक्ष्म छेदवाले जालमें फँसी हुई दो बड़ी-बड़ी मछलियाँ मिलकर जालको काट डालती हैं, उसी प्रकार ये काम और क्रोध—दोनों विवेकको लुप्त कर देते हैं ॥ ६६ ॥

समवेक्ष्येह धर्मार्थौ सम्भारान् योऽधिगच्छति।
स वै सम्भृतसम्भारः सततं सुखमेधते ॥ ६७ ॥

जो इस जगत्‌में धर्म तथा अर्थका विचार करके विजय-साधन-सामग्रीका संग्रह करता है, वही उस सामग्रीसे युक्त होनेके कारण सदा सुखपूर्वक समृद्धिशाली होता रहता है ॥ ६७ ॥

यः पञ्चाभ्यन्तराञ्छत्रूनविजित्य मनोमयान्।
जिगीषति रिपूनन्यान् रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥ ६८ ॥

जो चित्तके विकारभूत पाँच इन्द्रियरूपी भीतरी शत्रुओंको जीते बिना ही दूसरे शत्रुओंको जीतना चाहता है, उसे शत्रु पराजित कर देते हैं ॥ ६८ ॥

दृश्यन्ते हि महात्मानो बध्यमानाः स्वकर्मभिः।
इन्द्रियाणामनीशत्वाद् राजानो राज्यविभ्रमैः ॥ ६९ ॥

इन्द्रियोंपर अधिकार न होनेके कारण बड़े-बड़े साधु भी अपने कर्मोंसे तथा राजालोग राज्यके भोगविलासोंसे बँधे रहते हैं ॥ ६९ ॥

असंत्यागात् पापकृतामपापां-
स्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात्।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावात्
तस्मात् पापैः सह सन्धिं न कुर्यात् ॥ ७० ॥

पापाचारी दुष्टोंका त्याग न करके उनके साथ मिले रहनेसे निरपराध सज्जनोंको भी उन (पापियों) के समान ही दण्ड प्राप्त होता है, जैसे सूखी लकड़ीमें मिल जानेसे गीली भी जल जाती है; इसलिये दुष्ट पुरुषोंके साथ कभी मेल न करे ॥ ७० ॥

निजानुत्पततः शत्रून् पञ्च पञ्चप्रयोजनान्।
यो मोहान्न निगृह्णाति तमापद् ग्रसते नरम् ॥ ७१ ॥

जो पाँच विषयोंकी ओर दौड़नेवाले अपने पाँच इन्द्रियरूपी शत्रुओंको मोहके कारण वशमें नहीं करता, उस मनुष्यको विपत्ति ग्रस लेती है ॥ ७१ ॥

अनसूयाऽऽर्जवं शौचं संतोषः प्रियवादिता।
दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ॥ ७२ ॥

गुणोंमें दोष न देखना, सरलता, पवित्रता, संतोष, प्रिय वचन बोलना, इन्द्रियदमन, सत्यभाषण तथा सरलता—ये गुण दुरात्मा पुरुषोंमें नहीं होते ॥ ७२ ॥

आत्मज्ञानमसंरम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
वाक् चैव गुप्ता दानं च नैतान्यन्त्येषु भारत ॥ ७३ ॥

भारत ! आत्मज्ञान, अक्रोध, सहनशीलता, धर्मपरायणता, वचनकी रक्षा तथा दान—ये गुण अधम पुरुषोंमें नहीं होते ॥ ७३ ॥

आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसन्त्यबुधा बुधान्।
वक्ता पापमुपादत्ते क्षममाणो विमुच्यते ॥ ७४ ॥

मूर्ख मनुष्य विद्वानोंको गाली और निन्दासे कष्ट पहुँचाते हैं। गाली देनेवाला पापका भागी होता है और क्षमा करनेवाला पापसे मुक्त हो जाता है ॥ ७४ ॥

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम्।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७५ ॥

दुष्ट पुरुषोंका बल है हिंसा, राजाओंका बल है दण्ड देना, स्त्रियोंका बल है सेवा और गुणवानोंका बल है क्षमा ॥७५॥

वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः।
अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहु भाषितुम् ॥ ७६ ॥

राजन् ! वाणीका पूर्ण संयम तो बहुत कठिन माना ही गया है; परंतु विशेष अर्थयुक्त और चमत्कारपूर्ण वाणी भी अधिक नहीं बोली जा सकती (इसलिये अत्यन्त दुष्कर होनेपर भी वाणीका संयम करना ही उचित है) ॥ ७६ ॥

अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥ ७७ ॥

राजन् ! मधुर शब्दोंमें कही हुई बात अनेक प्रकारसे कल्याण करती है; किंतु वही यदि कटु शब्दोंमें कही जाय तो महान् अनर्थका कारण बन जाती है ॥ ७७ ॥

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ ७८ ॥

बाणोंसे बिंधा हुआ तथा फरसेसे काटा हुआ वन भी अंकुरित हो जाता है; किंतु कटु वचन कहकर वाणीसे किया हुआ भयानक घाव नहीं भरता ॥ ७८ ॥

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥ ७९ ॥

कर्णि, नालीक और नाराच नामक बाणोंको शरीरसे निकाल सकते हैं, परंतु कटु वचनरूपी बाण नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि वह हृदयके भीतर धँस जाता है ॥ ७९ ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः ॥ ८० ॥

कटु वचनरूपी बाण मुखसे निकलकर दूसरोंके मर्मस्थानपर ही चोट करते हैं; उनसे आहत मनुष्य रात-दिन घुलता रहता है। अतः विद्वान् पुरुष दूसरोंपर उनका प्रयोग न करे॥८०॥

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८१ ॥

देवतालोग जिसे पराजय देते हैं, उसकी बुद्धिको पहले ही हर लेते हैं; इससे वह नीच कर्मोंपर ही अधिक दृष्टि रखता है ॥ ८१ ॥

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ८२ ॥

विनाशकाल उपस्थित होनेपर बुद्धि मलिन हो जाती है; फिर तो न्यायके समान प्रतीत होनेवाला अन्याय हृदयसे बाहर नहीं निकलता ॥ ८२ ॥

सेयं बुद्धिः परीता ते पुत्राणां भरतर्षभ।
पाण्डवानां विरोधेन न चैनानवबुध्यसे ॥ ८३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपके पुत्रोंकी वह बुद्धि पाण्डवोंके प्रति विरोधसे व्याप्त हो गयी है; आप इन्हें पहचान नहीं रहे हैं ॥ ८३ ॥

राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत्।
शिष्यस्ते शासिता सोऽस्तु धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥ ८४ ॥

महाराज धृतराष्ट्र ! जो राजलक्षणोंसे सम्पन्न होनेके कारण त्रिभुवनका भी राजा हो सकता है, वह आपका आज्ञाकारी युधिष्ठिर ही इस पृथ्वीका शासक होने योग्य है ॥ ८४ ॥

अतीत्य सर्वान् पुत्रांस्ते भागधेयपुरस्कृतः।
तेजसा प्रज्ञया चैव युक्तो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ८५ ॥

वह धर्म तथा अर्थके तत्त्वको जाननेवाला, तेज और बुद्धिसे युक्त, पूर्ण सौभाग्यशाली तथा आपके सभी पुत्रोंसे बढ़-चढ़कर है ॥ ८५ ॥

अनुक्रोशादानृशंस्याद् योऽसौ धर्मभृतां वरः।
गौरवात् तव राजेन्द्र बहून् क्लेशांस्तितिक्षति ॥ ८६ ॥

राजेन्द्र ! धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर दया, सौम्यभाव तथा आपके प्रति गौरव-बुद्धिके कारण बहुत कष्ट सह रहा है ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके नीतिवाक्यविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३४॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

विदुरके द्वारा केशिनीके लिये सुधन्वाके साथ विरोचनके विवादका वर्णन करते हुए धृतराष्ट्रको धर्मोपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रूहि भूयो महाबुद्धे धर्मार्थसहितं वचः।
शृण्वतो नास्ति मे तृप्तिर्विचित्राणीह भाषसे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महाबुद्धे ! तुम पुनः धर्म और अर्थसे युक्त बातें कहो। इन्हें सुनकर मुझे तृप्ति नहीं होती। इस विषयमें तुम विलक्षण बातें कह रहे हो ॥ १ ॥

विदुर उवाच

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥ २ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! सब तीर्थोंमें स्नान और सब प्राणियोंके साथ कोमलताका बर्ताव—ये दोनों एक समान हैं; अथवा कोमलताके बर्तावका विशेष महत्त्व है ॥ २ ॥

आर्जवं प्रतिपद्यस्व पुत्रेषु सततं विभो।
इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ ३ ॥

विभो ! आप अपने पुत्र कौरव, पाण्डव दोनोंके साथ (समानरूपसे) कोमलताका बर्ताव कीजिये। ऐसा करनेसे इस लोकमें महान् सुयश प्राप्त करके मरनेके पश्चात् ~~लोकमें~~ आप स्वर्गलोकमें जायँगे ॥ ३ ॥

यावत् कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोके प्रगीयते।
तावत् स पुरुषव्याघ्र स्वर्गलोके महीयते ॥ ४ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! इस लोकमें जबतक मनुष्यकी पावन कीर्तिका गान किया जाता है, तबतक वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
विरोचनस्य संवादं केशिन्यर्थे सुधन्वना ॥ ५ ॥

इस विषयमें उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें 'केशिनी' के लिये सुधन्वाके साथ विरोचनके विवादका वर्णन है ॥ ५ ॥

स्वयंवरे स्थिता कन्या केशिनी नाम नामतः।
रूपेणाप्रतिमा राजन् विशिष्टपतिकाम्यया ॥ ६ ॥

राजन् ! एक समयकी बात है, केशिनी नामवाली एक अनुपम सुन्दरी कन्या सर्वश्रेष्ठ पतिको वरण करनेकी इच्छासे स्वयंवर-सभामें उपस्थित हुई ॥ ६ ॥

विरोचनोऽथ दैतेयस्तदा तत्राजगाम ह।
प्राप्तुमिच्छंस्ततस्तत्र दैत्येन्द्रं प्राह केशिनी ॥ ७ ॥

उसी समय दैत्यकुमार विरोचन उसे प्राप्त करनेकी इच्छासे वहाँ आया। तब केशिनीने वहाँ दैत्यराजसे इस प्रकार बातचीत की ॥ ७ ॥

केशिन्युवाच

किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांसो दितिजाः स्विद् विरोचन।
अथ केन स्म पर्यङ्कं सुधन्वा नाधिरोहति ॥ ८ ॥

केशिनी बोली—विरोचन ! ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं या दैत्य ? यदि ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं तो सुधन्वा ब्राह्मण ही मेरी शय्यापर क्यों न बैठे ? अर्थात् मैं सुधन्वासे ही विवाह क्यों न करूँ ? ॥ ८ ॥

विरोचन उवाच

प्राजापत्यास्तु वै श्रेष्ठा वयं केशिनि सत्तमाः।
अस्माकं खल्विमे लोकाः के देवाः के द्विजातयः ॥ ९ ॥

विरोचनने कहा—केशिनी ! हम प्रजापतिकी श्रेष्ठ संतानें हैं, अतः सबसे उत्तम हैं। यह सारा संसार हमलोगोंका ही है। हमारे सामने देवता क्या हैं ? और ब्राह्मण कौन चीज हैं ? ॥ ९ ॥

केशिन्युवाच

इहैवावां प्रतीक्षाव उपस्थाने विरोचन।
सुधन्वा प्रातरागन्ता पश्येयं वां समागतौ ॥ १० ॥

केशिनी बोली—विरोचन ! इसी जगह हम दोनों



प्रतीक्षा करें; कल प्रातःकाल सुधन्वा यहाँ आवेगा। फिर मैं तुम दोनोंको एकत्र उपस्थित देखूँगी ॥ १० ॥

विरोचन उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे।
सुधन्वानं च मां चैव प्रातर्द्रष्टासि संगतौ ॥ ११ ॥

विरोचन बोला—कल्याणी ! तुम जैसा कहती हो, वही करूँगा। भीरु ! प्रातःकाल तुम मुझे और सुधन्वाको एक साथ उपस्थित देखोगी ॥ ११ ॥

विदुर उवाच

अतीतायां च शर्वर्यामुदिते सूर्यमण्डले।
अथाजगाम तं देशं सुधन्वा राजसत्तम।
विरोचनो यत्र विभो केशिन्या सहितः स्थितः ॥ १२ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजाओंमें श्रेष्ठ धृतराष्ट्र ! इसके बाद जब रात बीती और सूर्यमण्डलका उदय हुआ, उस समय सुधन्वा उस स्थानपर आया, जहाँ विरोचन केशिनीके साथ उपस्थित था ॥ १२ ॥

सुधन्वा च समागच्छत् प्राह्लादिं केशिनीं तथा।
समागतं द्विजं दृष्ट्वा केशिनी भरतर्षभ।
प्रत्युत्थायासनं तस्मै पाद्यमर्घ्यं ददौ पुनः ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सुधन्वा प्रह्लादकुमार विरोचन और केशिनीके पास आया। ब्राह्मणको आया देख केशिनी उठ खड़ी हुई और उसने उसे आसन, पाद्य और अर्घ्य निवेदन किया ॥ १३ ॥

सुधन्वोवाच

अन्वालभे हिरण्मयं प्राह्लादे ते वरासनम्।
एकत्वमुपसम्पन्नो न त्वासेऽहं त्वया सह ॥ १४ ॥

सुधन्वा बोला—प्रह्लादनन्दन ! मैं तुम्हारे इस सुवर्णमय सुन्दर सिंहासनको केवल छू लेता हूँ; तुम्हारे साथ इसपर बैठ नहीं सकता; क्योंकि ऐसा होनेसे हम दोनों एक समान हो जायँगे ॥ १४ ॥

विरोचन उवाच

तवार्हते तु फलकं कूर्चं वाप्यथवा बृसी।
सुधन्वन् न त्वमर्होऽसि मया सह समासनम् ॥ १५ ॥

विरोचनने कहा—सुधन्वन् ! तुम्हारे लिये तो पीढ़ा, चटाई या कुशका आसन उचित है; तुम मेरे साथ बराबरके आसनपर बैठने योग्य हो ही नहीं ॥ १५ ॥

सुधन्वोवाच

पितापुत्रौ सहासीतां द्वौ विप्रौ क्षत्रियावपि।
वृद्धौ वैश्यौ च शूद्रौ च न त्वन्यावितरेतरम् ॥ १६ ॥

सुधन्वाने कहा—विरोचन ! पिता और पुत्र एक साथ एक आसनपर बैठ सकते हैं; दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वृद्ध, दो वैश्य और दो शूद्र भी एक साथ बैठ सकते हैं; किंतु दूसरे कोई दो व्यक्ति परस्पर एक साथ नहीं बैठ सकते ॥

पिता हि ते समासीनमुपासीतैव मामधः।
बालः सुखैधितो गेहे न त्वं किंचन बुध्यसे ॥ १७ ॥

तुम्हारे पिता प्रह्लाद नीचे बैठकर ही उच्चासनपर आसीन हुए मुझ सुधन्वाकी सेवा किया करते हैं। तुम अभी बालक हो, घरमें सुखसे पले हो; अतः तुम्हें इन बातोंका कुछ भी ज्ञान नहीं है ॥

विरोचन उवाच

हिरण्यं च गवाश्वं च यद् वित्तमसुरेषु नः।
सुधन्वन् विपणे तेन प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १८ ॥

विरोचन बोला—सुधन्वन् ! हम असुरोंके पास जो कुछ भी सोना, गौ, घोड़ा आदि धन है, उसकी मैं बाजी लगाता हूँ; हम-तुम दोनों चलकर जो इस विषयके जानकार हों, उनसे पूछें कि हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? ॥ १८ ॥

सुधन्वोवाच

हिरण्यं च गवाश्वं च तवैवास्तु विरोचन।
प्राणयोस्तु पणं कृत्वा प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १९ ॥

सुधन्वा बोला—विरोचन ! सुवर्ण, गाय और घोड़ा तुम्हारे ही पास रहें। हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगाकर जो जानकार हों, उनसे पूछें ॥ १९ ॥

विरोचन उवाच

आवां कुत्र गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते।
न तु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित् ॥ २० ॥

विरोचनने कहा—अच्छा, प्राणोंकी बाजी लगानेके पश्चात् हम दोनों कहाँ चलेंगे ? मैं तो न देवताओंके पास जा सकता हूँ और न कभी मनुष्योंसे ही निर्णय करा सकता हूँ ॥ २० ॥

सुधन्वोवाच

पितरं ते गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते।
पुत्रस्यापि स हेतोर्हि प्रह्लादो नानृतं वदेत् ॥ २१ ॥

सुधन्वा बोला—प्राणोंकी बाजी लग जानेपर हम दोनों तुम्हारे पिताके पास चलेंगे। [मुझे विश्वास है कि] प्रह्लाद अपने बेटेके (जीवनके) लिये भी झूठ नहीं बोल सकते हैं ॥ २१ ॥

विदुर उवाच

एवं कृतपणौ क्रुद्धौ तत्राभिजग्मतुस्तदा।
विरोचनसुधन्वानौ प्रह्लादो यत्र तिष्ठति ॥ २२ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! इस तरह बाजी लगाकर परस्पर क्रुद्ध हो विरोचन और सुधन्वा दोनों उस समय वहाँ गये, जहाँ प्रह्लाद थे ॥ २२ ॥

प्रह्लाद उवाच

इमौ तौ सम्प्रदृश्येते याभ्यां न चरितं सह ।
आशीविषाविव क्रुद्धावेकमार्गाविहागतौ ॥ २३ ॥

प्रह्लादने (मन-ही-मन) कहा—जो कभी भी एक साथ नहीं चले थे, वे ही दोनों ये सुधन्वा और विरोचन आज साँपकी तरह क्रुद्ध होकर एक ही राहसे आते दिखायी देते हैं ॥ २३ ॥

किं वै सहैवं चरथो न पुरा चरथः सह ।
विरोचनैतत् पृच्छामि किं ते सख्यं सुधन्वना ॥ २४ ॥

[फिर प्रकटरूपमें विरोचनसे कहा—] विरोचन ! मैं तुमसे पूछता हूँ, क्या सुधन्वाके साथ तुम्हारी मित्रता हो गयी है ? फिर कैसे एक साथ आ रहे हो ? पहले तो तुम दोनों कभी एक साथ नहीं चलते थे ॥ २४ ॥

विरोचन उवाच

न मे सुधन्वना सख्यं प्राणयोर्विपणावहे ।
प्रह्लाद तत्त्वं पृच्छामि मा प्रश्नमनृतं वदेः ॥ २५ ॥

विरोचन बोला—पिताजी ! सुधन्वाके साथ मेरी मित्रता नहीं हुई है । हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगाये आ रहे हैं । मैं आपसे यथार्थ बात पूछता हूँ । मेरे प्रश्नका झूठा उत्तर न दीजियेगा ॥ २५ ॥

प्रह्लाद उवाच

उदकं मधुपर्कं वाप्यानयन्तु सुधन्वने ।
ब्रह्मन्नभ्यर्चनीयोऽसि श्वेता गौः पीवरी कृता ॥ २६ ॥

प्रह्लादने कहा—सेवको ! सुधन्वाके लिये जल और मधुपर्क भी लाओ । [फिर सुधन्वासे कहा—] ब्रह्मन् ! तुम मेरे पूजनीय अतिथि हो, मैंने तुम्हें दान करनेके लिये खूब मोटी-ताजी सफेद गौ रख रक्खी है ॥ २६ ॥

सुधन्वोवाच

उदकं मधुपर्कं च पथिष्वेवार्पितं मम ।
प्रह्लाद त्वं तु मे तथ्यं प्रश्नं प्रब्रूहि पृच्छतः ।
किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांस उताहो स्विद् विरोचनः ॥ २७ ॥

सुधन्वा बोला—प्रह्लाद ! जल और मधुपर्क तो मुझे मार्गमें ही मिल गया है । तुम तो जो मैं पूछ रहा हूँ, उस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर दो—ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं अथवा विरोचन ? ॥ २७ ॥

प्रह्लाद उवाच

पुत्र एको मम ब्रह्मंस्त्वं च साक्षादिहास्थितः ।
तयोर्विवदतोः प्रश्नं कथमस्मद्विधो वदेत् ॥ २८ ॥

प्रह्लाद बोले—ब्रह्मन् ! मेरे एक ही पुत्र है और इधर तुम स्वयं उपस्थित हो; भला, तुम दोनोंके विवादमें मेरे-जैसा मनुष्य कैसे निर्णय दे सकता है ? ॥ २८ ॥

सुधन्वोवाच

गां प्रदद्यास्त्वौरसाय यद्वान्यत् स्यात् प्रियं धनम् ।
द्वयोर्विवदतोस्तथ्यं वाच्यं च मतिमंस्त्वया ॥ २९ ॥

सुधन्वा बोला—मतिमन् ! तुम्हारे पास गौ तथा दूसरा जो कुछ भी प्रिय धन हो, वह सब अपने औरस पुत्र विरोचनको दे दो; परंतु हम दोनोंके विवादमें तो तुम्हें ठीक-ठीक उत्तर देना ही चाहिये ॥ २९ ॥

प्रह्लाद उवाच

अथ यो नैव प्रब्रूयात् सत्यं वा यदि वानृतम् ।
एतत् सुधन्वन् पृच्छामि दुर्विवक्ता स्म किं वसेत् ॥ ३० ॥

प्रह्लादने कहा—सुधन्वन् ! अब मैं तुमसे यह बात पूछता हूँ—जो सत्य न बोले अथवा असत्य निर्णय करे, ऐसे दुष्ट वक्ताकी क्या स्थिति होती है ? ॥ ३० ॥

सुधन्वोवाच

यां रात्रिमधिविन्ना स्त्री यां चैवाक्षपराजितः ।
यां च भाराभितप्ताङ्गो दुर्विवक्ता स्म तां वसेत् ॥ ३१ ॥

सुधन्वा बोला—सौतवाली स्त्री, जूएमें हारे हुए जुआरी और भार ढोनेसे व्यथित शरीरवाले मनुष्यकी रातमें जो स्थिति होती है, वही स्थिति उल्टा न्याय देनेवाले वक्ताकी भी होती है ॥ ३१ ॥

नगरे प्रतिरुद्धः सन् बहिर्द्वारे बुभुक्षितः ।
अमित्रान् भूयसः पश्येद् यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ३२ ॥

जो झूठा निर्णय देता है, वह राजा नगरमें कैद होकर बाहरी दरवाजेपर भूखका कष्ट उठाता हुआ बहुत-से शत्रुओं-को देखता है ॥ ३२ ॥

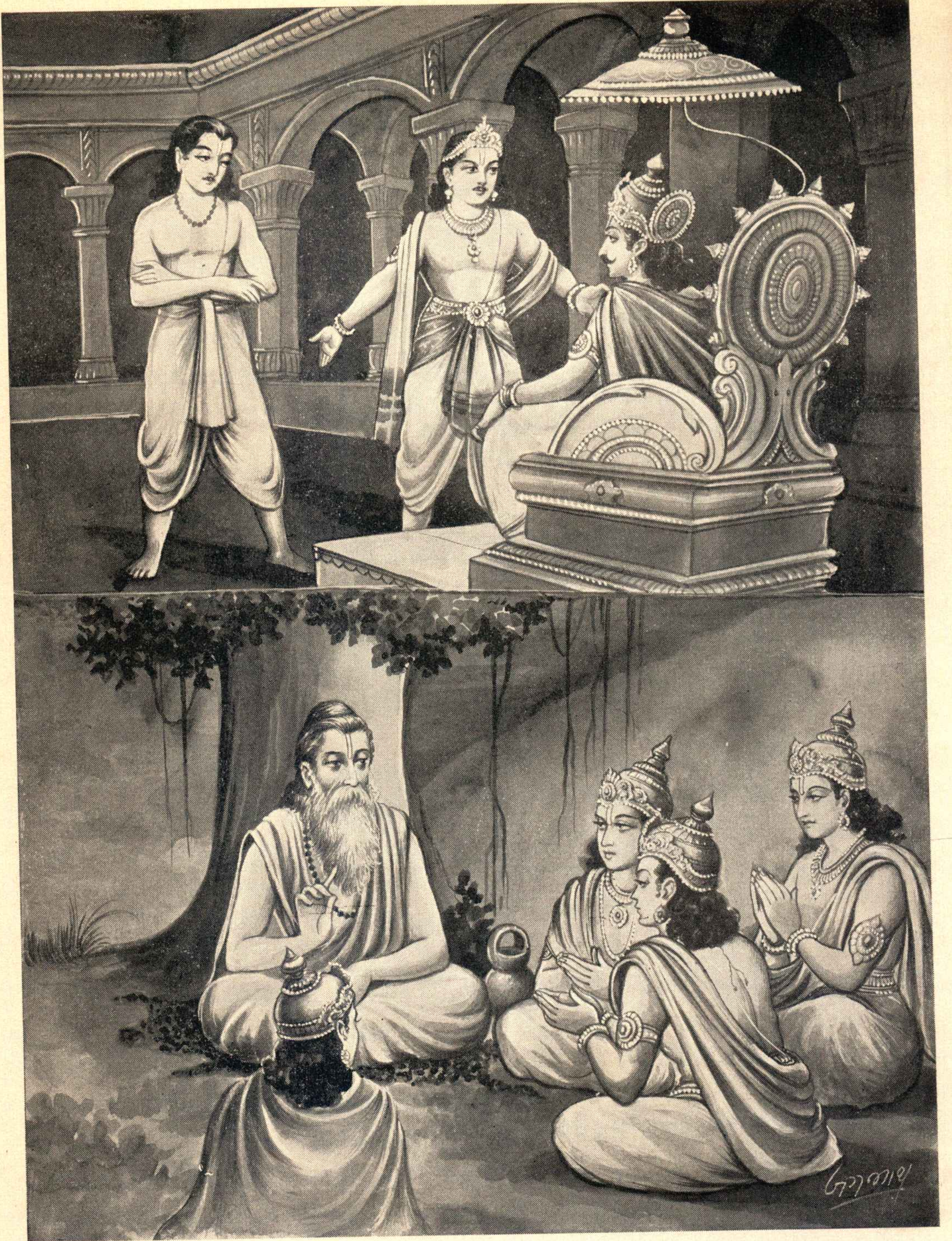
पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ३३ ॥

(अपने स्वार्थके वशीभूत हो) पशुके लिये झूठ बोलने-से पाँच, गौके लिये झूठ बोलनेपर दस, घोड़ेके लिये असत्य-भाषण करनेपर सौ पीढ़ियोंको और मनुष्यके लिये झूठ बोलनेपर एक हजार पीढ़ियोंको मनुष्य नरकमें गिराता है ॥

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदेः ॥ ३४ ॥

सुवर्णके लिये झूठ बोलनेवाला अपनी भूत और भविष्य सभी पीढ़ियोंको नरकमें गिराता है । पृथ्वी तथा स्त्रीके लिये झूठ कहनेवाला तो अपना सर्वनाश ही कर लेता है; इसलिये तुम भूमि या स्त्रीके लिये कभी झूठ न बोलना ॥ ३४ ॥

प्रह्लादजीका न्याय



आत्रेय मुनि और साध्यगण

प्रह्लाद उवाच

मत्तः श्रेयानङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन ।
मातास्य श्रेयसी मातुस्तस्मात् त्वं तेन वै जितः॥ ३५ ॥

प्रह्लादने कहा—विरोचन ! सुधन्वाके पिता अङ्गिरा



मुझसे श्रेष्ठ हैं, सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है, इसकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ है; अतः तुम आज सुधन्वाके द्वारा जीते गये ॥ ३५ ॥

विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव ।
सुधन्वन् पुनरिच्छामि त्वया दत्तं विरोचनम् ॥ ३६ ॥

विरोचन ! अब सुधन्वा तुम्हारे प्राणोंका स्वामी है। सुधन्वन् ! अब यदि तुम दे दो तो मैं विरोचनको पाना चाहता हूँ ॥ ३६ ॥

सुधन्वोवाच

यद् धर्ममवृणीथास्त्वं न कामादनृतं वदीः ।
पुनर्ददामि ते पुत्रं तस्मात् प्रह्लाद दुर्लभम् ॥ ३७ ॥

सुधन्वा बोला—प्रह्लाद ! तुमने धर्मको ही स्वीकार किया है, स्वार्थवश झूठ नहीं कहा है; इसलिये अब तुम्हारे इस दुर्लभ पुत्रको फिर तुम्हें दे रहा हूँ ॥ ३७ ॥

एष प्रह्लाद पुत्रस्ते मया दत्तो विरोचनः ।
पादप्रक्षालनं कुर्यात् कुमार्याः संनिधौ मम ॥ ३८ ॥

प्रह्लाद ! तुम्हारे इस पुत्र विरोचनको मैंने पुनः तुम्हें दे दिया; किंतु अब यह कुमारी केशिनीके निकट चलकर मेरे पैर धोवे ॥ ३८ ॥

विदुर उवाच

तस्माद् राजेन्द्र भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि ।
मा गमः ससुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमब्रुवन् ॥ ३९ ॥

विदुरजी कहते हैं—इसलिये राजेन्द्र ! आप पृथ्वीके लिये झूठ न बोलें । बेटेके स्वार्थवश सच्ची बात न कहकर पुत्र और मन्त्रियोंके साथ विनाशके मुखमें न जायँ ॥ ३९ ॥

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम्॥ ४० ॥

देवतालोग चरवाहोंकी तरह डंडा लेकर किसीका पहरा नहीं देते । वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे उत्तम बुद्धिसे युक्त कर देते हैं ॥ ४० ॥

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः ।
तथा तथास्य सर्वार्थाः सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः ॥ ४१ ॥

मनुष्य जैसे-जैसे कल्याणमें मन लगाता है, वैसे-ही-वैसे उसके सारे अभीष्ट सिद्ध होते हैं—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है ॥ ४१ ॥

नैनं छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा-
श्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥ ४२ ॥

कपटपूर्ण व्यवहार करनेवाले मायावीको वेद पापोंसे मुक्त नहीं करते; किंतु जैसे पंख निकल आनेपर चिड़ियोंके बच्चे घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार वेद भी अन्तकालमें उस (मायावी) को त्याग देते हैं ॥ ४२ ॥

मद्यपानं कलहं पूगवैरं
भार्यापत्योरन्तरं ज्ञातिभेदम् ।
राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवाद
वर्ज्यान्याहुर्यश्च पन्थाः प्रदुष्टः ॥ ४३ ॥

शराब पीना, कलह, समूहके साथ वैर, पति-पत्नीमें भेद पैदा करना, कुटुम्बवालोंमें भेदबुद्धि उत्पन्न करना, राजाके साथ द्वेष, स्त्री और पुरुषमें विवाद और बुरे रास्ते—ये सब त्याग देनेयोग्य बताये गये हैं ॥ ४३ ॥

सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं
शलाकधूर्तं च चिकित्सकं च ।
अरिं च मित्रं च कुशीलवं च
नैतान् साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सप्त ॥ ४४ ॥

हस्तरेखा देखनेवाला, चोरी करके व्यापार करनेवाला, जुआरी, वैद्य, शत्रु, मित्र और नर्तक—इन सातोंको कभी भी गवाह न बनावे ॥ ४४ ॥

मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ।
एतानि चत्वार्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ॥ ४५ ॥

आदरके साथ अग्निहोत्र, आदरपूर्वक मौनका पालन, आदरपूर्वक स्वाध्याय और आदरके साथ यज्ञका अनुष्ठान—

ये चार कर्म भयको दूर करनेवाले हैं; किंतु वे ही यदि ठीक तरहसे सम्पादित न हों तो भय प्रदान करनेवाले होते हैं ॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
पर्वकारश्च सूची च मित्रध्रुक् पारदारिकः ॥ ४६ ॥
भ्रूणहा गुरुतल्पी च यश्च स्यात् पानपो द्विजः ।
अतितीक्ष्णश्च काकश्च नास्तिको वेदनिन्दकः॥ ४७ ॥
स्रुवप्रग्रहणो व्रात्यः कीनाशश्चात्मवानपि ।
रक्षेत्युक्तश्च यो हिंस्यात् सर्वे ब्रह्महभिः समाः ॥ ४८ ॥

घरमें आग लगानेवाला, विष देनेवाला, जारज संतानकी कमाई खानेवाला, सोमरस बेचनेवाला, शस्त्र बनानेवाला, चुगली करनेवाला, मित्रद्रोही, परस्त्रीलम्पट, गर्भकी हत्या करनेवाला, गुरुस्त्रीगामी, ब्राह्मण होकर शराब पीनेवाला, अधिक तीखे स्वभाववाला, कौएकी तरह काँय-काँय करनेवाला, नास्तिक, वेदकी निन्दा करनेवाला, ग्रामपुरोहित, व्रात्य[1], क्रूर तथा शक्तिमान् होते हुए भी 'मेरी रक्षा करो', इस प्रकार कहनेवाले शरणागतका जो वध करता है—ये सबके सब ब्रह्म-हत्यारोंके समान हैं ॥ ४६–४८ ॥

तृणोल्कया ज्ञायते जातरूपं
वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधुः ।
शूरो भयेष्वर्थकृच्छ्रेषु धीरः
कृच्छ्रेष्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ॥ ४९ ॥

जलती हुई आगसे सुवर्णकी पहचान होती है, सदाचारसे सत्पुरुषकी, व्यवहारसे श्रेष्ठ पुरुषकी, भय प्राप्त होनेपर शूरकी, आर्थिक कठिनाईमें धीरकी और कठिन आपत्तिमें शत्रु एवं मित्रकी परीक्षा होती है ॥ ४९ ॥

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया ।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा
ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥ ५० ॥

बुढ़ापा (सुन्दर) रूपको, आशा धीरताको, मृत्यु प्राणोंको, असूया (गुणोंमें दोष देखनेका स्वभाव) धर्माचरणको, क्रोध लक्ष्मीको, नीच पुरुषोंकी सेवा सत्स्वभावको, काम लज्जाको और अभिमान सर्वस्वको नष्ट कर देता है ॥ ५० ॥

श्रीर्मङ्गलात् प्रभवति प्रागल्भ्यात् सम्प्रवर्धते ।
दाक्ष्यात् तु कुरुते मूलं संयमात् प्रतितिष्ठति ॥ ५१ ॥

शुभ कर्मोंसे लक्ष्मीकी उत्पत्ति होती है, प्रगल्भतासे वह बढ़ती है, चतुरतासे जड़ जमा लेती है और संयमसे सुरक्षित रहती है ॥ ५१ ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ५२ ॥

आठ गुण पुरुषकी शोभा बढ़ाते हैं—बुद्धि, कुलीनता, दम, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, बहुत न बोलना, यथाशक्ति दान देना और कृतज्ञ होना ॥ ५२ ॥

एतान् गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं
सर्वान् गुणानेष गुणो विभाति ॥ ५३ ॥

तात ! एक गुण ऐसा है, जो इन सभी महत्त्वपूर्ण गुणों-पर हठात् अधिकार जमा लेता है । जिस समय राजा किसी मनुष्यका सत्कार करता है, उस समय यह एक ही गुण (राजसम्मान) सभी गुणोंसे बढ़कर शोभा पाता है ॥ ५३ ॥

अष्टौ नृपेमानि मनुष्यलोके
स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि ।
चत्वार्येषामन्ववेतानि सद्भि-
श्चत्वारि चैषामनुयान्ति सन्तः ॥ ५४ ॥

राजन् ! मनुष्यलोकमें ये आठ गुण स्वर्गलोकका दर्शन करानेवाले हैं; इनमेंसे चार तो संतोंके साथ नित्य सम्बद्ध हैं—उनमें सदा विद्यमान रहते हैं और चारका सज्जन पुरुष अनुसरण करते हैं ॥ ५४ ॥

यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च
चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः ।
दमः सत्यमार्जवमानृशंस्यं
चत्वार्येतान्यनुयान्ति सन्तः ॥ ५५ ॥

यज्ञ, दान, शास्त्रोंका अध्ययन और तप—ये चार सज्जनोंके साथ नित्य सम्बद्ध हैं; और इन्द्रियनिग्रह, सत्य, सरलता तथा कोमलता—इन चारोंका संतलोग अनुसरण करते हैं ॥ ५५ ॥

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ५६ ॥

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और निर्लोभता—ये धर्मके आठ प्रकारके मार्ग बताये गये हैं ॥

तत्र पूर्वचतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति ॥ ५७ ॥

इनमेंसे पहले चारोंका तो कोई (दम्भी पुरुष भी) दम्भके लिये सेवन कर सकता है, परंतु अन्तिम चार तो जो महात्मा नहीं हैं, उनमें रह ही नहीं सकते ॥ ५७ ॥

---

१. यज्ञोपवीतहीन पिताका पुत्र, उपनयन-संस्कारका समय व्यतीत होनेपर भी यज्ञोपवीतरहित, विवाहित होनेपर भी यज्ञोपवीत-हीन—ये तीन प्रकारके 'व्रात्य' कहे गये हैं ।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥ ५८ ॥

जिस सभामें बड़े-बूढ़े नहीं, वह सभा नहीं; जो धर्मकी बात न कहें, वे बूढ़े नहीं; जिसमें सत्य नहीं, वह धर्म नहीं और जो कपटसे पूर्ण हो, वह सत्य नहीं है ॥ ५८ ॥

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम्।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ॥ ५९ ॥

सत्य, विनयकी मुद्रा, शास्त्रज्ञान, विद्या, कुलीनता, शील, बल, धन, शूरता और चमत्कारपूर्ण बात कहना—ये दस स्वर्गके हेतु हैं ॥ ५९ ॥

पापं कुर्वन् पापकीर्तिः पापमेवाश्नुते फलम्।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यमत्यन्तमश्नुते ॥ ६० ॥

पापकीर्तिवाला निन्दित मनुष्य पापाचरण करता हुआ पापके फलको ही प्राप्त करता है और पुण्य कीर्तिवाला (प्रशंसित) मनुष्य पुण्य करता हुआ अत्यन्त पुण्यफलका ही उपभोग करता है ॥ ६० ॥

तस्मात् पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६१ ॥

इसलिये प्रशंसित व्रतका आचरण करनेवाले पुरुषको पाप नहीं करना चाहिये; क्योंकि बारंबार किया हुआ पाप बुद्धिको नष्ट कर देता है ॥ ६१ ॥

नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः।
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह मनुष्य सदा पाप ही करता रहता है। इसी प्रकार बारंबार किया हुआ पुण्य बुद्धिको बढ़ाता है ॥ ६२ ॥

वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यं स्थानं स्म गच्छति।
तस्मात् पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुसमाहितः ॥ ६३ ॥

जिसकी बुद्धि बढ़ जाती है, वह मनुष्य सदा पुण्य ही करता है। इस प्रकार पुण्यकर्मा मनुष्य पुण्य करता हुआ पुण्यलोकको ही जाता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह सदा एकाग्रचित्त होकर पुण्यका ही सेवन करे ॥ ६३ ॥

असूयको दन्दशूको निष्ठुरो वैरकृच्छठः।
स कृच्छ्रं महदाप्नोति न चिरात् पापमाचरन्॥ ६४ ॥

गुणोंमें दोष देखनेवाला, मर्मपर आघात करनेवाला, निर्दयी, शत्रुता करनेवाला और शठ मनुष्य पापका आचरण करता हुआ शीघ्र ही महान् कष्टको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

अनसूयुः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन् सदा।
नकृच्छ्रं महदाप्नोति सर्वत्र च विरोचते ॥ ६५ ॥

दोषदृष्टिसे रहित शुद्ध बुद्धिवाला पुरुष सदा शुभकर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ महान् सुखको प्राप्त होता है और सर्वत्र उसका सम्मान होता है ॥ ६५ ॥

प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पण्डितः।
प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम् ॥ ६६ ॥

जो बुद्धिमान् पुरुषोंसे सद्बुद्धि प्राप्त करता है, वही पण्डित है; क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष ही धर्म और अर्थको प्राप्तकर अनायास ही अपनी उन्नति करनेमें समर्थ होता है ॥ ६६ ॥

दिवसेनैव तत् कुर्याद् येन रात्रौ सुखं वसेत्।
अष्टमासेन तत् कुर्याद् येन वर्षाः सुखं वसेत्॥ ६७ ॥

दिनभरमें ही वह कार्य कर ले, जिससे रातमें सुखसे रह सके और आठ महीनोंमें वह कार्य कर ले, जिससे वर्षाके चार महीने सुखसे व्यतीत कर सके ॥ ६८ ॥

पूर्वे वयसि तत् कुर्याद् येन वृद्धः सुखं वसेत्।
यावज्जीवेन तत् कुर्याद् येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥ ६८ ॥

पहली अवस्थामें वह काम करे, जिससे वृद्धावस्थामें सुखपूर्वक रह सके और जीवनभर वह कार्य करे, जिससे मरनेके बाद भी (परलोकमें) सुखसे रह सके ॥ ६८ ॥

जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति भार्यां च गतयौवनाम्।
शूरं विजितसंग्रामं गतपारं तपस्विनम् ॥ ६९ ॥

सज्जन पुरुष पच जानेपर अन्नकी, (निष्कलङ्क) यौवन बीत जानेपर स्त्रीकी, संग्राम जीत लेनेपर शूरकी और संसारसागरको पार कर लेनेपर तपस्वीकी प्रशंसा करते हैं ॥ ६९ ॥

धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमपिधीयते।
असंवृतं तद् भवति ततोऽन्यदवदीर्यते ॥ ७० ॥

अधर्मसे प्राप्त हुए धनके द्वारा जो दोष छिपाया जाता है, वह तो छिपता नहीं; (परंतु दोष छिपानेके कारण) उससे भिन्न और नया दोष प्रकट हो जाता है ॥ ७० ॥

गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥ ७१ ॥

अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले शिष्योंके शासक गुरु हैं, दुष्टोंके शासक राजा हैं और छिपे-छिपे पाप करनेवालोंके शासक सूर्यपुत्र यमराज हैं ॥ ७१ ॥

ऋषीणां च नदीनां च कुलानां च महात्मनाम्।
प्रभवो नाधिगन्तव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ॥ ७२ ॥

ऋषि, नदी, वंश एवं महात्माओंका तथा स्त्रियोंके दुश्चरित्रका उत्पत्तिस्थान नहीं जाना जा सकता ॥ ७२ ॥

द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी ।
क्षत्रियः शीलभाग् राजंश्चिरं पालयते महीम् ॥ ७३ ॥

राजन् ! ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजामें संलग्न रहनेवाला, दाता, कुटुम्बीजनोंके प्रति कोमलताका बर्ताव करनेवाला और शीलवान् राजा चिरकालतक पृथ्वीका पालन करता है ॥ ७३ ॥

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ७४ ॥

शूर, विद्वान् और सेवाधर्मको जाननेवाले—ये तीन प्रकारके मनुष्य पृथ्वीरूप लतासे सुवर्णरूपी पुष्पका संचय करते हैं ॥

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत ।
तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥ ७५ ॥

भारत ! बुद्धिसे विचारकर किये हुए कर्म श्रेष्ठ होते हैं, बाहुबलसे किये जानेवाले कर्म मध्यम श्रेणीके हैं, जङ्घासे किये जानेवाले कार्य अधम हैं और भार ढोनेका काम महान् अधम है ॥ ७५ ॥

दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे दुःशासने तथा ।
कर्णे चैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥ ७६ ॥

राजन् ! अब आप दुर्योधन, शकुनि, मूर्ख दुःशासन तथा कर्णपर राज्यका भार रखकर उन्नति कैसे चाहते हैं ?॥

सर्वैर्गुणैरुपेतास्तु पाण्डवा भरतर्षभ ।
पितृवत् त्वयि वर्तन्ते तेषु वर्तस्व पुत्रवत् ॥ ७७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पाण्डव तो सभी उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हैं और आपमें पिताका-सा भाव रखकर बर्ताव करते हैं; आप भी उनपर पुत्रभाव रखकर उचित बर्ताव कीजिये ॥ ७७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके नीतिवाक्यविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

दत्तात्रेय और साध्य देवताओंके संवादका उल्लेख करके महाकुलीन लोगोंका लक्षण बतलाते हुए विदुरका धृतराष्ट्रको समझाना

विदुर उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
आत्रेयस्य च संवादं साध्यानां चेति नः श्रुतम् ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन् ! इस विषयमें लोग दत्तात्रेय और साध्यदेवताओंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं; यह मेरा भी सुना हुआ है ॥ १ ॥

चरन्तं हंसरूपेण महर्षिं संशितव्रतम् ।
साध्या देवा महाप्राज्ञं पर्यपृच्छन्त वै पुरा ॥ २ ॥

प्राचीनकालकी बात है, उत्तम व्रतवाले महाबुद्धिमान् महर्षि दत्तात्रेयजी हंस (परमहंस) रूपसे विचर रहे थे; उस समय साध्यदेवताओंने उनसे पूछा॥ २ ॥

साध्या ऊचुः

साध्या देवा वयमेते महर्षे
दृष्ट्वा भवन्तं न शक्नुमोऽनुमातुम् ।
श्रुतेन धीरो बुद्धिमांस्त्वं मतो नः
काव्यां वाचं वक्तुमर्हस्युदाराम् ॥ ३ ॥



साध्य बोले—महर्षे ! हम सब लोग साध्यदेवता हैं, केवल आपको देखकर हम आपके विषयमें कुछ अनुमान नहीं कर सकते । हमें तो आप शास्त्रज्ञानसे युक्त, धीर एवं बुद्धिमान् जान पड़ते हैं; अतः हमलोगोंको अपनी विद्वत्तापूर्ण उदार वाणी सुनानेकी कृपा करें ॥ ३ ॥

हंस उवाच

एतत् कार्यममराः संश्रुतं मे
धृतिः शमः सत्यधर्मानुवृत्तिः।
ग्रन्थिं विनीय हृदयस्य सर्वं
प्रियाप्रिये चात्मसमं नयीत ॥ ४ ॥

परमहंसने कहा—साध्यदेवताओ ! मैंने सुना है कि धैर्य-धारण, मनोनिग्रह तथा सत्य-धर्मोंका पालन ही कर्तव्य है; इसके द्वारा पुरुषको चाहिये कि हृदयकी सारी गाँठ खोलकर प्रिय और अप्रियको अपने आत्माके समान समझे ॥ ४ ॥

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ ५ ॥

दूसरोंसे गाली सुनकर भी स्वयं उन्हें गाली न दे। (गालीको) सहन करनेवालेका रोका हुआ क्रोध ही गाली देनेवालेको जला डालता है और उसके पुण्यको भी ले लेता है ॥ ५ ॥

नाक्रोशी स्यान्नावमानी परस्य
मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी।
न चाभिमानी न च हीनवृत्तो
रूक्षां वाचं रुषतीं वर्जयीत ॥ ६ ॥

दूसरोंको न तो गाली दे और न उनका अपमान करे, मित्रोंसे द्रोह तथा नीच पुरुषोंकी सेवा न करे, सदाचारसे हीन एवं अभिमानी न हो, रूखी तथा रोषभरी वाणीका परित्याग करे ॥ ६ ॥

मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून्
रूक्षा वाचो निर्दहन्तीह पुंसाम्।
तस्माद् वाचमुषतीं रूक्षरूपां
धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥ ७ ॥

इस जगत्में रूखी बातें मनुष्योंके मर्मस्थान, हड्डी, हृदय तथा प्राणोंको दग्ध करती रहती हैं; इसलिये धर्मानुरागी पुरुष जलानेवाली रूखी बातोंका सदाके लिये परित्याग कर दे ॥ ७ ॥

अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वै वहन्तम्॥ ८ ॥

जिसकी वाणी रूखी और स्वभाव कठोर है, जो मर्मस्थानपर आघात करता और वाग्बाणोंसे मनुष्योंको पीड़ा पहुँचाता है, उसे ऐसा समझना चाहिये कि वह मनुष्योंमें महादरिद्र है और वह अपने मुखमें दरिद्रता अथवा मौतको बाँधे हुए ढो रहा है ॥ ८ ॥

परश्चेदेनमभिविध्येत बाणै-
र्भृशं सुतीक्ष्णैरनलार्कदीप्तैः।
स विध्यमानोऽप्यतिदह्यमानो
विद्यात् कविः सुकृतं मे दधाति ॥ ९ ॥

यदि दूसरा कोई इस मनुष्यको अग्नि और सूर्यके समान दग्ध करनेवाले अत्यन्त तीखे वाग्बाणोंसे बहुत चोट पहुँचावे तो वह विद्वान् पुरुष चोट खाकर अत्यन्त वेदना सहते हुए भी ऐसा समझे कि वह मेरे पुण्योंको पुष्ट कर रहा है ॥ ९ ॥

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥ १० ॥

जैसे वस्त्र जिस रंगमें रँगा जाय, वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार यदि कोई सज्जन, असज्जन, तपस्वी अथवा चोर-की सेवा करता है तो वह उन्हींके वशमें हो जाता है—उसपर उन्हींका रंग चढ़ जाता है ॥ १० ॥

अतिवादं न प्रवदेन्न वादयेद्
योऽनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत्।
हन्तुं च यो नेच्छति पापकं वै
तस्मै देवाः स्पृहयन्त्यागताय ॥ ११ ॥

जो स्वयं किसीके प्रति बुरी बात नहीं कहता, दूसरोंसे भी नहीं कहलाता, बिना मार खाये स्वयं न तो किसीको मारता है और न दूसरोंसे ही मरवाता है, मार खाकर भी अपराधीको जो मारना नहीं चाहता, (स्वर्गमें) देवता भी उसके आगमनकी बाट जोहते रहते हैं ॥ ११ ॥

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम्।
प्रियं वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥ १२ ॥

बोलनेसे न बोलना ही अच्छा बताया गया है, (यह वाणीकी प्रथम विशेषता है और यदि बोलना ही पड़े तो) सत्य बोलना वाणीकी दूसरी विशेषता है यानी मौनकी अपेक्षा भी अधिक लाभप्रद है। (सत्य और) प्रिय बोलना वाणी-की तीसरी विशेषता है। यदि सत्य और प्रियके साथ ही धर्म-सम्मत भी कहा जाय, तो वह वचनकी चौथी विशेषता है। (इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है) ॥ १२ ॥

यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥ १३ ॥

मनुष्य जैसे लोगोंके साथ रहता है, जैसे लोगोंकी सेवा करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही हो जाता है ॥

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ १४ ॥

मनुष्य जिन-जिन विषयोंसे मनको हटाता जाता है, उन-उनसे उसकी मुक्ति होती जाती है; इस प्रकार यदि सब ओरसे निवृत्ति हो जाय तो उसे लेशमात्र दुःखका भी कभी अनुभव नहीं होता ॥ १४ ॥

न जीयते चानुजिगीषतेऽन्यान्
न वैरकृच्चाप्रतिघातकश्च ।
निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो
न शोचते हृष्यति नैव चायम् ॥ १५ ॥

जो न तो स्वयं किसीसे जीता जाता, न दूसरोंको जीतनेकी इच्छा करता है, न किसीके साथ वैर करता और न दूसरोंको चोट पहुँचाना चाहता है, जो निन्दा और प्रशंसामें समानभाव रखता है, वह हर्ष-शोकसे परे हो जाता है ॥

भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः ।
सत्यवादी मृदुर्दान्तो यः स उत्तमपूरुषः ॥ १६ ॥

जो सबका कल्याण चाहता है, किसीके अकल्याणकी बात मनमें भी नहीं लाता, जो सत्यवादी, कोमल और जितेन्द्रिय है, वह उत्तम पुरुष माना गया है ॥ १६ ॥

नानर्थकं सान्त्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च ।
रन्ध्रं परस्य जानाति यः स मध्यमपूरुषः ॥ १७ ॥

जो झूठी सान्त्वना नहीं देता, देनेकी प्रतिज्ञा करके दे ही देता है, दूसरोंके दोषोंको जानता है, वह मध्यम श्रेणीका पुरुष है ॥ १७ ॥

दुःशासनस्तूपहतोऽभिशस्तो
नावर्तते मन्युवशात् कृतघ्नः ।
न कस्यचिन्मित्रमथो दुरात्मा
कलाश्चैता अधमस्येह पुंसः ॥ १८ ॥

जिसका शासन अत्यन्त कठोर हो, जो अनेक दोषोंसे दूषित हो, कलङ्कित हो, जो क्रोधवश किसीकी बुराई करनेसे नहीं हटता हो, दूसरोंके किये हुए उपकारको नहीं मानता हो, जिसकी किसीके साथ मित्रता नहीं हो तथा जो दुरात्मा हो—ये अधम पुरुषके भेद हैं ॥ १८ ॥

न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशङ्कितः ।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः ॥ १९ ॥

जो अपने ही ऊपर संदेह होनेके कारण दूसरोंसे भी कल्याण होनेका विश्वास नहीं करता, मित्रोंको भी दूर रखता है, वह अवश्य ही अधम पुरुष है ॥ १९ ॥

उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान् ।
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ २० ॥

जो अपनी ऐश्वर्यवृद्धि चाहता है, वह उत्तम पुरुषोंकी ही सेवा करे, समय आ पड़नेपर मध्यम पुरुषोंकी भी सेवा कर ले, परंतु अधम पुरुषोंकी सेवा कदापि न करे ॥ २० ॥

प्राप्नोति वै वित्तमसद्बलेन
नित्योत्थानात् प्रज्ञया पौरुषेण ।
न त्वेव सम्यग् लभते प्रशंसां
न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम् ॥ २१ ॥

मनुष्य दुष्ट पुरुषोंके बलसे, निरन्तरके उद्योगसे, बुद्धिसे तथा पुरुषार्थसे धन भले ही प्राप्त कर ले; परंतु इससे उत्तम कुलीन पुरुषोंके सम्मान और सदाचारको वह पूर्णरूपसे कदापि नहीं प्राप्त कर सकता ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

महाकुलेभ्यः स्पृहयन्ति देवा
धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च ।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं
भवन्ति वै कानि महाकुलानि ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! धर्म और अर्थके अनुष्ठानमें परायण एवं बहुश्रुत देवता भी उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुषोंकी इच्छा करते हैं। इसलिये मैं तुमसे यह प्रश्न करता हूँ कि महान् (उत्तम) कुलीन कौन हैं ? ॥ २२ ॥

विदुर उवाच

तपो दमो ब्रह्मवित्त्वं वितानाः
पुण्या विवाहाः सततान्नदानम् ।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति
सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ॥ २३ ॥

विदुरजी बोले—राजन्! जिनमें तप, इन्द्रियसंयम, वेदोंका स्वाध्याय, यज्ञ, पवित्र विवाह, सदा अन्नदान और सदाचार—ये सात गुण वर्तमान हैं, उन्हें महान् (उत्तम) कुलीन कहते हैं॥

येषां हि वृत्तं व्यथते न योनि-
श्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम् ।
ते कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां
त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि ॥ २४ ॥

जिनका सदाचार शिथिल नहीं होता, जो अपने दोषोंसे माता-पिताको कष्ट नहीं पहुँचाते, प्रसन्न चित्तसे धर्मका आचरण करते हैं तथा असत्यका परित्याग कर अपने कुलकी विशेष कीर्ति चाहते हैं, वे ही महान् कुलीन हैं ॥ २४ ॥

अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥ २५ ॥

यज्ञ न होनेसे, निन्दित कुलमें विवाह करनेसे, वेदका त्याग और धर्मका उल्लङ्घन करनेसे उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं ॥ २५ ॥

देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ २६ ॥

देवताओंके धनका नाश, ब्राह्मणके धनका अपहरण और ब्राह्मणोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन करनेसे उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं ॥ २६ ॥

ब्राह्मणानां परिभवात् परिवादाच्च भारत।
कुलान्यकुलतां यान्ति न्यासापहरणेन च ॥ २७ ॥

भारत ! ब्राह्मणोंके अनादर और निन्दासे तथा धरोहर रक्खी हुई वस्तुको छिपा लेनेसे अच्छे कुल भी निन्दनीय हो जाते हैं ॥ २७ ॥

कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ २८ ॥

गौओं, मनुष्यों और धनसे सम्पन्न होकर भी जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे अच्छे कुलोंकी गणनामें नहीं आ सकते ॥ २८ ॥

वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः ॥ २९ ॥

थोड़े धनवाले कुल भी यदि सदाचारसे सम्पन्न हैं तो वे अच्छे कुलोंकी गणनामें आ जाते हैं और महान् यश प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ ३० ॥

सदाचारकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये; धन तो आता और जाता रहता है। धन क्षीण हो जानेपर भी सदाचारी मनुष्य क्षीण नहीं माना जाता; किंतु जो सदाचारसे भ्रष्ट हो गया, उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये ॥ ३० ॥

गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया।
कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ ३१ ॥

जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे गौओं, पशुओं, घोड़ों तथा हरी-भरी खेतीसे सम्पन्न होनेपर भी उन्नति नहीं कर पाते ॥ ३१ ॥

मा नः कुले वैरकृत् कश्चिदस्तु
राजामात्यो मा परस्वापहारी।
मित्रद्रोही नैकृतिकोऽनृती वा
पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः ॥ ३२ ॥

हमारे कुलमें कोई वैर करनेवाला न हो, दूसरोंके धनका अपहरण करनेवाला राजा अथवा मन्त्री न हो और मित्रद्रोही, कपटी तथा असत्यवादी न हो। इसी प्रकार माता-पिता, देवता एवं अतिथियोंको भोजन करानेसे पहले भोजन करनेवाला भी न हो ॥ ३२ ॥

यश्च नो ब्राह्मणान् हन्याद् यश्च नो ब्राह्मणान् द्विषेत्।
न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् पितॄन् ॥ ३३ ॥

हमलोगोंमेंसे जो ब्राह्मणोंकी हत्या करे, ब्राह्मणोंके साथ द्वेष करे तथा पितरोंको पिण्डदान एवं तर्पण न करे, वह हमारी सभामें न प्रवेश करे ॥ ३३ ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ३४ ॥

तृणका आसन, पृथ्वी, जल और चौथी मीठी वाणी—सज्जनोंके घरमें इन चार चीजोंकी कभी कमी नहीं होती ॥ ३४ ॥

श्रद्धया परया राजन्नुपनीतानि सत्कृतिम्।
प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम् ॥ ३५ ॥

महाप्राज्ञ राजन् ! पुण्यकर्म करनेवाले धर्मात्मा पुरुषोंके यहाँ ये (उपर्युक्त वस्तुएँ) बड़ी श्रद्धाके साथ सत्कारके लिये उपस्थित की जाती हैं ॥ ३५ ॥

सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यन्दनो वै
शक्तो वोढुं न तथान्ये महीजाः।
एवं युक्ता भारसहा भवन्ति
महाकुलीना न तथान्ये मनुष्याः ॥ ३६ ॥

नृपवर ! रथ छोटा-सा होनेपर भी भार ढो सकता है, किंतु दूसरे काठ बड़े-बड़े होनेपर भी ऐसा नहीं कर सकते। इसी प्रकार उत्तम कुलमें उत्पन्न उत्साही पुरुष भार सह सकते हैं, दूसरे मनुष्य वैसे नहीं होते ॥ ३६ ॥

न तन्मित्रं यस्य कोपाद् बिभेति
यद् वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम्।
यस्मिन् मित्रे पितरीवाश्वसीत
तद् वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ॥ ३७ ॥

जिसके कोपसे भयभीत होना पड़े तथा शङ्कित होकर जिसकी सेवा की जाय, वह मित्र नहीं है। मित्र तो वही है, जिसपर पिताकी भाँति विश्वास किया जा सके; दूसरे तो साथीमात्र हैं ॥ ३७ ॥

यः कश्चिदप्यसम्बद्धो मित्रभावेन वर्तते।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत् परायणम् ॥ ३८ ॥

पहलेसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी जो मित्रताका बर्ताव करे, वही बन्धु, वही मित्र, वही सहारा और वही आश्रय है ॥ ३८ ॥

चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः।
पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ॥ ३९ ॥

जिसका चित्त चञ्चल है, जो वृद्धोंकी सेवा नहीं करता, उस अनिश्चितमति पुरुषके लिये मित्रोंका संग्रह स्थायी नहीं होता ॥ ३९ ॥

चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम्।
अर्थाः समभिवर्तन्ते हंसाः शुष्कं सरो यथा ॥ ४० ॥

जैसे सूखे सरोवरके ऊपर ही हंस मँड़राकर रह जाते हैं, उसके भीतर नहीं प्रवेश करते, उसी प्रकार जिसका चित्त चञ्चल है, जो अज्ञानी और इन्द्रियोंका गुलाम है, अर्थ उसको त्याग देते हैं ॥ ४० ॥

अकस्मादेव कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यनिमित्ततः।
शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा ॥ ४१ ॥

दुष्ट पुरुषोंका स्वभाव मेघके समान चञ्चल होता है, वे सहसा क्रोध कर बैठते हैं और अकारण ही प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान् नोपभुञ्जते ॥ ४२ ॥

जो मित्रोंसे सत्कार पाकर और उनकी सहायतासे कृतकार्य होकर भी उनके नहीं होते, ऐसे कृतघ्नोंके मरनेपर उनका मांस मांसभोजी जन्तु भी नहीं खाते ॥ ४२ ॥

अर्चयेदेव मित्राणि सति वासति वा धने।
नानर्थयन् प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम् ॥ ४३ ॥

धन हो या न हो, मित्रोंसे कुछ भी न माँगते हुए उनका सत्कार तो करे ही। मित्रोंके सार-असारकी परीक्षा न करे ॥ ४३ ॥

संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते बलम्।
संतापाद् भ्रश्यते ज्ञानं संतापाद् व्याधिमृच्छति॥ ४४ ॥

संताप (शोक) से रूप नष्ट होता है, संतापसे बल नष्ट होता है, संतापसे ज्ञान नष्ट होता है और संतापसे मनुष्य रोगको प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मा स्म शोके मनः कृथाः ॥ ४५ ॥

अभीष्ट वस्तु शोक करनेसे नहीं मिलती; उससे तो केवल शरीर संतप्त होता है और शत्रु प्रसन्न होते हैं। इसलिये आप मनमें शोक न करें ॥ ४५ ॥

पुनर्नरो म्रियते जायते च
पुनर्नरो हीयते वर्धते च।
पुनर्नरो याचति याच्यते च
पुनर्नरः शोचति शोच्यते च ॥ ४६ ॥

मनुष्य बार-बार मरता और जन्म लेता है, बार-बार क्षय और वृद्धिको प्राप्त होता है, बार-बार स्वयं दूसरेसे याचना करता है और दूसरे उससे याचना करते हैं तथा बारंबार वह दूसरोंके लिये शोक करता है और दूसरे उसके लिये शोक करते हैं ॥ ४६ ॥

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति
तस्माद् धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ॥ ४७ ॥

सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये क्रमशः सबको प्राप्त होते रहते हैं; इसलिये धीर पुरुषको इनके लिये हर्ष और शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४७ ॥

चलानि हीमानि षडिन्द्रियाणि
तेषां यद् यद् वर्धते यत्र यत्र।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य
छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः ॥ ४८ ॥

ये छः इन्द्रियाँ बहुत ही चञ्चल हैं; इनमेंसे जो-जो इन्द्रिय जिस-जिस विषयकी ओर बढ़ती है, वहाँ-वहाँ बुद्धि उसी प्रकार क्षीण होती है, जैसे फूटे घड़ेसे पानी सदा चू जाता है ॥४८॥

धृतराष्ट्र उवाच

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ॥ ४९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! सूक्ष्म धर्मसे बँधे हुए, शिखासे सुशोभित होनेवाले राजा युधिष्ठिरके साथ मैंने मिथ्या व्यवहार किया है; अतः वे युद्ध करके मेरे मूर्ख पुत्रोंका नाश कर डालेंगे ॥ ४९ ॥

नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः।
यत् तत् पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते ॥ ५० ॥

महामते ! यह सब कुछ सदा ही भयसे उद्विग्न है, मेरा यह मन भी भयसे उद्विग्न है; इसलिये जो उद्वेगशून्य और शान्त पद (मार्ग) हो, वही मुझे बताओ ॥ ५० ॥

विदुर उवाच

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र लोभसंत्यागाच्छान्तिं पश्यामि तेऽनघ॥ ५१ ॥

विदुरजी बोले—पापशून्य नरेश ! विद्या, तप, इन्द्रिय-निग्रह और लोभत्यागके सिवा और कोई आपके लिये शान्ति-का उपाय मैं नहीं देखता ॥ ५१ ॥

बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत्।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति ॥ ५२ ॥

बुद्धिसे मनुष्य अपने भयको दूर करता है, तपस्यासे महत्पदको प्राप्त होता है, गुरुशुश्रूषासे ज्ञान और योगसे शान्ति पाता है ॥ ५२ ॥

अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरन्तीह मोक्षिणः ॥ ५३ ॥

मोक्षकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य दानके पुण्यका आश्रय नहीं लेते, वेदके पुण्यका भी आश्रय नहीं लेते; किंतु निष्काम-भावसे राग-द्वेषसे रहित हो इस लोकमें विचरते रहते हैं ॥५३॥

स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेधते ॥ ५४ ॥

सम्यक् अध्ययन, न्यायोचित युद्ध, पुण्यकर्म और अच्छी तरह की हुई तपस्याके अन्तमें सुखकी वृद्धि होती है ॥५४॥

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपद्य
न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते।
न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवन्ति
न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ॥ ५५ ॥

राजन्! आपसमें फूट रखनेवाले लोग अच्छे बिछौनोंसे युक्त पलंग पाकर भी कभी सुखकी नींद नहीं सोने पाते; उन्हें स्त्रियोंके पास रहकर तथा सूत-मागधोंद्वारा की हुई स्तुति सुनकर भी प्रसन्नता नहीं होती ॥ ५५ ॥

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं
न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति
न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥ ५६ ॥

जो परस्पर भेदभाव रखते हैं, वे कभी धर्मका आचरण नहीं करते। वे सुख भी नहीं पाते। उन्हें गौरव नहीं प्राप्त होता तथा उन्हें शान्तिकी वार्ता भी नहीं सुहाती ॥ ५६ ॥

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं
योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम्।
भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं
न विद्यते किंचिदन्यद् विनाशात् ॥५७॥

हितकी बात भी कही जाय तो उन्हें अच्छी नहीं लगती। उनके योगक्षेमकी भी सिद्धि नहीं हो पाती। राजन्! भेदभाववाले पुरुषोंकी विनाशके सिवा और कोई गति नहीं है ॥५७॥

सम्पन्नं गोषु सम्भाव्यं सम्भाव्यं ब्राह्मणे तपः।
सम्भाव्यं चापलं स्त्रीषु सम्भाव्यं ज्ञातितो भयम् ॥५८॥

जैसे गौओंमें दूध, ब्राह्मणमें तप और युवती स्त्रियोंमें चञ्चलताका होना अधिक सम्भव है, उसी प्रकार अपने जातिबन्धुओंसे भय होना भी सम्भव ही है ॥ ५८ ॥

तन्तवः प्यायिता नित्यं तनवो बहुलाः समाः।
बहून् बहुत्वादायासान् सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ५९ ॥

नित्य सींचकर बढ़ायी हुई पतली लताएँ बहुत होनेके कारण बहुत वर्षोंतक नाना प्रकारके झोंके सहती हैं; यही बात सत्पुरुषोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। (वे दुर्बल होनेपर भी सामूहिक शक्तिसे बलवान् हो जाते हैं) ॥ ५९ ॥

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥ ६० ॥

भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र! जलती हुई लकड़ियाँ अलग-अलग होनेपर धुआँ फेंकती हैं और एक साथ होनेपर प्रज्वलित हो उठती हैं। इसी प्रकार जातिबन्धु भी (आपसमें) फूट होनेपर दुःख उठाते और एकता होनेपर सुखी रहते हैं ॥ ६० ॥

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥ ६१ ॥

धृतराष्ट्र! जो लोग ब्राह्मणों, स्त्रियों, जातिवालों और गौओंपर ही शूरता प्रकट करते हैं, वे डंठलसे पके हुए फलोंकी भाँति नीचे गिरते हैं ॥ ६१ ॥

महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ॥ ६२ ॥

यदि वृक्ष अकेला है तो वह बलवान्, दृढ़मूल तथा बहुत बड़ा होनेपर भी एक ही क्षणमें आँधीके द्वारा बलपूर्वक शाखाओंसहित धराशायी किया जा सकता है ॥ ६२ ॥

अथ ये सहिता वृक्षाः सङ्घशः सुप्रतिष्ठिताः।
ते हि शीघ्रतमान् वातान् सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ॥ ६३ ॥

किंतु जो बहुत-से वृक्ष एक साथ रहकर समूहके रूपमें खड़े हैं, वे एक-दूसरेके सहारे बड़ी-से-बड़ी आँधीको भी सह सकते हैं ॥ ६३ ॥

एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम्।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम् ॥ ६४ ॥

इसी प्रकार समस्त गुणोंसे सम्पन्न मनुष्यको भी अकेले होनेपर शत्रु अपनी शक्तिके अंदर समझते हैं, जैसे अकेले वृक्षको वायु ॥ ६४ ॥

अन्योन्यसमुपष्टम्भादन्योन्यापाश्रयेण च।
ज्ञातयः सम्प्रवर्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत ॥ ६५ ॥

किंतु परस्पर मेल होनेसे और एकसे दूसरेको सहारा मिलनेसे जातिवाले लोग इस प्रकार वृद्धिको प्राप्त होते हैं, जैसे तालाबमें कमल ॥ ६५ ॥

अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः।
येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः ॥ ६६ ॥

ब्राह्मण, गौ, कुटुम्बी, बालक, स्त्री, अन्नदाता और शरणागत—ये अवध्य होते हैं ॥ ६६ ॥

न मनुष्ये गुणः कश्चिद् राजन् सधनतामृते।
अनातुरत्वाद् भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ॥ ६७ ॥

राजन्! आपका कल्याण हो, मनुष्यमें धन और आरोग्यको छोड़कर दूसरा कोई गुण नहीं है; क्योंकि रोगी तो मुर्देके समान है ॥ ६७ ॥

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
पापानुबन्धं परुषं तीक्ष्णमुष्णम्।

सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ ६८ ॥

महाराज ! जो बिना रोगके उत्पन्न, कड़वा, सिरमें दर्द पैदा करनेवाला, पापसे सम्बद्ध, कठोर, तीखा और गरम है, जो सज्जनोंद्वारा पान करने योग्य है और जिसे दुर्जन नहीं पी सकते—उस क्रोधको आप पी जाइये और शान्त होइये ॥

रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते
न वै लभन्ते विषयेषु तत्त्वम्।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव
न बुध्यन्ते धनभोगान् न सौख्यम्॥ ६९॥

रोगसे पीड़ित मनुष्य मधुर फलोंका आदर नहीं करते, विषयोंमें भी उन्हें कुछ सुख या सार नहीं मिलता। रोगी सदा ही दुखी रहते हैं; वे न तो धनसम्बन्धी भोगोंका और न सुखका ही अनुभव करते हैं ॥ ६९॥

पुरा ह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मे
द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन्।
दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां
कितवत्वं पण्डिता वर्जयन्ति ॥ ७० ॥

राजन् ! पहले जूएमें द्रौपदीको जीती गयी देखकर मैंने आपसे कहा था—'आप द्यूतक्रीडामें आसक्त दुर्योधनको रोकिये, विद्वान्‌लोग इस प्रवञ्चनाके लिये मना करते हैं।' किंतु आपने मेरा कहना नहीं माना ॥ ७० ॥

न तद् बलं यन्मृदुना विरुध्यते
सूक्ष्मो धर्मस्तरसा सेवितव्यः।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्री-
र्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ ७१ ॥

वह बल नहीं, जिसका मृदुल स्वभावके साथ विरोध हो; सूक्ष्म धर्मका शीघ्र ही सेवन करना चाहिये। क्रूरतापूर्वक उपार्जित लक्ष्मी नश्वर होती है, यदि वह मृदुलतापूर्वक बढ़ायी गयी हो तो पुत्र-पौत्रोंतक स्थिर रहती है ॥ ७१ ॥

धार्तराष्ट्राः पाण्डवान् पालयन्तु
पाण्डोः सुतास्तव पुत्रांश्च पान्तु।
एकारिमित्राः कुरवो ह्येककार्या
जीवन्तु राजन् सुखिनः समृद्धाः ॥ ७२ ॥

राजन् ! आपके पुत्र पाण्डवोंकी रक्षा करें और पाण्डुके पुत्र आपके पुत्रोंकी रक्षा करें। सभी कौरव एक-दूसरेके शत्रुको शत्रु और मित्रको मित्र समझें। सबका एक ही कर्तव्य हो, सभी सुखी और समृद्धिशाली होकर जीवन व्यतीत करें ॥ ७२ ॥

मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य
त्वय्याधीनं कुरुकुलमाजमीढ।
पार्थान् बालान् वनवासप्रतप्तान्
गोपायस्व स्वं यशस्तात रक्षन् ॥ ७३ ॥

अजमीढकुलनन्दन ! इस समय आप ही कौरवोंके आधारस्तम्भ हैं, कुरुवंश आपके ही अधीन है। तात ! कुन्तीके पुत्र अभी बालक हैं और वनवाससे बहुत कष्ट पा चुके हैं; इस समय उनका पालन करके अपने यशकी रक्षा कीजिये ॥ ७३ ॥

संधत्स्व त्वं कौरव पाण्डुपुत्रै-
र्मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयन्तु।
सत्ये स्थितास्ते नरदेव सर्वे
दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेन्द्र ॥ ७४ ॥

कुरुराज ! आप पाण्डवोंसे संधि कर लें, जिससे शत्रुओंको आपका छिद्र देखनेका अवसर न मिले। नरदेव ! समस्त पाण्डव सत्यपर डटे हुए हैं; अब आप अपने पुत्र दुर्योधनको रोकिये ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके हितवाक्यविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीका हितोपदेश

विदुर उवाच

सप्तदशेमान् राजेन्द्र मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।
वैचित्रवीर्य पुरुषानाकाशं मुष्टिभिर्घ्नतः ॥ १ ॥
दानवेन्द्रस्य च धनुरनाम्यं नमतोऽब्रवीत्।
अथो मरीचिनः पादानग्राह्यान् गृह्णतस्तथा ॥ २ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजेन्द्र ! विचित्रवीर्यनन्दन ! स्वायम्भुव मनुने इन सत्रह प्रकारके पुरुषोंको आकाशपर मुक्कोंसे प्रहार करनेवाले, न झुकाये जा सकनेवाले, वर्षाकालीन इन्द्रधनुषको झुकानेकी चेष्टा करनेवाले तथा पकड़में न आनेवाली सूर्यकी किरणोंको पकड़नेका प्रयास करनेवाले

बतलाया है (अर्थात् इनके सभी उद्यमोंको निष्फल कहा है) ॥ १-२ ॥

यश्चाशिष्यं शास्ति वै यश्च तुष्येद्
यश्चातिवेलं भजते द्विषन्तम् ।
स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमश्नुते
यश्चायाच्यं याचते कत्थते च ॥ ३ ॥
यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्यं
यश्चाबलो बलिना नित्यवैरी ।
अश्रद्दधानाय च यो ब्रवीति
यश्चाकाम्यं कामयते नरेन्द्र ॥ ४ ॥
वध्वावहासं श्वशुरो मन्यते यो
वध्वा वसन्नभयो मानकामः ।
परक्षेत्रे निर्वपति स्वबीजं
स्त्रियं च यः परिवदतेऽतिवेलम् ॥ ५ ॥
यश्चापि लब्ध्वा न स्मरामीति वादी
दत्त्वा च यः कत्थति याच्यमानः ।
यश्चासतः सत्त्वमुपानयीत
एतान् नयन्ति निरयं पाशहस्ताः॥ ६ ॥

पाश हाथमें लिये यमराजके दूत इन सत्रह पुरुषोंको नरकमें ले जाते हैं, जो शासनके अयोग्य पुरुषपर शासन करता है, मर्यादा-का उल्लङ्घन करके संतुष्ट होता है, शत्रुकी सेवा करता है, रक्षणके अयोग्य स्त्रीकी रक्षा करनेका प्रयत्न करता तथा उसके द्वारा अपने कल्याणका अनुभव करता है, याचना करनेके अयोग्य पुरुषसे याचना करता है तथा आत्मप्रशंसा करता है, अच्छे कुलमें उत्पन्न होकर भी नीच कर्म करता है, दुर्बल होकर भी सदा बलवान्से वैर रखता है, श्रद्धाहीनको उपदेश करता है, न चाहने योग्य (शास्त्रनिषिद्ध) वस्तुको चाहता है, श्वशुर होकर पुत्रवधूके साथ परिहास पसंद करता है तथा पुत्रवधूसे एकान्तवास करके भी निर्भय होकर समाजमें अपनी प्रतिष्ठा चाहता है, परस्त्रीमें अपने वीर्यका आधान करता है, मर्यादाके बाहर स्त्रीकी निन्दा करता है, किसीसे कोई वस्तु पाकर भी 'याद नहीं है', ऐसा कहकर उसे दबाना चाहता है, माँगनेपर दान देकर उसके लिये अपनी श्लाघा करता है और झूठको सही साबित करनेका प्रयास करता है ॥ ३-६ ॥

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य-
स्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥ ७ ॥

जो मनुष्य अपने साथ जैसा बर्ताव करे, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये—यही नीतिधर्म है। कपटका आचरण करनेवालेके साथ कपटपूर्ण बर्ताव करे और अच्छा बर्ताव करनेवालेके साथ साधुभावसे ही बर्ताव करना चाहिये ॥ ७ ॥

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया ।
कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा
क्रोधः श्रियं सर्वमेवाभिमानः ॥ ८ ॥

बुढ़ापा रूपका, आशा धैर्यका, मृत्यु प्राणोंका, दूसरोंके गुणोंमें दोषदृष्टि धर्माचरणका, काम लज्जाका, नीच पुरुषोंकी सेवा सदाचारका, क्रोध लक्ष्मीका और अभिमान सर्वस्वका ही नाश कर देता है ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा ।
नाप्नोत्यथ च तत् सर्वमायुः केनेह हेतुना ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! जब सभी वेदोंमें पुरुषको सौ वर्षकी आयुवाला बताया गया है, तब वह किस कारणसे अपनी पूर्ण आयुको नहीं पाता ? ॥ ९ ॥

विदुर उवाच

अतिमानोऽतिवादश्च तथात्यागो नराधिप ।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट्॥१० ॥
एत एवासयस्तीक्ष्णा कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम् ।
एतानि मानवान् घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥ ११ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! आपका कल्याण हो। अत्यन्त अभिमान, अधिक बोलना, त्यागका अभाव, क्रोध, अपना ही पेट पालनेकी चिन्ता और मित्रद्रोह—ये छः तीखी तलवारें देहधारियोंकी आयुको काटती हैं। ये ही मनुष्योंका वध करती हैं, मृत्यु नहीं ॥ १०-११ ॥

विश्वस्तस्यैति यो दारान् यश्चापि गुरुतल्पगः।
वृषलीपतिर्द्विजो यश्च पानपश्चैव भारत ॥ १२ ॥
आदेशकृद् वृत्तिहन्ता द्विजानां प्रेषकश्च यः ।
शरणागतहा चैव सर्वे ब्रह्महणः समाः ।
एतैः समेत्य कर्तव्यं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः ॥ १३ ॥

भारत ! जो अपने ऊपर विश्वास करनेवाले पुरुषकी स्त्रीके साथ समागम करता है, जो गुरुस्त्रीगामी है, ब्राह्मण होकर शूद्रा स्त्रीके साथ विवाह करता है, शराब पीता है तथा जो ब्राह्मणपर आदेश चलानेवाला, ब्राह्मणोंकी जीविका नष्ट करनेवाला, ब्राह्मणोंको सेवाकार्यके लिये इधर-उधर भेजने-वाला और शरणागतकी हिंसा करनेवाला है—ये सबके सब ब्रह्महत्यारेके समान हैं; इनका सङ्ग हो जानेपर प्रायश्चित्त करे—यह वेदोंकी आज्ञा है ॥ १२-१३ ॥

गृहीतवाक्यो नयविद् वदान्यः
शेषान्नभोक्ता ह्यविहिंसकश्च ।
नानर्थकृत्याकुलितः कृतज्ञः
सत्यो मृदुः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ १४ ॥

बड़ोंकी आज्ञा माननेवाला, नीतिज्ञ, दाता, यज्ञशेष अन्नका भोजन करनेवाला, हिंसारहित, अनर्थपूर्ण कार्योंसे दूर रहनेवाला, कृतज्ञ, सत्यवादी और कोमल स्वभाववाला विद्वान् स्वर्गगामी होता है ॥ १४ ॥

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ १५ ॥

राजन् ! सदा प्रिय वचन बोलनेवाले मनुष्य तो सहजमें ही मिल सकते हैं; किंतु जो अप्रिय होता हुआ हितकारी हो, ऐसे वचनके वक्ता और श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं ॥ १५ ॥

यो हि धर्मं समाश्रित्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥१६॥

जो धर्मका आश्रय लेकर तथा स्वामीको प्रिय लगेगा या अप्रिय—इसका विचार छोड़कर अप्रिय होनेपर भी हितकी बात कहता है, उसीसे राजाको सच्ची सहायता मिलती है ॥ १६ ॥

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥१७॥

कुलकी रक्षाके लिये एक मनुष्यका, ग्रामकी रक्षाके लिये कुलका, देशकी रक्षाके लिये गाँवका और आत्माके कल्याणके लिये सारी पृथ्वीका त्याग कर देना चाहिये ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥१८॥

आपत्तिके लिये धनकी रक्षा करे, धनके द्वारा भी स्त्रीकी रक्षा करे और स्त्री एवं धन दोनोंके द्वारा सदा अपनी रक्षा करे ॥ १८ ॥

द्यूतमेतत् पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥१९॥

पूर्वकालमें जूआ खेलना मनुष्योंमें वैर डालनेका कारण देखा गया है; अतः बुद्धिमान् मनुष्य हँसीके लिये भी जूआ न खेले ॥ १९ ॥

उक्तं मया द्यूतकालेऽपि राजन्
नेदं युक्तं वचनं प्रातिपेय ।
तदौषधं पथ्यमिवातुरस्य
न रोचते तव वैचित्रवीर्य ॥२०॥

प्रतीपनन्दन ! विचित्रवीर्यकुमार ! राजन् ! मैंने जूएका खेल आरम्भ होते समय भी कहा था कि यह ठीक नहीं है, किंतु रोगीको जैसे दवा और पथ्य अच्छे नहीं लगते, उसी तरह मेरी वह बात भी आपको अच्छी नहीं लगी ॥

काकैरिमांश्चित्रबर्हान् मयूरान्
पराजयेथाः पाण्डवान् धार्तराष्ट्रैः ।
हित्वा सिंहान् क्रोष्टुकान् गूहमानः
प्राप्ते काले शोचिता त्वं नरेन्द्र ॥२१॥

नरेन्द्र ! आप कौओंके समान अपने पुत्रोंके द्वारा विचित्र पंखवाले मोरोंके सदृश पाण्डवोंको पराजित करनेका प्रयत्न कर रहे हैं; सिंहोंको छोड़कर सियारोंकी रक्षा कर रहे हैं; समय आनेपर आपको इसके लिये पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ २१ ॥

यस्तात न क्रुध्यति सर्वकालं
भृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य ।
तस्मिन् भृत्या भर्तरि विश्वसन्ति
न चैनमापत्सु परित्यजन्ति ॥२२॥

तात ! जो स्वामी सदा हितसाधनमें लगे रहनेवाले अपने भक्त सेवकपर कभी क्रोध नहीं करता, उसपर भृत्यगण विश्वास करते हैं और उसे आपत्तिके समय भी नहीं छोड़ते ॥ २२ ॥

न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन
राज्यं धनं संजिघृक्षेदपूर्वम् ।
त्यजन्ति ह्येनं वञ्चिता वै विरुद्धाः
स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः ॥२३॥

सेवकोंकी जीविका बंद करके दूसरोंके राज्य और धनके अपहरणका प्रयत्न नहीं करना चाहिये; क्योंकि अपनी जीविका छिन जानेसे भोगोंसे वञ्चित होकर पहलेके प्रेमी मन्त्री भी उस समय विरोधी बन जाते हैं और राजाका परित्याग कर देते हैं ॥ २३ ॥

कृत्यानि पूर्वं परिसंख्याय सर्वा-
ण्यायव्यये चानुरूपां च वृत्तिम् ।
संगृह्णीयादनुरूपान् सहायान्
सहायसाध्यानि हि दुष्कराणि ॥२४॥

पहले कर्तव्य एवं आय-व्यय और उचित वेतन आदिका निश्चय करके फिर सुयोग्य सहायकोंका संग्रह करे, क्योंकि कठिनसे कठिन कार्य भी सहायकोंद्वारा साध्य होते हैं ॥२४॥

अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः
सर्वाणि कार्याणि करोत्यतन्द्री ।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः
शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोऽनुकम्प्यः॥२५॥

जो सेवक स्वामीके अभिप्रायको समझकर आलस्यरहित हो समस्त कार्योंको पूरा करता है, जो हितकी बात कहनेवाला, स्वामिभक्त, सज्जन और राजाकी शक्तिको जाननेवाला है, उसे अपने समान समझकर उसपर कृपा करनी चाहिये॥२५॥

वाक्यं तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः
प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः ।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकूलवादी
त्याज्यः स तादृक् त्वरयैव भृत्यः॥२६॥

जो सेवक स्वामीके आज्ञा देनेपर उनकी बातका आदर नहीं करता, किसी काममें लगाये जानेपर अस्वीकार कर देता है, अपनी बुद्धिपर गर्व करने और प्रतिकूल बोलनेवाले उस भृत्यको शीघ्र ही त्याग देना चाहिये ॥ २६ ॥

अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं
सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः ।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं
दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ॥२७॥

अहंकाररहित, कायरताशून्य, शीघ्र काम पूरा करनेवाला, दयालु, शुद्धहृदय, दूसरोंके बहकावेमें न आनेवाला, नीरोग और उदार वचनवाला—इन आठ गुणोंसे युक्त मनुष्यको 'दूत' बनाने योग्य बताया गया है ॥ २७ ॥

न विश्वासाज्जातु परस्य गेहे
गच्छेन्नरश्चेतयानो विकाले ।
न चत्वरे निशि तिष्ठेन्निगूढो
न राजकाम्यां योषितं प्रार्थयीत ॥२८॥

सावधान मनुष्य विश्वास करके असमयमें कभी किसी दूसरेके घर न जाय, रातमें छिपकर चौराहेपर न खड़ा हो और राजा जिस स्त्रीको चाहता हो, उसे प्राप्त करनेका यत्न न करे ॥ २८ ॥

न निह्नवं मन्त्रगतस्य गच्छेत्
संसृष्टमन्त्रस्य कुसङ्गतस्य ।
न च ब्रूयान्नाश्वसिमि त्वयीति
सकारणं व्यपदेशं तु कुर्यात् ॥२९॥

दुष्ट सहायकोंवाला राजा जब बहुत लोगोंके साथ मन्त्रणा-समितिमें बैठकर सलाह ले रहा हो, उस समय उसकी बातका खण्डन न करे; 'मैं तुमपर विश्वास नहीं करता' ऐसा भी न कहे, अपितु कोई युक्तिसंगत बहाना बनाकर वहाँसे हट जाय ॥ २९ ॥

घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः
पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।
सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव
व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ॥३०॥

अधिक दयालु राजा, व्यभिचारिणी स्त्री, राजकर्मचारी, पुत्र, भाई, छोटे बच्चोंवाली विधवा, सैनिक और जिसका अधिकार छीन लिया गया हो, वह पुरुष—इन सबके साथ लेन-देनका व्यवहार न करे ॥ ३० ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥३१॥

ये आठ गुण पुरुषकी शोभा बढ़ाते हैं—बुद्धि, कुलीनता, शास्त्रज्ञान, इन्द्रियनिग्रह, पराक्रम, अधिक न बोलनेका स्वभाव, यथाशक्ति दान और कृतज्ञता ॥ ३१ ॥

एतान् गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं
सर्वान् गुणानेष गुणो बिभर्ति ॥३२॥

तात ! एक गुण ऐसा है, जो इन सभी महत्त्वपूर्ण गुणोंपर हठात् अधिकार कर लेता है । राजा जिस समय किसी मनुष्यका सत्कार करता है, उस समय यह गुण (राजसम्मान) उपर्युक्त सभी गुणोंसे बढ़कर शोभा पाता है॥

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते
बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च
श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥३३॥

नित्य स्नान करनेवाले मनुष्यको बल, रूप, मधुरस्वर, उज्ज्वल वर्ण, कोमलता, सुगन्ध, पवित्रता, शोभा, सुकुमारता और सुन्दरी स्त्रियाँ—ये दस लाभ प्राप्त होते हैं॥

गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते
आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च ।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं
न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ॥३४॥

थोड़ा भोजन करनेवालेको निम्नाङ्कित छः गुण प्राप्त होते हैं—आरोग्य, आयु, बल और सुख तो मिलते ही हैं, उसकी संतान उत्तम होती है तथा 'यह बहुत खानेवाला है' ऐसा कहकर लोग उसपर आक्षेप नहीं करते ॥ ३४ ॥

अकर्मशीलं च महाशनं च
लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् ।
अदेशकालज्ञमनिष्टवेष-
मेतान् गृहे न प्रतिवासयेत ॥३५॥

अकर्मण्य, बहुत खानेवाले, सब लोगोंसे वैर करनेवाले, अधिक मायावी, क्रूर, देश-कालका ज्ञान न रखनेवाले और निन्दित वेष धारण करनेवाले मनुष्यको कभी अपने घरमें न ठहरने दे ॥ ३५ ॥

कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च
वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम् ।
निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्न-
मेतान् भृशार्तोऽपि न जातु याचेत् ॥३६॥

बहुत दुखी होनेपर भी कृपण, गाली बकनेवाले, मूर्ख, जंगलमें रहनेवाले, धूर्त, नीचसेवी, निर्दयी, वैर बाँधनेवाले और कृतघ्नसे कभी सहायताकी याचना नहीं करनी चाहिये॥

संक्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं
नित्यानृतं चादृढभक्तिकं च।
विसृष्टरागं पटुमानिनं चा-
प्येतान् न सेवेत नराधमान् षट् ॥३७॥

क्लेशप्रद कर्म करनेवाले, अत्यन्त प्रमादी, सदा असत्यभाषण करनेवाले, अस्थिर भक्तिवाले, स्नेहसे रहित, अपनेको चतुर माननेवाले—इन छः प्रकारके अधम पुरुषोंकी सेवा न करे ॥ ३७ ॥

सहायबन्धना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबन्धनाः।
अन्योन्यबन्धनावेतौ विनान्योन्यं न सिद्ध्यतः ॥३८॥

धनकी प्राप्ति सहायककी अपेक्षा रखती है और सहायक धनकी अपेक्षा रखते हैं; ये दोनों एक-दूसरेके आश्रित हैं, परस्परके सहयोग बिना इनकी सिद्धि नहीं होती ॥ ३८ ॥

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा
वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय कांचित्।
स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा
अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत् ॥३९॥

पुत्रोंको उत्पन्न कर उन्हें ऋणके भारसे मुक्त करके उनके लिये किसी जीविकाका प्रबन्ध कर दे; अपनी सभी कन्याओंका योग्य वरके साथ विवाह कर दे तत्पश्चात् वनमें मुनिवृत्तिसे रहनेकी इच्छा करे ॥ ३९ ॥

हितं यत् सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम्।
तत् कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ॥४०॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये हितकर और अपने लिये भी सुखद हो, उसे ईश्वरार्पणबुद्धिसे करे; सम्पूर्ण सिद्धियोंका यही मूलमन्त्र है ॥ ४० ॥

वृद्धिः प्रभावस्तेजश्च सत्त्वमुत्थानमेव च।
व्यवसायश्च यस्य स्यात् तस्यावृत्तिभयं कुतः ॥४१॥

जिसमें बढ़नेकी शक्ति, प्रभाव, तेज, पराक्रम, उद्योग और (अपने कर्तव्यका) निश्चय है, उसे अपनी जीविकाके नाशका भय कैसे हो सकता है ? ॥ ४१ ॥

पश्य दोषान् पाण्डवैर्विग्रहे त्वं
यत्र व्यथेयुरपि देवाः सशक्राः।
पुत्रैर्वैरं नित्यमुद्विग्नवासो
यशःप्रणाशो द्विषतां च हर्षः ॥४२॥

पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेमें जो दोष हैं, उनपर दृष्टि डालिये; उनसे संग्राम छिड़ जानेपर इन्द्र आदि देवताओंको भी कष्ट ही उठाना पड़ेगा। इसके सिवा पुत्रोंके साथ वैर, नित्य उद्वेगपूर्ण जीवन, कीर्तिका नाश और शत्रुओंको आनन्द होगा ॥ ४२ ॥

भीष्मस्य कोपस्तव चैवेन्द्रकल्प
द्रोणस्य राज्ञश्च युधिष्ठिरस्य।
उत्सादयेल्लोकमिमं प्रवृद्धः
श्वेतो ग्रहस्तिर्यगिवापतन् खे ॥४३॥

इन्द्रके समान पराक्रमी महाराज ! आकाशमें तिरछा उदित हुआ धूमकेतु जैसे सारे संसारमें अशान्ति और उपद्रव खड़ा कर देता है, उसी तरह भीष्म, आप, द्रोणाचार्य और राजा युधिष्ठिरका बढ़ा हुआ कोप इस संसारका संहार कर सकता है ॥ ४३ ॥

तव पुत्रशतं चैव कर्णः पञ्च च पाण्डवाः।
पृथिवीमनुशासेयुरखिलां सागराम्बराम् ॥ ४४ ॥

आपके सौ पुत्र, कर्ण और पाँच पाण्डव—ये सब मिलकर समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन कर सकते हैं ॥ ४४ ॥

धार्तराष्ट्रा वनं राजन् व्याघ्राः पाण्डुसुता मताः।
मा वनं छिन्धि सव्याघ्रं मा व्याघ्रान् नीनशन् वनात् ॥४५॥

राजन् ! आपके पुत्र वनके समान हैं और पाण्डव उसमें रहनेवाले व्याघ्र हैं। आप व्याघ्रोंसहित समस्त वनको नष्ट न कीजिये तथा वनसे उन व्याघ्रोंको दूर न भगाइये ॥ ४५ ॥

न स्याद् वनमृते व्याघ्रान् व्याघ्रा न स्युर्ऋते वनम्।
वनं हि रक्ष्यते व्याघ्रैर्व्याघ्रान् रक्षति काननम् ॥४६॥

व्याघ्रोंके बिना वनकी रक्षा नहीं हो सकती तथा वनके बिना व्याघ्र नहीं रह सकते; क्योंकि व्याघ्र वनकी रक्षा करते हैं और वन व्याघ्रोंकी ॥ ४६ ॥

न तथेच्छन्ति कल्याणान् परेषां वेदितुं गुणान्।
यथैषां ज्ञातुमिच्छन्ति नैर्गुण्यं पापचेतसः ॥ ४७ ॥

जिनका मन पापोंमें लगा रहता है, वे लोग दूसरोंके कल्याणमय गुणोंको जाननेकी वैसी इच्छा नहीं रखते, जैसी कि उनके अवगुणोंको जाननेकी रखते हैं ॥ ४७ ॥

अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत्।
न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम् ॥ ४८ ॥

जो अर्थकी पूर्ण सिद्धि चाहता हो, उसे पहले धर्मका ही आचरण करना चाहिये। जैसे स्वर्गसे अमृत दूर नहीं होता, उसी प्रकार धर्मसे अर्थ अलग नहीं होता ॥ ४८ ॥

यस्यात्मा विरतः पापात् कल्याणे च निवेशितः।
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ॥ ४९ ॥

जिसकी बुद्धि पापसे हटाकर कल्याणमें लगा दी गयी है, उसने संसारमें जो भी प्रकृति और विकृति है—उस सबको जान लिया है ॥ ४९ ॥

यो धर्ममर्थं कामं च यथाकालं निषेवते।
धर्मार्थकामसंयोगं सोऽमुत्रेह च विन्दति ॥ ५० ॥

जो समयानुसार धर्म, अर्थ और कामका सेवन करता है, वह इस लोक और परलोकमें भी धर्म, अर्थ और कामको प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

संनियच्छति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः।
स श्रियो भाजनं राजन् यश्चापत्सु न मुह्यति ॥ ५१ ॥

राजन्! जो क्रोध और हर्षके उठे हुए वेगको रोक लेता है और आपत्तिमें भी मोहको प्राप्त नहीं होता, वही राजलक्ष्मीका अधिकारी होता है ॥ ५१ ॥

बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे।
यत् तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ॥ ५२ ॥
अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते।
तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः ॥ ५३ ॥
यत् त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम्।
अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ॥ ५४ ॥
येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत।
यद् बलानां बलं श्रेष्ठं तत् प्रज्ञाबलमुच्यते ॥ ५५ ॥

राजन्! आपका कल्याण हो, मनुष्योंमें सदा पाँच प्रकारका बल होता है; उसे सुनिये। जो बाहुबल नामक प्रथम बल है, वह निकृष्ट बल कहलाता है; मन्त्रीका मिलना दूसरा बल है; मनीषीलोग धनके लाभको तीसरा बल बताते हैं; और राजन्! जो बाप-दादोंसे प्राप्त हुआ मनुष्यका स्वाभाविक बल (कुटुम्बका बल) है, वह 'अभिजात' नामक चौथा बल है। भारत! जिससे इन सभी बलोंका संग्रह हो जाता है तथा जो सब बलोंमें श्रेष्ठ बल है, वह पाँचवाँ 'बुद्धिका बल' कहलाता है ॥ ५२—५५ ॥

महते योऽपकाराय नरस्य प्रभवेन्नरः।
तेन वैरं समासज्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ॥ ५६ ॥

जो मनुष्यका बहुत बड़ा अपकार कर सकता है, उस पुरुषके साथ वैर ठानकर इस विश्वासपर निश्चिन्त न हो जाय कि मैं उससे दूर हूँ (वह मेरा कुछ नहीं कर सकता) ॥ ५६ ॥

स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु।
भोगेष्वायुषि विश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ॥ ५७ ॥

ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा, जो स्त्री, राजा, साँप, पढ़े हुए पाठ, सामर्थ्यशाली व्यक्ति, शत्रु, भोग और आयुपर पूर्ण विश्वास कर सकता है? ॥ ५७ ॥

प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जन्तो-
श्चिकित्सकाः सन्ति न चौषधानि।
न होममन्त्रा न च मङ्गलानि
नाथर्वणा नाप्यगदाः सुसिद्धाः ॥ ५८ ॥

जिसको बुद्धिके बाणसे मारा गया है, उस जीवके लिये न कोई वैद्य है, न दवा है, न होम, न मन्त्र, न कोई माङ्गलिक कार्य, न अथर्ववेदोक्त प्रयोग और न भलीभाँति सिद्ध जड़ी-बूटी ही है ॥ ५८ ॥

सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रश्च भारत।
नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽतितेजसः ॥ ५९ ॥

भारत! मनुष्योंको चाहिये कि वह साँप, अग्नि, सिंह और अपने कुलमें उत्पन्न व्यक्तिका अनादर न करे; क्योंकि ये सभी बड़े तेजस्वी होते हैं ॥ ५९ ॥

अग्निस्तेजो महल्लोके गूढस्तिष्ठति दारुषु।
न चोपयुङ्क्ते तद् दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः ॥ ६० ॥

संसारमें अग्नि एक महान् तेज है, वह काठमें छिपी रहती है; किंतु जबतक दूसरे लोग उसे प्रज्वलित न कर दें, तबतक वह उस काठको नहीं जलाती ॥ ६० ॥

स एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते।
तद् दारु च वनं चान्यन्निर्दहत्याशु तेजसा ॥ ६१ ॥

वही अग्नि यदि काष्ठसे मथकर उद्दीप्त कर दी जाती है तो वह अपने तेजसे उस काठको, जंगलको तथा दूसरी वस्तुओंको भी जल्दी ही जला डालती है ॥ ६१ ॥

एवमेव कुले जाताः पावकोपमतेजसः।
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ॥ ६२ ॥

इसी प्रकार अपने कुलमें उत्पन्न वे अग्निके समान तेजस्वी पाण्डव क्षमाभावसे युक्त और विकारशून्य हो काष्ठमें छिपी अग्निकी तरह गुप्तरूपसे (अपने गुण एवं प्रभावको छिपाये हुए) स्थित हैं ॥ ६२ ॥

लताधर्मा त्वं सपुत्रः शालाः पाण्डुसुता मताः।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥ ६३ ॥

अपने पुत्रोंसहित आप लताके समान हैं और पाण्डव महान् शालवृक्षके सदृश हैं; महान् वृक्षका आश्रय लिये बिना लता कभी बढ़ नहीं सकती ॥ ६३ ॥

वनं राजंस्तव पुत्रोऽऽम्बिकेय
सिंहान् वने पाण्डवांस्तात विद्धि।
सिंहैर्विहीनं हि वनं विनश्येत्
सिंहा विनश्येयुर्ऋते वनेन ॥ ६४ ॥

राजन्! अम्बिकानन्दन! आपके पुत्र एक वन हैं और पाण्डवोंको उसके भीतर रहनेवाले सिंह समझिये। तात! सिंहसे सूना हो जानेपर वन नष्ट हो जाता है और वनके बिना सिंह भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके हितवाक्यविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

विदुरजीका नीतियुक्त उपदेश

विदुर उवाच

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! जब कोई (माननीय) वृद्ध पुरुष निकट आता है, उस समय नवयुवक व्यक्तिके प्राण ऊपरको उठने लगते हैं; फिर जब वह वृद्धके स्वागतमें उठकर खड़ा होता और प्रणाम करता है, तब प्राणोंको पुनः वास्तविक स्थितिमें प्राप्त करता है ॥ १ ॥

पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय
आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां
ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः ॥ २ ॥

धीर पुरुषको चाहिये, जब कोई साधु पुरुष अतिथिके रूपमें घरपर आवे, तब पहले आसन देकर एवं जल लाकर उसके चरण पखारे, फिर उसकी कुशल पूछकर अपनी स्थिति बतावे, तदनन्तर आवश्यकता समझकर अन्न भोजन करावे ॥ २ ॥

यस्योदकं मधुपर्कं च गां च
न मन्त्रवित् प्रतिगृह्णाति गेहे ।
लोभाद् भयादथ कार्पण्यतो वा
तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्याः ॥ ३ ॥

वेदवेत्ता ब्राह्मण जिसके घर दाताके लोभ, भय या कंजूसीके कारण जल, मधुपर्क और गौको नहीं स्वीकार करता, श्रेष्ठ पुरुषोंने उस गृहस्थका जीवन व्यर्थ बताया है ॥ ३ ॥

चिकित्सकः शल्यकर्तावकीर्णी
स्तेनः क्रूरो मद्यपो भ्रूणहा च ।
सेनाजीवी श्रुतिविक्रायकश्च
भृशं प्रियोऽप्यतिथिर्नोदकार्हः ॥ ४ ॥

वैद्य, चीरफाड़ करनेवाला (जर्राह), ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट, चोर, क्रूर, शराबी, गर्भहत्यारा, सेनाजीवी और वेदविक्रेता—ये यद्यपि पैर धोनेके योग्य नहीं हैं, तथापि यदि अतिथि होकर आवें तो विशेष प्रिय यानी आदरके योग्य होते हैं ॥ ४ ॥

अविक्रयं लवणं पक्वमन्नं
दधि क्षीरं मधु तैलं घृतं च ।
तिला मांसं फलमूलानि शाकं
रक्तं वासः सर्वगन्धा गुडाश्च ॥ ५ ॥

नमक, पका हुआ अन्न, दही, दूध, मधु, तेल, घी, तिल, मांस, फल, मूल, साग, लाल कपड़ा, सब प्रकारकी गन्ध और गुड़—इतनी वस्तुएँ बेचने योग्य नहीं हैं ॥ ५ ॥

अरोषणो यः समलोष्टाश्मकाञ्चनः
प्रहीणशोको गतसन्धिविग्रहः ।
निन्दाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये
त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥ ६ ॥

जो क्रोध न करनेवाला, लोष्ट[1], पत्थर और सुवर्णको एक-सा समझनेवाला, शोकहीन, सन्धि-विग्रहसे रहित, निन्दा-प्रशंसासे शून्य, प्रिय-अप्रियका त्याग करनेवाला तथा उदासीन है, वही भिक्षुक (संन्यासी) है ॥ ६ ॥

नीवारमूलेङ्गुदशाकवृत्तिः
सुसंयतात्माग्निकार्येषु चोद्यः ।
वने वसन्नतिथिष्वप्रमत्तो
धुरन्धरः पुण्यकृदेष तापसः ॥ ७ ॥

जो नीवार (जंगली चावल), कन्द-मूल, इङ्गुदीफल और साग खाकर निर्वाह करता है, मनको वशमें रखता है, अग्निहोत्र करता है, वनमें रहकर भी अतिथिसेवामें सदा सावधान रहता है, वही पुण्यात्मा तपस्वी (वानप्रस्थी) श्रेष्ठ माना गया है ॥ ७ ॥

अपकृत्य बुद्धिमतो दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् पुरुषकी बुराई करके इस विश्वासपर निश्चिन्त न रहे कि मैं दूर हूँ। बुद्धिमान्‌की (बुद्धिरूप) बाँहें बड़ी लंबी होती हैं, सताया जानेपर वह उन्हीं बाँहोंसे बदला लेता है ॥ ८ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ९ ॥

जो विश्वासका पात्र नहीं है, उसका तो विश्वास करे ही नहीं; किंतु जो विश्वासपात्र है, उसपर भी अधिक विश्वास न करे। विश्वाससे जो भय उत्पन्न होता है, वह मूलका भी उच्छेद कर डालता है ॥ ९ ॥

अनीर्षुर्गुप्तदारश्च संविभागी प्रियंवदः ।
श्लक्ष्णो मधुरवाक् स्त्रीणां न चासां वशगो भवेत् ॥ १० ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह ईर्ष्यारहित, स्त्रियोंका रक्षक, सम्पत्तिका न्यायपूर्वक विभाग करनेवाला, प्रियवादी, स्वच्छ

१. मिट्टी और गोबरको मिलाकर कच्चे घरोंको जो लीपा-पोता जाता है, उससे बचे हुए व्यर्थ ढेलेको 'लोष्ट' कहते हैं।

तथा स्त्रियोंके निकट मीठे वचन बोलनेवाला हो, परंतु उनके वशमें कभी न हो ॥ १० ॥

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद् रक्ष्या विशेषतः ॥ ११ ॥

स्त्रियाँ घरकी लक्ष्मी कही गयी हैं। ये अत्यन्त सौभाग्यशालिनी, आदरके योग्य, पवित्र तथा घरकी शोभा हैं; अतः इनकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

पितुरन्तःपुरं दद्यान्मातुर्दद्यान्महानसम् ।
गोषु चात्मसमं दद्यात् स्वयमेव कृषिं व्रजेत् ॥ १२ ॥
भृत्यैर्वाणिज्यचारं च पुत्रैः सेवेत च द्विजान् ।

अन्तःपुरकी रक्षाका कार्य पिताको सौंप दे, रसोईघरका प्रबन्ध माताके हाथमें दे दे, गौओंकी सेवामें अपने समान व्यक्तिको नियुक्त करे और कृषिका कार्य स्वयं ही करे। इसी प्रकार सेवकोंद्वारा वाणिज्य—व्यापार करे और पुत्रोंके द्वारा ब्राह्मणोंकी सेवा करे ॥ १२½ ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ॥ १३ ॥
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ।

जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय और पत्थरसे लोहा पैदा हुआ है। इनका तेज सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी अपने उत्पत्तिस्थानमें शान्त हो जाता है ॥ १३½ ॥

नित्यं सन्तः कुले जाताः पावकोपमतेजसः ॥ १४ ॥
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ।

अच्छे कुलमें उत्पन्न, अग्निके समान तेजस्वी, क्षमाशील और विकारशून्य संत पुरुष सदा काष्ठमें अग्निकी भाँति शान्तभावसे स्थित रहते हैं ॥ १४½ ॥

यस्य मन्त्रं न जानन्ति बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये ॥ १५ ॥
स राजा सर्वतश्चक्षुश्चिरमैश्वर्यमश्नुते ।

जिस राजाकी मन्त्रणाको उसके बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग कोई भी मनुष्य नहीं जानते, सब ओर दृष्टि रखनेवाला वह राजा चिरकालतक ऐश्वर्यका उपभोग करता है ॥ १५½ ॥

करिष्यन् न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ॥ १६ ॥
धर्मकामार्थकार्याणि तथा मन्त्रो न भिद्यते ।

धर्म, काम और अर्थसम्बन्धी कार्योंको करनेसे पहले न बतावे, करके ही दिखावे। ऐसा करनेसे अपनी मन्त्रणा दूसरोंपर प्रकट नहीं होती ॥ १६½ ॥

गिरिपृष्ठमुपारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ॥ १७ ॥
अरण्ये निःशलाके वा तत्र मन्त्रोऽभिधीयते ।

पर्वतकी चोटी अथवा राजमहलपर चढ़कर एकान्त स्थानमें जाकर या जंगलमें तृण आदिसे अनावृत स्थानपर मन्त्रणा करनी चाहिये ॥ १७½ ॥

नासुहृत् परमं मन्त्रं भारतार्हति वेदितुम् ॥ १८ ॥
अपण्डितो वापि सुहृत् पण्डितो वाप्यनात्मवान् ।

भारत ! जो मित्र न हो, मित्र होनेपर भी पण्डित न हो, पण्डित होनेपर भी जिसका मन वशमें न हो, वह अपनी गुप्त मन्त्रणा जाननेके योग्य नहीं है ॥ १८½ ॥

नापरीक्ष्य महीपालः कुर्यात् सचिवमात्मनः ॥ १९ ॥
अमात्ये ह्यर्थलिप्सा च मन्त्ररक्षणमेव च ।
कृतानि सर्वकार्याणि यस्य पारिषदा विदुः ॥ २० ॥
धर्मे चार्थे च कामे च स राजा राजसत्तमः ।
गूढमन्त्रस्य नृपतेस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥ २१ ॥

राजा अच्छी तरह परीक्षा किये बिना किसीको अपना मन्त्री न बनावे; क्योंकि धनकी प्राप्ति और मन्त्रकी रक्षाका भार मन्त्रीपर ही रहता है। जिसके धर्म, अर्थ और कामविषयक सभी कार्योंको पूर्ण होनेके बाद ही सभासद्‌गण जान पाते हैं, वही राजा समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ है। अपने मन्त्रको गुप्त रखनेवाले उस राजाको निःसंदेह सिद्धि प्राप्त होती है ॥ १९-२१ ॥

अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति ।
स तेषां विपरिभ्रंशाद् भ्रंश्यते जीवितादपि ॥ २२ ॥

जो मोहवश बुरे (शास्त्रनिषिद्ध) कर्म करता है, वह उन कार्योंका विपरीत परिणाम होनेसे अपने जीवनसे भी हाथ धो बैठता है ॥ २२ ॥

कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।
तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ॥ २३ ॥

उत्तम कर्मोंका अनुष्ठान तो सुख देनेवाला होता है, किंतु उन्हींका अनुष्ठान न किया जाय तो वह पश्चात्तापका कारण माना गया है ॥ २३ ॥

अनधीत्य यथा वेदान् न विप्रः श्राद्धमर्हति ।
एवमश्रुतषाड्गुण्यो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ २४ ॥

जैसे वेदोंको पढ़े बिना ब्राह्मण श्राद्धकर्म करवानेका अधिकारी नहीं होता, उसी प्रकार (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय नामक) छः गुणोंको जाने बिना कोई गुप्त मन्त्रणा सुननेका अधिकारी नहीं होता ॥ २४ ॥

स्थानवृद्धिक्षयज्ञस्य षाड्गुण्यविदितात्मनः ।
अनवज्ञातशीलस्य स्वाधीना पृथिवी नृप ॥ २५ ॥

राजन् ! जो सन्धि-विग्रह आदि छः गुणोंकी जानकारीके कारण प्रसिद्ध है, स्थिति, वृद्धि और ह्रासको जानता है तथा जिसके स्वभावकी सब लोग प्रशंसा करते हैं, उसी राजाके अधीन पृथ्वी रहती है ॥ २५ ॥

अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्ववेक्षिणः ।
आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ॥ २६ ॥

जिसके क्रोध और हर्ष व्यर्थ नहीं जाते, जो आवश्यक

कार्योंकी स्वयं देखभाल करता है और खजानेकी भी स्वयं जानकारी रखता है, उसकी पृथ्वी पर्याप्त धन देनेवाली ही होती है ॥ २६ ॥

नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः।
भृत्येभ्यो विसृजेदर्थान् नैकः सर्वहरो भवेत् ॥ २७ ॥

भूपतिको चाहिये कि अपने 'राजा' नामसे और राजोचित 'छत्र'के धारणसे संतुष्ट रहे। सेवकोंको पर्याप्त धन दे, सब अकेला ही न हड़प ले ॥ २७ ॥

ब्राह्मणं ब्राह्मणो वेद भर्ता वेद स्त्रियं तथा।
अमात्यं नृपतिर्वेद राजा राजानमेव च ॥ २८ ॥

ब्राह्मणको ब्राह्मण जानता है, स्त्रीको उसका पति जानता है, मन्त्रीको राजा जानता है और राजाको भी राजा ही जानता है ॥ २८ ॥

न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः।
न्यग्भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद् बले सति।
अहताद्धि भयं तस्माज्जायते नचिरादिव ॥ २९ ॥

वशमें आये हुए वधके योग्य शत्रुको कभी छोड़ना नहीं चाहिये। यदि अपना बल अधिक न हो तो नम्र होकर उसके पास समय बिताना चाहिये और बल होनेपर उसे मार ही डालना चाहिये; क्योंकि यदि शत्रु मारा न गया तो उससे शीघ्र ही भय उपस्थित होता है ॥ २९ ॥

दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च।
नियन्तव्यः सदा क्रोधो वृद्धबालातुरेषु च ॥ ३० ॥

देवता, ब्राह्मण, राजा, वृद्ध, बालक और रोगीपर होनेवाले क्रोधको प्रयत्नपूर्वक सदा रोकना चाहिये ॥ ३० ॥

निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम्।
कीर्तिं च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते ॥ ३१ ॥

मूर्खोंद्वारा सेवित निरर्थक कलहका बुद्धिमान् पुरुषको त्याग कर देना चाहिये। ऐसा करनेसे उसे लोकमें यश मिलता है और अनर्थका सामना नहीं करना पड़ता ॥ ३१ ॥

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥ ३२ ॥

जिसके प्रसन्न होनेका कोई फल नहीं तथा जिसका क्रोध भी व्यर्थ होता है, ऐसे राजाको प्रजा उसी भाँति नहीं चाहती, जैसे स्त्री नपुंसक पतिको ॥ ३२ ॥

न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ३३ ॥

बुद्धिसे धन प्राप्त होता है और मूर्खता दरिद्रताका कारण है—ऐसा कोई नियम नहीं है। संसारचक्रके वृत्तान्तको केवल विद्वान् पुरुष ही जानते हैं, दूसरेलोग नहीं ॥ ३३ ॥

विद्याशीलवयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत।
धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोऽवमन्यते ॥ ३४ ॥

भारत ! मूर्ख मनुष्य विद्या, शील, अवस्था, बुद्धि, धन और कुलमें बड़े माननीय पुरुषोंका सदा अनादर किया करता है ॥ ३४ ॥

अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम्।
अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ॥ ३५ ॥

जिसका चरित्र निन्दनीय है, जो मूर्ख, गुणोंमें दोष देखनेवाला, अधार्मिक, बुरे वचन बोलनेवाला और क्रोधी है, उसके ऊपर शीघ्र ही अनर्थ (संकट) टूट पड़ते हैं ॥३५॥

अविसंवादनं दानं समयस्याव्यतिक्रमः।
आवर्तयन्ति भूतानि सम्यक्प्रणिहिता च वाक् ॥ ३६ ॥

ठगी न करना, दान देना, प्रतिज्ञाका उल्लङ्घन न करना और अच्छी तरह कही हुई बात—ये सब सम्पूर्ण भूतोंको अपना बना लेते हैं ॥ ३६ ॥

अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः।
अपि संक्षीणकोशोऽपि लभते परिवारणम् ॥ ३७ ॥

किसीको भी धोखा न देनेवाला, चतुर, कृतज्ञ, बुद्धिमान् और कोमल स्वभाववाला राजा खजाना समाप्त हो जानेपर भी सहायकोंको पा जाता है अर्थात् उसे सहायक मिल जाते हैं ॥ ३७ ॥

धृतिः शमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥ ३८ ॥

धैर्य, मनोनिग्रह, इन्द्रियसंयम, पवित्रता, दया, कोमल वाणी और मित्रसे द्रोह न करना—ये सात बातें लक्ष्मीको बढ़ानेवाली हैं ॥ ३८ ॥

असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः।
तादृङ्नराधिपो लोके वर्जनीयो नराधिप ॥ ३९ ॥

राजन् ! जो अपने आश्रितोंमें धनका ठीक-ठीक बँटवारा नहीं करता तथा जो दुष्ट स्वभाववाला, कृतघ्न और निर्लज्ज है, ऐसा राजा इस लोकमें त्याग देने योग्य है ॥ ३९ ॥

न च रात्रौ सुखं शेते ससर्प इव वेश्मनि।
यः कोपयति निर्दोषं सदोषोऽभ्यन्तरं जनम् ॥ ४० ॥

जो स्वयं दोषी होकर भी निर्दोष आत्मीय व्यक्तिको कुपित करता है, वह सर्पयुक्त घरमें रहनेवाले मनुष्यकी भाँति रातमें सुखसे नहीं सो सकता ॥ ४० ॥

येषु दुष्टेषु दोषः स्याद् योगक्षेमस्य भारत।
सदा प्रसादनं तेषां देवतानामिवाचरेत् ॥ ४१ ॥

भारत ! जिनके ऊपर दोषारोपण करनेसे योगक्षेममें बाधा आती हो, उन लोगोंको देवताकी भाँति सदा प्रसन्न रखना चाहिये ॥ ४१ ॥

येऽर्थाः स्त्रीषु समायुक्ताः प्रमत्तपतितेषु च ।
ये चानार्ये समासक्ताः सर्वे ते संशयं गताः ॥ ४२ ॥

जो धन आदि पदार्थ स्त्री, प्रमादी, पतित और नीच पुरुषोंके हाथमें सौंप दिये जाते हैं, वे संशयमें पड़ जाते हैं ॥४२॥

यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता ।
मज्जन्ति तेऽवशा राजन् नद्यामश्मप्लवा इव ॥ ४३ ॥

राजन्! जहाँका शासन स्त्री, जुआरी और बालकके हाथमें होता है, वहाँके लोग नदीमें पत्थरकी नावपर बैठनेवालोंकी भाँति विवश होकर विपत्तिके समुद्रमें डूब जाते हैं ॥ ४३ ॥

प्रयोजनेषु ये सक्ता न विशेषेषु भारत ।
तानहं पण्डितान् मन्ये विशेषा हि प्रसङ्गिनः ॥ ४४ ॥

भारत! जो लोग जितना आवश्यक है, उतने ही काममें लगे रहते हैं, अधिकमें हाथ नहीं डालते, उन्हें मैं पण्डित मानता हूँ; क्योंकि अधिकमें हाथ डालना संघर्षका कारण होता है ॥ ४४ ॥

यं प्रशंसन्ति कितवा यं प्रशंसन्ति चारणाः ।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो न स जीवति मानवः ॥ ४५ ॥

(केवल) जुआरी जिसकी प्रशंसा करते हैं, नर्तक जिसकी प्रशंसाका गान करते हैं और वेश्याएँ जिसकी बड़ाई किया करती हैं, वह मनुष्य जीता ही मुर्देके समान है ॥४५॥

हित्वा तान् परमेष्वासान् पाण्डवानमितौजसः ।
आहितं भारतैश्वर्यं त्वया दुर्योधने महत् ॥ ४६ ॥

भारत! आपने उन महान् धनुर्धर और अत्यन्त तेजस्वी पाण्डवोंको छोड़कर यह महान् ऐश्वर्यका भार दुर्योधनके ऊपर रख दिया है ॥ ४६ ॥

तं द्रक्ष्यसि परिभ्रष्टं तस्मात् त्वमचिरादिव ।
ऐश्वर्यमदसम्मूढं बलिं लोकत्रयादिव ॥ ४७ ॥

इसलिये आप शीघ्र ही उस ऐश्वर्यमदसे मूढ दुर्योधनको त्रिभुवनके साम्राज्यसे गिरे हुए बलिकी भाँति इस राज्यसे भ्रष्ट होते देखियेगा ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीका नीतियुक्त उपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवाभवे
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे कृतोऽयं
तस्माद् वद त्वं श्रवणे धृतोऽहम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! यह पुरुष ऐश्वर्यकी प्राप्ति और नाशमें स्वतन्त्र नहीं है। ब्रह्माने धागेसे बँधी हुई कठपुतलीकी भाँति इसे प्रारब्धके अधीन कर रक्खा है; इसलिये तुम कहते चलो, मैं सुननेके लिये धैर्य धारण किये बैठा हूँ ॥

विदुर उवाच

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च भारत ॥ २ ॥

विदुरजी बोले—भारत! समयके विपरीत यदि बृहस्पति भी कुछ बोलें तो उनका अपमान ही होगा और उनकी बुद्धिकी भी अवज्ञा ही होगी ॥ २ ॥

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।
मन्त्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ॥ ३ ॥

संसारमें कोई मनुष्य दान देनेसे प्रिय होता है, दूसरा प्रिय वचन बोलनेसे प्रिय होता है और तीसरा मन्त्र तथा औषधके बलसे प्रिय होता है; किंतु जो वास्तवमें प्रिय है, वह तो सदा प्रिय ही है ॥ ३ ॥

द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः ।
प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह ॥ ४ ॥

जिससे द्वेष हो जाता है, वह न साधु, न विद्वान् और न बुद्धिमान् ही जान पड़ता है। प्रिय व्यक्ति (मित्र आदि) के तो सभी कर्म शुभ ही प्रतीत होते हैं और शत्रुके सभी कार्य पापमय ॥४॥

उक्तं मया जातमात्रेऽपि राजन्
दुर्योधनं त्यज पुत्रं त्वमेकम् ।
तस्य त्यागात् पुत्रशतस्य वृद्धि-
रस्यात्यागात् पुत्रशतस्य नाशः॥ ५ ॥

राजन्! दुर्योधनके जन्म लेते ही मैंने कहा था कि केवल इसी एक पुत्रको आप त्याग दें। इसके त्यागसे सौ पुत्रोंकी वृद्धि होगी और इसका त्याग न करनेसे सौ पुत्रोंका नाश होगा ॥ ५ ॥

न वृद्धिर्बहु मन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत् ।
क्षयोऽपि बहु मन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥ ६ ॥

जो वृद्धि भविष्यमें नाशका कारण बने, उसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये और उस क्षयका भी बहुत आदर

करना चाहिये, जो आगे चलकर अभ्युदयका कारण हो॥६॥

न स क्षयो महाराज यः क्षयो वृद्धिमावहेत्।
क्षयः स त्विह मन्तव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत्॥ ७ ॥

महाराज! वास्तवमें जो क्षय वृद्धिका कारण होता है, वह क्षय नहीं है; किंतु उस लाभको भी क्षय ही मानना चाहिये, जिसे पानेसे बहुत-से लाभोंका नाश हो जाय॥ ७॥

समृद्धा गुणतः केचिद् भवन्ति धनतोऽपरे।
धनवृद्धान् गुणैर्हीनान् धृतराष्ट्र विवर्जय॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र! कुछ लोग गुणसे समृद्ध होते हैं और कुछ लोग धनसे। जो धनके धनी होते हुए भी गुणोंसे हीन हैं, उन्हें सर्वथा त्याग दीजिये॥ ८॥

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वं त्वमायतीयुक्तं भाषसे प्राज्ञसम्मतम्।
न चोत्सहे सुतं त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! तुम जो कुछ कह रहे हो, परिणाममें हितकर है; बुद्धिमान् लोग इसका अनुमोदन करते हैं। यह भी ठीक है कि जिस ओर धर्म होता है, उसी पक्षकी जीत होती है, तो भी मैं अपने बेटेका त्याग नहीं कर सकता॥

विदुर उवाच

अतीवगुणसम्पन्नो न जातु विनयान्वितः।
सुसूक्ष्ममपि भूतानामुपमर्दमुपेक्षते॥ १० ॥

विदुरजी बोले—राजन्! जो अधिक गुणोंसे सम्पन्न और विनयी है, वह प्राणियोंका तनिक भी संहार होते देख उसकी कभी उपेक्षा नहीं कर सकता॥ १०॥

परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च।
परस्परविरोधे च यतन्ते सततोत्थिताः॥ ११ ॥
सदोषं दर्शनं येषां संवासे सुमहद् भयम्।
अर्थादाने महान् दोषः प्रदाने च महद् भयम्॥ १२ ॥

जो दूसरोंकी निन्दामें ही लगे रहते हैं, दूसरोंको दुःख देने और आपसमें फूट डालनेके लिये सदा उत्साहके साथ प्रयत्न करते हैं, जिनका दर्शन दोषसे भरा (अशुभ) है और जिनके साथ रहनेमें भी बहुत बड़ा खतरा है, ऐसे लोगोंसे धन लेनेमें महान् दोष है और उन्हें देनेमें बहुत बड़ा भय है॥ ११-१२॥

ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः।
ये पापा इति विख्याताः संवासे परिगर्हिताः॥ १३ ॥

दूसरोंमें फूट डालनेका जिनका स्वभाव है, जो कामी, निर्लज्ज, शठ और प्रसिद्ध पापी हैं, वे साथ रखनेके अयोग्य—निन्दित माने गये हैं॥ १३॥

युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्ये नरास्तान् विवर्जयेत्।
निवर्तमाने सौहार्दे प्रीतिर्नीचे प्रणश्यति॥ १४ ॥
या चैव फलनिर्वृत्तिः सौहृदे चैव यत् सुखम्।

उपर्युक्त दोषोंके अतिरिक्त और भी जो महान् दोष हैं, उनसे युक्त मनुष्योंका त्याग कर देना चाहिये। सौहार्दभाव निवृत्त हो जानेपर नीच पुरुषोंका प्रेम नष्ट हो जाता है, उस सौहार्दसे होनेवाले फलकी सिद्धि और सुखका भी नाश हो जाता है॥ १४½॥

यतते चापवादाय यत्नमारभते क्षये॥ १५ ॥
अल्पेऽप्यपकृते मोहान्न शान्तिमधिगच्छति।

फिर वह नीच पुरुष निन्दा करनेके लिये यत्न करता है, थोड़ा भी अपराध हो जानेपर मोहवश विनाशके लिये उद्योग आरम्भ कर देता है। उसे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती॥

तादृशैः संगतं नीचैर्नृशंसैरकृतात्मभिः॥ १६ ॥
निशम्य निपुणं बुद्ध्या विद्वान् दूराद् विवर्जयेत्।

वैसे नीच, क्रूर तथा अजितेन्द्रिय पुरुषोंसे होनेवाले सङ्गपर अपनी बुद्धिसे पूर्ण विचार करके विद्वान् पुरुष उसे दूरसे ही त्याग दे॥ १६½॥

यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम्॥ १७ ॥
स पुत्रपशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानन्त्यमश्नुते।

जो अपने कुटुम्बी, दरिद्र, दीन तथा रोगीपर अनुग्रह करता है, वह पुत्र और पशुओंसे वृद्धिको प्राप्त होता और अनन्त कल्याणका अनुभव करता है॥ १७½॥

ज्ञातयो वर्धनीयास्तैर्य इच्छन्त्यात्मनः शुभम्॥ १८ ॥
कुलवृद्धिं च राजेन्द्र तस्मात् साधु समाचर।

राजेन्द्र! जो लोग अपने भलेकी इच्छा करते हैं, उन्हें अपने जातिभाइयोंको उन्नतिशील बनाना चाहिये; इसलिये आप भलीभाँति अपने कुलकी वृद्धि करें॥ १८½॥

श्रेयसा योक्ष्यते राजन् कुर्वाणो ज्ञातिसत्क्रियाम्॥ १९॥

राजन्! जो अपने कुटुम्बीजनोंका सत्कार करता है, वह कल्याणका भागी होता है॥ १९॥

विगुणा ह्यपि संरक्ष्या ज्ञातयो भरतर्षभ।
किं पुनर्गुणवन्तस्ते त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणः॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ! अपने कुटुम्बके लोग गुणहीन हों, तो भी उनकी रक्षा करनी चाहिये। फिर जो आपके कृपाभिलाषी एवं गुणवान् हैं, उनकी तो बात ही क्या है॥ २०॥

प्रसादं कुरु वीराणां पाण्डवानां विशाम्पते।
दीयन्तां ग्रामकाः केचित् तेषां वृत्त्यर्थमीश्वर॥ २१ ॥

राजन्! आप समर्थ हैं, वीर पाण्डवोंपर कृपा कीजिये और उनकी जीविकाके लिये कुछ गाँव दे दीजिये॥ २१॥

एवं लोके यशः प्राप्तं भविष्यति नराधिप।
वृद्धेन हि त्वया कार्यं पुत्राणां तात शासनम्॥ २२ ॥

नरेश्वर ! ऐसा करनेसे आपको इस संसारमें यश प्राप्त होगा । तात ! आप वृद्ध हैं, इसलिये आपको अपने पुत्रोंपर शासन करना चाहिये ॥ २२ ॥

मया चापि हितं वाच्यं विद्धि मां त्वद्धितैषिणम्।
ज्ञातिभिर्विग्रहस्तात न कर्तव्यः शुभार्थिना ।
सुखानि सह भोज्यानि ज्ञातिभिर्भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मुझे भी आपके हितकी ही बात कहनी चाहिये । आप मुझे अपना हितैषी समझें । तात ! शुभ चाहनेवालेको अपने जातिभाइयोंके साथ झगड़ा नहीं करना चाहिये; बल्कि उनके साथ मिलकर सुखका उपभोग करना चाहिये ॥ २३ ॥

सम्भोजनं संकथनं सम्प्रीतिश्च परस्परम् ।
ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कदाचन ॥ २४ ॥

जाति-भाइयोंके साथ परस्पर भोजन, बातचीत एवं प्रेम करना ही कर्तव्य है; उनके साथ कभी विरोध नहीं करना चाहिये ॥ २४ ॥

ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च ।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ॥ २५ ॥

इस जगत्‌में जाति-भाई ही तारते और जाति-भाई ही डुबाते भी हैं । उनमें जो सदाचारी हैं, वे तो तारते हैं और दुराचारी डुबा देते हैं ॥ २५ ॥

सुवृत्तो भव राजेन्द्र पाण्डवान् प्रति मानद ।
अधर्षणीयः शत्रूणां तैर्वृतस्त्वं भविष्यसि ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! आप पाण्डवोंके प्रति सद्व्यवहार करें । मानद ! उनसे सुरक्षित होकर आप शत्रुओंके लिये दुर्धर्ष हो जायँ ॥

श्रीमन्तं ज्ञातिमासाद्य यो ज्ञातिरवसीदति ।
दिग्धहस्तं मृग इव स एनस्तस्य विन्दति ॥ २७ ॥

विषैले बाण हाथमें लिये हुए व्याधके पास पहुँचकर जैसे मृगको कष्ट भोगना पड़ता है, उसी प्रकार जो जातीय बन्धु अपने धनी बन्धुके पास पहुँचकर दुःख पाता है, उसके पापका भागी वह धनी होता है ॥ २७ ॥

पश्चादपि नरश्रेष्ठ तव तापो भविष्यति ।
तान् वा हतान् सुतान् वापि श्रुत्वा तदनुचिन्तय ॥ २८ ॥

नरश्रेष्ठ ! आप पाण्डवोंको अथवा अपने पुत्रोंको मारे गये सुनकर पीछे संताप करेंगे; अतः इस बातका पहले ही विचार कर लीजिये ॥ २८ ॥

येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा ।
आदावेव न तत् कुर्यादध्रुवे जीविते सति ॥ २९ ॥

इस जीवनका कोई ठिकाना नहीं है अतएव जिस कर्मके करनेसे (अन्तमें) खटियापर बैठकर पछताना पड़े, उसको पहलेसे ही नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥

न कश्चिन्नापनयते पुमानन्यत्र भार्गवात् ।
शेषसम्प्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ॥ ३० ॥

शुक्राचार्यके सिवा दूसरा कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो नीतिका उल्लङ्घन नहीं करता; अतः जो बीत गया, सो बीत गया, शेष कर्तव्यका विचार (आप-जैसे) बुद्धिमान् पुरुषोंपर ही निर्भर है ॥ ३० ॥

दुर्योधनेन यद्येतत् पापं तेषु पुराकृतम् ।
त्वया तत् कुलवृद्धेन प्रत्यानेयं नरेश्वर ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! दुर्योधनने पहले यदि पाण्डवोंके प्रति यह अपराध किया है तो आप इस कुलमें बड़े-बूढ़े हैं; आपके द्वारा उसका मार्जन हो जाना चाहिये ॥ ३१ ॥

तांस्त्वं पदे प्रतिष्ठाप्य लोके विगतकल्मषः ।
भविष्यसि नरश्रेष्ठ पूजनीयो मनीषिणाम् ॥ ३२ ॥

नरश्रेष्ठ ! यदि आप उनको राजपदपर स्थापित कर देंगे तो संसारमें आपका कलङ्क धुल जायगा और आप बुद्धिमान् पुरुषोंके माननीय हो जायँगे ॥ ३२ ॥

सुव्याहृतानि धीराणां फलतः परिचिन्त्य यः ।
अध्यवस्यति कार्येषु चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३३ ॥

जो धीर पुरुषोंके वचनोंके परिणामपर विचार करके उन्हें कार्यरूपमें परिणत करता है, वह चिरकालतक यशका भागी बना रहता है ॥ ३३ ॥

असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैरपि ।
उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम् ॥ ३४ ॥

अत्यन्त कुशल विद्वानोंके द्वारा भी उपदेश किया हुआ ज्ञान व्यर्थ ही है, यदि उससे कर्तव्यका ज्ञान न हुआ अथवा ज्ञान होनेपर भी उसका अनुष्ठान न हुआ ॥ ३४ ॥

पापोदयफलं विद्वान् यो नारभति वर्धते ।
यस्तु पूर्वकृतं पापमविमृश्यानुवर्तते ।
अगाधपङ्के दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ॥ ३५ ॥

जो विद्वान् पापरूप फल देनेवाले कर्मोंका आरम्भ नहीं करता, वह बढ़ता है; किंतु जो पूर्वमें किये हुए पापोंका विचार न करके उन्हींका अनुसरण करता है, वह खोटी बुद्धिवाला मनुष्य अगाध कीचड़से भरे हुए घोर नरकमें गिराया जाता है ॥ ३५ ॥

मन्त्रभेदस्य षट् प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत् ।
अर्थसंततिकामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः ॥ ३६ ॥
मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसम्भवम् ।
दुष्टामात्येषु विश्रम्भं दूताच्चाकुशलादपि ॥ ३७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष मन्त्रभेदके इन छः द्वारोंको जाने और धनको रक्षित रखनेकी इच्छासे इन्हें सदा बंद रक्खे— मादक वस्तुओंका सेवन, निद्रा, आवश्यक बातोंकी जानकारी

न रखना, अपने नेत्र-मुख आदिका विकार, दुष्ट मन्त्रियों-पर विश्वास और कार्यमें अकुशल दूतपर भी भरोसा रखना ॥

द्वाराण्येतानि यो ज्ञात्वा संवृणोति सदा नृप।
त्रिवर्गाचरणे युक्तः स शत्रूनधितिष्ठति ॥ ३८ ॥

राजन्! जो इन द्वारोंको जानकर सदा बंद किये रहता है, वह अर्थ, धर्म और कामके सेवनमें लगा रहकर शत्रुओंको वशमें कर लेता है ॥ ३८ ॥

न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ॥ ३९ ॥

बृहस्पतिके समान मनुष्य भी शास्त्रज्ञान अथवा वृद्धोंकी सेवा किये बिना धर्म और अर्थका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ३९ ॥

नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमशृण्वति।
अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनग्निकम् ॥ ४० ॥

समुद्रमें गिरी हुई वस्तु विनाशको प्राप्त हो जाती है; जो सुनता नहीं, उससे कही हुई बात भी विनष्ट हो जाती है; अजितेन्द्रिय पुरुषका शास्त्रज्ञान और राखमें किया हुआ हवन भी नष्ट ही है ॥ ४० ॥

मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्ध्या सम्पाद्य चासकृत्।
श्रुत्वा दृष्ट्वाथ विज्ञाय प्राज्ञैर्मैत्रीं समाचरेत् ॥ ४१ ॥

बुद्धिमान् पुरुष बुद्धिसे जाँचकर अपने अनुभवसे बारंबार उनकी योग्यताका निश्चय करे; फिर दूसरोंसे सुनकर और स्वयं देखकर भलीभाँति विचार करके विद्वानोंके साथ मित्रता करे ॥ ४१ ॥

अकीर्तिं विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः।
हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥

विनयभाव अपयशका नाश करता है, पराक्रम अनर्थको दूर करता है, क्षमा सदा ही क्रोधका नाश करती है और सदाचार कुलक्षणका अन्त करता है ॥ ४२ ॥

परिच्छदेन क्षेत्रेण वेश्मना परिचर्यया।
परीक्षेत कुलं राजन् भोजनाच्छादनेन च ॥ ४३ ॥

राजन्! नाना प्रकारके परिच्छद[1], माता, घर, सेवा-शुश्रूषा और भोजन तथा वस्त्रके द्वारा कुलकी परीक्षा करे ॥

उपस्थितस्य कामस्य प्रतिवादो न विद्यते।
अपि निर्मुक्तदेहस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥ ४४ ॥

देहाभिमानसे रहित पुरुषके पास भी यदि न्याययुक्त पदार्थ स्वतः उपस्थित हो तो वह उसका विरोध नहीं करता, फिर कामासक्त मनुष्यके लिये तो कहना ही क्या है? ॥४४॥

प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम्।
मित्रवन्तं सुवाक्यं च सुहृदं परिपालयेत् ॥ ४५ ॥

१. हाथी, घोड़े, रथ आदि।

जो विद्वानोंकी सेवामें रहनेवाला, वैद्य, धार्मिक, देखनेमें सुन्दर, मित्रोंसे युक्त तथा मधुरभाषी हो, ऐसे सुहृद्की सर्वथा रक्षा करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लङ्घयेत्।
धर्मापेक्षी मृदुर्ह्रीमान् स कुलीनशताद् वरः ॥ ४६ ॥

अधम कुलमें उत्पन्न हुआ हो या उत्तम कुलमें—जो मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करता, धर्मकी अपेक्षा रखता है, कोमल स्वभाववाला तथा सलज्ज है, वह सैकड़ों कुलीनोंसे बढ़कर है ॥ ४६ ॥

ययोश्चित्तेन वा चित्तं निभृतं निभृतेन वा।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति ॥ ४७ ॥

जिन दो मनुष्योंका चित्तसे चित्त, गुप्त रहस्यसे गुप्त रहस्य और बुद्धिसे बुद्धि मिल जाती है, उनकी मित्रता कभी नष्ट नहीं होती ॥ ४७ ॥

दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छन्नं कूपं तृणैरिव।
विवर्जयीत मेधावी तस्मिन् मैत्री प्रणश्यति ॥ ४८ ॥

मेधावी पुरुषको चाहिये कि तृणसे ढँके हुए कुएँकी भाँति दुर्बुद्धि एवं विचारशक्तिसे हीन पुरुषका परित्याग कर दे; क्योंकि उसके साथ की हुई मित्रता नष्ट हो जाती है ॥४८॥

अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद् बुधः ॥ ४९ ॥

विद्वान् पुरुषको उचित है कि अभिमानी, मूर्ख, क्रोधी, साहसिक और धर्महीन पुरुषोंके साथ मित्रता न करे ॥४९॥

कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम्।
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते॥ ५० ॥

मित्र तो ऐसा होना चाहिये, जो कृतज्ञ, धार्मिक, सत्यवादी, उदार, दृढ़ अनुराग रखनेवाला, जितेन्द्रिय, मर्यादाके भीतर रहनेवाला और मैत्रीका त्याग न करनेवाला हो ॥ ५० ॥

इन्द्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनापि विशिष्यते।
अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद् दैवतान्यपि ॥ ५१ ॥

इन्द्रियोंको सर्वथा रोक रखना तो मृत्युसे भी बढ़कर कठिन है और उन्हें बिल्कुल खुली छोड़ देना देवताओंका भी नाश कर देता है ॥ ५१ ॥

मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः।
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाविमानना ॥ ५२ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति कोमलताका भाव, गुणोंमें दोष न देखना, क्षमा, धैर्य और मित्रोंका अपमान न करना—ये सब गुण आयुको बढ़ानेवाले हैं—ऐसा विद्वान्‌लोग कहते हैं ॥

अपनीतं सुनीतेन योऽर्थं प्रत्यानिनीषते।
मतिमास्थाय सुदृढां तदकापुरुषव्रतम् ॥ ५३ ॥

जो नष्ट हुए धनको स्थिर बुद्धिका आश्रय ले अच्छी नीतिसे पुनः लौटा लानेकी इच्छा करता है, वह वीर पुरुषोंका-सा आचरण करता है ॥ ५३ ॥

आयत्यां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दृढनिश्चयः।
अतीते कार्यशेषज्ञो नरोऽर्थैर्न प्रहीयते ॥ ५४ ॥

जो आनेवाले दुःखको रोकनेका उपाय जानता है, वर्तमानकालिक कर्तव्यके पालनमें दृढ़ निश्चय रखनेवाला है और अतीतकालमें जो कर्तव्य शेष रह गया है, उसे भी जानता है, वह मनुष्य कभी अर्थसे हीन नहीं होता ॥ ५४ ॥

कर्मणा मनसा वाचा यदभीक्ष्णं निषेवते।
तदेवापहरत्येनं तस्मात् कल्याणमाचरेत् ॥ ५५ ॥

मनुष्य मन, वाणी और कर्मसे जिसका निरन्तर सेवन करता है, वह कार्य उस पुरुषको अपनी ओर खींच लेता है। इसलिये सदा कल्याणकारी कार्योंको ही करे ॥ ५५ ॥

मङ्गलालम्भनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम्।
भूतिमेतानि कुर्वन्ति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ॥ ५६ ॥

माङ्गलिक पदार्थोंका स्पर्श, चित्तवृत्तियोंका निरोध, शास्त्रका अभ्यास, उद्योगशीलता, सरलता और सत्पुरुषोंका बारंबार दर्शन—ये सब कल्याणकारी हैं ॥ ५६ ॥

अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च।
महान् भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्त्यमश्नुते ॥ ५७ ॥

उद्योगमें लगे रहना—उससे विरक्त न होना धन, लाभ और कल्याणका मूल है। इसलिये उद्योग न छोड़नेवाला मनुष्य महान् हो जाता है और अनन्त सुखका उपभोग करता है ॥ ५७ ॥

नातः श्रीमत्तरं किंचिदन्यत् पथ्यतमं मतम्।
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा ॥ ५८ ॥

तात ! समर्थ पुरुषके लिये सब जगह और सब समयमें क्षमाके समान हितकारक और अत्यन्त श्रीसम्पन्न बनानेवाला उपाय दूसरा नहीं माना गया है ॥ ५८ ॥

क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान् धर्मकारणात्।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता ॥ ५९ ॥

जो शक्तिहीन है, वह तो सबपर क्षमा करे ही; जो शक्तिमान् है, वह भी धर्मके लिये क्षमा करे तथा जिसकी दृष्टिमें अर्थ और अनर्थ दोनों समान हैं, उसके लिये तो क्षमा सदा ही हितकारिणी होती है ॥ ५९ ॥

यत् सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते।
कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ॥ ६० ॥

जिस सुखका सेवन करते रहनेपर भी मनुष्य धर्म और अर्थसे भ्रष्ट नहीं होता, उसका यथेष्ट सेवन करे; किंतु मूढव्रत (निद्रा-प्रमादादिका सेवन) न करे ॥ ६० ॥

दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च।
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ॥ ६१ ॥

जो दुःखसे पीड़ित, प्रमादी, नास्तिक, आलसी, अजितेन्द्रिय और उत्साहरहित हैं, उनके यहाँ लक्ष्मीका वास नहीं होता ॥ ६१ ॥

आर्जवेन नरं युक्तमार्जवात् सव्यपत्रपम्।
अशक्तं मन्यमानास्तु धर्षयन्ति कुबुद्धयः ॥ ६२ ॥

दुष्ट बुद्धिवाले लोग सरलतासे युक्त और सरलताके ही कारण लज्जाशील मनुष्यको अशक्त मानकर उसका तिरस्कार करते हैं ॥ ६२ ॥

अत्यार्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम्।
प्रज्ञाभिमानिनं चैव श्रीर्भयान्नोपसर्पति ॥ ६३ ॥

अत्यन्त श्रेष्ठ, अतिशय दानी, अतीव शूरवीर, अधिक व्रत-नियमोंका पालन करनेवाले और बुद्धिके घमंडमें चूर रहनेवाले मनुष्यके पास लक्ष्मी भयके मारे नहीं जाती ॥६३॥

न चातिगुणवत्स्वेषा नात्यन्तं निर्गुणेषु च।
नैषा गुणान् कामयते नैर्गुण्यान्नानुरज्यते।
उन्मत्ता गौरिवान्धा श्रीः क्वचिदेवावतिष्ठते ॥ ६४ ॥

लक्ष्मी न तो अत्यन्त गुणवानोंके पास रहती है और न बहुत निर्गुणोंके पास। यह न तो बहुत-से गुणोंको चाहती है और न गुणहीनताके प्रति ही अनुराग रखती है। उन्मत्त गौकी भाँति यह अन्धी लक्ष्मी कहीं-कहीं ही ठहरती है॥

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम्।
रतिपुत्रफला नारी दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ ६५ ॥

वेदोंका फल है अग्निहोत्र करना, शास्त्राध्ययनका फल है सुशीलता और सदाचार, स्त्रीका फल है रतिसुख और पुत्रकी प्राप्ति तथा धनका फल है दान और उपभोग ॥६५॥

अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम्।
न स तस्य फलं प्रेत्य भुङ्क्तेऽर्थस्य दुरागमात् ॥ ६६ ॥

जो अधर्मके द्वारा कमाये हुए धनसे पारलौकिक कर्म करता है, वह मरनेके पश्चात् उसके फलको नहीं पाता; क्योंकि उसका धन बुरे रास्तेसे आया होता है ॥ ६६ ॥

कान्तारे वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु सम्भ्रमे।
उद्यतेषु च शस्त्रेषु नास्ति सत्त्ववतां भयम् ॥ ६७ ॥

घोर जंगलमें, दुर्गम मार्गमें, कठिन आपत्तिके समय, घबराहटमें और प्रहारके लिये शस्त्र उठे रहनेपर भी सत्त्वसम्पन्न अर्थात् आत्मबलसे युक्त पुरुषोंको भय नहीं होता ॥

उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिः स्मृतिः।
समीक्ष्य च समारम्भो विद्धि मूलं भवस्य तु ॥ ६८ ॥

उद्योग, संयम, दक्षता, सावधानी, धैर्य, स्मृति और सोच-विचारकर कार्यारम्भ करना—इन्हें उन्नतिका मूलमन्त्र समझिये ॥ ६८ ॥

तपो बलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ६९ ॥

तपस्वियोंका बल है तप, वेदवेत्ताओंका बल है वेद, पापियोंका बल है हिंसा और गुणवानोंका बल है क्षमा ॥६९॥

अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः ।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥ ७० ॥

जल, मूल, फल, दूध, घी, ब्राह्मणकी इच्छापूर्ति, गुरुका वचन और औषध—ये आठ व्रतके नाशक नहीं होते ॥ ७० ॥

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
संग्रहेणैष धर्मः स्यात् कामादन्यः प्रवर्तते ॥ ७१ ॥

जो अपने प्रतिकूल जान पड़े, उसे दूसरोंके प्रति भी न करे । थोड़ेमें धर्मका यही स्वरूप है । इसके विपरीत जिसमें कामनासे प्रवृत्ति होती है, वह तो अधर्म है ॥ ७१ ॥

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ॥ ७२ ॥

अक्रोधसे क्रोधको जीते, असाधुको सद्व्यवहारसे वशमें करे, कृपणको दानसे जीते और झूठपर सत्यसे विजय प्राप्त करे ॥ ७२ ॥

स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ चण्डे पुरुषमानिनि ।
चौरे कृतघ्ने विश्वासो न कार्यो न च नास्तिके ॥ ७३ ॥

स्त्रीलम्पट, आलसी, डरपोक, क्रोधी, पुरुषत्वके अभिमानी, चोर, कृतघ्न और नास्तिकका विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ७३ ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशो बलम् ॥ ७४ ॥

जो नित्य गुरुजनोंको प्रणाम करता है और वृद्ध पुरुषोंकी सेवामें लगा रहता है, उसकी कीर्ति, आयु, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं ॥ ७४ ॥

अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा ।
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ७५ ॥

जो धन अत्यन्त क्लेश उठानेसे, धर्मका उल्लङ्घन करनेसे अथवा शत्रुके सामने सिर झुकानेसे प्राप्त होता हो, उसमें आप मन न लगाइये ॥ ७५ ॥

अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम् ।
निराहाराः प्रजाः शोच्याः शोच्यं राष्ट्रमराजकम् ॥ ७६ ॥

विद्याहीन पुरुष, संतानोत्पत्तिरहित स्त्रीप्रसङ्ग, आहार न पानेवाली प्रजा और बिना राजाके राष्ट्रके लिये शोक करना चाहिये ॥ ७६ ॥

अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा ।
असम्भोगो जरा स्त्रीणां वाक्शल्यं मनसो जरा ॥ ७७ ॥

अधिक राह चलना देहधारियोंके लिये दुःखरूप बुढ़ापा है, बराबर पानी गिरना पर्वतोंका बुढ़ापा है, सम्भोगसे वञ्चित रहनेका दुःख स्त्रियोंके लिये बुढ़ापा है और वचनरूपी बाणोंका आघात मनके लिये बुढ़ापा है ॥ ७७ ॥

अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ॥ ७८ ॥
मलं पृथिव्या बाह्लीकाः पुरुषस्यानृतं मलम् ।
कौतूहलमला साध्वी विप्रवासमलाः स्त्रियः ॥ ७९ ॥

अभ्यास न करना वेदोंका मल है; ब्राह्मणोचित नियमोंका पालन न करना ब्राह्मणका मल है, बाह्लीकदेश (बलख-बुखारा) पृथ्वीका मल है तथा झूठ बोलना पुरुषका मल है, क्रीडा एवं हास-परिहासकी उत्सुकता पतिव्रता स्त्रीका मल है और पतिके बिना परदेशमें रहना स्त्रीमात्रका मल है ॥

सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु ।
ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम् ॥ ८० ॥

सोनेका मल है चाँदी, चाँदीका मल है राँगा, राँगेका मल है सीसा और सीसेका भी मल है मैलापन ॥ ८० ॥

न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत् स्त्रियः ।
नेन्धनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत् ॥ ८१ ॥

अधिक सोकर नींदको जीतनेका प्रयास न करे, कामोपभोगके द्वारा स्त्रीको जीतनेकी इच्छा न करे, लकड़ी डालकर आगको जीतनेकी आशा न रक्खे और अधिक पीकर मदिरा पीनेकी आदतको जीतनेका प्रयास न करे ॥८१॥

यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः ।
अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम् ॥८२॥

जिसका मित्र धन-दानके द्वारा वशमें आ चुका है, शत्रु युद्धमें जीत लिये गये हैं और स्त्रियाँ खान-पानके द्वारा वशीभूत हो चुकी हैं, उसका जीवन सफल है अर्थात् सुखमय है ॥८२॥

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा ।
धृतराष्ट्र विमुञ्चेच्छां न कथञ्चिन्न जीव्यते ॥८३॥

जिनके पास हजार (रुपये) हैं, वे भी जीवित हैं तथा जिनके पास सौ (रुपये) हैं, वे भी जीवित हैं; अतः महाराज धृतराष्ट्र ! आप अधिकका लोभ छोड़ दीजिये, इससे भी किसी तरह जीवन नहीं रहेगा, यह बात नहीं है ॥ ८३ ॥

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति पश्यन् न मुह्यति ॥८४॥

इस पृथ्वीपर जो भी धान, जौ, सोना, पशु और स्त्रियाँ

हैं, वे सबके सब एक पुरुषके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं (अर्थात् उनसे किसीकी भी तृप्ति नहीं हो सकती)। ऐसा विचार करनेवाला मनुष्य मोहमें नहीं पड़ता ॥ ८४ ॥

राजन् भूयो ब्रवीमि त्वां पुत्रेषु सममाचर।
समता यदि ते राजन् स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ॥८५॥

राजन्! मैं फिर कहता हूँ, यदि आपका अपने पुत्रों और पाण्डवोंमें समानभाव है तो उन सभी पुत्रोंके साथ एक-सा बर्ताव कीजिये ॥ ८५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

धर्मकी महत्ताका प्रतिपादन तथा ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके धर्मका संक्षिप्त वर्णन

विदुर उवाच

योऽभ्यर्चितः सद्भिरसज्जमानः
करोत्यर्थं शक्तिमहापयित्वा।
क्षिप्रं यशस्तं समुपैति सन्त-
मलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! जो सज्जन पुरुषोंसे आदर पाकर आसक्तिरहित हो अपनी शक्तिके अनुसार (न्यायपूर्वक) अर्थ-साधन करता रहता है, उस श्रेष्ठ पुरुषको शीघ्र ही सुयशकी प्राप्ति होती है; क्योंकि संत जिसपर प्रसन्न होते हैं, वह सदा सुखी रहता है ॥ १ ॥

महान्तमप्यर्थमधर्मयुक्तं
यः संत्यजत्यनपाकृष्ट एव।
सुखं सुदुःखान्यवमुच्य शेते
जीर्णां त्वचं सर्प इवावमुच्य ॥ २ ॥

जो अधर्मसे उपार्जित महान् धनराशिको भी उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना ही त्याग देता है, वह जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुलको छोड़ता है, उसी प्रकार दुःखोंसे मुक्त हो सुखपूर्वक शयन करता है ॥ २ ॥

अनृते च समुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम्।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ३ ॥

झूठ बोलकर उन्नति करना, राजाके पासतक चुगली करना, गुरुजनपर भी झूठा दोषारोपण करनेका आग्रह करना—ये तीन कार्य ब्रह्महत्याके समान हैं ॥ ३ ॥

असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ॥ ४ ॥

गुणोंमें दोष देखना एकदम मृत्युके समान है, निन्दा करना लक्ष्मीका वध है तथा सेवाका अभाव, उतावलापन और आत्मप्रशंसा—ये तीन विद्याके शत्रु हैं ॥ ४ ॥

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥ ५ ॥

आलस्य, मद-मोह, चञ्चलता, गोष्ठी, उद्दण्डता, अभिमान और स्वार्थत्यागका अभाव—ये सात विद्यार्थियोंके लिये सदा ही दोष माने गये हैं ॥ ५ ॥

सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ।६।

सुख चाहनेवालेको विद्या कहाँसे मिले? विद्या चाहनेवालेके लिये सुख नहीं है; सुखकी चाह हो तो विद्याको छोड़े और विद्या चाहे तो सुखका त्याग करे ॥ ६ ॥

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ ७ ॥

ईंधनसे आगकी, नदियोंसे समुद्रकी, समस्त प्राणियोंसे मृत्युकी और पुरुषोंसे कुलटा स्त्रीकी कभी तृप्ति नहीं होती ॥

आशा धृतिं हन्ति समृद्धिमन्तकः
क्रोधः श्रियं हन्ति यशः कदर्यता।
अपालनं हन्ति पशूंश्च राज-
न्नेकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ॥ ८ ॥

आशा धैर्यको, यमराज समृद्धिको, क्रोध लक्ष्मीको, कृपणता यशको और सार-सँभालका अभाव पशुओंको नष्ट कर देता है, परंतु राजन्! ब्राह्मण यदि अकेला ही क्रुद्ध हो जाय तो सम्पूर्ण राष्ट्रका नाश कर देता है ॥ ८ ॥

अजाश्च कांस्यं रजतं च नित्यं
मध्वाकर्षः शकुनिः श्रोत्रियश्च।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीन
एतानि ते सन्तु गृहे सदैव ॥ ९ ॥

बकरियाँ, काँसेका पात्र, चाँदी, मधु, धनुष, पक्षी, वेदवेत्ता ब्राह्मण, बूढ़ा कुटुम्बी और विपत्तिग्रस्त कुलीन पुरुष—ये सब आपके घरमें सदा मौजूद रहें ॥ ९ ॥

अजोक्षा चन्दनं वीणा आदर्शो मधुसर्पिषी।
विषमौदुम्बरं शङ्खः स्वर्णनाभोऽथ रोचना ॥१०॥
गृहे स्थापयितव्यानि धन्यानि मनुरब्रवीत्।
देवब्राह्मणपूजार्थमतिथीनां च भारत ॥११॥

भारत! मनुजीने कहा है कि देवता, ब्राह्मण तथा अतिथियोंकी पूजाके लिये बकरी, बैल, चन्दन, वीणा, दर्पण, मधु, घी, जल, ताँबेके बर्तन, शङ्ख, शालग्राम और गोरोचन—ये सब वस्तुएँ घरपर रखनी चाहिये ॥ १०-११ ॥

इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि
पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम्।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ॥ १२ ॥
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।
त्यक्त्वानित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्ये
संतुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ॥ १३ ॥

तात! अब मैं तुम्हें यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोपरि पुण्यजनक बात बता रहा हूँ—कामनासे, भयसे, लोभसे तथा इस जीवनके लिये भी कभी धर्मका त्याग न करे। धर्म नित्य है, किंतु सुख-दुःख अनित्य हैं। जीव नित्य है, पर इसका कारण अनित्य है। आप अनित्यको छोड़कर नित्यमें स्थित होइये और संतोष धारण कीजिये; क्योंकि संतोष ही सबसे बड़ा लाभ है ॥ १२-१३ ॥

महाबलान् पश्य महानुभावान्
प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णाम्।
राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान्
गतान् नरेन्द्रान् वशमन्तकस्य ॥ १४ ॥

धन-धान्यादिसे परिपूर्ण पृथ्वीका शासन करके अन्तमें समस्त राज्य और विपुल भोगोंको यहीं छोड़कर यमराजके वशमें गये हुए बड़े-बड़े बलवान् एवं महानुभाव राजाओंकी ओर दृष्टि डालिये ॥ १४ ॥

मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या
उत्क्षिप्य राजन् स्वगृहान्निर्हरन्ति।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति
चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति ॥ १५ ॥

राजन्! जिसको बड़े कष्टसे पाला-पोसा था, वही पुत्र जब मर जाता है, तब मनुष्य उसे उठाकर तुरंत अपने घरसे बाहर कर देते हैं। पहले तो उसके लिये बाल छितराये करुणाभरे स्वरमें विलाप करते हैं, फिर साधारण काठकी भाँति उसे जलती चितामें झोंक देते हैं ॥ १५ ॥

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते
वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून्।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र
पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥ १६ ॥

मरे हुए मनुष्यका धन दूसरे लोग भोगते हैं, उसके शरीरकी धातुओंको पक्षी खाते हैं या आग जलाती है। यह मनुष्य पुण्य-पापसे बँधा हुआ इन्हीं दोनोंके साथ परलोकमें गमन करता है ॥ १६ ॥

उत्सृज्य विनिवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदः सुताः।
अपुष्पानफलान् वृक्षान् यथा तात पतत्रिणः ॥ १७ ॥

तात! बिना फल-फूलके वृक्षको जैसे पक्षी छोड़ देते हैं, उसी प्रकार उस प्रेतको उसके जातिवाले, सुहृद् और पुत्र चितामें छोड़कर लौट आते हैं ॥ १७ ॥

अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयंकृतम्।
तस्मात् तु पुरुषो यत्नाद् धर्मं संचिनुयाच्छनैः ॥ १८ ॥

अग्निमें डाले हुए उस पुरुषके पीछे तो केवल उसका अपना किया हुआ बुरा या भला कर्म ही जाता है। इसलिये पुरुषको चाहिये कि वह धीरे-धीरे प्रयत्नपूर्वक धर्मका ही संग्रह करे ॥ १८ ॥

अस्माल्लोकादूर्ध्वममुष्य चाधो
महत् तमस्तिष्ठति ह्यन्धकारम्।
तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां
बुध्यस्व मा त्वां प्रलभेत राजन् ॥ १९ ॥

इस लोक और परलोकसे ऊपर और नीचेतक सर्वत्र अज्ञानरूप महान् अन्धकार फैला हुआ है। वह इन्द्रियोंको महान् मोहमें डालनेवाला है। राजन्! आप इसको जान लीजिये, जिससे यह आपका स्पर्श न कर सके ॥ १९ ॥

इदं वचः शक्ष्यसि चेद् यथाव-
न्निशम्य सर्वं प्रतिपत्तुमेव।
यशः परं प्राप्स्यसि जीवलोके
भयं न चामुत्र न चेह तेऽस्ति ॥ २० ॥

मेरी इस बातको सुनकर यदि आप सब ठीक-ठीक समझ सकेंगे तो इस मनुष्यलोकमें आपको महान् यश प्राप्त होगा और इहलोक तथा परलोकमें आपके लिये भय नहीं रहेगा ॥ २० ॥

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था
सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा
पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥ २१ ॥

भारत! यह जीवात्मा एक नदी है। इसमें पुण्य ही तीर्थ है। सत्यस्वरूप परमात्मासे इसका उद्गम हुआ है। धैर्य ही इसके किनारे हैं। दया इसकी लहरें हैं। पुण्यकर्म करनेवाला मनुष्य इसमें स्नान करके पवित्र होता है; क्योंकि लोभरहित आत्मा सदा पवित्र ही है ॥ २१ ॥

कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम्।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ २२ ॥

काम-क्रोधादिरूप ग्राहसे भरी, पाँच इन्द्रियोंके जलसे

पूर्ण इस संसारनदीके जन्म-मरणरूप दुर्गम प्रवाहको धैर्यकी नौका बनाकर पार कीजिये ॥ २२ ॥

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं
विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम्।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य
यः सम्पृच्छेन्न स मुह्येत् कदाचित्॥२३॥

जो बुद्धि, धर्म, विद्या और अवस्थामें बड़े अपने बन्धुको आदर-सत्कारसे प्रसन्न करके उससे कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें प्रश्न करता है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता ॥२३॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ॥ २४ ॥

शिश्न और उदरकी धैर्यसे रक्षा करे, अर्थात् कामवेग और भूखकी ज्वालाको धैर्यपूर्वक सहे। इसी प्रकार हाथ-पैरकी नेत्रोंसे, नेत्र और कानोंकी मनसे तथा मन और वाणीकी सत्कर्मोंसे रक्षा करे ॥ २४ ॥

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती
नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी।
सत्यं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन्
न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥ २५ ॥

जो प्रतिदिन जलसे स्नान-संध्या-तर्पण आदि करता है, नित्य यज्ञोपवीत धारण किये रहता है, नित्य स्वाध्याय करता है, पतितोंका अन्न त्याग देता है, सत्य बोलता और गुरुकी सेवा करता है, वह ब्राह्मण कभी ब्रह्मलोकसे भ्रष्ट नहीं होता ॥ २५ ॥

अधीत्य वेदान् परिसंस्तीर्य चाग्नी-
निष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च।
गोब्राह्मणार्थे शस्त्रपूतान्तरात्मा
हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति ॥ २६ ॥

वेदोंको पढ़कर, अग्निहोत्रके लिये अग्निके चारों ओर कुश बिछाकर नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा यजन कर और प्रजाजनोंका पालन करके गौ और ब्राह्मणोंके हितके लिये संग्राममें मृत्युको प्राप्त हुआ क्षत्रिय शस्त्रसे अन्तःकरण पवित्र हो जानेके कारण ऊर्ध्वलोकको जाता है ॥ २६ ॥

वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च
धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं
प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ॥२७॥

वैश्य यदि वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करके ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा आश्रितजनोंको समय-समयपर धन देकर उनकी सहायता करे और यज्ञोंद्वारा तीनों[1] अग्नियोंके पवित्र धूमकी सुगन्ध लेता रहे तो वह मरनेके पश्चात् स्वर्गलोकमें दिव्य सुख भोगता है॥२७॥

ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः
क्रमेणैतान् न्यायतः पूजयानः।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपाप-
स्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुङ्क्ते ॥ २८ ॥

शूद्र यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी क्रमसे न्यायपूर्वक सेवा करके इन्हें संतुष्ट करता है तो वह व्यथासे रहित हो पापोंसे मुक्त होकर देह-त्यागके पश्चात् स्वर्गसुखका उपभोग करता है ॥ २८ ॥

चातुर्वर्ण्यस्यैष धर्मस्तवोक्तो
हेतुं चानुब्रुवतो मे निबोध।
क्षात्राद् धर्माद्धीयते पाण्डुपुत्र-
स्तं त्वं राजन् राजधर्मे नियुङ्क्ष्व ॥२९॥

महाराज ! आपसे यह मैंने चारों वर्णोंका धर्म बताया है; इसे बतानेका कारण भी सुनिये। आपके कारण पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर क्षत्रियधर्मसे गिर रहे हैं, अतः आप उन्हें पुनः राजधर्ममें नियुक्त कीजिये ॥ २९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एवमेतद् यथा त्वं मामनुशाससि नित्यदा।
ममापि च मतिः सौम्य भवत्येवं यथाऽऽत्थ माम्॥३०॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! तुम प्रतिदिन मुझे जिस प्रकार उपदेश दिया करते हो, वह बहुत ठीक है। सौम्य ! तुम मुझसे जो कुछ भी कहते हो, ऐसा ही मेरा भी विचार है ॥ ३० ॥

सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान् प्रति मे सदा।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ॥ ३१ ॥

यद्यपि मैं पाण्डवोंके प्रति सदा ऐसी ही बुद्धि रखता हूँ, तथापि दुर्योधनसे मिलनेपर फिर बुद्धि पलट जाती है ॥ ३१ ॥

न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित्।
दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥ ३२ ॥

प्रारब्धका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति किसी भी प्राणीमें नहीं है। मैं तो प्रारब्धको ही अचल मानता हूँ, उसके सामने पुरुषार्थ तो व्यर्थ है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

---

१. गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि—ये तीन अग्नियाँ हैं।

(सनत्सुजातपर्व)

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

विदुरजीके द्वारा स्मरण करनेपर आये हुए सनत्सुजात ऋषिसे धृतराष्ट्रको उपदेश देनेके लिये उनकी प्रार्थना

धृतराष्ट्र उवाच

अनुक्तं यदि ते किंचिद् वाचा विदुर विद्यते ।
तन्मे शुश्रूषतो ब्रूहि विचित्राणि हि भाषसे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! यदि तुम्हारी वाणीसे कुछ और कहना शेष रह गया हो तो कहो, मुझे उसे सुननेकी बड़ी इच्छा है; क्योंकि तुम्हारे कहनेका ढंग विलक्षण है॥१॥

विदुर उवाच

धृतराष्ट्र कुमारो वै यः पुराणः सनातनः ।
सनत्सुजातः प्रोवाच मृत्युर्नास्तीति भारत ॥ २ ॥

विदुरने कहा—भरतवंशी धृतराष्ट्र! कुमार 'सनत्सुजात' नामसे विख्यात जो (ब्रह्माजीके पुत्र) परम प्राचीन सनातन ऋषि हैं, उन्होंने (एक बार) कहा था—'मृत्यु है ही नहीं' ॥

स ते गुह्यान् प्रकाशांश्च सर्वान् हृदयसंश्रयान् ।
प्रवक्ष्यति महाराज सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ ३ ॥

महाराज ! वे समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं, वे ही आपके हृदयमें स्थित व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकारके प्रश्नोंका उत्तर देंगे ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

किं त्वं न वेद तद् भूयो यन्मे ब्रूयात् सनातनः ।
त्वमेव विदुर ब्रूहि प्रज्ञाशेषोऽस्ति चेत् तव ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! क्या तुम उस तत्त्वको नहीं जानते, जिसे अब पुनः सनातन ऋषि मुझे बतावेंगे ? यदि तुम्हारी बुद्धि कुछ भी काम देती हो तो तुम्हीं मुझे उपदेश करो ॥ ४ ॥

विदुर उवाच

शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे ।
कुमारस्य तु या बुद्धिर्वेद तां शाश्वतीमहम् ॥ ५ ॥

विदुर बोले—राजन् ! मेरा जन्म शूद्रा स्त्रीके गर्भसे हुआ है, अतः (मेरा अधिकार न होनेसे) इसके अतिरिक्त और कोई उपदेश देनेका मैं साहस नहीं कर सकता, किंतु कुमार सनत्सुजातकी बुद्धि सनातन है, मैं उसे जानता हूँ॥५॥

ब्राह्मीं हि योनिमापन्नः सुगुह्यमपि यो वदेत् ।
न तेन गर्ह्यो देवानां तस्मादेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६ ॥

ब्राह्मणयोनिमें जिसका जन्म हुआ है, वह यदि गोपनीय तत्त्वका प्रतिपादन कर दे तो देवताओंकी निन्दाका पात्र नहीं बनता । इसी कारण मैं आपको ऐसा कह रहा हूँ ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रवीहि विदुर त्वं मे पुराणं तं सनातनम् ।
कथमेतेन देहेन स्यादिहैव समागमः ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! उन परम प्राचीन सनातन ऋषिका पता मुझे बताओ । भला, इसी देहसे यहाँ ही उनका समागम कैसे हो सकता है ? ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

चिन्तयामास विदुरस्तमृषिं शंसितव्रतम् ।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा दर्शयामास भारत ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर विदुरजीने उत्तम व्रतवाले उन सनातन ऋषिका स्मरण किया । उन्होंने भी यह जानकर कि विदुर मेरा स्मरण कर रहे हैं, प्रत्यक्ष दर्शन दिया ॥ ८ ॥

स चैनं प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।
सुखोपविष्टं विश्रान्तमथैनं विदुरोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

विदुरने शास्त्रोक्त विधिसे पाद्य, अर्घ्य एवं मधुपर्क आदि अर्पण करके उनका स्वागत किया । इसके बाद जब वे सुखपूर्वक बैठकर विश्राम करने लगे, तब विदुरने उनसे कहा—॥ ९ ॥

भगवन् संशयः कश्चिद् धृतराष्ट्रस्य मानसः ।
यो न शक्यो मया वक्तुं त्वमस्मै वक्तुमर्हसि॥ १० ॥

'भगवन् ! धृतराष्ट्रके हृदयमें कुछ संशय है, जिसका समाधान मेरे द्वारा किया जाना उचित नहीं है । आप ही इस विषयका निरूपण करने योग्य हैं ॥ १० ॥

यं श्रुत्वायं मनुष्येन्द्रः सर्वदुःखातिगो भवेत् ।
लाभालाभौ प्रियद्वेष्यौ यथैनं न जरान्तकौ ॥ ११ ॥



श्रीसनत्सुजात और महाराज धृतराष्ट्र

विषहेरन् भयामर्षौ क्षुत्पिपासे मदोद्भवौ।
अरतिश्चैव तन्द्री च कामक्रोधौ क्षयोदयौ ॥ १२ ॥

जिसे सुनकर ये नरेश सब दुःखोंसे पार हो जायँ और लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय, जरा-मृत्यु, भय-अमर्ष, भूख-प्यास, मद-ऐश्वर्य, चिन्ता-आलस्य, काम-क्रोध तथा अवनति-उन्नति—ये इन्हें कष्ट न पहुँचा सकें ॥ ११-१२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि विदुरकृतसनत्सुजातप्रार्थने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें विदुरजीके द्वारा सनत्सुजातकी प्रार्थनाविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

सनत्सुजातजीके द्वारा धृतराष्ट्रके विविध प्रश्नोंका उत्तर

वैशम्पायन उवाच

ततो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी
सम्पूज्य वाक्यं विदुरेरितं तत्।
सनत्सुजातं रहिते महात्मा
पप्रच्छ बुद्धिं परमां बुभूषन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर बुद्धिमान् एवं महामना राजा धृतराष्ट्रने विदुरके कहे हुए उस वचनका भलीभाँति आदर करके उत्कृष्ट ज्ञानकी इच्छासे एकान्तमें सनत्सुजात मुनिसे प्रश्न किया ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यदिदं शृणोमि
न मृत्युरस्तीति तव प्रवादम्।
देवासुरा ह्याचरन् ब्रह्मचर्य-
ममृत्यवे तत् कतरन्नु सत्यम् ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सनत्सुजातजी! मैं यह सुना करता हूँ कि मृत्यु है ही नहीं, ऐसा आपका सिद्धान्त है। साथ ही यह भी सुना है कि देवता और असुरोंने मृत्युसे बचनेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन किया था। इन दोनोंमें कौन-सी बात यथार्थ है? ॥ २ ॥

सनत्सुजात उवाच

अमृत्युः कर्मणा केचिन्मृत्युर्नास्तीति चापरे।
शृणु मे ब्रुवतो राजन् यथैतन्मा विशङ्किथाः ॥ ३ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! (इस विषयमें दो पक्ष हैं) मृत्यु है और वह (ब्रह्मचर्यपालनरूप) कर्मसे दूर होती है—यह एक पक्ष है और 'मृत्यु है ही नहीं'—यह दूसरा पक्ष है। परंतु यह बात जैसी है, वह मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो और मेरे कथनमें संदेह न करना ॥ ३ ॥



उभे सत्ये क्षत्रियैतस्य विद्धि
मोहान्मृत्युः सम्मतोऽयं कवीनाम्।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि
तथाप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ॥ ४ ॥

क्षत्रिय! इस प्रश्नके उक्त दोनों ही पहलुओंको सत्य समझो। कुछ विद्वानोंने मोहवश इस मृत्युकी सत्ता स्वीकार की है; किंतु मेरा कहना तो यह है कि प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद ही अमृत है ॥ ४ ॥

प्रमादाद् वै असुराः पराभव-
न्नप्रमादाद् ब्रह्मभूताः सुराश्च।
नैव मृत्युर्व्याघ्र इवात्ति जन्तून्
न ह्यस्य रूपमुपलभ्यते हि ॥ ५ ॥

प्रमादके ही कारण असुरगण (आसुरी सम्पत्तिवाले) मृत्युसे पराजित हुए और अप्रमादसे ही देवगण (दैवी सम्पत्तिवाले) ब्रह्मस्वरूप हुए। यह निश्चय है कि मृत्यु व्याघ्रके समान प्राणियोंका भक्षण नहीं करती; क्योंकि उसका कोई रूप देखनेमें नहीं आता ॥ ५ ॥

यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहु-
रात्मावसन्नममृतं ब्रह्मचर्यम् ।
पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवः
शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम् ॥६॥

कुछ लोग इस प्रमादसे भिन्न 'यम' को मृत्यु कहते हैं और हृदयसे दृढ़तापूर्वक पालन किये हुए ब्रह्मचर्यको ही अमृत मानते हैं । यमदेव पितृलोकमें राज्य-शासन करते हैं । वे पुण्यात्माओंके लिये मङ्गलमय और पापियोंके लिये अमङ्गलमय हैं ॥ ६ ॥

अस्यादेशान्निःसरते नराणां
क्रोधः प्रमादो लोभरूपश्च मृत्युः।
अहंगतेनैव चरन् विमार्गान्
न चात्मनो योगमुपैति कश्चित् ॥ ७ ॥

इन यमकी आज्ञासे ही क्रोध, प्रमाद और लोभरूपी मृत्यु मनुष्योंके विनाशमें प्रवृत्त होती है । अहंकारके वशीभूत होकर विपरीत मार्गपर चलता हुआ कोई भी मनुष्य परमात्माका साक्षात्कार नहीं कर पाता ॥ ७ ॥

ते मोहितास्तद्वशे वर्तमाना
इतः प्रेतास्तत्र पुनः पतन्ति ।
ततस्तान् देवा अनुविप्लवन्ते
अतो मृत्युर्मरणाख्यामुपैति ॥ ८ ॥

मनुष्य (क्रोध, प्रमाद और लोभसे) मोहित होकर अहंकारके अधीन हो इस लोकसे जाकर पुनः-पुनः जन्म-मरणके चक्करमें पड़ते हैं । मरनेके बाद उनके मन, इन्द्रिय और प्राण भी साथ जाते हैं । शरीरसे प्राणरूपी इन्द्रियोंका वियोग होनेके कारण मृत्यु 'मरण' संज्ञाको प्राप्त होती है ॥

कर्मोदये कर्मफलानुरागा-
स्तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम् ।
सदर्थयोगानवगमात् समन्तात्
प्रवर्तते भोगयोगेन देही ॥ ९ ॥

प्रारब्ध कर्मका उदय होनेपर कर्मके फलमें आसक्ति रखनेवाले लोग (देहत्यागके पश्चात्) परलोकका अनुगमन करते हैं; इसीलिये वे मृत्युको पार नहीं कर पाते । देहाभिमानी जीव परमात्मसाक्षात्कारके उपायको न जाननेसे विषयोंके उपभोगके कारण सब ओर (नाना प्रकारकी योनियोंमें) भटकता रहता है ॥ ९ ॥

तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां
मिथ्यार्थयोगस्य गतिर्हि नित्या ।
मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा
स्मरन्नुपास्ते विषयान् समन्तात् ॥१०॥

इस प्रकार विषयोंका जो भोग है, वह अवश्य ही इन्द्रियोंको महान् मोहमें डालनेवाला है और इन झूठे विषयोंमें राग रखनेवाले मनुष्यकी उनकी ओर प्रवृत्ति होनी स्वाभाविक है । मिथ्याभोगोंमें आसक्ति होनेसे जिसके अन्तःकरणकी ज्ञानशक्ति नष्ट हो गयी है, वह सब ओर विषयोंका ही चिन्तन करता हुआ मन-ही-मन उनका आस्वादन करता है ॥ १० ॥

अभिध्या वै प्रथमं हन्ति लोकान्
कामक्रोधावनुगृह्याशु पश्चात् ।
एते बालान् मृत्यवे प्रापयन्ति
धीरास्तु धैर्येण तरन्ति मृत्युम् ॥ ११ ॥

पहले तो विषयोंका चिन्तन ही लोगोंको मारे डालता है । इसके बाद वह काम और क्रोधको साथ लेकर पुनः जल्दी ही प्रहार करता है । इस प्रकार ये विषय-चिन्तन (काम और क्रोध) ही विवेकहीन मनुष्योंको मृत्युके निकट पहुँचाते हैं; परंतु जो स्थिर बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे धैर्यसे मृत्युके पार हो जाते हैं ॥ ११ ॥

सोऽभिध्यायन्नुत्पतितान् निहन्या-
दनादरेणाप्रतिबुध्यमानः ।
नैनं मृत्युर्मृत्युरिवात्ति भूत्वा
एवं विद्वान् यो विनिहन्ति कामान् ॥१२॥

(अतः जो मृत्युको जीतनेकी इच्छा रखता है,) उसे चाहिये कि परमात्माका ध्यान करके विषयोंको तुच्छ मानकर उन्हें कुछ भी न गिनते हुए उनकी कामनाओंको उत्पन्न होते ही नष्ट कर डाले । इस प्रकार जो विद्वान् विषयोंकी इच्छाको मिटा देता है, उसको [साधारण प्राणियोंकी] मृत्युकी भाँति मृत्यु नहीं मारती (अर्थात् वह जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है) ॥ १२ ॥

कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति ।
कामान् व्युदस्य धुनुते यत् किंचित् पुरुषो रजः ॥ १३ ॥

कामनाओंके पीछे चलनेवाला मनुष्य कामनाओंके साथ ही नष्ट हो जाता है; परंतु ज्ञानी पुरुष कामनाओंका त्याग कर देनेपर जो कुछ भी जन्म-मरणरूप दुःख है, उन सबको वह नष्ट कर देता है ॥ १३ ॥

तमोऽप्रकाशो भूतानां नरकोऽयं प्रदृश्यते ।
मुह्यन्त इव धावन्ति गच्छन्तः श्वभ्रवत् सुखम् ॥ १४ ॥

काम ही समस्त प्राणियोंके लिये मोहक होनेके कारण तमोमय और अज्ञानरूप है तथा नरकके समान दुःखदायी देखा जाता है । जैसे मद्यपानसे मोहित हुए पुरुष चलते-चलते गड्ढेकी ओर दौड़ पड़ते हैं, वैसे ही कामी पुरुष भोगोंमें सुख मानकर उनकी ओर दौड़ते हैं ॥ १४ ॥

अमूढवृत्तेः पुरुषस्येह कुर्यात्
किं वै मृत्युस्तार्ण इवास्य व्याघ्रः ।
अमन्यमानः क्षत्रिय किंचिदन्य-
न्नाधीयीत निर्णुदन्निवास्य चायुः ॥ १५ ॥

जिसके चित्तकी वृत्तियाँ विषयभोगोंसे मोहित नहीं हुई हैं, उस ज्ञानी पुरुषका इस लोकमें तिनकोंके बनाये हुए व्याघ्रके समान मृत्यु क्या बिगाड़ सकती है ? इसलिये राजन्! विषयभोगोंके मूल कारणरूप अज्ञानको नष्ट करनेकी इच्छासे दूसरे किसी भी सांसारिक पदार्थको कुछ भी न गिनकर उसका चिन्तन त्याग देना चाहिये ॥ १५ ॥

स क्रोधलोभौ मोहवानन्तरात्मा
स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः ।
एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा
ज्ञाने तिष्ठन् न बिभेतीह मृत्योः ।
विनश्यते विषये तस्य मृत्यु-
र्मृत्योर्यथा विषयं प्राप्य मर्त्यः ॥ १६ ॥

यह जो तुम्हारे शरीरके भीतर अन्तरात्मा है, मोहके वशीभूत होकर यही क्रोध, लोभ (प्रमाद) और मृत्युरूप हो जाता है। इस प्रकार मोहसे होनेवाली मृत्युको जानकर जो ज्ञाननिष्ठ हो जाता है, वह इस लोकमें मृत्युसे कभी नहीं डरता। उसके समीप आकर मृत्यु उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे मृत्युके अधिकारमें आया हुआ मरणधर्मा मनुष्य ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यानेवाहुरिज्यया साधुलोकान्
द्विजातीनां पुण्यतमान् सनातनान्।
तेषां परार्थं कथयन्तीह वेदा
एतद् विद्वान् नोपैति कथं नु कर्म ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र बोले—द्विजातियोंके लिये यज्ञोंद्वारा जिन पवित्रतम सनातन एवं श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति बतायी गयी है, यहाँ वेद उन्हींको परम पुरुषार्थ कहते हैं। इस बातको जाननेवाला विद्वान् उत्तम कर्मोंका आश्रय क्यों न लें ॥ १७ ॥

सनत्सुजात उवाच

एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र
तत्रार्थजातं च वदन्ति वेदाः ।
अनीह आयाति परं परात्मा
प्रयाति मार्गेण निहत्य मार्गान् ॥ १८ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! अज्ञानी पुरुष इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोकोंमें गमन करता है तथा वेद कर्मके बहुत-से प्रयोजन भी बताते हैं; परंतु जो निष्काम पुरुष है, वह ज्ञानमार्गके द्वारा अन्य सभी मार्गोंका बाध करके परमात्मस्वरूप होता हुआ ही परमात्माको प्राप्त होता है ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कोऽसौ नियुङ्क्ते तमजं पुराणं
स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण ।
किं वास्य कार्यमथवा सुखं च
तन्मे विद्वन् ब्रूहि सर्वं यथावत् ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! यदि वह परमात्मा ही क्रमशः इस सम्पूर्ण जगत्के रूपमें प्रकट होता है तो उस अजन्मा और पुरातन पुरुषपर कौन शासन करता है ? अथवा उसे इस रूपमें आनेकी क्या आवश्यकता है और क्या सुख मिलता है ?—यह सब मुझे ठीक-ठीक बताइये ॥ १९ ॥

सनत्सुजात उवाच

दोषो महानत्र विभेदयोगे
ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः ।
तथास्य नाधिक्यमपैति किंचि-
दनादियोगेन भवन्ति पुंसः ॥ २० ॥

सनत्सुजातने कहा—तुम्हारे इस प्रश्नके अनुसार जीव और ब्रह्मका विशेष भेद प्राप्त होता है, जिसे स्वीकार कर लेनेपर वेदविरोधरूप महान् दोषकी प्राप्ति होती है। अतएव अनादि मायाके सम्बन्धसे जीवोंका कामसुख आदिसे सम्बन्ध होता रहता है। ऐसा होनेपर भी जीवकी महत्ता नष्ट नहीं होती; क्योंकि मायाके सम्बन्धसे जीवके देहादि पुनः उत्पन्न होते रहते हैं ॥ २० ॥

य एतद् वा भगवान् स नित्यो
विकारयोगेन करोति विश्वम् ।
तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्यते
तथार्थयोगे च भवन्ति वेदाः ॥ २१ ॥

जो नित्यस्वरूप भगवान् हैं, वे ही परब्रह्म मायाके सहयोगसे इस विश्वब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं। वह माया उन्हीं परब्रह्मकी शक्ति है। महात्मा पुरुष इसे मानते हैं। इस प्रकारके अर्थके प्रतिपादनमें वेद भी प्रमाण हैं ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

येऽस्मिन् धर्मान् नाचरन्तीह केचित्
तथा धर्मान् केचिदिहाचरन्ति ।
धर्मः पापेन प्रतिहन्यते स्वि-
दुताहो धर्मः प्रतिहन्ति पापम् ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्र बोले—इस जगत्में कुछ लोग ऐसे हैं, जो धर्मका आचरण नहीं करते तथा कुछ लोग उसका आचरण करते हैं, अतः धर्म पापके द्वारा नष्ट होता है या धर्म ही पापको नष्ट कर देता है ? ॥ २२ ॥

सनत्सुजात उवाच

उभयमेव तत्रोपयुज्यते फलं धर्मस्यैवेतरस्य च ॥ २३ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! धर्म और पाप दोनोंके पृथक्-पृथक् फल होते हैं और उन दोनोंका ही उपभोग करना पड़ता है ॥ २३ ॥

तस्मिन् स्थितो वाप्युभयं हि नित्यं
ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति सिद्धम्।
तथान्यथा पुण्यमुपैति देही
तथागतं पापमुपैति सिद्धम् ॥ २४ ॥

किंतु परमात्मामें स्थित होनेपर विद्वान् पुरुष उस (परमात्माके) ज्ञानके द्वारा अपने पूर्वकृत पाप और पुण्य दोनोंका नाश कर देता है; यह बात सदा प्रसिद्ध है। यदि ऐसी स्थिति नहीं हुई तो देहाभिमानी मनुष्य कभी पुण्यफलको प्राप्त करता है और कभी क्रमशः प्राप्त हुए पूर्वोपार्जित पापके फलका अनुभव करता है ॥ २४ ॥

गत्वोभयं कर्मणा युज्यतेऽस्थिरं
शुभस्य पापस्य स चापि कर्मणा।
धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान्
धर्मो बलीयानिति तस्य सिद्धिः ॥ २५ ॥

इस प्रकार पुण्य और पापके जो स्वर्ग-नरकरूप दो अस्थिर फल हैं, उनका भोग करके वह (इस जगत्में जन्म ले) पुनः तदनुसार कर्मोंमें लग जाता है; किंतु कर्मोंके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष निष्कामधर्मरूप कर्मके द्वारा अपने पूर्वपापका यहाँ ही नाश कर देता है। इस प्रकार धर्म ही अत्यन्त बलवान् है। इसलिये निष्कामभावसे धर्माचरण करनेवालोंको समयानुसार अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है॥

धृतराष्ट्र उवाच

यानिहाहुः स्वस्य धर्मस्य लोकान्
द्विजातीनां पुण्यकृतां सनातनान्।
तेषां क्रमान् कथय ततोऽपि चान्यान्
नैतद् विद्वन् वेत्तुमिच्छामि कर्म ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! पुण्यकर्म करनेवाले द्विजातियोंको अपने-अपने धर्मके फलस्वरूप जिन सनातन लोकोंकी प्राप्ति बतायी गयी है; उनका क्रम बतलाइये तथा उनसे भिन्न जो अन्यान्य लोक हैं, उनका भी निरूपण कीजिये। अब मैं सकाम कर्मकी बात नहीं जानना चाहता ॥

सनत्सुजात उवाच

येषां व्रतेऽथ विस्पर्धा बले बलवतामिव।
ते ब्राह्मणा इतः प्रेत्य ब्रह्मलोकप्रकाशकाः ॥ २७ ॥

सनत्सुजातने कहा—जैसे दो बलवान् वीरोंमें अपना बल बढ़ानेके निमित्त एक दूसरेसे स्पर्धा रहती है, उसी प्रकार जो निष्कामभावसे यम-नियमादिके पालनमें दूसरोंसे बढ़नेका प्रयास करते हैं, वे ब्राह्मण यहाँसे मरकर जानेके बाद ब्रह्मलोकमें अपना प्रकाश फैलाते हैं॥

येषां धर्मे च विस्पर्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम्।
ते ब्राह्मणा इतो मुक्ताः स्वर्गं यान्ति त्रिविष्टपम् ॥ २८ ॥

जिनकी धर्मके पालनमें स्पर्धा है, उनके लिये वह ज्ञानका साधन है; किंतु वे ब्राह्मण (यदि सकामभावसे उसका अनुष्ठान करें) तो मृत्युके पश्चात् यहाँसे देवताओंके निवासस्थान स्वर्गमें जाते हैं ॥ २८ ॥

तस्य सम्यक् समाचारमाहुर्वेदविदो जनाः।
नैनं मन्येत भूयिष्ठं बाह्यमाभ्यन्तरं जनम् ॥ २९ ॥
यत्र मन्येत भूयिष्ठं प्रावृषीव तृणोपलम्।
अन्नं पानं ब्राह्मणस्य तज्जीवेन्नानुसंज्वरेत् ॥ ३० ॥

ब्राह्मणके सम्यक् आचारकी वेदवेत्ता पुरुष प्रशंसा करते हैं, किंतु जो धर्मपालनमें बहिर्मुख है, उसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये। जो (निष्कामभावपूर्वक) धर्मका पालन करनेसे अन्तर्मुख हो गया है, ऐसे पुरुषको श्रेष्ठ समझना चाहिये। जैसे वर्षाऋतुमें तृण-घास आदिकी बहुतायत होती है, उसी प्रकार जहाँ ब्राह्मणके योग्य अन्न-पान आदिकी अधिकता मालूम पड़े, उसी देशमें रहकर वह जीवननिर्वाह करे। भूख-प्याससे अपनेको कष्ट नहीं पहुँचावे ॥ २९-३० ॥

यत्राकथयमानस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम्।
अतिरिक्तमिवाकुर्वन् स श्रेयान् नेतरो जनः ॥ ३१ ॥

किंतु जहाँ अपना माहात्म्य प्रकाशित न करनेपर भय और अमङ्गल प्राप्त हो, वहाँ रहकर भी जो अपनी विशेषता प्रकट नहीं करता, वही श्रेष्ठ पुरुष है; दूसरा नहीं ॥ ३१ ॥

यो वा कथयमानस्य ह्यात्मानं नानुसंज्वरेत्।
ब्रह्मस्वं नोपभुञ्जीत तदन्नं सम्मतं सताम् ॥ ३२ ॥

जो किसीको आत्मप्रशंसा करते देख जलता नहीं तथा ब्राह्मणके स्वत्वका उपभोग नहीं करता, उसके अन्नको स्वीकार करनेमें सत्पुरुषोंकी सम्मति है ॥ ३२ ॥

यथा स्वं वान्तमश्नाति श्वा वै नित्यमभूतये।
एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपसेवनात् ॥ ३३ ॥

जैसे कुत्ता अपना वमन किया हुआ भी खा लेता है, उसी प्रकार जो अपने (ब्राह्मणत्वके) प्रभावका प्रदर्शन करके जीविका चलाते हैं, वे ब्राह्मण वमनका भोजन करनेवाले हैं और इससे उनकी सदा ही अवनति होती है ॥ ३३ ॥

नित्यमज्ञातचर्या मे इति मन्येत ब्राह्मणः।
ज्ञातीनां तु वसन् मध्ये तं विदुर्ब्राह्मणं बुधाः ॥ ३४ ॥

जो कुटुम्बीजनोंके बीचमें रहकर भी अपनी साधनाको उनसे सदा गुप्त रखनेका प्रयत्न करता है, ऐसे ब्राह्मणोंको ही विद्वान् पुरुष ब्राह्मण मानते हैं ॥ ३४ ॥

को ह्यनन्तरमात्मानं ब्राह्मणो हन्तुमर्हति।
निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वैतविवर्जितम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जो भेदशून्य, चिह्नरहित, अविचल, शुद्ध एवं सब प्रकारके द्वैतसे रहित आत्मा है, उसके स्वरूपको जाननेवाला कौन ब्रह्मवेत्ता पुरुष उसका हनन (अधःपतन) करना चाहेगा ? ॥ ३५ ॥

तस्माद्धि क्षत्रियस्यापि ब्रह्मावसति पश्यति ॥ ३६ ॥

इसलिये उपर्युक्तरूपसे जीवन बितानेवाला क्षत्रिय भी ब्रह्मके स्वरूपका अनुभव करता है तथा ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥ ३७ ॥

जो उक्त प्रकारसे वर्तमान आत्माको उसके विपरीत रूपसे समझता है, आत्माका अपहरण करनेवाले उस चोरने कौन-सा पाप नहीं किया ? ॥ ३७ ॥

अश्रान्तः स्यादनादाता सम्मतो निरुपद्रवः।
शिष्टो न शिष्टवत् स स्याद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित् कविः॥३८॥

जो कर्तव्य-पालनमें कभी थकता नहीं, दान नहीं लेता, सत्पुरुषोंमें सम्मानित और उपद्रवरहित है तथा शिष्ट होकर भी शिष्टताका विज्ञापन नहीं करता, वही ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता एवं विद्वान् है ॥ ३८ ॥

अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या दैवे तथा क्रतौ।
ते दुर्धर्षा दुष्प्रकम्प्यास्तान् विद्याद् ब्रह्मणस्तनुम्॥३९॥

जो लौकिक धनकी दृष्टिसे निर्धन होकर भी दैवी सम्पत्ति तथा यज्ञ-उपासना आदिसे सम्पन्न हैं, वे दुर्धर्ष हैं और किसी भी विषयसे चलायमान नहीं होते। उन्हें ब्रह्मकी साक्षात् मूर्ति समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

सर्वान् स्विष्टकृतो देवान् विद्याद् य इह कश्चन।
न समानो ब्राह्मणस्य तस्मिन् प्रयतते स्वयम् ॥ ४० ॥

यदि कोई इस लोकमें अभीष्ट सिद्ध करनेवाले सम्पूर्ण देवताओंको जान ले, तो भी वह ब्रह्मवेत्ताके समान नहीं होता; क्योंकि वह तो अभीष्ट फलकी सिद्धिके लिये ही प्रयत्न कर रहा है ॥ ४० ॥

यमप्रयतमानं तु मानयन्ति स मानितः।
न मान्यमानो मन्येत न मान्यमभिसंज्वरेत् ॥ ४१ ॥

जो दूसरोंसे सम्मान पाकर भी अभिमान न करे और सम्माननीय पुरुषको देखकर जले नहीं तथा प्रयत्न न करनेपर भी विद्वान्‌लोग जिसे आदर दें, वही वास्तवमें सम्मानित है ॥ ४१ ॥

लोकः स्वभाववृत्तिर्हि निमेषोन्मेषवत् सदा।
विद्वांसो मानयन्तीह इति मन्येत मानितः ॥ ४२ ॥

जगत्‌में जब विद्वान् पुरुष आदर दें, तब सम्मानित व्यक्तिको ऐसा मानना चाहिये कि आँखोंको खोलने-मीचनेके समान अच्छे लोगोंकी यह स्वाभाविक वृत्ति है, जो आदर देते हैं ॥ ४२ ॥

अधर्मनिपुणा मूढा लोके मायाविशारदाः।
न मान्यं मानयिष्यन्ति मान्यानामवमानिनः ॥ ४३ ॥

किंतु इस संसारमें जो अधर्ममें निपुण, छल-कपटमें चतुर और माननीय पुरुषोंका अपमान करनेवाले मूढ़ मनुष्य हैं, वे आदरणीय व्यक्तियोंका भी आदर नहीं करते॥

न वै मानं च मौनं च सहितौ वसतः सदा।
अयं हि लोको मानस्य असौ मौनस्य तद् विदुः ॥ ४४ ॥

यह निश्चित है कि मान और मौन सदा एक साथ नहीं रहते; क्योंकि मानसे इस लोकमें सुख मिलता है और मौनसे परलोकमें। ज्ञानीजन इस बातको जानते हैं ॥ ४४ ॥

श्रीः सुखस्येह संवासः सा चापि परिपन्थिनी।
ब्राह्मी सुदुर्लभा श्रीर्हि प्रज्ञाहीनेन क्षत्रिय ॥ ४५ ॥

राजन्! लोकमें ऐश्वर्यरूपा लक्ष्मी सुखका घर मानी गयी है, पर वह भी (कल्याणमार्गमें) लुटेरोंकी भाँति विघ्न डालनेवाली है; किंतु ब्रह्मज्ञानमयी लक्ष्मी प्रज्ञाहीन मनुष्यके लिये सर्वथा दुर्लभ है ॥ ४५ ॥

द्वाराणि तस्येह वदन्ति सन्तो
बहुप्रकाराणि दुराधराणि।
सत्यार्जवे ह्रीर्दमशौचविद्या
यथा न मोहप्रतिबोधनानि ॥ ४६ ॥

संत पुरुष यहाँ उस ब्रह्मज्ञानमयी लक्ष्मीकी प्राप्तिके अनेकों द्वार बतलाते हैं, जो कि मोहको जगानेवाले नहीं हैं तथा जिनको कठिनतासे धारण किया जाता है। उनके नाम हैं—सत्य, सरलता, लज्जा, दम, शौच और विद्या ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्मज्ञानमें उपयोगी मौन, तप, त्याग, अप्रमाद एवं दम आदिके लक्षण तथा मदादि दोषोंका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

कस्यैष मौनः कतरन्नु मौनं
प्रब्रूहि विद्वन्निह मौनभावम्।
मौनेन विद्वानुत याति मौनं
कथं मुने मौनमिहाचरन्ति ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! यह मौन किसका नाम है? [वाणीका संयम और परमात्माका स्वरूप] इन दोनोंमेंसे कौन-सा मौन है? यहाँ मौनभावका वर्णन कीजिये। क्या विद्वान् पुरुष मौनके द्वारा मौनरूप परमात्माको प्राप्त होता है? मुने! संसारमें लोग मौनका आचरण किस प्रकार करते हैं? ॥ १ ॥

सनत्सुजात उवाच

यतो न वेदा मनसा सहैन-
मनुप्रविशन्ति ततोऽथमौनम्।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं
स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ॥ २ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! जहाँ मनके सहित वाणीरूप वेद नहीं पहुँच पाते, उस परमात्माका ही नाम मौन है; इसलिये वही मौनस्वरूप है। वैदिक तथा लौकिक शब्दोंका जहाँसे प्रादुर्भाव हुआ है, वे परमेश्वर तन्मयतापूर्वक ध्यान करनेसे प्रकाशमें आते हैं ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ऋचो यजूंषि यो वेद सामवेदं च वेद यः।
पापानि कुर्वन् पापेन लिप्यते किं न लिप्यते ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! जो ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदको जानता है तथा पाप करता है, वह उस पापसे लिप्त होता है या नहीं? ॥ ३ ॥

सनत्सुजात उवाच

नैनं सामान्यृचो वापि न यजूंष्यविचक्षणम्।
त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ ४ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! मैं तुमसे असत्य नहीं कहता; ऋक्, साम अथवा यजुर्वेद कोई भी पाप करनेवाले अज्ञानीकी उसके पापकर्मसे रक्षा नहीं करते ॥ ४ ॥

नच्छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम्।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा-
श्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥ ५ ॥

जो कपटपूर्वक धर्मका आचरण करता है, उस मिथ्याचारीका वेद पापोंसे उद्धार नहीं करते। जैसे पंख निकल आनेपर पक्षी अपना घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अन्तकालमें वेद भी उसका परित्याग कर देते हैं ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

न चेद् वेदा विना धर्मं त्रातुं शक्ता विचक्षण।
अथ कस्मात् प्रलापोऽयं ब्राह्मणानां सनातनः ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! यदि धर्मके बिना वेद रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं, तो वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके पवित्र होनेका प्रलाप* चिरकालसे क्यों चला आता है? ॥ ६ ॥

सनत्सुजात उवाच

तस्यैव नामादिविशेषरूपै-
रिदं जगद् भाति महानुभाव।
निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदा-
स्तद् विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥

सनत्सुजातने कहा—महानुभाव! परब्रह्म परमात्माके ही नाम आदि विशेष रूपोंसे इस जगत्‌की प्रतीति होती है। यह बात वेद अच्छी तरह निर्देश करके कहते हैं। किंतु वास्तवमें उसका स्वरूप इस विश्वसे विलक्षण बताया जाता है ॥ ७ ॥

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या
ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान्।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्
संजायते ज्ञानविदीपितात्मा ॥ ८ ॥

उसीकी प्राप्तिके लिये वेदमें तप और यज्ञोंका प्रतिपादन किया गया है। इन तप और यज्ञोंके द्वारा उस श्रोत्रिय विद्वान् पुरुषको पुण्यकी प्राप्ति होती है। फिर उस निष्काम कर्मरूप पुण्यसे पापको नष्ट कर देनेके पश्चात् उसका अन्तःकरण ज्ञानसे प्रकाशित हो जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वा-
नथान्यथा वर्गफलानुकाङ्क्षी।
अस्मिन् कृतं तत् परिगृह्य सर्व-
ममुत्र भुङ्क्त्वा पुनरेति मार्गम् ॥ ९ ॥

तब वह विद्वान् पुरुष ज्ञानसे परमात्माको प्राप्त होता है; किंतु इसके विपरीत जो भोगाभिलाषी पुरुष धर्म, अर्थ

* 'ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते।' (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदसे पवित्र होकर ब्राह्मण ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है;) इत्यादि वेदवचन वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके पवित्र एवं निष्पाप होनेकी बात कहते हैं।

और कामरूप त्रिवर्गफलकी इच्छा रखते हैं, वे इस लोकमें किये हुए सभी कर्मोंको साथ ले जाकर उन्हें परलोकमें भोगते हैं तथा भोग समाप्त होनेपर पुनः इस संसारमार्गमें लौट आते हैं ॥ ९ ॥

अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते ।
ब्राह्मणानामिमे लोका ऋद्धे तपसि तिष्ठताम् ॥ १० ॥

इस लोकमें जो तपस्या (सकामभावसे) की जाती है, उसका फल परलोकमें भोगा जाता है; परंतु जो ब्रह्मोपासक इस लोकमें निष्कामभावसे गुरुतर तपस्या करते हैं, वे इसी लोकमें तत्त्वज्ञानरूप फल प्राप्त करते हैं (और मुक्त हो जाते हैं) । इस प्रकार एक ही तपस्या ऋद्ध और समृद्धके भेदसे दो प्रकारकी है ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कथं समृद्धमसमृद्धं तपो भवति केवलम् ।
सनत्सुजात तद् ब्रूहि यथा विद्याम तद् वयम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—सनत्सुजातजी ! विशुद्ध भावयुक्त केवल तप ऐसा प्रभावशाली बढ़ा-चढ़ा कैसे हो जाता है ? यह इस प्रकार कहिये, जिससे हम उसे समझ लें ॥ ११ ॥

सनत्सुजात उवाच

निष्कल्मषं तपस्त्वेतत् केवलं परिचक्षते ।
एतत् समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति केवलम् ॥ १२ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! यह तप सब प्रकारसे निर्दोष होता है । इसमें भोगवासनारूप दोष नहीं रहता । इसलिये यह विशुद्ध कहा जाता है और इसीलिये यह विशुद्ध तप सकाम तपकी अपेक्षा फलकी दृष्टिसे भी बहुत बढ़ा-चढ़ा होता है ॥ १२ ॥

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय ।
तपसा वेदविद्वांसः परं त्वमृतमाप्नुयुः ॥ १३ ॥

राजन् ! तुम जिस (तपस्या) के विषयमें मुझसे पूछ रहे हो, यह तपस्या ही सारे जगत्का मूल है; वेदवेत्ता विद्वान् इस (निष्काम) तपसे ही परम अमृत मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कल्मषं तपसो ब्रूहि श्रुतं निष्कल्मषं तपः ।
सनत्सुजात येनेदं विद्यां गुह्यं सनातनम् ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सनत्सुजातजी ! मैंने दोषरहित तपस्याका महत्त्व सुना । अब तपस्याके जो दोष हैं, उन्हें बताइये, जिससे मैं इस सनातन गोपनीय ब्रह्मतत्त्वको जान सकूँ ॥ १४ ॥

सनत्सुजात उवाच

क्रोधादयो द्वादश यस्य दोषा-
स्तथा नृशंसानि दशत्रि राजन् ।
धर्मादयो द्वादशैते पितॄणां
शास्त्रे गुणा ये विदिता द्विजानाम् ॥ १५ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! तपस्याके क्रोध आदि बारह दोष हैं तथा तेरह प्रकारके नृशंस मनुष्य होते हैं । मन्वादि-शास्त्रोंमें कथित ब्राह्मणोंके धर्म आदि बारह गुण प्रसिद्ध हैं ॥ १५ ॥

क्रोधः कामो लोभमोहौ विधित्सा
कृपासूये मानशोकौ स्पृहा च ।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा
वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम् ॥ १६ ॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, चिकीर्षा, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा—मनुष्योंमें रहनेवाले ये बारह दोष मनुष्योंके लिये सदा ही त्याग देने योग्य हैं ॥ १६ ॥

एकैकः पर्युपास्ते ह मनुष्यान् मनुजर्षभ ।
लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ ! जैसे व्याधा मृगोंको मारनेका छिद्र (अवसर) देखता हुआ उनकी टोहमें लगा रहता है, उसी प्रकार इनमेंसे एक-एक दोष मनुष्योंका छिद्र देखकर उनपर आक्रमण करता है ॥ १७ ॥

विकत्थनः स्पृहयालुर्मनस्वी
बिभ्रत् कोपं चपलोऽरक्षणश्च ।
एतान् पापाः षण्नराः पापधर्मान्
प्रकुर्वते नो त्रसन्तः सुदुर्गे ॥ १८ ॥

अपनी बहुत बड़ाई करनेवाले, लोलुप, तनिक-से भी अपमानको सहन न करनेवाले, निरन्तर क्रोधी, चञ्चल और आश्रितोंकी रक्षा नहीं करनेवाले-ये छः प्रकारके मनुष्य पापी हैं । महान् संकटमें पड़नेपर भी ये निडर होकर इन पाप-कर्मोंका आचरण करते हैं ॥ १८ ॥

सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी
दत्तानुतापी कृपणो बलीयान् ।
वर्गप्रशंसी वनितासु द्वेष्टा
एते परे सप्त नृशंसवर्गाः ॥ १९ ॥

सम्भोगमें ही मन लगानेवाले, विषमता रखनेवाले, अत्यन्त मानी, दान देकर पश्चात्ताप करनेवाले, अत्यन्त कृपण, अर्थ और कामकी प्रशंसा करनेवाले तथा स्त्रियोंके द्वेषी—ये सात और पहलेके छः कुल तेरह प्रकारके मनुष्य नृशंसवर्ग (क्रूर-समुदाय) कहे गये हैं ॥ १९ ॥

धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया ।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च
व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ २० ॥

धर्म, सत्य, इन्द्रियनिग्रह तप, मत्सरताका अभाव, लज्जा, सहनशीलता, किसीके दोष न देखना, यज्ञ करना, दान देना, धैर्य और शास्त्रज्ञान—ये ब्राह्मणके बारह व्रत हैं ॥ २० ॥

यस्त्वेतेभ्यः प्रभवेद् द्वादशभ्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वार्थितो य-
स्तस्य स्वमस्तीति स वेदितव्यः ॥ २१ ॥

जो इन बारह व्रतों (गुणों) पर अपना प्रभुत्व रखता है, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वीके मनुष्योंको अपने अधीन कर सकता है । इनमेंसे तीन, दो या एक गुणसे भी जो युक्त है, उसके पास सभी प्रकारका धन है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २१ ॥

दमस्त्यागोऽप्रमादश्च एतेष्वमृतमाहितम् ।
तानि सत्यमुखान्याहुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥ २२ ॥

दम, त्याग और अप्रमाद—इन तीन गुणोंमें अमृतका वास है । जो मनीषी (बुद्धिमान्) ब्राह्मण हैं, वे कहते हैं कि इन गुणोंका मुख सत्यस्वरूप परमात्माकी ओर है (अर्थात् ये परमात्माकी प्राप्तिके साधन हैं) ॥ २२ ॥

दमो ह्यष्टादशगुणः प्रतिकूलं कृताकृते ।
अनृतं चाभ्यसूया च कामार्थौ च तथा स्पृहा ॥ २३ ॥
क्रोधः शोकस्तथा तृष्णा लोभः पैशुन्यमेव च ।
मत्सरश्च विहिंसा च परितापस्तथारतिः ॥ २४ ॥
अपस्मारश्चातिवादस्तथा सम्भावनाऽऽत्मनि ।
एतैर्विमुक्तो दोषैर्यः स दान्तः सद्भिरुच्यते ॥ २५ ॥

दम अठारह गुणोंवाला है । (निम्नाङ्कित अठारह दोषोंके त्यागको ही अठारह गुण समझना चाहिये)—कर्तव्य-अकर्तव्यके-विषयमें विपरीत धारणा, असत्यभाषण, गुणोंमें दोषदृष्टि, स्त्री-विषयक कामना, सदा धनोपार्जनमें ही लगे रहना, भोगेच्छा, क्रोध, शोक, तृष्णा, लोभ, चुगली करनेकी आदत, डाह, हिंसा, संताप, शास्त्रमें अरति, कर्तव्यकी विस्मृति, अधिक बकवाद और अपनेको बड़ा समझना—इन दोषोंसे जो मुक्त है, उसीको सत्पुरुष दान्त (जितेन्द्रिय) कहते हैं ॥२३—२५॥

मदोऽष्टादशदोषः स्यात् त्यागो भवति षड्विधः ।
विपर्ययाः स्मृता एते मददोषा उदाहृताः ॥ २६ ॥
श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागस्तृतीयो दुष्करो भवेत् ।
तेन दुःखं तरत्येव भिन्नं तस्मिन् जितं कृते ॥ २७ ॥

मदमें अठारह दोष हैं; ऊपर जो दमके विपर्यय सूचित किये गये हैं, वे ही मदके दोष बताये गये हैं । त्याग छः प्रकारका होता है, वह छहों प्रकारका त्याग अत्यन्त उत्तम है; किंतु इनमें तीसरा अर्थात् कामत्याग बहुत ही कठिन है, इसके द्वारा मनुष्य त्रिविध दुःखोंको निश्चय ही पार कर जाता है । कामका त्याग कर देनेपर सब कुछ जीत लिया जाता है ॥ २६-२७ ॥

श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः श्रियं प्राप्य न हृष्यति।
इष्टापूर्ते द्वितीयं स्यान्नित्यवैराग्ययोगतः ॥ २८ ॥
कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृतः ।
अप्यवाच्यं वदन्त्येतं स तृतीयो गुणः स्मृतः ॥ २९ ॥

राजेन्द्र ! छः प्रकारका जो सर्वश्रेष्ठ त्याग है, उसे बताते हैं । लक्ष्मीको पाकर हर्षित न होना—यह प्रथम त्याग है; यज्ञ-होमादिमें तथा कुएँ, तालाब और बगीचे आदि बनानेमें धन खर्च करना दूसरा त्याग है और सदा वैराग्यसे युक्त रहकर कामका त्याग करना—यह तीसरा त्याग कहा गया है । महर्षिलोग इसे अनिर्वचनीय मोक्षका उपाय कहते हैं । अतः यह तीसरा त्याग विशेष गुण माना गया है ॥ २८-२९ ॥

त्यक्तैर्द्रव्यैर्यद् भवति नोपयुक्तैश्च कामतः ।
न च द्रव्यैस्तद् भवति नोपयुक्तैश्च कामतः ॥ ३० ॥

(वैराग्यपूर्वक) पदार्थोंके त्यागसे जो निष्कामता आती है, वह स्वेच्छापूर्वक उनका उपभोग करनेसे नहीं आती । अधिक धन-सम्पत्तिके संग्रहसे निष्कामता नहीं सिद्ध होती तथा कामनापूर्तिके लिये उसका उपभोग करनेसे भी कामका त्याग नहीं होता ॥ ३० ॥

न च कर्मस्वसिद्धेषु दुःखं तेन च न ग्लपेत् ।
सर्वैरेव गुणैर्युक्तो द्रव्यवानपि यो भवेत् ॥ ३१ ॥

जो पुरुष सब गुणोंसे युक्त और धनवान् हो, यदि उसके किये हुए कर्म सिद्ध न हों तो उनके लिये दुःख एवं ग्लानि न करे ॥ ३१ ॥

अप्रिये च समुत्पन्ने व्यथां जातु न गच्छति ।
इष्टान् पुत्रांश्च दारांश्च न याचेत कदाचन ॥ ३२ ॥

कोई अप्रिय घटना हो जाय तो कभी व्यथाको न प्राप्त हो (यह चौथा त्याग है) । अपने अभीष्ट पदार्थ—स्त्री-पुत्रादिकी कभी याचना न करे (यह पाँचवाँ त्याग है)॥ ३२॥

अर्हते याचमानाय प्रदेयं तच्छुभं भवेत् ।
अप्रमादी भवेदेतैः स चाप्यष्टगुणो भवेत् ॥ ३३ ॥
सत्यं ध्यानं समाधानं चोद्यं वैराग्यमेव च ।
अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च तथा संग्रहमेव च ॥ ३४ ॥

सुयोग्य याचकके आ जानेपर उसे दान करे (यह छठा त्याग है) । इन सबसे कल्याण होता है । इन त्यागमय

गुणोंसे मनुष्य अप्रमादी होता है। उस अप्रमादके भी आठ गुण माने गये हैं—सत्य, ध्यान, अध्यात्मविषयक विचार, समाधान, वैराग्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ॥ ३३-३४ ॥

एवं दोषा मदस्योक्तास्तान् दोषान् परिवर्जयेत्।
तथा त्यागोऽप्रमादश्च स चाप्यष्टगुणो मतः ॥ ३५ ॥

ये आठ गुण त्याग और अप्रमाद दोनोंके ही समझने चाहिये। इसी प्रकार जो मदके अठारह दोष पहले बताये गये हैं, उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। प्रमादके आठ दोष हैं, उन्हें भी त्याग देना चाहिये ॥ ३५ ॥

अष्टौ दोषाः प्रमादस्य तान् दोषान् परिवर्जयेत्।
इन्द्रियेभ्यश्च पञ्चभ्यो मनसश्चैव भारत।
अतीतानागतेभ्यश्च मुक्त्युपेतः सुखी भवेत् ॥ ३६ ॥

भारत! पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन—इनकी अपने-अपने विषयोंमें जो भोगबुद्धिसे प्रवृत्ति होती है, छः तो ये ही प्रमादविषयक दोष हैं और भूतकालकी चिन्ता तथा भविष्यकी आशा—दो दोष ये हैं। इन आठ दोषोंसे मुक्त पुरुष सुखी होता है ॥ ३६ ॥

सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम् ॥ ३७ ॥

राजेन्द्र! तुम सत्यस्वरूप हो जाओ, सत्यमें ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। वे दम, त्याग और अप्रमाद आदि गुण भी सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं; सत्यमें ही अमृतकी प्रतिष्ठा है ॥ ३७ ॥

निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाचरेत्।
एतद् धातृकृतं वृत्तं सत्यमेव सतां व्रतम् ॥ ३८ ॥
दोषैरेतैर्वियुक्तस्तु गुणैरेतैः समन्वितः।
एतत् समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम् ॥ ३९ ॥
यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र संक्षेपात् प्रब्रवीमि ते।
एतत् पापहरं पुण्यं जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ४० ॥

दोषोंको निवृत्त करके ही यहाँ तप और व्रतका आचरण करना चाहिये, यह विधाताका बनाया हुआ नियम है। सत्य ही श्रेष्ठ पुरुषोंका व्रत है। मनुष्यको उपर्युक्त दोषोंसे रहित और गुणोंसे युक्त होना चहिये। ऐसे पुरुषका ही विशुद्ध तप अत्यन्त समृद्ध होता है। राजन्! तुमने जो मुझसे पूछा है, वह मैंने संक्षेपसे बता दिया। यह तप जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाके कष्टको दूर करनेवाला, पापहारी तथा परम पवित्र है ॥ ३८—४० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

आख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कथ्यते जनः।
तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथा परे ॥ ४१ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—मुने! इतिहास-पुराण जिनमें पाँचवाँ है, उन सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा कुछ लोगोंका विशेषरूपसे नाम लिया जाता है (अर्थात् वे पञ्चवेदी कहलाते हैं), दूसरे लोग चतुर्वेदी और त्रिवेदी कहे जाते हैं ॥ ४१ ॥

द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाप्यनृचश्च तथा परे।
तेषां तु कतरः स स्याद् यमहं वेद वै द्विजम् ॥ ४२ ॥

इसी प्रकार कुछ लोग द्विवेदी, एकवेदी तथा अनृच[1] कहलाते हैं। इनमेंसे कौन-से ऐसे हैं, जिन्हें मैं निश्चितरूपसे ब्राह्मण समझूँ? ॥ ४२ ॥

सनत्सुजात उवाच

एकस्य वेदस्याज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः।
सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ ४३ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! सृष्टिके आदिमें वेद एक ही थे, परंतु न समझनेके कारण (एक ही वेदके) बहुत-से विभाग कर दिये गये हैं। उस सत्यस्वरूप एक वेदके सारतत्त्व परमात्मामें तो कोई विरला ही स्थित होता है ॥ ४३ ॥

एवं वेदमविज्ञाय प्राज्ञोऽहमिति मन्यते।
दानमध्ययनं यज्ञो लोभादेतत् प्रवर्तते ॥ ४४ ॥

इस प्रकार वेदके तत्त्वको न जानकर भी कुछ लोग 'मैं विद्वान् हूँ' ऐसा मानने लगते हैं; फिर उनकी दान, अध्ययन और यज्ञादि कर्मोंमें (सांसारिक सुखकी प्राप्तिरूप फलके) लोभसे प्रवृत्ति होती है ॥ ४४ ॥

सत्यात् प्रच्यवमानानां संकल्पश्च तथा भवेत्।
ततो यज्ञः प्रतायेत सत्यस्यैवावधारणात् ॥ ४५ ॥

वास्तवमें जो सत्यस्वरूप परमात्मासे च्युत हो गये हैं, उन्हींका वैसा संकल्प होता है। फिर सत्यरूप वेदके प्रामाण्यका निश्चय करके ही उनके द्वारा यज्ञोंका विस्तार (अनुष्ठान) किया जाता है ॥ ४५ ॥

मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा।
संकल्पसिद्धः पुरुषः संकल्पानधितिष्ठति ॥ ४६ ॥

किसीका यज्ञ मनसे, किसीका वाणीसे तथा किसीका क्रियाके द्वारा सम्पादित होता है। सत्यसंकल्प पुरुष संकल्पके अनुसार ही लोकोंको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

अनैभृत्येन चैतस्य दीक्षितव्रतमाचरेत्।
नामैतद् धातुनिर्वृत्तं सत्यमेव सतां परम् ॥ ४७ ॥

किंतु जबतक संकल्प सिद्ध न हो, तबतक दीक्षित व्रतका आचरण अर्थात् यज्ञादि कर्म करते रहना चाहिये। यह

[1] जिन्होंने ऋगादि वेदोंका अध्ययन नहीं किया है, वे अनृच कहलाते हैं।

दीक्षित नाम 'दीक्ष व्रतादेशे' इस धातुसे बना है। सत्पुरुषोंके सत्यस्वरूप परमात्मा ही सबसे बढ़कर है ॥ ४७ ॥

ज्ञानं वै नाम प्रत्यक्षं परोक्षं जायते तपः।
विद्याद् बहु पठन्तं तु द्विजं वै बहुपाठिनम् ॥ ४८ ॥

क्योंकि परमात्माके ज्ञानका फल प्रत्यक्ष है और तपका फल परोक्ष है (इसलिये ज्ञानका ही आश्रय लेना चाहिये)। बहुत पढ़नेवाले ब्राह्मणको केवल बहुपाठी (बहुज्ञ) समझना चाहिये ॥ ४८ ॥

तस्मात् क्षत्रिय मा मंस्था जल्पितेनैव वै द्विजम्।
य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया ॥ ४९ ॥

इसलिये महाराज ! केवल बातें बनानेसे ही किसीको ब्राह्मण न मान लेना। जो सत्यस्वरूप परमात्मासे कभी पृथक् नहीं होता, उसीको तुम ब्राह्मण समझो ॥ ४९ ॥

छन्दांसि नाम क्षत्रिय तान्यथर्वा
पुरा जगौ महर्षिसङ्घ एषः।
छन्दोविदस्ते य उत नाधीतवेदा
न वेदवेद्यस्य विदुर्हि तत्त्वम् ॥ ५० ॥

राजन् ! अथर्वा मुनि एवं महर्षिसमुदायने पूर्वकालमें जिनका गान किया है, वे ही छन्द (वेद) हैं। किंतु सम्पूर्ण वेद पढ़ लेनेपर भी जो वेदोंके द्वारा जानने योग्य परमात्माके तत्त्वको नहीं जानते, वे वास्तवमें वेदके विद्वान् नहीं हैं ॥

छन्दांसि नाम द्विपदां वरिष्ठ
स्वच्छन्दयोगेन भवन्ति तत्र।
छन्दोविदस्तेन च तानधीत्य
गता न वेदस्य न वेद्यमार्याः ॥ ५१ ॥

नरश्रेष्ठ ! छन्द (वेद) उस परमात्मामें स्वच्छन्द सम्बन्धसे स्थित (स्वतःप्रमाण) हैं। इसलिये उनका अध्ययन करके ही वेदवेत्ता आर्यजन वेद्यरूप परमात्माके तत्त्वको प्राप्त हुए हैं ॥ ५१ ॥

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
कश्चित् त्वेतान् बुध्यते वापि राजन्।
यो वेद वेदान् न स वेद वेद्यं
सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम् ॥ ५२ ॥

राजन् ! वास्तवमें वेदके तत्त्वको जाननेवाला कोई नहीं है अथवा यों समझो कि कोई बिरला ही उनका रहस्य जान पाता है। जो केवल वेदके वाक्योंको जानता है, वह वेदोंके द्वारा जानने योग्य परमात्माको नहीं जानता; किंतु जो सत्यमें स्थित है, वह वेदवेद्य परमात्माको जानता है ॥ ५२ ॥

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
वेद्येन वेदं न विदुर्न वेद्यम्।
यो वेद वेदं स च वेद वेद्यं
यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम् ॥ ५३ ॥

जाननेवालोंमेंसे कोई भी वेदोंको अर्थात् उनके रहस्यको जाननेवाला नहीं है; क्योंकि जाननेमें आनेवाले मन-बुद्धि आदिके द्वारा न तो कोई वेदके रहस्यको जान पाता है और न जानने योग्य परमात्मतत्त्वको ही। जो मनुष्य केवल कर्मविधायक वेदको जानता है; वह तो बुद्धिद्वारा जाननेमें आनेवाले पदार्थोंको ही जानता है; किंतु जो बुद्धिद्वारा जानने योग्य पदार्थोंको जानता है, वह (सकामी पुरुष) वास्तविक तत्त्व परब्रह्म परमात्माको नहीं जानता ॥ ५३ ॥

यो वेद वेदान् स च वेद वेद्यं
न तं विदुर्वेदविदो न वेदाः।
तथापि वेदेन विदन्ति वेदं
ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति ॥ ५४ ॥

जो महापुरुष वेदोंके रहस्यको जानता है, वह जानने योग्य परमात्माको भी जानता है; परंतु उस (जाननेवाले) को न तो वेदोंके शब्दोंको जाननेवाला जानता है और न वेद ही जानते हैं। तथापि वेदके रहस्यको जाननेवाले जो ब्रह्मवेत्ता महापुरुष हैं, वे उस वेदके द्वारा ही वेदके रहस्यको जान लेते हैं (अर्थात् वेदोंका कथन इतना गुप्त है कि केवल शब्दज्ञानसे उसका रहस्य एवं उसमें वर्णित परमात्मतत्त्व समझमें नहीं आता। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर सद्गुरु या प्रभुकी कृपासे ही साधक उसे समझ पाता है) ॥ ५४ ॥

धामांशभागस्य तथा हि वेदा
यथा च शाखा हि महीरुहस्य।
संवेदने चैव यथाऽऽमनन्ति
तस्मिन् हि सत्ये परमात्मनोऽर्थे ॥ ५५ ॥

द्वितीयाके चन्द्रमाकी सूक्ष्म कलाको बतानेके लिये जैसे वृक्षकी शाखाकी ओर संकेत किया जाता है, उसी प्रकार उस सत्यस्वरूप परमात्माका ज्ञान करानेके लिये ही वेदोंका भी उपयोग किया जाता है; ऐसा विद्वान् पुरुष मानते हैं ॥

अभिजानामि ब्राह्मणं व्याख्यातारं विचक्षणम्।
यश्छिन्नविचिकित्सः स व्याचष्टे सर्वसंशयान् ॥ ५६ ॥

मैं तो उसीको ब्राह्मण समझता हूँ, जो परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला और वेदोंकी यथार्थ व्याख्या करनेवाला हो, जिसके अपने संदेह मिट गये हों और जो दूसरोंके भी सम्पूर्ण संशयोंको मिटा सके ॥ ५६ ॥

नास्य पर्येषणं गच्छेत् प्राचीनं नोत दक्षिणम्।
नार्वाचीनं कुतस्तिर्यङ् नादिशं तु कथञ्चन ॥ ५७ ॥

इस आत्माकी खोज करनेके लिये पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तरकी ओर जानेकी आवश्यकता नहीं है; फिर आग्नेय आदि कोणोंकी तो बात ही क्या है ? इसी प्रकार दिग्विभागसे रहित प्रदेशमें भी उसे नहीं ढूँढ़ना चाहिये ॥ ५७ ॥

तस्य पर्येषणं गच्छेत् प्रत्यर्थिषु कथञ्चन ।
अविचिन्वन्निमं वेदे तपः पश्यति तं प्रभुम् ॥ ५८ ॥

आत्माका अनुसंधान अनात्मपदार्थोंमें तो किसी तरह करे ही नहीं, वेदके वाक्योंमें भी न ढूँढ़कर केवल तपके द्वारा उस प्रभुका साक्षात्कार करे ॥ ५८ ॥

तूष्णीम्भूत उपासीत न चेष्टेन्मनसापि च ।
उपावर्तस्व तद् ब्रह्म अन्तरात्मनि विश्रुतम् ॥ ५९ ॥

वागादि इन्द्रियोंकी सब प्रकारकी चेष्टासे रहित होकर परमात्माकी उपासना करे, मनसे भी कोई चेष्टा न करे । राजन् ! तुम भी अपने हृदयाकाशमें स्थित उस विख्यात परमेश्वरकी बुद्धिपूर्वक उपासना करो ॥ ५९ ॥

मौनान्न स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः ।
स्वलक्षणं तु यो वेद स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ६० ॥

मौन रहने अथवा जंगलमें निवास करनेमात्रसे कोई मुनि नहीं होता । जो अपने आत्माके स्वरूपको जानता है, वही श्रेष्ठ मुनि कहलाता है ॥ ६० ॥

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते ।
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत् तथा ॥ ६१ ॥

सम्पूर्ण अर्थोंको व्याकृत (प्रकट) करनेके कारण ज्ञानी पुरुष 'वैयाकरण' कहलाता है । यह समस्त अर्थोंका प्रकटीकरण मूलभूत ब्रह्मसे ही होता है, अतः वही मुख्य वैयाकरण है; विद्वान् पुरुष भी इसी प्रकार अर्थोंको व्याकृत (व्यक्त) करता है, इसलिये वह भी वैयाकरण है ॥ ६१ ॥

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः ।
सत्ये वै ब्राह्मणस्तिष्ठंस्तद् विद्वान् सर्वविद् भवेत् ॥ ६२ ॥

जो (योगी) सम्पूर्ण लोकोंको प्रत्यक्ष देख लेता है, वह मनुष्य उन सब लोकोंका द्रष्टा कहलाता है; परंतु जो एक-मात्र सत्यस्वरूप ब्रह्ममें ही स्थित है, वही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण सर्वज्ञ होता है ॥ ६२ ॥

धर्मादिषु स्थितोऽप्येवं क्षत्रिय ब्रह्म पश्यति ।
वेदानां चानुपूर्व्येण एतद् बुद्ध्या ब्रवीमि ते ॥ ६३ ॥

राजन् ! पूर्वोक्त धर्म आदिमें स्थित होनेसे तथा वेदोंका क्रमसे (विधिवत्) अध्ययन करनेसे भी मनुष्य इसी प्रकार परमात्माका साक्षात्कार करता है । यह बात अपनी बुद्धिद्वारा निश्चय करके मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्मका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यामिमां परां त्वं
ब्राह्मीं वाचं वदसे विश्वरूपाम् ।
परां हि कामेन सुदुर्लभां कथां
प्रब्रूहि मे वाक्यमिदं कुमार ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—सनत्सुजातजी ! आप जिस सर्वोत्तम और सर्वरूपा ब्रह्मसम्बन्धिनी विद्याका उपदेश कर रहे हैं, कामी पुरुषोंके लिये वह अत्यन्त दुर्लभ है । कुमार ! मेरा तो यह कहना है कि आप इस उत्कृष्ट विषयका पुनः प्रतिपादन करें ॥ १ ॥

सनत्सुजात उवाच

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं
यन्मां पृच्छन्नतिहृष्यतीव ।
बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या
विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या ॥ २ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! तुम जो मुझसे बारंबार प्रश्न करते समय अत्यन्त हर्षित हो उठते हो, सो इस प्रकार जल्दबाजी करनेसे ब्रह्मकी उपलब्धि नहीं होती । बुद्धिमें मनके लय हो जानेपर सब वृत्तियोंका विरोध करनेवाली जो स्थिति है, उसका नाम है ब्रह्मविद्या और वह ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे ही उपलब्ध होती है ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अत्यन्तविद्यामिति यत् सनातनीं
ब्रवीषि त्वं ब्रह्मचर्येण सिद्धाम् ।
अनारभ्यां वसतीह कार्यकाले
कथं ब्राह्मण्यममृतत्वं लभेत ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जो कर्मोंद्वारा आरम्भ होने योग्य नहीं है तथा कार्यके समयमें भी जो इस आत्मामें ही रहती है, उस अनन्त ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली इस सनातन विद्या-को यदि आप ब्रह्मचर्यसे ही प्राप्त होने योग्य बता रहे हैं तो

मुझ-जैसे लोग ब्रह्मसम्बन्धी अमृतत्व (मोक्ष) को कैसे पा सकते हैं ? ॥ ३ ॥

सनत्सुजात उवाच

अव्यक्तविद्यामभिधास्ये पुराणीं
बुद्ध्या च तेषां ब्रह्मचर्येण सिद्धाम्।
यां प्राप्यैनं मर्त्यलोकं त्यजन्ति
या वै विद्या गुरुवृद्धेषु नित्या ॥ ४ ॥

सनत्सुजातजी बोले—अब मैं (सच्चिदानन्दघन) अव्यक्त ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली उस पुरातन विद्याका वर्णन करूँगा, जो मनुष्योंको बुद्धि और ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त होती है, जिसे पाकर विद्वान् पुरुष इस मरणधर्मा शरीरको सदाके लिये त्याग देते हैं तथा जो वृद्ध गुरुजनोंमें नित्य विद्यमान रहती है ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रह्मचर्येण या विद्या शक्या वेदितुमञ्जसा।
तत् कथं ब्रह्मचर्यं स्यादेतद् ब्रह्मन् ब्रवीहि मे ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—ब्रह्मन्! यदि वह ब्रह्मविद्या ब्रह्मचर्यके द्वारा ही सुगमतासे जानी जा सकती है तो पहले मुझे यही बताइये कि ब्रह्मचर्यका पालन कैसे होता है ? ॥ ५ ॥

सनत्सुजात उवाच

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य
भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति
प्रहाय देहं परमं यान्ति योगम् ॥ ६ ॥

सनत्सुजातजी बोले—जो लोग आचार्यके आश्रममें प्रवेश कर अपनी सेवासे उनके अन्तरङ्ग भक्त हो ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, वे यहीं शास्त्रकार हो जाते हैं और देहत्यागके पश्चात् परम योगरूप परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥६॥

अस्मिँल्लोके वै जयन्तीह कामान्
ब्राह्मीं स्थितिं ह्यनुतितिक्षमाणाः।
त आत्मानं निर्हरन्तीह देहा-
न्मुञ्जादिषीकामिव सत्त्वसंस्थाः ॥ ७ ॥

इस जगत्‌में जो लोग वर्तमान स्थितिमें रहते हुए ही सम्पूर्ण कामनाओंको जीत लेते हैं और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेके लिये ही नाना प्रकारके द्वन्द्वोंको सहन करते हैं, वे सत्त्वगुणमें स्थित हो यहाँ ही मूँजसे सींककी भाँति इस देहसे आत्माको (विवेकद्वारा) पृथक् कर लेते हैं ॥ ७ ॥

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत।
आचार्यशास्ता या जातिः सा पुण्या साजरामरा ॥ ८ ॥

भारत ! यद्यपि माता और पिता—ये ही दोनों इस शरीरको जन्म देते हैं, तथापि आचार्यके उपदेशसे जो जन्म प्राप्त होता है, वह परम पवित्र और अजर-अमर है ॥

यः प्रावृणोत्यवितथेन वर्णा-
नृतं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ॥ ९ ॥

जो परमार्थतत्त्वके उपदेशसे सत्यको प्रकट करके अमरत्व-प्रदान करते हुए ब्राह्मणादि वर्णोंकी रक्षा करते हैं, उन आचार्यको पिता-माता ही समझना चाहिये तथा उनके किये हुए उपकारका स्मरण करके कभी उनसे द्रोह नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत
स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः।
मानं न कुर्यान्नादधीत रोष-
मेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १० ॥

ब्रह्मचारी शिष्यको चाहिये कि वह नित्य गुरुको प्रणाम करे, बाहर-भीतरसे पवित्र हो प्रमाद छोड़कर स्वाध्यायमें मन लगावे, अभिमान न करे, मनमें क्रोधको स्थान न दे। यह ब्रह्मचर्यका पहला चरण है ॥ १० ॥

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥ ११ ॥

जो शिष्यकी वृत्तिके क्रमसे ही जीवन-निर्वाह करता हुआ पवित्र हो विद्या प्राप्त करता है, उसका यह नियम भी ब्रह्मचर्यव्रतका पहला ही पाद कहलाता है ॥ ११ ॥

आचार्यस्य प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।
कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १२ ॥

अपने प्राण और धन लगाकर भी मन, वाणी तथा कर्मसे आचार्यका प्रिय करे, यह दूसरा पाद कहलाता है ॥

समा गुरौ यथा वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत्।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १३ ॥

गुरुके प्रति शिष्यका जैसा श्रद्धा और सम्मानपूर्ण बर्ताव हो, वैसा ही गुरुकी पत्नी और पुत्रके साथ भी होना चाहिये। यह भी ब्रह्मचर्यका द्वितीय पाद ही कहलाता है ॥ १३ ॥

आचार्येणात्मकृतं विजानन्
ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन।
यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः
स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १४ ॥

आचार्यने जो अपना उपकार किया, उसे ध्यानमें रखकर तथा उससे जो प्रयोजन सिद्ध हुआ, उसका भी विचार करके मन-ही-मन प्रसन्न होकर शिष्य आचार्यके प्रति जो ऐसा भाव रखता है कि इन्होंने मुझे बड़ी उन्नत अवस्थामें पहुँचा दिया—यह ब्रह्मचर्यका तीसरा पाद है ॥

नाचार्यस्यानपाकृत्य प्रवासं
प्राज्ञः कुर्वीत नैतदहं करोमि ।
इतीव मन्येत न भाषयेत
स वै चतुर्थो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १५ ॥

आचार्यके उपकारका बदला चुकाये बिना अर्थात् गुरुदक्षिणा आदिके द्वारा उन्हें संतुष्ट किये बिना विद्वान् शिष्य वहाँसे अन्यत्र न जाय। [दक्षिणा देकर या गुरुकी सेवा करके] कभी मनमें ऐसा विचार न लावे कि मैं गुरुका उपकार कर रहा हूँ तथा मुँहसे भी कभी ऐसी बात न निकाले। यह ब्रह्मचर्यका चौथा पाद है ॥ १५ ॥

कालेन पादं लभते तथार्थं
ततश्च पादं गुरुयोगतश्च ।
उत्साहयोगेन च पादमृच्छे-
च्छास्त्रेण पादं च ततोऽभियाति ॥ १६ ॥

सनातनी विद्याके कुछ अंशको तथा उसके मर्मको तो मनुष्य समयके योगसे प्राप्त करता है, कुछ अंशको गुरुके सम्बन्धसे तथा कुछ अंशको अपने उत्साहके सम्बन्धसे और कुछ अंशको परस्पर शास्त्रके विचारसे प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

धर्मादयो द्वादश यस्य रूप-
मन्यानि चाङ्गानि तथा बलं च ।
आचार्ययोगे फलतीति चाहु-
र्ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्यम् ॥ १७ ॥

पूर्वोक्त धर्मादि बारह गुण जिसके स्वरूप हैं तथा और भी जो धर्मके अङ्ग एवं सामर्थ्य हैं, वे भी जिसके स्वरूप हैं, वह ब्रह्मचर्य आचार्यके सम्बन्धसे प्राप्त वेदार्थके ज्ञानसे सफल होता है, ऐसा कहा जाता है ॥ १७ ॥

एवं प्रवृत्तो यदुपालभेत वै
धनमाचार्याय तदनुप्रयच्छेत् ।
सतां वृत्तिं बहुगुणामेवमेति
गुरोः पुत्रे भवति च वृत्तिरेषा ॥ १८ ॥

इस तरह ब्रह्मचर्यपालनमें प्रवृत्त हुए ब्रह्मचारीको चाहिये कि जो कुछ भी धन (जीवननिर्वाह योग्य वस्तुएँ) भिक्षामें प्राप्त हो, उसे आचार्यको अर्पण कर दे। ऐसा करनेसे वह शिष्य सत्पुरुषोंके अनेक गुणोंसे युक्त आचार-को प्राप्त होता है। गुरुपुत्रके प्रति भी उसकी यही भावना रहनी चाहिये ॥ १८ ॥

एवं वसन् सर्वतो वर्धतीह
बहून् पुत्राँल्लभते च प्रतिष्ठाम् ।
वर्षन्ति चास्मै प्रदिशो दिशश्च
वसन्त्यस्मिन् ब्रह्मचर्ये जनाश्च ॥ १९ ॥

ऐसी वृत्तिसे गुरुगृहमें रहनेवाले शिष्यकी इस संसारमें सब प्रकारसे उन्नति होती है। वह (गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके) बहुत-से पुत्र और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। सम्पूर्ण दिशा-विदिशाएँ उसके लिये सुखकी वर्षा करती हैं तथा उसके निकट बहुत-से दूसरे लोग ब्रह्मचर्यपालनके लिये निवास करते हैं ॥ १९ ॥

एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वमाप्नुवन् ।
ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मलोकं मनीषिणः ॥ २० ॥

इस ब्रह्मचर्यके पालनसे ही देवताओंने देवत्व प्राप्त किया और महान् सौभाग्यशाली मनीषी ऋषियोंने ब्रह्मलोकको प्राप्त किया ॥ २० ॥

गन्धर्वाणामनेनैव रूपमप्सरसामभूत् ।
एतेन ब्रह्मचर्येण सूर्योऽप्यह्नाय जायते ॥ २१ ॥

इसीके प्रभावसे गन्धर्वों और अप्सराओंको दिव्य रूप प्राप्त हुआ। इस ब्रह्मचर्यके ही प्रतापसे सूर्यदेव समस्त लोकोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ होते हैं ॥ २१ ॥

आकाङ्क्ष्यार्थस्य संयोगाद् रसभेदार्थिनामिव ।
एवं ह्येते समाज्ञाय तादृग्भावं गता इमे ॥ २२ ॥

रसभेदरूप चिन्तामणिसे याचना करनेवालोंको जैसे उनके अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करनेवाला है। ऐसा समझकर ये ऋषि-देवता आदि ब्रह्मचर्यके पालनसे वैसे भावको प्राप्त हुए ॥ २२ ॥

य आश्रयेत् पावयेच्चापि राजन्
सर्वं शरीरं तपसा तप्यमानः ।
एतेन वै बाल्यमभ्येति विद्वान्
मृत्युं तथा स जयत्यन्तकाले ॥ २३ ॥

राजन्! जो इस ब्रह्मचर्यका आश्रय लेता है, वह ब्रह्मचारी यम-नियमादि तपका आचरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण शरीरको भी पवित्र बना लेता है तथा इससे विद्वान् पुरुष निश्चय ही अबोध बालककी भाँति राग-द्वेषसे शून्य हो जाता है और अन्त समयमें वह मृत्युको भी जीत लेता है ॥ २३ ॥

अन्तवतः क्षत्रिय ते जयन्ति
लोकान् जनाः कर्मणा निर्मलेन ।
ब्रह्मैव विद्वांस्तेन चाभ्येति सर्वं
नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥ २४ ॥

राजन्! सकाम पुरुष अपने पुण्यकर्मोंके द्वारा नाशवान् लोकोंको ही प्राप्त करते हैं; किंतु जो ब्रह्मको जाननेवाला विद्वान् है, वही उस ज्ञानके द्वारा सर्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। मोक्षके लिये ज्ञानके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है ॥

धृतराष्ट्र उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो
कृष्णमथाञ्जनं काद्रवं वा।
सद्ब्राह्मणः पश्यति योऽत्र विद्वान्
कथं रूपं तदमृतमक्षरं पदम् ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वान् पुरुष यहाँ सत्यस्वरूप परमात्माके जिस अमृत एवं अविनाशी परमपदका साक्षात्कार करते हैं, उसका रूप कैसा है? क्या वह सफेद-सा, लाल-सा, काजल-सा काला या सुवर्ण-जैसे पीले रंगका प्रतीत होता है? ॥ २५ ॥

सनत्सुजात उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो
कृष्णमायसमर्कवर्णम् ।
न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे
नैतत् समुद्रे सलिलं बिभर्ति ॥ २६ ॥

सनत्सुजातने कहा—यद्यपि श्वेत, लाल, काले, लोहेके सदृश अथवा सूर्यके समान प्रकाशमान अनेकों प्रकारके रूप प्रतीत होते हैं, तथापि ब्रह्मका वास्तविक रूप न पृथ्वीमें है, न आकाशमें। समुद्रका जल भी उस रूपको नहीं धारण करता ॥ २६ ॥

न तारकासु न च विद्युदाश्रितं
न चाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य।
न चापि वायौ न च देवतासु
नैतच्चन्द्रे दृश्यते नोत सूर्ये ॥ २७ ॥

इस ब्रह्मका वह रूप न तारोंमें है, न बिजलीके आश्रित है और न बादलोंमें ही दिखायी देता है। इसी प्रकार वायु, देवगण, चन्द्रमा और सूर्यमें भी वह नहीं देखा जाता ॥ २७ ॥

नैवर्क्षु तन्न यजुःषु नाप्यथर्वसु
न दृश्यते वै विमलेषु सामसु।
रथन्तरे बार्हद्रथे वापि राजन्
महाव्रते नैव दृश्येद् ध्रुवं तत् ॥ २८ ॥

राजन्! ऋग्वेदकी ऋचाओंमें, यजुर्वेदके मन्त्रोंमें, अथर्ववेदके सूक्तोंमें तथा विशुद्ध सामवेदमें भी वह नहीं दृष्टिगोचर होता। रथन्तर और बार्हद्रथ नामक साममें तथा महान् व्रतमें भी उसका दर्शन नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्म नित्य है ॥ २८ ॥

अपारणीयं तमसः परस्तात्
तदन्तकोऽप्येति विनाशकाले।
अणीयो रूपं क्षुरधारया समं
महच्च रूपं तद् वै पर्वतेभ्यः ॥ २९ ॥

ब्रह्मके उस स्वरूपका कोई पार नहीं पा सकता। वह अज्ञानरूप अन्धकारसे सर्वथा अतीत है। महाप्रलयमें सबका अन्त करनेवाला काल भी उसीमें लीन हो जाता है। वह रूप अस्तुरेकी धारके समान अत्यन्त सूक्ष्म और पर्वतोंसे भी महान् है (अर्थात् वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर और महान्से भी महान् है) ॥ २९ ॥

सा प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद् ब्रह्म तद् यशः।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात् प्रलयं यान्ति तत्र हि ॥ ३० ॥

वही सबका आधार है, वही अमृत है, वही लोक, वही यश तथा वही ब्रह्म है। सम्पूर्ण भूत उसीसे प्रकट हुए और उसीमें लीन होते हैं ॥ ३० ॥

अनामयं तन्महदुद्यतं यशो
वाचो विकारं कवयो वदन्ति।
यस्मिन् जगत् सर्वमिदं प्रतिष्ठितं
ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ३१ ॥

विद्वान् कहते हैं, कार्यरूप जगत् वाणीका विकारमात्र है; किंतु जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है, वह ब्रह्म रोग, शोक और पापसे रहित है और उसका महान् यश सर्वत्र फैला हुआ है। उस नित्य कारणस्वरूप ब्रह्मको जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

गुण-दोषोंके लक्षणोंका वर्णन और ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन

सनत्सुजात उवाच

शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मानः परासुता।
ईर्ष्या मोहो विधित्सा च कृपासूया जुगुप्सुता ॥ १ ॥
द्वादशैते महादोषा मनुष्यप्राणनाशनाः।

सनत्सुजातजी कहते हैं—राजन्! शोक, क्रोध, लोभ,

काम, मान, अत्यन्त निद्रा, ईर्ष्या, मोह, तृष्णा, कायरता, गुणोंमें दोष देखना और निन्दा करना—ये बारह महान् दोष मनुष्योंके प्राणनाशक हैं ॥ १½ ॥

एकैकमेते राजेन्द्र मनुष्यान् पर्युपासते ।
यैराविष्टो नरः पापं मूढसंज्ञो व्यवस्यति ॥ २ ॥

राजेन्द्र ! क्रमशः एकके पीछे दूसरा आकर ये सभी दोष मनुष्योंको प्राप्त होते जाते हैं, जिनके वशमें होकर मूढ़-बुद्धि मानव पापकर्म करने लगता है ॥ २ ॥

स्पृहयालुरुग्रः परुषो वा वदान्यः
क्रोधं बिभ्रन्मनसा वै विकत्थी ।
नृशंसधर्माः षडिमे जना वै
प्राप्याप्यर्थं नोत सभाजयन्ते ॥ ३ ॥

लोलुप, क्रूर, कठोरभाषी, कृपण, मन-ही-मन क्रोध करनेवाले और अधिक आत्मप्रशंसा करनेवाले—ये छः प्रकारके मनुष्य निश्चय ही क्रूर कर्म करनेवाले होते हैं । ये प्राप्त हुई सम्पत्तिका उचित उपयोग नहीं करते ॥ ३ ॥

सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी
दत्त्वा विकत्थी कृपणो दुर्बलश्च ।
बहुप्रशंसी वन्दितद्विट् सदैव
सप्तैवोक्ताः पापशीला नृशंसाः ॥ ४ ॥

सम्भोगमें मन लगानेवाले, विषमता रखनेवाले, अत्यन्त अभिमानी, दान देकर आत्मश्लाघा करनेवाले, कृपण, असमर्थ होकर भी अपनी बहुत बड़ाई करनेवाले और सम्मान्य पुरुषोंसे सदा द्वेष रखनेवाले—ये सात प्रकारके मनुष्य ही पापी और क्रूर कहे गये हैं ॥ ४ ॥

धर्मश्च सत्यं च तपो दमश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया ।
दानं श्रुतं चैव धृतिः क्षमा च
महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ ५ ॥

धर्म, सत्य, तप, इन्द्रियसंयम, डाह न करना, लज्जा, सहनशीलता, किसीके दोष न देखना, दान, शास्त्रज्ञान, धैर्य और क्षमा—ये ब्राह्मणके बारह महान् व्रत हैं ॥ ५ ॥

यो नैतेभ्यः प्रच्यवेद् द्वादशभ्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वान्वितो यो
नास्य स्वमस्तीति च वेदितव्यम् ॥ ६ ॥

जो इन बारह व्रतोंसे कभी च्युत नहीं होता, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर शासन कर सकता है । इनमेंसे तीन, दो या एक गुणसे भी जो युक्त है, उसका अपना कुछ भी नहीं होता—ऐसा समझना चाहिये (अर्थात् उसकी किसी भी वस्तुमें ममता नहीं होती) ॥ ६ ॥

दमस्त्यागोऽथाप्रमाद इत्येतेष्वमृतं स्थितम् ।
एतानि ब्रह्ममुख्यानां ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियनिग्रह, त्याग और अप्रमाद—इनमें अमृतकी स्थिति है । ब्रह्म ही जिनका प्रधान लक्ष्य है, उन बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके ये ही मुख्य साधन हैं ॥ ७ ॥

सद् वासद् वा परीवादो ब्राह्मणस्य न शस्यते ।
नरकप्रतिष्ठास्ते वै स्युर्य एवं कुर्वते जनाः ॥ ८ ॥

सच्ची हो या झूठी, दूसरोंकी निन्दा करना ब्राह्मणको शोभा नहीं देता । जो लोग दूसरोंकी निन्दा करते हैं, वे अवश्य ही नरकमें पड़ते हैं ॥ ८ ॥

मदोऽष्टादशदोषः स स्यात् पुरा योऽप्रकीर्तितः ।
लोकद्वेष्यं प्रातिकूल्यमभ्यसूया मृषा वचः ॥ ९ ॥

मदके अठारह दोष हैं, जो पहले सूचित करके भी स्पष्टरूपसे नहीं बताये गये थे—लोकविरोधी कार्य करना, शास्त्रके प्रतिकूल आचरण करना, गुणियोंपर दोषारोपण, असत्यभाषण, ॥ ९ ॥

कामक्रोधौ पारतन्त्र्यं परिवादोऽथ पैशुनम् ।
अर्थहानिर्विवादश्च मात्सर्यं प्राणिपीडनम् ॥ १० ॥

काम, क्रोध, पराधीनता, दूसरोंके दोष बताना, चुगली करना, धनका (दुरुपयोगसे) नाश, कलह, डाह, प्राणियों-को कष्ट पहुँचाना, ॥ १० ॥

ईर्ष्या मोदोऽतिवादश्च संज्ञानाशोऽभ्यसूयिता ।
तस्मात् प्राज्ञो न माद्येत सदा ह्येतद् विगर्हितम् ॥ ११ ॥

ईर्ष्या, हर्ष, बहुत बकवाद, विवेकशून्यता तथा गुणोंमें दोष देखनेका स्वभाव । इसलिये विद्वान् पुरुषको मदके वशीभूत नहीं होना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंने इस मदको सदा ही निन्दित बताया है ॥ ११ ॥

सौहृदे वै षड् गुणा वेदितव्याः
प्रिये हृष्यन्त्यप्रिये च व्यथन्ते ।
स्यादात्मनः सुचिरं याचते यो
ददात्ययाच्यमपि देयं खलु स्यात् ।
इष्टान् पुत्रान् विभवान् स्वांश्च दारा-
नभ्यर्थितश्चार्हति शुद्धभावः ॥ १२ ॥

सौहार्द (मित्रता) के छः गुण हैं, जो अवश्य ही जानने योग्य हैं । सुहृद्का प्रिय होनेपर हर्षित होना और अप्रिय होनेपर कष्टका अनुभव करना—ये दो गुण हैं । तीसरा गुण यह है कि अपना जो कुछ चिरसंचित धन है, उसे मित्रके,

माँगनेपर दे डाले । मित्रके लिये अयाच्य वस्तु भी अवश्य देने योग्य हो जाती है और तो क्या, सुहृद्के माँगनेपर वह शुद्ध भावसे अपने प्रिय पुत्र, वैभव तथा पत्नीको भी उसके हितके लिये निछावर कर देता है ॥ १२ ॥

त्यक्तद्रव्यः संवसेन्नेह कामाद्
भुङ्क्ते कर्म स्वाशिषं बाधते च ॥ १३ ॥

मित्रको धन देकर उसके यहाँ प्रत्युपकार पानेकी कामनासे निवास न करे—यह चौथा गुण है । अपने परिश्रमसे उपार्जित धनका उपभोग करे (मित्रकी कमाईपर अवलम्बित न रहे)—यह पाँचवाँ गुण है तथा मित्रकी भलाईके लिये अपने भलेकी परवा न करे—यह छठा गुण है ॥ १३ ॥

द्रव्यवान् गुणवानेवं त्यागी भवति सात्त्विकः ।
पञ्च भूतानि पञ्चभ्यो निवर्तयति तादृशः ॥ १४ ॥

जो धनी गृहस्थ इस प्रकार गुणवान्, त्यागी और सात्त्विक होता है, वह अपनी पाँचों इन्द्रियोंसे पाँचों विषयोंको हटा देता है ॥ १४ ॥

एतत् समृद्धमप्यूर्ध्वं तपो भवति केवलम् ।
सत्त्वात् प्रच्यवमानानां संकल्पेन समाहितम् ॥ १५ ॥

जो (वैराग्यकी कमीके कारण) सत्त्वसे भ्रष्ट हो गये हैं, ऐसे मनुष्योंके दिव्य लोकोंकी प्राप्तिके संकल्पसे संचित किया हुआ यह इन्द्रियनिग्रहरूप तप समृद्ध होनेपर भी केवल ऊर्ध्वलोकोंकी प्राप्तिका कारण होता है [मुक्तिका नहीं] ॥१५॥

यतो यज्ञाः प्रवर्धन्ते सत्यस्यैवावरोधनात् ।
मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा ॥ १६ ॥

क्योंकि सत्यस्वरूप ब्रह्मका बोध न होनेसे ही इन सकाम यज्ञोंकी वृद्धि होती है । किसीका यज्ञ मनसे, किसीका वाणीसे और किसीका क्रियाके द्वारा सम्पन्न होता है ॥ १६ ॥

संकल्पसिद्धं पुरुषमसंकल्पोऽधितिष्ठति ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण किञ्चान्यदपि मे शृणु ॥ १७ ॥

संकल्पसिद्ध अर्थात् सकामपुरुषसे संकल्परहित यानी निष्कामपुरुषकी स्थिति ऊँची होती है; किंतु ब्रह्मवेत्ताकी स्थिति उससे भी विशिष्ट है । इसके सिवा एक बात और बताता हूँ, सुनो ॥ १७ ॥

अध्यापयेन्महदेतद् यशस्यं
वाचो विकाराः कवयो वदन्ति ।
अस्मिन् योगे सर्वमिदं प्रतिष्ठितं
ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १८ ॥

यह महत्त्वपूर्ण शास्त्र परम यशरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है, इसे शिष्योंको अवश्य पढ़ाना चाहिये । परमात्मासे भिन्न यह सारा दृश्य-प्रपञ्च वाणीका विकारमात्र है—ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं । इस योगशास्त्रमें यह परमात्मविषयक सम्पूर्ण ज्ञान प्रतिष्ठित है; इसे जो जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं ॥ १८ ॥

न कर्मणा सुकृतेनैव राजन्
सत्यं जयेज्जुहुयाद् वा यजेद् वा ।
नैतेन बालोऽमृत्युमभ्येति राजन्
रतिं चासौ न लभत्यन्तकाले ॥ १९ ॥

राजन् ! (निष्कामभावके बिना किये हुए) केवल पुण्यकर्मके द्वारा सत्यस्वरूप ब्रह्मको नहीं जीता जा सकता । अथवा जो हवन या यज्ञ किया जाता है, उससे भी अज्ञानी पुरुष अमरत्व—मुक्तिको नहीं पा सकता तथा अन्तकालमें उसे शान्ति भी नहीं मिलती ॥ १९ ॥

तूष्णीमेक उपासीत चेष्टेत मनसापि न ।
तथा संस्तुतिनिन्दाभ्यां प्रीतिरोषौ विवर्जयेत् ॥ २० ॥

इसलिये सब प्रकारकी चेष्टासे रहित होकर एकान्तमें उपासना करे, मनसे भी कोई चेष्टा न होने दे तथा स्तुतिमें राग और निन्दामें द्वेष न करे ॥ २० ॥

अत्रैव तिष्ठन् क्षत्रिय ब्रह्माविशति पश्यति ।
वेदेषु चानुपूर्व्येण एतद् विद्वन् ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥

राजन् ! उपर्युक्त साधन करनेसे मनुष्य यहाँ ही ब्रह्मका साक्षात्कार करके उसमें विलीन हो जाता है । विद्वन् ! वेदोंमें क्रमशः विचार करके जो मैंने जाना है, वही तुम्हें बता रहा हूँ ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४५॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

परमात्माके स्वरूपका वर्णन और योगीजनोंके द्वारा उनके साक्षात्कारका प्रतिपादन

सनत्सुजात उवाच

यत् तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद् यशः ।
तद् वै देवा उपासते तस्मात् सूर्यो विराजते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १ ॥

सनत्सुजातजी कहते हैं—राजन्! जो शुद्ध ब्रह्म है, वह महान् ज्योतिर्मय, देदीप्यमान एवं विशाल यशरूप है। सब देवता उसीकी उपासना करते हैं। उसीके प्रकाशसे सूर्य प्रकाशित होते हैं, उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ १॥

शुक्राद् ब्रह्म प्रभवति ब्रह्म शुक्रेण वर्धते।
तच्छुक्रं ज्योतिषां मध्येऽतप्तं तपति तापनम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ २॥

शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्मसे हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति होती है तथा उसीसे वह वृद्धिको प्राप्त होता है। वह शुद्ध ज्योतिर्मय ब्रह्म ही सूर्यादि सम्पूर्ण ज्योतियोंके भीतर स्थित होकर सबको प्रकाशित कर रहा है और तपा रहा है; वह स्वयं सब प्रकारसे अतप्त और स्वयंप्रकाश है, उसी सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ २॥

अपोऽथ अद्भ्यः सलिलस्य मध्ये
उभौ देवौ शिश्रियातेऽन्तरिक्षे।
अतन्द्रितः सवितुर्विवस्वा-
नुभौ बिभर्ति पृथिवीं दिवं च।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ३॥

जलकी भाँति एकरस परब्रह्म परमात्मामें स्थित पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे अत्यन्त स्थूल पाञ्चभौतिक शरीरके हृदयाकाशमें दो देव—ईश्वर और जीव उसको आश्रय बनाकर रहते हैं। सबको उत्पन्न करनेवाला सर्वव्यापी परमात्मा सदैव जाग्रत् रहता है। वही इन दोनोंको तथा पृथ्वी और द्युलोकको भी धारण करता है। उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ ३॥

उभौ च देवौ पृथिवीं दिवं च
दिशः शुक्रो भुवनं बिभर्ति।
तस्माद् दिशः सरितश्च स्रवन्ति
तस्मात् समुद्रा विहिता महान्ताः।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ४॥

उक्त दोनों देवताओंको, पृथ्वी और आकाशको, सम्पूर्ण दिशाओंको तथा समस्त लोकसमुदायको वह शुद्ध ब्रह्म ही धारण करता है। उसी परब्रह्मसे दिशाएँ प्रकट हुई हैं, उसीसे सरिताएँ प्रवाहित होती हैं तथा उसीसे बड़े-बड़े समुद्र प्रकट हुए हैं। उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ ४॥

चक्रे रथस्य तिष्ठन्तोऽध्रुवस्याव्ययकर्मणः।
केतुमन्तं वहन्त्यश्वास्तं दिव्यमजरं दिवि।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ५॥

जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका संघात—शरीर विनाशशील है, जिसके कर्म अपने-आप नष्ट होनेवाले नहीं हैं, ऐसे इस शरीररूप रथके चक्रकी भाँति इसे घुमानेवाले कर्मसंस्कारसे युक्त मनमें जुते हुए इन्द्रियरूप घोड़े उस हृदयाकाशमें स्थित ज्ञानस्वरूप दिव्य अविनाशी जीवात्माको जिस सनातन परमेश्वरके निकट ले जाते हैं, उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं *॥ ५॥

न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
मनीषयाथो मनसा हृदा च
य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ६॥

उस परमात्माका स्वरूप किसी दूसरेकी तुलनामें नहीं आ सकता; उसे कोई चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकता। जो निश्चयात्मिका बुद्धिसे, मनसे और हृदयसे उसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं†॥ ६॥

द्वादशपूगां सरितं पिबन्तो देवरक्षिताम्।
मध्वीक्षन्तश्च ते तस्याः संचरन्तीह घोराम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ७॥

जो दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन बारहके समुदायसे युक्त है तथा जो परमात्मासे सुरक्षित है, उस संसाररूप भयंकर नदीके विषयरूप मधुर जलको देखने और पीनेवाले लोग उसीमें गोता लगाते रहते हैं। इससे मुक्त करनेवाले उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ ७॥

तदर्धमासं पिबति संचित्य भ्रमरो मधु।
ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ८॥

---

* प्रस्तुत रूपकका कठोपनिषद्‌के प्रथम अध्यायकी तीसरी वल्लीके तीसरेसे लेकर नवें श्लोकतक विस्तृत विवरण मिलता है।

† इससे प्रायः मिलता-जुलता एक श्लोक कठोपनिषद्‌में मिलता है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

जैसे शहदकी मक्खी आधे मासतक शहदका संग्रह करके फिर आधे मासतक उसे पीती रहती है, उसी प्रकार यह भ्रमणशील संसारी जीव इस जन्ममें किये हुए संचित कर्मको परलोकमें (विभिन्न योनियोंमें) भोगता है। परमात्माने समस्त प्राणियोंके लिये उनके कर्मानुसार कर्मफलभोगरूप हविकी अर्थात् समस्त भोग-पदार्थोंकी व्यवस्था कर रक्खी है। उस सनातन भगवान्‌का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥८॥

हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपद्य ह्यपक्षकाः ।
ते तत्र पक्षिणो भूत्वा प्रपतन्ति यथा दिशम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ९ ॥

जिसके विषयरूपी पत्ते स्वर्णके समान मनोरम दिखायी पड़ते हैं, उस संसाररूपी अश्वत्थवृक्षपर आरूढ होकर पंखहीन जीव कर्मरूपी पंख धारणकर अपनी वासनाके अनुसार विभिन्न योनियोंमें पड़ते हैं अर्थात् एक योनिसे दूसरी योनिमें गमन करते हैं; किंतु योगीजन उस सनातन परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ ९ ॥

पूर्णात् पूर्णान्युद्धरन्ति पूर्णात् पूर्णानि चक्रिरे।
हरन्ति पूर्णात् पूर्णानि पूर्णमेवावशिष्यते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १० ॥

पूर्ण परमेश्वरसे पूर्ण—चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं, पूर्ण सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही वे पूर्ण प्राणी चेष्टा करते हैं, फिर पूर्णसे ही पूर्णब्रह्ममें उनका उपसंहार (विलय) होता है तथा अन्तमें एकमात्र पूर्णब्रह्म ही शेष रह जाता है। उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥१०॥

तस्माद् वै वायुरायातस्तस्मिंश्च प्रयतः सदा ।
तस्मादग्निश्च सोमश्च तस्मिंश्च प्राण आततः ॥ ११ ॥

उस पूर्णब्रह्मसे ही वायुका आविर्भाव हुआ है और उसीमें वह चेष्टा करता है। उसीसे अग्नि और सोमकी उत्पत्ति हुई है तथा उसीमें यह प्राण विस्तृत हुआ है ॥११॥

सर्वमेव ततो विद्यात् तत् तद् वक्तुं न शक्नुमः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १२ ॥

कहाँतक गिनावें, हम अलग-अलग वस्तुओंका नाम बतानेमें असमर्थ हैं। तुम इतना ही समझो कि सब कुछ उस परमात्मासे ही प्रकट हुआ है। उस सनातन भगवान्‌का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १२ ॥

अपानं गिरति प्राणः प्राणं गिरति चन्द्रमाः ।
आदित्यो गिरते चन्द्रमादित्यं गिरते परः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १३ ॥

अपानको प्राण अपनेमें विलीन कर लेता है, प्राणको चन्द्रमा, चन्द्रमाको सूर्य और सूर्यको परमात्मा अपनेमें विलीन कर लेता है; उस सनातन परमेश्वरका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १३ ॥

एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
तं चेत् संततमूर्ध्वाय न मृत्युर्नामृतं भवेत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १४ ॥

इस संसार-सलिलसे ऊपर उठा हुआ हंसरूप परमात्मा अपने एक पाद (जगत्) को ऊपर नहीं उठा रहा है; यदि उसे भी वह ऊपर उठा ले तो सबका बन्ध और मोक्ष सदाके लिये मिट जाय । उस सनातन परमेश्वरका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ १४ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
लिङ्गस्य योगेन स याति नित्यम् ।
तमीशमीड्यमनुकल्पमाद्यं
पश्यन्ति मूढा न विराजमानम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १५ ॥

हृदयदेशमें स्थित वह अङ्गुष्ठमात्र जीवात्मा सूक्ष्म (वहीं अन्तर्यामीरूपसे स्थित) शरीरके सम्बन्धसे सदा जन्म-मरणको प्राप्त होता है । उस सबके शासक, स्तुतिके योग्य, सर्वसमर्थ, सबके आदिकारण एवं सर्वत्र विराजमान परमात्माको मूढ़ जीव नहीं देख पाते; किंतु योगीजन उस सनातन परमेश्वरका साक्षात्कार करते हैं ॥ १५ ॥

असाधना वापि ससाधना वा
समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु ।
समानमेतदमृतस्येतरस्य
मुक्तास्तत्र मध्व उत्सं समापुः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १६ ॥

कोई साधनसम्पन्न हों या साधनहीन, वह ब्रह्म सब मनुष्योंमें समानरूपसे देखा जाता है । वह (अपनी ओरसे) बद्ध और मुक्त दोनोंके ही लिये समान है । अन्तर इतना ही है कि इन दोनोंमेंसे जो मुक्त पुरुष हैं, वे ही आनन्दके मूलस्रोत परमात्माको प्राप्त होते हैं, (दूसरे

नहीं) । उसी सनातन भगवान्का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १६ ॥

उभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति
तदा हुतं चाहुतमग्निहोत्रम् ।
मा ते ब्राह्मी लघुतामादधीत
प्रज्ञानं स्यान्नाम धीरा लभन्ते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १७ ॥

ज्ञानी पुरुष ब्रह्मविद्याके द्वारा इस लोक और परलोक दोनोंके तत्त्वको जानकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है । उस समय उसके द्वारा यदि अग्निहोत्र आदि कर्म न भी हुए हों तो भी वे पूर्ण हुए समझे जाते हैं । राजन् ! यह ब्रह्मविद्या तुममें लघुता न आने दे तथा इसके द्वारा तुम्हें वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो, जिसे धीर पुरुष ही प्राप्त करते हैं । उसी ब्रह्मविद्याके द्वारा योगीलोग उस सनातन परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ १७ ॥

एवंरूपो महात्मा स पावकं पुरुषो गिरन् ।
यो वै तं पुरुषं वेद तस्येहार्थो न रिष्यते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १८ ॥

जो ऐसा महात्मा पुरुष है, वह भोक्ताभावको अपनेमें विलीन करके उस पूर्ण परमेश्वरको जान लेता है। इस लोकमें उसका प्रयोजन नष्ट नहीं होता [अर्थात् वह कृतकृत्य हो जाता है] । उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १८ ॥

यः सहस्रं सहस्राणां पक्षान् संतत्य सम्पतेत् ।
मध्यमे मध्य आगच्छेदपि चेत् स्यान्मनोजवः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १९ ॥

कोई मनके समान वेगवाला ही क्यों न हो और दस लाख भी पंख लगाकर क्यों न उड़े, अन्तमें उसे हृदयस्थित परमात्मामें ही आना पड़ेगा । उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ १९ ॥

न दर्शने तिष्ठति रूपमस्य
पश्यन्ति चैनं सुविशुद्धसत्त्वाः ।
हितो मनीषी मनसा न तप्यते
ये प्रव्रजेयुरमृतास्ते भवन्ति ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २० ॥

इस परमात्माका स्वरूप सबके प्रत्यक्ष नहीं होता; जिनका अन्तःकरण विशुद्ध है, वे ही उसे देख पाते हैं । जो सबके हितैषी और मनको वशमें करनेवाले हैं तथा जिनके मनमें कभी दुःख नहीं होता एवं जो संसारके सब सम्बन्धोंका सर्वथा त्याग कर देते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं । उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ २० ॥

गूहन्ति सर्पा इव गह्वराणि
स्वशिक्षया स्वेन वृत्तेन मर्त्याः ।
तेषु प्रमुह्यन्ति जना विमूढा
यथाध्वानं मोहयन्ते भयाय ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २१ ॥

जैसे साँप बिलोंका आश्रय ले अपनेको छिपाये रहते हैं, उसी प्रकार दम्भी मनुष्य अपनी शिक्षा और व्यवहारकी आड़में अपने दोषोंको छिपाये रखते हैं । जैसे ठग रास्ता चलनेवालोंको भयमें डालनेके लिये दूसरा रास्ता बतलाकर मोहित कर देते हैं, मूर्ख मनुष्य उनपर विश्वास करके अत्यन्त मोहमें पड़ जाते हैं; इसी प्रकार जो परमात्माके मार्गमें चलनेवाले हैं, उन्हें भी दम्भी पुरुष भयमें डालनेके लिये मोहित करनेकी चेष्टा करते हैं, किंतु योगीजन भगवत्कृपासे उनके फंदेमें न आकर उस सनातन परमात्माका ही साक्षात्कार करते हैं ॥ २१ ॥

नाहं सदासत्कृतः स्यां न मृत्यु-
र्नचामृत्युरमृतं मे कुतः स्यात् ।
सत्यानृते सत्यसमानबन्धे
सतश्च योनिरसतश्चैक एव ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २२ ॥

राजन् ! मैं कभी किसीके असत्कारका पात्र नहीं होता । न मेरी मृत्यु होती है न जन्म, फिर मोक्ष किसका और कैसे हो [क्योंकि मैं नित्यमुक्त ब्रह्म हूँ] । सत्य और असत्य सब कुछ मुझ सनातन समब्रह्ममें स्थित हैं । एकमात्र मैं ही सत् और असत्की उत्पत्तिका स्थान हूँ । मेरे स्वरूपभूत उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ २२ ॥

न साधुना नोत असाधुना वा-
समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु ।

समानमेतदमृतस्य विद्या-
देवंयुक्तो मधु तद् वै परीप्सेत्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २३ ॥

परमात्माका न तो साधुकर्मसे सम्बन्ध है और न असाधु कर्मसे । यह विषमता तो देहाभिमानी मनुष्योंमें ही देखी जाती है । ब्रह्मका स्वरूप सर्वत्र समान ही समझना चाहिये । इस प्रकार ज्ञानयोगसे युक्त होकर आनन्दमय ब्रह्मको ही पानेकी इच्छा करनी चाहिये । उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ २३ ॥

नास्यातिवादा हृदयं तापयन्ति
नानधीतं नाहुतमग्निहोत्रम्।
मनो ब्राह्मी लघुतामादधीत
प्रज्ञां चास्मै नाम धीरा लभन्ते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २४ ॥

इस ब्रह्मवेत्ता पुरुषके हृदयको निन्दाके वाक्य संतप्त नहीं करते । 'मैंने स्वाध्याय नहीं किया, अग्निहोत्र नहीं किया' इत्यादि बातें भी उसके मनमें तुच्छ भाव नहीं उत्पन्न करतीं । ब्रह्मविद्या शीघ्र ही उसे वह स्थिरबुद्धि प्रदान करती है, जिसे धीर पुरुष ही प्राप्त करते हैं । उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ २४ ॥

एवं यः सर्वभूतेषु आत्मानमनुपश्यति ।
अन्यत्रान्यत्र युक्तेषु किं स शोचेत् ततः परम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार जो समस्त भूतोंमें परमात्माको निरन्तर देखता है, वह ऐसी दृष्टि प्राप्त होनेके अनन्तर अन्यान्य विषय-भोगोंमें आसक्त मनुष्योंके लिये क्या शोक करे ? ॥ २५ ॥

यथोदपाने महति सर्वतः सम्प्लुतोदके।
एवं सर्वेषु वेदेषु आत्मानमनुजानतः ॥ २६ ॥

जैसे सब ओर जलसे परिपूर्ण बड़े जलाशयके प्राप्त होनेपर जलके लिये अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार आत्मज्ञानीके लिये सम्पूर्ण वेदोंमें कुछ भी प्राप्त करने योग्य शेष नहीं रह जाता ॥ २६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो महात्मा
न दृश्यते सौहृदि संनिविष्टः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितश्च
स तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः ॥ २७ ॥

यह अङ्गुष्ठमात्र अन्तर्यामी परमात्मा सबके हृदयके भीतर स्थित है, किंतु सबको दिखायी नहीं देता । वह अजन्मा, चराचरस्वरूप और दिन-रात सावधान रहनेवाला है । जो उसे जान लेता है, वह ज्ञानी परमानन्दमें निमग्न हो जाता है ॥

अहमेव स्मृतो माता पिता पुत्रोऽस्म्यहं पुनः।
आत्माहमपि सर्वस्य यच्च नास्ति यदस्ति च ॥ २८ ॥

धृतराष्ट्र ! मैं ही सबकी माता और पिता माना गया हूँ, मैं ही पुत्र हूँ और सबका आत्मा भी मैं ही हूँ । जो है, वह भी और जो नहीं है, वह भी मैं ही हूँ ॥ २८ ॥

पितामहोऽस्मि स्थविरः पिता पुत्रश्च भारत ।
ममैव यूयमात्मस्था न मे यूयं न वो वयम् ॥ २९ ॥

भारत ! मैं ही तुम्हारा बूढ़ा पितामह, पिता और पुत्र भी हूँ । तुम सब लोग मेरी ही आत्मामें स्थित हो, फिर भी (वास्तवमें) न तुम हमारे हो और न हम तुम्हारे हैं ॥२९॥

आत्मैव स्थानं मम जन्म चात्मा
ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितोऽहं
मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः ॥ ३० ॥

आत्मा ही मेरा स्थान है और आत्मा ही मेरा जन्म (उद्गम) है । मैं सबमें ओतप्रोत और अपनी अजर (नित्य-नूतन) महिमामें स्थित हूँ । मैं अजन्मा, चराचरस्वरूप तथा दिन-रात सावधान रहनेवाला हूँ । मुझे जानकर ज्ञानी पुरुष परम प्रसन्न हो जाता है ॥ ३० ॥

अणोरणीयान् सुमनाः सर्वभूतेषु जाग्रति ।
पितरं सर्वभूतेषु पुष्करे निहितं विदुः ॥ ३१ ॥

परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म तथा विशुद्ध मनवाला है। वही सब भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रकाशित है । सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयकमलमें स्थित उस परमपिताको ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

रजि० सं० ए० ८५४

॥ श्रीहरिः ॥

प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे सादर निवेदन

१–'महाभारत' का यह ग्यारहवाँ अङ्क है। बारहवाँ अङ्क प्रकाशित हो जानेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा। इसके पश्चात् दूसरा वर्ष प्रारम्भ होगा।

२–विविध प्रकारकी उलझनोंमें पड़े हुए आजके व्यग्र जगत्को—आसक्ति-कामना, द्वेष-द्रोह, असंतोष-अशान्ति आदिकी भीषण आगमें झुलसते हुए मानव-प्राणीको 'महाभारत' में प्रकाशित छोटी-बड़ी सच्ची प्रेरणाप्रद घटनाओंके द्वारा वह विचित्र समाधान प्राप्त होता है, जिससे उसकी सारी उलझनें सुलझ जाती हैं और त्याग-वैराग्य, समता-संतोष तथा आत्मीयता-अनुरागका वह मधुर शीतल सुधा-सलिल-रस-प्रवाह मिलता है, जिससे कामना-वासना तथा असंतोष-अशान्तिकी प्रचण्ड अग्नि सदाके लिये सहज ही शान्त हो जाती है। इसमें एक-एक कथा ऐसी प्रेरणाप्रद होती है कि ध्यानपूर्वक पढ़नेपर जीवनमें सहज ही सुन्दर परिवर्तन हो सकता है।

३–दूसरे वर्षमें भी प्रतिमास दो सौ पृष्ठ तथा २ रंगीन और ६ सादे चित्र देनेकी बात है। लाइन-चित्र भी प्रसङ्गानुसार दिये जा सकते हैं।

४–वार्षिक मूल्य डाकखर्चसहित २०) है। यदि किसी कारणवश डाकखर्च बढ़ गया तो वार्षिक मूल्य कुछ बढ़ाया जा सकता है। जिन ग्राहकोंके ४॥) गतवर्षके जमा हैं, वे केवल १५॥) ही भेजनेकी कृपा करें।

५–जिन ग्राहकोंके चंदेके रुपये अङ्क निकलनेतक नहीं मिलेंगे, उनको वी० पी० द्वारा प्रथम अङ्क भेज दिया जायगा।

६–सभी पुराने ग्राहकोंको अगले वर्ष भी ग्राहक रहना ही चाहिये, अन्यथा उनकी फाइल अधूरी रहेगी। यदि किसी विशेष कारणवश किसीको ग्राहक न रहना हो तो कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें ताकि डाकखर्चकी हानि न सहनी पड़े।

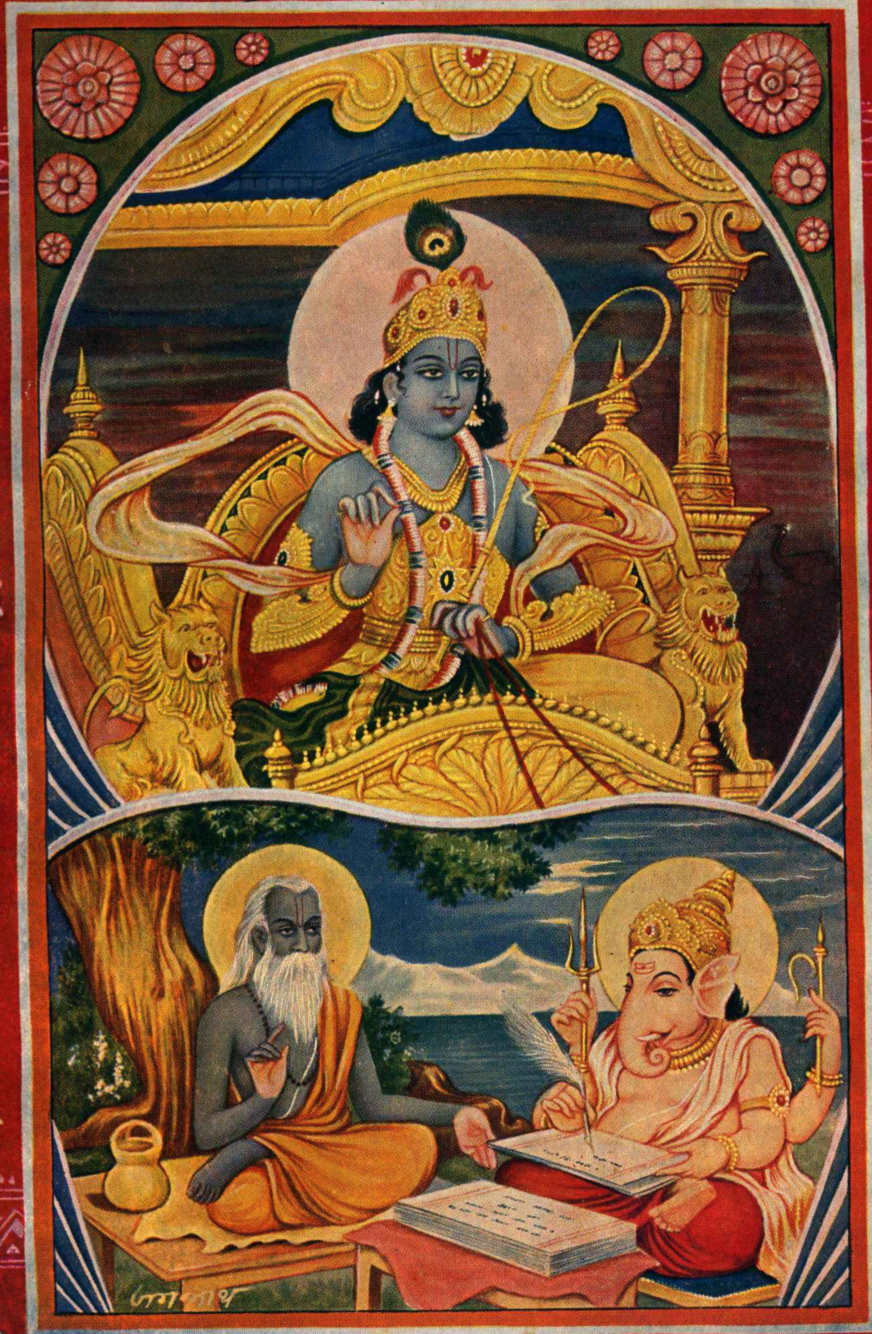
७–जिन नये ग्राहकोंको प्रथम वर्षके प्रारम्भसे ही अङ्क लेने हों, वे दो सालका चंदा ४०) भेजनेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—'मासिक महाभारत', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

महाभारत

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद



संस्कृत मूल

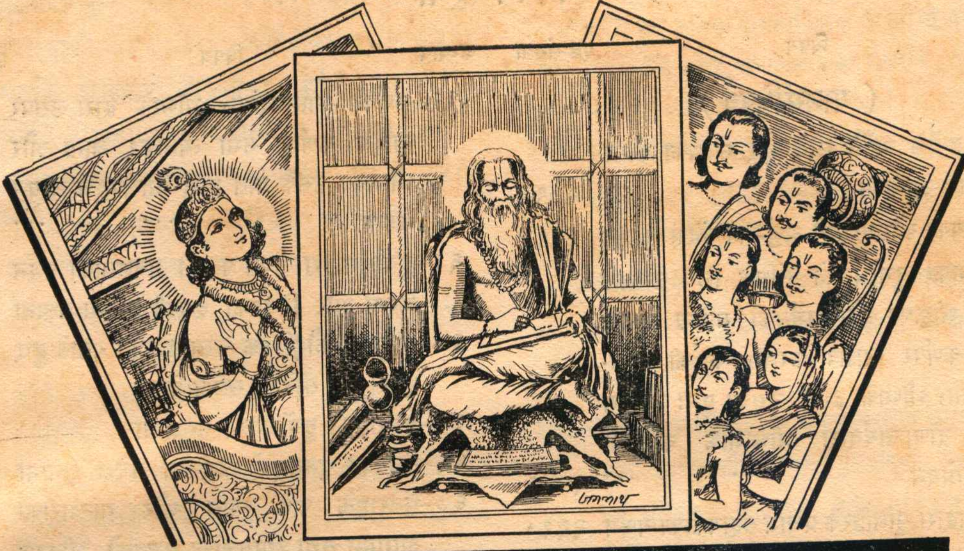
हिन्दी अनुवाद

वर्ष १

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या १२

ॐ श्रीपरमात्मने नमः



महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष १ | गोरखपुर, आश्विन २०१३, अक्टूबर १९५६ | संख्या १२ पूर्ण संख्या १२

श्रीकृष्णका आश्रय लिये बिना सुख नहीं

भगवद्भक्तिहीनानां तज्ज्ञानोज्झितचेतसाम् ।
न शान्तिर्न सुखं न स्यात् कीर्तिः पुंसां गतिः कुतः ॥
अतः सर्वं परित्यज्य जगज्जालं विनश्वरम् ।
कृष्णमेवाश्रयेद् धीमान् पुमर्थार्थी निरन्तरम् ॥

जो भगवान्‌की भक्तिसे वञ्चित हैं और जिनके चित्त भगवत्-तत्त्वके ज्ञानसे शून्य हैं उन पुरुषोंको शान्ति नहीं, सुख नहीं और कीर्ति भी नहीं मिलती; फिर परम गति तो मिल ही कैसे सकती है ? अतः बुद्धिमान् एवं परम पुरुषार्थकी इच्छा रखनेवाला पुरुष इस क्षणभङ्गुर सांसारिक जालका परित्याग करके निरन्तर भगवान् श्रीकृष्णका ही आश्रय ले ।

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

चित्र-सूची

सम्पादक—**हनुमानप्रसाद पोद्दार**

टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



द्रौपदीका श्रीकृष्णसे खुले केशोंकी बात याद रखनेका अनुरोध

(यानसंधिपर्व)

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

पाण्डवोंके यहाँसे लौटे हुए संजयका कौरवसभामें आगमन

वैशम्पायन उवाच

एवं सनत्सुजातेन विदुरेण च धीमता।
सार्धं कथयतो राज्ञः सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार महर्षि सनत्सुजात और बुद्धिमान् विदुरजीके साथ बातचीत करते हुए राजा धृतराष्ट्रकी सारी रात बीत गयी ॥ १ ॥

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां राजानः सर्व एव ते।
सभामाविविशुर्हृष्टाः सूतस्योपदिदृक्षया ॥ २ ॥

वह रात बीतनेपर जब प्रभातकाल आया, तब सब राजालोग सूतपुत्र संजयको देखनेके लिये बड़े हर्षके साथ सभामें आये ॥ २ ॥

शुश्रूषमाणाः पार्थानां वाचो धर्मार्थसंहिताः।
धृतराष्ट्रमुखाः सर्वे ययू राजसभां शुभाम् ॥ ३ ॥
सुधावदातां विस्तीर्णां कनकाजिरभूषिताम्।
चन्द्रप्रभां सुरुचिरां सिक्तां चन्दनवारिणा ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र आदि समस्त कौरवोंने भी पाण्डवोंकी धर्मार्थ-युक्त बातें सुननेकी इच्छासे उस सुन्दर एवं विशाल राज-सभामें प्रवेश किया, जो चूनेसे पुती होनेके कारण अत्यन्त उज्ज्वल दिखायी देती थी। सुवर्णमय प्राङ्गण उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह सभा चन्द्रमाकी श्वेत रश्मियोंके समान प्रकाशित हो रही थी। वह देखनेमें अत्यन्त मनोहर थी और उसके भीतर चन्दनमिश्रित जलसे छिड़काव किया गया था ॥ ३-४ ॥

रुचिरैरासनैस्तीर्णां काञ्चनैर्दारवैरपि ।
अश्मसारमयैर्दान्तैः स्वास्तीर्णैः सोत्तरच्छदैः ॥ ५ ॥

उस राजसभामें सुवर्ण, काष्ठ, मणि तथा हाथीदाँतके बने हुए सुन्दर-सुन्दर आसन सुरुचिपूर्ण ढंगसे बिछे हुए थे और उनके ऊपर चादरें फैला दी गयी थीं ॥ ५ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपः शल्यः कृतवर्मा जयद्रथः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तश्च बाह्लिकः ॥ ६ ॥
विदुरश्च महाप्राज्ञो युयुत्सुश्च महारथः।
सर्वे च सहिताः शूराः पार्थिवा भरतर्षभ ॥ ७ ॥
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां शुभाम्।

भरतश्रेष्ठ ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, शल्य, कृतवर्मा, जयद्रथ, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, परम बुद्धिमान् विदुर, महारथी युयुत्सु तथा अन्य सभी शूरवीर नरेश धृतराष्ट्रको आगे करके उस सुन्दर सभामें एक साथ प्रविष्ट हुए ॥ ६-७½ ॥

दुःशासनश्चित्रसेनः शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ८ ॥
दुर्मुखो दुःसहः कर्ण उलूकोऽथ विविंशतिः।
कुरुराजं पुरस्कृत्य दुर्योधनममर्षणम् ॥ ९ ॥
विविशुस्तां सभां राजन् सुराः शक्रसदो यथा।

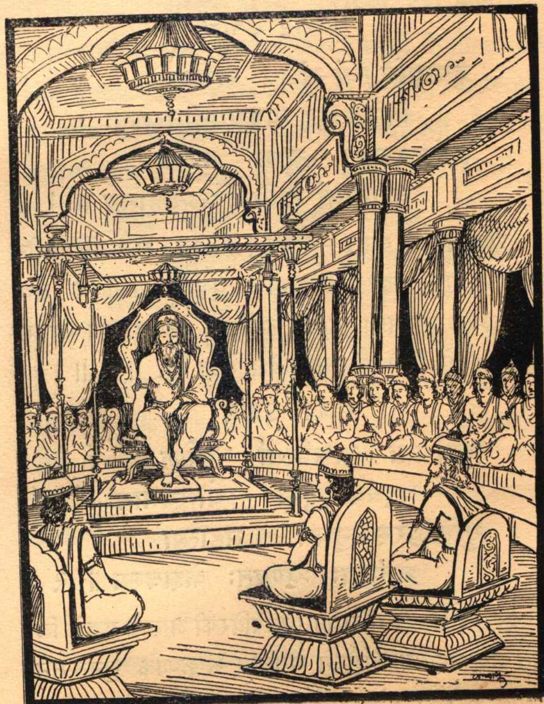
राजन् ! दुःशासन, चित्रसेन, सुबलपुत्र शकुनि, दुर्मुख, दुःसह, कर्ण, उलूक और विविंशति—इन सबने अमर्षमें भरे हुए कुरुराज दुर्योधनको आगे करके उस राज-सभामें ठीक वैसे ही प्रवेश किया, जैसे देवतालोग इन्द्रकी सभामें प्रवेश करते हैं ॥ ८-९½ ॥

आविशद्भिस्तदा राजञ्शूरैः परिघबाहुभिः ॥ १० ॥
शुशुभे सा सभा राजन् सिंहैरिव गिरेर्गुहा।

जनमेजय ! उस समय परिघके समान सुदृढ़ भुजाओंवाले उन शूरवीर नरेशोंके प्रवेश करनेसे वह सभा उसी प्रकार शोभा पाने लगी, जैसे सिंहोंके प्रवेश करनेसे पर्वतकी कन्दरा सुशोभित होती है ॥ १०½ ॥

ते प्रविश्य महेष्वासाः सभां सर्वे महौजसः ॥ ११ ॥
आसनानि विचित्राणि भेजिरे सूर्यवर्चसः।

महान् धनुष धारण करनेवाले तथा सूर्यके समान कान्तिमान् उन समस्त महातेजस्वी नरेशोंने सभामें प्रवेश करके वहाँ बिछे हुए विचित्र आसनोंको सुशोभित किया। ११½।



आसनस्थेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ॥ १२ ॥
द्वाःस्थो निवेदयामास सूतपुत्रमुपस्थितम् ।
अयं स रथ आयाति योऽयासीत् पाण्डवान् प्रति॥ १३॥
दूतो नस्तूर्णमायातः सैन्धवैः साधुवाहिभिः ।

भारत ! जब वे सब राजा आकर यथायोग्य आसनों-पर बैठ गये, तब द्वारपालने सूचना दी कि संजय राजसभा-के द्वारपर उपस्थित हैं। यह वही रथ आ रहा है, जो पाण्डवोंके पास भेजा गया था। रथको अच्छी तरह वहन करनेवाले सिन्धुदेशीय घोड़ोंसे जुते हुए इस रथपर हमारे दूत संजय शीघ्र आ पहुँचे हैं ॥ १२-१३½ ॥

उपेयाय स तु क्षिप्रं रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ।
प्रविवेश सभां पूर्णां महीपालैर्महात्मभिः ॥ १४ ॥

द्वारपालके इतना कहते ही कानोंमें कुण्डल धारण किये संजय रथसे नीचे उतरकर राजसभाके निकट आया और महामना महीपालोंसे भरी हुई उस सभाके भीतर प्रविष्ट हुआ ॥ १४ ॥

संजय उवाच

प्राप्तोऽस्मि पाण्डवान् गत्वा तं विजानीत कौरवाः ।
यथावयः कुरून् सर्वान् प्रतिनन्दन्ति पाण्डवाः॥१५॥

संजयने कहा—कौरवो ! आपको विदित होना चाहिये कि मैं पाण्डवोंके यहाँ जाकर लौटा हूँ। पाण्डवलोग अवस्थाक्रमके अनुसार सभी कौरवोंका अभिनन्दन करते हैं ॥

अभिवादयन्ति वृद्धांश्च वयस्यांश्च वयस्यवत् ।
यूनश्चाभ्यवदन् पार्थाः प्रतिपूज्य यथावयः ॥ १६ ॥

उन्होंने बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम कहलाया है। जो समवयस्क हैं, उनके साथ मित्रोचित बर्तावका संदेश दिया है तथा नवयुवकोंको भी उनकी अवस्थाके अनुसार सम्मान देकर उनसे प्रेमालापकी इच्छा प्रकट की है ॥ १६ ॥

यथाहं धृतराष्ट्रेण शिष्टः पूर्वमितो गतः ।
अब्रुवं पाण्डवान् गत्वा तन्निबोधत पार्थिवाः ॥ १७ ॥
(अब्रूतां तत्र धर्मेण वासुदेवधनंजयौ ।)

पहले यहाँसे जाते समय महाराज धृतराष्ट्रने मुझे जैसा उपदेश दिया था, पाण्डवोंके पास जाकर मैंने वैसी ही बातें कही हैं। राजाओ ! अब भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने जो धर्मके अनुकूल उत्तर दिया है, उसे आपलोग ध्यान देकर सुनें ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयप्रत्यागमने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १७½ श्लोक हैं)

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

संजयका कौरवसभामें अर्जुनका संदेश सुनाना

धृतराष्ट्र उवाच

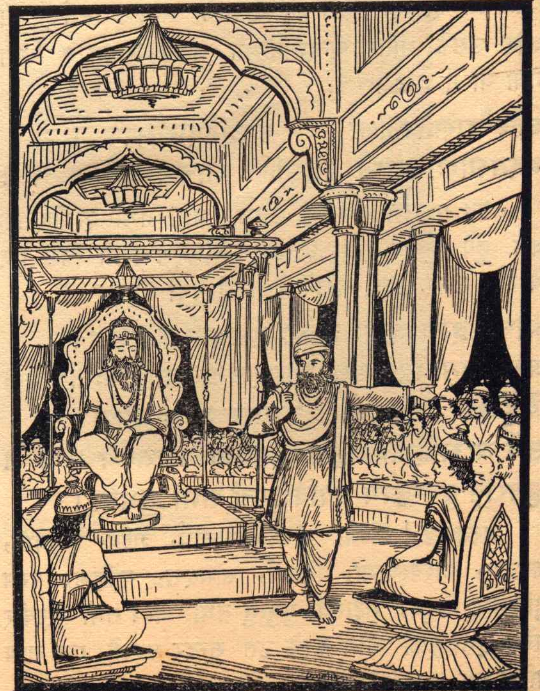
पृच्छामि त्वां संजय राजमध्ये
किमब्रवीद् वाक्यमदीनसत्त्वः ।
धनंजयस्तात युधां प्रणेता
दुरात्मनां जीवितच्छिन्महात्मा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! मैं इन राजाओंके बीच तुमसे यह पूछ रहा हूँ कि अनेक युद्धोंके संचालक तथा दुरात्माओंके जीवनका नाश करनेवाले उदारहृदय महात्मा अर्जुनने हमारे लिये कौन-सा संदेश भेजा है ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

दुर्योधनो वाचमिमां शृणोतु
यदब्रवीदर्जुनो योत्स्यमानः ।
युधिष्ठिरस्यानुमते महात्मा
धनंजयः शृण्वतः केशवस्य ॥ २ ॥

संजय बोला—राजन् ! युधिष्ठिरकी आज्ञासे युद्धके लिये उद्यत हुए महात्मा अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते-सुनते जो बात कही है, उसे दुर्योधन सुनें ॥ २ ॥



अन्वत्रस्तो बाहुवीर्यं विदान
उपह्वरे वासुदेवस्य धीरः।
अवोचन्मां योत्स्यमानः किरीटी
मध्ये ब्रूया धार्तराष्ट्रं कुरूणाम्॥ ३ ॥
संशृण्वतस्तस्य दुर्भाषिणो वै
दुरात्मनः सूतपुत्रस्य सूत।
यो योद्धुमाशंसति मां सदैव
मन्दप्रज्ञः कालपक्वोऽतिमूढः॥ ४ ॥
ये वै राजानः पाण्डवायोधनाय
समानीताः शृण्वतां चापि तेषाम्।
यथा समग्रं वचनं मयोक्तं
सहामात्यं श्रावयेथा नृपं तत्॥ ५ ॥

अपने बाहुबलको अच्छी तरह जाननेवाले धीर-वीर किरीटधारी अर्जुनने भावी युद्धके लिये उद्यत हो भगवान् श्रीकृष्णके समीप मुझसे इस प्रकार कहा है—'संजय! जो कालके गालमें जानेवाला, मन्दबुद्धि एवं महामूर्ख सदा मेरे साथ युद्ध करनेके लिये डींग हाँकता रहता है, उस कटुभाषी दुरात्मा सूतपुत्र कर्णको सुनाकर तथा और भी जो-जो राजालोग पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेके लिये बुलाये गये हैं, उन सबको सुनाते हुए तुम कौरवोंकी मण्डलीमें मेरेद्वारा कही हुई सारी बातें मन्त्रियोंसहित धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनसे इस प्रकार कहना, जिससे वह अच्छी तरह सुन ले'—॥ ३–५ ॥

यथा नूनं देवराजस्य देवाः
शुश्रूषन्ते वज्रहस्तस्य सर्वे।
तथाशृण्वन् पाण्डवाः सृंजयाश्च
किरीटिना वाचमुक्तां समर्थाम्॥ ६ ॥

जैसे सब देवता वज्रधारी देवराज इन्द्रकी बातें सुनना चाहते हैं, निश्चय ही उसी प्रकार समस्त सृंजय और पाण्डव अर्जुनकी मुझसे कही हुई ओजभरी बातें सुन रहे थे॥ ६॥

इत्यब्रवीदर्जुनो योत्स्यमानो
गाण्डीवधन्वा लोहितपद्मनेत्रः।
न चेद् राज्यं मुञ्चति धार्तराष्ट्रो
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः॥ ७ ॥
अस्ति नूनं कर्म कृतं पुरस्ता-
दनिर्विष्टं पापकं धार्तराष्ट्रैः।

उस समय गाण्डीवधारी अर्जुन युद्धके लिये उत्सुक जान पड़ते थे। उनके कमलसदृश नेत्र लाल हो गये थे। उन्होंने इस प्रकार कहा—'यदि दुर्योधन अजमीढकुल-नन्दन महाराज युधिष्ठिरका राज्य नहीं छोड़ता है तो निश्चय ही धृतराष्ट्रके पुत्रोंका पूर्वजन्ममें किया हुआ कोई ऐसा पापकर्म प्रकट हुआ है, जिसका फल उन्हें भोगना है॥ ७½ ॥

येषां युद्धं भीमसेनार्जुनाभ्यां
तथाश्विभ्यां वासुदेवेन चैव॥ ८ ॥
शैनेयेन ध्रुवमात्तायुधेन
धृष्टद्युम्नेनाथ शिखण्डिना च।
युधिष्ठिरेणेन्द्रकल्पेन चैव
योऽपध्यानान्निर्दहेद् गां दिवं च॥ ९ ॥

'तभी तो उनका भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव, भगवान् श्रीकृष्ण, अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित सात्यकि, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा इन्द्रके समान तेजस्वी उन महाराज युधिष्ठिरके साथ युद्ध होनेवाला है, जो अनिष्टचिन्तन करते ही पृथ्वी तथा स्वर्गलोकको भी भस्म कर सकते हैं॥ ८-९ ॥

तैश्चेद् योद्धुं मन्यते धार्तराष्ट्रो
निर्वृत्तोऽर्थः सकलः पाण्डवानाम्।
मा तत् कार्षीः पाण्डवस्यार्थहेतो-
रुपैहि युद्धं यदि मन्यसे त्वम्॥ १० ॥

'यदि दुर्योधन चाहता है कि इन सब वीरोंके साथ कौरवोंका युद्ध हो तो ठीक है, इससे पाण्डवोंका सारा मनोरथ सिद्ध हो जायगा। तुम केवल पाण्डवोंके लाभके लिये संधि कराने या आधा राज्य दिलानेकी चेष्टा न करना। उस दशामें यदि ठीक समझो तो उससे कह देना—'दुर्योधन! तुम युद्धभूमिमें ही उतरो'॥ १० ॥

यां तां वने दुःखशय्यामवात्सीत्
प्रव्राजितः पाण्डवो धर्मचारी।
आप्नोतु तां दुःखतरामनर्था-
मन्त्यां शय्यां धार्तराष्ट्रः परासुः॥ ११ ॥

'धर्मात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने वनमें निर्वासित होकर जिस दुःखशय्यापर शयन किया है, दुर्योधन अपने प्राणोंका त्याग करके उससे भी अधिक दुःखदायिनी और अनर्थकारिणी मृत्युकी अन्तिम शय्याको ग्रहण करे॥ ११ ॥

ह्रिया ज्ञानेन तपसा दमेन
शौर्येणाथो धर्मगुप्त्या धनेन।
अन्यायवृत्तिः कुरुपाण्डवेया-
नध्यातिष्ठेद् धार्तराष्ट्रो दुरात्मा॥ १२ ॥

'अन्यायपूर्ण बर्ताव करनेवाले दुरात्मा दुर्योधनको उचित है कि वह लज्जा, ज्ञान, तपस्या, इन्द्रियसंयम, शौर्य, धर्मरक्षा आदि गुणों तथा धनके द्वारा कौरव-पाण्डवोंपर अधिकार प्राप्त करे (सद्गुणोंद्वारा सबके हृदयको जीते, अन्यायसे शासन करना असम्भव है)॥ १२ ॥

मायोपधः प्रणिपातार्जवाभ्यां
तपोदमाभ्यां धर्मगुप्त्या बलेन।
सत्यं ब्रुवन् प्रतिपन्नो नृपो न-
स्तितिक्षमाणः क्लिश्यमानोऽतिवेलम्।१३

'हमारे महाराज युधिष्ठिर नम्रता, सरलता, तप, इन्द्रिय-संयम, धर्मरक्षा और बल—इन सभी गुणोंसे सम्पन्न हैं। वे बहुत दिनोंसे अनेक प्रकारके क्लेश उठाते हुए भी सदा सत्य ही बोलते हैं तथा कौरवोंके कपटपूर्ण व्यवहारों तथा वचनोंको सहन करते रहते हैं ॥ १३ ॥

यदा ज्येष्ठः पाण्डवः संशितात्मा
क्रोधं यत्तं वर्षपूगान् सुघोरम्।
अवस्रष्टा कुरुषूद्वृत्तचेता-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १४ ॥

'परंतु अपने मनको शुद्ध एवं संयत रखनेवाले ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर जिस समय उत्तेजित हो अनेक वर्षोंसे दबे हुए अपने अत्यन्त भयंकर क्रोधको कौरवोंपर छोड़ेंगे, उस समय जो भयानक युद्ध होगा, उसे देखकर दुर्योधनको पछताना पड़ेगा ॥ १४ ॥

कृष्णवर्त्मेव ज्वलितः समिद्धो
यथा दहेत् कक्षमग्निर्निदाघे।
एवं दग्धा धार्तराष्ट्रस्य सेनां
युधिष्ठिरः क्रोधदीप्तोऽन्ववेक्ष्य ॥ १५ ॥

'जैसे ग्रीष्मऋतुमें प्रज्वलित अग्नि सब ओरसे धधक उठती और घास-फूस एवं जंगलोंको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार क्रोधसे तमतमाये हुए युधिष्ठिर दुर्योधनकी सेनाको अपने दृष्टिपातमात्रसे दग्ध कर देंगे ॥ १५ ॥

यदा द्रष्टा भीमसेनं रथस्थं
गदाहस्तं क्रोधविषं वमन्तम्।
अमर्षणं पाण्डवं भीमवेगं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १६ ॥

'जिस समय दुर्योधन हाथमें गदा लिये रथपर बैठे हुए भयानक वेगवाले अमर्षशील पाण्डुनन्दन भीमसेनको क्रोध-रूप विष उगलते देखेगा, उस समय युद्धके परिणामको सोचकर उसे महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ १६ ॥

सेनाग्रगं दंशितं भीमसेनं
स्वालक्षणं वीरहणं परेषाम्।
घ्नन्तं चमूमन्तकसंनिकाशं
तदा स्मर्ता वचनस्यातिमानी ॥ १७ ॥

'जब भीमसेन कवच धारण करके शत्रुपक्षके वीरोंका नाश करते हुए अपने पक्षके लोगोंके लिये भी अलक्षित हो सेनाके आगे-आगे तीव्र वेगसे बढ़ेंगे और यमराजके समान विपक्षी सेनाका संहार करने लगेंगे, उस समय अत्यन्त अभिमानी दुर्योधनको मेरी ये बातें याद आयेंगी ॥ १७ ॥

यदा द्रष्टा भीमसेनेन नागान्
निपातितान् गिरिकूटप्रकाशान्।
कुम्भैरिवासृग्वमतो भिन्नकुम्भां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १८ ॥

'जब भीमसेन पर्वताकार प्रतीत होनेवाले बड़े-बड़े गजराजोंको गदाके आघातसे उनका कुम्भस्थल विदीर्ण करके मार गिरायेंगे और वे मानो घड़ोंसे खून उँड़ेल रहे हों, इस प्रकार मस्तकसे रक्तकी धारा बहाने लगेंगे, उस समय दुर्योधन जब यह दृश्य देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेके कारण बड़ा भारी पश्चात्ताप होगा ॥ १८ ॥

महासिंहो गा व इव प्रविश्य
गदापाणिर्धार्तराष्ट्रानुपेत्य ।
यदा भीमो भीमरूपो निहन्ता
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १९ ॥

'जब भयंकर रूपधारी भीमसेन हाथमें गदा लिये तुम्हारी सेनामें घुसकर धृतराष्ट्रपुत्रोंके पास जाकर उनका उसी प्रकार संहार करने लगेंगे, जैसे महान् सिंह गौओंके झुंडमें घुसकर उन्हें दबोच लेता है, तब दुर्योधनको युद्धके लिये बड़ा पछतावा होगा ॥ १९ ॥

महाभये वीतभयः कृतास्त्रः
समागमे शत्रुबलावमर्दी।
सकृद् रथेनाप्रतिमान् रथौघान्
पदातिसंघान् गदयाभिनिघ्नन् ॥ २० ॥
शैक्येन नागांस्तरसा विगृह्णन्
यदा छेत्ता धार्तराष्ट्रस्य सैन्यम्।
छिन्दन् वनं परशुनेव शूर-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २१ ॥

'जो भारीसे भारी भय आनेपर भी निर्भय रहते हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है तथा जो संग्रामभूमिमें शत्रुसेनाको रौंद डालते हैं, वे ही शूरवीर भीमसेन जब एकमात्र रथपर आरूढ़ हो गदाके आघातसे असंख्य रथसमूहों तथा पैदल सैनिकोंको मौतके घाट उतारते और छींकोंके समान फंदोंमें बड़े-बड़े नागोंको फँसाकर मरे हुए बछड़ोंके समान उन्हें बलपूर्वक घसीटते हुए दुर्योधनकी सेनाको वैसे ही छिन्न-भिन्न करने लगेंगे, जैसे कोई फरसेसे जंगल काट रहा हो, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र मन-ही-मन यह सोचकर पछतायेगा कि मैंने युद्ध छेड़कर बड़ी भारी भूल की है ॥ २०-२१ ॥

तृणप्रायं ज्वलनेनेव दग्धं
ग्रामं यथा धार्तराष्ट्रान् समीक्ष्य।
पक्वं सस्यं वैद्युतेनेव दग्धं
परासिक्तं विपुलं स्वं बलौघम् ॥ २२ ॥

हतप्रवीरं विमुखं भयार्तं
पराङ्मुखं प्रायशोऽधृष्टयोधम् ।
शस्त्रार्चिषा भीमसेनेन दग्धं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २३ ॥

'जब दुर्योधन यह देखेगा कि जैसे घास-फूसके झोपड़ोंका गाँव आगसे जलकर खाक हो जाता है, उसी प्रकार धृतराष्ट्र-के अन्य सभी पुत्र भीमसेनकी क्रोधाग्निसे दग्ध हो गये, मेरी विशाल वाहिनी विजलीकी आगसे जली हुई पकी खेतीके समान नष्ट हो गयी, उसके मुख्य-मुख्य वीर मारे गये, सैनिकोंने पीठ दिखा दी, सभी भयसे पीड़ित हो रणभूमिसे भाग निकले, प्रायः समस्त योद्धा साहस अथवा धृष्टता खो बैठे तथा भीमसेनके अस्त्र-शस्त्रोंकी आगसे सब कुछ स्वाहा हो गया; उस समय उसे युद्धके लिये बड़ा पछतावा होगा ॥ २२-२३ ॥

उपासंगानाचरेद् दक्षिणेन
वराङ्गानां नकुलश्चित्रयोधी ।
यदा रथाग्र्यो रथिनः प्रणेता
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥२४॥

'रथियोंमें श्रेष्ठ और विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले नकुल जब दाहिने हाथमें लिये हुए खड्गसे तुम्हारे सैनिकोंके मस्तक काट-काटकर धरतीपर उनके ढेर लगाने लगेंगे और रथी योद्धाओंको यमलोक भेजना प्रारम्भ करेंगे, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन युद्धका परिणाम सोचकर शोकसे संतप्त हो उठेगा ॥ २४ ॥

सुखोचितो दुःखशय्यां वनेषु
दीर्घं कालं नकुलो यामशेत ।
आशीविषः क्रुद्ध इवोद्वमन् विषं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥२५॥

'सुख भोगनेके योग्य वीरवर नकुलने दीर्घकालतक वनोंमें रहकर जिस दुःख-शय्यापर शयन किया है, उसका स्मरण करके जब वह क्रोधमें भरे हुए विषैले सर्पकी भाँति विष उगलने लगेगा, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको युद्ध छेड़ने-के कारण पछताना पड़ेगा ॥ २५ ॥

त्यक्तात्मानः पार्थिवा योधनाय
समादिष्टा धर्मराजेन सूत ।
रथैः शुभ्रैः सैन्यमभिद्रवन्तो
दृष्ट्वा पश्चात् तप्स्यते धार्तराष्ट्रः ॥ २६ ॥

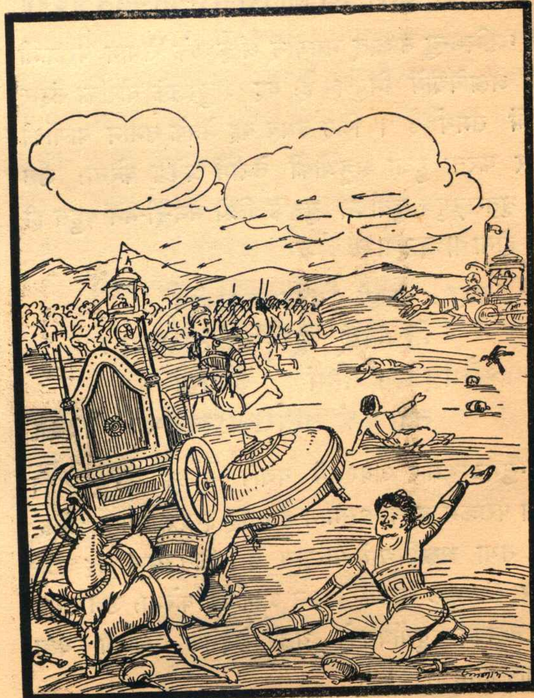
'संजय ! धर्मराज युधिष्ठिरके द्वारा युद्धके लिये आदेश पाकर उनके लिये प्राण देनेको उद्यत रहनेवाले भूमण्डलके नरेश जब तेजस्वी रथोंपर आरूढ़ होकर कौरव-सेनापर आक्रमण करेंगे, उस समय उन्हें देखकर दुर्योधनको युद्धके लिये अत्यन्त पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ २६ ॥

शिशून् कृतास्त्रानशिशुप्रकाशान्
यदा द्रष्टा कौरवः पञ्च शूरान् ।
त्यक्त्वा प्राणान् कौरवानाद्रवन्त-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥२७॥

'जो अवस्थामें बालक होते हुए भी अस्त्र-शस्त्रोंकी पूर्ण शिक्षा पाकर युद्धमें नवयुवकोंके समान पराक्रम प्रकाशित करते हैं, द्रौपदीके वे पाँचों शूरवीर पुत्र प्राणोंका मोह छोड़-कर जब कौरव-सेनापर टूट पड़ेंगे और कुरुराज दुर्योधन जब उन्हें उस अवस्थामें देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेकी भूल-के कारण भारी पश्चात्ताप होगा ॥ २७ ॥

यदा गतोद्वाहमकूजनाक्षं
सुवर्णतारं रथमुत्तमाश्वैः ।
दान्तैर्युक्तं सहदेवोऽधिरूढः
शिरांसि राज्ञां क्षेप्स्यते मार्गणौघैः॥२८॥
महाभये सम्प्रवृत्ते रथस्थं
विवर्तमानं समरे कृतास्त्रम् ।
सर्वा दिशः सम्पतन्तं समीक्ष्य
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् । २९ ॥

'जब सहदेव उत्तम जातिके सुशिक्षित घोड़ोंसे जुते हुए अपनी इच्छाके अनुकूल चलनेवाले तथा पहियोंकी धुरीसे तनिक भी आवाज न करनेवाले रथपर, जो अलातचक्रकी भाँति घूमनेके कारण सोनेके गोलाकार तारके समान प्रतीत होता है, आरूढ़ हो अपने बाणसमूहोंद्वारा विपक्षी राजाओंके मस्तक काट-काटकर गिराने लगेंगे और इस प्रकार महान्



भयका वातावरण छा जानेपर रथपर बैठे हुए अस्त्रवेत्ता सहदेव समरभूमिमें डटे रहकर जब सभी दिशाओंमें शत्रुओंपर आक्रमण करेंगे, उस दशामें उन्हें देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके मनमें युद्धका परिणाम सोचकर महान् पश्चात्ताप होगा ॥ २८-२९ ॥

ह्रीनिषेवो निपुणः सत्यवादी
महाबलः सर्वधर्मोपपन्नः ।
गान्धारिमार्च्छंस्तुमुले क्षिप्रकारी
क्षेप्ता जनान् सहदेवस्तरस्वी ॥ ३० ॥
यदा द्रष्टा द्रौपदेयान् महेषून्
शूरान् कृतास्त्रान् रथयुद्धकोविदान् ।
आशीविषान् घोरविषानिवायत-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३१ ॥

'लज्जाशील, युद्धकुशल, सत्यवादी, महाबली, सर्वधर्मसम्पन्न, वेगवान् तथा शीघ्रतापूर्वक बाण चलानेवाले सहदेव जब घमासान युद्धमें शकुनिपर आक्रमण करके शत्रुओंके सैनिकोंका संहार करने लगेंगे तथा जब दुर्योधन महाधनुर्धर शूरवीर अस्त्रविद्यामें निपुण तथा रथयुद्धकी कलामें कुशल द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको भयंकर विषवाले विषधर सर्पोंकी भाँति आक्रमण करते देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेकी भूलपर भारी पश्चात्ताप होगा ॥ ३०-३१ ॥

यदाभिमन्युः परवीरघाती
शरैः परान् मेघ इवाभिवर्षन् ।
विगाहिता कृष्णसमः कृतास्त्र-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३२ ॥

'अभिमन्यु साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके समान पराक्रमी तथा अस्त्रविद्यामें निपुण है, वह शत्रुपक्षके वीरोंका संहार करनेमें समर्थ है । जिस समय वह मेघके समान बाणोंकी बौछार करता हुआ शत्रुओंकी सेनामें प्रवेश करेगा, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन युद्धके लिये मन-ही-मन बहुत ही संतप्त होगा ॥ ३२ ॥

यदा द्रष्टा बालमबालवीर्यं
द्विषच्चमूं मृत्युमिवोत्पतन्तम् ।
सौभद्रमिन्द्रप्रतिमं कृतास्त्रं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३३ ॥

'सुभद्राकुमार अवस्थामें यद्यपि बालक है, तथापि उसका पराक्रम युवकोंके समान है । वह इन्द्रके समान शक्तिशाली तथा अस्त्रविद्यामें पारङ्गत है । जिस समय वह शत्रुसेनापर विकराल कालके समान आक्रमण करेगा, उस समय उसे देखकर दुर्योधनको युद्ध छेड़नेके कारण बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ३३ ॥

प्रभद्रकाः शीघ्रतरा युवानो
विशारदाः सिंहसमानवीर्याः ।
यदा क्षेप्तारो धार्तराष्ट्रान् ससैन्यां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३४ ॥

'अस्त्र-संचालनमें शीघ्रता दिखानेवाले, युद्धविशारद तथा सिंहके समान पराक्रमी प्रभद्रकदेशीय नवयुवक जब सेनासहित धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार भगायेंगे, उस समय दुर्योधनको यह सोचकर बड़ा पश्चात्ताप होगा कि मैंने क्यों युद्ध छेड़ा ? ॥ ३४ ॥

वृद्धौ विराटद्रुपदौ महारथौ
पृथक् चमूभ्यामभिवर्तमानौ ।
यदा द्रष्टारौ धार्तराष्ट्रान् ससैन्यां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३५ ॥

'जिस समय वृद्ध महारथी राजा विराट और द्रुपद अपनी पृथक्-पृथक् सेनाओंके साथ आक्रमण करके सैनिकोंसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंपर दृष्टि डालेंगे, उस समय दुर्योधनको युद्धका परिणाम सोचकर महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ ३५ ॥

यदा कृतास्त्रो द्रुपदः प्रचिन्वन्
शिरांसि यूनां समरे रथस्थः ।
क्रुद्धः शरैश्छेत्स्यति चापमुक्तै-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३६ ॥

'जब अस्त्रविद्यामें निपुण राजा द्रुपद कुपित हो रथपर बैठकर समरभूमिमें अपने धनुषसे छोड़े हुए बाणोंद्वारा विपक्षी युवकोंके मस्तकोंको चुन-चुनकर काटने लगेंगे, उस समय दुर्योधनको इस युद्धके कारण भारी पछतावा होगा ॥ ३६ ॥

यदा विराटः परवीरघाती
रणान्तरे शत्रुचमूं प्रवेष्टा ।
मत्स्यैः सार्धमनृशंसरूपै-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३७ ॥

'जब शत्रु-वीरोंका संहार करनेवाले राजा विराट सौम्य स्वरूपवाले मत्स्यदेशीय योद्धाओंको साथ लेकर रणभूमिमें शत्रु-सेनाके भीतर प्रवेश करेंगे, उस समय दुर्योधन युद्ध छेड़नेका परिणाम सोचकर शोकसे संतप्त हो उठेगा ॥ ३७ ॥

ज्येष्ठं मात्स्यमनृशंसार्यरूपं
विराटपुत्रं रथिनं पुरस्तात् ।
यदा द्रष्टा दंशितं पाण्डवार्थे
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३८ ॥

'सौम्य तथा श्रेष्ठ स्वरूपवाले राजा विराटके ज्येष्ठ पुत्र मत्स्यदेशीय महारथी श्वेतको जब दुर्योधन पाण्डवोंके हितके लिये कवच धारण किये देखेगा, तब उसे युद्धका परिणाम सोचकर मन-ही-मन बड़ा कष्ट होगा ॥ ३८ ॥

रणे हते कौरवाणां प्रवीरे
शिखण्डिना सत्तमे शान्तनूजे ।
न जातु नः शत्रवो धारयेयु-
रसंशयं सत्यमेतद् ब्रवीमि ॥ ३९ ॥

'कौरववंशके प्रमुख वीर शान्तनुनन्दन साधुशिरोमणि भीष्मजी जब युद्धमें शिखण्डीके हाथसे मार दिये जायँगे, उस समय हमारे शत्रु कौरव कभी हमलोगोंका वेग नहीं सह सकेंगे, यह मैं सत्य कहता हूँ, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ३९ ॥

यदा शिखण्डी रथिनः प्रचिन्वन्
भीष्मं रथेनाभियाता वरूथी ।
दिव्यैर्हयैरवमृद्नन् रथौघां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥४०॥

'जब शिखण्डी अपने रथकी रक्षाके साधनोंसे सम्पन्न हो रथियोंको चुन-चुनकर मारता तथा दिव्य अश्वोंद्वारा रथसमूहोंको रौंदता हुआ रथारूढ़ हो भीष्मपर आक्रमण करेगा, उस समय दुर्योधनको युद्ध छिड़ जानेके कारण बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ४० ॥

यदा द्रष्टा सृंजयानामनीके
धृष्टद्युम्नं प्रमुखे रोचमानम् ।
अस्त्रं यस्मै गुह्यमुवाच धीमान्
द्रोणस्तदा तप्स्यति धार्तराष्ट्रः ॥ ४१ ॥

'जिसे परम बुद्धिमान् आचार्य द्रोणने अस्त्रविद्याके गोपनीय रहस्यकी भी शिक्षा दी है, वह धृष्टद्युम्न जब सृंजयवंशी वीरोंकी सेनाके अग्रभागमें प्रकाशित होगा और उसे उस दशामें दुर्योधन देखेगा, तब वह अत्यन्त संतप्त हो उठेगा ॥ ४१ ॥

यदा स सेनापतिरप्रमेयः
परामृद्नन्निषुभिर्धार्तराष्ट्रान् ।
द्रोणं रणे शत्रुसहोऽभियाता
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ४२ ॥

'जब शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ अपरिमित शक्तिशाली सेनापति धृष्टद्युम्न अपने बाणोंद्वारा धृतराष्ट्रपुत्रोंको कुचलता हुआ आचार्य द्रोणपर आक्रमण करेगा, उस समय युद्धका परिणाम सोचकर दुर्योधन बहुत पछतायेगा ॥ ४२ ॥

ह्रीमान् मनीषी बलवान् मनस्वी
स लक्ष्मीवान् सोमकानां प्रबर्हः ।
न जातु तं शत्रवोऽन्ये सहेरन्
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः ॥ ४३ ॥

'सोमकवंशका वह प्रमुख वीर धृष्टद्युम्न लज्जाशील, बलवान्, बुद्धिमान्, मनस्वी तथा वीरोचित शोभासे सम्पन्न है। इसी प्रकार वृष्णिवंशमें सिंहके समान पराक्रमी वीरवर सात्यकि जिनके अगुआ हैं, उनके वेगको दूसरे शत्रु कदापि नहीं सह सकते ॥ ४३ ॥

इदं च ब्रूया मा वृणीष्वेति लोके
युद्धेऽद्वितीयं सचिवं रथस्थम् ।
शिनेर्नप्तारं प्रवृणीम सात्यकिं
महाबलं वीतभयं कृतास्त्रम् ॥ ४४ ॥

'तुम दुर्योधनसे यह भी कह देना कि अब संसारमें जीवित रहकर तुम राज्य भोगनेकी इच्छा न करो । हमने युद्धके लिये अद्वितीय वीर, महान् बलवान्, निर्भय तथा अस्त्रविद्यामें निपुण शिनिपौत्र रथारूढ़ सात्यकिको अपना सहायक चुन लिया है ॥ ४४ ॥

महोरस्को दीर्घबाहुः प्रमाथी
युद्धेऽद्वितीयः परमास्त्रवेदी ।
शिनेर्नप्ता तालमात्रायुधोऽयं
महारथो वीतभयः कृतास्त्रः ॥ ४५ ॥

'शिनिके पौत्र महारथी सात्यकि चार हाथ लंबा धनुष धारण करते हैं। उनकी छाती चौड़ी और भुजाएँ बड़ी हैं। वे अद्वितीय वीर हैं और युद्धमें शत्रुओंको मथ डालते हैं। उन्हें उत्तम अस्त्रोंका ज्ञान है। वे निर्भय तथा अस्त्रविद्याके पारङ्गत विद्वान् हैं ॥ ४५ ॥

यदा शिनीनामधिपो मयोक्तः
शरैः परान् मेघ इव प्रवर्षन् ।
प्रच्छादयिष्यत्यरिहा योधमुख्यां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥४६॥

'जब मेरे कहनेसे शिनिप्रवर शत्रुमर्दन सात्यकि शत्रुओंपर मेघकी भाँति बाणोंकी झड़ी लगाते हुए मुख्य-मुख्य योद्धाओंको आच्छादित कर देंगे, उस समय दुर्योधन युद्धका परिणाम सोचकर बहुत पछतायेगा ॥ ४६ ॥

यदा धृतिं कुरुते योत्स्यमानः
स दीर्घबाहुर्दृढधन्वा महात्मा ।
सिंहस्येव गन्धमाघ्राय गावः
संवेष्टन्ते शत्रवोऽस्माद् रणाग्रे ॥ ४७ ॥

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले दीर्घबाहु महामना सात्यकि जब युद्धके लिये उत्सुक हो समरभूमिमें डट जाते हैं, उस समय जैसे सिंहकी गन्ध पाकर गौएँ इधर-उधर भागने लगती हैं, उसी प्रकार शत्रु युद्धके मुहानेपर इनके पास आकर तुरंत भाग खड़े होते हैं ॥ ४७ ॥

स दीर्घबाहुर्दृढधन्वा महात्मा
भिन्द्याद् गिरीन् संहरेत् सर्वलोकान् ।
अस्त्रे कृती निपुणः क्षिप्रहस्तो
दिवि स्थितः सूर्य इवाभिभाति ॥ ४८ ॥

'विशालबाहु, दृढ़ धनुर्धर, युद्धकुशल और हाथोंकी फुर्ती दिखानेवाले अस्त्रवेत्ता सात्यकि पर्वतोंको विदीर्ण कर सकते हैं और सम्पूर्ण लोकोंका संहार करनेमें समर्थ हैं। वे आकाशमें विद्यमान सूर्यदेवकी भाँति प्रकाशित होते हैं ॥४८॥

चित्रः सूक्ष्मः सुकृतो यादवस्य
अस्त्रे योगो वृष्णिसिंहस्य भूयान्।
यथाविधं योगमाहुः प्रशस्तं
सर्वैर्गुणैः सात्यकिस्तैरुपेतः ॥ ४९ ॥

'युद्धनिपुण वीर पुरुष जैसे-जैसे अस्त्रोंकी उपलब्धिको प्रशंसाके योग्य मानते हैं, उन सबसे तथा समस्त वीरोचित गुणोंसे वृष्णिसिंह सात्यकि सम्पन्न हैं। उन यदुकुलतिलकको बहुतसे उत्तम अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त है। उनका वह अस्त्रयोग विचित्र, सूक्ष्म और भलीभाँति अभ्यासमें लाया हुआ है ॥ ४९ ॥

हिरण्मयं श्वेतहयैश्चतुर्भि-
र्यदा युक्तं स्यन्दनं माधवस्य।
द्रष्टा युद्धे सात्यकेर्धार्तराष्ट्र-
स्तदा तप्स्यत्यकृतात्मा स मन्दः ॥ ५० ॥

'जब युद्धमें मधुवंशी सात्यकिके चार श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमय रथको पापात्मा मन्दबुद्धि दुर्योधन देखेगा, तब उसे अवश्य संताप होगा ॥ ५० ॥

यदा रथं हेममणिप्रकाशं
श्वेताश्वयुक्तं वानरकेतुमुग्रम्।
द्रष्टा ममाप्यास्थितं केशवेन
तदा तप्स्यत्यकृतात्मा स मन्दः ॥ ५१ ॥

'जब सुवर्ण और मणियोंसे प्रकाशित होनेवाले मेरे भयंकर रथको जिसमें चार श्वेत अश्व जुते होंगे, जिसपर वानरध्वजा फहरा रही होगी तथा साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण जिसपर बैठकर सारथिका कार्य सँभालते होंगे, अकृतात्मा मन्दबुद्धि दुर्योधन देखेगा, तब मन-ही-मन संतप्त हो उठेगा ॥ ५१ ॥

यदा मौर्व्यास्तलनिष्पेषमुग्रं
महाशब्दं वज्रनिष्पेषतुल्यम्।
विधूयमानस्य महारणे मया
स गाण्डिवस्य श्रोष्यति मन्दबुद्धिः ।५२।
तदा मूढो धृतराष्ट्रस्य पुत्र-
स्तप्ता युद्धे दुर्मतिर्दुःसहायः।
दृष्ट्वा सैन्यं बाणवर्षान्धकारे
प्रभज्यन्तं गोकुलवद् रणाग्रे ॥ ५३ ॥

'महान् संग्रामके समय जब मैं गाण्डीव धनुषकी डोरी खींचूँगा, उस समय मेरे हाथोंकी रगड़से वज्रपातके समान अत्यन्त भयंकर आवाज होगी, मन्दबुद्धि दुर्योधन जब गाण्डीवकी उस उग्र टंकारको सुनेगा तथा रणस्थलीके अग्रभागमें मेरी बाणवर्षासे फैले हुए अन्धकारमें इधर-उधर भागती हुई गौओंकी भाँति अपनी सेनाको युद्धसे पलायन करती देखेगा, तब दुष्ट सहायकोंसे युक्त उस दुर्बुद्धि एवं मूढ़ धृतराष्ट्रपुत्रके मनमें बड़ा संताप होगा ॥ ५२-५३ ॥

बलाहकादुच्चरतः सुभीमान्
विद्युत्स्फुलिङ्गानिव घोररूपान्।
सहस्रघ्नान् द्विषतां सङ्गरेषु
अस्थिच्छिदो मर्मभिदः सुपुङ्खान् ॥५४॥
यदा द्रष्टा ज्यामुखाद् बाणसंघान्
गाण्डीवमुक्तानापततः शिताग्रान्।
हयान् गजान् वर्मिणश्चाददानां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥५५॥

'मेरे गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चासे छोड़े हुए तीखी धारवाले सुन्दर पंखोंसे युक्त भयंकर बाणसमूह मेघसे निकली हुई अत्यन्त भयानक विद्युत्‌की चिनगारियोंके समान जब युद्धभूमिमें शत्रुओंपर पड़ेंगे और उनकी हड्डियोंको काटते तथा मर्मस्थानोंको विदीर्ण करते हुए सहस्र-सहस्र सैनिकोंको मौतके घाट उतारने लगेंगे, साथ ही कितने ही घोड़ों, हाथियों तथा कवचधारी योद्धाओंके प्राण लेना प्रारम्भ करेंगे, उस समय जब धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन यह सब देखेगा, तब युद्ध छेड़नेकी भूलके कारण वह बहुत पछतायेगा ॥ ५४-५५ ॥

यदा मन्दः परबाणान् विमुक्तान्
ममेषुभिर्ह्रियमाणान् प्रतीपम्।
तिर्यग्विध्यांश्छिद्यमानान् पृषत्कै-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥५६॥

'युद्धमें दूसरे योद्धा जो बाण चलायेंगे, उन्हें मेरे बाण टक्कर लेकर पीछे लौटा देंगे। साथ ही मेरे दूसरे बाण शत्रुओंके शरसमूहको तिर्यग्भावसे विद्ध करके टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे। जब मन्दबुद्धि दुर्योधन यह सब देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेके कारण बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ५६ ॥

यदा विपाठा मद्भुजविप्रमुक्ता
द्विजाः फलानीव महीरुहाग्रात्।
प्रचेतार उत्तमाङ्गानि यूनां
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥५७॥

'जब मेरे बाहुबलसे छूटे हुए विपाठ नामक बाण युवक योद्धाओंके मस्तकोंको उसी प्रकार काट-काटकर ढेर लगाने लगेंगे, जैसे पक्षी वृक्षोंके अग्रभागसे फल गिराकर उनके ढेर लगा देते हैं, उस समय यह सब देखकर दुर्योधनको बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥५७॥

यदा द्रष्टा पततः स्यन्दनेभ्यो
महागजेभ्योऽश्वगतान् सुयोधनान्।
शरैर्हतान् पातितांश्चैव रङ्गे
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥५८॥

'जब दुर्योधन देखेगा कि उसके रथोंसे, बड़े-बड़े गजोंसे और घोड़ोंकी पीठपरसे भी असंख्य योद्धा मेरे बाणोंद्वारा मारे जाकर समराङ्गणमें गिरते चले जा रहे हैं, तब उसे युद्धके लिये भारी पछतावा होगा ॥ ५८ ॥

असम्प्राप्तानस्त्रपथं परस्य
तदा द्रष्टा नश्यतो धार्तराष्ट्रान् ।
अकुर्वतः कर्म युद्धे समन्तात्
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ५९ ॥

'दुर्योधनको जब यह दिखायी देगा कि उसके दूसरे भाई शत्रुओंकी बाणवर्षाके निकट न जाकर उसे दूरसे देखकर ही अदृश्य हो रहे हैं, युद्धमें कोई पराक्रम नहीं कर पा रहे हैं, तब वह लड़ाई छेड़नेके कारण मन-ही-मन बहुत पछतायेगा ॥ ५९ ॥

पदातिसंघान् रथसंघान् समन्ताद्
व्यात्ताननः काल इवाततेषुः ।
प्रणोत्स्यामि ज्वलितैर्बाणवर्षैः
शत्रूंस्तदा तप्स्यति मन्दबुद्धिः ॥ ६० ॥

'जब मैं सायकोंकी अविच्छिन्न वर्षा करते हुए मुख फैलाये खड़े हुए कालकी भाँति अपने प्रज्वलित बाणोंकी बौछारोंसे शत्रुपक्षके झुंडके झुंड पैदलों तथा रथियोंके समूहोंको छिन्न-भिन्न करने लगूँगा, उस समय मन्दबुद्धि दुर्योधनको बड़ा संताप होगा ॥ ६० ॥

सर्वा दिशः सम्पतता रथेन
रजोध्वस्तं गाण्डिवेन प्रकृत्तम् ।
यदा द्रष्टा स्वबलं सम्प्रमूढं
तदा पश्चात् तप्स्यति मन्दबुद्धिः ॥ ६१ ॥

'मन्दबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र जब यह देखेगा कि सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़नेवाले मेरे रथके द्वारा उड़ायी हुई धूलिसे आच्छादित हो उसकी सारी सेना धराशायी हो रही है और मेरे गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा उसके समस्त सैनिक छिन्न-भिन्न होते चले जा रहे हैं, तब उसे बड़ा पछतावा होगा ॥ ६१ ॥

कान्दिग्भूतं छिन्नगात्रं विसंज्ञं
दुर्योधनो द्रक्ष्यति सर्वसैन्यम् ।
हताश्ववीराग्र्यनरेन्द्रनागं
पिपासितं श्रान्तपत्रं भयार्तम् ॥ ६२ ॥
आर्तस्वरं हन्यमानं हतं च
विकीर्णकेशास्थिकपालसंघम् ।
प्रजापतेः कर्म यथार्थनिश्चितं
तदा दृष्ट्वा तप्स्यति मन्दबुद्धिः ॥ ६३ ॥

'दुर्योधन अपनी आँखों यह देखेगा कि उसकी सारी सेना (भयसे भागने लगी है और उस) को यह भी नहीं सूझता है कि किस दिशाकी ओर जाऊँ ? कितने ही योद्धाओंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये हैं । समस्त सैनिक अचेत हो रहे हैं । हाथी, घोड़े तथा वीराग्रगण्य नरेश मार डाले गये हैं । सारे वाहन थक गये हैं और सभी योद्धा प्यास तथा भयसे पीड़ित हो रहे हैं । बहुतेरे सैनिक आर्त स्वरसे रो रहे हैं, कितने ही मारे गये और मारे जा रहे हैं । बहुतोंके केश, अस्थि तथा कपालसमूह सब ओर बिखरे पड़े हैं । मानो विधाताका यथार्थ निश्चित विधान हो, इस प्रकार यह सब कुछ होकर ही रहेगा । यह सब देखकर उस समय मन्दबुद्धि दुर्योधनके मनमें बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ६२-६३ ॥

यदा रथे गाण्डिवं वासुदेवं
दिव्यं शङ्खं पाञ्चजन्यं हयांश्च ।
तूणावक्षय्यौ देवदत्तं च मां च
द्रष्टा युद्धे धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ६४ ॥

'जब धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन रथपर मेरे गाण्डीव धनुषको, सारथि भगवान् श्रीकृष्णको, उनके दिव्य पाञ्चजन्य शङ्खको, रथमें जुते हुए दिव्य घोड़ोंको, बाणोंसे भरे हुए दो अक्षय तूणीरोंको, मेरे देवदत्त नामक शंखको और मुझको भी देखेगा, उस समय युद्धका परिणाम सोचकर उसे बड़ा संताप होगा ॥ ६४ ॥

उद्वर्तयन् दस्युसङ्घान् समेतान्
प्रवर्तयन् युगमन्यद् युगान्ते ।
यदा धक्ष्याम्यग्निवत् कौरवेयां-
स्तदा तप्ता धृतराष्ट्रः सपुत्रः ॥ ६५ ॥

'जिस समय युद्धके लिये एकत्र हुए इन डाकुओंके दलोंका संहार करके प्रलयकालके पश्चात् युगान्तर उपस्थित करता हुआ मैं अग्निके समान प्रज्वलित होकर कौरवोंको भस्म करने लगूँगा, उस समय पुत्रोंसहित महाराज धृतराष्ट्रको बड़ा संताप होगा ॥ ६५ ॥

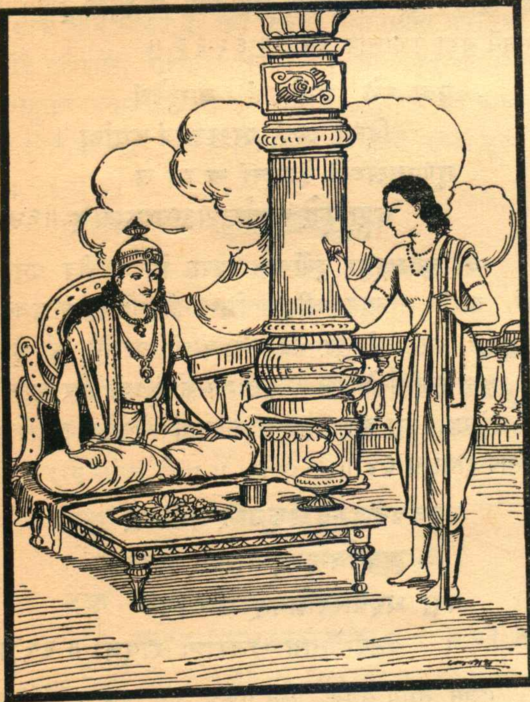
सभ्राता वै सहसैन्यः सभृत्यो
भ्रष्टैश्वर्यः क्रोधवशोऽल्पचेताः ।
दर्पस्यान्ते निहतो वेपमानः
पश्चान्मन्दस्तप्स्यति धार्तराष्ट्रः ॥ ६६ ॥

'सदा क्रोधके वशमें रहनेवाला अल्पबुद्धि मूढ़ दुर्योधन जब भाई, भृत्यगण तथा सेनाओंसहित ऐश्वर्यसे भ्रष्ट एवं आहत होकर काँपने लगेगा, उस समय सारा घमंड चूर-चूर हो जानेपर उसे (अपने कुकृत्योंके लिये) बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ६६ ॥

पूर्वाह्णे मां कृतजप्यं कदाचिद्
विप्रः प्रोवाचोदकान्ते मनोज्ञम् ।

कर्तव्यं ते दुष्करं कर्म पार्थ
योद्धव्यं ते शत्रुभिः सव्यसाचिन् ॥ ६७॥
इन्द्रो वा ते हरिमान् वज्रहस्तः
पुरस्ताद् यातु समरेऽरीन् विनिघ्नन्।
सुग्रीवयुक्तेन रथेन वा ते
पश्चात् कृष्णो रक्षतु वासुदेवः ॥ ६८ ॥

'एक दिनकी बात है, मैं पूर्वाह्णकालमें संध्या-वन्दन एवं गायत्रीजप करके आचमनके पश्चात् बैठा हुआ था, उस समय एक ब्राह्मणने आकर एकान्तमें मुझसे यह मधुर



वचन कहा—'कुन्तीनन्दन ! तुम्हें दुष्कर कर्म करना है। सव्यसाचिन् ! तुम्हें अपने शत्रुओंके साथ युद्ध करना होगा। बोलो, क्या चाहते हो ? इन्द्र उच्चैःश्रवा घोड़ेपर बैठकर वज्र हाथमें लिये तुम्हारे आगे-आगे समरभूमिमें शत्रुओंका नाश करते हुए चलें अथवा सुग्रीव आदि अश्वोंसे जुते हुए रथपर बैठकर वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण पीछेकी ओरसे तुम्हारी रक्षा करें' ॥ ६७-६८ ॥

वव्रे चाहं वज्रहस्तान्महेन्द्रा-
दस्मिन् युद्धे वासुदेवं सहायम् ।
स मे लब्धो दस्युवधाय कृष्णो
मन्ये चैतद् विहितं दैवतैर्मे ॥ ६९ ॥

'उस समय मैंने वज्रपाणि इन्द्रको छोड़कर इस युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णको अपना सहायक चुना था, इस प्रकार इन डाकुओंके वधके लिये मुझे श्रीकृष्ण मिल गये हैं। मालूम होता है, देवताओंने ही मेरे लिये ऐसी व्यवस्था कर रक्खी है ॥ ६९ ॥

अयुद्ध्यमानो मनसापि यस्य
जयं कृष्णः पुरुषस्याभिनन्देत्।
एवं सर्वान् स व्यतीयादमित्रान्
सेन्द्रान् देवान् मानुषे नास्ति चिन्ता।७०।

'भगवान् श्रीकृष्ण युद्ध न करके मनसे भी जिस पुरुषकी विजयका अभिनन्दन करेंगे, वह अपने समस्त शत्रुओंको, भले ही वे इन्द्र आदि देवता ही क्यों न हों, पराजित कर देता है, फिर मनुष्य-शत्रुके लिये तो चिन्ता ही क्या है ? ॥

स बाहुभ्यां सागरमुत्तितीर्षे-
न्महोदधिं सलिलस्याप्रमेयम् ।
तेजस्विनं कृष्णमत्यन्तशूरं
युद्धेन यो वासुदेवं जिगीषेत् ॥ ७१ ॥

'जो युद्धके द्वारा अत्यन्त शौर्यसम्पन्न तेजस्वी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको जीतनेकी इच्छा करता है, वह अनन्त अपार जलनिधि समुद्रको दोनों बाँहोंसे तैरकर पार करना चाहता है ॥ ७१ ॥

गिरिं य इच्छेत् तु तलेन भेत्तुं
शिलोच्चयं श्वेतमतिप्रमाणम् ।
तस्यैव पाणिः सनखो विशीर्ये-
न्न चापि किंचित् स गिरेस्तु कुर्यात् ॥ ७२ ॥

'जो अत्यन्त विशाल प्रस्तरराशिपूर्ण श्वेत कैलास-पर्वतको हथेलीसे मारकर विदीर्ण करना चाहता है, उस मनुष्यका नखसहित हाथ ही छिन्न-भिन्न हो जायगा । वह उस पर्वतका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता ॥ ७२ ॥

अग्निं समिद्धं शमयेद् भुजाभ्यां
चन्द्रं च सूर्यं च निवारयेत ।
हरेद् देवानाममृतं प्रसह्य
युद्धेन यो वासुदेवं जिगीषेत् ॥ ७३ ॥

'जो युद्धके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णको जीतना चाहता है, वह प्रज्वलित अग्निको दोनों हाथोंसे बुझानेकी चेष्टा करता है, चन्द्रमा और सूर्यकी गतिको रोकना चाहता है तथा हठपूर्वक देवताओंका अमृत हर लानेका प्रयत्न करता है ॥ ७३ ॥

यो रुक्मिणीमेकरथेन भोजा-
नुत्साद्य राज्ञः समरे प्रसह्य ।
उवाह भार्यां यशसा ज्वलन्तीं
यस्यां जज्ञे रौक्मिणेयो महात्मा॥ ७४ ॥

'जिन्होंने एकमात्र रथकी सहायतासे युद्धमें भोजवंशी राजाओंको बलपूर्वक पराजित करके (रूप, सौन्दर्य और) सुयशके द्वारा प्रकाशित होनेवाली उस परम सुन्दरी रुक्मिणी-

को पत्नीरूपसे ग्रहण किया, जिसके गर्भसे महामना प्रद्युम्न-का जन्म हुआ है ॥ ७४ ॥

अयं गान्धारांस्तरसा सम्प्रमथ्य
जित्वा पुत्रान् नग्नजितः समग्रान् ।
बद्धं मुमोच विनदन्तं प्रसह्य
सुदर्शनं वै देवतानां ललामम् ॥ ७५ ॥

'इन श्रीकृष्णने ही गान्धारदेशीय योद्धाओंको अपने वेगसे कुचलकर राजा नग्नजित्के समस्त पुत्रोंको पराजित किया और वहाँ कैदमें पड़कर क्रन्दन करते हुए राजा सुदर्शनको, जो देवताओंके भी आदरणीय हैं, बन्धन-मुक्त किया ॥ ७५ ॥

अयं कपाटेन जघान पाण्ड्यं
तथा कलिङ्गान् दन्तकूरे ममर्द ।
अनेन दग्धा वर्षपूगान् विनाथा
वाराणसी नगरी सम्बभूव ॥ ७६ ॥

'इन्होंने पाण्ड्यनरेशको किंवाड़के पल्लेसे मार डाला, भयंकर युद्धमें कलिङ्गदेशीय योद्धाओंको कुचल डाला तथा इन्होंने ही काशीपुरीको इस प्रकार जलाया था कि वह बहुत वर्षोंतक अनाथ पड़ी रही ॥ ७६ ॥

अयं स्म युद्धे मन्यतेऽन्यैरजेयं
तमेकलव्यं नाम निषादराजम् ।
वेगेनैव शैलमभिहत्य जम्भः
शेते स कृष्णेन हतः परासुः ॥ ७७ ॥

'ये भगवान् श्रीकृष्ण उस निषादराज एकलव्यको सदा युद्धके लिये ललकारा करते थे, जो दूसरोंके लिये अजेय था; परंतु वह श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर प्राणशून्य हो सदाके लिये रणशय्यामें सो रहा है, ठीक उसी तरह, जैसे जम्भ नामक दैत्य स्वयं ही वेगपूर्वक पर्वतपर आघात करके प्राणशून्य हो महानिद्रामें निमग्न हो गया था ॥७७॥

तथोग्रसेनस्य सुतं सुदुष्टं
वृष्ण्यन्धकानां मध्यगतं सभास्थम् ।
अपातयद् बलदेवद्वितीयो
हत्वा ददौ चोग्रसेनाय राज्यम् ॥ ७८ ॥

'उग्रसेनका पुत्र कंस बड़ा दुष्ट था। वह जब भरी सभामें वृष्णि और अन्धकवंशी क्षत्रियोंके बीचमें बैठा हुआ था, श्रीकृष्णने बलदेवजीके साथ वहाँ जाकर उसे मार गिराया। इस प्रकार कंसका वध करके इन्होंने मथुराका राज्य उग्रसेनको दे दिया ॥ ७८ ॥

अयं सौभं योधयामास खस्थं
विभीषणं मायया शाल्वराजम् ।
सौभद्वारि प्रत्यगृह्णाच्छतघ्नीं
दोर्भ्यां क एनं विषहेत मर्त्यः ॥ ७९ ॥

'इन्होंने सौभ नामक विमानपर बैठे हुए तथा मायाके द्वारा अत्यन्त भयंकर रूप धारण करके आये हुए आकाशमें स्थित शाल्वराजके साथ युद्ध किया और सौभ विमानके द्वार-पर लगी हुई शतघ्नीको अपने दोनों हाथोंसे पकड़ लिया था। फिर इनका वेग कौन मनुष्य सह सकता है ? ॥७९॥

प्राग्ज्योतिषं नाम बभूव दुर्गं
पुरं घोरमसुराणामसह्यम् ।
महाबलो नरकस्तत्र भौमो
जहारादित्या मणिकुण्डले शुभे ॥ ८० ॥

'असुरोंका प्राग्ज्योतिषपुर नामसे प्रसिद्ध एक भयंकर किला था, जो शत्रुओंके लिये सर्वथा अजेय था। वहाँ भूमि-पुत्र महाबली नरकासुर निवास करता था, जिसने देवमाता अदितिके सुन्दर मणिमय कुण्डल हर लिये थे ॥ ८० ॥

न तं देवाः सह शक्रेण शेकुः
समागता युधि मृत्योरभीताः ।
दृष्ट्वा च तं विक्रमं केशवस्य
बलं तथैवास्त्रमवारणीयम् ॥ ८१ ॥
जानन्तोऽस्य प्रकृतिं केशवस्य
न्ययोजयन् दस्युवधाय कृष्णम् ।
स तत् कर्म प्रतिशुश्राव दुष्कर-
मैश्वर्यवान् सिद्धिषु वासुदेवः ॥ ८२ ॥

'मृत्युके भयसे रहित देवता इन्द्रके साथ उसका सामना करनेके लिये आये, परंतु नरकासुरको युद्धमें पराजित न कर सके। तब देवताओंने भगवान् श्रीकृष्णके अनिवार्य बल, पराक्रम और अस्त्रको देखकर तथा इनकी दयालु एवं दुष्टदमनकारिणी प्रकृतिको जानकर इन्हींसे पूर्वोक्त डाकू नरकासुरका वध करनेकी प्रार्थना की, तब समस्त कार्योंकी सिद्धिमें समर्थ भगवान् श्रीकृष्णने वह दुष्कर कार्य पूर्ण करना स्वीकार किया ॥ ८१-८२ ॥

निर्मोचने षट् सहस्राणि हत्वा
संछिद्य पाशान् सहसा क्षुरान्तान् ।
मुरं हत्वा विनिहत्यौघरक्षो
निर्मोचनं चापि जगाम वीरः ॥ ८३ ॥

'फिर वीरवर श्रीकृष्णने निर्मोचन नगरकी सीमापर जाकर सहसा छः हजार लोहमय पाश काट दिये, जो तीखी धारवाले थे। फिर मुर दैत्यका वध और राक्षससमूहका नाश करके निर्मोचन नगरमें प्रवेश किया ॥ ८३ ॥

तत्रैव तेनास्य बभूव युद्धं
महाबलेनातिबलस्य विष्णोः ।
शेते स कृष्णेन हतः परासु-
र्वातेनेवोन्मथितः कर्णिकारः ॥ ८४ ॥

'वहीं उस महाबली नरकासुरके साथ अत्यन्त बलशाली भगवान् श्रीकृष्णका युद्ध हुआ । श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर वह प्राणोंसे हाथ धो बैठा और आँधीके उखाड़े हुए कनेर वृक्षकी भाँति सदाके लिये रणभूमिमें सो गया ॥८४॥

आहृत्य कृष्णो मणिकुण्डले ते
हत्वा च भौमं नरकं मुरं च ।
श्रिया वृतो यशसा चैव विद्वान्
प्रत्याजगामाप्रतिमप्रभावः ॥ ८५ ॥

'इस प्रकार अनुपम प्रभावशाली विद्वान् श्रीकृष्ण भूमिपुत्र नरकासुर तथा मुरका वध करके देवी अदितिके वे दोनों मणिमय कुण्डल वहाँसे लेकर विजयलक्ष्मी और उज्ज्वल यशसे सुशोभित हो अपनी पुरीमें लौट आये ॥८५॥

अस्मै वराण्यददंस्तत्र देवा
दृष्ट्वा भीमं कर्म कृतं रणे तत् ।
श्रमश्च ते युध्यमानस्य न स्या-
दाकाशे चाप्सु च ते क्रमः स्यात् ॥ ८६ ॥
शस्त्राणि गात्रे न च ते क्रमेर-
न्नित्येव कृष्णश्च ततः कृतार्थः ।
एवंरूपे वासुदेवेऽप्रमेये
महाबले गुणसम्पत् सदैव ॥ ८७ ॥

'युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णका वह भयंकर पराक्रम देखकर देवताओंने वहाँ इन्हें इस प्रकार वर दिये—'केशव ! युद्ध करते समय आपको कभी थकावट न हो, आकाश और जलमें भी आप अप्रतिहत गतिसे विचरें और आपके अङ्गोंमें कोई भी अस्त्र-शस्त्र चोट न पहुँचा सके ।' इस प्रकार वर पाकर श्रीकृष्ण पूर्णतः कृतकार्य हो गये हैं । इन असीम शक्तिशाली महाबली वासुदेवमें समस्त गुण-सम्पत्ति सदैव विद्यमान है ॥ ८६-८७ ॥

तमसह्यं विष्णुमनन्तवीर्य-
माशंसते धार्तराष्ट्रो विजेतुम् ।
सदा ह्येनं तर्कयते दुरात्मा
तच्चाप्ययं सहतेऽस्मान् समीक्ष्य ॥ ८८ ॥

'ऐसे अनन्त पराक्रमी और अजेय श्रीकृष्णको धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन जीत लेनेकी आशा करता है । वह दुरात्मा सदैव इनका अनिष्ट करनेके विषयमें सोचता रहता है, परंतु हमलोगोंकी ओर देखकर उसके इस अपराधको भी ये भगवान् सहते चले जा रहे हैं ॥ ८८ ॥

पर्यागतं मम कृष्णस्य चैव
यो मन्यते कलहं सम्प्रसह्य ।
शक्यं हर्तुं पाण्डवानां ममत्वं
तद् वेदिता संयुगं तत्र गत्वा ॥ ८९ ॥

'दुर्योधन मानता है कि मुझमें और श्रीकृष्णमें हठात् कलह करा दिया जा सकता है । पाण्डवोंका श्रीकृष्णके प्रति जो ममत्व (अपनापन) है, उसे मिटा दिया जा सकता है; परंतु कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें पहुँचनेपर उसे इन सब बातोंका ठीक-ठीक पता चल जायगा ॥ ८९ ॥

नमस्कृत्वा शान्तनवाय राज्ञे
द्रोणायाथो सहपुत्राय चैव ।
शारद्वतायाप्रतिद्वन्द्विने च
योत्स्याम्यहं राज्यमभीप्समानः ॥ ९० ॥

'मैं शान्तनुनन्दन महाराज भीष्मको, आचार्य द्रोणको, गुरुभाई अश्वत्थामाको और जिनका सामना कोई नहीं कर सकता, उन वीरवर कृपाचार्यको भी प्रणाम करके राज्य पानेकी इच्छा लेकर अवश्य युद्ध करूँगा ॥ ९० ॥

धर्मेणास्तं निधनं तस्य मन्ये
यो योत्स्यते पाण्डवैः पापबुद्धिः ।
मिथ्या ग्लहे निर्जिता वै नृशंसैः
संवत्सरान् वै द्वादश राजपुत्राः ॥ ९१ ॥

'जो पापबुद्धि मानव पाण्डवोंके साथ युद्ध करेगा, धर्मकी दृष्टिसे उसकी मृत्यु निकट आ गयी है, ऐसा मेरा विश्वास है । कारण कि इन क्रूर स्वभाववाले कौरवोंने हम सब लोगोंको कपटद्यूतमें जीतकर बारह वर्षोंके लिये वनमें निर्वासित कर दिया था; यद्यपि हम भी राजाके ही पुत्र थे ॥ ९१ ॥

वासः कृच्छ्रो विहितश्चाप्यरण्ये
दीर्घं कालं चैकमज्ञातवर्षम् ।
ते हि कस्माज्जीवतां पाण्डवानां
नन्दिष्यन्ते धार्तराष्ट्राः पदस्थाः ॥ ९२ ॥

'हम वनमें दीर्घकालतक बड़े कष्ट सहकर रहे हैं और एक वर्षतक हमें अज्ञातवास करना पड़ा है । ऐसी दशामें पाण्डवोंके जीते-जी वे कौरव अपने पदोंपर प्रतिष्ठित रहकर कैसे आनन्द भोगते रहेंगे ? ॥ ९२ ॥

ते चेदस्मान् युध्यमानाञ्जयेयु-
र्दैवैर्महेन्द्रप्रमुखैः सहायैः ।
धर्मादधर्मश्चरितो गरीयां-
स्ततो ध्रुवं नास्ति कृतं च साधु ॥ ९३ ॥

'यदि इन्द्र आदि देवताओंकी सहायता पाकर भी धृतराष्ट्रपुत्र हमें युद्धमें जीत लेंगे तो यह मानना पड़ेगा कि धर्मकी अपेक्षा पापाचारका ही महत्त्व अधिक है और संसारसे पुण्यकर्मका अस्तित्व निश्चय ही उठ गया ॥ ९३ ॥

न चेदिमं पुरुषं कर्मबद्धं
न चेदस्मान् मन्यतेऽसौ विशिष्टान् ।

आशंसेऽहं वासुदेवद्वितीयो
दुर्योधनं सानुबन्धं निहन्तुम् ॥ ९४ ॥

'यदि दुर्योधन मनुष्यको कर्मोंके बन्धनसे बँधा हुआ नहीं मानता है अथवा यदि वह हमलोगोंको अपनेसे श्रेष्ठ तथा प्रबल नहीं समझता है, तो भी मैं यह आशा करता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्णको अपना सहायक बनाकर मैं दुर्योधनको उसके सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालूँगा ॥ ९४ ॥

न चेदिदं कर्म नरेन्द्र वन्ध्यं
न चेद् भवेत् सुकृतं निष्फलं वा ।
इदं च तच्चाभिसमीक्ष्य नूनं
पराजयो धार्तराष्ट्रस्य साधुः ॥ ९५ ॥

'राजन् ! यदि मनुष्यका किया हुआ यह पापकर्म निष्फल नहीं होता अथवा पुण्यकर्मोंका फल मिले बिना नहीं रहता तो मैं दुर्योधनके वर्तमान और पहलेके किये हुए पापकर्मका विचार करके निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि धृतराष्ट्रपुत्रकी पराजय अनिवार्य है और इसीमें जगत्‌की भलाई है ॥ ९५ ॥

प्रत्यक्षं वः कुरवो यद् ब्रवीमि
युध्यमाना धार्तराष्ट्रा न सन्ति ।
अन्यत्र युद्धात् कुरवो यदि स्यु-
र्न युद्धे वै शेष इहास्ति कश्चित् ॥ ९६ ॥

'कौरवो ! मैं तुमलोगोंके समक्ष यह स्पष्टरूपसे बता देना चाहता हूँ कि धृतराष्ट्रके पुत्र यदि युद्धभूमिमें उतरे तो जीवित नहीं बचेंगे । कौरवोंके जीवनकी रक्षा तभी हो सकती है, जब वे युद्धसे दूर रहें । युद्ध छिड़ जानेपर तो उनमेंसे कोई भी यहाँ शेष नहीं रहेगा ॥ ९६ ॥

हत्वा त्वहं धार्तराष्ट्रान् सकर्णान्
राज्यं कुरूणामवजेता समग्रम् ।
यद् वः कार्यं तत् कुरुध्वं यथास्व-
मिष्टान् दारानात्मभोगान् भजध्वम् ॥ ९७ ॥

'मैं कर्णसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंका वध करके कुरुदेशका सम्पूर्ण राज्य जीत लूँगा, अतः तुम्हारा जो-जो कर्तव्य शेष हो, उसे पूरा कर लो । अपने वैभवके अनुसार प्रियतमा पत्नियोंके साथ सुख भोग लो और अपने शरीरके लिये भी जो अभीष्ट भोग हों, उनका उपभोग कर लो ॥ ९७ ॥

अप्येवं नो ब्राह्मणाः सन्ति वृद्धा
बहुश्रुताः शीलवन्तः कुलीनाः ।
सांवत्सरा ज्योतिषि चाभियुक्ता
नक्षत्रयोगेषु च निश्चयज्ञाः ॥ ९८ ॥

'हमारे पास कितने ही ऐसे वृद्ध ब्राह्मण विद्यमान हैं, जो अनेक शास्त्रोंके विद्वान्, सुशील, उत्तम कुलमें उत्पन्न, वर्षके शुभाशुभ फलोंको जाननेवाले, ज्योतिषशास्त्रके मर्मज्ञ तथा ग्रह-नक्षत्रोंके योगफलका निश्चितरूपसे ज्ञान रखनेवाले हैं ॥ ९८ ॥

उच्चावचं दैवयुक्तं रहस्यं
दिव्याः प्रश्ना मृगचक्रा मुहूर्ताः ।
क्षयं महान्तं कुरुसृंजयानां
निवेदयन्ते पाण्डवानां जयं च ॥ ९९ ॥

'वे दैवसम्बन्धी उन्नति एवं अवनतिके फलदायक रहस्य बता सकते हैं । प्रश्नोंके अलौकिक ढंगसे उत्तर देते हैं, जिससे भविष्य घटनाओंका ज्ञान हो जाता है । वे शुभाशुभ फलोंका वर्णन करनेके लिये सर्वतोभद्र आदि चक्रोंका भी अनुसंधान करते हैं और मुहूर्तशास्त्रके तो वे पण्डित ही हैं । वे सब लोग निश्चितरूपसे यह निवेदन करते हैं कि कौरवों और सृंजयवंशके लोगोंका बड़ा भारी संहार होनेवाला है और इस महायुद्धमें पाण्डवोंकी विजय होगी ॥ ९९ ॥

यथा हि नो मन्यतेऽजातशत्रुः
संसिद्धार्थो द्विषतां निग्रहाय ।
जनार्दनश्चाप्यपरोक्षविद्यो
न संशयं पश्यति वृष्णिसिंहः ॥ १०० ॥

'अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर मानते हैं, मैं अपने शत्रुओंका दमन करनेमें निश्चय सफल होऊँगा । वृष्णिवंशके पराक्रमी वीर भगवान् श्रीकृष्णको भी सारी विद्याओंका अपरोक्ष ज्ञान है । वे भी हमारे इस मनोरथके सिद्ध होनेमें कोई संदेह नहीं देखते हैं ॥ १०० ॥

अहं तथैवं खलु भाविरूपं
पश्यामि बुद्ध्या स्वयमप्रमत्तः ।
दृष्टिश्च मे न व्यथते पुराणी
संयुध्यमाना धार्तराष्ट्रा न सन्ति ॥ १०१ ॥

'मैं भी स्वयं प्रमादशून्य होकर अपनी बुद्धिसे भावीका ऐसा ही स्वरूप देखता हूँ । मेरी चिरंतन दृष्टि कभी तिरोहित नहीं होती । उसके अनुसार मैं यह निश्चितरूपसे कह सकता हूँ कि युद्धभूमिमें उतरनेपर धृतराष्ट्रके पुत्र जीवित नहीं रह सकते ॥ १०१ ॥

अनालब्धं जृम्भति गाण्डिवं धनु-
रनाहता कम्पति मे धनुर्ज्या ।
बाणाश्च मे तूणमुखाद् विसृत्य
मुहुर्मुहुर्गन्तुमुशन्ति चैव ॥ १०२ ॥

'गाण्डीव धनुष बिना स्पर्श किये ही तना जा रहा है, मेरे धनुषकी डोरी बिना खींचे ही हिलने लगी है और मेरे बाण बार-बार तरकससे निकलकर शत्रुओंकी ओर जानेके लिये उतावले हो रहे हैं ॥ १०२ ॥

खड्गः कोशान्निःसरति प्रसन्नो
हित्वेव जीर्णामुरगस्त्वचं स्वाम् ।
ध्वजे वाचो रौद्ररूपा भवन्ति
कदा रथो योक्ष्यते ते किरीटिन् ॥१०३॥

'चमचमाती हुई तलवार म्यानसे इस प्रकार निकल रही है, मानो सर्प अपनी पुरानी केंचुल छोड़कर चमकने लगा हो तथा मेरी ध्वजापर यह भयंकर वाणी गूँजती रहती है कि अर्जुन ! तुम्हारा रथ युद्धके लिये कब जोता जायगा ॥ १०३ ॥

गोमायुसंघाश्च नदन्ति रात्रौ
रक्षांस्यथो निष्पतन्त्यन्तरिक्षात् ।
मृगाः शृगालाः शितिकण्ठाश्च काका
गृध्रा बकाश्चैव तरक्षवश्च ॥१०४॥

'रातमें गीदड़ोंके दल कोलाहल मचाते हैं, राक्षस आकाशसे पृथिवीपर टूटे पड़ते हैं तथा हिरण, सियार, मोर, कौआ, गीध, बगुला और चीते मेरे रथके समीप दौड़े आते हैं ॥

सुवर्णपत्राश्च पतन्ति पश्चाद्
दृष्ट्वा रथं श्वेतहयप्रयुक्तम् ।
अहं ह्येकः पार्थिवान् सर्वयोधान्
शरान् वर्षन् मृत्युलोकं नयेयम् ॥१०५॥

'श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए मेरे रथको देखकर सुवर्णपत्र नामक पक्षी पीछेसे टूटे पड़ते हैं । इससे जान पड़ता है, मैं अकेला बाणोंकी वर्षा करके समस्त राजाओं और योद्धाओंको यमलोक पहुँचा दूँगा ॥ १०५ ॥

समाददानः पृथगस्त्रमार्गान्
यथाग्निरिद्धो गहनं निदाघे ।
स्थूणाकर्णं पाशुपतं महास्त्रं
ब्राह्मं चास्त्रं यच्च शक्रोऽप्यदान्मे ॥१०६॥

वधे धृतो वेगवतः प्रमुञ्चन्
नाहं प्रजाः किंचिदिहावशिष्ये ।
शान्तिं लप्स्ये परमो ह्येष भावः
स्थिरो मम ब्रूहि गावल्गणे तान् ॥१०७॥

'जैसे गर्मीमें प्रज्वलित हुई आग जब वनको जलाने लगती है, तब किसी भी वृक्षको बाकी नहीं छोड़ती, उसी प्रकार मैं शत्रुओंके वधके लिये सुसज्जित हो अस्त्रसंचालनकी विभिन्न रीतियोंका आश्रय ले स्थूणाकर्ण, महान् पाशुपतास्त्र, ब्रह्मास्त्र तथा जिसे इन्द्रने मुझे दिया था, उस इन्द्रास्त्रका भी प्रयोग करूँगा और वेगशाली बाणोंकी वर्षा करके इस युद्धमें किसीको भी जीवित नहीं छोड़ूँगा । ऐसा करनेपर ही मुझे शान्ति मिलेगी । संजय ! तुम उनसे स्पष्ट कह देना कि मेरा यह दृढ़ और उत्तम निश्चय है ॥ १०६-१०७ ॥

ये वैजय्याः समरे सूत लब्ध्वा
देवानपीन्द्रप्रमुखान् समेतान् ।
तैर्मन्यते कलहं सम्प्रसह्य
स धार्तराष्ट्रः पश्यत मोहमस्य ॥१०८॥

'सूत ! जो पाण्डव समरभूमिमें इन्द्र आदि समस्त देवताओंको भी पाकर उन्हें पराजित किये बिना नहीं रहेंगे, उन्हीं हम पाण्डवोंके साथ यह दुर्योधन हठपूर्वक युद्ध करना चाहता है, इसका मोह तो देखो ॥ १०८ ॥

वृद्धो भीष्मः शान्तनवः कृपश्च
द्रोणः सपुत्रो विदुरश्च धीमान् ।
एते सर्वे यद् वदन्ते तदस्तु
आयुष्मन्तः कुरवः सन्तु सर्वे ॥१०९॥

'फिर भी मैं चाहता हूँ कि बूढ़े पितामह शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और बुद्धिमान् विदुर—ये सब लोग मिलकर जैसा कहें, वही हो । समस्त कौरव दीर्घायु बने रहें' ॥ १०९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि अर्जुनवाक्यनिवेदने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें अर्जुनवाक्यनिवेदनविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४८॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मका दुर्योधनको संधिके लिये समझाते हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महिमा बताना एवं कर्णपर आक्षेप करना, कर्णकी आत्मप्रशंसा, भीष्मके द्वारा उसका पुनः उपहास एवं द्रोणाचार्यद्वारा भीष्मजीके कथनका अनुमोदन

वैशम्पायन उवाच

समवेतेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ।
दुर्योधनमिदं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! वहाँ एकत्र हुए उन समस्त राजाओंकी मण्डलीमें शान्तनुनन्दन भीष्मने दुर्योधनसे यह बात कही—॥ १ ॥

बृहस्पतिश्चोशना च ब्रह्माणं पर्युपस्थितौ ।
मरुतश्च सहेन्द्रेण वसवश्चाग्निना सह ॥ २ ॥

आदित्याश्चैव साध्याश्च ये च सप्तर्षयो दिवि ।
विश्वावसुश्च गन्धर्वः शुभाश्चाप्सरसां गणाः ॥ ३ ॥

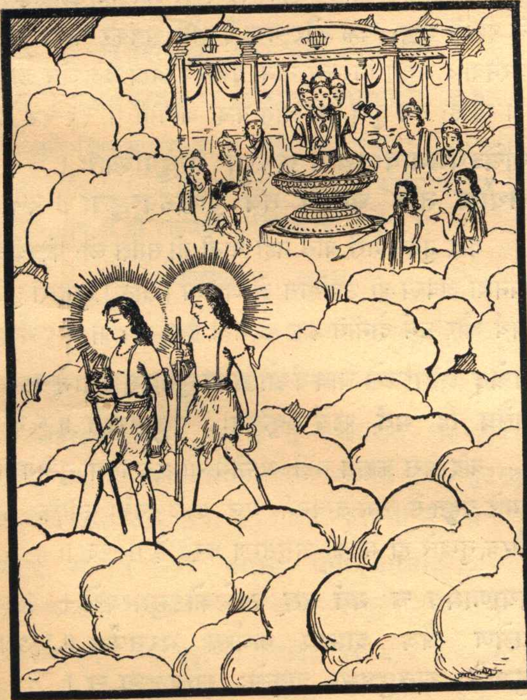
एक समयकी बात है, बृहस्पति और शुक्राचार्य ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुए । उनके साथ इन्द्रसहित मरुद्गण, अग्नि, वसुगण, आदित्य, साध्य, सप्तर्षि, विश्वावसु गन्धर्व और श्रेष्ठ अप्सराएँ भी वहाँ मौजूद थीं ॥ २-३ ॥

नमस्कृत्योपजग्मुस्ते लोकवृद्धं पितामहम् ।
परिवार्य च विश्वेशं पर्यासत दिवौकसः ॥ ४ ॥

ये सब देवता संसारके बड़े-बूढ़े पितामह ब्रह्माजीके पास गये और उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् उन लोकेश्वरको सब ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ ४ ॥

तेषां मनश्च तेजश्चाप्याददानाविवौजसा ।
पूर्वदेवौ व्यतिक्रान्तौ नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥

इसी समय पुरातन देवता नर-नारायण ऋषि उधर आ निकले और अपनी कान्ति तथा ओजसे उन सबके चित्त और तेजका अपहरण-सा करते हुए उस स्थानको लाँघकर चले गये ॥ ५ ॥



बृहस्पतिस्तु पप्रच्छ ब्रह्माणं काविमाविति ।
भवन्तं नोपतिष्ठेते तौ नः शंस पितामह ॥ ६ ॥

यह देख बृहस्पतिजीने ब्रह्माजीसे पूछा—'पितामह ! ये दोनों कौन हैं, जिन्होंने आपका अभिनन्दन भी नहीं किया । हमें इनका परिचय दीजिये' ॥ ६ ॥

ब्रह्मोवाच

यावेतौ पृथिवीं द्यां च भासयन्तौ तपस्विनौ ।
ज्वलन्तौ रोचमानौ च व्याप्यातीतौ महाबलौ ॥ ७ ॥
नरनारायणावेतौ लोकाल्लोकं समास्थितौ ।
ऊर्जितौ स्वेन तपसा महासत्त्वपराक्रमौ ॥ ८ ॥

ब्रह्माजी बोले—बृहस्पते ! ये जो दोनों महान् शक्तिशाली तपस्वी पृथ्वी और आकाशको प्रकाशित करते हुए हमलोगोंका अतिक्रमण करके आगे बढ़ गये हैं, नर और नारायण हैं । ये अपने तेजसे प्रज्वलित और कान्तिसे प्रकाशित हो रहे हैं । इनका धैर्य और पराक्रम महान् है । ये अपनी तपस्यासे अत्यन्त प्रभावशाली होनेके कारण भूलोकसे ब्रह्मलोकमें आये हैं ॥ ७-८ ॥

एतौ हि कर्मणा लोकं नन्दयामासतुर्ध्रुवम् ।
द्विधाभूतौ महाप्राज्ञौ विद्धि ब्रह्मन् परंतपौ ।
असुराणां विनाशाय देवगन्धर्वपूजितौ ॥ ९ ॥

इन्होंने अपने सत्कर्मोंसे निश्चय ही सम्पूर्ण लोकोंका आनन्द बढ़ाया है । ब्रह्मन् ! ये दोनों अत्यन्त बुद्धिमान् और शत्रुओंको संताप देनेवाले हैं । इन्होंने एक होते हुए भी असुरोंका विनाश करनेके लिये दो शरीर धारण किये हैं । देवता और गन्धर्व सभी इनकी पूजा करते हैं ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

जगाम शक्रस्तच्छ्रुत्वा यत्र तौ तेपतुस्तपः ।
सार्धं देवगणैः सर्वैर्बृहस्पतिपुरोगमैः ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर इन्द्र बृहस्पति आदि सब देवताओंके साथ उस स्थानपर गये जहाँ उन दोनों ऋषियोंने तपस्या की थी ॥ १० ॥

तदा देवासुरे युद्धे भये जाते दिवौकसाम् ।
अयाचत महात्मानौ नरनारायणौ वरम् ॥ ११ ॥

उन दिनों देवासुर-संग्राम उपस्थित था और उसमें देवताओंको महान् भय प्राप्त हुआ था; अतः उन्होंने उन दोनों महात्मा नर-नारायणसे वरदान माँगा ॥ ११ ॥

तावब्रूतां वृणीष्वेति तदा भरतसत्तम ।
अथैतावब्रवीच्छक्रः साह्यं नः क्रियतामिति ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! देवताओंकी प्रार्थना सुनकर उस समय उन दोनों ऋषियोंने इन्द्रसे कहा—'तुम्हारी जो इच्छा हो, उसके अनुसार वर माँगो ।' तब इन्द्रने उनसे कहा—'भगवन् ! आप हमारी सहायता करें' ॥ १२ ॥

ततस्तौ शक्रमब्रूतां करिष्यावो यदिच्छसि ।
ताभ्यां च सहितः शक्रो विजिग्ये दैत्यदानवान् ॥ १३ ॥

तब नर-नारायण ऋषियोंने इन्द्रसे कहा—'देवराज ! तुम जो कुछ चाहते हो, वह हम करेंगे ।' फिर उन दोनोंको साथ लेकर इन्द्रने समस्त दैत्यों और दानवोंपर विजय पायी ॥ १३ ॥

नर इन्द्रस्य संग्रामे हत्वा शत्रून् परंतपः ।
पौलोमान् कालखञ्जांश्च सहस्राणि शतानि च ॥ १४ ॥

एक समय शत्रुओंको संताप देनेवाले नरस्वरूप अर्जुनने युद्धमें इन्द्रसे शत्रुता रखनेवाले सैकड़ों और हजारों पौलोम एवं कालखञ्ज नामक दानवोंका संहार किया ॥ १४ ॥

एष भ्रान्ते रथे तिष्ठन् भल्लेनापाहरच्छिरः ।
जम्भस्य ग्रसमानस्य तदा ह्यर्जुन आहवे ॥ १५ ॥

उस समय ये नरस्वरूप अर्जुन सब ओर चक्कर लगानेवाले रथपर बैठे हुए थे, तो भी इन्होंने सबको अपना ग्रास बनानेवाले जम्भ नामक असुरका मस्तक अपने एक भल्लसे काट गिराया ॥ १५ ॥

एष पारे समुद्रस्य हिरण्यपुरमारुजत् ।
जित्वा षष्टिं सहस्राणि निवातकवचान् रणे ॥ १६ ॥

इन्होंने ही संग्राममें साठ हजार निवातकवचोंको पराजित करके समुद्रके उस पार बसे हुए दैत्योंके हिरण्यपुर नामक नगरको तहस-नहस कर डाला ॥ १६ ॥

एष देवान् सहेन्द्रेण जित्वा परपुरञ्जयः ।
अतर्पयन्महाबाहुरर्जुनो जातवेदसम् ॥ १७ ॥

शत्रुओंके नगरपर विजय पानेवाले इन महाबाहु अर्जुनने खाण्डवदाहके समय इन्द्रसहित समस्त देवताओंको जीतकर अग्निदेवको पूर्णतः तृप्त किया था ॥ १७ ॥

नारायणस्तथैवात्र भूयसोऽन्याञ्जघान ह ।
एवमेतौ महावीर्यौ तौ पश्यत समागतौ ॥ १८ ॥

इसी प्रकार नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने भी खाण्डवदाहके समय दूसरे बहुतसे हिंसक प्राणियोंको यमलोक पहुँचाया था। इस प्रकार ये दोनों महान् पराक्रमी हैं। दुर्योधन ! इस समय ये दोनों एक-दूसरेसे मिल गये हैं, इस बातको तुमलोग अच्छी तरह देख और समझ लो ॥ १८ ॥

वासुदेवार्जुनौ वीरौ समवेतौ महारथौ ।
नरनारायणौ देवौ पूर्वदेवाविति श्रुतिः ॥ १९ ॥

परस्पर मिले हुए महारथी वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन पुरातन देवता नर और नारायण ही हैं; यह बात विख्यात है।१९।

अजेयौ मानुषे लोके सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ।
एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः ।
नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम् ॥ २० ॥

इस मनुष्यलोकमें इन्हें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी नहीं जीत सकते। ये श्रीकृष्ण नारायण हैं और अर्जुन नर माने गये हैं। नारायण और नर दोनों एक ही सत्ता हैं। परंतु लोकहितके लिये दो शरीर धारण करके प्रकट हुए हैं ॥ २० ॥

एतौ हि कर्मणा लोकानश्नुवातेऽक्षयान् ध्रुवान् ।
तत्र तत्रैव जायेते युद्धकाले पुनः पुनः ॥ २१ ॥

ये दोनों अपने सत्कर्मके प्रभावसे अक्षय एवं ध्रुवलोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं। लोकहितके लिये जब-जब जहाँ-जहाँ युद्धका अवसर आता है, तब-तब वहाँ-वहाँ ये बार-बार अवतार ग्रहण करते हैं ॥ २१ ॥

तस्मात् कर्मैव कर्तव्यमिति होवाच नारदः ।
एतद्धि सर्वमाचष्ट वृष्णिचक्रस्य वेदवित् ॥ २२ ॥

दुष्टोंका दमन करके साधु पुरुषों एवं धर्मका संरक्षण ही इनका कर्तव्य है—ये सारी बातें वेदोंके ज्ञाता नारदजीने समस्त वृष्णिवंशियोंके सम्मुख कही थीं ॥ २२ ॥

शङ्खचक्रगदाहस्तं यदा द्रक्ष्यसि केशवम् ।
पर्याददानं चास्त्राणि भीमधन्वानमर्जुनम् ॥ २३ ॥
सनातनौ महात्मानौ कृष्णावेकरथे स्थितौ ।
दुर्योधन तदा तात स्मर्तासि वचनं मम ॥ २४ ॥

वत्स दुर्योधन ! जब तुम देखोगे कि दोनों सनातन महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन एक ही रथपर बैठे हैं, श्रीकृष्णके हाथमें शङ्ख, चक्र और गदा है और भयंकर धनुष धारण करनेवाले अर्जुन निरन्तर नाना प्रकारके अस्त्र लेते और छोड़ते जा रहे हैं, तब तुम्हें मेरी बातें याद आयेंगी ॥ २३-२४ ॥

नोचेदयमभावः स्यात् कुरूणां प्रत्युपस्थितः ।
अर्थाच्च तात धर्माच्च तव बुद्धिरुपप्लुता ॥ २५ ॥

यदि तुमने मेरी बात नहीं मानी तो समझ लो, कौरवोंका विनाश अवश्य ही उपस्थित हो जायगा। तात ! तुम्हारी बुद्धि अर्थ और धर्म दोनोंसे भ्रष्ट हो गयी है ॥ २५ ॥

न चेद् ग्रहीष्यसे वाक्यं श्रोतासि सुबहून् हतान् ।
तवैव हि मतं सर्वे कुरवः पर्युपासते ॥ २६ ॥

यदि मेरा कहना नहीं मानोगे तो एक दिन सुनोगे कि हमारे बहुत-से सगे-सम्बन्धी मार डाले गये; क्योंकि सब कौरव तुम्हारे ही मतका अनुसरण करते हैं ॥ २६ ॥

त्रयाणामेव च मतं तत् त्वमेकोऽनुमन्यसे ।
रामेण चैव शप्तस्य कर्णस्य भरतर्षभ ॥ २७ ॥
दुर्जातेः सूतपुत्रस्य शकुनेः सौबलस्य च ।
तथा क्षुद्रस्य पापस्य भ्रातुर्दुःशासनस्य च ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! एक तुम्हीं ऐसे हो, जो कि परशुरामजीके द्वारा अभिशप्त खोटी जातिवाले सूतपुत्र कर्ण एवं सुबलपुत्र शकुनि तथा अपने नीच एवं पापात्मा भाई दुःशासन—इन तीनोंके मतका अनुमोदन एवं अनुसरण करते हो। २७-२८।

कर्ण उवाच

नैवमायुष्मता वाच्यं यन्मामात्थ पितामह ।
क्षत्रधर्मे स्थितो ह्यस्मि स्वधर्मादनपेयिवान् ॥ २९ ॥

कर्ण बोला—पितामह ! आपने मेरे प्रति जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, वे अनुचित हैं। आप-जैसे वृद्ध पुरुषको ऐसी बातें मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये। मैं क्षत्रियधर्ममें स्थित हूँ और अपने धर्मसे कभी भ्रष्ट नहीं हुआ हूँ ॥ २९ ॥

किं चान्यन्मयि दुर्वृत्तं येन मां परिगर्हसे।
न हि मे वृजिनं किंचिद् धार्तराष्ट्रा विदुः क्वचित् ॥ ३० ॥
नाचरं वृजिनं किंचिद् धार्तराष्ट्रस्य नित्यशः।

मुझमें कौन-सा ऐसा दुराचार है जिसके कारण आप मेरी निन्दा करते हैं। महाराज धृतराष्ट्रके पुत्रोंने कभी मेरा कोई पापाचार देखा या जाना हो ऐसी बात नहीं है। मैंने दुर्योधनका कभी कोई अनिष्ट नहीं किया है ॥ ३०½ ॥

अहं हि पाण्डवान् सर्वान् हनिष्यामि रणे स्थितान् ॥
प्राग्विरुद्धैः शमं सद्भिः कथं वा क्रियते पुनः।

मैं युद्धभूमिमें खड़े होनेपर समस्त पाण्डवोंको अवश्य मार डालूँगा। जो लोग पहले अपने विरोधी रहे हों, उनके साथ पुनः संधि कैसे की जा सकती है ? ॥ ३१½ ॥

राज्ञो हि धृतराष्ट्रस्य सर्वं कार्यं प्रियं मया।
तथा दुर्योधनस्यापि स हि राज्ये समाहितः ॥ ३२ ॥

मुझे जिस प्रकार राजा धृतराष्ट्रका समस्त प्रिय कार्य करना चाहिये, उसी प्रकार दुर्योधनका भी करना उचित है; क्योंकि अब वे ही राज्यपर प्रतिष्ठित हैं ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

कर्णस्य तु वचः श्रुत्वा भीष्मः शान्तनवः पुनः।
धृतराष्ट्रं महाराज सम्भाष्येदं वचोऽब्रवीत् ॥ ३३ ॥

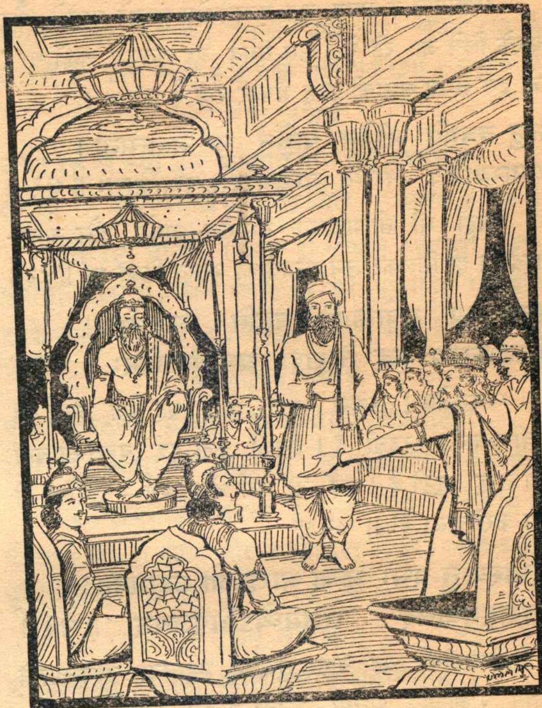
वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! कर्णकी बात सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने राजा धृतराष्ट्र-को सम्बोधित करके पुनः इस प्रकार कहा—॥ ३३ ॥

यदयं कत्थते नित्यं हन्ताहं पाण्डवानिति।
नायं कलापि सम्पूर्णा पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ ३४ ॥

'राजन् ! यह कर्ण जो प्रतिदिन यह डींग हाँका करता है कि मैं पाण्डवोंको मार डालूँगा, वह व्यर्थ है। मेरी रायमें यह महात्मा पाण्डवोंकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है ॥ ३४ ॥

अनयो योऽयमागन्ता पुत्राणां ते दुरात्मनाम्।
तदस्य कर्म जानीहि सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ॥ ३५ ॥

'तुम्हारे दुरात्मा पुत्रोंपर अन्यायके फलस्वरूप जो यह महान् संकट आनेवाला है, वह सब इस दूषित बुद्धिवाले सूतपुत्र कर्णकी ही करतूत समझो ॥ ३५ ॥



एतमाश्रित्य पुत्रस्ते मन्दबुद्धिः सुयोधनः।
अवामन्यत तान् वीरान् देवपुत्रानरिंदमान् ॥ ३६ ॥

'तुम्हारे मन्दबुद्धि पुत्र दुर्योधनने इसीका सहारा लेकर शत्रुओंका दमन करनेवाले उन वीर देवपुत्र पाण्डवोंका अपमान किया है ॥ ३६ ॥

किं चाप्येतेन तत्कर्म कृतपूर्वं सुदुष्करम्।
तैर्यथा पाण्डवैः सर्वैरेकैकेन कृतं पुरा ॥ ३७ ॥

'आजसे पहले समस्त पाण्डवोंने मिलकर अथवा उनमेंसे एक-एकने अलग-अलग जैसे-जैसे दुष्कर पराक्रम किये हैं, वैसा कौन-सा कठिन पुरुषार्थ इस सूतपुत्रने पहले कभी किया है ? ॥ ३७ ॥

दृष्ट्वा विराटनगरे भ्रातरं निहतं प्रियम्।
धनंजयेन विक्रम्य किमनेन तदा कृतम् ॥ ३८ ॥

'जब विराटनगरमें अर्जुनने अपना पराक्रम दिखाते हुए इसके सामने ही इसके प्यारे भाईको मार डाला था, तब इसने सब कुछ अपनी आँखोंसे देखकर भी अर्जुनका क्या बिगाड़ लिया ? ॥ ३८ ॥

सहितान् हि कुरून् सर्वानभियातो धनंजयः।
प्रमथ्य चाच्छिनद् वासः किमयं प्रोषितस्तदा ॥ ३९ ॥

'जब धनंजयने अकेले ही समस्त कौरवोंपर आक्रमण किया और सबको मूर्छित करके उनके वस्त्र छीन लिये थे, उस समय यह कर्ण क्या कहीं परदेश चला गया था ? ॥ ३९ ॥

गन्धर्वैर्घोषयात्रायां ह्रियते यत् सुतस्तव।
क्व तदा सूतपुत्रोऽभूद् य इदानीं वृषायते ॥ ४० ॥

'घोषयात्राके समय जब गन्धर्वलोग तुम्हारे पुत्रको कैद करके लिये जा रहे थे, उस समय यह सूतपुत्र कहाँ था ? जो इस समय साँड़की तरह डँकार रहा है ॥ ४० ॥

ननु तत्रापि भीमेन पार्थेन च महात्मना।
यमाभ्यामेव संगम्य गन्धर्वास्ते पराजिताः ॥ ४१ ॥

'वहाँ भी तो महात्मा भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेवने ही मिलकर उन गन्धर्वोंको परास्त किया था ॥४१॥

एतान्यस्य मृषोक्तानि बहूनि भरतर्षभ ।
विकत्थनस्य भद्रं ते सदा धर्मार्थलोपिनः ॥ ४२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारा भला हो । यह कर्ण व्यर्थ ही शेखी बघारता रहता है। इसकी कही हुई बहुत-सी बातें इसी तरह झूठी हैं। यह तो धर्म और अर्थ—दोनोंका ही लोप करनेवाला है' ॥ ४२ ॥

भीष्मस्य तु वचः श्रुत्वा भारद्वाजो महामनाः।
धृतराष्ट्रमुवाचेदं राजमध्येऽभिपूजयन् ॥ ४३ ॥

भीष्मजीकी यह बात सुनकर महामना द्रोणाचार्यने समस्त राजाओंके मध्यमें उनकी प्रशंसा करते हुए राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार कहा—॥ ४३ ॥

यदाह भरतश्रेष्ठो भीष्मस्तत् क्रियतां नृप ।
न काममर्थलिप्सूनां वचनं कर्तुमर्हसि ॥ ४४ ॥

'नरेश्वर ! भरतकुलतिलक भीष्मजीने जो कहा है, वही कीजिये । जो लोग अर्थ और कामके लोभी हैं, उनकी बातें आपको नहीं माननी चाहिये ॥ ४४ ॥

पुरा युद्धात् साधु मन्ये पाण्डवैः सह संगतम्।
यद् वाक्यमर्जुनेनोक्तं संजयेन निवेदितम् ॥ ४५ ॥
सर्वं तदपि जानामि करिष्यति च पाण्डवः ।

'मैं तो युद्धसे पहले पाण्डवोंके साथ संधि करना ही अच्छा समझता हूँ । अर्जुनने जो बात कही है और संजयने उनका जो संदेश यहाँ सुनाया है, मैं वह सब जानता और समझता हूँ । पाण्डुनन्दन अर्जुन वैसा करके ही रहेंगे॥४५½॥

न ह्यस्य त्रिषु लोकेषु सदृशोऽस्ति धनुर्धरः ॥ ४६ ॥

'तीनों लोकोंमें अर्जुनके समान कोई धनुर्धर नहीं है' ।४६।

अनादृत्य तु तद् वाक्यमर्थवद् द्रोणभीष्मयोः ।
ततः स संजयं राजा पर्यपृच्छत पाण्डवान् ॥ ४७ ॥

द्रोणाचार्य और भीष्मकी बातें सार्थक और सारगर्भित थीं, तथापि उनकी अवहेलना करके राजा धृतराष्ट्र पुनः संजयसे पाण्डवोंका समाचार पूछने लगे ॥ ४७ ॥

तदैव कुरवः सर्वे निराशा जीवितेऽभवन् ।
भीष्मद्रोणौ यदा राजा न सम्यगनुभाषते ॥ ४८ ॥

जब राजा धृतराष्ट्रने भीष्म और द्रोणाचार्यसे भी अच्छी तरह वार्तालाप नहीं किया, तभी समस्त कौरव अपने जीवन-से निराश हो गये ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें भीष्मद्रोणवचनविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयद्वारा युधिष्ठिरके प्रधान सहायकोंका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

किमसौ पाण्डवो राजा धर्मपुत्रोऽभ्यभाषत।
श्रुत्वेह बहुलाः सेनाः प्रीत्यर्थं नः समागताः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! हमारी प्रसन्नता और सहायताके लिये यहाँ हस्तिनापुरमें बहुत-सी सेना एकत्र हो गयी है, यह समाचार सुनकर पाण्डवराज धर्मपुत्र युधिष्ठिरने क्या कहा ? ॥ १ ॥

किमसौ चेष्टते सूत योत्स्यमानो युधिष्ठिरः ।
के वास्य भ्रातृपुत्राणां पश्यन्त्याज्ञेप्सवो मुखम् ॥ २ ॥

सूत ! भविष्यमें होनेवाले युद्धके लिये उद्यत होकर राजा युधिष्ठिर कैसी तैयारी कर रहे हैं ? उनके भाइयों और पुत्रोंमेंसे कौन-कौन-से लोग उनसे किसी कार्यके लिये आज्ञा पानेकी इच्छासे उनका मुँह जोहते रहते हैं ? ॥ २ ॥

के स्विदेनं वारयन्ति युद्धाच्छाम्येति वा पुनः।
निकृत्या कोपितं मन्दैर्धर्मज्ञं धर्मचारिणम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर धर्मके ज्ञाता हैं और धर्मके आचरणमें सदा तत्पर रहते हैं। मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंने अपने कपटपूर्ण बर्तावसे उन्हें कुपित कर दिया है । वहाँ कौन-कौन ऐसे हैं, जो इन्हें बारंबार शान्त रहनेकी सलाह देकर युद्धसे रोकते हैं ?

संजय उवाच

राज्ञो मुखमुदीक्षन्ते पञ्चालाः पाण्डवैः सह ।
युधिष्ठिरस्य भद्रं ते स सर्वाननुशास्ति च ॥ ४ ॥

संजयने कहा—महाराज ! आपका कल्याण हो । पाञ्चाल और पाण्डव सभी राजा युधिष्ठिरके मुखकी ओर देखते रहते हैं और वे उन सबको विभिन्न कार्योंके लिये आज्ञा देते हैं ॥ ४ ॥

पृथग्भूताः पाण्डवानां पञ्चालानां रथव्रजाः ।
आयान्तमभिनन्दन्ति कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥

जब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर सामने आते हैं, तब पाण्डवों तथा पाञ्चालोंके रथसमूह पृथक्-पृथक् श्रेणियोंमें खड़े होकर उनका अभिनन्दन करते हैं ॥ ५ ॥

नभः सूर्यमिवोद्यन्तं कौन्तेयं दीप्ततेजसम् ।
पञ्चालाः प्रतिनन्दन्ति तेजोराशिमिवोदितम् ॥ ६ ॥

जैसे आकाश उदयकालमें उद्दीप्त तेजस्वी सूर्यदेवका अभिनन्दन करता है, उसी प्रकार, मानो तेजके पुञ्जका उदय होता हो, इस तरह दिखायी देनेवाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरका समस्त पाञ्चालगण अभिनन्दन करते हैं ॥ ६ ॥

आगोपालाविपालाश्च नन्दमाना युधिष्ठिरम् ।
पञ्चालाः केकया मत्स्याः प्रतिनन्दन्ति पाण्डवम् ॥ ७ ॥

ग्वालिये और गड़रियोंसे लेकर पाञ्चाल, केकय और मत्स्यदेशोंके राजवंशतक सभी लोग पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरका सम्मान करते हैं ॥ ७ ॥

ब्राह्मण्यो राजपुत्र्यश्च विशां दुहितरश्च याः ।
क्रीडन्त्योऽभिसमायान्ति पार्थं संनद्धमीक्षितुम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्योंकी कन्याएँ भी खेलती-खेलती युद्धके लिये सुसज्जित युधिष्ठिरको देखनेके लिये उनके पास आ जाती हैं ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

संजयाचक्ष्व येनास्मान् पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।
धृष्टद्युम्नस्य सैन्येन सोमकानां बलेन च ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! बताओ, पाण्डवलोग धृष्टद्युम्नकी सेना तथा अन्यान्य सोमकवंशियोंकी विशाल वाहिनीके सिवा और किस-किसकी सहायता पाकर हमलोगों-के साथ युद्ध करनेको उद्यत हुए हैं ? ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

गावल्गणिस्तु तत्पृष्टः सभायां कुरुसंसदि ।
निःश्वस्य सुभृशं दीर्घं मुहुः संचिन्तयन्निव ॥ १० ॥
तत्रानिमित्ततो दैवात् सूतं कश्मलमाविशत् ।
तदाऽऽचचक्षे विदुरः सभायां राजसंसदि ॥ ११ ॥
संजयोऽयं महाराज मूर्च्छितः पतितो भुवि ।
वाचं न सृजते कांचिद्धीनप्रज्ञोऽल्पचेतनः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कौरवोंकी सभामें राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार पूछनेपर संजय बारंबार लम्बी साँस खींचते हुए दीर्घकालतक गहरी चिन्तामें निमग्न-से हो गये और सहसा बिना किसी विशेष कारणके ही वे मूर्छित होकर गिर पड़े । तब विदुरजीने उस राज-सभामें धृतराष्ट्रसे कहा—'महाराज ! ये संजय मूर्च्छित होकर धरतीपर गिर पड़े हैं । उनकी बुद्धि और चेतना लुप्त-सी हो रही है, अतः अभी कुछ बोल नहीं सकते' ॥ १०–१२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अपश्यत् संजयो नूनं कुन्तीपुत्रान् महारथान् ।
तैरस्य पुरुषव्याघ्रैर्भृशमुद्वेजितं मनः ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—निश्चय ही संजयने महारथी कुन्ती-पुत्रोंको देखा है । जान पड़ता है, उन पुरुषसिंह पाण्डवोंने इसके मनको अत्यन्त उद्विग्न कर दिया है ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

संजयश्चेतनां लब्ध्वा प्रत्याश्वस्येदमब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रं महाराज सभायां कुरुसंसदि ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इतनेमें ही संजयको चेत हो आया और वे आश्वस्त होकर कौरव-सभामें धृतराष्ट्रसे बोले ॥ १४ ॥

संजय उवाच

दृष्टवानस्मि राजेन्द्र कुन्तीपुत्रान् महारथान् ।
मत्स्यराजगृहावासनिरोधेनावकर्शितान् ॥ १५ ॥

संजयने कहा—राजेन्द्र ! मैंने महारथी कुन्तीपुत्रों-का दर्शन किया है । वे अज्ञातवासके समय मत्स्यनरेश विराटके घरमें छिपकर रहनेके कारण अत्यन्त दुबले हो गये हैं ॥ १५ ॥

शृणु यैर्हि महाराज पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।
धृष्टद्युम्नेन वीरेण युद्धे वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ १६ ॥

महाराज ! पाण्डवोंने जिन लोगोंकी सहायता पाकर युद्धके लिये तैयारी की है, उनका परिचय देता हूँ, सुनिये । पहली बात यह है कि उन्हें वीरवर धृष्टद्युम्नका पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है, जिससे सबल होकर उन पाण्डवोंने आप-लोगोंपर चढ़ाई करनेकी तैयारी की है ॥ १६ ॥

यो नैव रोषान्न भयान्न लोभान्नार्थकारणात् ।
न हेतुवादाद् धर्मात्मा सत्यं जह्यात् कदाचन ॥ १७ ॥
यः प्रमाणं महाराज धर्मे धर्मभृतां वरः ।
अजातशत्रुणा तेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ १८ ॥

महाराज ! जो धर्मात्मा न रोषसे, न भयसे, न लोभसे, न अर्थके लिये और न बहाना बनाकर ही कभी सत्यका परित्याग कर सकते हैं, जो धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हैं और धर्मके विषयमें प्रमाण माने जाते हैं, उन अजातशत्रुके प्रभावसे पाण्डवोंने युद्धकी तैयारी की है ॥ १७-१८ ॥

यस्य बाहुबले तुल्यः पृथिव्यां नास्ति कश्चन ।
यो वै सर्वान् महीपालान् वशे चक्रे धनुर्धरः ।
यः काशीनङ्गमगधान् कलिङ्गांश्च युधाजयत् ॥ १९ ॥
तेन वो भीमसेनेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।

बाहुबलमें जिनकी समानता करनेवाला इस भूमण्डलमें दूसरा कोई नहीं है, जिन्होंने केवल धनुष धारण करके युद्धमें काशी, अङ्ग, मगध और कलिङ्ग आदि देशोंके समस्त भूपालोंको जीतकर अपने वशमें कर लिया था, उन भीमसेनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंपर आक्रमण करनेका उद्योग आरम्भ किया है ॥ १९३ ॥

यस्य वीर्येण सहसा चत्वारो भुवि पाण्डवाः ॥ २० ॥
निःसृत्य जतुगेहाद् वै हिडिम्बात् पुरुषादकात्।
यश्चैषामभवद् द्वीपः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥ २१ ॥
याज्ञसेनीमथो यत्र सिन्धुराजोऽपकृष्टवान्।
तत्रैषामभवद् द्वीपः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥ २२ ॥
यश्च तान् संगतान् सर्वान् पाण्डवान् वारणावते।
दह्यतो मोचयामास तेन वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ २३ ॥

जिनके बल और पराक्रमसे चारों पाण्डव सहसा लाक्षाभवनसे निकलकर इस पृथ्वीपर जीवित बच गये, जिन्होंने मनुष्यभक्षी राक्षस हिडिम्बसे अपने भाइयोंकी रक्षा की, उस संकटके समय जो कुन्तीकुमार भीम इन पाण्डवोंके लिये द्वीपके समान आश्रयदाता हो गये, जब सिन्धुराज जयद्रथने द्रौपदीका अपहरण किया था, उस समय भी जिन कुन्तीकुमार वृकोदरने उन सबको द्वीपकी भाँति आश्रय दिया था तथा जिन्होंने वारणावत नगरमें एकत्र हुए समस्त पाण्डवोंको लाक्षागृहकी आगमें जलनेसे बचा लिया था, उन्हीं भीमसेनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंके साथ युद्धकी तैयारी की है ॥ २०–२३ ॥

कृष्णायां चरता प्रीतिं येन क्रोधवशा हताः।
प्रविश्य विषमं घोरं पर्वतं गन्धमादनम् ॥ २४ ॥
यस्य नागायुतैर्वीर्यं भुजयोः सारमर्पितम्।
तेन वो भीमसेनेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ २५ ॥

जिन्होंने द्रौपदीपर अपना प्रेम जताते हुए अत्यन्त दुर्गम एवं भयंकर गन्धमादन पर्वतकी भूमिमें प्रवेश करके क्रोधवश नामवाले राक्षसोंको मार डाला, जिनकी दोनों भुजाओंमें दस हजार हाथियोंके समान बल है, उन्हीं भीमसेनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंपर आक्रमणका उद्योग किया है ॥ २४-२५ ॥

कृष्णद्वितीयो विक्रम्य तुष्ट्यर्थं जातवेदसः।
अजयद् यः पुरा वीरो युध्यमानं पुरंदरम् ॥ २६ ॥
यः स साक्षान्महादेवं गिरिशं शूलपाणिनम्।
तोषयामास युद्धेन देवदेवमुमापतिम् ॥ २७ ॥
यश्च सर्वान् वशे चक्रे लोकपालान् धनुर्धरः।
तेन वो विजयेनाजौ पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ २८ ॥

जिन वीरशिरोमणिने पहले केवल भगवान् श्रीकृष्णके साथ जाकर अग्निदेवकी तृप्तिके लिये पराक्रम करके अपने साथ युद्ध करनेवाले देवराज इन्द्रको भी पराजित कर दिया, जिन्होंने युद्धके द्वारा पर्वतपर शयन करनेवाले तथा हाथोंमें त्रिशूल लिये रहनेवाले साक्षात् देवाधिदेव महादेव उमापतिको भी संतुष्ट किया था तथा जिन धनुर्धर वीरने समस्त लोकपालोंको भी हराकर अपने वशमें कर लिया, उन्हीं अर्जुनके बलपर पाण्डवलोग युद्धमें आपलोगोंसे भिड़नेको तैयार हैं ॥ २६–२८ ॥

यः प्रतीचीं दिशं चक्रे वशे म्लेच्छगणायुताम्।
स तत्र नकुलो योद्धा चित्रयोधी व्यवस्थितः ॥ २९ ॥
तेन वो दर्शनीयेन वीरेणातिधनुर्भृता।
माद्रीपुत्रेण कौरव्य पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ३० ॥

कुरुनन्दन ! जिन्होंने सहस्रों म्लेच्छोंसे भरी हुई पश्चिम दिशाको जीतकर अपने अधीन कर लिया था, वे विचित्र रीतिसे युद्ध करनेमें कुशल योद्धा नकुल उधरसे युद्धके लिये तैयार खड़े हैं। माद्रीकुमार नकुल महान् धनुर्धर और अत्यन्त दर्शनीय वीर हैं। उनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंपर आक्रमणकी तैयारी की है ॥ २९-३० ॥

यः काशीनङ्गमगधान् कलिङ्गांश्च युधाजयत्।
तेन वः सहदेवेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ३१ ॥

जिन्होंने युद्धमें काशी, अङ्ग, मगध तथा कलिङ्गदेशके राजाओंको पराजित किया है, उन वीरवर सहदेवके बलसे पाण्डव आपलोगोंसे भिड़नेके लिये तैयार हुए हैं ॥ ३१ ॥

यस्य वीर्येण सदृशाश्चत्वारो भुवि मानवाः।
अश्वत्थामा धृष्टकेतू रुक्मी प्रद्युम्न एव च ॥ ३२ ॥
तेन वः सहदेवेन युद्धं राजन् महात्ययम्।
यवीयसा नृवीरेण माद्रीनन्दिकरेण च ॥ ३३ ॥

राजन् ! इस भूमण्डलमें अश्वत्थामा, धृष्टकेतु, रुक्मी तथा प्रद्युम्न—ये चार पुरुष ही बल और पराक्रममें जिनकी समानता कर सकते हैं, जो माद्रीको आनन्द प्रदान करनेवाले तथा पाण्डवोंमें सबसे छोटे हैं, उन नरश्रेष्ठ वीर सहदेवके साथ आपलोगोंका महान् विनाशकारी युद्ध होनेवाला है ॥

तपश्चचार या घोरं काशिकन्या पुरा सती।
भीष्मस्य वधमिच्छन्ती प्रेत्यापि भरतर्षभ ॥ ३४ ॥
पाञ्चालस्य सुता जज्ञे दैवाच्च स पुनः पुमान्।
स्त्रीपुंसोः पुरुषव्याघ्र यः स वेद गुणागुणान् ॥ ३५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें काशिराजकी जिस सती-साध्वी कन्या अम्बाने भीष्मजीके वधकी इच्छासे घोर तपस्या की थी, वही मृत्युके पश्चात् पाञ्चालराज द्रुपदकी पुत्री होकर उत्पन्न हुई, परंतु दैववश वह फिर पुरुष हो गयी। वह वीर पाञ्चालकुमार स्त्री और पुरुष दोनों शरीरोंके गुण और अवगुणको जानता है ॥ ३४-३५ ॥

यः कलिङ्गान् समापेदे पाञ्चाल्यो युद्धदुर्मदः।
शिखण्डिना वः कुरवः कृतास्त्रेणाभ्ययुञ्जत ॥ ३६ ॥

कौरवो ! वह द्रुपदकुमार युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाला है। उसीने कलिङ्गदेशीय क्षत्रियोंको पराजित किया था। उस अस्त्रवेत्ता वीरका नाम शिखण्डी है, जिसके बलपर पाण्डवोंने आपलोगोंसे युद्धकी तैयारी की है ॥ ३६ ॥

यं यक्षः पुरुषं चक्रे भीष्मस्य निधनेच्छया।
महेष्वासेन रौद्रेण पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ३७ ॥

जिसे स्थूणाकर्ण यक्षने पुरुष बना दिया था, भीष्मके वधकी इच्छा रखनेवाले उस भयंकर एवं महाधनुर्धर शिखण्डीके बलपर पाण्डव आपसे युद्ध करनेको तैयार हैं ॥

महेष्वासा राजपुत्रा भ्रातरः पञ्च केकयाः।
आमुक्तकवचाः शूरास्तैश्च वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ ३८ ॥

केकयदेशके पाँच राजकुमार जो परस्पर भाई हैं, सदा कवच बाँधे युद्धके लिये उद्यत रहते हैं। वे महान् धनुर्धर शूरवीर हैं। उनके बलपर पाण्डवोंने आपलोगोंसे युद्धकी तैयारी की है ॥ ३८ ॥

यो दीर्घबाहुः क्षिप्रास्त्रो धृतिमान् सत्यविक्रमः।
तेन वो वृष्णिवीरेण युयुधानेन संगरः ॥ ३९ ॥

जिनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं, जो बड़ी शीघ्रतासे अस्त्र-संचालन करते हैं तथा जो धीर एवं सत्यपराक्रमी हैं, उन वृष्णिवीर सात्यकिके साथ आपलोगोंका संग्राम होनेवाला है ॥

य आसीच्छरणं काले पाण्डवानां महात्मनाम्।
रणे तेन विराटेन भविता वः समागमः ॥ ४० ॥

जो अज्ञातवासके समय महात्मा पाण्डवोंके आश्रयदाता थे, उन राजा विराटके साथ भी आपलोगोंका युद्ध होगा ॥

यः स काशिपती राजा वाराणस्यां महारथः।
स तेषामभवद् योद्धा तेन वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ ४१ ॥

काशिदेशके अधिपति महारथी नरेश जो वाराणसीपुरीमें रहते हैं, पाण्डवोंकी ओरसे युद्ध करनेको तैयार हैं। उनको साथ लेकर पाण्डव आपलोगोंपर आक्रमण करनेके लिये तैयार हैं ॥ ४१ ॥

शिशुभिर्दुर्जयैः संख्ये द्रौपदेयैर्महात्मभिः।
आशीविषसमस्पर्शैः पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ४२ ॥

द्रौपदीके महामना पुत्र देखनेमें बालक होनेपर भी समरभूमिमें दुर्जय हैं। उन्हें छेड़ना विषधर सर्पोंको छू लेनेके समान है। उनके बलपर भी पाण्डव आपलोगोंसे भिड़नेकी तैयारी कर रहे हैं ॥ ४२ ॥

यः कृष्णसदृशो वीर्ये युधिष्ठिरसमो दमे।
तेनाभिमन्युना संख्ये पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ४३ ॥

जो पराक्रममें भगवान् श्रीकृष्णके समान और इन्द्रिय-संयममें युधिष्ठिरके तुल्य हैं, उन अभिमन्युको साथ लेकर पाण्डवोंने आपलोगोंसे युद्धकी तैयारी की है ॥ ४३ ॥

यश्चैवाप्रतिमो वीर्ये धृष्टकेतुर्महायशाः।
दुःसहः समरे क्रुद्धः शैशुपालिर्महारथः ॥ ४४ ॥
तेन वश्चेदिराजेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत।
अक्षौहिण्या परिवृतः पाण्डवान् योऽभिसंश्रितः॥ ४५ ॥

जिसके पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं है, शिशुपालका वह महारथी पुत्र महायशस्वी धृष्टकेतु समरभूमिमें कुपित होनेपर शत्रुओंके लिये दुःसह हो उठता है। उस चेदिराजके साथ पाण्डवलोग आपपर आक्रमण करनेकी तैयारी कर रहे हैं। उसने एक अक्षौहिणी सेनाके साथ आकर पाण्डवोंका पक्ष ग्रहण किया है ॥ ४४-४५ ॥

यः संश्रयः पाण्डवानां देवानामिव वासवः।
तेन वो वासुदेवेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ४६ ॥

जैसे इन्द्र देवताओंके आश्रयदाता हैं, उसी प्रकार जो पाण्डवोंको शरण देनेवाले हैं, उन भगवान् वासुदेवके साथ पाण्डवोंने आपपर आक्रमण करनेकी तैयारी की है ॥ ४६ ॥

तथा चेदिपतेर्भ्राता शरभो भरतर्षभ।
करकर्षेण सहितस्ताभ्यां वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ ४७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! चेदिराजके भाई शरभ (अपने अनुज) करकर्षके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं। उन दोनोंको साथ लेकर उन्होंने आपसे युद्ध करनेका उद्योग किया है ॥

जारासंधिः सहदेवो जयत्सेनश्च तावुभौ।
युद्धेऽप्रतिरथौ वीरौ पाण्डवार्थे व्यवस्थितौ ॥ ४८ ॥

जरासंधपुत्र सहदेव और जयत्सेन दोनों युद्धमें अपना सानी नहीं रखते हैं। वे दोनों मागध वीर पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर डटे हुए हैं ॥ ४८ ॥

द्रुपदश्च महातेजा बलेन महता वृतः।
त्यक्तात्मा पाण्डवार्थाय योत्स्यमानो व्यवस्थितः॥ ४९ ॥

महातेजस्वी राजा द्रुपद विशाल सेनाके साथ आये हैं और पाण्डवोंके लिये अपने शरीर और प्राणोंकी परवा न करके युद्ध करनेके लिये उद्यत हैं ॥ ४९ ॥

एते चान्ये च बहवः प्राच्योदीच्या महीक्षितः।
शतशो यानुपाश्रित्य धर्मराजो व्यवस्थितः ॥ ५० ॥

ये तथा और भी बहुत-से पूर्व तथा उत्तर दिशाओंमें रहनेवाले नरेश सैकड़ोंकी संख्यामें आकर वहाँ डटे हुए हैं, जिनका आश्रय लेकर महाराज युधिष्ठिर युद्धके लिये तैयार हैं ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेनके पराक्रमसे डरे हुए धृतराष्ट्रका विलाप

धृतराष्ट्र उवाच

सर्व एते महोत्साहा ये त्वया परिकीर्तिताः।
एकतस्त्वेव ते सर्वे समेता भीम एकतः॥ १॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! तुमने जिन लोगोंके नाम बताये हैं, ये सभी बड़े उत्साही वीर हैं। इनमें भी जितने लोग वहाँ एकत्र हुए हैं, वे सब एक ओर और भीमसेन एक ओर॥ १॥

भीमसेनाद्धि मे भूयो भयं संजायते महत्।
क्रुद्धादमर्षणात् तात व्याघ्रादिव महारुरोः॥ २॥

तात! मुझे क्रोधमें भरे हुए अमर्षशील भीमसेनसे बड़ा डर लगता है; ठीक उसी तरह, जैसे महान् मृगको किसी व्याघ्रसे सदा भय बना रहता है॥ २॥

जागर्मि रात्रयः सर्वा दीर्घमुष्णं च निःश्वसन्।
भीतो वृकोदरात् तात सिंहात् पशुरिवापरः॥ ३॥

वत्स! सिंहसे डरे हुए दूसरे पशुकी भाँति मैं भीमसेनसे भयभीत हो रातभर गर्म-गर्म लंबी साँसें खींचता हुआ जागता रहता हूँ॥ ३॥

न हि तस्य महाबाहोः शक्रप्रतिमतेजसः।
सैन्येऽस्मिन् प्रतिपश्यामि य एनं विषहेद् युधि॥ ४॥

महाबाहु भीम इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। मैं अपनी सेनामें किसीको भी ऐसा नहीं देखता, जो भीमका सामना कर सके—युद्धमें इसके वेगको सह सके॥ ४॥

अमर्षणश्च कौन्तेयो दृढवैरश्च पाण्डवः।
अनर्महासी सोन्मादस्तिर्यक्प्रेक्षी महास्वनः॥ ५॥

कुन्तीकुमार पाण्डुपुत्र भीम असहनशील तथा वैरको दृढ़तापूर्वक पकड़े रखनेवाला है। उसकी की हुई हँसी भी हँसीके लिये नहीं होती, वह उसे सत्य कर दिखाता है। उसका स्वभाव उद्धत है। वह टेढ़ी निगाहसे देखता और बड़े जोरसे गर्जना करता है॥ ५॥

महावेगो महोत्साहो महाबाहुर्महाबलः।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति॥ ६॥

वह महान् वेगशाली, अत्यन्त उत्साही, विशालबाहु और महाबली है। वह युद्ध करके मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंको अवश्य मार डालेगा॥ ६॥

ऊरुग्राहगृहीतानां गदां बिभ्रद् वृकोदरः।
कुरूणामृषभो युद्धे दण्डपाणिरिवान्तकः॥ ७॥

मेरे पुत्र भी बड़े दुराग्रही हैं; अतः हाथमें गदा लिये कुरुश्रेष्ठ वृकोदर भीम दण्डपाणि यमराजकी भाँति युद्धमें इनका निश्चय ही वध कर डालेगा॥ ७॥

अष्टास्रिमायसीं घोरां गदां काञ्चनभूषणाम्।
मनसाहं प्रपश्यामि ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम्॥ ८॥

मैं मनकी आँखोंसे देख रहा हूँ, भीमसेनकी स्वर्णभूषित भयंकर गदा, जो लोहेकी बनी हुई और आठ कोनोंसे युक्त है, ब्रह्मदण्डके समान उठी हुई है॥ ८॥

यथा मृगाणां यूथेषु सिंहो जातबलश्चरेत्।
मामकेषु तथा भीमो बलेषु विचरिष्यति॥ ९॥

जैसे बलवान् सिंह मृगोंके यूथोंमें निःशङ्क विचरण करता है, उसी प्रकार भीमसेन मेरी विशाल वाहिनियोंमें बेखटके विचरेगा॥ ९॥

सर्वेषां मम पुत्राणां स एकः क्रूरविक्रमः।
बह्वाशी विप्रतीपश्च बाल्येऽपि रभसः सदा॥ १०॥

बाल्यकालमें भी मेरे सब पुत्रोंमें एकमात्र वह भीमसेन ही क्रूर पराक्रमी, बहुत अधिक खानेवाला, सबके प्रतिकूल चलनेवाला तथा सदा अत्यन्त वेगशाली था॥ १०॥

उद्वेपते मे हृदयं ये मे दुर्योधनादयः।
बाल्येऽपि तेन युध्यन्तो वारणेनेव मर्दिताः॥ ११॥

उसकी याद आते ही मेरा हृदय काँपने लगता है। मेरे दुर्योधन आदि पुत्र बचपनमें भी जब उसके साथ खेल-कूदमें लड़ते थे, तब वह गजराजकी भाँति इन सबको मसल देता था ११



तस्य वीर्येण संक्लिष्टा नित्यमेव सुता मम।
स एव हेतुर्भेदस्य भीमो भीमपराक्रमः ॥ १२ ॥

मेरे पुत्र उसके बल-पराक्रमसे सदा ही कष्टमें पड़े रहते थे। भयंकर पराक्रमी भीमसेन ही इस फूटकी जड़ है ॥ १२ ॥

ग्रसमानमनीकानि नरवारणवाजिनाम्।
पश्यामीवाग्रतो भीमं क्रोधमूर्च्छितमाहवे ॥ १३ ॥

मुझे अपने सामने दीख-सा रहा है कि भीमसेन युद्धमें क्रोधसे मूर्छित हो मनुष्य, हाथी और घोड़ोंकी (समस्त) सेनाओंको कालका ग्रास बनाता जा रहा है ॥ १३ ॥

अस्त्रे द्रोणार्जुनसमं वायुवेगसमं जवे।
महेश्वरसमं क्रोधे को हन्याद् भीममाहवे ॥ १४ ॥

वह अस्त्रविद्यामें द्रोणाचार्य तथा अर्जुनके समान है, वेगमें वायुकी समानता करता है एवं क्रोधमें महेश्वरके तुल्य है। ऐसे भीमको युद्धमें कौन मार सकता है ? ॥ १४ ॥

संजयाचक्ष्व मे शूरं भीमसेनममर्षणम्।
अतिलाभं तु मन्येऽहं यत् तेन रिपुघातिना ॥ १५ ॥
तदैव न हताः सर्वे पुत्रा मम मनस्विना।

संजय ! मुझे अमर्षमें भरे हुए शूरवीर भीमसेनका समाचार सुनाओ। मैं तो यही सबसे बड़ा लाभ मानता हूँ कि उस शत्रुघाती मनस्वी वीरने (जब द्यूतक्रीड़ा हो रही थी) उसी समय मेरे सब पुत्रोंको नहीं मार डाला ॥ १५½ ॥

येन भीमबला यक्षा राक्षसाश्च पुरा हताः ॥ १६ ॥
कथं तस्य रणे वेगं मानुषः प्रसहिष्यति।

जिसने पूर्वकालमें भयंकर बलशाली यक्षों तथा राक्षसोंका वध किया है, युद्धमें उसका वेग कोई मनुष्य कैसे सह सकेगा ? ॥ १६½ ॥

न स जातु वशे तस्थौ मम बाल्येऽपि संजय ॥ १७ ॥
किं पुनर्मम दुष्पुत्रैः क्लिष्टः सम्प्रति पाण्डवः।

संजय ! पाण्डुकुमार भीमसेन बचपनमें भी कभी मेरे वशमें नहीं रहा; फिर जब मेरे दुष्ट पुत्रोंने उसे बार-बार कष्ट दिया है, तब वह इस समय मेरे वशमें कैसे हो सकता है ? ॥ १७½ ॥

निष्ठुरो रोषणोऽत्यर्थं भज्येतापि न संनमेत्।
तिर्यक्प्रेक्षी संहतभ्रूः कथं शाम्येद् वृकोदरः ॥ १८ ॥

वह क्रूर और क्रोधी है। टूट भले ही जाय, पर झुक नहीं सकेगा। सदा टेढ़ी निगाहसे ही देखता है। उसकी भौंहें क्रोधके कारण परस्पर गुँथी रहती हैं। ऐसा भीमसेन कैसे शान्त हो सकेगा ? ॥ १८ ॥

शूरस्तथाप्रतिबलो गौरस्ताल इवोन्नतः।
प्रमाणतो भीमसेनः प्रादेशेनाधिकोऽर्जुनात् ॥ १९ ॥

गोरे रंगका वह शूरवीर भीमसेन ताड़के समान ऊँचा है। ऊँचाईमें वह अर्जुनसे एक बित्ता अधिक है, बलमें उसकी समता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ १९ ॥

जवेन वाजिनोऽत्येति बलेनात्येति कुञ्जरान्।
अव्यक्तजल्पी मध्वक्षो मध्यमः पाण्डवो बली ॥ २० ॥

वह स्पष्ट नहीं बोलता। उसकी आँखें सदा मधुके समान पिङ्गल वर्णकी दिखायी देती हैं। वह महाबली मध्यम पाण्डव अपने वेगसे घोड़ोंको भी लाँघ सकता है और बलसे हाथियोंको भी पराजित कर सकता है ॥ २० ॥

इति बाल्ये श्रुतः पूर्वं मया व्यासमुखात् पुरा।
रूपतो वीर्यतश्चैव याथातथ्येन पाण्डवः ॥ २१ ॥

मैंने बाल्यकालमें ही व्यासजीके मुखसे पहले इस पाण्डुपुत्रके अद्भुत रूप और पराक्रमका यथार्थ वर्णन सुना था ॥ २१ ॥

आयसेन स दण्डेन रथान् नागान् नरान् हयान्।
हनिष्यति रणे क्रुद्धो रौद्रः क्रूरपराक्रमः ॥ २२ ॥

निष्ठुर पराक्रम प्रकट करनेवाला यह भयंकर भीमसेन समरभूमिमें कुपित होकर लौहदंडसे मेरे रथों, हाथियों, पैदल मनुष्यों और घोड़ोंका भी संहार कर डालेगा ॥ २२ ॥

अमर्षी नित्यसंरब्धो भीमः प्रहरतां वरः।
मया तात प्रतीपानि कुर्वन् पूर्वं विमानितः ॥ २३ ॥

तात संजय ! सदा क्रोधमें भरा रहनेवाला अमर्षशील भीमसेन प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें सबसे श्रेष्ठ है। मेरे पुत्रोंके प्रतिकूल आचरण करते समय मैंने पहले कई बार उसका अपमान किया है ॥ २३ ॥

निष्कर्णामायसीं स्थूलां सुपार्श्वां काञ्चनीं गदाम्।
शतघ्नीं शतनिर्ह्रादां कथं शक्ष्यन्ति मे सुताः ॥ २४ ॥

उसकी लोहेकी गदा सीधी, मोटी, सुन्दर पार्श्वभागवाली और सुवर्णसे विभूषित है, वह शत-शत वज्रपातके समान बड़े जोरसे आवाज करती और एक ही चोटमें सैकड़ोंको मार डालती है। मेरे बेटे उसका आघात कैसे सह सकेंगे ? ॥ २४ ॥

अपारमप्लवागाधं समुद्रं शरवेगिनम्।
भीमसेनमयं दुर्गं तात मन्दास्तितीर्षवः ॥ २५ ॥

तात ! भीमसेन एक दुर्गम अपार समुद्र है, इसे पार करनेके लिये न तो कोई नौका है और न इसकी कहीं थाह ही है; बाण ही इसका वेग है, तो भी मेरे मूर्ख पुत्र इस भीमसेनमय दुर्गम समुद्रको पार करना चाहते हैं ॥ २५ ॥

क्रोशतो मे न शृण्वन्ति बालाः पण्डितमानिनः।
विषमं न हि मन्यन्ते प्रपातं मधुदर्शिनः ॥ २६ ॥

मैं चीखता-चिल्लाता रह जाता हूँ, परंतु अपनेको पण्डित समझनेवाले ये मूर्ख पुत्र मेरी बात नहीं सुनते हैं। ये केवल

वृक्षकी ऊँची शाखामें लगे हुए शहदको देखते हैं, वहाँसे गिरनेका जो भयानक खटका है, उसकी ओर इनका ध्यान नहीं है ॥ २६ ॥

संयुगं ये गमिष्यन्ति नररूपेण मृत्युना।
नियतं चोदिता धात्रा सिंहेनेव महामृगाः ॥ २७ ॥

जैसे महान् मृग सिंहसे भिड़ जायँ, उसी प्रकार जो लोग उस मनुष्यरूपी यमराजके साथ लड़नेके लिये युद्धभूमिमें उतरेंगे, उन्हें विधाताने ही मृत्युके लिये प्रेरित करके भेजा है, ऐसा मानना चाहिये ॥ २७ ॥

शैक्यां तात चतुष्किष्कुं षडस्रिममितौजसम्।
प्रहितां दुःखसंस्पर्शां कथं शक्ष्यन्ति मे सुताः ॥ २८ ॥

तात संजय ! भीमसेनकी गदा छींकेपर रखने योग्य, चार हाथ लंबी और छः कोणोंसे विभूषित है। उस अत्यन्त तेजस्विनी गदाका स्पर्श भी दुःखदायक है। जब भीम उसे मेरे पुत्रोंपर चलायेगा, तब वे उसका आघात कैसे सह सकेंगे ? ॥ २८ ॥

गदां भ्रामयतस्तस्य भिन्दतो हस्तिमस्तकान्।
सृक्किणी लेलिहानस्य बाष्पमुत्सृजतो मुहुः ॥ २९ ॥
उद्दिश्य नागान् पततः कुर्वतो भैरवान् रवान्।
प्रतीपं पततो मत्तान् कुञ्जरान् प्रतिगर्जतः ॥ ३० ॥
विगाह्य रथमार्गेषु वरानुद्दिश्य निघ्नतः।
अग्नेः प्रज्वलितस्येव अपि मुच्येत मे प्रजा ॥ ३१ ॥

भीमसेन जब क्रोधजनित आँसू बहाता और बारंबार अपने ओष्ठप्रान्तको चाटता हुआ गदा घुमा-घुमाकर हाथियोंके मस्तक विदीर्ण करने लगेगा, सामने भयंकर गर्जना करनेवाले गजराजोंको लक्ष्य करके उनकी ओर दौड़ेगा, प्रतिकूल दिशाकी ओर भागनेवाले मदोन्मत्त हाथियोंकी गर्जनाके उत्तरमें स्वयं भी सिंहनाद करेगा और मेरे रथियोंकी सेनाओंमें घुसकर श्रेष्ठ वीरोंको चुन-चुनकर मारने लगेगा, उस समय अग्निके समान प्रज्वलित होनेवाले भीमके हाथसे मेरे पुत्र कैसे जीवित बचेंगे ? ॥ २९–३१ ॥

वीथीं कुर्वन् महाबाहुर्द्रावयन् मम वाहिनीम्।
नृत्यन्निव गदापाणिर्युगान्तं दर्शयिष्यति ॥ ३२ ॥

महाबाहु भीम मेरी सेनामें घुसकर अपने रथके लिये रास्ता बनाता, मेरी विशाल वाहिनीको खदेड़ता और हाथमें गदा लिये नृत्य-सा करता हुआ जब आगे बढ़ेगा, तब प्रलयकालका दृश्य उपस्थित कर देगा ॥ ३२ ॥

प्रभिन्न इव मातङ्गः प्रभञ्जन् पुष्पितान् द्रुमान्।
प्रवेक्ष्यति रणे सेनां पुत्राणां मे वृकोदरः ॥ ३३ ॥

जैसे मदकी धारा बहानेवाला मतवाला हाथी फूले हुए वृक्षोंको तोड़ता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार भीमसेन समरभूमिमें मेरे पुत्रोंकी सेनाके भीतर प्रवेश करेगा ॥ ३३ ॥

कुर्वन् रथान् विपुरुषान् विसारथिहयध्वजान्।
आरुजन् पुरुषव्याघ्रो रथिनः सादिनस्तथा ॥ ३४ ॥
गङ्गावेग इवानूपांस्तीरजान् विविधान् द्रुमान्।
प्रभङ्क्ष्यति रणे सेनां पुत्राणां मम संजय ॥ ३५ ॥

संजय ! वह पुरुषसिंह भीम रथोंको रथी, सारथि, अश्व तथा ध्वजाओंसे शून्य कर देगा एवं रथियों और घुड़सवारोंके अङ्ग-भङ्ग कर डालेगा। जैसे गङ्गाजीका बढ़ता हुआ वेग जलमय प्रदेशमें स्थित हुए नाना प्रकारके तटवर्ती वृक्षोंको गिराकर नष्ट कर देता है, उसी प्रकार भीम युद्धभूमिमें आकर मेरे पुत्रोंकी सेनाका संहार कर डालेगा ॥ ३४-३५ ॥

दिशो नूनं गमिष्यन्ति भीमसेनभयार्दिताः।
मम पुत्राश्च भृत्याश्च राजानश्चैव संजय ॥ ३६ ॥

संजय ! निश्चय ही भीमसेनके भयसे पीडित हो मेरे पुत्र, सेवक तथा सहायक नरेश विभिन्न दिशाओंमें भाग जायँगे ॥ ३६ ॥

येन राजा महावीर्यः प्रविश्यान्तःपुरं पुरा।
वासुदेवसहायेन जरासंधो निपातितः ॥ ३७ ॥
कृत्स्नेयं पृथिवी देवी जरासंधेन धीमता।
मागधेन्द्रेण बलिना वशे कृत्वा प्रतापिता ॥ ३८ ॥

परम बुद्धिमान् और बलवान् महाबली मगधराज जरासंधने यह सारी पृथिवी अपने वशमें करके इसे पीड़ा देना प्रारम्भ किया था, परंतु भीमसेनने भगवान् श्रीकृष्णके साथ उसके अन्तःपुरमें जाकर उस महापराक्रमी नरेशको मार गिराया ॥ ३७-३८ ॥

भीष्मप्रतापात् कुरवो नयेनान्धकवृष्णयः।
यन्न तस्य वशे जग्मुः केवलं दैवमेव तत् ॥ ३९ ॥

भीष्मजीके प्रतापसे कुरुवंशी और नीतिबलसे अंधक-वृष्णिवंशके लोग जो जरासंधके वशमें नहीं पड़े, वह केवल दैवयोग था ॥ ३९ ॥

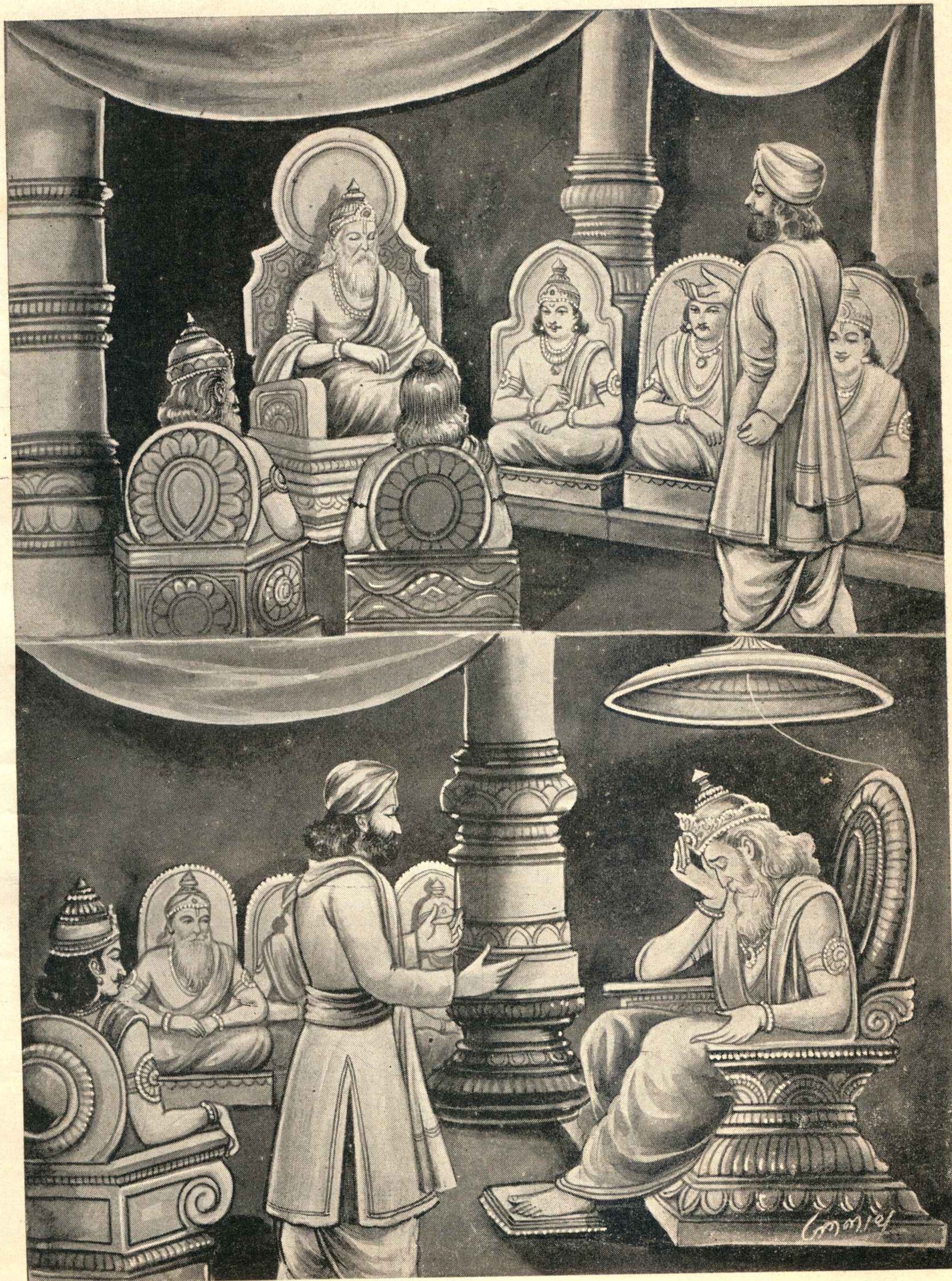
स गत्वा पाण्डुपुत्रेण तरसा बाहुशालिना।
अनायुधेन वीरेण निहतः किं ततोऽधिकम् ॥ ४० ॥

परंतु अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले वीर पाण्डुपुत्र भीमने वेगपूर्वक वहाँ जाकर बिना किसी अस्त्र-शस्त्रके ही उस जरासंधको यमलोक पहुँचा दिया, इससे बढ़कर पराक्रम और क्या होगा ? ॥ ४० ॥

दीर्घकालसमासक्तं विषमाशीविषो यथा।
स मोक्ष्यति रणे तेजः पुत्रेषु मम संजय ॥ ४१ ॥

संजय ! जैसे विषधर सर्प बहुत दिनोंसे संचित किये हुए विषको किसीपर उगलता है, उसी प्रकार भीमसेन भी

धृतराष्ट्रकी सभामें संजय पाण्डवोंका सन्देश सुना रहे हैं



भीमसेनका बल बखानते हुए धृतराष्ट्रका विलाप

दीर्घकालसे संचित अपने तेजको रणभूमिमें मेरे पुत्रोंपर छोड़ेगा ॥ ४१ ॥

महेन्द्र इव वज्रेण दानवान् देवसत्तमः।
भीमसेनो गदापाणिः सूदयिष्यति मे सुतान् ॥ ४२ ॥

जैसे देवश्रेष्ठ इन्द्र वज्रसे दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार हाथमें गदा लिये भीमसेन मेरे पुत्रोंका संहार कर डालेगा ॥ ४२ ॥

अविषह्यमनावार्यं तीव्रवेगपराक्रमम्।
पश्यामीवातिताम्राक्षमापतन्तं वृकोदरम् ॥ ४३ ॥

उसका आक्रमण दुःसह है। उसकी गतिको कोई रोक नहीं सकता। उसका वेग और पराक्रम तीव्र है। मैं प्रत्यक्ष देख-सा रहा हूँ कि वह भीम क्रोधसे अत्यन्त लाल आँखें किये इधर ही दौड़ा आ रहा है ॥ ४३ ॥

अगदस्याप्यधनुषो विरथस्य विवर्मणः।
बाहुभ्यां युद्ध्यमानस्य कस्तिष्ठेदग्रतः पुमान् ॥ ४४ ॥

यदि वह गदा, धनुष, रथ और कवचको छोड़कर केवल दोनों भुजाओंसे युद्ध करे तो भी उसके सामने कौन पुरुष ठहर सकता है ? ॥ ४४ ॥

भीष्मो द्रोणश्च विप्रोऽयं कृपः शारद्वतस्तथा।
जानन्त्येते यथैवाहं वीर्यज्ञस्तस्य धीमतः ॥ ४५ ॥

उस बुद्धिमान् भीमके बल और पराक्रमको जैसे मैं जानता हूँ, उसी प्रकार ये भीष्म, विप्रवर द्रोणाचार्य तथा शरद्वान्‌के पुत्र कृप भी जानते हैं ॥ ४५ ॥

आर्यव्रतं तु जानन्तः संगरान्तं विधित्सवः।
सेनामुखेषु स्थास्यन्ति मामकानां नरर्षभाः ॥ ४६ ॥

तथापि ये नरश्रेष्ठ शिष्ट पुरुषोंके व्रतको जानते हैं, इसलिये युद्धमें प्राणत्याग करनेकी इच्छासे मेरे पुत्रोंकी सेनाके अग्रभागमें डटे रहेंगे ॥ ४६ ॥

बलीयः सर्वतो दिष्टं पुरुषस्य विशेषतः।
पश्यन्नपि जयं तेषां न नियच्छामि यत् सुतान् ॥ ४७ ॥

पुरुषका भाग्य ही सबसे विशेष प्रबल है, क्योंकि मैं पाण्डवोंकी विजय समझकर भी अपने पुत्रोंको रोक नहीं पाता हूँ ॥

ते पुराणं महेष्वासा मार्गमैन्द्रं समास्थिताः।
त्यक्ष्यन्ति तुमुले प्राणान् रक्षन्तः पार्थिवं यशः ॥ ४८ ॥

वे महाधनुर्धर भीष्म आदि पुरातन स्वर्गीय मार्गका आश्रय ले पार्थिव यशकी रक्षा करते हुए घमासान युद्धमें अपने प्राण त्याग देंगे ॥ ४८ ॥

यथैषां मामकास्तात तथैषां पाण्डवा अपि।
पौत्रा भीष्मस्य शिष्याश्च द्रोणस्य च कृपस्य च ॥ ४९ ॥

तात ! इनके लिये जैसे मेरे पुत्र हैं, वैसे ही पाण्डव भी हैं। दोनों ही भीष्मके पौत्र तथा द्रोण और कृपके शिष्य हैं ॥

यदस्मदाश्रयं किंचिद् दत्तमिष्टं च संजय।
तस्यापचितिमार्यत्वात् कर्तारः स्थविरास्त्रयः ॥ ५० ॥

संजय ! भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य—ये तीनों वृद्ध श्रेष्ठ पुरुष हैं; अतः हमारे आश्रयमें रहकर इन्होंने जो कुछ भी दान-यज्ञ आदि किया है, ये उसका बदला चुकायेंगे (युद्धमें दुर्योधनका ही साथ देंगे) ॥ ५० ॥

आददानस्य शस्त्रं हि क्षत्रधर्मं परीप्सतः।
निधनं क्षत्रियस्याजौ वरमेवाहुरुत्तमम् ॥ ५१ ॥

जो अस्त्र-शस्त्र धारण करके क्षात्रधर्मकी रक्षा करना चाहता है, उस क्षत्रियके लिये संग्राममें होनेवाली मृत्युको ही श्रेष्ठ एवं उत्तम माना गया है ॥ ५१ ॥

स वै शोचामि सर्वान् वै ये युयुत्सन्ति पाण्डवैः।
विक्रुष्टं विदुरेणादौ तदेतद् भयमागतम् ॥ ५२ ॥

जो लोग पाण्डवोंसे युद्ध करना चाहते हैं, उन सबके लिये मुझे बड़ा शोक हो रहा है। विदुरने पहले ही उच्च स्वरसे जिसकी घोषणा की थी, वही यह भय आज आ पहुँचा है ॥

न तु मन्ये विघाताय ज्ञानं दुःखस्य संजय।
भवत्यतिबलं ह्येतज्ज्ञानस्याप्युपघातकम् ॥ ५३ ॥

संजय ! मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि ज्ञान दुःखका नाश नहीं कर सकता, अपितु प्रबल दुःख ही ज्ञानका भी नाश करनेवाला बन जाता है ॥ ५३ ॥

ऋषयो ह्यपि निर्मुक्ताः पश्यन्तो लोकसंग्रहान्।
सुखैर्भवन्ति सुखिनस्तथा दुःखेन दुःखिताः ॥ ५४ ॥

जीवन्मुक्त महर्षि भी लोकव्यवहारकी ओर दृष्टि रखकर सुखके साधनोंसे सुखी और दुःखसे दुखी होते हैं ॥ ५४ ॥

किं पुनर्मोहमासक्तस्तत्र तत्र सहस्रधा।
पुत्रेषु राज्यदारेषु पौत्रेष्वपि च बन्धुषु ॥ ५५ ॥

फिर जो पुत्र, राज्य, पत्नी, पौत्र तथा बन्धु-बान्धवोंमें जहाँ-तहाँ सहस्रों प्रकारसे मोहवश आसक्त हो रहा है, उसकी तो बात ही क्या है ? ॥ ५५ ॥

संशये तु महत्यस्मिन् किं नु मे क्षममुत्तरम्।
विनाशं ह्येव पश्यामि कुरूणामनुचिन्तयन् ॥ ५६ ॥

इस महान् संकटके विषयमें मैं क्या उचित प्रतीकार कर सकता हूँ ? मुझे तो बार-बार विचार करनेपर कौरवोंका विनाश ही दिखायी पड़ता है ॥ ५६ ॥

द्यूतप्रमुखमाभाति कुरूणां व्यसनं महत्।
मन्देनैश्वर्यकामेन लोभात् पापमिदं कृतम् ॥ ५७ ॥

द्यूतक्रीड़ा आदिकी घटनाएँ ही कौरवोंपर भारी विपत्ति लानेका कारण प्रतीत होती हैं। ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले मूर्ख दुर्योधनने लोभवश यह पाप किया है ॥ ५७ ॥

मन्ये पर्यायधर्मोऽयं कालस्यात्यन्तगामिनः।
चक्रे प्रधिरिवासक्तो नास्य शक्यं पलायितुम् ॥ ५८ ॥

मैं समझता हूँ कि अत्यन्त तीव्र गतिसे चलनेवाले कालका ही यह क्रमशः प्राप्त होनेवाला नियम है। इस कालचक्रमें उसकी नेमिके समान मैं जुड़ा हुआ हूँ, अतः मेरे लिये इससे दूर भागना सम्भव नहीं है ॥ ५८ ॥

किंनु कुर्यां कथं कुर्यां क नु गच्छामि संजय।
एते नश्यन्ति कुरवो मन्दाः कालवशं गताः ॥ ५९ ॥

संजय! क्या करूँ, कैसे करूँ और कहाँ चला जाऊँ? ये मूर्ख कौरव कालके वशीभूत होकर नष्ट होना चाहते हैं ॥ ५९ ॥

अवशोऽहं तदा तात पुत्राणां निहते शते।
श्रोष्यामि निनदं स्त्रीणां कथं मां मरणं स्पृशेत् ॥ ६० ॥

तात! मेरे सौ पुत्र यदि युद्धमें मारे गये, तब विवश होकर मैं इनकी अनाथ स्त्रियोंका करुण क्रन्दन सुनूँगा। हाय! मेरी मृत्यु किस प्रकार हो सकती है? ॥ ६० ॥

यथा निदाघे ज्वलनः समिद्धो
दहेत् कक्षं वायुना चोद्यमानः।
गदाहस्तः पाण्डवो वै तथैव
हन्ता मदीयान् सहितोऽर्जुनेन ॥ ६१ ॥

जैसे गर्मीमें प्रज्वलित हुई अग्नि हवाका सहारा पाकर घास-फूस एवं जंगलको भी जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनसहित पाण्डुनन्दन भीम गदा हाथमें लेकर मेरे सब पुत्रोंको मार डालेगा ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रद्वारा अर्जुनसे प्राप्त होनेवाले भयका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

यस्य वै नानृता वाचः कदाचिदनुशुश्रुम।
त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद् योद्धा यस्य धनंजयः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! जिनके मुँहसे कभी कोई झूठ बात निकलती हमने नहीं सुनी है तथा जिनके पक्षमें धनंजय-जैसे योद्धा हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरको (भूमण्डलका कौन कहे,) तीनों लोकोंका राज्य भी प्राप्त हो सकता है ॥ १ ॥

तस्यैव च न पश्यामि युधि गाण्डीवधन्वनः।
अनिशं चिन्तयानोऽपि यः प्रतीयाद् रथेन तम् ॥ २ ॥

मैं निरन्तर सोचने-विचारनेपर भी युद्धमें गाण्डीवधारी अर्जुनका ही सामना करनेवाले किसी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो रथपर आरूढ़ हो उनके सम्मुख जा सके ॥ २ ॥

अस्यतः कर्णिनालीकान् मार्गणान् हृदयच्छिदः।
प्रत्येता न समः कश्चिद् युधि गाण्डीवधन्वनः ॥ ३ ॥

जो हृदयको विदीर्ण कर देनेवाले कर्णी और नालीक आदि बाणोंकी निरन्तर वर्षा करते हैं, उन गाण्डीवधन्वा अर्जुनका युद्धमें सामना करनेवाला कोई भी समकक्ष योद्धा नहीं है ॥ ३ ॥

द्रोणकर्णौ प्रतीयातां यदि वीरौ नरर्षभौ।
कृतास्त्रौ बलिनां श्रेष्ठौ समरेष्वपराजितौ ॥ ४ ॥
महान् स्यात् संशयो लोके न त्वस्ति विजयो मम।
घृणी कर्णः प्रमादी च आचार्यः स्थविरो गुरुः ॥ ५ ॥

यदि बलवानोंमें श्रेष्ठ, अस्त्रविद्याके पारङ्गत विद्वान् तथा युद्धमें कभी पराजित न होनेवाले, मनुष्योंमें अग्रगण्य वीरवर द्रोणाचार्य और कर्ण अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ें तो भी मुझे अर्जुनपर विजय प्राप्त होनेमें महान् संदेह रहेगा। मैं तो देखता हूँ मेरी विजय होगी ही नहीं, क्योंकि कर्ण दयालु और प्रमादी है और आचार्य द्रोण वृद्ध होनेके साथ ही अर्जुनके गुरु हैं ॥ ४-५ ॥

समर्थो बलवान् पार्थो दृढधन्वा जितक्लमः।
भवेत् सुतुमुलं युद्धं सर्वशोऽप्यपराजयः ॥ ६ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन समर्थ और बलवान् हैं। उनका धनुष भी सुदृढ़ है। वे आलस्य और थकावटको जीत चुके हैं, अतः उनके साथ जो अत्यन्त भयंकर युद्ध छिड़ेगा, उसमें सब प्रकारसे उनकी ही विजय होगी ॥ ६ ॥

सर्वे ह्यस्त्रविदः शूराः सर्वे प्राप्ता महद् यशः।
अपि सर्वामरैश्वर्यं त्यजेयुर्न पुनर्जयम् ॥ ७ ॥

समस्त पाण्डव अस्त्रविद्याके ज्ञाता, शूरवीर तथा महान् यशको प्राप्त हैं। वे समस्त देवताओंका ऐश्वर्य छोड़ सकते हैं, परंतु अपनी विजयसे मुँह नहीं मोड़ेंगे ॥ ७ ॥

वधे नूनं भवेच्छान्तिस्तयोर्वा फाल्गुनस्य च।
न तु हन्तार्जुनस्यास्ति जेता चास्य न विद्यते ॥ ८ ॥
मन्युस्तस्य कथं शाम्येन्मन्दान् प्रति य उत्थितः।

निश्चय ही द्रोणाचार्य और कर्णका वध हो जानेपर

हमारे पक्षके लोग शान्त हो जायँगे अथवा अर्जुनके मारे जानेपर पाण्डव शान्त हो बैठेंगे, परंतु अर्जुनका वध करनेवाला तो कोई है ही नहीं, उन्हें जीतनेवाला भी संसारमें कोई नहीं है। मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंके प्रति उनके हृदयमें जो क्रोध जाग उठा है, वह कैसे शान्त होगा ? ॥ ८½ ॥

अन्येऽप्यस्त्राणि जानन्ति जीयन्ते च जयन्ति च ॥ ९ ॥
एकान्तविजयस्त्वेव श्रूयते फाल्गुनस्य ह ।

दूसरे योद्धा भी अस्त्र चलाना जानते हैं, परंतु वे कभी हारते हैं और कभी जीतते भी हैं। केवल अर्जुन ही ऐसे हैं, जिनकी निरन्तर विजय ही सुनी जाती है ॥ ९½ ॥

त्रयस्त्रिंशत् समाहूय खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ॥ १० ॥
जिगाय च सुरान् सर्वान् नास्य विद्मः पराजयम् ।

खाण्डवदाहके समय अर्जुनने (मुख्य-मुख्य) तैंतीस* देवताओंको युद्धके लिये ललकारकर अग्निदेवको तृप्त किया और सभी देवताओंको जीत लिया । उनकी कभी पराजय हुई हो, इसका पता हमें आजतक नहीं लगा ॥ १०½ ॥

यस्य यन्ता हृषीकेशः शीलवृत्तसमो युधि ॥ ११ ॥
ध्रुवस्तस्य जयस्तात यथेन्द्रस्य जयस्तथा ।

तात ! साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण, जिनका स्वभाव और आचार-व्यवहार भी अर्जुनके ही समान है, अर्जुनका रथ हाँकते हैं, अतः इन्द्रकी विजयकी भाँति उनकी भी विजय निश्चित है ॥ ११½ ॥

कृष्णावेकरथे यत्तावधिज्यं गाण्डिवं धनुः ॥ १२ ॥
युगपत् त्रीणि तेजांसि समेतान्यनुशुश्रुम ।

श्रीकृष्ण और अर्जुन एक रथपर उपस्थित हैं और गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चा चढ़ी हुई है, इस प्रकार ये तीनों तेज एक ही साथ एकत्र हो गये हैं, यह हमारे सुननेमें आया है ॥ १२½ ॥

नैवास्ति नो धनुस्तादृक न योद्धा न च सारथिः ॥ १३ ॥
तच्च मन्दा न जानन्ति दुर्योधनवशानुगाः ।

हमलोगोंके यहाँ न तो वैसा धनुष है, न अर्जुन-जैसा पराक्रमी योद्धा है और न श्रीकृष्णके समान सारथि ही है, परंतु दुर्योधनके वशीभूत हुए मेरे मूर्ख पुत्र इस बातको नहीं समझ पाते ॥ १३½ ॥

शेषयेदशनिर्दीप्तो विपतन् मूर्ध्नि संजय ॥ १४ ॥
न तु शेषं शरास्तात कुर्युरस्ताः किरीटिना ।

तात संजय ! अपने तेजसे जलता हुआ वज्र किसीके मस्तकपर पड़कर सम्भव है, उसके जीवनको बचा दे, परंतु किरीटधारी अर्जुनके चलाये हुए बाण जिसे लग जायँगे, उसे जीवित नहीं छोड़ेंगे ॥ १४½ ॥

अपि चास्यन्निवाभाति निघ्नन्निव धनंजयः ॥ १५ ॥
उद्धरन्निव कायेभ्यः शिरांसि शरवृष्टिभिः ।

मुझे तो वीर धनंजय युद्धमें बाणोंको चलाते, योद्धाओंके प्राण लेते और अपनी बाणवर्षाद्वारा उनके शरीरोंसे मस्तकोंको काटते हुए-से प्रतीत हो रहे हैं ॥ १५½ ॥

अपि बाणमयं तेजः प्रदीप्तमिव सर्वतः ॥ १६ ॥
गाण्डीवोत्थं दहेताजौ पुत्राणां मम वाहिनीम् ।

क्या गाण्डीव धनुषसे प्रकट हुआ बाणमय तेज सब ओर प्रज्वलित-सा होकर मेरे पुत्रोंकी (विशाल) वाहिनीको युद्धमें जलाकर भस्म कर डालेगा ? ॥ १६½ ॥

अपि सारथ्यघोषेण भयार्ता सव्यसाचिनः ॥ १७ ॥
वित्रस्ता बहुधा सेना भारती प्रतिभाति मे ।

मुझे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि श्रीकृष्णके रथ-संचालनकी आवाज सुनकर भरतवंशियोंकी यह सेना सव्यसाची अर्जुनके भयसे पीड़ित और नाना प्रकारसे आतङ्कित हो जायगी ॥ १७½ ॥

यथा कक्षं महानग्निः प्रदहेत् सर्वतश्चरन् ।
महार्चिरनिलोद्धूतस्तद्वद् धक्ष्यति मामकान् ॥ १८ ॥

जैसे वायुके वेगसे बढ़ी हुई आग सब ओर फैलकर प्रचण्ड लपटोंसे युक्त हो घास-फूस अथवा जंगलको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार अर्जुन मेरे पुत्रोंको दग्ध कर डालेंगे ॥ १८ ॥

यदोद्वमन् निशितान् बाणसंघां-
स्तानाततायी समरे किरीटी ।
सृष्टोऽन्तकः सर्वहरो विधात्रा
यथा भवेत् तद्वदवारणीयः ॥ १९ ॥

जिस समय शस्त्रपाणि किरीटधारी अर्जुन समरभूमिमें रोषपूर्वक पैने बाणसमूहोंकी वर्षा करेंगे, उस समय विधाताके रचे हुए सर्वसंहारक कालके समान उनसे पार पाना असम्भव हो जायगा ॥ १९ ॥

तदा ह्यभीक्ष्णं सुबहून् प्रकारान्
श्रोतासि तानावसथे कुरूणाम् ।
तेषां समन्ताच्च तथा रणाग्रे
क्षयः किलायं भरतानुपैति ॥ २० ॥

---

* कुछ विद्वान् 'त्रयस्त्रिंशत् समाऽऽहूय' ऐसा पाठ मानकर आर्ष संधिकी कल्पना करके यह अर्थ करते हैं कि तैंतीस वर्षकी अवस्था बीत जानेपर अर्जुनने अग्निदेवको खाण्डववनमें बुलाकर तृप्त किया था।'

उस समय मैं महलोंमें बैठा हुआ बार-बार कौरवोंकी विविध अवस्थाओंकी कथा सुनता रहूँगा । अहो ! युद्धके मुहानेपर निश्चय ही सब ओरसे यह भरतवंशका विनाश आ पहुँचा है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कौरव-सभामें धृतराष्ट्रका युद्धसे भय दिखाकर शान्तिके लिये प्रस्ताव करना

धृतराष्ट्र उवाच

यथैव पाण्डवाः सर्वे पराक्रान्ता जिगीषवः ।
तथैवाभिसरास्तेषां त्यक्तात्मानो जये धृताः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! जैसे समस्त पाण्डव पराक्रमी और विजयके अभिलाषी हैं, उसी प्रकार उनके सहायक भी विजयके लिये कटिबद्ध तथा उनके लिये अपने प्राण निछावर करनेको तैयार हैं ॥ १ ॥

त्वमेव हि पराक्रान्तानाचक्षीथाः परान् मम ।
पञ्चालान् केकयान् मत्स्यान् मागधान् वत्सभूमिपान्॥

तुमने ही मेरे निकट पराक्रमशाली पाञ्चाल, केकय, मत्स्य, मागध तथा वत्सदेशीय उत्कृष्ट भूमिपालोंके नाम लिये हैं—(ये सभी पाण्डवोंकी विजय चाहते हैं) ॥ २ ॥

यश्च सेन्द्रानिमाँल्लोकानिच्छन् कुर्याद् वशे बली ।
स स्रष्टा जगतः कृष्णः पाण्डवानां जये धृतः ॥३॥

इनके सिवा जो इच्छा करते ही इन्द्र आदि देवताओं-सहित इन सम्पूर्ण लोकोंको अपने वशमें कर सकते हैं, वे जगत्स्रष्टा महाबली भगवान् श्रीकृष्ण भी पाण्डवोंको विजय दिलानेका दृढ़ निश्चय कर चुके हैं ॥ ३ ॥

समस्तामर्जुनाद् विद्यां सात्यकिः क्षिप्रमाप्तवान् ।
शैनेयः समरे स्थाता बीजवत् प्रवपञ्छरान् ॥४॥

शिनिके पौत्र सात्यकिने थोड़े ही समयमें अर्जुनसे उनकी सारी अस्त्रविद्या सीख ली थी । इस युद्धमें वे भी बीजकी भाँति बाणोंको बोते हुए पाण्डवपक्षकी ओरसे खड़े होंगे ॥

धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः क्रूरकर्मा महारथः ।
मामकेषु रणं कर्ता बलेषु परमास्त्रवित् ॥ ५ ॥

उत्तम अस्त्रोंका ज्ञाता और क्रूरतापूर्ण पराक्रम प्रकट करनेवाला पाञ्चालराजकुमार महारथी धृष्टद्युम्न भी मेरी सेनाओंमें घुसकर युद्ध करेगा ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरस्य च क्रोधादर्जुनस्य च विक्रमात् ।
यमाभ्यां भीमसेनाच्च भयं मे तात जायते ॥ ६ ॥
अमानुषं मनुष्येन्द्रैर्जालं विततमन्तरा ।
न मे सैन्यास्तरिष्यन्ति ततः क्रोशामि संजय ॥ ७ ॥

तात संजय ! मुझे युधिष्ठिरके क्रोधसे, अर्जुनके पराक्रमसे, दोनों भाई नकुल और सहदेवसे तथा भीमसेनसे बड़ा भय लगता है । संजय ! इन नरेशोंके द्वारा मेरी सेनाके भीतर जब अलौकिक अस्त्रोंका जाल-सा बिछा दिया जायगा, तब मेरे सैनिक उसे पार नहीं कर सकेंगे; इसीलिये मैं बिलख रहा हूँ ॥ ६-७ ॥

दर्शनीयो मनस्वी च लक्ष्मीवान् ब्रह्मवर्चसी ।
मेधावी सुकृतप्रज्ञो धर्मात्मा पाण्डुनन्दनः ॥ ८ ॥
मित्रामात्यैः सुसम्पन्नः सम्पन्नो युद्धयोजकैः ।
भ्रातृभिः श्वशुरैर्वीरैरुपपन्नो महारथैः ॥ ९ ॥
धृत्या च पुरुषव्याघ्रो नैभृत्येन च पाण्डवः ।
अनृशंसो वदान्यश्च ह्रीमान् सत्यपराक्रमः ॥ १० ॥
बहुश्रुतः कृतात्मा च वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ।
तं सर्वगुणसम्पन्नं समिद्धमिव पावकम् ॥ ११ ॥
तपन्तमभि को मन्दः पतिष्यति पतङ्गवत् ।
पाण्डवाग्निमनावार्यं मुमूर्षुर्नष्टचेतनः ॥ १२ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर दर्शनीय, मनस्वी, लक्ष्मीवान्, ब्रह्मर्षियोंके समान तेजस्वी, मेधावी, सुनिश्चित बुद्धिसे युक्त, धर्मात्मा, मित्रों तथा मन्त्रियोंसे सम्पन्न, युद्धके लिये उद्योग-शील सैनिकोंसे संयुक्त, महारथी भाइयों और वीरशिरोमणि श्वशुरोंसे सुरक्षित, धैर्यवान्, मन्त्रणाको गुप्त रखनेवाले, पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी, दयालु, उदार, लज्जाशील, यथार्थ पराक्रमसे सम्पन्न, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, मनको वशमें रखनेवाले, वृद्धसेवी तथा जितेन्द्रिय हैं । इस प्रकार सर्वगुण-सम्पन्न और प्रज्वलित अग्निके समान ताप देनेवाले उन युधिष्ठिरके सम्मुख युद्ध करनेके लिये कौन मूर्ख जा सकेगा ? कौन अचेत एवं मरणासन्न मनुष्य पतंगोंकी भाँति दुर्निवार पाण्डवरूपी अग्निमें जान-बूझकर गिरेगा ? ॥ ८–१२ ॥

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया ।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ॥ १३ ॥

राजा युधिष्ठिर सूक्ष्म और एक स्थानमें अवरुद्ध अग्निके समान हैं । मैंने मिथ्या व्यवहारसे उनका तिरस्कार किया है, अतः वे युद्ध करके मेरे मूर्ख पुत्रोंका अवश्य विनाश कर डालेंगे ॥ १३ ॥

तैरयुद्धं साधु मन्ये कुरवस्तन्निबोधत ।

युद्धे विनाशः कृत्स्नस्य कुलस्य भविता ध्रुवम् ॥ १४ ॥
एषा मे परमा बुद्धिर्यया शाम्यति मे मनः ।
यदि त्वयुद्धमिष्टं वो वयं शान्त्यै यतामहे ॥ १५ ॥

कौरवो ! मैं पाण्डवोंके साथ युद्ध न होना ही अच्छा मानता हूँ । तुमलोग इसे अच्छी तरह समझ लो । यदि युद्ध हुआ तो समस्त कुरुकुलका विनाश अवश्यम्भावी है । मेरी बुद्धिका यही सर्वोत्तम निश्चय है । इसीसे मेरे मनको शान्ति मिलती है । यदि तुम्हें भी युद्ध न होना ही अभीष्ट हो तो हम शान्तिके लिये प्रयत्न करें ॥ १४-१५ ॥

न तु नः क्लिश्यमानानामुपेक्षेत युधिष्ठिरः ।
जुगुप्सति ह्यधर्मेण मामेवोद्दिश्य कारणम् ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर हमें (युद्धकी चर्चासे) क्लेशमें पड़े देख हमारी उपेक्षा नहीं कर सकते । वे तो मुझे ही अधर्मपूर्वक कलह बढ़ानेमें कारण मानकर मेरी निन्दा करते हैं (फिर मेरे ही द्वारा शान्ति-प्रस्ताव उपस्थित किये जानेपर वे क्यों नहीं सहमत होंगे ?) ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको उनके दोष बताते हुए दुर्योधनपर शासन करनेकी सलाह देना

संजय उवाच

एवमेतन्महाराज यथा वदसि भारत ।
युद्धे विनाशः क्षत्रस्य गाण्डीवेन प्रदृश्यते ॥ १ ॥

संजयने कहा—महाराज ! आप जैसा कह रहे हैं, वही ठीक है । भारत ! युद्धमें तो गाण्डीव धनुषके द्वारा क्षत्रिय-समुदायका विनाश ही दिखायी देता है ॥ १ ॥

इदं तु नाभिजानामि तव धीरस्य नित्यशः ।
यत् पुत्रवशमागच्छेस्तत्त्वज्ञः सव्यसाचिनः ॥ २ ॥

परंतु सदासे बुद्धिमान् माने जानेवाले आपके सम्बन्धमें मैं यह नहीं समझ पाता हूँ कि आप सव्यसाची अर्जुनके बल-पराक्रमको अच्छी तरह जानते हुए भी क्यों अपने पुत्रोंके अधीन हो रहे हैं ? ॥ २ ॥

नैष कालो महाराज तव शश्वत् कृतागसः ।
त्वया ह्येवादितः पार्था निकृता भरतर्षभ ॥ ३ ॥

भरतकुलभूषण महाराज ! आप (स्वभावसे ही) पाण्डवोंका अपराध करनेवाले हैं । इस कारण इस समय आपके द्वारा जो विचार व्यक्त किया गया है, यह सदा स्थिर रहनेवाला नहीं है । आपने आरम्भसे ही कुन्तीपुत्रोंके साथ कपटपूर्ण बर्ताव किया है ॥ ३ ॥

पिता श्रेष्ठः सुहृद् यश्च सम्यक् प्रणिहितात्मवान् ।
आस्थेयं हि हितं तेन न द्रोग्धा गुरुरुच्यते ॥ ४ ॥

जो पिताके पदपर प्रतिष्ठित है, श्रेष्ठ सुहृद् है और मनमें भलीभाँति सावधानी रखनेवाला है, उसे अपने आश्रितोंका हित-साधन ही करना चाहिये । द्रोह रखनेवाला पुरुष पिता अथवा गुरुजन नहीं कहला सकता ॥ ४ ॥

इदं जितमिदं लब्धमिति श्रुत्वा पराजितान् ।
द्यूतकाले महाराज स्मयसे स्म कुमारवत् ॥ ५ ॥

महाराज ! द्यूतक्रीड़ाके समय जब आप अपने पुत्रोंके मुखसे सुनते कि यह जीता, यह पाया तथा पाण्डवोंकी पराजय हो रही है, तब आप बालकोंकी तरह मुसकरा उठते थे ॥ ५ ॥

परुषाण्युच्यमानांश्च पुरा पार्थानुपेक्षसे ।
कृत्स्नं राज्यं जयन्तीति प्रपातं नानुपश्यसि ॥ ६ ॥

उस समय पाण्डवोंके प्रति कितनी ही कठोर बातें कही जा रही थीं, परंतु मेरे पुत्र सारा राज्य जीतते चले जा रहे हैं, यह जानकर आप उनकी उपेक्षा करते जाते थे । यह सब इनके भावी विनाश या पतनका कारण होगा, इसकी ओर आपकी दृष्टि नहीं जाती थी ॥ ६ ॥

पित्र्यं राज्यं महाराज कुरवस्ते सजाङ्गलाः ।
अथ वीरैर्जितामुर्वीमखिलां प्रत्यपद्यथाः ॥ ७ ॥

महाराज ! कुरुजांगल देश ही आपका पैतृक राज्य है, किंतु शेष सारी पृथ्वी उन वीर पाण्डवोंने ही जीती है, जिसे आप पा गये हैं ॥ ७ ॥

बाहुवीर्यार्जिता भूमिस्तव पार्थैर्निवेदिता ।
मयेदं कृतमित्येव मन्यसे राजसत्तम ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! कुन्तीपुत्रोंने अपने बाहुबलसे जीतकर यह भूमि आपकी सेवामें समर्पित की है, परंतु आप उसे अपनी जीती मानते हैं ॥ ८ ॥

ग्रस्तान् गन्धर्वराजेन मज्जतो ह्यप्लवेऽम्भसि ।
आनिनाय पुनः पार्थः पुत्रांस्ते राजसत्तम ॥ ९ ॥

राजशिरोमणे ! (घोषयात्राके समय) गन्धर्वराज चित्रसेनने

आपके पुत्रोंको कैद कर लिया था । वे सब-के-सब बिना नावके पानीमें डूब रहे थे, उस समय उन्हें अर्जुन ही पुनः छुड़ाकर ले आये थे ॥ ९ ॥

कुमारवच्च स्मयसे द्यूते विनिकृतेषु यत् ।
पाण्डवेषु वने राजन् प्रव्रजत्सु पुनः पुनः ॥ १० ॥

राजन्! पाण्डवलोग जब द्यूतक्रीडामें छले गये और हारकर वनमें जाने लगे, उस समय आप बच्चोंकी तरह बार-बार मुसकराकर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे ॥ १० ॥

प्रवर्षतः शरव्रातानर्जुनस्य शितान् बहून् ।
अप्यर्णवा विशुष्येयुः किं पुनर्मांसयोनयः ॥ ११ ॥

जब अर्जुन असंख्य तीखे बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगेंगे, उस समय समुद्र भी सूख जा सकते हैं, फिर हाड़-मांसके शरीरोंसे पैदा हुए प्राणियोंकी तो बात ही क्या है ? ॥

अस्यतां फाल्गुनः श्रेष्ठो गाण्डीवं धनुषां वरम् ।
केशवः सर्वभूतानामायुधानां सुदर्शनम् ॥ १२ ॥
वानरो रोचमानश्च केतुः केतुमतां वरः ।

बाण चलानेवाले वीरोंमें अर्जुन श्रेष्ठ हैं, धनुषोंमें गाण्डीव उत्तम है, समस्त प्राणियोंमें भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं, आयुधोंमें सुदर्शन चक्र श्रेष्ठ है और पताकावाले ध्वजोंमें वानरसे उपलक्षित ध्वज ही श्रेष्ठ एवं प्रकाशमान है ॥१२½॥

एवमेतानि स रथे वहञ्श्वेतहयो रणे ॥ १३ ॥
क्षपयिष्यति नो राजन् कालचक्रमिवोद्यतम् ।

राजन्! इस प्रकार इन सभी श्रेष्ठतम वस्तुओंको अपने साथ लिये हुए जब श्वेत घोड़ोंवाले अर्जुन रथपर आरूढ़ हो रणभूमिमें उपस्थित होंगे, उस समय ऊपर उठे हुए कालचक्रके समान वे हम सब लोगोंका संहार कर डालेंगे ॥१३½॥

तस्याद्य वसुधा राजन् निखिला भरतर्षभ ॥ १४ ॥
यस्य भीमार्जुनौ योधौ स राजा राजसत्तम ।

राजाओंमें श्रेष्ठ भरतभूषण महाराज! अब तो यह सारी पृथ्वी उसीके अधिकारमें रहेगी, जिसकी ओरसे भीमसेन और अर्जुन-जैसे योद्धा लड़नेवाले होंगे । वही राजा होगा ॥१४½॥

तथा भीमहतप्रायां मज्जन्तीं तव वाहिनीम् ॥ १५ ॥
दुर्योधनमुखा दृष्ट्वा क्षयं यास्यन्ति कौरवाः ।

आपकी सेनाके अधिकांश वीर भीमसेनके हाथों मारे जायेंगे और दुर्योधन आदि कौरव विपत्तिके समुद्रमें डूबती हुई इस सेनाको देखते-देखते स्वयं भी नष्ट हो जायँगे ॥१५½॥

न भीमार्जुनयोर्भीता लप्स्यन्ते विजयं विभो ॥ १६ ॥
तव पुत्रा महाराज राजानश्चानुसारिणः ।

प्रभो! महाराज! आपके पुत्र तथा इनका साथ देनेवाले नरेश भीमसेन और अर्जुनसे भयभीत होकर कभी विजय नहीं पा सकेंगे ॥ १६½ ॥

मत्स्यास्त्वामद्य नार्चन्ति पञ्चालाश्च सकेकयाः ॥ १७ ॥
शाल्वेयाः शूरसेनाश्च सर्वे त्वामवजानते ।
पार्थं ह्येते गताः सर्वे वीर्यज्ञास्तस्य धीमतः ॥ १८ ॥

मत्स्यदेशके क्षत्रिय अब आपका आदर नहीं करते हैं । पाञ्चाल, केकय, शाल्व तथा शूरसेन देशोंके सभी राजा एवं राजकुमार आपकी अवहेलना करते हैं । वे सब परम बुद्धिमान् अर्जुनके पराक्रमको जानते हैं, अतः उन्हींके पक्षमें मिल गये हैं ॥ १७–१८ ॥

भक्त्या ह्यस्य विरुध्यन्ते तव पुत्रैः सदैव ते ।
अनर्हानेव तु वधे धर्मयुक्तान् विकर्मणा ॥ १९ ॥
योऽक्लेशयत् पाण्डुपुत्रान् यो विद्वेष्ट्यधुनापि वै ।
सर्वोपायैर्नियन्तव्यः सानुगः पापपूरुषः ॥ २० ॥
तव पुत्रो महाराज नानुशोचितुमर्हसि ।
द्यूतकाले मया चोक्तं विदुरेण च धीमता ॥ २१ ॥

युधिष्ठिरके प्रति भक्ति रखनेके कारण वे सब सदा ही आपके पुत्रोंके साथ विरोध रखते हैं । महाराज! जो सदा धर्ममें तत्पर रहनेके कारण वध (और क्लेश पाने) के कदापि योग्य नहीं थे, उन पाण्डुपुत्रोंको जिसने सदा विपरीत बर्तावसे कष्ट पहुँचाया है और जो इस समय भी उनके प्रति द्वेषभाव ही रखता है, आपके उस पापी पुत्र दुर्योधनको ही सभी उपायोंसे साथियोंसहित काबूमें रखना चाहिये । आप बारंबार इस तरह शोक न करें । द्यूतक्रीड़ाके समय मैंने तथा परम बुद्धिमान् विदुरजीने भी आपको यही सलाह दी थी, (परंतु आपने ध्यान नहीं दिया) ॥ १९–२१ ॥

यदिदं ते विलपितं पाण्डवान् प्रति भारत ।
अनीशेनेव राजेन्द्र सर्वमेतन्निरर्थकम् ॥ २२ ॥

राजेन्द्र! आपने जो पाण्डवोंके बल-पराक्रमकी चर्चा करके असमर्थकी भाँति विलाप किया है, यह सब व्यर्थ है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रको धैर्य देते हुए दुर्योधनद्वारा अपने उत्कर्ष और पाण्डवोंके अपकर्षका वर्णन

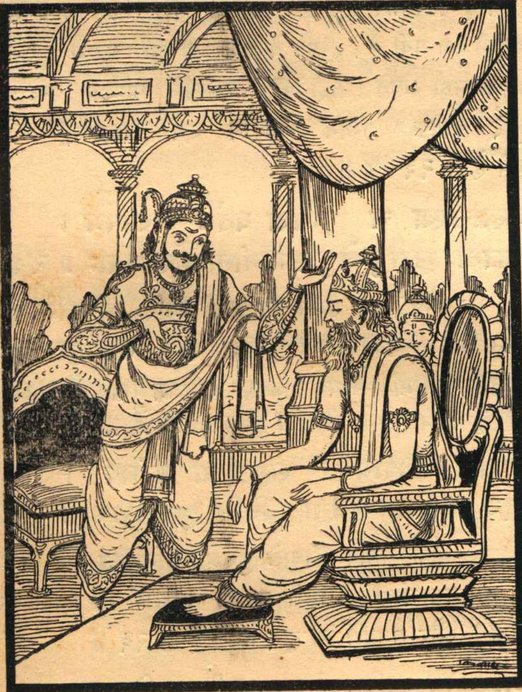
दुर्योधन उवाच

न भेतव्यं महाराज न शोच्या भवता वयम् ।
समर्थाः स्म पराञ्जेतुं बलिनः समरे विभो ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—महाराज ! आप डरें नहीं; आपके द्वारा हमलोग शोक करने योग्य नहीं हैं । प्रभो ! हम बलवान् और शक्तिशाली हैं तथा समरभूमिमें शत्रुओंको जीतनेकी शक्ति रखते हैं ॥ १ ॥

वने प्रव्राजितान् पार्थान् यदाऽऽयान्मधुसूदनः ।
महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना ॥ २ ॥
केकया धृष्टकेतुश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
राजानश्चान्वयुः पार्थान् बहवोऽन्येऽनुयायनः ॥ ३ ॥

पाण्डवोंको जब हमने वनमें भेज दिया, उस समय शत्रुओंके राष्ट्रोंको धूलमें मिला देनेवाले विशाल सैन्यसमूहके साथ श्रीकृष्ण यहाँ आये थे । उनके साथ केकयराजकुमार, धृष्टकेतु, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न तथा और भी बहुत-से नरेश, जो पाण्डवोंके अनुयायी हैं, यहाँतक पधारे थे ॥ २-३ ॥



इन्द्रप्रस्थस्य चादूरात् समाजग्मुर्महारथाः ।
व्यगर्हयंश्च संगम्य भवन्तं कुरुभिः सह ॥ ४ ॥

वे सभी महारथी इन्द्रप्रस्थके निकटतक आये और परस्पर मिलकर समस्त कौरवोंसहित आपकी निन्दा करने लगे ॥ ४ ॥

ते युधिष्ठिरमासीनमजिनैः प्रतिवासितम् ।
कृष्णप्रधानाः संहत्य पर्युपासन्त भारत ॥ ५ ॥
प्रत्यादानं च राज्यस्य कार्यमूचुर्नराधिपाः ।
भवतः सानुबन्धस्य समुच्छेदं चिकीर्षवः ॥ ६ ॥

भारत ! वे नरेश श्रीकृष्णकी प्रधानतामें संगठित हो वनमें विराजमान मृगचर्मधारी युधिष्ठिरके समीप जाकर बैठे और सगे-सम्बन्धियोंसहित आपका मूलोच्छेद कर डालनेकी इच्छा रखकर कहने लगे—'धृतराष्ट्रके हाथसे राज्यको लौटा लेना ही कर्तव्य है' ॥ ५-६ ॥

श्रुत्वा चैवं मयोक्तास्तु भीष्मद्रोणकृपास्तदा ।
ज्ञातिक्षयभयाद् राजन् भीतेन भरतर्षभ ॥ ७ ॥
न ते स्थास्यन्ति समये पाण्डवा इति मे मतिः ।
समुच्छेदं हि नः कृत्स्नं वासुदेवश्चिकीर्षति ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उनके इस निश्चयको सुनकर मैंने कुटुम्बी-जनोंके वधकी आशङ्कासे भयभीत हो भीष्म, द्रोण और कृपाचार्यसे इस प्रकार निवेदन किया—'तात ! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पाण्डवलोग अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर नहीं रहेंगे; क्योंकि वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हम सब लोगोंका पूर्णतः विनाश कर डालना चाहते हैं ॥ ७-८ ॥

ऋते च विदुरात् सर्वे यूयं वध्या मता मम ।
धृतराष्ट्रस्तु धर्मज्ञो न वध्यः कुरुसत्तमः ॥ ९ ॥

'केवल विदुरजीको छोड़कर आप सब लोग मार डालनेके योग्य समझे गये हैं, यह बात मुझे मालूम हुई है । कुरुश्रेष्ठ धृतराष्ट्र धर्मज्ञ हैं, यह सोचकर उनका भी वध नहीं किया जायगा ॥ ९ ॥

समुच्छेदं च कृत्स्नं नः कृत्वा तात जनार्दनः ।
एकराज्यं कुरूणां स्म चिकीर्षति युधिष्ठिरे ॥ १० ॥

'तात ! श्रीकृष्ण हमारा सर्वनाश करके कौरवोंका एक राज्य बनाकर उसे युधिष्ठिरको सौंपना चाहते हैं ॥ १० ॥

तत्र किं प्राप्तकालं नः प्रणिपातः पलायनम् ।
प्राणान् वा सम्परित्यज्य प्रतियुध्यामहे परान् ॥ ११ ॥

'ऐसी अवस्थामें इस समय हमारा क्या कर्तव्य है ? हम उनके चरणोंपर गिरें, पीठ दिखाकर भाग जायँ अथवा प्राणोंका मोह छोड़कर शत्रुओंका सामना करें ॥ ११ ॥

प्रतियुद्धे तु नियतः स्यादस्माकं पराजयः ।
युधिष्ठिरस्य सर्वे हि पार्थिवा वशवर्तिनः ॥ १२ ॥
विरक्तराष्ट्राश्च वयं मित्राणि कुपितानि नः ।
धिक्कृताः पार्थिवैः सर्वैः स्वजनेन च सर्वशः ॥ १३ ॥

'उनके साथ युद्ध होनेपर हमारी पराजय निश्चित है, क्योंकि इस समय समस्त भूपाल राजा युधिष्ठिरके अधीन हैं। इस राज्यमें रहनेवाले सब लोग हमसे घृणा करते हैं। हमारे मित्र भी कुपित हो गये हैं। सम्पूर्ण नरेश और आत्मीयजन सभी हमें धिक्कार रहे हैं ॥ १२-१३ ॥

प्रणिपाते न दोषोऽस्ति सन्धिर्नः शाश्वतीः समाः।
पितरं त्वेव शोचामि प्रज्ञानेत्रं जनाधिपम् ॥ १४ ॥

'(मैं समझता हूँ,) इस समय नतमस्तक हो जानेमें कोई दोष नहीं है। इससे हमलोगोंमें सदाके लिये शान्ति हो जायगी, केवल अपने प्रज्ञाचक्षु पिता महाराज धृतराष्ट्रके लिये ही मुझे शोक हो रहा है ॥ १४ ॥

मत्कृते दुःखमापन्नं क्लेशं प्राप्तमनन्तकम्।
कृतं हि तव पुत्रैश्च परेषामवरोधनम्॥
मत्प्रियार्थं पुरैवैतद् विदितं ते नरोत्तम ॥ १५ ॥

'उन्होंने मेरे लिये अनन्त क्लेश और दुःख सहन किये हैं।' नरश्रेष्ठ पिताजी! आपके पुत्रों तथा मेरे भाइयोंने केवल मेरी प्रसन्नताके लिये शत्रुओंको सदा ही सताया है; ये सब बातें आप पहलेसे ही जानते हैं ॥ १५ ॥

ते राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सामात्यस्य महारथाः।
वैरं प्रतिकरिष्यन्ति कुलोच्छेदेन पाण्डवाः ॥ १६ ॥

'इसलिये वे महारथी पाण्डव मन्त्रियोंसहित महाराज धृतराष्ट्रके कुलका समूलोच्छेद करके अपने वैरका बदला लेंगे' ॥ १६ ॥

ततो द्रोणोऽब्रवीद् भीष्मः कृपो द्रौणिश्च भारत।
मत्वा मां महतीं चिन्तामास्थितं व्यथितेन्द्रियम् ॥ १७ ॥
अभिद्रुग्धाः परे चेन्नो न भेतव्यं परंतप।
असमर्थाः परे जेतुमस्मान् युधि समास्थितान् ॥ १८ ॥

भारत! मेरी यह बात सुनकर आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामाने मुझे बड़ी भारी चिन्तामें पड़कर सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे व्यथित हुआ जान आश्वासन देते हुए कहा—'परंतप! यदि शत्रुपक्षके लोग हमसे द्रोह रखते हैं तो तुम्हें डरना नहीं चाहिये। शत्रुलोग युद्धमें उपस्थित होनेपर हमें जीतनेमें असमर्थ हैं ॥ १७-१८ ॥

एकैकशः समर्थाः स्मो विजेतुं सर्वपार्थिवान्।
आगच्छन्तु विनेष्यामो दर्पमेषां शितैः शरैः ॥ १९ ॥

'हममेंसे एक-एक वीर भी समस्त राजाओंको जीतनेकी शक्ति रखता है। शत्रुलोग आवें तो सही, हम अपने पैने बाणोंसे उनका घमंड चूर-चूर कर देंगे' ॥ १९ ॥

पुरैकेन हि भीष्मेण विजिताः सर्वपार्थिवाः।
मृते पितर्यतिक्रुद्धो रथेनैकेन भारत ॥ २० ॥

भारत! पहलेकी बात है, अपने पिता शान्तनुकी मृत्युके पश्चात् भीष्मजीने किसी समय अत्यन्त क्रोधमें भरकर एकमात्र रथकी सहायतासे अकेले ही सब राजाओंको जीत लिया था ॥ २० ॥

जघान सुबहूंस्तेषां संरब्धः कुरुसत्तमः।
ततस्ते शरणं जग्मुर्देवव्रतमिमं भयात् ॥ २१ ॥

रोषमें भरे हुए कुरुश्रेष्ठ भीष्मने जब उनमेंसे बहुत-से राजाओंको मार डाला, तब वे डरके मारे पुनः इन्हीं देवव्रत (भीष्म) की शरणमें आये ॥ २१ ॥

स भीष्मः सुसमर्थोऽयमस्माभिः सहितो रणे।
परान् विजेतुं तस्मात् ते व्येतु भीर्भरतर्षभ ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ! वे ही पूर्ण सामर्थ्यशाली भीष्म युद्धमें शत्रुओंको जीतनेके लिये हमारे साथ हैं; अतः आपका भय दूर हो जाना चाहिये ॥ २२ ॥

इत्येषां निश्चयो ह्यासीत् तत्कालेऽमिततेजसाम्।
पुरा परेषां पृथिवी कृत्स्नाऽऽसीद् वशवर्तिनी ॥ २३ ॥
अस्मान् पुनरमी नाद्य समर्था जेतुमाहवे।
छिन्नपक्षाः परे ह्यद्य वीर्यहीनाश्च पाण्डवाः ॥ २४ ॥

इन अमिततेजस्वी भीष्म आदिने उसी समय युद्धमें हमारा साथ देनेका दृढ़ निश्चय कर लिया था। पहले यह सारी पृथ्वी हमारे शत्रुओंके काबूमें थी, किंतु अब हमारे हाथमें आ गयी है। हमारे ये शत्रु अब हमें युद्धमें जीतनेकी शक्ति नहीं रखते। सहायकोंके अभावमें पाण्डव पंख कटे हुए पक्षीके समान असहाय एवं पराक्रमशून्य हो गये हैं ॥ २३-२४ ॥

अस्मत्संस्था च पृथिवी वर्तते भरतर्षभ।
एकार्थाः सुखदुःखेषु समानीताश्च पार्थिवाः ॥ २५ ॥

भरतश्रेष्ठ! इस समय यह पृथ्वी हमारे अधिकारमें है। हमने जिन राजाओंको यहाँ बुलाया है, ये सब सुख और दुःखमें भी हमारे साथ एक-सा प्रयोजन रखते हैं—हमारे सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख मानते हैं ॥ २५ ॥

अप्यग्निं प्रविशेयुस्ते समुद्रं वा परंतप।
मदर्थं पार्थिवाः सर्वे तद् विद्धि कुरुसत्तम ॥ २६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले कुरुश्रेष्ठ! निश्चित मानिये, ये सब समागत नरेश मेरे लिये जलती आगमें भी प्रवेश कर सकते हैं और समुद्रमें भी कूद सकते हैं ॥ २६ ॥

उन्मत्तमिव चापि त्वां प्रहसन्तीह दुःखितम्।
विलपन्तं बहुविधं भीतं परविकत्थने ॥ २७ ॥

इतनेपर भी आप शत्रुओंकी मिथ्या प्रशंसा सुनकर पागल-से हो उठे हैं और दुखी एवं भयभीत होकर नाना प्रकारसे विलाप कर रहे हैं। यह सब देखकर ये राजालोग यहाँ हँस रहे हैं ॥ २७ ॥

एषां ह्येकैकशो राज्ञां समर्थः पाण्डवान् प्रति।
आत्मानं मन्यते सर्वो व्येतु ते भयमागतम्॥ २८॥

इन राजाओंमेंसे प्रत्येक अपने-आपको पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेमें समर्थ मानता है; अतः आपके मनमें जो भय आ गया है, वह निकल जाना चाहिये ॥ २८ ॥

जेतुं समग्रां सेनां मे वासवोऽपि न शक्नुयात्।
हन्तुमक्षय्यरूपेयं ब्रह्मणोऽपि स्वयम्भुवः॥ २९॥

मेरी सम्पूर्ण सेनाको इन्द्र भी नहीं जीत सकते। स्वयम्भू ब्रह्माजी भी इसका नाश नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरः पुरं हित्वा पञ्च ग्रामान् स याचति।
भीतो हि मामकात् सैन्यात् प्रभावाच्चैव मे विभो।३०।

प्रभो! युधिष्ठिर तो मेरी सेना तथा प्रभावसे इतने डर गये हैं कि राजधानी या नगर लेनेकी बात छोड़कर अब पाँच गाँव माँगने लगे हैं ॥ ३०॥

समर्थं मन्यसे यच्च कुन्तीपुत्रं वृकोदरम्।
तन्मिथ्या न हि मे कृत्स्नं प्रभावं वेत्सि भारत॥ ३१॥

भारत! आप जो कुन्तीकुमार भीमको बहुत शक्तिशाली मान रहे हैं, वह भी मिथ्या ही है; क्योंकि आप मेरे प्रभावको पूर्णरूपसे नहीं जानते हैं ॥ ३१ ॥

मत्समो हि गदायुद्धे पृथिव्यां नास्ति कश्चन।
नासीत् कश्चिदतिक्रान्तो भविता न च कश्चन॥ ३२॥

गदायुद्धमें मेरी समानता करनेवाला इस पृथ्वीपर न तो कोई है, न भूतकालमें कोई हुआ था और न भविष्यमें ही कोई होगा ॥ ३२ ॥

युक्तो दुःखोषितश्चाहं विद्यापारगतस्तथा।
तस्मान्न भीमान्नान्येभ्यो भयं मे विद्यते क्वचित्॥ ३३॥

गदायुद्धका मेरा अभ्यास बहुत अच्छा है। मैंने गुरुके समीप क्लेशसहनपूर्वक रहकर अस्त्रविद्या सीखी है और उसमें मैं पारङ्गत हो गया हूँ। अतः भीमसेनसे या दूसरे योद्धाओंसे मुझे कभी कोई भय नहीं है ॥ ३३ ॥

दुर्योधनसमो नास्ति गदायामिति निश्चयः।
संकर्षणस्य भद्रं ते यत् तदैनमुपावसम्॥ ३४॥

आपका कल्याण हो। बलरामजीका भी यही निश्चय है कि गदायुद्धमें दुर्योधनके समान दूसरा कोई नहीं है। यह बात उन्होंने उस समय कही थी, जब मैं उनके पास रहकर गदाकी शिक्षा ले रहा था ॥ ३४ ॥

युद्धे संकर्षणसमो बलेनाभ्यधिको भुवि।
गदाप्रहारं भीमो मे न जातु विषहेद् युधि॥ ३५॥

मैं युद्धमें बलरामजीके समान हूँ और बलमें इस भूतलपर सबसे बढ़कर हूँ। युद्धमें भीमसेन मेरी गदाका प्रहार कभी नहीं सह सकते ॥ ३५ ॥

एकं प्रहारं यं दद्यां भीमाय रुषितो नृप।
स एवैनं नयेद् घोरः क्षिप्रं वैवस्वतक्षयम्॥ ३६॥

महाराज! मैं रोषमें भरकर भीमसेनपर गदाका जो एक बार प्रहार करूँगा, वह अत्यन्त भयंकर एक ही आघात उन्हें शीघ्र ही यमलोक पहुँचा देगा ॥ ३६ ॥

इच्छेयं च गदाहस्तं राजन् द्रष्टुं वृकोदरम्।
सुचिरं प्रार्थितो ह्येष मम नित्यं मनोरथः॥ ३७॥

राजन्! मैं चाहता हूँ कि युद्धमें गदा हाथमें लिये हुए भीमसेनको अपने सामने देखूँ। मैंने दीर्घकालसे अपने मनमें सदा इसी मनोरथके सिद्ध होनेकी इच्छा रखी है ॥ ३७ ॥

गदया निहतो ह्याजौ मया पार्थो वृकोदरः।
विशीर्णगात्रः पृथिवीं परासुः प्रपतिष्यति॥ ३८॥

युद्धमें मेरी गदासे आहत हुए कुन्तीपुत्र भीमसेनका शरीर छिन्न-भिन्न हो जायगा और वे प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर पड़ जायँगे ॥ ३८ ॥

गदाप्रहाराभिहतो हिमवानपि पर्वतः।
सकृन्मया विदीर्येत गिरिः शतसहस्रधा॥ ३९॥

यदि मैं एक बार अपनी गदाका आघात कर दूँ तो हिमालय पर्वत भी लाखों टुकड़ोंमें विदीर्ण हो जायगा ॥३९॥

स चाप्येतद् विजानाति वासुदेवार्जुनौ तथा।
दुर्योधनसमो नास्ति गदायामिति निश्चयः॥ ४०॥

भीमसेन भी इस बातको जानते हैं। श्रीकृष्ण और अर्जुनको भी यह ज्ञात है। यह निश्चित है कि गदायुद्धमें दुर्योधनके समान दूसरा कोई नहीं है ॥ ४० ॥

तत् ते वृकोदरमयं भयं व्येतु महाहवे।
व्यपनेष्याम्यहं ह्येनं मा राजन् विमना भव॥ ४१॥

अतः राजन्! भीमसेनसे जो आपको भय हो रहा है, वह दूर हो जाना चाहिये। मैं महायुद्धमें उन्हें मार गिराऊँगा। इसलिये आप मनमें खेद न करें ॥ ४१ ॥

तस्मिन् मया हते क्षिप्रमर्जुनं बहवो रथाः।
तुल्यरूपा विशिष्टाश्च क्षेप्स्यन्ति भरतर्षभ॥ ४२॥

भरतश्रेष्ठ! मेरेद्वारा भीमसेनके मारे जानेपर (हमारे पक्षके) बहुत-से रथी जो अर्जुनके समान या उनसे भी बढ़-कर हैं, उनके ऊपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगेंगे ॥ ४२ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपो द्रौणिः कर्णो भूरिश्रवास्तथा।
प्राग्ज्योतिषाधिपः शल्यः सिन्धुराजो जयद्रथः॥ ४३॥
एकैक एषां शक्तस्तु हन्तुं भारत पाण्डवान्।

समेतास्तु क्षणेनैतान् नेष्यन्ति यमसादनम् ।

भारत ! भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त, मद्रराज शल्य तथा सिन्धुराज जयद्रथ—इनमेंसे एक-एक वीर समस्त पाण्डवोंको मारनेकी शक्ति रखता है । यदि ये सब एक साथ मिल जायँ तो क्षण-भरमें उन सबको यमलोक पहुँचा देंगे ॥ ४३½ ॥

समग्रा पार्थिवी सेना पार्थमेकं धनंजयम् ॥ ४४ ॥
कस्मादशक्ता निर्जेतुमिति हेतुर्न विद्यते ।

राजाओंकी समस्त सेना एकमात्र अर्जुनको परास्त करनेमें असमर्थ कैसे होगी ? इसके लिये कोई कारण नहीं है ॥ ४४½ ॥

शरव्रातैस्तु भीष्मेण शतशो निचितोऽवशः ॥ ४५ ॥
द्रोणद्रौणिकृपैश्चैव गन्ता पार्थो यमक्षयम् ।

भीष्म, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्यके चलाये हुए सैकड़ों बाण-समूहोंसे विद्ध होकर कुन्तीपुत्र अर्जुनको विवशतापूर्वक यमलोकमें जाना पड़ेगा ॥ ४५½ ॥

पितामहोऽपि गाङ्गेयः शान्तनोरधि भारत ॥ ४६ ॥
ब्रह्मर्षिसदृशो जज्ञे देवैरपि सुदुःसहः ।

भरतनन्दन ! हमारे पितामह गङ्गापुत्र भीष्मजी तो अपने पिता शान्तनुसे भी बढ़कर पराक्रमी हैं । ये ब्रह्मर्षियोंके समान प्रभावसे सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए हैं । इनका वेग देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुःसह है ॥ ४६½ ॥

न हन्ता विद्यते चापि राजन् भीष्मस्य कश्चन ॥ ४७ ॥
पित्रा ह्युक्तः प्रसन्नेन नाकामस्त्वं मरिष्यसि ।

राजन् ! भीष्मजीको मारनेवाला तो कोई है ही नहीं; क्योंकि उनके पिताने प्रसन्न होकर उन्हें यह वरदान दिया है कि तुम अपनी इच्छाके बिना नहीं मरोगे ॥ ४७½ ॥

ब्रह्मर्षेश्च भरद्वाजाद् द्रोणो द्रोण्यामजायत ॥ ४८ ॥
द्रोणाज्जज्ञे महाराज द्रौणिश्च परमास्त्रवित् ।

दूसरे वीर आचार्य द्रोण हैं, जो ब्रह्मर्षि भरद्वाजके वीर्यसे कलशमें उत्पन्न हुए हैं । महाराज ! इन्हीं आचार्य द्रोणसे वीर अश्वत्थामाकी उत्पत्ति हुई है, जो अस्त्रविद्याके बहुत बड़े पण्डित हैं ॥ ४८½ ॥

कृपश्चाचार्यमुख्योऽयं महर्षेर्गौतमादपि ॥ ४९ ॥
शरस्तम्बोद्भवः श्रीमानवध्य इति मे मतिः ।

आचार्योंमें प्रधान कृप भी महर्षि गौतमके अंशसे सरकण्डोंके समूहमें उत्पन्न हुए हैं । ये श्रीमान् आचार्यपाद अवध्य हैं, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ४९½ ॥

अयोनिजास्त्रयो ह्येते पिता माता च मातुलः ॥ ५० ॥
अश्वत्थाम्नो महाराज स च शूरः स्थितो मम ।
सर्वे एते महाराज देवकल्पा महारथाः ॥ ५१ ॥

महाराज ! अश्वत्थामाके ये पिता, माता और मामा तीनों ही अयोनिज हैं । अश्वत्थामा भी शूरवीर एवं मेरे पक्षमें स्थित हैं । राजन् ! ये सभी योद्धा देवताओंके समान पराक्रमी एवं महारथी हैं ॥ ५०-५१ ॥

शक्रस्यापि व्यथां कुर्युः संयुगे भरतर्षभ ।
नैतेषामर्जुनः शक्त एकैकं प्रति वीक्षितुम् ॥ ५२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ये चारों वीर युद्धमें देवराज इन्द्रको भी पीड़ा दे सकते हैं । अर्जुन तो इनमेंसे किसी एककी ओर भी आँख उठाकर देख नहीं सकते ॥ ५२ ॥

सहितास्तु नरव्याघ्रा हनिष्यन्ति धनंजयम् ।
भीष्मद्रोणकृपाणां च तुल्यः कर्णो मतो मम ॥ ५३ ॥

ये नरश्रेष्ठ जब एक साथ होकर युद्ध करेंगे, तब अर्जुनको अवश्य मार डालेंगे । भीष्म, द्रोण और कृप—इन तीनोंके समान पराक्रमी तो अकेला कर्ण ही है, यह मेरी मान्यता है ॥ ५३ ॥

अनुज्ञातश्च रामेण मत्समोऽसीति भारत ।
कुण्डले रुचिरे चास्तां कर्णस्य सहजे शुभे ॥ ५४ ॥

भारत ! परशुरामजीने कर्णको (शिक्षा देनेके पश्चात् घर लौटनेकी) आज्ञा देते हुए यह कहा था कि तुम (अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें) मेरे समान हो । इसके सिवा कर्णको जन्मके साथ ही दो सुन्दर और कल्याणकारी कुण्डल प्राप्त हुए थे ।५४।

ते शच्यर्थं महेन्द्रेण याचितः स परंतपः ।
अमोघया महाराज शक्त्या परमभीमया ॥ ५५ ॥

परंतु देवराज इन्द्रने शत्रुओंको संताप देनेवाले वीरवर कर्णसे शचीके लिये वे दोनों कुण्डल माँग लिये । महाराज ! कर्णने बदलेमें अत्यन्त भयंकर एवं अमोघ शक्ति लेकर वे कुण्डल दिये थे ॥ ५५ ॥

तस्य शक्त्योपगूढस्य कस्माज्जीवेद् धनंजयः ।
विजयो मे ध्रुवं राजन् फलं पाणाविवाहितम् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार उस अमोघ शक्तिसे सुरक्षित कर्णके सामने युद्धके लिये आकर अर्जुन कैसे जीवित रह सकते हैं ? राजन् ! हाथपर रखे हुए फलकी भाँति विजयकी प्राप्ति तो मुझे अवश्य ही होगी ॥ ५६ ॥

अभिव्यक्तः परेषां च कृत्स्नो भुवि पराजयः ।
अह्ना ह्येकेन भीष्मोऽयं प्रयुतं हन्ति भारत ॥ ५७ ॥

भारत ! इस पृथ्वीपर मेरे शत्रुओंकी पूर्णतः पराजय तो इसीसे स्पष्ट है कि ये पितामह भीष्म प्रतिदिन दस हजार विपक्षी योद्धाओंका संहार करेंगे ॥ ५७ ॥

तत्समाश्च महेष्वासा द्रोणद्रौणिकृपा अपि ।
संशप्तकानां वृन्दानि क्षत्रियाणां परंतप ॥ ५८ ॥
अर्जुनं वयमस्मान् वा निहन्यात् कपिकेतनः ।

तं चालमिति मन्यन्ते सव्यसाचिवधे धृताः ॥ ५९ ॥
पार्थिवाः स भवांस्तेभ्यो ह्यकस्माद् व्यथते कथम्।

परंतप ! द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य भी उन्हींके समान महाधनुर्धर हैं । इनके सिवा 'संशप्तक' नामक क्षत्रियोंके समूह भी मेरे ही पक्षमें हैं; जो यह कहते हैं कि या तो हमलोग अर्जुनको मार डालेंगे या कपिध्वज अर्जुन ही हमें मार डालेंगे, तभी हमारे उनके युद्धकी समाप्ति होगी । वे सब नरेश अर्जुनके वधका दृढ़ निश्चय कर चुके हैं और उसके लिये अपनेको पर्याप्त समझते हैं। ऐसी दशामें आप उन पाण्डवोंसे भयभीत हो अकस्मात् व्यथित क्यों हो उठते हैं ? ॥ ५८-५९½ ॥

भीमसेने च निहते कोऽन्यो युध्येत भारत ॥ ६० ॥
परेषां तन्ममाचक्ष्व यदि वेत्थ परंतप।

शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतनन्दन ! अर्जुन और भीमसेनके मारे जानेपर शत्रुओंके दलमें दूसरा कौन ऐसा वीर है, जो युद्ध कर सकेगा ? यदि आप किसीको जानते हों तो बताइये ॥ ६०½ ॥

पञ्च ते भ्रातरः सर्वे धृष्टद्युम्नोऽथ सात्यकिः ॥ ६१ ॥
परेषां सप्त ये राजन् योधाः सारं बलं मतम्।

राजन् ! पाँचों भाई पाण्डव, धृष्टद्युम्न और सात्यकि—ये कुल सात योद्धा ही शत्रु-पक्षके सारभूत बल माने जाते हैं।६१½।

अस्माकं तु विशिष्टा ये भीष्मद्रोणकृपादयः ॥ ६२ ॥
द्रौणिर्वैकर्तनः कर्णः सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः।
प्राग्ज्योतिषाधिपः शल्य आवन्त्यौ च जयद्रथः ॥ ६३ ॥
दुःशासनो दुर्मुखश्च दुःसहश्च विशाम्पते।
श्रुतायुश्चित्रसेनश्च पुरुमित्रो विविंशतिः ॥ ६४ ॥
शलो भूरिश्रवाश्चैव विकर्णश्च तवात्मजः।

प्रजानाथ ! हमलोगोंके पक्षमें जो विशिष्ट योद्धा हैं, उनकी संख्या अधिक है; यथा—भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि, अश्वत्थामा, वैकर्तन कर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त, शल्य, अवन्तीके दोनों राजकुमार विन्द और अनुविन्द, जयद्रथ, दुःशासन, दुर्मुख, दुःसह, श्रुतायु, चित्रसेन, पुरुमित्र, विविंशति, शल, भूरिश्रवा तथा आपका पुत्र विकर्ण। (इस प्रकार अपने पक्षके प्रमुख वीरोंकी संख्या शत्रुओंके प्रमुख वीरोंसे तीन गुनी अधिक है)॥६२-६४½॥

अक्षौहिण्यो हि मे राजन् दशैका च समाहृताः।
न्यूनाः परेषां सप्तैव कस्मान्मे स्यात् पराजयः ॥ ६५॥

महाराज ! अपने यहाँ ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ संगृहीत हो गयी हैं, परंतु शत्रुओंके पक्षमें हमसे बहुत कम कुल सात अक्षौहिणी सेनाएँ हैं; फिर मेरी पराजय कैसे हो सकती है ?।६५।

बलं त्रिगुणतो हीनं योध्यं प्राह बृहस्पतिः।
परेभ्यस्त्रिगुणा चेयं मम राजन्ननीकिनी ॥ ६६ ॥

राजन् ! बृहस्पतिका कथन है कि शत्रुओंकी सेना अपनेसे एक तिहाई भी कम हो तो उसके साथ अवश्य युद्ध करना चाहिये। परंतु मेरी यह सेना तो शत्रुओंकी अपेक्षा चार अक्षौहिणी अधिक है, इसलिये यह अन्तर मेरी सम्पूर्ण सेनाकी एक तिहाईसे भी अधिक है ॥ ६६ ॥

गुणहीनं परेषां च बहु पश्यामि भारत।
गुणोदयं बहुगुणमात्मनश्च विशाम्पते ॥ ६७ ॥

भारत ! प्रजानाथ ! मैं देख रहा हूँ कि शत्रुओंका बल हमारी अपेक्षा अनेक प्रकारसे गुणहीन (न्यूनतम) है, परंतु मेरा अपना बल सब प्रकारसे बहुत अधिक एवं गुणशाली है ॥ ६७ ॥

एतत् सर्वं समाज्ञाय बलाग्र्यं मम भारत।
न्यूनतां पाण्डवानां च न मोहं गन्तुमर्हसि ॥ ६८ ॥

भरतनन्दन ! इन सभी दृष्टियोंसे मेरा बल अधिक है और पाण्डवोंका बहुत कम है, यह जानकर आप व्याकुल एवं अधीर न हों ॥ ६८ ॥

इत्युक्त्वा संजयं भूयः पर्यपृच्छत भारत।
विवित्सुः प्राप्तकालानि ज्ञात्वा परपुरंजयः ॥ ६९ ॥

जनमेजय ! ऐसा कहकर शत्रुनगरविजयी दुर्योधनने शत्रुओंकी स्थिति जान लेनेके पश्चात् समयोचित कर्तव्योंकी जानकारीके लिये पुनः संजयसे प्रश्न किया ॥ ६९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि दुर्योधनवाक्ये पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयद्वारा अर्जुनके ध्वज एवं अश्वोंका तथा युधिष्ठिर आदिके घोड़ोंका वर्णन

दुर्योधन उवाच

अक्षौहिणीः सप्त लब्ध्वा राजभिः सह संजय।
किंस्विदिच्छति कौन्तेयो युद्धप्रेप्सुर्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—संजय ! यह तो बताओ, सात अक्षौहिणी सेना पाकर राजाओंसहित कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर युद्धकी इच्छासे अब कौन-सा कार्य करना चाहते हैं ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

अतीव मुदितो राजन् युद्धप्रेप्सुर्युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ यमावपि न बिभ्यतः ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! युधिष्ठिर युद्धकी अभिलाषा लेकर मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो रहे हैं । भीमसेन, अर्जुन तथा दोनों भाई नकुल-सहदेव भी भयभीत नहीं हैं ॥ २ ॥

रथं तु दिव्यं कौन्तेयः सर्वा विभ्राजयन् दिशः।
मन्त्रं जिज्ञासमानः सन् बीभत्सुः समयोजयत् ॥ ३ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुनने तो अस्त्रप्रयोगसम्बन्धी मन्त्रकी परीक्षाके लिये अपने दिव्य रथकी प्रभासे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए उसे जोत रक्खा था ॥ ३ ॥

तमपश्याम संनद्धं मेघं विद्युद्युतं यथा ।
समन्तात् समभिध्याय हृष्यमाणोऽभ्यभाषत ॥ ४ ॥

उस समय स्वर्णमय कवच धारण किये अर्जुन हमें बिजलीके प्रकाशसे सुशोभित मेघके समान दिखायी दे रहे थे । उन्होंने सब ओरसे उन मन्त्रोंका सम्यक् चिन्तन करके हर्षसे उल्लसित होकर मुझसे कहा— ॥ ४ ॥

पूर्वरूपमिदं पश्य वयं जेष्याम संजय ।
बीभत्सुर्मां यथोवाच तथावैम्यहमप्युत ॥ ५ ॥

'संजय ! हमलोग युद्धमें अवश्य विजयी होंगे । उस विजयका यह पूर्वचिह्न अभीसे प्रकट हो रहा है । तुम भी देख लो ।' राजन् ! अर्जुनने मुझसे जैसा कहा था, वैसा ही मैं भी समझता हूँ ॥ ५ ॥

दुर्योधन उवाच

प्रशंसस्यभिनन्दंस्तान् पार्थानक्षपराजितान् ।
अर्जुनस्य रथे ब्रूहि कथमश्वाः कथं ध्वजाः ॥ ६ ॥

दुर्योधन बोला—संजय ! तुम तो जूएमें हारे हुए कुन्तीपुत्रोंका अभिनन्दन करते हुए उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगे । बताओ तो सही, अर्जुनके रथमें कैसे घोड़े और कैसे ध्वज हैं ? ॥ ६ ॥

संजय उवाच

भौमनः सह शक्रेण बहुचित्रं विशाम्पते ।
रूपाणि कल्पयामास त्वष्टा धाता सदा विभो ॥ ७ ॥

संजयने कहा—प्रजानाथ ! विश्वकर्मा त्वष्टा तथा प्रजापतिने इन्द्रके साथ मिलकर अर्जुनके रथकी ध्वजामें अनेक प्रकारके रूपोंकी रचना की है ॥ ७ ॥

ध्वजे हि तस्मिन् रूपाणि चक्रुस्ते देवमायया ।
महाधनानि दिव्यानि महान्ति च लघूनि च ॥ ८ ॥

उन तीनोंने देवमायाके द्वारा उस ध्वजमें छोटी-बड़ी अनेक प्रकारकी बहुमूल्य एवं दिव्य मूर्तियोंका निर्माण किया है ॥ ८ ॥



भीमसेनानुरोधाय हनूमान् मारुतात्मजः ।
आत्मप्रतिकृतिं तस्मिन् ध्वज आरोपयिष्यति ॥ ९ ॥

भीमसेनके अनुरोधकी रक्षाके लिये पवननन्दन हनुमान्‌जी उस ध्वजमें युद्धके समय अपने स्वरूपको स्थापित करेंगे ।९।

सर्वा दिशो योजनमात्रमन्तरं
स तिर्यगूर्ध्वं च रुरोध वै ध्वजः ।
न सज्जतेऽसौ तरुभिः संवृतोऽपि
तथा हि माया विहिता भौमनेन ॥ १० ॥

उस ध्वजने एक योजनतक सम्पूर्ण दिशाओं तथा अगल-बगल एवं ऊपरके अवकाशको व्याप्त कर रक्खा था । विश्वकर्माने ऐसी माया रच रक्खी है कि वह ध्वज वृक्षोंसे आवृत अथवा अवरुद्ध होनेपर भी कहीं अटकता नहीं है।१०।

यथाऽऽकाशे शक्रधनुः प्रकाशते
न चैकवर्णं न च विद्मि किं नु तत् ।
तथा ध्वजो विहितो भौमनेन
बह्वाकारं दृश्यते रूपमस्य ॥ ११ ॥

जैसे आकाशमें बहुरंगा इन्द्रधनुष प्रकाशित होता है और यह समझमें नहीं आता कि वह क्या है ? ठीक ऐसा ही विश्वकर्माका बनाया हुआ वह रंग-विरंगा ध्वज है । उसका रूप अनेक प्रकारका दिखायी देता है ॥ ११ ॥

यथाग्निधूमो दिवमेति रुद्ध्वा
वर्णान् बिभ्रत् तैजसांश्चित्ररूपान् ।

तथा ध्वजो विहितो भौमनेन
न चेद् भारो भविता नोत रोधः ॥ १२ ॥

जैसे अग्निसहित धूम विचित्र तेजोमय आकार और रंग धारण करके सब ओर फैलकर ऊपर आकाशकी ओर बढ़ता जाता है, उसी प्रकार विश्वकर्माने उस ध्वजका निर्माण किया है। उसके कारण रथपर कोई भार नहीं बढ़ता है और न उसकी गतिमें कहीं कोई रुकावट ही पैदा होती है ॥ १२ ॥

श्वेतास्तस्मिन् वातवेगाः सदश्वा
दिव्या युक्ताश्चित्ररथेन दत्ताः।
भुव्यन्तरिक्षे दिवि वा नरेन्द्र
येषां गतिर्हीयते नात्र सर्वा।
शतं यत् तत् पूर्यते नित्यकालं
हतं हतं दत्तवरं पुरस्तात् ॥ १३ ॥

अर्जुनके उस रथमें वायुके समान वेगशाली दिव्य एवं उत्तम जातिके श्वेत अश्व जुते हुए हैं, जिन्हें गन्धर्वराज चित्ररथने दिया था। नरेन्द्र ! पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग आदि किसी भी स्थानमें उन अश्वोंकी पूर्ण गति क्षीण या अवरुद्ध नहीं होती है। उस रथमें पूरे सौ घोड़े सदा जुते रहते हैं। उनमेंसे यदि कोई मारा जाता है तो पहलेके दिये हुए वरके प्रभावसे नया घोड़ा उत्पन्न होकर उसके स्थानकी पूर्ति कर देता है ॥ १३ ॥

तथा राज्ञो दन्तवर्णा बृहन्तो
रथे युक्ता भान्ति तद्वीर्यतुल्याः।
ऋक्षप्रख्या भीमसेनस्य वाहा
रथे वायोस्तुल्यवेगा बभूवुः ॥ १४ ॥

राजा युधिष्ठिरके रथमें भी वैसे ही शक्तिशाली श्वेतवर्णके विशाल अश्व जुते हुए हैं, जो अत्यन्त सुशोभित होते हैं। भीमसेनके घोड़ोंका रंग रीछके समान काला है। वे उनके रथमें जोते जानेपर वायुके समान तीव्र वेगसे चलते हैं ॥ १४ ॥

कल्माषाङ्गास्तित्तिरिचित्रपृष्ठा
भ्रात्रा दत्ताः प्रीयता फाल्गुनेन।
भ्रातुर्वीरस्य स्वैस्तुरङ्गैर्विशिष्टा
मुदा युक्ताः सहदेवं वहन्ति ॥ १५ ॥

अर्जुनने प्रसन्न होकर अपने छोटे भाई सहदेवको जो अश्व प्रदान किये थे, जिनके सम्पूर्ण अङ्ग विचित्र रंगके हैं और पृष्ठभाग भी तीतर पक्षीके समान चितकबरे प्रतीत होते हैं तथा जो वीर भाई अर्जुनके अपने अश्वोंकी अपेक्षा भी उत्कृष्ट हैं, ऐसे सुन्दर अश्व बड़ी प्रसन्नताके साथ सहदेवके रथका भार वहन करते हैं ॥ १५ ॥

माद्रीपुत्रं नकुलं त्वाजमीढ
महेन्द्रदत्ता हरयो वाजिमुख्याः।
समा वायोर्बलवन्तस्तरस्विनो
वहन्ति वीरं वृत्रशत्रुं यथेन्द्रम् ॥ १६ ॥

अजमीढकुलनन्दन ! देवराज इन्द्रके दिये हुए हरे रंगके उत्तम घोड़े, जो वायुके समान बलवान् तथा वेगवान् हैं, माद्रीकुमार वीर नकुलके रथका भार वहन करते हैं। ठीक उसी तरह, जैसे पहले वे वृत्रशत्रु देवेन्द्रका भार वहन किया करते थे ॥ १६ ॥

तुल्याश्चैभिर्वयसा विक्रमेण
महाजवाश्चित्ररूपाः सदश्वाः।
सौभद्रादीन् द्रौपदेयान् कुमारान्
वहन्त्यश्वा देवदत्ता बृहन्तः ॥ १७ ॥

अवस्था और बल-पराक्रममें पूर्वोक्त अश्वोंके ही समान महान् वेगशाली, विचित्र रूप-रंगवाले उत्तम जातिके अश्व सुभद्रानन्दन अभिमन्युसहित द्रौपदीके पुत्रोंका भार वहन करते हैं। वे विशाल अश्व भी देवताओंके दिये हुए हैं ॥१७॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयद्वारा पाण्डवोंकी युद्धविषयक तैयारीका वर्णन, धृतराष्ट्रका विलाप, दुर्योधनद्वारा अपनी प्रबलताका प्रतिपादन, धृतराष्ट्रका उसपर अविश्वास तथा संजयद्वारा धृष्टद्युम्नकी शक्ति एवं संदेशका कथन

धृतराष्ट्र उवाच

कांस्तत्र संजयापश्यः प्रीत्यर्थेन समागतान्।
ये योत्स्यन्ते पाण्डवार्थे पुत्रस्य मम वाहिनीम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! तुमने वहाँ युधिष्ठिरकी प्रसन्नताके लिये आये हुए किन-किन राजाओंको देखा था, जो पाण्डवोंके हितके लिये मेरे पुत्रकी सेनाके साथ युद्ध करेंगे ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

मुख्यमन्धकवृष्णीनामपश्यं कृष्णमागतम्।
चेकितानं च तत्रैव युयुधानं च सात्यकिम्॥ २॥

संजयने कहा—राजन्! मैंने वहाँ देखा कि वृष्णि और अन्धकवंशके प्रधान पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण पधारे हुए हैं। वहाँ चेकितान और युयुधान सात्यकि भी उपस्थित हैं॥ २॥

पृथगक्षौहिणीभ्यां तु पाण्डवानभिसंश्रितौ।
महारथौ समाख्यातावुभौ पुरुषमानिनौ॥ ३॥

अपनेको पौरुषशाली वीर माननेवाले वे दोनों विख्यात महारथी अलग-अलग एक-एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं॥ ३॥

अक्षौहिण्याथ पाञ्चाल्यो दशभिस्तनयैर्वृतः।
सत्यजित्प्रमुखैर्वीरैर्धृष्टद्युम्नपुरोगमैः॥ ४॥
द्रुपदो वर्धयन् मानं शिखण्डिपरिपालितः।
उपायात् सर्वसैन्यानां प्रतिच्छाद्य तदा वपुः॥ ५॥

पाञ्चालनरेश द्रुपद धृष्टद्युम्न और सत्यजित् आदि दस वीर पुत्रोंके साथ शिखण्डीद्वारा सुरक्षित हो कवच आदिसे सम्पूर्ण सैनिकोंके शरीरोंको आच्छादित करके उन सबकी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ युधिष्ठिरका मान बढ़ानेके लिये वहाँ आये हुए हैं॥ ४-५॥

विराटः सह पुत्राभ्यां शङ्खेनैवोत्तरेण च।
सूर्यदत्तादिभिर्वीरैर्मदिराक्षपुरोगमैः॥ ६॥
सहितः पृथिवीपालो भ्रातृभिस्तनयैस्तथा।
अक्षौहिण्यैव सैन्यानां वृतः पार्थं समाश्रितः॥ ७॥

राजा विराट अपने दो पुत्रों शङ्ख और उत्तरको साथ लिये, सूर्यदत्त और मदिराक्ष आदि वीर भ्राताओं और अन्य पुत्रोंके साथ एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरकी सहायताके लिये उपस्थित हैं॥ ६-७॥

जारासंधिर्मागधश्च धृष्टकेतुश्च चेदिराट्।
पृथक् पृथगनुप्राप्तौ पृथगक्षौहिणीवृतौ॥ ८॥

जरासंधकुमार मगधनरेश सहदेव तथा चेदिराज धृष्टकेतु—ये दोनों भी अलग-अलग एक-एक अक्षौहिणी सेना लेकर आये हैं॥ ८॥

केकया भ्रातरः पञ्च सर्वे लोहितकध्वजाः।
अक्षौहिणीपरिवृताः पाण्डवानभिसंश्रिताः॥ ९॥

लाल रंगकी ध्वजावाले जो पाँचों भाई केकयराजकुमार हैं, वे सभी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पाण्डवोंकी सेवामें उपस्थित हुए हैं॥ ९॥

एतानेतावतस्तत्र तानपश्यं समागतान्।
ये पाण्डवार्थे योत्स्यन्ति धार्तराष्ट्रस्य वाहिनीम्॥ १०॥

मैंने इन सबको इतनी सेनाओंके साथ वहाँ आया हुआ देखा है। ये लोग पाण्डवोंके हितके लिये दुर्योधनकी सेनाके साथ युद्ध करेंगे॥ १०॥

यो वेद मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम्।
स तत्र सेनाप्रमुखे धृष्टद्युम्नो महारथः॥ ११॥

जो मनुष्यों, देवताओं, गन्धर्वों तथा असुरोंकी भी व्यूह-रचना-प्रणालीको जानते हैं, वे महारथी धृष्टद्युम्न पाण्डवपक्षकी सेनाके अग्रभागमें (सेनापति होकर) रहेंगे॥ ११॥

भीष्मः शान्तनवो राजन् भागः क्लृप्तः शिखण्डिनः।
तं विराटोऽनुसंयाता सार्धं मत्स्यैः प्रहारिभिः॥ १२॥

राजन्! शान्तनुनन्दन भीष्मजीके वधका कार्य शिखण्डीको सौंपा गया है। राजा विराट मत्स्यदेशीय योद्धाओंके साथ शिखण्डीकी सहायताके लिये उसका अनुसरण करेंगे॥

ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य भागो मद्राधिपो बली।
तौ तु तत्राब्रुवन् केचिद् विषमौ नो माताविति॥ १३॥

बलवान् मद्रनरेश ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरके हिस्सेमें पड़े हैं—युधिष्ठिर ही उनके साथ युद्ध करेंगे। परंतु यह बँटवारा सुनकर कुछ लोग वहाँ बोल उठे थे कि ये दोनों तो हमें परस्पर समान शक्तिशाली नहीं जान पड़ते॥ १३॥

दुर्योधनः सहसुतः सार्धं भ्रातृशतेन च।
प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भीमसेनस्य भागतः॥ १४॥

अपने सौ भाइयों तथा पुत्रोंसहित दुर्योधन और पूर्व एवं दक्षिण दिशाके कौरवसैनिक भीमसेनका भाग नियत किये गये हैं॥ १४॥

अर्जुनस्य तु भागेन कर्णो वैकर्तनो मतः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सैन्धवश्च जयद्रथः॥ १५॥

वैकर्तन कर्ण, अश्वत्थामा, विकर्ण और सिंधुराज जयद्रथ—ये सब अर्जुनके हिस्सेमें पड़े हैं॥ १५॥

अशक्याश्चैव ये केचिद् पृथिव्यां शूरमानिनः।
सर्वांस्तानर्जुनः पार्थः कल्पयामास भागतः॥ १६॥

इनके सिवा और भी अपनेको शूरवीर माननेवाले जो कोई नरेश इस भूमण्डलमें अजेय माने जाते हैं, उन सबको कुन्तीकुमार अर्जुनने अपना भाग निश्चित किया है॥ १६॥

महेष्वासा राजपुत्रा भ्रातरः पञ्च केकयाः।
केकयानेव भागेन कृत्वा योत्स्यन्ति संयुगे॥ १७॥

पाँच भाई केकयराजकुमार भी महान् धनुर्धर हैं। वे समराङ्गणमें अपने विरोधी केकयदेशीय योद्धाओंको ही अपना भाग (वध्य वैरी) मानकर युद्ध करेंगे॥ १७॥

तेषामेव कृतो भागो मालवाः शाल्वकास्तथा।
त्रिगर्तानां चैव मुख्यौ यौ तौ संशप्तकाविति॥ १८॥

मालव, शाल्व तथा त्रिगर्तदेशके सैनिक और संशप्तक—सेनाके दो प्रमुख वीर भी उन केकयराजकुमारोंके ही भाग नियत किये गये हैं ॥ १८ ॥

दुर्योधनसुताः सर्वे तथा दुःशासनस्य च ।
सौभद्रेण कृतो भागो राजा चैव बृहद्बलः ॥ १९ ॥

दुर्योधन तथा दुःशासनके सभी पुत्र और राजा बृहद्बल सुभद्रानन्दन अभिमन्युके हिस्सेमें पड़े हैं ॥ १९ ॥

द्रौपदेया महेष्वासाः सुवर्णविकृतध्वजाः ।
धृष्टद्युम्नमुखा द्रोणमभियास्यन्ति भारत ॥ २० ॥

भरतनन्दन ! सुवर्णनिर्मित ध्वजाओंसे युक्त महाधनुर्धर द्रौपदीपुत्र भी धृष्टद्युम्नके साथ द्रोणपर आक्रमण करेंगे ॥२०॥

चेकितानः सोमदत्तं द्वैरथे योद्धुमिच्छति ।
भोजं तु कृतवर्माणं युयुधानो युयुत्सति ॥ २१ ॥

चेकितान द्वैरथ-संग्राममें सोमदत्तके साथ युद्ध करना चाहते हैं । सात्यकि भोजवंशी कृतवर्माके साथ युद्ध करनेको उत्सुक हैं ॥ २१ ॥

सहदेवस्तु माद्रेयः शूरः संक्रन्दनो युधि ।
स्वमंशं कल्पयामास श्यालं ते सुबलात्मजम् ॥ २२ ॥

महाराज ! युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी शूरवीर माद्री-नन्दन सहदेवने आपके साले सुबलपुत्र शकुनिको अपना भाग निश्चित किया है ॥ २२ ॥

उलूकं चैव कैतव्यं ये च सारस्वता गणाः ।
नकुलः कल्पयामास भागं माद्रवतीसुतः ॥ २३ ॥

उस धूर्त जुआरी शकुनिका पुत्र जो उलूक है तथा जो सारस्वतप्रदेशके सैनिक हैं, उन सबको माद्रीकुमार नकुलने अपना भाग नियत किया है ॥ २३ ॥

ये चान्ये पार्थिवा राजन् प्रत्युद्यास्यन्ति सङ्गरे ।
समाह्वानेन तांश्चापि पाण्डुपुत्रा अकल्पयन् ॥ २४ ॥

राजन् ! दूसरे भी जो-जो नरेश (आपकी ओरसे) युद्धमें पदार्पण करेंगे, उन सबका भी नाम ले-लेकर पाण्डवोंने उन्हें अपना भाग निश्चित किया है ॥ २४ ॥

एवमेषामनीकानि प्रविभक्तानि भागशः ।
यत् ते कार्यं सपुत्रस्य क्रियतां तदकालिकम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार पाण्डवोंकी सेनाएँ पृथक्-पृथक् भागोंमें बँटी हुई हैं । अब पुत्रोंसहित आपका जो कर्तव्य हो, उसे अविलम्ब पूरा करें ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

न सन्ति सर्वे पुत्रा मे मूढा दुर्द्यूतदेविनः ।
येषां युद्धं बलवता भीमेन रणमूर्धनि ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! समरभूमिके प्रमुख भागमें बलवान् भीमसेनके साथ जिनका युद्ध होनेवाला है, वे कपट-पूर्ण जूआ खेलनेवाले मेरे सभी मूर्ख पुत्र अब नहींके बराबर हैं ॥ २६ ॥

राजानः पार्थिवाः सर्वे प्रोक्षिताः कालधर्मणा ।
गाण्डीवाग्निं प्रवेक्ष्यन्ति पतङ्गा इव पावकम् ॥ २७ ॥

भूमण्डलके समस्त राजाओंका वध करनेके लिये मानो कालधर्मा यमराजने उनका प्रोक्षण (संस्कार) किया है; अतः जैसे पतंग आगमें गिरते हैं, वैसे ही ये सब नरेश गाण्डीव धनुषकी आगमें समा जायँगे ॥ २७ ॥

विद्रुतां वाहिनीं मन्ये कृतवैरैर्महात्मभिः ।
तां रणे केऽनुयास्यन्ति प्रभग्नां पाण्डवैर्युधि ॥ २८ ॥

मैं तो समझता हूँ; जिनका हमलोगोंके साथ वैर ठन गया है, वे महात्मा पाण्डव समराङ्गणमें हमारी विशाल सेनाको अवश्य मार भगायेंगे । उनके द्वारा खदेड़ी हुई उस सेनाका अनुसरण अथवा सहयोग कौन कर सकेंगे ? ॥ २८ ॥

सर्वे ह्यतिरथाः शूराः कीर्तिमन्तः प्रतापिनः ।
सूर्यपावकयोस्तुल्यास्तेजसा समितिञ्जयाः ॥ २९ ॥

समस्त पाण्डव अतिरथी शूरवीर, यशस्वी, प्रतापी, युद्धविजयी तथा अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी हैं ॥२९॥

येषां युधिष्ठिरो नेता गोप्ता च मधुसूदनः ।
योधौ च पाण्डवौ वीरौ सव्यसाचिवृकोदरौ ॥ ३० ॥
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
सात्यकिर्द्रुपदश्चैव धृष्टकेतुश्च सानुजः ॥ ३१ ॥
उत्तमौजाश्च पाञ्चाल्यो युधामन्युश्च दुर्जयः ।
शिखण्डी क्षत्रदेवश्च तथा वैराटिरुत्तरः ॥ ३२ ॥
काशयश्चेदयश्चैव मत्स्याः सर्वे च सृंजयाः ।
विराटपुत्रो बभ्रुश्च पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः ॥ ३३ ॥
येषामिन्द्रोऽप्यकामानां न हरेत् पृथिवीमिमाम् ।
वीराणां रणधीराणां ये भिन्द्युः पर्वतानपि ॥ ३४ ॥
तान् सर्वगुणसम्पन्नानमनुष्यप्रतापिनः ।
क्रोशतो मम दुष्पुत्रो योद्धुमिच्छति संजय ॥ ३५ ॥

संजय ! युधिष्ठिर जिनके नेता हैं, भगवान् मधुसूदन जिनके रक्षक हैं, पाण्डुपुत्र वीरवर अर्जुन और भीमसेन जिनके प्रमुख योद्धा हैं, नकुल, सहदेव, पृषत्वंशी धृष्टद्युम्न, सात्यकि, द्रुपद, धृष्टकेतु, सुकेतु, पाञ्चालदेशीय उत्तमौजा, दुर्जय युधामन्यु, शिखण्डी, क्षत्रदेव, विराटकुमार उत्तर, काशि, चेदि तथा मत्स्यदेशके सैनिक, सृंजयवंशी क्षत्रिय, विराटकुमार बभ्रु तथा पाञ्चालदेशीय प्रभद्रकगण जिनके पक्षमें युद्धके लिये उद्यत हैं, जिनकी इच्छाके बिना देवराज इन्द्र भी इस पृथ्वीका अपहरण नहीं कर सकते, जो वीर तथा रणधीर हैं, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण कर सकते हैं, जिनका

प्रताप देवताओंके समान है तथा जो समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं, उन्हीं पाण्डवोंके साथ मेरा दुष्ट पुत्र दुर्योधन मेरे चीखते-चिल्लाते हुए भी युद्ध करना चाहता है॥३०—३५॥

दुर्योधन उवाच

उभौ स्व एकजातीयौ तथोभौ भूमिगोचरौ ।
अथ कस्मात् पाण्डवानामेकतो मन्यसे जयम् ॥ ३६ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! हम कौरव तथा पाण्डव दोनों एक ही जातिके हैं और दोनों इसी भूमिपर रहते हैं। फिर एकमात्र पाण्डवोंकी ही विजय होगी, यह धारणा आपने कैसे बना ली ? ॥ ३६ ॥

पितामहं च द्रोणं च कृपं कर्णं च दुर्जयम् ।
जयद्रथं सोमदत्तमश्वत्थामानमेव च ॥ ३७ ॥
सुतेजसो महेष्वासानिन्द्रोऽपि सहितोऽमरैः ।
अशक्तः समरे जेतुं किं पुनस्तात पाण्डवाः ॥ ३८ ॥

तात ! पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, दुर्जय वीर कर्ण, जयद्रथ, सोमदत्त तथा अश्वत्थामा, ये सभी उत्तम तेजस्वी और महान् धनुर्धर हैं। देवताओंसहित इन्द्र भी इन्हें युद्धमें जीत नहीं सकते; फिर पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ३७-३८ ॥

सर्वे च पृथिवीपाला मदर्थे तात पाण्डवान् ।
आर्याः शस्त्रभृतः शूराः समर्थाः प्रतिबाधितुम् ॥ ३९ ॥

तात ! ये सभी भूपाल श्रेष्ठ, शस्त्रधारी और शूरवीर होनेके साथ ही मेरे लिये पाण्डवोंको पीड़ा देनेमें समर्थ हैं ॥

न मामकान् पाण्डवास्ते समर्थाः प्रतिवीक्षितुम् ।
पराक्रान्तो ह्यहं पाण्डून् सपुत्रान् योद्धुमाहवे ॥ ४० ॥

पाण्डव मेरे पक्षके इन वीरोंकी ओर आँख उठाकर देखनेमें भी समर्थ नहीं हैं। पुत्रोंसहित पाण्डवोंके साथ मैं अकेला ही समराङ्गणमें युद्ध करनेकी शक्ति रखता हूँ ॥४०॥

मत्प्रियं पार्थिवाः सर्वे ये चिकीर्षन्ति भारत ।
ते तानावारयिष्यन्ति ऐणेयानिव तन्तुना ॥ ४१ ॥

भरतनन्दन ! जो भूपाल मेरा प्रिय करना चाहते हैं, वे सब उन पाण्डवोंको आगे बढ़नेसे उसी प्रकार रोक देंगे, जैसे फन्देसे हिरनके बच्चोंको रोका जाता है ॥ ४१ ॥

महता रथवंशेन शरजालैश्च मामकैः ।
अभिद्रुता भविष्यन्ति पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ ४२ ॥

मेरे पक्षकी विशाल रथसेना तथा मेरे सैनिकोंके बाण-समूहोंसे आहत होकर पाञ्चाल और पाण्डव भाग खड़े होंगे ॥

धृतराष्ट्र उवाच

उन्मत्त इव मे पुत्रो विलपत्येष संजय ।
न हि शक्तो रणे जेतुं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मेरा यह पुत्र पागलके समान प्रलाप कर रहा है। यह युद्धमें धर्मराज युधिष्ठिरको कभी जीत नहीं सकता ॥ ४३ ॥

जानाति हि यथा भीष्मः पाण्डवानां यशस्विनाम् ।
बलवत्तां सपुत्राणां धर्मज्ञानां महात्मनाम् ॥ ४४ ॥
यतो नारोचयदयं विग्रहं तैर्महात्मभिः ।

पुत्रोंसहित धर्मज्ञ एवं यशस्वी महात्मा पाण्डव कितने बलशाली हैं, इस बातको भीष्मजी अच्छी तरह जानते हैं। इसीलिये उन्हें उन महात्माओंके साथ युद्ध छेड़नेकी बात पसंद नहीं आयी ॥ ४४½ ॥

किं तु संजय मे ब्रूहि पुनस्तेषां विचेष्टितम् ॥ ४५ ॥
कस्तांस्तरस्विनो भूयः संदीपयति पाण्डवान् ।
अर्चिष्मतो महेष्वासान् हविषा पावकानिव ॥ ४६ ॥

संजय ! तुम पुनः मेरे सामने पाण्डवोंकी चेष्टाका वर्णन करो। कौन ऐसा वीर है, जो वेगशाली और तेजस्वी महा-धनुर्धर पाण्डवोंको बार-बार उसी प्रकार उत्तेजित किया करता है, जैसे घीकी आहुति डालनेसे आग प्रज्वलित हो उठती है ॥ ४५-४६ ॥

संजय उवाच

धृष्टद्युम्नः सदैवैतान् संदीपयति भारत ।
युद्ध्यध्वमिति मा भैष्ट युद्धाद् भरतसत्तमाः ॥ ४७ ॥

संजयने कहा—भारत ! धृष्टद्युम्न सदा ही इन पाण्डवों-को उत्तेजित करते रहते हैं। वे कहते हैं—'भरतकुलभूषण पाण्डवो ! आपलोग युद्ध करें, उससे तनिक भी भयभीत न हों ॥ ४७ ॥

ये केचित् पार्थिवास्तत्र धार्तराष्ट्रेण संवृताः ।
युद्धे समागमिष्यन्ति तुमुले शस्त्रसंकुले ॥ ४८ ॥
तान् सर्वानाहवे क्रुद्धान् सानुबन्धान् समागतान् ।
अहमेकः समादास्ये तिमिर्मत्स्यानिवौदकान् ॥ ४९ ॥

'धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके द्वारा एकत्र किये हुए जो-जो नरेश अस्त्र-शस्त्रोंकी मारकाटसे व्याप्त हुए भयानक संग्राममें मेरे सामने आयेंगे, वे कितने ही क्रोधमें भरे हुए क्यों न हों, सगे-सम्बन्धियोंसहित रणभूमिमें आये हुए उन सभी राजाओंको मैं अकेला ही उसी प्रकार वशमें कर लूँगा, जैसे तिमि नामक महामत्स्य जलकी दूसरी मछलियोंको निगल जाता है ॥ ४८-४९ ॥

भीष्मं द्रोणं कृपं कर्णं द्रौणिं शल्यं सुयोधनम् ।
एतांश्चापि निरोत्स्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ ५० ॥

'भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, शल्य तथा दुर्योधन—इन सबको मैं उसी भाँति आगे बढ़नेसे रोक दूँगा, जैसे किनारा समुद्रको रोके रखता है' ॥ ५० ॥

तथा ब्रुवन्तं धर्मात्मा प्राह राजा युधिष्ठिरः ।
तव धैर्ये च वीर्ये च पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ ५१ ॥
सर्वे समधिरूढाः स्म संग्रामान्नः समुद्धर ।
जानामि त्वां महाबाहो क्षत्रधर्मे व्यवस्थितम् ॥ ५२ ॥
समर्थमेकं पर्याप्तं कौरवाणां विनिग्रहे ।
पुरस्तादुपयातानां कौरवाणां युयुत्सताम् ॥ ५३ ॥

इस प्रकार बोलते हुए धृष्टद्युम्नसे धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने कहा—'महाबाहो ! पाण्डवोंसहित समस्त पाञ्चाल वीर तुम्हारे धैर्य और पराक्रमका ही आश्रय लेकर युद्धके लिये उद्यत हुए हैं, इसलिये तुम्हीं इस संग्रामसे हमलोगोंका उद्धार करो । मैं जानता हूँ कि तुम क्षत्रियधर्ममें प्रतिष्ठित हो और युद्धकी इच्छासे सामने आये हुए समस्त कौरवोंको अकेले ही कैद कर लेनेकी पूरी शक्ति रखते हो ॥ ५१–५३ ॥

भवता यद् विधातव्यं तन्नः श्रेयः परंतप ।
संग्रामादपयातानां भग्नानां शरणैषिणाम् ॥ ५४ ॥
पौरुषं दर्शयञ्छूरो यस्तिष्ठेदग्रतः पुमान् ।
क्रीणीयात् तं सहस्रेण इति नीतिमतां मतम् ॥ ५५ ॥

'परंतप ! तुम जो कुछ करोगे, वही हमारे लिये मङ्गलकारी होगा । जो वीर पुरुष अपना पौरुष प्रकट करते हुए युद्धभूमिसे पराजित होकर भागे हुए शरणार्थी सैनिकोंके सामने खड़ा होता (और उनके भयका निवारण करता) है, उसे सहस्रोंकी सम्पत्ति देकर भी खरीद ले (अपने पक्षमें कर ले); यही नीतिज्ञ पुरुषोंका मत है ॥ ५४-५५ ॥

स त्वं शूरश्च वीरश्च विक्रान्तश्च नरर्षभ ।
भयार्तानां परित्राता संयुगेषु न संशयः ॥ ५६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इसमें संदेह नहीं कि तुम शूर, वीर और पराक्रमी हो तथा युद्धमें भयसे पीड़ित हुए सैनिकोंकी रक्षा कर सकते हो' ॥ ५६ ॥

एवं ब्रुवति कौन्तेये धर्मात्मनि युधिष्ठिरे ।
धृष्टद्युम्न उवाचेदं मां वचो गतसाध्वसम् ।
सर्वाञ्जनपदान् सूत योधा दुर्योधनस्य ये ॥ ५७ ॥
सबाह्लिकान् कुरून् ब्रूयाः प्रातिपेयाञ्छरद्वतः ।
सूतपुत्रं तथा द्रोणं सहपुत्रं जयद्रथम् ॥ ५८ ॥
दुःशासनं विकर्णं च तथा दुर्योधनं नृपम् ।
भीष्मं च ब्रूहि गत्वा त्वमाशु गच्छ च मा चिरम् ॥ ५९ ॥

धर्मात्मा कुन्तीकुमार युधिष्ठिर जब इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय धृष्टद्युम्नने मुझसे भयरहित यह वचन कहा—'सूत ! वहाँ दुर्योधनके जितने योद्धा हैं, उनसे, समस्त देशवासियोंसे, बाह्लीक आदि प्रतीपवंशी कौरवोंसे, शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यसे, सूतपुत्र कर्णसे, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामासे तथा जयद्रथ, दुःशासन, विकर्ण, राजा दुर्योधन और भीष्मसे भी शीघ्र जाकर मेरा यह संदेश कहो । अभी जाओ, विलम्ब मत करो ॥ ५७–५९ ॥

युधिष्ठिरः साधुनैवाभ्युपेयो
मा वो वधीदर्जुनो देवगुप्तः ।
राज्यं दद्ध्वं धर्मराजस्य तूर्णं
याचध्वं वै पाण्डवं लोकवीरम् ॥ ६० ॥

(वह संदेश इस प्रकार है—) 'कौरवो ! राजा युधिष्ठिर सद्व्यवहारसे ही वशमें किये जा सकते हैं (युद्धसे नहीं) । ऐसा अवसर न आने दो कि देवताओंद्वारा सुरक्षित वीरवर अर्जुन तुमलोगोंका वध कर डालें । धर्मराज युधिष्ठिरको शीघ्र उनका राज्य सौंप दो और विश्वविख्यात वीर पाण्डुकुमार अर्जुनसे क्षमा-याचना करो ॥ ६० ॥

नैतादृशो हि योधोऽस्ति पृथिव्यामिह कश्चन ।
यथाविधः सव्यसाची पाण्डवः सत्यविक्रमः ॥ ६१ ॥

'सव्यसाची पाण्डुपुत्र अर्जुन जैसे सत्यपराक्रमी हैं, वैसा योद्धा इस भूमण्डलमें दूसरा कोई नहीं है ॥ ६१ ॥

देवैर्हि सम्भृतो दिव्यो रथो गाण्डीवधन्वनः ।
न स जेयो मनुष्येण मा स्म कृढ्वं मनो युधि ॥ ६२ ॥

'गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले वीर अर्जुनका दिव्य रथ देवताओंद्वारा सुरक्षित है । कोई भी मनुष्य उन्हें जीत नहीं सकता, अतः तुमलोग अपने मनको युद्धकी ओर न जाने दो' ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका दुर्योधनको संधिके लिये समझाना, दुर्योधनका अहंकारपूर्वक पाण्डवोंसे युद्ध करनेका ही निश्चय तथा धृतराष्ट्रका अन्य योद्धाओंको युद्धसे भय दिखाना

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्रतेजा ब्रह्मचारी कौमारादपि पाण्डवः ।
तेन संयुगमेष्यन्ति मन्दा विलपतो मम ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर क्षात्र तेजसे सम्पन्न हैं । उन्होंने कुमारावस्थासे ही विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन किया है, परंतु मेरे ये मूर्ख पुत्र मेरे विलापकी ओर

ध्यान न देकर उन्हीं युधिष्ठिरके साथ युद्ध छेड़नेवाले हैं ॥ १ ॥

दुर्योधन निवर्तस्व युद्धाद् भरतसत्तम ।
न हि युद्धं प्रशंसन्ति सर्वावस्थमरिंदम ॥ २ ॥

भरतकुलभूषण शत्रुदमन दुर्योधन ! तुम युद्धसे निवृत्त हो जाओ । श्रेष्ठ पुरुष किसी भी दशामें युद्धकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ २ ॥

अलमर्धं पृथिव्यास्ते सहामात्यस्य जीवितुम् ।
प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथोचितमरिंदम ॥ ३ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर ! तुम पाण्डवोंको उनका यथोचित राज्यभाग दे दो । बेटा ! मन्त्रियोंसहित तुम्हारे जीवननिर्वाहके लिये तो आधा राज्य ही पर्याप्त है ॥ ३ ॥

एतद्धि कुरवः सर्वे मन्यन्ते धर्मसंहितम् ।
यत् त्वं प्रशान्तिं मन्येथाः पाण्डुपुत्रैर्महात्मभिः ॥ ४ ॥

समस्त कौरव यही धर्मानुकूल समझते हैं कि तुम महात्मा पाण्डवोंके साथ (संधि करके आपसमें) शान्ति बनाये रखनेकी बात स्वीकार कर लो ॥ ४ ॥

अङ्गेमां समवेक्षस्व पुत्र स्वामेव वाहिनीम् ।
जात एष तवाभावस्त्वं तु मोहान्न बुध्यसे ॥ ५ ॥

वत्स ! तुम इस अपनी ही सेनाकी ओर दृष्टिपात करो । यह तुम्हारा विनाशकाल ही उपस्थित हुआ है, परंतु तुम मोहवश इस बातको समझ नहीं रहे हो ॥ ५ ॥

न त्वहं युद्धमिच्छामि नैतदिच्छति बाह्लिकः ।
न च भीष्मो न च द्रोणो नाश्वत्थामा न संजयः ॥ ६ ॥
न सोमदत्तो न शलो न कृपो युद्धमिच्छति ।
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयो भूरिश्रवास्तथा ॥ ७ ॥

देखो, न तो मैं युद्ध करना चाहता हूँ, न बाह्लीक इसकी इच्छा रखते हैं और न भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, संजय, सोमदत्त, शल तथा कृपाचार्य ही युद्ध करना चाहते हैं । सत्यव्रत, पुरुमित्र, जय और भूरिश्रवा भी युद्धके पक्षमें नहीं हैं ॥ ६–७ ॥

येषु सम्प्रतितिष्ठेयुः कुरवः पीडिताः परैः ।
ते युद्धं नाभिनन्दन्ति तत् तुभ्यं तात रोचताम् ॥ ८ ॥

शत्रुओंसे पीड़ित होनेपर कौरवसैनिक जिनके आश्रयमें खड़े हो सकते हैं, वे ही लोग युद्धका अनुमोदन नहीं कर रहे हैं । तात ! उनके इस विचारको तुम्हें भी पसंद करना चाहिये ॥ ८ ॥

न त्वं करोषि कामेन कर्णः कारयिता तव ।
दुःशासनश्च पापात्मा शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ९ ॥

(मैं जानता हूँ,) तुम अपनी इच्छासे युद्ध नहीं कर रहे हो, अपितु पापात्मा दुःशासन, कर्ण तथा सुबलपुत्र शकुनि ही तुमसे यह कार्य करा रहे हैं ॥ ९ ॥

दुर्योधन उवाच

नाहं भवति न द्रोणे नाश्वत्थाम्नि न संजये ।
न भीष्मे न च काम्बोजे न कृपे न च बाह्लिके ॥ १० ॥
सत्यव्रते पुरुमित्रे भूरिश्रवसि वा पुनः ।
अन्येषु वा तावकेषु भारं कृत्वा समाह्वयम् ॥ ११ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! मैंने आप, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, संजय, भीष्म, काम्बोजनरेश, कृपाचार्य, बाह्लीक, सत्यव्रत, पुरुमित्र, भूरिश्रवा अथवा आपके अन्यान्य योद्धाओं-पर सारा बोझ रखकर पाण्डवोंको युद्धके लिये आमन्त्रित नहीं किया है ॥ १०–११ ॥

अहं च तात कर्णश्च रणयज्ञं वितत्य वै ।
युधिष्ठिरं पशुं कृत्वा दीक्षितौ भरतर्षभ ॥ १२ ॥

तात! भरतश्रेष्ठ ! मैंने तथा कर्णने रणयज्ञका विस्तार करके युधिष्ठिरको बलिपशु बनाकर उस यज्ञकी दीक्षा ले ली है ॥ १२ ॥

रथो वेदी स्रुवः खड्गो गदा स्रुक् कवचोऽजिनम् ।
चातुर्होत्रं च धुर्या मे शरा दर्भा हविर्यशः ॥ १३ ॥

इसमें रथ ही वेदी है, खड्ग स्रुवा है, गदा स्रुक् है, कवच मृगचर्म है, रथका भार वहन करनेवाले मेरे चारों घोड़े ही चार होता हैं, बाण कुश हैं और यश ही हविष्य है ॥ १३ ॥

आत्मयज्ञेन नृपते इष्ट्वा वैवस्वतं रणे ।
विजित्य च समेष्यावो हतामित्रौ श्रिया वृतौ ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! हम दोनों समराङ्गणमें अपने इस यज्ञके द्वारा यमराजका यजन करके शत्रुओंको मारकर विजयी हो विजय-लक्ष्मीसे शोभा पाते हुए पुनः राजधानीमें लौटेंगे ॥ १४ ॥

अहं च तात कर्णश्च भ्राता दुःशासनश्च मे ।
एते वयं हनिष्यामः पाण्डवान् समरे त्रयः ॥ १५ ॥

तात ! मैं, कर्ण तथा भाई दुःशासन—हम तीन ही समरभूमिमें पाण्डवोंका संहार कर डालेंगे ॥ १५ ॥

अहं हि पाण्डवान् हत्वा प्रशास्ता पृथिवीमिमाम् ।
मां वा हत्वा पाण्डुपुत्रा भोक्तारः पृथिवीमिमाम् ॥ १६ ॥

या तो मैं ही पाण्डवोंको मारकर इस पृथ्वीका शासन करूँगा या पाण्डव ही मुझे मारकर भूमण्डलका राज्य भोगेंगे ॥ १६ ॥

त्यक्तं मे जीवितं राज्यं धनं सर्वं च पार्थिव ।
न जातु पाण्डवैः सार्धं वसेयमहमच्युत ॥ १७ ॥

राज्यच्युत न होनेवाले महाराज ! मैं जीवन, राज्य,

धन—सब कुछ छोड़ सकता हूँ, परंतु पाण्डवोंके साथ मिलकर कदापि नहीं रह सकता ॥ १७ ॥

यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण मारिष।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥ १८ ॥

पूज्य पिताजी! तीखी सूईके अग्रभागसे जितनी भूमि बिंध सकती है, उतनी भी मैं पाण्डवोंको नहीं दे सकता ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वान् वस्तात शोचामि त्यक्तो दुर्योधनो मया।
ये मन्दमनुयास्यध्वं यान्तं वैवस्वतक्षयम् ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्र बोले—तात कौरवगण! दुर्योधनको तो मैंने त्याग दिया। यमलोकको जाते हुए उस मूर्खका तुम लोगोंमेंसे जो अनुसरण करेंगे मैं उन सभी लोगोंके लिये शोकमें पड़ा हूँ॥



रुरूणामिव यूथेषु व्याघ्राः प्रहरतां वराः।
वरान् वरान् हनिष्यन्ति समेता युधि पाण्डवाः ॥ २० ॥

प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ व्याघ्र जैसे रुरु नामक मृगोंके झुंडोंमें, घुसकर बड़ों-बड़ोंको मार डालते हैं, उसी प्रकार योद्धाओंमें अग्रगण्य पाण्डव युद्धमें एकत्र होकर कौरवोंके प्रधान-प्रधान वीरोंका वध कर डालेंगे ॥ २० ॥

प्रतीपमिव मे भाति युयुधानेन भारती।
व्यस्ता सीमन्तिनी ग्रस्ता प्रमृष्टा दीर्घबाहुना ॥ २१ ॥

मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि पुरुषसे तिरस्कृत हुई नारीकी भाँति इस भरतवंशियोंकी सेनाको विशाल बाँहोंवाले वीर सात्यकिने अपने अधिकारमें करके रौंद डाला है और वह अब विपरीत दिशाकी ओर अस्त-व्यस्त दशामें भागी जा रही है ॥ २१ ॥

सम्पूर्णं पूरयन् भूयो धनं पार्थस्य माधवः।
शैनेयः समरे स्थाता बीजवत् प्रवपञ्शरान् ॥ २२ ॥

मधुवंशी सात्यकि युधिष्ठिरके भरे-पूरे बल-वैभवको और भी बढ़ाते हुए, जैसे किसान खेतोंमें बीज बोता है, उसी प्रकार समर-भूमिमें बाण बिखेरते हुए खड़े होंगे ॥ २२ ॥

सेनामुखे प्रयुद्धानां भीमसेनो भविष्यति।
तं सर्वे संश्रयिष्यन्ति प्राकारमकुतोभयम् ॥ २३ ॥

सेनामें समस्त पाण्डव योद्धाओंके आगे भीमसेन खड़े होंगे और समस्त योद्धा उन्हें भयरहित प्राकार (चहारदीवारी) के समान मानकर उन्हींका आश्रय लेंगे ॥ २३ ॥

यदा द्रक्ष्यसि भीमेन कुञ्जरान् विनिपातितान्।
विशीर्णदन्तान् गिर्याभान् भिन्नकुम्भान् सशोणितान् ॥
तानभिप्रेक्ष्य संग्रामे विशीर्णानिव पर्वतान्।
भीतो भीमस्य संस्पर्शात् स्मर्तासि वचनस्य मे ॥ २५ ॥

जब तुम देखोगे कि भीमसेनने पर्वताकार गजराजोंके दाँत तोड़ एवं कुम्भस्थल विदीर्ण करके उन्हें रक्तरञ्जित दशामें धराशायी कर दिया है और वे रणभूमिमें टूट-फूटकर गिरे हुए पर्वतोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे हैं, तब उन सबपर दृष्टिपात करके भीमसेनके स्पर्शसे भी भयभीत होकर मेरी कही हुई बातोंको याद करोगे ॥ २४-२५ ॥

निर्दग्धं भीमसेनेन सैन्यं रथहयद्विपम्।
गतिमग्नेरिव प्रेक्ष्य स्मर्तासि वचनस्य मे ॥ २६ ॥

भीमसेन जब घोड़े, रथ और हाथियोंसे भरी हुई सारी कौरव-सेनाको अपनी क्रोधाग्निसे दग्ध करने लगेंगे, उस समय अग्निके समान उनका प्रबल वेग देखकर तुम्हें मेरी बातें याद आयेंगी ॥ २६ ॥

महद् वो भयमागामि न चेच्छाम्यथ पाण्डवैः।
गदया भीमसेनेन हताः शममुपैष्यथ ॥ २७ ॥

तुमलोगोंपर बहुत बड़ा भय आनेवाला है। मैं नहीं चाहता कि पाण्डवोंके साथ तुम्हारा युद्ध हो। यदि हो गया तो तुमलोग भीमसेनकी गदासे मारे जाकर सदाके लिये शान्त हो जाओगे ॥ २७ ॥

महावनमिवच्छिन्नं यदा द्रक्ष्यसि पातितम्।
बलं कुरूणां भीमेन तदा स्मर्तासि मे वचः ॥ २८ ॥

काटकर गिराये हुए विशाल वनकी भाँति जब तुम कौरवसेनाको भीमसेनके द्वारा मार गिरायी हुई देखोगे, तब तुम्हें मेरे वचनोंका स्मरण हो आयेगा ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा राजा तु सर्वांस्तान् पृथिवीपतीन्।
अनुभाष्य महाराज पुनः पप्रच्छ संजयम् ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्रने वहाँ बैठे हुए समस्त भूपालोंसे उपर्युक्त बातें कहकर उन्हें समझा-बुझाकर पुनः संजयसे पूछा ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्येऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रके पूछनेपर उन्हें श्रीकृष्ण और अर्जुनके अन्तःपुरमें कहे हुए संदेश सुनाना

धृतराष्ट्र उवाच

यद्ब्रूतां महात्मानौ वासुदेवधनंजयौ।
तन्मे ब्रूहि महाप्राज्ञ शुश्रूषे वचनं तव ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—महाप्राज्ञ संजय ! महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने जो कुछ कहा हो, वह मुझे बताओ; मैं तुम्हारे मुखसे उनके संदेश सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् यथा दृष्टौ मया कृष्णधनंजयौ।
ऊचतुश्चापि यद् वीरौ तत् ते वक्ष्यामि भारत ॥ २ ॥

संजयने कहा—भरतवंशी नरेश ! सुनिये। मैंने वीरवर श्रीकृष्ण और अर्जुनको जैसे देखा है और उन्होंने जो संदेश दिया है, वह आपको बता रहा हूँ ॥ २ ॥

पादाङ्गुलीरभिप्रेक्षन् प्रयतोऽहं कृताञ्जलिः।
शुद्धान्तं प्राविशं राजन्नाख्यातुं नरदेवयोः ॥ ३ ॥

राजन् ! मैं नरदेव श्रीकृष्ण और अर्जुनसे आपका संदेश सुनानेके लिये मनको पूर्णतः संयममें रखकर अपने पैरोंकी अङ्गुलियोंपर ही दृष्टि लगाये और हाथ जोड़े हुए उनके अन्तःपुरमें गया ॥ ३ ॥

नैवाभिमन्युर्न यमौ तं देशमभियान्ति वै।
यत्र कृष्णौ च कृष्णा च सत्यभामा च भामिनी॥ ४ ॥

जहाँ श्रीकृष्ण, अर्जुन, द्रौपदी और मानिनी सत्यभामा विराज रही थीं, उस स्थानमें कुमार अभिमन्यु तथा नकुल-सहदेव भी नहीं जा सकते थे ॥ ४ ॥

उभौ मध्वासवक्षीबावुभौ चन्दनरूषितौ।
स्रग्विणौ वरवस्त्रौ तौ दिव्यांभरणभूषितौ ॥ ५ ॥

वे दोनों मित्र मधुर पेय पीकर आनन्दविभोर हो रहे थे। उन दोनोंके श्रीअङ्ग चन्दनसे चर्चित थे। वे सुन्दर वस्त्र और मनोहर पुष्पमाला धारण करके दिव्य आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ ५ ॥

नैकरत्नविचित्रं तु काञ्चनं महदासनम्।
विविधास्तरणाकीर्णं यत्रासातामरिंदमौ ॥ ६ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों वीर जिस विशाल आसनपर बैठे थे, वह सोनेका बना हुआ था। उसमें अनेक प्रकारके रत्न जटित होनेके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसपर भाँति-भाँतिके सुन्दर बिछौने बिछे हुए थे ॥ ६ ॥

अर्जुनोत्सङ्गगौ पादौ केशवस्योपलक्षये।
अर्जुनस्य च कृष्णायां सत्यायां च महात्मनः॥ ७ ॥

मैंने देखा, श्रीकृष्णके दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें थे और महात्मा अर्जुनका एक पैर द्रौपदीकी तथा दूसरा सत्यभामाकी गोदमें था ॥ ७ ॥

काञ्चनं पादपीठं तु पार्थो मे प्रादिशत् तदा।
तदहं पाणिना स्पृष्ट्वा ततो भूमावुपाविशम् ॥ ८ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुनने उस समय मुझे बैठनेके लिये एक सोनेके पादपीठ (पैर रखनेके पीढ़े) की ओर संकेत कर दिया। परंतु मैं हाथसे उसका स्पर्शमात्र करके पृथ्वीपर ही बैठ गया ॥ ८ ॥

ऊर्ध्वरेखातलौ पादौ पार्थस्य शुभलक्षणौ।
पादपीठादपहृतौ तत्रापश्यमहं शुभौ ॥ ९ ॥

बैठ जानेपर वहाँ मैंने पादपीठसे हटाये हुए अर्जुनके दोनों सुन्दर चरणोंको (ध्यानपूर्वक) देखा। उनके तलुओंमें ऊर्ध्वगामिनी रेखाएँ दृष्टिगोचर हो रही थीं और वे दोनों पैर शुभसूचक विविध लक्षणोंसे सम्पन्न थे ॥ ९ ॥

श्यामौ बृहन्तौ तरुणौ शालस्कन्धाविवोद्गतौ।
एकासनगतौ दृष्ट्वा भयं मां महदाविशत् ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों श्यामवर्ण, बड़े डील-डौलवाले, तरुण तथा शालवृक्षके स्कन्धोंके समान उन्नत हैं। उन दोनोंको एक आसनपर बैठे देख मेरे मनमें बड़ा भय समा गया ॥ १० ॥

इन्द्रविष्णुसमावेतौ मन्दात्मा नावबुद्ध्यते ।
संश्रयाद् द्रोणभीष्माभ्यां कर्णस्य च विकत्थनात् ॥ ११ ॥

मैंने सोचा, इन्द्र और विष्णुके समान अचिन्त्य शक्तिशाली इन दोनों वीरोंको मन्दबुद्धि दुर्योधन नहीं समझ पाता है। वह द्रोणाचार्य और भीष्मका भरोसा करके तथा कर्णकी डींग-भरी बातें सुनकर मोहित हो रहा है ॥ ११ ॥

निदेशस्थाविमौ यस्य मानसस्तस्य सेत्स्यते ।
संकल्पो धर्मराजस्य निश्चयो मे तदाभवत् ॥ १२ ॥

ये दोनों महात्मा जिनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरका मानसिक संकल्प अवश्य सिद्ध होगा; यही उस समय मेरा निश्चय हुआ था ॥

सत्कृतश्चान्नपानाभ्यामासीनो लब्धसत्क्रियः ।
अञ्जलिं मूर्ध्नि संधाय तौ संदेशमचोदयम् ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् अन्न और जलके द्वारा मेरा सत्कार किया गया। यथोचित आदर-सत्कार पाकर जब मैं बैठा, तब माथे-पर अञ्जलि जोड़कर मैंने उन दोनोंसे आपका संदेश कह सुनाया ॥ १३ ॥

धनुर्गुणकिणाङ्केन पाणिना शुभलक्षणम् ।
पादमानमयन् पार्थः केशवं समचोदयत् ॥ १४ ॥

तब अर्जुनने जिसमें धनुषकी डोरीकी रगड़से चिह्न बन गया था, उस हाथसे भगवान् श्रीकृष्णके शुभसूचक लक्षणोंसे युक्त चरणको धीरे-धीरे दबाते हुए उन्हें मुझको उत्तर देनेके लिये प्रेरित किया ॥ १४ ॥

इन्द्रकेतुरिवोत्थाय सर्वाभरणभूषितः ।
इन्द्रवीर्योपमः कृष्णः संविष्टो माभ्यभाषत ॥ १५ ॥
वाचं स वदतां श्रेष्ठो ह्लादिनीं वचनक्षमाम् ।
त्रासिनीं धार्तराष्ट्राणां मृदुपूर्वां सुदारुणाम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर इन्द्रके समान पराक्रमी तथा समस्त आभूषणोंसे विभूषित वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण इन्द्रध्वजके समान उठ बैठे और मुझसे पहले तो मृदुल एवं मनको आह्लाद प्रदान करने-वाली प्रवचनयोग्य वाणी बोले। फिर वह वाणी अत्यन्त दारुणरूपमें प्रकट हुई, जो आपके पुत्रोंके लिये भय उपस्थित करनेवाली थी ॥ १५-१६ ॥

वाचं तां वचनार्हस्य शिक्षाक्षरसमन्विताम् ।
अश्रौषमहमिष्टार्थां पश्चाद्धृदयहारिणीम् ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् बातचीतमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णकी वह वाणी मेरे सुननेमें आयी, जिसका एक-एक अक्षर शिक्षाप्रद था। वह अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेवाली तथा मनको मोह लेनेवाली थी ॥ १७ ॥

वासुदेव उवाच

संजयेदं वचो ब्रूया धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
कुरुमुख्यस्य भीष्मस्य द्रोणस्यापि च शृण्वतः ॥ १८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—संजय ! जब कुरुकुलके प्रधान पुरुष भीष्म तथा आचार्य द्रोण भी सुन रहे हों, उसी समय तुम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रसे यह बात कहना ॥ १८ ॥

आवयोर्वचनात् सूत ज्येष्ठानप्यभिवादयन् ।
यवीयसश्च कुशलं पश्चात् पृष्ट्वैवमुत्तरम् ॥ १९ ॥

सूत ! हम दोनोंकी ओरसे पहले तुम हमसे बड़ी अवस्थावाले श्रेष्ठ पुरुषोंको प्रणाम कहना और जो लोग अवस्थामें हमसे छोटे हों, उनकी कुशल पूछना। इसके बाद हमारा यह उत्तर सुना देना—॥ १९ ॥

यजध्वं विविधैर्यज्ञैर्विप्रेभ्यो दत्त दक्षिणाः ।
पुत्रैर्दारैश्च मोदध्वं महद् वो भयमागतम् ॥ २० ॥

'कौरवो ! नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान आरम्भ करो, ब्राह्मणोंको दक्षिणाएँ दो, पुत्रों और स्त्रियोंसे मिल-जुलकर आनन्द भोग लो; क्योंकि तुम्हारे ऊपर बहुत बड़ा भय आ पहुँचा है ॥ २० ॥

अर्थांस्त्यजत पात्रेभ्यः सुतान् प्राप्नुत कामजान् ।
प्रियं प्रियेभ्यश्चरत राजा हि त्वरते जये ॥ २१ ॥

'तुम सुपात्र व्यक्तियोंको धनका दान दे लो, अपनी इच्छा-के अनुसार पुत्र पैदा कर लो तथा अपने प्रेमीजनोंका प्रिय कार्य सिद्ध कर लो; क्योंकि राजा युधिष्ठिर अब तुमलोगोंपर विजय पानेके लिये उतावले हो रहे हैं ॥ २१ ॥

ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति ।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् ॥ २२ ॥

'जिस समय कौरवसभामें द्रौपदीका वस्त्र खींचा जा रहा था, मैं हस्तिनापुरसे बहुत दूर था। उस समय कृष्णाने आर्तभावसे 'गोविन्द' कहकर जो मुझे पुकारा था, उसका मेरे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है और यह ऋण बढ़ता ही जा रहा है। (अपराधी कौरवोंका संहार किये बिना) उसका भार मेरे हृदयसे दूर नहीं हो सकता ॥ २२ ॥

तेजोमयं दुराधर्षं गाण्डीवं यस्य कार्मुकम् ।
मद्द्वितीयेन तेनेह वैरं वः सव्यसाचिना ॥ २३ ॥

'जिनके पास अजेय तेजस्वी गाण्डीव नामक धनुष है और जिनका मित्र या सहायक दूसरा मैं हूँ, उन्हीं सव्यसाची अर्जुनके साथ यहाँ तुमने वैर बढ़ाया है ॥ २३ ॥

मद्द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमिच्छति ।
यो न कालपरीतो वाप्यपि साक्षात् पुरंदरः ॥ २४ ॥

'जिसको कालने सब ओरसे घेर न लिया हो, ऐसा कौन

पुरुष, भले ही वह साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, उस अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहता है, जिसका सहायक दूसरा मैं हूँ ॥ २४ ॥

बाहुभ्यामुद्वहेद् भूमिं दहेत् क्रुद्ध इमाः प्रजाः ।
पातयेत् त्रिदिवाद् देवान् योऽर्जुनं समरे जयेत् ॥ २५ ॥

'जो अर्जुनको युद्धमें जीत ले, वह अपनी दोनों भुजाओंपर इस पृथ्वीको उठा सकता है, कुपित होकर इन समस्त प्रजाओंको भस्म कर सकता है और सम्पूर्ण देवताओंको स्वर्गसे नीचे गिरा सकता है ॥ २५ ॥

देवासुरमनुष्येषु यक्षगन्धर्वभोगिषु ।
न तं पश्याम्यहं युद्धे पाण्डवं योऽभ्ययाद् रणे ॥ २६ ॥

'देवताओं, असुरों, मनुष्यों, यक्षों, गन्धर्वों तथा नागोंमें भी मुझे कोई ऐसा वीर नहीं दिखायी देता, जो पाण्डुनन्दन अर्जुनका सामना कर सके ॥ २६ ॥

यत् तद् विराटनगरे श्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ २७ ॥

'विराटनगरमें अकेले अर्जुन और बहुत-से कौरवोंका जो अद्भुत और महान् संग्राम सुना जाता है, वही मेरे उपर्युक्त कथनकी सत्यताका पर्याप्त प्रमाण है ॥ २७ ॥

एकेन पाण्डुपुत्रेण विराटनगरे यदा ।
भग्नाः पलायत दिशः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ २८ ॥

'जब विराटनगरमें एकमात्र पाण्डुकुमार अर्जुनसे पराजित हो तुमलोगोंने भागकर विभिन्न दिशाओंकी शरण ली थी, वह एक ही दृष्टान्त अर्जुनकी प्रबलताका पर्याप्त प्रमाण है ॥

बलं वीर्यं च तेजश्च शीघ्रता लघुहस्तता ।
अविषादश्च धैर्यं च पार्थान्नान्यत्र विद्यते ॥ २९ ॥

'बल, पराक्रम, तेज, शीघ्रकारिता, हाथोंकी फुर्ती, विषादहीनता तथा धैर्य—ये सभी सद्गुण कुन्तीपुत्र अर्जुनके सिवा (एक साथ) दूसरे किसी पुरुषमें नहीं हैं' ॥ २९ ॥

इत्यब्रवीद्धृषीकेशः पार्थमुद्धर्षयन् गिरा ।
गर्जन् समयवर्षीव गगने पाकशासनः ॥ ३० ॥

जैसे इन्द्र आकाशमें गर्जता हुआ समयपर वर्षा करता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अपनी वाणीसे आनन्दित करते हुए उपर्युक्त बात कही ॥ ३० ॥

केशवस्य वचः श्रुत्वा किरीटी श्वेतवाहनः ।
अर्जुनस्तन्महद् वाक्यमब्रवीद् रोमहर्षणम् ॥ ३१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णका वचन सुनकर किरीटधारी श्वेतवाहन अर्जुनने भी उसी रोमाञ्चकारी महावाक्यको दुहरा दिया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयेन श्रीकृष्णवाक्यकथने एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयद्वारा श्रीकृष्णके संदेशका कथनविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके द्वारा कौरव-पाण्डवोंकी शक्तिका तुलनात्मक वर्णन

वैशम्पायन उवाच

संजयस्य वचः श्रुत्वा प्रज्ञाचक्षुर्जनेश्वरः ।
ततः संख्यातुमारेभे तद्वचो गुणदोषतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! संजयकी बात सुनकर प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रने उसके वचनके गुण-दोषका विवेचन आरम्भ किया ॥ १ ॥

प्रसंख्याय च सौक्ष्म्येण गुणदोषान् विचक्षणः ।
यथावन्मतितत्त्वेन जयकामः सुतान् प्रति ॥ २ ॥
बलाबलं विनिश्चित्य याथातथ्येन बुद्धिमान् ।
(यदा तु मेने भूयिष्ठं तद्वचो गुणदोषतः ।
पुनरेव कुरूणां च पाण्डवानां च बुद्धिमान् ॥)
शक्तिं संख्यातुमारेभे तदा वै मनुजाधिपः ॥ ३ ॥

अपने पुत्रोंकी विजय चाहनेवाले विद्वान् एवं बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने बुद्धितत्त्वके द्वारा उक्त वचनके सूक्ष्मसे सूक्ष्म गुण-दोषोंकी यथावत् समीक्षा करके दोनों पक्षोंकी प्रबलता एवं निर्बलताका यथार्थरूपसे निश्चय कर लिया । तत्पश्चात् जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि गुण-दोषकी दृष्टिसे श्रीकृष्णका कथन सर्वोत्कृष्ट है, तब उन बुद्धिमान् नरेशने पुनः कौरवों और पाण्डवोंकी शक्तिपर विचार करना आरम्भ किया ॥ २-३ ॥

देवमानुषयोः शक्त्या तेजसा चैव पाण्डवान् ।
कुरून् शक्त्याल्पतरया दुर्योधनमथाब्रवीत् ॥ ४ ॥

पाण्डवोंमें दैवी शक्ति, मानवी शक्ति तथा तेज—इन सभी दृष्टियोंसे उत्कृष्टता प्रतीत हुई और कौरव-पक्षकी शक्ति अल्प जान पड़ी, इस प्रकार विचार करके धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे कहा— ॥ ४ ॥

दुर्योधनेयं चिन्ता मे शश्वन्न व्युपशाम्यति ।
सत्यं ह्येतदहं मन्ये प्रत्यक्षं नानुमानतः ॥ ५ ॥

'वत्स दुर्योधन ! मेरी यह चिन्ता कभी दूर नहीं होती है,

क्योंकि तुम्हारा पक्ष दुर्बल है। मैं यह बात अनुमानसे नहीं कहता हूँ; प्रत्यक्ष देख रहा हूँ; अतः इसीको सत्य मानता हूँ॥

(ईदृशेऽभिनिविष्टस्य पृथिवीक्षयकारके।
अधर्म्ये चायशस्ये वा कार्ये महति दारुणे॥
पाण्डवैर्विग्रहस्तात सर्वथा मे न रोचते॥)

'तुम ऐसे कार्यके लिये दुराग्रह करते हो, जो समस्त भूमण्डलका विनाश करनेवाला है। यह अधर्मकारक तो है ही, अपयशकी भी वृद्धि करनेवाला है; इसके सिवा यह अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कर्म है। तात! तुम्हारा पाण्डवोंके साथ युद्ध छेड़ना मुझे किसी भी तरह अच्छा नहीं लग रहा है॥

आत्मजेषु परं स्नेहं सर्वभूतानि कुर्वते।
प्रियाणि चैषां कुर्वन्ति यथाशक्ति हितानि च॥ ६॥

'संसारके समस्त प्राणी अपने पुत्रोंपर अत्यन्त स्नेह करते हैं तथा अपनी शक्तिके अनुसार इनका प्रिय एवं हितसाधन करते हैं॥ ६॥

एवमेवोपकर्तॄणां प्रायशो लक्षयामहे।
इच्छन्ति बहुलं सन्तः प्रतिकर्तुं महत् प्रियम्॥ ७॥

'इसी प्रकार प्रायः यह भी देखता हूँ कि साधु पुरुष उपकारी मनुष्योंके उपकारका बदला चुकानेके लिये उनका बारंबार महान् प्रिय कार्य करना चाहते हैं॥ ७॥

अग्निः साचिव्यकर्ता स्यात् खाण्डवे तत्कृतं स्मरन्।
अर्जुनस्यापि भीमेऽस्मिन् कुरुपाण्डुसमागमे॥ ८॥

'कौरव-पाण्डवोंके इस भयंकर संग्राममें अग्निदेव भी खाण्डववनमें अर्जुनके किये हुए उपकारको याद करके उनकी सहायता अवश्य करेंगे॥ ८॥

जातिगृद्ध्याभिपन्नाश्च पाण्डवानामनेकशः।
धर्मादयः समेष्यन्ति समाहूता दिवौकसः॥ ९॥

'इसके सिवा पाण्डवोंका जन्म अनेक देवताओंसे हुआ है, इसलिये वे धर्म आदि देवता युधिष्ठिर आदिके बुलानेपर उनकी सहायताके लिये अवश्य पधारेंगे॥ ९॥

भीष्मद्रोणकृपादीनां भयादशनिसंनिभम्।
रिरक्षिषन्तः संरम्भं गमिष्यन्तीति मे मतिः॥ १०॥

'भीष्म, द्रोण और कृप आदिके भयसे पाण्डवोंकी रक्षा चाहते हुए देवतालोग भीष्म आदिपर वज्रके समान भयंकर क्रोध करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है॥ १०॥

ते देवैः सहिताः पार्था न शक्याः प्रतिवीक्षितुम्।
मानुषेण नरव्याघ्रा वीर्यवन्तोऽस्त्रपारगाः॥ ११॥

'नरश्रेष्ठ पाण्डव अस्त्रविद्याके पारङ्गत और पराक्रमी तो हैं ही, देवताओंका सहयोग भी प्राप्त कर चुके हैं; अतः कोई मनुष्य उनकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता॥ ११॥

दुरासदं यस्य दिव्यं गाण्डीवं धनुरुत्तमम्।
वारुणौ चाक्षयौ दिव्यौ शरपूर्णौ महेषुधी॥ १२॥
वानरश्च ध्वजो दिव्यो निःसङ्गो धूमवद्गतिः।
रथश्च चतुरन्तायां यस्य नास्ति समः क्षितौ॥ १३॥
महामेघनिभश्चापि निर्घोषः श्रूयते जनैः।
महाशनिसमः शब्दः शात्रवाणां भयंकरः॥ १४॥
यं चातिमानुषं वीर्ये कृत्स्नो लोको व्यवस्यति।
देवानामपि जेतारं यं विदुः पार्थिवा रणे॥ १५॥
शतानि पञ्च चैवेषून् यो गृह्णन् नैव दृश्यते।
निमेषान्तरमात्रेण मुञ्चन् दूरं च पातयन्॥ १६॥
यमाह भीष्मो द्रोणश्च कृपो द्रौणिस्तथैव च।
मद्रराजस्तथा शल्यो मध्यस्था ये च मानवाः॥ १७॥
युद्धायावस्थितं पार्थं पार्थिवैरतिमानुषैः।
अशक्यं नरशार्दूलं पराजेतुमरिंदमम्॥ १८॥
क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्च बाणशतानि यः।
सदृशं बाहुवीर्येण कार्तवीर्यस्य पाण्डवम्॥ १९॥
तमर्जुनं महेष्वासं महेन्द्रोपेन्द्रविक्रमम्।
निघ्नन्तमिव पश्यामि विमर्देऽस्मिन् महाहवे॥ २०॥

'जिसके पास उत्तम एवं दुर्धर्ष दिव्य गाण्डीव धनुष है, वरुणके दिये हुए बाणोंसे भरे दो दिव्य अक्षय तूणीर हैं, जिसका दिव्य वानर-ध्वज कहीं भी अटकता नहीं है—धूमकी भाँति अप्रतिहत गतिसे सर्वत्र जा सकता है, समुद्रपर्यन्त समूची पृथ्वीपर जिसके रथकी समानता करनेवाला दूसरा कोई रथ नहीं है, जिसके रथका घर्घर शब्द सब लोगोंको महान् मेघोंकी गर्जनाके समान सुनायी पड़ता है तथा वज्रकी गड़गड़ाहटके समान शत्रुसैनिकोंके मनमें भयका संचार कर देता है, जिसे सब लोग अलौकिक पराक्रमी मानते हैं, समस्त राजा भी जिसे युद्धमें देवताओंतकको पराजित करनेमें समर्थ समझते हैं, जो पलक मारते-मारते पाँच सौ बाणोंको हाथमें लेता, छोड़ता और दूरस्थ लक्ष्योंको भी मार गिराता है; किंतु यह सब करते समय कोई भी जिसे देख नहीं पाता है; जिसके विषयमें भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, मद्रराज शल्य तथा तटस्थ मनुष्य भी ऐसा कहते हैं कि युद्धके लिये खड़े हुए शत्रुदमन नरश्रेष्ठ अर्जुनको पराजित करना अमानुषिक शक्ति रखनेवाले भूमिपालोंके लिये भी असम्भव है। जो एक वेगसे पाँच सौ बाण चलाता है तथा जो बाहुबलमें कार्तवीर्य अर्जुनके समान है; इन्द्र और विष्णुके समान पराक्रमी उस महाधनुर्धर पाण्डुनन्दन अर्जुनको मैं इस महासमरमें शत्रु-सेनाओंका संहार करता हुआ-सा देख रहा हूँ॥ १२—२०॥

इत्येवं चिन्तयन् कृत्स्नमहोरात्राणि भारत।
अनिद्रो निःसुखश्चास्मि कुरूणां शमचिन्तया॥ २१॥

'भारत! मैं दिन-रात यही सब सोचते-सोचते नींद नहीं ले पाता हूँ। कुरुवंशियोंमें कैसे शान्ति बनी रहे?—इस

चिन्तासे मेरा सारा सुख छिन गया है ॥ २१ ॥

क्षयोदयोऽयं सुमहान् कुरूणां प्रत्युपस्थितः ।
अस्य चेत् कलहस्यान्तः शमादन्यो न विद्यते ॥ २२ ॥
शमो मे रोचते नित्यं पार्थैस्तात न विग्रहः ।
कुरुभ्यो हि सदा मन्ये पाण्डवाञ्शक्तिमत्तरान् ॥ २३ ॥

कौरवोंके लिये यह महान् विनाशका अवसर उपस्थित हुआ है । तात ! यदि इस कलहका अन्त करनेके लिये संधिके सिवा और कोई उपाय नहीं है तो मुझे सदा संधिकी ही बात अच्छी लगती है; कुन्तीपुत्रोंके साथ युद्ध छेड़ना ठीक नहीं है । मैं सदा पाण्डवोंको कौरवोंसे अधिक शक्तिशाली मानता हूँ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रविवेचने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रके द्वारा कौरव-पाण्डवोंकी शक्तिका विवेचनसम्बन्धी साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

एकषष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनद्वारा आत्मप्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

पितुरेतद् वचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः ।
आधाय विपुलं क्रोधं पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पिताकी यह बात सुनकर अत्यन्त असहिष्णु दुर्योधनने भीतर-ही-भीतर भारी क्रोध करके पुनः इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

अशक्या देवसचिवाः पार्थाः स्युरिति यद् भवान् ।
मन्यते तद् भयं व्येतु भवतो राजसत्तम ॥ २ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! आप जो ऐसा मानते हैं कि कुन्तीके पुत्रोंको जीतना असम्भव है, क्योंकि देवता उनके सहायक हैं, यह ठीक नहीं है । आपके मनसे यह भय निकल जाना चाहिये ।२।

अकामद्वेषसंयोगलोभद्रोहाच्च भारत ।
उपेक्षया च भावानां देवा देवत्वमाप्नुवन् ॥ ३ ॥

'भरतनन्दन ! काम (राग), द्वेष, संयोग (ममता), लोभ और द्रोह (क्रोध) रूपी दोषोंसे रहित होनेके कारण तथा दूषित भावोंकी उपेक्षा कर देनेके कारण ही देवताओंने देवत्व प्राप्त किया है ॥ ३ ॥

इति द्वैपायनो व्यासो नारदश्च महातपाः ।
जामदग्न्यश्च रामो नः कथामकथयत् पुरा ॥ ४ ॥

'यह बात पूर्वकालमें द्वैपायन व्यासजी, महातपस्वी नारदजी तथा जमदग्निनन्दन परशुरामजीने हमलोगोंको बतायी थी ॥ ४ ॥

नैव मानुषवद् देवाः प्रवर्तन्ते कदाचन ।
कामात् क्रोधात् तथा लोभाद् द्वेषाच्च भरतर्षभ ॥ ५ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! देवता मनुष्योंकी भाँति काम, क्रोध, लोभ और द्वेषभावसे किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होते हैं ॥ ५ ॥

यदा ह्यग्निश्च वायुश्च धर्म इन्द्रोऽश्विनावपि ।
कामयोगात् प्रवर्तेरन् न पार्था दुःखमाप्नुयुः ॥ ६ ॥

'यदि अग्नि, वायु, धर्म, इन्द्र तथा दोनों अश्विनीकुमार भी कामनाके वशीभूत होकर सब कार्योंमें प्रवृत्त होने लग जाते, तब तो कुन्तीपुत्रोंको कभी दुःख उठाना ही नहीं पड़ता ॥ ६ ॥

तस्मान्न भवता चिन्ता कार्यैषा स्यात् कथंचन ।
दैवेष्वपेक्षका ह्येते शश्वद् भावेषु भारत ॥ ७ ॥

'अतः भरतनन्दन ! आप किसी प्रकार भी ऐसी चिन्ता न करें; क्योंकि देवता सदा दिव्यभाव—शम आदिकी ही अपेक्षा रखते हैं, काम, क्रोध आदि आसुरभावोंकी नहीं ।७।

अथ चेत् कामसंयोगाद् द्वेषो लोभश्च लक्ष्यते ।
देवेषु दैवप्रामाण्यान्नैषां तद् विक्रमिष्यति ॥ ८ ॥

'तथापि यदि देवताओंमें कामनावश द्वेष और लोभ लक्षित होता है तो (उनमें देवत्वका अभाव हो जानेके कारण) उनकी वह शक्ति हमलोगोंपर कोई प्रभाव नहीं दिखा सकेगी, क्योंकि देवोंमें देवभावकी प्रधानता है ॥ ८ ॥

मयाभिमन्त्रितः शश्वज्जातवेदाः प्रशाम्यति ।
दिधक्षुः सकलाँल्लोकान् परिक्षिप्य समन्ततः ॥ ९ ॥

'(वैसे तो मुझमें भी दैवबल है ही;) यदि मैं अभिमन्त्रित कर दूँ तो सदा सम्पूर्ण लोकोंको जलाकर भस्म कर डालनेकी इच्छासे प्रज्वलित हुई आग भी सब ओरसे सिमटकर बुझ जायगी ॥ ९ ॥

यद् वा परमकं तेजो येन युक्ता दिवौकसः ।
ममाप्यनुपमं भूयो देवेभ्यो विद्धि भारत ॥ १० ॥

'भारत ! यदि कोई ऐसा उत्कृष्ट तेज है, जिससे देवता युक्त हैं तो मुझे भी देवताओंसे ही अनुपम तेज प्राप्त हुआ है, यह आप अच्छी तरह जान लें ॥ १० ॥

विदीर्यमाणां वसुधां गिरीणां शिखराणि च ।
लोकस्य पश्यतो राजन् स्थापयाम्यभिमन्त्रणात् ॥ ११ ॥

'राजन् ! मैं सब लोगोंके देखते-देखते विदीर्ण होती हुई

पृथ्वी तथा टूटकर गिरते हुए पर्वत शिखरोंको भी मन्त्रबलसे अभिमन्त्रित करके पहलेकी भाँति स्थापित कर सकता हूँ ॥ ११ ॥

चेतनाचेतनस्यास्य जङ्गमस्थावरस्य च ।
विनाशाय समुत्पन्नमहं घोरं महास्वनम् ॥ १२ ॥
अश्मवर्षं च वायुं च शमयामीह नित्यशः ।
जगतः पश्यतोऽभीक्ष्णं भूतानामनुकम्पया ॥ १३ ॥

'इस चेतन-अचेतन और स्थावर-जङ्गम जगत्‌के विनाशके लिये प्रकट हुई महान् कोलाहलकारी भयंकर शिलावृष्टि अथवा आँधीको भी मैं सदा समस्त प्राणियोंपर दया करके सबके देखते-देखते यहीं शान्त कर सकता हूँ ॥ १२-१३ ॥

स्तम्भितास्वप्सु गच्छन्ति मया रथपदातयः ।
देवासुराणां भावानामहमेकः प्रवर्तिता ॥ १४ ॥

'मेरे द्वारा स्तम्भित किये हुए जलके ऊपर रथ और पैदल सेनाएँ चल सकती हैं । एकमात्र मैं ही दैव तथा आसुर शक्तियोंको प्रकट करनेमें समर्थ हूँ ॥ १४ ॥

अक्षौहिणीभिर्यान् देशान् यामि कार्येण केनचित् ।
तत्राश्वा मे प्रवर्तन्ते यत्र यत्राभिकामये ॥ १५ ॥

'मैं किसी कार्यके उद्देश्यसे जिन-जिन देशोंमें अनेक अक्षौहिणी सेनाएँ लेकर जाता हूँ, उनमें जहाँ-जहाँ मेरी इच्छा होती है, उन सभी स्थानोंमें मेरे घोड़े (अप्रतिहत गतिसे) विचरते हैं ॥ १५ ॥

भयानकानि विषये व्यालादीनि न सन्ति मे ।
मन्त्रगुप्तानि भूतानि न हिंसन्ति भयंकराः ॥ १६ ॥

'मेरे राज्यमें सर्प आदि भयंकर जीव-जन्तु नहीं हैं । यदि कोई भयंकर प्राणी हों तो भी वे मेरे मन्त्रोंद्वारा सुरक्षित जीव-जन्तुओंकी कभी हिंसा नहीं करते हैं ॥ १६ ॥

निकामवर्षी पर्जन्यो राजन् विषयवासिनाम् ।
धर्मिष्ठाश्च प्रजाः सर्वा ईतयश्च न सन्ति मे ॥ १७ ॥

'महाराज ! मेरे राज्यमें रहनेवाली प्रजाओंके लिये बादल प्रचुर जल बरसाता है, सम्पूर्ण प्रजाएँ धर्ममें तत्पर रहती हैं तथा मेरे राष्ट्रमें अनावृष्टि और अतिवृष्टि आदि किसी प्रकारका भी उपद्रव नहीं है ॥ १७ ॥

अश्विनावथ वाय्वग्नी मरुद्भिः सह वृत्रहा ।
धर्मश्चैव मया द्विष्टान् नोत्सहन्तेऽभिरक्षितुम् ॥ १८ ॥

'जिनसे मैं द्वेष रखता हूँ, उनकी रक्षाका साहस अश्विनीकुमार, वायु, अग्नि, मरुद्गणोंसहित इन्द्र तथा धर्ममें भी नहीं है ॥

यदि ह्येते समर्थाः स्युर्मद्द्विषस्त्रातुमञ्जसा ।
न स्म त्रयोदश समाः पार्था दुःखमवाप्नुयुः ॥ १९ ॥

'यदि ये लोग अनायास ही मेरे शत्रुओंकी रक्षा करनेमें समर्थ होते तो कुन्तीके पुत्र तेरह वर्षोंतक कष्ट नहीं भोगते ।१९।

नैव देवा न गन्धर्वा नासुरा न च राक्षसाः ।
शक्तास्त्रातुं मया द्विष्टं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २० ॥

'पिताजी ! मैं आपसे यह सत्य कहता हूँ कि देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस भी मेरे शत्रुकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ २० ॥

यदभिध्याम्यहं शश्वच्छुभं वा यदि वाशुभम् ।
नैतद् विपन्नपूर्वं मे मित्रेष्वरिषु चोभयोः ॥ २१ ॥

'मैं अपने मित्रों और शत्रुओं—दोनोंके विषयमें शुभ या अशुभ जैसा भी चिन्तन करता हूँ, वह पहले कभी निष्फल नहीं हुआ है ॥ २१ ॥

भविष्यतीदमिति वा यद् ब्रवीमि परंतप ।
नान्यथा भूतपूर्वं च सत्यवागिति मां विदुः ॥ २२ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! मैं जो बात मुँहसे कह देता हूँ कि यह इसी प्रकार होगा, मेरा वह कथन पहले कभी भी मिथ्या नहीं हुआ है । इसीलिये लोग मुझे सत्यवादी मानते हैं ॥ २२ ॥

लोकसाक्षिकमेतन्मे माहात्म्यं दिक्षु विश्रुतम् ।
आश्वासनार्थं भवतः प्रोक्तं न श्लाघया नृप ॥ २३ ॥

'राजन् ! मेरा यह माहात्म्य सब लोगोंकी आँखोंके समक्ष है; सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रसिद्ध है । मैंने आपके आश्वासनके लिये ही इसकी यहाँ चर्चा की है, आत्मप्रशंसा करनेके लिये नहीं ॥ २३ ॥

न ह्यहं श्लाघनो राजन् भूतपूर्वः कदाचन ।
असदाचरितं ह्येतद् यदात्मानं प्रशंसति ॥ २४ ॥

'महाराज ! आजसे पहले मैंने कभी भी आत्मप्रशंसा नहीं की है; क्योंकि मनुष्य जो अपनी प्रशंसा करता है, यह अच्छे पुरुषोंका कार्य नहीं है ॥ २४ ॥

पाण्डवांश्चैव मत्स्यांश्च पञ्चालान् केकयैः सह ।
सात्यकिं वासुदेवं च श्रोतासि विजितान् मया ॥ २५ ॥

'आप किसी दिन सुनेंगे कि मैंने पाण्डवोंको, मत्स्यदेशके योद्धाओंको, केकयोंसहित पाञ्चालोंको तथा सात्यकि और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको भी जीत लिया है ॥२५॥

सरितः सागरं प्राप्य यथा नश्यन्ति सर्वशः ।
तथैव ते विनङ्क्ष्यन्ति मामासाद्य सहान्वयाः ॥ २६ ॥

'जैसे नदियाँ समुद्रमें मिलकर सब प्रकारसे अपना अस्तित्व खो बैठती हैं, उसी प्रकार वे पाण्डव आदि योद्धा मेरे पास आनेपर अपने कुल-परिवारसहित नष्ट हो जायँगे ।२६।

परा बुद्धिः परं तेजो वीर्यं च परमं मम ।
परा विद्या परो योगो मम तेभ्यो विशिष्यते ॥ २७ ॥

'मेरी बुद्धि उत्तम है, तेज उत्कृष्ट है, बल-पराक्रम महान् है, विद्या बड़ी है तथा उद्योग भी सबसे बढ़कर है। ये सारी वस्तुएँ पाण्डवोंकी अपेक्षा मुझमें अधिक हैं ॥ २७ ॥

पितामहश्च द्रोणश्च कृपः शल्यः शलस्तथा।
अस्त्रेषु यत् प्रजानन्ति सर्वं तन्मयि विद्यते ॥ २८ ॥

'पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, शल्य तथा शल—ये लोग अस्त्रविद्याके विषयमें जो कुछ जानते हैं, वह सारा ज्ञान मुझमें विद्यमान है' ॥ २८ ॥

इत्युक्ते संजयं भूयः पर्यपृच्छत भारतः।
ज्ञात्वा युयुत्सोः कार्याणि प्राप्तकालमरिंदम ॥ २९ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले जनमेजय! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर भरतनन्दन धृतराष्ट्रने युद्धकी इच्छा रखनेवाले दुर्योधनके अभिप्रायको समझकर पुनः संजयसे समयोचित प्रश्न किया ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि दुर्योधनवाक्ये एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

कर्णकी आत्मप्रशंसा, भीष्मके द्वारा उसपर आक्षेप, कर्णका सभा त्यागकर जाना और भीष्मका उसके प्रति पुनः आक्षेपयुक्त वचन कहना

वैशम्पायन उवाच

तथा तु पृच्छन्तमतीव पार्थं
वैचित्रवीर्यं तमचिन्तयित्वा।
उवाच कर्णो धृतराष्ट्रपुत्रं
प्रहर्षयन् संसदि कौरवाणाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विचित्रवीर्य-नन्दन धृतराष्ट्रको पहलेकी ही भाँति कुन्तीकुमार अर्जुनके विषयमें बारंबार प्रश्न करते देख उनकी कोई परवा न करके कर्णने कौरव-सभामें दुर्योधनको हर्षित करते हुए कहा—॥ १ ॥

मिथ्या प्रतिज्ञाय मया यदस्त्रं
रामात् कृतं ब्रह्ममयं पुरस्तात्।
विज्ञाय तेनास्मि तदैवमुक्त-
स्ते नान्तकाले प्रतिभास्यतीति ॥ २ ॥

'राजन्! मैंने पूर्वकालमें झूठे ही अपनेको ब्राह्मण बताकर परशुरामजीसे जब ब्रह्मास्त्रकी शिक्षा प्राप्त कर ली, तब उन्होंने मेरा यथार्थ परिचय जानकर मुझसे इस प्रकार कहा—'कर्ण! अन्त समय आनेपर तुम्हें इस ब्रह्मास्त्रका स्मरण नहीं रहेगा' ॥ २ ॥

महापराधे ह्यपि यन्न तेन
महर्षिणाहं गुरुणा च शप्तः।
शक्तः प्रदग्धुं ह्यपि तिग्मतेजाः
ससागरामप्यवनिं महर्षिः ॥ ३ ॥

'यद्यपि मेरे द्वारा उन महर्षिका महान् अपराध हुआ था, तथापि उन गुरुदेवने जो मुझे शाप नहीं दिया, यह उनका मेरे ऊपर बहुत बड़ा अनुग्रह है। अन्यथा वे प्रचण्ड तेजस्वी महामुनि समुद्रसहित सारी पृथ्वीको भी दग्ध कर सकते हैं। ३।

प्रसादितं ह्यस्य मया मनोऽभू-
च्छुश्रूषया स्वेन च पौरुषेण।
तदस्ति चास्त्रं मम सावशेषं
तस्मात् समर्थोऽस्मि ममैष भारः ॥ ४ ॥

'मैंने अपने पुरुषार्थ तथा सेवा-शुश्रूषासे उनके मनको प्रसन्न कर लिया था। वह ब्रह्मास्त्र अब भी मेरे पास है। मेरी आयु भी अभी शेष है; अतः मैं पाण्डवोंको जीतनेमें समर्थ हूँ। यह सारा भार मुझपर छोड़ दिया जाय ॥ ४ ॥

निमेषमात्रात् तमृषेः प्रसाद-
मवाप्य पाञ्चालकरूषमत्स्यान्।
निहत्य पार्थान् सह पुत्रपौत्रै-
र्लोकानहं शस्त्रजितान् प्रपत्स्ये ॥ ५ ॥

'महर्षि परशुरामका कृपाप्रसाद पाकर मैं पलक मारते-मारते पाञ्चाल, करूष तथा मत्स्यदेशीय योद्धाओं और कुन्तीकुमारोंको पुत्र-पौत्रोंसहित मारकर शस्त्रद्वारा जीते हुए पुण्यलोकोंमें जाऊँगा ॥ ५ ॥

पितामहस्तिष्ठतु ते समीपे
द्रोणश्च सर्वे च नरेन्द्रमुख्याः।
यथा प्रधानेन बलेन गत्वा
पार्थान् हनिष्यामि ममैष भारः ॥ ६ ॥

'पितामह भीष्म आपके ही पास रहें, आचार्य द्रोण तथा समस्त मुख्य-मुख्य भूपाल भी आपके ही समीप रहें। मैं अपनी प्रधान सेनाके साथ जाकर अकेले ही सब कुन्तीकुमारोंको मार डालूँगा। इसका सारा भार मुझपर रहा' ॥ ६ ॥

एवं ब्रुवन्तं तमुवाच भीष्मः
किं कत्थसे कालपरीतबुद्धे।

न कर्ण जानासि यथा प्रधाने
हते हताः स्युर्धृतराष्ट्रपुत्राः ॥ ७ ॥

कर्णको ऐसी बातें करते देख भीष्मजीने उससे कहा—'कर्ण ! क्यों अपनी वीरता की डींग हाँक रहा है ? जान पड़ता है, कालने तेरी बुद्धिको ग्रस लिया है । क्या तू नहीं जानता कि युद्धमें तुझ प्रधान वीरके मारे जानेपर सारे धृतराष्ट्रपुत्र ही मृतप्राय हो जायँगे ॥ ७ ॥

यत् खाण्डवं दाहयता कृतं हि
कृष्णद्वितीयेन धनंजयेन ।
श्रुत्वैव तत् कर्म नियन्तुमात्मा
युक्तस्त्वया वै सहबान्धवेन ॥ ८ ॥

'श्रीकृष्णसहित अर्जुनने खाण्डववनका दाह करते समय जो पराक्रम किया था, उसे सुनकर ही बान्धवोंसहित तुझे अपने मनपर काबू रखना उचित था ॥ ८ ॥

यां चापि शक्तिं त्रिदशाधिपस्ते
ददौ महात्मा भगवान् महेन्द्रः ।
भस्मीकृतां तां समरे विशीर्णां
चक्राहतां द्रक्ष्यसि केशवेन ॥ ९ ॥

'देवेश्वर महात्मा भगवान् महेन्द्रने तुझे जो शक्ति प्रदान की है, वह भगवान् केशवके चलाये हुए चक्रसे आहत हो समरभूमिमें छिन्न-भिन्न एवं दग्ध हो जायगी । इसे तू अपनी आँखों देख लेगा ॥ ९ ॥

यस्ते शरः सर्पमुखो विभाति
सदाग्र्यमाल्यैर्महितः प्रयत्नात् ।
स पाण्डुपुत्राभिहतः शरौघैः
सह त्वया यास्यति कर्ण नाशम् ॥ १० ॥

'तेरे पास जो सर्पमुख बाण प्रकाशित होता है और तू प्रयत्नपूर्वक सदा ही पुष्पमाला आदि श्रेष्ठ उपचारोंद्वारा जिसकी पूजा किया करता है, वह पाण्डुपुत्र अर्जुनके बाण-समूहोंसे छिन्न-भिन्न होकर तेरे साथ ही नष्ट हो जायगा ।१०।

बाणस्य भौमस्य च कर्ण हन्ता
किरीटिनं रक्षति वासुदेवः ।
यस्त्वादृशानां च वरीयसां च
हन्ता रिपूणां तुमुले प्रगाढे ॥ ११ ॥

'कर्ण ! बाणासुर और भौमासुरका वध करनेवाले वे वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण किरीटधारी अर्जुनकी रक्षा करते हैं, जो तेरे-जैसे तथा तुझसे भी प्रबल शत्रुओंका भयंकर संग्राममें विनाश कर सकते हैं' ॥ ११ ॥

कर्ण उवाच

असंशयं वृष्णिपतिर्यथोक्त-
स्तथा च भूयांश्च ततो महात्मा ।
अहं यदुक्तः परुषं तु किञ्चित्
पितामहस्तस्य फलं शृणोतु ॥ १२ ॥

कर्ण बोला— इसमें संदेह नहीं कि वृष्णिकुलके स्वामी महात्मा श्रीकृष्णका जैसा प्रभाव बताया गया है, वे वैसे ही हैं । बल्कि उससे भी बढ़कर हैं । परंतु मेरे प्रति जो किञ्चित् कटुवचनका प्रयोग किया गया है; उसका परिणाम



क्या होगा ? यह पितामह भीष्म मुझसे सुन लें ॥ १२ ॥

न्यस्यामि शस्त्राणि न जातु संख्ये
पितामहो द्रक्ष्यति मां सभायाम् ।
त्वयि प्रशान्ते तु मम प्रभावं
द्रक्ष्यन्ति सर्वे भुवि भूमिपालाः ॥ १३ ॥

मैं अपने अस्त्र-शस्त्र रख देता हूँ । अब कभी पितामह मुझे इस सभामें अथवा युद्धभूमिमें नहीं देखेंगे । भीष्म ! आपके शान्त हो जानेपर ही समस्त भूपाल रणभूमिमें मेरा प्रभाव देखेंगे ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा स महाधनुष्मान्
हित्वा सभां स्वं भवनं जगाम ।
भीष्मस्तु दुर्योधनमेव राजन्
मध्ये कुरूणां प्रहसन्नुवाच ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर महाधनुर्धर कर्ण सभा त्यागकर अपने घर चला गया । उस समय भीष्मने कौरवसभामें उसकी हँसी उड़ाते हुए दुर्योधनसे कहा—॥ १४ ॥

सत्यप्रतिज्ञः किल सूतपुत्र-
स्तथा स भारं विषहेत कस्मात्।
व्यूहं प्रतिव्यूह्य शिरांसि भित्त्वा
लोकक्षयं पश्यत भीमसेनात्॥ १५॥

'सूतपुत्र कर्ण कैसा सत्यप्रतिज्ञ निकला (पहले पाण्डवोंको जीतनेकी प्रतिज्ञा करके अब युद्धसे मुँह मोड़कर भाग गया), भला वैसा महान् भार वह कैसे सँभाल सकता था ? अब तुमलोग पाण्डवसेनाके व्यूहका सामना करनेके लिये अपनी सेनाका भी व्यूह बनाकर युद्ध करो और परस्पर एक दूसरेके मस्तक काटकर भीमसेनके हाथों सारे संसारका संहार देखो ॥ १५ ॥

आवन्त्यकालिङ्गजयद्रथेषु
चेदिध्वजे तिष्ठति बाह्लिके च।
अहं हनिष्यामि सदा परेषां
सहस्रशश्चायुतशश्च योधान्॥ १६॥

(कर्ण कहता था)—अवन्तीनरेश, कलिङ्गराज, जयद्रथ, चेदिश्रेष्ठ वीर तथा बाह्लिकके रहते हुए भी मैं सदा अकेला ही शत्रुओंके सहस्र-सहस्र एवं अयुत-अयुत योद्धाओंका संहार कर डालूँगा ॥ १६ ॥

यदैव रामे भगवत्यनिन्द्ये
ब्रह्म ब्रुवाणः कृतवांस्तदस्त्रम्।
तदैव धर्मश्च तपश्च नष्टं
वैकर्तनस्याधमपूरुषस्य ॥ १७॥

'जिस समय अनिन्दनीय भगवान् परशुरामजीके समीप कर्णने अपनेको ब्राह्मण बताकर ब्रह्मास्त्रकी शिक्षा ली, उसी समय उस नराधम सूतपुत्रके धर्म और तपका नाश हो गया' ॥ १७ ॥

तथोक्तवाक्ये नृपतीन्द्र भीष्मे
निक्षिप्य शस्त्राणि गते च कर्णे।
वैचित्रवीर्यस्य सुतोऽल्पबुद्धि-
र्दुर्योधनः शान्तनवं बभाषे॥ १८॥

जनमेजय ! जब भीष्मजीने ऐसी बात कही और कर्ण हथियार फेंककर चला गया, उस समय मन्दबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने शान्तनुनन्दन भीष्मसे इस प्रकार कहा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि कर्णभीष्मवाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें कर्ण और भीष्मके वचन विषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनद्वारा अपने पक्षकी प्रबलताका वर्णन करना और विदुरका दमकी महिमा बताना

दुर्योधन उवाच

सदृशानां मनुष्येषु सर्वेषां तुल्यजन्मनाम्।
कथमेकान्ततस्तेषां पार्थानां मन्यसे जयम्॥ १ ॥

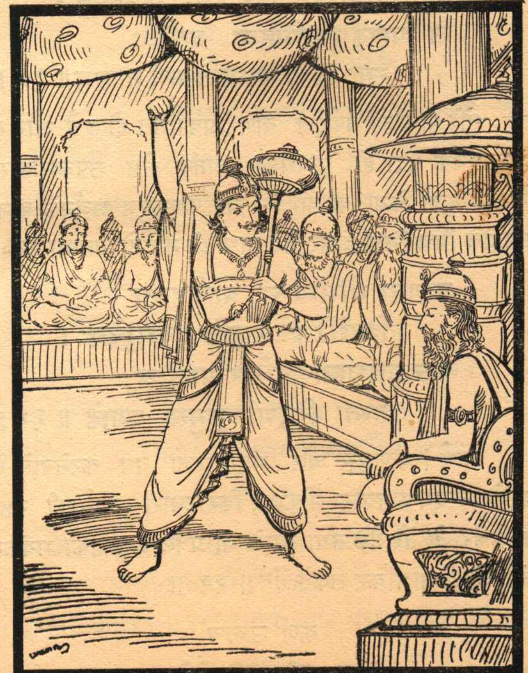
दुर्योधन बोला—पितामह ! मनुष्योंमें हम और पाण्डव शिक्षाकी दृष्टिसे समान हैं, हमारा जन्म भी एक ही कुलमें हुआ है; फिर आप यह कैसे मानते हैं कि युद्धमें एकमात्र कुन्तीकुमारोंकी ही विजय होगी ॥ १ ॥

वयं च तेऽपि तुल्या वै वीर्येण च पराक्रमैः।
समेन वयसा चैव प्रातिभेन श्रुतेन च॥ २ ॥

बल, पराक्रम, समवयस्कता, प्रतिभा और शास्त्रज्ञान—इन सभी दृष्टियोंसे हमलोग और पाण्डव समान ही हैं ॥२॥

अस्त्रेण योधयुग्या च शीघ्रत्वे कौशले तथा।
सर्वे स्म समजातीयाः सर्वे मानुषयोनयः॥ ३ ॥

अस्त्र-बल, योद्धाओंके संग्रह, हाथोंकी फुर्ती तथा युद्ध-कौशलमें भी हम और वे एक-से ही हैं, सभी समान जातिके हैं और सबके सब मनुष्ययोनिमें ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ३ ॥



पितामह विजानीषे पार्थेषु विजयं कथम्।

नाहं भवति न द्रोणे न कृपे न च बाह्लिके ॥ ४ ॥
अन्येषु च नरेन्द्रेषु पराक्रम्य समारभे ।

दादाजी ! ऐसी दशामें भी आप कैसे जानते हैं कि विजय कुन्तीपुत्रोंकी ही होगी । मैं आप, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, बाह्लिक तथा अन्य राजाओंके पराक्रमका भरोसा करके युद्धका आरम्भ नहीं कर रहा हूँ ॥ ४½ ॥

अहं वैकर्तनः कर्णो भ्राता दुःशासनश्च मे ॥ ५ ॥
पाण्डवान् समरे पञ्च हनिष्यामः शितैः शरैः ।

मैं, विकर्तनपुत्र कर्ण तथा मेरा भाई दुःशासन—हम तीन ही मिलकर युद्धभूमिमें पाँचों पाण्डवोंको तीक्ष्ण बाणोंसे मार डालेंगे ॥ ५½ ॥

ततो राजन् महायज्ञैर्विविधैर्भूरिदक्षिणैः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणांस्तर्पयिष्यामि गोभिरश्वैर्धनेन च ।

राजन् ! तदनन्तर पर्याप्त दक्षिणावाले विविध महायज्ञोंका अनुष्ठान करके गायें, घोड़े और धन दानमें देकर ब्राह्मणोंको तृप्त करूँगा ॥ ६½ ॥

यदा परिकरिष्यन्ति ऐणेयानिव तन्तुना ।
अतरित्रानिव जले बाहुभिर्मामका रणे ॥ ७ ॥
पश्यन्तस्ते परांस्तत्र रथनागसमाकुलान् ।
तदा दर्पं विमोक्ष्यन्ति पाण्डवाः स च केशवः ॥ ८ ॥

जैसे व्याध हरिणके बच्चोंको जाल या फंदेमें फँसाकर खींचते हैं और जैसे जलका प्रवाह कर्णधाररहित नौकारोहियोंको भँवरमें डुबो देता है, उसी प्रकार जब मेरे सैनिक अपने बाहुबलसे पाण्डवोंको पीड़ित करेंगे, उस समय रथ और हाथीसवारोंसे भरी हुई मेरी विशाल वाहिनीकी ओर देखते हुए वे पाण्डव और वह श्रीकृष्ण सब अपना अहंकार त्याग देंगे ॥ ७-८ ॥

विदुर उवाच

इह निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥

विदुरने कहा—सिद्धान्तके जाननेवाले वृद्ध पुरुष कहते हैं कि इस संसारमें दम ही कल्याणका परम साधन है । ब्राह्मणके लिये तो विशेषरूपसे है । वही सनातन-धर्म है ॥ ९ ॥

तस्य दानं क्षमा सिद्धिर्यथावदुपपद्यते ।
दमो दानं तपो ज्ञानमधीतं चानुवर्तते ॥ १० ॥

जो दमरूपी गुणसे युक्त है, उसीको दान, क्षमा और सिद्धिका यथार्थ लाभ प्राप्त होता है; क्योंकि दम ही दान, तपस्या, ज्ञान और स्वाध्यायका सम्पादन करता है ॥ १० ॥

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दम उत्तमम् ।
विपाप्मा वृद्धतेजास्तु पुरुषो विन्दते महत् ॥ ११ ॥

दम तेजकी वृद्धि करता है । दम पवित्र एवं उत्तम साधन है । दमसे निष्पाप एवं बढ़े हुए तेजसे सम्पन्न पुरुष परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

क्रव्याद्भ्य इव भूतानामदान्तेभ्यः सदा भयम् ।
येषां च प्रतिषेधार्थं क्षत्रं सृष्टं स्वयम्भुवा ॥ १२ ॥

जैसे मांसभोजी हिंसक पशुओंसे सब जीव डरते रहते हैं, उसी प्रकार अदान्त (असंयमी) पुरुषोंसे सभी प्राणियोंको सदा भय बना रहता है, जिनको हिंसा आदि दुष्कर्मोंसे रोकनेके लिये ब्रह्माजीने क्षत्रिय-जातिकी सृष्टि की है ॥ १२ ॥

आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् ।
तस्य लिङ्गं प्रवक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥ १३ ॥

चारों आश्रमोंमें दमको ही उत्तम व्रत बताया गया है । यह दम जिन पुरुषोंके अभ्यासमें आकर उनके अभ्युदयका कारण बन जाता है, उनमें प्रकट होनेवाले चिह्नोंका मैं वर्णन करता हूँ ॥ १३ ॥

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो धैर्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १४ ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः श्रद्दधानता ।
एतानि यस्य राजेन्द्र स दान्तः पुरुषः स्मृतः ॥ १५ ॥

राजेन्द्र ! जिस पुरुषमें क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समदर्शिता, सत्य, सरलता, इन्द्रियसंयम, धीरता, मृदुता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, अक्रोध, संतोष और श्रद्धा—ये गुण विद्यमान हैं, वह पुरुष दान्त (इन्द्रियविजयी) माना गया है ॥ १४-१५ ॥

कामो लोभश्च दर्पश्च मन्युर्निद्रा विकत्थनम् ।
मान ईर्ष्या च शोकश्च नैतद् दान्तो निषेवते ।
अजिह्ममशठं शुद्धमेतद् दान्तस्य लक्षणम् ॥ १६ ॥

दमनशील पुरुष काम, लोभ, अभिमान, क्रोध, निद्रा, आत्मप्रशंसा, मान, ईर्ष्या तथा शोक–इन दुर्गुणोंको अपने पास नहीं फटकने देता । कुटिलता और शठताका अभाव तथा आत्मशुद्धि यह दमयुक्त पुरुषका लक्षण है ॥ १६ ॥

अलोलुपस्तथाल्पेप्सुः कामानामविचिन्तिता ।
समुद्रकल्पः पुरुषः स दान्तः परिकीर्तितः ॥ १७ ॥

जो निर्लोभ, कमसे कम चाहनेवाला, भोगोंके चिन्तनसे दूर रहनेवाला तथा समुद्रके समान गम्भीर है, उस पुरुषको दान्त (इन्द्रियसंयमी) कहा गया है ॥ १७ ॥

सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविद् बुधः ।
प्राप्येह लोके सम्मानं सुगतिं प्रेत्य गच्छति ॥ १८ ॥

जो सदाचारी, शीलवान्, प्रसन्नचित्त तथा आत्मज्ञानी विद्वान् है वह इस जगत्में सम्मान पाकर मृत्युके पश्चात् उत्तम गतिका भागी होता है ॥ १८ ॥

अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः ।
स वै परिणतप्रज्ञः प्रख्यातो मनुजोत्तमः ॥ १९ ॥

जिसे समस्त प्राणियोंसे निर्भयता प्राप्त हो गयी हो तथा जिससे सभी प्राणियोंका भय दूर हो गया हो, वह परिपक्व बुद्धिवाला पुरुष मनुष्योंमें श्रेष्ठ कहा गया है ॥ १९ ॥

सर्वभूतहितो मैत्रस्तस्मान्नोद्विजते जनः ।
समुद्र इव गम्भीरः प्रज्ञातृप्तः प्रशाम्यति ॥ २० ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंका हित चाहनेवाला और सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला है, उससे किसी भी पुरुषको उद्वेग नहीं प्राप्त होता है। जो समुद्रके समान गम्भीर एवं उत्कृष्ट ज्ञानरूपी अमृतसे तृप्त है, वही परम शान्तिका भागी होता है ॥ २० ॥

कर्मणाऽऽचरितं पूर्वं सद्भिराचरितं च यत् ।
तदेवास्थाय मोदन्ते दान्ताः शमपरायणाः ॥ २१ ॥

जो कर्तव्य कर्मोंद्वारा आचरित है तथा पहलेके साधुपुरुषोंके द्वारा जिसका आचरण किया गया है, उसे अपनाकर शम-दमसे सम्पन्न पुरुष सदा आनन्दमग्न रहते हैं ॥ २१ ॥

नैष्कर्म्यं वा समास्थाय ज्ञानतृप्तो जितेन्द्रियः ।
कालाकाङ्क्षी चरँल्लोके ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २२ ॥

अथवा जो ज्ञानसे तृप्त जितेन्द्रिय पुरुष नैष्कर्म्यका आश्रय लेकर कालकी प्रतीक्षा करता हुआ अनासक्तभावसे लोकमें विचरता रहता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है ॥ २२ ॥

शकुनीनामिवाकाशे पदं नैवोपलभ्यते ।
एवं प्रज्ञानतृप्तस्य मुनेर्वर्त्म न दृश्यते ॥ २३ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियोंके चरणचिह्न नहीं दिखायी देते हैं, वैसे ही ज्ञानानन्दसे तृप्त मुनिका मार्ग दृष्टिगोचर नहीं होता है अर्थात् समझमें नहीं आता है ॥ २३ ॥

उत्सृज्यैव गृहान् यस्तु मोक्षमेवाभिमन्यते ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य कल्पन्ते शाश्वता दिवि ॥ २४ ॥

जो गृहस्थाश्रमको त्यागकर मोक्षको ही आदर देता है, उसके लिये द्युलोकमें तेजोमय सनातन स्थानकी प्राप्ति होती है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें विदुरवाक्यसम्बन्धी तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

विदुरका कौटुम्बिक कलहसे हानि बताते हुए धृतराष्ट्रको संधिकी सलाह देना

विदुर उवाच

शकुनीनामिहार्थाय पाशं भूमावयोजयत् ।
कश्चिच्छाकुनिकस्तात पूर्वेषामिति शुश्रुम ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—तात ! हमने पूर्वपुरुषोंके मुखसे सुन रक्खा है कि किसी समय एक चिड़ीमारने चिड़ियोंको फँसानेके लिये पृथ्वीपर एक जाल फैलाया ॥ १ ॥

तस्मिन् द्वौ शकुनौ बद्धौ युगपत् सहचारिणौ ।
तावुपादाय तं पाशं जग्मतुः खचरावुभौ ॥ २ ॥

उस जालमें दो ऐसे पक्षी फँस गये, जो सदा साथ-साथ उड़ने और विचरनेवाले थे। वे दोनों पक्षी उस समय उस जालको लेकर आकाशमें उड़ चले ॥ २ ॥

तौ विहायसमाक्रान्तौ दृष्ट्वा शाकुनिकस्तदा ।
अन्वधावदनिर्विण्णो येन येन स गच्छतः ॥ ३ ॥

चिड़ीमार उन दोनोंको आकाशमें उड़ते देखकर भी खिन्न या हताश नहीं हुआ। वे जिधर-जिधर गये, उधर-उधर ही वह उनके पीछे दौड़ता रहा ॥ ३ ॥

तथा तमनुधावन्तं मृगयुं शकुनार्थिनम् ।
आश्रमस्थो मुनिः कश्चिद् ददर्शाथ कृताह्निकः ॥ ४ ॥

उन दिनों उस वनमें कोई मुनि रहते थे, जो उस समय संध्या-वन्दन आदि नित्यकर्म करके आश्रममें ही बैठे हुए थे। उन्होंने पक्षियोंको पकड़नेके लिये उनका पीछा करते हुए उस व्याधको देखा ॥ ४ ॥

तावन्तरिक्षगौ शीघ्रमनुयान्तं महीचरम् ।
श्लोकेनानेन कौरव्य पप्रच्छ स मुनिस्तदा ॥ ५ ॥

कुरुनन्दन ! उन आकाशचारी पक्षियोंके पीछे-पीछे भूमिपर पैदल दौड़नेवाले उस व्याधसे मुनिने निम्नाङ्कित श्लोकके अनुसार प्रश्न किया— ॥ ५ ॥

विचित्रमिदमाश्चर्यं मृगहन् प्रतिभाति मे ।
प्लवमानौ हि खचरौ पदातिरनुधावसि ॥ ६ ॥

'अरे व्याध ! मुझे यह बात बड़ी विचित्र और आश्चर्यजनक जान पड़ती है कि तू आकाशमें उड़ते हुए इन दोनों पक्षियोंके पीछे पृथ्वीपर पैदल दौड़ रहा है' ॥ ६ ॥

शाकुनिक उवाच

पाशमेकमुभावेतौ सहितौ हरतो मम ।
यत्र वै विवदिष्येते तत्र मे वशमेष्यतः ॥ ७ ॥

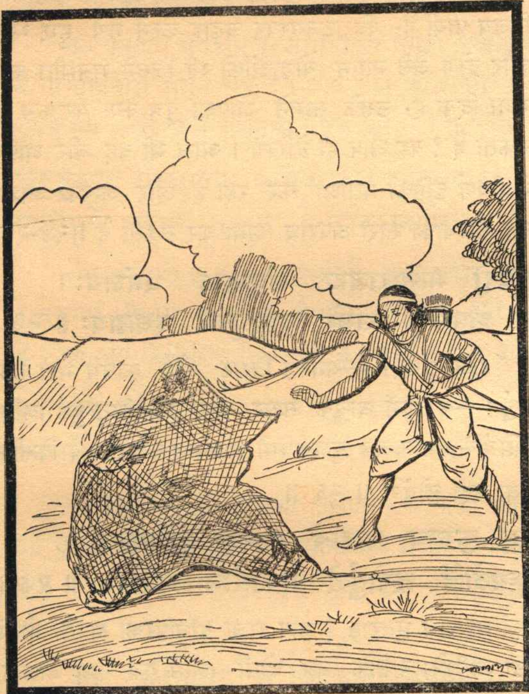
व्याध बोला—मुने ! ये दोनों पक्षी आपसमें मिल

गये हैं, अतः मेरे एकमात्र जालको लिये जा रहे हैं । अब ये जहाँ-कहीं एक दूसरेसे झगड़ेंगे, वहीं मेरे वशमें आ जायँगे॥

विदुर उवाच

तौ विवादमनुप्राप्तौ शकुनौ मृत्युसंधितौ ।
विगृह्य च सुदुर्बुद्धी पृथिव्यां संनिपेततुः ॥ ८ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर कुछ ही देरमें कालके वशीभूत हुए वे दोनों दुर्बुद्धि पक्षी आपसमें झगड़ने लगे और लड़ते-लड़ते पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ८ ॥



तौ युध्यमानौ संरब्धौ मृत्युपाशवशानुगौ ।
उपसृत्यापरिज्ञातो जग्राह मृगहा तदा ॥ ९ ॥

जब मौतके फंदेमें फँसे हुए वे पक्षी अत्यन्त कुपित होकर एक दूसरेसे लड़ रहे थे, उसी समय व्याधने चुपचाप उनके पास आकर उन दोनोंको पकड़ लिया ॥ ९ ॥

एवं ये ज्ञातयोऽर्थेषु मिथो गच्छन्ति विग्रहम् ।
तेऽमित्रवशमायान्ति शकुनाविव विग्रहात् ॥ १० ॥

इसी प्रकार जो कुटुम्बीजन धन-सम्पत्तिके लिये आपसमें कलह करते हैं, वे युद्ध करके उन्हीं दोनों पक्षियोंकी भाँति शत्रुओंके वशमें पड़ जाते हैं ॥ १० ॥

सम्भोजनं संकथनं सम्प्रश्नोऽथ समागमः ।
एतानि ज्ञातिकार्याणि न विरोधः कदाचन ॥ ११ ॥

साथ बैठकर भोजन करना, आपसमें प्रेमसे वार्तालाप करना, एक दूसरेके सुख-दुःखको पूछना और सदा मिलते-जुलते रहना—ये ही भाई-बन्धुओंके काम हैं, परस्पर विरोध करना कदापि उचित नहीं है ॥ ११ ॥

ये स्म काले सुमनसः सर्वे वृद्धानुपासते ।
सिंहगुप्तमिवारण्यमप्रधृष्या भवन्ति ते ॥ १२ ॥

जो शुद्ध हृदयवाले मनुष्य समय-समयपर बड़े-बूढ़ोंकी सेवा एवं सङ्ग करते रहते हैं, वे सिंहसे सुरक्षित वनके समान दूसरोंके लिये दुर्धर्ष हो जाते हैं (शत्रु उनके पास आनेका साहस नहीं करते हैं) ॥ १२ ॥

येऽर्थं संततमासाद्य दीना इव समासते ।
श्रियं ते सम्प्रयच्छन्ति द्विषद्भ्यो भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो धनको पाकर भी सदा दीनोंके समान तृष्णासे पीड़ित रहते हैं, वे (आपसमें कलह करके) अपनी सम्पत्ति शत्रुओंको दे डालते हैं ॥ १३ ॥

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च ।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥ १४ ॥

भरतकुलभूषण धृतराष्ट्र ! जैसे जलते हुए काष्ठ अलग-अलग कर दिये जानेपर जल नहीं पाते, केवल धुआँ देते हैं और परस्पर मिल जानेपर प्रज्वलित हो उठते हैं, उसी प्रकार कुटुम्बीजन आपसी फूटके कारण अलग-अलग रहनेपर अशक्त हो जाते हैं तथा परस्पर संगठित होनेपर बलवान् एवं तेजस्वी होते हैं ॥ १४ ॥

इदमन्यत् प्रवक्ष्यामि यथा दृष्टं गिरौ मया ।
श्रुत्वा तदपि कौरव्य यथा श्रेयस्तथा कुरु ॥ १५ ॥

कौरवनन्दन ! पूर्वकालमें किसी पर्वतपर मैंने जैसा देखा था, उसके अनुसार यह एक दूसरी बात बता रहा हूँ । इसे भी सुनकर आपको जिसमें अपनी भलाई जान पड़े, वही कीजिये ॥ १५ ॥

वयं किरातैः सहिता गच्छामो गिरिमुत्तरम् ।
ब्राह्मणैर्देवकल्पैश्च विद्याजम्भकवार्तिकैः ॥ १६ ॥

एक समयकी बात है, हम बहुत-से भीलों और देवोपम ब्राह्मणोंके साथ उत्तर दिशामें गन्धमादन पर्वतपर गये थे । हमारे साथ जो ब्राह्मण थे, उन्हें मन्त्र-यन्त्रादिरूप विद्या और ओषधियोंके साधन आदिकी बातें बहुत प्रिय थीं ॥ १६ ॥

कुञ्जभूतं गिरिं सर्वमभितो गन्धमादनम् ।
दीप्यमानौषधिगणं सिद्धगन्धर्वसेवितम् ॥ १७ ॥

समस्त गन्धमादन पर्वत सब ओरसे कुञ्ज-सा जान पड़ता था । वहाँ दिव्य ओषधियाँ प्रकाशित हो रही थीं । सिद्ध और गन्धर्व उस पर्वतपर निवास करते थे ॥ १७ ॥

तत्रापश्याम वै सर्वे मधु पीतकमाक्षिकम् ।
मरुप्रपाते विषमे निविष्टं कुम्भसम्मितम् ॥ १८ ॥

वहाँ हम सब लोगोंने देखा, पर्वतकी एक दुर्गम गुफामें जहाँसे कोई कूल-किनारा न होनेके कारण गिरनेकी ही अधिक

सम्भावना रहती है, एक मधुकोष है। वह मक्खियोंका तैयार किया हुआ नहीं था। उसका रंग सुवर्णके समान पीला था और वह देखनेमें घड़ेके समान जान पड़ता था ॥ १८ ॥

आशीविषै रक्ष्यमाणं कुबेरदयितं भृशम्।
यत् प्राप्य पुरुषो मर्त्योऽप्यमरत्वं नियच्छति ॥ १९ ॥
अचक्षुर्लभते चक्षुर्वृद्धो भवति वै युवा।
इति ते कथयन्ति स्म ब्राह्मणा जम्भसाधकाः ॥ २० ॥

भयंकर विषधर सर्प उस मधुकी रक्षा करते थे। कुबेरको वह मधु अत्यन्त प्रिय था। हमारे साथी औषध-साधक ब्राह्मण-लोग यह बता रहे थे कि इस मधुको पाकर मरणधर्मा मनुष्य भी अमरत्व प्राप्त कर लेता है। इसको पीनेसे अंधेको दृष्टि मिल जाती है और बूढ़ा भी जवान हो जाता है ॥

ततः किरातास्तद् दृष्ट्वा प्रार्थयन्तो महीपते।
विनेशुर्विषमे तस्मिन् ससर्पे गिरिगह्वरे ॥ २१ ॥

महाराज! उस समय उस मधुका अद्भुत गुण सुनकर और उसे प्रत्यक्ष देखकर भीलोंने उसे पानेकी चेष्टा की; परंतु सर्पोंसे भरी हुई उस दुर्गम पर्वतगुहामें जाकर वे सब-के सब नष्ट हो गये ॥ २१ ॥

तथैव तव पुत्रोऽयं पृथिवीमेक इच्छति।
मधु पश्यति सम्मोहात् प्रपातं नानुपश्यति ॥ २२ ॥

इसी प्रकार आपका यह पुत्र दुर्योधन अकेला ही सारी पृथ्वीका राज्य भोगना चाहता है। यह मोहवश केवल मधुको ही देखता है, भावी पतन या विनाशकी ओर इसकी दृष्टि नहीं जाती है ॥ २२ ॥

दुर्योधनो योद्धुमनाः समरे सव्यसाचिना।
न च पश्यामि तेजोऽस्य विक्रमं वा तथाविधम् ॥ २३ ॥

दुर्योधन समरभूमिमें सव्यसाची अर्जुनके साथ युद्ध करने-की बात सोचता है, परंतु मैं इसके भीतर अर्जुनके समान तेज या पराक्रम नहीं देखता ॥ २३ ॥

एकेन रथमास्थाय पृथिवी येन निर्जिता।
भीष्मद्रोणप्रभृतयः संत्रस्ताः साधुयायिनः ॥ २४ ॥
विराटनगरे भग्नाः किं तत्र तव दृश्यताम्।
प्रतीक्षमाणो यो वीरः क्षमते वीक्षितं तव ॥ २५ ॥

जिस वीरने अकेले ही रथपर बैठकर सारी पृथ्वीपर विजय पायी है, विराटनगरपर चढ़ाई करने गये हुए भीष्म और द्रोण जैसे महान् योद्धाओंको भी जिसने भयभीत करके भगा दिया है, उसके सामने आपका पुत्र क्या पराक्रम कर सकता है? यह आप ही देखिये। आज भी वह वीर आपकी मैत्रीपूर्ण दृष्टिकी प्रतीक्षा कर रहा है और आपकी आज्ञासे वह कौरवोंका सारा अपराध क्षमा कर सकता है ॥ २४-२५ ॥

द्रुपदो मत्स्यराजश्च संक्रुद्धश्च धनंजयः।
न शेषयेयुः समरे वायुयुक्ता इवाग्नयः ॥ २६ ॥

राजा द्रुपद, मत्स्यनरेश विराट और क्रोधमें भरा हुआ अर्जुन—ये तीनों वायुका सहारा पाकर प्रज्वलित हुई त्रिविध अग्नियोंके समान जब युद्धभूमिमें आक्रमण करेंगे, तब किसीको जीता नहीं छोड़ेंगे ॥ २६ ॥

अङ्के कुरुष्व राजानं धृतराष्ट्र युधिष्ठिरम्।
युध्यतोर्हि द्वयोर्युद्धे नैकान्तेन भवेज्जयः ॥ २७ ॥

महाराज धृतराष्ट्र! आप राजा युधिष्ठिरको अपनी गोदमें बैठा लीजिये; क्योंकि जब दोनों पक्षोंमें युद्ध छिड़ जायगा, तब विजय किसकी होगी, यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि विदुरवाक्ये चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें विदुरवाक्यविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥



पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका दुर्योधनको समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन विजानीहि यत् त्वां वक्ष्यामि पुत्रक।
उत्पथं मन्यसे मार्गमनभिज्ञ इवाध्वगः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा दुर्योधन! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसपर ध्यान दो। तुम इस समय अनजान बटोहीके समान कुमार्गको भी सुमार्ग समझ रहे हो ॥ १ ॥

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां यत् तेजः प्रजिहीर्षसि।
पञ्चानामिव भूतानां महतां लोकधारिणाम् ॥ २ ॥

यही कारण है कि तुम सम्पूर्ण लोकोंके आधारस्वरूप पाँच महाभूतोंके समान पाँचों पाण्डवोंके तेजका अपहरण करनेकी इच्छा कर रहे हो ॥ २ ॥

युधिष्ठिरं हि कौन्तेयं परं धर्ममिहास्थितम्।
परां गतिमसम्प्रेत्य न त्वं जेतुमिहार्हसि ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर यहाँ उत्तम धर्मका आश्रय लेकर रहते हैं। तुम मृत्युको प्राप्त हुए बिना उन्हें जीत लोगे, यह कदापि सम्भव नहीं है ॥ ३ ॥

भीमसेनं च कौन्तेयं यस्य नास्ति समो बले।
रणान्तकं तर्जयसे महावातमिव द्रुमः ॥ ४ ॥

जैसे वृक्ष प्रचण्ड आँधीको डाँट बतावे, उसी प्रकार तुम समराङ्गणमें कालके समान विचरनेवाले कुन्तीकुमार भीमसेनको जिसके समान बलवान् इस भूतलपर दूसरा कोई नहीं है, डराने-धमकानेका साहस करते हो ॥ ४ ॥

सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं मेरुं शिखरिणामिव।
युधि गाण्डीवधन्वानं को नु युध्येत बुद्धिमान् ॥ ५ ॥

जैसे पर्वतोंमें मेरु श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त शस्त्रधारियोंमें गाण्डीवधारी अर्जुन श्रेष्ठ है। भला कौन बुद्धिमान् मनुष्य रणभूमिमें उसके साथ जूझनेका साहस करेगा ? ॥ ५ ॥

धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः कमिवाद्य न शातयेत्।
शत्रुमध्ये शरान् मुञ्चन् देवराडशनीमिव ॥ ६ ॥

जैसे देवराज इन्द्र वज्र छोड़ते हैं, उसी प्रकार पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न शत्रुओंकी सेनापर बाणोंकी वर्षा करता है। वह अब किसे छिन्न-भिन्न नहीं कर डालेगा ? ॥ ६ ॥

सात्यकिश्चापि दुर्धर्षः सम्मतोऽन्धकवृष्णिषु।
ध्वंसयिष्यति ते सेनां पाण्डवेयहिते रतः ॥ ७ ॥

अन्धक और वृष्णिवंशका सम्माननीय योद्धा सात्यकि भी दुर्धर्ष वीर है। वह सदा पाण्डवोंके हितमें तत्पर रहता है। (युद्ध छिड़नेपर) वह तुम्हारी समस्त सेनाका संहार कर डालेगा ॥ ७ ॥

यः पुनः प्रतिमानेन त्रीँल्लोकानतिरिच्यते।
तं कृष्णं पुण्डरीकाक्षं को नु युद्ध्येत बुद्धिमान्॥ ८ ॥

जो तुलनामें तीनों लोकोंसे भी बढ़कर हैं, उन कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णके साथ कौन समझदार मनुष्य युद्ध करेगा ?॥

एकतो ह्यस्य दाराश्च ज्ञातयश्च सबान्धवाः।
आत्मा च पृथिवी चेयमेकतश्च धनंजयः ॥ ९ ॥

श्रीकृष्णके लिये एक ओर स्त्री, कुटुम्बीजन, भाई-बन्धु, अपना शरीर और यह सारा भूमण्डल है, तो दूसरी ओर अकेला अर्जुन है (अर्थात् वे अर्जुनके लिये इन सबका त्याग कर सकते हैं) ॥ ९ ॥

वासुदेवोऽपि दुर्धर्षो यतात्मा यत्र पाण्डवः।
अविषह्यं पृथिव्यापि तद् बलं यत्र केशवः ॥ १० ॥

जहाँ अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला दुर्धर्ष वीर पाण्डुपुत्र अर्जुन है, वहीं वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण भी रहते हैं और जिस सेनामें साक्षात् श्रीकृष्ण विराज रहे हों, उसका वेग समस्त भूमण्डलके लिये भी असह्य हो जाता है ॥ १० ॥

तिष्ठ तात सतां वाक्ये सुहृदामर्थवादिनाम्।
वृद्धं शान्तनवं भीष्मं तितिक्षस्व पितामहम् ॥ ११ ॥

तात ! तुम सत्पुरुषों तथा तुम्हारे हितकी बात बतानेवाले सुहृदोंके कथनानुसार कार्य करो। वृद्ध शान्तनुनन्दन भीष्म तुम्हारे पितामह हैं। तुम उनकी प्रत्येक बात सहन करो ॥

मां च ब्रुवाणं शुश्रूष कुरूणामर्थदर्शिनम्।
द्रोणं कृपं विकर्णं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥ १२ ॥

एते ह्यपि यथैवाहं मन्तुमर्हसि तांस्तथा।
सर्वे धर्मविदो ह्येते तुल्यस्नेहाश्च भारत ॥ १३ ॥

मैं भी कौरवोंके हितकी ही बात सोचता हूँ; अतः मेरी भी सुनो। आचार्य द्रोण, कृप, विकर्ण और महाराज बाह्लीक—ये भी तुम्हारे हितैषी ही हैं; अतः तुम्हें मेरे ही समान इनका भी समादर करना चाहिये। भरतनन्दन ! ये सब लोग धर्मके ज्ञाता हैं और दोनों पक्षके लोगोंपर समानभावसे स्नेह रखते हैं ॥ १२-१३ ॥

यत् तद् विराटनगरे सह भ्रातृभिरग्रतः।
उत्सृज्य गाः सुसंत्रस्तं बलं ते समशीर्यत ॥ १४ ॥
यच्चैव नगरे तस्मिञ्छ्रूयते महदद्भुतम्।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १५ ॥

विराटनगरमें तुम्हारे भाइयोंसहित जो सारी सेना युद्धके लिये गयी थी, वह वहाँकी समस्त गौओंको छोड़कर अत्यन्त भयभीत हो तुम्हारे सामने ही भाग खड़ी हुई थी। उस नगरमें जो एक (अर्जुन) का बहुतोंके साथ अत्यन्त अद्भुत युद्ध हुआ सुना जाता है; वह एक ही दृष्टान्त (उसकी प्रबलता और अजेयताके लिये) पर्याप्त है ॥ १४-१५ ॥

अर्जुनस्तत् तथाकार्षीत् किं पुनः सर्व एव ते।
स भ्रातॄनभिजानीहि वृत्त्या तं प्रतिपादय ॥ १६ ॥

देखो, जब अकेले अर्जुनने इतना अद्भुत कार्य कर डाला, तब वे सब भाई मिलकर क्या नहीं कर सकते ? अतः तुम पाण्डवोंको अपना भाई ही समझो और उनकी वृत्ति (स्वत्व) उन्हें देकर उनके साथ भ्रातृत्व बढ़ाओ ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको अर्जुनका संदेश सुनाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रः सुयोधनम्।
पुनरेव महाभागः संजयं पर्यपृच्छत॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनसे ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् महाभाग धृतराष्ट्रने संजयसे पुनः प्रश्न किया—॥ १॥

ब्रूहि संजय यच्छेषं वासुदेवादनन्तरम्।
यदर्जुन उवाच त्वां परं कौतूहलं हि मे॥ २॥

'संजय ! बताओ, भगवान् श्रीकृष्णके पश्चात् अर्जुनने जो अन्तिम संदेश दिया था, उसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है' ॥ २॥

संजय उवाच

वासुदेववचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
उवाच काले दुर्धर्षो वासुदेवस्य शृण्वतः॥ ३॥

संजयने कहा—महाराज ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी बात सुनकर दुर्धर्ष वीर कुन्तीकुमार अर्जुनने उनके सुनते-सुनते यह समयोचित बात कही—॥ ३॥

पितामहं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च संजय।
द्रोणं कृपं च कर्णं च महाराजं च बाह्लिकम्॥ ४॥
द्रौणिं च सोमदत्तं च शकुनिं चापि सौबलम्।
दुःशासनं शलं चैव पुरुमित्रं विविंशतिम्॥ ५॥
विकर्णं चित्रसेनं च जयत्सेनं च पार्थिवम्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दुर्मुखं चापि कौरवम्॥ ६॥
सैन्धवं दुःसहं चैव भूरिश्रवसमेव च।
भगदत्तं च राजानं जलसन्धं च पार्थिवम्॥ ७॥
ये चाप्यन्ये पार्थिवास्तत्र योद्धुं
समागताः कौरवाणां प्रियार्थम्।
मुमूर्षवः पाण्डवाग्नौ प्रदीप्ते
समानीता धार्तराष्ट्रेण होतुम्॥ ८॥
यथान्यायं कौशलं वन्दनं च
समागता मद्वचनेन वाच्याः।
इदं ब्रूयाः संजय राजमध्ये
सुयोधनं पापकृतां प्रधानम्॥ ९॥
अमर्षणं दुर्मतिं राजपुत्रं
पापात्मानं धार्तराष्ट्रं सुलुब्धम्।
सर्वं ममैतद् वचनं समग्रं
सहामात्यं संजय श्रावयेथाः॥ १०॥

'संजय ! तुम शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, महाराज बाह्लीक, अश्वत्थामा, सोमदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, दुःशासन, शल, पुरुमित्र, विविंशति, विकर्ण, चित्रसेन, राजा जयत्सेन, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, कौरवयोद्धा दुर्मुख, सिंधुराज जयद्रथ, दुःसह, भूरिश्रवा, राजा भगदत्त, भूपाल जलसन्ध तथा अन्य जो-जो नरेश कौरवोंका प्रिय करनेके लिये युद्धके उद्देश्यसे वहाँ एकत्र हुए हैं, जिनकी मृत्यु बहुत ही निकट है, जिन्हें दुर्योधनने पाण्डवरूपी प्रज्वलित अग्निमें होमनेके लिये बुलाया है, उन सबसे मिलकर मेरी ओरसे यथायोग्य प्रणाम आदि कहकर उनका कुशल-मङ्गल पूछना। संजय ! तत्पश्चात् उन राजाओंके समुदायमें ही पापात्माओंमें प्रधान, असहिष्णु, दुर्बुद्धि, पापाचारी और अत्यन्त लोभी राजकुमार दुर्योधन और उसके मन्त्रियोंको मेरी कही हुई ये सारी बातें सुनाना' ॥ ४—१०॥

एवं प्रतिष्ठाप्य धनंजयो मां
ततोऽर्थवद् धर्मवच्चापि वाक्यम्।
प्रोवाचेदं वासुदेवं समीक्ष्य
पार्थो धीमाँल्लोहितान्तायताक्षः॥ ११॥

इस प्रकार मुझे हस्तिनापुर जानेकी अनुमति देकर, जिनके विशाल नेत्रोंका कोना कुछ लाल रंगका है, उन परम बुद्धिमान् कुन्तीकुमार अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखकर यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन कहा—॥ ११॥

यथा श्रुतं ते वदतो महात्मनो
मधुप्रवीरस्य वचः समाहितम्।
तथैव वाच्यं भवता हि मद्वचः
समागतेषु क्षितिपेषु सर्वशः॥ १२॥

'संजय ! मधुवंशके प्रमुख वीर महात्मा श्रीकृष्णने एकाग्रचित्त होकर जो बात कही है और तुमने इसे जैसा सुना है, वह सब ज्यों-का-त्यों सुना देना। फिर समस्त समागत भूपालोंकी मण्डलीमें मेरी यह बात कहना—॥ १२॥

शराग्निधूमे रथनेमिनादिते
धनुःस्रुवेणास्त्रबलप्रसारिणा।
यथा न होमः क्रियते महामृधे
समेत्य सर्वे प्रयतध्वमादृताः॥ १३॥

'राजाओ ! महान् युद्धरूपी यज्ञमें जहाँ बाणोंके टकरानेसे पैदा होनेवाली आगका धुआँ फैलता रहता है, रथोंकी घर्घराहट ही वेदमन्त्रोंकी ध्वनिका काम देती है, (शास्त्रबलसे सम्पादित होनेवाले यज्ञकी भाँति) अस्त्रबलसे ही फैलनेवाले धनुषरूपी स्रुवाके द्वारा मुझे जिस प्रकार कौरवसैन्यरूपी हविष्यकी आहुति न देनी पड़े, उसके लिये तुम सब लोग सादर प्रयत्न करो॥ १३॥

न चेत् प्रयच्छध्वममित्रघातिनो
युधिष्ठिरस्य समभीप्सितं स्वकम्।
नयामि वः साश्वपदातिकुञ्जरान्
दिशं पितॄणामशिवां शितैः शरैः ॥ १४ ॥

'यदि तुमलोग शत्रुघाती महाराज युधिष्ठिरका अपना अभीष्ट राज्यभाग नहीं लौटाओगे तो मैं तुम्हें अपने तीखे बाणोंद्वारा घोड़े, पैदल तथा हाथीसवारोंसहित यमलोककी अमङ्गलमयी दिशामें भेज दूँगा' ॥ १४ ॥

ततोऽहमामन्त्र्य तदा धनंजयं
चतुर्भुजं चैव नमस्य सत्वरः।
जवेन सम्प्राप्त इहामरद्युते
तवान्तिकं प्रापयितुं वचो महत् ॥ १५ ॥

देवताओंके समान तेजस्वी महाराज! इसके बाद मैं अर्जुनसे विदा ले चतुर्भुज भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करके उनका वह महत्त्वपूर्ण संदेश आपके पास पहुँचानेके लिये बड़े वेगसे तुरंत यहाँ चला आया हूँ ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके पास व्यास और गान्धारीका आगमन तथा व्यासजीका संजयको श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्बन्धमें कुछ कहनेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधने धार्तराष्ट्रे तद् वचो नाभिनन्दति।
तूष्णीम्भूतेषु सर्वेषु समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने जब श्रीकृष्ण और अर्जुनके उस कथनका कुछ भी आदर नहीं किया और सब लोग चुप्पी साधकर रह गये, तब वहाँ बैठे हुए समस्त नरश्रेष्ठ भूपालगण वहाँसे उठकर चले गये ॥ १ ॥

उत्थितेषु महाराज पृथिव्यां सर्वराजसु।
रहिते संजयं राजा परिप्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ २ ॥
आशंसमानो विजयं तेषां पुत्रवशानुगः।
आत्मनश्च परेषां च पाण्डवानां च निश्चयम् ॥ ३ ॥

महाराज! भूमण्डलके सब राजा जब सभाभवनसे उठ गये, तब अपने पुत्रोंकी विजय चाहनेवाले तथा उन्हींके वशमें रहनेवाले राजा धृतराष्ट्रने वहाँ एकान्तमें अपनी, दूसरोंकी और पाण्डवोंकी जय-पराजयके विषयमें संजयका निश्चित मत जाननेके लिये उनसे कुछ और बातें पूछनी प्रारम्भ की ॥ २-३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

गावल्गणे ब्रूहि नः सारफल्गु
स्वसेनायां यावदिहास्ति किंचित्।
त्वं पाण्डवानां निपुणं वेत्थ सर्वं
किमेषां ज्यायः किमु तेषां कनीयः ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—गवल्गणपुत्र संजय! यहाँ अपनी सेनामें जो कुछ भी प्रबलता या दुर्बलता है, उसका हमसे वर्णन करो। इसी प्रकार पाण्डवोंकी भी सारी बातें तुम अच्छी तरह जानते हो, अतः बताओ; ये किन बातोंमें बढ़े-चढ़े हैं और उनमें कौन-कौन-सी त्रुटियाँ हैं? ॥ ४ ॥

त्वमेतयोः सारवित् सर्वदर्शी
धर्मार्थयोर्निपुणो निश्चयज्ञः।
स मे पृष्टः संजय ब्रूहि सर्वं
युध्यमानाः कतरेऽस्मिन् न सन्ति ॥ ५ ॥

संजय! तुम इन दोनों पक्षोंके बलाबलको जाननेवाले, सर्वदर्शी, धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण तथा निश्चित सिद्धान्तके ज्ञाता हो; अतः मेरे पूछनेपर सब बातें साफ-साफ कहो। युद्धमें प्रवृत्त होनेपर किस पक्षके लोग इस लोकमें जीवित नहीं रह सकते? ॥ ५ ॥

संजय उवाच

न त्वां ब्रूयां रहिते जातु किंचि-
दसूया हि त्वां प्रविशेत राजन्।
आनयस्व पितरं महाव्रतं
गान्धारीं च महिषीमाजमीढ ॥ ६ ॥

संजयने कहा—राजन्! एकान्तमें तो मैं आपसे कभी कोई बात नहीं कह सकता, क्योंकि इससे आपके हृदयमें

दोषदर्शनकी भावना उत्पन्न होगी । अजमीढनन्दन ! आप अपने महान् व्रतधारी पिता व्यासजी और महारानी गान्धारीको भी यहाँ बुलवा लीजिये ॥ ६ ॥

तौ तेऽसूयां विनयेतां नरेन्द्र
धर्मज्ञौ तौ निपुणौ निश्चयज्ञौ ।
तयोस्तु त्वां संनिधौ तद् वदेयं
कृत्स्नं मतं केशवपार्थयोर्यत् ॥ ७ ॥

नरेन्द्र ! वे दोनों धर्मके ज्ञाता, विचारकुशल तथा सिद्धान्तको समझनेवाले हैं; अतः वे आपकी दोषदृष्टिका निवारण करेंगे । उन दोनोंके समीप मैं आपको श्रीकृष्ण और अर्जुनका जो विचार है, वह पूरा-पूरा बता दूँगा ॥ ७ ॥

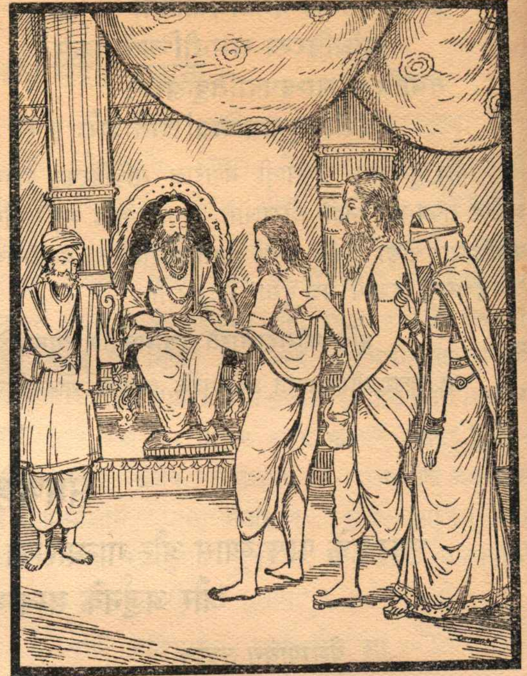
वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तेन च गान्धारी व्यासश्चात्राजगाम ह ।
आनीतौ विदुरेणेह सभां शीघ्रं प्रवेशितौ ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! संजयके ऐसा कहनेपर (धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे) गान्धारी तथा महर्षि व्यास वहाँ आये । विदुरजी उन्हें यहाँ बुलाकर ले आये और सभाभवनमें शीघ्र ही उनका प्रवेश कराया ॥ ८ ॥

ततस्तन्मतमाज्ञाय संजयस्यात्मजस्य च ।
अभ्युपेत्य महाप्राज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

तदनन्तर परम ज्ञानी श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास सभाभवनमें पहुँचकर संजय तथा अपने पुत्र धृतराष्ट्रके उस विचारको जानकर इस प्रकार बोले—॥ ९ ॥



व्यास उवाच

सम्पृच्छते धृतराष्ट्राय संजय
आचक्ष्व सर्वं यावदेषोऽनुयुङ्क्ते ।
सर्वं यावद् वेत्थ तस्मिन् यथावद्
याथातथ्यं वासुदेवेऽर्जुने च ॥ १० ॥

व्यासजीने कहा—संजय ! धृतराष्ट्र तुमसे जो कुछ जानना चाहते हैं, वह सब इन्हें बताओ । ये भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके विषयमें जो कुछ पूछते हैं, वह सब, जितना तुम जानते हो, उसके अनुसार यथार्थरूपसे कहो ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि व्यासगान्धार्यागमने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें व्यास और गान्धारीके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६७॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा बतलाना

संजय उवाच

अर्जुनो वासुदेवश्च धन्विनौ परमार्चितौ ।
कामादन्यत्र सम्भूतौ सर्वभावाय सम्मितौ ॥ १ ॥

संजयने कहा—राजन् ! अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्ण दोनों बड़े सम्मानित धनुर्धर हैं । वे (यद्यपि सदा साथ रहनेवाले नर और नारायण हैं, तथापि) लोककल्याणकी कामनासे पृथक्-पृथक् प्रकट हुए हैं और सब कुछ करनेमें समर्थ हैं ॥ १ ॥

व्यामान्तरं समास्थाय यथामुक्तं मनस्विनः ।
चक्रं तद् वासुदेवस्य मायया वर्तते विभो ॥ २ ॥

प्रभो ! उदारचेता भगवान् वासुदेवका सुदर्शन नामक चक्र उनकी मायासे अलक्षित होकर उनके पास रहता है । उसके मध्यभागका विस्तार लगभग साढ़े तीन हाथका है । वह भगवान्‌के संकल्पके अनुसार (विशाल एवं तेजस्वी रूप धारण करके शत्रुसंहारके लिये) प्रयुक्त होता है ॥ २ ॥

सापह्नवं कौरवेषु पाण्डवानां सुसम्मतम्
सारासारबलं ज्ञातुं तेजःपुञ्जावभासितम् ॥ ३ ॥

कौरवोंपर उसका प्रभाव प्रकट नहीं है। पाण्डवोंको वह अत्यन्त प्रिय है। वह सबके सार-असारभूत बलको जाननेमें समर्थ और तेजःपुञ्जसे प्रकाशित होनेवाला है ॥ ३ ॥

नरकं शम्बरं चैव कंसं चैद्यं च माधवः।
जितवान् घोरसंकाशान् क्रीडन्निव महाबलः ॥ ४ ॥

महाबली भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त भयंकर प्रतीत होनेवाले नरकासुर, शम्बरासुर, कंस तथा शिशुपालको भी खेल-ही-खेलमें जीत लिया ॥ ४ ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव पुरुषोत्तमः।
मनसैव विशिष्टात्मा नयत्यात्मवशं वशी ॥ ५ ॥

पूर्णतः स्वाधीन एवं श्रेष्ठस्वरूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण मनके संकल्पमात्रसे ही भूतल, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोकको भी अपने अधीन कर सकते हैं ॥ ५ ॥

भूयो भूयो हि यद् राजन् पृच्छसे पाण्डवान् प्रति।
सारासारबलं ज्ञातुं तत् समासेन मे शृणु ॥ ६ ॥

राजन्! आप जो बारंबार पाण्डवोंके विषयमें, उनके सार या असारभूत बलको जाननेके लिये मुझसे पूछते रहते हैं, वह सब आप मुझसे संक्षेपमें सुनिये ॥ ६ ॥

एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ॥ ७ ॥

एक ओर सम्पूर्ण जगत् हो और दूसरी ओर अकेले भगवान् श्रीकृष्ण हों तो सारभूत बलकी दृष्टिसे वे भगवान् जनार्दन ही सम्पूर्ण जगत्से बढ़कर सिद्ध होंगे ॥ ७ ॥

भस्म कुर्याज्जगदिदं मनसैव जनार्दनः।
न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम् ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण अपने मानसिक संकल्पमात्रसे इस सम्पूर्ण जगत्को भस्म कर सकते हैं; परंतु उन्हें भस्म करनेमें यह सारा जगत् समर्थ नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ ९ ॥

जिस ओर सत्य, धर्म, लज्जा और सरलता है, उसी ओर भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं; और जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है ॥ ९ ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः।
विचेष्टयति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः ॥ १० ॥

समस्त प्राणियोंके आत्मा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण खेल-सा करते हुए ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोकका संचालन करते हैं ॥ १० ॥

स कृत्वा पाण्डवान् सत्रं लोकं सम्मोहयन्निव।
अधर्मनिरतान् मूढान् दग्धुमिच्छति ते सुतान् ॥ ११ ॥

वे इस समय समस्त लोकको मोहित-सा करते हुए पाण्डवोंके मिससे आपके अधर्मपरायण मूढ़ पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं ॥ ११ ॥

कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम् ॥ १२ ॥

ये भगवान् केशव ही अपनी योगशक्तिसे निरन्तर कालचक्र, संसारचक्र तथा युगचक्रको घुमाते रहते हैं ॥ १२ ॥

कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १३ ॥

मैं आपसे यह सच कहता हूँ कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु तथा चराचर जगत्के स्वामी एवं शासक हैं ॥ १३ ॥

ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः ॥ १४ ॥

महायोगी श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्के स्वामी एवं ईश्वर होते हुए भी खेतीको बढ़ानेवाले किसानकी भाँति सदा नये-नये कर्मोंका आरम्भ करते रहते हैं ॥ १४ ॥

तेन वञ्चयते लोकान् मायायोगेन केशवः।
ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः ॥ १५ ॥

भगवान् केशव अपनी मायाके प्रभावसे सब लोगोंको मोहमें डाले रहते हैं; किंतु जो मनुष्य केवल उन्हींकी शरण ले लेते हैं, वे उनकी मायासे मोहित नहीं होते हैं ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्येऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णप्राप्ति एवं तत्त्वज्ञानका साधन बताना

धृतराष्ट्र उवाच

कथं त्वं माधवं वेत्थ सर्वलोकमहेश्वरम्।
कथमेनं न वेदाहं तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! मधुवंशी भगवान् श्रीकृष्ण

समस्त लोकोंके महान् ईश्वर हैं, इस बातको तुम कैसे जानते हो ? और मैं इन्हें इस रूपमें क्यों नहीं जानता ? इसका रहस्य मुझे बताओ ॥ १ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् न ते विद्या मम विद्या न हीयते ।
विद्याहीनस्तमोध्वस्तो नाभिजानाति केशवम् ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! सुनिये, आपको तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं है और मेरी ज्ञानदृष्टि कभी लुप्त नहीं होती है। जो मनुष्य तत्त्वज्ञानसे शून्य है और जिसकी बुद्धि अज्ञानान्धकारसे विनष्ट हो चुकी है, वह श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता ॥ २ ॥

विद्यया तात जानामि त्रियुगं मधुसूदनम् ।
कर्तारमकृतं देवं भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ ३ ॥

तात ! मैं ज्ञानदृष्टिसे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाश करनेवाले त्रियुगस्वरूप भगवान् मधुसूदनको, जो सबके कर्ता हैं, परंतु किसीके कार्य नहीं हैं, जानता हूँ ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

गावल्गणेऽत्र का भक्तिर्या ते नित्या जनार्दने ।
यया त्वमभिजानासि त्रियुगं मधुसूदनम् ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! भगवान् श्रीकृष्णमें जो तुम्हारी नित्य भक्ति है, उसका स्वरूप क्या है ? जिससे तुम त्रियुगस्वरूप भगवान् मधुसूदनके तत्त्वको जानते हो ॥

संजय उवाच

मायां न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्ममाचरे ।
शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम् ॥५॥

संजयने कहा—महाराज ! आपका कल्याण हो। मैं कभी माया (छल-कपट) का सेवन नहीं करता। व्यर्थ (पाखण्डपूर्ण) धर्मका आचरण नहीं करता। भगवान्‌की भक्तिसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है; अतः मैं शास्त्रके वचनोंसे भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको यथावत् जानता हूँ ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन हृषीकेशं प्रपद्यस्व जनार्दनम् ।
आप्तो नः संजयस्तात शरणं गच्छ केशवम् ॥ ६ ॥

यह सुनकर धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे कहा—बेटा दुर्योधन ! संजय हमलोगोंका विश्वासपात्र है। इसकी बातोंपर श्रद्धा करके तुम सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्रेरक जनार्दन भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय लो; उन्हींकी शरणमें जाओ ॥ ६ ॥

दुर्योधन उवाच

भगवान् देवकीपुत्रो लोकांश्चेन्निहनिष्यति ।
प्रवदन्नर्जुने सख्यं नाहं गच्छेऽद्य केशवम् ॥ ७ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! माना कि देवकीनन्दन श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं और वे इच्छा करते ही सम्पूर्ण लोकोंका संहार कर डालेंगे, तथापि वे अपनेको अर्जुनका मित्र बताते हैं; अतः अब मैं उनकी शरणमें नहीं जाऊँगा ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अवाग् गान्धारि पुत्रस्ते गच्छत्येष सुदुर्मतिः ।
ईर्षुर्दुरात्मा मानी च श्रेयसां वचनातिगः ॥ ८ ॥

तब धृतराष्ट्रने गान्धारीसे कहा—गान्धारी ! तुम्हारा दुर्बुद्धि, दुरात्मा, ईर्ष्यालु और अभिमानी पुत्र श्रेष्ठ पुरुषोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके नरककी ओर जा रहा है ॥ ८ ॥

गान्धार्युवाच

ऐश्वर्यकाम दुष्टात्मन् वृद्धानां शासनातिग ।
ऐश्वर्यजीविते हित्वा पितरं मां च बालिश ॥ ९ ॥
वर्धयन् दुर्हृदां प्रीतिं मां च शोकेन वर्धयन् ।
निहतो भीमसेनेन स्मर्तासि वचनं पितुः ॥ १० ॥

गान्धारी बोली—दुष्टात्मा दुर्योधन ! तू ऐश्वर्यकी इच्छा रखकर अपने बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है ! अरे मूर्ख ! इस ऐश्वर्य, जीवन, पिता और मुझ माताको भी त्यागकर शत्रुओंकी प्रसन्नता और मेरा शोक बढ़ाता हुआ जब तू भीमसेनके हाथों मारा जायगा, उस समय तुझे पिताकी बातें याद आयेंगी ॥ ९-१० ॥

व्यास उवाच

प्रियोऽसि राजन् कृष्णस्य धृतराष्ट्र निबोध मे ।
यस्य ते संजयो दूतो यस्त्वां श्रेयसि योक्ष्यते ॥ ११ ॥

तदनन्तर व्यासजीने कहा—राजा धृतराष्ट्र ! मेरी बातोंपर ध्यान दो। वास्तवमें तुम श्रीकृष्णके प्रिय हो, तभी तो तुम्हें संजय-जैसा दूत मिला है, जो तुम्हें कल्याण-साधनमें लगायेगा ॥ ११ ॥

जानात्येष हृषीकेशं पुराणं यच्च वै परम् ।
शुश्रूषमाणमेकाग्रं मोक्ष्यते महतो भयात् ॥ १२ ॥

यह संजय पुराणपुरुष भगवान् श्रीकृष्णको जानता है और उनका जो परमतत्त्व है, वह भी इसे ज्ञात है। यदि तुम एकाग्रचित्त होकर इसकी बातें सुनोगे तो यह तुम्हें महान् भयसे मुक्त कर देगा ॥ १२ ॥

वैचित्रवीर्य पुरुषाः क्रोधहर्षसमावृताः ।
सिता बहुविधैः पाशैर्ये न तुष्टाः स्वकैर्धनैः ॥ १३ ॥
यमस्य वशमायान्ति काममूढाः पुनः पुनः ।
अन्धनेत्रा यथैवान्धा नीयमानाः स्वकर्मभिः ॥ १४ ॥

विचित्रवीर्यकुमार ! जो मनुष्य अपने धनसे संतुष्ट नहीं हैं और काम आदि विविध प्रकारके बन्धनोंसे बँधकर हर्ष

और क्रोधके वशीभूत हो रहे हैं, वे काममोहित पुरुष अंधोंके नेतृत्वमें चलनेवाले अंधोंकी भाँति अपने कर्मोंद्वारा प्रेरित होकर बारंबार यमराजके वशमें आते हैं ॥ १३-१४ ॥

एष एकायनः पन्था येन यान्ति मनीषिणः ।
तं दृष्ट्वा मृत्युमत्येति महांस्तत्र न सज्जति ॥ १५ ॥

यह ज्ञानमार्ग एकमात्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। जिसपर मनीषी (ज्ञानी) पुरुष चलते हैं, उस मार्गको देख या जान लेनेपर मनुष्य जन्म-मृत्युरूप संसारको लाँघ जाता है और वह महात्मा पुरुष कभी इस संसारमें आसक्त नहीं होता है ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अङ्ग संजय मे शंस पन्थानमकुतोभयम् ।
येन गत्वा हृषीकेशं प्राप्नुयां सिद्धिमुत्तमाम् ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—वत्स संजय ! तुम मुझे वह निर्भय मार्ग बताओ, जिससे चलकर मैं सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी परम-मोक्षस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त कर सकूँ ॥ १६ ॥

संजय उवाच

नाकृतात्मा कृतात्मानं जातु विद्याज्जनार्दनम् ।
आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ॥ १७ ॥

संजयने कहा—महाराज ! जिसने अपने मनको वशमें नहीं किया है, वह कर्मी नित्यसिद्ध परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको नहीं पा सकता। अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें किये बिना दूसरा कोई कर्म उन परमात्माकी प्राप्तिका उपाय नहीं हो सकता॥१७॥

इन्द्रियाणामुदीर्णानां कामत्यागोऽप्रमादतः ।
अप्रमादोऽविहिंसा च ज्ञानयोनिरसंशयम् ॥ १८ ॥

विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन्द्रियोंकी भोगकामनाओंका पूर्ण सावधानीके साथ त्याग कर देना, प्रमादसे दूर रहना तथा किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना—ये तीन निश्चय ही तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण हैं ॥ १८ ॥

इन्द्रियाणां यमे यत्तो भव राजन्नतन्द्रितः ।
बुद्धिश्च ते मा च्यवतु नियच्छैनां यतस्ततः ॥ १९ ॥

राजन् ! आप आलस्य छोड़कर इन्द्रियोंके संयममें तत्पर हो जाइये और अपनी बुद्धिको जैसे भी सम्भव हो, नियन्त्रणमें रखिये, जिससे वह अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट न हो।१९।

एतज्ज्ञानं विदुर्विप्रा ध्रुवमिन्द्रियधारणम् ।
एतज्ज्ञानं च पन्थाश्च येन यान्ति मनीषिणः ॥ २० ॥

इन्द्रियोंको दृढ़तापूर्वक संयममें रखना चाहिये। विद्वान् ब्राह्मण इसीको ज्ञान मानते हैं। यह ज्ञान ही वह मार्ग है, जिससे मनीषी पुरुष चलते हैं ॥ २० ॥

अप्राप्यः केशवो राजन्निन्द्रियैरजितैर्नृभिः ।
आगमाधिगमाद् योगाद् वशी तत्त्वे प्रसीदति ॥ २१ ॥

राजन् ! मनुष्य अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये बिना भगवान् श्रीकृष्णको नहीं पा सकते। जिसने शास्त्रज्ञान और योगके प्रभावसे अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर रक्खा है, वही तत्त्वज्ञान पाकर प्रसन्न होता है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥



सप्ततितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके विभिन्न नामोंकी व्युत्पत्तियोंका कथन

धृतराष्ट्र उवाच

भूयो मे पुण्डरीकाक्षं संजयाचक्ष्व पृच्छतः ।
नामकर्मार्थवित् तात प्राप्नुयां पुरुषोत्तमम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुम भगवान् श्रीकृष्णके नाम और कर्मोंका अभिप्राय जानते हो, अतः मेरे प्रश्नके अनुसार एक बार पुनः कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णका वर्णन करो।१।

संजय उवाच

श्रुतं मे वासुदेवस्य नामनिर्वचनं शुभम् ।
यावत् तत्राभिजानेऽहमप्रमेयो हि केशवः ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! मैंने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके नामोंकी मङ्गलमयी व्युत्पत्ति सुन रक्खी है, उसमें जितना मुझे स्मरण है, उतना बता रहा हूँ। वास्तवमें तो भगवा न् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंकी पहुँचसे परे हैं ॥ २ ॥

वसनात् सर्वभूतानां वसुत्वाद् देवयोनितः ।
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृहत्त्वाद् विष्णुरुच्यते ॥ ३ ॥

भगवान् समस्त प्राणियोंके निवासस्थान हैं तथा वे सब भूतोंमें वास करते हैं, इसलिये 'वसु' हैं एवं देवताओंकी उत्पत्तिके स्थान होनेसे और समस्त देवता उनमें वास करते हैं, इसलिये उन्हें 'देव' कहा जाता है। अतएव उनका नाम 'वासुदेव' है, ऐसा जानना चाहिये। बृहत् अर्थात् व्यापक होनेके कारण वे ही 'विष्णु' कहलाते हैं ॥ ३ ॥

मौनाद् ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम् ।

सर्वतत्त्वमयत्वाच्च मधुहा मधुसूदनः ॥ ४ ॥

भारत ! मौन, ध्यान और योगसे उनका बोध अथवा साक्षात्कार होता है; इसलिये आप उन्हें 'माधव' समझें। मधु शब्दसे प्रतिपादित पृथ्वी आदि सम्पूर्ण तत्त्वोंके उपादान एवं अधिष्ठान होनेके कारण मधुसूदन श्रीकृष्णको 'मधुहा' कहा गया है ॥ ४ ॥

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः ॥ ५ ॥

'कृष्' धातु सत्ता अर्थका वाचक है और 'ण' शब्द आनन्द अर्थका बोध कराता है, इन दोनों भावोंसे युक्त होनेके कारण यदुकुलमें अवतीर्ण हुए नित्य आनन्दस्वरूप श्रीविष्णु 'कृष्ण' कहलाते हैं ॥ ५ ॥

पुण्डरीकं परं धाम नित्यमक्षयमव्ययम् ।
तद्भावात् पुण्डरीकाक्षो दस्युत्रासाज्जनार्दनः ॥ ६ ॥

नित्य, अक्षय, अविनाशी एवं परम भगवद्धामका नाम पुण्डरीक है। उसमें स्थित होकर जो अक्षतभावसे विराजते हैं, वे भगवान् 'पुण्डरीकाक्ष' कहलाते हैं। (अथवा पुण्डरीक—कमलके समान उनके अक्षि—नेत्र हैं, इसलिये उनका नाम पुण्डरीकाक्ष है)। दस्युजनोंको त्रास (अर्दन या पीडा) देनेके कारण उनको 'जनार्दन' कहते हैं ॥ ६ ॥

यतः सत्त्वान्न च्यवते यच्च सत्त्वान्न हीयते ।
सत्त्वतः सात्वतस्तस्मादार्षभाद् वृषभेक्षणः ॥ ७ ॥

वे सत्यसे कभी च्युत नहीं होते और न सत्त्वसे अलग ही होते हैं, इसलिये सद्भावके सम्बन्धसे उनका नाम 'सात्वत' है। आर्ष कहते हैं वेदको, उससे भासित होनेके कारण भगवान्‌का एक नाम 'आर्षभ' है। आर्षभके योगसे ही वे 'वृषभेक्षण' कहलाते हैं (वृषभका अर्थ है वेद, वही ईक्षण—नेत्रके समान उनका ज्ञापक है; इस व्युत्पत्तिके अनुसार वृषभेक्षण नामकी सिद्धि होती है) ॥ ७ ॥

न जायते जनित्रायमजस्तस्मादनीकजित् ।
देवानां स्वप्रकाशत्वाद् दमाद् दामोदरो विभुः ॥ ८ ॥

शत्रुसेनाओंपर विजय पानेवाले ये भगवान् श्रीकृष्ण किसी जन्मदाताके द्वारा जन्म ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये 'अज' कहलाते हैं। देवता स्वयंप्रकाशरूप होते हैं, अतः उत्कृष्ट रूपसे प्रकाशित होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णको 'उदर' कहा गया है और दम (इन्द्रियसंयम) नामक गुणसे सम्पन्न होनेके कारण उनका नाम 'दाम' है। इस प्रकार दाम और उदर इन दोनों शब्दोंके संयोगसे वे 'दामोदर' कहलाते हैं। ८।

हर्षात् सुखात् सुखैश्वर्याद्धृषीकेशत्वमश्नुते ।
बाहुभ्यां रोदसी बिभ्रन्महाबाहुरिति स्मृतः ॥ ९ ॥

वे हर्ष अर्थात् सुखसे युक्त होनेके कारण हृषीक हैं और सुख-ऐश्वर्यसे सम्पन्न होनेके कारण 'ईश' कहे गये हैं। इस प्रकार वे भगवान् 'हृषीकेश' नाम धारण करते हैं। अपनी दोनों बाहुओंद्वारा भगवान् इस पृथ्वी और आकाशको धारण करते हैं, इसलिये उनका नाम 'महाबाहु' है ॥ ९ ॥

अधो न क्षीयते जातु यस्मात् तस्मादधोक्षजः ।
नराणामयनाच्चापि ततो नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण कभी नीचे गिरकर क्षीण नहीं होते, अतः ('अधो न क्षीयते जातु' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) 'अधोक्षज' कहलाते हैं। वे नरों (जीवात्माओं) के अयन (आश्रय) हैं, इसलिये उन्हें 'नारायण' भी कहते हैं ॥ १० ॥

पूरणात् सदनाच्चापि ततोऽसौ पुरुषोत्तमः ।
असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययात् ॥ ११ ॥
सर्वस्य च सदा ज्ञानात् सर्वमेतं प्रचक्षते ।

वे सर्वत्र परिपूर्ण हैं तथा सबके निवासस्थान हैं, इसलिये 'पुरुष' हैं और सब पुरुषोंमें उत्तम होनेके कारण उनकी 'पुरुषोत्तम' संज्ञा है। वे सत् और असत् सबकी उत्पत्ति और लयके स्थान हैं तथा सर्वदा उन सबका ज्ञान रखते हैं; इसलिये उन्हें 'सर्व' कहते हैं ॥ ११½ ॥

सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम् ॥ १२ ॥
सत्यात् सत्यं तु गोविन्दस्तस्मात् सत्योऽपि नामतः ।

श्रीकृष्ण सत्यमें प्रतिष्ठित हैं और सत्य उनमें प्रतिष्ठित है। वे भगवान् गोविन्द सत्यसे भी उत्कृष्ट सत्य हैं। अतः उनका एक नाम 'सत्य' भी है ॥ १२½ ॥

विष्णुर्विक्रमणाद् देवो जयनाज्जिष्णुरुच्यते ॥ १३ ॥
शाश्वतत्वादनन्तश्च गोविन्दो वेदनाद् गवाम् ।

विक्रमण (वामनावतारमें तीनों लोकोंको आक्रान्त) करनेके कारण वे भगवान् 'विष्णु' कहलाते हैं। वे सबपर विजय पानेसे 'जिष्णु', शाश्वत (नित्य) होनेसे 'अनन्त' तथा गौओं (इन्द्रियों) के ज्ञाता और प्रकाशक होनेके कारण (गां विन्दति) इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'गोविन्द' कहलाते हैं ॥ १३½ ॥

अतत्त्वं कुरुते तत्त्वं तेन मोहयते प्रजाः ॥ १४ ॥

वे अपनी सत्ता-स्फूर्ति देकर असत्यको भी सत्य-सा कर देते हैं और इस प्रकार सारी प्रजाको मोहमें डाल देते हैं ॥ १४ ॥

एवंविधो धर्मनित्यो भगवान् मधुसूदनः ।
आगन्ता हि महाबाहुरानृशंस्यार्थमच्युतः ॥ १५ ॥

निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले उन भगवान् मधुसूदनका स्वरूप ऐसा ही है। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले महाबाहु श्रीकृष्ण कौरवोंपर कृपा करनेके लिये यहाँ पधारनेवाले हैं ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके द्वारा भगवद्गुणगान

धृतराष्ट्र उवाच

चक्षुष्मतां वै स्पृहयामि संजय
द्रक्ष्यन्ति ये वासुदेवं समीपे।
विभ्राजमानं वपुषा परेण
प्रकाशयन्तं प्रदिशो दिशश्च ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! जो लोग परम उत्तम श्री-अङ्गोंसे सुशोभित तथा दिशा-विदिशाओंको प्रकाशित करते हुए वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका निकटसे दर्शन करेंगे, उन सफल नेत्रोंवाले मनुष्योंके सौभाग्यको पानेकी मैं भी अभिलाषा रखता हूँ ॥ १ ॥

ईरयन्तं भारतीं भारताना-
मभ्यर्चनीयां शङ्करीं सृंजयानाम्।
बुभूषद्भिर्ग्रहणीयामनिन्द्यां
परासूनामग्रहणीयरूपाम् ॥ २ ॥

भगवान् अत्यन्त मनोहर वाणीमें जो प्रवचन करेंगे, वह भरतवंशियों तथा सृंजयोंके लिये कल्याणकारी तथा आदरणीय होगा। ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंके लिये भगवान्‌की वह वाणी अनिन्द्य और शिरोधार्य होगी; परंतु जो मृत्युके निकट पहुँच चुके हैं, उन्हें वह अग्राह्य प्रतीत होगी ॥ २ ॥

समुद्यन्तं सात्वतमेकवीरं
प्रणेतारमृषभं यादवानाम्।
निहन्तारं क्षोभणं शात्रवाणां
मुञ्चन्तं च द्विषतां वै यशांसि ॥ ३ ॥

संसारके अद्वितीय वीर, सात्वतकुलके श्रेष्ठ पुरुष, यदुवंशियोंके माननीय नेता, शत्रुपक्षके योद्धाओंको क्षुब्ध करके उनका संहार करनेवाले तथा वैरियोंके यशको बलपूर्वक छीन लेनेवाले वे भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ उदित होंगे (और नेत्रवाले लोग उनका दर्शन करके धन्य हो जायँगे) ॥ ३ ॥

द्रष्टारो हि कुरवस्तं समेता
महात्मानं शत्रुहणं वरेण्यम्।
ब्रुवन्तं वाचमनृशंसरूपां
वृष्णिश्रेष्ठं मोहयन्तं मदीयान् ॥ ४ ॥

महात्मा, शत्रुहन्ता तथा सबके वरण करनेयोग्य वे वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्ण यहाँ आकर कृपापूर्ण कोमल वाक्य बोलेंगे और हमारे पक्षवर्ती राजाओंको मोहित करेंगे; इस अवस्थामें समस्त कौरव उन्हें देखेंगे ॥ ४ ॥

ऋषिं सनातनतमं विपश्चितं
वाचः समुद्रं कलशं यतीनाम्।
अरिष्टनेमिं गरुडं सुपर्णं
हरिं प्रजानां भुवनस्य धाम ॥ ५ ॥
सहस्रशीर्षं पुरुषं पुराण-
मनादिमध्यान्तमनन्तकीर्तिम्।
शुक्रस्य धातारमजं च नित्यं
परं परेषां शरणं प्रपद्ये ॥ ६ ॥

जो अत्यन्त सनातन ऋषि, ज्ञानी, वाणीके समुद्र और प्रयत्नशील-साधकोंको कलशके जलकी भाँति सुलभ होनेवाले हैं, जिनके चरण समस्त विघ्नोंका निवारण करनेवाले हैं, सुन्दर पङ्खोंसे युक्त गरुड जिनके स्वरूप हैं, जो प्रजाजनोंके पाप-ताप हर लेनेवाले तथा जगत्‌के आश्रय हैं, जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो पुराणपुरुष हैं, जिनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जो अक्षय कीर्तिसे सुशोभित, बीज एवं वीर्यको धारण करनेवाले, अजन्मा, नित्य तथा परात्पर परमेश्वर हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ५-६ ॥

त्रैलोक्यनिर्माणकरं जनित्रं
देवासुराणामथ नागरक्षसाम्।
नराधिपानां विदुषां प्रधान-
मिन्द्रानुजं तं शरणं प्रपद्ये ॥ ७ ॥

जो तीनों लोकोंका निर्माण करनेवाले हैं, जिन्होंने देवताओं, असुरों, नागों तथा राक्षसोंको भी जन्म दिया है तथा जो ज्ञानी नरेशोंके प्रधान हैं, इन्द्रके छोटे भाई वामन-स्वरूप उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

(भगवद्यानपर्व)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका श्रीकृष्णसे अपना अभिप्राय निवेदन करना, श्रीकृष्णका शान्तिदूत बनकर कौरव-सभामें जानेके लिये उद्यत होना और इस विषयमें उन दोनोंका वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

संजये प्रतियाते तु धर्मराजो युधिष्ठिरः।
(अर्जुनं भीमसेनं च माद्रीपुत्रौ च भारत।
विराटद्रुपदौ चैव केकयानां महारथान्॥
अब्रवीदुपसङ्गम्य शङ्खचक्रगदाधरम्॥
अभियाचामहे गत्वा प्रयातुं कुरुसंसदम्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! इधर संजयके चले जानेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भीमसेन, अर्जुन, माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, विराट, द्रुपद तथा केकयदेशीय महारथियोंके पास जाकर कहा—'हमलोग शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके पास चलकर उनसे कौरव-सभामें जानेके लिये प्रार्थना करें॥

यथा भीष्मेण द्रोणेन बाह्लीकेन च धीमता॥
अन्यैश्च कुरुभिः सार्धं न युध्येमहि संयुगे।

'वे वहाँ जाकर ऐसा प्रयत्न करें, जिससे हमें भीष्म, द्रोण, बुद्धिमान् बाह्लीक तथा अन्य कुरुवंशियोंके साथ रणक्षेत्रमें युद्ध न करना पड़े॥

एष नः प्रथमः कल्प एतन्नः श्रेय उत्तमम्॥
एवमुक्ताः सुमनसस्तेऽभिजग्मुर्जनार्दनम्।

'यही हमारा पहला ध्येय है और यही हमारे लिये परम कल्याणकी बात है।' राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर वे सब लोग प्रसन्नचित्त होकर भगवान् श्रीकृष्णके समीप गये॥

पाण्डवैः सह राजानो मरुत्वन्तमिवामराः॥
तदा च दुःसहाः सर्वे सदस्यास्ते नरर्षभाः।

उस समय शत्रुओंके लिये दुःसह प्रतीत होनेवाले वे सभी नरश्रेष्ठ सभासद् भूपालगण पाण्डवोंके साथ श्रीकृष्णके निकट उसी प्रकार गये, जैसे देवता इन्द्रके पास जाते हैं॥

जनार्दनं समासाद्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः॥)
अभ्यभाषत दाशार्हमृषभं सर्वसात्वताम्॥ १॥

समस्त यदुवंशियोंमें श्रेष्ठ दशार्हकुलनन्दन जनार्दन श्रीकृष्णके पास पहुँचकर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा—॥ १॥



अयं स कालः सम्प्राप्तो मित्राणां मित्रवत्सल।
न च त्वदन्यं पश्यामि यो न आपत्सु तारयेत्॥ २॥

'मित्रवत्सल श्रीकृष्ण! मित्रोंकी सहायताके लिये यही उपयुक्त अवसर आया है। मैं आपके सिवा दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो इस विपत्तिसे हमलोगोंका उद्धार करे॥ २॥

त्वां हि माधवमाश्रित्य निर्भया मोघदर्पितम्।
धार्तराष्ट्रं सहामात्यं स्वयं समनुयुङ्क्ष्महे॥ ३॥

'आप माधवकी शरणमें आकर हम सब लोग निर्भय हो गये हैं और व्यर्थ ही घमंड दिखानेवाले धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन तथा उसके मन्त्रियोंको हम स्वयं युद्धके लिये ललकार रहे हैं॥ ३॥

यथा हि सर्वास्वापत्सु पासि वृष्णीनरिंदम।
तथा ते पाण्डवा रक्ष्याः पाह्यस्मान् महतो भयात्॥ ४॥

'शत्रुदमन! जैसे आप वृष्णिवंशियोंकी सब प्रकारकी आपत्तियोंसे रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आपको पाण्डवोंकी भी रक्षा करनी चाहिये। प्रभो! इस महान् भयसे आप हमारी रक्षा कीजिये'॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच

अयमस्मि महाबाहो ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ।
करिष्यामि हि तत् सर्वं यत् त्वं वक्ष्यसि भारत ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो ! यह मैं आपकी सेवाके लिये सर्वदा प्रस्तुत हूँ। आप जो कुछ कहना चाहते हों, कहें । भारत ! आप जो-जो कहेंगे, वह सब कार्य मैं निश्चय ही पूर्ण करूँगा ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं ते धृतराष्ट्रस्य सपुत्रस्य चिकीर्षितम् ।
एतद्धि सकलं कृष्ण संजयो मां यदब्रवीत् ॥ ६ ॥
तन्मतं धृतराष्ट्रस्य सोऽस्यात्मा विवृतान्तरः ।
यथोक्तं दूत आचष्टे वध्यः स्यादन्यथा ब्रुवन् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने कहा—श्रीकृष्ण ! पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र क्या करना चाहते हैं, यह सब तो आपने सुन ही लिया । संजयने मुझसे जो कुछ कहा है, वह धृतराष्ट्रका ही मत है । संजय धृतराष्ट्रका अभिन्नस्वरूप होकर आया था । उसने उन्हींके मनोभावको प्रकाशित किया है । दूत संजय स्वामीकी कही हुई बातको ही दुहराया है; क्योंकि यदि वह उसके विपरीत कुछ कहता तो वधके योग्य माना जाता ॥ ६-७ ॥

अप्रदानेन राज्यस्य शान्तिमस्मासु मार्गति ।
लुब्धः पापेन मनसा चरन्नसममात्मनः ॥ ८ ॥

राजा धृतराष्ट्रको राज्यका बड़ा लोभ है । उनके मनमें पाप बस गया है । अतः वे अपने-अनुरूप व्यवहार न करके राज्य दिये बिना ही हमारे साथ संधिका मार्ग ढूँढ़ रहे हैं ॥ ८ ॥

यत् तद् द्वादश वर्षाणि वनेषु द्युषिता वयम् ।
छद्मना शरदं चैकां धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ९ ॥
स्थाता नः समये तस्मिन् धृतराष्ट्र इति प्रभो ।
नाहास्म समयं कृष्ण तद्धि नो ब्राह्मणा विदुः ॥ १० ॥

प्रभो ! हम तो यही समझकर कि धृतराष्ट्र अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहेंगे, उन्हींकी आज्ञासे बारह वर्ष वनमें रहे और एक वर्ष अज्ञातवास किया । श्रीकृष्ण ! हमने अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं की है; इस बातको हमारे साथ रहनेवाले सभी ब्राह्मण जानते हैं ॥ ९-१० ॥

गृद्धो राजा धृतराष्ट्रः स्वधर्मं नानुपश्यति ।
वश्यत्वात् पुत्रगृद्धित्वान्मन्दस्यान्वेति शासनम् ॥ ११ ॥

परंतु राजा धृतराष्ट्र तो लोभमें डूबे हुए हैं । वे अपने धर्मकी ओर नहीं देखते हैं । पुत्रोंमें आसक्त होकर सदा उन्हींके अधीन रहनेके कारण वे अपने मूर्ख पुत्र दुर्योधनकी ही आज्ञाका अनुसरण करते हैं ॥ ११ ॥

सुयोधनमते तिष्ठन् राजास्मासु जनार्दन ।
मिथ्या चरति लुब्धः सन् चरन् हि प्रियमात्मनः ॥ १२ ॥

जनार्दन ! उनका लोभ इतना बढ़ गया है कि वे दुर्योधनकी ही हाँ-में-हाँ मिलाते हैं और अपना ही प्रिय कार्य करते हुए हमारे साथ मिथ्या व्यवहार कर रहे हैं ॥ १२ ॥

इतो दुःखतरं किं नु यदहं मातरं ततः ।
संविधातुं न शक्नोमि मित्राणां वा जनार्दन ॥ १३ ॥

जनार्दन ! इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या हो सकती है कि मैं अपनी माता तथा मित्रोंका भी अच्छी तरह भरण-पोषणतक नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

काशिभिश्चेदिपञ्चालैर्मत्स्यैश्च मधुसूदन ।
भवता चैव नाथेन पञ्च ग्रामा वृता मया ॥ १४ ॥

मधुसूदन ! यद्यपि काशी, चेदि, पाञ्चाल और मत्स्यदेशके वीर हमारे सहायक हैं और आप हमलोगोंके रक्षक और स्वामी हैं; (आपलोगोंकी सहायतासे हम सारा राज्य ले सकते हैं) तथापि मैंने केवल पाँच ही गाँव माँगे थे ॥ १४ ॥

अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दी वारणावतम् ।
अवसानं च गोविन्द कञ्चिदेवात्र पञ्चमम् ॥ १५ ॥
पञ्च नस्तात दीयन्तां ग्रामा वा नगराणि वा ।
वसेम सहिता येषु मा च नो भरता नशन् ॥ १६ ॥

गोविन्द ! मैंने धृतराष्ट्रसे यही कहा था कि तात ! आप हमें अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत और अन्तिम पाँचवाँ कोई-सा भी गाँव जिसे आप देना चाहें, दे दें । इस प्रकार हमारे लिये पाँच गाँव या नगर दे दें; जिनमें हम पाँचों भाई एक साथ मिलकर रह सकें और हमारे कारण भरतवंशियोंका नाश न हो ॥ १५-१६ ॥

न च तानपि दुष्टात्मा धार्तराष्ट्रोऽनुमन्यते ।
स्वाम्यमात्मनि मत्वासावतो दुःखतरं नु किम् ॥ १७ ॥

परंतु दुष्टात्मा दुर्योधन सबपर अपना ही अधिकार मानकर उन पाँच गाँवोंको भी देनेकी बात नहीं स्वीकार कर रहा है । इससे बढ़कर कष्टकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ १७ ॥

कुले जातस्य वृद्धस्य परवित्तेषु गृद्ध्यतः ।
लोभः प्रज्ञानमाहन्ति प्रज्ञा हन्ति हता ह्रियम् ॥ १८ ॥

मनुष्य उत्तम कुलमें जन्म लेकर और वृद्ध होनेपर भी यदि दूसरोंके धनको लेना चाहता है तो वह लोभ उसकी विचारशक्तिको नष्ट कर देता है। विचारशक्ति नष्ट होनेपर उसकी लज्जाको भी नष्ट कर देती है ॥ १८ ॥

ह्रीर्हता बाधते धर्मं धर्मो हन्ति हतः श्रियम् ।
श्रीर्हता पुरुषं हन्ति पुरुषस्याधनं वधः ॥ १९ ॥

नष्ट हुई लज्जा धर्मको नष्ट कर देती है। नष्ट हुआ धर्म मनुष्यकी सम्पत्तिका नाश कर देता है और नष्ट हुई सम्पत्ति उस मनुष्यका विनाश कर देती है, क्योंकि धनका अभाव ही मनुष्यका वध है ॥ १९ ॥

अधनाद्धि निवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदो द्विजाः।
अपुष्पादफलाद् वृक्षाद् यथा कृष्ण पतत्रिणः ॥ २० ॥

श्रीकृष्ण ! धनहीन पुरुषसे उसके भाई-बन्धु, सुहृद् और ब्राह्मणलोग भी उसी प्रकार मुँह मोड़ लेते हैं, जैसे पक्षी पुष्प और फलसे हीन वृक्षको छोड़कर उड़ जाते हैं ॥ २० ॥

एतच्च मरणं तात यन्मत्तः पतितादिव।
ज्ञातयो विनिवर्तन्ते प्रेतसत्त्वादिवासवः ॥ २१ ॥

तात ! जैसे पतित मनुष्यके निकटसे लोग दूर भागते हैं और जैसे मृत शरीरसे प्राण निकल जाते हैं, उसी प्रकार मेरे कुटुम्बीजन भी जो मुझसे मुँह मोड़ रहे हैं, यही मेरे लिये मरण है ॥ २१ ॥

नातः पापीयसीं काञ्चिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत्।
यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते ॥ २२ ॥

जहाँ आज और कल सबेरेके लिये भोजन नहीं दिखायी देता, उस दरिद्रतासे बढ़कर दूसरी कोई दुःखदायिनी अवस्था नहीं है; यह शम्बरका कथन है ॥ २२ ॥

धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम्।
जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः ॥ २३ ॥

धनको उत्तम धर्मका साधक बताया गया है। धनमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। संसारमें धनी मनुष्य ही जीवन धारण करते हैं। जो निर्धन हैं, वे तो मरे हुएके ही समान हैं ।२३।

ये धनादपकर्षन्ति नरं स्वबलमास्थिताः।
ते धर्ममर्थं कामं च प्रमथ्नन्ति नरं च तम् ॥ २४ ॥

जो लोग अपने बलमें स्थित होकर किसी मनुष्यको धनसे वञ्चित कर देते हैं, वे उसके धर्म, अर्थ और कामको तो नष्ट करते ही हैं, उस मनुष्यको भी नष्ट कर देते हैं ॥२४॥

एतामवस्थां प्राप्यैके मरणं वव्रिरे जनाः।
ग्रामायैके वनायैके नाशायैके प्रवव्रजुः ॥ २५ ॥

इस निर्धन अवस्थाको पाकर कितने ही मनुष्योंने मृत्युका वरण किया है। कुछ लोग गाँव छोड़कर दूसरे गाँवमें जा बसे हैं, कितने ही जंगलोंमें चले गये हैं और कितने ही मनुष्य प्राण देनेके लिये घरसे निकल पड़े हैं ॥ २५ ॥

उन्मादमेके पुष्यन्ति यान्त्यन्ये द्विषतां वशम्।
दास्यमेके च गच्छन्ति परेषामर्थहेतुना ॥ २६ ॥

कितने लोग पागल हो जाते हैं, बहुत-से शत्रुओंके वशमें पड़ जाते हैं और कितने ही मनुष्य धनके लिये दूसरोंकी दासता स्वीकार कर लेते हैं ॥ २६ ॥

आपदेवास्य मरणात् पुरुषस्य गरीयसी।
श्रियो विनाशस्तद्धयस्य निमित्तं धर्मकामयोः ॥ २७ ॥

धन-सम्पत्तिका नाश मनुष्यके लिये भारी विपत्ति ही है। वह मृत्युसे भी बढ़कर है, क्योंकि सम्पत्ति ही मनुष्यके धर्म और कामकी सिद्धिका कारण है ॥ २७ ॥

यदस्य धर्म्यं मरणं शाश्वतं लोकवर्त्म तत्।
समन्तात् सर्वभूतानां न तदत्येति कश्चन ॥ २८ ॥

मनुष्यकी जो धर्मानुकूल मृत्यु है, वह परलोकके लिये सनातन मार्ग है। सम्पूर्ण प्राणियोंमेंसे कोई भी उस मृत्युका सब ओरसे उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

न तथा बाध्यते कृष्ण प्रकृत्या निर्धनो जनः।
यथा भद्रां श्रियं प्राप्य तया हीनः सुखैधितः ॥ २९ ॥

श्रीकृष्ण ! जो जन्मसे ही निर्धन रहा है, उसे उस दरिद्रताके कारण उतना कष्ट नहीं पहुँचता, जितना कि कल्याणमयी सम्पत्तिको पाकर सुखमें ही पले हुए पुरुषको उस सम्पत्तिसे वञ्चित होनेपर होता है ॥ २९ ॥

स तदाऽऽत्मापराधेन सम्प्राप्तो व्यसनं महत्।
सेन्द्रान् गर्हयते देवान् नात्मानं च कथञ्चन ॥ ३० ॥

यद्यपि वह मनुष्य उस समय अपने ही अपराधसे भारी संकटमें पड़ता है, तथापि वह इसके लिये इन्द्र आदि देवताओंकी ही निन्दा करता है; अपनेको किसी प्रकार भी दोष नहीं देता है ॥ ३० ॥

न चास्य सर्वशास्त्राणि प्रभवन्ति निबर्हणे।
सोऽभिक्रुध्यति भृत्यानां सुहृदश्चाभ्यसूयति ॥ ३१ ॥

उस समय सम्पूर्ण शास्त्र भी उसके इस संकटको टालनेमें समर्थ नहीं होते। वह सेवकोंपर कुपित होता और सगे-सम्बन्धियोंके दोष देखने लगता है ॥ ३१ ॥

तं तदा मन्युरेवैति स भूयः सम्प्रमुह्यति।
स मोहवशमापन्नः क्रूरं कर्म निषेवते ॥ ३२ ॥

निर्धन अवस्थामें मनुष्यको केवल क्रोध आता है, जिससे वह पुनः मोहाच्छन्न हो जाता—विवेकशक्ति खो बैठता है। मोहके वशीभूत होकर वह क्रूरतापूर्ण कर्म करने लगता है ॥ ३२ ॥

पापकर्मतया चैव संकरं तेन पुष्यति।
संकरो नरकायैव सा काष्ठा पापकर्मणाम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार पापकर्मोंमें प्रवृत्त होनेके कारण वह वर्णसंकर संतानोंका पोषक होता है और वर्णसंकर केवल नरककी ही प्राप्ति कराता है। पापियोंकी यही अन्तिम गति है ॥३३॥

न चेत् प्रबुध्यते कृष्ण नरकायैव गच्छति ।
तस्य प्रबोधः प्रज्ञैव प्रज्ञाचक्षुस्तरिष्यति ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्ण ! यदि उसे फिरसे कर्तव्यका बोध नहीं होता, तो वह नरककी दिशामें ही बढ़ता जाता है । कर्तव्यका बोध करानेवाली प्रज्ञा ही है । जिसे प्रज्ञारूपी नेत्र प्राप्त हैं, वह निश्चय ही संकटसे पार हो जायगा ॥ ३४ ॥

प्रज्ञालाभे हि पुरुषः शास्त्राण्येवान्ववेक्षते ।
शास्त्रनिष्ठः पुनर्धर्मं तस्य ह्रीरङ्गमुत्तमम् ॥ ३५ ॥
ह्रीमान् हि पापं प्रद्वेष्टि तस्य श्रीरभिवर्धते ।
श्रीमान् स यावद् भवति तावद् भवति पूरुषः ॥ ३६ ॥

प्रज्ञाकी प्राप्ति होनेपर पुरुष केवल शास्त्रवचनोंपर ही दृष्टि रखता है। शास्त्रमें निष्ठा होनेपर वह पुनः धर्म करता है । धर्मका उत्तम अङ्ग है लज्जा, जो धर्मके साथ ही आ जाती है । लज्जाशील मनुष्य पापसे द्वेष रखकर उससे दूर हो जाता है । अतः उसकी धनसम्पत्ति बढ़ने लगती है । जो जितना ही श्रीसम्पन्न है, वह उतना ही पुरुष माना जाता है ॥ ३५-३६ ॥

धर्मनित्यः प्रशान्तात्मा कार्ययोगवहः सदा ।
नाधर्मे कुरुते बुद्धिं न च पापे प्रवर्तते ॥ ३७ ॥

सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाला पुरुष शान्तचित्त होकर नित्य-निरन्तर सत्कर्मोंमें लगा रहता है । वह कभी अधर्ममें मन नहीं लगाता और न पापमें ही प्रवृत्त होता है ॥ ३७ ॥

अह्रीको वा विमूढो वा नैव स्त्री न पुनः पुमान् ।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति यथा शूद्रस्तथैव सः ॥३८॥

जो निर्लज्ज अथवा मूर्ख है, वह न तो स्त्री है और न पुरुष ही है । उसका धर्म-कर्ममें अधिकार नहीं है । वह शूद्रके समान है ॥ ३८ ॥

ह्रीमानवति देवांश्च पितॄनात्मानमेव च ।
तेनामृतत्वं व्रजति सा काष्ठा पुण्यकर्मणाम् ॥ ३९ ॥

लज्जाशील पुरुष देवताओंकी, पितरोंकी तथा अपनी भी रक्षा करता है । इससे वह अमृतत्वको प्राप्त होता है । वही पुण्यात्मा पुरुषोंकी परम गति है ॥ ३९ ॥

तदिदं मयि ते दृष्टं प्रत्यक्षं मधुसूदन ।
यथा राज्यात् परिभ्रष्टो वसामि वसतीरिमाः ॥ ४० ॥

मधुसूदन ! यह सब आपने मुझमें प्रत्यक्ष देखा है कि मैं किस प्रकार राज्यसे भ्रष्ट हुआ और कितने कष्टके साथ इन दिनों रह रहा हूँ ॥ ४० ॥

ते वयं न श्रियं हातुमलं न्यायेन केनचित् ।
अत्र नो यतमानानां वधश्चेदपि साधु तत् ॥ ४१ ॥

अतः हमलोग किसी भी न्यायसे अपनी पैतृक सम्पत्तिका परित्याग करने योग्य नहीं हैं । इसके लिये प्रयत्न करते हुए यदि हमलोगोंका वध हो जाय तो वह भी अच्छा ही है ॥ ४१ ॥

तत्र नः प्रथमः कल्पो यद् वयं ते च माधव ।
प्रशान्ताः समभूताश्च श्रियं तामश्नुवीमहि ॥ ४२ ॥

माधव ! इस विषयमें हमारा पहला ध्येय यही है कि हम और कौरव आपसमें संधि करके शान्तभावसे रहकर उस सम्पत्तिका समानरूपसे उपभोग करें ॥ ४२ ॥

तत्रैषा परमा काष्ठा रौद्रकर्मक्षयोदया ।
यद् वयं कौरवान् हत्वा तानि राष्ट्राण्यवाप्नुमः॥४३॥

दूसरा पक्ष यह है कि हम कौरवोंको मारकर सारा राज्य अपने अधिकारमें कर लें; परंतु यह भयंकर क्रूरतापूर्ण कर्मकी पराकाष्ठा होगी (क्योंकि इस दशामें कितने ही निरपराध मनुष्योंका संहार करनेके पश्चात् हमारी विजय होगी) ॥४३॥

ये पुनः स्युरसम्बद्धा अनार्याः कृष्ण शत्रवः ।
तेषामप्यवधः कार्यः किं पुनर्ये स्युरीदृशाः ॥ ४४ ॥

श्रीकृष्ण ! जिनका अपने साथ कोई सम्बन्ध न हो तथा जो सर्वथा नीच एवं शत्रुभाव रखनेवाले हों, उनका भी वध करना उचित नहीं है । फिर जो सगे-सम्बन्धी, श्रेष्ठ और सुहृद् हैं, ऐसे लोगोंका वध कैसे उचित हो सकता है ? ॥४४॥

ज्ञातयश्चैव भूयिष्ठाः सहाया गुरवश्च नः ।
तेषां वधोऽतिपापीयान् किं नो युद्धेऽस्ति शोभनम् ॥

हमारे विरोधियोंमें अधिकांश हमारे भाई-बन्धु, सहायक और गुरुजन हैं । उनका वध तो बहुत बड़ा पाप है । युद्धमें अच्छी बात क्या है ? (कुछ नहीं)॥ ४५ ॥

पापः क्षत्रियधर्मोऽयं वयं च क्षत्रबन्धवः ।
स नः स्वधर्मोऽधर्मो वा वृत्तिरन्या विगर्हिता॥ ४६ ॥

क्षत्रियोंका यह (युद्धरूप) धर्म पापरूप ही है । हम भी क्षत्रिय ही हैं, अतः वह हमारा स्वधर्म पाप होनेपर भी हमें तो करना ही होगा, क्योंकि उसे छोड़कर दूसरी किसी वृत्तिको अपनाना भी निन्दाकी बात होगी ॥ ४६ ॥

शूद्रः करोति शुश्रूषां वैश्या वै पण्यजीविकाः ।
वयं वधेन जीवामः कपालं ब्राह्मणैर्वृतम् ॥ ४७ ॥

शूद्र सेवाका कार्य करता है, वैश्य व्यापारसे जीविका चलाते हैं, हम क्षत्रिय युद्धमें दूसरोंका वध करके जीवन-निर्वाह करते हैं और ब्राह्मणोंने अपनी जीविकाके लिये भिक्षापात्र चुन लिया है ॥ ४७ ॥

क्षत्रियः क्षत्रियं हन्ति मत्स्यो मत्स्येन जीवति ।
श्वा श्वानं हन्ति दाशार्ह पश्य धर्मो यथागतः॥ ४८ ॥

क्षत्रिय क्षत्रियको मारता है, मछली मछलीको खाकर

जीती है और कुत्ता कुत्तेको काटता है। दशार्हनन्दन ! देखिये; यही परम्परासे चला आनेवाला धर्म है ॥ ४८ ॥

युद्धे कृष्ण कलिर्नित्यं प्राणाः सीदन्ति संयुगे।
बलं तु नीतिमाधाय युध्ये जयपराजयौ ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्ण ! युद्धमें सदा कलह ही होता है और उसीके कारण प्राणोंका नाश होता है। मैं तो नीतिबलका ही आश्रय लेकर युद्ध करूँगा। फिर ईश्वरकी इच्छाके अनुसार जय हो या पराजय ॥ ४९ ॥

नात्मच्छन्देन भूतानां जीवितं मरणं तथा।
नाप्यकाले सुखं प्राप्यं दुःखं वापि यदूत्तम ॥ ५० ॥

प्राणियोंके जीवन और मरण अपनी इच्छाके अनुसार नहीं होते हैं (यही दशा जय और पराजयकी भी है) यदुश्रेष्ठ ! किसीको सुख अथवा दुःखकी प्राप्ति भी असमयमें नहीं होती है ॥ ५० ॥

एको ह्यपि बहून् हन्ति घ्नन्त्येकं बहवोऽप्युत।
शूरं कापुरुषो हन्ति अयशस्वी यशस्विनम् ॥ ५१ ॥

युद्धमें एक योद्धा भी बहुत-से सैनिकोंका संहार कर डालता है तथा बहुत-से योद्धा मिलकर भी किसी एकको ही मार पाते हैं। कभी कायर शूरवीरको मार देता है और अयशस्वी पुरुष यशस्वी वीरको पराजित कर देता है ॥ ५१ ॥

जयो नैवोभयोर्दृष्टो नोभयोश्च पराजयः।
तथैवापचयो दृष्टो व्यपयाने क्षयव्ययौ ॥ ५२ ॥

न तो कहीं दोनों पक्षोंकी विजय होती देखी गयी है और न दोनोंकी पराजय ही दृष्टिगोचर हुई है। हाँ, दोनोंके धन-वैभवका नाश अवश्य देखा गया है। यदि कोई पक्ष पीठ दिखाकर भाग जाय, तो उसे भी धन और जन दोनोंकी हानि उठानी पड़ती है ॥ ५२ ॥

सर्वथा वृजिनं युद्धं को घ्नन् न प्रतिहन्यते।
हतस्य च हृषीकेश समौ जयपराजयौ ॥ ५३ ॥

इससे सिद्ध होता है कि युद्ध सर्वथा पापरूप ही है। दूसरोंको मारनेवाला कौन ऐसा पुरुष है, जो बदलेमें स्वयं भी मारा न जाता हो ? हृषीकेश ! जो युद्धमें मारा गया, उसके लिये तो विजय और पराजय दोनों समान हैं ॥ ५३ ॥

पराजयश्च मरणान्मन्ये नैव विशिष्यते।
यस्य स्याद् विजयः कृष्ण तस्याप्यपचयो ध्रुवम् ॥ ५४ ॥

श्रीकृष्ण ! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि पराजय मृत्युसे अच्छी वस्तु नहीं है। जिसकी विजय होती है, उसे भी निश्चय ही धन-जनकी भारी हानि उठानी पड़ती है ॥ ५४ ॥

अन्ततो दयितं घ्नन्ति केचिदप्यपरे जनाः।
तस्याङ्ग बलहीनस्य पुत्रान् भ्रातॄनपश्यतः ॥ ५५ ॥
निर्वेदो जीविते कृष्ण सर्वतश्चोपजायते।

युद्ध समाप्त होनेतक कितने ही विपक्षी सैनिक विजयी योद्धाके अनेक प्रियजनोंको मार डालते हैं। जो विजय पाता है, वह भी (कुटुम्ब और धनसम्बन्धी) बलसे शून्य हो जाता है। और कृष्ण ! जब वह युद्धमें मारे गये अपने पुत्रों और भाइयोंको नहीं देखता है, तो वह सब ओरसे विरक्त हो जाता है; उसे अपने जीवनसे भी वैराग्य हो जाता है ॥ ५५½ ॥

ये ह्येव धीरा ह्रीमन्त आर्याः करुणवेदिनः ॥ ५६ ॥
त एव युद्धे हन्यन्ते यवीयान् मुच्यते जनः।
हत्वाप्यनुशयो नित्यं परानपि जनार्दन ॥ ५७ ॥

जो लोग धीर-वीर, लज्जाशील, श्रेष्ठ और दयालु हैं, वे ही प्रायः युद्धमें मारे जाते हैं और अधम श्रेणीके मनुष्य जीवित बच जाते हैं। जनार्दन ! शत्रुओंको मारनेपर भी उनके लिये सदा मनमें पश्चात्ताप बना रहता है ॥ ५६-५७ ॥

अनुबन्धश्च पापोऽत्र शेषश्चाप्यवशिष्यते।
शेषो हि बलमासाद्य न शेषमनुशेषयेत् ॥ ५८ ॥
सर्वोच्छेदे च यतते वैरस्यान्तविधित्सया।

भागे हुए शत्रुका पीछा करना अनुबन्ध कहलाता है, यह भी पापपूर्ण कार्य है। मारे जानेवाले शत्रुओंमेंसे कोई-कोई बचा रह जाता है। वह अवशिष्ट शत्रु शक्तिका संचय करके विजेताके पक्षमें जो लोग बचे हैं, उनमेंसे किसीको जीवित नहीं छोड़ना चाहता। वह शत्रुका अन्त कर डालनेकी इच्छासे विरोधी दलको सम्पूर्णरूपसे नष्ट कर देनेका प्रयत्न करता है ॥ ५८½ ॥

जयो वैरं प्रसृजति दुःखमास्ते पराजितः ॥ ५९ ॥
सुखं प्रशान्तः स्वपिति हित्वा जयपराजयौ।

विजयकी प्राप्ति भी चिरस्थायी शत्रुताकी सृष्टि करती है। पराजित पक्ष बड़े दुःखसे समय बिताता है। जो किसीसे शत्रुता न रखकर शान्तिका आश्रय लेता है, वह जय-पराजयकी चिन्ता छोड़कर सुखसे सोता है ॥ ५९½ ॥

जातवैरश्च पुरुषो दुःखं स्वपिति नित्यदा ॥ ६० ॥
अनिर्वृत्तेन मनसा ससर्प इव वेश्मनि।

किसीसे वैर बाँधनेवाला पुरुष सर्पयुक्त गृहमें रहनेवालेकी भाँति उद्विग्नचित्त होकर सदा दुःखकी नींद सोता है ॥ ६०½ ॥

उत्सादयति यः सर्वं यशसा स विमुच्यते ॥ ६१ ॥
अकीर्तिं सर्वभूतेषु शाश्वतीं सोऽधिगच्छति।

जो शत्रुके कुलमें आबालवृद्ध सभी पुरुषोंका उच्छेद कर डालता है, वह वीरोचित यशसे वञ्चित हो जाता है। वह समस्त प्राणियोंमें सदा बनी रहनेवाली अपकीर्ति (निन्दा) का भागी होता है ॥ ६१½ ॥

न हि वैराणि शाम्यन्ति दीर्घकालधृतान्यपि ॥ ६२ ॥
आख्यातारश्च विद्यन्ते पुमांश्चेद् विद्यते कुले।

दीर्घकालतक मनमें दबाये रखनेपर भी वैरकी आग सर्वथा बुझ नहीं पाती; क्योंकि यदि कोई उस कुलमें विद्यमान है, तो उससे पूर्वघटित वैर बढ़ानेवाली घटनाओंको बतानेवाले बहुत-से लोग मिल जाते हैं ॥ ६२½ ॥

न चापि वैरं वैरेण केशव व्युपशाम्यति ॥ ६३ ॥
हविषाग्निर्यथा कृष्ण भूय एवाभिवर्धते ।

केशव ! जैसे घी डालनेपर आग बुझनेके बजाय और अधिक प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार वैर करनेसे वैरकी आग शान्त नहीं होती, अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है ॥ ६३½ ॥

अतोऽन्यथा नास्ति शान्तिर्नित्यमन्तरमन्ततः ॥ ६४ ॥
अन्तरं लिप्समानानामयं दोषो निरन्तरः ।

(क्योंकि दोनों पक्षोंमें सदा कोई-न-कोई छिद्र मिलनेकी सम्भावना रहती है) इसलिये दोनों पक्षोंमेंसे एकका सर्वथा नाश हुए बिना पूर्णतः शान्ति नहीं प्राप्त होती है । जो लोग छिद्र ढूँढ़ते रहते हैं, उनके सामने यह दोष निरन्तर प्रस्तुत रहता है ॥ ६४½ ॥

पौरुषे यो हि बलवानाधिर्हृदयबाधनः ।
तस्य त्यागेन वा शान्तिर्मरणेनापि वा भवेत् ॥ ६५ ॥

यदि अपनेमें पुरुषार्थ है, तो पूर्ववैरको याद करके जो हृदयको पीड़ा देनेवाली प्रबल चिन्ता सदा बनी रहती है, उसे वैराग्यपूर्वक त्याग देनेसे ही शान्ति मिल सकती है; अथवा मर जानेसे ही उस चिन्ताका निवारण हो सकता है ॥ ६५ ॥

अथवा 'मूलघातेन द्विषतां मधुसूदन ।
फलनिर्वृत्तिरिद्धा स्यात् तन्नृशंसतरं भवेत् ॥ ६६ ॥

अथवा शत्रुओंको समूल नष्ट कर देनेसे ही अभीष्ट फलकी सिद्धि हो सकती है । परंतु मधुसूदन ! यह बड़ी क्रूरताका कार्य होगा ॥ ६६ ॥

या तु त्यागेन शान्तिः स्यात् तदृते वध एव सः ।
संशयाच्च समुच्छेदाद् द्विषतामात्मनस्तथा ॥ ६७ ॥

राज्यको त्याग देनेसे उसके बिना जो शान्ति मिलती है, वह भी वधके ही समान है । क्योंकि उस दशामें शत्रुओंसे सदा यह संदेह बना रहता है कि ये अवसर देखकर प्रहार करेंगे और धन-सम्पत्तिसे वञ्चित होनेके कारण अपने विनाशकी सम्भावना भी रहती ही है ॥ ६७ ॥

न च त्यक्तुं तदिच्छामो न चेच्छामः कुलक्षयम् ।
अत्र या प्रणिपातेन शान्तिः सैव गरीयसी ॥ ६८ ॥

अतः हमलोग न तो राज्य त्यागना चाहते हैं और न कुलके विनाशकी ही इच्छा रखते हैं । यदि नम्रता दिखानेसे भी शान्ति हो जाय तो वही सबसे बढ़कर है ॥ ६८ ॥

सर्वथा यतमानानामयुद्धमभिकाङ्क्षताम् ।
सान्त्वे प्रतिहते युद्धं प्रसिद्धं नापराक्रमः ॥ ६९ ॥

यद्यपि हम युद्धकी इच्छा न रखकर साम, दान और भेद सभी उपायोंसे राज्यकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर रहे हैं, तथापि यदि हमारी सामनीति असफल हुई तो युद्ध ही हमारा प्रधान कर्तव्य होगा; हम पराक्रम छोड़कर बैठ नहीं सकते ॥

प्रतिघातेन सान्त्वस्य दारुणं सम्प्रवर्तते ।
तच्छुनामिव सम्पाते पण्डितैरुपलक्षितम् ॥ ७० ॥

जब शान्तिके प्रयत्नोंमें बाधा आती है, तब भयंकर युद्ध स्वतः आरम्भ हो जाता है । पण्डितोंने इस युद्धकी उपमा कुत्तोंके कलहसे दी है ॥ ७० ॥

लाङ्गूलचालनं क्ष्वेडा प्रतिवाचो विवर्तनम् ।
दन्तदर्शनमारावस्ततो युद्धं प्रवर्तते ॥ ७१ ॥

कुत्ते पहले पूँछ हिलाते हैं, फिर गुर्राते और गर्जते हैं । तत्पश्चात् एक-दूसरेके निकट पहुँचते हैं । फिर दाँत दिखाना और भूकना आरम्भ करते हैं । तत्पश्चात् उनमें युद्ध होने लगता है ॥ ७१ ॥

तत्र यो बलवान् कृष्ण जित्वा सोऽत्ति तदामिषम् ।
एवमेव मनुष्येषु विशेषो नास्ति कश्चन ॥ ७२ ॥

श्रीकृष्ण ! उनमें जो बलवान् होता है, वही उस मांसको खाता है, जिसके लिये कि उनमें लड़ाई हुई थी । यही दशा मनुष्योंकी है । इनमें कोई विशेषता नहीं है* ॥ ७२ ॥

सर्वथा त्वेतदुचितं दुर्बलेषु बलीयसाम् ।
अनादरोऽविरोधश्च प्रणिपाती हि दुर्बलः ॥ ७३ ॥

यह सर्वथा उचित है कि बलवानोंकी दुर्बलोंके प्रति आदरबुद्धि न हो । वे उसका विरोध भी नहीं करते । दुर्बल वही है, जो सदा झुकनेके लिये तैयार रहे ॥ ७३ ॥

पिता राजा च वृद्धश्च सर्वथा मानमर्हति ।
तस्मान्मान्यश्च पूज्यश्च धृतराष्ट्रो जनार्दन ॥ ७४ ॥

जनार्दन ! पिता, राजा और वृद्ध सर्वथा समादरके ही योग्य हैं । अतः धृतराष्ट्र हमारे लिये सदा माननीय एवं पूजनीय हैं ॥ ७४ ॥

---

* कुत्तोंके दुम हिलानेके समान राजाओंका ध्वज-कम्पन है, उनके गुर्रानेकी जगह उनका सिंहनाद है । कुत्ते जो एक-दूसरेको देखकर गर्जते हैं, उसी प्रकार दो विरोधी क्षत्रिय एक-दूसरेके प्रति उत्तर-प्रत्युत्तरके रूपमें आक्षेपजनक बातें कहते हैं । एक-दूसरेके निकट जाना दोनोंमें समानरूपसे होता है । राजालोग क्रोधमें आकर जो दाँतोंसे होठ चबाते हैं, यही कुत्तोंके समान उनका दाँत दिखाना है । विकट गर्जन-तर्जन भूकना है और युद्ध करना ही कुत्तोंके समान लड़ना है । राज्यकी प्राप्ति ही वह मांसका टुकड़ा है, जिसके लिये उनमें लड़ाई होती है ।

पुत्रस्नेहश्च बलवान् धृतराष्ट्रस्य माधव ।
स पुत्रवशमापन्नः प्रणिपातं प्रहास्यति ॥ ७५ ॥

माधव ! धृतराष्ट्रमें अपने पुत्रके प्रति प्रबल आसक्ति है । वे पुत्रके वशमें होनेके कारण कभी झुकना नहीं स्वीकार करेंगे ॥ ७५ ॥

तत्र किं मन्यसे कृष्ण प्राप्तकालमनन्तरम् ।
कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयेमहि माधव ॥ ७६ ॥

माधव श्रीकृष्ण ! ऐसे समयमें आप क्या उचित समझते हैं ? हम कैसा बर्ताव करें, जिससे हमें अर्थ और धर्मसे भी वञ्चित न होना पड़े ? ॥ ७६ ॥

ईदृशेऽत्यर्थकृच्छ्रेऽस्मिन् कमन्यं मधुसूदन ।
उपसम्प्रष्टुमर्हामि त्वामृते पुरुषोत्तम ॥ ७७ ॥

पुरुषोत्तम मधुसूदन ! ऐसे महान् संकटके समय हम आपको छोड़कर और किससे सलाह ले सकते हैं ॥ ७७ ॥

प्रियश्च प्रियकामश्च गतिज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
को हि कृष्णास्ति नस्त्वादृक् सर्वनिश्चयवित् सुहृत् ॥

श्रीकृष्ण ! आपके समान हमारा प्रिय, हितैषी, समस्त कर्मोंके परिणामको जाननेवाला और सभी बातोंमें एक निश्चित सिद्धान्त रखनेवाला सुहृद् कौन है ? ॥ ७८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजं जनार्दनः ।
उभयोरेव वामर्थे यास्यामि कुरुसंसदम् ॥ ७९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—'राजन् ! मैं दोनों पक्षोंके हितके लिये कौरवोंकी सभामें जाऊँगा ॥ ७९ ॥

शमं तत्र लभेयं चेद् युष्मदर्थमहापयन् ।
पुण्यं मे सुमहद् राजंश्चरितं स्यान्महाफलम् ॥ ८० ॥

'वहाँ जाकर आपके लाभमें किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचाते हुए यदि मैं दोनों पक्षोंमें संधि करा सका, तो समझूँगा कि मेरेद्वारा यह महान् फलदायक एवं बहुत बड़ा पुण्यकर्म सम्पन्न हो गया ॥ ८० ॥

मोचयेयं मृत्युपाशात् संरब्धान् कुरुसंजयान् ।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्रांश्च सर्वां च पृथिवीमिमाम् ॥८१॥

'ऐसा होनेपर एक-दूसरेके प्रति रोषमें भरे हुए इन कौरवों, संजयों, पाण्डवों और धृतराष्ट्रपुत्रोंको तथा इस सारी पृथ्वीको भी मानो मैं मौतके फंदेसे छुड़ा लूँगा' ॥

युधिष्ठिर उवाच

न ममैतन्मतं कृष्ण यत् त्वं यायाः कुरून् प्रति ।
सुयोधनः सूक्तमपि न करिष्यति ते वचः ॥ ८२ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मेरा यह विचार नहीं है कि आप कौरवोंके यहाँ जायँ; क्योंकि आपकी कही हुई अच्छी बातोंको भी दुर्योधन नहीं मानेगा ॥ ८२ ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं दुर्योधनवशानुगम् ।
तेषां मध्यावतरणं तव कृष्ण न रोचये ॥ ८३ ॥

इसके सिवा इस समय दुर्योधनके वशमें रहनेवाले भूमण्डलके सभी क्षत्रिय वहाँ एकत्र हुए हैं । उनके बीचमें आपका जाना मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ ८३ ॥

न हि नः प्रीणयेद् द्रव्यं न देवत्वं कुतः सुखम् ।
न च सर्वामरैश्वर्यं तव द्रोहेण माधव ॥ ८४ ॥

माधव ! यदि दुर्योधनने द्रोहवश आपके साथ कोई अनुचित बर्ताव किया, तो धन, सुख, देवत्व तथा सम्पूर्ण देवताओंका ऐश्वर्य भी हमें प्रसन्न नहीं कर सकेगा ॥८४॥

श्रीभगवानुवाच

जानाम्येतां महाराज धार्तराष्ट्रस्य पापताम् ।
अवाच्यास्तु भविष्यामः सर्वलोके महीक्षिताम् ।८५।

श्रीभगवान्ने कहा—महाराज ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन कितना पापाचारी है, यह मैं जानता हूँ । तथापि वहाँ जाकर संधिके लिये प्रयत्न करनेपर हम सब लोग सम्पूर्ण जगत्के राजाओंकी दृष्टिमें निन्दाके पात्र न होंगे ॥ ८५ ॥

न चापि मम पर्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः ।
क्रुद्धस्य संयुगे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ ८६ ॥

(मेरे तिरस्कारके भयसे भी आप चिन्तित न हों, क्योंकि) जैसे क्रोधमें भरे हुए सिंहके सामने दूसरे पशु नहीं ठहर सकते हैं, उसी प्रकार यदि मैं कोप करूँ, तो संसारके सारे भूपाल मिलकर भी युद्धमें मेरे सामने खड़े नहीं हो सकते हैं ॥ ८६ ॥

अथ चेत् ते प्रवर्तन्ते मयि किंचिदसाम्प्रतम् ।
निर्दहेयं कुरून् सर्वानिति मे धीयते मतिः ॥ ८७ ॥

यदि वे मेरे साथ थोड़ा-सा भी अनुचित बर्ताव करेंगे, तो मैं उन समस्त कौरवोंको जलाकर भस्म कर डालूँगा; यह मेरा निश्चित विचार है ॥ ८७ ॥

न जातु गमनं पार्थ भवेत् तत्र निरर्थकम् ।
अर्थप्राप्तिः कदाचित् स्यादन्ततो वाप्यवाच्यता ॥८८॥

अतः कुन्तीनन्दन ! मेरा वहाँ जाना कदापि निरर्थक नहीं होगा । सम्भव है, वहाँ अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धि हो जाय और यदि काम न बना, तो भी हम निन्दासे तो बच ही जायँगे ॥ ८८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यत् तुभ्यं रोचते कृष्ण स्वस्ति प्राप्नुहि कौरवान् ।
कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामि पुनरागतम् ॥ ८९ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! आपकी जैसी रुचि हो, वही कीजिये । आपका कल्याण हो । आप प्रसन्नतापूर्वक कौरवोंके पास जाइये । आशा है, मैं पुनः आपको अपने कार्यमें सफल होकर यहाँ सकुशल लौटा हुआ देखूँगा ॥

विष्वक्सेन कुरून् गत्वा भरताञ्छमय प्रभो ।
यथा सर्वे सुमनसः सह स्याम सुचेतसः ॥ ९० ॥

विष्वक्सेन प्रभो ! आप कुरुदेशमें जाकर भरतवंशियोंको शान्त कीजिये, जिससे हम सब लोग शुद्ध हृदयसे प्रसन्नचित्त होकर एक साथ रह सकें ॥ ९० ॥

भ्राता चासि सखा चासि बीभत्सोर्मम च प्रियः ।
सौहृदेनाविशङ्क्योऽसि स्वस्ति प्राप्नुहि भूतये ॥ ९१ ॥

आप हमलोगोंके भाई और मित्र हैं । अर्जुनके तथा मेरे भी प्रीतिभाजन हैं । आपके सौहार्दके विषयमें हमारे मनमें कोई शंका नहीं है । अतः आप उभय पक्षोंकी भलाईके लिये वहाँ जाइये । आपका कल्याण हो ॥ ९१ ॥

अस्मान् वेत्थ परान् वेत्थ वेत्थार्थान् वेत्थ भाषितुम् ।
यद् यदस्मद्धितं कृष्ण तत् तद् वाच्यः सुयोधनः ॥ ९२ ॥

श्रीकृष्ण ! आप हमको जानते हैं, कौरवोंको भी जानते हैं, हम दोनोंके स्वार्थोंसे भी आप अपरिचित नहीं हैं और बातचीत कैसे करनी चाहिये, यह भी आपको अच्छी तरह ज्ञात है । अतः जिस-जिस बातसे हमारा हित हो, वह सब आप दुर्योधनको बतावें ॥ ९२ ॥

यद् यद् धर्मेण संयुक्तमुपपद्येद्धितं वचः ।
तत् तत् केशव भाषेथाः सान्त्वं वा यदि वेतरत् ॥ ९३ ॥

केशव ! जो-जो बात धर्मसंगत, युक्तियुक्त और हितकर हो, वह सब कोमल हो या कठोर, आप अवश्य कहें ॥ ९३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि युधिष्ठिरकृतकृष्णप्रेरणे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें युधिष्ठिरद्वारा श्रीकृष्णको प्रेरणाविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ९८½ श्लोक हैं)

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको युद्धके लिये प्रोत्साहन देना

श्रीभगवानुवाच

संजयस्य श्रुतं वाक्यं भवतश्च श्रुतं मया ।
सर्वं जानाम्यभिप्रायं तेषां च भवतश्च यः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—राजन् ! मैंने संजयकी और आपकी भी बातें सुनी हैं । कौरवोंका क्या अभिप्राय है, वह सब मैं जानता हूँ और आपका जो विचार है, उससे भी मैं अपरिचित नहीं हूँ ॥ १ ॥

तव धर्माश्रिता बुद्धिस्तेषां वैराश्रया मतिः ।
यदयुद्धेन लभ्येत तत् ते बहुमतं भवेत् ॥ २ ॥

आपकी बुद्धि धर्ममें स्थित है और उनकी बुद्धिने शत्रुताका आश्रय ले रक्खा है । आप तो बिना युद्ध किये जो कुछ मिल जाय, उसीको बहुत समझेंगे ॥ २ ॥

न चैवं नैष्ठिकं कर्म क्षत्रियस्य विशाम्पते ।
आहुराश्रमिणः सर्वे न भैक्षं क्षत्रियश्चरेत् ॥ ३ ॥

परंतु महाराज ! यह क्षत्रियका नैष्ठिक (स्वाभाविक) कर्म नहीं है । सभी आश्रमोंके श्रेष्ठ पुरुषोंका यह कथन है कि क्षत्रियको भीख नहीं माँगनी चाहिये ॥ ३ ॥

जयो वधो वा संग्रामे धात्राऽऽदिष्टः सनातनः ।
स्वधर्मः क्षत्रियस्यैष कार्पण्यं न प्रशस्यते ॥ ४ ॥

उसके लिये विधाताने यही सनातन कर्तव्य बताया है कि वह संग्राममें विजय प्राप्त करे अथवा वहीं प्राण दे दे । यही क्षत्रियका स्वधर्म है । दीनता अथवा कायरता उसके लिये प्रशंसाकी वस्तु नहीं है ॥ ४ ॥

न हि कार्पण्यमास्थाय शक्या वृत्तिर्युधिष्ठिर ।
विक्रमस्व महाबाहो जहि शत्रून् परंतप ॥ ५ ॥

महाबाहु युधिष्ठिर ! दीनताका आश्रय लेनेसे क्षत्रियकी जीविका नहीं चल सकती । शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! अब पराक्रम दिखाइये और शत्रुओंका संहार कीजिये ॥ ५ ॥

अतिगृद्धाः कृतस्नेहा दीर्घकालं सहोषिताः ।
कृतमित्राः कृतबला धार्तराष्ट्राः परंतप ॥ ६ ॥

परंतप ! धृतराष्ट्रके पुत्र बड़े लोभी हैं । इधर उन्होंने बहुत-से मित्र-राजाओंका संग्रह कर लिया है और उनके साथ दीर्घकालतक रहकर अपने प्रति उनका स्नेह भी बढ़ा लिया है । (शिक्षा और अभ्यास आदिके द्वारा भी) उन्होंने विशेष शक्तिका संचय कर लिया है ॥ ६ ॥

न पर्यायोऽस्ति यत् साम्यं त्वयि कुर्युर्विशाम्पते ।
बलवत्तां हि मन्यन्ते भीष्मद्रोणकृपादिभिः ॥ ७ ॥

अतः प्रजानाथ ! ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिससे (वे आपको आधा राज्य देकर) आपके प्रति समता (सन्धि) स्थापित करें । भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि उनके पक्षमें हैं, इसलिये वे अपनेको आपसे अधिक बलवान् समझते हैं ॥

यावच्च मार्दवेनैतान् राजन्नुपचरिष्यसि ।
तावदेते हरिष्यन्ति तव राज्यमरिंदम ॥ ८ ॥

अतः शत्रुदमन राजन् ! जबतक आप इनके साथ नर्मीका बर्ताव करेंगे, तबतक ये आपके राज्यका अपहरण करनेकी ही चेष्टा करेंगे । ॥ ८ ॥

नानुक्रोशान्न कार्पण्यान्न च धर्मार्थकारणात् ।
अलं कर्तुं धार्तराष्ट्रास्तव काममरिंदम ॥ ९ ॥

शत्रुमर्दन नरेश ! आप यह न समझें कि धृतराष्ट्रके पुत्र आपपर कृपा करके या अपनेको दीन-दुर्बल मानकर अथवा धर्म एवं अर्थकी ओर दृष्टि रखकर आपका मनोरथ पूर्ण कर देंगे ॥ ९ ॥

एतदेव निमित्तं ते पाण्डवास्तु यथा त्वयि ।
नान्वतप्यन्त कौपीनं तावत् कृत्वापि दुष्करम् ॥ १० ॥

पाण्डुनन्दन ! कौरवोंके सन्धि न करनेका सबसे बड़ा कारण या प्रमाण तो यही है कि उन्होंने आपको कौपीन धारण कराकर तथा उतने दीर्घकालतकके लिये वनवासका दुष्कर कष्ट देकर भी कभी इसके लिये पश्चात्ताप नहीं किया॥

पितामहस्य द्रोणस्य विदुरस्य च धीमतः ।
ब्राह्मणानां च साधूनां राज्ञश्च नगरस्य च ॥ ११ ॥
पश्यतां कुरुमुख्यानां सर्वेषामेव तत्त्वतः ।
दानशीलं मृदुं दान्तं धर्मशीलमनुव्रतम् ॥ १२ ॥
यत् त्वामुपधिना राजन् द्यूते वञ्चितवांस्तदा ।
न चापत्रपते तेन नृशंसः स्वेन कर्मणा ॥ १३ ॥

राजन् ! आप दानशील, कोमलस्वभाव, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले, स्वभावतः धर्मपरायण तथा सबके हैं, तो भी क्रूर दुर्योधनने उस समय पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, बुद्धिमान् विदुर, साधु, ब्राह्मण, राजा धृतराष्ट्र, नगरनिवासी जनसमुदाय तथा कुरुकुलके सभी श्रेष्ठ पुरुषोंके देखते-देखते आपको जूएमें छलसे ठग लिया और अपने उस कुकृत्यके लिये वह अबतक लज्जाका अनुभव नहीं करता है॥

तथाशीलसमाचारे राजन् मा प्रणयं कृथाः ।
वध्यास्ते सर्वलोकस्य किं पुनस्तव भारत ॥ १४ ॥

राजन् ! ऐसे कुटिलस्वभाव और खोटे आचरणवाले दुर्योधनके प्रति आप प्रेम न दिखावें । भारत ! धृतराष्ट्रके वे पुत्र तो सभी लोगोंके वध्य हैं; फिर आप उनका वध करें, इसके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ १४ ॥

वाग्भिस्त्वप्रतिरूपाभिरतुदत् त्वां सहानुजम् ।
श्लाघमानः प्रहृष्टः सन् भ्रातृभिः सह भाषते ॥ १५ ॥
एतावत् पाण्डवानां हि नास्ति किंचिदिह स्वकम् ।
नामधेयं च गोत्रं च तदप्येषां न शिष्यते ॥ १६ ॥

(क्या आप वह दिन भूल गये, जब कि) दुर्योधनने भाइयोंसहित आपको अपने अनुचित वचनोंद्वारा मार्मिक पीड़ा पहुँचायी थी । वह अत्यन्त हर्षसे फूलकर अपनी मिथ्या प्रशंसा करता हुआ अपने भाइयोंके साथ कहता था—'अब पाण्डवोंके पास इस संसारमें 'अपनी' कहनेके लिये इतनी-सी भी कोई वस्तु नहीं रह गयी है । केवल नाम और गोत्र बचा है, परंतु वह भी शेष नहीं रहेगा ॥ १५-१६ ॥

कालेन महता चैषां भविष्यति पराभवः ।
प्रकृतिं ते भजिष्यन्ति नष्टप्रकृतयो मयि ॥ १७ ॥

'दीर्घकालके पश्चात् इनकी भारी पराजय होगी। इनकी स्वाभाविक शूरता-वीरता आदि नष्ट हो जायगी और ये मेरे पास ही प्राणत्याग करेंगे' ॥ १७ ॥

दुःशासनेन पापेन तदा द्यूते प्रवर्तिते ।
अनाथवत् तदा देवी द्रौपदी सुदुरात्मना ॥ १८ ॥
आकृष्य केशे रुदती सभायां राजसंसदि ।
भीष्मद्रोणप्रमुखतो गौरिति व्याहृता मुहुः ॥ १९ ॥

उन दिनों जब जूएका खेल चल रहा था, अत्यन्त दुरात्मा पापी दुःशासन अनाथकी भाँति रोती-कलपती हुई महारानी द्रौपदीको उनके केश पकड़कर राजसभामें घसीट लाया और भीष्म तथा द्रोणाचार्य आदिके समक्ष उसने उनका उपहास करते हुए बारंबार उसे 'गाय' कहकर पुकारा ॥

भवता वारिताः सर्वे भ्रातरो भीमविक्रमाः ।
धर्मपाशनिबद्धाश्च न किंचित् प्रतिपेदिरे ॥ २० ॥

यद्यपि आपके भाई भयंकर पराक्रम प्रकट करनेमें समर्थ थे, तथापि आपने इन्हें रोक दिया, इसलिये धर्मबन्धनमें बँधे होनेके कारण ये उस समय उस अन्यायका कुछ भी प्रतीकार न कर सके ॥ २० ॥

एताश्चान्याश्च परुषा वाचः स समुदीरयन् ।
श्लाघते ज्ञातिमध्ये स्म त्वयि प्रव्रजिते वनम् ॥ २१ ॥

जब आप वनकी ओर जाने लगे, उस समय भी वह बन्धु-बान्धवोंके बीचमें ऊपर कही हुई तथा और भी बहुत-सी कठोर बातें कहकर अपनी प्रशंसा करता रहा ॥ २१ ॥

ये तत्रासन् समानीतास्ते दृष्ट्वा त्वामनागसम् ।
अश्रुकण्ठा रुदन्तश्च सभायामासते तदा ॥ २२ ॥

जो लोग वहाँ बुलाये गये थे, वे सभी नरेश आपको निरपराध देखकर रोते और आँसू बहाते हुए रुँधे हुए कण्ठसे उस समय चुपचाप सभामें बैठे रहे ॥ २२ ॥

न चैनमभ्यनन्दंस्ते राजानो ब्राह्मणैः सह ।
सर्वे दुर्योधनं तत्र निन्दन्ति स्म सभासदः ॥ २३ ॥

ब्राह्मणोंसहित उन राजाओंने वहाँ दुर्योधनकी प्रशंसा

नहीं की। उस समय सभी सभासद् उसकी निन्दा ही कर रहे थे ॥ २३ ॥

कुलीनस्य च या निन्दा वधो वामित्रकर्शन।
महागुणो वधो राजन् न तु निन्दा कुजीविका ॥ २४ ॥

शत्रुसूदन! कुलीन पुरुषकी निन्दा हो या वध—इनमेंसे वध ही उसके लिये अत्यन्त गुणकारक है; निन्दा नहीं। निन्दा तो जीवनको घृणित बना देती है ॥ २४ ॥

तदैव निहतो राजन् यदैव निरपत्रपः।
निन्दितश्च महाराज पृथिव्यां सर्वराजभिः ॥ २५ ॥

महाराज! जब इस भूमण्डलके सभी राजाओंने निन्दा की, उसी समय उस निर्लज्ज दुर्योधनकी एक प्रकारसे मृत्यु हो गयी ॥ २५ ॥

ईषत् कार्यो वधस्तस्य यस्य चारित्रमीदृशम्।
प्रस्कन्देन प्रतिस्तब्धश्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ २६ ॥

जिसका चरित्र इतना गिरा हुआ है, उसका वध करना तो बहुत साधारण कार्य है। जिसकी जड़ कट गयी हो और जो गोल वेदीके आधारपर खड़ा हो, उस वृक्षकी भाँति दुर्योधनके भी धराशायी होनेमें अब अधिक विलम्ब नहीं है॥

वध्यः सर्प इवानार्यः सर्वलोकस्य दुर्मतिः।
जह्येनं त्वममित्रघ्न मा राजन् विचिकित्सिथाः ॥ २७ ॥

खोटी बुद्धिवाला दुराचारी दुर्योधन दुष्ट सर्पकी भाँति सब लोगोंके लिये वध्य है। शत्रुओंका नाश करनेवाले महाराज! आप दुविधामें न पड़ें, इस दुष्टको अवश्य मार डालें ॥२७॥

सर्वथा त्वत्क्षमं चैतद् रोचते च ममानघ।
यत् त्वं पितरि भीष्मे च प्रणिपातं समाचरेः ॥ २८ ॥

निष्पाप नरेश! आप जो पितृतुल्य धृतराष्ट्र तथा पितामह भीष्मके प्रति प्रणाम एवं नम्रतापूर्ण बर्ताव करते हैं, वह सर्वथा आपके योग्य है। मैं भी इसे पसंद करता हूँ ॥ २८ ॥

अहं तु सर्वलोकस्य गत्वा छेत्स्यामि संशयम्।
येषामस्ति द्विधाभावो राजन् दुर्योधनं प्रति ॥ २९ ॥

राजन्! दुर्योधनके सम्बन्धमें जिन लोगोंका मन दुबिधामें है—जो लोग उसके अच्छे या बुरे होनेका निर्णय नहीं कर सके हैं, उन सब लोगोंका संदेह मैं वहाँ जाकर दूर कर दूँगा॥

मध्ये राज्ञामहं तत्र प्रातिपौरुषिकान् गुणान्।
तव संकीर्तयिष्यामि ये च तस्य व्यतिक्रमाः ॥ ३० ॥

मैं राजसभामें जुटे हुए भूपालोंकी मण्डलीमें आपके सर्वसाधारण गुणोंका वर्णन और दुर्योधनके दोषों तथा अपराधोंका उद्घाटन करूँगा ॥ ३० ॥

ब्रुवतस्तत्र मे वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्।
निशम्य पार्थिवाः सर्वे नानाजनपदेश्वराः ॥ ३१ ॥

त्वयि सम्प्रतिपत्स्यन्ते धर्मात्मा सत्यवागिति।
तस्मिंश्चाधिगमिष्यन्ति यथा लोभादवर्तत ॥ ३२ ॥

मेरे मुखसे धर्म और अर्थसे संयुक्त हितकर वचन सुनकर नाना जनपदोंके स्वामी समस्त भूपाल आपके विषयमें यह निश्चितरूपसे समझ लेंगे कि युधिष्ठिर धर्मात्मा तथा सत्यवादी हैं और दुर्योधनके सम्बन्धमें भी उन्हें यह निश्चय हो जायगा कि उसने लोभसे प्रेरित होकर ही सारा अनुचित बर्ताव किया है ॥ ३१-३२ ॥

गर्हयिष्यामि चैवैनं पौरजानपदेष्वपि।
वृद्धबालानुपादाय चातुर्वर्ण्ये समागते ॥ ३३ ॥

मैं वहाँ आये हुए चारों वर्णोंके आबालवृद्ध जनसमुदायको अपनाकर उनके सामने तथा पुरवासियों और देशवासियोंके समक्ष भी इस दुर्योधनकी निन्दा करूँगा ॥ ३३ ॥

शमं वै याचमानस्त्वं नाधर्मं तत्र लप्स्यसे।
कुरून् विगर्हयिष्यन्ति धृतराष्ट्रं च पार्थिवाः ॥ ३४ ॥

वहाँ शान्तिके लिये याचना करनेपर आप अधर्मके भी भागी न होंगे। सब राजा कौरवोंकी तथा धृतराष्ट्रकी ही निन्दा करेंगे ॥ ३४ ॥

तस्मिँल्लोकपरित्यक्ते किं कार्यमवशिष्यते।
हते दुर्योधने राजन् यदन्यत् क्रियतामिति ॥ ३५ ॥

सब लोग दुर्योधनको अन्यायी समझकर त्याग देंगे और वह निन्दनीय होनेके कारण नष्टप्राय हो जायगा। उस दशामें आपका दूसरा कौन-सा कार्य शेष रह जाता है? जिसे सम्पन्न किया जाय ॥ ३५ ॥

यात्वा चाहं कुरून् सर्वान् युष्मदर्थमहापयन्।
यतिष्ये प्रशमं कर्तुं लक्षयिष्ये च चेष्टितम् ॥ ३६ ॥

वहाँ पहुँचकर आपके स्वार्थकी सिद्धिमें तनिक भी त्रुटि न आने देते हुए मैं समस्त कौरवोंसे सन्धि-स्थापनके लिये प्रयत्न करूँगा और उनकी चेष्टाओंपर दृष्टि रक्खूँगा ॥ ३६ ॥

कौरवाणां प्रवृत्तिं च गत्वा युद्धाधिकारिकाम्।
निशम्य विनिवर्तिष्ये जयाय तव भारत ॥ ३७ ॥

भारत! मैं जाकर कौरवोंकी युद्धविषयक तैयारीकी बातें जान-सुनकर आपकी विजयके लिये पुनः यहाँ लौट आऊँगा॥

सर्वथा युद्धमेवाहमाशंसामि परैः सह।
निमित्तानि हि सर्वाणि तथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥ ३८ ॥

मुझे तो शत्रुओंके साथ सर्वथा युद्ध होनेकी ही सम्भावना हो रही है; क्योंकि मेरे सामने ऐसे ही लक्षण (शकुन) प्रकट हो रहे हैं ॥ ३८ ॥

मृगाः शकुन्ताश्च वदन्ति घोरं
हस्त्यश्वमुख्येषु निशामुखेषु।

घोराणि रूपाणि तथैव चाग्नि-
र्वर्णान् बहून् पुष्यति घोररूपान्॥ ३९ ॥

मृग (पशु) और पक्षी भयंकर शब्द कर रहे हैं। प्रदोष-कालमें प्रमुख हाथियों और घोड़ोंके समुदायमें बड़ी भयानक आकृतियाँ प्रकट होती हैं। इसी प्रकार अग्निदेव भी नाना प्रकारके भयजनक वर्णों (रंगों) को धारण करते हैं ॥ ३९ ॥

मनुष्यलोकक्षयकृत् सुघोरो
नो चेदनुप्राप्त इहान्तकः स्यात्।
शस्त्राणि यन्त्रं कवचान् रथांश्च
नागान् हयांश्च प्रतिपादयित्वा ॥ ४० ॥

यदि मनुष्यलोकका संहार करनेवाली अत्यन्त भयंकर मृत्यु इनको नहीं प्राप्त हुई होती, तो ऐसी बातें देखनेमें नहीं आतीं। अतः नरेन्द्र ! आपके समस्त योद्धा युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके भाँति-भाँतिके शस्त्र, यन्त्र, कवच, रथ, हाथी और घोड़ोंको सुसज्जित कर लें तथा उन हाथियों, घोड़ों एवं रथोंपर सवार हो युद्ध करनेके निमित्त सदा तैयार रहें। इसके सिवा आपको युद्धोपयोगी जिन समस्त वस्तुओंका संग्रह करना है उन सबका भी आप संग्रह कर लीजिये ॥

योधाश्च सर्वे कृतनिश्चयास्ते
भवन्तु हस्त्यश्वरथेषु यत्ताः।
सांग्रामिकं ते यदुपार्जनीयं
सर्वं समग्रं कुरु तन्नरेन्द्र ॥ ४१ ॥

दुर्योधनो न ह्यलमद्य दातुं
जीवंस्तवैतन्नृपते कथंचित्।
यत् ते पुरस्तादभवत् समृद्धं
द्यूते हृतं पाण्डवमुख्य राज्यम् ॥ ४२ ॥

पाण्डवप्रवर ! नरेश्वर ! यह निश्चय मानिये, आपके पास पहले जो समृद्धिशाली राज्य-वैभव था और जिसे आपने जूएमें खो दिया था, वह सारा राज्य अब दुर्योधन अपने जीते-जी आपको कभी नहीं दे सकता ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेनका शान्तिविषयक प्रस्ताव

भीम उवाच

यथा यथैव शान्तिः स्यात् कुरूणां मधुसूदन।
तथा तथैव भाषेथा मा स्म युद्धेन भीषयेः ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—मधुसूदन ! आप कौरवोंके बीचमें वैसी ही बातें कहें, जिससे हमलोगोंमें शान्ति स्थापित हो सके। युद्धकी बात सुनाकर उन्हें भयभीत न कीजियेगा ॥ १ ॥

अमर्षी जातसंरम्भः श्रेयोद्वेषी महामनाः।
नोग्रं दुर्योधनो वाच्यः साम्नैवैनं समाचरेः ॥ २ ॥

दुर्योधन असहनशील, क्रोधमें भरा रहनेवाला, श्रेयका विरोधी और मनमें बड़े-बड़े हौसले रखनेवाला है। अतः उसके प्रति कठोर बात न कहियेगा, उसे सामनीतिके द्वारा ही समझानेका प्रयत्न कीजियेगा ॥ २ ॥

प्रकृत्या पापसत्त्वश्च तुल्यचेतास्तु दस्युभिः।
ऐश्वर्यमदमत्तश्च कृतवैरश्च पाण्डवैः ॥ ३ ॥

दुर्योधन स्वभावसे ही पापात्मा है। उसके हृदयमें डाकुओंके समान क्रूरता भरी रहती है। वह ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो गया है और पाण्डवोंके साथ सदा वैर बाँधे रखता है ॥ ३ ॥

अदीर्घदर्शी निष्ठूरी क्षेप्ता क्रूरपराक्रमः।
दीर्घमन्युरनेयश्च पापात्मा निकृतिप्रियः ॥ ४ ॥

वह अदूरदर्शी, निष्ठुर वचन बोलनेवाला, परनिन्दक, क्रूर पराक्रमी, दीर्घकालतक क्रोधको मनमें संचित रखनेवाला, शिक्षा देने या सन्मार्गपर ले जाया जानेकी योग्यतासे रहित, पापात्मा तथा शठतासे प्रेम रखनेवाला है ॥ ४ ॥

म्रियेतापि न भज्येत नैव जह्यात् स्वकं मतम्।
तादृशेन शमः कृष्ण मन्ये परमदुष्करः ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण ! वह मर जायगा, किंतु झुक न सकेगा। अपनी टेक नहीं छोड़ेगा। मैं समझता हूँ, ऐसे दुराग्रही मनुष्यके साथ संधि स्थापित करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है ॥ ५ ॥

सुहृदामप्यवाचीनस्त्यक्तधर्मा प्रियानृतः।
प्रतिहन्त्येव सुहृदां वाचश्चैव मनांसि च ॥ ६ ॥

दुर्योधन हितैषी सुहृदोंके भी विपरीत आचरण करनेवाला है। उसने धर्मको तो त्याग ही दिया है, झूठको भी प्रिय मानकर अपना लिया है। वह मित्रोंकी भी बातोंका खण्डन करता है और उनके हृदयको चोट पहुँचाता है ॥ ६ ॥

स मन्युवशमापन्नः स्वभावं दुष्टमास्थितः।
स्वभावात् पापमभ्येति तृणैश्छन्न इवोरगः ॥ ७ ॥

उसने क्रोधके वशीभूत होकर दुष्ट स्वभावका आश्रय ले रक्खा है। वह तिनकोंमें छिपे सर्पकी भाँति स्वभावतः दूसरों-की हिंसा करता है ॥ ७ ॥

दुर्योधनो हि यत्सेनः सर्वथा विदितस्तव ।
यच्छीलो यत्स्वभावश्च यद्बलो यत्पराक्रमः ॥ ८ ॥

भगवन् ! दुर्योधनकी सेना जैसी है, उसका शील और स्वभाव जैसा है, उसका बल और पराक्रम जिस प्रकारका है, वह सब कुछ आपको सब प्रकारसे ज्ञात है ॥ ८ ॥

पुरा प्रसन्नाः कुरवः सहपुत्रास्तथा वयम् ।
इन्द्रज्येष्ठा इवाभूम मोदमानाः सबान्धवाः ॥ ९ ॥

पूर्वकालमें पुत्र तथा बन्धु-बान्धवोंसहित कौरव और हम-लोग इन्द्र आदि देवताओंकी भाँति परस्पर मिलकर बड़ी प्रसन्नता और आनन्दके साथ रहते थे ॥ ९ ॥

दुर्योधनस्य क्रोधेन भरता मधुसूदन ।
धक्ष्यन्ते शिशिरापाये वनानीव हुताशनैः ॥ १० ॥

परंतु मधुसूदन ! जैसे शिशिरके अन्तमें (ग्रीष्मकाल आनेपर) वन दावानलसे जलने लगते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण भरतवंशी इस समय दुर्योधनकी क्रोधाग्निसे जलने-वाले हैं ॥ १० ॥

अष्टादशेमे राजानः प्रख्याता मधुसूदन ।
ये समुच्चिच्छिदुर्ज्ञातीन् सुहृदश्च सबान्धवान् ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण ! आगे बताये जानेवाले ये अठारह विख्यात नरेश हैं, जिन्होंने बन्धु-बान्धवोंसहित कुटुम्बीजनों तथा हितैषी सुहृदोंका संहार कर डाला था ॥ ११ ॥

असुराणां समृद्धानां ज्वलतामिव तेजसा ।
पर्यायकाले धर्मस्य प्राप्ते कलिरजायत ॥ १२ ॥
हैहयानां मुदावर्तो नीपानां जनमेजयः ।
बहुलस्तालजंघानां कृमीणामुद्धतो वसुः ॥ १३ ॥
अजबिन्दुः सुवीराणां सुराष्ट्राणां रुषर्द्धिकः ।
अर्कजश्च बलीहानां चीनानां धौतमूलकः ॥ १४ ॥
हयग्रीवो विदेहानां वरयुश्च महौजसाम् ।
बाहुः सुन्दरवंशानां दीप्ताक्षाणां पुरूरवाः ॥ १५ ॥
सहजश्चेदिमत्स्यानां प्रवीराणां वृषध्वजः ।
धारणश्चन्द्रवत्सानां मुकुटानां विगाहनः ॥ १६ ॥
शमश्च नन्दिवेगानामित्येते कुलपांसनाः ।
युगान्ते कृष्ण सम्भूताः कुले कुपुरुषाधमाः ॥ १७ ॥

जैसे धर्मके विप्लवका समय उपस्थित होनेपर तेजसे प्रज्वलित होनेवाले समृद्धिशाली असुरोंमें भयंकर कलह उत्पन्न हुआ था, उसी प्रकार हैहयवंशमें मुदावर्त, नीपकुलमें जनमेजय, तालजंघोंके वंशमें बहुल, कृमिकुलमें उद्दण्ड वसु, सुवीरोंके वंशमें अजबिंदु, सुराष्ट्रकुलमें रुषर्द्धिक, बलीहवंशमें अर्कज, चीनोंके कुलमें धौतमूलक, विदेहवंशमें हयग्रीव, महौजा नामक क्षत्रियोंके कुलमें वरयु, सुन्दरवंशी क्षत्रियोंमें बाहु, दीप्ताक्ष-कुलमें पुरूरवा, चेदि और मत्स्यदेशमें सहज, प्रवीरवंशमें वृषध्वज, चन्द्रवत्सकुलमें धारण, मुकुटवंशमें विगाहन तथा नन्दिवेगकुलमें शम—ये सभी कुलाङ्गार एवं नराधम क्षत्रिय युगान्तकाल आनेपर ऊपर बताये अनुसार भिन्न-भिन्न कुलोंमें प्रकट हुए थे ॥ १२–१७ ॥

अप्ययं नः कुरूणां स्याद् युगान्ते कालसम्भृतः ।
दुर्योधनः कुलाङ्गारो जघन्यः पापपूरुषः ॥ १८ ॥

पूर्वोक्त (अठारह) राजाओंकी भाँति यह कुलाङ्गार, नीच एवं पापपुरुष दुर्योधन भी इस द्वापर युगके अन्तमें कालसे प्रेरित हो हमारे कुरुकुलके विनाशका कारण होकर उत्पन्न हुआ है ॥ १८ ॥

तस्मान्मृदु शनैर्ब्रूया धर्मार्थसहितं हितम् ।
कामानुबन्धबहुलं नोग्रमुग्रपराक्रम ॥ १९ ॥

अतः भयंकर पराक्रमी श्रीकृष्ण ! आप उससे जो कुछ भी कहें, कोमल एवं मधुर वाणीमें धीरे-धीरे कहें । आपका कथन धर्म एवं अर्थसे युक्त तथा हितकर हो । उसमें तनिक भी उग्रता न आने पावे । साथ ही इसका भी ध्यान रक्खें कि आपकी अधिकांश बातें उसकी रुचिके अनुकूल हों ॥१९॥

अपि दुर्योधनं कृष्ण सर्वे वयमधश्चराः ।
नीचैर्भूत्वानुयास्यामो मा स्म नो भरतानशन् ॥२०॥

भगवन् ! हम सब लोग नीचे पैदल चलकर अत्यन्त नम्र होकर दुर्योधनका अनुसरण करते रहेंगे; परंतु हमारे कारणसे भरतवंशियोंका नाश न हो ॥ २० ॥

अप्युदासीनवृत्तिः स्याद् यथा नः कुरुभिः सह ।
वासुदेव तथा कार्यं न कुरूननयः स्पृशेत् ॥ २१ ॥

वासुदेव ! हमारा कौरवोंके साथ उदासीनभाव एवं तटस्थताका बर्ताव भी जैसे बना रहे, वैसा ही प्रयत्न आपको करना चाहिये । किसी प्रकार भी कौरवोंको अन्यायका स्पर्श नहीं होना चाहिये ॥ २१ ॥

वाच्यः पितामहो वृद्धो ये च कृष्ण सभासदः ।
भ्रातॄणामस्तु सौभ्रात्रं धार्तराष्ट्रः प्रशाम्यताम् ॥२२॥

श्रीकृष्ण ! आप वहाँ बूढ़े पितामह भीष्मजी तथा अन्य सभासदोंसे ऐसा करनेके लिये ही कहें, जिससे सब भाइयोंमें सौहार्द बना रहे और दुर्योधन भी शान्त हो जाय ॥ २२ ॥

अहमेतद् ब्रवीम्येवं राजा चैव प्रशंसति ।
अर्जुनो नैव युद्धार्थी भूयसी हि दयार्जुने ॥ २३ ॥

मैं इस प्रकार शान्ति-स्थापनके लिये कह रहा हूँ । राजा युधिष्ठिर भी शान्तिकी ही प्रशंसा करते हैं और अर्जुन भी युद्धके इच्छुक नहीं हैं; क्योंकि अर्जुनमें बहुत अधिक दया भरी हुई है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमवाक्ये चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीमवाक्यविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका भीमसेनको उत्तेजित करना

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाबाहुः केशवः प्रहसन्निव ।
अभूतपूर्वं भीमस्य मार्दवोपहितं वचः ॥ १ ॥
गिरेरिव लघुत्वं तच्छीतत्वमिव पावके ।
मत्वा रामानुजः शौरिः शार्ङ्गधन्वा वृकोदरम्॥ २ ॥
संतेजयंस्तदा वाग्भिर्मातरिश्वेव पावकम् ।
उवाच भीममासीनं कृपयाभिपरिप्लुतम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीमसेनके मुखसे यह अभूतपूर्व मृदुतापूर्ण वचन सुनकर महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण हँसने-से लगे। जैसे पर्वतमें लघुता आ जाय और अग्निमें शीतलता प्रकट हो जाय, उसी प्रकार उनमें यह नम्रताका प्रादुर्भाव हुआ था। यह सोचकर शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले रामानुज श्रीकृष्ण अपने पास बैठे हुए वृकोदर भीमसेनको, जो उस समय दयासे द्रवित हो रहे थे, अपने वचनोंद्वारा उसी प्रकार उत्तेजित करते हुए बोले, मानो वायु अग्निको उद्दीप्त कर रही हो ॥ १—३ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्वमन्यदा भीमसेन युद्धमेव प्रशंससि ।
वधाभिनन्दिनः क्रूरान् धार्तराष्ट्रान् मिमर्दिषुः ॥ ४ ॥

श्रीभगवान् बोले—भैया भीमसेन ! आजके सिवा और दिन तो तुम हिंसासे ही प्रसन्न होनेवाले क्रूर धृतराष्ट्र-



पुत्रोंको मसल डालनेकी इच्छा मनमें लेकर सदा युद्धकी ही प्रशंसा किया करते थे ॥ ४ ॥

न च स्वपिषि जागर्षि न्युब्जः शेषे परंतप ।
घोरामशान्तां रुषतीं सदा वाचं प्रभाषसे ॥ ५ ॥

परंतप ! (इन्हीं विचारोंमें डूबे रहनेके कारण) तुम रातमें सोते भी नहीं थे, जागते ही रहते थे। कभी सोना ही पड़ा, तो औंधे-मुँह लेट जाते और सदा घोर, अशान्त तथा रोषभरी बातें ही तुम्हारे मुँहसे निकलती थीं ॥ ५ ॥

निःश्वसन्नग्निवत् तेन संतप्तः स्वेन मन्युना ।
अप्रशान्तमना भीम सधूम इव पावकः ॥ ६ ॥

भीम ! तुम बारंबार लंबी साँस खींचते हुए अपने ही क्रोधसे उसी प्रकार संतप्त होते थे, जैसे आग अपने ही तेजसे तपी रहती है। धुएँसे व्याप्त हुई अग्निकी भाँति तुम्हारे नित्य-निरन्तर अशान्ति छायी रहती थी ॥ ६ ॥

एकान्ते निःश्वसञ्छेषे भारार्त इव दुर्बलः ।
अपि त्वां केचिदुन्मत्तं मन्यन्तेऽतद्विदो जनाः॥ ७ ॥

भारी बोझसे पीड़ित दुर्बल मनुष्यकी भाँति तुम एकान्तमें बैठकर जोर-जोरसे साँस खींचते रहते थे। इसीलिये तुम्हें कुछ लोग, जो इस बातको नहीं जानते हैं, पागल मानते हैं ॥ ७ ॥

आरुज्य वृक्षान् निर्मूलान् गजः परिरुजन्निव ।
निघ्नन् पद्भिः क्षितिं भीम निष्टनन् परिधावसि॥ ८ ॥

भीम ! जैसे हाथी वृक्षोंको जड़-मूलसहित उखाड़कर उन्हें पैरोंकी ठोकरोंसे टूक-टूक कर डालता है, उसी प्रकार तुम भी पैरोंसे पृथ्वीपर आघात करते हुए जोर-जोरसे गर्जते और चारों ओर दौड़ते थे ॥ ८ ॥

नास्मिञ्जनेऽभिरमसे रहः क्षिपसि पाण्डव ।
नान्यं निशि दिवा चापि कदाचिदभिनन्दसि ॥ ९ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम कभी इस जनसमुदायमें प्रसन्नताका अनुभव नहीं करते थे; सदा एकान्तमें ही बैठकर कालक्षेप करते थे। दिन हो या रात, तुम कभी किसी दूसरेका अभिनन्दन नहीं करते थे ॥ ९ ॥

अकस्मात् स्मयमानश्च रहस्यास्से रुदन्निव ।
जान्वोर्मूर्धानमाधाय चिरमास्से प्रमीलितः ॥ १० ॥

कभी सहसा हँस पड़ते और कभी एकान्त स्थानमें रोते हुए-से प्रतीत होते थे और कभी घुटनोंपर मस्तक रखकर दीर्घकालतक नेत्र बंद किये बैठे रहते थे ॥ १० ॥

भ्रुकुटिं च पुनः कुर्वन्नोष्ठौ च विदशन्निव।
अभीक्ष्णं दृश्यसे भीम सर्वं तन्मन्युकारितम् ॥ ११ ॥

भीमसेन ! मैंने बार-बार तुम्हें भौंहें टेढ़ी करके दोनों ओठोंको चबाते हुए-से देखा है। यह सब तुम्हारे क्रोधकी करतूत है ॥ ११ ॥

यथा पुरस्तात् सविता दृश्यते शुक्रमुच्चरन्।
यथा च पश्चान्निर्मुक्तो ध्रुवं पर्येति रश्मिवान् ॥ १२ ॥
तथा सत्यं ब्रवीम्येतन्नास्ति तस्य व्यतिक्रमः।
हन्ताहं गदयाभ्येत्य दुर्योधनममर्षणम् ॥ १३ ॥
इति स्म मध्ये भ्रातृणां सत्येनालभसे गदाम्।
तस्य ते प्रशमे बुद्धिर्ध्रियतेऽद्य परंतप ॥ १४ ॥

तुम अपने भाइयोंके बीचमें सत्यकी शपथ खाकर बार-बार गदा छूते हुए यह कहते थे—'जैसे सूर्यदेव पूर्वदिशामें उदित होते हुए अपने तेजोमण्डलको प्रकट करते दिखायी देते हैं और पश्चिम दिशामें वे ही अंशुमाली अस्ताचलको जाकर निश्चितरूपसे मेरुपर्वतकी परिक्रमा करते हैं, उनके इस नियममें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता; उसी प्रकार मैं यह सच कहता हूँ कि अमर्षशील दुर्योधनके पास जाकर अपनी गदासे उसके प्राण ले लूँगा। मेरे इस कथनमें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।' परंतप ! ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले तुम-जैसे वीरशिरोमणिकी बुद्धि आज शान्ति-स्थापनमें लग रही है; (यह आश्चर्यकी बात है !) ॥ १२–१४ ॥

अहो युद्धाभिकाङ्क्षाणां युद्धकाल उपस्थिते।
चेतांसि विप्रतीपानि यत् त्वां भीर्भीम विन्दति ॥१५॥

अहो ! युद्धका अवसर उपस्थित होनेपर पहलेसे युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले लोगोंके विचार भी इतने बदल जाते हैं कि वे विपरीत सोचने लगते हैं। भीमसेन ! जान पड़ता है, इसीलिये तुम्हें भी युद्धसे भय होने लगा है ॥१५॥

अहो पार्थ निमित्तानि विपरीतानि पश्यसि।
स्वप्नान्ते जागरान्ते च तस्मात् प्रशममिच्छसि॥१६॥

कुन्तीनन्दन ! बड़े विस्मयकी बात है कि तुम्हें सोते और जागतेमें उलटे परिणामकी सूचना देनेवाले अपशकुन दिखायी देते हैं। इसीसे तुम शान्तिकी इच्छा प्रकट कर रहे हो।१६।

अहो नाशंससे किञ्चित् पुंस्त्वं क्लीब इवात्मनि।
कश्मलेनाभिपन्नोऽसि तेन ते विकृतं मनः ॥ १७ ॥

अहो ! कायर और नपुंसककी भाँति इस समय तुम अपनेमें कुछ भी पुरुषार्थ नहीं मानते। तुम्हारे ऊपर मोह छा गया है, जिससे तुम्हारी मानसिक दशा बिगड़ गयी है ॥ १७ ॥

उद्वेपते ते हृदयं मनस्ते प्रतिसीदति।
ऊरुस्तम्भगृहीतोऽसि तस्मात् प्रशममिच्छसि ॥ १८ ॥

जान पड़ता है कि तुम्हारा हृदय काँपता है, मन शिथिल होता जाता है, तुम्हारी जाँघें मानो अकड़ गयी हैं; इसीलिये तुम शान्ति चाहते हो ॥ १८ ॥

अनित्यं किल मर्त्यस्य पार्थ चित्तं चलाचलम्।
वातवेगप्रचलिता अष्ठीला शाल्मलेरिव ॥ १९ ॥

पार्थ ! कहते हैं कि मनुष्यका चित्त सदा एक निश्चयपर अटल नहीं रहता। वह हवाके वेगसे हिलती हुई सेंमलके फलकी गाँठके समान डाँवाडोल रहता है ॥ १९ ॥

तवैषा विकृता बुद्धिर्गवां वागिव मानुषी।
मनांसि पाण्डुपुत्राणां मज्जयत्यप्लवानिव ॥ २० ॥

यदि गौएँ मनुष्योंकी बोली बोलें, तो वह जैसे बिगड़ी हुई होगी, उसी प्रकार तुम्हारी यह बुद्धि विकृत होकर अगाध समुद्रमें नावके बिना डूबनेवाले मनुष्योंकी भाँति पाण्डवोंके मनको चिन्तामग्न किये देती है ॥ २० ॥

इदं मे महदाश्चर्यं पर्वतस्येव सर्पणम्।
यदीदृशं प्रभाषेथा भीमसेनासमं वचः ॥ २१ ॥

भीमसेन ! तुम जो बात कह रहे हो, वह तुम्हारे योग्य कदापि नहीं है। जैसे पर्वतका चलना आश्चर्यकी बात है, उसी प्रकार तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह शान्ति-प्रस्ताव मुझे महान् आश्चर्यमें डाल रहा है ॥ २१ ॥

स दृष्ट्वा स्वानि कर्माणि कुले जन्म च भारत।
उत्तिष्ठस्व विषादं मा कृथा वीर स्थिरो भव ॥ २२ ॥

भारत ! तुम अपने कर्मोंकी ओर देखकर और जिस कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है, उसपर भी दृष्टिपात करके खड़े हो जाओ। वीरवर ! विषाद न करो और अपने क्षत्रियोचित कर्मपर डट जाओ ॥ २२ ॥

न चैतदनुरूपं ते यत् ते ग्लानिररिंदम।
यदोजसा न लभते क्षत्रियो न तदश्नुते ॥ २३ ॥

शत्रुदमन ! तुम्हारे चित्तमें जो ग्लानि उत्पन्न हुई है, यह तुम्हारे-जैसे शूरवीरके योग्य कदापि नहीं है। क्योंकि क्षत्रिय जिसे ओज एवं पराक्रमसे प्राप्त नहीं करता, उसे अपने उपयोगमें नहीं लाता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमोत्तेजकश्रीकृष्णवाक्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीमोत्तेजकश्रीकृष्णवाक्यविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेनका उत्तर

वैशम्पायन उवाच

तथोक्तो वासुदेवेन नित्यमन्युरमर्षणः ।
सदश्ववत् समाधावद् बभाषे तदनन्तरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर सदा क्रोध और अमर्षमें भरे रहनेवाले भीमसेन पहले सुशिक्षित घोड़ेकी भाँति सरपट भागने लगे (जल्दी-जल्दी बोलने लगे); फिर धीरे-धीरे बोले ॥ १ ॥

भीमसेन उवाच

अन्यथा मां चिकीर्षन्तमन्यथा मन्यसेऽच्युत ।
प्रणीतभावमत्यर्थं युधि सत्यपराक्रमम् ॥ २ ॥
वेत्सि दाशार्ह सत्यं मे दीर्घकालं सहोषितः ।

भीमसेनने कहा—अच्युत ! मैं करना तो कुछ और चाहता हूँ, परंतु आप समझ कुछ और ही रहे हैं । दशार्हनन्दन ! आप दीर्घकालतक मेरे साथ रहे हैं । अतः मेरे विषयमें यह सच्ची जानकारी रखते ही होंगे कि मेरा युद्धमें अत्यन्त अनुराग है और मेरा पराक्रम भी मिथ्या नहीं है ॥ २½ ॥

उत वा मां न जानासि प्लवन् ह्रद इवाप्लवे ॥ ३ ॥
तस्मादनभिरूपाभिर्वाग्भिर्मां त्वं समर्च्छसि ।

अथवा यह भी सम्भव है कि बिना नौकाके अगाध सरोवरमें तैरनेवाले पुरुषको जैसे उसकी गहराईका पता नहीं चलता, उसी तरह आप मुझे अच्छी तरह न जानते हों । इसीलिये आप अनुचित वचनोंद्वारा मुझपर आक्षेप कर रहे हैं ॥ ३½ ॥

कथं हि भीमसेनं मां जानन् कश्चन माधव ॥ ४ ॥
ब्रूयादप्रतिरूपाणि यथा मां वक्तुमर्हसि ।

माधव ! मुझ भीमसेनको अच्छी तरह जाननेवाला कोई भी मनुष्य मेरे प्रति ऐसे अयोग्य वचन, जैसे आप कह रहे हैं, कैसे कह सकता है ? ॥ ४½ ॥

तस्मादिदं प्रवक्ष्यामि वचनं वृष्णिनन्दन ॥ ५ ॥
आत्मनः पौरुषं चैव बलं च न समं परैः ।

वृष्णिकुलनन्दन ! इसीलिये मैं आपसे अपने उस पौरुष तथा बलका वर्णन करना चाहता हूँ, जिसकी समानता दूसरे लोग नहीं कर सकते ॥ ५½ ॥

सर्वथानार्यकर्मैतत् प्रशंसा स्वयमात्मनः ॥ ६ ॥
अतिवादापविद्धस्तु वक्ष्यामि बलमात्मनः ।

यद्यपि स्वयं अपनी प्रशंसा करना सर्वथा नीच पुरुषोंका ही कार्य है, तथापि आपने जो मेरे सम्मानके विपरीत बातें कहकर मेरा तिरस्कार किया है, उससे पीड़ित होकर मैं अपने बलका बखान करता हूँ ॥ ६½ ॥

पश्येमे रोदसी कृष्ण ययोरासन्निमाः प्रजाः ॥ ७ ॥
अचले चाप्रतिष्ठे चाप्यनन्ते सर्वमातरौ ।

श्रीकृष्ण ! आप इस भूतल और स्वर्गलोकपर दृष्टिपात करें । इन्हीं दोनोंके भीतर ये समस्त प्रजाजन निवास करते हैं । ये दोनों सबके माता-पिता हैं । इन्हें अचल एवं अनन्त माना गया है । ये दूसरोंके आधार होते हुए भी स्वयं आधार-शून्य हैं ॥ ७½ ॥

यदीमे सहसा क्रुद्धे समेयातां शिले इव ॥ ८ ॥
अहमेते निगृह्णीयां बाहुभ्यां सचराचरे ।

यदि ये दोनों लोक सहसा कुपित होकर दो शिलाओंकी भाँति परस्पर टकराने लगें, तो मैं चराचर प्राणियोंसहित इन्हें अपनी दोनों भुजाओंसे रोक सकता हूँ ॥ ८½ ॥

पश्यैतदन्तरं बाह्वोर्महापरिघयोरिव ॥ ९ ॥
य एतत् प्राप्य मुच्येत न तं पश्यामि पूरुषम् ।

लोहेके विशाल परिघोंकी भाँति मेरी इन मोटी भुजाओंका मध्यभाग कैसा है, यह देख लीजिये । मैं ऐसे किसी वीर पुरुषको नहीं देखता, जो इनके भीतर आकर फिर जीवित निकल जाय ॥ ९½ ॥

हिमवांश्च समुद्रश्च वज्री वा बलभित् स्वयम् ॥ १० ॥
मयाभिपन्नं त्रायेरन् बलमास्थाय न त्रयः ।

जो मेरी पकड़में आ जायगा, उसे हिमालय पर्वत, विशाल महासागर तथा बल नामक दैत्यका विनाश करनेवाले साक्षात् वज्रधारी इन्द्र—ये तीनों अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी बचा नहीं सकते ॥ १०½ ॥

युद्धार्हान् क्षत्रियान् सर्वान् पाण्डवेष्वाततायिनः ॥ ११ ॥
अधः पादतलेनैतानधिष्ठास्यामि भूतले ।

पाण्डवोंके प्रति आततायी बने हुए इन समस्त क्षत्रियोंको, जो युद्धके लिये उद्यत हुए हैं, मैं नीचे पृथ्वीपर गिराकर पैरोंतले रौंद डालूँगा ॥ ११½ ॥

न हि त्वं नाभिजानासि मम विक्रममच्युत ॥ १२ ॥
यथा मया विनिर्जित्य राजानो वशगाः कृताः ।

अच्युत ! मैंने राजाओंको जिस प्रकार युद्धमें जीतकर अपने अधीन किया था, मेरे उस पराक्रमसे आप अपरिचित नहीं हैं ॥ १२½ ॥

अथ चेन्मां न जानासि सूर्यस्येवोद्यतः प्रभाम् ॥ १३ ॥
विगाढे युधि सम्बाधे वेत्स्यसे मां जनार्दन ।

जनार्दन ! यदि कदाचित् आप मुझे या मेरे पराक्रमको न जानते हों तो जब भयंकर संहारकारी घमासान युद्ध प्रारम्भ होगा, उस समय उगते हुए सूर्यकी प्रभाके समान आप मुझे अवश्य जान लेंगे ॥ १३½ ॥

परुषैराक्षिपसि किं व्रणं पूतिमिवोन्नयन् ॥ १४ ॥

पके हुए घावको चाकूसे चीरने या उकसानेवाले पुरुषके समान आप मुझे अपने कठोर वचनोंद्वारा तिरस्कृत क्यों कर रहे हैं ? ॥ १४ ॥

यथामति ब्रवीम्येतद् विद्धि मामधिकं ततः ।
द्रष्टासि युधि सम्बाधे प्रवृत्ते वैशसेऽहनि ॥ १५ ॥

मैं अपनी बुद्धिके अनुसार यहाँ जो कुछ कह रहा हूँ, उससे भी बढ़-चढ़कर मुझे समझें। जिस समय योद्धाओंसे खचाखच भरे हुए युद्धमें भयानक मार-काट मचेगी, उस दिन मुझे देखियेगा ॥ १५ ॥

मया प्रणुन्नान् मातङ्गान् रथिनः सादिनस्तथा ।
तथा नरानभिक्रुद्धं निघ्नन्तं क्षत्रियर्षभान् ॥ १६ ॥
द्रष्टा मां त्वं च लोकश्च विकर्षन्तं वरान् वरान् ।

जब (घमासान युद्धमें) मैं कुपित होकर मतवाले हाथियों, रथियों तथा घुड़सवारोंको धराशायी करना और फेंकना आरम्भ करूँगा एवं दूसरे श्रेष्ठ क्षत्रियवीरोंका वध करने लगूँगा, उस समय आप और दूसरे लोग भी मुझे देखेंगे कि मैं किस प्रकार चुन-चुनकर प्रधान-प्रधान वीरोंका संहार कर रहा हूँ ॥ १६½ ॥

न मे सीदन्ति मज्जानो न ममोद्वेपते मनः ॥ १७ ॥
सर्वलोकादभिक्रुद्धान्न भयं विद्यते मम ।
किं तु सौहृदमेवैतत् कृपया मधुसूदन ।
सर्वांस्तितिक्षे संक्लेशान् मा स्म नो भरता नशन् ॥ १८ ॥

मेरी मज्जा शिथिल नहीं हो रही है और न मेरा हृदय ही काँप रहा है। मधुसूदन ! यदि समस्त संसार अत्यन्त कुपित होकर मुझपर आक्रमण करे, तो भी उससे मुझे भय नहीं है; किंतु मैंने जो शान्तिका प्रस्ताव किया है, यह तो केवल मेरा सौहार्द ही है। मैं दयावश सारे क्लेश सह लेनेको तैयार हूँ और चाहता हूँ कि हमारे कारण भरतवंशियोंका नाश न हो ॥ १७-१८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमसेनवाक्ये षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीमसेनवाक्यसम्बन्धी छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका भीमसेनको आश्वासन देना

श्रीभगवानुवाच

भावं जिज्ञासमानोऽहं प्रणयादिदमब्रुवम् ।
न चाक्षेपान्न पाण्डित्यान्न क्रोधान्न विवक्षया ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—भीमसेन ! मैंने तो तुम्हारा मनोभाव जाननेके लिये ही प्रेमसे ये बातें कही हैं, तुमपर आक्षेप करने, पण्डिताई दिखाने, क्रोध प्रकट करने या व्याख्यान देनेकी इच्छासे कुछ नहीं कहा है ॥ १ ॥

वेदाहं तव माहात्म्यमुत ते वेद यद् बलम् ।
उत ते वेद कर्माणि न त्वां परिभवाम्यहम् ॥ २ ॥

मैं तुम्हारे माहात्म्यको जानता हूँ। तुममें जो बल और पराक्रम है, उससे भी परिचित हूँ और तुमने जो बड़े-बड़े पराक्रम किये हैं, वे भी मुझसे छिपे नहीं हैं; अतः मैं तुम्हारा तिरस्कार नहीं करता ॥ २ ॥

यथा चात्मनि कल्याणं सम्भावयसि पाण्डव ।
सहस्रगुणमप्येतत् त्वयि सम्भावयाम्यहम् ॥ ३ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम अपनेमें जैसे कल्याणकारी गुणकी सम्भावना करते हो, उससे भी सहस्रगुने सद्गुणोंकी सम्भावना तुममें मैं करता हूँ ॥ ३ ॥

यादृशे च कुले जन्म सर्वराजाभिपूजिते ।
बन्धुभिश्च सुहृद्भिश्च भीम त्वमसि तादृशः ॥ ४ ॥

भीमसेन ! समस्त राजाओंद्वारा सम्मानित जैसे प्रतिष्ठित कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है, अपने बन्धुओं और सुहृदोंसहित तुम वैसी ही प्रतिष्ठाके योग्य हो ॥ ४ ॥

जिज्ञासन्तो हि धर्मस्य संदिग्धस्य वृकोदर ।
पर्यायं नाध्यवस्यन्ति देवमानुषयोर्जनाः ॥ ५ ॥

वृकोदर ! देवधर्म (प्रारब्ध) और मानुष धर्म (पुरुषार्थ) का स्वरूप संदिग्ध है। लोग दैव और पुरुषार्थ दोनोंके परिणामको जानना चाहते हैं, परंतु किसी निश्चय-तक पहुँच नहीं पाते ॥ ५ ॥

स एव हेतुर्भूत्वा हि पुरुषस्यार्थसिद्धिषु ।
विनाशेऽपि स एवास्य संदिग्धं कर्म पौरुषम् ॥ ६ ॥

क्योंकि उपर्युक्त पुरुषार्थ ही कभी पुरुषकी कार्य-सिद्धिमें

कारण बनकर कभी विनाशका भी हेतु बन जाता है। इस प्रकार जैसे दैवका फल संदिग्ध है, वैसे ही पुरुषार्थका भी फल संदिग्ध है ॥ ६ ॥

अन्यथा परिदृष्टानि कविभिर्दोषदर्शिभिः।
अन्यथा परिवर्तन्ते वेगा इव नभस्वतः ॥ ७ ॥

दोषदर्शी विद्वानोंद्वारा अन्य रूपमें देखे या विचारे हुए कर्म वायुके वेगोंकी भाँति बदलकर किसी दूसरे ही रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं ॥ ७ ॥

सुमन्त्रितं सुनीतं च न्यायतश्चोपपादितम्।
कृतं मानुष्यकं कर्म दैवेनापि विरुध्यते ॥ ८ ॥

अच्छी तरह विचारपूर्वक निश्चित किये हुए, उत्तम नीतिसे युक्त तथा न्यायपूर्वक सम्पादित किये हुए मानव-सम्बन्धी पुरुषार्थसाध्य कर्म भी कभी दैववश बाधित हो जाते हैं—उनकी सिद्धिमें विघ्न पड़ जाता है ॥ ८ ॥

दैवमप्यकृतं कर्म पौरुषेण विहन्यते।
शीतमुष्णं तथा वर्षं क्षुत्पिपासे च भारत ॥ ९ ॥

भारत ! दैवकृत कार्य भी समाप्त होनेसे पहले पुरुषार्थ-द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। जैसे शीतका निवारण वस्त्रसे, गर्मीका व्यजनसे, वर्षाका छत्रसे और भूख-प्यासका निवारण अन्न और जलसे हो जाता है ॥ ९ ॥

यदन्यद् दिष्टभावस्य पुरुषस्य स्वयंकृतम्।
तस्मादनुपरोधश्च विद्यते तत्र लक्षणम् ॥ १० ॥

प्रारब्धके अतिरिक्त जो पुरुषका स्वयं अपना किया हुआ कर्म है, उससे भी फलकी सिद्धि होती है। इस विषयमें यथेष्ट उदाहरण मिलते हैं ॥ १० ॥

लोकस्य नान्यतो वृत्तिः पाण्डवान्यत्र कर्मणः।
एवंबुद्धिः प्रवर्तेत फलं स्यादुभयान्वये ॥ ११ ॥

पाण्डुनन्दन ! पुरुषार्थको छोड़कर दूसरे किसी साधन-से—केवल दैवसे मनुष्यका जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता। ऐसा विचारकर उसे कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये। फिर प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनोंके सम्बन्धसे फलकी प्राप्ति होगी ॥ ११ ॥

य एवं कृतबुद्धिः स कर्मस्वेव प्रवर्तते।
नासिद्धौ व्यथते तस्य न सिद्धौ हर्षमश्नुते ॥ १२ ॥

जो अपनी बुद्धिमें ऐसा निश्चय करके कर्मोंमें ही प्रवृत्त होता है, वह फलकी सिद्धि न होनेपर दुखी नहीं होता और फलकी प्राप्ति होनेपर भी हर्षका अनुभव नहीं करता ॥ १२ ॥

तत्रेयमनुमात्रा मे भीमसेन विवक्षिता।
नैकान्तसिद्धिर्वक्तव्या शत्रुभिः सह संयुगे ॥ १३ ॥

भीमसेन ! मुझे इस विषयमें अपना यह निश्चय बताना अभीष्ट है कि युद्धमें शत्रुओंके साथ भिड़नेपर अवश्य ही विजय प्राप्त होगी, यह नहीं कहा जा सकता ॥ १३ ॥

नातिप्रहीणरश्मिः स्यात् तथा भावविपर्यये।
विषादमर्च्छेद् ग्लानिं वाप्येतमर्थं ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥

मनोभाव बदल जाय अथवा प्रारब्धके अनुसार कोई विपरीत घटना घटित हो जाय, तो भी सहसा अपने तेज और उत्साहको सर्वथा नहीं छोड़ना चाहिये। विषाद एवं ग्लानिका अनुभव नहीं करना चाहिये—यह बात भी मैंने तुम्हें आवश्यक समझकर बतायी है ॥ १४ ॥

श्वोभूते धृतराष्ट्रस्य समीपं प्राप्य पाण्डव।
यतिष्ये प्रशमं कर्तुं युष्मदर्थमहापयन् ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन ! कल सबेरे मैं राजा धृतराष्ट्रके समीप जाकर तुमलोगोंके स्वार्थकी सिद्धिमें तनिक भी बाधा न पहुँचाते हुए दोनों पक्षोंमें संधि करानेका प्रयत्न करूँगा ॥

शमं चेत् ते करिष्यन्ति ततोऽनन्तं यशो मम।
भवतां च कृतः कामस्तेषां च श्रेय उत्तमम् ॥ १६ ॥

यदि वे संधि स्वीकार कर लेंगे तो मुझे अक्षय यशकी प्राप्ति होगी। तुमलोगोंका मनोरथ भी पूर्ण होगा और कौरवोंका भी परम कल्याण होगा ॥ १६ ॥

ते चेदभिनिवेक्ष्यन्ते नाभ्युपैष्यन्ति मे वचः।
कुरवो युद्धमेवात्र घोरं कर्म भविष्यति ॥ १७ ॥

यदि वे कौरव युद्धका ही आग्रह दिखायेंगे और मेरे संधि-विषयक प्रस्तावको ठुकरा देंगे, तब यहाँ युद्ध ही होगा, जो भयंकर कर्म है ॥ १७ ॥

अस्मिन् युद्धे भीमसेन त्वयि भारः समाहितः।
धूरर्जुनेन धार्या स्याद् वोढव्य इतरो जनः ॥ १८ ॥

भीमसेन ! इस युद्धमें सारा भार तुम्हारे ऊपर ही रक्खा जायगा एवं अर्जुन इस भारको धारण करेगा। अन्य लोगों-का भार भी तुम्हीं दोनोंको ढोना है ॥ १८ ॥

अहं हि यन्ता बीभत्सोर्भविता संयुगे सति।
धनंजयस्यैष कामो न हि युद्धं न कामये ॥ १९ ॥

युद्ध आरम्भ होनेपर मैं अर्जुनका सारथि बनूँगा। यही अर्जुनकी इच्छा है। तुम यह न समझो कि मैं युद्ध होने देना नहीं चाहता ॥ १९ ॥

तस्मादाशङ्कमानोऽहं वृकोदर मतिं तव।
गदतः क्लीबया वाचा तेजस्ते समदीदिपम् ॥ २० ॥

वृकोदर ! इसीलिये जब तुम कायरतापूर्ण वचनोंद्वारा शान्तिका प्रस्ताव करने लगे, तब मुझे तुम्हारे युद्धविषयक विचारके बदल जानेका संदेह हुआ, जिसके कारण पूर्वोक्त बातें कहकर मैंने तुम्हारे तेजको उद्दीप्त किया ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका कथन

अर्जुन उवाच

उक्तं युधिष्ठिरेणैव यावद् वाच्यं जनार्दन।
तव वाक्यं तु मे श्रुत्वा प्रतिभाति परंतप ॥ १ ॥
नैव प्रशममत्र त्वं मन्यसे सुकरं प्रभो।
लोभाद् वा धृतराष्ट्रस्य दैन्याद् वा समुपस्थितात् ॥ २ ॥

तदनन्तर अर्जुनने कहा—जनार्दन ! मुझे जो कुछ कहना था, वह सब तो महाराज युधिष्ठिरने ही कह दिया। शत्रुओंको संतप्त करनेवाले प्रभो ! आपकी बात सुनकर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आप धृतराष्ट्रके लोभ तथा हमारी प्रस्तुत दीनताके कारण संधि करानेका कार्य सरल नहीं समझ रहे हैं ॥ १-२ ॥

अफलं मन्यसे वापि पुरुषस्य पराक्रमम्।
न चान्तरेण कर्माणि पौरुषेण फलोदयः ॥ ३ ॥

अथवा आप मनुष्यके पराक्रमको निष्फल मानते हैं; क्योंकि पूर्वजन्मके कर्म (प्रारब्ध) के बिना केवल पुरुषार्थसे किसी फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ३ ॥

तदिदं भाषितं वाक्यं तथा च न तथैव तत्।
न चैतदेवं द्रष्टव्यमसाध्यमपि किंचन ॥ ४ ॥

आपने जो बात कही है, वह ठीक है; परंतु सदा वैसा ही हो, यह नहीं कहा जा सकता। किसी भी कार्यको असाध्य नहीं समझना चाहिये ॥ ४ ॥

किं चैतन्मन्यसे कृच्छ्रमस्माकमवसादकम्।
कुर्वन्ति तेषां कर्माणि येषां नास्ति फलोदयः ॥ ५ ॥

आप ऐसा मानते हैं कि हमारा यह वर्तमान कष्ट ही हमें पीडित करनेवाला है; परंतु वास्तवमें हमारे शत्रुओंके किये हुए वे कार्य ही हमें कष्ट दे रहे हैं, जिनका उनके लिये भी कोई विशेष फल नहीं है ॥ ५ ॥

सम्पाद्यमानं सम्यक् च स्यात् कर्म सफलं प्रभो।
स तथा कृष्ण वर्तस्व यथा शर्म भवेत् परैः ॥ ६ ॥

प्रभो ! जिस कार्यको अच्छी तरह किया जाय, वह सफल हो सकता है। श्रीकृष्ण ! आप ऐसा ही प्रयत्न करें, जिससे शत्रुओंके साथ हमारी संधि हो जाय ॥ ६ ॥

पाण्डवानां कुरूणां च भवान् नः प्रथमः सुहृत्।
सुराणामसुराणां च यथा वीर प्रजापतिः ॥ ७ ॥

वीरवर ! जैसे प्रजापति ब्रह्माजी देवताओं तथा असुरोंके भी प्रधान हितैषी हैं, उसी प्रकार आप हम पाण्डवों तथा कौरवोंके भी प्रधान सुहृद् हैं ॥ ७ ॥

कुरूणां पाण्डवानां च प्रतिपत्स्व निरामयम्।
अस्मद्धितमनुष्ठानं मन्ये तव न दुष्करम् ॥ ८ ॥

इसलिये आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे कौरवों तथा पाण्डवोंके भी दुःखका निवारण हो जाय। मेरा विश्वास है कि हमारे लिये हितकर कार्य करना आपके लिये दुष्कर नहीं है ॥ ८ ॥

एवं च कार्यतामेति कार्यं तव जनार्दन।
गमनादेवमेव त्वं करिष्यसि जनार्दन ॥ ९ ॥

जनार्दन ! ऐसा करना आपके लिये अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है। प्रभो ! आप वहाँ जानेमात्रसे यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेंगे ॥ ९ ॥

चिकीर्षितमथान्यत् ते तस्मिन् वीर दुरात्मनि।
भविष्यति च तत् सर्वं यथा तव चिकीर्षितम् ॥ १० ॥

वीर ! उस दुरात्मा दुर्योधनके प्रति आपको कुछ और करना अभीष्ट हो, तो जैसी आपकी इच्छा होगी, वह सब कार्य उसी रूपमें सम्पन्न होगा ॥ १० ॥

शर्म तैः सह वा नोऽस्तु तव वा यच्चिकीर्षितम्।
विचार्यमाणो यः कामस्तव कृष्ण स नो गुरुः।
न स नार्हति दुष्टात्मा वधं ससुतबान्धवः ॥ ११ ॥
येन धर्मसुते दृष्ट्वा न सा श्रीरुपमर्षिता।
यच्चाप्यपश्यतोपायं धर्मिष्ठं मधुसूदन ॥ १२ ॥
उपायेन नृशंसेन हृता दुर्द्यूतदेविना।

श्रीकृष्ण ! कौरवोंके साथ हमारी संधि हो अथवा आप जो कुछ करना चाहते हों, वही हो। विचार करनेपर हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि आपकी जो इच्छा हो, वही हमारे लिये गौरव तथा समादरकी वस्तु है। वह दुष्टात्मा दुर्योधन अपने पुत्रों और बन्धु-बान्धवोंसहित वधके

ही योग्य है, जो धर्मपुत्र युधिष्ठिरके पास आयी हुई सम्पत्ति देखकर उसे सहन न कर सका। इतना ही नहीं, जब कपटद्यूतका आश्रय लेनेवाले उस क्रूरात्माने किसी धर्मसम्मत उपाय युद्ध आदिको अपने लिये सफलता देनेवाला नहीं देखा, तब कपटपूर्ण उपायसे उस सम्पत्तिका अपहरण कर लिया ॥ ११-१२½ ॥

कथं हि पुरुषो जातः क्षत्रियेषु धनुर्धरः ॥ १३ ॥
समाहूतो निवर्तेत प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते ।

क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ कोई भी धनुर्धर पुरुष किसीके द्वारा युद्धके लिये आमन्त्रित होनेपर कैसे पीछे हट सकता है ? भले ही वैसा करनेपर उसके लिये प्राण-त्यागका संकट भी उपस्थित हो जाय ॥ १३½ ॥

अधर्मेण जितान् दृष्ट्वा वने प्रव्रजितांस्तथा ॥ १४ ॥
वध्यतां मम वार्ष्णेय निर्गतोऽसौ सुयोधनः ।

वृष्णिकुलनन्दन ! हमलोग अधर्मपूर्वक जूएमें पराजित किये गये और वनमें भेज दिये गये । यह सब देखकर मैंने मन-ही-मन पूर्णरूपसे निश्चय कर लिया था कि दुर्योधन मेरे द्वारा वधके योग्य है ॥ १४½ ॥

न चैतदद्भुतं कृष्ण मित्रार्थे यच्चिकीर्षसि ।
क्रिया कथं च मुख्या स्यान्मृदुना चेतरेण वा ॥ १५ ॥

श्रीकृष्ण ! आप मित्रोंके हितके लिये जो कुछ करना चाहते हैं, वह आपके लिये अद्भुत नहीं है । मृदु अथवा कठोर, जिस उपायसे भी सम्भव हो, किसी तरह अपना मुख्य कार्य सफल होना चाहिये ॥ १५ ॥

अथवा मन्यसे ज्यायान् वधस्तेषामनन्तरम् ।
तदेव क्रियतामाशु न विचार्यमतस्त्वया ॥ १६ ॥

अथवा यदि आप अब कौरवोंका वध ही श्रेष्ठ मानते हों तो वही शीघ्र-से-शीघ्र किया जाय । फिर इसके सिवा और किसी बातपर आपको विचार नहीं करना चाहिये ॥

जानासि हि यथैतेन द्रौपदी पापबुद्धिना ।
परिक्लिष्टा सभामध्ये तच्च तस्योपमर्षितम् ॥ १७ ॥

आप जानते हैं, इस पापात्मा दुर्योधनने भरी सभामें द्रुपदकुमारी कृष्णाको कितना कष्ट पहुँचाया था, परंतु हमने उसके इस महान् अपराधको भी चुपचाप सह लिया था ॥

स नाम सम्यग् वर्तेत पाण्डवेष्विति माधव ।
न मे संजायते बुद्धिर्बीजमुप्तमिवोषरे ॥ १८ ॥

माधव ! वही दुर्योधन अब पाण्डवोंके साथ अच्छा बर्ताव करेगा, ऐसी बात मेरी बुद्धिमें जँच नहीं रही है । उसके साथ संधिका सारा प्रयत्न ऊसरमें बोये हुए बीजकी भाँति व्यर्थ ही है ॥ १८ ॥

तस्माद् यन्मन्यसे युक्तं पाण्डवानां हितं च यत् ।
तथाऽऽशु कुरु वार्ष्णेय यन्नः कार्यमनन्तरम् ॥ १९ ॥

अतः वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्ण ! आप पाण्डवोंके लिये अबसे करने योग्य जो उचित एवं हितकर कार्य मानते हों, वही यथासम्भव शीघ्र आरम्भ कीजिये ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि अर्जुनवाक्येऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अर्जुनको उत्तर देना

श्रीभगवानुवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव ।
पाण्डवानां कुरूणां च प्रतिपत्स्ये निरामयम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहु पाण्डुकुमार ! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही करना उचित है। मैं वही करनेका प्रयत्न करूँगा, जिससे कौरव तथा पाण्डव—दोनोंका संकट दूर हो—दोनों सुखी हो सकें ॥ १ ॥

सर्वं त्विदं ममायत्तं बीभत्सो कर्मणोर्द्वयोः ।
क्षेत्रं हि रसवच्छुद्धं कर्मणैवोपपादितम् ॥ २ ॥
ऋते वर्षान्न कौन्तेय जातु निर्वर्तयेत् फलम् ।

अर्जुन ! इसमें संदेह नहीं कि शान्ति और युद्ध—इन दोनों कार्योंमेंसे किसी एकको हितकर समझकर अपनानेका सारा दायित्व मेरे हाथमें आ गया है; तथापि (इसमें प्रारब्धकी अनुकूलता अपेक्षित है) कुन्तीनन्दन ! जुताई और सिंचाई करके कितना ही शुद्ध और सरस बनाया हुआ खेत क्यों न हो, कभी-कभी वर्षाके बिना वह अच्छी उपज नहीं दे सकता ॥ २½ ॥

तत्र वै पौरुषं ब्रूयुरासेकं यत्र कारितम् ॥ ३ ॥
तत्र चापि ध्रुवं पश्येच्छोषणं दैवकारितम् ।

जिस खेतमें जुताई और सिंचाई की गयी है, वहाँ यह पुरुषार्थ ही किया गया है; परंतु वहाँ भी दैववश सूखा पड़ गया, यह निश्चितरूपसे देखा जाता है [अतः पुरुषार्थकी सफलताके लिये प्रारब्धकी अनुकूलता आवश्यक है]॥ ३½ ॥

तदिदं निश्चितं बुद्ध्या पूर्वैरपि महात्मभिः ॥ ४ ॥
दैवे च मानुषे चैव संयुक्तं लोककारणम् ।

इसलिये पूर्वकालके महात्माओंने अपनी बुद्धिद्वारा यही निश्चय किया है कि लोकहितका साधन दैव तथा पुरुषार्थ दोनोंपर निर्भर है ॥ ४½ ॥

अहं हि तत् करिष्यामि परं पुरुषकारतः ॥ ५ ॥
दैवं तु न मया शक्यं कर्म कर्तुं कथंचन ।

मैं पुरुषार्थसे जितना हो सकता है, उतना संधिस्थापनके लिये अधिक-से-अधिक प्रयत्न करूँगा; परंतु प्रारब्धके विधानको किसी प्रकार भी टाल देना या बदल देना मेरे लिये सम्भव नहीं है ॥ ५½ ॥

स हि धर्मं च लोकं च त्यक्त्वा चरति दुर्मतिः ॥ ६ ॥
न हि संतप्यते तेन तथारूपेण कर्मणा ।

दुर्बुद्धि दुर्योधन सदा धर्म और लोकाचारको छोड़कर ही चलता है; परंतु इस प्रकार धर्म और लोकके विरुद्ध कार्य करके भी वह उससे संतप्त नहीं होता ॥ ६½ ॥

तथापि बुद्धिं पापिष्ठां वर्धयन्त्यस्य मन्त्रिणः ॥ ७ ॥
शकुनिः सूतपुत्रश्च भ्राता दुःशासनस्तथा ।

इतनेपर भी उसके मन्त्री शकुनि, सूतपुत्र कर्ण तथा भाई दुःशासन—ये उसकी अत्यन्त पापपूर्ण बुद्धिको बढ़ावा देते रहते हैं ॥ ७½ ॥

स हि त्यागेन राज्यस्य न शमं समुपैष्यति ॥ ८ ॥
अन्तरेण वधं पार्थ सानुबन्धः सुयोधनः ।

कुन्तीनन्दन ! अपने सगे-सम्बन्धियोंसहित दुर्योधन जबतक मारा नहीं जायगा, तबतक वह राज्यभाग देकर कदापि संधि नहीं करेगा ॥ ८½ ॥

न चापि प्रणिपातेन त्यक्तुमिच्छति धर्मराट् ।
याच्यमानश्च राज्यं स न प्रदास्यति दुर्मतिः ॥ ९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर भी नम्रतापूर्वक संधिके लिये अपना राज्य छोड़ना नहीं चाहते हैं । उधर दुर्बुद्धि दुर्योधन माँगनेपर भी राज्य नहीं देगा ॥ ९ ॥

न तु मन्ये स तद् वाच्यो यद् युधिष्ठिरशासनम् ।
उक्तं प्रयोजनं यत् तु धर्मराजेन भारत ॥ १० ॥
तथा पापस्तु तत् सर्वं न करिष्यति कौरवः ।
तस्मिंश्चाक्रियमाणेऽसौ लोके वध्यो भविष्यति ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! धर्मराज युधिष्ठिरने केवल पाँच गाँवोंको माँगनेके लिये जो आज्ञा दी है तथा नम्रतापूर्ण वचनोंमें जो संधिका प्रयोजन बताया है, वह सब दुर्योधनसे कहना उचित नहीं है—ऐसा मैं मानता हूँ; क्योंकि वह कुरुकुल-कलंक पापात्मा उन सब बातोंको कभी स्वीकार नहीं करेगा । हमलोगोंका प्रस्ताव स्वीकार न करनेपर वह इस जगत्‌में अवश्य ही वधके योग्य हो जायगा ॥ १०-११ ॥

मम चापि स वध्यो हि जगतश्चापि भारत ।
येन कौमारके यूयं सर्वे विप्रकृताः सदा ॥ १२ ॥
विप्रलुप्तं च वो राज्यं नृशंसेन दुरात्मना ।
न चोपशाम्यते पापः श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ॥ १३ ॥

भारत ! जिसने तुम सब लोगोंको कुमारावस्थामें भी सदा नाना प्रकारके कष्ट दिये हैं, जिस दुरात्मा एवं निर्दयीने तुम्हारे राज्यका भी अपहरण कर लिया है तथा जो पापी दुर्योधन युधिष्ठिरके पास सम्पत्ति देखकर शान्त नहीं रह सकता है, वह मेरे और समस्त संसारके लिये भी वध्य है ॥ १२-१३ ॥

असकृच्चाप्यहं तेन त्वत्कृते पार्थ भेदितः ।
न मया तद् गृहीतं च पापं तस्य चिकीर्षितम् ॥ १४ ॥

कुन्तीनन्दन ! उसने मुझे भी तुम्हारी ओरसे फोड़नेके लिये अनेक बार चेष्टा की है; परंतु मैंने उसके पापपूर्ण प्रस्तावको कभी स्वीकार नहीं किया है ॥ १४ ॥

जानासि हि महाबाहो त्वमप्यस्य परं मतम् ।
प्रियं चिकीर्षमाणं च धर्मराजस्य मामपि ॥ १५ ॥

महाबाहो ! तुम जानते ही हो कि दुर्योधनकी भी मेरे विषयमें यही निश्चित धारणा है कि मैं धर्मराज युधिष्ठिरका प्रिय करना चाहता हूँ ॥ १५ ॥

संजानंस्तस्य चात्मानं मम चैव परं मतम् ।
अजानन्निव मां कस्मादर्जुनाद्याभिशङ्कसे ॥ १६ ॥

अर्जुन ! इस प्रकार तुम दुर्योधनके मनकी भावना तथा मेरे दृढ़ निश्चयको जानते हुए भी आज अनजानकी भाँति क्यों मुझपर संदेह कर रहे हो ? ॥ १६ ॥

यच्चापि परमं दिव्यं तच्चाप्यनुगतं त्वया ।
विधानं विहितं पार्थ कथं शर्म भवेत् परैः ॥ १७ ॥

कुन्तीकुमार ! जो देवताओंका परम दिव्य (भूभार उतारनेके लिये) निश्चित विधान है, उससे भी तुम सर्वथा परिचित हो । फिर शत्रुओंके साथ संधि कैसे हो सकती है ? ॥

यत् तु वाचा मया शक्यं कर्मणा वापि पाण्डव ।
करिष्ये तदहं पार्थ न त्वाशंसे शमं परैः ॥ १८ ॥

पाण्डुनन्दन ! मेरे द्वारा वाणी और प्रयत्नसे जो कुछ हो सकता है, वह मैं अवश्य करूँगा; परंतु पार्थ ! मुझे यह तनिक भी आशा नहीं है कि शत्रुओंके साथ संधि हो जायगी ॥ १८ ॥

कथं गोहरणे ह्युक्तो नैतच्छर्म तथा हितम् ।
याच्यमानो हि भीष्मेण संवत्सरगतेऽध्वनि ॥ १९ ॥

विराटनगरमें गोहरणके समय तुम्हारे अज्ञातवासका वर्ष पूरा हो चुका था । उस समय भीष्मजीने मार्गमें दुर्योधनसे

याचना की कि तुम पाण्डवोंको उनका राज्य देकर उनसे मेल कर लो; परंतु यह कल्याण और हितकी बात भी उसने किसी प्रकार स्वीकार नहीं की ॥ १९ ॥

तदैव ते पराभूता यदा संकल्पितास्त्वया ।
लवशः क्षणशश्चापि न च तुष्टः सुयोधनः ॥ २० ॥

जब तुमने कौरवोंको पराजित करनेका संकल्प किया, उसी समय वे पराजित हो गये । परंतु दुर्योधन तुमलोगोंपर क्षणभरके लिये किञ्चिन्मात्र भी संतुष्ट नहीं है ॥ २० ॥

सर्वथा तु मया कार्यं धर्मराजस्य शासनम् ।
विभाव्यं तस्य भूयश्च कर्म पापं दुरात्मनः ॥ २१ ॥

मुझे वहाँ जाकर सबसे पहले धर्मराजकी आज्ञाके अनुसार संधिके लिये सब प्रकारसे प्रयत्न करना है । यदि यह सफल न हुआ तो फिर मुझे यह विचार करना होगा कि दुरात्मा दुर्योधनको उसके पापकर्मका दण्ड कैसे दिया जाय ? ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक उन्नासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमोऽध्यायः

नकुलका निवेदन

नकुल उवाच

उक्तं बहुविधं वाक्यं धर्मराजेन माधव ।
धर्मज्ञेन वदान्येन श्रुतं चैव हि तत् त्वया ॥ १ ॥

नकुल बोले—माधव ! धर्मज्ञ और उदार धर्मराजने बहुत-सी बातें कही हैं और आपने उन्हें सुना है ॥ १ ॥

मतमाज्ञाय राज्ञश्च भीमसेनेन माधव ।
संशमो बाहुवीर्यं च ख्यापितं माधवात्मनः ॥ २ ॥

यदुकुलभूषण ! राजाका मत जानकर भाई भीमसेनने भी पहले संधिस्थापनकी, फिर अपने बाहुबलकी बात बतायी है ॥ २ ॥

तथैव फाल्गुनेनापि यदुक्तं तत् त्वया श्रुतम् ।
आत्मनश्च मतं वीर कथितं भवतासकृत् ॥ ३ ॥

वीर ! इसी प्रकार अर्जुनने भी जो कुछ कहा है, वह भी आपने सुन ही लिया है । आपका जो अपना मत है, उसे भी आपने अनेक बार प्रकट किया है ॥ ३ ॥

सर्वमेतदतिक्रम्य श्रुत्वा परमतं भवान् ।
यत् प्राप्तकालं मन्येथास्तत् कुर्याः पुरुषोत्तम ॥ ४ ॥

परंतु पुरुषोत्तम ! इन सब बातोंको पीछे छोड़कर और विपक्षियोंके मतको अच्छी तरह सुनकर आपको समयके अनुसार जो कर्तव्य उचित जान पड़े, वही कीजियेगा ॥ ४ ॥

तस्मिंस्तस्मिन् निमित्ते हि मतं भवति केशव ।
प्राप्तकालं मनुष्येण क्षमं कार्यमरिंदम ॥ ५ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले केशव ! भिन्न-भिन्न कारण उपस्थित होनेपर मनुष्योंके विचार भी भिन्न-भिन्न प्रकारके हो जाते हैं; अतः मनुष्यको वही कार्य करना चाहिये, जो उसके योग्य और समयोचित हो ॥ ५ ॥

अन्यथा चिन्तितो ह्यर्थः पुनर्भवति सोऽन्यथा ।
अनित्यमतयो लोके नराः पुरुषसत्तम ॥ ६ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! किसी वस्तुके विषयमें सोचा कुछ और जाता है और हो कुछ और ही जाता है। संसारके मनुष्य स्थिर विचारवाले नहीं होते हैं ॥ ६ ॥

अन्यथा बुद्धयो ह्यासन्नस्मासु वनवासिषु ।
अदृश्येष्वन्यथा कृष्ण दृश्येषु पुनरन्यथा ॥ ७ ॥

श्रीकृष्ण ! जब हम वनमें निवास करते थे, उस समय हमारे विचार कुछ और ही थे, अज्ञातवासके समय वे बदलकर कुछ और हो गये और उस अवधिको पूर्ण करके जब हम सबके सामने प्रकट हुए हैं, तबसे हमलोगोंका विचार कुछ और हो गया है ॥ ७ ॥

अस्माकमपि वार्ष्णेय वने विचरतां तदा ।
न तथा प्रणयो राज्ये यथा सम्प्रति वर्तते ॥ ८ ॥

वृष्णिनन्दन ! वनमें विचरते समय राज्यके विषयमें हमारा वैसा आकर्षण नहीं था, जैसा इस समय है ॥ ८ ॥

निवृत्तवनवासान् नः श्रुत्वा वीर समागताः ।
अक्षौहिण्यो हि सप्तेमास्त्वत्प्रसादाज्जनार्दन ॥ ९ ॥

वीर जनार्दन ! हमलोग वनवासकी अवधि पूरी करके आ गये हैं; यह सुनकर आपकी कृपासे ये सात अक्षौहिणी सेनाएँ यहाँ एकत्र हो गयी हैं ॥ ९ ॥

इमान् हि पुरुषव्याघ्रानचिन्त्यबलपौरुषान् ।
आत्तशस्त्रान् रणे दृष्ट्वा न व्यथेदिह कः पुमान् ॥ १० ॥

यहाँ जो पुरुषसिंह वीर उपस्थित हैं, इनके बल और पौरुष अचिन्त्य हैं । रणभूमिमें इन्हें अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित देखकर किस पुरुषका हृदय भयभीत न हो उठेगा ? ॥ १० ॥

स भवान् कुरुमध्ये तं सान्त्वपूर्वं भयोत्तरम्।
ब्रूयाद् वाक्यं यथा मन्दो न व्यथेत सुयोधनः॥ ११॥

आप कौरवोंके बीचमें उससे पहले सान्त्वनापूर्ण बातें कहियेगा और अन्तमें युद्धका भय भी दिखाइयेगा, जिससे मूर्ख दुर्योधनके मनमें व्यथा न हो॥ ११॥

युधिष्ठिरं भीमसेनं बीभत्सुं चापराजितम्।
सहदेवं च मां चैव त्वां च रामं च केशव॥ १२॥
सात्यकिं च महावीर्यं विराटं च सहात्मजम्।
द्रुपदं च सहामात्यं धृष्टद्युम्नं च माधव॥ १३॥
काशिराजं च विक्रान्तं धृष्टकेतुं च चेदिपम्।
मांसशोणितभृन्मर्त्यः प्रतियुध्येत को युधि॥ १४॥

केशव! अपने शरीरमें मांस और रक्तका बोझ बढ़ानेवाला कौन ऐसा मनुष्य है, जो युद्धमें युधिष्ठिर, भीमसेन, किसीसे पराजित न होनेवाले अर्जुन, सहदेव, बलराम, महापराक्रमी सात्यकि, पुत्रोंसहित विराट, मन्त्रियोंसहित द्रुपद, धृष्टद्युम्न, पराक्रमी काशिराज, चेदिनरेश धृष्टकेतु तथा आपका और मेरा सामना कर सके?॥ १२–१४॥

स भवान् गमनादेव साधयिष्यत्यसंशयम्।
इष्टमर्थं महाबाहो धर्मराजस्य केवलम्॥ १५॥

महाबाहो! आप वहाँ केवल जानेमात्रसे धर्मराजके अभीष्ट मनोरथको सिद्ध कर देंगे; इसमें संशय नहीं है॥ १५॥

विदुरश्चैव भीष्मश्च द्रोणश्च सहबाह्लिकः।
श्रेयः समर्था विज्ञातुमुच्यमानास्त्वयानघ॥ १६॥

निष्पाप श्रीकृष्ण! विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य तथा बाह्लीक—ये आपके बतानेपर कल्याणकारी मार्गको समझनेमें समर्थ हैं॥ १६॥

ते चैनमनुनेष्यन्ति धृतराष्ट्रं जनाधिपम्।
तं च पापसमाचारं सहामात्यं सुयोधनम्॥ १७॥

ये लोग राजा धृतराष्ट्र तथा मन्त्रियोंसहित पापाचारी दुर्योधनको (समझा-बुझाकर) राहपर लायँगे॥ १७॥

श्रोता चार्थस्य विदुरस्त्वं च वक्ता जनार्दन।
कमिवार्थं निवर्तन्तं स्थापयेतां न वर्त्मनि॥ १८॥

जनार्दन! जहाँ विदुरजी किसी प्रयोजनको सुनें और आप उसका प्रतिपादन करें, वहाँ आप दोनों मिलकर किस बिगड़ते हुए कार्यको सिद्धिके मार्गपर नहीं ला देंगे?॥ १८॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि नकुलवाक्ये अशीतितमोऽध्यायः॥ ८०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें नकुलवाक्यविषयक असीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८०॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

युद्धके लिये सहदेव तथा सात्यकिकी सम्मति और समस्त योद्धाओंका समर्थन

सहदेव उवाच

यदेतत् कथितं राज्ञा धर्म एष सनातनः।
यथा च युद्धमेव स्यात् तथा कार्यमरिंदम॥ १॥

सहदेव बोले—शत्रुदमन श्रीकृष्ण! महाराज युधिष्ठिरने यहाँ जो कुछ कहा है, यह सनातन धर्म है; परंतु मेरा कथन यह है कि आपको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे युद्ध होकर ही रहे॥ १॥

यदि प्रशममिच्छेयुः कुरवः पाण्डवैः सह।
तथापि युद्धं दाशार्ह योजयेथाः सहैव तैः॥ २॥

दशार्हनन्दन! यदि कौरव पाण्डवोंके साथ संधि करना चाहें, तो भी आप उनके साथ युद्धकी ही योजना बनाइयेगा॥ २॥

कथं नु दृष्ट्वा पाञ्चालीं तथा कृष्ण सभागताम्।
अवधेन प्रशाम्येत मम मन्युः सुयोधने॥ ३॥

श्रीकृष्ण! पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको वैसी दशामें सभाके भीतर लायी गयी देखकर दुर्योधनके प्रति बढ़ा हुआ मेरा क्रोध उसका वध किये बिना कैसे शान्त हो सकता है?॥ ३॥

यदि भीमार्जुनौ कृष्ण धर्मराजश्च धार्मिकः।
धर्ममुत्सृज्य तेनाहं योद्धुमिच्छामि संयुगे॥ ४॥

श्रीकृष्ण! यदि भीमसेन, अर्जुन तथा धर्मराज युधिष्ठिर धर्मका ही अनुसरण करते हैं तो मैं उस धर्मको छोड़कर रणभूमिमें दुर्योधनके साथ युद्ध ही करना चाहता हूँ॥ ४॥

सात्यकिरुवाच

सत्यमाह महाबाहो सहदेवो महामतिः।
दुर्योधनवधे शान्तिस्तस्य कोपस्य मे भवेत्॥ ५॥

सात्यकिने कहा—महाबाहो! परम बुद्धिमान् सहदेव ठीक कहते हैं। दुर्योधनके प्रति बढ़ा हुआ मेरा क्रोध उसके वधसे ही शान्त होगा॥ ५॥

न जानासि यथा दृष्ट्वा चीराजिनधरान् वने।
तवापि मन्युरुद्भूतो दुःखितान् प्रेक्ष्य पाण्डवान्॥ ६॥

क्या आप भूल गये हैं; जब कि वनमें वल्कल और

मृगचर्म धारण करके दुखी हुए पाण्डवोंको देखकर आपका भी क्रोध उमड़ आया था ? ॥ ६ ॥

तस्मान्माद्रीसुतः शूरो यदाह रणकर्कशः ।
वचनं सर्वयोधानां तन्मतं पुरुषोत्तम ॥ ७ ॥

अतः पुरुषोत्तम ! युद्धमें कठोरता दिखानेवाले माद्रीनन्दन शूरवीर सहदेवने जो बात कही है, वही हम सम्पूर्ण योद्धाओंका मत है ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं वदति वाक्यं तु युयुधाने महामतौ ।
सुभीमः सिंहनादोऽभूद् योधानां तत्र सर्वशः ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! परम बुद्धिमान् सात्यकिके ऐसा कहते ही वहाँ सब ओरसे समस्त योद्धाओंका अत्यन्त भयंकर सिंहनाद शुरू हो गया ॥ ८ ॥

सर्वे हि सर्वशो वीरास्तद्वचः प्रत्यपूजयन् ।
साधु साध्विति शैनेयं हर्षयन्तो युयुत्सवः ॥ ९ ॥

युद्धकी इच्छा रखनेवाले उन सभी वीरोंने साधु-साधु कहकर सात्यकिका हर्ष बढ़ाते हुए उनके वचनकी सर्वथा भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि सहदेवसात्यकिवाक्ये एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें सहदेव-सात्यकिवाक्यविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

द्रौपदीका श्रीकृष्णसे अपना दुःख सुनाना और श्रीकृष्णका उसे आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धर्मार्थसहितं हितम् ।
कृष्णा दाशार्हमासीनमब्रवीच्छोककर्शिता ॥ १ ॥
सुता द्रुपदराजस्य स्वसितायतमूर्धजा ।
सम्पूज्य सहदेवं च सात्यकिं च महारथम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सिरपर अत्यन्त काले और लम्बे केश धारण करनेवाली द्रुपदराजकुमारी कृष्णा राजा युधिष्ठिरके धर्म और अर्थसे युक्त हितकर वचन सुनकर शोकसे कातर हो उठी और महारथी सात्यकि तथा सहदेवकी प्रशंसा करके वहाँ बैठे हुए दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णसे कुछ कहनेको उद्यत हुई ॥ १-२ ॥

भीमसेनं च संशान्तं दृष्ट्वा परमदुर्मनाः ।
अश्रुपूर्णेक्षणा वाक्यमुवाचेदं मनस्विनी ॥ ३ ॥

भीमसेनको अत्यन्त शान्त देख मनस्विनी द्रौपदीके मनमें बड़ा दुःख हुआ । उसकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोली—॥ ३ ॥

विदितं ते महाबाहो धर्मज्ञ मधुसूदन ।
यथा निकृतिमास्थाय भ्रंशिताः पाण्डवाः सुखात् ॥ ४ ॥
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण सामात्येन जनार्दन ।
यथा च संजयो राज्ञा मन्त्रं रहसि श्रावितः ॥ ५ ॥
युधिष्ठिरस्य दाशार्ह तच्चापि विदितं तव ।
यथोक्तः संजयश्चैव तच्च सर्वं श्रुतं त्वया ॥ ६ ॥

'धर्मके ज्ञाता महाबाहु मधुसूदन ! आपको तो मालूम ही है कि मन्त्रियोंसहित धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने किस प्रकार शठताका आश्रय लेकर पाण्डवोंको सुखसे वञ्चित कर दिया । दशार्हनन्दन ! राजा धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरसे कहनेके लिये संजयको एकान्तमें जो मन्त्र (अपना विचार) सुनाकर यहाँ भेजा था, वह भी आपको ज्ञात ही है तथा धर्मराजने संजयसे जैसी बातें कही थीं, उन सबको भी आपने सुन ही लिया है ॥ ४–६ ॥

पञ्च नस्तात दीयन्तां ग्रामा इति महाद्युते ।
अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दीं वारणावतम् ॥ ७ ॥
अवसानं महाबाहो कञ्चिदेकं च पञ्चमम् ।
इति दुर्योधनो वाच्यः सुहृदश्चास्य केशव ॥ ८ ॥

'महातेजस्वी केशव ! (इन्होंने संजयसे इस प्रकार कहा था—)'संजय! तुम दुर्योधन और उसके सुहृदोंके सामने मेरी यह माँग रख देना—'तात ! तुम हमें अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत तथा अन्तिम पाँचवाँ कोई एक गाँव—इन पाँच गाँवोंको ही दे दो' ॥ ७-८ ॥

न चापि ह्यकरोद् वाक्यं श्रुत्वा कृष्ण सुयोधनः ।
युधिष्ठिरस्य दाशार्ह श्रीमतः संधिमिच्छतः ॥ ९ ॥

'दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण ! संधिकी इच्छा रखनेवाले श्रीमान् युधिष्ठिरका यह (नम्रतापूर्ण) वचन सुनकर भी उसे दुर्योधनने स्वीकार नहीं किया ॥ ९ ॥

अप्रदानेन राज्यस्य यदि कृष्ण सुयोधनः ।
संधिमिच्छेन्न कर्तव्यं तत्र गत्वा कथञ्चन ॥ १० ॥

'भगवन् ! आपके वहाँ जानेपर यदि दुर्योधन राज्य दिये बिना ही संधि करना चाहे तो आप इसे किसी तरह स्वीकार न कीजियेगा ॥ १० ॥

शक्ष्यन्ति हि महाबाहो पाण्डवाः सृंजयैः सह ।
धार्तराष्ट्रबलं घोरं क्रुद्धं प्रतिसमासितुम् ॥ ११ ॥

महाबाहो ! पाण्डवलोग सृञ्जय वीरोंके साथ क्रोधमें भरी हुई दुर्योधनकी भयंकर सेनाका अच्छी तरह सामना कर सकते हैं ॥ ११ ॥

न हि साम्ना न दानेन शक्योऽर्थस्तेषु कश्चन।
तस्मात् तेषु न कर्तव्या कृपा ते मधुसूदन ॥ १२ ॥

मधुसूदन ! कौरवोंके प्रति साम और दाननीतिका प्रयोग करनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । अतः उनपर आपको कभी कृपा नहीं करनी चाहिये ॥ १२ ॥

साम्ना दानेन वा कृष्ण ये न शाम्यन्ति शत्रवः।
योक्तव्यस्तेषु दण्डः स्याज्जीवितं परिरक्षता ॥ १३ ॥

श्रीकृष्ण ! अपने जीवनकी रक्षा करनेवाले पुरुषको चाहिये कि जो शत्रु साम और दानसे शान्त न हों, उनपर दण्डका प्रयोग करे ॥ १३ ॥

तस्मात् तेषु महादण्डः क्षेप्तव्यः क्षिप्रमच्युत।
त्वया चैव महाबाहो पाण्डवैः सह सृंजयैः ॥ १४ ॥

अतः महाबाहु अच्युत ! आपको तथा सृञ्जयोंसहित पाण्डवोंको उचित है कि वे उन शत्रुओंको शीघ्र ही महान् दण्ड दें ॥ १४ ॥

एतत् समर्थं पार्थानां तव चैव यशस्करम्।
क्रियमाणं भवेत् कृष्ण क्षत्रस्य च सुखावहम् ॥ १५ ॥

यही कुन्तीकुमारोंके योग्य कार्य है । श्रीकृष्ण ! यदि यह किया जाय तो आपके भी यशका विस्तार होगा और समस्त क्षत्रिय-समुदायको भी सुख मिलेगा ॥ १५ ॥

क्षत्रियेण हि हन्तव्यः क्षत्रियो लोभमास्थितः।
अक्षत्रियो वा दाशार्ह स्वधर्ममनुतिष्ठता ॥ १६ ॥

दशार्हनन्दन ! अपने धर्मका पालन करनेवाले क्षत्रियको चाहिये कि वह लोभका आश्रय लेनेवाले मनुष्यको भले ही वह क्षत्रिय हो या अक्षत्रिय, अवश्य मार डाले ॥ १६ ॥

अन्यत्र ब्राह्मणात् तात सर्वपापेष्ववस्थितात्।
गुरुर्हि सर्ववर्णानां ब्राह्मणः प्रसृताग्रभुक् ॥ १७ ॥

तात ! ब्राह्मणोंके सिवा दूसरे वर्णोंपर ही यह नियम लागू होता है । ब्राह्मण सब पापोंमें डूबा हो, तब भी उसे प्राणदण्ड नहीं देना चाहिये; क्योंकि ब्राह्मण सब वर्णोंका गुरु तथा दानमें दी हुई वस्तुओंका सर्वप्रथम भोक्ता है अर्थात् पहला पात्र है ॥ १७ ॥

यथावध्ये वध्यमाने भवेद् दोषो जनार्दन।
स वध्यस्यावधे दृष्ट इति धर्मविदो विदुः ॥ १८ ॥

जनार्दन ! जैसे अवध्यका वध करनेपर महान् दोष लगता है, उसी प्रकार वध्यका वध न करनेसे भी दोषकी प्राप्ति होती है । यह बात धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं ॥ १८ ॥

यथा त्वां न स्पृशेदेष दोषः कृष्ण तथा कुरु।
पाण्डवैः सह दाशार्हैः सृंजयैश्च ससैनिकैः ॥ १९ ॥

श्रीकृष्ण ! आप सैनिकोंसहित सृञ्जयों, पाण्डवों तथा यादवोंके साथ ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे आपको यह दोष न छू सके ॥ १९ ॥

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि विश्रम्भेण जनार्दन।
का तु सीमन्तिनी मादृक् पृथिव्यामस्ति केशव ॥ २० ॥

जनार्दन ! आपपर अत्यन्त विश्वास होनेके कारण मैं अपनी कही हुई बातको पुनः दुहराती हूँ । केशव ! इस पृथ्वीपर मेरे समान स्त्री कौन होगी ? ॥ २० ॥

सुता द्रुपदराजस्य वेदिमध्यात् समुत्थिता।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी तव कृष्ण प्रिया सखी ॥ २१ ॥

मैं महाराज द्रुपदकी पुत्री हूँ । यज्ञ वेदीके मध्यभागसे मेरा जन्म हुआ है । श्रीकृष्ण ! मैं वीर धृष्टद्युम्नकी बहिन और आपकी प्रिय सखी हूँ ॥ २१ ॥

आजमीढकुलं प्राप्ता स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः।
महिषी पाण्डुपुत्राणां पञ्चेन्द्रसमवर्चसाम् ॥ २२ ॥

मैं परम प्रतिष्ठित अजमीढ़कुलमें ब्याहकर आयी हूँ । महात्मा राजा पाण्डुकी पुत्रवधू तथा पाँच इन्द्रोंके समान तेजस्वी पाण्डुपुत्रोंकी पटरानी हूँ ॥ २२ ॥

सुता मे पञ्चभिर्वीरैः पञ्च जाता महारथाः।
अभिमन्युर्यथा कृष्ण तथा ते तव धर्मतः ॥ २३ ॥

पाँच वीर पतियोंसे मैंने पाँच महारथी पुत्रोंको जन्म दिया है । श्रीकृष्ण ! जैसे अभिमन्यु आपका भानजा है, उसी प्रकार मेरे पुत्र भी धर्मतः आपके भानजे ही हैं ॥ २३ ॥

साहं केशग्रहं प्राप्ता परिक्लिष्टा सभां गता।
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां त्वयि जीवति केशव ॥ २४ ॥

केशव ! इतनी सम्मानित और सौभाग्यशालिनी होनेपर भी मैं पाण्डवोंके देखते-देखते और आपके जीते-जी केश पकड़कर सभामें लायी गयी और मेरा बारंबार अपमान किया गया एवं मुझे क्लेश दिया गया ॥ २४ ॥

जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पञ्चालेष्वथ वृष्णिषु।
दासीभूतास्मि पापानां सभामध्ये व्यवस्थिता ॥ २५ ॥

पाण्डवों, पाञ्चालों और यदुवंशियोंके जीते-जी मैं पापी कौरवोंकी दासी बनी और उसी रूपमें सभाके बीच मुझे उपस्थित होना पड़ा ॥ २५ ॥

निरमर्षेष्वचेष्टेषु प्रेक्षमाणेषु पाण्डुषु।
पाहि मामिति गोविन्द मनसा चिन्तितोऽसि मे ॥ २६ ॥

पाण्डव यह सब कुछ देख रहे थे, तो भी न तो इनका

क्रोध ही जागा और न इन्होंने मुझे उनके हाथसे छुड़ानेकी चेष्टा ही की। उस समय मैंने (अत्यन्त असहाय होकर) मन-ही-मन आपका चिन्तन किया और कहा—'गोविन्द! मेरी रक्षा कीजिये' (प्रभो! तब आपने ही कृपा करके मेरी लाज बचायी)॥

यत्र मां भगवान् राजा श्वशुरो वाक्यमब्रवीत्।
वरं वृणीष्व पाञ्चालि वरार्हासि मता मम ॥ २७ ॥

उस सभामें मेरे ऐश्वर्यशाली श्वशुर राजा धृतराष्ट्रने मुझे (आदर देते हुए) कहा—'पाञ्चालराजकुमारी। मैं तुम्हें अपनी ओरसे मनोवाञ्छित वर पानेके योग्य मानता हूँ। तुम कोई वर माँगो' ॥ २७ ॥

अदासाः पाण्डवाः सन्तु सरथाः सायुधा इति।
मयोक्ते यत्र निर्मुक्ता वनवासाय केशव ॥ २८ ॥

तब मैंने उनसे कहा—'पाण्डव रथ और आयुधोंसहित दासभावसे मुक्त हो जायँ।' केशव! मेरे इतना कहनेपर ये लोग वनवासका कष्ट भोगनेके लिये दासभावसे मुक्त हुए थे॥

एवंविधानां दुःखानामभिज्ञोऽसि जनार्दन।
त्रायस्व पुण्डरीकाक्ष सभर्तृज्ञातिबान्धवान् ॥ २९ ॥

जनार्दन! हमलोगोंपर ऐसे-ऐसे महान् दुःख आते रहे हैं, जिन्हें आप अच्छी तरह जानते हैं। कमलनयन! पति, कुटुम्बी तथा बान्धवजनोंसहित हमलोगोंकी आप रक्षा करें॥

नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः।
स्नुषा भवामि धर्मेण साहं दासीकृता बलात् ॥ ३० ॥

श्रीकृष्ण! मैं धर्मतः भीष्म और धृतराष्ट्र दोनोंकी पुत्र-वधू हूँ, तो भी उनके सामने ही मुझे बलपूर्वक दासी बनाया गया॥ ३० ॥

धिक् पार्थस्य धनुष्मत्तां भीमसेनस्य धिग् बलम्।
यत्र दुर्योधनः कृष्ण मुहूर्तमपि जीवति ॥ ३१ ॥

भगवन्! ऐसी दशामें यदि दुर्योधन एक मुहूर्त भी जीवित रहता है तो अर्जुनके धनुषधारण और भीमसेनके बलको धिक्कार है॥ ३१ ॥

यदि तेऽहमनुग्राह्या यदि तेऽस्ति कृपा मयि।
धार्तराष्ट्रेषु वै कोपः सर्वः कृष्ण विधीयताम् ॥ ३२ ॥

श्रीकृष्ण! यदि मैं आपकी अनुग्रहभाजन हूँ, यदि मुझ-पर आपकी कृपा है तो आप धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर पूर्णरूपसे क्रोध कीजिये॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा मृदुसंहारं वृजिनाग्रं सुदर्शनम्।
सुनीलमसितापाङ्गी सर्वगन्धाधिवासितम् ॥ ३३ ॥
सर्वलक्षणसम्पन्नं महाभुजगवर्चसम्।
केशपक्षं वरारोहा गृह्य वामेन पाणिना ॥ ३४ ॥
पद्माक्षी पुण्डरीकाक्षमुपेत्य गजगामिनी।
अश्रुपूर्णेक्षणा कृष्णा कृष्णं वचनमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर सुन्दर अङ्गोंवाली, श्यामलोचना, कमलनयनी एवं गजगामिनी द्रुपदकुमारी कृष्णा अपने उन केशोंको, जो देखनेमें अत्यन्त सुन्दर, घुँघराले, अत्यन्त काले, एकत्र आबद्ध होनेपर भी कोमल, सब प्रकारकी सुगन्धोंसे सुवासित, सभी शुभ लक्षणोंसे सुशोभित तथा विशाल सर्पके समान कान्तिमान् थे, बाँयें हाथमें लेकर कमलनयन श्रीकृष्णके पास गयी और नेत्रोंमें आँसू भरकर इस प्रकार बोली—॥ ३३-३५ ॥



अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः।
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां संधिमिच्छता ॥ ३६ ॥

'कमललोचन श्रीकृष्ण! शत्रुओंके साथ संधिकी इच्छासे आप जो-जो कार्य या प्रयत्न करें, उन सबमें दुःशासनके हाथोंसे खींचे हुए इन केशोंको याद रक्खें॥ ३६ ॥

यदि भीमार्जुनौ कृष्ण कृपणौ संधिकामुकौ।
पिता मे योत्स्यते वृद्धः सह पुत्रैर्महारथैः ॥ ३७ ॥

'श्रीकृष्ण! यदि भीमसेन और अर्जुन कायर होकर कौरवों-के साथ संधिकी कामना करने लगे हैं, तो मेरे वृद्ध पिताजी अपने महारथी पुत्रोंके साथ शत्रुओंसे युद्ध करेंगे॥ ३७ ॥

पञ्च चैव महावीर्याः पुत्रा मे मधुसूदन।
अभिमन्युं पुरस्कृत्य योत्स्यन्ते कुरुभिः सह ॥ ३८ ॥

'मधुसूदन! मेरे पाँच महापराक्रमी पुत्र भी वीर अभिमन्यु-को प्रधान बनाकर कौरवोंके साथ संग्राम करेंगे॥ ३८ ॥

दुःशासनभुजं श्यामं संछिन्नं पांसुगुण्ठितम् ।
यद्यहं तु न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ ३९ ॥

'यदि मैं दुःशासनकी साँवली भुजाको कटकर धूलमें लोटती न देखूँ तो मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ? ॥३९॥

त्रयोदश हि वर्षाणि प्रतीक्षन्त्या गतानि मे ।
विधाय हृदये मन्युं प्रदीप्तमिव पावकम् ॥ ४० ॥

'प्रज्वलित अग्निके समान इस प्रचण्ड क्रोधको हृदयमें रखकर प्रतीक्षा करते मुझे तेरह वर्ष बीत गये हैं ॥ ४० ॥

विदीर्यते मे हृदयं भीमवाक्छल्यपीडितम् ।
योऽयमद्य महाबाहुर्धर्ममेवानुपश्यति ॥ ४१ ॥

'आज भीमसेनके संधिके लिये कहे गये वचन मेरे हृदयमें बाणके समान लगे हैं, जिनसे पीड़ित होकर मेरा कलेजा फटा जा रहा है। हाय ! ये महाबाहु आज (मेरे अपमानको भुलाकर) केवल धर्मका ही ध्यान धर रहे हैं' ॥ ४१ ॥

इत्युक्त्वा बाष्परुद्धेन कण्ठेनायतलोचना ।
रुरोद कृष्णा सोत्कम्पं सस्वरं बाष्पगद्गदम् ॥ ४२ ॥
स्तनौ पीनायतश्रोणी सहिताविभवर्षती ।
द्रवीभूतमिवात्युष्णं मुञ्चन्ती वारि नेत्रजम् ॥ ४३ ॥

इतना कहनेके बाद पीन एवं विशाल नितम्बोंवाली विशाललोचना द्रुपदकुमारी कृष्णाका कण्ठ आँसुओंसे रुँध गया । वह काँपती हुई अश्रुगद्गद वाणीमें फूट-फूटकर रोने लगी । उसके परस्पर सटे हुए स्तनोंपर नेत्रोंसे गरम-गरम आँसुओंकी वर्षा होने लगी; मानो वह अपने भीतरकी द्रवीभूत क्रोधाग्निको ही उन बाष्पबिन्दुओंके रूपमें बिखेर रही हो ॥

तामुवाच महाबाहुः केशवः परिसान्त्वयन् ।
अचिराद् द्रक्ष्यसे कृष्णे रुदतीर्भरतस्त्रियः ॥ ४४ ॥

तब महाबाहु केशवने उसे सान्त्वना देते हुए कहा— 'कृष्णे ! तुम शीघ्र ही भरतवंशकी दूसरी स्त्रियोंको भी इसी प्रकार रुदन करते देखोगी ॥ ४४ ॥

एवं ता भीरु रोत्स्यन्ति निहतज्ञातिबान्धवाः ।
हतमित्रा हतबला येषां क्रुद्धासि भामिनि ॥ ४५ ॥

'भामिनी ! जिनपर तुम कुपित हुई हो, उन विपक्षियोंकी स्त्रियाँ भी अपने कुटुम्बी, बन्धु-बान्धव, मित्रवृन्द तथा सेनाओंके मारे जानेपर इसी तरह रोयेंगी ॥ ४५ ॥

अहं च तत् करिष्यामि भीमार्जुनयमैः सह ।
युधिष्ठिरनियोगेन दैवाच्च विधिनिर्मितात् ॥ ४६ ॥

'महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञा तथा विधाताके रचे हुए अदृष्टसे प्रेरित हो भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवको साथ लेकर मैं भी वही करूँगा, जो तुम्हें अभीष्ट है ॥ ४६ ॥

धार्तराष्ट्राः कालपक्का न चेच्छृण्वन्ति मे वचः ।
शेष्यन्ते निहता भूमौ श्वशृगालादनीकृताः ॥ ४७ ॥

'यदि कालके गालमें जानेवाले धृतराष्ट्रपुत्र मेरी बात नहीं सुनेंगे तो मारे जाकर धरतीपर लोटेंगे और कुत्तों तथा सियारोंके भोजन बन जायँगे ॥ ४७ ॥

चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा फलेत् ।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत् ॥ ४८ ॥

'हिमालय पर्वत अपनी जगहसे टल जाय, पृथ्वीके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ तथा नक्षत्रोंसहित आकाश टूट पड़े, परंतु मेरी यह बात झूठी नहीं हो सकती ॥ ४८ ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे बाष्पो निगृह्यताम् ।
हतामित्राञ्छ्रिया युक्तानचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन् ॥४९॥

'कृष्णे ! अपने आँसुओंको रोको । मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, तुम शीघ्र ही देखोगी कि सारे शत्रु मार डाले गये और तुम्हारे पति राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न हैं' ॥४९॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि द्रौपदीकृष्णसंवादे द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें द्रौपदी-कृष्णसंवादविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका हस्तिनापुरको प्रस्थान, युधिष्ठिरका माता कुन्ती एवं कौरवोंके लिये संदेश तथा श्रीकृष्णको मार्गमें दिव्य महर्षियोंका दर्शन

अर्जुन उवाच

कुरूणामद्य सर्वेषां भवान् सुहृदनुत्तमः ।
सम्बन्धी दयितो नित्यमुभयोः पक्षयोरपि ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण ! आजकल आप ही समस्त कौरवोंके सर्वोत्तम सुहृद् तथा दोनों पक्षोंके नित्य प्रिय सम्बन्धी हैं ॥ १ ॥

पाण्डवैर्धार्तराष्ट्राणां प्रतिपाद्यमनामयम् ।
समर्थः प्रशमं चैव कर्तुमर्हसि केशव ॥ २ ॥

केशव ! पाण्डवोंसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंका मङ्गल सम्पादन करना आपका कर्तव्य है । आप उभयपक्षमें संधि करानेकी शक्ति भी रखते हैं ॥ २ ॥

त्वमितः पुण्डरीकाक्ष सुयोधनममर्षणम्।
शान्त्यर्थं भ्रातरं ब्रूया यत् तद् वाच्यममित्रहन्॥ ३॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले कमलनयन श्रीकृष्ण! आप यहाँसे जाकर हमारे अमर्षशील भ्राता दुर्योधनसे ऐसी बातें करें, जो शान्तिस्थापनमें सहायक हों॥ ३॥

त्वया धर्मार्थयुक्तं चेदुक्तं शिवमनामयम्।
हितं नादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति॥ ४॥

यदि वह मूर्ख आपकी कही हुई धर्म और अर्थसे युक्त, संतापनाशक, कल्याणकारी एवं हितकर बातें नहीं मानेगा तो अवश्य ही उसे कालके गालमें जाना पड़ेगा॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच

धर्म्यमस्मद्धितं चैव कुरूणां यदनामयम्।
एष यास्यामि राजानं धृतराष्ट्रमभीप्सया॥ ५॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन! जो धर्मसंगत, हमलोगोंके लिये हितकर तथा कौरवोंके लिये भी मङ्गलकारक हो, वही कार्य करनेके लिये मैं राजा धृतराष्ट्रके समीप यात्रा करूँगा॥

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यपेततमसि सूर्ये विमलवद्गते।
मैत्रे मुहूर्ते सम्प्राप्ते मृद्वर्चिषि दिवाकरे॥ ६॥
कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे।
स्फीतसस्यसुखे काले कल्पः सत्त्ववतां वरः॥ ७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर जब रात्रिका अन्धकार दूर हुआ और निर्मल आकाशमें सूर्यदेवके उदित होनेपर उनकी कोमल किरणें सब ओर फैल गयीं। कार्तिक मासके रेवती नक्षत्रमें 'मैत्र' नामक मुहूर्त उपस्थित होनेपर सत्त्वगुणी पुरुषोंमें श्रेष्ठ एवं समर्थ श्रीकृष्णने यात्रा आरम्भ की। उन दिनों शरद्-ऋतुका अन्त और हेमन्तका आरम्भ हो रहा था। सब ओर खूब उपजी हुई खेती लहलहा रही थी॥ ६-७॥

मङ्गल्याः पुण्यनिर्घोषा वाचः शृण्वंश्च सूनृताः।
ब्राह्मणानां प्रतीतानामृषीणामिव वासवः॥ ८॥
कृत्वा पौर्वाह्णिकं कृत्यं स्नातः शुचिरलंकृतः।
उपतस्थे विवस्वन्तं पावकं च जनार्दनः॥ ९॥
ऋषभं पृष्ठ आलभ्य ब्राह्मणानभिवाद्य च।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा पश्यन् कल्याणमग्रतः॥ १०॥
तत् प्रतिज्ञाय वचनं पाण्डवस्य जनार्दनः।
शिनेर्नप्तारमासीनमभ्यभाषत सात्यकिम्॥ ११॥

भगवान् जनार्दनने सबसे पहले प्रातःकाल ऋषियोंके मुखसे मङ्गलपाठ सुननेवाले देवराज इन्द्रकी भाँति विश्वस्त ब्राह्मणोंके मुखसे परम मधुर मङ्गलकारक पुण्याहवाचन सुनते हुए स्नान किया। फिर उन्होंने पवित्र तथा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो सन्ध्यावन्दन, सूर्योपस्थान एवं अग्निहोत्र आदि पूर्वाह्णकृत्य सम्पन्न किये। इसके बाद बैलकी पीठ छूकर ब्राह्मणोंको नमस्कार किया और अग्निकी परिक्रमा करके अपने सामने प्रस्तुत की हुई कल्याणकारक वस्तुओंका दर्शन किया। तदनन्तर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी बातोंपर विचार करके जनार्दनने अपने पास बैठे हुए शिनिपौत्र सात्यकिसे इस प्रकार कहा—॥ ८-११॥

रथ आरोप्यतां शङ्खश्चक्रं च गदया सह।
उपासंगाश्च शक्त्यश्च सर्वप्रहरणानि च॥ १२॥

'युयुधान! मेरे रथपर शङ्ख, चक्र, गदा, तूणीर, शक्ति तथा अन्य सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लाकर रख दो॥ १२॥

दुर्योधनश्च दुष्टात्मा कर्णश्च सहसौबलः।
न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा॥ १३॥

'कोई अत्यन्त बलवान् क्यों न हो, उसे अपने दुर्बल शत्रुकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; (उससे सतर्क रहना चाहिये।) फिर दुर्योधन, कर्ण और शकुनि तो दुष्टात्मा ही हैं। उनसे तो सावधान रहनेकी अत्यन्त आवश्यकता है॥

ततस्तन्मतमाज्ञाय केशवस्य पुरःसराः।
प्रसस्रुर्योजयिष्यन्तो रथं चक्रगदाभृतः॥ १४॥

तब चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके अभिप्रायको जानकर उनके आगे चलनेवाले सेवक रथ जोतनेके लिये दौड़ पड़े॥ १४॥

तं दीप्तमिव कालाग्निमाकाशगमिवाशुगम्।
सूर्यचन्द्रप्रकाशाभ्यां चक्राभ्यां समलंकृतम्॥ १५॥

वह रथ प्रलयकालीन अग्निके समान दीप्तिमान्, विमानके सदृश शीघ्रगामी तथा सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी दो गोलाकार चक्रोंसे सुशोभित था॥ १५॥

अर्धचन्द्रैश्च चन्द्रैश्च मत्स्यैः समृगपक्षिभिः।
पुष्पैश्च विविधैश्चित्रं मणिरत्नैश्च सर्वशः॥ १६॥

अर्धचन्द्र, चन्द्र, मत्स्य, मृग, पक्षी, नाना प्रकारके पुष्प तथा सभी तरहके मणि-रत्नोंसे चित्रित एवं जटित होनेके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी॥ १६॥

तरुणादित्यसंकाशं बृहन्तं चारुदर्शनम्।
मणिहेमविचित्राङ्गं सुध्वजं सुपताकिनम्॥ १७॥

वह तरुण सूर्यके समान प्रकाशमान, विशाल तथा देखनेमें मनोहर था। उसके सभी भागोंमें मणि एवं सुवर्ण जड़े हुए थे। उस रथकी ध्वजा बहुत ही सुन्दर थी और उसपर उत्तम पताका फहरा रही थी॥ १७॥

सूपस्करमनाधृष्यं वैयाघ्रपरिवारणम्।
यशोघ्नं प्रत्यमित्राणां यदूनां नन्दिवर्धनम्॥ १८॥

उसमें सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री सुन्दर ढंगसे रक्खी गयी थी। उसपर व्याघ्रचर्मका आवरण (पर्दा) शोभा पाता था। वह रथ शत्रुओंके लिये दुर्धर्ष तथा उनके सुयशका नाश करनेवाला था। साथ ही उससे यदुवंशियोंके आनन्दकी वृद्धि होती थी ॥ १८ ॥

वाजिभिः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः।
स्नातैः सम्पादयामासुः सम्पन्नैः सर्वसम्पदा ॥ १९ ॥

श्रीकृष्णके सेवकोंने शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प तथा बलाहक नामवाले चारों घोड़ोंको नहला-धुलाकर सब प्रकारके बहुमूल्य आभूषणोंद्वारा सुसज्जित करके उस रथमें जोत दिया ॥ १९ ॥

महिमानं तु कृष्णस्य भूय एवाभिवर्धयन्।
सुघोषः पतगेन्द्रेण ध्वजेन युयुजे रथः ॥ २० ॥

इस प्रकार वह रथ श्रीकृष्णकी महत्ताको और अधिक बढ़ाता हुआ गरुड़चिह्नित ध्वजसे संयुक्त हो बड़ी शोभा पा रहा था। चलते समय उसके पहियोंसे गम्भीर ध्वनि होती थी ॥ २० ॥

तं मेरुशिखरप्रख्यं मेघदुन्दुभिनिस्वनम्।
आरुरोह रथं शौरिर्विमानमिव कामगम् ॥ २१ ॥

मेरुपर्वतके शिखरोंकी भाँति सुनहरी प्रभासे सुशोभित तथा मेघ और दुन्दुभियोंके समान गम्भीर नाद करनेवाले उस रथपर, जो इच्छानुसार चलनेवाले विमानके समान प्रतीत होता था, भगवान् श्रीकृष्ण आरूढ़ हुए ॥ २१ ॥

ततः सात्यकिमारोप्य प्रययौ पुरुषोत्तमः।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च रथघोषेण नादयन् ॥ २२ ॥

तदनन्तर सात्यकिको भी उसी रथपर बैठाकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने रथकी गम्भीर ध्वनिसे पृथ्वी और आकाशको गुँजाते हुए वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २२ ॥

व्यपोढाभ्रस्ततः कालः क्षणेन समपद्यत।
शिवश्चानुववौ वायुः प्रशान्तमभवद् रजः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् उस समय क्षणभरमें ही आकाशमें घिरे हुए बादल छिन्न-भिन्न हो अदृश्य हो गये। शीतल, सुखद एवं अनुकूल वायु चलने लगी तथा धूलका उड़ना बंद हो गया ॥ २३ ॥

प्रदक्षिणानुलोमाश्च मङ्गल्या मृगपक्षिणः।
प्रयाणे वासुदेवस्य बभूवुरनुयायिनः ॥ २४ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी उस यात्राके समय मङ्गलसूचक मृग और पक्षी उनके दाहिने तथा अनुकूल दिशामें जाते हुए उनका अनुसरण करने लगे ॥ २४ ॥

मङ्गल्यार्थपदैः शब्दैरन्ववर्तन्त सर्वशः।
सारसाः शतपत्राश्च हंसाश्च मधुसूदनम् ॥ २५ ॥

सारस, शतपत्र तथा हंस पक्षी सब ओरसे मङ्गलसूचक शब्द करते हुए मधुसूदन श्रीकृष्णके पीछे-पीछे जाने लगे ॥ २५ ॥

मन्त्राहुतिमहाहोमैर्हूयमानश्च पावकः।
प्रदक्षिणमुखो भूत्वा विधूमः समपद्यत ॥ २६ ॥

मन्त्रपाठपूर्वक दी जानेवाली आहुतियोंसे युक्त बड़े-बड़े होमयज्ञोंद्वारा हविष्य पाकर अग्निदेव प्रदक्षिणक्रमसे उठनेवाली लपटोंके साथ प्रज्वलित हो धूमरहित हो गये ॥ २६ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च भूरिद्युम्नो गयः क्रथः।
शुक्रनारदवाल्मीका मरुत्तः कुशिको भृगुः ॥ २७ ॥
देवब्रह्मर्षयश्चैव कृष्णं यदुसुखावहम्।
प्रदक्षिणमवर्तन्त सहिता वासवानुजम् ॥ २८ ॥

वसिष्ठ, वामदेव, भूरिद्युम्न, गय, क्रथ, शुक्र, नारद, वाल्मीकि, मरुत्त, कुशिक तथा भृगु आदि देवर्षियों तथा ब्रह्मर्षियोंने एक साथ आकर यदुकुलको सुख देनेवाले इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की ॥ २७-२८ ॥

एवमेतैर्महाभागैर्महर्षिगणसाधुभिः।
पूजितः प्रययौ कृष्णः कुरूणां सदनं प्रति ॥ २९ ॥

इस प्रकार इन महाभाग महर्षियों तथा साधु-महात्माओंसे सम्मानित हो श्रीकृष्णने कुरुकुलकी राजधानी हस्तिनापुरकी ओर प्रस्थान किया ॥ २९ ॥

तं प्रयान्तमनुप्रायात् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ३० ॥
चेकितानश्च विक्रान्तो धृष्टकेतुश्च चेदिपः।
द्रुपदः काशिराजश्च शिखण्डी च महारथः ॥ ३१ ॥
धृष्टद्युम्नः सपुत्रश्च विराटः केकयैः सह।
संसाधनार्थं प्रययुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥ ३२ ॥

क्षत्रियशिरोमणे! श्रीकृष्णके जाते समय उन्हें पहुँचानेके लिये कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर उनके पीछे-पीछे चले। साथ ही भीमसेन, अर्जुन, माद्रीके दोनों पुत्र पाण्डुकुमार नकुल-सहदेव, पराक्रमी चेकितान, चेदिराज धृष्टकेतु, द्रुपद, काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, पुत्रों और केकयोंसहित राजा विराट—ये सभी क्षत्रिय अभीष्ट कार्यकी सिद्धि एवं शिष्टाचारका पालन करनेके लिये उनके पीछे गये ॥ ३०—३२ ॥

ततोऽनुव्रज्य गोविन्दं धर्मराजो युधिष्ठिरः।
राज्ञां सकाशे द्युतिमानुवाचेदं वचस्तदा ॥ ३३ ॥

इस प्रकार गोविन्दके पीछे कुछ दूर जाकर तेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने राजाओंके समीप उनसे कुछ कहनेका विचार किया ॥ ३३ ॥

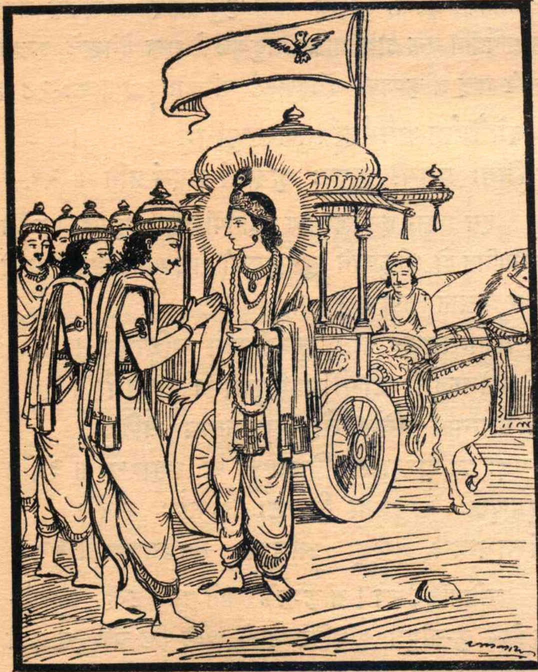
यो वै न कामान्न भयान्न लोभान्नार्थकारणात्।
अन्यायमनुवर्तेत स्थिरबुद्धिरलोलुपः ॥ ३४ ॥

धर्मज्ञो धृतिमान् प्राज्ञः सर्वभूतेषु केशवः ।
ईश्वरः सर्वभूतानां देवदेवः सनातनः ॥ ३५ ॥

जो कभी कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा अन्य किसी प्रयोजनके कारण भी अन्यायका अनुसरण नहीं कर सकते, जिनकी बुद्धि स्थिर है, जो लोभरहित, धर्मज्ञ, धैर्यवान्, विद्वान् तथा सम्पूर्ण भूतोंके भीतर विराजमान हैं, वे भगवान् केशव देवताओंके भी देवता, सनातन परमेश्वर तथा समस्त प्राणियोंके ईश्वर हैं ॥ ३४-३५ ॥

तं सर्वगुणसम्पन्नं श्रीवत्सकृतलक्षणम् ।
सम्परिष्वज्य कौन्तेयः संदेष्टुमुपचक्रमे ॥ ३६ ॥

उन्हीं सर्वगुणसम्पन्न श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगाकर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने निम्नाङ्कित संदेश देना आरम्भ किया ॥ ३६ ॥



युधिष्ठिर उवाच

या सा बाल्यात् प्रभृत्यस्मान् पर्यवर्धयताबला ।
उपवासतपःशीला सदा स्वस्त्ययने रता ॥ ३७ ॥
देवतातिथिपूजासु गुरुशुश्रूषणे रता ।
वत्सला प्रियपुत्रा च प्रियास्माकं जनार्दन ॥ ३८ ॥
सुयोधनभयाद् या नोऽत्रायतामित्रकर्शन ।
महतो मृत्युसम्बाधादुद्ध्रे नौरिवार्णवात् ॥ ३९ ॥
अस्मत्कृते च सततं यया दुःखानि माधव ।
अनुभूतान्यदुःखार्हा तां स्म पृच्छेरनामयम् ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर बोले—शत्रुओंका संहार करनेवाले जनार्दन ! अबला होकर भी जिसने बाल्यकालसे ही हमें पाल-पोसकर बड़ा किया है, उपवास और तपस्यामें संलग्न रहना जिसका स्वभाव बन गया है, जो सदा कल्याणसाधनमें ही लगी रहती है, देवताओं और अतिथियोंकी पूजामें तथा गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषामें जिसका अटूट अनुराग है, जो पुत्रवत्सला एवं पुत्रोंको प्यार करनेवाली है, जिसके प्रति हम पाँचों भाइयोंका अत्यन्त प्रेम है, जिसने दुर्योधनके भयसे हमारी रक्षा की है, जैसे नौका मनुष्यको समुद्रमें डूबनेसे बचाती है, उसी प्रकार जिसने मृत्युके महान् संकटसे हमारा उद्धार किया है और माधव ! जिसने हमलोगोंके कारण सदा दुःख ही भोगे हैं, उस दुःख न भोगनेके योग्य हमारी माता कुन्तीसे मिलकर आप उसका कुशल-समाचार अवश्य पूछें ॥ ३७–४० ॥

भृशमाश्वासयेश्चैनां पुत्रशोकपरिप्लुताम् ।
अभिवाद्य स्वजेथास्त्वं पाण्डवान् परिकीर्तयन् ।४१।

आप हम पाण्डवोंका समाचार बताते हुए हमारी माँसे मिलियेगा और प्रणाम करके पुत्रशोकसे पीड़ित हुई उस देवीको बहुत-बहुत आश्वासन दीजियेगा ॥ ४१ ॥

ऊढात् प्रभृति दुःखानि श्वशुराणामरिंदम ।
निकारानतदर्हा च पश्यन्ती दुःखमश्नुते ॥ ४२ ॥

शत्रुदमन ! उसने विवाह करनेसे लेकर ही अपने श्वशुरके घरमें आकर नाना प्रकारके दुःख और कष्ट ही देखे तथा अनुभव किये हैं और इस समय भी वह वहाँ कष्ट ही भोगती है॥ ४२ ॥

अपि जातु स कालः स्यात् कृष्ण दुःखविपर्ययः ।
यदहं मातरं क्लिष्टां सुखं दद्यामरिंदम ॥ ४३ ॥

शत्रुनाशक श्रीकृष्ण ! क्या कभी वह समय भी आयेगा, जब हमारे सब दुःख दूर हो जायँगे और हमलोग दुःखमें पड़ी हुई अपनी माताको सुख दे सकेंगे ? ॥ ४३ ॥

प्रव्रजन्तोऽनुधावन्तीं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम् ।
रुदतीमपहायैनामगच्छाम वयं वनम् ॥ ४४ ॥

जब हम वनको जा रहे थे, उस समय पुत्रस्नेहसे व्याकुल हो वह कातरभावसे रोती हुई हमारे पीछे-पीछे दौड़ी आ रही थी, परंतु हमलोग उसे वहीं छोड़कर वनमें चले गये ॥ ४४ ॥

न नूनं म्रियते दुःखैः सा चेज्जीवति केशव ।
तथा पुत्राधिभिर्गाढमार्ता ह्यानर्तसत्कृत ॥ ४५ ॥

आनर्तदेशके सम्मानित वीर केशव ! यह निश्चित नहीं है कि मनुष्य दुःखोंसे घबराकर मर ही जाता हो । इसलिये कदाचित् वह जीवित हो, तो भी पुत्रोंकी चिन्तासे अत्यन्त पीड़ित ही होगी ॥ ४५ ॥





हस्तिनापुरके मार्गमें ऋषियोंका आकर श्रीकृष्णसे मिलना

अभिवाद्याथ सा कृष्ण त्वया मद्वचनाद् विभो ।
धृतराष्ट्रश्च कौरव्यो राजानश्च वयोऽधिकाः ॥ ४६ ॥
भीष्मं द्रोणं कृपं चैव महाराजं च बाह्लिकम् ।
द्रौणिं च सोमदत्तं च सर्वांश्च भरतान् प्रति ॥ ४७ ॥
विदुरं च महाप्राज्ञं कुरूणां मन्त्रधारिणम् ।
अगाधबुद्धिं मर्मज्ञं स्वजेथा मधुसूदन ॥ ४८ ॥

प्रभो ! मधुसूदन श्रीकृष्ण ! आप माताको प्रणाम करके मेरे कथनानुसार धृतराष्ट्र, दुर्योधन, अन्यान्य वयोवृद्ध नरेश, भीष्म, द्रोण, कृप, महाराज बाह्लीक, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, सोमदत्त, समस्त भरतवंशी क्षत्रियवृन्द तथा कौरवोंके मन्त्रकी रक्षा करनेवाले, मर्मवेत्ता, अगाधबुद्धि एवं महाज्ञानी विदुरके पास जाकर इन सबको हृदयसे लगाइयेगा ४६—४८

इत्युक्त्वा केशवं तत्र राजमध्ये युधिष्ठिरः ।
अनुज्ञातो निववृते कृष्णं कृत्वा प्रदक्षिणम् ॥ ४९ ॥

राजाओंके बीचमें भगवान् श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर उनकी परिक्रमा करके आज्ञा ले लौट पड़े ॥ ४९ ॥

व्रजन्नेव तु बीभत्सुः सखायं पुरुषर्षभम् ।
अब्रवीत् परवीरघ्नं दाशार्हमपराजितम् ॥ ५० ॥

परंतु अर्जुनने पीछे-पीछे जाते हुए ही शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अपराजित नरश्रेष्ठ अपने सखा दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्णसे कहा—॥ ५० ॥

यदस्माकं विभो वृत्तं पुरा वै मन्त्रनिश्चये ।
अर्धराज्यस्य गोविन्द विदितं सर्वराजसु ॥ ५१ ॥

'गोविन्द ! पहले जब हमलोगोंमें गुप्त मन्त्रणा हुई थी, उस समय एक निश्चित सिद्धान्तपर पहुँचकर हमने आधा राज्य लेकर ही संधि करनेका निर्णय किया था; इस बातको सभी राजा जानते हैं ॥ ५१ ॥

तच्चेद् दद्यादसंगेन सत्कृत्यानवमन्य च ।
प्रियं मे स्यान्महाबाहो मुच्येरन् महतो भयात्॥ ५२ ॥

'महाबाहो ! यदि दुर्योधन लोभ छोड़कर अनादर न करके सत्कारपूर्वक हमें आधा राज्य लौटा दे तो मेरा प्रिय कार्य सम्पन्न हो जाय तथा समस्त कौरव महान् भयसे छुटकारा पा जायँ ॥ ५२ ॥

अतश्चेदन्यथा कर्ता धार्तराष्ट्रोऽनुपायवित् ।
अन्तं नूनं करिष्यामि क्षत्रियाणां जनार्दन ॥ ५३ ॥

'जनार्दन ! यदि समुचित उपायको न जाननेवाला धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन इसके विपरीत आचरण करेगा तो मैं निश्चय ही उसके पक्षमें आये हुए समस्त क्षत्रियोंका संहार कर डालूँगा' ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते पाण्डवेन समहृष्यद् वृकोदरः ।
मुहुर्मुहुः क्रोधवशात् प्रावेपत च पाण्डवः ॥ ५४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डुनन्दन अर्जुनके ऐसा कहनेपर पाण्डव भीमसेनको बड़ा हर्ष हुआ । वे क्रोधवश बारंबार काँपने लगे ॥ ५४ ॥

वेपमानश्च कौन्तेयः प्राक्रोशन्महतो रवान् ।
धनंजयवचः श्रुत्वा हर्षोत्सिक्तमना भृशम् ॥ ५५ ॥

काँपते-काँपते ही कुन्तीकुमार भीमसेन बड़े जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे । अर्जुनकी पूर्वोक्त बातें सुनकर उनका हृदय अत्यन्त हर्ष और उत्साहसे भर गया था ॥ ५५ ॥

तस्य तं निनदं श्रुत्वा सम्प्रावेपन्त धन्विनः ।
वाहनानि च सर्वाणि शकृन्मूत्रे प्रसुस्रुवुः ॥ ५६ ॥

उनका वह सिंहनाद सुनकर समस्त धनुर्धर भयके मारे थरथर काँपने लगे । उनके सभी वाहनोंने मल-मूत्र कर दिये ॥ ५६ ॥

इत्युक्त्वा केशवं तत्र तथा चोक्त्वा विनिश्चयम् ।
अनुज्ञातो निववृते परिष्वज्य जनार्दनम् ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णसे वार्तालाप करके उन्हें अपना निश्चय बता गले मिलकर अर्जुन श्रीकृष्णसे आज्ञा ले लौट आये ॥ ५७ ॥

तेषु राजसु सर्वेषु निवृत्तेषु जनार्दनः ।
तूर्णमभ्यगमद्धृष्टः शैब्यसुग्रीववाहनः ॥ ५८ ॥

उन सब राजाओंके लौट जानेपर शैब्य और सुग्रीव आदिसे युक्त रथपर चलनेवाले जनार्दन श्रीकृष्ण बड़े हर्षके साथ तीव्र गतिसे आगे बढ़े ॥ ५८ ॥

ते हया वासुदेवस्य दारुकेण प्रचोदिताः ।
पन्थानमाचेमुरिव ग्रसमाना इवाम्बरम् ॥ ५९ ॥

दारुकके हाँकनेपर भगवान् वासुदेवके वे अश्व इतने वेगसे चलने लगे, मानो समस्त मार्गको पी रहे हों और आकाशको ग्रस लेना चाहते हों ॥ ५९ ॥

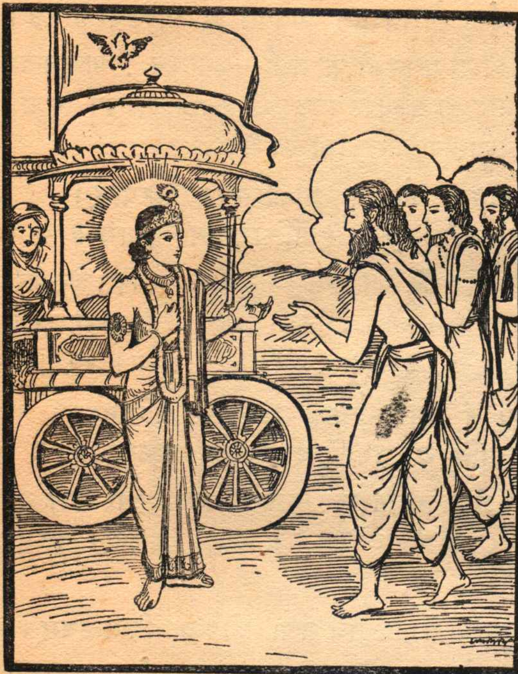
अथापश्यन्महाबाहुर्ऋषीनध्वनि केशवः ।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमानान् स्थितानुभयतः पथि॥ ६० ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने मार्गमें कुछ महर्षियोंको उपस्थित देखा, जो रास्तेके दोनों ओर खड़े थे और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ६० ॥

सोऽवतीर्य रथात् तूर्णमभिवाद्य जनार्दनः ।
यथावृत्तानृषीन् सर्वानभ्यभाषत पूजयन् ॥ ६१ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत ही रथसे उतर पड़े और

पूर्वोक्तरूपसे खड़े हुए उन समस्त महर्षियोंको प्रणाम करके उनका समादर करते हुए बोले—॥ ६१ ॥



कच्चिल्लोकेषु कुशलं कच्चिद् धर्मः स्वनुष्ठितः।
ब्राह्मणानां त्रयो वर्णाः कच्चित् तिष्ठन्ति शासने॥६२॥
(पितृदेवातिथिभ्यश्च कच्चित् पूजा स्वनिष्ठिता।)

'महात्माओ ! सम्पूर्ण लोकोंमें कुशल तो है न ? क्या धर्मका अच्छी तरह अनुष्ठान हो रहा है ? क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण ब्राह्मणोंकी आज्ञाके अधीन रहते हैं न ? क्या पितरों, देवताओं और अतिथियोंकी पूजा भलीभाँति सम्पन्न हो रही है ?' ॥ ६२ ॥

तेभ्यः प्रयुज्य तां पूजां प्रोवाच मधुसूदनः।
भगवन्तः क्व संसिद्धाः का वीथी भवतामिह ॥ ६३ ॥
किं वा कार्यं भगवतामहं किं करवाणि वः।
केनार्थेनोपसम्प्राप्ता भगवन्तो महीतलम् ॥ ६४ ॥

तत्पश्चात् उन महर्षियोंकी पूजा करके भगवान् मधुसूदनने फिर उनसे पूछा—'महात्माओ ! आपने कहाँ सिद्धि प्राप्त की है ? आपलोगोंका यहाँ कौन-सा मार्ग है ? अथवा आपलोगोंका क्या कार्य है ? भगवन् ! मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ ? किस प्रयोजनसे आपलोग इस भूतलपर पधारे हैं ?' ॥ ६३-६४ ॥

(एवमुक्ताः केशवेन मुनयः संशितव्रताः।
नारदप्रमुखाः सर्वे प्रत्यनन्दन्त केशवम् ॥

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कठोर व्रत धारण करनेवाले नारद आदि सब महर्षि उनका अभिनन्दन करने लगे ॥

अधःशिराः सर्पमाली महर्षिः स हि देवलः।
अर्वावसुः सुजानुश्च मैत्रेयः शुनको बली ॥
बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनस्तथा।
आयोदधौम्यो धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ ॥
दामोष्णीषस्त्रिषवणः पर्णादो घटजानुकः।
मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्योऽथ शालिकः ॥
शीलवानशनिर्धाता शून्यपालोऽकृतव्रणः।
श्वेतकेतुः कहोलश्च रामश्चैव महातपाः ॥)

(नारदजीके अतिरिक्त जो महर्षि वहाँ उपस्थित थे, उनके नाम इस प्रकार हैं—) अधःशिरा, सर्पमाली, महर्षि देवल, अर्वावसु, सुजानु, मैत्रेय, शुनक, बली, दल्भपुत्र बक, स्थूलशिरा, पराशरनन्दन श्रीकृष्णद्वैपायन, आयोदधौम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य, कौशिक, दामोष्णीष त्रिषवण, पर्णाद, घटजानुक, मौञ्जायन, वायुभक्ष, पाराशर्य, शालिक, शीलवान्, अशनि, धाता, शून्यपाल, अकृतव्रण, श्वेतकेतु, कहोल एवं महातपस्वी परशुराम ॥

तमब्रवीज्जामदग्न्य उपेत्य मधुसूदनम्।
परिष्वज्य च गोविन्दं सुरासुरपतेः सखा ॥ ६५ ॥

उस समय देवराज तथा दैत्यराजके भी सखा जमदग्निनन्दन परशुरामने मधुसूदन श्रीकृष्णके पास जाकर उन्हें हृदयसे लगाया और इस प्रकार कहा— ॥ ६५ ॥

देवर्षयः पुण्यकृतो ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः।
राजर्षयश्च दाशार्ह मानयन्तस्तपस्विनः।
देवासुरस्य द्रष्टारः पुराणस्य महामते ॥ ६६ ॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं दिदृक्षन्तश्च सर्वतः।
सभासदश्च राजानस्त्वां च सत्यं जनार्दनम् ॥ ६७ ॥
एतन्महत् प्रेक्षणीयं द्रष्टुं गच्छाम केशव।
धर्मार्थसहिता वाचः श्रोतुमिच्छाम माधव ॥ ६८ ॥
त्वयोच्यमानाः कुरुषु राजमध्ये परंतप।

'महामते केशव ! जिन्होंने पुरातन देवासुरसंग्रामको भी अपनी आँखोंसे देखा है, वे पुण्यात्मा देवर्षिगण, अनेक शास्त्रोंके विद्वान् ब्रह्मर्षिगण तथा आपका सम्मान करनेवाले तपस्वी राजर्षिगण सम्पूर्ण दिशाओंसे एकत्र हुए भूमण्डलके क्षत्रियनरेशोंको, सभामें बैठे हुए भूपालोंको तथा सत्यस्वरूप आप भगवान् जनार्दनको देखना चाहते हैं। इस परम दर्शनीय वस्तुका दर्शन करनेके लिये ही हम हस्तिनापुरमें चल रहे हैं। शत्रुओंको संताप देनेवाले माधव ! वहाँ कौरवों तथा अन्य राजाओंकी मण्डलीमें आपके द्वारा कही जानेवाली धर्म और अर्थसे युक्त बातोंको हम सुनना चाहते हैं ॥ ६६—६८½ ॥

भीष्मद्रोणादयश्चैव विदुरश्च महामतिः ॥ ६९ ॥
त्वं च यादवशार्दूल सभायां वै समेष्यथ।

'यदुकुलसिंह ! वहाँ कौरव-सभामें भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख व्यक्ति, परम बुद्धिमान् विदुर तथा आप पधारेंगे ॥ ६९½ ॥

तव वाक्यानि दिव्यानि तथा तेषां च माधव॥ ७० ॥
श्रोतुमिच्छाम गोविन्द सत्यानि च हितानि च ।

'गोविन्द ! माधव ! उस सभामें आपके तथा भीष्म आदिके मुखसे जो दिव्य, सत्य एवं हितकर वचन प्रकट होंगे, उन सबको हमलोग सुनना चाहते हैं ॥ ७०½ ॥

आपृष्टोऽसि महाबाहो पुनर्द्रक्ष्यामहे वयम् ॥ ७१ ॥
याह्यविघ्नेन वै वीर द्रक्ष्यामस्त्वां सभागतम् ।
आसीनमासने दिव्ये बलतेजःसमाहितम् ॥ ७२ ॥

'महाबाहो ! अब हमलोग आपसे पूछकर विदा ले रहे हैं, पुनः आपका दर्शन करेंगे । वीर ! आपकी यात्रा निर्विघ्न हो । जब सभामें पधारकर आप दिव्य आसनपर बैठे होंगे, उसी समय बल और तेजसे सम्पन्न आपके श्रीअङ्गोंका हम पुनः दर्शन करेंगे' ॥ ७१-७२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णप्रस्थाने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णप्रस्थानविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ७७½ श्लोक हैं)

चतुरशीतितमोऽध्यायः

मार्गके शुभाशुभ शकुनोंका वर्णन तथा मार्गमें लोगोंद्वारा सत्कार पाते हुए श्रीकृष्णका वृकस्थल पहुँचकर वहाँ विश्राम करना

वैशम्पायन उवाच

प्रयान्तं देवकीपुत्रं परवीररुजो दश ।
महारथा महाबाहुमन्वयुः शस्त्रपाणयः ॥ १ ॥
पदातीनां सहस्रं च सादिनां च परंतप ।
भोज्यं च विपुलं राजन् प्रेष्याश्च शतशोऽपरे॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! महाबाहु श्रीकृष्णके प्रस्थान करते समय विपक्षी वीरोंपर विजय पानेवाले शस्त्रधारी दस महारथी, एक हजार पैदल योद्धा, एक हजार घुड़सवार, प्रचुर खाद्य-सामग्री तथा दूसरे सैकड़ों सेवक उनके साथ गये ॥ १-२ ॥

जनमेजय उवाच

कथं प्रयातो दाशार्हो महात्मा मधुसूदनः ।
कानि वा व्रजतस्तस्य निमित्तानि महौजसः ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—दशार्हकुलतिलक महात्मा मधुसूदनने किस प्रकार यात्रा की ? उन महातेजस्वी श्रीकृष्णके जाते समय कौन-कौन-से भले-बुरे शकुन प्रकट हुए थे ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य प्रयाणे यान्यासन् निमित्तानि महात्मनः ।
तानि मे शृणु सर्वाणि दैवान्यौत्पातिकानि च ॥ ४ ॥

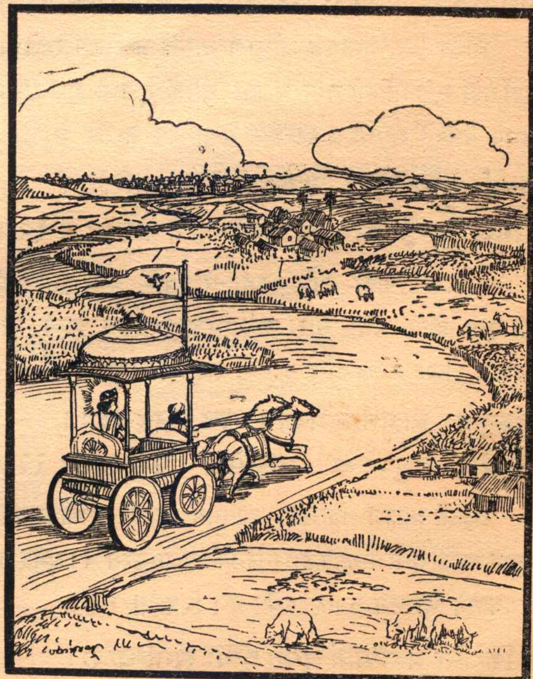
वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! महात्मा श्रीकृष्णके प्रस्थान करते समय जो दिव्य शकुन और उत्पातसूचक अपशकुन प्रकट हुए थे, मुझसे उन सबका वर्णन सुनो ॥ ४ ॥

अनभ्रेऽशनिनिर्घोषः सविद्युत् समजायत ।
अन्वगेव च पर्जन्यः प्रावर्षद् विघने भृशम् ॥ ५ ॥

बिना बादलके ही आकाशमें बिजलीसहित वज्रकी गड़गड़ाहट सुनायी देने लगी । उसके साथ ही पर्जन्यदेवताने मेघोंकी घटा न होनेपर भी प्रचुर जलकी वर्षा की ॥ ५ ॥

प्रत्यगूहुर्महानद्यः प्राङ्मुखाः सिन्धुसत्तमाः ।
विपरीता दिशः सर्वा न प्राज्ञायत किंचन ॥ ६ ॥

पूर्वकी ओर बहनेवाली सिन्धु आदि बड़ी-बड़ी नदियोंका प्रवाह उलटकर पश्चिमकी ओर हो गया । सारी दिशाएँ विपरीत प्रतीत होने लगीं । कुछ भी समझमें नहीं आता था ॥ ६ ॥



प्राज्वलन्नग्नयो राजन् पृथिवी समकम्पत ।
उदपानाश्च कुम्भाश्च प्रासिञ्चञ्छतशो जलम् ॥ ७ ॥

राजन्! सब ओर आग जलने लगी। धरती डोलने लगी। सैकड़ों जलाशय और कलश छलक-छलककर जल गिराने लगे ॥ ७ ॥

तमःसंवृतमप्यासीत् सर्वं जगदिदं तथा।
न दिशो नादिशो राजन् प्रज्ञायन्ते स्म रेणुना ॥ ८ ॥

राजन्! यह सारा संसार धूलके कारण अन्धकारसे आच्छन्न-सा हो गया। कौन दिशा है, कौन दिशा नहीं है—इसका ज्ञान नहीं हो पाता था ॥ ८ ॥

प्रादुरासीन्महाञ्छब्दः खे शरीरमदृश्यत।
सर्वेषु राजन् देशेषु तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ९ ॥

महाराज! फिर बड़े जोरसे कोलाहल होने लगा। आकाशमें सब ओर मनुष्यकी-सी आकृति दिखायी देने लगी। सम्पूर्ण देशोंमें यह अद्भुत-सी बात दिखायी दी ॥ ९ ॥

प्रामथ्नाद्धास्तिनपुरं वातो दक्षिणपश्चिमः।
आरुजन् गणशो वृक्षान् परुषोऽशनिनिस्वनः॥ १० ॥

दक्षिण-पश्चिमसे आँधी उठी और हस्तिनापुरको मथने लगी। उसने झुंड-के-झुंड वृक्षोंको तोड़-उखाड़कर धराशायी कर दिया। वज्रपातका-सा कठोर शब्द होने लगा (इस प्रकारके उत्पात हस्तिनापुरके आस-पास घटित होते थे)।१०।

यत्र यत्र च वार्ष्णेयो वर्तते पथि भारत।
तत्र तत्र सुखो वायुः सर्वं चासीत् प्रदक्षिणम् ॥११॥

भारत! वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण मार्गमें जहाँ-जहाँ रहते थे, वहाँ-वहाँ सुखदायिनी वायु चलती थी और सभी शुभ शकुन उनके दाहिने भागमें प्रकट होते थे ॥ ११ ॥

ववर्ष पुष्पवर्षं च कमलानि च भूरिशः।
समश्च पन्था निर्दुःखो व्यपेतकुशकण्टकः ॥ १२ ॥

उनपर फूलोंकी और बहुत-से खिले हुए कमलोंकी भी वृष्टि होती तथा सारा मार्ग कुश-कण्टकसे शून्य और समतल होकर क्लेश और दुःखसे रहित हो जाता था ॥१२॥

संस्तुतो ब्राह्मणैर्गीर्भिस्तत्र तत्र सहस्रशः।
अर्च्यते मधुपर्कैश्च वसुभिश्च वसुप्रदः ॥ १३ ॥

सहस्रों ब्राह्मण विभिन्न स्थानोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते तथा मधुपर्कद्वारा उनकी पूजा करते थे। धनदाता भगवान्ने भी उन सबको यथेष्ट धन दिया ॥ १३ ॥

तं किरन्ति महात्मानं वन्यैः पुष्पैः सुगन्धिभिः।
स्त्रियः पथि समागम्य सर्वभूतहिते रतम् ॥ १४ ॥

मार्गमें कितनी ही स्त्रियाँ आकर (सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत रहनेवाले उन महात्मा श्रीकृष्णके ऊपर वनके सुगन्धित फूलोंकी वर्षा करती थीं ॥१४॥

स शालिभवनं रम्यं सर्वसस्यसमाचितम्।
सुखं परमधर्मिष्ठमभ्यगाद् भरतर्षभ ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय धर्मकार्यके लिये अत्यन्त उपयोगी तथा सम्पूर्ण सस्य-सम्पत्तिसे भरे हुए अगहनी धानके मनोहर खेत देखते हुए भगवान् बड़े सुखसे यात्रा कर रहे थे ॥ १५ ॥

पश्यन् बहुपशून् ग्रामान् रम्यान् हृदयतोषणान्।
पुराणि च व्यतिक्रामन् राष्ट्राणि विविधानि च ।१६।

रास्तेमें कितने ही ऐसे गाँव मिलते, जिनमें बहुत-से पशुओंका पालन-पोषण होता था। वे देखनेमें अत्यन्त सुन्दर और मनको संतोष देनेवाले थे। उन सबको देखते और अनेकानेक नगरों एवं राष्ट्रोंको लाँघते हुए वे आगे बढ़ते चले गये ॥ १६ ॥

नित्यं हृष्टाः सुमनसो भारतैरभिरक्षिताः।
नोद्विग्नाः परचक्राणां व्यसनानामकोविदाः ॥ १७ ॥
उपप्लव्यादथायान्तं जनाः पुरनिवासिनः।
पथ्यतिष्ठन्त सहिता विष्वक्सेनदिदृक्षया ॥ १८ ॥

इधर उपप्लव्य नगरसे आते हुए भगवान् श्रीकृष्णको देखनेकी इच्छासे अनेक नागरिक रास्तेमें एक साथ खड़े थे। भरतवंशियोंद्वारा सुरक्षित होनेके कारण वे सदा हर्ष एवं उल्लास-से भरे रहते थे। उनका मन बहुत प्रसन्न था। उन्हें शत्रुओंकी सेनाओंसे उद्विग्न होनेका अवसर नहीं आता था। दुःख और संकट कैसा होता है, इसको वे जानते ही नहीं थे ॥ १७-१८ ॥

ते तु सर्वं समायान्तमग्निमिद्धमिव प्रभुम्।
अर्चयामासुरर्चार्हं देशातिथिमुपस्थितम् ॥ १९ ॥

उन सबने प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी और अपने देशके पूजनीय अतिथि भगवान् श्रीकृष्णको समीप आते देख निकट जाकर उनका यथावत् पूजन किया ॥ १९ ॥

वृकस्थलं समासाद्य केशवः परवीरहा।
प्रकीर्णरश्मावादित्ये व्योम्नि वै लोहितायति ॥ २० ॥
अवतीर्य रथात् तूर्णं कृत्वा शौचं यथाविधि।
रथमोचनमादिश्य संध्यामुपविवेश ह ॥ २१ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण जब वृकस्थलमें पहुँचे, उस समय नाना किरणोंसे मण्डित सूर्य अस्त होने लगे और पश्चिमके आकाशमें लाली छा गयी। तब भगवान्ने शीघ्र ही रथसे उतरकर उसे खोलनेकी आज्ञा दी और विधिपूर्वक शौच-स्नान करके वे संध्योपासना करने लगे ॥ २०-२१ ॥



दारुकोऽपि हयान् मुक्त्वा परिचर्य च शास्त्रतः।
मुमोच सर्वयोक्त्रादि मुक्त्वा चैतानवासृजत्॥ २२॥

दारुकने भी घोड़ोंको खोलकर शास्त्रविधिके अनुसार उनकी परिचर्या की और उनका सारा साज-बाज उतार दिया तथा उन्हें बन्धनमुक्त करके छोड़ दिया ॥ २२ ॥

अभ्यतीत्य तु तत् सर्वमुवाच मधुसूदनः।
युधिष्ठिरस्य कार्यार्थमिह वत्स्यामहे क्षपाम्॥ २३॥

संध्या-वन्दन आदि सारा कार्य समाप्त करके मधुसूदन श्रीकृष्णने कहा—'युधिष्ठिरका कार्य सिद्ध करनेके लिये आज रातमें हमलोग यहीं रहेंगे' ॥ २३ ॥

तस्य तन्मतमाज्ञाय चक्रुरावसथं नराः।
क्षणेन चान्नपानानि गुणवन्ति समार्जयन्॥ २४॥

उनका यह विचार जानकर सेवकोंने वहीं डेरे डाल दिये। क्षणभरमें उन्होंने खाने-पीनेके उत्तमोत्तम पदार्थ प्रस्तुत कर दिये ॥ २४ ॥

तस्मिन् ग्रामे प्रधानास्तु य आसन् ब्राह्मणा नृप।
आर्याः कुलीना ह्रीमन्तो ब्राह्मीं वृत्तिमनुष्ठिताः॥ २५॥

राजन्! उस गाँवमें जो प्रमुख ब्राह्मण रहते थे, वे श्रेष्ठ, कुलीन, लज्जाशील और ब्राह्मणोचित वृत्तिका पालन करनेवाले थे ॥ २५ ॥

तेऽभिगम्य महात्मानं हृषीकेशमरिंदमम्।
पूजां चक्रुर्यथान्यायमाशीर्मङ्गलसंयुताम्॥ २६॥

उन्होंने शत्रुदमन महात्मा हृषीकेशके पास जाकर आशीर्वाद तथा मङ्गलपाठपूर्वक उनका यथोचित पूजन किया ॥२६॥

ते पूजयित्वा दाशार्हं सर्वलोकेषु पूजितम्।
न्यवेदयन्त वेश्मानि रत्नवन्ति महात्मने॥ २७॥

सर्वलोकपूजित दशार्हनन्दन श्रीकृष्णकी पूजा करके उन्होंने उन महात्माको अपने रत्नसम्पन्न गृह समर्पित कर दिये अर्थात् अपने-अपने घरोंमें ठहरनेके लिये प्रभुसे प्रार्थना की।२७।

तान् प्रभुः कृतमित्युक्त्वा सत्कृत्य च यथार्हतः।
अभ्येत्य चैषां वेश्मानि पुनरायात् सहैव तैः॥ २८॥

तब भगवान्‌ने यह कहकर कि यहाँ ठहरनेके लिये पर्याप्त स्थान है, उनका यथायोग्य सत्कार किया और (उनके संतोषके लिये) उन सबके घरोंपर जाकर पुनः उनके साथ ही लौट आये ॥ २८ ॥

सुमृष्टं भोजयित्वा च ब्राह्मणांस्तत्र केशवः।
भुक्त्वा च सह तैः सर्वैरवसत् तां क्षपां सुखम्॥ २९॥

तत्पश्चात् केशवने वहीं उन ब्राह्मणोंको सुस्वादु अन्न भोजन कराया, फिर स्वयं भी भोजन करके उन सबके साथ उस रातमें वहाँ सुखपूर्वक निवास किया ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णप्रयाणे चतुरशीतितमोऽध्यायः॥ ८४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णका हस्तिनापुरको प्रस्थानविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८४॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्र आदिकी अनुमतिसे श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये मार्गमें विश्रामस्थान बनवाना

वैशम्पायन उवाच

तथा दूतैः समाज्ञाय प्रयान्तं मधुसूदनम्।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् भीष्ममर्चयित्वा महाभुजम्॥ १॥
द्रोणं च संजयं चैव विदुरं च महामतिम्।
दुर्योधनं सहामात्यं हृष्टरोमाब्रवीदिदम्॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दूतोंके द्वारा भगवान् मधुसूदनके आगमनका समाचार जानकर धृतराष्ट्रके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उन्होंने महाबाहु भीष्म, द्रोण, संजय तथा परम बुद्धिमान् विदुरका यथावत् सत्कार करके मन्त्रियोंसहित दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १-२ ॥

अद्भुतं महदाश्चर्यं श्रूयते कुरुनन्दन ।
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च कथयन्ति गृहे गृहे ॥ ३ ॥
सत्कृत्याचक्षते चान्ये तथैवान्ये समागताः ।
पृथग्वादाश्च वर्तन्ते चत्वरेषु सभासु च ॥ ४ ॥

'कुरुनन्दन ! एक अद्भुत और अत्यन्त आश्चर्यकी बात सुनायी देती है। घर-घरमें स्त्री-बालक और बूढ़े इसीकी चर्चा करते हैं। जो यहाँके निवासी हैं, वे तथा जो बाहरसे आये हुए हैं, वे भी आदरपूर्वक उसी बातको कहते हैं। चौराहोंपर और सभाओंमें भी पृथक्-पृथक् वही चर्चा चलती है ॥ ३-४ ॥

उपायास्यति दाशार्हः पाण्डवार्थे पराक्रमी ।
स नो मान्यश्च पूज्यश्च सर्वथा मधुसूदनः ॥ ५ ॥

'वह बात यह है कि पाण्डवोंकी ओरसे परम पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधारेंगे। वे मधुसूदन हमलोगोंके माननीय तथा सब प्रकारसे पूजनीय हैं ॥ ५ ॥

तस्मिन् हि यात्रा लोकस्य भूतानामीश्वरो हि सः ।
तस्मिन् धृतिश्च वीर्यं च प्रज्ञा चौजश्च माधवे ॥ ६ ॥

'सम्पूर्ण लोकोंका जीवन उन्हींपर निर्भर है, क्योंकि वे सम्पूर्ण भूतोंके अधीश्वर हैं। उन माधवमें धैर्य, पराक्रम, बुद्धि और तेज सब कुछ है ॥ ६ ॥

स मान्यतां नरश्रेष्ठः स हि धर्मः सनातनः ।
पूजितो हि सुखाय स्यादसुखः स्यादपूजितः ॥ ७ ॥

'उन नरश्रेष्ठ श्रीकृष्णका यहाँ सम्मान होना चाहिये; क्योंकि वे सनातन धर्मस्वरूप हैं। सम्मानित होनेपर वे हमारे लिये सुखदायक होंगे और सम्मानित न होनेपर हमारे दुःखके कारण बन जायँगे ॥ ७ ॥

स चेत् तुष्यति दाशार्ह उपचारैररिंदमः ।
कृष्णात् सर्वानभिप्रायान् प्राप्स्यामः सर्वराजसु ॥ ८ ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण यदि हमारे सत्कार-साधनोंसे संतुष्ट हो जायँगे, तब हम समस्त राजाओंमें उनसे अपने सारे मनोरथ प्राप्त कर लेंगे ॥ ८ ॥

तस्य पूजार्थमद्यैव संविधत्स्व परंतप ।
सभाः पथि विधीयन्तां सर्वकामसमन्विताः ॥ ९ ॥

'परंतप ! तुम श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये आजसे ही तैयारी करो। मार्गमें अनेक विश्रामस्थान बनवाओ और उनमें सब प्रकारकी मनोनुकूल उपभोग-सामग्री प्रस्तुत करो ॥ ९ ॥

यथा प्रीतिर्महाबाहो त्वयि जायेत तस्य वै ।
तथा कुरुष्व गान्धारे कथं वा भीष्म मन्यसे ॥ १० ॥

'महाबाहु गान्धारीनन्दन ! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे श्रीकृष्णके हृदयमें तुम्हारे प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाय। अथवा भीष्मजी ! इस विषयमें आपकी क्या सम्मति है ?' ॥ १० ॥

ततो भीष्मादयः सर्वे धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
ऊचुः परममित्येवं पूजयन्तोऽस्य तद् वचः ॥ ११ ॥

तब भीष्म आदि सब लोगोंने उस प्रस्तावकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए राजा धृतराष्ट्रसे कहा—'बहुत उत्तम बात है' ॥ ११ ॥

तेषामनुमतं ज्ञात्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
सभावास्तूनि रम्याणि प्रदेष्टुमुपचक्रमे ॥ १२ ॥

उन सबकी अनुमति जानकर राजा दुर्योधनने उस समय जगह-जगह सुन्दर सभामण्डप तथा विश्रामस्थान बनवानेके लिये आदेश जारी किया ॥ १२ ॥

ततो देशेषु देशेषु रमणीयेषु भागशः ।
सर्वरत्नसमाकीर्णाः सभाश्चक्रुरनेकशः ॥ १३ ॥

तब कारीगरोंने विभिन्न रमणीय प्रदेशोंमें अलग-अलग सब प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न अनेक विश्रामस्थान बनाये ॥ १३ ॥

आसनानि विचित्राणि युतानि विविधैर्गुणैः ।
स्त्रियो गन्धानलंकारान् सूक्ष्माणि वसनानि च ॥ १४ ॥
गुणवन्त्यन्नपानानि भोज्यानि विविधानि च ।
माल्यानि च सुगन्धीनि तानि राजा ददौ ततः ॥ १५ ॥

नाना प्रकारके गुणोंसे युक्त विचित्र आसन, स्त्रियाँ, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, महीन वस्त्र, गुणकारक अन्न और पेय पदार्थ, भाँति-भाँतिके भोजन तथा सुगन्धित पुष्पमालाएँ आदि वस्तुओंको राजा दुर्योधनने उन स्थानोंमें रखवाया ॥ १४–१५ ॥

विशेषतश्च वासार्थं सभां ग्रामे वृकस्थले ।
विदधे कौरवो राजा बहुरत्नां मनोरमाम् ॥ १६ ॥

विशेषतः वृकस्थलनामक ग्राममें निवास करनेके लिये कुरुराज दुर्योधनने जो विश्रामस्थान बनवाया था, वह बड़ा मनोरम तथा प्रचुर रत्नराशिसे सम्पन्न था ॥ १६ ॥

एतद् विधाय वै सर्वं देवार्हमतिमानुषम् ।
आचख्यौ धृतराष्ट्राय राजा दुर्योधनस्तदा ॥ १७ ॥

मनुष्योंके लिये अत्यन्त दुर्लभ यह सब देवोचित व्यवस्था करके राजा दुर्योधनने धृतराष्ट्रको इसकी सूचना दे दी ॥ १७ ॥

ताः सभाः केशवः सर्वा रत्नानि विविधानि च ।
असमीक्ष्यैव दाशार्ह उपायात् कुरुसद्म तत् ॥ १८ ॥

परंतु यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण उन विश्रामस्थानों तथा नाना प्रकारके रत्नोंकी ओर दृष्टिपाततक न करके कौरवोंके निवासस्थान हस्तिनापुरकी ओर बढ़ते चले गये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मार्गे सभानिर्माणे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मार्गमें विश्रामस्थलनिर्माणविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका भगवान् श्रीकृष्णकी अगवानी करके उन्हें भेंट देने एवं दुःशासनके महलमें ठहरानेका विचार प्रकट करना

धृतराष्ट्र उवाच

उपप्लव्यादिह क्षत्तरुपायातो जनार्दनः ।
वृकस्थले निवसति स च प्रातरिहैष्यति ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! मुझे सूचना मिली है कि भगवान् श्रीकृष्ण उपप्लव्यसे यहाँके लिये प्रस्थित हो गये हैं, आज वृकस्थलमें ठहरे हैं तथा कल सबेरे ही इस नगरमें पहुँच जायँगे ॥ १ ॥

आहुकानामधिपतिः पुरोगः सर्वसात्वताम् ।
महामना महावीर्यो महासत्त्वो जनार्दनः॥ २ ॥

भगवान् जनार्दन आहुकवंशी क्षत्रियोंके अधिपति तथा समस्त सात्वतों (यादवों) के अगुआ हैं । उनका हृदय महान् है, पराक्रम भी महान् है तथा वे महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न हैं ॥ २ ॥

स्फीतस्य वृष्णिराष्ट्रस्य भर्ता गोप्ता च माधवः ।
त्रयाणामपि लोकानां भगवान् प्रपितामहः ॥ ३ ॥

वे भगवान् माधव समृद्धिशाली यादव गणराष्ट्रके पोषक तथा संरक्षक हैं । पितामहके भी जनक होनेके कारण वे तीनों लोकोंके प्रपितामह हैं ॥ ३ ॥

वृष्ण्यन्धकाः सुमनसो यस्य प्रज्ञामुपासते ।
आदित्या वसवो रुद्रा यथा बुद्धिं बृहस्पतेः॥ ४ ॥

जैसे आदित्य, वसु तथा रुद्रगण बृहस्पतिकी बुद्धिका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार वृष्णि और अन्धकवंशके लोग प्रसन्नचित्त होकर श्रीकृष्णकी ही बुद्धिके आश्रित रहते हैं ॥४॥

तस्मै पूजां प्रयोक्ष्यामि दाशार्हाय महात्मने ।
प्रत्यक्षं तव धर्मज्ञ तां मे कथयतः शृणु ॥ ५ ॥

धर्मज्ञ विदुर ! मैं तुम्हारे सामने ही उन महात्मा श्रीकृष्णको जो पूजा दूँगा, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ५ ॥

एकवर्णैः सुकृताङ्गैर्बाह्लिजातैर्हयोत्तमैः ।
चतुर्युक्तान् रथांस्तस्मै रौक्मान् दास्यामि षोडश ॥ ६ ॥

एक रंगके, सुदृढ़ अङ्गोंवाले तथा बाह्लीकदेशमें उत्पन्न हुए उत्तम जातिके चार-चार घोड़ोंसे जुते हुए सोलह सुवर्णमय रथ मैं श्रीकृष्णको भेंट करूँगा ॥ ६ ॥

नित्यप्रभिन्नान् मातङ्गानीषादन्तान् प्रहारिणः ।
अष्टानुचरमेकैकमष्टौ दास्यामि कौरव ॥ ७ ॥

कुरुनन्दन ! इनके सिवा मैं उन्हें आठ मतवाले हाथी भी दूँगा, जिनके मस्तकोंसे सदा मद चूता रहता है, जिनके दाँत ईषादण्डके समान प्रतीत होते हैं तथा जो शत्रुओंपर प्रहार करनेमें कुशल हैं और जिन आठों गजराजोंमेंसे प्रत्येकके साथ आठ-आठ सेवक हैं ॥ ७ ॥

दासीनामप्रजातानां शुभानां रुक्मवर्चसाम् ।
शतमस्मै प्रदास्यामि दासानामपि तावताम् ॥ ८ ॥

साथ ही मैं उन्हें सुवर्णकी-सी कान्तिवाली परम सुन्दरी सौ ऐसी दासियाँ दूँगा, जिनसे किसी संतानकी उत्पत्ति नहीं हुई है । दासियोंके ही बराबर दास भी दूँगा ॥ ८ ॥

आविकं च सुखस्पर्शं पार्वतीयैरुपाहृतम् ।
तदप्यस्मै प्रदास्यामि सहस्राणि दशाष्ट च ॥ ९ ॥

मेरे यहाँ पर्वतीयोंसे भेंटमें मिले हुए भेड़के ऊनसे बने हुए (असंख्य) कम्बल हैं, जो स्पर्श करनेपर बड़े मुलायम जान पड़ते हैं; उनमेंसे अठारह हजार कम्बल भी मैं श्रीकृष्णको उपहारमें दूँगा ॥ ९ ॥

अजिनानां सहस्राणि चीनदेशोद्भवानि च ।
तान्यप्यस्मै प्रदास्यामि यावदर्हति केशवः ॥ १० ॥

चीनदेशमें उत्पन्न हुए सहस्रों मृगचर्म मेरे भण्डारमें सुरक्षित हैं; उनमेंसे श्रीकृष्ण जितने लेना चाहेंगे, उतने सबके सब उन्हें अर्पित कर दूँगा ॥ १० ॥

दिवा रात्रौ च भात्येष सुतेजा विमलो मणिः ।
तमप्यस्मै प्रदास्यामि तमर्हति हि केशवः ॥ ११ ॥

मेरे पास यह एक अत्यन्त तेजस्वी निर्मल मणि है, जो दिन तथा रातमें भी प्रकाशित होती है, इसे भी मैं श्रीकृष्णको ही दूँगा; क्योंकि वे ही इसके योग्य हैं ॥ ११ ॥

एकेनाभिपतत्यह्ना योजनानि चतुर्दश ।
यानमश्वतरीयुक्तं दास्ये तस्मै तदप्यहम् ॥ १२ ॥

मेरे पास खच्चरियोंसे युक्त एक रथ है, जो एक दिनमें चौदह योजनतक चला जाता है, वह भी मैं उन्हींको अर्पित करूँगा ॥ १२ ॥

यावन्ति वाहनान्यस्य यावन्तः पुरुषाश्च ते ।
ततोऽष्टगुणमप्यस्मै भोज्यं दास्याम्यहं सदा ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णके साथ जितने वाहन और जितने सेवक आयँगे उन सबको औसतसे आठगुना भोजन मैं प्रत्येक समय देता रहूँगा ॥ १३ ॥

मम पुत्राश्च पौत्राश्च सर्वे दुर्योधनादृते ।
प्रत्युद्यास्यन्ति दाशार्हं रथैर्मृष्टैः स्वलंकृताः ॥ १४ ॥

दुर्योधनके सिवा मेरे सभी पुत्र और पौत्र वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो स्वच्छ-सुन्दर रथोंपर बैठकर श्रीकृष्णकी अगवानीके लिये जायँगे ॥ १४ ॥

स्वलंकृताश्च कल्याण्यः पादैरेव सहस्रशः ।
वारमुख्या महाभागं प्रत्युद्यास्यन्ति केशवम् ॥ १५ ॥

सहस्रों सुन्दरी वाराङ्गनाएँ सुन्दर वेषभूषासे सज-धजकर महाभाग केशवकी अगवानीके लिये पैदल ही जायँगी ॥१५॥

नगरादपि याः काश्चिद् गमिष्यन्ति जनार्दनम् ।
द्रष्टुं कन्याश्च कल्याण्यस्ताश्च यास्यन्त्यनावृताः ॥ १६॥

जनार्दनका दर्शन करनेके लिये इस नगरसे जो भी कोई पर्दा न रखनेवाली कल्याणमयी कन्याएँ जाना चाहेंगी, वे जा सकेंगी ॥ १६ ॥

सस्त्रीपुरुषबालं च नगरं मधुसूदनम् ।
उदीक्षतां महात्मानं भानुमन्तमिव प्रजाः ॥ १७ ॥

जैसे प्रजा सूर्यदेवका दर्शन करती है, उसी प्रकार स्त्री, पुरुष और बालकोंसहित यह सारा नगर महात्मा मधुसूदनका दर्शन करे ॥ १७ ॥

महाध्वजपताकाश्च क्रियन्तां सर्वतो दिशः ।
जलावसिक्तो विरजाः पन्थास्तस्येति चान्वशात् ।१८।

'नगरमें चारों ओर विशाल ध्वजाएँ और पताकाएँ फहरा दी जायँ और श्रीकृष्ण जिसपर आ रहे हों, उस राजपथपर जलका छिड़काव करके उसे धूलरहित बना दिया जाय' इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रने आदेश दिया ॥ १८ ॥

दुःशासनस्य च गृहं दुर्योधनगृहाद् वरम् ।
तदद्य क्रियतां क्षिप्रं सुसम्मृष्टमलंकृतम् ॥ १९ ॥

इतना कहकर वे फिर बोले—दुःशासनका महल दुर्योधनके राजभवनसे भी श्रेष्ठ है। उसीको आज झाड़-पोंछकर सब प्रकारसे सुसज्जित कर दिया जाय ॥ १९ ॥

एतद्धि रुचिराकारैः प्रासादैरुपशोभितम् ।
शिवं च रमणीयं च सर्वर्तुसुमहाधनम् ॥ २० ॥

यह महल सुन्दर आकारवाले भवनोंसे सुशोभित, कल्याणकारी, रमणीय, सभी ऋतुओंके वैभवसे सम्पन्न तथा अनन्त धनराशिसे समृद्ध है ॥ २० ॥

सर्वमस्मिन् गृहे रत्नं मम दुर्योधनस्य च ।
यद् यदर्हति वार्ष्णेयस्तत् तद् देयमसंशयम् ॥ २१ ॥

मेरे और दुर्योधनके पास जो भी रत्न हैं, वे सब इसी घरमें रक्खे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण उनमेंसे जो-जो रत्न लेना चाहें, वे सब उन्हें निःसंदेह दे दिये जायँ ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८६॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

विदुरका धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन करनेके लिये समझाना

विदुर उवाच

राजन् बहुमतश्चासि त्रैलोक्यस्यापि सत्तमः ।
सम्भावितश्च लोकस्य सम्मतश्चासि भारत ॥ १ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! आप तीनों लोकोंके श्रेष्ठतम पुरुष हैं और सर्वत्र आपका बहुत सम्मान होता है। भारत ! इस लोकमें भी आपकी बड़ी प्रतिष्ठा और सम्मान है ॥ १ ॥

यत् त्वमेवंगते ब्रूयाः पश्चिमे वयसि स्थितः ।
शास्त्राद् वा सुप्रतर्काद् वा सुस्थिरः स्थविरो ह्यसि॥ २ ॥

इस समय आप अन्तिम अवस्था (बुढ़ापे) में स्थित हैं। ऐसी स्थितिमें आप जो कुछ कह रहे हैं, वह शास्त्रसे अथवा लौकिक युक्तिसे भी ठीक ही है। इस सुस्थिर विचारके कारण ही आप वास्तवमें स्थविर (वृद्ध) हैं ॥ २ ॥

लेखा शशिनि भाः सूर्ये महोर्मिरिव सागरे ।
धर्मस्त्वयि तथा राजन्निति व्यवसिताः प्रजाः ॥ ३ ॥

राजन् ! जैसे चन्द्रमामें कला है, सूर्यमें प्रभा है और समुद्रमें उत्ताल तरंगें हैं, उसी प्रकार आपमें धर्मकी स्थिति है। यह समस्त प्रजा निश्चितरूपसे जानती है ॥ ३ ॥

सदैव भावितो लोको गुणौघैस्तव पार्थिव ।
गुणानां रक्षणे नित्यं प्रयतस्व सबान्धवः ॥ ४ ॥

भूपाल ! आपके सद्गुणसमूहसे सदा ही इस जगत्की उन्नति एवं प्रतिष्ठा हो रही है। अतः आप अपने बन्धु-बान्धवोंसहित सदा ही इन सद्गुणोंकी रक्षाके लिये प्रयत्न कीजिये ॥ ४ ॥

आर्जवं प्रतिपद्यस्व मा बाल्याद् बहु नीनशः ।
राजन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च सुहृदश्चैव सुप्रियान् ॥ ५ ॥

राजन्! आप सरलताको अपनाइये। मूर्खतावश कुटिलताका आश्रय ले अपने अत्यन्त प्रिय पुत्रों, पौत्रों तथा सुहृदोंका महान् सर्वनाश न कीजिये ॥ ५ ॥

यत् त्वमिच्छसि कृष्णाय राजन्नतिथये बहु।
एतदन्यच्च दाशार्हः पृथिवीमपि चार्हति ॥ ६ ॥

नरेश्वर! श्रीकृष्णको अतिथिरूपमें पाकर आप जो उन्हें बहुत-सी वस्तुएँ देना चाहते हैं, उन सबके साथ-साथ वे आपसे इस समूची पृथ्वीके भी पानेके अधिकारी हैं ॥ ६ ॥

न तु त्वं धर्ममुद्दिश्य तस्य वा प्रियकारणात्।
एतद् दित्ससि कृष्णाय सत्येनात्मानमालभे ॥ ७ ॥

मैं सत्यकी शपथ खाकर अपने शरीरको छूकर कहता हूँ कि आप धर्मपालनके उद्देश्यसे अथवा श्रीकृष्णका प्रिय करनेके लिये उन्हें वे सब वस्तुएँ नहीं देना चाहते हैं ॥ ७ ॥

मायैषा सत्यमेवैतच्छद्मैतद् भूरिदक्षिण।
जानामि त्वन्मतं राजन् गूढं बाह्येन कर्मणा ॥ ८ ॥

यज्ञोंमें बहुत-सी दक्षिणा देनेवाले महाराज! मैं सच कहता हूँ। यह सब आपकी माया और प्रवञ्चनामात्र है। आपके इन बाह्यव्यवहारोंमें छिपा हुआ जो आपका वास्तविक अभिप्राय है, उसे मैं समझता हूँ ॥ ८ ॥

पञ्च पञ्चैव लिप्सन्ति ग्रामकान् पाण्डवा नृप।
न च दित्ससि तेभ्यस्तांस्तच्छमं न करिष्यसि ॥ ९ ॥

नरेन्द्र! बेचारे पाँचों भाई पाण्डव आपसे केवल पाँच गाँव ही पाना चाहते हैं; परंतु आप उन्हें वे गाँव भी नहीं देना चाहते हैं। इससे स्पष्ट सूचित होता है कि आप (सन्धिद्वारा) शान्ति-स्थापन नहीं करेंगे ॥ ९ ॥

अर्थेन तु महाबाहुं वार्ष्णेयं त्वं जिहीर्षसि।
अनेन चाप्युपायेन पाण्डवेभ्यो बिभेत्स्यसि ॥ १० ॥

आप तो धन देकर महाबाहु श्रीकृष्णको अपने पक्षमें लाना चाहते हैं और इस उपायसे आप यह आशा रखते हैं कि आप उन्हें पाण्डवोंकी ओरसे फोड़ लेंगे ॥ १० ॥

न च वित्तेन शक्योऽसौ नोद्यमेन न गर्हया।
अन्यो धनंजयात् कर्तुमेतत् तत्त्वं ब्रवीमि ते ॥ ११ ॥

परंतु मैं आपको असली बात बताये देता हूँ; आप धन देकर अथवा दूसरा कोई उद्योग या निन्दा करके श्रीकृष्णको अर्जुनसे पृथक् नहीं कर सकते ॥ ११ ॥

वेद कृष्णस्य माहात्म्यं वेदास्य दृढभक्तिताम्।
अत्याज्यमस्य जानामि प्राणैस्तुल्यं धनंजयम् ॥ १२ ॥

मैं श्रीकृष्णके माहात्म्यको जानता हूँ। श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनकी जो सुदृढ़ भक्ति है, उससे भी परिचित हूँ। अतः मैं यह निश्चितरूपसे जानता हूँ कि श्रीकृष्ण अपने प्राणोंके समान प्रिय सखा अर्जुनको कभी त्याग नहीं सकते ॥ १२ ॥

अन्यत् कुम्भादपां पूर्णादन्यत् पादावसेचनात्।
अन्यत् कुशलसम्प्रश्नान्नैषिष्यति जनार्दनः ॥ १३ ॥

इसलिये आपकी दी हुई वस्तुओंमेंसे जलसे भरे हुए कलश, पैर धोनेके लिये जल और कुशल-प्रश्नको छोड़कर दूसरी किसी वस्तुको श्रीकृष्ण नहीं स्वीकार करेंगे ॥ १३ ॥

यत् त्वस्य प्रियमातिथ्यं मानार्हस्य महात्मनः।
तदस्मै क्रियतां राजन् मानार्होऽसौ जनार्दनः ॥ १४ ॥

राजन्! सम्माननीय महात्मा श्रीकृष्णका जो परम प्रिय आतिथ्य है, वह तो कीजिये ही; क्योंकि वे भगवान् जनार्दन सबके द्वारा सम्मान पानेके योग्य हैं ॥ १४ ॥

आशंसमानः कल्याणं कुरूनभ्येति केशवः।
येनैव राजन्नर्थेन तदेवास्मा उपाकुरु ॥ १५ ॥

महाराज! भगवान् केशव उभयपक्षके कल्याणकी इच्छा लेकर जिस प्रयोजनसे इस कुरुदेशमें आ रहे हैं, वही उन्हें उपहारमें दीजिये ॥ १५ ॥

शममिच्छति दाशार्हस्तव दुर्योधनस्य च।
पाण्डवानां च राजेन्द्र तदस्य वचनं कुरु ॥ १६ ॥

राजेन्द्र! दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण आप, दुर्योधन तथा पाण्डवोंमें संधि कराकर शान्ति स्थापित करना चाहते हैं। अतः उनके इस कथनका पालन कीजिये (इसीसे वे संतुष्ट होंगे) ॥ १६ ॥

पितासि राजन् पुत्रास्ते वृद्धस्त्वं शिशवः परे।
वर्तस्व पितृवत् तेषु वर्तन्ते ते हि पुत्रवत् ॥ १७ ॥

महाराज! आप पिता हैं और पाण्डव आपके पुत्र हैं। आप वृद्ध हैं और वे शिशु हैं। आप उनके प्रति पिताके समान स्नेहपूर्ण बर्ताव कीजिये। वे आपके प्रति सदा ही पुत्रोंकी भाँति श्रद्धा-भक्ति रखते हैं ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुरवाक्ये सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुरवाक्यविषयक सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका श्रीकृष्णके विषयमें अपने विचार कहना एवं उसकी कुमन्त्रणासे कुपित हो भीष्मजीका सभासे उठ जाना

दुर्योधन उवाच

यदाह विदुरः कृष्णे सर्वं तत् सत्यमच्युते।
अनुरक्तो ह्यसंहार्यः पार्थान् प्रति जनार्दनः ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी! अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले श्रीकृष्णके सम्बन्धमें विदुरजी जो कुछ कहते हैं, वह सब कुछ ठीक है। जनार्दन श्रीकृष्णका कुन्तीके

पुत्रोंके प्रति अटूट अनुराग है; अतः उन्हें उनकी ओरसे फोड़ा नहीं जा सकता ॥ १ ॥

यत् तत् सत्कारसंयुक्तं देयं वसु जनार्दने ।
अनेकरूपं राजेन्द्र न तद् देयं कदाचन ॥ २ ॥

राजेन्द्र ! आप जो जनार्दनको सत्कारपूर्वक बहुत-सा धन-रत्न भेंट करना चाहते हैं, वह कदापि उन्हें न दें ॥२॥

देशः कालस्तथायुक्तो न हि नार्हति केशवः ।
मंस्यत्यधोक्षजो राजन् भयादर्चति मामिति ॥ ३ ॥

मैं इसलिये नहीं कहता कि श्रीकृष्ण उन वस्तुओंके अधिकारी नहीं हैं; अपितु इस दृष्टिसे मना कर रहा हूँ कि वर्तमान देश-काल इस योग्य नहीं है कि उनका विशेष सत्कार किया जाय । राजन् ! इस समय तो श्रीकृष्ण यही समझेंगे कि यह डरके मारे मेरी पूजा कर रहा है ॥ ३ ॥

अवमानश्च यत्र स्यात् क्षत्रियस्य विशाम्पते ।
न तत् कुर्याद् बुधः कार्यमिति मे निश्चिता मतिः ॥ ४ ॥

प्रजानाथ ! जहाँ क्षत्रियका अपमान होता हो, वहाँ समझदार क्षत्रियको वैसा कार्य नहीं करना चाहिये । यह मेरा निश्चित विचार है ॥ ४ ॥

स हि पूज्यतमो लोके कृष्णः पृथुललोचनः ।
त्रयाणामपि लोकानां विदितं मम सर्वथा ॥ ५ ॥

विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण इस लोकमें ही नहीं, तीनों लोकोंमें सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण परम पूजनीय पुरुष हैं, यह बात मुझे सब प्रकारसे विदित है ॥ ५ ॥

न तु तस्मै प्रदेयं स्यात् तथा कार्यगतिः प्रभो ।
विग्रहः समुपारब्धो न हि शाम्यत्यविग्रहात् ॥ ६ ॥

प्रभो ! तथापि मेरा मत है कि इस समय उन्हें कुछ नहीं देना चाहिये; क्योंकि ऐसी ही कार्यप्रणाली प्राप्त है । जब कलह आरम्भ हो गया है, तब अतिथिसत्कारद्वारा प्रेम दिखानेमात्रसे उसकी शान्ति नहीं हो सकती ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भीष्मः कुरुपितामहः ।
वैचित्रवीर्यं राजानमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनकी यह बात सुनकर कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्म विचित्रवीर्य-कुमार राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार बोले—॥ ७ ॥

सत्कृतोऽसत्कृतो वापि न क्रुद्ध्येत जनार्दनः ।
नालमेनमवज्ञातुं नावज्ञेयो हि केशवः ॥ ८ ॥

'राजन् ! श्रीकृष्णका कोई सत्कार करे या न करे, इससे वे कुपित नहीं होंगे । परंतु वे अवहेलनाके योग्य कदापि नहीं हैं; अतः कोई भी उनका अपमान या अवहेलना नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

यत् तु कार्यं महाबाहो मनसा कार्यतां गतम् ।
सर्वोपायैर्न तच्छक्यं केनचित् कर्तुमन्यथा ॥ ९ ॥

'महाबाहो ! श्रीकृष्ण जिस कार्यको करनेकी बात अपने मनमें ठान लेते हैं, उसे कोई सारे उपाय करके भी उलट नहीं सकता ॥ ९ ॥

स यद् ब्रूयान्महाबाहुस्तत् कार्यमविशङ्कया ।
वासुदेवेन तीर्थेन क्षिप्रं संशाम्य पाण्डवैः ॥ १० ॥

'अतः महाबाहु श्रीकृष्ण जो कुछ कहें, उसे निःशङ्क होकर करना चाहिये । वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको मध्यस्थ बनाकर तुम शीघ्र ही पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥१०॥

धर्म्यमर्थ्यं च धर्मात्मा ध्रुवं वक्ता जनार्दनः ।
तस्मिन् वाच्याः प्रिया वाचो भवता बान्धवैः सह ॥ ११ ॥

'धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ कहेंगे, वह निश्चय ही धर्म और अर्थके अनुकूल होगा । अतः तुम्हें अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ उनसे प्रिय वचन ही बोलना चाहिये' ॥११॥

दुर्योधन उवाच

न पर्यायोऽस्ति यद् राजञ्छ्रियं निष्केवलामहम् ।
तैः सहेमामुपाश्नीयां यावज्जीवं पितामह ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोला—पितामह ! नरेश्वर ! अब इस बातकी कोई सम्भावना नहीं है कि मैं जीवनभर पाण्डवोंके साथ मिलकर इस सारी सम्पत्तिका उपभोग करूँ ॥ १२ ॥

इदं तु सुमहत् कार्यं शृणु मे यत् समर्थितम् ।
परायणं पाण्डवानां नियच्छामि जनार्दनम् ॥ १३ ॥

इस समय मैंने जो यह महान् कार्य करनेका निश्चय किया है, उसे सुनिये । पाण्डवोंके सबसे बड़े सहारे श्रीकृष्णको यहाँ आनेपर मैं कैद कर लूँगा ॥ १३ ॥

तस्मिन् बद्धे भविष्यन्ति वृष्णयः पृथिवी तथा ।
पाण्डवाश्च विधेया मे स च प्रातरिहैष्यति ॥ १४ ॥

उनके कैद हो जानेपर समस्त यदुवंशी, इस भूमण्डलका राज्य तथा पाण्डव भी मेरी आज्ञाके अधीन हो जायँगे । श्रीकृष्ण कल सबेरे यहाँ आ ही जायँगे ॥ १४ ॥

अत्रोपायान् यथा सम्यङ् न बुद्ध्येत जनार्दनः ।
न चापायो भवेत् कश्चित् तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ १५ ॥

अतः इस विषयमें जो अच्छे उपाय हों, जिनसे श्रीकृष्णको इन बातोंका पता न लगे और मेरे इस मन्तव्यमें कोई विघ्न न पड़ सके, उन्हें आप मुझे बताइये ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा घोरं कृष्णाभिसंहितम्।
धृतराष्ट्रः सहामात्यो व्यथितो विमनाभवत् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णसे छल करनेके विषयमें दुर्योधनकी वह भयंकर बात सुनकर धृतराष्ट्र अपने मन्त्रियोंके साथ बहुत दुखी और उदास हो गये ॥ १६ ॥

ततो दुर्योधनमिदं धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् वचः।
मैवं वोचः प्रजापाल नैष धर्मः सनातनः ॥ १७ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे कहा—'प्रजापालक दुर्योधन! तुम ऐसी बात मुँहसे न निकालो। यह सनातन धर्म नहीं है ॥

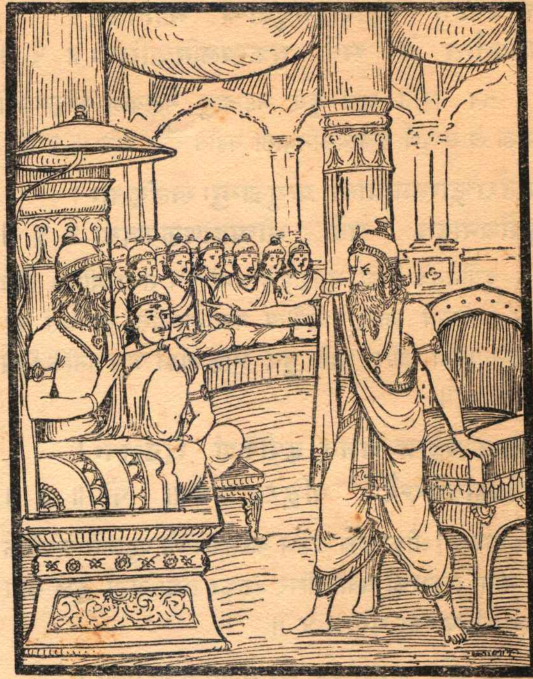
दूतश्च हि हृषीकेशः सम्बन्धी च प्रियश्च नः।
अपापः कौरवेयेषु स कथं बन्धमर्हति ॥ १८ ॥

'श्रीकृष्ण इस समय दूत बनकर आ रहे हैं। वे हमारे प्रिय और सम्बन्धी भी हैं तथा उन्होंने कौरवोंका कोई अपराध भी नहीं किया है। ऐसी दशामें वे कैद करनेके योग्य कैसे हो सकते हैं?' ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

परीतस्तव पुत्रोऽयं धृतराष्ट्र सुमन्दधीः।
वृणोत्यनर्थं नैवार्थं याच्यमानः सुहृज्जनैः ॥ १९ ॥

यह सुनकर भीष्मजीने कहा—धृतराष्ट्र! तुम्हारा यह मन्दबुद्धि पुत्र कालके वशमें हो गया है। यह अपने हितैषी सुहृदोंके कहने-समझानेपर भी अनर्थको ही अपना रहा है; अर्थको नहीं ॥ १९ ॥



इममुत्पथि वर्तन्तं पापं पापानुबन्धिनम्।
वाक्यानि सुहृदां हित्वा त्वमप्यस्यानुवर्तसे ॥ २० ॥

तुम भी सगे-सम्बन्धियोंकी बातें न मानकर कुमार्गपर चलनेवाले इस पापासक्त पापात्माका ही अनुसरण करते हो ॥

कृष्णमक्लिष्टकर्माणमासाद्यायं सुदुर्मतिः।
तव पुत्रः सहामात्यः क्षणेन न भविष्यति ॥ २१ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्णसे भिड़कर तुम्हारा यह दुर्बुद्धि पुत्र अपने मन्त्रियोंसहित क्षणभरमें नष्ट हो जायगा ॥ २१ ॥

पापस्यास्य नृशंसस्य त्यक्तधर्मस्य दुर्मतेः।
नोत्सहेऽनर्थसंयुक्ताः श्रोतुं वाचः कथंचन ॥ २२ ॥

इसने धर्मका सर्वथा त्याग कर दिया है। अब मैं इस दुर्बुद्धि, पापी एवं क्रूर दुर्योधनकी अनर्थभरी बातें किसी प्रकार भी नहीं सुनना चाहता ॥ २२ ॥

इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठो वृद्धः परममन्युमान्।
उत्थाय तस्मात् प्रातिष्ठद् भीष्मः सत्यपराक्रमः ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर भरतश्रेष्ठ सत्यपराक्रमी वृद्ध पितामह भीष्म अत्यन्त कुपित हो उस सभाभवनसे उठकर चले गये ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दुर्योधनवाक्ये अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका स्वागत, धृतराष्ट्र तथा विदुरके घरोंपर उनका आतिथ्य

वैशम्पायन उवाच

प्रातरुत्थाय कृष्णस्तु कृतवान् सर्वमाह्निकम्।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः प्रययौ नगरं प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! (उधर वृकस्थलमें) प्रातःकाल उठकर भगवान् श्रीकृष्णने सारा नित्यकर्म पूर्ण किया। फिर ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेकर वे हस्तिनापुरकी ओर चले ॥ १ ॥

तं प्रयान्तं महाबाहुमनुज्ञाप्य महाबलम्।
पर्यवर्तन्त ते सर्वे वृकस्थलनिवासिनः ॥ २ ॥

तब वहाँसे जाते हुए महाबाहु महाबली श्रीकृष्णकी आज्ञा ले सम्पूर्ण वृकस्थलनिवासी वहाँसे लौट गये ॥ २ ॥

धार्तराष्ट्रास्तमायान्तं प्रत्युज्जग्मुः स्वलंकृताः।
दुर्योधनादृते सर्वे भीष्मद्रोणकृपादयः ॥ ३ ॥

दुर्योधनके सिवा धृतराष्ट्रके सभी पुत्र तथा भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि यथायोग्य वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हो हस्तिनापुरकी ओर आते हुए श्रीकृष्णकी अगवानीके लिये गये ॥ ३ ॥

पौराश्च बहुला राजन् हृषीकेशं दिदृक्षवः।
यानैर्बहुविधैरन्यैः पद्भिरेव तथा परे ॥ ४ ॥

राजन्! श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये बहुत-से नागरिक भी नाना प्रकारकी सवारियोंपर बैठकर तथा अन्य कुछ लोग पैदल ही चलकर गये ॥ ४ ॥

स वै पथि समागम्य भीष्मेणाक्लिष्टकर्मणा।
द्रोणेन धार्तराष्ट्रैश्च तैर्वृतो नगरं ययौ ॥ ५ ॥

अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले भीष्म तथा द्रोणाचार्यसे मार्गमें ही मिलकर धृतराष्ट्रपुत्रोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्णने नगरमें प्रवेश किया ॥ ५ ॥

कृष्णसम्माननार्थं च नगरं समलंकृतम्।
बभूव राजमार्गश्च बहुरत्नसमाचितः ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये हस्तिनापुरको खूब सजाया गया था। वहाँका राजमार्ग भी अनेक प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित किया गया था ॥ ६ ॥

न च कश्चिद् गृहे राजंस्तदाऽऽसीद् भरतर्षभ।
न स्त्री न वृद्धो न शिशुर्वासुदेवदिदृक्षया ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय भगवान् वासुदेवके दर्शनकी तीव्र इच्छाके कारण स्त्री, बालक अथवा वृद्ध कोई भी घरमें नहीं ठहर सका ॥ ७ ॥

राजमार्गे नरास्तस्मिन् संस्तुवन्त्यवनिं गताः।
तस्मिन् काले महाराज हृषीकेशप्रवेशने ॥ ८ ॥

महाराज! जब श्रीकृष्ण नगरमें प्रवेश कर रहे थे, तब राजमार्गमें भूमिपर खड़े हुए मनुष्य उनकी स्तुति करने लगे ॥

आवृतानि वरस्त्रीभिर्गृहाणि सुमहान्त्यपि।
प्रचलन्तीव भारेण दृश्यन्ते स्म महीतले ॥ ९ ॥

(भगवान् श्रीकृष्णको देखनेके लिये एकत्रित हुई) सुन्दरी स्त्रियोंसे भरे हुए बड़े-बड़े महल भी उनके भारसे इस भूतलपर विचलित होते-से दिखायी देते थे ॥ ९ ॥

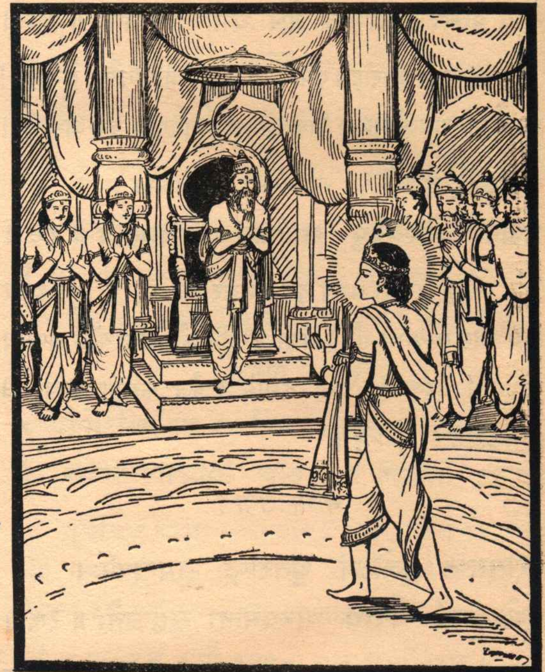
तथा च गतिमन्तस्ते वासुदेवस्य वाजिनः।
प्रणष्टगतयोऽभूवन् राजमार्गे नरैर्वृते ॥ १० ॥

वहाँकी प्रधान सड़क लोगोंसे ऐसी खचाखच भर गयी थी कि श्रीकृष्णके वेगपूर्वक चलनेवाले घोड़ोंकी गति भी अवरुद्ध हो गयी ॥ १० ॥

स गृहं धृतराष्ट्रस्य प्राविशच्छत्रुकर्शनः।
पाण्डुरं पुण्डरीकाक्षः प्रासादैरुपशोभितम् ॥ ११ ॥

शत्रुओंको क्षीण करनेवाले कमलनयन श्रीकृष्णने राजा धृतराष्ट्रके अट्टालिकाओंसे सुशोभित उज्ज्वल भवनमें प्रवेश किया ॥ ११ ॥

तिस्रः कक्ष्या व्यतिक्रम्य केशवो राजवेश्मनः।
वैचित्रवीर्यं राजानमभ्यगच्छदरिंदमः ॥ १२ ॥



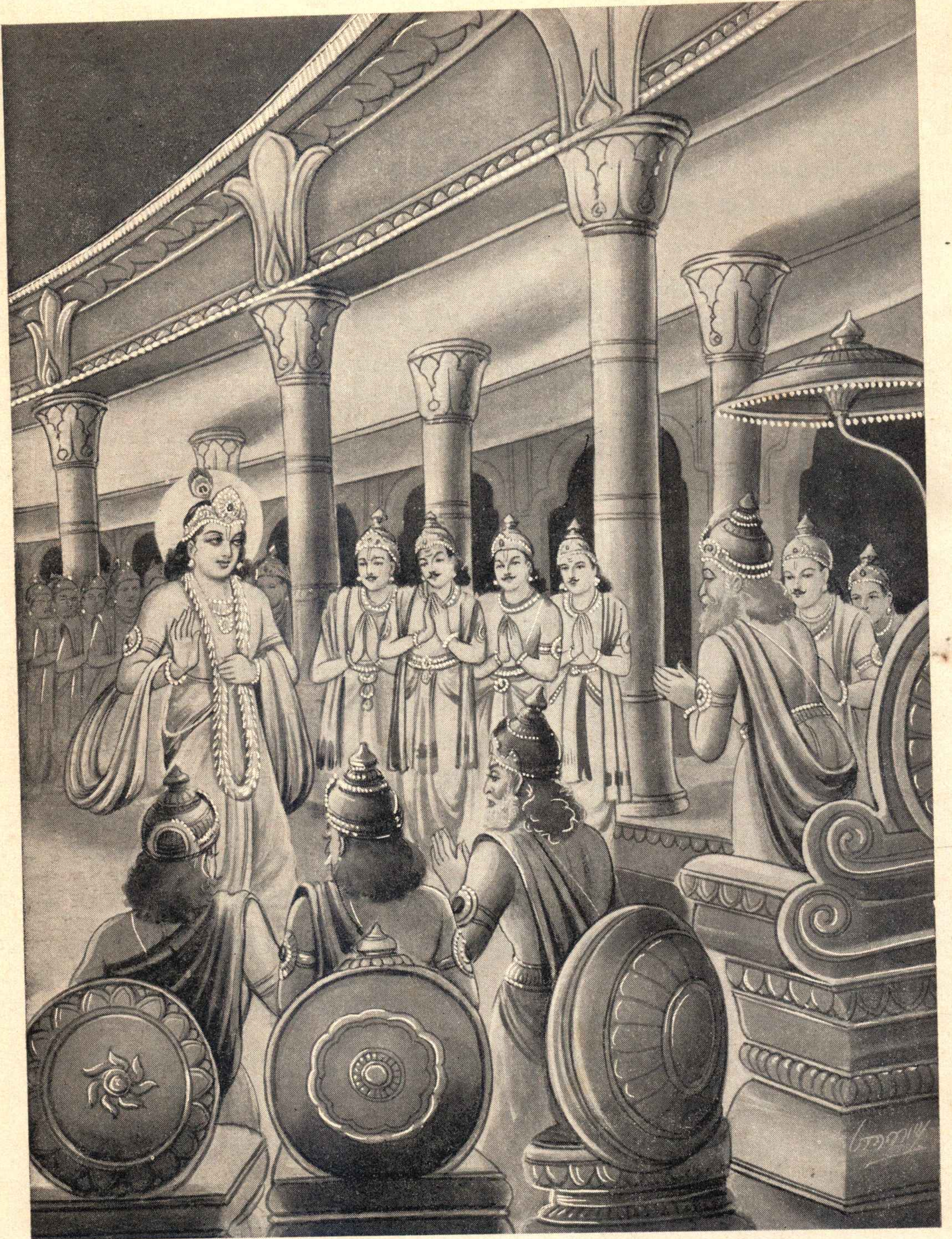
उस राजभवनकी तीन ड्यौढ़ियोंको पार करके शत्रुसूदन केशव विचित्रवीर्यकुमार राजा धृतराष्ट्रके समीप गये ॥ १२ ॥

अभ्यागच्छति दाशार्हे प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः।
सहैव द्रोणभीष्माभ्यामुदतिष्ठन्महायशाः ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णके आते ही महायशस्वी प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र द्रोणाचार्य तथा भीष्मजीके साथ ही अपने आसनसे उठकर खड़े हो गये ॥ १३ ॥

कृपश्च सोमदत्तश्च महाराजश्च बाह्लिकः।
आसनेभ्योऽचलन् सर्वे पूजयन्तो जनार्दनम् ॥ १४ ॥

कृपाचार्य, सोमदत्त तथा महाराज बाह्लिक—ये सब लोग जनार्दनका सम्मान करते हुए अपने आसनोंसे उठ गये ॥



धृतराष्ट्रके द्वारा श्रीकृष्णका स्वागत

ततो राजानमासाद्य धृतराष्ट्रं यशस्विनम् ।
स भीष्मं पूजयामास वार्ष्णेयो वाग्भिरञ्जसा ॥ १५ ॥

तब वृष्णिनन्दन श्रीकृष्णने यशस्वी राजा धृतराष्ट्रसे मिलकर अपने उत्तम वचनोंद्वारा भीष्मजीका आदर किया ॥ १५ ॥

तेषु धर्मानुपूर्वीं तां प्रयुज्य मधुसूदनः ।
यथावयः समीयाय राजभिः सह माधवः ॥ १६ ॥

यदुकुलतिलक मधुसूदन उन सबकी धर्मानुकूल पूजा करके अवस्थाक्रमके अनुसार वहाँ आये हुए समस्त राजाओंसे मिले ॥ १६ ॥

अथ द्रोणं सबाह्लीकं सपुत्रं च यशस्विनम् ।
कृपं च सोमदत्तं च समीयाय जनार्दनः ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् जनार्दन पुत्रसहित यशस्वी द्रोणाचार्य, बाह्लीक, कृपाचार्य तथा सोमदत्तसे मिले ॥ १७ ॥

तत्रासीदूर्जितं मृष्टं काञ्चनं महदासनम् ।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य तत्रोपाविशदच्युतः ॥ १८ ॥

वहाँ एक स्वच्छ और जगमगाता हुआ सुवर्णका विशाल सिंहासन रक्खा हुआ था । धृतराष्ट्रकी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्ण उसीपर विराजमान हुए ॥ १८ ॥

अथ गां मधुपर्कं चाप्युदकं च जनार्दने ।
उपजह्रुर्यथान्यायं धृतराष्ट्रपुरोहिताः ॥ १९ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रके पुरोहितलोग भगवान् जनार्दनके आतिथ्यसत्कारके लिये उत्तम गौ, मधुपर्क तथा जल ले आये ॥

कृतातिथ्यस्तु गोविन्दः सर्वान् परिहसन् कुरून् ।
आस्ते साम्बन्धिकं कुर्वन् कुरुभिः परिवारितः॥ २० ॥

उनका आतिथ्य ग्रहण करके भगवान् गोविन्द हँसते हुए कौरवोंके साथ बैठ गये और सबसे अपने सम्बन्धके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करते हुए कौरवोंसे घिरे हुए कुछ देर बैठे रहे ॥ २० ॥

सोऽर्चितो धृतराष्ट्रेण पूजितश्च महायशाः ।
राजानं समनुज्ञाप्य निरक्रामदरिंदमः ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्रसे पूजित एवं सम्मानित हो महायशस्वी शत्रुदमन श्रीकृष्ण उनकी अनुज्ञा ले उस राजभवनसे बाहर निकले ॥२१॥

तैः समेत्य यथान्यायं कुरुभिः कुरुसंसदि ।
विदुरावसथं रम्यमुपातिष्ठत माधवः ॥ २२ ॥

फिर कौरव-सभामें यथायोग्य सबसे मिल-जुलकर यदुवंशी श्रीकृष्णने विदुरजीके रमणीय गृहमें पदार्पण किया ॥ २२ ॥

विदुरः सर्वकल्याणैरभिगम्य जनार्दनम् ।
अर्चयामास दाशार्हं सर्वकामैरुपस्थितम् ॥ २३ ॥

विदुरजीने अपने घर पधारे हुए दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके निकट जाकर समस्त मनोवाञ्छित भोगों तथा सम्पूर्ण माङ्गलिक वस्तुओंद्वारा उनका पूजन किया (और इस प्रकार कहा—)॥ २३ ॥



या मे प्रीतिः पुष्कराक्ष त्वद्दर्शनसमुद्भवा ।
सा किमाख्यायते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ॥२४॥

'कमलनयन ! आपके दर्शनसे मुझे जो प्रसन्नता हुई है, उसका आपसे क्या वर्णन किया जाय; आप तो समस्त देहधारियोंके अन्तर्यामी आत्मा हैं (आपसे क्या छिपा है ?)'॥

कृतातिथ्यं तु गोविन्दं विदुरः सर्वधर्मवित् ।
कुशलं पाण्डुपुत्राणामपृच्छन्मधुसूदनम् ॥ २५ ॥

मधुसूदन श्रीकृष्ण जब उनका आतिथ्य ग्रहण कर चुके, तब सब धर्मोंके ज्ञाता विदुरजीने उनसे पाण्डवोंका कुशल-समाचार पूछा ॥ २५ ॥

प्रीयमाणस्य सुहृदो विदुरो बुद्धिसत्तमः ।
धर्मार्थनित्यस्य सतो गतरोषस्य धीमतः ॥ २६ ॥
तस्य सर्वं सविस्तारं पाण्डवानां विचेष्टितम् ।
क्षत्तुराचष्ट दाशार्हः सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ २७ ॥

विदुरजी बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ थे। सब कुछ प्रत्यक्ष देखनेवाले श्रीकृष्णने सदा धर्ममें ही तत्पर रहनेवाले, रोष-शून्य प्रेमी सुहृद् बुद्धिमान् विदुरसे पाण्डवोंकी सारी चेष्टाएँ विस्तारपूर्वक कह सुनायीं ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रगृहप्रवेशपूर्वकं श्रीकृष्णस्य विदुरगृहप्रवेशे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णका धृतराष्ट्रगृहमें प्रवेशपूर्वक विदुरके गृहमें पदार्पणविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कुन्तीके समीप जाना एवं युधिष्ठिरका कुशल-समाचार पूछकर अपने दुःखोंका स्मरण करके विलाप करती हुई कुन्तीको आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

अथोपगम्य विदुरमपराह्णे जनार्दनः ।
पितृष्वसारं स पृथामभ्यगच्छदरिंदमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! शत्रुदमन श्रीकृष्ण विदुरजीसे मिलनेके पश्चात् तीसरे पहरमें अपनी बुआ कुन्तीदेवीके पास गये ॥ १ ॥

सा दृष्ट्वा कृष्णमायान्तं प्रसन्नादित्यवर्चसम् ।
कण्ठे गृहीत्वा प्राक्रोशत् स्मरन्ती तनयान् पृथा ॥ २ ॥

निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी श्रीकृष्णको आते देख कुन्तीदेवी उनके गले लग गयीं और अपने पुत्रोंको याद करके फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ २ ॥

तेषां सत्त्ववतां मध्ये गोविन्दं सहचारिणम् ।
चिरस्य दृष्ट्वा वार्ष्णेयं बाष्पमाहारयत् पृथा ॥ ३ ॥

अपने उन शक्तिशाली पुत्रोंके बीचमें रहकर उनके साथ विचरनेवाले वृष्णिकुलनन्दन गोविन्दको दीर्घकालके पश्चात् देखकर कुन्तीदेवी आँसुओंकी वर्षा करने लगीं ॥ ३ ॥

साब्रवीत् कृष्णमासीनं कृतातिथ्यं युधां पतिम् ।
बाष्पगद्गदपूर्णेन मुखेन परिशुष्यता ॥ ४ ॥

उन्होंने योद्धाओंके स्वामी श्रीकृष्णका अतिथि-सत्कार किया। जब वे आतिथ्य ग्रहण करके आसनपर विराजमान हुए, तब सूखे मुँह और अश्रुगद्गद कण्ठसे कुन्तीदेवी इस प्रकार बोलीं—॥ ४ ॥

ये ते बाल्यात् प्रभृत्येव गुरुशुश्रूषणे रताः ।
परस्परस्य सुहृदः सम्मताः समचेतसः ।
निकृत्या भ्रंशिता राज्याज्जनार्हा निर्जनं गताः ॥ ५ ॥

'वत्स! मेरे पुत्र पाण्डव, जो बाल्यकालसे ही गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषामें तत्पर रहते, परस्पर स्नेह रखते, सर्वत्र सम्मान पाते और मनमें सबके प्रति समानभाव रखते थे, शत्रुओंकी शठताके शिकार होकर राज्यसे हाथ धो बैठे और जनसमुदायमें रहनेयोग्य होकर भी निर्जन वनमें चले गये ॥ ५ ॥

विनीतक्रोधहर्षाश्च ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ।
त्यक्त्वा प्रियसुखे पार्था रुदतीमपहाय माम् ॥ ६ ॥

'मेरे बेटे हर्ष और क्रोधको जीत चुके थे। वे ब्राह्मणोंका हित-साधन करनेवाले तथा सत्यवादी थे; तथापि (शत्रुओंके अन्यायसे विवश हो) प्रियजन एवं सुखभोगसे मुँह मोड़ मुझे रोती-बिलखती छोड़कर वे वनकी ओर चल दिये ॥ ६ ॥

अहार्षुश्च वनं यान्तः समूलं हृदयं मम ।
अतदर्हा महात्मानः कथं केशव पाण्डवाः ॥ ७ ॥

'केशव! वन जाते समय महात्मा पाण्डव मेरे हृदयको जड़-मूलसहित खींचकर अपने साथ ले गये। वे वनवासके योग्य कदापि नहीं थे। फिर उन्हें यह कष्ट कैसे प्राप्त हुआ? ॥ ७ ॥

ऊषुर्महावने तात सिंहव्याघ्रगजाकुले ।
बाला विहीनाः पित्रा ते मया सततलालिताः ॥ ८ ॥
अपश्यन्तश्च पितरौ कथमूषुर्महावने ।

'तात! वे बचपनमें ही पिताके प्यारसे वञ्चित हो गये थे। मैंने ही सदा उनका लालन-पालन किया। मेरे पुत्र सिंह, व्याघ्र और हाथियोंसे भरे हुए उस विशाल वनमें कैसे रहे होंगे? माता-पिताको न देखते हुए उन्होंने उस महान् वनमें किस प्रकार निवास किया होगा? ॥ ८½ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गैर्वेणुनिस्वनैः ॥ ९ ॥
पाण्डवाः समबोध्यन्त बाल्यात् प्रभृति केशव ।

'केशव! बाल्यावस्थासे ही पाण्डव शङ्ख और दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनिसे, मृदङ्गोंके मधुर नादसे तथा बाँसुरीकी सुरीली तानसे जगाये जाते थे ॥ ९½ ॥

ये स्म वारणशब्देन हयानां हेषितेन च ॥ १० ॥
रथनेमिनिनादैश्च व्यबोध्यन्त तदा गृहे ।
शङ्खभेरीनिनादेन वेणुवीणानुनादिना ॥ ११ ॥

पुण्याहघोषमिश्रेण पूज्यमाना द्विजातिभिः ।
वस्त्रै रत्नैरलंकारैः पूजयन्तो द्विजन्मनः ॥ १२ ॥
गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिर्ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
अर्चितैरर्चनार्हैश्च स्तुवद्भिरभिनन्दिताः ॥ १३ ॥
प्रासादाग्रेष्वबोध्यन्त राङ्कवाजिनशायिनः ।
क्रूरं च निनदं श्रुत्वा श्वापदानां महावने ॥ १४ ॥
न स्मोपयान्ति निद्रां ते न तदर्हा जनार्दन ।

'जब वे अपनी राजधानीमें ऊँची अट्टालिकाओंके भीतर रङ्कुमृगके चर्मसे बने हुए बिछौनोंसे युक्त सुकोमल शय्याओंपर शयन करते थे, उन दिनों हाथियोंके चिग्घाड़ने, घोड़ोंके हिनहिनाने तथा रथके पहियोंके घर्घरानेसे उनकी निद्रा टूटती थी। शङ्ख और भेरीकी तुमुल ध्वनि तथा वेणु और वीणाके मधुर स्वरसे उन्हें जगाया जाता था। साथ ही ब्राह्मण-लोग पुण्याहवाचनके पवित्र घोषसे उनका समादर करते थे। वे महात्मा ब्राह्मणोंके मङ्गलमय आशीर्वाद सुनकर उठते थे। पूजित और पूजनीय पुरुष भी उनके गुण गा-गाकर अभिनन्दन किया करते थे एवं उठकर वे रत्नों, वस्त्रों एवं अलंकारोंके द्वारा ब्राह्मणोंकी पूजा करते थे। जनार्दन ! वे ही पाण्डव उस विशाल वनमें हिंसक जन्तुओंके क्रूरतापूर्ण शब्द सुनकर अच्छी तरह नींद भी नहीं ले पाते रहे होंगे, यद्यपि इस दुरवस्थाके योग्य वे कभी नहीं थे ॥ १०–१४½ ॥

भेरीमृदङ्गनिनदैः शङ्खवैणवनिस्वनैः ॥ १५ ॥
स्त्रीणां गीतनिनादैश्च मधुरैर्मधुसूदन ।
वन्दिमागधसूतैश्च स्तुवद्भिर्बोधिताः कथम् ॥ १६ ॥
महावनेष्वबोध्यन्त श्वापदानां रुतेन च ।

'मधुसूदन ! जो भेरी एवं मृदङ्गके नादसे, शङ्ख एवं वेणुकी ध्वनिसे तथा स्त्रियोंके गीतोंके मधुर शब्द तथा सूत, मागध एवं वन्दीजनोंद्वारा की हुई स्तुति सुनकर जागते थे, वे ही बड़े-बड़े जंगलोंमें हिंसक जन्तुओंके कठोर शब्द सुनकर किस प्रकार नींद तोड़ते रहे होंगे ? ॥ १५-१६½ ॥

ह्रीमान् सत्यधृतिर्दान्तो भूतानामनुकम्पिता ॥ १७ ॥
कामद्वेषौ वशे कृत्वा सतां वर्त्मानुवर्तते ।
अम्बरीषस्य मान्धातुर्ययातेर्नहुषस्य च ॥ १८ ॥
भरतस्य दिलीपस्य शिबेरौशीनरस्य च ।
राजर्षीणां पुराणानां धुरं धत्ते दुरुद्वहाम् ॥ १९ ॥
शीलवृत्तोपसम्पन्नो धर्मज्ञः सत्यसंगरः ।
राजा सर्वगुणोपेतस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत् ॥ २० ॥
अजातशत्रुर्धर्मात्मा शुद्धजाम्बूनदप्रभः ।
श्रेष्ठः कुरुषु सर्वेषु धर्मतः श्रुतवृत्ततः ।
प्रियदर्शो दीर्घभुजः कथं कृष्ण युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥

'श्रीकृष्ण ! जो लज्जाशील, सत्यको धारण करनेवाले, जितेन्द्रिय तथा सब प्राणियोंपर दया करनेवाले हैं; जो काम (राग) एवं द्वेषको वशमें करके सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करते हैं; जो अम्बरीष, मान्धाता, ययाति, नहुष, भरत, दिलीप एवं उशीनरपुत्र शिबि आदि प्राचीन राजर्षियोंके सदाचारपालनरूप धारण करनेमें कठिन धर्मकी धुरीको धारण करते हैं; जिनमें शील और सदाचारकी सम्पत्ति भरी हुई है, जो धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और सर्वगुणसम्पन्न होनेके कारण इस भूमण्डलके ही नहीं, तीनों लोकोंके भी राजा हो सकते हैं; जिनका मन सदा धर्ममें ही लगा रहता है, जो धर्मशास्त्रज्ञान और सदाचार सभी दृष्टियोंसे समस्त कौरवोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं; जिनकी अङ्गकान्ति शुद्ध जाम्बूनद सुवर्णके समान गौर है, जो देखनेमें सभीको प्रिय लगते हैं; वे महाबाहु अजातशत्रु युधिष्ठिर इस समय कैसे हैं ? ॥ १७–२१ ॥

यः स नागायुतप्राणो वातरंहा महाबलः ।
सामर्षः पाण्डवो नित्यं प्रियो भ्रातुः प्रियंकरः ॥ २२ ॥
कीचकस्य तु सज्ञातेर्यो हन्ता मधुसूदन ।
शूरः क्रोधवशानां च हिडिम्बस्य बकस्य च ॥ २३ ॥
पराक्रमे शक्रसमो मातरिश्वसमो बले ।
महेश्वरसमः क्रोधे भीमः प्रहरतां वरः ॥ २४ ॥
क्रोधं बलममर्षं च यो निधाय परंतपः ।
जितात्मा पाण्डवोऽमर्षी भ्रातुस्तिष्ठति शासने ॥ २५ ॥
तेजोराशिं महात्मानं वरिष्ठममितौजसम् ।
भीमं प्रदर्शनेनापि भीमसेनं जनार्दन ॥ २६ ॥
तं ममाचक्ष्व वार्ष्णेय कथमद्य वृकोदरः ।
आस्ते परिघबाहुः स मध्यमः पाण्डवो बली ॥ २७ ॥

'मधुसूदन ! जो पाण्डुनन्दन महाबली भीम दस हजार हाथियोंके समान शक्तिशाली है, जिसका वेग वायुके समान है, जो असहिष्णु होते हुए भी अपने भाईको सदा ही प्रिय है और भाइयोंका प्रिय करनेमें ही लगा रहता है, जिसने भाई-बन्धुओंसहित कीचकका विनाश किया है, जिस शूरवीरके हाथसे क्रोधवश नामक राक्षसोंका, हिडिम्बासुर तथा बकका भी संहार हुआ है, जो पराक्रममें इन्द्र, बलमें वायुदेव तथा क्रोधमें महेश्वरके समान है, जो प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें सर्वश्रेष्ठ एवं भयंकर है, शत्रुओंको संताप देनेवाला जो पाण्डुपुत्र भीम अपने भीतर क्रोध, बल और अमर्षको रखते हुए भी मनको काबूमें रखकर सदा भाईकी आज्ञाके अधीन रहता है, जो स्वभावतः अमर्षशील है, जिसमें तेजकी राशि संचित है, जो महात्मा, सर्वश्रेष्ठ, अमिततेजस्वी तथा देखनेमें भी भयंकर है, वृष्णिनन्दन जनार्दन ! उस मेरे द्वितीय पुत्र भीमसेनका समाचार बताओ। इस समय परिघके समान सुदृढ़ भुजाओंवाला मेरा मँझला पुत्र पाण्डुकुमार भीमसेन कैसे है ? ॥ २२–२७ ॥

अर्जुनेनार्जुनो यः स कृष्ण बाहुसहस्रिणा ।
द्विबाहुः स्पर्धते नित्यमतीतेनापि केशव ॥ २८ ॥

क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्च बाणशतानि यः ।
इष्वस्त्रे सदृशो राज्ञः कार्तवीर्यस्य पाण्डवः ॥ २९ ॥
तेजसाऽऽदित्यसदृशो महर्षिसदृशो दमे ।
क्षमया पृथिवीतुल्यो महेन्द्रसमविक्रमः ॥ ३० ॥
आधिराज्यं महद् दीप्तं प्रथितं मधुसूदन ।
आहृतं येन वीर्येण कुरूणां सर्वराजसु ॥ ३१ ॥
यस्य बाहुबलं सर्वे पाण्डवाः पर्युपासते ।
स सर्वरथिनां श्रेष्ठः पाण्डवः सत्यविक्रमः ॥ ३२ ॥
यं गत्वाभिमुखः संख्ये न जीवन् कश्चिदाव्रजेत् ।
यो जेता सर्वभूतानामजेयो जिष्णुरच्युत ॥ ३३ ॥
योऽपाश्रयः पाण्डवानां देवानामिव वासवः ।
स ते भ्राता सखा चैव कथमद्य धनंजयः ॥ ३४ ॥

'श्रीकृष्ण ! जो अर्जुन दो भुजाओंसे युक्त होकर भी सदा प्राचीनकालके सहस्र भुजाधारी कार्तवीर्य अर्जुनके साथ स्पर्धा रखता है; केशव ! जो एक ही वेगसे पाँच सौ बाण चलाता है, जो पाण्डव अर्जुन धनुर्विद्यामें राजा कार्तवीर्यके समान ही समझा जाता है, जिसका तेज सूर्यके समान है, जो इन्द्रियसंयममें महर्षियोंके, क्षमामें पृथ्वीके और पराक्रममें देवराज इन्द्रके समान है; मधुसूदन ! कौरवोंका यह विशाल साम्राज्य, जो सम्पूर्ण राजाओंमें प्रख्यात एवं प्रकाशित हो रहा है, जिसे अर्जुनने ही अपने पराक्रमसे बढ़ाया है; समस्त पाण्डव जिसके बाहुबलका भरोसा रखते हैं; जो सम्पूर्ण रथियोंमें श्रेष्ठ तथा सत्यपराक्रमी है, संग्राममें जिसके सम्मुख जाकर कोई जीवित नहीं लौटता है, अच्युत ! जो सम्पूर्ण भूतोंको जीतनेमें समर्थ, विजयशील एवं अजेय है तथा जैसे देवताओंके आश्रय इन्द्र हैं, उसी प्रकार जो समस्त पाण्डवों-का अवलम्ब है, वह तुम्हारा भाई और मित्र अर्जुन इस समय कैसे है ? ॥ २८—३४ ॥

दयावान् सर्वभूतेषु ह्रीनिषेवो महास्त्रवित् ।
मृदुश्च सुकुमारश्च धार्मिकश्च प्रियश्च मे ॥ ३५ ॥
सहदेवो महेष्वासः शूरः समितिशोभनः ।
भ्रातॄणां कृष्ण शुश्रूषुर्धर्मार्थकुशलो युवा ॥ ३६ ॥
सदैव सहदेवस्य भ्रातरो मधुसूदन ।
वृत्तं कल्याणवृत्तस्य पूजयन्ति महात्मनः ॥ ३७ ॥
ज्येष्ठापचायिनं वीरं सहदेवं युधां पतिम् ।
शुश्रूषुं मम वार्ष्णेय माद्रीपुत्रं प्रचक्ष्व मे ॥ ३८ ॥

'मधुसूदन श्रीकृष्ण ! जो समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु, लज्जाशील, महान् अस्त्रवेत्ता, कोमल, सुकुमार, धार्मिक तथा मुझे विशेष प्रिय है; जो महाधनुर्धर शूरवीर सहदेव रणभूमि-में शोभा पानेवाला, सभी भाइयोंका सेवक, धर्म और अर्थके विवेचनमें कुशल तथा युवावस्थासे युक्त है; कल्याणकारी आचारवाले जिस महात्मा सहदेवके आचार-व्यवहारकी सभी भाई प्रशंसा करते हैं, जो बड़े भाईके प्रति अनुरक्त, युद्धोंका नेता और मेरी सेवामें तत्पर रहनेवाला है; उस माद्रीकुमार वीर सहदेवका समाचार मुझे बताओ ॥ ३५—३८ ॥

सुकुमारो युवा शूरो दर्शनीयश्च पाण्डवः ।
भ्रातॄणां चैव सर्वेषां प्रियः प्राणो बहिश्चरः ॥ ३९ ॥
चित्रयोधी च नकुलो महेष्वासो महाबलः ।
कच्चित् सकुशली कृष्ण वत्सो मम सुखैधितः ॥ ४० ॥

'श्रीकृष्ण ! जो सुकुमार, युवक, शौर्यसम्पन्न तथा दर्शनीय है, जो सभी भाइयोंके बाहर विचरनेवाला प्रिय प्राणस्वरूप है, जिसमें युद्धकी विचित्र कला शोभा पाती है, वह महान् धनुर्धर, महाबली एवं मुझसे पला हुआ मेरा पुत्र पाण्डुनन्दन नकुल सकुशल तो है न ? ॥ ३९-४० ॥

सुखोचितमदुःखार्हं सुकुमारं महारथम् ।
अपि जातु महाबाहो पश्येयं नकुलं पुनः ॥ ४१ ॥

'महाबाहो ! क्या मैं सुख-भोगके योग्य, दुःख भोगनेके अयोग्य एवं सुकुमार महारथी नकुलको फिर कभी देख सकूँगी ? ॥

पक्ष्मसम्पातजे काले नकुलेन विनाकृता ।
न लभामि धृतिं वीर साद्य जीवामि पश्य माम् ॥ ४२ ॥

'वीर ! आँखोंकी पलकें गिरनेमें जितना समय लगता है, उतनी देर भी नकुलसे अलग रहनेपर मैं धैर्य खो बैठती थी; परंतु अब इतने दिनोंसे उसे न देखकर भी जी रही हूँ । देखो, मैं कितनी निर्मम हूँ ॥ ४२ ॥

सर्वैः पुत्रैः प्रियतरा द्रौपदी मे जनार्दन ।
कुलीना रूपसम्पन्ना सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ ४३ ॥

'जनार्दन ! द्रुपदकुमारी कृष्णा मुझे अपने सभी पुत्रोंसे अधिक प्रिय है । वह कुलीन, अनुपम सुन्दरी तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ ४३ ॥

पुत्रलोकात् पतिलोकं वृण्वाना सत्यवादिनी ।
प्रियान् पुत्रान् परित्यज्य पाण्डवाननुरुध्यते ॥ ४४ ॥

'पुत्रलोकसे पतिलोकको श्रेष्ठ समझकर उसका वरण करनेवाली सत्यवादिनी द्रौपदी अपने प्यारे पुत्रोंको भी त्याग-कर पाण्डवोंका अनुसरण करती है ॥ ४४ ॥

महाभिजनसम्पन्ना सर्वकामैः सुपूजिता ।
ईश्वरी सर्वकल्याणी द्रौपदी कथमच्युत ॥ ४५ ॥

'अच्युत ! मैंने सब प्रकारकी वस्तुएँ देकर जिसका समादर किया है, वह परम उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई सर्व-कल्याणी महारानी द्रौपदी इन दिनों कैसी दशामें है ? ॥

पतिभिः पञ्चभिः शूरैरग्निकल्पैः प्रहारिभिः ।
उपपन्ना महेष्वासैर्द्रौपदी दुःखभागिनी ॥ ४६ ॥

'हाय ! जो महाधनुर्धर, शूरवीर, युद्धकुशल तथा

अग्नितुल्य तेजस्वी पाँच पतियोंसे युक्त है, वह द्रुपदकुमारी कृष्णा भी दुःखभागिनी हो गयी ॥ ४६ ॥

चतुर्दशमिदं वर्षं यन्नापश्यमरिंदम।
पुत्राधिभिः परिद्यूनां द्रौपदीं सत्यवादिनीम् ॥ ४७ ॥

'शत्रुदमन ! यह चौदहवाँ वर्ष बीत रहा है। इतने दिनोंसे मैंने पुत्रोंके बिछोहसे संतप्त हुई सत्यवादिनी द्रौपदीको नहीं देखा है ॥ ४७ ॥

न नूनं कर्मभिः पुण्यैरश्नुते पुरुषः सुखम्।
द्रौपदी चेत् तथावृत्ता नाश्नुते सुखमव्ययम् ॥ ४८ ॥

'यदि वैसे सदाचार और सत्कर्मोंसे युक्त द्रुपदकुमारी अक्षय सुख नहीं पा रही है, तब तो निश्चय ही यह कहना पड़ेगा कि मनुष्य पुण्यकर्मोंसे सुख नहीं पाता है ॥ ४८ ॥

न प्रियो मम कृष्णाया बीभत्सुर्न युधिष्ठिरः।
भीमसेनो यमौ वापि यदपश्यं सभागताम् ॥ ४९ ॥
न मे दुःखतरं किंचिद् भूतपूर्वं ततोऽधिकम्।

'युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव भी मुझे द्रौपदीसे अधिक प्रिय नहीं हैं। उसी द्रौपदीको मैंने भरी सभामें लायी गयी देखा, उससे बढ़कर महान् दुःख मुझे पहले कभी नहीं हुआ था ॥ ४९½ ॥

स्त्रीधर्मिणीं द्रौपदीं यच्छ्वशुराणां समीपगाम् ॥ ५० ॥
आनायितामनार्येण क्रोधलोभानुवर्तिना।
सर्वे प्रैक्षन्त कुरव एकवस्त्रां सभागताम् ॥ ५१ ॥

'क्रोध और लोभके वशीभूत हुए दुष्ट दुर्योधनने रजस्वलावस्थामें एकवस्त्रधारिणी द्रौपदीको सभामें बुलवाया और उसे श्वशुरजनोंके समीप खड़ी कर दिया। उस समय सभी कौरवोंने उसे देखा था ॥ ५०-५१ ॥

तत्रैव धृतराष्ट्रश्च महाराजश्च बाह्लिकः।
कृपश्च सोमदत्तश्च निर्विण्णाः कुरवस्तथा ॥ ५२ ॥

'वहीं राजा धृतराष्ट्र, महाराज बाह्लीक, कृपाचार्य, सोमदत्त तथा अन्यान्य कौरव खेदमें भरे हुए बैठे थे ॥ ५२ ॥

तस्यां संसदि सर्वेषां क्षत्तारं पूजयाम्यहम्।
वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया ॥ ५३ ॥

'मैं तो उस कौरव-सभामें सबसे अधिक आदर विदुरजीको देती हूँ, (जिन्होंने द्रौपदीके प्रति किये जानेवाले अन्यायका प्रकटरूपमें विरोध किया था।) मनुष्य अपने सदाचारसे ही श्रेष्ठ होता है, धन और विद्यासे नहीं। ५३।

तस्य कृष्ण महाबुद्धेर्गम्भीरस्य महात्मनः।
क्षत्तुः शीलमलंकारो लोकान् विष्टभ्य तिष्ठति॥ ५४ ॥

'श्रीकृष्ण ! परम बुद्धिमान् गम्भीरस्वभाव महात्मा विदुरका शील ही आभूषण है, जो सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त (विख्यात) करके स्थित है' ॥ ५४ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा शोकार्ता च हृष्टा च दृष्ट्वा गोविन्दमागतम्।
नानाविधानि दुःखानि सर्वाण्येवान्वकीर्तयत् ॥ ५५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णको आया हुआ देख कुन्तीदेवी शोकातुर तथा आनन्दित हो अपने ऊपर आये हुए नाना प्रकारके सम्पूर्ण दुःखोंका पुनः वर्णन करने लगीं—॥ ५५ ॥

पूर्वैराचरितं यत् तत् कुराजभिररिंदम।
अक्षद्यूतं मृगवधः कच्चिदेषां सुखावहम् ॥ ५६ ॥

'शत्रुदमन श्रीकृष्ण ! पहलेके दुष्ट राजाओंने जो जूआ और शिकारकी परिपाटी चला दी है, वह क्या इन सबके लिये सुखावह सिद्ध हुई है ? (अपितु कदापि नहीं) ॥ ५६ ॥

तन्मां दहति यत् कृष्णा सभायां कुरुसंनिधौ।
धार्तराष्ट्रैः परिक्लिष्टा यथा न कुशलं तथा ॥ ५७ ॥

'सभामें कौरवोंके समीप धृतराष्ट्रके पुत्रोंने द्रौपदीको जो ऐसा कष्ट पहुँचाया है, जिससे किसीका मङ्गल नहीं हो सकता, वह अपमान मेरे हृदयको दग्ध करता रहता है ॥ ५७ ॥

निर्वासनं च नगरात् प्रव्रज्या च परंतप।
नानाविधानां दुःखानामभिज्ञास्मि जनार्दन ॥ ५८ ॥

'परंतप जनार्दन ! पाण्डवोंका नगरसे निकाला जाना तथा उनका वनमें रहनेके लिये बाध्य होना आदि नाना प्रकारके दुःखोंका मैं अनुभव कर चुकी हूँ ॥ ५८ ॥

अज्ञातचर्या बालानामवरोधश्च माधव।
न मे क्लेशतमं तत् स्यात् पुत्रैः सह परंतप ॥ ५९ ॥

'परंतप माधव ! मेरे बालकोंको अज्ञातभावसे रहना पड़ा है और अब राज्य न मिलनेसे उनकी जीविकाका भी अवरोध हो गया है। पुत्रोंके साथ मुझे इतना महान् क्लेश नहीं प्राप्त होना चाहिये ॥ ५९ ॥

दुर्योधनेन निकृता वर्षमद्य चतुर्दशम्।
दुःखादपि सुखं नः स्याद् यदि पुण्यफलक्षयः ॥ ६० ॥

'दुर्योधनने मेरे पुत्रोंको कपटद्यूतके द्वारा राज्यसे वञ्चित कर दिया। उन्हें इस दुरवस्थामें रहते आज चौदहवाँ वर्ष बीत रहा है। यदि सुख भोगनेका अर्थ है पुण्यके फलका क्षय होना, तब तो पापके फलस्वरूप दुःख भोग लेनेके कारण अब हमें भी दुःखके बाद सुख मिलना ही चाहिये ॥ ६० ॥

न मे विशेषो जात्वासीद् धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवैः।
तेन सत्येन कृष्ण त्वां हतामित्रं श्रिया वृतम्।
अस्माद् विमुक्तं संग्रामात् पश्येयं पाण्डवैः सह।६१।

नैव शक्याः पराजेतुं सर्वे ह्येषां तथाविधम् ।

'श्रीकृष्ण ! मेरे मनमें पाण्डवों तथा धृतराष्ट्रपुत्रोंके प्रति कभी भेदभाव नहीं था । इस सत्यके प्रभावसे निश्चय ही मैं देखूँगी कि तुम भावी संग्राममें शत्रुओंको मारकर पाण्डवों-सहित संकटसे मुक्त हो गये तथा राज्यलक्ष्मीने तुमलोगोंका ही वरण किया है । पाण्डवोंमें ऐसे सभी गुण मौजूद हैं, जिनके ही कारण शत्रु इन्हें परास्त नहीं कर सकते ॥ ६१½ ॥

पितरं त्वेव गर्हेयं नात्मानं न सुयोधनम् ॥ ६२ ॥
येनाहं कुन्तिभोजाय धनं वृत्तैरिवार्पिता ।

'मैं जो कष्ट भोग रही हूँ, इसके लिये न अपनेको दोष देती हूँ, न दुर्योधनको; अपितु पिताकी ही निन्दा करती हूँ, जिन्होंने मुझे राजा कुन्तिभोजके हाथमें उसी प्रकार दे दिया, जैसे विख्यात दानी पुरुष याचकको साधारण धन देते हैं ॥ ६२½ ॥

बालां मामार्यकस्तुभ्यं क्रीडन्तीं कन्दुहस्तिकाम् ।६३।
अदात् तु कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने ।

'मैं अभी बालिका थी, हाथमें गेंद लेकर खेलती फिरती थी; उसी अवस्थामें तुम्हारे पितामहने मित्रधर्मका पालन करते हुए अपने सखा महात्मा कुन्तिभोजके हाथमें मुझे दे दिया ॥ ६३½ ॥

साहं पित्रा च निकृता श्वशुरैश्च परंतप ।
अत्यन्तदुःखिता कृष्ण किं जीवितफलं मम ॥ ६४ ॥

'परंतप श्रीकृष्ण ! इस प्रकार मेरे पिता तथा श्वशुरोंने भी मेरे साथ वञ्चनापूर्ण बर्ताव किया है । इससे मैं अत्यन्त दुखी हूँ । मेरे जीवित रहनेसे क्या लाभ ? ॥ ६४ ॥

यन्मां वागब्रवीन्नक्तं सूतके सव्यसाचिनः ।
पुत्रस्ते पृथिवीं जेता यशश्चास्य दिवं स्पृशेत्॥ ६५ ॥
हत्वा कुरून् महाजन्ये राज्यं प्राप्य धनंजयः ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेयस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति ॥६६॥

'अर्जुनके जन्मकालमें जब मैं सूतिकागृहमें थी, उस रात्रिमें आकाशवाणीने मुझसे यह कहा था—'भद्रे ! तेरा यह पुत्र सारी पृथ्वीको जीत लेगा । इसका यश स्वर्गलोकतक फैल जायगा । यह महान् संग्राममें कौरवोंका संहार करके राज्यपर अधिकार कर लेगा, फिर अपने भाइयोंके साथ तीन अश्वमेधयज्ञोंका अनुष्ठान करेगा' ॥ ६५-६६ ॥

नाहं तामभ्यसूयामि नमो धर्माय वेधसे ।
कृष्णाय महते नित्यं धर्मो धारयति प्रजाः ॥ ६७ ॥

'मैं इस आकाशवाणीको दोष नहीं देती, अपितु महाविष्णुस्वरूप धर्मको ही नमस्कार करती हूँ । वही इस जगत्का स्रष्टा है । धर्म ही सदा समस्त प्रजाको धारण करता है ॥ ६७ ॥

धर्मश्चेदस्ति वार्ष्णेय यथा वागभ्यभाषत ।
त्वं चापि तत् तथा कृष्ण सर्वं सम्पादयिष्यसि॥ ६८॥

'वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! यदि धर्म है तो तुम भी वह सब काम पूरा कर लोगे, जिसे उस समय आकाशवाणीने बताया था ॥ ६८ ॥

न मां माधव वैधव्यं नार्थनाशो न वैरता ।
तथा शोकाय दहति यथा पुत्रैर्विनाभवः ॥ ६९ ॥

'माधव ! वैधव्य, धनका नाश तथा कुटुम्बीजनोंके साथ बढ़ा हुआ वैर-भाव इनसे मुझे उतना शोक नहीं होता, जितना कि पुत्रोंका विरह मुझे शोकदग्ध कर रहा है ॥ ६९ ॥

याहं गाण्डीवधन्वानं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
धनंजयं न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ ७० ॥

'समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ गाण्डीवधारी अर्जुनको जबतक मैं नहीं देख रही हूँ, तबतक मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ? ॥

इतश्चतुर्दशं वर्षं यन्नापश्यं युधिष्ठिरम् ।
धनंजयं च गोविन्द यमौ तं च वृकोदरम् ॥ ७१ ॥

'गोविन्द ! चौदहवाँ वर्ष है, जबसे कि मैं युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवको नहीं देख पा रही हूँ ॥ ७१ ॥

जीवनाशं प्रणष्टानां श्राद्धं कुर्वन्ति मानवाः ।
अर्थतस्ते मम मृतास्तेषां चाहं जनार्दन ॥ ७२ ॥

'जनार्दन ! जो लोग प्राणोंका नाश होनेसे अदृश्य होते हैं, उनके लिये मनुष्य श्राद्ध करते हैं । यदि मृत्युका अर्थ अदृश्य हो जाना ही है तो मेरे लिये पाण्डव मर गये हैं और मैं भी उनके लिये मर चुकी हूँ ॥ ७२ ॥

ब्रूया माधव राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
भूयांस्ते हीयते धर्मो मा पुत्रक वृथा कृथाः ॥ ७३ ॥

'माधव ! तुम धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरसे कहना—'बेटा ! तुम्हारे धर्मकी बड़ी हानि हो रही है । तुम उसे व्यर्थ नष्ट न करो' ॥ ७३ ॥

पराश्रया वासुदेव या जीवति धिगस्तु ताम् ।
वृत्तेः कार्पण्यलब्धाया अप्रतिष्ठैव ज्यायसी ॥ ७४ ॥

'वासुदेव ! जो स्त्री दूसरोंके आश्रित होकर जीवन-निर्वाह करती है, उसे धिक्कार है । दीनतासे प्राप्त हुई जीविकाकी अपेक्षा तो मर जाना ही उत्तम है ॥ ७४ ॥

अथो धनंजयं ब्रूया नित्योद्युक्तं वृकोदरम् ।
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ॥ ७५ ॥

'श्रीकृष्ण ! तुम अर्जुन तथा युद्धके लिये सदा उद्यत रहनेवाले भीमसेनसे कहना कि क्षत्राणी जिस प्रयोजनके लिये पुत्र उत्पन्न करती है, उसे पूरा करनेका यह समय आ गया है ॥ ७५ ॥

अस्मिंश्चेदागते काले मिथ्या चातिक्रमिष्यति।
लोकसम्भाविताः सन्तः सुनृशंसं करिष्यथ ॥ ७६ ॥
नृशंसेन च वो युक्तांस्त्यजेयं शाश्वतीः समाः।
काले हि समनुप्राप्ते त्यक्तव्यमपि जीवनम् ॥ ७७ ॥

'यदि ऐसा समय आनेपर भी तुम युद्ध नहीं करोगे तो यह व्यर्थ बीत जायगा। तुमलोग इस जगत्के सम्मानित पुरुष हो। यदि तुम कोई अत्यन्त घृणित कर्म कर डालोगे तो उस नृशंस कर्मसे युक्त होनेके कारण मैं तुम्हें सदाके लिये त्याग दूँगी। पुत्रो! तुम्हें तो समय आनेपर अपने प्राणोंको भी त्याग देनेके लिये उद्यत रहना चाहिये ॥७६-७७॥

माद्रीपुत्रौ च वक्तव्यौ क्षत्रधर्मरतौ सदा।
विक्रमेणार्जितान् भोगान् वृणीतं जीवितादपि॥ ७८ ॥

'गोविन्द! तुम सदा क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले माद्रीनन्दन नकुल-सहदेवसे भी कहना—'पुत्रो! तुम प्राणोंकी बाजी लगाकर भी पराक्रमसे प्राप्त किये हुए भोगोंको ही ग्रहण करना' ॥ ७८ ॥

विक्रमाधिगता ह्यर्थाः क्षत्रधर्मेण जीवतः।
मनो मनुष्यस्य सदा प्रीणन्ति पुरुषोत्तम ॥ ७९ ॥

'पुरुषोत्तम! क्षत्रियधर्मसे जीवननिर्वाह करनेवाले मनुष्यके मनको पराक्रमसे प्राप्त हुआ धन ही सदा संतुष्ट रखता है ॥ ७९ ॥

गत्वा ब्रूहि महाबाहो सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
अर्जुनं पाण्डवं वीरं द्रौपद्याः पदवीं चर ॥ ८० ॥

'महाबाहो! तुम पाण्डवोंके पास जाकर सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन वीर अर्जुनसे कहना कि तुम द्रौपदीके बताये हुए मार्गपर चलो ॥ ८० ॥

विदितौ हि तवात्यन्तं क्रुद्धौ तौ तु यथान्तकौ।
भीमार्जुनौ नयेतां हि देवानपि परां गतिम् ॥ ८१ ॥

'श्रीकृष्ण! तुम तो जानते ही हो; यदि भीमसेन और अर्जुन अत्यन्त कुपित हो जायँ तो वे यमराजके समान होकर देवताओंको भी मृत्युके मुखमें पहुँचा सकते हैं ॥ ८१ ॥

तयोश्चैतदवज्ञानं यत् सा कृष्णा सभां गता।
दुःशासनश्च कर्णश्च परुषाण्यभ्यभाषताम् ॥ ८२ ॥
दुर्योधनो भीमसेनमभ्यगच्छन्मनस्विनम्।
पश्यतां कुरुमुख्यानां तस्य द्रक्ष्यति यत् फलम्।८३।

'द्रौपदीको जो सभामें उपस्थित होना पड़ा तथा दुःशासन और कर्णने जो उसके प्रति कठोर बातें कहीं, यह सब भीमसेन और अर्जुनका ही अपमान है। दुर्योधनने प्रधान-प्रधान कौरवोंके सामने मनस्वी भीमसेनका अपमान किया है। इसका जो फल मिलेगा, उसे वह देखेगा॥

न हि वैरं समासाद्य प्रशाम्यति वृकोदरः।
सुचिरादपि भीमस्य न हि वैरं प्रशाम्यति।
यावदन्तं न नयति शात्रवाञ्छत्रुकर्शनः ॥ ८४ ॥

'भीमसेन वैर हो जानेपर कभी शान्त नहीं होता। भीमसेनका वैर तबतक दीर्घकालके बाद भी समाप्त नहीं होता है, जबतक वह शत्रुपक्षका संहार नहीं कर डालता ॥८४॥

न दुःखं राज्यहरणं न च द्यूते पराजयः।
प्रव्राजनं तु पुत्राणां न मे तद् दुःखकारणम् ॥ ८५ ॥
यत् तु सा बृहती श्यामा एकवस्त्रा सभां गता।
अशृणोत् परुषा वाचः किं नु दुःखतरं ततः ॥ ८६ ॥

'राज्य छिन गया, यह कोई दुःखका कारण नहीं है। जूएमें हार जाना भी दुःखका कारण नहीं है। मेरे पुत्रोंको वनमें भेज दिया गया, इससे भी मुझे दुःख नहीं हुआ है; परंतु मेरी श्रेष्ठ सुन्दरी वधूको एक वस्त्र धारण किये जो सभामें जाना पड़ा और दुष्टोंकी कठोर बातें सुननी पड़ीं, इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या हो सकती है? ॥

स्त्रीधर्मिणी वरारोहा क्षत्रधर्मरता सदा।
नाभ्यगच्छत् तदा नाथं कृष्णा नाथवती सती॥८७॥

'सदा क्षत्रियधर्ममें अनुराग रखनेवाली मेरी सर्वाङ्गसुन्दरी बहू कृष्णा उस समय रजस्वला थी। वह सनाथ होती हुई भी वहाँ किसीको अपना नाथ (रक्षक) न पा सकी ॥८७॥

यस्या मम सपुत्रायास्त्वं नाथो मधुसूदन।
रामश्च बलिनां श्रेष्ठः प्रद्युम्नश्च महारथः ॥ ८८ ॥
साहमेवंविधं दुःखं सहेऽद्य पुरुषोत्तम।
भीमे जीवति दुर्धर्षे विजये चापलायिनि ॥ ८९ ॥

'पुरुषोत्तम! मधुसूदन! पुत्रोंसहित जिस कुन्तीके बलवानोंमें श्रेष्ठ बलराम, महारथी प्रद्युम्न तथा तुम रक्षक हो; युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले विजयी अर्जुन और दुर्धर्ष भीमसेन-सरीखे जिसके पुत्र जीवित हैं, वही मैं ऐसे-ऐसे दुःख सह रही हूँ' ॥ ८८-८९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत आश्वासयामास पुत्राधिभिरभिप्लुताम्।
पितृष्वसारं शोचन्तीं शौरिः पार्थसखः पृथाम्॥९०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अर्जुनके मित्र भगवान् श्रीकृष्णने पुत्रोंकी चिन्ताओंमें डूबकर शोक करती हुई अपनी बुआ कुन्तीको इस प्रकार आश्वासन दिया ॥ ९० ॥

वासुदेव उवाच

का तु सीमन्तिनी त्वादृक् लोकेष्वस्ति पितृष्वसः।
शूरस्य राज्ञो दुहिता आजमीढकुलं गता ॥ ९१ ॥

भगवान् वासुदेव बोले—बुआ ! संसारमें तुम-जैसी सौभाग्यशालिनी नारी दूसरी कौन है ? तुम राजा शूरसेनकी पुत्री हो और महाराज अजमीढके कुलमें ब्याहकर आयी हो ॥ ९१ ॥

महाकुलीना भवती ह्रदाद्ध्रदमिवागता ।
ईश्वरी सर्वकल्याणी भर्त्रा परमपूजिता ॥ ९२ ॥

तुम एक उच्च कुलकी कन्या हो और दूसरे उच्च कुलमें ब्याही गयी हो; मानो कमलिनी एक सरोवरसे दूसरे सरोवरमें आयी हो । एक दिन तुम सर्वकल्याणी महारानी थीं; तुम्हारे पतिदेवने सदा तुम्हारा विशेष सम्मान किया है ॥ ९२ ॥

वीरसूर्वीरपत्नी त्वं सर्वैः समुदिता गुणैः ।
सुखदुःखे महाप्राज्ञे त्वादृशी सोढुमर्हति ॥ ९३ ॥

तुम वीरपत्नी, वीरजननी तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हो । महाप्राज्ञे ! तुम्हारी-जैसी विवेकशील स्त्रीको सुख और दुःख चुपचाप सहने चाहिये ॥ ९३ ॥

निद्रातन्द्रे क्रोधहर्षौ क्षुत्पिपासे हिमातपौ ।
एतानि पार्था निर्जित्य नित्यं वीरसुखे रताः ॥ ९४ ॥

तुम्हारे सभी पुत्र निद्रा, तन्द्रा (आलस्य), क्रोध, हर्ष, भूख-प्यास तथा सर्दी-गर्मी इन सबको जीतकर सदा वीरोचित सुखका उपभोग करते हैं ॥ ९४ ॥

त्यक्तग्राम्यसुखाः पार्था नित्यं वीरसुखप्रियाः ।
न तु स्वल्पेन तुष्येयुर्महोत्साहा महाबलाः ॥ ९५ ॥

तुम्हारे पुत्रोंने ग्राम्यसुखको त्याग दिया है, वीरोचित सुख ही उन्हें सदा प्रिय है । वे महान् उत्साही और महाबली हैं; अतः थोड़े-से ऐश्वर्यसे संतुष्ट नहीं हो सकते ॥

अन्तं धीरा निषेवन्ते मध्यं ग्राम्यसुखप्रियाः ।
उत्तमांश्च परिक्लेशान् भोगांश्चातीव मानुषान् ॥ ९६ ॥
अन्तेषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे ।
अन्तप्राप्तिं सुखं प्राहुर्दुःखमन्तरमेतयोः ॥ ९७ ॥

धीर पुरुष भोगोंकी अन्तिम स्थितिका सेवन करते हैं । ग्राम्य विषयभोगोंमें आसक्त पुरुष भोगोंकी मध्य स्थितिका ही सेवन करते हैं । वे धीर पुरुष कर्तव्यपालनके रूपमें प्राप्त बड़ेसे बड़े क्लेशोंको सहर्ष सहन करके अन्तमें मनुष्यातीत भोगोंमें रमण करते हैं । महापुरुषोंका कहना है कि अन्तिम (सुख-दुःखसे अतीत) स्थितिकी प्राप्ति ही वास्तविक सुख है तथा सुख-दुःखके बीचकी स्थिति ही दुःख है ॥ ९६-९७ ॥

अभिवादयन्ति भवतीं पाण्डवाः सह कृष्णया ।
आत्मानं च कुशलिनं निवेद्याहुरनामयम् ॥ ९८ ॥

बुआ ! द्रौपदीसहित पाण्डवोंने तुम्हें प्रणाम कहलाया है और अपनेको सकुशल बताकर अपनी स्वस्थता भी सूचित की है ॥ ९८ ॥

अरोगान् सर्वसिद्धार्थान् क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पाण्डवान् ।
ईश्वरान् सर्वलोकस्य हतामित्राञ्छ्रिया वृतान् ॥ ९९ ॥

तुम शीघ्र ही देखोगी; पाण्डव नीरोग अवस्थामें तुम्हारे सामने उपस्थित हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो गये हैं और वे अपने शत्रुओंका संहार करके साम्राज्य-लक्ष्मीसे संयुक्त हो सम्पूर्ण जगत्के शासकपदपर प्रतिष्ठित हैं ॥ ९९ ॥

एवमाश्वासिता कुन्ती प्रत्युवाच जनार्दनम् ।
पुत्राधिभिरभिध्वस्ता निगृह्याबुद्धिजं तमः ॥ १०० ॥

इस प्रकार आश्वासन पाकर पुत्रों आदिसे दूर पड़ी हुई कुन्तीदेवीने अज्ञानजनित मोहका निरोध करके भगवान् जनार्दनसे कहा ॥ १०० ॥

कुन्त्युवाच

यद् यत् तेषां महाबाहो पथ्यं स्यान्मधुसूदन ।
यथा यथा त्वं मन्येथाः कुर्याः कृष्ण तथा तथा ॥ १०१ ॥

कुन्ती बोली—महाबाहु मधुसूदन श्रीकृष्ण ! जो पाण्डवोंके लिये हितकर हो तथा जैसे-जैसे कार्य करना तुम्हें उचित जान पड़े, वैसे-वैसे करो ॥ १०१ ॥

अविलोपेन धर्मस्य अनिकृत्या परंतप ।
प्रभावज्ञास्मि ते कृष्ण सत्यस्याभिजनस्य च ॥ १०२ ॥

परंतप श्रीकृष्ण ! धर्मका लोप न करते हुए, छल और कपटसे दूर रहकर समयोचित कार्य करना चाहिये । मैं तुम्हारी सत्यपरायणता और कुल-मर्यादाका भी प्रभाव जानती हूँ ॥ १०२ ॥

व्यवस्थायां च मित्रेषु बुद्धिविक्रमयोस्तथा ।
त्वमेव नः कुले धर्मस्त्वं सत्यं त्वं तपो महत् ॥ १०३ ॥

त्वं त्राता त्वं महद् ब्रह्म त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
यथैवात्थ तथैवैतत् त्वयि सत्यं भविष्यति ॥ १०४ ॥

प्रत्येक कार्यकी व्यवस्थामें, मित्रोंके संग्रहमें तथा बुद्धि और पराक्रममें भी जो तुम्हारा अद्भुत प्रभाव है, उससे मैं परिचित हूँ । हमारे कुलमें तुम्हीं धर्म हो, तुम्हीं सत्य हो, तुम्हीं महान् तप हो, तुम्हीं रक्षक और तुम्हीं परब्रह्म परमात्मा हो । सब कुछ तुममें ही प्रतिष्ठित है । तुम जो कुछ कहते हो, वह सब तुम्हारे संनिधानमें सत्य होकर ही रहेगा ॥ १०३-१०४ ॥

(कुरूणां पाण्डवानां च लोकानां चापराजित ।
सर्वस्यैतस्य वार्ष्णेय गतिस्त्वमसि माधव ॥
प्रभावो बुद्धिवीर्यं च तादृशं तव केशव ।)

किसीसे पराजित न होनेवाले वृष्णिनन्दन माधव ! कौरवोंके, पाण्डवोंके तथा इस सम्पूर्ण जगत्के तुम्हीं आश्रय

हो। केशव! तुम्हारा प्रभाव तथा तुम्हारा बुद्धिबल भी तुम्हारे अनुरूप ही है ॥

वैशम्पायन उवाच

तामामन्त्र्य च गोविन्दः कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
प्रातिष्ठत महाबाहुर्दुर्योधनगृहान् प्रति ॥ १०५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महाबाहु गोविन्द कुन्तीदेवीकी परिक्रमा करके उनसे आज्ञा ले दुर्योधनके घरकी ओर चल दिये ॥ १०५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णकुन्तीसंवादे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्ण-कुन्ती-संवादविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १०६½ श्लोक हैं)

एकनवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधनके घर जाना एवं उसके निमन्त्रणको अस्वीकार करके विदुरजीके घरपर भोजन करना

वैशम्पायन उवाच

पृथामामन्त्र्य गोविन्दः कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
दुर्योधनगृहं शौरिरभ्यगच्छदरिंदमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शत्रुओंका दमन करनेवाले शूरनन्दन श्रीकृष्ण कुन्तीकी परिक्रमा करके एवं उनकी आज्ञा ले दुर्योधनके घर गये ॥ १ ॥

लक्ष्म्या परमया युक्तं पुरन्दरगृहोपमम्।
विचित्रैरासनैर्युक्तं प्रविवेश जनार्दनः ॥ २ ॥

वह घर इन्द्रभवनके समान उत्तम शोभासे सम्पन्न था। उसमें यथास्थान विचित्र आसन सजाकर रक्खे गये थे। श्रीकृष्णने उस गृहमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

तस्य कक्ष्या व्यतिक्रम्य तिस्रो द्वाःस्थैरवारितः।
ततोऽभ्रघनसंकाशं गिरिकूटमिवोच्छ्रितम् ॥ ३ ॥
श्रिया ज्वलन्तं प्रासादमारुरोह महायशाः।

द्वारपालोंने रोक-टोक नहीं की। उस राजभवनकी तीन ड्योढ़ियाँ पार करके महायशस्वी श्रीकृष्ण एक ऐसे प्रासादपर आरूढ़ हुए, जो आकाशमें छाये हुए शरद्-ऋतुके बादलोंके समान श्वेत, पर्वतशिखरके समान ऊँचा तथा अपनी अद्भुत प्रभासे प्रकाशमान था ॥ ३½ ॥

तत्र राजसहस्रैश्च कुरुभिश्चाभिसंवृतम् ॥ ४ ॥
धार्तराष्ट्रं महाबाहुं ददर्शासीनमासने।

वहाँ उन्होंने सिंहासनपर बैठे हुए धृतराष्ट्रपुत्र महाबाहु दुर्योधनको देखा, जो सहस्रों राजाओं तथा कौरवोंसे घिरा हुआ था ॥ ४½ ॥

दुःशासनं च कर्णं च शकुनिं चापि सौबलम् ॥ ५ ॥
दुर्योधनसमीपे तानासनस्थान् ददर्श सः।

दुर्योधनके पास ही दुःशासन, कर्ण तथा सुबलपुत्र शकुनि—ये भी आसनोंपर बैठे थे। श्रीकृष्णने उनको भी देखा ॥ ५½ ॥

अभ्यागच्छति दाशार्हे धार्तराष्ट्रो महायशाः ॥ ६ ॥
उदतिष्ठत् सहामात्यः पूजयन् मधुसूदनम्।

दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके आते ही महायशस्वी दुर्योधन मधुसूदनका सम्मान करते हुए मन्त्रियोंसहित उठकर खड़ा हो गया ॥ ६½ ॥

समेत्य धार्तराष्ट्रेण सहामात्येन केशवः ॥ ७ ॥
राजभिस्तत्र वार्ष्णेयः समागच्छद् यथावयः।

मन्त्रियोंसहित दुर्योधनसे मिलकर वृष्णिकुलभूषण केशव अवस्थाके अनुसार वहाँ सभी राजाओंसे यथायोग्य मिले ॥ ७½ ॥

तत्र जाम्बूनदमयं पर्यङ्कं सुपरिष्कृतम् ॥ ८ ॥
विविधास्तरणास्तीर्णमभ्युपाविशदच्युतः।

उस राजसभामें सुन्दर रत्नोंसे विभूषित एक सुवर्णमय पर्यङ्क रक्खा हुआ था, जिसपर भाँति-भाँतिके बिछौने बिछे हुए थे। भगवान् श्रीकृष्ण उसीपर विराजमान हुए ॥ ८½ ॥



तस्मिन् गां मधुपर्कं चाप्युदकं च जनार्दने ॥ ९ ॥
निवेदयामास तदा गृहान् राज्यं च कौरवः।

उस समय कुरुराजने जनार्दनकी सेवामें गौ, मधुपर्क, जल, गृह तथा राज्य सब कुछ निवेदन कर दिया ॥ ९½ ॥

तत्र गोविन्दमासीनं प्रसन्नादित्यवर्चसम् ॥ १० ॥
उपासांचक्रिरे सर्वे कुरवो राजभिः सह ।

उस पर्यङ्कपर बैठे हुए भगवान् गोविन्द निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी प्रतीत हो रहे थे। उस समय राजाओंसहित समस्त कौरव उनके पास आकर बैठ गये ॥ १०½ ॥

ततो दुर्योधनो राजा वार्ष्णेयं जयतां वरम् ॥ ११ ॥
न्यमन्त्रयद् भोजनेन नाभ्यनन्दच्च केशवः ।

तदनन्तर राजा दुर्योधनने विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णको भोजनके लिये निमन्त्रित किया; परंतु केशवने उस निमन्त्रण-को स्वीकार नहीं किया ॥ ११½ ॥

ततो दुर्योधनः कृष्णमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ १२ ॥
मृदुपूर्वं शठोदर्कं कर्णमाभाष्य कौरवः ।

तब कुरुराज दुर्योधनने कर्णसे सलाह लेकर कौरवसभामें श्रीकृष्णसे पूछा। पूछते समय उसकी वाणीमें पहले तो मृदुता थी, परंतु अन्तमें शठता प्रकट होने लगी थी ॥ १२½ ॥

कस्मादन्नानि पानानि वासांसि शयनानि च ॥ १३ ॥
त्वदर्थमुपनीतानि नाग्रहीस्त्वं जनार्दन ।

(दुर्योधन बोला—) जनार्दन ! आपके लिये अन्न, जल, वस्त्र और शय्या आदि जो वस्तुएँ प्रस्तुत की गयीं, उन्हें आपने ग्रहण क्यों नहीं किया ? ॥ १३½ ॥

उभयोश्चाददाः साह्यमुभयोश्च हिते रतः ॥ १४ ॥
सम्बन्धी दयितश्चासि धृतराष्ट्रस्य माधव ।
त्वं हि गोविन्द धर्मार्थौ वेत्थ तत्त्वेन सर्वशः ।
तत्र कारणमिच्छामि श्रोतुं चक्रगदाधर ॥ १५ ॥

आपने तो दोनों पक्षोंको ही सहायता दी है, आप उभय-पक्षके हित-साधनमें तत्पर हैं। माधव ! महाराज धृतराष्ट्रके आप प्रिय सम्बन्धी भी हैं। चक्र और गदा धारण करनेवाले गोविन्द ! आपको धर्म और अर्थका सम्पूर्णरूपसे यथार्थ ज्ञान भी है; फिर मेरा आतिथ्य ग्रहण न करनेका क्या कारण है; यह मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १४-१५ ॥

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तो गोविन्दः प्रत्युवाच महामनाः ।
उद्यन्मेघस्वनः काले प्रगृह्य विपुलं भुजम् ॥ १६ ॥
अलघूकृतमग्रस्तमनिरस्तमसंकुलम् ।
राजीवनेत्रो राजानं हेतुमद् वाक्यमुत्तमम् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पूछे जानेपर उस समय महामनस्वी कमलनयन श्रीकृष्णने अपनी विशाल भुजा ऊपर उठाकर राजा दुर्योधनको सजल जलधरके समान गम्भीर वाणीमें उत्तर देना आरम्भ किया। उनका वह वचन परम उत्तम, युक्तिसंगत, दैन्यरहित प्रत्येक अक्षरकी स्पष्टतासे सुशोभित तथा स्थानभ्रष्टता एवं संकीर्णता आदि दोषोंसे रहित था ॥ १६-१७ ॥

कृतार्था भुञ्जते दूताः पूजां गृह्णन्ति चैव ह ।
कृतार्थं मां सहामात्यं समर्चिष्यसि भारत ॥ १८ ॥

'भारत ! ऐसा नियम है कि दूत अपना प्रयोजन सिद्ध होनेपर ही भोजन और सम्मान स्वीकार करते हैं। तुम भी मेरा उद्देश्य सिद्ध हो जानेपर ही मेरा और मेरे मन्त्रियोंका सत्कार करना' ॥ १८ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच धार्तराष्ट्रो जनार्दनम् ।
न युक्तं भवतास्मासु प्रतिपत्तुमसाम्प्रतम् ॥ १९ ॥

यह सुनकर दुर्योधनने जनार्दनसे कहा—'आपको हम-लोगोंके साथ ऐसा अनुचित बर्ताव नहीं करना चाहिये ।१९।

कृतार्थं चाकृतार्थं च त्वां वयं मधुसूदन ।
यतामहे पूजयितुं दाशार्ह न च शक्नुमः ॥ २० ॥

'दशार्हनन्दन मधुसूदन ! आपका उद्देश्य सफल हो या न हो, हमलोग तो आपके सम्मानका प्रयत्न करते ही हैं; किंतु हमें सफलता नहीं मिल रही है ॥ २० ॥

न च तत् कारणं विद्मो यस्मिन् नो मधुसूदन ।
पूजां कृतां प्रीयमाणैर्नामंस्थाः पुरुषोत्तम ॥ २१ ॥

'मधुदैत्यका विनाश करनेवाले पुरुषोत्तम ! हमें ऐसा कोई कारण नहीं जान पड़ता, जिसके होनेसे आप हमारी प्रेमपूर्वक अर्पित की हुई पूजा ग्रहण न कर सकें ॥ २१ ॥

वैरं नो नास्ति भवता गोविन्द न च विग्रहः ।
स भवान् प्रसमीक्ष्यैतन्नेदृशं वक्तुमर्हति ॥ २२ ॥

'गोविन्द ! आपके साथ हमलोगोंका न तो कोई वैर है और न झगड़ा ही है। इन सब बातोंका विचार करके आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये' ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच धार्तराष्ट्रं जनार्दनः ।
अभिवीक्ष्य सहामात्यं दाशार्हः प्रहसन्निव ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह सुनकर दशार्हकुलभूषण जनार्दनने मन्त्रियोंसहित दुर्योधनकी ओर देखकर हँसते हुए-से उत्तर दिया ॥ २३ ॥

नाहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नार्थकारणात् ।
न हेतुवादाल्लोभाद् वा धर्मं जह्यां कथंचन ॥ २४ ॥

'राजन् ! मैं कामसे, क्रोधसे, द्वेषसे, स्वार्थवश, बहाने-बाजी अथवा लोभसे भी किसी प्रकार धर्मका त्याग नहीं कर सकता ॥ २४ ॥

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम् ॥ २५ ॥

'किसीके घरका अन्न या तो प्रेमके कारण भोजन किया जाता है या आपत्तिमें पड़नेपर। नरेश्वर! प्रेम तो तुम नहीं रखते और किसी आपत्तिमें हम नहीं पड़े हैं ॥ २५ ॥

अकस्माद् द्वेष्टि वै राजन् जन्मप्रभृति पाण्डवान्।
प्रियानुवर्तिनो भ्रातॄन् सर्वैः समुदितान् गुणैः ॥ २६ ॥

'राजन्! पाण्डव तुम्हारे भाई ही हैं, वे अपने प्रेमियोंका साथ देनेवाले और समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं, तथापि तुम जन्मसे ही उनके साथ अकारण ही द्वेष करते हो ॥ २६ ॥

अकस्माच्चैव पार्थानां द्वेषणं नोपपद्यते।
धर्मे स्थिताः पाण्डवेयाः कस्तान् किं वक्तुमर्हति ॥ २७ ॥

'बिना कारण ही कुन्तीपुत्रोंके साथ द्वेष रखना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है। पाण्डव सदा अपने धर्ममें स्थित रहते हैं, अतः उनके विरुद्ध कौन क्या कह सकता है?।२७।

यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ॥ २८ ॥

'जो पाण्डवोंसे द्वेष करता है, वह मुझसे भी द्वेष करता है और जो उनके अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है। तुम मुझे धर्मात्मा पाण्डवोंके साथ एकरूप हुआ ही समझो ॥२८॥

कामक्रोधानुवर्ती हि यो मोहाद् विरुरुत्सति।
गुणवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुः पुरुषाधमम् ॥ २९ ॥

'जो काम और क्रोधके वशीभूत होकर मोहवश किसी गुणवान् पुरुषके साथ विरोध करना चाहता है, उसे पुरुषोंमें अधम कहा गया है ॥ २९ ॥

यः कल्याणगुणाञ्ज्ञातीन् मोहाल्लोभाद् दिदृक्षते।
सोऽजितात्माजितक्रोधो न चिरं तिष्ठति श्रियम् ॥३०॥

'जो कल्याणमय गुणोंसे युक्त अपने कुटुम्बीजनोंको मोह[1] और लोभ[2]की दृष्टिसे देखना चाहता है, वह अपने मन और क्रोधको न जीतनेवाला पुरुष दीर्घकालतक राजलक्ष्मीका उपभोग नहीं कर सकता ॥ ३० ॥

अथ यो गुणसम्पन्नान् हृदयस्याप्रियानपि।
प्रियेण कुरुते वश्यांश्चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३१ ॥

'जो अपने मनको प्रिय न लगनेवाले गुणवान् व्यक्तियोंको भी अपने प्रिय व्यवहारद्वारा वशमें कर लेता है, वह दीर्घकालतक यशस्वी बना रहता है ॥ ३१ ॥

(द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषन्तं नैव भोजयेत्।
पाण्डवान् द्विषसे राजन् मम प्राणा हि पाण्डवाः ॥)

'जो द्वेष रखता हो, उसका अन्न नहीं खाना चाहिये। द्वेष रखनेवालेको खिलाना भी नहीं चाहिये। राजन्! तुम पाण्डवोंसे द्वेष रखते हो और पाण्डव मेरे प्राण हैं ॥

सर्वमेतन्न भोक्तव्यमन्नं दुष्टाभिसंहितम्।
क्षत्तुरेकस्य भोक्तव्यमिति मे धीयते मतिः ॥ ३२ ॥

'तुम्हारा यह सारा अन्न दुर्भावनासे दूषित है। अतः मेरे भोजन करने योग्य नहीं है। मेरे लिये तो यहाँ केवल विदुरका ही अन्न खाने योग्य है। यह मेरी निश्चित धारणा है' ॥ ३२ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्दुर्योधनममर्षणम्।
निश्चक्राम ततः शुभ्राद् धार्तराष्ट्रनिवेशनात् ॥ ३३ ॥

अमर्षशील दुर्योधनसे ऐसा कहकर महाबाहु श्रीकृष्ण उसके भव्य भवनसे बाहर निकले ॥ ३३ ॥

निर्याय च महाबाहुर्वासुदेवो महामनाः।
निवेशाय ययौ वेश्म विदुरस्य महात्मनः ॥ ३४ ॥

वहाँसे निकलकर महामना महाबाहु भगवान् वासुदेव ठहरनेके लिये महात्मा विदुरके भवनमें गये ॥ ३४ ॥

तमभ्यगच्छद् द्रोणश्च कृपो भीष्मोऽथ बाह्लिकः।
कुरवश्च महाबाहुं विदुरस्य गृहे स्थितम् ॥ ३५ ॥
त ऊचुर्माधवं वीरं कुरवो मधुसूदनम्।
निवेदयामो वार्ष्णेय सरत्नांस्ते गृहान् वयम् ॥ ३६ ॥

उस समय द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्म, बाह्लीक तथा अन्य कौरवोंने भी महाबाहु श्रीकृष्णका अनुसरण किया। विदुरके घरमें ठहरे हुए यदुवंशी वीर मधुसूदनसे वे सब कौरव बोले—'वृष्णिनन्दन! हमलोग रत्न-धनसे सम्पन्न अपने घरोंको आपकी सेवामें समर्पित करते हैं' ॥ ३५-३६ ॥

तानुवाच महातेजाः कौरवान् मधुसूदनः।
सर्वे भवन्तो गच्छन्तु सर्वा मेऽपचितिः कृता ॥ ३७ ॥

तब महातेजस्वी मधुसूदनने कौरवोंसे कहा—'आप सब लोग अपने घरोंको जायँ; आपके द्वारा मेरा सारा सम्मान सम्पन्न हो गया' ॥ ३७ ॥

यातेषु कुरुषु क्षत्ता दाशार्हमपराजितम्।
अभ्यर्चयामास तदा सर्वकामैः प्रयत्नवान् ॥ ३८ ॥

कौरवोंके चले जानेपर विदुरजीने कभी पराजित न होनेवाले दशार्हनन्दन श्रीकृष्णको समस्त मनोवाञ्छित वस्तुएँ समर्पित करके प्रयत्नपूर्वक उनका पूजन किया ॥ ३८ ॥

---

१. जो दुष्ट नहीं है, उसे भी दुष्ट समझना मोह है।

२. दूसरेके धनको हर लेनेकी इच्छाका नाम लोभ है।



ततः क्षत्तान्नपानानि शुचीनि गुणवन्ति च ।
उपाहरदनेकानि केशवाय महात्मने ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उन्होंने अनेक प्रकारके पवित्र एवं गुणकारक अन्न-पान महात्मा केशवको अर्पित किये ॥ ३९ ॥

तैस्तर्पयित्वा प्रथमं ब्राह्मणान् मधुसूदनः ।
वेदविद्भ्यो ददौ कृष्णः परमद्रविणान्यपि ॥ ४० ॥

मधुसूदनने उस अन्न-पानसे पहले ब्राह्मणोंको तृप्त किया, फिर उन्होंने उन वेदवेत्ताओंको श्रेष्ठ धन भी दिया ॥ ४० ॥

ततोऽनुयायिभिः सार्धं मरुद्भिरिव वासवः ।
विदुरान्नानि बुभुजे शुचीनि गुणवन्ति च ॥ ४१ ॥

तदनन्तर देवताओंसहित इन्द्रकी भाँति अनुचरोंसहित भगवान् श्रीकृष्णने विदुरजीके पवित्र एवं गुणकारक अन्न-पान ग्रहण किये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णदुर्योधनसंवादे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्ण-दुर्योधनसंवादविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥९१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं)

द्विनवतितमोऽध्यायः

विदुरजीका धृतराष्ट्रपुत्रोंकी दुर्भावना बताकर श्रीकृष्णको उनके कौरवसभामें जानेका अनौचित्य बतलाना

वैशम्पायन उवाच

तं भुक्तवन्तमाश्वस्तं निशायां विदुरोऽब्रवीत् ।
नेदं सम्यग् व्यवसितं केशवागमनं तव ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रातमें जब भगवान् श्रीकृष्ण भोजन करके विश्राम कर रहे थे, उस समय विदुरजीने उनसे कहा—'केशव ! आपने जो यहाँ आनेका विचार किया, यह मेरी समझमें अच्छा नहीं हुआ ॥ १ ॥

अर्थधर्मातिगो मन्दः संरम्भी च जनार्दन ।
मानघ्नो मानकामश्च वृद्धानां शासनातिगः ॥ २ ॥

'जनार्दन ! मन्दमति दुर्योधन धर्म और अर्थ दोनोंका उल्लङ्घन कर चुका है । वह क्रोधी, दूसरोंके सम्मानको नष्ट करनेवाला और स्वयं सम्मान चाहनेवाला है । उसने बड़े-बूढ़े गुरुजनोंके आदेशको भी ठुकरा दिया है ॥ २ ॥

धर्मशास्त्रातिगो मूढो दुरात्मा प्रग्रहं गतः ।
अनेयः श्रेयसां मन्दो धार्तराष्ट्रो जनार्दन ॥ ३ ॥

'प्रभो ! मूढ़ धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन धर्मशास्त्रोंकी भी आज्ञा नहीं मानता; सदा अपना ही हठ रखता है । उस दुरात्माको सन्मार्गपर ले आना असम्भव है ॥ ३ ॥

कामात्मा प्राज्ञमानी च मित्रध्रुक् सर्वशङ्कितः ।
अकर्ता चाकृतज्ञश्च त्यक्तधर्मा प्रियानृतः ॥ ४ ॥

'उसका मन भोगोंमें आसक्त है, वह अपनेको पण्डित मानता, मित्रोंके साथ द्रोह करता और सबको संदेहकी दृष्टिसे देखता है । वह स्वयं तो किसीका उपकार करता ही नहीं, दूसरोंके किये हुए उपकारको भी नहीं मानता । वह धर्मको त्यागकर असत्यसे ही प्रेम करने लगा है ॥ ४ ॥

मूढश्चाकृतबुद्धिश्च इन्द्रियाणामनीश्वरः ।
कामानुसारी कृत्येषु सर्वेष्वकृतनिश्चयः ॥ ५ ॥

'उसमें विवेकका सर्वथा अभाव है, उसकी बुद्धि किसी एक निश्चयपर नहीं रहती तथा वह अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखनेमें असमर्थ है । वह अपनी इच्छाओंका अनुसरण करनेवाला तथा सभी कार्योंमें अनिश्चित विचार रखनेवाला है ॥५॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्दोषैरेव समन्वितः ।
त्वयोच्यमानः श्रेयोऽपि संरम्भान्न ग्रहीष्यति ॥ ६ ॥

'ये तथा और भी बहुत-से दोष उसमें भरे हुए हैं। आप उसे हितकी बात बतायेंगे, तो भी वह क्रोधवश उसे स्वीकार नहीं करेगा ॥ ६ ॥

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे जयद्रथे।
भूयसीं वर्तते वृत्तिं न शमे कुरुते मनः ॥ ७ ॥

'वह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा तथा जयद्रथपर अधिक भरोसा रखता है; अतः उसके मनमें संधि करनेका विचार ही नहीं होता है ॥ ७ ॥

निश्चितं धार्तराष्ट्राणां सकर्णानां जनार्दन।
भीष्मद्रोणमुखान् पार्था न शक्ताः प्रतिवीक्षितुम् ॥ ८ ॥

'जनार्दन ! धृतराष्ट्रके सभी पुत्रों तथा कर्णकी यह निश्चित धारणा है कि कुन्तीके पुत्र भीष्म एवं द्रोणाचार्य आदि वीरोंकी ओर देखनेमें भी समर्थ नहीं हैं ॥ ८ ॥

सेनासमुदयं कृत्वा पार्थिवं मधुसूदन।
कृतार्थं मन्यते बाल आत्मानमविचक्षणः ॥ ९ ॥

'मधुसूदन ! मूर्ख एवं बुद्धिहीन दुर्योधन राजाओंकी सेना एकत्र करके अपने-आपको कृतकृत्य मानता है ॥ ९ ॥

एकः कर्णः पराञ्जेतुं समर्थ इति निश्चितम्।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः स शमं नोपयास्यति ॥ १० ॥

'दुर्बुद्धि दुर्योधनको तो इस बातका भी दृढ़ विश्वास है कि अकेला कर्ण ही शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ है; इसलिये वह कदापि संधि नहीं करेगा ॥ १० ॥

संविच्च धार्तराष्ट्राणां सर्वेषामेव केशव।
शमे प्रयतमानस्य तव सौभ्रात्रकाङ्क्षिणः ॥ ११ ॥
न पाण्डवानामस्माभिः प्रतिदेयं यथोचितम्।
इति व्यवसितास्तेषु वचनं स्यान्निरर्थकम् ॥ १२ ॥

'केशव ! धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंने यह पक्का विचार कर लिया है कि हमें पाण्डवोंको उनका यथोचित राज्यभाग नहीं देना चाहिये। यही उनका दृढ़ निश्चय है। इधर आप संधिके लिये प्रयत्न करते हुए उनमें उत्तम भ्रातृभाव जगाना चाहते हैं; परंतु उन दुष्टोंके प्रति आप जो कुछ भी कहेंगे, वह सब व्यर्थ ही होगा ॥ ११-१२ ॥

यत्र सूक्तं दुरुक्तं च समं स्यान्मधुसूदन।
न तत्र प्रलपेत् प्राज्ञो बधिरेष्विव गायनः ॥ १३ ॥

'मधुसूदन ! जहाँ अच्छी और बुरी बातोंका एक-सा ही परिणाम हो, वहाँ विद्वान् पुरुषको कुछ नहीं कहना चाहिये। वहाँ कोई बात कहना बहरोंके आगे राग अलापनेके समान व्यर्थ ही है ॥ १३ ॥

अविजानत्सु मूढेषु निर्मर्यादेषु माधव।
न त्वं वाक्यं ब्रुवन् युक्तश्चाण्डालेषु द्विजो यथा ॥ १४ ॥

'माधव ! जैसे चाण्डालोंके बीचमें किसी विद्वान् ब्राह्मणका उपदेश देना उचित नहीं है, उसी प्रकार उन मर्यादारहित मूर्ख और अज्ञानियोंके समीप आपका कुछ भी कहना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥ १४ ॥

सोऽयं बलस्थो मूढश्च न करिष्यति ते वचः।
तस्मिन् निरर्थकं वाक्यमुक्तं सम्पत्स्यते तव ॥ १५ ॥

'मूढ़ दुर्योधन सैन्यसंग्रह करके अपनेको शक्तिशाली समझता है। वह आपकी बात नहीं मानेगा। उसके प्रति कहा हुआ आपका प्रत्येक वाक्य निरर्थक होगा ॥ १५ ॥

तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां पापचेतसाम्।
तव मध्यावतरणं मम कृष्ण न रोचते ॥ १६ ॥
दुर्बुद्धीनामशिष्टानां बहूनां दुष्टचेतसाम्।
प्रतीपं वचनं मध्ये तव कृष्ण न रोचते ॥ १७ ॥

'श्रीकृष्ण ! वे सभी पापपूर्ण विचार लेकर बैठे हुए हैं; अतः उनके बीचमें आपका जाना मुझे अच्छा नहीं लगता है। वे सबके सब दुर्बुद्धि, अशिष्ट और दुष्टचित्त हैं। उनकी संख्या भी बहुत है। श्रीकृष्ण ! आप उनके बीचमें जाकर कोई प्रतिकूल बात कहें, यह मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥

अनुपासितवृद्धत्वाच्छ्रियो दर्पाच्च मोहितः।
वयोदर्पादमर्षाच्च न ते श्रेयो ग्रहीष्यति ॥ १८ ॥

'दुर्योधनने कभी वृद्ध पुरुषोंका सेवन नहीं किया है। वह राजलक्ष्मीके घमण्डसे मोहित है। इसके सिवा उसे अपनी युवावस्थापर भी गर्व है और वह पाण्डवोंके प्रति सदा अमर्षमें भरा रहता है। अतः आपकी हितकर बात भी वह नहीं मानेगा ॥ १८ ॥

बलं बलवदप्यस्य यदि वक्ष्यसि माधव।
त्वय्यस्य महती शङ्का न करिष्यति ते वचः ॥ १९ ॥

'माधव ! दुर्योधनके पास प्रबल सैन्यबल है। इसके सिवा आपपर उसे महान् संदेह है। अतः आप यदि उससे अच्छी बात कहेंगे, तो भी वह आपकी बात नहीं मानेगा ॥ १९ ॥

नेदमद्य युधा शक्यमिन्द्रेणापि सहामरैः।
इति व्यवसिताः सर्वे धार्तराष्ट्रा जनार्दन ॥ २० ॥

'जनार्दन ! धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको यह दृढ़ विश्वास है कि देवताओंसहित इन्द्र भी इस समय युद्धके द्वारा हमारी इस सेनाको परास्त नहीं कर सकते ॥ २० ॥

तेष्वेवमुपपन्नेषु कामक्रोधानुवर्तिषु।
समर्थमपि ते वाक्यमसमर्थं भविष्यति ॥ २१ ॥

'जो इस प्रकार निश्चय किये बैठे हैं और काम-क्रोधके ही पीछे चलनेवाले हैं, उनके प्रति आपका युक्तियुक्त एवं सार्थक वचन भी निरर्थक एवं असफल हो जायगा ॥ २१ ॥

मध्ये तिष्ठन् हस्त्यनीकस्य मन्दो
रथाश्वयुक्तस्य बलस्य मूढः।
दुर्योधनो मन्यते वीतभीतिः
कृत्स्ना मयेयं पृथिवी जितेति ॥ २२ ॥

'रथियों और घुड़सवारोंसे युक्त हाथियोंकी सेनाके बीचमें खड़ा होकर भयसे रहित हुआ मन्दबुद्धि मूढ़ दुर्योधन यह समझता है कि यह सारी पृथ्वी मैंने जीत ली ॥ २२ ॥

आशंसते वै धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
महाराज्यमसपत्नं पृथिव्याम् ।
तस्मिञ्छमः केवलो नोपलभ्यो
बद्धं सन्तं मन्यते लब्धमर्थम् ॥ २३ ॥

'धृतराष्ट्रका वह ज्येष्ठ पुत्र भूमण्डलका शत्रुरहित साम्राज्य पानेकी आशा रखता है। वह मन-ही-मन यह संकल्प भी करता है कि जूएमें प्राप्त हुआ यह धन एवं राज्य अब मेरे ही अधिकारमें आबद्ध रहे; अतः उसके प्रति केवल संधिका प्रयत्न सफल न होगा ॥ २३ ॥

पर्यस्तेयं पृथिवी कालपक्वा
दुर्योधनार्थे पाण्डवान् योद्धुकामाः ।
समागताः सर्वयोधाः पृथिव्यां
राजानश्च क्षितिपालैः समेताः ॥ २४ ॥

'जान पड़ता है, अब यह पृथ्वी कालसे परिपक्व होकर नष्ट होनेवाली है; क्योंकि राजाओंके साथ भूमण्डलके समस्त क्षत्रिय योद्धा दुर्योधनके लिये पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे यहाँ एकत्र हुए हैं ॥ २४ ॥

सर्वे चैते कृतवैराः पुरस्तात्
त्वया राजानो हृतसाराश्च कृष्ण ।
तवोद्वेगात् संश्रिता धार्तराष्ट्रान्
सुसंहताः सह कर्णेन वीराः ॥ २५ ॥

'श्रीकृष्ण ! ये सबके सब वे ही भूपाल हैं, जिन्होंने पहले आपके साथ वैर ठाना था और जिनका सार-सर्वस्व आपने हर लिया था। ये लोग आपके भयसे धृतराष्ट्रपुत्रोंकी शरणमें आये हैं तथा कर्णके साथ संगठित हो वीरता दिखानेको उद्यत हुए हैं ॥ २५ ॥

त्यक्तात्मानः सह दुर्योधनेन
हृष्टा योद्धुं पाण्डवान् सर्वयोधाः ।
तेषां मध्ये प्रविशेथा यदि त्वं
न तन्मतं मम दाशार्ह वीर ॥ २६ ॥

'ये सब योद्धा दुर्योधनके साथ मिल गये हैं और अपने प्राणोंका मोह छोड़कर हर्ष एवं उत्साहके साथ पाण्डवोंसे युद्ध करनेको तैयार हैं। दशार्हवंशी वीर ! ऐसे विरोधियोंके बीचमें यदि आप जानेको उद्यत हैं तो यह मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥

तेषां समुपविष्टानां बहूनां दुष्टचेतसाम् ।
कथं मध्यं प्रपद्येथाः शत्रूणां शत्रुकर्शन ॥ २७ ॥
सर्वथा त्वं महाबाहो देवैरपि दुरुत्सहः ।
प्रभावं पौरुषं बुद्धिं जानामि तव शत्रुहन् ॥ २८ ॥
या मे प्रीतिः पाण्डवेषु भूयः सा त्वयि माधव ।
प्रेम्णा च बहुमानाच्च सौहृदाच्च ब्रवीम्यहम् ॥ २९ ॥

'शत्रुसूदन ! जहाँ दुष्टतापूर्ण विचार लिये बहुसंख्यक शत्रु बैठे हों, वहाँ उनके बीच आप कैसे जाना चाहते हैं ? शत्रुहन्ता महाबाहु श्रीकृष्ण ! यद्यपि सम्पूर्ण देवता भी सर्वथा आपके सामने टिक नहीं सकते हैं तथा आपका जो प्रभाव, पुरुषार्थ और बुद्धिबल है, उसे भी मैं जानता हूँ; तथापि माधव ! पाण्डवोंपर जो मेरा प्रेम है, वही और उससे भी बढ़कर आपके प्रति है। अतः प्रेम, अधिक आदर और सौहार्दसे प्रेरित होकर मैं यह बात कह रहा हूँ ॥ २७–२९ ॥

या मे प्रीतिः पुष्कराक्ष त्वद्दर्शनसमुद्भवा ।
सा किमाख्यायते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ॥३०॥

'कमलनयन ! आपके दर्शनसे आपके प्रति मेरा जो प्रेम उमड़ आया है, उसका आपसे क्या वर्णन किया जाय ? आप समस्त देहधारियोंके अन्तर्यामी आत्मा हैं (अतः स्वयं ही सब कुछ देखते और जानते हैं)' ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णविदुरसंवादे द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्ण-विदुरसंवादविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कौरव-पाण्डवोंमें संधिस्थापनके प्रयत्नका औचित्य बताना

(वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य वचः श्रुत्वा प्रश्रितं पुरुषोत्तमः ।
इदं होवाच वचनं भगवान् मधुसूदनः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरका यह प्रेम और विनयसे युक्त वचन सुनकर पुरुषोत्तम भगवान् मधुसूदनने यह बात कही ॥

श्रीभगवानुवाच

यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञो यथा ब्रूयाद् विचक्षणः ।
यथा वाच्यस्त्वद्विधेन भवता मद्विधः सुहृत् ॥ १ ॥
धर्मार्थयुक्तं तथ्यं च यथा त्वय्युपपद्यते ।
तथा वचनमुक्तोऽस्मि त्वयैतत् पितृमातृवत् ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—विदुरजी ! एक महान् बुद्धिमान्

पुरुष जैसी बात कह सकता है, विद्वान् मनुष्य जैसी सलाह दे सकता है, आप-जैसे हितैषी पुरुषके लिये मेरे-जैसे सुहृदसे जैसी बात कहनी उचित है और आपके मुखसे जैसा धर्म और अर्थसे युक्त सत्य वचन निकलना चाहिये, आपने माता-पिताके समान स्नेहपूर्वक वैसी ही बात मुझसे कही है ॥१-२॥

सत्यं प्राप्तं च युक्तं चाप्येवमेव यथाऽऽत्थ माम्।
शृणुष्वागमने हेतुं विदुरावहितो भव ॥ ३ ॥

आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वही सत्य, समयोचित और युक्तिसंगत है। तथापि विदुरजी! यहाँ मेरे आनेका जो कारण है, उसे सावधान होकर सुनिये ॥ ३ ॥

दौरात्म्यं धार्तराष्ट्रस्य क्षत्रियाणां च वैरताम्।
सर्वमेतदहं जानन् क्षत्तः प्राप्तोऽद्य कौरवान् ॥ ४ ॥

विदुरजी! मैं धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनकी दुष्टता और क्षत्रिय योद्धाओंके वैरभाव—इन सब बातोंको जानकर ही आज कौरवोंके पास आया हूँ ॥ ४ ॥

पर्यस्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम्।
यो मोचयेन्मृत्युपाशात् प्राप्नुयाद् धर्ममुत्तमम् ॥५॥

अश्व, रथ और हाथियोंसहित यह सारी पृथ्वी विनष्ट होना चाहती है। जो इसे मृत्युपाशसे छुड़ानेका प्रयत्न करेगा, उसे ही उत्तम धर्म प्राप्त होगा ॥ ५ ॥

धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः।
प्राप्तो भवति तत् पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः ॥ ६ ॥

मनुष्य यदि अपनी शक्तिभर किसी धर्मकार्यको करनेका प्रयत्न करते हुए भी उसमें सफलता न प्राप्त कर सके, तो भी उसे उसका पुण्य तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। इस विषयमें मुझे संदेह नहीं है ॥ ६ ॥

मनसा चिन्तयन् पापं कर्मणा नातिरोचयन्।
न प्राप्नोति फलं तस्येत्येवं धर्मविदो विदुः ॥ ७ ॥

इसी प्रकार यदि मनुष्य मनसे पापका चिन्तन करते हुए भी उसमें रुचि न होनेके कारण उसे क्रियाद्वारा सम्पादित न करे, तो उसे उस पापका फल नहीं मिलता है। ऐसा धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं ॥ ७ ॥

सोऽहं यतिष्ये प्रशमं क्षत्तः कर्तुममायया।
कुरूणां सृञ्जयानां च संग्रामे विनशिष्यताम्॥ ८ ॥

अतः विदुरजी! मैं युद्धमें मर मिटनेको उद्यत हुए कौरवों तथा सृञ्जयोंमें संधि करानेका निश्छलभावसे प्रयत्न करूँगा ॥ ८ ॥

सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता।
कर्णदुर्योधनकृता सर्वे ह्येते तदन्वयाः ॥ ९ ॥

यह अत्यन्त भयंकर आपत्ति कर्ण और दुर्योधनद्वारा ही उपस्थित की गयी है; क्योंकि ये सभी नरेश इन्हीं दोनोंका अनुसरण करते हैं। अतः इस विपत्तिका प्रादुर्भाव कौरव-पक्षमें ही हुआ है ॥ ९ ॥

व्यसने क्लिश्यमानं हि यो मित्रं नाभिपद्यते।
अनुनीय यथाशक्ति तं नृशंसं विदुर्बुधाः ॥ १० ॥

जो किसी व्यसन या विपत्तिमें पड़कर क्लेश उठाते हुए मित्रको यथाशक्ति समझा-बुझाकर उसका उद्धार नहीं करता है, उसे विद्वान् पुरुष निर्दय एवं क्रूर मानते हैं ॥ १० ॥

आकेशग्रहणान्मित्रमकार्यात् संनिवर्तयन्।
अवाच्यः कस्यचिद् भवति कृतयत्नो यथाबलम्॥११॥

जो अपने मित्रको उसकी चोटी पकड़कर भी बुरे कार्यसे हटानेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता है, वह किसीकी निन्दाका पात्र नहीं होता है ॥ ११ ॥

तत् समर्थं शुभं वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्।
धार्तराष्ट्रः सहामात्यो ग्रहीतुं विदुरार्हति ॥ १२ ॥

अतः विदुरजी! दुर्योधन और उसके मन्त्रियोंको मेरी शुभ, हितकर, युक्तियुक्त तथा धर्म और अर्थके अनुकूल बात अवश्य माननी चाहिये ॥ १२ ॥

हितं हि धार्तराष्ट्राणां पाण्डवानां तथैव च।
पृथिव्यां क्षत्रियाणां च यतिष्येऽहममायया ॥ १३ ॥

मैं तो निष्कपटभावसे धृतराष्ट्रके पुत्रों, पाण्डवों तथा भूमण्डलके सभी क्षत्रियोंके हितका ही प्रयत्न करूँगा ॥ १३ ॥

हिते प्रयतमानं मां शङ्केद् दुर्योधनो यदि।
हृदयस्य च मे प्रीतिरानृण्यं च भविष्यति ॥ १४ ॥

इस प्रकार हितसाधनके लिये प्रयत्न करनेपर भी यदि दुर्योधन मुझपर शङ्का करेगा तो भी मेरे मनको तो प्रसन्नता ही होगी और मैं अपने कर्तव्यके भारसे उऋण हो जाऊँगा॥

ज्ञातीनां हि मिथो भेदे यन्मित्रं नाभिपद्यते।
सर्वयत्नेन माध्यस्थ्यं न तन्मित्रं विदुर्बुधाः ॥ १५ ॥

भाई-बन्धुओंमें परस्पर फूट होनेका अवसर आनेपर जो मित्र सर्वथा प्रयत्न करके उनमें मेल करानेके लिये मध्यस्थता नहीं करता, उसे विद्वान् पुरुष मित्र नहीं मानते हैं ॥ १५ ॥

न मां ब्रूयुरधर्मिष्ठा मूढा ह्यसुहृदस्तथा।
शक्तो नावारयत् कृष्णः संरब्धान् कुरुपाण्डवान् ॥

संसारके पापी, मूढ़ और शत्रुभाव रखनेवाले लोग मेरे विषयमें यह न कहें कि श्रीकृष्णने समर्थ होते हुए भी क्रोधसे भरे हुए कौरव-पाण्डवोंको युद्धसे नहीं रोका (इसलिये भी मैं संधि करानेका प्रयत्न करूँगा) ॥ १६ ॥

उभयोः साधयन्नर्थमहमागत इत्युत।
तत्र यत्नमहं कृत्वा गच्छेयं नृष्ववाच्यताम् ॥ १७ ॥

मैं दोनों पक्षोंका स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ। इसके लिये पूरा प्रयत्न कर लेनेपर मैं लोगोंमें निन्दाका पात्र नहीं बनूँगा ॥ १७ ॥

मम धर्मार्थयुक्तं हि श्रुत्वा वाक्यमनामयम्।
न चेदादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति ॥ १८ ॥

यदि मूर्ख दुर्योधन मेरे कष्टनिवारक एवं धर्म तथा अर्थके अनुकूल वचनोंको सुनकर भी उन्हें ग्रहण नहीं करेगा तो उसे दुर्भाग्यके अधीन होना पड़ेगा ॥ १८ ॥

अहापयन् पाण्डवार्थं यथाव-
च्छमं कुरूणां यदि चाचरेयम्।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महात्मन्
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥ १९ ॥

महात्मन्! यदि मैं पाण्डवोंके स्वार्थमें बाधा न आने देकर कौरवों तथा पाण्डवोंमें यथायोग्य संधि करा सकूँगा तो मेरे द्वारा यह महान् पुण्यकर्म बन जायगा और कौरव भी मृत्युके पाशसे मुक्त हो जायँगे ॥ १९ ॥

अपि वाचं भाषमाणस्य काव्यां
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्राम्।
अवेक्षेरन् धार्तराष्ट्राः शमार्थं
मां च प्राप्तं कुरवः पूजयेयुः ॥ २० ॥

मैं शान्तिके लिये विद्वानोंद्वारा अनुमोदित धर्म और अर्थके अनुकूल हिंसारहित बात कहूँगा। यदि धृतराष्ट्रके पुत्र मेरी बातपर ध्यान देंगे तो उसे अवश्य मानेंगे तथा कौरव भी मुझे वास्तवमें शान्तिस्थापनके लिये ही आया हुआ जान मेरा आदर करेंगे ॥ २० ॥

न चापि मम पर्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः।
क्रुद्धस्य प्रमुखे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ २१ ॥

जैसे क्रोधमें भरे हुए सिंहके सामने दूसरे पशु नहीं ठहर सकते, उसी प्रकार यदि मैं कुपित हो जाऊँ तो ये समस्त राजालोग एक साथ मिलकर भी मेरा सामना करनेमें समर्थ न होंगे ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं वृष्णीनामृषभस्तदा।
शयने सुखसंस्पर्शे शिश्ये यदुसुखावहः ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यदुकुलको सुख देनेवाले वृष्णिवंशविभूषण श्रीकृष्ण विदुरजीसे उपर्युक्त बात कहकर स्पर्शमात्रसे सुख देनेवाली शय्यापर सो गये ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं)।

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

दुर्योधन एवं शकुनिके द्वारा बुलाये जानेपर भगवान् श्रीकृष्णका रथपर बैठकर प्रस्थान एवं कौरवसभामें प्रवेश और स्वागतके पश्चात् आसनग्रहण

वैशम्पायन उवाच

तथा कथयतोरेव तयोर्बुद्धिमतोस्तदा।
शिवा नक्षत्रसम्पन्ना सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय बुद्धिमान् श्रीकृष्ण तथा विदुरके इस प्रकार वार्तालाप करते हुए ही वह नक्षत्रोंसे सुशोभित मङ्गलमयी रात्रि बहुत-सी व्यतीत हो चुकी थी ॥ १ ॥

धर्मार्थकामयुक्ताश्च विचित्रार्थपदाक्षराः।
शृण्वतो विविधा वाचो विदुरस्य महात्मनः ॥ २ ॥
कथाभिरनुरूपाभिः कृष्णस्यामिततेजसः।
अकामस्येव कृष्णस्य सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ ३ ॥

महात्मा श्रीकृष्ण धर्म, अर्थ और कामके विषयमें अनेक प्रकारकी बातें कहते रहे। उनकी वाणीके पद, अर्थ और अक्षर बड़े विचित्र थे; अतः महात्मा विदुर भगवान्की कही हुई उन विविध वार्ताओंको प्रसन्नतापूर्वक सुनते रहे। इस प्रकार अमिततेजस्वी श्रीकृष्ण और विदुर दोनों ही एक दूसरेकी मनोनुकूल कथावार्तामें इतने तन्मय थे कि बिना इच्छाके ही उनकी वह रात्रि बहुत-सी व्यतीत हो गयी थी॥ २-३॥

ततस्तु स्वरसम्पन्ना बहवः सूतमागधाः।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः केशवं प्रत्यबोधयन् ॥ ४ ॥

तदनन्तर मधुर स्वरसे युक्त बहुत-से सूत और मागध शङ्ख और दुन्दुभियोंके घोषसे भगवान् श्रीकृष्णको जगाने लगे ॥४॥

तत उत्थाय दाशार्ह ऋषभः सर्वसात्वताम्।
सर्वमावश्यकं चक्रे प्रातःकार्यं जनार्दनः ॥ ५ ॥

तब समस्त यदुवंशियोंके शिरोमणि दशार्हनन्दन श्रीकृष्णने शय्यासे उठकर प्रातःकालका समस्त आवश्यक कर्म क्रमशः सम्पन्न किया ॥ ५ ॥

कृतोदकानुजप्यः स हुताग्निः समलंकृतः ।
ततश्चादित्यमुद्यन्तमुपातिष्ठत माधवः ॥ ६ ॥

संध्या-तर्पण और जप करके अग्निहोत्र करनेके पश्चात् माधवने अलंकृत होकर उदयकालमें सूर्यका उपस्थान किया ॥ ६ ॥

अथ दुर्योधनः कृष्णं शकुनिश्चापि सौबलः ।
संध्यां तिष्ठन्तमभ्येत्य दाशार्हमपराजितम् ॥ ७ ॥
आचक्षेतां तु कृष्णस्य धृतराष्ट्रं सभागतम् ।
कुरूंश्च भीष्मप्रमुखान् राज्ञः सर्वांश्च पार्थिवान् ॥ ८ ॥
त्वामर्थयन्ते गोविन्द दिवि शक्रमिवामराः ।
तावभ्यनन्दद् गोविन्दः साम्ना परमवल्गुना ॥ ९ ॥

इसी समय राजा दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनि भी संध्योपासनामें लगे हुए अपराजित वीर दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके पास आये और उनसे इस प्रकार बोले—'गोविन्द ! महाराज धृतराष्ट्र सभामें आ गये हैं। भीष्म आदि कौरव तथा अन्य समस्त भूपाल भी वहाँ उपस्थित हैं। जैसे स्वर्गमें देवता इन्द्रका आवाहन करते हैं, इसी प्रकार भीष्म आदि सब लोग आपसे वहाँ दर्शन देनेकी प्रार्थना करते हैं।' यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने परम मधुर सान्त्वनापूर्ण वचन-द्वारा उन दोनोंका अभिनन्दन किया ॥ ७-९ ॥

ततो विमल आदित्ये ब्राह्मणेभ्यो जनार्दनः ।
ददौ हिरण्यं वासांसि गाश्चाश्वांश्च परंतपः ॥ १० ॥
विसृज्य बहुरत्नानि दाशार्हमपराजितम् ।
तिष्ठन्तमुपसंगम्य ववन्दे सारथिस्तदा ॥ ११ ॥

तदनन्तर निर्मल सूर्यदेवका उदय हो जानेपर शत्रुओं-को संताप देनेवाले भगवान् जनार्दनने ब्राह्मणोंको सुवर्ण, वस्त्र, गौ तथा घोड़े दान किये। अनेक प्रकारके रत्नोंका दान करके खड़े हुए उन अपराजित दाशार्ह वीरके पास जाकर सारथिने उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ १०-११ ॥

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना ।
हयोत्तमयुजा शीघ्रमुपातिष्ठत दारुकः ॥ १२ ॥

इसके बाद क्षुद्र घण्टिकाओंसे विभूषित और उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए चमकीले विशाल रथके साथ दारुक शीघ्र ही भगवान्‌की सेवामें उपस्थित हुआ ॥ १२ ॥

(तस्मै रथवरो युक्तः शुशुभे लोकविश्रुतः ।
वाजिभिः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः ॥

भगवान्‌के लिये जोतकर खड़ा किया हुआ वह विश्व-विख्यात श्रेष्ठ रथ बड़ी शोभा पा रहा था। उसमें शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामवाले चार घोड़े जुते हुए थे ॥

शैब्यस्तु शुकपत्राभः सुग्रीवः किंशुकप्रभः ।
मेघपुष्पो मेघवर्णः पाण्डुरस्तु बलाहकः ॥

उनमेंसे शैब्यका रङ्ग तोतेकी पाँखके समान हरा था। सुग्रीव पलासके फूलकी भाँति लाल था। मेघपुष्पकी कान्ति मेघोंके ही समान थी और बलाहक सफेद था ॥

दक्षिणं चावहच्छैब्यः सुग्रीवः सव्यतोऽवहत् ।
पृष्ठवाहौ तयोरास्तां मेघपुष्पबलाहकौ ॥

शैब्य दाहिने भागमें जुतकर उस रथका वहन करता था और सुग्रीव बाँयें भागमें। मेघपुष्प और बलाहक क्रमशः इनके पीछे जुते हुए थे ॥

वैनतेयः स्थितस्तस्यां प्रभाकरमिव स्पृशन् ।
तस्य सत्त्ववतः केतौ भुजगारिरशोभत ॥

सत्त्वगुणके अधिष्ठानस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके रथमें लगे हुए ध्वजदण्डकी उस पताकामें सूर्यका स्पर्श करते हुए-से सर्पशत्रु विनतानन्दन गरुड विराज रहे थे ॥

तस्य कीर्तिमतस्तेन भास्वरेण विराजता ।
शुशुभे स्यन्दनश्रेष्ठः पतगेन्द्रेण केतुना ॥

कीर्तिमान् श्रीकृष्णका वह श्रेष्ठ रथ उस उज्ज्वल एवं प्रकाशमान गरुडध्वजके द्वारा बड़ी शोभा पा रहा था ॥

रुक्मजालैः पताकाभिः सौवर्णेन च केतुना ।
बभूव स रथश्रेष्ठः कालसूर्य इवोदितः ॥

सोनेकी जालियों, पताकाओं तथा सुवर्णमय ध्वजके द्वारा भगवान्‌का वह उत्तम रथ प्रलयकालमें उदित हुए सूर्यके समान उद्भासित हो रहा था ॥

पक्षिध्वजवितानैश्च रुक्मजालकृतान्तरैः ।
दण्डमार्गविभागैश्च सुकृतैर्विश्वकर्मणा ॥
प्रवालमणिहेमैश्च मुक्तावैदूर्यभूषणैः ।
किङ्किणीशतसङ्घैश्च बालजालकृतान्तरैः ॥
कार्तस्वरमयीभिश्च पद्मिनीभिरलंकृतः ।
शुशुभे स्यन्दनश्रेष्ठस्तापनीयैश्च पादपैः ॥
व्याघ्रसिंहवराहैश्च गोवृषैर्मृगपक्षिभिः ।
ताराभिर्भास्करैश्चापि वारणैश्च हिरण्मयैः ॥
वज्राङ्कुशविमानैश्च कूबरावृत्तसंधिषु ।)

उस रथके गरुडध्वज, चँदोवे, स्वर्णजालविभूषित मध्यभाग तथा पृथक्-पृथक् दण्डमार्गोंका विश्वकर्माने सुन्दर ढंगसे निर्माण किया था। प्रवाल (मूँगा), मणि, सुवर्ण, वैदूर्य, मुक्ता आदि विविध आभूषणों, शत-शत क्षुद्र-घण्टिकाओं तथा बालमणिकी झालरोंसे उस रथके अन्तःप्रदेश सुसज्जित किये गये थे। सुवर्णमय कमलिनियों, तपाये हुए सुवर्णके ही वृक्षों तथा व्याघ्र, सिंह, वराह, वृषभ, मृग, पक्षी, तारा, सूर्य और हाथियोंकी स्वर्णमयी प्रतिमाओंसे उस

श्रेष्ठ रथकी अत्यन्त शोभा हो रही थी। कूबर (युगंधर) की गोलाकार संधियोंमें वज्र, अङ्कुश तथा विमानकी आकृतियों-से उस रथको विभूषित किया गया था ॥

तमुपस्थितमाज्ञाय रथं दिव्यं महामनाः ।
महाभ्रघननिर्घोषं सर्वरत्नविभूषितम् ॥ १३ ॥
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा ब्राह्मणांश्च जनार्दनः ।
कौस्तुभं मणिमामुच्य श्रिया परमया ज्वलन् ॥ १४ ॥
कुरुभिः संवृतः कृष्णो वृष्णिभिश्चाभिरक्षितः ।
आतिष्ठत रथं शौरिः सर्वयादवनन्दनः ॥ १५ ॥

महान् सजल मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर शब्द करनेवाले तथा सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित हुए उस दिव्य रथको उपस्थित जान अग्नि एवं ब्राह्मणोंको दाहिने करके, गलेमें कौस्तुभमणि डालकर, अपनी उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित होते हुए, कौरवोंसे घिरकर एवं वृष्णिवंशी वीरोंसे सुरक्षित हो समस्त यादवोंको आनन्द प्रदान करनेवाले महामना शूर-नन्दन जनार्दन श्रीकृष्ण उस रथपर आरूढ़ हुए ॥ १३–१५ ॥



अन्वारुरोह दाशार्हं विदुरः सर्वधर्मवित् ।
सर्वप्राणभृतां श्रेष्ठं सर्वबुद्धिमतां वरम् ॥ १६ ॥

समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ और सम्पूर्ण बुद्धिमानोंमें उत्तम दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके पश्चात् समस्त धर्मोंके ज्ञाता विदुरजी भी उस रथपर जा बैठे ॥ १६ ॥

ततो दुर्योधनः कृष्णं शकुनिश्चापि सौबलः ।
द्वितीयेन रथेनैनमन्वयातां परंतपम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीकृष्णके पीछे-पीछे दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनि भी दूसरे रथपर बैठकर चले ॥ १७ ॥

सात्यकिः कृतवर्मा च वृष्णीनां चापरे रथाः ।
पृष्ठतोऽनुययुः कृष्णं गजैरश्वैः रथैरपि ॥ १८ ॥

सात्यकि, कृतवर्मा तथा वृष्णिवंशके दूसरे रथी भी हाथी, घोड़ों तथा रथोंपर बैठकर श्रीकृष्णके पीछे-पीछे गये ॥ १८ ॥

तेषां हेमपरिष्कारैर्युक्ताः परमवाजिभिः ।
गच्छतां घोषिणश्चित्ररथा राजन् विरेजिरे ॥ १९ ॥

राजन्! उन सबके जाते समय सोनेके आभूषणोंसे विभूषित, उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए एवं गम्भीर घोषयुक्त उनके विचित्र रथ बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ १९ ॥

सम्मृष्टसंसिक्तरजः प्रतिपेदे महापथम् ।
राजर्षिचरितं काले कृष्णो धीमाञ्छ्रिया ज्वलन् ॥ २० ॥

अपनी दिव्य कान्तिसे प्रकाशित होनेवाले परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण यथासमय उस विशाल राजपथपर जा पहुँचे, जिसपर पूर्वकालके राजर्षि यात्रा करते थे। वहाँकी धूल झाड़ दी गयी थी और सर्वत्र जलसे छिड़काव किया गया था ॥ २० ॥

ततः प्रयाते दाशार्हे प्रावाद्यन्तैकपुष्कराः ।
शङ्खाश्च दध्मिरे तत्र वाद्यान्यन्यानि यानि च ॥ २१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके प्रस्थान करनेपर ढोल, शङ्ख तथा दूसरे-दूसरे बाजे एक साथ बज उठे ॥ २१ ॥

प्रवीराः सर्वलोकस्य युवानः सिंहविक्रमाः ।
परिवार्य रथं शौरेरगच्छन्त परंतपाः ॥ २२ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले, सिंहके समान पराक्रमी तथा सम्पूर्ण जगत्‌के प्रख्यात तरुण वीर भगवान् श्रीकृष्णके रथ-को घेरकर चलते थे ॥ २२ ॥

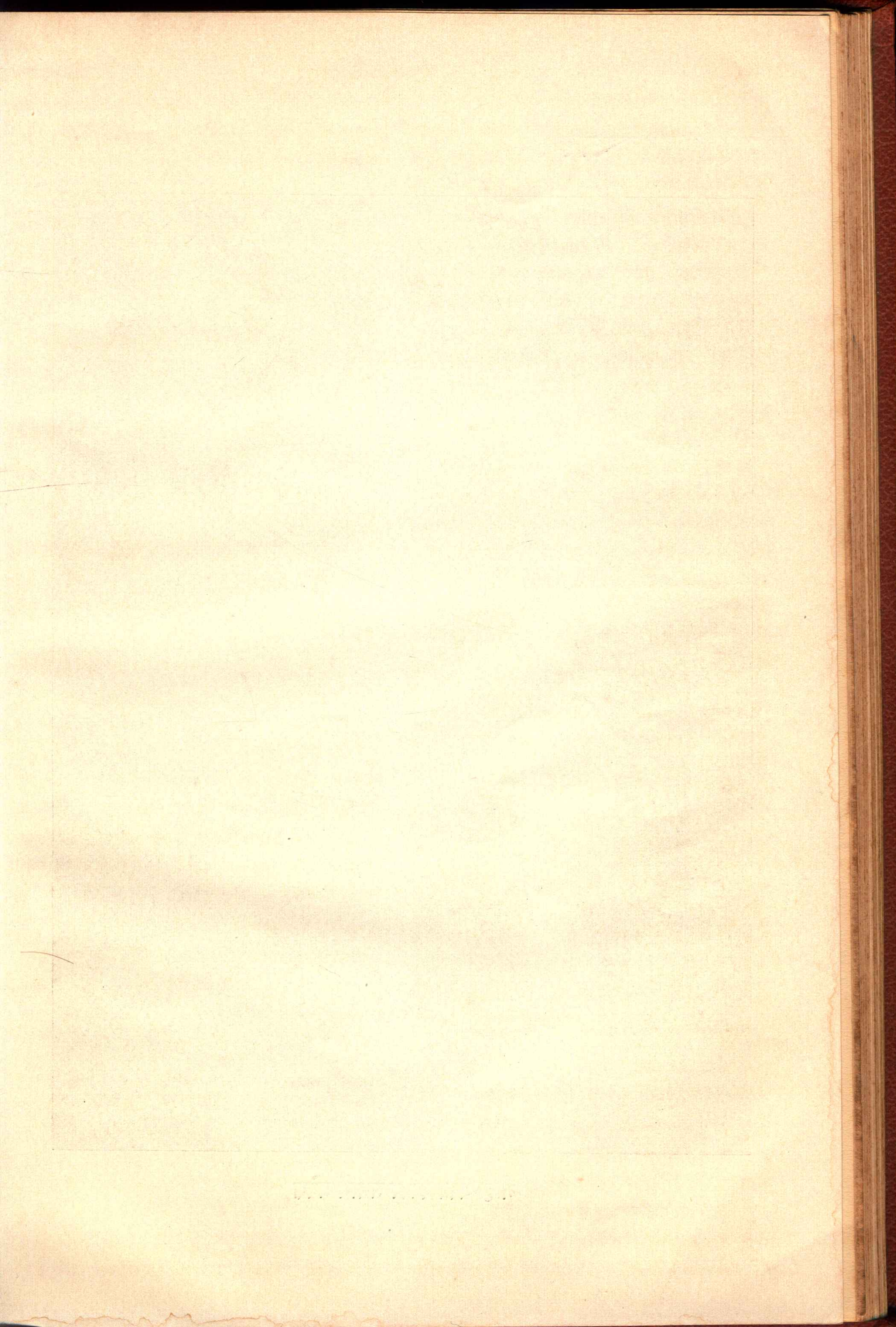
ततोऽन्ये बहुसाहस्रा विचित्राद्भुतवाससः ।
असिप्रासायुधधराः कृष्णस्यासन् पुरःसराः ॥ २३ ॥

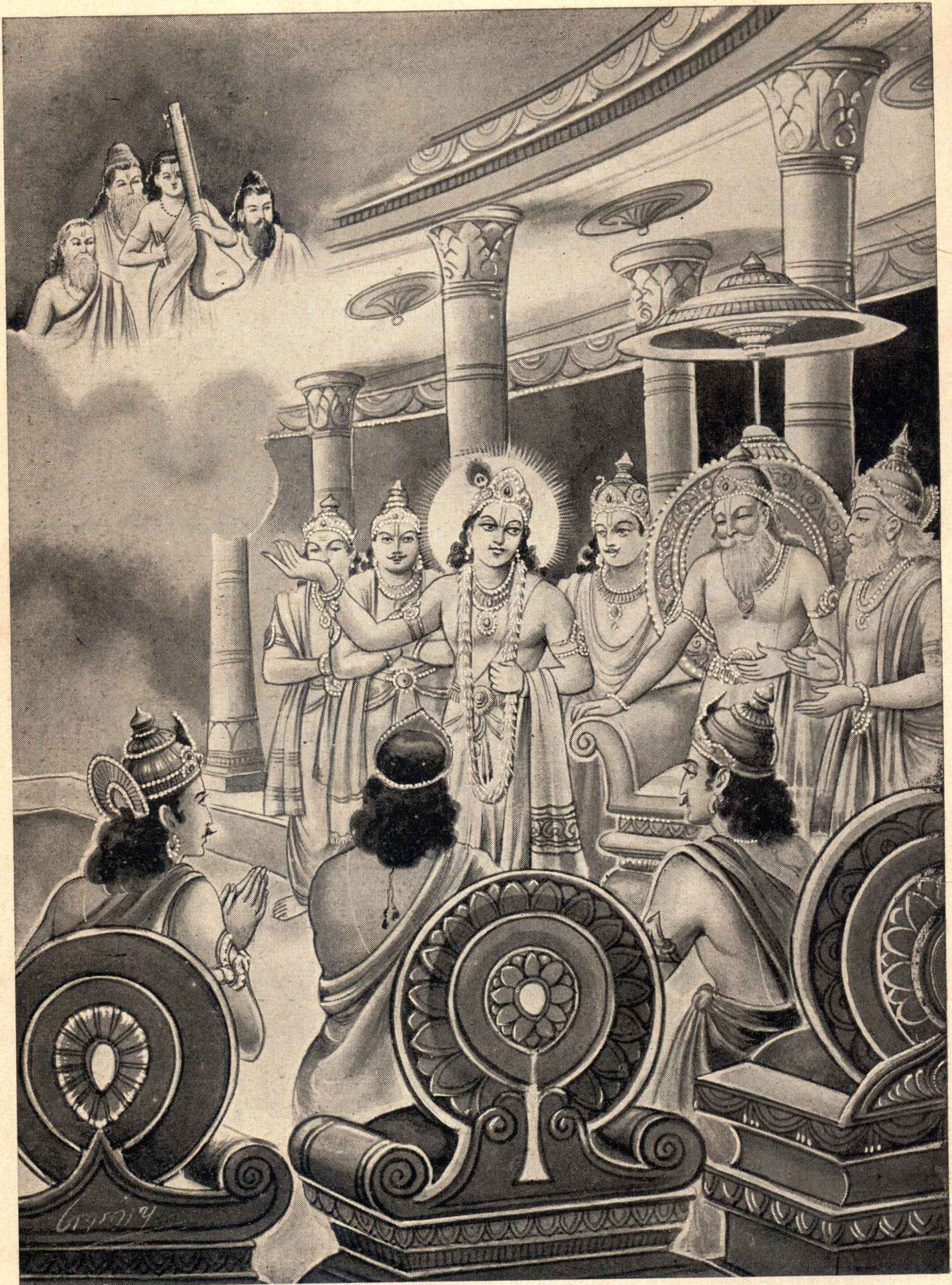
श्रीकृष्णके आगे चलनेवाले सैनिकोंकी संख्या कई सहस्र थी। उन सबने विचित्र एवं अद्भुत वस्त्र धारण कर रक्खे थे। उनके हाथोंमें खड्ग और प्रास आदि आयुध शोभा पाते थे ॥ २३ ॥

गजाः पञ्चशतास्तत्र रथाश्चासन् सहस्रशः ।
प्रयान्तमन्वयुर्वीरं दाशार्हमपराजितम् ॥ २४ ॥

किसीसे पराजित न होनेवाले दशार्हवंशी वीर भगवान् श्रीकृष्णके पीछे उस यात्राके समय पाँच सौ हाथी और सहस्रों रथ जा रहे थे ॥ २४ ॥

पुरं कुरूणां संवृत्तं द्रष्टुकामं जनार्दनम् ।
सबालवृद्धं सस्त्रीकं रथ्यागतमरिंदम ॥ २५ ॥





श्रीकृष्णका कौरव-सभामें प्रवेश

शत्रुदमन जनमेजय ! उस समय भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये बालक, वृद्ध तथा स्त्रियोंसहित कौरवोंका सारा नगर सड़कपर आ गया था ॥ २५ ॥

वेदिकामाश्रिताभिश्च समाक्रान्तान्यनेकशः ।
प्रचलन्तीव भारेण योषिद्भिर्भवनान्युत ॥ २६ ॥

छतोंके सड़ककी ओरवाले भागपर बैठी हुई झुंडकी झुंड स्त्रियोंके भारसे मानो हस्तिनापुरके वे सारे भवन कम्पित-से हो रहे थे ॥ २६ ॥

स पूज्यमानः कुरुभिः संशृण्वन् मधुराः कथाः ।
यथार्हं प्रतिसत्कुर्वन् प्रेक्षमाणः शनैर्ययौ ॥ २७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कौरवोंसे सम्मानित होते हुए, उनकी मीठी-मीठी बातें सुनते हुए और यथायोग्य उनका भी सत्कार करते हुए धीरे-धीरे सबकी ओर देखते जा रहे थे ॥ २७ ॥

ततः सभां समासाद्य केशवस्यानुयायिनः ।
सशङ्खैर्वेणुनिर्घोषैर्दिशः सर्वा व्यनादयन् ॥ २८ ॥

कौरवसभाके समीप पहुँचकर श्रीकृष्णके अनुगामी सेवकोंने शङ्ख और वेणु आदि वाद्योंकी ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजा दिया ॥ २८ ॥

ततः सा समितिः सर्वा राज्ञाममिततेजसाम् ।
सम्प्राकम्पत हर्षेण कृष्णागमनकाङ्क्षया ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् अमिततेजस्वी राजाओंकी वह सारी सभा भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी आकाङ्क्षाके कारण हर्षोल्लास-से चञ्चल हो उठी ॥ २९ ॥

ततोऽभ्याशगते कृष्णे समहृष्यन् नराधिपाः ।
श्रुत्वा तं रथनिर्घोषं पर्जन्यनिनदोपमम् ॥ ३० ॥
आसाद्य तु सभाद्वारमृषभः सर्वसात्वताम् ।
अवतीर्य रथाच्छौरिः कैलासशिखरोपमात् ॥ ३१ ॥
नवमेघप्रतीकाशां ज्वलन्तीमिव तेजसा ।
महेन्द्रसदनप्रख्यां प्रविवेश सभां ततः ॥ ३२ ॥

श्रीकृष्णके निकट आनेपर उनके रथका मेघगर्जनाके समान गम्भीर घोष सुनकर सभी नरेश रोमाञ्चित हो उठे । सभाके द्वारपर पहुँचकर सर्वयादवशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने कैलासशिखरके समान समुज्ज्वल रथसे नीचे उतरकर नूतन मेघके समान श्याम तथा तेजसे प्रज्वलित-सी होनेवाली इन्द्रभवनतुल्य उस कौरवसभाके भीतर प्रवेश किया ॥ ३०—३२ ॥

पाणौ गृहीत्वा विदुरं सात्यकिं च महायशाः ।
ज्योतींष्यादित्यवद् राजन् कुरून् प्राच्छादयच्छ्रिया ॥

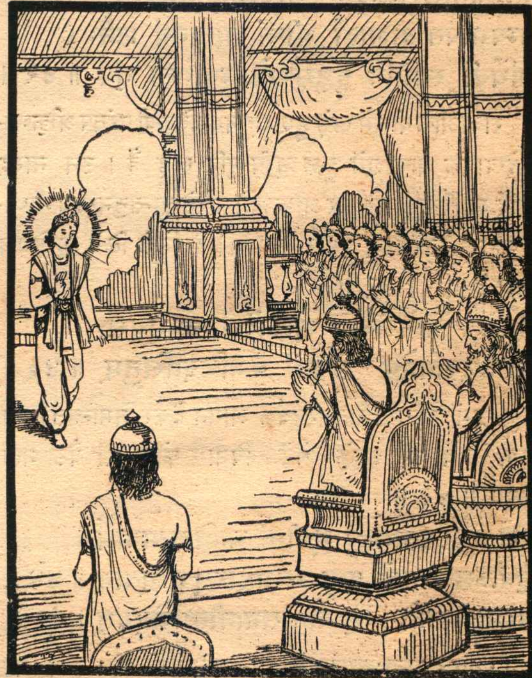
राजन् ! जैसे सूर्य अपनी प्रभासे आकाशके तारोंको तिरोहित कर देते हैं, उसी प्रकार महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्ण अपनी दिव्य कान्तिसे कौरवोंको आच्छादित करते हुए विदुर और सात्यकिका हाथ पकड़े सभामें आये ॥ ३३ ॥

अग्रतो वासुदेवस्य कर्णदुर्योधनावुभौ ।
वृष्णयः कृतवर्मा चाप्यासन् कृष्णस्य पृष्ठतः ॥ ३४ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके आगे-आगे कर्ण और दुर्योधन थे और उनके पीछे कृतवर्मा तथा अन्य वृष्णिवंशी वीर थे ॥ ३४ ॥

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य भीष्मद्रोणादयस्ततः ।
आसनेभ्योऽचलन् सर्वे पूजयन्तो जनार्दनम् ॥ ३५ ॥

उस समय भीष्म और द्रोणाचार्य आदि सब लोग भगवान् श्रीकृष्णका सम्मान करनेके लिये राजा धृतराष्ट्रको आगे करके अपने आसनोंसे उठकर आगे बढ़े ॥ ३५ ॥



अभ्यागच्छति दाशार्हे प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः ।
सहैव द्रोणभीष्माभ्यामुदतिष्ठन्महायशाः ॥ ३६ ॥

दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके आते ही महायशस्वी प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र भीष्म और द्रोणाचार्यके साथ ही उठ गये थे ॥ ३६ ॥

उत्तिष्ठति महाराजे धृतराष्ट्रे जनेश्वरे ।
तानि राजसहस्राणि समुत्तस्थुः समन्ततः ॥ ३७ ॥

महाराज धृतराष्ट्रके उठनेपर वहाँ चारों ओर बैठे हुए सहस्रों नरेश उठकर खड़े हो गये ॥ ३७ ॥

आसनं सर्वतोभद्रं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।
कृष्णार्थे कल्पितं तत्र धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ३८ ॥

राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके लिये

सुवर्णभूषित सर्वतोभद्र नामक सिंहासन रक्खा गया था ॥ ३८ ॥

स्मयमानस्तु राजानं भीष्मद्रोणौ च माधवः ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा राज्ञश्चान्यान् यथावयः ॥ ३९ ॥

उस समय धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्णने मुसकराते हुए राजा धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोणाचार्य तथा अवस्थाके अनुसार अन्य राजाओंसे भी वार्तालाप किया ॥ ३९ ॥

तत्र केशवमानर्चुः सम्यगभ्यागतं सभाम् ।
राजानः पार्थिवाः सर्वे कुरवश्च जनार्दनम् ॥ ४० ॥

वहाँ सभामें पधारे हुए भगवान् श्रीकृष्णका भूमण्डलके राजाओं तथा सभी कौरवोंने भलीभाँति पूजन किया ॥ ४० ॥

तत्र तिष्ठन् स दाशार्हो राजमध्ये परंतपः ।
अपश्यदन्तरिक्षस्थानृषीन् परपुरंजयः ॥
ततस्तानभिसम्प्रेक्ष्य नारदप्रमुखानृषीन् ॥ ४१ ॥
अभ्यभाषत दाशार्हो भीष्मं शान्तनवं शनैः ।
पार्थिवीं समितिं द्रष्टुमृषयोऽभ्यागता नृप ॥ ४२ ॥

राजाओंके बीचमें खड़े हुए शत्रुनगरविजयी परंतप श्रीकृष्णने देखा कि आकाशमें कुछ ऋषि-मुनि खड़े हैं। उन नारद आदि महर्षियोंको देखकर श्रीकृष्णने धीरेसे शान्तनुनन्दन भीष्मसे कहा—'नरेश्वर ! इस राजसभाको देखनेके लिये ऋषिगण पधारे हैं ॥ ४१-४२ ॥

निमन्त्र्यन्तामासनैश्च सत्कारेण च भूयसा ।
नैतेष्वनुपविष्टेषु शक्यं केनचिदासितुम् ॥ ४३ ॥

'इन्हें अत्यन्त सत्कारपूर्वक आसन देकर निमन्त्रित किया जाय, क्योंकि इनके बैठे बिना कोई भी बैठ नहीं सकता ॥ ४३ ॥

पूजा प्रयुज्यतामाशु मुनीनां भावितात्मनाम् ।
ऋषीञ्छान्तनवो दृष्ट्वा सभाद्वारमुपस्थितान् ॥ ४४ ॥
त्वरमाणस्ततो भृत्यानासनानीत्यचोदयत् ।

'पवित्र अन्तःकरणवाले इन मुनियोंकी शीघ्र पूजा की जानी चाहिये।' शान्तनुनन्दन भीष्मने मुनियोंको देखकर सभाद्वारपर स्थित हुए राजकर्मचारियोंको बड़ी उतावलीके साथ आज्ञा दी–'अरे ! आसन लाओ' ॥ ४४½ ॥

आसनान्यथ मृष्टानि महान्ति विपुलानि च ॥ ४५ ॥
मणिकाञ्चनचित्राणि समाजह्रुस्ततस्ततः ।

तब सेवकोंने इधर-उधरसे मणि एवं सुवर्ण जड़े हुए शुद्ध, विशाल एवं विस्तृत आसन लाकर रख दिये ॥ ४५½ ॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु गृहीतार्घ्येषु भारत ॥ ४६ ॥
निषसादासने कृष्णो राजानश्च यथासनम् ।

भारत ! अर्घ्य ग्रहण करके जब ऋषिलोग उन आसनोंपर बैठ गये, तब भगवान् श्रीकृष्ण तथा अन्य राजाओंने भी अपना-अपना आसन ग्रहण किया ॥ ४६½ ॥

दुःशासनः सात्यकये ददावासनमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
विविंशतिर्ददौ पीठं काञ्चनं कृतवर्मणे ।

दुःशासनने सात्यकिको उत्तम आसन दिया एवं विविंशतिने कृतवर्माको स्वर्णमय आसन प्रदान किया ॥ ४७½ ॥

अविदूरे तु कृष्णस्य कर्णदुर्योधनावुभौ ॥ ४८ ॥
एकासने महात्मानौ निषीदतुरमर्षणौ ।

अमर्षमें भरे हुए महामना कर्ण और दुर्योधन दोनों एक आसनपर श्रीकृष्णके पास ही बैठे थे ॥ ४८½ ॥

गान्धारराजः शकुनिर्गान्धारैरभिरक्षितः ॥ ४९ ॥
निषसादासने राजा सहपुत्रो विशाम्पते ।

जनमेजय ! गान्धारदेशीय सैनिकोंसे सुरक्षित पुत्रसहित गान्धारराज शकुनि भी एक आसनपर बैठा था ॥ ४९½ ॥

विदुरो मणिपीठे तु शुक्लस्पर्ध्याजिनोत्तरे ॥ ५० ॥
संस्पृशन्नासनं शौरेर्महामतिरुपाविशत् ।

परम बुद्धिमान् विदुर भगवान् श्रीकृष्णके आसनका स्पर्श करते हुए एक मणिमय चौकीपर, जिसके ऊपर श्वेत रङ्गका स्पृहणीय मृगचर्म बिछाया गया था, बैठे थे ॥ ५०½ ॥

चिरस्य दृष्ट्वा दाशार्हं राजानः सर्व एव ते ॥ ५१ ॥
अमृतस्येव नातृप्यन् प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ।

सब राजा दीर्घकालके पश्चात् दशार्हकुलभूषण भगवान् जनार्दनको देखकर उन्हींकी ओर एकटक दृष्टि लगाये रहे, मानो अमृत पी रहे हों। इस प्रकार उन्हें तृप्ति ही नहीं होती थी ॥ ५१½ ॥

अतसीपुष्पसंकाशः पीतवासा जनार्दनः ॥ ५२ ॥
व्यभ्राजत सभामध्ये हेम्नीवोपहितो मणिः ॥ ५३ ॥

अलसीके फूलकी भाँति मनोहर श्याम कान्तिवाले पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण उस सभाके मध्यभागमें स्वर्णपात्रमें रक्खी हुई नीलमणिके समान शोभा पा रहे थे ॥ ५२-५३ ॥

ततस्तूष्णीं सर्वमासीद् गोविन्दगतमानसम् ।
न तत्र कश्चित् किञ्चिद् वा व्याजहार पुमान् क्वचित् ५४

उस समय वहाँ सबका मन भगवान् गोविन्दमें ही लगा हुआ था। अतः सभी चुपचाप बैठे थे। कोई मनुष्य कहीं कुछ भी बोल नहीं रहा था ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णसभाप्रवेशे चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णका सभामें प्रवेशविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०½ श्लोक मिलाकर कुल ६४½ श्लोक हैं)

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

कौरवसभामें श्रीकृष्णका प्रभावशाली भाषण

वैशम्पायन उवाच

तेष्वासीनेषु सर्वेषु तूष्णीम्भूतेषु राजसु ।
वाक्यमभ्याददे कृष्णः सुदंष्ट्रो दुन्दुभिस्वनः ॥ १ ॥
जीमूत इव घर्मान्ते सर्वां संश्रावयन् सभाम् ।
धृतराष्ट्रमभिप्रेक्ष्य समभाषत माधवः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब सभामें सब राजा मौन होकर बैठ गये, तब सुन्दर दन्तावलिसे सुशोभित तथा दुन्दुभिके समान गम्भीर स्वरवाले यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्णने बोलना आरम्भ किया । जैसे ग्रीष्मऋतुके अन्तमें बादल गर्जता है, उसी प्रकार उन्होंने गम्भीर गर्जनाके साथ सारी सभाको सुनाते हुए धृतराष्ट्रकी ओर देखकर इस प्रकार कहा ॥ १-२ ॥

श्रीभगवानुवाच

कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत ।
अप्रणाशेन वीराणामेतद् याचितुमागतः ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—भरतनन्दन ! मैं आपसे यह प्रार्थना करनेके लिये यहाँ आया हूँ कि क्षत्रियवीरोंका संहार हुए बिना ही कौरवों और पाण्डवोंमें शान्तिस्थापन हो जाय ।३।



राजन् नान्यत् प्रवक्तव्यं तव नैःश्रेयसं वचः ।
विदितं ह्येव ते सर्वं वेदितव्यमरिंदम ॥ ४ ॥

शत्रुदमन नरेश ! मुझे इसके सिवा दूसरी कोई कल्याणकारक बात आपसे नहीं कहनी है; क्योंकि जानने योग्य जितनी बातें हैं, वे सब आपको विदित ही हैं ॥ ४ ॥

इदं ह्यद्य कुलं श्रेष्ठं सर्वराजसु पार्थिव ।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नं सर्वैः समुदितं गुणैः ॥ ५ ॥

भूपाल ! इस समय समस्त राजाओंमें यह कुरुवंश ही सर्वश्रेष्ठ है । इसमें शास्त्र एवं सदाचारका पूर्णतः आदर एवं पालन किया जाता है । यह कौरवकुल समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ ५ ॥

कृपानुकम्पा कारुण्यमानृशंस्यं च भारत ।
तथाऽऽर्जवं क्षमा सत्यं कुरुष्वेतद् विशिष्यते ॥ ६ ॥

भारत ! कुरुवंशियोंमें कृपा[1], अनुकम्पा[2], करुणा[3], अनृशंसता[4], सरलता, क्षमा और सत्य—ये सद्गुण अन्य राजवंशोंकी अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं ॥ ६ ॥

तस्मिन्नेवंविधे राजन् कुले महति तिष्ठति ।
त्वन्निमित्तं विशेषेण नेह युक्तमसाम्प्रतम् ॥ ७ ॥

राजन् ! ऐसे उत्तम गुणसम्पन्न एवं अत्यन्त प्रतिष्ठित कुलके होते हुए भी यदि इसमें आपके कारण कोई अनुचित कार्य हो, तो यह ठीक नहीं है ॥ ७ ॥

त्वं हि धारयिता श्रेष्ठः कुरूणां कुरुसत्तम ।
मिथ्या प्रचरतां तात बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च ॥ ८ ॥

तात कुरुश्रेष्ठ ! यदि कौरवगण बाहर और भीतर (प्रकट और गुप्तरूपसे) मिथ्या आचरण (असद्व्यवहार) करने लगें, तो आप ही उन्हें रोककर सन्मार्गमें स्थापित करनेवाले हैं ॥ ८ ॥

ते पुत्रास्तव कौरव्य दुर्योधनपुरोगमाः ।
धर्मार्थौ पृष्ठतः कृत्वा प्रचरन्ति नृशंसवत् ॥ ९ ॥

कुरुनन्दन ! दुर्योधनादि आपके पुत्र धर्म और अर्थको पीछे करके क्रूर मनुष्योंके समान आचरण करते हैं ॥ ९ ॥

अशिष्टा गतमर्यादा लोभेन हृतचेतसः ।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु तद् वेत्थ पुरुषर्षभ ॥ १० ॥

पुरुषरत्न ! ये अपने ही श्रेष्ठ बन्धुओंके साथ अशिष्टतापूर्ण बर्ताव करते हैं । लोभने इनके हृदयको ऐसा वशीभूत

---

१. दूसरोंको सुख पहुँचानेकी सहज भावनाका नाम 'कृपा' है।
२. दूसरोंका दुःख देखकर द्रवित होना एवं काँप उठना 'अनुकम्पा' कहलाता है। ३. दूसरोंके दुःखको दूर करनेका भाव 'करुणा' है।
४. क्रूरताका सर्वथा अभाव 'अनृशंसता' कहलाता है।

कर लिया है कि इन्होंने धर्मकी मर्यादा तोड़ दी है। इस बातको आप अच्छी तरह जानते हैं ॥ १० ॥

सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता।
उपेक्ष्यमाणा कौरव्य पृथिवीं घातयिष्यति ॥ ११ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इस समय यह अत्यन्त भयंकर आपत्ति कौरवोंमें ही प्रकट हुई है। यदि इसकी उपेक्षा की गयी तो यह समस्त भूमण्डलका विध्वंस कर डालेगी ॥ ११ ॥

शक्या चेयं शमयितुं त्वं चेदिच्छसि भारत।
न दुष्करो ह्यत्र शमो मतो मे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

भारत ! यदि आप चाहते हों तो इस भयानक विपत्तिका अब भी निवारण किया जा सकता है। भरतश्रेष्ठ ! इन दोनों पक्षोंमें शान्ति स्थापित होना मैं कठिन कार्य नहीं मानता हूँ ॥ १२ ॥

त्वय्यधीनः शमो राजन् मयि चैव विशाम्पते।
पुत्रान् स्थापय कौरव्य स्थापयिष्याम्यहं परान् ॥ १३ ॥

प्रजापालक कौरवनरेश ! इस समय इन दोनों पक्षोंमें संधि कराना आपके और मेरे अधीन है। आप अपने पुत्रों-को मर्यादामें रखिये और मैं पाण्डवोंको नियन्त्रणमें रक्खूँगा। १३।

आज्ञा तव हि राजेन्द्र कार्या पुत्रैः सहान्वयैः।
हितं बलवदप्येषां तिष्ठतां तव शासने ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! आपके पुत्रोंको चाहिये कि वे अपने अनुयायियोंके साथ आपकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करें। आपके शासनमें रहनेसे ही इनका महान् हित हो सकता है ॥ १४ ॥

तव चैव हितं राजन् पाण्डवानामथो हितम्।
शमे प्रयतमानस्य तव शासनकाङ्क्षिणः ॥ १५ ॥

राजन् ! यदि आप अपने पुत्रोंपर शासन करना चाहें और संधिके लिये प्रयत्न करें तो इसीमें आपका भी हित है और इसीसे पाण्डवोंका भी भला हो सकता है ॥ १५ ॥

स्वयं निष्फलमालक्ष्य संविधत्स्व विशाम्पते।
सहायभूता भरतास्तवैव स्युर्जनेश्वर ॥ १६ ॥

प्रजानाथ ! पाण्डवोंके साथ वैर और विवादका कोई अच्छा परिणाम नहीं हो सकता; यह विचारकर आप स्वयं ही संधिके लिये प्रयत्न करें। जनेश्वर ! ऐसा करनेसे भरत-वंशी पाण्डव आपके ही सहायक होंगे ॥ १६ ॥

धर्मार्थयोस्तिष्ठ राजन् पाण्डवैरभिरक्षितः।
न हि शक्यास्तथाभूता यत्नादपि नराधिप ॥ १७ ॥

राजन् ! आप पाण्डवोंसे सुरक्षित होकर धर्म और अर्थका अनुष्ठान कीजिये। नरेन्द्र ! आपको पाण्डवोंके समान संरक्षक प्रयत्न करनेपर भी नहीं मिल सकते ॥ १७ ॥

न हि त्वां पाण्डवैर्जेतुं रक्ष्यमाणं महात्मभिः।
इन्द्रोऽपि देवैः सहितः प्रसहेत कुतो नृपः ॥ १८ ॥

महात्मा पाण्डवोंसे सुरक्षित होनेपर आपको देवताओं-सहित इन्द्र भी नहीं जीत सकते, फिर दूसरे किसी राजा-की तो बात ही क्या है ? ॥ १८ ॥

यत्र भीष्मश्च द्रोणश्च कृपः कर्णो विविंशतिः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः ॥ १९ ॥
सैन्धवश्च कलिङ्गश्च काम्बोजश्च सुदक्षिणः।
युधिष्ठिरो भीमसेनः सव्यसाची यमौ तथा ॥ २० ॥
सात्यकिश्च महातेजा युयुत्सुश्च महारथः।
को नु तान् विपरीतात्मा युद्ध्येत भरतर्षभ ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जिस पक्षमें भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, विविंशति, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, सिन्धुराज जयद्रथ, कलिङ्गराज, काम्बोजनरेश सुदक्षिण तथा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव, महातेजस्वी सात्यकि तथा महारथी युयुत्सु हों; उस पक्षके योद्धाओंसे कौन विपरीत बुद्धिवाला राजा युद्ध कर सकता है ? ॥ १९-२१ ॥

लोकस्येश्वरतां भूयः शत्रुभिश्चाप्यधृष्यताम्।
प्राप्स्यसि त्वममित्रघ्न सहितः कुरुपाण्डवैः ॥ २२ ॥

शत्रुसूदन नरेश ! कौरव और पाण्डवोंके साथ रहनेपर आप पुनः सम्पूर्ण जगत्के सम्राट् होकर शत्रुओंके लिये अजेय हो जायँगे ॥ २२ ॥

तस्य ते पृथिवीपालास्त्वत्समाः पृथिवीपते।
श्रेयांसश्चैव राजानः संधास्यन्ते परंतप ॥ २३ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भूपाल ! उस दशामें जो राजा आपके समान या आपसे बड़े हैं, वे भी आपके साथ संधि कर लेंगे ॥ २३ ॥

स त्वं पुत्रैश्च पौत्रैश्च पितृभिर्भ्रातृभिस्तथा।
सुहृद्भिः सर्वतो गुप्तः सुखं शक्ष्यसि जीवितुम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार आप अपने पुत्र, पौत्र, पिता, भाई और सुहृदोंद्वारा सर्वथा सुरक्षित रहकर सुखसे जीवन बिता सकेंगे ॥ २४ ॥

एतानेव पुरोधाय सत्कृत्य च यथा पुरा।
अखिलां भोक्ष्यसे सर्वां पृथिवीं पृथिवीपते ॥ २५ ॥

पृथ्वीपते ! यदि आप पहलेकी भाँति इन पाण्डवोंका ही सत्कार करके इन्हें आगे रक्खें तो इस सारी पृथ्वीका उपभोग करेंगे ॥ २५ ॥

एतैर्हि सहितः सर्वैः पाण्डवैः स्वैश्च भारत।
अन्यान् विजेष्यसे शत्रूनेष स्वार्थस्तवाखिलः ॥ २६ ॥

भारत ! इन समस्त पाण्डवों तथा अपने पुत्रोंके साथ रह-

कर आप दूसरे शत्रुओंपर भी विजय प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार आपके सम्पूर्ण स्वार्थकी सिद्धि होगी ॥ २६ ॥

तैरेवोपार्जितां भूमिं भोक्ष्यसे च परंतप।
यदि सम्पत्स्यसे पुत्रैः सहामात्यैर्नराधिप ॥ २७ ॥

शत्रुसंतापी नरेश! यदि आप मन्त्रियोंसहित अपने समस्त पुत्रों (पाण्डवों और कौरवों) से मिलकर रहेंगे तो उन्हींके द्वारा जीती हुई इस पृथ्वीका राज्य भोगेंगे ॥ २७ ॥

संयुगे वै महाराज दृश्यते सुमहान् क्षयः।
क्षये चोभयतो राजन् कं धर्ममनुपश्यसि ॥ २८ ॥

महाराज! युद्ध छिड़नेपर तो महान् संहार ही दिखायी देता है। राजन्! इस प्रकार दोनों पक्षका विनाश करानेमें आप कौन-सा धर्म देखते हैं? ॥ २८ ॥

पाण्डवैर्निहतैः संख्ये पुत्रैर्वापि महाबलैः।
यद् विन्देथाः सुखं राजंस्तद् ब्रूहि भरतर्षभ ॥ २९ ॥

भरतश्रेष्ठ! यदि पाण्डव युद्धमें मारे गये अथवा आपके महाबली पुत्र ही नष्ट हो गये तो उस दशामें आपको कौन-सा सुख मिलेगा? यह बताइये ॥ २९ ॥

शूराश्च हि कृतास्त्राश्च सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः।
पाण्डवास्तावकाश्चैव तान् रक्ष महतो भयात् ॥ ३० ॥

पाण्डव तथा आपके पुत्र सभी शूरवीर, अस्त्रविद्याके पारङ्गत तथा युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले हैं। आप इन सबकी महान् भयसे रक्षा कीजिये ॥ ३० ॥

न पश्येम कुरून् सर्वान् पाण्डवांश्चैव संयुगे।
क्षीणानुभयतः शूरान् रथिनो रथिभिर्हतान् ॥ ३१ ॥

युद्धके परिणामपर विचार करनेसे हमें समस्त कौरव और पाण्डव नष्टप्राय दिखायी देते हैं। दोनों ही पक्षोंके शूरवीर रथी रथियोंसे ही मारे जाकर नष्ट हो जायँगे ॥ ३१ ॥

समवेताः पृथिव्यां हि राजानो राजसत्तम।
अमर्षवशमापन्ना नाशयेयुरिमाः प्रजाः ॥ ३२ ॥

नृपश्रेष्ठ! भूमण्डलके समस्त राजा यहाँ एकत्र हो अमर्षमें भरकर इन प्रजाओंका नाश करेंगे ॥ ३२ ॥

त्राहि राजन्निमं लोकं न नश्येयुरिमाः प्रजाः।
त्वयि प्रकृतिमापन्ने शेषः स्यात् कुरुनन्दन ॥ ३३ ॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले नरेश! आप इस जगत्की रक्षा कीजिये; जिससे इन समस्त प्रजाओंका नाश न हो। आपके प्रकृतिस्थ होनेपर ये सब लोग बच जायँगे ॥ ३३ ॥

शुक्ला वदान्या ह्रीमन्त आर्याः पुण्याभिजातयः।
अन्योन्यसचिवा राजंस्तान् पाहि महतो भयात् ॥ ३४ ॥

राजन्! ये सब नरेश शुद्ध, उदार, लज्जाशील, श्रेष्ठ, पवित्र कुलोंमें उत्पन्न और एक दूसरेके सहायक हैं। आप इन सबकी महान् भयसे रक्षा कीजिये ॥ ३४ ॥

शिवेनेमे भूमिपालाः समागम्य परस्परम्।
सह भुक्त्वा च पीत्वा च प्रतियान्तु यथागृहम् ॥ ३५ ॥

आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे ये भूपाल परस्पर मिलकर तथा एक साथ खा-पीकर कुशलपूर्वक अपने-अपने घरको वापस लौटें ॥ ३५ ॥

सुवाससः स्रग्विणश्च सत्कृता भरतर्षभ।
अमर्षं च निराकृत्य वैराणि च परंतप ॥ ३६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतकुलभूषण! ये राजालोग उत्तम वस्त्र और सुन्दर हार पहनकर अमर्ष और वैरको मनसे निकालकर यहाँसे सत्कारपूर्वक विदा हों ॥ ३६ ॥

हार्दं यत् पाण्डवेष्वासीत् प्राप्तेऽस्मिन्नायुषः क्षये।
तदेव ते भवत्वद्य संधत्स्व भरतर्षभ ॥ ३७ ॥

भरतश्रेष्ठ! अब आपकी आयु भी क्षीण हो चली है; इस बुढ़ापेमें आपका पाण्डवोंके ऊपर वैसा ही स्नेह बना रहे, जैसा पहले था; अतः संधि कर लीजिये ॥ ३७ ॥

बाला विहीनाः पित्रा ते त्वयैव परिवर्धिताः।
तान् पालय यथान्यायं पुत्रांश्च भरतर्षभ ॥ ३८ ॥

भरतर्षभ! पाण्डव बाल्यावस्थामें ही पितासे बिछुड़ गये थे। आपने ही उन्हें पाल-पोसकर बड़ा किया; अतः उनका और अपने पुत्रोंका न्यायपूर्वक पालन कीजिये ॥ ३८ ॥

भवतैव हि रक्ष्यास्ते व्यसनेषु विशेषतः।
मा ते धर्मस्तथैवार्थो नश्येत भरतर्षभ ॥ ३९ ॥

भरतभूषण! आपको ही पाण्डवोंकी सदा रक्षा करनी चाहिये। विशेषतः संकटके अवसरपर तो आपके लिये उनकी रक्षा अत्यन्त आवश्यक है ही। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डवोंसे वैर बाँधनेके कारण आपके धर्म और अर्थ दोनों नष्ट हो जायँ ॥ ३९ ॥

आहुस्त्वां पाण्डवा राजन्नभिवाद्य प्रसाद्य च।
भवतः शासनाद् दुःखमनुभूतं सहानुगैः ॥ ४० ॥

राजन्! पाण्डवोंने आपको प्रणाम करके प्रसन्न करते हुए यह संदेश कहलाया है—'तात! आपकी आज्ञासे अनुचरोंसहित हमने भारी दुःख सहन किया है ॥ ४० ॥

द्वादशेमानि वर्षाणि वने निर्व्युषितानि नः।
त्रयोदशं तथाज्ञातैः सजने परिवत्सरम् ॥ ४१ ॥

'बारह वर्षोंतक हमने निर्जन वनमें निवास किया है और तेरहवाँ वर्ष जनसमुदायसे भरे हुए नगरमें अज्ञात रहकर बिताया है ॥ ४१ ॥

स्थाता नः समये तस्मिन् पितेति कृतनिश्चयाः ।
नाहास्म समयं तात तच्च नो ब्राह्मणा विदुः ॥ ४२ ॥

'तात ! आप हमारे ज्येष्ठ पिता हैं, अतः हमारे विषयमें की हुई अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहेंगे (अर्थात् वनवाससे लौटनेपर हमारा राज्य हमें प्रसन्नतापूर्वक लौटा देंगे)—ऐसा निश्चय करके ही हमने वनवास और अज्ञातवासकी शर्तको कभी नहीं तोड़ा है, इस बातको हमारे साथ रहे हुए ब्राह्मणलोग जानते हैं ॥ ४२ ॥

तस्मिन् नः समये तिष्ठ स्थितानां भरतर्षभ ।
नित्यं संक्लेशिता राजन् स्वराज्यांशं लभेमहि ॥ ४३ ॥

'भरतवंशशिरोमणे ! हम उस प्रतिज्ञापर दृढ़तापूर्वक स्थित रहे हैं; अतः आप भी हमारे साथ की हुई अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहें । राजन् ! हमने सदा क्लेश उठाया है; अब हमें हमारा राज्यभाग प्राप्त होना चाहिये ॥ ४३ ॥

त्वं धर्ममर्थं संजानन् सम्यङ्नस्त्रातुमर्हसि ।
गुरुत्वं भवति प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्ष्महे ॥ ४४ ॥
स भवान् मातृपितृवदस्मासु प्रतिपद्यताम् ।

'आप धर्म और अर्थके ज्ञाता हैं; अतः हमलोगोंकी रक्षा कीजिये । आपमें गुरुत्व देखकर—आप गुरुजन हैं, यह विचार करके (आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये) हम बहुत-से क्लेश चुपचाप सहते जा रहे हैं; अब आप भी हमारे ऊपर माता-पिताकी भाँति स्नेहपूर्ण बर्ताव कीजिये ॥ ४४½ ॥

गुरोर्गरीयसी वृत्तिर्या च शिष्यस्य भारत ॥ ४५ ॥
वर्तामहे त्वयि च तां त्वं च वर्तस्व नस्तथा ।

'भारत ! गुरुजनोंके प्रति शिष्य एवं पुत्रोंका जो बर्ताव होना चाहिये, हम आपके प्रति उसीका पालन करते हैं । आप भी हमलोगोंपर गुरुजनोचित स्नेह रखते हुए तदनुरूप बर्ताव कीजिये ॥ ४५½ ॥

पित्रा स्थापयितव्या हि वयमुत्पथमास्थिताः ॥ ४६ ॥
संस्थापय पथिष्वस्मांस्तिष्ठ धर्मे सुवर्त्मनि ।

'हम पुत्रगण यदि कुमार्गपर जा रहे हों तो पिताके नाते आपका कर्तव्य है कि हमें सन्मार्गमें स्थापित करें । इसलिये आप स्वयं धर्मके सुन्दर मार्गपर स्थित होइये और हमें भी धर्मके मार्गपर ही लाइये' ॥ ४६½ ॥

आहुश्चेमां परिषदं पुत्रास्ते भरतर्षभ ॥ ४७ ॥
धर्मज्ञेषु सभासत्सु नेह युक्तमसाम्प्रतम् ।

भरतश्रेष्ठ ! आपके पुत्र पाण्डवोंने इस सभाके लिये भी यह संदेश दिया है—'आप समस्त सभासद्गण धर्मके ज्ञाता हैं । आपके रहते हुए यहाँ कोई अयोग्य कार्य हो, यह उचित नहीं है ॥ ४७½ ॥

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ॥ ४८ ॥
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ।

'जहाँ सभासदोंके देखते-देखते अधर्मके द्वारा धर्मका और मिथ्याके द्वारा सत्यका गला घोंटा जाता हो, वहाँ वे सभासद् नष्ट हुए माने जाते हैं ॥ ४८½ ॥

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्र प्रपद्यते ॥ ४९ ॥
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ।
धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान् ॥ ५० ॥

'जिस सभामें अधर्मसे विद्ध हुआ धर्म प्रवेश करता है और सभासद्गण उस अधर्मरूपी काँटेको काटकर निकाल नहीं देते हैं, वहाँ उस काँटेसे सभासद् ही विद्ध होते हैं (अर्थात् उन्हें ही अधर्मसे लिप्त होना पड़ता है) । जैसे नदी अपने तटपर उगे हुए वृक्षोंको गिराकर नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वह अधर्मविद्ध धर्म ही उन सभासदोंका नाश कर डालता है' ॥ ४९-५० ॥

ये धर्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते ।
ते सत्यमाहुर्धर्म्यं च न्याय्यं च भरतर्षभ ॥ ५१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो पाण्डव सदा धर्मकी ओर ही दृष्टि रखते हैं और उसीका विचार करके चुपचाप बैठे हैं, वे जो आपसे राज्य लौटा देनेका अनुरोध करते हैं, वह सत्य, धर्मसम्मत और न्यायसंगत है ॥ ५१ ॥

शक्यं किमन्यद् वक्तुं ते दानादन्यज्जनेश्वर ।
ब्रुवन्तु ते महीपालाः सभायां ये समासते ॥ ५२ ॥
धर्मार्थौ सम्प्रधार्यैव यदि सत्यं ब्रवीम्यहम् ।
प्रमुञ्चेमान् मृत्युपाशात् क्षत्रियान् पुरुषर्षभ ॥ ५३ ॥

जनेश्वर ! आपसे पाण्डवोंका राज्य लौटा देनेके सिवा दूसरी कौन-सी बात यहाँ कही जा सकती है । इस सभामें जो भूमिपाल बैठे हैं, वे धर्म और अर्थका विचार करके स्वयं बतावें, मैं ठीक कहता हूँ या नहीं । पुरुषरत्न ! आप इन क्षत्रियोंको मौतके फंदेसे छुड़ाइये ॥ ५२-५३ ॥

प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ मा मन्युवशमन्वगाः ।
पित्र्यं तेभ्यः प्रदायांशं पाण्डवेभ्यो यथोचितम् ॥ ५४ ॥
ततः सपुत्रः सिद्धार्थो भुङ्क्ष्व भोगान् परंतप ।

भरतश्रेष्ठ ! शान्त हो जाइये, क्रोधके वशीभूत न होइये । परंतप ! पाण्डवोंको यथोचित पैतृक राज्यभाग देकर अपने पुत्रोंके साथ सफलमनोरथ हो मनोवाञ्छित भोग भोगिये ॥ ५४½ ॥

अजातशत्रुं जानीषे स्थितं धर्मे सतां सदा ॥ ५५ ॥
सपुत्रे त्वयि वृत्तिं च वर्तते यां नराधिप ।
दाहितश्च निरस्तश्च त्वामेवोपाश्रितः पुनः ॥ ५६ ॥

नरेश्वर ! आप जानते हैं कि अजातशत्रु युधिष्ठिर सदा सत्पुरुषोंके धर्मपर स्थित हैं। उनका पुत्रोंसहित आपके प्रति जो बर्ताव है, उससे भी आप अपरिचित नहीं हैं। आपलोगोंने उन्हें लाक्षागृहकी आगमें जलवाया तथा राज्य और देशसे निकाल दिया; तो भी वे पुनः आपकी ही शरणमें आये हैं ॥ ५५-५६ ॥

इन्द्रप्रस्थं त्वयैवासौ सपुत्रेण विवासितः।
स तत्र विवसन् सर्वान् वशमानीय पार्थिवान् ॥ ५७ ॥
त्वन्मुखानकरोद् राजन् न च त्वामत्यवर्तत।

पुत्रोंसहित आपने ही युधिष्ठिरको यहाँसे निकालकर इन्द्रप्रस्थका निवासी बनाया। वहाँ रहकर उन्होंने समस्त राजाओंको अपने वशमें किया और उन्हें आपका मुखापेक्षी बना दिया। राजन् ! तो भी युधिष्ठिरने कभी आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं किया ॥ ५७½ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य सौबलेन जिहीर्षता ॥ ५८ ॥
राष्ट्राणि धनधान्यं च प्रयुक्तः परमोपधिः।

ऐसे साधु बर्तावबाले युधिष्ठिरके राज्य तथा धन-धान्यका अपहरण कर लेनेकी इच्छासे सुबलपुत्र शकुनिने जूएके बहाने अपना महान् कपटजाल फैलाया ॥ ५८½ ॥

स तामवस्थां सम्प्राप्य कृष्णां प्रेक्ष्य सभागताम् ॥ ५९ ॥
क्षत्रधर्मादमेयात्मा नाकम्पत युधिष्ठिरः।

उस दयनीय अवस्थामें पहुँचकर अपनी महारानी कृष्णाको सभामें (तिरस्कारपूर्वक) लायी गयी देखकर भी महामना युधिष्ठिर अपने क्षत्रियधर्मसे विचलित नहीं हुए ॥ ५९½ ॥

अहं तु तव तेषां च श्रेय इच्छामि भारत ॥ ६० ॥
धर्मादर्थात् सुखाच्चैव मा राजन् नीनशः प्रजाः।
अनर्थमर्थं मन्वानोऽप्यर्थं चानर्थमात्मनः ॥ ६१ ॥

भारत ! मैं तो आपका और पाण्डवोंका भी कल्याण ही चाहता हूँ। राजन् ! आप समस्त प्रजाको धर्म, अर्थ और सुखसे वञ्चित न कीजिये। इस समय आप अनर्थको ही अर्थ और अर्थको ही अपने लिये अनर्थ मान रहे हैं ॥ ६०-६१ ॥

लोभेऽतिप्रसृतान् पुत्रान् निगृह्णीष्व विशाम्पते।
स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिंदमाः ॥
यत् ते पथ्यतमं राजंस्तस्मिंस्तिष्ठ परंतप ॥ ६२ ॥

प्रजानाथ ! आपके पुत्र लोभमें अत्यन्त आसक्त हो गये हैं, उन्हें काबूमें लाइये। राजन् ! शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीके पुत्र आपकी सेवाके लिये भी तैयार हैं और युद्धके लिये भी प्रस्तुत हैं। परंतप ! जो आपके लिये विशेष हितकर जान पड़े, उसी मार्गका अवलम्बन कीजिये ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वाक्यं पार्थिवाः सर्वे हृदयैः समपूजयन्।
न तत्र कश्चिद् वक्तुं हि वाचं प्राक्रामदग्रतः ॥ ६३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णके उस कथनका समस्त राजाओंने हृदयसे आदर किया। वहाँ उसके उत्तरमें कोई भी कुछ कहनेके लिये अग्रसर न हो सका ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कौरवसभामें श्रीकृष्णवाक्यविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

परशुरामजीका दम्भोद्भवकी कथाद्वारा नर-नारायणस्वरूप अर्जुन और श्रीकृष्णका महत्त्व वर्णन करना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन्नभिहिते वाक्ये केशवेन महात्मना।
स्तिमिता हृष्टरोमाण आसन् सर्वे सभासदः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा श्रीकृष्णके ऐसी बात कहनेपर सम्पूर्ण सभासद् चकित हो गये। उनके अङ्गोंमें रोमाञ्च हो आया ॥ १ ॥

कश्चिदुत्तरमेतेषां वक्तुं नोत्सहते पुमान्।
इति सर्वे मनोभिस्ते चिन्तयन्ति स्म पार्थिवाः ॥ २ ॥

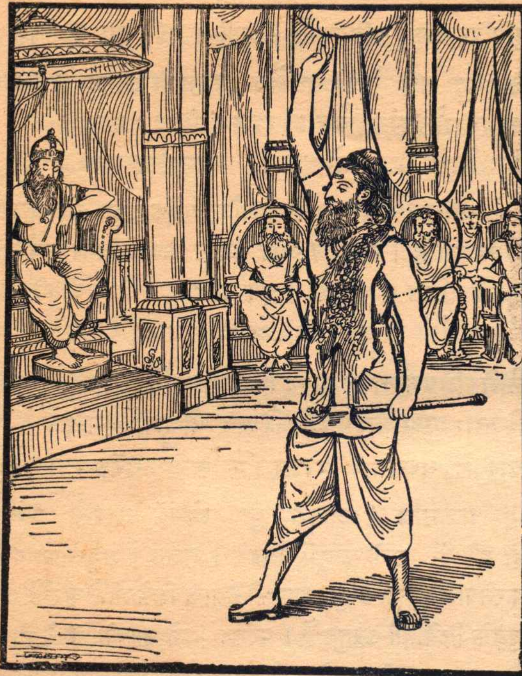
वे सब भूपाल मन-ही-मन यह सोचने लगे कि भगवान्‌के इन वचनोंका उत्तर कोई भी मनुष्य नहीं दे सकता है ॥ २ ॥

तथा तेषु च सर्वेषु तूष्णीम्भूतेषु राजसु।
जामदग्न्य इदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ ३ ॥

इस प्रकार उन सब राजाओंके मौन ही रह जानेपर जमदग्निनन्दन परशुरामने कौरवसभामें इस प्रकार कहा— ॥

इमां मे सोपमां वाचं शृणु सत्यामशङ्कितः।
तां श्रुत्वा श्रेय आदत्स्व यदि साध्विति मन्यसे ॥ ४ ॥

'राजन् ! तुम निःशङ्क होकर मेरी यह उदाहरणयुक्त बात सुनो। सुनकर यदि इसे कल्याणकारी और उत्तम समझो तो स्वीकार करो ॥ ४ ॥



राजा दम्भोद्भवो नाम सार्वभौमः पुराभवत्।
अखिलां बुभुजे सर्वां पृथिवीमिति नः श्रुतम् ॥ ५ ॥

'पूर्वकालकी बात है, दम्भोद्भव नामसे प्रसिद्ध एक सार्वभौम सम्राट् इस सम्पूर्ण अखण्ड भूमण्डलका राज्य भोगते थे; यह हमारे सुननेमें आया है ॥ ५ ॥

स स्म नित्यं निशापाये प्रातरुत्थाय वीर्यवान्।
ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्चैव पृच्छन्नास्ते महारथः ॥ ६ ॥

'वे महारथी और पराक्रमी नरेश प्रतिदिन रात बीतनेपर प्रातःकाल उठकर ब्राह्मणों और क्षत्रियोंसे इस प्रकार पूछा करते थे—॥ ६ ॥

अस्ति कश्चिद् विशिष्टो वा मद्विधो वा भवेद् युधि।
शूद्रो वैश्यः क्षत्रियो वा ब्राह्मणो वापि शस्त्रभृत् ॥ ७ ॥

'क्या इस जगत्‌में कोई ऐसा शस्त्रधारी शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण है, जो युद्धमें मुझसे बढ़कर अथवा मेरे समान भी हो सके ?' ॥ ७ ॥

इति ब्रुवन्नन्वचरत् स राजा पृथिवीमिमाम्।
दर्पेण महता मत्तः कंचिदन्यमचिन्तयन् ॥ ८ ॥

'इसी प्रकार पूछते हुए वे राजा दम्भोद्भव महान् गर्वसे उन्मत्त हो दूसरे किसीको कुछ भी न समझते हुए इस पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ ८ ॥

तं च वैद्या अकृपणा ब्राह्मणाः सर्वतोऽभयाः।
प्रत्यषेधन्त राजानं श्लाघमानं पुनः पुनः ॥ ९ ॥

'उस समय सर्वथा निर्भय, उदार एवं विद्वान् ब्राह्मणोंने बारंबार आत्मप्रशंसा करनेवाले उन नरेशको मना किया ॥

निषिध्यमानोऽप्यसकृत् पृच्छत्येव स वै द्विजान्।
अतिमानं श्रिया मत्तं तमूचुर्ब्राह्मणास्तदा ॥ १० ॥
तपस्विनो महात्मानो वेदप्रत्ययदर्शिनः।
उदीर्यमाणं राजानं क्रोधदीप्ता द्विजातयः ॥ ११ ॥

'उनके मना करनेपर भी वे ब्राह्मणोंसे बार-बार प्रश्न करते ही रहे। उनका अहंकार बहुत बढ़ गया था। वे धन-वैभवके मदसे मतवाले हो गये थे। राजाको यही (बारंबार) प्रश्न दुहराते देख वेदके सिद्धान्तका साक्षात्कार करनेवाले महामना तपस्वी ब्राह्मण क्रोधसे तमतमा उठे और उनसे इस प्रकार बोले—॥ १०-११ ॥

अनेकजयिनौ संख्ये यौ वै पुरुषसत्तमौ।
तयोस्त्वं न समो राजन् भवितासि कदाचन ॥ १२ ॥

'राजन्! दो ऐसे पुरुषरत्न हैं, जिन्होंने युद्धमें अनेक योद्धाओंपर विजय पायी है। तुम कभी उनके समान न हो सकोगे' ॥ १२ ॥

एवमुक्तः स राजा तु पुनः पप्रच्छ तान् द्विजान्।
क्व तौ वीरौ क्वजन्मानौ किंकर्माणौ च कौ च तौ १३

'उनके ऐसा कहनेपर राजाने पुनः उन ब्राह्मणोंसे पूछा—'वे दोनों वीर कहाँ हैं? उनका जन्म किस स्थानमें हुआ है? उनके कर्म कौन-कौन-से हैं और उनके नाम क्या हैं?' ॥ १३ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

नरो नारायणश्चैव तापसाविति नः श्रुतम्।
आयातौ मानुषे लोके ताभ्यां युध्यस्व पार्थिव ॥ १४ ॥

ब्राह्मण बोले—भूपाल! हमने सुना है कि वे नर-नारायण नामवाले तपस्वी हैं और इस समय मनुष्यलोकमें आये हैं। तुम उन्हीं दोनोंके साथ युद्ध करो ॥ १४ ॥

श्रूयेते तौ महात्मानौ नरनारायणावुभौ।
तपो घोरमनिर्देश्यं तप्येते गन्धमादने ॥ १५ ॥

सुना है, वे दोनों महात्मा नर और नारायण गन्धमादन पर्वतपर ऐसी घोर तपस्या कर रहे हैं, जिसका वाणीद्वारा वर्णन नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

स राजा महतीं सेनां योजयित्वा षडङ्गिनीम्।
अमृष्यमाणः सम्प्रायाद् यत्र तावपराजितौ ॥ १६ ॥

राजाको यह सहन नहीं हुआ। उन्होंने (रथ, हाथी, घोड़े, पैदल, शकट और ऊँट—इन) छः अङ्गोंसे युक्त विशाल सेनाको सुसजित करके उस स्थानकी यात्रा की, जहाँ कभी पराजित न होनेवाले वे दोनों महात्मा विद्यमान थे ॥ १६ ॥

स गत्वा विषमं घोरं पर्वतं गन्धमादनम्।
मार्गमाणोऽन्वगच्छत् तौ तापसौ वनमाश्रितौ ॥ १७ ॥

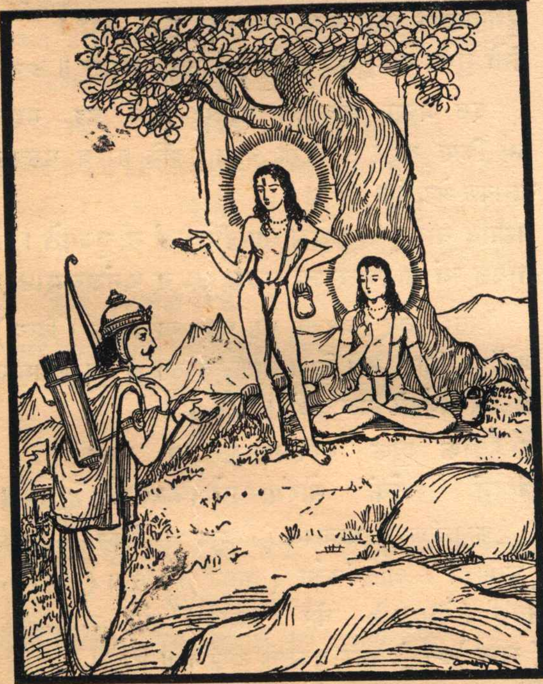
राजा उनकी खोज करते हुए दुर्गम एवं भयंकर गन्धमादन पर्वतपर गये और वनमें स्थित उन तपस्वी महात्माओंके पास जा पहुँचे ॥ १७ ॥

तौ दृष्ट्वा क्षुत्पिपासाभ्यां कृशौ धमनिसंततौ ।
शीतवातातपैश्चैव कर्शितौ पुरुषोत्तमौ ॥ १८ ॥

वे दोनों पुरुषरत्न भूख-प्याससे दुर्बल हो गये थे। उनके सारे अङ्गोंमें फैली हुई नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं। वे सर्दी-गर्मी और हवाका कष्ट सहते-सहते अत्यन्त कृशकाय हो रहे थे ॥ १८ ॥

अभिगम्योपसंगृह्य पर्यपृच्छदनामयम् ।
तमर्चित्वा मूलफलैरासनेनोदकेन च ॥ १९ ॥
न्यमन्त्रयेतां राजानं किं कार्यं क्रियतामिति ।
ततस्तामानुपूर्वीं स पुनरेवान्वकीर्तयत् ॥ २० ॥

निकट जाकर उनके चरणोंमें नमस्कार करके दम्भोद्भवने उन दोनोंका कुशल-समाचार पूछा। तब नर और नारायणने राजाका स्वागत-सत्कार करके आसन, जल और फल-मूल देकर उन्हें भोजनके लिये निमन्त्रित किया। तदनन्तर पूछा कि हम आपकी क्या सेवा करें? यह सुनकर उन्होंने अपना सारा वृत्तान्त पुनः अक्षरशः सुना दिया ॥ १९-२० ॥



बाहुभ्यां मे जिता भूमिर्निहताः सर्वशत्रवः ।
भवद्भ्यां युद्धमाकाङ्क्षन्नुपयातोऽस्मि पर्वतम् ॥ २१ ॥
आतिथ्यं दीयतामेतत् काङ्क्षितं मे चिरं प्रति ।

और कहा—'मैंने अपने बाहुबलसे सारी पृथ्वीको जीत लिया है तथा सम्पूर्ण शत्रुओंका संहार कर डाला है। अब आप दोनोंसे युद्ध करनेकी इच्छा लेकर इस पर्वतपर आया हूँ। यही मेरा चिरकालसे अभिलषित मनोरथ है। आप अतिथि-सत्कारके रूपमें इसे ही पूर्ण कर दीजिये ॥ २१½ ॥

नरनारायणावूचतुः

अपेतक्रोधलोभोऽयमाश्रमो राजसत्तम ॥ २२ ॥
न ह्यस्मिन्नाश्रमे युद्धं कुतः शस्त्रं कुतोऽनृजुः ।
अन्यत्र युद्धमाकाङ्क्ष बहवः क्षत्रियाः क्षितौ ॥ २३ ॥

नर-नारायण बोले—नृपश्रेष्ठ! हमारा यह आश्रम क्रोध और लोभसे रहित है। इस आश्रममें कभी युद्ध नहीं होता, फिर अस्त्र-शस्त्र और कुटिल मनोवृत्तिका मनुष्य यहाँ कैसे रह सकता है? इस पृथ्वीपर बहुत-से क्षत्रिय हैं, अतः आप कहीं और जाकर युद्धकी अभिलाषा पूर्ण कीजिये ॥ २२-२३ ॥

राम उवाच

उच्यमानस्तथापि स भूय एवाभ्यभाषत ।
पुनः पुनः क्षम्यमाणः सान्त्व्यमानश्च भारत ॥ २४ ॥
दम्भोद्भवो युद्धमिच्छन्नाह्वयत्येव तापसौ ।

परशुरामजी कहते हैं—भारत! उन दोनों महात्माओंने बारंबार ऐसा कहकर राजासे क्षमा माँगी और उन्हें विविध प्रकारसे सान्त्वना दी। तथापि दम्भोद्भव युद्धकी इच्छासे उन दोनों तापसोंको कहते और ललकारते ही रहे ॥ २४½ ॥

ततो नरस्त्विषीकाणां मुष्टिमादाय भारत ॥ २५ ॥
अब्रवीदेहि युद्धयस्व युद्धकामुक क्षत्रिय ।
सर्वशस्त्राणि चादत्स्व योजयस्व च वाहिनीम् ॥ २६ ॥
(संनह्यस्व च वर्माणि यानि चान्यानि सन्ति ते ।)
अहं हि ते विनेष्यामि युद्धश्रद्धामितः परम् ।
(यदाह्वयसि दर्पेण ब्राह्मणप्रमुखाञ्जनान् ॥)

भरतनन्दन! तब महात्मा नरने हाथमें एक मुट्ठी सींक लेकर कहा—'युद्ध चाहनेवाले क्षत्रिय! आ, युद्ध कर। अपने सारे अस्त्र-शस्त्र ले ले। सारी सेनाको तैयार कर ले, कवच बाँध ले, तेरे पास और भी जितने साधन हों, उन सबसे सम्पन्न हो जा। तू बड़े घमंडमें आकर ब्राह्मण आदि सभी वर्णके लोगोंको ललकारता फिरता है; इसलिये मैं आजसे तेरे युद्धविषयक निश्चयको दूर किये देता हूँ' ॥

दम्भोद्भव उवाच

यद्येतदस्त्रमस्मासु युक्तं तापस मन्यसे ॥ २७ ॥
एतेनापि त्वया योत्स्ये युद्धार्थी ह्यहमागतः ।

दम्भोद्भवने कहा—तापस! यदि आप यही अस्त्र हमारे लिये उपयुक्त मानते हैं तो मैं इसके होनेपर भी आपके साथ युद्ध अवश्य करूँगा; क्योंकि मैं युद्धके लिये ही यहाँ आया हूँ ॥ २७½ ॥

राम उवाच

इत्युक्त्वा शरवर्षेण सर्वतः समवाकिरत् ॥ २८ ॥
दम्भोद्भवस्तापसं तं जिघांसुः सहसैनिकः ।

परशुरामजी कहते हैं—ऐसा कहकर सैनिकोंसहित दम्भोद्भवने तपस्वी नरको मार डालनेकी इच्छासे सब ओरसे उनपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २८½ ॥

तस्य तानस्यतो घोरानिषून् परतनुच्छिदः ॥ २९ ॥
कदर्थीकृत्य स मुनिरिषीकाभिः समार्पयत् ।

उनके भयंकर बाण शत्रुके शरीरको छिन्न-भिन्न कर देनेवाले थे; परंतु मुनिने उन बाणोंका प्रहार करनेवाले दम्भोद्भवकी कोई परवा न करके सींकोंसे ही उनको बींध डाला ॥ २९½ ॥

ततोऽस्मै प्रासृजद् घोरमैषीकमपराजितः ॥ ३० ॥
अस्त्रमप्रतिसंधेयं तदद्भुतमिवाभवत् ।

तब किसीसे पराजित न होनेवाले महर्षि नरने उनके ऊपर भयंकर ऐषीकास्त्रका प्रयोग किया; जिसका निवारण करना असम्भव था । यह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥

तेषामक्षीणि कर्णांश्च नासिकाश्चैव मायया ॥ ३१ ॥
निमित्तवेधी स मुनिरिषीकाभिः समार्पयत् ।

इस प्रकार लक्ष्यवेध करनेवाले नर मुनिने मायाद्वारा सींकके बाणोंसे ही दम्भोद्भवके सैनिकोंकी आँखों, कानों और नासिकाओंको बींध डाला ॥ ३१½ ॥

स दृष्ट्वा श्वेतमाकाशमिषीकाभिः समाचितम् ॥ ३२ ॥
पादयोर्न्यपतद् राजा स्वस्ति मेऽस्त्विति चाब्रवीत् ।

राजा दम्भोद्भव सींकोंसे भरे हुए समूचे आकाशको श्वेतवर्ण हुआ देखकर मुनिके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—'भगवन् ! मेरा कल्याण हो' ॥ ३२½ ॥

तमब्रवीन्नरो राजञ्शरण्यः शरणैषिणाम् ॥ ३३ ॥
ब्रह्मण्यो भव धर्मात्मा मा च स्मैवं पुनः कृथाः ।

'राजन् ! शरण चाहनेवालोंको शरण देनेवाले भगवान् नरने उनसे कहा—'आजसे तुम ब्राह्मणहितैषी और धर्मात्मा बनो । फिर कभी ऐसा साहस न करना ॥ ३३½ ॥

नैतादृक् पुरुषो राजन् क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥ ३४ ॥
मनसा नृपशार्दूल भवेत् परपुरंजयः ।

'नरेश्वर ! नृपश्रेष्ठ ! शत्रुनगरविजयी वीर पुरुष क्षत्रियधर्मको स्मरण रखते हुए कभी मनसे भी ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता, जैसा कि तुमने किया है ॥ ३४½ ॥

मा च दर्पसमाविष्टः क्षेप्सीः कांश्चित् कथंचन ॥ ३५ ॥
अल्पीयांसं विशिष्टं वा तत् ते राजन् समाहितम् ।

'राजन् ! आजसे फिर कभी घमंडमें आकर अपनेसे बड़े या छोटे किन्हीं राजाओंपर किसी प्रकार भी आक्षेप न करना । इस बातके लिये मैंने तुम्हें सावधान कर दिया ॥

कृतप्रज्ञो वीतलोभो निरहंकार आत्मवान् ॥ ३६ ॥
दान्तः क्षान्तो मृदुः सौम्यः प्रजाः पालय पार्थिव ।
मा स्म भूयः क्षिपेः कंचिदविदित्वा बलाबलम् ॥ ३७ ॥

'भूपाल ! तुम विनीतबुद्धि, लोभशून्य, अहंकाररहित, मनस्वी, जितेन्द्रिय, क्षमाशील, कोमलस्वभाव और सौम्य होकर प्रजाका पालन करो । फिर कभी दूसरोंके बलाबलको जाने बिना किसीपर आक्षेप न करना ॥ ३६-३७ ॥

अनुज्ञातः स्वस्ति गच्छ मैवं भूयः समाचरेः ।
कुशलं ब्राह्मणान् पृच्छेरावयोर्वचनाद् भृशम् ॥ ३८ ॥

'मैंने तुम्हें आज्ञा दे दी, तुम्हारा कल्याण हो, जाओ । फिर ऐसा बर्ताव न करना । विशेषतः हम दोनोंके कहनेसे तुम ब्राह्मणोंसे उनका कुशल-समाचार पूछते रहना' ॥ ३८ ॥

ततो राजा तयोः पादावभिवाद्य महात्मनोः ।
प्रत्याजगाम स्वपुरं धर्मं चैवाचरद् भृशम् ॥ ३९ ॥

तदनन्तर राजा दम्भोद्भव उन दोनों महात्माओंके चरणोंमें प्रणाम करके अपनी राजधानीमें लौट आये और विशेषरूपसे धर्मका आचरण करने लगे ॥ ३९ ॥

सुमहच्चापि तत् कर्म यन्नरेण कृतं पुरा ।
ततो गुणैः सुबहुभिः श्रेष्ठो नारायणोऽभवत् ॥ ४० ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें महात्मा नरने वह महान् कर्म किया था । उनसे भी बहुत गुणोंके कारण भगवान् नारायण श्रेष्ठ हैं ॥ ४० ॥

तस्माद् यावद् धनुःश्रेष्ठे गाण्डीवेऽस्त्रं न युज्यते ।
तावत् त्वं मानमुत्सृज्य गच्छ राजन् धनंजयम् ॥ ४१ ॥

अतः राजन् ! जबतक श्रेष्ठ धनुष गाण्डीवपर (दिव्य) अस्त्रोंका संधान नहीं किया जाता, तबतक ही तुम अभिमान छोड़कर अर्जुनसे मिल जाओ ॥ ४१ ॥

काकुदीकं शुकं नाकमक्षिसंतर्जनं तथा ।
संतानं नर्तकं घोरमास्यमोदकमष्टमम् ॥ ४२ ॥

काकुदीक (प्रस्वापन), शुक (मोहन), नाक (उन्मादन), अक्षिसंतर्जन (त्रासन), संतान (दैवत), नर्तक (पैशाच), घोर (राक्षस) और आस्यमोदक (याम्य)*—ये आठ प्रकारके अस्त्र हैं ॥ ४२ ॥

---

* जिस अस्त्रसे अभिभूत होकर योद्धा रथ और हाथी आदिके ककुद् (पृष्ठभाग) पर ही सोते रह जाते हैं, उसका नाम काकुदीक एवं प्रस्वापन है । जैसे शुक पानीके ऊपर रक्खी हुई बाँसकी नलिकाको पकड़कर भयसे चिल्लाता रहता है, उसी प्रकार जिससे मोहित हुए योद्धा बिना भयके ही भय देखकर घोड़े और रथ आदिके पाँवोंसे चिपट जाते हैं; उस अस्त्रका नाम शुक अथवा

एतैर्विद्धाः सर्व एव मरणं यान्ति मानवाः ।
कामक्रोधौ लोभमोहौ मदमानौ तथैव च ॥ ४३ ॥
मात्सर्याहंकृती चैव क्रमादेव उदाहृताः ।

इन अस्त्रोंसे विद्ध होनेपर सभी मनुष्य मृत्युको प्राप्त होते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, मात्सर्य और अहंकार—ये क्रमशः आठ दोष बताये गये हैं, जिनके प्रतीकस्वरूप उपर्युक्त आठ अस्त्र हैं ॥ ४३½ ॥

उन्मत्ताश्च विचेष्टन्ते नष्टसंज्ञा विचेतसः ॥ ४४ ॥
स्वपन्ति च प्लवन्ते च छर्दयन्ति च मानवाः ।
मूत्रयन्ते च सततं रुदन्ति च हसन्ति च ॥ ४५ ॥

इन अस्त्रोंके प्रयोगसे कुछ लोग उन्मत्त हो जाते हैं और वैसी ही चेष्टाएँ करने लगते हैं। कितनोंको सुध-बुध नहीं रह जाती, वे अचेत हो जाते हैं। कई मनुष्य सोने लगते हैं। कुछ उछलते-कूदते और छींकते हैं। कितने ही मल-मूत्र करने लग जाते हैं और कुछ लोग निरंतर रोते-हँसते रहते हैं ॥ ४४-४५ ॥

निर्माता सर्वलोकानामीश्वरः सर्वकर्मवित् ।
यस्य नारायणो बन्धुरर्जुनो दुःसहो युधि ॥ ४६ ॥

राजन्! सम्पूर्ण लोकोंका निर्माण करनेवाले ईश्वर एवं सब कर्मोंके ज्ञाता नारायण जिनके बन्धु (सहायक) हैं, वे नरस्वरूप अर्जुन युद्धमें दुःसह हैं (क्योंकि उन्हें उपर्युक्त सभी अस्त्रोंका अच्छा ज्ञान है) ॥ ४६ ॥

कस्तमुत्सहते जेतुं त्रिषु लोकेषु भारत ।
वीरं कपिध्वजं जिष्णुं यस्य नास्ति समो युधि ॥४७॥

भारत! युद्धभूमिमें जिनकी समानता कोई भी नहीं कर सकता, उन विजयशील वीर कपिध्वज अर्जुनको जीतनेका साहस तीनों लोकोंमें कौन कर सकता है? ॥ ४७ ॥

असंख्येया गुणाः पार्थे तद्विशिष्टो जनार्दनः ।
त्वमेव भूयो जानासि कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ ४८ ॥
नरनारायणौ यौ तौ तावेवार्जुनकेशवौ ।
विजानीहि महाराज प्रवीरौ पुरुषोत्तमौ ॥ ४९ ॥

महाराज! अर्जुनमें असंख्य गुण हैं एवं भगवान् जनार्दन तो उनसे भी बढ़कर हैं। तुम भी कुन्तीपुत्र अर्जुनको अच्छी तरह जानते हो। जो दोनों महात्मा नर और नारायणके नामसे प्रसिद्ध हैं, वे ही अर्जुन और श्रीकृष्ण हैं। तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि वे दोनों पुरुषरत्न सर्वश्रेष्ठ वीर हैं ॥ ४८-४९ ॥

यद्येतदेवं जानासि न च मामभिशङ्कसे ।
आर्यां मतिं समास्थाय शाम्य भारत पाण्डवैः॥ ५० ॥

भारत! यदि तुम इस बातको इस रूपमें जानते हो और मुझपर तुम्हें तनिक भी संदेह नहीं है तो मेरे कहनेसे श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय लेकर पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥

अथ चेन्मन्यसे श्रेयो न मे भेदो भवेदिति ।
प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ मा च युद्धे मनः कृथाः॥ ५१ ॥

भरतश्रेष्ठ! यदि तुम्हारी यह इच्छा हो कि हमलोगोंमें फूट न हो और इसीमें तुम अपना कल्याण समझो, तब तो संधि करके शान्त हो जाओ और युद्धमें मन न लगाओ ॥ ५१ ॥

भवतां च कुरुश्रेष्ठ कुलं बहुमतं भुवि ।
तत् तथैवास्तु भद्रं ते स्वार्थमेवोपचिन्तय ॥ ५२ ॥

कुरुश्रेष्ठ! तुम्हारा कुल इस पृथ्वीपर बहुत प्रतिष्ठित है। वह उसी प्रकार सम्मानित बना रहे और तुम्हारा कल्याण हो, इसके लिये अपने वास्तविक स्वार्थका ही चिन्तन करो ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दम्भोद्भवोपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें दम्भोद्भवकी कथाविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५३ श्लोक हैं)

सप्तनवतितमोऽध्यायः

कण्व मुनिका दुर्योधनको संधिके लिये समझाते हुए मातलिका उपाख्यान आरम्भ करना

वैशम्पायन उवाच

जामदग्न्यवचः श्रुत्वा कण्वोऽपि भगवानृषिः ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जमदग्निनन्दन परशुरामका यह वचन सुनकर भगवान् कण्व मुनिने भी कौरवसभामें दुर्योधनसे यह बात कही ॥ १ ॥

मोहन है। जिस अस्त्रसे भ्रान्तचित्त होकर मनुष्यको नाक (स्वर्ग) लोक दिखायी देने लगे, वह नाक या उन्मादन कहलाता है। जिसके प्रहारसे विद्ध होकर लोग त्रासके कारण मल-मूत्र करने लगते हैं, वह अक्षिसंतर्जन अथवा त्रासन नामक अस्त्र है। संतान अथवा दैवत अस्त्र वह है, जिसके प्रयोगसे अविच्छिन्नरूपसे अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा होने लगती है। जिसके प्रयोगसे मनुष्य वेदनाके मारे नाँच उठता है, वह नर्तक या पैशाच अस्त्र है। भयानक संहारकारी अस्त्रको घोर अथवा राक्षस कहा गया है। जिससे आहत होकर लोग मुँहमें पत्थर रखकर मरनेके लिये निकल पड़ते हैं, वह आस्यमोदक अथवा याम्य नामक अस्त्र है। (भारतभावदीपटीका)

कण्व उवाच

अक्षयश्चाव्ययश्चैव ब्रह्मा लोकपितामहः ।
तथैव भगवन्तौ तौ नरनारायणावृषी ॥ २ ॥

कण्व बोले—राजन् ! जैसे लोकपितामह ब्रह्मा अक्षय और अविनाशी हैं, उसी प्रकार वे दोनों भगवान् नर-नारायण ऋषि भी हैं ॥ २ ॥

आदित्यानां हि सर्वेषां विष्णुरेकः सनातनः ।
अजय्यश्चाव्ययश्चैव शाश्वतः प्रभुरीश्वरः ॥ ३ ॥

अदितिके सभी पुत्रोंमें अथवा सम्पूर्ण आदित्योंमें एकमात्र भगवान् विष्णु ही अजेय, अविनाशी, नित्य विद्यमान एवं सर्वसमर्थ सनातन परमेश्वर हैं ॥ ३ ॥

निमित्तमरणाश्चान्ये चन्द्रसूर्यौ मही जलम् ।
वायुरग्निस्तथाऽऽकाशं ग्रहास्तारागणास्तथा॥ ४ ॥

अन्य सब लोग तो किसी-न-किसी निमित्तसे मृत्युको प्राप्त होते ही हैं । चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, ग्रह तथा नक्षत्र—ये सभी नाशवान् हैं ॥ ४ ॥

ते च क्षयान्ते जगतो हित्वा लोकत्रयं सदा ।
क्षयं गच्छन्ति वै सर्वे सृज्यन्ते च पुनः पुनः॥ ५ ॥

जगत्का विनाश होनेके पश्चात् ये चन्द्र, सूर्य आदि तीनों लोकोंका सदाके लिये परित्याग करके नष्ट हो जाते हैं । फिर सृष्टिकालमें इन सबकी बारंबार सृष्टि होती है ॥ ५ ॥

मुहूर्तमरणास्त्वन्ये मानुषा मृगपक्षिणः ।
तैर्यग्योन्याश्च ये चान्ये जीवलोकचरास्तथा ॥ ६ ॥

इनके सिवा ये दूसरे जो मनुष्य, पशु, पक्षी तथा जीवलोकमें विचरनेवाले अन्यान्य तिर्यग्योनिके प्राणी हैं, वे अल्पकालमें ही कालके गालमें चले जाते हैं ॥ ६ ॥

भूयिष्ठेन तु राजानः श्रियं भुक्त्वाऽऽयुषः क्षये ।
तरुणाः प्रतिपद्यन्ते भोक्तुं सुकृतदुष्कृते ॥ ७ ॥

राजालोग भी प्रायः राजलक्ष्मीका उपभोग करके आयुकी समाप्ति होनेपर मृत्यु होनेके पश्चात् अपने पाप-पुण्यका फल भोगनेके लिये पुनः नूतन जन्म ग्रहण करते हैं ॥ ७ ॥

स भवान् धर्मपुत्रेण शमं कर्तुमिहार्हति ।
पाण्डवाः कुरवश्चैव पालयन्तु वसुंधराम् ॥ ८ ॥

राजन् ! आपको धर्मपुत्र युधिष्ठिरके साथ संधि कर लेनी चाहिये । मैं चाहता हूँ कि पाण्डव तथा कौरव दोनों मिलकर इस पृथ्वीका पालन करें ॥ ८ ॥

बलवानहमित्येव न मन्तव्यं सुयोधन ।
बलवन्तो बलिभ्यो हि दृश्यन्ते पुरुषर्षभ ॥ ९ ॥

पुरुषरत्न सुयोधन ! तुम्हें यह नहीं मानना चाहिये कि मैं ही सबसे अधिक बलवान् हूँ; क्योंकि संसारमें बलवानोंसे भी बलवान् पुरुष देखे जाते हैं ॥ ९ ॥

न बलं बलिनां मध्ये बलं भवति कौरव ।
बलवन्तो हि ते सर्वे पाण्डवा देवविक्रमाः ॥ १० ॥

कुरुनन्दन ! बलवानोंके बीचमें सैनिकबलको बल नहीं समझा जाता है । समस्त पाण्डव देवताओंके समान पराक्रमी हैं; अतः वे ही तुम्हारी अपेक्षा बलवान् हैं ॥ १० ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मातलेर्दातुकामस्य कन्यां मृगयतो वरम् ॥ ११ ॥

इस प्रसंगमें कन्यादान करनेके लिये वर ढूँढ़नेवाले मातलिके इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ११ ॥

मतस्त्रैलोक्यराजस्य मातलिर्नाम सारथिः ।
तस्यैकैव कुले कन्या रूपतो लोकविश्रुता ॥ १२ ॥

त्रिलोकीनाथ इन्द्रके प्रिय सारथिका नाम मातलि है । उनके कुलमें उन्हींकी एक कन्या थी; जो अपने रूपके कारण सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात थी ॥ १२ ॥

गुणकेशीति विख्याता नाम्ना सा देवरूपिणी ।
श्रिया च वपुषा चैव स्त्रियोऽन्याः सातिरिच्यते॥ १३ ॥

वह देवरूपिणी कन्या गुणकेशीके नामसे प्रसिद्ध थी । गुणकेशी अपनी शोभा तथा सुन्दर शरीरकी दृष्टिसे उस समयकी सम्पूर्ण स्त्रियोंसे श्रेष्ठ थी ॥ १३ ॥

तस्याः प्रदानसमयं मातलिः सह भार्यया ।
ज्ञात्वा विममृशे राजंस्तत्परः परिचिन्तयन् ॥ १४ ॥

राजन् ! उसके विवाहका समय आया जान मातलिने एकाग्रचित्त हो उसीके विषयमें चिन्तन करते हुए अपनी पत्नीके साथ विचार-विमर्श किया ॥ १४ ॥

धिक् खल्वलघुशीलानामुच्छ्रितानां यशस्विनाम् ।
नराणां मृदुसत्त्वानां कुले कन्याप्ररोहणम् ॥ १५ ॥

'जिनका शीलस्वभाव श्रेष्ठ है, जो ऊँचे कुलमें उत्पन्न हुए यशस्वी तथा कोमल अन्तःकरणवाले हैं; ऐसे लोगोंके कुलमें कन्याका उत्पन्न होना दुःखकी ही बात है ॥ १५ ॥

मातुः कुलं पितृकुलं यत्र चैव प्रदीयते ।
कुलत्रयं संशयितं कुरुते कन्यका सताम् ॥ १६ ॥

'कन्या मातृकुलको, पितृकुलको तथा जहाँ वह ब्याही जाती है, उस कुलको—सत्पुरुषोंके इन तीनों कुलोंको संशयमें डाल देती है ॥ १६ ॥

देवमानुषलोकौ द्वौ मानुषेणैव चक्षुषा ।
अवगाह्यैव विचितौ न च मे रोचते वरः ॥ १७ ॥

'मैंने मानवदृष्टिके अनुसार देवलोक तथा मनुष्यलोक

दोनोंमें अच्छी तरह घूम-फिरकर कन्याके लिये वरका अन्वेषण किया है, पर वहाँ कोई भी वर मुझे पसंद नहीं आ रहा है'॥

कण्व उवाच

न देवान् नैव दितिजान् न गन्धर्वान् न मानुषान्।
अरोचयद् वरकृते तथैव बहुलानृषीन्॥ १८॥

कण्व मुनि कहते हैं—मातलिने वरके लिये बहुत-से देवताओं, दैत्यों, गन्धर्वों और मनुष्यों तथा ऋषियोंको भी देखा; परंतु कोई उन्हें पसंद नहीं आया॥ १८॥

भार्यया तु स सम्मन्त्र्य सह रात्रौ सुधर्मया।
मातलिर्नागलोकाय चकार गमने मतिम्॥ १९॥

तब उन्होंने रातमें अपनी पत्नी सुधर्माके साथ सलाह करके नागलोकमें जानेका विचार किया॥ १९॥

न मे देवमनुष्येषु गुणकेश्याः समो वरः।
रूपतो दृश्यते कश्चिन्नागेषु भविता ध्रुवम्॥ २०॥

वे अपनी पत्नीसे बोले—'देवि! देवताओं और मनुष्योंमें तो गुणकेशीके योग्य कोई रूपवान् वर नहीं दिखायी देता। नागलोकमें कोई-न-कोई उसके योग्य वर अवश्य होगा'॥ २०॥

इत्यामन्त्र्य सुधर्मां स कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
कन्यां शिरस्युपाघ्राय प्रविवेश महीतलम्॥ २१॥

सुधर्मासे ऐसी सलाह करके मातलिने इष्टदेवकी परिक्रमा की और कन्याका मस्तक सूँघकर रसातलमें प्रवेश किया॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे सप्तनवतितमोऽध्यायः॥ ९७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके वर खोजनेसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ९७

अष्टनवतितमोऽध्यायः

मातलिका अपनी पुत्रीके लिये वर खोजनेके निमित्त नारदजीके साथ वरुणलोकमें भ्रमण करते हुए अनेक आश्चर्यजनक वस्तुएँ देखना

कण्व उवाच

मातलिस्तु व्रजन् मार्गे नारदेन महर्षिणा।
वरुणं गच्छता द्रष्टुं समागच्छद् यदृच्छया॥ १॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन्! उसी समय महर्षि नारद वरुणदेवतासे मिलनेके लिये उधर जा रहे थे। नागलोकके मार्गमें जाते हुए मातलिकी नारदजीके साथ अकस्मात् भेंट हो गयी॥ १॥

नारदोऽथाब्रवीदेनं क्व भवान् गन्तुमुद्यतः।
स्वेन वा सूत कार्येण शासनाद् वा शतक्रतोः॥ २॥

नारदजीने उनसे पूछा—देवसारथे! तुम कहाँ जानेको उद्यत हुए हो? तुम्हारी यह यात्रा किसी निजी कार्यसे अथवा देवेन्द्रके आदेशसे हुई है?॥ २॥

मातलिर्नारदेनैवं सम्पृष्टः पथि गच्छता।
यथावत् सर्वमाचष्ट स्वकार्यं नारदं प्रति॥ ३॥

मार्गमें जाते हुए नारदजीके इस प्रकार पूछनेपर मातलिने उनसे अपना सारा कार्य यथावत्‌रूपसे बताया॥

तमुवाचाथ स मुनिर्गच्छावः सहिताविति।
सलिलेशदिदृक्षार्थमहमप्युद्यतो दिवः॥ ४॥

तब उन मुनिने मातलिसे कहा—'हम दोनों साथ-साथ चलें। मैं भी जलके स्वामी वरुणदेवका दर्शन करनेकी इच्छासे देवलोकसे आ रहा हूँ॥ ४॥

अहं ते सर्वमाख्यास्ये दर्शयन् वसुधातलम्।
दृष्ट्वा तत्र वरं कंचिद् रोचयिष्याव मातले॥ ५॥

'मैं तुम्हें पृथ्वीके नीचेके लोकोंको दिखाते हुए वहाँकी सब वस्तुओंका परिचय दूँगा। मातले! वहाँ हम दोनों किसी योग्य वरको देखकर पसंद करेंगे'॥ ५॥

अवगाह्य तु तौ भूमिमुभौ मातलिनारदौ।
ददृशाते महात्मानौ लोकपालमपांपतिम्॥ ६॥

तदनन्तर मातलि और नारद दोनों महात्मा पृथ्वीके भीतर प्रवेश करके जलके स्वामी लोकपाल वरुणके समीप गये॥ ६॥

तत्र देवर्षिसदृशीं पूजां स प्राप नारदः।
महेन्द्रसदृशीं चैव मातलिः प्रत्यपद्यत॥ ७॥

नारदजीको वहाँ देवर्षियोंके योग्य और मातलिको देवराज इन्द्रके समान आदर-सत्कार प्राप्त हुआ॥ ७॥

तावुभौ प्रीतमनसौ कार्यवन्तौ निवेद्य ह।
वरुणेनाभ्यनुज्ञातौ नागलोकं विचेरतुः॥ ८॥

तत्पश्चात् उन दोनोंने प्रसन्नचित्त होकर वरुणदेवतासे अपना कार्य निवेदन किया और उनकी आज्ञा लेकर वे नागलोकमें विचरने लगे॥ ८॥

नारदः सर्वभूतानामन्तर्भूमिनिवासिनाम्।
जानंश्चकार व्याख्यानं यन्तुः सर्वमशेषतः॥ ९॥

नारदजी पातालल्लोकमें निवास करनेवाले सभी प्राणियोंको जानते थे । अतः उन्होंने इन्द्रसारथि मातलिको वहाँकी सब वस्तुओंके विषयमें विस्तारपूर्वक बताना आरम्भ किया ॥९॥

नारद उवाच

दृष्टस्ते वरुणः सूत पुत्रपौत्रसमावृतः ।
पश्योदकपतेः स्थानं सर्वतोभद्रमृद्धिमत् ॥ १० ॥

नारदजीने कहा—सूत ! तुमने पुत्रों और पौत्रोंसे घिरे हुए वरुणदेवताका दर्शन किया है । देखो, यह जलेश्वर वरुणका समृद्धिशाली निवासस्थान है । इसका नाम है, सर्वतोभद्र ॥ १० ॥

एष पुत्रो महाप्राज्ञो वरुणस्येह गोपतेः ।
एष वै शीलवृत्तेन शौचेन च विशिष्यते ॥ ११ ॥

ये गोपति वरुणके परम बुद्धिमान् पुत्र हैं; जो अपने उत्तम स्वभाव, सदाचार और पवित्रताके कारण अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं ॥ ११ ॥

एषोऽस्य पुत्रोऽभिमतः पुष्करः पुष्करेक्षणः ।
रूपवान् दर्शनीयश्च सोमपुत्र्या वृतः पतिः ॥ १२ ॥

वरुणदेवके इन प्रिय पुत्रका नाम पुष्कर है । इनके नेत्र विकसित कमलके समान सुशोभित हैं । ये रूपवान् तथा दर्शनीय हैं । इसीलिये सोमकी पुत्रीने इनका पतिरूपसे वरण किया है ॥ १२ ॥

ज्योत्स्नाकालीति यामाहुर्द्वितीयां रूपतः श्रियम् ।
अदित्याश्चैव यः पुत्रो ज्येष्ठः श्रेष्ठः कृतः स्मृतः ॥ १३ ॥

सोमकी जो दूसरी पुत्री हैं, वे ज्योत्स्नाकालीके नामसे प्रसिद्ध हैं तथा रूपमें साक्षात् लक्ष्मीके समान जान पड़ती हैं । उन्होंने अदितिदेवीके ज्येष्ठ पुत्र सूर्यदेवको अपना श्रेष्ठ पति बनाया एवं माना है ॥ १३ ॥

भवनं वारुणं पश्य यदेतत् सर्वकाञ्चनम् ।
यत् प्राप्य सुरतां प्राप्ताः सुराः सुरपतेः सखे ॥ १४ ॥

महेन्द्रमित्र ! देखो, यह वरुणदेवताका भवन है, जो सब ओरसे सुवर्णका ही बना हुआ है । यहाँ पहुँचकर ही देवगण वास्तवमें देवत्वलाभ करते हैं ॥ १४ ॥

एतानि हृतराज्यानां दैतेयानां स्म मातले ।
दीप्यमानानि दृश्यन्ते सर्वप्रहरणान्युत ॥ १५ ॥

मातले ! जिनके राज्य छीन लिये गये हैं, उन दैत्योंके ये देदीप्यमान सम्पूर्ण आयुध दिखायी देते हैं ॥ १५ ॥

अक्षयाणि किलैतानि विवर्तन्ते स्म मातले ।
अनुभावप्रयुक्तानि सुरैरवजितानि ह ॥ १६ ॥

देवसारथे ! ये सारे अस्त्र-शस्त्र अक्षय हैं और प्रहार करनेपर शत्रुको आहत करके पुनः अपने स्वामीके हाथमें लौट आते हैं । पहले दैत्यलोग अपनी शक्तिके अनुसार इनका प्रयोग करते थे, परंतु अब देवताओंने इन्हें जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया है ॥ १६ ॥

अत्र राक्षसजात्यश्च दैत्यजात्यश्च मातले ।
दिव्यप्रहरणाश्चासन् पूर्वदैवतनिर्मिताः ॥ १७ ॥

मातले ! इन स्थानोंमें राक्षस और दैत्यजातिके लोग रहते हैं । यहाँ दैत्योंके बनाये हुए बहुत-से दिव्यास्त्र भी रहे हैं ॥ १७ ॥

अग्निरेष महार्चिष्मा‍ञ्जागर्ति वारुणे ह्रदे ।
वैष्णवं चक्रमाविद्धं विधूमेन हविष्मता ॥ १८ ॥

ये महातेजस्वी अग्निदेव वरुणदेवताके सरोवरमें प्रकाशित होते हैं । इन धूमरहित अग्निदेवने भगवान् विष्णुके सुदर्शन चक्रको भी अवरुद्ध कर दिया था ॥ १८ ॥

एष गाण्डीमयश्चापो लोकसंहारसम्भृतः ।
रक्ष्यते दैवतैर्नित्यं यतस्तद् गाण्डिवं धनुः ॥ १९ ॥

वज्रकी गाँठको 'गाण्डी' कहा गया है । यह धनुष उसीका बना हुआ है, इसलिये गाण्डीव कहलाता है । जगत्‌का संहार करनेके लिये इसका निर्माण हुआ है । देवतालोग सदा इसकी रक्षा करते हैं ॥ १९ ॥

एष कृत्ये समुत्पन्ने तत् तद् धारयते बलम् ।
सहस्रशतसंख्येन प्राणेन सततं ध्रुवः ॥ २० ॥

यह धनुष आवश्यकता पड़नेपर लाखगुनी शक्तिसे सम्पन्न हो वैसे-वैसे ही बलको भी धारण करता है और सदा अविचल बना रहता है ॥ २० ॥

अशास्यानपि शास्त्येष रक्षोबन्धुषु राजसु ।
सृष्टः प्रथमतश्चण्डो ब्रह्मणा ब्रह्मवादिना ॥ २१ ॥

ब्रह्मवादी ब्रह्माजीने पहले इस प्रचण्ड धनुषका निर्माण किया था । यह राक्षससदृश राजाओंमेंसे अदम्य नरेशोंका भी दमन कर डालता है ॥ २१ ॥

एतच्छस्त्रं नरेन्द्राणां महच्चक्रेण भासितम् ।
पुत्राः सलिलराजस्य धारयन्ति महोदयम् ॥ २२ ॥

यह धनुष राजाओंके लिये एक महान् अस्त्र है और चक्रके समान उद्भासित होता रहता है । इस महान् अभ्युदयकारी धनुषको जलेश वरुणके पुत्र धारण करते हैं ॥ २२ ॥

एतत् सलिलराजस्य च्छत्रं छत्रगृहे स्थितम् ।
सर्वतः सलिलं शीतं जीमूत इव वर्षति ॥ २३ ॥

और यह सलिलराज वरुणका छत्र है, जो छत्रगृहमें रक्खा हुआ है । यह छत्र मेघकी भाँति सब ओरसे शीतल जल बरसाता रहता है ॥ २३ ॥

एतच्छत्रात् परिभ्रष्टं सलिलं सोमनिर्मलम् ।

तमसा मूर्छितं भाति येन नार्च्छति दर्शनम् ॥ २४ ॥

इस छत्रसे गिरा हुआ चन्द्रमाके समान निर्मल जल अन्धकारसे आच्छन्न रहता है, जिससे दृष्टिपथमें नहीं आता है ॥

बह्वन्यद्भुतरूपाणि द्रष्टव्यानीह मातले ।
तव कार्यावरोधस्तु तस्माद् गच्छाव मा चिरम् ॥ २५ ॥

मातले ! इस वरुणलोकमें देखने योग्य बहुत-सी अद्भुत वस्तुएँ हैं; परंतु सबको देखनेसे तुम्हारे कार्यमें रुकावट पड़ेगी, इसलिये हमलोग शीघ्र ही यहाँसे नागलोकमें चलें ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥९८॥

एकोनशततमोऽध्यायः

नारदजीके द्वारा पातालकोकका प्रदर्शन

नारद उवाच

एतत् तु नागलोकस्य नाभिस्थाने स्थितं पुरम् ।
पातालमिति विख्यातं दैत्यदानवसेवितम् ॥ १ ॥
इदमद्भिः समं प्राप्ता ये केचिद् भुवि जङ्गमाः ।
प्रविशन्तो महानादं नदन्ति भयपीडिताः ॥ २ ॥

नारदजी बोले—मातले ! यह जो नागलोकके नाभि-स्थान (मध्यभाग) में स्थित नगर दिखायी देता है, इसे पाताल कहते हैं। इस नगरमें दैत्य और दानव निवास करते हैं। यहाँ जो कोई भूतलके जङ्गम प्राणी जलके साथ बहकर आ जाते हैं, वे इस पातालमें पहुँचनेपर भयसे पीड़ित हो बड़े जोरसे चीत्कार करने लगते हैं ॥ १-२ ॥

अत्रासुरोऽग्निः सततं दीप्यते वारिभोजनः ।
व्यापारेण धृतात्मानं निबद्धं समबुध्यत ॥ ३ ॥

यहाँ जलका ही आहार करनेवाली आसुर अग्नि सदा उद्दीप्त रहती है। उसे यत्नपूर्वक मर्यादामें स्थापित किया गया है। वह अग्नि अपने-आपको देवताओंद्वारा नियन्त्रित समझती है; इसलिये सब ओर फैल नहीं पाती ॥ ३ ॥

अत्रामृतं सुरैः पीत्वा निहितं निहतारिभिः ।
अतः सोमस्य हानिश्च वृद्धिश्चैव प्रदृश्यते ॥ ४ ॥

देवताओंने अपने शत्रुओंका संहार करके अमृत पीकर उसका अवशिष्ट भाग यहीं रख दिया था। इसीलिये अमृत-मय सोमकी हानि और वृद्धि देखी जाती है ॥ ४ ॥

अत्रादित्यो हयशिराः काले पर्वणि पर्वणि ।
उत्तिष्ठति सुवर्णाख्यो वाग्भिरापूरयञ्जगत् ॥ ५ ॥

यहाँ अदितिनन्दन हयग्रीव विष्णु सुवर्णमय कान्ति धारण करके प्रत्येक पर्वपर वेदध्वनिके द्वारा जगत्‌को परिपूर्ण करते हुए ऊपरको उठते हैं ॥ ५ ॥

यस्मादलं समस्तास्ताः पतन्ति जलमूर्तयः ।
तस्मात् पातालमित्येव ख्यायते पुरमुत्तमम् ॥ ६ ॥

जलस्वरूप जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब वहाँ पर्याप्त-रूपसे गिरती हैं, इसलिये ('पतन्ति अलम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार पात+अलम्—इन दोनों शब्दोंके योगसे) यह उत्तम नगर 'पाताल' कहलाता है ॥ ६ ॥

ऐरावणोऽस्मात् सलिलं गृहीत्वा जगतो हितः ।
मेघेष्वामुञ्चते शीतं यन्महेन्द्रः प्रवर्षति ॥ ७ ॥

जगत्‌का हित करनेवाला और समुद्रसे उत्पन्न होनेवाला वर्षाकालीन वायु यहींसे शीतल जल लेकर मेघोंमें स्थापित करता है, जिसे देवराज इन्द्र भूतलपर बरसाते हैं ॥ ७ ॥

अत्र नानाविधाकारास्तिमयो नैकरूपिणः ।
अप्सु सोमप्रभां पीत्वा वसन्ति जलचारिणः ॥ ८ ॥

नाना प्रकारकी आकृति तथा भाँति-भाँतिके रूपवाले जलचारी तिमि (ह्वेल) मत्स्य चन्द्रमाकी किरणोंका पान करते हुए यहाँ जलमें निवास करते हैं ॥ ८ ॥

अत्र सूर्यांशुभिर्भिन्नाः पातालतलमाश्रिताः ।
मृता हि दिवसे सूत पुनर्जीवन्ति वै निशि ॥ ९ ॥

मातले ! ये पातालनिवासी जीव-जन्तु यहाँ दिनमें सूर्यकी किरणोंसे संतप्त हो मृतप्राय अवस्थामें पहुँच जाते हैं; परंतु रात होनेपर अमृतमयी चन्द्ररश्मियोंके सम्पर्कसे पुनः जी उठते हैं ॥ ९ ॥

उदयन् नित्यशश्चात्र चन्द्रमा रश्मिबाहुभिः ।
अमृतं स्पृश्य संस्पर्शात् संजीवयति देहिनः ॥ १० ॥

वहाँ प्रतिदिन उदय लेनेवाले चन्द्रमा अपनी किरण-मयी भुजाओंसे अमृतका स्पर्श कराकर उसके द्वारा यहाँके मरणासन्न जीवोंको जीवन प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

अत्र तेऽधर्मनिरता बद्धाः कालेन पीडिताः ।
दैतेया निवसन्ति स्म वासवेन हृतश्रियः ॥ ११ ॥

इन्द्रने जिनकी सम्पत्ति हर ली है, वे अधर्मपरायण दैत्य कालसे बद्ध एवं पीड़ित होकर इसी स्थानमें निवास करते हैं ॥ ११ ॥

अत्र भूतपतिर्नाम सर्वभूतमहेश्वरः।
भूतये सर्वभूतानामचरत् तप उत्तमम् ॥ १२ ॥

सर्वभूतमहेश्वर भगवान् भूतनाथने सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिये यहाँ उत्तम तपस्या की थी ॥ १२ ॥

अत्र गोव्रतिनो विप्राः स्वाध्यायाम्नायकर्शिताः।
त्यक्तप्राणा जितस्वर्गा निवसन्ति महर्षयः ॥१३॥

वेदपाठसे दुर्बल हुए तथा प्राणोंकी परवा न करके तपस्याद्वारा स्वर्गलोकपर विजय पानेवाले गोव्रतधारी ब्राह्मण महर्षिगण यहाँ निवास करते हैं ॥ १३ ॥

यत्रतत्रशयो नित्यं येन केनचिदाशितः।
येन केनचिदाच्छन्नः स गोव्रत इहोच्यते ॥ १४ ॥

जो जहाँ कहीं भी सो लेता है, जिस किसी फल-मूल आदिसे भोजनका कार्य चला लेता है तथा वल्कल आदि जिस किसी वस्तुसे भी शरीरको ढक लेता है, वही यहाँ 'गोव्रतधारी' कहलाता है ॥ १४ ॥

ऐरावणो नागराजो वामनः कुमुदोऽञ्जनः।
प्रसूताः सुप्रतीकस्य वंशे वारणसत्तमाः ॥ १५ ॥

यहाँ नागराज ऐरावत, वामन, कुमुद और अञ्जन नामक श्रेष्ठ गज सुप्रतीकके वंशमें उत्पन्न हुए हैं ॥ १५ ॥

पश्य यद्यत्र ते कश्चिद् रोचते गुणतो वरः।
वरयिष्यामि तं गत्वा यत्नमास्थाय मातले ॥१६॥

मातले ! देखो, यदि यहाँ तुम्हें कोई गुणवान् वर पसंद हो तो मैं चलकर यत्नपूर्वक उसका वरण करूँगा ॥ १६ ॥

अण्डमेतज्जले न्यस्तं दीप्यमानमिव श्रिया।
आ प्रजानां निसर्गाद् वै नोद्भिद्यति न सर्पति ॥ १७ ॥

जलके भीतर यह एक अण्डा रक्खा हुआ है, जो यहाँ अपनी प्रभासे उद्भासित-सा हो रहा है। जबसे प्रजाजनोंकी सृष्टि आरम्भ हुई है, तबसे लेकर अबतक यह अण्डा न तो फूटता है और न अपने स्थानसे इधर-उधर जाता ही है ॥ १७ ॥

नास्य जातिं निसर्गं वा कथ्यमानं शृणोमि वै।
पितरं मातरं चापि नास्य जानाति कश्चन ॥ १८ ॥

इसकी जाति अथवा स्वभावके विषयमें कभी किसीको कुछ कहते नहीं सुना है। इसके पिता और माताको भी कोई नहीं जानता है ॥ १८ ॥

अतः किल महानग्निरन्तकाले समुत्थितः।
धक्ष्यते मातले सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ १९ ॥

मातले ! कहते हैं, प्रलयकालमें इस अण्डेके भीतरसे बड़ी भारी आग प्रकट होगी, जो चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीको भस्म कर डालेगी ॥ १९ ॥

मातलिस्त्वब्रवीच्छ्रुत्वा नारदस्याथ भाषितम्।
न मेऽत्र रोचते कश्चिदन्यतो व्रज माचिरम् ॥ २० ॥

नारदजीका यह भाषण सुनकर मातलिने कहा—'यहाँ मुझे कोई भी वर पसंद नहीं आया; अतः शीघ्र ही अन्यत्र कहीं चलिये' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

शततमोऽध्यायः

हिरण्यपुरका दिग्दर्शन और वर्णन

नारद उवाच

हिरण्यपुरमित्येतत् ख्यातं पुरवरं महत्।
दैत्यानां दानवानां च मायाशतविचारिणाम् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—मातले ! यह हिरण्यपुर नामक श्रेष्ठ एवं विशाल नगर है, जहाँ सैकड़ों मायाओंके साथ विचरनेवाले दैत्यों और दानवोंका निवासस्थान है ॥ १ ॥

अनल्पेन प्रयत्नेन निर्मितं विश्वकर्मणा।
मयेन मनसा सृष्टं पातालतलमाश्रितम् ॥ २ ॥

असुरोंके विश्वकर्मा मयने अपने मानसिक संकल्पके अनुसार महान् प्रयत्न करके पाताललोकके भीतर इस नगरका निर्माण किया है ॥ २ ॥

अत्र मायासहस्राणि विकुर्वाणा महौजसः।
दानवा निवसन्ति स्म शूरा दत्तवराः पुरा ॥ ३ ॥

यहाँ सहस्रों मायाओंका प्रयोग करनेवाले और महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न वे शूरवीर दानव निवास करते हैं, जिन्हें पूर्वकालमें अवध्य होनेका वरदान प्राप्त हो चुका है ॥ ३ ॥

नैते शक्रेण नान्येन यमेन वरुणेन वा।
शक्यन्ते वशमानेतुं तथैव धनदेन च ॥ ४ ॥

इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर तथा और कोई देवता भी इन्हें वशमें नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

असुराः कालखञ्जाश्च तथा विष्णुपदोद्भवाः।

नैर्ऋता यातुधानाश्च ब्रह्मपादोद्भवाश्च ये ॥ ५ ॥
दंष्ट्रिणो भीमवेगाश्च वातवेगपराक्रमाः ।
मायावीर्योपसम्पन्ना निवसन्त्यत्र मातले ॥ ६ ॥

मातले ! भगवान् विष्णुके चरणोंसे उत्पन्न हुए कालखञ्ज नामक असुर तथा ब्रह्माजीके पैरोंसे प्रकट हुए बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले, भयंकर वेगसे युक्त, प्रगतिशील पवनके समान पराक्रमी एवं मायाबलसे सम्पन्न नैर्ऋत और यातुधान इस नगरमें निवास करते हैं ॥ ५-६ ॥

निवातकवचा नाम दानवा युद्धदुर्मदाः ।
जानासि च यथा शक्रो नैताञ्शक्नोति बाधितुम् ॥ ७॥

यहीं निवातकवच नामक दानव निवास करते हैं, जो युद्धमें उन्मत्त होकर लड़ते हैं । तुम तो जानते ही हो कि इन्द्र भी इन्हें पराजित करनेमें समर्थ नहीं हो रहे हैं ॥ ७ ॥

बहुशो मातले त्वं च तव पुत्रश्च गोमुखः ।
निर्भग्नो देवराजश्च सहपुत्रः शचीपतिः ॥ ८ ॥

मातले ! तुम, तुम्हारा पुत्र गोमुख तथा पुत्रसहित शचीपति देवराज इन्द्र अनेक बार इनके सामनेसे मैदान छोड़कर भाग चुके हैं ॥ ८ ॥

पश्य वेश्मानि रौक्माणि मातले राजतानि च ।
कर्मणा विधियुक्तेन युक्तान्युपगतानि च ॥ ९ ॥

मातले ! देखो, इनके ये सोने और चाँदीके भवन कितनी शोभा पा रहे हैं । इनका निर्माण शिल्पशास्त्रीय विधानके अनुसार हुआ है तथा ये सभी महल एक दूसरेसे सटे हुए हैं ॥ ९ ॥

वैदूर्यमणिचित्राणि प्रवालरुचिराणि च ।
अर्कस्फटिकशुभ्राणि वज्रसारोज्ज्वलानि च ॥ १० ॥

इन सबमें वैदूर्यमणि जड़ी हुई है, जिससे इनकी विचित्र शोभा हो रही है । स्थान-स्थानपर मूँगोंसे सुसज्जित होनेके कारण इनका सौन्दर्य अधिक बढ़ गया है । आकके फूल और स्फटिकमणिके समान ये उज्ज्वल दिखायी देते हैं तथा उत्तम हीरोंसे जटित होनेके कारण उनकी दीप्ति अधिक बढ़ गयी है ॥ १० ॥

पार्थिवानीव चाभान्ति पद्मरागमयानि च ।
शैलानीव च दृश्यन्ते दारवाणीव चाप्युत ॥ ११॥

इनमेंसे कुछ तो मिट्टीके बने हुए-से जान पड़ते हैं, कुछ पद्मरागमणिद्वारा निर्मित प्रतीत होते हैं, कुछ मकान पत्थरोंके और कुछ लकड़ियोंके बने हुए-से दिखायी देते हैं ॥११॥

सूर्यरूपाणि चाभान्ति दीप्ताग्निसदृशानि च ।
मणिजालविचित्राणि प्रांशूनि निबिडानि च ॥ १२ ॥

ये सूर्य तथा प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे हैं । मणियोंकी झालरोंसे इनकी विचित्र छटा दृष्टिगोचर हो रही है । ये सभी भवन ऊँचे और घने हैं ॥ १२ ॥

नैतानि शक्यं निर्देष्टुं रूपतो द्रव्यतस्तथा ।
गुणतश्चैव सिद्धानि प्रमाणगुणवन्ति च ॥ १३ ॥

हिरण्यपुरके ये भवन कितने सुन्दर हैं और किन-किन द्रव्योंसे बने हुए हैं, इसका निरूपण नहीं किया जा सकता । अपने उत्तम गुणोंके कारण इनकी बड़ी प्रसिद्धि है । लम्बाई-चौड़ाई तथा सर्वगुणसम्पन्नताकी दृष्टिसे ये सभी प्रशंसाके योग्य हैं ॥ १३ ॥

आक्रीडान् पश्य दैत्यानां तथैव शयनान्युत ।
रत्नवन्ति महार्हाणि भाजनान्यासनानि च ॥ १४ ॥

देखो, दैत्योंके उद्यान एवं क्रीडास्थान कितने सुन्दर हैं ! इनकी शय्याएँ भी इनके अनुरूप ही हैं । इनके उपयोगमें आनेवाले पात्र और आसन भी रत्नजटित एवं बहुमूल्य हैं ॥ १४ ॥

जलदाभांस्तथा शैलांस्तोयप्रस्रवणानि च ।
कामपुष्पफलांश्चापि पादपान् कामचारिणः ॥ १५ ॥

यहाँके पर्वत मेघोंकी घटाके समान जान पड़ते हैं । वहाँसे जलके झरने गिर रहे हैं । इन वृक्षोंकी ओर दृष्टिपात करो, ये सभी इच्छानुसार फल और फूल देनेवाले तथा कामचारी हैं ॥ १५ ॥

मातले कश्चिदत्रापि रुचिरस्ते वरो भवेत् ।
अथवान्यां दिशं भूमेर्गच्छाव यदि मन्यसे ॥ १६ ॥

मातले ! यहाँ भी तुम्हें कोई सुन्दर वर प्राप्त हो सकता है । अथवा तुम्हारी राय हो, तो इस भूमिकी किसी दूसरी दिशाकी ओर चलें ॥ १६ ॥

मातलिस्त्वब्रवीदेनं भाषमाणं तथाविधम् ।
देवर्षे नैव मे कार्यं विप्रियं त्रिदिवौकसाम् ॥ १७ ॥

तब ऐसी बातें करनेवाले नारदजीसे मातलिने कहा—'देवर्षे ! मुझे कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जो देवताओंको अप्रिय लगे ॥ १७ ॥

नित्यानुषक्तवैरा हि भ्रातरो देवदानवाः ।
परपक्षेण सम्बन्धं रोचयिष्याम्यहं कथम् ॥ १८ ॥

'यद्यपि देवता और दानव परस्पर भाई ही हैं, तथापि इनमें सदा वैरभाव बना रहता है । ऐसी दशामें मैं शत्रुपक्षके साथ अपनी पुत्रीका सम्बन्ध कैसे पसंद करूँगा ? ॥१८॥

अन्यत्र साधु गच्छाव द्रष्टुं नार्हामि दानवान् ।
जानामि तव चात्मानं हिंसात्मकमनं तथा ॥ १९ ॥

'इसलिये अच्छा यही होगा कि हमलोग किसी दूसरी जगह चलें। मैं दानवोंसे साक्षात्कार भी नहीं कर सकता। मैं यह भी जानता हूँ कि आपके मनमें हिंसात्मक कार्य (युद्ध) का अवसर उपस्थित करनेकी प्रबल इच्छा रहती है' ॥१९॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१००॥

एकाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़लोक तथा गरुड़की संतानोंका वर्णन

नारद उवाच

अयं लोकः सुपर्णानां पक्षिणां पन्नगाशिनाम्।
विक्रमे गमने भारे नैषामस्ति परिश्रमः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—मातले! यह सर्पभोजी गरुड़वंशी पक्षियोंका लोक है, जिन्हें पराक्रम प्रकट करने, दूरतक उड़ने और महान् भार ढोनेमें तनिक भी परिश्रम नहीं होता ॥ १ ॥

वैनतेयसुतैः सूत षड्भिस्ततमिदं कुलम्।
सुमुखेन सुनाम्ना च सुनेत्रेण सुवर्चसा ॥ २ ॥
सुरुचा पक्षिराजेन सुबलेन च मातले।
वर्धितानि प्रसूत्या वै विनताकुलकर्तृभिः ॥ ३ ॥
पक्षिराजाभिजात्यानां सहस्राणि शतानि च।
कश्यपस्य ततो वंशे जातैर्भूतिविवर्धनैः ॥ ४ ॥

देवसारथि मातले! यहाँ विनतानन्दन गरुड़के छः पुत्रों-ने अपनी वंशपरम्पराका विस्तार किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—सुमुख, सुनामा, सुनेत्र, सुवर्चा, सुरुच तथा पक्षिराज सुबल। विनताके वंशकी वृद्धि करनेवाले, कश्यप-कुलमें उत्पन्न हुए तथा ऐश्वर्यका विस्तार करनेवाले इन छहों पक्षियोंने गरुड़-जातिकी सैकड़ों और सहस्रों शाखाओंका विस्तार किया है ॥ २—४ ॥

सर्वे ह्येते श्रिया युक्ताः सर्वे श्रीवत्सलक्षणाः।
सर्वे श्रियमभीप्सन्तो धारयन्ति बलान्युत ॥ ५ ॥

ये सभी श्रीसम्पन्न तथा श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित हैं। सभी धन-सम्पत्तिकी कामना रखते हुए अपने भीतर अनन्त बल धारण करते हैं ॥ ५ ॥

कर्मणा क्षत्रियाश्चैते निर्घृणा भोगिभोजिनः।
ज्ञातिसंक्षयकर्तृत्वाद् ब्राह्मण्यं न लभन्ति वै ॥ ६ ॥

ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होकर भी ये कर्मसे क्षत्रिय हैं। इनमें दया नहीं होती है। ये सर्पोंको ही अपना आहार बनाते हैं। इस प्रकार अपने भाई-बन्धुओं (नागों) का संहार करनेके कारण इन्हें ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं है ॥ ६ ॥

नामानि चैषां वक्ष्यामि यथा प्राधान्यतः शृणु।
मातले श्लाघ्यमेतद्धि कुलं विष्णुपरिग्रहम् ॥ ७ ॥

मातले! अब मैं इनके कुछ प्रधान व्यक्तियोंके नाम बताऊँगा; तुम श्रवण करो। इनका कुल भगवान् विष्णुका पार्षद् होनेके कारण प्रशंसनीय है ॥ ७ ॥

दैवतं विष्णुरेतेषां विष्णुरेव परायणम्।
हृदि चैषां सदा विष्णुर्विष्णुरेव सदा गतिः ॥ ८ ॥

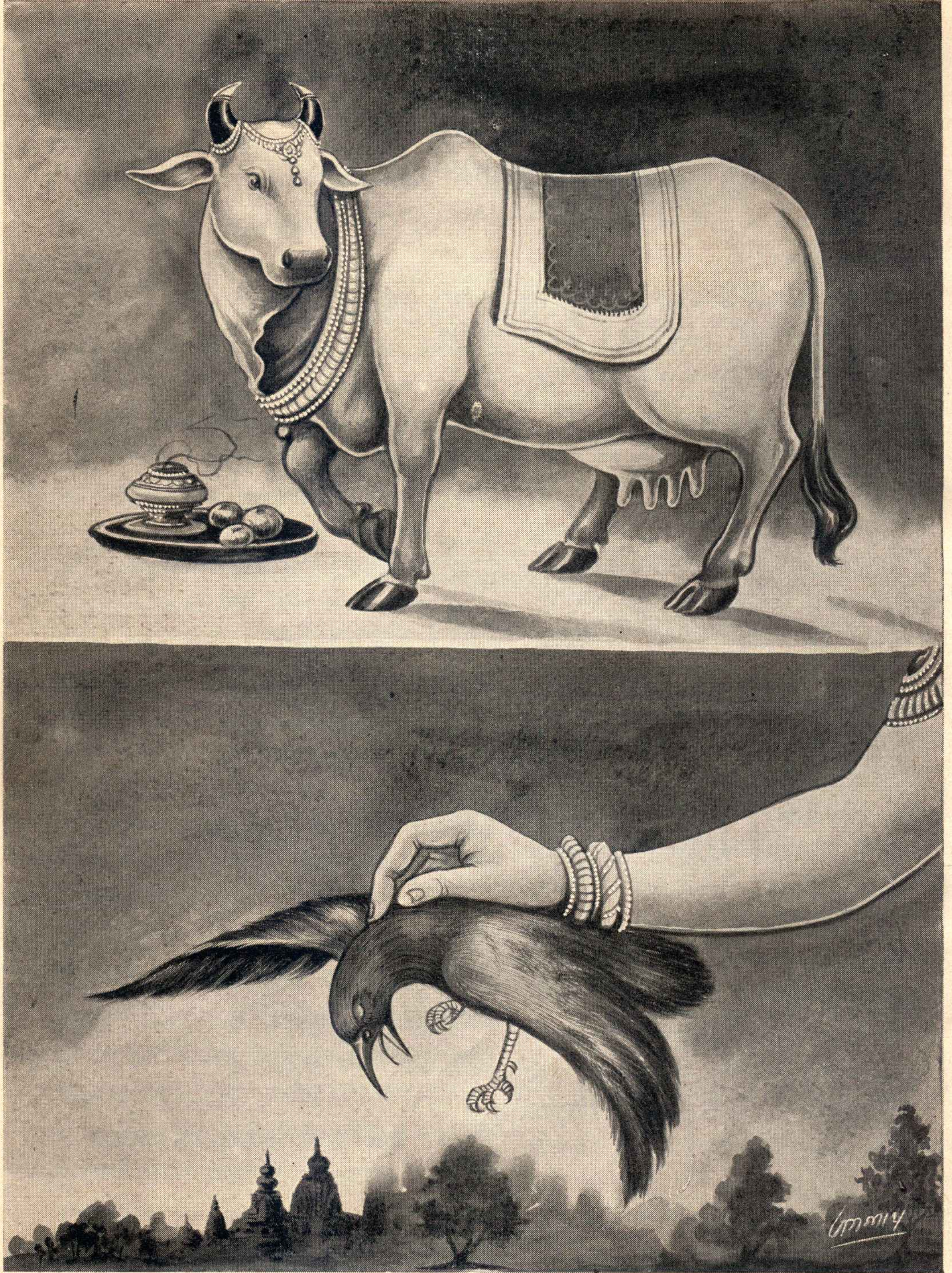
भगवान् विष्णु ही इनके देवता हैं। वे ही इनके परम आश्रय हैं। भगवान् विष्णु इनके हृदयमें सदा विराजते हैं और वे विष्णु ही सदा इनकी गति हैं ॥ ८ ॥

सुवर्णचूडो नागाशी दारुणश्चण्डतुण्डकः।
अनिलश्चानलश्चैव विशालाक्षोऽथ कुण्डली ॥ ९ ॥
पङ्कजिद् वज्रविष्कम्भो वैनतेयोऽथ वामनः।
वातवेगो दिशाचक्षुर्निमेषोऽनिमिषस्तथा ॥ १० ॥
त्रिरावः सप्तरावश्च वाल्मीकिर्द्वीपकस्तथा।
दैत्यद्वीपः सरिद्द्वीपः सारसः पद्मकेतनः ॥ ११ ॥
सुमुखश्चित्रकेतुश्च चित्रबर्हस्तथानघः।
मेषहृत् कुमुदो दक्षः सर्पान्तः सहभोजनः ॥ १२ ॥
गुरुभारः कपोतश्च सूर्यनेत्रश्चिरान्तकः।
विष्णुधर्मा कुमारश्च परिबर्हो हरिस्तथा ॥ १३ ॥
सुस्वरो मधुपर्कश्च हेमवर्णस्तथैव च।
मालयो मातरिश्वा च निशाकरदिवाकरौ ॥ १४ ॥
एते प्रदेशमात्रेण मयोक्ता गरुडात्मजाः।
प्राधान्यतस्ते यशसा कीर्तिताः प्राणिनश्च ये ॥ १५ ॥

सुवर्णचूड, नागाशी, दारुण, चण्डतुण्डक, अनिल, अनल, विशालाक्ष, कुण्डली, पङ्कजित्, वज्रविष्कम्भ, वैनतेय, वामन, वातवेग, दिशाचक्षु, निमेष, अनिमिष, त्रिराव, सप्तराव, वाल्मीकि, द्वीपक, दैत्यद्वीप, सरिद्द्वीप, सारस, पद्मकेतन, सुमुख, चित्रकेतु, चित्रबर्ह, अनघ, मेषहृत्, कुमुद, दक्ष, सर्पान्त, सहभोजन, गुरुभार, कपोत, सूर्यनेत्र, चिरान्तक, विष्णुधर्मा, कुमार, परिबर्ह, हरि, सुस्वर, मधुपर्क, हेमवर्ण, मालय, मातरिश्वा, निशाकर तथा दिवाकर। इस प्रकार संक्षेपसे मैंने इन मुख्य-मुख्य गरुड़-संतानोंका वर्णन किया है। ये सभी यशस्वी तथा महाबली बताये गये हैं ॥९—१५॥

यद्यत्र न रुचिः काचिदेहि गच्छाव मातले।

गोमाता सुरभि



भगवान् विष्णुके द्वारा गरुड़का गर्वनाश

तं नयिष्यामि देशं त्वां वरं यत्रोपलप्स्यसे ॥ १६ ॥

मातले ! यदि इनमें तुम्हारी कोई रुचि न हो तो आओ, अन्यत्र चलें । अब मैं तुम्हें उस स्थानपर ले जाऊँगा, जहाँ तुम्हें कोई-न-कोई वर अवश्य मिल जायगा ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

सुरभि और उसकी संतानोंके साथ रसातलके सुखका वर्णन

नारद उवाच

इदं रसातलं नाम सप्तमं पृथिवीतलम् ।
यत्रास्ते सुरभिर्माता गवाममृतसम्भवा ॥ १ ॥

नारदजी बोले—मातले ! यह पृथ्वीका सातवाँ तल है, जिसका नाम रसातल है । यहाँ अमृतसे उत्पन्न हुई गोमाता सुरभि निवास करती हैं ॥ १ ॥

क्षरन्ती सततं क्षीरं पृथिवीसारसम्भवम् ।
षण्णां रसानां सारेण रसमेकमनुत्तमम् ॥ २ ॥

ये सुरभि पृथ्वीके सारतत्त्वसे प्रकट, छः रसोंके सार-भागसे संयुक्त एवं सर्वोत्तम, अनिर्वचनीय एकरसरूप क्षीर-को सदा अपने स्तनोंसे प्रवाहित करती रहती हैं ॥ २ ॥

अमृतेनाभितृप्तस्य सारमुद्गिरतः पुरा ।
पितामहस्य वदनादुदतिष्ठदनिन्दिता ॥ ३ ॥

पूर्वकालमें जब ब्रह्मा अमृतपान करके तृप्त हो उसका सारभाग अपने मुखसे निकाल रहे थे, उसी समय उनके मुखसे अनिन्दिता सुरभिका प्रादुर्भाव हुआ था ॥ ३ ॥

यस्याः क्षीरस्य धाराया निपतन्त्या महीतले ।
ह्रदः कृतः क्षीरनिधिः पवित्रं परमुच्यते ॥ ४ ॥

पृथ्वीपर निरन्तर गिरती हुई उस सुरभिके क्षीरकी धारासे एक अनन्त ह्रद बन गया, जिसे 'क्षीरसागर' कहते हैं । वह परम पवित्र है ॥ ४ ॥

पुष्पितस्येव फेनेन पर्यन्तमनुवेष्टितम् ।
पिबन्तो निवसन्त्यत्र फेनपा मुनिसत्तमाः ॥ ५ ॥

क्षीरसागरसे जो फेन उत्पन्न होता है, वह पुष्पके समान जान पड़ता है । वह फेन क्षीरसमुद्रके तटपर फैला रहता है, जिसे पीते हुए फेनपसंज्ञक बहुत-से मुनिश्रेष्ठ इस रसातलमें निवास करते हैं ॥ ५ ॥

फेनपा नाम ते ख्याताः फेनाहाराश्च मातले ।
उग्रे तपसि वर्तन्ते येषां बिभ्यति देवताः ॥ ६ ॥

मातले ! फेनका आहार करनेके कारण वे महर्षिगण 'फेनप' नामसे विख्यात हैं । वे बड़ी कठोर तपस्यामें संलग्न रहते हैं । उनसे देवतालोग भी डरते हैं ॥ ६ ॥

अस्याश्चतस्रो धेन्वोऽन्या दिक्षु सर्वासु मातले ।
निवसन्ति दिशां पाल्यो धारयन्त्यो दिशः स्म ताः ॥ ७ ॥

मातले ! सुरभिकी पुत्रीस्वरूपा चार अन्य धेनुएँ हैं, जो सब दिशाओंमें निवास करती हैं । वे दिशाओंका धारण-पोषण करनेवाली हैं ॥ ७ ॥

पूर्वां दिशं धारयते सुरूपा नाम सौरभी ।
दक्षिणां हंसिका नाम धारयत्यपरां दिशम् ॥ ८ ॥

सुरूपा नामवाली धेनु पूर्व दिशाको धारण करती है तथा उससे भिन्न दक्षिण दिशाका हंसिका नामवाली धेनु धारण-पोषण करती है ॥ ८ ॥

पश्चिमा वारुणी दिक् च धार्यते वै सुभद्रया ।
महानुभावया नित्यं मातले विश्वरूपया ॥ ९ ॥

मातले ! महाप्रभावशालिनी विश्वरूपा सुभद्रा नामवाली सुरभिकन्याके द्वारा वरुणदेवकी पश्चिम दिशा धारण की जाती है ॥ ९ ॥

सर्वकामदुघा नाम धेनुर्धारयते दिशम् ।
उत्तरां मातले धर्म्यां तथैलविलसंज्ञिताम् ॥ १० ॥

चौथी धेनुका नाम सर्वकामदुघा है । मातले ! वह धर्मयुक्त कुबेरसम्बन्धिनी उत्तर दिशाका धारण-पोषण करती है ॥ १० ॥

आसां तु पयसा मिश्रं पयो निर्मथ्य सागरे ।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा देवैरसुरसंहितैः ॥ ११ ॥
उद्धृता वारुणी लक्ष्मीरमृतं चापि मातले ।
उच्चैःश्रवाश्चाश्वराजो मणिरत्नं च कौस्तुभम् ॥ १२ ॥

देवसारथे ! देवताओंने असुरोंसे मिलकर मन्दराचल-को मथानी बनाकर इन्हीं धेनुओंके दूधसे मिश्रित क्षीरसागर-की दुग्धराशिका मन्थन किया और उससे वारुणी, लक्ष्मी एवं अमृतको प्रकट किया । तत्पश्चात् उस समुद्रमन्थनसे अश्वराज उच्चैःश्रवा तथा मणिरत्न कौस्तुभका भी प्रादुर्भाव हुआ था ॥ ११-१२ ॥

सुधाहारेषु च सुधां स्वधाभोजिषु च स्वधाम् ।
अमृतं चामृताशेषु सुरभी क्षरते पयः ॥ १३ ॥

सुरभि अपने स्तनोंसे जो दूध बहाती है, वह सुधाभोजी

लोगोंके लिये सुधा, स्वधाभोजी पितरोंके लिये स्वधा तथा अमृतभोजी देवताओंके लिये अमृतरूप है ॥ १३ ॥

अत्र गाथा पुरा गीता रसातलनिवासिभिः।
पौराणी श्रूयते लोके गीयते या मनीषिभिः ॥ १४ ॥

यहाँ रसातलनिवासियोंने पूर्वकालमें जो पुरातन गाथा गायी थी, वह अब भी लोकमें सुनी जाती है और मनीषी पुरुष उसका गान करते हैं ॥ १४ ॥

न नागलोके न स्वर्गे न विमाने त्रिविष्टपे।
परिवासः सुखस्तादृग् रसातलतले यथा ॥ १५ ॥

वह गाथा इस प्रकार है—'नागलोक, स्वर्गलोक तथा स्वर्गलोकके विमानमें निवास करना भी वैसा सुखदायक नहीं होता, जैसा रसातलमें रहनेसे सुख प्राप्त होता है' ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

नागलोकके नागोंका वर्णन और मातलिका नागकुमार सुमुखके साथ अपनी कन्याको ब्याहनेका निश्चय

नारद उवाच

इयं भोगवती नाम पुरी वासुकिपालिता।
यादृशी देवराजस्य पुरीवर्यामरावती ॥ १ ॥

नारदजी बोले—मातले ! यह नागराज वासुकिद्वारा सुरक्षित उनकी भोगवती नामक पुरी है। देवराज इन्द्रकी सर्वश्रेष्ठ नगरी अमरावतीकी तरह ही यह भी सुखसमृद्धिसे सम्पन्न है ॥ १ ॥

एष शेषः स्थितो नागो येनेयं धार्यते सदा।
तपसा लोकमुख्येन प्रभावसहिता मही ॥ २ ॥

ये शेषनाग स्थित हैं, जो अपने लोकप्रसिद्ध तपोबलसे प्रभावसहित इस सारी पृथ्वीको सदा सिरपर धारण करते हैं ॥

श्वेताचलनिभाकारो दिव्याभरणभूषितः।
सहस्रं धारयन् मूर्ध्ना ज्वालाजिह्वो महाबलः॥ ३ ॥

भगवान् शेषका शरीर कैलास पर्वतके समान श्वेत है। ये सहस्र मस्तक धारण करते हैं। इनकी जिह्वा अग्निकी ज्वालाके समान जान पड़ती है। ये महाबली अनन्त दिव्य आभूषणोंसे विभूषित होते हैं ॥ ३ ॥

इह नानाविधाकारा नानाविधविभूषणाः।
सुरसायाः सुता नागा निवसन्ति गतव्यथाः ॥ ४ ॥

यहाँ सुरसाके पुत्र नागगण शोक-संतापसे रहित होकर निवास करते हैं। इनके रूप-रंग और आभूषण अनेक प्रकारके हैं ॥ ४ ॥

मणिस्वस्तिकचक्राङ्काः कमण्डलुकलक्षणाः।
सहस्रसंख्या बलिनः सर्वे रौद्राः स्वभावतः ॥ ५ ॥

ये सभी नाग सहस्रोंकी संख्यामें यहाँ रहते हैं। ये सबके सब अत्यन्त बलवान् तथा स्वभावसे ही भयंकर हैं। इनमेंसे किन्हींके शरीरमें मणिका, किन्हींके स्वस्तिकका, किन्हींके चक्रका और किन्हींके शरीरमें कमण्डलुका चिह्न है ॥ ५ ॥

सहस्रशिरसः केचित् केचित् पञ्चशताननाः।
शतशीर्षास्तथा केचित् केचित् त्रिशिरसोऽपि च ॥

कुछ नागोंके एक सहस्र सिर होते हैं, किन्हींके पाँच सौ, किन्हींके एक सौ और किन्हींके तीन ही सिर होते हैं ॥ ६ ॥

द्विपञ्चशिरसः केचित् केचित् सप्तमुखास्तथा।
महाभोगा महाकायाः पर्वताभोगभोगिनः ॥ ७ ॥

कोई दो सिरवाले, कोई पाँच सिरवाले और कोई सात मुखवाले होते हैं। किन्हींके बड़े-बड़े फन, किन्हींके दीर्घ शरीर और किन्हींके पर्वतके समान स्थूल शरीर होते हैं ॥ ७ ॥

बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
नागानामेकवंशानां यथाश्रेष्ठं तु मे शृणु ॥ ८ ॥

यहाँ एक-एक वंशके नागोंकी कई हजार, कई लाख तथा कई अर्बुद संख्या है। मैं जेठे-छोटेके क्रमसे इनका संक्षिप्त परिचय देता हूँ, सुनो ॥ ८ ॥

वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनंजयौ।
कालियो नहुषश्चैव कम्बलाश्वतरावुभौ ॥ ९ ॥
बाह्यकुण्डो मणिर्नागस्तथैवापूरणः खगः।
वामनश्चैलपत्रश्च कुकुरः कुकुणस्तथा ॥ १० ॥
आर्यको नन्दकश्चैव तथा कलशपोतकौ।
कैलासकः पिञ्जरको नागश्चैरावतस्तथा ॥ ११ ॥
सुमनोमुखो दधिमुखः शङ्खो नन्दोपनन्दकौ।
आप्तः कोटरकश्चैव शिखी निष्ठूरिकस्तथा ॥ १२ ॥
तित्तिरिर्हस्तिभद्रश्च कुमुदो माल्यपिण्डकः।
द्वौ पद्मौ पुण्डरीकश्च पुष्पो मुद्गरपर्णकः ॥ १३ ॥

करवीरः पीठरकः संवृत्तो वृत्त एव च।
पिण्डारो बिल्वपत्रश्च मूषिकादः शिरीषकः॥ १४॥
दिलीपः शङ्खशीर्षश्च ज्योतिष्कोऽथापराजितः।
कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च कुहुरः कृशकस्तथा॥ १५॥
विरजा धारणश्चैव सुबाहुर्मुखरो जयः।
बधिरान्धौ विशुण्डिश्च विरसः सुरसस्तथा॥ १६॥
एते चान्ये च बहवः कश्यपस्यात्मजाः स्मृताः।
मातले पश्य यद्यत्र कश्चित् ते रोचते वरः॥ १७॥

वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, कालिय, नहुष, कम्बल, अश्वतर, बाह्यकुण्ड, मणिनाग, आपूरण, खग, वामन, एलपत्र, कुकुर, कुकुण, आर्यक, नन्दक, कलश, पोतक, कैलासक, पिंजरक, ऐरावत, सुमनोमुख, दधिमुख, शंख, नन्द, उपनन्द, आप्त, कोटरक, शिखी, निष्ठूरिक, तित्तिरि, हस्तिभद्र, कुमुद, माल्यपिण्डक, पद्मनामक दो नाग, पुण्डरीक, पुष्प, मुद्गरपर्णक, करवीर, पीठरक, संवृत्त, वृत्त, पिण्डार, बिल्वपत्र, मूषिकाद, शिरीषक, दिलीप, शंखशीर्ष, ज्योतिष्क, अपराजित, कौरव्य, धृतराष्ट्र, कुहुर, कृशक, विरजा, धारण, सुबाहु, मुखर, जय, बधिर, अन्ध, विशुण्डि, विरस तथा सुरस—ये और दूसरे बहुत-से नाग कश्यपके वंशज हैं। मातले! यदि यहाँ कोई वर तुम्हें पसंद हो तो देखो॥ ९—१७॥

कण्व उवाच

मातलिस्त्वेकमव्यग्रः सततं संनिरीक्ष्य वै।
पप्रच्छ नारदं तत्र प्रीतिमानिव चाभवत्॥ १८॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन्! तब मातलि स्थिरता-पूर्वक एक नागका निरन्तर निरीक्षण करके प्रसन्न-से हो उठे और उन्होंने नारदजीसे पूछा॥ १८॥

मातलिरुवाच

स्थितो य एष पुरतः कौरव्यस्यार्यकस्य तु।
द्युतिमान् दर्शनीयश्च कस्यैष कुलनन्दनः॥ १९॥

मातलिने कहा—देवर्षे! यह जो कौरव्य और आर्यकके आगे कान्तिमान् और दर्शनीय नागकुमार खड़ा है, किसके कुलको आनन्दित करनेवाला है?॥ १९॥

कः पिता जननी चास्य कतमस्यैष भोगिनः।
वंशस्य कस्यैष महान् केतुभूत इव स्थितः॥ २०॥

इसके पिता-माता कौन हैं? यह किस नागका पौत्र है तथा किसके वंशकी महान् ध्वजके समान शोभा बढ़ा रहा है?॥ २०॥

प्रणिधानेन धैर्येण रूपेण वयसा च मे।
मनः प्रविष्टो देवर्षे गुणकेश्याः पतिर्वरः॥ २१॥

देवर्षे! यह अपनी एकाग्रता, धैर्य, रूप तथा तरुण अवस्थाके कारण मेरे मनमें समा गया है। यही गुणकेशीका श्रेष्ठ पति होनेके योग्य है॥ २१॥

कण्व उवाच

मातलिं प्रीतमनसं दृष्ट्वा सुमुखदर्शनात्।
निवेदयामास तदा माहात्म्यं जन्म कर्म च॥ २२॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन्! मातलिको सुमुखके दर्शनसे प्रसन्नचित्त देखकर नारदजीने उस समय उस नागकुमारके जन्म, कर्म और महत्त्वका परिचय देना आरम्भ किया॥ २२॥

नारद उवाच

ऐरावतकुले जातः सुमुखो नाम नागराट्।
आर्यकस्य मतः पौत्रो दौहित्रो वामनस्य च॥ २३॥

नारदजी बोले—मातले! यह नागराज सुमुख है, जो ऐरावतके कुलमें उत्पन्न हुआ है। यह आर्यकका पौत्र और वामनका दौहित्र है॥ २३॥

एतस्य हि पिता नागश्चिकुरो नाम मातले।
नचिराद् वैनतेयेन पञ्चत्वमुपपादितः॥ २४॥

सूत! इसके पिता नागराज चिकुर थे, जिन्हें थोड़े ही दिन पहले गरुड़ने अपना ग्रास बना लिया है॥ २४॥

ततोऽब्रवीत् प्रीतमना मातलिर्नारदं वचः।
एष मे रुचितस्तात जामाता भुजगोत्तमः॥ २५॥

तब मातलिने प्रसन्नचित्त होकर नारदजीसे कहा—'तात! यह श्रेष्ठ नाग मुझे अपना जामाता बनानेके योग्य जँच गया॥ २५॥

क्रियतामत्र यत्नो वै प्रीतिमानस्म्यनेन वै।
अस्मै नागाय वै दातुं प्रियां दुहितरं मुने॥ २६॥

'मैं इससे बहुत प्रसन्न हूँ। आप इसीके लिये यत्न कीजिये। मुने! मैं इसी नागको अपनी प्यारी पुत्री देना चाहता हूँ'॥ २६॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १०३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १०३॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका नागराज आर्यकके सम्मुख सुमुखके साथ मातलिकी कन्याके विवाहका प्रस्ताव एवं मातलिका नारदजी, सुमुख एवं आर्यकके साथ इन्द्रके पास आकर उनके द्वारा सुमुखको दीर्घायु प्रदान कराना तथा सुमुख-गुणकेशी-विवाह

(कण्व उवाच

मातलेर्वचनं श्रुत्वा नारदो मुनिसत्तमः ।
अब्रवीन्नागराजानमार्यकं कुरुनन्दन ॥)

कण्व मुनि कहते हैं—कुरुनन्दन ! मातलिकी बात सुनकर मुनिश्रेष्ठ नारदने नागराज आर्यकसे कहा ॥

नारद उवाच

सूतोऽयं मातलिर्नाम शक्रस्य दयितः सुहृत् ।
शुचिः शीलगुणोपेतस्तेजस्वी वीर्यवान् बली ॥ १ ॥

नारदजी बोले—नागराज ! ये इन्द्रके प्रिय सखा और सारथि मातलि हैं। इनमें पवित्रता, सुशीलता और समस्त सद्गुण भरे हुए हैं। ये तेजस्वी होनेके साथ ही बल-पराक्रम-से सम्पन्न हैं ॥ १ ॥

शक्रस्यायं सखा चैव मन्त्री सारथिरेव च ।
अल्पान्तरप्रभावश्च वासवेन रणे रणे ॥ २ ॥

इन्द्रके मित्र, मन्त्री और सारथि सब कुछ यही हैं। प्रत्येक युद्धमें ये इन्द्रके साथ रहते हैं। इनका प्रभाव इन्द्रसे कुछ ही कम है ॥ २ ॥

अयं हरिसहस्रेण युक्तं जैत्रं रथोत्तमम् ।
देवासुरेषु युद्धेषु मनसैव नियच्छति ॥ ३ ॥

ये देवासुर-संग्राममें सहस्र घोड़ोंसे जुते हुए देवराजके विजयशील श्रेष्ठ रथका अपने मानसिक संकल्पसे ही (संचालन और) नियन्त्रण करते हैं ॥ ३ ॥

अनेन विजितानश्वैर्दोर्भ्यां जयति वासवः ।
अनेन बलभित् पूर्वं प्रहृते प्रहरत्युत ॥ ४ ॥

ये अपने अश्वोंद्वारा जिन शत्रुओंको जीत लेते हैं, उन्हींको देवराज इन्द्र अपने बाहुबलसे पराजित करते हैं। पहले इनके द्वारा प्रहार हो जानेपर ही बलनाशक इन्द्र शत्रुओंपर प्रहार करते हैं ॥ ४ ॥

अस्य कन्या वरारोहा रूपेणासदृशी भुवि ।
सत्यशीलगुणोपेता गुणकेशीति विश्रुता ॥ ५ ॥

इनके एक सुन्दरी कन्या है, जिसके रूपकी समानता भूमण्डलमें कहीं नहीं है। उसका नाम है गुणकेशी। वह सत्य, शील और सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ ५ ॥

तस्यास्य यत्नाच्चरतस्त्रैलोक्यममरद्युते ।
सुमुखो भवतः पौत्रो रोचते दुहितुः पतिः ॥ ६ ॥

देवोपम कान्तिवाले नागराज ! ये मातलि बड़े प्रयत्नसे कन्याके लिये वर ढूँढ़नेके निमित्त तीनों लोकोंमें विचरते हुए यहाँ आये हैं। आपका पौत्र सुमुख इन्हें अपनी कन्याका पति होने योग्य प्रतीत हुआ है; उसीको इन्होंने पसंद किया है ॥ ६ ॥

यदि ते रोचते सम्यग् भुजगोत्तम मा चिरम् ।
क्रियतामार्यक क्षिप्रं बुद्धिः कन्यापरिग्रहे ॥ ७ ॥

नागप्रवर आर्यक ! यदि आपको भी यह सम्बन्ध भली-भाँति रुचिकर जान पड़े तो शीघ्र ही इनकी पुत्रीको ब्याह लानेका निश्चय कीजिये ॥ ७ ॥

यथा विष्णुकुले लक्ष्मीर्यथा स्वाहा विभावसोः ।
कुले तव तथैवास्तु गुणकेशी सुमध्यमा ॥ ८ ॥

जैसे भगवान् विष्णुके घरमें लक्ष्मी और अग्निके घरमें स्वाहा शोभा पाती हैं, उसी प्रकार सुन्दरी गुणकेशी तुम्हारे कुलमें प्रतिष्ठित हो ॥ ८ ॥

पौत्रस्यार्थे भवांस्तस्माद् गुणकेशीं प्रतीच्छतु ।
सदृशीं प्रतिरूपस्य वासवस्य शचीमिव ॥ ९ ॥

अतः आप अपने पौत्रके लिये गुणकेशीको स्वीकार करें। जैसे इन्द्रके अनुरूप शची हैं, उसी प्रकार आपके सुयोग्य पौत्रके योग्य गुणकेशी है ॥ ९ ॥

पितृहीनमपि ह्येनं गुणतो वरयामहे ।
बहुमानाच्च भवतस्तथैवैरावतस्य च ॥ १० ॥
सुमुखस्य गुणैश्चैव शीलशौचदमादिभिः ।

आपके और ऐरावतके प्रति हमारे हृदयमें विशेष सम्मान है और यह सुमुख भी शील, शौच और इन्द्रियसंयम आदि गुणोंसे सम्पन्न है, इसलिये इसके पितृहीन होनेपर भी हम गुणोंके कारण इसका वरण करते हैं ॥ १०½ ॥

अभिगम्य स्वयं कन्यामयं दातुं समुद्यतः ॥ ११ ॥
मातलिस्तस्य सम्मानं कर्तुमर्हो भवानपि ।

ये मातलि स्वयं चलकर कन्यादान करनेको उद्यत हैं। आपको भी इनका सम्मान करना चाहिये ॥ ११½ ॥

कण्व उवाच

स तु दीनः प्रहृष्टश्च प्राह नारदमार्यकः ॥ १२ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—कुरुनन्दन ! तब नागराज आर्यक प्रसन्न होकर दीनभावसे बोले—॥ १२ ॥

आर्यक उवाच

म्रियमाणे तथा पौत्रे पुत्रे च निधनं गते ।
कथमिच्छामि देवर्षे गुणकेशीं स्नुषां प्रति ॥ १३ ॥

आर्यक पुनः बोले—'देवर्षे ! मेरा पुत्र मारा गया और पौत्रका भी उसी प्रकार मृत्युने वरण किया है; अतः मैं गुणकेशीको बहू बनानेकी इच्छा कैसे करूँ ? ॥ १३ ॥

न मे नैतद् बहुमतं महर्षे वचनं तव ।
सखा शक्रस्य संयुक्तः कस्यायं नेप्सितो भवेत्॥ १४ ॥

महर्षे ! मेरी दृष्टिमें आपके इस वचनका कम आदर नहीं है और ये मातलि तो इन्द्रके साथ रहनेवाले उनके सखा हैं; अतः ये किसको प्रिय नहीं लगेंगे ? ॥ १४ ॥

कारणस्य तु दौर्बल्याच्चिन्तयामि महामुने ।
अस्य देहकरस्तात मम पुत्रो महाद्युते ॥ १५ ॥
भक्षितो वैनतेयेन दुःखार्तास्तेन वै वयम् ।
पुनरेव च तेनोक्तं वैनतेयेन गच्छता ।
मासेनान्येन सुमुखं भक्षयिष्य इति प्रभो ॥ १६ ॥
ध्रुवं तथा तद् भविता जानीमस्तस्य निश्चयम् ।
तेन हर्षः प्रणष्टो मे सुपर्णवचनेन वै ॥ १७ ॥

परंतु माननीय महामुने ! कारणकी दुर्बलतासे मैं चिन्तामें पड़ा रहता हूँ। महाद्युते ! इस बालकका पिता, जो मेरा पुत्र था, गरुड़का भोजन बन गया। इस दुःखसे हमलोग पीड़ित हैं। प्रभो ! जब गरुड़ यहाँसे जाने लगे, तब पुनः यह कहते गये कि दूसरे महीनेमें मैं सुमुखको भी खा जाऊँगा। अवश्य ही ऐसा ही होगा; क्योंकि हम गरुडके निश्चयको जानते हैं। गरुड़के उस कथनसे मेरी हँसी-खुशी नष्ट हो गयी है ॥ १५—१७ ॥

कण्व उवाच

मातलिस्त्वब्रवीदेनं बुद्धिरत्र कृता मया ।
जामातृभावेन वृतः सुमुखस्तव पुत्रजः ॥ १८ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन् ! तब मातलिने आर्यकसे कहा—'मैंने इस विषयमें एक विचार किया है। यह तो निश्चय ही है कि मैंने आपके पौत्रको जामाताके पदपर वरण कर लिया ॥ १८ ॥

सोऽयं मया च सहितो नारदेन च पन्नगः ।
त्रिलोकेशं सुरपतिं गत्वा पश्यतु वासवम् ॥ १९ ॥

'अतः यह नागकुमार मेरे और नारदजीके साथ त्रिलोकीनाथ देवराज इन्द्रके पास चलकर उनका दर्शन करे ॥ १९ ॥

शेषेणैवास्य कार्येण प्रज्ञास्याम्यहमायुषः ।
सुपर्णस्य विघाते च प्रयतिष्यामि सत्तम ॥ २० ॥

'साधुशिरोमणे ! तदनन्तर मैं अवशिष्ट कार्यद्वारा इसकी आयुके विषयमें जानकारी प्राप्त करूँगा और इस बातकी भी चेष्टा करूँगा कि गरुड़ इसे न मार सकें ॥ २० ॥

सुमुखश्च मया सार्धं देवेशमभिगच्छतु ।
कार्यसंसाधनार्थाय स्वस्ति तेऽस्तु भुजंगम ॥ २१ ॥

'नागराज ! आपका कल्याण हो। सुमुख अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये मेरे साथ देवराज इन्द्रके पास चले' ॥ २१ ॥

ततस्ते सुमुखं गृह्य सर्व एव महौजसः ।
ददृशुः शक्रमासीनं देवराजं महाद्युतिम् ॥ २२ ॥

तदनन्तर उन सभी महातेजस्वी सज्जनोंने सुमुखको साथ लेकर परम कान्तिमान् देवराज इन्द्रका दर्शन किया, जो स्वर्गके सिंहासनपर विराजमान थे ॥ २२ ॥

संगत्या तत्र भगवान् विष्णुरासीच्चतुर्भुजः ।
ततस्तत् सर्वमाचख्यौ नारदो मातलिं प्रति ॥ २३ ॥

दैवयोगसे वहाँ चतुर्भुज भगवान् विष्णु भी उपस्थित थे। तदनन्तर देवर्षि नारदने मातलिसे सम्बन्ध रखनेवाला सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः पुरंदरं विष्णुरुवाच भुवनेश्वरम् ।
अमृतं दीयतामस्मै क्रियताममरैः समः ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् भगवान् विष्णुने लोकेश्वर इन्द्रसे कहा—'देवराज ! तुम सुमुखको अमृत दे दो और इसे देवताओंके समान बना दो ॥ २४ ॥

मातलिर्नारदश्चैव सुमुखश्चैव वासव ।
लभन्तां भवतः कामात् काममेतं यथेप्सितम् ॥ २५ ॥

'वासव ! इस प्रकार मातलि, नारद और सुमुख—ये सभी तुमसे इच्छानुसार अमृतका दान पाकर अपना यह अभीष्ट मनोरथ पूर्ण कर लें' ॥ २५ ॥

पुरंदरोऽथ संचिन्त्य वैनतेयपराक्रमम् ।
विष्णुमेवाब्रवीदेनं भवानेव ददात्विति ॥ २६ ॥

तब देवराज इन्द्रने गरुड़के पराक्रमका विचार करके भगवान् विष्णुसे कहा—'आप ही इसे उत्तम आयु प्रदान कीजिये' ॥

विष्णुरुवाच

ईशस्त्वं सर्वलोकानां चराणामचराश्च ये ।
त्वया दत्तमदत्तं कः कर्तुमुत्सहते विभो ॥ २७ ॥

भगवान् विष्णु बोले—प्रभो ! तुम सम्पूर्ण जगत्‌में जितने भी चराचर प्राणी हैं, उन सबके ईश्वर हो । तुम्हारी दी हुई आयुको बिना दी हुई करने (मिटाने) का साहस कौन कर सकता है ? ॥ २७ ॥

प्रादाच्छक्रस्ततस्तस्मै पन्नगायायुरुत्तमम् ।
न त्वेनममृतप्राशं चकार बलवृत्रहा ॥ २८ ॥

तब इन्द्रने उस नागको अच्छी आयु प्रदान की, परंतु बलासुर और वृत्रासुरका विनाश करनेवाले इन्द्रने उसे अमृतभोजी नहीं बनाया ॥ २८ ॥

लब्ध्वा वरं तु सुमुखः सुमुखः सम्बभूव ह ।
कृतदारो यथाकामं जगाम च गृहान् प्रति ॥ २९ ॥

इन्द्रका वर पाकर सुमुखका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा । वह विवाह करके इच्छानुसार अपने घरको चला गया ॥२९॥

नारदस्त्वार्यकश्चैव कृतकार्यौ मुदा युतौ ।
अभिजग्मतुरभ्यर्च्य देवराजं महाद्युतिम् ॥ ३० ॥

नारद और आर्यक दोनों ही कृतकृत्य हो महातेजस्वी देवराजकी अर्चना करके प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३१ श्लोक हैं)

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् विष्णुके द्वारा गरुड़का गर्वभञ्जन तथा दुर्योधनद्वारा कण्व मुनिके उपदेशकी अवहेलना

कण्व उवाच

गरुडस्तत्र शुश्राव यथावृत्तं महाबलः ।
आयुःप्रदानं शक्रेण कृतं नागस्य भारत ॥ १ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—भारत ! महाबली गरुड़ने यह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे सुना कि इन्द्रने सुमुख नागको दीर्घायु प्रदान की है ॥ १ ॥

पक्षवातेन महता रुद्ध्वा त्रिभुवनं खगः ।
सुपर्णः परमक्रुद्धो वासवं समुपाद्रवत् ॥ २ ॥

यह सुनते ही आकाशचारी गरुड़ अत्यन्त क्रुद्ध हो अपने पंखोंकी प्रचण्ड वायुसे तीनों लोकोंको कम्पित करते हुए इन्द्रके समीप दौड़े आये ॥ २ ॥

गरुड उवाच

भगवन् किमवज्ञानाद् वृत्तिः प्रतिहता मम ।
कामकारवरं दत्त्वा पुनश्चलितवानसि ॥ ३ ॥

गरुड बोले—भगवन् ! आपने अवहेलना करके मेरी जीविकामें क्यों बाधा पहुँचायी है ? एक बार मुझे इच्छानुसार कार्य करनेका वरदान देकर अब फिर उससे विचलित क्यों हुए हैं ? ॥ ३ ॥

निसर्गात् सर्वभूतानां सर्वभूतेश्वरेण मे ।
आहारो विहितो धात्रा किमर्थं वार्यते त्वया ॥ ४ ॥

समस्त प्राणियोंके स्वामी विधाताने सम्पूर्ण प्राणियोंकी सृष्टि करते समय मेरा आहार निश्चित कर दिया था । फिर आप किसलिये उसमें बाधा उपस्थित करते हैं ? ॥ ४ ॥

वृतश्चैष महानागः स्थापितः समयश्च मे ।
अनेन च मया देव भर्तव्यः प्रसवो महान् ॥ ५ ॥

देव ! मैंने उस महानागको अपने भोजनके लिये चुन लिया था । इसके लिये समय भी निश्चित कर दिया था और उसीके द्वारा मुझे अपने विशाल परिवारका भरण-पोषण करना था ॥ ५ ॥

एतस्मिंस्तु तथाभूते नान्यं हिंसितुमुत्सहे ।
क्रीडसे कामकारेण देवराज यथेच्छकम् ॥ ६ ॥

वह नाग जब दीर्घायु हो गया, तब अब मैं उसके बदलेमें दूसरेकी हिंसा नहीं कर सकता । देवराज ! आप स्वेच्छाचारको अपनाकर मनमाने खेल कर रहे हैं ॥ ६ ॥

सोऽहं प्राणान् विमोक्ष्यामि तथा परिजनो मम ।
ये च भृत्या मम गृहे प्रीतिमान् भव वासव ॥ ७ ॥

वासव ! अब मैं प्राण त्याग दूँगा । मेरे परिवारमें तथा मेरे घरमें जो भरण-पोषण करनेयोग्य प्राणी हैं, वे भी भोजनके अभावमें प्राण दे देंगे । अब आप अकेले संतुष्ट होइये ॥ ७ ॥

एतच्चैवाहमर्हामि भूयश्च बलवृत्रहन् ।
त्रैलोक्यस्येश्वरो योऽहं परभृत्यत्वमागतः ॥ ८ ॥

बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले देवराज ! मैं इसी व्यवहारके योग्य हूँ; क्योंकि तीनों लोकोंका शासन करनेमें समर्थ होकर भी मैंने दूसरेकी सेवा स्वीकार की है ॥ ८ ॥

त्वयि तिष्ठति देवेश न विष्णुः कारणं मम ।
त्रैलोक्यराज राज्यं हि त्वयि वासव शाश्वतम्॥ ९ ॥

देवेश्वर ! त्रिलोकीनाथ ! आपके रहते भगवान् विष्णु भी मेरी जीविका रोकनेमें कारण नहीं हो सकते; क्योंकि वासव ! तीनों लोकोंके राज्यका भार सदा आपके ही ऊपर है ॥ ९ ॥

ममापि दक्षस्य सुता जननी कश्यपः पिता ।
अहमप्युत्सहे लोकान् समन्ताद् वोढुमञ्जसा ॥ १० ॥

मेरी माता भी प्रजापति दक्षकी पुत्री हैं। मेरे पिता भी महर्षि कश्यप ही हैं। मैं भी अनायास ही सम्पूर्ण लोकोंका भार वहन कर सकता हूँ ॥ १० ॥

असह्यं सर्वभूतानां ममापि विपुलं बलम् ।
मयापि सुमहत् कर्म कृतं दैतेयविग्रहे ॥ ११ ॥

मुझमें भी वह विशाल बल है, जिसे समस्त प्राणी एक साथ मिलकर भी सह नहीं सकते। मैंने भी दैत्योंके साथ युद्ध छिड़नेपर महान् पराक्रम प्रकट किया है ॥ ११ ॥

श्रुतश्रीः श्रुतसेनश्च विवस्वान् रोचनामुखः ।
प्रसृतः कालकाक्षश्च मयापि दितिजा हताः ॥ १२ ॥

मैंने भी श्रुतश्री, श्रुतसेन, विवस्वान्, रोचनामुख, प्रसृत और कालकाक्ष नामक दैत्योंको मारा है ॥ १२ ॥

यत् तु ध्वजस्थानगतो यत्नात् परिचराम्यहम् ।
वहामि चैवानुजं ते तेन मामवमन्यसे ॥ १३ ॥

तथापि मैं जो रथकी ध्वजामें रहकर यत्नपूर्वक आपके छोटे भाई (विष्णु) की सेवा करता और उनको वहन करता हूँ, इसीसे आप मेरी अवहेलना करते हैं ॥ १३ ॥

कोऽन्यो भारसहो ह्यस्ति कोऽन्योऽस्ति बलवत्तरः ।
मया योऽहं विशिष्टः सन् वहामीमं सबान्धवम् ॥ १४ ॥

मेरे सिवा दूसरा कौन है, जो भगवान् विष्णुका महान् भार सह सके ? कौन मुझसे अधिक बलवान् है ? मैं सबसे विशिष्ट शक्तिशाली होकर भी बन्धु-बान्धवोंसहित इन विष्णुभगवान्‌का भार वहन करता हूँ ॥ १४ ॥

अवज्ञाय तु यत् तेऽहं भोजनाद् व्यपरोपितः ।
तेन मे गौरवं नष्टं त्वत्तश्चास्माच्च वासव ॥ १५ ॥

वासव ! आपने मेरी अवज्ञा करके जो मेरा भोजन छीन लिया है, उसके कारण मेरा सारा गौरव नष्ट हो गया तथा इसमें कारण हुए हैं आप और ये श्रीहरि ॥ १५ ॥

अदित्यां य इमे जाता बलविक्रमशालिनः ।
त्वमेषां किल सर्वेषां बलेन बलवत्तरः ॥ १६ ॥

विष्णो ! अदितिके गर्भसे जो ये बल और पराक्रमसे सुशोभित देवता उत्पन्न हुए हैं, इन सबमें बलकी दृष्टिसे अधिक शक्तिशाली आप ही हैं ॥ १६ ॥

सोऽहं पक्षैकदेशेन वहामि त्वां गतक्लमः ।
विमृश त्वं शनैस्तात को न्वत्र बलवानिति ॥ १७ ॥

तात ! आपको मैं अपनी पाँखके एक देशमें बिठाकर बिना किसी थकावटके ढोता रहता हूँ। धीरेसे आप ही विचार करें कि यहाँ कौन सबसे अधिक बलवान् है ? ॥ १७ ॥

कण्व उवाच

स तस्य वचनं श्रुत्वा खगस्योदर्कदारुणम् ।
अक्षोभ्यं क्षोभयंस्तार्क्ष्यमुवाच रथचक्रभृत् ॥ १८ ॥
गरुत्मन् मन्यसेऽऽत्मानं बलवन्तं सुदुर्बलम् ।
अलमस्मत्समक्षं ते स्तोतुमात्मानमण्डज ॥ १९ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन् ! गरुड़की ये बातें भयंकर परिणाम उपस्थित करनेवाली थीं। उन्हें सुनकर रथाङ्गपाणि श्रीविष्णुने किसीसे क्षुब्ध न होनेवाले पक्षिराजको क्षुब्ध करते हुए कहा—'गरुत्मन् ! तुम हो तो अत्यन्त दुर्बल, परंतु अपने आपको बड़ा भारी बलवान् मानते हो। अण्डज ! मेरे सामने फिर कभी अपनी प्रशंसा न करना ॥ १८-१९ ॥

त्रैलोक्यमपि मे कृत्स्नमशक्तं देहधारणे ।
अहमेवात्मनाऽऽत्मानं वहामि त्वां च धारये ॥ २० ॥

'सारी त्रिलोकी मिलकर भी मेरे शरीरका भार वहन करनेमें असमर्थ है। मैं ही अपने द्वारा अपने आपको ढोता हूँ और तुमको भी धारण करता हूँ ॥ २० ॥

इमं तावन्ममैकं त्वं बाहुं सव्येतरं वह ।
यद्येनं धारयस्येकं सफलं ते विकत्थितम् ॥ २१ ॥

'अच्छा, पहले तुम मेरी केवल दाहिनी भुजाका भार वहन करो। यदि इस एकको ही धारण कर लोगे तो तुम्हारी यह सारी आत्मप्रशंसा सफल समझी जायगी' ॥ २१ ॥

ततः स भगवांस्तस्य स्कन्धे बाहुं समासजत् ।
निपपात स भारार्तो विह्वलो नष्टचेतनः ॥ २२ ॥

इतना कहकर भगवान् विष्णुने गरुड़के कंधेपर अपनी दाहिनी बाँह रख दी। उसके बोझसे पीड़ित एवं विह्वल होकर गरुड़ गिर पड़े। उनकी चेतना भी नष्ट-सी हो गयी ॥

यावान् हि भारः कृत्स्नायाः पृथिव्याः पर्वतैः सह ।
एकस्या देहशाखायास्तावद् भारममन्यत ॥ २३ ॥

पर्वतोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीका जितना भार हो सकता है, उतना ही उस एक बाँहका भार है, यह गरुड़को अनुभव हुआ ॥ २३ ॥

न त्वेनं पीडयामास बलेन बलवत्तरः ।
ततो हि जीवितं तस्य न व्यनीनशदच्युतः ॥ २४ ॥

अत्यन्त बलशाली भगवान् अच्युतने गरुड़को बलपूर्वक दबाया नहीं था; इसीलिये उनके जीवनका नाश नहीं हुआ ॥

व्यात्तास्यः स्रस्तकायश्च विचेता विह्वलः खगः ।
मुमोच पत्राणि तदा गुरुभारप्रपीडितः ॥ २५ ॥

उस महान् भारसे अत्यन्त पीड़ित हो गरुड़ने मुँह बा दिया। उनका सारा शरीर शिथिल हो गया। उन्होंने अचेत और विह्वल होकर अपने पंख छोड़ दिये ॥ २५ ॥

स विष्णुं शिरसा पक्षी प्रणम्य विनतासुतः।
विचेता विह्वलो दीनः किंचिद् वचनमब्रवीत्॥ २६॥

तदनन्तर अचेत एवं विह्वल हुए विनतापुत्र पक्षिराज गरुड़ने भगवान् विष्णुके चरणोंमें प्रणाम किया और दीनभावसे कुछ कहा—॥ २६॥

भगवल्लँोकसारस्य सदृशेन वपुष्मता।
भुजेन स्वैरमुक्तेन निष्पिष्टोऽस्मि महीतले॥ २७॥

'भगवन्! संसारके मूर्तिमान् सारतत्त्व-सदृश आपकी इस भुजाके द्वारा, जिसे आपने स्वाभाविक ही मेरे ऊपर रख दिया था, मैं पिसकर पृथ्वीपर गिर गया हूँ॥ २७॥

क्षन्तुमर्हसि मे देव विह्वलस्याल्पचेतसः।
बलदाहविदग्धस्य पक्षिणो ध्वजवासिनः॥ २८॥

'देव! मैं आपकी ध्वजामें रहनेवाला एक साधारण पक्षी हूँ। इस समय आपके बल और तेजसे दग्ध होकर व्याकुल और अचेत-सा हो गया हूँ। आप मेरे अपराधको क्षमा करें॥ २८॥

न हि ज्ञातं बलं देव मया ते परमं विभो।
तेन मन्ये ह्यहं वीर्यमात्मनो न समं परैः॥ २९॥

'विभो! मुझे आपके महान् बलका पता नहीं था। देव! इसीसे मैं अपने बल और पराक्रमको दूसरोंके समान ही नहीं, उनसे बहुत बढ़-चढ़कर मानता था'॥ २९॥

ततश्चक्रे स भगवान् प्रसादं वै गरुत्मतः।
मैवं भूय इति स्नेहात् तदा चैनमुवाच ह॥ ३०॥

गरुड़के ऐसा कहनेपर भगवान्ने उनपर कृपादृष्टि की और उस समय स्नेहपूर्वक उनसे कहा—'फिर कभी इस प्रकार घमंड न करना'॥ ३०॥

पादाङ्गुष्ठेन चिक्षेप सुमुखं गरुडोरसि।
ततःप्रभृति राजेन्द्र सह सर्पेण वर्तते॥ ३१॥

राजेन्द्र! तत्पश्चात् भगवान्ने अपने पैरके अँगूठेसे सुमुख नागको उठाकर गरुड़के वक्षःस्थलपर रख दिया। तभीसे गरुड़ उस सर्पको सदा साथ लिये रहते हैं॥ ३१॥

एवं विष्णुबलाक्रान्तो गर्वनाशमुपागतः।
गरुडो बलवान् राजन् वैनतेयो महायशाः॥ ३२॥

राजन्! इस प्रकार महायशस्वी बलवान् विनतानन्दन गरुड़ भगवान् विष्णुके बलसे आक्रान्त हो अपना अहंकार छोड़ बैठे॥ ३२॥

कण्व उवाच

तथा त्वमपि गान्धारे यावत् पाण्डुसुतान् रणे।
नासादयसि तान् वीरांस्तावज्जीवसि पुत्रक॥ ३३॥

कण्व मुनि कहते हैं—गान्धारीनन्दन वत्स दुर्योधन! इसी तरह तुम भी जबतक रणभूमिमें उन वीर पाण्डवोंको अपने सामने नहीं पाते, तभीतक जीवन धारण करते हो॥

भीमः प्रहरतां श्रेष्ठो वायुपुत्रो महाबलः।
धनंजयश्चेन्द्रसुतो न हन्यातां तु कं रणे॥ ३४॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ महाबली भीम वायुके पुत्र हैं। अर्जुन भी इन्द्रके पुत्र हैं। ये दोनों मिलकर युद्धमें किसे नहीं मार डालेंगे?॥ ३४॥

विष्णुर्वायुश्च शक्रश्च धर्मस्तौ चाश्विनावुभौ।
एते देवास्त्वया केन हेतुना वीक्षितुं क्षमाः॥ ३५॥

धर्मस्वरूप विष्णु, वायु, इन्द्र और वे दोनों अश्विनीकुमार—इतने देवता तुम्हारे विरुद्ध हैं। तुम किस कारणसे इन देवताओंकी ओर देखनेका भी साहस कर सकते हो?॥ ३५॥

तदलं ते विरोधेन शमं गच्छ नृपात्मज।
वासुदेवेन तीर्थेन कुलं रक्षितुमर्हसि॥ ३६॥

अतः राजकुमार! इस विरोधसे तुम्हें कुछ मिलनेवाला नहीं है। पाण्डवोंके साथ संधि कर लो। भगवान् श्रीकृष्णको सहायक बनाकर इनके द्वारा तुम्हें अपने कुलकी रक्षा करनी चाहिये॥ ३६॥

प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य नारदोऽयं महातपाः।
माहात्म्यस्य तदा विष्णोः सोऽयं चक्रगदाधरः॥ ३७॥

इन महातपस्वी नारदजीने उस समय भगवान् विष्णुके माहात्म्यको प्रत्यक्ष देखा था। वे चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् विष्णु ही ये 'श्रीकृष्ण' हैं॥ ३७॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनस्तु तच्छ्रुत्वा निःश्वसन् भृकुटीमुखः।
राधेयमभिसम्प्रेक्ष्य जहास स्वनवत् तदा॥ ३८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कण्वका वह कथन सुनकर दुर्योधनकी भौंहें तन गयीं। वह लम्बी साँस खींचता हुआ राधानन्दन कर्णकी ओर देखकर जोर-जोरसे हँसने लगा॥ ३८॥

कदर्थीकृत्य तद् वाक्यमृषेः कण्वस्य दुर्मतिः।
ऊरुं गजकराकारं ताडयन्निदमब्रवीत्॥ ३९॥

उस दुर्बुद्धिने कण्व मुनिके वचनोंकी अवहेलना करके हाथीकी सूँड़के समान चढ़ाव-उतारवाली अपनी मोटी जाँघपर हाथ पीटकर इस प्रकार कहा—॥ ३९॥

यथैवेश्वरसृष्टोऽस्मि यद् भावि या च मे गतिः।

तथा महर्षे वर्तामि किं प्रलापः करिष्यति ॥ ४० ॥

'महर्षे ! मुझे ईश्वरने जैसा बनाया है, जो होनहार और जैसी मेरी अवस्था है, उसीके अनुसार मैं बर्ताव करता हूँ। आपलोगोंका यह प्रलाप क्या करेगा ?' ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका दुर्योधनको समझाते हुए धर्मराजके द्वारा विश्वामित्रजीकी परीक्षा तथा गालवके विश्वामित्रसे गुरुदक्षिणा माँगनेके लिये हठका वर्णन

जनमेजय उवाच

अनर्थे जातनिर्बन्धं परार्थे लोभमोहितम्।
अनार्यकेष्वभिरतं मरणे कृतनिश्चयम् ॥ १ ॥
ज्ञातीनां दुःखकर्तारं बन्धूनां शोकवर्धनम्।
सुहृदां क्लेशदातारं द्विषतां हर्षवर्धनम् ॥ २ ॥
कथं नैनं विमार्गस्थं वारयन्तीह बान्धवाः।
सौहृदाद् वा सुहृत् स्निग्धो भगवान् वा पितामहः॥३॥

जनमेजयने कहा—भगवन् ! दुर्योधनका अनर्थकारी कार्योंमें ही अधिक आग्रह था। पराये धनके प्रति अधिक लोभ रखनेके कारण वह मोहित हो गया था। दुर्जनोंमें ही उसका अनुराग था। उसने मरनेका ही निश्चय कर लिया था। वह कुटुम्बीजनोंके लिये दुःखदायक और भाई-बन्धुओंके शोकको बढ़ानेवाला था। सुहृदोंको क्लेश पहुँचाता और शत्रुओंका हर्ष बढ़ाता था। ऐसे कुमार्गपर चलनेवाले इस दुर्योधनको उसके भाई-बन्धु रोकते क्यों नहीं थे ? कोई सुहृद्, स्नेही अथवा पितामह भगवान् व्यास उसे सौहार्दवश मना क्यों नहीं करते थे ? ॥ १—३ ॥

वैशम्पायन उवाच

उक्तं भगवता वाक्यमुक्तं भीष्मेण यत् क्षमम्।
उक्तं बहुविधं चैव नारदेनापि तच्छृणु ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! भगवान् वेदव्यासने भी दुर्योधनसे उसके हितकी बात कही। भीष्मजीने भी जो उचित कर्तव्य था, वह बताया। इसके सिवा नारदजीने भी नाना प्रकारके उपदेश दिये। वह सब तुम सुनो ॥ ४ ॥

नारद उवाच

दुर्लभो वै सुहृच्छ्रोता दुर्लभश्च हितः सुहृत्।
तिष्ठते हि सुहृद् यत्र न बन्धुस्तत्र तिष्ठते ॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—अकारण हित चाहनेवाले सुहृद्की बातोंको जो मन लगाकर सुने, ऐसा श्रोता दुर्लभ है। हितैषी सुहृद् भी दुर्लभ ही है; क्योंकि महान् संकटमें सुहृद् ही खड़ा हो सकता है, वहाँ भाई-बन्धु नहीं ठहर सकते ॥ ५ ॥

श्रोतव्यमपि पश्यामि सुहृदां कुरुनन्दन।
न कर्तव्यश्च निर्बन्धो निर्बन्धो हि सुदारुणः ॥ ६ ॥

कुरुनन्दन ! मैं देखता हूँ कि तुम्हें अपने सुहृदोंके उपदेशको सुननेकी विशेष आवश्यकता है; अतः तुम्हें किसी एक बातका दुराग्रह नहीं रखना चाहिये। आग्रहका परिणाम बड़ा भयंकर होता है ॥ ६ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथा निर्बन्धतः प्राप्तो गालवेन पराजयः ॥ ७ ॥

इस विषयमें विज्ञ पुरुष इस पुरातन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि महर्षि गालवने हठ या दुराग्रहके कारण पराजय प्राप्त की थी ॥ ७ ॥

विश्वामित्रं तपस्यन्तं धर्मो जिज्ञासया पुरा।
अभ्यगच्छत् स्वयं भूत्वा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ ८ ॥

पहलेकी बात है, साक्षात् धर्मराज महर्षि भगवान् वसिष्ठका रूप धारण करके तपस्यामें लगे हुए विश्वामित्रके पास उनकी परीक्षा लेनेके लिये आये ॥ ८ ॥

सप्तर्षीणामन्यतमं वेषमास्थाय भारत।
बुभुक्षुः क्षुधितो राजन्नाश्रमं कौशिकस्य तु ॥ ९ ॥

भारत ! धर्म सप्तर्षियोंमेंसे एक (वसिष्ठजी) का वेष धारण करके भूखसे पीड़ित हो भोजनकी इच्छासे विश्वामित्रके आश्रमपर आये ॥ ९ ॥

विश्वामित्रोऽथ सम्भ्रान्तः श्रपयामास वै चरुम्।
परमान्नस्य यत्नेन न च तं प्रत्यपालयत् ॥ १० ॥

विश्वामित्रजीने बड़ी उतावलीके साथ उनके लिये उत्तम भोजन देनेकी इच्छासे यत्नपूर्वक चरुपाक बनाना आरम्भ किया; परंतु ये अतिथिदेवता उनकी प्रतीक्षा न कर सके ॥ १० ॥

अन्नं तेन तदा भुक्तमन्यैर्दत्तं तपस्विभिः।
अथ गृह्यान्नमत्युष्णं विश्वामित्रोऽप्युपागमत्॥ ११ ॥

उन्होंने जब दूसरे तपस्वी मुनियोंका दिया हुआ अन्न

खा लिया, तब विश्वामित्रजी भी अत्यन्त उष्ण भोजन लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ११ ॥

भुक्तं मे तिष्ठ तावत् त्वमित्युक्त्वा भगवान् ययौ।
विश्वामित्रस्ततो राजन् स्थित एव महाद्युतिः ॥१२॥

उस समय भगवान् धर्म यह कहकर कि मैंने भोजन कर लिया, अब तुम रहने दो, वहाँसे चल दिये। राजन्! तब महातेजस्वी विश्वामित्र मुनि वहाँ उसी अवस्थामें खड़े ही रह गये ॥ १२ ॥

भक्तं प्रगृह्य मूर्ध्ना वै बाहुभ्यां संशितव्रतः।
स्थितः स्थाणुरिवाभ्याशे निश्चेष्टो मारुताशनः ॥ १३ ॥

कठोर व्रतका पालन करनेवाले विश्वामित्रने दोनों हाथोंसे उस भोजनपात्रको थामकर माथेपर रख लिया और आश्रमके समीप ही ठूँठे पेड़की भाँति वे निश्चेष्ट खड़े रहे। उस अवस्थामें केवल वायु ही उनका आहार था ॥ १३ ॥

तस्य शुश्रूषणे यत्नमकरोद् गालवो मुनिः।
गौरवाद् बहुमानाच्च हार्देन प्रियकाम्यया ॥ १४ ॥

उन दिनों उनके प्रति गौरवबुद्धि, विशेष आदर-सम्मानका भाव तथा प्रेम-भक्ति होनेके कारण उनकी प्रसन्नताके लिये गालवमुनि यत्नपूर्वक उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते थे ॥ १४ ॥

अथ वर्षशते पूर्णे धर्मः पुनरुपागमत्।
वासिष्ठं वेषमास्थाय कौशिकं भोजनेप्सया ॥ १५ ॥

तदनन्तर सौ वर्ष पूर्ण होनेपर पुनः धर्मदेव वसिष्ठ मुनिका वेष धारण करके भोजनकी इच्छासे विश्वामित्र मुनिके पास आये ॥ १५ ॥

स दृष्ट्वा शिरसा भक्तं ध्रियमाणं महर्षिणा।
तिष्ठता वायुभक्षेण विश्वामित्रेण धीमता ॥ १६ ॥
प्रतिगृह्य ततो धर्मस्तथैवोष्णं तथा नवम्।
भुक्त्वा प्रीतोऽस्मि विप्रर्षे तमुक्त्वा स मुनिर्गतः ॥१७॥

उन्होंने देखा कि परम बुद्धिमान् महर्षि विश्वामित्र केवल वायु पीकर रहते हुए सिरपर भोजनपात्र रक्खे खड़े हैं। यह देखकर धर्मने वह भोजन ले लिया। वह अन्न उसी प्रकार तुरंतकी तैयार की हुई रसोईके समान गरम था। उसे खाकर वे बोले—'ब्रह्मर्षे! मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ।' ऐसा कहकर मुनिवेषधारी धर्मदेव चले गये ॥ १६-१७ ॥

क्षत्रभावादपगतो ब्राह्मणत्वमुपागतः।
धर्मस्य वचनात् प्रीतो विश्वामित्रस्तदाभवत् ॥ १८ ॥

क्षत्रियत्वसे ऊँचे उठकर ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए विश्वामित्र-को धर्मके वचनसे उस समय बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १८ ॥

विश्वामित्रस्तु शिष्यस्य गालवस्य तपस्विनः।
शुश्रूषया च भक्त्या च प्रीतिमानित्युवाच ह ॥ १९ ॥

वे अपने शिष्य तपस्वी गालव मुनिकी सेवा-शुश्रूषा तथा भक्तिसे संतुष्ट होकर बोले—॥ १९ ॥

अनुज्ञातो मया वत्स यथेष्टं गच्छ गालव।
इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं गालवो मुनिसत्तमम् ॥ २० ॥
प्रीतो मधुरया वाचा विश्वामित्रं महाद्युतिम्।
दक्षिणाः काः प्रयच्छामि भवते गुरुकर्मणि ॥ २१ ॥

'वत्स गालव! अब मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, जाओ।' उनके इस प्रकार आदेश देनेपर गालवने प्रसन्नता प्रकट करते हुए मधुर वाणीमें महातेजस्वी मुनिवर विश्वामित्रसे इस प्रकार पूछा—'भगवन्! मैं आपको गुरुदक्षिणाके रूपमें क्या दूँ?' ॥ २०-२१ ॥

दक्षिणाभिरुपेतं हि कर्म सिद्ध्यति मानद।
दक्षिणानां हि दाता वै अपवर्गेण युज्यते ॥ २२ ॥

'मानद! दक्षिणायुक्त कर्म ही सफल होता है। दक्षिणा देनेवाले पुरुषको ही सिद्धि प्राप्त होती है ॥ २२ ॥

स्वर्गे क्रतुफलं तद्धि दक्षिणा शान्तिरुच्यते।
किमाहरामि गुर्वर्थं ब्रवीतु भगवानिति ॥ २३ ॥

'दक्षिणा देनेवाला मनुष्य ही स्वर्गमें यज्ञका फल पाता है। वेदमें दक्षिणाको ही शान्तिप्रद बताया गया है। अतः पूज्य गुरुदेव! बतावें कि मैं क्या गुरुदक्षिणा ले आऊँ?' ॥ २३ ॥

जानानस्तेन भगवाञ्जितः शुश्रूषणेन वै।
विश्वामित्रस्तमसकृद् गच्छ गच्छेत्यचोदयत् ॥ २४ ॥

गालवकी सेवा-शुश्रूषासे भगवान् विश्वामित्र उनके वशमें हो गये थे। अतः उनके उपकारको समझते हुए विश्वामित्रने उनसे बार-बार कहा—'जाओ, जाओ' ॥ २४ ॥

असकृद् गच्छ गच्छेति विश्वामित्रेण भाषितः।
किं ददानीति बहुशो गालवः प्रत्यभाषत ॥ २५ ॥

उनके द्वारा बारंबार 'जाओ, जाओ'की आज्ञा मिलनेपर भी गालवने अनेक बार आग्रहपूर्वक पूछा—'मैं आपको क्या गुरुदक्षिणा दूँ?' ॥ २५ ॥

निर्बन्धतस्तु बहुशो गालवस्य तपस्विनः।
किंचिदागतसंरम्भो विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २६ ॥

तपस्वी गालवके बहुत आग्रह करनेपर विश्वामित्रको कुछ क्रोध आ गया; अतः उन्होंने इस प्रकार कहा—॥२६॥

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम्।

अष्टौ शतानि मे देहि गच्छ गालव मा चिरम्॥ २७ ॥

'गालव ! तुम मुझे चन्द्रमाके समान श्वेत रंगवाले ऐसे आठ सौ घोड़े दो, जिनके कान एक ओरसे श्याम वर्णके हों। जाओ, देर न करो' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ छवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

गालवकी चिन्ता और गरुड़का आकर उन्हें आश्वासन देना

नारद उवाच

एवमुक्तस्तदा तेन विश्वामित्रेण धीमता।
नास्ते न शेते नाहारं कुरुते गालवस्तदा ॥ १ ॥

नारदजीने कहा—राजन् ! उस समय परम बुद्धिमान् विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर गालव मुनि तबसे न कहीं बैठते, न सोते और न भोजन ही करते थे ॥ १ ॥

त्वगस्थिभूतो हरिणश्चिन्ताशोकपरायणः।
शोचमानोऽतिमात्रं स दह्यमानश्च मन्युना।
गालवो दुःखितो दुःखाद् विललाप सुयोधन ॥ २ ॥

वे चिन्ता और शोकमें डूबे रहनेके कारण पाण्डुवर्णके हो गये। उनके शरीरमें अस्थि-चर्ममात्र ही शेष रह गये थे। सुयोधन ! अत्यन्त शोक करते और चिन्ताकी आगमें दग्ध होते हुए दुखी गालव मुनि दुःखसे विलाप करने लगे—॥ २ ॥

कुतः पुष्टानि मित्राणि कुतोऽर्थाः संचयः कुतः।
हयानां चन्द्रशुभ्राणां शतान्यष्टौ कुतो मम ॥ ३ ॥

'मेरे ऐसे मित्र कहाँ, जो धनसे पुष्ट हों ? मुझे कहाँसे धन प्राप्त होगा ? कहाँ मेरे लिये धन संग्रह करके रक्खा हुआ है ? और कहाँसे मुझे चन्द्रमाके समान श्वेतवर्णवाले आठ सौ घोड़े प्राप्त होंगे ? ॥ ३ ॥

कुतो मे भोजने श्रद्धा सुखश्रद्धा कुतश्च मे।
श्रद्धा मे जीवितस्यापि छिन्ना किं जीवितेन मे॥ ४ ॥

'ऐसी दशामें मुझे भोजनकी रुचि कहाँसे हो ? सुख भोगनेकी इच्छा कहाँसे हो ? और इस जीवनसे भी मुझे क्या प्रयोजन है ? इस जीवनको सुरक्षित रखनेके लिये मेरा जो उत्साह था, वह भी नष्ट हो गया ॥ ४ ॥

अहं पारे समुद्रस्य पृथिव्या वा परम्परात्।
गत्वाऽऽत्मानं विमुञ्चामि किं फलं जीवितेन मे ॥५॥

'मैं समुद्रके उस पार अथवा पृथ्वीसे बहुत दूर जाकर इस शरीरको त्याग दूँगा। अब मेरे जीवित रहनेसे क्या लाभ है ? ॥ ५ ॥

अधनस्याकृतार्थस्य त्यक्तस्य विविधैः फलैः।
ऋणं धारयमाणस्य कुतः सुखमनीहया ॥ ६ ॥

'जो निर्धन है, जिसके अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि नहीं हुई है तथा जो नाना प्रकारके शुभ कर्मफलोंसे वञ्चित होकर केवल ऋणका बोझ ढो रहा है, ऐसे मनुष्यको बिना उद्यमके जीवन धारण करनेसे क्या सुख होगा ? ॥ ६ ॥

सुहृदां हि धनं भुक्त्वा कृत्वा प्रणयमीप्सितम्।
प्रतिकर्तुमशक्तस्य जीवितान्मरणं वरम् ॥ ७ ॥

'जो इच्छानुसार प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करके सुहृदोंका धन भोगकर उनका प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ हो, उसके जीनेसे मर जाना ही अच्छा है ॥ ७ ॥

प्रतिश्रुत्य करिष्येति कर्तव्यं तदकुर्वतः।
मिथ्यावचनदग्धस्य इष्टापूर्तं प्रणश्यति ॥ ८ ॥

'जो 'करूँगा' ऐसा कहकर किसी कार्यको पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ले, परंतु आगे चलकर उस कर्तव्यका पालन न कर सके, उस असत्यभाषणसे दग्ध हुए पुरुषके 'इष्ट' और 'आपूर्त' सभी नष्ट हो जाते हैं ॥ ८ ॥

न रूपमनृतस्यास्ति नानृतस्यास्ति संततिः।
नानृतस्याधिपत्यं च कुत एव गतिः शुभा ॥ ९ ॥

'सत्यसे शून्य मनुष्यका जीवन नहींके बराबर है। मिथ्यावादीको संतति नहीं प्राप्त होती। झूठेको प्रभुत्व नहीं मिलता, फिर उसे शुभ गति कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ ९ ॥

कुतः कृतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखम्।
अश्रद्धेयः कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥१०॥

'कृतघ्न मनुष्यको सुयश कहाँ ? स्थान या प्रतिष्ठा कहाँ और सुख भी कहाँ है ? कृतघ्न मानव अविश्वसनीय होता है, उसका कभी उद्धार नहीं होता है ॥ १० ॥

न जीवत्यधनः पापः कुतः पापस्य तन्त्रणम्।
पापो ध्रुवमवाप्नोति विनाशं नाशयन् कृतम् ॥ ११ ॥

'निर्धन एवं पापी मनुष्यका जीवन वास्तवमें जीवन नहीं है। पापी मनुष्य अपने कुटुम्बका पोषण भी कैसे कर सकता है ?

पापात्मा (निर्धन) पुरुष अपने पुण्य कर्मोंका नाश करता हुआ स्वयं भी निश्चय ही नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

सोऽहं पापः कृतघ्नश्च कृपणश्चानृतोऽपि च ।
गुरोर्यः कृतकार्यः संस्तत् करोमि न भाषितम् ॥१२॥

'मैं पापी, कृतघ्न, कृपण और मिथ्यावादी हूँ, जिसने गुरुसे तो अपना काम करा लिया; परंतु स्वयं जो उन्हें देनेकी प्रतिज्ञा की है, उसकी पूर्ति नहीं कर पा रहा हूँ ॥ १२ ॥

सोऽहं प्राणान् विमोक्ष्यामि कृत्वा यत्नमनुत्तमम् ।
अर्थिता न मया काचित् कृतपूर्वा दिवौकसाम् ।
मानयन्ति च मां सर्वे त्रिदशा यज्ञसंस्तरे ॥ १३ ॥

'अतः मैं कोई उत्तम प्रयत्न करके अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगा । मैंने आजसे पहले देवताओंसे भी कभी कोई याचना नहीं की है । सब देवता यज्ञमें मेरा समादर करते हैं ॥ १३ ॥

अहं तु विबुधश्रेष्ठं देवं त्रिभुवनेश्वरम् ।
विष्णुं गच्छाम्यहं कृष्णं गतिं गतिमतां वरम् ॥१४॥

'अब मैं त्रिभुवनके स्वामी एवं जङ्गम जीवोंके सर्वश्रेष्ठ आश्रय सुरश्रेष्ठ सच्चिदानन्दघन भगवान् विष्णुकी शरणमें जाता हूँ ॥ १४ ॥

भोगा यस्मात् प्रतिष्ठन्ते व्याप्य सर्वान् सुरासुरान् ।
प्रणतो द्रष्टुमिच्छामि कृष्णं योगिनमव्ययम् ॥ १५ ॥

'जिनकी कृपासे समस्त देवताओं और असुरोंको भी यथेष्ट भोग प्राप्त होते हैं, उन्हीं अविनाशी योगी भगवान् विष्णुका मैं प्रणतभावसे दर्शन करना चाहता हूँ' ॥ १५ ॥

एवमुक्ते सखा तस्य गरुडो विनतात्मजः ।
दर्शयामास तं प्राह संहृष्टः प्रियकाम्यया ॥ १६ ॥

गालवके इस प्रकार कहनेपर उनके सखा विनतानन्दन गरुड़ने अत्यन्त प्रसन्न होकर उनका प्रिय करनेकी इच्छासे उन्हें दर्शन दिया और इस प्रकार कहा—॥ १६ ॥

सुहृद् भवान् मम मतः सुहृदां च मतः सुहृत् ।
ईप्सितेनाभिलाषेण योक्तव्यो विभवे सति ॥ १७ ॥

'गालव ! तुम मेरे प्रिय सुहृद् हो और मेरे सुहृदोंके भी प्रिय सुहृद हो । सुहृदोंका यह कर्तव्य है कि यदि उनके पास धन-वैभव हो तो वे उसका अपने सुहृद्का अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उपयोग करें ॥ १७ ॥

विभवश्चास्ति मे विप्र वासवावरजो द्विज ।
पूर्वमुक्तस्त्वदर्थं च कृतः कामश्च तेन मे ॥ १८ ॥

'ब्रह्मन् ! मेरे सबसे बड़े वैभव हैं इन्द्रके छोटे भाई भगवान् विष्णु । मैंने पहले तुम्हारे लिये उनसे निवेदन किया था और उन्होंने मेरी इस प्रार्थनाको स्वीकार करके मेरा मनोरथ पूर्ण किया था ॥ १८ ॥

स भवानेतु गच्छाव नयिष्ये त्वां यथासुखम् ।
देशं पारं पृथिव्या वा गच्छ गालव मा चिरम् ॥१९॥

'अतः आओ' हम दोनों चलें । गालव ! मैं तुम्हें सुखपूर्वक ऐसे देशमें पहुँचा दूँगा, जो पृथ्वीके अन्तर्गत तथा समुद्रके उस पार है । चलो, विलम्ब न करो' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़का गालवसे पूर्व दिशाका वर्णन करना

सुपर्ण उवाच

अनुशिष्टोऽस्मि देवेन गालवाज्ञातयोनिना ।
ब्रूहि कामं तु कां यामि द्रष्टुं प्रथमतो दिशम् ॥ १ ॥

गरुड़ने कहा—गालव ! अनादिदेव भगवान् विष्णुने मुझे आज्ञा दी है कि मैं तुम्हारी सहायता करूँ । अतः तुम अपनी इच्छाके अनुसार बताओ कि मैं सबसे पहले किस दिशाकी ओर चलूँ ? ॥ १ ॥

पूर्वां वा दक्षिणां वाहमथवा पश्चिमां दिशम् ।
उत्तरां वा द्विजश्रेष्ठ कुतो गच्छामि गालव ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ गालव ! बोलो, मैं पूर्व, दक्षिण, पश्चिम अथवा उत्तरमेंसे किस दिशाकी ओर चलूँ ? ॥ २ ॥

यस्यामुदयते पूर्वं सर्वलोकप्रभावनः ।
सविता यत्र संध्यायां साध्यानां वर्तते तपः ॥ ३ ॥
यस्यां पूर्वं मतिर्याता यया व्याप्तमिदं जगत् ।
चक्षुषी यत्र धर्मस्य यत्र चैष प्रतिष्ठितः ॥ ४ ॥
कृतं यतो हुतं हव्यं सर्पते सर्वतोदिशम् ।
एतद् द्वारं द्विजश्रेष्ठ दिवसस्य तथाध्वनः ॥ ५ ॥

विप्रवर ! जिस दिशामें सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न एवं प्रभावित करनेवाले भगवान् सूर्य प्रथम उदित होते हैं, जिस दिशामें संध्याके समय साध्यगण तपस्या करते हैं, जिस दिशामें (गायत्रीजपके द्वारा) पहले वह बुद्धि प्राप्त हुई है, जिसने सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है, धर्मके युगल-

नेत्रस्वरूप चन्द्रमा और सूर्य पहले जिस दिशामें उदित होते हैं और (प्रायः पूर्वाभिमुख होकर धर्मानुष्ठान किये जानेके कारण) जहाँ धर्म प्रतिष्ठित हुआ है तथा जिस दिशामें पवित्र हविष्यका हवन करनेपर वह आहुति सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल जाती है, वही यह पूर्वदिशा दिन एवं सूर्यमार्गका द्वार है ॥ ३—५ ॥

अत्र पूर्वं प्रसूता वै दाक्षायण्यः प्रजाः स्त्रियः ।
यस्यां दिशि प्रवृद्धाश्च कश्यपस्यात्मसम्भवाः ॥ ६ ॥

इसी दिशामें प्रजापति दक्षकी अदिति आदि कन्याओंने सबसे पहले प्रजावर्गको उत्पन्न किया था और इसीमें प्रजापति कश्यपकी संतानें वृद्धिको प्राप्त हुई हैं ॥ ६ ॥

अदोमूला सुराणां श्रीर्यत्र शक्रोऽभ्यषिच्यत ।
सुरराज्येन विप्रर्षे देवैश्चात्र तपश्चितम् ॥ ७ ॥

ब्रह्मर्षे ! देवताओंकी लक्ष्मीका मूलस्थान पूर्व दिशा ही है। इसीमें इन्द्रका देवसम्राट्के पदपर प्रथम अभिषेक हुआ है और इसी दिशामें देवताओंने तपस्या की है ॥ ७ ॥

एतस्मात् कारणाद् ब्रह्मन् पूर्वेत्येषा दिगुच्यते ।
यस्मात् पूर्वतरे काले पूर्वमेवावृता सुरैः ॥ ८ ॥
अत एव च सर्वेषां पूर्वामाशां प्रचक्षते ।

ब्रह्मन् ! इन्हीं सब कारणोंसे इस दिशाको 'पूर्वा' कहते हैं; क्योंकि अत्यन्त पूर्वकालमें पहले यही दिशा देवताओंसे आवृत हुई थी, अतएव इसे सबकी आदि दिशा कहते हैं ॥ ८½ ॥

पूर्वं सर्वाणि कार्याणि दैवानि सुखमीप्सता ॥ ९ ॥

सुखकी अभिलाषा रखनेवाले लोगोंको देवसम्बन्धी सारे कार्य पहले इसी दिशामें करने चाहिये ॥ ९ ॥

अत्र वेदाञ्जगौ पूर्वं भगवाँल्लोकभावनः ।
अत्रैवोक्ता सवित्राऽऽसीत् सावित्री ब्रह्मवादिषु ।१०।

लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माने पहले इसी दिशामें वेदोंका गान किया था और सविता देवताने ब्रह्मवादी मुनियोंको यहीं सावित्रीमन्त्रका उपदेश किया था ॥ १० ॥

अत्र दत्तानि सूर्येण यजूंषि द्विजसत्तम ।
अत्र लब्धवरः सोमः सुरैः क्रतुषु पीयते ॥ ११ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इसी दिशामें सूर्यदेवने महर्षि याज्ञवल्क्यको शुक्लयजुर्वेदके मन्त्र दिये थे और इसी दिशामें देवतालोग यज्ञोंमें उस सोमरसका पान करते हैं, जो उन्हें वरदानमें प्राप्त हो चुका है ॥ ११ ॥

अत्र तृप्ता हुतवहाः स्वां योनिमुपभुञ्जते ।
अत्र पातालमाश्रित्य वरुणः श्रियमाप च ॥ १२ ॥

इसी दिशामें यज्ञोंद्वारा तृप्त हुए अग्निगण अपने योनिस्वरूप जलका उपभोग करते हैं। यहीं वरुणने पातालका आश्रय लेकर लक्ष्मीको प्राप्त किया था ॥ १२ ॥

अत्र पूर्वं वसिष्ठस्य पौराणस्य द्विजर्षभ ।
सूतिश्चैव प्रतिष्ठा च निधनं च प्रकाशते ॥ १३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इसी दिशामें पुरातन महर्षि वसिष्ठकी उत्पत्ति हुई है। यहीं उन्हें प्रतिष्ठा (सप्तर्षियोंमें स्थान) की प्राप्ति हुई है और इसी दिशामें उन्हें निमिके शापसे देहत्याग करना पड़ा है ॥ १३ ॥

ओङ्कारस्यात्र जायन्ते सृतयो दशतीर्दश ।
पिबन्ति मुनयो यत्र हविर्धूमं स्म धूमपाः ॥ १४ ॥

इसी दिशामें प्रणव अर्थात् वेदकी सहस्रों शाखाएँ प्रकट हुई हैं और उसीमें धूमपायी महर्षिगण हविष्यके धूमका पान करते हैं ॥ १४ ॥

प्रोक्षिता यत्र बहवो वराहाद्या मृगा वने ।
शक्रेण यज्ञभागार्थे दैवतेषु प्रकल्पिताः ॥ १५ ॥

इसी दिशामें देवराज इन्द्रने यज्ञभागकी सिद्धिके लिये वनमें जंगली सूअर आदि हिंसक पशुओंको प्रोक्षित करके देवताओंको सौंपा था ॥ १५ ॥

अत्राहिताः कृतघ्नाश्च मानुषाश्चासुराश्च ये ।
उदयंस्तान् हि सर्वान् वै क्रोधाद्धन्ति विभावसुः।१६।

इस दिशामें उदित होनेवाले भगवान् सूर्य जो दूसरोंका अहित करनेवाले एवं कृतघ्न मनुष्य और असुर होते हैं, उन सबका क्रोधपूर्वक विनाश करते (उनकी आयु क्षीण कर देते) हैं ॥ १६ ॥

एतद् द्वारं त्रिलोकस्य स्वर्गस्य च सुखस्य च ।
एष पूर्वो दिशां भागो विशावोऽत्र यदीच्छसि ॥१७॥

गालव ! यह पूर्व दिग्विभाग ही त्रिलोकीका, स्वर्गका और सुखका भी द्वार है। तुम्हारी इच्छा हो तो हम दोनों इसमें प्रवेश करें ॥ १७ ॥

प्रियं कार्यं हि मे तस्य यस्यास्मि वचने स्थितः ।
ब्रूहि गालव यास्यामि शृणु चाप्यपरां दिशम् ॥ १८ ॥

मैं जिनकी आज्ञाके अधीन हूँ, उन भगवान् विष्णुका प्रिय कार्य मुझे अवश्य करना है; अतः गालव ! बताओ, क्या मैं पूर्व दिशामें चलूँ अथवा दूसरी दिशाका भी वर्णन सुन लो।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०८॥

नवाधिकशततमोऽध्यायः

दक्षिण दिशाका वर्णन

सुपर्ण उवाच

इयं विवस्वता पूर्वं श्रौतेन विधिना किल।
गुरवे दक्षिणा दत्ता दक्षिणेत्युच्यते च दिक्॥ १॥

गरुड़ कहते हैं—गालव! यह प्रसिद्ध है कि पूर्वकालमें भगवान् सूर्यने वेदोक्त विधिके अनुसार यज्ञ करके आचार्य कश्यपको दक्षिणारूपसे इस दिशाका दान किया था, इसीलिये इसे दक्षिण दिशा कहते हैं॥ १॥

अत्र लोकत्रयस्यास्य पितृपक्षः प्रतिष्ठितः।
अत्रोष्मपाणां देवानां निवासः श्रूयते द्विज॥ २॥

ब्रह्मन्! तीनों लोकोंके पितृगण इसी दिशामें प्रतिष्ठित हैं तथा 'ऊष्मप' नामक देवताओंका निवास भी इसी दिशामें सुना जाता है॥ २॥

अत्र विश्वे सदा देवाः पितृभिः सार्धमासते।
इज्यमानाः स्म लोकेषु सम्प्राप्तास्तुल्यभागताम्॥३॥

पितरोंके साथ विश्वेदेवगण सदा दक्षिण दिशामें ही वास करते हैं। वे समस्त लोकोंमें पूजित हो श्राद्धमें पितरोंके समान ही भाग प्राप्त करते हैं॥ ३॥

एतद् द्वितीयं देवस्य द्वारमाचक्षते द्विज।
त्रुटिशो लवशश्चापि गण्यते कालनिश्चयः॥ ४॥

विप्रवर! विद्वान् पुरुष इस दक्षिण दिशाको धर्मदेवताका दूसरा द्वार कहते हैं। यहीं (चित्रगुप्त आदिके द्वारा) 'त्रुटि' और 'लव' आदि सूक्ष्मसे सूक्ष्म कालांशोंपर दृष्टि रखते हुए प्राणियोंकी आयुकी निश्चित गणना की जाती है॥ ४॥

अत्र देवर्षयो नित्यं पितृलोकर्षयस्तथा।
तथा राजर्षयः सर्वे निवसन्ति गतव्यथाः॥ ५॥

देवर्षि, पितृलोकके ऋषि तथा समस्त राजर्षिगण दुःखरहित हो सदा इसी दिशामें निवास करते हैं॥ ५॥

अत्र धर्मश्च सत्यं च कर्म चात्र निगद्यते।
गतिरेषा द्विजश्रेष्ठ कर्मणामवसायिनाम्॥ ६॥

द्विजश्रेष्ठ! इसी दिशामें (रहकर चित्रगुप्त आदिके द्वारा धर्मराजके निकट प्राणियोंके) धर्म, सत्य तथा साधारण कर्मोंके विषयमें कहा जाता है। मृत प्राणी तथा उनके कर्म इसी दिशाका आश्रय लेते हैं॥ ६॥

एषा दिक् सा द्विजश्रेष्ठ यां सर्वः प्रतिपद्यते।
वृता त्वनवबोधेन सुखं तेन न गम्यते॥ ७॥

विप्रवर! यह वह दिशा है, जिसमें मृत्युके पश्चात् सभी प्राणियोंको जाना पड़ता है। यह सदा अज्ञानान्धकारसे आवृत रहती है, इसलिये इसमें सुखपूर्वक यात्रा सम्भव नहीं हो पाती है॥ ७॥

नैर्ऋतानां सहस्राणि बहून्यत्र द्विजर्षभ।
सृष्टानि प्रतिकूलानि द्रष्टव्यान्यकृतात्मभिः॥ ८॥

द्विजश्रेष्ठ! ब्रह्माजीने इस दिशामें प्रतिकूल स्वभाव एवं आचरणवाले सहस्रों राक्षसोंकी सृष्टि की है, जिनका दर्शन अशुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषोंको ही होता है॥ ८॥

अत्र मन्दरकुञ्जेषु विप्रर्षिसदनेषु च।
गायन्ति गाथा गन्धर्वाश्चित्तबुद्धिहरा द्विज॥ ९॥

ब्रह्मन्! इसी दिशामें गन्धर्वगण मन्दराचलके कुञ्जों और ब्रह्मर्षियोंके आश्रमोंमें मन और बुद्धिको आकर्षित करनेवाली गाथाओंका गान करते हैं॥ ९॥

अत्र सामानि गाथाभिः श्रुत्वा गीतानि रैवतः।
गतदारो गतामात्यो गतराज्यो वनं गतः॥ १०॥

पूर्वकालमें यहीं राजा रैवत गाथाओंके रूपमें सामगान सुनते-सुनते अपनी स्त्री, मन्त्री तथा राज्यसे भी वियुक्त हो वनमें चले गये थे*॥ १०॥

अत्र सावर्णिना चैव यवक्रीतात्मजेन च।
मर्यादा स्थापिता ब्रह्मन् यां सूर्यो नातिवर्तते॥ ११॥

ब्रह्मन्! इस दिशामें सावर्णि मनु तथा यवक्रीतके पुत्रने सूर्यकी गतिके लिये मर्यादा (सीमा) स्थापित की थी, जिसका सूर्यदेव कभी उल्लङ्घन नहीं करते हैं॥ ११॥

अत्र राक्षसराजेन पौलस्त्येन महात्मना।
रावणेन तपश्चीर्त्वा सुरेभ्योऽमरता वृता॥ १२॥

पुलस्त्यवंशी राक्षसराज महामना रावणने इसी दिशामें तपस्या करके देवताओंसे अवध्य होनेका वरदान प्राप्त किया था॥ १२॥

---

* एक समय राजा रैवत अपनी पुत्रीके साथ उसके लिये वरका अनुसंधान करने ब्रह्माजीके पास गये थे। वहाँसे लौटते समय उन्होंने मन्दराचलके पुण्य प्रदेशोंमें गन्धर्वोंका सामगान सुना और कुछ देर ठहर गये। वहाँका थोड़ा-सा भी समय मनुष्यलोकके महान् कालके बराबर होता है। राजा जब लौटकर राजधानीमें आये, तब सत्ययुग और त्रेता बीतकर द्वापरका अन्तिम भाग व्यतीत हो रहा था। मन्त्री और परिवारके सभी लोग कालके गालमें जा चुके थे। उन दिनों उनकी राजधानी कुशस्थलीके स्थानपर दिव्य द्वारकापुरीका निर्माण हो चुका था। राजाने अपनी पुत्री रेवतीका विवाह बलरामजीसे कर दिया और स्वयं वे वनमें तपस्या करनेके लिये चले गये।

अत्र वृत्तेन वृत्रोऽपि शक्रशत्रुत्वमीयिवान् ।
अत्र सर्वासवः प्राप्ताः पुनर्गच्छन्ति पञ्चधा ॥ १३ ॥

इसी दिशामें घटित हुई घटनाके कारण वृत्रासुर देवराज इन्द्रका शत्रु बन बैठा था। दक्षिण दिशामें ही आकर सबके प्राण पुनः (प्राण-अपान आदिके भेदसे) पाँच भागोंमें बँट जाते हैं (अर्थात् प्राणी नूतन देह धारण करते हैं) ॥ १३ ॥

अत्र दुष्कृतकर्माणो नराः पच्यन्ति गालव ।
अत्र वैतरणी नाम नदी वितरणैर्वृता ॥ १४ ॥

गालव ! इसी दिशामें पापाचारी मनुष्य नरकोंकी आगमें पकाये जाते हैं। दक्षिणमें ही वह वैतरणी नदी है, जो वैतरणी नरकके अधिकारी पापियोंसे घिरी रहती है ॥ १४ ॥

अत्र गत्वा सुखस्यान्तं दुःखस्यान्तं प्रपद्यते ।
अत्रावृत्तो दिनकरः सुरसं क्षरते पयः ॥ १५ ॥
काष्ठां चासाद्य वासिष्ठीं हिममुत्सृजते पुनः ।

मनुष्य इसी दिशामें जाकर सुख और दुःखके अन्तको प्राप्त होता है। इसी दक्षिण दिशामें लौटनेपर (अर्थात् उत्तरायणके अन्तिम भागमें पहुँचकर दक्षिणायनके आरम्भमें आनेपर जब कि वर्षाऋतु रहती है,) सूर्यदेव सुस्वादु जलकी वर्षा करते हैं। फिर वसिष्ठ मुनिके द्वारा सेवित उत्तर दिशामें पहुँचकर (अर्थात् उत्तरायणके प्रारम्भमें जब कि शिशिर ऋतु रहती है,) वे ओले गिराते हैं ॥ १५½ ॥

अत्राहं गालव पुरा क्षुधार्तः परिचिन्तयन् ॥ १६ ॥
लब्धवान् युध्यमानौ द्वौ बृहन्तौ गजकच्छपौ ।

गालव ! पूर्वकालकी बात है, मैं भूखसे पीड़ित होकर भारी चिन्तामें पड़ गया था, परंतु इसी दिशामें आनेपर दो विशाल प्राणी—हाथी और कछुआ मेरे हाथ लग गये, जो आपसमें लड़ रहे थे ॥ १६½ ॥

अत्र चक्रधनुर्नाम सूर्याज्जातो महानृषिः ॥ १७ ॥
विदुर्यं कपिलं देवं येनार्ताः सगरात्मजाः ।

सूर्यके समान तेजस्वी महर्षि कर्दमसे उत्पन्न हुए 'चक्रधनु' नामक महर्षि इसी दिशामें रहते थे, जिन्हें सब लोग 'कपिलदेव'के नामसे जानते हैं। उन्होंने ही सगरके पुत्रोंको भस्म कर दिया था ॥ १७½ ॥

अत्र सिद्धाः शिवा नाम ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ १८ ॥
अधीत्य सकलान् वेदाँल्लेभिरे मोक्षमक्षयम् ।

इसी दिशामें 'शिव' नामसे प्रसिद्ध कुछ सिद्ध ब्राह्मण रहते थे, जो वेदोंके पारंगत पण्डित थे। उन्होंने सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके (तत्त्वज्ञानद्वारा) अक्षय मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥ १८½ ॥

अत्र भोगवती नाम पुरी वासुकिपालिता ॥ १९ ॥
तक्षकेण च नागेन तथैवैरावतेन च ।

दक्षिणमें ही वासुकिद्वारा पालित तथा तक्षक एवं ऐरावत नागद्वारा सुरक्षित भोगवती नामक पुरी है ॥ १९½ ॥

अत्र निर्याणकालेऽपि तमः सम्प्राप्यते महत् ॥ २० ॥
अभेद्यं भास्करेणापि स्वयं वा कृष्णवर्त्मना ।

मृत्युके पश्चात् इस दिशामें जानेवाले प्राणीको ऐसे घोर अन्धकारका सामना करना पड़ता है, जो साक्षात् अग्नि एवं सूर्यके लिये भी अभेद्य है ॥ २०½ ॥

एष तस्यापि ते मार्गः परिचार्यस्य गालव ।
ब्रूहि मे यदि गन्तव्यं प्रतीचीं शृणु चापराम् ॥ २१ ॥

गालव ! तुम मेरे द्वारा परिचर्या पाने (सेवा ग्रहण करने) के योग्य हो, अतः तुम्हें यह दक्षिण मार्ग बताया है; यदि इस दिशामें चलना हो तो मुझसे कहो अथवा अब तीसरी पश्चिम दिशाका वर्णन सुनो ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ नौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमोऽध्यायः

पश्चिम दिशाका वर्णन

सुपर्ण उवाच

इयं दिग् दयिता राज्ञो वरुणस्य तु गोपतेः ।
सदा सलिलराजस्य प्रतिष्ठा चादिरेव च ॥ १ ॥

गरुड़ कहते हैं—गालव ! यह जो सामनेकी दिशा है, जलके स्वामी दिक्पाल राजा वरुणको सदा ही अत्यन्त प्रिय है। यही उनका आश्रय और उत्पत्तिस्थान है ॥ १ ॥

अत्र पश्चादहः सूर्यो विसर्जयति गाः स्वयम् ।
पश्चिमेत्यभिविख्याता दिगियं द्विजसत्तम ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! दिनके पश्चात् सूर्यदेव इसी दिशामें स्वयं अपनी किरणोंका विसर्जन करते हैं, इसलिये यह 'पश्चिम' के नामसे विख्यात है ॥ २ ॥

यादसामत्र राज्येन सलिलस्य च गुप्तये ।

कश्यपो भगवान् देवो वरुणं स्माभ्यषेचयत् ॥ ३ ॥

पूर्वकालमें भगवान् कश्यपदेवने जल-जन्तुओंका आधिपत्य और जलकी रक्षा करनेके लिये इसी दिशामें वरुणका अभिषेक किया था ॥ ३ ॥

अत्र पीत्वा समस्तान् वै वरुणस्य रसांस्तु षट् ।
जायते तरुणः सोमः शुक्लस्यादौ तमिस्रहा ॥ ४ ॥

अन्धकारका नाश करनेवाले चन्द्रमा वरुणके निकट रहकर छः प्रकारके सम्पूर्ण रसोंका पान करके शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको इसी दिशामें नूतनताको प्राप्त होकर उदित होते हैं ॥ ४ ॥

अत्र पश्चात् कृता दैत्या वायुना संयतास्तदा ।
निःश्वसन्तो महावातैरर्दिताः सुषुपुर्द्विज ॥ ५ ॥

ब्रह्मन् ! पूर्वकालमें वायुदेवने अपने महान् वेगसे यहाँ युद्धमें दैत्योंको पराङ्मुख, आबद्ध और पीड़ित किया था, जिससे वे लम्बी साँस छोड़ते हुए धराशायी हो गये थे ॥ ५ ॥

अत्र सूर्यं प्रणयिनं प्रतिगृह्णाति पर्वतः ।
अस्तो नाम यतः संध्या पश्चिमा प्रतिसर्पति ॥ ६ ॥

इसी दिशामें अस्ताचल है, जो अपने प्रीतिपात्र सूर्यदेवको प्रतिदिन ग्रहण करता है । वहींसे पश्चिम संध्याका प्रसार होता है ॥ ६ ॥

अतो रात्रिश्च निद्रा च निर्गता दिवसक्षये ।
जायते जीवलोकस्य हर्तुमर्धमिवायुषः ॥ ७ ॥

इसी दिशासे दिनके अन्तमें मानो जीव-जगत्‌की आधी आयु हर लेनेके लिये रात्रि एवं निद्राका प्राकट्य होता है ॥ ७ ॥

अत्र देवीं दितिं सुप्तामात्मप्रसवधारिणीम् ।
विगर्भामकरोच्छक्रो यत्र जातो मरुद्गणः ॥ ८ ॥

इसी दिशामें देवराज इन्द्रने सोयी हुई गर्भवती दितिदेवीके (उदरमें प्रवेश करके उसके) गर्भका उच्छेद किया था, जिससे मरुद्गणोंकी उत्पत्ति हुई ॥ ८ ॥

अत्र मूलं हिमवतो मन्दरं याति शाश्वतम् ।
अपि वर्षसहस्रेण न चास्यान्तोऽधिगम्यते ॥ ९ ॥

इसी दिशामें हिमालयका मूलभाग सदा मन्दराचलतक फैलकर उसका स्पर्श करता है । सहस्रों वर्षोंमें भी इसका अन्त पाना असम्भव है ॥ ९ ॥

अत्र काञ्चनशैलस्य काञ्चनाम्बुरुहस्य च ।
उदधेस्तीरमासाद्य सुरभिः क्षरते पयः ॥ १० ॥

इसी दिशामें सुवर्णमय पर्वत मन्दराचल तथा स्वर्णमय कमलोंसे सुशोभित क्षीरसागरके तटपर पहुँचकर सुरभिदेवी अपने दूधका निर्झर बहाती हैं ॥ १० ॥

अत्र मध्ये समुद्रस्य कबन्धः प्रतिदृश्यते ।
स्वर्भानोः सूर्यकल्पस्य सोमसूर्यौ जिघांसतः ॥ ११ ॥

पश्चिम दिशामें ही समुद्रके भीतर सूर्यके समान तेजस्वी उस राहुका कबन्ध (धड़) दिखायी देता है, जो सूर्य और चन्द्रमाको मार डालनेकी इच्छा रखता है ॥ ११ ॥

सुवर्णशिरसोऽप्यत्र हरिरोम्णः प्रगायतः ।
अदृश्यस्याप्रमेयस्य श्रूयते विपुलो ध्वनिः ॥ १२ ॥

इसी दिशामें पिङ्गलवर्णके केशोंसे सुशोभित, अप्रमेय प्रभावशाली एवं अदृश्यमूर्ति मुनिवर सुवर्णशिरा सामगान करते हैं । उनके उस गीतकी विपुल ध्वनि स्पष्ट सुनायी देती है ॥ १२ ॥

अत्र ध्वजवती नाम कुमारी हरिमेधसः ।
आकाशे तिष्ठ तिष्ठेति तस्थौ सूर्यस्य शासनात् ॥ १३ ॥

इसी दिशामें हरिमेधा मुनिकी कुमारी कन्या ध्वजवती निवास करती है, जो सूर्यदेवकी 'ठहरो' 'ठहरो' इस आज्ञासे आकाशमें स्थित है ॥ १३ ॥

अत्र वायुस्तथा वह्निरापः खं चापि गालव ।
आह्निकं चैव नैशं च दुःखं स्पर्शं विमुञ्चति ॥ १४ ॥

गालव ! वायु, अग्नि, जल और आकाश—ये सब इस दिशामें रात्रि और दिनके दुःखदायी स्पर्शका परित्याग करते हैं (अर्थात् यहाँ इनका स्पर्श सदा सुखद ही होता है)॥ १४ ॥

अतःप्रभृति सूर्यस्य तिर्यगावर्तते गतिः ।
अत्र ज्योतींषि सर्वाणि विशन्त्यादित्यमण्डलम् ॥ १५ ॥

इसी दिशासे सूर्यदेव तिरछी गतिसे चक्कर लगाना आरम्भ करते हैं । यहीं सम्पूर्ण ज्योतियाँ सूर्यमण्डलमें प्रवेश करती हैं ॥ १५ ॥

अष्टाविंशतिरात्रं च चङ्क्रम्य सह भानुना ।
निष्पतन्ति पुनः सूर्यात् सोमसंयोगयोगतः ॥ १६ ॥

अभिजित्‌सहित अट्ठाईस नक्षत्रोंमेंसे प्रत्येक अट्ठाईसवें दिन सूर्यके साथ विचरण करके अमावस्याके बाद फिर सूर्यमण्डलसे पृथक् हो जाता है ॥ १६ ॥

अत्र नित्यं स्रवन्तीनां प्रभवः सागरोदयः ।
अत्र लोकत्रयस्यापस्तिष्ठन्ति वरुणालये ॥ १७ ॥

इसी दिशासे उन अधिकांश नदियोंका प्राकट्य हुआ है, जिनके जलसे समुद्रकी पूर्ति होती रहती है। यहींके वरुणालयमें त्रिभुवनके लिये उपयोगी जलराशि संचित है ॥ १७ ॥

अत्र पन्नगराजस्याप्यनन्तस्य निवेशनम् ।

अनादिनिधनस्यात्र विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

यहीं नागराज अनन्तका निवास तथा आदि-अन्तसे रहित भगवान् विष्णुका सर्वोत्कृष्ट स्थान है ॥ १८ ॥

अत्रानलसखस्यापि पवनस्य निवेशनम् ।
महर्षेः कश्यपस्यात्र मारीचस्य निवेशनम् ॥ १९ ॥

इसी दिशामें अग्निदेवके सखा वायुदेवका भवन तथा मरीचिनन्दन महर्षि कश्यपका आश्रम है ॥ १९ ॥

एष ते पश्चिमो मार्गो दिग्द्वारेण प्रकीर्तितः ।
ब्रूहि गालव गच्छावो बुद्धिः का द्विजसत्तम ॥ २० ॥

द्विजश्रेष्ठ गालव ! इस प्रकार मैंने तुम्हें संक्षेपसे पश्चिमका मार्ग बताया है । अब बताओ, तुम्हारा क्या विचार है ? हम दोनों किस दिशाकी ओर चलें ? ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

उत्तर दिशाका वर्णन

सुपर्ण उवाच

यस्मादुत्तार्यते पापाद् यस्मान्निःश्रेयसोऽश्नुते ।
अस्मादुत्तारणबलादुत्तरेत्युच्यते द्विज ॥ १ ॥

गरुड़ कहते हैं—गालव ! इस मार्गसे जानेपर मनुष्यका पापसे उद्धार हो जाता है और वह कल्याणमय स्वर्गीय सुखोंका उपभोग करता है; अतः इस उत्तारण (संसारसागरसे पार उतारने) के बलसे इस दिशाको उत्तरदिशा कहते हैं ॥ १ ॥

उत्तरस्य हिरण्यस्य परिवापश्च गालव ।
मार्गः पश्चिमपूर्वाभ्यां दिग्भ्यां वै मध्यमः स्मृतः ॥ २ ॥

गालव ! यह उत्तर दिशा उत्कृष्ट सुवर्ण आदि निधियोंकी अधिष्ठान है (इसलिये भी इसका नाम उत्तर है) । यह उत्तर मार्ग पश्चिम और पूर्व दिशाओंका मध्यवर्ती बताया गया है ॥

अस्यां दिशि वरिष्ठायामुत्तरायां द्विजर्षभ ।
नासौम्यो नाविधेयात्मा नाधर्मो वसते जनः ॥ ३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इस गौरवशालिनी दिशामें ऐसे लोगोंका वास नहीं है, जो सौम्य स्वभावके न हों, जिन्होंने अपने मनको वशमें न किया हो तथा जो धर्मका पालन न करते हों ॥ ३ ॥

अत्र नारायणः कृष्णो जिष्णुश्चैव नरोत्तमः ।
बदर्यामाश्रमपदे तथा ब्रह्मा च शाश्वतः ॥ ४ ॥

इसी दिशामें बदरिकाश्रमतीर्थ है, जहाँ सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीनारायण, विजयशील नरश्रेष्ठ नर और सनातन ब्रह्माजी निवास करते हैं ॥ ४ ॥

अत्र वै हिमवत्पृष्ठे नित्यमास्ते महेश्वरः ।
प्रकृत्या पुरुषः सार्धं युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ ५ ॥

उत्तरमें ही हिमालयके शिखरपर प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्वी अन्तर्यामी भगवान् महेश्वर भगवती उमाके साथ नित्य निवास करते हैं ॥ ५ ॥

न स दृश्यो मुनिगणैस्तथा देवैः सवासवैः ।
गन्धर्वयक्षसिद्धैर्वा नरनारायणादृते ॥ ६ ॥

वे भगवान् नर और नारायणके सिवा और किसीकी दृष्टिमें नहीं आते । समस्त मुनिगण, गन्धर्व, यक्ष, सिद्ध अथवा देवताओंसहित इन्द्र भी उनका दर्शन नहीं कर पाते हैं ॥ ६ ॥

अत्र विष्णुः सहस्राक्षः सहस्रचरणोऽव्ययः ।
सहस्रशिरसः श्रीमानेकः पश्यति मायया ॥ ७ ॥

यहाँ सहस्रों नेत्रों, सहस्रों चरणों और सहस्रों मस्तकोंवाले एकमात्र अविनाशी श्रीमान् भगवान् विष्णु ही उन मायाविशिष्ट महेश्वरका साक्षात्कार करते हैं ॥ ७ ॥

अत्र राज्येन विप्राणां चन्द्रमाश्चाभ्यषिच्यत ।
अत्र गङ्गां महादेवः पतन्तीं गगनाच्च्युताम् ॥ ८ ॥
प्रतिगृह्य ददौ लोके मानुषे ब्रह्मवित्तम ।

उत्तर दिशामें ही चन्द्रमाका द्विजराजके पदपर अभिषेक हुआ था । वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ गालव ! यहीं आकाशसे गिरती हुई गङ्गाको महादेवजीने अपने मस्तकपर धारण किया और उन्हें मनुष्यलोकमें छोड़ दिया ॥ ८½ ॥

अत्र देव्या तपस्तप्तं महेश्वरपरीप्सया ॥ ९ ॥
अत्र कामश्च रोषश्च शैलश्चोमा च सम्बभुः ।

यहीं पार्वतीदेवीने भगवान् महेश्वरको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये कठोर तपस्या की थी और इसी दिशामें महादेवजीको मोहित करनेके लिये काम प्रकट हुआ । फिर उसके ऊपर भगवान् शंकरका क्रोध हुआ । उस अवसरपर गिरिराज हिमालय और उमा भी वहाँ विद्यमान थीं (इस प्रकार ये सब लोग वहाँ एक ही समयमें प्रकाशित हुए) ॥

अत्र राक्षसयक्षाणां गन्धर्वाणां च गालव ॥ १० ॥

आधिपत्येन कैलासे धनदोऽप्यभिषेचितः ।
अत्र चैत्ररथं रम्यमत्र वैखानसाश्रमः ॥ ११ ॥

गालव ! इसी दिशामें कैलास पर्वतपर राक्षस, यक्ष और गन्धर्वोंका आधिपत्य करनेके लिये धनदाता कुबेरका अभिषेक हुआ था । उत्तर दिशामें ही रमणीय चैत्ररथवन और वैखानस ऋषियोंका आश्रम है ॥ १०-११ ॥

अत्र मन्दाकिनी चैव मन्दरश्च द्विजर्षभ ।
अत्र सौगन्धिकवनं नैर्ऋतैरभिरक्ष्यते ॥ १२ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! यहीं मन्दाकिनी नदी और मन्दराचल हैं । इसी दिशामें राक्षसगण सौगन्धिकवनकी रक्षा करते हैं ॥१२॥

शाद्वलं कदलीस्कन्धमत्र संतानका नगाः ।
अत्र संयमनित्यानां सिद्धानां स्वैरचारिणाम् ॥ १३ ॥
विमानान्यनुरूपाणि कामभोग्यानि गालव ।

यहीं हरी-हरी घासोंसे सुशोभित कदलीवन है और यहीं कल्पवृक्ष शोभा पाते हैं । गालव ! इसी दिशामें सदा संयम-नियमका पालन करनेवाले स्वच्छन्दचारी सिद्धोंके इच्छानुसार भोगोंसे सम्पन्न एवं मनोनुकूल विमान विचरते हैं ॥ १३½ ॥

अत्र ते ऋषयः सप्त देवी चारुन्धती तथा ॥ १४ ॥
अत्र तिष्ठति वै स्वातिरत्रास्या उदयः स्मृतः ।

इसी दिशामें अरुन्धतीदेवी और सप्तर्षि प्रकाशित होते हैं । इसीमें स्वाती नक्षत्रका निवास है और यहीं उसका उदय होता है ॥ १४½ ॥

अत्र यज्ञं समासाद्य ध्रुवं स्थाता पितामहः ॥ १५ ॥
ज्योतींषि चन्द्रसूर्यौ च परिवर्तन्ति नित्यशः ।

इसी दिशामें ब्रह्माजी यज्ञानुष्ठानमें प्रवृत्त होकर नियमित-रूपसे निवास करते हैं । नक्षत्र, चन्द्रमा तथा सूर्य भी सदा इसीमें परिभ्रमण करते हैं ॥ १५½ ॥

अत्र गङ्गामहाद्वारं रक्षन्ति द्विजसत्तम ॥ १६ ॥
धामा नाम महात्मानो मुनयः सत्यवादिनः ।
न तेषां ज्ञायते मूर्तिर्नाकृतिर्न तपश्चितम् ॥ १७ ॥
परिवर्तसहस्राणि कामभोज्यानि गालव ।

द्विजश्रेष्ठ ! इसी दिशामें धाम नामसे प्रसिद्ध सत्यवादी महात्मा मुनि श्रीगङ्गामहाद्वारकी रक्षा करते हैं । उनकी मूर्ति, आकृति तथा संचित तपस्याका परिमाण किसीको ज्ञात नहीं होता है । गालव ! वे सहस्रों युगान्तकालतककी आयु इच्छानुसार भोगते हैं ॥ १६-१७½ ॥

यथा यथा प्रविशति तस्मात् परतरं नरः ॥ १८ ॥
तथा तथा द्विजश्रेष्ठ प्रविलीयति गालव ।
नैतत् केनचिदन्येन गतपूर्वं द्विजर्षभ ॥ १९ ॥
ऋते नारायणं देवं नरं वा जिष्णुमव्ययम् ।
अत्र कैलासमित्युक्तं स्थानमैलविलस्य तत् ॥ २० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मनुष्य ज्यों-ज्यों गङ्गामहाद्वारसे आगे बढ़ता है, वैसे-ही-वैसे वहाँकी हिमराशिमें गलता जाता है । विप्रवर गालव ! साक्षात् भगवान् नारायण तथा विजयशील अविनाशी महात्मा नरको छोड़कर दूसरा कोई मनुष्य पहले कभी गङ्गामहाद्वारसे आगे नहीं गया है । इसी दिशामें कैलास-पर्वत है, जो कुबेरका स्थान बताया गया है ॥ १८-२० ॥

अत्र विद्युत्प्रभा नाम जज्ञिरेऽप्सरसो दश ।
अत्र विष्णुपदं नाम क्रमता विष्णुना कृतम् ॥ २१ ॥
त्रिलोकविक्रमे ब्रह्मन्नुत्तरां दिशमाश्रितम् ।
अत्र राज्ञा मरुत्तेन यज्ञेनेष्टं द्विजोत्तम ॥ २२ ॥
उशीरबीजे विप्रर्षे यत्र जाम्बूनदं सरः ।

यहीं विद्युत्प्रभा नामसे प्रसिद्ध दस अप्सराएँ उत्पन्न हुई थीं । ब्रह्मन् ! त्रिलोकीको नापते समय भगवान् विष्णुने इसी दिशामें अपना चरण रक्खा था । उत्तर दिशामें भगवान् विष्णुका वह चरणचिह्न (हरिकी पैंड़ी) आज भी मौजूद है । द्विजश्रेष्ठ ! ब्रह्मर्षे ! उत्तर दिशाके ही उशीरबीज नामक स्थानमें, जहाँ सुवर्णमय सरोवर है, राजा मरुत्तने यज्ञ किया था ॥ २१-२२½ ॥

जीमूतस्यात्र विप्रर्षेरुपतस्थे महात्मनः ॥ २३ ॥
साक्षाद्धैमवतः पुण्यो विमलः कनकाकरः ।

इसी दिशामें ब्रह्मर्षि महात्मा जीमूतके समक्ष हिमालयकी पवित्र एवं निर्मल स्वर्णनिधि (सोनेकी खान) प्रकट हुई थी॥

ब्राह्मणेषु च यत् कृत्स्नं स्वन्तं कृत्वा धनं महत् ॥२४॥
वव्रे धनं महर्षिः स जैमूतं तद् धनं ततः ।

उस सम्पूर्ण विशाल धनराशिको उन्होंने ब्राह्मणोंमें बाँट-कर उसका सदुपयोग किया और ब्राह्मणोंसे यह वर माँगा कि यह धन मेरे नामसे प्रसिद्ध हो । इस कारण वह धन 'जैमूत' नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ २४½ ॥

अत्र नित्यं दिशाम्पालाः सायम्प्रातर्द्विजर्षभ ॥ २५ ॥
कस्य कार्यं किमिति वै परिक्रोशन्ति गालव ।

विप्रवर गालव ! यहाँ प्रतिदिन सबेरे और संध्याके समय सभी दिक्पाल एकत्र हो उच्च स्वरसे यह पूछते हैं कि किसको क्या काम है ? ॥ २५½ ॥

एवमेषा द्विजश्रेष्ठ गुणैरन्यैर्दिगुत्तरा ॥ २६ ॥
उत्तरेति परिख्याता सर्वकर्मसु चोत्तरा ।

द्विजश्रेष्ठ ! इन सब कारणोंसे तथा अन्यान्य गुणोंके कारण यह दिशा उत्कृष्ट है और समस्त शुभ कर्मोंके लिये भी यही उत्तम मानी गयी है । इसलिये इसे उत्तर कहते हैं ॥२६½॥

एता विस्तरशस्तात तव संकीर्तिता दिशः ॥ २७ ॥
चतस्रः क्रमयोगेन कामाशां गन्तुमिच्छसि ।

तात ! इस प्रकार मैंने क्रमशः चारों दिशाओंका तुम्हारे सामने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कहो, किस दिशामें चलना चाहते हो ? ॥ २७½ ॥

उद्यतोऽहं द्विजश्रेष्ठ तव दर्शयितुं दिशः।
पृथिवीं चाखिलां ब्रह्मंस्तस्मादारोह मां द्विज ॥ २८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मैं तुम्हें सम्पूर्ण पृथ्वी तथा समस्त दिशाओंका दर्शन करानेके लिये उद्यत हूँ; अतः तुम मेरी पीठपर बैठ जाओ ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१११॥

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़की पीठपर बैठकर पूर्व दिशाकी ओर जाते हुए गालवका उनके वेगसे व्याकुल होना

गालव उवाच

गरुत्मन् भुजगेन्द्रारे सुपर्ण विनतात्मज।
नय मां तार्क्ष्य पूर्वेण यत्र धर्मस्य चक्षुषी ॥ १ ॥

गालवने कहा—गरुत्मन् ! भुजगराजशत्रो ! सुपर्ण ! विनतानन्दन ! तार्क्ष्य ! तुम मुझे पूर्व दिशाकी ओर ले चलो, जहाँ धर्मके नेत्रस्वरूप सूर्य और चन्द्रमा प्रकाशित होते हैं ॥

पूर्वमेतां दिशं गच्छ या पूर्वं परिकीर्तिता।
देवतानां हि सांनिध्यमत्र कीर्तितवानसि ॥ २ ॥
अत्र सत्यं च धर्मश्च त्वया सम्यक् प्रकीर्तितः।
इच्छेयं तु समागन्तुं समस्तैर्दैवतैरहम्।
भूयश्च तान् सुरान् द्रष्टुमिच्छेयमरुणानुज ॥ ३ ॥

जिस दिशाका तुमने सबसे पहले वर्णन किया है, उसी दिशाकी ओर पहले चलो; क्योंकि उस दिशामें तुमने देवताओंका सांनिध्य बताया है तथा वहीं सत्य और धर्मकी स्थितिका भी भलीभाँति प्रतिपादन किया है। अरुणके छोटे भाई गरुड़ ! मैं सम्पूर्ण देवताओंसे मिलना और पुनः उन सबका दर्शन करना चाहता हूँ ॥ २-३ ॥

नारद उवाच

तमाह विनतासूनुरारोहस्वेति वै द्विजम्।
आरुरोहाथ स मुनिर्गरुडं गालवस्तदा ॥ ४ ॥

नारदजी कहते हैं—तब विनतानन्दन गरुड़ने विप्रवर गालवसे कहा—'तुम मेरे ऊपर चढ़ जाओ।' तब गालव मुनि गरुड़की पीठपर जा बैठे ॥ ४ ॥

गालव उवाच

क्रममाणस्य ते रूपं दृश्यते पन्नगाशन।
भास्करस्येव पूर्वाह्णे सहस्रांशोर्विवस्वतः ॥ ५ ॥

गालवने कहा—सर्पभोजी गरुड़ ! पूर्वाह्णकालमें सहस्र किरणोंसे सुशोभित भुवनभास्कर सूर्यका स्वरूप जैसा दिखायी देता है, आकाशमें उड़ते समय तुम्हारा स्वरूप भी वैसा ही दृष्टिगोचर होता है ॥ ५ ॥

पक्षवातप्रणुन्नानां वृक्षाणामनुगामिनाम्।
प्रस्थितानामिव समं पश्यामीह गतिं खग ॥ ६ ॥

खेचर ! तुम्हारे पङ्खोंकी हवासे उखड़कर ये वृक्ष पीछे-पीछे चले आ रहे हैं। मैं इनकी भी ऐसी तीव्र गति देख रहा हूँ, मानो ये भी हमलोगोंके साथ चलनेके लिये प्रस्थित हुए हों ॥ ६ ॥

ससागरवनामुर्वीं सशैलवनकाननाम्।
आकर्षन्निव चाभासि पक्षवातेन खेचर ॥ ७ ॥

आकाशचारी गरुड़ ! तुम अपने पङ्खोंके वेगसे उठी हुई वायुद्वारा समुद्रकी जलराशि, पर्वत, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीको अपनी ओर खींचते-से जान पड़ते हो ॥ ७ ॥

समीननागनक्रं च खमिवारोप्यते जलम्।
वायुना चैव महता पक्षवातेन चानिशम् ॥ ८ ॥

पाँखोंके हिलानेसे निरन्तर उठती हुई प्रचण्ड वायुके वेगसे मत्स्य, जलहस्ती तथा मगरोंसहित समुद्रका जल तुम्हारे द्वारा मानो आकाशमें उछाल दिया जाता है ॥ ८ ॥

तुल्यरूपाननान् मत्स्यांस्तथा तिमितिमिंगिलान्।
नागाश्वनरवक्त्रांश्च पश्याम्युन्मथितानिव ॥ ९ ॥

जिनके आकार और मुख एक-से हैं ऐसे मत्स्योंको, तिमि और तिमिंगिलोंको तथा हाथी, घोड़े और मनुष्योंके समान मुखवाले जल-जन्तुओंको मैं उन्मथित हुए-से देखता हूँ॥

महार्णवस्य च रवैः श्रोत्रे मे बधिरे कृते।
न शृणोमि न पश्यामि नात्मनो वेद्मि कारणम् ॥ १० ॥

महासागरकी इन भीषण गर्जनाओंने मेरे कान बहरे कर दिये हैं। मैं न तो सुन पाता हूँ, न देख पाता हूँ और न अपने बचावका कोई उपाय ही समझ पाता हूँ ॥ १० ॥

शनैः स तु भवान् यातु ब्रह्मवध्यामनुस्मरन्।
न दृश्यते रविस्तात न दिशो न च खं खग ॥ ११ ॥

तात गरुड़ ! तुमसे कहीं ब्रह्महत्या न हो जाय, इसका ध्यान रखते हुए धीरे-धीरे चलो। मुझे इस समय न तो सूर्य

दिखायी देते हैं, न दिशाएँ सूझती हैं और न आकाश ही दृष्टिगोचर होता है ॥ ११ ॥

तम एव तु पश्यामि शरीरं ते न लक्षये ।
मणीव जात्यौ पश्यामि चक्षुषी तेऽहमण्डज ॥ १२ ॥

मुझे केवल अन्धकार ही दिखायी देता है। मैं तुम्हारे शरीरको नहीं देख पाता हूँ। अण्डज ! तुम्हारी दोनों आँखें मुझे उत्तम जातिकी दो मणियोंके समान चमकती दिखायी देती हैं॥

शरीरं तु न पश्यामि तव चैवात्मनश्च ह ।
पदे पदे तु पश्यामि शरीरादग्निमुत्थितम् ॥ १३ ॥

मैं न तो तुम्हारे शरीरको देखता हूँ और न अपने शरीरको। मुझे पग-पगपर तुम्हारे अङ्गोंसे आगकी लपटें उठती दिखायी देती हैं ॥ १३ ॥

स मे निर्वाप्य सहसा चक्षुषी शाम्य ते पुनः ।
तन्नियच्छ महावेगं गमने विनतात्मज ॥ १४ ॥

विनतानन्दन ! तुम उस आगको सहसा बुझाकर पुनः अपने दोनों नेत्रोंको भी शान्त करो और तुम्हारी गतिमें जो इतना महान् वेग है, इसे रोको ॥ १४ ॥

न मे प्रयोजनं किंचिद् गमने पन्नगाशन ।
संनिवर्त महाभाग न वेगं विषहामि ते ॥ १५ ॥

गरुड़ ! इस यात्रासे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, अतः लौट चलो। महाभाग मैं ! तुम्हारे वेगको नहीं सह सकता ॥

गुरवे संश्रुतानीह शतान्यष्टौ हि वाजिनाम् ।
एकतः श्यामकर्णानां शुभ्राणां चन्द्रवर्चसाम् ॥ १६ ॥

मैंने गुरुको ऐसे आठ सौ घोड़े देनेकी प्रतिज्ञा की है, जो चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे युक्त हों और जिनके कान एक ओरसे श्याम रंगके हों ॥ १६ ॥

तेषां चैवापवर्गाय मार्गं पश्यामि नाण्डज ।
ततोऽयं जीवितत्यागे दृष्टो मार्गो मयाऽऽत्मनः॥ १७ ॥

किंतु अण्डज ! उन घोड़ोंके दिये जानेका कोई मार्ग मुझे नहीं दिखायी देता है। इसीलिये मैंने अपने जीवनके परित्यागका ही मार्ग चुना है ॥ १७ ॥

नैव मेऽस्ति धनं किंचिन्न धनेनान्वितः सुहृत् ।
न चार्थेनापि महता शक्यमेतद् व्यपोहितुम् ॥ १८ ॥

मेरे पास थोड़ा भी धन नहीं है, कोई धनी मित्र भी नहीं है और यह कार्य ऐसा है कि प्रचुर धनराशिका व्यय करनेसे भी सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

नारद उवाच

एवं बहु च दीनं च ब्रुवाणं गालवं तदा ।
प्रत्युवाच व्रजन्नेव प्रहसन् विनतात्मजः ॥ १९ ॥

नारदजी कहते हैं—इस प्रकार बहुत दीन वचन बोलते हुए महर्षि गालवसे विनतानन्दन गरुड़ने चलते हुए ही हँसकर कहा—॥ १९ ॥

नातिप्रज्ञोऽसि विप्रर्षे योऽऽत्मानं त्यक्तुमिच्छसि ।
न चापि कृत्रिमः कालः कालो हि परमेश्वरः ॥ २० ॥

'ब्रह्मर्षे ! यदि तुम अपने प्राणोंका परित्याग करना चाहते हो तो विशेष बुद्धिमान् नहीं हो; क्योंकि मृत्यु कृत्रिम नहीं होती (उसका अपनी इच्छासे निर्माण नहीं किया जा सकता)। वह तो परमेश्वरका ही स्वरूप है ॥ २० ॥

किमहं पूर्वमेवेह भवता नाभिचोदितः ।
उपायोऽत्र महानस्ति येनैतदुपपद्यते ॥ २१ ॥

'तुमने पहले ही मुझसे यह बात क्यों नहीं कह दी ? मेरी दृष्टिमें एक महान् उपाय है, जिससे यह कार्य सिद्ध हो सकता है ॥ २१ ॥

तदेष ऋषभो नाम पर्वतः सागरान्तिके ।
अत्र विश्रम्य भुक्त्वा च निवर्तिष्याव गालव ॥ २२ ॥

'गालव ! समुद्रके निकट यह ऋषभ नामक पर्वत है, जहाँ विश्राम और भोजन करके हम दोनों लौट चलेंगे' ॥२२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्‌यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११२॥

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

ऋषभ पर्वतके शिखरपर महर्षि गालव और गरुड़की तपस्विनी शाण्डिलीसे भेंट तथा गरुड़ और गालवका गुरुदक्षिणा चुकानेके विषयमें परस्पर विचार

नारद उवाच

ऋषभस्य ततः शृङ्गं निपत्य द्विजपक्षिणौ ।
शाण्डिलीं ब्राह्मणीं तत्र ददृशाते तपोऽन्विताम् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर गालव और गरुड़ने ऋषभ पर्वतके शिखरपर उतरकर वहाँ तपस्विनी शाण्डिली ब्राह्मणीको देखा ॥ १ ॥

अभिवाद्य सुपर्णस्तु गालवश्चाभिपूज्य ताम् ।
तया च स्वागतेनोक्तौ विष्टरे संनिषीदतुः ॥ २ ॥

गरुड़ने उसे प्रणाम किया और गालवने उसका आदर-सम्मान किया। तदनन्तर उसने भी उन दोनोंका स्वागत करके उन्हें आसनपर बैठनेके लिये कहा। उसकी आज्ञा पाकर वे दोनों वहाँ आसनपर बैठ गये ॥ २ ॥

सिद्धमन्नं तया दत्तं बलिमन्त्रोपबृंहितम्।
भुक्त्वा तृप्तावुभौ भूमौ सुप्तौ तावनुमोहितौ ॥ ३ ॥

तपस्विनीने उन्हें बलिवैश्वदेवसे बचा हुआ अभिमन्त्रित सिद्धान्न अर्पण किया। उसे खाकर वे दोनों तृप्त हो गये और भूमिपर ही सो गये। तत्पश्चात् निद्राने उन्हें अचेत कर दिया ॥ ३ ॥

मुहूर्तात् प्रतिबुद्धस्तु सुपर्णो गमनेप्सया।
अथ भ्रष्टतनूजाङ्गमात्मानं ददृशे खगः ॥ ४ ॥

दो ही घड़ीके बाद मनमें वहाँसे जानेकी इच्छा लेकर गरुड़ जाग उठे। उठनेपर उन्होंने अपने शरीरको दोनों पंखोंसे रहित देखा ॥ ४ ॥

मांसपिण्डोपमोऽभूत् स मुखपादान्वितः खगः।
गालवस्तं तथा दृष्ट्वा विमनाः पर्यपृच्छत ॥ ५ ॥

आकाशचारी गरुड़ मुख और हाथोंसे युक्त होते हुए भी उन पंखोंके बिना मांसके लोंदे-से हो गये। उन्हें उस दशामें देखकर गालवका मन उदास हो गया और उन्होंने पूछा—॥

किमिदं भवता प्राप्तमिहागमनजं फलम्।
वासोऽयमिह कालं तु कियन्तं नौ भविष्यति ॥ ६ ॥

'सखे! तुम्हें यहाँ आनेका यह क्या फल मिला? इस अवस्थामें हम दोनोंको यहाँ कितने समयतक रहना पड़ेगा? ॥ ६ ॥

किं नु ते मनसा ध्यातमशुभं धर्मदूषणम्।
न ह्ययं भवतः स्वल्पो व्यभिचारो भविष्यति ॥ ७ ॥

'तुमने अपने मनमें कौन-सा अशुभ चिन्तन किया है, जो धर्मको दूषित करनेवाला रहा है। मैं समझता हूँ, तुम्हारे द्वारा यहाँ कोई थोड़ा धर्मविरुद्ध कार्य नहीं हुआ होगा' ॥७॥

सुपर्णोऽथाब्रवीद् विप्रं प्रध्यातं वै मया द्विज।
इमां सिद्धामितो नेतुं तत्र यत्र प्रजापतिः ॥ ८ ॥
यत्र देवो महादेवो यत्र विष्णुः सनातनः।
यत्र धर्मश्च यज्ञश्च तत्रेयं निवसेदिति ॥ ९ ॥

तब गरुड़ने विप्रवर गालवसे कहा—'ब्रह्मन्! मैंने तो अपने मनमें यही सोचा था कि इस सिद्ध तपस्विनीको वहाँ पहुँचा दूँ, जहाँ प्रजापति ब्रह्मा हैं, जहाँ महादेवजी हैं, जहाँ सनातन भगवान् विष्णु हैं तथा जहाँ धर्म एवं यज्ञ है, वहीं इसे निवास करना चाहिये ॥ ८-९ ॥

सोऽहं भगवतीं याचे प्रणतः प्रियकाम्यया।
मयैतन्नाम प्रध्यातं मनसा शोचता किल ॥ १० ॥

'अतः मैं भगवती शाण्डिलीके चरणोंमें पड़कर यह प्रार्थना करता हूँ कि मैंने अपने चिन्तनशील मनके द्वारा आपका प्रिय करनेकी इच्छासे ही यह बात सोची है ॥ १० ॥

तदेवं बहुमानात् ते मयेहानीप्सितं कृतम्।
सुकृतं दुष्कृतं वा त्वं माहात्म्यात् क्षन्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

'आपके प्रति विशेष आदरका भाव होनेसे ही मैंने इस स्थानपर ऐसा चिन्तन किया है, जो सम्भवतः आपको अभीष्ट नहीं रहा है। मेरे द्वारा यह पुण्य हुआ हो या पाप, अपने ही माहात्म्यसे आप मेरे इस अपराधको क्षमा कर दें' ॥११॥

सा तौ तदाब्रवीत् तुष्टा पतगेन्द्रद्विजर्षभौ।
न भेतव्यं सुपर्णोऽसि सुपर्ण त्यज सम्भ्रमम् ॥ १२ ॥

यह सुनकर तपस्विनी बहुत संतुष्ट हुई। उसने उस समय पक्षिराज गरुड़ और विप्रवर गालवसे कहा—'सुपर्ण! तुम्हारे पंख और भी सुन्दर हो जायँगे; अतः तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये। तुम घबराहट छोड़ो ॥ १२ ॥

निन्दितास्मि त्वया वत्स न च निन्दां क्षमाम्यहम्।
लोकेभ्यः सपदि भ्रश्येद् यो मां निन्देत पापकृत् ॥ १३ ॥

'वत्स! तुमने मेरी निन्दा की है, मैं निन्दा नहीं सहन करती हूँ। जो पापी मेरी निन्दा करेगा, वह पुण्य-लोकोंसे तत्काल भ्रष्ट हो जायगा ॥ १३ ॥

हीनयालक्षणैः सर्वैस्तथानिन्दितया मया।
आचारं प्रतिगृह्णन्त्या सिद्धिः प्राप्तेयमुत्तमा ॥ १४ ॥

'समस्त अशुभ लक्षणोंसे हीन और अनिन्दित रहकर सदाचारका पालन करते हुए ही मैंने यह उत्तम सिद्धि प्राप्त की है ॥ १४ ॥

आचारः फलते धर्ममाचारः फलते धनम्।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५ ॥

'आचार ही धर्मको सफल बनाता है, आचार ही धनरूपी फल देता है, आचारसे मनुष्यको सम्पत्ति प्राप्त होती है और आचार ही अशुभ लक्षणोंका भी नाश कर देता है ॥ १५ ॥

तदायुष्मन् खगपते यथेष्टं गम्यतामितः।
न च ते गर्हणीयाहं गर्हितव्याः स्त्रियः क्वचित् ॥ १६ ॥

'अतः आयुष्मन् पक्षिराज! अब तुम यहाँसे अपने अभीष्ट स्थानको जाओ। आजसे तुम्हें मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिये। मेरी ही क्यों, कहीं किसी भी स्त्रीकी निन्दा करनी उचित नहीं है ॥ १६ ॥

भवितासि यथापूर्वं बलवीर्यसमन्वितः।
बभूवतुस्ततस्तस्य पक्षौ द्रविणवत्तरौ ॥ १७ ॥

'अब तुम पहलेकी ही भाँति बल और पराक्रमसे सम्पन्न हो जाओगे ।' शाण्डिलीके इतना कहते ही गरुड़की पाँखें पहलेसे भी अधिक शक्तिशाली हो गयीं ॥ १७ ॥

अनुज्ञातस्तु शाण्डिल्या यथागतमुपागमत् ।
नैव चासादयामास तथारूपांस्तुरंगमान् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् शाण्डिलीकी आज्ञा ले वे जैसे आये थे, वैसे ही चले गये । वे गालवके बताये अनुसार श्यामकर्ण घोड़े नहीं पा सके ॥ १८ ॥

विश्वामित्रोऽथ तं दृष्ट्वा गालवं चाध्वनि स्थितः ।
उवाच वदतां श्रेष्ठो वैनतेयस्य संनिधौ ॥ १९ ॥

इधर गालवको राहमें आते देख वक्ताओंमें श्रेष्ठ विश्वामित्रजी खड़े हो गये और गरुड़के समीप उनसे इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

यस्त्वया स्वयमेवार्थः प्रतिज्ञातो मम द्विज ।
तस्य कालोऽपवर्गस्य यथा वा मन्यते भवान् ॥ २० ॥

'ब्रह्मन् ! तुमने स्वयं ही जिस धनको देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसे देनेका समय आ गया है । फिर तुम जैसा ठीक समझो, करो ॥ २० ॥

प्रतीक्षिष्याम्यहं कालमेतावन्तं तथा परम् ।
यथा संसिध्यते विप्र स मार्गस्तु निशाम्यताम् ॥ २१ ॥

मैं इतने ही समयतक और तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा । ब्रह्मन् ! जिस प्रकार तुम्हें सफलता मिल सके, उस मार्गका विचार करो' ॥ २१ ॥

सुपर्णोऽथाब्रवीद् दीनं गालवं भृशदुःखितम् ।
प्रत्यक्षं खल्विदानीं मे विश्वामित्रो यदुक्तवान् ॥ २२ ॥
तदागच्छ द्विजश्रेष्ठ मन्त्रयिष्याव गालव ।
नादत्त्वा गुरवे शक्यं कृत्स्नमर्थं त्वयाऽऽसितुम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर दीन और अत्यन्त दुखी हुए गालव मुनिसे गरुड़ने कहा—'द्विजश्रेष्ठ गालव ! विश्वामित्रजीने मेरे सामने जो कुछ कहा है, आओ, उसके विषयमें हम दोनों सलाह करें। तुम्हें अपने गुरुको उनका सारा धन चुकाये बिना चुप नहीं बैठना चाहिये' ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११३॥

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़ और गालवका राजा ययातिके यहाँ जाकर गुरुको देनेके लिये श्यामकर्ण घोड़ोंकी याचना करना

नारद उवाच

अथाह गालवं दीनं सुपर्णः पततां वरः ।
निर्मितं वह्निना भूमौ वायुना शोधितं तथा ।
यस्माद्धिरण्मयं सर्वं हिरण्यं तेन चोच्यते ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड़ने दीन-दुखी गालव मुनिसे इस प्रकार कहा—'पृथ्वीके भीतर जो उसका सारतत्त्व है, उसे तपाकर अग्निने जिसका निर्माण किया है और उस अग्निको उद्दीप्त करनेवाली वायुने जिसका शोधन किया है, उस सुवर्णको हिरण्य कहते हैं । यह सम्पूर्ण जगत् हिरण्यप्रधान है; इसलिये भी उसे हिरण्य कहते हैं ॥ १ ॥

धत्ते धारयते चेदमेतस्मात् कारणाद् धनम् ।
तदेतत् त्रिषु लोकेषु धनं तिष्ठति शाश्वतम् ॥ २ ॥

'वह इस जगत्‌को स्वयं तो धारण करता ही है, दूसरोंसे भी धारण कराता है । इस कारण उस सुवर्णका नाम धन, है । यह धन तीनों लोकोंमें सदा स्थित रहता है ॥ २ ॥

नित्यं प्रोष्ठपदाभ्यां च शुक्रे धनपतौ तथा ।
मनुष्येभ्यः समादत्ते शुक्रश्चित्तार्जितं धनम् ॥ ३ ॥
अजैकपादहिर्बुध्न्यै रक्ष्यते धनदेन च ।
एवं न शक्यते लब्धुमलब्धव्यं द्विजर्षभ ॥
ऋते च धनमश्वानां नावाप्तिर्विद्यते तव ॥ ४ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! पूर्व भाद्रपद और उत्तरभाद्रपद इन दो नक्षत्रोंमेंसे किसी एकके साथ शुक्रवारका योग हो तो अग्निदेव कुबेरके लिये अपने संकल्पसे धनका निर्माण करके उसे मनुष्योंको दे देते हैं । पूर्वभाद्रपदके देवता अजैकपाद्, उत्तर-भाद्रपदके देवता अहिर्बुध्न्य और कुबेर—ये तीनों उस धनकी रक्षा करते हैं । इस प्रकार किसीको भी ऐसा धन नहीं मिल सकता, जो प्रारब्धवश उसे मिलनेवाला न हो और धनके बिना तुम्हें श्यामकर्ण घोड़ोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ३-४ ॥

स त्वं याचात्र राजानं कंचिद् राजर्षिवंशजम् ।
अपीड्य राजा पौरान् हि यो नौ कुर्यात् कृतार्थिनौ ॥ ५ ॥

'इसलिये मेरी राय यह है कि तुम राजर्षियोंके कुलमें उत्पन्न हुए किसी ऐसे राजाके पास चलकर धनके लिये

याचना करो, जो पुरवासियोंको पीड़ा दिये बिना ही हम दोनोंको धन देकर कृतार्थ कर सके ॥ ५ ॥

अस्ति सोमान्ववाये मे जातः कश्चिन्नृपः सखा।
अभिगच्छावहे तं वै तस्यास्ति विभवो भुवि ॥ ६ ॥

'चन्द्रवंशमें उत्पन्न एक राजा हैं, जो मेरे मित्र हैं। हम दोनों उन्हींके पास चलें। इस भूतलपर उनके पास अवश्य ही धन है ॥ ६ ॥

ययातिर्नाम राजर्षिर्नाहुषः सत्यविक्रमः।
स दास्यति मया चोक्तो भवता चार्थितः स्वयम् ॥ ७ ॥

'मेरे उन मित्रका नाम है राजर्षि ययाति, जो महाराज नहुषके पुत्र हैं। वे सत्यपराक्रमी वीर हैं। तुम्हारे माँगने और मेरे कहनेपर वे स्वयं ही तुम्हें धन देंगे ॥ ७ ॥

विभवश्चास्य सुमहानासीद् धनपतेरिव।
एवं गुरुधनं विद्वन् दानेनैव विशोधय ॥ ८ ॥

'उनके पास धनाध्यक्ष कुबेरकी भाँति महान् वैभव रहा है। विद्वन्! इस प्रकार दान लेकर ही तुम गुरुदक्षिणाका ऋण चुका दो' ॥ ८ ॥

तथा तौ कथयन्तौ च चिन्तयन्तौ च यत् क्षमम्।
प्रतिष्ठाने नरपतिं ययातिं प्रत्युपस्थितौ ॥ ९ ॥

इस प्रकार परस्पर बातें करते और उचित कर्तव्यको मन-ही-मन सोचते हुए वे दोनों प्रतिष्ठानपुरमें राजा ययातिके दरबारमें उपस्थित हुए ॥ ९ ॥

प्रतिगृह्य च सत्कारैरर्घ्यपाद्यादिकं वरम्।
पृष्टश्चागमने हेतुमुवाच विनतासुतः ॥ १० ॥

राजाके द्वारा सत्कारपूर्वक दिये हुए श्रेष्ठ अर्घ्य-पाद्य आदि ग्रहण करके विनतानन्दन गरुड़ने उनके पूछनेपर अपने आगमनका प्रयोजन इस प्रकार बताया—॥ १० ॥

अयं मे नाहुष सखा गालवस्तपसो निधिः।
विश्वामित्रस्य शिष्योऽभूद् वर्षाण्ययुतशो नृप ॥ ११ ॥

'नहुषनन्दन! ये तपोनिधि गालव मेरे मित्र हैं। राजन्! ये दस हजार वर्षोंतक महर्षि विश्वामित्रके शिष्य रहे हैं ॥ ११ ॥

सोऽयं तेनाभ्यनुज्ञात उपकारेप्सया द्विजः।
तमाह भगवन् किं ते ददानि गुरुदक्षिणाम् ॥ १२ ॥

'विश्वामित्रजीने (इनकी सेवाके बदले) इनका भी उपकार करनेकी इच्छासे इन्हें घर जानेकी आज्ञा दे दी। तब इन्होंने उनसे पूछा—'भगवन्! मैं आपको क्या गुरुदक्षिणा दूँ?'॥१२॥

असकृत् तेन चोक्तेन किंचिदागतमन्युना।
अयमुक्तः प्रयच्छेति जानता विभवं लघु ॥ १३ ॥

एकतः श्यामकर्णानां शुभ्राणां शुद्धजन्मनाम्।
अष्टौ शतानि मे देहि हयानां चन्द्रवर्चसाम् ॥ १४ ॥
गुर्वर्थो दीयतामेष यदि गालव मन्यसे।
इत्येवमाह सक्रोधो विश्वामित्रस्तपोधनः ॥ १५ ॥

'इनके बार-बार आग्रह करनेपर विश्वामित्रजीको कुछ क्रोध आ गया; अतः इनके पास धनका अभाव है, यह जानते हुए भी उन्होंने इनसे कहा—'लाओ, गुरुदक्षिणा दो। गालव! मुझे अच्छी जातिमें उत्पन्न हुए ऐसे आठ सौ घोड़े दो, जिनकी अङ्गकान्ति चन्द्रमाके समान उज्ज्वल और कान एक ओरसे श्याम रंगके हों। गालव! यदि तुम मेरी बात मानो तो यही गुरुदक्षिणा ला दो।' तपोधन विश्वामित्रने यह बात कुपित होकर ही कही थी ॥ १३—१५ ॥

सोऽयं शोकेन महता तप्यमानो द्विजर्षभः।
अशक्तः प्रतिकर्तुं तद् भवन्तं शरणं गतः ॥ १६ ॥

'अतः ये द्विजश्रेष्ठ गालव महान् शोकसे संतप्त हो गुरुदक्षिणा चुकानेमें असमर्थ हो गये हैं और इसीलिये आपकी शरणमें आये हैं ॥ १६ ॥

प्रतिगृह्य नरव्याघ्र त्वत्तो भिक्षां गतव्यथः।
कृत्वापवर्गं गुरवे चरिष्यति महत् तपः ॥ १७ ॥

'पुरुषसिंह! आपसे भिक्षा ग्रहण करके गुरुको पूर्वोक्त धन देकर ये क्लेशरहित हो महान् तपमें संलग्न हो जायँगे ॥ १७ ॥

तपसः संविभागेन भवन्तमपि योक्ष्यते।
स्वेन राजर्षितपसा पूर्णं त्वां पूरयिष्यति ॥ १८ ॥

अपनी तपस्याके एक अंशसे ये आपको भी संयुक्त करेंगे। यद्यपि आप अपनी राजर्षिजनोचित तपस्यासे पूर्ण हैं, तथापि ये अपने ब्राह्म तपसे आपको और भी परिपूर्ण करेंगे ॥ १८ ॥

यावन्ति रोमाणि हये भवन्तीह नरेश्वर।
तावन्तो वाजिनो लोकान् प्राप्नुवन्ति महीपते ॥ १९ ॥

'नरेश्वर! भूपाल! यहाँ (दान किये हुए) घोड़ेके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, दान करनेवाले लोगोंको (परलोकमें) उतने ही घोड़े प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

पात्रं प्रतिग्रहस्यायं दातुं पात्रं तथा भवान्।
शङ्खे क्षीरमिवासिक्तं भवत्वेतत् तथोपमम् ॥ २० ॥

'ये गालव दान लेनेके सुयोग्य पात्र हैं और आप दान करनेके श्रेष्ठ अधिकारी हैं। जैसे शङ्खमें दूध रक्खा गया हो, उसी प्रकार इनके हाथमें दिये हुए आपके इस दानकी शोभा होगी' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११४॥

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा ययातिका गालवको अपनी कन्या देना और गालवका उसे लेकर अयोध्यानरेशके यहाँ जाना

नारद उवाच

एवमुक्तः सुपर्णेन तथ्यं वचनमुत्तमम्।
विमृश्यावहितो राजा निश्चित्य च पुनः पुनः॥ १ ॥
यष्टा क्रतुसहस्राणां दाता दानपतिः प्रभुः।
ययातिः सर्वकाशीश इदं वचनमब्रवीत्॥ २ ॥

नारदजी कहते हैं—गरुड़ने जब इस प्रकार यथार्थ और उत्तम बात कही, तब सहस्रों यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले, दाता, दानपति, प्रभावशाली तथा राजोचित तेजसे प्रकाशित होनेवाले सम्पूर्ण नरेशोंके स्वामी महाराज ययातिने सावधानीके साथ बारंबार विचार करके एक निश्चयपर पहुँचकर इस प्रकार कहा ॥ १-२ ॥

दृष्ट्वा प्रियसखं तार्क्ष्यं गालवं च द्विजर्षभम्।
निदर्शनं च तपसो भिक्षां श्लाघ्यां च कीर्तिताम्॥३॥
अतीत्य च नृपानन्यानादित्यकुलसम्भवान्।
मत्सकाशमनुप्राप्तावेतौ बुद्धिमवेक्ष्य च॥ ४ ॥

राजाने पहले अपने प्रिय मित्र गरुड़ तथा तपस्याके मूर्तिमान् स्वरूप विप्रवर गालवको अपने यहाँ उपस्थित देख और उनकी बतायी हुई स्पृहणीय भिक्षाकी बात सुनकर मनमें इस प्रकार विचार किया—

'ये दोनों सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए दूसरे अनेक राजाओंको छोड़कर मेरे पास आये हैं।' ऐसा विचारकर वे बोले—॥ ३-४॥

अद्य मे सफलं जन्म तारितं चाद्य मे कुलम्।
अद्यायं तारितो देशो मम तार्क्ष्य त्वयानघ॥ ५ ॥

'निष्पाप गरुड़! आज मेरा जन्म सफल हो गया। आज मेरे कुलका उद्धार हो गया और आज आपने मेरे इस सम्पूर्ण देशको भी तार दिया ॥ ५ ॥

वक्तुमिच्छामि तु सखे यथा जानासि मां पुरा।
न तथा वित्तवानस्मि क्षीणं वित्तं च मे सखे॥ ६ ॥

'सखे! फिर भी मैं एक बात कहना चाहता हूँ। आप पहलेसे मुझे जैसा धनवान् समझते हैं, वैसा धनसम्पन्न अब मैं नहीं रह गया हूँ। मित्र! मेरा वैभव इन दिनों क्षीण हो गया है॥

न च शक्तोऽस्मि ते कर्तुं मोघमागमनं खग।
न चाशामस्य विप्रर्षेर्वितथीकर्तुमुत्सहे॥ ७ ॥

'आकाशचारी गरुड़! इस दशामें भी मैं आपके आगमनको निष्फल करनेमें असमर्थ हूँ और इन ब्रह्मर्षिकी आशाको भी मैं विफल करना नहीं चाहता ॥ ७ ॥

तत् तु दास्यामि यत् कार्यमिदं सम्पादयिष्यति।
अभिगम्य हताशो हि निवृत्तो दहते कुलम्॥ ८ ॥

'अतः मैं एक ऐसी वस्तु दूँगा, जो इस कार्यका सम्पादन कर देगी। अपने पास आकर कोई याचक हताश हो जाय तो वह लौटनेपर आशा भंग करनेवाले राजाके समूचे कुलको दग्ध कर देता है ॥ ८ ॥

नातः परं वैनतेय किंचित् पापिष्ठमुच्यते।
यथाशानाशनाल्लोके देहि नास्तीति वा वचः॥ ९ ॥

'विनतानन्दन! लोकमें कोई 'दीजिये' कहकर कुछ माँगे और उससे यह कह दिया जाय कि जाओ मेरे पास नहीं है, इस प्रकार याचककी आशाको भंग करनेसे जितना पाप लगता है, इससे बढ़कर पापकी दूसरी कोई बात नहीं कही जाती है ॥ ९ ॥

हताशो ह्यकृतार्थः सन् हतः सम्भावितो नरः।
हिनस्ति तस्य पुत्रांश्च पौत्रांश्चाकुर्वतो हितम्॥ १० ॥

'कोई श्रेष्ठ मनुष्य जब कहीं याचना करके हताश एवं असफल होता है, तब वह मरे हुएके समान हो जाता है और अपना हित न करनेवाले धनीके पुत्रों तथा पौत्रोंका नाश कर डालता है ॥ १० ॥

तस्माच्चतुर्णां वंशानां स्थापयित्री सुता मम।
इयं सुरसुतप्रख्या सर्वधर्मोपचायिनी॥ ११ ॥

'अतः मेरी जो यह पुत्री है, यह चार कुलोंकी स्थापना करनेवाली है। इसकी कान्ति देवकन्याके समान है। यह सम्पूर्ण धर्मोंकी वृद्धि करनेवाली है ॥ ११ ॥

सदा देवमनुष्याणामसुराणां च गालव।
काङ्क्षिता रूपतो बाला सुता मे प्रतिगृह्यताम्॥ १२ ॥

'गालव! इसके रूप-सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर देवता, मनुष्य तथा असुर सभी लोग सदा इसे पानेकी अभिलाषा रखते हैं; अतः आप मेरी इस पुत्रीको ही ग्रहण कीजिये ॥ १२ ॥

अस्याः शुल्कं प्रदास्यन्ति नृपा राज्यमपि ध्रुवम्।
किं पुनः श्यामकर्णानां हयानां द्वे चतुःशते॥ १३ ॥

'इसके शुल्कके रूपमें राजालोग निश्चय ही अपना राज्य भी आपको दे देंगे; फिर आठ सौ श्यामकर्ण घोड़ोंकी तो बात ही क्या है? ॥ १३ ॥

स भवान् प्रतिगृह्णातु ममैतां माधवीं सुताम्।
अहं दौहित्रवान् स्यां वै वर एष मम प्रभो॥ १४ ॥

'अतः प्रभो ! आप मेरी इस पुत्री माधवीको ग्रहण करें और मुझे यह वर दें कि मैं दौहित्रवान् (नातियोंसे युक्त) होऊँ' ॥ १४ ॥

प्रतिगृह्य च तां कन्यां गालवः सह पक्षिणा।
पुनर्द्रक्ष्याव इत्युक्त्वा प्रतस्थे सह कन्यया ॥ १५ ॥

तब गरुड़सहित गालवने उस कन्याको लेकर कहा— 'अच्छा, हम फिर कभी मिलेंगे।' राजासे ऐसा कहकर गालव मुनि कन्याके साथ वहाँसे चल दिये ॥ १५ ॥

उपलब्धमिदं द्वारमश्वानामिति चाण्डजः।
उक्त्वा गालवमापृच्छ्य जगाम भवनं स्वकम् ।१६।

तदनन्तर गरुड़ भी यह कहकर कि अब तुम्हें घोड़ोंकी प्राप्तिका यह द्वार प्राप्त हो गया, गालवसे विदा ले अपने घरको चले गये ॥ १६ ॥

गते पतगराजे तु गालवः सह कन्यया।
चिन्तयानः क्षमं दाने राज्ञां वै शुल्कतोऽगमत्॥१७॥

पक्षिराज गरुड़के चले जानेपर गालव उस कन्याके साथ यह सोचते हुए चल दिये कि राजाओंमेंसे कौन ऐसा नरेश है, जो इस कन्याका शुल्क देनेमें समर्थ हो ॥ १७ ॥

सोऽगच्छन्मनसेक्ष्वाकुं हर्यश्वं राजसत्तमम्।
अयोध्यायां महावीर्यं चतुरङ्गबलान्वितम् ॥ १८ ॥

वे मन-ही-मन विचार करके अयोध्यामें इक्ष्वाकुवंशी नृपतिशिरोमणि महापराक्रमी हर्यश्वके पास गये, जो चतुरङ्गिणी सेनासे सम्पन्न थे ॥ १८ ॥

कोशधान्यबलोपेतं प्रियपौरं द्विजप्रियम्।
प्रजाभिकामं शाम्यन्तं कुर्वाणं तप उत्तमम् ॥ १९ ॥

वे कोष, धन-धान्य और सैनिकबल—सबसे सम्पन्न थे। पुरवासी प्रजा उन्हें बहुत ही प्रिय थी। ब्राह्मणोंके प्रति उनका अधिक प्रेम था। वे प्रजावर्गके हितकी इच्छा रखते थे। उनका मन भोगोंसे विरक्त एवं शान्त था। वे उत्तम तपस्यामें लगे हुए थे ॥ १९ ॥

तमुपागम्य विप्रः स हर्यश्वं गालवोऽब्रवीत्।
कन्येयं मम राजेन्द्र प्रसवैः कुलवर्धिनी ॥ २० ॥
इयं शुल्केन भार्यार्थं हर्यश्व प्रतिगृह्यताम्।
शुल्कं ते कीर्तयिष्यामि तच्छ्रुत्वा सम्प्रधार्यताम्।२१।

राजा हर्यश्वके पास जाकर विप्रवर गालवने कहा— 'राजेन्द्र ! मेरी यह कन्या अपनी संतानोंद्वारा वंशकी वृद्धि करनेवाली है। तुम शुल्क देकर इसे अपनी पत्नी बनानेके लिये ग्रहण करो। हर्यश्व ! मैं तुम्हें पहले इसका शुल्क बताऊँगा। उसे सुनकर तुम अपने कर्तव्यका निश्चय करो' ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

हर्यश्वका दो सौ श्यामकर्ण घोड़े देकर ययातिकन्याके गर्भसे वसुमना नामक पुत्र उत्पन्न करना और गालवका इस कन्याके साथ वहाँसे प्रस्थान

नारदउवाच

हर्यश्वस्त्वब्रवीद् राजा विचिन्त्य बहुधा ततः।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य प्रजाहेतोर्नृपोत्तमः ॥ १ ॥
उन्नतेषून्नता षट्सु सूक्ष्मा सूक्ष्मेषु पञ्चसु।
गम्भीरा त्रिषु गम्भीरेष्वियं रक्ता च पञ्चसु ॥ २ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर नृपतिश्रेष्ठ राजा हर्यश्वने उस कन्याके विषयमें बहुत सोच-विचारकर संतानोत्पादनकी इच्छासे गरम-गरम लम्बी साँस खींचकर मुनिसे इस प्रकार कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! इस कन्याके छः अङ्ग जो ऊँचे होने चाहिये, ऊँचे हैं। पाँच अङ्ग जो सूक्ष्म होने चाहिये, सूक्ष्म हैं। तीन अङ्ग जो गम्भीर होने चाहिये, गम्भीर हैं तथा इसके पाँच अङ्ग रक्तवर्णके हैं ॥ १-२ ॥

(श्रोण्यौ ललाटमूरू च घ्राणं चेति षडुन्नतम्।
सूक्ष्माण्यङ्गुलिपर्वाणि केशरोमनखत्वचः ॥
स्वरः सत्त्वं च नाभिश्च त्रिगम्भीरं प्रचक्षते।
पाणिपादतले रक्ते नेत्रान्तौ च नखानि च ॥)

'दो नितम्ब, दो जाँघें, ललाट और नासिका—ये छः अङ्ग ऊँचे हैं। अङ्गुलियोंके पर्व, केश, रोम, नख और त्वचा—ये पाँच अङ्ग सूक्ष्म हैं। स्वर, अन्तःकरण तथा नाभि—ये तीन गम्भीर कहे जा सकते हैं तथा हथेली, पैरोंके तलवे, दक्षिण नेत्रप्रान्त, वाम नेत्रप्रान्त तथा नख—ये पाँच अङ्ग रक्तवर्णके हैं ॥

बहुदेवासुरालोका बहुगन्धर्वदर्शना।
बहुलक्षणसम्पन्ना बहुप्रसवधारिणी ॥ ३ ॥

'यह बहुत-से देवताओं तथा असुरोंके लिये भी दर्शनीय है। इसे गन्धर्वविद्या (संगीत) का भी अच्छा ज्ञान है। यह बहुत-से शुभ लक्षणोंद्वारा सुशोभित तथा अनेक संतानोंको जन्म देनेमें समर्थ है ॥ ३ ॥

समर्थेयं जनयितुं चक्रवर्तिनमात्मजम्।
ब्रूहि शुल्कं द्विजश्रेष्ठ समीक्ष्य विभवं मम ॥ ४ ॥

'विप्रवर! आपकी यह कन्या चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ है; अतः आप मेरे वैभवको देखते हुए इसके लिये समुचित शुल्क बताइये' ॥ ४ ॥

गालव उवाच

एकतः श्यामकर्णानां शतान्यष्टौ प्रयच्छ मे।
हयानां चन्द्रशुभ्राणां देशजानां वपुष्मताम् ॥ ५ ॥
ततस्तव भवित्रीयं पुत्राणां जननी शुभा।
अरणीव हुताशानां योनिरायतलोचना ॥ ६ ॥

गालवने कहा—राजन्! आप मुझे अच्छे देश और अच्छी जातिमें उत्पन्न हृष्ट-पुष्ट अङ्गोंवाले आठ सौ ऐसे घोड़े प्रदान कीजिये, जो चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे विभूषित हों तथा उनके कान एक ओरसे श्यामवर्णके हों। यह शुल्क चुका देनेपर मेरी यह विशाल नेत्रोंवाली शुभलक्षणा कन्या अग्नियोंको प्रकट करनेवाली अरणीकी भाँति आपके तेजस्वी पुत्रोंकी जननी होगी ॥ ५-६ ॥

नारद उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा हर्यश्वः काममोहितः।
उवाच गालवं दीनो राजर्षिर्ऋषिसत्तमम् ॥ ७ ॥

नारदजी कहते हैं—यह वचन सुनकर काममोहित हुए राजर्षि महाराज हर्यश्व मुनिश्रेष्ठ गालवसे अत्यन्त दीन होकर बोले—॥ ७ ॥

द्वे मे शते संनिहिते हयानां यद्विधास्तव।
एष्टव्याः शतशस्त्वन्ये चरन्ति मम वाजिनः ॥ ८ ॥

'ब्रह्मन्! आपको जैसे घोड़े लेने अभीष्ट हैं, वैसे तो मेरे यहाँ इन दिनों दो ही सौ घोड़े मौजूद हैं; किंतु दूसरी जातिके कई सौ घोड़े यहाँ विचरते हैं ॥ ८ ॥

सोऽहमेकमपत्यं वै जनयिष्यामि गालव।
अस्यामेतं भवान् कामं सम्पादयतु मे वरम् ॥ ९ ॥

'अतः गालव! मैं इस कन्यासे केवल एक संतान उत्पन्न करूँगा। आप मेरे इस श्रेष्ठ मनोरथको पूर्ण करें' ॥ ९ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु सा कन्या गालवं वाक्यमब्रवीत्।
मम दत्तो वरः कश्चित् केनचिद् ब्रह्मवादिना ॥ १० ॥
प्रसूत्यन्ते प्रसूत्यन्ते कन्यैव त्वं भविष्यसि।
स त्वं ददस्व मां राज्ञे प्रतिगृह्य हयोत्तमान् ॥ ११ ॥

यह सुनकर उस कन्याने महर्षि गालवसे कहा—'मुने! मुझे किन्हीं वेदवादी महात्माने यह एक वर दिया था कि तुम प्रत्येक प्रसवके अन्तमें फिर कन्या ही हो जाओगी। अतः आप दो सौ उत्तम घोड़े लेकर मुझे राजाको सौंप दें ॥ १०-११ ॥

नृपेभ्यो हि चतुर्भ्यस्ते पूर्णान्यष्टौ शतानि मे।
भविष्यन्ति तथा पुत्रा मम चत्वार एव च ॥ १२ ॥

'इस प्रकार चार राजाओंसे दो-दो सौ घोड़े लेनेपर आपके आठ सौ घोड़े पूरे हो जायँगे और मेरे भी चार ही पुत्र होंगे ॥ १२ ॥

क्रियतामुपसंहारो गुर्वर्थं द्विजसत्तम।
एषा तावन्मम प्रज्ञा यथा वा मन्यसे द्विज ॥ १३ ॥

'विप्रवर! इसी तरह आप गुरुदक्षिणाके लिये धनका संग्रह करें, यही मेरी मान्यता है। फिर आप जैसा ठीक समझें, वैसा करें' ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु स मुनिः कन्यया गालवस्तदा।
हर्यश्वं पृथिवीपालमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

कन्याके ऐसा कहनेपर उस समय गालव मुनिने भूपाल हर्यश्वसे यह बात कही—॥ १४ ॥

इयं कन्या नरश्रेष्ठ हर्यश्व प्रतिगृह्यताम्।
चतुर्भागेन शुल्कस्य जनयस्वैकमात्मजम् ॥ १५ ॥

'नरश्रेष्ठ हर्यश्व! नियत शुल्कका चौथाई भाग देकर आप इस कन्याको ग्रहण करें और इसके गर्भसे केवल एक पुत्र उत्पन्न कर लें' ॥ १५ ॥

प्रतिगृह्य स तां कन्यां गालवं प्रतिनन्द्य च।
समये देशकाले च लब्धवान् सुतमीप्सितम् ॥ १६ ॥

तब राजाने गालव मुनिका अभिनन्दन करके उस कन्याको ग्रहण किया और उचित देश-कालमें उसके द्वारा एक मनोवाञ्छित पुत्र प्राप्त किया ॥ १६ ॥

ततो वसुमना नाम वसुभ्यो वसुमत्तरः।
वसुप्रख्यो नरपतिः स बभूव वसुप्रदः ॥ १७ ॥

तदनन्तर उनका वह पुत्र वसुमनाके नामसे विख्यात हुआ। वह वसुओंके समान कान्तिमान् तथा उनकी अपेक्षा भी अधिक धन-रत्नोंसे सम्पन्न और धनका खुले हाथ दान करनेवाला नरेश हुआ ॥ १७ ॥

अथ काले पुनर्धीमान् गालवः प्रत्युपस्थितः।
उपसंगम्य चोवाच हर्यश्वं प्रीतमानसम् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् उचित समयपर बुद्धिमान् गालव पुनः वहाँ उपस्थित हुए और प्रसन्नचित्त राजा हर्यश्वसे मिलकर इस प्रकार बोले—॥ १८ ॥

जातो नृप सुतस्तेऽयं बालो भास्करसंनिभः।
कालो गन्तुं नरश्रेष्ठ भिक्षार्थमपरं नृपम् ॥ १९ ॥

'नरश्रेष्ठ नरेश! आपको यह सूर्यके समान तेजस्वी पुत्र प्राप्त हो गया। अब इस कन्याके साथ घोड़ोंकी याचना करनेके लिये दूसरे राजाके यहाँ जानेका अवसर उपस्थित हुआ है' ॥ १९ ॥

हर्यश्वः सत्यवचने स्थितः स्थित्वा च पौरुषे ।
दुर्लभत्वाद्धयानां च प्रददौ माधवीं पुनः ॥ २० ॥

राजा हर्यश्व सत्य वचनपर दृढ़ रहनेवाले थे । उन्होंने पुरुषार्थमें समर्थ होकर भी छः सौ श्यामकर्ण घोड़े दुर्लभ होनेके कारण माधवीको पुनः लौटा दिया ॥ २० ॥

माधवी च पुनर्दीप्तां परित्यज्य नृपश्रियम् ।
कुमारी कामतो भूत्वा गालवं पृष्ठतोऽन्वयात् ॥ २१ ॥

माधवी पुनः इच्छानुसार कुमारी होकर अयोध्याकी उज्ज्वल राजलक्ष्मीका परित्याग करके गालव मुनिके पीछे-पीछे चली गयी ॥ २१ ॥

त्वय्येव तावत् तिष्ठन्तु हया इत्युक्तवान् द्विजः ।
प्रययौ कन्यया सार्धं दिवोदासं प्रजेश्वरम् ॥ २२ ॥

जाते समय ब्राह्मणने राजा हर्यश्वसे कहा—'महाराज ! आपके दिये हुए दो सौ श्यामकर्ण घोड़े अभी आपके ही पास धरोहरके रूपमें रहें ।' ऐसा कहकर गालव मुनि उस राजकन्याके साथ राजा दिवोदासके यहाँ गये ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

दिवोदासका ययातिकन्या माधवीके गर्भसे प्रतर्दन नामक पुत्र उत्पन्न करना

गालव उवाच

महावीर्यो महीपालः काशीनामीश्वरः प्रभुः ।
दिवोदास इति ख्यातो भैमसेनिर्नराधिपः ॥ १ ॥
तत्र गच्छावहे भद्रे शनैरागच्छ मा शुचः ।
धार्मिकः संयमे युक्तः सत्ये चैव जनेश्वरः ॥ २ ॥

मार्गमें गालवने राजकन्या माधवीसे कहा—भद्रे ! काशीके अधिपति भीमसेनकुमार शक्तिशाली राजा दिवोदास महापराक्रमी एवं विख्यात भूमिपाल हैं । उन्हींके पास हम दोनों चलें । तुम धीरे-धीरे चली आओ । मनमें किसी प्रकारका शोक न करो । राजा दिवोदास धर्मात्मा, संयमी तथा सत्यपरायण हैं ॥ १-२ ॥

नारद उवाच

तमुपागम्य स मुनिर्न्यायतस्तेन सत्कृतः ।
गालवः प्रसवस्यार्थे तं नृपं प्रत्यचोदयत् ॥ ३ ॥

नारदजी कहते हैं—राजा दिवोदासके यहाँ जानेपर गालव मुनिका उनके द्वारा यथोचित सत्कार किया गया । तदनन्तर गालवने पूर्ववत् उन्हें भी शुल्क देकर उस कन्यासे एक संतान उत्पन्न करनेके लिये प्रेरित किया ॥ ३ ॥

दिवोदास उवाच

श्रुतमेतन्मया पूर्वं किमुक्त्वा विस्तरं द्विज ।
काङ्क्षितो हि मयैषोऽर्थः श्रुत्वैव द्विजसत्तम ॥ ४ ॥

दिवोदास बोले—ब्रह्मन् ! यह सब वृत्तान्त मैंने पहलेसे ही सुन रक्खा है । अब इसे विस्तारपूर्वक कहनेकी क्या आवश्यकता है ? द्विजश्रेष्ठ ! आपके प्रस्तावको सुनते ही मेरे मनमें यह पुत्रोत्पादनकी अभिलाषा जाग उठी है ॥ ४ ॥

एतच्च मे बहुमतं यदुत्सृज्य नराधिपान् ।
मामेवमुपयातोऽसि भावि चैतदसंशयम् ॥ ५ ॥

यह मेरे लिये बड़े सम्मानकी बात है कि आप दूसरे राजाओंको छोड़कर मेरे पास इस रूपमें प्रार्थी होकर आये हैं । निःसंदेह ऐसा ही भावी है ॥ ५ ॥

स एव विभवोऽस्माकमश्वानामपि गालव ।
अहमप्येकमेवास्यां जनयिष्यामि पार्थिवम् ॥ ६ ॥

गालव ! मेरे पास भी दो ही सौ श्यामकर्ण घोड़े हैं; अतः मैं भी इसके गर्भसे एक ही राजकुमारको उत्पन्न करूँगा ॥ ६ ॥

तथेत्युक्त्वा द्विजश्रेष्ठः प्रादात् कन्यां महीपतेः ।
विधिपूर्वं च तां राजा कन्यां प्रतिगृहीतवान् ॥ ७ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर विप्रवर गालवने वह कन्या राजाको दे दी । राजाने भी उसका विधिपूर्वक पाणि-ग्रहण किया ॥ ७ ॥

रेमे स तस्यां राजर्षिः प्रभावत्यां यथा रविः ।
स्वाहायां च यथा वह्निर्यथा शच्यां च वासवः ॥ ८ ॥
यथा चन्द्रश्च रोहिण्यां यथा धूमोर्णया यमः ।
वरुणश्च यथा गौर्यां यथा चर्द्ध्यां धनेश्वरः ॥ ९ ॥
यथा नारायणो लक्ष्म्यां जाह्नव्यां च यथोदधिः ।
यथा रुद्रश्च रुद्राण्यां यथा वेद्यां पितामहः ॥ १० ॥
अदृश्यन्त्यां च वासिष्ठो वसिष्ठश्चाक्षमालया ।
च्यवनश्च सुकन्यायां पुलस्त्यः संध्यया यथा ॥ ११ ॥
अगस्त्यश्चापि वैदर्भ्यां सावित्र्यां सत्यवान् यथा ।
यथा भृगुः पुलोमायामदित्यां कश्यपो यथा ॥ १२ ॥
रेणुकायां यथाऽऽर्चीको हैमवत्यां च कौशिकः ।
बृहस्पतिश्च तारायां शुक्रश्च शतपर्वणा ॥ १३ ॥

यथा भूम्यां भूमिपतिरुर्वश्यां च पुरूरवाः ।
ऋचीकः सत्यवत्यां च सरस्वत्यां यथा मनुः॥ १४ ॥
शकुन्तलायां दुष्यन्तो धृत्यां धर्मश्च शाश्वतः ।
दमयन्त्यां नलश्चैव सत्यवत्यां च नारदः ॥ १५ ॥
जरत्कारुर्जरत्कार्वां पुलस्त्यश्च प्रतीच्यया ।
मेनकायां यथोर्णायुस्तुम्बुरुश्चैव रम्भया ॥ १६ ॥
वासुकिः शतशीर्षायां कुमार्यां च धनंजयः ।
वैदेह्यां च यथा रामो रुक्मिण्यां च जनार्दनः॥ १७ ॥
तथा तु रममाणस्य दिवोदासस्य भूपतेः ।
माधवी जनयामास पुत्रमेकं प्रतर्दनम् ॥ १८ ॥

राजर्षि दिवोदास माधवीमें अनुरक्त होकर उसके साथ रमण करने लगे। जैसे सूर्य प्रभावतीके, अग्नि स्वाहाके, देवेन्द्र शचीके, चन्द्रमा रोहिणीके, यमराज धूमोर्णाके, वरुण गौरीके, कुबेर ऋद्धिके, नारायण लक्ष्मीके, समुद्र गङ्गाके, रुद्रदेव रुद्राणीके, पितामह ब्रह्मा वेदीके, वसिष्ठनन्दन शक्ति अदृश्यन्तीके, वसिष्ठ अक्षमाला (अरुन्धती) के, च्यवन सुकन्याके, पुलस्त्य संध्याके, अगस्त्य विदर्भराजकुमारी लोपामुद्राके, सत्यवान् सावित्रीके, भृगु पुलोमाके, कश्यप अदितिके, जमदग्नि रेणुकाके, कुशिकवंशी विश्वामित्र हैमवतीके, बृहस्पति ताराके, शुक्र शतपर्वाके, भूमिपति भूमिके, पुरूरवा उर्वशीके, ऋचीक सत्यवतीके, मनु सरस्वतीके, दुष्यन्त शकुन्तलाके, सनातन धर्मदेव धृतिके, नल दमयन्तीके, नारद सत्यवतीके, जरत्कारु मुनि नागकन्या जरत्कारुके, पुलस्त्य प्रतीच्याके, ऊर्णायु मेनकाके, तुम्बुरु रम्भाके, वासुकि शतशीर्षाके, धनंजय कुमारीके, श्रीरामचन्द्रजी विदेहनन्दिनी सीताके तथा भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीदेवीके साथ रमण करते हैं, उसी प्रकार अपने साथ रमण करनेवाले राजा दिवोदासके वीर्यसे माधवीने प्रतर्दन नामक एक पुत्र उत्पन्न किया ॥ ८—१८ ॥

अथाजगाम भगवान् दिवोदासं स गालवः ।
समये समनुप्राप्ते वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

तदनन्तर समय आनेपर भगवान् गालव मुनि पुनः दिवोदासके पास आये और उनसे इस प्रकार बोले— ॥१९॥

निर्यातयतु मे कन्यां भवांस्तिष्ठन्तु वाजिनः ।
यावदन्यत्र गच्छामि शुल्कार्थं पृथिवीपते ॥ २० ॥

'पृथ्वीनाथ ! अब आप मुझे राजकन्याको लौटा दें। आपके दिये हुए घोड़े अभी आपके ही पास रहें। मैं इस समय शुल्क प्राप्त करनेके लिये अन्यत्र जा रहा हूँ' ॥२०॥

दिवोदासोऽथ धर्मात्मा समये गालवस्य ताम्।
कन्यां निर्यातयामास स्थितः सत्ये महीपतिः ॥ २१ ॥

धर्मात्मा राजा दिवोदास अपनी की हुई सत्य प्रतिज्ञापर अटल रहनेवाले थे; अतः उन्होंने गालवको वह कन्या लौटा दी ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११७॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

उशीनरका ययातिकन्या माधवीके गर्भसे शिबि नामक पुत्र उत्पन्न करना, गालवका उस कन्याको साथ लेकर जाना और मार्गमें गरुड़का दर्शन करना

नारद उवाच

तथैव तां श्रियं त्यक्त्वा कन्या भूत्वा यशस्विनी ।
माधवी गालवं विप्रमभ्ययात् सत्यसंगरा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर वह यशस्विनी राजकन्या माधवी सत्यके पालनमें तत्पर हो काशीनरेशकी उस राजलक्ष्मीको त्यागकर विप्रवर गालवके साथ चली गयी ।१।

गालवो विमृशन्नेव स्वकार्यगतमानसः ।
जगाम भोजनगरं द्रष्टुमौशीनरं नृपम् ॥ २ ॥

गालवका मन अपने कार्यकी सिद्धिके चिन्तनमें लगा था। उन्होंने मन-ही-मन कुछ सोचते हुए राजा उशीनरसे मिलनेके लिये भोजनगरकी यात्रा की ॥ २ ॥

तमुवाचाथ गत्वा स नृपतिं सत्यविक्रमम् ।
इयं कन्या सुतौ द्वौ ते जनयिष्यति पार्थिवौ ॥ ३ ॥

उन सत्यपराक्रमी नरेशके पास जाकर गालवने उनसे कहा—'राजन् ! यह कन्या आपके लिये पृथ्वीका शासन करनेमें समर्थ दो पुत्र उत्पन्न करेगी ॥ ३ ॥

अस्यां भवानवाप्तार्थो भविता प्रेत्य चेह च ।
सोमार्कप्रतिसंकाशौ जनयित्वा सुतौ नृप ॥ ४ ॥

'नरेश्वर ! इसके गर्भसे सूर्य और चन्द्रमाके समान दो तेजस्वी पुत्र पैदा करके आप लोक और परलोकमें भी पूर्णकाम होंगे ॥ ४ ॥

शुल्कं तु सर्वधर्मज्ञ हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
एकतः श्यामकर्णानां देयं मह्यं चतुःशतम् ॥ ५ ॥

'समस्त धर्मोंके ज्ञाता भूपाल ! आप इस कन्याके शुल्कके रूपमें मुझे ऐसे चार सौ अश्व प्रदान करें, जो चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे सुशोभित तथा एक ओरसे श्यामवर्णके कानोंवाले हों ॥ ५ ॥

गुर्वर्थोऽयं समारम्भो न हयैः कृत्यमस्ति मे ।
यदि शक्यं महाराज क्रियतामविचारितम् ॥ ६ ॥

'मैंने गुरुदक्षिणा देनेके लिये यह उद्योग आरम्भ किया है अन्यथा मुझे इन घोड़ोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। महाराज! यदि आपके लिये यह शुल्क देना सम्भव हो तो कोई अन्यथा विचार न करके यह कार्य सम्पन्न कीजिये ॥ ६ ॥

अनपत्योऽसि राजर्षे पुत्रौ जनय पार्थिव ।
पितॄन् पुत्रप्लवेन त्वमात्मानं चैव तारय ॥ ७ ॥

'राजर्षे ! पृथ्वीपते ! आप संतानहीन हैं। अतः इससे दो पुत्र उत्पन्न कीजिये और पुत्ररूपी नौकाद्वारा पितरोंका तथा अपना भी उद्धार कीजिये ॥ ७ ॥

न पुत्रफलभोक्ता हि राजर्षे पात्यते दिवः ।
न याति नरकं घोरं यथा गच्छन्त्यनात्मजाः ॥ ८ ॥

'राजर्षे ! पुत्रजनित पुण्यफलका उपभोग करनेवाला मनुष्य कभी स्वर्गसे नीचे नहीं गिराया जाता और संतानहीन मनुष्य जिस प्रकार घोर नरकमें पड़ते हैं, उस प्रकार वह नहीं पड़ता' ॥ ८ ॥

एतच्चान्यच्च विविधं श्रुत्वा गालवभाषितम् ।
उशीनरः प्रतिवचो ददौ तस्य नराधिपः ॥ ९ ॥

गालवकी कही हुई ये तथा और भी बहुत-सी बातें सुनकर राजा उशीनरने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ९ ॥

श्रुतवानस्मि ते वाक्यं यथा वदसि गालव ।
विधिस्तु बलवान् ब्रह्मन् प्रवणं हि मनो मम ॥ १० ॥

'विप्रवर गालव ! आप जैसा कहते हैं, वे सब बातें मैंने सुन लीं। परंतु विधाता प्रबल है। मेरा मन इससे संतान उत्पन्न करनेके लिये उत्सुक हो रहा है ॥ १० ॥

शते द्वे तु ममाश्वानामीदृशानां द्विजोत्तम ।
इतरेषां सहस्राणि सुबहूनि चरन्ति मे ॥ ११ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! आपको जिनकी आवश्यकता है, ऐसे अश्व तो मेरे पास दो ही सौ हैं। दूसरी जातिके तो कई सहस्र घोड़े मेरे यहाँ विचरते हैं ॥ ११ ॥

अहमप्येकमेवास्यां जनयिष्यामि गालव ।
पुत्रं द्विज गतं मार्गं गमिष्यामि परैरहम् ॥ १२ ॥

'अतः ब्रह्मर्षि गालव ! मैं भी इस कन्याके गर्भसे एक ही पुत्र उत्पन्न करूँगा। दूसरे लोग जिस मार्गपर चले हैं, उसीपर मैं भी चलूँगा ॥ १२ ॥

मूल्येनापि समं कुर्यां तवाहं द्विजसत्तम ।
पौरजानपदार्थं तु ममार्थो नात्मभोगतः ॥ १३ ॥

'द्विजप्रवर ! मैं घोड़ोंका मूल्य देकर आपका सारा शुल्क चुका दूँ, यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि मेरा धन पुरवासियों तथा जनपदनिवासियोंके लिये है, अपने उपभोगमें लानेके लिये नहीं ॥ १३ ॥

कामतो हि धनं राजा पारक्यं यः प्रयच्छति ।
न स धर्मेण धर्मात्मन् युज्यते यशसा न च ॥ १४ ॥

'धर्मात्मन् ! जो राजा पराये धनका अपनी इच्छाके अनुसार दान करता है, उसे धर्म और यशकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ १४ ॥

सोऽहं प्रतिग्रहीष्यामि ददात्वेतां भवान् मम ।
कुमारीं देवगर्भाभामेकपुत्रभवाय मे ॥ १५ ॥

'अतः आप देवकन्याके समान सुन्दरी इस राजकुमारीको केवल एक पुत्र उत्पन्न करनेके लिये मुझे दें। मैं इसे ग्रहण करूँगा' ॥ १५ ॥

तथा तु बहुधा कन्यामुक्तवन्तं नराधिपम् ।
उशीनरं द्विजश्रेष्ठो गालवः प्रत्यपूजयत् ॥ १६ ॥

इस प्रकार भाँति-भाँतिकी न्याययुक्त बातें कहनेवाले राजा उशीनरकी विप्रवर गालवने भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥

उशीनरं प्रतिग्राह्य गालवः प्रययौ वनम् ।
रेमे स तां समासाद्य कृतपुण्य इव श्रियम् ॥ १७ ॥

उशीनरको वह कन्या सौंपकर गालव मुनि वनको चले गये। जैसे पुण्यात्मा पुरुष राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करे, उसी प्रकार उस राजकन्याको पाकर राजा उशीनर उसके साथ रमण करने लगे ॥ १७ ॥

कन्दरेषु च शैलानां नदीनां निर्झरेषु च ।
उद्यानेषु विचित्रेषु वनेषूपवनेषु च ॥ १८ ॥
हर्म्येषु रमणीयेषु प्रासादशिखरेषु च ।
वातायनविमानेषु तथा गर्भगृहेषु च ॥ १९ ॥

उन्होंने पर्वतोंकी कन्दराओंमें, नदियोंके सुरम्य तटोंपर, झरनोंके आस-पास, विचित्र उद्यानोंमें, वनों और उपवनोंमें, रमणीय अट्टालिकाओंमें, प्रासादशिखरोंपर, वायुके मार्गसे उड़नेवाले विमानोंपर तथा पृथ्वीके भीतर बने हुए गर्भगृहोंमें माधवीके साथ विहार किया ॥ १८-१९ ॥

ततोऽस्य समये जज्ञे पुत्रो बालरविप्रभः ।
शिबिर्नाम्नाभिविख्यातो यः स पार्थिवसत्तमः ॥ २० ॥

तदनन्तर यथासमय उसके गर्भसे राजाको एक पुत्र प्राप्त हुआ, जो बालसूर्यके समान तेजस्वी था। वही बड़ा

होनेपर नृपश्रेष्ठ महाराज शिबिके नामसे विख्यात हुआ ॥

उपस्थाय स तं विप्रो गालवः प्रतिगृह्य च ।
कन्यां प्रयातस्तां राजन् दृष्टवान् विनतात्मजम् ।२१।

राजन्! तत्पश्चात् विप्रवर गालव राजाके दरबारमें उपस्थित हुए और उस कन्याको वापस लेकर वहाँसे चल दिये । मार्गमें उन्हें विनतानन्दन गरुड़ दिखायी दिये ।२१।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥११८॥

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

गालवका छः सौ घोड़ोंके साथ माधवीको विश्वामित्रजीकी सेवामें देना और उनके द्वारा उसके गर्भसे अष्टक नामक पुत्रकी उत्पत्ति होनेके बाद उस कन्याको ययातिके यहाँ लौटा देना

नारद उवाच

गालवं वैनतेयोऽथ प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
दिष्ट्या कृतार्थं पश्यामि भवन्तमिह वै द्विज॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—उस समय विनतानन्दन गरुड़ने गालव मुनिसे हँसते हुए कहा—'ब्रह्मन्! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मैं तुम्हें यहाँ कृतकृत्य देख रहा हूँ' ॥ १ ॥

गालवस्तु वचः श्रुत्वा वैनतेयेन भाषितम् ।
चतुर्भागावशिष्टं तदाचख्यौ कार्यमस्य हि ॥ २ ॥

गरुड़की कही हुई यह बात सुनकर गालव बोले—'अभी गुरुदक्षिणाका एक चौथाई भाग बाकी रह गया है, जिसे शीघ्र पूरा करना है' ॥ २ ॥

सुपर्णस्त्वब्रवीदेनं गालवं वदतां वरः ।
प्रयत्नस्ते न कर्तव्यो नैष सम्पत्स्यते तव ॥ ३ ॥

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ गरुड़ने गालवसे कहा—'अब तुम्हें इसके लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये; क्योंकि तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण नहीं होगा ॥ ३ ॥

पुरा हि कान्यकुब्जे वै गाधेः सत्यवतीं सुताम् ।
भार्यार्थेऽवरयत् कन्यामृचीकस्तेन भाषितः ॥ ४ ॥

'पूर्वकालकी बात है, कान्यकुब्जमें राजा गाधिकी कुमारी पुत्री सत्यवतीको अपनी पत्नी बनानेके लिये ऋचीक मुनिने राजासे उसे माँगा । तब राजाने ऋचीकसे कहा—॥४॥

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
भगवन् दीयतां मह्यं सहस्रमिति गालव ॥ ५ ॥
ऋचीकस्तु तथेत्युक्त्वा वरुणस्यालयं गतः ।
अश्वतीर्थे हयाँल्लब्ध्वा दत्तवान् पार्थिवाय वै ॥६॥

'भगवन्! मुझे कन्याके शुल्करूपमें एक हजार ऐसे घोड़े दीजिये, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् हों तथा एक ओरसे उनके कान श्याम रंगके हों' गालव! तब ऋचीक मुनि 'तथास्तु' कहकर वरुणके लोकमें गये और वहाँ अश्वतीर्थमें वैसे घोड़े प्राप्त करके उन्होंने राजा गाधिको दे दिये ॥ ५-६ ॥

इष्ट्वा ते पुण्डरीकेण दत्ता राज्ञा द्विजातिषु ।
तेभ्यो द्वे द्वे शते क्रीत्वा प्राप्ते तैः पार्थिवैस्तदा ॥७॥

'राजाने पुण्डरीक नामक यज्ञ करके वे सभी घोड़े ब्राह्मणोंको दक्षिणारूपमें बाँट दिये । तदनन्तर राजाओंने उनसे दो-दो सौ घोड़े खरीदकर अपने पास रख लिये ॥ ७ ॥

अपराण्यपि चत्वारि शतानि द्विजसत्तम ।
नीयमानानि संतारे हृतान्यासन् वितस्तया ॥ ८ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! मार्गमें एक जगह नदीको पार करना पड़ा। इन छः सौ घोड़ोंके साथ चार सौ और थे । नदी पार करनेके लिये ले जाये जाते समय वे चार सौ घोड़े वितस्ता (झेलम) की प्रखर धारामें बह गये ॥ ८ ॥

एवं न शक्यमप्राप्यं प्राप्तुं गालव कर्हिचित् ।
इमामश्वशताभ्यां वै द्वाभ्यां तस्मै निवेदय ॥ ९ ॥
विश्वामित्राय धर्मात्मन् षड्भिरश्वशतैः सह ।
ततोऽसि गतसम्मोहः कृतकृत्यो द्विजोत्तम ॥ १० ॥

'गालव! इस प्रकार इस देशमें इन छः सौ घोड़ोंके सिवा दूसरे घोड़े अप्राप्य हैं । अतः उन्हें कहीं भी पाना असम्भव है । मेरी राय यह है कि शेष दो सौ घोड़ोंके बदले यह कन्या ही विश्वामित्रजीको समर्पित कर दो । धर्मात्मन्! इन छः सौ घोड़ोंके साथ विश्वामित्रजीकी सेवामें इस कन्याको ही दे दो । द्विजश्रेष्ठ! ऐसा करनेसे तुम्हारी सारी घबराहट दूर हो जायगी और तुम सर्वथा कृतकृत्य हो जाओगे' ॥

गालवस्तं तथेत्युक्त्वा सुपर्णसहितस्ततः ।
आदायाश्वांश्च कन्यां च विश्वामित्रमुपागमत्॥ ११ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर गालव गरुड़के साथ वे (छः सौ) घोड़े और वह कन्या लेकर विश्वामित्रजीके पास आये ॥

अश्वानां काङ्क्षितार्थानां षडिमानि शतानि वै ।
शतद्वयेन कन्येयं भवता प्रतिगृह्यताम् ॥ १२ ॥

आकर उन्होंने कहा—'गुरुदेव ! आप जैसे चाहते थे, वैसे ही ये छः सौ घोड़े आपकी सेवामें प्रस्तुत हैं और शेष दो सौके बदले आप इस कन्याको ग्रहण करें ॥ १२ ॥

अस्यां राजर्षिभिः पुत्रा जाता वै धार्मिकास्त्रयः ।
चतुर्थं जनयत्वेकं भवानपि नरोत्तमम् ॥ १३ ॥

'राजर्षियोंने इसके गर्भसे तीन धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न किये हैं। अब आप भी एक नरश्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न कीजिये, जिसकी संख्या चौथी होगी ॥ १३ ॥

पूर्णान्येवं शतान्यष्टौ तुरगाणां भवन्तु ते ।
भवतो ह्यनृणो भूत्वा तपः कुर्यां यथासुखम् ॥ १४ ॥

'इस प्रकार आपके आठ सौ घोड़ोंकी संख्या पूरी हो जाय और मैं आपसे उऋण होकर सुखपूर्वक तपस्या करूँ, ऐसी कृपा कीजिये' ॥ १४ ॥

विश्वामित्रस्तु तं दृष्ट्वा गालवं सह पक्षिणा ।
कन्यां च तां वरारोहामिदमित्यब्रवीद् वचः ॥ १५ ॥

विश्वामित्रने गरुड़सहित गालवकी ओर देखकर इस परम सुन्दरी कन्यापर भी दृष्टिपात किया और इस प्रकार कहा—॥ १५ ॥

किमियं पूर्वमेवेह न दत्ता मम गालव ।
पुत्रा ममैव चत्वारो भवेयुः कुलभावनाः ॥ १६ ॥

'गालव ! तुमने पहले ही इसे यहीं क्यों नहीं दे दिया, जिससे मुझे ही वंशप्रवर्तक चार पुत्र प्राप्त हो जाते ॥ १६ ॥

प्रतिगृह्णामि ते कन्यामेकपुत्रफलाय वै ।
अश्वाश्चाश्रममासाद्य चरन्तु मम सर्वशः ॥ १७ ॥

'अच्छा, अब मैं एक पुत्ररूपी फलकी प्राप्तिके लिये तुमसे इस कन्याको ग्रहण करता हूँ । ये घोड़े मेरे आश्रममें आकर सब ओर चरें' ॥ १७ ॥

स तया रममाणोऽथ विश्वामित्रो महाद्युतिः ।
आत्मजं जनयामास माधवीपुत्रमष्टकम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार महातेजस्वी विश्वामित्र मुनिने उसके साथ रमण करते हुए यथासमय उसके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न किया । माधवीके उस पुत्रका नाम अष्टक था ॥ १८ ॥

जातमात्रं सुतं तं च विश्वामित्रो महामुनिः ।
संयोज्यार्थैस्तथा धर्मैरश्वैस्तैः समयोजयत् ॥ १९ ॥

पुत्रके उत्पन्न होते ही महामुनि विश्वामित्रने उसे धर्म, अर्थ तथा उन अश्वोंसे सम्पन्न कर दिया ॥ १९ ॥

अथाष्टकः पुरं प्रायात् तदा सोमपुरप्रभम् ।
निर्यात्य कन्यां शिष्याय कौशिकोऽपि वनं ययौ ॥२०॥

तदनन्तर अष्टक चन्द्रपुरीके समान प्रकाशित होनेवाली विश्वामित्रजीकी राजधानीमें गया और विश्वामित्र भी अपने शिष्य गालवको वह कन्या लौटाकर वनमें चले गये ॥ २० ॥

गालवोऽपि सुपर्णेन सह निर्यात्य दक्षिणाम् ।
मनसातिप्रतीतेन कन्यामिदमुवाच ह ॥ २१ ॥
जातो दानपतिः पुत्रस्त्वया शूरस्तथापरः ।
सत्यधर्मरतश्चान्यो यज्वा चापि तथापरः ॥ २२ ॥
तदागच्छ वरारोहे तारितस्ते पिता सुतैः ।
चत्वारश्चैव राजानस्तथा चाहं सुमध्यमे ॥ २३ ॥

गरुड़सहित गालव भी गुरुदक्षिणा देकर मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट हो राजकन्या माधवीसे इस प्रकार बोले—'सुन्दरी ! तुम्हारा पहला पुत्र दानपति, दूसरा शूरवीर, तीसरा सत्यधर्मपरायण और चौथा यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला होगा । सुमध्यमे ! तुमने इन पुत्रोंके द्वारा अपने पिताको तो तारा ही है, उन चार राजाओंका भी उद्धार कर दिया है । अतः अब हमारे साथ आओ'॥ २१–२३ ॥

गालवस्त्वभ्यनुज्ञाय सुपर्णं पन्नगाशनम् ।
पितुर्निर्यात्य तां कन्यां प्रययौ वनमेव ह ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर सर्पभोजी गरुड़से आज्ञा ले उस राजकन्याको पुनः उसके पिता ययातिके यहाँ लौटाकर गालव वनमें ही चले गये ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११९॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

माधवीका वनमें जाकर तप करना तथा ययातिका स्वर्गमें जाकर सुखभोगके पश्चात् मोहवश तेजोहीन होना

नारद उवाच

स तु राजा पुनस्तस्याः कर्तुकामः स्वयंवरम् ।
उपगम्याश्रमपदं गङ्गायमुनसंगमे ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर राजा ययाति पुनः माधवीके स्वयंवरका विचार करके गङ्गा-यमुनाके संगमपर बने हुए अपने आश्रममें जाकर रहने लगे ॥ १ ॥

गृहीतमाल्यदामां तां रथमारोप्य माधवीम् ।
पूरुर्यदुश्च भगिनीमाश्रमे पर्यधावताम् ॥ २ ॥

फिर हाथमें हार लिये बहिन माधवीको रथपर बिठाकर पूरु और यदु—ये दोनों भाई आश्रमपर गये ॥ २ ॥

नागयक्षमनुष्याणां गन्धर्वमृगपक्षिणाम् ।
शैलद्रुमवनौकानामासीत् तत्र समागमः ॥ ३ ॥

उस स्वयंवरमें नाग, यक्ष, मनुष्य, गन्धर्व, पशु, पक्षी तथा पर्वत, वृक्ष और वनोंमें निवास करनेवाले प्राणियोंका शुभागमन हुआ ॥ ३ ॥

नानापुरुषदेश्यानामीश्वरैश्च समाकुलम् ।
ऋषिभिर्ब्रह्मकल्पैश्च समन्तादावृतं वनम् ॥ ४ ॥

प्रयागका वह वन अनेक जनपदोंके राजाओंसे व्याप्त हो गया और ब्रह्माजीके समान तेजस्वी ब्रह्मर्षियोंने उस स्थानको सब ओरसे घेर लिया ॥ ४ ॥

निर्दिश्यमानेषु तु सा वरेषु वरवर्णिनी ।
वरानुत्क्रम्य सर्वांस्तान् वरं वृतवती वनम् ॥ ५ ॥

उस समय जब माधवीको वहाँ आये हुए वरोंका परिचय दिया जाने लगा, तब उस वरवर्णिनी कन्याने सारे वरोंको छोड़कर तपोवनका ही वररूपमें वरण कर लिया ॥ ५ ॥

अवतीर्य रथात् कन्या नमस्कृत्य च बन्धुषु ।
उपगम्य वनं पुण्यं तपस्तेपे ययातिजा ॥ ६ ॥

ययातिनन्दिनी कुमारी माधवी रथसे उतरकर अपने पिता, भाई, बन्धु आदि कुटुम्बियोंको नमस्कार करके पुण्य तपोवनमें चली गयी और वहाँ तपस्या करने लगी ॥ ६ ॥

उपवासैश्च विविधैर्दीक्षाभिर्नियमैस्तथा ।
आत्मनो लघुतां कृत्वा बभूव मृगचारिणी ॥ ७ ॥

वह उपवासपूर्वक विविध प्रकारकी दीक्षाओं तथा नियमोंका पालन करती हुई अपने मनको राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित करके वनमें मृगीके समान विचरने लगी ॥ ७ ॥

वैदूर्याङ्कुरकल्पानि मृदूनि हरितानि च ।
चरन्ती श्लक्ष्णशष्पाणि तिक्तानि मधुराणि च ॥ ८ ॥
स्रवन्तीनां च पुण्यानां सुरसानि शुचीनि च ।
पिबन्ती वारिमुख्यानि शीतानि विमलानि च ॥ ९ ॥
वनेषु मृगवासेषु व्याघ्रविप्रोषितेषु च ।
दावाग्निविप्रयुक्तेषु शून्येषु गहनेषु च ॥ १० ॥
चरन्ती हरिणैः सार्धं मृगीव वनचारिणी ।
चचार विपुलं धर्मं ब्रह्मचर्येण संवृतम् ॥ ११ ॥

इस क्रमसे माधवी वैदूर्यमणिके अङ्कुरोंके समान सुशोभित, कोमल, चिकनी, तिक्त, मधुर एवं हरी-हरी घास चरती, पवित्र नदियोंके शुद्ध, शीतल, निर्मल एवं सुस्वादु जल पीती और मृगोंके आवासभूत, व्याघ्ररहित एवं दावानलशून्य निर्जन वनोंमें मृगोंके साथ वनचारिणी मृगीकी भाँति विचरण करती थी। उसने ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक महान् धर्मका आचरण किया ॥

ययातिरपि पूर्वेषां राज्ञां वृत्तमनुष्ठितः ।
बहुवर्षसहस्रायुर्युयुजे कालधर्मणा ॥ १२ ॥

राजा ययाति भी पूर्ववर्ती राजाओंके सदाचारका पालन करते हुए अनेक सहस्र वर्षोंकी आयु पूरी करके मृत्युको प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

पूरुर्यदुश्च द्वौ वंशे वर्धमानौ नरोत्तमौ ।
ताभ्यां प्रतिष्ठितो लोके परलोके च नाहुषः ॥ १३ ॥

उनके (पुत्रोंमेंसे) दो पुत्र नरश्रेष्ठ पूरु और यदु उस कुलमें अभ्युदयशील थे। उन्हीं दोनोंसे नहुषपुत्र ययाति इस लोक और परलोकमें भी प्रतिष्ठित हुए ॥ १३ ॥

महीपते नरपतिर्ययातिः स्वर्गमास्थितः ।
महर्षिकल्पो नृपतिः स्वर्गाग्र्यफलभुग् विभुः ॥ १४ ॥

राजन्! महाराज ययाति महर्षियोंके समान पुण्यात्मा एवं तपस्वी थे। वे स्वर्गमें जाकर वहाँके श्रेष्ठ फलका उपभोग करने लगे ॥ १४ ॥

बहुवर्षसहस्राख्ये काले बहुगुणे गते ।
राजर्षिषु निषण्णेषु महीयस्सु महर्षिषु ॥ १५ ॥
अवमेने नरान् सर्वान् देवानृषिगणांस्तथा ।
ययातिर्मूढविज्ञानो विस्मयाविष्टचेतनः ॥ १६ ॥

इस प्रकार वहाँ अनेक गुणोंसे युक्त कई हजार वर्षोंका समय व्यतीत हो गया। ययातिका चित्त अपना स्वर्गीय वैभव देखकर स्वयं ही आश्चर्यचकित हो उठा। उनकी बुद्धिपर मोह छा गया और वे महान् समृद्धिशाली महत्तम राजर्षियोंके अपने समीप बैठे होनेपर भी सम्पूर्ण देवताओं, मनुष्यों तथा महर्षियोंकी भी अवहेलना करने लगे ॥ १५-१६ ॥

ततस्तं बुबुधे देवः शक्रो बलनिषूदनः ।
ते च राजर्षयः सर्वे धिग्धिगित्येवमब्रुवन् ॥ १७ ॥

तदनन्तर बलसूदन इन्द्रदेवको ययातिकी इस अवस्थाका पता लग गया। वे सम्पूर्ण राजर्षिगण भी उस समय ययातिको धिक्कारने लगे ॥ १७ ॥

विचारश्च समुत्पन्नो निरीक्ष्य नहुषात्मजम् ।
को न्वयं कस्य वा राज्ञः कथं वा स्वर्गमागतः ॥ १८ ॥

नहुषपुत्र ययातिको देखकर स्वर्गवासियोंमें यह विचार खड़ा हो गया—'यह कौन है? किस राजाका पुत्र है? और कैसे स्वर्गमें आ गया है?' ॥ १८ ॥

कर्मणा केन सिद्धोऽयं क वानेन तपश्चितम् ।
कथं वा ज्ञायते स्वर्गे केन वा ज्ञायतेऽप्युत ॥ १९ ॥

'इसे किस कर्मसे सिद्धि प्राप्त हुई है? इसने कहाँ तपस्या की है? स्वर्गमें किस प्रकार इसे जाना जाय अथवा कौन यहाँ इसको जानता है?'॥ १९ ॥

एवं विचारयन्तस्ते राजानं स्वर्गवासिनः।
दृष्ट्वा पप्रच्छुरन्योन्यं ययातिं नृपतिं प्रति ॥ २० ॥

इस प्रकार विचार करते हुए स्वर्गवासी ययातिके विषयमें एक दूसरेकी ओर देखकर प्रश्न करने लगे ॥ २० ॥

विमानपालाः शतशः स्वर्गद्वाराभिरक्षिणः।
पृष्टा आसनपालाश्च न जानीमेत्यथाब्रुवन् ॥ २१ ॥

सैकड़ों विमानरक्षकों, स्वर्गके द्वारपालों तथा सिंहासनके रक्षकोंसे पूछा गया; किंतु सबने यही उत्तर दिया—'हम इन्हें नहीं जानते' ॥ २१ ॥

सर्वे ते ह्यावृतज्ञाना नाभ्यजानन्त तं नृपम्।
स मुहूर्तादथ नृपो हतौजाश्चाभवत् तदा ॥ २२ ॥

उन सबके ज्ञानपर पर्दा पड़ गया था; अतः वे उन राजाको नहीं पहचान सके। फिर तो दो ही घड़ीमें राजा ययातिका तेज नष्ट हो गया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिमोहे विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रके प्रसङ्गमें ययातिमोहविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

ययातिका स्वर्गलोकसे पतन और उनके दौहित्रों, पुत्री तथा गालव मुनिका उन्हें पुनः स्वर्गलोकमें पहुँचानेके लिये अपना-अपना पुण्य देनेके लिये उद्यत होना

नारद उवाच

अथ प्रचलितः स्थानादासनाच्च परिच्युतः।
कम्पितेनेव मनसा धर्षितः शोकवह्निना ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् ययाति अपने सिंहासनसे गिरकर उस स्वर्गीय स्थानसे भी विचलित हो गये। उनका हृदय काँप-सा उठा और शोकाग्नि उन्हें दग्ध करने लगी ॥ १ ॥

म्लानस्रग्भ्रष्टविज्ञानः प्रभ्रष्टमुकुटाङ्गदः।
विघूर्णन् स्रस्तसर्वाङ्गः प्रभ्रष्टाभरणाम्बरः ॥ २ ॥

उन्होंने जो दिव्य कुसुमोंकी माला पहन रक्खी थी, वह मुरझा गयी। उनकी ज्ञानशक्ति लुप्त होने लगी। मुकुट और बाजूबन्द शरीरसे अलग हो गये। उन्हें चक्कर आने लगा। उनके सारे अङ्ग शिथिल हो गये और वस्त्र तथा आभूषण भी खिसक-खिसककर गिरने लगे ॥ २ ॥

अदृश्यमानस्तान् पश्यन्नपश्यंश्च पुनः पुनः।
शून्यः शून्येन मनसा प्रपतिष्यन् महीतलम् ॥ ३ ॥
किं मया मनसा ध्यातमशुभं धर्मदूषणम्।
येनाहं चलितः स्थानादिति राजा व्यचिन्तयत् ॥ ४ ॥

वे अन्धकारसे आवृत होनेके कारण स्वयं स्वर्गवासियोंको नहीं दिखायी देते थे; परंतु वे उन्हें बार-बार देखते और कभी नहीं भी देख पाते थे। पृथ्वीपर गिरनेसे पहले शून्य-से होकर शून्य हृदयसे राजा यह चिन्ता करने लगे कि मैंने अपने मनसे किस धर्मदूषक अशुभ वस्तुका चिन्तन किया है, जिसके कारण मुझे अपने स्थानसे भ्रष्ट होना पड़ा है ॥ ३-४ ॥

ते तु तत्रैव राजानः सिद्धाश्चाप्सरसस्तथा।
अपश्यन्त निरालम्बं तं ययातिं परिच्युतम् ॥ ५ ॥

स्वर्गके राजर्षि, सिद्ध और अप्सरा—सभीने स्वर्गसे भ्रष्ट हो अवलम्बशून्य हुए राजा ययातिको देखा ॥ ५ ॥

अथैत्य पुरुषः कश्चित् क्षीणपुण्यनिपातकः।
ययातिमब्रवीद् राजन् देवराजस्य शासनात् ॥ ६ ॥

राजन्! इतनेमें ही पुण्यरहित पुरुषोंको स्वर्गसे नीचे गिरानेवाला कोई पुरुष देवराजकी आज्ञासे वहाँ आकर ययातिसे इस प्रकार बोला—॥ ६ ॥

अतीव मदमत्तस्त्वं न कंचिन्नावमन्यसे।
मानेन भ्रष्टः स्वर्गस्ते नार्हस्त्वं पार्थिवात्मज ॥ ७ ॥

'राजपुत्र! तुम अत्यन्त मदमत्त हो और कोई भी ऐसा महान् पुरुष यहाँ नहीं है, जिसका तुम तिरस्कार न करते हो। इस मानके कारण ही तुम अपने स्थानसे गिर रहे हो। अब तुम यहाँ रहनेके योग्य नहीं हो ॥ ७ ॥

न च प्रज्ञायसे गच्छ पतस्वेति तमब्रवीत्।
पतेयं सत्स्विति वचस्त्रिरुक्त्वा नहुषात्मजः ॥ ८ ॥

'तुम्हें यहाँ कोई नहीं जानता है; अतः जाओ, नीचे गिरो।' जब उसने ऐसा कहा, तब नहुषपुत्र ययाति तीन बार ऐसा कहकर नीचे जाने लगे कि मैं सत्पुरुषोंके बीचमें गिरूँ ॥ ८ ॥

पतिष्यंश्चिन्तयामास गतिं गतिमतां वरः।
एतस्मिन्नेव काले तु नैमिषे पार्थिवर्षभान् ॥ ९ ॥
चतुरोऽपश्यत नृपस्तेषां मध्ये पपात ह।

जङ्गम प्राणियोंमें श्रेष्ठ ययाति गिरते समय अपनी गतिके विषयमें चिन्ता कर रहे थे। इसी समय उन्होंने नैमिषारण्यमें चार श्रेष्ठ राजाओंको देखा और उन्हींके बीचमें वे गिरने लगे ॥ ९½ ॥

प्रतर्दनो वसुमनाः शिबिरौशीनरोऽष्टकः ॥ १० ॥
वाजपेयेन यज्ञेन तर्पयन्ति सुरेश्वरम् ।

वहाँ प्रतर्दन, वसुमना, औशीनर शिबि तथा अष्टक—ये चार नरेश वाजपेययज्ञके द्वारा देवेश्वर श्रीहरिको तृप्त करते थे ॥ १०½ ॥

तेषामध्वरजं धूमं स्वर्गद्वारमुपस्थितम् ॥ ११ ॥
ययातिरुपजिघ्रन् वै निपपात महीं प्रति ।

उनके यज्ञका धूम मानो स्वर्गका द्वार बनकर उपस्थित हुआ था। ययाति उसीको सूँघते हुए पृथ्वीकी ओर गिर रहे थे ॥ ११½ ॥

भूमौ स्वर्गे च सम्बद्धां नदीं धूममयीमिव ।
गङ्गां गामिव गच्छन्तीमालम्ब्य जगतीपतिः ॥ १२ ॥
श्रीमत्स्ववभृथाग्र्येषु चतुर्षु प्रतिबन्धुषु ।
मध्ये निपतितो राजा लोकपालोपमेषु सः ॥ १३ ॥

भूतलसे स्वर्गतक धूममयी नदी-सी प्रवाहित हो रही थी, मानो आकाशगङ्गा भूमिपर जा रही हों। भूपाल ययाति उसी धूमलेखाका अवलम्बन करके लोकपालोंके समान तेजस्वी तथा अवभृथ स्नानसे पवित्र अपने चारों सम्बन्धियोंके बीचमें गिरे ॥ १२-१३ ॥

चतुर्षु हुतकल्पेषु राजसिंहमहाग्निषु ।
पपात मध्ये राजर्षिर्ययातिः पुण्यसंक्षये ॥ १४ ॥

वे चारों श्रेष्ठ राजा उन चार विशाल अग्नियोंके समान तेजस्वी थे, जो हविष्यकी आहुति पाकर प्रज्वलित हो रहे हों। राजर्षि ययाति अपना पुण्य क्षीण होनेपर उन्हींके मध्यभागमें गिरे ॥ १४ ॥

तमाहुः पार्थिवाः सर्वे दीप्यमानमिव श्रिया ।
को भवान् कस्य वा बन्धुर्देशस्य नगरस्य वा ॥ १५ ॥
यक्षो वाप्यथवा देवो गन्धर्वो राक्षसोऽपि वा ।
न हि मानुषरूपोऽसि को वार्थः काङ्क्ष्यते त्वया॥ १६॥

अपनी दिव्य कान्तिसे उद्भासित होनेवाले उन महाराजसे सभी भूपालोंने पूछा—'आप कौन हैं? किसके भाई-बन्धु हैं तथा किस देश और नगरमें आपका निवासस्थान है? आप यक्ष हैं या देवता? गन्धर्व हैं या राक्षस? आपका स्वरूप मनुष्यों-जैसा नहीं है। बताइये, आप कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं' ॥ १५-१६ ॥

ययातिरुवाच

ययातिरस्मि राजर्षिः क्षीणपुण्यश्च्युतो दिवः ।
पतेयं सत्स्विति ध्यायन् भवत्सु पतितस्ततः ॥ १७ ॥

ययातिने कहा—मैं राजर्षि ययाति हूँ। अपना पुण्य क्षीण होनेके कारण स्वर्गसे नीचे गिर गया हूँ। गिरते समय मेरे मनमें यह चिन्तन चल रहा था कि मैं सत्पुरुषोंके बीचमें गिरूँ। अतः आपलोगोंके बीचमें आ पड़ा हूँ ॥ १७ ॥

राजान ऊचुः

सत्यमेतद् भवतु ते काङ्क्षितं पुरुषर्षभ ।
सर्वेषां नः क्रतुफलं धर्मश्च प्रतिगृह्यताम् ॥ १८ ॥

वे राजा बोले—पुरुषशिरोमणे! आपका यह मनोरथ सफल हो। आप हम सब लोगोंके यज्ञोंका फल और धर्म ग्रहण करें ॥ १८ ॥

ययातिरुवाच

नाहं प्रतिग्रहधनो ब्राह्मणः क्षत्रियो ह्यहम् ।
न च मे प्रवणा बुद्धिः परपुण्यविनाशने ॥ १९ ॥

ययातिने कहा—प्रतिग्रह ही जिसका धन है, वह ब्राह्मण मैं नहीं हूँ। मैं तो क्षत्रिय हूँ। अतः मेरी बुद्धि पराये पुण्यका (ग्रहण करके उनका पुण्य) क्षय करनेके लिये उद्यत नहीं है ॥ १९ ॥

नारद उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु मृगचर्याक्रमागताम् ।
माधवीं प्रेक्ष्य राजानस्तेऽभिवाद्येदमब्रुवन् ॥ २० ॥
किमागमनकृत्यं ते किं कुर्मः शासनं तव ।
आज्ञाप्या हि वयं सर्वे तव पुत्रास्तपोधने ॥ २१ ॥

नारदजी कहते हैं—इसी समय उन राजाओंने अपनी माता माधवीको देखा, जो मृगोंकी भाँति उन्हींके साथ विचरती हुई क्रमशः वहाँ आ पहुँची थी। उसे प्रणाम करके राजाओंने इस प्रकार पूछा—'तपोधने! यहाँ आपके पधारनेका क्या प्रयोजन है? हम आपकी किस आज्ञाका पालन करें? हम सभी आपके पुत्र हैं; अतः हमें आप योग्य सेवाके लिये आज्ञा प्रदान करें' ॥ २०-२१ ॥

तेषां तद् भाषितं श्रुत्वा माधवी परया मुदा ।
पितरं समुपागच्छद् ययातिं सा ववन्द च ॥ २२ ॥

उनकी ये बातें सुनकर माधवीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह अपने पिता ययातिके पास गयी और उसने उन्हें प्रणाम किया ॥ २२ ॥

स्पृष्ट्वा मूर्धनि तान् पुत्रांस्तापसी वाक्यमब्रवीत् ।
दौहित्रास्तव राजेन्द्र मम पुत्रा न ते पराः ॥ २३ ॥

तदनन्तर तपस्विनी माधवीने उन पुत्रोंके सिरपर हाथ

रखकर अपने पितासे कहा—'राजेन्द्र ! ये सभी आपके दौहित्र (नाती) और मेरे पुत्र हैं, पराये नहीं हैं ॥ २३ ॥

इमे त्वां तारयिष्यन्ति दृष्टमेतत् पुरातने ।
अहं ते दुहिता राजन् माधवी मृगचारिणी ॥ २४ ॥

'ये आपको तार देंगे । दौहित्रोंके द्वारा मातामह (नाना) का यह उद्धार पुरातन वेदशास्त्रमें स्पष्ट देखा गया है। राजन् ! मैं आपकी पुत्री माधवी हूँ और इस तपोवनमें मृगोंके समान जीवनचर्या बनाकर विचरती हूँ ॥ २४ ॥

मयाप्युपचितो धर्मस्ततोऽर्धं प्रतिगृह्यताम् ।
यस्माद् राजन् नराः सर्वे अपत्यफलभागिनः ॥ २५ ॥
तस्मादिच्छन्ति दौहित्रान् यथा त्वं वसुधाधिप।

'पृथ्वीनाथ ! मैंने भी महान् धर्मका संचय किया है। उसका आधा भाग आप ग्रहण करें । राजन् ! सब मनुष्य अपनी संतानोंके किये हुए सत्कर्मोंके फलके भागी होते हैं। इसीलिये वे दौहित्रोंकी इच्छा करते हैं, जैसे आपने की थी' ॥ २५½ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे शिरसा जननीं तदा ॥ २६ ॥
अभिवाद्य नमस्कृत्य मातामहमथाब्रुवन् ।
उच्चैरनुपमैः स्निग्धैः स्वरैरापूर्य मेदिनीम् ॥ २७ ॥
मातामहं नृपतयस्तारयन्तो दिवश्च्युतम् ।

तब उन सभी राजाओंने अपनी माताके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और स्वर्गभ्रष्ट नानाको भी नमस्कार करके अपने उच्च, अनुपम और स्नेहपूर्ण स्वरसे पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए उन्हें तारनेके उद्देश्यसे उनसे कुछ कहनेका विचार किया ॥ २६-२७½ ॥

अथ तस्मादुपगतो गालवोऽप्याह पार्थिवम् ।
तपसो मेऽष्टभागेन स्वर्गमारोहतां भवान् ॥ २८ ॥

इसी बीचमें उस वनसे गालव मुनि भी वहाँ आ पहुँचे तथा राजासे इस प्रकार बोले—'महाराज ! आप मेरी तपस्याका आठवाँ भाग लेकर उसके बलसे स्वर्गलोकमें पहुँच जायँ' ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिस्वर्गभ्रंशे एकविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रके प्रसंगमें ययातिका स्वर्गलोकसे पतन-विषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्संग एवं दौहित्रोंके पुण्यदानसे ययातिका पुनः स्वर्गारोहण

नारद उवाच

प्रत्यभिज्ञातमात्रोऽथ सद्भिस्तैर्नरपुङ्गवः ।
समारुरोह नृपतिरस्पृशन् वसुधातलम् ।
ययातिर्दिव्यसंस्थानो बभूव विगतज्वरः ॥ १ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ।
दिव्यगन्धगुणोपेतो न पृथ्वीमस्पृशत् पदा ॥ २ ॥

नारदजी कहते हैं—उन सत्पुरुषोंके द्वारा पहचाने जानेमात्रसे नरश्रेष्ठ राजा ययाति पृथ्वीतलका स्पर्श न करते हुए ऊपरकी ओर उठने लगे । उस समय उनकी आकृति दिव्य हो गयी थी । वे शोक और चिन्तासे रहित थे । उन्होंने दिव्य हार और दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खे थे । दिव्य आभूषण उनके अङ्गोंकी शोभा बढ़ा रहे थे तथा वे दिव्य सुगन्धसे सुवासित हो रहे थे । वे अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श नहीं कर रहे थे ॥ १-२ ॥

ततो वसुमनाः पूर्वमुच्चैरुच्चारयन् वचः ।
ख्यातो दानपतिर्लोके व्याजहार नृपं तदा ॥ ३ ॥

तदनन्तर लोकमें दानपतिके नामसे विख्यात राजा वसुमना पहले उच्च स्वरसे शब्दोंका उच्चारण करते हुए महाराज ययातिसे इस प्रकार बोले—॥ ३ ॥

प्राप्तवानस्मि यल्लोके सर्ववर्णेष्वगर्हया ।
तदप्यथ च दास्यामि तेन संयुज्यतां भवान् ॥ ४ ॥

'मैंने जगत्में सभी वर्णोंकी निन्दासे दूर रहकर जो पुण्य प्राप्त किया है, वह भी आपको दे रहा हूँ । आप उस पुण्यसे संयुक्त हों ॥ ४ ॥

यत् फलं दानशीलस्य क्षमाशीलस्य यत् फलम् ।
यच्च मे फलमाधाने तेन संयुज्यतां भवान् ॥ ५ ॥

'दानशील पुरुषको जो पुण्यफल प्राप्त होता है, क्षमाशील मनुष्यको जो फल मिलता है तथा अग्निस्थापन आदि वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानसे मुझे जिस फलकी प्राप्ति होनेवाली है, उन सभी प्रकारके पुण्यफलोंसे आप सम्पन्न हों' ॥ ५ ॥

ततः प्रतर्दनोऽप्याह वाक्यं क्षत्रियपुङ्गवः ।
यथा धर्मरतिर्नित्यं नित्यं युद्धपरायणः ॥ ६ ॥
प्राप्तवानस्मि यल्लोके क्षत्रवंशोद्भवं यशः ।
वीरशब्दफलं चैव तेन संयुज्यतां भवान् ॥ ७ ॥

तदनन्तर क्षत्रियशिरोमणि प्रतर्दनने यह बात कही—'मैं जिस प्रकार सदा धर्ममें तत्पर रहा हूँ, सर्वदा न्याययुक्त युद्धमें संलग्न होता आया हूँ तथा संसारमें मैंने जो क्षत्रिय-वंशके अनुरूप यश एवं वीर शब्दके योग्य पुण्यफलका अर्जन किया है, उससे आप संयुक्त हों' ॥ ६-७ ॥

शिबिरौशीनरो धीमानुवाच मधुरां गिरम्।
यथा बालेषु नारीषु वैहार्येषु तथैव च ॥ ८ ॥
संगरेषु निपातेषु तथा तद्व्यसनेषु च।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे तेन सत्येन खं व्रज ॥ ९ ॥
यथा प्राणांश्च राज्यं च राजन् कामसुखानि च।
त्यजेयं न पुनः सत्यं तेन सत्येन खं व्रज ॥ १० ॥
यथा सत्येन मे धर्मो यथा सत्येन पावकः।
प्रीतः शतक्रतुश्चैव तेन सत्येन खं व्रज ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् उशीनरपुत्र बुद्धिमान् शिबिने मधुर वाणीमें कहा—'मैंने बालकोंमें, स्त्रियोंमें, हास-परिहासके योग्य सम्बन्धियोंमें, युद्धमें, आपत्तियोंमें तथा सङ्कटोंमें भी पहले कभी असत्यभाषण नहीं किया है। उस सत्यके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये। राजन्! मैं अपने प्राण, राज्य एवं मनोवाञ्छित सुखभोगको भी त्याग सकता हूँ, परंतु सत्यको नहीं छोड़ सकता। उस सत्यके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये। यदि मेरे सत्यसे धर्मदेव संतुष्ट हैं, यदि मेरे सत्यसे अग्निदेव प्रसन्न हैं तथा यदि मेरे सत्यभाषणसे देवराज इन्द्र भी तृप्त हुए हैं तो उस सत्यके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये' ॥ ८—११ ॥

अष्टकस्त्वथ राजर्षिः कौशिको माधवीसुतः।
अनेकशतयज्वानं नाहुषं प्राप्य धर्मवित् ॥ १२ ॥

इसके बाद माधवीके छोटे पुत्र कुशिकवंशी धर्मज्ञ राजर्षि अष्टकने कई सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले नहुषनन्दन ययातिके पास जाकर कहा—॥ १२ ॥

शतशः पुण्डरीका मे गोसवाश्चरिताः प्रभो।
क्रतवो वाजपेयाश्च तेषां फलमवाप्नुहि ॥ १३ ॥
न मे रत्नानि न धनं न तथान्ये परिच्छदाः।
क्रतुष्वनुपयुक्तानि तेन सत्येन खं व्रज ॥ १४ ॥

'प्रभो! मैंने सैकड़ों पुण्डरीक, गोसव तथा वाजपेय यज्ञोंका अनुष्ठान किया है। आप उन सबका फल प्राप्त करें। मेरे पास कोई भी रत्न, धन अथवा अन्य सामग्री ऐसी नहीं है, जिसका मैंने यज्ञोंमें उपयोग न किया हो। इस सत्य कर्मके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये' ॥ १३-१४ ॥

यथा यथा हि जल्पन्ति दौहित्रास्तं नराधिपम्।
तथा तथा वसुमतीं त्यक्त्वा राजा दिवं ययौ ॥ १५ ॥

ययातिके दौहित्र जैसे-जैसे उनके प्रति उपर्युक्त बातें कहते थे, वैसे-ही-वैसे वे महाराज इस भूतलको छोड़ते हुए स्वर्गलोककी ओर बढ़ते चले गये थे ॥ १५ ॥

एवं सर्वे समस्तैस्ते राजानः सुकृतैस्तदा।
ययातिं स्वर्गतो भ्रष्टं तारयामासुरञ्जसा ॥ १६ ॥

इस प्रकार अपने सम्पूर्ण सत्कर्मोंके द्वारा उन सब राजाओंने स्वर्गसे गिरे हुए राजा ययातिको अनायास ही तार दिया ॥ १६ ॥

दौहित्राः स्वेन धर्मेण यज्ञदानकृतेन वै।
चतुर्षु राजवंशेषु सम्भूताः कुलवर्धनाः।
मातामहं महाप्राज्ञं दिवमारोपयन्त ते ॥ १७ ॥

अपने वंशकी वृद्धि करनेवाले ययातिके वे चारों दौहित्र चार राजवंशोंमें उत्पन्न हुए थे। उन्होंने अपने यज्ञ-दानादिजनित धर्मसे उन महाप्राज्ञ मातामह ययातिको स्वर्गलोकमें पहुँचा दिया ॥ १७ ॥

राजान ऊचुः

राजधर्मगुणोपेताः सर्वधर्मगुणान्विताः।
दौहित्रास्ते वयं राजन् दिवमारोह पार्थिव ॥ १८ ॥

वे राजा बोले—राजन्! पृथ्वीपते! हम राजधर्म तथा राजोचित गुणोंसे युक्त, सम्पूर्ण धर्मों तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न आपके दौहित्र हैं। आप हमारे पुण्य लेकर स्वर्गलोकपर आरूढ़ होइये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिस्वर्गारोहणे द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रके प्रसंगमें ययातिका स्वर्गारोहणविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

स्वर्गलोकमें ययातिका स्वागत, ययातिके पूछनेपर ब्रह्माजीका अभिमानको ही पतनका कारण बताना तथा नारदजीका दुर्योधनको समझाना

नारद उवाच

सद्भिरारोपितः स्वर्गं पार्थिवैर्भूरिदक्षिणैः।
अभ्यनुज्ञाय दौहित्रान् ययातिर्दिवमास्थितः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—प्रचुर दक्षिणा देनेवाले उन श्रेष्ठ राजाओंने राजा ययातिको स्वर्गपर आरूढ़ कर दिया। राजा ययाति अपने उन दौहित्रोंको विदा देकर स्वर्गलोकमें जा पहुँचे ॥ १ ॥

अभिवृष्टश्च वर्षेण नानापुष्पसुगन्धिना।



ययातिका स्वर्गारोहण

परिष्वक्तश्च पुण्येन वायुना पुण्यगन्धिना ॥ २ ॥

वहाँ उनके ऊपर नाना प्रकारके सुगन्धयुक्त पुष्पोंकी वर्षा हुई । पवित्र सौरभसे सुवासित पावन समीर उनका सब ओरसे आलिङ्गन कर रहा था ॥ २ ॥

अचलं स्थानमासाद्य दौहित्रफलनिर्जितम् ।
कर्मभिः स्वैरुपचितो जज्वाल परया श्रिया ॥ ३ ॥

दौहित्रोंके पुण्यफलसे प्राप्त हुए अविचल स्थानको पाकर अपने सत्कर्मोंसे बढ़े हुए राजा ययाति उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित होने लगे ॥ ३ ॥

उपगीतोपनृत्तश्च गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
प्रीत्या प्रतिगृहीतश्च स्वर्गे दुन्दुभिनिःस्वनैः ॥ ४ ॥

गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदायोंने 'उनके सुयशका' गान करते हुए उनके समीप नृत्य करके उन्हें प्रसन्न किया । स्वर्गलोकमें दुन्दुभि आदि वाद्योंकी गम्भीर ध्वनिके साथ अत्यन्त प्रेमपूर्वक उनको अपनाया गया ॥ ४ ॥

अभिष्टुतश्च विविधैर्देवराजर्षिचारणैः ।
अर्चितश्चोत्तमार्घ्येण दैवतैरभिनन्दितः ॥ ५ ॥

नाना प्रकारके देवर्षियों, राजर्षियों तथा चारणोंने उनका स्तवन किया । देवताओंने उत्तम अर्घ्य निवेदन करके उनका पूजन और अभिनन्दन किया ॥ ५ ॥

प्राप्तः स्वर्गफलं चैव तमुवाच पितामहः ।
निर्वृतं शान्तमनसं वचोभिस्तर्पयन्निव ॥ ६ ॥

इस प्रकार ययातिने उत्तम स्वर्गफल पाया तदनन्तर संतुष्ट एवं शान्तचित्त हुए ययातिको अपने मधुर वचनोंद्वारा पूर्णतःतृप्त करते हुएसे पितामह ब्रह्माजी उनसे इस प्रकार बोले–॥ ६ ॥

चतुष्पादस्त्वया धर्मश्चितो लोक्येन कर्मणा ।
अक्षयस्तव लोकोऽयं कीर्तिश्चैवाक्षया दिवि ॥ ७ ॥

'राजन् ! तुमने लोकहितकारी सत्कर्मद्वारा चारों चरणोंसे युक्त धर्मका संग्रह किया; । अतः तुम्हें यह अक्षय स्वर्ग-लोक प्राप्त हुआ और स्वर्गमें तुम्हारी क्षीण न होनेवाली कीर्ति फैल गयी ॥ ७ ॥

पुनस्त्वयैव राजर्षे सुकृतेन विघातितम् ।
आवृतं तमसा चेतः सर्वेषां स्वर्गवासिनाम् ॥ ८ ॥
येन त्वां नाभिजानन्ति ततोऽज्ञातोऽसि पातितः ।
प्रीत्यैव चासि दौहित्रैस्तारितस्त्वमिहागतः ॥ ९ ॥

'राजर्षे ! फिर तुम्हींने 'अभिमानपूर्ण बर्तावसे' अपने पुण्यका नाश किया था । उस समय समस्त स्वर्गवासियोंका चित्त तमोगुणसे व्याप्त हो गया था, जिससे वे तुम्हें नहीं जानते या नहीं पहचानते थे; अतः सबके लिये अज्ञात होनेके कारण तुम स्वर्गसे नीचे गिरा दिये गये । फिर तुम्हारे दौहित्रोंने प्रेमपूर्वक तुम्हें तार दिया है, जिससे तुम पुनः यहाँ आ गये हो ॥ ८-९ ॥

स्थानं च प्रतिपन्नोऽसि कर्मणा स्वेन निर्जितम् ।
अचलं शाश्वतं पुण्यमुत्तमं ध्रुवमव्ययम् ॥ १० ॥

'अब तुमने अपने (दौहित्रोंद्वारा प्राप्त) कर्मसे जीते हुए अविचल, शाश्वत, पुण्यमय, उत्तम, ध्रुव तथा अविनाशी स्थान प्राप्त किया है' ॥ १० ॥

ययातिरुवाच

भगवन् संशयो मेऽस्ति कश्चित् तं छेत्तुमर्हसि ।
न ह्यन्यमहमर्हामि प्रष्टुं लोकपितामह ॥ ११ ॥

ययाति बोले—भगवन् ! मेरे मनमें कोई संदेह है, जिसका निवारण आप ही कर सकते हैं । लोकपितामह ! मैं इस प्रश्नको और किसीके सामने रखना उचित नहीं समझता ॥ ११ ॥

बहुवर्षसहस्रान्तं प्रजापालनवर्धितम् ।
अनेकक्रतुदानौघैरर्जितं मे महत् फलम् ॥ १२ ॥
कथं तदल्पकालेन क्षीणं येनास्मि पातितः ।
भगवन् वेत्थ लोकांश्च शाश्वतान् मम निर्मितान् ।
कथं नु मम तत् सर्वं विप्रणष्टं महाद्युते ॥ १३ ॥

मैंने कई हजार वर्षोंतक अनेकानेक यज्ञों और दानोंके द्वारा जिस महान् पुण्यफलका उपार्जन किया था और जिसे प्रजापालनरूपी धर्मके द्वारा उत्तरोत्तर बढ़ाया था, वह सब थोड़े ही समयमें नष्ट कैसे हो गया ? जिससे मैं यहाँसे नीचे गिरा दिया गया । भगवन् ! महाद्युते ! मुझे मेरे सत्कर्मोंद्वारा जो सनातन लोक प्राप्त हुए थे, उन्हें आप जानते हैं । मेरा वह सारा पुण्य सहसा नष्ट कैसे हो गया ?॥

पितामह उवाच

बहुवर्षसहस्रान्तं प्रजापालनवर्धितम् ।
अनेकक्रतुदानौघैर्यत् त्वयोपार्जितं फलम् ॥ १४ ॥
तदनेनैव दोषेण क्षीणं येनासि पातितः ।
अभिमानेन राजेन्द्र धिक्कृतः स्वर्गवासिभिः ॥ १५ ॥

ब्रह्माजी बोले—राजेन्द्र ! तुमने कई हजार वर्षोंतक अनेकानेक यज्ञों और दानोंके द्वारा जिस पुण्यफलका उपार्जन किया और प्रजापालनरूपी धर्मके द्वारा जिसे उत्तरोत्तर बढ़ाया, वह सब इस अभिमानरूपी दोषके कारण ही नष्ट हो गया था, जिससे तुम नीचे गिराये गये । तुम्हारे अभिमान-के ही कारण स्वर्गलोकके निवासियोंने तुम्हें धिक्कार दिया था ॥ १४-१५ ॥

नायं मानेन राजर्षे न बलेन न हिंसया ।
न शाठ्येन न मायाभिर्लोको भवति शाश्वतः ॥ १६ ॥

राजर्षे ! यह पुण्यलोक न अभिमानसे, न बलसे, न हिंसासे, न शठतासे और न भाँति-भाँतिकी मायाओंसे ही सुस्थिर होता है ॥ १६ ॥

नावमान्यास्त्वया राजन्नधमोत्कृष्टमध्यमाः ।
न हि मानप्रदग्धानां कश्चिदस्ति शमः क्वचित् ।१७।

राजन् ! तुम्हें ऊँचे, नीचे एवं मध्यम वर्गके लोगोंका कभी अपमान नहीं करना चाहिये। जो लोग अभिमानकी आगमें जल रहे हैं, उनके उस संतापको शान्त करनेका कहीं कोई उपाय नहीं है ॥ १७ ॥

पतनारोहणमिदं कथयिष्यन्ति ये नराः ।
विषमाण्यपि ते प्राप्तास्तरिष्यन्ति न संशयः ॥ १८ ॥

जो मनुष्य तुम्हारे स्वर्गसे गिरने और पुनः आरूढ़ होनेके इस वृत्तान्तको आपसमें कहें-सुनेंगे, वे संकटमें पड़नेपर भी उससे पार हो जायँगे; इसमें संशय नहीं है ॥१८॥

नारद उवाच

एष दोषोऽभिमानेन पुरा प्राप्तो ययातिना ।
निर्बन्धातिमात्रं च गालवेन महीपते ॥ १९ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पूर्वकालमें राजा ययाति अपने अभिमानके कारण संकटमें पड़ गये थे और अत्यन्त आग्रह एवं हठके कारण महर्षि गालवको भी महान् क्लेश सहन करना पड़ा था ॥ १९ ॥

श्रोतव्यं हितकामानां सुहृदां हितमिच्छताम् ।
न कर्तव्यो हि निर्बन्धो निर्बन्धो हि क्षयोदयः॥ २० ॥

अतः तुम्हें तुम्हारे हितकी इच्छा रखनेवाले सुहृदोंको बात अवश्य सुननी और माननी चाहिये। दुराग्रह कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह विनाशके पथपर ले जानेवाला है ॥ २० ॥

तस्मात् त्वमपि गान्धारे मानं क्रोधं च वर्जय ।
संधत्स्व पाण्डवैर्वीर संरम्भं त्यज पार्थिव ॥ २१ ॥

अतः गान्धारीनन्दन ! तुम भी अभिमान और क्रोधको त्याग दो । वीर नरेश ! तुम पाण्डवोंसे संधि कर लो और क्रोधके आवेशको सदाके लिये छोड़ दो ॥ २१ ॥

(स भवान् सुहृदां पथ्यं वचो गृह्णातु मानृतम् ।
समर्थैर्विग्रहं कृत्वा विषमस्थो भविष्यसि ॥)

तुम अपने सुहृदोंके हितकर वचन मान लो । असत्य आचरणको न अपनाओ, अन्यथा शक्तिशाली पाण्डवोंके साथ युद्ध ठानकर तुम बड़े भारी संकटमें पड़ जाओगे ॥

ददाति यत् पार्थिव यत् करोति
यद् वा तपस्तप्यति यज्जुहोति ।
न तस्य नाशोऽस्ति न चापकर्षो
नान्यस्तदश्नाति स एव कर्ता ॥ २२ ॥

भूपाल ! मनुष्य जो दान देता है, जो कर्म करता है, जो तपस्यामें प्रवृत्त होता है और जो होम-यज्ञ आदिका अनुष्ठान करता है, उसके इस कर्मका न तो नाश होता है और न उसमें कोई कमी ही होती है । उसके कर्मको दूसरा कोई नहीं भोगता । कर्ता स्वयं ही अपने शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगता है ॥ २२ ॥

इदं महाख्यानमनुत्तमं हितं
बहुश्रुतानां गतरोषरागिणाम् ।
समीक्ष्य लोके बहुधा प्रधारितं
त्रिवर्गदृष्टिः पृथिवीमुपाश्नुते ॥ २३ ॥

यह महत्त्वपूर्ण उपाख्यान उन महापुरुषोंका है, जो अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता तथा रोष और रागसे रहित थे । यह सबके लिये परम उत्तम और हितकर है । लोकमें इसपर नाना प्रकारसे विचार करके निश्चित किये हुए सिद्धान्तको अपनाकर धर्म, अर्थ और कामपर दृष्टि रखनेवाला पुरुष इस पृथ्वीका उपभोग करता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके अनुरोधसे भगवान् श्रीकृष्णका दुर्योधनको समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

भगवन्नेवमेवैतद् यथा वदसि नारद ।
इच्छामि चाहमप्येवं न त्वीशो भगवन्नहम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—भगवन् नारद ! आप जैसा कहते हैं, वह ठीक है । मैं भी यही चाहता हूँ; परंतु मेरा कोई वश नहीं चलता है ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः कृष्णमभ्यभाषत कौरवः ।
स्वर्ग्यं लोक्यं च मामात्थ धर्म्यं न्याय्यं च केशव॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! नारदजीसे ऐसा कहकर धृतराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'केशव ! आपने मुझसे जो बात कही है, वह इहलोक और स्वर्गलोकमें

हितकर, धर्मसम्मत और न्यायसंगत है ॥ २ ॥

न त्वहं स्ववशस्तात क्रियमाणं न मे प्रियम् ।
(न मंस्यन्ते दुरात्मानः पुत्रा मम जनार्दन ।)
अङ्ग दुर्योधनं कृष्ण मन्दं शास्त्रातिगं मम ॥ ३ ॥
अनुनेतुं महाबाहो यतस्व पुरुषोत्तम ।

'तात जनार्दन ! मैं अपने वशमें नहीं हूँ । जो कुछ किया जा रहा है, वह मुझे प्रिय नहीं है । किंतु क्या कहूँ ! मेरे दुरात्मा पुत्र मेरी बात नहीं मानेंगे । प्रिय श्रीकृष्ण ! महाबाहु पुरुषोत्तम ! शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले मेरे इस मूर्ख पुत्र दुर्योधनको आप ही समझा-बुझाकर राहपर लानेका प्रयत्न कीजिये ॥ ३½ ॥

न शृणोति महाबाहो वचनं साधुभाषितम् ॥ ४ ॥
गान्धार्याश्च हृषीकेश विदुरस्य च धीमतः ।
अन्येषां चैव सुहृदां भीष्मादीनां हितैषिणाम् ॥ ५ ॥

'महाबाहु हृषीकेश ! यह सत्पुरुषोंकी कही हुई बातें नहीं सुनता है । गान्धारी, बुद्धिमान् विदुर तथा हित चाहनेवाले भीष्म आदि अन्यान्य सुहृदोंकी भी बातें नहीं सुनता है ॥ ४-५ ॥

स त्वं पापमतिं क्रूरं पापचित्तमचेतनम् ।
अनुशाधि दुरात्मानं स्वयं दुर्योधनं नृपम् ॥ ६ ॥
सुहृत्कार्यं तु सुमहत् कृतं ते स्याज्जनार्दन ।

'जनार्दन ! दुरात्मा राजा दुर्योधनकी बुद्धि पापमें लगी हुई है । यह पापका ही चिन्तन करनेवाला, क्रूर और विवेक-शून्य है । आप ही इसे समझाइये । यदि आप इसे संधिके लिये राजी कर लें तो आपके द्वारा सुहृदोंका यह बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न हो जायगा' ॥ ६½ ॥

ततोऽभ्यावृत्य वार्ष्णेयो दुर्योधनममर्षणम् ॥ ७ ॥
अब्रवीन्मधुरां वाचं सर्वधर्मार्थतत्त्ववित् ।

तब सम्पूर्ण धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले वृष्णि-नन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अमर्षशील दुर्योधनकी ओर घूमकर मधुर वाणीमें उससे बोले—॥ ७½ ॥

दुर्योधन निबोधेदं मद्वाक्यं कुरुसत्तम ॥ ८ ॥
शर्मार्थं ते विशेषेण सानुबन्धस्य भारत ।

'कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन ! तुम मेरी यह बात सुनो । भारत ! मैं विशेषतः सगे-सम्बन्धियोंसहित तुम्हारे कल्याणके लिये ही तुम्हें कुछ परामर्श दे रहा हूँ ॥ ८½ ॥

महाप्राज्ञकुले जातः साध्वेतत् कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नः सर्वैः समुदितो गुणैः ।

'तुम परम ज्ञानी महापुरुषोंके कुलमें उत्पन्न हुए हो । स्वयं भी शास्त्रोंके ज्ञान तथा सद्व्यवहारसे सम्पन्न हो । तुममें सभी उत्तम गुण विद्यमान हैं; अतः तुम्हें मेरी यह अच्छी सलाह अवश्य माननी चाहिये ॥ ९½ ॥

दौष्कुलेया दुरात्मानो नृशंसा निरपत्रपाः ॥ १० ॥
त एतदीदृशं कुर्युर्यथा त्वं तात मन्यसे ।

'तात ! जिसे तुम ठीक समझते हो, ऐसा अधम कार्य तो वे लोग करते हैं, जो नीच कुलमें उत्पन्न हुए हैं तथा जो दुष्टचित्त, क्रूर एवं निर्लज्ज हैं ॥ १०½ ॥

धर्मार्थयुक्ता लोकेऽस्मिन् प्रवृत्तिर्लक्ष्यते सताम् ॥ ११ ॥
असतां विपरीता तु लक्ष्यते भरतर्षभ ।

'भरतश्रेष्ठ ! इस जगत्‌में सत्पुरुषोंका व्यवहार धर्म और अर्थसे युक्त देखा जाता है और दुष्टोंका बर्ताव ठीक इसके विपरीत दृष्टिगोचर होता है ॥ ११½ ॥

विपरीता त्वियं वृत्तिरसकृल्लक्ष्यते त्वयि ॥ १२ ॥
अधर्मश्चानुबन्धोऽत्र घोरः प्राणहरो महान् ।
अनिष्टश्चानिमित्तश्च न च शक्यश्च भारत ॥ १३ ॥

'तुम्हारे भीतर यह विपरीत वृत्ति बारंबार देखनेमें आती है । भारत ! इस समय तुम्हारा जो दुराग्रह है, वह अधर्ममय ही है । उसके होनेका कोई समुचित कारण भी नहीं है । यह भयंकर हठ अनिष्टकारक तथा महान् प्राणनाशक है । तुम इसे सफल बना सको, यह सम्भव नहीं है ॥ १२-१३ ॥

तमनर्थं परिहरन्नात्मश्रेयः करिष्यसि ।
भ्रातॄणामथ भृत्यानां मित्राणां च परंतप ॥ १४ ॥

'परंतप ! यदि तुम उस अनर्थकारी दुराग्रहको छोड़ दो तो अपने कल्याणके साथ ही भाइयों, सेवकों तथा मित्रों-का भी महान् हित-साधन करोगे ॥ १४ ॥

अधर्म्यादयशस्याच्च कर्मणस्त्वं प्रमोक्ष्यसे ।
प्राज्ञैः शूरैर्महोत्साहैरात्मवद्भिर्बहुश्रुतैः ॥ १५ ॥
संधत्स्व पुरुषव्याघ्र पाण्डवैर्भरतर्षभ ।

'ऐसा करनेपर तुम्हें अधर्म और अपयशकी प्राप्ति कराने-वाले कर्मसे छुटकारा मिल जायगा । अतः भरतकुलभूषण पुरुषसिंह ! तुम ज्ञानी, परम उत्साही, शूरवीर, मनस्वी एवं अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥१५½॥

तद्धितं च प्रियं चैव धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १६ ॥
पितामहस्य द्रोणस्य विदुरस्य महामतेः ।
कृपस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः ॥ १७ ॥
अश्वत्थाम्नो विकर्णस्य संजयस्य विविंशतेः ।
ज्ञातीनां चैव भूयिष्ठं मित्राणां च परंतप ॥ १८ ॥

'यही परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रको भी प्रिय एवं हितकर जान पड़ता है । परंतप ! पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, महामति विदुर, कृपाचार्य, सोमदत्त, बुद्धिमान् बाह्लीक,

अश्वत्थामा, विकर्ण, संजय, विविंशति तथा अन्यान्य कुटुम्बीजनों एवं मित्रोंको भी यही अधिक प्रिय है ॥ १६-१८ ॥

शमे शर्म भवेत् तात सर्वस्य जगतस्तथा ।
ह्रीमानसि कुले जातः श्रुतवाननृशंसवान् ।
तिष्ठ तात पितुः शास्त्रे मातुश्च भरतर्षभ ॥ १९ ॥

'तात ! संधि होनेपर ही सम्पूर्ण जगत्‌का भला हो सकता है । तुम श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न, लज्जाशील, शास्त्रज्ञ और क्रूरतासे रहित हो । अतः भरतश्रेष्ठ ! तुम पिता और माताके शासनके अधीन रहो ॥ १९ ॥

एतच्छ्रेयो हि मन्यन्ते पिता यच्छास्ति भारत ।
उत्तमापद्गतः सर्वः पितुः स्मरति शासनम् ॥ २० ॥

'भारत ! पिता जो कुछ शिक्षा देते हैं, उसीको श्रेष्ठ पुरुष अपने लिये कल्याणकारी मानते हैं । भारी आपत्तिमें पड़नेपर सब लोग अपने पिताके उपदेशका ही स्मरण करते हैं ॥ २० ॥

रोचते ते पितुस्तात पाण्डवैः सह संगमः ।
सामात्यस्य कुरुश्रेष्ठ तत् तुभ्यं तात रोचताम् ॥ २१ ॥

'तात ! मन्त्रियोंसहित तुम्हारे पिताको पाण्डवोंके साथ संधि कर लेना ही अच्छा जान पड़ता है । कुरुश्रेष्ठ ! यही तुम्हें भी पसंद आना चाहिये ॥ २१ ॥

श्रुत्वा यः सुहृदां शास्त्रं मर्त्यो न प्रतिपद्यते ।
विपाकान्ते दहत्येनं किम्पाकमिव भक्षितम् ॥ २२ ॥

'जो मनुष्य सुहृदोंके मुखसे शास्त्रसम्मत उपदेश सुनकर भी उसे स्वीकार नहीं करता है, उसका यह अस्वीकार उसे परिणाममें उसी प्रकार शोकदग्ध करता है, जैसे खाया हुआ इन्द्रायण फल पाचनके अन्तमें दाह उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ २२ ॥

यस्तु निःश्रेयसं वाक्यं मोहान्न प्रतिपद्यते ।
स दीर्घसूत्रो हीनार्थः पश्चात्तापेन युज्यते ॥ २३ ॥

'जो मोहवश अपने हितकी बात नहीं मानता है, वह दीर्घसूत्री मनुष्य अपने स्वार्थसे भ्रष्ट होकर केवल पश्चात्तापका भागी होता है ॥ २३ ॥

यस्तु निःश्रेयसं श्रुत्वा प्राक् तदेवाभिपद्यते ।
आत्मनो मतमुत्सृज्य स लोके सुखमेधते ॥ २४ ॥

'जो मानव अपने कल्याणकी बात सुनकर अपने मतका आग्रह छोड़कर पहले उसीको ग्रहण करता है, वह संसारमें सुखपूर्वक उन्नतिशील होता है ॥ २४ ॥

योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते ।
शृणोति प्रतिकूलानि द्विषतां वशमेति सः ॥ २५ ॥

'जो अपनी ही भलाई चाहनेवाले अपने सुहृद्‌के वचनोंको मनके प्रतिकूल होनेके कारण नहीं सहन करता है और उन असुहृदोंके प्रतिकूल कहे हुए वचनोंको ही सुनता है, वह शत्रुओंके अधीन हो जाता है ॥ २५ ॥

सतां मतमतिक्रम्य योऽसतां वर्तते मते ।
शोचन्ते व्यसने तस्य सुहृदो नचिरादिव ॥ २६ ॥

'जो मनुष्य सत्पुरुषोंकी सम्मतिका उल्लङ्घन करके दुष्टोंके मतके अनुसार चलता है, उसके सुहृद् उसे शीघ्र ही विपत्तिमें पड़ा देख शोकके भागी होते हैं ॥ २६ ॥

मुख्यानमात्यानुत्सृज्य योनिहीनान् निषेवते ।
स घोरामापदं प्राप्य नोत्तारमधिगच्छति ॥ २७ ॥

'जो अपने मुख्य मन्त्रियोंको छोड़कर नीच प्रकृतिके लोगोंका सेवन करता है, वह भयंकर विपत्तिमें फँसकर अपने उद्धारका कोई मार्ग नहीं देख पाता है ॥ २७ ॥

योऽसत्सेवी वृथाचारो न श्रोता सुहृदां सताम् ।
परान् वृणीते स्वान् द्वेष्टि तं गौस्त्यजति भारत ॥ २८ ॥

'भारत ! जो दुष्ट पुरुषोंका संग करनेवाला और मिथ्याचारी होकर अपने श्रेष्ठ सुहृदोंकी बात नहीं सुनता है, दूसरोंको अपनाता और आत्मीयजनोंसे द्वेष रखता है, उसे यह पृथ्वी त्याग देती है ॥ २८ ॥

स त्वं विरुध्य तैर्वीरैरन्येभ्यस्त्राणमिच्छसि ।
अशिष्टेभ्योऽसमर्थेभ्यो मूढेभ्यो भरतर्षभ ॥ २९ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम उन वीर पाण्डवोंसे विरोध करके दूसरे अशिष्ट, असमर्थ और मूढ़ मनुष्योंसे अपनी रक्षा चाहते हो ॥ २९ ॥

को हि शक्रसमान् ज्ञातीनतिक्रम्य महारथान् ।
अन्येभ्यस्त्राणमाशंसेत् त्वदन्यो भुवि मानवः ॥ ३० ॥

'इस भूतलपर तुम्हारे सिवा दूसरा कौन मनुष्य है, जो इन्द्रके समान पराक्रमी एवं महारथी बन्धु-बान्धवोंको त्यागकर दूसरोंसे अपनी रक्षाकी आशा करेगा ? ॥ ३० ॥

जन्मप्रभृति कौन्तेया नित्यं विनिकृतास्त्वया ।
न च ते जातु कुप्यन्ति धर्मात्मानो हि पाण्डवाः ॥ ३१ ॥

'तुमने जन्मसे ही कुन्तीपुत्रोंके साथ सदा शठतापूर्ण बर्ताव किया है, परंतु वे इसके लिये कभी कुपित नहीं हुए हैं; क्योंकि पाण्डव धर्मात्मा हैं ॥ ३१ ॥

मिथ्योपचरितास्तात जन्मप्रभृति बान्धवाः ।
त्वयि सम्यङ्महाबाहो प्रतिपन्ना यशस्विनः ॥ ३२ ॥

'तात महाबाहो ! यद्यपि तुमने अपने ही भाई पाण्डवोंके साथ जन्मसे ही छल-कपटका बर्ताव किया है, तथापि वे यशस्वी पाण्डव तुम्हारे प्रति सदा सद्भाव ही रखते आये हैं ॥ ३२ ॥

त्वयापि प्रतिपत्तव्यं तथैव भरतर्षभ ।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु मा मन्युवशमन्वगाः ॥ ३३ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हें भी अपने उन श्रेष्ठ बन्धुओंके प्रति वैसा ही बर्ताव करना चाहिये। तुम क्रोधके वशीभूत न होओ ॥ ३३ ॥

त्रिवर्गयुक्तः प्राज्ञानामारम्भो भरतर्षभ ।
धर्मार्थावनुरुध्यन्ते त्रिवर्गासम्भवे नराः ॥ ३४ ॥

'भरतभूषण ! विद्वान् एवं बुद्धिमान् पुरुषोंका प्रत्येक कार्य धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंकी सिद्धिके अनुकूल ही होता है। यदि तीनोंकी सिद्धि असम्भव हो तो बुद्धिमान् मानव धर्म और अर्थका ही अनुसरण करते हैं ॥ ३४ ॥

पृथक् च विनिविष्टानां धर्मं धीरोऽनुरुध्यते ।
मध्यमोऽर्थं कलिं बालः काममेवानुरुध्यते ॥ ३५ ॥

'पृथक्-पृथक् स्थित हुए धर्म, अर्थ और काममेंसे किसी एकको चुनना हो तो धीर पुरुष धर्मका ही अनुसरण करता है, मध्यम श्रेणीका मनुष्य कलहके कारणभूत अर्थको ही ग्रहण करता है और अधम श्रेणीका अज्ञानी पुरुष कामको ही पाना चाहता है ॥ ३५ ॥

इन्द्रियैः प्राकृतो लोभाद् धर्मं विप्रजहाति यः ।
कामार्थावनुपायेन लिप्समानो विनश्यति ॥ ३६ ॥

'जो अधम मनुष्य इन्द्रियोंके वशीभूत होकर लोभवश धर्मको छोड़ देता है, वह अयोग्य उपायोंसे अर्थ और कामकी लिप्सामें पड़कर नष्ट हो जाता है ॥ ३६ ॥

कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः कामो वापि कदाचन ॥ ३७ ॥

'जो अर्थ और काम प्राप्त करना चाहता हो, उसे पहले धर्मका ही आचरण करना चाहिये; क्योंकि अर्थ या काम कभी धर्मसे पृथक् नहीं होता है ॥ ३७ ॥

उपायं धर्ममेवाहुस्त्रिवर्गस्य विशाम्पते ।
लिप्समानो हि तेनाशु कक्षेऽग्निरिव वर्धते ॥ ३८ ॥

'प्रजानाथ ! विद्वान् पुरुष धर्मको ही त्रिवर्गकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय बताते हैं। अतः जो धर्मके द्वारा अर्थ और कामको पाना चाहता है, वह शीघ्र ही उसी प्रकार उन्नतिकी दिशामें आगे बढ़ जाता है, जैसे सूखे तिनकोंमें लगी हुई आग बढ़ जाती है ॥ ३८ ॥

स त्वं तातानुपायेन लिप्ससे भरतर्षभ ।
आधिराज्यं महद् दीप्तं प्रथितं सर्वराजसु ॥ ३९ ॥

'तात भरतश्रेष्ठ ! तुम समस्त राजाओंमें विख्यात इस विशाल एवं उज्ज्वल साम्राज्यको अनुचित उपायसे पाना चाहते हो ॥ ३९ ॥

आत्मानं तक्षति ह्येष वनं परशुना यथा ।
यः सम्यग्वर्तमानेषु मिथ्या राजन् प्रवर्तते ॥ ४० ॥

'राजन् ! जो उत्तम व्यवहार करनेवाले सत्पुरुषोंके साथ असद्व्यवहार करता है, वह कुल्हाड़ीसे जंगलकी भाँति उस दुर्व्यवहारसे अपने-आपको ही काटता है ॥ ४० ॥

न तस्य हि मतिं छिन्द्याद् यस्य नेच्छेत् पराभवम् ।
अविच्छिन्नमतेरस्य कल्याणे धीयते मतिः ।
आत्मवान् नावमन्येत त्रिषु लोकेषु भारत ॥ ४१ ॥
अप्यन्यं प्राकृतं किंचित् किमु तान् पाण्डवर्षभान् ।
अमर्षवशमापन्नो न किंचिद् बुध्यते जनः ॥ ४२ ॥

'मनुष्य जिसका पराभव न करना चाहे, उसकी बुद्धिका उच्छेद न करे। जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं हुई है, उसी पुरुषका मन कल्याणकारी कार्योंमें प्रवृत्त होता है। भरतनन्दन ! मनस्वी पुरुषको चाहिये कि वह तीनों लोकोंमें किसी प्राकृत (निम्न श्रेणीके) पुरुषका भी अपमान न करे, फिर इन श्रेष्ठ पाण्डवोंके अपमानकी तो बात ही क्या है ? ईर्ष्याके वशमें रहनेवाला मनुष्य किसी बातको ठीकसे समझ नहीं पाता ॥ ४१-४२ ॥

छिद्यते ह्याततं सर्वं प्रमाणं पश्य भारत ।
श्रेयस्ते दुर्जनात् तात पाण्डवैः सह संगतम् ॥ ४३ ॥

'भरतनन्दन ! देखो, ईर्ष्यालु मनुष्यके समक्ष प्रस्तुत किये हुए सम्पूर्ण विस्तृत प्रमाण भी उच्छिन्न-से हो जाते हैं। तात ! किसी दुष्ट मनुष्यका साथ करनेकी अपेक्षा पाण्डवोंके साथ मेल-मिलाप रखना तुम्हारे लिये विशेष कल्याणकारी है ॥ ४३ ॥

तैर्हि सम्प्रीयमाणस्त्वं सर्वान् कामानवाप्स्यसि ।
पाण्डवैर्निर्मितां भूमिं भुञ्जानो राजसत्तम ॥ ४४ ॥
पाण्डवान् पृष्ठतः कृत्वा त्राणमाशंससेऽन्यतः ।

'पाण्डवोंसे प्रेम रखनेपर तुम सम्पूर्ण मनोरथोंको प्राप्त कर लोगे। नृपश्रेष्ठ ! तुम पाण्डवोंद्वारा स्थापित राज्यका उपभोग कर रहे हो, तो भी उन्हींको पीछे करके अर्थात् उनकी अवहेलना करके दूसरोंसे अपनी रक्षाकी आशा रखते हो ॥ ४४½ ॥

दुःशासने दुर्विषहे कर्णे चापि ससौबले ॥ ४५ ॥
एतेष्वैश्वर्यमाधाय भूतिमिच्छसि भारत ।

'भारत ! तुम दुःशासन, दुर्विषह, कर्ण और शकुनि—इन सबपर अपने ऐश्वर्यका भार रखकर उन्नतिकी इच्छा रखते हो ? ॥ ४५½ ॥

न चैते तव पर्याप्ता ज्ञाने धर्मार्थयोस्तथा ॥ ४६ ॥
विक्रमे चाप्यपर्याप्ताः पाण्डवान् प्रति भारत ।

'भरतनन्दन ! ये तुम्हें ज्ञान, धर्म और अर्थकी प्राप्ति

करानेमें समर्थ नहीं हैं और पाण्डवोंके सामने पराक्रम प्रकट करनेमें भी ये असमर्थ ही हैं ॥ ४६½ ॥

न हीमे सर्वराजानः पर्याप्ताः सहितास्त्वया ॥ ४७ ॥
क्रुद्धस्य भीमसेनस्य प्रेक्षितुं मुखमाहवे ।

'तुम्हारे सहित ये सब राजालोग भी युद्धमें कुपित हुए भीमसेनके मुखकी ओर आँख उठाकर देख ही नहीं सकते हैं ॥ ४७½ ॥

इदं संनिहितं तात समग्रं पार्थिवं बलम् ॥ ४८ ॥
अयं भीष्मस्तथा द्रोणः कर्णश्चायं तथा कृपः ।
भूरिश्रवाः सौमदत्तिरश्वत्थामा जयद्रथः ॥ ४९ ॥
अशक्ताः सर्व एवैते प्रतियोद्धुं धनंजयम् ।

'तात ! तुम्हारे निकट जो यह समस्त राजाओंकी सेना एकत्र हुई है, यह तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा, अश्वत्थामा और जयद्रथ—ये सभी मिलकर भी अर्जुनका सामना करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥४८-४९½॥

अजेयो ह्यर्जुनः संख्ये सर्वैरपि सुरासुरैः ।
मानुषैरपि गन्धर्वैर्मा युद्धे चेत आधिथाः ॥ ५० ॥

'सम्पूर्ण देवता और असुर भी युद्धमें अर्जुनको जीत नहीं सकते । वे समस्त मनुष्यों और गन्धर्वोंके द्वारा भी अजेय हैं, अतः तुम युद्धका विचार मत करो ॥ ५० ॥

दृश्यतां वा पुमान् कश्चित् समग्रे पार्थिवे बले ।
योऽर्जुनं समरे प्राप्य स्वस्तिमानाव्रजेद् गृहान् ॥ ५१ ॥

'राजाओंकी इन सम्पूर्ण सेनाओंमें किसी ऐसे पुरुषपर दृष्टिपात तो करो, जो युद्धमें अर्जुनका सामना करके कुशलपूर्वक अपने घर लौट सके ? ॥ ५१ ॥

किं ते जनक्षयेणेह कृतेन भरतर्षभ ।
यस्मिञ्जिते जितं तत् स्यात् पुमानेकः स दृश्यताम् ।५२।

'भरतश्रेष्ठ ! यह नरसंहार करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? तुम अपने पक्षमें किसी ऐसे पुरुषको ढूँढ़ निकालो, जो उस अर्जुनपर विजय पा सके, जिसके जीते जानेपर तुम्हारे पक्षकी विजय मान ली जाय ॥ ५२ ॥

यः स देवान् सगन्धर्वान् सयक्षासुरपन्नगान् ।
अजयत् खाण्डवप्रस्थे कस्तं युध्येत मानवः ॥ ५३ ॥

'जिन्होंने खाण्डववनमें गन्धर्वों, यक्षों, असुरों और नागोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको जीत लिया था, उन अर्जुनके साथ कौन मनुष्य युद्ध कर सकेगा ? ॥ ५३ ॥

तथा विराटनगरे श्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ५४ ॥

'इसके सिवा विराटनगरमें जो बहुत-से महारथी योद्धाओंके साथ एक अर्जुनके युद्धकी अत्यन्त अद्भुत घटना सुनी जाती है, वह एक ही युद्धके भावी परिणामको बतानेके लिये पर्याप्त है ॥ ५४ ॥

युद्धे येन महादेवः साक्षात् संतोषितः शिवः ।
तमजेयमनाधृष्यं विजेतुं जिष्णुमच्युतम् ।
आशंससीह समरे वीरमर्जुनमूर्जितम् ॥ ५५ ॥

'जिन्होंने युद्धमें साक्षात् महादेव शिवको अपने पराक्रमसे संतुष्ट किया है, अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले उन अजेय, दुर्धर्ष एवं विजयशील बलशाली वीर अर्जुनको तुम युद्धमें जीतनेकी आशा रखते हो, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ! ॥ ५५ ॥

मद् द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमर्हति ।
युद्धे प्रतीपमायान्तमपि साक्षात् पुरंदरः ॥ ५६ ॥

'फिर मैं जिसका सारथि बनकर साथ रहूँ और वह अर्जुन प्रतिपक्षी होकर युद्धके लिये आये, उस समय साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हों, कौन अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहेगा ? ॥ ५६ ॥

बाहुभ्यामुद्वहेद् भूमिं दहेत् क्रुद्ध इमाः प्रजाः ।
पातयेत् त्रिदिवाद् देवान् योऽर्जुनं समरे जयेत् ॥ ५७ ॥

'जो समरभूमिमें अर्जुनको जीत सकता है, वह मानो अपनी दोनों भुजाओंपर पृथ्वीको उठा सकता है, कुपित होनेपर इस समस्त प्रजाको दग्ध कर सकता है और देवताओंको स्वर्गसे नीचे गिरा सकता है ॥ ५७ ॥

पश्य पुत्रांस्तथा भ्रातॄञ्ज्ञातीन् सम्बन्धिनस्तथा ।
त्वत्कृते न विनश्येयुरिमे भरतसत्तमाः ॥ ५८ ॥

'दुर्योधन ! अपने इन पुत्रों, भाइयों, कुटुम्बीजनों और सगे-सम्बन्धियोंकी ओर तो देखो । ये श्रेष्ठ भरतवंशी तुम्हारे कारण नष्ट न हो जायँ ॥ ५८ ॥

अस्तु शेषं कौरवाणां मा पराभूदिदं कुलम् ।
कुलघ्न इति नोच्येथा नष्टकीर्तिर्नराधिप ॥ ५९ ॥

'नरेश्वर ! कौरववंश बचा रहे, इस कुलका पराभव न हो और तुम भी अपनी कीर्तिका नाश करके कुलघाती न कहलाओ ॥ ५९ ॥

त्वामेव स्थापयिष्यन्ति यौवराज्ये महारथाः ।
महाराज्येऽपि पितरं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ ६० ॥

'महारथी पाण्डव तुम्हींको युवराजके पदपर स्थापित करेंगे और तुम्हारे पिता राजा धृतराष्ट्रको महाराजके पदपर बनाये रक्खेंगे ॥ ६० ॥

मा तात श्रियमायान्तीमवमंस्थाः समुद्यताम् ।
अर्धं प्रदाय पार्थेभ्यो महतीं श्रियमाप्नुहि ॥ ६१ ॥

'तात ! अपने घरमें आनेको उद्यत हुई राजलक्ष्मीका अपमान न करो। कुन्तीके पुत्रोंको आधा राज्य देकर स्वयं विशाल सम्पत्तिका उपभोग करो ॥ ६१ ॥

पाण्डवैः संशमं कृत्वा कृत्वा च सुहृदां वचः।
सम्प्रीयमाणो मित्रैश्च चिरं भद्राण्यवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

'पाण्डवोंके साथ संधि करके और अपने हितैषी सुहृदोंकी बात मानकर मित्रोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक रहते हुए तुम दीर्घकालतक कल्याणके भागी बने रहोगे' ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भगवद्वाक्ये चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भगवद्वाक्यसम्बन्धी एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६२½ श्लोक हैं)

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म, द्रोण, विदुर और धृतराष्ट्रका दुर्योधनको समझाना

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो दुर्योधनममर्षणम्।
केशवस्य वचः श्रुत्वा प्रोवाच भरतर्षभ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णका पूर्वोक्त वचन सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने ईर्ष्या और क्रोधमें भरे रहनेवाले दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

कृष्णेन वाक्यमुक्तोऽसि सुहृदां शममिच्छता।
अन्वपद्यस्व तत् तात मा मन्युवशमन्वगाः ॥ २ ॥

'तात ! भगवान् श्रीकृष्णने सुहृदोंमें परस्पर शान्ति बनाये रखनेकी इच्छासे जो बात कही है, उसे स्वीकार करो। क्रोधके वशीभूत न होओ ॥ २ ॥

अकृत्वा वचनं तात केशवस्य महात्मनः।
श्रेयो न जातु न सुखं न कल्याणमवाप्स्यसि ॥ ३ ॥

'तात ! महात्मा केशवकी बात न माननेसे तुम कभी श्रेय, सुख और कल्याण नहीं पा सकोगे ॥ ३ ॥

धर्म्यमर्थ्यं महाबाहुराह त्वां तात केशवः।
तदर्थमभिपद्यस्व मा राजन् नीनशः प्रजाः ॥ ४ ॥

'वत्स ! महाबाहु केशवने तुमसे धर्म और अर्थके अनुकूल ही बात कही है। राजन् ! तुम उसे स्वीकार कर लो; प्रजाका विनाश न करो ॥ ४ ॥

ज्वलितां त्वमिमां लक्ष्मीं भारतीं सर्वराजसु।
जीवतो धृतराष्ट्रस्य दौरात्म्याद् भ्रंशयिष्यसि ॥ ५ ॥

'बेटा ! यह भरतवंशकी राजलक्ष्मी समस्त राजाओंमें प्रकाशित हो रही है; किंतु मैं देखता हूँ कि तुम अपनी दुष्टताके कारण इसे धृतराष्ट्रके जीते-जी ही नष्ट कर दोगे ॥५॥

आत्मानं च सहामात्यं सपुत्रभ्रातृबान्धवम्।
अहमित्यनया बुद्ध्या जीविताद् भ्रंशयिष्यसि ॥ ६ ॥

'साथ ही अपनी इस अहंकारयुक्त बुद्धिके कारण तुम पुत्र, भाई, बान्धवजन तथा मन्त्रियोंसहित अपने आपको भी जीवनसे वञ्चित कर दोगे ॥ ६ ॥

अतिक्रामन् केशवस्य तथ्यं वचनमर्थवत्।
पितुश्च भरतश्रेष्ठ विदुरस्य च धीमतः ॥ ७ ॥
मा कुलघ्नः कुपुरुषो दुर्मतिः कापथं गमः।
मातरं पितरं चैव मा मज्जीः शोकसागरे ॥ ८ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! केशवका वचन सत्य और सार्थक है। तुम उनके, अपने पिताके तथा बुद्धिमान् विदुरके वचनोंकी अवहेलना करके कुमार्गपर न चलो। कुलघाती, कुपुरुष और कुबुद्धिसे कलङ्कित न बनो तथा माता-पिताको शोकके समुद्रमें न डुबाओ' ॥ ७-८ ॥

अथ द्रोणोऽब्रवीत् तत्र दुर्योधनमिदं वचः।
अमर्षवशमापन्नं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ॥ ९ ॥

तदनन्तर रोषके वशीभूत होकर बारंबार लम्बी साँस खींचनेवाले दुर्योधनसे द्रोणाचार्यने इस प्रकार कहा— ॥ ९॥

धर्मार्थयुक्तं वचनमाह त्वां तात केशवः।
तथा भीष्मः शान्तनवस्तज्जुषस्व नराधिप ॥ १० ॥

'तात ! भगवान् श्रीकृष्ण और शान्तनुनन्दन भीष्मने धर्म और अर्थसे युक्त बात कही है। नरेश्वर ! तुम उसे स्वीकार करो ॥ १० ॥

प्राज्ञौ मेधाविनौ दान्तावर्थकामौ बहुश्रुतौ।
आहतुस्त्वां हितं वाक्यं तज्जुषस्व नराधिप ॥ ११ ॥

'राजन् ! ये दोनों महापुरुष विद्वान्, मेधावी, जितेन्द्रिय, तुम्हारा भला चाहनेवाले और अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता हैं। इन्होंने तुमसे हितकी ही बात कही है, अतः तुम इसका सेवन करो ॥ ११ ॥

अनुतिष्ठ महाप्राज्ञ कृष्णभीष्मौ यदूचतुः।
(मा वचो लघुबुद्धीनां समास्थास्त्वं परंतप।)
माधवं बुद्धिमोहेन मावमंस्थाः परंतप ॥ १२ ॥

'महामते ! श्रीकृष्ण और भीष्मने जो कुछ कहा है, उसका पालन करो। परंतप ! तुम तुच्छ बुद्धिवाले लोगोंकी बातपर आस्था मत रक्खो। शत्रुदमन ! अपनी बुद्धिके मोहसे माधवका तिरस्कार न करो ॥ १२ ॥

ये त्वां प्रोत्साहयन्त्येते नैते कृत्याय कर्हिचित्।
वैरं परेषां ग्रीवायां प्रतिमोक्ष्यन्ति संयुगे ॥ १३ ॥

'जो लोग तुम्हें युद्धके लिये उत्साहित कर रहे हैं, ये कभी तुम्हारे काम नहीं आ सकते। ये युद्धका अवसर आनेपर वैरका बोझ दूसरोंके कंधेपर डाल देंगे ॥ १३ ॥

मा जीघनः प्रजाः सर्वाः पुत्रान् भ्रातॄंस्तथैव च।
वासुदेवार्जुनौ यत्र विद्ध्यजेयानलं हि तान् ॥ १४ ॥

'समस्त प्रजाओं, पुत्रों और भाइयोंकी हत्या न कराओ। जिनकी ओर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं, उन्हें युद्धमें अजेय समझो ॥ १४ ॥

एतच्चैव मतं सत्यं सुहृदोः कृष्णभीष्मयोः।
यदि नादास्यसे तात पश्चात् तप्स्यसि भारत ॥ १५ ॥

'तात! भरतनन्दन! तुम्हारा वास्तविक हित चाहनेवाले श्रीकृष्ण और भीष्मका यही यथार्थ मत है। यदि तुम इसे ग्रहण नहीं करोगे तो पीछे पछताओगे ॥ १५ ॥

यथोक्तं जामदग्न्येन भूयानेष ततोऽर्जुनः।
कृष्णो हि देवकीपुत्रो देवैरपि सुदुःसहः।
किं ते सुखप्रियेणेह प्रोक्तेन भरतर्षभ ॥ १६ ॥
एतत् ते सर्वमाख्यातं यथेच्छसि तथा कुरु।
न हि त्वामुत्सहे वक्तुं भूयो भरतसत्तम ॥ १७ ॥

'जमदग्निनन्दन परशुरामजीने जैसा बताया है, ये अर्जुन उससे भी महान् हैं और देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण तो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुःसह हैं। भरतश्रेष्ठ! तुम्हें सुखद और प्रिय लगनेवाली अधिक बातें कहनेसे क्या लाभ? ये सब बातें जो हमें कहनी थीं, हमने कह दीं। अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो। भरतवंशविभूषण! अब तुमसे और कुछ कहनेके लिये मेरे मनमें उत्साह नहीं है' ॥ १६-१७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् वाक्यान्तरे वाक्यं क्षत्तापि विदुरोऽब्रवीत्।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य धार्तराष्ट्रममर्षणम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब द्रोणाचार्य अपनी बात कह रहे थे, उसी समय विदुरजी भी अमर्षमें भरे हुए धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनकी ओर देखकर बीचमें ही कहने लगे—॥ १८ ॥

दुर्योधन न शोचामि त्वामहं भरतर्षभ।
इमौ तु वृद्धौ शोचामि गान्धारीं पितरं च ते ॥ १९ ॥

'भरतभूषण दुर्योधन! मैं तुम्हारे लिये शोक नहीं करता। मुझे तो तुम्हारे इन बूढ़े माता-पिता गान्धारी और धृतराष्ट्रके लिये भारी शोक हो रहा है ॥ १९ ॥

यावनाथौ चरिष्येते त्वया नाथेन दुर्हृदा।
हतमित्रौ हतामात्यौ लूनपक्षाविवाण्डजौ ॥ २० ॥

'क्योंकि ये दोनों तुम-जैसे दुष्ट सहायकके कारण मित्रों और मन्त्रियोंके मारे जानेपर पंख कटे हुए पक्षियोंकी भाँति अनाथ (असहाय) होकर विचरेंगे ॥ २० ॥

भिक्षुकौ विचरिष्येते शोचन्तौ पृथिवीमिमाम्।
कुलघ्नमीदृशं पापं जनयित्वा कुपूरुषम् ॥ २१ ॥

'तुम्हारे-जैसे पापी और कुलघाती कुपुरुष पुत्रको जन्म देनेके कारण ये दोनों शोकमग्न हो भिक्षुककी भाँति इस पृथ्वीपर इधर-उधर भटकते फिरेंगे' ॥ २१ ॥

अथ दुर्योधनं राजा धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत।
आसीनं भ्रातृभिः सार्धं राजभिः परिवारितम् ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्रने राजाओंसे घिरकर भाइयोंके साथ बैठे हुए दुर्योधनसे कहा—॥ २२ ॥

दुर्योधन निबोधेदं शौरिणोक्तं महात्मना।
आदत्स्व शिवमत्यन्तं योगक्षेममवद्व्ययम् ॥ २३ ॥

'दुर्योधन! मेरी इस बातपर ध्यान दो। महात्मा श्रीकृष्णने जो बात बतायी है, वह अत्यन्त कल्याणकारक, योगक्षेमकी प्राप्ति करानेवाली तथा दीर्घकालतक स्थिर रहनेवाली है, तुम इसे स्वीकार करो ॥ २३ ॥

अनेन हि सहायेन कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा।
इष्टान् सर्वानभिप्रायान् प्राप्स्यामः सर्वराजसु ॥ २४ ॥

'अनायास ही महान् कर्म करनेवाले इन भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे हमलोग समस्त राजाओंमें सम्मानित रहकर अपने सभी अभीष्ट मनोरथोंको प्राप्त कर लेंगे ॥ २४ ॥

सुसंहतः केशवेन तात गच्छ युधिष्ठिरम्।
चर स्वस्त्ययनं कृत्स्नं भरतानामनामयम् ॥ २५ ॥

'तात! भगवान् श्रीकृष्णसे मिलकर तुम युधिष्ठिरके पास जाओ और पूर्णरूपसे मङ्गल सम्पादन करो, जिससे भरतवंशियोंको कोई क्षति न उठानी पड़े ॥ २५ ॥

वासुदेवेन तीर्थेन तात गच्छस्व संशमम्।
कालप्राप्तमिदं मन्ये मा त्वं दुर्योधनातिगाः ॥ २६ ॥

'तात! भगवान् श्रीकृष्णको मध्यस्थ बनाकर अब शान्ति धारण करो। मैं तुम्हारे लिये यही समयोचित कर्तव्य मानता हूँ। दुर्योधन! तुम मेरी इस आज्ञाका उल्लङ्घन न करो ॥ २६ ॥

शमं चेद् याचमानं त्वं प्रत्याख्यास्यसि केशवम्।
त्वदर्थमभिजल्पन्तं न तवास्त्यपराभवः ॥ २७ ॥

'यदि तुम शान्तिके लिये प्रार्थना करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका जो तुम्हारे हितकी बात बता रहे हैं, तिरस्कार करोगे—इनकी आज्ञा नहीं मानोगे तो तुम्हारा पराभव हुए बिना नहीं रह सकता' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मादिवाक्ये पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म आदिके वचनोंसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका आधा श्लोक मिलाकर कुल २७½ श्लोक हैं)

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और द्रोणका दुर्योधनको पुनः समझाना

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रवचः श्रुत्वा भीष्मद्रोणौ समव्यथौ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमूचतुः शासनातिगम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धृतराष्ट्रका कथन सुनकर युद्धमें जनसंहारकी सम्भावनासे समानरूपसे दुःखका अनुभव करनेवाले भीष्म और द्रोणाचार्यने गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥

यावत् कृष्णावसंनद्धौ यावत् तिष्ठति गाण्डिवम्।
यावद् धौम्यो न मेधाग्नौ जुहोतीह द्विषद्बलम्॥२॥
यावन्न प्रेक्षते क्रुद्धः सेनां तव युधिष्ठिरः।
ह्रीनिषेवो महेष्वासस्तावच्छाम्यतु वैशसम्॥ ३॥

'वत्स! जबतक श्रीकृष्ण और अर्जुन कवच धारण करके युद्धके लिये उद्यत नहीं होते हैं, जबतक गाण्डीव धनुष घरमें रक्खा हुआ है, जबतक धौम्य मुनि यज्ञाग्निमें शत्रुओंकी सेनाके विनाशके लिये आहुति नहीं डालते हैं और जबतक लज्जाशील महाधनुर्धर युधिष्ठिर तुम्हारी सेनापर क्रोधपूर्ण दृष्टि नहीं डालते हैं, तभीतक यह भावी जनसंहार शान्त हो जाना चाहिये॥

यावन्न दृश्यते पार्थः स्वेऽप्यनीके व्यवस्थितः।
भीमसेनो महेष्वासस्तावच्छाम्यतु वैशसम्॥ ४॥

'जबतक कुन्तीपुत्र महाधनुर्धर भीमसेन अपनी सेनाके अग्रभागमें खड़े नहीं दिखायी देते हैं, तभीतक यह मार-काटका संकल्प शान्त हो जाना चाहिये॥ ४॥

यावन्न चरते मार्गान् पृतनामभिधर्षयन्।
भीमसेनो गदापाणिस्तावत् संशाम्य पाण्डवैः॥ ५॥

'दुर्योधन! जबतक हाथमें गदा लिये भीमसेन तुम्हारी सेनाका संहार करते हुए युद्धके विभिन्न मार्गोंमें विचरण नहीं कर रहे हैं, तभीतक तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो॥

यावन्न शातयत्याजौ शिरांसि गजयोधिनाम्।
गदया वीरघातिन्या फलानीव वनस्पतेः॥ ६॥
कालेन परिपक्वानि तावच्छाम्यतु वैशसम्।

'जबतक भीमसेन अपनी वीरघातिनी गदाके द्वारा समयानुसार पके हुए वृक्षके फलोंकी भाँति संग्रामभूमिमें गजारोही योद्धाओंके मस्तकोंको काट-काटकर नहीं गिरा रहे हैं, तभीतक तुम्हारा युद्धविषयक संकल्प शान्त हो जाना चाहिये॥ ६½॥

नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः॥ ७॥
विराटश्च शिखण्डी च शैशुपालिश्च दंशिताः।
यावन्न प्रविशन्त्येते नक्रा इव महार्णवम्॥ ८॥
कृतास्त्राः क्षिप्रमस्यन्तस्तावच्छाम्यतु वैशसम्।

'नकुल, सहदेव, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, विराट, शिखण्डी तथा शिशुपालपुत्र धृष्टकेतु—ये अस्त्रविद्यामें निपुण महान् वीर कवच धारण करके महासागरमें घुसे हुए ग्राहोंकी भाँति तुम्हारी सेनाके भीतर जबतक प्रवेश नहीं करते हैं, तभीतक यह जनसंहारका संकल्प शान्त हो जाना चाहिये॥ ७-८½॥

यावन्न सुकुमारेषु शरीरेषु महीक्षिताम्॥ ९॥
गार्ध्रपत्राः पतन्त्युग्रास्तावच्छाम्यतु वैशसम्।

'जबतक इन भूमिपालोंके सुकुमार शरीरोंपर गीधकी पाँखोंसे युक्त भयंकर बाण नहीं गिर रहे हैं, तभीतक युद्धका संकल्प शान्त हो जाय॥ ९½॥

चन्दनागुरुदिग्धेषु हारनिष्कधरेषु च।
नोरःसु यावद् योधानां महेष्वासैर्महेषवः॥ १०॥
कृतास्त्रैः क्षिप्रमस्यद्भिर्दूरपातिभिरायसाः।
अभिलक्ष्यैर्निपात्यन्ते तावच्छाम्यतु वैशसम्॥ ११॥

'सामने आते ही लक्ष्यको मार गिरानेवाले, शीघ्रतापूर्वक बाण चलाने और दूरतकका लक्ष्य बींधनेवाले, अस्त्रविद्याके पारंगत महाधनुर्धर विपक्षी वीर जबतक तुम्हारे योद्धाओंके चन्दन और अगुरुसे चर्चित तथा हार और निष्क धारण करनेवाले वक्षःस्थलोंपर लोहेके बाणोंकी वर्षा नहीं करते, तभीतक तुम्हें युद्धका विचार त्याग देना चाहिये॥ १०-११॥

अभिवादयमानं त्वां शिरसा राजकुञ्जरः।
पाणिभ्यां प्रतिगृह्णातु धर्मराजो युधिष्ठिरः॥ १२॥

'हम चाहते हैं कि नृपश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम करते देख दोनों हाथोंसे पकड़ (कर हृदयसे लगा) लें॥ १२॥

ध्वजाङ्कुशपताकाङ्कं दक्षिणं ते सुदक्षिणः।
स्कन्धे निक्षिपतां बाहुं शान्तये भरतर्षभ॥ १३॥

'भरतश्रेष्ठ! उत्तम दक्षिणा देनेवाले युधिष्ठिर ध्वजा, अंकुश और पताकाओंके चिह्नसे सुशोभित अपनी दाहिनी भुजाको जगत्‌में शान्ति स्थापित करनेके लिये तुम्हारे कंधेपर रक्खें॥ १३॥

रत्नौषधिसमेतेन रक्ताङ्गुलितलेन च।
उपविष्टस्य पृष्ठं ते पाणिना परिमार्जतु॥ १४॥

'तथा तुम्हें पास बिठाकर रत्न एवं ओषधियोंसे युक्त लाल हथेलीवाले हाथसे तुम्हारी पीठको धीरे-धीरे सहलायें॥

शालस्कन्धो महाबाहुस्त्वां स्वजानो वृकोदरः।
साम्नाभिवदतां चापि शान्तये भरतर्षभ॥ १५॥

'भरतभूषण! शालवृक्षके तनेके समान ऊँचे डील-डौलवाले

महाबाहु भीमसेन भी शान्तिके लिये तुम्हें हृदयसे लगाकर तुमसे मीठी-मीठी बातें करें ॥ १५ ॥

अर्जुनेन यमाभ्यां च त्रिभिस्तैरभिवादितः ।
मूर्ध्नि तान् समुपाघ्राय प्रेम्णाभिवद पार्थिव ॥ १६ ॥

'राजन् ! अर्जुन और नकुल-सहदेव—ये तीनों भाई तुम्हें प्रणाम करें और तुम उनके मस्तक सूँघकर उनके साथ प्रेमपूर्वक वार्तालाप करो ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा त्वां पाण्डवैर्वीरैर्भ्रातृभिः सह संगतम् ।
यावदानन्दजाश्रूणि प्रमुञ्चन्तु नराधिपाः ॥ १७ ॥

'तुम्हें अपने वीर भाई पाण्डवोंके साथ मिला हुआ देख ये सब नरेश अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहायें ॥ १७ ॥

घुष्यतां राजधानीषु सर्वसम्पन्महीक्षिताम् ।
पृथिवी भ्रातृभावेन भुज्यतां विज्वरो भव ॥ १८ ॥

'राजाओंकी सभी राजधानियोंमें यह घोषणा करा दी जाय कि कौरव-पाण्डवोंका सारा झगड़ा समाप्त होकर परस्पर प्रेमपूर्वक उनका समस्त कार्य सम्पन्न हो गया। फिर तुम और युधिष्ठिर परस्पर भ्रातृभाव रखते हुए इस राज्यका समानरूपसे उपभोग करो, तुम्हारी सारी चिन्ताएँ दूर हो जायँ' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म और द्रोणके वाक्यसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णको दुर्योधनका उत्तर, उसका पाण्डवोंको राज्य न देनेका निश्चय

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा दुर्योधनो वाक्यमप्रियं कुरुसंसदि ।
प्रत्युवाच महाबाहुं वासुदेवं यशस्विनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कौरवसभामें यह अप्रिय वचन सुनकर दुर्योधनने यशस्वी महाबाहु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १ ॥

प्रसमीक्ष्य भवानेतद् वक्तुमर्हति केशव ।
मामेव हि विशेषेण विभाष्य परिगर्हसे ॥ २ ॥

'केशव ! आपको अच्छी तरह सोच-विचारकर ऐसी बातें कहनी चाहिये। आप तो विशेषरूपसे मुझे ही दोषी ठहराकर मेरी निन्दा कर रहे हैं ॥ २ ॥

भक्तिवादेन पार्थानामकस्मान्मधुसूदन ।
भवान् गर्हयते नित्यं किं समीक्ष्य बलाबलम् ॥ ३ ॥

'मधुसूदन ! आप पाण्डवोंके प्रेमकी दुहाई देकर जो अकारण ही सदा हमारी निन्दा करते रहते हैं, इसका क्या कारण है ? क्या आप हमलोगोंके बलाबलका विचार करके ऐसा करते हैं ? ॥ ३ ॥

भवान् क्षत्ता च राजा वाप्याचार्यो वा पितामहः ।
मामेव परिगर्हन्ते नान्यं कंचन पार्थिवम् ॥ ४ ॥

'मैं देखता हूँ, आप, विदुरजी, पिताजी, आचार्य अथवा पितामह भीष्म सभी लोग केवल मुझपर ही दोषारोपण करते हैं; दूसरे किसी राजापर नहीं ॥ ४ ॥

न चाहं लक्षये कंचिद् व्यभिचारमिहात्मनः ।
अथ सर्वे भवन्तो मां विद्विषन्ति सराजकाः ॥ ५ ॥

'परंतु मुझे यहाँ अपना कोई दोष नहीं दिखायी देता है। इधर राजा धृतराष्ट्रसहित आप सब लोग अकारण ही मुझसे द्वेष रखने लगे हैं ॥ ५ ॥

न चाहं कंचिदत्यर्थमपराधमरिंदम ।
विचिन्तयन् प्रपश्यामि सुसूक्ष्ममपि केशव ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन केशव ! मैं अत्यन्त सोच-विचारकर दृष्टि डालता हूँ, तो भी मुझे अपना कोई सूक्ष्मसे सूक्ष्म अपराध भी नहीं दृष्टिगोचर होता है ॥ ६ ॥

प्रियाभ्युपगते द्यूते पाण्डवा मधुसूदन ।
जिताः शकुनिना राज्यं तत्र किं मम दुष्कृतम् ॥ ७ ॥

'मधुसूदन ! पाण्डवोंको जूएका खेल बड़ा प्रिय था। इसीलिये वे उसमें प्रवृत्त हुए। फिर यदि मामा शकुनिने उनका राज्य जीत लिया तो इसमें मेरा क्या अपराध हो गया ? ॥

यत् पुनर्द्रविणं किंचित् तत्राजीयन्त पाण्डवाः ।
तेभ्य एवाभ्यनुज्ञातं तत् तदा मधुसूदन ॥ ८ ॥

'मधुसूदन ! उस जूएमें पाण्डवोंने जो कुछ भी धन हारा था, वह सब उसी समय उन्हींको लौटा दिया गया था ॥ ८ ॥

अपराधो न चास्माकं यत् ते द्यूते पराजिताः ।
अजेया जयतां श्रेष्ठ पार्थाः प्रव्राजिता वनम् ॥ ९ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! यदि अजेय पाण्डव जूएमें पुनः पराजित हो गये और वनमें जानेको विवश हुए तो यह हमलोगोंका अपराध नहीं है ॥ ९ ॥

केन वाप्यपराधेन विरुद्ध्यन्त्यरिभिः सह ।
अशक्ताः पाण्डवाः कृष्ण प्रहृष्टाः प्रत्यमित्रवत् ॥ १० ॥

'कृष्ण ! हमारे किस अपराधसे असमर्थ पाण्डव शत्रुओंके साथ मिलकर हमारा विरोध करते हैं और ऐसा करके भी सहज शत्रुकी भाँति प्रसन्न हो रहे हैं ॥ १० ॥

किमस्माभिः कृतं तेषां कस्मिन् वा पुनरागसि ।
धार्तराष्ट्रान् जिघांसन्ति पाण्डवाः सृंजयैः सह ॥ ११ ॥

'हमने उनका क्या बिगाड़ा है ? वे पाण्डव हमारे किस अपराधपर सृञ्जयोंके साथ मिलकर हम धृतराष्ट्रपुत्रोंका वध करना चाहते हैं ?॥ ११ ॥

न चापि वयमुग्रेण कर्मणा वचनेन वा ।
प्रभ्रष्टाः प्रणमामेह भयादपि शतक्रतुम् ॥ १२ ॥

'हमलोग किसीके भयंकर कर्म अथवा भयानक वचनसे भयभीत हो क्षत्रियधर्मसे च्युत होकर साक्षात् इन्द्रके सामने भी नतमस्तक नहीं हो सकते ॥ १२ ॥

न च तं कृष्ण पश्यामि क्षत्रधर्ममनुष्ठितम् ।
उत्सहेत युधा जेतुं यो नः शत्रुनिबर्हण ॥ १३ ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाले श्रीकृष्ण ! मैं क्षत्रिय-धर्मका अनुष्ठान करनेवाले किसी भी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो युद्धमें हम सब लोगोंको जीतनेका साहस कर सके ॥ १३ ॥

न हि भीष्मकृपद्रोणाः सकर्णा मधुसूदन ।
देवैरपि युधा जेतुं शक्याः किमुत पाण्डवैः ॥ १४ ॥

'मधुसूदन ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और कर्णको तो देवता भी युद्धमें नहीं जीत सकते; फिर पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १४ ॥

स्वधर्ममनुपश्यन्तो यदि माधव संयुगे ।
अस्त्रेण निधनं काले प्राप्स्यामः स्वर्ग्यमेव तत् ॥ १५ ॥

'माधव ! अपने धर्मपर दृष्टि रखते हुए यदि हमलोग युद्धमें किसी समय अस्त्रोंके आघातसे मृत्युको प्राप्त हो जायँ तो वह भी हमारे लिये स्वर्गकी ही प्राप्ति करानेवाली होगी ॥

मुख्यश्चैवैष नो धर्मः क्षत्रियाणां जनार्दन ।
यच्छयीमहि संग्रामे शरतल्पगता वयम् ॥ १६ ॥

'जनार्दन ! हम क्षत्रियोंका यही प्रधान धर्म है कि संग्राममें हमें बाण-शय्यापर सोनेका अवसर प्राप्त हो ॥ १६ ॥

ते वयं वीरशयनं प्राप्स्यामो यदि संयुगे ।
अप्रणम्यैव शत्रूणां न नस्तप्स्यन्ति माधव ॥ १७ ॥

'अतः माधव ! हम अपने शत्रुओंके सामने नतमस्तक न होकर यदि युद्धमें वीरशय्याको प्राप्त हों तो इससे हमारे भाई-बन्धुओंको संताप नहीं होगा ॥ १७ ॥

कश्च जातु कुले जातः क्षत्रधर्मेण वर्तयन् ।
भयाद् वृत्तिं समीक्ष्यैवं प्रणमेदिह कर्हिचित् ॥ १८ ॥

'उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर क्षत्रियधर्मके अनुसार जीवन-निर्वाह करनेवाला कौन ऐसा महापुरुष होगा, जो क्षत्रियोचित वृत्तिपर दृष्टि रखते हुए भी इस प्रकार भयके कारण कभी शत्रुके सामने मस्तक झुकायेगा?॥ १८ ॥

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेदिह कर्हिचित् ॥ १९ ॥

'वीर पुरुषको चाहिये कि वह सदा उद्योग ही करे, किसीके सामने नतमस्तक न हो; क्योंकि उद्योग करना ही पुरुषका कर्तव्य—पुरुषार्थ है। वीर पुरुष असमयमें ही नष्ट भले ही हो जाय, परंतु कभी शत्रुके सामने सिर न झुकावे' ॥ १९ ॥

इति मातङ्गवचनं परीप्सन्ति हितेप्सवः ।
धर्माय चैव प्रणमेद् ब्राह्मणेभ्यश्च मद्विधः ॥ २० ॥

'अपना हित चाहनेवाले मनुष्य मातङ्ग मुनिके उपर्युक्त वचनको ही ग्रहण करते हैं; अतः मेरे-जैसा पुरुष केवल धर्म तथा ब्राह्मणको ही प्रणाम कर सकता है (शत्रुओंको नहीं)॥

अचिन्तयन् कंचिदन्यं यावज्जीवं तथाऽऽचरेत् ।
एष धर्मः क्षत्रियाणां मतमेतच्च मे सदा ॥ २१ ॥

'वह दूसरे किसीको कुछ भी न समझकर जीवनभर ऐसा ही आचरण (उद्योग) करता रहे; यही क्षत्रियोंका धर्म है और सदाके लिये मेरा मत भी यही है ॥ २१ ॥

राज्यांशश्चाभ्यनुज्ञातो यो मे पित्रा पुराभवत् ।
न स लभ्यः पुनर्जातु मयि जीवति केशव ॥ २२ ॥

'केशव ! मेरे पिताजीने पूर्वकालमें जो राज्यभाग मेरे अधीन कर दिया है, उसे कोई मेरे जीते-जी फिर कदापि नहीं पा सकता ॥ २२ ॥

यावच्च राजा ध्रियते धृतराष्ट्रो जनार्दन ।
न्यस्तशस्त्रा वयं ते वाप्युपजीवाम माधव ।
अप्रदेयं पुरा दत्तं राज्यं परवतो मम ॥ २३ ॥
अज्ञानाद् वा भयाद् वापि मयि बाले जनार्दन ।
न तदद्य पुनर्लभ्यं पाण्डवैर्वृष्णिनन्दन ॥ २४ ॥

'जनार्दन ! जबतक राजा धृतराष्ट्र जीवित हैं, तबतक हमें और पाण्डवोंको हथियार न उठाकर शान्तिपूर्वक जीवन बिताना चाहिये । वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! पहले भी जो पाण्डवोंको राज्यका अंश दिया गया था, वह उन्हें देना उचित नहीं था; परंतु मैं उन दिनों बालक एवं पराधीन था, अतः अज्ञान अथवा भयसे जो कुछ उन्हें दे दिया गया था, उसे अब पाण्डव पुनः नहीं पा सकते ॥ २३-२४ ॥

ध्रियमाणे महाबाहौ मयि सम्प्रति केशव ।
यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव ।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥ २५ ॥

'केशव ! इस समय मुझ महाबाहु दुर्योधनके जीते-जी पाण्डवोंको भूमिका उतना अंश भी नहीं दिया जा सकता, जितना कि एक बारीक सूईकी नोकसे छिद सकता है'॥॥२५

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दुर्योधनवाक्ये सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२७॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधनको फटकारना और उसे कुपित होकर सभासे जाते देख उसे कैद करनेकी सलाह देना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रशम्य दाशार्हः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनकी बातें सुनकर श्रीकृष्णके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये । वे कुछ विचार करके कौरव-सभामें दुर्योधनसे पुनः इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

लप्स्यसे वीरशयनं काममेतदवाप्स्यसि ।
स्थिरो भव सहामात्यो विमर्दो भविता महान् ॥ २ ॥

'दुर्योधन ! तुझे रणभूमिमें वीर-शय्या प्राप्त होगी । तेरी यह इच्छा पूर्ण होगी । तू मन्त्रियोंसहित धैर्यपूर्वक रह । अब बहुत बड़ा नरसंहार होनेवाला है ॥ २ ॥

यच्चैवं मन्यसे मूढ न मे कश्चिद् व्यतिक्रमः ।
पाण्डवेष्विति तत् सर्वं निबोधत नराधिपाः ॥ ३ ॥

'मूढ़ ! तू जो ऐसा मानता है कि पाण्डवोंके प्रति मेरा कोई अपराध ही नहीं है तो इसके सम्बन्धमें मैं सब बातें बताता हूँ । राजाओ !आपलोग भी ध्यान देकर सुनें॥

श्रिया संतप्यमानेन पाण्डवानां महात्मनाम् ।
त्वया दुर्मन्त्रितं द्यूतं सौबलेन च भारत ॥ ४ ॥

'भारत ! महात्मा पाण्डवोंकी बढ़ती हुई समृद्धिसे संतप्त होकर तूने ही शकुनिके साथ यह खोटा विचार किया था कि पाण्डवोंके साथ जूआ खेला जाय ॥ ४ ॥

कथं च ज्ञातयस्तात श्रेयांसः साधुसम्मताः ।
अथान्याय्यमुपस्थातुं जिह्मेनाजिह्मचारिणः ॥ ५ ॥

'तात ! अन्यथा सदा सरलतापूर्ण बर्ताव करनेवाले और साधु-सम्मानित तेरे श्रेष्ठ बन्धु पाण्डव यहाँ तुझ-जैसे कपटीके साथ अन्याययुक्त द्यूतके लिये कैसे उपस्थित हो सकते थे ? ॥५॥

अक्षद्यूतं महाप्राज्ञ सतां मतिविनाशनम् ।
असतां तत्र जायन्ते भेदाश्च व्यसनानि च ॥ ६ ॥

'महामते ! जूएका खेल तो सत्पुरुषोंकी बुद्धिको भी नाश करनेवाला है और यदि दुष्ट पुरुष उसमें प्रवृत्त हों तो उनमें बड़ा भारी कलह होता है तथा उन सबपर बहुत-से संकट छा जाते हैं ॥ ६ ॥

तदिदं व्यसनं घोरं त्वया द्यूतमुखं कृतम् ।
असमीक्ष्य सदाचारान् सार्धं पापानुबन्धनैः ॥ ७ ॥

'तूने ही सदाचारकी ओर लक्ष्य न रखकर पापासक्त पुरुषोंके सहित भयंकर विपत्तिके कारणभूत ये द्यूतक्रीड़ा आदि कार्य किये हैं ॥ ७ ॥

कश्चान्यो भ्रातृभार्यां वै विप्रकर्तुं तथार्हति ।
आनीय च सभां व्यक्तं यथोक्ता द्रौपदी त्वया ॥ ८ ॥

'तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा अधम होगा, जो अपने बड़े भाईकी पत्नीको सभामें लाकर उसके साथ वैसा अनुचित बर्ताव करेगा । जैसा कि तूने द्रौपदीके प्रति स्पष्टरूपसे न कहने योग्य बातें कहकर दुर्व्यवहार किया है ॥ ८ ॥

कुलीना शीलसम्पन्ना प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।
महिषी पाण्डुपुत्राणां तथा विनिकृता त्वया ॥ ९ ॥

'द्रौपदी उत्तम कुलमें उत्पन्न, शील और सदाचारसे सम्पन्न तथा पाण्डवोंके लिये प्राणोंसे भी अधिक आदरणीय उन सबकी महारानी है । तथापि तूने उसके प्रति अत्याचार किया ॥ ९ ॥

जानन्ति कुरवः सर्वे यथोक्ताः कुरुसंसदि ।
दुःशासनेन कौन्तेयाः प्रव्रजन्तः परंतपाः ॥ १० ॥

'जिस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार पाण्डव वनको जा रहे थे, उस समय दुःशासनने कौरव-सभामें उनके प्रति जैसी कठोर बातें कही थीं, उन्हें सभी कौरव जानते हैं ॥ १० ॥

सम्यग्वृत्तेष्वलुब्धेषु सततं धर्मचारिषु ।
स्वेषु बन्धुषु कः साधुश्चरेदेवमसाम्प्रतम् ॥ ११ ॥

'सदा धर्ममें ही तत्पर रहनेवाले लोभरहित सदाचारी अपने बन्धुओंके प्रति कौन साधु पुरुष ऐसा अयोग्य बर्ताव करेगा ? ॥ ११ ॥

नृशंसानामनार्याणां पुरुषाणां च भाषणम् ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च त्वया च बहुशः कृतम् ॥ १२ ॥

'दुर्योधन ! तूने कर्ण और दुःशासनके साथ अनेक बार निर्दयी तथा अनार्य पुरुषोंकी-सी बातें कही हैं ॥ १२ ॥

सह मात्रा प्रदग्धुं तान् बालकान् वारणावते ।
आस्थितः परमं यत्नं न समृद्धं च तत् तव ॥ १३ ॥

'तूने वारणावत नगरमें बाल्यावस्थामें पाण्डवोंको उनकी मातासहित जला डालनेका महान् प्रयत्न किया था, परंतु तेरा वह उद्देश्य सफल न हो सका ॥ १३ ॥

ऊषुश्च सुचिरं कालं प्रच्छन्नाः पाण्डवास्तदा ।
मात्रा सहैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ॥ १४ ॥

'उन दिनों पाण्डव अपनी माताके साथ सुदीर्घकालतक एकचक्रा नगरीमें किसी ब्राह्मणके घरमें छिपे रहे ॥ १४ ॥

विषेण सर्पबन्धैश्च यतिताः पाण्डवास्त्वया ।
सर्वोपायैर्विनाशाय न समृद्धं च तत् तव ॥ १५ ॥

'तूने (भीमसेनको) विष देकर, सर्पसे कटाकर और बँधे हुए हाथ-पैरोंसहित जलमें डुबाकर इन सभी उपायों-द्वारा पाण्डवोंको नष्ट कर देनेका प्रयत्न किया है, परंतु तेरा यह प्रयास भी सफल न हो सका ॥ १५ ॥

एवंबुद्धिः पाण्डवेषु मिथ्यावृत्तिः सदा भवान्।
कथं ते नापराधोऽस्ति पाण्डवेषु महात्मसु ॥ १६ ॥

'ऐसे ही विचार रखकर तू पाण्डवोंके प्रति सदा कपट-पूर्ण बर्ताव करता आया है, फिर कैसे मान लिया जाय कि महात्मा पाण्डवोंके प्रति तेरा कोई अपराध ही नहीं है ॥ १६ ॥

यच्चैभ्यो याचमानेभ्यः पित्र्यमंशं न दित्ससि।
तच्च पाप प्रदातासि भ्रष्टैश्वर्यो निपातितः ॥ १७ ॥

'पापात्मन् ! तू याचना करनेपर इन पाण्डवोंको जो पैतृक राज्य-भाग नहीं देना चाहता है, वही तुझे उस समय देना पड़ेगा, जब कि रणभूमिमें धराशायी होकर तू ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जायगा ॥ १७ ॥

कृत्वा बह्वन्यकार्याणि पाण्डवेषु नृशंसवत्।
मिथ्यावृत्तिरनार्यः सन्नद्य विप्रतिपद्यसे ॥ १८ ॥

'क्रूरकर्मी मनुष्योंकी भाँति तू पाण्डवोंके प्रति बहुत-से अयोग्य बर्ताव करके मिथ्याचारी और अनार्य होकर भी आज अपने उन अपराधोंके प्रति अनभिज्ञता प्रकट करता है ॥ १८ ॥

मातापितृभ्यां भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च।
शाम्येति मुहुरुक्तोऽसि न च शाम्यसि पार्थिव ॥ १९ ॥

'माता-पिता, भीष्म, द्रोण और विदुर सबने तुझसे बार-बार कहा है कि तू संधि कर ले—शान्त हो जा, परंतु भूपाल! तू शान्त होनेका नाम ही नहीं लेता ॥ १९ ॥

शमे हि सुमहाँल्लाभस्तव पार्थस्य चोभयोः।
न च रोचयसे राजन् किमन्यद् बुद्धिलाघवात्॥ २० ॥

'राजन् ! शान्ति स्थापित होनेपर तेरा और युधिष्ठिरका दोनोंका ही महान् लाभ है, परंतु तुझे यह प्रस्ताव अच्छा नहीं लगता। इसे बुद्धिकी मन्दताके सिवा और क्या कहा जा सकता है ? ॥

न शर्म प्राप्स्यसे राजन्नुत्क्रम्य सुहृदां वचः।
अधर्म्यमयशस्यं च क्रियते पार्थिव त्वया ॥ २१ ॥

राजन् ! तू हितैषी सुहृदोंकी आज्ञाका उल्लंघन करके कल्याणका भागी नहीं हो सकेगा। भूपाल ! तू सदा अधर्म और अपयशका कार्य करता है' ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति दाशार्हे दुर्योधनममर्षणम्।
दुःशासन इदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ये सब बातें कह रहे थे, उसी समय दुःशासनने बीचमें ही अमर्षशील दुर्योधनसे कौरव-सभामें ही कहा— ॥

न चेत् संधास्यसे राजन् स्वेन कामेन पाण्डवैः।
बद्ध्वा किल त्वां दास्यन्ति कुन्तीपुत्राय कौरवाः ॥ २३ ॥

'राजन् ! यदि आप अपनी इच्छासे पाण्डवोंके साथ संधि नहीं करेंगे तो जान पड़ता है, कौरवलोग आपको बाँधकर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके हाथमें सौंप देंगे ॥ २३ ॥

वैकर्तनं त्वां च मां च त्रीनेतान् मनुजर्षभ।
पाण्डवेभ्यः प्रदास्यन्ति भीष्मो द्रोणः पिता च ते ॥ २४ ॥

'नरश्रेष्ठ ! पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण और पिताजी—ये कर्णको, आपको और मुझे—इन तीनोंको ही पाण्डवोंके अधिकारमें दे देंगे' ॥ २४ ॥

भ्रातुरेतद् वचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रः सुयोधनः।
क्रुद्धः प्रातिष्ठतोत्थाय महानाग इव श्वसन् ॥ २५ ॥
विदुरं धृतराष्ट्रं च महाराजं च बाह्लिकम्।
कृपं च सोमदत्तं च भीष्मं द्रोणं जनार्दनम् ॥ २६ ॥
सर्वानेताननादृत्य दुर्मतिर्निरपत्रपः।
अशिष्टवदमर्यादो मानी मान्यावमानिता॥ २७ ॥

भाईकी यह बात सुनकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन अत्यन्त कुपित हो फुफकारते हुए महान् सर्पकी भाँति लम्बी साँसें खींचता हुआ वहाँसे उठकर चल दिया। वह दुर्बुद्धि, निर्लज्ज, अशिष्ट पुरुषोंकी भाँति मर्यादाशून्य, अभिमानी तथा माननीय पुरुषोंका अपमान करनेवाला था। वह विदुर, धृतराष्ट्र, महाराज बाह्लीक, कृपाचार्य, सोमदत्त, भीष्म, द्रोणाचार्य और भगवान् श्रीकृष्ण—इन सबका अनादर करके वहाँसे चल पड़ा ॥ २५—२७ ॥

तं प्रस्थितमभिप्रेक्ष्य भ्रातरो मनुजर्षभम्।
अनुजग्मुः सहामात्या राजानश्चापि सर्वशः ॥ २८ ॥

नरश्रेष्ठ दुर्योधनको वहाँसे जाते देख उसके भाई, मन्त्री तथा सहयोगी नरेश सबके सब उठकर उसके साथ चल दिये ॥ २८ ॥

सभायामुत्थितं क्रुद्धं प्रस्थितं भ्रातृभिः सह।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥ २९ ॥

इस प्रकार क्रोधमें भरे हुए दुर्योधनको भाइयोंसहित सभासे उठकर जाते देख शान्तनुनन्दन भीष्मने कहा—॥ २९ ॥

धर्मार्थावभिसंत्यज्य संरम्भं योऽनुमन्यते।
हसन्ति व्यसने तस्य दुर्हृदो नचिरादिव ॥ ३० ॥

'जो धर्म और अर्थका परित्याग करके क्रोधका ही अनुसरण करता है, उसे शीघ्र ही विपत्तिमें पड़ा देख उसके शत्रुगण हँसी उड़ाते हैं ॥ ३० ॥

दुरात्मा राजपुत्रोऽयं धार्तराष्ट्रोऽनुपायकृत्।
मिथ्याभिमानी राज्यस्य क्रोधलोभवशानुगः ॥ ३१ ॥

'राजा धृतराष्ट्रका यह दुरात्मा पुत्र दुर्योधन लक्ष्यसिद्धि-के उपायके विपरीत कार्य करनेवाला तथा क्रोध और लोभके

वशीभूत रहनेवाला है । इसे राजा होनेका मिथ्या अभिमान है ॥ ३१ ॥

कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन ।
सर्वे ह्यनुसृता मोहात् पार्थिवाः सह मन्त्रिभिः॥ ३२ ॥

'जनार्दन ! मैं समझता हूँ कि ये समस्त क्षत्रियगण कालसे पके हुए फलकी भाँति मौतके मुँहमें जानेवाले हैं । तभी तो ये सबके सब मोहवश अपने मन्त्रियोंके साथ दुर्योधनका अनुसरण करते हैं' ॥ ३२ ॥

भीष्मस्याथ वचः श्रुत्वा दाशार्हः पुष्करेक्षणः ।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वानभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ ३३ ॥

भीष्मका यह कथन सुनकर महापराक्रमी दशार्हकुल-नन्दन कमलनयन श्रीकृष्णने भीष्म और द्रोण आदि सब लोगोंसे इस प्रकार कहा—॥ ३३ ॥

सर्वेषां कुरुवृद्धानां महानयमतिक्रमः ।
प्रसह्य मन्दमैश्वर्ये न नियच्छत यन्नृपम् ॥ ३४ ॥

'कुरुकुलके सभी बड़े-बूढ़े लोगोंका यह बहुत बड़ा अन्याय है कि आपलोग इस मूर्ख दुर्योधनको राजाके पदपर बिठाकर अब इसका बलपूर्वक नियन्त्रण नहीं कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

तत्र कार्यमहं मन्ये कालप्राप्तमरिंदमाः ।
क्रियमाणे भवेच्छ्रेयस्तत् सर्वं श्रृणुतानघाः ॥ ३५ ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले निष्पाप कौरवो ! इस विषयमें मैंने समयोचित कर्तव्यका निश्चय कर लिया है, जिसका पालन करनेपर सबका भला होगा । वह सब मैं बता रहा हूँ, आपलोग सुनें ॥ ३५ ॥

प्रत्यक्षमेतद् भवतां यद् वक्ष्यामि हितं वचः ।
भवतामानुकूल्येन यदि रोचेत भारताः ॥ ३६ ॥

'मैं तो हितकी बात बताने जा रहा हूँ । उसका आपलोगोंको भी प्रत्यक्ष अनुभव है । भरतवंशियो ! यदि वह आपके अनुकूल होनेके कारण ठीक जान पड़े तो आप उसे काममें ला सकते हैं ॥ ३६ ॥

भोजराजस्य वृद्धस्य दुराचारो ह्यनात्मवान् ।
जीवतः पितुरैश्वर्यं हृत्वा मृत्युवशं गतः ॥ ३७ ॥

'बूढ़े भोजराज उग्रसेनका पुत्र कंस बड़ा दुराचारी एवं अजितेन्द्रिय था । वह अपने पिताके जीते-जी उनका सारा ऐश्वर्य लेकर स्वयं राजा बन बैठा था, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह मृत्युके अधीन हो गया ॥ ३७ ॥

उग्रसेनसुतः कंसः परित्यक्तः स बान्धवैः ।
ज्ञातीनां हितकामेन मया शस्तो महामृधे ॥ ३८ ॥

'समस्त भाई-बन्धुओंने उसका त्याग कर दिया था, अतः सजातीय बन्धुओंके हितकी इच्छासे मैंने महान् युद्धमें उस उग्रसेनपुत्र कंसको मार डाला ॥ ३८ ॥

आहुकः पुनरस्माभिर्ज्ञातिभिश्चापि सत्कृतः ।
उग्रसेनः कृतो राजा भोजराजन्यवर्धनः ॥ ३९ ॥

'तदनन्तर हम सब कुटुम्बीजनोंने मिलकर भोजवंशी क्षत्रियोंकी उन्नति करनेवाले आहुक उग्रसेनको सत्कारपूर्वक पुनः राजा बना दिया ॥ ३९ ॥

कंसमेकं परित्यज्य कुलार्थे सर्वयादवाः ।
सम्भूय सुखमेधन्ते भारतान्धकवृष्णयः ॥ ४० ॥

'भरतनन्दन ! कुलकी रक्षाके लिये एकमात्र कंसका परित्याग करके अन्धक और वृष्णि आदि कुलोंके समस्त यादव परस्पर संगठित हो सुखसे रहते और उत्तरोत्तर उन्नति कर रहे हैं ॥ ४० ॥

अपि चाप्यवदद् राजन् परमेष्ठी प्रजापतिः ।
व्यूढे देवासुरे युद्धेऽभ्युद्यतेष्वायुधेषु च ॥ ४१ ॥
द्वैधीभूतेषु लोकेषु विनश्यत्सु च भारत ।
अब्रवीत् सृष्टिमान् देवो भगवाँल्लोकभावनः ॥ ४२ ॥
पराभविष्यन्त्यसुरा दैतेया दानवैः सह ।
आदित्या वसवो रुद्रा भविष्यन्ति दिवौकसः ॥ ४३ ॥
देवासुरमनुष्याश्च गन्धर्वोरगराक्षसाः ।
अस्मिन् युद्धे सुसंक्रुद्धा हनिष्यन्ति परस्परम् ॥ ४४ ॥

'राजन् ! इसके सिवा एक और उदाहरण लीजिये । एक समय प्रजापति ब्रह्माजीने जो बात कही थी, वही बता रहा हूँ । देवता और असुर युद्धके लिये मोर्चे बाँधकर खड़े थे । सबके अस्त्र-शस्त्र प्रहारके लिये ऊपर उठ गये थे । सारा संसार दो भागोंमें बँटकर विनाशके गर्तमें गिरना चाहता था । भारत ! उस अवस्थामें सृष्टिकी रचना करनेवाले लोकभावन भगवान् ब्रह्माजीने स्पष्टरूपसे बता दिया कि इस युद्धमें दानवोंसहित दैत्यों तथा असुरोंकी पराजय होगी । आदित्य, वसु तथा रुद्र आदि देवता विजयी होंगे । देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग तथा राक्षस—ये युद्धमें अत्यन्त कुपित होकर एक दूसरेका वध करेंगे ॥ ४१—४४ ॥

इति मत्वाब्रवीद् धर्मं परमेष्ठी प्रजापतिः ।
वरुणाय प्रयच्छैतान् बद्ध्वा दैतेयदानवान् ॥ ४५ ॥

'यह भावी परिणाम जानकर परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्माने धर्मराजसे यह बात कही—'तुम इन दैत्यों और दानवोंको बाँधकर वरुणदेवको सौंप दो' ॥ ४५ ॥

एवमुक्तस्ततो धर्मो नियोगात् परमेष्ठिनः ।
वरुणाय ददौ सर्वान् बद्ध्वा दैतेयदानवान् ॥ ४६ ॥

'उनके ऐसा कहनेपर धर्मने ब्रह्माजीकी आज्ञाके अनुसार सम्पूर्ण दैत्यों और दानवोंको बाँधकर वरुणको सौंप दिया ॥ ४६ ॥

तान् बद्ध्वा धर्मपाशैश्च स्वैश्च पाशैर्जलेश्वरः ।
वरुणः सागरे यत्तो नित्यं रक्षति दानवान् ॥ ४७ ॥

'तबसे जलके स्वामी वरुण उन्हें धर्मपाश एवं वारुण-

पाशमें बाँधकर प्रतिदिन सावधान रहकर उन दानवोंको समुद्रकी सीमामें ही रखते हैं ॥ ४७ ॥

तथा दुर्योधनं कर्णं शकुनिं चापि सौबलम्।
बद्ध्वा दुःशासनं चापि पाण्डवेभ्यः प्रयच्छथ ॥४८॥

'भरतवंशियो ! उसी प्रकार आपलोग दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा दुःशासनको बंदी बनाकर पाण्डवोंके हाथमें दे दें ॥ ४८ ॥

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ४९ ॥

'समस्त कुलकी भलाईके लिये एक पुरुषको, एक गाँवके हितके लिये एक कुलको, जनपदके भलेके लिये एक गाँवको और आत्मकल्याणके लिये समस्त भूमण्डलको त्याग दे ॥ ४९ ॥

राजन् दुर्योधनं बद्ध्वा ततः संशाम्य पाण्डवैः।
त्वत्कृते न विनश्येयुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥५०॥

'राजन् ! आप दुर्योधनको कैद करके पाण्डवोंसे संधि कर लें। क्षत्रियशिरोमणे ! ऐसा न हो कि आपके कारण समस्त क्षत्रियोंका विनाश हो जाय' ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२८ ॥

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका गान्धारीको बुलाना और उसका दुर्योधनको समझाना

वैशम्पायन उवाच

कृष्णस्य तु वचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
विदुरं सर्वधर्मज्ञं त्वरमाणोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर राजा धृतराष्ट्रने सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरसे शीघ्रतापूर्वक कहा— ॥ १ ॥

गच्छ तात महाप्राज्ञां गान्धारीं दीर्घदर्शिनीम्।
आनयेह तया सार्धमनुनेष्यामि दुर्मतिम् ॥ २ ॥

'तात ! जाओ, परम बुद्धिमती और दूरदर्शिनी गान्धारीदेवीको यहाँ बुला लाओ। मैं उसीके साथ इस दुर्बुद्धिको समझा-बुझाकर राहपर लानेकी चेष्टा करूँगा ॥ २ ॥

यदि सापि दुरात्मानं शमयेद् दुष्टचेतसम्।
अपि कृष्णस्य सुहृदस्तिष्ठेम वचने वयम् ॥ ३ ॥

'यदि वह भी उस दुष्टचित्त दुरात्माको शान्त कर सके तो हमलोग अपने सुहृद् श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन कर सकते हैं ॥

अपि लोभाभिभूतस्य पन्थानमनुदर्शयेत्।
दुर्बुद्धेर्दुःसहायस्य शमार्थं ब्रुवती वचः ॥ ४ ॥

'दुर्योधन लोभके अधीन हो रहा है। उसकी बुद्धि दूषित हो गयी है और उसके सहायक दुष्ट स्वभावके ही हैं। सम्भव है, गान्धारी शान्तिस्थापनके लिये कुछ कहकर उसे सन्मार्गका दर्शन करा सके ॥ ४ ॥

अपि नो व्यसनं घोरं दुर्योधनकृतं महत्।
शमयेच्चिररात्राय योगक्षेमवदव्ययम् ॥ ५ ॥

'यदि ऐसा हुआ तो दुर्योधनके द्वारा उपस्थित किया हुआ हमारा महान् एवं भयंकर संकट दीर्घकालके लिये शान्त हो जायगा और चिरस्थायी योगक्षेमकी प्राप्ति सुलभ होगी' ॥ ५ ॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा विदुरो दीर्घदर्शिनीम्।
आनयामास गान्धारीं धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ६ ॥

राजाकी यह बात सुनकर विदुर धृतराष्ट्रके आदेशसे दूरदर्शिनी गान्धारीदेवीको वहाँ बुला ले आये ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एष गान्धारि पुत्रस्ते दुरात्मा शासनातिगः।
ऐश्वर्यलोभादैश्वर्यं जीवितं च प्रहास्यति ॥ ७ ॥

उस समय धृतराष्ट्रने कहा—गान्धारि! तुम्हारा वह दुरात्मा पुत्र गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर रहा है। वह ऐश्वर्यके लोभमें पड़कर राज्य और प्राण दोनों गँवा देगा ॥ ७ ॥

अशिष्टवदमर्यादः पापैः सह दुरात्मवान्।
सभाया निर्गतो मूढो व्यतिक्रम्य सुहृद्वचः ॥ ८ ॥

मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाला वह मूढ़ दुरात्मा अशिष्ट पुरुषकी भाँति हितैषी सुहृदोंकी आज्ञाको ठुकराकर अपने पापी साथियोंके साथ सभासे बाहर निकल गया है ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा भर्तृवचनं श्रुत्वा राजपुत्री यशस्विनी।
अन्विच्छन्ती महच्छ्रेयो गान्धारी वाक्यमब्रवीत्॥९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पतिका यह वचन सुनकर यशस्विनी राजपुत्री गान्धारी महान् कल्याणका अनुसंधान करती हुई इस प्रकार बोली ॥ ९ ॥

गान्धार्युवाच

आनायय सुतं क्षिप्रं राज्यकामुकमातुरम् ।
न हि राज्यमशिष्टेन शक्यं धर्मार्थलोपिना ॥ १० ॥
आप्तुमाप्तं तथापीदमविनीतेन सर्वथा ।

गान्धारीने कहा—महाराज ! राज्यकी कामनासे आतुर हुए अपने पुत्रको शीघ्र बुलवाइये । धर्म और अर्थका लोप करनेवाला कोई भी अशिष्ट पुरुष राज्य नहीं पा सकता, तथापि सर्वथा उद्दण्डताका परिचय देनेवाले उस दुष्टने राज्यको प्राप्त कर लिया है ॥ १०½ ॥

त्वं ह्येवात्र भृशं गर्ह्यो धृतराष्ट्र सुतप्रियः ॥ ११ ॥
यो जानन् पापतामस्य तत्प्रज्ञामनुवर्तसे ।

महाराज ! आपको अपना बेटा बहुत प्रिय है, अतः वर्तमान परिस्थितिके लिये आप ही अत्यन्त निन्दनीय हैं; क्योंकि आप उसके पापपूर्ण विचारोंको जानते हुए भी सदा उसीकी बुद्धिका अनुसरण करते हैं ॥ ११½ ॥

स एष काममन्युभ्यां प्रलब्धो लोभमास्थितः ॥ १२ ॥
अशक्योऽद्य त्वया राजन् विनिवर्तयितुं बलात् ।

राजन् ! इस दुर्योधनको काम और क्रोधने अपने वशमें कर लिया है, यह लोभमें फँस गया है; अतः आज आपका इसे बलपूर्वक पीछे लौटाना असम्भव है ॥ १२½ ॥

राष्ट्रप्रदाने मूढस्य बालिशस्य दुरात्मनः ॥ १३ ॥
दुःसहायस्य लुब्धस्य धृतराष्ट्रोऽश्नुते फलम् ।

दुष्ट सहायकोंसे युक्त, मूढ़, अज्ञानी, लोभी और दुरात्मा पुत्रको अपना राज्य सौंप देनेका फल महाराज धृतराष्ट्र स्वयं भोग रहे हैं ॥ १३½ ॥

कथं हि स्वजने भेदमुपेक्षेत महीपतिः ।
भिन्नं हि स्वजनेन त्वां प्रहसिष्यन्ति शत्रवः ॥ १४ ॥
या हि शक्या महाराज साम्ना भेदेन वा पुनः ।
निस्तर्तुमापदः स्वेषु दण्डं कस्तत्र पातयेत् ॥ १५ ॥

कोई भी राजा स्वजनोंमें फैलती हुई फूटकी उपेक्षा कैसे कर सकता है ? राजन् ! स्वजनोंमें फूट डालकर उनसे विलग होनेवाले आपकी सभी शत्रु हँसी उड़ायेंगे । महाराज ! जिस आपत्तिको साम अथवा भेदनीतिसे पार किया जा सकता है, उसके लिये आत्मीयजनोंपर दण्डका प्रयोग कौन करेगा ? ॥ १४-१५ ॥

वैशम्पायन उवाच

शासनाद् धृतराष्ट्रस्य दुर्योधनममर्षणम् ।
मातुश्च वचनात् क्षत्ता सभां प्रावेशयत् पुनः ॥१६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पिता धृतराष्ट्रके आदेश और माता गान्धारीकी आज्ञासे विदुर असहिष्णु दुर्योधनको पुनः सभामें बुला ले आये ॥ १६ ॥

स मातुर्वचनाकाङ्क्षी प्रविवेश पुनः सभाम् ।
अभिताम्रेक्षणः क्रोधान्निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ १७ ॥

दुर्योधनकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं । वह फुफकारते हुए सर्पकी भाँति लम्बी साँसें खींचता हुआ माताकी बात सुननेकी इच्छासे सभाभवनमें पुनः प्रविष्ट हुआ ॥१७॥

तं प्रविष्टमभिप्रेक्ष्य पुत्रमुत्पथमास्थितम् ।
विगर्हमाणा गान्धारी शमार्थं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

अपने कुमार्गगामी पुत्रको पुनः सभाके भीतर आया देख गान्धारी उसकी निन्दा करती हुई शान्तिस्थापनके लिये इस प्रकार बोली— ॥ १८ ॥

दुर्योधन निबोधेदं वचनं मम पुत्रक ।
हितं ते सानुबन्धस्य तथाऽऽयत्यां सुखोदयम् ॥ १९ ॥

'बेटा दुर्योधन ! मेरी यह बात सुनो । जो सगे-सम्बन्धियोंसहित तुम्हारे लिये हितकारक और भविष्यमें सुखकी प्राप्ति करानेवाली है ॥ १९ ॥

दुर्योधन यदाह त्वां पिता भरतसत्तम ।
भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता सुहृदां कुरु तद् वचः ।२०।

'भरतश्रेष्ठ दुर्योधन ! तुम्हारे पिता, पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य और विदुर तुमसे जो कुछ कहते हैं, अपने इन सुहृदोंकी वह बात मान लो ॥ २० ॥

भीष्मस्य तु पितुश्चैव मम चापचितिः कृता ।
भवेद् द्रोणमुखानां च सुहृदां शाम्यता त्वया॥ २१ ॥

'यदि तुम शान्त हो जाओगे तो तुम्हारे द्वारा भीष्मकी, पिताजीकी, मेरी तथा द्रोण आदि अन्य हितैषी सुहृदोंकी भी पूजा सम्पन्न हो जायगी ॥ २१ ॥

न हि राज्यं महाप्राज्ञ स्वेन कामेन शक्यते ।
अवाप्तुं रक्षितुं वापि भोक्तुं भरतसत्तम ॥ २२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! महामते ! कोई भी अपनी इच्छामात्रसे राज्यकी प्राप्ति, रक्षा अथवा उपभोग नहीं कर सकता ॥ २२ ॥

न ह्यवश्येन्द्रियो राज्यमश्नीयाद् दीर्घमन्तरम् ।
विजितात्मा तु मेधावी स राज्यमभिपालयेत् ॥ २३ ॥

'जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, वह दीर्घकालतक राज्यका उपभोग नहीं कर सकता । जिसने अपने मनको जीत लिया है, वह मेधावी पुरुष ही राज्यकी रक्षा कर सकता है ॥ २३ ॥

कामक्रोधौ हि पुरुषमर्थेभ्यो व्यपकर्षतः ।
तौ तु शत्रू विनिर्जित्य राजा विजयते महीम् ॥ २४ ॥

'काम और क्रोध मनुष्यको धनसे दूर खींच ले जाते हैं । उन दोनों शत्रुओंको जीत लेनेपर राजा इस पृथ्वीपर विजय पाता है ॥ २४ ॥



दुर्योधनको गान्धारीकी फटकार

लोकेश्वर प्रभुत्वं हि महदेतद् दुरात्मभिः।
राज्यं नामेप्सितं स्थानं न शक्यमभिरक्षितुम्॥ २५॥

'जनेश्वर! यह महान् प्रभुत्व ही राज्य नामक अभीष्ट स्थान है। जिनकी अन्तरात्मा दूषित है, वे इसकी रक्षा नहीं कर सकते ॥ २५ ॥

इन्द्रियाणि महत्प्रेप्सुर्नियच्छेदर्थधर्मयोः।
इन्द्रियैर्नियतैर्बुद्धिर्वर्धतेऽग्निरिवेन्धनैः ॥ २६॥

'महत्पदको प्राप्त करनेकी इच्छावाला पुरुष अपनी इन्द्रियोंको अर्थ और धर्ममें नियन्त्रित करे। इन्द्रियोंको जीत लेनेपर बुद्धि उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे ईंधन डालनेसे आग प्रज्वलित हो उठती है ॥ २६ ॥

अविधेयानि हीमानि व्यापादयितुमप्यलम्।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम्॥ २७॥

'जैसे उद्दण्ड घोड़े काबूमें न होनेपर मूर्ख सारथिको मार्गमें ही मार डालते हैं, उसी प्रकार यदि इन इन्द्रियोंको काबूमें न रक्खा जाय तो ये मनुष्यका नाश करनेके लिये भी पर्याप्त हैं ॥ २७ ॥

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते।
अमित्रान् वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥२८॥

'जो पहले अपने मनको न जीतकर मन्त्रियोंको जीतनेकी इच्छा करता है अथवा मन्त्रियोंको जीते बिना शत्रुओंको जीतना चाहता है, वह विवश होकर राज्य और जीवन दोनोंसे वञ्चित हो जाता है ॥ २८ ॥

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण योजयेत्।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ २९॥

'अतः पहले अपने मनको ही शत्रुके स्थानपर रखकर इसे जीते। तत्पश्चात् मन्त्रियों और शत्रुओंपर विजय पानेकी इच्छा करे। ऐसा करनेसे उसकी विजय पानेकी अभिलाषा कभी व्यर्थ नहीं होती है ॥ २९ ॥

वश्येन्द्रियं जितामात्यं धृतदण्डं विकारिषु।
परीक्ष्यकारिणं धीरमत्यर्थं श्रीर्निषेवते ॥ ३०॥

'जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर रक्खा है, मन्त्रियोंपर विजय पा ली है तथा जो अपराधियोंको दण्ड प्रदान करता है, खूब सोच-समझकर कार्य करनेवाले उस धीर पुरुषकी लक्ष्मी अत्यन्त सेवा करती है ॥ ३० ॥

क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुभौ।
कामक्रोधौ शरीरस्थौ प्रज्ञानं तौ विलुम्पतः॥ ३१॥

'छोटे छिद्रवाले जालसे ढकी हुई दो मछलियोंकी भाँति ये काम और क्रोध भी शरीरके भीतर ही छिपे हुए हैं, जो मनुष्यके ज्ञानको नष्ट कर देते हैं ॥ ३१ ॥

याभ्यां हि देवाः स्वर्यातुः स्वर्गस्य पिदधुर्मुखम्।
बिभ्यतोऽनुपरागस्य कामक्रोधौ स्म वर्धितौ ॥ ३२॥

'इन्हीं दोनों (काम और क्रोध) के द्वारा देवताओंने स्वर्गमें जानेवाले पुरुषके लिये उस लोकका दरवाजा बंद कर रक्खा है। वीतराग पुरुषसे डरकर ही देवताओंने स्वर्गप्राप्तिके प्रतिबन्धक काम और क्रोधकी वृद्धि की है ॥ ३२ ॥

कामं क्रोधं च लोभं च दम्भं दर्पं च भूमिपः।
सम्यग्विजेतुं यो वेद स महीमभिजायते ॥ ३३॥

'जो राजा काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और दर्पको अच्छी तरह जीतनेकी कला जानता है, वही इस पृथ्वीका शासन कर सकता है ॥ ३३ ॥

सततं निग्रहे युक्त इन्द्रियाणां भवेन्नृपः।
ईप्सन्नर्थं च धर्मं च द्विषतां च पराभवम् ॥ ३४॥

'अतः अर्थ, धर्म तथा शत्रुओंका पराभव चाहनेवाले राजाको सदा अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३४ ॥

कामाभिभूतः क्रोधाद् वा यो मिथ्या प्रतिपद्यते।
स्वेषु चान्येषु वा तस्य न सहाया भवन्त्युत ॥ ३५॥

'जो राजा काम अथवा क्रोधसे अभिभूत होकर स्वजनों या दूसरोंके प्रति मिथ्या बर्ताव (कपट एवं अन्याययुक्त आचरण) करता है, उसके कोई सहायक नहीं होते हैं ॥ ३५॥

एकीभूतैर्महाप्राज्ञैः शूरैररिनिबर्हणैः।
पाण्डवैः पृथिवीं तात भोक्ष्यसे सहितः सुखी॥ ३६॥

'तात! पाण्डव परस्पर संगठित होनेके कारण एकीभूत हो गये हैं। वे परम ज्ञानी, शूरवीर तथा शत्रुसंहारमें समर्थ हैं। तुम उनके साथ मिलकर सुखपूर्वक इस पृथ्वीका राज्य भोग सकोगे ॥ ३६ ॥

यथा भीष्मः शान्तनवो द्रोणश्चापि महारथः।
आहतुस्तात तत् सत्यमजेयौ कृष्णपाण्डवौ ॥ ३७॥

'तात! शान्तनुनन्दन भीष्म तथा महारथी द्रोणाचार्य जैसा कह रहे हैं, वह सर्वथा सत्य है। वास्तवमें श्रीकृष्ण और अर्जुन अजेय हैं ॥ ३७ ॥

प्रपद्यस्व महाबाहुं कृष्णमक्लिष्टकारिणम्।
प्रसन्नो हि सुखाय स्यादुभयोरेव केशवः ॥ ३८॥

'अतः अनायास ही महान् कर्म करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लो; क्योंकि भगवान् केशव प्रसन्न होनेपर दोनों ही पक्षोंको सुखी बना सकते हैं ॥ ३८॥

सुहृदामर्थकामानां यो न तिष्ठति शासने।
प्राज्ञानां कृतविद्यानां स नरः शत्रुनन्दनः ॥ ३९॥

'जो मनुष्य अपना भला चाहनेवाले ज्ञानी एवं विद्वान् सुहृदोंके शासनमें नहीं रहता—उनके उपदेशके अनुसार नहीं चलता, वह शत्रुओंका आनन्द बढ़ानेवाला होता है ॥३९॥

न युद्धे तात कल्याणं न धर्मार्थौ कुतः सुखम्।
न चापि विजयो नित्यं मा युद्धे चेत आधिथाः ॥४०॥

'तात ! युद्ध करनेमें कल्याण नहीं है। उससे धर्म और अर्थकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर सुख तो मिल ही कैसे सकता है ? युद्धमें सदा विजय ही हो, यह भी निश्चित नहीं है; अतः उसमें मन न लगाओ ॥ ४० ॥

भीष्मेण हि महाप्राज्ञ पित्रा ते बाह्लिकेन च ।
दत्तोंऽशः पाण्डुपुत्राणां भेदाद् भीतैररिंदम ॥ ४१ ॥

'शत्रुदमन ! महाप्राज्ञ ! आपसकी फूटके भयसे ही पितामह भीष्मने, तुम्हारे पिताने और महाराज बाह्लीकने भी पाण्डवों-को राज्यका भाग प्रदान किया है ॥ ४१ ॥

तस्य चैतत्प्रदानस्य फलमद्यानुपश्यसि ।
यद् भुङ्क्षे पृथिवीं कृत्स्नां शूरैर्निहतकण्टकाम्॥४२॥

'उसीके देनेका आज तुम यह प्रत्यक्ष फल देखते हो कि उन शूरवीर पाण्डवोंद्वारा निष्कण्टक बनायी हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य भोग रहे हो ॥ ४२ ॥

प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथोचितमरिंदम ।
यदीच्छसि सहामात्यो भोक्तुमर्धं प्रदीयताम् ॥ ४३॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले पुत्र ! यदि तुम अपने मन्त्रियोंसहित राज्य भोगना चाहते हो तो पाण्डवोंको उनका यथोचित भाग—आधा राज्य दे दो ॥ ४३ ॥

अलमर्धं पृथिव्यास्ते सहामात्यस्य जीवितुम् ।
सुहृदां वचने तिष्ठन् यशः प्राप्स्यसि भारत ॥ ४४ ॥

'भारत ! भूमण्डलका आधा राज्य मन्त्रियोंसहित तुम्हारे जीवननिर्वाहके लिये पर्याप्त है। तुम सुहृदोंकी आज्ञाके अनुसार चलकर सुयश प्राप्त करोगे ॥ ४४ ॥

श्रीमद्भिरात्मवद्भिस्तैर्बुद्धिमद्भिर्जितेन्द्रियैः ।
पाण्डवैर्विग्रहस्तात भ्रंशयेन्महतः सुखात् ॥ ४५ ॥

'तात ! श्रीमान्, मनस्वी, बुद्धिमान् तथा जितेन्द्रिय पाण्डवोंके साथ होनेवाला कलह तुम्हें महान् सुखसे वञ्चित कर देगा ॥ ४५ ॥

निगृह्य सुहृदां मन्युं शाधि राज्यं यथोचितम् ।
स्वमंशं पाण्डुपुत्रेभ्यः प्रदाय भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम पाण्डवोंको उनका राज्यभाग देकर सुहृदोंके बढ़ते हुए क्रोधको शान्त कर दो और अपने राज्यका यथोचित रीतिसे शासन करते रहो ॥ ४६ ॥

अलमङ्ग निकारोऽयं त्रयोदश समाः कृतः ।
शमयैनं महाप्राज्ञ कामक्रोधसमेधितम् ॥ ४७ ॥

'बेटा ! पाण्डवोंको जो तेरह वर्षोंके लिये निर्वासित कर दिया गया, यही उनका महान् अपकार हुआ है। महामते ! तुम्हारे काम और क्रोधसे इस अपकारकी और भी वृद्धि हुई है। अब तुम संधिके द्वारा इसे शान्त कर दो ॥ ४७ ॥

न चैष शक्तः पार्थानां यस्त्वमर्थमभीप्ससि ।
सूतपुत्रो दृढक्रोधो भ्राता दुःशासनश्च ते ॥ ४८ ॥

'तुम जो कुन्तीके पुत्रोंका धन हड़प लेना चाहते हो, ऐसा करनेकी तुम्हारी शक्ति नहीं है। क्रोधको दृढ़तापूर्वक धारण करनेवाला सूतपुत्र कर्ण तथा तुम्हारा भाई दुःशासन—ये दोनों भी ऐसा करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ४८ ॥

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे भीमसेने धनंजये ।
धृष्टद्युम्ने च संक्रुद्धे न स्युः सर्वाः प्रजा ध्रुवम् ॥४९॥

'जिस समय भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण तथा भीमसेन, अर्जुन और धृष्टद्युम्न—ये अत्यन्त कुपित होकर परस्पर युद्ध करेंगे, उस समय सारी प्रजाका विनाश अवश्यम्भावी है ॥ ४९ ॥

अमर्षवशमापन्नो मा कुरूंस्तात जीघनः ।
एषा हि पृथिवी कृत्स्ना मा गमत् त्वत्कृते वधम्॥५०॥

'तात ! तुम क्रोधके वशीभूत होकर समस्त कौरवोंका वध न कराओ। तुम्हारे लिये इस सम्पूर्ण भूमण्डलका विनाश न हो ॥ ५० ॥

यच्च त्वं मन्यसे मूढ भीष्मद्रोणकृपादयः ।
योत्स्यन्ते सर्वशक्त्येति नैतदद्योपपद्यते ॥ ५१ ॥

'मूढ़ ! तुम जो यह समझ रहे हो कि भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि अपनी पूरी शक्ति लगाकर मेरी ओरसे युद्ध करेंगे, यह इस समय कदापि सम्भव नहीं है ॥ ५१ ॥

समं हि राज्यं प्रीतिश्च स्थानं हि विदितात्मनाम् ।
पाण्डवेष्वथ युष्मासु धर्मस्त्वभ्यधिकस्ततः ॥ ५२ ॥

'क्योंकि इन आत्मज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें इस राज्यका पाण्डवों अथवा तुमलोगोंके पास रहना समान ही है। इनके हृदयमें दोनोंके लिये एक-सा ही प्रेम और स्थान है तथा राज्यसे भी बढ़कर ये धर्मको महत्त्व देते हैं ॥ ५२ ॥

राजपिण्डभयादेते यदि हास्यन्ति जीवितम् ।
न हि शक्ष्यन्ति राजानं युधिष्ठिरमुदीक्षितुम्॥ ५३ ॥

'इस राज्यका इन्होंने जो अन्न खाया है, उसके भयसे यद्यपि ये तुम्हारी ओरसे लड़कर अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे, तथापि राजा युधिष्ठिरकी ओर कभी वक्र दृष्टिसे नहीं देख सकेंगे ॥ ५३ ॥

न लोभादर्थसम्पत्तिर्नराणामिह दृश्यते ।
तदलं तात लोभेन प्रशाम्य भरतर्षभ ॥ ५४ ॥

'तात भरतश्रेष्ठ ! इस संसारमें केवल लोभ करनेसे किसीको धनकी प्राप्ति होती नहीं दिखायी देती; अतः लोभसे कुछ सिद्ध होनेवाला नहीं है। तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो' ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गान्धारीवाक्ये एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक एक सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२९ ॥

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके षड्यन्त्रका सात्यकिद्वारा भंडाफोड़, श्रीकृष्णकी सिंहगर्जना तथा धृतराष्ट्र और विदुरका दुर्योधनको पुनः समझाना

वैशम्पायन उवाच

तत् तु वाक्यमनादृत्य सोऽर्थवन्मातृभाषितम् ।
पुनः प्रतस्थे संरम्भात् सकाशमकृतात्मनाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माताके कहे हुए उस नीतियुक्त वचनका अनादर करके दुर्योधन पुनः क्रोधपूर्वक वहाँसे उठकर उन्हीं अजितात्मा मन्त्रियोंके पास चला गया ॥ १ ॥

ततः सभाया निर्गम्य मन्त्रयामास कौरवः ।
सौबलेन मताक्षेण राज्ञा शकुनिना सह ॥ २ ॥

उस सभाभवनसे निकलकर दुर्योधनने द्यूतविद्याके जानकार सुबलपुत्र राजा शकुनिके साथ गुप्तरूपसे मन्त्रणा की ॥

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ।
दुःशासनचतुर्थानामिदमासीद् विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

उस समय दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा दुःशासन—इन चारोंका निश्चय इस प्रकार हुआ ॥ ३ ॥

पुरायमस्मान् गृह्णाति क्षिप्रकारी जनार्दनः ।
सहितो धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ॥ ४ ॥
वयमेव हृषीकेशं निगृह्णीम बलादिव ।
प्रसह्य पुरुषव्याघ्रमिन्द्रो वैरोचनिं यथा ॥ ५ ॥

वे परस्पर कहने लगे—'शीघ्रतापूर्वक प्रत्येक कार्य करनेवाले श्रीकृष्ण राजा धृतराष्ट्र और भीष्मके साथ मिलकर जबतक हमें कैद करें, उसके पहले हमलोग ही बलपूर्वक इन पुरुषसिंह हृषीकेशको बन्दी बना लें। ठीक उसी तरह, जैसे इन्द्रने विरोचनपुत्र बलिको बाँध लिया था ॥ ४-५ ॥

श्रुत्वा गृहीतं वार्ष्णेयं पाण्डवा हतचेतसः ।
निरुत्साहा भविष्यन्ति भग्नदंष्ट्रा इवोरगाः ॥ ६ ॥

'श्रीकृष्णको कैद हुआ सुनकर पाण्डव दाँत तोड़े हुए सर्पोंके समान अचेत और हतोत्साह हो जायँगे ॥ ६ ॥

अयं ह्येषां महाबाहुः सर्वेषां शर्म वर्म च ।
अस्मिन् गृहीते वरदे ऋषभे सर्वसात्वताम् ॥ ७ ॥
निरुद्यमा भविष्यन्ति पाण्डवाः सोमकैः सह ।

'ये महाबाहु श्रीकृष्ण ही समस्त पाण्डवोंके कल्याणसाधक और कवचकी भाँति रक्षा करनेवाले हैं। सम्पूर्ण यदुवंशियोंके शिरोमणि तथा वरदायक इस श्रीकृष्णके बन्दी बना लिये जानेपर सोमकोंसहित सब पाण्डव उद्योगशून्य हो जायँगे ॥ ७½ ॥

तस्माद् वयमिहैवैनं केशवं क्षिप्रकारिणम् ॥ ८ ॥
क्रोशतो धृतराष्ट्रस्य बद्ध्वा योत्स्यामहे रिपून् ।

'इसलिये हम यहीं शीघ्रतापूर्वक कार्य करनेवाले केशवको राजा धृतराष्ट्रके चीखने-चिल्लानेपर भी कैद करके शत्रुओंके साथ युद्ध करें' ॥ ८½ ॥

तेषां पापमभिप्रायं पापानां दुष्टचेतसाम् ॥ ९ ॥
इङ्गितज्ञः कविः क्षिप्रमन्वबुद्ध्यत सात्यकिः ।

विद्वान् सात्यकि इशारेसे ही दूसरोंके मनकी बात समझ लेनेवाले थे। वे उन दुष्टचित्त पापियोंके उस पापपूर्ण अभिप्रायको शीघ्र ही ताड़ गये ॥ ९½ ॥

तदर्थमभिनिष्क्रम्य हार्दिक्येन सहास्थितः ॥ १० ॥
अब्रवीत् कृतवर्माणं क्षिप्रं योजय वाहिनीम् ।
व्यूढानीकः सभाद्वारमुपतिष्ठस्व दंशितः ॥ ११ ॥
यावदाख्याम्यहं चैतत् कृष्णायाक्लिष्टकारिणे ।

फिर उसके प्रतीकारके लिये वे सभासे बाहर निकलकर कृतवर्मासे मिले और इस प्रकार बोले—'तुम शीघ्र ही अपनी सेनाको तैयार कर लो और स्वयं भी कवच धारण करके व्यूहाकार खड़ी हुई सेनाके साथ सभाभवनके द्वारपर डटे रहो। तबतक मैं अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको कौरवोंके षड्यन्त्रकी सूचना दिये देता हूँ' ॥ १०-११½ ॥

स प्रविश्य सभां वीरः सिंहो गिरिगुहामिव ॥ १२ ॥
आचष्ट तमभिप्रायं केशवाय महात्मने ।
धृतराष्ट्रं ततश्चैव विदुरं चान्वभाषत ॥ १३ ॥

ऐसा कहकर वीर सात्यकिने सभामें प्रवेश किया, मानो सिंह पर्वतकी कन्दरामें घुस रहा हो। वहाँ जाकर उन्होंने महात्मा केशवसे कौरवोंका अभिप्राय बताया। फिर धृतराष्ट्र और विदुरको भी इसकी सूचना दी ॥ १२-१३ ॥

तेषामेतमभिप्रायमाचचक्षे स्मयन्निव ।
धर्मादर्थाच्च कामाच्च कर्म साधुविगर्हितम् ॥ १४ ॥
मन्दाः कर्तुमिहेच्छन्ति न चावाप्यं कथंचन ।

सात्यकिने किंचित् मुसकराते हुए-से उन कौरवोंके इस अभिप्रायको इस प्रकार बताया—'सभासदो ! कुछ मूर्ख कौरव एक ऐसा नीच कर्म करना चाहते हैं, जो धर्म, अर्थ

और काम सभी दृष्टियोंसे साधुपुरुषोंद्वारा निन्दित है। यद्यपि इस कार्यमें उन्हें किसी प्रकार सफलता नहीं प्राप्त हो सकती ॥ १४½ ॥

पुरा विकुर्वते मूढाः पापात्मानः समागताः ॥ १५ ॥
धर्षिताः काममन्युभ्यां क्रोधलोभवशानुगाः ।

'क्रोध और लोभके वशीभूत हो काम एवं रोषसे तिरस्कृत होकर कुछ पापात्मा एवं मूढ़ मानव यहाँ आकर भारी बखेड़ा पैदा करना चाहते हैं ॥ १५½ ॥

इमं हि पुण्डरीकाक्षं जिघृक्षन्त्यल्पचेतसः ॥ १६ ॥
पटेनाग्निं प्रज्वलितं यथा बाला यथा जडाः ।

'जैसे बालक और जड बुद्धिवाले लोग जलती आगको कपड़ेमें बाँधना चाहें, उसी प्रकार ये मन्दबुद्धि कौरव इन कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको यहाँ कैद करना चाहते हैं' ॥१६½॥

सात्यकेस्तद् वचः श्रुत्वा विदुरो दीर्घदर्शिवान् ॥ १७ ॥
धृतराष्ट्रं महाबाहुमब्रवीत् कुरुसंसदि ।
राजन् परीतकालास्ते पुत्राः सर्वे परंतप ॥ १८ ॥
अशक्यमयशस्यं च कर्तुं कर्म समुद्यताः ।

सात्यकिका यह वचन सुनकर दूरदर्शी विदुरने कौरव-सभामें महाबाहु धृतराष्ट्रसे कहा—'परंतप नरेश ! जान पड़ता है, आपके सभी पुत्र सर्वथा कालके अधीन हो गये हैं। इसीलिये वे यह अकीर्तिकारक और असम्भव कर्म करनेको उतारू हुए हैं ॥ १७-१८½ ॥

इमं हि पुण्डरीकाक्षमभिभूय प्रसह्य च ॥ १९ ॥
निग्रहीतुं किलेच्छन्ति सहिता वासवानुजम् ।
इमं पुरुषशार्दूलमप्रधृष्यं दुरासदम् ॥ २० ॥
आसाद्य न भविष्यन्ति पतङ्गा इव पावकम् ।

'सुननेमें आया है कि वे सब संगठित होकर इन पुरुषसिंह कमलनयन श्रीकृष्णको तिरस्कृत करके हठपूर्वक कैद करना चाहते हैं। ये भगवान् कृष्ण इन्द्रके छोटे भाई और दुर्धर्ष वीर हैं। इन्हें कोई भी पकड़ नहीं सकता। इनके पास आकर सभी विरोधी जलती आगमें गिरनेवाले पतिंगोंके समान नष्ट हो जायँगे ॥ १९-२०½ ॥

अयमिच्छन् हि तान् सर्वान् युध्यमानाञ्जनार्दनः ॥
सिंहो नागानिव क्रुद्धो गमयेद् यमसादनम् ।

'जैसे क्रोधमें भरा हुआ सिंह हाथियोंको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार ये भगवान् श्रीकृष्ण यदि चाहें तो क्रुद्ध होनेपर समस्त विपक्षी योद्धाओंको यमलोक पहुँचा सकते हैं॥ २१½ ॥

न त्वयं निन्दितं कर्म कुर्यात् पापं कथंचन ॥ २२ ॥
न च धर्मादपक्रामेदच्युतः पुरुषोत्तमः ।

'परंतु ये पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण किसी प्रकार भी निन्दित अथवा पापकर्म नहीं कर सकते और न कभी धर्मसे ही पीछे हट सकते हैं ॥ २२½ ॥

(यथा वाराणसी दग्धा साश्वा सरथकुंजरा ।
सानुबन्धस्तु कृष्णेन काशीनामृषभो हतः ॥
तथा नागपुरं दग्ध्वा शङ्खचक्रगदाधरः ।
स्वयं कालेश्वरो भूत्वा नाशयिष्यति कौरवान् ॥

'श्रीकृष्णने जिस प्रकार घोड़े, रथ और हाथियोंसहित वाराणसी नगरी जला दी और काशिराजको उनके सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डाला, उसी प्रकार ये शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कालेश्वर होकर हस्तिनापुरको दग्ध करके कौरवोंका नाश कर डालेंगे ॥

पारिजातहरं ह्येनमेकं यदुसुखावहम् ।
नाभ्यवर्तत संरब्धो वृत्रहा वसुभिः सह ॥

'यदुकुलको सुख पहुँचानेवाले श्रीकृष्ण जब अकेले पारिजातका अपहरण करने लगे, उस समय अत्यन्त कोपमें भरे हुए इन्द्रने इनके ऊपर वसुओंके साथ आक्रमण किया। परंतु वे भी इन्हें पराजित न कर सके ॥

प्राप्य निर्मोचने पाशान् षट् सहस्रांस्तरस्विनः ।
हतास्ते वासुदेवेन ह्युपसंक्रम्य मौरवान् ॥

'निर्मोचन नामक स्थानमें मुर दैत्यने छः हजार शक्तिशाली पाश लगा रखे थे, जिन्हें इन वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने निकट जाकर काट डाला ॥

द्वारमासाद्य सौभस्य विधूय गदया गिरिम् ।
द्युमत्सेनः सहामात्यः कृष्णेन विनिपातितः ॥

'इन्हीं श्रीकृष्णने सौभके द्वारपर पहुँचकर अपनी गदासे पर्वतको विदीर्ण करते हुए मन्त्रियोंसहित द्युमत्सेनको मार गिराया था ॥

शेषवत्त्वात् कुरूणां तु धर्मापेक्षी तथाच्युतः ।
क्षमते पुण्डरीकाक्षः शक्तः सन् पापकर्मणाम् ॥
एते हि यदि गोविन्दमिच्छन्ति सह राजभिः ।
अद्यैवातिथयः सर्वे भविष्यन्ति यमस्य ते ॥

'अभी कौरवोंकी आयु शेष है, इसीलिये सदा धर्मपर ही दृष्टि रखनेवाले कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण इन पापाचारियोंको दण्ड देनेमें समर्थ होकर भी अभी क्षमा करते जा रहे हैं। यदि ये कौरव अपने सहयोगी राजाओंके साथ गोविन्दको बन्दी बनाना चाहते हैं तो सबके सब आज ही यमराजके अतिथि हो जायँगे ॥

यथा वायोस्तृणाग्राणि वशं यान्ति बलीयसः ।
तथा चक्रभृतः सर्वे वशमेष्यन्ति कौरवाः ॥)

'जैसे तिनकोंके अग्रभाग सदा महाबलवान् वायुके वशमें होते हैं, उसी प्रकार समस्त कौरव चक्रधारी श्रीकृष्णके अधीन हो जायँगे' ॥

विदुरेणैवमुक्ते तु केशवो वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥
धृतराष्ट्रमभिप्रेक्ष्य सुहृदां शृण्वतां मिथः ।
राजन्नेते यदि क्रुद्धा मां निगृह्णीयुरोजसा ॥ २४ ॥
एते वा मामहं वैनाननुजानीहि पार्थिव ।

विदुरके ऐसा कहनेपर भगवान् केशवने समस्त सुहृदोंके सुनते हुए राजा धृतराष्ट्रकी ओर देखकर कहा—'राजन्! ये दुष्ट कौरव यदि कुपित होकर मुझे बलपूर्वक पकड़ सकते हों तो आप इन्हें आज्ञा दे दीजिये। फिर देखिये, ये मुझे पकड़ पाते हैं या मैं इन्हें बन्दी बनाता हूँ ॥ २३-२४½ ॥

एतान् हि सर्वान् संरब्धान् नियन्तुमहमुत्सहे ॥ २५ ॥
न त्वहं निन्दितं कर्म कुर्यां पापं कथंचन ।

'यद्यपि क्रोधमें भरे हुए इन समस्त कौरवोंको मैं बाँध लेनेकी शक्ति रखता हूँ, तथापि मैं किसी प्रकार भी कोई निन्दित कर्म अथवा पाप नहीं कर सकता ॥ २५½ ॥

पाण्डवार्थे हि लुभ्यन्तः स्वार्थान् हास्यन्ति ते सुताः ॥२६॥
एते चेदेवमिच्छन्ति कृतकार्यो युधिष्ठिरः ।

'आपके पुत्र पाण्डवोंका धन लेनेके लिये लुभाये हुए हैं, परंतु इन्हें अपने धनसे भी हाथ धोना पड़ेगा। यदि ये ऐसा ही चाहते हैं, तब तो युधिष्ठिरका काम बन गया ॥ २६½ ॥

अद्यैव ह्यहमेनांश्च ये चैनाननु भारत ॥ २७ ॥
निगृह्य राजन् पार्थेभ्यो दद्यां किं दुष्कृतं भवेत् ।

'भारत! मैं आज ही इन कौरवों तथा इनके अनुगामियोंको कैद करके यदि कुन्तीपुत्रोंके हाथमें सौंप दूँ तो क्या बुरा होगा? ॥ २७½ ॥

इदं तु न प्रवर्तेयं निन्दितं कर्म भारत ॥ २८ ॥
संनिधौ ते महाराज क्रोधजं पापबुद्धिजम् ।

'परंतु भारत! महाराज! आपके समीप मैं क्रोध अथवा पापबुद्धिसे होनेवाला यह निन्दित कर्म नहीं प्रारम्भ करूँगा ॥ २८½ ॥

एष दुर्योधनो राजन् यथेच्छति तथास्तु तत् ॥ २९ ॥
अहं तु सर्वांस्तनयाननुजानामि ते नृप ।

'नरेश्वर! यह दुर्योधन जैसा चाहता है, वैसा ही हो। मैं आपके सभी पुत्रोंको इसके लिये आज्ञा देता हूँ' ॥ २९½ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु विदुरं धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ।
क्षिप्रमानय तं पापं राज्यलुब्धं सुयोधनम् ॥ ३० ॥
सहमित्रं सहामात्यं ससोदर्यं सहानुगम् ।
शक्नुयां यदि पन्थानमवतारयितुं पुनः ॥ ३१ ॥

यह सुनकर धृतराष्ट्रने विदुरसे कहा—'तुम उस पापात्मा राज्यलोभी दुर्योधनको उसके मित्रों, मन्त्रियों, भाइयों तथा अनुगामी सेवकोंसहित शीघ्र मेरे पास बुला लाओ। यदि पुनः उसे सन्मार्गपर उतार सकूँ तो अच्छा होगा' ॥ ३०-३१ ॥

ततो दुर्योधनं क्षत्ता पुनः प्रावेशयत् सभाम् ।
अकामं भ्रातृभिः सार्धं राजभिः परिवारितम् ॥ ३२ ॥

तब विदुरजी राजाओंसे घिरे हुए दुर्योधनको उसकी इच्छा न होते हुए भी भाइयोंसहित पुनः सभामें ले आये ॥ ३२ ॥

अथ दुर्योधनं राजा धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च राजभिश्चापि संवृतम् ॥ ३३ ॥

उस समय कर्ण, दुःशासन तथा अन्य राजाओंसे भी घिरे हुए दुर्योधनसे राजा धृतराष्ट्रने कहा— ॥ ३३ ॥

नृशंस पापभूयिष्ठ क्षुद्रकर्मसहायवान् ।
पापैः सहायैः संहत्य पापं कर्म चिकीर्षसि ॥ ३४ ॥

'नृशंस महापापी! नीच कर्म करनेवाले ही तेरे सहायक हैं। तू उन पापी सहायकोंसे मिलकर पापकर्म ही करना चाहता है ॥

अशक्यमयशस्यं च सद्भिश्चापि विगर्हितम् ।
यथा त्वादृशको मूढो व्यवस्येत् कुलपांसनः ॥ ३५ ॥

'वह कर्म ऐसा है, जिसकी साधु पुरुषोंने सदा निन्दा की है। वह अपयशकारक तो है ही, तू उसे कर भी नहीं सकता; परंतु तेरे-जैसा कुलाङ्गार और मूर्ख मनुष्य उसे करनेकी चेष्टा करता है ॥ ३५ ॥

त्वमिमं पुण्डरीकाक्षमप्रधृष्यं दुरासदम् ।
पापैः सहायैः संहत्य निग्रहीतुं किलेच्छसि ॥ ३६ ॥

'सुनता हूँ, तू अपने पापी सहायकोंसे मिलकर इन दुर्धर्ष एवं दुर्जय वीर कमलनयन श्रीकृष्णको कैद करना चाहता है ॥

यो न शक्यो बलात् कर्तुं देवैरपि सवासवैः ।
तं त्वं प्रार्थयसे मन्द बालश्चन्द्रमसं यथा ॥ ३७ ॥

'ओ मूढ़! इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी जिन्हें बलपूर्वक अपने वशमें नहीं कर सकते, उन्हींको तू बंदी बनाना चाहता है। तेरी यह चेष्टा वैसी ही है, जैसे कोई बालक चन्द्रमाको पकड़ना चाहता हो ॥ ३७ ॥

देवैर्मनुष्यैर्गन्धर्वैरसुरैरुरगैश्च यः ।
न सोढुं समरे शक्यस्तं न बुद्ध्यसि केशवम् ॥ ३८ ॥

'देवता, मनुष्य, गन्धर्व, असुर और नाग भी संग्रामभूमिमें जिनका वेग नहीं सह सकते, उन भगवान् श्रीकृष्णको तू नहीं जानता ॥ ३८ ॥

दुर्ग्राह्यः पाणिना वायुर्दुःस्पर्शः पाणिना शशी ।
दुर्धरा पृथिवी मूर्ध्ना दुर्ग्राह्यः केशवो बलात् ॥ ३९ ॥

'जैसे वायुको हाथसे पकड़ना दुष्कर है, चन्द्रमाको हाथसे छूना कठिन है और पृथ्वीको सिरपर धारण करना असम्भव है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णको बलपूर्वक पकड़ना दुष्कर है' ॥ ३९ ॥

इत्युक्ते धृतराष्ट्रेण क्षत्तापि विदुरोऽब्रवीत् ।
दुर्योधनमभिप्रेत्य धार्तराष्ट्रममर्षणम् ॥ ४० ॥

धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर विदुरने भी अमर्षमें भरे हुए धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके पास जाकर इस प्रकार कहा ॥ ४० ॥

विदुर उवाच

दुर्योधन निबोधेदं वचनं मम साम्प्रतम्।
सौभद्वारे दानवेन्द्रो द्विविदो नाम नामतः।
शिलावर्षेण महता छादयामास केशवम्॥ ४१॥

विदुर बोले—दुर्योधन! इस समय मेरी बातपर ध्यान दो। सौभद्वारमें द्विविद नामसे प्रसिद्ध एक वानरोंका राजा रहता था, जिसने एक दिन पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा करके भगवान् श्रीकृष्णको आच्छादित कर दिया॥ ४१॥

ग्रहीतुकामो विक्रम्य सर्वयत्नेन माधवम्।
ग्रहीतुं नाशकच्चैनं तं त्वं प्रार्थयसे बलात्॥ ४२॥

वह पराक्रम करके सभी उपायोंसे श्रीकृष्णको पकड़ना चाहता था, परंतु इन्हें कभी पकड़ न सका। उन्हीं श्रीकृष्णको तुम बलपूर्वक अपने वशमें करना चाहते हो!॥ ४२॥

प्राग्ज्योतिषगतं शौरिं नरकः सह दानवैः।
ग्रहीतुं नाशकत् तत्र तं त्वं प्रार्थयसे बलात्॥ ४३॥

पहलेकी बात है, प्राग्ज्योतिषपुरमें गये हुए श्रीकृष्णको दानवोंसहित नरकासुरने भी वहाँ बन्दी बनानेकी चेष्टा की; परंतु वह भी वहाँ सफल न हो सका। उन्हींको तुम बलपूर्वक अपने वशमें करना चाहते हो॥ ४३॥

अनेकयुगवर्षायुर्निहत्य नरकं मृधे।
नीत्वा कन्यासहस्राणि उपयेमे यथाविधि॥ ४४॥

अनेक युगों तथा असंख्य वर्षोंकी आयुवाले नरकासुरको युद्धमें मारकर श्रीकृष्ण उसके यहाँसे सहस्रों राजकन्याओंको (उद्धार करके) ले गये और उन सबके साथ उन्होंने विधिपूर्वक विवाह किया॥ ४४॥

निर्मोचने षट् सहस्राः पाशैर्बद्धा महासुराः।
ग्रहीतुं नाशकंश्चैनं तं त्वं प्रार्थयसे बलात्॥ ४५॥

निर्मोचनमें छः हजार बड़े-बड़े असुरोंको भगवान्ने पाशोंमें बाँध लिया। वे असुर भी जिन्हें बंदी न बना सके, उन्हींको तुम बलपूर्वक वशमें करना चाहते हो॥ ४५॥

अनेन हि हता बाल्ये पूतना शकुनी तथा।
गोवर्धनो धारितश्च गवार्थे भरतर्षभ॥ ४६॥

भरतश्रेष्ठ! इन्होंने ही बाल्यावस्थामें शकुनी पूतनाका वध किया था और गौओंकी रक्षाके लिये अपने हाथपर गोवर्धन पर्वतको धारण किया था॥ ४६॥

अरिष्टो धेनुकश्चैव चाणूरश्च महाबलः।
अश्वराजश्च निहतः कंसश्चारिष्टमाचरन्॥ ४७॥

अरिष्टासुर, धेनुक, महाबली चाणूर, अश्वराज केशी और कंस भी लोकहितके विरुद्ध आचरण करनेपर श्रीकृष्णके ही हाथसे मारे गये थे॥ ४७॥

जरासंधश्च वक्रश्च शिशुपालश्च वीर्यवान्।
बाणश्च निहतः संख्ये राजानश्च निषूदिताः॥ ४८॥

जरासंध, दंतवक्र, पराक्रमी शिशुपाल और बाणासुर भी इन्हींके हाथसे मारे गये हैं तथा अन्य बहुत-से राजाओंका भी इन्होंने ही संहार किया है॥ ४८॥

वरुणो निर्जितो राजा पावकश्चामितौजसा।
पारिजातं च हरता जितः साक्षाच्छचीपतिः॥ ४९॥

अमित तेजस्वी श्रीकृष्णने राजा वरुणपर विजय पायी है। इन्होंने अग्निदेवको भी पराजित किया है और पारिजातहरण करते समय साक्षात् शचीपति इन्द्रको भी जीता है॥ ४९॥

एकार्णवे च स्वपता निहतौ मधुकैटभौ।
जन्मान्तरमुपागम्य हयग्रीवस्तथा हतः॥ ५०॥

इन्होंने एकार्णवके जलमें सोते समय मधु और कैटभ नामक दैत्योंको मारा था और दूसरा शरीर धारण करके हयग्रीव नामक राक्षसका भी इन्होंने ही वध किया था॥ ५०॥

अयं कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे।
यद् यदिच्छेदयं शौरिस्तत् तत् कुर्यादयत्नतः॥ ५१॥

ये ही सबके कर्ता हैं, इनका दूसरा कोई कर्ता नहीं है। सबके पुरुषार्थके कारण भी यही हैं। ये भगवान् श्रीकृष्ण जो-जो इच्छा करें, वह सब अनायास ही कर सकते हैं॥ ५१॥

तं न बुद्ध्यसि गोविन्दं घोरविक्रममच्युतम्।
आशीविषमिव क्रुद्धं तेजोराशिमनिन्दितम्॥ ५२॥

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले इन भगवान् गोविन्दका पराक्रम भयंकर है। तुम इन्हें अच्छी तरह नहीं जानते। ये क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान भयानक हैं। ये सत्पुरुषोंद्वारा प्रशंसित एवं तेजकी राशि हैं॥ ५२॥

प्रधर्षयन् महाबाहुं कृष्णमक्लिष्टकारिणम्।
पतङ्गोऽग्निमिवासाद्य सामात्यो न भविष्यसि॥ ५३॥

अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णका तिरस्कार करनेपर तुम अपने मन्त्रियोंसहित उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे, जैसे पतंग आगमें पड़कर भस्म हो जाता है॥ ५३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुरवाक्यविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३०॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८ श्लोक मिलाकर कुल ६१ श्लोक हैं)

॥ श्रीहरिः ॥

महाभारतके प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंको सूचना तथा प्रार्थना

१–'महाभारत' के इस अङ्कमें प्रथम वर्ष पूरा हो रहा है। यह बारहवाँ अङ्क इस वर्षकी अन्तिम संख्या है। इस संख्यामें इस वर्षका मूल्य समाप्त हो गया है।

२–दूसरे वर्षमें भी प्रतिमास दो सौ पृष्ठ तथा २ रंगीन और ६ सादे चित्र देनेकी बात है। लाइन-चित्र भी प्रसङ्गानुसार दिये जा सकते हैं।

३–वार्षिक मूल्य डाकखर्चसहित २०) है। यदि किसी कारणवश डाकखर्च बढ़ गया तो वार्षिक मूल्य कुछ बढ़ाया जा सकता है। जिन ग्राहकोंके ४॥) गतवर्षके जमा हैं, वे केवल १५॥) ही भेजनेकी कृपा करें।

४–आजकल प्रायः सभी ग्राहकोंको अङ्क साधारण डाकसे ही भेजे जाते हैं। जिनके अङ्क नहीं पहुँचते, उनकी सूचना मिलनेपर उन्हें दुबारा अङ्क भेज दिये जाते हैं। प्रारम्भमें दुबारा अङ्क देनेके खर्चसे बचनेके लिये ही सभी ग्राहकोंको प्रतिमास रजिस्ट्रीद्वारा ही अङ्क भेजनेकी बात सोची गयी थी तथा पाँच महीनेतक सभी अङ्क रजिस्ट्रीद्वारा ही भेजे भी गये, परंतु रजिस्ट्रीके खोनेकी भी कई शिकायतें मिलीं और उन ग्राहकोंको भी दुबारा बिना मूल्य अङ्क माँगनेपर देने ही पड़े। इसके बाद अप्रैल महीनेसे सरकारने रजिस्ट्रीखर्च प्रति अङ्क दो आना और बढ़ा दिया, जिसे ग्राहकोंसे माँगनेमें सुविधा नहीं जान पड़ी तथा प्रतिमास इतने अङ्कोंकी रजिस्ट्रियाँ तैयार करने और डाक-विभागके द्वारा ली जानेमें भी अनेक कठिनाइयोंका अनुभव हुआ, इसलिये खोये हुए अङ्कोंके बिना मूल्य दुबारा देनेके भारी व्ययको सहन करना ही अधिक उपयुक्त समझकर साधारण डाकद्वारा अङ्क भेजने प्रारम्भ कर दिये गये। अगले वर्षके लिये भी इसी तरह समझना चाहिये।

५–जिन ग्राहकोंके चंदेके रुपये अङ्क निकलनेतक नहीं मिलेंगे, उनको नवम्बरका अङ्क वी० पी० द्वारा भेज दिया जायगा।

६–सभी पुराने ग्राहकोंको अगले वर्ष भी ग्राहक रहना ही चाहिये, अन्यथा उनकी फाइल अधूरी रहेगी। यदि किसी विशेष कारणवश किसीको ग्राहक न रहना हो तो कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें ताकि डाकखर्चकी हानि न सहनी पड़े।

७–जिन नये ग्राहकोंको प्रथम वर्षके प्रारम्भसे ही अङ्क लेने हों, वे दो सालका चंदा ४०) भेजनेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक–'मासिक महाभारत', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)